अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे द्वादशं प्रसूनम्

आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

प्रथमो भागः

[वैराग्य-मुमुक्षूत्पत्तिप्रकरणत्रयात्मकः]

श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण साहित्याचार्य-
पण्डितश्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिणा
विरचितेन भाषानुवादेन

समलङ्कृतः

अनुवादकमहोदयेन तथा वेदान्ताचार्यपण्डितश्रीमूलशङ्करशास्त्रिणा

सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

संवत्

प्रथमावृत्तिः १५००] २००४ [मूल्यम् ११)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

मुद्रक—
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस ।

योगवासिष्ठके प्रथम भागकी विषय-सूची

[वैराग्यप्रकरण १ – २४९]

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण [२५१ – ४३५]

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]



वैराग्य-प्रकरण

प्रथम सर्ग

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च ।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ १ ॥

अनादि महामोहरूपी निशामें सोये हुए इस जगत्को बारबार दुःखरूपी भ्रमोंसे रचित; जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु, हर्ष, शोक, क्रोध आदि अनर्थोंसे व्याप्त; आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन तापरूपी दावानलसे (वनकी अग्निसे) चारों ओर घिरे हुए संसाररूपी महारण्यमें मोहित, विवेकरहित और प्रबोधके उपायके न मिलनेके कारण दुःखी देखकर शास्त्ररूपी सूर्यके उदयसे उसे (जगत्को) प्रबोधित करनेके लिए भगवान् श्रीब्रह्मदेवके आदेशसे तथा अपने आप भी प्रवृत्त परमदयालु महर्षि श्रीवाल्मीकिजी रचे जानेवाले विशाल शास्त्रकी (योगवासिष्ठ ग्रन्थकी) निर्विघ्न समाप्ति एवं विशेषरूपसे प्रचारके लिए श्रुति, स्मृति और सदाचारसे प्राप्त तथा सम्पूर्ण विघ्नोंके निर्मूलनमें समर्थ सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म परमात्माका प्रणामरूप मङ्गलाचरण करते हुए शास्त्रके विषय और प्रयोजनको तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण द्वारा संक्षेपसे दिखलानेके लिए पहले 'यतो वा' इस श्रुतिसे प्रतिपादित तटस्थलक्षणसिद्ध तत्पदार्थ परब्रह्मको नमस्कार करते हैं—**'यतः'** इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें आकाश आदि महाभूत एवं घट, पट आदि भौतिक पदार्थ

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः ।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥ २ ॥

जिस अद्वितीय वस्तुकी सत्तासे अस्तित्वको प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, स्थिति-कालमें जिसकी सत्तासे ही स्थित रहते हैं और प्रलयकालमें जिसमें लीन होते हैं उस सत्यस्वरूप (अपनेमें आरोपित सम्पूर्ण पदार्थोंके पारमार्थिक स्वरूपभूत एवं सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित आत्मरूप) परमात्माको नमस्कार है* ॥ १ ॥

पूर्व श्लोकमें स्थित 'प्रतिभान्ति' पदसे सूचित सत्यस्वरूपके चिदेकरसत्वका अनुभव द्वारा उपपादन करते हुए त्वम्पदार्थ जीवके तत्त्वभूत उसी सत्यरूपको पुनः नमस्कार करते हैं—**'ज्ञाता'** इत्यादिसे ।

जिस चिदेकरस परमात्मासे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, कर्ता, हेतु और क्रिया—ये सब व्यावहारिक पदार्थ आविर्भूत होते हैं, उस ज्ञाता आदिके साक्षी और परमार्थतः ज्ञानरूपसे अवस्थित प्रत्यगात्माको नमस्कार है† ॥ २ ॥

---

* यहाँपर 'यतः' इस प्रकृतिपञ्चमीसे ही उपादानत्वका लाभ हो जाता है, फिर उपादानत्वके सूचनके लिए जन्म, स्थिति और लय—इनका ग्रहण क्यों किया ? इसपर कुछ लोग कहते हैं कि तीनोंका ग्रहण ब्रह्मके तीन (जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व) पृथक्-पृथक् लक्षण हैं, यह दर्शानेके लिए किया है। दूसरे कुछ लोग यों कहते हैं कि निमित्तकारणमें भी पञ्चमी देखी जाती है, इसलिए केवल जन्मकारणत्वसे उपादानकारणता सूचित न हो सकेगी, अतः उपादानत्वके लाभके लिए ब्रह्मको लयका आश्रय कहा। ब्रह्म स्थितिका कारण है, यह कथन तो अन्य कर्ताके निरासके लिए है, क्योंकि चेतन ही पालक देखे जाते हैं, अचेतन नहीं, इससे स्थितिकारणत्वके न कहनेपर उपादानमें चेतनत्वका लाभ नहीं होगा, ऐसी परिस्थितिमें अन्यमें (जड़ प्रकृतिमें) भी कर्तृत्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिए उन तीनोंसे अभिन्ननिमित्तोपादनत्वरूप एक ही लक्षण सिद्ध होता है ।

† 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस जीवरूप आत्मासे प्रवेशकर जगत्‌की रचना करता हूँ) इस श्रुतिके अनुसार बिम्बभूत कूटस्थ चैतन्य ही प्रतिबिम्बरूपसे अन्तः-करणरूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर तप्त लोहपिण्डमें अग्निके समान तादात्म्यके अध्याससे अन्तः-करणकी जड़ताको दूरकर उसे प्रकाशन-सामर्थ्य देता हुआ ज्ञाता कहलाता है। वही चिनगारियोंके समान अन्तःकरणकी वृत्तियोंको प्रकाशन-सामर्थ्य देनेसे ज्ञान कहलाता है। वृत्तिके विषयाकार होनेपर स्वयं भी वृत्ति द्वारा विषयाकार हुआ-सा ज्ञेय कहलाता है। वही ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा द्रष्टा कहलाता है। और इन्द्रिय-सम्प्रयोगसे उत्पन्न इन्द्रियवृत्तिके द्वारा दर्शन कहलाता है। वृत्तिके फलरूपसे विषयोंको व्याप्तकर तद्रूपसे स्वयं भी दृश्य-सा हो जाता है, अतः दृश्य कहलाता है। कर्मे-न्द्रिय, प्राण और शरीरके द्वारा कर्ता कहलाता है। फलका भोक्ता होनेसे क्रियाकी उत्पत्तिमें निमित्त

स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याऽम्बरेऽवनौ ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥ ३ ॥
सुतीक्ष्णो ब्राह्मणः कश्चित् संशयाकृष्टमानसः ।
अगस्तेराश्रमं गत्वा मुनिं पप्रच्छ सादरम् ॥ ४ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच

भगवन् धर्मतत्त्वज्ञ सर्वशास्त्रविनिश्चित ।
संशयोऽस्ति महानेकस्त्वमेतं कृपया वद ॥ ५ ॥

इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थका शोधन करके तटस्थ लक्षणमें पर्यवसित होनेवाले 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुतिसे निर्दिष्ट निरतिशय आनन्दरूप परमपुरुषार्थभूत अखण्ड वाक्यार्थको नमस्कार करते हैं—**'स्फुरन्ति'** इत्यादिसे ।

जिस प्रत्यागात्मस्वरूप परिपूर्ण निरतिशयानन्द-महासमुद्रसे स्वर्ग आदि लोकोंमें अर्थात् देवताओंमें और भूमिमें अर्थात् चेतनाचेतन सम्पूर्ण पदार्थोंमें न्यूनाधिक-भावसे आनन्दलेशका अनुभव होता है और वास्तवमें जिसका आनन्दलेश जीवोंका जीवन (आत्मा) है, उस परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मानन्दके लिए नमस्कार है ॥ ३ ॥

यों मंगलाचरणके साथ-साथ विषय आदिका प्रदर्शन करते हुए संक्षेपतः शास्त्रार्थका प्रदर्शन किया । अब उसी शास्त्रार्थका उपपत्ति आदिसे विस्तारपूर्वक निरूपण करनेके लिए श्रोताओंके विश्वासकी दृढ़ताके लिए ग्रन्थकार महामुनि वसिष्ठ और भगवान् रामचन्द्रजीके संवादके आरम्भके पहले उपोद्घातरूप आख्यायिका कहते हैं—**'सुतीक्ष्णो'** इत्यादिसे ।

सुतीक्ष्ण नामका कोई ब्राह्मण था । उसका हृदय अनेक प्रकारके सन्देहोंसे भरा था, अतएव उसने महामुनि अगस्तिके आश्रममें जाकर उनसे सादर प्रश्न किया ॥ ४ ॥

सुतीक्ष्णने कहा—भगवन् , आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं, सम्पूर्ण शास्त्रोंका आपने भली भांति मथन किया है, मुझे एक बड़ा भारी संशय है, कृपा कर आप उसे दूर कीजिए ॥ ५ ॥

होनेके कारण हेतु कहलाता है । क्रियाकी न्यूनता और अधिकतामें 'मैं ही न्यून या अधिक हूँ', ऐसा क्रियाके विषयमें अभिमान करनेसे क्रिया कहलाता है । उक्त अर्थमें 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षसाधनम् ।
उभयं वा विनिश्चित्य एकं कथय कारणम् ॥ ६ ॥

अगस्तिरुवाच

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।

क्या मोक्षका * उत्पादक कर्म है ? अथवा ज्ञान ही मोक्षका व्यञ्जक है ? या कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मोक्षके साधन हैं ? इन तीनों पक्षोंमें से निश्चय करके किसी एक कारणको कहिए ॥ ६ ॥

'यत्र दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्यादि श्रुतिसे स्वर्गमें नित्यत्व आदिका परिज्ञान होता है, वास्तवमें अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे स्वर्गमें नित्यत्व आदिका श्रवण आपेक्षिक है अर्थात् जितने अनित्य या दुःखमिश्रित पदार्थ हैं, उनसे स्वर्ग अधिक स्थायी है और उसमें दुःखका मिश्रण भी कम है, अतः असम्भव होनेसे प्रथम प्रश्न निरर्थक है। रह गई द्वितीय और तृतीय प्रश्नकी बात, उनमें चित्तशुद्धिके द्वारा कर्मके ज्ञानाङ्ग होनेपर भी श्रुति-तात्पर्यके साथ विरोध न होनेके कारण ज्ञान और कर्मको अभिन्न मान कर अगस्ति मुनि सुतीक्ष्ण ब्राह्मणके प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'उभाभ्याम्'** इत्यादिसे।

अगस्ति मुनिने कहा—जैसे आकाशमें दोनों ही परोंसे पक्षी उड़ते हैं,

---

* परमपुरुषार्थभूत निरतिशय ब्रह्मानन्द ही यहाँ मोक्षशब्दका अर्थ है। उसका पर्यवसान स्वर्गमें ही होता है, क्योंकि

'यत्र दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥'

(जो किसी प्रकारके दुःखसे सम्बन्ध न रखनेवाला, निरतिशय, अविनाशी एवं अभिलाषा करते ही प्राप्त होनेवाला सुख है, उसीको स्वर्ग कहते हैं) इस श्रुतिसे तथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' (उस स्वर्गको सभी लोग चाहते हैं) इस प्रकारके जैमिनिसूत्रसे स्वर्ग ही मोक्ष है, ऐसा मालूम पड़ता है। इस प्रकारका मोक्ष ज्योतिष्टोम आदि कर्मोंसे ही हो सकता है, अतः मीमांसक-मतके अनुसार क्या कर्म ही मोक्षका कारण है ? ऐसा प्रथम प्रश्नका आशय है। 'न कर्मणा न प्रजया', 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः', 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति' इत्यादि श्रुतियोंसे यह ज्ञात होता है कि मुक्तिके प्रति ज्ञानसे अतिरिक्त दूसरा कोई भी कारण नहीं हो सकता, अतः उपनिषन्मतके अनुसार क्या ज्ञान ही मोक्षके प्रति कारण है ? ऐसा द्वितीय कल्पका भाव है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि', 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह' इत्यादि मन्त्रोंसे उसके ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर कारण हैं, ऐसा ज्ञात होता है, अतः क्या ज्ञान-कर्म दोनों समुच्चयरूपसे मुक्तिके कारण हैं ? यों तृतीय प्रश्नका आशय है।

तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥ ७ ॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते ।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥ ८ ॥
अस्मिन्नर्थे पुरावृत्तमितिहासं वदामि ते ।
कारुण्याख्यः पुरा कश्चिद् ब्राह्मणोऽधीतवेदकः ॥ ९ ॥
अग्निवेश्यस्य पुत्रोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ।
गुरोरधीतविद्यः सन्नाजगाम गृहं प्रति ॥ १० ॥

एकसे नहीं, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनोंसे परमपदकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे आकाश-मार्गसे जानेवाले पक्षी अपने अभीष्ट देशमें जानेके लिए दो परोंके द्वारा ही उड़ कर जा सकते हैं, एकसे नहीं; वैसे ही 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुतिसे जिस परमपदरूप कैवल्यका वर्णन किया गया है, उसको अधिकारी लोग अपनी आत्मामें ही ज्ञान और कर्म दोनोंसे प्राप्त कर लेते हैं, अतः ज्ञान और * कर्म दोनों मोक्षके कारण हैं ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए फिर कहते हैं—**'केवलात्'** इत्यादिसे ।

केवल कर्मोंसे या केवल ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनोंसे मोक्ष होता है, अतः ब्रह्मज्ञ बड़े बड़े मुनि कर्म और ज्ञान दोनोंको मोक्षके प्रति साधन मानते हैं। इसलिए अनुभवसिद्ध विषयमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहता हूँ—प्राचीन कालमें सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता कारुण्य नामका एक ब्राह्मण था, उसके पिताका नाम अग्निवेश्य था। गुरुजीसे

* यहाँ ज्ञान और कर्मका समुच्चय मोक्षका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु पहले कर्मानुष्ठान द्वारा चित्तकी शुद्धि होनेपर ज्ञान होता है, तदन्तर मुक्ति होती है, यों ज्ञानमें ही साक्षात् मुक्तिकी हेतुताका प्रतिपादन किया गया है; इसलिए पक्षीका दृष्टान्त ज्ञान और कर्मके यौगपद्यांशमें (स्वरूपसमुच्चयमें) नहीं समझना चाहिए, किन्तु क्रमसमुच्चयमें समझना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति (कर्तृत्वाकर्तृत्व) एक समयमें नहीं हो सकतीं, इससे भी ज्ञानसे पहले कर्मोंकी अस्तिता अर्थात् प्रतीत होती है। जैसे दर्पणमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़नेके पहले दर्पणका परिमार्जन और प्रकाश दोनों अपेक्षित होते हैं, क्योंकि उनके बिना उसमें प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता, वैसे ही अविद्या-मलकी निवृत्तिमें चित्तकी शुद्धि और प्रमाणसे उत्पन्न होनेवाली शुद्धवृत्ति ये दोनों अपेक्षित हैं, क्योंकि अशुद्ध चित्तवालेको हजार बार श्रवण करनेपर भी आत्मज्ञानरूप फलकी प्राप्ति नहीं देखी जाती।

तस्थावकर्मकृत् तूष्णीं संशयानो गृहे तदा।
अग्निवेश्यो विलोक्याऽथ पुत्रं कर्मविवर्जितम् ॥ ११ ॥
प्राह एतद्वचो निन्द्यं गुरुः पुत्रं हिताय च।

अग्निवेश्य उवाच

किमेतत् पुत्र कुरुषे पालनं न स्वकर्मणः ॥ १२ ॥
अकर्मनिरतः सिद्धिं कथं प्राप्स्यसि तद्वद।
कर्मणोऽस्मान्निवृत्तेः किं कारणं तन्निवेद्यताम् ॥ १३ ॥

कारुण्य उवाच

यावज्जीवमग्निहोत्रं नित्यं संध्यामुपासयेत्।
प्रवृत्तिरूपो धर्मोऽयं श्रुत्या स्मृत्या च चोदितः ॥ १४ ॥
न धनेन भवेन्मोक्षः कर्मणा प्रजया न वा।
त्यागमात्रेण किन्त्वेके यतयोऽश्नन्ति चाऽमृतम् ॥ १५ ॥
इति श्रुत्योर्द्वयोर्मध्ये किं कर्त्तव्यं मया गुरो।
इति सन्दिग्धतां गत्वा तूष्णींभूतोऽस्मि कर्मणि ॥ १६ ॥

वेद और सभी वेदाङ्ग, शास्त्र आदिका पूर्णरूपसे अध्ययन कर वह कारुण्य अपने घर आया ॥ ९, १० ॥

घर आकर वह सन्ध्यावन्दन आदि कोई कर्म नहीं करता था, बल्कि उनमें अनेक तरहके सन्देह करने लगा। अपने पुत्रको यों कर्मरहित अतएव निन्द्य देखकर अग्निवेश्यने उसके हितके लिए ये वचन कहे—

हे वत्स, यह क्या कर रहे हो ? अपने कर्मोंका पालन क्यों नहीं करते ? भला बतलाओ तो सही यदि कर्म न करोगे, तो तुम्हें सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? और यह भी बतलाओ कि तुम्हारी कर्मोंमें प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? ॥ ११–१३ ॥

अपने पिताके यों पूछनेपर कारुण्यने कहा—श्रुति और स्मृतियोंने जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि प्रवृत्तिरूप धर्मोंका विधान या प्रतिपादन किया है। एवं 'धनसे, कर्मसे तथा प्रजाओंके उत्पादनसे अमृतरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता, मुख्य-मुख्य यति लोग एकमात्र त्यागसे मोक्ष प्राप्त करते हैं', ऐसे अर्थका प्रतिपादन करनेवाली 'न धनेन' इत्यादि श्रुति मुक्तिप्राप्तिके लिए केवल त्यागको ही साधन बतलाती है। इसलिए पूज्यवर, इन परस्पर विरुद्ध अर्थोंमें से किसका

अगस्तिरुवाच

इत्युक्त्वा तात विप्रोऽसौ कारुण्यो मौनमागतः ।
तथाविधं सुतं दृष्ट्वा पुनः प्राह गुरुः सुतम् ॥ १७ ॥

अग्निवेश्य उवाच

शृणु पुत्र कथामेकां तदर्थं हृदयेऽखिलम् ।
मत्तोऽवधार्य पुत्र त्वं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८ ॥
सुरुचिर्नाम काचित् स्त्री अप्सरोगण उत्तमा ।
उपविष्टा हिमवतः शिखरे शिखिसंवृते ॥ १९ ॥
रमन्ते कामसन्तप्ताः किन्नर्यो यत्र किन्नरैः ।
स्वर्धुन्योघेन संसृष्टे महाघौघविनाशिना ॥ २० ॥
दूतमिन्द्रस्य गच्छन्तमन्तरिक्षे ददर्श सा ।
तमुवाच महाभागा सुरुचिश्चाऽप्सरोवरा ॥ २१ ॥

सुरुचिरुवाच

देवदूत महाभाग कुत आगम्यते त्वया ।
अधुना कुत्र गन्ताऽसि तत्सर्वं कृपया वद ॥ २२ ॥

मुझे अनुसरण करना चाहिए ? यों सन्देहमें पड़कर मैं कर्मानुष्ठानसे उदासीन हुआ हूँ ॥ १४–१६ ॥

अगस्तिने कहा—भद्र, पितासे यह कह कर कारुण्य चुप हो गया, उसके पिताने चुप-चाप बैठे हुए पुत्रसे कहा ॥ १७ ॥

अग्निवेश्यने कहा—प्रिय पुत्र, मैं तुमसे एक सुन्दर कथा कहता हूँ, उसे सुनो । उसके अर्थका मुझसे निश्चय करके तुम्हें जैसा अच्छा लगे वैसा करना ॥ १८ ॥

अप्सराओंमें अत्यन्त सुन्दरी सुरुचि नामकी एक अप्सरा थी । वह मयूरोंसे आवृत हिमालयके शिखरमें, जहांपर कामसंतप्त किन्नरियाँ किन्नरोंके साथ क्रीडा करती हैं और पापोंका नाश करनेवाला श्रीगङ्गाजीका प्रवाह किलोलें मारता है, बैठी थी । उसने आकाश-मार्गसे जा रहे इन्द्रके दूतको देखा । सुरुचिने दूतसे कहा—

महाभाग, आप कहाँसे आ रहे हैं, अब कहाँ जाते हैं ? यह सब कृपा-

देवदूत उवाच

साधु पृष्टं त्वया सुभ्रु यथावत् कथयामि ते ।
अरिष्टनेमी राजर्षिर्दत्वा राज्यं सुताय वै ॥ २३ ॥
वीतरागः स धर्मात्मा निर्ययौ तपसे वनम् ।
तपश्चरत्यसौ राजा पर्वते गन्धमादने ॥ २४ ॥
कार्यं कृत्वा मया तत्र तत आगम्यतेऽधुना ।
गन्ताऽस्मि पार्श्वे शक्रस्य तं वृत्तान्तं निवेदितुम् ॥ २५ ॥

अप्सरा उवाच

वृत्तान्तः कोऽभवत्तत्र कथयस्व मम प्रभो ।
प्रष्टुकामा विनीताऽस्मि नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

देवदूत उवाच

शृणु भद्रे यथावृत्तं विस्तरेण वदामि ते ।
तस्मिन् राज्ञि वने तत्र तपश्चरति दुस्तरम् ॥ २७ ॥
इत्यहं देवराजेन सुभ्रूराज्ञापितस्तदा ।
दूत त्वं तत्र गच्छाऽऽशु गृहीत्वेदं विमानकम् ॥ २८ ॥
अप्सरोगणसंयुक्तं नानावादित्रशोभितम् ।
गन्धर्वसिद्धयक्षैश्च किन्नराद्यैश्च शोभितम् ॥ २९ ॥

पूर्वक मुझसे कहिये। दूतने कहा—सुन्दरी, आपने बड़ा अच्छा प्रश्न किया। मैं आपके प्रश्नका यथावत् उत्तर देता हूँ। धर्मात्मा राजर्षि अरिष्टनेमि अपने पुत्रको राज्य देकर तप करनेके लिए वनमें गया। वह राजा गन्धमादन पर्वतमें तपस्या कर रहा है। वहाँ कार्य करके मैं आ रहा हूँ और अब वहांका वृत्तान्त कहनेके लिए इन्द्रके पास जाता हूँ ॥१९–२५॥

अप्सराने कहा—भगवन्, वहाँपर कौन घटना हुई, उसे मुझसे कहिए मैं आपसे विनयपूर्वक पूछती हूँ। मेरी अवहेलना न कीजिये ॥२६॥

देवदूतने कहा—हे सुन्दरी, सुनो, मैं विस्तारसे तुम्हें वहांकी घटना सुनाता हूँ। राजा अरिष्टनेमि गन्धमादन पर्वतमें कठिन तपस्या कर रहा है, यह जानकर देवराज इन्द्रने मुझे आज्ञा दी—हे दूत, तुम अप्सराओं और विविध बाजोंसे सुशोभित, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष, किन्नर आदिसे विभूषित विमानको

तालवेणुमृदङ्गादि पर्वते गन्धमादने ।
नानावृक्षसमाकीर्णे गत्वा तस्मिन् गिरौ शुभे ॥ ३० ॥
अरिष्टनेमिं राजानं दूताऽऽरोप्य विमानके ।
आनय स्वर्गभोगाय नगरीममरावतीम् ॥ ३१ ॥

देवदूत उवाच

इत्याज्ञां प्राप्य शक्रस्य गृहीत्वा तद्विमानकम् ।
सर्वोपस्करसंयुक्तं तस्मिन्नद्रावहं ययौ ॥ ३२ ॥
आगत्य पर्वते तस्मिन् राज्ञो गत्वाऽऽश्रमं मया ।
निवेदिता महेन्द्रस्य सर्वाज्ञाऽरिष्टनेमये ॥ ३३ ॥
इति मद्वचनं श्रुत्वा संशयानोऽवदच्छुभे ।

राजोवाच

प्रष्टुमिच्छामि दूत त्वां तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥
गुणा दोषाश्च के तत्र स्वर्गे वद ममाऽग्रतः ।
ज्ञात्वा स्थितिं तु तत्रत्यां करिष्येऽहं यथारुचि ॥ ३५ ॥

देवदूत उवाच

स्वर्गे पुण्यस्य सामग्र्या भुज्यते परमं सुखम् ।
उत्तमेन तु पुण्येन प्राप्नोति स्वर्गमुत्तमम् ॥ ३६ ॥

एवं ताल, मृदङ्ग आदिसे सज्जित सेनाको लेकर अनेक प्रकारके वृक्षोंसे शोभित गन्धमादन पर्वतपर जाओ और राजा अरिष्टनेमिको विमानपर बैठा कर स्वर्ग-सुख भोगनेके लिए अमरावती पुरीमें ले आओ ॥२७—३१॥

देवदूतने कहा—देवराज इन्द्रकी वैसी आज्ञा पाकर सम्पूर्ण सामग्रियोंसे युक्त उस विमानको लेकर मैं उक्त पर्वतपर गया। वहाँ पहुँच कर राजाके आश्रममें जाकर मैंने उनको देवराज इन्द्रकी सब आज्ञा कह सुनाई। हे सुन्दरी, मेरे वचनोंको सुननेके बाद संदेहमें पड़कर राजाने कहा—हे दूत, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये। स्वर्गमें कौन गुण और दोष हैं? उनका मेरे सामने वर्णन कीजिये। मैं उन्हें जानकर जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा॥ ३२—३५ ॥

देवदूतने कहा—राजन्, पुण्यकी सामग्रीके अनुसार मनुष्य स्वर्गमें उत्तम

मध्यमेन तथा मध्यः स्वर्गो भवति नाऽन्यथा ।
कनिष्ठेन तु पुण्येन स्वर्गो भवति तादृशः ॥ ३७ ॥
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं स्पर्धा चैव समैश्च तैः ।
कनिष्ठेषु च सन्तोषो यावत् पुण्यक्षयो भवेत् ॥ ३८ ॥
क्षीणे पुण्ये विशन्त्येतं मर्त्यलोकं च मानवाः ।
इत्यादिगुणदोषाश्च स्वर्गे राजन्नवस्थिताः ॥ ३९ ॥
इति श्रुत्वा वचो भद्रे स राजा प्रत्यभाषत ।

राजोवाच

नेच्छामि देवदूताऽहं स्वर्गमीदृग्विधं फलम् ॥ ४० ॥
अतः परं महोग्रं च तपः कृत्वा कलेवरम् ।
त्यक्ष्याम्यहमशुद्धं हि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ४१ ॥

फल भोगता है । उत्कृष्ट पुण्यसे उत्कृष्ट स्वर्ग मिलता है, मध्यम पुण्यसे मध्यम स्वर्ग मिलता है एवं कनिष्ठ पुण्यसे तदनुरूप कनिष्ठ ही फलभोग मिलता है । इसमें हेरफेर नहीं होता ।

महाशय, पुण्यके तारतम्यके अनुसार स्वर्ग-स्थान और वहाँके सुखका तारतम्य (उत्कर्ष और अपकर्ष) होता है । जिन्हें उत्तम स्वर्ग प्राप्त नहीं है, उनको उत्तम स्वर्गवालोंकी उत्कृष्टता असह्य प्रतीत होती है, समान स्वर्गवाले एक दूसरेके साथ ईर्ष्या, स्पर्धा, विद्वेष आदि करते हैं और उत्तम स्वर्गवाले अपनी अपेक्षा हीनस्वर्गवालोंकी हीनता अर्थात् अल्प सुख देखकर सन्तोष करते हैं । जबतक पुण्य-क्षय नहीं होता, तबतक स्वर्गवासी यों उत्तम, मध्यम और अधम सुखका अनुभव करते काल-यापन करते हैं । तदनन्तर पुण्योंके क्षीण होनेपर इसी मनुष्य-लोकमें आकर जन्मग्रहण करते हैं । महाराज, स्वर्गमें ये ही गुण और दोष विद्यमान हैं ॥ ३६–३९ ॥

हे भद्रे, राजा अरिष्टनेमि स्वर्गके इन गुण और दोषोंको सुनकर बोले— देवदूत, मैं ऐसे स्वर्ग-भोगकी इच्छा नहीं करता, जैसे साँप पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, वैसे ही मैं आजसे महा उग्र तप करके इस घृणास्पद शरीरको छोड़

देवदूत विमानेदं गृहीत्वा त्वं यथाऽऽगतः ।
तथा गच्छ महेन्द्रस्य सन्निधौ त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४२ ॥

देवदूत उवाच

इत्युक्तोऽहं गतो भद्रे शक्रस्याऽग्रे निवेदितुम् ।
यथावृत्तं निवेद्याऽथमहदाश्चर्यतां गतः ॥ ४३ ॥
पुनः प्राह महेन्द्रो मां श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।

इन्द्र उवाच

दूत गच्छ पुनस्तत्र तं राजानं नयाऽऽश्रमम् ॥ ४४ ॥
वाल्मीकेर्ज्ञाततत्त्वस्य स्वबोधार्थं विरागिणम् ।
सन्देशं मम वाल्मीकेर्महर्षेस्त्वं निवेदय ॥ ४५ ॥
महर्षे त्वं विनीताय राज्ञेऽस्मै वीतरागिणे ।
न स्वर्गमिच्छते तत्त्वं प्रबोधय महामुने ॥ ४६ ॥
तेन संसारदुःखार्तो मोक्षमेष्यति च क्रमात् ।
इत्युक्त्वा देवराजेन प्रेषितोऽहं तदन्तिके ॥ ४७ ॥
मयाऽऽगत्य पुनस्तत्र राजा वल्मीकजन्मने ।
निवेदितो महेन्द्रस्य राज्ञा मोक्षस्य साधनम् ॥ ४८ ॥

दूँगा । हे देवदूत, आप इस विमानको लेकर देवराज इन्द्रके समीप जैसे आये थे वैसे वापिस चले जाइये, आपको नमस्कार है ॥४०—४२॥

देवदूतने कहा—सुन्दरी, राजाके यों कहनेपर मैं यह निवेदन करनेके लिए इन्द्रके पास गया । वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था वह सब मैंने देवराज इन्द्रको कह सुनाया । राजा अरिष्टनेमिकी स्वर्गके प्रति विरक्ति देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । फिर महेन्द्रने मधुर वाणीसे मुझसे कहा—

हे दूत, तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त राजाको ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके लिए तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें ले जाओ और महर्षि वाल्मीकिसे मेरा यह सन्देशा कहो कि महर्षिजी, इस विरक्त, विनीत और स्वर्गके प्रति निस्पृह राजाको तत्त्वज्ञानका उपदेश दीजिये । तत्त्वज्ञानके उपदेशसे संसार-दुःखसे पीड़ित यह क्रमशः मुक्तिको प्राप्त होगा । यह कह कर देवराजने मुझे राजाके पास भेजा । मैंने वहाँ जाकर इन्द्रके सन्देशके साथ राजाको

ततो वल्मीकजन्माऽसौ राजानं समपृच्छत ।
अनामयमतिप्रीत्या कुशलप्रश्नवार्त्तया ॥ ४९ ॥

राजोवाच

भगवन् धर्मतत्त्वज्ञ ज्ञातज्ञेय विदांवर ।
कृतार्थोऽहं भवद्दृष्ट्या तदेव कुशलं मम ॥ ५० ॥
भगवन् प्रष्टुमिच्छामि तदविघ्नेन मे वद ।
संसारबन्धदुःखार्तैः कथं मुञ्चामि तद्वद ॥ ५१ ॥

वाल्मीकिरुवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम् ।
श्रुत्वाऽऽवधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ ५२ ॥
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम् ।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध ॥ ५३ ॥

वाल्मीकिजीके समीप उपस्थित किया और राजाने महर्षिसे मोक्षके साधनके विषयमें जिज्ञासा की। तदनन्तर वाल्मीकिजीने राजासे प्रीतिपूर्वक देश, धन, पुत्र, तप आदिके प्रश्न द्वारा आरोग्य-कुशल पूछी ॥४३—४९॥

राजाने कहा—भगवन्, आप सब धर्मोंके तत्त्वोंको जानते हैं और जितने ज्ञातव्य विषय हैं उन सबके आप अभिज्ञ हैं, मैं आपके दर्शनसे कृतार्थ हूँ, यही मेरी कुशल है। भगवन्! इस समय मैं जिज्ञासु और संसारदुःखसे कातर हूँ। जिस भाँति विघ्न न आवे वैसे मुझे तत्त्वका उपदेश दीजिये। जिससे मैं संसार-बन्धनरूप पीडासे मुक्त हो जाऊँ ॥५०,५१॥

वाल्मीकिजीने कहा—राजन्, सुनिए, मैं अखण्डतत्त्व-प्रतिपादक रामायणकी कथा कहूँगा, यत्नपूर्वक उसे सुनकर एवं हृदयमें धारण कर आप जीवन्मुक्त हो जायँगे ॥५२॥

उक्त रामायण वसिष्ठराम-संवादस्वरूप है *। वह मुक्तिका अद्वितीय उपाय और अत्यन्त कल्याणकारी है। हे राजेन्द्र, आप उसे समझनेमें समर्थ हैं और मैं भी उसे जानता हूँ, इसलिए मैं आपको उसे सुनाता हूँ। आप सावधान होकर सुनें ॥ ५३ ॥

---

* वसिष्ठ और रामके संवादसे यह सूचित होता है कि वसिष्ठने रामचन्द्रजीको उपदेश दिया था।

राजोवाच

को रामः कीदृशः कस्य बद्धो वा मुक्त एव वा ।
एतन्मे निश्चितं ब्रूहि ज्ञानं तत्त्वविदां वर ॥ ५४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

शापव्याजवशादेव राजवेशधरो हरिः ।
आहृताज्ञानसम्पन्नः किञ्चिज्ज्ञोऽसौ भवत्प्रभुः ॥ ५५ ॥

राजोवाच

चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे ।
शापस्य कारणं ब्रूहि कः शप्ता चेति मे वद ॥ ५६ ॥

वाल्मीकिरुवाच

सनत्कुमारो निष्काम अवसद् ब्रह्मसद्मनि ।
वैकुण्ठादागतो विष्णुस्त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः ॥ ५७ ॥

राजाने कहा—हे तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, राम कौन हैं, उनका कैसा स्वरूप है, वे किस वंशमें उत्पन्न हुए थे, वे बद्ध थे अथवा मुक्त, पहले आप मुझसे यही निश्चयकर कहनेकी कृपा करें ॥ ५४ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—निग्रहानुग्रहसमर्थ भगवान् श्रीहरिने शाप पालनके बहाने राजाके वेशमें अवतार लिया था। वे सर्वज्ञ होनेपर भी अपने भक्तोंके वाक्योंको सत्य करनेकी इच्छासे साधारण मनुष्योंकी भाँति अज्ञ हो गये थे ॥५५॥

राजाने कहा—भगवन्, अपराधी व्यक्ति ही शापका भाजन होता है एवं अपराध भी अपूर्णकाम और अल्पज्ञ व्यक्ति ही करते हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप और चिद्घनमूर्ति परमेश्वर थे, उन्हें अभिशाप कैसे? अतएव उनके प्रति अभिशाप होनेका कारण क्या था और उनको किसने अभिशाप दिया? यह आप मुझे बतलाइए ॥५६॥

वाल्मीकिजीने कहा—राजन्! कामक्रोधरहित और परम ज्ञानी ब्रह्माके

वसिष्ठ गुरु थे और राम उनके शिष्य। इस कथाने राजर्षिके मनमें सन्देह उत्पन्न कर दिया कि अज्ञ जीव ही ज्ञान-प्राप्तिके लिए शिष्य होता है, किन्तु राम स्वयं सनातन ब्रह्म थे, वे क्यों शिष्य होंगे? वे कौन राम थे, क्या वे राम नामके कोई जीव थे? या भगवान्के अवतार प्रसिद्ध राम थे, ऐसा सन्देह होनेपर राजर्षिने महर्षिसे जिज्ञासा की कि आप किस रामकी कथा कहेंगे उसे मुझसे कहिये।

ब्रह्मणा पूजितस्तत्र सत्यलोकनिवासिभिः ।
विना कुमारं तं दृष्ट्वा ह्युवाच प्रभुरीश्वरः ॥ ५८ ॥
सनत्कुमार स्तब्धोऽसि निष्कामो गर्वचेष्टया ।
अतस्त्वं भव कामार्तः शरजन्मेति नामतः ॥ ५९ ॥
तेनाऽपि शापितो विष्णुः सर्वज्ञत्वं तवाऽस्ति यत् ।
किञ्चित्कालं हि तत्त्यक्त्वा त्वमज्ञानी भविष्यसि ॥ ६० ॥
भृगुभार्यां हतां दृष्ट्वा ह्युवाच क्रोधमूर्च्छितः ।
विष्णो तवाऽपि भार्याया वियोगो हि भविष्यति ॥ ६१ ॥
वृन्दया शापितो विष्णुश्छलनं यत्त्वया कृतम् ।
अतस्त्वं स्त्रीवियोगं तु वचनान्मम यास्यसि ॥ ६२ ॥

मानसपुत्र सनत्कुमार एक समय ब्रह्मलोकमें बैठे थे। उसी समय त्रैलोक्याधिपति भगवान् विष्णु वैकुण्ठसे वहाँ पधारे। सत्यलोकमें निवास करनेवाले अन्यान्य देवताओंके साथ ब्रह्माने अभ्युत्थान आदिसे उनका सत्कार किया। केवल सनत्कुमारने, अपनेको निष्काम समझकर, उनका अभ्युत्थान आदि नहीं किया। यह देखकर भगवान् विष्णुने कहा—सनत्कुमार, तुम अहङ्कारी हो, तुम्हारी चेष्टा गर्वसूचक है, इस कारण तुम कार्तिकेयनामसे विख्यात और कामासक्त होओगे ॥५७—५९॥

यह सुनकर सनत्कुमारने भी अत्यन्त दुःखी होकर विष्णुको यह शाप दिया कि आपको भी सर्वज्ञताका परित्याग कर कुछ काल तक अज्ञ जीवके भाँति रहना पड़ेगा ॥ ६० ॥

महर्षि भृगुने भी विष्णु द्वारा अपनी भार्याका विनाश देखकर क्रोधवश उन्हें यह शाप दिया था कि हे विष्णु, जैसे तुमने मुझे स्त्रीवियोगजनित दुःखसे दुःखित किया, वैसे ही तुम्हें भी स्त्रीवियोगजनित दुःखका अनुभव करना पड़ेगा * ॥ ६१ ॥

पहले विष्णुने जलंधरका रूप † धारण कर उसकी पतिप्राणा भार्या वृन्दाको

* यहांपर यह पौराणिक कथा है कि पूर्व कल्पमें ख्यातिनामकी भृगुपत्नीने विष्णु-शरीरमें लीन होनेके लिए भगवान् विष्णुकी प्रार्थना की थी। भगवान्ने उसकी प्रार्थना पूर्ण की, परन्तु भृगुके मनमें आया कि विष्णुने हमारी स्त्रीका विनाश किया, इसीसे उन्होंने क्षुब्ध होकर विष्णुको उक्त शाप दिया।

† ब्रह्मवैवर्तपुराणमें लिखा है कि गोलोकस्थ सुदामा नामक गोपाल राधाके शापसे जलंधर नामसे

भार्या हि देवदत्तस्य पयोष्णीतीरसंस्थिता ।
नृसिंहवेषधृग्विष्णुं दृष्ट्वा पञ्चत्वमागता ॥ ६३ ॥
तेन शप्तो हि नृहरिर्दुःखार्त्तः स्त्रीवियोगतः ।
तवाऽपि भार्यया सार्धं वियोगो हि भविष्यति ॥ ६४ ॥
भृगुणैवं कुमारेण शापितो देवशर्मणा ।
वृन्दया शापितो विष्णुस्तेन मानुष्यतां गतः ॥ ६५ ॥

विमोहित कर उसका पातिव्रत्य भङ्ग किया, इसलिए वृन्दाने भी उन्हें शाप दिया कि हे विष्णु, तुमने छल करके मेरा पातिव्रत्यभङ्ग किया और मुझे संतापित किया, अतः मेरे वाक्यसे तुमको भी स्त्रीवियोगजनित दुःखका अनुभव करना पड़ेगा ॥ ६२ ॥

भगवान्‌ने जब नृसिंहरूप धारण किया था तब गर्भवती देवदत्तकी भार्याने उनका विकराल स्वरूप देखकर पयोष्णी नदीके किनारे प्राण छोड़ दिये थे । इसलिए उसके स्वामी देवदत्तने भार्याके वियोगसे दुःखी होकर यह शाप दिया कि आपने जैसे मुझे स्त्रीवियोगसे दुःखी किया वैसे ही आप भी कुछ कालके लिए अपने स्वरूपको भूलकर स्त्रीवियोगसे दुःखी होंगे ॥ ६३, ६४ ॥

भक्तवत्सल भगवान्‌ने इस प्रकार भृगु, सनत्कुमार, वृन्दा एवं देवदत्त

उत्पन्न हुआ और तुलसी नामकी गोपी धर्मध्वज राजाकी पत्नीसे उत्पन्न हुई थी । जलंधर ब्रह्माके वरसे अवध्य हो गया था । ब्रह्मा किसीको भी नित्य अमर नहीं करते । मरनेका एक-न-एक निमित्त रख छोड़ते हैं। यही बात उन्होंने जलंधरसे भी कही थी कि तुम्हारी पत्नीके सतीत्वका नाश होनेपर, तुम्हारा मरण होगा, अन्यथा तुमको कोई न मार सकेगा । बलसे गर्वित जलंधरने बलपूर्वक स्वर्गका राज्य छीन लिया । ब्रह्मा, शिव आदि देवगण उसकी हरकतोंको कहनेके लिए वैकुण्ठ गये । भगवान् विष्णुने शिवसे उसके साथ युद्ध करनेके लिए कहा । जलंधरके शिवजीके साथ युद्ध करनेपर भगवान् विष्णु जलंधरके रूपमें उसके घर गये और उसकी पत्नीका सतीत्व नष्ट कर दिया । इस प्रकार जलंधरकी मृत्यु हो गई । वृन्दाको जब जलंधरकी मृत्युके बाद यह वृत्तान्त विदित हुआ, तो उसने विष्णुको पूर्वोक्त शाप दिया । किसी-किसी पुस्तकमें जलंधरके बदले शङ्खचूड़ नाम देखा जाता है । पद्मपुराणमें जलंधरका उपाख्यान दूसरे प्रकारसे लिखा गया है, यह ठीक है, परन्तु उसमें भी उसकी पत्नीका विष्णु द्वारा मोहित होना वर्णित है । दोनों पुराणोंकी कथाओंकी आलोचना करनेसे प्रतीत होता है कि विष्णुने वृन्दाको मोहित किया था और उससे वृन्दाका पातिव्रत्य नष्ट हुआ था । सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ विष्णु पुण्य और पापसे अलिप्त हैं, अतः उनका यह कार्य दोषाधायक नहीं है ।

एतत्ते कथितं सर्वं शापव्याजस्य कारणम् ।
इदानीं वच्मि तत्सर्वं सावधानमतिः शृणु ॥ ६६ ॥

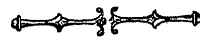
वैराग्यप्रकरणे सूत्रपातनको नाम प्रथमः सर्गः ॥

द्वितीय सर्ग

दिवि भूमौ तथाऽऽकाशे बहिरन्तश्च मे विभुः ।
यो विभात्यवभासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १ ॥

द्वारा अभिशप्त होकर मनुष्यजन्म धारण किया और उनके शापानुसार तत्-तत् कार्य स्वीकार किये । अभिशापरूपी छलका कारण मैंने आपसे कहा । अब मैं प्रस्तावित कथा कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये । भगवान्‌ने अपनी शक्तिके द्वारा शापमोचनमें समर्थ होकर भी भक्तवत्सलताके कारण भक्तोंकी मर्यादाकी रक्षाके लिए तत्-तत् कार्य किये । भृगु और वृन्दाके शापसे उनका स्त्रीवियोग और देवदत्तके शापसे गर्भवती सीतासे वियोग हुआ । महाराज, जिस जिस कारणसे भूतभावन भगवान् अभिशप्त हुये थे, वह सब आपसे मैं कह चुका हूँ । अब मोक्षके उपायभूत साधनोंके विषयमें आपने मुझसे जो जिज्ञासा की है, उसके लिए बाईस हजार श्लोकोंका वासिष्ठनामक महारामायण आपके निकट कहता हूँ ॥ ६५, ६६ ॥

प्रथम सर्ग समाप्त



द्वितीय सर्ग

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि०' इत्यादि पातञ्जल महाभाष्यमें दर्शित श्रुतिके अनुसार रचे जानेवाले महाशास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति और प्रचार आदिके लिए मध्यमें भी सर्वावभासक चिद्घनमूर्ति प्रत्यगभिन्न परब्रह्मका नमस्काररूप मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार इस शास्त्रके विषय और प्रयोजनको भी अर्थतः कहते हैं—'**दिवि**' इत्यादिसे ।

जो स्वर्गमें, भूमिमें, आकाशमें, हमारे अन्दर और बाहर निरन्तर विराजमान है, अर्थात् जिसकी सत्ता और प्रकाशसे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च सत्तावान् और

वाल्मीकिरुवाच

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्याऽस्ति निश्चयः ।
नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान् ॥ २ ॥

प्रकाशित होता है, उस सर्वात्मा और सर्वावभासक परब्रह्म परमात्मको नमस्कार है * ॥ १ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—मैं इस संसाररूप कारागारमें बद्ध हूँ, इससे मुझे मुक्त होना चाहिये, यों जिसको मुक्तिकी प्रबल इच्छा हुई है एवं जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और जो अत्यन्त ज्ञानी भी नहीं है, वही इस शास्त्रके श्रवणमें अधिकारी है। [भाव यह है कि न अत्यन्त ज्ञानी और न अत्यन्त आज्ञानी इस

* इस श्लोकके और भी अनेक अर्थ टीकाकारोंने किये हैं—जैसे 'पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम्' इस श्रुतिमें दर्शाया गया है, वैसे ही इस श्लोकमें दिवि—ब्रह्माण्डके सुवर्णमय ऊपरके कपालमें, भूमौ—ब्रह्माण्डके रजतमय नीचेके कपालमें, आकाशे—उन दोनोंके सन्धिभूत सूक्ष्म आकाशमें ब्रह्माण्डके बाहर और भीतर सूर्य, चन्द्र और अग्निसे भी जो अधिक प्रकाशित होता है, उस सब वस्तुओंके परमार्थस्वरूप अवभासात्मा परमात्माको नमस्कार है।

अथवा दिवि—द्योतनात्मक भूमानन्दरूप तुर्यस्वरूपमें, भूमौ—दो अवस्थाओंकी (स्थूल-सूक्ष्मकी) उत्पत्तिभूमिमें, आकाशे—अव्याकृत आकाशमें, बहिःप्रज्ञ द्वारा भोग्य जाग्रत्में, अन्तः—अन्तःप्रज्ञ द्वारा भोग्य स्वप्नमें एवं मरण, मूर्च्छा आदि अवस्थाओंमें जो स्थूल-सूक्ष्म करणोंके अभिमानी-रूपसे, भोक्तृस्वरूपसे साक्षीरूपसे, और निष्प्रपञ्चपूर्णानन्दचिन्मात्रस्वभावसे नानाप्रकारका प्रतीत होता है, पर वस्तुतः चैतन्यस्वभाव ही है, उस सर्वात्मा परब्रह्मको नमस्कार है।

अथवा कारणोपाधिमें, कर्मबीजके उद्भवस्थान कार्योपाधिमें, मुक्तिदशामें, निरुपाधि स्वरूपमें, एवं माया और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें जो ज्ञानस्वभाव प्रकाशित होता है, उस सर्वोपाधि-शून्य परमात्माको नमस्कार है।

अथवा दिवि—प्रकाशस्वरूप तेजमें, भूमौ—पृथिवीमें, व्योम्नि—आकाशमें, अन्तः—अन्तरालस्थ जल और पवनमें, बहिः—बहिर्भूत अव्याकृतमें तथा निरुपाधिक परमार्थरूपमें जो अनुवृत्त होकर सन्मात्रस्वभाव परमात्मा भासता है, उस अवभासात्मक परमात्माको नमस्कार है।

अथवा बाहर तटस्थरूपको धारण कर पूज्य देवता आदिके रूपसे देवलोकमें, देहके मध्यमें रहकर पूजकरूपसे भूलोकमें और क्रिया, फल, साधन आदिके रूपसे अन्तरालमें स्वरूपकी अज्ञानावस्थामें परिच्छिन्नरूपसे अन्यथा प्रतीत होकर भी तत्त्वदृष्टिके उदित होनेपर जो परिच्छेद-रहित प्रतीत होता है, उस सर्वात्मा त्रिविधपरिच्छेदशून्य परमात्माको नमस्कार है।

अथवा ऊपर, नीचे, मध्यमें, पूर्व आदि दिशाओंमें, शरीरके भीतर, भूत और भविष्यत् कालमें जो अवभासात्मा मुझ तत्त्वज्ञानीको प्रतीत होता है, उस सम्पूर्ण प्रपञ्चके आश्रयभूत परमात्माको नमस्कार है।

कथोपायान्विचार्याऽऽदौ मोक्षोपायानिमानथ ।
यो विचारयति प्राज्ञो न स भूयोऽभिजायते ॥ ३ ॥

शास्त्रका अधिकारी है, यह कहना ठीक है, किन्तु मैं कारागारमें हथकड़ियोंसे बँधे हुए कैदीकी नाईं अनादिकालसे बद्ध होकर परवशता, परिच्छिन्नता, जन्म, जरा, मरण आदि दुःख-सागरमें डूबा हुआ हूँ, इस दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्माको जाननेवाला पुरुष ही दुःखसे विमुक्त होता है) यह श्रुति आत्मज्ञान ही मुक्तिका उपाय है, ऐसा कहती है । इसलिए मैं उस आत्मज्ञानका लाभ कर मुक्त होऊँ इस प्रकारकी उत्कट जिज्ञासासे युक्त जिसका निश्चय है, वह इस शास्त्रका अधिकारी है, ऐसे ही पुरुषको इस शास्त्रके श्रवणका फल मिलता है । निष्कर्ष यह निकला कि अनेक पुण्योंसे जिसके राग आदि दोष क्षीण हो गये हैं और विवेकसे जिसे आत्माकी जिज्ञासा हुई है, ऐसे विशेषरूपसे आत्माको न जाननेवाले अज्ञानीका ही इस शास्त्रमें अधिकार है ।] ॥ २ ॥

शङ्का—जिसके राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसा त्रैवर्णिक इस योगवासिष्ठरूप शास्त्रमें अधिकारी है, ऐसा यदि मानो, तो वह संन्यासपूर्वक वेदान्त-श्रवणमें ही अधिकारी है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि पूर्वकाण्डके (कर्मकाण्डके) अनुष्ठानसे चित्तके शुद्ध होनेपर ही उत्तरकाण्डमें (वेदान्तमें) अधिकार प्राप्त होता है, ऐसा 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है । और जो त्रैवर्णिक नहीं है, उसका अधिकार भी इसमें नहीं हो सकता, क्योंकि 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि श्रुतिसे उसके अधिकारका निषेध किया गया है । इस परिस्थितिमें इस शास्त्रका अधिकारी कैसे सुलभ होगा?

समाधान—आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे त्रैवर्णिकका त्रेताग्निसाध्य (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियोंसे साध्य) कर्ममें अधिकार होनेपर भी जो अनाहिताग्नि (जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है) हैं, ऐसे पुरुषों द्वारा अनुष्ठेय स्मार्त कर्ममें भी अधिकार है ही, वैसे ही श्रौतज्ञानके अधिकारीका भी असंन्यासी मुमुक्षु पुरुषोंके अधिकारके समान इस ग्रन्थमें भी अधिकार है । और यह अधिकार तभीतक है, जबतक अज्ञान रहता है, क्योंकि यह योगवासिष्ठ शास्त्र स्मृतिके समान वेदार्थको ही विशद करता है । कहा भी है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामयणात्मना ॥

अर्थात् केवल वेदोंसे जानने योग्य दशरथनन्दन परमपुरुष भगवान् रामचन्द्रजीके आविर्भूत होनेपर वाल्मीकि महर्षि द्वारा रामायणके रूपमें साक्षात् वेदका ही आविर्भाव हुआ ।

उसमें श्रीरामचन्द्रजीकी कथा द्वारा पूर्वरामायणमें उत्तरकाण्डसहित छः काण्डोंसे कर्मकाण्डका निरूपण किया है और इस उत्तररामायणमें याने योगवासिष्ठमें छः प्रकरणों द्वारा ज्ञानकाण्डका निरूपण किया है । इस परिस्थितिमें यह निष्कर्ष निकला कि जैसे कुछ स्मार्त कर्मोंमें स्त्री-शूद्रसाधारण—त्रैवार्णिकोंके साथ स्त्री, शूद्र आदिका भी—अधिकार देखा जाता है, वैसे ही इस ग्रन्थके श्रवणमें भी पुराणश्रवणके समान त्रैवर्णिकात्रैवर्णिकसाधारण मुमुक्षुओंका अधिकार है । इस अर्थमें प्रमाणभूत 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाकर चारों वर्णोंको [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंको] पुराण सुनावे), 'जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्' (शूद्रजन भी महत्ता प्राप्त कर सकता है) इत्यादि वचन हैं ।

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेदको न जाननेवाला उस बड़ी वस्तुको—परमात्माको—नहीं पा सकता), 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उस उपनिषदेकगम्य पुरुषके विषयमें पूछता हूँ) इत्यादि वचनोंका 'वेदको न जाननेवालेका श्रौत ज्ञानमें अधिकार नहीं है', इसी अर्थमें तात्पर्य है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वेदानभिज्ञको अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता' इस अर्थमें उनका तात्पर्य है । कुछ लोगोंका अभिप्राय यह है कि वेदपूर्वक प्राप्त हुआ आत्मज्ञान प्रशस्त होता है, यही उन वाक्योंसे प्राप्त होता है । जो भी हो, परन्तु 'स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्मा वर्णैस्तथाऽऽश्रमैः' इत्यादि अनेक वचनोंसे ज्ञात होता है कि पुराणश्रवणसे उत्पन्न साधारण ज्ञानमें औरोंका भी (त्रैवर्णिकेतरोंका भी) अधिकार है । अधिकारके सिद्ध होनेपर श्रौत आत्मज्ञानमें जैसे कर्मकाण्डमें प्रतिपादित कर्मोंके अनुष्ठानसे उत्पन्न चित्तकी शुद्धि हेतु है, वैसे ही यहाँपर भी पूर्वरामायणमें प्रदर्शित स्व-स्व वर्ण और आश्रमके कर्मोंके अनुष्ठानसे होनेवाली चित्तकी शुद्धि जिज्ञासाके उत्पादन द्वारा हेतु है, यों पूर्व और उत्तररामायणमें

अस्मिन् रामायणे रामकथोपायान् महाबलान् ।
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराऽहमरिमर्दन ॥ ४ ॥

हेतुहेतुमद्भावसङ्गतिका प्रदर्शन करते हुए सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्तिरूप अन्य प्रयोजन दिखलाते हैं—'**कथोपायान्**' इत्यादिसे ।

पहले जिसमें कथारूप उपाय हैं उस रामचरितवर्णनात्मक पूर्वरामायणका विचार कर जो मोक्षके उपायभूत इन छः प्रकरणोंका विचार करता है, वह बुद्धिमान् इस संसारमें पुनः जन्म आदि दुःखको प्राप्त नहीं होता । तात्पर्य यह है कि पूर्वरामायणमें जिस मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कथाका वर्णन किया गया है, वह कथा ही ज्ञानाधिकारको प्राप्त करानेवाले धर्म-तत्त्वज्ञान, धर्मका अनुष्ठान ईश्वरमें विश्वासके प्रति उपाय—हेतु—है अर्थात् सारी रामयणकी कथा सुननेके बाद मनुष्यको धर्मका यथार्थ ज्ञान होता है, फिर वह उसका अनुष्ठान करता है और अनुष्ठानसे निर्मलचित्त होनेपर ईश्वरमें उसे विश्वास होता है, इन तीनोंके होनेपर वह ब्रह्म-ज्ञानका अधिकारी होता है। अतः जिसमें भगवान् की कथाका सविस्तर वर्णन किया है, उस पूर्वरामाणका पहले खूब अभ्यास और परिशीलन करनेके बाद जो पुरुष इस योगवासिष्ठमें मोक्षके लिए बतलाये गये छः प्रकरणोंका विचार करेगा उसका फिर इस अनेकविध दुःखोंसे भरे हुए संसारमें आगमन नहीं होगा अर्थात् वह मुक्त हो जायगा* ॥ ३ ॥

हे शत्रुनाशक, पहले छप्पन हजार श्लोकपरिमित पूर्व और उत्तर दो खण्डोंसे युक्त इस रामायणके अनादिकालसे अभ्यस्त राग, द्वेष आदि दोषोंको दूर करनेवाले उत्तम-उत्तम उपदेशोंसे पूर्ण होनेके कारण महाबलवान् (महा-सामर्थ्यसे युक्त) रामकथारूप (रामचरितवर्णनरूप) पूर्वखण्डकी (चौबीस हजार श्लोकपरिमित उत्तरकाण्डसहित छः काण्डोंकी)रचना कर मैंने उसे अनुग्रह और

* मूलमें जो कथोपायशब्द आया है, उसका अर्थ सप्तकाण्डयुक्त पूर्वरामायण (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड इत्यादि क्रमसे सात काण्डोंसे युक्त रामायण) है । यह अर्थ "जिस ग्रन्थकी कथामें महर्षि वाल्मीकिजीने धर्मतत्त्वज्ञान, धर्मानुष्ठान और ईश्वरप्रपत्तिका निर्वाणज्ञानके उपायरूपसे वर्णन किया है वह कथोपाय है" इस व्युत्पत्तिके द्वारा लब्ध होता है । पहले सात काण्डोंसे युक्त पूर्वरामायणका श्रवण और उसके अर्थ या उसके उद्देश्यका विचार किया जाता है । उससे शम, दम आदि सिद्धि और सगुण ब्रह्मका आपाततः ज्ञान होता है तदनन्तर मनुष्य निर्गुण तत्त्वका अधिकारी होता है । वैसे अधिकारीके लिए ही वेदान्तवेद्यपरब्रह्मप्रतिपादक इस ग्रन्थका उपदेश है ।

शिष्यायाऽस्मि विनीताय भरद्वाजाय धीमते ।
एकाग्रो दत्तवांस्तस्मै मणिमब्धिरिवाऽर्थिने ॥ ५ ॥
तत एते कथोपाया भरद्वाजेन धीमता ।
कस्मिंश्चिन्मेरुगहने ब्रह्मणोऽग्र उदाहृताः ॥ ६ ॥
अथाऽस्य तुष्टो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
वरं पुत्र गृहाणेति तमुवाच महाशयः ॥ ७ ॥

भरद्वाज उवाच

भगवन् भूतभव्येश वरोऽयं मेऽद्य रोचते ।
येनेयं जनता दुःखान्मुच्यते तदुदाहर ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्मोवाच

गुरुं वाल्मीकिमत्राऽऽशु प्रार्थयस्व प्रयत्नतः ।
तेनेदं यत्समारब्धं रामायणमनिन्दितम् ॥ ९ ॥

प्रेमसे एकाग्रचित्त होकर जैसे सागर रत्नार्थीको रत्न देता है, वैसे ही विनीत और मेधावी अपने प्रिय शिष्य भरद्वाजको दिया ॥ ४,५ ॥

मेधावी भरद्वाजने मुझसे पूर्वरामायणको प्राप्त कर सुमेरु पर्वतस्थ किसी वनमें उसे ब्रह्माको सुनाया ॥ ६ ॥

उसे सुनकर सबके पितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाजके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए और वरदानके बहाने जगत्के उद्धारके साधन मोक्षशास्त्रकी रचना करनी चाहिये, यों उत्तम आशयवाले ब्रह्माने भरद्वाजसे कहा—हे पुत्र, वर मांगो ॥ ७ ॥

भरद्वाजने कहा—हे भगवन्, हे भूत, भविष्यत् और वर्तमानके स्वामी, जिससे यह जनता दुःखसे मुक्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। इसी वरमें मेरी अभिरुचि है॥८॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है इस विषयमें अपने गुरु श्रीवाल्मीकिजीके निकट जाकर उनसे प्रयत्नसे विनयपूर्वक प्रार्थना करो। उन्होंने जिस अनिन्दित (निर्दोष) रामायणका आरम्भ किया है उसीका श्रवण करनेपर अधिकारी मनुष्य सम्पूर्ण मोहको (अनादि अविद्याजन्य अज्ञानको) पार कर जायँगे। जैसे लोग महागुणशाली रामसेतु* द्वारा महापापसागरको पार

* श्रीरामचन्द्रनिर्मित सेतु, जो सेतुबन्ध रामेश्वरके नामसे प्रसिद्ध है। शास्त्रमें लिखा है कि रामसेतुका दर्शन करके जीवके ब्रह्महत्या आदि सब पाप छूट जाते हैं—

'सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।'

चूँकि रामसेतु सब पापोंको छुड़ाता है, इसलिए वह महागुणशाली कहा गया है।

तस्मिञ्छ्रुते नरो मोहात्समग्रात्सन्तरिष्यति ।
सेतुनेवाऽम्बुधेः पारमपारगुणशालिना ॥ १० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा स भरद्वाजं परमेष्ठी मदाश्रमम् ।
अभ्यागच्छत समं तेन भरद्वाजेन भूतकृत् ॥ ११ ॥
तूर्णं संपूजितो देवः सोऽर्घ्यपाद्यादिना मया ।
अवोचन्मां महासत्त्वः सर्वभूतहिते रतः ॥ १२ ॥
रामस्वभावकथनादस्माद् वरमुने त्वया ।
नोद्वेगात् स परित्याज्य आसमाप्तेरनिन्दितात् ॥ १३ ॥
ग्रन्थेनाऽनेन लोकोऽयमस्मात् संसारसंकटात् ।
समुत्तरिष्यति क्षिप्रं पोतेनेवाऽऽशु सागरात् ॥ १४ ॥

कर जाते हैं वैसे ही महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित उत्तररामायणके श्रवणसे ही दुस्तर मोहसागर अर्थात् इस संसारमहासागरको अनायास तर जायँगे ॥ ९,१० ॥

वाल्मीकिजीने कहा—भगवान् ब्रह्मा भरद्वाजसे यह कहकर उसके साथ मेरे आश्रममें आये । मैंने शीघ्र ही देवाधिदेव ब्रह्माजीकी अभ्युत्थान, अर्घ्य, पाद्य आदि द्वारा पूजा की । तदनन्तर सब प्राणियोंके हितैषी अतः सत्त्वगुणसम्पन्न* ब्रह्माजी मुझसे कहने लगे ॥ ११,१२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, पवित्रतम निर्दोष रामचरितवर्णनरूप रामायणका आरम्भ करके [यद्यपि आपको विस्तृत ग्रन्थकी रचनामें बड़ा क्लेश होगा तथापि] जबतक उसकी समाप्ति न हो तबतक उसे न छोड़ दीजिए, उसे अवश्य ही पूरा कर डालिए ॥ १३ ॥

हे महर्षे, जैसे शीघ्रगामी जहाज द्वारा दुर्लङ्घ्य महासागर अनायास उत्तीर्ण हो जाता है वैसे ही सब लोग इस उत्तररामायण द्वारा इस संसाररूप संकटसे† छुटकारा पा जायँगे ॥ १४ ॥

---

* यद्यपि सृष्टिके समय ब्रह्मामें रजोगुणकी अधिकता रहती है तथापि उस समय जगत्के उद्धारके लिए करुणायुक्त होनेके कारण उनमें सत्त्वगुणकी प्रचुरता हो गई, इसीलिए उन्हें 'महासत्त्व' कहा ।

† 'संसारसंकटात्' इस अपादान पञ्चमीसे, जिसने इसे पार कर लिया, उसके संसारका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है, उसे फिर संसार प्राप्ति नहीं होती, यह सूचित होता है ।

वक्तुं तदेवमेवाऽर्थमहमागतवानयम् ।
कुरु लोकहितार्थं त्वं शास्त्रमित्युक्तवानजः ॥ १५ ॥
मम पुण्याश्रमात्तस्मात् क्षणादन्तर्द्धिमागतः ।
मुहूर्त्ताभ्युत्थितः प्रोच्चैस्तरङ्ग इव वारिणः ॥ १६ ॥
तस्मिन् प्रयाते भगवत्यहं विस्मयमागतः ।
पुनस्तत्र भरद्वाजमपृच्छं स्वस्थया धिया ॥ १७ ॥
किमेतद् ब्रह्मणा प्रोक्तं भरद्वाज वदाऽऽशु मे ।
इत्युक्तेन पुनः प्रोक्तं भरद्वाजेन तेन मे ॥ १८ ॥

भरद्वाज उवाच

एतदुक्तं भगवता यथा रामायणं कुरु ।
सर्वलोकहितार्थाय संसारार्णवतारकम् ॥ १९ ॥

इसीलिए हमारा अनुरोध है, आप लोगोंके हितके लिए इस रामायण महाशास्त्रको शीघ्र प्रकाशित कीजिए। यह कहनेके लिए * ही मैं † आपके पास आया हूँ ॥ १५ ॥

जैसे क्षणभरके लिए जलराशिसे उठी ऊँची लहर उसी क्षणमें जलमें लीन हो जाती है वैसे ही भगवान् ब्रह्मा यह कह कर उसी क्षणमें मेरे उस पवित्र आश्रमसे अन्तर्हित हो गये ॥ १६ ॥

ब्रह्माजीके आनेपर मुझे अत्यन्त विस्मय हो गया था, इसलिए उस समय मैं उनके वाक्यका मर्म नहीं समझ सका। उनके चले जानेपर मैंने चित्तमें स्वस्थता प्राप्त कर स्वस्थ बुद्धिसे वहांपर स्थित भरद्वाजसे पूछा ॥ १७ ॥

वत्स भरद्वाज, ब्रह्माजीने यह क्या कहा ? उसे मुझसे शीघ्र कहो। मेरे यों पूछनेपर भरद्वाजने मुझसे फिर कहा ॥ १८ ॥

भरद्वाजने कहा—महर्षे, भगवान् ब्रह्माने कहा कि आपने जैसे पहले चित्तको विशुद्ध करनेवाले रामायणकी रचना की, इस समय भी वैसे ही सब लोगोंके हितके लिए संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिए नौकारूप उत्तर रामायणकी रचना कीजिए। [पूर्वरामायण चित्तशुद्धिजनक होनेके कारण लोकहितकारी है,

---

* भाव यह है कि भरद्वाजके द्वारा आदेश या सन्देश भेजा जा सकता था, पर यह मैंने उचित नहीं समझा। कार्यकी गुरुताका ध्यान रखते हुए मैं स्वयं ही आपके पास आया हूँ।

† जगत्पूज्यब्रह्मा।

मह्यं च भगवन् ब्रूहि कथं संसारसंकटे ।
रामो व्यवहृतो ह्यस्मिन् भरतश्च महामनाः ॥ २० ॥
शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चापि सीता चापि यशस्विनी ।
रामानुयायिनस्ते वा मन्त्रिपुत्रा महाधियः ॥ २१ ॥
निर्दुःखितां यथैते नु प्राप्तास्तद् ब्रूहि मे स्फुटम् ।
तथैवाहं भविष्यामि ततो जनतया सह ॥ २२ ॥
भरद्वाजेन राजेन्द्र वदेत्युक्तोऽस्मि सादरम् ।
तदा कर्तुं विभोराज्ञामहं वक्तुं प्रवृत्तवान् ॥ २३ ॥
शृणु वत्स भरद्वाज यथापृष्टं वदामि ते ।
श्रुतेन येन संमोहमलं दूरे करिष्यसि ॥ २४ ॥
तथा व्यवहर प्राज्ञ यथा व्यवहृतः सुखी ।
सर्वासंसक्तया बुद्ध्या रामो राजीवलोचनः ॥ २५ ॥

उत्तररामायण मुक्तिप्रद होनेके कारण लोकहितकारी है, इसलिए लोक-हितार्थत्व दोनोंमें समान है] ॥ १९ ॥

भगवन् ! इस विषयमें मेरी भी एक प्रार्थना है कि महामना रामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीता, महाबुद्धि रामानुयायी मन्त्रिपुत्र आदि अन्यान्य परिवारके लोगोंने इस संसारसंकटमें किस प्रकार व्यवहार किया? उसको कहिये । उन लोगोंने अज्ञानी जीवकी तरह शोकयुक्त होकर कालयापन किया था या वे मुक्त जीवकी तरह असंग रहे थे ? ॥ २०,२१ ॥

भगवन्, किस प्रकार उन्होंने दुःखमार्गका अतिक्रमण किया था, मुझे उसका विशदरूपसे उपदेश दीजिए । मैं और संसारके अन्य मानव (आपके उपदेशश्रवणसे कृतार्थ जनता) हम सभी वैसे ही आचरण करेंगे और वैसे आचरण कर संसारसंकटसे मुक्ति प्राप्त करेंगे ॥ २२ ॥

महाराज, भरद्वाजने बड़े आदरके साथ मुझसे कहनेके लिए अनुरोध किया तब मैं भगवान् ब्रह्माके आज्ञानुसार उससे कहनेके लिए प्रवृत्त हुआ । मैंने कहा—वत्स भरद्वाज, जो तुमने मुझसे पूछा है, उसे मैं विस्तारसे तुमसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनो । उसके सुननेसे तुम्हारा आत्मतत्त्वका अपरिज्ञानरूप मल दूर हो जायगा और मनकी वृत्ति निर्मल हो जायगी ॥ २३,२४ ॥

महामते भरद्वाज, कमलनयन राम सम्पूर्ण विषयोंको मिथ्या समझ कर

लक्ष्मणो भरतश्चैव शत्रुघ्नश्च महामनाः ।
कौसल्या च सुमित्रा च सीता दशरथस्तथा ॥ २६ ॥
कृतास्त्रश्चाऽविरोधश्च बोधपारमुपागताः ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणोऽष्टौ तथेतरे ॥ २७ ॥
धृष्टिर्जयन्तो भासश्च सत्यो विजय एव च ।
विभीषणः सुषेणश्च हनुमानिन्द्रजित्तथा ॥ २८ ॥
एतेऽष्टौ मन्त्रिणः प्रोक्ताः समनीरागचेतसः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ॥ २९ ॥
एतैर्यथा हुतं दत्तं गृहीतमुषितं स्मृतम् ।
तथा चेद्वर्तसे पुत्र मुक्त एवाऽसि संकटात् ॥ ३० ॥
अपारसंसारसमुद्रपाती लब्ध्वा परां युक्तिमुदारसत्त्वः ।
न शोकमायाति न दैन्यमेति गतज्वरस्तिष्ठति नित्यतृप्तः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
सूत्रपातनिको नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

उनमें आसक्तिका त्यागकर जैसे लोकयात्राका निर्वाह करनेसे सुखी हुए थे, तुम भी वैसे ही व्यवहार करो, वैसा करनेसे सुखी हो सकोगे ॥ २५ ॥

महामना लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, सीता, दशरथ एवं रामके मित्र कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव, ये सभी परमज्ञानी थे। रामचन्द्रजीके धृष्टि, जयन्त, भास, सत्य अर्थात् सत्यवक्ता विजय, विभीषण, सुषेण, हनुमान् और सुग्रीवका अमात्य इन्द्रजित्—ये आठ मन्त्री भी महामना, जितेन्द्रिय, समदर्शी, विषयोंमें आसक्तिसे रहित, प्राप्त आरब्ध कर्मोंके नाशकी प्रतीक्षा करनेवाले एवं जीवन्मुक्त थे।

हे वत्स भरद्वाज, ये लोग जिस प्रकार और जिस भावसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये होम, दान आदि श्रौत-स्मार्त कर्म, आदान, प्रदान आदि लौकिक सब व्यवहार और इष्टचिन्तन आदि विहित कर्मका अनुष्ठान करते थे, तुम भी यदि वैसे ही कर सको, तो तुम भी अनायास संसाररूपी संकटसे मुक्त हो जाओगे ॥ ३० ॥

अधिक क्या कहूँ, उत्कृष्ट ज्ञानबलसे युक्त व्यक्ति अपार संसारसागरमें गिरनेपर भी इस परम योगको प्राप्त कर इष्टवियोगसे उत्पन्न शोक, दुःख, दीनता आदि सङ्कटोंसे मुक्त होकर नित्य तृप्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीयः सर्गः

भरद्वाज उवाच

जीवन्मुक्तस्थितिं ब्रह्मन् कृत्वा राघवमादितः ।
क्रमात् कथय मे नित्यं भविष्यामि सुखी यथा ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥ २ ॥

तृतीय सर्ग

जैसे जीवन्मुक्त श्रीरामचन्द्र आदिने व्यवहार किया था वैसे ही तुम भी व्यवहार करो, ऐसा पूर्व सर्गमें कहा। भरद्वाज जीवन्मुक्तस्थितिकी प्राप्तिके क्रमके वर्णनके श्रवण द्वारा ही श्रीरामजीकी जीवन्मुक्तस्थिति-प्राप्तिके उपायकी जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं—'**जीवन्मुक्त०**' इत्यादिसे ।

भरद्वाजने कहा—हे ब्रह्मन्, आप रामचन्द्रजीकी कथाका अवलम्बन कर (वर्णनीयरूपसे प्रधान बनाकर) जीवन्मुक्तकी स्थितिका अर्थात् लक्षण और लौकिक-वैदिक व्यवहारका वर्णन कीजिए, उसका श्रवण करके मैं परम सुखी होऊँगा* ॥ १ ॥

भरद्वाजके यों पूछनेपर महर्षि वाल्मीकिजी जीवन्मुक्तिका लक्षण, स्वरूप, साधन और फल द्वारा जीवन्मुक्तस्थितिका विस्तारसे वर्णन करनेकी इच्छासे सुखपूर्वक ज्ञान होनेके लिए पहले संक्षेपसे मुक्तिका लक्षण और स्वरूप दिखलाते हैं—'**भ्रमस्य**' इत्यादिसे ।

* टीकाकारोंने इस श्लोकके और प्रकारसे भी अर्थ किये हैं। जैसे—हे ब्रह्मन्, श्रीरामचन्द्रजी क्रमसे जीवन्मुक्त हुए थे, ऐसी कल्पना कर मुझसे पहलेसे कहिये, जिस क्रमसे मैं नित्य सुखी होऊँ।
अथवा संवाद-कथामें श्रीरामचन्द्रजीको पहलेसे प्रश्नकर्ता और श्रीवसिष्ठजीको वक्ता बनाकर जैसे श्रुति जनक और याज्ञवल्क्यकी कल्पना करके स्वयं ही संवादरूपसे तत्त्वका बोध कराती है वैसे ही आप भी मुझे तत्त्वज्ञान कराइए। इस प्रकार तत्त्वज्ञरूपसे कल्पित दशरथ आदिकी पूर्वरामायणमें मूढचर्या और मुक्तिका अभाव देखने एवं नित्यमुक्त श्रीरामचन्द्रजीके 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' इत्यादि श्रुतिसे विरुद्ध शापमूलक अज्ञत्व आदिके वर्णनसे भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि जैसे अनादि जीवको ब्रह्माभेदबोध करानेके लिए श्रुतिमें ब्रह्ममें कार्योपाधिप्रवेश द्वारा आगन्तुक जीवभावकी कल्पना की गई है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिये, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नाऽनुभूयते ।
कदाचित्केनचिन्नाम स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ।। ३ ।।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—वत्स भरद्वाज, जैसे भ्रमवश रूपरहित आकाशमें नील, पीत आदि वर्णोंका भान होता है वैसे ही अज्ञानवश ब्रह्ममें जगत्‌का भ्रम होता है। इसलिए प्रमाण और अनुभवसे मैंने निश्चय किया है कि नीरूप आकाशमें नील, पीत आदि वर्णोंकी भाँति ब्रह्ममें कल्पित अत्यन्त असम्भावित जगत्‌का समूल अविद्या और उसके संस्कारके नाश द्वारा जैसे फिर स्मरण ही न हो उस प्रकार विस्मरण होना ही सबसे उत्कृष्ट मुक्तिका लक्षण और स्वरूप है* ।। २ ।।

पूर्व श्लोकमें 'मन्ये' पदसे मुक्तिके लक्षण और स्वरूप स्वानुभवसिद्ध दिखलाये, उनका अनुभव हमें क्यों नहीं होता ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'दृश्य०'** इत्यादिसे ।

भरद्वाज, जबतक दृश्यके अत्यन्ताभावका ज्ञान नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च भ्रान्तिकल्पित है, अतएव अत्यन्त असत् है, यह ज्ञान जबतक दृढ़तापूर्वक नहीं होता तबतक कोई भी किसी प्रकार मुक्तिके लक्षण और स्वरूपका

* यद्यपि परोक्षज्ञानीको भी सुषुप्तिमें और निर्विकल्पक समाधिमें दृश्यका विस्मरण होता है तथापि वह विस्मरण अपुनःस्मरण नहीं है अर्थात् उसे सुषुप्ति और समाधिके अनन्तर फिर ब्रह्ममें जगत्‌का भ्रम होता है ।

अथवा पुनःस्मरणका अर्थ 'पुनः स्मर्यतेऽनेन—फिर जिससे स्मरण किया जाय—' इस व्युत्पत्तिसे अन्तःकरण है । उक्त अन्तःकरण जिसमें नहीं है ऐसा विस्मरण—स्मरणका अभाव । यह द्वैतके प्रतिभासमात्रके अभावका उपलक्षण है ।

अथवा विस्मरणके समान विस्मरण यह अर्थ है । जैसे विस्मृत विषयकी अनुभवकर्ताके रहनेपर भी प्रतीति नहीं होती वैसे ही चैतन्यके रहते हुए ही दृश्यकी अप्रतीति विस्मरण है ।

शङ्का—क्या परमार्थ सत्य ही दृश्यकी जैसे सांख्योंकी अभिमत मुक्तिमें अप्रतीति होती है वैसे ही आपके अभिमत मुक्तिमें भी अप्रतीति होती है ।

समाधान—नहीं, हमारे मतमें जगत् परमार्थ सत्य नहीं है, वह ब्रह्ममें अध्यस्त है ।

शङ्का—वह भ्रम कैसे है, क्योंकि वह संस्कारसे जन्य नहीं है ।

समाधान—वह पूर्व-पूर्व जगत्‌के व्यवहारसे उत्पन्न संस्कारसे जन्य है ।

शङ्का—दोषसे उत्पन्न न होने और अधिष्ठानशून्य होनेसे वह भ्रम नहीं है ।

समाधान—जैसे दूरत्व और अविचाररूप दोषसे आकाशमें वर्णका भ्रम होता है वैसे ही अविद्यारूप दोषसे ब्रह्ममें जगत्‌का भ्रम होता है ।

दृश्यका आत्यन्तिक उच्छेद मुक्तिका लक्षण है और आत्यन्तिक दृश्यविनाशसे उपलक्षित चिन्मात्रमें अवस्थान मुक्तिका स्वरूप है, यह निष्कर्ष निकला ।

स चेह संभवत्येव तदर्थमिदमाततम् ।
शास्त्रमाकर्णयसि चेत्तत्त्वमाप्स्यसि नाऽन्यथा ॥ ४ ॥
जगद्भ्रमोऽयं दृश्योऽपि नास्त्येवेत्यनुभूयते ।
वर्णो व्योम्नि इवाऽखेदाद्विचारेणाऽमुनाऽनघ ॥ ५ ॥
दृश्यं नाऽस्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ६ ॥

ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जगत्के अधिष्ठान प्रत्यगभिन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्से ही दृश्यका अत्यन्त बाध हो सकता है। इसलिए अविसंवादी आत्मज्ञानको उपायसे प्राप्त करो ॥ ३ ॥

उसकी प्राप्तिका कौन उपाय है? इसपर कहते हैं—**'स चेह'** इत्यादिसे। वत्स, इस योगवासिष्ठरूप शास्त्रके ज्ञात होनेपर उक्त ज्ञान असम्भव नहीं है, बल्कि संभव ही है। इस उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका निर्माण आरम्भ किया है। यदि तुम जबतक तत्त्वका निर्णय न हो, तबतक भक्ति और श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करो, तो अवश्य ही तुम्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा, अन्यथा कदापि भ्रमका संशोधन नहीं होगा। भ्रमसंशोधन हुए बिना तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

उक्त अर्थको ही अधिक विशद करते हैं—**'जगत्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

हे अनघ, यह जगत् वस्तुतः मिथ्या है, यह आकाशमें नील, पीत आदि वर्णोंकी भाँति आपाततः सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु इस ग्रन्थमें दर्शित विचारसे सहजमें ही यह असत् (मिथ्या) है, यह प्रतीत हो जाता है ॥ ५ ॥

'अनुभूयते' इससे उक्त अनुभव क्या आत्मचैतन्य ही है या अन्य है? अन्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि चित्से अन्य, जड़ और विषय होनेसे, अनुभवके योग्य नहीं है। यदि आत्मा ही अनुभव है, तो वह पहले ही विद्यमान है, फिर शास्त्रकी क्या आवश्यकता? ऐसी शङ्कापर कहते हैं—**"दृश्य०"** इत्यादिसे।

यद्यपि आत्मा ही अनुभव है तथापि वह दृश्यके साथ समिलित है, अतः उसका अनुभव नहीं होता, किन्तु मनकी वृत्तिरूप आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप बोध द्वारा अविद्याका नाश होनेसे अविद्याजन्य दृश्य तीनों कालोंमें भी नहीं है, अर्थात् वह मायावीकी मायाके समान तीनों कालोंमें मिथ्या है। जो उसका द्रष्टा है वही सत्य है। यह सत् आत्मा ही सर्वत्र विराजमान और प्रकाशमान है।

अन्यथा शास्त्रगर्तेषु लुठतां भवतामिह ।
भवत्यकृत्रिमाज्ञानां कल्पैरपि न निर्वृतिः ॥ ७ ॥
अशेषेण परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते ब्रह्मन् स एव विमलक्रमः ॥ ८ ॥
क्षीणायां वासनायां तु चेतो गलति सत्वरम् ।
क्षीणायां शीतसंतत्यां ब्रह्मन् हिमकणो यथा ॥ ९ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्माके सिवा जो कुछ दिखाई देता है, वह सब जड़ अतएव आत्मामें कल्पित और मिथ्या है, इस प्रकार दृश्य वस्तुका मार्जन अर्थात् अस्तित्वपरिहार हो जाय, तो नित्यसिद्ध आत्मरूप भी परमनिर्वृति (निर्वाण नामक मोक्ष) उस ज्ञानसे उत्पन्न-सी होती है। उक्त वृत्तिसे हुआ केवल स्वरूपभूत अनुभव शास्त्रका फल है, यह भाव है ॥ ६ ॥

अन्य शास्त्रोंमें दर्शित उपायोंसे ही मुक्ति क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—**'अन्यथा'** इत्यादिसे ।

अन्यथा—पूर्वोक्त उपायका ग्रहण न करनेपर—अनादि अज्ञानसे अन्धे, अनात्माका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्ररूपी गड्ढोंमें ठोकर खा रहे—रागान्ध जनोंके पतनके कारणभूत गर्ततुल्य तत्-तत् शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट उपायोंसे ऐहिक और पारलौकिक विषयोंमें आसक्त होकर आचरण कर रहे—अतएव विषयोंके उपभोगके लिए बार बार जन्म ग्रहण कर रहे मूर्खोंको अनन्त ब्रह्मकल्पोंसे भी निर्वृति (निर्वाण मोक्ष) नहीं मिल सकती । भाव यह कि अनादि अज्ञानकी ज्ञानसे अतिरिक्त हजारों साधनोंसे भी निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

उपासना आदि अन्य उपायोंसे प्राप्त होनेवाले सालोक्य आदि और भी मोक्ष हैं, उनसे निर्वृति क्यों नहीं होगी ? इसपर कहते हैं—**'अशेषेण'** इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, निश्शेषरूपसे वासनाओंका (जन्मके बीजोंका) जो परित्याग (मूलोच्छेद) है, वह उत्तम (मुख्य*) मोक्ष कहा जाता है। उक्त मुख्य मोक्षको अविद्यारूप मलसे रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं ॥ ८ ॥

वासनाओंके नष्ट होनेपर वासनाओंके कारण मनके अस्तित्वसे फिर वासनाएँ पैदा हो जायँगी, उनसे बन्ध भी होगा, इसपर कहते हैं—**'क्षीणायाम्'** इत्यादिसे ।

* 'मुच्' धातु बन्धनकी निवृत्तिरूप अर्थमें रूढ़ है । वासनाएँ ही मुख्य बन्धन हैं। सालोक्य आदि मुक्तियोंमें वासनाओंका नाश नहीं होता, इसलिए उनमें मोक्षशब्द गौण है ।

अयं वासनया देहो ध्रियते भूतपञ्जरः ।
तनुनाऽन्तर्निविष्टेन मुक्तौघस्तन्तुना यथा ॥ १० ॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥ ११ ॥
अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥ १२ ॥
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता संभृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन्, जैसे शीतके नष्ट होनेपर हिमकरण तुरन्त गल जाते हैं, वैसे ही वासनाओंके नष्ट होनेपर वासनापुञ्जरूप चित्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

मनके नष्ट होनेपर भी स्थूल देहरूप बन्ध बना ही रहेगा, इसपर कहते हैं—**'अयम्'** इत्यादिसे ।

जैसे पिरोये हुए सूक्ष्म सूत्रसे (तागेसे) मोतियोंका समूह स्थित रहता है वैसे ही पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ यह शरीर वासनासे खड़ा है ॥ १० ॥

इस प्रकार उपोद्घातसे उत्कृष्ट मुक्तिका वर्णन कर प्रस्तुत जीवन्मुक्तिको कहनेकी इच्छासे उसके वर्णनमें अपेक्षित वासनाद्वैविध्य (वासना दो प्रकारकी है, ऐसा) कहते हैं—**'वासना'** इत्यादिसे ।

वासना दो प्रकारकी कही गई है—शुद्ध और मलिन । मलिन वासना जन्मकी कारण है और शुद्ध जन्मका नाश करती है (मोक्षकी साधन) है ॥११॥

मलिन वासनाका लक्षण करते हैं—**'अज्ञान०'** इत्यादिसे ।

वासना बीजोंके अङ्कुरित होनेमें अज्ञान ही सुक्षेत्र है । अज्ञानरूप सुक्षेत्रमें जिसका कलेवर खूब विशाल हुआ है अर्थात् विषयोंके अनुसन्धानके अभ्याससे खूब बढ़ी हुई, राग-द्वेष आदिसे वृद्धिको प्राप्त होनेके कारण घन (निविड़) अहङ्काररूप क्षेत्रके स्वामी द्वारा भली भाँति पाली-पोषी गई अतएव शोभित इसी पुनर्जन्मकारिणी (बार बार जन्म करानेवाली) वासनाको पण्डित लोगोंने मलिना कहा है ।

शुद्धा वासनाका लक्षण करते हैं—**'पुनर्जन्म०'** इत्यादिसे ।

जो भूने हुए बीजके समान अङ्कुरोत्पादिका शक्तिसे शून्य होकर रहती है

अपुनर्जन्मकरणी जीवन्मुक्तेषु देहिषु ।
वासना विद्यते शुद्धा देहे चक्र इव भ्रमः ॥ १४ ॥
ये शुद्धवासना भूयो न जन्माऽनर्थभाजनम् ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ १५ ॥

अर्थात् पुनर्जन्मकी उत्पादक कारण न होकर केवल मात्र प्रारब्धवश देह आदिका अवलम्बन करके रहती है अर्थात् देहधारणमात्रसे पर्यवसित होती है, वह शुद्धा वासना कही जाती है। [जैसे बीजके अन्दर पहलेसे ही विद्यमान और सूक्ष्म अङ्कुर समय, जल, मिट्टी आदिके सम्बन्धसे आविर्भूत हो जाते हैं वैसे ही वासनाओंके अन्दर पहलेसे ही विद्यमान आगामी जन्मपरम्परा काम, कर्म आदि निमित्तसे आविर्भूत होती है, क्योंकि अत्यन्त असत्का जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्यारूपी क्षेत्रके जल जानेसे उसके अन्तर्गत जन्माङ्कुरका नाश होनेपर भी अपने प्रारब्धसे प्रतिबद्ध भूने हुए बीजोंके समान केवल देहधारणमात्र ही है प्रयोजन जिसका ऐसी जो वासना अवशिष्ट रहती है, वह शुद्धा वासना है, यह भाव है।] ॥ १३ ॥

उक्त अर्थको ही स्फुट करते हैं—**'अपुनर्जन्म०'** इत्यादिसे।

पुनर्जन्मका निवारण करनेवाली शुद्धा वासना जीवन्मुक्त पुरुषोंके शरीरमें, चक्रमें भ्रमणके समान, मृत संस्काररूपसे रहती है अर्थात् देहधारणरूप कार्यसे उनमें भी वासनाके अस्तित्वका अनुमान होता है ॥ १४ ॥

जो लोग शुद्ध वासनासे युक्त हैं, वे ही ज्ञातज्ञेय (जिन्होंने ज्ञातव्य पदार्थको—ब्रह्मको—जान लिया है) होते हैं, ज्ञातज्ञेय होकर वे फिर जन्मरूप अनर्थके भाजन नहीं होते अर्थात् दुःखभाजन पुनर्जन्मपर विजय पाकर जीवन्मुक्त पद प्राप्त करते हैं वे ही प्रकृतमें बुद्धिमान् कहे जाते हैं। [जीवन्मुक्तका यह लक्षण फलित हुआ कि जिस वासनाकी तत्त्वज्ञानसे पुनर्जन्माङ्कुरकी उत्पादिका शक्ति जल गई है ऐसी वासनामात्रसे जिनका शरीरधारण किया गया है, वे जीवन्मुक्त पुरुष हैं * ।] ॥ १५ ॥

---

* जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा किये गये कर्मका फल उत्तर कालमें भोग पैदा नहीं करता। इसी लिए उनके सम्पूर्ण कर्मोंका भोग द्वारा क्षय हो जाता है।

जीवन्मुक्तिपदं प्राप्तो यथा रामो महामतिः ।
तत्तेऽहं शृणु वक्ष्यामि जरामरणशान्तये ॥ १६ ॥
भरद्वाज महाबुद्धे रामक्रममिमं शुभम् ।
शृणु वक्ष्यामि तेनैव सर्वं ज्ञास्यसि सर्वदा ॥ १७ ॥
विद्यागृहाद्विनिष्क्रम्य रामो राजीवलोचनः ।
दिवसान्यनयद् गेहे लीलाभिरकुतोभयः ॥ १८ ॥
अथ गच्छति काले तु पालयत्यवनिं नृपे ।
प्रजासु वीतशोकासु स्थितासु विगतज्वरम् ॥ १९ ॥
तीर्थपुण्याश्रमश्रेणीर्द्रष्टुमुत्कण्ठितं मनः ।
रामस्याऽभूद् भृशं तत्र कदाचिद्गुणशालिनः ॥ २० ॥

हे महामति भरद्वाज, महाबुद्धि श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार जीवन्मुक्ति-पदको प्राप्त हुए, मैं जीवके जरा और मरणकी शान्तिके लिए, उसे तुमसे कहूँगा, सुनो। श्रीरामचन्द्रजीकी परममङ्गलदायिनी इस कथाका श्रवण करो, इसके श्रवणसे ही तुम सम्पूर्ण तत्त्वको जान जाओगे ॥ १६, १७ ॥

वत्स भरद्वाज ! राजीवलोचन श्रीरामचन्द्रजीने गुरुकुलसे लौटकर कुछ दिन भाँति-भाँतिकी लीलाओं द्वारा निर्भय होकर अपने घरमें ही बिताये ॥ १८ ॥

तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर जब कि महाराज दशरथ पृथिवीका पालन करते थे, शोकरहित प्रजा बड़े आनन्दमें थी। राज्यकी सुव्यवस्थासे प्रजाओंमें ज्वरादि पीड़ा भी नहीं थी, भय, अकालमरण आदि अन्य पीड़ाओंकी तो बात ही क्या थी ? यह सूचित करनेके लिए 'विगतज्वरम्' पद दिया है ॥ १९ ॥

उस समय महागुणशाली श्रीरामचन्द्रजीका मन तीर्थ और पुण्याश्रम देखनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुआ* ॥ २० ॥

* शङ्का—इस अध्यात्मशास्त्रमें तीर्थयात्राके वर्णन एवं आगे किये जानेवाले मृगयावर्णनका क्या सम्बन्ध है ? यदि कहिये कि ये श्रीरामचन्द्रजीके ही चरित हैं, इसलिए इनका यहांपर वर्णन किया गया है, तो ऐसी अवस्थामें रामचन्द्रजीके जन्म आदिका भी यहींपर वर्णन प्राप्त होगा और श्रीरामायण व्यर्थ हो जायगा ?

समाधान—'कथोपायान् विचार्य' (यो० वा० २।३) इस श्लोकमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमोंके योग्य यज्ञादि कर्मोंसे उत्पन्न चित्तशुद्धिका ब्रह्मविद्याधिकारमें उपयोग है, ऐसा कहा है। जो अवस्था, विद्या आदि सामग्रीके न होनेके कारण यज्ञ आदिका अनुष्ठान करनेमें समर्थ

राघवश्चिन्तयित्वैवमुपेत्य चरणौ पितुः ।
हंसः पद्माविव नवौ जग्राह नखकेसरौ ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

तीर्थानि देवसद्मानि वनान्यायतनानि च ।
द्रष्टुमुत्कण्ठितं तात ममेदं नाथ मानसम् ॥ २२ ॥
तदेतामर्थितां पूर्वां सफलां कर्तुमर्हसि ।
न सोऽस्ति भुवने नाथ त्वया योऽर्थी न मानितः ॥ २३ ॥
इति संप्रार्थितो राजा वसिष्ठेन समं तदा ।
विचार्याऽमुञ्चदेवैनं रामं प्रथममर्थिनम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने पुण्य तीर्थोंके दर्शनका यों विचार कर श्रीपितृचरणोंके (श्रीमहाराज दशरथके) निकट जाकर जैसे हंस नवीन कमलोंका आश्रय लेता है वैसे ही पिताजीके नखरूपी केसरसे सुशोभित चरणकमलोंको ग्रहण किया ॥२१॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—पिताजी ! तीर्थ, देवमन्दिर, वन और आश्रमोंके दर्शनके लिए मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥ २२ ॥

महाराज, मेरी इस प्रथम प्रार्थनाको सफल (पूर्ण) करनेकी कृपा कीजिये । इस संसारमें कोई ऐसा नहीं है, जो प्रार्थी होकर आपके पास आया हो और उसकी अभिलाषा आपने पूर्ण न की हो ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा यों प्रार्थित महाराज दशरथने कुलगुरु वसिष्ठजीके साथ परामर्श कर श्रीरामचन्द्रजीको, जिनकी यह प्रथम प्रार्थना थी, तीर्थदर्शनके लिए बड़े असमञ्जसमें पड़कर अनुज्ञा दे ही दी ॥२३॥

शुभ नक्षत्र और शुभ दिनमें ब्राह्मणों द्वारा मङ्गलपाठ कराकर एवं

नहीं है, उसका तीर्थयात्रा आदिसे भी यज्ञसे होनेवाली चित्तशुद्धि होनेपर ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध होता है, क्योंकि 'एते भौमाम्मया यज्ञास्तीर्थरूपेण निर्मिताः' (ये स्थलमय और जलमय यज्ञ तीर्थरूपसे बनाये गये हैं) इत्यादि वाक्य हैं । इस बातको सूचित करनेके लिए तीर्थयात्राका वर्णन किया । अतएव श्रीरामचन्द्रजीमें वृद्धावस्थाकी कल्पना किये बिना आत्मजिज्ञासाका वर्णन किया उक्त अर्थकी सूचना में कोई आपत्ति नहीं है। मृगयाका वर्णन पूर्वदृष्ट कौतूहलपूर्ण स्थानोंको पुनः देखनेकी उत्कण्ठा भी आत्मजिज्ञासामें बाधक है, यदि उक्त कौतुकके अनुभवके बिना वह उत्कण्ठा दूर नहीं होती हो, तो उसका अनुभव करके ही या उसकी असारताके निश्चय द्वारा उस उत्कण्ठाको दूर कर जीव निर्विघ्न श्रवण आदिमें संलग्न हो, यह विशेषबोधनके लिए है । इसलिए उनका वर्णन उचित है ।

शुभे नक्षत्रदिवसे भ्रातृभ्यां सह राघवः ।
मङ्गलालङ्कृतवपुः कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः ॥ २५ ॥
वसिष्ठप्रहितैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्च समन्वितः ।
स्निग्धैः कतिपयैरेव राजपुत्रवरैः सह ॥ २६ ॥
अम्बाभिर्विहिताशीर्भिरालिङ्ग्याऽऽलिङ्ग्य भूषितः ।
निरगात् स्वगृहात् तस्मात्तीर्थयात्रार्थमुद्यतः ॥ २७ ॥
निर्गतः स्वपुरात् पौरैस्तूर्यघोषेण वादितः ।
पीयमानः पुरस्त्रीणां नेत्रैर्भृङ्गौघभङ्गुरैः ॥ २८ ॥
ग्रामीणललनालोलहस्तपद्मापनोदितैः ।
लाजवर्षैर्विकीर्णात्मा हिमैरिव हिमाचलः ॥ २९ ॥
आवर्जयन् विप्रगणान् परिशृण्वन् प्रजाशिषः ।
आलोकयन् दिगन्तांश्च परिचक्राम जाङ्गलान् ॥ ३० ॥
अथाऽऽरभ्य स्वकात्तस्मात् क्रमात् कोशलमण्डलात् ।
स्नानदानतपोध्यानपूर्वकं स ददर्श ह ॥ ३१ ॥

मङ्गलमय वेश-भूषासे शरीरको अलङ्कृत कर, आशीर्वाद दे रहीं माताओं द्वारा पुनः पुनः आलिङ्गन कर खूब विभूषित किये गये श्रीरामचन्द्रजी भाइयों, वसिष्ठ द्वारा प्रेषित शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों, कतिपय अपने प्रेमी श्रेष्ठ राजकुमारोंके साथ तीर्थयात्राके लिए अपने घरसे निकले ॥ २४—२७ ॥

नगरललनाओंसे भँवरोंकी पङ्क्तिके समान चञ्चल नेत्रों द्वारा बड़े आदरके साथ देखे जा रहे श्रीरामचन्द्रजी जब नगरसे निकले तो नगरवासियोंने उनकी यात्राके उपलक्षमें मङ्गलके लिए तूरीघोषसे उनका अभिनन्दन किया ॥ २८ ॥

जैसे बर्फकी झड़ियोंसे हिमालय अच्छादित हो जाता है वैसे ही ग्रामीण महिलाओंके चञ्चल हाथोंसे बरसाई गई लावोंकी वृष्टिसे उनका शरीर व्याप्त हो गया ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणोंको दान, संमान आदिसे अपने वशमें करते, प्रजाओंके आशीर्वाद सुनते और दिशाओंके अन्त भागोंको देखते हुए गहन वनोंमें खूब घूमे ॥ ३० ॥

तदुपरान्त अति श्रेष्ठ अपनी राजधानी कोशलसे आरम्भ कर श्रीरामचन्द्रजीने

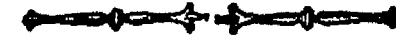
नदीतीराणि पुण्यानि वनान्यायतनानि च ।
जङ्गलानि जनान्तेषु तटान्यब्धिमहीभृताम् ॥ ३२ ॥
मन्दाकिनीमिन्दुनिभां कालिन्दीं चोत्पलामलाम् ।
सरस्वतीं शतद्रूं च चन्द्रभागामिरावतीम् ॥ ३३ ॥
वेणीं च कृष्णवेणीं च निर्विन्ध्यां सरयूं तथा ।
चर्मण्वतीं वितस्तां च विपाशां बाहुदामपि ॥ ३४ ॥
प्रयागं नैमिषं चैव धर्मारण्यं गयां तथा ।
वाराणसीं श्रीगिरिं च केदारं पुष्करं तथा ॥ ३५ ॥
मानसं च क्रमसरस्तथैवोत्तरमानसम् ।
वडवावदनं चैव तीर्थवृन्दं स सादरम् ॥ ३६ ॥
अग्नितीर्थं महातीर्थमिन्द्रद्युम्नसरस्तथा ।
सरांसि सरितश्चैव तथा नदह्रदावलीम् ॥ ३७ ॥
स्वामिनं कार्तिकेयं च शालग्रामं हरिं तथा ।
स्थानानि च चतुःषष्टिं हरेरथ हरस्य च ॥ ३८ ॥
नानाश्चर्यविचित्राणि चतुरब्धितटानि च ।
विन्ध्यमन्दरकुञ्जांश्च कुलशैलस्थलानि च ॥ ३९ ॥
राजर्षीणां च महतां ब्रह्मर्षीणां तथैव च ।
देवानां ब्राह्मणानां च पावनानाश्रमाञ्छुभान् ॥ ४० ॥

स्नान, दान, तप, ध्यान करते हुए पवित्रतम नदीतट, पुण्य वन, आश्रम, जङ्गल, देशोंकी सीमाओंमें स्थित समुद्र और पर्वतोंके तट, चाँदनीके समान स्वच्छ श्रीभागीरथी, नील कमलके तुल्य निर्मल श्रीयमुना, सरस्वती, सतलज, चिनाब, इरावती केवल वेणी नदी, कृष्णासे मिली हुई वेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती, वितस्ता, व्यास, बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, काशी, श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तर मानस, हयग्रीवतीर्थ, अग्नितीर्थ (ज्वालामुखी), महातीर्थ इन्द्रद्युम्नसर आदि पुण्य तीर्थ, सर, पुण्यतम नदियां, नद, तालाब आदिके सादर दर्शन किये ।

स्वामी कार्तिकेय, शालग्रामरूपी हरि, श्रीहरिके तथा महादेवजीके चौंसठ स्थान, आश्चर्यमय विविध विचित्रताओंसे पूर्ण चारों समुद्रोंके तट, बिन्ध्याचल और मन्दराचलके लतागृह (झाड़ियाँ); हिमालय आदि सात

भूयो भूयः स बभ्राम भ्रातृभ्यां सह मानदः ।
चतुर्ष्वपि दिगन्तेषु सर्वानेव महीतटान् ॥ ४१ ॥
अमरकिन्नरमानवमानितः समवलोक्य महीमखिलामिमाम् ।
उपययौ स्वगृहं रघुनन्दनो विहृतदिक् शिवलोकमिवेश्वरः ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठरामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
तीर्थयात्राकरणं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



चतुर्थः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

रामः पुष्पाञ्जलिव्रातैर्विकीर्णः पुरवासिभिः ।
प्रविवेश गृहं श्रीमाञ्जयन्तो विष्टपं यथा ॥ १ ॥

कुल पर्वत, बड़े बड़े महर्षियों, राजर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणोंके पवित्रतम और मङ्गलमय आश्रमोंके बड़े आदरसे दर्शन किये ॥ ३१—४० ॥

दूसरोंका सम्मान करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंके साथ चारों दिशाओंके प्रान्तभागों (सीमाओं) एवं सम्पूर्ण पृथ्वीमें पुनः पुनः (पहले दर्शन करनेपर भी लौटते समय निकटमें आये हुए स्थानोंमें कौतूहलसे या उनकी अधिक महिमा प्रकट करनेके लिए फिर फिर) भ्रमण किया ॥ ४१ ॥

जैसे सम्पूर्ण दिशाओंमें विहार कर श्रीशिवजी शिवलोकमें (कैलासमें) जाते हैं, वैसे ही तत्-तत् स्थानोंमें स्थित देवता, किन्नर और मनुष्यों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी इस सम्पूर्ण भूमण्डलको (जम्बूद्वीपरूप पृथिवीको) भली भाँति देखकर अपने घर अयोध्या लौट आये ॥ ४२ ॥

तृतीय सर्ग समाप्त



चतुर्थ सर्ग

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, नगरवासियोंने श्रीरामचन्द्रके ऊपर पुष्पाञ्जलियोंपर पुष्पाञ्जलियाँ बरसाईं । यों नगरवासियों द्वारा सत्कृत श्रीरामचन्द्रजी जैसे श्रीमान् जयन्त (इन्द्रका पुत्र) स्वर्गमें (अमरावतीमें) प्रवेश करता है वैसे ही अपने घरमें प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

प्रणनामाऽथ पितरं वसिष्ठं भ्रातृबान्धवान् ।
ब्राह्मणान् कुलवृद्धांश्च राघवः प्रथमागतः ॥ २ ॥
सुहृद्भिर्भ्रातृभिश्चैव पित्रा द्विजगणेन च ।
मुहुरालिङ्गिताचारो राघवो न ममौ मुदा ॥ ३ ॥
तस्मिन् गृहे दाशरथेः प्रियप्रकथनैर्मिथः ।
जुघूर्णुर्मधुरैराशा मृदुवंशस्वनैरिव ॥ ४ ॥
बभूवाऽथ दिनान्यष्टौ रामागमन उत्सवः ।
सुखं मत्तजनोन्मुक्तकलकोलाहलाकुलः ॥ ५ ॥
उवास स सुखं गेहे ततः प्रभृति राघवः ।
वर्णयन्विविधाकारान् देशाचारानितस्ततः ॥ ६ ॥
प्रातरुत्थाय रामोऽसौ कृत्वा सन्ध्यां यथाविधि ।
सभासंस्थं ददर्शेन्द्रसमं स्वं पितरं तथा ॥ ७ ॥

तदुपरान्त प्रथम प्रवाससे लौटे हुए रामजीने पिताजीको, कुलगुरु वशिष्ठजीको, भाई-बन्धुओंको, ब्राह्मणोंको, कुलके बड़े-बूढ़ोंको यथायोग्य प्रणाम किया ॥ २ ॥

मित्रोंने, भाइयोंने, पिताने और ब्राह्मणोंने श्रीरामचन्द्रजीको बारबार आलिङ्गन किया। आलिङ्गन करनेवालोंके प्रति यथायोग्य अभिवादन, प्रियभाषण आदि सुन्दर व्यवहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी हर्षसे फूले नहीं समाते थे ॥ ३ ॥

महाराज दशरथके घरमें श्रीरामचन्द्रजीके बाँसुरीकी कोमल ध्वनिके समान मधुर प्रियवचनोंसे आह्लादित हुए लोग परस्पर दिशा-दिशामें घूमने लगे। या हर्षसे उत्पन्न व्यामोहसे उन्हें दिग्भ्रम हो गया, यह अर्थ है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रके शुभागमनके उपलक्षमें आठ दिन तक बराबर आनन्दपूर्वक उत्सव होता रहा। उक्त उत्सव हर्षसे खूब प्रसन्न लोगों द्वारा किये गये गम्भीर कोलाहलसे पूर्ण रहा ॥ ५ ॥

तबसे श्रीरामचन्द्रजी भाँति भाँतिके देशाचारोंका इधर उधर वर्णन करते हुए घरमें ही सुखपूर्वक रहे ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी नित्य प्रातःकाल शय्याका त्याग कर, विधिपूर्वक स्नान, सन्ध्या आदि कर्म करके सभामें बैठे हुए इन्द्रतुल्य अपने पिताजीका दर्शन करते थे

सुविचित्राभिः कथाभिः स वसिष्ठादिभिः सह ।
स्थित्वा दिनचतुर्भागं ज्ञानगर्भाभिरादृतः ॥ ८ ॥
जगाम पित्राऽनुज्ञातो महत्या सेनया वृतः ।
वराहमहिषाकीर्णं वनमाखेटकेच्छया ॥ ९ ॥
तत आगत्य सदने कृत्वा स्नानादिकं क्रमम् ।
समित्रबान्धवो भुक्त्वा निनाय ससुहृन्निशाम् ॥ १० ॥
एवंप्रायदिनाचारो भ्रातृभ्यां सह राघवः ।
आगत्य तीर्थयात्रायाः समुवास पितुर्गृहे ॥ ११ ॥
नृपतिसंव्यवहारमनोज्ञया सुजनचेतसि चन्द्रिकयाऽनया ।
परिनिनाय दिनानि स चेष्टया स्तुतसुधारसपेशलयाऽनघ ॥१२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठरामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे दिवसव्यवहार-
निरूपणं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



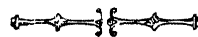
और एक पहर तक श्रीवसिष्ठ आदिके साथ बैठकर ज्ञानपूर्ण विविध विचित्र कथाओं द्वारा बड़े आदरके साथ सत्संग कर तदनन्तर शिकार खेलनेकी इच्छासे, पिताजीकी आज्ञा लेकर, बड़ी भारी सेनाके साथ वनवराह, वनमहिष आदिसे भरे हुए वनमें जाते थे ॥ ७–९ ॥

वहाँसे घर लौटकर, स्नान आदि कर्म कर तथा मित्र और बन्धुओंके साथ भोजन कर मित्रोंके साथ रात्रि बिताते थे ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजी तीर्थयात्रासे लौटकर लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ प्रायः इस प्रकारकी दिनचर्या करते हुए पिताजीके घरमें सुखपूर्वक रहते थे ।

हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी राजाओंके योग्य व्यवहारसे मनोहर, सज्जनोंके चित्तको चांदनीके समान आनन्द देनेवाली, श्लाघनीय एवं अमृतद्रवके समान सुन्दर चेष्टासे कालयापन करते थे ॥ १२ ॥

चतुर्थ सर्ग समाप्त



पञ्चमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अथोनषोडशे वर्षे वर्तमाने रघूद्वहे ।
रामानुयायिनि तथा शत्रुघ्ने लक्ष्मणेऽपि च ॥ १ ॥
भरते संस्थिते नित्यं मातामहगृहे सुखम् ।
पालयत्यवनिं राज्ञि यथावदखिलामिमाम् ॥ २ ॥
जन्यत्रार्थं च पुत्राणां प्रत्यहं सह मन्त्रिभिः ।
कृतमन्त्रे महाप्राज्ञे तज्ज्ञे दशरथे नृपे ॥ ३ ॥
कृतायां तीर्थयात्रायां रामो निजगृहे स्थितः ।
जगामाऽनुदिनं कार्श्यं शरदीवाऽमलं सरः ॥ ४ ॥
कुमारस्य विशालाक्षं पाण्डुतां मुखमाददे ।
पाकफुल्लदलं शुक्लं सालिमालमिवाऽम्बुजम् ॥ ५ ॥

पञ्चम सर्ग

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी चित्तशुद्धिके लिए साधनभूत दिनचर्याका वर्णन कर उसके फलरूप वैराग्यकी साधनसामग्रीको कहनेकी इच्छासे उपक्रम करते हैं—**'अथ'** इत्यादिसे ।

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, तदनन्तर किसी समय, जब कि रामचन्द्रजी एवं रामानुयायी लक्ष्मण और शत्रुघ्नके पूरे सोलह वर्षके होनेमें कुछ महीनोंकी कसर थी, भरत सदा अपने नानाके घरमें आनन्दपूर्वक रहते थे और महाराज दशरथ सुचारुरूपसे इस सम्पूर्ण पृथिवीमण्डलका पालन करते थे और महाप्राज्ञ एवं परामर्श करनेमें कुशल राजा राजपुत्रोंके विवाहके लिए भी प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ परामर्श करते थे ॥ १–३ ॥

तीर्थयात्रा कर चुकनेपर अपने घरमें ही स्थित श्रीरामचन्द्रजी जैसे शरद् ऋतुमें निर्मल तालाब दिन-पर-दिन सूखता जाता है वैसे ही दिन-पर-दिन कृश होने लगे । जैसे भ्रमरपङ्क्तिसे युक्त पाकावस्थामें अधिक खिला हुआ सफेद कमल पीला हो जाता है, वैसे ही राजकुमारका विशाल नेत्रोंसे युक्त मुख पीला पड़ गया ।

कपोलतलसँल्लीनपाणिः पद्मासनस्थितः ।
चिन्तापरवशस्तूष्णीमव्यापारो बभूव ह ॥ ६ ॥
कृशाङ्गश्चिन्तया युक्तः खेदी परमदुर्मनाः ।
नोवाच कस्यचित्किञ्चिल्लिपिकर्मार्पितोपमः ॥ ७ ॥
खेदात् परिजनेनाऽसौ प्रार्थ्यमानः पुनः पुनः ।
चकाराऽऽह्निकमाचारं परिम्लानमुखाम्बुजः ॥ ८ ॥
एवंगुणविशिष्टं तं रामं गुणगणाकरम् ।
आलोक्य भ्रातरावस्य तामेवाऽऽययतुर्दशाम् ॥ ९ ॥
तथा तेषु तनूजेषु खेदवत्सु कृशेषु च ।
सपत्नीको महीपालश्चिन्ताविवशतां ययौ ॥ १० ॥
का ते पुत्र घना चिन्तेत्येवं रामं पुनः पुनः ।
अपृच्छत्स्निग्धया वाचा नैवाऽकथयदस्य सः ॥ ११ ॥
न किञ्चित्तात मे दुःखमित्युक्त्वा पितुरङ्कगः ।
रामो राजीवपत्राक्षस्तूष्णीमेव स्म तिष्ठति ॥ १२ ॥

कपोलमें हाथ रक्खे हुए और पद्मासनसे बैठे श्रीरामजी सदा चिन्तासे ग्रस्त चुपचाप और निश्चेष्ट रहते थे ॥ ४–६ ॥

उनका शरीर कृश हो गया था, चिन्ता उन्हें नहीं छोड़ती थी, वे सदा दुःखी और उदास रहते थे । चित्रलिखितके समान वे किसीसे कुछ बोलते भी न थे ॥७॥

परिजनोंके बार बार प्रार्थना करनेपर कष्टसे स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि अवश्य कर्तव्य दैनिक कर्म करते थे, उनका मुखकमल म्लान हो गया था ॥ ८ ॥

विविध गुणोंके आकर श्रीरामचन्द्रजीको पूर्वोक्त चिन्ता आदिसे युक्त देखकर उनके भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी उसी अवस्थाको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

सभी पुत्रोंको दुःखी और कृश देखकर रानियोंके साथ महाराज दशरथको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १० ॥

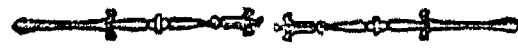
हे भरद्वाज, महाराजने 'पुत्र, तुम्हें कौन-सी बड़ी चिन्ता है' इस प्रकार बड़ी मधुर वाणीसे बार बार पूछते थे, परन्तु रामचन्द्रजीने उनको कुछ भी नहीं बताते थे ॥११॥

पिताजी, मुझे कुछ भी दुःख नहीं है, यह कहकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताजीकी गोदमें जाकर चुपचाप बैठ जाते थे ॥ १२ ॥

ततो दशरथो राजा रामः किं खेदवानिति ।
अपृच्छत् सर्वकार्यज्ञं वसिष्ठं वदतां वरम् ॥ १३ ॥
इत्युक्तश्चिन्तयित्वा स वसिष्ठमुनिना नृपः ।
अस्त्यत्र कारणं श्रीमन्मा राजन् दुःखमस्तु ते ॥ १४ ॥

कोपं विषादकलनां विततं च हर्षं नाऽल्पेन कारणवशेन वहन्ति सन्तः ।
सर्गेण संहृतिजवेन विना जगत्यां भूतानि भूप न महान्ति विकारवन्ति ॥१५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
कार्श्यनिवेदनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



तदनन्तर महाराज दशरथने 'राम किसलिए खिन्न हैं' यह वक्ताओंमें श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण कार्योंके ज्ञाता श्रीवसिष्ठजीसे पूछा ॥ १३ ॥

दशरथजीके यों पूछनेपर विचार कर महर्षि वसिष्ठजीने राजासे कहा—राजन्, इसमें कुछ कारण है, पर श्रीमन्, आप दुःखी न हों। [यहांपर रामचन्द्रजीकी चिन्ताका फल शुभ होगा, यह दर्शानेके लिए 'श्रीमन्' सम्बोधन है।] ॥ १४ ॥

जैसे संसारमें पृथिवी, जल आदि महाभूत सृष्टि और प्रलयके बिना छोटे-मोटे कारणोंसे वृद्धि और क्षयरूप विकारको प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सत्पुरुष भी छोटे-मोटे कारणोंसे क्रोध, विषाद और हर्षके वशीभूत नहीं होते ॥ १५ ॥

पञ्चम सर्ग समाप्त ।



षष्ठः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते मुनिनाथेन सन्देहवति पार्थिवे ।
खेदवत्यास्थिते मौनं किञ्चित्कालप्रतीक्षणे ॥ १ ॥
परिखिन्नासु सर्वासु राज्ञीषु नृपसद्मसु ।
स्थितासु सावधानासु रामचेष्टासु सर्वतः ॥ २ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु विश्वामित्र इति श्रुतः ।
महर्षिरभ्यगाद् द्रष्टुं तमयोध्यानराधिपम् ॥ ३ ॥
तस्य यज्ञोऽथ रक्षोभिस्तथा विलुलुपे किल ।
मायावीर्यबलोन्मत्तैर्धर्मकार्यस्य धीमतः ॥ ४ ॥
रक्षार्थं तस्य यज्ञस्य द्रष्टुमैच्छत् स पार्थिवम् ।
नहि शक्नोत्यविघ्नेन समाप्तुं स मुनिः क्रतुम् ॥ ५ ॥
ततस्तेषां विनाशार्थमुद्यतस्तपसां निधिः ।
विश्वामित्रो महातेजा अयोध्यामभ्यगात् पुरीम् ॥ ६ ॥

षष्ठ सर्ग

वाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज, जब मुनिवर वशिष्ठजीके यों कहनेपर खेदयुक्त, सन्देहनिमग्न अतएव सन्देहके निर्णयके लिए कुछ कालकी प्रतीक्षा करनेवाले महाराज दशरथ मौन हो गये थे और राजमहलमें स्थित सभी महारानियां उदास होकर श्रीरामचन्द्रजीकी चेष्टाओंपर (चेष्टाओं द्वारा उनके वैराग्यका कारण जाननेके लिए) विशेषरूपसे सावधान (सतर्क) थीं । उसी समय लोकविख्यात महर्षि विश्वामित्र अयोध्याधिपति महाराज दशरथको देखनेके लिए गये । महामति महर्षि विश्वामित्र सदा यज्ञ, याग आदि धर्म कार्य ही किया करते थे । माया, वीर्य और बलसे उन्मत्त राक्षसोंने उनके यज्ञको सर्वथा विध्वस्त कर डाला । जब वे अविघ्नपूर्वक यज्ञ समाप्त करनेमें समर्थ नहीं हुए तब यज्ञकी रक्षाके लिए उनको राजाके पास जानेकी इच्छा हुई और उनके विनाशके लिए कटिबद्ध महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र

स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ।
शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ॥ ७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा द्वास्था राजगृहं ययुः ।
संभ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ॥ ८ ॥
ते गत्वा राजसदनं विश्वामित्रमृषिं ततः ।
प्राप्तमावेदयामासुः प्रतिहाराः पतेस्तदा ॥ ९ ॥
अथाऽऽस्थानगतं भूपं राजमण्डलमालिनम् ।
समुपेत्य त्वरायुक्तो याष्टीकोऽसौ व्यजिज्ञपत् ॥ १० ॥
देव द्वारि महातेजा बालभास्करभासुरः ।
ज्वालारुणजटाजूटः पुमाञ्छ्रीमानवस्थितः ॥ ११ ॥
सभासुरपताकान्तं साश्वेभपुरुषायुधम् ।
कृतवांस्तं प्रदेशं यस्तेजोभिः कीर्णकाञ्चनम् ॥ १२ ॥
वीक्ष्यमाणे तु याष्टीके निवेदयति राजनि ।
विश्वामित्रो मुनिः प्राप्त इत्यनुद्धतया गिरा ॥ १३ ॥
इति याष्टीकवचनमाकर्ण्य नृपसत्तमः ।
स समन्त्रीससामन्तः प्रोत्तस्थौ हेमविष्टरात् ॥ १४ ॥

अयोध्या नगरीमें पहुँचे । वहां पहुँचकर राजाके दर्शन पानेकी इच्छासे उन्होंने द्वारपालोंसे कहा—महाराजसे शीघ्र जाकर कहो कि गाधिपुत्र विश्वामित्र आये हुए हैं ॥१—७॥

उनके वचन सुनकर द्वारपाल राजमहलमें गये । पूर्वोक्त वाक्यसे प्रेरित द्वारपालोंने विलम्ब होनेपर कहीं महर्षि शाप न दे डालें, इस भयसे शीघ्र सभागृहमें जाकर विश्वामित्रजीके आनेका समाचार प्रधान यष्टिधारीसे कहा । उसने त्वरासे सभामण्डपमें राजाओंके मध्यमें विराजमान महाराजको श्रीविश्वामित्रजीके आनेका सामाचार कह सुनाया ॥ ८—९ ॥

महाराज, ड्योढ़ीपर प्रातःकालके सूर्यके समान तेजस्वी, बड़े प्रभावशाली अग्निकी ज्वालाके तुल्य जटाजूटसे सुशोभित, एक तपस्वी पुरुष खड़े हैं, जिन्होंने अपने तेजसे उस प्रदेशको—ऊपर देदीप्यमान पताका तक और आसपास हाथी, घोड़े, पुरुष और आयुधों तकको—सुवर्णमय बना दिया है । महर्षि विश्वामित्रजी आये हैं, ऐसा विनम्र वाणीसे महाराजसे कह रहे प्रधान यष्टिधारीके देखते ही उसके वचन सुनकर मन्त्रियों और सामन्तोंके साथ महाराज सुवर्णके सिंहासनसे उठ खड़े हुए ॥ १०—१४ ॥

पदातिरेव सहसा राज्ञां वृन्देन मालितः ।
वसिष्ठवामदेवाभ्यां सह सामन्तसंस्तुतः ॥ १५ ॥
जगाम यत्र तत्राऽसौ विश्वामित्रो महामुनिः ।
ददर्श मुनिशार्दूलं द्वारभूमाववस्थितम् ॥ १६ ॥
केनाऽपि कारणेनोर्वीतलमर्कमुपागतम् ।
ब्राह्मेण तेजसाऽऽक्रान्तं क्षात्रेण च महौजसा ॥ १७ ॥
जराजरठया नित्यं तपःप्रसररूक्षया ।
जटावल्ल्याऽऽवृतस्कन्धं ससंध्याभ्रमिवाऽचलम् ॥ १८ ॥
उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
निभृतं चोर्जिताकारं दधानं भास्वरं वपुः ॥ १९ ॥
पेशलेनाऽतिभीमेन प्रसन्नेनाऽऽकुलेन च ।
गम्भीरेणाऽतिपूर्णेन तेजसा रञ्जितप्रभम् ॥ २० ॥
अनन्तजीवितदशासखीनेकामनिन्दिताम् ।
धारयन्तं करे श्लक्ष्णां कुण्डीमम्लानमानसम् ॥ २१ ॥

अनेक राजाओं द्वारा परिवृत वसिष्ठ और वामदेवजीके साथ महाराज पैदल ही जहांपर विश्वामित्रजी थे, वहांको चल दिये । उन्होंने ड्योढ़ीपर खड़े हुए मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीके दर्शन किये ॥ १६ ॥

विश्वामित्रजी ब्रह्मवर्चससे और क्षात्र तेजसे सुसपन्न थे । उनके दर्शनसे ज्ञात होता था कि किसी निमित्तसे मानों सूर्यदेव ही पृथिवी पर आ गये हों । बुढ़ापेके कारण सफेद और अधिक तप करनेसे रूक्ष जटाओंसे उनके कन्धे ढके थे । अतएव वे सन्ध्याकालके अरुण प्रभासे रञ्जित सफेद मेघसे आच्छादित पर्वतके समान प्रतीत होते थे । उनका शरीर सौम्य, सुन्दर, देदीप्यमान (अधिक तेजस्वी होनेके कारण जिसपर दृष्टि सहसा नहीं ठहर सकती), अनभिभवनीय (प्रभावशाली), विनयसे सम्पन्न, हृष्ट-पुष्ट हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त और कान्तिमान् था । उनके तेजसे नेत्र और मन प्रसन्न होते थे, उससे भयका भी संचार होता था, वह प्रसाद गुणसे युक्त था, अधिक होनेके कारण शरीरसे छलक रहा था और गम्भीर तथा अपरिछिन्न था । उक्त प्रसन्न-गम्भीर तेजसे ऋषिकी कान्ति अनुरञ्जित थी । उनके हाथमें चिरकालसे परिगृहीत एक सुन्दर

करुणाक्रान्तचेतस्त्वात् प्रसन्नैर्मधुराक्षरैः ।
वीक्षणैरमृतेनेव संसिञ्चतमिमाः प्रजाः ॥ २२ ॥
युक्तयज्ञोपवीताङ्गं धवलप्रोन्नतभ्रुवम् ।
अनन्तं विस्मयं चाऽन्तःप्रयच्छन्तमिवेक्षितुः ॥ २३ ॥
मुनिमालोक्य भूपालो दूरादेवाऽऽनताकृतिः ।
प्रणनाम गलन्मौलिमणिमालितभूतलम् ॥ २४ ॥
मुनिरप्यवनीनाथं भास्वानिव शतक्रतुम् ।
तत्राऽभिवादयाञ्चक्रे मधुरोदारया गिरा ॥ २५ ॥
ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजातयः ।
स्वागतादिक्रमेणैनं पूजयामासुरादृताः ॥ २६ ॥

दशरथ उवाच

अशङ्कितोपनीतेन भास्वता दर्शनेन ते ।
साधो स्वनुगृहीताः स्मो रविणेवाम्बुजाकराः ॥ २७ ॥

और चिकना कमण्डलु था। उनका चित्त स्निग्ध और प्रसन्न था। उनका हृदय दयासे परिपूर्ण था, इसलिए भाषण आदि भी सुमधुर था और प्रसन्न दृष्टिपात अमृततुल्य था। वे जिधर दृष्टि डालते थे, उस तरफके लोगोंको मानों अमृतके रससे सींचते थे। उनके कन्धेमें अवस्थाके अनुरूप यज्ञोपवीत थे। उनकी भौंहें सफेद और ऊँची थीं। दर्शकोंके हृदयमें अत्यन्त आश्चर्यका संचार कर रहे मुनिवरको देखकर राजाने दूरसे ही नम्र होकर उन्हें प्रमाण किया। नमनेसे राजाके मुकुटसे मणियां पृथिवीपर विखर गईं। जैसे सूर्य इन्द्रका प्रत्यभिवादन करते हैं, वैसे ही विश्वामित्रजीने भी मधुर और उदार वाणी द्वारा आशीर्वाद देकर राजाका प्रत्यभिवादन किया ॥ १७–२५ ॥

तदनन्तर वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणोंने स्वागत आदिके क्रमसे आदरपूर्वक उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

महाराज दशरथने कहा—भगवन्, जैसे सूर्य अपने तेजोमय दर्शन द्वारा कमलके तालाबोंपर अनुग्रह करते हैं, वैसे ही अतर्कित प्राप्त आपके अद्भुत तेजोमय दर्शनोंसे हम लोग अत्यन्त अनुगृहीत हुए हैं ॥ २७ ॥

यदनादि यदक्षुण्णं यदपायविवर्जितम् ।
तदानन्दसुखं प्राप्तं मया त्वद्दर्शनान्मुने ॥ २८ ॥
अद्य वर्तामहे नूनं धन्यानां धुरि धर्मतः ।
भवदागमनस्येमे यद्वयं लक्ष्यमागताः ॥ २९ ॥
एवं प्रकथयन्तोऽत्र राजानोऽथ महर्षयः ।
आसनेषु सभास्थानमासाद्य समुपाविशन् ॥ ३० ॥
स दृष्ट्वा मालितं लक्ष्म्या भीतस्तमृषिसत्तमम् ।
प्रहृष्टवदनो राजा स्वयमर्घ्यं न्यवेदयत् ॥ ३१ ॥
स राज्ञः प्रतिगृह्याऽर्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
प्रदक्षिणं प्रकुर्वन्तं राजानं पर्यपूजयत् ॥ ३२ ॥
स राज्ञा पूजितस्तेन प्रहृष्टवदनस्तदा ।
कुशलं चाऽव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ॥ ३३ ॥

महर्षे, जो अनादि (कारणरहित), क्षय रहित और अविनाशी परम पुरुषार्थरूप सुख है, आपके दर्शनोंसे वह सुख मुझे प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥

निस्सन्देह आज हमने पुण्यसे धन्य पुरुषोंके आगे स्थान प्राप्त कर लिया है, क्योंकि हम लोगोंके उद्देश्यसे आपका शुभागमन हुआ है ॥ २९ ॥

यों महाराज दशरथके समान ही कह रहे महर्षि और अन्य राजा सभाभवनमें आकर आसनोंपर बैठ गये ॥ ३० ॥

महर्षिके शुभागमनसे प्रसन्नवदन महाराज दशरथने महर्षिकी तपस्यासम्पत्ति (विपुल तप) से भयभीत होकर दूसरेके द्वारा अर्घ्यके लिए जल मंगानेमें भी अपराधकी सम्भावना कर स्वयं जल लाकर उन्हें अर्घ्य दिया ॥ ३१ ॥

महर्षि विश्वामित्रने राजाके अर्घ्यको स्वीकार कर शास्त्रमें वर्णित विधिसे प्रदक्षिणा कर रहे राजाकी भूरि भूरि प्रशंसा की ॥ ३२ ॥

राजा दशरथ द्वारा पूजित विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए । उनका मुखकमल खिल उठा । उन्होंने राजासे उनकी तथा राज्यके विभिन्न अंगोंकी कुशल पूछी और पूछा आपका राजकोष तो परिपूर्ण है ? ॥ ३३ ॥

तदन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने प्रसन्नतापूर्वक महर्षि वसिष्ठजीसे मिलकर

वसिष्ठेन समागम्य प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
यथार्हं चाऽर्चयित्वैनं पप्रच्छाऽनामयं ततः ॥ ३४ ॥
क्षणं यथार्हमन्योन्यं पूजयित्वा समेत्य च ।
ते सर्वे हृष्टमनसो महाराजनिवेशने ॥ ३५ ॥
यथोचितासनगता मिथः संवृद्धतेजसः ।
परस्परेण पप्रच्छुः सर्वेऽनामयमादरात् ॥ ३६ ॥
उपविष्टाय तस्मै स विश्वामित्राय धीमते ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव भूयो भूयो न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥
अर्चयित्वा तु विधिवद्विश्वामित्रमभाषत ।
प्राञ्जलिः प्रयतो वाक्यमिदं प्रीतमना नृपः ॥ ३८ ॥
यथाऽमृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमवर्षके ।
यथान्धस्येक्षणप्राप्तिर्भवदागमनं तथा ॥ ३९ ॥
अथेष्टदारसम्पर्कात् पुत्रजन्माऽप्रजावतः ।
स्वप्नदृष्टार्थलाभश्च भवदाऽगमनं तथा ॥ ४० ॥

वसिष्ठजीकी पूजा की और उनसे यथायोग्य उनके शिष्य, आश्रमके मृग, पक्षी आदिकी कुशल पूछी ॥ ३४ ॥

क्षण भरके लिए परस्पर मिलकर और यथायोग्य पूजा-सत्कार कर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे राजमहलमें अपने अपने आसनों पर बैठ गये । आमने सामने बैठनेसे उनका तेज परस्पर बढ़ गया । वे सब आपसमें एक दूसरेसे कुशल-प्रश्न करने लगे ॥ ३५,३६ ॥

महामति विश्वामित्रजीके आसनपर बैठनेके उपरान्त महाराज दशरथने उनके चरण पखारे, उन्हें दूसरी बार अर्घ्य दिया, गऊ दी एवं चन्दन, पुष्प, वस्त्र, अलङ्कार, दक्षिणा, फल और ताम्बूलसे उनकी पुनः पुनः पूजा की ॥ ३७ ॥

विधिपूर्वक पूजाकर प्रसन्नचित्त पुण्यात्मा राजाने हाथ जोड़ कर विश्वामित्रजीसे ये वाक्य कहे—

भगवन्, मरणधर्मा जीवको अमृत लाभसे जैसा सुख होता है, दीर्घकालकी अनावृष्टिके अनन्तर वृष्टिके लाभसे कृषकको जैसा आनन्द होता है एवं अन्धेको नयनप्राप्तिसे जैसा हर्ष होता है हमारे लिए आपका शुभागमन वैसा ही, उससे भी बढ़कर, आनन्दप्रद है । पुत्रविहीन व्यक्तिको धर्मपत्नीसे पुत्रोत्पत्ति होनेपर

यथेप्सितेन संयोग इष्टस्याऽऽगमनं यथा ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो भवदागमनं तथा ॥ ४१ ॥
यथा हर्षो नभोगत्या मृतस्य पुनरागमात् ।
तथा त्वदागमाद् ब्रह्मन् स्वागतं ते महामुने ॥ ४२ ॥
ब्रह्मलोकनिवासो हि कस्य न प्रीतिमावहेत् ।
मुने तवाऽऽगमस्तद्वत् सत्यमेव ब्रवीमि ते ॥ ४३ ॥
कश्च ते परमः कामः किं च ते करवाण्यहम् ।
पात्रभूतोऽसि मे विप्र प्राप्तः परमधार्मिकः ॥ ४४ ॥
पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि भगवन्मया ॥ ४५ ॥
गङ्गाजलाभिषेकेण यथा प्रीतिर्भवेन्मम ।
तथा त्वद्दर्शनात् प्रीतिरन्तः शीतयतीव माम् ॥ ४६ ॥

जैसा आह्लाद होता है, दरिद्र पुरुषको स्वप्नमें दृष्ट धनका लाभ होनेपर जैसा आनन्द होता है, वैसे ही आपका आगमन हमारे लिए सुखकारक है । मनुष्य चिरकालसे अभिलषित मणि, मन्त्र, अभ्युदय आदिकी प्राप्ति, प्रियतम भाई, पुत्र आदिके समागम और खोई गई वस्तुके लाभसे जैसे अनिर्वचनीय आह्लादका अनुभव करते हैं, वैसे ही आपके आगमनसे हमें आह्लाद हो रहा है ॥ ३८–४१ ॥

ब्रह्मन्, स्थलचर मनुष्य आदिको आकाशमें उड़नेसे जैसा आनन्द होता है, और मृत पुरुषके पुनः वापिस आ जानेसे उसके बान्धवोंको जैसा आनन्द होता है वैसे ही आपके आगमनसे हमें आनन्द हो रहा है, आपका स्वागत हो ॥ ४२ ॥

मुनिवर, ब्रह्मलोकमें रहना किसको प्रीतिकर न होगा ? वैसे ही प्रीतिकर आपका आगमन है अर्थात् जैसे ब्रह्मलोकमें निवास करनेकी सबको स्पृहा रहती है, वैसे ही आपके आगमनकी सभीको स्पृहा रहती है, मै यह निश्छल सत्य आपसे कहता हूँ ॥४३॥

भगवन्, आप परम धार्मिक हैं, आपकी कौन बड़ी अभिलाषा है ? मै आपकी क्या सेवा करूँ ? ब्रह्मन् आप सत्पात्र हैं मेरे भाग्यसे यहां आये हैं । भगवन्, आप पहले राजर्षिशब्दसे अभिहित होते थे, इस समय तपस्यासे ब्रह्मर्षित्वको प्राप्त हुए परमवर्चस्वी आप मेरे परम पूज्य हैं ॥ ४४,४५ ॥

जैसे गंगाजलके स्नानसे मुझे प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपके दर्शनसे प्रसन्नता हुई है । उक्त प्रसन्नता मेरे हृदयको शीतल कर रही है ॥ ४६ ॥

विगतेच्छाभयक्रोधो वीतरागो निरामयः ।
इदमत्यद्भुतं ब्रह्मन् यद्भवान् मामुपागतः ॥ ४७ ॥
शुभक्षेत्रगतं चाऽहमात्मानमपकल्मषम् ।
चन्द्रबिम्ब इवोन्मग्नं वेद वेद्यविदांवर ॥ ४८ ॥
साक्षादिव ब्रह्मणो मे तवाऽभ्यागमनं मतम् ।
पूतोऽस्म्यनुगृहीतश्च तवाऽभ्यागमनान्मुने ॥ ४९ ॥
त्वदागमनपुण्येन साधो यदनुरञ्जितम् ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं तत्सुजीवितम् ॥ ५० ॥
त्वामिहाऽभ्यागतं दृष्ट्वा प्रतिपूज्य प्रणम्य च ।
आत्मन्येव न माम्यन्तर्दृष्ट्वेन्दुं जलधिर्यथा ॥ ५१ ॥
यत्कार्यं येन वाऽर्थेन प्राप्तोऽसि मुनिपुङ्गव ।
कृतमित्येव तद्विद्धि मान्योऽसीति सदा मम ॥ ५२ ॥

भगवन्, आपको न किसी वस्तुकी अभिलाषा है, न किसीसे भय है और न क्रोध ही है। आपमें राग (विषय-वासना) भी नहीं है। आधि-व्याधि आदि विपत्तियाँ भी नहीं हैं; फिर भी आप मेरे पास आये हैं, यह बड़ी आश्चर्यकी बात है ॥ ४७ ॥

हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, आपके शुभागमनसे मै निष्पाप हो गया हूँ। अपनेको पुण्यक्षेत्रमें स्थित समझ रहा हूँ अर्थात् आपके आगमनसे मेरा गृह भी पवित्र हो गया है। अधिक क्या कहूँ, मैं अपनेको अमृतमय चन्द्रमण्डलमें निमग्न समझ रहा हूँ ॥ ४८ ॥

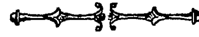
मुने, मुझे प्रतीत हो रहा है कि आपका शुभागमन साक्षात् ब्रह्मका शुभागमन है। आपके आगमनसे उत्पन्न पुण्यसे मैं पवित्र, यश और अभ्युदयसे अनुगृहीत हूँ। आज आपके आगमनसे उत्पन्न पुण्यसे अनुरञ्जित मेरा जन्म सफल हो गया है और मेरा जीवन सार्थक हो गया है ॥ ४९, ५० ॥

यहां आये हुए आपके दर्शन कर, पूजा कर और प्रणाम कर, जैसे चन्द्रमाको देखकर समुद्र अपनेमें नहीं समाता, तटसीमाको लांघकर उछल पड़ता है, वैसे ही मैं भी अपनेमें फूला नहीं समा रहा हूँ ॥ ५१ ॥

मुनिवर, आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजनसे आप आये हैं, उसे आप किया ही समझिए, क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय हैं ॥ ५२ ॥

स्वकार्ये न विमर्शं त्वं कर्तुमर्हसि कौशिक ।
भगवन्नाऽस्त्यदेयं मे त्वयि यत्प्रतिपद्यते ।। ५३ ।।
कार्यस्य न विचारं त्वं कर्तुमर्हसि धर्मतः ।
कर्ता चाऽहमशेषं ते दैवतं परमं भवान् ।। ५४ ।।
इदमतिमधुरं निशम्य वाक्यं श्रुतिसुखमात्मविदा विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टं मुनिवृषभः परमं जगाम हर्षम् ।। ५ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
विश्वामित्राभ्यागमनं नाम षष्ठः सर्गः ।। ६ ।।



सप्तमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।। १ ।।

गाधिनन्दन, अपने कार्यके विषयमें आप विचार न कीजिए । भगवन्, पात्रभूत आपके लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है । मेरा कार्य सिद्ध होगा या नहीं, इसका विचार आप मत कीजिए । मैं आपका कार्य सम्पूर्णरूपसे धर्मतः करूँगा । आप मेरे परम देव हैं ।।५३, ५४।।

आत्मवित् महाराज दशरथ द्वारा विनयपूर्वक कहे गये श्रुतिमधुर सुमिष्ट वचनोंको सुनकर प्रख्यातकीर्ति और विख्यात गुणवाले मुनिपुङ्गव विश्वामित्र परम प्रसन्नताको प्राप्त हुए ।। ५५ ।।

षष्ठ सर्ग समाप्त



सप्तम सर्ग

वाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज, महाराजके आश्चर्यपूर्ण उक्त विस्तृत वाक्यको सुनकर महामुनि विश्वामित्रजीके शरीरमें रोमाञ्च छा गये । उन्होंने पुलकित

सदृशं राजशार्दूल तवैवैतन्महीतले ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठवशवर्तिनः ॥ २ ॥
यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यविनिर्णयम् ।
कुरु त्वं राजशार्दूल धर्मं समनुपालय ॥ ३ ॥
अहं धर्मं समातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्नकरा घोरा राक्षसा मम संस्थिताः ॥ ४ ॥
यदा यदा तु यज्ञेन यजेऽहं विबुधव्रजान् ।
तदा तदा तु मे यज्ञं विनिघ्नन्ति निशाचराः ॥ ५ ॥
बहुशो विहिते तस्मिन् मया राक्षसनायकाः ।
अकिरंस्ते महीं यागे मांसेन रुधिरेण च ॥ ६ ॥
अवधूते तथाभूते तस्मिन् यागकदम्बके ।
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादुपागतः ॥ ७ ॥
न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ।
तथाभूतं हि तत्कर्म न शापस्तस्य विद्यते ॥ ८ ॥

होकर राजासे कहा—महाराज, भूलोकमें ऐसा वाक्य आपके ही योग्य है, क्योंकि आप महावंशमें उत्पन्न हुए हैं और गुरु वसिष्ठजीके आज्ञाकारी हैं ॥ १,२ ॥

महाराज, मैं जो कहना चाहता हूँ, उसके विषयमें आप कर्त्तव्यका निश्चय कीजिए और धर्मका परिपालन कीजिए ॥ ३ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, मैं सिद्धिलाभके लिए यज्ञ आरम्भ करता हूँ । भीषण राक्षस मेरे यज्ञमें विघ्न करनेके लिए आ जाते हैं ॥ ४ ॥

जबजब मैं यज्ञ द्वारा देवताओंका भजन-पूजन करता हूँ तबतब राक्षस मेरे यज्ञको छिन्न-भिन्न कर देते हैं । मेरे बहुत बार यज्ञ आरम्भ करनेपर राक्षस-नायकोंने यज्ञभूमिको मांस और रक्तसे पाट दिया । मेरे यज्ञोंके यों विघ्नों द्वारा छिन्न-भिन्न होनेपर मेरा उत्साह जाता रहा । इस बार फिर मैंने यज्ञका आरम्भ किया है, उसके प्रतीकारके लिए आपके पास आया हूँ ॥ ५–७ ॥

राजन्, क्रोध करके अर्थात् शापदान द्वारा उसका प्रतीकार करनेकी मेरी इच्छा नहीं होती, कारण कि क्रोधरहित होकर ही यज्ञानुष्ठान किया जाता है और क्रुद्ध हुए बिना शाप देना नहीं बनता ॥ ८ ॥

ईदृशी यज्ञदीक्षा सा मम तस्मिन् महाक्रतौ ।
त्वत्प्रसादादविघ्नेन प्रापयेयं महाफलम् ॥ ९ ॥
त्रातुमर्हसि मामार्त्तं शरणार्थिनमागतम् ।
अर्थिनां यन्निराशत्वं सत्तमेऽभिभवो हि सः ॥ १० ॥
तवाऽस्ति तनयः श्रीमान् दृप्तशार्दूलविक्रमः ।
महेन्द्रसदृशो वीर्ये रामो रक्षोविदारणः ॥ ११ ॥
तं पुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ॥ १२ ॥
शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ।
राक्षसा येऽपकर्तारस्तेषां मूर्द्धविनिग्रहे ॥ १३ ॥
श्रेयश्चाऽस्य करिष्यामि बहुरूपमनन्तकम् ।
त्रयाणामपि लोकानां येन पूज्यो भविष्यति ॥ १४ ॥
न च ते राममासाद्य स्थातुं शक्ता निशाचराः ।
क्रुद्धं केसरिणं दृष्ट्वा वनेरिण इवैणकाः ॥ १५ ॥

राजन्, उक्त महायज्ञ-समारम्भमें ऐसी मेरी यज्ञ-दीक्षा है । आपके अनुग्रहसे निर्विघ्न यज्ञ समाप्त कर महाफल प्राप्त करूँगा, ऐसी आशासे मैं आपके समीप आया हूँ । राजन्, मैं अत्यन्त आर्त (दुःखी) और शरणार्थी हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिए । प्रार्थियोंको निराश करना सज्जनोंका तिरस्कार है अर्थात् तिरस्कारके समान ग्लानिकर है ॥ ९,१० ॥

राजन्, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी मत्तसिंहके समान पराक्रमशाली अत्यन्त शोभासम्पन्न, महेन्द्रके समान शौर्यसम्पन्न और राक्षसोंके विनाशमें दक्ष हैं ॥ ११ ॥

अमोघ पराक्रमवाले काकपक्षधारी शूर-वीर अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको आप मुझे दीजिए । मैं अपने दिव्य तेजसे इनकी रक्षा करूँगा । यों मेरे तेजसे सुरक्षित ये यज्ञके विध्वंसक राक्षसों का शिर काटनेके लिए समर्थ हैं ॥ १२,१३ ॥

मैं भी निःसीम प्रभावसे युक्त और विविध अस्त्र, शस्त्र और विद्या देकर श्रीरामचन्द्रका कल्याण करूँगा । जिससे ये तीनों लोकोंमें पूज्य हो जायँगे ॥ १४ ॥

जैसे क्रुद्ध सिंहको देखकर मृग वनमें पैदा हुए इरिणकी (तृणविशेषकी)

तेषां न चाऽन्यः काकुत्स्थाद्योद्‌धुमुत्सहते पुमान् ।
ऋते केसरिणः क्रुद्धान्मत्तानां करिणामिव ॥ १६ ॥

वीर्योत्सिक्ता हि ते पापाः कालकूटोपमा रणे ।
खरदूषणयोर्भृत्याः कृतान्ताः कुपिता इव ॥ १७ ॥

रामस्य राजशार्दूल सहिष्यन्ते न सायकान् ।
अनारतगता धारा जलदस्येव पांसवः ॥ १८ ॥

न च पुत्रकृतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ।
न तदस्ति जगत्यस्मिन् यत्र देयं महात्मनाम् ॥ १९ ॥

हन्त नूनं विजानामि हन्तस्तान् विद्धि राक्षसान् ।
नह्यस्मदादयः प्राज्ञाः संदिग्धे संप्रवृत्तयः ॥ २० ॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम् ।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चाऽन्ये दीर्घदर्शिनः ॥ २१ ॥

ओटमें खड़े नही हो सकते, वैसे ही वे राक्षस श्रीरामके सामने खड़े नही हो सकते ॥ १५ ॥

जैसे क्रुद्ध सिंहके सिवा दूसरा कोई जीव मत्त हाथियोंसे नही लड़ सकता, वैसे ही श्रीरामजीके सिवा दूसरा पुरुष उनसे नहीं लड़ सकता ॥ १६ ॥

एक तो राक्षस ही बलसे गर्वित, अत्यन्त पापी, युद्धमें कालकूटसे भी अधिक तीव्र, कुपित यमके समान अति दारुण हैं, उसपर फिर वे हैं खर-दूषणके भृत्य ॥ १७ ॥

महाराज, जैसे मेघकी मुसलाधार वृष्टिको धूलि-कण नही सह सकते, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी वाणवृष्टिको राक्षस नही सह सकेंगे ॥ १८ ॥

महाराज, आप यह मेरा पुत्र है ऐसा प्राकृत स्नेह न कीजिए, क्योंकि संसारमें महात्मा पुरुषोंके लिए कोई वस्तु अदेय नही है ॥ १९ ॥

महाराज, तपोबलसे निस्सन्देह जानता हूँ और आप भी मेरे वचनसे जानिये कि विघ्नकारी सम्पूर्ण राक्षस मरे हुए ही हैं, क्योंकि मेरे सदृश महामति पुरुषोंकी संदिग्ध विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥ २० ॥

मै जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते है और अन्यान्य महात्मा भी

यदि धर्मो महत्त्वं च यशस्ते मनसि स्थितम् ।
तन्मह्यं समभिप्रेतमात्मजं दातुमर्हसि ॥ २२ ॥
दशरात्रश्च मे यज्ञो यस्मिन् रामेण राक्षसाः ।
हन्तव्या विघ्नकर्तारो मम यज्ञस्य वैरिणः ॥ २३ ॥
अत्राप्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददतां तव मन्त्रिणः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे तेन रामं विसर्जय ॥ २४ ॥
नात्येति कालः कालज्ञ यथाऽयं मम राघव ।
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथा ॥ २५ ॥
कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम् ।
महानप्युपकारोऽपि रिक्ततामेत्यकालतः ॥ २६ ॥
इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ २७ ॥

जानते हैं कि कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी महात्मा (जीवोपाधिसे अपरिच्छिन्न आत्मा ईश्वर) हैं, सामान्य पुरुष नहीं हैं ॥ २१ ॥

यदि धर्म, महत्ता और यशकी रक्षा करनी चाहिए, ऐसी आपकी वासना हो, तो मेरे अभिलषितकी सिद्धिके लिए श्रीरामचन्द्रजीको मुझे दीजिए । रामचन्द्रजी जिस यज्ञमें मेरे यज्ञके विध्वंसक और सर्वविघ्नकारी राक्षसोंको मारेंगे, मेरा वह यज्ञ दस दिनमें पूरा होगा ॥ २२,२३ ॥

अतएव हे काकुत्स्थ, इस विषयमें आपके वशिष्ठ आदि मन्त्री अनुमति प्रदान करें । उनकी अनुज्ञासे आप रामचन्द्रजीको मेरे साथ भेजिए ॥ २४ ॥

हे राघव, आप अवसरज्ञ हैं, जैसे मेरा यह यज्ञका अवसर बीत न जाय वैसा कीजिए आपका कल्याण होगा, आप मनमें शोकको जगह न दीजिए ॥२५॥

समयपर थोड़ा भी कार्य किया जाय, तो वह बहुत उपकारक होता है । असमयमें बहुत भी उपकार किया जाय, तो वह निष्फल जाता है ॥ २६ ॥

धर्मात्मा महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी यों धर्म-अर्थसे युक्त वाक्य कहकर चुप हो गये ॥ २७ ॥

श्रुत्वा वचो मुनिवरस्य महानुभावस्तूष्णीमतिष्ठदुपपन्नपदं स वक्तुम् ।
नो युक्तियुक्तकथनेन विनैति तोषं धीमानपूरितमनोभिमतश्च लोकः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
विश्वामित्रवाक्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



अष्टमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्तमासीन्निश्चेष्टः सदैन्यं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
ऊनषोडशवर्षोऽयं रामो राजीवलोचनः ।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥
इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याः पतिरहं प्रभो ।
तया परिवृतो युद्धं दास्यामि पिशिताशिनाम् ॥ ३ ॥

महानुभाव राजा दशरथ महर्षिके उक्त वचन सुनकर युक्तियुक्त उत्तर देनेके लिए कुछ कालतक चुपचाप बैठे रहे, क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया जाय ऐसा धीमान् पुरुष युक्तियुक्त कथनके बिना संतोषको प्राप्त नहीं होता ॥ २८ ॥

सप्तम सर्ग समाप्त



अष्टम सर्ग

वाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज, राजश्रेष्ठ दशरथ विश्वामित्रजीके उक्त वचन सुनकर एक क्षणके लिए चित्रलिखितकी नाई निश्चेष्ट हो गये और तदनन्तर दीन वचन कहने लगे ॥ १ ॥

मुनिवर, कमलनयन श्रीराम अभी पूरे सोलह वर्षका भी नहीं हुआ । मै राक्षसोंके साथ युद्ध करनेकी इसमें योग्यता नहीं देखता हूँ ॥ २ ॥

प्रभो, यह मेरी पूर्ण एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मै अधीश्वर हूँ । उसको लेकर मैं ही राक्षसोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ ३ ॥

इमे हि शूरा विक्रान्ता भृत्या मन्त्रविशारदाः ।
अहं चैषां धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्द्धनि ॥ ४ ॥
एभिः सहैव वीराणां महेन्द्रमहतामपि ।
ददामि युद्धं मत्तानां करिणामिव केसरी ॥ ५ ॥
बालो रामस्त्वनीकेषु न जानाति बलाबलम् ।
अन्तःपुराद्दते दृष्टा नाऽनेनाऽन्या रणावनिः ॥ ६ ॥
न शस्त्रैः परमैर्युक्तो न च युद्धविशारदः ।
नवाऽस्त्रैः शूरकोटीनां तज्ज्ञः समरभूमिषु ॥ ७ ॥
केवलं पुष्पखण्डेषु नगरोपवनेषु च ।
उद्यानवनकुञ्जेषु सदैव परिशीलनम् ॥ ८ ॥
विहर्तुमेष जानाति सह राजकुमारकैः ।
कीर्णपुष्पोपहारासु स्वकास्वजिरभूमिषु ॥ ९ ॥
अद्य त्वतितरां ब्रह्मन् मम भाग्यविपर्ययात् ।
हिमेनेव हि पद्माभः संपन्नो हरिणः कृशः ॥ १० ॥

ये सभी सैनिक शूर, वीर, पराक्रमशाली और परामर्श देनेमें दक्ष हैं। मैं समरभूमिमें धनुष, बाण लेकर समस्त सैनिकोंकी रक्षा करूँगा। जैसे सिंह मत्त हाथियोंके साथ युद्ध करता है, वैसे ही इन शूर-वीर सैनिकोंके साथ मैं महेन्द्रसे बलिष्ठ वीरोंसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ ४, ५ ॥

श्रीराम बालक हैं, युद्धसे नितान्त अनभिज्ञ हैं। सेनाका बलाबल नहीं जानता। इसने अन्तःपुरमें क्रीड़ाके लिए कल्पित संग्राम छोड़कर अन्य रणभूमि नहीं देखी है। न यह उत्तम शस्त्रोंसे युक्त है, न उत्तम अस्त्रोंसे युक्त है और न युद्धविद्यामें निपुण ही है। समरभूमिमें असंख्य शूर-वीरोंसे कैसे युद्ध करना चाहिए, यह भी इसे ज्ञात नहीं है, युद्धनिपुणता तो दूर रही। केवल यह राजकुमारोंके साथ पुष्पोंसे सुशोभित नगरोपवनोंमें, उद्यानके कुञ्जोंमें परिभ्रमण करना तथा भाँति भाँतिके पुष्पोंसे व्याप्त अपने महलके आगनमें क्रीडा करना जानता है। आजकल तो मेरे दुर्भाग्यसे हिमसे कमलके समान कमलवदन श्रीराम अत्यन्त कृश और पीला हो गया है। न अन्न खा सकता है, न घरमें घूम-फिर

नाऽत्तुमन्नानि शक्नोति न विहर्तुं गृहावनिम् ।
अन्तःखेदपरीतात्मा तूष्णीं तिष्ठति केवलम् ॥ ११ ॥
सदारः सहभृत्योऽहं तत्कृते मुनिनायक ।
शरदीव पयोवाहो नूनं निःसारतां गतः ॥ १२ ॥
ईदृशोऽसौ सुतो बाल आधिनाऽथ वशीकृतः ।
कथं ददामि तं तुभ्यं योद्धुं सह निशाचरैः ॥ १३ ॥
अपि बालाङ्गनासंगादपि साधो सुधारसात् ।
राज्यादपि सुखायैव पुत्रस्नेहो महामते ॥ १४ ॥
ये दुरन्ता महारम्भास्त्रिषु लोकेषु खेददाः ।
पुत्रस्नेहेन सन्तोऽपि कुर्वते तानसंशयम् ॥ १५ ॥
असवोऽथ धनं दारास्त्यज्यन्ते मानवैः सुखम् ।
न पुत्रो मुनिशार्दूल स्वभावो ह्येष जन्तुषु ॥ १६ ॥

सकता है । हृदयगत दुःखसे व्याकुल होकर चुपचाप बैठा रहता है ॥ ११ ॥

मुनिश्रेष्ठ, उसके कारण मैं, मेरी रानियां, मेरे सेवकवर्ग सबके सब शरत्कालके मेघके समान निःसार हो गये हैं ॥ १२ ॥

शरीरसे इतना सुकुमार, अवस्थासे बालक मेरा बच्चा है । उसपर उसे मानसिक पीड़ाने जकड़ रक्खा है । ऐसी परिस्थितिमें उसे मैं निशाचरोंके साथ लड़नेके लिए आपको कैसे दूँ ॥ १३ ॥

यदि कहें कि आप तो धर्मलिप्सु हैं, आपको धर्मविरोधी पुत्रस्नेहसे क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं—'**अपि**' इत्यादिसे ।

मुनिसत्तम, बालाङ्गनाके अङ्कका सङ्ग, सुधारसका सेवन, राज्यका आधिपत्य आदि जितने प्रकारके सुख हैं, उन सबकी अपेक्षा मैं. पुत्रस्नेह-जनित सुखको अधिक महत्त्व देता हूँ अर्थात् पूर्वोक्त सुख ही धर्मके फल हैं, पर वे पुत्रस्नेह-जनित सुखसे बढकर नहीं हैं ॥ १४ ॥

तीनों लोकोंमें धार्मिक लोग भी दीर्घकालमें सिद्ध होनेवाले परिश्रमसाध्य क्लेशकारी तपस्या आदि महारम्भोंको पुत्रस्नेहसे ही निःसन्देह करते हैं ॥ १५ ॥

मुनिश्रेष्ठ, मनुष्य प्राण, धनसम्पत्ति और स्त्रियोंको छोड़ सकते हैं, मगर पुत्रको नहीं छोड़ सकते, यह प्राणियोंका स्वभाव है ॥ १६ ॥

राक्षसाः क्रूरकर्माणः कूटयुद्धविशारदाः ।
रामस्तान् योधयत्वित्थं युक्तिरेवाऽतिदुःसहा ॥ १७ ॥
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
जीवितुं जीविताकाङ्क्षी न रामं नेतुमर्हसि ॥ १८ ॥
नववर्षसहस्राणि मम जातस्य कौशिक ।
दुःखेनोत्पादितास्त्वेते चत्वारः पुत्रका मया ॥ १९ ॥
प्रधानभूतस्तेष्वेव रामः कमललोचनः ।
तं विनेह त्रयोऽप्यन्ये धारयन्ति न जीवितम् ॥ २० ॥
स एव रामो भवता नीयते राक्षसान् प्रति ।
यदि तत्पुत्रहीनं त्वं मृतमेवाऽऽशु विद्धि माम् ॥ २१ ॥
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिरत्रैव मे परा ।
ज्येष्ठं धर्ममयं तस्मान्न रामं नेतुमर्हसि ॥ २२ ॥
निशाचरबलं हन्तुं मुने यदि तवेप्सितम् ।
चतुरङ्गसमायुक्तं मया सह बलं नय ॥ २३ ॥

राक्षस बड़े क्रूर कार्य करनेवाले और कूट युद्धमें दक्ष हैं । श्रीरामचन्द्र उनके साथ युद्ध करें, यह कल्पना ही मेरे लिए अति असहनीय है ॥ १७ ॥

मुनिवर, मै जीनेकी इच्छा करता हूँ, लेकिन रामचन्द्रसे क्षणभरके लिए भी वियुक्त होकर मैं जी नहीं सकता ॥ १८ ॥

भगवन्, मुझे उत्पन्न हुए नौ हजार वर्षोंतक पुत्रकी कामना सताती रही, तदुपरान्त बड़े कष्टसे मैंने इन चार बेटोंको उत्पन्न किया है ॥ १९ ॥

इन चारोंमें कमलनयन राम सर्वप्रधान है, उसके बिना उसके तीन भाई भी नहीं जी सकेंगे। जिसको ले जानेसे अवशिष्ट तीनोंका भी मरण अवश्यम्भावी है, उस श्रीरामको आप मृत्युरूप राक्षसोंके समीप ले जा रहे हैं, तो चारों पुत्रोंसे हीन मुझे आप मरा ही जानिये ॥ २०,२१ ॥

चार पुत्रोंमें से रामचन्द्रके ऊपर ही मेरा सर्वाधिक प्रेम है, क्योंकि वह सर्वज्येष्ठ और धर्मात्मा है । इसलिए रामको आप मत ले जाइये ॥ २२ ॥

मुने, यदि आपको राक्षसोंकी सेनाका संहार करनेकी इच्छा हो, तो मेरे साथ मेरी चतुरङ्गिणी सेनाको ले जाइये ॥ २३ ॥

किंवीर्या राक्षसास्ते तु कस्य पुत्राः कथं च ते।
कियत्प्रमाणाः के चैव इति वर्णय मे स्फुटम् ॥ २४ ॥
कथं तेन प्रकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम्।
मामकैर्बालकैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनाम् ॥ २५ ॥
सर्वं मे शंस भगवन् यथा तेषां महारणे।
स्थातव्यं दुष्टभाग्यानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः ॥ २६ ॥
श्रूयते हि महावीर्यो रावणो नाम राक्षसः।
साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ॥ २७ ॥
स चेत्तव मखे विघ्नं करोति किल दुर्मतिः।
तत्संग्रामे न शक्ताः स्मो वयं तस्य दुरात्मनः ॥ २८ ॥
काले काले पृथग्ब्रह्मन् भूरिवीर्यविभूतयः।
भूतेष्वभ्युदयं यान्ति प्रलीयन्ते च कालतः ॥ २९ ॥
अद्याऽस्मिंस्तु वयं काले रावणादिषु शत्रुषु।
न समर्थाः पुरः स्थातुं नियतेरेष निश्चयः ॥ ३० ॥

उक्त राक्षसोंमें कितना बल है, वे किसके पुत्र हैं, कैसे रहते हैं, कितने हैं और उनके नाम क्या हैं ? यह सब स्पष्टरूपसे मुझे सुनाइये ॥ २४ ॥

हे ब्रह्मन्, मुझे या शिशु रामको अथवा मेरे चारों बालकोंको कूटयुद्धमें विशारद उन राक्षसोंका प्रतीकार कैसे करना चाहिये और उन दुरात्मा राक्षसोंके साथ महारणमें कैसे रहना चाहिए, यह भी मुझसे कहिये। ये राक्षस बड़े बल-गर्वित हैं ॥ २५, २६ ॥

साक्षात् कुबेरका भाई मुनि विश्रवाका पुत्र महाबलशाली रावणनामक राक्षस सुना जाता है। वह दुर्बुद्धि यदि आपके यज्ञमें विघ्न करता है, तो हम उस दुष्टात्माके साथ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २७, २८ ॥

ब्रह्मन्, किसी समय किसी समुदायमें विपुल बल और सम्पत्तिसे सम्पन्न पुरुष भूतोंमें उदयको प्राप्त होते हैं और काल पाकर विनाशको प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

इस समय तो हम लोग रावण आदि शत्रुओंके सामने खड़े होनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, यह ईश्वरीय ही नियम है ॥ ३० ॥

तस्मात् प्रसादं धर्मज्ञ कुरु त्वं मम पुत्रके ।
मम चैवाऽल्पभाग्यस्य भवान् हि परदैवतम् ॥ ३१ ॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पर्वतपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं योद्धुं किं पुनः पुरुषा युधि ॥ ३२ ॥
महावीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः ।
तेन सार्द्धं न शक्ताः स्म संयुगे तस्य बालकैः ॥ ३३ ॥
अयमन्यतमः कालः पेलवीकृतसज्जनः ।
राघवोऽपि गतो दैन्यं यतो वार्द्धकजर्जरः ॥ ३४ ॥
अथवा लवणं ब्रह्मन् यज्ञघ्नं ते मधोः सुतम् ।
कथयत्वसुरप्रख्यं नैव मोक्ष्यामि पुत्रकम् ॥ ३५ ॥
सुन्दोपसुन्दयोश्चैव पुत्रौ वैवस्वतोपमौ ।
यज्ञविघ्नकरौ ब्रूहि न ते दास्यामि पुत्रकम् ॥ ३६ ॥

इसलिए हे धर्मज्ञ, अनुकम्पनीय मेरे पुत्रपर अनुग्रह कीजिये और प्रार्थीके मनोरथको पूर्ण न कर सकनेके कारण अल्प भाग्यवाले मुझपर भी अनुग्रह कीजिये। आप हमारे परम देव हैं ॥ ३१ ॥

आपको ऐसा अधैर्य कैसे हुआ ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'देव०' इत्यादिसे ।

देवता, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, नाग—ये सब रावणसे लड़नेके लिए असमर्थ हैं, मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३२ ॥

रावण बड़े बलशालियोंके बलको भी युद्धमें हर लेता है, उसके साथ संग्राममें लड़नेके लिए हम समर्थ नहीं हैं । उसके पुत्र इन्द्रजित् आदिके साथ भी हम नही लड़ सकते अथवा ऐसे बलशाली रावणका मेरे बच्चे क्या कर सकेंगे ? ॥३३॥

जिस समय मान्धाता आदि राजाओंने जन्म लिया था, यह काल वैसा नहीं है । इस समयमें सज्जन ही निर्बल हैं । इस समय यह रघुवंशीय बालक (मै) बुढ़ापेसे शिथिल हो गया है अथवा श्रीरामचन्द्र बूढ़ोंकी भाँति शिथिल है॥ ३४ ॥

अथवा यदि आपके यज्ञमें विघ्न करनेवाला असुरश्रेष्ठ मधुपुत्र लवण है, तो भी मै अपने बेटेको नहीं जाने दूँगा ॥ ३५ ॥

अथवा यदि यमके सदृश सुन्द और उपसुन्दके पुत्र (मारीच और सुबाहु) आपके यज्ञके विध्वंसक हैं, तो भी मैं अपने पुत्रको आपके साथ नही भेजूँगा ॥३६॥

अथ नेष्यसि चेद्ब्रह्मंस्तद्धतोऽस्म्यहमेव ते ।
अन्यथा तु न पश्यामि शाश्वतं जयमात्मनः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा मृदुवचनं रघूद्वहोऽसौ कल्लोले मुनिमतसंशये निमग्नः ।
नाऽज्ञासीत् क्षणमपि निश्चयं महात्मा प्रोद्वीचाविव जलधौ स मुह्यमानः ॥३८॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
दशरथवाक्यं नामाऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलेक्षणम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

तुम्हारे न देनेपर भी तपोबलसे श्रीरामको अवश्य ही ले जाऊँगा, ऐसा यदि विश्वामित्र कहें, तो इसपर कहते हैं—'**अथ**' इत्यादि ।

ब्रह्मन्, यदि श्रीरामको जबर्दस्ती ले जाओगे, तो उस कल्पमें आपसे मैं ही मारा जाऊँगा, मेरे बिना मैं अपनी निश्चित विजय नहीं देखता हूँ ॥ ३७ ॥

इत्यादि मधुर वचन कहकर, महाराज दशरथ मुनिके अभिमत (रामचन्द्रजीको भेजने) के विषयमें और राक्षसवधके विषयमें क्रमशः श्रीरामको भेजना चाहिए अथवा नही और राक्षसोंका वध हो सकेगा या नही इत्यादि सन्देहरूप सागरकी बड़ी तरङ्गोंमें निमग्न हो क्षणभरके लिए भी निश्चय नही कर सके । अतएव उस समय उनकी दशा उन्नत तरङ्गोंसे युक्त सागरमें डूब रहे पुरुषकी-सी हो रही थी ॥३८॥

अष्टम सर्ग समाप्त



नवम सर्ग

वाल्मीकिने कहा—हे भरद्वाज, अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्रजीमें अधिक स्नेह होनेके कारण जिन वचनोंको कहते समय दशरथके नेत्र आसुओंसे भर गये थे, उनके ऐसे बचनोंको सुननेके बाद क्रोधित होकर विश्वामित्रने राजासे निम्ननिर्दिष्ट वाक्य कहा ॥ १ ॥

करिष्यामीति संश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमर्हसि ।
स भवान् केसरी भूत्वा मृगतामिव वाञ्छसि ॥ २ ॥
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्याऽस्य विपर्ययः ।
न कदाचन जायन्ते शीतांशोरुष्णरश्मयः ॥ ३ ॥
यदि त्वं न क्षमो राजन् गमिष्यामि यथागतम् ।
हीनप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सबान्धवः ॥ ४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

तस्मिन् कोपपरीतेऽथ विश्वामित्रे महात्मनि ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना सुरांश्च भयमाविशत् ॥ ५ ॥

'मै आपके आदेशका अवश्य पालन करूँगा' इस प्रकार पहले प्रतिज्ञा कर उसको छोड़ना चाहते हो, इसका मतलब यह होता है कि आप सिंह होकर मानो अब मृग (श्रृगाल) बननेकी इच्छा कर रहे हो ॥ १,२ ॥

राघवोंके कुलकी यह मर्यादा नहीं है अर्थात् इस प्रकारकी झूठी प्रतिज्ञा करना या मिथ्या बोलना रघुवंशियोंके लिए अनुचित (निन्दनीय) है । क्या शीतांशु चन्द्रमाकी कभी उष्ण किरणें होती हैं ? हे राजन्, अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्ति करनेमें अपनेको यदि असमर्थ पा रहे हो, तो मैं जैसे आया था वैसे ही वापस जाऊँगा । अपनी प्रतिज्ञासे च्युत होनेवाले हे काकुत्स्थ, तुम्हारा, अपने आत्मीयोंके साथ, कल्याण हो ॥ ३,४ ॥

वाल्मीकिने कहा—उस महान् तपस्वी विश्वामित्रके क्रोधित होनेपर सारी पृथ्वी कांपने लगी । सम्पूर्ण देवताओंको भय होने लगा । [पृथिवी अपने मनमें यह सोचकर भयके मारे कांपने लगी कि दशरथ मेरे स्वामी हैं, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाका पालन न कर विश्वामित्रका बड़ा भारी अपराध किया है और अपराधी दशरथका मैंने धारण किया है, अतः इस प्रकारके सम्बन्धका विचार कर, मुझे भी अपनी अपराधिनी समझ कर कदाचित् शाप न दें । देवताओंको इस विचारसे भय हुआ कि विश्वामित्र क्रोधमें आकर, अपने तपके प्रभावसे दूसरे रामचन्द्रको उत्पन्न कर रावणवधके लिए उसीको यदि प्रेरित कर देंगे, तो बड़ा भारी अनर्थ होगा, क्योंकि नवीन रामचन्द्रके साथ हम लोगोंका कोई सम्बन्ध नही है, अतः अन्तमें वह हमारे ऊपर भी आक्रमण कर सकता है ।] ॥ ५ ॥

क्रोधाभिभूतं विज्ञाय जगन्मित्रं महामुनिम् ।
धृतिमान्सुव्रतो धीमान् वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवाऽपरः ।
भवान् दशरथः श्रीमांस्त्रैलोक्यगुणभूषितः ॥ ७ ॥
धृतिमान् सुव्रतो भूत्वा न धर्मं हातुमर्हसि ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मेण यशसा युतः ॥ ८ ॥
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व न धर्मं हातुमर्हसि ।
मुनेस्त्रिभुवनेशस्य वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
करिष्यामीति संश्रुत्य तत्ते राजन्नकुर्वतः ।
इष्टापूर्तं हरेद्धर्मं तस्माद्रामं विसर्जय ॥ १० ॥

जगत्के मित्र महामुनि विश्वामित्रको क्रोधसे अभिभूत याने क्रोधपूर्ण देखकर धैर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, उत्तम व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् महर्षि वसिष्ठ निम्ननिर्दिष्ट वाक्य बोले ॥ ६ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे राजन्, तुम इक्ष्वाकु वंशमें साक्षात् दूसरे धर्मके सदृश उत्पन्न हुए हो। अनेक प्रकारकी लक्ष्मीसे सम्पन्न हो, तीनों लोकोंमें सज्जनोंके जो उत्तमोत्तम गुण हैं उनसे परिपूर्ण हो, धीर और प्रतिज्ञापालन आदि अच्छे व्रतोंका अनुष्ठान करते हो, इसलिए तुम्हें धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—इन तीनों लोकोंमें तुम अपने धर्माचरणसे और यशसे विख्यात हो ॥ ७,८ ॥

तुम्हारे कुलमें उत्पन्न हुए पहलेके राजाओंने प्रतिज्ञापालन आदि धर्मोंका कितनी दृढ़ताके साथ परिपालन किया था, उसे स्मरण करो और तीनों लोकोंमें अभीष्ट प्राप्त करनेमें समर्थ महर्षि विश्वामित्रके वाक्यका आदरपूर्वक पालन करो। 'आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' यों प्रतिज्ञा करके उससे अपना मुँह मोड़ लोगे, तो तुम्हारे सम्पूर्ण इष्ट, पूर्त (वापी, कूप, तालाब आदि) आदि धर्म नष्ट हो जायँगे, इसलिए महामुनि विश्वामित्रके साथ श्रीरामचन्द्रको भेजो ॥१०॥

इक्ष्वाकुवंशजातोऽपि स्वयं दशरथोऽपि सन् ।
न पालयसि चेद्वाक्यं कोऽपरः पालयिष्यति ॥ ११ ॥
युष्मदादिप्रणीतेन व्यवहारेण जन्तवः ।
मर्यादां न विमुञ्चति तां न हार्तुं त्वमर्हसि ॥ १२ ॥
गुप्तं पुरुषसिंहेन ज्वलनेनाऽमृतं यथा ।
कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ॥ १३ ॥
एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्ध्याऽधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १४ ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैतदन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यति कश्चन ॥ १५ ॥

लोकमें यह प्रसिद्ध है कि जैसे राजा भले-बुरे आचरण करते हैं, वैसे ही उनकी प्रजा भी आचरण करती है, इसलिए अपनी प्रजाको अच्छी शिक्षा देनेके लिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञाका उलंघन नहीं करना चाहिये, यों महर्षि वसिष्ठ दशरथको उपदेश देते हैं—'**इक्ष्वाकु०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न होकर और स्वयं दशरथ जैसे राजा होकर भी यदि तुम अपने वचनोंका पालन नहीं करते हो, तो भला बतलाओ कि इस संसारमें दूसरा कौन प्रतिज्ञाका पालन करेगा ? ॥ ११ ॥

तुम्हारे ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा चलाये गये व्यवहारसे (नियमसे) साधारण अज्ञानी भी मर्यादाका उलंघन नहीं करते, अतः अपनी प्रतिज्ञाका पालन न करना तुम्हारे लिए अत्यन्त अनुचित है ॥ १२ ॥

इन्द्रके स्थानमें रक्खा हुआ अमृत अग्नि द्वारा चारों ओर रक्षित होनेके कारण जैसे उसकी राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुषोंमें सिंहके समान अर्थात् पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीविश्वामित्र द्वारा रक्षित होनेपर, फिर चाहे अस्त्रविद्यामें निपुण हों, चाहे न हो, श्रीरामचन्द्रजीको राक्षस लोग कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ १३,१४ ॥

राजाके प्रति स्वय कथित अर्थकी पुष्टि करनेके लिए विश्वामित्रके लोकोत्तर प्रभावका महार्षि वसिष्ठ वर्णन करते हैं—'**एष विग्रहवान्**' इत्यादिसे ।

ये विश्वामित्र मुनि मूर्तिमान् साक्षात् धर्म, बड़े-बड़े शक्तिशालियोंमें सबसे

न देवा नर्षयः केचिन्नाऽसुरा न च राक्षसाः ।
न नागा यक्षगन्धर्वाः समेताः सदृशा मुनेः ॥ १६ ॥
अस्त्रमस्मै कृशाश्वेन परैः परमदुर्जयम् ।
कौशिकाय पुरा दत्तं यदा राज्यं समन्वगात् ॥ १७ ॥
ते हि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतोपमाः ।
एनमन्वचरन् वीरा दीप्तिमन्तो महौजसः ॥ १८ ॥
जया च सुप्रभा चैव दाक्षायिण्यौ सुमध्यमे ।
तयोस्तु यान्यपत्यानि शतं परमदुर्जयम् ॥ १९ ॥
पञ्चाशतं सुतान् जज्ञे जया लब्धवरा पुरा ।
वधार्थं सुरसैन्यानां ते क्षमाः कामचारिणः ॥ २० ॥
सुप्रभा जनयामास पुत्रान् पञ्चाशतं परान् ।
संघर्षान्नाम दुर्धर्षान् दुराकारान् बलीयसः ॥ २१ ॥

अधिक शक्तिशाली, संसारमें सबसे अधिक बुद्धिमान् और तपके सर्वोच्च गृह हैं ॥१४॥

चराचर तीनों लोकोंमें यह प्रसिद्धि है कि विविध अस्त्रविद्यामें ये इतने निपुण हैं कि इस समय इनकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है और न भविष्यमें भी कोई होगा। महर्षि विश्वामित्रकी समता न सम्पूर्ण देवता कर सकते हैं, न अन्य ऋषि कर सकते हैं और न असुर, राक्षस, नाग, यक्ष और गन्धर्व ही कर सकते हैं ॥ १५,१६ ॥

विश्वामित्र जब राज्य करते थे, तब उनकी उग्र तपश्चर्यासे सन्तुष्ट होकर रुद्रने कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र उन्हें दिये। प्रजापतिके पुत्र रुद्रके समान संहार करनेमें वीर, दीप्तिमान् और शत्रुओंका निर्दलन करनेमें समर्थ वे कृशाश्व द्वारा प्रसूत अस्त्र (अस्त्ररूपी देव) विश्वामित्रको प्राप्त होकर अनुचरके समान उनकी सेवा करते हैं ॥ १७, १८ ॥

उनमें प्रधान अस्त्रोंको कहते हैं—**'जया'** इत्यादिसे।

दक्ष प्रजापतिकी जया और सुप्रभा नामकी दो अत्यन्त सुन्दर कन्याएँ थीं। उनके गर्भसे बड़े पराक्रमी और शत्रुओं द्वारा दुर्जय सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें जयाने पतिसेवासे वर पाकर देवसेना असुरोंका वध करनेमें समर्थ हो, इसलिए यथेष्ट विहार करनेवाले पचास पुत्र अपने गर्भसे उत्पन्न किये और सुप्रभाने

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो जगन्मुनिः ।
न रामगमने बुद्धिं विक्लवां कर्तुमर्हसि ॥ २२ ॥
अस्मिन् महासत्त्वतमे मुनीन्द्रे स्थिते समीपे पुरुषस्य साधो ।
प्राप्तेऽपि मृत्यावमरत्वमेति मा दीनतां गच्छ यथा विमूढः ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वैराग्यप्रकरणे वसिष्ठसमाश्वासनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥



दशमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।
संप्रहृष्टमना राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥

शत्रुओंका दिल दहलानेवाले दुर्धर्ष और भयंकर आकारवाले अत्यन्त बली संघर्ष-नामके अन्य पचास पुत्र उत्पन्न किये ॥ १९–२१ ॥

राजन्, इस प्रकारके पराक्रमवाले, महातेजस्वी और सारे जगत्को अपने योगके प्रभावसे हस्तामलकवत् देखनेवाले ये महानुभाव महर्षि विश्वामित्र हैं, अतः रामचन्द्रजीके इनके साथ जानेमें तुम्हें मनमें किसी प्रकारकी व्याकुलता नही करनी चाहिए । क्योंकि हे साधो, महाप्रभावशाली ये मुनीन्द्र जिस पुरुषकी सन्निधिमें हों उसकी यदि मृत्यु भी प्राप्त हो, तो भी वह अमरभावको प्राप्त हो जाता है, इसलिए तुम मूर्ख मनुष्यकी नाई दीन मत बनो ॥ २२,२३ ॥

नवम सर्ग समाप्त



दशम सर्ग

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, महर्षि वसिष्ठजीके यों कहनेपर राजा दशरथने प्रसन्नमन होकर अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्मणके साथ बुलानेके लिए प्रतीहारसे (ड्योढ़ीदारसे) कहा ॥ १ ॥

दशरथ उवाच

प्रतीहार महाबाहुं रामं सत्यपराक्रमम् ।
सलक्ष्मणमविघ्नेन पुण्यार्थं शीघ्रमानय ॥ २ ॥
इति राज्ञा विसृष्टोऽसौ गत्वाऽन्तःपुरमन्दिरम् ।
मुहूर्त्तमात्रेणाऽऽगत्य समुवाच महीपतिम् ॥ ३ ॥
देव दोर्दलिताशेषरिपो रामः स्वमन्दिरे ।
विमनाः संस्थितो रात्रौ षट्पदः कमले यथा ॥ ४ ॥
आगच्छामि क्षणेनेति वक्ति ध्यायति चैकतः ।
न कस्यचिच्च निकटे स्थातुमिच्छति खिन्नधीः ॥ ५ ॥
इत्युक्तस्तेन भूपालस्तं रामानुचरं जनम् ।
सर्वमाश्वासयामास पप्रच्छ च यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
कथं कीदृग्विधो राम इति पृष्टो महीभृता ।
रामभृत्यजनः खिन्नो वाक्यमाह महीपतिम् ॥ ७ ॥

दशरथने कहा—हे प्रतीहार, अमोघ (सफल) पराक्रमवाले आजानुबाहु श्रीरामचन्द्रको महर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी निर्विघ्न सिद्धिके लिए लक्ष्मणके साथ यहाँ शीघ्र ले आओ ॥ २ ॥

इस प्रकार राजा दशरथ द्वारा भेजा गया द्वारपाल अन्तःपुरमें स्थित श्रीरामचन्द्रजीके वासस्थानमें जाकर और मुहूर्तमात्रमें वापस आकर राजासे कहने लगा—अपनी भुजाओंसे शत्रुसमूहका मर्दन करनेवाले हे देव, रात्रि होनेपर भ्रमर जैसे कमलमें उदास होकर बैठा रहता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी अपने निवासस्थानमें अत्यन्त उदास होकर बैठे हुए हैं। थोड़ी देरमें आता हूँ, ऐसा कहकर फिर किसी वस्तुका ध्यान करने लग जाते हैं, उनको इतनी ग्लानि हो गई है कि वे किसीके निकट ठहरना भी नहीं चाहते ॥ ३–५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें द्वारपाल द्वारा ऐसा समाचार पाकर राजा दशरथ प्रतीहारके साथ आये हुए श्रीरामचन्द्रजीके खास अनुचरसे आश्वासन-पूर्वक क्रमशः सब वृत्तान्त पूछने लगे—श्रीरामचन्द्रजी कैसे और क्या कर रहे हैं? यों पूछे जानेपर उस सेवकने अत्यन्त उदास होकर राजासे ये वाक्य कहे—महाराज, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको अत्यन्त कृश और खिन्न देखकर उनके

देहयष्टिमिमां देव धारयन्त इमे वयम् ।
खिन्नाः खेदे परिम्लानतनौ रामे सुते तव ॥ ८ ॥
रामो राजीवपत्राक्षो यतः प्रभृति चाऽऽगतः ।
सविप्रस्तीर्थयात्रायास्ततः प्रभृति दुर्मनाः ॥ ९ ॥
यत्नप्रार्थनयाऽस्माकं निजव्यापारमाह्निकम् ।
सोऽयमाम्लानवदनः करोति न करोति वा ॥ १० ॥
स्नानदेवार्चनादानभोजनादिषु दुर्मनाः ।
प्रार्थितोऽपि हि नाऽऽतृप्तेरश्नात्यशनमीश्वरः ॥ ११ ॥
लोलान्तःपुरनारीभिः कृतदोलाभिरङ्गणे ।
न च क्रीडति लीलाभिर्धाराभिरिव चातकः ॥ १२ ॥
माणिक्यमुकुलप्रोता केयूरकटकावलिः ।
नाऽऽनन्दयति तं राजन् द्यौः पातविषयं यथा ॥ १३ ॥
क्रीडद्वधूविलोकेषुवहत्कुसुमवायुषु ।
लतावलयगेहेषु भवत्यतिविषादवान् ॥ १४ ॥

विषयमें हम लोग भी इतने दुःखी हो गये हैं कि हम लोगोंका शरीर लकड़ीके समान हो गया है। अर्थात् हम लोगोंका शरीर केवल अस्थिपञ्जर मात्र रह गया है ॥ ६–८ ॥

कमलपत्रके समान नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी ब्राह्मणोंके साथ जबसे तीर्थयात्रा कर घर वापस लौटे हैं, तबसे वे अत्यन्त खिन्न रहते हैं। आम्लान (कुम्हलाये) शरीरवाले श्रीरामचन्द्रजी हम लोगोंकी बारबार प्रार्थनासे अपने सन्ध्यावन्दन, भोजन आदि कार्य कभी करते हैं और कभी नही भी करते हैं। स्नान, देवपूजन, दान, भोजन आदिमें सदा उदास रहते हैं और प्रार्थना करनेपर भी तृप्तिपर्यन्त भोजन नही करते ॥ ९–११ ॥

जैसे मेघकी धाराओंके साथ चातक खेलकूद (क्रीडा) करता है, वैसे आँगनमें झूला झुलानेवाली अन्तःपुरकी चपल अङ्गनाओंके साथ श्रीरामचन्द्रजी कभी क्रीड़ा भी नहीं करते। जैसे थोड़े समयमें स्वर्गसे गिरनेवाले पुरुषको स्वर्गीय भोग-सामग्री आनन्द नहीं देती, वैसे ही मुकुलके सदृश आकारवाले माणिकोंसे जटित सुन्दर केयूर और कटक भी उन्हें आनन्द नहीं देते। क्रीडा करनेवाली सुन्दर रमणियोंके कटाक्षरूपी बाणोंके समान बहनेवाले सुगन्ध-

यद् द्रव्यमुचितं स्वादु पेशलं चित्तहारि च ।
बाष्पपूर्णेक्षण इव तेनैव परिखिद्यते ॥ १५ ॥
किमिमा दुःखदायिन्यः प्रस्फुरन्तीः पुराङ्गनाः ।
इति नृत्तविलासेषु कामिनीः परिनिन्दति ॥ १६ ॥
भोजनं शयनं यानं विलासं स्नानमासनम् ।
उन्मत्तचेष्टित इव नाऽभिनन्दत्यनिन्दितम् ॥ १७ ॥
किं सम्पदा किं विपदा किं गेहेन किमिङ्गितैः ।
सर्वमेवाऽसदित्युक्त्वा तूष्णीमेकोऽवतिष्ठते ॥ १८ ॥
नोदेति परिहासेषु न भोगेषु निमज्जति ।
न च तिष्ठति कार्येषु मौनमेवाऽवलम्बते ॥ १९ ॥
विलोलालकवल्लर्यो हेलावलितलोचनाः ।
नाऽऽनन्दयन्ति तं नार्यो मृग्यो वनतरुं यथा ॥ २० ॥

पूर्ण पुष्पकी वायुसे युक्त लताओंके निकुञ्जोंमें भी सदा उदासीन–विषण्ण–रहते हैं। जो पदार्थ उपभोगमें लोक और शास्त्रसे अविरुद्ध, मनोहर, स्वादिष्ट और कोमल हैं, उनसे भी अश्रुपूर्णनेत्रके समान खिन्न हो जाते हैं ॥ १२–१५ ॥

हाव-भाव, लावण्य, विलास आदिसे शोभित नृत्य करनेवाली अन्तःपुरकी अङ्गनाओंको देखकर 'दुःखदायिनी ये सब क्या कर रही हैं' इस प्रकार उनके नृत्य आदि विलासोंकी ओर कटाक्ष करके श्रीरामजी उन कामिनियोंकी निन्दा करते हैं। भोजन, शयन, यान (सवारी), विलास, स्नान, आसन आदिके निर्दोष होनेपर भी उन्मत्तकी तरह उनकी अवहेलना करते हैं। सम्पत्तिसे, विपत्तिसे, घरसे और अन्यान्य व्यापारोंसे क्या होनेवाला है, क्योंकि ये सब असत् हैं, अधिक दिन तक रहनेवाले नहीं हैं, नश्वर हैं, ऐसा कह कर फिर चुप हो जाते हैं और एकाकी रहते हैं। परिहाससे प्रसन्न नही होते—भोगोंमें आसक्त नहीं होते, कायामें सहयोग नहीं करते और किसी प्रकारके कार्यारम्भमें आस्था नहीं रखते, किन्तु मौन ही रहते हैं। जैसे चपल नेत्रवाली हरिणियां वृक्षको आनन्द नहीं देतीं, वैसे ही जिनके केशोंमें पुष्प और रत्नोंकी मञ्जरियाँ लगी हैं, शृंगारकी हाव-भाव आदि चेष्टाओं और कटाक्षसे जिनके नेत्र तिरछे हैं, ऐसी ललनाएँ उन्हें आनन्द नहीं देतीं ॥ १६–२० ॥

एकान्तेषु दिगन्तेषु तीरेषु विपिनेषु च ।
रतिमायात्यरण्येषु विक्रीत इव जन्तुषु ॥ २१ ॥
वस्त्रपानाशनादानपराङ्मुखतया तया ।
परिव्राड्धर्मिणं भूप सोऽनुयाति तपस्विनम् ॥ २२ ॥
एक एव वसन् देशे जनशून्ये जनेश्वर ।
न हसत्येकया बुद्ध्या न गायति न रोदिति ॥ २३ ॥
बद्धपद्मासनः शून्यमना वामकरस्थले ।
कपोलतलमाधाय केवलं परितिष्ठति ॥ २४ ॥
नाऽभिमानमुपादत्ते न च वाञ्छति राजताम् ।
नोदेति नाऽस्तमायाति सुखदुःखानुवृत्तिषु ॥ २५ ॥
न विद्मः किमसौ याति किं करोति किमीहते ।
किं ध्यायति किमायाति कथं किमनुधावति ॥ २६ ॥

किसी उच्चवंशी पुरुषको, नीच जातिके पुरुषोंमें क्रीतदास होनेपर, जैसे एकान्त निर्जन प्रदेश और अरण्य आदिमें रहना अच्छा लगता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीको एकान्तमें, नदीके तीरमें, दिगन्तमें और निर्जन अरण्य प्रदेशमें रहना अच्छा लगता है ॥ २१ ॥

राजन्, वस्त्र, पान, अशन, दान आदिसे विमुख होकर श्रीरामचन्द्रजी संन्यासधर्मसे दीक्षित संन्यासीका अनुकरण कर रहे हैं अर्थात् संन्यासी जिस तरह किसी वस्तुका परिग्रह आदि नहीं करता, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भी किसी वस्तुका परिग्रह आदि नही करते हैं—विरक्त-से रहा करते हैं ॥ २२ ॥

महाराज, रामचन्द्रजी जनशून्य देशमें एकाकी होकर रहते हैं और वहाँ मन लगाकर न हँसते हैं, न रोते हैं और न गाते हैं, किन्तु पद्मासन लगाकर और अपने बांये हाथमें कपोल रखकर किसी ऊँची वस्तुका ध्यान लगाये बैठे रहते हैं। इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके मिलनेपर न हर्ष और विषाद करते हैं, न अभिमान करते हैं और न राज्यकी इच्छा ही करते हैं ॥ २३–२५ ॥

हम लोग यह नही जानते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका अनुसरण करते हैं। जैसे शरत् ऋतुकी समाप्तिमें वृक्षकी अवस्था

प्रत्यहं कृशतामेति प्रत्यहं याति पाण्डुताम् ।
विरागं प्रत्यहं याति शरदन्त इव द्रुमः ॥ २७ ॥
अनुयातो तथैवैतौ राजञ्छत्रुघ्नलक्ष्मणौ ।
तादृशाविव तस्यैव प्रतिबिम्बाविव स्थितौ ॥ २८ ॥
भृत्यै राजभिरम्बाभिः संपृष्टोऽपि पुनः पुनः ।
उक्त्वा न किञ्चिदेवेति तूष्णीमास्ते निरीहितः ॥ २९ ॥
आपातमात्रहृद्येषु मा भोगेषु मनः कृथाः ।
इति पार्श्वगतं भव्यमनुशास्ति सुहृज्जनम् ॥ ३० ॥
नानाविभवरम्यासु स्त्रीषु गोष्ठीगतासु च ।
पुरःस्थितमिवाऽस्नेहो नाशमेवाऽनुपश्यति ॥ ३१ ॥
नीतमायुरनायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
चेष्टितैरिति काकल्या भूयो भूयः प्रगायति ॥ ३२ ॥

होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र प्रतिदिन दुबले-पतले और पीले होते चले जा रहे हैं और उत्तरोत्तर उनका वैराग्य बढ़ता ही चला जा रहा है ॥ २६, २७ ॥

राजन्, सर्वदा श्रीरामचन्द्रका अनुसरण करनेवाले शत्रुघ्न और लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्रजीके समान दुर्बल हो रहे हैं, अर्थात् रामचन्द्रजीके ठीक प्रतिबिम्बके समान हो रहे हैं ॥ २८ ॥

नौकरोंके, राजाओंके और माताओंके बारबार पूछनेपर भी 'कुछ नहीं' ऐसा प्रत्युत्तर देकर और अपने अभिप्रायकी सूचक चेष्टाओंको न कर चुप हो जाते हैं ॥ २९ ॥

अपने समीपके विवेकी मित्रोंको यह उपदेश देते हैं कि इन ऊपर-ऊपरसे सुन्दर दीखनेवाले क्षणिकसुखजनक विषयोंसे तुम अपना मन हटा लो अर्थात् क्षणिक असत् विषयोंमें अपना मन कभी मत लगाओ ॥ ३० ॥

अनेक प्रकारके आभूषणोंसे सुन्दर, विलासस्थानमें अवस्थित रमणियोंको अपने सामने खड़ी देखकर उनके प्रति स्नेहरहित श्रीरामचन्द्रजी विनाशकी ही धारणा करते हैं ॥ ३१ ॥

हम लोगोंने अपनी आयु परम पदकी प्राप्तिके बिना यों ही निरर्थक अनेक तरहकी चेष्टाओंके द्वारा व्यतीत कर दी, इस प्रकार मधुर और स्पष्ट वाणीसे श्रीरामचन्द्रजी

सम्राड् भवेति पार्श्वस्थं वदन्तमनुजीविनम् ।
प्रलपन्तमिवोन्मत्तं हसत्यन्यमना मुनिः ॥ ३३ ॥
न प्रोक्तमाकर्णयति ईक्षते न पुरोगतम् ।
करोत्यवज्ञां सर्वत्र सुसमेत्याऽपि वस्तुनि ॥ ३४ ॥
अप्याकाशसरोजिन्या अप्याकाशमहावने ।
इत्थमेतन्मन इति विस्मयोऽस्य न जायते ॥ ३५ ॥
कान्तामध्यगतस्याऽपि मनोऽस्य मदनेषवः ।
न भेदयन्ति दुर्भेद्यं धारा इव महोपलम् ॥ ३६ ॥

बार-बार गान करते हैं। यदि कोई समीपस्थ अनुचर उन्हें यह कहे कि आप सम्राट् हों, तो उसके कथनको उन्मत्तप्रलापकी नाईं समझकर दूसरी ओर चित्त करके हँसते हैं ॥ ३२,३३ ॥

किसीके वाक्यको न सुनते हैं और न सामनेकी वस्तुको देखते हैं। गुणादिसे युक्त विस्मयोत्पादक उत्तम वस्तुके प्राप्त होनेपर भी उसकी अवज्ञा करते हैं ॥३४॥

यदि शङ्का हो कि गुणादिके उत्कर्षसे विस्मययोग्य वस्तुमें विस्मय करना ही उचित है, अतः उसकी अवज्ञा करना ठीक नहीं है, तो इसपर कहते हैं— **'अप्या०'** इत्यादिसे।

आकाशरूप महारण्यमें जैसे आकाशकमलिनी असम्भव और विस्मयोत्पादक है, वैसे ही यह मन भी है, इसलिए श्रीरामचन्द्रजीको विस्मय नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि जिस मनमें बाह्य विषय द्वारा विस्मय होता है, वह मन ही आकाशरूप महारण्यमें या आकाशस्थित अरण्यमें कमलिनीकी तरह स्वयं असम्भव और विस्मयजनक है। जैसे विवेकी पुरुषके मनमें आकाशकमलिनीसे विस्मय नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि आकाशमें पहले अरण्यका ही असम्भव है फिर उसमें कमलिनी होगी कैसे? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी यह जानते हैं कि कूटस्थ असङ्ग आत्मामें मनका संसर्ग ही असंम्भव है और उसमें विस्मयादिका भी असम्भव है, अतः उनको किसी बाह्य पदार्थसे विस्मय नहीं होता। श्लोकस्थ दो अपिशब्द आकाशारण्य और आकाशकमलिनीकी असंम्भावना सूचित करनेके लिए हैं।] ॥३५॥

जैसे मेघकी धाराएँ बड़े भारी पत्थरका भेदन नहीं कर सकतीं, वैसे ही कामदेव अनेक सुन्दर स्त्रियोंके बीचमें रहनेपर भी श्रीरामचन्द्रजीके मनका अपने बाणोंसे भेदन नहीं कर सकता ॥ ३६ ॥

आपदामेकमावासमभिवाञ्छसि किं धनम् ।
अनुशिष्यति सर्वस्वमर्थिने संप्रयच्छति ॥ ३७ ॥
इयमापदियं संपदित्येवं कल्पनामयः ।
मनसोऽभ्युदितो मोह इति श्लोकान् प्रगायति ॥ ३८ ॥
हा हतोऽहमनाथोऽहमित्याक्रन्दपरोऽपि सन् ।
न जनो याति वैराग्यं चित्रमित्येव वक्त्यसौ ॥ ३९ ॥
रघुकाननशालेन रामेण रिपुघातिना ।
भृशमित्थं स्थितेनैव वयं खेदमुपागताः ॥ ४० ॥
न विद्मः किं महाबाहो तस्य तादृशचेतसः ।
कुर्मः कमलपत्राक्ष गतिरत्र हि नो भवान् ॥ ४१ ॥
राजानमथवा विप्रमुपदेष्टारमग्रतः ।
हसत्यज्ञमिवाऽव्यग्रः सोऽवधीरयति प्रभो ॥ ४२ ॥

आपत्तियोंके प्रधान निवासस्थानरूप धनको क्यों चाहता है ? ऐसी शिक्षा देकर श्रीरामचन्द्रजी अपना सम्पूर्ण धन याचकोंको दे देते हैं । और यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है, यह सब केवल कल्पनाओंसे भरा हुआ, मनसे उठा हुआ भ्रम है, ऐसे श्लोकोंको खूब गाते हैं । हा मैं मर गया और मैं अनाथ हो गया, इस प्रकार लोक - क्रन्दन तो करते हैं, पर वैराग्यको प्राप्त नहीं होते, यह बड़ा आश्चर्य है, ऐसा ही कहते हैं ॥ ३७—३९ ॥

रघुवंशरूप महा अरण्यमें शाल वृक्षके समान, शत्रुओंका मर्दन करनेमें समर्थ श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी अवस्था देखकर हम लोगोंको अत्यन्त खेद हो रहा है ॥४०॥

हे महाबाहो, इस प्रकार शोकसे परिपूर्ण अन्तःकरणवाले श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें हमें क्या करना चाहिए, जिससे कि उनका शोक निवृत्त हो, यह हम नहीं जानते, अतः हे कमलपत्राक्ष, हम लोगोंको उपाय बतलानेके लिए आप ही हमारे दिग्दर्शक हों ॥४१॥

यदि यहाँपर यह शङ्का हो कि राजनीति आदि व्यवहारोंको जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा रामचन्द्रजीको उपदेश दिलाओ, जिससे उनका सारा मोह नष्ट हो जाय, तो इस शङ्काका अनुचर समाधान करता है—**'राजान०'** इत्यादिसे ।

प्रभो, राजनीति आदि व्यवहारोंके उपदेशक राजा और अच्छे ब्राह्मण

यदेवेदमिदं स्फारं जगन्नाम यदुत्थितम् ।
नैतद् वस्तु न चैवाऽहमिति निर्णीय संस्थितः ॥ ४३ ॥
नाऽरौ नाऽऽत्मनि नो मित्रे न राज्ये न च मातरि ।
न संपदा न विपदा तस्याऽऽस्था न विभो बहिः ॥ ४४ ॥
निरस्तास्थो निराशोऽसौ निरीहोऽसौ निरास्पदः ।
न मूढो न च मुक्तोऽसौ तेन तप्यामहे भृशम् ॥ ४५ ॥
किं धनेन किमम्बाभिः किं राज्येन किमीहया ।
इति निश्चयवानन्तः प्राणत्यागपरः स्थितः ॥ ४६ ॥

पण्डितोंको अपने आगे देखकर रामचन्द्रजी अव्यग्र होकर उनकी हँसी उड़ाते हैं अर्थात् उनका किसी प्रकारका सम्मान न कर तिरस्कार करते हैं । बाह्य दृष्टियोंसे अनेक प्रकारका दीखनेवाला यह विस्तृत जगत् विनाशी ही है । यह अहमाकार वृत्तिसे गम्य परमार्थ (परमात्मरूप) वस्तु नहीं है, किन्तु उससे भिन्न असत् वस्तु है, ऐसा निर्णय करके उसके जिज्ञासु होकर चुपचाप अवस्थित रहते हैं ॥ ४२,४३ ॥

महाराज, बाह्य जगत्में अर्थात् शत्रु, आत्मीय, मित्र, राज्य और माता आदिमें सम्पत्ति या विपत्तिसे रामचन्द्र किसी प्रकारकी आस्था (विश्वास) नहीं करते । आस्थासे, आशासे, इच्छासे और आत्मविश्रान्तिकी प्राप्तिसे शून्य ये रामचन्द्रजी न मूढ हैं और न मुक्त ही हैं, उन्हें ऐसा देखकर हम लोग बड़े दुःखी या अत्यन्त परितप्त होते हैं । [आशा पराधीन विषयोंमें होती है और स्वाधीन विषयोंमें आस्था होती है, यों आस्था और आशाका भेद समझना चाहिए । रामचन्द्रजीमें विवेक है, अतः वे मूढ नहीं कहे जा सकते और आत्मविश्रान्ति उनमें नहीं है, अतः मुक्त नहीं कहे जा सकते, इसलिए वे न मूढ हैं और न मुक्त हैं, ऐसा इस श्लोकसे कहा गया है ।] ॥ ४४,४५ ॥

धर्मसे क्या होगा ? माताओंसे क्या होगा, इस विस्तृत राज्यसे कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, किसी झूठी वस्तुकी इच्छासे क्या ? इस प्रकारका निश्चय करके प्राण-त्याग करनेकी इच्छा कर रहे हैं अर्थात् राग आदि दोष ही जन्म और मरणरूप दुःखके कारण हैं, अतः मरनेसे ही मेरी मुक्ति होगी, यों निश्चय करके प्राण-त्याग करनेके लिए उत्सुक हो रहे हैं, यह भाव है ॥ ४६ ॥

भोगेऽप्यायुषि राज्येषु मित्रे पितरि मातरि ।
परमुद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ४७ ॥
इति तोके समायातां शाखाप्रसरशालिनीम् ।
आपत्तामलमुद्धर्तुं समुदेतु दयापरः ॥ ४८ ॥
तस्य तादृक्स्वभावस्य समग्रविभवान्वितम् ।
संसारजालमाभोगि प्रभो प्रतिविषायते ॥ ४९ ॥
ईदृशः स्यान्महासत्त्वः क इवाऽस्मिन्महीतले ।
प्रकृते व्यवहारे तं यो निवेशयितुं क्षमः ॥ ५० ॥
मनसि मोहमपास्य महामनाः सकलमार्तितमः किल साधुताम् ।
सफलतां नयतीह तमो हरन् दिनकरो भुवि भास्करतामिव ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
राघवविषादो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



जैसे वृष्टिका प्रतिबन्ध होनेपर चातक पक्षी अत्यन्त उद्विग्न हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भोग, आयुष्य, राज्य, मित्र, पिता और माताके विषयमें अत्यन्त उद्विग्न हो गये हैं ॥ ४७ ॥

महाराज, यों आपके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर अनेक प्रकारकी चिन्ता, कृशता आदि विविध शाखा-प्रशाखाके रूपसे विस्तार पूर्वक आई हुई विपत्तिरूप लताका समूल उच्छेद करनेमें परम दयालु आप ही उद्योग करें ॥ ४८ ॥

हे 'प्रभो, उस प्रकारके स्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीको समग्र वैभवोंसे परिपूर्ण यह संसाररूपी जाल कृत्रिम और प्रतिकूल विषके समान प्रतीत हो रहा है ऐसे महामोहसे मोहित श्रीरामचन्द्रजीको संसार-व्यवहारमें प्रवृत्त करानेके लिए इस भूमण्डलमें कोई भी महाशक्तिशाली नहीं है ॥ ४९, ५० ॥

जैसे भास्कर (सूर्य) अपने भास्करपनको इस पृथ्वीपर गिरनेवाले अन्धकारका नाशकर सफल बनाता है, वैसे इस भूखण्डमें ऐसा कोई भी महामना समर्थ साधु पुरुष नहीं है, जो कि रामचन्द्रजीके मनमें रहनेवाले अनेकविध दुःखदायी मोहरूप अन्धकारका विनाश कर अपने साधुपनको सफल बनावे ॥ ५१ ॥

दशम सर्ग समाप्त



एकादशः सर्गः

श्रीविश्वामित्र उवाच

एवं चेत्तन्महाप्राज्ञा भवन्तो रघुनन्दनम् ।
इहाऽऽनयन्तु त्वरिता हरिणं हरिणा इव ॥ १ ॥
एष मोहो रघुपतेर्नाऽऽपद्भ्यो न च रागतः ।
विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः ॥ २ ॥
इहाऽऽयातु क्षणाद् राम इह चैव वयं क्षणात् ।
मोहं तस्याऽपनेष्यामो मारुतोऽद्रेर्घनं यथा ॥ ३ ॥
एतस्मिन् मार्जिते युक्त्या मोहे स रघुनन्दनः ।
विश्रान्तिमेष्यति पदे तस्मिन् वयमिवोत्तमे ॥ ४ ॥
सत्यतां मुदितां प्रज्ञां विश्रान्तिमपतापताम् ।
पीनतां वरवर्णत्वं पीतामृत इवैष्यति ॥ ५ ॥

एकादश सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका वृत्तान्त सुनकर विश्वामित्रजीने कहा—हे महाप्राज्ञ लोगो, श्रीरामचन्द्रजी यदि सचमुच ही ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुए हैं अर्थात् विरक्त, दुःखी और मोहित हुए हैं, तो जैसे मृगोंका झुण्ड अपने यूथपतिको लाता है वैसे ही आप लोग भी उन्हें शीघ्र मेरे पास ले आइये ॥ १ ॥

वैराग्य और विवेकसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीका यह मोह किन्हीं आपत्तियोंसे अथवा रागवश नही है, किन्तु यह महाफलदायक बोध ही है ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र यहां आवें और यहींपर हम जैसे वायु पर्वतमें स्थित मेघको उड़ा देता है, वैसे ही उनके मोहको तुरन्त दूर कर देंगे ॥ ३ ॥

उपाय द्वारा उक्त मोहके दूर कर देनेपर श्रीरामचन्द्रजी हम लोगोंकी भाँति 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि श्रुतिमें प्रसिद्ध परम पद अर्थात् अपनी आत्मामें विश्रान्तिको प्राप्त होंगे अर्थात् आत्माराम हो जायँगे ॥ ४ ॥

मोहके हट जानेपर श्रीरामजी अमृत पिये हुए पुरुषकी नाईं ब्रह्मरूप, परमानन्दसम्पन्न, अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूप, विश्रान्तिसुखसम्पन्न और सन्तापशून्य हो जायँगे उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ और कान्तिमान् हो जायगा ॥ ५ ॥

निजां च प्रकृतामेव व्यवहारपरम्पराम् ।
परिपूर्णमना मान्य आचरिष्यत्यखण्डितम् ॥ ६ ॥
भविष्यति महासत्त्वो ज्ञातलोकपरावरः ।
सुखदुःखदशाहीनः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ७ ॥
इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा संपूर्णमानसः ।
प्राहिणोद्राममानेतुं भूयो दूतपरम्पराम् ॥ ८ ॥
एतावताऽथ कालेन रामो निजगृहासनात् ।
पितुः सकाशमागन्तुमुत्थितोऽर्क इवाऽचलात् ॥ ९ ॥
वृतः कतिपयैर्भृत्यैर्भ्रातृभ्यां च जगाम ह ।
तत्पुण्यं स्वपितुः स्थानं स्वर्गं सुरपतेरिव ॥ १० ॥
दूरादेव ददर्शाऽसौ रामो दशरथं तदा ।
वृतं राजसमूहेन देवौघेनेव वासवम् ॥ ११ ॥

माननीय श्रीरामचन्द्रजी तदनन्तर स्वस्थचित्त होकर अपने वर्ण और आश्रमके अनुरूप सम्पूर्ण व्यवहारोंको निर्बाधरूपसे करेंगे ॥ ६ ॥

मनन आदिसे उत्पन्न ज्ञानदार्ढ्यरूप बलसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीको लोकमें कार्य-तत्त्व और कारणतत्त्वका ज्ञान हो जायगा अथवा लोगोंके परम पुरुषार्थ और संसार-भ्रमणका भी विवेकसे ज्ञान हो जायगा अथवा लोकात्मक विराट्, अव्याकृत और हिरण्यगर्भ—ये परमार्थतः ब्रह्म ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, यह ज्ञान हो जायगा। तदुपरान्त उन्हें सुख, दुःख आदि नहीं होंगे और सुवर्ण और मिट्टीके ढेलेमें कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होगा ॥ ७ ॥

मुनिश्रेष्ठ श्रीविश्वामित्रजीके यों कहनेपर राजा दशरथका चित्त आह्लादित हो गया, उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको लानेके लिए फिर अन्य दूत भेजे ॥ ८ ॥

द्वारपालोंके गमनके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी पिताजीके निकट जानेके लिए, जैसे सूर्य पर्वतसे उदित होता है वैसे ही अपने घरके आसनसे उठकर थोड़ेसे अनुचरों और दो भाइयों (लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न) के साथ जितने समयमें राजा और मुनिका संवाद हुआ उतने ही समयमें इन्द्रकी स्वर्गभूमिके समान रमणीय पिताजीके पवित्रतम निवासस्थानमें गये ॥ ९, १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने देववृन्दसे परिवृत इन्द्रके सदृश राजाओंके मण्डलके मध्यमें

वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां सेवितं पार्श्वयोर्द्वयोः ।
सर्वशास्त्रार्थतज्ज्ञेन मन्त्रिवृन्देन मालितम् ॥ १२ ॥
चारुचामरहस्ताभिः कान्ताभिः समुपासितम् ।
ककुब्भिरिव मूर्ताभिः संस्थिताभिर्यथोचितम् ॥ १३ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राद्यास्तथा दशरथादयः ।
ददृशू राघवं दूरादुपायान्तं गुहोपमम् ॥ १४ ॥
सत्त्वावष्टब्धगर्भेण शैत्येनेव हिमाचलम् ।
श्रितं सकलसेव्येन गम्भीरेण स्फुटेन च ॥ १५ ॥
सौम्यं समं शुभाकारं विनयोदारमानसम् ।
कान्तोपशान्तवपुषं परस्याऽर्थस्य भाजनम् ॥ १६ ॥
समुद्यद्यौवनारम्भं वृद्धोपशमशोभनम् ।
अनुद्विग्नमनानन्दं पूर्णप्रायमनोरथम् ॥ १७ ॥

विराजमान महाराज दशरथके दूरसे ही दर्शन किये । उनके अगल-बगलमें बैठे श्रीवसिष्ठजी और विश्वामित्रजी उनसे प्रिय, हित और मधुर अलाप कर रहे थे एवं चारों ओर, शास्त्रोंके अर्थका विस्तार करनेवाले नीतिज्ञ मन्त्री, मालाकार पङ्क्ति बाँधकर बैठे थे । यथायोग्य स्थानपर खड़ी हुई अतएव मूर्तिमती दिशाओंके सदृश, हाथमें सुन्दर चँवर ली हुई ललनाएँ महाराजपर चँवर डुला रही थी ॥ ११—१३ ॥

इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषिवृन्द तथा महाराज दशरथ आदि राजवृन्दने दूरसे अपने निकट आ रहे साक्षात् कार्तिकेयके तुल्य रूपवान् और बलवान् श्रीरामचन्द्रजी को देखा ॥ १४ ॥

शान्ति और विवेकके हेतु सत्त्वगुणसे सम्पन्न, सकलजनसेवनीय, असीम और व्यक्त आह्लादकतासे युक्त श्रीरामचन्द्रजी विविध प्राणियोंसे व्याप्त, कलायुक्त चन्द्र द्वारा सेवनीय, अपरिमित और स्फुट हिमसे युक्त हिमालयके तुल्य दिखाई देते थे ॥ १५ ॥

उनका दर्शन बड़ा प्रिय लगता था, उनके शरीरके अवयव समविभक्त थे, आकृति बड़ी भव्य थी, उनका शान्त और सर्वमनोहर शरीर पुरुषार्थलाभके (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्तिके) नितान्त योग्य था । वे बड़े विनीत और उदार थे ॥ १६ ॥

यौवनका आरम्भ होनेपर भी उनके शरीरमें यौवनोचित चञ्चलता नहीं थी

विचारितजगद्यात्रं पवित्रगुणगोचरम् ।
महासत्त्वैकलोभेन गुणैरिव समाश्रितम् ॥ १८ ॥
उदारमार्यमापूर्णमन्तःकरणकोटरम् ।
अविक्षुभितया वृत्त्या दर्शयन्तमनुत्तमम् ॥ १९ ॥
एवं गुणगणाकीर्णो दूरादेव रघूद्वहः ।
परिमेयस्मिताच्छाच्छस्वहाराम्बरपल्लवः ॥ २० ॥
प्रणनाम चलच्चारुचूडामणिमरीचिना ।
शिरसा वसुधाकम्पलोलदेवाचलश्रिया ॥ २१ ॥
एवं मुनीन्द्रे ब्रुवति पितुः पादाभिवन्दनम् ।
कर्तुमभ्याजगामाऽथ रामः कमललोचनः ॥ २२ ॥
प्रथमं पितरं पश्चान्मुनी मान्यैकमानितौ ।
ततो विप्रांस्ततो बन्धूंस्ततो गुरुगणान् सुहृत् ॥ २३ ॥

किन्तु वृद्धोचित शान्ति (गम्भीरता) शोभा दे रही थी, अविवेकके नष्ट होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका उद्वेग नहीं था फिर भी उन्हें परमानन्द प्राप्त नहीं हुआ था। देखते ही प्रतीत होता था कि उनकी अभीष्टप्राप्ति प्रायः सन्निहित ही है ॥ १७ ॥

उन्होंने संसारकी गतिविधिका विचार कर लिया था, वे पवित्रगुणवाले लोगोंके आश्रय थे और गुणोंने मानों सत्त्वगुणके लोभसे उनका आश्रयण कर रक्खा था। श्रीरामजी उदारस्वभाव शिष्ट और दर्शनीय थे। वे क्षोभरहित स्थितिसे सम्पूर्ण साधनसम्पत्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानरूप परमानन्द प्राप्त न होनेके कारण अपने अन्तःकरणकोटरको (मनोरथको) अपूर्ण-सा दिखा रहे थे ॥ १८, १९ ॥

इस प्रकार अनेक गुणोंसे परिपूर्ण और हासके समान अत्यन्त निर्मल परिमित हार और वस्त्रोंसे सुशोभित श्रीरामचन्द्रजीने दूरसे ही चञ्चल और सुन्दर चूड़ामणिकी (सिरके रत्नकी) किरणोंसे देदीप्यमान अतएव भूकम्पसे चञ्चल सुमेरुके सदृश सुन्दर मस्तकसे प्रणाम किया ॥ २०,२१ ॥

जब कि विश्वामित्रजी 'रामचन्द्रजीको लाओ' यों रामचन्द्रजीके विषयमें राजासे कह रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी श्रीपिताजीके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिए समीपमें आये ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने पहले-पहल पिताजीको प्रणाम किया। तदुपरान्त माननीय

जग्राह च ततो दृष्ट्या मनाङ्मूर्ध्ना तथा गिरा ।
राजलोकेन विहितां तां प्रणामपरम्पराम् ॥ २४ ॥
विहिताशीर्मुनिभ्यां तु रामः सुसममानसः ।
आससाद पितुः पुण्यं समीपं सुरसुन्दरः ॥ २५ ॥
पादाभिवन्दनपरं तदथाऽसौ महीपतिः ।
शिरस्यभ्यालिलिङ्गाऽऽशु चुचुम्ब च पुनः पुनः ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं लक्ष्मणं चैव तथैव परवीरहा ।
आलिलिङ्ग घनस्नेहो राजहंसोऽम्बुजे यथा ॥ २७ ॥
उत्सङ्गे पुत्र तिष्ठेति वदत्यथ महीपतौ ।
भूमौ परिजनास्तीर्णे सोंऽशुकेऽथ न्यविक्षत ॥ २८ ॥

राजोवाच

पुत्र प्राप्तविवेकस्त्वं कल्याणानां च भाजनम् ।
जडवज्जीर्णया बुद्ध्या खेदायाऽऽत्मा न दीयताम् ॥ २९ ॥

पुरुषों द्वारा भी प्रधानरूपसे सम्मानित वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको प्रणाम किया । तदनन्तर ब्राह्मणोंको, बन्धुओंको और अपने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया ॥२३॥

तदनन्तर राजाओं द्वारा किये गये प्रणामोंको तनिक झुकाये गये मस्तकसे, प्रसन्न दृष्टिसे और मधुर वाणीसे ग्रहण किया ॥२४॥

समचित्त और देवतुल्य दर्शनीय श्रीरामचन्द्रजी मुनियोंका आशीर्वाद ग्रहणकर पिताजीकी पवित्रम सन्निधिमें पहुँचे ॥२५॥

स्नेहमय राजाने प्रणामशील रामचन्द्रजीका सिर सूँघकर आलिङ्गन किया और जैसे राजहंस कमलको चूमता है वैस ही बार बार उनका मुँह चूमा ॥ २६ ॥

शत्रुतापन राजाने श्रीरामचन्द्रजीकी ही नाई लक्ष्मण और शत्रुघ्नका भी आलिङ्गन और चुम्बन किया ॥ २७ ॥

आलिङ्गन करनेके पश्चात् राजाके 'वत्स, मेरी गोदमें बैठो' यह कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी भूमिमें अनुचरों द्वारा बिछाये गये वस्त्रपर बैठ गये ॥ २८ ॥

राजा दशरथने कहा—पुत्र, तुम विवेकसम्पन्न हो एवं विविध कल्याणोंके भाजन हो, तुम अविवेकियोंकी नाई शिथिल बुद्धिसे अपनी आत्माको खिन्न मत करो ॥२९॥

वृद्धविप्रगुरुप्रोक्तं त्वादृशेनाऽनुतिष्ठता ।
पदमासाद्यते पुण्यं न मोहमनुधावता ॥ ३० ॥
तावदेवाऽऽपदो दूरे तिष्ठन्ति परिपेलवाः ।
यावदेव न मोहस्य प्रसरः पुत्र दीयते ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

राजपुत्र महाबाहो शूरस्त्वं विजितास्त्वया ।
दुरुच्छेदा दुरारम्भा अप्यमी विषयारयः ॥ ३२ ॥
किमतज्ज्ञ इवाऽऽज्ञानां योग्ये व्यामोहसागरे ।
विनिमज्जसि कल्लोलबहुले जाड्यशालिनि ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र उवाच

चलन्नीलोत्पलव्यूहसमलोचनलोलताम् ।
ब्रूहि चेतःकृतां त्यक्त्वा हेतुना केन मुह्यसि ॥ ३४ ॥

वत्स, वृद्धोंकी, ब्राह्मणोंकी और गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन कर रहे तुम्हारे ऐसे जनोंको ही पवित्र पद प्राप्त होता है, किन्तु जो लोग मोहका अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं मिल सकता ॥ ३० ॥

पुत्र, तभीतक आपत्तियाँ निर्बल होकर दूर रहती हैं, जबतक मोहको अवकाश नहीं दिया जाता। मोहको अवकाश मिलनेपर तो वे बड़ी बलवती हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राजपुत्र, हे महाभुज, तुम बड़े शूरवीर हो, तुमने दुःखकी परम्पराके जनक और कठिनाईसे नष्ट होनेवाले इन विषयरूप शत्रुओंपर विजय पा ली है ॥ ३२ ॥

ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी मूढ लोगोंके योग्य विक्षेपरूप बड़ी तरङ्गोंसे महान्, आवरणरूप शैत्यसे युक्त मोहरूप समुद्रमें अनात्मज्ञ (आत्मतत्त्वको न जाननेवाले) की भाँति क्यों निमग्न होते हो ॥ ३३ ॥

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—राजकुमार, चित्त द्वारा की गई चञ्चल नील-कमलोंके तुल्य नेत्रोंकी चञ्चलताको छोड़कर कहिये कि आपके मोहका क्या कारण है ? ॥ ३४ ॥

किन्निष्ठाः के च ते केन कियन्तः कारणेन ते ।
आधयः प्रविलुम्पन्ति मनोगेहमिवाऽऽखवः ॥ ३५ ॥
मन्ये नाऽनुचितानां त्वमाधीनां पदमुत्तमम् ।
आपत्सु चाऽप्रयोज्यं ते निहीना अपि चाऽऽधयः ॥ ३६ ॥
यथाभिमतमाशु त्वं ब्रूहि प्राप्स्यसि चाऽनघ ।
सर्वमेव पुनर्येन भेत्स्यन्ते त्वां तु नाऽऽधयः ॥ ३७ ॥
इत्युक्तमस्य सुमते रघुवंशकेतुराकर्ण्य वाक्यमुचितार्थविलासगर्भम् ।
तत्याज खेदमभिगर्जति वारिवाहे बर्हीं यथा त्वनुमिताभिमतार्थसिद्धिः ॥ ३८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
राघवसमाश्वासनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

जैसे घरको चूहे खोद डालते हैं, वैसे ही जो मनकी व्यथाएँ आपके चित्तको दुःखी कर रही हैं । वे किसलिए हुई हैं, कितनी हैं, और कौनसी अभिलाषाके प्राप्त होनेपर शान्त होंगी ? ॥ ३५ ॥

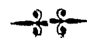
मानसी व्यथाओंके कारण जगत्में प्रसिद्ध ही हैं, उनके लिए प्रश्न क्यों करते हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'मन्ये'** इत्यादिसे ।

ठीक है मनकी व्यथाओंके कारण प्रसिद्ध हैं, पर आप उन अनुचित व्यथाओंके उचित पात्र नहीं हैं । आपन्न (आपत्तियुक्त) अथवा दरिद्र ही उनका पात्र हो सकता है । आपकी सभी आपत्तियाँ आपके पिताजीके प्रतापसे ही नष्ट हैं, अतः आपके द्वारा आपत्तियोंमें निरसनीय कुछ है ही नहीं और फिर आपकी आपत्तियाँ तो स्वतः ही निरस्त हैं ॥ ३६ ॥

हे अनघ ! जिस पदार्थकी आपको अभिलाषा हो उसे शीघ्र कहिये, वह आपको अवश्य मिलेगा, जिसकी प्राप्तिसे फिर मानसी व्यथाएँ आपको कष्ट नहीं पहुँचावेंगी ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने महामुनि श्रीविश्वामित्रजीके उक्त वाक्यको, जिसके गर्भमें अपनी अभिलाषाओंके अनुकूल प्रकाश निहित है, सुनकर खेद त्याग दिया, जैसे कि मेघके गर्जनेपर अपने अभिमत पदार्थोंकी सिद्धिका अनुमान करनेवाला मयूर खेदको छोड़ देता है ॥ ३८ ॥

एकादश सर्ग समाप्त



द्वादशः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति पृष्टो मुनीन्द्रेण समाश्वस्य च राघवः ।
उवाच वचनं चारु परिपूर्णार्थमन्थरम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् भवता पृष्टो यथावदधुनाऽखिलम् ।
कथयाम्यहमज्ञोऽपि को लङ्घयति सद्वचः ॥ २ ॥
अहं तावदयं जातो निजेऽस्मिन् पितृसद्मनि ।
क्रमेण वृद्धिं संप्राप्तः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ॥ ३ ॥
ततः सदाचारपरो भूत्वाऽहं मुनिनायक ।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थमुर्वीमम्बुधिमेखलाम् ॥ ४ ॥
एतावताऽथ कालेन संसारास्थामिमां हरन् ।
समुद्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ५ ॥

बारहवाँ सर्ग

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, मनीन्द्र विश्वामित्रजीके यों पूछेनेपर रामचन्द्रजी धैर्य धारण कर उत्तम अर्थसे परिपूर्ण सुन्दर वचन बोले ॥ १ ॥

रामजीने कहा—भगवन्, यद्यपि मै अज्ञानी हू, तथापि इस समय आपके पूछनेपर सब कुछ कहूँगा, क्योंकि सत्पुरुषोंके वचनोंका कौन उलंघन कर सकता है ? ॥ २ ॥

यों अपनी विनीत वाणीसे मुनिको अपने वशमें करके रामचन्द्रजी अपने वृत्तान्तके अनुवादके बहानेसे धर्मानुष्ठानजनित चित्तकी शुद्धिसे विवेक और वैराग्य होनेपर मुझमें विचारका उदय हुआ, ऐसा कहते हैं—'अहं तावत्' इत्यादिसे ।

मैं यहाँ अपने पिताजीके घरमें उत्पन्न हुआ, क्रमसे बढ़ा और विद्या भी प्राप्त की। उसके बाद हे मुनिनायक, सत् आचरणोंके अनुष्ठानमें तत्पर होकर तीर्थयात्राके लिए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके चारों ओर विचरा ॥ ३, ४ ॥

इस बीचमें इस संसारपर आस्थाको हरनेवाला यह विचार मेरे मनमें उत्पन्न हुआ, जिसे मै आपके सामने उपस्थित करता हूँ ॥ ५ ॥

विवेकेन परीतात्मा तेनाऽहं तदनु स्वयम् ।
भोगनीरसया बुद्ध्या प्रविचारितवानिदम् ॥ ६ ॥
किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसन्ततिः ।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च ॥ ७ ॥
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥ ८ ॥

तीर्थयात्रा करनेके अनन्तर मेरा मन उक्त विवेकसे पूर्ण हो गया । उससे सब विषय परिणाममें नीरस हैं, ऐसी बुद्धि हुई और उस बुद्धिसे मैंने विचार किया कि यह जो संसारका प्रवाह है, यह क्या सुखका हेतु हो सकता है ? अर्थात् इस विस्तृत संसारसे कभी सुख नही मिल सकता, क्योंकि इसमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे मरनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं और जो मरते हैं, वे जन्मके लिए ही मरते हैं, उनको कुछ भी सुख नही मिलता । [शास्त्रकारोंने भी 'मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्मबीजं भवेन्मृतिः' यानी मरणमें जन्म कारण है और जन्ममें मरण कारण है, ऐसा कहा है ।] ॥ ६,७ ॥

इस विषयमें यदि शङ्का हो कि भले ही जन्म और मरण दुःखरूप हों, परन्तु उनके बीचमें—जीवनदशामें—सुख मिलता ही है, तो इसपर कहते हैं—**'अस्थिराः'** इत्यादिसे ।

चर और अचरोंकी चेष्टाओंसे युक्त वैभवकालमें रहनेवाले ये जितने भोगके साधन पदार्थ हैं, ये सबके-सब अस्थिर याने क्षणिक हैं, ये आपत्तियोंके ही स्वामी यानी मूल हैं और पापके हेतु हैं—पापस्वरूप हैं । [तात्पर्यार्थ यह है कि इस जगत्में दो प्रकारके प्राणी होते हैं—एक चर यानी चलने-फिरनेवाले और दूसरे अचर यानी जो चल-फिर नहीं सकते—वृक्षादि । उनमें चलने-फिरनेवालोंकी भोगमें प्रवृत्ति अपनी ही प्रवृत्ति और निवृत्तिसे प्राप्त साधनों द्वारा होती है । और अचरोंकी भोगमें प्रवृत्ति दैवसे प्राप्त साधनों द्वारा होती है । इस भोगप्रवृत्तिरूप चेष्टितसे युक्त होनेपर भी स्रक् (पुष्पमाला), चन्दन, अन्न, पान आदि जितने विषय हैं, वे सब शाश्वत सुख नही दे सकते, क्योंकि वे खुद ही अस्थिर हैं, अर्थात् जिस समय उनकी प्राप्ति होगी, उस समय सुख देते हैं और जिस समय उनसे वियोग होता है, उस समय दुःख देते हैं, इसलिए उनसे एक प्रकारके

अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः ।
श्लिष्यन्ते केवलं भावा मनःकल्पनया स्वया ॥ ९ ॥
मनःसमायत्तमिदं जगदाभोगि दृश्यते ।
मनश्चाऽसदिवाऽऽभाति केन स्म परिमोहिताः ॥ १० ॥
असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः ।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव ॥ ११ ॥

सुखकी आशा ही नहीं की जा सकती, अधिक क्या कहें, ये विषय आपत्तियोंके स्वामी हैं अर्थात् राग-द्वेष आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियां उन्हींसे प्राप्त होती हैं और शास्त्रोंमें जो निषिद्ध विषय हैं, वे तो स्वयं पापरूप ही हैं, अतः इन अस्थिर विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करना सर्वथा मूर्खता ही है ।] ॥ ८ ॥

लोहेकी शलाकाओंके समान ये विषय परस्पर एक दूसरेसे मिले जुले नहीं हैं, किन्तु केवल मनकी कल्पनासे उनका सम्बन्ध जबर्दस्ती माना जाता है अर्थात् यह मेरे उपभोगका साधन है, इससे मैं यह काम करूँगा, इस प्रकारकी मनकी कल्पनासे उन विषयोंका परस्पर क्रिया-कारकभावसे सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए लोगोंको सुखकारकरूपसे उनका जो भान होता है, वह केवल अज्ञानमूलक मनसे कल्पित ही है, इसलिए विषय दुःखरूप ही हैं, सुखरूप नहीं हैं ॥ ९ ॥

केवल विषयोंका सम्बन्ध ही मनके द्वारा कल्पित नहीं है, किन्तु जीवके जन्म आदि भी मनके द्वारा ही कल्पित हैं, इसलिए दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् मनसे कल्पित ही है, यह कहते हैं—'**मनः**' इत्यादिसे ।

कृत्रिम वेषके समान दीखनेवाला यह सारा जगत् मनकी कल्पनामात्र है और वह मन भी विवेकज्ञान होनेपर शून्य-सा ही प्रतीत होता है, अतः मनसे भी हम सुखकी आशा नहीं कर सकते, फिर हम लोगोंको इतने समयतक 'सुख होगा' इस प्रकार मोहमें किसने डाल रक्खा है ॥ १० ॥

जैसे मरीचिकाको जल समझकर मुग्ध मृग वनमें बड़ी दूर तक इधर-उधर भटकते रहते हैं, फिर भी कुछ नहीं मिलता, वैसे ही मूढ़बुद्धि हम लोग इस संसारमें असत् पदार्थोंको सुखके साधन समझकर इधर-उधर खूब भटकते रहते हैं, पर हाथ कुछ नहीं लगता ॥ ११ ॥

न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः ।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥ १२ ॥
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः ।
मुधैव हि वयं मोहात् संस्थिता बद्धभावनाः ॥ १३ ॥
अज्ञातं बहुकालेन व्यर्थमेव वयं वने ।
मोहे निपतिता मुग्धाः श्वभ्रे मुग्धा मृगा इव ॥ १४ ॥
किं मे राज्येन किं भोगैः कोऽहं किमिदमागतम् ।
यन्मिथ्यैवाऽस्तु तन्मिथ्या कस्य नाम किमागतम् ॥ १५ ॥
एवं विमृशतो ब्रह्मन् सर्वेष्वेव ततो मम ।
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ॥ १६ ॥
तदेतद् भगवन् ब्रूहि किमिदं परिणश्यति ।
किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्द्धते ॥ १७ ॥

यद्यपि हम लोग किसीके द्वारा बेचे नहीं गये हैं, तथापि बेचे गये प्राणियोंके समान परवश होकर बैठे हुए हैं, अत्यन्त खेद है कि मायाको जानते हुए भी हम मूढ़ ही हैं, क्योंकि उसकी कुछ चिन्ता नहीं करते ॥ १२ ॥

इस संसाररूप प्रपञ्चमें ये जो अभागे भोग हैं, वे कौन चीज हैं कि हम लोग उनके व्यर्थ मोहसे या भ्रान्तिसे बद्ध होकर अवस्थित हैं ॥ १३ ॥

जैसे अरण्यमें किसी गड्ढेमें गिरे हुए मूढ़ मृग बहुत कालके बाद यह जानते हैं कि हम गड्ढेके अन्दर गिर गये हैं, वैसे ही हम लोगोंने बहुत कालके बाद यह जाना कि हम व्यर्थ मोहमें गिरे हुए हैं ॥ १४ ॥

मुझे राज्यसे क्या ? इन भोगोंसे क्या ? मैं कौन हूँ और किसलिए आया हूँ ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे, क्योंकि उसके मिथ्या होनेसे किसका क्या बिगड़नेवाला है ? ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन्, जैसे यत्र-तत्र भ्रमण करनेवाले पथिककी मरुभूमिसे आस्था हट जाती है, वैसे ही मेरे इन सब विचारोंसे सभी भोग-साधन पदार्थोंसे मेरा चित्त हट गया है ॥ १६ ॥

इसलिए भगवन्, आप यह बतलाइये कि यह दीखनेवाला जगत् सर्वात्मना नष्ट

जरामरणमापच्च जननं संपदस्तथा ।
आविर्भावतिरोभावैर्विवर्द्धन्ते पुनः पुनः ॥ १८ ॥
भोगैस्तैरेव तैरेव तुच्छैर्वयममी किल ।
पश्य जर्जरतां नीता वातैरिव गिरिद्रुमाः ॥ १९ ॥
अचेतना इव जनाः पवनैः प्राणनामभिः ।
ध्वनन्तः संस्थिता व्यर्थं यथा कीचकवेणवः ॥ २० ॥
शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चिन्तया ।
जरद्द्रुम इवोग्रेण कोटरस्थेन वह्निना ॥ २१ ॥
संसारदुःखपाषाणनीरन्ध्रहृदयोऽप्यहम् ।
निजलोकभयादेव गलद्बाष्पं न रोदिमि ॥ २२ ॥
शून्या मन्मुखवृत्तीस्ताः शुष्करोदननीरसाः ।
विवेक एव हृत्संस्थो ममैकान्तेषु पश्यति ॥ २३ ॥

अर्थात् असत् इसलिए हो जाता है कि सत् और असत्का विरोध है ? यदि जगत् असत् है, तो वह फिर कभी सत् होता है ? उसकी क्या वृद्धि होती है ? क्या जरा, मरण, आपत्ति, जन्म, और सम्पत्ति ये सब आविर्भाव और तिरोभावसे पुनः पुनः बढ़ते रहते हैं ? मुनिवर ! देखिये, हम लोग उन तुच्छ भोगोंसे ऐसे जर्जर हो गये हैं, जैसे कि पर्वतके ऊपरके वृक्ष आँधीसे जर्जर हो जाते हैं। जो बुद्धिमान् लोग हैं, वे भी कुछ नहीं कर रहे हैं, इसलिए विवेकी और अविवेकी सभी प्राणी जैसे अचेतन बाँसकी वेणु पवनके द्वारा शब्द करती है, वैसे प्राण नामक वायुसे प्रेरित होकर व्यर्थ ही शब्द करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता ।

जैसे पुराना वृक्ष अपने खोखलेमें रहनेवाली उग्र अग्निसे जल जाता है, वैसे ही हे मुनिश्रेष्ठ मेरा इस दुःखसे छुटकारा कैसे होगा, ऐसी चिन्तारूप अग्निसे मैं सदा जलता रहता हूँ ॥ १७, २१ ॥

संसारके विविधदुःखरूप पाषाणसे मेरा अन्तःकरण जर्जर हो गया है, मैं अपने मित्रों और लोकसे डरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे नहीं रो रहा हूँ, क्योंकि यदि मैं रोना आरम्भ करूँ, तो वे भी रोने लगेंगे ॥ २२ ॥

अश्रु रहित शुष्क रोदनसे प्रीतिशून्य अतएव हर्षादिशून्य मेरे मुखके

भृशं मुह्यामि संस्मृत्य भावाभावमयीं स्थितिम् ।
दारिद्र्येणेव सुभगो दूरे संसारचेष्टया ॥ २४ ॥
मोहयन्ति मनोवृत्तिं खण्डयन्ति गुणावलिम् ।
दुःखजालं प्रयच्छन्ति विप्रलम्भपराः श्रियः ॥ २५ ॥
चिन्तानिचयचक्राणि नाऽऽनन्दाय धनानि मे ।
संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥ २६ ॥
विविधदोषदशापरिचिन्तनैर्विततभङ्गुरकारणकल्पितैः ।
मम न निर्वृतिमेति मनो मुने निगडितस्य यथा वनदन्तिनः ॥२७॥

कृत्रिम स्मित, अभिलाप आदि वृत्तियोंको एकान्तमें मेरा अन्तःकरणस्थ विवेक ही देखता है ॥ २३ ॥

जैसे कोई पूर्व अवस्थामें अनेक प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सम्पन्न भाग्यवान् पुरुष दैवसे आई हुई दरिद्रावस्थामें अपनी पूर्वीय समृद्धिका स्मरण कर मुग्ध होता है। वैसे ही मैं भी प्रियतम विषयोंकी विनाशप्राय अवस्थाका या सब प्रकारके दुःखोंके उपशमरूप परमानन्दके अज्ञानकी विकार-भूत अवस्थाका विचार कर इस सांसारिक चेष्टासे अत्यन्त मुग्ध हो रहा हूँ ॥ २४ ॥

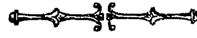
वञ्चनासे भरपूर यह लक्ष्मी अन्तःकरणकी वृत्तियोंको मुग्ध करती है, गुणोंको नष्ट करती है और अनेक तरहके दुःखोंको को देती है ॥ २५ ॥

धनियोंको चिन्तारूपी धारसे खण्डशः काटनेके लिए प्रवृत्त चक्ररूपी ये विविध धन मुझे आनन्द नहीं देते और स्त्री, पुत्रादि परिवारसे परिपूर्ण घर उग्र आपत्तियोंके घरोंके समान मुझे आनन्द नहीं दे रहे हैं ॥ २६ ॥

जैसे भङ्गुर काष्ठ आदिसे आच्छिादित छोटे गर्तमें गिरनेके कारण प्राप्त क्षुधा, पिपासा आदि दोषोंके और गिरना, बाँधा जाना आदि दुर्दशाओंके विचारसे बन्धनमें पड़े हुए हाथीको सुख नहीं होता, वैसे ही देह आदि पदार्थोंके भङ्गुरत्वरूप हेतुसे जनित अनेक प्रकारके दोषों और दुर्दशाओंका स्मरणकर मुझे सुख नहीं होता ॥ २७ ॥

खलाः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका-
गतालोके लोके विषयशतचोराः सुचतुराः ।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैकहरणे
रणे शक्तस्तेषां क इव विदुषः प्रोज्झ्य सुभटाः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
प्रथमपरितापो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥



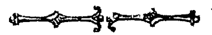
त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम उवाच

इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिकल्पिता ।
श्रीर्मुने परिमोहाय साऽपि नूनं कदर्थदा ॥ १ ॥

अज्ञानरूपी रात्रिमें अविचाररूपी निविड़ कुहरेसे लोगोंकी ज्ञानरूपी ज्योतिके नष्ट होनेपर दूसरोंको दुःख देनेवाले बड़े चतुर सैकड़ों विषयरूपी चोर सदा चारों ओर विवेकरूपी मुख्य रत्नको चुरानेके लिए जीजानसे लगे हुए हैं। युद्धमें उन्हें विनष्ट करनेके लिए विद्वानोंको (तत्त्वज्ञानियोंको) छोड़कर कौनसे सुभट समर्थ हो सकते हैं ? तत्त्वज्ञानी ही उनका विनाश करनेमें समर्थ हैं, दूसरे नहीं, क्योंकि तम (अज्ञान और अन्धकार) का विनाश हुए बिना उनका वध होना असंभव है, यह भाव है ॥ २८ ॥

द्वादश सर्ग समाप्त



त्रयोदश सर्ग

इस प्रकार विषयोंकी असारताका प्रतिपादन कर विषय-सम्पादनमें हेतु-भूत श्री—धनसम्पत्ति—भी असार ही है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए इस सर्गका आरम्भ करते हैं—'**इयम०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, इस ससारमें धनसम्पत्ति स्थिर और विविध सुखोंकी हेतु होनेके कारण उत्कृष्ट है, ऐसा मूढ व्यक्तियोंने ही मान रक्खा

उल्लासबहुलानन्तकल्लोलानलमाकुलान् ।
जडान् प्रवहति स्फारान् प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ २ ॥
चिन्तादुहितरो बह्वयो भूरिदुर्ललितैर्धिताः ।
चञ्चलाः प्रभवन्त्यस्यास्तरङ्गाः सरितो यथा ॥ ३ ॥
एषा हि पदमेकत्र न निबध्नाति दुर्भगा ।
दग्धेवाऽनियताचारमितश्चेतश्च धावति ॥ ४ ॥
जनयन्ती परं दाहं परामृष्टाङ्गिका सती ।
विनाशमेव धत्तेऽन्तर्दीपलेखेव कज्जलम् ॥ ५ ॥

है, वस्तुतः वह न स्थिर है, और न उत्कृष्ट ही है । वह नितान्त अनर्थ देनेवाली और मोहकी हेतु है अर्थात् वध, बन्धन, नरक आदि विविध क्लेश देती है, तनिक भी सुख नहीं देती । अथवा प्राप्त होनेपर मोहमें डालती है, नष्ट होनेपर क्लेश देती है या गर्हित धन ही देती है, विवेक नहीं देती ॥ १ ॥

जैसे वर्षाकालमें नदी ऊपरको उछलने-कूदनेवाली बड़ी बड़ी अनेक मलिन तरङ्गोंको धारण करती है, वैसे ही उक्त सम्पत्ति उत्साहसे बढ़े हुए अनन्त मनोरथोंसे युक्त अतएव अत्यन्त आकुल अनेक मूढ लोगोंको अपने वशमें कर अपनी ओर खींचती है ॥ २ ॥

हे मुनिवर, चिन्ताएँ श्रीकी पुत्रियाँ हैं । जैसे नदीसे असंख्य तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, फिर वे वायुकी सहायतासे बढ़ती हैं, वैसे ही श्रीसे असंख्य चिन्तारूप पुत्रियोंकी उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है ॥३॥

जैसे अज्ञानसे आगको पैरसे कुचल कर जली हुई कोई अभागिन एक जगह चरण नहीं रख सकती, किन्तु हाथ-पैर पटकती हुई इधर-उधर घूमती है, उसकी चेष्टा एक-सी नहीं रहती, वैसे ही श्री भी शास्त्रप्रतिपादित सदाचारसे रहित पुरुषको प्राप्तकर इधर-उधर घूमती-फिरती है, कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती ॥ ४ ॥

जैसे दियेकी लूर छूनेसे दाह उत्पन्न करती है और कज्जलको धारण करती है, वैसे ही यह श्री भी जुआ, चोरी आदिसे इसके कुछ हिस्सेका क्षय होनेपर श्रीमानोंको सन्तप्त करती है और बीचमें ही (अनवसरमें ही) अपना या अपने उपभोक्ताका नाश कर डालती है ॥ ५ ॥

गुणागुणविचारेण विनैव किल पार्श्वगम् ।
राजप्रकृतिवन्मूढा दुरारूढाऽवलम्बते ॥ ६ ॥
कर्मणा तेन तेनैषा विस्तारमनुगच्छति ।
दोषाशीविषवेगस्य यत्क्षीरं विस्तरायते ॥ ७ ॥
तावच्छीतमृदुस्पर्शाः परे स्वे च जने जनाः ।
वात्ययेव हिमं यावच्छ्रिया न परुषीकृताः ॥ ८ ॥
प्राज्ञाः शूराः कृतज्ञाश्च पेशला मृदवश्च ये ।
पांसुमुष्टयेव मणयः श्रिया ते मलिनीकृताः ॥ ९ ॥
न श्रीः सुखाय भगवन् दुःखायैव हि वर्द्धते ।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥ १० ॥

दुःखसे उपार्जित भी यह मूढ श्री राजाओंकी प्रकृतिके समान गुण और अवगुणोंके विचारके बिना ही जो कोई उसके समीपमें रहता है, उसीका अवलम्बन कर लेती है अर्थात् जैसे प्रायः मूढ राजा लोग धार्मिक गुणवानोंके साथ प्रीति नही करते, जिस किसी समीपस्थके साथ प्रीति कर लेते हैं, वैसे ही दुःखसे उपार्जित भी यह श्री गुणवान् धार्मिकोंके ही उपभोगके लिए नही होती, किन्तु गुण और अवगुणोंके विचारके बिना जिसको समीपमें पाती है उसीसे लिपट जाती है ॥ ६ ॥

जिन कर्मोंका फल धन, राज्यलाभ आदि और लोभ, हिंसा, मिथ्याभाषण आदि दोषरूप सर्पविषके वेगोंके विस्तारके लिए होता है, उन्हीं युद्ध, जुआ, व्यापार आदि कर्मोंसे यह श्री बढ़ती है; यज्ञ, दान आदिसे नही, उनसे तो बढ़नेके बदले घटती है, क्योंकि उनमें इसका व्यय होता है ॥ ७ ॥

तभी तक लोग अपने और पराये जनोंपर दया, दाक्षिण्य, स्नेह आदि करते हैं, जब तक कि जैसे वायुसे बर्फ कड़ा हो जाता है, वैसे ही श्री द्वारा वे कठोर नहीं हो जाते । सम्पत्ति प्राप्त होते ही लोग अपने और पराये जनोंपर दया और स्नेहका भाव छोड़कर कठोर बन जाते हैं, यह भाव है ॥ ८ ॥

जैसे धूलिकी मुट्ठी मणियोंको मलिन कर देती है, वैसे ही बड़े बड़े विद्वान्, शूरवीर, दूसरेके उपकार न भूलनेवाले, दक्ष और मृदुभाषी पुरुषोंको भी धनसम्पत्ति मलिन कर देती है ॥ ९ ॥

भगवन्, सम्पत्तिकी वृद्धिसे दुःख ही होता है सुख नही होता । अर्थात्

श्रीमानजननिन्द्यश्च शूरश्चाऽप्यविकत्थनः ।
समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः ॥ ११ ॥
एषा हि विषमा दुःखभोगिनां गहना गुहा ।
घनमोहगजेन्द्राणां विन्ध्यशैलमहातटी ॥ १२ ॥
सत्कार्यपद्मरजनी दुःखकैरवचन्द्रिका ।
सुदृष्टिदीपिका वात्या कल्लोलौघतरङ्गिणी ॥ १३ ॥

जैसे विषलता केवल मृत्युकी ही कारण होती है, वैसे ही श्री भी सुखकी कारण न होकर दुःखकी ही कारण होती है । रक्षा करनेपर भी वह मृत्युके साधनोंको जुटाती है । अर्थात् जैसे विषलताके समीप रक्षण, अवेक्षण आदि करनेके लिए जानेपर भी मृत्यु-लाभकी सभावना रहती है, वैसे ही सम्पत्तिकी रक्षा करनेपर भी अपने विनाशकी पूरी सम्भावना है ॥ १० ॥

कोई कोई श्रीमान् लोग भी बड़े धार्मिक और यशस्वी देखे जाते हैं ऐसी परिस्थितिमें श्रीकी प्राप्ति होने तक ही गुणियोंमें गुण रहते हैं, यह कैसे कहा ? इसपर कहते हैं—'**श्रीमान्०**' इत्यादिसे ।

हे मुने, इस लोकमें, लोग जिसकी निन्दा नही करते ऐसा श्रीमान्, आत्माकी श्लाघा न करनेवाला शूरवीर पुरुष और सबपर समानभावसे दृष्टि रखनेवाला स्वामी—ये तीन पुरुष दुर्लभ हैं, अर्थात् श्रीमान्की किसी-न-किसी तरह लोग अवश्य निन्दा करते हैं, शूर अवश्य ही अपनी प्रशंसा करता है, निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ स्वामी सबपर समदृष्टि नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

हे मुनिवर, अज्ञ लोगोंने जिस श्रीको सुखकी हेतु समझ रक्खा है, वह दुःखरूप सर्पोंकी दुर्गम और भीषण गुफा है एवं महामोहरूपी हाथियोंका आवासरूप विन्ध्याचलका मैदान है अर्थात् यह श्री महादुःखदायिनी और महामोहसे आवृत करनेवाली है ॥ १२ ॥

सत्कर्मरूपी कमलोंके लिए रात्रि है (जैसे रात्रिमें कमल संकुचित हो जाते हैं, वैसे ही श्री प्राप्त होनेपर सत्कर्मोका ह्रास हो जाता है), दुःखरूपी कुईके लिए चन्द्रिका (चाँदनी है) अर्थात् जैसे चादनीमें कुई विकसित होती है, वैसे ही श्रीके प्राप्त होनेपर दुःखोंका खूब विकास होता है और दयादृष्टिरूपी या परमार्थदृष्टिरूपी दीपकके लिए झकझोर वायु और बड़ी बड़ी तरङ्गोंसे

संभ्रमाभ्रादिपदवी विषादविषवर्द्धिनी ।
केदारिका विकल्पानां खेदायभयभोगिनी ॥ १४ ॥
हिमं वैराग्यवल्लीनां विकारोलूकयामिनी ।
राहुदंष्ट्रा विवेकेन्दोः सौजन्याम्भोजचन्द्रिका ॥ १५ ॥
इन्द्रायुधवदालोलनानारागमनोहरा ।
लोला तडिदिवोत्पन्नध्वंसिनी च जडाश्रया ॥ १६ ॥

युक्त नदी है * । जैसे झंझावात और तरङ्गोंसे युक्त नदीके झोकोंसे दीपक बुत जाता है, वैसे ही श्रीकी प्राप्ति होनेपर दयादृष्टि या परमार्थदृष्टि बन्द हो जाती है ॥ १३ ॥

यह भय और भ्रान्तिरूपी मेघके लिए पुरोवात (पूर्वी हवा) है, (जैसे पूर्वी हवा मेघकी वृद्धिकी हेतु है, वैसे ही श्री भी भय और भ्रान्ति की जननी है) विषादरूपी (खेदरूपी) विषको बढ़ानेवाली है, संशय और संक्षोभ आदिकी क्षेत्र है और दुःखदायक भयको पैदा करनेमें सर्पिणी है या यह खेदके लिए भयरूपी भोगसे (सर्पशरीरसे) युक्त सर्पिणी है ॥ १४ ॥

वैराग्यरूपी लताओंके लिए तुषार है, काम आदि चित्तविकाररूपी उल्लुओंके लिए अँधेरी रात है, विवेकरूपी चन्द्रमाके लिए राहुकी दाढ है और सौजन्यरूपी कमलके लिए चाँदनी है अर्थात् जैसे तुषारसे लताएँ सूख जाती हैं वैसे ही श्री प्राप्त होनेपर वैराग्य नहीं होता। जैसे अँधेरी रातमें उल्लू इधर-उधर उड़ते हैं तथा जैसे राहुग्रास होनेपर चन्द्रमा बिलकुल विलीन हो जाता है, वैसे ही श्री प्राप्त होनेपर विवेक नष्ट हो जाता है एवं जैसे चाँदनीमें कमल सिकुड़ जाते हैं—खिलते नहीं—वैसे ही सम्पत्ति प्राप्त होनेपर सौजन्यका संकोच हो जाता है ॥ १५ ॥

यह श्री इन्द्रधनुषके समान चञ्चल (अचिरस्थायी) रंगोसे मनोहर एवं बिजलीके समान चपल और उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रायः जड़ (मूर्ख) ही इसके आश्रय हैं ॥ १६ ॥

---

* बड़ी बड़ी तरङ्गोंसे युक्त नदी भी अपने झोकोंसे दीपकको बुता डालती है, इसलिए यह विशेषण व्यर्थ नहीं है ।

चापलावजितारण्यनकुली नकुलीजना ।
विप्रलम्भनतात्पर्य्यजितोग्रमृगतृष्णिका ॥ १७ ॥

लहरीवैकरूपेण पदं क्षणमकुर्वती ।
चला दीपशिखेवाऽतिदुर्ज्ञेयगतिगोचरा ॥ १८ ॥

सिंहीव विग्रहव्यग्रकरीन्द्रकुलपोथिनी ।
खड्गधारेव शिशिरा तीक्ष्णतीक्ष्णाशयाश्रया ॥ १९ ॥

नाऽनयाऽपहृतार्थिन्या दुराधिपरिलीनया ।
पश्याम्यभव्यया लक्ष्म्या किञ्चिद् दुःखादृते सुखम् ॥ २० ॥

दूरेणोत्सारिताऽलक्ष्म्या पुनरेव तमादरात् ।
अहो बताऽऽश्लिष्यतीव निर्लज्जा दुर्जना सदा ॥ २१ ॥

यह चपलतामें जंगली नकुलियोंसे भी बढ़ चढ कर है, दुष्कुलमें उत्पन्न हुई है, अच्छे कुलमें उत्पन्न नही है। वञ्चनामें उग्र मृगतृष्णिकाको जीतनेवाली है अर्थात् यह वञ्चनामें इतनी दक्ष है कि वञ्चकतम मृगतृष्णाको भी इसके सामने हार खानी पड़ी है ॥ १७ ॥

अतिचपल होनेके कारण क्षणभर भी एक स्थानपर अवस्थिति न करनेवाली यह जलतरङ्ग और दीपशिखासे (दियेकी लृरसे) भी बढ़ कर भङ्गुर है और अतर्कित दुर्दशाओंकी जननी है ॥ १८ ॥

यह युद्धके लिए उत्सुक मनुष्यरूपी गजेन्द्रोंका विनाश करनेवाली सिंहनीके समान है। बड़ी शीतल तथा स्वयं तीक्ष्ण और तीक्ष्णहृदयवाले (क्रूरहृदयवाले) लोगोंके पास रहनेवाली तलवारके समान है ॥ १९ ॥

मृत्यु द्वारा हरे गये लोगोंको चाहनेवाली, अनेक मानसी व्यथाओंसे व्याप्त (अनेक मानसिक व्यथाएँ जिसमें चोरके समान छिपी रहती है) अभव्य लक्ष्मीसे दुःखको छोड़कर कुछ भी सुख मैं नही देखता ॥ २० ॥

जिस पुरुषकी अलक्ष्मी द्वारा (सपत्नीरूप दरिद्रता द्वारा) स्वय दूर निकाली गई चिरकाल तक सपत्नी द्वारा उपभुक्त उसीका फिर आदरसे आलिङ्गन-सा करती है, यह बड़े खेदकी बात है, यह मानवती नही है, किन्तु निर्लज्जा है और इसकी दुष्टता कभी जाती नही ॥ २१ ॥

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्थसाध्या क्षणभङ्गुरा च ।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
लक्ष्मीनिराकरणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

श्रीराम उवाच

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् ।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ॥ १ ॥
विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥ २ ॥

यह लक्ष्मी मनोहर है, अतएव चित्तवृत्तिको अपनी ओर खींचती है, मरण, पतन आदिके कारण साहसिक कर्मोंसे प्राप्त होती है और बिजलीके समान क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, अतः यह सर्पोंसे लिपटी हुई गड्ढेमें उत्पन्न हुई पुष्पलताके समान है ॥ २२ ॥

त्रयोदश सर्ग समाप्त

चतुर्दश सर्ग

श्रीके समान आयु भी सुखकर नहीं है, यह कहते हैं—'आयुः' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, जीवकी आयु पत्तेके सिरेपर लटक रहे जलबिन्दुके (ओसके) सदृश अस्थिर है, वह उन्मत्तके समान असमयमें ही इस कुत्सित शरीरको छोड़कर चली जाती है, अर्थात् जैसे उन्मत्त पुरुष अपने अत्यन्त उपयोगी उपकरणोंको, जब मनमें आवे, छोड़ कर चला जाता है, वैसे ही आयु भी शरीरको छोड़कर चली जाती है ॥ १ ॥

जिन लोगोंका चित्त विषयरूपी सर्पोंके संसर्गसे सर्वथा जर्जर (शिथिल) है और जिनमें दृढ़ आत्मविवेक नहीं है, उनकी आयु वृथा और क्लेशकर ही है ॥ २ ॥

ये तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे ।
भावाभावसमाश्वाससमायुस्तेषां सुखायते ॥ ३ ॥
वयं परिमिताकारपरिनिष्ठितनिश्चयाः ।
संसाराभ्रतडित्पुञ्जे मुने नाऽयुषि निर्वृताः ॥ ४ ॥
युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रथनं च तरङ्गाणामास्था नाऽऽयुषि युज्यते ॥ ५ ॥
पेलवं शरदीवाऽभ्रमस्नेह इव दीपकः ।
तरङ्गक इवाऽऽलोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥ ६ ॥
तरङ्गं प्रतिबिम्बेन्दुं तडित्पुञ्जं नभोम्बुजम् ।
ग्रहीतुमास्थां बध्नामि न त्वायुषि हतस्थितौ ॥ ७ ॥

क्या ब्रह्मवेत्ताओंकी आयु भी व्यर्थ और क्लेशजनक है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जो लोग ज्ञातव्य वस्तुको (ब्रह्मको) जान चुके हैं, असीम ब्रह्ममें विश्रान्त है और जिनके जीवनमें लाभ, हानि और सुख-दुःखमें चित्तवृत्ति समान रहती है, उन महापुरुषोंकी आयु ही सुखदायक है ॥ ३ ॥

हे महामुने, हम लोग देह आदिको ही यह आत्मा है, ऐसा निश्चय कर बैठे हैं, हमें संसाररूपी मेघमें स्थित बिजलीके समान चञ्चल आयुमें सुख प्राप्त नहीं हुआ ॥ ४ ॥

वायुका घेरा हो सकता है, आकाशके टुकड़े टुकड़े किये जा सकते हैं और लहरें एक दूसरेमें मालाकी नाई गूँथी जा सकती हैं, पर आयुमें विश्वास नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

शरत् ऋतुके बादलके समान स्वल्प, तेल रहित दीपक और तरङ्गके समान चञ्चल आयु गई हुई ही देखी जाती है ॥ ६ ॥

तरङ्गको, जल आदिमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको, बिजलीको और आकाशकमलको हाथसे पकड़नेका मुझे विश्वास है, पर अस्थिर आयुमें मेरा विश्वास नहीं है । तरङ्गप्रतिबिम्बित चन्द्र आदिका ग्रहण असंभव है फिर भी उक्त असंभव बातें भले ही हो जायँ, पर अस्थिर आयुमें मेरा विश्वास नहीं होता, यह भाव है ॥ ७ ॥

अविश्रान्तमनाः शून्यमायुराततमीहते ।
दुःखायैव विमूढोऽन्तर्गर्भमश्वतरी यथा ॥ ८ ॥
संसारसंसृतावस्यां फेनोऽस्मिन्सर्गसागरे ।
कायवल्ल्याम्भसो ब्रह्मन् जीवितं मे न रोचते ॥ ९ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १० ॥
तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥ ११ ॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १२ ॥

जैसे खच्चरी दुःखके लिए ही गर्भ धारण करती है, [क्योंकि उसका पेट फाड़कर ही गर्भ निकालता है, ऐसी प्रसिद्धि है] वैसे ही जिसके मनकी तृष्णाओंका विनाश नही हुआ है, ऐसा मूर्ख पुरुष व्यर्थ आयुको दुःखके लिए ही विस्तृत चाहता है। व्यर्थ आयुको विस्तृत चाहना खच्चरीके गर्भधारणके समान दुःखहेतु ही है, यह भाव है ॥ ८ ॥

इस संसारसंभ्रमणमें वल्लीरूप शरीर सृष्टिरूपी सागरमें जलका विकार फेन-रूप है, जैसे सागरमें जलका विकार फेन अस्थिर है, वैसे ही इस सृष्टिमें यह शरीर अत्यन्त अस्थिर है, इसलिए इसमें मुझे जीवन अच्छा नहीं लगता ॥ ९ ॥

जिससे अवश्य प्राप्तव्य वस्तुकी (परम पुरुषार्थरूप मुक्तिकी) प्राप्ति की जाती है, जिससे पीछे शोक प्राप्त नहीं होता और जो परम निर्वृतिका (जीवन्मुक्ति सुखका) स्थान है, वही उत्तम जीवन कहा जाता है॥ १० ॥

वृक्ष भी जीते हैं और मृग-पक्षी भी जीते ही हैं, पर उसी पुरुषका जीना जीना है, जिसका मन मननके फलस्वरूप तत्त्वज्ञानसे या वासनाके क्षयसे तुच्छ हो जाता है ॥ ११ ॥

जगत्में उनका ही उत्पन्न होना सफल है और वे ही प्रशंसनीय जीवन-वाले हैं, जो फिर इस जगत्में जन्म नहीं लेते, शेष जीव तो चिरकाल तक जीनेवाले गदहेके समान है अर्थात् गदहेके जीवनके समान उनका जीवन गर्हित है ॥ १२ ॥

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥ १३ ॥
रूपमायुर्मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथेहितम् ।
भारो भारधरस्येव सर्वं दुःखाय दुर्धियः ॥ १४ ॥
अविश्रान्तमनापूर्णमापदां परमास्पदम् ।
नीडं रोगविहङ्गानामायुरायासनं दृढम् ॥ १५ ॥
प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम् ।
आखुनेव जरच्छ्वभ्रं कालेन विनिहन्यते ॥ १६ ॥
शरीरबिलविश्रान्तैर्विषदाहप्रदायिभिः ।
रोगैरापीयते रौद्रैर्व्यालैरिव वनानिलः ॥ १७ ॥
प्रस्नुवानैरविच्छेदं तुच्छैरन्तरवासिभिः ।
दुःखैरावृश्च्यते क्रूरैर्घुणैरिव जरद्द्रुमः ॥ १८ ॥

अपवित्र देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले अविवेकीके लिए शास्त्र भारभूत है अर्थात् भारके समान व्यर्थ श्रमका ही कारण है । विषयानुरागी पुरुषके लिए तत्त्वज्ञान भार है, अशान्त पुरुषके लिए मन भार है और अनात्मवान्के लिए शरीर भार है ॥ १३ ॥

दुर्बुद्धि पुरुषके रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चेष्टा—ये सब भार-वाहकके भारके समान दुःखदायक हैं ॥ १४ ॥

यह आयु श्रमनिवृत्तिसे रहित, पूर्णकामतासे शून्य, आपत्तियोंका घर और रोगरूपी पक्षियोंका घोंसला है, इससे केवल सदा परिश्रम ही प्राप्त होता है ॥१५॥

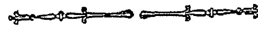
जैसे चूहा प्रतिदिन आलस्यका त्यागकर लगातार धीरे धीरे पुराने टीलेको खोदकर नष्ट कर देता है, वैसे ही काल प्रतिदिन आलस्यका त्यागकर धीरे धीरे आयुको क्षीण कर रहा है ॥ १६ ॥

जैसे बिलमें आराम कर रहे, विष द्वारा सन्ताप देनेवाले भीषण सर्प वनकी वायुका पान करते हैं, वैसे ही शरीररूपी बिलमें आरामसे बैठे हुए विषके समान दाह (सन्ताप) देनेवाले भीषण सर्पोंके सदृश घोर रोग जीवकी आयुका पान करते हैं ॥ १७ ॥

सदा लकड़ीका बुरादा गिरा रहे वृक्षके भीतर रहनेवाले छोटे-छोटे दुष्ट दीमकों द्वारा पुराना पेड़ काटा जाता है, वैसे ही सदा पीब, रक्त और मल बहा रहे,

नूनं निगरणायाऽऽशु घनगर्द्धमनारतम् ।
आखुर्मार्जारकेणेव मरणेनाऽवलोक्यते ॥ १९ ॥
गन्धादिगुणगर्भिण्या शून्ययाऽशक्ति वेश्यया ।
अन्नं महाशनेनेव जरया परिजीर्यते ॥ २० ॥
दिनैः कतिपयैरेव परिज्ञाय गतादरम् ।
दुर्जनः सुजनेनेव यौवनेनाऽवमुच्यते ॥ २१ ॥
विनाशसुहृदा नित्यं जरामरणबन्धुना ।
रूपं खिङ्गवरेणेव कृतान्तेनाऽभिलष्यते ॥ २२ ॥
स्थिरतया सुखभासितया तया सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च ।
जगति नाऽस्ति तथा गुणवर्जितं मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकणे
जीवितगर्हा नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥



शरीरमें रहनेवाले तुच्छ और दुष्ट रोग आदि दुःखों द्वारा चारों ओरसे आयु काटी जा रही है ॥ १८ ॥

जैसे बिल्ली शीघ्र निगलनेके लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक चूहेको देखती है, वैसे ही मृत्यु शीघ्र निगलनेके लिए उत्कट अभिलाषापूर्वक सदा जीवकी या आयुकी ताकमें बैठी रहती है ॥ १९ ॥

जैसे बहुत भोजन करनेवाला पुरुष भक्षित अन्नको पचा डालता है, वैसे ही तुच्छ और गन्ध आदि गुणसे युक्त वेश्यारूपी वृद्धावस्था जीवकी शक्तिको क्षीण कर उसे जीर्ण कर देती है ॥ २० ॥

जैसे कुछ ही दिनोंमें यह दुर्जन है, ऐसा जानकर सज्जन दुर्जनको अनादरपूर्वक छोड़ देता है, वैसे ही यौवनावस्था कुछ कालतक इस देहमें वास कर थोड़े ही दिनोंमें प्राणीको निरादरके साथ छोड़ देती है ॥ २१ ॥

जैसे लम्पट लोग (महाविषयी पुरुष) सौन्दर्यके अभिलाषी होते हैं, वैसे ही विनाशका मित्र और वृद्धावस्था तथा मृत्युका सहायक काल भी पुरुष और पुरुषकी आयुका सदा ग्राहक रहता है ॥ २२ ॥

हे मुनिवर, अधिक क्या कहें, जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा अनुभूत नित्य सुख और

पञ्चदशः सर्गः

श्रीराम उवाच

मुधैवाऽभ्युत्थितो मोहान्मुधैव परिवर्धते ।
मिथ्यामयेन भीतोऽस्मि दुरहङ्कारशत्रुणा ॥ १ ॥
अहङ्कारवशादेव दोषकोशकदर्थताम् ।
ददाति दीनदीनानां संसारो विविधाकृतिः ॥ २ ॥

स्थिरतासे सर्वदाके लिए त्यक्त, अति तुच्छ और गुणोंसे रहित ससारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जैसी कि मृत्युकी ग्रास यह आयु है ॥ २३ ॥

चतुर्दश सर्ग समाप्त



पञ्चदश सर्ग

इसी प्रकार अहङ्कार भी सुखकर नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण दोष अभिमानसे ही होते हैं, ऐसा कहते हैं—'**मुधैव**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, अज्ञानरूप निमित्तकारणसे व्यर्थ ही अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई है और व्यर्थ ही वह चारों तरफसे बढ़ता है, उससे किसी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती । 'मिथ्यामयेन' से यह दर्शाते हैं कि उसका उपादान-कारण भी अज्ञान ही है अर्थात् वह अज्ञानमय है या 'मिथ्या आमयेन' ऐसा छेद करना चाहिए । दुष्ट अहङ्कारनामक शत्रु (काटनेवाले) रोगसे मैं भयभीत हूँ ॥ १ ॥

संसार एक आकारवाला नही है, उसके विविध प्रकार हैं । साध्य, साधन, फल, प्रवृत्ति—ये सभी संसारके आकार हैं । उक्त विविध आकारवाला संसार अनादि कालसे लेकर जन्म, मरण, नरक आदि अनन्त दुःखपरम्पराका अनुभव करके भी फिर फिर उक्त दुःखपरम्पराके हेतु तुच्छ सुखोंको, अनेक कष्टोंसे, चाहनेवाले इसीलिए दीनोंसे भी दीन विषयलम्पट लोगोंको निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषोंमें विक्षिप्त और कलङ्कित करता है । यह सब अहङ्कारका ही प्रसाद है, दूसरेका नहीं ॥ २ ॥

अहङ्कारवशादापदहङ्काराद् दुराधयः ।
अहङ्कारवशादीहा त्वहङ्कारो ममाऽऽमयः ॥ ३ ॥

तमहङ्कारमाश्रित्य परमं चिरवैरिणम् ।
न भुञ्जे न पिबाम्यम्भः किमु भोगान् भुजे मुने ॥ ४ ॥

संसाररजनीदीर्घा माया मनसि मोहिनी ।
ततोऽहङ्कारदोषेण किरातेनेव वागुरा ॥ ५ ॥

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च ।
अहङ्कारात् प्रसूतानि तान्यगात् खदिरा इव ॥ ६ ॥

शमेन्दुसैंहिकेयास्यं गुणपद्महिमाशनिम् ।
साम्यमेघशरत्कालमहङ्कारं त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अहङ्कारसे ही विविध आपत्तियाँ—शारीरिक कष्ट—होती हैं, अहङ्कारसे ही अनेक भीषण मानसिक क्लेश होते हैं और अहङ्कारसे ही विषयानुराग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं। मेरा रोग अहङ्कार ही है ॥ ३ ॥

मुनिवर, चिरकालिक परम वैरी उक्त अहङ्कारका अवलम्बन करके न तो मैं भोजन करता हूँ और न जल पीता हूँ। विविध भोगोंके भोगका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४ ॥

जैसे बहेलिया वागुराको (मृगोंको बांधनेका फन्दा अर्थात् जालको) बिछाकर मृगोंको पकड़ता है, वैसे ही अहङ्काररूपी दोषने संसाररूपी अँधेरी रात्रिमें फैलाकर मनको मोहित करनेवाली यह माया बिछा रक्खी है ॥ ५ ॥

जैसे पर्वतसे खैरके वृक्षोंकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसारमें जितने चिरकाल-स्थायी भीषण महादुःख हैं, उनकी उत्पत्ति अहङ्कारसे ही हुई है॥ ६ ॥

अहङ्कार शमरूपी चन्द्रमाको निगलनेके लिए राहुका मुँह है, गुणरूपी कमलोंका विनाश करनेके लिए तुषाररूप वज्र है और सब भूतोंमें समदर्शितारूपी मेघके लिए शरदृऋतु है अर्थात् जैसे चन्द्रमाको राहु निगल जाता है, जैसे कमलोंको हिमवर्षा नष्ट कर देती है और शरत्-ऋतु मेघोंका विध्वंस कर डालती है, वैसे ही अहङ्कार शम, दया, दाक्षिण्य आदि गुण और सबपर समदृष्टिको नष्ट कर देता है, इसलिए मैं इस अहङ्कारका त्याग करता हूँ ॥ ७ ॥

नाऽहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः ।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ॥ ८ ॥
अहङ्कारवशाद् यद्यन्मया भुक्तं हुतं कृतम् ।
सर्वं तत्तदवस्त्वेव वस्त्वहङ्काररिक्तता ॥ ९ ॥
अहमित्यस्ति चेद् ब्रह्मन्नहमापदि दुःखितः ।
नाऽस्ति चेत् सुखितस्तस्मादनहङ्कारिता वरम् ॥ १० ॥
अहङ्कारं परित्यज्य मुने शान्तमनस्तया ।
अवतिष्ठे गतोद्वेगो भोगौघो भङ्गुरास्पदः ॥ ११ ॥
ब्रह्मन्यावदहङ्कारवारिदः परिजृम्भते ।
तावद्विकासमायाति तृष्णाकुटजमञ्जरी ॥ १२ ॥

अहङ्कारका त्याग करनेपर देहाभिमान, ममता आदि दोष स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, ऐसा दर्शाते हैं—**'नाऽहम्'** इत्यादिसे ।

न मैं रामचन्द्र हूँ, न मेरी विषयोंपर अभिलाषा है और न मेरा मन ही है । मैं निर्वैर होकर बुद्धके समान अपनी आत्मामें स्थित रहना चाहता हूँ । जैसे बुद्ध किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, वैसे ही मैं भी किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा न पहुँचा कर आत्माराम होना चाहता हूँ । 'निन्द्येष्यपि गुणो ग्राह्यः' इस न्यायसे बुद्धका उदाहरण दिया है या 'जितः' ऐसा पाठ समझना चाहिए ॥ ८ ॥

अहङ्कारके वशीभूत होकर मैंने जो कुछ खाया-पिया, यज्ञ-याग आदि किया तथा इसके अतिरिक्त और और जो कुछ कर्म किया, वह सब तुच्छ (असार) है, अहङ्कारसे रहित होना ही सार वस्तु है ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्, यदि अहङ्कार रहता है, तो आपत्तिमें मुझे दुःख होता है और अहङ्कार नहीं रहता, तो मैं सुखी रहता हूँ, इसलिए अहङ्काररहित होना श्रेष्ठ है ॥१०॥

मुनिवर, मैं अहङ्कारका त्याग कर, शान्तचित्त होकर, उद्वेगको छोड़कर बैठा हूँ । भोगसम्पत्तिसे ही उद्वेगहीनता आदि क्यों नहीं होते इस शङ्कापर कहते हैं भोग-समूह भङ्गुर देह, इन्द्रिय, विषय आदिके अधीन हैं, इसलिए उनमें किसी एकके भी नष्ट होनेपर उद्वेगकी प्राप्ति दुर्वार होती है ॥ ११ ॥

ब्रह्मन्, जब तक अहङ्काररूपी मेघ उमड़ता रहता है तब तक तृष्णारूपी

अहङ्कारघने शान्ते तृष्णा नवतडिल्लता ।
शान्तदीपशिखावृत्त्या क्वाऽपि यात्यतिसत्वरम् ॥ १३ ॥
अहङ्कारमहाविन्ध्ये मनोमत्तमहागजः ।
विस्फूर्जति घनास्फोटैः स्तनितैरिव वारिदः ॥ १४ ॥
इह देहमहारण्ये घनाहङ्कारकेसरी ।
योऽयमुल्लसति स्फारस्तेनेदं जगदाततम् ॥ १५ ॥
तृष्णातन्तुलवप्रोता बहुजन्मपरम्परा ।
अहङ्कारोग्रखिङ्गेन कण्ठे मुक्तावली कृता ॥ १६ ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि तन्त्रमन्त्रविवर्जितम् ।
प्रसारितमनेनेह मुनेऽहङ्कारवैरिणा ॥ १७ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वयमपि द्रुतम् ।
प्रमार्जिता भवन्त्येते सर्व एव दुराधयः ॥ १८ ॥

कुटजके फूल खूब खिलते रहते हैं और अहङ्काररूपी मेघके शान्त होनेपर तृष्णा विजलीकी लकीरके तुल्य, बुती हुई दीपशिखा (दीपककी लर) के अनुसार, बड़ी शीघ्रतासे कहीं विलीन हो जाती है ॥१२,१३॥

जैसे मेघ गड़गड़ाहटके साथ गर्जता है वैसे ही अहङ्काररूपी विशाल विन्ध्याचलमें मनरूपी मत्त गजेन्द्र युद्धोत्साहके साथ या निविड़ शिलाओंके टूटनेकी ध्वनिके साथ गर्जता है ॥ १४ ॥

इस देहरूपी महा अरण्यमें उन उन हेतुओंसे वृद्धिको प्राप्त यह निविड़ अहङ्काररूपी मत्त सिंह निरन्तर भ्रमण करता है, उसीने इस जगत् समुदायको बनाया है—उसीने पुण्य-पापादिरूपी बीजकी वृद्धिसे इस जगत्को विस्तारको प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

जैसे लम्पट पुरुष मोतियोंकी माला गूंथ कर गलेमें पहने रहते हैं, वैसे ही अहङ्कारने भी तृष्णारूपी तागेमें जन्मपरम्परारूप मोतियोंकी माला, गूँथ कर, गलेमें धारण कर रक्खी है ॥ १६ ॥

महामुने, इस अहङ्काररूपी परम शत्रुने ही इस संसारमें मन्त्र-तन्त्रसे शून्य पुत्र, मित्र, कलत्र आदि वशीकरण, उन्मादन आदिके उपाय फैला रक्खे हैं ॥१७॥

प्रबल शत्रु अहङ्कारका मूलोच्छेदपूर्वक निरास करनेपर ये सभी मानसिक

अहमित्यम्बुदे शान्ते शनैश्च शमशातिनी ।
मनोगगनसंमोहमिहिका क्वाऽपि गच्छति ।। १९ ।।
निरहङ्कारवृत्तेर्मे मौर्ख्याच्छोकेन सीदतः ।
यत्किञ्चिदुचितं ब्रह्मंस्तदाख्यातुमिहाऽर्हसि ।। २० ।।
सर्वापदां निलयमध्रुवमन्तरस्थमुन्मुक्तमुत्तमगुणेन न संश्रयामि ।
यत्नादहङ्कृतिपदं परितोऽतिदुःखं शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ।। २१ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
अहङ्कारजुगुप्सानाम पञ्चदशः सर्गः ।। १५ ।।



कष्ट बड़ी जल्दी अपने-आप विलीन हो जाते हैं, थोड़ी-थोड़ी करके हो या तीव्र वेगसे हो, हृदयाकाशमें स्थित अहङ्काररूपी मेघके शान्त होनेपर शान्तिका विनाश करनेवाला महामोहरूपी कुहरा न मालूम कहां विलीन हो जाता है ? ।। १८,१९ ।।

हे ब्रह्मन्, मैं निरहङ्कार होकर भी मूर्खतावश शोकसे दुःखी हो रहा हूँ, इसलिए मेरी प्रार्थना है कि मेरे लिए जो विहित और हित हो, उसका मुझे उपदेश दीजिये ।। २० ।।

इस प्रकार अहङ्कार, उससे होनेवाले अनर्थ और उसके उच्छेदके फलका वर्णन कर अहङ्कारके त्यागसे उत्पन्न हुई अपनी श्रवणाधिकार-सम्पत्तिको कह रहे श्रीरामचन्द्रजी मुनिसे उपदेशकी प्रार्थना करते हैं—'सर्वापदाम्' इत्यादिसे ।

हे महानुभाव, सम्पूर्ण आपत्तियोंके घर शान्ति आदि गुणोंसे रहित हृदयस्थ अहङ्कारको मैं आश्रय देना नहीं चाहता । मैं विवेककी दृढ़तासे अहङ्काररूपी लाञ्छनको चारोंओरसे दुःखसे पूर्ण समझता हूँ । महामुने, जो कुछ मेरे सम्पादनके योग्य अवशिष्ट रह गया है, उसके साथ मुझे आत्मतत्त्वका उपदेश दीजिए ।।२१।।

पञ्चदश सर्ग समाप्त



षोडशः सर्गः

श्रीराम उवाच

दोषैर्जर्जरतां याति सत्कार्यादार्यसेवनात् ।
वातान्तःपिच्छलववच्चेतश्चलति चञ्चलम् ॥ १ ॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाऽभिधावति ।
दूराद् दूरतरं दीनं ग्रामे कौलेयको यथा ॥ २ ॥
न प्राप्नोति क्वचित्किञ्चित् प्राप्तैरपि महाधनैः ।
नाऽन्तः संपूर्णतामेति करण्डक इवाऽम्बुभिः ॥ ३ ॥

सोलहवाँ सर्ग

अहङ्कारके समान चित्त और मन भी सुखहेतु नहीं हैं, किन्तु दुःखहेतु ही हैं, ऐसा कहते हैं—'**दोषैः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिवर, 'महापुरुषोंकी सेवा मुक्तिका द्वार है' ऐसा वचन है, इसलिए सज्जनों (मुमुक्षुओं) द्वारा अवश्य करणीय महात्माओंकी सेवाके बिना काम आदि दोषोंसे चित्त शिथिलताको (चञ्चलताको अर्थात् पुरुषार्थसाधनमें अपटुताको) प्राप्त होता है । चञ्चल चित्त वायुप्रवाहमें पतित मयूरकी पूँछके अग्रभागकी नाई स्थिर नहीं रहता, इधर-उधर घूमता रहता है । मन भी प्राणवायुके अधीन और चञ्चल है, ऐसा आगे कहेंगे ॥ १ ॥

उपर्युक्त कथनको ही दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—'**इतश्चेतश्च**' इत्यादिसे ।

अत्यन्त व्याकुल चित्त युक्त और अयुक्त विचारके बिना इधर-उधर दूरसे भी दूरतर प्रदेशतक, ग्राममें कुत्तेकी नाई, घूमता है कहींपर भी अपनी पूर्तिके उपायको न पाकर दीन-हीन बना रहता है अर्थात् जैसे कुत्ते अपने उदरकी पूर्तिके लिए व्यग्रचित्त होकर ग्राममें दूरसे भी दूरतर प्रदेशमें घूमते हैं, वैसे ही दोषोंसे दुष्ट चित्तवाले व्यक्ति भी वृथा ही इधर-उधर घूमते हैं, अभीष्ट वस्तु न पाकर दीन-हीन बने रहते हैं ॥ २ ॥

पहले तो उसे कहींपर कुछ मिलता ही नहीं । कदाचित् दैवयोगसे प्रचुर धन प्राप्त होनेपर भी न पाये हुएके समान वह अतृप्त ही रहता है जैसे करण्डक (बांस या बेंतसे बना हुआ पात्र) जलसे नहीं भरता, वैसे ही अन्तःकरण भी पूर्ण

नित्यमेव मुने शून्यं कदाशावागुरावृतम् ।
न मनो निर्वृतिं याति मृगो यूथादिव च्युतः ॥ ४ ॥
तरङ्गतरलां वृत्तिं दधदालूनशीर्णताम् ।
परित्यज्य क्षणमपि हृदये याति न स्थितिम् ॥ ५ ॥
मनो मननविक्षुब्धं दिशो दश विधावति ।
मन्दराहननोद्धूतं क्षीरार्णवपयो यथा ॥ ६ ॥
कल्लोलकलितावर्तं मायामकरमालितम् ।
न निरोद्धुं समर्थोऽस्मि मनोमयमहार्णवम् ॥ ७ ॥
भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्तयन् ।
मनोहरिणको ब्रह्मन् दूरं विपरिधावति ॥ ८ ॥

नहीं होता अर्थात् जैसे बांसकी शलाका और बेंतके सिनकोंसे बनी हुई टोकरी आदि पात्र जलसे भरनेपर भी पूर्ण नही होता, छिद्रोंसे जलके निकल जानेसे उसमें कुछ भी जल नहीं रहता, वैसे ही व्यग्रचित्तवाले अशान्त लोगोंका अन्तःकरण भी पूर्ण नहीं होता ॥ ३ ॥

जैसे अपने सजातीयोंके झुण्डसे बिछुड़ा हुआ एवं बन्धनमें पड़ा हुआ मृग सुखको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्रकारसे शून्य (मिथ्या) नित्य दुराशारूप रज्जुसे वेष्टित मन कभी सुखको प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

हे मुने, तरङ्गोंके समान चञ्चल वृत्तिको धारण कर रहा मेरा मन स्थूल और सूक्ष्म अवयवोंके छेदके सिवा एक क्षणके लिए भी अपने स्थानपर स्थिरताको प्राप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

विषयोंके अनुसन्धानसे विविध क्षोभको प्राप्त हुआ मेरा मन मथनकालमें मन्दराचलके आघातसे उच्छलित क्षीरसागरके जलके समान दसों दिशाओंमें दौड़ता है, किन्तु सुख कहींपर भी नहीं पाता ॥ ६ ॥

भोगोंकी प्राप्तिके हेतुभूत उत्साहरूप कल्लोलोंसे जिसने डूबने लायक आवर्त बना रक्खे हैं, मायारूप (परवञ्चनारूप) मगरोंसे परिवेष्टित मनरूप महासमुद्रको अपने वशमें करनेके लिए मै असमर्थ हूँ ॥ ७ ॥

ब्रह्मन्, मनरूपी हरिण नरकपात (भृगुपात) की परवाह न. कर भोगरूपी दूबके तिनकोंकी अभिलाषासे युक्त होकर तीव्र वेगसे बहुत दूरतक दौड़ता है,

न कदाचन मे चेतः स्वामालूनविशीर्णताम् ।
त्यजत्याकुलया वृत्त्या चञ्चलत्वमिवाऽर्णवः ॥ ९ ॥
चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्चुरम् ।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥ १० ॥
मनो मोहरथारूढं शरीरात् समतासुखम् ।
हरत्यपहतोद्वेगं हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ११ ॥

अर्थात् जैसे मृग गर्तमें गिरनेकी चिन्ता न कर दूबके तिनकोंके लोभसे वेगके साथ बहुत दूरतक दौड़ते हैं, वैसे ही मेरा मन नरकपतनका भय छोड़कर भोग-लाभकी आशासे बहुत दूरतक दौड़ता है ॥ ८ ॥

जैसे समुद्र अपनी चञ्चलताका त्याग नहीं करता, वैसे ही चिन्तासक्त और चञ्चलस्वभाव मेरा मन भी स्थूल और सूक्ष्म अवयवोंके विनाशका त्याग नहीं करता ॥ ९ ॥

जैसे पिंजड़ेमें बँधा हुआ सिंह विविध चिन्ताओंसे पूर्ण होकर चञ्चल चित्तवृत्तिसे एक जगह स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही विविध चिन्ताओंसे अति-चपल और चञ्चल वृत्तिसे युक्त मेरा मन भी एक जगह धैर्यको नहीं प्राप्त हो रहा है । चित्त स्वतः ही चपलस्वभाव है, विविध चिन्ताओं द्वारा और भी विचलित किया जाता है, इसलिए हठपूर्वक उसका विरोध करनेपर भी वह धैर्यको प्राप्त नहीं होता, यह भाव है ॥ १० ॥

जैसे हंस जलसे दूधको निकाल लेता है, वैसे ही मेरा मोहरथारूढ़ मन भी इस शरीरसे उद्वेगरहित समतारूप सुखको हर लेता है । अर्थात् उत्कर्ष और अपकर्ष औपाधिक हैं (उपाधिकल्पित हैं) अतएव परमार्थरूपसे सब प्राणियोंमें आत्मा एकरूपसे * विद्यमान है । जीवन्मुक्तों द्वारा उक्त प्रकारसे अनुभूयमान आत्माकी एकरूपता ही समतासुख कही जाती है । मनके मोहाक्रान्त होनेपर इस शरीरमें पहलेसे प्राप्त भी उस समतासुखको मन ग्रस लेता है । और असार (तुच्छ) देहमात्रमें आत्मभाव बच जाता है, यह भाव है ॥ ११ ॥

* एकात्मविज्ञान ही अभय पद और समतासुख है । साम्यसुख ही नित्य और निरतिशय है । उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सभी असार और दुःखप्रद है । देहात्मविज्ञान सबसे बढ़कर असार है । इस शरीरमें सार और असार दोनों विद्यमान हैं, परन्तु मोहग्रस्त मन असारका ही ग्रहण करता है, सारका ग्रहण नहीं करता ।

अनल्पकल्पनातल्पे विलीनाश्चित्तवृत्तयः ।
मुनीन्द्र न प्रबुध्यन्ते तेन तप्येऽहमाकुलः ॥ १२ ॥
क्रोडीकृतदृढग्रन्थितृष्णासूत्रे स्थितात्मना ।
विहगो जालकेनेव ब्रह्मन् बद्धोऽस्मि चेतसा ॥ १३ ॥
सन्ततामर्षधूमेन चिन्ताज्वालाकुलेन च ।
वह्निनेव तृणं शुष्कं मुने दग्धोऽस्मि चेतसा ॥ १४ ॥
क्रूरेण जडतां यातस्तृष्णाभार्यानुगामिना ।
शवं कौलेयकेनेव ब्रह्मन् भुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १५ ॥
तरङ्गतरलास्फालवृत्तिना जडरूपिणा ।
तटवृक्ष इवौघेन ब्रह्मन् नीतोऽस्मि चेतसा ॥ १६ ॥

हे मुनिनायक, चित्तकी आत्माभिमुखी वृत्तियां (स्वभाव) विविध द्वैत विषयोंमें आसक्तिकल्पनारूप शय्यापर सोई हुई हैं, वे बोध देनेवाले शास्त्र और आचार्यके उपदेशके बिना केवल अपनी बुद्धिसे किये गये हजार बारके विचारसे भी नहीं जागती । उन वृत्तियोंके न जागनेसे व्याकुल हुआ मैं सन्तप्त हूँ ॥ १२ ॥

जिसमें 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' इस प्रकार अन्योन्यतादात्म्याध्यास और अन्योन्यसंसर्गाध्यासरूप दृढ ग्रन्थियाँ पड़ी हैं, ऐसे भोगस्पृहारूपी जालमें स्थित मैं अपने-आप चित्त द्वारा बांधा गया हूँ, जैसे कि अनाजके दानोंके लोभसे पक्षी बहेलिए द्वारा जालसे बांधा जाता है ॥ १३ ॥

मुने, जैसे दुःसह धूम और ज्वालासे युक्त अग्नि सूखे तृणको जला डालती है, वैसे ही विस्तारित कोपरूपी धूमसे युक्त चिन्तारूपी ज्वालासे व्याप्त चित्तसे मैं जलाया गया हूँ ॥ १४ ॥

जैसे क्रूर और तृष्णाके समान सदा भूखी कुत्तीके पीछे चलनेवाला कुत्ता शवको खा जाता है, वैसे ही निष्ठुर और तृष्णारूपी भार्याके पीछे पीछे चलनेवाला चित्त अज्ञताको प्राप्त हुए मुझको खा गया है ॥ १५ ॥

मुनिवर, जैसे तरङ्गोंसे चञ्चलवृत्तिवाला जलका वेग तीरके वृक्षको उखाड़ कर फेंक देता है, वैसे ही तरङ्गके समान चञ्चल वृत्तिवाले जड़ चित्तने मेरी भी दशा कर रक्खी है ॥ १६ ॥

अवान्तरनिपाताय शून्ये वा भ्रमणाय च।
तृणं चण्डानिलेनेव दूरे नीतोऽस्मि चेतसा ॥ १७ ॥
संसारजलधेरस्मान्नित्यमुत्तरणोन्मुखः ।
सेतुनेव पयःपूरो रोधितोऽस्मि कुचेतसा ॥ १८ ॥
पातालाद्गच्छता पृथ्वीं पृथ्व्याः पातालगामिना।
कूपकाष्ठं कुदाम्नेव वेष्टितोऽस्मि कुचेतसा ॥ १९ ॥
मिथ्यैव स्फाररूपेण विचाराद्विशरारुणा।
बालो वेतालकेनेव गृहीतोऽस्मि कुचेतसा ॥ २० ॥
वह्नेरुष्णतरः शैलादपि कष्टतरक्रमः।
वज्रादपि दृढो ब्रह्मन् दुर्निग्रहमनोग्रहः ॥ २१ ॥

धर्मकर्मोसे स्वर्गप्राप्तके होनेपर अनवसरमें ही स्वर्गसे गिरनेके लिए अथवा स्वर्गप्राप्तिके हेतु धर्मकर्मके न होनेपर सुखलेशसे शून्य इसी लोकमें कीट, पतंग आदि योनियोंमें भ्रमण करनेके लिए चित्तने मेरी वह दशा कर रक्खी है, जैसे कि आंधी तृणकी दशा करती है। आंधी भी आकाशमें उड़ रहे तृणको भूमिमें पटक देती है और भूमिमें स्थित तृणको इधर-उधर उड़ा देती है ॥ १७ ॥

इस संसाररूपी सागरसे पार होनेके लिए नित्य उद्योग कर रहे मुझको यह कुत्सित चित्त इस भाँति रोकता है, जैसे कि जलके प्रवाहको बांध रोकता है ॥१८॥

पृथिवीसे (ऊर्द्ध्व प्रदेशसे) पातालको (अधः प्रदेशको) और पातालसे (अधःप्रदेशसे) पृथिवीको (ऊर्द्ध्व प्रदेशको) जा रही रस्सीसे लपेटे हुए घटीयन्त्रके (रस्सीसे जल आदि भारको खींचनेके लिए एक ओर जिसमें रस्सी बँधी रहती है, दूसरी ओर पत्थर आदि भारी वस्तु बँधी रहती है, जिसे अरहट कहते हैं, कुएँसे जल निकालनेका यन्त्र, उसके) समान मै इस कुत्सित चित्तरूप रस्सीसे वेष्टित होकर कभी ऊपर जाता हूँ कभी नीचे गिरता हूँ ॥ १९ ॥

जैसे बालकोंको डरानेके लिए कल्पित वेताल (विकरालस्वरूप) बालकको सत्य प्रतीत होता है, किन्तु बाल्यावस्थाके बीतनेपर उसके लिए वह असत्य हो जाता है, वैसे ही अज्ञानसे मुझे दुर्जय प्रतीत होनेवाला और विचार करनेपर असत्य-स्वरूप मनसे मै गृहीत हूँ जैसे कि बालक वेतालसे गृहीत होता है ॥ २० ॥

ब्रह्मन्, मन वह्निसे भी अधिक उष्ण, पर्वतसे भी दुरारोह, वज्रसे भी

चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव ।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥ २२ ॥
जडप्रकृतिरालोलो विततावर्त्तवृत्तिमान् ।
मनोब्धिरहितव्यालो दूरं नयति तात माम् ॥ २३ ॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २४ ॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ २५ ॥

बढ़कर कठोर है, इसलिए मनरूपी ग्रह दुःखसे भी गृहीत (वशमें) नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

जैसे मांसभक्षी चील, कौए आदि पक्षी मांसको देखते ही उसे खानेके लिए दौड़ पड़ते हैं हित और अहितका विचार नहीं करते, वैसे ही मन भी इन्द्रिय द्वारा देखे गये विषयोंमें टूट पड़ता है हित और अहितका विचार नहीं करता और क्षणभरमें उससे विरत हो जाता है। जैसे बालक खिलौनेको देखते ही उसपर टूट पड़ता है और थोड़ी देरके बाद उसे छोड़कर दूसरा खेल खेलने लगता है॥ २२ ॥

हे तात, जैसे समुद्र जड़स्वभाव (जलरूप), चञ्चल, बड़े बड़े आवर्त्तोंसे (भौरियोंसे) भरा और अनेक सर्प आदि हिंस्र जन्तुओंसे पूर्ण है वैसे ही यह मन भी जड़, चञ्चल, विस्तीर्ण आवर्तरूपी वृत्तियोंसे युक्त और काम आदि छः शत्रुरूपी सांपोंसे व्याप्त है। जैसे समुद्र हाथीको दूर फेंक देता है वैसे ही मन भी मुझे दूर फेंक रहा है ॥२३॥

हे साधो, समुद्रको पीने, सुमेरु पर्वतको लाँघने और वह्निभक्षणसे भी चित्तको अपने वशमें करना कठिन है अर्थात् समुद्रपान आदि महान् कार्य हैं, पर उनके होनेकी सम्भावना हो सकती है, परन्तु मनका निग्रह करना उससे भी कठिन है ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंका कारण चित्त ही है उसके अस्तित्वमें तीनों लोकोंका अस्तित्व है, उसके क्षीण होनेपर तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं। हे मुने, इसलिए प्रयत्नपूर्वक मनकी चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् रोगकी नाईं चित्तका अवश्य परित्याग करना चाहिए ॥ २५ ॥

चित्तादिमानि सुखदुःखशतानि नून-
मभ्यागतान्यगवरादिव काननानि ।
तस्मिन् विवेकवशतस्तनुतां प्रयाते
मन्ये मुने निपुणमेव गलन्ति तानि ॥२६॥
सकलगुणजयाशा यत्र बद्धा महद्भि-
स्तमरिमिह विजेतुं चित्तमभ्युत्थितोऽहम् ।
विगतरतितयाऽन्तर्नाऽभिनन्दामि लक्ष्मीं
जडमलिनविलासां मेघलेखामिवेन्दुः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
चित्तदौरात्म्यं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥



हे मुनिवर, जैसे विन्ध्याचल आदि श्रेष्ठ पर्वतसे अनेक वनोंकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही मनसे ही ये सैकड़ों सुखदुःख उत्पन्न हुए हैं। ज्ञानसे चित्तके क्षीण होनेपर वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २६ ॥

मुमुक्षु पुरुषोंने जिस चित्तके जीतनेपर शम, दम आदि गुणोंके स्वाधीन होनेकी, काम, कर्म और वासनारूप कलाओंसे युक्त सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे सम्पन्न अविद्याके नाशकी और निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मकी प्राप्तिकी आशा की थी, उस शत्रुरूप चित्तको जीतनेके लिए मैं सन्नद्ध हुआ हूँ, अतएव वैराग्यसम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण मै जैसे चन्द्रमा मेघपङ्क्तिका अभिनन्दन नहीं करता वैसे ही जड़—मलिन—विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता हूँ ॥२७॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त



सप्तदशः सर्गः

श्रीराम उवाच

हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषाः कौशिकपङ्क्तयः ॥ १ ॥
अन्तर्दाहप्रदायिन्या समूढरसमार्दवः ।
पङ्क आदित्यदीप्त्येव शोषं नीतोऽस्मि चिन्तया ॥ २ ॥
मम चित्तमहारण्ये व्यामोहतिमिराकुले ।
शून्ये ताण्डविनी जाता भृशमाशापिशाचिका ॥ ३ ॥
वचोरचितनीहारा काञ्चनोपवनोज्ज्वला ।
नूनं विकासमायाति चिन्ताचणकमञ्जरी ॥ ४ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

रामचन्द्रजीने कहा—परमप्रेमास्पद आत्मतत्त्वका तिरोधान होनेके कारण अन्धकारपूर्ण रात्रिरूपी दुरन्त तृष्णासे इस चेतनात्मक गगनमें—जीवमें—अनेक तरहकी राग आदि दोषस्वरूप उल्लुओंकी पङ्क्तियां स्फुरने लगती हैं ॥१॥

जैसे ताप पहुँचानेवाली सूर्यकी कीरणें कीचड़के रस और मृदुताका अपहरण कीचड़को सुखा देती हैं, वैसे ही अन्तःकरणको सन्तप्त करनेवाली चिन्ताने मेरे रस और मृदुताका हरणकर या मुझे विनय और दाक्षिण्यसे शून्य कर सुखा दिया है अर्थात् उक्त चिन्ताने मेरे विनयादिको नष्टकर मुझे नीरस और कठोर बना दिया है ॥ २ ॥

व्यामोहरूप अन्धकारसे व्याप्त विचारशून्य मेरे चित्तरूपी बड़े जङ्गलमें ताण्डव-नृत्य करनेवाली आशा-पिशाचिकाका जोर-शोरसे उदय हुआ है ॥ ३ ॥

तत्-तत् आर्त वचनों द्वारा रचित अश्रुरूप नीहारकणोंसे युक्त और समीपस्थ सुवर्ण आदिकी अभिलाषा द्वारा पाण्डुताका सम्पादन करनेसे उज्ज्वल चिन्तारूप चनेकी मञ्जरी अर्थात् तृष्णा पूर्णरूपसे विकसित हो रही है । तात्पर्य यह है कि नीहारसे ही (तुषारसे ही) चनेके पौधे बढ़ते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए जैसे रात्रिरचित नीहारके कणोंसे युक्त चनेके पौधेकी मञ्जरियाँ समीपस्थ धतूरेके बनसे

अलमन्तर्भ्रमायैव तृष्णा तरलिताशया ।
आयाता विषमोल्लासमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥ ५ ॥
उद्दामकल्लोलरवा देहाद्रौ वहतीह मे ।
तरङ्गतरलाकारा तरत्तृष्णातरङ्गिणी ॥ ६ ॥
वेगं संरोद्धुमुदितो वात्ययेव जरत्तृणम् ।
नीतः कलुषया क्वाऽपि तृष्णया चित्तचातकः ॥ ७ ॥
यां यामहमतीवास्थां संश्रयामि गुणश्रियाम् ।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥ ८ ॥
पयसीव जरत्पर्णं वायाविव जरत्तृणम् ।
नभसीव शरन्मेघश्चिन्ताचक्रे भ्रमाम्यहम् ॥ ९ ॥

उज्ज्वल (शोभित) होकर विकसित होती हैं, वैसे ही अनेक तरहके दुःख-विलापोंसे जनित अश्रुबिन्दुओंसे युक्त और समीस्थ सुवर्ण आदिकी अभिलाषा द्वारा उज्ज्वल मेरी तृष्णा मानों विकसित हो रही है ॥ ४ ॥

जैसे मध्य भागको चञ्चल करनेवाली तरङ्ग समुद्रमें केवल भ्रमण करनेके लिए ही विषम ऊर्ध्व नाट्यको प्राप्त होती है, वैसे ही चित्तको क्षुब्ध करनेवाली तृष्णाने केवल अन्तःकरणमें निविड़ भ्रम पैदा करनेके लिए ही अनेक कष्टोंसे पूर्ण धनोपार्जनके लिए उत्साह प्राप्त कराया है ॥ ५ ॥

बढ़े हुए अधिक्षेप, अनृत भाषण आदिरूप प्रचण्ड कल्लोलशब्दोंसे युक्त अतएव उक्त तरङ्गोंसे तरल आकारवाली और एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर जानेवाली तृष्णारूपी नदी मेरे शरीररूपी पर्वतमें बह रही है ॥ ६ ॥

यद्यपि मै अपनी चपलताको रोकनेके लिए धर्ममेघाख्य समाधि आदिमें तत्पर हूँ, तथापि जैसे आँधी जीर्ण तृणको कही अन्यत्र ले जाती है, वैसे ही कलुषित तृष्णाने मेरे चित्तरूपी चातकको कहीं अन्यत्र—अयोग्य विषयमें—ही प्राप्त करा दिया है ॥ ७ ॥

मै विवेक, वैराग्य आदि गुणोंसे युक्त पदार्थोंके विषयमें जिस जिस आस्थाका (उत्साहका) आश्रयण करता हूँ, उस उस आस्थाको मेरी तृष्णा इस तरह काट देती है, जिस तरह मूषक वीणाके चर्मसूत्रको काट देते हैं ॥ ८ ॥

जैसे जलके आवर्तमें (भौंरीमें) पुराना पत्ता, वायुमें लघु तृण और आकाशमें

गन्तुमास्पदमात्मीयमसमर्थधियो वयम् ।
चिन्ताजाले विमुह्यामो जाले शकुनयो यथा ॥ १० ॥
तृष्णाभिधानया तात दग्धोऽस्मि ज्वालया तथा ।
यथा दाहोपशमनमाशङ्के नाऽमृतैरपि ॥ ११ ॥
दूरं दूरमितो गत्वा समेत्य च पुनः पुनः ।
भ्रमत्याशु दिगन्तेषु तृष्णोन्मत्ता तुरङ्गमी ॥ १२ ॥
जडसंसर्गिणी तृष्णा कृतोर्ध्वाधोगमागमा ।
क्षुब्धा ग्रन्थिमती नित्यमारघट्टाग्ररज्जुवत् ॥ १३ ॥
अन्तर्ग्रथितया देहे सर्वदुश्छेदयाऽनया ।
रज्ज्वेवाऽऽशु वलीवर्दस्तृष्णया वाह्यते जनः ॥ १४ ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि तृष्णया नित्यकृष्टया ।
खगेष्विव किरात्येदं जालं लोकेषु रच्यते ॥ १५ ॥

शरत्कालीन मेघ यत्र-तत्र घूमते रहते हैं, वैसे ही मै चिन्तारूपी चक्रमें घूम रहा हूँ ॥९॥

जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी अपने घोसलेमें जानेके लिए असमर्थ होनेसे जालमें ही पड़े रहते हैं, वैसे ही अपने पारमार्थिक स्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ हुए हम लोग चिन्तारूपी जालमें मुग्ध हो रहे हैं ॥ १० ॥

हे मुनिवर, तृष्णारूप ज्वालासे मै इस प्रकार दग्ध हो गया हूँ कि मुझे अमृतसे भी अपने दाहकी शान्तिकी सम्भावना नही है ॥ ११ ॥

तृष्णारूपी उन्मत्त घोड़ी यहांसे अतिदूर जाकर और फिर फिर वापस आकर बड़ी शीघ्रतासे चारों ओर घूम रही है ॥ १२ ॥

धर्म और अधर्मके अनुसार नित्य स्वर्ग और नरकमें गमन और आगमन करानेवाली, भोक्ता और भोग्यके तादात्म्याध्यास एवं संसर्गाध्याससे युक्त, जड़ पदार्थोंसे सम्बद्ध एवं विक्षुब्ध तृष्णा घटीयन्त्रके ऊपर लगी हुई रज्जुके समान है। उक्त रज्जु भी सदा ऊपर नीचे आती जाती रहती है, जलसे सम्बन्ध रखती है, गांठवाली है एवं चञ्चल रहती है ॥ १३ ॥

देहके भीतर मनमें गूँथी गई तथा किसी प्रकार किसीसे विच्छिन्न न की जानेवाली इस तृष्णारूप रज्जुसे बैलके समान ये मनुष्य अत्यन्त शीघ्रतासे ऐहिक और आमुष्मिक फलके हजारों साधनरूपी भारको वहन करते हैं ॥ १४ ॥

जैसे बहेलियेकी स्त्री पक्षियोंको फँसानेके लिए जाल बनाती है वैसे ही

मीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम् ।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी ॥ १६ ॥
कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी ।
दशत्यपि मनाक् स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥ १७ ॥
भिन्दती हृदयं पुंसां मायामयविधायिनी ।
दौर्भाग्यदायिनी दीना तृष्णा कृष्णेव राक्षसी ॥ १८ ॥
तन्द्रीतन्त्रीगणैः कोशं दधाना परिवेष्टितम् ।
नाऽऽनन्दे राजते ब्रह्मंस्तृष्णा जर्जरवल्लकी ॥ १९ ॥
नित्यमेवाऽतिमलिना कटुकोन्माददायिनी ।
दीर्घतन्त्री घनस्नेहा तृष्णा गह्वरवल्लरी ॥ २० ॥

सदा आकर्षण-स्वभावाली तृष्णारूप किरातीने लोगोंको फँसानेके लिए यह पुत्र, मित्र, कलत्र आदिरूप जाल बनाया है ॥ १५ ॥

यद्यपि मैं धीर हूं, तथापि भयङ्कर काली रात्रिकी नाई तृष्णा मुझे डरा रही है, विवेकरूपी चक्षुसे सम्पन्न हूँ फिर भी अन्धा बना रही है और आनन्दस्वभाव हूँ, तो भी दुःख दे रही है ॥ १६ ॥

हजारों कुटिलताओंसे पूर्ण, अंशतः सुख देनेवाले विषयोंके लाभसे युक्त और परिणाममें वैर, बन्धन आदिरूप विषय देनेवाली यह तृष्णा तनिक स्पर्श होनेपर ही काली नागिन की नाई डंस लेती है अर्थात् मोहमें डाल देती है ॥ १७ ॥

पुरुषोंके हृदयका भेदन करनेवाली, बन्धन, रोग आदिकी या सारे प्रपञ्चकी उत्पादक, दौर्भाग्य देनेवाली और दीनतासे पूर्ण यह तृष्णा काली राक्षसीके सदृश है ॥१८॥

हे ब्रह्मन्, अनेक तन्द्री (जँभाई) और नाड़ियोंसे वेष्टित शरीरको धारण करनेवाली तृष्णा निरतिशय परमानन्दके लिए उपयुक्त नहीं है, अतः यह जीर्ण तुम्बीसे युक्त बीणा है । तात्पर्य यह है कि जैसे आलस्यवश अन्य तुम्बीका सम्पादन न करनेके कारण विच्छिन्न तन्त्रियोंसे सम्पन्न वीणा उत्सव आदि माङ्गलिक कार्योंके लिए उपयुक्त नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा भी परमानन्दके लिए उपयुक्त नही है ॥१९॥

नित्य अतिमलिन, परिणाममें दुःखप्रद उन्मादको देनेवाली, दीर्घ तन्त्रियोंसे युक्त तथा विषयोंमें घनीभूत स्नेह करनेवाली तृष्णा पर्वतकी गुफामें उत्पन्न लतारूप ही है अर्थात् पर्वत गुफामें एक प्रकारकी लता होती है, वह सूर्यके किरणोंके न मिलनेसे अत्यन्त मलिन रहती है, उसका सेवन करनेसे परिणाममें उन्माद

अनानन्दकरी शून्या निष्फला व्यर्थमुन्नता ।
अमङ्गलकरी क्रूरा तृष्णा क्षीणेव मञ्जरी ॥ २१ ॥
अनावर्जितचित्ताऽपि सर्वमेवाऽनुधावति ।
न चाऽऽप्नोति फलं किंचित्तृष्णा जीर्णेव कामिनी ॥ २२ ॥
संसारवृन्दे महति नानारससमाकुले ।
भुवनाभोगरङ्गेषु तृष्णा जरठनर्त्तकी ॥ २३ ॥
जराकुसुमितारूढा पातोत्पातफलावलिः ।
संसारजङ्गले दीर्घे तृष्णा विषलता तता ॥ २४ ॥
यन्न शक्नोति तत्राऽपि धत्ते ताण्डवितां गतिम् ।
नृत्यत्यानन्दरहितं तृष्णा जीर्णेव नर्त्तकी ॥ २५ ॥
भृशं स्फुरति नीहारे शाम्यत्यालोक आगते ।
दुर्लङ्घ्येषु पदं धत्ते चिन्ता चपलबर्हिणी ॥ २६ ॥

आदि दुःखप्रद व्याधियाँ होती है और वह अत्यन्त विस्तृत होती है । इसीलिए तृष्णा और उसकी समानता है ॥ २० ॥

जैसे आम्र आदि उन्नत वृक्षोंकी शाखापर स्थित, सूख जानेके कारण अनेक कण्टकोंसे आकीर्ण, पुष्पशून्य और फलरहित क्षीण मञ्जरी आनन्दप्रद नहीं होती, वैसे ही यह तृष्णा न आनन्दप्रद है, न सुखप्रद है और न फलप्रद है, किन्तु व्यर्थ-विस्तृत है, अमङ्गलकारणी है और क्रूर है ॥ २१ ॥

चित्तको अपने वशमें करनेमें असमर्थ वृद्ध वेश्याके समान तृष्णा प्रत्येक पुरुषके पीछे दौड़ती है, पर उसे फल कुछ नहीं मिलता ॥ २२ ॥

अनेक प्रकारके शोक, मोह आदि रसोंसे परिपूर्ण इस महान् संसारसमूहमें भुवनरूप विस्तृत नाट्यशालामें तृष्णा वृद्ध नर्तकी है अर्थात् करुण, हास्य और बीभत्स आदि रसोंसे युक्त नृत्यशालामें स्थित वृद्ध वेश्याके समान तृष्णा है ॥ २३ ॥

संसाररूप विशाल जङ्गलमें जरा, मरण आदि विकसित कुसुमोंसे युक्त एवं विनिपात और उत्पात आदि फलोंकी जननी तृष्णा विस्तृत विषलता है ॥ २४ ॥

तृष्णा जीर्ण नर्तकीके समान जिस कार्यके साधनमें अशक्त है, (नर्तकीके पक्षमें) जहां जानेमें असमर्थ है, वहां भी ताण्डवगति धारण करती है और उत्साह न होनेसे निर्बल होनेके कारण आनन्दरहित नृत्य करती है ॥ २५ ॥

चिन्तारूपी चपल मयूरी नीहारमें—निहारसदृश मोहावरणमें—नृत्य

जडकल्लोलबहुला चिरं शून्यान्तरान्तरा ।
क्षणमुल्लासमायाति तृष्णा प्रावृट्तरङ्गिणी ॥ २७ ॥
नष्टमुत्सृज्य तिष्ठन्तं तृष्णा वृक्षमिवाऽपरम् ।
पुरुषात् पुरुषं याति तृष्णालोलेव पक्षिणी ॥ २८ ॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ताऽपि फलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २९ ॥
इदं कृत्वेदमायाति सर्वमेवाऽसमंजसम् ।
अनारतं च यतते तृष्णा चेष्टेव दैविकी ॥ ३० ॥

करती है, आलोकके आनेपर—विवेकरूप प्रकाश होनेपर—शान्त हो जाती है, और असाध्य वस्तुओंमें अपना कदम रखती है। मयूरी भी वर्षामें नृत्य करती हैं, शरत्में शान्त हो जाती है और दुर्गम स्थानोंमें गमन करती है ॥ २६ ॥

जैसे वर्षाकालसे अन्यकालमें बहुत दिनोंतक शून्य रहनेवाली और वर्षामें भी बीच-बीचमें शून्य रहनेवाली नदी वर्षाकालमें जलकल्लोलोंसे प्रचुर होकर क्षणमें ही उल्लासको प्राप्त होती है, वैसे ही चिरकालतक शून्य, फल पानेपर भी मध्य-मध्यमें शून्य यह तृष्णा जड़ पदार्थोंमें अनेक प्रकारके कल्लोलोंसे—आनन्दोंसे—पूर्ण होकर क्षणमें ही उल्लसित हो जाती है ॥ २७ ॥

जैसे क्षुधा और तृषासे व्याकुल चिड़िया फलशून्य वृक्षको छोड़कर फलवाले अन्य वृक्षपर चली जाती है, वैसे ही यह तृष्णा एक पुरुषको छोड़कर अन्य पुरुषके पास चली जाती है ॥ २८ ॥

चञ्चल वन्दरीरूपी तृष्णा दुष्प्राप स्थानमें भी अपना कदम रखती है, तृप्त होनेपर भी फलकी आशा करती है, एक स्थानपर अधिक कालतक नहीं ठहरती, अतः वह चपल बन्दरी है ॥ २९ ॥

जैसे प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार विधाता सदा चेष्टा करते हैं, वैसे ही यह तृष्णा भी शुभ कर्मका आरम्भ करके उसकी समाप्ति न कर ही अशुभ, अनुचित, असमञ्जस या प्रक्रमविरुद्ध सभी कार्योंका अनुसरण करती है, उपरत नहीं होती, किन्तु शुभाशुभके लिए सर्वदा चेष्टा करती रहती है ॥ ३० ॥

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥ ३१ ॥
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ ३२ ॥
प्रयच्छति परं जाड्यं परमालोकरोधिनी ।
मोहनीहारगहना तृष्णाजलदमालिका ॥ ३३ ॥
सर्वेषां जन्तुजातानां संसारव्यवहारिणाम् ।
परिप्रोतमनोमाला तृष्णा बन्धनरज्जुवत् ॥ ३४ ॥
विचित्रवर्णा विगुणा दीर्घा मलिनसंस्थितिः ।
शून्या शून्यपदा तृष्णा शक्रकार्मुकधर्मिणी ॥ ३५ ॥

क्षणमें पातालमें जाती है, क्षणमें आकाशकी ओर उड़ती है, क्षणमें दिशा-रूप निकुञ्जोंमें घूमती है, इसलिए यह तृष्णा हृदयरूप कमलमें रहनेवाली भँवरी है ॥ ३१ ॥

संसारमें जितने दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घ कालतक दुःख देनेवाला दोष है, जो अन्तःपुरमें रहनेवालेको भी भीषण सङ्कटमें डाल देती है ॥ ३२ ॥

परम-आत्मतत्त्वप्रकाशके साथ विरोध करनेवाली मोहरूप नीहारसे निविड़ मेघमालारूपी तृष्णा केवल जड़ता ही प्रदान करती है। मेघमाला भी सूर्यप्रकाशकी विरोधिनी है, नीहारसे पूर्ण होती है और शैत्यरूप जड़ताकी दात्री है। अतः तृष्णा और मेघमालिकाका साम्य उचित ही है ॥ ३३ ॥

जैसे अनेक पशुओंके बाँधनेके लिए गलेमें लगी हुई रस्सियोंसे ग्रथित मालासदृश तिरछी विस्तृत रज्जु होती है वैसे ही सांसारिक व्यवहारमें फँसे हुए प्राणियोंके समूहोंके मनोंको चारों ओरसे बाँधनेके लिए यह तृष्णारूप रज्जु है ॥ ३४ ॥

जैसे इन्द्रधनुष विस्मयोत्पादक अनेक प्रकारके रूपोंसे युक्त, विगुण—ज्यासे रहित—, लम्बा चौड़ा, मेघाश्रित, शून्यात्मक आकाशमें स्थित और स्वतः शून्य—अवस्तु—है, वैसे ही यह तृष्णा भी विचित्र विषयोंसे अनुरञ्जित, असत् गुणोंसे युक्त, दीर्घ, मलिन पुरुषमें आश्रित और शून्यात्मक मनमें स्थित है ॥ ३५ ॥

अशनिर्गुणसस्यानां फलिता शरदापदाम् ।
हिमं संवित्सरोजानां तमसां दीर्घयामिनी ॥ ३६ ॥
संसारनाटकनटी कार्यालयविहङ्गमी ।
मानसारण्यहरिणी स्मरसंगीतवल्लकी ॥ ३७ ॥
व्यवहाराब्धिलहरी मोहमातङ्गश्रृङ्खला ।
सर्गन्यग्रोधसुलता दुःखकैरवचन्द्रिका ॥ ३८ ॥
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ ३९ ॥
क्षणमालोकविमला सान्धकारलवा क्षणम् ।
व्योमवीथ्युपमा तृष्णा नीहारगहना क्षणम् ॥ ४० ॥
गच्छत्युपशमं तृष्णा कायव्यायामशान्तये ।
तमी घनतमःकृष्णा यथा रक्षोनिवृत्तये ॥ ४१ ॥

तृष्णा गुणरूपी सस्योंके लिए वज्र है, फलरूप आपत्तियोंके लिए शरद्ऋतु है, संवित्रूप—तत्त्वज्ञानरूप—कमलोंके लिए हिम है—विघातिका है एवं अज्ञानके लिए दीर्घ हेमन्तकी रात्रि है ॥ ३६ ॥

तृष्णा संसाररूप नाटकमें नटी है, प्रवृत्तिरूप घोसलेमें रहनेवाली चिड़िया है, मनोरथरूप अरण्योंमें रहनेवाली हरिणी है और स्मरको—कामदेवको—बढानेके लिए संगीतवीणा है ॥ ३७ ॥

तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्रकी लहरी है, मोहरूप मत्त मातङ्गकी श्रृङ्खला है, सृष्टिरूप वटवृक्षकी सुन्दरलता है, दुःखरूप कुइंयोंकी चन्द्रिका है, जरा, मरणरूप दुःखोंकी एक रत्नपेटिका है और सदा आधि, व्याधिरूप विलासोंकी मदमत्त विलासिनी है ॥ ३८, ३९ ॥

तृष्णाको आकाशरूपी वीथीकी उपमा दी जा सकती है, क्योंकि जैसे आकाश कभी सूर्यप्रकाशसे निर्मल हो जाता है, कभी मेघाच्छन्न होनेपर कुछ-कुछ अँधियारी छा जाती है और कभी कुहरेसे आवृत्त हो जाता है, वैसे ही तृष्णा भी कभी तनिक विवेकरूपी प्रकाशसे निर्मल हो जाती है, विवेक न होनेपर अज्ञानसे मलिन और कभी कुहरेके तुल्य व्यामोहसे व्याप्त हो जाती है ॥ ४० ॥

यों तृष्णाका वर्णनकर अब तृष्णाकी शान्तिका फल कहते हैं—**'गच्छ०'** इत्यादिसे ।

तावन्मुह्यत्ययं मूको लोको विलुलिताशयः ।
यावदेवाऽनुसन्धत्ते तृष्णा विषविषूचिका ॥ ४२ ॥
लोकोऽयमखिलं दुःखं चिन्तयोज्झितयोज्झति ।
तृष्णा विषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि कथ्यते ॥ ४३ ॥
तृणपाषाणकाष्ठादिसर्वमामिषशङ्कया ।
आददाना स्फुरत्यन्ते तृष्णामत्स्यी ह्रदे यथा ॥ ४४ ॥
रोगार्त्तिरङ्गना तृष्णा गम्भीरमपि मानवम् ।
उत्तानतां नयन्त्याशु सूर्यांशव इवाऽम्बुजम् ॥ ४५ ॥

जैसे गाढ अन्धकारसे अँधेरी कृष्णपक्षकी रात्रि रात्रिचरों (राक्षसों) के प्रचारके अभावके लिए विनष्ट हो जाती है अर्थात् राक्षसोंका इतस्ततः गमन न हो, इसलिए बीत जाती है, वैसे ही तृष्णा भी देहप्रयुक्त परिश्रमकी शान्तिके लिए (मुक्तिके लिए) नष्ट हो जाती है। अर्थात् तृष्णाकी शान्ति होनेसे मुक्ति हो जाती है ॥ ४१ ॥

वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रोंके विचारसे शून्य अतएव व्याकुलचित्त ये संसारी लोग तभी तक मोहको प्राप्त होते हैं जब तक विषप्रयुक्त विसूचिका रोगके समान मृत्युकी हेतु तृष्णा पीछा करती रहती है अर्थात् लोग उसका त्याग नहीं करते ॥४२॥

उसके त्यागका कौन उपाय है ? इसपर कहते हैं—**'लोको०'** इत्यादिसे ।

यहांपर चिन्ताका अर्थ विषयोंका स्मरण है। उक्त चिन्ताके त्यागसे संसारी जनोंका दुःख नष्ट हो जाता है। विद्वानोंने चिन्तात्यागको ही तृष्णारूपी विसूचिका (हैजा) का मन्त्र (प्रतीकारका उपाय) कहा है ॥ ४३ ॥

जैसे तालाबमें रहनेवाली मछली घास-पत्ती, पत्थर-लकड़ी आदि सभी मेरा भक्ष्य है, ऐसा समझकर अन्तमें मक्ष्ययुक्त बडिशको (मछलीको फंसानेके कांटेको) भी मुँहमें डालकर मछुवे द्वारा मारी जाती हुई फड़फड़ाती है वैसे ही तृष्णा भी तृण, पत्थर, काठ आदि निखिल वस्तुओंको अपना भक्ष्य समझकर ग्रहण करती हुई अन्तमें स्फूर्तिको प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें मुकुलित कमलको विकसित कर देती हैं, वैसे ही रोग-पीडा, स्त्री और तृष्णा भी धीर पुरुषको भी शीघ्र अधीरताको प्राप्त कर देती हैं। अर्थात् जैसे सूर्यकिरणें मुकुलितावस्थामें गम्भीर (गहरे) कमलको खूब

अन्तःशून्या ग्रन्थिमत्यो दीर्घस्वाङ्कुरकण्टकाः ।
मुक्तामणिप्रिया नित्यं तृष्णा वेणुलता इव ॥ ४६ ॥
अहो बत महच्चित्रं तृष्णामपि महाधियः ।
दुश्छेदामपि कृन्तन्ति विवेकेनाऽमलासिना ॥ ४७ ॥
नाऽसिधारा न वज्रार्चिर्न तप्तायःकणार्चिषः ।
तथा तीक्ष्णा यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता ॥ ४८ ॥

विकसित कर उत्तान (छिछला) कर देती है, वैसे ही तृष्णा भी धीर—अयाचित-व्रत—पुरुषको शीघ्र अधीर—याचना द्वारा लघु—बना देती है ॥ ४५ ॥

तृष्णा बांसकी लताके समान सदा अन्तःसारशून्य (भीतरसे खोखली), ग्रन्थियोंसे युक्त (तृष्णाओंके पक्षमें दुराग्रहरूपी ग्रन्थियोंसे युक्त और बांसके पक्षमें पोररूपी ग्रन्थियोंसे युक्त), बड़ी बड़ी चिन्ताओं और दुःखोंसे पूर्ण (बांसके पक्षमें बड़े बड़े कोंपलोंके काँटोंसे युक्त), मोती और मणियोंपर प्रेम करनेवाली (बाँसके पक्षमें सर्वजनप्रिय मोतीरूपी मणियोंकी उपलब्धिके स्थान) है अर्थात् जैसे बाँसकी लताएँ सदा भीतरसे खोखली रहती हैं, उनके बीचमें बहुतसी गांठे होती हैं, उनमें बड़े बड़े कोंपलोंके काँटे होते हैं और सर्वजनमनोहर मोती उनमें उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तृष्णाएँ भी खोखली, दुराग्रहसे भरी, बड़ी चिन्ताओं और कष्टोंसे पूर्ण और मोती, मणि आदि धन सम्पत्तिमें अति प्रेम करनेवाली होती हैं ॥ ४६ ॥

विवेक भी तृष्णाके नाशमें हेतु हैं, ऐसा दर्शाते हैं—'**अहो बत**' इत्यादिसे ।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसी दुश्छेद्य विषयतृष्णाको भी ज्ञान-सम्पन्न महानुभाव लोग विवेकरूपी निर्मल (तीक्ष्ण) तलवारसे अनायास काट डालते हैं ॥ ४७ ॥

हे ब्रह्मन्, जीवोंके हृदयमें स्थित तृष्णा जैसी तीक्ष्ण है, वैसी तीक्ष्ण न तो तेज तलवारकी धार है, न वज्राग्निकी चिनगारियाँ हैं और न बन्दूककी गोलियाँ (छर्रे) ही हैं अर्थात् तलवारकी धार आदि बाह्य होनेके कारण प्राणीके लिए कदाचित् ही अनर्थकारी होते हैं, पर हृदयमें रहनेके कारण तृष्णा सदा ही अनर्थकारिणी होती है, इसलिए वह तलवारकी धार आदिसे भी बढ़कर है, यह आशय है ॥ ४८ ॥

उज्ज्वलाऽसिततीक्ष्णाग्रा स्नेहदीर्घदशापरा ।
प्रकाशा दाहदुस्पर्शा तृष्णा दीपशिखा इव ॥ ४९ ॥
अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम् ।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम् ॥ ५० ॥
संस्तीर्णगहना भीमा घनजालरजोमयी ।
सान्धकारोग्रनीहारा तृष्णा विन्ध्यमहातटी ॥ ५१ ॥

जैसे दियेकी शिखा (लूर) मध्यमें उज्ज्वल और अन्तमें कृष्णवर्ण, अग्रभागसे तीक्ष्ण, स्नेहसे युक्त, दीर्घदशायुक्त, प्रकाशमान और दुःस्पर्श होती है, विषयतृष्णा भी ठीक वैसे ही है अर्थात् जैसे दीपकी लूर पहले उज्ज्वल होती है, अन्तमें उसका अग्रभाग काला और तीखा हो जाता है, उसमें तेल रहता है, बड़ी बत्ती रहती है और सन्ताप इतना अधिक रहता है कि उसे कोई छू नहीं सकता, वैसे ही विषयतृष्णा भी पहले भोग और वैभवसे उज्ज्वल रहती है, अन्तमें तमोगुण और मृत्युका कारण होती है, माता, स्त्री और पुत्रके स्नेहसे दीर्घ और उत्कृष्ट बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्थाओंसे युक्त, प्रत्यक्ष और इष्टवियोगसे उत्पन्न हार्दिक क्लेशसे असह्य है ॥ ४९ ॥

हे महर्षि, एकमात्र विषयतृष्णा ही मेरुके सदृश अति उन्नत, गौरवशाली, पराक्रमी, अयाचित व्रतसे अटल एवं विद्वान् भी नरश्रेष्ठको एक क्षणमें याचना द्वारा दीन-हीन बनाकर तिनकेके समान उपेक्षणीय और चञ्चल बना देती है। किसीने कहा भी है—'तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः । वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं याचयिष्यति' अर्थात् तृणसे रुई हलकी होती है और रुईसे भी याचक हलका है। रुईको हवा उड़ा ले जाती है, पर याचक मुझसे भी कोई याचना करेगा, यह समझकर हवा उसे नहीं उड़ाती ॥ ५० ॥

जैसे विन्ध्याचल अनेक बड़े बड़े अरण्योंसे पूर्ण, निबिडतारूपी जाल और धूलिपटलसे आच्छन्न एवं भीषण अन्धकार और घने कुहरेसे व्याप्त होता है, वैसे ही विषयपिपासारूपिणी तृष्णा भी अरण्यतुल्य अनेक बड़े बड़े साहसके कार्योंसे युक्त, पतन-हेतु होनेसे भयङ्कर, निबिड जालकी नाई बन्धनमें हेतुभूत आशारूपी रस्सीसे और रजोगुणसे बनी हुई एवं अज्ञानरूपी कुहरेसे व्याप्त है अथवा 'संस्तीर्णगहना' पदका—एक ही विषयतृष्णा आशा, काम, लोभ, लम्पटता आदिके रूपसे चौदहों भुवनोंमें व्याप्त और दुर्लक्ष्य है—ऐसा अर्थ है ॥ ५१ ॥

एकैव सर्वभुवनान्तरलब्धलक्ष्या
दुर्लक्ष्यतामुपगतैव वपुःस्थितैव ।
तृष्णा स्थिता जगति चञ्चलवीचिमाले
क्षीरोदकाम्बुतरले मधुरेव शक्तिः ॥५२॥

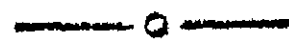
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
तृष्णाभङ्गो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥



तृष्णा कैसे विस्तीर्ण है, कैसे दुर्लक्ष्य है और कैसे एक है ? क्योंकि आश्रय, विषय और वाचक शब्दके भेदसे आशा, काम, लोभ आदिरूपसे तृष्णा भिन्न भिन्न है, ऐसी आशङ्का कर उक्त अर्थका दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन करते हैं—'**एकैव**' इत्यादिसे।

जैसे 'रसन' इन्द्रियके रूपसे शरीरमें विद्यमान सब जलोंके मध्यमें (जल-सामान्यमें) रहनेवाली एक ही माधुर्यशक्ति (नदी, समुद्र आदिमें गिरनेसे) क्षीर, (गलानेसे) उदक, (शब्द करनेसे) अम्बु, इस प्रकार क्रिया और वाचक शब्दोंके भेदसे विभिन्न चञ्चल तरङ्गोंसे संकुल जलमें स्थित होकर दुर्लक्ष्य होती है, अर्थात् एक ही है ऐसा उसका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही शरीरमें विद्यमान तृष्णा एक होती हुई भी सम्पूर्ण भुवनोंके भोग्य पदार्थोंमें व्याप्त होकर व्यवहारमें दुर्लक्ष्य-सी प्रतीत होती है—देहस्थित तृष्णाने ही आशा, काम और लोभका वाना धारण किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ॥ ५२ ॥

सप्तदश सर्ग समाप्त



अष्टादशः सर्गः

श्रीराम उवाच

आर्द्रान्त्रतन्त्रीगहनो विकारी परिपातवान् ।
देहः स्फुरति संसारे सोऽपि दुःखाय केवलम् ॥ १ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञसदृशो वलितात्मचमत्कृतिः ।
युक्त्या भव्योऽप्यभव्योऽपि न जडो नाऽपि चेतनः ॥ २ ॥

अठारहवाँ सर्ग

[आधि, व्याधि आदि अनेक क्लेशों तथा जरा-मृत्युसे ग्रस्त अभिमान और तृष्णाके मूलकारण शरीरकी निन्द ।]

तृष्णा भले ही दुःखकी कारण हो, पर 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' (जीवित पुरुष अनेक मङ्गलोंको देखता है) इस न्यायसे भी शरीर सुख-भोगका स्थान है, ऐसी प्रसिद्धि है और शरीरपर सबका अतिशय प्रेम भी देखा जाता है, इसलिए शरीर सुखका कारण है, ऐसी शङ्का करके शरीर भी दुःखका ही कारण है, ऐसा उपपादन करते हैं—'आर्द्रा०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षिजी, गीली आंतों (पेटमें स्थित मल, मूत्र आदिकी थैलियों) और नाड़ियोंसे व्याप्त परिणामशील और मरणधर्मा जो शरीर संसारमें सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःखभोगके लिए ही है । अर्थात् मल, मूत्र, शुक्र और शोणितसे आर्द्र नाड़ियोंसे परिव्याप्त, विविध प्रकारके विकारोंसे युक्त और पतनशील यह जीवदेह केवल दुःखभोगके लिए प्रकाशित हो रही है ॥ १ ॥

युक्तिमार्गका अवलम्बन करनेपर स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि यह जीव-शरीर दो रूपवाला है । प्राण आदि चार कोशोंका आधार होनेके कारण जिसमें आत्मचमत्कृति (अध्यस्तचैतन्यतादात्म्य) लिपटी-सी है, ऐसा यह शरीर अज्ञ होनेपर भी अभिज्ञके समान और अभव्य होनेपर भी भव्यके समान प्रतीत होता है । यह न तो जड़ है और न चेतन ही है * ॥ २ ॥

---

* इस चित्-जड़संयुक्त देहका देहभाग अज्ञ है अर्थात् जड है । आत्मा इसका ज्ञाता है और वह अभिज्ञ है । अभिज्ञके संयोगसे यह जड़ देह अभिज्ञके समान प्रतीत होता है । इसके

जडाजडदृशोर्मध्ये दोलायितदुराशयः ।
अविवेकी विमूढात्मा मोहमेव प्रयच्छति ॥ ३ ॥
स्तोकेनाऽऽनन्दमायाति स्तोकेनाऽऽयाति खेदिताम् ।
नाऽस्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणबहिष्कृतः ॥ ४ ॥
आगमापायिना नित्यं दन्तकेसरशालिना ।
विकासस्मितपुष्पेण प्रतिक्षणमलङ्कृतः ॥ ५ ॥
भुजशाखो घनस्कन्धो द्विजस्तम्भशुभस्थितिः ।
लोचनालिबिलाक्रान्तः शिरःपीठबृहत्फलः ॥ ६ ॥

चित् और जड़ दृष्टियोंके मध्यमें क्या यह शरीर आत्मकोटिमें है (चेतन है) या अनात्मकोटिमें है (जड़ है) ऐसा सन्देह होनेपर निर्णय न होनेसे दुष्ट चित्तसे युक्त एवं विवेक रहित होनेसे ही विमूढ आत्मावाला यह शरीर मोह ही पैदा करता है । अथवा 'प्रपश्यति' ऐसा पाठ होनेपर अज्ञानी और विवेकीमें से अज्ञानी इस देहमें आत्मबुद्धि करनेके कारण संसारको ही देखता है, पुरुषार्थको नहीं देख पाता, क्योंकि वह चञ्चल एवं अशुद्ध चित्तवाला है ॥ ३ ॥

यह शरीर अल्प खाने-पीनेसे आनन्दको प्राप्त होता है और अल्प शीत-घाम आदिमें क्लेशको प्राप्त होता है, इसलिए शरीरके समान गुणहीन, शोचनीय (शोक करने योग्य) और अधम दूसरा कोई नही है ॥ ४ ॥

यह शरीर उपेक्षणीय है, यह दर्शानेके लिए वृक्षके रूपकसे उसका वर्णन करते हैं—**'आगमा०'** इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

यह शरीर वृक्षके तुल्य है—दो भुजाएँ इसकी शाखाएँ हैं, उन्नत कन्धा इसका तना है, दो नेत्र इसके खोखले हैं, मस्तक इसका बड़ा भारी फल है, यह दाँतरूपी पक्षियोंके बैठनेके स्तम्भके समान उत्तम रीतिसे खड़ा है, यह दो कर्णरूपी कठफोड़वा पक्षिओंके चोंचके आघातसे जर्जरित (छिद्रयुक्त-सा) है, हाथ और पैर इसके सुन्दर पल्लव हैं, रोग आदि इसमें लतास्थानीय हैं । जैसे कुल्हाड़े आदिसे वृक्ष काटा जाता है, वैसे ही शस्त्र आदिसे इस शरीरका भी उच्छेद, किया जा सकता है, 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुतिमें प्रसिद्ध (जीव और

ही अवलम्बनसे मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिए यह अभव्य—अमङ्गल—होनेपर भी भव्य है । इसी कारण यह अन्यान्य जड़ोंसे विलक्षण एवं शुद्ध चेतनरूप आत्मा भी नही है ।

श्ववदन्तरसग्रस्तो हस्तपादसुपल्लवः ।
गुल्मवान् कार्यसङ्घातो विहङ्गमकृतास्पदः ॥ ७ ॥
सच्छायो देहवृक्षोऽयं जीवपान्थगणास्पदः ।
कस्याऽऽत्मीयः कस्य पर आस्थानास्थे किलाऽत्र के ॥ ८ ॥
तात सन्तरणार्थेन गृहीतायां पुनः पुनः ।
नावि देहलतायां च कस्य स्यादात्मभावना ॥ ९ ॥
देहनाम्नि वने शून्ये बहुगर्त्तसमाकुले ।
तनूरुहासंख्यतरौ विश्वासं कोऽधिगच्छति ॥ १० ॥

ईश्वररूप) पक्षियोंने जिसके हृदयमें अपने निवासके लिए घोसला बना रक्खा है, यह उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले दाँतरूपी केसरसे शोभित हासरूप पुष्पोंसे हर घड़ी अलंकृत रहता है अर्थात् जैसे वसन्त आदि फूलकी ऋतु आने-पर वृक्ष उत्पन्न हो हो कर मुरझानेवाले एवं केसरसे शोभित होनेवाले फूलोंसे अलंकृत होता है, वैसे ही यह शरीर भी हर्षके समयमें उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले एवं दाँतरूपी केसरोंसे सुशोभित होनेवाले मन्दहाससे शोभित होता है। सुन्दर कान्तिरूपी छायावाला यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी बटोहियोंका विश्राम-स्थान है। यह किसका आत्मीय (मित्र है) और किसका शत्रु है ? इस देहरूपी वृक्षमें प्रेम और द्वेष करना व्यर्थ है अर्थात् देहके साथ जीवका कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह किसीका आत्मीय नहीं है, अतः इसके प्रति आस्था और अनास्था ही क्या ? ॥ ५—८ ॥

यह शरीर सब लोगोंमें आत्मरूपसे प्रसिद्ध है, इसको उपेक्षणीय कैसे कहते हैं ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'तात' इत्यादिसे ।

पूज्यवर, संसार-सागरको पार करनेके लिए पुनः पुनः गृहीत नौकारूपी देहमें किसकी आत्मबुद्धि होगी ? अर्थात् जैसे सागरको पार करनेके लिए गृहीत नौकामें किसीकी आत्मसंभावनाका संभव नहीं है, वैसे ही संसारको पार करनेके लिए अर्थात् संसारसे मुक्त होनेके लिए बार बार गृहीत देहमें किसकी आत्मभावना हो सकती है ? ॥ ९ ॥

रोमरूपी असंख्य वृक्ष और इन्द्रियरूपी अनेक गड्ढोंसे युक्त देहनामक निर्जन वनमें कौन पुरुष विश्वासको (यह चिरकाल तक निःशङ्क होकर रहने योग्य है, ऐसी प्रतीतिको) प्राप्त होगा ? ॥ १० ॥

मांसस्नाय्वस्थिवलिते शरीरपटहेऽदृढे ।
मार्जारवदहं तात तिष्ठाम्यत्र गतध्वनौ ॥ ११ ॥
संसाराण्यसंरूढो विलसच्चित्तमर्कटः ।
चिन्तामञ्जरिताकारो दीर्घदुःखघुणक्षतः ॥ १२ ॥
तृष्णाभुजङ्गमीगेहं कोपकाककृतालयः ।
स्मितपुष्पोद्गमः श्रीमाञ्छुभाशुभमहाफलः ॥ १३ ॥
सुस्कन्धौघलताजालो हस्तस्तवकसुन्दरः ।
पवनस्पन्दिताशेषस्वाङ्गावयवपल्लवः ॥ १४ ॥
सर्वेन्द्रियखगाधारः सुजानुस्तम्भ उन्नतः ।
सरसश्छायया युक्तः कामपान्थनिषेवितः ॥ १५ ॥
मूर्द्धसञ्जनितादीर्घशिरोरुहतृणावलिः ।
अहङ्कारगृध्रकृतकुलायः सुषिरोदरः ॥ १६ ॥

पूज्य मुनिजी, साररहित तथा छिद्रयुक्त, मांस, स्नायु (नसें) और हड्डियोंसे वेष्टित और बाहर निकलने (मुक्त होने) के उपायभूत उपदेश (शब्द) से विरहित इस शरीररूपी नगाड़ेमें मैं बिल्लीकी नाईं रहता हूँ ॥ ११ ॥

छः श्लोकोंसे देहका पाकड़के वृक्षके रूपकसे निरूपण करते हैं—'संसारा०' इत्यादिसे ।

शरीररूपी पाकड़का वृक्ष मुझे सुखकारक प्रतीत नहीं होता । यह संसाररूपी अरण्यमें पैदा हुआ है, चित्तरूपी चपल बन्दर इसमें इधर उधर कूदता फाँदता है, चिन्तारूपी मञ्जरीसे यह फूला हुआ है, महादुःखरूपी घुनोंने इसके चारों ओर छेद कर रक्खे हैं, तृष्णारूपी सर्पिणीका यह घर है, कोपरूपी कौएने इसमें घोसला बना रक्खा है, मन्द हासरूप प्रस्फुटित पुष्पोंसे यह शोभायमान है, शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) ये दो इसके महाफल हैं, भुजाएँ ही इसमें लताएँ हैं, हाथ ही पुष्पोंके गुच्छे हैं, यह बड़ा भला लगता है, प्राण वायुरूप वायुसे इसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पल्लव हिल रहे हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी चिड़ियाँ इसमें बसेरा लेती हैं, सुन्दर घुटनोंसे युक्त अधोभाग इसका तना है, यह उन्नत है और यौवनकान्तिरूपी शीतल छायासे युक्त है । कामदेवरूपी बटोही इसपर बास करता है, सिरमें उगे हुए खूब लम्बे सिरके केश उसके बरोह हैं । अहङ्काररूपी

विच्छिन्नवासनाजालमूलत्वाद् दुर्लवाकृतिः ।
व्यायामविरसः कायवृक्षोऽयं न सुखाय मे ॥ १७ ॥
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन मुने मम ॥ १८ ॥
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वलत्तृष्णागृहाङ्गनम् ।
रागरञ्जितसर्वाङ्गं नेष्टं देहगृहं मम ॥ १९ ॥
पृष्ठास्थिकाष्ठसङ्घट्टपरिसङ्कटकोटरम् ।
आन्त्ररज्जुभिराबद्धं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २० ॥
प्रसृतस्नायुतन्त्रीकं रक्ताम्बुकृतकर्दमम् ।
जरामङ्कोलधवलं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २१ ॥
चित्तभृत्यकृतानन्तचेष्टावष्टब्धसंस्थिति ।
मिथ्यामोहमहास्थूणं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २२ ॥

गृध्र इसमें घोंसला बनाकर डटा है, यह भीतरसे खोखला (छिद्रयुक्त) है। विविध वासनारूपी जटाओंसे चारों ओर वेष्टित होनेके कारण दुच्छेद्य है, व्यायामरूपी विस्तारसे कोमलतारहित और रूक्ष भी है ॥ १२–१७ ॥

महामुने, अहङ्काररूपी गृहस्थका महान् गृह यह कलेवर चाहे भूमिमें गिरकर बदल जाय, चाहे चिरकाल तक स्थिर रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन ? ॥ १८ ॥

इस देहरूपी अहङ्कारके घरमें इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े हैं, तृष्णारूपी गृहस्वामिनी (घरकी मालकिन) बार बार इधर उधर घूम रही है, कामदेवरूपी गेरु आदि रंगनेके पदार्थोंसे सब अवयव रंगे गये हैं, इसलिए यह देह मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ १९ ॥

पीठकी हड्डीरूपी (रीढ़रूपी) सहतीरोंके परस्पर मिलनेसे जिसके भीतर बहुत थोड़ा स्थान रह गया है, आँतरूपी रज्जुओंसे बँधा हुआ देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ २० ॥

स्नायु (नस) रूपी रस्सियां जिसमें चारों ओर तनी हैं, रस, रक्तरूप जलसे रचित गारेसे लिपा गया, वृद्धावस्था (केश, रोम आदिको सफेद करनेवाला बुढ़ापा) रूपी चूनेसे सफेद यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ २१ ॥

चित्तरूपी भृत्यने विविध चेष्टाओं द्वारा इसकी स्थिति इतनी मजबूत कर

दुःखार्भककृताक्रन्दं सुखशय्यामनोरमम् ।
दुरीहादग्धदासीकं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २३ ॥
मलाढ्यविषयव्यूहभाण्डोपस्करसङ्कटम् ।
अज्ञानक्षारवलितं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २४ ॥
गुल्फगुग्गुलुविश्रान्तजानूर्ध्वस्तम्भमस्तकम् ।
दीर्घदोर्दारुसुदृढं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २५ ॥
प्रकटाक्षगवाक्षान्तः क्रीडत्प्रज्ञागृहाङ्गनम् ।
चिन्तादुहितृकं ब्रह्मन्नेष्टं देहगृहं मम ॥ २६ ॥
मूर्धजाच्छादनच्छन्नकर्णश्रीचन्द्रशालिकम् ।
आदीर्घाङ्गुलिनिर्व्यूहं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २७ ॥
सर्वाङ्गकुड्यसङ्घातघनरोमयवाङ्कुरम् ।
संशून्यपेटविवरं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २८ ॥

रक्खी है कि यह गिर नहीं सकता, मिथ्या और अज्ञान इसके अधारस्तम्भ हैं, दुःखरूपी बाल-बच्चोंने इसमें रो रोकर कुहराम मचाया है, सुख-शय्या (सुषुप्ति) से यह मनोहर है, दुश्चेष्टारूपी दाह-व्रणसे पीड़ित दासी इसमें रहती है, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ २२–२३ ॥

हे मुने, यह देहरूपी गृह दोषपूर्ण विषयसमूहरूपी बर्तनों और अन्यान्य सामग्रियोंसे ठसाठस भरा हुआ है और अज्ञानरूपी क्षारसे जर्जर है, भला बतलाइए तो सही, यह हमारा अभीप्सित कैसे हो सकता है ? ॥ २४ ॥

टँगने (एड़ीके ऊपरकी गांठ) रूपी आधारकाष्ठपर स्थित पिण्डलीका घुटनारूप मस्तक जिसके स्तम्भका मस्तक है, लम्बी लम्बी दो भुजाएँरूपी आड़ी लकड़ियोंसे अत्यन्त दृढ़ यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नही है ॥ २५ ॥

ब्रह्मन्, जिसमें ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखोंके भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीड़ा कर रही है, चिन्तारूपी अनेक पुत्रियां जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नही है ॥ २६ ॥

सिरके केशरूपी छादन (छाजन—छानेकी घास-फूस) से आच्छादित, कर्ण-रूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे (धूर ऊपरके कमरोंसे) युक्त तथा लम्बी लम्बी अँगुलीरूपी काठके चित्रोंसे सुसज्जित देहरूपी घर मुझे पसन्द नहीं है ॥ २७ ॥

जिसमें सम्पूर्ण अङ्गरूपी भित्तियोंमें रोमरूपी निबिड़ (खूब घने) जौके अङ्कुर

नखोर्णनाभिनिलयं सरमारणितान्तरम् ।
भाङ्कारकारिपवनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २९ ॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रवातवेगमनारतम् ।
वितताक्षगवाक्षं तन्नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३० ॥
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३१ ॥
त्वक्सुधालेपमसृणं यन्त्रसञ्चारचञ्चलम् ।
मनःसदाखुनोत्खातं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३२ ॥
स्मितदीपप्रभोद्भासि क्षणमानन्दसुन्दरम् ।
क्षणं व्याप्तं तमःपूरैर्नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३३ ॥
समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम् ।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३४ ॥

उगे हैं और पेटरूपी छिद्र है, ऐसा देहरूपी घर मुझे नहीं चाहिये ॥ २८ ॥

जिसमें नखरूपी मकड़ियोंके जाले तने हैं, कुत्तीकी नाई भ्रमण, दीनता, कलह आदि करानेवाली क्षुधा जिसके अन्दर शोर मचाये है, जिसमें भीषण शब्द करनेवाला वायु सदा चलता रहता है, वायुका वेग भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलनेमें सदा व्यग्र रहता है और इन्द्रियरूपी झरोखे सदा खुले हैं, इस प्रकारका देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ २९–३० ॥

उक्त देहरूपी घरके मुँहरूपी दरवाजेपर जिह्वारूप वानरी सदा डटी रहती है, इससे उसकी भीषणता और बढ जाती है, दांतरूप हड्डीके टुकड़े स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, अतः यह देहगृह मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ ३१ ॥

त्वचारूपी चूनेके लेपसे (पलस्तरसे) चिकना है, सम्पूर्ण सन्धियां इस घरके यन्त्र हैं, उनके संचारसे (भ्रमण आदिसे) यह चञ्चल है, मनरूपी सदा रहनेवाले चूहेने इसे चारों ओरसे खोदकर शिथिल और कूड़ा आदिसे पूर्ण कर रक्खा है, अतः यह देहगृह मुझे नहीं जँचता ॥ ३२ ॥

क्षणभरमें मन्दहासरूपी दीपोंकी प्रभासे उज्ज्वल एवं आह्लादसे देदीप्यमान और क्षणभरमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे व्याप्त यह देहरूपी गृह मुझे भला नहीं लगता ॥ ३३ ॥

यह देह सम्पूर्ण रोगोंका घर, बुढापेके कारण पड़नेवाली झुर्रियों और

अक्षर्क्षक्षोभविषमा शून्या निःसारकोटरा ।
तमोगहनदिक्कुञ्जा नेष्टा देहाटवी मम ॥ ३५ ॥
देहालयं धारयितुं न शक्नोमि मुनीश्वर ।
पङ्कमग्नं समुद्धर्त्तुं गजमल्पबलो यथा ॥ ३६ ॥
किं श्रिया किं च राज्येन किं कायेन किमीहितैः ।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥ ३७ ॥
रक्तमांसमयस्याऽस्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥ ३८ ॥
मरणावसरे काया जीवं नाऽनुसरन्ति ये ।
तेषु तात कृतघ्नेषु कैवाऽऽस्था वद धीमताम् ॥ ३९ ॥
मत्तेभकर्णाग्रचलः कायो लम्बाम्बुभङ्गुरः ।
न संत्यजति मां यावत्तावदेनं त्यजाम्यहम् ॥ ४० ॥

केशोंकी सफेदीका नगर है। इसमें मानसिक क्लेशोंका ही प्रधानरूपसे साम्राज्य है, अतः उनसे इसकी गहनताका कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए यह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है ॥ ३४ ॥

घोर अन्धकारसे आच्छन्न दिशारूपी झाड़ियोंसे युक्त, भीतरसे शून्य अनेक गुहाओंसे पूर्ण यह देहरूपी महारण्य है, इसमें इन्द्रियरूपी भालू भयप्रदर्शन करते हुए इधर उधर घूमते रहते हैं, अतः यह देहरूप अरण्य मुझे इष्ट नहीं है ॥ ३५ ॥

हे मुनीश्वर, जैसे कोई निर्बल जीव कीचड़में फँसे हुए हाथीको नहीं निकाल सकता, वैसे ही मैं भी इस देहरूपी गृहको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ३६ ॥

क्या राजलक्ष्मी, क्या शरीर और क्या राज्य, क्या मनोरथ—इनमेंसे किसीसे भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि थोड़े ही दिनोंमें काल उन सबका नाश कर डालता है अर्थात् नाशशील वस्तुसे किसका क्या लाभ हो सकता है ? ॥ ३७ ॥

मुनिवर, रक्त और मांससे विरचित विनाशशील इस देहके बाहर और भीतर भली भाँति देखकर कहिए कि इसमें कौन-सी रमणीयता है ? ॥ ३८ ॥

पूज्यवर, भला आप ही कहिये जो शरीर मरनेके समय जीवके पीछे नहीं जाते—जीवका त्याग कर देते हैं, उन कृतघ्न शरीरोंपर ज्ञानवान् पुरुषोंका क्या आदर हो सकता है ? ॥ ३९ ॥

मदोन्मत्त हाथीके कानोंके अग्रभागकी नाईं चञ्चल और हाथीके कानके

पवनस्पन्दतरलः पेलवः कायपल्लवः ।
जर्जरस्तनुवृत्तश्च नेष्टो मे कटुनीरसः ॥ ४१ ॥
भुक्त्वा पीत्वा चिरं कालं बालपल्लवपेलवाम् ।
तनुतामेत्य यत्नेन विनाशमनुधावति ॥ ४२ ॥
तान्येव सुखदुःखानि भावाभावमयान्यसौ ।
भूयोऽप्यनुभवन् कायः प्राकृतो हि न लज्जते ॥ ४३ ॥
सुचिरं प्रभुतां कृत्वा संसेव्य विभवश्रियम् ।
नोच्छ्रायमेति न स्थैर्यं कायः किमिति पाल्यते ॥ ४४ ॥
जराकाले जरामेति मृत्युकाले तथा मृतिम् ।
सम एवाऽविशेषज्ञः कायो भोगिदरिद्रयोः ॥ ४५ ॥
संसाराम्भोधिजठरे तृष्णाकुहरकान्तरे ।
सुप्तस्तिष्ठति मुक्तेहो मूकोऽयं कायकच्छपः ॥ ४६ ॥

अग्रभागमें लटक रहे जलबिन्दुके समान विनाशशील यह शरीर जबतक मुझे नहीं छोड़ता, उससे पहले ही मैं इसका त्याग कर देता हूँ ॥ ४० ॥

वायुके वेगसे परिचालित कोमल पल्लवके समान चञ्चल यह शरीर आधि-व्याधिरूपी सैकड़ों काँटोंसे क्षत-विक्षत होनेके कारण जर्जर हो जाता है । इस क्षुद्र-स्वभाव, कटु और नीरस देहसे हमारा किञ्चित्मात्र भी उपकार नही है ॥ ४१ ॥

चिरकालतक भाँति-भाँतिके सुन्दर खाद्य और पेय पदार्थोंको खा-पीकर नवीन पल्लवके समान कोमल कृशताको प्राप्त होकर स्वतः विनाशकी ओर अग्रसर होता है ॥४२॥

यह पामर शरीर पूर्व जन्मोंमें बारबार उपभुक्त ही भाव और अभावरूप सुख-दुःखोंका पुनः पुनः अनुभव करता हुआ लज्जित नहीं होता ॥ ४३ ॥

जब यह दीर्घकालतक लोगोंपर अपना आधिपत्य जमाकर और विविध विभवोंको पाकर न तो वृद्धि या उत्कर्षको प्राप्त होता है और न स्थिरताको प्राप्त होता है, तब इसके परिपालन या परिरक्षणसे क्या लाभ ? ॥ ४४ ॥

यह शरीर बुढ़ापेके समयमें बुढ़ापेको अवश्य प्राप्त होता है और मरनेके समय मृत्युको अवश्य प्राप्त होता है, यह नियम भाग्यवान् और दरिद्र दोनोंके लिए समान है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, किन्तु यह बात इस अधम देहको ज्ञात नहीं है ॥ ४५ ॥

यह शरीर मूक कच्छपके (कच्छों द्वारा—दुष्ट इन्द्रियों द्वारा—दुर्विषयरूपी

दहनैकार्थयोग्यानि कायकाष्ठानि भूरिशः ।
संसाराब्धाविहोह्यन्ते कश्चित्तेषु नरं विदुः ॥ ४७ ॥
दीर्घदौरात्म्यवलया निपातफलपातया ।
न देहलतया कार्यं किञ्चिदस्ति विवेकिनः ॥ ४८ ॥
मज्जन् कर्दमकोशेषु झटित्येव जरां गतः ।
न ज्ञायते यात्यचिरात् कः कथं देहदर्दुरः ॥ ४९ ॥
निःसारसकलारम्भाः कायाश्चपलवायवः ।
रजोमार्गेण गच्छन्तो दृश्यन्ते नेह केनचित् ॥ ५० ॥

पङ्कका पान करनेवाले कछुएके) समान संसाररूप समुद्रके उदरमें तृष्णारूपी छोटे बिलके अन्दर रहता है । अपनी आत्माके उद्धारके अनुकूल इच्छा और चेष्टा भी इसमें नहीं है और गुरुके समीपमें जाकर आत्माके विषयमें प्रश्न आदिरूप वाणी भी इसमें नहीं है ॥ ४६ ॥

इस संसाररूपी महासागरमें केवल जलना ही जिनका मुख्य प्रयोजन है, ऐसे हजारों देहरूपी काष्ठ भासित होते हैं, पर धीमान् जन उनमें से किसीको ही 'नर' कहते हैं, अर्थात् जो ज्ञानाग्नि द्वारा जलाया जा सकता है, वह देह ही नरदेह है ॥४७॥

दुष्टतारूपी बड़े बड़े प्रतानोंसे युक्त और दुश्चरितोंसे जिसका पतन अवश्यम्भावी है, ऐसी देहरूपी लतासे विवेकी पुरुषका कुछ भी काम नहीं है ॥ ४८ ॥

यह शरीर कीचड़से भरे हुए पल्वलोंमें (तलैयोंमें) निमग्न मेंढकके समान विषय-भोगमें अत्यन्त निमग्न होकर वृद्धावस्थासे आक्रान्त हो जाता है, किन्तु यह शीघ्र ही कहां जायगा और किस प्रकारकी दुर्दशाओंसे ग्रस्त होगा, यह ज्ञात नही होता ॥ ४९ ॥

जैसे धूलिपटलयुक्त आकाशमार्गसे जा रही आँधीको कोई देख नहीं सकता, क्योंकि धूलिके कारण नेत्र बन्द हो जाते हैं, कुछ भी नहीं दिखाई देता, इस देहसमुदायकी चेष्टाएँ भी ठीक आँधीके ही अनुरूप हैं अर्थात् इसकी सब चेष्टाएँ नीरस (अनर्थकारिणी), और दर्शनशक्तिका नाश करनेवाली हैं । यह शरीर ही आँधीरूपी चपलताका मूल है, यही राजसी प्रवृत्तिका उत्पादन कर आत्मदर्शनमें बाधक होता है ॥ ५० ॥

वायोर्दीपस्य मनसो गच्छतो ज्ञायते गतिः ।
आगच्छतश्च भगवञ्छरीरस्य कदाचन ॥ ५१ ॥
बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिग्धिगस्तु पुनःपुनः ॥ ५२ ॥
नाऽहं देहस्य नो देहो मम नाऽयमहं तथा ।
इति विश्रान्तचित्ता ये ते मुने पुरुषोत्तमाः ॥ ५३ ॥
मानावमानबहुलाबहुलाभमनोरमाः ।
शरीरमात्रबद्धास्थं घ्नन्ति दोषदृशो नरम् ॥ ५४ ॥
शरीरश्वभ्रशायिन्या पिशाच्या पेशलाङ्गया ।
अहङ्कारचमत्कृत्या छलेन छलिता वयम् ॥ ५५ ॥
प्रज्ञा वराकी सर्वैव कायबद्धास्थयाऽनया ।
मिथ्याज्ञानकुराक्षस्या छलिता कष्टभेकिका ॥ ५६ ॥

वायुकी, दीपककी और मनकी गति—उत्पत्ति और विनाश—जैसे अज्ञात हैं वैसे ही इस शरीरकी उत्पत्ति, विनाश आदि अज्ञात हैं। यह क्या है, किस प्रकारसे और कहांसे आता है और कहां जाता है, इस बातको कोई नही जानता ॥ ५१ ॥

जो लोग अनित्य शरीरोंमें नित्यत्वका आदर करते हैं और जो लोग संसार-स्थितिके विषयमें नित्यत्वका अभिमान करते हैं अर्थात् जो लोग शरीरोंको तथा संसारको सारयुक्त, चिरस्थायी और सत्य मानते हैं वे मोह (अज्ञान) रूपी मदिरासे उन्मत्त हैं, उन्हें बार बार धिक्कार है ॥ ५२ ॥

न मै देहका सम्बन्धी हूँ, न देह मै हूँ, न मेरा देह है और न मैं ही देह हूँ, ऐसा विचारकर अर्थात् इदन्त्वसे विशिष्ट घट आदिके समान जड़ देह यह मैं नहीं हूँ, ऐसा विचार कर परमात्मामें जिनका चित्त विश्रान्त है, वे लोग ही पुरुषोत्तम हैं ॥५३॥

मान और अपमानसे वृद्धिको प्राप्त हुई एवं प्रचुर लाभसे सुन्दर लगनेवाली दुष्ट दृष्टियां केवल शरीरमें ही परमादर करनेवाले पुरुषको मृत्युके वशीभूत कर देती हैं ॥ ५४ ॥

शरीररूपी गड्ढेमें रहनेवाली मनोहर भोगतृष्णारूपिणी पिशाचीने कपटसे हमें संसारमें पटककर हमारा सर्वस्व हर लिया—हमें ठग दिया—है ॥ ५५ ॥

शरीरको ही सब कुछ समझनेवाली इस मिथ्याज्ञानरूपिणी राक्षसीने अकेली

न किञ्चिदपि दृश्येऽस्मिन् सत्यं तेन हतात्मना ।
चित्रं दग्धशरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥ ५७ ॥
दिनैः कतिपयैरेव निर्झराम्बुकणो यथा ।
पतत्ययमयत्नेन जरठः कायपल्लवः ॥ ५८ ॥
कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
व्यर्थं कार्यपरावर्त्ते परिस्फुरति निष्फलः ॥ ५९ ॥
मिथ्याज्ञानविकारेऽस्मिन् स्वप्नसम्भ्रमपत्तने ।
काये स्फुटतरापाये क्षणमास्था न मे द्विज ॥ ६० ॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥ ६१ ॥

अतएव दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूपसे ठग लिया, यह बड़े कष्टकी बात है ॥ ५६ ॥

जब इस दृश्य प्रपञ्चमें कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, तब उसके मध्यपाती होनेसे यह शरीर भी सत्य नहीं है । अपने आप जले हुए (असत्य) शरीरसे जनता ठगी जाती है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ५७ ॥

यदि जनताको ठगनेसे इस शरीरका कोई प्रयोजन सिद्ध होता, तो किसी अंशमें वह क्षन्तव्य भी होता, पर वह भी तो कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं— 'दिनैः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

कुछ ही दिनोंमें वृद्धताको प्राप्त हुआ यह शरीररूपी पल्लव झरनेके जलकणों (सीकरों) के समान अपने आप गिर पड़ता है—मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥५८॥

समुद्रमें उत्पन्न हुए जलके बुद्बुदोंकी नाईं इस शरीरका विनाश बहुत शीघ्र हो जाता है, यह संसारमें परिभ्रमणरूपी जलभँवरमें व्यर्थ ही प्रकाशको प्राप्त होता है । न तो संसारमें परिभ्रमणसे इसका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है और न इससे किसी दूसरेका ही प्रयोजन सिद्ध होता है ॥ ५९ ॥

मुनिश्रेष्ठ, यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञानका विकार है—अज्ञानजनित है, स्वप्नरूपी भ्रान्तियोंका आधार है और इसका विनाश सर्वथा स्पष्ट है, इसलिए इस शरीरमें मेरा क्षणभरके लिए आदर नहीं है ॥ ६० ॥

जिस पुरुषने बिजलीमें, शरत् ऋतुके मेघोंमें और गन्धर्वनगरमें ये चिर-

सततभङ्गुरकार्यपरम्पराविजयिजातजयं हठवृत्तिषु ।
प्रबलदोषमिदं तु कलेवरं तृणमिवाऽहमपोह्य सुखं स्थितः ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
कायजुगुप्सानामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

—०—

एकोनविंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

लब्ध्वाऽपि तरलाकारे कार्यभारतरङ्गिणि ।
संसारसागरे जन्म बाल्यं दुःखाय केवलम् ॥ १ ॥

स्थायी हैं, ऐसा निर्णय कर रक्खा है, वह इस क्षणभङ्गुर शरीरको भले ही चिरस्थायी माने ॥ ६१ ॥

किसका शीघ्र विनाश होता है, इस विषयमें अपना अपना उत्कर्ष जतानेके लिए हठसे प्रवृत्त हुए सम्पूर्ण पदार्थोंमें से सदा विनाशशील कार्योंमें विजयी होनेवाले बिजली, शरत् ऋतुके मेघ आदिसे भी, नाशक सामग्रीके अधिक होनेसे, उत्कृष्ट इस शरीरको तृणसे भी तुच्छ समझ कर मैं परम सुखी हुआ हूँ ॥ ६२ ॥

अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त

—०—

उनीसवाँ सर्ग

[अज्ञान, क्षुधा, पिपासा, रोग, अशौच और चपलतासे दूषित जानवरोंकी-सी अवस्थावाली बाल्यावस्थाकी निन्दा]

देहकी सभी अवस्थाएँ दुःखरूप नहीं हैं, क्योंकि उसकी बाल्यावस्थाकी सब लोग स्पृहा करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वह सुखमय है । 'तद्यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' यह श्रुति भी बाल्यावस्थामें अतिशय आनन्दका प्रतिपादन करती है, ऐसी शङ्का करके विस्तारपूर्वक बाल्यावस्थाकी अनर्थकारिताका प्रतिपादन करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'लब्ध्वाऽपि' इत्यादिसे ।

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता ।
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
रोषरोदनरौद्रासु दैन्यजर्जरितासु च ।
दशासु बन्धनं बाल्यमालानं करिणामिव ॥ ३ ॥
न मृतौ न जरा रोगे न चाऽऽपदि न यौवने ।
ताश्चिन्ताः परिकृन्तन्ति हृदयं शैशवेषु याः ॥ ४ ॥
तिर्यग्जातिसमारम्भः सर्वैरेवाऽवधीरितः ।
लोलो बालसमाचारो मरणादपि दुःखदः ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, चञ्चल आकारवाले जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार शरीरोंसे पूर्ण और नानाप्रकारके कर्तव्यभाररूपी तरङ्गोंसे युक्त संसारसागरमें मनुष्यजन्म पाकर भी बाल्यावस्थामें केवल दुःख ही मिलता है । पहले मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है, वह किसी प्रकार पुण्य-परिपाकसे यदि प्राप्त भी हो गया, तो उसमें बाल्यावस्था अतिक्लेशकारक है—'अपि' पदसे यह अर्थ सूचित होता है ॥ १ ॥

जिसकी पहले प्रतिज्ञा की थी, उसी अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'**अशक्ति०**' इत्यादिसे ।

अशक्ति (असामर्थ्य), आपत्तियाँ, खाने-पीने आदिकी तृष्णा, मूकता, (बोल न सकना), मूढबुद्धिता (जान न सकना), क्रीड़ा, कौतुक आदिके विषयमें अभिलाषा करना, न मिलनेपर दीन-हीन बन जाना और चञ्चलता—ये सब बाल्यावस्थामें ही होते हैं ॥ २ ॥

हाथियोंके बन्धन-स्तम्भके समान बाल्यावस्था अकारण क्रोध और रोदनसे भीषण और दीनतासे जर्जरित दशाओंमें बन्धन है अर्थात् जैसे अकारण क्रोध, रोदन आदिसे भीषण और दीनतासे जर्जरित अवस्थाओंमें हाथीका (आलान) बन्धनस्तम्भ बन्धन होता है, वैसे ही अकारण क्रोध, रोदन आदिसे भीषण और दैन्यसे जर्जरित अवस्थाओंमें प्राणियोंका बाल्यकाल भी बन्धन ही है ॥ ३ ॥

जैसी पराधीनताप्रयुक्त चिन्ताएँ बाल्यावस्थामें जीवके हृदयको पीड़ित करती हैं, वैसी मरणमें, बुढ़ापेमें, रोगावस्थामें, आपत्तिमें एवं यौवनावस्थामें नहीं करती ॥४॥

बाल्यावस्थामें पशुपक्षियोंकी-सी चेष्टाएँ होती हैं, सभी लोग बालकोंकी भर्त्सना

प्रतिबिम्बघनाज्ञानं नानासङ्कल्पपेलवम् ।
बाल्यमालूनसंशीर्णमनः कस्य सुखावहम् ॥ ६ ॥
जलवह्नयनिलाजस्रजातभीत्या पदे पदे ।
यद्भयं शैशवेऽबुद्ध्या कस्याऽऽपदि हि तद् भवेत् ॥ ७ ॥
लीलासु दुर्विलासेषु दुरीहासु दुराशये ।
परमं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥ ८ ॥
विकल्पकल्पितारम्भं दुर्विलासं दुरास्पदम् ।
शैशवं शासनायैव पुरुषस्य न शान्तये ॥ ९ ॥

करते हैं, सचमुच चञ्चल बाल्यावस्था मरणसे भी बढकर दुःखदायिनी है ॥ ५ ॥

सामने स्थित प्रतिबिम्बके समान बाल्यावस्थामें स्फुट और निबिड अज्ञान रहता है अथवा प्रत्येक क्षणमें चित्तमें तत्-तत् विषयोंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अनेक प्रकारकी भ्रान्तियां होती हैं, अतएव यह नाना प्रकारके संकल्पोंसे तुच्छ है। तत्-तत् संकल्पित विषयोंके न मिलनेसे बाल्यावस्थामें मन चारों ओरसे कटा हुआ-सा और जीर्णशीर्ण-सा दुःखित रहता है, भला ऐसी बाल्यावस्था किसको सुखप्रद होगी ? ॥ ६ ॥

बाल्यावस्थामें अज्ञानवश जल, वह्नि और वायुसे सदा उत्पन्न होनेवाले भयसे पद-पदमें जैसा दुःख होता है, वैसा आपत्तिमें भी किसीको न होगा अर्थात् बाल्यावस्थामें आपत्तिसे भी बढ़कर दुःख होता है ॥ ७ ॥

बालक बाल्यावस्थामें निरन्तर विविध दुश्चेष्टाओंमें—दुर्लीलाओंमें, दुराशाओंमें, दुरभिसन्धानोंमें और दुर्विलासोंमें सहसा पड़कर ये सार वस्तुएँ हैं, ऐसे महाभ्रमको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

बाल्यावस्थामें बालक तुच्छ कार्यको भी नन्हे बच्चे या निपट पागलके कहने-मात्रसे बड़ा महत्त्व दे डालते हैं, अनेक दुश्चेष्टाएँ करते हैं और किसी प्रकारकी भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते, इसलिए पुरुषकी बाल्यावस्था गुरु द्वारा किये गये ताड़न आदिसे उत्पन्न दुःख भोगनेके लिए ही है, सुखके लिए नहीं है। अर्थात् निष्फल कार्यप्रवृत्ति और सम्पूर्ण दुष्कर्मोंका आवासरूप बाल्यकाल किसी प्रकारकी भी शान्ति प्रदान नहीं करता, उक्त कालमें प्रायः प्रतिक्षण गुरुजनोंके समीप दण्डित होकर दुःखित होना पड़ता है और किसी प्रकारकी भी प्रशंसा प्राप्त नहीं होती ॥९॥

ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः ।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त्त इव कौशिकाः ॥ १० ॥
बाल्यं रम्यमिति व्यर्थबुद्धयः कल्पयन्ति ये ।
तान् मूर्खपुरुषान् ब्रह्मन् धिगस्तु हतचेतसः ॥ ११ ॥
यत्र दोलाकृति मनः परिस्फुरति वृत्तिषु ।
त्रैलोक्याभव्यमपि तत्कथं भवति तुष्टये ॥ १२ ॥
सर्वेषामेव सत्वानां सर्वावस्थाभ्य एव हि ।
मनश्चञ्चलतामेति बाल्ये दशगुणं मुने ॥ १३ ॥
मनः प्रकृत्यैव चलं बाल्यं च चलतां वरम् ।
तयोः संश्लिष्यतोस्त्राता क इवाऽन्तः कुचापले ॥ १४ ॥
स्त्रीलोचनैस्तडित्पुञ्जैर्ज्वालाजालैस्तरङ्गकैः ।
चापलं शिक्षितं ब्रह्मञ्छैशवाक्रान्तचेतसः ॥ १५ ॥

जैसे उल्लू दिनमें अन्धकारमय गड्ढोंमें छिपे रहते हैं, वैसे ही जितने दोष, जितने दुराचार, जितने दुष्कर्म और जितनी मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब बाल्यावस्थामें जीवके हृदयमें छिपकर बैठे रहते हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मन्, बाल्यावस्था रमणीय (सुखमय) है, ऐसी जो लोग कल्पना करते हैं, वे सब दुर्बुद्धि हैं, उन हतचित्त मूढ़बुद्धि लोगोंको बार बार धिक्कार है ॥ ११ ॥

जिसमें हिंडोलेके समान चञ्चल मन विविध विषयोंके आकारको प्राप्त होता है, तीनों लोकोंमें अत्यन्त अमङ्गल वह बाल्यावस्था किस प्रकार सुखकर हो सकती है ? ॥ १२ ॥

मुनिवर, सम्पूर्ण प्राणियोंकी सभी अवस्थाओंकी अपेक्षा बाल्यावस्थामें मन दसगुना चञ्चल होता है । मनकी चञ्चलताका अधिक होना दुःखातिशयका हेतु है अर्थात् जितना ही मन चञ्चल होगा, उतना ही अधिक कष्ट होगा, यह भाव है ॥ १३ ॥

मन स्वभावतः चञ्चल है ही और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चञ्चल पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ है । उन दोनोंका सम्बन्ध होनेपर चञ्चलताप्रयुक्त अनर्थसे बचानेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्, बाल्यावस्थासे आक्रान्त चित्तसे युवतियोंके लोचनोंने, बिजलीने, अग्निकी ज्वालाओंने और तरङ्गोंने चञ्चलता सीखी है अर्थात् मन सम्पूर्ण चञ्चल पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ है ॥ १५ ॥

शैशवं च मनश्चैव सर्वास्वेव हि वृत्तिषु ।
भ्रातराविव लक्ष्येते सततं भङ्गुरस्थिती ॥ १६ ॥
सर्वाणि दुःखभूतानि सर्वे दोषा दुराधयः ।
बालमेवोपजीवन्ति श्रीमन्तमिव मानवाः ॥ १७ ॥
नवं नवं प्रीतिकरं न शिशुः प्रत्यहं यदि ।
प्राप्नोति तदसौ याति विषवैषम्यमूर्छनाम् ॥ १८ ॥
स्तोकेन वशमायाति स्तोकेनैति विकारिताम् ।
अमेध्य एव रमते बालः कौलेयको यथा ॥ १९ ॥
अजस्रबाष्पवदनः कर्दमाक्तो जडाशयः ।
वर्षोक्षितस्य तप्तस्य स्थलस्य सदृशः शिशुः ॥ २० ॥

सभी व्यवहारोंमें बाल्यावस्था और मन—ये दोनों सदा सहोदर भाई-से प्रतीत होते हैं, ये दोनों चञ्चल हैं—दोनोंकी स्थिति क्षणिक है ॥ १६ ॥

दुःखपूर्ण सम्पूर्ण दुर्व्यसन, सम्पूर्ण दोष और सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताएँ बाल्यावस्थामें ही निवास करती हैं, जैसे कि मनुष्य धनवान् पुरुषके आश्रयमें रहते हैं ॥ १७ ॥

यदि बालकको प्रतिदिन मनको प्रसन्न करनेवाली नई-नई वस्तुएँ न मिलें, तो वह विषके समान असह्य चित्तविकृतिसे मूर्च्छाको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

बालक कुत्तेके समान थोड़ेसे खाने पीनेकी वस्तु देने आदिसे वशमें आ जाता है, थोड़ेसे घुड़कने आदिसे विकृत हो जाता है और अपवित्रमें (विष्ठा आदिमें) क्रीड़ा करता है अर्थात् जैसे कुत्ता थोड़ा-सा खाना देने या पुचकारनेसे वशमें हो जाता है, थोड़ा-सा घुड़कने या छड़ी आदि दिखानेसे बिगड़ जाता है और विष्ठा आदिसे अपवित्र स्थानोंमें खेलता है, ठीक वैसे ही बालक भी है ॥ १९ ॥

जैसे वर्षासे भीगी और धूपसे तपी हुई भूमिके ऊपर सदा भाप निकलती, है, इधर उधर कीचड़ व्याप्त रहता है और भीतर जल रहता है, वैसे ही बालक भी सदा आँसुओंसे युक्त मुखवाला, कीचड़से सना एवं मूढ़बुद्धि और अचेतन रहता है ॥ २० ॥

भयाहारपरं दीनं दृष्टादृष्टाभिलाषि च ।
लोलबुद्धिवपुर्धत्ते बाल्यं दुःखाय केवलम् ॥ २१ ॥
स्वसङ्कल्पाभिलषितान् भावानप्राप्य तप्तधीः ।
दुःखमेत्यबलो बालो विनिष्कृत्त इवाऽऽशये ॥ २२ ॥
दुरीहालब्धलक्षाणि बहुवक्रोल्बणानि च ।
बालस्य यानि दुःखानि मुने तानि न कस्यचित् ॥ २३ ॥
बालो बलवता स्वेन मनोरथविलासिना ।
मनसा तप्यते नित्यं ग्रीष्मेणेव वनस्थली ॥ २४ ॥
विद्यागृहगतो बालो परामेति कदर्थनाम् ।
आलान इव नागेन्द्रो विषवैषम्यभीषणाम् ॥ २५ ॥
नानामनोरथमयी मिथ्याकल्पितकल्पना ।
दुःखायाऽत्यन्तदीर्घाय बालता पेलवाशया ॥ २६ ॥

मनुष्य सदा दूसरोंसे डरने और भोजन करनेवाले, दीन-हीन, दृष्ट और अदृष्ट सब वस्तुओंकी इच्छा करनेवाले एवं चञ्चल बुद्धि और शरीरसे युक्त बाल्यकालको केवल दुःख-भोगके लिए धारण करता है ॥ २१ ॥

विवश बालक जब अपने संकल्पसे अभिलषित पदार्थोंको नहीं पाता, तब अत्यन्त सन्तप्त होकर ऐसे दुःखको प्राप्त होता है कि मानों किसीने उसके हृदयको काट डाला हो ॥ २२ ॥

मुनिवर, बालकको दुष्ट चेष्टाओं या दुष्ट मनोरथोंसे उत्पन्न और भाँति भाँतिके वञ्चनाके उपायोंसे भीषण जो दुःख होते हैं, वे दूसरे किसीको नहीं होते। बाल्यावस्थासे बढ़कर दुःख और किसी अवस्था या योनिमें नहीं होते, यह आशय है ॥ २३ ॥

जैसे प्रखर ग्रीष्म ऋतुसे वनभूमि सन्तापको प्राप्त होती है, वैसे ही बालक भी मनोरथोंके विलाससे युक्त बलवान् अपने मनसे नित्य सन्तापको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

बालक जब विद्यालयमें पढ़ने जाता है, तब उसे बन्धनस्तम्भमें बँधे हुए हाथीके समान पराधीनता, बेंतोंकी मार आदि और भी बड़े बड़े भीषण कष्ट झेलने पड़ते हैं ॥ २५ ॥

बाल्यावस्थामें असत्य पदार्थोंमें ही सत्यत्वबुद्धि होती है, अनेक प्रकारके

संहृष्टो भुवनं भोक्तुमिन्दुमादातुमम्बरात् ।
वाञ्छते येन मौर्ख्येण तत्सुखाय कथं भवेत् ॥ २७ ॥
अन्तश्चित्तेरशक्तस्य शीतातपनिवारणे ।
को विशेषो महाबुद्धे बालस्योर्वीरुहस्तथा ॥ २८ ॥
उड्डीतुमभिवाञ्छन्ति पक्षाभ्यां क्षुत्परायणाः ।
भयाहारपरा नित्यं बाला विहगधर्मिणः ॥ २९ ॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥ ३० ॥

मनोरथोंका साम्राज्य छाया रहता है और हृदय बड़ा कोमल रहता है; अतएव बाल्यावस्थामें अत्यन्त दीर्घ दुःखके सिवा सुखका लेश भी नहीं होता ॥ २६ ॥

किसी समय जब बालक भूख लगनेसे रोता है, तब तुम्हें खानेके लिए भुवन (लोक) दूँगी, यों माता या पिताके कहनेपर सन्तुष्ट होकर वह भुवनको ही खानेकी इच्छा करता है । तुम्हें चन्द्रमारूप खिलौना देंगे, यों ठगनेपर आकाशसे चन्द्रमाको हाथमें लेनेकी इच्छा करता है, ऐसी मूर्खतासे पूर्ण बाल्यावस्था कैसे सुखकर हो सकती है ? ॥ २७ ॥

हे महामते, बालकके मनमें शीत और घामका अनुभव तो होता है, पर वह उनका निवारण नही कर सकता, इसलिए बालक और वृक्षमें क्या भेद है अर्थात् बालक वृक्षके समान जड़ है ॥ २८ ॥

बालक सचमुच पक्षियोंके सदृश हैं, जैसे भूखे पक्षी आकाशमें बहुत ऊँचा उड़नेकी इच्छा करते हैं, वैसे ही भूखे बालक भी आहार लेनेके लिए हाथोंके सहारे उठनेकी इच्छा करते हैं, पर सामर्थ्य न होनेसे नहीं उठ सकते । जैसे पक्षियोंको दूसरेसे भय और आहारकी चिन्ता प्रधानरूपसे रहती है, वैसे बालक भी भय और भोजनमें तत्पर रहते हैं ॥ २९ ॥

बाल्यावस्थामें गुरुओंसे, माता-पितासे, अन्यान्य जनोंसे एव अपनेसे बड़े बालकसे भय बना रहता है, इसलिए बाल्यावस्थाको यदि भयका घर कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी ॥ ३० ॥

सकलदोषदशाविहताशयं शरणमप्यविवेकविलासिनः ।
इह न कस्यचिदेव महामुने भवति बाल्यमलं परितुष्टये ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
बाल्यजुगुप्सा नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

—— o ——

विंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

बाल्यानर्थमथ त्यक्त्वा पुमानभिहताशयः ।
आरोहति निपाताय यौवनं संभ्रमेण तु ॥ १ ॥

महामुने, सम्पूर्ण दोषपूर्ण दशाओंसे दूषित किसीकी रोकटोकके बिना स्वच्छन्द विहार करनेवाले अविवेकका घर बाल्यकाल किसीके भी सन्तोषके लिए नही हो सकता ॥ ३१ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

—— o ——

बीसवाँ सर्ग

[लोभ, द्वेष, मद, ईर्ष्या, अभिमान और डाहसे दूषित एवं काम आदि अनर्थोंके घर यौवनकी निन्दा]

बाल्यावस्था अतिमूर्खता, असामर्थ्य और परतन्त्रता आदिसे दुःखपूर्ण भले ही हो, पर यौवनावस्थामें ये बातें नहीं है, उसमें नानाभोग भोगनेसे उत्पन्न आनन्द ही आनन्द रहता है, इसलिए वह सुखकी कारण है, ऐसी शङ्का करके यौवनकी अत्यन्त अनर्थकारिताका वर्णन करनेके लिए कहते हैं—**'बाल्यानर्थ०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, बाल्यावस्थाके अनन्तर पुरुष बाल्यावस्थाके अनर्थोंका त्यागकर भोग भोगनेके उत्साहसे या आनेवाले कामरूप पिशाचसे दूषितचित्त होकर नरकपातके लिए ही यौवनारूढ होता है । माण्डव्य ऋषिने व्यवस्था कर रक्खी है कि चौदह वर्ष तक किये गये दुष्कर्मोंसे नरकप्राप्ति नही

तत्राऽनन्तविलासस्य लोलस्य स्वस्य चेतसः ।
वृत्तीरनुभवन् याति दुःखाद् दुःखान्तरं जडः ॥ २ ॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानासंभ्रमकारिणा ।
बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥ ३ ॥
चिन्तानां लोलवृत्तीनां ललनानामिवाऽऽवृतीः ।
अर्पयत्यवशं चेतो बालानामञ्जनं यथा ॥ ४ ॥
ते ते दोषा दुरारम्भास्तत्र तं तादृशाशयम् ।
तद्रूपं प्रतिलुम्पन्ति दुष्टास्तेनैव ये मुने ॥ ५ ॥
महानरकबीजेन सन्ततभ्रमदायिना ।
यौवनेन न ये नष्टा नष्टा नाऽन्येन ते जनाः ॥ ६ ॥

होती, इसलिए बाल्यावस्थासे नरकपात नही होता, लेकिन यौवनावस्था तो नरकपातकी ही हेतु है, यह भाव है ॥ १ ॥

मूर्ख पुरुष यौवनावस्थामें अनन्त चेष्टावाले अतएव चञ्चल अपने चित्तकी राग, द्वेष आदि वृत्तियोंका अनुभव करता हुआ एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है अर्थात् दुःखपरम्पराका भोग करता है ॥ २ ॥

चित्तरूपी बिलमें वास करनेवाला तथा अनेक प्रकारके भ्रमोंको पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच विवश पुरुषके विवेकका तिरस्कार कर उसे अपने वशमें कर लेता है ॥ ३ ॥

जैसे निधि आदिको देखनेके लिए बालकोंके हाथमें रक्खा हुआ सिद्धाञ्जन चञ्चल वृत्तिवाली नेत्रप्रभाओंके अनावरणको—भूमि, शिला आदिके व्यवधानको हटाकर निधि देखनेकी सामर्थ्यको—देता है, वैसे ही यौवनावस्थामें अवश चित्त—युवतियोंके चित्तसे भी चञ्चल नाना प्रकारकी चिन्ताओंके कपाट खोल देता है अर्थात् यौवनावस्थामें पुरुषको विविध चिन्ताओंका सामना करना पड़ता है ॥ ४ ॥

मुनिवर, यौवनावस्थामें स्त्री, जुआ, कलह आदि व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाले राग, लोभ आदि दोष—काम, चिन्ता आदिके वशीभूत चित्तवाला होनेसे—काममय और चिन्तामय पुरुषको नष्ट कर डालते हैं और वे दोष यौवन द्वारा ही प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

महानरककी हेतुभूत और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाली यौवनावस्थासे जिन लोगोंका विनाश नही हुआ, उनका दूसरे किसीसे विनाश नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

नानारसमयी चित्रवृत्तान्तनिचयोम्भिता ।
भीमा यौवनभूर्येन तीर्णा धीरः स उच्यते ॥ ७ ॥
निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम् ।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते ॥ ८ ॥
मधुरं स्वादु तिक्तं च दूषणं दोषभूषणम् ।
सुराकल्लोलसदृशं यौवनं मे न रोचते ॥ ९ ॥
असत्यं सत्यसंकाशमचिराद्विप्रलम्भदम् ।
स्वप्नाङ्गनासंगसमं यौवनं मे न रोचते ॥ १० ॥
सर्वस्याऽग्रे सर्वपुंसः क्षणमात्रमनोहरम् ।
गन्धर्वनगरप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ ११ ॥

शृङ्गार आदि नौ रसोंसे (कटु, तिक्त आदि छः रसोंसे) पूर्ण आश्चर्यजनक अनेक वृत्तान्तोंसे परिपूर्ण भीषण यौवनभूमिको जिसने पारकर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है ॥ ७ ॥

क्षणभरके लिए देदीप्यमान, चञ्चल मेघोंके गर्जनसे युक्त बिजलीके समान प्रकाशमान अमङ्गलमय यौवन मुझे पसन्द नहीं है । अर्थात् जैसे वर्षा ऋतुकी रात्रि क्षणभरके लिए बिजलीके प्रकाशसे देदीप्यमान हो उठती है और चञ्चल मेघोंके गर्जन-तर्जनसे गूँज उठती है, वैसे ही यौवनावस्था भी स्वल्पकालके लिए उज्ज्वल है । घोर गर्जनाओंके समान अभिमानपूर्ण उक्तियोंसे युक्त अमङ्गलमय यह यौवन मुझे भला नहीं लगता ॥ ८ ॥

मुनिवर, भोगके समय मीठा अतएव बड़ा भला लगनेवाला, अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण नीमके समान कडुवा, दोषरूप, निन्दाके हेतुभूत सम्पूर्ण दोषोंका भूषण (सब दोषोंमें श्रेष्ठ), शराबके नशेके सदृश यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥९॥

यौवन है तो निरा असत्य पर सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही लोगोंको अपनी वञ्चनाका शिकार बना डालता है—धोखा दे देता है—और स्वप्नमें दृष्ट स्त्रीके समान है, इसलिए यौवन मुझे नहीं रुचता ॥ १० ॥

यौवन एक क्षणभरके लिए सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमें, गन्धर्व *-

* जिसे गन्धर्वनगर दिखाई देता है उसकी मृत्यु हो जाती है। इससे गन्धर्वनगरका दर्शन मरणका चिह्न है, यह सिद्ध है । इसलिए गन्धर्वनगरके पक्षमें 'सम्पूर्ण आयुके अन्तमें' ऐसा अर्थ करना चाहिए ।

इषुप्रपातमात्रं हि सुखदं दुःखभासुरम् ।
दाहदोषप्रदं नित्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १२ ॥
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसंगमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १३ ॥
ये केचन समारम्भास्ते सर्वे सर्वदुःखदाः ।
तारुण्ये सन्निधिं यान्ति महोत्पाता इव क्षये ॥ १४ ॥
हार्दान्धकारकारिण्या भैरवाकारवानपि ।
यौवनाज्ञानयामिन्या बिभेति भगवानपि ॥ १५ ॥
सुविस्मृतशुभाचारं बुद्धिवैधुर्यदायिनम् ।
ददात्यतितरामेष भ्रमं यौवनसम्भ्रमः ॥ १६ ॥

नगरके सदृश, सर्वश्रेष्ठ है और सभी लोगोंको क्षणमात्रके लिए अच्छा लगता है, इसलिए यह मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ११ ॥

प्रत्यञ्चासे छोड़ा गया बाण जितने समयमें लक्ष्यका वेध करता है, केवल उतने समयतक सुखदायक, शेष सम्पूर्ण कालमें दुःख देनेवाला और नित्य सन्तापरूपी दोष देनेवाला यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १२ ॥

यौवन केवल आपाततः—जबतक विचार न किया जाय तभी तक—रमणीय प्रतीत होता है, इसमें शुद्धचित्तताका सर्वथा अभाव रहता है । यह वेश्या स्त्रीके समागमके समान नीरस है, इसलिए मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ १३ ॥

जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात चारों ओरसे उमड़ पड़ते हैं वैसे ही युवावस्थामें भी, सबको दुःख देनेवाले जो कोई कार्य हैं, वे सब समीपमें आ जाते हैं अर्थात् युवावस्थामें परदुःखदायी अनेक दुष्कर्म होते हैं ॥१४॥

हृदयमें अन्धकार करनेवाली यौवनयुक्त अज्ञान-रात्रिसे विशाल आकारवाले भगवान् महादेवजी भी निश्चय भयभीत रहते हैं, इसीलिए ही वे सदा विवेक—ज्ञान—रूपी चन्द्रमाको धारण करते हैं । यदि नहीं डरते, तो क्यों धारण करते ? यह भाव है ॥ १५ ॥

यह यौवनकालीन मोह शुभ आचरणको भुलानेवाली एवं बुद्धिको कुण्ठित करनेवाली (बुद्धिनाश करनेवाली) भ्रान्तिकी प्रचुरमात्रामें सृष्टि करता है ॥१६॥

कान्तावियोगजातेन हृदि दुःस्पर्शवह्निना ।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥ १७ ॥
सुनिर्मलाऽपि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १८ ॥
शक्यते घनकल्लोला भीमा लङ्घयितुं नदी ।
न तु तारुण्यतरला तृष्णातरलितान्तरा ॥ १९ ॥
सा कान्ता तौ स्तनौ पीनौ ते विलासास्तदाननम् ।
तारुण्य इति चिन्ताभिर्याति जर्जरतां जनः ॥ २० ॥
नरं तरलतृष्णार्त्तं युवानमिह साधवः ।
पूजयन्ति न तु च्छिन्नं जरत्तृणलवं यथा ॥ २१ ॥
नाशायैव मदार्त्तस्य दोषमौक्तिकधारिणः ।
अभिमानमहेभस्य नित्यालानं हि यौवनम् ॥ २२ ॥

जैसे वनाग्निसे वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्थामें प्रियतमाके वियोगसे उत्पन्न दुःसह शोकानलसे जीव जलाया जाता है ॥ १७ ॥

बुद्धि दोषोंके निराकरणसे कितनी ही निर्मल क्यों न हो, कितनी ही उदार क्यों न हो और गुणोंके आधानसे कितनी ही पवित्र क्यों न हो, पर जैसे वर्षा ऋतुमें नदियां मलिन हो जाती हैं, वैसे ही यौवनमें मलिन हो जाती है अर्थात् जैसे निर्मल, पवित्र, शीतल और मधुर जलवाली नदी वर्षा ऋतुमें मलिन हो जाती है, वैसे ही निर्मल, उदार और पवित्र बुद्धि भी युवावस्थामें मलिन हो जाती है ॥१८॥

बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त भीषण नदी लांघी जा सकती है, पर भोग-तृष्णासे चञ्चल इन्द्रियोंवाली यौवनसे अस्थिर चित्तवृत्ति वशमें नहीं की जा सकती है ॥ १९ ॥

वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोज्ञ हावभाव और वह सुन्दर मुख युवावस्थामें ऐसी-ऐसी अनेक चिन्ताओंसे मनुष्य शिथिल हो जाता है ॥२०॥

इस संसारमें सज्जन लोग चञ्चल भोगतृष्णासे प्रपीडित युवा पुरुषका आदर-सत्कार नहीं करते, केवल यही बात नहीं है; किन्तु वे कटे हुए और सूखे तिनकेके समान उसका तिरस्कार करते हैं ॥ २१ ॥

मनस्वियोंके लिए मानहानि मरणके समान क्लेशकारक है, इस अभि-प्रायसे कहते हैं—**'नाशायैव'** इत्यादिसे ।

मनोविपुलमूलानां दोषाशीविषधारिणाम् ।
शोषरोदनवृक्षाणां यौवनं बत काननम् ॥ २३ ॥
रसकेसरसंबाधं कुविकल्पदलाकुलम् ।
दुश्चिन्ताचञ्चरीकाणां पुष्करं विद्धि यौवनम् ॥ २४ ॥
कृताकृतकुपक्षाणां हृत्सरस्तीरचारिणाम् ।
आधिव्याधिविहङ्गानामालयो नवयौवनम् ॥ २५ ॥
जडानां गतसंख्यानां कल्लोलानां विलासिनाम् ।
अनपेक्षितमर्यादो वारिधिर्नवयौवनम् ॥ २६ ॥

यौवन अभिमानसे महागजके समान जड़ और दोषरूपी मोतियोंको धारण करनेवाले अविवेकी पुरुषके अधःपतनके लिए नित्य बन्धनका स्तम्भ है या जैसे आलान (हाथीको बाँधनेका खूँटा) मोतीवाले मदोन्मत्त गजराजके दर्पको चूर्ण कर देता है, वैसे ही यौवन भी अभिमानसे मत्त और विविध दोषोंसे पूर्ण पुरुषका अधःपतन कर देता है ॥ २२ ॥

मुनिवर, खेद है कि मनुष्योंका यौवन वनस्वरूप है, प्रियतम स्त्री, पुत्र आदि इष्ट पदार्थोंकी अप्राप्ति और वियोग-जनित सन्तापसे पैदा हुआ शोप और रोदन उसके वृक्ष हैं, मन उक्त वृक्षोंकी बड़ी जड़ है और दोषरूपी साँप उन वृक्षोंके खोखलोंमें निवास करते हैं ॥ २३ ॥

मुनिवर, आप यौवनको दुष्ट चिन्तारूपी भ्रमरोंका आवासभूत कमल समझिए। वह विषयसुखकणरूपी मधु-बिन्दुओं और रागादिरूपी केसरोंसे भरा हुआ है, और दुष्ट सङ्कल्परूपी पंखुरियोंसे व्याप्त है। अर्थात् जैसे कमलके ऊपर भ्रमर मँडराते हैं, वह मकरन्द और केसरसे खचाखच भरा रहता है और चारों ओरसे पंखुरियोंसे घिरा रहता है, वैसे ही युवावस्थामें मनुष्यके चित्तमें अनेक दुष्ट चिन्ताएँ मँडराती है, बुरे सङ्कल्प घेरे रहते हैं और विषयसुखकण और रागका साम्राज्य छाया रहता है ॥ २४ ॥

यौवन पुण्य और पाप रूपी या लौकिक कार्यरूपी, पतनके हेतु होनेसे, कुत्सित परवाले, हृदयरूपी तालाबके तीरपर विचरनेवाले आधि-व्याधिरूपी पक्षियोंका निवासस्थान है ॥ २५ ॥

नवयौवन असंख्य एवं वृद्धिको प्राप्त होनेवाली तुच्छ सङ्कल्प-विकल्परूप

सर्वेषां गुणसर्गाणां परिरूढरजस्तमाः ।
अपनेतुं स्थितिं दक्षो विषमो यौवनानिलः ॥ २७ ॥
नयन्ति पाण्डुतां वक्त्रमाकुलावकरोत्कटाः ।
आरोहन्ति परां कोटिं रूक्षा यौवनपांसवः ॥ २८ ॥
उद्बोधयति दोषालिं निकृन्तति गुणावलिम् ।
नराणां यौवनोल्लासो विलासो दुष्कृतश्रियाम् ॥ २९ ॥
शरीरपङ्कजरजश्चञ्चलां मतिषट्पदीम् ।
निबध्नन् मोहयत्येष नवयौवनचन्द्रमाः ॥ ३० ॥

लहरोंका अवधिरहित (असीम) या अन्तमें जरा आदि दुःख देनेवाला सागर है। अर्थात् जैसे असीम समुद्र असंख्य और क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होनेवाली जलमय तरङ्गोंका एकमात्र आश्रय है, वैसे ही अन्तमें जरा, मरण आदि दुःखका स्थान नवयौवन भी असंख्य और लगातार बढनेवाली सङ्कल्प-विकल्प-परम्पराका एकमात्र आश्रय है। जैसी सङ्कल्प-विकल्प-परम्पराएँ यौवनकालमें होती हैं, वैसी अन्यकालमें नही होती, यह आशय है ॥ २६ ॥

यौवन आँधीके समान है। जैसे धूलिसे अन्धकारपूर्ण आँधी मकड़ीके सम्पूर्ण जालोंको तहस नहस करनेमें सिद्धहस्त होती है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण विषम यौवन सत्संगति, शास्त्राभ्यास आदि अनेक प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले सद्गुणोंकी (प्रसाद, प्रकाश, विवेकदृष्टिकी अभिवृद्धि आदिकी) स्थिरताको नष्ट करनेमें बड़ा दक्ष है ॥ २७ ॥

यौवन अतिरूक्ष पांसुओंके (आँधीमें उड़नेवाले धूलिकणोंके) समान है। जैसे इधर-उधर उड़ रहे अपवित्र तृण-पत्तोंसे अधिक दुःखदायक अतिरूक्ष धूलि-कण लोगोंके मुँहको धूलि-धूसर कर देते हैं और आकाशमें बहुत ऊँचे स्थानमें चढ़ते हैं, वैसे ही विषयोन्मुख चञ्चल इन्द्रियों द्वारा अधिक कष्टदायक रूक्ष यौवन भी विषयवासनासे उत्पन्न रोगोंसे लोगोंके मुँहको धूसर (रक्तताशून्य सफेद) कर देता है और दोषोंकी परम सीमामें आरूढ होता है ॥ २८ ॥

मनुष्योंका यौवनोल्लास (यौवनकी अभिवृद्धि) दोषोंको जगाता है, उत्पन्न करता है और गुणोंका मूलोच्छेद करता है। अतएव वह पापोंकी वृद्धि करनेके कारण पापोंका विलास है ॥ २९ ॥

मुनिवर, मनुष्योंका नवयौवन चन्द्रमाके सदृश है। जैसे चन्द्रमा कमलके

शरीरखण्डकोद्भूता रम्या यौवनवल्लरी ।
लग्नमेव मनोभृङ्गं मदयत्युन्नतिं गता ॥ ३१ ॥
शरीरमरुतापोत्थां युवतामृगतृष्णिकाम् ।
मनोमृगाः प्रधावन्तः पतन्ति विषयावटे ॥ ३२ ॥
शरीरशर्वरीज्योत्स्ना चित्तकेसरिणः सटा ।
लहरी जीविताम्भोधेर्युवता मे न तुष्टये ॥ ३३ ॥
दिनानि कतिचिद्येयं फलिता देहजङ्गले ।
युवता शरदस्यां हि न समाश्वासमर्हथ ॥ ३४ ॥
झटित्येव प्रयात्येव शरीराद् युवताखगः ।
क्षणेनैवाऽल्पभाग्यस्य हस्ताच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ३५ ॥

परागमें सस्पृह भँवरीको कमलमें बाँधकर मोहित कर देता है, वैसे ही नवयौवन शरीरमें ही चञ्चल बुद्धिको अभिमानरूप कोशमें बाँध कर विमूढ़ कर देता है ॥३०॥

शरीररूपी छोटे बनमें उत्पन्न हुई बड़ी रमणीय यौवनरूपी मञ्जरी जब उत्कर्षको प्राप्त होती है—बढती है—तब अपनेसे संबद्ध मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त कर डालती है । अर्थात् जैसे छोटी वाटिका या कुञ्जमें उत्पन्न रमणीय फूलोंका गुच्छा जब बढ़ता है, तब उसमें बैठे भँवरेको मोहित कर देता है, वैसे ही शरीरमें उत्पन्न रमणीय प्रतीत होनेवाला यौवन मनको मोहित कर देता है ॥३१॥

मुनिवर, शरीररूपी मरुभूमिमें कामरूपी घामके तापसे प्रतीत हो रही यौवनरूपी मृगतृष्णिकाके प्रति दौड़ रहे मनरूपी मृग विषयरूपी गड्ढेमें गिर पड़ते हैं । अर्थात् जैसे मरुभूमिमें घामके तापसे प्रतीत हो रही मृगतृष्णाके प्रति जलकी इच्छासे दौड़ रहे मृग गड्ढेमें गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीरमें कामके सन्तापसे भासित यौवनके प्रति दौड़ रहा मन विषयोंमें फँस जाता है ॥ ३२ ॥

शरीररूपी रात्रिकी चाँदनी, मनरूपी सिंहकी अयाल (गर्दनके बाल) और जीवनरूपी समुद्रकी लहरी युवावस्थासे मुझे सन्तोष नहीं होता ॥ ३३ ॥

जो यह युवावस्था है, यह देहरूपी जङ्गलमें कुछ दिनोंके लिए फली-फूली शरद् ऋतु है, यह शीघ्र ही क्षयको प्राप्त हो जायगी । अतएव इसपर आप लोगोंको विश्वास नहीं करना चाहिए। (भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अपने अनुचरोंके प्रति यह कथन है) ॥ ३४ ॥

उक्त अर्थका ही 'झटिति' इत्यादि छः श्लोकोंसे विशदरूपसे वर्णन करते हैं—

यदा यदा परां कोटिमध्यारोहति यौवनम् ।
वल्गन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम् ॥ ३६ ॥
तावदेव विवल्गन्ति रागद्वेषपिशाचकाः ।
नाऽस्तमेति समस्तैषा यावद् यौवनयामिनी ॥ ३७ ॥
नानाविकारबहुले वराके क्षणनाशिनि ।
कारुण्यं कुरु तारुण्ये म्रियमाणे सुते यथा ॥ ३८ ॥
हर्षमायाति यो मोहात् पुरुषः क्षणभङ्गिना ।
यौवनेन महामुग्धः स वै नरमृगः स्मृतः ॥ ३९ ॥
मानमोहान्मदोन्मत्तं यौवनं योऽभिलष्यति ।
अचिरेण स दुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ ४० ॥
ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसङ्कटात् ॥ ४१ ॥

जैसे अभागे पुरुषके हाथसे चिन्तामणि (अभीष्ट पदार्थ देनेवाला रत्न) तत्काल चला जाता है, वैसे ही शरीरसे युवावस्थारूपी पक्षी जल्दी भाग खड़ा होता है ॥ ३५ ॥

जब यौवन अपनी चरम सीमामें आरूढ हो जाता है, तब केवल नाशके लिए ही सन्तापयुक्त कामनाएँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं ॥ ३६ ॥

तभीतक राग, द्वेषरूपी पिशाच विशेषरूपसे इधर-उधर घूमते-फिरते हैं, जबतक यह यौवनरूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नही हो जाती। राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषोंकी जननी युवावस्था ही है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

जैसे विविध बालक्रीड़ाएँ करनेवाले, क्षणभरमें नष्ट होनेवाले मरणासन्न पुत्रमें लोगोंकी करुणा होती है, वैसे ही विविध चित्तविकारों (मनोरथों) से बढ़ी-चढ़ी, थोड़े समयतक रहकर नष्ट हो जानेवाली बेचारी युवावस्थापर भी करुणा करो ॥३८॥

जो मनुष्य क्षणभरमें विनष्ट होनेवाले यौवनसे मूढतावश फूला नहीं समाता, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही है, क्योंकि वह महामूढ़ है ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य अभिमान युक्त अज्ञानके कारण मदोन्मत्त युवावस्थाको उपादेय (सारयुक्त) वस्तु समझकर उसपर आसक्त होता है उस दुर्बुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्ताप भोगना पड़ता है ॥ ४० ॥

मुनिवर, इस जगतीतलमें वे लोग पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे

सुखेन तीर्यतेऽम्भोधिरुत्कृष्टमकराकरः ।
न कल्लोलवलोल्लासि सदोषं हतयौवनम् ॥ ४२ ॥
विनयभूषितमार्यजनास्पदं करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः ।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं जगति काननमम्बरगं यथा ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
यौवनगर्हानाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

—०—

ही पुरुष हैं, जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदिकी हानिके बिना सुखपूर्वक यौवनरूपी संकटको पार कर दिया ॥ ४१ ॥

बड़े-बड़े मगरोंसे पूर्ण सागर सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु रागद्वेष आदि रूप महातरङ्गोंके कारण उमड़ा हुआ और अनेक दोषोंसे युक्त निन्दनीय यौवनके पार जाना कठिन है ॥ ४२ ॥

बाल्यावस्था और वृद्धावस्थामें अज्ञान और अशक्तिसे पुरुषार्थसाधन नहीं हो सकता और युवावस्था विविध दोषोंसे पूर्ण होनेके कारण पुरुषार्थसाधनके योग्य नही है, ऐसी परिस्थितिमें पुरुषको कभी भी साधनसम्पतिसे मोक्षकी आशा नहीं है, ऐसी आशङ्का कर सम्पूर्ण यौवनोंकी निन्दा नही की जाती, किन्तु दुर्यौवनकी ही निन्दा की जाती है। सुयौवनका तो पुरुषार्थमें ही पर्यवसान होता है, ऐसा लक्षण द्वारा दिखलाते हुए उसकी दुर्लभताको दिखलाते हैं—'विनय०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, विनयसे अलंकृत, साधुओंके आश्रमके समान शान्तिप्रद, करुणापूर्ण और शम, दम आदि विविध गुणोंसे युक्त यौवन इस संसारमें इस मनुष्यजन्ममें भी वैसे ही दुर्लभ है जैसे कि आकाशमें वन। अर्थात् जैसे आकाशमें वनकी स्थिति अतिदुर्लभ है, वैसे ही इस संसारमें विनययुक्त, पूज्य मुनिजनोंमें रहनेवाला, दयासे परिपूर्ण और शम, दम आदि गुणोंसे परिवृत सुयौवन मनुष्यजन्ममें भी अतिदुर्लभ है, फिर अन्य योनियोंमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ४३ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

एकविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १ ॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम् ।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥ २ ॥
इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः ।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥ ३ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

[प्रत्यक्ष नरकसमूहभूत सम्पूर्ण अङ्गोंवालीं तथा मनुष्योंके नरकपातकी हेतु स्त्रियोंकी निन्दा]

जिन स्त्री-शरीरोंमें युवकोंको रमणीयताकी भ्रान्ति होती है, उनके स्वरूपको विवेचनपूर्वक दर्शानेके लिए इस सर्गका आरम्भ करते हैं—'**मांस०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, नस और हड्डियोंके ग्रथनसे शोभित मांसमयी स्त्रीके रथ, गाड़ी आदिके समान चञ्चल शरीररूप पिंजड़ेमें जिसे युवक रमणीय-सा समझते हैं, वह कौन वस्तु है ? अर्थात् कुछ नही है ॥ १ ॥

उक्त अर्थको ही विस्तारसे विशद करते हुए पहले युवकोंको जिन नेत्रोंमें हावभावरूप विलासकी भ्रान्ति होती है, विवेकके होनेपर उन नेत्रोंकी असारता (निन्दनीयता) दिखलाते हैं—'**त्वङ्मांस०**' इत्यादिसे ।

हे प्रियजन, त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजलको अलग करके नेत्रको देखो, यदि वह रमणीय है, तो उसपर आसक्ति करो । यदि रमणीय नहीं है, तो क्यों व्यर्थ ही उसपर मोहित होते हो, अर्थात् नेत्र त्वचा, मांस, रक्त और आंसू इनसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, इन्हींके समुदायका नाम नेत्र है, भला बतलाओ तो, त्वचा आदिमें गर्हितताके सिवा रमणीयता क्या है ? ॥ २ ॥

स्त्रीका शरीर क्या है, उसका कुछ अंश केश है, कुछ अंश रक्त है और कुछ अंश मांस आदि हैं, इन सबमें रम्यता कहां है ? ये सब नितान्त घृणास्पद और हेय हैं, इस कारण विवेकसम्पन्न प्राज्ञ पुरुषको स्त्रीके शरीरसे क्या काम है ? अर्थात् वह उसे निन्दनीय ही समझते हैं, रमणीयताका लेश भी उसमें नहीं देखते ॥ ३ ॥

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ ५ ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवाऽन्धसः ॥ ६ ॥
रक्तमांसास्थिदिग्धानि करभस्य यथा वने ।
तथैवाऽङ्गानि कामिन्यास्तां प्रत्यपि हि को ग्रहः ॥ ७ ॥
आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः ।
मन्ये तदपि नाऽस्त्यत्र मुने मोहैककारणम् ॥ ८ ॥

हे बन्धुगण, बहुमूल्य वस्त्र और कस्तूरी, केसर आदिके लेपसे (उबटन, तेल आदिके मर्दनसे) जो सम्पूर्ण मनुष्योंके शरीर कभी बारबार सुशोभित हुए थे, उन्हें, समय पाकर, गृध्र, शृगाल आदि मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं । यही उनका अन्तिम परिणाम है ॥ ४ ॥

जिस स्तनमण्डलपर सुमेरु पर्वतके शिखरसे बहनेवाले गङ्गाजलके प्रवाहके सदृश मोतियोंके हारकी शोभा देखी गई थी और देखी जाती है, वही स्त्रीस्तन समय पाकर शीघ्र श्मशान-भूमिमें एवं ग्राम और नगरसे दूर निर्जन स्थानोंमें भातके छोटे पिण्डके समान कुत्तोंका ग्रास बनता है ॥ ५,६ ॥

जैसे वनमें चरनेवाले गदहे या ऊँटके अङ्ग रक्त, मांस और हड्डियों द्वारा बने हैं, वैसे ही स्त्रीके अंग भी उन्हीं उपकरणों द्वारा बने हैं, फिर उसीके लिए इतना आग्रह (अधिक आदर) क्यों ? अर्थात् गदहेका शरीर जिस सामग्रीसे बना है, स्त्रीका शरीर भी उसी तुच्छ और घृणित सामग्रीसे बना है, अतः वह भी उक्त जीवोंके समान ही घृणित है ॥ ७ ॥

केवल अविचारसे ही लोगोंने स्त्रीमें रमणीयताकी कल्पना कर रक्खी है, परन्तु मेरे मतसे स्त्रीशरीरमें अविचारजनित रमणीयता भी नहीं है, क्योंकि स्त्रीमें जो रमणीयताकी प्रतीति होती है, उसका कारण एकमात्र मोह है । सीपमें जो चाँदीकी कल्पना होती है, वहांपर सीपरूप अधिष्ठान और अज्ञान दोनों रहते हैं, किन्तु यहांपर अधिष्ठानका अभाव है, अतएव यह केवल अज्ञानजनित ही है ॥ ८ ॥

विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम् ।
को विशेषो विकारिण्या मदिरायाः स्त्रियास्तथा ॥ ९ ॥
ललनालानसंलीना मुने मानवदन्तिनः ।
प्रबोधं नाऽधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥ १० ॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ११ ॥
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ १२ ॥

हे मुनीश्वर, मदसे अनेक प्रकारका आनन्द देनेवाली और पतन, दंगा, फसाद आदि विविध अनर्थ करानेवाली मदिरामें और कामसे विविध आनन्द देनेवाली और स्वयं काम विकारसे युक्त स्त्रीमें क्या अन्तर है ? यह भाव है कि स्त्री काम द्वारा विविध प्रकारके उल्लासोंको देती है, और स्वयं कामविकारसे युक्त रहती है और मदिरा मादकशक्ति द्वारा विविध प्रकारके उल्लासोंको देती है और स्वयं यव आदिके विकारसे या स्खलन, कलह आदि विकारसे युक्त है, इसलिए दोनों समान हैं, अर्थात् जैसे श्रेय चाहनेवाले पुरुषके लिए मदिरा हेय है, वैसे ही स्त्री भी हेय है ॥ ९ ॥

मुनिजी, ललनारूपी आलानमें (हाथीको बांधनेके स्तम्भमें) मदरूपी मोहसे सोये जैसे मनुष्यरूपी हाथी परिपक्क (अंकुश पक्षमें कठोर) शमरूपी अङ्कुशके प्रहारोंसे विवेक (हाथीके पक्षमें जागरण) को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात जैसे बन्धन-स्तम्भमें मदसे सुप्तप्राय हाथी कठोर अङ्कुशके प्रहारोंसे नहीं जागता, वैसे ही स्त्रीके समीप मोहवश सुप्तप्राय मनुष्य तीव्र शम, दम आदिसे विवेकको प्राप्त नही होते ॥ १० ॥

जैसे काजलको धारण करनेवाली, दाहक होनेके कारण छूनेके अयोग्य और नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली अग्निकी ज्वाला तिनकोंको जला डालती है, वैसे ही केश और काजलको धारण करनेवाली, छूनेके अयोग्य, नेत्रोंको सुखदायक (मनोहर) पापरूपी अग्निकी ज्वालारूप स्त्रियाँ मनुष्यको जला डालतीं हैं ॥ ११ ॥

वासनाओंसे पूर्ण होनेके कारण आपाततः सरस मालूम पड़नेवाली लेकिन वास्तवमें तो नीरस यहां स्थित स्त्रियाँ अतिदूरवर्तिनी यमपुरीमें भीषणरूपसे धधक रहीं नरकाग्नियोंकी उत्तम लकड़ियां है ॥ १२ ॥

विकीर्णाकारकबरी तरत्तारकलोचना ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना कुसुमोत्करहासिनी ॥ १३ ॥
लीलाविलोलपुरुषा कार्यसंहारकारिणी ।
परं विमोहनं बुद्धेः कामिनी दीर्घयामिनी ॥ १४ ॥
पुष्पाभिराममधुरा करपल्लवशालिनी ।
भ्रमराक्षिविलासाढ्या स्तनस्तबकधारिणी ॥ १५ ॥

स्त्री लम्बी रात्रिके समान व्यर्थ है। जैसे रात्रिके चारों ओर व्याप्त अन्धकार ही केशोंका जूड़ा है, चंचल तारे ही नेत्र हैं, पूर्ण चन्द्रबिम्ब ही मुख है, विकसित पुष्पराशि ही मन्द हास है, शृङ्गार आदि लीलासे उसमें पुरुष चंचल रहते हैं, सोये रहनेके कारण धर्म, विवेक, वैराग्य आदिका विनाश होता है और वह लोगोंकी बुद्धिको गाढ़ मोहमें डालती है, वैसे ही स्त्रीके भी चारों ओर बिखरे हुए अन्धकारके समान श्याम केशोंका जूड़ा रहता है, चञ्चल कनीनिकाओंसे युक्त नेत्र होते हैं, पूर्ण चन्द्रमाके समान आह्लादक होनेसे अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला मुख रहता है, पुष्पराशिके समान विशद हास रहता है, शृङ्गारादिकी लीलासे पुरुष उसमें विशेषरूपसे सस्पृह रहते हैं, वह धर्म विवेक, वैराग्य आदि कार्योंकी विघातक है और बुद्धिको मोहित करनेमें तो वह बेजोड़ है, अतः सचमुच स्त्री लम्बी रात्रिके समान केवल आयुका ही नाश करती है, उससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ॥ १३,१४ ॥

स्त्री केवल पुरुषार्थका ही नाश नहीं करती, किन्तु अनर्थकारिणी भी है, ऐसा कहते हैं—'पुष्प०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

स्त्री विषकी लताके समान युवावस्थासे रसीली (लताके पक्षमें फूलोंसे मनोहर), हाथरूपी पल्लवोंसे (कल्लोंसे) सुशोभित, भ्रमररूपी नेत्रोंके हावभावसे पूर्ण, स्तबकरूपी स्तनोंको धारण करनेवाली फूलोंके केसरके समान गौर वर्णवाली मनुष्योंकी हत्याके सदृश अधःपतनमें तत्पर और कामोन्मादसे अपना सेवन करनेवाले लोगोंको मूर्छा, मरण आदि विवशताको प्राप्त कराती है। आशय यह है कि जैसे विषकी लता फूलोंसे मनोहर लगती है, नये नये लाल पत्तोंसे सुशोभित रहती है, भँवरोंसे व्याप्त रहती है, फूलोंके गुच्छोंको धारण करती है,

पुष्पकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा ।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा ॥ १६ ॥
सत्कार्योच्छ्वासमात्रेण भुजङ्गदलनोत्कया ।
कान्तयोद्ध्रियते जन्तुः करभ्येवोरगो बिलात् ॥ १७ ॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम् ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्ग बन्धनवागुराः ॥ १८ ॥
ललनाविपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः ।
रतिश्रृङ्खलया ब्रह्मन् बद्धस्तिष्ठति मूकवत् ॥ १९ ॥

फूलोंके केसरसे पीतवर्ण हो जाती है, मनुष्योंको मार डालती है और जो लोग कामजनित उन्मादसे उसका सेवन करते हैं उन्हें मूर्छा या मृत्युके वशमें कर देती है, वैसे ही स्त्री भी युवावस्थासे रसीली, सुन्दर हाथोंसे सुशोभित, भँवरकी भाँति चञ्चल नयनोंके कटाक्ष आदिसे सम्पन्न, गुच्छोंके समान मनोज्ञ स्तनोंको धारण करनेवाली, फूलोंके केसरके समान कांचनवर्णा, मनुष्योंके विनाशके लिए तत्पर है और स्वसेवियोंको मूर्छा, मृत्यु आदिके वशमें कर देती है ॥ १५, १६ ॥

जैसे टुकड़े-टुकड़े करनेकी इच्छावाली रीछन (भालूकी स्त्री) अपनी साँससे बिलमें स्थित साँपको बिलसे निकाल कर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगोंका धन और मन हरकर विनाश करनेके लिए उत्कण्ठित स्त्री दिखावेके लिए किये गये मिथ्याभूत सत्कार द्वारा आश्वासन देकर मनुष्यको अपने वशमें कर लेती है ॥१७॥

हे मुनिश्रेष्ठ, कामरूपी व्याधने मूढबुद्धि मनुष्यरूपी पक्षियोंको फसानेके लिए स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खे हैं, अर्थात् जैसे व्याध दाना चरनेके लिए लालायित पक्षियोंको फँसानेक लिए जाल बिछाते हैं, वैसे ही कामदेवने मूढमति (सांसारिक असत् विषयोंको सच समझनेवाले) लोगोंको फँसानेके लिए स्त्रियां, जालकी नाई, इधर उधर बिखरे रक्खी हैं ॥ १८ ॥

स्त्रीरूपी विशाल आलानमें (हाथीको बांधनेके खूँटेमें) रतिरूपी (प्रेमरूपी) जंजीरसे बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगेके समान चुपचाप बैठा रहता है, अर्थात् असमर्थ होनेके कारण अपने छुटकारेके लिए किसी उपायका अवलम्बन नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां वित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥ २० ॥
मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम् ।
पुंसा मन्त्र इवाऽहीनां बन्धनं वामलोचना ॥ २१ ॥
नानारसवती चित्रा भोगभूमिरियं मुने ।
स्त्रियमाश्रित्य संयाता परामिह हि संस्थितिम् ॥ २२ ॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २३ ॥
किं स्तनेन किमक्ष्णा वा किं नितम्बेन किं भ्रुवा ।
मांसमात्रैकसारेण करोम्यहमवस्तुना ॥ २४ ॥

दुष्ट वासनारूप रस्सीसे बँधी हुई स्त्री धनरूपी कीचड़में विचरनेवाले संसाररूपी छोटे तालाबके मछलीरूप पुरुषोंको फँसानेके लिए बंसीमें (मछलियोंको पकड़नेके कांटेमें) लगी हुई आटेकी गोली है। अर्थात् जैसे मछुवेकी वंसीमें लगी गोली कीचड़में इधर उधर चलनेवालीं छोटे बरसाती तालाबकी मछलियोंको बन्धनमें डालकर मरवा देती है, वैसे ही दुर्वासनासे पूर्ण नारी धनलोलुप संसारी पुरुषोंको बन्धनमें डालकर नष्ट कर देती है। 'चित्तकर्दमचारिणाम्' इस पाठमें चित्तके वशीभूत—यह अर्थ करना चाहिये ॥ २० ॥

जैसे घोड़ोंके लिए अश्वशाला बन्धन है, हाथियोंके लिए आलान बन्धन है और साँपोंके लिए मन्त्र बन्धन है, वैसे ही पुरुषोंके लिए नारी बन्धन है ॥२१॥

हे मुनिवर, विविध रसोंसे पूर्ण भोगकी भूमि यह विचित्र पृथिवी स्त्रियोंके ही सहारे दृढ़ स्थितिको प्राप्त हुई है, इस संसारकी हेतु स्त्री ही है, यदि स्त्री न होती, तो संसार कभीका विलीन हो गया होता ॥ २२ ॥

दुःखरूपी सांकलसे युक्त सम्पूर्ण दोषरूपी रत्नोंकी पेटी (सन्दूक) रूप स्त्रीसे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। स्त्री दोषरूपी रत्नोंको रखनेके लिए सन्दूक है और दुःख उसमें ताला बन्द करनेके लिए जंजीर है, अतएव दुःखमय और दोषमय स्त्रीकी भला किस विवेकीको इच्छा होगी, यह भाव है ॥ २३ ॥

स्त्रीके मांसमय स्तन, नेत्र, नितम्ब (कमरका पिछला उभरा हुआ भाग) और भौंहोंसे मैं क्या करूँ ? वे सब अतितुच्छ हैं, केवल मांस जैसी घृणित वस्तुसे बने हैं ॥ २४ ॥

इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः ।
ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्री विशरारुताम् ॥ २५ ॥
यास्तात पुरुषैः स्थूलैर्लालिता मनुजैः प्रियाः ।
ता मुने प्रविभक्ताङ्ग्यः स्वपन्ति पितृभूमिषु ॥ २६ ॥
यस्मिन् घनतरस्नेहं मुखे पत्राङ्कुराः स्त्रियः ।
कान्तेन रचिता ब्रह्मन् पीयते तेन जङ्गले ॥ २७ ॥
केशाः श्मशानवृक्षेषु यान्ति चामरलेखिकाम् ।
अस्थीन्युडुवदाभान्ति दिनैरवनिमण्डले ॥ २८ ॥
पिबन्ति पांसवो रक्तं क्रव्यादाश्चाऽप्यनेकशः ।
चर्माणि च शिवा भुङ्क्ते खं यान्ति प्राणवायवः ॥ २९ ॥
इत्येषा ललनाङ्गानामचिरेणैव भाविनी ।
स्थितिर्मया वः कथिता किं भ्रान्तिमनुधावथ ॥ ३० ॥

ब्रह्मन् , स्त्रीके किसी भागमें मांसकी अधिकता है, किसी भागमें खून अधिक है और कहींपर हड्डियां प्रचुरमात्रामें है, ऐसे घृणित उपादानोंसे उसका निर्माण हुआ है, वह भी चिर कालतक रहे सो बात नहीं है, किन्तु थोड़े ही दिनोंमें वह जीर्ण-शीर्ण हो जाती है ॥ २५ ॥

पूज्यवर, जिन्हें अदूरदर्शी पुरुषोंने बड़े लाड़-प्यारसे पाला-पोसा वे प्रियतमाएँ समय पाकर श्मशानमें छिन्न-भिन्न होकर सोती हैं, अर्थात् कहीं उनका सिर पड़ा है, तो कहीं हाथ पड़े हैं, कही पैर पड़े हैं और कहीं दूसरे अंग ॥ २६ ॥

ब्रह्मन्, प्रियाके जिस मुखमें प्रियतम पतिने बड़े प्रेमसे कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दन आदिसे भांतिके तिलक आदि बनाये थे, वही मुख थोड़े दिनोंमें निर्जन वनमें सूखता है ॥ २७ ॥

उनके सिरके बाल राखसे धूसर होनेके कारण श्मशानके वृक्षोंमें चँवर ऐसे मालूम पड़ते हैं और उनकी मांस और रक्तसे शून्य सफेद हड्डियां पृथिवीमें तारोंके समान चमचमाती मालूम होती हैं ॥ २८ ॥

उनके शरीरके रक्तको धूलि सुखाती है और मांसाहारी जीव भी झुण्डके-झुण्ड उनपर टूटते हैं, उनके चामको शृगाल नोच-नोचकर खाते हैं और उनका प्राणवायु आकाशमें चला जाता है ॥ २९ ॥

हे संसारस्थित लोगों, स्त्रीके अंगोंका थोड़े ही कालमें होनेवाला यह

भूतपञ्चकसंघट्टसंस्थानं ललनाभिधम् ।
रसादभिपतत्वेतत्कथं नाम धियाऽन्वितः ॥ ३१ ॥
शाखाप्रतानगहना कट्वम्लफलमालिनी ।
सुतालोत्तालतामेति चिन्ता कान्तानुसारिणी ॥ ३२ ॥
कान्दिग्भूततया चेतो घनगर्द्धान्धमाकुलम् ।
परं मोहमुपादत्ते यूथभ्रष्टमृगो यथा ॥ ३३ ॥
शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः ।
निबद्धः करिणीलोलो विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ ३४ ॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ ३५ ॥

परिणाम मैंने आप लोगोंसे कहा, उसमें आप लोग क्यों भ्रान्ति कर रहे हैं ? ऐसे नाशवान् स्त्रीके शरीरकी सुन्दरता और सत्यताका भ्रम निर्मूल है ॥ ३० ॥

स्त्री क्या है ? पांच भूतोंके समुदायसे बना हुआ अंगोंका संगठन ही स्त्री है। तनिक भी विवेक-बुद्धिवाला पुरुष रागका वशवर्ती होकर उसपर कैसे आसक्त हो सकता है, अर्थात् जो अज्ञानी हैं, वे भले ही उसे सत् या उपादेय समझें, पर ज्ञानी उसको कैसे उपादेय समझेगा ॥ ३१ ॥

जैसे शाखा-प्रशाखासे जटिल, बहुतसे कड़ुवे (कच्चे) और खट्टे (सूखे) फलोंसे लदी हुई सुतालालता (एक प्रकारकी जंगली लता) बड़ी ऊँचाई तक फैलती है, वैसे ही मनुष्योंकी कान्तानुसारिणी (स्त्रीके कारण होनेवाली) चिन्ता अनेक प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त होती है, कड़ुवे (पारलौकिक दुःख) और खट्टे (कुछ सुखसे मिश्रित ऐहिक दुःख) फलोंसे पूर्ण होती हुई बहुत बड़े विस्तारको प्राप्त होती है ॥ ३२ ॥

जैसे अपने यूथसे बिछुड़ा हुआ हाथी मोहको प्राप्त होता है (किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है), वैसे ही उक्त चिन्तासे व्याकुल अतएव उत्कट धनाभिलाषासे अन्ध कहाँ जाऊँ, कहाँ धन मिलेगा, यों चिन्ताग्रस्त होकर मनुष्य अत्यन्त मोहको प्राप्त होता है ॥३३॥

जैसे हथिनीको चाहनेवाला (हस्तिनीपर आसक्त) हाथी विन्ध्याचलके गड्ढेमें (हाथियोंको पकड़नेके लिए बनाये गये गड्ढेमें) बाँधा जाता है, वैसे ही स्त्री-लम्पट पुरुष वध, बन्धनरूप बड़ी शोचनीय अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

जिसकी स्त्री है, उसको भोगकी इच्छा होती है, जिसकी स्त्री नहीं है, उसे

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु नाऽहमलिपक्षतिचञ्चलेषु ।
ब्रह्मन् रमे मरणरोगजरादिभीत्या शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
स्त्रीजुगुप्सानामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

—○—

द्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात् पिबति यौवनम् ।
यौवनं च जरा पश्चात् पश्य कर्कशतां मिथः ॥ १ ॥

भोगकी संभावना ही कहॉ है, स्त्रीका यदि त्याग कर दिया तो जगत्‌का त्यागकर दिया, जगत्‌का त्याग करके सुखी होवे ॥ ३५ ॥

ब्रह्मन्, आपाततः (विचारके बिना) भले प्रतीत होनेवाले, भँवरके परोंकी जड़के समान चञ्चल और जिनसे निस्तार होना बड़ा कठिन है, ऐसे भोगोंकी, जन्म, मरण बुढ़ापा आदिके भयसे, मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है, मै इनसे विरत होता हूँ और ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे कि मुझे परम पद प्राप्त हो जाय ॥३६॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

—○—

बाईसवाँ सर्ग

[शोक, मोह, इष्टवियोगका दु ख, रोग आदिसे परिपूर्ण तथा चिन्ता और तिरस्कारके घर वृद्धावस्थाकी निन्दा]

युवावस्थामें काम आदि दोष बड़े प्रबल रहते हैं, इसलिए युवकको भले ही सुख न हो, किन्तु वृद्धावस्थामें काम आदि दोषोंके शान्त हो जानेपर एवं विनीत पुत्र, पौत्र आदि द्वारा घरमें सेवा होनेपर वृद्धको तो अति आनन्द होता है, ऐसी शङ्का कर वृद्धावस्थामें अनन्त दुःखोंका विस्तारसे वर्णन करनेकी इच्छासे पहले 'अपने बच्चोंका नाश करनेवाले साँपोंको दूसरेके बच्चोंपर दया कैसे हो सकती है' इस न्यायसे वृद्धावस्था अति कठोर है, यह कहते हैं—'**अपर्याप्तम्**' इत्यादिसे ।

हिमाशनिरिवाऽम्भोजं वात्येव शरदम्बुकम् ।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ २ ॥
जर्जरीकृतसर्वाङ्गी जरा जरठरूपिणी ।
विरूपतां नयत्याऽऽशु देहं विषलवो यथा ॥ ३ ॥
शिथिलादीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम् ।
समं पश्यन्ति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा ॥ ४ ॥
अनायासकदर्थिन्या गृहीते जरसा जने ।
पलाय्य गच्छति प्रज्ञा सपत्न्येवाऽऽहताऽङ्गना ॥ ५ ॥

खेल-कूद, कौतूहल आदिकी अभिलाषाके पूर्ण न होनेपर ही युवावस्था आकर जबर्दस्ती बाल्यावस्थाको निगल जाती है, तदुपरान्त स्त्री-संभोग आदिकी इच्छाकी पूर्ति न होनेपर ही वृद्धावस्था आकर युवावस्थाकी स्वाहा कर देती है, अतः इन दोनोंकी (युवावस्था और वृद्धावस्थाकी) परस्पर कठोरताको देखिये । अर्थात् उसी शरीरमें होनेवाली बाल्यावस्थाको यौवन निगल गया अतएव यौवन कठोरतर हुआ, उक्त कठोरतर यौवनको निगलनेवाली वृद्धावस्था कठोरतम न होगी, तो क्या होगी ? ॥ १ ॥

पामर लोगोंके परम प्रेमपात्र विषयसुखके गृहभूत शरीरको ही जो वृद्धावस्था नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, उसमें सुखकी आशा कहां ? ऐसा कहते हैं—**'हिमाशनि०'** इत्यादिसे ।

जैसे तुषाररूपी वज्र कमलोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जैसे आँधी शरदऋतुकी ओसको (पत्तोंके सिरेपर लटक रहे जलकणको) नष्ट कर देती है और जैसे नदी तटके वृक्षको उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीरको नष्ट कर डालती है ॥२॥

यदि विषका छोटा-सा टुकड़ा खा लिया जाय, तो वह जैसे थोड़ी देरमें देहको कुरूप कर देता है, वैसे ही अङ्ग-प्रत्यङ्गको शिथिल करनेवाली एवं वृद्धकेसे स्वरूपवाली वृद्धावस्था देहको शीघ्र (आते ही) कुरूप कर देती है । यदि वृद्धावस्था स्वयं वृद्धरूप न होती, तो अन्योंको वृद्धरूप कैसे करती, ऐसा तर्क करके श्लोकमें जरठरूपिणी कहा है ॥ ३ ॥

जिनके सब अङ्ग शिथिल और छिन्नभिन्न हो गये हैं और वृद्धावस्थासे शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसे सभी पुरुषोंको स्त्रियां ऊँटके समान समझती हैं ॥ ४ ॥

अनायास दीनताको प्राप्त करानेवाली वृद्धावस्था जब मनुष्यको पकड़ती है

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम् ॥ ६ ॥
दुष्प्रेक्ष्यं जरठं दीनं हीनं गुणपराक्रमैः ।
गृध्रो वृक्षमिवाऽऽदीर्घं गर्द्धो ह्यभ्येति वृद्धकम् ॥ ७ ॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी ।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥ ८ ॥
कर्त्तव्यं किं मया कष्टं परत्रेत्यतिदारुणम् ।
अप्रतीकारयोग्यं हि वर्द्धते वार्द्धके भयम् ॥ ९ ॥
कोऽहं वराकः किमिव करोमि कथमेव च ।
तिष्ठामि मौनमेवेति दीनतोदेति वार्द्धके ॥ १० ॥

तब सौतसे तिरस्कृत (पीटी गई) स्त्रीके समान बुद्धि भागकर कहीं अन्यत्र चली जाती है ॥ ५ ॥

नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियां, बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी सभी लोग वृद्धावस्थासे काँप रहे मनुष्यका घृणित उन्मत्त पुरुषकी नाईं उपहास करते हैं ॥६॥

जैसे गृध्र फलयुक्त शाखा और टहनियोंके फैलावके कारण अन्य पक्षियोंके आक्रमणसे रहित अति उन्नत पुराने वृक्षपर आता है, वैसे ही कुरूप, वृद्ध, गुण और सामर्थ्यसे शून्य अतएव दीन वृद्ध पुरुषमें बड़ी अभिलाषा आती है ॥ ७ ॥

दीनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, हृदयमें सन्ताप पहुँचानेवाली और सम्पूर्ण आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी बड़ी भारी तृष्णा वृद्धावस्थामें बढती जाती है ॥८॥

खेद है, परलोकमें मै क्या करूँगा, इस प्रकारका अतिभीषण भय, जिसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता, वृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है ॥ ९ ॥

हे महर्षे, मै कौन हूँ, बड़ा दुःखी-दीन हूँ, मै क्या करूँ, कैसे करूँ, अच्छा चुपचाप मौन ही रहूँ, ऐसी दीनता वृद्धावस्थामें प्राप्त होती है अर्थात् वृद्धावस्थामें मै दुःखी हूँ, मै अकर्मण्य हूँ, मैं नितान्त हेय और तुच्छ हूँ, मै क्या करूँ, मुझमे सामर्थ्य ही क्या है, किस प्रकार मैं अपना जीवननिर्वाह करूँ, मेरा बोलनेसे क्या प्रयोजन है, अच्छा, मै मौन ही रहता हूँ, इत्यादि प्रकारकी दीनता उदित होती है ॥ १० ॥

कथं कदा मे किमिव स्वादु स्याद्भोजनं जनात्।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके ॥ ११ ॥
गर्द्धोऽभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते ।
हृदयं दह्यते नूनं शक्तिदौःस्थ्येन वार्द्धके ॥ १२ ॥
जराजीर्णबकी यावत् कायक्लेशापकारिणी ।
रौति रोगोरगाकीर्णा कायद्रुमशिरःस्थिता ॥ १३ ॥
तावदागत एवाऽऽशु कुतोऽपि परिदृश्यते ।
घनान्ध्यतिमिराकाङ्क्षी मुने मरणकौशिकः ॥ १४ ॥
सायंसन्ध्यां प्रजातां वै तमः समनुधावति ।
जरां वपुषि दृष्ट्वैव मृतिः समनुधावति ॥ १५ ॥
जराकुसुमितं देहद्रुमं दृष्ट्वैव दूरतः ।
अभ्यापतति वेगेन मुने मरणमर्कटः ॥ १६ ॥

वृद्धावस्थामें, अपने आत्मीय जनोंसे मुझे किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होगा, ऐसी चिन्तारूपी दूसरी जरा सदा चित्तको जलाती रहती है ॥ ११ ॥

वृद्धावस्थामें भोजनकी शक्ति होनेपर पचानेकी अशक्ति पचानेकी शक्ति होनेपर भोजनकी अशक्ति इत्यादि शक्तिह्राससे भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, पर उपभोग नही किया जा सकता और हृदय सदा जलता रहता है ॥ १२ ॥

मुनिवर, जब विविध दुःखोंसे शरीरका अपकार करनेवाली, रोगरूपी साँपोंसे व्याप्त वृद्धावस्थारूपी जीर्ण बगुली शरीररूपी वृक्षकी चोटीपर बैठकर बासती है, उसी समय निबिड़ मूर्च्छारूपी अन्धकारको चाहनेवाला मृत्युरूपी उल्लू झटपट कहींसे आया हुआ ही दिखाई देता है ॥ १३, १४ ॥

जैसे सायंकालकी सन्ध्याके उत्पन्न होनेपर अन्धकार उसके पीछे दौड़ता है अर्थात् सायंकाल होनेके अनन्तर अन्धकार इधर-उधर व्याप्त हो जाता है, वैसे ही शरीरमें वृद्धावस्थाको देखकर ही काल लेनेके लिए समीपमें दौड़ कर आता है ॥१५॥

मुनिश्रेष्ठ, वृद्धावस्थासे कासकी नाईं फूला हुआ (सफेद केश और मोछ-दाढ़ीसे युक्त) देहरूपी वृक्षको दूरसे ही देखकर कालरूपी बन्दर बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़ता है अर्थात् जैसे फूलोंसे युक्त वृक्षको दूरसे ही देखकर बन्दर उसकी ओर दौड़ता है, वैसे ही वृद्धावस्थासे सफेद हुए शरीरकी ओर काल दौड़ता है ॥१६॥

शून्यं नगरमाभाति भाति च्छिन्नलतो द्रुमः ।
भात्यनावृष्टिमान् देशो न जराजर्जरं वपुः ॥ १७ ॥
क्षणान्निगरणायैव कासक्वणितकारिणी ।
गृध्रीवाऽऽमिषमादत्ते तरसैव नरं जरा ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव सोत्सुकेवाऽऽशु प्रगृह्य शिरसि क्षणम् ।
प्रलुनाति जरा देहं कुमारी कैरवं यथा ॥ १९ ॥
सीत्कारकारिणी पांसुपरुषा परिजर्जरम् ।
शरीरं शातयत्येषा वात्येव तरुपल्लवम् ॥ २० ॥
जरसोपहतो देहो धत्ते जर्जरतां गतः ।
तुषारनिकराकीर्णपरिम्लानाम्बुजश्रियम् ॥ २१ ॥

निर्जन नगरकी यथा कथंचित् कुछ शोभा हो भी सकती है, जिसकी सबकी-सब लताएँ कट चुकी हैं, वह वृक्ष भी कुछ शोभित हो सकता है, अनावृष्टिसे पीड़ित देशकी भी कुछ न कुछ शोभा हो सकती है, मगर वृद्धावस्थासे जर्जरित शरीरकी कुछ भी शोभा नही है, अर्थात् वह इन सब दृष्टान्तोंसे बढकर अभद्र है ॥१७॥

जैसे शब्द करनेवाली गृध्री निगलनेके ही लिए शीघ्र मांसके टुकड़ेको पकड़ लेती है, वैसे ही खांसीरूप शब्द करनेवाली वृद्धावस्था मनुष्यको निगलनेके लिए ही वेगसे पकड़ लेती है ॥ १८ ॥

जैसे बालिका उत्सुकताके साथ देखकर और सिर पकड़कर कमलके फूलको तोड़ लेती है, वैसे ही वृद्धावस्था भी बड़ी उत्सुकताके साथ देखकर और सिर पकड़कर देहको काट देती है, नष्टकर देती है ॥ १९ ॥

जैसे धूलिके कणोंसे कठोर और सी-सी कार करानेवाली (सी-सी शब्द करनेवाली) शिशिर ऋतुकी तेज वायु वृक्षके पल्लवोंको धूलिसे ध्वस्तकर छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही शरीरमें कम्प करानेवाली रूसीसे कठोर यह वृद्धावस्था शरीरको नष्ट कर देती है ॥ २० ॥

वृद्धावस्थासे तहस-नहस और जर्जरित शरीर तुषार (हिम) के कणोंसे व्याप्त अतएव म्लान (मुरझाये हुए) कमलकी समताको धारण करता है अर्थात् जैसे हिम-समूहसे आक्रान्त कमल मुरझा जाता है वैसे ही वृद्धावस्थासे आक्रान्त शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २१ ॥

जरा ज्योत्स्नोदितैवेयं शिरःशिखरिपृष्ठतः ।
विकासयति संरब्धं वातकासकुमुद्वती ॥ २२ ॥
परिपक्वं समालोक्य जराक्षारविधूसरम् ।
शिरःकूष्माण्डकं भुङ्क्ते पुंसां कालः किलेश्वरः ॥ २३ ॥
जराजह्नुसुतोद्युक्ता मूलान्यस्य निकृन्तति ।
शरीरतीरवृक्षस्य चलत्यायुषि सत्वरम् ॥ २४ ॥
जरामार्जारिका भुङ्क्ते यौवनाखुं तथोद्धता ।
परमुल्लासमायाति शरीरामिषगर्द्धिनी ॥ २५ ॥
काचिदस्ति जगत्यस्मिन्नाऽमङ्गलकरी तथा ।
यथा जराऽऽक्रोशकरी देहजङ्गलजम्बुकी ॥ २६ ॥

यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी सिररूपी पर्वतके शिखरसे उदित होते ही वातरोग और कासरोगरूपी कुईको बड़े प्रयत्नसे विकसित करती है अर्थात् जैसे उदयाचलसे उदित होते ही चाँदनी यत्नपूर्वक कुईको विकसित करती है वैसे ही प्रथम सिरमें आविर्भूत हुई वृद्धावस्था वातरोग और खाँसीको खूब बढ़ा देती है ॥२२॥

भगवन्, कालरूपी स्वामी वृद्धावस्थारूपी लवणादि चूर्णसे धूसर पुरुषोंके सिररूपी कूष्माण्डको पका हुआ जानकर खा जाता है अर्थात् जैसे स्वामी (कृषक या अन्य कोई गृहस्थ, यतः वही उसको पैदा करता है, अतः वह स्वामी है) क्षार चूर्णसे धूसर कोहड़ेको पका हुआ जानकर खा जाता है, वैसे ही काल भी मनुष्योंके सिरको वृद्धावस्थासे सफेद हुआ देखकर खा जाता है ॥ २३ ॥

आयुरूपी प्रवाहके शीघ्र चलनेपर वृद्धावस्थारूपी गङ्गा लगातार प्रयत्नपूर्वक इस शरीररूपी तटवृक्षकी जड़ोंको काट डालती है, अर्थात् जैसे प्रवाहवेग होनेपर गङ्गा तीरस्थित वृक्षकी जड़ोंको काटकर उसे गिरा देती है, वैसे ही आयुके पूर्ण होनेपर वृद्धावस्था लगातार शरीरकी जड़ों (शरीरके आधार बल आदि) को काटकर उसे गिरा देती है ॥ २४ ॥

पहले वृद्धावस्थारूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहेको खाती है, फिर उद्धत होकर उसे शरीरका मांस खानेकी इच्छा हो जाती है, तब तो उसकी उद्दण्डताका ठिकाना नहीं रहता ॥ २५ ॥

इस संसारमें ऐसी अमङ्गलकारिणी कोई नहीं है, जैसी कि रोदन करनेवाली

कासश्वासससीत्कारा दुःखधूमतमोमयी ।
जराज्वाला ज्वलत्येषा यस्याऽसौ दग्ध एव हि ॥ २७ ॥
जरसा वक्रतामेति शुक्लावयवपल्लवा ।
तात तन्वी तनुर्नृणां लता पुष्पानता यथा ॥ २८ ॥
जराकर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम् ।
मुने मरणमातङ्गो नूनमुद्धरति क्षणात् ॥ २९ ॥
मरणस्य मुने राज्ञो जरा धवलचामरा ।
आगच्छतोऽग्रे निर्याति स्वाधिव्याधिपताकिनी ॥ ३० ॥

(शब्द करनेवाली) देहरूपी जंगलकी शृगाली यह वृद्धावस्था है अर्थात् जैसे जंगलकी शृगालीके वासनेसे अमङ्गल होता है वैसा किसीसे नहीं होता । यह वृद्धावस्था भी ठीक सियारिनके समान है, यह भी रोदन करनेवाली है और सबसे बढ़कर दुःखदायिनी है ॥ २६ ॥

खाँसी और साँसके साँय-साँय शब्दसे युक्त दुःखरूपी धूम और कारिखसे पूर्ण यह वृद्धावस्थारूपी ज्वाला जलती है, जिसने इस देहको जला ही डाला अर्थात् गीली लकड़ियोंके जलनेपर ज्वाला सीं-सीं शब्द करती है और उसमें धुँआ और कारिख भी रहती है, अतएव जैसे सीं-सीं शब्दसे युक्त और धूममय और कारिखपूर्ण ज्वाला काष्ठको जला देती है वैसे ही कास, श्वासकी साँय-साँयसे युक्त और दुःखमय* यह वृद्धावस्था भी देहको जला देती है ॥२७॥

जैसे सफेद पल्लववाली और फूलोंसे लदी हुई छोटी लता, फूलोंके बोझको न सह सकनेके कारण, टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही सफेद सम्पूर्ण अंगोंसे युक्त मनुष्योंका छोटा-सा शरीर वृद्धावस्थासे टेढ़ा हो जाता है ॥ २८ ॥

वृद्धावस्थारूपी कपूरसे सफेद देहरूपी केलेके पेड़को कालरूपी हाथी निःसन्देह एक क्षणमें उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् जैसे कपूरसे सफेद केलेके पेड़को हाथी अनायास उखाड़कर फेंक देता है वैसे ही मृत्यु भी वृद्धावस्थासे सफेद देहको निस्सन्देह क्षणभरमें उखाड़कर फेंक देती है ॥ २९ ॥

पीछेसे आनेवाले मृत्युरूपी राजाकी वृद्धावस्थारूपी सफेद चँवरोसे युक्त

* वृद्धावस्थामें नेत्रोंकी ज्योतिके कुछ कम क्षीण होनेपर धूममय प्रकाश दिखाई देता है और बहुत अधिक क्षीण होनेपर अन्धकार हो जाता है, अत धूममय और अन्धकारमय विशेषण भी जरामे लग सकते हैं ।

न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे ।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याऽऽशु विजिता मुने ॥ ३१ ॥
जरातुषारवलिते शरीरसदनान्तरे ।
शक्नुवन्त्यक्षशिशवः स्पन्दितुं न मनागपि ॥ ३२ ॥
दण्डतृतीयपादेन प्रस्खलती मुहुर्मुहुः ।
कासाधोवायुमुरजा जरा योषित् प्रनृत्यति ॥ ३३ ॥
संसारसंसृतेरस्या गन्धकुड्यां शिरोगता ।
देहयष्ट्यां जरानाम्नी चामरश्रीर्विराजते ॥ ३४ ॥

चिन्ता-व्याधिरूपी अपनी निजी सेना पहले निकलती है । अर्थात् जैसे कोई राजा जब कहीं जाता है, तब चँवरसे युक्त उसकी सेना पहले निकलती है वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥ ३० ॥

मुनिवर, बड़े धैर्यसे दुर्गम पहाड़ोंकी खोहोंमें बैठे हुए जिन लोगोंको रणमें शत्रु नहीं हरा सके, उन्हें भी वृद्धावस्थारूपी वृद्ध राक्षसीने शीघ्र हरा दिया, यह आश्चर्य देखिये ॥ ३१ ॥

वृद्धावस्थारूपी हिमसे संकुचित (चारों ओर हिमसे पूर्ण हो जानेके कारण कम अवकाशवाले) शरीररूपी गृहके मध्यमें इन्द्रियरूपी बच्चे तनिक भी हिलने-डुलनेको समर्थ नहीं हो सकते अर्थात् जैसे हिमसे परिपूर्ण घरके अन्दर बालक इधर-उधर चल-फिर नहीं सकते, वैसे ही वृद्धावस्थासे पूर्ण शरीरमें इन्द्रियाँ अपना कुछ भी व्यापार नहीं कर सकतीं ॥ ३२ ॥

लट्ठीरूपी तीसरे पैरसे युक्त, बारबार लड़खड़ा रही तथा खाँसी और अपान वायुरूपी मुरजसे (पखावजसे) युक्त वृद्धावस्थारूपी स्त्री नाच कर रही है ॥ ३३ ॥

गन्ध अर्थात् रागद्वेष आदिसे चित्तको (दूसरे पक्षमें सभाको) वासित करनेवाला विषयभोग (और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ) इस संसाररूपी राजाके व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाली और विषयभोगकी कुटी (आश्रय) देहरूपी यष्टिके सिरपर बैठी हुई वृद्धावस्था नामक चँवरशोभा विराजमान है अर्थात् जैसे राजाके व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाली और कस्तूरी आदि सुगन्धि पदार्थोंको रखनेकी यष्टिके ऊपर स्थित चामरश्री अपने अनुपम सौन्दर्य, सुगन्धि और मन्द-मन्द वायुके प्रसारसे शोभित होती है, वैसे ही विषयभोगकी आश्रयभूत इस देहमें सिरपर बैठी हुई जरा भी शोभित होती है ॥ ३४ ॥

जराचन्द्रोदयसिते शरीरनगरे स्थिते ।
क्षणाद् विकासमायाति मुने मरणकैरवम् ॥ ३५ ॥
जरासुधालेपसिते शरीरान्तःपुरान्तरे ।
अशक्तिरार्तिरापच्च तिष्ठन्ति सुखमङ्गनाः ॥ ३६ ॥
अभावोऽग्रेसरी यत्र जरा जयति जन्तुषु ।
कस्तत्रेह समाश्वासो मम मन्दमतेर्मुने ॥ ३७ ॥
किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण जरागतेनाऽपि हि जीव्यते यत् ।
जरा जगत्यामजिता जनानां सर्वैषणास्तात तिरस्करोति ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
जराजुगुप्सानामद्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

मुनीश्वर, वृद्धावस्थारूपी चन्द्रोदयसे शुभ्र (सफेद और प्रकाशमय) शरीर-रूपी नगरमें स्थित जीविताशारूप तालाबमें मृत्युरूपी कुई क्षणभरमें विकासको प्राप्त होती है अर्थात् जैसे चन्द्रमाके उदित होनेसे प्रकाशमय नगरमें स्थित तालाबमें कुई शीघ्र विकसित हो जाती है, वैसे ही वृद्धावस्थासे सफेद हुए शरीरमें स्थित जीविताशामें शीघ्र मृत्युका आविर्भाव हो जाता है ॥ ३५ ॥

वृद्धावस्थारूपी चूनेके लेपसे (पुताईसे) शुभ्र शरीररूपी अन्तःपुरके (रनवासके) भीतर अशक्ति (सामर्थ्यका अभाव), पीड़ा और आपत्तिरूपी महिलाएँ बड़े चैनसे रहती हैं ॥ ३६ ॥

जिन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चारप्रकारके शरीरोंमें पहले वृद्धावस्था आक्रमण करती है और उसके आगे मृत्यु अवश्य आनेवाली है, उन्हीं शरीरोंमें से एक इस शरीरमें (उन शरीरोंके ही सजातीय इस शरीरमें) मुझ अतत्त्वज्ञका क्या विश्वास हो सकता है ? पहले वृद्धावस्थाका तदन्तर मृत्युका ग्रास होनेवाले इस शरीरमें मेरी तनिक भी आस्था नहीं है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

हे तात, जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी बना रहता है, उस दुष्ट जीवनके दुराग्रहसे (दुरभिलाषासे) क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं, वह व्यर्थ ही है क्योंकि वृद्धावस्था इस पृथिवीमें मनुष्योंकी सम्पूर्ण एषणाओंका तिरस्कार कर देती

त्रयोविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः ।
भेदैरुद्धुरतां नीतः संसारकुहरे भ्रमः ॥ १ ॥

है अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर कोई भी पुरुष अपनी किसी इच्छाको पूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए दुःखप्रद दुष्ट जीवनकी दुराग्रहपूर्वक इच्छा करना निष्फल ही है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

[प्राणियोंके पुण्य और पापके बलसे उत्कृष्ट अपनी चेष्टाओं द्वारा प्राणियोंसे कर्म करा रहे कालका वर्णन]

इस प्रकार भोग्य श्री, भोगतृष्णा और भोगकालके—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाके—दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कर और ये अन्तमें केवल असीम दुःखके ही कारण होते हैं, ऐसा उपपादन कर श्रीरामचन्द्रजीने ऐहिक और पारलौकिक पदार्थ और उनके फलोंमें अपना वैराग्य दर्शाया । अब काम आदिके स्वभावके वर्णन द्वारा नित्य और अनित्य पदार्थोंका विवेक दर्शानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'विकल्प०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, मेरी यह भोग्य वस्तु है, मैं इसका भोग करनेवाला हूँ, ये भोगके उपकरण हैं, इस उपकरणसे (साधनसे) इस वस्तुको हस्तगत कर मैं चिरकालतक इसका भोग करूँगा, मेरा यह मनोरथ आज पूर्ण हो गया, मुझे आशा है कि इस दूसरे मनोरथको भी मैं शीघ्र प्राप्त कर लूँगा इत्यादि असङ्ख्य मानसिक सङ्कल्प-विकल्पों द्वारा अनन्त व्यावहारिक वचनोंसे पूर्ण एवं तुच्छ शरीरमें आत्मबुद्धि करनेवाले या अल्प वैषयिक सुखमें पुरुषार्थ-बुद्धि करनेवाले मूढ़जनोंने शत्रु, मित्र, उदासीन आदि भेदोंसे, हेय, उपादेय और उपेक्षणीय आदि भेदोंसे और तत्प्रयुक्त राग-द्वेषादिभेदोंसे संसाररूपी छिद्रमें अन्यथाग्रहरूपी भ्रमको दुरुच्छेद्य बना दिया है ॥ १ ॥

सतां कथमिवाऽऽस्थेह जायते जालपञ्जरे ।
बाला एवाऽत्तुमिच्छन्ति फलं मुकुरबिम्बितम् ॥ २ ॥
इहाऽपि विद्यते येषां पेलवा सुखभावना ।
आखुस्तन्तुमिवाऽशेषं कालस्तामपि कृन्तति ॥ ३ ॥
न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः ।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ॥ ४ ॥
समस्तसामान्यतया भीमः कालो महेश्वरः ।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥
महतामपि नो देवः प्रतिपालयति क्षणम् ।
कालः कवलितानन्तविश्वो विश्वात्मतां गतः ॥ ६ ॥

जालके समान दूरसे ही आकृष्ट कर बाँधनेवाले विषयों तथा पिंजड़ेके समान परिच्छिन्न स्थानमें बाँधनेवाले देहके समूहरूप इस अवस्तुभूत संसारमें विवेकियोंको कैसे आदर हो सकता है ? दर्पणमें प्रतिबिम्बित फलको बालक ही खानेकी इच्छा करते हैं, विवेकी नहीं । भाव यह है कि जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित फलको खानेकी इच्छा करना मूर्खता है, वैसे ही अवस्तुभूत इस संसारमें आस्था करना मूर्खता ही है ॥ २ ॥

इस प्रकारके अवस्तुभूत संसारमें जिनको क्षुद्र सुखकी आशा होती है, उनकी उस आशाको काल, जैसे तृणके सिरेसे कुँएमें लटक रहे मकड़ीके जालेको चूहा पूर्णतया काट देता है वैसे ही, निःशेषरूपसे काट देता है ॥ ३ ॥

जैसे वाडवाग्नि चन्द्रोदय आदिसे उमड़े हुए समुद्रको नष्ट करती है, वैसे ही इस संसारमें उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे यह सर्वभक्षी काल न नष्ट करता हो, अर्थात् जैसे वाड़वाग्नि प्रतिदिन समुद्रको सोखती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तुको निगलता है ॥ ४ ॥

भयङ्कर रुद्ररूपी काल सर्वसाधारणरूपसे इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चको निगलनेके लिए सदा उद्यत रहता है । असंख्य ब्रह्माण्डोंको अपने उदरस्थ करनेके कारण सर्वात्मताको प्राप्त हुआ, यह काल बल, बुद्धि और वैभव आदिसे महान् भूतोंके लिए एक क्षणभर भी नहीं ठहरता अर्थात् सबको तुरन्त नष्ट कर देता है ॥५, ६॥

युगवत्सरकल्पाख्यैः किञ्चित्प्रकटतां गतः ।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ॥ ७ ॥
ये रम्या ये शुभारम्भा सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ ८ ॥
निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः ।
न तदस्ति यदद्याऽपि न कालो निगिरत्ययम् ॥ ९ ॥
कालः कवलनैकान्तमतिरत्ति गिरन्नपि ।
अनन्तैरपि लोकौघैर्नाऽयं तृप्तो महाशनः ॥ १० ॥
हरत्ययं नाशयति करोत्यत्ति निहन्ति च ।
कालः संसारनृत्तं हि नानारूपं यथा नटः ॥ ११ ॥

युग, वर्ष और कल्प नामक क्रियोपाधिक (क्रिया द्वारा प्राप्त) रूपोंसे काल अंशत ही प्रकट है, उसका वास्तविक रूप कोई नही देख सकता । वह संसारकी सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने वशमें करके बैठा है ॥ ७ ॥

जैसे गरुड़ साँपोंको निगल जाता है, वैसे ही काल भी जो अनुपम रूपसे सम्पन्न थे, जो पुण्यात्मा थे और जो सुमेरु पर्वतके समान गौरवान्वित थे, उन्हें हड़प कर गया ॥ ८ ॥

यह काल बड़ा निर्दय, पत्थरके समान कठोर, बाघ आदिके समान क्रूर, आरेके तुल्य कर्कश, कृपण और अधम है। आज तक ऐसी कोई वस्तु नही देखी गई, जिसे इस कालने अपनी गालमें न समा लिया हो ॥ ९ ॥

इसका चित्त सदा निगलनेमें ही लगा रहता है, यह एकको निगलता हुआ दूसरेको निगलता है। असंख्य लोग इसकी उदरदरीमें समा चुके हैं, पर यह ऐसा पेटू है कि इसे तृप्ति ही नहीं हुई अर्थात् अब भी यह अपने उसी स्वाभाविक वेगसे जीवोंको लगातार निगलता जा रहा है ॥ १० ॥

जैसे ऐन्द्रजालिक अपेने विविध खेलोंको आरम्भ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है,* कोई खाद्य पदार्थ बनाकर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही यह काल भी अपने विविधरूपवाले संसार-रूपी नृत्यको आरम्भ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् धन-सम्पत्ति आदिमें जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय

भिनत्ति प्रविभागस्थभूतबीजान्यनारतम् ।
जगत्यसत्तया बन्धाद्दाडिमानि यथा शुकः ॥ १२ ॥
शुभाशुभविषाणाग्रविलूनजनपल्लवः ।
स्फूर्जति स्फीतजनताजीवराजीवनीगजः ॥ १३ ॥
विरिञ्चिमूलब्रह्माण्डबृहद्देवफलद्रुमम् ।
ब्रह्मकाननमाभोगि परमावृत्त्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
यामिनीभ्रमरापूर्णा रचयन् दिनमञ्जरीः ।
वर्षकल्पकलावल्लीर्न कदाचन खिद्यते ॥ १५ ॥

आदि होते हैं, उन सबको हरणकर्ता, नाशकर्ता आदिके रूपसे स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं ॥ ११ ॥

जैसे सुग्गा दाड़िमके फलको तोड़कर उसके भीतरके बीजोंको खा जाता है, वैसे ही यह काल भी इस जगत्‌में व्याकृतावस्थामें स्थित भूतोंको (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारके प्राणियोंको) नाश द्वारा असत् बनाकर, तोड़-मरोड़ कर खा जाता है ॥ १२ ॥

शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) रूप दाँतोंसे मनुष्यरूपी पल्लवोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला अभिमानपूर्ण जनताके जीवसमूहरूपी महारण्यमें रहनेवाला गजरूप यह काल बड़े जोरसे चिंघाड़ता है अर्थात् जैसे महारण्यमें रहनेवाला और अपने दाँतोंसे वृक्षोंके पल्लवोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला हाथी बड़े जोरसे दहाड़ मारता है, वैसे ही पुण्य-पापरूपी अपने दाँतोंसे प्राणियोंको चबा डालनेवाला और दर्पपूर्ण जनताके जीवसमूहरूपी महारण्यका गज यह काल बड़े जोरसे दहाड़ता है, गरजता है ॥ १३ ॥

अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे उत्पन्न ब्रह्माण्डरूपी महान् और देवतारूपी फलोंसे युक्त वृक्षोंसे पूर्ण [अर्थात् ब्रह्मरूपी काननमें अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे उत्पन्न अनेक ब्रह्माण्ड ही महान् वृक्ष हैं, और देवता ही ब्रह्माण्डरूपी महावृक्षोंके फल हैं] और मायिक जगत् रूपसे युक्त (सप्रपञ्च) ब्रह्मरूपी महावनको [दुस्तर होनेके कारण ब्रह्मको महावन कहा] पूर्णरूपसे आवृत करके (ढककर) यह काल बैठा है, क्योंकि कालके उदरमें ही सब वस्तुओंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखा जाता है, यह भाव है ॥ १४ ॥

यह काल रात्रिरूपी भँवरोंसे चारों ओर व्याप्त और दिनरूपी मञ्जरियोंसे

भिद्यते नाऽवभग्नोऽपि दग्धोऽपि हि न दह्यते ।
दृश्यते नाऽपि दृश्योऽपि धूर्तचूडामणिर्मुने ॥ १६ ॥
एकेनैव निमेषेण किञ्चिदुत्थापयत्यलम् ।
किञ्चिद्विनाशयत्युच्चैर्मनोराज्यवदाततः ॥ १७ ॥
दुर्विलासविलासिन्या चेष्टया कष्टपुष्टया ।
द्रव्यैकरूपकृद्रूपं जनमावर्त्तयन् स्थितः ॥ १८ ॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुमेरुं पर्णमर्णवम् ।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्त्तुमुद्यतः ॥ १९ ॥

शोभित वर्ष, कल्प (ब्रह्माका दिन) और कलारूपी * लताएँ बराबर बनाता रहता है पर इसे कभी कुछ भी परिश्रम नही होता, जिससे कि यह अपने व्यापारसे विरत हो ॥ १५ ॥

मुनिवर, यह काल धूर्तोंका सिरताज है, इसे कितना ही तोड़ो पर यह टूटता नही, जलानेपर जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी स्वरूपसे नहीं दिखाई देता, इसकी धूर्तताकी सीमा नहीं है ॥ १६ ॥

सर्वव्यापक यह काल मनोराज्यके अनुरूप है । जैसे मनोराज्य एक पलकमें किसी वस्तुके स्वरूपको हूबहू खड़ाकर देता और किसीको बिलकुल विनष्ट कर डालता है, वैसे ही यह काल भी एक ही पलकमें किसी वस्तुको सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर खड़ा कर देता है और किसी वस्तुको निश्शेष विनष्ट कर देता है, इसलिए इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १७ ॥

यह काल अपने दुर्विलासोंमें विलास करनेवाली प्राणियोंके कष्टसे ही परिपुष्ट हुई चेष्टारूप भार्या द्वारा भौतिक देह, इन्द्रिय आदि द्रव्योंमें तादात्म्याध्यास होनेके कारण अपने वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले जीवको स्वर्ग और नरकमें घुमा रहा है ॥ १८ ॥

यह काल बड़ा पेटू है, इसको सदा अपने पेट भरनेकी ही चिन्ता रहती है, चाहे तिनका हो, चाहे धूलि हो, चाहे इन्द्र हो, चाहे सुमेरु हो, चाहे पत्ता हो, चाहे समुद्र हो, सभीको अपने अधीन करनेके लिए—निगलनेके लिए—उद्यत रहता है ॥ १९ ॥

* १८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ क्षण, १२ क्षणका १ मुहूर्त, ३० मुहूर्तका १ अहोरात्र (रात्रिदिन) इस प्रकार आजकलके मानसे १ कला = $\frac{2}{15}$ मिनट या ८ सेकण्ड है ।

क्रौर्यमत्रैव पर्याप्तं लुब्धताऽत्रैव संस्थिता ।
सर्वदौर्भाग्यमत्रैव चापलं वाऽपि दुःसहम् ॥ २० ॥
प्रेरयन् लीलयाऽर्केन्दू क्रीडतीव नभस्तले ।
निक्षिप्तलीलायुगलो निजे बाल इवाङ्गणे ॥ २१ ॥
सर्वभूतास्थिमालाभिरापादवलिताकृतिः ।
विलसत्येव कल्पान्ते कालः कलितकल्पनः ॥ २२ ॥
अस्योड्डामरवृत्तस्य कल्पान्तेऽङ्गविनिर्गतैः ।
प्रस्फुरत्यम्बरे मेरुर्भूर्जत्वगिव वायुभिः ॥ २३ ॥
रुद्रो भूत्वा भवत्येष महेन्द्रोऽथ पितामहः ।
शक्रो वैश्रवणश्चाऽपि पुनरेव न किंचन ॥ २४ ॥

यह काल इतना क्रूर है मानो संसारभरकी सम्पूर्ण क्रूरता इसीमें कूट-कूट भरी गई है, यह लोभी इतना है कि संसारभरकी लुब्धता इसे अपना घर बनाये है, सम्पूर्ण दौर्भाग्योंका यह आकर है और दुःसह चपलता भी इसीमें है अर्थात् यह परले सिरेका क्रूर, बेजोड़ लोभी, नितान्त अभागा और महाचपल है ॥ २० ॥

जैसे बालक अपने आँगनमें खेलके गेंदोंको बारबार उछालता है, वैसे ही यह क्रूरतम काल खेलके (मन बहलावके) लिए सूर्य और चन्द्रमाको आदेश देकर आकाशमें मानो खेलता है ॥ २१ ॥

प्रलयकालमें यह काल सब प्राणियोंको नष्टकर और अपने शरीरको उनकी (सब प्राणियोंकी) हड्डियोंकी मालाओंसे पैर तक ढककर खूब शोभित होता है ॥२२॥

प्रलयके समय निरङ्कुश चरित्रवाले इस कालके अंगोंसे निकले हुए वायुओंसे विशाल सुमेरु पर्वत भूर्जपत्रके समान आकाशमें फड़फड़ाता है अर्थात् चारों ओरसे टूटने फूटने लगता है । भाव यह है कि जैसे वायुसे अतिकोमल भूर्जपत्र फटकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस निरङ्कुशशिरोमणिके शरीरसे निर्गत वायुओंसे विशालतम सुमेरु पर्वत आकाशमें उड़कर विशीर्ण हो जाता है ॥ २३ ॥

यह काल रूद्रका रूप धारण कर महेन्द्रका रूप धारण करता है, फिर ब्रह्माका रूप धारण करता है, फिर इन्द्र होता है और फिर कुबेर होता है, और अन्तमें कुछ भी नहीं अर्थात् प्रलयमें पर्यवसित हो जाता है ॥ २४ ॥

धत्तेऽजस्रोत्थितोऽधस्तात् सर्गानमितभास्वरान् ।
अन्यान्दधद्दिवानक्तं वीचीरब्धिरिवाऽऽत्मनि ।। २५ ।।
महाकल्पाभिधानेभ्यो वृक्षेभ्यः परिशातयन् ।
देवासुरगणान्पक्कान्फलभारानिव स्थितः ।। २६ ।।
कालोऽयं भूतमशकघुंघुमानां प्रपातिनाम् ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरौघानां बृहत्पादपतां गतः ।। २७ ।।
सत्तामात्रकुमुद्वत्या चिज्ज्योत्स्नापरिफुल्लया ।
वपुर्विनोदयत्येकं क्रियाप्रियतमान्वितः ।। २८ ।।
अनन्तापारपर्यन्तबद्धपीठं निजं वपुः ।
महाशैलवदुत्तुङ्गमवलम्ब्य व्यवस्थितः ।। २९ ।।

जैसे सदा परिपूर्ण सागर रात-दिन अपनेमें अन्य तरङ्गोंको धारण धारण करता हुआ पहलेकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंको नीचेकर देता है अर्थात् अपनेमें विलीन कर देता है, वैसे ही तत्परतापूर्वक रात-दिन अन्य नई-नई सृष्टियोंको करता हुआ यह काल पूर्वकी अति देदीप्यमान सृष्टियोंको नष्टकर देता है ।। २५ ।।

यह काल महाकल्परूपी वृक्षोंसे देवता, मनुष्य और राक्षसरूपी पके हुए फलोंको गिरा रहा है ।। २६ ।।

यह काल प्राणिरूपी बहुत छोटे छोटे मच्छरोंसे घुम्, घुम् ऐसा शब्द कर रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी गूलरके फलोंका बड़ा भारी वृक्ष है अर्थात् जैसे छोटे-छोटे मच्छरोंसे गूज रहे शीघ्र गिरनेवाले गूलरके फल गूलरके पेड़में होते हैं, वैसे ही प्राणियोंके शब्दोंसे गूँज रहे और शीघ्र गिरनेवाले ब्रह्माण्डरूपी फलोंका आश्रयभूत महावृक्ष यह काल है । जैसे गूलरके फलोंका उत्पादक गूलरका वृक्ष है, वैसे ही उक्त ब्रह्माण्डोंका उत्पादक यह काल है, यह भाव है ।। २७ ।।

तत्-तत् प्राणियोंके शुभाशुभक्रिया (पुण्य-पाप) रूप प्रियतमासे युक्त काल सबके अधिष्ठानभूत चित्रूप (चैतन्यरूप) चाँदनीके केवल सन्निधानसे प्रकट हुई जगत्की सत्तारूपी कुइँयोंसे पूर्ण सरसीसे अपने अद्वितीय स्वरूपको विनोदित करता है । विहारकौतुकसे कालयापन ही विनोद है । यहांपर काल ही विहार करनेवाला है । विहार करनेवाला काल जिस कालका यापन करे ऐसा दूसरा काल प्रसिद्ध नहीं है, अतः स्वशरीरको ही विनोदित करता है, यह भाव है ।।२८।।

जैसे महापर्वत (हिमालय) पृथिवीमें पूर्व और उत्तरकी सीमासे शून्य प्रदेशमें

क्वचिच्छ्यामतमःश्याम्यं क्वचित्कान्तियुतं ततम् ।
द्वयेनाऽपि क्वचिद्रिक्तं स्वभावं भावयन् स्थितः ॥ ३० ॥
संलीनासंख्यसंसारसारया स्वात्मसत्तया ।
उर्व्येव भारघनया निबद्धपदतां गतः ॥ ३१ ॥
न खिद्यते नाऽऽद्रियते नाऽऽयाति न च गच्छति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति महाकल्पशतैरपि ॥ ३२ ॥
केवलं जगदारम्भलीलया घनहेलया ।
पालयत्यात्मनाऽऽत्मानमनहङ्कारमाततम् ॥ ३३ ॥
यामिनीपङ्ककलितां दिनकोकनदावलीम् ।
मेघभ्रमरिकामात्मसरस्यारोपयन् स्थितः ॥ ३४ ॥

स्थित अपने शरीरका अवलम्बन करके खड़ा है वैसे ही यह काल भी अपरिच्छिन्न, आदि-अन्तरहित ब्रह्ममें प्रतिष्ठित अपने स्वरूपका अवलम्बन करके स्थित है ॥२९॥

यह काल कहींपर (रात्रि आदि काले पदार्थोंमें) काले अन्धकारके तुल्य श्यामल, कहींपर (दिन, चाँदनी, मणि आदि प्रकाशमान पदार्थोंमें) कान्तिसे परिपूर्ण और कहींपर (भण्डार और भीत आदिमें) अन्धकार और कान्तिसे शून्य अपने कार्यको करता हुआ स्थित है ॥ ३० ॥

यह विलीन हुए असंख्य प्राणिपूर्ण संसारोंके सारभूत और सबका आधार होनेसे अत्यन्त भारसे युक्त अपने स्वरूपसे पृथिवीके समान ऐसा स्थित है कि इसकी जड़ कभी भी हिल नहीं सकती ॥ ३१ ॥

सैकड़ों महाकल्पोंसे न तो इसे खेद होता है, न प्रसन्नता होती है, न यह आता है, न जाता है, न अस्तको प्राप्त होता है और न उदित होता है ॥ ३२ ॥

यह काल अत्यन्त अनादरपूर्वक जगत्की रचनारूप लीलासे अहङ्कारसे रहित और सर्वत्र व्याप्त अपनी आत्माका पालन ही करता है, उसका विनाश कभी नहीं करता ॥ ३३ ॥

यह काल लगातार रात्रिरूपी पङ्कसे उत्पन्न हुई और मेघरूपी भँवरीसे युक्त दिनरूपी लाल कमलोंकी श्रेणीका अपने आत्मरूपी तालाबमें रोपण करता रहता है ॥ ३४ ॥

गृहीत्वा कृपणः कृष्णां रजनीं जीर्णमार्जनीम् ।
आलोककनकक्षोदानाहरत्यभितो गिरिम् ॥ ३५ ॥
संचारयन् क्रियाङ्गुल्या कोणकेष्वर्कदीपिकाम् ।
जगत्सद्मनि कार्पण्यात् क्व किमस्तीति वीक्षते ॥ ३६ ॥
प्रेक्ष्याऽहर्विनिमेषेण सूर्याक्ष्णा पाकवन्त्यलम् ।
लोकपालफलान्यत्ति जगज्जीर्णवनादयम् ॥ ३७ ॥
जगज्जीर्णकुटीकीर्णानर्पयत्युग्रकोटरे ।
क्रमेण गुणवल्लोकमणीन् मृत्युसमुद्गके ॥ ३८ ॥
गुणैरापूर्य्यते यैव लोकरत्नावली भृशम् ।
भूषार्थमिव तामङ्गे कृत्वा भूयो निकृन्तति ॥ ३९ ॥
दिनहंसानुसृतया निशेन्दीवरमालया ।
तारकेसरयाऽजस्रं चपलो वलयत्यलम् ॥ ४० ॥

लोभी यह काल पुरानी सम्मार्जनी (बुहारी) रूपी काली रात्रिको लेकर कनकाचलके (सुमेरुके) चारों ओर उससे गिरे हुए आलोकरूपी सुवर्णके कणोंको बटोरता रहता है । एक बार झाड़ूसे बटोरनेपर बहुतसा सुवर्ण मिलनेपर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता और लोभी इतना बड़ा है कि नई सम्मार्जनी भी नहीं ले सकता, यह भाव है ॥३५॥

लोभी होनेके कारण ही कार्यरूपी अङ्गुलीसे दिशाओंके कोनोंमें सूर्यरूपी दीपक ले जाता हुआ यह काल जगत्रूपी घरमें कहांपर क्या है ? यह देखता है ॥ ३६ ॥

दिनरूपी पलकोंसे युक्त सूर्यरूपी नेत्रसे ये बहुत अच्छी तरह पक गये हैं, यह देखकर जगत्रूपी पुराने बनसे यह लोकपालरूपी फलोंको तोड़कर खाता है ॥३७॥

जगतरूपी पुराने फूसके झोपड़ेमें प्रमादसे इधर-उधर गिरे हुए गुणवान् जनरूपी मणियोंको यह काल महान् उदरवाले मृत्युरूपी सन्दूकमें क्रमशः डालता है ॥३८॥

जो जनरूपी रत्नावली गुणोंसे (सूत्रोंसे) अत्यन्त पूर्ण हो जाती है, मानो अलङ्कारके लिए उसको अपने अवयवरूप सत्य, त्रेता आदि युगोंमें रखकर फिर उन्हें नष्ट कर देता है ॥ ३९ ॥

यह चञ्चल काल बीच-बीचमें दिनरूपी हंसोंसे गुंथी गई तारारूपी केसरसे पूर्ण रात्रिरूपी नीलकमलोंकी मालाको पाँच ऋतुरूपी अङ्गुलियोंसे युक्त वर्षरूपी हाथके प्रकोष्ठमें कङ्कणके समान नित्य धारण करता है ॥ ४० ॥

शैलार्णद्युधराभृङ्गजगदूर्णायुसौनिकः ।
प्रत्यहं पिबते प्रेक्ष्य तारारक्तकणानपि ॥ ४१ ॥
तारुण्यनलिनीसोम आयुर्मातङ्गकेसरी ।
न तदस्ति न यस्याऽयं तुच्छातुच्छस्य तस्करः ॥ ४२ ॥
कल्पकेलिविलासेन पिष्टपातितजन्तुना ।
अभावो भावभासेन रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ४३ ॥
कर्त्ता भोक्ताऽथ संहर्ता स्मर्ता सर्वपदं गतः ॥ ४४ ॥
सकलमप्यकलाकलितान्तरं सुभगदुर्भगरूपधरं वपुः ।
प्रकटयन् सहसैव च गोपयन् विलसतीह हि कालबलं नृषु ॥४५॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
कालापवादो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः ॥ २३ ॥

पर्वत, समुद्र, द्युलोक और पृथिवीरूप चार शृङ्गवाले जगत्‌रूपी भेड़ोंका हिंसक यह काल आकाशरूपी आँगनमें बिखरे हुए तारारूपी रक्तके विन्दुओंको भी देखकर प्रतिदिन उन्हें चाटता है ॥ ४१ ॥

यह काल यौवनरूपी कमलिनीके लिए चन्द्रमारूप और आयुरूपी गजके लिए सिंहस्वरूप है। इस संसारमें अत्यन्त तुच्छ या महान् ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका कि यह काल नाश न करता हो ॥ ४२ ॥

जैसे जीव सुषुप्तिकालमें सब दुःखोंका संहारकर अज्ञानमात्रके अवलम्बसे स्थिति करता है, वैसे ही जिसने जन्तुओंको पीसकर मृत्युके मुँहमें गिरा दिया है, ऐसे प्रलयरूपी क्रीडाके विलाससे पदार्थोंका अभाव रूप यह काल भी अज्ञानावभासक अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म चैतन्यका अवलम्बन कर आत्मभूत उसीमें रमण करता है उससे पृथक् नहीं होता॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्रलयकालमें विश्राम लेकर यह काल ही फिर सृष्टिकालमें संसारका कर्ता, भोक्ता, संहर्ता, स्मर्ता आदि सब पदार्थोंके स्वरूपको प्राप्त हुआ है अर्थात् यह स्वयं ही कर्ता, भोक्ता संहर्ता, सुभग, दुर्भग आदि बना है ॥ ४४ ॥

बुद्धिकौशलसे इस कालके रहस्यका किसीने निश्चय नहीं कर पाया है, पुण्य फलके उपभोगके अनुकूल सुन्दर रूप और पाप फलके भोगके अनुरूप कुरूपको धारण करनेवाले सम्पूर्ण शरीरोंकी सहसा सृष्टि, रक्षा और संहार करता हुआ यह प्रदीप्त हो रहा है। इस संसारके सम्पूर्ण जीवोंमें काल सबसे अधिक बलवान् है ॥४५॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्विंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अस्योड्डामरलीलस्य दूरास्तसकलापदः ।
संसारे राजपुत्रस्य कालस्याऽकलितौजसः ॥ १ ॥
अस्यैवाऽऽचरतो दीनैर्मुग्धैर्भूतमृगव्रजैः ।
आखेटकं जर्जरिते जगज्जङ्गलजालके ॥ २ ॥
एकदेशोल्लसच्चारुवडवानलपङ्कजा ।
क्रीडापुष्करिणी रम्या कल्पकालमहार्णवः ॥ ३ ॥
कटुतिक्ताम्लभूताद्यैः सदधिक्षीरसागरैः ।
तैरेव तैः पर्युषितैर्जगद्भिः कल्यवर्त्तनम् ॥ ४ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

[मृगयामें कौतूहल करनेवाले राजकुमारके रूपकसे अपनी प्रियतमा कालरात्रिसे युक्त कालका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ, यह काल राजकुमारके अनुरूप है। ससारमें इसकी लीलाएँ बड़ी विकट है, इसके समीप एक भी आपत्ति नहीं फटक सकती और इसका पराक्रम विचार शक्तिके बाहर है। इस सर्गमें उक्त कालके ही चरित्रका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

इस जीर्ण-शीर्ण जगत्‌रूपी वनराजिमें दीन-हीन और अज्ञानी प्राणीरूपी मृगोंका शिकार कर रहे इस राजकुमाररूपी कालके लिए प्रलयकालका महासागर क्रीड़ार्थ बनाई गई रमणीय बावड़ी है, जिसके एक भागमें बड़वानलरूपी सुन्दर कमल लहलहा रहे हैं ॥ २, ३ ॥

दधिसागर, क्षीरसागर सहित तथा कड़ुवे, तीते और खट्टे विविध खाद्योंसे पूर्ण सदा एकरूपसे रहनेवाले चिरकालसे स्थित अनेक जगत् इस राज-कुमाररूपी कालके कलेवे हैं † ॥ ४ ॥

---

* परब्रह्म सूर्य, चन्द्र आदिको भी प्रकाशित करता हुआ प्रदीप्त होता है अतः वह राजा कहलाता है। काल उसकी पटरानीरूप अनादि मायासे उत्पन्न हुआ है और जगत्-रूपी युवराज-सम्पत्तिका भोक्ता है अतः यह उक्त राजारूपी पर ब्रह्मका पुत्र—कुमार—कहलाता है।

† कड़वा, तीता एवं दहीसे युक्त बासी कलेवा द्राविड़ोंमें प्रसिद्ध है।

चण्डी चतुरसंचारा सर्वमातृगणान्विता ।
संसारवनविन्यस्ता व्याघ्री भूतौघघातिनी ॥ ५ ॥
पृथ्वी करतले पृथ्वी पानपात्री रसान्विता ।
कमलोत्पलकह्लारलोलजालकमालिता ॥ ६ ॥
विरावी विकटास्फोटो नृसिंहो भुजपञ्जरे ।
सटाविकटपीनांसः कृतः क्रीडाशकुन्तकः ॥ ७ ॥
अलाबुवीणामधुरः शरद्व्योमलसच्छविः ।
देवः किल महाकालो लीलाकोकिलबालकः ॥ ८ ॥
अजस्रस्फूर्जिताकारो वान्तदुःखशरावलिः ।
अभावनामकोदण्डः परिस्फुरति सर्वतः ॥ ९ ॥

चलनेमें बड़ी दक्ष अर्थात् शीघ्र चलनेवाली सब मातृगणोंसे युक्त और बाघिनके समान प्राणियोंका नाश करनेवाली इस राजकुमाररूपी कालकी प्रिय पत्नी कालरात्रि संसाररूपी बनमें बिहार करनेके लिए नियुक्त है ॥ ५ ॥

चञ्चल श्वेतकमल, नीलकमल और रक्तकमलोंसे परिवेष्टित मधुर जलसे युक्त विशाल पृथ्वी ही इसके हाथमें मधुर ‡ मद्यसे पूर्ण विशाल पानपात्री (मद्य पीनेका पात्र) है ॥ ६ ॥

गर्जनेवाले, भीषण ताल ठोंकनेवाले और केसरोंसे (गर्दनके बालोंसे) जिनका कन्धा ढका हुआ है वे नृसिंहदेव (विष्णुके अवतार) इसके भुजारूपी पिंजड़ेमें हिरण्यकशिपु आदि दानवोंके हिंसारूपी क्रीड़ाके लिए बाज पक्षी बनाये गये हैं ॥७॥

ब्रह्माण्डोंकी मालाको धारण करनेके कारण तुम्बोंसे बनाई गई वीणाके समान सुन्दर रूप और ध्वनिसे युक्त * और शरद् ऋतुके आकाशके तुल्य स्वच्छ नीली कान्तिवाला संहार भैरव इसकी क्रीडाके लिए कोकिलका बच्चा बनाया गया है ॥ ८ ॥

सदा टंकारशब्द करनेवाला और लगातार दुःखरूपी वाणोंको उगलनेवाला उसका संहार नामका धनुष चारों ओर चमचमा रहा है ॥ ९ ॥

---

‡ मद्यको सुगधित बनानेके लिए एवं उसको सुशोभित करनेके लिए मद्यपात्र भी कमलोसे परिवेष्ठित होता ही है ।

† यद्यपि उसका स्वरूप और शब्द औरोको भीषण प्रतीत होते हैं, तथापि काल उससे भी भयानक है उसकी दृष्टिमे वे मधुर ही हैं, यह दर्शानेके लिए वह सुन्दर रूप और ध्वनिसे युक्त कहा गया है ।

अनुत्तमस्त्वधिकविलासपण्डितो भ्रमच्चलन्परिविलसन् विदारयन् ।
जरज्जगज्जनितविलोलमर्कटः परिस्फुरद्वपुरिह काल ईहते ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
कालविलासो नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥ २४ ॥

—०—

पञ्चविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अत्रैव दुर्विलासानां चूणामणिरिहाऽपरः ।
करोत्यत्तीति लोकेऽस्मिन् दैवं कालश्च कथ्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मन्, इस कालसे बढ़कर विलास करनेमें प्रवीण कोई नहीं है, यह राजपुत्र रूपी काल स्वयं भी दौड़ता है और इसके लक्ष्यभूत प्राणी भी निरन्तर दौड़ते रहते हैं फिर भी इसका लक्ष्य (निशाना) नहीं चूकता। यह सबको ही दुःखरूपी बाणोंसे विदीर्ण करता रहता है। यह काल ही सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ लक्ष्यवेधी (निशानाबाज) है। यह जीर्ण जगत्में बन्दरकी भाँति चञ्चलवृत्ति-वाले विषयलोलुप जनोंको व्याकुल बनाता है और स्वयं उक्त प्रकारसे विराजमान रहकर मृगयाका आनन्द लेता है ॥ १० ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

पचीसवाँ सर्ग

[कर्म और कर्मफलरूप दूसरे कालके अद्भुत नृत्योंका वर्णन]

इस प्रकार महाकालका राजपुत्रके रूपक द्वारा वर्णनकर उसके उपाधिभूत कर्मरूप कालका, उसके मनोविनोदके लिए, दो प्रकारके नर्तकरूपसे कल्पना कर, वर्णन करते हैं—'अत्रैव०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, इस संसारमें दुश्चरित्रोंका शिरोमणि पूर्वोक्त महाकालसे अन्य एक दूसरा काल है, अन्य काल होनेपर भी यह पूर्वोक्तकालका अवस्थाभेद है, उसका यहांपर वर्णन किया जाता है। वह इस लोकमें प्राणियोंकी

क्रियामात्रादृते यस्य स्वपरिस्पन्दरूपिणः ।
नाऽन्यदालक्ष्यते रूपं न कर्म न समीहितम् ॥ २ ॥
तेनेयमखिला भूतसन्ततिः परिपेलवा ।
तापेन हिममालेव नीता विधुरतां भृशम् ॥ ३ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगदाभोगि मण्डलम् ।
तत्तस्य नर्त्तनागारमिहाऽसावतिनृत्यति ॥ ४ ॥
तृतीयं च कृतान्तेति नाम बिभ्रत्सुदारुणम् ।
कापालिकवपुर्मत्तं दैवं जगति नृत्यति ॥ ५ ॥
नृत्यतो हि कृतान्तस्य नितान्तमिव रागिणः ।
नित्यं नियतिकान्तायां मुने परमकामिता ॥ ६ ॥

सृष्टि और संहार करता है, लोग उसे दैव और काल * भी कहते हैं ॥ १ ॥

सूचीकटाह न्यायसे पहले दूसरेका वर्णन करते हैं—'**क्रिया०**' इत्यादिसे ।

मुनिश्रेष्ठ, स्वकर्मरूपी जिसका फलसिद्धिके अतिरिक्त न कोई दूसरा रूप देखा जाता है, न कर्म देखा जाता है और न कोई अभिलाष देखा जाता है, उसीने, जैसे सूर्यका प्रखर ताप बरफको पिघला कर नष्ट कर देता है, वैसे ही सुकुमार इन सम्पूर्ण प्राणियोंको सर्वथा नष्ट कर दिया है । भाव यह है कि सभी अनर्थोंकी जड़ अपना कर्म ही है ॥ २, ३ ॥

जो यह विस्तीर्ण संसाररूपी मण्डल दिखाई दे रहा है, वह उस कालकी नृत्यशाला है, वह इसमें खूब जीभर कर नृत्य करता है ॥ ४ ॥

उक्त दो कालोंमें से प्रथम केवल शास्त्रसे ही जाना जा सकता है, अतः उसपर विश्वासको दृढ़ करनेके लिए उसका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'**तृतीयम्**' इत्यादिसे ।

यह दैव पूर्वोक्त महाकालकी अपेक्षा तीसरा है । यह बड़ा उन्मत्त है, कृतान्त इस अतिभीषण नामको धारण कर नरमुण्डधारी वेषसे संसारमें नृत्य करता है ॥५॥

मुनिजी, इस संसारमें नृत्य कर रहे इस कृतान्तका नियतिरूप प्रिय भार्यामें अत्यन्त अनुराग है । किये हुए कर्मोंके फलकी अवश्यम्भावितारूप नियममें बड़ा अनुराग है । यह किये हुए कर्मोंका फल अवश्य देता है, यह भाव है ॥६॥

* दैव—प्राणियोंको शुभ-अशुभ कर्मका फल देनेवाला अर्थात् फलोन्मुख भाग्य और काल—जो अवश्य फलको उत्पन्न करता है अर्थात् क्रियावस्थ काल। यों एक ही कालका उत्तरावस्था और पूर्वावस्थाके भेदसे दो प्रकारोंसे वर्णन किया गया है ।

शेषः शशिकलाशुभ्रो गङ्गावाहश्च तौ त्रिधा।
उपवीते अवीते च उभौ संसारवक्षसि ॥ ७ ॥
चन्द्रार्कमण्डले हेमकटकौ करमूलयोः।
लीलासरसिजं हस्ते ब्रह्मन् ब्रह्माण्डकर्णिका ॥ ८ ॥
ताराबिन्दुचितं लोलपुष्करावर्त्तपल्लवम्।
एकार्णवपयोधौतमेकमम्बरमम्बरम् ॥ ९ ॥
एवंरूपस्य तस्याऽग्रे नियतिर्नित्यकामिनी।
अनस्तमितसंरम्भमारम्भैः परिनृत्यति ॥ १० ॥
तस्या नर्त्तनलोलाया जगन्मण्डलकोटरे।
अरुद्धस्पन्दरूपाया आगमापायचञ्चुरे ॥ ११ ॥

'शेषः' इत्यादिसे उसके अङ्गभूषणोंको दिखलाते हैं। चन्द्रमाकी कलाके समान सफेद शेषनाग और तीन धाराओंमें विभक्त* गङ्गाका प्रवाह ये दोनों उसके संसाररूपी वक्षस्थलमें उपवीत और अवीत यज्ञोपवीतरूपमें विद्यमान हैं ॥ ७ ॥

सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल उसके हस्ताभरण हैं और सुमेरु पर्वत उसके हाथसे स्थित लीलाकमल है ॥ ८ ॥

प्रलयकालके सागरमें धोया गया असीम आकाश उसका एकमात्र वस्त्र है। वह ताराऱूपी चित्र-विचित्र बिन्दुओंसे व्याप्त है और प्रलयके पुष्कर और आवर्त नामके मेघ उसके चञ्चल छोर हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकारके कृतान्तरूप कालके सामने उसकी भार्या नियति आलस्यरहित होकर लगातार प्राणियोंके समुचित भोगानुरूप कार्यारम्भ द्वारा नाँचती है ॥ १० ॥

नियतिकी क्रियाशक्ति कभी क्षीण नहीं होती और नृत्य करनेके कारण उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सदा चञ्चल रहते हैं। उसका नाँच देखनेवाले प्राणियोंके आममन (जन्म) और नाशसे चञ्चल जगत्-मण्डलरूपी कोठरीमें नाँच रही उस नियतिके अङ्गोंमें देवलोक सहित अन्य लोकोंकी पङ्क्ति सुन्दर भूषण हैं और पातालपर्यन्त

* गङ्गाकी एक धारा स्वर्गमें बहती है, दूसरी पृथ्वीमें और तीसरी पातालमें। ये तीन धाराएँ कालके गलेमें उपवीत यज्ञसूत्रके सदृश प्रतीत होती हैं। बाएँ कन्धेमें स्थित यज्ञोपवीतको उपवीत कहते हैं और दक्षिण स्कन्धमें स्थित यज्ञोपवीतको अवीत कहते हैं। शेषनाग उसका अवीतरूपमें स्थित यज्ञसूत्र है।

चारु भूषणमङ्गेषु देवलोकान्तरावली ।
आपातालं नभो लम्बं कबरीमण्डलं बृहत् ॥ १२ ॥
नरकाली च मञ्जीरमाला कलकलोज्ज्वला ।
प्रोता दुष्कृतसूत्रेण पातालचरणे स्थिता ॥ १३ ॥
कस्तूरिकातिलककं क्रियासख्योपकल्पितम् ।
चित्रितं चित्रगुप्तेन यमे वदनपङ्कके ॥ १४ ॥
कालास्यं समुपादाय कल्पान्तेषु किलाऽऽकुला ।
नृत्यत्येषा पुनर्देवी स्फुटच्छैलघनारवम् ॥ १५ ॥
पश्चात्प्रालम्बविभ्रान्तकौमारमृतबर्हिभिः ।
नेत्रत्रयबृहद्रन्ध्रभूरिभाङ्कारभीषणैः ॥ १६ ॥

आकाश उसका लम्बमान बड़ा भारी केशोंका जूड़ा है । प्राणियोंके रोदनके कोलाहलसे गुलजार और नरककी अग्नियोंसे देदीप्यमान नरकोंकी पङ्क्ति उसके पातालरूप चरणमें स्थित मञ्जीरमाला—पैजीब—है और वह पापरूपी तागेसे पिरोई गई है ॥ ११–१३ ॥

चित्रगुप्त प्राणियोंके कर्मरूपी सौगन्ध्यको प्रकट करता है, अतः वह कस्तूरीस्वरूप है । उक्त कस्तूरीभूत चित्रगुप्तसे क्रियारूपी सखी द्वारा उसके यमरूप कपालमें सुन्दर तिलक बनाया गया है । भाव यह है कि यम इस नियतिका ललाट है और चित्रगुप्त उसमें स्थित कस्तूरीतिलक है, उसे क्रियारूपी सखीने तयार किया है ॥ १४ ॥

प्रलयकालमें कालकी प्रियपत्नी यह नियतिदेवी अपने पति कालके इङ्गितपूर्ण मुखके अभिप्रायको जानकर बड़ी चञ्चलताके साथ फिर नाचना आरम्भ कर देती है । इसके नाचनेमें चट्टानोंके टूटनेका-सा घोर शब्द होता है ॥ १५ ॥

वह नियतिदेवी महाप्रलयोंमें नाचनेके समय पृष्ठ भागमें गलेसे सीधे लटक रही मालामें चञ्चल कार्तिकेयके वाहनरूप मृत मयूरोंसे शोभित होती है । लम्बमान चञ्चल जटाओंमें चन्द्रमासे लाञ्छित महादेवजीके मुण्डोंसे, जो तीन नेत्रोंके बड़े-

---

* यहाँपर कालके ललाट और पैर—इन आदि और अन्त अङ्गोंकी भूषणकल्पनाका ही वर्णन किया गया है, इसीसे उसके शरीरके अन्य अवयवोंकी भूषणकल्पनाका भी यथायोग्य स्वयं अनुमान कर लेना चाहिये ।

लम्बलोलजटाचन्द्रविकीर्णहरमूर्द्धभिः ।
उच्चरच्चारुमन्दारगौरीकबरचामरैः ॥ १७ ॥

उत्ताण्डवाचलाकारभैरवोदरतुम्बकैः ।
रणत्सशतरन्ध्रेन्द्रदेहभिक्षाकपालकैः ॥ १८ ॥

शुष्कशारीरखट्वाङ्गभरैरापूरिताम्बरम् ।
भीषयत्यात्मनाऽऽत्मानं सर्वसंहारकारिणी ॥ १९ ॥

विश्वरूपशिरश्चक्रचारुपुष्करमालया ।
ताण्डवेषु विवल्गन्त्या महाकल्पेषु राजते ॥ २० ॥

प्रमत्तपुष्करावर्त्तडमरोड्डामरारवैः ।
तस्याः किल पलायन्ते कल्पान्ते तुम्बुरादयः ॥ २१ ॥

नृत्यतोऽन्तः कृतान्तस्य चन्द्रमण्डलभासिनः ।
तारकाचन्द्रिकाचारुव्योमपिच्छावचूलिनः ॥ २२ ॥

बड़े छिद्रोंसे निकल रहे विपुल भाँय-भाँय शब्दसे भयङ्कर प्रतीत होते हैं, विकसित मन्दारके पुष्पोंसे शोभित श्रीपार्वतीजीके केशरूपी चँवरोंसे, ताण्डवके समय पर्वताकार हुए संहारभैरवके उदररूपी तुम्बोंसे और एक हजार सात छेदोंसे* युक्त इन्द्रकी देहरूपी भिक्षापात्रोंसे (खप्परोंसे), जो नाचनेके समय खनखन शब्द करते हैं, बड़ी शोभित होती है। सबका संहार करनेवाली यह नियति देवी सूखे हुए नर-कङ्कालरूपी खट्वाङ्गोंसे (पाटियोंसे) आकाशमण्डलको पूर्णकर अपनेको आप ही भयभीत करती है। नाचनेके समय हिल रही जीवोंके भाँति-भाँतिके मस्तकरूपी सुन्दर कमलोंकी मालासे इसकी शोभाकी सीमा नहीं रहती।

प्रलयके समय नियतिदेवीके उद्धत प्रलयकालके मेघरूपी डमरुके भीषण शब्दोंसे तुम्बुरु आदि गन्धर्व भागते हैं ॥ १६—२१ ॥

नियति देवीके नृत्य और नृत्यकी सामग्रीका वर्णन कर उसके पतिके भी नृत्यका वर्णन करते हुए उसके भूषणोंको कहते हैं—**'नृत्यतः'** इत्यादिसे।

---

* अन्य देहियोंके शरीरोंमें नौ छिद्र प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन्द्र सहस्राक्ष (हजार नेत्रवाले) हैं, उनके शरीरमें एक हजार छिद्र तो नेत्रोंके हैं तथा सात छिद्र और हैं, इस प्रकार नौ छिद्रवाले प्रसिद्ध अन्य शरीरोंसे एक हजार छिद्रवाला इन्द्रका शरीर विलक्षण है।

एकस्मिञ्छ्रवणे दीप्ता हिमवानस्थिमुद्रिका ।
अपरे च महामेरुः कान्ता काञ्चनकर्णिका ॥ २३ ॥
अत्रैव कुण्डले लोले चन्द्रार्कौ गण्डमण्डले ।
लोकालोकाचलश्रेणी सर्वतः कटिमेखला ॥ २४ ॥
इतश्चेतश्च गच्छन्ती विद्युद्वलयकर्णिका ।
अनिलान्दोलिता भाति नीरदांशुकपट्टिका ॥ २५ ॥
मुसलैः पट्टिशैः प्रासैः शूलैस्तोमरमुद्गरैः ।
तीक्ष्णैः क्षीणजगद्वान्तकृतान्तैरिव संभृतैः ॥ २६ ॥
संसारबन्धनादीर्घे पाशे कालकरच्युते ।
शेषभोगमहासूत्रप्रोते मालाऽस्य शोभते ॥ २७ ॥
जीवोल्लसन्मकरिका रत्नतेजोभिरुज्ज्वला ।
सप्ताब्धिकङ्कणश्रेणी भुजयोरस्य भूषणम् ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त नृत्यशालाके अन्दर नियति देवीका पति कृतान्त नृत्य करता है। कुण्डलभूत चन्द्रमण्डलसे वह अति शोभित है और उसके केश तारे और चाँदनीसे मनोहर आकाशरूपी पिच्छसे (मोरपंखसे) अलंकृत हैं। उसके दाहिने कानमें हिमालयरूपी हड्डीका बना अँगूठीके आकारका चमकदार कुण्डल है और बाँए कानमें महान् सुमेरु पर्वत ही सोनेका सुन्दर कुण्डल है। उसके चन्द्रमा और सूर्य ही उक्त दोनों ही कानोंमें गालोंकी शोभाको बढानेवाले चञ्चल कुण्डल हैं। लोकालोकाचल पर्वतकी श्रेणी उसकी कमरके चारों ओर लगी हुई मेखला (करधनी) है। बिजली उसके हाथका गोलाकार कङ्कण है और वह नृत्यके समय कभी इधर कभी उधर सरकता है। मेघ ही उसके रङ्ग-विरङ्गके वस्त्रोंके टुकड़ोंसे बनी हुई कन्था है और वह वायुसे सदा हिलती-डुलती हुई शोभित होती है। इसके गलेमें मुसल, पट्टिश, प्रास, शूल, तोमर और मुद्गरोंसे बनी हुई माला शोभा पा रही है, वे मूसल आदि ऐसे तीक्ष्ण हैं कि मानो पूर्व-पूर्वकी जितनी सृष्टियाँ नष्ट हुई थीं, उनसे निकले हुए मृत्यु ही इकट्ठे हो गये हों। यह माला शेषनागके शरीररूपी महा रस्सीसे बँधे हुए, पूर्वोक्त राजपुत्ररूप कालके हाथसे गिरे हुए और जन्म-मरणशील जीवरूपी मृगोंके बन्धनके लिए बिछाए गये जालमें गुँथी हुई है ॥२२–२७॥

सात समुद्रोंकी श्रेणी ही इसके बाहुओंके कंकण हैं, वे रत्नोंको कान्तिसे

व्यवहारमहावर्त्ता सुखदुःखपरम्परा ।
रजःपूर्णतमःश्यामा रोमाली तस्य राजते ॥ २९ ॥
एवंप्रायः स कल्पान्ते कृतान्तस्ताण्डवोद्भवाम् ।
उपसंहृत्य नृत्येहां सृष्ट्वा सह महेश्वरैः ॥ ३० ॥
पुनर्लास्यमयीं नृत्यलीलां सर्गस्वरूपिणीम् ।
तनोतीमां जराशोकदुःखाभिभवभूषिताम् ॥ ३१ ॥
भूयः करोति भुवनानि वनान्तराणि
लोकान्तराणि जनजालककल्पनां च
अचारचारुकलनामचलां चलां च
पङ्काद्यथाऽर्भकजनो रचनामखिन्नः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
कृतान्तविलसितं नाम पञ्चविंशतितमः सर्गः ॥ २५ ॥

खूब चमकते हैं और सजीव मछलियाँ उनमें विद्यमान हैं । अन्य लोगोंके कंकणोंमें निर्जीव मछलियोंकी आकृति बनाई जाती है, पर इसके कङ्कणरूपी समुद्रोंमें सजीव मछलियाँ विद्यमान हैं, यह भाव है २८॥

शास्त्रीय और स्वाभाविक व्यवहाररूप आवर्तसे (भ्रमिसे) युक्त, रजोगुण पूर्ण तमोगुणसे काली सुख-दुःखपरम्परा उसकी रोमावलीके रूपमें विराजमान हैं ॥२९॥

इस प्रकारका वह कृतान्त प्रलयकालमें ताण्डवको उत्पन्न करनेवाली नृत्येच्छा (नाचनेकी इच्छाका) परित्याग करता है, अर्थात् उक्त नृत्यचेष्टासे विरत होकर चिरकाल तक विश्राम करता है । तदनन्तर ब्रह्मा आदिके साथ भूतोंकी फिर सृष्टि कर पुनः नृत्यलीलाका विस्तार करता है । उसकी उक्त नृत्यलीला अङ्ग-प्रत्यङ्गके अभिनयसे पूर्ण है और वृद्धता, शोक, दुःख और तिरस्कार उसके आभूषण हैं ।

जैसे बालक गीली मिट्टीको लेकर नाना प्रकारके खिलौने आदि बनाता है और थोड़ी देरमें उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही काल भी आलस्य रहित होकर चौदह भुवन, विविध देश, वन और असंख्य तथा विविध जीव और उनके सुन्दर श्रौतस्मार्तादिरूप आचार-विचारोंकी सृष्टि कर फिर उन्हें नष्ट कर देता है उक्त आचार-विचार सत्य और त्रेतामें निश्चल रहते हैं तथा कलि और द्वापरमें चल हैं ॥३२॥

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

षड्विंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

वृत्तेऽस्मिन्नेवमेतेषां कालादीनां महामुने ।
संसारनाम्नि कैवाऽऽस्था मादृशानां वदत्विह ॥ १ ॥
विक्रीता इव तिष्ठाम एतैर्दैवादिभिर्वयम् ।
मुने प्रपञ्चरचनैर्मुग्धा वनमृगा इव ॥ २ ॥
एषोऽनार्यसमाम्नायः कालः कवलनोन्मुखः ।
जगत्यविरतं लोकं पातयत्यापदर्णवे ॥ ३ ॥
दहत्यन्तर्दुराशाभिर्दैवो दारुणचेष्टया ।
लोकमुष्णप्रकाशाभिर्ज्वालाभिर्दहनो यथा ॥ ४ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग

[वैराग्यकी उत्पत्तिके लिए विविध दोषो द्वारा कालाधीन संसारकी अनेक दुर्दशाओका वर्णन]

काल ऐसा करे उससे तुम्हारा क्या बिगड़ता है, ऐसी आशङ्का कर काल आदि सब वस्तुओंमें आगे अपनी दोषदृष्टि दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके फलभूत वैराग्यको दिखलाते हैं—'वृत्ते' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ, जब इस संसारमें पूर्वोक्त काल आदिका इस प्रकारका चरित्र है, तब भला बतलाइये तो सही इसमें मेरे ऐसे मनुष्योंका क्या विश्वास हो सकता है ॥ १ ॥

मुनिवर, यह बड़े दुःखका विषय है कि शब्द आदि विषयोंके विस्तारमें दक्ष इन दैव प्रभृति (पूर्व जन्मके कर्म आदि) चारोंसे प्रपञ्च-रचनाओं द्वारा मोहित हुए हम लोग विक्रीत पुरुषोंके समान एवं वनमृगोंके समान स्थित हैं अर्थात् जैसे विक्रीत पुरुष (क्रीतदास) अपनी इच्छासे कोई भी काम नहीं कर सकता और जैसे व्याधों द्वारा मधुर ध्वनिसे विमोहित मृग कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते वैसे ही दैव आदि द्वारा मोहित हम लोगोंकी अवस्था है ॥ २ ॥

यह काल सदा अपना पेट भरनेमें ही लगा है और इसका चरित्र बड़ा गर्हित है, यह जिन लोगोंकी भोगतृष्णा और जीविततृष्णा पूर्ण नहीं हुई है, उन्हें आपत्तियोंसे परिपूर्ण संसारमें गिराता है ॥ ३ ॥

मुनिश्रेष्ठ, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशपूर्ण ज्वालाओंसे दाह्य पदार्थोंको

धृतिं विधुरयत्यैषा मर्यादारूपवल्लभा ।
स्त्रीत्वात् स्वभावचपला नियतिर्नियतोन्मुखी ॥ ५ ॥
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवाऽनिलम् ।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाऽजरं वपुः ॥ ६ ॥
यमो निर्घृणराजेन्द्रो नाऽऽर्तं नामाऽनुकम्पते ।
सर्वभूतदयोदारो जनो दुर्लभतां गतः ॥ ७ ॥
सर्वा एव मुने फल्गुविभवा भूतजातयः ।
दुःखायैव दुरन्ताय दारुणा भोगभूमयः ॥ ८ ॥
आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं चाऽतितरलं बाल्यं जडतया हृतम् ॥ ९ ॥
कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥ १० ॥

जला देती है, वैसे ही यह संहारकारी काल भी दुराशाओंसे हृदयको जलाता है और दुष्ट चारित्र्यसे बाहर भी जलाता है ॥ ४ ॥

कालमर्यादारूप कृतान्तकी प्रिय भार्या इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति करानेवाली यह नियति, स्त्री होनेके कारण, स्वभावतः चञ्चल है, यह समाधिमें तत्पर लोगोंके ऊपर भी हाथ फेर लेती है और उनके धैर्यकी तो यह महाशत्रु है, उसे टिकने नहीं देती ॥ ५ ॥

जैसे साँप वायुको निगल जाता है, वैसे ही यह क्रूर कर्म करनेवाला कृतान्त तरुण शरीरको बुढापेमें पहुँचाकर सब प्राणियोंको निरन्तर निगलता रहता है। यह काल निर्दयोंका राजा है, किसी आर्त प्राणीके ऊपर भी दया नहीं करता। सब प्राणियोंपर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसारमें दुर्लभ हो गया है ॥६, ७॥

मुनिवर, संसारमें जितने भी प्राणी हैं, उनमें किसीका भी ऐश्वर्य पूर्ण नहीं है, सभी तुच्छ ऐश्वर्यवाले हैं। जितने भी विषय हैं, वे सभी भयानक हैं। उनसे अनन्त दुःखकी ही प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

आयु अत्यन्त चञ्चल है और उसकी ताकमें बैठा हुआ मृत्यु अत्यन्त निष्ठुर है। यौवन भी अति चञ्चल है, उसके जानेमें कुछ भी विलम्ब नहीं होता और बाल्यावस्था मोहमें ही बीत जाती है ॥ ९ ॥

सभी संसारी पुरुष विषयोंके अनुसन्धानसे ही कलङ्कित (मलिनचित्त) हैं,

शत्रवश्चेद्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवाऽऽत्मा मनसैव मनो रिपुः ॥ ११ ॥
अहङ्कारः कलङ्काय बुद्धयः परिपेलवाः ।
क्रिया दुष्फलदायिन्यो लीलाः स्त्रीनिष्ठतां गताः ॥ १२ ॥
वाञ्छाविषयशालिन्यः सच्चमत्कृतयः क्षताः ।
नार्यो दोषपताकिन्यो रसा नीरसतां गताः ॥ १३ ॥
वस्त्ववस्तुतया ज्ञातं दत्तं चित्तमहङ्कृतौ ।
अभाववेधिता भावा भावान्तो नाऽधिगम्यते ॥ १४ ॥

बन्धु-बान्धव संसाररूप बन्धके लिए रज्जुरूप हैं। सभी भोग संसाररूपी महारोग हैं, अर्थात् जैसे अपथ्यसेवनसे रोग नष्ट नहीं होता, वैसे ही भोगोंके सेवनसे संसाररूपी महारोग बना रहता है, अतएव उन्हें मूर्तिमान् महारोग ही समझना चाहिये। सुख आदिकी तृष्णाएँ मृगतृष्णिकाके अनुरूप हैं ॥ १० ॥

इन्द्रिय ही अपने शत्रु हैं, सत्य, ज्ञान आदिरूप वस्तु (ब्रह्म) अज्ञान-वश असत्यता (देहादिता) को प्राप्त हो गई है। बन्धनका हेतु होनेसे मन आत्माका रिपु है, एवं मनमें 'अहम्' ऐसा अभिमान करनेसे मनोभूत हुआ उक्त आत्मा आत्माको आत्मभूत मनसे ही दुःखी करता है ॥ ११ ॥

अहङ्कार (अभिमानप्रधान अन्तःकरण) आत्माके कलङ्कका कारण है, अर्थात् स्वरूपको दूषित कर देता है, बुद्धियाँ (अध्यवसायात्मक वृत्तियाँ) बड़ी मृदु हैं, आत्मनिष्ठाकी दृढ़तासे रहित हैं, क्रिया अर्थात् शारीरिक प्रवृत्तियां क्लेशकारिणी हैं। लीलाएँ (मानसिक चेष्टाएँ) स्त्रीपर ही केन्द्रित हो गई है, अर्थात् उनकी विषय केवल स्त्रियां ही हो गई हैं। वासनाओंके विषय ही लक्ष्य हो गये हैं याने विषयोंकी ओर ही वासनाएँ दौड़ती हैं ॥ १२ ॥

आत्मस्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं, स्त्रियाँ दोषोंकी पताकाके सदृश हो गई हैं और सम्पूर्ण विषय नीरस हो गये हैं ॥ १३ ॥

मुनिवर, सत् पदार्थ ब्रह्म कार्यकारण-सङ्घात रूपसे (देह, इन्द्रिय आदि रूपसे) जाना जाता है, अर्थात् संसारी लोग देह, इन्द्रिय आदिको ही आत्मा समझते हैं, चित्त अहङ्कारमें प्रविष्ट किया गया है अर्थात् लोगोंका चित्त अहङ्कारसे परिपूर्ण है, जितने पदार्थ हैं वे नाशसे ग्रस्त हैं (विनाशी हैं)। उक्त अनित्य पदार्थोंका जिसमें लय होता है, उस आत्माको कोई नहीं जानता ॥ १४ ॥

तप्यते केवलं साधो मतिराकुलितान्तरा ।
रागरोगो विलसति विरागो नोपगच्छति ॥ १५ ॥
रजोगुणहता दृष्टिस्तमः संपरिवर्द्धते ।
न चाऽधिगम्यते सत्त्वं तत्त्वमत्यन्तदूरतः ॥ १६ ॥
स्थितिरस्थिरतां याता मृतिरागमनोन्मुखी ।
धृतिर्वैधुर्यमायाता रतिर्नित्यमवस्तुनि ॥ १७ ॥
मतिर्मान्द्येन मलिना पातैकपरमं वपुः ।
ज्वलतीव जरा देहे प्रतिस्फुरति दुष्कृतम् ॥ १८ ॥
यत्नेन याति युवता दूरे सज्जनसंगतिः ।
गतिर्न विद्यते काचित्क्वचिन्नोदेति सत्यता ॥ १९ ॥
मनो विमुह्यतीवाऽन्तर्मुदिता दूरतां गता ।
नोज्ज्वला करुणोदेति दूराद्यायाति नीचता ॥ २० ॥

श्रेष्ठतम, बुद्धिने सभीके अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है, किसीका अन्तःकरण सुखी नहीं है, केवल दुःख ही दुःख छाया है, रागरूपी रोग दिन-दिन बढ़ रहा है, वैराग्यका कहीं पता नही है ॥ १५ ॥

आत्मदर्शनशक्ति रजोगुणसे नष्ट हो गई है और तमोगुण बढ़ रहा है, सत्त्वगुणका कही पता नहीं है एवं तत्त्वपदार्थ अत्यन्त दूर है । जीवन अत्यन्त अस्थिर है, मृत्यु आनेके लिए तत्पर ही है, धैर्यका सर्वथा विनाश हो गया है और लोगोंका तुच्छ विषयोंमें अनुराग नित्य बढ़ता जा रहा है ॥ १६,१७ ॥

मति मूर्खतासे मलिन हो गई है, शरीरका अन्तिम परिणाम एकमात्र नाश ही है अर्थात् उसको अवश्य नष्ट होना है, शरीरमें बुढ़ापा मानो प्रकाशित हो रहा है और पाप खूब दमदमा रहा है ॥ १८ ॥

दिन-प्रति-दिन जवानी प्रयत्नपूर्वक भाग रही है, सत्संगतिका कहीं पता नहीं है, जिससे दुःखसे छुटकारा प्राप्त हो जाय, ऐसी कोई गति नहीं है और सत्यताका उदय तो किसीमें भी नहीं दिखाई देता ॥ १९ ॥

अन्तःकरण मोहजालसे अत्यन्त आच्छन्न-सा हो गया है, दूसरेको सुखी देखकर होनेवाले सन्तोषका कहीं पता ही नहीं है, उज्ज्वल करुणाका उदय कहीं नहीं होता और नीचता न मालूम कहाँसे चली आ रही है ॥ २० ॥

धीरताऽधीरतामेति पातोत्पातपरो जनः ।
सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः ॥ २१ ॥
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी ।
नीयते केवलं क्काऽपि नित्यं भूतपरम्परा ॥ २२ ॥
दिशोऽपि हि न दृश्यन्ते देशोऽप्यन्यापदेशभाक् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २३ ॥
अद्यते सत्तयाऽपि द्यौर्भुवनं चाऽपि भुज्यते ।
धराऽपि याति वैधुर्यं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २४ ॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च शीर्यन्ते तारका अपि ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २५ ॥
दानवा अपि दीर्यन्ते ध्रुवाऽप्यध्रुवजीविताः ।
अमरा अपि मार्यन्ते कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २६ ॥

धीरता अधीरतामें परिणत हो गई है, सम्पूर्ण जीवोंका जन्म और मरण या ऊर्द्धगमन और अधोगम ही एकमात्र काम है, दुर्जनका सङ्ग पद-पदपर अतिसुलभ है, सज्जनकी सङ्गति अतिदुर्लभ है । सम्पूर्ण पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील हैं और वासना पदार्थोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। वही संसारमें बन्धन करनेवाली है । काल नित्य प्राणियोंके झुण्डके झुण्डको न मालूम कहां ले जाता है । दिशाएँ भी जिन्हें कालसे हरे जानेका भय नही है, नहीं दिखाई देतीं, नष्ट हो जाती हैं, देश भी अदेश हो जाता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है और पर्वत भी टूट जाते हैं, फिर मेरे सदृश जन्तुकी स्थिरतामें क्या विश्वास है ? ॥ २१–२३ ॥

सन्मात्रस्वभाववाला ईश्वर आकाशको भी खा जाता है, चौदहों भुवनोंको नष्ट कर देता है और पृथवी भी उसीसे नष्ट हो जाती है, फिर मेरे ऐसे जीवकी स्थिरतामें क्या विश्वास है ? ॥ २४ ॥

समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूट पड़ते हैं और सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे ऐसे जनकी स्थिरतामें क्या विश्वास है ? ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े पराक्रमी दैत्योंको भी ईश्वर नष्ट कर देता है, ध्रुवके जीवनका भी कोई निश्चय नहीं है और अमर भी (देवता भी) मारे जाते हैं, फिर मेरे ऐसे जीवकी स्थिरतामें क्या विश्वास हो सकता है ? ॥ २६ ॥

शक्रोऽप्याक्रम्यते वक्रैर्यमोऽपि हि नियम्यते।
वायुरप्येत्यवायुत्वं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २७ ॥
सोमोऽपि व्योमतां याति मार्तण्डोऽप्येति खण्डताम् ।
भग्नतामग्निरप्येति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २८ ॥
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रियते हरिरप्यजः ।
भवोऽप्यभावमायाति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २९ ॥
कालः संकाल्यते येन नियतिश्चाऽपि नीयते ।
खमप्यालीयतेऽनन्तं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ ३० ॥
अश्राव्यावाच्यदुर्दर्शतत्त्वेनाऽज्ञातमूर्तिना ।
भुवनानि विडम्ब्यते केनचिद् भ्रमदायिना ॥ ३१ ॥
अहङ्कारकलामेत्य सर्वत्राऽन्तरवासिना ।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु यस्तेनेह न बाध्यते ॥ ३२ ॥

वह इन्द्रको भी अपने मुंहसे चबा डालता है, यमको भी अपने कार्यसे विरत कर देता है याने नष्ट कर देता है और उसीसे वायु भी अभावको प्राप्त हो जाता है, फिर मेरे ऐसे प्राणीमें स्थिरताकी क्या आशा ? ॥ २७ ॥

चन्द्रमा भी शून्यताको (अभावको) प्राप्त हो जाता है, सूर्यके भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्न हो जाती है अर्थात् शान्त हो जाती है, फिर मेरे ऐसे प्राणीकी क्या आशा है ? ॥ २८ ॥

ब्रह्माकी भी अवधि है अर्थात् ब्रह्माकी भी समाप्तिका अवसर नियत है, अजन्मा विष्णुका भी संहार होता है और शिवजी भी नहीं रहते, फिर मेरे ऐसे मनुष्यकी स्थिरताकी आशा केवल दुराशा ही है ॥ २९ ॥

कालका भी जो विनाश करता है, नियतिको भी नष्ट कर डालता है, और अनन्तआकाशको नष्ट कर देता है, वह भला मुझे कहां छोड़ेगा, इसलिए मेरे ऐसे जीवोंकी स्थिरताका कभी भी विश्वास नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

जिसका कानोंसे श्रवण नहीं होता, वाणीसे कथन नहीं होता और नेत्रोंसे दर्शन नहीं होता ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले किसी सूक्ष्म तत्त्वसे चौदहों भुवन अपनी आत्मामें माया द्वारा दिखलाये जा रहे हैं ॥ ३१ ॥

अहङ्कारांशको प्राप्त होकर सबके मध्यमें निवास करनेवाला वह तत्त्व

शिलाशैलकवप्रेषु साश्वभूतो दिवाकरः ।
वनपाषाणवन्नित्यमवशः परिचोद्यते ॥ ३३ ॥
धरागोलकमन्तस्थसुरासुरगणास्पदम् ।
वेष्ट्यते धिष्ण्यचक्रेण पक्वाक्षोटमिव त्वचा ॥ ३४ ॥
दिवि देवा भुवि नराः पातालेषु च भोगिनः ।
कल्पिताः कल्पमात्रेण नीयन्ते जर्जरां दशाम् ॥ ३५ ॥
कामश्च जगदीशानरणलब्धपराक्रमः ।
अक्रमेणैव विक्रान्तो लोकमाक्रम्य वल्गति ॥ ३६ ॥

तीनों लोकोंमें स्थित प्राणियोंमें से जिसे नष्ट नहीं करता, ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं ॥ ३२ ॥

उसकी सर्वनाशकताका उपपादन करनेके लिए निरङ्कुश स्वतन्त्रता कहते हैं—'शिला०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

जैसे पर्वत शिखरसे वेगपूर्वक बहता हुआ जल गोल पत्थरोंको नीचेकी ओर ले जाता है, वैसे ही अवश * रथभूत सूर्यको ईश्वर चट्टान, पर्वत और परिखाओंमें हाँकता है ॥ ३३ ॥

जैसे पका हुआ अखरोटका फल कठिन छिलकेसे घिरा रहता है, वैसे ही वह मध्यमें स्थित देवता, असुर आदिका निवास पृथ्वीरूप गेंदको देवताओंके निवासभूत ज्योतिश्चक्रसे चारों ओरसे व्याप्त किये हुए है ॥ ३४ ॥

स्वर्गमें देवता, भूलोकमें मनुष्य और पातालमें सर्पोंकी उसीने कल्पना कर रक्खी है, वह जब इच्छा होती है, तभी उन्हें जीर्ण-शीर्ण दशाको प्राप्त कर देता है । भाव यह कि यों जगत्का अत्यन्त पराधीन होना बड़ा भारी दोष है, ऐसे अन्याधीन जगत्में आस्था करना मूर्खता ही है ॥ ३५ ॥

जगत्के अधिपतिके साथ हुए रणमें विजयी अतएव पराक्रम पूर्ण कामदेव अनुचित रूपसे जगत्को अपने वशमें कर अपना प्रभाव दिखा रहा है ॥ ३६ ॥

---

* 'य आदित्ये तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतिसे अपनेमें अधिष्ठित ईश्वरसे प्रेरित होनेवाला एवं चट्टान, पहाड आदि दुर्गम स्थानोंमे किरणरूपी घोड़ेके पैरोंसे चलते हुए-से सूर्यमें रथकी कल्पना की गई है ।

वसन्तो मत्तमातङ्गो मदैः कुसुमवर्षणैः ।
आमोदितककुप्चक्रश्चेतो नयति चापलम् ॥ ३७ ॥
अनुरक्ताङ्गनालोललोचनालोकिताकृति ।
स्वस्थीकर्तुं मनः शक्तो न विवेको महानपि ॥ ३८ ॥
परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया ।
बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया धिया ॥ ३९ ॥
उत्पन्नध्वंसिनः कालवडवानलपातिनः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जीविताम्बुधौ ॥ ४० ॥
सर्व एव नरा मोहाद्दुराशापाशपाशिनः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥ ४१ ॥

जैसे मत्त गजराज मदसे चारों ओर दिशाओंको सुगन्धित करता है, वैसे ही वसन्त ऋतु पुष्पवृष्टि द्वारा चारों ओर दिशाओंको सुगन्धित कर चित्तको चञ्चल कर देती है ॥ ३७ ॥

अनुरागयुक्त महिलाओंके चञ्चल लोचनोंके कटाक्ष विक्षेपके लक्ष्य बने हुए मनको महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

दूसरोंका उपकार करनेवाली, दूसरोंके दुःखसे अति सन्तप्त और अपनी आत्माको शान्ति देनेवाली शीतल बुद्धिसे युक्त ज्ञानी पुरुष ही सुखी है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ॥ ३९ ॥

उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले कालरूपी वाड़वाग्निके मुँहमें गिरनेवाले जीवनरूपी सागरके तरङ्गके समान पदार्थोंको कौन गिन सकता है ? जैसे सागरमें उत्पन्न होकर वाड़वाग्निके मुंहमें गिरकर नष्ट होनेवाले अनेक कल्लोलोंको कोई गिन नहीं सकता वैसे ही संसारमें उत्पन्न होकर कालके मुंहमें गिरनेवाले असंख्य जीवोंको गिन सकनेकी किसमें शक्ति है ? ॥ ४० ॥

दोषरूपी झाड़ियोंमें स्थित मृगों या पक्षियोंके तुल्य सभी मनुष्य अज्ञानसे दुराशारूपी जालमें बँधकर जन्मरूपी जङ्गलमें विनष्ट हो गये हैं अर्थात् जैसे झाड़ियोंमें बैठे हुए मृग या पक्षी जिह्वालौल्यके कारण अज्ञानसे जालमें फँस कर नष्ट हो जाते है, वैसे ही दोषपूर्ण मनुष्य अज्ञानसे दुराशाबद्ध होकर जन्मरूपी जङ्गलमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

संक्षीयते जगति जन्मपरम्परासु लोकस्य तैरिह कुकर्मभिरायुरेतत् ।
आकाशपादपलताकृतपाशकल्पं येषां फलं नहि विचारविदोऽपि विद्मः ॥४२॥
अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा ते बन्धवः सुखमिदं सविशेषभोगम् ।
इत्थं मुधैव कलयन्सुविकल्पजालमालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
दैवदुर्विलासवर्णनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥



इस संसारमें, लोगोंकी आयु विविध जन्मोंमें पूर्वोक्त दोषोंसे होनेवाले कुकर्मोंसे (काम्य और निषिद्ध कर्मोंसे) नष्ट हो जाती है। उनका फल जो स्वर्ग, नरक आदि है वह आकाशमें वृक्ष हो और उस वृक्षमें लता भी हो, उस लतासे गलेमें फाँसी देकर मनुष्य लटका दिया जाय, उसके समान अन्तमें पतन करानेवाला ही है। उसकी निवृत्तिके लिए उपाय करना तो दूर रहा, परन्तु उसका विचार करनेवाले लोग भी हमें नहीं दिखलाई देते ॥ ४२ ॥

ऋषिप्रवर, इस संसारमें चञ्चल और मृदु बुद्धिसे युक्त लोग आज उत्सव है, यह सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिए, ये हमारे बान्धव हैं, विशिष्ट भोगोंसे युक्त यह सुख है, यों वृथा ही अनेक सङ्कल्प-विकल्प कर नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त



सप्तविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अन्यच्च ताताऽतितरामरम्ये मनोरमे चेह जगत्स्वरूपे ।
न किंचिदायाति तदर्थजातं येनाऽतिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥ १ ॥
बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
शरीरके जर्जरतां प्रयाते विदूयते केवलमेव लोकः ॥ २ ॥
जरातुषाराभिहतां शरीरसरोजिनीं दूरतरे विमुच्य ।
क्षणाद्गते जीवितचञ्चरीके जनस्य संसारसरोऽवशुष्कम् ॥ ३ ॥

सत्ताइसवाँ सर्ग

[पूर्वमें उक्त और अनुक्त मोक्षके विरोधी पदार्थोंमें, वैराग्यके लिए, विरतारपूर्वक दोषोंका वर्णन]

पहले जो कहे जा चुके हैं और जो नहीं कहे गये, उन सम्पूर्ण पदार्थोंमें अन्यान्य दोषोंको दर्शाते हुए अपने चित्तकी शान्तिके कारणीभूत पदार्थकी अप्राप्तिको दर्शाते हैं—'**अन्यच्च**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, और सुनिए, वस्तुतः अत्यन्त अरमणीय पर जबतक विचार नहीं किया जाता है, तबतक रमणीय-सा मालूम पड़नेवाले इस जगत्में जिस पदार्थके प्राप्त होनेसे चित्तमें शान्ति (पूर्णकामता) प्राप्त हो वैसा कोई भी पदार्थ मेरी समझमें नहीं आता ॥ १ ॥

विचार कर देखिए, बाल्यावस्था विविध प्रकारसे कल्पित क्रीड़ाकौतुकमें ही बीत जाती है, उसमें चित्तकी स्थिरताका लेश भी नहीं रहता । तदुपरान्त यौवन पदार्पण करता है । यौवनमें चित्तरूपी मृग स्त्रीरूपी गुफाओंमें ही जीर्ण हो जाता है, उसमें भी चित्तमें शान्ति नहीं रहती । तदनन्तर वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, उस समय भी शान्ति नहीं रहती, यों पुरुषार्थ-साधनशून्य अतएव व्यर्थ आयुके यापनसे मनुष्योंको केवल दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सुख-शान्तिका कहीं लेश भी नहीं है ॥ २ ॥

वृद्धावस्थारूपी हिमवर्षासे नष्ट हुई शरीररूपी कमलिनीका परित्याग कर जब प्राणरूपी भ्रमर अतिदूर चला जाता है, तब मनुष्यका यह संसाररूपी सरोवर सूख जाता है ॥ ३ ॥

यदा यदा पाकमुपैति नूनं तदा तदेयं रतिमातनोति ।
जराभराऽनल्पनवप्रसूना विजर्जरा कायलता नराणाम् ॥ ४ ॥
तृष्णानदी सारतरप्रवाहग्रस्ताखिलानन्तपदार्थजाता ।
तटस्थसन्तोषसुवृक्षमूलनिकाषदक्षा वहतीह लोके ॥ ५ ॥
शारीरनौश्चर्मनिबन्धबद्धा भवाम्बुधावालुलिता भ्रमन्ती ।
प्रलोड्यते पञ्चभिरिन्द्रियाख्यैरधो भवन्ती मकरैरधीरा ॥ ६ ॥
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥ ७ ॥

वृद्धावस्थाके आक्रान्त, जिसमें अनेक पलितादि नये-नये फूल खिले हैं और अत्यन्त जीर्ण मनुष्योंकी शरीररूपी लता जब अत्यन्त पाक (परिणाम) को प्राप्त हो जाती है, तब यह मृत्युको अति आनन्द देती है, अर्थात् जरा-जीर्ण शरीरको देखकर मृत्युको बड़ा आनन्द होता है, यह भाव है ॥ ४ ॥

इस लोकमें तृष्णारूपी नदी निरन्तर बहती है, वह अपने प्रबल वेगसे संसारके सम्पूर्ण अनन्त पदार्थोंको निगल गई है और सन्तोषरूपी तटवृक्षकी जड़ोंको खोदनेमें बड़ी दक्ष है । भाव यह कि संसारके अखिल और अनन्त पदार्थोंको निगल कर भी इसे सन्तोष नहीं हुआ है ॥ ५ ॥

चर्मसे आच्छादित यह शरीररूपी नौका संसाररूपी समुद्रमें सुख दुःख-रूपी तरङ्गोंसे व्याकुल और हलकी होनेके कारण स्वयं भी इधर-उधर घूम रही है और इसीलिए नीचे डूबनेके लिए तयार है, पांच इन्द्रियरूपी मगर भी इसके डूबनेमें सहायक हो रहे हैं, क्योंकि इसमें बैठे हुए जीव वैराग्ययुक्त और धैर्यशाली नहीं हैं ॥ ६ ॥

ऋषिजी, जिसमें तृष्णारूपी लताएँ ही अधिक हैं, ऐसे वनमें घूमनेवाले ये मनरूपी बन्दर कामरूपी वृक्षोंकी सैकड़ों शाखाओंमें घूमकर व्यर्थ ही आयु क्षीण करते हैं, उन्हें फल कुछ भी प्राप्त नहीं होता । अर्थात् काम विशाल वृक्षके समान है, वह तृष्णारूपी लताओंसे आच्छन्न भी है, उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाएँ हैं । मनरूपी बन्दर फलकी इच्छासे उनमें निरन्तर पर्यटन करते हैं, मगर उन्हें अभिलषित फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ७ ॥

कृच्छ्रेषु दूरास्तविषादमोहाः स्वास्थ्येषु नोत्सिक्तमनोभिरामाः ।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभिरनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥ ८ ॥
तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः ।
शूरास्त एवे मनस्तरङ्गं देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥ ९ ॥
अक्लिष्टपर्यन्तफलाभिरामा न दृश्यते कस्यचिदेव काचित् ।
क्रियादुराशाहतचित्तवृत्तिर्यामेत्य विश्रान्तिमुपैति लोकः॥ १० ॥
कीर्त्या जगद्दिक्कुहरं प्रतापैः श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा न ते जगत्यां सुलभा महान्तः ॥ ११ ॥

महर्षे, जिन्हें आपत्तियोंमें दुःख और मोह प्राप्त नहीं होते, सम्पत्तियोंमें जिनके मनमें तनिक भी अहङ्कार नहीं आता और स्त्रियों द्वारा जिनका अन्तःकरण दूषित नहीं होता ऐसे महान् पुरुष इस समय अतिदुर्लभ हैं ॥ ८ ॥

जब मैं वीरताके उत्कर्षका विचार करता हूँ तब मुझे गजघटारूपी तरङ्गोंसे पूर्ण सङ्ग्रामसागरको जो तैरते हैं वे शूर प्रतीत नहीं होते, मैं उन्हींको शूरवीर समझता हूँ, जो लोग मनरूपी तरङ्गोंसे पूर्ण इस वर्तमान देह, इन्द्रियरूपी सागरको विवेक, वैराग्य आदि द्वारा और भावी देह, इन्द्रियरूप सागरको मूलाज्ञानके उच्छेद द्वारा भली भाँति तैर जाते हैं । मगर ऐसा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि उसके उपाय ही दुर्लभ हैं ॥ ९ ॥

कर्म ही देह, इन्द्रियरूपी सागरके सन्तरणका उपाय है, ऐसी शङ्का कर कहते हैं—'**अक्लिष्ट०**' इत्यादिसे ।

किसीकी कोई भी क्रिया संसारके आत्यन्तिक विनाशरूप फलको देनेवाली नहीं है । क्रियारूपी दुराशा पिशाची द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति नष्ट हो गई है, ऐसा पुरुष जिस क्रियाका अवलम्बन कर विश्रान्तिको प्राप्त हो, ऐसी क्रिया कोई नहीं दिखाई देती, क्योंकि 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः' अर्थात् जैसे इस लोकमें कृषि आदि कर्मसे प्राप्त उपार्जित धान नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे उपार्जित स्वर्ग आदि लोक भी क्षीण हो जाते हैं, ऐसी श्रुति है । अतएव कर्मसे जो फल उत्पन्न होता है, उसका अवश्य विनाश हो जाता है, ऐसा नियम लोकमें देखा भी जाता है ॥ १० ॥

भाग्योदय हुए बिना कीर्ति, प्रताप, लक्ष्मी आदि छोटे-मोटे फल भी,

अभ्यन्तरस्थं गिरिशैलभित्तेर्वज्रालयाभ्यन्तरसंस्थितं वा ।
सर्वं समायान्ति ससिद्धिवेगाः सर्वाः श्रियः संततमापदश्च ॥ १२ ॥
पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथाऽन्ते यत्राऽतिरम्या विषमूर्छनैव ॥ १३ ॥
विषादयुक्तो विषमामवस्थामुपागतः कायवयोवसाने ।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान् जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः ॥ १४ ॥

धैर्य आदिके नाशक राग, लोभ आदिकी प्रबलताके कारण, जब दुर्लभ होते हैं, तब महाफल मोक्ष तो भाग्योदय हुए बिना हो नहीं सकता, इसमें कहना ही क्या है ? इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'कीर्त्या'** इत्यादिसे ।

जो महापुरुष कीर्तिसे संसारको, प्रतापोंसे दिशाओंको, सम्पत्तिसे याचकोंके घरोंको और क्षमा, विनय, उदारता आदिरूप सात्त्विक बलसे * लक्ष्मीको पूर्ण करते हैं, कभी क्षीण न होनेवाले धैर्यसे परिपूर्ण ऐसे महापुरुष पृथिवीमें सुलभ नहीं हैं ॥ ११ ॥

भाग्योदय होनेपर सबको सब जगह अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है, इसलिए पुरुषका प्रयत्न विफल है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'अभ्यन्तरस्थम्'** इत्यादिसे ।

पहाड़की शिलामय चट्टानके भीतर स्थित भी एवं वज्रसे बने हुए घरके भीतर बैठे हुए भी भाग्यशाली पुरुषके पास सम्पूर्ण अणिमा आदि सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ बड़े वेगके साथ आ जाती हैं, जैसे कि आपत्तियाँ आती हैं अर्थात् जैसे बुरे दिनोंमें आपत्तियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही भले दिनोंमें सम्पत्तियाँ और सिद्धियाँ भी अपने आप वेगपूर्वक आ जाती हैं ॥ १२ ॥

पूज्यवर, भ्रान्तिवश पुत्र, स्त्रियाँ, धन आदि जो सम्पूर्ण रसायनके समान सुखसाधन समझे जाते हैं, मृत्युकाल आनेपर वे पुत्र आदि अतिरमणीय भोग-जनक विषय कुछ नहीं करते, परन्तु विषकी मूर्च्छाके समान अत्यन्त दुःखदायी ही होते हैं ॥ १३ ॥

शरीरकी बाल्य आदि अवस्थाओंके अवसानमें अर्थात् वृद्धावस्थामें दुःखमय विषमावस्थाको प्राप्त हुआ अतएव दुःखी जीर्ण पुरुष इस लोकमें अपने पुण्यसञ्चय-शून्य अतीत कर्मोंका स्मरण कर दुःसह अन्तर्दाहसे जलता है ॥ १४ ॥

* क्षमा, विनय, उदारता आदिसे लक्ष्मी पूर्ण-सी प्रतीत होती है ।

कामार्थधर्माप्तिकृतान्तराभिः क्रियाभिरादौ दिवसानि नीत्वा ।
चेतश्चलद्बर्हिणपिच्छलोलं विश्रान्तिमागच्छतु केन पुंसः ॥ १५ ॥
पुरोगतैरप्यनवाप्तरूपैस्तरङ्गिणीतुङ्गतरङ्गकल्पैः ।
क्रियाफलैर्दैववशादुपेतैर्विडम्ब्यते भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ १६ ॥
इमान्यमूनीति विभावितानि कार्याण्यपर्यन्तमनोरमाणि ।
जनस्य जायाजनरञ्जनेन जवाज्जरान्तं जरयन्ति चेतः ॥ १७ ॥

मनुष्य जीवनके आरम्भमें धनार्जन और भोगतृष्णाकी प्रबलतासे मोक्ष-मार्गका परित्याग कर केवल काम और अर्थकी चिन्तासे युक्त होता है और तदनुसारी कार्योंसे वह समयको बिताता है। फिर वृद्धावस्था आनेपर मयूरके चञ्चल परोंके समान कम्पमान पुरुषका चित्त किस कर्मसे शान्तिको प्राप्त हो? अर्थात् चित्तकी शान्तिके साधनभूत कर्म तो उसने कभी किये ही नहीं, फिर उसका चित्त शान्त कैसे होगा? ॥ १५ ॥

जो लोग धर्मोपार्जन नहीं करते, उनके चित्तमें भले ही शान्ति न हो; पर धर्मोपार्जन करनेवाले आप लोगोंके मनमें, धर्मके फलके लाभसे, शान्ति क्यों न विराजमान होगी? ऐसी आशङ्का कर धर्मके फल स्वर्ग, पुत्र आदि भी कोई सार-वान् पदार्थ नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—'**पुरोगतै०**' इत्यादिसे।

अनात्मामें प्रीति करनेवाले लोग भाग्यवश प्राप्त हुए, सामने स्थित भी, नदीकी ऊँची तरङ्गोंके समान शीघ्र नष्ट हो जानेवाले अतएव अप्राप्तप्राय क्रियाफल स्वर्ग आदि द्वारा वञ्चित होते हैं, ठगे जाते हैं। भाव यह कि वही लाभ सच्चा लाभ है, जो प्राप्त होकर नष्ट नहीं होता और जिससे अनर्थ नहीं होता, दूसरा लाभ तो केवल वञ्चनामात्र ही है, जैसे कि अल्पायु पुत्रकी प्राप्ति और मछलीको वंशीमें लगे हुए खाद्यकी प्राप्ति। उक्त लाभसे किसी प्रकारका आश्वासन नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

आसुरसम्पत्तिके विस्तारपूर्वक प्रदर्शन द्वारा पूर्वोक्त अर्थको ही विशद करते हैं—'**इमान्य०**' इत्यादिसे।

ये कार्य यहीं और अभी कर्तव्य हैं और ये अन्य प्रदेश और अन्य कालमें करणीय हैं, यों जिन कार्योंकी सदा चिन्ता बनी रहती है और अन्तमें जिनका फल अनर्थ ही है। उन कार्योंका प्रयोजन स्त्रियों तथा अन्यान्य लोगोंकी प्रसन्नताका उत्पादन (मनोरञ्जन) ही है, पर वे देहके वृद्ध होनेतक लोगोंके चित्तको जबरदस्ती विवेकसे भ्रष्ट कर देते हैं ॥ १७ ॥

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां समेत्य जन्माऽऽशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥ १८ ॥
इतस्ततो दूरतरं विहृत्य प्रविश्य गेहं दिवसावसाने ।
विवेकिलोकाश्रयसाधुकर्मरिक्तेऽह्नि रात्रौ क उपैति निद्राम् ॥ १९ ॥
विद्राविते शत्रुजने समस्ते समागतायामभितश्च लक्ष्म्याम् ।
सेव्यन्त एतानि सुखानि यावत्तावत्समायाति कुतोऽपि मृत्युः ॥ २० ॥
कुतोऽपि संवर्द्धिततुच्छरूपैर्भावैरमीभिः क्षणनष्टदृष्टैः ।
विलोड्यमाना जनता जगत्यां न वेत्त्युपायातमहो नु पातम् ॥ २१ ॥

जैसे वृक्षोंके जीर्ण पत्ते जन्म लेकर शीघ्र नाशको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही आत्म-विवेकसे रहित लोग इस लोकमें जन्म लेकर थोड़े ही दिनोंमें कहीं चले जाते हैं, अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

महाभाग, भला बतलाइए तो सही, मूढ़ व्यक्तिके सिवा कौन ज्ञानी जन विवेकी पुरुषोंकी सेवा और सत्कर्मसे रहित दिनमें इधर-उधर दूरतक घूम-फिरकर और सायङ्कालके समय घरमें आकर रात्रिमें सुखकी नींद सोवेगा ? दिनके विवेकियोंकी सेवासे रहित और सत्कर्मोंसे शून्य होनेपर ज्ञानीको तो रात्रिमें नींद ही नहीं आ सकती, पर अज्ञानी ही दिनके विवेकी जनोंकी सेवा और सत्कर्मोंसे शून्य होनेपर भी इधर-उधर घूम-फिरकर सायङ्कालमें अपने घरमें प्रवेश कर खूब सुखकी नींद सोता है ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण शत्रुओंके छिन्न-भिन्न होनेपर और चारों ओरसे धन-सम्पत्तिकी वृष्टि होनेपर जब पुरुष इन सांसारिक भोगोंको भोगने लगता है तभी न मालूम कहांसे आकर मृत्यु सामने खड़ी हो जाती है ॥ २० ॥

इस संसारमें सभी लोगोंको किसी एक अनिर्देश्य अद्भुत कारणसे अभिवृद्धिको प्राप्त हुए, अत्यन्त तुच्छ और क्षणभरमें जन्म लेकर नष्ट होनेवाले अर्थात् विनाशशील इन विषयोंने भ्रममें डाल रक्खा है, मोहित कर रक्खा है; अतएव वे लोग समीपमें आई हुई मृत्युको नहीं जानते, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है । यदि मूलमें 'पातम्' के स्थानमें 'यातम्' पाठ हो, तो आये हुए और बीते हुए दिनको नहीं जानते, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥ २१ ॥

प्रियासुभिः कालमुखं क्रियन्ते जनैडकास्ते हतकर्मबद्धाः ।
यैः पीनतामेव बलादुपेत्य शरीरबाधेन न ते भवन्ति ॥ २२ ॥

जिन लोगोंने विषयोंपर आसक्ति, देहके लालन-पालन आदि द्वारा हृष्ट-पुष्ट-शरीर होना ही उचित समझा अर्थात् विवेक, वैराग्य आदिका अभ्यास नही किया, वे ठहरे निरे नरपशु । सब प्राणियोंके परम प्रिय यजमानरूप प्राण उन्हीं नररूप पशुओंको (बकरोंको) निन्दित कर्मरूपी यज्ञस्तम्भोंमें बांधकर दोषरूपी कारिखसे उनका मुँह काला कर देते हैं । तदुपरान्त रोगरूपी ऋत्विजों द्वारा हनन, अङ्गछेदन आदिसे शरीरका नाश होनेके कारण वे असत्प्राय हो जाते हैं । भगवती श्रुतिने भी कहा है—'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' अर्थात् जो असत् देह आदिको ब्रह्म समझता है वह असत् ही हो जाता है । श्लोकमें 'जनैडकाः' पद है अर्थात् जनरूपी एडक (भेड़) । किसी किसी यज्ञमें भेड़ोंका बलिदान प्रसिद्ध है अथवा एडकशब्दकी बकरेमें लक्षणाकर नररूपी बकरा अर्थ कर लेना चाहिए * ॥ २२ ॥

* भाव यह कि जैसे यजमान यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिए यज्ञस्तम्भमें बँधे हुए बकरे आदिका संस्कार करता है, तदुपरान्त ऋत्विक् उसका यथाविधि हनन और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका छेदन करते हैं, वैसे ही परम प्रिय प्राण भी विषयभोग और देहपोषण आदि द्वारा अति परिपुष्ट लोगोको निन्दित कर्मोंमें फँसाकर दोषसे लाञ्छित कर देते हैं । तदुपरान्त रोग उनपर आक्रमण कर उनका नाम-निशान मिटा देते हैं ।

संस्कृत टीकाकारोंने इस श्लोकके और भी अर्थ किये हैं—

प्रिय प्राण, पोषण करनेवाले जिन नरपशुओंसे स्वयं पुष्ट हुए, उन्हीं नरपशुओंको बलात्कारसे निन्दित कर्मरूपी जालमें फँसाकर कालके (मृत्युके) सम्मुख कर देते हैं अर्थात् कालको उपहार देते हैं, अतएव कृतघ्न प्राण शरीरके विनाशक होनेके कारण प्रिय नहीं हैं, किन्तु अप्रिय (शत्रु) ही हैं । इससे निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यको केवल प्राणोंके पोषणमें ही तत्पर नहीं रहना चाहिए ।

अथवा—यद्यपि मूढ जन प्राणोंके पोषणमें सदा तत्पर रहते हैं तथापि वे प्रियप्राण (प्राणोंके प्रति प्रेम करनेवाले) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे तो उलटे मृत्युके मुँहमें डालनेवाले उपायोंके आचरण द्वारा प्राणोंके नाशक ही हैं । वास्तवमें तत्त्वज्ञ पुरुष ही प्राणोंपर प्रेम करनेवाले हैं, क्योंकि वे तत्त्वदृष्टिसे प्राणोंमें नित्य आत्मभाव प्राप्तकर उनके रक्षक हैं । अतएव वे प्रिय प्राण गर्हित कर्मोंमें फँसे हुए मूढ जनरूपी पशुओंका आदर नही करते । उत्तरार्द्धसे मूढ जनोंकी अपेक्षा तत्त्वज्ञ पुरुषोंमें अतिशय दिखलाते हैं—जो तत्त्वज्ञानसे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरके बाधसे अपरिच्छिन्नताको प्राप्त हुए हैं, उनकी मूढ़ जनोंकी नाईं देहमें आत्मबुद्धि नहीं हो सकती । मूढ जनोंकी अपेक्षा तत्त्वज्ञोंमें यही विशेष है ॥

अजस्रमागच्छति सत्वरैवमनारतं गच्छति सत्वरैव ।
कुतोऽपि लोला जनता जगत्यां तरङ्गमाला क्षणभङ्गुरेव ॥ २३ ॥
प्राणापहारैकपरा नराणां मनो मनोहारितया हरन्ति ।
रक्तच्छदाश्चञ्चलषट्पदाक्ष्यो विषद्रुमालोललताः स्त्रियश्च ॥ २४ ॥
इतोऽन्यतश्चोपगता मुधैव समानसङ्केतनिबद्धभावा ।
यात्रासमासङ्गसमा नराणां कलत्रमित्रव्यवहारमाया ॥ २५ ॥
प्रदीपशान्तिष्विव भुक्तभूरिदशास्वतिस्नेहनिबन्धनीषु ।
संसारमालासु चलाचलासु न ज्ञायते तत्त्वमतात्त्विकीषु ॥ २६ ॥

इस संसारमें यह चञ्चल जनता क्षणमें नष्ट होनेवाली तरङ्गोंकी पङ्क्तियोंके समान न मालूम कहाँसे सदा बड़ी त्वराके साथ आती है और जैसे आती है वैसे ही त्वराके साथ न मालूम सदा कहाँ चली जाती है । 'कुतोऽपि' इस कथनसे जहाँसे आती है और जहाँ चली जाती है, उस स्थानको हम जानना चाहते हैं, यह सूचित होता है ॥ २३ ॥

जैसे चञ्चल भ्रमररूपी नयनोंसे युक्त (चञ्चल भ्रमरोंसे सेवित), लाल पल्लवोंसे आच्छन्न विषवृक्षपर चढी हुई विषलताएँ देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण पहले मनको हर लेती हैं पीछे प्राणनाशिनी होती हैं, वैसे ही मनुष्योंके प्राणहरणमें तत्पर भ्रमरके समान चञ्चल नयनवाली और बिम्बोष्ठी नारियाँ मनोहर होनेके कारण पहले चित्तको चुरा लेती हैं फिर प्राणोंको हर लेती हैं ॥ २४ ॥

जैसे तीर्थयात्रा या महोत्सवमें बहुतसे आदमियोंका सम्मेलन होता है, वैसे ही मनुष्यलोकसे या स्वर्ग आदि लोकोंसे व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हम लोगोंकी भेंट होगी यों परस्पर सङ्केत और अभिप्रायसे इकट्ठे हुए लोगोंमें परस्पर स्त्री, पुत्र, मित्र आदि व्यवहार होता है। यह व्यवहार माया नहीं है तो और क्या है ? ॥ २५ ॥

संसार (जन्म-मरणकी परम्पराएँ) दीपकोंके निर्वाण (बुतने) के अनुरूप है । जैसे प्रदीप रात्रिभर प्रचुर तेल और बहुत-सी बत्तियोंका भक्षणकर अन्तमें बुत जाता है, वहांपर फिर उसका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता अर्थात् प्रचुर तेल और बत्तियोंका भक्षण करनेवाले अतिचञ्चल अतएव मिथ्याभूत क्षणिक दीपशिखाके निर्वाण-प्रवाहमें पारमार्थिक वस्तु प्रतीत नहीं होती, वैसे ही बाल्य आदि सैकड़ों

संसारसंरम्भकुचक्रियेयं प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुराऽपि ।
असावधानस्य जनस्य बुद्धौ चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥ २७ ॥
शोभोज्ज्वला दैववशाद्विनष्टा गुणाः स्थिताः सम्प्रति जर्जरत्वे ।
आश्वासनादूरतरं प्रयाता जनस्य हेमन्त इवाऽम्बुजस्य ॥ २८ ॥
पुनः पुनर्दैववशादुपेत्य स्वदेहभारेण कृतोपकारः ।
विलूयते यत्र तरुः कुठारैराश्वासने तत्र हि कः प्रसङ्गः ॥ २९ ॥

अवस्थाओंका भोग करनेवाले अत्यन्त स्नेहसे (रागसे) परिपूर्ण, अत्यन्त चञ्चल (क्षण-विध्वंसी) अतएव मिथ्याभूत संसारमें कोई भी वस्तु पारमार्थिक नहीं है ॥ २६ ॥

यह संसार कुलालके (कुम्हारके) चाकके समान है। जैसे कुलालके चाकके खूब जोरसे घूमनेपर भी असावधान आदमीको यह नहीं घूम रहा है, स्थिर है, ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही यह संसारप्रवृत्तिरूप कुचक्र भी लोगोंको भ्रममें डालता है। वास्तवमें है तो यह वर्षा ऋतुके जलके बुद्बुदोंके समान क्षणभङ्गुर, पर असावधान लोगोंकी बुद्धिमें अपनी चिरस्थायिताकी प्रतीति करा देता है॥ २७ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें कमलके सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि गुण शोभासे देदीप्यमान रहते हैं, किन्तु हेमन्त ऋतुमें वे सब नष्ट हो जाते हैं, फिर उनसे न चित्तको शान्ति मिलती है और न घ्राणेन्द्रियको तृप्ति ही मिलती है, वैसे ही यौवना-वस्थामें मनुष्यके जो सौकुमार्य और सौन्दर्य आदि गुणगण शोभासे उज्ज्वल रहते हैं, वे वृद्धावस्थामें भाग्यवश विनष्ट होकर दुर्लभ हो जाते हैं; इसलिए उनमें विश्वास करना उचित नहीं है ॥ २८ ॥

इस संसारमें बेचारा वृक्ष पृथिवी, जल, वायु आदि तत्त्वोंके कारण, न कि किसी पुरुष द्वारा किये गये उपकारके कारण, जन्म, वृद्धि और फल-फूल आदि समृद्धिको प्राप्त होकर अपने देहधारणसे छाया, पत्तियां, फूल, फल आदि द्वारा बारबार लोगोंका उपकार करता है, किसीका तनिक भी अपराध नहीं करता; फिर भी वह कुल्हाड़ियोंसे काटा जाता है। भला बतलाइए तो सही, ऐसे कृतघ्न संसारमें पद-पदमें जिससे अपराध हो सकते हैं और जिससे किसीका उपकार भी नहीं हो सकता, ऐसे मनुष्यके विषयमें क्या विश्वास किया जा सकता है? भाव यह कि यदि वह अपकार न भी करे, तो भी मृत्यु उसका नाश कर डालेगी। मृत्युके घरमें उपकारी और अपकारीके प्रति कोई भेदभाव नहीं है ॥ २९ ॥

सर्वत्र पाषाणमया महीध्रा मृदा मही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा नाऽपूर्वमस्तीह विकारहीनम् ॥ ३३ ॥
आलोक्यते चेतनयाऽनुविद्धा पयोनुबद्धोऽस्तनयो नभः स्थाः ।
पृथग्विभागेन पदार्थलक्ष्म्या एतज्जगन्नेतरदस्ति किञ्चित् ॥ ३४ ॥

दृष्टिमें अणुरूप ही है, इसलिए अणुत्व और महत्त्व बुद्धि भी असत्य ही है ॥३२॥

इसी प्रकार प्रकृतिकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विकार भी असत्य ही प्रतीत होते हैं, ऐसा कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे ।

पर्वत वस्तुतः पाषाण ही हैं, पृथिवी मिट्टी ही है, वृक्ष काष्ठ ही हैं और मनुष्य मांस आदि ही हैं अर्थात् पर्वत पत्थरसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, पृथिवी मिट्टीसे अतिरिक्त नहीं है, वृक्षोंमें काष्ठसे भिन्न कुछ नहीं है और मनुष्य भी हाड़, मांस आदिके ही पुतले हैं, उनसे पृथक् उनमें कुछ नहीं है । यदि ऐसा है, तो उनमें पर्वत आदि विशेषबुद्धि क्यों होती है ? ऐसी शङ्का यदि हो, तो उसपर सुनिए—व्यवहारके लिए मनुष्योंने उनका नाम रख दिया है, वास्तवमें वे पूर्वसिद्ध पाषण आदि पदार्थोंसे भिन्न नहीं हैं । इसी प्रकार सब जगह तुल्य युक्तिसे विकाररहित सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिभूत एक ही वस्तु है, ऐसा युक्तिसे प्रतीत होता है । अथवा यदि यह शङ्का हो कि पर्वत आदि विकार भले ही असत्य हों, उनके कारण पाषाण, मृत् आदिकी असत्यता कैसे ? उसपर कहते हैं—'नाऽपूर्वम्' इत्यादिसे । वे भी अपने कारण महाभूतोंके विकार हैं, अतः असत्य हैं । इस भोग्यवर्गमें विकारसे भिन्न कुछ भी नहीं है । विकार होनेसे ये विषय आदि सब मिथ्या हैं, इसलिए भी इनपर विश्वास नहीं ही करना चाहिए ॥ ३३ ॥

पाषाण आदि केवल महाभूतमात्र हैं, ऐसा जो पहले कहा था, उसीको स्फुट करते हैं—'**आलोक्यते**' इत्यादिसे ।

जल, वह्नि, वायु, आकाश और पृथिवी ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर गो, घट आदि नाना पदार्थोंके रूपमें अविवेकी पुरुषों द्वारा उनकी बुद्धिसे प्रतीत होते हैं, यह बड़े खेदकी बात है । विवेकदृष्टिसे पृथक्-पृथक् विभागसे पर्यालोचन करनेपर तो पञ्चभूतसे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है अर्थात् अविवेकी पुरुष ही मोहवश पञ्चमहाभूतविकार जगत्को सत्य समझता है, पर

चमत्कृतिश्चेह मनस्विलोकचेतश्चमत्कारकरी नराणाम् ।
स्वप्नेऽपि साधो विषयं कदाचित् केषाञ्चिदभ्येति न चित्ररूपा ॥ ३५ ॥
अद्याऽपि यातेऽपि च कल्पनाया आकाशवल्लीफलवन्महत्त्वे ।
उदेति नो लोभलवाहतानामुदारवृत्तान्तमयी कथैव ॥ ३६ ॥
आदातुमिच्छन् पदमुत्तमानां स्वचेतसैवाऽपहतोऽद्य लोकः ।
पतत्यशङ्कं पशुरद्रिकूटादानीलवल्लीफलवाञ्छयैव ॥ ३७ ॥

जो विवेकी हैं, उनको तो इस जगत्में पञ्चमहाभूतसमुदायसे अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ प्रतीत नहीं होता ॥ ३४ ॥

यदि इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंको असत्य मानें, तो मनुष्योंके व्यवहार और भोग कैसे होंगे ? शुक्तिरजतसे क्या कोई भी कड़ा बना सकता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'**चमत्कृतिश्चेह**' इत्यादि ।

मुनिवर, इस मिथ्यारूप जगत्में व्यवहारकुशल विद्वान् लोगोंके भी मनमें भोगचमत्कारको उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहारचमत्कृति प्रतीत होती है, वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि कदाचित् स्वप्नमें मिथ्याभूत विषयोंको भी देखकर उस प्रकारकी चमत्कृति लोगोंको होती है ॥ ३५ ॥

यदि भोगचमत्कार होता है, तो अभी क्यों विरक्त होते हो ? भोगोंको भोगकर वृद्धावस्थामें विरक्त होकर विचार किया जा सकता है, ऐसी आशङ्का होनेपर भोगोंमें आसक्ति होनेसे वैराग्य और विचार दोनों दुर्लभ हैं, ऐसा कहते हैं—'**अद्याऽपि**' इत्यादिसे ।

इस युवावस्थामें और आनेवाली वृद्धावस्थामें आकाशलताके फलके समान मिथ्यारूप भी भोगासक्तिकल्पना जब अविचारके कारण वृद्धिको प्राप्त होती है तब भोग और उसके साधनोंमें आसक्त पुरुषोंमें परमात्माके स्वरूपका निरूपण करनेवाली कथा ही उदित नहीं होती, निरन्तर उसका विचार करना तो दूर रहा ॥ ३६ ॥

आसक्ति होनेपर केवल पुरुषार्थकी हानि ही नहीं होती, प्रत्युत महान् अनर्थ भी होता है, ऐसा कहते हैं—'**आदातु०**' इत्यादिसे ।

जैसे पशु हरी-हरी लतारूप फलकी प्राप्तिकी इच्छासे ही पर्वतशिखरसे गिर पड़ता है, वैसे ही उत्कृष्टभोगशाली पुरुषोंका पद (समता या राज्य, धन आदि) प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष राग, लोभ आदिसे मूढ़ अर्थात् प्रचुर राग और

अवान्तरन्यस्तनिरर्थकांशच्छायालतापत्रफलप्रसूनाः ।
शरीर एव क्षतसम्पदश्च श्वभ्रद्रुमा अद्यतना नराश्च ॥ ३८ ॥
क्वचिज्जना मार्दवसुन्दरेषु क्वचित्कठोरेषु च सञ्चरन्ति ।
देशान्तरालेषु निरन्तरेषु वनान्तखण्डेष्विव कृष्णसाराः ॥ ३९ ॥
धातुर्नवानि दिवसं प्रति भीषणानि
रम्याणि वा विलुलितान्ततमाकुलानि ।
कार्याणि कष्टफलपाकहतोदयानि
विस्मापयन्ति न शवस्य मनांसि केषाम् ॥ ४० ॥

लोभसे अभिभूत अपने चित्तसे आहत होकर पूर्वावस्थामें ही पतनरूप गर्तमें गिर जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३७ ॥

हे मुने ! आजकलके मनुष्य गड्ढेके वृक्षोंके समान हैं, क्योंकि जैसे गड्ढेके वृक्षके छाया, लता, पत्ते, फल, फूल आदि गड्ढेमें ही रह जाते हैं, अंशतः भी प्राणी उनका भोग नहीं कर सकते, वैसे ही मनुष्य भी अपने शरीरके पोषणके लिए ही अपनी विद्या, विनय, धन, सम्पत्ति आदिको व्यर्थ नष्ट कर देते हैं उनसे किसी दूसरेका उपकार नहीं होता ॥३८॥

यद्यपि कहीं धार्मिक पुरुष हैं, तथापि विवेकी पुरुष तो अति दुर्लभ हैं, ऐसा कहनेके लिए दो प्रकारके मनुष्योंको कहते हैं—'**क्वचिज्जना**' इत्यादिसे ।

जैसे कृष्णसार मृग गहन जङ्गलोंमें इधर-उधर भ्रमण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी कहींपर दया, उदारता, क्षमा, सौन्दर्य, विद्या, विनय आदिसे युक्त सज्जन पुरुषोंके समाजमें और कहींपर क्रोध, लोभ, निष्ठुरता आदिसे परिपूर्ण पापासक्त दुराचारियोंकी सन्निधिमें विहार करते हैं ॥ ३९ ॥

लोगोंकी दुर्गतिको देखकर दुःखित हुए श्रीरामचन्द्रजी लोगोंकी दुर्गतिमें कारणभूत दैवकी निन्दा करते हैं—'**धातुः**' इत्यादिसे ।

महर्षे, यह दैव अचेतन होनेके कारण मृतक-समान है । यदि यह जीवित होता, तो ऐसा निर्दय न होता । यह (दैव) इस संसारमें प्रतिदिन फलसे भीषण (भीषण क्लेश देनेवाले), आपाततः (विचारके बिना) भले प्रतीत होनेवाले, राग आदिसे अत्यन्त व्याकुल चित्तवाले लोगोंसे पूर्ण एवं अन्तमें कष्टरूपी फल देनेके कारण जिनका उदय दूषित है, ऐसे नूतन-नूतन कार्य करता है । उसके ये कार्य किन विवेकशील पुरुषोंके मनको आश्चर्यचकित नहीं करते ! ॥४०॥

जनः कामासक्तो विविधकुकलाचेष्टनपरः
स तु स्वप्नेऽप्यस्मिन् जगति सुलभो नाऽद्य सुजनः ।
क्रिया दुःखासङ्गाविधुरविधुरा नूनमखिला
न जाने नेतव्या कथमिव दशा जीवितमयी ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे निःश्रेयसविरोधिभावानित्यताप्रतिपादनं नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन् स्वप्नसङ्गमसंनिभम् ॥ १ ॥

संसारकी अभद्रताका प्रतिपादन कर उसका उपसंहार करते हुए उससे होनेवाली अपने चित्तकी उद्विग्नता दिखलाते हैं—'जनः' इत्यादिसे ।

आजकल स्वप्नके समान मिथ्याभूत इस संसारमें विविध प्रकारके छल-कपटोंसे व्यवहार करनेवाले, विषयासक्त मनुष्य सर्वत्र सुलभ हैं, पर विवेकशील पुरुष अतिदुर्लभ हैं, और सम्पूर्ण कर्म अत्यन्त दुःखोंसे रहित साधनों अथवा फलोंसे शून्य हैं, अर्थात् ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसके साधन अथवा फल अत्यन्त दुःखसे रहित हों, सभी क्रियाएँ दुःखमय ही हैं । मुनिवर, समझमें नहीं आता है कि हम लोगोंकी जीवनदशा कैसे बीतेगी ॥ ४१ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[सम्पूर्ण भोग्यपदार्थोंमें विरसताकी प्रतीतिके लिए उनकी परिवर्तनशीलताका वर्णन]

सब पदार्थोंमें निरन्तर परिवर्तन देखनेसे भी उनमें स्थायिताका विश्वास नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'यच्चेदम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप दृश्य जगत् दिखाई देता है, वह सब स्वप्नके समाजसम्मेलनके समान असत्य या अस्थिर है ॥१॥

शुष्कसागरसङ्काशो निखातो योऽद्य दृश्यते ।
स प्रातरभ्रसंवीतो नगः सम्पद्यते मुने ॥ २ ॥
यो वनव्यूहविस्तीर्णो विलीढगगनो महान् ।
दिनैरेव स यात्युर्वीसमतां कूपतां च वा ॥ ३ ॥
यदङ्गमद्य संवीतं कौशेयस्रग्विलेपनैः ।
दिगम्बरं तदेव श्वो दूरे विशारिताऽवटे ॥ ४ ॥
यत्राऽद्य नगरं दृष्टं विचित्राचारचञ्चलम् ।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्यधर्मता ॥ ५ ॥
यः पुमानद्य तेजस्वी मण्डलान्यधितिष्ठति ।
स भस्मकूटतां राजन् दिवसैरधिगच्छति ॥ ६ ॥
अरण्यानी महाभीमा या नभोमण्डलोपमा ।
पताकाच्छादिताकाशा सैव सम्पद्यते पुरी ॥ ७ ॥

मुनिजी, आज यहांपर सूखे समुद्रके सदृश गम्भीर जो यह विशाल गड्ढा दिखाई देता है, वही कल मेघमालासे परिवेष्टित पर्वत बन जाता है और जो आज यहांपर विविध वनश्रेणियोंसे परिपूर्ण गगनचुम्बी महापर्वत दिखाई देता है, कुछ ही दिनोंमें वही समतल पृथिवीके रूपमें या गम्भीर कुएँके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ २, ३ ॥

आज जो शरीर रेशमी वस्त्र, माला और कुङ्कुम, केसर एवं कस्तूरीके विलेपनसे विभूषित है, वही कल वस्त्रशून्य (नंगा) होकर ग्राम या नगरसे दूरवर्ती गड्ढेमें सड़ेगा ॥ ४ ॥

जहांपर आज अद्भुत आचार-व्यवहारवाले मनुष्योंकी चहल-पहलसे परिपूर्ण नगर दिखाई देता है, कुछ ही दिनोंके बाद वहींपर सूना अरण्य बन जाता है ॥५॥

जो पुरुष आज तेजस्वी है, अनेक सामन्तोंपर शासन करता है, वही कुछ ही दिनोंके अनन्तर भस्मराशि (राखकी ढेरी) बन जाता है ॥ ६ ॥

आज जो महारण्य विस्तार और नीलता में आकाशमण्डलको मात करता है, अर्थात् आकाशके समान विशाल और गहन होनेके कारण आकाशके समान काला है, वही थोड़े दिनोंमें पताकाओंसे आकाशको पाट देनेवाला महानगर बन जाता है ॥ ७ ॥

या लतावलिता भीमा भात्यद्य विपिनावली ।
दिवसैरेव सा याति पुनर्मरुमहीपदम् ॥ ८ ॥

सलिलं स्थलतां याति स्थलीभवति वारिभूः ।
विपर्यस्यति सर्वं हि सकाष्ठाम्बुतृणं जगत् ॥ ९ ॥

अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसंचयाः ।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवदनारतम् ॥ १० ॥

वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम् ।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥ ११ ॥

विपर्यासमियं याति भूरिभूतपरम्परा ।
बीजराशिरिवाऽजस्रं पूर्यमाणः पुनः पुनः ॥ १२ ॥

आज जो लताओंसे वेष्टित अतएव भयङ्कर वनश्रेणी दिखाई देती है, वही थोड़े ही दिनोंमें जल और वृक्षोंसे शून्य मरुभूमि (रेगीस्तान) बन जाती है ॥ ८ ॥

जहांपर अगाध जल भरा रहता है, वे बड़े-बड़े तालाब और समुद्र स्थल बन जाते हैं और स्थल जलाशय बन जाता है, बहुत कहांतक कहें, काष्ठ, जल और तृणोंसे युक्त यह सारा-का-सारा जगत् विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

युवावस्था, बाल्यावस्था, शरीर और धनसम्पत्ति ये सब-के-सब अनित्य हैं। जैसे तरङ्ग लगातार जलसे तरङ्गरूपताको और तरङ्गसे जलरूपताको प्राप्त होती हैं वैसे ही सब पदार्थ निरन्तर अपने पूर्व स्वभावसे अन्य स्वभावको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

इस संसारमें जीवन प्रखर वायुसे पूर्ण स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लूके समान अत्यन्त चञ्चल है और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण पदार्थोंकी चमक-दमक बिजलीकी चमकके सदृश क्षणिक है ॥ ११ ॥

जैसे भण्डार घरमें पुनःपुन भरनेपर भी धान, गेहूँ आदि अन्नोंकी राशि प्रतिदिनके व्ययसे रिक्त हो जाती या खेतमें बोई गई और पानीसे सींची जाती हुई धान्यराशि अङ्कुर और पौधेके रूपसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त होती है, वैसे ही ये विविध पदार्थ विपरीत अवस्था (परिवर्तन) को प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

मनःपवनपर्यस्तभूरिभूतरजःपटा ।
पातोत्पातपरावर्तपराभिनयभूषिता ॥ १३ ॥
आलक्ष्यते स्थितिरियं जागती जनितभ्रमा ।
नृत्तावेशविवृत्तेव संसारारभटी नटी ॥ १४ ॥
गन्धर्वनगराकारविपर्यासविधायिनी ।
अपाङ्गभङ्गुरोदारव्यवहारमनोरमा ॥ १५ ॥
तडिच्चरलमालोकमातन्वाना पुनः पुनः ।
संसाररचना राजन् नृत्तसक्तेव राजते ॥ १६ ॥
दिवसास्ते महान्तस्ते सम्पदस्ताः क्रियाश्च ताः ।
सर्वं स्मृतिपथं यातं यामो वयमपि क्षणात् ॥ १७ ॥

अतिशय आडम्बरसे शोभित होनेवाली संसाररचना अत्यन्तकौशलपूर्ण नटीके समान है । यह नर्त्तनके आवेशसे युक्त नटीके समान अपना अतिशय नृत्य कौशल प्रकट करनेके लिए अङ्गपरिवर्तन द्वारा पद-पदमें भ्रम उत्पन्न करती है । मनरूप वायुसे परिचालित जीवरूप धूलि ही इस संसाररचनारूप नर्तकीके वस्त्र हैं और प्राणियोंको नरकमें गिराना, स्वर्गमें पहुँचाना और पुनः इसी लोकमें वापिस लाना ही इसके उत्तम अभिनय हैं, उनसे यह विभूषित है ॥ १३, १४ ॥

ब्रह्मन्, कटाक्षदर्शनके समान क्षणभङ्गुर व्यवहारपरम्परासे मनोहर यह संसाररचना कटाक्षपात और क्षणभङ्गुर नई-नई कारीगरियोंसे मनोहर नृत्तासक्त नटीके समान अद्भुत गन्धर्वनगरके सदृश अनेक भ्रम उत्पन्न करती है और यह पुनः पुनः बिजलीरूप चञ्चल दृष्टिको फैलाती है अर्थात् जैसे ऐन्द्रजालिक-स्त्री तन्त्र और मन्त्रोंके विस्तार द्वारा लोगोंके नयनोंकी दर्शनशक्तिको आच्छादित कर अवस्तुमें वस्तु ज्ञान उत्पन्न कराती है, यह संसाररचनारूप नर्तकी भी वैसे ही भ्रान्ति अर्थात् अवस्तुमें वस्तु और वस्तुमें अवस्तु दर्शन करा रही है । इसकी दृष्टि बिजलीसे भी चञ्चल है अतएव यह नृतासक्त संसाररचना नृतासक्त नटीके समान है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १५,१६ ॥

महर्षिजी, आप विचार कर देखें, वे उत्सव और वैभवसे परिपूर्ण दिन, वे महापुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ, वे यज्ञ आदि क्रियाएँ कहाँ हैं? वे सब-के-सब हमारे दृष्टिपथसे दूर हो गये हैं, अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई है, वैसे ही हम भी

प्रत्यहं क्षयमायाति प्रत्यहं जायते पुनः ।
अद्याऽपि हतरूपाया नाऽन्तोऽस्या दग्धसंसृतेः ॥ १८ ॥
तिर्यक्त्वं पुरुषा यान्ति तिर्यञ्चो नरतामपि ।
देवाश्चाऽदेवतां यान्ति किमिवेह विभो स्थिरम् ॥ १९ ॥
रचयन् रश्मिजालेन रात्र्यहानि पुनः पुनः ।
अतिवाह्य रविः कालो विनाशावधिमीक्षते ॥ २० ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवाऽनुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥ २१ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
विनाशवाडवस्यैतत्सर्वं संशुष्कमिन्धनम् ॥ २२ ॥

थोड़े ही दिनोंमें चले जायँगे, हमारी भी केवल स्मृति ही शेष रह जायगी ॥१७॥

यह गर्हित संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन फिर उत्पन्न होता है। कितना काल बीत गया इसकी इयत्ता नहीं है, फिर भी आजतक इस निन्दित संसारका अन्त नहीं हुआ, यह बराबर चलता ही जाता है ॥ १८ ॥

मनुष्य पशु आदि योनिको प्राप्त होते हैं, पशु आदि मनुष्य-जन्मको प्राप्त होते हैं और देवता देवभिन्न योनियोंमें जन्म लेते हैं; भला बतलाइए तो सही, इस संसारमें कौन वस्तु स्थिर है ? सभीका तो विपर्यास दिखलाई दे रहा है॥१९॥

कालरूप सूर्य अपनी किरणों द्वारा रात-दिन पुनः पुनः प्राणियोंकी सृष्टिकर अनेक रात्रि और दिनोंको बिताकर स्वयं रचित भूतोंके विनाशकी अवधिकी प्रतीक्षा करता है ॥ २० ॥

और को क्या कहें, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि एवं सम्पूर्ण प्राणिवर्ग, जैसे जल वाड़वाग्निका अनुसरण करता है वैसे ही विनाशका अनुसरण करते हैं ॥२१॥

कहाँतक कहें, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत नदियाँ, दिशाएँ ये सब-के-सब विनाशरूपी अग्निके* लिए सूखे काठ हैं अर्थात् जैसे अग्निको सूखे काठको जलानेमें कुछ भी विलम्ब नहीं होता, वैसे ही इनका विनाश होनेमें भी कुछ काल नहीं लगता ॥ २२ ॥

* मूलमें स्थित वाड़वशब्द भागत्यागलक्षणा द्वारा अग्निका प्रतिपादक है, क्योंकि अन्यथा प्रसिद्ध वड़ावाग्नि जलको तक जला डालती है, इसलिए उसके दाह्य इन्धनोंमें शुष्क विशेषण अनुपयुक्त होगा ।

धनानि बान्धवा भृत्या मित्राणि विभवाश्च ये ।
विनाशभयभीतस्य सर्वं नीरसतां गतम् ॥ २३ ॥
स्वदन्ते तावदेवैते भावा जगति धीमते ।
यावत्स्मृतिपथं याति न विनाशकुराक्षसः ॥ २४ ॥
क्षणमैश्वर्यमायाति क्षणमेति दरिद्रताम् ।
क्षणं विगतरोगत्वं क्षणमागतरोगताम् ॥ २५ ॥
प्रतिक्षणविपर्यासदायिना निहतात्मना ।
जगद्भ्रमेण के नाम धीमन्तो हि न मोहिताः ॥ २६ ॥
तमःपङ्कसमालब्धं क्षणमाकाशमण्डलम् ।
क्षणं कनकनिष्यन्दकोमलालोकसुन्दरम् ॥ २७ ॥

कालके भयसे भीत पुरुषोंके धन-सम्पत्ति, बन्धु-बान्धव, भृत्य, मित्र और ऐश्वर्य ये सब नीरस हो गये हैं ॥ २३ ॥

इस जगत्में विवेकशील पुरुषोंको तभीतक ये पदार्थ भले लगते हैं, जब तक कि विनाशरूपी दुष्ट राक्षसका स्मरण नहीं होता ॥ २४ ॥

मुनिवर, इस संसारमें क्षणभरमें मनुष्य वैभवपूर्ण हो जाता है, क्षणभरमें दरिद्र बन जाता है, क्षणभरमें नीरोग हो जाता है और क्षणभरमें ही रोगसे आक्रान्त हो जाता है । गिरगिटके समान क्षणभरमें रंग बदलनेवाले नश्वर जगद्-रूपी भ्रमसे कौन बुद्धिमान् जन मोहित नहीं हुए अर्थात् इस गर्हित जगद्भ्रमने सभीको मोहमें डाल रक्खा है ॥ २५,२६ ॥

इस जगत्की अनियत स्थितिको ही उदाहरण द्वारा विशद करते हैं—**'तमः'** इत्यादिसे ।

आकाशमण्डल कभी निविड अन्धकारसे आच्छन्न हो जाता है, कभी सुवर्णद्रवके समान उज्ज्वल चाँदनी आदिसे उद्भासित हो उठता है, कभी मेघरूपी नीलकमलकी मालासे परिवृत हो जाता है, कभी गम्भीरतर घनगर्जनसे परिपूर्ण हो जाता है, कभी मूककी नाईं सुनसान हो जाता है, कभी तारोंकी पङ्क्तियोंसे रञ्जित हो जाता है, कभी सूर्यकी किरणोंसे विभूषित हो जाता है, कभी चाँदनीरूपी आभूषणसे अलङ्कृत हो उठता है और कभी पूर्वोक्त कोई भी पदार्थ उसमें नहीं रहते । क्या ये सब आकाशके स्वरूप हैं ? नहीं, वह तो वर्ण आदिसे

क्षणं जलदनीलाब्जमालावलितकोटरम् ।
क्षणमुड्डामररवं क्षणं मूकमिव स्थितम् ॥ २८ ॥
क्षणं ताराविरचितं क्षणमर्केण भूषितम् ।
क्षणमिन्दुकृताह्लादं क्षणं सर्वबहिष्कृतम् ॥ २९ ॥
आगमापायपरया क्षणसंस्थितिनाशया ।
न बिभेति हि संसारे धीरोऽपि क इवाऽनया ॥ ३० ॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पदः ।
क्षणं जन्म क्षणं मृत्युर्मुने किमिव न क्षणम् ॥ ३१ ॥
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः ।
सदेकरूपं भगवन् किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥ ३२ ॥
घटस्य पटता दृष्टा पटस्याऽपि घटस्थितिः ।
न तदस्ति न यद् दृष्टं विपर्यस्यति संसृतौ ॥ ३३ ॥
तनोत्युत्पादयत्यत्ति निहन्त्यासृजति क्रमात् ।
सततं रात्र्यहानीव निवर्तन्ते नरं प्रति ॥ ३४ ॥

रहित है, केवल उक्त प्रकारके आकारोंको धारण करता है, आकाश दृष्टान्त है। इसका दार्ष्टान्तिक संसार भी इसी भाँति घोर मायामय (भ्रान्तिमय) है। संसारका स्वरूप ठीक आकाशके सदृश है। हे महर्षे, आगम और अपायके वशीभूत एवं क्षणमें उत्पन्न और क्षणमें नष्ट होनेवाली इस जगत्-स्थितिसे कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी इस संसारमें भयभीत नहीं होता ॥ २७–३० ॥

मुने, क्षणमें आपत्तियाँ आती हैं एवं क्षणमें ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, केवल सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ ही नहीं, किन्तु क्षणमें ही जन्म होता है और क्षणभरमें ही मृत्यु हो जाती है। इस संसारमें कौन ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो अर्थात् सुस्थिर हो ॥ ३१ ॥

जो पुरुष पहले अन्य था, वही थोड़े दिनोंमें अन्य प्रकार हो गया। भगवन्, सदा एकरूपमें रहनेवाली सुस्थिर वस्तु यहाँ कोई भी नहीं है ॥ ३२ ॥

कपासके खेतमें नष्ट हुआ घड़ा कपासरूपमें परिणत होकर पट (वस्त्र) बन जाता है और पट भी घटरूप बन जाता है, इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई जिसका विपर्यास (परिवर्तन) नहीं होता ॥ ३३ ॥

पुरुषको परमात्मा वृद्धिको प्राप्त कराता है, विपरिणामको प्राप्त कराता है,

अशूरेण हतः शूर एकेनाऽपि हतं शतम् ।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यते जगत् ॥ ३५ ॥
जनतेयं विपर्यासमजस्रमनुगच्छति ।
जडस्पन्दपरामर्शात्तरङ्गाणामिवाऽऽवली ॥ ३६ ॥
बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥ ३७ ॥
क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम् ।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥ ३८ ॥

क्षीण करता है, नष्ट करता है और फिर जन्मको प्राप्त कराता है। क्रमसे वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश और जन्मको प्राप्त हो रहे देहाभिमानीके समीप ये पांच भावविकार भी चिरकाल तक नहीं रहते, रात्रि और दिनके समान निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् विपर्ययको प्राप्त हो जाते हैं। भाव यह कि रात्रि और दिनके समान उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, ह्रास और विनाश परापारीसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं, प्राप्त होकर स्थिर नही रहते, किन्तु पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं ॥ ३४ ॥

बलवान् दुर्बलके हाथ मारा जाता है, एक व्यक्ति भी सैकड़ों व्यक्तियोंको धराशायी बना देता है एवं सामान्य व्यक्ति भी प्रभुताको प्राप्त हो जाते हैं। बहुत क्या कहें, सारा जगत् ही परिवर्तनशील है ॥ ३५ ॥

जैसे जलका वेगक्रियाके साथ संपर्क होनेसे तरङ्गोंकी पङ्क्तियां लगातार परिवर्तित होती हैं, वैसे ही यह जनता (चेतनप्राणिसमूह) भी जड़ प्राण, इन्द्रिय आदिके संसर्गसे निरन्तर परिवर्तित होती है ॥ ३६ ॥

बाल्यावस्था थोड़े ही दिनोंमें चली जाती है, तदन्तर यौवन पदार्पण करता है, वह भी बाल्यावस्थाके अनुसार थोड़े ही दिनोंमें चल बसता है, तदुपरान्त वृद्धावस्था आती है। देखिए, देहमें भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, बाह्य पदार्थोंमें तो एकरूपताकी क्या आशा हो सकती है ? ॥ ३७ ॥

जैसे नट हर्ष, विषाद आदिका अभिनय करता है, वैसे ही मन भी हर्ष, विषादका अभिनय करता है, कभी वह किसी विषयको देखकर आनन्दको प्राप्त होता है, क्षणभरमें ही अन्यको देखकर दुःखी बन जाता है और क्षणभरमें सौम्य बन जाता है ॥ ३८ ॥

इतश्चाऽन्यदितश्चाऽन्यदितश्चाऽन्यदयं विधिः ।
रचयन् वस्तुना याति खेदं लीलास्विवाऽर्भकः ॥ ३९ ॥
चिनोत्युत्पादयत्यत्ति निहत्यासृजति क्रमात् ।
सततं रात्र्यहानीव निवर्तन्ते नरं प्रति ॥ ४० ॥
आविर्भावतिरोभावभागिनो भवभागिनः ।
जनस्य स्थिरतां यान्ति नाऽपदो न च सम्पदः ॥ ४१ ॥
कालः क्रिडत्ययं प्रायः सर्वमापदि पातयन् ।
हेलाविचलिताशेषचतुराचारचञ्चुरः ॥ ४२ ॥
समविषमविपाकतो विभिन्नास्त्रिभुवनभूतपरम्पराफलौघाः ।
समयपवनपातिताः पतन्ति प्रतिदिनमाततसंसृतिद्रुमेभ्यः ॥ ४३ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे सर्वभावाविरत-
विपर्यासप्रतिपादनं नामाऽष्टाविंशतितमः सर्गः ॥ २८ ॥

जैसे बालक खेल क्रीड़ामें कभी कुछ, कभी कुछ वस्तु बनाता हुआ थकता नहीं, वैसे ही यह विधाता भी इधर दूसरी, उधर दूसरी और उधर दूसरी वस्तुको बनाता हुआ खेदको प्राप्त नही होता, कभी थकता नहीं ॥ ३९ ॥

विधाता मनुष्योंको धान आदिके समान संचित कर बढ़ाता है, उनसे अन्य लोगोंकी (पुत्र-पौत्रादिरूपसे) उत्पत्ति कराता है; फिर उनको मारकर खा जाता है । उनको खानेमें उसे स्वाद मिल जाता है, फिर तो वह निरन्तर खानेके लिए अन्य लोगोंकी सृष्टि करता है । सृष्टिको प्राप्त मनुष्योंके पास हर्ष, विषाद आदि रात्रि और दिनकी नाई सदा आते जाते रहते हैं ॥ ४० ॥

उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषोंकी न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही स्थिर रहती हैं ॥ ४१ ॥

यह काल समर्थोंको भी अनादरके साथ परिवर्तित करनेमें अति दक्ष है । यह प्रायः सब लोगोंको आपत्तिमें ढकेल कर क्रीड़ा करता है ॥ ४२ ॥

कर्मोंके एवं रसोंके सम परिणाम और विषम परिणामसे विविध भाँतिके तीनों लोकोंके प्राणिसमुदायरूप फल समयरूपी वायु द्वारा आन्दोलित होकर विस्तृत संसाररूपी वृक्षोंसे प्रतिदिन गिरते हैं ॥ ४३ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

इति मे दोषदावाग्निदग्धे महति चेतसि ।
प्रस्फुरन्ति न भोगाशा मृगतृष्णा सरःस्विव ॥ १ ॥
प्रत्यहं याति कटुतामेषा संसारसंस्थितिः ।
कालपाकवशाल्लोला रसा निम्बलता यथा ॥ २ ॥
वृद्धिमायाति दौर्जन्यं सौजन्यं याति तानवम् ।
करञ्जकर्कशे राजन् प्रत्यहं जनचेतसि ॥ ३ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीका दोषदर्शनसे सम्पूर्ण पदार्थोंमें रववैराग्यवर्णन एवं चित्तकी शान्तिके लिए तत्त्वोपदेशकी प्रार्थना]

श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार दोषदर्शनसे अपने चित्तमें तत्त्वज्ञानजनक वैराग्य दर्शाते हैं—**'इति मे'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, इस प्रकार दोषदर्शनरूपी वनाग्निसे मेरा चित्त दग्धप्राय हो गया है अर्थात् उसमें पहले जो जगत्के प्रति स्थायित्वबुद्धि थी या जगत्के प्रति प्रेम था, वह जल गया है, अतएव वह विवेकसे परिपूर्ण है। जैसे जलाशयोंमें मृगतृष्णाका (सूर्यकिरणोंमें जलबुद्धिका) उदय नहीं होता (मरुभूमिमें ही मृगतृष्णाकी प्रतीति होती है) वैसे ही उक्तरूप मेरे चित्तमें भोगकी आशाका उदय नहीं होता ॥ १ ॥

जैसे छोटे-छोटे नीमके पेड़ कालकी अधिकतासे अर्थात् उत्तरोत्तर तिक्त, तिक्ततर और तिक्ततम होते हैं वैसे ही यह संसार भी हमारे प्रति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक कटुताको प्राप्त होता है अर्थात् जैसे-जैसे काल व्यतीत होता है, वैसे-वैसे यह संसार हमारे प्रति कटुप्राय होता जाता है ॥ २ ॥

भगवन्, मनुष्यका चित्त करञ्ज* वृक्षके फलके समान कठोरतम है । धर्मका अंशतः ह्रास और अधर्मकी अंशतः वृद्धि होनेके कारण उसमें दिन-पर-दिन दुर्जनता बढ़ती जाती है और सज्जनता क्षीण होती जाती है ॥ ३ ॥

* कांटेदार जंगली पेड़ ।

भज्यते भुवि मर्यादा झटित्येव दिनं प्रति ।
शुष्केव माषशिम्बीका टङ्कारकरवं विना ॥ ४ ॥

राज्येभ्यो भोगपूगेभ्यश्चिन्तावद्भ्यो मुनीश्वर ।
निरस्तचिन्ताकलिता वरमेकान्तशीलता ॥ ५ ॥

नाऽऽनन्दाय ममोद्यानं न सुखाय मम स्त्रियः ।
न हर्षाय ममाऽर्थाशा शाम्यामि मनसा सह ॥ ६ ॥

अनित्यश्चाऽसुखो लोकस्तृष्णा तात दुरुद्वहा ।
चापलोपहतं चेतः कथं यास्यामि निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

नाऽभिनन्दामि मरणं नाऽभिनन्दामि जीवितम् ।
यथा तिष्ठामि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥ ८ ॥

सूखी हुई उड़दकी छीमीको तोड़नेमें तो टंकारशब्द होता है पर संसारमें दिनप्रतिदिन बिना टंकारशब्दके बड़ी शीघ्रताके साथ मर्यादाका भङ्ग किया जा रहा है अर्थात् लोग संसारमें उड़दकी सूखी हुई छीमीके समान बड़ी शीघ्रतासे मर्यादाका भङ्ग कर रहे हैं, केवल अन्तर इतना ही है कि छीमीको तोड़नेमें शब्द होता है, पर मर्यादाको तोड़नेमें शब्द भी नहीं होता ॥ ४ ॥

मुनिश्रेष्ठ, विविध मानसिक चिन्ताओंसे परिपूर्ण प्रचुर भागोंसे युक्त राज्योंकी अपेक्षा चिन्ताशून्य महात्माओं द्वारा स्वीकृत एकान्तसेवन कहीं अच्छा है ॥ ५ ॥

उद्यानके दर्शन या विहारसे मुझे प्रसन्नता नहीं होती, स्त्रियोंसे मुझे सुख नहीं होता और धनप्राप्तिसे मुझे हर्ष नहीं होता । मै मनके साथ उपशान्त होना चाहता हूँ, यही मेरी प्रबल इच्छा है ॥ ६ ॥

शान्तिके सिवा दूसरा कोई भी सुखका साधन नही है, ऐसा कहते हैं— **'अनित्य०'** इत्यादिसे ।

पूज्य, यह संसार सुखरहित और विनाशी है, तृष्णा (विषयवासना) बड़ी तीव्र है और चित्तकी चञ्चलताकी कोई सीमा ही नहीं है, उससे शान्तिलाभकी आशा दुराशा ही है, मै कैसे निर्वृतिलाभ करूँगा, यही मैं सदा विचार करता हूँ ॥७॥

न मै मृत्युका अभिनन्दन करता हूँ और जीवनका ही अभिनन्दन करता हूँ । जिस अवस्थामें स्थित होनेसे मै लोकसन्तापसे निर्मुक्त हो जाऊँ, उसी अवस्थाका

किं मे राज्येन किं भोगैः किमर्थेन किमीहितैः ।
अहङ्कारवशादेतत् स एव गलितो मम ॥ ९ ॥
जन्मावलिवरत्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः ।
ये बद्धास्तद्विमोक्षार्थं यतन्ते ये त उत्तमाः ॥ १० ॥
मथितं मानिनीलोकैर्मनो मकरकेतुना ।
कोमलं खुरनिष्पेषैः कमलं करिणा यथा ॥ ११ ॥
अद्य चेत् स्वच्छया बुद्ध्या मुनीन्द्र न चिकित्स्यते ।
भूयश्चित्तचिकित्सायास्तत्किलाऽवसरः कुतः ॥ १२ ॥
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ॥ १३ ॥

मैं अवलम्बन करना चाहता हूँ । वह चाहे जीवनावस्थामें प्राप्त हो, चाहे मरनेके पश्चात् जब कभी हो, उसके लिए मैं व्यग्र नहीं हूँ ॥ ८ ॥

राज्यसे मुझे क्या करना है, भोगसे मेरा कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, धनसे मुझे क्या मतलब है, किसी प्रकारकी चेष्टासे भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अहङ्कारवश इनकी उत्पत्ति होती है, मेरा वह अहङ्कार ही नष्ट हो गया है ॥ ९ ॥

इन्द्रियोंका विषयोंकी आसक्तिसे मुक्त होना बड़ा कठिन है, अतएव इन्द्रियाँ ठहरी कभी न सुलझनेवाली दृढ़ ग्रन्थियाँ । उन ग्रन्थियों द्वारा जन्मपरम्परारूपी चमड़ेकी रस्सीमें बाँधे गये जीवोंमें से जो लोग उससे छुटकारा पानेके लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं ॥ १० ॥

जैसे हाथी अपने विशाल पैरके प्रहारसे कोमल कमलको कुचल डालता है, वैसे ही कामदेवने रमणियों द्वारा कोमल मनको मथ डाला है, नष्ट कर दिया है ॥ ११ ॥

मुनीश्वर, यदि इस बाल्यावस्थामें निर्मल बुद्धिसे चित्तकी चिकित्सा नहीं की गई, तो फिर चित्तकी चिकित्साका अवसर कब आयगा ? क्योंकि जबतक भली भाँति जड़ न जमी हो तभी छोटासा वृक्ष उखाड़ा जा सकता, जब वह बद्धमूल हो जाता है, तब तो उसे उखाड़ना बड़ा कठिन हो जाता है, ऐसी लोकोक्ति है ॥ १२ ॥

कुटिल विषय ही विष हैं, प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देहका अर्थात् जिस देहसे उसका सम्बन्ध होता है, उसीका विनाश करता है, मगर विषय तो अन्य जन्मोंमें भी देहको मृत्युके मुहमें डालते हैं ॥ १३ ॥

न सुखानि न दुःखानि न मित्राणि न बान्धवाः ।
न जीवितं न मरणं बन्धाय ज्ञस्य चेतसः ॥ १४ ॥
तद्ब्रवामि यथा ब्रह्मन् पूर्वापरविदां वर ।
वीतशोकभयायासो ज्ञस्तथोपदिशाऽऽशु मे ॥ १५ ॥
वासनाजालवलिता दुःखकण्टकसङ्कुला ।
निपातोत्पातबहुला भीमरूपाऽज्ञताटवी ॥ १६ ॥
क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने ।
संसारव्यवहारोत्थं नाऽऽशाविषयवैशसम् ॥ १७ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष भी तो विषयोंका भोग करते हुए सुखी आदि देखे जाते हैं, फिर उनमें कौन सी विशेषता है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'न सुखानि'** इत्यादिसे।

सुख, दुःख, मित्र, बन्धु, बान्धव, जीवन और मरण ये सब यद्यपि बन्धनके कारण हैं, तथापि ये ज्ञानीके चित्तके बन्धक नहीं होते, इसका कारण यही है कि ज्ञानी इनके वशमें नहीं होते ॥ १४ ॥

यतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलोच्छक होनेके कारण ज्ञानी होना ही परम पुरुषार्थ है, अतः ज्ञानोपदेशकी प्रार्थना करते हैं—**'तद्ब्रवामि'** इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, हे तत्त्वज्ञशिरोमणे, इसलिए जैसे मै ज्ञानी होकर शोक, भय और खेदसे शीघ्र मुक्त हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र दीजिये ॥ १५ ॥

शीघ्र उपदेश देनेके लिए अपनेमें अतिशय दुःखकी असहिष्णुता और वैराग्यमें उत्कण्ठता दिखलाते हैं—**'वासना०'** इत्यादिसे ।

अज्ञता भीषण अरण्यके सदृश है, जैसे अरण्यमें मृगोंको फँसानेके लिए जाल बिछे रहते हैं, चारों ओर काँटे बिखरे रहते हैं, जगह-जगह ऊँची-नीची भूमि रहती है, वैसे ही अज्ञता भी विषयवासनारूपी जालोंसे परिवेष्टित है, दुःखरूपी कण्टकोंसे आकीर्ण है और सम्पति-विपत्तिसे या स्वर्गनरकपरम्परासे पूर्ण है, इसलिए उससे मैं शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ ॥ १६ ॥

मुनिवर, यदि कोई मुझे आरेसे चीरे, तो मैं आरेके दाँतोंकी रगड़ सहनेके लिए समर्थ हूं, लेकिन सांसारिक व्यवहारसे उत्पन्न एवं आशा और विषयोंसे हुए संघर्षको मैं सहनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥ १७ ॥

इदं नाऽस्तीदमस्तीति व्यवहाराञ्जनभ्रमः ।
धुनोतीदं चलं चेतो रजोराशिमिवाऽनिलः ॥ १८ ॥
तृष्णातन्तुलवप्रोतं जीवसञ्चयमौक्तिकम् ।
चिदच्छाङ्गतया नित्यं विकसच्चित्तनायकम् ॥ १९ ॥
संसारहारमरतिः कालव्यालविभूषणम् ।
त्रोटयाम्यहमक्रूरं वागुरामिव केसरी ॥ २० ॥
नीहारं हृदयाटव्यां मनस्तिमिरमाशु मे ।
केन विज्ञानदीपेन भिन्धि तत्त्वविदां वर ॥ २१ ॥
विद्यन्त एवेह न ते महात्मन् दुराधयो न क्षयमाप्नुवन्ति ।
ये सङ्गमेनोत्तममानसानां निशा तमांसीव निशाकरेण ॥२२॥

यह अनिष्ट है, यह सोचकर उसके निवारणमें और यह इष्ट है, यह समझकर उसके सम्पादनमें प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहाररूप अविद्यारूपी अञ्जनसे उत्पन्न भ्रान्ति स्वभावतः चञ्चल चित्तको इस प्रकार कँपा डालती है जैसे वायु दीपककी लवको कँपाती है ॥ १८ ॥

जीवसमूहरूपी मोती तृष्णारूपी अत्यन्त सूक्ष्म धागेमें पिरोये गये हैं, साक्षीरूप चैतन्यके सम्बन्धसे एवं तैजस होनेके कारण अत्यन्त देदीप्यमान मन ही उस मालामें प्रधान (नायक) मणि है ॥ १९ ॥

वैराग्य आदिसे सम्पन्न मैं जैसे रोषपूर्ण सिंह जालको तोड़ डालता है, वैसे ही कालरूपी विटके आभूषण इस संसाररूपी हारको आपके उपदेशसे उत्पन्न ज्ञानसे—क्रोध, हिंसा आदि उग्र उपायोंके बिना—तोड़ता हूँ ॥ २० ॥

तत्त्वज्ञशिरोमणे, हृत्पुण्डरीक ही दुष्प्रवेश होनेके कारण अरण्य है, उसमें शैत्य और आवरणका हेतु होनेके कारण कुहरेके तुल्य और उसमें आत्मतत्त्वके अन्वेषणके लिए प्रवृत्त हुए मनके अन्धकारकी नाईं विवेकरूपी नेत्रको बन्दकर देनेवाले अज्ञानको सुखकर उपदेशरूपी सूर्यसे नष्ट कर दीजिये ॥ २१ ॥

महात्मन्, जैसे चन्द्रमासे रात्रिका अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही उत्तम पुरुषोंकी सङ्गतिसे प्राप्त उपदेशसे जिनका विनाश नहीं होता, ऐसी दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ इस जगतीतलमें हैं ही नहीं अर्थात् जैसे चन्द्रमा रात्रिके अन्धकारको नष्ट कर देता है, वैसे ही महात्मा पुरुषोंकी सङ्गतिसे लब्ध उपदेश भी सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालनाजलरयश्चेत्याकलय्य द्रुतं
मुद्रैवाऽद्य दृढाऽर्पिता ननु मया चित्ते चिरं शान्तये ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे सकलपदार्था-
नास्थाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

अभी तुम बालक हो, इसलिए तुममें शम, दम आदिकी दृढता नहीं है। यदि तुम्हें हमने तत्त्वज्ञानका उपदेश दे भी दिया, तो वह फलीभूत नही होगा, ऐसी शङ्काकी निवृत्तिके लिए श्रीरामचन्द्रजी अपनेमें शम आदिकी दृढ़ता दिखलाते हैं—'आयु०' इत्यादिसे।

आयु वायुसे टकराये हुए मेघोंके समूहसे टपक रहे जलके समान भङ्गुर है, भोग मेघपटलमें चमक रही बिजलीके समान चञ्चल हैं और यौवनमें होनेवाले चित्तविनोद जलके वेगके समान चपल हैं, ऐसा शीघ्र विचार कर अर्थात् आयु, भोग, यौवन आदिमें तृष्णा, चञ्चलता आदि दोषोंसे दुःख, नाश आदि अनर्थ जान उनका त्यागकर मैंने इस बाल्यावस्थामें भी सम्पूर्ण दोषोंसे रहित शान्तिके लिए अपने हृदयके विषयमें अटल अधिकारकी मुहर दे रक्खी है। भाव यह कि जैसे राजा अधिकारलोलुप बहुतसे व्यक्तियोंमें से जिनसे लोभ, कायरता आदि दोषोंके कारण राज्यमें प्रजापीडन, शत्रु द्वारा आक्रमण आदिकी आशङ्का होती है, उन्हें छोड़कर किसी एक गुणवान् और शक्तिशाली व्यक्तिको अधिकारमुद्रा सौंपता है, वैसे ही मैंने भी पूर्वोक्त प्रकारसे समर्थ शान्तिके लिए अपने चित्तके विषयमें दृढ़ अधिकारमुद्रा दे रक्खी है ॥ २३ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशत्तमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवमभ्युत्थितानर्थशतसङ्कटकोटरे ।
जगदालोक्य निर्मग्नं मनो मननकर्दमे ॥ १ ॥
मनो मे भ्रमतीवेदं सम्भ्रमश्चोपजायते ।
गात्राणि परिकम्पन्ते पत्राणीव जरत्तरोः ॥ २ ॥
अनाप्तोत्तमसन्तोषधैर्योत्सङ्गाकुला मतिः ।
शून्यास्पदा बिभेतीह बालेवाऽल्पबलेश्वरा ॥ ३ ॥
विकल्पेभ्यो लुठन्त्येताश्चाऽन्तःकरणवृत्तयः ।
श्वभ्रेभ्य इव सारङ्गास्तुच्छालम्बविडम्बिताः ॥ ४ ॥

तीसवाँ सर्ग

[अपने चित्तका उद्वेग दर्शा रहे श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उसके निरास एवं शान्तिके लिए उपदेशकी प्रार्थना]

हेतुओं द्वारा अपने चित्तकी उद्विग्नताका विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चित्तविश्रान्तिके हेतुभूत उपदेशकी प्रार्थना करते हैं—**'एवम०'** इत्यादिसे।

उक्त रीतिसे सैकड़ों अनर्थोंसे परिपूर्ण संसाररूपी अँधे कुँएके छिद्रमें सम्पूर्ण प्राणियोंको मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़में फँस गया है ॥ १ ॥

मेरा मन घूम-सा रहा है और मुझे भय भी हो रहा है, अतएव मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुराने वृक्षके पत्तोंकी नाईं काँप रहे हैं ॥ २ ॥

जैसे निर्जन अरण्यमें रहनेवाली दुर्बलभर्तृका मुग्धा नारी पद पदमें भयभीत और शङ्कित रहती है, वैसे ही उत्कृष्ट सन्तोषदायक धैर्यरूपी माँकी गोद न मिलनेके कारण व्याकुल हुई मेरी बालबुद्धि भी इस संसारमें पद पदमें भयभीत और सशङ्क हो रही है ॥ ३ ॥

जैसे मृगगण विषमस्थानमें लटक रहे तुच्छ तृणोंके लोभसे वञ्चित होकर गड्ढेमें गिर पड़ते हैं, वैसे ही असार विषयोंसे वञ्चित ये अन्तःकरण-वृत्तियाँ विक्षेपरूप दुःखोंकी प्राप्तिके लिए दुःखरूप गड्ढेमें गिरती हैं ॥ ४ ॥

अविवेकास्पदा भ्रष्टाः कष्टे रूढा न सत्पदे ।
अन्धकूपमिवाऽऽपन्ना वराकाश्चक्षुरादयः ॥ ५ ॥
नाऽवस्थितिमुपायाति न च याति यथेप्सितम् ।
चिन्ता जीवेश्वरायत्ता कान्तेव प्रियसद्मनि ॥ ६ ॥
जर्जरीकृत्य वस्तूनि त्यजन्ती बिभ्रती तथा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव धृतिर्विधुरतां गता ॥ ७ ॥
अपहस्तितसर्वार्थमनवस्थितिरास्थिता ।
गृहीत्वोत्सृज्य चाऽऽत्मानं भवस्थितिरवस्थिता ॥ ८ ॥

अविवेकी पुरुषोंकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ चिरपरिचित होनेके कारण संसारकी ओर ही पूर्णरूपसे आकृष्ट हैं (संसारमें ही उनकी दृढ़ वासना है), परमार्थ वस्तुके प्रति उनका तनिक भी आकर्षण नहीं है । अतएव वे बेचारी नेत्र आदि इन्द्रियाँ आत्माके उद्धारमें समर्थ नहीं हैं और अन्धकूपमें गिरे हुए जीवोंकी नाई दुःखी हैं ॥ ५ ॥

जैसे पतिके अधीन कान्ता न तो उपरामको प्राप्त होती है और न स्वेच्छासे कहीं स्वेष्ट प्रदेशको ही जाती है, किन्तु पतिके घरमें ही रहती है, वैसे ही जीव-रूपी पतिकी कान्ता चिन्ता भी न तो उपरामको प्राप्त होती है और न स्वेष्ट विषयोंको ही प्राप्त होती है, किन्तु स्वपति जीवके प्रियस्थान हृदयमें ही निवास करती है ॥ ६ ॥

जैसे मार्गशीर्ष मासके अन्तमें लताएँ तुषार गिरनेके कारण जीर्ण पत्तोंको गिरा देती हैं, कुछ हरे पत्तोंको धारण भी करती हैं, वैसे ही विवेकसे विषयोंको तुच्छ समझकर उनका त्याग कर रही और रसके* (रागके) शेष रहनेके कारण कुछ विषयोंको धारण कर रही मेरी धृति संकटको प्राप्त हो गई है ॥ ७ ॥

क्लेशदायिनी अपनी उसी अन्तरालावस्थाका वर्णन करते हैं—**'अपहस्तित०'** इत्यादिसे ।

मेरी उक्त चित्तकी अस्थिरता सांसारिक और पारमार्थिक सम्पूर्ण सुखोंको गवाँकर स्थित है, क्योंकि संसारस्थिति आत्माके विवेकमात्रसे अर्ध बोध होनेके

* 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (परमात्माका साक्षात्कार कर इसका रस भी निवृत्त हो जाता है) इस भगवद्वचनके अनुसार परमात्मदर्शनके बिना रसकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

चलिताचलितेनाऽन्तरवष्टम्भेन मे मतिः ।
दरिद्रा छिन्नवृक्षस्य मूलेनेव विडम्ब्यते ॥ ९ ॥
चेतश्चञ्चलमाभोगि भुवनान्तर्विहारि च ।
न सम्भ्रमं जहातीदं स्वविमानमिवाऽमराः ॥ १० ॥
अतोऽतुच्छमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
किं तत्स्थितिपदं साधो यत्र शोको न विद्यते ॥ ११ ॥
सर्वारम्भसमारूढाः सुजना जनकादयः ।
व्यवहारपरा एव कथमुत्तमतां गताः ॥ १२ ॥
लग्नेनाऽपि किलाऽङ्गेषु बहुधा बहुमानद ।
कथं संसारपङ्केन पुमानिह न लिप्यते ॥ १३ ॥

कारण मुझे आधा छोड़कर आधा पकड़े हुए है अर्थात् न तो मै पूर्ण ज्ञानी ही हूँ और न पूरा अज्ञानी ही, इसलिए अन्तरालमें स्थित मुझे न ऐहिक ही सुख प्राप्त है और न पारमार्थिक ही ॥ ८ ॥

जैसे कटे हुए वृक्षके ठूँठ द्वारा (स्थाणु द्वारा) अन्धकारमें सत्य कोटि और असत्य कोटिरूप यह ठूँठ है या चोर है, इस प्रकार स्थिरत्व और अस्थिरत्व प्रकारक संशयसे लोगोंकी बुद्धि वञ्चित होती है वैसे ही आत्मतत्त्वके निश्चयसे रहित (आत्म-तत्त्वनिश्चयमें सन्देहयुक्त) मेरी बुद्धि भी यह तत्त्व है या यह तत्त्व है, इस प्रकारके सन्देहसे वञ्चित हो रही है ॥ ९ ॥

जैसे देवता विविध भोगसामग्रियोंसे परिपूर्ण, भुवनोंमें विहार करनेवाले एवं शीघ्रगामी अपने विमानका परित्याग नहीं करते वैसे ही स्वभावतः चञ्चल नानाभोगसामग्रियोंसे परिपूर्ण भुवनोंमें परिभ्रमणसे अधिक चपलताको प्राप्त मेरा मन भी चञ्चलता को नहीं छोड़ता है। मैं उसे जबरदस्ती रोकना चाहता हूँ, पर तत्त्वज्ञान न होनेके कारण मैं ऐसा नहीं कर सक रहा हूँ ॥ १० ॥

इसलिए हे मुनिनायक, परमार्थ सत्य, जन्म-मरण आदि दुःखोंसे शून्य, देहादि उपाधिसे विरहित, भ्रमसे रहित वह विश्रान्ति-स्थान कौन है, जिसे प्राप्तकर शोक नहीं होता ॥ ११ ॥

हमारे ही समान दृष्ट और अदृष्टरूप फलदायक सम्पूर्ण कर्मोंके अनुष्ठाता एवं लौकिक व्यवहारमें तत्पर जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पदको प्राप्त हुए? ॥१२॥

हे परसत्कारकारिन्, इस संसारमें वह कौनसा उपाय है, जिससे कि

कां दृष्टिं समुपाश्रित्य भवन्तो वीतकल्मषाः ।
महान्तो विचरन्तीह जीवन्मुक्ता महाशयाः ॥ १४ ॥
लोभयन्तो भयायैव विषया भोगभोगिनः ।
भङ्गुराकारविभवाः कथमायान्ति भव्यताम् ॥ १५ ॥
मोहमातङ्गमृदिता कलङ्ककलितान्तरा ।
परं प्रसादमायाति शेमुषीसरसी कथम् ॥ १६ ॥
संसार एव निवहे जनो व्यवहरन्नपि ।
न बन्धं कथमाप्नोति पद्मपत्रे पयो यथा ॥ १७ ॥
आत्मवत्तृणवच्चेदं सकलं कलयन् जनः ।
कथमुत्तमतामेति मनो मन्मथमस्पृशन् ॥ १८ ॥
कं महापुरुषं पारमुपयातं महोदधेः ।
आचारेणाऽनुसंसृत्य जनो याति न दुःखिताम् ॥ १९ ॥

संसाररूपी पङ्क अर्थात् पुण्य-पापरूप पङ्कका या शोकमोहरूप पङ्कका अनेक बार शरीरसे सम्पर्क होनेपर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

महामहिमाशाली, वीतराग एवं जीवन्मुक्त आप लोग किस दृष्टिका अवलम्बन कर इस संसारमें विचरते हैं ॥ १४ ॥

प्राणियोंको भयभीत करनेके लिए लुभा रहे नश्वर* विषय सर्पोंके सदृश हैं, भला वे कल्याणकारी कैसे हो सकते हैं ? ॥ १५ ॥

मोहरूपी हाथी द्वारा विलोडित, काम आदिरूपी कीचड़ और सेवारसे व्याप्त प्रज्ञारूपी तालाब किस प्रकार अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जैसे कमलके पत्तेमें जलका सम्पर्क नहीं होता, वैसे ही संसारप्रवाहमें व्यवहार करनेपर भी पुरुष बन्धनको प्राप्त न हो, इसका क्या उपाय है ? ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चको तत्त्वदृष्टिसे आत्माके समान और बाह्यदृष्टिसे तृणके समान देख रहे एवं कामादि वृत्तियोंका स्पर्श न कर रहे पुरुष कैसे श्रेष्ठताको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

जिसने अज्ञानरूपी महासागर पारकर लिया है, ऐसे किस महापुरुषके चरित्रका स्मरणपूर्वक आचरण कर मनुष्य दुःखी नहीं होता ॥ १९ ॥

* मूलस्थित 'भङ्गुराकारविभवा' का विषयपक्षमें—विनाशशील आकार और विभववाले और सर्पपक्षमें कुटिल आकार और विषशक्तिसे युक्त, यह अर्थ है ।

किं तत्स्यादुचितं श्रेयः किं तत्स्यादुचितं फलम् ।
वर्तितव्यं च संसारे कथं नामाऽसमञ्जसे ॥ २० ॥
तत्त्वं कथय मे किञ्चिद्येनाऽस्य जगतः प्रभो ।
वेद्मि पूर्वापरं धातुश्चेष्टितस्याऽनवस्थितेः ॥ २१ ॥
हृदयाकाशशशिनश्चेतसो मलमार्जनम् ।
यथा मे जायते ब्रह्मंस्तथा निर्विघ्नमाचर ॥ २२ ॥
किमिह स्यादुपादेयं किं वा हेयमथेतरत् ।
कथं विश्रान्तिमायातु चेतश्चपलमद्रिवत् ॥ २३ ॥
केन पावनमन्त्रेण दुःसंसृतिविषूचिका ।
शाम्यतीयमनायासमायासशतकारिणी ॥ २४ ॥
कथं शीतलतामन्तरानन्दतरुमञ्जरीम् ।
पूर्णचन्द्र इवाऽक्षीणां भृशमासादयाम्यहम् ॥ २५ ॥

अविनाशी होनेके कारण प्राप्त करनेके योग्य मोक्ष क्या है और कर्म, उपासना आदिका उचित फल क्या है ? भला बतलाइए तो सही, इस विषम संसारमें कैसे व्यवहार करना चाहिए ॥ २० ॥

प्रभो, मुझे तत्त्वका उपदेश दीजिये, जिससे मैं अव्यवस्थित ब्रह्माकी कृति जगत्की पूर्वापर वस्तु जानूँ अर्थात् जगत्के आदि और अन्तमें अवशिष्ट रहनेवाला पारमार्थिक तत्त्व जानूँ ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्, जैसे मेरे हृदयरूपी आकाशके चन्द्ररूप साभास अन्तःकरणका मल (अज्ञान) हट जाय वैसा प्रयत्न आप निशंक होकर कीजिये ॥ २२ ॥

इस संसारमें कौन वस्तु उपादेय है, कौन वस्तु अनुपादेय है और कौन वस्तु न उपादेय है और न अनुपादेय है । यह चञ्चल चित्त कैसे पर्वतके समान स्थिरता (शान्ति) को प्राप्त हो ? ॥ २३ ॥

सैकड़ों क्लेशोंकी सृष्टि करनेवाली यह निन्दित संसाररूपी महामारी किस पवित्रतम मन्त्रसे अनायास शान्तिको प्राप्त हो ? ॥ २४ ॥

जैसे पूर्ण चन्द्रमा अत्यन्त आनन्द देनेवाली शीतलताको प्राप्त करता है, वैसे ही मैं भी आनन्दरूपी वृक्षकी मञ्जरीरूप देशपरिच्छेद और कालपरिच्छेदसे शून्य शीतलताको अपने हृदयमें कैसे प्राप्त करूँ ॥ २५ ॥

प्राप्याऽन्तः पूर्णतां पूर्णो न शोचामि यथा पुनः ।
सन्तो भवन्तस्तत्त्वज्ञास्तथेहोपदिशन्तु माम् ॥ २६ ॥
अनुत्तमानन्दपदप्रधानविश्रान्तिरिक्तं सततं महात्मन् ।
कदर्थयन्तीह भृशं विकल्पाः श्वानो वने देहमिवाऽल्पजीवम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
प्रयोजनकथनं नाम त्रिंशत्तमः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमः सर्गः

श्रीराम उवाच

प्रोच्चवृक्षचलत्पत्रलम्बाम्बुलवभङ्गुरे ।
आयुषीशानशीतांशुकलामृदुनि देहके ॥ १ ॥

भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और सज्जनशिरोमणि हैं, इसलिए अपनेमें पूर्णताको प्राप्त कर पूर्ण हुआ मै जैसे इस लोकमें फिर शोकको प्राप्त न होऊँ वैसा आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ २६ ॥

महात्मन्, जैसे वनसे कुत्ते स्वल्प बलसे युक्त जीवोंकी (क्षुद्र प्राणियोंकी) देहको अति पीड़ित करते हैं, वैसे ही विविध संशय सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपदमें आत्यन्तिक स्थिरतासे रहित पुरुषको सदा अति पीड़ित करते हैं ॥ २७ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकतीसवाँ सर्ग

[सांसारिक जीवन वर्षा ऋतुके मेघके समान कुत्सित है, अत संसारनिर्मुक्तिपूर्वक सुखपदप्रापक उपायका प्रश्न]

पूछे जानेवाले प्रश्नोंके उपोद्घातरूपसे संसारमें जीवनकी वर्षा ऋतुके मेघरूपसे कल्पना करते हैं—'प्रोच्च०' इत्यादि छः श्लोकोंसे ।

ब्रह्मन्, इस संसारमें जीवकी आयु ऊँचे वृक्षोंके चञ्चल पत्तोंमें लटक रहे, जलकण (ओसबिन्दु) के सदृश क्षणभङ्गुर एवं शिवजीके आभूषणरूप चन्द्रकलाके

केदारविरटद्भेककण्ठत्वक्कोणभङ्गुरे ।
वागुरावलये जन्तोः सुहृत्स्वजनसङ्गमे ॥ २ ॥
वासनावातवलिते कदाशातटिति स्फुटे ।
मोहोग्रमिहिकामेघे घनं स्फूर्जति गर्जति ॥ ३ ॥
नृत्यत्युत्ताण्डवं चण्डे लोले लोभकलापिनि ।
सुविकासिनि सास्फोटे ह्यनर्थकुटजद्रुमे ॥ ४ ॥
क्रूरे कृतान्तमार्जारे सर्वभूताखुहारिणि ।
अश्रान्तस्यन्दसञ्चारे कुतोऽप्युपरिपातिनि ॥ ५ ॥
क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ ६ ॥

सदृश अत्यल्प है * (दुर्लक्ष्य होनेके कारण यदि कहा जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी), तुच्छ देह धानोंके खेतोंमें बोल रहे मेढ़कोंके गलेके चमड़ेके समान अस्थिर है, इष्ट-मित्र और बन्धु-बान्धवोंका समागम सद्गतिका प्रतिबन्धक होनेके कारण जालकी नाई तने हुए झाड़ियोंके समूहके सदृश है, वासनारूपी पुरवा वायुसे वेष्टित, तुच्छ आशारूपी बिजलीसे विभूषित और मोहरूपी निविड़ कुहरेसे जनित मेघोंके खूब जोरसे तर्जन-गर्जन-पूर्वक वज्रपात करनेपर, अति उग्र और चञ्चल लोभरूपी मयूरके ताण्डव नृत्य करनेपर, अनर्थरूपी कुटजवृक्षोंकी कलियोंके चटचट शब्दपूर्वक खूब विकसित होनेपर, अतिक्रूरतम यमरूपी वनबिलावके सम्पूर्ण प्राणिरूपी चूहोंका अविरत संहार करनेपर एवं लगातार मूसलाधार वृष्टिके किसी अनिर्दिष्ट स्थानसे अपने ऊपर गिरनेपर इस संसारमें किस उपायका अवलम्बन करना चाहिए, कौन गति है, किसका स्मरण करना चाहिए और किसकी शरणमें जाना चाहिए† जिससे कि यह जीवनरूपी अरण्य भविष्यमें अकल्याणकारी न हो ॥ १–६ ॥

* वर्षा ऋतुमें पूर्ण चन्द्रमाका भी कठिनाईसे यदा कदा ही दर्शन हो जाता है फिर कलामात्र अवशिष्ट कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके चन्द्रमाकी दुर्लक्ष्यतामें तो कहना ही क्या है ? उसके दिखाई देनेमें ही आश्चर्य है ।

† जैसे अरण्यमें प्राप्त आँधी, वृष्टि आदिसे उत्पन्न क्लेशकी निवृत्तिके लिए छाता, छप्पर, चटाई आदि उपाय हैं, पारदगुटिका, ओषधिलेप आदि द्वारा शीघ्र वृष्टिरहित दूर देशमें गति (गमन) होता है, संकटसे बचानेवाले मन्त्र या देवता आदिका स्मरण होता है, पर्वतकी गुफाका आश्रय लिया जाता है, वैसे ही सांसारिक क्लेशकी निवृत्तिके लिए भी क्या कोई उपाय, गमन, स्मरण और आश्रयण आदि साधन हैं ? यह अभिप्राय है ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
सुधियस्तुच्छमप्येतद्यन्नयन्ति न रम्यताम् ॥ ७ ॥
अयं हि दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः ।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ८ ॥
आशाप्रतिविपाकेन क्षीरस्नानेन रम्यताम् ।
उपैति पुष्पशुभ्रेण मधुनेव वसुन्धरा ॥ ९ ॥
अपमृष्टमलोदेति क्षालनेनाऽमृतद्युतिः ।
मनश्चन्द्रमसः केन तेन कामकलङ्कितात् ॥ १० ॥
दृष्टसंसारगतिना दृष्टादृष्टविनाशिना ।
केनेव व्यवहर्त्तव्यं संसारवनवीथिषु ॥ ११ ॥

भगवन् , तपःशक्ति और ज्ञानशक्तिसे जिनकी बुद्धिकी कोई सीमा नहीं है, ऐसे आप सरीखे महात्मा अति तुच्छ वस्तुको भी दिव्य बना सकते हैं । यह सामर्थ्य पृथिवीमें मनुष्योंमें एवं स्वर्गमें देवताओंमें कहीं भी नहीं है । देखिए न यह आपके ही तपोबल और ज्ञानबलका प्रभाव है कि त्रिशङ्कुको कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी द्वारा दिया गया शाप आकल्पस्थायी स्वर्गरूपमें परिणत हो गया एवं शुनःशेफकी मृत्यु दीर्घायुमें परिणत हो गई ॥ ७ ॥

मुनिवर, यह निन्द्य संसार निरन्तर दुःखप्राप्तिसे परिपूर्ण है, अतएव इसमें कुछ भी रस (स्वाद) नहीं है, कृपया बतलाइए कि यह किस उपायसे अज्ञाननिवृत्ति द्वारा सुस्वाद (सरस) बनता है ॥ ८ ॥

जैसे फूलोंसे अत्यन्त रमणीय वसन्तके आगमनसे पृथिवी मनोहर हो जाती है वैसे ही सम्पूर्ण दुःखोंकी एकमात्र कारण आशाके प्रसिद्ध स्वभावसे प्रतिकूल परिणामरूपी (पूर्णकामतारूपी) दुग्धस्नानसे संसार रमणीयताको कैसे प्राप्त होता है अर्थात् किस उपायका अवलम्बन करनेसे सम्पूर्ण दुःखोंकी एकमात्र कारण आशाके पूर्णकामतामें परिणत होनेपर पूर्णकामतारूपी दुग्धस्नानसे संसार सुखमय हो जाता है ॥ ९ ॥

महर्षे, कामसे कलङ्कित मनरूपी चन्द्रमा विद्वान् जनों द्वारा अनुभूत किस धोवनसे (क्षालनसे) धोया जाय जिससे कि उससे निर्मल (काम आदि मलसे रहित) आनन्दरूपी चाँदनी उदित हो ॥ १० ॥

जिसे संसारकी अनर्थकारिताका अनुभव है और जो ऐहिक और पार-

रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥ १२ ॥
कथञ्च धीरवर्याऽग्नौ पतताऽपि न दह्यते ।
पावके पारदेनेव रसेन रसशालिना ॥ १३ ॥
यस्मात्किल जगत्यस्मिन् व्यवहारक्रियां विना ।
न स्थितिः सम्भवत्यब्धौ पतितस्याऽचला यथा ॥१४॥
रागद्वेषविनिर्मुक्ता सुखदुःखविवर्जिता ।
कृशानोर्दाहहीनेव शिखा नाऽस्तीह सत्क्रिया ॥ १५ ॥

लौकिक भोगोंका विवेकजनित वैराग्य और दृढ़बोध द्वारा नाश कर चुका है, ऐसे किस महापुरुषकी नाई संसाररूपी वनश्रेणीमें हमें व्यवहार करना चाहिए कृपया उसका निर्देश कीजिए ॥ ११ ॥

भगवन्, क्या करनेसे रागद्वेषरूपी महाव्याधियाँ एवं प्रचुरभोगोंसे परिपूर्ण दुःखदायिनी सम्पत्तियाँ संसाररूपी समुद्रमें विहार करनेवाले प्राणीको क्लेश नहीं देतीं, कृपया उसे हमसे कहिए ॥ १२ ॥

हे धीरश्रेष्ठ ब्रह्मन्, जैसे अग्निमें गिरनेसे भी पारद रस जलता नहीं, वैसे ही अग्निके तुल्य सन्ताप देनेवाले संसारमें पड़नेपर भी ज्ञानामृतसे सुशोभित पुरुष किस उपायका अवलम्बन करनेसे सन्तापको प्राप्त नही होता, कृपया उसको मुझसे कहिए ॥ १३ ॥

यदि व्यवहारसे दुःख होता है तो व्यवहारका त्यागकर दीजिए ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'यस्मात्'** इत्यादिसे ।

जैसे सागरमें उत्पन्न हुए मछली आदि जलजन्तुओंके जलके बिना प्राण नहीं रह सकते हैं, वैसे ही व्यवहारोंके सम्पादनके बिना इस संसारमें स्थिति नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

व्यवहारमें भले ही दुःख हो, किन्तु यज्ञ-याग आदि शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें तो किसी प्रकारके दुःखकी सम्भावना नही है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'राग०'** इत्यादिसे ।

जैसे अग्निकी ज्वाला दाहरहित नही हो सकती है, वैसे ही इस संसारमें ऐसी कोई सत्क्रिया नहीं है, जो राग-द्वेषसे रहित हो तथा सुख-दुःखसे वर्जित हो

मनोमननशालिन्याः सत्ताया भुवनत्रये ।
क्षयो युक्तिं विना नाऽस्ति ब्रूत तामलमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नाऽऽयाति मे यया ।
अथवा व्यवहारस्य ब्रूत तां युक्तिमुत्तमाम् ॥ १७ ॥
तत्कथं केन वा किंवा कृतमुत्तमचेतसा ।
पूर्वं येनैति विश्रामं परमं पावनं मनः ॥ १८ ॥
यथा जानासि भगवन् तथा मोहनिवृत्तये ।
ब्रूहि मे साधवो येन नूनं निर्दुःखतां गताः ॥ १९ ॥
अथवा तादृशी युक्तिर्यदि ब्रह्मन्न विद्यते ।
न वक्ति मम वा कश्चिद् विद्यमानामपि स्फुटम् ॥ २० ॥

अर्थात् सम्पूर्ण सत्कर्मोंमें किसी न किसी प्रकार राग-द्वेषका सम्बन्ध और सुख-दुःखका संसर्ग है ही ॥ १५ ॥

बाह्य व्यवहार रहे, वह हमारा क्या बिगाड़ सकता है, मनकी चञ्चलता ही परम दुःख है, अतएव जिससे उसकी चिकित्सा हो, वही उपाय कहिए, ऐसा कहते हैं—**'मनो०'** इत्यादिसे ।

मुनिश्रेष्ठ, तीनों भुवनोंमें मनका विषयोंसे संसर्ग होना ही मनकी सत्ता (अस्तित्व) है और उसका विषयोंसे सम्पर्क न होना ही उसकी सत्ताका विनाश (मनके अस्तित्वका अभाव) है और मनकी सत्ताका विनाश सम्पूर्ण विषयोंके बाधक तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत युक्तिके उपदेशके बिना नहीं हो सकता, इसलिए जबतक मुझमें तत्त्वज्ञानका उदय न हो तबतक मुझे उक्त युक्तिका बार-बार उपदेश दीजिये ॥ १६ ॥

अथवा जिस युक्तिसे, मेरे लोकव्यवहारमें रत रहनेपर भी, मुझे दुःख प्राप्त न हो, व्यवहारकी उस उत्तम युक्तिका आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ १७ ॥

युक्तिसे मोहका (अज्ञानका) निराकरण पहले किस उत्तम चित्तवालेने किया और किस प्रकार किया ? जिससे चित्त पवित्र होकर परम शान्तिको प्राप्त होता है । मोहकी निवृत्तिके लिए जो कुछ आपको जानकारी हो उसे कृपाकर कहिये, जिसके अवलम्बनसे अनेक साधु-सन्त पुरुष निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं ॥१८,१९॥

यदि मुझे उक्त युक्ति प्राप्त न होगी तो मैं मरणान्त अनशन आरम्भ कर

स्वयं चैव न चाऽऽप्नोमि तां विश्रान्तिमनुत्तमाम् ।
तदहं त्यक्तसर्वेहो निरहङ्कारतां गतः ॥ २१ ॥
न भोक्ष्ये न पिबाम्यम्बु नाऽहं परिदधेऽम्बरम् ।
करोमि नाऽहं व्यापारं स्नानदानाशनादिकम् ॥ २२ ॥
न च तिष्ठामि कार्येषु सम्पत्स्वापद्दशासु च ।
न किञ्चिदपि वाञ्छामि देहत्यागादृते मुने ॥ २३ ॥
केवलं विगताशङ्को निर्ममो गतमत्सरः ।
मौन एवेह तिष्ठामि लिपिकर्मस्विवाऽर्पितः ॥ २४ ॥
अथ क्रमेण सन्त्यज्य प्रश्वासोच्छ्वाससंविदः ।
सन्निवेशं त्यजामीममनर्थं देहनामकम् ॥ २५ ॥
नाऽहमस्य न मे नाऽन्यः शाम्याम्यस्नेहदीपवत् ।
सर्वमेव परित्यज्य त्यजामीदं कलेवरम् ॥ २६ ॥

दूँगा, जीवनके उपयोगी व्यवहार कदापि न करूँगा, ऐसा कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, यदि वैसी कोई युक्ति है ही नहीं अथवा उसके विद्यमान रहनेपर भी कोई महात्मा पुरुष मुझको उसका स्पष्ट रीतिसे उपदेश नहीं करता है या मैं स्वयं ही विचार कर उस सर्वश्रेष्ठ शान्तिको नहीं पा सकता हूँ, तो सम्पूर्ण चेष्टाओंका त्यागकर निरहङ्कारताको प्राप्त हुआ मैं न तो भोजन करूँगा, न जल पीऊँगा, न वस्त्र पहनूँगा, न स्नान, दान, भोजन आदि व्यापार ही करूँगा और न सम्पत्ति और आपत्तिकी अवस्थामें किसी प्रकारके कार्यका अवलम्बन करूँगा । मुनिवर, देहत्यागको छोड़कर मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ ॥ २०–२३ ॥

मैं सम्पूर्ण शङ्काओं, मोह-ममता, डाह-द्वेष आदिसे शून्य होकर भित्तिमें लिखित चित्रकी नाईं मौन रहता हूँ ॥ २४ ॥

तदुपरान्त क्रमशः श्वास-उच्छ्वास क्रियाका त्यागकर अवयवसङ्गठनरूप देहनामक इस अनर्थका त्याग करता हूँ, इस देहरूप अनर्थका न मुझसे कोई सम्बन्ध है, न मेरा इससे सम्बन्ध है और न मेरा और किसीसे सम्बन्ध है, मैं तेलरहित दीपककी नाईं शान्त होता हूँ । मैं सम्पूर्ण पदार्थोंका परित्याग कर इस अनर्थरूप देहका त्याग करता हूँ ॥ २५, २६ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवानमलशीतकराभिरामो रामो महत्तरविचारविकासिचेताः ।
तूष्णीम्बभूव पुरतो महतां घनानां केकारवं श्रमवशादिव नीलकण्ठः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
राघवप्रश्नो नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

वदत्येवं मनोमोहविनिवृत्तिकरं वचः ।
रामे राजीवपत्राक्षे तस्मिन् राजकुमारके ॥ १ ॥
सर्वे बभूवुस्तत्रस्था विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
भिन्नाम्बरा देहरुहैर्गिरः श्रोतुमिवोद्धुरैः ॥ २ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—जैसे मयूर बड़े-बड़े मेघोंके सन्मुख केकावाणी (मयूरकी वाणी) बोलकर, थकावट होनेके कारण, चुप हो जाता है, वैसे ही निर्मल चन्द्रमाके सदृश मनोहर एवं तत्त्वविचारसे उदार चित्तवाले श्रीरामचन्द्रजी यों कहकर वसिष्ठ आदि गुरुओंके सामने चुप हो गये ॥ २७ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंको सुननेवाले लोगोंके प्रचुर आश्चर्यका तथा देवताओं द्वारा की गई पुष्पवृष्टिका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—कमलके सदृश नेत्रवाले राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार मनके मोहको नष्ट करनेवाले वचन कहनेपर वहाँपर बैठे हुए सब लोग आश्चर्य सागरमें गोता खाने लगे, श्रीरामचन्द्रजीकी वाणी सुननेके लिए मानों खड़े हुए उनके रोंगटोंसे उनके कपड़े छिद गये, वैराग्यकी वासनासे

विरागवासनापास्तसमस्तभववासनाः ।
मुहूर्तममृताम्भोधिवीचीविलुलिता इव ॥ ३ ॥
ता गिरो रामभद्रस्य तस्य चित्रार्पितैरिव ।
संश्रुताः शृणुकैरन्तरानन्दपदपीवरैः ॥ ४ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राद्यैर्मुनिभिः संसदि स्थितैः ।
जयन्तधृष्टिप्रमुखैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ॥ ५ ॥
नृपैर्दशरथप्रख्यैः पौरैः पारशवादिभिः ।
सामन्तै राजपुत्रैश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पञ्जरस्थैश्च पक्षिभिः ।
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैस्तुरङ्गैस्त्यक्तचर्वणैः ॥ ७ ॥
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निजवातायनस्थितैः ।
संशान्तभूषणारावैरस्पन्दैर्वनितागणैः ॥ ८ ॥
उद्यानवल्लीनिलयैर्विटङ्कनिलयैरपि ।
अक्षुब्धपक्षततिभिर्विहङ्गैर्विरतारवैः ॥ ९ ॥
सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः ।
नारदव्यासपुलहप्रमुखैर्मुनिपुङ्गवैः ॥ १० ॥

उनकी संसारकी कारणभूत राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण वासनाएँ नष्ट हो गईं और वे क्षणभरके लिए अमृतसागरकी तरङ्गोंमें ओत-प्रोतसे हो गये ॥ १—३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी वे वाणियाँ सुननेमें समर्थ लोगोंने ऐसे ध्यानसे सुनीं कि वे निश्चलताके कारण चित्रलिखितसे प्रतीत होते थे और हार्दिक आनन्दसे उनका वदन प्रसन्न था । वे सुननेवाले थे, सभामें स्थित वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणा करनेमें निपुण जयन्त, धृष्टि आदि दशरथके मन्त्री, दशरथ आदि राजा महाराज, पर्शु आदि देशोंके शासक सामन्त, नगरवासी, भरत आदि राजकुमार, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, भृत्य, अमात्य, पिंजड़ेमें स्थित पक्षी, निश्चल क्रीडामृग (मनोविनोदके लिए पाले गये मृग), घास-दाना न चबा रहे घोड़े, अपने महलके झरोखेपर बैठी हुई, निश्चल अतएव आभूषणोंके शब्दोंसे रहित कौशल्या आदि रानियाँ, बगीचेकी लताओंमें और महलके अग्रभागमें (कबूतर आदिके रहनेके स्थानमें) रहनेवाले, परोंको तनिक भी न हिला रहे एवं चुपचाप पक्षी, आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं नारद, व्यास, पुलह आदि मुनिश्रेष्ठ ।

अन्यैश्च देवदेवेशविद्याधरमहोरगैः ।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुताः ॥ ११ ॥
अथ तूष्णीं स्थितवति रामे राजीवलोचने ।
तस्मिन् रघुकुलाकाशशशाङ्के शशिसुन्दरे ॥ १२ ॥
साधुवादगिरा सार्धं सिद्धसार्थसमीरिता ।
वितानकसमा व्योम्नः पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥ १३ ॥
मन्दारकोशविश्रान्तभ्रमरद्वन्द्वनादिनी ।
मधुरामोदसौन्दर्यमुदितोन्मदमानवा ॥ १४ ॥
व्योमवातविनुन्नेव तारकाणां परम्परा ।
पतितेव धरापीठे स्वर्गस्त्रीहसितच्छटा ॥ १५ ॥
वृष्टमूककचन्मेघलवावलिरिव च्युता ।
हैयङ्गवीनपिण्डानामीरितेव परम्परा ॥ १६ ॥
हिमवृष्टिरिवोदारा मुक्ताहारचयोपमा ।
ऐन्दवी रश्मिमालेव क्षीरोर्मीणामिवाऽऽततिः ॥ १७ ॥

उक्त महानुभावोंने और उनसे अतिरिक्त देवता, दिक्पति देवराज आदि, विद्याधर तथा शेषनाग प्रभृति नागोंने भी श्रीरामचन्द्रजीकी विचित्र अर्थोंसे परिपूर्ण वे उदारतम वाणियाँ सुनीं ॥ ४–११ ॥

रघुकुलरूपी आकाशके उज्ज्वल चन्द्रमा और चन्द्रमाके सदृश सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उक्त गम्भीर वचन कहकर चुप हो गये तब चारों ओरसे उनकी प्रशंसाके पुल बँध गये, वाह वाहसे आकाश गूँज उठा और साथ ही साथ सिद्धोंने आकाशसे ऐसी घनी पुष्पवृष्टि की कि पुष्पवृष्टिके कारण चारों ओर चँदवा-सा बँध गया। उक्त पुष्पवृष्टि मन्दारके पुष्पोंके मध्यमें विश्राम ले रही भँवरोंकी जोड़ीकी गुनगुनाहटसे गुलजार थी, पुष्पवृष्टिकी मधुर सुगन्धि और सुन्दरतासे मनुष्योंका चित्त उनके अधीन नहीं रह गया था। वह पुष्पवृष्टि क्या थी मानो आकाशवायुसे गिराये गये तारोंकी पङ्क्ति थी, पृथिवीमें गिरी हुई अप्सराओंके हासकी छटा थी, बरस चुके अतएव तर्जन-गर्जनसे रहित और बिजलीसे देदीप्यमान मेघोंके छोटे-छोटे टुकड़ोंकी झड़ी थी, फेंके गये मक्खनके पिण्डोंकी परम्परा थी, मोतियोंके हारोंकी राशिके समान

किञ्जल्काम्भोजवलिता भ्रमद्भृङ्गकदम्बका ।
सीत्कारगायदामोदिमधुरानिललोलिता ॥ १८ ॥
प्रभ्रमत्केतकीव्यूहा प्रस्फुरत्कैरवोत्करा ।
प्रपतत्कुन्दवलया चलत्कुवलयालया ॥ १९ ॥
आपूरिताङ्गणरसा गृहाच्छादनचत्वरा ।
उद्ग्रीवपुरवास्तव्यनरनारीविलोकिता ॥ २० ॥
निरभ्रोत्पलसङ्काशव्योमवृष्टिरनाकुला ।
अदृष्टपूर्वा सर्वस्य जनस्य जनितस्मया ॥ २१ ॥
अदृश्याम्बरसिद्धौघकरोत्करसमीरिता ।
सा मुहूर्तचतुर्भागं पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ २२ ॥
आपूरितसभालोके शान्ते कुसुमवर्षणे ।
इमं सिद्धगणालापं शुश्रुवुस्ते सभागताः ॥ २३ ॥

विशाल हिमवृष्टि थी, चन्द्रमाके किरणोंकी माला थी और क्षीरसागरके लहरोंकी श्रेणी थी। उस पुष्पवृष्टिमें प्रचुर केसरसे पूर्ण कमलोंकी अधिकता थी और उसके चारों ओर भँवर मंडरा रहे थे तथा वह स्पर्शसुखसूचक लोगोंकी सीत्कार-ध्वनिसे गा रहे, अतिसुगन्धित और मन्द होनेके कारण सुख स्पर्शवाले वायुसे कुछ-कुछ हिल रही थी ॥ १२–१८ ॥

उस पुष्पवृष्टिमें कहींपर केतकीके फूल लहलहा रहे थे, तो कहींपर सफेद कमलोंकी छटा शोभित हो रही थी, तो कहींपर कुन्दके फूल अधिक मात्रामें गिर रहे थे और कहींपर केवल नीले कमलोंकी ही वृष्टि हो रही थी। फूलोंकी लगातार वृष्टिसे आँगन, घर, छत और चौतरे सबके सब भर गये थे, नगरके सभी नर-नारी ऊपर गर्दनकर पुष्पवृष्टिकी छटाको देखते थे। मेघरहित होनेके कारण नीलकमलके सदृश स्वच्छ आकाशसे गिरी हुई वह पुष्पवृष्टि अभूतपूर्व थी, अतएव उसने सभीके चित्तको आश्चर्यमग्न कर दिया था। आकाशमें अदृश्य सिद्धों द्वारा की गई उक्त पुष्पवृष्टि आधी घड़ी तक लगातार होती रही। सभा और सभामें स्थित लोगोंको आच्छन्नकर उक्त पुष्पवृष्टिके बन्द होनेपर सभामें स्थित लोगोंने सिद्धोंका वक्ष्यमाण वार्तालाप सुना—हम लोग सृष्टिके आरम्भसे लेकर स्वर्गके इस छोरसे उस छोरतक अनेकानेक सिद्धोंमें विचर रहे हैं, पर हमने

आकल्पं सिद्धसेनासु भ्रमद्भिरभितोदिवम् ।
अपूर्वमिदमस्माभिः श्रुतं श्रुतिरसायनम् ॥ २४ ॥
यदनेन किलोदारमुक्तं रघुकुलेन्दुना ।
वीतरागतया तद्धि वाक्पतेरप्यगोचरम् ॥ २५ ॥
अहो बत महत्पुण्यमद्याऽस्माभिरिदं श्रुतम् ।
वचो राममुखोद्भूतं महाह्लादकरं धियः ॥ २६ ॥
उपशमामृतसुन्दरमादरादधिगतोत्तमतापदमेष यत् ।
कथितवानुचितं रघुनन्दनः सपदि तेन वयं प्रतिबोधिताः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे
नभश्चरसाधुवादो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

—०—

आज ही कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाले या वेदोंके सारभूत ये वचन सुने हैं। विरक्त होनेके कारण रघुवंशदीपक श्रीरामचन्द्रजीने जो उदार वचन कहे, उन्हें वाचस्पति भी नहीं कह सकते हैं। खेद है कि जिन लोगोंने ऐसे वाक्य नहीं सुने उनका जन्म वृथा है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हमें श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे निर्गत एवं चित्तको अत्यन्त आह्लादित करनेवाला यह वचन सुननेको मिला ॥ १९–२६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने शान्तिप्रद, अमृतके समान सुन्दर एवं जाति, कुल, चरित्र, धर्माभिज्ञता आदि द्वारा प्राप्त उत्तमताके द्योतक जो वचन आदरपूर्वक कहे, उनसे हमको भी तुरन्त 'स्वर्ग आदिके सुखोंमें कुछ भी सार नहीं है', यह ज्ञान हो गया है ॥ २७ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सिद्धा ऊचुः

पावनस्याऽस्य वचसः प्रोक्तस्य रघुकेतुना ।
निर्णयं श्रोतुमुचितं वक्ष्यमाणं महर्षिभिः ॥ १ ॥
नारदव्यासपुलहप्रमुखा मुनिपुङ्गवाः ।
आगच्छताऽऽशु विघ्नेन सर्व एव महर्षयः ॥ २ ॥
पतामः परितः पुण्यामेतां दाशरथीं सभाम् ।
नीरन्ध्रां कनकोद्योतां पद्मिनीमिव षट्पदाः ॥ ३ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ता सा समस्तैव व्योमवासनिवासिनी ।
तां पपात सभां तत्र दिव्या मुनिपरम्परा ॥ ४ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग

[सभामें सिद्ध पुरुषोंका शुभागमन और अपनी-अपनी योग्यताके अनुकूल स्थानमें बैठे हुए सिद्धों द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंकी प्रशंसा]

सिद्धों द्वारा की गई श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंकी श्लाघाको ही विशकलित कर रहे महामुनि वाल्मीकिजी प्रश्नके उत्तरको सुननेकी उनकी अभिलाषा और सभाप्रवेश आदिका वर्णन करनेके लिए इस सर्गका आरम्भ करते हैं—'सिद्धा ऊचुः' इत्यादिसे ।

सिद्धोंने कहा—रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त इन पवित्रतम प्रश्नवाक्योंका महर्षि लोग जो निर्णय करेंगे, उसे अवश्य सुनना चाहिए ॥ १ ॥

हे नारद, व्यास, पुलह प्रभृति मुनिश्रेष्ठो और सम्पूर्ण महर्षियो, आप लोग उसे निर्विघ्न सुननेके लिए शीघ्र पधारो, कल्याणकारी कार्योंमें बहुत विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, इसलिए विलम्ब करना उचित नहीं है, यह भाव है ॥ २ ॥

जैसे भँवर कमलोंसे खचाखच भरे हुए, सुवर्णके सदृश पीले केसरसे देदीप्यमान एवं पवित्र कमलोंके तालाबमें चारों ओरसे जाते हैं, वैसे ही हम लोग भी पवित्रतम, धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण अतएव सुवर्णसे चमचमा रही महाराज दशरथकी इस सभामें चारों ओरसे जावें ॥ ३ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—सिद्धोंके यों कहनेपर विमानोंपर रहनेवाले

अग्रस्थितमनुत्सृष्टरणद्वीणं मुनीश्वरम् ।
पयःपीनघनश्यामं व्यासमेव किलाऽन्तरा ॥ ५ ॥
भृग्वङ्गिरःपुलस्त्यादिमुनिनायकमण्डिता ।
च्यवनोद्दालकोशीरशरलोमादिमालिता ॥ ६ ॥
परस्परपरामर्शदुःसंस्थानमृगाजिना ।
लोलाक्षमालावलया सुकमण्डलुधारिणी ॥ ७ ॥
तारावलिरिव व्योम्नि तेजःप्रसरपाटला ।
सूर्यावलिरिवाऽन्योन्यं भासिताननमण्डना ॥ ८ ॥
रत्नावलिरिवाऽन्योन्यं नानावर्णकृताङ्गिका ।
मुक्तावलिरिवाऽन्योन्यं कृतशोभातिशायिनी ॥ ९ ॥
कौमुदीवृष्टिरन्येव द्वितीयेवाऽर्कमण्डली ।
संभृतेवाऽतिकालेन पूर्णचन्द्रपरम्परा ॥ १० ॥

सम्पूर्ण दिव्य मुनिजन उस विशाल सभामें, जहाँपर श्रीरामचन्द्र आदि थे, उतरे ॥४॥

उनके आगे-आगे वीणा बजा रहे देवर्षि श्रीनारदजी थे और जलसे पूर्ण मेघके समान श्याम वेदव्यासजी उनके पीछे थे। उन दोनोंके मध्यमें दिव्य मुनिजनोंकी परम्परा थी, यह आशय है ॥ ५ ॥

उक्त दिव्य मुनिमण्डली भृगु, अङ्गिरा, पुलस्त्य आदि मुनीश्वरोंसे विभूषित थी और च्यवन, उद्दालक, उशीर, शरलोम आदि मुनिजनोंसे परिवेष्टित थी। परस्परके संघर्षसे उनके मृगचर्म मुड़कर कुरूप हो गये थे, रुद्राक्ष मालाएँ हिल रहीं थीं और सुन्दर कमण्डलु उनके हाथमें सुशोभित हो रहे थे ॥ ६ ॥

आकाशमें तेज (ब्रह्मवर्चस्) के विस्तारसे सफेद और लाल मुनियोंकी पङ्क्ति चमक रही तारागणोंकी पङ्क्तिके समान शोभित हो रही थी और परस्परके तेजसे उनके मुखमण्डल खूब दमक रहे थे अतएव वे सूर्यपङ्क्तिके सदृश प्रतीत होते थे। मुनिमण्डलीने परस्पर एक दूसरेके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विविध वर्णके कर रक्खे थे, अतएव वे विभिन्न रत्नोंकी राशिसे दिखाई दे रहे थे। परस्पर एक दूसरेकी शोभा बढ़ानेवाली मुनिमण्डली मुक्तावलीके समान दिखाई दे रही थी, वह मुनिमण्डली क्या थी मानो दूसरी चाँदनीकी छटा थी, दूसरी सूर्य-

ताराजाल इवाऽम्भोदो व्यासो यत्र विराजते।
तारौघ इव शीतांशुर्नारदोऽत्र विराजते ॥ ११ ॥
देवेष्विव सुराधीशः पुलस्त्योऽत्र विराजते।
आदित्य इव देवानामङ्गिरास्तु विराजते ॥ १२ ॥
अथाऽस्यां सिद्धसेनायां पतन्त्यां नभसो रसाम्।
उत्तस्थौ मुनिसंपूर्णा तदा दाशरथी सभा ॥ १३ ॥
मिश्रीभूता विरेजुस्ते नभश्चरमहीचराः ।
परस्परवृताङ्गाभा भासयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥
वेणुदण्डावृतकरा लीलाकमलधारिणः ।
दूर्वाङ्कुराक्रान्तशिखाः सचूडामणिमूर्धजाः ॥ १५ ॥
जटाजूटैश्च कपिला मौलिमालितमस्तकाः ।
प्रकोष्ठगाक्षवलया मल्लिकावलयान्विताः ॥ १६ ॥
चीरवल्कलसंवीताः स्रक्कौशेयावगुण्ठिताः ।
विलोलमेखलापाशाश्चलन्मुक्ताकलापिनः ॥ १७ ॥

मण्डली थी और थी दीर्घकालसे एक स्थानमें संचित पूर्णचन्द्रोंकी परम्परा। उस मुनिमण्डलीमें, तारागणोंमें सजल मेघके समान एक ओर व्यासजी विराजमान थे, तारागणोंमें चन्द्रमाके सदृश दूसरी ओर नारदजी विराजमान थे, देवताओंमें देवराजके सदृश महर्षि पुलस्त्य विराजमान थे और देवमण्डलमें सूर्यके समान अङ्गिरा विराजमान थे। उक्त सिद्धसेनाके आकाशसे पृथिवीपर आनेपर महाराज दशरथकी वह सम्पूर्ण सभा उनके स्वागतके लिए उठ खड़ी हुई ॥ ७-१३ ॥

एकत्र हुए अतएव एक दूसरेकी छविको धारण किये हुए और दशों दिशाओंको प्रकाशमय कर रहे वे आकाशचारी और भूमिचर अतिशोभित हुए। उनमेंसे किन्हींके हाथमें बाँसकी लट्ठियाँ थीं, किन्हींके हाथमें लीला-कमल थे, किन्हींके सिरमें दूबके तिनके थे और किन्हींके केशोंमें चूड़ामणियाँ चमक रहीं थीं, कोई जटाजूटोंसे कपिल हो रहे थे, किन्हींका मस्तक मालाओंसे वेष्ठित था, किन्हींकी कलाईमें रुद्राक्षकी मालाएँ थीं, किन्हींके हाथोंमें मल्लिकाकी मालाएँ शोभित हो रही थी, कोई चीर-वल्कलधारी थे, कोई सूक्ष्म रेशमी वस्त्र पहिरे थे किन्हींके अङ्गमें मूंजकी मेखलाएँ लटक रहीं थीं और कोई मुक्ताहारोंसे अलङ्कृत थे ॥ १४-१७ ॥

वसिष्ठविश्वामित्रौ तान्पूजयामासतुः क्रमात् ।
अर्घ्यैः पाद्यैर्वचोभिश्च सर्वानेव नभश्चरान् ॥ १८ ॥
वसिष्ठविश्वामित्रौ ते पूजयामासुरादरात् ।
अर्घ्यैः पाद्यैर्वचोभिश्च नभश्चरमहागणाः ॥ १९ ॥
सर्वादरेण सिद्धौघं पूजयामास भूपतिः ।
सिद्धौघो भूपतिं चैव कुशलप्रश्नवार्तया ॥ २० ॥
तैस्तैः प्रणयसंरम्भैरन्योन्यं प्राप्तसत्क्रियाः ।
उपाविशन् विष्टरेषु नभश्चरमहीचराः ॥ २१ ॥
वचोभिः पुष्पवर्षेण साधुवादेन चाऽभितः ।
रामं ते पूजयामासुः पुरः प्रणतमास्थितम् ॥ २२ ॥
आसाश्चक्रे च तत्राऽसौ राज्यलक्ष्मीविराजितः।
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च वामदेवोऽथ मन्त्रिणः ॥ २३ ॥
नारदो देवपुत्रश्च व्यासश्च मुनिपुङ्गवः ।
मरीचिरथ दुर्वासा मुनिराङ्गिरसस्तथा ॥ २४ ॥
क्रतुः पुलस्त्यः पुलहः शरलोमा मुनीश्वरः ।
वात्स्यायनो भरद्वाजो वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः॥ २५ ॥

वसिष्ठ और विश्वामित्रने अर्घ्य, पाद्य और मधुरवचनों द्वारा क्रमशः सभी आकाशचारियोंकी पूजा की । आकाशचारी उन सिद्धोंने भी श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीकी अर्घ्य, पाद्य और मधुर वचनों द्वारा बड़े आदरके साथ पूजा की । तदुपरान्त महाराज दशरथने सिद्ध मण्डलीका बड़े समादरसे पूजन किया और सिद्धोंने कुशलप्रश्न द्वारा महाराज दशरथका सत्कार किया ॥ १८—२० ॥

पूर्वोक्त प्रेमोचित दान, सम्मान आदिके वेगसे परस्पर आदर-सत्कार प्राप्त कर सब आकाशचारी सिद्ध महात्मा और भूमिचर अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये । उन लोगोंने सामने नतमस्तक होकर स्थित श्रीरामचन्द्रजीका चारों ओरसे सामयिक वार्तालाप, प्रशंसा और पुष्पवृष्टि द्वारा खूब सत्कार किया । पूर्वोक्त सिद्ध महात्माओंके मध्यमें राज्यलक्ष्मीसे विभूषित श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हुए और वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ आदि मन्त्री, ब्रह्मपुत्र श्रीनारदजी, मुनिश्रेष्ठ व्यासजी, मुनिवर मरीचि, दुर्वासा, अङ्गिरा, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनिराज शरलोमा,

उद्दालक ऋचीकश्च शर्यातिश्च्यवनस्तथा ॥ २६ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
ज्ञातज्ञेया महात्मान आस्थितास्तत्र नायकाः ॥ २७ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां सह ते नारदादयः ।
इदमूचुरनूचाना राममानमिताननम् ॥ २८ ॥
अहो बत कुमारेण कल्याणगुणशालिनी ।
वागुक्ता परमोदारा वैराग्यरसगर्भिणी ॥ २९ ॥
परिनिष्ठितवक्तव्यं सबोधमुचितं स्फुटम् ।
उदारं प्रियमार्यार्हमविह्वलमपि स्फुटम् ॥ ३० ॥
अभिव्यक्तपदं स्पष्टमिष्टं स्पष्टं च तुष्टिमत् ।
करोति राघवप्रोक्तं वचः कस्य न विस्मयम् ॥ ३१ ॥

वात्स्यायन, भरद्वाज, वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति, च्यवन आदि अनेक वेद और वेदाङ्गोंके पारङ्गत, तत्त्वज्ञानी महात्मा विराजमान हुए। वसिष्ठ और विश्वामित्रजीके साथ देवर्षि नारद आदिने, जो कि गुरुमुखसे विधिपूर्वक साङ्ग-वेदोंका अध्ययन किये हुए थे, विनयसे नतमस्तक श्रीरामचन्द्रजी से यह वाक्य कहा ॥ २१–२८ ॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीने कल्याण गुणोंसे (कहे जानेवाले उत्तमोत्तम सोलह गुणोंसे) शोभायमान, वैराग्य-रससे परिपूर्ण एवं बड़ी उदार वाणी कही। उक्त वाणीमें ये इस प्रकारके और ऐसे ही हैं, यों विचारकर वक्तव्य अर्थ व्यवस्थाके साथ निहित हैं, पदार्थोंका तत्त्वबोध भी है अर्थात् केवल कपोलकल्पनासे पदार्थोंकी व्यवस्था नहीं की गई है, अतएव यह विद्वानोंकी सभामें स्थान पाने योग्य है, इसके वर्ण बिलकुल स्फुट हैं, यह वाणी उत्कृष्ट और विपुलभावसे गम्भीर है, हृदयको आनन्द देनेवाली है, पूज्य महात्माओंके योग्य है, चित्तकी चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित है, जैसे इसके वर्ण स्फुट हैं वैसे ही अर्थ भी स्फुट है, इसके सम्पूर्ण पद व्याकरणके नियमोंसे संस्कृत हैं, यह हितकारिणी है, ग्रस्त आदि दोषोंसे रहित है और है तृष्णाके विनाशसे उत्पन्न सन्तोषकी सूचक। श्रीरामचन्द्रजी द्वारा उक्त यह वाणी किसको आश्चर्यमग्न नहीं करती ? ॥२९–३१॥

शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृतिः ।
ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती ॥ ३२ ॥
कुमार त्वां विना कस्य विवेकफलशालिनी ।
परं विकासमायाति प्रज्ञा शरलताता ॥ ३३ ॥
प्रज्ञादीपशिखा यस्य रामस्येव हृदि स्थिता ।
प्रज्वलत्यसमालोककारिणी स पुमान् स्मृतः ॥ ३४ ॥
रक्तमांसास्थियन्त्राणि बहून्यतितराणि च ।
पदार्थानभिकर्षन्ति नाऽस्ति तेषु सचेतनः ॥ ३५ ॥
जन्ममृत्युजरादुःखमनुयान्ति पुनः पुनः ।
विमृशन्ति न संसारं पशवः परिमोहिताः ॥ ३६ ॥

सैकड़ोंमें से किसी एक-आधकी ही वाणी सम्पूर्ण वक्ताओंकी अपेक्षा सर्वांशमें उत्कृष्ट चमत्कारसे परिपूर्ण अतएव अभीष्ट (विवक्षित) अर्थको प्रकट करनेमें सर्वथा समर्थ होती है । राजकुमार, आपके बिना किस पुरुषकी विवेकरूपी फलसे सुशोभित, कुशाग्रके समान तीव्र प्रज्ञा विचार-वैराग्यरूपी पुष्प-पल्लवोंसे वृद्धिको प्राप्त होगी ? ॥ ३२,३३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके समान जिसके हृदयमें असाधारण रीतिसे पदार्थोंके तत्त्वका प्रकाश करानेवाली या अध्यस्त देह, इन्द्रिय आदिके साम्यसे पृथक्कृत आत्माका प्रकाश करानेवाली प्रज्ञारूपी दीपकशिखा (दीपज्योति) प्रज्वलित होती है, वही पुरुष है । और तो पुरुषार्थके लिए असमर्थ अतएव स्त्रीप्राय हैं । पूर्वोक्त प्रज्ञासे हीन पुरुष रक्त, मांस आदि यन्त्ररूप देहमें आत्मबुद्धि होनेसे रक्त, माँस, अस्थि आदि यन्त्ररूप ही शब्द, स्पर्श आदि पदार्थोंका उपभोग करते हैं, उनमें 'सचेतन आत्मा नहीं है' यों उनमें चार्वाकता ही सिद्ध होती है, यह भाव है । अथवा यदि उनमें कोई सचेतन होता, तो वह अवश्य पुरुषार्थके लिए यत्न करता । वे यत्न नहीं करते अतएव वे घट, भित्ति आदिके समान अचेतन ही हैं— इस प्रकार निन्दाके लिए उनमें चेतनताका निषेध है । जो लोग सर्वथा मोहाच्छन्न होनेके कारण संसारका विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं; एवं वे पुनः पुनः जन्म, मरण, जरा आदि दुःखोंको प्राप्त होते हैं ॥३४—३६॥

कथञ्चित् क्वचिदेवैको दृश्यते विमलाशयः ।
पूर्वापरविचारार्हो यथाऽयमरिमर्दनः ॥ ३७ ॥
अनुत्तमचमत्कारफलाः सुभगमूर्तयः ।
भव्या हि विरला लोके सहकारद्रुमा इव ॥ ३८ ॥
सम्यग्दृष्टजगद्यात्रा स्वविवेकचमत्कृतिः ।
अस्मिन् मान्यमतावन्तरियमद्यैव दृश्यते ॥ ३९ ॥
सुभगाः सुलभारोहाः फलपल्लवशालिनः ।
जायन्ते तरवो देशे न तु चन्दनपादपाः ॥ ४० ॥
वृक्षाः प्रतिवनं सन्ति नित्यं सफलपल्लवाः ।
न त्वपूर्वचमत्कारो लवङ्गः सुलभः सदा ॥ ४१ ॥
ज्योत्स्नेव शीता शशिनः सुतरोरिव मञ्जरी ।
पुष्पादामोदलेखेव दृष्टा रामाच्चमत्कृतिः ॥ ४२ ॥

जैसे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी विमल अन्तःकरणवाले हैं, वैसा निर्मल अन्तःकरणवाला अतएव पूर्वापरका विचार करनेवाला कहींपर बड़ी कठिनाईसे कोई विरला ही दिखाई देता है ॥ ३७ ॥

जैसे लोकमें उत्कृष्ट माधुर्यवाले फलोंसे लदे हुए मनोहर आकृतिवाले आमके वृक्ष विरले हैं, वैसे ही उत्कृष्ट माधुर्यसे परिपूर्ण तत्त्वसाक्षात्कारसे सम्पन्न एवं मनोज्ञ आकृतिवाले भव्य पुरुष विरले ही हैं ॥ ३८ ॥

यथार्थरूपसे देखा गया है जगत्का व्यवहार जिससे ऐसा केवल स्वविवेकसे ही तत्त्वदर्शनपर्यन्त चमत्कार आदरणीय बुद्धिवाले इसी राजकुमारमें इसी अवस्थामें देखा जाता है, यह महान् आश्चर्य है। देखनेमें सुन्दर, सरलतासे चढ़नेके योग्य एवं फल, फूल और पल्लवोंसे सुशोभित वृक्ष सभी देशोंमें होते हैं, पर चन्दनके वृक्ष सर्वत्र नहीं होते। फल और पल्लवोंसे पूर्ण वृक्ष प्रत्येक वनमें सदा मिलते हैं, पर अपूर्व चमत्कारवाला लौंगका वृक्ष सदा सर्वत्र सुलभ नहीं है ॥ ३९, ४१ ॥

जैसे चन्द्रमासे शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, जैसे सुन्दर वृक्षसे बौर उत्पन्न होते हैं और जैसे फूलोंसे सुगन्धपरम्परा उत्पन्न होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीसे यह चमत्कार देखा गया है ॥ ४२ ॥

अस्मिन्नुद्दामदौरात्म्यदैवनिर्माणनिर्मिते ।
द्विजेन्द्रा दग्धसंसारे सारो ह्यत्यन्तदुर्लभः ॥ ४३ ॥
यतन्ते सारसम्प्राप्तौ ये यशोनिधयो धियः ।
धन्या धुरि सतां गण्यास्त एव पुरुषोत्तमाः ॥ ४४ ॥
न रामेण समोऽस्तीह दृष्टो लोकेषु कश्चन ।
विवेकवानुदारात्मा न भावी चेति नो मतिः ॥ ४५ ॥
सकललोकचमत्कृतिकारिणोऽप्यभिमतं यदि राघवचेतसः ।
फलति नो तदिमे वयमेव हि स्फुटतरं मुनयो हतबुद्धयः ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे नभश्चर-
महीचरसम्मेलनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ, अत्यन्त दुष्टात्मा दैव (पूर्व जन्मके कर्म) या उसका अनुसरण करने-वाले विधाताकी सृष्टिसे रचित इस निन्दित संसारमें सार पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ है ॥४३॥

जो यशस्वी लोग सदा तत्त्वके विचारमें तत्पर होकर सार पदार्थकी प्राप्तिके लिए यत्न करते हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही सज्जनशिरोमणि हैं और वे ही उत्तम पुरुष हैं ॥ ४४ ॥

तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीके सदृश विवेकी एवं उदारचित्त न कोई है और न कोई होगा, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनोरथकी पूर्त्ति अवश्य करनी चाहिए, इस बातको उनकी प्रशंसारूप उत्तम अधिकारकी प्राप्तिके प्रख्यापन द्वारा कहकर उसकी उपेक्षा करनेमें दोष कहते हैं—'सकल०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण लोगोंको गुण, शील, विनय आदि द्वारा और समुचित प्रष्टव्य बातोंके रहस्यके उद्‍घाटन द्वारा आनन्दित करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके चित्तका तत्त्वजिज्ञासारूप मनोरथ यदि हमारे ऐसे ज्ञानियोंके उपदेशसे परिपूर्ण नहीं हुआ, तो ये हम लोग ही निश्चय हतबुद्धि होंगे अर्थात् हमारी अभिज्ञता निष्फल होगी, यह आशय है ॥ ४६ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पण्डितश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिविरचितयोगवासिष्ठभाषानुवादमें वैराग्यप्रकरण समाप्त ।

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणम्

प्रथमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

इति नादेन महता वचस्युक्ते सभागतैः ।
राममग्रगतं प्रीत्या विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[विचार द्वारा स्वयं ज्ञात और पिता द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानमें विश्वास न कर रहे श्रीशुकदेवजीको जनकके उपदेशसे विश्रान्तिप्राप्तिका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने जिस शम, दम आदि साधनसम्पत्तिका वर्णन किया है, वह किस प्रकारसे व्यवहार कर रहे मुमुक्षुओंको प्राप्त होती है और उससे किस प्रकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रत्येकका विवेचन कर उनके उपदेशके लिए दूसरे मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणका आरम्भ करते हुए श्रीवाल्मीकिजी बोले—

इस प्रकरणमें सर्वप्रथम, जिन्हें थोड़ा बहुत (अपरिपक्व) वैराग्य आदि साधन प्राप्त है, उनकी अधिकारसम्पत्ति हमें प्राप्त हो गई, इस भ्रान्तिसे सहसा श्रवण आदिमें प्रवृत्ति न हो, यह दर्शानेके लिए श्रीशुकदेवजीकी आख्यायिका द्वारा साधनसम्पत्तिके दार्ढ्यका स्वरूप दर्शा रहे 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं पापत्' (आचार्यसे ही ज्ञात विद्या श्रेष्ठतम होती है) इस श्रुतिके अनुसार कुलगुरु श्रीवसिष्ठ-जीको, श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश देनेके लिए, इतिहासस्मारण और तत्त्वोपदेशकी भूमिका द्वारा उत्साहित कर रहे एवं स्वप्रयोजनसिद्धिरूप श्रवणके लिए शीघ्रता कर रहे श्रीविश्वामित्र ही पहले बोले, ऐसा कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

सभामें आये हुए सिद्धों द्वारा बड़े दीर्घ स्वरसे पूर्वोक्त वचन कहनेपर अपने सामने स्थित एवं अधिकारकी सीमामें स्थित श्रीरामचन्द्रजीसे श्रीविश्वामित्रजी प्रीतिपूर्वक* बोले ॥ १ ॥

* मुख्य अधिकारी दुर्लभ हैं, इसलिए रामचन्द्रजीमें श्रीविश्वामित्रजीकी प्रीति हुई और वे स्वयं ब्रह्मविद्याके महान् रसज्ञ थे, इसलिए वक्ष्यमाण ब्रह्मविद्याकी चर्चामें उनकी प्रीति थी, अतएव वे प्रीतिसे बोले ।

न राघव तवाऽस्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि ॥ २ ॥
केवलं मार्जनामात्रं मनागेवोपयुज्यते ।
स्वभावविमले नित्यं स्वबुद्धिमुकुरे तव ॥ ३ ॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव ।
विश्रान्तिमात्रमेवाऽन्तर्ज्ञातज्ञेयाऽप्यपेक्षते ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्य भगवन् कथम् ।
ज्ञेयेऽप्यादौ न विश्रान्तं विश्रान्तं च धिया पुनः ॥ ५ ॥

हे ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ रामचन्द्र, तुम्हारे लिए और ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् जो तुम्हें ज्ञात न हो और अवश्य ज्ञातव्य हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। तुम सार और असारका विवेचन करनेमें अति दक्ष अपनी बुद्धिसे सम्पूर्ण हेयो-पादेयरहस्यको जान चुके हो अर्थात् उक्त बुद्धिसे तुम्हें परमार्थसारभूत अखण्ड अद्वितीय चिद्घन परमात्मतत्त्व भी ज्ञात हो गया है ॥ २ ॥

यदि उक्त परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, तो विश्रान्ति क्यों नहीं प्राप्त हुई ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे।

स्वभावतः निर्मल तुम्हारे बुद्धिरूपी दर्पणमें केवल तनिक अविश्वास और सन्देहरूपी मलिनताके निराकरणकी आवश्यकता है, क्योंकि अपनी बुद्धिसे परमात्म-तत्त्वके ज्ञात होनेपर भी शास्त्र और आचार्य आदिके संवादके बिना विश्वास नहीं होता। कहा भी है कि 'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः' (भली भाँति शिक्षित लोगोंका भी चित्त अपने विषयमें विश्वास नहीं करता)। भगवान् वेदव्यासजीके सुपुत्र श्रीशुकदेवजीकी* बुद्धिकी नाईं तुम्हारी बुद्धिने भी ज्ञातव्य वस्तुको जान लिया है। अब केवल मात्र विश्रान्तिकी उसे अपेक्षा है॥३,४॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवान् श्रीव्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीकी अपने ही विचारसे ज्ञातव्य तत्त्वमें कैसे विश्रान्ति नहीं हुई और गुरुके उपदेश द्वारा प्राप्त संवादिनी बुद्धिसे फिर कैसे उनको विश्रान्ति प्राप्त हुई ? ॥ ५ ॥

* यहाँपर श्रीवेदव्यासजी और श्रीशुकदेवजी पूर्व द्वापरके अन्तमें उत्पन्न हुए लिये जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्वापरके अन्तमें व्यासजीका अवतार होता है, यह प्रसिद्ध है।

विश्वामित्र उवाच

आत्मोदन्तसमं राम कथ्यमानमिदं मया ।
शृणु व्यासात्मजोदन्तं जन्मनामन्तकारणम् ॥ ६ ॥
योऽयमञ्जनशैलाभो निविष्टो हेमविष्टरे ।
पार्श्वे तव पितुर्व्यासो भगवान् भास्करद्युतिः ॥ ७ ॥
अस्याऽभूदिन्दुवदनस्तनयो नयकोविदः ।
शुको नाम महाप्राज्ञो यज्ञो मूर्त्येव सुस्थितः ॥ ८ ॥
प्रविचारयतो लोकयात्रामलमिमां हृदि ।
तवेव किल तस्याऽपि विवेक उदभूदयम् ॥ ९ ॥
तेनाऽसौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ।
प्रविचार्य चिरं चारु यत्सत्यं तदवाप्तवान् ॥ १० ॥
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ।
इदं वस्तिति विश्वासं नाऽसावात्मन्युपाययौ ॥ ११ ॥

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—हे रामचन्द्र, मैं तुमसे श्रीव्यासजीके पुत्र शुकदेवजीका जीवनवृत्तान्त कहता हूँ, तुम इसे सुनो । यह तुम्हारे जीवनवृत्तान्तके तुल्य है और सुननेवालोंके मोक्षका कारण है ॥ ६ ॥

जो ये अञ्जनके पर्वतके सदृश और सूर्यके समान तेजस्वी श्रीव्यासदेवजी तुम्हारे पिताजीके बगलमें सुवर्णके आसनपर बैठे हैं, इनका चन्द्रमाके समान सुन्दर, महाबुद्धिमान् , सर्वशास्त्रज्ञ और मूर्तिमान् यज्ञके सदृश शुकदेवनामक पुत्र हुआ । तुम्हारे समान अपने हृदयमें सदा बार-बार इस लोकयात्राका (संसारस्थितिका) विचार कर रहे उनके भी हृदयमें ऐसा ही विवेक उत्पन्न हुआ । वे महामनस्वी श्रीशुकदेवजी अपने उस विवेकसे चिरकालतक भली भाँति विचारकर परमार्थसत्यरूप अद्वितीय, चिद्घन परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो गये ॥ ७–१० ॥

स्वयं प्राप्त परमात्मतत्त्वरूप वस्तुमें उनका मन विश्रान्त नहीं हुआ, उन्हें आत्मतत्त्वमें, यही वस्तु है, ऐसा विश्वास नहीं हुआ । विश्वास न होनेसे विश्रान्ति भी नहीं मिली । विश्रान्ति न मिलनेमें अविश्वास ही कारण है । जैसे वर्षाकी जलधाराओंसे भिन्न जलधाराओंमें चातक प्रीति नहीं करता, उनसे विरत रहता है, वैसे ही

केवलं विररामाऽस्य चेतो विगतचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥ १२ ॥
एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसुस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥ १३ ॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमं याति कियत्कस्य कदेति वा ॥ १४ ॥
इति पृष्टेन मुनिना व्यासेनाऽखिलमात्मजे ।
यथावदमलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥ १५ ॥
आज्ञासिषं पूर्वमेतदहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः शुभया बुद्ध्या न वाक्यं बह्वमन्यत ॥ १६ ॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाऽहं जानामि तत्त्वतः ॥ १७ ॥

केवल उनका मन चञ्चलताका त्यागकर जन्म-मरणरूपी महान् दुःखके कारण विषयभोगोंसे विरक्त हो गया ॥ ११, १२ ॥

एक समय निर्मलमति शुकदेवजीने मेरु पर्वतपर एकान्त स्थानमें बैठे हुए अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनजीसे बड़े भक्ति-भावके साथ पूछा—

पूज्यतम, यह संसाररूप आडम्बर* किस क्रमसे उत्पन्न हुआ, कब यह उच्छिन्न होता है, यह कितना बड़ा है, कितने कालतक रहेगा और यह संसार है किसका ? क्या देहका है या इन्द्रियोंका है या मनका है अथवा प्राणका है या देहेन्द्रियादिसंघातका है या उनसे अन्य विकारीका है अथवा निर्विकार चिन्मात्रका है ? ॥ १३, १४ ॥

पुत्र द्वारा यों पूछे जानेपर आत्मतत्त्वज्ञ महामुनि श्रीव्यासजीने अपने पुत्रसे सम्पूर्ण वक्तव्य आद्योपान्त भली भाँति कहा । पिताजीके उपदेशके अनन्तर श्रीशुकदेवजीने यह सब तो मैं पहले ही जानता था, इससे कुछ अपूर्व बात नहीं ज्ञात हुई, यह सोचकर पिताजीके वाक्यका शुभबुद्धिसे विशेष आदर नहीं किया ॥ १५, १६ ॥

भगवान् व्यासदेवजीने भी पुत्रका ऐसा अभिप्राय जानकर उनसे फिर

* अन्यकी वञ्चनाके लिए की गई कृत्रिम चेष्टा आडम्बर है ।

जनको नाम भूपालो विद्यते वसुधातले ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात् सर्वमवाप्स्यसि ॥ १८ ॥
पित्रेत्युक्ते शुकः प्रायात् सुमेरोर्वसुधातले ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाऽभिपालिताम् ॥ १९ ॥
आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्याससुतो राजञ्शुकोऽत्र स्थितवानिति ॥ २० ॥
जिज्ञासार्थं शुकस्याऽसावास्तामेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्तदिनान्यथ ॥ २१ ॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणम् ।
तत्राऽहानि स सप्तैव तथैवाऽवसदुन्मनाः ॥ २२ ॥
अथ प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुरं शुकम् ।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि च ॥ २३ ॥

कहा कि मैं उक्त तत्त्वसे अतिरिक्त तत्त्वको नहीं जानता । पृथिवीमें जनक नामके महाराज हैं, वे ज्ञातव्य तत्त्वको भली भाँति जानते हैं, उनसे तुम वेद्य आत्मतत्त्वको भली-भाँति जान जाओगे ॥ १७, १८ ॥

पिताजीके यों कहनेपर श्रीशुकदेवजी सुमेरु पर्वतसे पृथिवीमें आये और महाराज जनकसे संरक्षित विदेहनगरीमें पहुँचे ॥ १९ ॥

द्वारपालोंने महात्मा जनकको सूचना दी कि राजन्, दरवाजेपर वेदव्यासजीके सुपुत्र श्रीशुकदेवजी स्थित हैं । जनकजी शुकदेवजीका चरित सुन चुके थे, अतएव सहसा उपदेश देनेमें श्रीव्यासजीके वाक्योंमें जैसे अनादर किया वैसे ही मेरे उपदेशमें अनादर होनेसे उनकी अकृतार्थता न हो, यह विचारकर उनके वैराग्य आदि साधनोंकी और विश्वासकी स्थिरताकी परीक्षाके लिए उपेक्षाके साथ अच्छा, आये हैं, तो क्या हुआ, रहें ? ऐसा कहकर सातदिन तक चुपचाप रह गये ॥२०,२१॥

सात दिनके अनन्तर उन्होंने शुकदेवजीको घरके आँगनके अन्दर प्रवेश करानेकी अनुमति दी, वहाँपर भी वे पूरे सात दिनतक वैसे ही उन्मना अर्थात् तत्त्वजिज्ञासाकी उत्कण्ठासे अनादरकी ओर कुछ ध्यान न देकर बैठे रहे । तदुपरान्त जनकने शुकको अन्तःपुरमें प्रवेश करानेकी आज्ञा दी । वहाँपर भी

तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसञ्चयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिसमाननम् ॥ २४ ॥
ते भोगास्तानि दुःखानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाऽजहुर्मन्दपवना बद्धपीठमिवाऽचलम् ॥ २५ ॥
केवलं सुसमः स्वस्थो मौनी मुदितमानसः ।
अतिष्ठत् स शुकस्तत्र सम्पूर्ण इव चन्द्रमाः ॥ २६ ॥
परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीतं मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥ २७ ॥
निःशेषितजगत्कार्य प्राप्ताखिलमनोरथ ।
किमीप्सितं तवेत्याशु कृतस्वागतमाह तम् ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच

संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाऽऽशु मे ॥ २९ ॥

जबतक तुम्हारी भोजन आदि द्वारा पूजा नहीं हो जाती तबतक राजा नहीं दिखाई देंगे, इस बहानेसे राजाने चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुखवाले शुकदेवजीका अन्तःपुरमें यौवनमदमत्त स्त्रियों द्वारा विविध भोगपूर्ण भोजनोंसे सात दिन तक लालन पालन किया। जैसे मन्द वायु बद्धमूल वृक्षको नहीं उखाड़ सकता, वैसे ही वे भोग वे दुःख व्यासदेवजीके पुत्रके मनको विकृत न कर सके। वहांपर पूर्ण चन्द्रके सदृश सुन्दर श्रीशुकदेवजी भोग और अनादरमें समान (हर्ष विषादरहित) अतएव स्वस्थ, वागादि इन्द्रियोंको अपने वशमे किये हुए एवं प्रसन्नमन रहे ॥ २२–२६ ॥

इस प्रकार परीक्षा द्वारा श्रीशुकदेवजीके तत्त्वज्ञान होनेतक स्थिर रहनेवाले विचार, वैराग्य आदिकी दृढ़तारूपी स्वभावको जानकर राजा जनकने आदरसे समीपमें लाये गये प्रसन्नचित्त श्रीशुकदेवजीको देखकर प्रणाम किया ॥ २७ ॥

राजाने बड़ी शीघ्रतासे शुकदेवजीका स्वागत कर उनसे कहा—महाभाग, आपने जगत्में प्रसिद्ध परमपुरुषार्थके साधनभूत आवश्यक सभी कार्य कर डाले हैं, अतएव आप कृतकृत्य हैं। भगवन्, सम्पूर्ण सुखलव आत्मसुखके अन्तर्गत हैं, आत्मसुखके प्राप्त हो जानेसे ही आपके सभी मनोरथ सिद्ध हो गये हैं। आपकी क्या इच्छा है ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—गुरुदेव, यह संसाररूपी आडम्बर किस क्रमसे

विश्वामित्र उवाच

जनकेनेति पृष्टेन शुकस्य कथितं तदा ।
तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महात्मना ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥ ३१ ॥
भवताऽप्येष एवाऽर्थः कथितो वाग्विदां वर ।
एष एव च वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥ ३२ ॥
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चयः ॥ ३३ ॥

उत्पन्न हुआ है और कैसे इसका उच्छेद होता है, यह भली-भाँति मुझसे कहिये ॥ २९ ॥

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—यों पूछनेपर जनकने श्रीशुकदेवजीसे उसी तत्त्वका उपदेश दिया जिसका कि पहले उनके पिता महात्मा श्रीवेदव्यासजीने दिया था ॥ ३० ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—मैंने यह बात अपने विवेकसे पहले ही जान ली थी और जब मैंने अपने पिताजीसे पूछा, तो उन्होंने भी यही कहा । हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज, आपने भी यही बात कही । सम्पूर्ण उपनिषदोंमें स्थित महावाक्योंका भी यही अखण्ड वाक्यार्थ उपनिषत्के तात्पर्यका निर्णय करनेवाले सूत्र, भाष्य आदि शास्त्रोंमें दिखाई देता है ॥ ३१, ३२ ॥

वह यह कि—यह निन्दित संसार अन्तःकरणसे उत्पन्न हुआ है और अन्तःकरणका आत्यन्तिक विनाश होनेसे नष्ट हो जाता है, अतः यह निस्सार है; ऐसा तत्त्वज्ञानियोंका निश्चय है* ॥ ३३ ॥

---

* उक्त श्लोकका विशद अर्थ यों है—स्वमें—अज्ञानसे उपहित आत्मामें—विविध प्रकारके प्रपञ्चकी कल्पना करनेवाला विकल्प है अर्थात् अन्तःकरण, जो कि अनन्त काम, कर्म और वासनाओंके बीजोंसे परिपूर्ण है, सुषुप्ति अवस्थामें केवल समष्टि तथा व्यष्टि संस्कारोंसे अवशिष्ट रहकर अव्याकृतमें लीन हो जाता है और जीवभावकी उपाधि है । उस अन्त.करणसे प्रलय क्रमसे विपरीत क्रमसे अर्थात् पहले अपञ्चीकृत आकाश आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे समष्टिहिरण्यगर्भरूपसे, तदनन्तर पञ्चीकरण द्वारा विराड्रूपसे, तदुपरान्त अन्नादिके क्रमसे व्यष्टिस्थूलदेहरूपसे और उसके अन्दर व्यष्टि-

तत्किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाऽचलम् ।
त्वत्तो विश्रान्तिमाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ॥ ३४ ॥

जनक उवाच

नाऽतः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ।
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंकल्पवशाद् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ॥ ३६ ॥

हे महाबाहो, जिसे मैंने स्वयं ही पहले विचार द्वारा जाना है, क्या वही सत्य तत्त्व है ? यदि वही सत्य तत्त्व है, तो वह जिस प्रकार निःसन्देहरूपसे मेरे हृदयमें जम जाय, उस प्रकार उसका मुझे उपदेश दीजिए। यह तत्त्वपदार्थ है या यह तत्त्वपदार्थ है, यों अविश्वाससे नाना विषयोंमें चक्कर काट रहे चित्तने मुझे भ्रममें डाल रक्खा है। चित्त द्वारा इस जगत्में भ्राम्यमाण मैं आपसे शान्तिलाभ कर सकूँगा ॥ ३४ ॥

श्रीजनकजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ, आपने स्वयं विचारपूर्वक जिस तत्त्वको जाना है और जिसका गुरुमुखसे श्रवण किया है, उससे अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञातव्य तत्त्व नहीं है ॥ ३५ ॥

दृढ़ निश्चय होनेके लिए पुनः उसी बातको कहते हैं—**'अविच्छिन्न०'** इत्यादिसे ।

हे शुकदेव, इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें सर्वव्यापक, चिन्मय एकमात्र परम पुरुष परमात्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वही अद्वितीय परमात्मा अपने सङ्कल्पसे संसाररूप बन्धनमें पड़ा है और जब वह सङ्कल्परहित हो जाता है तब मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

लिङ्गदेहरूपसे आविर्भूत हुआ यह निन्दित संसार महा अनर्थरूप है। यह केवल कर्म और उपासनाके अनुष्ठानसे व्यष्टिभावकी जननी वासनाका विनाश होनेपर समष्टिहिरण्यगर्भरूपसे अवशिष्ट रहता है तथा श्रवण आदिके परिपाकसे उत्पन्न तत्त्वसाक्षात्कारसे वासनासहित कार्य-कारणरूप अविद्याका नाश होनेपर मूलोच्छेदपूर्वक अन्तःकरणका आत्यन्तिक विनाश होनेके कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है। मूलस्थित दग्धशब्द निन्दाका वाचक है।

अथवा—स्वप्रकाशरूप आत्मामें तीनों कालोंमें बाधित होने और मिथ्या होनेके कारण यह संसार प्रथमतः दग्धप्राय अतएव निस्सार है, फिर साक्षात्काररूपी प्रलयाग्निसे, चारों ओरसे, परिवेष्टित होनेपर कैसे रह सकता है, यह भाव है ।

तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्यात् प्राक्सकलादिह ॥ ३७ ॥
तव बाल महावीर मतिर्विरतिमागता ।
भोगेभ्यो दीर्घरोगेभ्यः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ३८ ॥
न तथा पूर्णता जाता सर्वज्ञानमहानिधेः ।
तिष्ठतस्तपसि स्फारे पितुस्तव यथा तव ॥ ३९ ॥
व्यासादधिक एवाऽहं व्यासशिष्योऽसि तत्सुतः ।
भोगेच्छातानवेनेह मत्तोऽप्यत्यधिको भवान् ॥ ४० ॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
न दृश्ये पतसि ब्रह्मन् मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥ ४१ ॥

. मुनिश्रेष्ठ, आपने ज्ञातव्य तत्त्वको भली-भाँति जान लिया है । आप बड़े महात्मा हैं, क्योंकि आपको तत्त्वनिश्चयदशामें भोग भोगनेसे पूर्व ही सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चसे वैराग्य हो गया है ॥ ३७ ॥

भगवन्, आप बालक होते हुए भी विषयोंके त्यागमें शूरवीर होनेके कारण महावीर हैं, अतएव दीर्घरोगके तुल्य भोगोंसे आपकी मति विरक्त हो गई है, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? जिसे सुननेके लिए आप व्यग्र थे, आपके उस जिज्ञासित विषयको मैं आपसे कह चुका । इस समय क्या सुननेके लिए आप इच्छुक हैं ? उसे मुझसे कहिए ॥ ३८ ॥

आपके पितृचरण व्यासजी सम्पूर्ण ज्ञानोंके महासागर हैं और असीम तपस्यामें संलग्न हैं, पर जैसे पूर्णज्ञानी आप हुए हैं वैसे पूर्णज्ञानी वे नहीं हुए हैं* ॥३९॥

श्रीव्यासदेवजीका शिष्य मैं श्रीव्यासजीसे भी बढ़कर हूँ, क्योंकि उनके पुत्र और शिष्य आप मेरे शिष्य हुए हैं । आपमें भोगोंकी इच्छा इतनी अल्पमात्रामें है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । उक्त भोगेच्छाकी न्यूनतासे आप मुझसे भी कहीं बढ़कर हैं† ॥ ४० ॥

ब्रह्मन्, आपको जो पाना था, उसे आप पा गये हैं । इस समय आपका चित्त परिपूर्ण है । आप अब दृश्य वस्तुमें निमग्न नहीं हैं, दृश्य वस्तुमें निमग्न होना ही संसारपतन है, क्योंकि 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति'

* यह प्रशंसा निश्चयको दृढ़ करनेके लिए है ।
† इस श्लोकमें भी जो प्रशंसा की गई है, वह भी निश्चयदार्ढ्यके लिए ही है ।

अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।
अतिष्ठत्स शुकस्तूष्णीं स्वच्छे परमवस्तुनि ॥ ४२ ॥
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥ ४३ ॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
दश स्थित्वा शशामाऽसावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥ ४४ ॥
व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवाऽम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥४५॥
इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
शुकनिर्याणं नाम प्रथमः सर्गः ॥

(जो तनिक भी आत्मामें भेद करता है उसे भय होता है) ऐसी श्रुति है। अतः आप मुक्त हो गये हैं, इसलिए कोई और भी ज्ञातव्य वस्तु है, ऐसी भ्रान्तिका त्याग कीजिये ॥ ४१ ॥

महात्मा जनक द्वारा आप सर्वव्यापक चिन्मय अद्वितीय परमात्मा हैं— यों उपदिष्ट श्रीशुकदेवजी दृश्यरूप मलसे रहित परमात्मामें चित्तसमाधानपूर्वक चुपचाप स्थित हो गये ॥ ४२ ॥

उनके शोक, भय, खेद, सब नष्ट हो गये, इच्छा न मालूम कहां चली गई एवं सब सन्देह कट गये। यों निस्संशय होकर श्रीशुकदेवजी सात्त्विक देवताओंसे आक्रान्त होनेके कारण चित्तविक्षेपके हेतुओंके न रहनेसे समाधिके अनुकूल मेरुके शिखरपर समाधिके लिए गये ॥ ४३ ॥

वहां वे दस हजार वर्षतक निर्विकल्पक समाधि लगाकर तेलरहित दीपकके समान परमात्मामें लीन हो गये—विदेहमुक्त हो गये ॥ ४४ ॥

विषयासक्ति और उसके हेतु अज्ञानका विनाश होनेसे परम शुद्ध अतएव संचित और आगामी पुण्य और पापके असंपर्क एवं विनाशसे निर्मलस्वरूप और प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेके कारण अशुद्ध देह आदिकी निवृत्ति होनेसे पावन हुए महात्मा श्रीशुकदेवजी निर्मल परमपावन परमात्मवस्तुमें वासनारहित होकर जैसे जलबिन्दु समुद्रमें मिल जाता है वैसे ही एकताको प्राप्त हो गये अर्थात् भेदक उपाधिके नष्ट होनेपर वास्तव अखण्डैक्यको प्राप्त हो गये ॥ ४५ ॥

प्रथम सर्ग समाप्त

—०—

द्वितीयः सर्गः

श्रीविश्वामित्र उवाच

तस्य व्यासतनूजस्य मलमात्रोपमार्जनम् ।
यथोपयुक्तं ते राम तावदेवोपयुज्यते ॥ १ ॥
ज्ञेयमेतेन विज्ञातमशेषेण मुनीश्वराः ।
स्वदन्तेऽस्मै न यद्भोगा रोगा इव सुमेधसे ॥ २ ॥
ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम् ।
न स्वदन्ते समग्राणि भोगवृन्दानि यत्पुनः ॥ ३ ॥
भोगभावनया याति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुजः ।
तयोपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम् ॥ ४ ॥

दूसरा सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश देनेके लिए प्रार्थित श्रीवसिष्ठजीको श्रीविश्वामित्रजीका प्रोत्साहित करना]

श्रीशुकदेवजीकी आख्यायिकाकी प्रकृतमें संगति दिखला रहे एवं श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश देनेके लिए श्रीवसिष्ठजीको उत्साहित कर रहे श्रीविश्वामित्रजी बोले—'तस्य' इत्यादिसे ।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—श्रीरामचन्द्र, जिस प्रकार व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीके केवल मनोमालिन्यके मार्जनके लिए उपपत्तियुक्त उपदेशकी आवश्यकता थी इसलिए उनका जनकके समीपमें जाकर उपदेश ग्रहण करना आवश्यक हुआ था वैसे ही तुम्हारा भी मनोमालिन्यका मार्जन आवश्यक है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त बातका ही सम्पूर्ण मुनियोंकी सम्मतिसे समर्थन करनेके लिए 'मुनीश्वराः' सब मुनियोंका संबोधन है । हे मुनिवरो, श्रीरामचन्द्रने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, क्योंकि सुमति श्रीरामको भोग रोगोंकी नाईं रुचिकर नहीं हो रहे हैं ॥ २ ॥

जिसने ज्ञातव्य वस्तुको जान लिया है, उसके मनका यही निश्चित लक्षण है कि उसको फिर सम्पूर्ण भोग भले नहीं लगते ॥ ३ ॥

अज्ञानसे उत्पन्न संसाररूपी बन्धन भोगोंकी वासनासे दृढ़ हो जाता है और जगत्में भोगवासनाके शान्त होनेपर बन्धन भी क्षीण हो जाता है ॥ ४ ॥

वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः ।
पदार्थवासनादाढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

स्वात्मतत्त्वाभिगमनं भवति प्रायशो नृणाम् ।
मुने विषयवैरस्यं कदर्थादुपजायते ॥ ६ ॥

सम्यक् पश्यति यस्तज्ज्ञो ज्ञातज्ञेयः स पण्डितः ।
न स्वदन्ते बलादेव तस्मै भोगा महात्मने ॥ ७ ॥

यशःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भुवि भोगा न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ८ ॥

ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते ।
विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा ॥ ९ ॥

हे राम, विद्वान् लोग वासनाक्षयको 'मोक्ष' कहते हैं और विषयोंमें वासनाकी दृढताको बन्ध कहते हैं अर्थात् जितनी ही विषयवासना क्षीण होती जायगी, उतना ही संसारसे (बन्धसे) छुटकारा मिलता जायगा । वासनाके सर्वथा क्षीण होनेपर सर्वतः मुक्ति हो जाती है ॥ ५ ॥

मुनिवरो, मनुष्यको आत्मतत्त्वका आपात ज्ञान (सामान्य ज्ञान) प्रायः अल्प श्रवण आदि आयाससे भी हो जाता है, [अर्थात् अपरोक्ष दृक्स्वरूप आत्माका केवल दृश्य विवेकसे भी अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है] पर विषयोंमें विराग तो क्लेशसे ही होता है ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति भली-भाँति (राग आदिसे अप्रतिहत होकर) आत्मदर्शी होता है वही यथार्थ आत्मज्ञानी (तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न अविद्याध्वंसरूपी फलवाला) है, वही यथार्थ ज्ञातज्ञेय (ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञाता) है और वही पण्डित है । सामान्यरूपसे आत्मदर्शी पुरुष वैसा नहीं है, कारण कि उससे मूढता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती । उक्त महात्मा पुरुषको भोग हठात् अच्छे नहीं लगते ॥ ७ ॥

जिसे यश, पूजा, लाभ आदि उद्देश्योंके बिना ही भोग अच्छे नहीं लगते वह सांसारिक जीवन्मुक्त कहलाता है, भाव यह कि दम्भसे जो भोगका त्याग किया जाता है, उससे इष्टसिद्धि नहीं होती ॥ ८ ॥

वैराग्य, बोध और उपरतिकी अभिवृद्धिमें वैराग्य आदि परस्पर सहायक हैं, अतः

अतएव हि विज्ञातज्ञेयं विद्धि रघूद्वहम् ।
यदेनं रञ्जयन्त्येता न रम्या भोगभूमयः ॥ १० ॥
रामो यदन्तर्जानाति तद्वस्त्वित्येव सन्मुखात् ।
आकर्ण्य चित्तविश्रान्तिमाप्नोत्येव मुनीश्वराः ॥ ११ ॥

ज्ञानके अतिशय परिपाकसे ही मूलोच्छेद होनेके कारण आत्यन्तिक रागका नाश होता है, ऐसा कहते हैं—'**ज्ञेयम्**' इत्यादिसे ।

जैसे मरुभूमिमें लता नहीं उगती वैसे ही जबतक ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान नहीं होता तबतक विषयोंमें वैराग्य नहीं होता । इस प्रकार व्यतिरेकप्रकर्षसे अन्वयप्रकर्ष लक्षित होता है, अर्थात् ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान होनेपर ही विषयोंमें वैराग्य होता है, क्योंकि 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान्‌का वचन है ॥९॥

मुनिवृन्द, इसलिए आप लोग श्रीरामचन्द्रजीको निश्चय ज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्वको जान लिया है) जानिये, क्योंकि इन्हें ये मनोहर विषय अनुरञ्जित (प्रसन्न) नहीं कर रहे हैं ॥ १० ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी तत्त्वज्ञानी हैं, तो उन्हें उपदेश देनेके लिए श्रीवसिष्ठजीकी वक्ष्यमाण प्रार्थना क्यों करते हैं, इसपर कहते हैं—'**रामो**' इत्यादिसे ।

हे मुनिनायको, श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्वको जानते हैं, उसे श्रीगुरुमुखसे यही वस्तु है, ऐसा सुनकर श्रीरामजीका चित्त अवश्य विश्रान्तिको प्राप्त होगा ही, अन्यान्य अधिकारी पुरुष भी उपदेश सुनकर विश्रान्तिको प्राप्त होंगे । इस प्रकार सबके उपकारके लिए हम वसिष्ठजीकी प्रार्थना करते हैं, यह भाव है । अथवा श्रीरामचन्द्रजीने जिस तत्त्वको स्वयं विचारसे जाना है, उसमें उन्हें यही वस्तु है, ऐसा दृढ़ विश्वास न होनेके कारण वह अप्राप्त-सा ही है, गुरुमुखसे उसे सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसमें विश्वास होनेके कारण अवश्य चित्तविश्रान्तिको प्राप्त होंगे * ॥ ११ ॥

---

* अभिप्राय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्वको जानते ही हैं लोकहितके लिए वे गुरूपदेशके प्रार्थी हैं । उनका आशय यह है कि इसी बहाने अन्यान्य अधिकारी जन भी उपदेश सुनकर मेरी नाईं चित्तविश्रान्तिको प्राप्त हों । अथवा श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व क्या है ? इस बातको मन ही मनमें खूब जानकर भी दृढ विश्वासके न होनेके कारण अनात्मज्ञके समान असुखी हैं, उन्हें विश्वास दिलानेके लिए कि यही तत्त्व है, उपदेशकी आवश्यकता है । उपदेश देनेके उपरान्त अविश्वास हट जायगा और परम विश्रान्ति प्राप्त हो जायगी ।

केवलं केवलीभावविश्रान्तिं समपेक्षते ।
रामबुद्धिः शरल्लक्ष्मीः खलु विश्रमणं यथा ॥ १२ ॥

अत्राऽस्य चित्तविश्रान्त्यै राघवस्य महात्मनः।
युक्तिं कथयतु श्रीमान् वसिष्ठो भगवानयम् ॥ १३ ॥

रघूणामेव सर्वेषां प्रभुः कुलगुरुः सदा ।
सर्वज्ञः सर्वसाक्षी च त्रिकालामलदर्शनः ॥ १४ ॥

वसिष्ठ भगवन् पूर्वं कच्चित्स्मरसि यत्स्वयम् ।
आवयोर्वैरशान्त्यर्थं श्रेयसे च महाधियाम् ॥ १५ ॥

निषधाद्रेर्मुनीनां च सानौ सरलसङ्कुले ।
उपदिष्टं भगवता ज्ञानं पद्मभुवा बहु ॥ १६ ॥

येन युक्तिमता ब्रह्मन् ज्ञानेनेयं हि वासना ।
सांसारी नूनमायाति शमं श्यामेव भास्वता ॥ १७ ॥

जैसे शरत्कालकी शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्रकी अपेक्षा करती है वैसे ही शरत्-शोभाके समान निर्मल श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धि द्वैतनिरासमें विश्वास द्वारा केवल अद्वितीय चिन्मात्रके अवशेषकी अपेक्षा करती है ॥ १२ ॥

यहांपर महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी चित्तविश्रान्तिके लिए ये श्रीमान् भगवान् वसिष्ठजी युक्तिका उपदेश देनेकी कृपा करें ॥ १३ ॥

यदि प्रश्न हो कि आप ही उपदेश क्यों नहीं देते ? तो इसपर कहते हैं— **'रघूणाम्'** इत्यादिसे ।

ये महात्मा सम्पूर्ण रघुवंशियोंके नियन्ता (शिक्षक) तथा कुलगुरु, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी एवं तीनों कालोंमें मोह आदिसे अनभिभूत हैं ॥ १४ ॥

भगवन् वसिष्ठजी, आपके और मेरे वैरको शान्त करनेके लिए और महा-मति मुनियोंके कल्याणके लिए, देवदारुके वृक्षोंसे आवृत निषध पर्वतके शिखरपर, भगवान् ब्रह्माजीने स्वयं पहले जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसका आपको स्मरण है ? ॥ १५, १६ ॥

ब्रह्मन्, जिस युक्तिपूर्वक ज्ञानसे यह सांसारिक वासना जैसे सूर्यके उदयसे रात्रि नष्ट हो जाती है वैसे ही निस्सन्देह नष्ट हो जाती है ॥ १७ ॥

तदेव युक्तिमज्ज्ञेयं रामायाऽन्तेनिवासिने ।
ब्रह्मन्नुपदिशाऽऽशु त्वं येन विश्रान्तिमेष्यति ॥ १८ ॥
कदर्थना च नैवैषा रामो हि गतकल्मषः ।
निर्मले मुकुरे वक्त्रमयत्नेनैव बिम्बति ॥ १९ ॥
तज्ज्ञानं स च शास्त्रार्थस्तद्वैदग्ध्यमनिन्दितम् ।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधो यदुपदिश्यते ॥ २० ॥
अशिष्यायाऽविरक्ताय यत्किञ्चिदुपदिश्यते ।
तत्प्रयात्यपवित्रत्वं गोक्षीरं श्वदृताविव ॥ २१ ॥
वीतरागभयक्रोधा निर्माना गलितैनसः ।
वदन्ति त्वादृशा यत्र तत्र विश्राम्यतीह धीः ॥ २२ ॥
इत्युक्ते गाधिपुत्रेण व्यासनारदपूर्वकाः ।
मुनयस्ते तमेवाऽर्थं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २३ ॥

ब्रह्मन्, आप उसी उपपत्तियुक्त ज्ञातव्य वस्तुका समीपमें स्थित (शिष्य-भूत) श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये अवश्य विश्रान्तिको प्राप्त हो जायँगे ॥ १८ ॥

भगवन्, यह अल्पफल देनेवाला महान् परिश्रम नहीं है । श्रीरामचन्द्रजी निष्पाप हैं, अतः जैसे निर्मल दर्पणमें प्रयत्नके बिना ही मुँह प्रतिबिम्बित हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीको प्रयत्नके बिना तत्त्वबोध प्राप्त हो जायगा ॥ १९ ॥

सज्जनशिरोमणे, वही ज्ञान है, वही शास्त्रार्थ है और वही प्रशंसनीय पाण्डित्य है, जिसका कि विरक्त सत् शिष्यके लिए उपदेश दिया जाता है। पात्रमें यदि उसका दान न किया जाय, तो व्यर्थ होनेके कारण वह निन्दनीय ही होगा, यह भाव है ॥२०॥

वैराग्यशून्य असत् शिष्यके लिए जो कुछ भी उपदेश दिया जाय, वह कुत्तेके चमड़ेसे बने पात्रमें रक्खे हुए गायके दूधकी नाई अपवित्रताको प्राप्त हो जाता है ॥२१॥

हे प्रभो, वीतराग, भय तथा क्रोधसे रहित, अभिमानशून्य और पापविवर्जित आप ऐसे महापुरुष जिसे उपदेश देते हैं, उसकी बुद्धि नित्य अपरोक्ष परमात्म-तत्त्वमें विश्रान्त हो ही जाती है ॥ २२ ॥

श्रीविश्वामित्रजीके यों कहनेपर व्यास, नारद आदि सम्पूर्ण मुनियोंने भी उनके कथनकी साधुवादपूर्वक खूब प्रशंसा की ॥ २३ ॥

अथोवाच महातेजा राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः।
ब्रह्मेव ब्रह्मणः पुत्रो वसिष्ठो भगवान् मुनिः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मुने यदादिशसि मे तदविघ्नं करोम्यहम्।
कः समर्थः समर्थोऽपि सतां लङ्घयितुं वचः ॥ २५ ॥
अहं हि राजपुत्राणां रामादीनां मनस्तमः।
ज्ञानेनाऽपनयाम्याशु दीपेनेव निशातमः ॥ २६ ॥
स्मराम्यखण्डितं सर्वं संसारभ्रमशान्तये।
निषधाद्रौ पुरा प्रोक्तं यज्ज्ञानं पद्मजन्मना ॥ २७ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति निगदितवानसौ महात्मा परिकरबन्धगृहीतवक्तृतेजाः।
अकथयदिदमज्ञतोपशान्त्यै परमपदैकविबोधनं वसिष्ठः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे विश्वामित्रवाक्यं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

—— ० ——

तदुपरान्त महराज दशरथकी बगलमें बैठे हुए ब्रह्माजीके पुत्र अतएव ब्रह्माजीके समान महातेजस्वी महामुनि भगवान् वसिष्ठजी बोले। भाव यह कि वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र थे, अतएव वे ब्रह्माजीके तुल्य महातेजस्विता आदि गुणगणोंसे विभूषित थे, इसलिए दिव्य मुनियोंकी मण्डलीके सम्मुख ब्रह्माजीकी नाईं बोले ॥ २४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—मुनिवर, जिस कार्यके लिए आप मुझे आदेश देते हैं, उसे मैं निर्विघ्न करता हूँ। सामर्थ्य होते हुए भी सन्तोंके वचनको टालनेकी किसमें शक्ति है ? ॥ २५ ॥

जैसे लोग दीपकसे रात्रिका अन्धकार दूर करते हैं, वैसे ही मैं श्रीराम आदि राजकुमारोंके अन्तःकरणके अज्ञानको ज्ञानसे शीघ्र दूर करता हूँ ॥ २६ ॥

पहले भगवान् ब्रह्माने संसाररूप भ्रमको दूर करनेके लिए जिस ज्ञानका निषध पर्वतपर उपदेश दिया था, उसका मैं ज्योंका त्यों आद्योपान्त स्मरण करता हूँ ॥२७॥

वाल्मीकिजीने कहा—महात्मा श्रीवसिष्ठजी यों स्पष्टतया प्रतिज्ञा कर जैसे पहल-

तृतीयः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना ।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

कथयिष्यसि विस्तीर्णां भगवन्मोक्षसंहिताम् ।
इमं तावत् क्षणं जातं संशयं मे निवारय ॥ २ ॥

वान् या नट भूषण, वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र आदि सामग्रीको लेकर उद्यत होता हुआ शोभित होता है वैसे ही प्रबोधप्राप्ति द्वारा शिष्यके अनुरञ्जनमें उपायभूत दृष्टान्त, उपाख्यान, प्रमाण और तर्क आदिका अनुसन्धान, उत्साह आदि परिकर-बन्धनसे व्याख्याताओंके तेजको स्वीकार कर जगत्की अज्ञानताका विनाश करनेके लिए मुख्यरूपसे परमात्माके बोधक शास्त्रको कहने लगे ॥ २८ ॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काके निराकरणके बहाने स्थूल आदि जगत्के अध्यारोप और अपवादसे प्रत्यगात्मरूप विषयकी सिद्धि]

इस प्रकार पूर्व वृत्तान्तका सम्पूर्णतया स्मरणकर विस्तारपूर्वक उसको कहनेके लिए प्रस्तुत श्रीवसिष्ठजी सद्गुरुस्मरणरूप मङ्गल करते हुए एवं विद्याके सम्प्रदायकी शुद्धिको दर्शाते हुए शिष्य श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए पुनः प्रतिज्ञा करते हैं—**'पूर्वमुक्तम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी, पहले सृष्टिके आरम्भमें भगवान् श्रीब्रह्माजीने सांसारिक सकल दुःखोंकी निवृत्तिके लिए जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसीको मैं कहता हूँ, उससे अन्य नहीं । इससे संप्रदायशुद्धि कही ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक अपने उपदेशश्रवणकी ओर श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान आकृष्ट किया गया, मनमें अन्य जिज्ञासाके रहनेपर श्रीगुरुके उपदेशपर ध्यान नहीं

पिता शुकस्य सर्वज्ञो गुरुर्व्यासो महामतिः ।
विदेहमुक्तो न कथं कथं मुक्तः सुतोऽस्य सः ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमार्कप्रकाशान्तस्त्रिजगत्त्रसरेणवः ।
उत्पत्योत्पत्य लीना ये न संख्यामुपयान्ति ते ॥ ४ ॥

रहेगा, अतः सूचीकटाहन्यायसे पहले उत्पन्न सन्देहकी निवृत्तिके लिए प्रार्थना कर रहे श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'**कथयिष्यसि**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, श्रीव्यासजीके अवशिष्ट लोगोंके समान जीवभावमें दिखलाई देनेसे एवं शुकदेवजीकी मुक्ति सुननेसे उत्पन्न हुए इस सन्देहको पहले क्षणभरमें दूर कर दीजिये, इस सन्देहकी निवृत्तिके अनन्तर विस्तीर्ण मोक्षसंहिताको कहिएगा ॥ २ ॥

उक्त सन्देहको ही दर्शाते हैं—'**पिता**' इत्यादिसे ।

श्रीशुकदेवजीके पिता और गुरु महामति सर्वज्ञ ये व्यासजी कैसे विदेहमुक्त न हुए और इनके पुत्र श्रीशुकदेवजी कैसे मुक्त हो गये ? यदि कहिए कि यह सन्देह ही नहीं बन सकता है, सो नहीं कह सकते, क्योंकि आत्यन्तिक दुःख-विनाशसे उपलक्षित (युक्त) निरतिशय स्वप्रकाशमात्र शेष रहना ही विदेहमुक्ति है और वही ज्ञानका फल है । वह यदि सर्वज्ञ श्रीव्यासजीको प्राप्त नहीं हुई, तो ज्ञान अनित्यफल हो जायगा अर्थात् ज्ञानसे मुक्तिरूप फल अवश्यंभावी न होगा । दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञानसे अज्ञान निश्शेष नष्ट हो गया, तो भृगु आदिके समान जीवन नहीं रह सकेगा, क्योंकि अज्ञानरूप उपादानके नष्ट होनेसे कार्य नहीं रह सकता । और जीवन न रहनेपर ब्रह्मविद्याके उपदेशकके न रहनेसे ब्रह्मविद्याका प्रवर्तक सम्प्रदाय ही विच्छिन्न हो जायगा । यदि ज्ञानसे अज्ञान उच्छिन्न न हुआ, तो मोक्षाभाव सिद्ध ही है । कर्मके तुल्य ज्ञान अदृष्टके द्वारा मरणके पश्चात् फल नहीं देता, क्योंकि वह कर्मके तुल्य विधेय नहीं है, कारण कि ज्ञान तीनों कालोंमें अखण्डरूपसे स्थित है, इस प्रकार जीवन्मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह सारांश है ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी द्वारा पूछे गये भगवान् वसिष्ठ, जबतक श्रीरामचन्द्रजी बन्धकी अविद्याजन्यता, अविद्याका स्वरूप और उसके साक्षी

वर्त्तमानाश्च याः सन्ति त्रैलोक्यगणकोटयः ।
शक्यन्ते ताश्च संख्यातुं नैव काश्चन केनचित् ॥ ५ ॥
भविष्यन्ति पराम्भोधौ जगत्सर्गतरङ्गकाः ।
तांश्च वै परिसंख्यातुं सा कथैव न विद्यते ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

या भूता या भविष्यन्त्यो जगत्सर्गपरम्पराः ।
तासां विचारणा युक्ता वर्त्तमानास्तु का इव ॥ ७ ॥

अपरिच्छिन्न सर्वाधार चैतन्यस्वरूपको नहीं जानते, तबतक जीवन्मुक्तिमें इनका विश्वास नहीं हो सकता, इसलिए पहले उनका उपपादन कर, तदुपरान्त इनके प्रश्नका समाधान करूँगा, यों विचारकर सुबोध होनेके कारण पहले साक्षीमें स्थूलप्रपञ्चपरम्पराका अध्यारोप दिखलाते हैं—'परमार्क०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक सूर्य अर्क कहलाता है । सूर्य *आदि सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक परमात्मा परमार्क हुआ । उक्त परमार्करूपी प्रकाशके अन्दर त्रिजगत्रूपी (अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूपी) त्रसरेणु † स्थित हो होकर लीन हो गये हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकती । इससे व्यास आदि भी असंख्य उत्पन्न होते हैं, यह सूचित हुआ ॥ ४ ॥

जो कोटि-कोटि त्रिजगत् इस समय विद्यमान हैं, उनमें भी कोई किन्हींकी गिनती नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

परमात्मारूपी महासागरमें जगत्सृष्टिरूपी जो तरङ्ग होंगे, उनकी गिनती करनेके लिए भी वाणीमें सामर्थ्य नहीं है । इस कथनसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत्का अध्यारोप दर्शाया ॥ ६ ॥

पूछे गये विषयकी उपेक्षा कर अन्य विषयको कह रहे श्रीगुरुजीका गूढ आशय मैंने भली-भाँति जान लिया, यों गुरुकी उत्साहवृद्धिके लिए अपनी कुशलताको सूचित

---

* 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' अर्थात् जिस परमात्मारूप तेजसे दीप्त होकर सूर्य तपता है और उस तेजस्वरूप परमात्मामें न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारे ही प्रकाशको प्राप्त होते हैं, इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ हैं ।

† त्र्यणुक । परमाणुद्वयेनाणुस्त्रसरेणुस्तु ते त्रयः (ब्र० वै० पु०), अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः (भा० ३।११।५) अर्थात् दो परमाणु = एक अणु और तीन अणु = एक त्रसरेणु ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

तिर्यक्पुरुषदेवादेर्यो नाम स विनश्यति ।
यस्मिन्नेव प्रदेशेऽसौ तदैवेदं प्रपश्यति ॥ ८ ॥
आतिवाहिकनाम्नाऽन्तः स्वहृद्येव जगत्त्रयम् ।
व्योम्नि चित्तशरीरेण व्योमात्माऽनुभवत्यजः ॥ ९ ॥

कह रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान सृष्टियोंमें कुछ वैलक्षण्य कहते हैं—'या' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—जो जगत्सृष्टिपरम्पराएँ अतीत हो गई हैं और जो आगामी हैं, उनका विचार करना तो ठीक है, परन्तु वर्तमान जो सृष्टियाँ हैं वे किसके सदृश हैं, अर्थात् वे न भूतके सदृश हैं और न भविष्यत्के सदृश हैं । वर्तमान सृष्टिपरम्परामें दोनोंकी समानता नहीं है, अतः उनकी श्रेणीमें वर्तमान सृष्टिकी विवेचना करना ठीक नहीं है। आशय यह कि यद्यपि वर्तमान सृष्टियाँ विशेषरूपसे (तत्तद्व्यक्तित्वरूपसे) असंख्य हैं, तथापि कालतः—पूर्व और उत्तर कालरूप—दोनों तटोंका भान होनेसे भूत और भविष्यत् सृष्टिकी अपेक्षा वे न्यूनसंख्यक होनेके कारण विदित ही हैं । इस प्रकार आपने यह दर्शाया कि अनन्त आगन्तुकोंका उपादान आत्मतत्त्व अनन्त, अद्वितीय, अनागन्तुक और चैतन्यस्वरूप है । यह मैं जान गया हूँ ॥ ७ ॥

इस प्रकार अतिगूढ़ अभिप्रायके परिज्ञान द्वारा उसमें विशेष बातके कथनसे श्रीराम द्वारा प्रोत्साहित पूर्वोक्त स्थूल प्रपञ्चके मिथ्यात्वबोधनके लिए सूक्ष्म भूतोंके ही पञ्चीकरणसे स्थूलीभावका केवल अवभास होता है, वस्तुतः सूक्ष्म-प्रपञ्चमात्रता ही है, यों दर्शानेवाले वसिष्ठजी कहते हैं—'तिर्यक्०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि प्राणियोंमें से जो जिस स्थानपर और जभी नाशको प्राप्त होता है, वह प्रत्यगात्मा उसी स्थानमें तभी वक्ष्यमाण (कहे जानेवाले) त्रिजगत्को देखता है । अर्थात् न तो दूसरे स्थानमें देखता है और न कालान्तरमें ॥ ८ ॥

वह किस सामग्रीसे और किस स्वरूपसे युक्त होकर देखता है ? इसपर कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

आतिवाहिक* नामक चित्त, अहङ्कार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियों और प्राणसे

* अतिवहनम्—अतिवाहः अर्थात् धूम, अर्चिरादि मार्गोंके अभिमानी देवताओं द्वारा परलोकमें पहुँचाना, उक्त कर्ममें जो दक्ष है, वह आतिवाहिक कहलाता है ।

एवं मृता म्रियन्ते च मरिष्यन्ति च कोटयः।
भूतानां यां जगन्त्याशामुदितानि पृथक् पृथक्॥ १० ॥

घटित वासनामय सूक्ष्मशरीरसे अपने हृदयरूपी आकाशमें (दहराकाशमें) ही वासनामय त्रिजगत्का अनुभव करता है और भ्रान्तिसे वासनामय तत्-तत् शरीरोंको क्रमशः प्राप्त होता है। वस्तुतः वह पूर्वोक्त चिदाकाशस्वरूप अतएव जन्मादि-विकाररहित है।

शङ्का—"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति"।

(उस हृदयके अग्रभागके प्रकाशनके साथ निकलता हुआ आत्मा चक्षुसे या मस्तकसे अथवा अन्यान्य शरीर-प्रदेशोंसे निकलता है, उसके निकलनेपर प्राण भी उसका अनुसरण करता है) और 'उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि' (निकल रहे या स्थित) इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियोंके विरुद्ध मृतका अपने हृदयमें ही परलोकदर्शन कैसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म और उपासनाके अनुरूप व्यवहारदृष्टिसे वे श्रुतियाँ और स्मृतियाँ हैं अर्थात् कर्म और उपासनासे होनेवाले भावी फलके अनुसार बाहर निकलनेके मार्ग अनेक प्रकारके हैं, यह दर्शानेके लिए उक्त श्रुति और स्मृतियाँ हैं—जिसे सूर्यलोकमें जाना होता है वह चक्षुसे, जिसे ब्रह्मलोकमें जाना होता है वह ब्रह्मरन्ध्रसे और जिसे अन्यान्य स्थानोंमें जाना होता है वह अन्यान्य शरीरावयवोंसे निष्क्रान्त होता है। यहाँपर तो परमार्थदृष्टिसे 'अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेव समाहिते' (इस दहराकाशमें द्यौ और पृथिवी भली-भाँति स्थित हैं) इस श्रुतिवादके समान हृदयमें ही परलोककी कल्पना की जाती है। आत्माके व्यापक होनेसे उसका आवास हृदय भी अपरिच्छिन्न हुआ, अतः हृदय-साक्षीमें हृदयरूप परिच्छेदको दूरकर निष्क्रियत्व और प्रपञ्चमें केवल वासनामयत्वका ज्ञान करानेके लिए, परलोकके समान उत्क्रमण और गमनकी भी वहींपर (हृदयमें ही) कल्पनामात्रसे उपपत्ति हो सकती है, अतः उक्त श्रुति और स्मृतिसे कोई विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

एक स्थानमें दर्शाई गई युक्तिको सर्वत्र दर्शाते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे।

इसी प्रकार करोड़ों प्राणी मर चुके हैं, मरते हैं और मरेंगे, वे मृत्युके पहले

सङ्कल्पनिर्माणमिव मनोराज्यविलासवत् ।
इन्द्रजालामाल इव कथार्थप्रतिभासवत् ॥ ११ ॥
दुर्वातभूकम्प इव त्रस्तबालपिशाचवत् ।
मुक्तावलीवाऽमले व्योम्नि नौस्पन्दतरुयानवत् ॥ १२ ॥
स्वप्नसंवित्तिपुरवत् स्मृतिजातखपुष्पवत् ।
जगत्संसरणं स्वान्तर्मृतोऽनुभवति स्वयम् ॥ १३ ॥
तत्राऽतिपरिणामेन तदेव घनतां गतम् ।
इह लोकोऽयमित्येव जीवाकाशे विजृम्भते ॥ १४ ॥

जीवन-दशामें जिस सम्पूर्ण जगत्का दर्शन करते हैं—दृश्यसमूह देखते हैं—उनमें से जिस दृश्यमें उनकी वासना (संस्कार) जड़ पकड़ लेती है, मृत्युकालमें उनके हृदयाकाशमें वही दृश्य उदित होता है, मरणके अनन्तर उन्हें वही दृश्य—जगत् (योनि) प्राप्त होता है* । सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् वासनाविशेषके विलाससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार जगत्के वासनामय होनेपर जो फलित हुआ अर्थात् परमार्थ दृष्टिसे उसमें भ्रमरूपता प्राप्त हुई, उसका वर्णन करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादि छः श्लोकोंसे ।

यह जगत् संकल्पसे निर्मितकी नाईं, मनोराज्यके विलासकी नाईं, इन्द्र-जालसे रचित मालाकी नाईं, उपन्यासके अर्थके प्रतिभासकी नाईं, वातरोगसे प्रतीत होनेवाले भूकम्पकी नाईं, बालकको डरानेके लिए कल्पित भूतकी नाईं, निर्मल आकाशमें कल्पित मुक्तावलीकी (मोतीमालाकी) नाईं, नावकी गतिसे प्रतीत होनेवाली वृक्षोंकी गतिकी नाईं, स्वप्नमें देखे गये नगरकी नाईं, अन्यत्र दृष्टके स्मरणसे आकाशमें कल्पित पुष्पकी नाईं भ्रमकल्पित है । मृत पुरुष इसका अपने हृदयमें स्वयं अनुभव करता है ॥ ११, १३ ॥

ऐसी परिस्थितिमें भगवान् वेदव्यासजीका वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (जाग्रत् और स्वप्न आदिमें अबाधितविषयत्व और बाधितविषयत्वरूप वैलक्षण्य है, अतएव

* 'यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति' (व्याघ्र, सिंह आदि जो जो पहले हुए थे वे फिर आकर वे ही होते हैं । करोड़ों युगोंका व्यवधान पड़नेपर भी संसारी जीवकी पहले भावित वासना नष्ट नहीं होती) 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' (जिस-जिस भावका स्मरणकर अन्तमें जीवन-त्याग करता है उस-उस भावको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियाँ इस विषयमें प्रमाण हैं।

पुनस्तत्रैव जन्मेहामरणाद्यनुभूतिमान् ।
परं लोकं कल्पयति मृतस्तत्र तथा पुनः ॥ १५ ॥
तदन्तरेऽन्ये पुरुषास्तेषामन्तस्तथेतरे ।
संसार इति भान्तीमे कदलीदलपीठवत् ॥ १६ ॥
न पृथ्व्यादिमहाभूतगणा न च जगत्क्रमाः ।
मृतानां सन्ति तत्राऽपि तथाऽप्येषां जगद्भ्रमाः ॥ १७ ॥

जाग्रत्-ज्ञान स्वप्नादिज्ञानके समान निर्विषय नहीं है) यह सूत्र कैसे संगत होगा एवं भोक्ताके जाग्रत्कालमें स्वप्नसे विपरीत जो चिरकाल तक नियत व्यवहार आदि होते हैं और जो उनमें सत्यता प्रतीत होती है, उसकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

जीवने जीवनावस्थामें जो जगत् देखा था, मृत्युके अनन्तर उसीका उसको स्मरण होता है और फिर जन्म होनेपर उसीका वह अनुभव करता है । जगत् यद्यपि पूर्वोक्त प्रकारसे असत् है, फिर भी अति परिचयसे दृढ़ताको प्राप्त होकर जीवाकाशमें प्रकाशित होता है । यही 'इहलोक' कहलाता है, यह अभिप्राय है ॥ १४ ॥

अव्यवस्थितस्वभाव होनेके कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा दर्शानेके लिए कहते हैं—'**पुनः**' इत्यादिसे ।

जन्म, जन्मसे लेकर मरण तककी चेष्टाएँ और मरणका अनुभव करनेवाला जीव उसीमें इहलोककी कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है और मरणके अनन्तर उसीमें परलोककी कल्पना करता है ॥ १५ ॥

वासनाके अन्दर अन्य अनेक देह और उनके मध्यमें और अन्यान्य देह इस संसारमें, ये केलेकी त्वचाके समान एकके पीछे एक और एकके पीछे एक इस प्रकार शोभित होते हैं ॥ १६ ॥

इस प्रकार मिथ्यात्वके सिद्ध होनेपर प्रपञ्चके निषेधसे अवशिष्ट आत्माकी सिद्धि है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**न पृथ्व्या०**' इत्यादिसे ।

न पृथिवी आदि पञ्च महाभूत हैं, न जगत् और जगत्का क्रम (सृष्टिक्रम) ही है अर्थात् ये सब मिथ्या हैं, फिर भी मृत और जीवित जीवोंको इनमें जगत्-भ्रम होता है । ज्ञानके बिना इनका उच्छेद नहीं हो सकता । इस प्रकार प्रपञ्चके निषेधसे अवशिष्ट आत्माकी सिद्धि हुई ॥ १७ ॥

अविद्यैव ह्यनन्तेयं नानाप्रसरशालिनी ।
जडानां सरिदादीर्घा तरत्सर्गतरङ्गिणी ॥ १८ ॥
परमार्थाम्बुधौ स्फारे राम सर्गतरङ्गकाः ।
भूयो भूयोऽनुवर्तन्ते त एवाऽन्ये च भूरिशः ॥ १९ ॥
सर्वतः सदृशाः केचित् कुलक्रममनोगुणैः ।
केचिदर्द्धेन सदृशाः केचिच्चाऽतिविलक्षणाः ॥ २० ॥
इमं व्यासमुनिं तत्र द्वात्रिंशं संस्मराम्यहम् ।
यथा सम्भवविज्ञानदृशा संदृश्यमानया ॥ २१ ॥
द्वादशाऽल्पधियस्तत्र कुलाकारेहितैः समाः ।
दश सर्वे समाकाराः शिष्टाः कुलविलक्षणाः ॥ २२ ॥

मूलोच्छेदके बिना, केवल अपलापमात्रसे, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा मनमें रखकर अविद्यामें उच्छेद्यत्वको बतलानेके लिए सूक्ष्मरूपसे व्युत्पादित प्रपञ्चमें कारणीभूत अविद्यामात्रता ही है, ऐसा कहते हैं—'**अविद्यैव**' इत्यादिसे ।

मूढ़ों द्वारा तैरनेके अयोग्य, विविध शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त अतएव अनन्त यह अविद्या लगातार हो रहे सृष्टिरूप तरङ्गोंसे युक्त विशाल नदी है ॥ १८ ॥

अविद्या आदि सम्पूर्ण पदार्थोंकी कल्पनाका अधिष्ठान कहते हैं—'**परमार्था०**' इत्यादिसे ।

हे राम, अतिविस्तृत परमार्थ सत्य (परमात्मा) रूपी महासागरमें वे प्राचीन और नूतन सृष्टिरूपी तरङ्ग बार-बार प्रचुरमात्रामें चक्कर काटते हैं, उत्पत्ति और लयको प्राप्त होते हैं । उनमें से कुछ तो कुल, क्रम, मन और गुणोंसे सर्वथा समान होते हैं, कुछ आधी समानता रखते हैं और कुछ बिलकुल निराले (अत्यन्त विलक्षण) होते हैं ॥ १९, २० ॥

प्रस्तुत शङ्काके समाधानके उपोद्घात (भूमिका) रूपसे जगत्की व्यवस्था और प्रस्तुत शास्त्रके विषयको कहकर शङ्काके समाधानका उपक्रम करते हैं—'**इमम्**' इत्यादिसे ।

अष्टादश पुराण और महाभारत आदिके निर्माणरूप कार्योंसे प्रसिद्ध यथोचित जन्म, शास्त्रविज्ञान और ब्रह्मविद्यासे उपलक्षित सर्वशास्त्रविशारद ये वेदव्यासजी उक्त सृष्टिरूपी तरङ्गोंमें बत्तीसवें हैं, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ ॥२१॥

उन बत्तीसोंमें भी अवान्तरभेद कहते हैं—'**द्वादशा०**' इत्यादिसे ।

अद्याऽप्यन्ये भविष्यन्ति व्यासवाल्मीकयस्तथा।
भृग्वङ्गिरःपुलस्त्याश्च तथैवाऽप्यन्यथैव च ॥ २३ ॥
नराः सुरर्षिदेवानां गणाः संभूय भूरिशः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते कदाचिच्च पृथक् पृथक्॥ २४ ॥
ब्राह्मी द्वासप्ततिस्त्रेता आसीदस्ति भविष्यति।
स एवाऽन्यश्च लोकाश्च त्वं चाऽहं चेति वेद्म्यहम् ॥ २५ ॥

उन अनेक तरङ्गोंमें से ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस प्रकार प्रसिद्ध चार भेदोंमें चतुर्थ स्थानमें न पहुँचनेके कारण अल्पबुद्धि बारह तरङ्ग कुल, आकार, जीवन, चेष्टा आयु सर्वांशमें समान हैं, दस ज्ञानादि विषयमें भी समान हैं और शेष वंशमें विलक्षण हैं * ॥ २२ ॥

पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण व्यास तथा वाल्मीकि आगे होंगे, यही बात भृगु, अङ्गिरा और पुलस्त्य आदि अन्यान्य ऋषियोंके विषयमें दुहराई जा सकती है अर्थात् वे भी पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण होंगे। मनुष्य, देवर्षि और देवता बार बार उत्पन्न और विलीन हुए हैं, होते हैं और होंगे। ये लोग पहले भी इस प्रकारके आकारसे सम्पन्न थे, इस समय भी वैसे ही हैं इसके पश्चात् भी इस देहकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न देहोंमें जन्म ग्रहण करेंगे ॥ २३, २४ ॥

हे राम, ब्रह्मकल्पका अवयवरूप यह त्रेतायुग इस समय है? पहले अनेक बार हो गया है और आगे भी होगा। जैसे इन त्रेता युगोंमें कितनी ही बार तुमने रामरूप धारण किया था एवं आगे आनेवाले त्रेतायुगोंमें कितनी बार तुम रामरूपमें अवतार लोगे, इसकी कोई सीमा नहीं है। मैं भी कितनीबार वसिष्ठमूर्ति धारण कर चुका हूँ, इस समय भी वसिष्ठरूपमें विद्यमान हूँ और आगे भी कितनी ही बार वसिष्ठरूपमें अवतीर्ण होऊँगा। इन रूपोंमें कोई पूर्वके तुल्य होंगे

* तात्पर्य यह है कि सृष्टिके आरम्भसे श्रीरामचन्द्रजीके समय तक अनेक बार अनेक व्यास जन्मे हैं। उनमें सभी व्यास न द्वैपायन थे और न भारतादिके कर्ता थे। इसलिए कहा जा सकता है कि कोई-कोई वंश और कार्यमें समान थे और कोई-कोई अर्द्धसमान थे इत्यादि। भारत आदि ग्रन्थोंके कर्ता द्वैपायन व्यास प्रत्येक द्वापरमें अवतीर्ण होते हैं। पूर्व मन्वन्तरके आरम्भसे लेकर वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके आरम्भतक ३२ द्वापर व्यतीत हो गये हैं, उनमे ३२ व्यासावतार हुए हैं। उन बत्तीस अवतारोंमें से इनके दस अवतार हमारे प्रत्यक्ष हैं और अन्यान्य अवतार परोक्षमें हुए हैं।

क्रमेणाऽस्य मुनेरित्थं व्यासस्याऽद्भुतकर्मणः ।
संलक्ष्यतेऽवतारोऽयं दशमो दीर्घदर्शिनः ॥ २६ ॥
अभूम व्यासवाल्मीकियुक्ता वयमनेकशः ।
अभूम वयमेवेमे बहुशश्च पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥
अभूम वयमेवेमे सदृशा इतरे विदः ।
अभूम वयमेवेमे नानाकाराः समाशयाः ॥ २८ ॥
भाव्यमद्याऽप्यनेनेह ननु वाराष्टकं पुनः ।
भूयोऽपि भारतं नाम सेतिहासं करिष्यति ॥ २९ ॥
कृत्वा वेदविभागं च नीत्वाऽनेन कुलप्रथाम् ।
ब्रह्मत्वं च तथा कृत्वा भाव्यं वै देहमोक्षणम् ॥ ३० ॥
वीतशोकभयः शान्तनिर्वाणो गतकल्पनः ।
जीवन्मुक्तो जितमना व्यासोऽयमिति वर्णितः ॥ ३१ ॥

और कोई उनसे भिन्न। यही बात अन्यान्य साधारण लोगोंके विषयमें कही जा सकती है ॥ २५ ॥

मैंने अद्भुत कर्म करनेवाले दीर्घदर्शी महामुनि इन श्रीव्यासजीका क्रमशः यह दसवाँ अवतार देखा है अर्थात् इन्हें दस बार जन्मते देखा है ॥ २६ ॥

हे राम, हम लोग कितनी ही बार व्यास, वाल्मीकिके साथ एकत्रित हुए और कितनी ही बार ये हम लोग पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए। हम लोगोंने कभी सदृशरूपमें और कभी भिन्नरूपमें जन्म ग्रहण किया। हम लोग आगे भी कितनी ही बार भिन्न आकारोंमें और समान अभिप्रायोंमें जन्म ग्रहण करेंगे। कभी हम लोगोंने अभिज्ञ होकर जन्म ग्रहण किया है और और कभी अनभिज्ञ होकर। ये व्यासजी इस जगत्में और आठ बार उत्पन्न होकर महाभारतनामक इतिहासका प्रचार, वेदविभाग, कुलप्रथाका पालन और ब्रह्माके अधिकारको प्राप्त कर विदेह-मोक्षको प्राप्त होंगे ॥ २७–३० ॥

श्रीव्यासदेवजीकी वर्तमान कालमें भी जीवन्मुक्तता दिखलाते हैं—**'वीतशोक-भयः'** इत्यादिसे।

इस समय भी ये श्रीव्यासजी वीतशोक, निर्भय, सब प्रकारकी कल्पनाओंसे शून्य, प्रशान्तचित्त, निर्वाण सुखको प्राप्त अर्थात् बन्धनसे विनिर्मुक्त हैं, अतएव ये जीवनमुक्त कहे गये हैं ॥ ३१ ॥

वित्तबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ।
समानि सन्ति भूतानि कदाचिन्न तु तानि तु ॥ ३२ ॥
क्वचित्सर्गशतैस्तानि भवन्ति न भवन्ति वा ।
कदाचिदपि मायेयमित्थमन्तविवर्जिता ॥ ३३ ॥
यच्छतीयं विपर्यासं भूरिभूतपरम्परा ।
बीजराशिरिवाऽजस्रं पूर्यमाणः पुनः पुनः ॥ ३४ ॥
तेनैव सन्निवेशेन तथाऽन्येन पुनः पुनः ।
सर्गाकाराः प्रवर्तन्ते तरङ्गाः कालवारिधेः ॥ ३५ ॥
आश्वस्तान्तःकरणः शान्तविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्तस्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
भूयोभूयःसर्गानुवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

कभी जीवन्मुक्त प्राणी वित्त, बन्धु, बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंसे तुल्य होते हैं और कभी तुल्य नहीं होते, कभी सैकड़ों बार उनका जन्म होता है और कभी बहुत कल्पोंमें एक बार भी उनका जन्म नहीं होता। इस मायाका अन्त नहीं है ॥ ३२, ३३ ॥

जैसे तौलनेके लिए पुनः पुनः बराबर तराजूमें भरी जाती हुई धान्यराशिमें पहले जिस क्रमसे बीज रहे थे, उस क्रमसे नहीं रहते, ऊपर नीचे हो जाते हैं वैसे ही यह बहुतसे प्राणियोंका समूह विपर्यासको—पूर्व जन्मके क्रम तथा अवयव-संनिवेशकी अपेक्षा विपरीत क्रम और देहसंगठनको—प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

कालरूप महासागरके तरङ्ग पूर्वजन्मके अवयवसंगठन अथवा क्रमसे भिन्न अवयवसंगठन अथवा क्रमसे सृष्टिके रूपमें आविर्भूत होते हैं ॥ ३५ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष योगबलसे आधिकारिक विविध शरीर धारण करनेपर भी मुक्तिस्वरूपसे च्युत नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**आश्वस्ता०**' इत्यादिसे ।

अविद्यारूपी आवरणसे रहित विद्वान् समाहित चित्त, विकल्पविरहित स्वरूप-भूत सारसे ओत प्रोत अर्थात् चिन्मय एवं परम शान्तिरूपी अमृतसे तृप्त रहता है। चाञ्चल्य, विकल्प, असार देह आदि रूपता, अशान्ति और अतृप्ति अविद्यारूपी

चतुर्थः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सौम्याऽम्बुत्वे तरङ्गत्वे सलिलस्याऽम्बुता यथा ।
समैवाऽब्धौ तथाऽदेहसदेहमुनिमुक्तता ॥ १ ॥
सदेहा वाऽस्त्वदेहा वा मुक्तता विषये न च ।
अनास्वादितभोगस्य कुतो भोज्यानुभूतयः ॥ २ ॥

आवरणसे होती हैं उक्त आवरणके नष्ट हो जानेसे चित्त समाहित हो जाता है विकल्प नष्ट हो जाते हैं, चिन्मयता प्राप्त हो जाती है और परमशान्तिरूपी सुधासे तृप्ति प्राप्त हो जाती है । निष्कर्ष यह कि जीवनमुक्ति ही ज्ञानका फल है और वह ज्ञानसे ही होती है, अन्य कर्म आदिसे नहीं ॥ ३६ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

—— ० ——

चौथा सर्ग

[मुक्तोंके अनुभवसे सदेह और विदेह मुक्तियोंमें समानताका वर्णन और ज्ञानकी दृढ़ताके लिए शास्त्रीय पौरुषकी प्रशंसा]

नित्यमुक्तस्वभाव आत्माका अज्ञानरूप आवरण ही बन्धन है और ज्ञानसे उसका विनाश ही मुक्ति है । जैसे यह चित्रलिखित बाघ है, सचमुच नहीं है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर बाघका डर नहीं रहता प्रत्युत उसे देखनेमें आनन्द ही आता है, वैसे ही अज्ञानके नष्ट हो जानेपर यह दृश्यमान व्यवहार कौतूहलका ही कारण होता है, अनर्थका हेतु नहीं होता, इसलिए जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिमें कोई अन्तर नहीं है, इस प्रकार पूर्व शङ्काका समाधान करके प्रस्तुत आत्मतत्त्वका विस्तारसे उपदेश देनेके लिए पहले मूलकी दृढ़ताके लिए पुरुषकारका समर्थन करते हैं—'सौम्य०' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—हे सौम्य, जैसे समुद्रमें जलकी निश्चलावस्थामें और तरङ्गित दशामें जलता एकसी ही है, उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है वैसे ही विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त मुनिकी स्वस्वरूपमें अवस्थिति तुल्य ही है ॥ १ ॥

मुक्ति चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, वह विषयाधीन तो कदापि नहीं है ।

जीवन्मुक्तं मुनिश्रेष्ठं केवलं हि पदार्थवत् ।
पश्यामः पुरतो नाऽस्य पुनर्विघ्नोऽन्तराशयम् ॥ ३ ॥

सदेहादेहमुक्तानां भेदः को बोधरूपिणाम् ।
यदेवाऽम्बु तरङ्गत्वे सौम्यत्वेऽपि तदेव तत् ॥ ४ ॥

न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः ।
सस्पन्दोऽप्यथवाऽस्पन्दो वायुरेव यथाऽनिलः ॥ ५ ॥

यदि मुक्ति स्वर्ग आदिके समान विषयाधीन होगी, तो वह भी उसी प्रकार विषयोंके वैषम्यसे अवश्य विषम होगी, यह भाव है । यदि कोई कहे कि फिर भी उक्त दोनों मुक्तियोंमें भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वसे जनित अन्तर तो है ही, क्योंकि सदेह मुक्तिमें देहस्थिति भोगके लिए ही है, इसपर कहते हैं—**'अनास्वादित०'** इत्यादिसे ।

जिसने सत्यत्वबुद्धिसे भोगोंका आस्वादन ही नहीं किया, उसमें भोग्यकी अनुभूति कहाँसे होगी अर्थात् भोगोंमें सत्यत्वबुद्धिसे भोक्तृताके अभिमानसे भोगका आस्वादन करनेपर भोगकृत अन्तर होगा, किन्तु असङ्ग उदासीन आत्मैकत्वदर्शीमें उक्त अभिमान ही नहीं है ॥ २ ॥

तब ये सदेह कैसे हैं, इसपर कहते हैं—**'जीवन्मुक्तम्'** इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीको सदेहके सदृश केवल हम अपनी कल्पनासे सामने देखते हैं, इन्हें अपने विदेहत्वनिश्चयके प्रति किसी प्रकारका विघ्न नहीं है । आशय यह कि यद्यपि हम लोग अपनी कल्पनासे इन्हें सदेह-सा देखते हैं तथापि ये अपने निश्चयसे विदेह ही हैं, अतएव अपने अनुभवसे इनमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ३ ॥

ज्ञानरूपी (चिन्मय) सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) और विदेहमुक्तमें कौन भेद है ? अर्थात् अज्ञान ही भेदक है, उसके नष्ट होनेपर केवल ज्ञानके अवशिष्ट रहनेपर भेदक कौन है ? कोई नहीं । जलकी तरङ्गावस्थामें जो जल है, वही सौम्यावस्थामें (निश्चलावस्थामें) भी है, उसमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ४ ॥

जलमें कदाचित् अस्वच्छता, मलिनता आदिसे जनित अन्तर भी हो

सदेहा वा विदेहा वा मुक्तता न भ्रमास्पदम् ।
अस्माकमपि तस्याऽस्ति स्वैकताऽस्त्यविभागिनी ॥ ६ ॥

सकता है, ऐसी शङ्कासे दूसरे दृष्टान्त द्वारा उक्त अर्थका समर्थन करते हैं—**'न मनागपि भेदोऽस्ति'** इत्यादिसे ।

सदेह और विदेह मुक्तिमें तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वेगवान् और वेगरहित वायु वायु ही है उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है* ॥ ५ ॥

सदेहमुक्ति, विदेहमुक्ति, बन्धन, मुक्ति आदि व्यवहार भी कल्पनासे ही होते हैं परमार्थ दृष्टिसे नहीं होते, ऐसा कहते हैं—**'सदेहा'** इत्यादिसे ।

हमारी और श्रीव्यासजीकी दृष्टिमें सदेहमुक्ति अथवा विदेहमुक्ति परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु द्वैतशून्य आत्मैक्य ही परमार्थ वस्तु है । उसकी प्राप्तिरूप ज्ञान-फलमें कोई भेद नहीं है, इसलिए ज्ञानमें अनित्यफलतारूप दोषकी आशङ्काका अवसर ही नहीं है, ज्ञानका उदय होनेपर देहपातकी आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी अंशका ही ज्ञानसे बाध होता है, प्रारब्ध कर्मका फल होनेसे देहधारण प्रारब्धकर्म-फल ज्ञानके सदृश है और ज्ञानका उपजीव्य है, इसलिए देहधारणका ज्ञानके साथ किसी प्रकारका विरोध नहीं है, जैसे उपादानभूत

* इस श्लोकके अनन्तर कुछ पुस्तकोंमें—'मयोक्तं केवलीभावं तत्तत्स्मरणजीवनम् ।
सदेहस्य विदेहस्य समतैव सदा शिवा ॥'

यह श्लोक अधिक है । इसका यह अर्थ है—यदि कोई कहे कि वेगवान् वायु शीतल, वृक्ष, लहर आदिके कम्पका (चञ्चलताका) हेतु और त्वगिन्द्रियसे वेद्य है और वेगरहित वायु उससे विपरीत है, इस प्रकार उन दोनोंमें भेद है ही, इसलिए भेदशून्य सदेह और विदेह मुक्तिमें सस्पन्द और निःस्पन्द वायुका दृष्टान्त कैसे देते हैं ? उसपर कहते हैं—**'मयोक्तम्'** इत्यादिसे ।

हे रामचन्द्र, आप सर्वत्र तत्-तत् दृष्टान्तोंके स्मरणका विवक्षित सारभूत अंश वस्तुकी स्वरूपसे अप्रच्युति है, ऐसा जानो, अविवक्षित कार्यभेदकृत वैलक्षण्यकी कल्पना मत करो । भाव यह कि उक्त दृष्टान्त एक अंशमें है, सब अंशोंमें नहीं । यहांपर सदेहमुक्तिकी और विदेहमुक्तिकी एकता उपमेय है, उनके सादृश्यके लिए कथित सस्पन्द और निःस्पन्द वायुकी एकता उपमान है उसका विवक्षित सारभूत अंश उपमेयके सादृश्यको उल्लसित करनेवाला केवलीभाव है, परिस्पन्दके त्यागसे केवल एक अंशसे— ऐक्यसादृश्यरूपसे—उपमेयको उपमाका विषय समझो। ऐसी अवस्थामें **सदेहमुक्त और विदेहमुक्तकी** सदा कल्याणकारिणी समता ही है ।

तस्मात्प्रकृतमेवेदं शृणु श्रवणभूषणम् ।
मयोपदिश्यमानं त्वं ज्ञानमज्ञानध्यनाशनम् ॥ ७ ॥
सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात् सर्वेण पौरुषात् समवाप्यते ॥ ८ ॥
इह हीन्दोरिवोदेति शीतलाह्लादनं हृदि ।
परिस्पन्दफलप्राप्तौ पौरुषादेव नाऽन्यतः ॥ ९ ॥

निद्राका नाश होनेपर भी स्वप्नके संस्कारोंकी कुछ काल तक अनुवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही अज्ञानका ज्ञानसे विनाश होनेपर जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है तबतक देह आदिकी स्थिति उत्पन्न होती है, यह भाव है ॥ ६ ॥

इस प्रकार अवान्तर सन्देहके निवृत्त होनेपर प्रस्तुत कथाका अवसर दर्शाते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

हे राम, इसलिए कानोंको अति प्रिय लगनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करनेवाले जिस उत्तम ज्ञानका मैं उपदेश दे रहा हूँ, उक्त प्रस्तुत ज्ञानको ही तुम सुनो ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेव प्रभृति शम, दम आदि साधनोंसे परिपूर्ण थे, अतएव उन्हें श्रवणका फल ज्ञान, तदुपरान्त विदेहमुक्ति प्राप्त हुई, आधुनिक पुरुष उक्त साधनोंका सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः उन्हें श्रवणका फल कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शङ्का होनेपर संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो पुरुषके प्रयत्नसे साध्य न हो, ऐसा कहते हैं—**'सर्वमेव'** इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, इस संसारमें भली भाँति निरन्तर किये गये प्रयत्नसे सबको सदा सब पदार्थ मिल सकते हैं । जहाँ कहीं प्रयत्नमें विफलता देखी जाती है, वहांपर निरन्तर प्रयत्नका अभाव ही कारण है ॥ ८ ॥

शास्त्रविहित शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंसे होनेवाली चित्तशुद्धि द्वारा जायमान ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर हृदयमें, चन्द्रमाके समान, काम, क्रोध आदि सन्तापसे शून्य जीवन्मुक्तिसुखमुद्रा उदित होती है । श्रुति भी कहती है—'स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।' (कामनाशून्य ब्रह्मविद्वरिष्ठका आनन्द और ब्रह्मका आनन्द एक ही है) और स्मृति भी है—'यच्च काम-सुखं लोके' (लोकमें जो वैषयिक सुख है और जो महान् स्वर्गीय सुख है, वे दोनों

पौरुषं स्पन्दफलवद् दृष्टं प्रत्यक्षतो न यत् ।
कल्पितं मोहितैर्मन्दैर्दैवं किञ्चिन्न विद्यते ॥ १० ॥
साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोऽङ्गविचेष्टितम् ।
तत्पौरुषं तत्सफलमन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥ ११ ॥
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते ॥ १२ ॥

तृष्णाक्षयसे उत्पन्न परमाह्लादकी सोलहवीं कलाको भी प्राप्त नहीं होते) उक्त सम्पूर्ण सुख पुरुषप्रयत्नसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्यसे (दैव आदिसे) नहीं, इसलिए पुरुषको प्रयत्नपर ही निर्भर रहना चाहिए ॥ ९ ॥

भाग्यके प्रतिकूल होनेपर पुरुषप्रयत्न व्यर्थ देखा जाता है और 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' ऐसा लोकप्रवाद भी है, अतः पुरुषप्रयत्नसे फलकी आशा करना दुराशा ही है, ऐसी शङ्का कर दैवका (भाग्यका) पौरुषमें अन्तर्भाव और दुर्बलत्वके अभिप्रायसे उसका खण्डन करते हैं—**'पौरुषम्'** इत्यादिसे ।

क्रिया द्वारा दूसरे देशमें पहुँचाता हुआ और तृप्ति कराता हुआ, गमन, भोजन आदि पुरुषप्रयत्न प्रत्यक्षतः क्रियारूप फलवाला देखा गया है । दैवको प्रत्यक्षतः किसीने नहीं देखा । वस्तुतः वह कुछ है ही नहीं, अज्ञानमोहित मूढ पुरुषोंकी वह कोरी कपोलकल्पनामात्र है ॥ १० ॥

वह पौरुष (पुरुषप्रयत्न) क्या है, जिसकी आप इतनी बड़ी प्रशंसा करते हैं ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'साधूपदिष्ट०'** इत्यादिसे ।

शास्त्रज्ञ सज्जन पुरुषों द्वारा उपदिष्ट रीतिसे जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पौरुष है, वह सफल है, उससे भिन्न जो मन, वचन और शरीरकी चेष्टा है, वह उन्मत्तकी चेष्टा है ॥ ११ ॥

जो मनुष्य जिस पदार्थकी अभिलाषा करता है, उसकी प्राप्तिके लिए यत्न भी करता है । यदि बीच ही में उसका त्याग न कर दे, तो वह क्रमशः उसको अवश्य प्राप्त करता है । मूलमें 'क्रमात्' पद 'कहींपर विघ्नों द्वारा कार्यका विघात शास्त्रोक्त क्रमका त्याग करनेसे ही होता है' यह सूचित करनेके लिए है । भाव यह कि साङ्गोपाङ्ग कर्म करनेसे अवश्य फलप्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोक्यैश्वर्यसुन्दराम् ।
कश्चित्प्राणिविशेषो हि शक्रतां समुपागतः ॥ १३ ॥
पौरुषेणैव यत्नेन सहसाऽम्भोरुहास्पदम् ।
कश्चिदेव चिदुल्लासो ब्रह्मतामधितिष्ठति ॥ १४ ॥
सारेण पुरुषार्थेन स्वेनैव गरुडध्वजः ।
कश्चिदेव पुमानेव पुरुषोत्तमतां गतः ॥ १५ ॥
पौरुषेणैव यत्नेन ललनावलिताकृतिः ।
शरीरी कश्चिदेवेह गतश्चन्द्रार्द्धचूडताम् ॥ १६ ॥
प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषम् ।
प्राक्तनोऽद्यतनेनाऽऽशु पुरुषार्थेन जीयते ॥ १७ ॥
यत्नवद्भिर्दृढाभ्यासैः प्रज्ञोत्साहसमन्वितैः ।
मेरवोऽपि निगीर्यन्ते कैव प्राक्पौरुषे कथा ॥ १८ ॥

उक्त नियमको ही विविध दृष्टान्तोंसे दृढ करते हैं—'**पौरुषेण**' इत्यादिसे ।

कोई एक प्राणी ही पुरुषप्रयत्नसे तीनों लोकोंके महा ऐश्वर्यसे अतिरमणीय इन्द्रपदवीको प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

कोई चिदुल्लास (चित्के उत्कर्षसे उत्कृष्ट*) प्राणी ही पौरुष प्रयत्नसे कमलासनमें स्थित होकर ब्रह्मताको प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

सारभूत अपने पुरुषार्थसे ही कोई पुरुष गरुड़ध्वज होकर पुरुषोत्तमताको प्राप्त हुआ है ॥ १५ ॥

अपने पौरुषकारसे ही कोई देही अर्धनारीश्वर बनकर चन्द्रशेखरताको प्राप्त हुआ है ॥ १६ ॥

पौरुष दो प्रकारका है, एक पूर्वजन्मका और दूसरा इस जन्मका । आधुनिक पुरुषार्थ द्वारा पूर्व जन्मका पुरुषार्थ शीघ्र तिरस्कारको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

आधुनिक अल्प पुरुषार्थ अनेक करोड़ कल्पोंसे उपार्जित अनन्त प्राक्तन कर्मोंपर विजय कैसे प्राप्त करता है ? इसपर कहते हैं—'**यत्नवद्भि०**' इत्यादिसे।

---

* सत्त्वगुणकी उत्कृष्टतासे चैतन्यका उत्कर्ष होता है । ब्रह्माजीका सत्त्वगुण अन्योंकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसी कारण उनमें तन्मूलक चैतन्य भी सर्वोत्कृष्ट है । ब्रह्मा भी पूर्वकल्पमें सामान्य जीव थे, तपस्याके बलसे वे इस कल्पमें ब्रह्मा हुए हैं ।

शास्त्रनियन्त्रितपौरुषपरमा पुरुषस्य पुरुषता या स्यात् ।
अभिमतफलभरसिद्ध्यै भवति हि सैवाऽन्यथा त्वनर्थाय ॥ १९ ॥
कस्याश्चित्स्वयमात्मदुःस्थितिवशात् पुंसो दशायां शनै-
रङ्गुल्यग्रनिपीडितैकचुलुकादावापबिन्दुर्बहुः ।
कस्याश्चिज्जलराशिपर्वतपुरद्वीपान्तरालीकृता
भर्तव्योचितसंविभागकरणे पृथ्वी न पृथ्वी भवेत् ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
पौरुषप्रकरणं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

निरन्तर प्रयत्न करनेवाले, दृढ़ अभ्यासवाले एवं प्रज्ञा और उत्साहसे युक्त पुरुष प्रलयमें अधिकार रखनेवाले देवताओंकी पदवीको प्राप्त होकर महान् मेरु पर्वत तकको निगल जाते हैं, मटियामेट कर डालते हैं, प्राक्तन पौरुषकी तो बात ही क्या है? भाव यह कि यद्यपि प्राक्तन कर्म अनन्त हैं, फिर भी उनका मूल एक ही है, उनके मूलका नाश करनेसे उनपर बड़ी आसनीसे विजय प्राप्त की जा सकती है॥१८॥

श्रुति आदिसे नियन्त्रित (श्रुत्यनुसारी) पुरुषकारका ही (पुरुषार्थका ही) अवश्य सम्पादन करनेवाली पुरुषकी जो निरन्तर उद्योगशीलता है, वही अभीष्ट सिद्धि देनेवाली होती है । शास्त्रविधिके प्रतिकूल पुरुषार्थका उपार्जन करनेवाली पुरुषकी उद्योगशीलता अनर्थकारिणी होती है ॥ १९ ॥

महाधनी, प्रबल और महामति लोगोंको प्राप्त होनेवाला पौरुष निर्धन, निर्बल और अल्पबुद्धिवाले लोगोंको कैसे प्राप्त होगा ? ऐसी शङ्का कर उनको भी स्वशक्तिके अनुरूप निरन्तर पौरुषसे इस जन्ममें या जन्मान्तरमें विपुल धन आदि सम्पत्तिसे उक्त पौरुष प्राप्त हो सकता है । किसी पुरुषकी निरन्तर सुदशा या दुर्दशा नहीं रह सकती, इस अभिप्रायसे शास्त्रीय प्रयत्न और शास्त्रीय प्रयत्नमें ढिलाई करना—इन दोनोंके फलमें बड़ा अन्तर दिखलाते हैं—**'कस्याश्चित्'** इत्यादिसे ।

पुरुष जब शास्त्रीय यत्नको शिथिल करता है, तब स्वाभाविक रागादि दोषोंसे असन्मार्गमें आसक्ति होनेके कारण द्रारिद्र्य, रोग, बंधन आदि दुर्दशामें, जब कि अपने हाथ आदि भी अपने काबूमें नहीं रहते, अङ्गुलियोंको खूब तोड़

पञ्चमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्रवृत्तिरेव प्रथमं यथाशास्त्रविहारिणाम् ।
प्रभेव वर्णभेदानां साधनी सर्वकर्मणाम् ॥ १ ॥
मनसा वाञ्छ्यते यच्च यथाशास्त्रं न कर्मणा ।
साध्यते मत्तलीलाऽसौ मोहनी नाऽर्थसाधनी ॥ २ ॥

मरोड़कर बनाये गये चुल्लूके चुल्लूभर जलसे मुँहमें पड़े हुए एक बूंद जलको भी दुर्लभ होनेके कारण अधिक समझता है, वही जब शास्त्रीय प्रयत्नमें दृढ़ रहता है, तब धर्मके उत्कर्षसे प्रियव्रत महाराजके समान सात द्वीपोंकी एकछत्र आधिपत्यदशामें अवश्य पोषणीय पुत्र आदिके लिए यथायोग्य दायभागका विभाग करनेमें समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपोंसे व्याप्त विशाल पृथ्वीको भी अधिक नहीं समझता ॥ २० ॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

[पौरुषके प्रबल होनेपर अवश्य फलप्राप्तिमें एवं दैवकी पुरुषार्थसे अभिन्नतामें युक्ति और दृष्टान्तोंका प्रदर्शन]

पूर्वमें जो यह कहा था कि दैव पौरुषसे अतिरिक्त नहीं है, दैवसे पौरुष प्रबल है और पौरुषसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, उक्त सबका युक्तिसे समर्थन करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं— 'प्रवृत्तिरेव' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे नील, पीत आदि वर्णोंकी अभिव्यक्तिमें प्रकाश ही मुख्य कारण है, वैसे ही शास्त्रके अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषोंके सब पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है ॥१॥

विद्या तृप्ति आदिके समान दृष्टफलक है, उसके साधनमें शास्त्रीय नियमका कौन उपयोग है ? इसपर कहते हैं—'मनसा' इत्यादिसे ।

पुरुष जिसकी केवल मनसे इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्मसे नहीं

यथा संयत्यते येन तथा तेनाऽनुभूयते ।
स्वकर्मैवेति चास्तेऽन्यथा व्यतिरिक्ता न दैवदृक् ॥ ३ ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ ४ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ ।
प्राक्तनश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राऽल्पवीर्यवान् ॥ ५ ॥
अतः पुरुषयत्नेन यतितव्यं यथा तथा ।
पुंसा तन्त्रेण सद्योगाद्येनाऽऽश्वद्यतनो जयेत् ॥ ६ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ ।
आत्मीयश्चाऽन्यदीयश्च जयत्यतिबलस्तयोः ॥ ७ ॥

करता, वह उन्मत्तकी चेष्टा ही करता है, वह पुरुषार्थका साधन नहीं है, बल्कि मोहका साधन है । साराश यह कि यद्यपि विद्या दृष्टफलक है, तथापि विद्याके साधनमें अशास्त्रीय नियम कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक नहीं है ॥ २ ॥

शास्त्रीय यत्नका शास्त्रीय ही फल होता है और अशास्त्रीय यत्नका अशास्त्रीय ही फल होता है, इस प्रकार औचित्यके बलसे भी व्यवस्थाकी सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जो आदमी जैसा प्रयत्न करता है, वह वैसा ही फल पाता है । प्राक्तन स्वकर्म ही दैव कहलाता है, उससे अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है । पौरुष दो प्रकारका है—एक शास्त्रानुमोदित और दूसरा शास्त्रविरुद्ध। उनमें शास्त्रविरुद्ध कर्म अनर्थका कारण है और शास्त्रानुमोदित कर्म परमार्थवस्तुकी प्राप्तिका कारण है। कहींपर सम और कहींपर असम प्राक्तन और ऐहिक दो पुरुषार्थ मेषोंकी तरह परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो न्यूनबलवाला होता है, वह नष्ट हो जाता है ॥ ३-५ ॥

इसलिए पुरुषको शास्त्रीय प्रयत्नसे सज्जन महात्माओंके सङ्गके द्वारा वैसा उद्योग करना चाहिए जिससे कि इस जन्मका पौरुष पूर्व जन्मके पौरुषको शीघ्र जीत ले ॥ ६ ॥

'त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् आयते' इस श्रुतिसे मनुष्य देवता आदिका ऋणी, सुना जाता है और 'तस्मादेषां तन्न प्रियमेतन्मनुष्या विद्युः' (इसलिए देवताओंको

अनर्थः प्राप्यते यत्र शास्त्रितादपि पौरुषात् ।
अनर्थकर्तृ बलवत्तत्र ज्ञेयं स्वपौरुषम् ॥ ८ ॥
परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयन् ।
शुभेनाऽशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ ९ ॥
प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः ।
बलादधस्पदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा ॥ १० ॥
तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम् ।
प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम् ॥ ११ ॥

यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य आत्मतत्त्वज्ञानी होवें) ऐसी भी श्रुति है, इसलिए वे देवता अवश्य विघ्न करेंगे, उनके विघ्न करनेपर किया गया प्रयत्न ही विफल हो जायगा, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'द्वौ' इत्यादिसे ।

सम और विषम अपना और दूसरेका पुरुषार्थ—ये दोनों भेड़ोंकी तरह लड़ते हैं उन दोनोंमें जो अतिबलवान् होता है, वह जीत जाता है । भाव यह है कि दोषोंके रहते ही देवता विघ्न कर सकते हैं, अपने प्रयत्नसे दोषोंपर विजय पानेसे उनकी विघ्नशक्ति कुंठित हो जाती है ॥ ७ ॥

शास्त्रीय मार्गमें यत्न कर रहे लोगोंको भी कभी कभी रोगादि अनर्थ क्यों प्राप्त होते हैं ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'अनर्थः' इत्यादिसे ।

जहाँपर शास्त्रानुमोदित पौरुषसे भी विघ्नबाधा प्राप्त होती है, वहाँपर अनर्थकारी अपने पौरुषको बलवान् समझना चाहिए । उसको भी जीत लेना चाहिए, यह भाव है ॥ ८ ॥

अपने उत्कृष्ट पौरुषका अवलम्बन कर दाँतोंसे दाँतोंको पीस रहे पुरुषको अपने शुभ पौरुषसे विघ्न करनेके लिए उद्यत पूर्व जन्मके अशुभ पौरुषको जीत लेना चाहिए । यह प्राचीन पौरुष मुझे प्रेरित करता है, इस प्रकारकी बुद्धिको बलपूर्वक कुचल डालना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्नसे अधिक बलवान् नहीं है ॥ ९, १० ॥

तबतक पौरुषपूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करना चाहिए जबतक कि प्राक्तन (पूर्वजन्मका) अशुभ पौरुष स्वयं * (निश्शेष) शान्त न हो जाय ॥ ११ ॥

* 'स्वयम्' विशेषण निश्शेषताका सूचक है, अन्यसे शान्ति होनेपर उसके (शामक अन्यके) हटनेपर फिर उसका उद्भव हो सकता है वह न हो, इसलिए 'स्वयम्' यह विशेषण दिया है ।

दोषः शाम्यत्यसन्देहं प्राक्तनोऽद्यतनैर्गुणैः ।
दृष्टान्तोऽत्र ह्यस्तनस्य दोषस्याऽद्यगुणैः क्षयः ॥१२॥
असद्दैवमधः कृत्वा नित्यमुद्रिक्तया धिया ।
संसारोत्तरणं भूत्यै यतेताऽऽधातुमात्मनि ॥ १३ ॥
न गन्तव्यमनुद्योगैः साम्यं पुरुषगर्दभैः ।
उद्योगस्तु यथाशास्त्रं लोकद्वितयसिद्धये ॥ १४ ॥
संसारकुहरादस्मान्निर्गन्तव्यं स्वयं बलात् ।
पौरुषं यत्नमाश्रित्य हरिणेवाऽरिपञ्जरात् ॥ १५ ॥
प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत देहं नश्वरमात्मनः ।
संत्यजेत्पशुभिस्तुल्यं श्रयेत्सत्पुरुषोचितम् ॥ १६ ॥

इस जन्मके गुणोंसे (शुभ पौरुषसे) पूर्वजन्मका दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । आजके गुणोंसे (लङ्घन आदिसे) कलके दोषका (अजीर्ण आदिका) क्षय इसमें दृष्टान्त है ॥ १२ ॥

पूर्व जन्मके दुरदृष्टका ऐहिक शुभ कर्मोंसे सदा उद्योगशील बुद्धि द्वारा तिरस्कार कर अपनेमें संसारोत्तरणके सम्पादनार्थ (मुक्त्यर्थ) शम, दम, श्रवण आदि सम्पत्तिके लिए यत्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

आलसी पुरुष गदहेसे भी निकृष्ट हैं, अतएव उद्योगहीन होकर गर्दभ तुल्य नहीं बनना चाहिए, किन्तु स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिए शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिए ॥ १४ ॥

जैसे विष्णु भगवान् असुरों द्वारा प्रयुक्त माया रूप पिंजड़ेसे स्वयं बलपूर्वक निकल गये अथवा जैसे सिंह मनुष्योंसे बनाये गये बन्धनरूप पिंजड़ेसे स्वयं बलपूर्वक निकल जाता है, वैसे ही मनुष्योंको पौरुषरूप यत्नका अवलम्बन कर इस संसाररूप गर्तसे स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिए ॥ १५ ॥

अपने शरीरको प्रतिदिन नश्वर देखे, पशुओंके साथ समानताको छोड़ दे अर्थात् पशुताका स्वीकार न करे, किन्तु सत्पुरुषोंके योग्य साधु सङ्गम और सत् शास्त्रोंका अवलम्बन करे ॥ १६ ॥

किञ्चित् कान्तान्नपानादिकलिलं कोमलं गृहे ।
व्रणे कीट इवाऽऽस्वाद्य वयः कार्यं न भस्मसात् ॥ १७ ॥
शुभेन पौरुषेणाऽऽशु शुभमासाद्यते फलम् ।
अशुभेनाऽशुभं नित्यं दैवं नाम न किञ्चन ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षमानमुत्सृज्य योऽनुमानमुपैत्यसौ ।
स्वभुजाभ्यामिमौ सर्पाविति प्रेक्ष्य पलायते ॥ १९ ॥
दैवं संप्रेरयति मामिति दग्धधियां मुखम् ।
अदृष्टश्रेष्ठदृष्टीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते ॥ २० ॥
तस्मात्पुरुषयत्नेन विवेकं पूर्वमाश्रयेत् ।
आत्मज्ञानमहार्थानि शास्त्राणि प्रविचारयेत् ॥ २१ ॥
चित्तं चिन्तयतामर्थं यथाशास्त्रं निजेहितैः ।
असंसाधयतामेव मूढानां धिग्दुरीप्सितम् ॥ २२ ॥

जैसे कीड़ा घावमें पीप आदि द्रव पदार्थका आस्वादन करता है, वैसे ही घरमें स्त्री, अन्न, पान आदि द्रव और कोमल पदार्थोंका आस्वाद लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनभूत यौवनको व्यर्थ नहीं कर देना चाहिए ॥ १७ ॥

शुभ पुरुषकारसे शीघ्र शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पौरुषसे अशुभ फल मिलता है । पूर्वजन्मके शुभ और अशुभ पौरुषके सिवा दैवनामकी कोई वस्तु नही है ॥ १८ ॥

जो मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाणका त्याग कर अनुमान प्रमाणका अवलम्बन करता है, वह अपनी बाहुओंको ये सर्प हैं, ऐसा समझकर उनसे भयभीत होकर भागता है ॥१९॥

विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने पौरुषसे ही पुरुषार्थ प्राप्त किया था, इस बातको न जाननेवाले अतएव मुझे दैव प्रेरित कर रहा है, ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियोंका मुख देखकर लक्ष्मी लौट जाती है ॥ २० ॥

इसलिए पहले पुरुषकारसे नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चार साधनोंका अवलम्बन करना चाहिए और आत्मज्ञानरूपी महान् अर्थवाले शास्त्रोंका विचार करना चाहिए ॥ २१ ॥

शास्त्रानुसार श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा परमार्थभूत आत्मतत्त्वका विचार न कर रहे अतएव उक्त पुरुषार्थसाधनसे शून्य मूढ़ पुरुषोंकी अनन्त

पौरुषं च न वाऽनन्तं न यत्नमभिवाञ्छ्यते ।
न यत्नेनाऽपि महता प्राप्यते रत्नमश्मतः ॥ २३ ॥
यथा घटः परिमितो यथा परिमितः पटः ।
नियतः परिमाणस्थः पुरुषार्थस्तथैव च ॥ २४ ॥

नरकोंकी हेतु होनेके कारण अतिदुष्ट भोगेच्छाके लिए धिक्कार है । अर्थात् ऐसे पुरुष शोचनीय हैं । 'एव' पद योग्यजन्मका लाभ होनेपर भी पुरुषार्थकी सिद्धि न करनेपर फिर पुरुषार्थसिद्धिकी दुर्लभताके द्योतनके लिए है । श्रुति भी है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' अर्थात् यदि अधिकारी मनुष्यने आत्मतत्त्वको जान लिया, तो मनुष्यजन्मकी ठीक सार्थकता है, यदि आत्मतत्त्वको नहीं जाना, तो बड़ा भारी विनाश है—अविच्छिन्न जन्म, मरण, नरक आदिकी परम्परा प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

इतने समय तक पुरुषकार करना चाहिए, इसप्रकार अवधिका ज्ञान न होनेके कारण वह अनन्त है और उसमें अति परिश्रम भी है, अतः उसमें कैसे प्रवृत्ति हो ? इसपर कहते हैं—'पौरुषं च' इत्यादिसे ।

पौरुष निरवधिक नहीं है, साक्षात्कारका उदय ही उसकी अवधि है । वह प्रयत्नकी भी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (अनेक जन्मोंसे संचित निष्काम धर्मका फल गुरु द्वारा प्रदर्शित विचारसे युक्त वेदान्त-वाक्यसे सुखपूर्वक प्राप्त किया जा सकता है) ऐसी स्मृति है । यदि शङ्का हो कि उक्त 'प्रत्यक्षावगमम्' इत्यादि वाक्य 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' (पूर्णाहुतिसे सम्पूर्ण कामोंको प्राप्त करता है) इसके समान प्ररोचनामात्र है, क्योंकि अधिक श्रम होनेपर ही अधिक फल प्राप्त होता है, ऐसा नियम है, तो उक्त नियमपर अन्वयव्यभिचार दर्शाते हैं—'न' इत्यादिसे । बड़े भारी प्रयत्नसे भी पत्थरसे रत्न नहीं प्राप्त हो सकता और रत्नकी परीक्षामें निपुण व्यक्तियोंको परिश्रमके बिना भी प्रचुर लाभ होता दिखाई देता है । इसप्रकार व्यतिरेकव्यभिचार भी समझना चाहिए ॥ २३ ॥

जैसे जलसे घड़ा परिमित है एवं जैसे लम्बाई चौड़ाई आदि परिमाणसे वस्त्र परिमित है, वैसे ही पुरुषप्रयत्न भी परिमाणस्थ (आत्मतत्त्वसाक्षात्कार-रूपी फलकी अवधिमें स्थित) एवं परिमित है, अर्थात् उसकी अवधि (सीमा) तत्त्वसाक्षात्कार है ॥ २४ ॥

स च सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारैर्निजं फलम् ।
ददातीति स्वभावोऽयमन्यथा नाऽर्थसिद्धये ॥ २५ ॥
स्वरूपं पौरुषस्यैतदेवं व्यवहरन्नरः ।
याति निष्फलयत्नत्वं न कदाचन कश्चन ॥ २६ ॥
दैन्यदारिद्र्यदुःखार्त्ता अप्यन्ये पुरुषोत्तमाः ।
पौरुषेणैव यत्नेन याता देवेन्द्रतुल्यताम् ॥ २७ ॥
आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संप्राप्यते यतः ॥ २८ ॥
इति प्रत्यक्षतो दृष्टमनुभूतं श्रुतं कृतम् ।
दैवात्तमिति मन्यन्ते ये हतास्ते कुबुद्धयः ॥ २९ ॥

उक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत् शास्त्र, सत्सङ्ग और सदाचारसे युक्त होता है, तो अपना फल (तत्त्वसाक्षात्कार) देता है, यह उसका स्वभाव है । यदि वह सत्-शास्त्र, सत्सङ्ग और सदाचारसे रहित होता है, तो उससे फलकी सिद्धि नहीं होती ॥ २५ ॥

पौरुषका यह स्वरूप है, इस प्रकार व्यवहार कर रहे किसी भी पुरुषका प्रयत्न कभी विफल नहीं होता ॥ २६ ॥

दीनता और दरिद्रतासे उत्पन्न दुःखसे पीड़ित हुए नल, हरिश्चन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष भी अपने पुरुषकारसे ही देवराजके सदृश हो गये हैं ॥ २७ ॥

यदि बहुत परिश्रमकी अपेक्षा नहीं है, तो पीछे पौरुष करेंगे, इसी समय उसकी क्या आवश्यकता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'आबाल्याद०' इत्यादिसे।

बाल्यावस्थासे लेकर भली भाँति अभ्यस्त शास्त्र, सत्सङ्ग आदि गुणों द्वारा पुरुषप्रयत्नसे * स्वार्थ (तत्त्वसाक्षात्कार) प्राप्त होता है, सहसा किये गये शास्त्राभ्यास, सत्सङ्ग आदिसे वह प्राप्त नहीं किया जा सकता । वे तो कोमल काँटेके समान हैं । भाव यह कि जैसे कोमल काँटेसे पैरमें चुभा हुआ काँटा नहीं निकाला जा सकता वैसे ही सहसा अभ्यस्त शास्त्र आदिसे तत्त्वसाक्षात्कार नहीं किया जा सकता ॥२८॥

हम जीवन्मुक्त लोगोंने इस बातको प्रत्यक्षतः देखा है, उसका अनुभव

* जब तक आत्मतत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता तभी तक पुरुषप्रयत्न करना अतीव आवश्यक है । आत्मतत्त्वसाक्षात्कार होनेपर पुरुषके प्रयत्नकी समाप्ति हो जाती है, इसलिए पुरुषप्रयत्न असीम नहीं है, किन्तु ससीम है ।

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा ।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
संपूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥ ३० ॥

बाल्ये गतेऽविरतकल्पितकेलिलोले
दोर्दण्डमण्डितवयःप्रभृति प्रयत्नात् ।
सत्सङ्गमैः पदपदार्थविशुद्धबुद्धिः
कुर्यान्नरः स्वगुणदोषविचारणानि ॥ ३१ ॥

किया है, सुना और साधनोंसे उसे उपार्जित किया है, जो लोग उसे दैवाधीन कहते हैं, वे मन्दमति हैं और विनष्ट हैं ॥ २९ ॥

यदि ऐसा है, तो सभी लोग क्यों यत्न नहीं करते, इसपर कहते हैं—'आलस्यम्' इत्यादिसे ।

अनर्थ (दुर्गति) का कारण होने या अर्थ (उन्नति) का विघातक होनेके कारण अनर्थकारी आलस्य यदि जगत्‌में न होता, तो कौन पुरुष बड़ा धनी और विद्वान् नहीं होता अर्थात् सभी धनी और विद्वान् होते ? आलस्यके कारण ही यह सागरपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी निर्धनों और नरपशुओंसे परिपूर्ण है । इसलिए आलस्यका परित्याग कर बाल्यावस्थासे ही मनुष्यको सत्संग, शास्त्राभ्यास आदिमें जुट जाना चाहिए, यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ॥ ३० ॥

यद्यपि अत्यन्त बाल्यावस्थासे सत्संग आदि नहीं किये जा सकते फिर भी यौवनारम्भसे ही प्रयत्न करना उत्तम है, ऐसा कहते हैं—'बाल्ये' इत्यादिसे ।

चपल बालकों द्वारा की गई क्रीड़ाओंसे अति चञ्चल बाल्यावस्थाके बीत जानेपर गुरुसेवा आदिमें समर्थ भुजाओंसे अलंकृत अवस्थासे (यौवनावस्थासे) लेकर पद-पदार्थके ज्ञानमें निपुण (व्युत्पन्न) पुरुष गुरु, सतीर्थ्य, अपनेसे अधिक ज्ञाताओंके संगसे अपने गुणोंका (भक्ति, दया आदिका), दोषोंका (राग-द्वेष आदिका) विचार (शान्ति आदिसे अन्तमें कल्याण होता है और राग आदिसे अनर्थकी प्राप्ति होती है, इस प्रकारका पर्यालोचनरूप विचार) करे ॥ ३१ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरेण सहाऽऽजगाम ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे पौरुषस्थापनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

प्रथमो दिवसः

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—महामुनि श्रीवसिष्ठजीके यों कहनेपर दिन बीत गया और सूर्य भगवान् अस्ताचलके शिखरपर गये। मुनिसभा महामुनि वसिष्ठजीको प्रणाम कर सायं सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र आदि करनेके लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होते-होते श्रीवसिष्ठजीके पास पुनः आ गई * ॥३२॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

प्रथम दिन

---

* योगवासिष्ठकी तात्पर्यप्रकाश नामक टीकामें इस श्लोककी व्याख्या यों की है—वाल्मीकिजीने कहा, यह अरिष्टनेमीके प्रति देवदूतकी उक्ति है, वाल्मीकिजीके उक्त प्रकारसे भरद्वाजके प्रति कहनेपर दिन अस्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलके शिखरपर चले गये एवं मुनियोंकी सभा वाल्मीकिजी को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करनेके लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रिके बीतनेके अनन्तर सूर्योदय होनेपर पुन वाल्मीकिजीके पास आ गई। टीकाकारका कहना है कि यदि इस प्रकार अर्थ न किया जायगा तो आगे तत्-तत् स्थलोंमे जो दशरथसभाके उत्थानका वर्णन, आह्निक कर्मानुष्ठान वर्णन, रात्रिमें राम आदिके साथ श्रुत अर्थके चिन्तनका वर्णन, एवं प्रात. सूर्योदय आदिका वर्णन किया गया है, वह असङ्गत हो जायगा।

षष्ठः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मात्प्राक्पौरुषाद्दैवं नाऽन्यत्तत्प्रोज्झ्य दूरतः ।
साधुसंङ्गमसच्छास्त्रैर्जीवमुत्तारयेद् बलात् ॥ १ ॥
यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेदाशु फलं तथा ।
इति पौरुषमेवाऽस्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ २ ॥
दुःखाद्यथा दुःखकाले हा कष्टमिति कथ्यते ।
हा कष्टशब्दपर्यायस्तथा हा दैवमित्यपि ॥ ३ ॥
प्राक्स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते ।
बालः प्रबलपुंसेव तज्जेतुमिह शक्यते ॥ ४ ॥
ह्यस्तनो दुष्ट आचार आचारेणाऽद्य चारुणा ।
यथाऽऽशु शुभतामेति प्राक्तनं कर्म तत्तथा ॥ ५ ॥

छठा सर्ग

[जहाँ प्रयत्न करनेपर भी कार्य विनाश होनेपर प्रबल दैव कार्य विनाशक माना जाता है, वहाँपर विघातक अन्य पुरुषका प्रयत्न ही 'दैव' शब्दसे कहा जाता है, अथवा अपना प्राक्तन बलवान् पौरुष ही 'दैव' कहा जाता है]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्र, पौरुषसे अतिरिक्त दैव कोई वस्तु नहीं है, इसलिए पूर्वजन्ममें किया गया पुरुषप्रयत्न ही दैव है । अतएव मैं दैवके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, ऐसी बुद्धिका सज्जनसङ्गति एवं सत्शास्त्रके अभ्याससे सर्वथा परित्याग कर अधिकारी मनुष्यको इस संसारसागरसे अपना उद्धार करना चाहिए ॥१॥

जैसा जैसा प्रयत्न होगा वैसा वैसा शीघ्र फल होगा, इसीका नाम पौरुष है और उसीको दैव भी कहते हैं, दैव और पौरुषमें कोई अन्तर नहीं है ॥ २ ॥

जैसे दुःखके समयमें दुःखसे 'हा कष्ट' कहा जाता है, वैसे ही 'हा कष्ट' शब्दका ही दूसरा पर्याय 'हा दैव' भी है अर्थात् दुःखरूपसे परिणत अपना प्राक्तन कर्म 'हा कष्ट' शब्दसे कहा जाता है और वही 'दैव' है ॥ ३ ॥

दैव अपने प्राक्तन कर्मसे भिन्न नहीं है । जैसे प्रबल पुरुष बालकको जीत लेता है, वैसे ही वह भी प्रबल पौरुषसे जीता जा सकता है ॥ ४ ॥

जैसे कलका दुराचरण आजके सुन्दर सदाचरणसे शुभताको प्राप्त होता है,

तज्जयाय यतन्ते ये न लोभलवलम्पटाः ।
ते दीनाः प्राकृता मूढाः स्थिता दैवपरायणाः ॥ ६ ॥
पौरुषेण कृतं कर्म दैवाद् यदभिनश्यति ।
तत्र नाशयितुर्ज्ञेयं पौरुषं बलवत्तरम् ॥ ७ ॥
यदेकवृन्तफलयोरथैकं शून्यकोटरम् ।
तत्र प्रयत्नः स्फुरितस्तथा तद्रससंविदः ॥ ८ ॥
यत्प्रयान्ति जगद्भावाः संसिद्धा अपि संक्षयम् ।
क्षयकारकयत्नस्य ह्यत्र ज्ञेयं महद् बलम् ॥ ९ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम् ।
य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥ १० ॥

वैसे ही प्राक्तन अशुभ कर्मकी अशुभता वर्तमान शुभ कर्मसे नष्ट हो जाती है ॥५॥

जो लोग तुच्छ विषयसुखके लोभमें पड़कर प्राक्तन कर्मरूपी दैवको जीतने के लिए प्रयत्न नहीं करते तथा सदा दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे बेचारे पामर और मूर्ख हैं ॥ ६ ॥

जहाँ कहीं दैवकी प्रबलता प्रसिद्ध है, वहाँपर भी पौरुषकी ही प्रबलता है, यह कहते हैं—'पौरुषेण' इत्यादिसे ।

यदि कहींपर पुरुषप्रयत्नसे किया गया कर्म दैवसे (भाग्यसे) विनष्ट हो जाय, तो वहाँपर भी नाश करनेवालेके पौरुषको बलवत्तर समझना चाहिए ॥ ७ ॥

पुरुषके अधीन जो विषय हैं, उन्हींमें ऐसा हो सकता है, जो पुरुषके अधीन नहीं हैं, वे तो दैवपर ही निर्भर हैं, इसपर कहते हैं—'यदेक०' इत्यादिसे ।

जहां एक टहनीमें लगे हुए दो फलोंमें एक फल खोखला (रसशून्य) होता है वहाँपर उसके रसका उपभोग करनेवाले मनुष्य या कीड़े आदिका, पूर्वजन्मका या इस जन्मका, प्रयत्न ही (पौरुष ही) उसके रसका विनाशक होता है ॥ ८ ॥

जहाँपर जगत्में संसिद्ध भी पदार्थ विनाशको प्राप्त हो जाते हैं, वहाँपर विनाश करनेवालेका प्रयत्न अधिक बलवान् है, यह समझना चाहिए ॥ ९ ॥

पूर्वजन्मके और इस जन्मके कर्म (पौरुष) दो भेड़ोंकी भाँति परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो बलवान् होता है, वही दूसरेको क्षणभरमें पछाड़ देता है ॥ १० ॥

भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपो यत्क्रियते बलात् ।
तदमात्येभपौराणां प्रयत्नस्य बलं महत् ॥ ११ ॥
पौरुषेणाऽन्नमाक्रम्य यथा दन्तेन चूर्ण्यते ।
अन्यः पौरुषमाश्रित्य तथा शूरेण चूर्ण्यते ॥ १२ ॥
अन्नभूता हि महतां लघवो यत्नशालिनाम् ।
यथेष्टं विनियोज्यन्ते तेन कर्मसु लोष्टवत् ॥ १३ ॥
शक्तस्य पौरुषं दृश्यमदृश्यं वाऽपि यद्भवेत् ।
तद्दैवमित्यशक्तेन बुद्धमात्मन्यबुद्धिना ॥ १४ ॥
भूतानां बलवद्भूतं यन्न दैवमिति स्थितम् ।
तत्तेषामप्यधिष्ठातृ सतामेतत्स्फुटं मिथः ॥ १५ ॥

राजवंशके न रहनेपर मन्त्री आदि द्वारा प्रेरित अलङ्कृत हाथी किसी भिक्षुकको लाकर जो बलात् राजा बना देता है, वह मन्त्री, हाथी और नगरवासियोंके प्रयत्नका महान् बल है। भाव यह कि भिक्षुकका राज्यप्राप्तिके अनुकूल पूर्वजन्मका पुण्य होनेपर भी मन्त्री आदिका पौरुष भी उसमें अन्यतर कारण कहा जा सकता है। यदि मन्त्री लोग हाथीको भेजना आदि उद्योग न करते, तो भिक्षुकका लड़का कदापि राजा न हो सकता। निस्सन्देह मन्त्रियोंका पुरुषकार (प्रयत्न या उद्योग) भिक्षुकके राज्यलाभमें सहकारी कारण है और भिक्षुकका बलवान् पुण्य मुख्य कारण है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि पुरुषकार ही एक ऐसी चीज है जो साधारण व्यक्तिको भी बड़ासे बड़ा पद प्रदान करा सकती है ॥ ११ ॥

जैसे पुरुषकारसे (प्रयत्नसे) भक्षण करने योग्य अन्नको मुँहमें दबाकर फिर दातोंसे चूर चूर किया जाता है वैसे ही बलवान् पुरुष पौरुषका अवलम्बन कर दुर्बलको पीस डालता है ॥ १२ ॥

यतः प्रयत्नशील महाबली पुरुषोंके अल्प बलवाले पुरुष उपभोग्य होते हैं, इसलिए वे उनको ढेलेके सदृश अपनी इच्छानुसार कर्ममें नियुक्त करते हैं ॥१३॥

असमर्थ और अल्पबुद्धि पुरुष बलवान् और बुद्धिमान् पुरुषके पौरुषको, तत् तत् पुरुषकारको, चाहे वह दृश्य हो चाहे अदृश्य, अपनी अज्ञानताके वश उसे 'दैव' या अदृष्ट समझता है ॥ १४ ॥

उन समर्थ प्राणियोंमें जो अधिक बलवान् प्राणी होता है, वह औरोंका

शास्त्रामात्येभपौराणामविकल्पा स्वभावधीः।
या सा भिक्षुकराज्यस्य कर्तृ धर्तृ प्रजास्थितेः॥ १६ ॥
भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपो यत्क्रियते क्वचित्।
प्राक्तनं पौरुषं तत्र बलवद्वाऽपि कारणम् ॥ १७ ॥
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।
सर्वदा पुरुषस्पन्दस्तत्राऽनुद्वेगवाञ्जयी ॥ १८ ॥
द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद् बलिता भवेत्।
दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते ॥ १९ ॥

नियन्ता होता है, यह बात सभी विद्यमान प्राणियोंमें परस्पर स्पष्ट है; दैव कोई वस्तु नही है, यह निश्चित है। भाव यह कि पूर्वोक्त समर्थ पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक समर्थ अन्य पुरुष भी हैं, वे उनके ऊपर शासन करते हैं। अतएव वर्तमान प्राणियोंमें इस प्रकार पुरुषकार ही दिखाई देता है, उससे अन्य कुछ नहीं दिखाई देता। अतः दैव कोई पदार्थ नही है, यही समझना युक्तियुक्त है ॥ १५ ॥

शास्त्र, मन्त्री, हाथी और नगरवासियोंकी ऐकमत्यको प्राप्त हुई स्वाभाविक बुद्धि ही भिक्षुकको राजा बनानेवाली और प्रजाकी रक्षिका है ॥ १६ ॥

अन्यके पौरुषसे अन्यको फलकी प्राप्ति होनेपर व्यभिचारकी आशङ्का कर कहते हैं—'**भिक्षुको**' इत्यादिसे।

अथवा, जहाँ कहीं अलङ्कृत हाथीसे भिक्षुक राजा बनाया जाता है, वहाँपर भिक्षुकका पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष भी कारण है ॥ १७ ॥

इस जन्ममें किया गया प्रबल पुरुषकार अपने बलसे पूर्वजन्मके पौरुषको नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्मके पौरुषको अपने बलसे नष्ट कर देता है। वही पौरुष सदा विजयी होता है, जो उद्वेगसे रहित है। इसी जन्मका ही पौरुष उद्वेगशून्य हो सकता है, पूर्वजन्मका नहीं; क्योंकि वह पहले ही विच्छिन्न हो चुका है, यह भाव है ॥ १८ ॥

दोनों (ऐहिक और प्राक्तन) पौरुषोंमें से ऐहिक पौरुष ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिए जिस प्रकार युवक द्वारा बालक जीता जा सकता है, वैसे ही इस जन्मके प्रयत्नों द्वारा दैव (पूर्वजन्मका प्रयत्न) जीता जा सकता है ॥१९॥

मेघेन नीयते यद्वद्वत्सरोपार्जिता कृषिः ।
मेघस्य पुरुषार्थोऽसौ जयत्यधिकयत्नवान् ॥ २० ॥
क्रमेणोपार्जितेऽप्यर्थे नष्टे कार्या न खेदिता ।
न बलं यत्र मे शक्तं तत्र का परिदेवना ॥ २१ ॥
यन्न शक्नोमि तस्यार्थे यदि दुःखं करोम्यहम् ।
तदमारितमृत्योर्मे युक्तं प्रत्यहरोदनम् ॥ २२ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यवशतो विस्फुरन्त्यमी ।
सर्व एव जगद्भावा जयत्यधिकयत्नवान् ॥ २३ ॥

ओले आदि गिरनेसे खेतीके विनाश आदिमें इससे विपरीत ही (पौरुषसे दैव ही प्रबल) देखा जाता है, ऐसी आशङ्का करके उक्त दृष्टान्त भी हमारे अभीष्टकी ही सिद्धि करता है, ऐसा कहते हैं—'**मेघेन**' इत्यादिसे ।

जैसे मेघ कृषकों द्वारा वर्षभरमें कमाई गई खेतीको एक ही दिनमें विनष्ट कर देता है, यह मेघका ही पुरुषार्थ है, वैसे ही और जगह भी समझना चाहिए जो अधिक प्रयत्न करता है, उसकी जीत होती ही है । वस्तुतः तो वहाँपर भी कृषकका पूर्व जन्मका पुरुषकार ही अदृष्ट द्वारा कारण है ॥ २० ॥

क्रमशः उपार्जित धनका विनाश हो जानेपर भी खेद नहीं करना चाहिए । जहाँपर अपना कुछ वश नहीं चलता, वहाँपर क्या खेद करना ? वहाँपर पुनः उद्योग करना ही उचित है ॥ २१ ॥

जिस कार्यको हम लोग कर नहीं सकते, जो हमारी शक्तिके बाहर है, उसके लिए यदि हम दुःख करें, तो हमने मृत्युका विनाश नहीं किया, वह कभी न कभी हमें मार डालेगा, यों सोच कर प्रतिदिन रोना चाहिए ॥ २२ ॥

इस संसारके सम्पूर्ण पदार्थ देश, काल, क्रिया और द्रव्यके अनुसार स्फूर्तिको प्राप्त होते हैं, जिस विषयमें मनुष्य अधिक प्रयत्न करता है, उसमें विजयी होता है । जिस देशमें जिस कालमें प्रयत्न विफल हो जाय, उसका त्याग कर दूसरे देशमें, दूसरे कालमें, दूसरी क्रियासे और दूसरे द्रव्यसे पुनः प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पूर्व आदि दिशाओंमें विघ्न आनेपर भी श्रीविश्वामित्रजीके तपकी उत्तर दिशामें सिद्धि हुई थी, यह तात्पर्य है ॥ २३ ॥

तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः ।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत् ॥ २४ ॥
प्राक्तनश्चैहिकश्चेमौ पुरुषार्थौ फलद्द्रुमौ ।
संजातौ पुरुषारण्ये जयत्यभ्यधिकस्तयोः ॥ २५ ॥
कर्म यः प्राक्तनं तुच्छं न निहन्ति शुभेहितैः ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽसावात्मनः सुखदुःखयोः ॥ २६ ॥
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा ।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥ २७ ॥
यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान् ।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव ॥ २८ ॥
कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने ।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥ २९ ॥

इसलिए अधिकारी मनुष्यको पुरुषार्थका अवलम्बन कर, सत् शास्त्रोंके अभ्यास और सत्सङ्गति द्वारा बुद्धिको निर्मल बना कर संसाररूप सागरसे अपना उद्धार करना चाहिए ॥ २४ ॥

ये इस जन्म और पूर्व जन्मके दोनों पौरुष पुरुषरूपी अरण्यमें उत्पन्न फल देनेमें समर्थ वृक्ष हैं, उनमें से जो अधिक बलवान् होता है, वह विजयी होता है । यहाँपर जड़का उच्छेद होनेसे एकके सूखनेपर दूसरेका उगना जय है ॥ २५ ॥

जो पुरुष अपने ऐहिक शुभ कर्मोंसे पूर्वजन्मके तुच्छ कर्मका विनाश नहीं करता, वह अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःखमें असमर्थ है, भाव यह कि ऐसे लोग अपने दुःखके परिहारमें और सुखके उत्पादनमें अत्यन्त उदासीन हैं ॥२६॥

वह पुरुष ईश्वरकी प्रेरणासे पुण्य और पापके बिना ही स्वर्ग अथवा नरकको जाता है, वह सदा पराधीन रहता है, वह सचमुच पशु ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

जो पुरुष उदार स्वभावसे प्रयत्न करनेमें कुशल और सदाचारी हैं, वे पुरुष जैसे मृगराज अपने उद्यमसे पिजड़ेसे निकल जाता है, वैसे ही जगन्मोहसे निकल जाते हैं ॥ २८ ॥

जो पुरुष कर्मका त्यागकर, कोई पुरुष (ईश्वर) मुझे प्रेरित कर रहा है,

इस प्रकारकी अनर्थकारिणी कुकल्पनामें स्थित है, उसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिए, वह नराधम है ।

[शङ्का—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (यही उस पुरुषसे अच्छे कर्म करवाता है, जिसका इस लोकसे उद्धार करनेकी इच्छा करता है) 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति' (जो अन्तर्यामी आत्मामें स्थित होकर आत्माका नियन्त्रण करता है), 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे विरुद्ध ईश्वरका अपलाप कर जीवकी स्वतन्त्रता कैसे कहते हैं ?

समाधान—आप भी 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति' (जैसा करता है वैसा होता है, साधुकर्मकारी साधु होता है और पापकर्मकारी पापी होता है), 'यजेत् जुहुयाद् दद्यात्' (यज्ञ करे, हवन करे, दान दे), 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (आत्मा कर्ता है, क्योंकि कर्ताको अपेक्षित उपायोंका बोध करानेवाला विधिशास्त्र सार्थक है, यदि बुद्धिकर्त्री हो और भोक्ता आत्मा हो, तो ऐसा विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगा), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (ईश्वर जीवोंके न कर्तृत्वकी सृष्टि करते हैं और न कर्मोंकी सृष्टि करते हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे विरुद्ध जीवकी परतन्त्रताका प्रतिपादन कैसे करते हैं ? अस्वतन्त्र जीव कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अस्वतन्त्रको कर्ता मानेंगे, तो 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस शास्त्रसे विरोध होगा । बलवान् ईश्वरकी अधीनतामें स्थित पुरुष सैकड़ों विधियों और हजारों निषेधोंसे न तो किसी कर्ममें प्रवृत्त किया जा सकता है और न निवृत्त किया जा सकता है । दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर द्वारा जबरदस्ती ब्रह्महत्या आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त कराया गया जीव कैसे अपराधी होगा और स्वयं ही लोगोंको बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर उन्हें नरकमें गिरा रहे भगवान् वैषम्य और नैर्घृण्य दोषके भागी क्यों न होंगे ? और अन्तर्यामी ब्राह्मणके अन्तमें 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' इत्यादिसे जीवके अपलाप द्वारा ईश्वर-स्वातन्त्र्यका समर्थन कैसे संगत होगा ?

यदि कहिये केवल अज्ञ पुरुषकी दृष्टिका अवलम्बन कर कर्मकाण्डप्रवृत्तिमें जीवस्वातन्त्र्यवाद है, उसको शिथिल कर सम्पूर्ण भूतोंमें ऐकात्म्य-ज्ञानके लिए प्रवृत्त विवेकदृष्टिका अवलम्बन कर ईश्वरस्वातन्त्र्यवाद है, उसके

व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च ।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे ॥ ३० ॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः ।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव ॥ ३१ ॥
स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिद्ध्यै शास्त्रयन्त्रिता ॥ ३२ ॥

फलभूत ज्ञानसे प्राप्त विवेकदृष्टिका अवलम्बन करके 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (यह ब्रह्म कारणशून्य, कार्यरहित, अनन्तर, अबाह्य, सर्वरूपसे सबका अनुभव करनेवाला है), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यादि श्रुतिवाद और स्मृतिवाद है । जैसे स्वप्न और दर्पण आदिमें काष्ठहस्तीके धावनको हस्तीकी दृष्टिसे देखनेपर हस्ती ही दौड़ता है न कि काष्ठ, काष्ठकी दृष्टिसे देखनेपर काष्ठ ही दौड़ता है न कि हस्ती, परमार्थदृष्टिसे देखनेपर तो न हस्ती है, न काष्ठ है और न धावन क्रिया ही है, केवल अविकृत पुरुष, दर्पण आदि ही हैं, वैसे ही ये वाद है, तो मोक्षके उपायके प्रवर्तक श्रीवसिष्ठजीका प्रस्तुत उपदेश अज्ञ पुरुषोंके लिए है, इसलिए यहाँपर ईश्वरस्वातन्त्र्यवादका निराकरण उचित ही है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीका भाष्य भी है—'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकाः प्रवृत्ता सर्वाणि च शास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि' (इस अविद्यारूप आत्मा और अनात्माके अन्योन्याध्यासका अवलम्बन कर सभी प्रमाण, प्रमेय आदि लौकिक व्यवहार और विधि, निषेध तथा मोक्षपरक सम्पूर्ण शास्त्र भी प्रवृत्त हैं) ।

इस प्रकार अज्ञानी जीवकी दृष्टिसे सिद्ध जीवस्वातन्त्र्य-पक्षमें प्राप्त कर्मोंके अनुसार नियन्त्रण करनेवाले ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं हैं, यह भाव है] ॥ २९ ॥

संसारमें हजारों जो व्यवहार हैं, उनमें लाभ और हानि हुआ ही करते हैं । उनमें राग और द्वेषका त्यागकर शास्त्रानुसार प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३० ॥

कभी विच्छिन्न न हुई शास्त्रानुकूल अपनी मर्यादाका त्याग न कर रहे पुरुषको जैसे सागरमें रत्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

जिनसे सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति होती है, उन अवश्य कर्तव्य कार्योंमें

क्रियया स्पन्दधर्मिण्या स्वार्थसाधकता स्वयम् ।
साधुसंगमसच्छास्त्रतीक्ष्णयोन्नीयते धिया ॥ ३३ ॥

अनन्तं समतानन्दं परमार्थं विदुर्बुधाः ।
स येभ्यः प्राप्यते नित्यं ते सेव्याः शास्त्रसाधवः ॥ ३४ ॥

देवलोकादिहाऽऽगत्य लोकद्वयहितं भवेत् ।
प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते ॥ ३५ ॥

तद्युक्तमेतदेतस्मिन्नाऽस्ति नाऽपवदामहे ।
मूढैः प्रकल्पितं दैवं मन्यन्ते ये क्षयं गताः ॥ ३६ ॥

नित्यं स्वपौरुषादेव लोकद्वयहितं भवेत् ।
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ॥ ३७ ॥

प्रयत्नपूर्वक सदा तत्पर रहनेको ही विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं, उक्त तत्परता यदि शास्त्रानुसार हो, तो वह परमपुरुषार्थकी साधक होती है ॥ ३२ ॥

देहसञ्चालनरूप क्रियासे (गुरुशुश्रूषारूप कार्यसे), सज्जनोंके समागम एवं आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले सत् शास्त्रोंके अभ्याससे असंभावना, विपरीत भावना आदि दोषोंके निराकरणपूर्वक तीक्ष्ण हुई बुद्धिसे आत्माका जो स्वयं उद्धार किया जाता है, वह स्वार्थसाधकता है ॥ ३३ ॥

विद्वान् लोग अन्तरहित एवं अज्ञानकृत विषमतासे शून्य परमार्थ वस्तुको (ब्रह्मको) जानते हैं। उक्त परमार्थ वस्तु जिनसे प्राप्त हो, उन शास्त्र और साधुओंकी सदा शुश्रूषा करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

जो दोनों लोकोंमें हित करनेवाला पुरुषकार है, देवलोकके भोगसे अवशिष्ट वही पूर्वजन्मका पौरुष देवलोकसे यहाँ आये हुए पुरुषका 'दैव' कहलाता है ॥३५॥

यह ठीक है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है और इसकी हम निन्दा भी नहीं करते हैं। जो लोग मूढ़ों द्वारा अपनी कपोलकल्पनासे गढ़े हुए 'दैव' को मानते हैं, वे विनाशको प्राप्त हो गये हैं, यों हम उनकी निन्दा करते हैं ॥ ३६ ॥

सदा अपने पुरुषकारसे ही दोनों लोकोंमें हित होता है, जैसे कलका दुष्कर्म आजके सत्कर्मसे शोभाको प्राप्त होता है, वैसे ही वर्तमान जन्मके शुभ

अद्यैवं प्राक्तनी तस्माद्यत्नाद्यः कार्यवान्भवेत् ।
करामलकवद्दृष्टं पौरुषादेव तत्फलम् ।
मूढः प्रत्यक्षमुत्सृज्य दैवमोहे निमज्जति ॥ ३८ ॥

सकलकारणकार्यविवर्जितं निजविकल्पबलादुपकल्पितम् ।
तदनपेक्ष्य हि दैवमसन्मयं श्रय शुभाशय पौरुषमात्मनः ॥ ३९ ॥

शास्त्रैः सदाचरविजृम्भितदेशधर्मैर्यत्कल्पितं फलमतीव चिरप्ररूढम् ।
तस्मिन्हृदि स्फुरति चोपनमेति चित्तमङ्गावली तदनु पौरुषमेतदाहुः ॥४०॥

बुद्ध्वेव पौरुषफलं पुरुषत्वमेतदात्मप्रयत्नपरतैव सदैव कार्या ।
नेया ततः सफलतां परमामथाऽसौ सच्छास्त्रसाधुजनपण्डितसेवनेन ॥४१॥

कर्मोंसे पूर्वजन्मके दुष्कर्म शोभाको प्राप्त हो जाते हैं। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शुभ कार्यमें संलग्न होता है, उसका फल हाथमें रक्खे हुए आँवलेके समान पौरुषसे ही साफ देखा गया है। जो प्रत्यक्षका त्यागकर दैवरूप मोहमें निमग्न होता है वह परम मूढ़ है ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्र, इसलिए अपनी कोरी कपोलकल्पनासे उत्पन्न अतएव मिथ्याभूत सम्पूर्ण कारण और प्रयोजनोंसे रहित 'दैव' की उपेक्षा कर अपने पौरुषका अवलम्बन करो ॥ ३९ ॥

वह पौरुष क्या है, जिसके अवलम्बनके लिए आप उपदेश देते हैं? इसपर कहते हैं—'शास्त्रैः' इत्यादिसे।

वेद-शास्त्रों द्वारा और महापुरुषोंके शुभ आचारसे अति विस्तृत विविध देश धर्मों द्वारा समर्थित जो चित्तशुद्धिरूप और ज्ञानरूप अति प्रसिद्ध फल है, उसकी हृदयमें अति उत्कट अभिलाषा होनेपर उसको प्राप्त करनेकी इच्छासे चित्तमें क्रिया होती है, उसके अनन्तर इन्द्रिय, हाथ, पैर आदिमें क्रिया होती है, तब पुरुष श्रवण, मनन आदि करता है, इसीको पौरुष कहते हैं ॥ ४० ॥

अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थकी सिद्धि होनेपर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं, यह जानकर सदा आत्मप्रयत्नमें संलग्न रहना चाहिए। तदुपरान्त इस प्रयत्नपरायणताको सत् शास्त्रोंके अभ्यास, सन्त महात्माओं और विद्वानोंकी शुश्रूषा द्वारा आत्मज्ञानरूप फलप्राप्तिसे सफल बनाना चाहिए ॥ ४१ ॥

दैवपौरुषविचारचारुभिश्चेदमाचरितमात्मपौरुषम् ।
नित्यमेव जयतीति भावितैः कार्य आर्यजनसेवयोद्यमः ॥४२॥
जन्मप्रबन्धमयमामयमेष जीवो बुद्ध्वैहिकं सहजपौरुषमेव सिद्ध्यै ।
शान्तिं नयत्ववितथेन वरौषधेन मृष्टेन तुष्टपरपण्डितसेवनेन ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
दैवनिराकरणं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्राप्य व्याधिविनिर्मुक्तं देहमल्पाधिवेदनम् ।
तथाऽऽत्मनि समादध्याद्यथा भूयो न जायते ॥ १ ॥

यदि पौरुषका अवलम्बन किया जाय, तो वह अवश्य दैवको जीत लेता है, इस प्रकार दैव और पौरुषके बलाबलके विचारसे भव्य, शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी शुश्रूषामें नित्य संलग्न अधिकारी पुरुषोंको श्रवण, मनन आदि द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए उद्यम करना चाहिए ॥ ४२ ॥

यह अधिकारी जीव इस जन्ममें सम्पादन करने योग्य सहज पौरुष ही परम पुरुषार्थलाभका हेतु है, ऐसा निश्चय कर सदा आनन्दमग्न सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मवेत्ताओंकी शुश्रूषारूप अमोघ मधुर उत्तम ओषधिसे विविध जन्ममरणपरम्परारूप भवरोगको शान्त करे ॥ ४३ ॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

[प्रचुर उदाहरण और प्रत्युदाहरणों तथा युक्तियोंसे पौरुषकी प्रधानताका समर्थन]

दैवका निराकरण कर पहले जो पौरुषप्रधानताका समर्थन किया गया था, उसीको उदाहरण और प्रत्युदाहरण द्वारा दृढ़ करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उपपत्तिपूर्वक हितोपदेश द्वारा अधिकारियोंको पुरुषार्थकी ओर आकृष्ट करते हैं—'प्राप्य' इत्यादिसे ।

दैवं पुरुषकारेण यो निवर्तितुमिच्छति ।
इह वाऽमुत्र जगति स संपूर्णाभिवाञ्छितः ॥ २ ॥
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः ।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥ ३ ॥
संवित्स्पन्दो मनःस्पन्द ऐन्द्रियस्पन्द एव च ।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः ॥ ४ ॥
यथा संवेदनं चेतस्तथा तत्स्पन्दमृच्छति ।
तथैव कायश्चलति तथैव फलभोक्तृता ॥ ५ ॥
आबालमेतत्संसिद्धं यत्र यत्र यथा यथा ।
दैवं तु न क्वचिद्दृष्टमतो जगति पौरुषम् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, रोगरहित, स्वल्प मानसिक पीड़ासे युक्त देहको प्राप्त कर आत्मामें इस प्रकार चित्तकी एकाग्रता करे कि जिससे फिर जन्म ही न हो ॥ १ ॥

जो पुरुष पौरुषसे दैवको जीतनेकी इच्छा करता है, उसके इस लोकमें और परलोकमें सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ॥ २ ॥

जो लोग उद्यमका परित्याग कर दैवपर निर्भर रहते हैं, वे आत्मशत्रु अर्थ, धर्म, काम और मोक्षका विनाश करते हैं ॥ ३ ॥

पुरुषार्थ और उसके साधनोंकी स्फूर्ति संवित्स्पन्द है उससे उनके साधनकी इच्छासे जन्य प्रयत्न मनःस्पन्द है अर्थात् दृढ़संकल्प, उससे कर्मेन्द्रियों और अङ्गोंके संचालनकी प्रवृत्ति इन्द्रियस्पन्द है अर्थात् कार्यप्रवृत्ति या अनुष्ठानमें रत होना । बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियोंकी उक्त चेष्टाएँ पौरुषके रूप हैं उक्त पुरुषकारोंसे ही संकल्पित फलकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

साक्षी चेतनमें पहले जैसी विषयाभिव्यक्ति (विषय ज्ञान) होती है, वैसी ही मनमें क्रिया होती है, मनके व्यापारके अनुसार कर्मेन्द्रियोंमें व्यापार होता है, कर्मेन्द्रियोंके व्यापारके अनुरूप शारीरिक क्रियाके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है ॥ ५ ॥

लोकमें लौकिक या वैदिक फलके लिए जहां जैसे जैसे पुरुषकारकी आवश्यकता होती है वहां वैसे ही पुरुषकारके उपयोगसे फलकी सिद्धि होती है यह

पुरुषार्थेन देवानां गुरुरेव बृहस्पतिः ।
शुक्रो दैत्येन्द्रगुरुतां पुरुषार्थेन चाऽऽस्थितः ॥ ७ ॥
दैन्यदारिद्र्यदुःखार्त्ता अपि साधो नरोत्तमाः ।
पौरुषेणैव यत्नेन याता देवेन्द्रतुल्यताम् ॥ ८ ॥
महान्तो विभवास्वादैर्नानाश्चर्यसमाश्रयाः ।
पौरुषेणैव दोषेण नरकातिथितां गताः ॥ ९ ॥
भावाभावसहस्रेषु दशासु विविधासु च ।
स्वपौरुषवशादेव निर्वृत्ता भूतजातयः ॥ १० ॥
शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः ।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन ॥ ११ ॥

बात बच्चों तकको विदित है। जैसे ध्यान आदिमें मानसिक प्रयत्न ही प्रधान है, आसन तथा मौन उसके अङ्ग हैं, स्तुति करनेमें वाचिक प्रयत्न प्रधान है, एकाग्रता और ध्येय देवताकी अभिमुखता उसके अङ्ग हैं, यात्रा आदिमें कायिक प्रयत्न ही प्रधान है, वाणी और मनका नियन्त्रण उसके अङ्ग हैं। कहींपर दो दो प्रयत्न प्रधान रहते हैं, कहींपर तीन प्रयत्न प्रधान रहते हैं, इस प्रकार सब जगह पौरुष ही देखा जाता है, दैव तो कहीं देखा नहीं गया, इसलिए वह असत् है ॥६॥

हे श्रीरामजी, पुरुषकारसे ही बृहस्पति देवताओंके गुरु बने और पुरुषार्थसे ही शुक्राचार्यने दैत्यराजोंका गुरुत्वपद प्राप्त किया था। दीनता, दरिद्रता आदि दुःखोंसे पीड़ित हुए भी अनेक महापुरुष अपने पौरुषसे (प्रयत्नसे) ही महेन्द्रके सदृश ऐश्वर्यशाली हो गये हैं। हरिश्चन्द्र, नल, युधिष्ठिर आदिका इतिहास इस बातका साक्षी है ॥ ७,८ ॥

महासम्पत्तियोंका उपभोग करनेवाले तथा उन विपुल वैभवोंके अधिपति जिनका कि स्मरण करनेमें आश्चर्य होता है, नहुष आदि महापुरुष अपने ही पौरुषदोषसे नरकगामी हुए, उत्कृष्ट पदसे भ्रष्ट हुए ॥ ९ ॥

सभी प्राणी हजारों सम्पत्तियों और विपत्तियोंको और विविध दशाओंको अपने भले बुरे पुरुषकारसे ही पार करते हैं ॥ १० ॥

हे रामचन्द्रजी, शास्त्राभ्यास, गुरूपदेश और अपना परिश्रम इन तीनोंसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि देखी जाती है, लौकिक पुरुषार्थ अपने परिश्रमसे ही सिद्ध होते

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारयेत् ।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥ १२ ॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम् ।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरव स्थिताः ॥ १३ ॥
यथा यथा प्रयत्नो मे फलमाशु तथा तथा ।
इत्यहं पौरुषादेव फलभाङ् न तु दैवतः ॥ १४ ॥
पौरुषाद् दृश्यते सिद्धिः पौरुषाद्धीमतां क्रमः ।
दैवमाश्वासनामात्रं दुःखे पेलवबुद्धिषु ॥ १५ ॥
प्रत्यक्षप्रमुखैर्नित्यं प्रमाणैः पौरुषक्रमः ।
फलितो दृश्यते लोके देशान्तरगमादिकः ॥ १६ ॥

हैं, याग आदि अपने परिश्रम और शास्त्रकी सहायतासे सिद्ध होते हैं और ज्ञान अपने परिश्रम, शास्त्रकी सहायता तथा गुरुके उपदेशसे सिद्ध होता है, इस प्रकारकी तीन सिद्धियाँ पुरुषार्थसे ही देखी जाती हैं, दैवसे सिद्धियाँ कभी नहीं देखी गई ॥ ११ ॥

अपना अभ्युदय चाहनेवाला पुरुष अशुभ कर्मोंमें संलग्न मनको प्रयत्नसे शुभ कर्मोंमें लगावे, यह सम्पूर्ण शास्त्रोंके सारांशका संग्रह है ॥ १२ ॥

वत्स, जो वस्तु कल्याणकारी है, तुच्छ नहीं है (सर्वोत्कृष्ट है), जो विनाश रहित (अविनाशी) है, उसीका प्रयत्नसे सम्पादन करो, ऐसा उपदेश गुरुजन सदा देते हैं ॥ १३ ॥

जैसे जैसे मै प्रयत्न करूँगा, वैसे वैसे ही मुझे शीघ्र फल प्राप्त होगा, ऐसा निश्चय करके मैं प्रयत्नसे शुभ फलका भाजन हुआ हूँ, दैवसे मेरा कुछ भी उपकार नहीं हुआ ॥ १४ ॥

पौरुषसे पुरुषोंको अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं और पौरुषसे बुद्धिमान् जनोंके पराक्रमकी वृद्धि होती है । दैव तो दुःखसागरमें डूबे हुए दुर्बलचित्तवाले लोगोंके आंसू पोछना मात्र है और कुछ नहीं है, भाव यह कि दुःखी लोगोंको समझाने-बुझाने और ढाढ़स बांधनेके लिए लोग दैव-दैव पुकारते हैं ॥ १५ ॥

लोकमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे पुरुषप्रयत्नका फल अन्य देशमें गमन आदि

भोक्ता तृप्यति नाऽभोक्ता गन्ता गच्छति नाऽगतिः ।
वक्ता वक्ति न चाऽवक्ता पौरुषं सफलं नृणाम् ॥ १७ ॥
पौरुषेण दुरन्तेभ्यः सङ्कटेभ्यः सुबुद्धयः ।
समुत्तरन्त्ययत्नेन न तु मोघतयाऽनया ॥ १८ ॥
यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक् ।
न तु तूष्णीं स्थितेनेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥ १९ ॥
शुभेन पुरुषार्थेन शुभमासाद्यते फलम् ।
अशुभेनाऽशुभं राम यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २० ॥
पुरुषार्थात् फलप्राप्तिर्देशकालवशादिह ।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥ २१ ॥

सब लोगोंको सदा दिखाई देता है । यदि पुरुष पौरुषका अवलम्बन नहीं करे, तो उसका अन्य देशमें गमन कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

जो पुरुष भोजन करता है वही तृप्त होता है, जो भोजन नहीं करता वह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता, जो चलता है वही अन्य देशमें पहुंचता है, गमन न करनेवालोंकी कदापि अन्य देशमें गति नहीं हो सकती, जो वक्ता है, वही बोल सकता है, जो अवक्ता है वह क्या बोलेगा ? इससे सिद्ध है कि पुरुषोंका पुरुषकार ही सफल है, दैव नहीं ॥ १७ ॥

पौरुषसे ही बुद्धिमान् पुरुष बड़े भीषण संकटोंको बातकी बातमें पार कर जाते हैं, न कि पौरुषरहित (अकर्मण्यतारूप) दैवपर निर्भर होकर ॥ १८ ॥

जो पुरुष जैसा-जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा वैसा फल प्राप्त होता है, इस लोकमें जो हाथपर-हाथ रखकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे तनिक भी फल नहीं मिल सकता ॥ १९ ॥

हे राम, शुभ पुरुषार्थसे (पौरुषसे) शुभ फल मिलता है और अशुभ पुरुषार्थसे अशुभ फल मिलता है, तुम्हें जैसे फलकी अभिलाषा हो वैसे पुरुषार्थका अवलम्बन कर उस फलके भागी बनो ॥ २० ॥

पुरुषार्थी पुरुषोंको देश और कालके अनुसार पुरुषकारसे कभी शीघ्र और कभी कुछ विलम्बसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसीको अज्ञानी उद्यमहीन व्यक्ति 'दैव' कहते हैं ॥ २१ ॥

न दैवं दृश्यते दृष्ट्या न च लोकान्तरे स्थितम् ।
उक्तं दैवाभिधानेन स्वर्लोके कर्मणः फलम् ॥ २२ ॥
पुरुषो जायते लोके वर्धते जीर्यते पुनः ।
न तत्र दृश्यते दैवं जरायौवनबाल्यवत् ॥ २३ ॥
अर्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सर्वमासाद्यतेऽनया ॥ २४ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्हस्तस्य द्रव्यधारणम् ।
व्यापारश्च तथाऽङ्गानां पौरुषेण न दैवतः ॥ २५ ॥
अनर्थप्राप्तिकार्यैकप्रयत्नपरता तु या ।
प्रोक्ता प्रोन्मत्तचेष्टेति न किंचित्प्राप्यतेऽनया ॥ २६ ॥
क्रियया स्पन्दधर्मिण्या स्वार्थसाधकता स्वयम् ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रतीक्ष्णयोन्नीयते धिया ॥ २७ ॥

न तो 'दैव' का नयनोंसे दर्शन होता है, न वह कहीं स्वर्ग आदि अन्य लोकमें ही स्थित है। पुरुषार्थीका स्वर्गलोकमें स्थित कर्मफल ही दैवनामसे पुकारा जाता है ॥ २२ ॥

इस लोकमें पुरुष पैदा होता है, बढ़ता है, फिर वृद्ध होता है, पर उस पुरुषमें जैसे वृद्धावस्था, यौवन और बाल्यावस्था दिखाई देती है, वैसे दैव नहीं दिखाई देता ॥ २३ ॥

अपने अभीष्टको प्राप्त करानेवाली कार्यमात्रतत्परताको विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है ॥ २४ ॥

एक स्थानसे दूसरे स्थानकी प्राप्ति पैरोंके पुरुषार्थसे होती है, हाथका किसी वस्तुको पकड़ना हाथके पौरुषसे होता है और इसी प्रकार अन्यान्य अङ्गोंके अन्यान्य व्यापार (चेष्टाएँ) पौरुषसे ही होते हैं, दैवसे नहीं ॥ २५ ॥

अनभीष्ट पदार्थकी प्राप्ति करानेवाले कार्यमें जो संलग्नता है, वह उन्मत्तकी चेष्टा है, उससे कोई भी शुभ फल प्राप्त नहीं होता, अशुभ (नरकपात आदि) फल ही प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

देहचालनपरम्परारूप गुरुशुश्रूषा और श्रवण आदि क्रियासे तथा सज्जनसंगति

अनन्तसमतानन्दं परमार्थं स्वकं विदुः ।
स येभ्यः प्राप्यते यत्नात्सेव्यास्ते शास्त्रसाधवः ॥ २८ ॥
सच्छास्त्रादिगुणो मत्या सच्छास्त्रादिगुणान्मतिः ।
विवर्धते मिथोऽभ्यासात्सरोब्जाविव कालतः ॥ २९ ॥
आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संपद्यते हितः ॥ ३० ॥
पौरुषेण जिता दैत्याः स्थापिता भुवनक्रियाः ।
रचितानि जगन्तीह विष्णुना न च दैवतः ॥ ३१ ॥

और शास्त्रपरिशीलन आदिसे तीक्ष्ण हुई बुद्धिसे जो स्वयं अपनी आत्माका उद्धार किया जाता है, वही स्वार्थसाधकता है ॥ २७ ॥

अज्ञानकृत विषमताकी निवृत्तिसे उपलक्षित अनन्त आनन्दरूप अपने परमार्थको जो जानते हैं और जिनसे उक्त आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन शास्त्र और महात्माओंकी प्रणिपातपूर्वक सेवा करनी चाहिए ॥२८॥

बार बार सज्जनसंगतिका फल उनके तुल्य शील-स्वभावकी प्राप्ति है और शास्त्राभ्यासका फल शास्त्रतात्पर्यज्ञान है । बुद्धिसे सत् शास्त्राभ्यासरूप गुण होता है और सत् शास्त्रके अभ्यास आदिसे बुद्धिकी वृद्धि होती है। जैसे वर्षाकालमें तालाब और कमल परस्परकी शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही चिरकालके अभ्याससे मति और मतिसे शास्त्राभ्यासकी वृद्धि होती है। भाव यह कि मनुष्य जैसे जैसे गुरुशुश्रूषा और शास्त्राभ्यासमें तत्पर होता है वैसे वैसे इसका बोध बढ़ता है और जैसे जैसे बोधकी अभिवृद्धि होती है वैसे वैसे गुरु और शास्त्रमें विश्वास बढ़ता है । उनकी वृद्धि होनेपर सुखकी वृद्धि होती है, तदनन्तर उत्तरोत्तर भूमिकामें आरूढ़ होता है ॥ २९ ॥

तत्त्वबोधकी वृद्धिके लिए बहुत कालतक यत्न करना चाहिए ऐसा कहनेके लिए उक्त बातको ही पुनः कहते हैं—'**आबाल्याद०**' इत्यादिसे ।

बाल्यावस्थासे लेकर पूर्णरूपसे अभ्यस्त शास्त्र एवं सत्संग आदि गुणोंसे पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीविष्णुने पौरुषसे ही दैत्योंके ऊपर विजय प्राप्त की, पौरुषसे ही लोकोंकी क्रियाएँ नियत कीं और पौरुषसे ही लोकोंकी रचना की, दैवसे नहीं ॥३१॥

जगति पुरुषकारकारणेऽस्मिन् कुरु रघुनाथ चिरं तथा प्रयत्नम् ।
व्रजसि तरुसरीसृपाभिधानां सुभग यथा न दशामशङ्क एव ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
पौरुषप्राधान्यसमर्थनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

नाऽऽकृतिर्न च कर्माणि न स्पन्दो न पराक्रमः ।
तन्मिथ्याज्ञानवद्रूढं दैवं नाम किमुच्यते ॥ १ ॥

हे रघुनन्दन, इस जगत्‌में केवल पुरुषकार ही पुरुषार्थका हेतु है। यहां आप चिर कालतक वैसा पौरुष कीजिये जैसे कि हे सौम्य, आप वृक्ष, सर्प आदि योनियोंको प्राप्त न हों ॥ ३२ ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

[पूर्व सर्गमें प्रचुर उदाहरणों द्वारा वर्णित दैवमिथ्यात्वका, उपजीव्यविरोध आदि युक्तियोंसे भी, समर्थन]

इस प्रकार दैवका निराकरण कर पौरुषकी स्वतन्त्रताका समर्थन करनेपर भी विश्वास न होनेके कारण भ्रममें पड़ रहे और पहले स्वयं विस्तारसे वर्णित* एवं

---

* वैराग्यप्रकरण सर्ग २५ में—

अत्रैव दुर्विलासानां चूडामणिरिहाऽपर ।
करोत्यत्तीति लोकेऽस्मिन् दैवं कालश्च कथ्यते ॥
तेनेयमखिला भूतसन्तति· परिपेलवा ।
तापेन हिममालेव नीता विधुरतां भृशम् ॥
नृत्यतो हि कृतान्तस्य नितान्तमिव रागिण ।
नित्यं नियतिकान्तायां मुने परमकामिता ॥

(अर्थ पृ० सं० १८२, १८३ में देखिये)

स्वकर्मफलसम्प्राप्ताविदमित्थमितीति याः ।
गिरस्ता दैवनाम्नैताः प्रसिद्धिं समुपागताः ॥ २ ॥
तत्रैव मूढमतिभिर्दैवमस्तीति निश्चयः ।
आत्तो दुरवबोधेन रज्ज्वामिव भुजङ्गमः ॥ ३ ॥
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।
अद्यैवं प्राक्तनी तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान्भवेत् ॥ ४ ॥

अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासमें प्रसिद्ध दैवका अपलाप करना कठिन ही नहीं असंभव है यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजीको मुखाकृति आदिसे ताड़कर जबतक श्रीरामचन्द्रजीको दैवकी स्वतन्त्रतामें उपजीव्यविरोध नहीं दिखलाया जायगा तबतक उन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिए उसको दिखलानेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजीने कहा—'नाकृतिः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्र, जिसकी न जाति है या न अनुगत शरीरके अवयवोंकी संगठन ही है, न कर्म हैं, न चेष्टाएँ हैं और न किसी प्रकारका पराक्रम ही है उस दैवका कैसा स्वरूप है इस बातको निर्णयपूर्वक यथार्थरूपसे कोई नहीं बतला सकता, चूँकि उसे बताना कठिन ही नहीं असम्भव है, इसलिए मिथ्याज्ञानके समान उसकी केवल लोकप्रसिद्धिमात्र है ॥ १ ॥

किस अधिष्ठानको लेकर दैवभ्रान्ति होती है ? ऐसी शङ्का होनेपर अधिष्ठानको दिखलाते हुए परस्पर व्यवहारका स्पष्टीकरण करते हैं—'स्वकर्म०' इत्यादिसे ।

अपने कर्मफलकी प्राप्ति होनेपर इस कर्मका इस क्रमसे अनुष्ठान किया था, इसलिए इस प्रकारका फल प्राप्त हुआ, ऐसे जो वाग्व्यवहार होते हैं, वे ही दैवनामसे लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ २ ॥

उन वाग्व्यवहारोंमें मन्दबुद्धि पुरुष यह दैव है, इस प्रकारका भ्रान्तिसे निश्चय करते हैं जैसे कि भ्रान्तिसे रस्सीमें यह सर्प है, ऐसा निश्चय गृहीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे अतीत कालके दुष्कर्म वर्तमान कालके शुभ कर्मोंसे शोभाको प्राप्त होते हैं, वैसे ही पूर्वजन्मके दुष्कर्म इस जन्मके शुभ कर्मोंसे शुभफलप्रद हो जाते हैं, इसलिए पुरुषको प्रयत्नपूर्वक उद्योगी होना चाहिए ॥ ४ ॥

मूढानुमानसंसिद्धं दैवं यस्याऽस्ति दुर्मतेः ।
दैवाद्दाहोऽस्ति नैवेति गन्तव्यं तेन पावके ॥ ५ ॥
दैवमेवेह चेत् कर्तृ पुंसः किमिव चेष्टया ।
स्नानदानासनोच्चारान् दैवमेव करिष्यति ॥ ६ ॥
किं वा शास्त्रोपदेशेन मूकोऽयं पुरुषः किल ।
संचार्यते तु दैवेन किं कस्येहोपदिश्यते ॥ ७ ॥
न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसम्प्राप्तिस्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ८ ॥
न चाऽमूर्तेन दैवेन मूर्तस्य सहकर्तृता ।
पुंसः संदृश्यते काचित्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ९ ॥
मिथोऽङ्गानि समासाद्य द्वयोरेकैककर्तृता ।
हस्तादीनां हतत्वे ह न दैवेन क्वचित्कृतम् ॥ १० ॥

जिस मन्दमतिका मूढ़ों द्वारा अनुमानसे सिद्ध दैव है, अर्थात् जो दुर्मति मूढ़ों द्वारा कल्पित दैवको मानता है, उस दुर्मतिको मैं भाग्यसे नहीं ही जलूँगा ऐसा निश्चय कर अग्निकुण्डमें कूद पड़ना चाहिए ॥ ५ ॥

यदि कर्ता धर्ता सब कुछ दैव ही है, तो पुरुषकी चेष्टासे क्या प्रयोजन है ? स्नान, दान, उठना, बैठना, बोलना आदि सभी व्यापारोंको दैव ही कर देगा ॥६॥

मनुष्यको शास्त्रोंका उपदेश देनेसे किस फलकी सिद्धि होगी, क्योंकि यह पुरुष तो बोलनेके लिए भी स्वतन्त्र नहीं है दैव जैसा चाहता है वैसा उससे नाच नचाता है, फिर इस संसारमें किसको क्या उपदेश दिया जाय ? ॥ ७ ॥

इस लोकमें शवको छोड़कर अन्य किसीमें भी चेष्टाका अभाव नहीं देखा गया है, चेष्टासे ही फलप्राप्ति होती है, दैवसे नहीं, इसलिए दैव निरर्थक है ॥८॥

मूर्तिरहित दैव मूर्तियुक्त पुरुषका सहकारी नहीं देखा जाता, इसलिए दैव निरर्थक है ॥ ९ ॥

जैसे लिखना, काटना आदि कार्योंमें लेखनी, छूरा आदि और अङ्ग परस्पर सम्बद्ध होते हैं, सम्बद्ध हुए दोनोंमें से एकमें ही क्रियाकारिता देखी जाती है, दूसरेमें नहीं, वैसे ही हस्त आदिके रहनेपर उनसे ही ग्रहण आदि क्रिया होगी दैव उनसे

मनोबुद्धिवदप्येतद्दैवं नेहाऽनुभूयते ।
आगोपालं कृतप्रज्ञैस्तेन दैवमसत्सदा ॥ ११ ॥
पृथक् चेद् बुद्धिरन्योऽर्थः सैव चेत्काऽन्यता तयोः ।
कल्पनायां प्रमाणं चेत् पौरुषं किं न कल्प्यते ॥ १२ ॥
नाऽमूर्त्तेस्तेन संगोऽस्ति नभसेव वपुष्मतः ।
मूर्त्तं च दृश्यते लग्नं तस्माद्दैवं न विद्यते ॥ १३ ॥

अन्यथा सिद्ध होनेके कारण करण नहीं हो सकता और वातरोग आदि द्वारा हाथ आदि अङ्गोंके नष्ट हो जानेपर दैवसे कहींपर कुछ नहीं किया जाता अतएव हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदिके सदृश क्रियाके करणत्वरूपसे भी दवकी कल्पनाकी आशा नहीं करनी चाहिए ॥ १० ॥

बच्चेसे लेकर विद्वानों तकको मन और बुद्धिके सदृश भी इस दैवका अनुभव नहीं होता, इसलिए भी दैव सदा असत् ही है, क्योंकि उसके अस्तित्वका किसीको भी अनुभव नहीं होता ॥ ११ ॥

किञ्च, दैवकी सिद्धिमें कर्ता आदि कारक बुद्धि ही प्रमाण है अथवा उससे पृथक् बुद्धि ? प्रथम पक्षमें कर्ता आदि ही दैवशब्दसे कहे जायँगे दैव केवल कर्ता आदिका दूसरा नाम ही ठहरा। द्वितीय पक्षमें क्रियामें उपयोग रहित किसी दूसरेकी दैव इस नामसे व्यर्थ ही कल्पना करनी होगी ।

यदि कहिए कि सभी पाण्डित्य आदिरूप समान फलकी अभिलाषासे पढ़ते हैं उनमें से कुछ ही को अध्ययनफल पाण्डित्य आदि प्राप्त होते सबको नहीं; इस विषमतामें किसी न किसी निमित्तकी अवश्य कल्पना करनी चाहिए। कार्यकी जो विषमता देखी जाती है वह दैवकी कल्पनामें प्रमाण है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यवैषम्यको दैवकी कल्पनामें प्रमाण मानो, तो कार्यवैषम्यसे पूर्व जन्मके पौरुषकी ही कल्पना क्यों नहीं करते ? अप्रसिद्ध दैवकी कल्पना की क्या आवश्यकता है ? ॥ १२ ॥

जैसे मूर्तियुक्त हम लोगोंका अमूर्त आकाशसे संयोग नहीं हो सकता वैसे ही अमूर्त दैवका अन्य कारकके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, यतः मूर्तका ही परस्पर संयोग दिखाई देता है, अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है ॥ १३ ॥

विनियोक्तथ भूतानामस्त्यन्यश्चेज्जगत्त्रये ।
शेरते भूतवृन्दानि दैवं सर्वं करिष्यति ॥ १४ ॥
दैवेन त्वभियुक्तोऽहं तत्करोमीदृशं स्थितम् ।
समाश्वासनवागेषा न दैवं परमार्थतः ॥ १५ ॥
मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ १६ ॥
ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः ।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन् वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥ १७ ॥
कालविद्भिर्विनिर्णीता यस्याऽतिचिरजीविता ।
स चेज्जीवति संछिन्नशिरास्तद्दैवमुत्तमम् ॥ १८ ॥
कालविद्भिर्विनिर्णीतं पाण्डित्यं यस्य राघव ।
अनध्यापित एवाऽसौ तज्ज्ञश्चेद्दैवमुत्तमम् ॥ १९ ॥

यदि प्राणियोंको व्यापारमें लगानेवाला दैव नामक कोई होता तो तीनों लोकोंमें सब प्राणी दैव ही सब कुछ करेगा ऐसा निश्चय कर सो जाते ॥ १४ ॥

दैवसे प्रेरित हुआ मैं दैवके संकल्पसे सिद्ध ऐसा कार्य करता हूँ, यह वचन समाश्वासनमात्र है परमार्थतः दैव कोई पदार्थ नहीं है ॥ १५ ॥

मूर्ख लोगोंने अपने मनसे दैवकी कल्पना कर रक्खी है, जो लोग दैवपर निर्भर रहे उनका सर्वनाश ही हुआ है; बुद्धिमान् पुरुष तो पौरुषका अवलम्बन कर उत्तम पदको प्राप्त हुए हैं ॥ १६ ॥

भला कहिए तो सही जो लोग शूरवीर हैं, जो पराक्रमशाली हैं, जो बुद्धिमान् हैं और जो विद्वान् हैं क्या वे इस लोकमें दैवकी प्रतीक्षा करते हैं ? ॥१७॥

यदि कहिए ज्योतिषी जो ग्रहोंका वर्णन करते हैं, वही दैव है, सो ठीक नहीं, क्योंकि ग्रह तो अपनी गतिविशेषसे पौरुष और उसके फलका सूचन ही करते हैं, फलके कारण नही हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'काल०'** इत्यादिसे ।

ज्योतिषियों द्वारा जिसकी बहुत बड़ी आयुका निर्णय किया गया है, यदि वह सिर कटनेपर भी जीवित रहे, तो दैव उत्तम कारण हो । हे रामचन्द्रजी, ज्योतिषियोंने जिसके विषयमें यह बड़ा भारी विद्वान् होगा ऐसा निर्णय किया है, वह यदि पढ़ाये ही विद्वान् हो जाय, तब दैवको उत्तम कारण कहना चाहिए ॥ १८, १९ ॥

विश्वामित्रेण मुनिना दैवमुत्सृज्य दूरतः ।
पौरुषेणैव सम्प्राप्तं ब्राह्मण्यं राम नाऽन्यथा ॥ २० ॥
अस्माभिरपरै राम पुरुषैर्मुनितां गतैः ।
पौरुषेणैव सम्प्राप्ता चिरं गगनगामिता ॥ २१ ॥
उत्साद्य देवसंघातं चक्रुस्त्रिभुवनोदरे ।
पौरुषेणैव यत्नेन साम्राज्यं दानवेश्वराः ॥ २२ ॥
आलूनशीर्णमाभोगि जगदाजह्रुरोजसा ।
पौरुषेणैव यत्नेन दानवेभ्यः सुरेश्वराः ॥ २३ ॥
राम पौरुषयुक्त्या च सलिलं धार्य्यतेऽनया ।
चिरं करण्डके चारु न दैवं तत्र कारणम् ॥ २४ ॥
भरणादानसंरम्भविभ्रमश्रमभूमिषु ।
शक्तता दृश्यते राम न दैवस्यौषधेष्विव ॥ २५ ॥

हे राम, देखो, इन महामुनि श्रीविश्वामित्रजीने दैवको दूर फेंककर पौरुषके अवलम्बनसे ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया, अन्य उपायसे नहीं ॥ २० ॥

हम लोगोंने एवं अन्यान्य और लोगोंने, जो कि मुनि बने हैं, चिरकालके प्रयत्नसे ही आकाशगति प्राप्त की है ॥ २१ ॥

जो इन्द्र आदि दैव हैं, वे भी पौरुषसे पराजित हुए थे, यह बात प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'उत्साद्य' इत्यादिसे ।

हिरण्यकशिपु आदि दैत्यराजोंने अपने पुरुषकारके अवलम्बनसे ही देवताओंको तहस-नहस कर तीनों भुवनोंमें साम्राज्य किया था और इन्द्र आदि देवराजोंने पौरुषके अवलम्बनसे ही शत्रुसेनाको काटकर और जर्जरितकर इस विशाल जगत्को दानवोंसे छीना था ॥ २२, २३ ॥

हे रामजी, राल एवं मधुमक्खीका छाता आदिके लेपन आदिरूप प्रसिद्ध पौरुषयुक्तिसे बाँसकी टोकरीमें चिरकाल तक बड़ी खूबीके साथ पानी रक्खा जाता है, इसमें पौरुष ही कारण है, दैव नहीं ॥ २४ ॥

आत्मीय जनोंका भरण-पोषण, जबरदस्ती दूसरेके राष्ट्रको छीन लेना, क्रोधसे दूसरेको दण्ड देना, भोग विलास एवं अन्यान्य रोगादिनिवृत्ति आदिरूप परिश्रमसाध्य पुरुषार्थोंके प्रति पराक्रम, मणि, मन्त्र, और ओषधिमें जैसी शक्ति देखी जाती है वैसी दैवमें शक्ति नहीं है, वे सब पौरुषसे ही सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥

सकलकारणकार्यविवर्जितं निजविकल्पवशादुपकल्पितम् ।
त्वमनपेक्ष्य हि दैवमसन्मयं श्रय शुभाशय पौरुषमुत्तमम् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
दैवनिराकरणं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ प्रतिष्ठामलमागतम् ।
यल्लोके तद्वद ब्रह्मन् दैवं नाम किमुच्यते ॥ १ ॥

हे साधुचरित श्रीरामजी, सम्पूर्ण कारणों और कार्योंसे रहित अपने भ्रमसे बने हुएके सदृश मिथ्यारूप असत्य दैवकी उपेक्षा कर तुम उत्तम पौरुषका अवलम्बन करो ॥ २६ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

[दैवके अपलापकी सिद्धिके लिए सफल कर्मोंकी मनोमात्रता और मनकी चिदात्मताका वर्णन]

पुरुषकारकी स्वतन्त्रताको सिद्ध करनेके लिए पहले कहींपर 'दैव असत् है' ऐसा कहा और कहींपर प्राकृतन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव एवं पुरुषकार कहलाता है, ऐसा कहा पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'दैव असत् है' इस प्रथम पक्षको माननेसे लोक और वेदमें दैवकी जो प्रबल प्रसिद्धि है, उसकी असङ्गति हो जायगी और दुर्बल दैवके अभावमें उसकी अपेक्षा पुरुषकारकी प्रबलताका प्रतिपादन करनेवाली उक्तिके साथ विरोध होगा । प्राक्तन प्रयत्न जनित कर्म ही दैव है, इस द्वितीय पक्षमें तो 'दैव असत् है' इस प्रकारकी दैवमें असत्त्वप्रतिज्ञाका भङ्ग हो जायगा, आधुनिक प्रवृत्तियाँ भी पूर्वकर्मकी फलरूपा हैं, अतः प्राक्तन कर्मोंके अनुकूल होनेके कारण उनका विरोध न होनेसे 'आधुनिक प्रवृत्तियोंसे

श्रीवसिष्ठ उवाच

पौरुषं सर्वकार्याणां कर्तृ राघव नेतरत् ।
फलभोक्तृ च सर्वत्र न दैवं तत्र कारणम् ॥ २ ॥

दैवं न किञ्चित्कुरुते न भुङ्क्ते न च विद्यते ।
न दृश्यते नाऽऽद्रियते केवलं कल्पनेदृशी ॥ ३ ॥

सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना ।
शुभाशुभार्थसंपत्तिर्दैवशब्देन कथ्यते ॥ ४ ॥

पूर्वकर्मोंका जय होता है, यह कथन भी विरुद्ध होगा एवं कर्मपरतन्त्र होनेपर पुरुषकी स्वतन्त्रताका भी विघात होगा, इस प्रकारके गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके तात्पर्यकी जिज्ञासासे वसिष्ठजीसे पूछते हैं—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं, लोकमें अत्यन्त विख्यात जो दैव है, वह क्या है ? यानी वह सत है, या असत् ? उसे आप कृपया मुझसे कहिए ॥ १ ॥

रामचन्द्रजीके पूछनेपर उनके अभिप्रायको जानकर श्रीवसिष्ठजी भी दैवका अपलाप करनेवाली युक्तियोंसे ही जगत्के अपलाप द्वारा अद्वितीय आत्मतत्त्वको समझानेकी इच्छासे 'पूर्वोक्त दोनों पक्षोंमें फलतः कोई भेद नहीं है, इस गूढ अभिप्रायसे प्रथम पक्षका अवलम्बन कर उक्त अर्थको ही कहते हैं—'**पौरुषम्**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राघव, सम्पूर्ण कार्योंको करनेवाला पौरुष ही है, अन्य नहीं है एवं सम्पूर्ण फलोंका उपभोक्ता भी पुरुषकार है, उसमें दैव कारण ही नहीं है। वस्तुतः आत्मा स्वयं उदासीन है, अतः उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी किसी प्रकार भी उपपत्ति नहीं होती, ऐसा बोधन करनेके लिए करणभूत पुरुषकारमें फलकर्तृत्वका कथन किया गया है, यह तात्पर्य है ॥ २ ॥

दैव न कुछ करता है, न भोग करता है, न उसका अस्तित्व है, न दिखाई देता है, एवं न तो विवेकी पुरुषों द्वारा उसका आदर किया जाता है, पर अनादि रूढ़ भ्रान्तिसे केवल मूढ़ोंने उसकी कल्पना कर रक्खी है ॥ ३ ॥

निरालम्बत्वरूप अनुपपत्तिका परिहार करते हैं—'**सिद्धस्य**' इत्यादिसे ।

फलको अवश्य देनेवाले पुरुषकारसे सिद्ध वनिता आदिको पति और

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ यत् प्राक्कर्मोपसंचितम् ।
तद्दैवं दैवमित्युक्तमपमृष्टं कथं त्वया ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

साधु राघव जानासि शृणु वक्ष्यामि तेऽखिलम् ।
दैवं नाऽस्तीति ते येन स्थिरा बुद्धिर्भविष्यति ॥ १२ ॥
या मनोवासना पूर्वं बभूव किल भूरिशः ।
सैवेयं कर्मभावेन नृणां परिणतिं गता ॥ १३ ॥
जन्तुर्यद्वासनो राम तत्कर्त्ता भवति क्षणात् ।
अन्यकर्मान्यभावश्चेत्येतन्नैवोपपद्यते ॥ १४ ॥
ग्रामगो ग्राममाप्नोति पत्तनार्थी च पत्तनम् ।
यो यो यद्वासनस्तत्र स स प्रयतते सदा ॥ १५ ॥

दोनों कल्पोंके अभेदका कथन करनेसे आशयको न जान रहे एवं प्रथम कल्पका उपक्रमकर द्वितीय कल्पसे उपसंहार करनेमें विरोधको जान रहे श्रीरामचन्द्रजी अपने अभिप्रायको प्रकट करते हुए बोले—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, हे सर्वधर्मज्ञ, जो प्राक्तन कर्म हैं वही दैव है, ऐसा आपने बारबार कहा, फिर दैव है ही नहीं, इस प्रकार उसका आप अपलाप कैसे करते हैं यानी उसके अपलाप करनेमें आपका क्या अभिप्राय है ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्र, ठीक है, आप उन दोनों कल्पोंके विरोधको जानते हैं, सुनिए, मैं आपसे सम्पूर्ण वृत्तान्तको कहूँगा, जिससे दैव है ही नहीं, यह आपकी बुद्धि स्थिर हो जायगी ॥ १२ ॥

मनुष्योंके मनमें पहले जो अनेक प्रकारकी वासनाएँ हुई थीं, वे ही कायिक और वाचिक कर्मरूपसे परिणत हुईं, क्योंकि 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' यानी जिसका मनसे चिन्तन करता है उसको वाणीसे बोलता है और उसको कर्मसे करता है ॥ १३ ॥

हे रामजी, प्राणीमें जिस प्रकारकी वासना होती है, वह शीघ्र ही वैसा कर्म करता है । अन्य प्रकारकी वासना हो अन्य कर्म करे यह बात नहीं बन सकती ॥ १४ ॥

गाँवमें जानेकी जिसकी इच्छा होती है वह गाँवमें पहुँचता है और

यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥ १६ ॥
एवं कर्मस्थकर्माणि कर्म प्रौढा स्ववासना।
वासना मनसो नाऽन्या मनो हि पुरुषः स्मृतः ॥ १७ ॥
यद्दैवं तानि कर्माणि कर्म साधो मनो हि तत्।
मनो हि पुरुषस्तस्माद्दैवं नाऽस्तीति निश्चयः ॥ १८ ॥

शहरमें जानेकी जिसकी इच्छा होती वह शहरमें पहुँचता है, जिसकी जिस विषयमें अभिलाषा होती है वह उस विषयमें प्रयत्न करता है ॥ १५ ॥

पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषासे जो कर्म प्रबल प्रयत्नसे किया जाता है, वही इस जन्ममें दैवशब्दसे कहा जाता है अर्थात् पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषासे किये गये कर्मका ही दूसरा नाम दैव है, अतः दैव कर्मसे अतिरिक्त नहीं है ॥ १६ ॥

कर्मकर्त्ताओंके सभी कर्म इसी प्रकार होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है और वासना भी अपने कारणभूत मनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (विकार और नाम केवल वाचारम्भणमात्र हैं, मृत्तिका ही (कारण ही) सत्य है) श्रुतिमें उक्त ऐसा न्याय है। यद्यपि वाचिक और कायिक भी कर्म देखे जाते हैं तथापि विचार करनेपर वे भी केवल मनोवासनारूप ही हैं, ऐसा आगे कहा जायगा, उसीके अनुसार सकल कर्म मनोवासनामात्र हैं, ऐसा कहा गया है। मन पुरुष (परमात्मरूप) ही है, उससे पृथक् नहीं है, क्योंकि 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम्' (मैं मनस्वी होऊँ, इस अभिप्रायसे उसने मनको बनाया) इस श्रुतिसे मन पुरुषका विवर्तरूप ही है, यह सिद्ध है ॥ १७ ॥

हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, जो दैव है, वही कर्म है। दैव कर्मसे पृथक् नहीं है, कर्म मनसे पृथक् नहीं है और मन पुरुषरूप है और पुरुष परमार्थरूपसे निर्विकार चैतन्यमात्ररूप ही है, इससे मन असत् ठहरा, मनके असत् होनेसे कर्म भी असत् ठहरा और असत् कर्मरूप दैव भी असत् हुआ, अतएव दैव नहीं है, यह फलितार्थ है ॥ १८ ॥

एष एव मनोजन्तुर्यद्यत् प्रयतते हितम् ।
कृतं तत्तदवाप्नोति स्वत एव हि दैवतः ॥ १९ ॥
मनश्चित्तं वासना च कर्म दैवं च निश्चयः ।
राम दुर्निश्चयस्यैताः संज्ञाः सद्भिरुदाहृताः ॥ २० ॥
एवंनामा हि पुरुषो दृढभावनया यथा ।
नित्यं प्रयतते राम फलमाप्नोत्यलं तथा ॥ २१ ॥
एवं पुरुषकारेण सर्वमेव रघूद्वह ।
प्राप्यते नेतरेणेह तस्मात् स शुभदोऽस्तु ते ॥ २२ ॥

'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्र मन्वानो मनः' इस श्रुतिसे अध्याससे मन आदि भावसे स्थित आत्माकी ही कर्म और कर्मके फलरूपसे भी स्थिति है, इसलिए वही दैव है, ऐसा यदि कहो, तो वह दैव रहे उससे पुरुषकी स्वतन्त्रताका विनाश नहीं होगा, इस आशयसे कहते हैं— **'एष एव'** इत्यादिसे ।

मन आदि भावको प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हितके लिए जैसा प्रयत्न करता है दैवनामसे प्रसिद्ध अपने कर्मसे वैसा ही फल पाता है ॥ १९ ॥

यदि मन अत्यन्त असत् है, तो उससे व्यवहारकी सिद्धि कैसे होगी ? अत्यन्त असत् बन्ध्यापुत्र आदिसे किसी व्यवहारकी सिद्धि नहीं देखी जाती, ऐसी आशङ्का कर युक्तिसे उसकी अनिर्वचनीयताको दर्शा रहे 'तदेतद्धृदयं मनश्चैतात्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानम्' (वही हृदय, मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान है) इत्यादि श्रुतिके अनुसार मनकी ही दैव आदि संज्ञाएँ हैं ऐसा कहते हैं—**'मन०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय ये सब सत्त्व या असत्त्व, चित्त्व या जडत्व, भेद या अभेद आदिसे तत्त्वतः जिसका निश्चय नहीं हो सकता ऐसे मिथ्याभूत मनकी (मनोरूपताको प्राप्त हुए पुरुषकी) संज्ञाएँ कही गई हैं ॥ २० ॥

यों पुरुषकी स्वतन्त्रता सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं—**'एवंनामा'** से । हे श्रीरामचन्द्र, पूर्वोक्त नामोंवाला (मन, चित्त आदि संज्ञाओंवाला) पुरुष दृढ़ वासनासे जैसा नित्य प्रयत्न करता है वैसा ही उसे पर्याप्त फल मिलता है ॥२१॥

हे रघुकुलतिलक, इस प्रकार पौरुषसे सब कुछ प्राप्त किया जा

श्रीराम उवाच

प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।
मुने तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अत एव हि राम त्वं श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नाऽन्यथा ॥ २४ ॥
द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाऽशुभश्च ते ।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथवा ॥ २५ ॥
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदद्य नीयसे ।
तत्क्रमेण शुभेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ २६ ॥

सकता है उससे अन्यसे कुछ भी नहीं मिलता, इसलिए आपका पुरुषकार शुभ फल देनेवाला हो ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, पूर्वजन्मकी वासनाएँ जैसे मुझे कार्यमें लगाती हैं, वैसे ही मैं रहता हूँ, परवश मै कर ही क्या सकता हूँ । अर्थात् पूर्वजन्मकी वासनाओंके अधीन हुए मुझमें स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ करनेकी शक्ति कहाँ है, वासना मुझसे जैसा नाच-नचा रही है, वैसा नाच मै नाचता हूँ ॥ २३ ॥

इस समय प्राप्त हो रहे फलमें भले ही तुम्हारी स्वतन्त्रता न हो, पर भावी फलके अनुकूल यत्नमें तो स्वतन्त्रता है ही । सद्विद्यासे संयुक्त जन्मसे अनुमित पूर्वजन्मके सत्प्रयत्नकी फलभूत पूर्व वासना केवल अपने विरुद्ध फलोंकी अवरोधिका है; अतएव उससे युक्त जन्ममें भी यदि पुरुषकी सत्प्रवृत्तिमें स्वतन्त्रता न हुई, तो कर्म और ब्रह्मविद्यापरक शास्त्र ही व्यर्थ हो जायँगे । अपने मनमें ऐसा अभिप्राय रखकर श्रीवसिष्ठजीने कहा—'अत एव हि' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामजी, आप प्रस्तुत जन्मकी हेतुभूत वासनाओंकी अनुकूलतासे ही अपने प्रयत्नसे प्राप्त पौरुष द्वारा अक्षय श्रेयको प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं ॥२४॥

उक्त अर्थका ही समर्थन करनेके लिए वासनाओंका भेद दर्शा कर कहते हैं—'द्विविधः' इत्यादिसे ।

पूर्वजन्मकी वासनाएँ, दो प्रकारकी होती हैं, एक शुभ और दूसरी अशुभ । उनमें से आपकी पूर्वजन्मकी वासनाएँ या शुभ हो सकती हैं या अशुभ हो सकती हैं ? ॥२५॥

प्रथम पक्षमें कहते हैं—'वासनौघ०' इत्यादिसे । यदि आपकी पूर्वजन्मकी

अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति संकटे ।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता बलात् ॥ २७ ॥
प्राज्ञश्चेतनमात्रस्त्वं न देहस्त्वं जडात्मकः ।
अन्येन चेतसा तत्ते चेत्यत्वं क्वेव विद्यते ॥ २८ ॥
अन्यस्त्वां चेतयति चेत्तं चेतयति कोऽपरः ।
क इमं चेतयेत्तस्मादनवस्था न वास्तवी ॥ २९ ॥

वासनाएँ शुभ हों, तो पूर्वजन्मकी शुभ वासनाओं द्वारा इस समय भी आप शुभ वासनामें प्राप्त कराये जा रहे हैं, ऐसी अवस्थामें शुभ वासनाओं द्वारा ही क्रमशः अविनश्वर पदको प्राप्त होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २६ ॥

दूसरे पक्षमें कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

यदि आपकी पूर्वजन्मकी वासनाएँ अशुभ हैं और वे आपको संकटकी ओर ले जाती हैं, तो उन प्राक्तन अशुभ वासनाओंपर आपको प्रयत्नपूर्वक हठसे विजय प्राप्त करनी चाहिए। भाव यह कि वासनाओंका उद्बोध स्वतन्त्ररूपसे नहीं होता, किन्तु किसी उद्बोधकके अनुसार ही होता है । यदि असज्जनकी संगति आदिसे कदाचित् एक-आध अशुभ वासना उठे, तो उसका, उसके विरोधी साधु-संगति, सत्-शास्त्रके अभ्यास आदिसे विरोधी शुभ वासनाकी उत्पत्ति कराकर, तिरस्कार कर देना चाहिए ॥ २७ ॥

'यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद' इस श्रुतिसे मनको प्रेरित करनेवाला प्राज्ञनामक आत्मा दूसरा सुना जाता है उसके अधीन ही मनोवासनाएँ होती हैं, ऐसी परिस्थितिमें सद्वासनाओंके उत्पादनमें मेरी स्वतन्त्रता कहाँ है ? ऐसी शङ्का उठनेपर कहते हैं—'प्राज्ञ०' इत्यादिसे ।

जो चेतनमात्र प्राज्ञ श्रुतिमें कहा गया है, वही आप हैं । आप जड़रूप सूक्ष्म, स्थूल देह नहीं हैं जिससे उससे अपनेको पृथक् समझें, इसलिए चेतनरूप आपकी अन्य चेतनसे भास्यता कहाँ है ? भाव यह कि यदि प्राज्ञ आपसे पृथक् हो, तो चेतनका अन्य चेतनसे प्रकाश न होनेके कारण आपको प्रकाशित न करता हुआ वह सर्वज्ञ न होगा, इसलिए आप ही प्राज्ञ हो, इस प्रकार प्राज्ञ और आपमें अभेद सिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

चेतनरूप आपको कोई दूसरा चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा यदि मानो,

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ ३० ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारय ।
स्वं मनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥ ३१ ॥
अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद् बलात् ॥ ३२ ॥
समतासान्त्वनेनाऽऽशु न द्रागिति शनैः शनैः ।
पौरुषेणैव यत्नेन पालयेच्चित्तबालकम् ॥ ३३ ॥

तो उसको भी दूसरा चेतन प्रकाशित करेगा, यों अनवस्था भी होगी, ऐसा कहते हैं—'**अन्य**' इत्यादिसे ।

यदि आपको अन्य कोई प्रकाशित करता है; तो उस प्रकाशित करनेवालेको कौन प्रकाशित करेगा और उस दूसरे प्रकाशित करनेवालेको कौन प्रकाशित करेगा ? उसको भी अन्य करेगा और उसको भी अन्य प्रकाशित करेगा, ऐसा माना जाय, तो अनवस्था होगी । अनवस्था किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं कर सकती । यों सद्वासनाओंका उद्बोध करनेमें आपकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है ॥२९॥

पुरुषकी स्वतन्त्रताके साधनका फल कहते हैं—'**शुभाशुभाभ्याम्**' इत्यादिसे ।

सन्मार्ग और असन्मार्गसे बह रही वासनारूपी नदीको अपने पुरुषकारसे अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें लगाना चाहिए ॥ ३० ॥

हे बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, असत् मार्गोंमें उलझे हुए अपने मनको अपने पुरुषार्थसे बलपूर्वक शुभ मार्गोंमें लगाओ ॥ ३१ ॥

चित्तरूपी नदी दो प्रकारसे बहती है—पापके लिए और पुण्यके लिए । उन दो स्रोतोंमें से एकका निरोध होनेपर दूसरे स्रोतमें चित्तनदी दुगुने प्रवाहसे बहती है, यह बात योगशास्त्रके अनुसार कहते हैं—'**अशुभात्**' इत्यादिसे ।

अशुभ कर्मसे (पापमार्गसे) निवारित मनुष्यका चित्त बालककी नाईं शुभ कर्ममें (पुण्यमार्गमें) जाता है और पुण्यमार्गसे निवारित पापमार्गमें जाता है, इसलिए प्रयत्नके साथ पापमार्गसे चित्तको हटाना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमसे चित्तरूपी बालकको शीघ्र रागादि दोषोंके विश्लेषणसे और स्वाभाविक समतामें स्थापनसे निर्दोष बनाकर धीरे-धीरे आत्मस्वरूपमें

वासनौघस्त्वया पूर्वमभ्यासेन घनीकृतः ।
शुभो वाऽप्यशुभो वाऽपि शुभमद्य घनीकुरु ॥ ३४ ॥
प्रागभ्यासवशाद्याता यदा ते वासनोदयम् ।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥ ३५ ॥
इदानीमपि ते याति घनतां वासनाऽनघ ।
अभ्यासवशतस्तस्माच्छुभाभ्यासमुपाहर ॥ ३६ ॥
पूर्वं चेद्घनतां याता नाऽभ्यासात्तव वासना ।
वर्द्धिष्यते तु नेदानीमपि तात सुखी भव ॥ ३७ ॥

निरोधरूप पौरुषप्रयत्नसे लगावे, शीघ्र हठपूर्वक उसका निरोध न करे, ऐसा करनेसे उद्वेगसे समाधिके टूटनेका भय रहता है। भगवान्‌ने भी श्रीमुखसे कहा है—

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया'

(धारणासे वशमें की गई बुद्धिसे मनको शनैः शनैः (अभ्यासक्रमके अनुसार न कि सहसा) बाह्य विषयोंसे विरत करे ॥ ३३ ॥

आपने पहले अभ्याससे चाहे शुभ वासनाओंको चाहे अशुभ वासनाओंको निविड़ बना रक्खा हो, किन्तु इस समय तो आप शुभ वासनाओंको ही दृढ़ कीजिए। भाव यह कि पूर्वजन्मोंमें यदि आपने अभ्याससे शुभ वासनाओंको ही दृढ़ किया होगा, तो इस समय भी शुभ ही वासनाओंको दृढ़ करनेसे शीघ्र फल प्राप्त होगा। यदि पूर्वजन्ममें अशुभ वासनाओंको निविड़ बना रक्खा होगा, तो विरोधी वासनाओंके विनाशके लिए भी शुभ वासनाओंके दृढीकरणकी आवश्यकता है ॥ ३४ ॥

वासनाओंके अभ्यासकी विफलताकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्ववासनाओंके अभ्यासका फल प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं—**'प्राग०'** इत्यादिसे।

हे शत्रुनाशन, जब आपकी पूर्वजन्मकी वासनाएँ अभ्यासवश घनीभावको (निविड़ताको) प्राप्त हुई हैं, तब आप अभ्यासकी सफलताको जानिए ॥ ३५ ॥

हे पुण्यचरित, पूर्वकी भाँति इस समय भी अभ्यासवश आपकी वासना घनीभावको प्राप्त हो रही है, इसलिए शुभवासनाओंका ही अभ्यास कीजिए ॥३६॥

पूर्वजन्मकी वासनाओंके घनीभावमें भी सन्देह कर रहे, श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—**'पूर्वम्'** इत्यादिसे।

संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
अस्यां तु वासनावृद्धौ शुभाद्दोषो न कश्चन ॥ ३८ ॥
यद्यदभ्यस्यते लोके तन्मयेनैव भूयते ।
इत्याकुमारं प्राज्ञेषु दृष्टं सन्देहवर्जितम् ॥ ३९ ॥
शुभवासनया युक्तस्तदत्र भव भूतये ।
परं पौरुषमाश्रित्य विजित्येन्द्रियपञ्चकम् ॥ ४० ॥

हे प्रिय, यदि पूर्वजन्ममें अभ्याससे आपकी वासना घनीभावको प्राप्त नहीं हुई, तो इस समय भी वह वृद्धिको प्राप्त नहीं होगी, इसलिए आप सुखी होइए। भाव यह कि पूर्वजन्ममें अभ्यासवश वासनाएँ वृद्धिको प्राप्त नहीं हुई, इस जन्ममें भी वे अभ्यासवश दृढ़ नहीं होंगी, ऐसी अवस्थामें आप राजकुमारोचित सुखपूर्वक व्यवहार कीजिए, दुर्वासनाओंकी अभिवृद्धिसे जनित अनर्थकी संभावनासे आपको विषाद नहीं होना चाहिए ॥ ३७ ॥

यदि ऐसा है, तो शुभ वासनाओंकी अभिवृद्धिके लिए मुझे क्यों उपदेश देते हैं ? इसपर कहते हैं—'**संदिग्धायामपि**' इत्यादिसे ।

राजकुमार, 'शुभ और अशुभ वासनाओंकी सफलतामें सन्देह होनेपर भी आप अत्यन्त शुभ वासनाओंका ही संग्रह कीजिए। शुभ कर्मोंके आचरणसे शुभ वासनाकी अभिवृद्धि होनेपर कोई दोष नहीं है, जैसा कि न्याय है—

"शुभाशुभफलारम्भे सन्दिग्धेऽपि शुभं चरेत् ।
यदि न स्यात्तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः ॥"

शुभ और अशुभ कर्मोंकी फलदातृतामें सन्देह होनेपर भी शुभका ही आचरण करना चाहिए। यदि फल नहीं हुआ, तो क्या बिगड़ा, यदि हुआ, तो नास्तिकके मुँहमें कारिख लगी ॥ ३८ ॥

वस्तुतः तो इस विषयमें सन्देहका अवसर ही नहीं है, क्योंकि अन्य स्थलोंमें भी अभ्यासमें अभ्यस्यमानकी (जिसका अभ्यास किया जाता है उसकी) दृढ़ताकी हेतुता देखी जाती है, ऐसा कहते हैं—'**यद्यद०**' इत्यादिसे ।

लोकमें मनुष्य जिस-जिस विषयका अभ्यास करता है, उसीमें निःसन्देह तन्मय हो जाता है, यह बात बालकोंसे लेकर बड़े-बड़े विद्वानोंतकमें देखी गई है ॥३९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए आप परम ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए परम पुरुषकारका

अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥ ४१ ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना ॥ ४२ ॥
यदतिसुभगमार्यसेवितं तच्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या ।
अधिगमय पदं सदा विशोकं तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
कर्मविचारो नाम नवमः सर्गः ॥९॥

अवलम्बन कर और पाँचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर शुभ वासनासे युक्त होइए ॥ ४० ॥

कितने समयतक शुभ वासनाका अभ्यास करना चाहिए ? इसपर कहते हैं—'अव्युत्पन्नमना' इत्यादिसे ।

भद्र जबतक गुरुके उपदेश, शास्त्राभ्यास और युक्ति, अनुभव आदि प्रमाणोंसे तत्पदका निर्णय न हो जाय और जबतक अव्युत्पन्न चित्तवाले आपको तत्पदका ज्ञान न हो जाय, तबतक शुभवासनाओंका आचरण कीजिए ॥ ४१ ॥

तदुपरान्त जब जैसे क्षारमें पकानेसे वस्त्र आदिमें लगे हुए मल आदि शिथिल हो जाते हैं वैसे ही आपके राग आदि दोष नष्ट हो जायँ, परमतत्त्वका परिज्ञान हो जाय और मानसिक व्यथाएँ नष्ट हो जायँ तब आपको निश्चय इस शुभ वासनासमूहका भी परित्याग कर देना चाहिए ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्त अर्थका ही संक्षेपसे उपसंहार कर रहे महर्षि वसिष्ठजी आचरण करनेके योग्य शुभका ही निर्देश करते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

महाभाग, आप श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा सेवित अति सुन्दर उन शुभ वासनाओंका अनुसरण कर, शुभ वासनासे सम्पन्न बुद्धिसे परमार्थ वस्तुका (परब्रह्मका) साक्षात्कार कीजिए और तदन्तर शुभ वासनाओंके अनुसरणका भी त्यागकर परम सत्यमें स्थित होइए ॥ ४३ ॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दशमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतुर्विनेतृत्वं सा विनेयविनेयता ॥ १ ॥
अतः पौरुषमाश्रित्य श्रेयसे नित्यबान्धवम् ।
एकाग्रं कुरु तच्चित्तं शृणु चोक्तमिदं मम ॥ २ ॥

दसवाँ सर्ग

[ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन एवं समस्त जनोंकी मुक्तिके लिए मेरा उपदेश है इसका ज्ञानकी अवतरणिकाके रूपमें वर्णन]

प्राक्तन पौरुषका ही नाम दैव है । उसपर आधुनिक पौरुषसे भले ही विजय प्राप्त हो जाय । नियति तो, जो वैराग्यप्रकरणमें कृतान्तकी पत्नी कही गई है, अजेय है क्योंकि उसे श्रेष्ठ पुरुष भावी पदार्थोंकी अवश्यंभावरूप भवितव्यता और अप्रतिकार्य (अजेय) कहते हैं—'अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि । तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥'—अर्थात् यदि अवश्य होनेवाली घटनाओंका प्रतीकार होता, तो नल, राम, युधिष्ठिर आदि दुःखी न होते । ऐसी परिस्थितिमें पुरुषपर नियतिका नियन्त्रण रहनेके कारण पुरुषकी स्वतन्त्रता कहां रही ? इस शङ्काका निवारण करनेके लिए श्रीवसिष्ठजीने कहा—**'यथास्थितम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्र, ब्रह्मतत्त्व सब जगह सच्चिदानन्दप्रकाशरूपसे सबकी अनुकूलता तथा समतारूपसे स्थित है । उससे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ताको ही, जिसका भविष्यत्कालके सम्बन्धसे भवितव्यता शब्दसे व्यवहार किया जाता है, नियति कहते हैं । और सत्ता सर्वत्र उक्त रूपसे स्थित ब्रह्मतत्त्व है । वही कारण और कार्यमें क्रमशः नियामक और नियम्यरूपसे रहती है । कारण है तो अवश्य कार्य होना चाहिए और कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिए, इस प्रकारका नियम नियति है । वह नियन्ता कारण आदिकी नियन्तृता (कार्यादिनियामकता) है और नियम्य कार्य आदिकी नियम्यता है । पूर्वकालमें नियत सत्ता कारणता है और पश्चात्कालमें नियत सत्ता कार्यता है । वे दोनों देश-कालसे विशेषित सत्तारूप ही हैं, यह भाव है ॥ १ ॥

नियति सर्वानुकूल ब्रह्मसत्तारूप है, अतः पौरुषकी सफलताके लिए भी नियति

अवान्तरनिपातीनि स्वारूढानि मनोरथम् ।
पौरुषेणेन्द्रियाण्याशु संयम्य समतां नय ॥ ३ ॥
इहाऽमुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थफलप्रदाम् ।
मोक्षोपायमयीं वक्ष्ये संहितां सारनिर्मिताम् ॥ ४ ॥
अपुनर्ग्रहणायाऽन्तस्त्यक्त्वा संसारवासनाम् ।
सम्पूर्णौ शमसन्तोषावादायोदारया धिया ॥ ५ ॥
सपूर्वापरवाक्यार्थविचारविषयाहतम् ।
मनः समरसं कृत्वा सानुसन्धानमात्मनि ॥ ६ ॥

अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं है, इस अभिप्रायसे कथित चित्तको एकाग्र करनेके उपायके बोधक वचनको कहते हैं—'अतः पौरुषम्' इत्यादिसे ।

इसलिए पौरुषका अवलम्बन कर श्रेयके लिए नित्य बन्धुरूप चित्तको एकाग्र करो, मेरे इस कथनको सुनो ॥ २ ॥

इन्द्रियोंको सदा विषयाभिलाष बना रहता है और वे मुक्तिसे न्यून ऐहिक और स्वर्ग आदि सुखमें आसक्त रहती हैं, अतः जैसे वे विषयाभिलाष न करें वैसे प्रयत्नसे इन्द्रियोंको शीघ्र अपने वशमें कर मनको सम कीजिए ॥ ३ ॥

तदुपरान्त जो कर्तव्य है, उसका उपदेश देते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

इस लोककी सिद्धि (जीवन्मुक्ति) तथा परलोककी सिद्धिके (विदेहमुक्तिके) लिए या मनुष्यलोक और स्वर्ग आदि लोकोंमें अधिकारियोंकी ज्ञानसिद्धिके लिए मैं पुरुषार्थरूप फल देनेवाली, मोक्षके उपायोंके उपदेशसे परिपूर्ण तथा सार-भूत जिस संहिताको कहूँगा, उसे सावधान होकर सुनिए । श्रीरामजी, * अपुनर्ग्रहणके लिए (सर्वदाके लिए) संसारवासनाको हृदयसे विदा कर तथा उदार बुद्धिसे परिपूर्ण शान्तिसुख और सन्तोषसुखका ग्रहण कर पूर्ववाक्य (कर्मकाण्ड श्रुतियों) और उत्तरवाक्योंके (उपासनापरक श्रुतियोंके) अर्थके विचारसे सम्पन्न और विषयों द्वारा अविद्ध (वेधको प्राप्त न हुए) मनको आत्मानुसन्धानसे युक्त और समरस (गुरु और शास्त्र द्वारा उपदिष्ट प्रकारकी और अपने अनुभवकी एकरसताके

* उक्त संहिताके सुननेमें मन्दविरक्तका भी अधिकार नहीं है, यह सूचित करनेके लिए 'अपुनर्ग्रहणाय' ऐसा कहा है ।

सुखदुःखक्षयकरं महानन्दैककारणम् ।
मोक्षोपायमिमं राम वक्ष्यमाणं मया शृणु ॥ ७ ॥
इमां मोक्षकथां श्रुत्वा सह सर्वैर्विवेकिभिः ।
परं यास्यसि निर्दुःखं नाशो यत्र न विद्यते ॥ ८ ॥
इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

केनोक्तं कारणेनेदं ब्रह्मन्पूर्वं स्वयम्भुवा ।
कथं च भवता प्राप्तमेतत्कथय मे प्रभो ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्त्यनन्तविलासात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
चिदाकाशोऽविनाशात्मा प्रदीपः सर्वजन्तुषु ॥ ११ ॥

आपादनसे युक्त) करके सुख और दुःखका नाश करनेवाले महान् आनन्दके एकमात्र कारणभूत इस मोक्षके उपायको, जिसे मैं अभी कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिए ॥ ४—७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विवेकशील * पुरुषोंके साथ इस मोक्षकथाको सुनकर उस दुःखरहित परमपदको जायँगे, जहाँपर विनाशका भय नहीं है ॥ ८ ॥

इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग श्रवणकी भूमिका रचकर श्रवणीय शास्त्रकी (मोक्ष-कथाकी) सिद्धिके लिए मोक्षकथाकी प्राप्तिका प्रकार कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, सृष्टिके आदिमें भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली और बुद्धिको अत्यन्त शान्ति देनेवाली यह मोक्षकथा कही थी ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सृष्टिके आरम्भमें भगवान् ब्रह्माजीने किस लिए यह मोक्षकथा कही थी और यह कैसे आपको प्राप्त हुई, यह कृपाकर मुझसे कहिए ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, घट-घट व्यापी, सबका आधार, अखण्ड

---

* श्रवणशालामें अविवेकी प्रविष्ट भी न हो सके, यह सूचित करनेके लिए विवेकशील कहा ।

स्पन्दास्पन्दसमाकारात् ततो विष्णुरजायत ।
स्यन्दमानरसापूरात् तरङ्गः सागरादिव ॥ १२ ॥

सुमेरुकर्णिकात्तस्य दिग्दलाद्धृदयाम्बुजात् ।
तारकाकेसरवतः परमेष्ठी व्यजायत ॥ १३ ॥

वेदवेदार्थविद्देवमुनिमण्डलमण्डितः ।
सोऽसृजत्सकलं सर्गं विकल्पौघं यथा मनः ॥ १४ ॥

जम्बुद्वीपस्य कोणेऽस्मिन् वर्षे भारतनामनि ।
ससर्ज जनसर्गौघं ह्याधिव्याधिपरिप्लुतम् ॥ १५ ॥

भावाभावविपण्णाङ्गमुत्पातध्वंसतत्परम् ।
सर्गेऽस्मिन्भूतजातीनां नानाव्यसनसङ्कुलम् ॥ १६ ॥

जनस्यैतस्य दुःखं तद् दृष्ट्वा सकललोककृत् ।
जगाम करुणामीशः पुत्रदुःखात् पिता यथा ॥ १७ ॥

चेतन, अविनाशी, सब प्राणियोंमें प्रकाशकरूपसे स्थित एवं असीम मायिक विलासोंका एकमात्र अधिष्ठान परमात्मा है ॥ ११ ॥

माया और मायाके कार्योंके आविर्भाव और तिरोभावमें सदा एकाकार (निर्विकार) उस परमात्मासे विष्णु (सम्पूर्ण कार्योंमें व्याप्त रहनेवाले ब्रह्माण्डरूप विराट्) सूक्ष्मभूतोंके क्रमसे उत्पन्न हुए जैसे कि स्यन्दमान जलसे परिपूर्ण निश्चलावस्था और चञ्चलावस्थामें अप्रच्युत जल-स्वभाव सागरसे तरङ्गें उत्पन्न होती हैं ॥ १२ ॥

उस विराट् पुरुषके हृदयरूपी कमलसे परमेष्ठीकी (चतुर्मुख ब्रह्माकी) उत्पत्ति हुई । सुवर्णाचल सुमेरु उस कमलकी कर्णिका है, दिशाएँ दल हैं और तारा केसर हैं । हे श्रीरघुकुलतिलक, जैसे कि मन विविध विकल्पोंकी सृष्टि करता है वैसे ही वेद और वेदार्थके महान् परिज्ञाता ब्रह्माजीने देवताओं और मुनियोंकी मण्डलीके साथ सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि आरम्भ की। उन्होंने इस जम्बूद्वीपके एक भाग इस भारतवर्षमें लाभ और हानिसे दुःखी, जन्म-मरण-शील एवं मानसिक और कायिक व्याधियोंसे पीड़ित विविध प्राणियोंकी सृष्टि की । प्राणियोंकी इस सृष्टिमें विविध विषयभोगरूपी व्यसनोंसे पूर्ण लोगोंका क्लेश देखकर सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्माको, जैसे पुत्रको दुःखी देखकर पिताको दया आती है

क एतेषां हताशानां दुःखस्याऽन्तो हतायुषाम् ।
स्यादिति क्षणमेकाग्रं चिन्तयामास भूतये ॥ १८ ॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् ससर्ज स्वयमीश्वरः ।
तपो धर्मं च दानं च सत्यं तीर्थानि चैव हि ॥ १९ ॥

एतत्सृष्ट्वा पुनर्देवश्चिन्तयामास भूतकृत् ।
पुंसां नाऽनेन सर्गस्य दुःखस्याऽन्त इति स्वयम् ॥ २० ॥

निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥ २१ ॥

संसारोत्तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥ २२ ॥

तत्तावद् दुःखमोक्षार्थं जनस्याऽस्य हतात्मनः ।
प्रत्यग्रं तरणोपायमाशु प्रकटयाम्यहम् ॥ २३ ॥

वैसे ही, बड़ी दया आई । उन्होंने प्राणियोंके कल्याणके लिए क्षणभर एकाग्र-चित्त होकर विचार किया कि इन अल्पायु बेचारे जीवोंके दुःखका अन्त किस उपायसे होगा ? ऐसा विचार कर भगवान् ब्रह्माजीने स्वयं तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थोंकी सृष्टि की ॥ १३–१९ ॥

हे रघुवर, तप आदि की सृष्टि कर श्रीब्रह्माजीने पुनः स्वयं विचार किया कि सृष्टिप्रवाहमें पड़े हुए लोगोंके दुःखका तप आदिसे समूल विनाश नहीं हो सकता । निर्वाण (मोक्ष) परम सुख है, जिसके प्राप्त होनेपर जीव न तो फिर जन्म लेता है और न मरता है । वह निर्वाण ज्ञानसे ही प्राप्त होता है । अतः जीवके संसारसागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है । तप, दान और तीर्थ संसार-तरणके लिए 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' (न कर्मसे, न पुत्रोत्पादनसे और न धनो-पार्जनसे ही मुक्ति हो सकती है) और 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (ये यज्ञ आदि कच्चे प्लव (छोटी डोंगी) हैं, इनसे संसारमुक्ति नहीं हो सकती) इत्यादि श्रुतियोंमें असाधन कहे गये हैं ॥ २०–२२ ॥

इसलिए मैं इन दीन-हीन लोगोंके दुःखके समूल विनाशके लिए नूतन (मजबूत) संसारसागरतरणका उपाय शीघ्र प्रकट करता हूँ । यों विचार कर

इति संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मा कमलसंस्थितः ।
मनसा परिसंकल्प्य मामुत्पादितवानिमम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्युत्पन्न एवाऽऽशु ततोऽहं समुपस्थितः ।
पितुस्तस्य पुनः शीघ्रमूर्मिरूर्मेरिवाऽनघ ॥ २५ ॥
कमण्डलुधरो नाथः सकमण्डलुना मया ।
साक्षमालः साक्षमालं स प्रणम्याऽभिवादितः ॥ २६ ॥
एहि पुत्रेति मामुक्त्वा स स्वाब्जस्योत्तरे दले ।
शुक्लाभ्र इव शीतांशुं योजयामास पाणिना ॥ २७ ॥
मृगकृत्तिपरीधानो मृगकृत्तिनिजाम्बरम् ।
मामुवाच पिता ब्रह्मा सुहंसः सारसं यथा ॥ २८ ॥
मुहूर्त्तमात्रं ते पुत्र चेतो वानरचञ्चलम् ।
अज्ञानमभ्याविशतु शशः शशधरं यथा ॥ २९ ॥
इति तेनाऽऽशु शप्तः सन् विचारसमनन्तरम् ।
अहं विस्मृतवान् सर्वं स्वरूपममलं किल ॥ ३० ॥

कमलपर बैठे हुए भगवान् ब्रह्माजीने मनसे संकल्प कर मुझे, जो तुम्हारे सामने बैठा हूँ, पैदा किया। पुण्यमय श्रीरामजी, जैसे एक तरङ्गसे शीघ्र दूसरी तरङ्ग होती है वैसे ही मैं भी अनिर्वचनीय मायावश ही उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही तुरन्त पिताजीके समीपमें उपस्थित हुआ। जिनके हाथमें कमण्डलु एवं रुद्राक्ष-माला शोभा पा रही थी, उन भगवान् ब्रह्माजीको कमण्डलु और रुद्राक्षमालासे युक्त मैंने विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया। मुझसे 'हे पुत्र, यहाँ आओ' कहकर उन्होंने अपने आसनरूप कमलकी ऊपरी पँखुड़ीमें सफेद बादलपर चन्द्रमाके समान मुझे अपने हाथसे बैठाया। मेरे पितृदेव ब्रह्माजीने मृगचर्म पहन रक्खा था, उन्हींके अनुरूप मैं भी मृगचर्मधारी था। जैसे सुन्दर हंस सारससे कहे वैसे मृग-चर्मधारी पितृदेव ब्रह्माने मृगचर्मधारी मुझसे कहा—हे पुत्र, जैसे चन्द्रमामें कलङ्क प्रविष्ट होता है वैसे ही वानरके समान चञ्चल अज्ञान एक मुहूर्तके लिए तुम्हारे चित्तमें प्रवेश करे ॥ २३—२९ ॥

वत्स रामचन्द्रजी, यों शीघ्र ब्रह्माजीसे अभिशप्त हुआ मैं उनके सङ्कल्पके अनन्तर ही अपना सारा निर्मल स्वरूप भूल गया। तदुपरान्त मैं जैसे किसी

अथाऽहं दीनतां यातः स्थितोऽसम्बुद्धया धिया।
दुःखशोकाभिसन्तप्तो जातो जन इवाऽधनः ॥ ३१ ॥
कष्टं संसारनामाऽयं दोषः कथमिहाऽऽगतः।
इति चिन्तितवानन्तस्तूष्णीमेव व्यवस्थितः ॥ ३२ ॥
अथाऽभ्यधात् स मां तातः पुत्र किं दुःखवानसि।
दुःखोपघातं मां पृच्छ सुखी नित्यं भविष्यसि ॥ ३३ ॥
ततः पृष्टः स भगवान् मया सकललोककृत्।
हेमपद्मदलस्थेन संसारव्याधिभेषजम् ॥ ३४ ॥
कथं नाथ महादुःखमयः संसार आगतः।
कथं च क्षीयते जन्तोरिति पृष्टेन तेन मे ॥ ३५ ॥
तज्ज्ञानं सुबहु प्रोक्तं यज्ज्ञात्वा पावनं परम्।
अहं पितुरभिप्रायः किलाऽधिक इव स्थितः ॥ ३६ ॥
ततो विदितवेद्यं मां निजां प्रकृतिमास्थितम्।
स उवाच जगत्कर्ता वक्ता सकलकारणम् ॥ ३७ ॥

धनीका धन हर लेनेसे वह दीन-हीन हो जाता है वैसे ही दीन-हीन हो गया, तत्त्वविज्ञानसे रहित और दुःख-शोकसे आक्रान्त मैं दिनपर-दिन जीर्णशीर्ण होने लगा। बड़े दुःखकी बात है कि यह महाक्लेशदायक संसार नामक दोष कहाँसे मुझको प्राप्त हो गया ऐसा विचार करता था और किसी प्रकारकी चेष्टा नही करता था ॥ ३०—३२ ॥

तदुपरान्त पूज्य ब्रह्माजीने मुझसे कहा—पुत्र, तुम क्यों दुःखी हो ? इस दुःखके नाशक उपायको मुझसे पूछो ? तदुपरान्त तुम अवश्य नित्यसुखी होओगे। तत्पश्चात् स्वर्णकमलकी पँखुरीमें बैठे हुए मैंने सम्पूर्ण लोकोंके रचयिता श्रीब्रह्माजीसे संसारदुःखकी ओषधि पूछी। मैंने पूछा—भगवन्, यह महादुःखमय संसार जीवको कैसे प्राप्त हुआ और कैसे इसका विनाश होता है, यों मेरे द्वारा पूछे गये उन्होंने मुझको उस प्रचुर ज्ञानका उपदेश दिया, जिस परम पवित्र ज्ञानको जानकर मै पिताके सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञानके समान परिपूर्णस्वभाव हो गया ॥ ३३—३६ ॥

तदुपरान्त जब कि मैंने ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया था, अतएव मैं अपनी प्रकृतिमें स्थित हो गया था, तब जगत्के निर्माता, सबके कारण और उपदेशक

शापेनाऽज्ञपदं नीत्वा पृच्छकस्त्वं मया कृतः ।
पुत्राऽस्य ज्ञानसारस्य समस्तजनसिद्धये ॥ ३८ ॥

इदानीं शान्तशापस्त्वं परं बोधमुपागतः ।
संस्थितोऽहमिवैकात्माऽकनकं कनकादिव ॥ ३९ ॥

गच्छेदानीं महीपृष्ठे जम्बुद्वीपान्तरस्थितम् ।
साधो भरतवर्षं त्वं लोकानुग्रहहेतुना ॥ ४० ॥

तत्र क्रियाकाण्डपरास्त्वया पुत्र महाधिया ।
उपदेश्याः क्रियाकाण्डक्रमेण क्रमशालिना ॥ ४१ ॥

विरक्तचित्ताश्च तथा महाप्राज्ञा विचारिणः ।
उपदेश्यास्त्वया साधो ज्ञानेनाऽऽनन्ददायिना ॥ ४२ ॥

इति तेन नियुक्तोऽहं पित्रा कमलयोनिना ।
इह राघव तिष्ठामि यावद्भूतपरम्परा ॥ ४३ ॥

ब्रह्माजीने मुझसे कहा—पुत्र, मैंने शाप द्वारा तुम्हें अज्ञानी बनाकर समस्त अधिकारी लोगोंकी ज्ञान सिद्धिके लिए इस सारभूत ज्ञानका जिज्ञासु बनाया। वत्स, अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है, जैसे चिरकालतक मलके संसर्गसे मानो सुवर्णाभावताको प्राप्त हुआ सुवर्ण पुनः शोधनसे पूर्वकालिक शुद्ध सुवर्ण-रूपताको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा औपाधिक अज्ञान नष्ट हो गया है, अब उत्कृष्ट ज्ञानको प्राप्त हुए तुम मेरी नाईं अद्वितीय आत्मरूप हो गये हो॥३७–३९॥

हे सज्जनशिरोमणे, इस समय तुम लोकानुग्रहके लिए भूलोकमें जम्बूद्वीपके मध्यमें स्थित भारतवर्षमें जाओ। वत्स, वहाँपर महामति तुम कर्मकाण्डपरायण लोगोंको क्रमसे शोभित होनेवाले कर्मकाण्डक्रमसे ही उपदेश देना, क्योंकि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (कर्म परायण अज्ञानियोंकी बुद्धिमें सन्देह उत्पन्न नहीं करना चाहिए) ऐसा न्याय है, और जो लोग विचारशील, विरक्त और अतीन्द्रिय तत्त्वके ग्रहणमें समर्थ हों, उन्हें आनन्ददायक ज्ञानमार्गका उपदेश देना ॥ ४२ ॥

रघुवंशमणे, इस प्रकार पिता ब्रह्माजी द्वारा आज्ञप्त मैं इस लोकमें रहता हूँ और जबतक इस लोकमें अधिकारी पुरुष रहेंगे, तबतक रहूँगा ॥ ४३ ॥

कर्तव्यमस्ति न ममेह हि किञ्चिदेव स्थातव्यमित्यतिमना भुवि संस्थितोऽस्मि ।
संशान्तया सततसुप्तधियेह वृत्त्या कार्यं करोमि न च किञ्चिदहं करोमि ॥४४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
ज्ञानावतरणं नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं सर्वं ज्ञानावतरणं भुवि ।
मया स्वमीहितं चैव कमलोद्भवचेष्टितम् ॥ १ ॥
तदिदं परमं ज्ञानं श्रोतुमद्य तवाऽनघ ।
भृशमुत्कण्ठितं चेतो महतः सुकृतोदयात् ॥ २ ॥

इस लोकमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर रहना चाहिए, यों विचार कर मैं अमनस्क होकर यहाँ स्थित हूँ, अतएव अभिमानशून्य वृत्तिसे रहता हुआ मैं अज्ञानियोंकी बुद्धिसे कार्य करता हूँ, अपनी बुद्धिसे तो कुछ भी नहीं करता, यह भाव है ॥ ४४ ॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

[ज्ञानप्राप्तिका विस्तार, श्रीरामचन्द्रजीके वैराग्यकी स्तुति और वक्ता तथा प्रश्नकर्ताके लक्षण आदिका प्रधानतः वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे पुण्यचरित, ज्ञानका पृथिवीपर अवतरण, अपने जन्म, ज्ञानावरोध, पुनः ज्ञानप्राप्ति आदि और श्रीब्रह्माजीका कार्य यह सब मैं आपसे कह चुका हूं । अब आपका चित्त महान् पुण्यके उदयसे उस ज्ञानके सुननेके लिए अति उत्कण्ठित हो रहा होगा ॥ १—२ ॥

श्रीराम उवाच

कथं ब्रह्मन् भगवतो लोके ज्ञानावतारणे ।
सर्गादनन्तरं बुद्धिः प्रवृत्ता परमेष्ठिनः ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमे ब्रह्मणि ब्रह्मा स्वभाववशतः स्वयम् ।
जातः स्पन्दमयो नित्यमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥ ४ ॥
दृष्ट्वैवमातुरं सर्गं सर्गस्य सकलां गतिम् ।
भूतभव्यभविष्यस्थां ददर्श परमेश्वरः ॥ ५ ॥
स क्रियाक्रमकालस्य कृतादेः क्षय आगते ।
मोहमालोच्य लोकानां कारुण्यमगमत् प्रभुः ॥ ६ ॥
ततो मामीश्वरः सृष्ट्वा ज्ञानेनाऽऽयोज्य चाऽसकृत् ।
विससर्ज महीपीठं लोकस्याऽज्ञानशान्तये ॥ ७ ॥

उक्त पुण्यपरिपाककी किन लक्षणोंसे पहचान करनी चाहिए एवं उस लक्ष्यभूत पदार्थके उपदेशकी प्रणालियाँ कैसी हैं ? इस बातको प्राचीन कथाके विस्तारके श्रवण द्वारा जाननेके इच्छुक श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'कथम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् , सृष्टि करनेके अनन्तर भगवान् ब्रह्माजीकी बुद्धि इस लोकमें ज्ञानके अवतारणके लिए किस प्रकार हुई ? कृपया उस प्रकारको विस्तारसे कहिए ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजकुमार, जैसे सागरमें तरङ्ग बार बार उत्पन्न होती है वैसे ही प्रचुर क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ब्रह्मा अपने पूर्वजन्मकी विद्या, कर्म और वासनाओंके प्रकर्षसे परम ब्रह्ममें उत्पन्न हुए । उन्होंने विविध प्राणियोंकी सृष्टि करनेके अनन्तर सृष्ट लोगोंको इस प्रकार जन्म, मरण, नरक आदिसे, अपने अज्ञानके कारण, दुःखी देखकर वर्तमान सृष्टिके दृष्टान्तसे अतीत, वर्तमान और भविष्यकालकी सृष्टिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंका अनुमान कर लिया ॥ ४—५ ॥

विशेषरूपसे स्वर्ग और मोक्षके साधनोंके अनुष्ठानके योग्य सत्ययुग आदि समयके क्षीण होनेपर लोगोंमें सिक्का जमानेवाले अज्ञानका प्राबल्य देखकर भगवान् ब्रह्माजीको बड़ी दया आई ॥ ६ ॥

तदुपरान्त भगवान् ब्रह्माजीने मेरी सृष्टि कर और बार बार उपदेश द्वारा मुझे

यथाऽहं प्रहितस्तेन तथाऽन्ये च महर्षयः ।
सनत्कुमारप्रमुखा नारदाद्याश्च भूरिशः ॥ ८ ॥

क्रियाक्रमेण पुण्येन तथा ज्ञानक्रमेण च ।
मनोमोहामयोन्नद्धमुद्धर्तुं लोकमीरिताः ॥ ९ ॥

महर्षिभिस्ततस्तैस्तैः क्षीणे कृतयुगे पुरा ।
क्रमात् क्रियाक्रमे शुद्धे पृथिव्यां तनुतां गते ॥ १० ॥

क्रियाक्रमविधानार्थं मर्यादानियमाय च ।
पृथग्देशविभागेन भूपालाः परिकल्पिताः ॥ ११ ॥

बहूनि स्मृतिशास्त्राणि यज्ञशास्त्राणि चाऽवनौ ।
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं कल्पितान्युचितान्यथ ॥ १२ ॥

कालचक्रे वहत्यस्मिंस्ततो विगलिते क्रमे ।
प्रत्यहं भोजनपरे जने शाल्यर्जनोन्मुखे ॥ १३ ॥

द्वन्द्वानि संप्रवृत्तानि विषयार्थं महीभुजाम् ।
दण्ड्यतां संप्रयातानि भूतानि भुवि भूरिशः ॥ १४ ॥

ज्ञानसम्पन्न बनाकर लोगोंके अज्ञानकी शान्तिके लिए मुझे पृथिवीमें भेजा ॥ ७ ॥

भगवान् ब्रह्माने इस लोकमें जैसे मुझे भेजा वैसे ही सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, नारद आदि अनेक अन्याय महर्षियोंको अधिकारके अनुसार पुण्य कर्मकाण्डके उपदेश और ज्ञानकाण्डके उपदेश द्वारा मन और अज्ञान रूपी महाव्याधिके वशीभूत लोगोंका उद्धार करनेके लिए भेजा ॥ ८–९ ॥

प्राचीन कालमें सत्ययुगके बीतनेपर कालक्रमसे पृथ्वीपर वैदिक या राग, लोभ आदिसे अनुपहत कर्मकाण्डका ह्रास होनेपर कर्मकाण्डके सञ्चालन और मर्यादाके रक्षणके लिए पृथक् पृथक् देशोंका विभाग कर राजाओंकी कल्पना की गई। पृथिवीमें राजाओंकी कल्पना होनेपर राजाओं और प्रजाओंके धर्मका नियन्त्रण करनेमें समर्थ स्मृतिशास्त्र और यज्ञकी विधिके प्रतिपादक श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र तथा श्रौत-गृह्य-प्रयोगोंका धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिए निर्माण किया गया ॥१०–१२॥

इस कालचक्रके परिवर्तित होनेपर फिर कर्मकाण्डक्रम नष्टभ्रष्ट हो गया, प्रतिदिन लोग भोजनमात्रपरायण और विषयोंके अर्जनमें तत्पर हो गये। ऐसी

ततो युद्धं विना भूपा महीं पालयितुं क्षमाः ।
न समर्थास्तदा याताः प्रजाभिः सह दैन्यताम् ॥ १५ ॥
तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च ।
ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः ॥ १६ ॥
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता ।
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता ॥ १७ ॥
राजविद्या राजगुह्यमध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
ज्ञात्वा राघव राजानः परां निर्दुःखतां गताः ॥ १८ ॥
अथ राजस्वतीतेषु बहुष्वमलकीर्त्तिषु ।
अस्माद् दशरथाद् राम जातोऽद्य त्वमिहाऽवनौ ॥ १९ ॥

अवस्थामें राजाओंके देश या भोग्यपदार्थोंके लिए परस्पर युद्ध होने लगे, इस प्रकार पृथ्वीमें अनेक प्राणियोंको दण्ड भोगना पड़ा * ॥ १३–१४ ॥

पहले युद्धके बिना ही पृथ्वीके पालनमें समर्थ होते हुए भी तदनन्तर राजा युद्धके बिना पृथिवीपर शासन करनेके लिए समर्थ नहीं हुए, इसका फल यह हुआ कि प्रजाओंके साथ राजा दीनताको प्राप्त हो गये। भाव यह कि देहमें आत्मत्वबुद्धिसे युद्ध आदिमें देहका नाश होनेपर आत्माका नाश हो जायगा, इस भीतिसे वे दीनताको प्राप्त हो गये ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन लोगोंकी दीनताको दूर करनेके लिए और आत्मज्ञानके प्रचारके लिए हम लोगोंने ज्ञानवर्द्धक बड़े-बड़े दर्शनोंका उपदेश किया ॥१६॥

इस अध्यात्म विद्याका पहले राजाओंमें उपदेश हुआ तदनन्तर इसका और लोगोंमें प्रसार हुआ, इस कारण श्रीवेदव्यास आदिने इसको राजविद्या कहा है ॥१७॥

हे राघव, राजा लोग राजविद्या, राजगुह्य आदि नामोंसे प्रसिद्ध उत्तम अध्यात्मज्ञानको जानकर अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुए, तदनन्तर उनमें किञ्चित् भी दुःख नहीं रहा ॥ १८ ॥

कालक्रमसे निर्मलकीर्तिवाले अनेक राजाओंके कीर्तिशेष होनेपर इन महाराज श्रीदशरथजीसे आप श्रीरामचन्द्र इस पृथिवीमें उत्पन्न हुए हैं ॥ १९ ॥

* अथवा मूलस्थित 'द्वन्द्व' शब्दका अर्थ शीतोष्ण आदि द्वन्द्व करना चाहिए। उनके परिहारमें उपायभूत विषयोंके सम्पादनके लिए प्राणी राजाओंके दण्डनीय हुए, कारण कि विषयोंकी सिद्धि धनमूलक है और धनके लिए राजाओंने प्रजापर कर लगाया।

तव चाऽतिप्रसन्नोऽस्मिन् जातं मनसि पावनम्।
निर्निमित्तमिदं चारु वैराग्यमरिमर्दन ॥ २० ॥
सर्वस्यैव हि सर्वस्य साधोरपि विवेकिनः।
निमित्तपूर्वं वैराग्यं जायते राम राजसम् ॥ २१ ॥
इदं त्वपूर्वमुत्पन्नं चमत्कारकरं सताम् ।
तवाऽनिमित्तं वैराग्यं सात्त्विकं स्वविवेकजम् ॥ २२ ॥
बीभत्सं विषयं दृष्ट्वा को नाम न विरज्यते।
सतामुत्तमवैराग्यं विवेकादेव जायते ॥ २३ ॥
ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम् ॥ २४ ॥
स्वविवेकचमत्कारपरामर्शविरक्तया ।
राजते हि धिया जन्तुर्युवेव वरमालया ॥ २५ ॥

परन्तप, आपके अतिनिर्मल मनमें 'श्मशानमापदं दैन्यम्' इत्यादिसे आगे कहे जानेवाले दृष्ट निमित्तोंके बिना ही पवित्रतम ज्ञानोत्पादन समर्थ यह उत्तम वैराग्य उत्पन्न हुआ है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्र, सम्पूर्ण विवेकी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ रूपसे विख्यात साधुका सब विषयोंमें दृष्टनिमित्तपूर्वक ही राजस * वैराग्य होता है ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, सत्पुरुषोंको भी आश्चर्यमें डालनेवाला अपने विवेकसे उत्पन्न आपका यह सात्त्विक † वैराग्य किसी निमित्तके बिना ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा पहले कभी नहीं देखा गया है ॥ २२ ॥

बीभत्स (घृणाजनक) विषयोंको देखकर किसको वैराग्य नहीं होता, किन्तु सत्पुरुषोंका उत्तम वैराग्य विवेकसे ही होता है ॥ २३ ॥

वे महापुरुष हैं, वे महाविद्वान् हैं और उन्हींका चित्त गङ्गाजलके समान निर्मल है, जिन्हें निमित्तके बिना ही वैराग्य होता है ॥ २४ ॥

हे परन्तप, केवल अपने विवेकसे उत्पन्न तत्त्वपदार्थके प्रति अभिमुखतासे अन्य विषयोंसे विरक्त बुद्धिसे युक्त पुरुष वैसा शोभित होता है जैसे कि वरमालासे युवा पुरुष शोभित होता है ॥ २५ ॥

* रजोगुणके कार्य दृष्ट दुःखके अनुभवसे होता है अतएव राजस कहलाता है।

† केवल विवेकमात्रसे उत्पन्न हुआ है अतएव सात्त्विक है।

परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम् ।
वैराग्यं येऽधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥ २६ ॥
स्वविवेकवशादेव विचार्येदं पुनः पुनः ।
इन्द्रजालं परित्याज्यं सबाह्याभ्यन्तरं बलात् ॥ २७ ॥
श्मशानमापदं दैन्यं दृष्ट्वा को न विरज्यते ।
तद्वैराग्यं परं श्रेयः स्वतो यदभिजायते ॥ २८ ॥
अकृत्रिमविरागत्वं महत्त्वमलमागतः ।
योग्योऽसि ज्ञानसारस्य बीजस्येव मृदु स्थलम् ॥ २९ ॥
प्रसादात् परमेशस्य नाथस्य परमात्मनः ।
त्वादृशस्य शुभा बुद्धिर्विवेकमनुधावति ॥ ३० ॥

विवेकसे इस संसार रचनाकी दुःखरूपताका विचार कर जो लोग वैराग्यको प्राप्त होते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं ॥ २६ ॥

अपने विलक्षण विवेकसे ही इस इन्द्रजालतुल्य प्रपञ्चका पुनः पुनः विचार कर हठपूर्वक इस मायिक बाह्य जगत्के साथ देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्याका परित्याग करना चाहिए ॥ २७ ॥

श्मशानभूमि, आपत्तियों और दीनताको देखकर किसे वैराग्य न होगा ? वही वैराग्य परम श्रेयका साधन है, जो स्वतः उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥

जैसे खूब जोता गया अतएव कोमल हुआ खेत बीजवपनके योग्य होता है वैसे ही स्वाभाविक वैराग्यरूपी अत्यन्त महत्त्वको प्राप्त हुए आप आत्मज्ञानके उपदेशके योग्य पात्र हैं ॥ २९ ॥

'तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च' (तपके प्रतापसे और देवताकी प्रसन्नतासे) 'यस्य देवे परा भक्तिः' (जिसकी देवतापर परम भक्ति होती है) और ईश्वरानुग्रहादेव पुसामद्वैतवासना । प्रसादादेव रुद्रस्य भवानीसहितस्य तु ॥ अध्यात्मविषयं ज्ञानं जायते बहुजन्मभिः ।' (ईश्वरकी अनुकम्पासे लोगोंकी अद्वैतवासना होती है । श्रीभगवती पार्वतीजी सहित भगवान् महादेवजीके प्रसादसे ही बहुत जन्मोंके पश्चात् अध्यात्म ज्ञान होता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंका अनुसरण करते हुए कहते हैं—'प्रसादात्' इत्यादिसे ।

परम प्रभु भगवान् श्रीमहादेवजीकी प्रसन्नतासे आप ऐसे सज्जनोंकी शुभ बुद्धि विवेककी ओर अग्रसर होती है ॥ ३० ॥

क्रियाक्रमेण महता तपसा नियमेन च ।
दानेन तीर्थयात्राभिश्चिरकालं विवेकतः ॥ ३१ ॥
दुष्कृते क्षयमापन्ने परमार्थविचारणे ।
काकतालीययोगेन बुद्धिर्जन्तोः प्रवर्त्तते ॥ ३२ ॥
क्रियापरास्तावदलं चक्रावर्तिभिरावृताः ।
भ्रमन्तीह जना यावन्न पश्यन्ति परं पदम् ॥ ३३ ॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (उस परमात्मतत्त्वको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतिके अनुसार कहते हैं—**'क्रियाक्रमेण'** इत्यादिसे ।

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, पाँच महायज्ञोंका अनुष्ठान, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, उपाकरण, उत्सर्जन, चैत्र और आश्विनमें होनेवाली नवसस्येष्टि—ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयणेष्टि, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी—ये सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम—ये सात सोमयज्ञ, ये चालीस संस्कार और सब भूतोंमें दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, आयासाभाव, माङ्गल्य, कार्पण्यका अभाव, अस्पृहा—ये आठ गुण जिसके हों वह सायुज्यको प्राप्त होता है—यों गौतमस्मृतिमें दर्शाये गये कर्मकाण्डके क्रमसे, विपुल तपस्यासे, इन्द्रिय, प्राण और मनके नियमनसे, दानसे, तीर्थयात्राओंसे और चिरकाल तक विचार करनेसे पापराशिके क्षीण होनेके अनन्तर परमात्मचिन्तन करनेपर काकतालीयन्यायसे (कौएके आने और तालके गिरनेके समान) संयोगतः सम्पन्न साधनोंके संमिलनसे प्राणीकी बुद्धि विवेककी ओर अग्रसर होती है । ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मजिज्ञासाके प्रयोजक विचारका उदय ही दुर्लभ है, यह भाव है ॥ ३१-३२ ॥

जब तक परमपदका साक्षात्कार नहीं करते तबतक चक्रके समान लोगोंको घुमानेवाले राग-द्वेष आदिसे आवृत लोग कर्मकाण्डपरायण होकर इस संसारमें पुनः पुनः जन्म-मरणरूप परम्पराको प्राप्त होते हैं । श्रुति भी है—'अविद्याया-

यथाभूतमिदं दृष्ट्वा संसारं तन्मयीं धियम् ।
परित्यज्य परं यान्ति निरालाना गजा इव ॥ ३४ ॥
विषमेयमनन्तेह राम संसारसंसृतिः ।
देहयुक्तो महाजन्तुर्विना ज्ञानं न पश्यति ॥ ३५ ॥
ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥ ३६ ॥
तामिमां ज्ञानयुक्तिं त्वं संसाराम्भोधितारिणीम् ।
शृणुष्वाऽवहितो बुद्ध्या नित्यावहितया तया ॥ ३७ ॥
यस्मादनन्तसंरम्भा जागत्यो दुःखभीतयः ।
चिरायाऽन्तर्दहन्त्येता विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ ३८ ॥
शीतवातातपादीनि द्वन्द्वदुःखानि राघव ।
ज्ञानयुक्तिं विना केन सह्यतां यान्ति साधुषु ॥ ३९ ॥

मन्तरे वर्तमाना स्वयं धीराः०' (अविद्यामें स्थित अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ जन अन्धोंसे ले जाये जा रहे अन्धोंकी नाईं पतनको प्राप्त होते हैं)॥ ३३ ॥

इस संसारको असार और दुःखरूप जानकर और संसारमयी बुद्धिका परित्याग-कर विद्वान् लोग बन्धन-स्तम्भसे निर्मुक्त गजोंकी नाईं परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह संसारसृष्टि विषम और असीम है। देहाध्याससे युक्त महान् जीव भी कृमि, कीट आदिके सदृश ही हैं। ज्ञानके विना परम पदको प्राप्त नहीं हो सकते ॥ ३५ ॥

हे रघुवंशमणे, विवेकी लोग ज्ञानरूपी नौकासे ही सुदुस्तर संसार-सागरको एक पलकभरमें पार कर गये हैं ॥ ३६ ॥

संसाररूपी सागरसे जीवको पार करानेवाले वक्ष्यमाण ज्ञानरूप उपायको विचाराभ्यासपरायण तथा विवेक, वैराग्य आदिसे युक्त बुद्धिसे एकाग्र होकर सुनिए ॥ ३७ ॥

इस अनिन्दित ज्ञानयुक्तिके बिना अनन्त विक्षेपोंसे पूर्ण ये सांसारिक दुःख-भीतियाँ चिरकाल तक हृदयको सन्तप्त करती हैं ॥ ३८ ॥

हे राघव, साधुजनोंमें शीत, वात, धूप आदि दुःखद्वन्द्व ज्ञानयुक्तिको छोड़कर किस उपायसे सह्य होते हैं ? अर्थात् ज्ञानसे अतिरिक्त किसी उपायसे सह्य नहीं होते ॥३९॥

आपतन्ति प्रतिपदं यथाकालं दहन्ति च ।
दुःखचिन्ता नरं मूढं तृणमग्निशिखा इव ॥ ४० ॥
प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥ ४१ ॥
आधिव्याधिपरावर्त्ते संसारमरुमारुते ।
क्षुभितेऽपि न तत्त्वज्ञो भज्यते कल्पवृक्षवत् ॥ ४२ ॥
तत्त्वं ज्ञातुमतो यत्नाद्धीमानेव हि धीमता ।
प्रामाणिकः प्रबुद्धात्मा प्रष्टव्यः प्रणयान्वितम् ॥ ४३ ॥
प्रामाणिकस्य पृष्टस्य वक्तुरुत्तमचेतसः ।
यत्नेन वचनं ग्राह्यमंशुकेनेव कुङ्कुमम् ॥ ४४ ॥
अतत्त्वज्ञमनादेयवचनं वाग्विदां वर ।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नाऽस्ति मूढतरोऽपरः ॥ ४५ ॥

जैसे अग्निकी ज्वालाएँ तृणको जला डालती हैं, वैसे ही मूढ़ पुरुषको पद-पदमें (क्षण-क्षणमें) दुःख-चिन्ताएँ प्राप्त होती हैं और जला डालती हैं ॥ ४० ॥

जैसे वर्षाकालमें सींचे गये वनको अग्नि जला नहीं सकती, वैसे ही जिसने ज्ञातव्य वस्तु जान ली है, ऐसे विवेकशील प्राज्ञ पुरुषको मानसिक व्यथाएँ सन्ताप नहीं पहुँचा सकतीं ॥ ४१ ॥

शारीरिक और मानसिक पीड़ारूपी बवंडरसे परिपूर्ण संसाररूपी मरुस्थलमें प्रसिद्ध वायुके तेज चलनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष कल्पवृक्षकी नाईं उखाड़ा नहीं जा सकता यानी पीड़ित नहीं होता ॥ ४२ ॥

इसलिए तत्त्वपदार्थके ज्ञानके लिए बुद्धिमान् पुरुषको श्रुति आदि प्रमाण देनेमें अतिकुशल आत्मतत्त्वज्ञ बुद्धिमान् पुरुषसे ही अनुगमन, साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा आदिरूप प्रयत्नसे विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिए ॥ ४३ ॥

जिज्ञासु द्वारा पूछे गये, श्रुति आदि प्रमाण देनेमें निपुण और विशुद्ध चित्तवाले वक्ताके वाक्य वैसे ग्रहण करने चाहिएँ जैसे कि रँगनेके लिए घोले गये पक्के रंगमें डुबाया गया वस्त्र रंगको पकड़ लेता है फिर उसे कभी नहीं छोड़ता ॥ ४४ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, जो पुरुष तत्त्ववस्तुको नहीं जानता अतएव

प्रामाणिकस्य तज्ज्ञस्य वक्तुः पृष्टस्य यत्नतः।
नाऽनुतिष्ठति यो वाक्यं नाऽन्यस्तस्मान्नराधमः॥ ४६ ॥
अज्ञतातज्ज्ञते पूर्वं वक्तुर्निर्णीय कार्यतः।
यः करोति नरः प्रश्नं पृच्छकः स महामतिः॥ ४७ ॥
अनिर्णीय प्रवक्तारं बालः प्रश्नं करोति यः।
अधमः पृच्छकः स स्यान्न महार्थस्य भाजनम्॥ ४८ ॥
पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाऽधमे पशुधर्मिणि॥ ४९ ॥
प्रामाणिकार्थयोग्यत्वं पृच्छकस्याऽविचार्य च।
यो वक्ति तमिह प्राज्ञाः प्राहुर्मूढतरं नरम्॥ ५० ॥
त्वमतीव गुणश्लाघी पृच्छको रघुनन्दन।
अहं च वक्तुं जानामि समो योगोऽयमावयोः॥ ५१ ॥

जिसका वचन ग्राह्य नहीं है, ऐसे पुरुषसे जो प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है॥ ४५ ॥

पूछे गये तत्त्वज्ञ प्रामाणिक वक्ताके उपदेशका जो प्रयत्नसे आचरण नहीं करता, उससे बढ़कर नराधम दूसरा नहीं है॥ ४६ ॥

व्यवहारसे वक्ताकी अज्ञता और तत्त्वज्ञताका पहले निर्णय कर जो पुरुष प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता महामति है॥ ४७ ॥

जो मूर्ख (परीक्षा द्वारा) प्रकृष्ट वक्ताका निर्णय किये बिना प्रश्न करता है, वह अधम प्रश्नकर्ता है और वह आत्मज्ञानरूप महान् अर्थका पात्र नहीं हो सकता अर्थात् उसे कभी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता॥ ४८ ॥

प्राज्ञ पुरुषको चाहिए कि उक्त और अनुक्तका विवेचन कर निश्चय करनेमें जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो ऐसे पुरुषके लिए पृष्ट वस्तुका उपदेश दे पशुके जाड्य आदि धर्मोंसे युक्त अधमको कभी तत्त्वका उपदेश न दे॥४९॥

प्रश्नकर्ताकी श्रुति आदि प्रमाणोंसे निर्णीत पदार्थके ग्रहणकी योग्यताका विचार किये बिना जो तत्त्वका उपदेश देता है, उसको प्राज्ञ पुरुष मूढ़तर कहते हैं॥५०॥

हे रघुनन्दन, आप अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता हैं और मै उपदेश देना जानता हूँ, इसलिए हमारा यह समागम सदृश है॥ ५१ ॥

यदहं वच्मि तद्यत्नात्त्वया शब्दार्थकोविद ।
एतद्वस्त्विति निर्णीय हृदि कार्यमखण्डितम् ॥ ५२ ॥
महानसि विरक्तोऽसि तत्त्वज्ञोऽसि जनस्थितौ ।
त्वयि चोक्तं लगत्यन्तः कुङ्कुमाम्बु यथांऽशुके ॥ ५३ ॥
उक्तावधानपरमा परमार्थविवेचिनी ।
विशत्यर्थं तव प्रज्ञा जलमध्यमिवाऽर्कभाः ॥ ५४ ॥
यद्यद्वच्मि तदादेयं हृदि कार्यं प्रयत्नतः ।
नो चेत् प्रष्टव्य एवाऽहं न त्वयेह निरर्थकम् ॥ ५५ ॥
मनो हि चपलं राम संसारवनमर्कटम् ।
संशोध्य हृदि यत्नेन श्रोतव्या परमार्थगीः ॥ ५६ ॥
अविवेकिनमज्ञानमसज्जनरतिं जनम् ।
चिरं दूरतरे कृत्वा पूजनीया हि साधवः ॥ ५७ ॥

हे शब्दार्थके ज्ञाता श्रीरामजी, जिस पदार्थका मै उपदेश देता हूँ उसको आप 'यह तत्त्व वस्तु है' ऐसा निश्चय कर प्रयत्नपूर्वक अपने हृदयमें ज्यों-का-त्यों पूर्णरूपसे धारण कीजिए ॥ ५२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कुल, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों और सदाचार आदिसे महान् हैं, विरक्त हैं एवं तत्त्वज्ञ हैं, आपसे जो कहा जायगा वह जैसे वस्त्रमें घोला हुआ रंग बैठ जाता है वैसे आपके हृदयके अन्तस्तरमें बैठ जायगा ॥ ५३ ॥

आपमें उक्त पदार्थके ग्रहणमें निपुण मेधा है और परम तत्त्वका विचार करनेवाली प्रतिभा भी है। मेधा और प्रतिभासे सम्पन्न आपकी प्रज्ञा जैसे सूर्यकी किरणें जलके अन्दर प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही प्रतिपाद्य अर्थ (तत्त्वज्ञान) में प्रवेश करती है ॥ ५४ ॥

मै जो कुछ कहूँ, उसे आप ग्रहण कीजिए और प्रयत्नपूर्वक उसे अपने हृदयमें स्थान दीजिए। यदि ऐसा आप न कर सकें, तो आपको मुझसे पूछना ही नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा पूछना निरर्थक है ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी वनका बन्दर मन बड़ा ही चपल है, उसको संस्कार द्वारा अपने वशमें कर परमार्थतत्त्वका श्रवण करना चाहिए और फिर उसको प्रयत्नसे हृदयमें धारण करना चाहिए ॥ ५६ ॥

विवेकशून्य, शास्त्रके अभ्याससे उत्पन्न ज्ञानसे रहित एवं असाधु पुरुषोंमें

नित्यं सज्जनसंपर्काद् विवेक उपजायते ।
विवेकपादपस्यैव भोगमोक्षौ फले स्मृतौ ॥ ५८ ॥
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ ५९ ॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा ।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥ ६० ॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत् ।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः ॥ ६१ ॥
सविवेको हि शास्त्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रुतेः ।
भाजनं भूषणाकारो भास्करस्तेजसामिव ॥ ६२ ॥
घनतामुपयातं हि प्रज्ञामान्द्यमचेतसाम् ।
याति स्थावरतामम्बु जाड्यात् पाषाणतामिव ॥ ६३ ॥

प्रीति रखनेवाले पुरुषसे अति दूर होकर चिरकालतक महात्माओंकी सेवा करनी चाहिए ॥ ५७ ॥

सदा सन्त-महात्माओंकी संगतिसे विवेक उत्पन्न होता है । भोग और मोक्ष विवेकरूपी वृक्षके ही फल कहे गये हैं ॥ ५८ ॥

मोक्षद्वारके चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सज्जनसंगम ॥ ५९ ॥

पहले तो इन चारोंका ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए । यदि चारोंके सेवनकी शक्ति न हो, तो तीनका सेवन करना चाहिए, तीनका सेवन न हो सकने पर दोका सेवन करना चाहिए । इनका भली भाँति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजगृहमें मुमुक्षुका प्रवेश होनेके लिए द्वार खोलते हैं । यदि दो के सेवनकी भी शक्ति न हो, तो सम्पूर्ण प्रयत्नसे प्राणोंपर बाजी लगाकर भी इनमें से एकका अवश्य आश्रयण करना चाहिए । यदि एक वशमें हो जाता है, तो शेष तीन भी वशमें हो जाते हैं ॥ ६०, ६१ ॥

जैसे अन्य तेजस्वियोंमें सूर्य सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही विवेकवान् पुरुष सब लोगोंमें सिरके आभूषणके समान आदरणीय है । वह शास्त्रके श्रवण, मनन और निदि-ध्यासनका और ज्ञानका योग्य पात्र है ॥ ६२ ॥

जैसे अधिक शीत पड़नेसे जल घनीभूत होकर पत्थर बन जाता है, वैसे ही

त्वं तु राघव सौजन्यगुणशास्त्रार्थदृष्टिभिः ।
विकासितान्तःकरणः स्थितः पद्म इवोदये ॥ ६४ ॥
इमां ज्ञानगिरं श्रोतुमवबोद्धुं च सन्मते ।
अर्हस्युद्धतकर्णस्त्वं जन्तुर्वीणास्वनं यथा ॥ ६५ ॥
वैराग्याभ्यासयोगेन समसौजन्यसम्पदाम् ।
अर्जनां कुरुतां राम यत्र नाशो न विद्यते ॥ ६६ ॥
शास्त्रसज्जनसंसर्गपूर्वकैः सतपोदमैः ।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाऽभिवर्द्धयेत् ॥ ६७ ॥
एतदेवाऽस्य मौर्ख्यस्य परमं विद्धि नाशनम् ।
यदिदं प्रेक्ष्यते शास्त्रं किञ्चित्संस्कृतया धिया ॥ ६८ ॥
संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम् ।
अज्ञं संमोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत् ॥ ६९ ॥

अविवेकियोंकी मूर्खता घनताको प्राप्त होकर अति कठिन हो जाती है ॥ ६३ ॥

हे रघुकुलतिलक, आप तो जैसे सूर्यका उदय होनेपर कमल विकसित होता है, वैसे ही सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थकी दृष्टिसे विकसित अन्तःकरण-वाले हैं। हे सद्बुद्धि श्रीरामजी, आप जैसे मृग आदि जन्तु ऊपर कान करके (कान खड़े करके) वीणाके शब्दको सुनते हैं वैसे ही इस ज्ञानमय वाणीको सुनने और समझनेके योग्य हैं ॥ ६४, ६५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप वैराग्यके अभ्यास आदिसे सम्पूर्ण विनय आदि रूप सम्पत्तियोंका उपार्जन कीजिये, जिनके प्राप्त होनेपर नाश नहीं होता ॥ ६६ ॥

पहले संसाररूप बन्धनसे छुटकारा पानेके लिए शास्त्राभ्यास और सज्जन-संगतिपूर्वक तपस्या और इन्द्रियनिग्रहसे प्रज्ञाको (विवेकके ग्रहण और धारणमें निपुण बुद्धिको) ही बढ़ावें ॥ ६७ ॥

प्रज्ञाकी अभिवृद्धिमें शास्त्राभ्यास ही उपाय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'एतदेवाऽस्य' इत्यादिसे ।

संस्कृत (विशुद्ध) बुद्धिसे जो कुछ शास्त्रका अवलोकन, चिन्तन आदि किया जाता है, उसीको इस मूर्खताके विनाशका हेतु समझो ॥ ६८ ॥

यह संसाररूपी विषवृक्ष आपत्तियोंका एकमात्र घर है यह अज्ञानी पुरुषको सदा मोहमें डालता है, इसलिए अज्ञानका यत्नसे विनाश करना चाहिए ॥ ६९ ॥

दुराशासर्पगत्येन मौर्ख्येण हृदि वल्गता ।
चेतः संकोचमायाति चर्माग्नाविव योजितम् ॥ ७० ॥
प्राज्ञे यथार्थभूतेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।
दृगिवेन्दौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥ ७१ ॥
पूर्वापरविचारार्थचारुचातुर्यशालिनी ।
सविकासा मतिर्यस्य स पुमानिह कथ्यते ॥ ७२ ॥
विकसितेन सितेन तमोमुचा वरविचारणशीतलरोचिषा ।
गुणवता हृदयेन विराजसे त्वममलेन नभः शशिना यथा ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
वक्तृपृच्छकलक्षणं नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

दुराशासे साँप की-सी कुटिल गतिको धारण करनेवाली हृदयमें हजारों विक्षेपरूपसे व्याप्त मूर्खतासे बुद्धि अग्निमें रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकोचको प्राप्त होती है अर्थात् संकुचित कमलकी नाईं मलिनताको प्राप्त होती है ॥ ७० ॥

जैसे मेघरहित और सम्पूर्ण निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमामें दृष्टि प्रसन्नताको प्राप्त होती है वैसे ही यह पूर्वोक्त वस्तुदृष्टि (वस्तु यानी परमार्थरूप तत्त्व जिससे देखा जाता है) अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि प्राज्ञमें यथार्थवस्तुकी एकरसताको प्राप्त होकर प्रसन्नताको प्राप्त होती है ॥ ७१ ॥

जिसकी पूर्वापरके विचारसे और अतिसूक्ष्म अर्थके ग्रहणमें अत्यन्त पटु तथा चतुरतासे शोभित बुद्धि विकासयुक्त हो, इस लोकमें वही 'पुरुष' कहा जाता है ॥७२॥

मेरी बुद्धि विकासयुक्त है या नहीं, यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजीको आश्वासन देते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'विकसितेन' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, आप भी विकसित, अज्ञानका त्याग कर रहे अतएव विशुद्ध, शान्ति आदि गुणोंसे शोभित एवं परमतत्त्वके विचारसे शीतल बुद्धिसे विराजमान हैं ॥ ७३ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

द्वादशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परिपूर्णमना मान्यः प्रष्टुं जानासि राघव ।
वेत्सि चोक्तं च तेनाऽहं प्रवृत्तो वक्तुमादरात् ॥ १ ॥
रजस्तमोभ्यां रहितां शुद्धसत्त्वानुपातिनीम् ।
मतिमात्मनि संस्थाप्य ज्ञानं श्रोतुं स्थिरो भव ॥ २ ॥
विद्यते त्वयि सर्वैव पृच्छकस्य गुणावली ।
वक्तुर्गुणाश्चैव मयि रत्नश्रीर्जलधौ यथा ॥ ३ ॥

बारहवाँ सर्ग

[संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य और राममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन]

अन्य लोगोंके प्रति भी विवेक वैराग्यकी अभिवृद्धिके लिए संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता और ज्ञानके माहात्म्यको कहनेके इच्छुक श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको प्रवृत्त करनेके लिए आपमें केवल विकासयुक्त बुद्धि ही नहीं है, किन्तु और भी अनेक गुण हैं तथा प्रश्नकर्ताके सम्पूर्ण लक्षण आपमें घटते हैं, इस प्रकार प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित करते हुए बोले ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलकमलदिवाकर, आपका मन पूर्वोक्त गुणोंसे परिपूर्ण है और आप हमारे संमान्य हैं तथा आप प्रश्न करना जानते हैं, साधारण-रूपसे उक्त बातको भी विशेषरूपसे आप जानते हैं, इसलिए मै आदरपूर्वक आपको उपदेश देनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । रजोगुण और तमोगुणसे रहित (रजोगुणसे बुद्धिमें चञ्चलता आती है और तमोगुणसे आवरण होता है, इसलिए उक्त दोनों गुणोंसे शून्य होना आवश्यक है), इसीलिए शुद्ध सत्त्वगुणवाले परमात्मा-की ओर प्रवृत्त होनेवाली बुद्धिको आत्मामें स्थापित कर अर्थात् स्वस्थ कर सुननेके लिए प्रवृत्त होइए ॥ १, २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्रमें रत्नसम्पति (रत्नोंसे परिपूर्ण लक्ष्मी) रहती है, वैसे ही प्रश्नकर्ताके सभी गुण आपमें विद्यमान हैं और वक्ताके (उपदेशकके) गुण मुझमें विद्यमान हैं ॥ ३ ॥

आप्तवानसि वैराग्यं विवेकासङ्गजं सुत ।
चन्द्रकान्त इवाऽऽर्द्रत्वं लग्नचन्द्रकरोत्करः ॥ ४ ॥
चिरमाशैशवादेव तवाऽभ्यासोऽस्ति सद्गुणैः ।
शुद्धैः शुद्धस्य दीर्घैश्च पद्मस्येवाऽतिसन्ततैः ॥ ५ ॥
अथ शृणु कथां वक्ष्ये त्वमेवाऽस्या हि भाजनम् ।
नहि चन्द्रं विना शुद्धा सविकासा कुमुद्वती ॥ ६ ॥
ये केचन समारम्भा याश्च काश्चन दृष्टयः ।
ते च ताश्च पदे दृष्टे निःशेषं यान्ति वै शमम् ॥ ७ ॥
यदि विज्ञानविश्रान्तिर्न भवेद्भव्यचेतसः ।
तदस्यां संसृतौ साधुश्चिन्तामौढ्यं सहेत कः ॥ ८ ॥

हे वत्स, जैसे चन्द्रमाके किरणोंके संसर्गसे चन्द्रकान्त मणि आर्द्रताको प्राप्त होती है, वैसे ही विवेकके संसर्गसे उत्पन्न वैराग्यको आप प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

जैसे कमलका चारों ओर फैले हुए एवं कभी नष्ट न होनेवाले दीर्घ तन्तुओं और सौगन्ध्य आदिसे सम्बन्ध रहता है वैसे ही बाल्यावस्थासे लेकर ही चिरकालसे शुद्ध आपका सब दिशाओंमें फैले हुए एवं अविच्छिन्न शुद्ध सद्गुणोंसे सम्बन्ध है ॥ ५ ॥

इसलिए हे राघव, सुनिए, मैं, आपसे यह मोक्षकथा कहूँगा, क्योंकि आप ही इस कथाके योग्य पात्र हैं अर्थात् श्रवणजनित प्रकृष्ट बोधके आधार हैं। शुद्ध (शुभ्र) कुमुदिनी चन्द्रमाके बिना विकासयुक्त नहीं हो सकती अर्थात् जैसे शुद्ध कुमुदिनी चन्द्रमामें ही (चन्द्रमाके उदित होनेपर ही) विकसित होती है वैसे ही यह मोक्षकथा आपमें ही विकासको प्राप्त होगी ॥ ६ ॥

इस कथाश्रवणरूप कार्यकी अवधि कौन है ? ऐसी आशङ्का होनेपर परमपदसाक्षात्काररूप विश्रान्ति ही उसकी विश्रान्ति है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'ये केचन' इत्यादिसे ।

जो कोई कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब कार्य और वे सब व्यवहार परब्रह्म परमात्माके दर्शन होनेपर सर्वथा शान्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

उक्त विश्रान्तिमें अविश्वासका निराकरण करते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

परं प्राप्य विलीयन्ते सर्वा मननवृत्तयः ।
कल्पान्तार्कगणासंगात् कुलशैलशिला इव ॥ ९ ॥
दुःसहा राम संसारविषावेशविषूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति ॥ १० ॥
स च योगः सज्जनेन सह शास्त्रविचारणात् ।
परमार्थज्ञानमन्त्रो नूनं लभ्यत एव च ॥ ११ ॥

अवश्यमिह हि विचारे कृते सकलदुःखपरिक्षयो भवतीति मन्तव्यं नाऽतो विचारदृष्टयोऽवहेलया द्रष्टव्याः ॥ १२ ॥

यदि विशुद्ध चित्तवाले पुरुषको विज्ञानरूप विश्रान्ति प्राप्त न हो, तो कौन विवेकशील पुरुष इस संसारमें अनेक चिन्ताओंको सहेगा अर्थात् उनका सहन न हो सकनेसे आपकी नाई देहत्यागके लिए उद्यत हो जायगा ॥ ८ ॥

केवल बाह्य व्यवहार ही शान्त नहीं होते, किन्तु मानसिक व्यवहार भी शान्त हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

जैसे हिरण्यगर्भकी आयुकी समाप्तिको प्राप्त होकर हिमालय आदि कुलपर्वतोंके बड़े-बड़े चट्टान कल्पान्तके सूर्योंके संसर्गसे चूर्ण-चूर्ण हो जाते हैं वैसे ही परमात्माका साक्षात्कार होनेपर सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं । भगवती श्रुति भी कहती है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'' (परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थियाँ (काम आदि) टूट जाती हैं, सम्पूर्ण सन्देहोंकी निवृत्ति हो जाती है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं)॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूपी विषके आवेशसे हुई विषूचिका (हैजा) बड़ी कष्टदायिनी है, वह पवित्रतम जीव और ब्रह्मके ऐक्यज्ञानरूपी गारुड़मन्त्रसे शान्त होती है । विषभक्षणसे भी विषूचिका होती है और वह विषसंशोधनसे शान्त हो जाती है । उक्त मन्त्ररूपी परमार्थज्ञान (जीवब्रह्मैक्यज्ञान) सज्जनोंके साथ शास्त्र-चिन्तन करनेसे प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १०,११ ॥

इस अधिकारिजन्ममें विचार करनेपर अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश होता है, ऐसा समझना चाहिए, इसलिए विचारवान् लोगोंको अनादर दृष्टिसे नहीं देखना चाहिए ॥ १२ ॥

विचारवता पुरुषेण सकलमिदमाधिपञ्जरं सर्पेण त्वचमिव परिपक्वां सन्त्यज्य विगतज्वरेण शीतलान्तःकरणेन विनोदादिन्द्रजालमिव जगदखिलमालोक्यते सम्यग्दर्शनवता असम्यग्दर्शनवतो हि परं दुःखमिदम् ॥ १३ ॥

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति असिरिव छिनत्ति कुन्त इव वेधयति रज्जुरिवाऽऽवेष्टयति पावक इव दहति रात्रिरिवाऽन्धयति अशङ्कितपरिपतितपुरुषान् पाषाण इव विवशीकरोति हरति प्रज्ञां नाशयति स्थितिं पातयति मोहान्धकूपे तृष्णा जर्जरीकरोति न तदस्ति किञ्चिद् दुखं संसारी यन्न प्राप्नोति ॥ १४ ॥

दुरन्तेयं किल विषयविषूचिका यदि न चिकित्स्यते तन्नितरां नरकनगरनिकरफलानुबन्धिनी तत्तत्करोति ॥ १५ ॥

जैसे साँप अपनी जीर्ण त्वचाका परित्याग कर सन्तापरहित और शान्त हो जाता है वैसे ही विचारवान् पुरुष मानसिक व्यथाओंकी पेटीके समान इस सम्पूर्ण जगत्का त्याग कर सन्तापरहित और शान्तहृदय हो जाता है। सम्यग्दर्शनवान् पुरुष इस सम्पूर्ण जगत्को विनोदसे इन्द्रजालकी नाई देखता है, जिसे सम्यक् ज्ञान नहीं हुआ है, उसीके लिए यह जगत् परम दुःखदायी है ॥ १३ ॥

यह संसारानुराग अत्यन्त विषम (क्लेशदायक) है। यह निःशङ्क हो संसारमें आये हुए पुरुषोंको साँपके समान डँसता है, तलवारके समान काटता है, भालेके समान बेधता है, रस्सीके समान जकड़ देता है—हाथ-पैर बाँध देता है, अग्निके समान जलाता है, रात्रिके समान अन्धा बना डालता है, सिरपर गिरे हुए पत्थरके समान मूर्छित कर देता है, विचारदृष्टिको हर लेता है, मर्यादाको नष्ट कर डालता है, पुरुषको मोहरूप अन्धकूपमें गिरा देता है, इस संसारमें तृष्णा मनुष्यको जर्जर कर डालती है अर्थात् जैसे रस गारनेके लिए सोम रगड़कर निचोड़ा जाता है वैसे ही मनुष्योंके अङ्ग-प्रत्यङ्गको शिथिल कर डालती है। बहुत क्या कहें, ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी पुरुषको प्राप्त न हो ॥ १४ ॥

मल मूत्र आदिके नगररूप शरीरोंमें (पुत्र, कलत्र आदि पोष्य जनोंमें) पुरुषको अनुरागसे बाधनेवाली यह विषयविषूचिका दुरुच्छेद्य (अकाट्य) है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय, तो आगे कही जानेवाली हजारों नारकीय दुर्गतियोंको प्राप्त कराती है ॥ १५ ॥

यत्र शिलाशिताऽसिशातः पात उपलताडनमग्निदाहो हिमावसेकोऽङ्गावकर्त्तनं चन्दनचर्चा तरुवनानि घुणवृत्तान्तः परिवेषोऽङ्गपरिमार्जनमनवरतानलविचलितसमरनाराचनिपातो निदाघविनोदनं धारागृहसीकरवर्षणं शिरश्छेदः सुखनिद्रा मूकीकरणमाननमुद्राबान्धुर्यं महानुपचयः ॥ १६ ॥

जहाँ जीवोंको पत्थर खाने पड़ते हैं, तलवारोंसे उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं, पर्वतोंकी चोटियोंसे वे गिराये जाते हैं, पत्थरोंसे मारे जाते हैं, आगसे जलाये जाते हैं, बर्फसे सदा तर रक्खे जाते हैं, अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुल्हाड़े, कैंची आदिसे काटे जाते हैं, चन्दनकी नाईं पत्थरोंपर घिसे जाते हैं, तलवारके समान तीक्ष्ण पत्तेवाले वृक्षोंके वनमें दौड़ना पड़ता है, घुनोंका-सा व्यवहार होता है अर्थात् सर्वाङ्गमें काठके यन्त्रोंसे पीड़ा पहुँचाई जाती है, तपाई गई लोहेकी बड़ी-बड़ी सांकलोंसे शरीरको लपेटा जाता है, काँटेदार झाडुओंसे शरीर बुहारा जाता है (त्वचारहित किया जाता है), जिनसे सदा आगकी लपटें निकलती रहती हैं, ऐसे युद्धमें छोड़े गये बाणोंकी धारावाहिक वृष्टि होती है, छाया और पानीके बिना ग्रीष्मकाल बिताना पड़ता है, अतिशीत धारागृहोंमें लगातार झरनोंकी वृष्टि होती है, पहले काटे गये सिरके पुनः उगनेपर फिर-फिर उसका कर्तन होता है, सुखपूर्वक नींदकी तो वहाँ बात भी नहीं होती, मुँहको ढककर श्वास-प्रश्वास भी रोक दिया जाता है, अङ्गोंकी निम्नता और उन्नततासे विसंष्ठुल (विषम अवयव) होनेके कारण व्यवहारकी अयोग्यता होती है, यह सब महासम्पत्तिकी अभिवृद्धिके समान सहना पड़ता है* ॥ १६ ॥

---

* इस श्लोकका दूसरा अर्थ टीकाकारोंने यों किया है—पत्थर खाना, तलवार द्वारा अङ्गछेदन, पर्वतके शिखरसे निपातन और पत्थरोंकी मारका हिमसेककी नाईं सहन करना पड़ता है, कुल्हाड़े और कैंची द्वारा हाथ, पैर आदि अङ्गोंका कर्तन चन्दनलेपकी भाँति सहना पड़ता है, असिपत्रवाले वृक्षोंके वनमें दौड़ना, घुनके समान काठके यन्त्रमें जकड़ा जाना तथा लोहेकी गर्म सांकलोंसे शरीरको लपेटना देहसस्कारकी नाईं सहना पड़ता है; अग्निकी ज्वालाको वर्षा रहे भयानक बाणोंकी लगातार वृष्टि ग्रीष्मकालमें विनोदके लिए बनाये गये धारा-गृहोंके फुव्वारोंकी वृष्टिके समान सहनी पड़ती है, शिरके कटनेसे हुई मृत्यु निद्रासुखके समान सहनी पड़ती है, मुँह बन्द करनेसे बलपूर्वक किया गया मूकीभाव स्वाभाविक मुखमुद्राके समान सहना पड़ता है एवं अङ्गोंकी छोटाई-बड़ाईसे उत्पन्न अकिञ्चित्करता महती सम्पत्तिकी वृद्धिके समान सहनी पड़ती है ।

तदेवंविधकष्टचेष्टासहस्रदारुणे संसारचलयन्त्रेऽस्मिन् राघव नाऽवहेलना कर्त्तव्या, अवश्यमेवं विचारणीयमेवं चाऽवबोद्धव्यं यथा किल शास्त्रविचाराच्छ्रेयो भवतीति ॥ १७ ॥

अन्यच्च रघुकुलेन्दो, यदि चैते महामुनयो महर्षयश्च विप्राश्च राजानश्च ज्ञानकवचेनाऽवगुण्ठितशरीरास्ते कथमदुःखक्षमा अपि दुःखकरीं तां तां वृत्तिपूर्विकां संसारकदर्थनामनुभवन्तः सततमेव मुदितमनसस्तिष्ठन्ति ॥ १८ ॥

इह हि

विकौतुका विगतविकल्पविप्लवा यथा स्थिता हरिहरपद्मजादयः ।
नरोत्तमाः समधिगतात्मदीपकास्तथा स्थिता जगति विशुद्धबुद्धयः ॥ १९ ॥

दुःख देनेके स्थान तो अनन्त हैं, उनकी तो गणना ही नहीं हो सकती, यह तो केवल दिङ्मात्रका प्रदर्शन है, यों दर्शाकर उसका उपसंहार करते हुए प्रकृतमें उनके वर्णनकी उपयोगिता कहते हैं—'तदेवम्०' इत्यादिसे ।

हे राघव, नश्वर देहों, परतन्त्रतापूर्ण एवं इस प्रकारकी हजारों कष्टप्रद चेष्टाओंसे अतीव क्लेशकारक इस संसारमें अवहेलना (अनादर) नहीं करना चाहिए, आगे कही जानेवाली रीतिसे विचार करना चाहिए और वक्ष्यमाण रीतिसे ही निश्चय करना चाहिए कि शास्त्रके विचारसे कल्याण होता है ॥ १७ ॥

शास्त्रके विचारसे कल्याण होता है, यह निश्चय कैसे हो ? क्योंकि शास्त्र विचारमें परायण माण्डव्य आदिकी भी हजारों दुर्दशाएँ देखी गई हैं, इस शङ्काका परिहार करते हुए विद्याकी दृष्टफलताका प्रतिपादन करते हैं—'अन्यच्च' इत्यादिसे।

हे रघुकुलनन्दन, ज्ञानरूपी कवचसे गुप्त शरीरवाले अतएव दुःखके सर्वथा अयोग्य भी ये ध्यानपरायण महामुनि, मन्त्रजपनिरत ऋषि, यज्ञ-याग आदि करनेवाले ब्राह्मण एवं जनक आदि राजा अज्ञानियोंके समान मनोवृत्तिसे होनेवाली पूर्वोक्त अनेक प्रकारकी संसारपीड़ाका अनुभव करते हुए रहते हैं, ऐसा यदि तुम्हारा खयाल है, तो वे कैसे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं ? ॥ १८ ॥

उनकी स्थिति कैसी है ? इसपर कहते हैं—'इह हि' इत्यादिसे ।

इस लोकमें कौतुकरहित (कौतुकसे—विषयके दर्शन और उपभोगमें उत्साहसे—शून्य), विविध विकल्पोंसे होनेवाले चित्तविक्षेपोंसे भी रहित, आत्मरूपी प्रदीप जिन्हें प्राप्त हो गया है, अतएव विशुद्ध बुद्धिवाले नरश्रेष्ठ

परिक्षीणे मोहे विगलति घने ज्ञानजलदे
परिज्ञाते तत्त्वे समधिगत आत्मन्यतितते ।
विचार्याऽऽर्यैः सार्द्धं चलितवपुषो वै सदृशतो
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २० ॥

अन्यच्च राघव

प्रसन्ने चित्तत्त्वे हृदि शमभवे वल्गति परे
शमाभोगीभूतास्वखिलकलनादृष्टिषु पुरः ।
समं याति स्वान्तःकरणघटनास्वादितरसं
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २१ ॥

अन्यच्च

रथः स्थाणुर्देहस्तुगरचना चेन्द्रियगतिः
परिस्पन्दो वातो वहनकलितानन्दविषयः ।

जगत्में इस प्रकार पूर्णकामरूपसे स्थित हैं, जिस प्रकार कि हरि, हर और ब्रह्मा आदि देवता स्थित हैं ॥ १९ ॥

गुरु आदिके साथ विचारकर पदार्थका परिशोधन होनेपर पहले स्थूल आदि शरीरोंमें तादात्म्याध्याससे जो आत्मसादृश्य था, वह जिसका निवृत्त हो गया है, उस अधिकारी पुरुषको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके अर्थके विचारसे तत्त्वके ज्ञात होनेपर, मनन द्वारा असंभावना और विपरीतभावनाके निराकरणसे अपरिच्छिन्न आत्माके विदित होनेपर, निदिध्यासन द्वारा विपरीतभावनाशून्य बुद्धिसे ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर मोहके नष्ट होने एवं अति निविड़ भ्रम ज्ञानके विलीन होनेपर यह जगत्का भ्रमण मनोविनोद (आनन्दसाधन) ही है, दुःखकारी नहीं है ॥ २० ॥

हे रामचन्द्रजी, और भी सुनिए, चैतन्यमात्रस्वभाव परमार्थ वस्तुके प्रसन्न होने और हृदयमें उत्कृष्ट शान्तिका आविर्भाव होनेपर सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंके शान्तिरसास्वादरूप होनेपर अन्तःकरण ब्रह्मरसास्वादपूर्वक विषमतारहित स्वभावको प्राप्त होता है । तब बुद्धिसे तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर यह जगत्का भ्रमण आनन्दमय हो जाता है, अतः जो आनन्दसाधनता कही, वह ठीक ही है ॥२१॥

कटे हुए वृक्षके समान जड़ शरीर रथ है, इन्द्रियोंकी विषयाभिमुख प्रवृत्ति

परोऽणुर्वा देही जगति विहरामीत्यनघया
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे तत्त्वमाहात्म्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतां दृष्टिमवष्टभ्य दृष्टात्मानः सुबुद्धयः ।
विचरन्तीह संसारे महान्तोऽभ्युदिता इव ॥ १ ॥
न शोचन्ति न वाञ्छन्ति न याचन्ते शुभाशुभम् ।
सर्वमेव च कुर्वन्ति न कुर्वन्तीह किञ्चन ॥ २ ॥

घोड़ोंकी गतिचातुरी है, जिससे घोड़ोंका इधर उधर परिचालन किया जाता है अर्थात् लगाम प्राणप्रधान मन है ऐसे रथ आदिके प्रापणसे जिसे आनन्दरूप विषय प्राप्त होते हैं वह देही (आत्मा) समाधिमें परमात्मा ही है। व्यवहार-कालमें बुद्धि आदिके परिच्छेदसे भले ही रथी सूक्ष्म हो। तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर इस प्रकारका शुद्ध, बुद्ध, आनन्दघन मैं विहार कर रहा हूँ, यों विशुद्ध दृष्टिसे जगत्का भ्रमण रमण ही है—क्लेशकर नहीं है ॥ २२ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

[जीवनमुक्तिरूप फलके हेतु वैराग्य आदि गुणोंका एवं शमका विशेषरूपसे वर्णन]

वैराग्य, शान्ति आदि साधनोंका आगे वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी इस समय प्रस्तुत जीवन्मुक्तिस्थितिका वर्णन करते हैं—'एताम्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इस दृष्टिका अवलम्बन कर सुबुद्धिमान् तत्त्वज्ञ महापुरुष इस संसारमें ऐसे विचरते हैं, मानो उन्हें महान् साम्राज्य प्राप्त हो गया हो। वे लोग न तो अशुभके लिए शोक करते हैं और न शुभकी

स्वच्छमेवाऽवतिष्ठन्ते स्वच्छं कुर्वन्ति यान्ति हि।
हेयोपादेयतापक्षरहिताः स्वात्मनि स्थिताः ॥ ३ ॥
आयान्ति च न चाऽऽयान्ति प्रयान्ति च न यान्ति च।
कुर्वन्त्यपि न कुर्वन्ति न वदन्ति वदन्ति च ॥ ४ ॥
ये केचन समारम्भा याश्च काश्चन दृष्टयः।
हेयोपादेयतस्तास्ताः क्षीयन्तेऽधिगते पदे ॥ ५ ॥
परित्यक्तसमस्तेहं मनो मधुरवृत्तिमत्।
सर्वतः सुखमभ्येति चन्द्रबिम्ब इव स्थितम् ॥ ६ ॥
अपि निर्मननारम्भमभ्यस्ताऽखिलकौतुकम्।
आत्मन्येव न मात्यन्तरिन्दाविव रसायनम् ॥ ७ ॥

कामना करते हैं अतएव वे उनके साधनोंकी भी याचना नहीं करते। वे सब कुछ करते भी हैं फिर भी कुछ नहीं करते। हेय और उपादेयके पक्षपातसे रहित एवं अपनी आत्मामें स्थित वे असङ्ग आत्माके साक्षात्कारसे निर्लेप रहते हैं, शास्त्रीय स्वच्छ कर्म करते हैं और सन्मार्गमें जाते हैं ॥ १–३ ॥

वे अन्य लोगोंकी दृष्टिसे आते हैं और जाते हैं पर अपनी दृष्टिसे न आते हैं और न जाते हैं, अन्यकी दृष्टिसे करते हुए एवं बोलते हुए भी अपनी दृष्टिसे न करते हैं और न बोलते हैं, क्योंकि 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव' (तत्त्वज्ञ पुरुष अन्यकी दृष्टिमें चक्षुयुक्त होता हुआ भी अचक्षुके सदृश है और अन्यकी दृष्टिसे कर्णयुक्त होता हुआ भी कर्णरहित है, अन्यकी दृष्टिसे मनयुक्त होता हुआ भी मनसे रहित-सा है) ऐसी श्रुति है ॥ ४ ॥

हेय और उपादेयरूपसे जो कोई यज्ञ-याग आदि कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सब परमतत्त्वके ज्ञात होनेपर क्षीण हो जाते हैं ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण अभिलाषाओंसे रहित शान्तिपूर्ण तथा ब्रह्माकारताको प्राप्त मन चन्द्र-बिम्बमें बैठे हुए स्वर्गीके समान चारों ओरसे सुखको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विषयोंका बार-बार स्मरण करना और विषयोंकी प्राप्तिमें कुतूहल ही विक्षेपके हेतु हैं, उनके अभावमें विक्षेपरहित सुख होता है। जैसे चन्द्रमामें अमृत नहीं अमाता वैसे ही विषयमननरहित और सम्पूर्ण विषयकौतुकसे शून्य सुखरूपताको प्राप्त हुआ मन आत्मामें ही नहीं अमाता ॥ ७ ॥

न करोतीन्द्रजालानि नाऽनुधावति वासनाम् ।
बालचापलमुत्सृज्य पूर्वमेव विराजते ॥ ८ ॥

एवंविधा हि वृत्तय आत्मतत्त्वाऽवलोकनाल्लभ्यन्ते नाऽन्यथा ॥ ९ ॥

तस्माद्विचारेणाऽऽत्मैवाऽन्वेष्टव्य उपासनीयो ज्ञातव्यो यावज्जीवं पुरुषेण नेतरदिति ॥ १० ॥

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता ।
यस्याऽभ्यासेन तेनाऽऽत्मा सन्ततेनाऽवलोक्यते ॥ ११ ॥
अवहेलितशास्त्रार्थैरवज्ञातमहाजनैः ।
कष्टामप्यापदं प्राप्तो न मूढैः समतामियात् ॥ १२ ॥
न व्याधिर्न विषं नाऽऽपत्तथा नाऽऽधिश्च भूतले ।
खेदाय स्वशरीरस्थं मौर्ख्यमेकं यथा नृणाम् ॥ १३ ॥

सुखरूपताको प्राप्त हुआ मन न तो मायिक विक्षेपोंको करता है और न विक्षेपोंकी जननी वासनाके प्रति दौड़ता है, किन्तु बालकोंकी-सी भ्रममूलक चञ्चलताका त्याग कर अनादिसिद्ध आत्मसुखरूप हो विराजमान होता है ॥ ८ ॥

इस प्रकारकी स्थिति आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे ही प्राप्त होती है, अन्य उपायोंसे नहीं ॥ ९ ॥

इसलिए पुरुषको जीवनपर्यन्त विचार द्वारा आत्माका ही पुनः पुनः श्रवण और मनन करना चाहिए, आत्माका ही निदिध्यासन करना चाहिए एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए, इसके सिवा पुरुषका और कुछ कर्तव्य नहीं है ॥ १० ॥

जिस अधिकारीको अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरुके उपदेशकी एकार्थ-निष्ठताका निश्चय हो, उसे नित्य निरन्तर किये गये श्रवण, मनन आदिके अभ्याससे आत्माका साक्षात्कार होता है ॥ ११ ॥

शास्त्र और उसके अर्थकी अवहेलना करनेवाले तत्त्वज्ञानी पूज्य पुरुषोंकी उपेक्षा करनेवाले मूढोंकी तुलनाको कभी भी प्राप्त न हो, चाहे कितनेही बड़े क्लेश क्यों न भुगतने पड़ें ॥ १२ ॥

पृथ्वीमें मनुष्योंको ज्वर आदि शारीरिक क्लेशसे, विषसे, आपत्तियोंसे और

किञ्चित्संस्कृतबुद्धीनां श्रुतं शास्त्रमिदं यथा ।
मौर्ख्यापहं तथा शास्त्रमन्यदस्ति न किञ्चन ॥ १४ ॥
इदं श्राव्यं सुखकरं यथादृष्टान्तसुन्दरम् ।
अविरुद्धमशेषेण शास्त्रं वाक्यार्थबन्धुना ॥ १५ ॥
आपदो या दुरुत्तारा याश्च तुच्छाः कुयोनयः ।
तास्ता मौर्ख्यात् प्रसूयन्ते खदिरादिव कण्टकाः ॥ १६ ॥
वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु ।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यहतजीवितम् ॥ १७ ॥
वरं घोरान्धकूपेषु कोटरेष्वेव भूरुहाम् ।
अन्धकीटत्वमेकान्ते न मौर्ख्यमतिदुःखदम् ॥ १८ ॥
इममालोकमासाद्य मोक्षोपायमयं जनः ।
अन्धतामेति न पुनः कश्चिन्मोहतमस्यपि ॥ १९ ॥

मानसिक चिन्ताओंसे वैसा क्लेश नहीं होता जैसा कि अपने शरीरमें स्थित एक मूर्खतासे क्लेश होता है ॥ १३ ॥

जिन लोगोकी बुद्धिमें थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्ति हो गई है, इस शास्त्रके सुननेसे जिस प्रकार उनकी मूर्खताकी निवृत्ति होती है वैसे अन्य किसी शास्त्रके श्रवणसे नहीं होती ॥ १४ ॥

यह शास्त्र अतिसुखदायी है, यथायोग्य अनेक दृष्टान्तोंसे इसकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई है और किसी भी शास्त्रसे यह विरुद्ध नहीं है । जिसे आत्माका साक्षात्कार अभीष्ट है, उस नरश्रेष्ठको अवश्य इसका श्रवण करना चाहिए ॥ १५ ॥

हे रामजी, जो दुस्तर आपत्तियाँ हैं और जो अति नीच कुत्सित योनियाँ हैं वे सब, जैसे खदिरसे काँटे उत्पन्न होते हैं वैसे ही, मूर्खतासे पैदा होती हैं। मिट्टीके पात्रको (कसोरेको) हाथमें लेकर चाण्डालोंकी टोलीमें भीख माँगनेके लिए दर-दर घूमना अच्छा है, पर मूर्खतापूर्ण जीवन अच्छा नहीं है । निर्जन स्थानमें, अति भयानक अन्ध कूपमें एवं पेड़ोंके खोखलोंमें अन्धा कीड़ा होना अच्छा है, पर अति-दुःखदायी मूर्खता अच्छी नहीं है ॥ १६-१८ ॥

यह संसारी पुरुष मोक्षके उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाशको पाकर

तावन्नयति संकोचं तृष्णा वै मानवाम्बुजम् ।
यावद्विवेकसूर्यस्य नोदिता विमला प्रभा ॥ २० ॥

संसारदुःखमोक्षार्थं मादृशैः सह बन्धुभिः ।
स्वरूपमात्मनो ज्ञात्वा गुरुशास्त्रप्रमाणतः ॥ २१ ॥

जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह यथा हरिहरादयः ।
यथा ब्रह्मर्षयश्चाऽन्ये तथा विहर राघव ॥ २२ ॥

अनन्तानीह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् ।
नाऽतः सुखेषु बध्नीयात् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ॥ २३ ॥

यदनन्तमनायासं तत्पदं सारसिद्धये ।
साधनीयं प्रयत्नेन पुरुषेण विजानता ॥ २४ ॥

त एव पुरुषार्थस्य भाजनं पुरुषोत्तमाः ।
अनुत्तमपदालम्बि मनो येषां गतज्वरम् ॥ २५ ॥

फिर मोहान्धकारमें भी अन्धताको प्राप्त नहीं होता । तभीतक तृष्णा मनुष्य-रूपी कमलको संकुचित करती है जबतक विवेकरूपी सूर्यकी निर्मल प्रभाका उदय नहीं होता ॥ १९, २० ॥

हे राघव, संसारदुःखसे छुटकारा पानेके लिए मेरे सदृश आत्मीयोंके साथ गुरूपदेश और शास्त्रके प्रमाणसे अपने स्वरूपको जानकर जैसे इस संसारमें जीवन्मुक्त हरि, हर आदि विचरण करते हैं और जैसे अन्यान्य जीवन्मुक्त महर्षि विचरण करते हैं वैसे ही आप भी विचरण कीजिए ॥२१, २२॥

हे रघुकुलतिलक, इस संसारमें, अनन्त दुःख हैं, सुख तिनकेके टुकड़ेके बराबर बिलकुल ही नगण्य है, इसलिए दुःखोंसे सराबोर (परिपूर्ण) सुखोंमें कभी भी आदर नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

ज्ञानवान् पुरुषको पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए जो वस्तु असीम और क्लेशलवविरहित है, उस ज्ञानरूप वस्तुको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिए ॥ २४ ॥

हे रामजी, वे ही सज्जन परम पुरुषार्थके भाजन हैं और वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं, जिनका सर्वोत्कृष्ट वस्तुमें (परमब्रह्ममें) लीन मन परमशान्त है ॥ २५ ॥

सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु ये ।
सन्तुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान् ॥ २६ ॥
ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भशालिषु ।
द्विषत्सु मित्ररूपेषु भक्ता वै भोगभोगिषु ॥ २७ ॥
ते यान्ति दुर्गमाद् दुर्गं दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम् ।
नरकान्नरकं मूढा मोहमन्थरबुद्धयः ॥ २८ ॥
परस्परविनाशोक्तेः श्रेयःस्थो न कदाचन ।
सुखदुःखदशे राम तडित्प्रसरभङ्गुरे ॥ २९ ॥
ये विरक्ता महात्मानः सुविविक्ता भवादृशाः ।
पुरुषान् विद्धि तान् वन्द्यान् भोगमोक्षैकभाजनान् ॥ ३० ॥
विवेकं परमाश्रित्य वैराग्याभ्यासयोगतः ।
संसारसरितं घोरामिमामापदमुत्तरेत् ॥ ३१ ॥

जो दुरात्मा राज्य आदि सुखोंमें उत्तम भोगोंके आस्वादमात्रसे सन्तुष्ट हैं, उन्हें आप अन्धे मेंढक समझिए। मेंढक कुएँमें रहनेसे बाहर नहीं देख पाता, उसमें भी यदि अन्धा हो, तो कहाँसे देखेगा, यह भाव है ॥ २६ ॥

जो लोग वञ्चक, प्रबल दुराचारियों, वैषयिक सुखोंका भोग करनेवाले और मित्रसे दिखाई देनेवाले वास्तवमें शत्रुओंपर आसक्त हैं, वे लोग संकटसे संकटको, दुःखसे दुःखको, भयसे भयको और नरकसे नरकको प्राप्त होते हैं। वे लोग मूर्ख हैं और अज्ञानसे उनकी बुद्धि मन्द पड़ गई है ॥ २७,२८ ॥

'सुखके पश्चात् दुःख होता है और दुःखके पश्चात् सुख होता है, घटी-यन्त्रके समान लगातार भ्रमण कर रहा पुरुष पुनः पुनः सुख और दुःखको प्राप्त होता है' इत्यादि वाक्योंसे सुख और दुःखकी परस्पर विनाशिता कही गई है, अतः यह संसारी पुरुष कभी विश्रान्तिको प्राप्त नहीं होता। सुख और दुःखकी अवस्था बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर है ॥ २९ ॥

जो लोग आपके सदृश वैराग्ययुक्त, सम्यक् विवेकी और महात्मा हैं, भोग और मोक्षके एकमात्र भाजन वे पुरुष वन्दनीय हैं ॥ ३० ॥

परम विवेकका अवलम्बन कर वैराग्याभ्याससे आपत्तिरूप यह भीषण संसार नदी पार करनी चाहिए। विषके समान तीव्र मूर्छा देनेवाले इन मिथ्याभूत वञ्चनो-

न स्वप्तव्यं च संसारमायास्विह विजानता ।
विषमूर्च्छनसंमोहदायिनीषु विवेकिना ॥ ३२ ॥
संसारमिममासाद्य यस्तिष्ठत्यवहेलया ।
ज्वलितस्य गृहस्योच्चैः शेते तार्णस्य संस्तरे ॥ ३३ ॥
यत्प्राप्य न निवर्त्तन्ते यदासाद्य न शोचति ।
तत्पदं शेमुषीलभ्यमस्त्येवाऽत्र न संशयः ॥ ३४ ॥
नाऽस्ति चेत्तद्विचारेण दोषः को भवतां भवेत् ।
अस्ति चेत्तत्समुत्तीर्णा भविष्यथ भवार्णवात् ॥ ३५ ॥

पायोंमें नहीं सोना चाहिए । इस संसारको प्राप्त कर जो पुरुष अवहेलनासे रहता है वह जल रहे तृणमय घरके विस्तारमें गहरी नींद सोता है ॥ ३१–३३ ॥

संसारके सिवा कोई अन्य स्थान ही नहीं है, फिर किसका अवलम्बन करके संसारमें अरति करनी चाहिए ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

जिसको प्राप्त कर पुनः नहीं लौटते और जिसे प्राप्त कर फिर शोक नहीं होता, वह उत्तम पद केवल बुद्धिमात्रसे प्राप्य है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है । पुराणोंमें भी कहा है—"असत्यस्मिन् जगन्नाथे अन्धीभूतमिदं भवेत् । सूर्येणेव विहीनत्वान्निरालोकं जगद् यथा ।" (यदि जगदधिपति परमात्मा न होते, तो सूर्यसे विहीन अन्धकारपूर्ण जगत्के समान यह सब प्रपञ्च अन्धकारमय हो जाता ।) श्रुति भी है—'असन्नेव स भवति' (वह असत् ही हो जाता है जो ब्रह्मको असत् जानता है जो ब्रह्म है यों ब्रह्मकी सत्ताको जानता है, उसे 'सत्' कहते हैं) ॥ ३४ ॥

सन्दिग्धे परलोकेऽपि वरं श्रुतिपथाश्रयः ।
यदि न स्यात् तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः ॥

(परलोकके सन्देहास्पद होनेपर भी श्रुतिप्रतिपादित मार्गका अवलम्बन करना उत्तम है, यदि परलोक न हो, तो उत्तम कर्म करनेसे अपना क्या बिगड़ा, यदि हो, तो नास्तिकके मुँहमें चपेटा लगा ।) इस न्यायसे सन्देह करनेवालेके प्रति कहते हैं—'नास्ति चेत्' इत्यादिसे ।

यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया कि ब्रह्म नहीं है तो भी उसके विचारसे आपका कौन दोष होगा, यदि है, तो उसके विचारसे आप संसारसागरको पार कर जायँगे ॥ ३५ ॥

प्रवृत्तिः पुरुषस्येह मोक्षोपायविचारणे ।
यदा भवत्याशु तदा मोक्षभागी स उच्यते ॥ ३६ ॥
अनपायि निराशङ्कं स्वास्थ्यं विगतविभ्रमम् ।
न विना केवलीभावाद् विद्यते भुवनत्रये ॥ ३७ ॥
तत्प्राप्तावुत्तमप्राप्तौ न क्लेश उपजायते ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ३८ ॥
न हस्तपादचलनं न देशान्तरसङ्गमः ।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयाः ॥ ३९ ॥

ऐसी अवस्थामें सभी लोग मोक्षके लिए प्रवृत्त क्यों नहीं होते, ऐसी शङ्का कर

'यावन्नाऽनुग्रहः साक्षाज्जायते परमेशितुः ।
तावन्न सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रं वाऽपि विन्दति ॥

(जबतक साक्षात् परमेश्वरकी असीम अनुकम्पा नहीं होती तबतक वह सद्गुरु या सत् शास्त्रको नहीं पाता) इत्यादि वचनसे ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त होनेवाली मोक्षभाजनतासे शोभित महान् लोगोंकी ही प्रवृत्ति मोक्षसाधनमें होती है, सबकी नहीं, ऐसा कहते हैं—'प्रवृत्ति०' इत्यादिसे ।

इस लोकमें जब पुरुषकी मोक्षके उपायके विचारमें प्रवृत्ति होती है तब वह शीघ्र मोक्षभागी कहा जाता है । प्रवृत्तिका फल मोक्षभागिता प्रवृत्तिरूप लिङ्गसे अनुमेय है, यह भाव है ॥ ३६ ॥

देह, इन्द्रिय और विषयसे शून्य केवलीभाव (अद्वैतभाव) में हेतु इस शास्त्रसे क्या प्रयोजन है, देह आदिके रहनेपर ही दूसरे उपायोंसे भी स्वर्गादि-सुख हो सकता है, ऐसी शङ्का कर कहते हैं—'अनपायि' इत्यादिसे ।

विनाशरहित, किसी प्रकारकी अशुभ आशङ्कासे रहित, स्वस्थतायुक्त एवं विशिष्ट भ्रमसे रहित सुख केवलीभावके बिना तीनों भुवनोंमें कहीं नहीं है । स्वर्ग आदि विनाशी है, उनमें पतनकी शङ्का सदा बनी रहती है और दूसरेके उत्कर्षसे चित्त अस्वस्थ भी बना रहता है, इसलिए केवलीभाव ही पुरुषार्थ है ॥ ३७ ॥

प्रवृत्ति होनेपर केवलीभावकी प्राप्ति होती है । केवलीभावकी प्राप्ति होनेपर क्लेश नहीं होता । न धनसम्पत्ति उपकार करती है, न मित्र उपकार करते हैं और न बन्धुबान्धव ही उपकार करते है । न प्रणाम आदि, न तीर्थयात्रा आदि, न उप-

पुरुषार्थैकसाध्येन वासनैकार्थकर्मणा ।
केवलं तन्मनोमात्रजयेनाऽऽसाद्यते पदम् ॥ ४० ॥
विवेकमात्रसाध्यं तद्विचारैकान्तनिश्चयम् ।
त्यजता दुःखजालानि नरेणैतदवाप्यते ॥ ४१ ॥
सुखसेव्यासनस्थेन तद्विचारयता स्वयम् ।
न शोच्यते पदं प्राप्य न स भूयो हि जायते ॥ ४२ ॥
तत्समस्तसुखासारसीमान्तं साधवो विदुः ।
तदनुत्तमनिष्पन्दं परमाहू रसायनम् ॥ ४३ ॥
क्षयित्वात् सर्वभावानां स्वर्गमानुष्ययोर्द्वयोः ।
सुखं नाऽस्त्येव सलिलं मृगतृष्णास्विवैतयोः ॥ ४४ ॥
अतो मनोजयश्चिन्त्यः शमसन्तोषसाधनः ।
अनन्तसमसंयोगस्तस्मादानन्द आप्यते ॥ ४५ ॥

वास, न तीर्थवास उपकार करते है, केवल एकमात्र श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन-रूप पुरुषकारसे एवं द्वैतवासनाविरोधी ब्रह्माकार दृढ़वासनाके तुल्य विषयवाले कर्मसे साध्य साक्षात्कारसे हुए केवल मनोमात्ररूप द्वैतके मूलोच्छेदरूप जयसे वह पद प्राप्त किया जाता है ॥ ३८–४० ॥

देह, इन्द्रिय आदिसे आत्माका पृथक्करणरूप विवेकमात्रसे प्राप्त होनेवाला एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे असम्भावनादिका निराकरणरूप विचार और एकाग्रतासे निश्चय करनेके योग्य वह उत्तम पद विषयोंका त्याग कर रहे पुरुष द्वारा प्राप्त किया जाता है ॥ ४१ ॥

सुखसेव्य आसनपर बैठे हुए और स्वयं उसका विचार कर रहे पुरुषको उक्त पद प्राप्त करके न तो शोक होता है और न फिर वह उत्पन्न ही होता है ॥४२॥

उसको विद्वान् लोग संसारमें साररूपसे प्रसिद्ध सुखोंके आसारोंका (वेगवती वृष्टियोंका) मेघरूप परम अवधि कहते हैं और ध्यान करनेवालोंमें जिससे अत्युत्तम आनन्द रसका आभिर्भाव होता है, ऐसा परम रसायन कहते हैं ॥ ४३ ॥

स्वर्ग और मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण भावोंके विनाशशील होनेसे जैसे मृग-तृष्णामें जल नहीं होता, वैसे इन दोनोंमें सुख नहीं ही है ॥ ४४ ॥

इसलिए शान्ति और सन्तोषका एकमात्र साधन मनके विजयका विचार

तिष्ठता गच्छता चैव पतता भ्रमता तथा ।
रक्षसा दानवेनाऽपि देवेन पुरुषेण वा ॥ ४६ ॥
मनःप्रशमनोद्भूतं तत्प्राप्यं परमं सुखम् ।
विकासि शमपुष्पस्य विवेकोच्चतरोः फलम् ॥ ४७ ॥
व्यवहारपरेणाऽपि कार्यवृन्दमविन्दता ।
भानुनेवाऽम्बरस्थेन नोज्झ्यते न च वाञ्छ्यते ॥ ४८ ॥
मनः प्रशान्तमत्यच्छं विश्रान्तं विगतभ्रमम् ।
अनीहं विगताभीष्टं नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ ४९ ॥
मोक्षद्वारे द्वारपालानिमाञ्छृणु यथाक्रमम् ।
येषामेकतमासक्त्या मोक्षद्वारं प्रविश्यते ॥ ५० ॥

करना चाहिए । उससे परमात्मामें एकरसतारूप आनन्द प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

राक्षस, दानव, देवता या मनुष्यको बैठते, चलते, गिरते, घूमते मनके विजयसे उत्पन्न तथा प्रफुल्ल (विकसित) शमरूपी (शान्तिरूपी) पुष्पोंसे युक्त विवेकरूपी उत्कृष्ट वृक्षका (कल्पवृक्षका) फल (परम सुख) प्राप्त करना चाहिए ॥ ४६,४७ ॥

उक्त सुखके प्राप्त होनेपर भी फिर व्यवहारमें प्रसक्ति होनेपर वह नष्ट हो जायगा, इस शङ्कापर कहते हैं—'व्यवहार०' इत्यादिसे ।

व्यवहारमें संलग्न होनेपर भी कार्यजन्य फलको न प्राप्त हो रहे पुरुष द्वारा आकाशस्थित सूर्यके समान परिपूर्ण होनेपर भी हेय न होनेके कारण उक्त परम सुख न तो छोड़ा जाता है और परिपूर्ण होनेके कारण न चाहा जाता है अर्थात् जैसे आकाशस्थित सूर्य द्वारा परिपूर्ण होनेपर भी कल्पवृक्षका फल हेय न होनेके कारण नहीं छोड़ा जाता और परिपूर्ण होनेके कारण वे उसकी अभिलाषा भी नहीं करते, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

मनके रहनेपर चाह क्यों न होगी ? इसपर कहते हैं—'मनः' इत्यादिसे ।

प्रशान्त, अतिनिर्मल, विश्रान्ति-सुखसे पूर्ण, भ्रमरहित, स्पृहारहित और अभीष्टशून्य मन न तो किसी वस्तुकी अभिलाषा करता है और न किसीका त्याग करता है ॥ ४९ ॥

श्रीरामजी, पूर्वमें उक्त भी इस समय विस्तारपूर्वक कहे जा रहे मोक्षके द्वार-

सुखदोषदशादीर्घा संसारमरुमण्डली ।
जन्तोः शीतलतामेति शीतरश्मेः समप्रभा ॥ ५१ ॥
शमेनाऽऽसाद्यते श्रेयः शमो हि परमं पदम् ।
शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम् ॥ ५२ ॥
पुंसः प्रशमतृप्तस्य शीतलाच्छतरात्मनः ।
शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ॥ ५३ ॥
शमचन्द्रमसा येषामाशयः समलङ्कृतः ।
क्षीरोदानामिवोदेति तेषां परमशुद्धता ॥ ५४ ॥
हृत्कुशेशयकोशेषु येषां शमकुशेशयम् ।
सतां विकसितं ते हि द्विहृत्पद्माः समा हरेः ॥ ५५ ॥
शमश्रीः शोभते येषां मुखेन्दावकलङ्किते ।
ते कुलीनेन्दवो वन्द्याः सौन्दर्यविजितेन्द्रियाः ॥ ५६ ॥

पर स्थित इन द्वारपालोंको क्रमशः सुनिए, उनमें से एकपर भी आसक्ति होनेसे मोक्षके द्वारमें प्रवेश प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

सर्गकी समाप्तितक शमका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'सुख०' इत्यादिसे।

सुखकी आशारूप तृषातापके तुल्य दोषदशासे दीर्घ संसाररूपी मरुमण्डली शमसे चन्द्रमाकी प्रभाके समान शीतलताको प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

शमसे कल्याण प्राप्त होता है, शम परम पद है, शम शिव है, शम भ्रान्तिका निरास है। शमसे तृप्त, शीतल और निर्मल आत्मावाले एवं शमसे जिसका चित्त विभूषित है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है ॥ ५२,५३ ॥

शमरूपी चन्द्रमासे जिनका आशय अलङ्कृत है, क्षीरसागरोंकी नाईं उनमें परमशुद्धता उत्पन्न होती है अर्थात् जैसे क्षीरसागरोंमें अतिशुभ्रता विराजमान रहती है वैसे ही उनमें शुद्धताका साम्राज्य रहता है ॥ ५४ ॥

जिन सज्जनोंके हृदयरूपी कमलकोषोंमें शमरूपी कमल विकसित है, दो हृदयकमलवाले वे लोग भगवान् श्रीविष्णुके तुल्य हैं। भाव यह कि विष्णु भगवान्का हृदयकमल ही बाहर ब्रह्माका आसन है, अतः वह दो प्रकारका है ॥ ५५ ॥

जिनके कलङ्करहित मुखचन्द्रमें शमश्री शोभित होती है, अपने सौन्दर्यरूप

त्रैलोक्योदरवर्तिन्यो नाऽऽनन्दाय तथा श्रियः ।
साम्राज्यसम्पत्प्रतिमा यथा शमविभूतयः ॥ ५७ ॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः ।
तत्सर्वं शान्तचेतःसु तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥ ५८ ॥

मनो हि सर्वभूतानां प्रसादमधिगच्छति ।
न तथेन्दोर्यथा शान्ते जने जनितकौतुकम् ॥ ५९ ॥

शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु ।
सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥ ६० ॥

मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ ६१ ॥

न रसायनपानेन न लक्ष्म्याऽऽलिङ्गनेन च ।
तथा सुखमवाप्नोति शमेनाऽन्तर्यथा मनः ॥ ६२ ॥

गुणोंसे जिन्होंने अन्य लोगोंके नेत्र, मन आदि इन्द्रियाँ अपने वशमें कर ली हैं, वे कुलीनशिरोमणि हैं और वन्दनीय हैं ॥ ५६ ॥

तीनों लोकोंके मध्यमें स्थित राज्यलक्ष्मी वैसे आनन्दके लिए नहीं होती जैसे कि (केवल आकारसे ही) साम्राज्यसम्पत्तिके सदृश (न कि अन्य गुणोंसे) शम-सम्पत्ति आनन्दके लिए होती है ॥ ५७ ॥

जो विविध दुःख हैं, दुःसह तृष्णाएँ हैं और दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब शान्तचित्तवाले पुरुषोंमें इस प्रकार नाशको प्राप्त होते हैं, जैसे कि अनेक सूर्योंके प्रकाशमें अन्धकार विनष्ट हो जाता है ॥ ५८ ॥

शान्त (शमयुक्त) पुरुषके दर्शनसे सब प्राणियोंका मन जैसी कौतुकपूर्ण प्रसन्नताको प्राप्त होता है, चन्द्रमाके दर्शनसे वैसी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती ॥ ५९ ॥

शान्तियुक्त और सब प्राणियोंमें प्रेम करनेवाले सज्जनतम पुरुषमें परम तत्त्व स्वयं ही (अनायास) प्रसन्नताको (निर्मलताको) प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

हे रामजी, जैसे प्राणियोंका अपनी मातापर विश्वास होता है, वैसे ही क्रूर-कुटिल और मृदु सब प्राणियोंका शमशाली पुरुषपर विश्वास होता है ॥ ६१ ॥

पुरुषको इन्द्रपद प्राप्त होनेपर अमृतके पानसे और भगवान् विष्णुका पद

सर्वाधिव्याधिचलितं क्रान्तं तृष्णावरत्रया ।
मनः शमामृतासेकैः समाश्वासय राघव ॥ ६३ ॥
यत्करोषि यदश्नासि शमशीतलया धिया ।
तत्राऽतिस्वदते स्वादु नेतरत्तात मानसे ॥ ६४ ॥
शमामृतरसाच्छन्नं मनो यामेति निर्वृतिम् ।
छिन्नान्यपि तयाऽङ्गानि मन्ये रोहन्ति राघव ॥ ६५ ॥
न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः ।
न च व्याघ्रभुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥ ६६ ॥
सुसंनद्धसमस्ताङ्गं प्रशमामृतवर्मणा ।
वेधयन्ति न दुःखानि शरा वज्रशिलामिव ॥ ६७ ॥
न तथा शोभते राजा अप्यन्तःपुरसंस्थितः ।
समया स्वच्छया बुद्ध्या यथोपशमशीलया ॥ ६८ ॥

प्राप्त होनेपर लक्ष्मीके आलिङ्गनसे वैसा सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जैसा कि शमसे अन्तःकरणमें सुख प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

हे रामचन्द्रजी, सम्पूर्ण आधि और व्याधियोंसे ग्रस्त और तृष्णारूपी रस्सीसे आक्रान्त मनको शमरूपी अमृतके सेकोंसे प्रकृतिस्थ कीजिए ॥ ६३ ॥

शमसे शीतल बुद्धिसे जो कुछ कार्य करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, वह मनको अत्यन्त स्वादु लगता है। उक्त बुद्धिसे भिन्न बुद्धिसे जो कुछ कर्म किया जाता है एवं भोजन किया जाता है, वह स्वादु नहीं लगता है ॥ ६४ ॥

हे रामचन्द्रजी, शमरूपी अमृतरससे आप्लावित मन ऐसे आनन्दको प्राप्त होता है कि उससे कटे हुए अङ्ग भी उग जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ६५ ॥

शमशाली पुरुषका न पिशाच, न राक्षस, न दैत्य, न शत्रु, न बाघ और साँप कोई भी द्वेष नहीं करते ॥ ६६ ॥

जैसे बाण हीरेको नहीं छेद सकते, वैसे ही उत्कृष्ट शमरूपी अमृत-कवचसे जिसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुरक्षित हैं, उसे सम्पूर्ण दुःख पीड़ित नहीं कर सकते ॥ ६७ ॥

अपने राजमहलमें विराजमान राजाको भी वह शोभा प्राप्त नहीं हो सकती, जो शोभा स्वच्छ और शमसे शोभायमान समबुद्धिसे युक्त पुरुषको प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

प्राणात्प्रियतरं दृष्ट्वा तुष्टिमेति न वै जनः ।
यामायाति जनः शान्तिमवलोक्य शमाशयम् ।। ६९ ।।

समया शमशालिन्या वृत्त्या यः साधु वर्तते ।
अभिनन्दितया लोके जीवतीह स नेतरः ।। ७० ।।

अनुद्धतमनाः शान्तः साधुः कर्म करोति यत् ।
तत्सर्वमभिनन्दन्ति तस्येमा भूतजातयः ।। ७१ ।।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ।। ७२ ।।

यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ।। ७३ ।।

स्पृष्ट्वाऽवदातया बुद्ध्या यथैवाऽन्तस्तथा बहिः ।
दृश्यन्ते यत्र कार्याणि स शान्त इति कथ्यते ।। ७४ ।।

शान्त अन्तःकरणवाले पुरुषका दर्शन कर मनुष्यको जो अलौकिक आनन्द होता है, वह आनन्द अपने प्राणोंसे भी प्रियतर जनको देखकर नहीं होता ।। ६९ ।।

इस संसारमें जो महात्मा शमसे शोभित एवं सब लोगों द्वारा प्रशंसित समवृत्तिसे सबके साथ सुन्दर वर्ताव करता है, उसीका जीवन सार्थक है, दूसरेका नहीं ।।७०।।

शमसे परिपूर्ण तथा उद्धतताशून्य मनवाला साधु पुरुष जो कुछ भी कर्म करता है, ये सम्पूर्ण प्राणी उसके उस कर्मकी प्रशंसा करते हैं ।। ७१ ।।

जो पुरुष प्रिय और अप्रियको सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूंघकर क्रमशः न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, वह शान्त कहा जाता है ।।७२।।

जो पुरुष प्रयत्नसे इन्द्रियोंको जीतकर सब प्राणियोंमें समान वर्ताव करता है और सुख आदिकी न तो इच्छा करता है और न प्रारब्ध प्राप्तका त्याग करता है, वह शान्त कहा जाता है ।। ७३ ।।

दूसरे लोगोंकी कुटिलताको जानकर भी जिसमें बाहर-भीतर एक सी निर्मल बुद्धिसे मोक्षके उपायरूप कर्तव्य कार्य देखे जाते हैं, वह शान्त कहा जाता है ।। ७४ ।।

तुषारकरबिम्बाभं मनो यस्य निराकुलम् ।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥ ७५ ॥

स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति ।
यः सुषुप्तसमः स्वस्थः स शान्त इति कथ्यते ॥ ७६ ॥

अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति ।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥ ७७ ॥

योऽन्तःशीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति ।
व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥ ७८ ॥

अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि ।
तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥ ७९ ॥

आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः ।
कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥ ८० ॥

चन्द्रबिम्बके समान कान्तिवाला जिसका मन मृत्यु, उत्सव और युद्धमें क्रमशः भय, अनुराग और क्रोधसे सन्तापरहित रहता है, वह शान्त कहा जाता है ॥७५॥

हर्ष और कोपके निमित्तवाले प्रदेशमें स्थित भी जो पुरुष वहाँ स्थित न हुएके तुल्य न हर्षको प्राप्त होता है और न कोप करता है, किन्तु सुषुप्त पुरुषके समान स्वस्थ रहता है, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७६ ॥

जिसकी अमृतके झरनेके समान सुखप्रद और प्रसन्न दृष्टि सब जन्तुओंके ऊपर पड़ती है, वह शान्त कहलाता है ॥ ७७ ॥

अतिशीतल अन्तःकरणवाला जो पुरुष व्यवहार करता हुआ भी सांसारिक विषयोंमें आसक्त नहीं होता और मूढ़ नहीं है, वह शान्त कहा जाता है ॥ ७८ ॥

बड़ीसे बड़ी आपत्तियोंमें भी तथा दीर्घकालतक रहनेवाले बड़े-बड़े प्रलयोंमें भी जिसकी नश्वर देह आदिमें अहंबुद्धि नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७९ ॥

व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी ब्रह्मके समान समरस या आकाशके समान विकारको प्राप्त न होनेवाली बुद्धि राग-द्वेष आदिके सम्पर्कको प्राप्त नहीं होती, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ८० ॥

तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥ ८१ ॥
शमसंसक्तमनसां महतां गुणशालिनाम् ।
उदेति निर्वृतिश्चित्ताज्ज्योत्स्नेव सितरोचिषः ॥ ८२ ॥
सीमान्तो गुणपूगानां पौरुषैकान्तभूषणम् ।
संकटेषु भयस्थाने शमः श्रीमान् विराजते ॥ ८३ ॥
शममममृतमहार्यमार्यगुप्तं परमवलम्ब्य परं पदं प्रयाताः ।
रघुतनय यथा महानुभावाः क्रममनुपालय सिद्धये तमेव ॥८४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे शमनिरूपणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

लोकमें सम्पूर्ण गुणोंमें शम सर्वाधिक श्रेष्ठतासे प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'तपस्विषु' इत्यादिसे ।

तपस्वियोंमें, विद्वानोंमें, यज्ञकर्ताओंमें, राजाओंमें, बलवान् पुरुषोंमें एवं अन्यान्य प्रचुर गुणोंसे विभूषित लोगोंमें शमयुक्त (शान्त) पुरुष ही अधिक शोभित होता है ॥ ८१ ॥

जैसे चन्द्रमासे चाँदनी उदित होती है वैसे ही जिन गुणशाली सज्जनोंका चित्त शमपूर्ण है, उनके हृदयसे आनन्दका स्रोत उद्भत होता है ॥ ८२ ॥

सम्पूर्ण गुणोंकी अवधि (सीमा), पुरुषोंका मुख्य भूषण एवं सम्पूर्ण गुणोंकी सम्पत्तिसे युक्त शम संकटोंमें और भयपूर्ण स्थानोंमें भी विराजमान रहता है—संकट और भयसे पुरुषको मुक्त कर देता ॥ ८३ ॥

हे रघुनन्दन, दूसरोंके द्वारा न चुराया जा सकनेवाला तथा पूज्य जनों द्वारा बड़ी सावधानतासे सुरक्षित परम साधनभूत शमरूपी अमृतके अवलम्बनसे अनेक महानुभाव जिस क्रमसे परम पदको प्राप्त हुए हैं, आप भी सिद्धिके लिए उसी क्रमका अवलम्बन कीजिए ॥ ८४ ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्दशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया ।
कर्त्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥ १ ॥

चौदहवाँ सर्ग

[साधुसंगम, सत् शास्त्रके अभ्यास और अन्त करणकी शुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त एवं शम और सन्तोषके हेतु विचारकी प्रशंसा]

पूर्वोक्त रीतिसे शमनामक पहले मोक्षद्वारपालका वर्णन कर विचार नामक दूसरे द्वारपालका वर्णन करनेवाले वसिष्ठजी बोले—'शास्त्रा०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजनका विभागपूर्वक ज्ञान रखनेवाले पुरुषको शास्त्रज्ञानसे निर्मल परम पवित्र (विशुद्ध) बुद्धिसे नित्य निरन्तर आत्माका विचार * करना चाहिए ।

---

* विचार पाँच प्रकारके हैं—अर्थ और अनर्थके कारणका विचार, सार और असारका विचार, हेय और उपादेयका विचार, प्रमाणके तात्पर्यका विचार एवं आत्मतत्त्वविचार । उक्त पाँच प्रकारके विचारोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति और विषयोंमें अनर्थकारिता और शास्त्रीय प्रवृत्ति एवं वैराग्यमे पुरुषार्थहेतुता है, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे परीक्षणरूप प्रथम विचार है । स्त्री, पुत्र और अपनी देहमें स्वभावसे, बीजसे और परिणामसे अशुचिता, विषमूत्ररूपता और अमङ्गलताका परीक्षणरूप और ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण सुखोंमें अनित्यत्व तथा दुःखमिश्रितत्व आदिका परीक्षणरूप दूसरा विचार है । ये दोनों वैराग्य और मुमुक्षाके हेतु हैं । मुमुक्षाके अनन्तर भी मोक्षसाधन केवल कर्म है या केवल उपासना है या वे दोनों मिलकर हैं अथवा ज्ञानसमुच्चित कर्म और उपासना मोक्षसाधन हैं अथवा केवल ज्ञान ही मोक्षका साधन है, इस प्रकार परीक्षणरूप तीसरा विचार है ।

ज्ञान ही मोक्षका साधन है, ऐसा मान लेनेपर भी साङ्ख्य, वैशेषिक आदिका अभिमत ज्ञान मोक्षका साधन है या केवल श्रौत ज्ञान ही । श्रौत ज्ञानके मोक्षसाधन होनेपर भी श्रुतियोंका द्वैतमें अथवा अद्वैतमें सविशेष या निर्विशेष आत्मामें या अनात्मामें तात्पर्य है, इस प्रकार परीक्षणरूप चौथा विचार है । वह श्रवण कहलाता है । श्रुति आदि प्रमाणोंका अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तात्पर्यज्ञान होनेपर भी अपनी आत्मामें परमार्थरूपसे सच्चिदानन्द-घनता हो सकती है या नहीं, इस विषयका रत्नपरीक्षान्यायसे अनुभवी गुरु और सतीर्थ्य आदिके संवादसे जीव, ईश्वर और जगत्तत्त्वके परिशोधनसे निश्चय होनेतक परीक्षणरूप पाँचवाँ विचार है । उक्त पाँच विचारोंमें से आदि तीनका फल साधन

विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम् ।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ॥ २ ॥
आपद्वनमनन्तेहापरिपल्लविताकृति ।
विचारक्रकचच्छिन्नं नैव भूयः प्ररोहति ॥ ३ ॥
मोहेन बन्धुनाशेषु सङ्कटेषु समेषु च ।
सर्वं व्याप्तं महाप्राज्ञ विचारो हि सतां गतिः ॥ ४ ॥
न विचारं विना कश्चिदुपायोऽस्ति विपश्चिताम् ।
विचारादशुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥ ५ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिः क्रिया फलम् ।
फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥ ६ ॥
युक्तायुक्तमहादीपमभिवाञ्छितसाधकम् ।
स्फारं विचारमाश्रित्य संसारजलधिं तरेत् ॥ ७ ॥

बुद्धि विचारसे सूक्ष्म तत्त्वके ग्रहणमें निपुण होकर परम पदको देखती है, इसलिए विचार संसाररूपी महारोगकी महौषधि है ॥ २ ॥

अनन्त प्रवृत्तियोंसे चारों ओरसे पल्लवित आकारवाला आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरोंसे काटे जानेपर फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ३ ॥

हे महाप्राज्ञ, बन्धुनाश आदि दुःखोंमें और सम्पूर्ण संकटोंके उपस्थित होनेपर जो उचित कर्तव्य है, जिससे दुःख दूर हो और चित्तमें शान्ति आवे, वह मोहसे व्याप्त है अर्थात् बुद्धिमें स्फुरित नहीं होता । वहाँपर विचार ही सज्जनोंका परम आश्रय है अर्थात् उचित कर्तव्यके अनुसन्धानमें हेतु है ॥ ४ ॥

दुःखसन्तरणके लिए विद्वानोंके पास विचारके सिवा और कोई उपाय नहीं है, सज्जनोंकी मति विचारसे अशुभका त्यागकर शुभको प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

बुद्धिमानोंके बल, बुद्धि, सामर्थ्य और समयोचित स्फूर्ति, क्रिया और उसका फल ये सब विचारसे ही सफल होते हैं ॥ ६ ॥

यह युक्त है और वह अयुक्त है, इसके प्रकाशनमें महादीपकरूप एवं अभीष्ट

चतुष्टयकी सम्पत्ति है और अन्तिम दोका फल क्रमश. प्रमाण और प्रमेयमें असम्भावनाकी निवृत्ति है । प्रथम तीन यद्यपि भाग्यवश स्वतः भी प्राप्त हो जाते हैं, तथापि अपनी प्रतीतिको दृढ करनेके लिए फिर गुरुशास्त्रपूर्वक उनकी प्राप्ति करनी चाहिए । अन्तिम दो तो गुरु और शास्त्रसे ही प्राप्त होते हैं, इसीलिए ऊपर श्लोकमें सर्वसाधारणरूपसे 'शास्त्रावबोधामलया धिया' कहा है ।

आलूनहृदयाम्भोजान् महामोहमतङ्गजान् ।
विदारयति शुद्धात्मा विचारो नाम केसरी ॥ ८ ॥
मूढाः कालवशेनेह यद्गताः परमं पदम् ।
तद्विचारप्रदीपस्य विजृम्भितमनुत्तमम् ॥ ९ ॥
राज्यानि संपदः स्फारा भोगो मोक्षश्च शाश्वतः ।
विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघव ॥ १० ॥
या विवेकविकासिन्यो मतयो महतामिह ।
न ता विपदि मज्जन्ति तुम्बकानीव वारिणि ॥ ११ ॥
विचारोदयकारिण्या धिया व्यवहरन्ति ये ।
फलानामत्युदाराणां भाजनं हि भवन्ति ते ॥ १२ ॥
मूर्खहृत्काननस्थानामाशाप्रथमरोधिनाम् ।
अविचारकरञ्जानां मञ्जर्यो दुःखरीतयः ॥ १३ ॥

वस्तुकी सिद्धि करनेवाले प्रचुर विचारका अवलम्बन कर संसाररूप सागरको पार करना चाहिए ॥ ७ ॥

हृदयस्थित विवेकरूप कमलको कुचल डालनेवाले महामोहरूपी हाथियोंको विशुद्ध विचाररूपी सिंह मार डालता है ॥ ८ ॥

संसारसंतरणके उपायके अनभिज्ञ लोग समय पाकर जो परमपदको प्राप्त हुए हैं, वह विचाररूप प्रदीपका ही उपायप्रकाशनजन्य सर्वोत्तम फल है ॥ ९ ॥

हे राघव, बड़े-बड़े राज्य, महती सम्पत्तियाँ, भोग और अविनाशी मोक्ष ये सब विचाररूपी कल्पवृक्षके फल हैं ॥ १० ॥

इस संसारमें महापुरुषोंकी विवेकसे विकसित जो मतियाँ हैं वे जलमें फेंकी गई तुम्बियोंके समान विपत्तिमें विषादको प्राप्त नहीं होतीं ॥ ११ ॥

जो लोग विचारको उत्पन्न करनेवाली (विचारवती) बुद्धिसे व्यवहार करते हैं, वे लोग अतिश्रेष्ठ फलोंके पात्र होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१२॥

विविध दुःख मूर्खोंके हृदयरूपी वनमें स्थित तथा मुमुक्षाको (मुक्तिकी इच्छाको) सर्व प्रथम रोकनेवाले अविचाररूपी करञ्ज वृक्षकी मञ्जरियाँ हैं अर्थात् जैसे करञ्ज वृक्ष वनमें उगते हैं और अपने बढ़ावसे दिशाओंको रोकते हैं वैसे ही अविचार मूर्खजनोंके हृदयमें वास करता है और मोक्षकी आशाको रोक देता है । उसी अविचारका फल दुःख है ॥ १३ ॥

कज्जलक्षोदमलिना मदिरामदधर्मिणी ।
अविचारमयी निद्रा यातु ते राघव क्षयम् ॥ १४ ॥

महापदतिदीर्घेषु सद्विचारपरो नरः ।
न निमज्जति मोहेषु तेजोराशिस्तमःस्विव ॥ १५ ॥

मानसे सरसि स्वच्छे विचारकमलोत्करः ।
नूनं विकसितो यस्य हिमवानिव भाति सः ॥ १६ ॥

विचारविकला यस्य मतिर्मान्द्यमुपेयुषः ।
तस्योदेत्यशनिश्चन्द्रान्मुधा यक्षः शिशोरिव ॥ १७ ॥

दुःखखण्डकमस्थूलं विपन्नवलतामधुः ।
राम दूरे परित्याज्यो निर्विवेको नराधमः ॥ १८ ॥

हे रघुवंशमणे, आपकी अञ्जनके चूर्णके ढेरके समान काली और मदिरा (शराब) के नशेमें होनेवाले चिह्नोंसे—भ्रम और स्खलन आदिसे—युक्त अविचाररूपी नींद नाशको प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जैसे सूर्य निबिड़ अन्धकारोंमें भी निमग्न नहीं होता, किन्तु स्वयं अन्धकारका विनाश कर सदा प्रकाशमान रहता है, वैसे ही सद्विचारमें तत्पर पुरुष बड़ी बड़ी आपत्तियोंसे युक्त एवं अतिविस्तारयुक्त अज्ञानोंमें निमग्न नहीं होता ॥ १५ ॥

जिसके अतिनिर्मल मनरूपी तालाबमें विचाररूपी कमलराशि खिल जाती है, वह हिमालयकी भाँति शोभाको प्राप्त होता है। अर्थात् शीतलता, उन्नतता, स्थिरता आदि गुणोंसे हिमवान्के सदृश शोभित होता है। हिमालयमें भी निर्मल मानस सरोवर है और उसमें सदा कमल खिले रहते हैं ॥ १६ ॥

मूढताको प्राप्त हुए जिस पुरुषकी बुद्धि विचारशून्य है, उसके लिए चन्द्रमासे वज्र उत्पन्न होता है, जैसे मूर्खतावश बालकके लिए यक्ष (वेताल) उत्पन्न होता है। भाव यह है कि मनका देवता चन्द्रमा है और मन चन्द्रमाकी नाईं प्रकाशके योग्य है, इसलिए मनमें चाँदनीके तुल्य ज्ञानजन्य सुखका ही आविर्भाव होना उचित है। जिस मूर्खके मनमें शोक, दुःखकी उत्पत्ति होती है, उसके लिए चन्द्रमासे भी वज्र उत्पन्न होता है, जैसे कि बालककी मूर्खतासे वेताल उत्पन्न होता है ॥१७॥

विवेकशून्य अधम पुरुष निरन्तर दुःख-बीजोंको रखनेके लिए बनाया गया

ये केचन दुरारम्भा दुराचारा दुराधयः ।
अविचारेण ते भान्ति वेतालास्तमसा यथा ॥ १९ ॥
अविचारिणमेकान्तवनद्रुमसधर्मकम् ।
अक्षमं साधुकार्येषु दूरे कुरु रघूद्वह ॥ २० ॥
विविक्तं हि मनो जन्तोराशावैवश्यवर्जितम् ।
परां निर्वृतिमभ्येति पूर्णचन्द्र इवाऽऽत्मनि ॥ २१ ॥
विवेकितोदिता देहे सर्वं शीतलयत्यलम् ।
अलङ्करोति चाऽत्यन्तं ज्योत्स्नेव भुवनं यथा ॥ २२ ॥
परमार्थपताकाया धियो धवलचामरम् ।
विचारो राजते जन्तोरजन्यामिव चन्द्रमाः ॥ २३ ॥

अति विशाल कुसूल (कोठिला) है, एवं विपत्तिरूपी नवीन लताओंके विकाशका कारण वसन्त है, ऐसे अधम पुरुषका दूरसे त्याग कर देना चाहिए ॥ १८ ॥

जो कोई अपनेको और दूसरोंको दुःख देनेवाले कार्य हैं, जो कोई निषिद्ध कार्य हैं और जो मानसिक पीड़ाएँ हैं, वे सब अन्धकारसे वेतालकी नाईं अविचारसे (अविवेकसे) ही उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

हे रघुकुलतिलक, जिस पुरुषमें विवेक नहीं है, वह निर्जन स्थानमें उगे हुए वनवृक्षके सदृश है और पुरुषार्थके उपयोगी सत्कर्म करनेमें असमर्थ है, उससे सदा दूर रहना चाहिए । निर्जनमें उत्पन्न वृक्ष भी सज्जन बटोहियोंको छायामें आश्रय देना आदि कार्योंमें असमर्थ रहता है ॥ २० ॥

विचारपूर्ण अतएव आशाकी अधीनतासे विमुक्त अधिकारी प्राणियोंका मन पूर्णचन्द्रकी नाईं आत्मामें परम विश्रामसुखको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

जैसे उदित हुई चाँदनी अत्यन्त शोभा कर देती है और जल प्यासे प्राणीको शीतल कर देता है, वैसे ही देहमें जब विवेकशीलता उदित होती है, तब वह सबको अत्यन्त विभूषित कर देती है और शीतल कर देती है ॥ २२ ॥

जैसे रात्रिमें चन्द्रमा शोभित होता है अर्थात् रात्रिका असाधारण चिह्न चन्द्रमा शोभित होता है, वैसे ही अधिकारी ब्राह्मण आदि कुलमें जन्म लिए हुए पुरुषकी सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थरूप (मोक्षरूप) राजत्वप्राप्तिकी सूचिका होनेके

विचारचारवो जीवा भासयन्तो दिशो दश ।
भान्ति भास्करवन्नूनं भूयोभवभयापहाः ॥ २४ ॥
बालस्य स्वमनोमोहकल्पितः प्राणहारकः ।
रात्रौ नभसि वेतालो विचारेण विलीयते ॥ २५ ॥
सर्वं एव जगद्भावा अविचारेण चारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचारविशरारवः ॥ २६ ॥
पुंसो निजमनोमोहकल्पितोऽनल्पदुःखदः ।
संसारचिरवेतालो विचारेण विलीयते ॥ २७ ॥
समं सुखं निराबाधमनन्तमनपाश्रयम् ।
विद्धीमं केवलीभावं विचारोच्चतरोः फलम् ॥ २८ ॥

कारण पताकाभूत शुद्ध बुद्धिका विचार चँवर-सा (असाधारण राजचिह्न-सा) शोभित होता है ॥ २३ ॥

विचारसे ही क्रमशः जीवन्मुक्त हुए जीव दसों दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए सूर्यके तुल्य सुशोभित होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं, अपने प्रकाशसे सूर्य अन्धकारका विनाश करते हैं और ये विचाररूपी प्रकाशसे अनेक प्राणियोंके संसार-रूपी अन्धकारका विनाश करते हैं ॥ २४ ॥

जैसे रात्रिमें बालकको बाहर न निकलने देनेके लिए आकाशमें कल्पित प्राणनाशक वेताल विचारसे विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अपने मनके अज्ञानसे कल्पित स्वरूपका विनाशक यह संसार विचारसे विलीन हो जाता है ॥ २५ ॥

जगत्के सभी पदार्थ अविचार न करनेसे ही भले जँचते हैं, सत्य पदार्थकी नाईं सुन्दर लगते हैं, वास्तवमें उनका अस्तित्व नहीं है, इसीलिए वे विचार करनेसे पत्थरसे तोड़े गये मिट्टीके ढेलेकी नाईं तहस-नहस हो जाते हैं, मिथ्या प्रतीत हो जाते हैं ॥ २६ ॥

यह संसाररूपी पुराना वेताल बड़ा दुःखप्रद है, पुरुषने अपने मनमें स्थित अज्ञानसे इसकी कल्पना कर रक्खी है, यह विचार करनेसे विलीन हो जाता है॥२७॥

विचारका फल केवल भयकी निवृत्ति ही नहीं है, किन्तु निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति भी उसका फल है, ऐसा कहते हैं—'समम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मकैवल्यको उत्तम फल जानो, जो कैवल्य सुखरूप है, जिसमें जगत्की

अचलस्थितितोदारा प्रकटाभोगतेजसा ।
तेन निष्कामतोदेति शीततेवेन्दुनोदिता ॥ २९ ॥
स्वविचारमहौषध्या साधुश्चित्तनिषण्णया ।
तयोत्तमत्वप्रदया नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ ३० ॥
तत्पदालम्बनं चेतः स्फारमाभासमागतम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति खमिवाऽतिततान्तरम् ॥ ३१ ॥

विषमताका तनिक भी संपर्क नहीं है, जिसका कभी बाध नहीं होता और जो दूसरेके अधीन नहीं है ॥ २८ ॥

जैसे चन्द्रमाके उदयसे शीतताका उदय होता है, वैसे ही विचारसे उत्पन्न निरतिशय आनन्दके बलसे चञ्चलताके कारण अज्ञानका विनाश होनेपर निश्चल स्थितिसे उदार आनन्दपूर्णतारूप निष्कामताका उदय होता है ॥ २९ ॥

अचल स्थिति ही सर्वश्रेष्ठ है । उक्त अचल स्थितिको देनेवाली चित्तमें स्थित आत्मविचाररूपी महौषधिसे सिद्ध हुआ पुरुष न तो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता है और न प्राप्तका त्याग करता है । कृतकृत्य हो जाता है, यह अर्थ है ॥३०॥

यदि चित्त विचारसे उत्पन्न ज्ञानसे नष्ट हो गया, तो जीवन ही नहीं रहेगा, यदि नष्ट न हुआ, तो फिर नाना विक्षेपोंको उत्पन्न करेगा, ऐसी परिस्थितिमें कृत-कृत्यता तो मृगतृष्णा ही ठहरी, इस शङ्कापर कहते हैं—'तत्पदा०' इत्यादिसे ।

सच्चित् आनन्दघन परब्रह्म परमात्मामें लगे हुए अतएव अत्यन्त आभासताको प्राप्त हुए (जैसे भूँजे हुए बीज बीजाभास हो जाते हैं अर्थात् उनमें अङ्कुर पैदा करनेकी सामर्थ्य नहीं रह जाती, वैसे ही आभासताको प्राप्त हुए) चित्तविक्षेपहेतु वासनाएँ आकाशकी नाईं अति विस्तीर्ण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाती हैं, अतएव वह न तो विनाशको प्राप्त होता है जिससे कि जीवन ही न रहे और न राग, द्वेष आदि वृत्तियोंसे फिर उदयको ही प्राप्त होता है, जिससे कि विक्षेप हों * ॥ ३१ ॥

---

* अथवा इस श्लोकका अर्थ यों करना चाहिए—परब्रह्म परमात्मामें संलग्न अतएव ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ चित्त भूँजे हुए बीजोंके समान न तो उगता है, जिससे कि विक्षेपका डर हो और न अनादि वासनासे दृढ हुआ चित्त विषयसंस्कारसे विनाशको ही प्राप्त होता जिससे कि जीवनका असंभव हो ।

न ददाति न चाऽऽदत्ते न चोन्नमति शाम्यति ।
केवलं साक्षिवत् पश्यन् जगदाभोगि तिष्ठति ॥ ३२ ॥
न च शाम्यति नाऽप्यन्तर्नाऽपि बाह्येऽवतिष्ठति ।
न च नैष्कर्म्यमादत्ते न च कर्मणि मज्जति ॥ ३३ ॥
उपेक्षते गतं वस्तु संप्राप्तमनुवर्तते ।
न क्षुब्धो न च वाऽक्षुब्धो भाति पूर्ण इवाऽर्णवः ॥ ३४ ॥
एवं पूर्णेन मनसा महात्मानो महाशयाः ।
जीवन्मुक्ता जगत्यस्मिन् विहरन्तीह योगिनः ॥ ३५ ॥
उषित्वा सुचिरं कालं धीरास्ते यावदीप्सितम् ।
ते तमन्ते परित्यज्य यान्ति केवलतां तताम् ॥ ३६ ॥

क्योंकि ब्रह्मवेत्ता पुरुष विशाल जगत्को (जगत्में स्थित विविध विषयोंको) केवल उदासीनतासे देखता रहता है, उनमें आसक्त होकर मन नहीं लगाता और न सत्य या पुरुषार्थ समझ कर उनका उपभोग ही करता है और न सुषुप्ति अवस्थाकी तरह उपाधिकी शान्तिसे शान्त होता है, न स्वप्नकी नाईं मनोवासना-मय पदार्थोंमें आसक्त होता है और न मूढ़ जनोंकी जाग्रत् अवस्थाके सदृश बाह्य विषयोंके फन्देमें फँसता है तथा न नैष्कर्म्यका अवलम्बन करता है और न कर्मोंमें ही उलझा रहता है ॥ ३२,३३ ॥

ब्रह्मज्ञ पुरुष पूर्ण सागरके समान शोभित होता है, वह गई हुई (नष्ट हुई) वस्तुकी उपेक्षा कर देता है अर्थात् उसकी प्राप्तिके लिए यत्न नहीं करता और प्राप्त वस्तुका अनुसरण करता है, उसे क्षोभ नहीं होता और निश्चल नहीं होता है अर्थात् स्वाभाविक व्यवहारका त्याग करता हुआ निश्चल नहीं होता है। (समुद्र पक्षमें) समुद्र भी गये हुए लक्ष्मी, कौस्तुभमणि आदि वस्तुकी उपेक्षा करता है, प्राप्त अन्यान्य रत्नोंसे अपना व्यवहार करता है, उसे मर्यादात्याग पर्यन्त क्षुब्धता नहीं होती और वह निश्चल भी नहीं होता ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूर्ण मनसे युक्त इसी शरीरमें अनुभवमें आ रहे जीवब्रह्मैक्यरूप योगवाले जीवन्मुक्त उदार महात्मा इस जगत्में विहार करते हैं, विचरते हैं ॥३५॥

वे धीर महात्मा अपनी इच्छानुसार चिरकालतक इस संसारमें निवास कर अन्तमें देह, इन्द्रिय आदि उपाधिका त्याग कर अपरिच्छिन्न विदेहकैवल्यको प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता ।
चिन्तनीयं प्रयत्नेन सप्रतीकारमात्मना ॥ ३७ ॥
कार्यसङ्कटसन्देहं राजा जानाति राघव ।
निष्फलं सफलं वाऽपि विचारेणैव नाऽन्यथा ॥ ३८ ॥
वेदवेदान्तसिद्धान्तस्थितयः स्थितिकारणम् ।
निर्णीयन्ते विचारेण दीपेन च भुवो निशि ॥ ३९ ॥
अनष्टमन्धकारेषु बहुतेजःस्वजिह्मितम् ।
पश्यत्यपि व्यवहितं विचारश्चारुलोचनं ॥ ४० ॥
विवेकान्धो हि जात्यन्धः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः ।
दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको आपत्तिमें भी (कुटुम्ब आदिके फन्देमें फँसे रहनेपर भी) मैं कौन हूँ, यह संसार किसका है ? यों संसारसे छुटकारा पानेके उपाय श्रवण आदिके अनुष्ठानके साथ स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा सफल चाहे निष्फल अवश्य कर्तव्य सन्धि, विग्रह आदिका निश्चय विचारसे ही करता है, विचारके सिवा उसका निश्चायक दूसरा मार्ग नहीं है । जैसे रात्रिमें घट, पट आदि पदार्थोंका परिज्ञान दीपकसे होता है, वैसे ही पुरुषार्थप्राप्तिके हेतु वेद और वेदान्तसिद्धान्तके सारभूत धर्म तथा ब्रह्मतत्त्वका निर्णय विचारसे ही किया जाता है ॥ ३८, ३९ ॥

विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकारमें नष्ट-सा (व्यर्थसा) नहीं होता, अति तेजस्वी सूर्य आदिमें कुण्ठित नहीं होता एवं जो वस्तु सामने नहीं है, व्यवहित है उसे भी देख लेता है । प्रसिद्ध नेत्र अन्धकारमें नष्टसे हो जाते हैं प्रचुर तेजवाले सूर्य आदिको नहीं देख सकते, चकाचौंध होनेके कारण कुण्ठित हो जाते हैं, एवं जो वस्तु व्यवहित है और दूर है उसे नहीं देख सकते ॥ ४० ॥

जो पुरुष विवेकान्ध (विवेकरूपी नेत्रोंसे हीन है) वह जन्मान्ध है, उस दुर्मतिके लिए सब शोक करते हैं, जिस पुरुषको विवेक आत्माकी नाईं प्रिय है, वह दिव्यचक्षु है, वह सम्पूर्ण वस्तुओंमें श्रेष्ठ है, अर्थात् वह आपत्तियोंपर विजय पाता है अथवा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

परमात्ममयी मान्या महानन्दैकसाधिनी ।
क्षणमेकं परित्याज्या न विचारचमत्कृतिः ॥ ४२ ॥
विचारचारुपुरुषो महतामपि रोचते ।
परिपक्वचमत्कारं सहकारफलं यथा ॥ ४३ ॥
विचारकान्तमतयो नाऽनेकेषु पुनः पुनः ।
लुठन्ति दुःखश्वभ्रेषु ज्ञाताध्वगतयो नराः ॥ ४४ ॥
न च रौति तथा रोगी नाऽनर्थशतजर्जरः ।
अविचारविनष्टात्मा यथाऽज्ञः परिरोदिति ॥ ४५ ॥
वरं कर्दमभेकत्वं मलकीटकता वरम् ।
वरमन्धगुहाहित्वं न नरस्याऽविचारिता ॥ ४६ ॥
सर्वानर्थनिजावासं सर्वसाधुतिरस्कृतम् ।
सर्वदौःस्थित्यसीमान्तमविचारं परित्यजेत् ॥ ४७ ॥

विचारोंमें भी जो सारभूत (श्रेष्ठतम) विचार है, उसका निर्देश करते हैं—**'परमात्म०'** इत्यादिसे ।

परमात्मप्राय (सदा परमात्मामें संलग्न) महान् आनन्दकी एकमात्र साधन आदरणीय विचारधाराका एक क्षणके लिए भी परित्याग नहीं करना चाहिए ॥४२॥

जैसे परिपाक होनेके कारण अत्यन्त माधुर्यसे युक्त आमका फल महापुरुषोंको भी अच्छा लगता है, वैसे ही विचारसे रमणीय पुरुष तत्त्वज्ञोंको भी अच्छा लगता है, जिज्ञासुओंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४३ ॥

विचारसे जिनकी मति अतिनिर्मल है और विचारसे ही जिन्हें ज्ञानमार्गमें गमन ज्ञात है, वे अनेक दुःखमय गर्तोंमें (जन्म-मरणपरम्परामें) बार बार नहीं गिरते हैं ॥ ४४ ॥

रोग, विष, शस्त्रकी चोट आदि सैकड़ों दुःखोंसे शिथिलशरीरवाला रोगी वैसा नहीं रोता जैसा कि अविचारसे जिसने अपनी आत्माका प्रायः हनन कर दिया है, वह मूर्ख पुरुष विविध जन्म-मरण परम्पराओंमें रोता है ॥ ४५ ॥

कीचड़में मेंढक बनना अच्छा है, विष्ठाका कीड़ा बनना अच्छा है और अँधेरी गुफामें सांप होना अच्छा है, पर मनुष्यका अविचारी होना अच्छा नहीं है ॥४६॥

अविचार सम्पूर्ण क्लेशोंका अपना निजी घर है, सम्पूर्ण सज्जनों द्वारा तिर-

नित्यं विचारयुक्तेन भवितव्यं महात्मना ।
तथाऽन्धकूपे पततां विचारो ह्यवलम्बनम् ॥ ४८ ॥
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानमवष्टभ्य विचारतः ।
संसारमोहजलधेस्तारयेत् स्वमनोमृगम् ॥ ४९ ॥
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥ ५० ॥
अन्धान्धमोहसुघनं चिरं दुःखाय केवलम् ।
कृतं शिलाया हृदयं दुर्मतेश्चाऽविचारिणः ॥ ५१ ॥

स्कृत है, एवं समस्त दुर्गतियोंकी चरम सीमा है, इसलिए उसका परित्याग कर देना चाहिए ॥ ४७ ॥

महात्मा पुरुषको सदा विचारशील होना चाहिए, लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि अन्धकूपरूप राग-द्वेष आदिमें गिर रहे लोगोंका विचार अवलम्बन है ॥ ४८ ॥

विचारपूर्वक स्वयं ही अपने आत्मासे राग, द्वेषादि प्रवाहमें गिर रहे अपने आत्माको जबरदस्ती स्थिरकर संसाररागरूपी सागरसे अपने मनरूपी मृगको उतारना चाहिए ॥ ४९ ॥

विचारके स्वरूपको दिखलाते हैं—'कोऽहम्' इत्यादिसे ।

मैं कौन हूँ (क्या देह आदि ही मैं हूँ या उनसे विलक्षण हूँ यों त्वंपदार्थका विचार) और यह संसारनामका दोष मुझे कैसे प्राप्त हुआ (यह संसाररूप दोष अधिष्ठान—ब्रह्म—में कैसे आ गया, यों तत्पदार्थका विचार) श्रुति, मुनि, आचार्य तथा साम्प्रदायिक पुरुषों द्वारा प्रदर्शित न्यायसे इस प्रकारका परामर्श विचार कहलाता है ॥ ५० ॥

ब्रह्माने पत्थरका और अविचारशील दुर्बुद्धिका हृदय दुःखके (क्लेशके) लिए ही बनाया है, (पत्थरके पक्षमें) घनसे छेदन आदि क्लेशसे होनेवाले दुष्ट छेदके लिए ही बनाया है, अन्यत्र उसका कोई भी उपयोग नहीं है, क्योंकि वह अन्धेसे भी अन्धा और मोहसे अत्यन्त घना है (अन्धा देखे बिना कुएमें गिरता है, दुर्बुद्धिका मन देखकर भी मोहवश नरकमें गिरता है। (पत्थरके पक्षमें) जड़ होनेसे अन्धेसे भी अन्धा है और कठोर होनेसे मोहसे भी अधिक घना है ॥ ५१ ॥

भावाभावग्रहोत्सर्गदृशामिह हि राघव ।
न विचाराद‍ृते तत्त्वं ज्ञायते साधु किञ्चन ॥ ५२ ॥

विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि ।
अतो मनसि शान्तत्वं सर्वदुःखपरिक्षयः ॥ ५३ ॥

सफलतां फलते भुवि कर्मणां प्रकटतां किल गच्छति उत्तमाम् ।
स्फुटविचारदृशैव विचारिता शमवते भवते च विरोचताम् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
विचारनिरूपणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस व्यवहारभूमिमें सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागको देख रहे विद्वानोंको विचारके बिना उत्तम तत्त्व कुछ भी प्रतीत नहीं होता ॥ ५२ ॥

विचारसे तत्त्वका ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे विश्रान्ति (मनकी निश्चलता) होती है । विश्रान्तिसे मनमें जो शान्ति प्राप्त होती है, वही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश है ॥ ५३ ॥

विस्तारपूर्वक कहे गये विचारका ही संक्षेपतः उपसंहार करते हैं— 'सफलताम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यतः पृथिवीमें सभी लोग स्फुट विचारदृष्टिसे ही वैदिक और लौकिक कर्मोंमें सफलता प्राप्त करते हैं, आत्मतत्त्वकी आगे कही जानेवाली सप्तम भूमिकारूप उत्तम प्रकटता भी विचारसे ही प्राप्त करते हैं, इसलिए शम, दम आदि साधनसम्पत्तिसे युक्त आपको उक्त विचारशीलता रुचिकर हो ॥ ५४ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चदशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

सन्तोषो हि परं श्रेयः सन्तोषः सुखमुच्यते ।
सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ॥ १ ॥
सन्तोषैश्वर्यसुखिनां चिरविश्रान्तचेतसाम् ।
साम्राज्यमपि शान्तानां जरत्तृणलवायते ॥ २ ॥
सन्तोषशालिनी बुद्धी राम संसारवृत्तिषु ।
विषमास्वप्यनुद्विग्ना न कदाचन हीयते ॥ ३ ॥
सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविषायते ॥ ४ ॥
न तथा सुखयन्त्येताः पीयूषरसवीचयः ।
यथाऽतिमधुरास्वादः सन्तोषो दोषनाशनः ॥ ५ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

[वैराग्यकल्पवृक्षकी छायाके समान सुखकर शीतल तीसरे द्वारपाल सन्तोषका वर्णन]

क्रमप्राप्त तीसरे द्वारपाल सन्तोषका वर्णन करते हैं—'सन्तोषः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे शत्रुतापन श्रीरामजी, सन्तोष परम श्रेय (मोक्षसुख) कहा जाता है और सन्तोष स्वर्गसुख भी कहा जाता है, क्योंकि सन्तोषयुक्त पुरुष असीम विश्रान्तिसुखको प्राप्त होता है अर्थात् उसका विक्षेपदुःख सर्वथा निवृत्त हो जाता है ॥ १ ॥

सन्तोषरूपी ऐश्वर्यसे सुखी तथा चिरकालसे विश्रान्तिपूर्ण चित्तवाले शान्त पुरुषोंको विशाल साम्राज्य भी पुराने तिनकेका टुकड़ा-सा प्रतीत होता है, तुच्छ लगता है ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सन्तोषशालिनी बुद्धि दारिद्र्य, वियोग आदिसे संकटपूर्ण संसारिक जीवनमें भी उद्वेगयुक्त न होकर कभी भी सुखसे विरहित नहीं होती ॥३॥

जो शान्त पुरुष सन्तोषरूपी अमृतके पानसे तृप्त हुए हैं, उनको यह अतुल विषयभोगसम्पत्ति प्रतिकूल विष-सी लगती है । प्रचुर आनन्ददायक आस्वादसे

अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः स सन्तुष्ट इहोच्यते ॥ ६ ॥
आत्मनाऽऽत्मनि सन्तोषं यावद्याति न मानसम् ।
उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोविलात् ॥ ७ ॥
सन्तोषशीतलं चेतः शुद्धविज्ञानदृष्टिभिः ।
भृशं विकासमायाति सूर्यांशुभिरिवाऽम्बुजम् ॥ ८ ॥
आशावैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते ।
म्लाने वक्त्रमिवाऽऽदर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥ ९ ॥
अज्ञानघनयामिन्या संकोचं न नराम्बुजम् ।
यात्यसावुदितो यस्य नित्यं संतोषभास्कर ॥ १० ॥

युक्त तथा आशा, दीनता आदि दोषोंका विनाशक सन्तोष जैसा सुख देता है, वैसा सुख ये अमृत-रसकी लहरें नहीं देतीं ॥ ४, ५ ॥

हे राघव, अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षाका त्याग करनेवाला, वस्तुके प्राप्त होनेपर भी उसके मिथ्या होनेके कारण पूर्वावस्थाके (अप्राप्त अवस्थाके) तुल्य अवस्थाको प्राप्त अथवा उसकी प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष आदिके अभावके कारण समताको प्राप्त और जिसमें कभी खेद और हर्ष नहीं देखे गये ऐसा पुरुष इस लोकमें सन्तुष्ट कहा जाता है ॥ ६ ॥

जबतक मन स्वतः ही (किसी अन्य निमित्तसे नहीं) आत्मामें ही (अन्य विषयोंमें नहीं) नहीं जाता तबतक मनरूपी बिलसे लताकी भाँति विविध आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् जैसे गर्तसे लताएँ पैदा होती हैं, वैसे ही मनसे आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ ७ ॥

जैसे जलमें स्थित कमल सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त विकासको प्राप्त होता है, वैसे ही सन्तोषसे शीतल चित्त शुद्धविज्ञानदृष्टिसे अत्यन्त विकासको प्राप्त होता है ॥८॥

जैसे म्लान (जल, धूलि और भापसे मलिन) दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही आशाकी परवशतासे व्याकुल तथा सन्तोषशून्य चित्तमें ज्ञान प्रतिबिम्बित नहीं होता ॥ ९ ॥

जिस मनुष्यरूपी कमलके विकासके लिए पूर्वोक्त सन्तोषरूपी सूर्य नित्य उदित है, वह मनुष्यरूपी कमल अज्ञानरूपी घनान्धकारयुक्त रात्रिसे संकोचको प्राप्त नहीं होता ॥ १० ॥

अकिञ्चनोऽप्यसौ जन्तुः साम्राज्यसुखमश्नुते ।
आधिव्याधिविनिर्मुक्तं सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥ ११ ॥
नाऽभिवाञ्छत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथाक्रमम् ।
यः सुसौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥ १२ ॥
सन्तुष्टिपरतृप्तस्य महतः पूर्णचेतसः ।
क्षीराब्धेरिव शुद्धस्य मुखे लक्ष्मीर्विराजते ॥ १३ ॥
पूर्णतामलमाश्रित्य स्वात्मन्येवाऽऽत्मना स्वयम् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन तृष्णां सर्वत्र वर्जयेत् ॥ १४ ॥
सन्तोषामृतपूर्णस्य शान्तशीतलया धिया ।
स्वयं स्थैर्यं मनो याति शीतांशोरिव शाश्वतम् ॥ १५ ॥
सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः ।
राजानमुपतिष्ठन्ति किङ्करत्वमुपागताः ॥ १६ ॥

जिसका आधि और व्याधिसे (दैहिक क्लेश और मानसिक क्लेशसे) विमुक्त मन सन्तुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होता हुआ भी साम्राज्य-सुखका भोग करता है ॥११॥

सन्तोषके पूर्वोक्त लक्षणका अनुवाद कर अन्य लक्षण कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे।

जो पुरुष अप्राप्त विषयकी अभिलाषा नहीं करता, क्रमशः प्राप्त सुख और दुःखका भोग करता है, जगत्‌को आनन्द देनेवाले सदाचारसे युक्त वह पुरुष सन्तुष्ट कहा जाता है ॥ १२ ॥

मुखकान्तिकी विशिष्टता भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं—**'सन्तुष्टि०'** इत्यादिसे ।

सन्तोषसे अत्यन्त तृप्त पूर्णचित्तवाले और क्षीरसागरके समान शुद्ध महापुरुषके मुखपर लक्ष्मी सदा विराजमान रहती है ॥ १३ ॥

अपनी आत्मामें आत्मासे ही निरतिशयानन्दरूप पूर्णताका अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्नसे सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णाका त्याग कर देना चाहिए। क्रोध और सन्तापके हेतुके न रहनेके कारण शान्त और शीतल बुद्धिसे चन्द्रमाके समान सन्तोषरूप अमृतसे पूर्ण मनुष्यका मन सदा स्वयं स्थिरताको प्राप्त होता है। बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ भृत्यकी तरह सन्तोषसे जिसका मन परिपुष्ट है, ऐसे पुरुषके पास स्वयं प्राप्त होती हैं। यानी उसकी सेविकाएँ बन जाती हैं ॥ १४–१६ ॥

आत्मनैवाऽऽत्मनि स्वस्थे सन्तुष्टे पुरुषे स्थिते ।
प्रशाम्यन्त्याधयः सर्वे प्रावृषीवाऽऽशु पांसवः ॥ १७ ॥
नित्यं शीतलया राम कलङ्कपरिभिन्नया ।
पुरुषः शुद्धया वृत्त्या भाति पूर्णतयेन्दुवत् ॥ १८ ॥
समतासुन्दरं वक्त्रं पुरुषस्याऽवलोकयन् ।
तोषमेति यथा लोको न तथा धनसंचयैः ॥ १९ ॥
समतया मतया गुणशालिनां पुरुषराडिह यः समलङ्कृतः ।
तममलं प्रणमन्ति नभश्चरा अपि महामुनयो रघुनन्दन ॥ २० ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
सन्तोषनिरूपणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

—०—

जैसे वर्षा ऋतुमें धूलिकण स्वयं शीघ्र शान्त हो जाते हैं, वैसे ही अपनी आत्मासे आत्मामें सन्तुष्ट स्वस्थ पुरुषमें सम्पूर्ण मानसिक व्यथाएँ शान्त हो जाती हैं ॥ १७ ॥

ऐसा होनेपर भी आवरणरूप दुःखबीजसे जो दुःख होता है, वह तो होगा ही, इसपर कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, पुरुष नित्य शीतल और कलङ्कसे शून्य शुद्ध वृत्तिरूपी पूर्णतासे चन्द्रमाके समान शोभित होता है । अर्थात् जैसे अमावास्याके दिन क्षीण चन्द्रमा कलङ्कसे भिन्न नहीं दिखाई देता, अतः कलङ्कमें मग्न-सा हो जाता है और सूर्यके समीपमें उसकी शीतल वृत्ति नहीं रहती, वही चन्द्रमा पौर्णमासीके दिन सोलहो कलाओंसे पूर्ण होनेसे कलङ्कका भी भासक होनेके कारण कलङ्कसे पृथक् हुई शुद्ध वृत्तिसे शोभित होता है, वैसे ही पुरुष भी असन्तोषावस्थामें अज्ञानरूपी कलङ्कमें मग्नकी नाईं आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंसे जलाया-सा जाता है और सन्तोषामृतरूपी कलाओंसे पूर्ण होनेपर अज्ञानरूपी कलङ्कका साक्षी होनेके कारण उससे अस्पृष्ट आत्मसुखसे शीतल वृत्तिसे शोभित होता है ॥ १८ ॥

जैसे पुरुष समतासे सुन्दर पुरुषके मुखको देखकर सन्तोषको प्राप्त होता है, वैसे धनके संचयसे सन्तोषको प्राप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

हे रघुनन्दन, जो पुरुषश्रेष्ठ इस लोकमें गुणशाली पुरुषों द्वारा प्रशंसित

षोडशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विषेशेण महाबुद्धे संसारोत्तरणे नृणाम् ।
सर्वत्रोपकरोतीह साधुः साधुसमागमः ॥ १ ॥
साधुसङ्गतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम् ।
रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ॥ २ ॥
शून्यमाकीर्णतामेति मृतिरप्युत्सवायते ।
आपत्संपदिवाऽऽभाति विद्वज्जनसमागमे ॥ ३ ॥

समतासे अलङ्कृत है, उसको आकाशचारी देवता और महामुनि भी बड़े भक्ति-भावसे प्रणाम करते हैं ॥ २० ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

——०——

सोलहवाँ सर्ग

[साधुसङ्गतिरूप चतुर्थ द्वारपालका वर्णन तथा चारोंमें से प्रत्येकके सेवनमें भी पुरुषार्थहेतुताका वर्णन]

साधुसमागमरूप चतुर्थ द्वारपालका वर्णन कर रहे और चारोंमें से प्रत्येकके विषयमें किया गया प्रबल पुरुषकार पुरुषार्थप्रद है, ऐसा दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले—'विशेषेण' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महामते, इस लोकमें श्रेष्ठ साधुसमागम मनुष्योंके संसारसागरसे उत्तरणमें विशेषरूपसे सब जगहोंमें (सम्पूर्ण अवस्थाओंमें) उपकार करता है ॥ १ ॥

साधुसङ्गतिरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुए विवेकरूपी सफेद फूलकी जो महात्मा रक्षा करते हैं, वे मोक्षफलरूप सम्पत्तिके भाजन होते हैं ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुषोंका समागम होनेपर आत्मीय जन और धनसे शून्य दुःखपूर्ण स्थान धन और जनसे परिपूर्ण हो जाता है, मृत्यु भी उत्सवमें परिणत हो जाती है और आपत्तियाँ सम्पत्तियोंकी तरह मालूम होती हैं ॥ ३ ॥

हिममापत्सरोजिन्या मोहनीहारमारुतः ।
जयत्येको जगत्यस्मिन्साधुः साधुसमागमः ॥ ४ ॥
परं विवर्धनं बुद्धेरज्ञानतरुशातनम् ।
समुत्सारणमाधीनां विद्धि साधुसमागमम् ॥ ५ ॥
विवेकः परमो दीपो जायते साधुसंगमात् ।
मनोहरोज्ज्वलो नूनमासेकादिव गुच्छकः ॥ ६ ॥
निरपायां निराबाधां निर्वृतिं नित्यपीवरीम् ।
अनुत्तमां प्रयच्छन्ति साधुसङ्गविभूतयः ॥ ७ ॥
अपि कष्टतरां प्राप्तैर्दशां विवशतां गतैः ।
मनागपि न संत्याज्या मानवैः साधुसंगतिः ॥ ८ ॥
साधुसंगतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥ ९ ॥
यः स्नातः शीतसितया साधुसंगतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥ १० ॥

इस संसारमें आपत्तिरूपी कमलनीके लिए हेमन्त ऋतुरूप और मोहरूपी कुहरेके लिए वायुरूप केवल श्रेष्ठ साधुसमागम ही सर्वोत्कृष्ट है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप साधुसमागमको बुद्धिको अत्यन्त बढ़ानेवाला, अज्ञानरूपी वृक्षका उच्छेद करनेवाला और मानसिक व्याथाओंको दूर करनेवाला जानिए ॥ ५ ॥

जैसे उद्यानको सींचनेसे फल-फूलोंके गुच्छे प्राप्त होते हैं, वैसे ही साधुसङ्गमसे मनोहर और निर्मल विवेकरूपी परम दीप उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

साधुसङ्गतिरूपी विभूतियाँ नित्य बढ़नेवाले अविनाशी और बाध रहित उत्तम सुखको देती हैं ॥ ७ ॥

कैसी ही बड़ी आपत्तिको प्राप्त क्यों न हों और कितनी ही बड़ी पराधीनताको प्राप्त क्यों न हों फिर भी मनुष्योंको क्षणभरके लिए भी साधु सङ्गतिका त्याग नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

साधुसङ्गति सन्मार्गकी दीपक है और हृदयान्धकारको दूर करनेवाली ज्ञानरूपी सूर्यकी प्रभा है। जिसने शीतल और स्वच्छ साधुसङ्गतिरूपी गङ्गामें

नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥ ११ ॥
विश्रान्तमनसो धन्याः प्रयत्नेन परेण हि ।
दरिद्रेणेव मणयः प्रेक्षणीया हि साधवः ॥ १२ ॥
सत्समागमसौन्दर्यशालिनी धीमतां मतिः ।
कमलेवाऽप्सरोवृन्दे सर्वदैव विराजते ॥ १३ ॥
तेनाऽमलविचारस्य पदस्याऽग्रावचूलिता ।
प्रथिता येन धन्येन न त्यक्ता साधुसंगतिः ॥ १४ ॥
विच्छिन्नग्रन्थयस्तज्ज्ञाः साधवः सर्वसंमताः ।
सर्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपाया भवाम्बुधौ ॥ १५ ॥

स्नान किया है, उसको दानोंसे, तीर्थोंसे, तपस्याओंसे और यज्ञोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ९, १० ॥

जिनके राग नष्ट हो गये हैं, सन्देह कट चुके हैं एवं चिदचिद्ग्रन्थि नष्ट हो चुकी हैं, ऐसे साधु पुरुष यदि विद्यमान हैं, तो तप और तीर्थ करनेसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

जैसे दरिद्र पुरुष मणियोंको बड़े प्रेमसे देखते हैं, वैसे ही जिनका चित्त विश्रान्तिसुखसे परिपूर्ण है, ऐसे धन्य साधु पुरुषोंके बड़े प्रयत्नसे दर्शन करने चाहिए ॥ १२ ॥

जैसे अप्सराओंके समूहमें विष्णुके समागम और अपनी सर्वोत्कृष्ट सुन्दरतासे युक्त लक्ष्मी शोभित होती है, वैसे ही जिन बुद्धिमानोंकी मति सत्समागम रूप सौन्दर्यसे युक्त है, वह भी सदा विराजमान रहती है ॥ १३ ॥

जिस धन्य पुरुषने साधुसंगतिका परित्याग नहीं किया, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर रहे लोगोंमें ब्रह्मकी प्रथम प्राप्तिसे वह अपनी शिरोभूषणता (सर्वोत्कृष्टता) प्रसिद्ध कर लेता है ॥ १४ ॥

जिनकी अन्तःकरण और उसके धर्मोंमें तादात्म्यसंसर्गाध्यासरूप चिदचिद् ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गई है, उन ब्रह्मज्ञानी एवं सर्वसम्मत साधुओंकी दान, सम्मान, सेवा आदि सब प्रयत्नोंसे सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे लोग भवसागरमें डूबे हुए लोगोंके तारणके उपाय हैं ॥ १५ ॥

त एते नरकाग्नीनां संशुष्केन्धनतां गताः ।
यैर्दृष्टा हेलया सन्तो नरकानलवारिदाः ॥ १६ ॥
दारिद्र्यं मरणं दुःखमित्यादिविषयो भ्रमः ।
संप्रशाम्यत्यशेषेण साधुसंगमभेषजैः ॥ १७ ॥
सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा ।
एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ १८ ॥
सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः ।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥ १९ ॥
चत्वार एते विमला उपाया भवभेदने ।
यैरभ्यस्तास्त उत्तीर्णा मोहवारिभवार्णवात् ॥ २० ॥
एकस्मिन्नेव वै तेषामभ्यस्ते विमलोदये ।
चत्वारोऽपि किलाऽभ्यस्ता भवन्ति सुधियां वर ॥ २१ ॥

जिन लोगोंने नरकरूपी अग्निको बुझानेके लिए जल बरसानेवाले मेघरूप सन्त-महात्माओंको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखा, वे लोग नरकरूपी अग्निकी सूखी लकड़ी बन गये, अर्थात् सूखी लकड़ियोंकी नाई नरकाग्निने उन्हें जला डाला ॥१६॥

सज्जनसंगतिरूपी ओषधियोंसे दरिद्रता, मृत्यु, दुःख आदि विषयक सन्निपात समूल नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण द्वारपालोंकी एक ही साथ प्रशंसा करनेकी इच्छासे पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—'सन्तोषः' इत्यादिसे ।

सन्तोष, सत्संगति, विचार और शान्ति ये ही चार संसारसागरमें मग्न हुए लोगोंके तरनेके उपाय हैं ॥ १८ ॥

सन्तोष सम्पूर्ण लाभोंमें सर्वश्रेष्ठ लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है अर्थात् सन्तोषके तुल्य कोई लाभ नहीं है, सत्संगके तुल्य कोई गति नहीं है, आत्मविचारके समान ज्ञान नहीं है और शान्तिके तुल्य और सुख नहीं है ॥ १९ ॥

ये चार संसारके समूल विनाशके लिए निर्मल उपाय हैं, इनका जिन्होंने खूब अभ्यास किया, वे मोहरूपी जलसे लबालब भरे हुए संसारसागरसे तर गये ॥२०॥

यदि सबका अभ्यास करनेकी सामर्थ्य न हो, तो एकके उत्तम अभ्याससे

परं पौरुषमाश्रित्य जित्वा चित्तमतङ्गजम् ।
यावदेको गुणो नाऽन्तस्तावन्नाऽस्त्युत्तमा गतिः ॥ २८ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयेत् ।
यावन्नाऽभिनिविष्टं ते मनो राम गुणार्जने ॥ २९ ॥
देवो भवाऽथ यक्षो वा पुरुषः पादपोऽथवा ।
तावत्तव महाबाहो नोपायोऽस्तीह कश्चन ॥ ३० ॥
एकस्मिन्नेव फलदे गुणे बलमुपागते ।
क्षीयन्ते सर्व एवाऽऽशु दोषा विवशचेतसः ॥ ३१ ॥
गुणे विवृद्धे वर्धन्ते गुणा दोषजयप्रदाः ।
दोषे विवृद्धे वर्धन्ते दोषा गुणविनाशनाः ॥ ३२ ॥

प्रयत्नपूर्वक अपने चित्तरूपी हाथीको अपने वशमें कर जबतक हृदयमें एक गुणकी प्राप्ति नहीं की जाती तबतक उत्तम गति दुर्लभ है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, जबतक आपका चित्त गुणोंके उपार्जनके लिए आग्रहवान् न हो, तबतक प्रयत्नपूर्वक दाँतोंको दाँतोंसे पीसना चाहिए अर्थात् गुणार्जनके लिए अत्यन्त उद्योग करना चाहिए ॥ २९ ॥

सात्त्विक देव आदि जन्मके लिए प्रयत्न करना चाहिए, देव आदि जन्म प्राप्त होनेपर बिना परिश्रमके ज्ञान होगा, इस शङ्कापर कहते हैं—'देवः' इत्यादिसे।

हे महाबाहो, आप चाहे देवता होइए या यक्ष होइए, पुरुष होइए अथवा वृक्ष होइए पर जबतक आपका चित्त गुणोंके उपार्जनके लिए आग्रहवान् न होगा तबतक उत्तम गतिका कोई उपाय नहीं है ॥ ३० ॥

फलदायक एक ही गुणके दृढ़ होनेपर दोषाधीन चित्तके सम्पूर्ण दोष शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

परस्पर विरोधियोंमें एककी वृद्धि होनेपर उसके सजातीय कुलकी वृद्धि होनेसे अन्यका क्षीण होना प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—'गुणे' इत्यादिसे।

गुणोंकी अभिवृद्धि होनेपर दोषोंपर विजय पानेवाले गुणोंकी वृद्धि होती है और दोषोंके बढ़नेपर गुणविनाशक दोष बढ़ते हैं ॥ ३२ ॥

मनोमोहवने ह्यस्मिन् वेगिनी वासनासरित् ।
शुभाशुभबृहत्कूला नित्यं वहति जन्तुषु ॥ ३३ ॥
सा हि स्वेन प्रयत्नेन यस्मिन्नेव निपात्यते ।
कूले तेनैव वहति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ३४ ॥
पुरुषयत्नजवेन मनोवने शुभतटानुगतां क्रमशः कुरु ।
वरमते निजभावमहानदीमहह तेन मनागपि नोह्यसे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
सदाचारनिरूपणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमन्तर्विवेको यः स महानिह राघव ।
योग्यो ज्ञानगिरः श्रोतुं राजेव नयभारतीम् ॥ १ ॥

इस मनोमोहरूपी वनमें, सब प्राणियोंमें वेगवती वासनारूपी नदी सदा बहती है, पुण्य और पाप उसके बड़े-बड़े तट हैं ॥ ३३ ॥

अपने प्रयत्नसे दूसरे तटका निरोध कर उक्त वासनारूपी नदी जिस तटकी ओर फेंकी जाती है, उसी तटसे बहती है, अतएव हे रामजी, आपको जैसा अभीष्ट हो, वैसा कीजिए ॥ ३४ ॥

हे शुभमते, आप अपनी वासनारूपी नदीको मनरूपी वनमें क्रमशः पुण्य तटकी ओर प्रवृत्त कीजिए, ऐसा करनेसे आप तनिक भी पापप्रवाहसे नहीं बहाये जायँगे ॥ ३५ ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

[प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थसंख्याका वर्णन]

इस प्रकार साधनोंका वर्णन कर उक्त साधनोंसे सम्पन्न पुरुषको प्रस्तुत ग्रन्थके श्रवण आदिसे पुरुषार्थ-प्राप्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी ग्रन्थप्रवृत्तिके क्रमका, प्रकरण आदिके विभागसे, वर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

अवदातोऽवदातस्य विचारस्य महाशयः ।
जडसङ्गोज्झितो योग्यः शरदिन्दोर्यथा नभः ॥ २ ॥
त्वमेतया खण्डितया गुणलक्ष्म्या समाश्रितः ।
मनोमोहहरं वाक्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ ३ ॥
पुण्यकल्पद्रुमो यस्य फलभारानतः स्थितः ।
मुक्तये जायते जन्तोस्तस्येदं श्रोतुमुद्यमः ॥ ४ ॥
पावनानामुदाराणां परबोधैकदायिनाम् ।
वचसां भाजनं भूत्यै भव्यो भवति नाऽधमः ॥ ५ ॥
मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारसंमिता ।
त्रिंशद्द्वे च सहस्राणि ज्ञाता निर्वाणदायिनी ॥ ६ ॥
दीपे यथा विनिद्रस्य ज्वलिते संप्रवर्तते ।
आलोकोऽनिच्छतोऽप्येवं निर्वाणमनया भवेत् ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका विवेक (विवेक आदि गुणोंकी सम्पत्ति) जिसे प्राप्त हो गया है, वह पुरुष महान् है । जैसे राजा नीतिशास्त्र सुननेका अधिकारी है, वैसे ही वह भी ज्ञानकी वाणी सुननेका अधिकारी है ॥ १ ॥

जैसे मेघके संसर्गसे विमुक्त आकाश शरत् कालके चन्द्रमाके योग्य होता है, वैसे ही मूर्खोंके संगसे मुक्त एवं निर्मल उदार पुरुष निर्दोषको (परम ब्रह्मको) प्रकाशित करनेवाले विचारका योग्य भाजन है ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीमें उक्त गुणोंके अभावकी शङ्काका निराकरण करते हैं— 'त्वम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इन अखण्डित गुणगणोंसे परिपूर्ण हैं, अतएव आप आगे कहे जानेवाले मनके अज्ञानके विनाशक इस वाक्यको सुनिए ॥ ३ ॥

जिसका फलोंके भारसे खूब झुका हुआ पुण्यरूपी कल्पवृक्ष है, उसी पुण्यात्मा जीवका मुक्तिके लिए इसे सुननेके लिए उद्यम होता है ॥ ४ ॥

उक्त गुणोंसे सम्पन्न पुरुष ही मुक्तिके लिए अति पवित्र अन्यको बोध देनेवाले उदार वचनोंका पात्र होता है, अधम पुरुष नहीं ॥ ५ ॥

मोक्षके साधनका प्रतिपादन करनेवाली और सारभूत अर्थसे परिपूर्ण अतएव मोक्षदायिनी इस संहितामें बत्तीस हजार श्लोक हैं ॥ ६ ॥

जैसे गहरी नींदमें सोये हुए पुरुषके सामने दियेके जलनेपर यद्यपि सोये

स्वयं ज्ञाता श्रुता वाऽपि भ्रान्तिशान्त्यैकसौख्यदा ।
आप्रेक्ष्य वर्णिता सद्यो यथा स्वर्गतरङ्गिणी ॥ ८ ॥
यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात् ।
तथैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता ॥ ९ ॥
युक्तियुक्तार्थवाक्यानि कल्पितानि पृथक्पृथक् ।
दृष्टान्तसारसूक्तानि चाऽस्यां प्रकरणानि षट् ॥ १० ॥
वैराग्याख्यं प्रकरणं प्रथमं परिकीर्तितम् ।
विरागो वर्धते येन सेकेनेव मरौ तरुः ॥ ११ ॥
[अनुबन्धेन सहितं दिष्टतत्त्वनिरूपणम्]
सार्धं सहस्रं ग्रन्थस्य यस्मिन् हृदि विचारिते ।
प्रकाशाच्छुद्धतोदेति मणाविव सुमार्जिते ॥ १२ ॥

हुए पुरुषको प्रकाशकी अभिलाषा नहीं रहती तथापि प्रकाश होता है, वैसे ही इस संहिताके श्रवणसे, इच्छा न होनेपर भी, मोक्षका साधन ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है ॥७॥

जैसे स्वयं दर्शन करके जानी गई और दूसरेके मुखसे सुनीं गई श्रीगङ्गाजी विविध योनियोंमें भ्रमणके हेतुभूत पाप और तापकी शान्ति द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है वैसे ही स्वयं परिशीलन करके जानी गई अथवा दूसरेके मुखसे सुनी गई यह संहिता अज्ञानके विनाश द्वारा शीघ्र सुखप्रद होती है ॥ ८ ॥

जैसे रस्सीके अवलोकनसे रस्सीमें हुई सर्पभ्रान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस संहिताके अवलोकनसे (परिशीलनसे) संसारदुःख नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

इस संहितामें युक्तिसङ्गत अर्थवाले वाक्योंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ दृष्टान्तोंसे भरी हुई आख्यायिकाओंसे युक्त तथा पृथक्-पृथक् रचे गये छः प्रकरण हैं ॥१०॥

उनमें पहला प्रकरण वैराग्य नामक कहा गया है, जैसे निर्जल स्थानमें भी जलके सेकसे वृक्ष बढ़ता है, वैसे ही उक्त वैराग्यप्रकरणसे वैराग्य बढ़ता है ॥११॥

डेढ़ हजार श्लोकोंसे युक्त वैराग्यप्रकरणमें चारों अनुबन्ध दर्शाये गये हैं, और भाग्यतत्त्वका (दैवका) विशेषरूपसे निरूपण किया गया है । जिसके विचार करनेपर विषयोंमें दोषका ज्ञान होनेसे हृदयमें ऐसी शुद्धता प्राप्त होती है जैसे कि मणिको सानमें चढ़ानेपर प्रकाशसे उसमें स्वच्छता उत्पन्न होती है ॥ १२ ॥

मुमुक्षुव्यवहाराख्यं ततः प्रकरणं कृतम् ।
सहस्रमात्रं ग्रन्थस्य युक्तिग्रन्थेन सुन्दरम् ॥ १३ ॥
स्वभावो हि मुमुक्षूणां नराणां यत्र वर्ण्यते ।
अथोत्पत्तिप्रकरणं दृष्टान्ताख्यायिकामयम् ॥ १४ ॥
सप्तग्रन्थसहस्राणि विज्ञानप्रतिपादकम् ।
जागती द्रष्टृदृश्यश्रीरहंत्वमितिरूपिणी ॥ १५ ॥
अनुत्पन्नैवोत्थितेव यत्रेति परिवर्ण्यते ।
यस्मिन्श्रुते जगदिदं श्रोताऽन्तर्बुध्यतेऽखिलम् ॥ १६ ॥
सास्मद्युष्मत्सविस्तारं सलोकाकाशपर्वतम् ।
पिण्डग्रहविनिर्मुक्तं निर्भित्तिकमपर्वतम् ॥ १७ ॥
पृथ्व्यादिभूतरहितं संकल्प इव पत्तनम् ।
स्वप्नोपलम्भभावाभं मनोराज्यवदाततम् ॥ १८ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्यमर्थशून्योपलम्भनात् ।
द्विचन्द्रविभ्रमाभासं मृगतृष्णाम्बुवर्तनम् ॥ १९ ॥

वैराग्य-प्रकरणके अनन्तर मुमुक्षु व्यवहार नामक प्रकरणकी रचना की गई है, इसमें एक हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण युक्तियोंसे बड़ा सुन्दर है। इसमें मुमुक्षु पुरुषोंके स्वभावका वर्णन है। इसके पश्चात् दृष्टान्त और आख्यायिकाओंसे भरे हुए ज्ञानप्रद उत्पत्तिप्रकरण की रचना की गई है। उस सात हजार श्लोकवाले प्रकरणमें जगत्की 'अहम्' 'इदम्' स्वरूपवाली द्रष्टृ और दृश्यके भेदकी विचित्रतारूप सम्पत्ति वास्तवमें उत्पन्न न हुई भी भ्रमसे उत्पन्न हुई-सी प्रतीत होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। उक्त प्रकरणके सुननेपर श्रोता युष्मत् और अस्मत्से युक्त, जिनका अर्थ भिन्न प्रतीत होता है, उन त्वंपद और अहंपदकी एकार्थताके प्रतिपादक अनन्त ब्रह्माण्डोंके विस्तारसे युक्त तथा प्रत्येक ब्रह्माण्डमें लोकालोक पर्वत और आकाशसे युक्त इस चराचर सम्पूर्ण जगत्को अपने हृदयमें मूर्तद्रव्यतासे रहित, भेदशून्य, अतएव पर्वत आदि पदार्थोंसे रहित, पृथिवी आदि भूतोंसे रहित, सङ्कल्पमय (कल्पनामय) नगरके तुल्य असत्, स्वप्नमें जो मनोमय पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके तुल्य, मनोराज्यके समान स्थित, अर्थशून्य होनेके कारण गन्धर्व नगरके सदृश, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके सदृश, मृगतृष्णामें

नौयानलोलशैलाभं सत्यलाभविवर्जितम् ।
चित्तभ्रमपिशाचाभं निर्बीजमपि भासुरम् ॥ २० ॥
कथार्थप्रतिभासाभं व्योममुक्तावलीनिभम् ।
कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाऽम्भसि ॥ २१ ॥
यथा नभसि नीलत्वमसदेवोत्थितं सदा ।
अभित्तिरङ्गरहितमुपलब्धिमनोहरम् ॥ २२ ॥
स्वप्ने वा व्योम्नि वा चित्रमकर्तृचिरभासुरम् ।
अवह्निरेव वह्नित्वं धत्ते चित्रानलो यथा ॥ २३ ॥
दधात्येवं जगच्छब्दरूपार्थमसदात्मकम् ।
तरङ्गोत्पलमालाभं दृष्टनृत्यमिवोत्थितम् ॥ २४ ॥

जलकी भ्रान्तिके समान समझता है तथा नाव आदिके चलनेसे पर्वत, वृक्ष आदिके चलनभ्रमके सदृश, सत्य पुरुषार्थसे शून्य, चित्तके मोहसे कल्पित भूतके सदृश, निर्बीज होनेपर भी (जगत्‌की बीज मायाके मिथ्या होनेसे और आत्माके निर्विकार होनेसे बीजरहित होनेपर भी) प्रकाशमान, कथाके अर्थके प्रतिभासके समान (कथा सुननेमें आसक्ति होनेसे संस्कार द्वारा प्रत्यक्षके सदृश कथाके अर्थकी प्रतीति होना लोकमें प्रसिद्ध है), आकाशमें कल्पित मुक्तावलीके सदृश, सुवर्णमें कङ्कणत्व आदिकी नाईं एवं जलमें तरङ्गत्वकी नाईं * और आकाशमें नीलिमाके सदृश असत् ही यह सदा उत्पन्न हुआ है, भीत (जिसपर चित्र बनाया जाता है) और विविध रँगोंके बिना केवल प्रतीतिमात्रसे (पूर्व अनुभवके स्मरणमात्रसे) मनोहर एवं कर्तासे रहित चित्र जैसे स्वप्नमें या आकाशमें चिरकाल तक प्रतीत होता है तथा जैसे चित्रलिखित अग्नि अग्नि न होनेपर भी अग्नि सी प्रतीत होती है, वैसे ही मिथ्याभूत यह प्रपञ्च जगत् शब्दके अनुरूप अर्थको—गच्छति (जाता है) यानी विचारमें नहीं ठहरता इस अर्थको—धारण करता है। तरङ्गोंमें भ्रान्तिसे कल्पित नील कमलोंकी मालाके तुल्य, पहले देखे गये स्मृतिपथमें आरूढ हो रहे नृत्यके समान मनमें उत्थित, जैसे चित होकर सोये

---

* कङ्कणता और तरङ्गताका सुवर्ण और जलके स्वरूपके बिना निरूपण नहीं हो सकता, अत. वे मिथ्या हैं, वैसे ही यह भी मिथ्या है ।

चक्रचीत्कारपूर्णस्य जलराशिमिवोद्यतम् ।
शीर्णपत्रं भ्रष्टनष्टं ग्रीष्मे वनमिवाऽरसम् ॥ २५ ॥
मरणव्यग्रचित्ताभं शिलागृहगुहास्पदम् ।
अन्धकारगुहैकैकनृत्तमुन्मत्तचेष्टितम् ॥ २६ ॥
प्रशान्ताज्ञाननीहारं विज्ञानशरदम्बरम् ।
समुत्कीर्णमिव स्तम्भे चित्रं भित्ताविवोदितम् ॥ २७ ॥
पङ्कादिवाऽभिरचितं सचेतनमचेतनम् ।
ततः स्थितिप्रकरणं चतुर्थं परिकल्पितम् ॥ २८ ॥
त्रीणि ग्रन्थसहस्राणि व्याख्यानाख्यायिकामयम् ।
इत्थं जगदहंभावरूपस्थितिमुपागतम् ॥ २९ ॥
द्रष्टृदृश्यक्रमं प्रौढमित्यत्र परिकीर्तितम् ।
दशदिङ्मण्डलाभोगभासुरोऽयं जगद्भ्रमः ॥ ३० ॥

हुए पुरुष या कविको चक्रवाकके (चकवा पक्षीके) चीत्कारसे पूर्ण आकाशको देखनेपर यह तालाब है, ऐसी उत्प्रेक्षा होती है, वैसे ही यह जगत् भी उत्प्रेक्षित है । ग्रीष्म ऋतुमें पत्तोंसे शून्य, सूखे हुए और सारहीन अतएव छाया, शोभा आदिसे रहित और फल आदिकी समृद्धिसे शून्य वनकी नाईं, मरणके समयमें व्यग्र हुए लोगोंके मनकी नाईं (मरणके समय व्यग्र हुए लोगोंका मन भ्रम और मूर्च्छासे युक्त और अस्थिर रहता है, यह प्रसिद्ध है), पर्वतोंकी गुफाओंकी तरह (गुफाएँ अन्धकारसे भरी हुई, शून्य और भयङ्कर होती हैं, वैसे ही यह भी है), अन्धकारपूर्ण गुफामें प्रत्येकके नृत्यके सदृश उन्मत्त पुरुषोंकी चेष्टाओंके सदृश, भीतमें लिखे हुए चित्र एवं खम्भेमें खोदी हुई मूर्तिके समान तथा पङ्क आदिसे बनायी गई प्रतिमाके सदृश पृथक्सत्तासे शून्य है, ऐसा समझता है। परमार्थ दृष्टिसे यह प्रशान्त और अज्ञानरूपी कुहरेसे शून्य ज्ञानरूपी शरत्कालके आकाशके सिवा अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् अज्ञानके विकारके दूर होनेपर यह नित्य निर्विशेष सच्चिदानन्द परब्रह्ममें पर्यवसित हो जाता ॥ १३-२८ ॥

तदुपरान्त चौथा स्थितिप्रकरण कहा गया है, तीन हजार श्लोकवाले उस प्रकरणमें प्रपञ्च और उसके अधिष्ठान तत्त्वका वास्तविक प्रतिपादन और कथाएँ प्रचुर मात्रामें हैं ।

ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भावको स्वीकार कर इस प्रकार जगत्-रूपसे और

इत्थमभ्यागतो वृद्धिमिति तत्रोच्यते चिरम् ।
उपशान्तिप्रकरणं ततः पञ्चसहस्रकम् ॥ ३१ ॥
पञ्चमं पावनं प्रोक्तं युक्तिसन्ततिसुन्दरम् ।
इदं जगदहं त्वं च स इति भ्रान्तिरुत्थिता ॥ ३२ ॥
इत्थं संशाम्यतीत्यस्मिन्कथ्यते श्लोकसंग्रहैः ।
उपशान्तिप्रकरणे श्रुते शाम्यति संसृतिः ॥ ३३ ॥
प्रभ्रष्टचित्रसेनेव किञ्चिल्लभ्योपलम्भना ।
शतांशशिष्टा भवति संशान्तभ्रान्तरूपिणी ॥ ३४ ॥
अन्यसंकल्पचित्तस्था नगरश्रीरिवाऽसती ।
अलभ्यवस्तुपार्श्वस्थस्वप्नयुद्धचिरारवा ॥ ३५ ॥

अहं-रूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ है, ऐसा स्थितिप्रकरणमें बतलाया गया है, दस दिशाओंके मण्डलकी विशालतासे देदीप्यमान यह जगद्भ्रम चिरकालसे इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुआ; यह बात उसमें भली-भाँति समझाई गई है ॥ ३० ॥

तदनन्तर पाँच हजार श्लोकोंसे विरचित परम पवित्र तथा विविध युक्तियोंसे अतिरमणीय पाँचवाँ उपशान्तिप्रकरण कहा गया है। उक्त प्रकरणमें यह (जगत), मैं, तुम और वह यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति इस प्रकार शान्त होती है, यह बात अनेक श्लोकोंसे दर्शाई गई है। उपशान्तिप्रकरणके सुननेपर यह संसार जीवन्मुक्तिक्रमसे क्षीण होता हुआ अंशतः अवशिष्ट रहता है। जैसे जीर्ण-शीर्ण चित्रलिखित सेना कुछ-कुछ दिखाई देती है, वैसे ही शान्त हो गया है भ्रमपूर्ण स्वरूप जिसका ऐसी यह संसृति शतांश शेष रह जाती है ॥३१–३४॥

उत्तरोत्तर भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर अधिक विनाश होनेसे दृश्य और अदृश्य संस्कारमात्रसे इसकी अवशिष्टता दृष्टान्तोंसे कहते हैं—'अन्य०' इत्यादिसे।

यह संसार अन्यके सङ्कल्पसे विरचित होनेके कारण अन्यके चित्तमें स्थित अतएव मिथ्याभूत जिसमें सङ्कल्प करनेवाले पुरुषके पास बैठे हुए अन्य पुरुषके स्वप्नके युद्ध और वादविवादसे कुछ भी धन आदि वस्तु प्राप्त नहीं होती ऐसी नगरश्रीके समान हैं, मिथ्या होनेके कारण संसार और उक्त नगरश्री दोनों तुल्य हैं, अतएव अन्यकी क्रिया और शब्दके अविषय भी हैं, वह जैसे स्वप्न देखनेवालेकी दृष्टिसे कुछ स्पष्ट दृश्य है, किन्तु सङ्कल्प करनेवालेकी दृष्टिसे तनिक भी

शान्तसंकल्पमत्ताभ्रभीषणाशनिशब्दवत् ।
विस्मृतस्वप्नसंकल्पनिर्माणनगरोपमा ॥ ३६ ॥
भविष्यन्नगरोद्यानप्रसूवन्ध्यामलाङ्गिका ।
तस्या जिह्वोच्यमानोग्रकथार्थानुभवोपमा ॥ ३७ ॥
अनुल्लिखितचित्रस्य चित्रव्याप्तेव भित्तिभूः ।
परिविस्मर्यमाणार्थकल्पनानगरीनिभा ॥ ३८ ॥
सर्वर्तुमदनुत्पन्नवनस्पन्दाऽस्फुटाकृतिः ।
भाविपुष्पवनाकारवसन्तरसरञ्जना ॥ ३९ ॥
अन्तर्लीनतरङ्गौघसौम्यवारिसरित्समा ।
निर्वाणाख्यं प्रकरणं ततः षष्ठमुदाहृतम् ॥ ४० ॥
शिष्टो ग्रन्थः परीमाणं तस्य ज्ञानमहार्थदः ।
बुद्धे तस्मिन्भवेच्छ्रेयो निर्वाणं शान्तकल्पनम् ॥ ४१ ॥

दृश्य न होती हुई अपने आप शान्त हो जाती है वैसे ही यह संसार भी है, यह भाव है ॥ ३५ ॥

उससे भी अधिक शान्तिका प्रकर्ष होनेपर अदृश्य अवस्थासे अन्तमें यह संसार शान्त हुए सङ्कल्पसे कल्पित मदोन्मत्त गजराजके समान निरङ्कुश मेघकी भीषण गर्जनाके समान, जिस नगरका स्वप्न द्वारा निर्माण या सङ्कल्प द्वारा निर्माण भूल गया है, उस नगरके समान, भावी (बनाये जानेवाले) नगरकी वाटिकामें बच्चा पैदा करनेवाली बाँझ स्त्रीके समान शून्यस्वरूपसे युक्त, उक्त वन्ध्या स्त्रीकी जिह्वासे कही जा रही अपने पुत्रके युद्ध आदिकी वीररसपूर्ण कथाके अर्थके अनुभवके तुल्य, जिस घरमें चित्र नहीं लिखा गया उस घरकी चित्रोंसे भरी हुई भीतकी नाईं, विस्मृत होती जा रही है अर्थशून्य कल्पना जिसकी, उस कल्पित नगरीके सदृश, भावी फूलोंके वनके आकाररूप वसन्तसे रसरञ्जित तथा सम्पूर्ण ऋतुओंसे युक्त होनेपर भी अनुत्पन्न वनके स्पन्दन (उल्लास विकास) के सदृश अस्पष्ट आकार वाली तथा तरङ्गमालाओंके अपनेमें समा जानेसे अतिनिश्चल जलसे युक्त नदीके समान प्रतीत होता है ॥ ३६–३९ ॥

तदुपरान्त निर्वाण नामका छठा प्रकरण कहा गया है। शेष ग्रन्थ उसका परिमाण है अर्थात् बत्तीस हजार श्लोकोंमें से ऊपर गिने गये साढ़े सत्रह हजार श्लोकोंसे शेष—साढ़े चौदह हजार—ग्रन्थ उसका परिमाण है यानी इसकी श्लोक-

अचेत्यचित्प्रकाशात्मा विज्ञानात्मा निरामयः ।
परमाकाशकोशाच्छः शान्तसर्वभवभ्रमः ॥ ४२ ॥
निर्वापितजगद्यात्रः कृतकर्तव्यसुस्थितः ।
समस्तजनतारम्भवज्रस्तम्भो नभोनिभः ॥ ४३ ॥
विनिगीर्णयथासंख्यजगज्जालातितृप्तिमान् ।
आकाशीभूतनिःशेषरूपालोकमनस्कृतिः ॥ ४४ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वहेयादेयदृशोज्झितः ।
सदेह इव निर्देहः ससंसारोऽप्यसंसृतिः ॥ ४५ ॥
चिन्मयो घनपाषाणजठरापीवरोपमः ।
चिदादित्यस्तपँल्लोकानन्धकारोपरोपमम् ॥ ४६ ॥

संख्या साढ़े चौदह हजार है। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् (दुर्लभ) पदार्थको (परम पुरुषार्थको) देनेवाला है। उसके ज्ञात होनेपर मूलाविद्याका सर्वनाश होनेसे सम्पूर्ण कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त होता है। बहुत क्या कहें, उक्त प्रकरणके भली भाँति हृदयङ्गम होनेपर जीवके सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम विनष्ट हो जाते हैं और वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप अतएव सम्पूर्ण आधिव्याधियोंसे रहित तथा विगतस्पृह हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण जगत्-यात्राएँ शान्त हो जाती हैं तथा कृतकृत्य होनेसे वह स्वस्थ हो जाता है जैसे हीरेका खम्भा अपनेमें किसी प्रकारके विकारके बिना ही अपनेमें प्रतिबिम्बित जनता और उसकी चेष्टाओंका आधार होता है वैसे ही आकाश तुल्य (सर्वव्यापक) उक्त जीव भी सबका आधार हो जाता है। मानो सम्पूर्ण जगत्-जालोंके निगलनेसे अति तृप्तिको प्राप्त हो जाता है। उसके बाह्य इन्द्रियोंके भोग और मानसिक भोग सब शान्त हो जाते हैं। वह आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक सम्पूर्ण विषयोंमें स्वीकार और परित्याग दृष्टिसे रहित हो जाता है अतएव देहयुक्त होनेपर भी देह रहित-सा संसारमें रहनेपर भी असंसारी हो जाता है, निविड़ पत्थरके हृदयकी भाँति छिद्र रहित और वस्तुएँ भी जिसकी उपमा हों इस प्रकारका वह चैतन्यरूप सूर्य अपने अज्ञानसे कल्पित लोकोंको आत्माकार वृत्तिसे खूब प्रदीप्त हुए अपने प्रकाशसे दीप्त करता हुआ भी (प्रकाशरूप होता हुआ भी) दृश्य पदार्थोंके न होनेसे ही उनके प्रकाशके अविषयमें निविड हुए अन्धकाररूप पत्थरके सदृश परम अन्ध-

परप्रकाशरूपोऽपि परमान्ध्यमिवाऽऽगतः ।
रुद्धसंसृतिदुर्लीलः प्रक्षीणाशाविषूचिकः ॥ ४७ ॥
नष्टाहङ्कारवेतालो देहवानकलेवरः ।
कस्मिंश्चिद्रोमकोट्यग्रे तस्येयमवतिष्ठते ।
जगल्लक्ष्मीर्महामेरोः पुष्पे क्वचिदिवाऽलिनी ॥ ४८ ॥
परमाणौ परमाणौ चिदाकाशः स्वकोटरे ।
जगल्लक्ष्मीसहस्राणि धत्ते कृत्वाऽथ पश्यति ॥ ४९ ॥
विततता हृदयस्य महामतेर्हरिहराब्जजलक्षशतैरपि ।
तुलनमेति न मुक्तिमतो यतः प्रविततोऽस्ति निरुत्तमवस्तुनः ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे ग्रन्थसंख्यादिवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

कारको प्राप्त हुआ-सा हो जाता है, उसकी जन्ममरणरूप संसारकी दुष्ट लीलाएँ शान्त हो जाती हैं और आशारूपी हैजा नष्ट हो जाता है॥ ४०–४७ ॥

उसका अहङ्काररूपी पिशाच नष्ट हो जाता है तथा वह शरीर रहित होता हुआ भी देहवान् रहता है। भगवती श्रुति भी कहती है—'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' (शरीर रहित होता हुआ भी नश्वर शरीरोंमें स्थित महान् विभु आत्माको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता) जैसे महान् मेरु पर्वतके किसी एक प्रदेशमें फूलमें भँवरी बैठी रहती है वैसे ही उसके रोमके सिरके अग्रभागमें अर्थात् रोमकोटिके तुल्य परिच्छिन्न अविद्याके भी अग्र भागमें (एकदेशमें) यह जगत्सम्पत्ति स्थित है ॥४८॥

विस्तारशून्य प्रदेशमें अतिविस्तारयुक्त जगत्की प्रतीति कैसे होती है? ऐसी शङ्का होनेपर छोटेसे दर्पणके अन्दर मेघ, ग्रह और नक्षत्रोंसे युक्त आकाशका समावेश सबको दिखाई देता है, अतः अज्ञानके लिए यह कोई कठिन काम नहीं है कि विस्तारशून्य प्रदेशमें अतिविस्तारयुक्त जगत् दिखलाई दे, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'परमाणौ'** इत्यादिसे ।

चैतन्यघन परमात्मा अपने भीतर कल्पित आकाशमें, परमाणु-परमाणुमें हजारों जगतोंको स्वयं बनाकर धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है ॥४९॥

श्रीरामचन्द्रजी, महामति जीवन्मुक्त पुरुषका हृदय परमात्मा ही है, उसकी

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्यां वा चित्तमात्रायां प्रबोधः संप्रवर्तते ।
बीजादिव सतो व्युप्तादवश्यंभावि सत्फलम् ॥ १ ॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ २ ॥

विस्तीर्णताका माप करोड़ों हरि, हर आदि भी नहीं कर सकते । उनकी ऐसा करनेकी सामर्थ्य नहीं है, सो बात नहीं है, किन्तु सत्तासे, अनन्ततासे और आनन्दस्वरूपतासे जिससे बढ़कर उत्कृष्ट कोई वस्तु ही नहीं है, उस परमात्माकी अपरिच्छिन्नता पारमार्थिक ही है, आकाश आदिकी नाई द्रष्टा पुरुषकी शक्तिसे कल्पित नहीं है, यह भाव है ॥ ५० ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

[मुख्य, अमुख्य और आनुषङ्गिक फलोंके साथ इस ग्रन्थके गुणोंका निरूपण]

इस प्रकार विषय और प्रयोजनसे प्रकरणभेदका वर्णन कर सम्पूर्ण ग्रन्थके गुणोंका वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी तत्-तत् दृष्टान्तोंके उपन्यासमें ग्राह्य अंश और तात्पर्यको, ग्रन्थ शैलीके ज्ञानके लिए, कहते हैं—'अस्याम्' इत्यादिसे ।

हे रघुवंशतिलक, जैसे जोते हुए उपजाऊ खेतमें उचित समयमें बोये गये उत्तम बीजसे अवश्यम्भावी सत्फल प्राप्त होता है, वैसे ही पूर्वोक्त छः प्रकरणोंसे युक्त इस मोक्षसंहिताके केवल हृदयङ्गम करनेसे ज्ञान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अनेक शाखाओंके भेदसे विभिन्न अनेक श्रुतियोंके विद्यमान रहते उन्हें छोड़कर पुरुषबुद्धिसे विरचित इसीको आप परम उपादेय क्यों कहते हैं ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे ।

यदि पुरुषबुद्धिसे विरचित शास्त्र युक्तियों द्वारा तत्त्वका निर्णायक हो, तो उसका भी ग्रहण करना चाहिए । युक्तियों द्वारा तत्त्वका निर्णय न करनेवाले आर्ष ग्रन्थका (वेदका) भी त्याग करना चाहिए । पुरुषको सदा न्यायसे युक्त (युक्ति-

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥ ३ ॥
योऽस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरःस्थं तं कोऽनुशास्त्यतिरागिणम् ॥४॥
यथोषसि प्रवृत्तायामालोकोऽवश्यमेष्यति ।
अस्यां वा चित्तमात्रायां सुविवेकस्तथैष्यति ॥ ५ ॥
श्रुतायां प्राज्ञवदनाद् बुद्ध्वाऽऽन्तं स्वयमेव च ।
शनैः शनैर्विचारेण बुद्धौ संस्कार आगते ॥ ६ ॥

युक्त) का ही अनुसरण करना चाहिए । भाव यह कि यद्यपि श्रुतियाँ पुरुषबुद्धि-विरचित शास्त्रकी अपेक्षा अत्यन्त पूज्यतम हैं तथापि उनका अभिप्राय नितान्त गूढ़ है, अतः उनसे सहसा ज्ञान नहीं होता; इसलिए साधारण अधिकारियोंको उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए, सारके ज्ञाता सत्पुरुषोंके अनुभवमूलक युक्तियोंसे पूर्ण इस शास्त्रका अभिप्राय अत्यन्त साफ है, अतः इससे शीघ्र ज्ञान होता है, इसका अवश्य सादर सेवन करना चाहिए ॥ २ ॥

युक्तियोंसे पूर्ण वचन बालकका भी हो, तो उसको ले लेना चाहिए और युक्तियोंसे शून्य वचन ब्रह्माजीका ही क्यों न हो पर उसका तृणके समान त्याग कर देना चाहिए ॥ ३ ॥

यदि कोई कहे कि पुरुषबुद्धिसे विरचित शास्त्र ही ग्राह्य है, तो हमारे पूर्वजोंके बनाये हुए ही किन्हीं अन्य ग्रन्थोंको सुनेंगे, इसको क्यों सुने ? इसपर कहते हैं—'योऽस्मत्तातस्य' इत्यादिसे ।

जो पुरुष यह कुँआ हमारे बाप-दादोंका बनाया हुआ है यह सोचकर सामनेका गङ्गाजल छोड़कर कुँएका जल पीता है, उस अतिरागीको कौन शिक्षा दे सकता है ? ॥४॥

अन्यकी अपेक्षा इसमें अतिशय दिखलाते हैं—'यथोषसि' इत्यादिसे ।

जैसे प्रातःकाल होनेपर अवश्य ही प्रकाश होता है, वैसे ही इसके भी केवल चित्तमें स्थित करने मात्रसे सुन्दर स्वच्छ विवेक होगा ॥ ५ ॥

गुड़जिह्विकान्यायसे आनुषङ्गिक फलोंको दर्शानेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजी पहले शब्दव्युत्पत्तिरूप प्रथम फल कहते हैं—'श्रुतायाम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

विद्वान् पुरुषके मुँहसे अन्ततक इसका श्रवण कर और स्वयं ही मोटा-मोटी

पूर्वं तावदुदेत्यन्तर्भृशं संस्कृतवाक्यता ।
शुद्धयुक्ता लतेवोच्चैर्या सभास्थानभूषणम् ॥ ७ ॥
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ।
सा यया स्नेहमायान्ति राजानो अमरा अपि ॥ ८ ॥
पूर्वापरज्ञः सर्वत्र नरो भवति बुद्धिमान् ।
पदार्थानां यथा दीपहस्तो निशि सुलोचनः ॥ ९ ॥
लोभमोहादयो दोषास्तानवं यान्त्यलं शनैः ।
धियो दिशः समासन्नशरदो मिहिका यथा ॥१०॥
केवलं समवेक्ष्यन्ते विवेकाध्यासनं धियः ।
न किञ्चन फलं धत्ते स्वाभ्यासेन विना क्रिया ॥११॥
मनः प्रसादमायाति शरदीव महत्सरः ।
परं साम्यमुपादत्ते निर्मन्दर इवाऽर्णवः ॥१२॥

इसका ज्ञान प्राप्तकर विचारसे धीरे-धीरे बुद्धिमें संस्कार प्राप्त होनेपर पहले उन्नत लताके समान सभाको अत्यन्त विभूषित करनेवाली शुद्धवाक्यता हृदयमें उत्पन्न होती है ॥ ६, ७ ॥

अर्थव्युत्पत्तिरूपी चतुरता भी इसका दूसरा फल है, ऐसा कहते हैं— 'परा' इत्यादिसे ।

महत्त्वरूपी गुणसे शोभित होनेवाली वह दूसरी चतुरता उत्पन्न होती है जिससे राजा और देवताओंके तुल्य पूजनीय विद्वान् भी बड़ा प्रेम करते हैं । जैसे सुन्दर नेत्रवाला पुरुष रात्रिके समय दीपकको हाथमें लेकर पदार्थोंका ज्ञाता होता है वैसे ही उससे बुद्धिमान् पुरुष सर्वत्र पूर्वापरका ज्ञाता हो जाता है ॥ ८, ९ ॥

जैसे शरद ऋतुसे परिपूर्ण दिशाका कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही बुद्धिके लोभ, मोह आदि दोष शनैः शनैः अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, आपकी बुद्धि मलरहित (निर्मल) हो गई है, अब आपको केवल विवेकाभ्यासकी अपेक्षा है । अपने अभ्यासके बिना क्रिया कुछ भी फल नहीं देती ॥ ११ ॥

विवेकाभ्याससे मन शरत्-कालमें महान् सरोवरके तुल्य अतिप्रसादसे युक्त और मन्दर पर्वतसे रहित समुद्रके समान क्षोभरहित हो जाता है ॥ १२ ॥

निरस्तकालिमा रत्नशिखेवाऽस्ततमःपटा ।
प्रतिज्वलत्यलं प्रज्ञा पदार्थप्रविभागिनी ॥ १३ ॥
दैन्यदारिद्र्यदोषाढ्या दृष्टयो दर्शितान्तराः ।
न निकृन्तन्ति मर्माणि ससन्नाहमिवेषवः ॥ १४ ॥
हृदयं नाऽवलुम्पन्ति भीमाः संसृतिभीतयः ।
पुरःस्थितमपि प्राज्ञं महोपलमिवेषवः ॥ १५ ॥
कथं स्यादादिता जन्मकर्मणां दैवपुंस्त्वयोः ।
इत्यादिसंशयगणः शाम्यत्यह्नि यथा तमः ॥ १६ ॥
सर्वदा सर्वभावेषु संशान्तिरुपजायते ।
यामिन्यामिव शान्तायां प्रज्ञालोक उपागते ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस ग्रन्थके अभ्याससे जिसमें व्यामोहरूपी काजलका गन्ध भी नहीं है ऐसी रत्नदीपककी लौके समान नष्ट हो गया है अज्ञानरूप आवरण जिसका अतएव पदार्थोंके विभागसे युक्त प्रज्ञा अत्यन्त देदीप्यमान हो जाती है ॥ १३ ॥

जैसे कवच और शिरस्त्राण आदिसे सुसज्जित योद्धाको बाण छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, वैसे ही दीनता, दरिद्रता आदि दोषोंसे भरी हुई दृष्टियाँ इस ग्रन्थके अभ्याससे धन आदि विषयोंमें असारता ज्ञात होनेके कारण मर्मच्छेदन नहीं कर सकतीं ॥ १४ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थका ज्ञाता भयहेतुओंके सामने खड़ा क्यों न हो, फिर भी जैसे बाण पत्थरकी चट्टानको नहीं काट सकते वैसे ही भीषण सांसारिक भय उसके हृदयको पीड़ित नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

क्रमशः दैव और पौरुषकी प्रधानताके हेतु जन्म और कर्मोंकी आदिता कैसे होगी अर्थात् संसारमें जन्मके प्रथम होनेपर पौरुषकी प्रधानता और कर्मके प्रथम होनेपर दैवकी प्रधानता कैसे होगी ? इत्यादि सन्देह दिनमें अन्धकारकी नाईं शान्त हो जाते हैं, कारण कि इस ग्रन्थके सुननेसे दोनोंमें (जन्म और कर्ममें) अविद्यामूलक मिथ्यात्वका निश्चय हो जाता है ॥ १६ ॥

रात्रिकी नाईं अविद्याके नष्ट होने एवं ज्ञानरूपी आलोकके प्राप्त होनेपर सदा सब पदार्थोंमें शान्ति (राग-द्वेष आदिसे क्षोभ न होना) हो जाती है ॥ १७ ॥

समुद्रस्येव गाम्भीर्यं धैर्यं मेरोरिव स्थितम् ।
अन्तः शीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिणः ॥ १८ ॥
सा जीवन्मुक्तता तस्य शनैः परिणतिं गता ।
शान्ताशेषविशेषस्य भवत्यविषयो गिराम् ॥ १९ ॥
सर्वार्थशीतला शुद्धा परमालोकदाऽस्य धीः ।
परं प्रकाशमायाति ज्योत्स्नेव शरदैन्दवी ॥ २० ॥
हृद्याकाशे विवेकार्के शमालोकिनि निर्मले ।
अनर्थसार्थकर्तारो नोद्यन्ति किल केतवः ॥ २१ ॥
शाम्यन्ति शुद्धिमायान्ति सौम्यास्तिष्ठन्ति सून्नते ।
अचञ्चले जले तृष्णाः शरदीवाऽभ्रमालिकाः ॥ २२ ॥

इस ग्रन्थका विचार करनेवाले पुरुषके हृदयमें समुद्रकी सी गम्भीरता, मेरु पर्वतकी-सी निश्चलता और चन्द्रमाकी-सी शीतलता प्राप्त होती ॥१८॥

इस प्रकार आनुषङ्गिक (गौण) फलोंको दर्शा कर मुख्य फल दर्शाते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

भूमिकाके क्रमसे सम्पूर्ण विशेषताओंके शान्त होनेपर पुरुषकी वह जीवन्मुक्ति परिपुष्ट हो जाती है, जिसका वाणीसे वर्णन नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

जैसे सम्पूर्ण पदार्थोंको शीतल करनेवाली तथा अत्यन्त प्रकाश करनेवाली शरत्-कालकी चाँदनी अत्यन्त शोभाको प्राप्त होती है, वैसे ही इस ग्रन्थका विचार करनेवाले पुरुषकी सम्पूर्ण पदार्थोंको शीतल करनेवाली तथा परमात्माका दर्शन करानेवाली बुद्धि अत्यन्त प्रकाशको प्राप्त होती है ॥ २० ॥

हृदयरूपी आकाशमें शमसे प्रकाशयुक्त विवेकरूप निर्मल सूर्यके उदित होनेपर विविध अनर्थोंके हेतु काम, क्रोध आदि धूमकेतु कभी उदित नहीं होते, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें वृष्टि करनेमें अनिच्छुक मेघमालाएँ उन्नत पर्वतमें स्थित होती हैं, स्वच्छताको प्राप्त होती हैं और शान्त हो जाती हैं, वैसे ही इस ग्रन्थका विचार करनेसे विषयोंमें तृष्णारहित सौम्य पुरुष चाञ्चल्यरहित उन्नत स्वात्मपदमें स्थित हो जाते हैं, शुद्धिको प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं ॥२२॥

यत्किञ्चनकरी क्रूरा ग्राम्यता विनिवर्तते ।
दीनानना पिशाचानां लीलेव दिवसागमे ॥ २३ ॥
धर्मभित्तौ भृशं लग्नां धियं धैर्यधुरं गताम् ।
आधयो न विधुन्वन्ति वाताश्चित्रलतामिव ॥ २४ ॥
न पतत्यवटे ज्ञस्तु विषयासङ्गरूपिणि ।
कः किल ज्ञातसरणिः श्वभ्रं समनुधावति ॥ २५ ॥
सच्छास्त्रसाधुवृत्तानामविरोधिनि कर्मणि ।
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे ॥ २६ ॥
जगतां कोटिलक्षेषु यावन्तः परमाणवः ।
तेषामेकैकशोऽन्तःस्थान्सर्गान्पश्यत्यसङ्गधीः ॥ २७ ॥

जैसे दिन होनेपर पिशाचोंकी लीला समाप्त हो जाती है, वैसे ही दूसरोंका द्वेष आदि करनेवाली मुखको दीन बनानेवाली कुटिल अश्लीलवचनताकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २३ ॥

जैसे चित्रमें लिखी गई लताको हवा नहीं कँपा सकती, वैसे ही धर्मरूपी (शम, दमरूपी अथवा* परमात्मरूपी) भीतमें एकाग्रतापूर्वक लीन हुई अतएव धैर्यकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुई बुद्धिको मानसिक व्यथाएँ (चिन्ताएँ) विचलित नहीं कर सकतीं ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयोंमें आसक्तिरूपी मोहगर्तमें नहीं पड़ता, भला बतलाइए तो सही, जिसे मार्ग ज्ञात होगा वह गड्ढेकी ओर क्यों दौड़ेगा ? ॥ २५ ॥

जैसे पतिव्रता नारी अन्तःपुरके आँगनमें ही प्रसन्न रहती है, इधर-उधर नहीं जाती, वैसे ही सत् शास्त्रोंके परिज्ञानसे उत्तम चरित्रवाले लोगोंकी बुद्धि शास्त्रके अनुकूल यथायोग्य प्राप्त कर्ममें ही रमण करती है ॥ २६ ॥

असङ्गबुद्धिवाला पुरुष करोड़ों लाख जगतोंमें जितने परमाणु हैं, उनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्डोंको अपने अन्तःकरणमें देखता, कारण कि उसे मायाकी अघटित घटनामें अत्यन्त पटुताका ज्ञान हो जाता है ॥ २७ ॥

---

* विश्वरूपी चित्रका आधार होनेसे धर्ममें (परमात्मामे) भित्तित्वका आरोप किया है ।

मोक्षोपायावबोधेन शुद्धान्तःकरणं जनम् ।
न खेदयति भोगौघो न चाऽऽनन्दयति क्वचित् ॥ २८ ॥
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलाः ।
ये पतन्त्युत्पतन्त्यम्बुवीचिवत्तान् स पश्यति ॥ २९ ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
कार्याण्येष प्रबुद्धोऽपि निष्प्रबुद्ध इव द्रुमः ॥ ३० ॥
दृश्यते लोकसामान्यो यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तौ हृदयेनाऽपराजितः ॥ ३१ ॥
बुद्ध्वेदमखिलं शास्त्रं वाचयित्वा विविच्यताम् ।
अनुभूयत एवैतन्न तूक्तं वरशापवत् ॥ ३२ ॥
शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम् ।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥ ३३ ॥

मोक्षके उपायके ज्ञानसे जब पुरुष शुद्ध अन्तःकरणवाला हो जाता है, तब उसे विविध भोग न तो क्लेश पहुँचाते हैं और न आनन्द ही देते हैं। प्रत्येक परमाणुमें जो सम्पूर्ण सर्गवर्ग असंकीर्ण होकर जलतरङ्गोंकी नाईं आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं, उन्हें असङ्गबुद्धि पुरुष देखता रहता है ॥ २८,२९ ॥

वह प्राप्त हुए अनिष्ट कार्योंके लिए द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुए इष्ट कार्योंकी प्राप्तिके लिए इच्छुक नहीं होता, कार्यके फल आदिके स्वरूपका ज्ञाता होता हुआ भी वह उसे न जाननेवाले वृक्षके समान रहता है ॥ ३० ॥

जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह करनेवाला वह सर्वसाधारण लोगोंकी नाईं दिखाई देता है, इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर उसके चित्तमें तनिक भी विकार नहीं होता ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामजी, इस सम्पूर्ण शास्त्रको बँचवा कर और मोटामोटी जानकर फिर तात्पर्यके पर्यालोचनपूर्वक प्रत्येक श्लोकका विवेचन कीजिए, इसे आप केवल उक्ति ही न समझिए, किन्तु ब्रह्मा आदि देवताओंके शाप और वरदानके समान इसका फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

माधुर्य तथा उपमा, यमक आदि अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कारोंसे विभूषित कवितामय और रसमय यह सुन्दर शास्त्र आयासके बिना ही ज्ञात हो जाता है।

बुध्यते स्वयमेवेदं किञ्चित्पदपदार्थवित् ।
स्वयं वस्तु न वेत्तीदं श्रोतव्यं तेन पण्डितात् ॥ ३४ ॥

यस्मिञ्छ्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम् ।
मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किञ्चिदुपयुज्यते ॥ ३५ ॥

एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
पाण्डित्यं स्यादपूर्वं हि चित्तसंस्कारपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

अहं जगदिति प्रौढो द्रष्टृदृश्यपिशाचकः ।
पिशाचोऽर्कोदयेनेव स्वयं शाम्यत्ययत्नतः ॥ ३७ ॥

भ्रमो जगदहं चेति स्थित एवोपशाम्यति ।
स्वप्नमोहः परिज्ञात इव नो भ्रमयत्यलम् ॥ ३८ ॥

इसमें दृष्टान्तों द्वारा अर्थका प्रतिपादन किया गया है, थोड़ी बहुत भी व्युत्पत्ति-वाला पुरुष इसे स्वयं ही जान लेता है। जो इसे स्वयं नहीं जान सकता, उसे पण्डितके मुखसे इसको सुनना चाहिए ॥ ३३–३४ ॥

इसके सुनने, विचार करने और जाननेपर मनुष्यको मोक्षप्राप्तिके लिए तपस्या, ध्यान, जप आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं रहती, कारण कि तपस्या, ध्यान, जप आदिका फल इसके फलसे गतार्थ हो जाता है, यह भाव है। इस ग्रन्थका खूब अभ्यास करने एवं पुनः पुनः इसके पर्यालोचनसे चित्तसंस्कार-पूर्वक अपूर्व पाण्डित्य होता है। यद्यपि अन्य ग्रन्थोंके अभ्याससे भी पाण्डित्य होता है, तथापि वह चित्तसंस्कारपूर्वक नहीं होता, इसलिए इस ग्रन्थके विचारसे जनित पाण्डित्यको अपूर्व कहा है ॥ ३५,३६ ॥

जैसे सूर्योदयसे पिशाच स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही मै और जगत् इस प्रकारका अतिप्रौढ़ द्रष्टा और दृश्यरूप पिशाच अनायास नष्ट हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनोंके शान्त होनेसे दृङ्मात्र शुद्ध आत्मा अवशिष्ट रहता है ॥ ३७ ॥

मैं और जगत् इत्याकारक भ्रम नष्ट हो जाता है, केवल अधिष्ठान ही शेष रह जाता है, जैसे स्वप्नमोहके ज्ञात होनेपर वह भ्रम पैदा नहीं करता, वैसे ही यह भी भ्रम पैदा नहीं करता ॥ ३८ ॥

यथा सङ्कल्पनगरे पुंसो हर्षविषादिता ।
न बाधते तथैवाऽस्मिन् परिज्ञाते जगद्भ्रमे ॥ ३९ ॥
चित्रसर्पः परिज्ञातो न सर्पभयदो यथा ।
दृश्यसर्पः परिज्ञातस्तथा न सुखदुःखदः ॥ ४० ॥
परिज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति ।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति ॥ ४१ ॥
सुमनःपल्लवामर्दे किञ्चिद्व्यतिकरो भवेत् ।
परमार्थपदप्राप्तौ न तु व्यतिकरोऽल्पकः ॥ ४२ ॥
गच्छत्यवयवः स्पन्दं सुमनःपत्रमर्दने ।
इह धीमात्ररोधस्तु नाऽङ्गावयवचालनम् ॥ ४३ ॥

जैसे सङ्कल्प द्वारा निर्मित नगरमें पुरुषको हर्ष और विषाद नहीं होते अर्थात् सङ्कल्पनिर्मित नगरके पूर्णतया बन जानेपर हर्ष नहीं होता और उसके भङ्ग हो जानेसे विषाद नहीं होता, वैसे ही यह जगत्-भ्रम कल्पनामात्र है, ऐसा ज्ञात होनेपर फिर यह क्लेशकारक नहीं होता ॥ ३९ ॥

यह चित्र लिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है, यों ज्ञात होनेपर चित्रसर्प चित्रसर्प-दर्शनजनितभयप्रद नहीं होता, वैसे ही दृश्यरूपी सर्पका परिज्ञान होनेपर यह सुखप्रद अथवा दुःखप्रद नहीं होता ॥ ४० ॥

जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, ऐसा ज्ञान होनेसे चित्र सर्पकी सर्पता नष्ट हो जाती है, वैसे ही संसारके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर अधिष्ठानपरिशेषपूर्वक संसार शान्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

यह प्रपञ्च अति विस्तीर्ण है, इसका करोड़ों कुदारियोंसे भी छेदन नहीं हो सकता यह अनायास कैसे नष्ट होगा ? ऐसी शङ्का कर ज्ञानका प्रभाव ही वैसा है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**सुमनः०**' इत्यादिसे ।

फूलों और पल्लवोंके (नवीन पत्तोंके) मलनेमें (नख और सुई आदिसे उन्हें छेदनेमें) भले ही कुछ प्रयत्न करना पड़े, पर परमपदप्राप्तिमें तनिक भी यत्न नहीं करना पड़ता । ऐसी यदि बात है तो पहले पौरुषका समर्थन क्यों किया ? ज्ञानके प्रतिबन्धक राग, असंभावना, विपरीतभावना आदि पुरुषापराधके निराकरणके लिए पौरुषका समर्थन किया है ॥ ४२ ॥

फूलकी पांखुरीके मर्दनमें भी अंगोंमें व्यापार होता है, परमार्थपदप्राप्तिमें

सुखासनोपविष्टेन यथासम्भवमश्नता ।
भोगजालं सदाचारविरुद्धेषु न तिष्ठता ॥ ४४ ॥
यथाक्षणं यथादेशं प्रविचारयता सुखम् ।
यथासम्भवसत्सङ्गमिदं शास्त्रमथेतरत् ॥ ४५ ॥
आसाद्यते महाज्ञानबोधः संसारशान्तिदः ।
न भूयो जायते येन योनियन्त्रप्रपीडनम् ॥ ४६ ॥
एतावत्यपि येऽभीताः पापा भोगरसे स्थिताः ।
स्वमातृविष्ठाक्रिमयः कीर्तनीया न तेऽधमाः ॥ ४७ ॥
शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
राघव ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारतरान्तरम् ॥ ४८ ॥
यथेदं श्रूयते शास्त्रं तामापातनिकां शृणु ।
विचार्यते यथार्थोऽयं यथा च परिभाषया ॥ ४९ ॥

तो बुद्धि व्यापारका भी रोध हो जाता है अङ्ग प्रत्यङ्गोंके व्यापारकी तो कौन कहे ॥ ४३ ॥

सुखकर आसनमें बैठे हुए, यथायोग्य भोगोंका भोग कर रहे, शास्त्रविरुद्ध मार्गसे विमुख एवं देश, काल तथा यथायोग्य सत्संगके अनुसार इस शास्त्रका तथा उपनिषद् आदिका सुखपूर्वक विचार कर रहे पुरुषको संसाररूप क्लेशसे मुक्त कर देनेवाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जिसके प्राप्त होनेपर पुरुषको फिर माताके उदरमें निवास और प्रसवसमयके क्लेश नहीं भोगने पड़ते ॥ ४४–४६ ॥

ऐसे प्रशंसनीय और सुलभ शास्त्रके रहनेपर भी जो पापात्मा नरक आदि क्लेशोंसे भयभीत न होकर भोगोंमें आसक्त हैं, वे अधम माताके मलके कीड़े हैं, उनका नाम लेना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे आत्मघाती हैं ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मुझसे कहे जा रहे इस शास्त्रको आप सुनिए, यह शास्त्र जिनकी बुद्धि अत्यन्त परिशुद्ध है, उनका हृदयभूत है या विवेकबुद्धिसे गृहीत होनेवाले सारतर पदार्थोंकी चरमसीमारूप है या इस शास्त्रका विषय बुद्धिसे भी बढ़कर सारतर प्रत्यग्भूत आत्मतत्त्व है और यह ज्ञानका विस्तार करनेवाला है ॥४८॥

जिस दृष्टान्तसे यह शास्त्र सुना जाता है और जिस संकेतसे इस ग्रन्थका यथार्थरूपसे विचार किया जाता है, उस अवतरणिकाको आप सुनिए ॥ ४९ ॥

येनेहाऽननुभूतेऽर्थे दृष्टेनाऽर्थेन बोधनम् ।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः ॥ ५० ॥
दृष्टान्तेन विना राम नाऽपूर्वार्थोऽवबुध्यते ।
यथा दीपं विना रात्रौ भाण्डोपस्करणं गृहे ॥ ५१ ॥
यैर्यैः काकुत्स्थ दृष्टान्तैस्त्वं मयेहाऽवबोध्यसे ।
सर्वे सकारणास्ते हि प्राप्यन्तु सदकारणम् ॥ ५२ ॥
उपमानोपमेयानां कार्यकारणतोदिता ।
वर्जयित्वा परं ब्रह्म सर्वेषामेव विद्यते ॥ ५३ ॥

जिस अर्थका अनुभव नहीं है, वह अननुभूत अर्थ है; इस शास्त्रमें अननुभूत अर्थमें जिस दृष्ट अर्थसे सादृश्यसे बोध किया जाता है, बोधोपकाररूप फलको देनेवाला उसको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं । (दृष्टान्तः—दृष्टः अन्तः सादृश्य-बलेन प्रकृतार्थनिर्णयो येन सः । जिससे सादृश्यके बलसे प्रस्तुत अर्थका निश्चय होता है, वह दृष्टान्त है) ॥ ५० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे रात्रिमें दीपकके बिना घरमें स्थित घट, पट आदि पदार्थोंका परिज्ञान नहीं होता वैसे ही दृष्टान्तके बिना अपूर्व (अननुभूत) अर्थका परिज्ञान नहीं होता ॥ ५१ ॥

दृष्टान्तोंमें विवक्षित सादृश्यके विवेकके लिए त्याज्य अंशको दिखलाते हैं—'यैर्यैः' इत्यादिसे ।

हे काकुत्स्थ, जिन जिन दृष्टान्तों द्वारा मैं आपको बोध कराता हूँ वे सब सकारण (जन्मवान्) अतएव मिथ्या हैं, ज्ञातव्य परमार्थ सत्य और कारण रहित (नित्य) है । मिथ्याभूत मिट्टी, सुवर्ण आदिसे बने हुए दृष्टान्तोंसे ब्रह्मका बोध कराया जाता है । इससे जन्मवत्त्व, अनृतत्व आदि दृष्टान्तधर्म हेय हैं, यह निष्कर्ष निकला ॥५२॥

परब्रह्मके दृष्टान्तोंमें ही यह नियम है अन्य दृष्टान्तोंमें यह नियम लागू नहीं है, ऐसा कहते हैं—'उपमानोप०' इत्यादिसे ।

केवल एक परब्रह्मको छोड़कर सम्पूर्ण उपमान और उपमेयोंका कार्यत्व, कारणत्व आदिसे सादृश्य पहले कहा गया है । भाव यह है कि जैसे विचार आदिसे बिम्बका ग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है यह कहा जाता है, वैसे ज्ञानसे बिम्ब उत्पन्न होता है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं कह सकते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते ।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रान्तः परिगृह्यते ॥ ५४ ॥
यो यो नामेह दृष्टान्तो ब्रह्मतत्त्वावबोधने ।
दीयते स स बोद्धव्यः स्वप्नजातो जगद्गतः ॥ ५५ ॥
एवं सति निराकारे ब्रह्मण्याकारवान् कथम् ।
दृष्टान्त इति नोद्यन्ति मूर्खवैकल्पिकोक्तयः ॥ ५६ ॥
अन्यासिद्धविरुद्धादिदृग्दृष्टान्तप्रदूषणैः ।
स्वप्नोपमत्वाज्जगतः समुदेति न किञ्चन ॥ ५७ ॥

जो पूर्व श्लोकमें 'परम ब्रह्मको छोड़ कर' कहा है, उसे विशेषरूपसे स्पष्ट करते हैं—'ब्रह्मोपदेशे' इत्यादिसे ।

मैं यहां ब्रह्मोपदेशमें आपसे जो दृष्टान्त कहता हूँ, उसमें एक देशका साधर्म्य लेकर प्रस्तुत अर्थका निर्णय किया जाता है । भाव यह कि जगद्रूप विवर्तके अधिष्ठान ब्रह्मके बोधनमें सर्परूप विवर्तके अधिष्ठानका बोधक रज्जुदृष्टान्त अधिष्ठानका विवर्त होता है, केवल इसी एक अंशमें दिया जाता है, दार्ष्टान्तिक ब्रह्ममें रहनेवाले नित्यत्व, सुखित्व आदि सम्पूर्ण अंशोंमें नहीं ॥ ५४ ॥

दृष्टान्तका एक देशमें ही ग्रहण क्यों होता है ? ऐसी कोई शङ्का न कर बैठे, इसलिए सर्वांशमें सादृश्यकी प्रसिद्धि ही नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे ।

यहां ब्रह्मतत्त्वके ज्ञापनमें जो जो दृष्टान्त दिया जाता है वह स्वप्नमें प्रतीत पदार्थकी नाईं मिथ्याभूत जगत्के अन्तर्गत ही है वास्तविक नहीं है, क्योंकि दूसरी परमार्थसत्य और चिदानन्दस्वरूप वस्तु है ही नहीं, यह आशय है ॥ ५५ ॥

ऐसा होनेपर निराकार ब्रह्ममें साकार दृष्टान्त कैसे ? ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय ? यदि सद्वितीय है, तो सिद्धान्तकी हानि होगी । यदि अद्वितीय है, तो गुरु, शास्त्र आदिके अभावसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकारके विकल्पोंसे उत्पन्न मूर्खजनोंकी उक्तियोंको अवसर नहीं मिलता ॥ ५६ ॥

इससे दृष्टान्तके अनुमान द्वारा बोधक होनेसे दृष्टान्त, हेतु, व्याप्ति आदिके मिथ्या होनेपर व्याप्यत्वासिद्धि, स्वरूपासिद्धि इत्यादि और प्रपञ्चसे सम्बन्ध रखनेवाले हेतुओंसे सत्यत्व आदिके साधनमें विरुद्धत्व आदि हेत्वाभासताके प्रयोजक

अवस्तु पूर्वापरयोर्वर्तमाने विचारितम् ।
यथा जाग्रत्तथा स्वप्नः सिद्धमाबालमागतम् ॥ ५८ ॥
स्वप्नसङ्कल्पनाध्यानवरशापौषधादिभिः ।
यथार्था इह दृष्टान्तास्तद्रूपत्वाज्जगत्स्थितेः ॥ ५९ ॥
मोक्षोपायकृता ग्रन्थकारेणाऽन्येऽपि ये कृताः ।
ग्रन्थास्तेष्वियमेवैका व्यवस्था बोध्यबोधने ॥ ६० ॥

दोष होंगे, यों तार्किकोंको विवादके लिए अवसर भी नहीं दिया गया, ऐसा कहते हैं—'अन्या०' इत्यादिसे ।

असिद्ध, विरुद्ध आदि दूषण देनेमें दक्ष तार्किकोंके दृष्टान्त-दोषोंसे, दूषणीय जगत्के स्वप्नतुल्य होनेके कारण, वस्तुमें कुछ भी दोष नहीं होता । साध्यकी सिद्धि होनेतक हेतु आदि जगत्के पदार्थोंमें जो बोध्यबोधक-व्यवहार होता है, वह व्यावहारिकसत्यतामात्रसे भी उपपन्न हो जाता है, भाव है ॥ ५७ ॥

हेतु आदि भूत जगत्की स्वप्नोपमताका साधर्म्यप्रदर्शन द्वारा उपपादन करते हैं—'अवस्तु' इत्यादिसे ।

उत्पत्तिके पूर्वकालमें और विनाशके उत्तरकालमें अवस्तुभूत (अभावग्रस्त) यह जगत् वर्तमानकालमें भी विचार करनेपर अवस्तुभूत ही है, अतः जैसे जाग्रत् पदार्थ हैं वैसे ही स्वप्न पदार्थ भी हैं, दोनोंमें मिथ्यात्वेन साम्य है, यह बात बालकों तकके समझमें आ सकती है ॥ ५८ ॥

यदि शङ्का हो कि प्रतिभासिकसत्तावाले स्वप्नसे व्यावहारिकसत्तावालेकी तुलना कैसे हो सकती है ? इसपर उन दोनोंमें परस्पर कार्यकारणताके प्रदर्शनसे और लौकिक व्यवहारसे तुलना है, ऐसा कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें विजययात्रा करनी चाहिए अथवा नहीं, यों यात्राके विषयमें सन्देह होनेपर देवताप्रार्थनापूर्वक सोये हुए पुरुषका स्वप्नमें यात्रा करनी चाहिए ऐसा सङ्कल्प होनेपर चिरकाल तक पूजा, मन्त्र-जप, स्तुति आदिसे विजययात्राके अनुकूल वर मिलने या शत्रुओंके प्रति मुनिशाप आदि देखनेपर प्रातःकाल यात्रा करनेसे शत्रुओंपर विजय देखी जाती है और स्वप्नमें औषधिकी प्राप्तिसे जाग-रावस्थामें रोगशान्ति देखी जाती है । यों स्वप्नसादृश्य होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्की व्यवस्था स्वप्नरूप ही है, अतएव जाग्रत्में स्वप्नदृष्टान्त यथार्थ ही हैं ॥ ५९ ॥

मोक्षके उपायोंकी रचना करनेवाले महामुनि वाल्मीकिजीने अन्य भी पूर्व

स्वप्नाभत्वं च जगतः श्रुते शास्त्रेऽवबोध्यते ।
शीघ्रं न पार्यते वक्तुं वाकिल क्रमवर्तिनी ॥ ६१ ॥
स्वप्नसङ्कल्पनाध्याननगराद्युपमं जगत् ।
यतस्त एव दृष्टान्तास्तस्मात्सन्तीह नेतरे ॥ ६२ ॥
अकारणे कारणता यद्बोधायोपमीयते ।
न तत्र सर्वसाधर्म्यं सम्भवत्युपमाश्रमैः ॥ ६३ ॥

रामायण आदि जिन ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें भी दृष्टान्तोंकी बोध्यके साम्यके बोधनमें यही केवल एक व्यवस्था प्रसिद्ध है अर्थात् जिस अंशमें साम्य संभव हो उसी अंशके साम्यज्ञापनमें व्यवस्था प्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो इस ग्रन्थके श्रोता, जगत्‌की जो स्वप्न-तुल्यता कही गई है, उसे सहसा क्यों नहीं जान लेते, इस विषयमें विवाद क्यों करते हैं ? इसपर अध्यात्मशास्त्रके श्रवणसे उत्पन्न संस्कार न होनेसे उन्हें जगत्‌में सत्यत्व-भ्रम है, अतः उन्हें शीघ्र जगत्‌की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'स्वप्नाभत्वम्०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण शास्त्र सुननेपर जगत्‌की स्वप्नतुल्यता ज्ञात होती है, उसका बोध शीघ्र नहीं कराया जाता, क्योंकि वाणी क्रमशः अपना कार्य करती है । शास्त्रश्रवणमें जो लोग आलस्य करते हैं, उन्हें जगत्‌की स्वप्नतुल्यता प्रतीत नहीं होती, यह भावार्थ है ॥ ६१ ॥

चूँकि यह जगत् स्वप्न, मनोरथ और ध्यानसे कल्पित नगरके सदृश है इसलिए वे ही दृष्टान्त यहाँपर दिये गये हैं, अन्य नहीं ॥ ६२ ॥

यदि जगत्‌में स्वप्नादि दृष्टान्त देनेपर सर्वांशमें साधर्म्य विवक्षित हो, तो ब्रह्ममें भी कटक, कुण्डल आदिके उपादान सुवर्णका दृष्टान्त देनेपर, सुवर्णकी-सी परिणामिता क्यों न विवक्षित होगी ? इसपर कहते हैं—'आकारणे' इत्यादिसे ।

बोधके लिए अपरिणामी ब्रह्ममें जो परिणामी सुवर्ण आदिका दृष्टान्त दिया जाता है, वहाँपर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नोंसे सर्वांशमें सादृश्य नहीं हो सकता। भाव यह कि 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्', 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे चिच्छक्तिके परिणाम शून्य, प्रतिसंक्रमरहित, शुद्ध और अनन्त होने, 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्' इत्यादि स्मृतियोंसे असङ्ग, उदासीन ब्रह्ममें परिणाम हेतुताका स्पर्श न होने और चित्‌का जड़के

उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता ।
अङ्गीकार्याऽवबोधाय धीमता निर्विवादिना ॥ ६४ ॥
अर्थावलोकने दीपादाभामात्रादृते किल ।
न स्थानतैलवर्त्यादि किञ्चिदप्युपयुज्यते ॥ ६५ ॥
एकदेशसमर्थत्वादुपमेयावबोधनम् ।
उपमानं करोत्यङ्ग दीपोऽर्थप्रभया यथा ॥ ६६ ॥
दृष्टान्तस्यांऽशमात्रेण बोध्यबोधोदये सति ।
उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यार्थनिश्चयः ॥ ६७ ॥

आकारमें होना संभव नहीं है इत्यादि युक्तियोंसे ब्रह्मका परिणाम न होनेके कारण अपरिणामी ब्रह्ममें जो परिणामी सुवर्णादिके तुल्य कारणताकी उपमा दी जाती है वहांपर उपमाप्रयुक्त प्रयत्नोंसे भी सर्वांशमें साधर्म्यका लाभ होना संभव नहीं है ॥६३॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—'उपमेयस्य' इत्यादिसे। विवादरहित बुद्धिमान् पुरुषको बोधके लिए उपमानसे उपमेयका एक अंशमें साधर्म्य स्वीकार करना चाहिए ॥ ६४ ॥

लोकमें भी 'मणि दीपकके सदृश दिखाई देती है' इत्यादि स्थलमें अविवक्षित अंशका सादृश्यज्ञान नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं—'अर्था०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

पदार्थोंके प्रदर्शनमें प्रकाशमात्ररूप दीपकके सिवा स्थान (दिया), तेल, बत्ती आदि किसीका उपयोग नहीं होता। एकदेशमें सादृश्य होनेसे उपमान उपमेयका ज्ञान कराता है; जैसे 'मणिर्दीप इव' (मणि दीपकके समान है) इस दृष्टान्तसे उपमान दीप केवल प्रभासे (प्रकाशसे) उपमेय मणिका बोध करा देता है ॥ ६५, ६६ ॥

इस शास्त्रके सम्पूर्ण दृष्टान्तोंका उपयोग कहते हैं—'दृष्टान्त०' इत्यादिसे।

दृष्टान्तके अंशमात्रसे बोध्यका (ज्ञेय ब्रह्मका) बोधोदय होनेपर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थके निश्चयका उपादेयरूपसे ग्रहण करना चाहिए। भाव यह कि स्वप्न आदि दृष्टान्तोंसे जगत्‌का मिथ्यात्व प्रतीत होनेपर जीवात्माके आकाश, सूर्य आदि दृष्टान्तोंके और ब्रह्मके मिट्टी, सुवर्ण आदि दृष्टान्तोंके भी पदार्थपरिशोधन द्वारा बोध्यरूप लक्ष्य अर्थके लिए और उसका बोध होनेपर

न कुतार्किकतामेत्य नाशनीया प्रबुद्धता ।
अनुभूत्यपलापान्तैरपवित्रैर्विकल्पितैः ॥ ६८ ॥
विचारणादनुभवकारिवैरिणोऽपि वाङ्मयं त्वनुगतमस्मदादिषु ।
श्रियोक्तमप्यपरमार्थवैदिकं वचो वचःप्रलपनमेव नाऽऽगमः ॥ ६९ ॥

कार्यसहित अविद्याके विनाशके लिए अवश्य उपादेय होनेसे सम्पूर्ण श्रुति, और शास्त्रोंके महातात्पर्यका विषय 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकारका महावाक्यके अर्थका निश्चय ग्राह्य है ॥ ६७ ॥

'मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ' इत्यादि प्रत्यक्षसे, औषधपान, आरोग्यलाभ आदि प्रवृत्तिके फलदर्शनरूप लिङ्गसे, अन्यके व्यवहारके साम्यरूप उपमानसे, सम्पूर्ण व्यावहारिक महाजनवाक्योंसे, 'ब्राह्मणो यजेत' (ब्राह्मण यज्ञ करे) इत्यादि श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्रों तथा अनेक तार्किकोंकी युक्तियोंसे देह और उससे भिन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व स्वभाववाला आत्मा जाना जाता है, ऐसी परिस्थितिमें प्रत्यक्ष आदि अनेक प्रमाणोंसे विरुद्ध अर्थका केवल महावाक्यसे कैसे ग्रहण करते हैं, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कुतार्किकताको प्राप्त होकर विद्वानोंके अनुभवका अपलाप करनेवाले अपवित्र देहात्मभावविषयक होने और अपवित्र कुत्ते, सूअर आदिकी योनिप्रद होनेके कारण अपवित्र विकल्पोंसे अर्थात् ब्रह्म प्रमाणसहित है या प्रमाण रहित ? यदि सप्रमाण है, तो अद्वैतकी हानि होगी, यदि अप्रमाण है, तो प्रमेयकी हानि होगी इत्यादि विकल्पोंसे परम पुरुषार्थको प्राप्त करानेवाली प्रबुद्धताका विनाश नहीं करना चाहिए । देह आदिमें जिस प्रकार आत्मत्वका असंभव है, वह प्रकार आगे कहा जायगा ॥६८॥

सभी लोग प्रतिबन्धशून्य स्वेच्छाविहारजनित सुखके प्रार्थी हैं, अतः दयालु परमहितैषी चार्वाक आदिका तथा स्त्री, पुत्र, मित्र आदिका विविध विचित्र दृष्टभोगसुखजनक स्वाभाविक स्वप्रीतिके विषयोंमें प्रवर्तक संसारमें सारतादिका प्रतिपादक वचन कैसे हेय है ? तपस्याजनित क्लेश, संयम, धनव्यय तथा परिश्रम करानेवाला; इष्ट पुत्र, धन, स्त्री आदिका वियोग करानेवाला तथा संन्यास भिक्षाटन आदि हजारों दृष्ट अनर्थोंसे परिपूर्ण निर्विषय आत्ममात्रपरिशेषरूप परम दारिद्र्यभूत मोक्षफलको देनेवाली जीवब्रह्मकी एकताका बोधक होनेसे शत्रुके वाक्यसे तुल्य अचेतन श्रुतिप्रतिपादित महावाक्य कैसे उपादेय है, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'विचारणात्' इत्यादिसे ।

अस्माकमस्ति मतिरङ्ग तयेति सर्वशास्त्रैकवाक्यकरणं फलितं यतोऽयः ।
प्रातीतिकार्थमपशास्त्रनिजाङ्गपुष्टात्संवेदनादितरदस्ति ततः प्रमाणम् ॥७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे दृष्टान्तनिरूपणं नाम अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

ठीक है, विचार न करनेसे ही वैसा प्रतीत होता है । आपाततः वैरिरूपसे ज्ञात हुए वेदका वाक्य विचारसे तो नित्य निरतिशय आनन्द आत्मरूप परम-पुरुषार्थका अनुभव करानेवाला है, अतः अनुभवनिष्ठ हम लोगोंमें, वह सम्पूर्ण प्रमाणोंमें सर्वोत्तम है, यों समादृत है । परमार्थभूत वैदिक पुरुषार्थसे विरहित वचन यदि परम प्रिय स्त्रीका भी कहा हो, तो मरण, नरक, आदि अनेक अनर्थोंका हेतु होनेसे प्रलापमात्र ही है, वह न तो वेद है, न आप्त पुरुषका वाक्य है और न प्रमाण ही है ॥ ६९ ॥

यदि ऐसी बात है, तो कपिल, कणाद, जैमिनि आदिने, वेदार्थके ज्ञाता होनेपर भी, पुरुषार्थ और उसके उपायभूत तत्त्वका निरूपण अन्यथा ही कैसे किया और आप अन्यथा ही उसका निरूपण कैसे कर रहे हैं, आपके कथनमें कौनसी विलक्षणता है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'अस्माकम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस बुद्धिसे तत्त्वसाक्षात्कारजनित जीवन्मुक्तिरूप शुभ भाग्य होता है, वैसी हमारी बुद्धि है, उस बुद्धिसे पूर्वोक्त रीतिसे अपरोक्षानुभवयोग्य परम-पुरुषार्थ जिससे प्राप्त होता है, वैसी सम्पूर्ण श्रुतियोंकी—आध्यात्मिक शास्त्रोंकी—एक-वाक्यता (एक महावाक्यके अर्थमें पर्यवसान) फलित होती है । उससे भिन्न श्रुतिके तात्पर्यका अविषय, केवल तर्क आदिसे ही पुष्ट (उपबृंहित) सांख्य, कणाद आदिका ज्ञान है । हमारा प्रमाण उससे सर्वथा विलक्षण महावाक्यार्थरूप अपरोक्षा-नुभवयोग्य अर्थवाला है, उनका वैसा नहीं है । भाव यह कि उनकी मति कुतर्कोंसे कुण्ठित हो गई है, अतएव वे श्रुतिके तात्पर्यका निश्चय करने योग्य बुद्धिसे विरहित है ॥ ७० ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

एकोनविंशतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

विशिष्टांशसमर्थत्वमुपमानेषु गृह्यते ।
को भेदः सर्वसादृश्ये तूपमानोपमेययोः ॥ १ ॥
दृष्टान्तबुद्धावेकात्मज्ञानशास्त्रार्थवेदनात् ।
महावाक्यार्थसंसिद्धा शान्तिर्निर्वाणमुच्यते ॥ २ ॥
तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टांतविकल्पोल्लसितैरलम् ।
यया कयाचिद्युक्त्या तु महावाक्यार्थमाश्रयेत् ॥ ३ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

[दृष्टान्तके अर्थनिरूपणके सिलसिलेमें नित्य अपरोक्ष द्रष्टा, दृश्य आदिके साक्षी ब्रह्मरूप प्रमाणतत्त्वका शोधन]

प्रासङ्गिकका समर्थन कर उससे सम्बद्ध प्रमाणतत्त्वका निर्णय करनेके इच्छुक श्रीवसिष्ठजीने कहा—'**विशिष्टांश०**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिस अंशका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेकी विवक्षा हो, उसीसे सादृश्य सब उपमानोंमें गृहीत होता है, उपमान और उपमेयमें सर्वथा सादृश्य होनेपर उपमान और उपमेयमें क्या अन्तर रहेगा ? भाव यह कि विशेष अंशमें ही सादृश्य गृहीत होता है, अन्यथा 'गायके समान गवय है' इत्यादि स्थानमें जाति आदिसे भी सादृश्यकी विवक्षा होनेपर भेद न होनेसे उपमानमात्रका उच्छेद हो जायगा ॥ १ ॥

दृष्टान्तबुद्धिका फल कहते हैं—'**दृष्टान्तबुद्धा०**' इत्यादिसे ।

तत् और त्वं पदार्थके परिशोधनके उपयोगी तत्-तत् दृष्टान्तबुद्धि होनेपर अद्वितीय ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वरूप शास्त्रार्थका (सम्पूर्ण वेदान्तोंके तात्पर्यका विषय होनेसे आत्मतत्त्व शास्त्रार्थ है) ज्ञान होनेसे अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्वविषयक अखण्डाकार वृत्तिका उदय होनेसे उससे अभिव्यक्त महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूपसे ही भली भाँति सिद्ध अज्ञान और उसके कार्यका विनाशरूप निर्वाण होता है । वही निर्वाण दृष्टान्तबुद्धिका फल कहा जाता है ॥ २ ॥

इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकोंके विविध विकल्पोंका अर्थात् दृष्टान्तका

शान्तिः श्रेयः परं विद्धि तत्प्राप्तौ यत्नवान्भव ।
भोक्तव्यमोदनं प्राप्तं किन्तत्सिद्धौ विकल्पितैः ॥ ४ ॥
अकारणैः कारणिभिर्बोधार्थमुपमीयते ।
उपमानैस्तूपमेयैः सदृशैरेकदेशतः ॥ ५ ॥
स्थातव्यं नेह भोगेषु विवेकरहितात्मना ।
उपलोदरसंजातपरिपीनान्धभेकवत् ॥ ६ ॥

दार्ष्टान्तिकसे भेद और दृष्टान्तमें दार्ष्टान्तिकके प्रचुरधर्मवत्त्वके प्रसञ्जक—क्या यह दृष्टान्त सर्वांशमें है, या कुछ धर्मोंके अंशमें इत्यादि—विकल्पोंका कोई प्रयोजन नहीं है। तो किससे प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—'यया कयाचित्' से। जिस किसी युक्तिसे (पदार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थके ज्ञानके अनुकूल युक्तिसे) महावाक्यार्थका समाश्रयण करना चाहिए ॥ ३ ॥

यदि कोई कहे कि सम्पूर्ण संसारकी शान्ति होनेपर उसके अन्तर्गत दृष्टान्त, युक्ति आदिका भी बाध होनेसे उनमें आभासता होगी, ऐसी आशङ्कापर फल-सिद्धिके पश्चात् साधनकी क्षति होना कोई दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं—'शान्तिः' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्तिको परम कल्याण समझिए, उसीकी प्राप्तिके लिए यत्न कीजिए। भोजनयोग्य भात यदि पक गया, तो उसके पाकमें साधनभूत दृष्टान्त आदिके मिथ्या होनेसे क्या क्षति है? ॥ ४ ॥

'औषधं पिब भ्रातुरिव ते शिखा वर्धिष्यते' (ओषधि पीओ, भाईके समान तुम्हारी भी शिखा बढ़ जायगी) इस प्रकार बालककी ओषधि पीनेमें प्रवृत्तिके कारण और शिखाकी वृद्धिमें अकारण, इष्ट साधन होनेसे, एक अंशमें सदृश उपमान और उपमेयोंसे बालकको ओषधिपानमें इष्टसाधनताज्ञानके (ओषधि पीनेसे मेरा हित होगा इत्याकारक ज्ञानके) लिए जैसे लोकमें उपमा दी जाती है, वैसे ही एक अंशसे सदृश अपरिणामी और परिणामी उपमान और उपमेयोंसे ज्ञातव्य सत् पदार्थके बोधके लिए उपमा दी जाती है ॥ ५ ॥

प्रकृत स्थलमें उपयुक्त होनेके कारण अनात्मविषयक दृष्टान्त दे रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको शान्ति आदिकी प्राप्तिमें प्रवृत्त करते हैं—'स्थातव्यम्' इत्यादिसे।

दृष्टान्तैर्यत्नमाश्रित्य जेतव्यं परमं पदम् ।
विचारणवता भाव्यं शान्तिशास्त्रार्थशालिना ॥ ७ ॥
शास्त्रोपदेशसौजन्यप्रज्ञातज्ज्ञसमागमैः ।
अन्तरान्तरसम्पन्नधर्मार्थोपार्जनक्रियः ॥ ८ ॥
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि ।
संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्तिं तुर्यपदाभिधाम् ॥ ९ ॥
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य प्रतीपस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्य तथा यतेः ॥ १० ॥
न कृतेनाऽकृतेनाऽर्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्दर इवाऽम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितम् ॥ ११ ॥

विवेकशून्य बुद्धिवाले पुरुषको इस संसारमें, पत्थरकी चट्टानके बीचमें उत्पन्न अत्यन्त मोटे अन्धे मेढकके समान भोगोंमें आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु शान्ति आदिके लाभके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥ ६ ॥

इस प्रकारके दृष्टान्तों द्वारा बोधित, पुरुषको प्रयत्नपूर्वक परम पद प्राप्त करना चाहिए और शान्तिप्रद शास्त्रोंके अर्थका परिज्ञाता तथा विचारवान् होना चाहिए। सत्-शास्त्रोंके उपदेश, सुजनता, बुद्धि, शास्त्रज्ञ और आत्मज्ञानियोंके समागमसे पूर्व पूर्व अन्तरङ्ग साधन क्रमसे युक्त धर्मों *, गुरुशुश्रूषा आदिके उपयोगी धनों और शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत अर्थोंके उपार्जनरूप कर्ममें तत्पर बुद्धिमान् पुरुषको तबतक विचार करना चाहिए जबतक कि पुनः नष्ट न होनेवाली चतुर्थपदनामक † (सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप) शान्तिमय आत्मविश्रान्ति प्राप्त नहीं हो जाती ॥ ७–९ ॥

जो पुरुष सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप विश्रान्तिसुखसे युक्त है और संसाररूपी समुद्रके पार हो चुका है, वह चाहे जीवित हो चाहे जीवनरहित हो, गृहस्थ हो या यति हो उसको ऐहिकफल और पारलौकिक फल कृत या अकृत कर्मसे

---

* दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद् भक्तिसंयुतात् । गुरुशुश्रूषया युक्तात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥ यो यजेताऽश्वमेधेन मासि मासि शतं समाः । न यः क्रुध्येत सर्वस्य तयोरक्रोधनो वरः ॥ इत्यादि स्मृतिमें प्रसिद्ध धर्मोंका ।

† 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुतिमें चतुर्थपदनामक शान्ति सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठा कही गई है ।

एकांशेनोपमानानामुपमेयसधर्मता ।
बोद्धव्यं बोध्यबोधाय न स्थेयं बोधचञ्चुना ॥ १२ ॥
यया कयाचिद्युक्त्या तु बोद्धव्यं बोध्यमेव ते ।
युक्तायुक्तं न पश्यन्ति व्याकुला बोधचञ्चवः ॥ १३ ॥
हृदये संविदाकाशे विश्रान्तेऽनुभवात्मनि ।
वस्तुन्यनर्थं यः प्राह बोधचञ्चुः स उच्यते ॥ १४ ॥

प्राप्त नहीं होते और श्रवण-मननरूप मनके विक्षेपोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं है, वह मन्दराचलरूप मन्थनदण्डसे रहित समुद्रके समान स्वस्थ रहता है ॥१०,११॥

यह तो आप परस्पर विरुद्ध कहते हैं—'गृहस्थस्य तथा यतेः' इससे तत्-तत् आश्रममें नियत धर्मोंमें निष्ठ रहना चाहिए, ऐसा कहा, 'न कृतेनाऽकृतेनार्थः' इससे अनियतधर्मनिष्ठता कही और 'तत्र निर्मन्दर इवाऽर्णवः' इससे आत्यन्तिक विक्षेपकी निवृत्तिका प्रतिपादक दृष्टान्त दिया, ये सब कैसे सङ्गत होंगे ? ऐसी शङ्का कर जो पहले आत्मतत्त्वके विषयमें एक अंशसे साम्य ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहा, उसीके अभिप्रायसे इसका उदाहरण दिया गया है, ऐसा कहते हैं—**'एकांशेन०'** इत्यादि पन्द्रह श्लोकोंसे ।

किसी एक अंशसे उपमानोंकी उपमेयोंके साथ बोध्य पदार्थके बोधनके लिए समता होती है । बोध्य पदार्थके बोधके उपयोगी होनेके कारण इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिए ही चोंचकी नाईं तनिक बोधको मुँहमें लगाकर न बैठ जाना चाहिए, अपितु बोधको हृदयमें प्रविष्ट करा देना चाहिए । अन्यथा स्वपुरुषार्थका विनाश अनिवार्य हो जायगा ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, आपको जिस किसी भी युक्तिसे ज्ञातव्य पदार्थका अवश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो लोग बोधचञ्चु (अपूर्णबोध) हैं, वे परपक्ष खण्डनमें ही व्याकुल रहते हैं, अतएव युक्त और अयुक्तका विचार नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

लक्षणोंद्वारा दो प्रकारके बोधचञ्चुओंका निर्देश करते हैं—'हृदये' इत्यादिसे ।

हृदयरूपी संविदाकाशमें विश्रान्त अनुभवस्वरूप आत्मरूप वस्तुमें जो अनर्थबुद्धि करता है, वह पहला बोधचञ्चु है, भाव यह है कि ज्ञानके फलको जो अनर्थरूपसे समझे, वह पहला बोधचञ्चु है । जैसे निर्मल आकाशको

अभिमानविकल्पांशैरज्ञो ज्ञप्तिं विकल्पयेत् ।
बोधं मलिनयत्यन्तः स्वं खमब्द इवाऽमलम् ॥ १५ ॥
सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥ १६ ॥
सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः ।
नूनं तत्प्रति यत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम् ॥ १७ ॥
अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाभिधम् ।
प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥ १८ ॥
स एव संवित् स पुमानहन्ताप्रत्ययात्मकः ।
स यदोदेति संवित्त्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥ १९ ॥

मेघ मलिन कर देता है, वैसे ही अभिमानमूलक कुतर्कोंसे ज्ञान और उसके साधनोंको विकल्पित करता हुआ जो मूर्ख अपने आत्मभूत बोधको अन्तःकरणमें मलिन करता है, वह द्वितीय बोधचक्षु है ॥ १४, १५ ॥

प्रासङ्गिक बोधचक्षुके लक्षणको कहकर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके तत्त्वके परीक्षणपूर्वक जीवकी अद्वितीय कूटस्थ चिन्मात्रस्वभावताके व्युत्पादन द्वारा व्यवहारमें भी जीवन्मुक्त पुरुषकी मन्दराचलशून्य समुद्रके दृष्टान्तसे लब्ध निष्क्रियताका समर्थन करनेके लिए कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जैसे सम्पूर्ण जलोंका आधार समुद्र है, वैसे ही सम्पूर्ण प्रमाणोंके प्रामाण्यका आधारभूत प्रत्यक्ष ही मुख्य तत्त्व है, इसलिए उस प्रत्यक्षको ही तत्त्वतः आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये ॥ १६ ॥

जैसे सब प्रमाणोंकी सार इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंका सार अपरोक्ष-ज्ञान है, ऐसा श्रेष्ठ लोगोंका कहना है, वही (अपरोक्षज्ञान) मुख्य प्रत्यक्ष है और 'घटमहं जानामि' इस त्रिपुटीज्ञानसे सिद्ध जो अवच्छेदभूत, आश्रयभूत और विषयभूत वस्तु है, वह भी प्रत्यक्ष कही गई है ॥ १७ ॥

व्यवहारभूमिमें अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिका नामाक्षरोंके अनुसार 'प्रत्यक्ष' यह नाम किया गया है, वह साक्षी ही प्राणधारणके कारण जीव कहा जाता है । साक्षी ही वृत्तिरूप उपाधिसे संवित् कहा जाता है । 'अहम्' इत्याकारक प्रतीतिका विषय वही प्रमाता कहा जाता है, वही साक्षी जिस विषयाकारकीवृत्तिसे

स सङ्कल्पविकल्पाद्यैः कृतनानाक्रमभ्रमैः ।
जगत्तया स्फुरत्यम्बुतरङ्गादितया यथा ॥ २० ॥
प्रागकारणमेवाऽऽशु सर्गादौ सर्गलीलया ।
स्फुरित्वा कारणं भूतं प्रत्यक्षं स्वयमात्मनि ॥ २१ ॥
कारणं त्वविचारोत्थजीवस्याऽसदपि स्थितम् ।
सदिवाऽस्यां जगद्रूपं प्रकृतौ व्यक्तिमागतम् ॥ २२ ॥
स्वयमेव विचारस्तु स्वत उत्थं स्वकं वपुः ।
नाशयित्वा करोत्याशु प्रत्यक्षं परमं महत् ॥ २३ ॥
विचारवान्विचारोऽपि आत्मानमवगच्छति ।
यदा तदा निरुल्लेखं परमेवाऽवशिष्यते ॥ २४ ॥

(बाह्याकारवृत्तिसे) आवरणभङ्ग होनेपर, आविर्भूत होता है वह पदार्थ (विषय) कहा जाता है, इस प्रकार साक्षी ही क्रमसे त्रिविधताको प्राप्त होता है ॥१८,१९॥

जल जैसे तरङ्ग आदिके रूपमें प्रकाशित होता है, वैसे ही वही—परमात्मा नामक अद्वितीय नित्य सर्वव्यापक सर्वावभासक चैतन्य ही—विविध भ्रमोंको करनेवाले संकल्पविकल्पप्रधान अन्तःकरणोंसे जगत्‌के रूपमें प्रकाशित होता है ॥ २० ॥

सृष्टिके पूर्वमें वह साक्षी एक और अकारणरूपसे विराजमान था, तदुपरान्त सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिलीलावश सृष्टिभावको प्राप्त हुए उसने अपनेमें स्वयं ही कारणभावका आविर्भाव किया अर्थात् आप ही अपना कारण हुआ ॥ २१ ॥

यद्यपि एक ही में वास्तविकरूपसे कार्यत्व और कारणत्व नहीं बन सकते तथापि साक्षी चेतनमें कारणता अविचार (अज्ञान) जनित होनेसे सत् नहीं है, फिर भी जीवको सत्-सी प्रतीत होती है । इस अज्ञानसंवलित आत्मरूप प्रकृतिमें जगत् अभिव्यक्त (प्रकट) हुआ है, इस प्रकार यह जगत् आरोपित है, यह भाव है ॥२२॥

विचार (विचारसे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार) भी अपनेसे उत्पन्न और परमार्थरूपसे अपनेसे अभिन्न ही जगद्रूप शरीरको अज्ञानके विनाश द्वारा विनष्ट कर तत्त्वज्ञ पुरुषोंको आत्मभूत अनावृत अपरिच्छिन्न परम पुरुषार्थको प्राप्त कराता है ॥ २३ ॥

तब तो उक्त विचार या अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति मोक्षमें भी अवशिष्ट रहेगी, उसका अन्यसे नाश माननेमें अनवस्था होगी, इसपर कहते हैं—'विचारोऽपि' इत्यादिसे ।

मनस्यनीहिते शान्ते स्वबुद्धीन्द्रियकर्मभिः ।
नहि कश्चित्कृतैरर्थो नाऽकृतैरप्यभावनात् ॥ २५ ॥
मनस्यनीहिते शान्ते न प्रवर्तन्त एव ते ।
कर्मेन्द्रियाणि कर्मादावसञ्चारितयन्त्रवत् ॥ २६ ॥
मनोयन्त्रस्य चलने कारणं वेदनं विदुः ।
प्रणालीदारुमेषस्य रज्जुरन्तर्गता यथा ॥ २७ ॥
रूपालोकमनस्कारपदार्थव्याकुलं जगत् ।
विद्यते वेदनस्याऽन्तर्वातान्तः स्पन्दनं यथा ॥ २८ ॥

जब विचारवान् पुरुष आत्माकार हो जाता है तब विचार भी निवृत्त हो जाता है, तब निरुल्लेख (शब्द आदिका अविषय) एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्रपञ्चके बाधित होनेपर अपने बुद्धि, इन्द्रिय आदिके साथ इच्छा आदिसे रहित मनके शान्त (वृत्तिशून्य) होनेपर कार्य, अकार्य, इच्छा आदिका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि बाधितका सत्यरूपसे भान न होनेके कारण प्रारब्धजनित क्रियाभाससे क्रिया और उसके फलका भोग नहीं होता, यह भाव है ॥२५॥

इच्छादिरहित मनके शान्त होनेपर कर्मेन्द्रिय आदि कर्ममें, नहीं चलाये गये यन्त्रोंकी नाईं, प्रवृत्त नहीं होते । मनकी शान्ति होनेपर कर्मेन्द्रियोंके और उनकी प्रवृत्तिके निमित्त विषयस्फूर्तिके न होनेसे जीवमें चलनक्रियाका अभाव है, इस अभिप्रायसे 'निर्मन्दर इवाम्भोधिः' (मन्थनदण्डरूप मन्दराचलसे शून्य समुद्रके समान) यह दृष्टान्त दिया है। भाव यह कि अज्ञानियोंकी दृष्टिसे चलनक्रियाका भान होनेपर भी जीवन्मुक्तोंकी चलनक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

जैसे काठकी नालीके भीतर लकड़ीके बने हुए दो भेड़ोंको परस्पर भिड़ानेमें भीतर रक्खी हुई और भीतरसे खींची जाती हुई रस्सी कारण है वैसे ही मनरूपी यन्त्रके चलनमें विषयोंकी स्फूर्ति कारण है ॥ २७ ॥

मनके चलनेमें निर्विषय संवेदन हेतु नहीं हो सकता अतएव सविषय वेदनको मनके चलनका हेतु कहना होगा । ऐसी अवस्थामें मनःस्पन्दनके पहले भी विषयोंका अस्तित्व मानना होगा तथा पहले आप विषयोंको मनोमय कह चुके हैं, अतः विषयसिद्धिसे पहले मनकी सिद्धि कहनी होगी, यों अन्योन्याश्रय दोष होगा,

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यथोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतदिक्कालबाह्यान्तारूपदेहकम् ॥ २९ ॥
द्रष्टैव दृश्यताभासं स्वरूपं धारयन्स्थितः ।
स्वं यथा यत्र यद्रूपं प्रतिभाति तथैव तत् ॥ ३० ॥
स सर्वात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूप इव राजते ॥ ३१ ॥
सर्वात्मकतया द्रष्टुर्दृश्यत्वमिव युज्यते ।
दृश्यत्वं द्रष्टृसद्भावे दृश्यताऽपि न वास्तवी ॥ ३२ ॥

ऐसी शङ्का कर सबके संस्काररूपसे मायाशबल चैतन्यके भीतर अधिष्ठानकी सत्तासे स्थित होनेके कारण सत् ही आविर्भूत होता है, ऐसा कहते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे।

जैसे स्पन्दन (चलन) वायुके ही अन्तर्गत है, वैसे ही रूपालोक, मनस्कार तथा पदार्थ या विषय इनसे परिपूर्ण जगत् वेदनके (विषयस्फूर्तिके) अन्तर्गत है। (बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा विषयग्रहण रूपालोक है एवं मनके द्वारा विषयानुसन्धान मनस्कार है) इन दोनोंके ही विषय पदार्थ हैं ॥ २८ ॥

शुद्ध सर्वात्मवेदन कर्मपरिपाककी व्यवस्थासे प्राणियोंके कर्मभोगके लिए जैसे आविर्भूत होता है, उन्हींका रूप धारणकर उत्पन्न हुआ-सा विस्तृत देश, काल, बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूपसे शोभित होता है ॥ २९ ॥

सर्वात्मरूप विचार देह आदि दृश्यताभासको देखकर ही वही मेरा स्वरूप है यों अज्ञानसे समझता हुआ जीवभावसे स्थित है। अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है वैसा ही वह हो जाता है ॥ ३० ॥

वह सर्वात्मा जहां जैसे उल्लासको प्राप्त होता है वहां शीघ्र वैसे ही स्थित होता है और तद्रूप जैसा शोभित होता है ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे भ्रमवश रज्जुमें सर्पज्ञान होता है वैसे ही जगत् और वह सर्वात्मा द्रष्टा मिथ्या दृश्य होकर प्रकाशित होते हैं, परन्तु जब विचार होनेपर भ्रम निवृत्त हो जाता है तब सम्पूर्ण दृश्य यथार्थ है, ऐसा बोध नहीं होता। चूँकि चिद्रूपी द्रष्टा सर्वात्मक है अतएव उसके दृश्यके तुल्य होना अयुक्त नहीं है प्रत्युत युक्तिसिद्ध ही है। द्रष्टाके स्वरूपमें ही दृश्यभावका भान होता है, अतएव दृश्यभाव वास्तविक नहीं है ॥ ३२ ॥

अकारणकमेवाऽतो ब्रह्मसिद्धमिदं स्थितम् ।
प्रत्यक्षमेव निर्मातृ तस्यांऽशास्त्वनुमादयः ॥ ३३ ॥
स्वयत्नमात्रे यदुपासको यस्तद्दैवशब्दार्थमपास्य दूरे ।
शूरेण साधो पदमुत्तमं तत्स्वपौरुषेणैव हि लभ्यतेऽन्तः ॥ ३४ ॥
विचारयाऽऽचार्यपरम्पराणां मतेन सत्येन सितेन तावत् ।
यावद्विशुद्धं स्वयमेव बुद्ध्या ह्यनन्तरूपं परमभ्युपैषि ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
प्रमाणनिरूपणं नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

इसलिए यह स्थित प्रत्यक्ष ही अकारण अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध हुआ अनुमान आदि प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे उसके अंश हैं। भाव यह कि सम्पूर्ण प्रमाणोंका तत्त्व आत्मा ही है ॥ ३३ ॥

सिंहावलोकन न्यायसे दैवके निरासका स्मरण कराते हुए पौरुषका ही यह फल है, ऐसा कहते हैं—'स्वयत्नमात्रे' इत्यादिसे ।

हे सज्जनशिरोमणि श्रीरामजी, परमार्थतः जो केवल अपने पूर्वजन्मका कर्म है, उसे दैव मानकर 'मै उसके अधीन हूँ जैसा वह मुझसे करायेगा वैसा करूँगा।' यों उसकी उपासनामें तत्पर जो पुरुष है उससे कल्पित दैवको दूर भगाकर इन्द्रिय आदिकी विजयमें शूर अधिकारी पुरुष अपने पौरुषसे ही उस परम पदको अपने हृदयमें ही प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जबतक आप स्वयं ही बुद्धिसे उस अनन्तरूप, विशुद्ध परब्रह्मका साक्षात्कार नहीं करते तबतक आचार्यपरम्पराके परमार्थनिष्ठ और प्रमाणशुद्ध मतसे विचार कीजिए ॥ ३५ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

विंशतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

आर्यसंगमयुक्त्यादौ प्रज्ञां वृद्धिं नयेद् बलात् ।
ततो महापुरुषतां महापुरुषलक्षणैः ॥ १ ॥
यो यो येन गुणेनेह पुरुषः प्रविराजते ।
शिष्यते तं तमेवाऽऽशु तस्माद् बुद्धिं विवर्द्धयेत् ॥ २ ॥
महापुरुषता ह्येषा शमादिगुणशालिनी ।
सम्यग् ज्ञानं विना राम सिद्धिमेति न काञ्चन ॥ ३ ॥
ज्ञानाच्छमाद्यो यान्ति वृद्धिं सत्पुरुषक्रमाः ।
श्लाघनीयाः फलेनाऽन्तर्वृष्टेरिव नवाङ्कुराः ॥ ४ ॥

बीसवाँ सर्ग

[एक दूसरेको बढ़ानेवाले प्रज्ञाबुद्धिप्रकार, महापुरुषलक्षण और सदाचारक्रमका कथन]

उक्त ज्ञान महापुरुषोंमें ही रहता है दूसरोंमें नहीं, और महापुरुष बननेमें वक्ष्यमाण सदाचार ही कारण है, अतः सदाचारका वर्णन करनेके लिए उपक्रम कर रहे श्रीवसिष्ठजी बोले—'आर्य०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, पहले आर्योंके संसर्गसे प्राप्त उपदेश, आचरण, शिक्षण और युक्ति द्वारा बुद्धिको बढाना चाहिए, तदनन्तर आगे कहे जानेवाले महापुरुषके लक्षणोंसे अपनेमें महापुरुषताका सम्पादन करना चाहिए ॥ १ ॥

यदि सम्पूर्ण गुण एक पुरुषमें न मिलें, तो इस संसारमें जो पुरुष जिस गुणके द्वारा उन्नत प्रतीत होता है, वह उसी गुणके द्वारा दूसरे पुरुषोंसे विशिष्ट गिना जाता है, अतः उस पुरुषसे शीघ्र उस गुणको प्राप्त कर अपनी बुद्धिको बढ़ाना चाहिए ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, शम आदि गुणोंसे परिपूर्ण यह महापुरुषता यथार्थ ज्ञानके बिना किसी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त नहीं होती ॥ ३ ॥

जैसे वृष्टिसे नवीन अङ्कुर बढ़ते हैं, वैसे ही आत्मसुखके आविर्भावसे प्रशंसाके

शमादिभ्यो गुणेभ्यश्च वर्द्धते ज्ञानमुत्तमम् ।
अन्नात्मकेभ्यो यज्ञेभ्यः शालिवृष्टिरिवोत्तमा ॥ ५ ॥
गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्द्धन्ते ते अब्जसरसी इव ॥ ६ ॥
ज्ञानं सत्पुरुषाचाराज्ज्ञानात् सत्पुरुषक्रमः ।
परस्परं गतौ वृद्धिं ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ॥ ७ ॥
शमप्रज्ञादिनिपुणपुरुषार्थक्रमेण च ।
अभ्यसेत् पुरुषो धीमान् ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ॥ ८ ॥

योग्य सत्पुरुषोंके शम आदि आचार और अमानित्व आदि ज्ञानसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

जैसे अन्नात्मक घृत आदिसे युक्त यज्ञोंसे धान आदि अन्नोंकी हेतु वृष्टिकी अभिवृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणोंसे उत्तम ज्ञानकी अभिवृद्धि होती है । यज्ञोंसे वृष्टि होती है, इस विषयमें कहा भी है—'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' अर्थात् अग्निमें भली भाँति दी गई आहुति आदित्यको प्राप्त होती है, आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्राणी होते हैं ॥ ५ ॥

एक समयमें परस्पर वृद्धिके अनुरूप दृष्टान्तको बतलानेके लिए उक्त वस्तुको ही पुनः कहते हैं—'**गुणाः**' इत्यादिसे ।

जैसे कमलसे सौगन्ध्य और शोभा आदि गुणों द्वारा सरोवरकी और जलसे शैत्य आदि गुणों द्वारा कमलकी परस्पर वृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणोंकी ज्ञानसे और ज्ञानकी शम आदि गुणोंसे परस्पर अभिवृद्धि होती है ॥ ६ ॥

इसी प्रकार ज्ञान और सदाचार भी परस्पर अभिवृद्धिके कारण हैं, ऐसा कहते हैं—'**ज्ञानम्**' इत्यादिसे ।

ज्ञानकी सत्पुरुषोंके आचारसे वृद्धि होती है और सत्पुरुषके आचारकी ज्ञानसे वृद्धि होती है, यों ज्ञान और सत्पुरुषका आचार परस्पर एक दूसरेसे अभिवृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

शम, प्रज्ञा, महापुरुषता आदिसे युक्त श्रवण आदि प्रयत्नके क्रमसे बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान और सदाचारका अभ्यास करे यानी उनका पुनः पुनः आवर्तन करे ॥८॥

न यावत्सममभ्यस्तौ ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ।
एकोऽपि नैतयोस्तात पुरुषस्येह सिद्ध्यति ॥ ९ ॥
यथा कलमरक्षिण्या गीत्या विततालया ।
खगोत्सादेन सहितं गीतानन्दः प्रसाध्यते ॥ १० ॥
ज्ञानसत्पुरुषेहाभ्यामकर्त्रा कर्तृरूपिणा ।
तथा पुंसा निरिच्छेन सममासाद्यते पदम् ॥ ११ ॥
सदाचारक्रमः प्रोक्तो मयैवं रघुनन्दन ।
तथोपदिश्यते सम्यगेवं ज्ञानक्रमोऽधुना ॥ १२ ॥
इदं यशस्यमायुष्यं पुरुषार्थफलप्रदम् ।
तज्ज्ञादाप्ताच्च सच्छास्त्रं श्रोतव्यं किल धीमता ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यहाँ जबतक ज्ञान और सदाचारका भली भाँति अभ्यास न किया जाय, तबतक उनमें से एककी भी पुरुषको सिद्धि नहीं होती ॥ ९ ॥

उनकी अभिवृद्धिका फल भी एक ही समयमें होता है, इसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'यथा' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे पके हुए धानके खेतकी रक्षा करनेवाली स्त्रीको, जो कि पक्षियोंको उड़ानेके लिए कोई दूसरा व्यापार नहीं करती है, विस्तृत करतलध्वनिसे युक्त गानसे आनुषङ्गिक पक्षियोंका निरास और गानका आनन्द एक ही कालमें होता है वैसे ही ज्ञानप्राप्तिमें विघ्नभूत राग, मान आदिके निराकरणसे इच्छारहित अतएव कर्ता न होते हुए भी किये गये ज्ञानके हेतु श्रवण और सदाचारसे कर्तारूप अर्थात् केवल श्रवण और सदाचारमात्रका कर्तारूप पुरुष आनुषङ्गिक विघ्नोंके निरास द्वारा परम पदको प्राप्त होता है ॥ १०,११ ॥

हे रघुकुलतिलक, जैसे मैंने इस प्रकारके इस सदाचारक्रमका आपको उपदेश दिया है, वैसे ही इस समय आगेके प्रकरणमें ज्ञानक्रमका आपको भली भाँति उपदेश देता हूँ ॥ १२ ॥

यह शास्त्र कीर्ति देनेवाला, आयु बढ़ानेवाला और पुरुषार्थरूपी फल देनेवाला है, बुद्धिमान् पुरुषको इस शास्त्रका इसे जाननेवाले हितैषी गुरुसे श्रवण करना चाहिए ॥ १३ ॥

श्रुत्वा त्वं बुद्धिनैर्मल्याद् बलाद् यास्यसि तत्पदम् ।
यथा कतकसंश्लेषात् प्रसादं कलुषं पयः ॥ १४ ॥
विदितवेद्यमिदं हि मनो मुनेर्विवशमेव हि याति परं पदम् ।
यदवबुद्धमखण्डितमुत्तमं तदवबोधवशान्न जहाति हि ॥१५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
सदाचारनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

समाप्तमिदं द्वितीयं मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणम् ॥ २ ॥

जैसे निर्मलीके चूर्णका संसर्ग होनेसे मैला जल निर्मल हो जाता है, वैसे ही इसका श्रवण कर बुद्धिके दर्पणकी नाईं निर्मल होनेके कारण आप अवश्य ही उस परम पदको प्राप्त होंगे ॥ १४ ॥

केवल साधनोंके बलसे ही नहीं, किन्तु ज्ञातव्य तत्त्वके स्वभावसे भी आप परम पदको प्राप्त होंगे, ऐसा कहते हैं—'विदित०' इत्यादिसे ।

मुनिका (प्रस्तुत साधनसम्पत्तिसे मननशील पुरुषका) मन जिसने ज्ञातव्य पदार्थको जान लिया है, ऐसा होकर ज्ञातव्य पदार्थके बलसे ही विवश हो परम पदको प्राप्त होता है । वह अज्ञान और उसके कार्यका तिरस्कार कर जागरूक हो अखण्डित उत्तम पदको नहीं छोड़ता, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । कहा भी है—

'देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥'

अर्थात् जैसे सर्वसाधारणको देहात्मज्ञान होता है, वैसे ही जिसकी आत्मामें ही देहात्मज्ञानका बाधक ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष इच्छा न रहते भी मुक्त हो जाता है ॥१५॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

उत्पत्तिप्रकरणम्

प्रथमः सर्गः

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद् ब्रह्म भाति स्वप्न इवाऽऽत्मनि ।
यदिदं तत्स्वशब्दोत्थैर्यो यद्वेत्ति स वेत्ति तत् ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[केवल ज्ञानसे ही आत्माकी मुक्ति होती है, कर्म और समाधिसे नहीं । अज्ञात आत्मा ही स्वयं दृश्यकी सृष्टि करता है इत्यादिका प्रतिपादन]

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणके अनन्तर पूर्वोक्त साधनोंसे सम्पन्न अधिकारीके लिए 'तावद् विचारयेत् प्राज्ञो यावद् विश्रान्तिमात्मनि । संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्तिं तुर्यपदाभिधाम् ॥' (बुद्धिमान् पुरुषको तबतक विचार करना चाहिए जबतक कभी नष्ट न होनेवाली सप्तमभूमिकाप्राप्तिरूप तथा आत्मामें विश्रान्तिरूप शान्ति नहीं प्राप्त होती ।) इस प्रकार तत्त्वके साक्षात्कारपर्यन्त विचारका कर्तव्यरूपसे विधान किया है। वैराग्यप्रकरण तथा मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें वर्णित सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न सर्वोत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजीके लिए उक्त विचारके प्रकारका 'अथोपदिश्यते सम्यगेवं ज्ञानक्रमोऽधुना ।' यों प्रतिज्ञापूर्वक विस्तारसे वर्णन करनेके लिए प्रवृत्त हुए भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टिप्रकारके वर्णन द्वारा ब्रह्माद्वैतका प्रतिपादन करनेके लिए आरब्ध उत्पत्तिप्रकरणका, सुखपूर्वक बोधके लिए, पहले संक्षेपमें तात्पर्य दर्शानेकी इच्छासे जैसे 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिका 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यके बोधमें पर्यवसान है वैसे ही इस प्रकरणका भी 'दृष्टान्तस्यैकदेशेन बोध्यबोधोदये सति । उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यार्थनिर्णयः ॥' पूर्वोक्त रीतिसे महावाक्यके बोधमें पर्यवसान दिखलाते हैं— 'वाग्भाभि०' इत्यादिसे ।

ब्रह्म ही जब 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यसे उत्पन्न अखण्डाकार वृत्तिसे अत्यन्त प्रदीप्त आत्मप्रकाश द्वारा स्वतत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह अपने वास्तविक नित्य, मुक्त और पूर्णस्वरूपसे प्रकाशित होता है । भाव यह कि वह अपनी मुक्तिके लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंसे जन्य अखण्डाकार वृत्तिसे अतिरिक्त किसी साधनकी अपेक्षा नहीं करता ।

शङ्का—सो कैसे ?

समाधान—चूंकि स्वप्नमें विविध विचित्र पदार्थोंकी नाईं यह देह, इन्द्रिय आदि तथा आकाश आदि बन्धरूप दृश्य प्रत्यगात्मभूत ब्रह्ममें ही आविर्भूत होकर प्रकाशित होता है। जैसे स्वाप्न बन्धकी निवृत्तिके लिए प्रबोधसे अतिरिक्त साधनकी अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके लिए महावाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्तिसे अतिरिक्त साधनकी अपेक्षा नहीं होती, यह भाव है। श्रुति भी है—यद्‌ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्‌ब्रह्मावेद्‌ यस्मात्तत्सर्वमभवत्' (ब्रह्मविद्यासे—ब्रह्म [परमात्मा] जिससे ज्ञात होता है वह ब्रह्मविद्या है उससे—हम सब हो जायँगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं, ब्रह्मने क्या जाना जिससे कि वह सब हुआ) ऐसा प्रश्न कर उत्तर दिया है—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्‌ तदात्मानमेवावेदहमस्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (यह ब्रह्म ही सृष्टिके पूर्व था, उसने 'अहं ब्रह्मास्मि' यों अपनेको जाना उससे वह सब हो गया) इस श्रुतिमें ब्रह्म स्वयं स्वतत्त्वके बोधसे बन्धनशून्य और पूर्ण हो गया इस कथनसे ब्रह्म ही स्वतत्त्वबोधसे पहले द्वैत, प्रिय-अप्रिय-दर्शन परिच्छेदरूप बन्धका अनुभव-सा करता है। इससे बन्धका मिथ्यात्व प्रत्यग्‌ आत्माका ब्रह्मत्व अतिस्पष्टरूपसे ज्ञात होता है। जैसे वहांपर महावाक्यके अर्थके उपपादक 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (वह अव्याकृत आत्मा नाम और रूपसे व्याकृत हुआ अर्थात्‌ ऐसे व्यक्तीभावको प्राप्त हुआ जिसमें नाम-रूप विशेषके निश्चयकी मर्यादा है), 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (आत्मा देहमें नखाग्रपर्यन्त व्याप्त है) इत्यादि पूर्ववर्ती सृष्टि और प्रवेशके प्रतिपादक अर्थवादभूत वाक्योंका—अज्ञातब्रह्ममात्रोपादानक (केवल अज्ञात ब्रह्म ही जिनका उपादान है) जगत्‌ और जीवकी—उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों कालोंमें—ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है, अतः वे मिथ्या ही हैं—यों उपपादन द्वारा अपने प्रधानभूत महावाक्यके तात्पर्यके विषय ब्रह्माद्वैतमें पर्यवसान है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिये, यह भाव है।

शङ्का—वैसा हो उससे हमें क्या प्रयोजन है ?

समाधान—'तद्' इत्यादिसे। 'उस ब्रह्मको इस समयका जो हमारे सरीखा अधिकारी श्रवण आदि उपायोंसे जिस प्रकार यथार्थरूपसे 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यों साक्षात्कार करता है, वह पूर्वोक्त पूर्ण, नित्य, मुक्त, ब्रह्म-ज्योतिस्वरूप मोक्षफलका भी जीतेजी अनुभव करता है। श्रुति भी है—तद्

यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (देवता, ऋषि और मनुष्योंमें जिस जिसने यथोक्त विधिसे आत्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया वही आत्मा (ब्रह्म) हो गया 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यों साक्षात्कार कर रहे ऋषि वामदेवजीको यह ज्ञान हुआ कि 'मैं मनु हुआ और मै सूर्य हुआ ॥ १ ॥*

---

* संस्कृतटीकाकारोंने उक्त श्लोकके अनेक अर्थ किये हैं, उनमेसे कुछ नीचे लिखे जाते हैं—

अथवा—जो अज्ञात होनेके कारण मुमुक्षुओंकी जिज्ञासाका विषय है, सम्पूर्ण लोगोंको जिसका आत्मरूपसे प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म वाचकशब्दसमूह और उससे प्रकाशित होनेवाले अर्थ-समूहसे 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (नाम, रूप और कर्म ये तीन) इत्यादि श्रुतिमें प्रदर्शित द्वैतप्रपञ्चसे अपृथक् अपनेको देखता हुआ अपनेमे स्वप्नकी नाई बध, बन्धन, शोक मोह आदिसे दुःखी प्रतीत होता है। जो अधिकारी उस प्रकारसे प्रतीत होते हुए भी ब्रह्मको केवल आत्माका ही परिशेष बतलानेवाले 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा द्वैत निषेधसे अवशिष्ट जानता है, वही ब्रह्मको यथार्थरूपसे जानता है। आरोपित नाम, रूप आदिको देखनेवाला पुरुष उसे नही जान सकता, यह भाव है ॥

अथवा—'वाग्'से 'वचन (बोलना), गमन आदि क्रियाप्रधान कर्मेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं और 'भा'से प्रकाशप्रधान ज्ञानेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं। उक्त द्वारभूत ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे जो वस्तुतः ब्रह्मको भी देखता है वह स्वयं ब्रह्म होता हुआ भी आत्मामे स्वप्नकी नाई अब्रह्मभूत अन्यथाप्रतीत होता है, कारण कि बहिर्मुख पुरुषको तत्त्वदर्शन नहीं हो सकता, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (परमात्माने इन्द्रियोंको अनात्मविषयक बना कर उनकी हिंसा की, इसलिए जीव उनसे अनात्मपदार्थोंको ही देखता है) इत्यादि श्रुति है। परन्तु जो अधिकारी प्रसिद्ध इस प्रपञ्चको भी 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही है) इत्यादि परमार्थपरक वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे सबका अधिष्ठान सन्मात्र जानता है, बाह्य इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्तिसे मुक्त तथा प्रत्यङ्मुख हुआ वह ब्रह्मको जानता है। बाह्य दृष्टिसे देखा गया ब्रह्म भी अनर्थ ही है और प्रामाणिक प्रत्यक् दृष्टिसे देखा गया जगत् भी पुरुषार्थके लिए होता है। यों सृष्टिविस्तारके बहाने प्रत्यग्-दृष्टिके विकास करानेमें ही इस ग्रन्थका तात्पर्य है, यह भाव है ॥

अथवा—आगे कही जानेवाली उपदेश वाणियोंसे तथा दृष्टान्त, आख्यान और युक्तिरूप प्रकाशोंसे यह कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञ ही परमार्थरूपसे ब्रह्म है। ब्रह्मनामका दूसरा कोई पदार्थ व्यवहित दूर प्रदेशमें आत्मासे अतिरिक्त है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये। जो यह दृश्य प्रपञ्च है, वह स्वप्नकी नाई परमात्मामें अध्यस्त हुआ प्रतीत होता है, वह भी परमार्थ सत्य अन्य पदार्थ है, ऐसी भ्रान्तिको स्थान नहीं देना चाहिए। पूर्वोक्त ब्रह्मभाव और जगद्भावमें जो विवेकी अथवा अविवेकी मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं देवदत्त हूँ, यों स्वाभाविक लौकिक प्रसिद्ध मिथ्यास्वशब्दोंसे उत्पन्न या 'ब्रह्मैवाहम्' (मैं ब्रह्म ही हूँ) 'चिदेवाहम्' (मै चित् ही हूँ) इत्यादि शास्त्रीय सत्य अर्थवाले स्वशब्दोंसे उत्पन्न ज्ञानसे

जैसा अपना स्वरूप जानता है वैसा ही पुन. पुन अनुभव करता है। संसारी आत्माको देखनेवालेको संसाररूपफल प्राप्त होता है और और ब्रह्मात्मदर्शीको ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसलिए जीवको ब्रह्मात्मदर्शी होना चाहिए, यह भाव है ॥

अथवा—यदि किसीको शङ्का हो कि 'यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते' तथा 'अस्त्यनन्तविलासानामाश्रय सर्वसश्रय.' (यो० १०।१ तथा ११ मुमुक्षुव्य० प्र०) इत्यादिसे पूर्वमें ब्रह्मका उपदेश हो ही चुका है। वहीपर ब्रह्मका उपदेश देनेपर शम, दम आदिके अभावमें चित्तकी अस्थिरता होनेपर चित्तकी स्थिरताके साधन शम, दम आदि और उनकी पुष्टिके लिए पौरुषका उपदेश दिया जा चुका है अब कोई भी उपदेष्टव्य वस्तु बची नहीं। यदि कहिये कि एक बार उपदिष्ट वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानसे ब्रह्मका भान नही होता, तो सैकडों बार उसका उपदेश देनेपर भी वह वैसाका वैसा ही रहेगा। फिर पिष्टपेषणकी नाई उसके पुन॰ पुन उपदेशसे क्या फल होगा ? इसपर कहते हैं—'वाग्भाभि ' इत्यादिसे।

जो ब्रह्मवेत्ता श्रोता पुरुष एक बार उपदिष्ट वाक्योंके अर्थप्रकाशसे मै ही ब्रह्म हूँ, यों जानता है उसके ज्ञानका स्वप्नकी नाई प्राय. बाध हो जाता है, वह दृढ नही रहता या जैसे निद्रावशीभूत पुरुष अप्रसिद्ध अपने नक्षत्रनामसे धीरे धीरे पुकारे जा रहे वाक्यको ठीक ठीक नहीं समझ पाता वैसे ही एक बार उपदिष्ट वाक्यके अर्थप्रकाशसे भी 'मै ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। वही पुरुष हे देवदत्त ! हे यज्ञदत्त ! यों चिरकालके व्यवहारसे प्रसिद्ध अपने नामके सम्बोधनसे उत्पन्न ज्ञानसे जैसे जाग जाता है वैसे ही चिरकालसे अभ्यस्त श्रवण आदिके अभ्याससे खूब परिचित महावाक्यसे उत्पन्न ज्ञानसे जो जानता है वही जानता है वैसा असदिग्ध आत्मबोध ही अविद्याके उच्छेदमें हेतु है, यह अर्थ है। वैसे दृढ निश्चयसे युक्त अपरोक्ष अनुभवके लिए युक्तियोंसे फलकी प्राप्ति होनेतक पुन पुन उपदेशका अभ्यास करना चाहिए ॥

अथवा—जैसे ब्रह्मको न जाननेवाला पुरुष जाग्रत्-कालकी भय आदिकी चिरकालिक वासनाओंसे वासित होकर स्वप्नमें अविद्यावश निन्दा करना, धमकाना आदि भीषण वाणियोंसे भयसे कॉपना, भागना, गड्ढेमें गिरना आदिसे युक्त होकर दु खी प्रतीत होता है, या जैसे उपासक पुरुष जाग्रद्-कालकी देवभाव वासनाके वासित होकर स्वप्नमें देवताके तुल्य, राजाके तुल्य स्तुति, प्रशंसा आदिकी वाणियोंसे और क्रीड़ा, विमानपर चढना, आकाशविहार करना आदि प्रतिभासे युक्त प्रतीत होता है वैसे ब्रह्मवेत्ता भी चिरकालसे भली भॉति अभ्यस्त श्रवण आदिसे वासित होकर स्वप्नमें 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'मै ही यह सब हूँ' इस प्रकार परमार्थका प्रतिपादन करनेवाली वाणियोंसे और वास्तविक ब्रह्मभावकी प्रतिभासे दीप्त होता है, फलावस्थामें भी स्वप्नकी नाई परलोकफल भी दृढ अभ्यस्त वासनाके अनुसार होता है, इसका आगे लीलोपाख्यान आदिमें उपपादन किया जायगा।

शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—स्वप्नकी नाई परलोक फल भी वासनाके अनुसार होता है, इस बातका 'जो स्वयं ही (न कि अन्य किसीकी अपेक्षासे) ज्ञान कराते हैं, वे स्वशब्द हैं अर्थात् श्रुतियॉ उनसे उत्पन्न स्वत॰ प्रमाणभूत ज्ञानसे निश्चय होता है। 'अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छादयति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथो यत्र देव इव राजे-

न्यायेनाऽनेन लोकेऽस्मिन् सर्गे ब्रह्माम्बरे सति ।
किमिदं कस्य कुत्रेति चोद्यमूचे निराकृतम् ॥ २ ॥

इस प्रकार उत्पत्ति-प्रकरणके संक्षिप्त अर्थके प्रदर्शन द्वारा अवान्तर विषयके दिखलानेपर 'प्रपञ्च मिथ्या है' इत्याकारक ज्ञानरूप अवान्तर प्रयोजनसे संबन्ध रखनेवाले पूर्वोक्त दूषणका परिहार भी अर्थात् हो गया, ऐसा कहते हैं— 'न्यायेना०' इत्यादिसे ।

पीछे संक्षेपसे प्रदर्शित और आगे विस्तारसे कहे जानेवाले 'अध्यस्त पदार्थका अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं है' इस न्यायसे या अध्यारोपापवादन्यायसे अध्यासक्रमसे दृश्यमान इस प्रपञ्चरूप सृष्टिके ब्रह्मरूप होनेपर या सृष्टिके अपवादक्रमसे ब्रह्ममात्र शेष रहनेपर

तदेतद्भगवन् ब्रूहि किमिदं परिणश्यति ।
किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्द्धते ॥

इत्यादिसे 'यह क्या है, किसका है और कहांपर स्थित है' यों आपने पीछे

वाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोक' (स्वप्नमें इस स्वप्नदर्शक पुरुषको शत्रु या अन्य चोर मारते-से हैं, वशीभूत-सा करते हैं, हस्ती-सा इसको भगाता है, गड्ढेमें-सा गिरता है, जो हस्ती आदिरूप जाग्रद्भयको देखता है, उसीको स्वप्नमें भी देखता है, स्वप्नमें भयके बिना भी मिथ्या ही उत्पन्न हुई अविद्यासे भय मानता है। जिस कालमें देवताके समान, राजाके समान मैं ही सब हूँ, ऐसा मानता है । जो यह सर्वात्मभाव है वही इसका परम लोक है), 'तद्य इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद् यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (वे इस लोकमें कर्मसे प्राप्त जिस-जिस व्याघ्र आदि जातिको प्राप्त हुए थे, वे उस कर्मज्ञानकी वासनासे वासित होकर सत्में प्रविष्ट होकर भी फिर तद्-तद्भावसे उत्पन्न होते हैं), 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्' 'मनो कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे' (जिस वस्तुका चिन्तन करता है, तन्मय हो जाता है, यह परम गुह्य है और संकल्प द्वारा ही इस शरीरमें आता है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित. ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥ (जिस जिस पदार्थका स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करता है, उसी भावको प्राप्त होता है। इसलिए तुम सर्वदा मेरा स्मरण करो) इत्यादि स्मृतियाँ हैं। अभ्यासावस्थामें जो पुरुष संसारी आत्माको या ब्रह्मभावको जानता है, वह फलावस्थामें भी उसको जानता है, इसलिए नित्य निरन्तर ब्रह्मानुभववासनाको ही दृढ करना चाहिए, यह उत्पत्तिप्रकरणका तात्पर्यार्थ है । इत्यादि ।

अहं तावद् यथाज्ञानं यथावस्तु यथाक्रमम् ।
यथास्वभावं तत्सर्वं वच्मीदं श्रूयतां बुध ॥ ३ ॥
स्वप्नवत्पश्यति जगच्चिन्नभोदेहवित्स्वयम् ।
स्वप्नसंसारदृष्टान्त एवाऽहंत्वंसमन्वितम् ॥ ४ ॥

(१।१२।१७) जो सत्‌के नाशादिके असंभवका दूषण दिया, वह स्वतः ही निराकृत हो गया, क्योंकि सत्‌का नाश नहीं माना गया है, विनाशीकी सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए आपने जो दोष दिया, उसका यह विषय ही नहीं है, यह भाव है ॥ २ ॥

इस प्रकार अवान्तर विषय और प्रयोजन दिखला कर विस्तारपूर्वक कथनकी प्रतिज्ञा करते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

हे बुध, मै पीछे संक्षेपसे दिखलाये गये सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रमाणों और अनुभवके अनुसार, वस्तुके अनुसार और स्वभावके अनुसार क्रमशः विस्तारपूर्वक कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनिए * ॥ ३ ॥

'स्वप्नकी नाईं आत्मामें आविर्भूत हुआ प्रतीत होता है' ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं—'स्वप्नवत्' इत्यादिसे ।

जीवभावको प्राप्त होकर जो जगत्‌को देखता है, वह स्वप्नकी नाईं देखता है अर्थात् जैसे स्वप्नदर्शन विषयका बाध होनेपर भी बाधित नहीं होता, वैसे ही जगद् दर्शन भी बाधित नहीं होता । भाव यह कि ज्ञानकी सत्यतामें तात्पर्य है । 'अहम्' यों प्रत्यक् आत्माके तादात्म्यसे और 'त्वम्' यों अनात्मभावसे भासित हो रहा प्रपञ्चरूप भी स्वप्नसंसाररूप दृष्टान्तमें भली भाँति सम्बद्ध है । भाव यह कि

* 'यथावस्तु' का—परीक्षा द्वारा जैसी वस्तु है उसके अनुसार, 'यथाक्रम' का साधन और युक्तियोंके निरूपणपूर्वक और 'यथास्वभाव' का जैसा श्रोताका स्वभाव है अर्थात् श्रोताकी बुद्धिकी परिपक्वताके अनुसार, यह अर्थ करना चाहिए । अथवा 'यथावस्तु' से सृष्टिसे पूर्व अवस्थाका कथन है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सन्मात्र ही था । 'यथाज्ञानम्' से सृष्टिके आरम्भकी उन्मुखताका कथन है, 'यथाक्रमम्' से स्थूलरूपसे सृष्टिके क्रमका कथन है 'यथास्वभावम्' से जगत्‌के आरोपकी दशामें भी वह अविकृतस्वभाव रहता है, इसका कथन है और 'सर्वम्' से ज्ञानसे प्राप्त होनेवाले पूर्णभावका कथन है, 'तस्मात्तत् सर्वमभवत्' इस श्रुतिमें पूर्णभावमें सर्वशब्द देखा जाता है । 'बुध' इससे उत्तम अधिकारका स्मरण कराना श्रवणमें आदर उत्पन्न करनेके लिए है ।

मुमुक्षुव्यवहारोक्तिमयात् प्रकरणात् परम् ।
अथोत्पत्तिप्रकरणं मयेदं परिकथ्यते ॥ ५ ॥
बन्धोऽयं दृश्यसद्भावाद् दृश्याभावेन बन्धनम् ।
न सम्भवति दृश्यं तु यथेदं तच्छृणु क्रमात् ॥ ६ ॥
उत्पद्यते यो जगति स एव किल वर्द्धते ।
स एव मोक्षमाप्नोति स्वर्गं वा नरकं च वा ॥ ७ ॥

उसके मिथ्यात्वमें तात्पर्य है। अथवा देहकी स्वप्नतुल्यता भले ही हो पर बाह्य नामरूपात्मक जगन्मात्रकी स्वप्नतुल्यता कैसे हो सकती है ? इस शङ्का पर कहते हैं—'अहंत्वंसमन्वितम्' । केवल बाह्यरूप आदि ही नहीं भासता है, किन्तु मैं रूपको देखता हूँ, यों त्रिपुटीभूत 'अहम्' अर्थसे संवलित त्वमर्थरूप प्रकाशित होता है वह साक्षिमात्रजन्य होनेसे स्वप्नसंसारदृष्टान्तमें दार्ष्टान्तिक होता ही है । अध्यस्तविषयक ज्ञानमें सत्य पदार्थ विषय नहीं होता है । भ्रममें अध्यस्तका ही भान होता है और कुछ भी किसी तरह भासित नहीं होता—इस सिद्धान्तके अनुसार बाह्य प्रमाणोंके व्यवहारोंमें अर्थके विसंवादमात्रसे भी व्यावहारिक प्रामाण्यका विघात नहीं होता है, यह भाव है ॥ ४ ॥

जिस प्रकरणमें प्रायः मुमुक्षुओंके व्यवहारका वर्णन है, उसके अर्थात् मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणके अनन्तर मैं इस उत्पत्तिप्रकरणका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

यदि शङ्का हो कि मैं संसाररूप बन्धनकी निवृत्तिका उपाय चाहता हूँ, मेरा दृश्यको मिथ्या सिद्ध करनेवाले इस उत्पत्तिप्रकरणको सुननेसे क्या लाभ ? इसपर कहते हैं—'बन्धोऽयम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जबतक दृश्य है, तभीतक यह संसाररूप बन्धन है। दृश्यकी निवृत्ति होनेसे बन्ध नहीं रह सकता । यह दृश्य जिस प्रकार उत्पन्न होता है, उसे आप क्रमसे सुनिए ॥ ६ ॥

केवल दृश्यके अभावमात्रसे बन्धनकी निवृत्ति कही है, पर यह ठीक नहीं जँचता, क्योंकि उत्पत्ति, वृद्धि, नाश, स्वर्ग, नरक आदि बन्धन आत्माके धर्मरूपसे प्रतीत होते हैं, अतः उनका आत्मकोटिमें अन्तर्भाव ठहरा, ऐसी स्थितिमें दृश्यकी निवृत्ति होनेपर भी बन्धकी निवृत्ति नहीं होगी, इस शङ्कापर कहते हैं—'उत्पद्यते' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

अतस्ते स्वावबोधार्थं तत्तावत् कथयाम्यहम् ।
उत्पत्तिः संसृतावेति पूर्वमेव हि यो यथा ॥ ८ ॥
इदं प्रकरणार्थं त्वं संक्षेपाच्छृणु राघव ।
ततः संकथयिष्यामि विस्तरं ते यथेप्सितम् ॥ ९ ॥
यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १० ॥

इस संसारमें जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि, क्षय, स्वर्ग और नरकको प्राप्त होता है एवं वही बन्ध और मोक्षको प्राप्त होता है । उत्पत्ति, वृद्धि, विनाश, आदि धर्म आत्माके नहीं हैं । अपने स्वरूपका परिज्ञान न होनेसे ही उसको उत्पत्ति आदिका भ्रम होता है, यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

चूँकि अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही बन्ध है, अतः अपने स्वरूपके बोधके लिए आगेके ग्रन्थसे दृश्य प्रपञ्चका असंभव कहता हूँ । उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध दृश्य संसारसे है, आत्मासे नहीं । आत्मा तो दृश्य प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पहले जैसा था वैसे ही रहता है । अणुमात्र भी उसमें विकार नहीं आता, भगवती श्रुति भी कहती है—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥'

(न उत्पत्ति है और न प्रलय है; उत्पत्ति और प्रलय न होनेसे ही न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मोक्षार्थी है और न मुक्त है, यह परमार्थ बात है) ॥ ८ ॥

यही इस प्रकरणका प्रतिपाद्य अर्थ है, यह बात आगे कहे जानेवाले विस्तारकी भूमिकाके रूपमें इस सर्गमें कही जाती है, ऐसा कहते हैं—**'इदं प्रकरणार्थम्'** इत्यादिसे ।

हे राघव, आप पहले प्रकरणके उपोद्घातके लिए इस सर्गमें कहे जानेवाले अर्थको सुनिए, तदुपरान्त मैं आपसे आपकी इच्छाके अनुसार इसको विस्तारपूर्वक कहूँगा ॥ ९ ॥

'पूर्वमेव हि यो यथा' इससे उक्त अर्थकी उपपत्तिके लिए प्रलयावस्थामें

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥ ११ ॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥ १२ ॥
स तथाभूत एवाऽऽत्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥ १३ ॥

अवशिष्ट आत्मस्वरूपको कहनेके लिए कारणमें पूर्वसृष्टिके लयके प्रकारको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

जो यह चराचर सम्पूर्ण जगत् दिखलाई देता है, वह सुषुप्तिमें स्वप्नकी नाईं कल्पान्तमें (प्रलयकालमें) नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

तदुपरान्त अमूर्त होनेसे क्रियारहित, परिच्छेद (माप) से शून्य होनेसे अथाह (असीम), निर्धर्मक (धर्मरहित) होनेसे संज्ञारहित और अज्ञानसे आवृत होनेसे अभिव्यक्तिसे शून्य अथवा प्रपञ्चके संस्कारका आधार होनेसे अभिव्यक्तिसे रहित केवल सत् नामक ही कोई वस्तु शेष रहती है, वह रूपरहित होनेसे न तो तेज है और न प्रकाशरूप होनेसे तम ही है ॥ ११ ॥

विद्वानोंने व्यवहारके लिए * उस सद्रूप सर्वव्यापक आत्माके ऋत, आत्मा, पर, ब्रह्म, सत्य † इत्यादि अनेक नामोंकी कल्पना कर रक्खी है ॥ १२ ॥

अब सृष्टिके आरम्भमें उसका मिथ्याभूत समष्टिजीवभाव कहते हैं—**'स तथाभूत'** इत्यादिसे ।

चैतन्यस्वभाव वही आत्मा अज्ञानसे अन्य-सा, जड़-सा अर्थात् आकाश आदिके क्रमसे उत्पन्न लिङ्गसमष्टिरूप होकर उसमें प्रवेश करनेसे 'वही मैं हूँ,

---

* यहाँपर उपदेशके योग्य शिष्य आदिको उपदेश देना व्यवहार है, उस व्यवहारके लिए ।

† वह सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुतिसे जाना जाता है, अत· ऋत कहलाता है, 'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति शब्द्यते ॥' (चूँकि सम्पूर्ण पदार्थोंको व्याप्त करता है, उनका ग्रहण करता है, भोग करता है और कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए यह आत्मा कहा जाता है) वेदव्यासजीकी इस उक्तिके अनुसार आत्मा, सत्यताके उत्कर्षकी अवधि होनेसे पर, स्वयं बृहत् होनेसे या जगत्के आकारको बढानेवाला होनेसे ब्रह्म, विद्वानोंको शास्त्रानुसार उसका अनुभव होता है, अत सत्य कहलाता है ।

ततः स जीवशब्दार्थकलनाकुलतां गतः ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरीभवन् ॥ १४ ॥
मनः सम्पद्यते तेन महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारस्तरङ्ग इव वारिधेः ॥ १५ ॥
तत्स्वयं स्वैरमेवाऽऽशु सङ्कल्पयति नित्यशः ।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥ १६ ॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ १७ ॥

इस अभिमानसे उसकी नाईं प्रतीत होता हुआ भावी जीवनामसे गर्हित बनाई गई जीवताको भ्रान्तिसे प्राप्त-सा होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार केवल ज्ञानशक्तिसे होनेवाली सृष्टिको कहकर अब क्रिया-शक्तिसे युक्त ज्ञानशक्तिसे साध्य सृष्टिको कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

तदनन्तर क्रियाशक्तिकी प्रधानतासे सम्पन्न प्राणके धारणसे चञ्चलताको प्राप्त हुआ वह भौतिकलिङ्गात्मा सङ्कल्प और विकल्पके मननसे जड़तावश मन्द होकर मन बन जाता है । जैसे निश्चल आकारवाला समुद्र चञ्चल आकारवाले तरङ्ग-भावको प्राप्त होता है, वैसे ही वह मनरूप बन जानेसे अपने महान् परमात्मभावको भूलकर मनके सङ्कल्प, विकल्प आदि धर्मोंको अपने धर्म समझने लगता है ॥ १४,१५॥

इस प्रकार समष्टि मनोभावको प्राप्त हुआ हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म स्वय ही (दूसरे द्वारा बोध पाये बिना ही) पूर्ववासनाके अनुसार विराड्-भावको, भुवन आदि भावको और वहाँपर स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज रूप चार प्रकारके जीवभावोंका नित्य सङ्कल्प करता रहता है । उस सत्यसङ्कल्पसे इस प्रकार इन्द्रजालकी नाईं यह विशाल सृष्टि फैलाई जाती है ॥ १६ ॥

यों हजारों अध्यारोपोंसे भी अधिष्ठानकी पारमार्थिकताका विनाश नहीं किया जा सकता, यह दर्शानेके लिए दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्णके बने हुए कटक (कड़ा) रूप सुवर्णसे कटकशब्दका अर्थ पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही परब्रह्ममें जगत्-शब्दार्थ है, अर्थात् जगत्-शब्दका अर्थ परब्रह्मसे पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टान्तकी नाईं दोनोंमें भेद नहीं है ॥ १७ ॥

ब्रह्मण्येवाऽस्त्यनन्तात्म यथास्थितमिदं जगत् ।
न जगच्छब्दकार्थेऽस्ति हेम्नीव कटकात्मता ॥ १८ ॥
सती वाऽप्यसती तापनद्येव लहरीचला ।
मनसेहेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ॥ १९ ॥
अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः ।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः ॥ २० ॥
बन्धस्य तावद्रूपं त्वं कथ्यमानमिदं शृणु ।
ततः स्वरूपं मोक्षस्य ज्ञास्यसीन्दुनिभानन ॥ २१ ॥
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते ।
द्रष्टा दृश्यबलाद् बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ॥ २२ ॥

जैसे कटकरूपता सुवर्णके स्वभावके ही अन्तर्गत है कटकस्वभावके अन्तर्गत नहीं है, वैसे ही परिच्छेदसे रहित यह जगत्-शब्दार्थ भी अनन्तस्वरूप ब्रह्मके स्वभावके ही अन्तर्गत है नाशवान् अपने स्वभावके अन्तर्गत नहीं है ॥ १८ ॥

यदि यह स्वतः नहीं है तो सत् की नाईं कैसे प्रतीत होता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'सती' इत्यादिसे ।

जैसे मरुस्थलमें मृगतृष्णाकी नदी असत् चञ्चल तरङ्गोंका सत्के नाईं विस्तार करती है वैसे ही मनसे यह इन्द्रजाल सरीखा जगत् सत् न होता हुआ भी सत्के समान बनाया जाता है ॥ १९ ॥

अविद्याके अनुरूप नामोंसे अविद्याको दर्शाते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

सर्वज्ञ विद्वानोंने जिसके अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह, महत्, तम * इत्यादि अनेक नामोंकी कल्पना की है । हे चन्द्रवदन, पहले मैं आपसे उस माया (बन्ध) का स्वरूप कह रहा हूँ, उसे आप सावधान होकर सुनिए । उसके श्रवणके अनन्तर आप मोक्षके स्वरूपको समझ जायँगे ॥ २०, २१ ॥

ज्ञान द्वारा क्रमशः नष्ट होने और प्राप्त होने योग्य बन्ध और मोक्षका स्वरूप बतलाते हैं—'द्रष्टुः' इत्यादिसे ।

---

* विद्यासे नाश्य होनेके कारण वह अविद्या कही जाती है, ऊपर, नीचे और तिरछे गमनकी हेतु होनेसे संसार, अस्वतन्त्रताकी जननी होनेसे बन्धन, मिथ्या होनेसे माया, भ्रमकी हेतु होनेसे मोह, दुस्तर होनेसे महत् और स्वरूपका आवरण करनेवाली होनेसे तम कही जाती है ।

जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ २३ ॥
नेदं नेदमिति व्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति ।
संकल्पजनकैर्दृश्यव्याधिः प्रत्युत वर्द्धते ॥ २४ ॥
न च तर्कभरक्षोदैर्न तीर्थनियमादिभिः ।
सतो दृश्यस्य जगतो यस्मादेति विचारकाः ॥ २५ ॥
जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित् ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ २६ ॥

वत्स, दृश्य प्रपञ्चका अस्तित्व द्रष्टाका बन्ध कहा जाता है । दृश्यके कारण ही द्रष्टा बन्धनमें पड़ा है और दृश्यके हट जानेसे मुक्त हो जाता है । असत्य स्वरूप 'त्वम्' (तू) 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् दृश्य कहलाता है जबतक यह दृश्य रहता है तबतक मोक्ष नहीं हो सकता ॥ २२, २३ ॥

कोई शङ्का करे कि यदि दृश्याभाव ही मोक्ष है, तो तत्-तत् कालमें उपस्थित हुए दृश्यके 'यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि निराकरणसे ही रोगके निराकरणसे आरोग्यकी नाईं मोक्ष सिद्ध हो जायगा, उसके निराकरणार्थ तत्त्वज्ञानप्राप्तिके लिए कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता है ? इसपर कहते हैं—**'नेदम्'** इत्यादिसे ।

यह (दृश्य) नहीं है, यह (दृश्य) नहीं है इत्यादि व्यर्थ प्रलापोंसे इसका विनाश नहीं होता बल्कि संकल्पके हेतु 'यह दृश्य नहीं है' इत्यादि प्रलापोंसे दृश्यरूप व्याधि बढती है । भाव यह है कि दृश्यके विद्यमान रहते 'यह दृश्य नहीं है' यह प्रलाप बाधित हो जाता है, अतः वह विद्यमान दृश्यके विरोधी अन्य दृश्यके उत्पादन-संकल्पसे उसके उत्पादन द्वारा पूर्व दृश्यका निराकरण करता है, ऐसा कहना होगा; ऐसी परिस्थितिमें एक दृश्यके निराकरणके लिए दो दृश्योंकी उत्पत्ति हो जानेसे दृश्य बढ़ता ही है ॥ २४ ॥

हे विचारशील पुरुषो, दृश्य जगत्के विद्यमान रहते सैकड़ों तर्कोंसे और तीर्थयात्रा तथा नियम आदिसे भी दृश्यरूपी व्याधिकी निवृत्ति नहीं होती, केवल इतना ही नहीं, किन्तु दूसरी दृश्य व्याधि प्राप्त हो जाती है । भाव यह कि इस दृश्यरूपी व्याधिकी अनादरसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि विचार द्वारा इसका बाध करना चाहिए ॥ २५ ॥

और दूसरी बात यह भी है कि यदि दृश्य स्वतः सत् माना जाय, तो

अचेत्यचित्स्वरूपात्मा यत्र यत्रैव तिष्ठति ।
द्रष्टा तत्राऽस्य दृश्यश्रीः समुदेत्यप्यणूदरे ॥ २७ ॥
तस्माद्स्ति जगद् दृश्यं तत्प्रमृष्टमिदं मया ।
त्यक्तं तपोध्यानजपैरिति काञ्जिकतृप्तिवत् ॥ २८ ॥
यदि राम जगद् दृश्यमस्ति तत्प्रतिबिम्बति ।
परमाणूदरेऽप्यस्मिंश्चिदादर्शे तथैव हि ॥ २९ ॥

सत्का बाध न होनेसे कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा, ऐसा कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

यदि जगत्की वास्तविक सत्ता है, तो किसीके जगत्की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् पदार्थकी सत्ता नहीं होती और सत्का अभाव नहीं होता, यह अकाट्य नियम है ॥ २६ ॥

यदि कोई कहे कि यह द्रष्टा पुरुष तप, ध्यान आदिके बलसे दृश्यशून्य तथा दृश्यके समावेशके अयोग्य परमाणुके उदर आदिमें जाकर रहता हुआ दृश्यसे छुटकारा पा जायगा, ऐसी अवस्थामें मोक्षका अभाव कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—'अचेत्य०' इत्यादिसे ।

आत्माका तप आदिसे भी परिज्ञान नहीं हो सकता । चिद्रूप आत्मा जिसको ज्ञात नहीं हुआ, वह द्रष्टा जहां कहीं भी (परमाणुके मध्यमें भी) रहेगा वहाँ परमाणुके उदरमें भी उसको दृश्यकी प्रतीति होगी ही। भाव यह है कि जिसको आत्मतत्त्वका परिज्ञान नहीं है, वह जीव ही दृश्यका बीज है, परमाणुके उदरमें भी भ्रान्तिसे विशालताकी प्रतीतिमें विरोध न होनेसे वहांपर भी उसके दृश्यरूप बन्धनका वारण नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

उक्तका ही उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए दृश्य जगत् है और उसका तप, ध्यान और जप द्वारा जहाँपर वह रहा वहींपर उसे मिटा दिया और अन्य देशकी प्राप्तिसे उसका त्याग कर दिया, यह कथन बासी भात आदिके सड़े जलसे तृप्ति करनेकी नाई है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि दृश्यरूप जगत् है, तो उसका परमाणुके भीतर और चैतन्यरूपी आदर्शमें भी वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है । भाव यह कि दृश्यरूप

यत्र तत्र स्थिते यद्वद्दर्पणे प्रतिबिम्बति ।
अद्र्यब्ध्युर्वीनदीवारि चिदादर्शे तथैव हि ॥ ३० ॥
ततस्तत्र पुनर्दुःखं जरा मरणजन्मनी ।
भावाभावग्रहोत्सर्गः स्थूलसूक्ष्मचलाचलः ॥ ३१ ॥
इदं प्रमार्जितं दृश्यं मया चाऽत्राऽहमास्थितः ।
एतदेवाऽक्षयं बीजं समाधौ संसृतिस्मृतेः ॥ ३२ ॥
सति त्वस्मिन्कुतो दृश्ये निर्विकल्पसमाधिता ।
समाधौ चेतनत्वं तु तुर्यं चाऽप्युपपद्यते ॥ ३३ ॥

जगत् जैसे विशाल प्रदेशमें विद्यमान है, वैसे ही परमाणुमें एवं चेतन आत्मामें भी, बिना संकोचके, उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ २९ ॥

दर्पण चाहे कहींपर भी स्थित हो, उसमें जैसे पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदीके जलका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चैतन्यरूपी आदर्शमें (आत्मामें) भी पड़ता है ॥३०॥

उसके अनन्तर उस प्रतिबिम्बमें पुनः दुःख प्राप्त होता है—जरा, मृत्यु और जन्म प्राप्त होते हैं । जैसे जाग्रत् अवस्थामें स्थूल तथा स्वप्नमें सूक्ष्म भाव और अभावका ग्रहण और सुषुप्तिमें उनका त्याग होता है, वैसे ही यह अस्थिर संसार रहता है ॥ ३१ ॥

ज्ञानकी अपेक्षा न करनेवाली निर्विकल्पक समाधिसे दृश्यके मार्जनकी शङ्का कर कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

इस दृश्य जगत्का मैंने परिमार्जन कर लिया और यहांपर मैं समाधिमें स्थित हूँ, समाधिमें संसारके स्मरणका यह कभी क्षय न होनेवाला बीज है । भाव यह है कि जिसका स्मरण नहीं हुआ, उसका मार्जन नहीं हो सकता और उसका स्मरण होनेपर तो समाधिका ही भङ्ग हो जायगा ॥३२॥

अतएव निर्विकल्पक समाधिसे भी दृश्यका मार्जन नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'सति' इत्यादिसे ।

इस दृश्य प्रपञ्चके रहते निर्विकल्पक समाधि नहीं हो सकती । निर्विकल्पक समाधि होनेपर ही तो चित्तके रहनेपर चेतनता और चित्तका बाध होनेपर तुर्य-पदकी उपपत्ति होती है । दृश्यके रहते तो निर्विकल्पक समाधिका अवसर ही कहाँ ? ॥ ३३ ॥

व्युत्थाने हि समाधानात् सुषुप्तान्त इवाऽखिलम् ।
जगद्दुःखमिदं भाति यथास्थितमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
प्राप्तं भवति हे राम तत्किं नाम समाधिभिः ।
भूयोऽनर्थनिपाते हि क्षणसाम्ये हि किं सुखम् ॥ ३५ ॥
यदि वाऽपि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत् ।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येताऽमलं पदम् ॥ ३६ ॥
प्राप्यते सति दृश्येऽस्मिन्न च किं नाम केनचित् ।
यत्र यत्र किलाऽऽयाति चित्तताऽस्य जगद्भ्रमः ॥ ३७ ॥
द्रष्टाऽथ यदि पाषाणरूपतां भावयन्बलात् ।
किलाऽऽस्ते तत्तदन्तेऽपि भूयोऽस्योदेति दृश्यता ॥ ३८ ॥

समाधि भले ही हो फिर भी संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'**व्युत्थाने**' इत्यादिसे ।

जैसे सुषुप्तिके (गाढ़ी नींदके) पश्चात् दुःखमय यह सारा जगत् प्राप्त हो जाता है, वैसे ही समाधि टूटनेपर यह दुःखमय सम्पूर्ण जगत् ज्योंका त्यों भासमान प्रत्यक् आत्मामें प्राप्त हो जाता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, फिर भी जब अनर्थ-प्राप्तिकी सम्भावना रही तो क्षणमात्रकी समाधिसे क्या सुख ? इसलिए समाधिसे कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? ॥ ३४, ३५ ॥

यदि निर्विकल्पक समाधिमें कभी अव्युत्थानको प्राप्त हो, तो ज्ञानके बिना भी अक्षय सुख प्राप्त हो गया, ऐसा यदि कोई माने, तो वह निर्मल पदको कभी क्षीण न होनेवाली सुषुप्तिके तुल्य मानता है * ॥ ३६ ॥

उक्त अन्यके आशयका उत्तर देते हैं—'**प्राप्यते**' इत्यादिसे ।

इस मनरूप दृश्यके रहते समाधिमें भले ही कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे ? फिर भी क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता, अवश्य प्राप्त होता है, क्योंकि जहाँ जहाँ इसका चित्त जाता है, वहाँ वहाँ चित्तसे उत्पन्न होनेवाले जगद्भ्रमका भी निवारण नहीं किया जा सकता ॥ ३७ ॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि द्रष्टा अज्ञानी होनेसे आत्मभिन्न

---

* 'अक्षयसुषुप्ताभ' से मूढताका कभी उच्छेद न होनेसे उसमें अपुरुषार्थता सूचित होती है ।

न च पाषाणतातुल्या निर्विकल्पसमाधयः ।
केषाञ्चित्स्थितिमायान्ति सर्वैरित्यनुभूयते ॥ ३९ ॥
न च पाषाणतातुल्या रूढिं याताः समाधयः ।
भवन्त्यग्रपदं शान्तं चिद्रूपमजमक्षयम् ॥ ४० ॥
तस्माद्यदीदं सद्दृश्यं तन्न शाम्येत्कदाचन ।
शाम्येत्तपोजपध्यानैर्दृश्यमित्यज्ञकल्पना ॥ ४१ ॥

पाषाण आदिकी ही समाधिमें जबरदस्ती भावना (चिन्तना) करे, तो वह समाधिके अन्तमें फलकालमें भी पुनः दृश्यताको प्राप्त होता है, जिसमें केवल आत्माका ही शेष रहता है, वह समाधि उसको प्राप्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—'द्रष्टा०' इत्यादिसे ।

यदि अज्ञानी द्रष्टा समाधिमें समाधिके बलसे लब्ध दुःखशून्य पाषाणताका चिन्तन करता रहता है, तो समाधिके अन्तमें उसको पुनः दृश्यता प्राप्त होती है ॥३८॥

समाधि द्वारा प्राप्त दुःखशून्य पाषाणताके प्राप्त होनेपर भी स्थैर्यकी कोई आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

किसीकी भी समाधिबलसे प्राप्त दुःखशून्य पाषाणताके तुल्य निर्विकल्पक समाधियाँ स्थिरताको प्राप्त नहीं होतीं, यह बात सभी समाधिनिष्ठ पुरुषों द्वारा अनुभूत है ॥ ३९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जिनकी समाधि रूढ (परिपक्व) नहीं हुई हो, उन्हें भले ही स्थिरता प्राप्त न हो; किन्तु जिनकी समाधि परमात्मभावापत्तिपर्यन्त रूढ है, उन्हें तो स्थिरता प्राप्त होगी, इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

रूढिको प्राप्त हुई भी पाषाणताके तुल्य अचेतन समाधियाँ शान्त, चिद्रूप, अज तथा अक्षयरूप नहीं हो सकती यानी उक्त पाषाणतुल्य समाधियाँ सम्पूर्ण संसारकी निश्शेष शान्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकतीं ॥ ४० ॥

इसलिए जिस बातको हम पहले कह आये हैं, वही सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए यदि यह दृश्य सत् है, तो यह कभी भी शान्त नहीं होगा, इसलिए तप, जप और ध्यानसे दृश्यकी निवृत्ति हो जायगी, यह अज्ञानियोंकी केवल कल्पना ही है ॥ ४१ ॥

आलीनवल्लरीरूपं यथा पद्माक्षकोटरे ।
आस्ते कमलिनीबीजं तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ४२ ॥
यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु ।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ४३ ॥
यत्र तत्र स्थितस्याऽपि कर्पूरादेः सुगन्धिता ।
यथोदेति तथा दृश्यं चिद्धातोरुदरे जगत् ॥ ४४ ॥
यथा चाऽत्र तव स्वप्नः सङ्कल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टाऽन्तस्तथा हृद्यस्ति दृश्यभूः ॥ ४५ ॥
तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा ।
विनिहन्त्येवमप्येतं द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥ ४६ ॥

अविद्यायुक्त द्रष्टामें दृश्यकी स्थितिका दृष्टान्त द्वारा साधन करते हैं—'आलीन०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

जैसे कमलगट्टेके अन्दर वह बीज विद्यमान है, जिसमें होनेवाली कमलनीका लतारूप अन्तर्हित है, वैसे ही अज्ञानी द्रष्टामें वह दृश्य-बुद्धि रहती है, जिसमें भावी संसार अन्तर्हित है । जैसे पदार्थोंमें रस रहता है, तिल आदिमें तेल रहता है और फूलोंमें सुगन्धि रहती है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्यबुद्धि रहती ही है ॥४२, ४३॥

कपूर आदि चाहे कहींपर क्यों न हों, फिर भी जैसे उनसे सुगन्धि निकलती है, वैसे ही द्रष्टा चाहे कहींपर क्यों न हो, फिर भी उसमें दृश्य रहता ही है ॥ ४४ ॥

जैसे आपके हृदयमें स्थित मनोराज्यबुद्धि केवल आपके अनुभवसे ही देखी जाती है और जैसे स्वप्न तथा सङ्कल्प आपहीके अनुभवसे देखे जाते हैं, वैसे ही दृश्य जगत् भी स्वानुभवसे ही आपके हृदयमें प्रतीत होता है ॥ ४५ ॥

इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित पिशाच बालकको मार देता है, वैसे ही दृश्यरूपिणी रूपिका * (पिशाची) इस द्रष्टाको मार देती है यानी स्वरूपसे भ्रष्ट कर देती है ॥ ४६ ॥

---

* स्त्रीके वेषसे पुरुषोंको मोहित करके मारती हुई पिशाचियाँ रूपिका कहलाती हैं ।

यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥ ४७ ॥
द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्यथा सदोदिताऽस्त्यस्तमितोज्झितोदरे ।
द्रव्यस्य चिन्मात्रशरीरिणस्तथा स्वभावभूताऽस्त्युदरे जगत्स्थितिः ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
बन्धहेतुवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इदमाकाशजाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
उत्पत्त्याख्यं प्रकरणं येन राघव बुध्यते ॥ १ ॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदयमें है, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे बीजके भीतर स्थित अङ्कुर देश और कालसे अपनेको प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और कालसे अपने स्वरूपको प्रकाशित करती है ॥४७॥

जैसे अचिन्त्यकार्यवैचित्र्यशक्तिरूप चमत्कार बीज आदिके भीतर रहता ही है, वैसे ही चिन्मात्रस्वरूप आत्माके ही उदरमें चिद् और अचित्‌से सम्बद्ध अतीत, अनागत जगत्‌की सत्ता रहती है ॥ ४८ ॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

[भौतिक देहको आत्मा समझनेवाला अज्ञानी मृत्युका भोजन है, तत्त्वज्ञानी नहीं, वह तो आकाशज द्विजकी नाईं चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसका कथन]

काम और कर्मकी वासनासे पूर्ण अविद्योपहित आत्मा ही जगत्‌का बीज और मृत्युका कारण है, विद्या द्वारा अविद्याका विनाश होनेपर मृत्युके वश नहीं होता, इस पूर्वोक्त अर्थमें विशेष दिखलानेके लिए जगत्‌के आदि स्रष्टाके स्वरूपके

अस्तिऽह्याकाशजो नाम द्विजः परमधार्मिकः ।
ध्यानैकनिष्ठः सततं प्रजानां च हिते रतः ॥ २ ॥
स चिरं जीवति यदा तदा मृत्युरचिन्तयत् ।
सर्वाण्येव क्रमेणाऽहं भूतान्यद्मि किलाऽक्षयः ॥ ३ ॥
एनमाकाशजं विप्रं न कस्माद्भक्षयाम्यहम् ।
अत्र मे कुण्ठिता शक्तिः खङ्गधारा इवोपले ॥ ४ ॥
इति सञ्चिन्त्य तं हन्तुमगच्छत् तत्पुरं तदा ।
त्यजन्त्युद्यममुद्युक्ता न स्वकर्माणि केचन ॥ ५ ॥
ततस्तत्सदनं यावन्मृत्युः प्रविशति स्वयम् ।
तावदेनं दहत्यग्निः कल्पान्तज्वलनोपमः ॥ ६ ॥

परिशोधन द्वारा आगे कहे जानेवाले उपदेशकी उपोद्‍घातरूप आख्यायिकाको कहनेवाले वसिष्ठजी बोले—हे राघव, इस आकाशज * विप्रके आख्यानको, जो कानोंको विभूषित करनेवाला है और जिससे उत्पत्तिप्रकरणका आपको बहुत सरलतासे बोध हो जायगा, सुनिए ॥ १ ॥

परम धर्मात्मा † आकाशज नामका एक ब्राह्मण है । वह सदा ध्यानमें तत्पर और प्रजाओंके हितमें रत है । जब वह बहुत काल तक जी गया, तब मृत्युने विचार किया—मैं अक्षय हूँ, मैं क्रमसे सभी प्राणियोंका संहार करता हूँ फिर मैं इस आकाशज विप्रको क्यों न खाऊँ । जैसे पत्थरमें तलवारकी धार कुण्ठित हो जाती है, वैसे ही इसपर मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है, ऐसा विचार कर, वह मेरुपर्वतके मध्यमें स्थित सत्यलोकनामक उसके नगरमें उसे मारनेके लिए गया । कोई भी समर्थ पुरुष अपना कर्म करनेके लिए उद्यमका त्याग नहीं करते ॥२—५॥

उसके अन्तर मृत्यु आकाशज विप्रके घरमें ज्यों ही स्वयं प्रविष्ट हुआ

---

* आकाशसे—अध्यस्त अविद्यारूपी नीलताका आधार होनेसे आकाश तुल्य ब्रह्मसे अथवा अविद्यावृत्त होनेसे स्वल्प प्रकाशवाले ब्रह्मसे—जो उत्पन्न है, वह आकाशज है अर्थात् लिङ्गसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ ।

† 'तद्यथा कृताय विजितायाधरेया. संयन्ति' (जैसे एक कृतनामक पासेके 'जीते जानेपर अन्य द्वापर आदि पासे जीते जाते हैं) इत्यादि श्रुतिके अनुसार हिरण्यगर्भपदप्रापक संवर्गविद्योपासनरूप धर्ममें सम्पूर्ण प्रजाओंके धर्मोंका अन्तर्भाव होनेसे वह परम धर्मात्मा कहा गया है ।

अग्निज्वालामहामालां विदार्याऽन्तर्गतो ह्यसौ ।
द्विजं दृष्ट्वा समादातुं हस्तेनैच्छत्प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
न चाऽशकत्पुरो दृष्टमपि हस्तशतैर्द्विजम् ।
बलवानप्यवष्टब्धुं संकल्पपुरुषं यथा ॥ ८ ॥
अथाऽऽगत्य यमं मृत्युरपृच्छत्संशयच्छिदम् ।
किमित्यहं न शक्नोमि भोक्तुमाकाशजं विभो ॥ ९ ॥

यम उवाच

मृत्यो न किञ्चिच्छक्तस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तॄणीति नेतरत् ॥ १० ॥
तस्मादेतस्य विप्रस्य मारणीयस्य यत्नतः ।
कर्माण्यन्विष्य तेषां त्वं साहाय्येनैनमत्स्यसि ॥ ११ ॥
ततः स मृत्युर्बभ्राम तत्कर्मान्वेषणादृतः ।
मण्डलानि दिगन्तांश्च सरांसि सरितो दिशः ॥ १२ ॥
वनजङ्गलजालानि शैलानब्धितटानि च ।
द्वीपान्तराण्यरण्यानि नगराणि पुराणि च ॥ १३ ॥

त्यों ही समाधिमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको हटानेके लिए ब्रह्मा द्वारा प्राकाररूपसे स्थापित प्रलयाग्निके तुल्य अग्नि मृत्युको जलाने लगी। मृत्यु अग्निकी ज्वालाओंकी परम्पराको चीरकर भीतर गया। उसने ब्राह्मणको देखकर यत्नपूर्वक उसे हाथसे पकड़नेकी इच्छा की। जैसे बलवान् भी पुरुष सङ्कल्पसे कल्पित पुरुषको छूनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही सामने विद्यमान उस ब्राह्मणको वह अपने सैकड़ों हाथोंसे भी पकड़नेमें समर्थ नहीं हुआ ॥ ६,८ ॥

तदुपरान्त मृत्युने संशयको दूर करनेवाले यमराजके पास जाकर उनसे पूछा, हे विभो, मैं आकाशज ब्राह्मणको खानेके लिए क्यों समर्थ नहीं हूँ ? ॥ ९ ॥

यमराजने कहा—हे मृत्यो, तुम अकेले अपने बलसे किसीको मारनेमें समर्थ नहीं हो। जिसको तुम मारते हो उसके कर्म ही उसका मारण करते हैं। तुम्हारी अशक्तिमें और कोई कारण नहीं है, इसलिए उसे यदि तुम मारना चाहते हो, तो यत्नपूर्वक उसके कर्मोंको खोजो। उनकी सहायतासे तुम उसे खा सकोगे ॥ १०, ११ ॥

तदनन्तर मृत्यु उसके कर्मोंको खोजनेके लिए तत्पर होकर सम्पूर्ण देशों, दिगन्तों, तालाबों, नदियों, दिशाओं, वनों, जङ्गलों, पर्वतों, समुद्रतटों, अन्यान्य

ग्रामाण्यखिलराष्ट्राणि देशान्तर्गहनानि च ।
एवं भूमण्डलं भ्रान्त्वा न कुतश्चित्स कानिचित् ॥ १४ ॥
तान्याकाशजकर्माणि लब्धवान्मृत्युरुद्यतः ।
वन्ध्यापुत्रमिव प्राज्ञः संकल्पाद्रिमिवाऽपरः ॥ १५ ॥
समपृच्छदथाऽऽगत्य यमं सर्वार्थकोविदम् ।
परायणं हि प्रभवः सन्देहेष्वनुजीविनाम् ॥ १६ ॥

मृत्युरुवाच

आकाशजस्य कर्माणि क्व स्थितानि वद प्रभो ।
धर्मराजोऽथ सञ्चिन्त्य सुचिरं प्रोक्तवानिदम् ॥ १७ ॥
आकाशजस्य कर्माणि मृत्यो सन्ति न कानिचित् ।
एष आकाशजो विप्रो जातः खादेव केवलात् ॥ १८ ॥
आकाशादेव यो जातः स व्योमैवाऽमलं भवेत् ।
सहकारीणि नो सन्ति न कर्माण्यस्य कानिचित् ॥ १९ ॥

द्वीपों, अरण्यों, नगरों, कसबों, ग्रामों, सम्पूर्ण राष्ट्रों एवं रेगिस्तानोंमें घूमा अर्थात् किस देशमें इसने पहले क्या कर्म किया, उसे ध्यानपूर्वक जानना अधिक यत्न-साध्य होनेसे तत्-तत् स्थानोंमें घूमा, केवल देश घूमनेके लिए नहीं घूमा । इस प्रकार सम्पूर्ण भूमण्डलमें घूमकर उद्यमी मृत्युने आकाशज विप्रके कोई भी मारक कर्म कहीं भी नहीं पाये जैसे कि वन्ध्यापुत्रको प्राज्ञ तथा कल्पित पर्वतको कल्पना करनेवाले पुरुषसे अन्य पुरुष नहीं पा सकता ॥ १२, १५ ॥

अनन्तर सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाले यमराजके पास आकर मृत्युने उनसे पूछा, क्योंकि भृत्योंको सन्देह उपस्थित होनेपर उनके प्रभु ही आश्रय होते हैं॥१६॥

मृत्युने कहा—प्रभो, आकाशज विप्रके कर्म कहाँ हैं, यह बात आप मुझसे कहिए । मृत्युके यों पूछनेपर धर्मराजने चिरकालतक विचार कर उससे यह कहा ॥१७॥

धर्मराजने कहा—हे मृत्यो, आकाशजके कोई भी * कर्म नहीं हैं, यह आकाशज विप्र केवल आकाशसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

आकाशसे जो उत्पन्न हुआ है, वह आकाशके समान निर्मल है । इसके मारणमें मृत्युकी सहायता करनेवाले कोई कर्म † नहीं ही हैं ।

---

* प्रारब्धसे प्राप्त फलोंका उपभोगसे ही क्षय होने, सञ्चितोंका ज्ञानसे क्षय होने तथा आगामी कर्मोंका बीजके अभावसे क्षय होनेसे कर्म ही नहीं हैं, यह भाव है ।

† अथवा अभिमान, राग आदि अद्यतन कर्म, यह अर्थ है ।

सम्बन्धः प्राक्तनेनाऽस्य न मनागपि कर्मणा ।
अस्ति वन्ध्यासुतस्येव तथाऽजाताकृतेरिव ॥ २० ॥

कारणानामभावेन तस्मादाकाशमेव सः ।
नैतस्य पूर्वकर्माऽस्ति नभसीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥

नैतदस्याऽवशं चित्तमभावात् पूर्वकर्मणाम् ।
अद्य तावदनेनाऽऽद्यं न किञ्चित्कर्म सञ्चितम् ॥ २२ ॥

एवमाकाशकोशात्मा विशदाकाशरूपिणि ।
स्वकारणे स्थितो नित्यं कर्माण्यस्य न कानिचित् ॥ २३ ॥

प्राक्तनानि न सन्त्यस्य कर्माण्यद्य करोति नो ।
किञ्चिदप्येवमेषोऽत्र विज्ञानाकाशमात्रकः ॥ २४ ॥

जैसे वन्ध्याके पुत्रका और जैसे जिसका आकार उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका प्राक्तन कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही इस आकाशज विप्रका प्राक्तन कर्मसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है ॥ २० ॥

अविद्या आदि कारणोंका या निर्विकार तत्त्वके विकारके हेतुओंका अभाव होनेसे विकारका सम्बन्ध न होनेके कारण वह आकाशरूप ही है । जैसे आकाशमें महान् वृक्षका अस्तित्व नहीं है, वैसे इसके पूर्व कर्मोंका भी संभव नहीं है ॥२१॥

यदि शङ्का हो कि कायिक कर्म भले ही न हों, पर मानसिक कर्म तो उसके होंगे ही ? इसपर कहते हैं—'नैतद्०' इत्यादिसे ।

पूर्व कर्मोंके अभावसे इसका चित्त अवश नहीं है, आजतक इसने मारणमें मृत्युके सहायक किसी मानस कर्मका संचय नहीं किया है । मनका व्यापार पूर्वदेहकी व्यापारवासनाके अधीन है ॥ २२ ॥

ऐसा होनेपर यह परब्रह्मस्वभावसे ही स्थित है, दृश्यस्वभाव यह नहीं है, ऐसा कहते हैं—'एवमाकाश०' इत्यादिसे ।

इस प्रकार आकाशकोशरूप यह आकाशज ब्राह्मण निर्मल आकाशरूपी अपने कारणमें नित्य स्थित है, इसके कोई भी कर्म नहीं हैं ॥ २३ ॥

ऐसी अवस्थाके प्राप्त होनेपर तो पूर्व कर्मोंका प्रसङ्ग ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—'प्राक्तनानि' इत्यादिसे ।

प्राणस्पन्दोऽस्य यत्कर्म लक्ष्यते चाऽस्मदादिभिः ।
दृश्यतेऽस्माभिरेवैतन्न त्वस्याऽस्त्यत्र कर्मधीः ॥ २५ ॥
संस्थिता भावयन्तीव चिद्रूपैव परात्पदात् ।
भिन्नमाकारमात्मीयं चित्स्तम्भे शालभञ्जिका ॥ २६ ॥
तथैव परमार्थात्स खात्मभूतः स्थितो द्विजः ।
यथा द्रवत्वं पयसि शून्यत्व च यथाऽम्बरे ॥ २७ ॥
स्पन्दत्वं च यथा वायोस्तथैष परमे पदे ।
कर्माण्यद्यतनान्यस्य संचितानि न सन्ति हि ॥ २८ ॥
न पूर्वाण्येष तेनेह न संसारवशं गतः ।
सहकारिकारणानामभावे यः प्रजायते ॥ २९ ॥

प्राक्तन कर्म इसके हैं नहीं, आजकल यह कुछ कर्म नहीं करता, इस प्रकार इस संसारमें यह केवल विज्ञानाकाशरूप है ॥ २४ ॥

यदि कोई कहे कि यदि यह कुछ भी कर्म नहीं करता, तो हम लोगोंको यह प्राणन क्रियासे युक्त एवं कायव्यापारवान् कैसे दिखलाई देता है, इसपर कहते हैं—'प्राणस्पन्दो०' इत्यादिसे ।

इसका प्राणव्यापार या कायिक कर्म जिसको हम लोग देखते हैं, उसको हम लोग ही अपनी अज्ञानजनित भ्रान्तिसे देखते हैं, लेकिन इसकी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं है ॥ २५ ॥

तो उसको यह मेरा देह है, इत्यादि बुद्धि कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'संस्थिता' इत्यादिसे ।

चैतन्यरूप स्तम्भमें चैतन्यरूपिणी प्रतिमा 'मेरा आकार परम पदसे (ब्रह्मसे) भिन्न है' ऐसी वासना करती हुई-सी स्थित है । मेरा यह स्वरूप वासनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है, ऐसी उसकी बुद्धि है, यह अर्थ है ॥ २६ ॥

जैसे जलमें द्रवत्व (तरलता) है, जैसे आकाशमें शून्यता है और जैसे वायुमें स्पन्दता (गति) है, वैसे ही परमार्थरूपसे आकाशभूत यह विप्र परमपदमें स्थित है । इसके न आधुनिक कर्म हैं, न संचित कर्म हैं और न प्राक्तन कर्म हैं, इसलिए यहाँपर यह संसारका वशीभूत नहीं है । सहकारी

नाऽसौ स्वकारणाद्भिन्नो भवतीत्यनुभूयते ।
कारणानामभावेन तस्मादेष स्वयंभवः ॥ ३० ॥
कर्ता न पूर्वं नाऽप्यद्य कथमाक्रम्यते वद ।
यदैष कल्पनां बुद्ध्या मृतिनाम्नीं करिष्यति ॥ ३१ ॥
पृथ्व्यादिमानयमहमिति यस्य च निश्चयः ।
स पार्थिवो भवत्याशु ग्रहीतुं स च शक्यते ॥ ३२ ॥
पृथव्यादिकलनाभावादेष विप्रो न रूपवान् ।
दृढरज्ज्वेव गगनं ग्रहीतुं नैव युज्यते ॥ ३३ ॥

मृत्युरुवाच

भगवन् जायते शून्यात्कथं नाम वदेति मे ।
पृथ्व्यादयः कथं सन्ति न सन्ति वद वा कथम् ॥ ३४ ॥

कारणोंका अभाव होनेपर जो उत्पन्न होता है, वह अपने कारणसे भिन्न नहीं होता, ऐसा अनुभव है । कारण न होनेके कारण यह स्वयम्भू है ॥ २७–३० ॥

हे मृत्यो, न तो इसने पहले कर्म किये थे और न यह आज कर्म करता है, भला बताओ तो सही यह तुमसे कैसे आक्रान्त होगा ॥ ३१ ॥

यदि शङ्का हो कि अन्य जीव भी तो इसके व्यष्टिरूप ही हैं, फिर वे कैसे मृत्युसे गृहीत होते हैं ? इसपर कहते हैं—'यदैष' इत्यादिसे ।

जिस जीवका पृथिवी आदिसे रचित देह ही मैं हूँ ऐसा निश्चय है, वह मूढ़ पार्थिव देह ही होता है, यह ब्रह्मा जिस समय सत्यसङ्कल्पबुद्धिसे मृत्युकी कल्पना करेगा, उसी समय तुम उसको पकड़ सकते हो ॥ ३२ ॥

पृथिव्यादिमय देहका ग्रहण न कहनेसे यह अकाशज ब्राह्मण देहवान् (आकारवान्) नहीं है, अतएव जैसे आकाश कैसी ही मजबूत रस्सी क्यों न हो नहीं बांधा जाता, वैसे ही इसका भी ग्रहण नहीं ही किया जा सकता ॥ ३३ ॥

विकाररहित शून्यका विकार, अजका जन्म एवं सत् पृथिवी आदिकी असत्ता कही, उसको असंभाव्य समझता हुआ मृत्यु बोला—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

मृत्युने कहा—भगवन्, शून्यसे अजकी (अजन्माकी) कैसे उत्पत्ति होती है, यह बात मुझे समझाइए तथा पृथिवी आदि कैसे हैं ? नहीं हैं तो कैसे नहीं है, यह भी आप मुझे समझाइए ॥ ३४ ॥

यम उवाच

न कदाचन जातोऽसौ न च नाऽस्ति कदाचन ।
द्विजः केवलविज्ञानभामात्रं तत्तथा स्थितः ॥ ३५ ॥
महाप्रलयसंपत्तौ न किञ्चिदवशिष्यते ।
ब्रह्माऽऽस्ते शान्तमजरमनन्तात्मैव केवलम् ॥ ३६ ॥
शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम् ।
तदा तदनु येनाऽस्य निकटेऽद्रिनिभं महः ॥ ३७ ॥
संविन्मात्रस्वभावत्वाद्देहोऽहमिति चेतति ।
काकतालीयवद् भ्रान्तमाकारं तेन पश्यति ॥ ३८ ॥

परमब्रह्म जो आकाश कहा गया है और पृथिवी आदिकी जो असत्त्वोक्ति है, वह शून्यताके अभिप्रायसे नहीं है, किन्तु कार्यकी कारणसे पृथक् सत्ता नहीं है, इस अभिप्रायसे है और इसी प्रकार अजका जन्मकथन विवर्तके अभिप्रायसे है, परिणामके अभिप्रायसे नही है, इस आशयको सूचित करते हुए यमराज बोले—**'न कदाचन'** इत्यादिसे ।

श्रीयमराजने कहा—यह आकाशज ब्राह्मण न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनष्ट हुआ । चूँकि यह ब्राह्मण परमार्थरूपसे केवल प्रकाशात्मक विज्ञानस्वरूप है, इसलिए यह सदा ज्योंका त्यों रहता है, कभी विकृत नहीं होता ॥ ३५ ॥

आदि और अन्तमें तन्मात्रका (प्रकाशात्मक विज्ञानमात्रका) परिशेष रहनेसे वही इसका स्वाभाविक सत्य रूप है, इस आशयसे कहते हैं—**'महाप्रलय०'** इत्यादि डेढ़ श्लोकसे ।

महाप्रलय होनेपर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, उस समय केवल शान्त जरारहित, अनन्तस्वरूप, शून्य, नित्य उदित, सूक्ष्म, उपाधिशून्य परमब्रह्म ही स्थित रहता है । तदुपरान्त सृष्टिके आरम्भकालमें वासना और अदृष्टसे परिपूर्ण जीवकी अविद्यासे, इसके विज्ञानमात्र होनेसे, इसके निकट विषयभावसे पर्वततुल्य (पर्वतके समान जिसका निवारण नहीं हो सकता) विराट्-रूप या चतुर्मुखरूप देह इस नामसे कथनके योग्य स्थूलरूप कुछ स्फुरित होता है, उस समय उक्त अविद्यासे ही हम लोग काकतालीयके समान अकस्मात् स्वप्नकी नाईं मिथ्याभूत उस आकारको देखते हैं ॥ ३६–३८ ॥

स एष ब्राह्मणस्तस्मिन्सर्गादावम्बरोदरे ।
निर्विकल्पश्चिदाकाशरूपमास्थाय संस्थितः ॥ ३९ ॥
नाऽस्य देहो न कर्माणि न कर्तृत्वं न वासना ।
एष शुद्ध चिदाकाशो विज्ञानघन आततः ॥ ४० ॥
प्राक्तनं वासनाजालं किञ्चिदस्य न विद्यते ।
केवलं व्योमरूपस्य भारूपस्येव तेजसा ॥ ४१ ॥
वेदनामात्रसंशान्तावीदृशोऽपि न दृश्यते ।
तस्माद् यथा चिदाकाशस्तथा तत्प्रतिपत्तयः ॥ ४२ ॥
कुतः किलाऽत्र पृथ्व्यादेः कीदृशः संभवः कथम् ।
एतदाक्रमणे मृत्यो तस्मान्मा यत्नवान् भव ॥ ४३ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अन्यकी दृष्टिसे अध्यस्त देह आदिसे इसकी निर्विकल्पकता-की क्षति नहीं है, ऐसा जो हमने पहले कहा था, उसमें कुछ भी आंच नहीं आई, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'स एष'** इत्यादिसे ।

वही यह निर्विकल्प ब्राह्मण सृष्टिके आदिमें निर्विकल्प चिदाकाशरूप अपने स्वरूपका अवलम्बन कर आकाशमें स्थित है । इसका न तो शरीर है, न कर्म हैं, न इसमें कर्तृत्व है और न वासना है । यह शुद्ध चिदाकाश, विज्ञानघन और सर्वव्यापक है ॥ ३९, ४० ॥

यह केवल आकाशरूप और तेजसे प्रकाशरूप-सा है । इसकी प्राक्तन वास-नाएँ तनिक भी नहीं हैं ॥ ४१ ॥

चित्की बहिर्मुख प्रवृत्ति वेदना है । वेदनामात्रकी सर्वथा शान्ति होनेपर प्रातिभासिकरूपवाला भी यह दिखलाई नहीं देता । वेदनाकी शान्ति कैसे होती है, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

अधिष्ठानतत्त्वके ज्ञानसे विषयका बोध होनेपर विषयज्ञानरूप वेदनाएँ भी जैसे चिदाकाश है, वैसे ही चिदाकाशरूपसे रहती हैं ॥ ४२ ॥

जहांपर चित्स्वभाव वेदनाओंका सहन नहीं होता, वहांपर पृथिवी आदिके सहनकी संभावना कैसे हो सकती है, इसलिए उसपर तुम्हारे आक्रमणकी आशा नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'कुतः'** इत्यादिसे ।

इसमें पृथिवी आदिका संभव कैसा, कहांसे और कैसे हो सकता है अर्थात्

ग्रहीतुं युज्यते व्योम न कदाचन केनचित् ।
श्रुत्वैतद्विस्मितो मृत्युर्जगाम निजमन्दिरम् ॥ ४४ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मैष कथितो देवस्त्वया मे प्रपितामहः ।
स्वयंभूरज एकात्मा विज्ञानात्मेति मे मतिः ॥ ४५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतन्मया राम ब्रह्मैष कथितस्तव ।
विवादमकरोन्मृत्युर्यमेनैतत्कृते पुरा ॥ ४६ ॥
मन्वन्तरे सर्वभक्षो यदा मृत्युर्हरन् प्रजाः ।
बलमेत्यब्जजाक्रान्तावारम्भमकरोत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
तदैव धर्मराजेन यमेनाऽऽश्वनुशासितः ।
यदेव क्रियते नित्यं रतिस्तत्रैव जायते ॥ ४८ ॥

इसमें पृथिवी आदिका संभव नहीं है, इसलिए हे मृत्यो, तुम इसके ऊपर आक्रमण करनेके लिए प्रयत्न मत करो । कोई भी पुरुष कभी भी आकाशको पकड़ नहीं सकता । श्रीयमराजके वचन सुनकर मृत्युको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह अपने घर लौट गया ॥ ४३, ४४ ॥

आकाशज ब्राह्मण इस दूसरे नामसे उक्त ब्रह्मा ही इस आख्यायिकासे दर्शाया गया है और जगत् मिथ्या है—ये दोनों बातें मैंने जान लीं, इसकी सूचना द्वारा गुरुको प्रसन्न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'ब्रह्मैष' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपने मुझसे आकाशज ब्राह्मणके नामसे स्वयम्भू, अज, एकात्मा, जीवसमष्टिरूप ब्रह्मा ही कहा, ऐसी मेरी धारणा है ॥४५॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्र, आपका कथन सत्य है, मैंने आपसे आकाशज विप्रके नामसे ब्रह्मका ही कथन किया है । प्राचीन समयमें इन्हींके लिए मृत्युने यमके साथ संवाद किया था ॥ ४६ ॥

मन्वन्तरमें जब कि सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार कर रहा सर्वभक्षी मृत्यु बलवान् हुआ तब उसने स्वयं ब्रह्माजीपर आक्रमण करनेका उद्योग किया । उसी समय धर्मराज यमने मृत्युको शिक्षा दी । मृत्युने ऐसे विषयमें, जिसमें उसकी शक्ति काम नहीं कर सकती थी, क्यों उद्योग किया ? इस शङ्कापर व्यसनिताके

ब्रह्मा किल पराकाशवपुराक्रम्यते कथम् ।
मनोमात्रं च सङ्कल्पः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः ॥ ४९ ॥
यश्चिव्द्योमचमत्कारः किलाकारानुभूतिमान् ।
सचिव्द्योमैव नो तस्य कारणत्वं न कार्यता ॥ ५० ॥
आकाशस्फुरदाकारः सङ्कल्पपुरुषो यथा ।
पृथ्व्यादिरहितो भाति स्वयंभूर्भासते तथा ॥ ५१ ॥
निर्मले व्योम्नि मुक्ताली सङ्कल्पस्वप्नयोः पुरम् ।
अपृथ्व्यादि यथा भाति स्वयंभूर्भासते तथा ॥ ५२ ॥
न दृश्यमस्ति न द्रष्टा परमात्मनि केवले ।
स्वयं चित्ता तथाऽप्येष स्वयंभूरिति भासते ॥ ५३ ॥
सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते ।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नाऽस्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥ ५४ ॥

कारण ही उसने उद्योग किया, ऐसा कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे। जो पुरुष नित्य जिस कामको करता है, उसीमें उसकी प्रीति होती है ॥ ४७,४८ ॥

ब्रह्मा चिदाकाशस्वरूप, सङ्कल्पशरीर और पृथ्वी आदिसे रहित मूर्तिवाला है, उसका शरीर मनोमात्र है, भला उसपर आक्रमण ही कैसे हो सकता है ॥ ४९ ॥

जो चिदाकाशके समान चमत्कारवाला और चिदाकाशके समान अनुभव-स्वरूप है, वह चिदाकाश ही है, उसमें न कारणता है और न कार्यता है ॥५०॥

आकाशमें जैसे इन्द्रनीलमणिसे बना औंधा रक्खा हुआ महान् कड़ाहका आकार-सा पदार्थ पृथिवी आदिसे रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्पसे निर्मित पुरुष पृथिवी आदिसे रहित प्रतीत होता है, वैसे ही यह स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी पृथिवी आदिसे रहित प्रकाशित होता है ॥ ५१ ॥

जैसे निर्मल आकाशमें मोतीकी माला एवं सङ्कल्प और स्वप्नमें नगर पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होते हैं, वैसे ही स्वयंभू पृथिव्यादि रहित ही प्रकाशित होता है ॥ ५२ ॥

केवल परमात्मामें न दृश्य है और न द्रष्टा है, केवल चिन्मात्रस्वभावता ही है, तथापि यह स्वयम्भू नामसे प्रकाशित होता है ॥ ५३ ॥

यह सङ्कल्पमात्र मन ही ब्रह्मा कहा जाता है, यही सङ्कल्पाकाशपुरुष ब्रह्मा है, इसमें पृथ्वी आदि विद्यमान नहीं हैं ॥ ५४ ॥

यथा चित्रकृदन्तःस्था निर्देहा भाति पुत्रिका ।
तथैव भासते ब्रह्मा चिदाकाशाच्छरञ्जनम् ॥ ५५ ॥
चिद्व्योमकेवलमनन्तमनादिमध्यं
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात् स्वयंभूः ।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
वन्ध्यातनूज इव तस्य तु नाऽस्ति देहः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
आद्यसृष्टिकर्तृवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

यदि कोई कहे कि निराकार सङ्कल्पकी पुरुषाकारता कैसे हो सकती है ? तो इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चित्रकारके अन्तःकरणमें स्थित चित्र देहरहित होनेपर भी प्रतिमाकार प्रतीत होता है, वैसे ही चिदाकाशके स्वच्छ प्रतिबिम्बका ग्राहक मन ब्रह्माकार प्रतीत होता है । भाव यह कि पहले चित्रकार अपने अन्तःकरणमें एक प्रकारकी चित्रप्रतिमाका सङ्कल्प द्वारा निर्माण कर लेता है । तदनन्तर वैसा ही उसका बाहर चित्रण कर रहे चित्रकारके अन्तःकरणमें स्थित सङ्कल्पित चित्रप्रतिमा देहरहित होती हुई भी चित्रप्रतिमाके आकारसे भासित होती है, वैसे ही चिदाकाशके प्रतिबिम्बका ग्राहक स्वच्छ मन प्रजापतिके (ब्रह्माके) रूपसे भासता है ॥ ५५ ॥

मनका स्वयम्भूके आकारमें परिणाम वास्तविक नहीं है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञानसे उस प्रकार विवर्तको प्राप्त होता है, यह कहते हैं—'चिद्व्योम०' इत्यादिसे ।

आदि, मध्य और अन्तरहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्पके कारण स्वयम्भू यों आकारवान्-सा तथा पुरुष-सा भासित होता है, वास्तवमें तो वन्ध्यापुत्रके समान उसका शरीर नहीं है ॥ ५६ ॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तृतीयः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवमेव मनः शुद्धं पृथ्व्यादिरहितं त्वया ।
मनो ब्रह्मेति कथितं सत्यं पृथ्व्यादिवर्जितम् ॥ १ ॥
तदत्र प्राक्तनी ब्रह्मन् स्मृतिः कस्मान्न कारणम् ।
यथा मम तवाऽन्यस्य भूतानां चेति मे वद ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पूर्वदेहोऽस्ति यस्याऽद्य पूर्वकर्मसमन्वितः ।
तस्य स्मृतिः संभवति कारणं संसृतिस्थितेः ॥ ३ ॥

तीसरा सर्ग

[ब्रह्मा स्वयं मनोरूप है और उसका सङ्कल्परूप यह जगत् है, इसलिए यह मनोराज्यके समान असत् ही है ।]

'मनोमात्रं च सङ्कल्पः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः ।' इस प्रकार पीछे (यो० वा० ३।२।४९) कही गई रीतिसे ब्रह्माको यदि मनोरूप मानें, तो मनके वासना-समूहरूप होनेसे 'प्राक्तनं वासनाजालं किञ्चिदस्य न विद्यते ।' (यो० वा० ३।२।४१) यह कथन असङ्गत होगा, ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'एवमेव' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आपने जो ब्रह्माका मन शुद्ध पृथिवी आदिसे रहित कहा, वह वैसा ही प्रसिद्ध है । परन्तु इस विषयमें शङ्का यह होती है कि यदि पृथिवी आदिसे रहित मन ब्रह्मा है, यह सत्य है, तो जैसे आपके, मेरे, अन्य पुरुषके और पशु आदिके शरीरमें पूर्वस्मृति कारण है वैसे ही ब्रह्माके शरीरमें पूर्वशरीरके त्यागके समय उत्पन्न स्मृति कारण क्यों नहीं है ? क्योंकि 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावम्' इत्यादि स्मृति है । यदि ब्रह्माके शरीरमें प्राक्तन स्मृति है, तो प्राक्तन संस्कार और देह आदिका, जो उसकी उत्पत्तिके आधार हैं, वारण नहीं किया जा सकता ॥ १,२ ॥

ठीक है, पूर्व देह आदिकी सिद्धि होनेपर उससे अनुभूतको विषय करनेवाली स्मृति ब्रह्माके शरीरमें कारण होगी, पर पूर्व शरीर आदिकी ही सिद्धि नहीं होती, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'पूर्व०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ब्रह्मणः प्राक्तनं कर्म यदा किञ्चिन्न विद्यते ।
प्राक्तनी संस्मृतिस्तस्य तदोदेति कुतः कथम् ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिसका पूर्व जन्मोंमें उपार्जित कर्मोंसे युक्त पूर्व शरीर है, इस जन्ममें उसीको संसारस्थितिकी कारणभूत स्मृति हो सकती है । जब कि ब्रह्माका प्राक्तन (पूर्वजन्ममें उपार्जित) कर्म तनिक भी नहीं है, तब उनको पूर्वजन्मकी स्मृति कहाँसे और कैसे होगी ?

शङ्का—'तद्धैतल्लोकजिदेव' (वह यह प्राणदर्शन कर्मरहित यानी केवल भी लोकका साधन ही होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे और 'जैसा सङ्कल्पवाला इस लोकमें पुरुष होता है वैसा ही वह यहांसे मरकर होता है, ऐसी व्यवस्था देखी गई है ऐसा जाननेवाला पुरुष क्रतु (अविचल अध्यवसाय) करे ।' यों श्रुतिमें प्रदर्शित तत्क्रतुन्यायसे यह प्रसिद्ध है कि हिरण्यगर्भका पद कर्म और उपासनाके समुच्चयका फल है, फिर हिरण्यगर्भकी प्राक्तन देहकी वासनाएँ नहीं हैं, यह कथन तथा हिरण्यगर्भका मनोमय देह पृथिव्यादिमय नहीं है, यह कथन कैसे घट सकता है ? क्योंकि 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य, मन अन्नका विकार है) इत्यादि मनको विकार कहनेवाली श्रुतिसे और 'मन अपञ्चीकृतभूतकार्य है' इस सिद्धान्तसे भी विरोध होता है ।

समाधान—ठीक है, अज्ञानीकी दृष्टिसे ही पूर्व देहकी वासनाओंकी एवं मनकी अन्नमयताकी प्रतीति होती है । परन्तु 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति' (जब मुझसे अन्य कोई नहीं है तब मैं किससे डरूँ), 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ।' (जिस प्रजापतिका अप्रतिबद्ध ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वाभाविक है) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध उसकी तत्त्वदृष्टिसे तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् प्रपञ्च न था, न है और न होगा यों जगत्का त्रैकालिक बाध होनेके कारण उसमें पूर्व देहकी वासना नहीं है, यह कहा गया है । बाधितकी अनुवृत्ति होती है, इस पक्षमें तो मनमें और मनोमय ब्रह्माके शरीरमें, जले हुए वस्त्रमें तन्तुमयताके समान पृथिव्यादिमयता पूर्वकी नाईं नहीं है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । जब अबाधित अज्ञमनके संकल्पसे जनित नगर आदिकी सत्यता या भौतिकता नहीं है, तब तत्त्वज्ञानसे बाधित तथा अनुवृत्त ब्रह्माके मनके संकल्पसे उत्पन्न विश्वकी सत्यता तथा भौतिकता नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस अभिप्रायसे आगे कहे जानेवाले जगत्के मिथ्यात्वमें उपायभूत होनेके

तस्मादकारणं भाति वा स्वचित्तैककारणम् ।
स्वकारणादनन्यात्मा स्वयम्भूः स्वयमात्मवान् ॥ ५ ॥
आतिवाहिक एवाऽसौ देहोऽस्त्यस्य स्वयंभुवः ।
न त्वाधिभौतिको राम देहोऽजस्योपपद्यते ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

आतिवाहिक एकोऽस्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः ।
सर्वासां भूतजातीनां ब्रह्मणोऽस्त्येक एव किम् ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम् ।
अजस्य कारणाभावादेक एवाऽऽतिवाहिकः ॥ ८ ॥

कारण तत्त्वदृष्टिका अवलम्बन कर ही प्राक्तन देहकी वासनाओंका अपलाप किया गया है, अज्ञकी दृष्टिका अनुवाद करनेवाली उपासनाके फलकी प्रतिपादिका श्रुतिके अनुसार पूर्वदेहकी वासनाओंका अपलाप नहीं किया गया है, यह भाव है ॥३,४॥

इसलिए ब्रह्माका शरीर पृथिवी आदि कारणसे शून्य है अथवा जीवका चित्त ही उसका एकमात्र कारण है। वह अपने कारण चिद्घन परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न, स्वयम्भू और स्वयं आत्मरूप है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, इस स्वयम्भू ब्रह्माकी आतिवाहिक ही * देह है, अजन्माकी आधिभौतिक (स्थूल भूतोंसे उत्पन्न) देह हो ही नहीं सकती ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सम्पूर्ण भूतोंके (प्राणियोंके) एक आतिवाहिक और दूसरा आधिभौतिक यों दो शरीर हैं, किन्तु ब्रह्माका केवल आतिवाहिक ही शरीर क्यों है ? ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, कारणयुक्त (पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न देह आदिसे युक्त) सभी प्राणियोंके आतिवाहिक और आधिभौतिक ये दो शरीर हैं, कारण न होनेसे (पञ्चीकृतभूतरूप कारण न होनेसे) अजन्मा हिरण्यगर्भका केवल एक आतिवाहिक ही शरीर है ॥ ८ ॥

---

* अतिवहनमें—अर्चिरादि तथा धूमादि मार्गसे अन्य लोकमें पहुँचानेमें—दक्ष, हम लोगोंके लिङ्ग शरीरके सदृश, शरीर आतिवाहिक है ।

सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम् ।
अजस्य कारणं नाऽस्ति तेनाऽसावेकदेहवान् ॥ ९ ॥
नाऽस्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः ।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥ १० ॥
चित्तमात्रशरीरोऽसौ न पृथ्व्यादिक्रमात्मकः ।
आद्यः प्रजापतिर्व्योमवपुः प्रतनुते प्रजाः ॥ ११ ॥
ताश्च चिद्व्योमरूपिण्यो विनाऽन्यैः कारणान्तरैः ।
यद्यतस्तत्तदेवेति सर्वैरेवाऽनुभूयते ॥ १२ ॥
निर्वाणमात्रं पुरुषः परो बोधः स एव च ।
चित्तमात्रं तदेवाऽऽस्ते नाऽऽयाति वसुधादिताम् ॥ १३ ॥

इसी बातको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—'सर्वासाम्' इत्यादिसे ।

एक अज (हिरण्यगर्भ) सम्पूर्ण भूतोंका परम कारण है । उसका कोई कारण नहीं है, इससे वह आतिवाहिकरूप एक देहवाला है, आतिवाहिक और आधिभौतिकरूप दो देहोंवाला नहीं है ॥ ९ ॥

प्रथम प्रजापतिका (ब्रह्माका) भौतिक शरीर नहीं है । भौतिक शरीर न होनेसे इसका केवल आतिवाहिक ही शरीर है, अतः वह केवल चिदाकाशस्वरूप है, कारण कि आरोपित पदार्थका अधिष्ठानसे अतिरिक्त स्वरूप नहीं होता ॥ १० ॥

यों उसके संकल्पसे कल्पित जगत् भी उसका अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्र ही है, यह अर्थात् सिद्ध हुआ, यों कहनेकी इच्छासे कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

हे रामजी, पृथिवी आदिसे शून्य, संकल्पमात्रशरीर चिदाकाशरूप आदि प्रजापतिने विविध प्रजाओंकी सृष्टि की । वे प्रजा ब्रह्माके संकल्पसे अतिरिक्त कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुई हैं, अतः वे भी चिदाकाशस्वरूप हैं । जिस उपादान कारणसे जो उत्पन्न हुआ है वह तद्रूप ही होता है, यह बात कनककुण्डल आदिमें सभीके द्वारा अनुभूत है । यों जगत्की ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह भाव है ॥ ११,१२ ॥

इससे जीवकी भी ब्रह्ममात्रता सिद्ध हुई, यह कहते हैं—'निर्वाणमात्रम्' इत्यादिसे ।

चूँकि चित्तोपाधि जीव चित्तभ्रान्तिसे चित्तमात्र होकर भी परमार्थरूपसे निर्वाण-मात्र परमबोधरूप चिदाकाश ही है, इसलिए वह भौतिक पुरुषताको प्राप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वेषां भूतजातानां संसारव्यवहारिणाम् ।
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेहः स्वतोदयः ॥ १४ ॥
अस्मात्पूर्वात्प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी ।
इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवाऽनिलात् ॥ १५ ॥
प्रतिभानाकृतेरस्मात् प्रतिभामात्ररूपधृक् ।
विभात्येवमयं सर्गः सत्यानुभववान् स्थितः ॥ १६ ॥
दृष्टान्तोऽत्र भवत्स्वप्नस्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ।
असदप्यर्थसम्पत्त्या सत्यानुभवभासुरम् ॥ १७ ॥
अपृथ्व्यादिमयो भाति व्योमाकृतिरदेहकः ।
सदेह इव भूतेशः स्वात्मभूः पुरुषाकृतिः ॥ १८ ॥

संकल्प शरीर यह ब्रह्मा संसारमें व्यवहार करनेवाले सम्पूर्ण भूतोंमें पहला प्रतिस्पन्द है, इसीसे ही अहंभावका उदय हुआ है ॥ १४ ॥

इस प्रथम प्रतिस्पन्दसे अभिन्नस्वरूपवाली (इससे उत्पन्न स्थूल प्रपञ्चके एतद्रूप होनेसे अभिन्न स्वरूपवाली) यह सृष्टि वायुसे स्पन्दकी सृष्टिकी नाईं फैली हुई है ॥ १५ ॥

यह दृश्यमान सृष्टि प्रातिभासिक आकारवाले ब्रह्मासे उत्पन्न है, अतः प्रातिभासिकरूप है, फिर भी लोगोंकी दृष्टिमें सत्यरूपसे प्रतीत होती है। अथवा परमार्थरूपसे चिन्मात्र आकारवाले ब्रह्मासे उत्पन्न चिन्मात्र आकारको धारण करती हुई भी यह सृष्टि जड़रूपसे प्रतीत होती है। असद् वस्तु जो सत्यरूपसे प्रतीत होती है, उसमें दृष्टान्त है—स्वप्नके अन्दर हुए दूसरे स्वप्नमें स्त्रीका समागम। जैसे स्वप्नमें स्त्रीसमागमका यदि स्वप्न देखा जाय, तो उससे धातुपात होता है, वैसे ही व्यवहार और प्रयोजनकी सिद्धिकी दृष्टिसे असत्य पदार्थमें सत्यतुल्य व्यवहार हो सकता है। अतएव स्वप्नमें स्त्रीसमागम-स्वप्नके सर्वथा असत्य होनेपर उससे जैसे सत्यके समान प्रयोजन निष्पन्न होता है, वैसे ही प्रतिभासमात्र आकारवाले ब्रह्मासे उत्पन्न प्रतिभासरूपी यह सृष्टि भी सत्यके तुल्य प्रयोजनको सिद्ध करती है ॥ १६, १७ ॥

जिसका शरीर पृथिवी आदिमय नहीं है और जो चिदाकाशरूप एवं शरीररहित है, वह भूतोंका अधिपति ब्रह्मा भ्रान्तिवश पुरुषाकृति एवं सदेह-सा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

संवित्सङ्कल्परूपत्वात् नोदेति समुदेति च।
स्वायत्तत्वात्स्वभावस्य नोदेति न च शाम्यति ॥ १९ ॥
ब्रह्मा सङ्कल्पपुरुषः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः।
केवलं चित्तमात्रात्मा कारणं त्रिजगत्स्थितेः ॥ २० ॥
सङ्कल्प एष कचति यथा नाम स्वयंभुवः।
व्योमात्मैष तथा भाति भवत्सङ्कल्पशैलवत् ॥ २१ ॥
आतिवाहिकमेवाऽन्तर्विस्मृत्या दृढरूपया।
आधिभौतिकबोधेन मुधा भाति पिशाचवत् ॥ २२ ॥

ब्रह्माके दो रूप हैं—एक संवित्-रूप जो कि पारमार्थिक है और दूसरा संकल्परूप जो भ्रान्तिसे है। यों संवित् और संकल्परूप ब्रह्मा परमार्थरूपसे उदित नहीं होता और भ्रान्तिसे उदित होता है। स्वरूपस्थिति जगत्की सत्ताके समान अविद्याके अधीन नहीं है, इसलिए न तो उसका उदय होता है और न विनाश ही ॥ १९ ॥

संकल्पपुरुष पृथिवीसे रहित आकारवाला केवल चित्तमात्रशरीर ब्रह्मा ही तीनों जगतोंकी स्थितिका कारण है। उक्त ब्रह्माका यह संकल्प प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जिस जिस प्रकारसे विकासको प्राप्त होता है, जैसे कि आपका मन पर्वतके आकारको प्राप्त होता है, वैसे ही यह चैतन्यात्मा उसी प्रकारसे प्रतीत होता है। भाव यह कि जब मन पर्वतभावमें होता है, तब पर्वताकार प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्माका संकल्प प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जब जिस प्रकारसे विकसित होता है तब चिदात्मा वैसा प्रतीत होता है ॥ २०,२१ ॥

यदि ऐसा है, तो सब पदार्थोंमें संकल्पमय पर्वतसे विलक्षण आधिभौतिकत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदिका अनुभव कैसे होता है? इसपर कहते हैं—**'आतिवाहिकम्'** इत्यादिसे।

अपने स्वरूपके दृढ़ विस्मरण और आतिवाहिक भावके विस्मरणसे आतिवाहिक ही सर्वथा असत्य पिशाचकी नाईं आधिभौतिकरूपसे प्रतीत होता है। जैसे कि पिशाच वास्तवमें सर्वथा असत् होता हुआ भी भ्रमवश आकारवान्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही लोगोंको स्वरूपकी दृढ़ विस्मृतिसे आतिवाहिक ही आधिभौतिकरूपसे प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

इदं प्रथमतोद्योगसंप्रबुद्धं महाचितेः ।
नोदेति शुद्धसंविच्वादातिवाहिकविस्मृतिः ॥ २३ ॥
आधिभौतिकजा तेन नाऽस्योदेति पिशाचिका ।
असत्या मृगतृष्णेव मिथ्याजाड्यभ्रमप्रदा ॥ २४ ॥
मनोमात्रं यदा ब्रह्मा न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।
मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि ॥ २५ ॥
अजस्य सहकारीणि कारणानि न सन्ति यत् ।
तज्जस्याऽपि न सन्त्येव तानि तस्मात्तु कानिचित् ॥ २६ ॥
कारणात्कार्यवैचित्र्यं तेन नाऽत्राऽस्ति किञ्चन ।
यादृशं कारणं शुद्धं कार्यं तादृगिति स्थितम् ॥ २७ ॥

तब तो ब्रह्माको भी, हम लोगोंकी नाईं, आतिवाहिकभाव विस्मृत क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह ब्रह्माका रूप मायाशबल ब्रह्मकी प्रथमता (सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्चकी अपेक्षा कारणभूत सूक्ष्मभूतता) है, सत्यसंकल्प होनेके कारण उनमें स्वसंकल्पसे वैसे ही प्रत्यक्ष आविर्भूत रहता है, अतः अन्धकारसे आच्छादित न होनेके कारण शुद्ध संवित्‌रूप प्रजापतिको आतिवाहिकभावकी विस्मृति नहीं होती ॥ २३ ॥

इसलिए ब्रह्माको आधिभौतिकसे उत्पन्न हुई मृगतृष्णाके समान असत्य जड़तारूपी भ्रम देनेवाली पिशाचिका उत्पन्न नहीं होती ॥ २४ ॥

जब ब्रह्मा ही मनोमात्र है, पृथिवी आदिमय नहीं है, तब उससे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमात्र ही है, जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है, यह न्याय प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

इस प्रकार 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, अन्नरूप कार्यसे कारण जलको खोजो) इस श्रुतिमें प्रदर्शित न्यायसे जगत् मनोमात्र है और मन ब्रह्ममात्र है, इस प्रकार ब्रह्माद्वैत फलित हुआ, ऐसा कहते हैं—'अजस्य' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

चूँकि अजके सहकारी कारण नहीं हैं, इसलिए उससे उत्पन्न हुए विश्वके भी कोई सहकारी कारण नहीं हैं । यहाँपर कारणसे कार्यमें कोई भी वैचित्र्य नहीं है, इसलिए जैसा शुद्ध कारण है, वैसा कार्य भी शुद्ध ही है, ऐसा निश्चित हुआ ॥ २६, २७ ॥

कार्यकारणता ह्यत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्रयम् ॥ २८ ॥
मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत् ।
अनन्यादात्मनः शुद्धाद्द्रवत्वमिव वारिणः ॥ २९ ॥
मनसा तन्यते सर्वमसदेवेदमाततम् ।
यथा सङ्कल्पनगरं यथा गन्धर्वपत्तनम् ॥ ३० ॥
आधिभौतिकता नाऽस्ति रज्ज्वामिव भुजङ्गता ।
ब्रह्मादयः प्रबुद्धास्तु कथं तिष्ठन्ति तत्र ते ॥ ३१ ॥
आतिवाहिक एवाऽस्ति न प्रबुद्धमतेः किल ।
आधिभौतिकदेहस्य वार्ता वाऽत्र कुतः कथम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार भेदक न होनेके कारण कार्यकारणभावके न होनेसे जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

इस विश्वमें कार्यकारणताकी तनिक भी उपपत्ति नहीं होती । जैसा परब्रह्म है, ठीक वैसे ही तीनों जगत् हैं ॥ २८ ॥

द्रवत्वसे अभिन्न स्वरूपवाले जलसे जैसे द्रवत्वका विस्तार होता है, वैसे ही मनोरूपताको प्राप्त हुए ब्रह्मा द्वारा जगत्से अभिन्न शुद्ध आत्मासे जगत्का विस्तार किया जाता है ॥ २९ ॥

जैसे असत् ही सङ्कल्पनगरकी मनसे कल्पना होती है और जैसे असत् ही गन्धर्वनगरकी मनसे कल्पना होती है, वैसे ही यह असत्‌रूप समस्त विश्व केवल मनसे ही कल्पित है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जगत्के ही बाधित होनेपर तत्त्वज्ञोंको देह आदिमें आधिभौतिकत्वकी प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'आधिभौतिकता' इत्यादिसे ।

जैसे तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें रस्सीमें सर्पता नहीं है, वैसे ही इस जगत्में आधिभौतिकता नहीं है । फिर प्रबुद्ध वे ब्रह्मा आदि आधिभौतिक देह आदिमें कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् उनके आधिभौतिक देह आदि नहीं हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ३१ ॥

कैमुतिकन्यायसे भी उक्त अर्थको ही दृढ़ करते हैं—'आतिवाहिक' इत्यादिसे ।

मनोनाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः ।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् ॥ ३३ ॥
मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि सङ्कल्पनात्मकम् ।
स्ववपुः स्फारतां नीत्वा मनसेदं वितन्यते ॥ ३४ ॥
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः ।
पृथ्व्यादि विद्यते नाऽत्र तेन पृथ्व्यादि कल्पितम् ॥ ३५ ॥
पद्माक्षे पद्मिनीवाऽन्तर्मनोहृद्यस्ति दृश्यता ।
मनोदृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित् ॥ ३६ ॥
यथा चाऽत्र तव स्वप्नः सङ्कल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टाऽन्तस्तस्माद्धृद्यस्ति दृश्यभूः ॥ ३७ ॥

ज्ञानीका आतिवाहिक (प्रातिभासिक) भी शरीर नहीं है, फिर उसकी आधिभौतिक देहका कथन कैसे हो सकता है ॥ ३२ ॥

ब्रह्माके आकारको धारण करनेवाले मननामक मनुष्यका मनोराज्य यह जगत् सत्यरूप-सा स्थित है । मन ही ब्रह्मा है, वह सङ्कल्पात्मक अपने शरीरको विपुल बनाकर मनसे इस जगत्की रचना करता है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा मनःस्वरूप है और मन ब्रह्मस्वरूप है, मनमें पृथिवी आदि नहीं हैं । मनसे पृथिवी आदि आत्मामें अध्यस्त हैं । कमलगट्टेके अन्दर कमलकी लताके समान हृदयके अन्दर सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ विद्यमान हैं । [यदि कोई कहे कि पहले श्लोकसे मनमें पृथिवी आदि नहीं हैं, ऐसा कहा और इस श्लोकसे मनमें दृश्य पदार्थ हैं, ऐसा कहा, यों परस्पर विरुद्ध कैसे कहते हैं, तो इसपर कहते हैं—'मनोदृश्य०' इत्यादिसे] चूँकि मन और दृश्य तथा इन दोनोंका द्रष्टा अर्थात् साक्षीभूत आत्मा—इन दोनोंका विवेक (पार्थक्य) किसीने कभी नहीं किया । जबतक उनका विवेक न किया जाय, तबतक अज्ञानका उच्छेद न होनेसे मनमें दृश्यवर्ग है ही, इसलिए ऐसा कहा है । अथवा मन और दृश्यदर्शन—इन दोनोंका अभी उच्छेद नहीं हुआ है, इसलिए वैसा कहा गया है । निष्कर्ष यह निकला कि मनका उच्छेद ही दृश्यदर्शनका उच्छेद है ॥ ३५,३६ ॥

जैसे आपके हृदयमें मनोराज्यबुद्धि अपने अनुभवसे ही देखी गई है और जैसे स्वप्न तथा सङ्कल्प आपके हृदयमें अपने अनुभवसे ही देखे गये हैं, वैसे ही आपके हृदयमें दृश्यभू (दृश्यवर्ग) है ॥ ३७ ॥

तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा ।
विनिहन्त्येवमेषाऽन्तर्द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥ ३८ ॥
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥ ३९ ॥
सच्चेन्न शाम्यति कदाचन दृश्यदुःखं
दृश्ये त्वशाम्यति न बोद्धरि केवलत्वम् ।
दृश्ये त्वसंभवति बोद्धरि बोद्धृभावः
शाम्येत्स्थितोऽपि हि तदस्य विमोक्षमाहुः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
बन्धहेतुवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित पिशाच बालकको मार देता है, वैसे ही दृश्यरूपिणी रूपिका (पिशाची) इस द्रष्टाको मार देती है यानी स्वरूपसे भ्रष्ट कर देती है ॥ ३८ ॥

यदि सम्पूर्ण दृश्य हृदयमें है, तो अभी सबको उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे बीजके भीतर स्थित अङ्कुर देश और कालसे अपनेको प्रकाशित करता है, वैसे ही दृश्यबुद्धि भी देश और कालसे अपने स्वरूपको प्रकाशित करती है ॥३९॥

यदि कोई कहे कि महान् प्रयाससे दृश्यका मिथ्यात्व क्यों सिद्ध करते हो ? उसके सत्य होनेपर क्या क्षति है ? इसपर कहते हैं—'सच्चेत्' इत्यादिसे ।

यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो, तो उसकी कभी शान्ति नहीं होगी, दृश्यकी यदि शान्ति नहीं होगी, तो बोद्धामें केवलत्वकी (मोक्षकी) सिद्धि नहीं होगी । दृश्यका अभाव होनेपर बोद्धामें बोद्धृभाव स्थित भी हो, तो भी वह निवृत्त हो जाता है, फिर मिथ्याभूतकी निवृत्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है ? बोद्धाकी केवलताको ही विमोक्ष कहते हैं ॥ ४० ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चतुर्थः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके ।
श्रोतुमेकरसे जाते जने मौनमुपस्थिते ॥ १ ॥
शान्तेषु किङ्किणीजालरवेषु स्पन्दनं विना ।
पञ्जरान्तरहारीतशुकेष्वप्यस्तकेलिषु ॥ २ ॥
सुविस्मृतविलासासु स्थितासु ललनास्वपि ।
चित्रभित्ताविव न्यस्ते समस्ते राजसद्मनि ॥ ३ ॥
मुहूर्तशेषमभवद् दिवसं मधुरातपम् ।
व्यवहारा रविकरैः सह तानवमाययुः ॥ ४ ॥
ववुरुत्फुल्लकमलप्रकरामोदमांसलाः ।
वायवो मधुरस्पन्दाः श्रवणार्थमिवाऽऽगताः ॥ ५ ॥

चौथा सर्ग

[मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीके उपदेशको सुननेके उपरान्त सभाका विसर्जन, रात्रिका कृत्य, प्रात काल पुन. सभामें आगमन तथा चित्तके स्वभावका वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—वत्स भरद्वाज, जब कि महामुनि श्रीवसिष्ठजी अपनी ज्ञानगर्भित एवं उत्कृष्ट वाणीसे यों उपदेश दे रहे थे, उनके उपदेशको सुननेके लिए सब लोग एकाग्रचित्त और मौन साधे थे। उपदेश सुननेमें सब लोग ऐसे लीन हो रहे थे कि किसीका कोई अवयव हिलता डुलता ही न था, अतएव आभूषणोंमें लगे हुए घुघुरुओंका शब्द शान्त था; पिंजड़ेमें बैठे सुग्गे, कबूतर आदि पक्षियोंने भी अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा (चहकना आदि) छोड़ दी थी। विलासपरायण रमणियाँ अपने हाव, भाव आदि विलासोंको भूलकर प्रस्तर-प्रतिमाओंकी नाईं बैठी थीं। राजभवनमें रहनेवाले सभी प्राणी चित्रभित्तिमें लिखे हुए चित्रकी नाईं निश्चल होकर बैठे थे। केवल दो घड़ी दिन शेष रह गया था, उस समयका घाम बड़ा भला लगता था। जैसे-जैसे सूर्यकी किरणें कम होती जातीं थीं वैसे-वैसे लोग भी अपना दैनिक कामकाज कम कर रहे थे। मानो महर्षिके उपदेशको सुननेके लिए आई हुई, विकसित कमलोंकी सुगन्धिसे

श्रुतं चिन्तयितुं भानुरिवाऽह्नोरचनाभ्रमम् ।
तत्याजैकान्तमगमच्छून्यमस्तगिरेस्तटम् ॥ ६ ॥

उत्तस्थुर्मिहिकारम्भसमता वनभूमिषु ।
विज्ञानश्रवणादन्तःशीतलाः शान्तता इव ॥ ७ ॥

बभूवुरल्पसञ्चारा जना दशसु दिक्ष्वपि ।
सावधानतया श्रोतुमिव संत्यक्तचेष्टिताः ॥ ८ ॥

छायादीर्घत्वमाजग्मुर्वासिष्ठं वचनक्रमम् ।
इव श्रोतुमशेषाणां वस्तूनां दीर्घकन्धराः ॥ ९ ॥

प्रतीहारः पुरः प्रह्वो भूत्वाऽऽह वसुधाधिपम् ।
देवस्नानद्विजार्चासु कालो व्यतिगतो भृशम् ॥ १० ॥

ततो वसिष्ठो भगवान् संहृत्य मधुरां गिरम् ।
अद्य तावन्महाराज श्रुतमेतावदस्तु वः ॥ ११ ॥

सराबोर, मन्द-मन्द सायङ्कालकी शीतल वायु बह रही थी। महर्षिजीसे जो उपदेश सुना था, मानो उसको मननपूर्वक खूब अभ्यस्त करनेके लिए सूर्य दिनकी रचनाके लिए स्वीकृत अपने भ्रमणका परित्याग कर जनशून्य एकान्त अस्ताचलके शिखरको चले गये थे। ज्ञानगर्भित उपदेशके सुननेसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणको शीतल करनेवाली शान्तिके समान वनभूमियोंमें तुषारपातसे अविषमता हो गई थी। भाव यह कि तुषार गिरनेसे सम्पूर्ण वनभूमियाँ सम हो गईं। दसों दिशाओंमें लोगोंका आना जाना बहुत कम हो गया था मानों लोगोंने महामुनिके उपदेशको सुननेके लिए अपने और सम्पूर्ण व्यापार छोड़ दिये थे ॥१–८॥

उस समय सभी वस्तुओंकी छाया लम्बी हो गई जिससे मालूम होता था कि सभी वस्तुओंकी छाया अपनी गर्दन ऊँची कर मानो श्रीवसिष्ठजीके उपदेशको सुन रही हैं ॥९॥

इसी समय द्वारपाल सभामें आकर बड़े विनम्रभावसे महाराज दशरथसे बोला—देव, स्नान, ब्राह्मणपूजा आदिका समय बहुत बीत चुका है ॥ १० ॥

तदुपरान्त श्रीवसिष्ठजीने अपनी मधुर वाणीका उपसंहार कर महाराजसे कहा—महाराज, आज आप लोग इतना ही सुनिए; शेष कल प्रातःकाल कहूँगा,

प्रातरन्यद्वदिष्यामि इत्युक्त्वा मौनवानभूत् ।
इत्याकर्ण्यैवमस्तूक्त्वा भूपतिर्भूतिवृद्धये ॥ १२ ॥
पुष्पपाद्यार्घसन्मानदक्षिणादानपूजया ।
सदेवर्षिमुनीन्विप्रान्पूजयामास सादरम् ॥ १३ ॥
अथोत्तस्थौ सभा सर्वा सराजमुनिमण्डला ।
मण्डलाकीर्णरत्नौघपरिवेषावृताननां ॥ १४ ॥
परस्पराङ्गसङ्घट्टरणत्केयूरकङ्कणा ।
हारभाराहतस्वर्णपट्टाभोरुस्तनान्तरा ॥ १५ ॥
शेखरोत्सङ्गविश्रान्तप्रबुद्धमधुपस्वनैः ।
सघुङ्घुमशिरोभारा वदद्भिरिव मूर्द्धजैः ॥ १६ ॥
काञ्चनाभरणोद्योतकनकीकृतदिङ्मुखाः ।
बुद्धिस्थमुनिवागर्थसंशान्तेन्द्रियवृत्तयः ॥ १७ ॥
जग्मुर्नभश्चरा व्योम भूचरा भूमिमण्डलम् ।
चक्रुर्दिनसमाचारं सर्वे ते स्वेषु सद्मसु ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर वे मौन हो गये । उनके वचनको सुनकर राजाने 'तथास्तु' कहकर अपने ऐश्वर्यकी वृद्धिकी कामनासे पुष्प, पाद्य, अर्घ, दक्षिणादान और यथायोग्य सम्मान द्वारा आदरपूर्व देवता, ऋषि और मुनियोंके साथ साथ सम्पूर्ण ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ११–१३ ॥

तदुपरान्त राजवृन्द और मुनिमण्डलीके साथ सारी सभा उठ खड़ी हुई । निःस्पृह मुनियोंने राजा द्वारा दिये गये बहुमूल्य रत्नोंकी उपेक्षा कर दी थी, अतएव वे मण्डलाकार इधर उधर बिखरे थे । उनकी प्रभाकी परिधिसे सब लोगोंके मुखमण्डल आवृत थे । परस्परके अङ्गोंकी धक्काधुक्कीसे लोगोंके बाजूबन्द और कड़े ठनक रहे थे । सब लोगोंके वक्षःस्थल और स्तनान्तर हार तथा सुवर्णजटित रेशमी वस्त्रोंकी कान्तिसे विभूषित थे । बोल रहे केशोंके सदृश शेखर (सिरमें तिरछी पहनी गई माला) के मध्यमें पहले विश्रान्त और इस समय प्रबुद्ध भँवरोंकी मधुर ध्वनिसे लोगोंका सिर 'घुं घुं' शब्दवाला हो रहा था । सुवर्णके आभूषणोंकी कान्तिसे लोगोंने दिशाओंको सुवर्णमय बना दिया था । चित्तमें स्थित महामुनिकी वाणीके अर्थसे सबकी चित्तवृत्तियाँ शान्त थीं । उन सभ्योंमें से जो

एतस्मिन्नन्तरे श्यामा यामिनी समदृश्यत ।
जनसङ्गाद्विनिर्मुक्ता गृहे बालाङ्गना यथा ॥ १९ ॥
देशान्तरं भासयितुं ययौ दिवसनायकः ।
सर्वत्राऽऽलोककर्तृत्वमेव सत्पुरुषव्रतम् ॥ २० ॥
उदभूदभितः सन्ध्या तारानिकरधारिणी ।
उत्फुल्लकिंशुकवना वसन्तश्रीरिवोदिता ॥ २१ ॥
चूतनीपकदम्बाग्रग्रामचैत्यगृहोदरे ।
निलिल्यिरे खगाश्चित्तेऽवदाता वृत्तयो यथा ॥ २२ ॥
भानोर्भासा भूषितैर्मेघलेशैः किञ्चित्किञ्चित्कुङ्कुमच्छाययेव ।
पाश्चात्योऽद्रिः पीतवासाः समेघैस्ताराहारः श्रीयुतः खं समेतः ॥२३॥

आकाशचारी थे, वे आकाशको गये और भूलोकवासी थे वे भूमिमें गये। सबने अपने-अपने घरोंमें जाकर दैनिक कृत्य किये ॥ १४–१८ ॥

इसी बीचमें जैसे यौवनमध्यस्था नारी जनकोलाहलके निवृत्त होनेपर धीरे-धीरे पतिगृहमें गई हुई दिखलाई देती है, वैसे ही जनसम्पर्कसे शून्य काली रात्रि दिखाई दी। श्रीसूर्य भगवान् अन्य देशको प्रकाशित करनेके लिए चले गये, कारण कि सर्वत्र प्रकाश करना ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ १९,२० ॥

फूले हुए पलाशके वनोंसे पूर्ण वसन्तशोभाके समान उदित हुई तारागणोंको धारण करनेवाली सन्ध्या चारों ओरसे उद्भूत हो गई। जैसे निर्मल चित्तवृत्तियाँ निद्रासे आवृत चित्तमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही पक्षी आम, कदम्ब आदि वृक्षोंकी चोटियोंमें तथा ग्रामके मन्दिरों और घरोंमें लीन हो गये ॥ २१,२२ ॥

कुछ-कुछ, केसरकी कान्तिके समान सुनहली सूर्यकी कान्तिसे सुशोभित मेघखण्डरूपी पीले वस्त्रवाला तारारूपी हार तथा श्रीसे युक्त पूर्वोक्त अस्ताचल सूर्यकी कान्तिसे विभूषित मेघोंसे युक्त एवं हार और श्रीसे युक्त अतएव समानधर्मवाले आकाशमें प्रविष्ट हो गया। जैसे पीतवस्त्रधारी हार और लक्ष्मीसे युक्त श्रीविष्णु भगवान् आवरणरहित तथा अपने अनुरूप ध्यान करनेवाले जनोंके हृदयाकाशमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही अस्ताचलने भी आकाशमें प्रवेश किया। समासोक्तिसे यह भी प्रतीत होता है कि सन्ध्याके समय भगवान्‌का ध्यान करना श्रेष्ठ है ॥२३॥

पूजामादाय सन्ध्यायां प्रगतायां यथागतम् ।
अन्धकाराः समुत्तस्थुर्वेताला वपुषा यथा ॥ २४ ॥
अवश्यायकणास्पन्दी हेलाविधुतपल्लवः ।
कोमलः कुमुदाशंसी ववावाशीतलोऽनिलः ॥ २५ ॥
परमान्ध्यमुपाजग्मुर्दिशोऽविस्फुटतारकाः ।
लम्बदीर्घतमःकेश्यो विधवा इव योषितः ॥ २६ ॥
आययौ भुवनं तेजःक्षीरपूरेण पूरयन् ।
रसायनमयाकारः शशिक्षीरार्णवो नभः ॥ २७ ॥
जग्मुस्तिमिरसङ्घाताः पलाय्य क्वाऽप्यदृश्यताम् ।
श्रुतज्ञानगिरश्चित्तान्महीपानामिवाऽज्ञताः ॥ २८ ॥
ऋषयो भूमिपालाश्च मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
चेतसीव विचित्रार्थाः स्वास्पदेषु विशश्रमुः ॥ २९ ॥

सन्ध्यादेवीके पूजा लेकर चले जानेपर मूर्तिमान् वेतालोंकी भाँति भीषण अन्धकार चारों ओर छा गया। तुषारकणवाही, वृक्षोंके कोमल-कोमल पत्तोंको अनायास हिलाता हुआ और चारों ओर आस-पास विकसित कुमुदोंको सूचित करता हुआ मन्द, सुगन्ध और शीतल पवन बहने लगा। चारों ओर व्याप्त निबिड़ अन्धकाररूपी केशोंसे युक्त, कुहरेसे आच्छन्न होनेके कारण नक्षत्रोंकी स्पष्ट प्रतीतिसे रहित और सूर्यरूपी पतिके अस्त हो जानेके कारण विधवा दिशाएँ लम्बायमान और गाढ़ अन्धकारके समान काले केशवाली तथा सदा रोनेके कारण जिनके नेत्रकी तारिका स्फुट नहीं है, ऐसी विधवा स्त्रियोंके समान परम अन्धकार (निपट अन्धेपन) को प्राप्त हो गई ॥ २४–२६ ॥

तदुपरान्त चाँदनीरूपी दूधके प्रवाहसे सम्पूर्ण भुवनको लबालब भर रहा अमृतमयमूर्ति चन्द्रमारूपी क्षीरसागर आकाशमें आया। जैसे राजाओंके चित्तसे, जिसने ज्ञानगर्भित उपदेशवाणियाँ सुनी थीं, अज्ञता भागकर कहीं चली गई वैसे ही चन्द्रोदयसे गाढ़ अन्धकारकी राशियां भाग कर कहीं अदृश्य हो गई। जैसे श्रीवसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट विचित्र अर्थोंने श्रोताओंके चित्तमें विश्राम लिया वैसे ही सम्पूर्ण ऋषि, मुनि, ब्राह्मण और राजाओंने अपने-अपने निवास-स्थानोंमें विश्राम किया ॥ २८–२९ ॥

यमकायोपमा श्यामा ययौ तिमिरमांसला ।
आययौ मिहिकास्फारा तत्र तेषामुषः शनैः ॥ ३० ॥

अन्तर्धानमुपाजग्मुस्तारा नभसि भासुराः ।
प्रभातपवनेनेव हृताः कुसुमवृष्टयः ॥ ३१ ॥

दृश्यतामाजगामाऽर्कः प्रभोन्मीलितलोचनः ।
विवेकवृत्तिर्महतां मनसीव नवोदिता ॥ ३२ ॥

भानोर्भासा भूषितैर्मेघलेशैः किञ्चित्किञ्चित्कुङ्कुमच्छाययेव ।
पूर्वक्ष्माभृत्पीतवासाः समेघैस्ताराहारः श्रीयुतः खं समेतः ॥ ३३ ॥

सभां पुनरुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ।
ह्यस्तनेन क्रमेणैव कृतप्रातस्तनक्रमाः ॥ ३४ ॥

पूर्ववत्सन्निवेशेन विवेश सकला सभा ।
बभूवाऽस्पन्दिताकारा वातमुक्तेव पद्मिनी ॥ ३५ ॥

तदुपरान्त गाढ़ अन्धकारसे परिपूर्ण अतएव यमराज (काल) के शरीरके सदृश काली रात्रि चली गई और उनके निवासस्थानोंमें कुहरेसे सराबोर प्रातःकालने पदार्पण किया। आकाशमें देदीप्यमान तारे प्रातःकालके पवनसे हरी गई पुष्पवृष्टियोंकी नाई छिप गये और महात्माओंके मनमें नूतन उत्पन्न हुई विवेक-वृत्तिकी नाई अपनी कान्तिसे लोगोंके नयनोंको खोलनेवाले श्रीसूर्यभगवान्ने दर्शन दिये ॥ ३०–३२ ॥

केसरकी कान्तिके सदृश कुछ कुछ विचित्र सूर्यकी सुनहली किरणोंसे विभूषित मेघखण्डरूपी पीतवस्त्र धारण किया हुआ तथा ताराऱूपी हार और श्रीसे युक्त उदयाचल सूर्यकी अरुण कान्तिसे विभूषित मेघोंसे पीतवस्त्रवाले तथा तारारूपी हार और श्रीसे युक्त आकाशमें प्रविष्ट हो गया ॥ ३३ ॥

प्रातःकालका कृत्य समाप्त कर सभी स्वर्गवासी और भूलोकवासी अतीत दिनके ही क्रमसे फिर सभास्थानमें आये। जिस क्रमसे पूर्वदिन लोग बैठे थे उसी क्रमसे सारी सभा बैठी और जैसे वायुसे रहित पद्मोंसे पूर्ण तालाब निश्चल रहता है, वैसे ही वह सभा बातकी बातमें निश्चल और नीरव हो गई ॥३४,३५॥

अथ प्रसङ्गमासाद्य रामो मधुरया गिरा ।
उवाच मुनिशार्दूलं वसिष्ठं वदतांवरम् ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् मनसो रूपं कीदृशं वद मे स्फुटम् ।
यस्मात्तेनेयमखिला तन्यते लोकमञ्जरी ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

रामाऽस्य मनसो रूपं न किञ्चिदपि दृश्यते ।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथा शून्यजडाकृतेः ॥ ३८ ॥
न बाह्ये नाऽपि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
सर्वत्रैव स्थितं चैतद्विद्धि राम यथा नभः ॥ ३९ ॥
इदमस्मात् समुत्पन्नं मृगतृष्णाम्बुसन्निभम् ।
रूपं तु क्षणसङ्कल्पाद् द्वितीयेन्दुभ्रमोपमम् ॥ ४० ॥

तदुपरान्त कथाके प्रसंगका अवलम्बन कर श्रीरामचन्द्रजीने मधुर वाणीसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महामुनि श्रीवसिष्ठजीसे कहा ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, मनका स्वरूप कैसा है, यह मुझको बतलाइए, क्योंकि मनसे यह सम्पूर्ण लोकमञ्जरी बनी है ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शून्य और जड़ आकारवाले भूताकाशका नाममात्रके सिवा कोई रूप नहीं है, वैसे ही शून्य और जड़ आकारवाले इस मनका कोई भी रूप नहीं दिखाई देता । अतएव मनके कार्य सम्पूर्ण पदार्थोंमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित मिथ्यात्वकी उपपत्ति होती है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

मनकी आकाशतुल्यताका ही उपपादन करते हैं—'न' इत्यादिसे ।

हे रामजी, प्रस्तावित मन क्या बाहर और क्या हृदयमें कहींपर भी सद्रूपसे विद्यमान नहीं है। किञ्च, जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही इसको भी सर्वत्र स्थित जानो ॥ ३९ ॥

मृगतृष्णामें (प्यासे मृगोंको मरुस्थलमें सूर्यकी किरणोंमें) प्रतीत होनेवाले जलकी नाईं मिथ्या यह जगत् मनसे उत्पन्न हुआ है । इसका स्वरूप क्षणभरके संकल्पसे दूसरे चन्द्रमाके भ्रमकी नाईं भ्रमात्मक ही है अर्थात् भ्रमज्ञान ही उसका आकार है ॥ ४० ॥

मध्ये यदेतदर्थस्य प्रतिभानं प्रथां गतम् ।
सतो वाऽप्यसतो वाऽपि तन्मनो विद्धि नेतरत् ॥ ४१ ॥
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ।
अन्यन्न किञ्चिदप्यस्ति मनो नाम कदाचन ॥ ४२ ॥
सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते ।
यथा द्रवत्वात् सलिलं तथा स्पन्दो यथाऽनिलात् ॥ ४३ ॥
यत्र सङ्कल्पनं तत्र तन्मनोऽङ्ग तथा स्थितम् ।
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित् ॥ ४४ ॥
सत्यमस्त्वथवाऽसत्यं पदार्थप्रतिभासनम् ।
तावन्मात्रं मनो विद्धि तद्ब्रह्मैव पितामहः ॥ ४५ ॥

यद्यपि परमार्थरूपसे मन है ही नहीं, तथापि शास्त्रीय व्यवहारके लिए कल्पित उसका रूप कहते हैं—'**मध्ये**' इत्यादिसे ।

प्रत्यक्षस्थलमें सामने विद्यमान और स्मरण आदि परोक्षस्थलमें अविद्यमान पदार्थका जो दृश्यरूप-भान सब लोगोंको होता है, वही मन है । जो पदार्थका भान होता है, वही मन कहा जाता है, उससे अतिरिक्त मननामक कोई भी वस्तु कदापि नहीं है । भाव यह कि निराकार चित्का जो पदार्थाकार अध्यास है, वही मन है ॥ ४१, ४२ ॥

सामान्य वृत्तियोंसे उसका लक्षण कहकर असाधारण वृत्तिसे भी उसका लक्षण कहते हैं—'**सङ्कल्पनम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सङ्कल्पको ही आप मन जानिये । जैसे द्रवत्वसे जलका और जैसे वायुसे स्पन्दका भेद नहीं किया जा सकता । वैसे ही संकल्पसे मनका भेद नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥

उक्त बातको ही विषयभेदव्यवस्थाके प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं—'**यत्र**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिस विषयका संकल्प होता है, उसमें मन संकल्परूपसे स्थित रहता है, अर्थात् जो संकल्प है वही मन है । संकल्प और मनका कदापि किसीसे भेद नहीं किया गया है ॥ ४४ ॥

यदि कोई कहे कि चित्से संवलित वृत्ति ही पदार्थभान कहा जाता है,

आतिवाहिकदेहात्मा मन इत्यभिधीयते ।
आधिभौतिकबुद्धिं तु स आधत्ते चिरस्थितेः ॥ ४६ ॥
अविद्या संसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मलस्तमः ।
इति पर्यायनामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमाः ॥ ४७ ॥
नहि दृश्यादृते किञ्चिन्मनसो रूपमस्ति हि ।
दृश्यं चोत्पन्नमेवैतन्नेति वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ४८ ॥
यथा कमलबीजान्तः स्थिता कमलवल्लरी ।
महाचित्परमाण्वन्तस्तथा दृश्यं जगत्स्थितम् ॥ ४९ ॥

ऐसी परिस्थितिमें चित्के सत्य होनेपर चिद्घटित मन कैसे मिथ्या है ? तो इसपर कहते हैं—'सत्यम०' इत्यादिसे ।

. पदार्थभान मिथ्याविषयाकार होनेसे मिथ्या अथवा चित्संवलित होनेसे सत्य आपकी विवक्षाके अनुसार भले ही हो, इसमें हमारा कुछ भी आग्रह नहीं है । मन केवल संकल्परूप ही है । जैसा संकल्परूप मन है, वैसे ही मनकी समष्टि भी संकल्पस्वभाव ही है, वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है ॥ ४५ ॥

यदि सर्वपदार्थाकार मन ही ब्रह्माकी देह है, तो उसकी अन्य स्रष्टव्य वस्तु ही क्या रही, इस शङ्कापर कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

आतिवाहिक देहरूपी (संकल्पमय देहरूपी) ब्रह्मा लोकमें मन कहा गया है, वही सूक्ष्म भूतोंके ही मिश्रणसे पञ्चीकरण द्वारा आधिभौतिक बुद्धिका (स्थूल देहज्ञानका) आधान करता है, यही उसका कर्तृत्व है ॥ ४६ ॥

अविद्या, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल, तम—ये सब दृश्यके पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ४७ ॥

दृश्यसे अतिरिक्त मनका कुछ भी स्वरूप नहीं है, यदि उत्पन्न दृश्य ही अविद्या और मन है, तो उनकी अनादिता कैसी ? इसपर कहते हैं—'दृश्यम्' इत्यादिसे । यह दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, ऐसा मैं आगे कहूँगा ॥ ४८ ॥

जैसे कमलगट्टेके अन्दर कमललता स्थित रहती है, वैसे ही महाचैतन्यरूप परमाणुके अन्दर यह जगत् स्थित है ॥ ४९ ॥

प्रकाशस्य यथाऽऽलोको यथा वातस्य चापलं ।
यथा द्रवत्वं पयसि दृश्यत्वं द्रष्टरीदृशम् ॥ ५० ॥
अङ्गदत्वं यथा हेम्नि मृगनद्यां यथा जलम् ।
भित्तिर्यथा स्वप्नपुरे तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ५१ ॥
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमनन्यदिव यत्स्थितम् ।
तदप्युन्मार्जयाम्याशु त्वचित्तादर्शतो मलम् ॥ ५२ ॥
यद्द्रष्टुरस्याऽद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद् बलात् ।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवाऽसतः सतः ॥ ५३ ॥
तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ॥ ५४ ॥
असंभवति सर्वस्मिन् दिग्भूम्याकाशरूपिणि ।
प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्याऽमलं भवेत् ॥ ५५ ॥
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्तामुपागते ।
द्रष्टुः स्यात् केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥ ५६ ॥

जैसे प्रकाशकका आलोक स्वभाव है, जैसे वायुका चाञ्चल्य स्वभाव है और जैसे जलका द्रवत्व स्वभाव है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्यत्व है ॥ ५० ॥

जैसे सुवर्णमें केयूरत्व है, जैसे मृगतृष्णामें जल है और जैसे स्वाप्निक नगरमें भित्ति है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्यबुद्धि है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार द्रष्टामें जो दृश्यत्व अभिन्न-सा स्थित है, उसको भी (उस मलको भी) तुम्हारे चित्तरूपी आदर्शसे शीघ्र निवृत्त करता हूँ ॥ ५२ ॥

दृश्यका अभाव होनेपर इस द्रष्टामें जो अद्रष्टृता बलात् प्राप्त होती है, उसीको सन्मात्र चिद्रूपसे अवशिष्ट आत्माका केवलीभाव जानो ॥ ५३ ॥

चित्तके कैवल्यज्ञान द्वारा केवलीभावको प्राप्त होनेपर जैसे वायुके स्पन्दनरहित होनेपर वन, जलाशय आदिमें वायु-स्पन्दनप्रयुक्त चञ्चलता शान्त हो जाती है, वैसे ही केवलीभावापन्न मनमें राग, द्वेष आदि वासनाएँ शान्त हो जाती हैं ॥ ५४ ॥

प्रकाश्य दिशा, भूमि, आकाश आदि सम्पूर्ण पदार्थोंके न रहनेपर जैसे प्रकाशका शुद्ध स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही तीनों जगत्, त्वम्, अहम् , इत्यादि दृश्योंके न रहनेपर विमलस्वरूप द्रष्टाका केवलीभाव ही रहता है ॥ ५५,५६ ॥

अनाप्ताखिलशैलादिप्रतिबिम्बे हि यादृशी ।
स्याद् दर्पणे दर्पणता केवलात्मस्वरूपिणी ॥ ५७ ॥
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ ५८ ॥

श्रीराम उवाच

सच्चेन्न शाम्यत्येवेदं नाऽभावो विद्यते सतः ।
असत्तां च न विद्मोऽस्मिन् दृश्ये दोषप्रदायिनि ॥ ५९ ॥
तस्मात्कथमियं शाम्येद् ब्रह्मन् दृश्यविषूचिका ।
मनोभवभ्रमकरी दुःखसन्ततिदायिनी ॥ ६० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्य दृश्यपिशाचस्य शान्त्यै मन्त्रमिमं शृणु ।
रामाऽत्यन्तमयं येन मृतिमेष्यति नङ्क्ष्यति ॥ ६१ ॥

जिसमें सम्पूर्ण पर्वत आदिका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ा है, ऐसे दर्पणमें जैसे केवल आत्मस्वरूपभूत दर्पणता ही रहती है, वैसे ही त्वम्, अहम्, यह जगत् इत्यादि दृश्य भ्रमके शान्त होनेपर दृश्योन्मुखताशून्य द्रष्टामें केवलता ही रहती है ॥५७–५८॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यह दृश्य यदि सत् है, तो इसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सत्की कभी निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखदायी दृश्यकी असत्ता हम लोगोंको प्रतीत नहीं होती, इसलिए यह दृश्यरूपी महामारी कैसे शान्त होगी ? दृश्यरूपी महामारी मनसे जन्म आदि भ्रमको उत्पन्न करनेवाली और दुःखपरम्पराको देनेवाली है ॥ ५९,६० ॥

जगत् यद्यपि असत् है, तथापि अविद्यासे वह सत्-सा प्रतीत होता है। केवलीभावका साक्षात्कार होनेसे अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर वैसा भ्रम नहीं होता, यह गूढ़ अभिप्राय है। पहले जीवन्मुक्ति पानेवाले पुरुषोंके अनुभवरूप प्रमाणसे तथा अनिर्मोक्षकी आपत्तिसे दृश्यमें सत्यताविश्वासको निवृत्त कर रहे श्रीवसिष्ठजी विवर्तवादका आश्रयण कर बोले—'अस्य' इत्यादिसे ।

हे रामजी, इस दृश्यरूपी पिशाचके विनाशके लिए, इस मन्त्रको सुनो, जिससे चेतनरूपसे अभिमत देहादिरूप यह पिशाच सर्वथा मर जायगा और अचेतन-रूपसे अभिमत अन्तःकरण आदिरूप यह नष्ट हो जायगा ॥ ६१ ॥

यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन राघव ।
तस्मात् तन्नष्टमप्यन्तर्बीजभूतं भवेद्धृदि ॥ ६२ ॥
स्मृतिबीजाच्चिदाकाशे पुनरुद्भूय दृश्यधीः ।
लोकशैलाम्बराकारं दोषं वितनुतेऽतनुम् ॥ ६३ ॥
इत्यनिर्मोक्षदोषः स्यात् न च तस्येह संभवः ।
यस्माद्देवर्षिमुनयो दृश्यन्ते मुक्तिभाजनम् ॥ ६४ ॥
यदि स्याज्जगदादीदं तस्मान्मोक्षो न कस्यचित् ।
बाह्यस्थमस्तु हृत्स्थं वा दृश्यं नाशाय केवलम् ॥ ६५ ॥

परिणामवादमें दोष दिखलाते हैं—'यद्०' इत्यादिसे ।

हे राघव, जिस वस्तुका अस्तित्व है, उसका कदापि नाश नहीं हो सकता, इसलिए नष्ट हुआ भी वह बीजरूपसे हृदयमें विद्यमान रहता है । भाव यह है कि परिणामवादमें उत्तर उत्तर अवस्थाओंसे पूर्व पूर्व अवस्थाओंका तिरोभावमात्र होता है, उच्छेद नहीं होता, कारण कि सत्का अभाव कभी नहीं हो सकता । ऐसी अवस्थामें नाशरूप षष्ठ विकारसे तिरोहित द्वैतके चित्तमें अथवा प्रकृतिमें स्थित रहनेसे काम, कर्म, वासनारूप बीजसे पुनः उद्भवको कोई रोक नहीं सकता, अतः अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा ॥ ६२ ॥

दृश्यबुद्धि स्मृतिरूपी बीजसे चिदाकाशमें फिर उत्पन्न होकर भुवन, पर्वत, आकाश आदि आकारवाले महान् दोषकी सृष्टि करती है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार अनिर्मोक्षरूप दोष होगा, पर उसका यहाँपर सम्भव नहीं है, क्योंकि अनेक देवता, ऋषि, मुनि जीवन्मुक्त देखे जाते हैं ॥ ६४ ॥

यह चिदात्मा स्वभिन्न प्रधानमें स्थित दृश्यको अविवेकसे अपने हृदयमें स्थित देखता है, वही उसका यह संसार है । विवेकज्ञानके उदयसे पूर्वोक्त अविवेकजनित अभिमानकी निवृत्ति होनेपर बाह्य पदार्थोंके रहनेपर भी मोक्ष हो जायगा, इस प्रकार सांख्य प्रक्रियाकी आशङ्का कर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

यदि इस जगत् आदिका अस्तित्व रहेगा, तो उससे किसीका भी मोक्ष नहीं होगा, वह (दृश्य) चाहे बाहरमें स्थित हो, चाहे अन्तःकरणमें स्थित हो पर वह केवल स्वरूपनाशके लिए ही होता है ॥ ६५ ॥

तस्मादिमां प्रतिज्ञां त्वं शृणु रामाऽतिभीषणाम् ।
यामुत्तरेण ग्रन्थेन नूनं त्वमवबुध्यसे ॥ ६६ ॥
अयमाकाशभूतादिरूपोऽहं चेति लक्षितः ।
जगच्छब्दस्य नामाऽर्थो ननु नाऽस्त्येव कश्चन ॥ ६७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिद् दृश्यजातं पुरोगतम् ।
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् ॥ ६८ ॥
पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्ते शान्तं व्यवस्थितम् ।
व्योमन्येवोदितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति ॥ ६९ ॥

इसलिए अन्तमें विवर्तवाद ही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अतिभीषण इस प्रतिज्ञाको सुनिये, जिसका स्वरूप आप आगेके ग्रन्थसे भली भाँति जान जायँगे ॥ ६६ ॥

सामने जो ये भौतिक आकाश आदि और अन्दर अहं आदि लक्षित होते हैं, वे सब व्यवहारदशामें जगत् हैं; किन्तु परमार्थदशामें ब्रह्म ही हैं। ब्रह्मके सिवा जगत्-शब्दका कोई दूसरा वास्तविक अर्थ नहीं है। जो कुछ भी दृश्य दिखाई देता है, वह सब अजर-अमर अव्यय परम-ब्रह्म ही है ॥ ६७–६८ ॥

प्रत्यगात्माका जो ब्रह्मैक्य है, वह पूर्णमें पूर्णका प्रवेश है। चूँकि स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंसे रहित ब्रह्ममें आकाशादि जगत् स्थित है और आकाशमें घट आदि उपाधियोंके त्यागसे आकाश ही उदित होता है, इसलिए ब्रह्ममें ही ब्रह्म रहता है, अणुमात्र भी उसका विकार नहीं होता है* ॥ ६९ ॥

* पूर्ण पदार्थका प्रवेश और निर्गम कहना सम्भव नहीं है। ब्रह्म और आत्माकी एकता ज्ञात होनेपर ही पूर्णमें पूर्णका प्रकाश (प्रवेश) हुआ कहा जा सकता है। जब तक ब्रह्मतत्त्व अज्ञात रहता है, तब तक उसमें रस्सीमें सर्पदर्शनके समान जगत्-दर्शन होता है। रस्सीमें जैसी सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत्की स्थिति है। जगत् नहीं है, यह ज्ञान ही जगत्की शान्तता है। शान्तमें शान्तकी स्थिति कहना उचित ही है। श्लोकमें प्रथम शान्त-शब्द ब्रह्मके लिए और द्वितीय शान्तशब्द जगत्के लिए उपात्त है। घटादि उपाधिके नष्ट होनेपर जैसे आकाशमें आकाशका उदय हुआ कहा जाता है, वैसे ही जगत्-दर्शनके निवृत्त होनेपर ब्रह्ममें ब्रह्मका उदय हुआ कहा जा सकता है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मका अवस्थान, इसका तात्पर्य यह है कि जगत् ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है।

न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम् ।
न शून्यं न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥ ७० ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रेण पिष्टोऽद्रिः शशशृङ्गं प्रगायति ।
प्रसार्य भुजसम्पातं शिला नृत्यति ताण्डवम् ॥ ७१ ॥
स्रवन्ति सिकतास्तैलं पठन्त्युपलपुत्रिकाः ।
गर्जन्ति चित्रजलदा इतीवेदं वचः प्रभो ॥ ७२ ॥
जरामरणदुःखादिशैलाकाशमयं जगत् ।
नाऽस्तीति किमिदं नाम भवताऽपि ममोच्यते ॥ ७३ ॥
यथेदं न स्थितं विश्वं नोत्पन्नं न च विद्यते ॥ ७३ ॥
तथा कथय मे ब्रह्मन् येनैतन्निश्चितं भवेत् ॥ ७४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

नाऽसमन्वितवागस्मि शृणु राघव कथ्यते ।
यथेदमसदाभाति वन्ध्यापुत्र इवाऽऽरवी ॥ ७५ ॥

वास्तवमें न यह दृश्य सद्रूप है, न द्रष्टा और न दर्शन ही सद्रूप है एवं न शून्य सद्रूप है न जड़ ही सद्रूप है और न बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य ही है किन्तु सर्वत्र व्याप्त यह ब्रह्म ही सद्रूप है ॥ ७० ॥

उक्त विवर्तवादमें पामर पुरुषोंकी असंभावना दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी-ने कहा—'वन्ध्यापुत्रेण' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपका उक्त वचन 'वन्ध्याके पुत्रने पर्वतको पीस दिया, खरगोशका सींग गाता है, शिला भुजाओंको फैलाकर ताण्डव नृत्य करती हैं, बालूसे तेल निकलता है, पत्थरकी प्रतिमाएँ वेद पढ़ती हैं और चित्रमें लिखित मेघ गरजते हैं' इन वचनोंके सदृश प्रतीत होता है ॥ ७१,७२ ॥

सम्पूर्ण प्रामाणिक पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी आप जरा, मृत्यु आदि विविध दुःखोंसे परिपूर्ण पर्वत, आकाश आदिमय जगत् नहीं है, ऐसा अश्रद्धेय वचन विवेकशाली तथा अवञ्चनीय मुझसे कैसे कहते हैं ? ॥ ७३ ॥

भगवन्, जैसे यह जगत् न तो अनादिकालसे स्थित है, न उत्पन्न हुआ और न इस समय विद्यमान है, वैसे मुझसे कहिए, जिससे इसका निश्चय हो जाय ॥७४॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राघव, मेरा वचन पूर्वापरसमन्वयसे रहित

इदमादावनुत्पन्नं सर्गादौ तेन नाऽस्त्यलम् ।
इदं हि मनसो भाति स्वप्नादौ पत्तनं यथा ॥ ७६ ॥
मन एव च सर्गादावनुत्पन्नमसद्वपुः ।
तदेतच्छृणु वक्ष्यामि यथैवमनुभूयते ॥ ७७ ॥
मनो दृश्यमयं दोषं तनोतीमं क्षयात्मकम् ।
असदेव सदाकारं स्वप्नः स्वप्नान्तरं यथा ॥ ७८ ॥
तत्स्वयं स्वैरमेवाऽऽशु सङ्कल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥ ७९ ॥
स्फुरति वल्गति गच्छति याचते भ्रमति मज्जति संहरति स्वयम् ।
अपरतामुपयात्यपि केवलं चलति चञ्चलशक्तितया मनः ॥ ८० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणार्थकल्पनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

नहीं है तथा शब्द करनेवाले वन्ध्यापुत्रके समान जैसे यह असत् प्रतीत होता है, वैसा मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ७५ ॥

यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं था, इसलिए उस समय इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं था । जैसे स्वप्न आदिमें नगर आदिकी प्रतीति होती है, वैसे यह भी मनसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है ॥ ७६ ॥

सृष्टिके आदिमें अनुत्पन्न अतएव असत्-शरीर मनरूप यह जैसे जगत् अनुभूत होता है, वैसा मैं कहूँगा, आप सुनिये ॥ ७७ ॥

मन क्षीण होनेवाले दृश्यरूप इस दोषका विस्तार करता है, जैसे कि स्वप्न असत् दृश्यरूप होता हुए भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले अन्य स्वप्नका विस्तार करता है ॥ ७८ ॥

मन ही अपनी इच्छानुसार स्वयं देहकी कल्पना करता है, उसीने चिर-कालकी भावनासे विपुल होकर इस इन्द्रजालरूप दृश्यकी रचना कर रक्खी है ॥ ७९ ॥

केवल चञ्चलशक्तिमान् मन ही प्रकाशित होता है, भ्रमण करता है,

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् मुनिशार्दूल किमिवेह मनोभ्रमे ।
विद्यते कथमुत्पन्नं मनो मायामयं कुतः ॥ १ ॥
उत्पत्तिमादाविति मे समासेन वद प्रभो ।
प्रवक्ष्यसि ततः शिष्टं वक्तव्यं वदतांवर ॥ २ ॥

गमनागमन करता है, प्रार्थना करता है, निमग्न होता है, संहार करता है, सांसारिक दशाप्रयुक्त अपकर्षको प्राप्त होता है तथा कैवल्यरूप उत्कर्षको प्राप्त होता है। यह सब मनकी ही क्रीड़ा है। मन ही सम्पूर्ण संसार है। उससे पृथक् जगत् कुछ नहीं है ॥ ८० ॥

चौथा सर्ग समाप्त ।

पाँचवाँ सर्ग

[विश्वका मूल मन है, मनका मूल परमात्मा है, परमात्मा ही मन और समस्त जगतका मूल तत्त्व है, इस विषयका वर्णन]

पूर्वोक्त प्रकारसे मनके मिथ्यात्वका वर्णन करनेसे प्रकरणार्थके क्लृप्त होनेपर मनके अधिष्ठानके तत्त्वकी, उसके आरोपके प्रकारकी और उसके मिथ्यात्वमें हेतुकी जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, इस मनके भ्रममें परमार्थ भूत मूल क्या है, भगवन् , मायामय यह मन कहाँसे कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥ १ ॥

सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके मूलभूत हेतुको छोड़कर मनके मूलभूत हेतुके पूछनेमें हेतु कहते हैं—'उत्पत्ति०' इत्यादिसे ।

हे प्रभो, मनकी उत्पत्ति किससे हुई ? यह पहले मुझसे संक्षेपसे कहिए, अनन्तर अविशिष्ट वक्तव्यको कहियेगा । भाव यह है कि आदिभूत मनके मूलका परिज्ञान हो जानेपर सबके मूलका परिज्ञान हो ही जायगा ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाप्रलयसम्पत्तावसत्तां समुपागते ।
अशेषदृश्यसर्गादौ शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३ ॥
आस्तेऽनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मा महेश्वरः ॥ ४ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चाऽऽत्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः ॥ ५ ॥
यः पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥ ६ ॥
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव सः ॥ ७ ॥

उक्त दो प्रश्नोंमें पहला प्रश्न प्रधान है, इसलिए इस सर्गकी समाप्ति तक वसिष्ठजीने पहले प्रश्नका उत्तर दिया—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, महालयावस्थामें, जगत्‌के अतिसूक्ष्मरूपसे स्थित होनेके कारण, अपने कार्यमें असमर्थ होनेपर सम्पूर्ण दृशवर्गकी सृष्टिसे पहले जगत् निर्विक्षेपावस्थामें शेष रहता है ॥ ३ ॥

उस समय स्वयंज्योति, अजन्मा, प्रकाशमान, आनन्दघन सदा सर्वशक्तिमान् देवाधिदेव अविनाशी केवल परमात्मा ही रहते हैं । जिससे वाणियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं, जिसे जीवन्मुक्त महात्मा जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ स्वाभाविक नहीं हैं किन्तु कल्पित हैं अर्थात् उसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ अनारोपि तत्त्वरूपसे उत्पन्न नहीं हैं, किन्तु आरोपित धर्मसे उत्पन्न हुई हैं । जिसे सांख्य-दर्शन माननेवाले पुरुष कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, विज्ञानवादी अत्यन्त निर्मल केवल क्षणिकविज्ञानरूप कहते हैं और जिसे शून्यवादी शून्य कहते हैं । भाव यह कि सभी वादियोंके अपने-अपने बुद्धिवैभवसे कल्पित विविध सिद्धान्तोंका विषय वही है, सबके अधिष्ठानभूत उस परमात्माके विषयमें किसीको भी विवाद नहीं है । जो सूर्यके प्रकाशका भी प्रकाशक है, सदा सत्य बोलनेवाला, सत्य मनन करनेवाला, भोक्ता, द्रष्टा और कर्ता है । जगत्‌में सर्वदा विद्यमान होता हुआ भी असत् करदेनेवाली अविद्यासे आवृत होनेके कारण पामर पुरुषोंकी

सन्नप्यसद् यो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥ ८ ॥
यस्माद् विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ ९ ॥
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥ १० ॥
य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च ।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु च संस्थितः ॥ ११ ॥
यः प्लावयति संरब्धं पुर्यष्टकमितस्ततः ।
येन मूकीकृता मूढ़ाः शिला ध्यानमिवाऽऽस्थिताः ॥ १२ ॥
व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपो यस्य वशो रविः ॥ १३ ॥

दृष्टिमें जो असत् है, जो देहमें स्थित होनेपर भी अविद्यावृत होनेके कारण पामरोंकी दृष्टिमें दूर स्थित है, सूर्यसे उजियालेकी भाँति जिससे यह चैतन्यरूपी प्रकाश होता है, सूर्यसे किरणोंके सदृश जिससे विष्णु आदि देवता उत्पन्न होते हैं एवं सागरसे अनन्त बुद्बुदोंकी नाईं जिससे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं ॥ ४–९ ॥

जैसे नदी, नाले आदिका जल महासागरमें ही गिरता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ प्रलय द्वारा जिसमें विलीन हो जाते हैं, जो दीपककी नाईं अपना और अपनेमें कल्पित अन्यान्य पदार्थोंका प्रकाशक है । जो आकाशमें, नाना शरीरोंमें, पत्थरोंमें, जलमें, लताओंमें, धूलिकणोंमें, पर्वतोंमें, वायुमें और पातालमें स्थित है । जो अपने व्यापारमें उद्यत पुर्यष्टकको (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, भूतमात्रा, प्राण, अविद्या, काम, कर्म और अन्तःकरणको) बाहर-भीतर अपने चैतन्यकी व्याप्तिसे चैतन्य-युक्त करता है और जिससे मूक की गई जड़ शिलाएँ मानो ध्यानमें बैठी हैं । चेतनोंकी चेतनतामें वही कारण है एवं अचेतनोंकी विचित्रतामें भी वही हेतु है, यह भाव है ॥ १०–१२ ॥

आकाशको जिसने शून्य बना रक्खा है, पर्वतोंको जिसने ठोस रूप दिया है, जलको जिसने तरल बना रक्खा है और जिसने अपने वशीभूत सूर्यको दीपक (प्रकाशक) बना रक्खा है ॥ १३ ॥

प्रसरन्ति यतश्चित्राः संसारासारवृष्टयः ।
अक्षयामृतसंपूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः ॥ १४ ॥
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन् मराविव मरीचयः ॥ १५ ॥
नाशरूपोऽविनाशात्मा योऽन्तःस्थः सर्वजन्तुषु ।
गुप्तो योऽप्यतिरिक्तोऽपि सर्वभावेषु संस्थितः ॥ १६ ॥
प्रकृतिव्रततिर्व्योम्नि जाता ब्रह्माण्डसत्फला ।
चित्तमूलेन्द्रियदला येन नृत्यति वायुना ॥ १७ ॥
यश्चिन्मणिः प्रकचति प्रतिदेहसमुद्गके ।
यस्मिन्निन्दौ स्फुरन्त्येता जगज्जालमरीचयः ॥ १८ ॥
प्रशान्ते चिद्घने यस्मिन् स्फुरन्त्यामृतवर्षिणि ।
धाराजलानि भूतानि सृष्टयस्तडितः स्फुटाः ॥ १९ ॥

जैसे क्षीण न होनेवाले जलसे भरे हुए मेघसे मूसलाधार वृष्टि होती है, वैसे ही कभी क्षीण न होनेवाले आनन्दसे परिपूर्ण जिस परमतत्त्वसे चित्र-विचित्र संसाररूपी मूसलाधार वृष्टि होती है ॥ १४ ॥

जैसे मरुभूमिमें कभी दिखलाई देनेवाला कभी छिप जानेवाला मरीचिका-जल स्फुरित होता है, वैसे ही जिस अतिविस्तारयुक्त (व्यापक) तत्त्वमें आवि-र्भाव-तिरोभावमय त्रिभुवनरूप लहरें स्फुरित होती हैं ॥ १५ ॥

प्रपञ्चरूपसे विनाशी और स्वरूपसे अविनाशी जो सब प्राणियोंके अन्दर स्थित है । सूक्ष्म होनेके कारण भीतर गुप्त और अतिमहत्तम होनेके कारण सबसे अतिरिक्त (निष्प्रपञ्चरूपसे अवशिष्ट) भी जो सब पदार्थोंमें विद्यमान है ॥ १६ ॥

माया ही लता है, वह चिदाकाशमें (शुद्ध चैतन्यमें) उत्पन्न हुई है, चित्त उसकी जड़ है, इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उसके सुन्दर फल हैं । वह मायारूपी लता वायुरूप जिससे परिचालित होती है । जो चैतन्य-रूपी मणि प्रत्येक देहरूपी पेटीमें प्रकाशित होती है और चन्द्रमामें किरणोंकी नाईं जिसमें ये अनेक जगत् स्फुरित हैं ॥ १७,१८ ॥

जैसे वृष्टि करनेवाले गम्भीर मेघमें मूसलाधार जलवृष्टि और प्रकाशमय

चमत्कुर्वन्ति वस्तूनि यदालोकतया मिथः ।
असञ्जातमसद् येन येन सत्सत्त्वमागतम् ॥ २० ॥
चलतीदमनिच्छस्य कार्यो यो यस्य सन्निधौ ।
जडं परमरक्तस्य शान्तमात्मनि तिष्ठतः ॥ २१ ॥
नियतिर्देशकालौ च चलनं स्पन्दनं क्रिया ।
इति येन गताः सत्तां सर्वसत्तातिगामिना ॥ २२ ॥
शुद्धसंविन्मयत्वाद् यः खं भवेद् व्योमचिन्तया ।
पदार्थचिन्तयाऽर्थत्वमिव तिष्ठत्यधिष्ठितः ॥ २३ ॥

बिजली स्फुरित होती है वैसे ही जिस आनन्दवर्षी शान्त और चिद्घनमें जड़ पाँच भूत और चेतन विविध सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं ॥ १९ ॥

जिसके प्रकाशसे सब पदार्थ परस्पर आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, जिससे असत्पदार्थ असत् हैं और सत् पदार्थ सत्त्वको प्राप्त हुआ। जो देवता, मनुष्य पशु, पक्षी आदि स्वरूप है, असङ्ग और अनिच्छावाले अतएव शान्त भावसे अपनी आत्मामें स्थित जिसकी संनिधिमें यह दृश्यवर्ग अत्यन्त जड़ होता हुआ भी क्रियावान् है ॥ २०, २१ ॥

नियति अर्थात् सृष्टिके अवसरमें अवश्य ही सृष्टि होनी चाहिए और प्रलयके अवसरमें अवश्य ही प्रलय होना चाहिए इत्यादि नियम, उक्त नियमके अवच्छेदक देश और काल, उचित देश और कालमें बोनेपर बीजादिके अन्तर्गत कार्यका बीजके फूलनेसे चलन, बीजको फोड़कर अङ्कुर आदिके निर्गमन द्वारा स्पन्दन और तदुपरान्त तना, शाखा, टहनियाँ, पत्ते आदि क्रमसे फलपर्यन्त जो जो व्यापार होते हैं वह सब क्रियाशब्दवाच्य हैं। इस क्रमसे सम्पूर्ण पदार्थ जगत्से विलक्षण सत्तावाले (पारमार्थिक सत्तावाले) जिससे व्यावहारिक क्रिया करनेमें क्षमताको प्राप्त हुए हैं ॥ २२ ॥

अथवा वही मायिक आकाश आदि पदार्थोंके चिन्तनसे व्योमादि भावको प्राप्त हुआ है, उससे अतिरिक्त व्योमादिशब्दवाच्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं—'शुद्ध०' इत्यादिसे ।

शुद्ध ज्ञानमय होनेके कारण जो आकाशके चिन्तनसे (मैं आकाश हूँ इस प्रकार विचार करनेसे) आकाशभावको और पदार्थोंके चिन्तनसे पदार्थत्वको

कुर्वन्नपीह जगतां महतामनन्त-
वृन्दं न किञ्चन करोति न काश्चनाऽपि ।
स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि निर्विकारे
त्यक्तोदयस्थितिमति स्थित एक एव ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मूलकारणदेव-स्वरूपवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

धारण कर स्थित है । ['चमत्कुर्वन्ति' यहांसे लेकर इस श्लोक तक चार श्लोकोंसे उसमें जगत्के आरोप प्रकारके प्रश्नका उत्तर दिया है] ॥ २३ ॥

अब आरोपितके मिथ्यात्वमें कारण कहते हैं—'कुर्वन्नपीह' इत्यादिसे ।

चूँकि यह निर्विकार अतएव उत्पत्ति, स्थिति आदिसे शून्य ज्ञानमय अपने स्वरूपमें स्थित और अद्वितीय ही है अतएव अनेक महान् ब्रह्माण्डके समूहोंको और विचित्र विविध लीलाओंको करता हुआ भी न कुछ कार्य करता है और लीला आदि चेष्टाएँ ही करता है । भाव यह कि जिस कार्यका उपादान निर्विकार होता है वह मिथ्या होता है, यों कार्यके मिथ्यात्वमें निर्विकारोपादनकत्व ही हेतु है ॥ २४ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

षष्ठः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥ १ ॥
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ।
मृगतृष्णाजलभ्रान्तिशान्तौ चेदं निरूपितम् ॥ २ ॥
नह्येष दूरे नाऽभ्याशे नाऽलभ्यो विषमे न च ।
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥ ३ ॥

छठा सर्ग

[ज्ञानसे आत्माकी प्राप्ति होती है, कर्मोंसे नही, अतएव ज्ञानप्राप्तिके उपायोंमे प्रयत्न और क्रमका वर्णन]

पूर्वोक्त रीतिसे जगत्के मूलकारण देवाधिदेवका वर्णन कर उसकी प्राप्तिके उपाय-भूत ज्ञानके साधनोंको कहनेकी इच्छासे श्रीवसिष्ठजी बोले—**'अस्य'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, देवोंके देव* इस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति ज्ञानसे ही हो सकती है, कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न क्लेशोंसे इसकी प्राप्ति कदापि नही हो सकती । ब्रह्मकी प्राप्तिमें ज्ञानरूपी अनुष्ठानका ही उपयोग है, ज्ञानसे अतिरिक्त कर्म आदिका कोई उपयोग नहीं है । मरुस्थलमें मरीचिकामें जलभ्रमकी निवृत्ति कोटि-कोटि कर्म करनेपर भी नहीं हो सकती, एकमात्र ज्ञान ही उसकी निवृत्तिमें कारण देखा गया है ॥ १,२ ॥

न बहुत नजदीक, न बहुत दूर, क्रियाके बिना प्राप्त होनेके अयोग्य एवं विषम स्थानमें स्थित फलकी प्राप्तिमें क्रिया सफल हो सकती है, परमात्मा उक्त फलके सदृश नहीं है, इसलिए वह क्रिया द्वारा कदापि लभ्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'नह्येष'** इत्यादिसे ।

परमात्मा दूर भी नहीं है, नजदीक भी नहीं है, सुलभ भी नही है, दुर्लभ भी नही है और दुर्गम स्थानमें स्थित भी नहीं है किन्तु विस्मृत सुवर्णहारकी नाई ज्ञानरूप कौशलसे अपने ही शरीरसे प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

---

* देव हिरण्यगर्भ, परब्रह्म आदि कारण होनेसे उसके भी देव हैं, इसलिए वे देवाधिदेव हैं ।

किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम् ।
स्वभावमात्रे विश्रान्तिमृते नाऽत्राऽस्ति साधनम् ॥ ४ ॥
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरतैवाऽत्र कारणम् ।
साधनं बाधनं मोहजालस्य यदकृत्रिमम् ॥ ५ ॥
अयं सदेव इत्येव सम्परिज्ञानमात्रतः ।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

सम्परिज्ञातमात्रेण किलाऽनेनाऽऽत्मनाऽऽत्मना ।
पुनर्दोषा न बाधन्ते मरणाद्याः कदाचन ॥ ७ ॥

परमात्माकी प्राप्तिमें तपस्या, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायता नहीं करते, केवल स्वरूपमें विश्रान्तिको छोडकर उसकी प्राप्तिमें और कुछ भी साधन नहीं है ॥४॥

यदि कोई शङ्का करे कि परमात्माकी प्राप्तिमें साधनभूत ज्ञान सर्वथा कर्म-निरपेक्ष कैसे है ? तो इसपर कहते हैं—'**साधुसङ्गम०**' इत्यादिसे ।

साधुसमागम तथा सत्-शास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर होना ही परम ब्रह्मकी प्राप्तिमें हेतु है, कारण कि अज्ञान-जालका उत्पादक नित्यसिद्ध ब्रह्म जब चरम-साक्षात्कारवृत्तिमें आरूढ होता है, तब वह अज्ञानजालका नाशक होता है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ भी उसका बाधक नहीं होता ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि तब तो दुःखकी निवृत्तिमें अथवा जीवन्मुक्तिमें अन्य साधन होंगे ? इसपर कहते हैं—'**अयम्**' इत्यादिसे ।

यह परमात्मा सत् ही है, केवल इस प्रकारके ज्ञानमात्रसे ही जीवको क्लेश नहीं होता और वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (ब्राह्मण उसको वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अविनाशी तपसे जानना चाहते हैं) यह श्रुति डिण्डिमघोषसे यज्ञ, दान और तपको ज्ञानका साधन कहती है, 'किञ्चि-न्नोपकरोति' (तप, दान, व्रत आदि तनिक भी सहायक नही होते हैं) यह कथन कठोरतम तप आदिके विधानकी इच्छासे साधारण तप आदिपर लागू होता है) ऐसा समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'**सम्परिज्ञात०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, स्वरूपभूत इस आत्माके केवल ज्ञात होनेसे क्लेशदायक जन्म-मरण आदि उपद्रव फिर कभी नहीं होते हैं। यह महान् देवाधिदेव

देवदेवो महानेष कुतो दूरादवाप्यते ।
तपसा केन तीव्रेण क्लेशेन कियताऽथवा ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ।
स देवो ज्ञायते राम न तपःस्नानकर्मभिः ॥ ९ ॥
रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम् ।
विना राम तपो दानं क्लेश एव न वास्तवम् ॥ १० ॥
रागाद्युपहते चित्ते वञ्चयित्वा परं धनम् ।
यदर्ज्यते तस्य दानाद्यस्याऽर्थास्तस्य तत्फलम् ॥ ११ ॥
रागाद्युपहते चित्ते व्रतादि क्रियते च यत् ।
तद्दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ्न च ॥ १२ ॥
तस्मात् पुरुषयत्नेन मुख्यमौषधमाहरेत् ।
सच्छास्त्रसज्जनासङ्गौ संसृतिव्याधिनाशिनौ ॥ १३ ॥

किस उपायसे अतिशीघ्र प्राप्त होता है ? यदि कहिए ज्ञानसे प्राप्त होता है, तो कृपया बतलाइये कि वह ज्ञान किस दुष्कर तपसे अथवा कितने प्रचुर क्लेशसे प्राप्त होता है ? ॥ ७,८ ॥

विविदिषाके (ज्ञानकी इच्छाके) लिए किये गये निष्काम कर्मों तथा अन्यान्य जन्मोंमें किये गये साधारण कर्मोंके विविदिषाकी उपपत्तिमें ही क्षीण हो जानेसे उत्कट विविदिषा होनेपर श्रवण आदि प्रयत्न ही ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी होता है, तप आदि नहीं, यों मान रहे श्रीवसिष्ठजी बोले—'**स्वपौरुष०**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव, वेदान्तश्रवण आदि अपने पौरुष प्रयत्नसे विकासको प्राप्त हुए विवेकसे ही उक्त देवाधिदेवके ज्ञानकी प्राप्ति होती है, तप, स्नान, यज्ञ आदि कर्मोंसे नहीं । हे रघुवंशतिलक, राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मद और मात्सर्यका त्याग किये बिना तप, दान आदि क्लेश ही हैं, वास्तविक साधन नहीं हैं, क्योंकि चित्तमें राग आदिका साम्राज्य रहनेपर दूसरेको ठगकर जो धन उपार्जित किया जाता है, उसके दानसे उसीको फल मिलता है, जिसका कि वह धन है । चित्तके राग आदिसे उपहत होनेपर जो व्रत आदि किया जाता है, वह दम्भ कहा जाता है, उसका कुछ भी फल नहीं होता ॥ १०–१२ ॥

इसलिए पौरुष प्रयत्नसे मुख्य ओषधिका उपार्जन करना चाहिए । वह मुख्य

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः ।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते ॥ १४ ॥
शृणु तत्पौरुषं कीदृगात्मज्ञानस्य लब्धये ।
येन शाम्यत्यशेषेण रागद्वेषविषूचिका ॥ १५ ॥
यथासंभवया वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया ।
सन्तोषसन्तुष्टमना भोगगन्धं परित्यजेत् ॥ १६ ॥
यथासंभवमुद्योगादनुद्विग्नतया स्वया ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरतां प्रथमं श्रयेत् ॥ १७ ॥
यथाप्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते ॥ १८ ॥
विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः ।
अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः ॥ १९ ॥

औषधि है—सत् शास्त्रोंका अभ्यास और सज्जनसंगति, जिनसे संसाररूपी व्याधिकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १३ ॥

इस संसारमें संपूर्ण दुःखोंके विनाशकी प्राप्तिमें केवल एक पौरुष प्रयत्न ही साधन है, उसको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय उपपन्न नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए अपेक्षित वह पौरुष कैसा है ? उसे आप सुनिए। जिससे राग-द्वेषरूपी विषूचिका सर्वथा निवृत्त हो जाती है ॥१५॥

मुमुक्ष पुरुष—जिसमें लोक और शास्त्रसे किसी प्रकारका विरोध नहीं है, ऐसी यथायोग्य (अपने कुलानुरूप) आजीविकासे सन्तुष्ट होकर—भोगवासनाका परित्याग करे॥१६॥

अपनी हितकारिणी * अनुद्विग्नता द्वारा यथासंभव (शक्त्यनुरूप) उद्योगसे सर्व प्रथम सज्जनसंगति और सत्-शास्त्रके अभ्यासकी शरण लेनी चाहिए ॥ १७ ॥

जो पुरुष प्रारब्धानुसार जो कुछ पदार्थ मिल गया, उससे सन्तुष्ट रहता है, शास्त्र एवं शिष्टों द्वारा निन्दितकी उपेक्षा करता है और साधुसंगति तथा सत्-शास्त्रके अभ्यासमें निरत रहता है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

जिस महामति पुरुषने विचार द्वारा अपने स्वरूप (आत्मतत्त्व) को जान लिया है, उस महापुरुषके ये ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर और इन्द्र अनुकम्पापात्र होते हैं ॥१९॥

---

* यह नहीं हो सकता, इस प्रकारका वैराग्य उद्विग्नता है, उसके त्याग द्वारा ।

देशे यं सुजनप्राया लोकाः साधुं प्रचक्षते ।
स विशिष्टः स साधुः स्यात्तं प्रयत्नेन संश्रयेत् ।। २० ।।
अध्यात्मविद्या विद्यानां प्रधानं तत्कथाश्रयम् ।
शास्त्रं सच्छास्त्रमित्याहुर्मुच्यते तद्विचारणात् ।। २१ ।।
सच्छास्त्रसत्सङ्गमजैर्विवेकैस्तथा विनश्यन्ति बलादविद्याः ।
यथा जलानां कतकानुषङ्गाद्यथा जनानां मतयोऽपि योगात् ।। २२ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
मुमुक्षुप्रयत्नोपदेशो नाम षष्ठः सर्गः ।। ६ ।।

साधु कौन है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—'**देशे**' इत्यादिसे ।

श्रुति और स्मृतिसे प्रतिपादित सदाचारमें परिनिष्ठित सज्जन लोग जिसे साधु कहते हैं, वह यदि ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ गुणोंसे विशिष्ट हो, तो वह साधु है । प्रयत्नपूर्वक उसकी शरण लेनी चाहिए ।। २० ।।

सत्-शास्त्र कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—'**अध्यात्म०**' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण विद्याओंमें अध्यात्मविद्या * मुख्य है, उसकी उत्पत्तिके अनुकूल विचारात्मक वर्णन जिसमें हो, वह शास्त्र अर्थात् उपनिषत्, सूत्रभाष्य, गीता एवं इनके विवरणात्मक ग्रन्थ सत्-शास्त्र कहलाता है, उसके विचारसे पुरुष मुक्त हो जाता है ।। २१ ।।

यदि कोई शङ्का करे कि अन्यान्य अनेक उपायोंके विद्यमान रहते साधु-संगति और सत्-शास्त्रकी ही क्यों प्रशंसा करते हैं ? तो इसपर कहते हैं—'**सच्छास्त्र०**' इत्यादिसे ।

जैसे निर्मलीके चूर्णके संसर्गसे जलका मैल नष्ट हो जाता है और जैसे योगके अभ्याससे लोगोंकी बाह्य मनोवृत्तियां विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही सत्-शास्त्र और साधुसंगतिसे उत्पन्न विवेकसे विद्याके विरोधी राग, द्वेष आदि सहसा विनष्ट हो जाते हैं ।। २२ ।।

छठा सर्ग समाप्त

---

* आत्माको उद्देश्य करके प्रवृत्त विद्या (ज्ञान) अध्यात्मविद्या है ।

सप्तमः सर्गः

श्रीराम उवाच

य एष देवः कथितो यस्मिन् ज्ञाते विमुच्यते ।
वद क्वाऽसौ स्थितो ब्रह्मन् कथमेनमहं लभे ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते ।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ २ ॥
एष सर्वमिदं विश्वं न विश्वं चैष सर्वगः ।
विद्यते ह्येष एवैको न तु विश्वाभिधाऽस्ति दृक् ॥ ३ ॥

सातवाँ सर्ग

[हिरण्यगर्भ आदि जगत्का मूल कारणभूत जिस देवाधिदेवका पहले वर्णन हो चुका है, सम्पूर्ण उपाधियोंसे शून्य उसके तत्त्वका वर्णन]

प्रस्ताव द्वारा जिज्ञासित साधनके ज्ञात होनेपर प्रस्तुत जगत्कारणके वास्तविक स्वरूपको जाननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'**य**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, हिरण्यगर्भ आदिके कारणभूत जिस प्रत्यगात्म-रूप देवका आपने पहले वर्णन किया है, जिसका ज्ञान होनेपर पुरुष विमुक्त हो जाता है, वह देवाधिदेव कहाँ स्थित है तथा उसे मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ, यह आप मुझे बतलानेकी कृपा कीजिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलदीपक, जिस देवाधिदेवका मैंने वर्णन किया है, वह दूर नहीं रहता । चैतन्यमात्ररूपसे विख्यात यह नित्य शरीरमें ही* स्थित है ॥२॥

चिन्मात्र यह सम्पूर्ण विश्व है ।

शङ्का—क्या वह देहसे परिच्छिन्न ही है ?

समाधान—नहीं, यह सर्वव्यापक विश्वरूप नहीं है । सम्पूर्ण पदार्थोंके अधिष्ठानरूपसे सर्वव्यापिता दिखलानेके लिए उसको विश्वरूप कहा है, यह भाव है । केवल एकमात्र इसीकी सत्ता है । विश्वात्मक द्रष्टा नहीं है अर्थात् उससे अतिरिक्त विश्वकी सत्ता नहीं है ॥ ३ ॥

---

* यह सामान्याभिव्यक्तिसे शरीरमें और विशेषरूपसे शरीरके अन्दर हृदयपुण्डरीकमें भली-भाँति अभिव्यक्त होता है ।

चिन्मात्रमेष शशिभृच्चिन्मात्रं गरुडेश्वरः ।
चिन्मात्रमेव तपनश्चिन्मात्रं कमलोद्भवः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

बाला अपि वदन्त्येतद्यदि चेतनमात्रकम् ।
जगदित्येव केवाऽत्र नाम स्यादुपदेशता ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रं चेतनं विश्वमिति यज्ज्ञातवानसि ।
न किञ्चिदेव विज्ञातं भवता भवनाशनम् ॥ ६ ॥

केवल कार्यात्मक विश्व ही उससे पृथक् नही है, यह बात नहीं है, किन्तु विश्वकी कारण माया भी, मायाके गुणोंके (सत्त्व, रज और तमके) अभिमानी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओंके साथ, उससे पृथक् नही है, इस आशयसे कहते हैं—'**चिन्मात्रमेष**' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रस्वरूप यही महादेव है, चिन्मात्रस्वरूप यही विष्णु है, चिन्मात्रस्वरूप यही सूर्य है और चिन्मात्रस्वरूप यही चतुर्मुख ब्रह्मा है अर्थात् उक्त चिन्मात्रसे इनकी पृथक् सत्ता नहीं है ॥ ४ ॥

'चिन्मात्रम्' यहाँपर 'चेतति इति चित्' यों कर्तामें क्विप् प्रत्यय करनेके अनन्तर 'मात्रच्' प्रत्यय किया गया है, यों चिन्मात्रका (चेतनाश्रय) विश्व यह अर्थ होता है । वह लोकमें सबपर भलीभाँति विदित है और वही पुरुषार्थ प्राप्त करानेवाला है, ऐसी अवस्थामें उसके उपदेशकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझ रहे लोगोंके अभिप्रायको प्रकट करते हुए श्रीरामचन्द्रजीने शङ्का की—'**बाला**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—जब बालक भी यह जगत् चेतनमात्र है, ऐसा कहते हैं, तो इस विषयमें उपदेशकी क्या आवश्यकता रही ? ॥ ५ ॥

यह कर्तामें क्विप् प्रत्यय नहीं है, किन्तु भावमें (चेतनम्—चित्—ज्ञान) क्विप् प्रत्यय है । ऐसी परिस्थितिमें उक्त दोषके लिए अवसर नहीं है अर्थात् उक्त जगत्को चेतनाश्रय सर्वसाधारण लोग जानते हैं, पर ज्ञानरूप (ब्रह्मरूप) नहीं जानते, इसलिए उपदेशकी आवश्यकता है; इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विकल्पकी निन्दा करते हैं—'**चिन्मात्रम्**' इत्यादिसे ।

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने जो विश्वको चिन्मात्र अर्थात् चेतन जाना है,

चेतनं राम संसारो जीव एष पशुः स्मृतः ।
एतस्मादेव निर्यान्ति जरामरणभीतयः ॥ ७ ॥
पशुरज्ञो ह्यमूर्तोऽपि दुःखस्यैवैष भाजनम् ।
चेतनत्वाच्चेतनीयं मनोऽनर्थः स्वयं स्थितः ॥ ८ ॥
चेत्यनिर्मुक्तता या स्यादचेत्योन्मुखताऽथवा ।
अस्य सा भरिताऽऽवस्था तां ज्ञात्वा नाऽनुशोचति ॥ ९ ॥

ऐसी दशामें आपने भवभीतिनाशक कुछ भी उपाय नहीं जाना, क्योंकि कर्तामें क्विप् प्रत्ययसे निष्पन्न चित् और चेतन शब्द समानार्थक ही हैं, कारण कि नन्द्यादिल्युट् प्रत्यय भी कर्तामें ही होता है। उनका अर्थ होता है—चितिकर्ता। नित्य चितिमें कर्तृत्वका सम्भव नहीं है, इसलिए अनित्य मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चित्का ग्रहण करनेपर उसके आश्रयभूत अन्तःकरणको आत्मा समझनेवाला जीव ही चित्-शब्दसे कहा गया है। वह बहिर्मुख होनेसे विषयोंको ही सार पदार्थ समझता है, अतएव पशु है, इससे ही जन्म, मरण आदि भय भीतर बैठे हुए-से बाहर निकलते हैं ॥ ६,७ ॥

यदि कोई कहे कि जीव मूर्तस्थूलशरीरसे अतिरिक्त है। मूर्तस्थूल-शरीरातिरिक्तत्वेन उसके ज्ञानसे ही जरा, मरण आदिका विनाश हो जायगा, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (शरीररहित उसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नही करते) ऐसी श्रुति है, इस शङ्कापर कहते हैं—**'पशु०'** इत्यादिसे ।

बहिर्मुख होनेके कारण बाह्य विषयोंको ही सार समझनेवाला यह जीव मूर्तस्थूलशरीरसे शून्य होता हुआ भी कृतकृत्य नहीं होता, क्योंकि अज्ञानी है, स्वयं चेतनीय मनरूप और अनर्थरूप बनकर स्थित है, अतः यह दुःखका ही भाजन है, 'अशरीरम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिका तो—स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन देहोंसे रहितको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं—ऐसा अर्थ है, केवल स्थूल देहसे रहितको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नही करते, ऐसा अर्थ नहीं है, कारण कि स्वप्नमें स्थूल देहका अभाव होनेपर भी प्रिय और अप्रिय देखे जाते हैं, यह अभिप्राय है ॥ ८ ॥

किस प्रकारके जीवके ज्ञानसे कृतार्थता होती है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे, तो उसपर कहते हैं—**'चेत्य०'** इत्यादिसे ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १० ॥
तस्य चेत्योन्मुखत्वं तु चेत्यासंभवनं विना ।
रोद्धुं न शक्यते दृश्यं चेत्यं शाम्यति वै कथम् ॥ ११ ॥
अचेत्यचित्स्वरूपं यत्तच्चाऽसंभवनं विना ।
क्व स्वरूपोन्मुखत्वं हि केवलं चेत्यरोधतः ॥ १२ ॥

चेत्य (दृश्य) पदार्थोंसे जो सर्वथा मुक्तता (छुटकारा पाना) है अथवा जो अचेत्य (चेतनीयसे भिन्न) पदार्थकी ओर प्रवणता है,* वह जीवकी पूर्णावस्था है, उसको जानकर जीव फिर शोक नहीं करता ॥ ९ ॥

इस विषयमें श्रुतिरूप प्रमाण उपस्थित करते हैं—**'भिद्यते'** इत्यादिसे ।

उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर मूलाज्ञानके विनाशसे इस जीवकी मूलाज्ञानकी कार्य अन्तःकरणमें तादात्म्याध्यासरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, उसके नाशसे तन्मूलक सम्पूर्ण सन्देह भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सञ्चित आदि सम्पूर्ण कर्म विनष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

यदि ऐसी बात है, तो चित्तनिरोधरूप योगसे ही जीवकी चेत्य पदार्थोंकी ओर प्रवणता (आकर्षण) रोकी जा सकती है, फिर उसके लिए ज्ञानार्थ प्रयासकी क्या आवश्यकता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'तस्य'** इत्यादिसे ।

चेत्यका (दृश्यका) ज्ञानसे समूल विनाश किये बिना जीवका दृश्य पदार्थोंके प्रति आकर्षण नहीं रोका जा सकता । भला बतलाइये, ज्ञानके बिना दृश्य जगत्का उच्छेद ही कैसे हो सकता है ? भाव यह कि ज्ञानके बिना पूर्वोक्त ब्रह्मस्वरूप-समाधि नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

इसी प्रकार ज्ञानके बिना मोक्ष भी दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं—**'अचेत्य०'** इत्यादिसे ।

जो मोक्षनामक अचेत्य चित्स्वरूप है, वह पूर्वोक्त चेत्यके (दृश्यके) असम्भवके बिना (ज्ञान द्वारा समूल बाधके बिना) कैसे प्राप्त हो सकता है ? जब कि समाधिमें केवलब्रह्मस्वरूपोन्मुखता भी दृश्यके बाधसे ही होती है, तब मोक्षमें दृश्यस्वरूपके बाधकी आवश्यकताके विषयमें कहना ही क्या है ? ॥१२॥

* जीवकी चेत्यनिर्मुक्तता मुक्त्यवस्थामे होती है और अचेत्योन्मुखता समाधि-अवस्थामे होती है ।

श्रीराम उवाच

यस्मिन् जीवे हि विज्ञाते न विनश्यति संसृतिः ।
व्योमरूपी पशुस्त्वज्ञः स ब्रह्मन् कुत्र कीदृशः ॥ १३ ॥
साधुसङ्गमसच्छास्त्रैः संसारार्णवतारकः ।
दृश्यते परमात्मा यः स ब्रह्मन् वद कीदृशः ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके निम्ननिर्दिष्ट दोनों प्रश्नश्लोक असंगत हैं, ऐसी किसीको शङ्का हो सकती है, क्योंकि 'चेतन राम ससारो जीव एष पशुः स्मृत ' इस श्लोकमें जीवके स्वरूपका और उसके आधार मनके मूल कारणका प्रतिपादन पहले हो चुका है, इसलिए पहले श्लोकके लिए अवकाश नहीं है और ब्रह्मका स्वरूप इस सर्गके प्रथम श्लोकमें पूछा गया है, इसलिए ब्रह्मस्वरूपके प्रश्नके लिए कहा गया दूसरा श्लोक भी निरवकाश है । हां ठीक है, जैसा प्रश्न सरसरी दृष्टिसे प्रतीत होता है, वैसा श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत नही है, किन्तु यह आक्षेप है । उनका आशय यह है कि 'जीव ही संसार है' यह कथन व्याहत है, क्योंकि जीवको ब्रह्म-प्राप्ति होनेपर ब्रह्म भी संसारी हो जायगा । यदि जीवको ब्रह्मप्राप्ति नहीं हुई, तो ब्रह्मप्राप्तिके साधन ज्ञान, शास्त्र आदि व्यर्थ हो जायँगे । इसलिए जीवका रूप अन्य (संसारसे अतिरिक्त) ही कहना चाहिए । दूसरी बात यह है कि जीवका आधार ब्रह्म ही है या अन्य कोई ? प्रथम पक्षमें ज्ञान द्वारा ब्रह्ममें अध्यस्त सम्पूर्ण द्वैतके साथ ब्रह्मका भी बाध होनेपर वरघातन्याय प्राप्त होगा । दूसरे पक्षमें ब्रह्मा-द्वैतका व्याघात होगा, यों समझ रहे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'**यस्मिन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जिस जीवके ज्ञात होनेपर संसारका विनाश नहीं होता । आकाशके समान कल्पित रूपवाला, बहिर्मुख होनेके कारण विषयोंको ही सार समझनेवाला तथा अज्ञानी वह जीव किस आधारमें स्थित है ? और कैसा है? यानी उसका ससारकोटिमें समावेश है या आत्मकोटिमें ? यह अर्थ है ॥१३॥

ब्रह्मन् यदि जीवका ससारकोटिमें ही समावेश है, तो उसका जो संसाररूपी सागरसे तारण करनेवाला है और जिसका साधुसमागम और शास्त्रके अभ्याससे साक्षात्कार होता है, वह कैसा है ? उसे आप मुझसे कहिए । सागरको ही सागरसे कोई तार नही सकता, इसलिए जीवका संसारित्वकथन व्याहत है ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यदेतच्चेतनं जीवो विशीर्णो जन्मजङ्गले ।
एतमात्मानमिच्छन्ति ये तेऽज्ञाः पण्डिता अपि ॥ १५ ॥
जीव एव हि संसारश्चेतना दुःखसन्ततेः ।
अस्मिन् ज्ञाते न विज्ञातं किञ्चिद्भवति कुत्रचित् ॥ १६ ॥
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम दुःखस्य सन्ततिः ।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥ १७ ॥

आपका यह कथन ठीक होता, यदि जीव ही संसारी होता और जीव ही अपने ज्ञानसे मुक्त होता अथवा जीव ही तात्त्विक आत्मा होता, किन्तु यह बात तो है नही, क्योंकि ऐसा माननेसे 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (यह सब पहले ब्रह्म ही था, 'मै ब्रह्म हूं' यों ब्रह्मने अपनेको ही जाना, इससे वह सब हो गया) इस श्रुतिमें ब्रह्मको ही अपने अज्ञानसे संसार होता है और अपने ज्ञानसे मुक्ति होती है, इस कथनसे विरोध होता है और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इससे प्रतिपादित अन्य चेतनके निषेधसे विरोध होता है। जब ब्रह्म ही 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यादि श्रुतिसे इदंकारका आस्पद और कल्पित होनेसे अनात्मभूत, संसारकोटिमें प्रविष्ट तथा भ्रमसे आत्मरूपसे गृहीत जीवरूपसे उसके धर्मो द्वारा 'मै जीव हूँ' ऐसा मानता हुआ संसारको प्राप्त होता है, तब जीवकी ही संसारिता फलित होती है। ऐसी अवस्थामें जीवका बाध होनेपर भी वरघातन्यायकी प्राप्तिरूप दोष नही होता, ऐसा अपने मनमें रखकर पहले जो स्वयं कहा था, उसीको दृढ कर रहे श्रीवसिष्ठजीने कहा—**'यदेतत्'** इत्यादिसे।

हे श्रीराम, जो यह चेतन जीव विविधशरीररूपी जङ्गलमें पतित और विशीर्ण है, इसे जो लोग आत्मा समझते हैं, वे लोग पण्डित (शास्त्रीय प्रज्ञासे सम्पन्न) होते हुए भी अज्ञानी हैं ॥ १५ ॥

हे राघव, जीव ही संसारी है और उसीको दुःखपरम्पराओंका अनुभव होता है, अतएव जीवके ज्ञात होनेपर कहींपर कुछ ज्ञात नहीं होता। यदि परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तो जैसे विषके वेगके शान्त होनेपर विषूचिका शान्त हो जाती है, वैसे ही दुःखपरम्परा भी नष्ट हो जाती है ॥ १६, १७ ॥

श्रीराम उवाच

रूपं कथय मे ब्रह्मन् यथावत्परमात्मनः ।
यस्मिन् दृष्टे मनो मोहान् समग्रान् सन्तरिष्यति ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
निमिषेणैव यन्मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ १९ ॥
अत्यन्ताभाव एवाऽस्ति संसारस्य यथास्थितेः ।
यस्मिन् बोधमहाम्भोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥ २० ॥

यों जब श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका समाधान हो चुका, तब वे सर्गके आरम्भमें जो प्रश्न किया था और जो प्रसङ्गप्राप्त कथनोपकथनसे व्यवहित हो गया था, उसे फिर स्पष्टरूपसे पूछते हैं—'**रूपम्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कृपा करके परमात्माका यथार्थस्वरूप मुझसे कहिये, जिसका साक्षात्कार होनेपर मन सम्पूर्ण मोहोंसे छुटकारा पा जायगा ॥१८॥

निर्विषय ज्ञान अप्रसिद्ध है, अत: वह निर्विषय, अनावृत और अपरोक्ष चिद्रूप है, ऐसा कहनेपर भी वह अनुभवमें आरूढ नहीं हो सकता, इसलिए जैसे वह अनुभवारूढ हो, वैसे कहते हैं—'**देशाद्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, एक पलक भरमें एक देशसे दूर अन्य देशमें प्राप्त सवित् (ज्ञान) का निर्विषय मध्यवर्ती यानी निकट और दूर देशके मध्यमे स्थित जो स्वरूप है, वही परमात्माका रूप है । भाव यह कि शाखाके अग्रभागमें चन्द्रमाके दर्शनमें नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणाभिव्यक्त अपरोक्ष ज्ञान शाखा प्रदेशसे लेकर दूर चन्द्र प्रदेशतक एक पलक भरमें पहुच जाता है । शाखा प्रदेशसे लेकर चन्द्र-प्रदेश तक उक्त ज्ञानकी अनुस्यूतना माने बिना शाखा और चन्द्रमाका एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता, उसकी उपपत्तिके लिए शाखासे चन्द्रतक ज्ञानकी अनुस्यूतिता अवश्य माननी चाहिए । वहाँपर शाखा और चन्द्र प्रदेशमें ज्ञानके सविषय होनेपर भी बीचमें उक्त ज्ञानका जो स्वरूप है, वह निर्विषय अपरोक्ष चिद्रूपसे प्रसिद्ध है, वही परमात्माका भी रूप समझना चाहिए ॥ १९ ॥

जिस ज्ञानरूप महासागरमें नाश आदि विकारके बिना ही अपने अधिष्ठानमें मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले ससारका अत्यन्ताभाव ही है, वह परमात्माका स्वरूप है ॥ २० ॥

द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयङ्गतः ।
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥ २१ ॥
अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन् शून्यं जगत्स्थितम् ।
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥ २२ ॥
यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत् स्थितम् ।
जडं वाऽजडमेवाऽन्तस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ २३ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं येन सर्वं संप्राप्य सङ्गमम् ।
स्वरूपसत्तामाप्नोति तद्रूपं परमात्मनः ॥ २४ ॥
प्रकाशस्य यथाऽऽलोकः शून्यत्वं नभसो यथा ।
तथेदं संस्थितं यत्र तद्रूपं परमात्मनः ॥ २५ ॥

उक्तको ही पुनः स्पष्ट करते हैं—'द्रष्टृ०' इत्यादिसे ।

जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ये सम्पूर्ण क्रम रहते हुए भी नित्य अस्तको प्राप्त हो जाते हैं, जो आकाश न होता हुआ भी अपरिच्छिन्न होनेसे आकाशसे उपमित होता है, वह परमात्माका रूप है ॥ २१ ॥

जगत्-स्वभावसे शून्य होता हुआ भी जो सम्पूर्ण पदार्थोंके याथात्म्यभूत स्वरूपसे पूर्ण होनेके कारण अशून्य-सा है, अविद्यमान भी जगत् जिसमें स्थित है यानी सद्भावको प्राप्त हुआ है तथा विविध सृष्टियां जिसके प्रवाह हैं, ऐसे अज्ञानके रहनेपर जो विद्यमान होता हुआ भी उपयोग न होनेके कारण शून्यकी नाईं स्थित है, वह परमात्माका स्वरूप है ॥ २२ ॥

महाचिन्मय होनेसे यानी महाचित्प्रचुर होनेसे जो अस्थूल आदि धर्मवाला है, फिर भी अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें पाषाणकी नाईं स्थूल है, जो अजड होता हुआ भी जडकी भाँति अन्दर स्थित है, वह परमात्माका स्वरूप है ॥ २३ ॥

बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव तथा आभ्यन्तर यानी अध्यात्म—जो जो पदार्थ प्रसिद्ध हैं, उनसे युक्त सम्पूर्ण जगत् जिससे आध्यासिक तादात्म्यसम्बन्धको प्राप्तकर सत्-सत् इस प्रकारकी व्यवहारयोग्यतारूप स्वरूपसत्ताको प्राप्त होता है, वह परमात्माका स्वरूप है ॥ २४ ॥

जैसे प्रकाशका आलोक और आकाशका शून्यत्व आत्मरूपसे स्थित है, वैसे ही यह जगत् जिसमें स्थित है अर्थात् जो इस जगत्का आत्मरूप है, वह परमात्माका रूप है ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

मद्रूपं परमात्मेति कथं नाम हि बुध्यते ।
इयतोऽस्य जगन्नाम्नो दृश्यस्याऽसंभवः कथम् ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अत्यन्तभावसंबोधे यदि रूढिरलं भवेत् ॥ २७ ॥
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नाऽन्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नाऽन्या शुभा गतिः ॥ २८ ॥
अत्यन्ताभावसंपत्तौ दृश्यस्याऽस्य यथास्थितेः ।
शिष्यते परमार्थोऽसौ बुध्यते जायते ततः ॥ २९ ॥

जो वस्तु प्रमाणों द्वारा जैसे जानी जाती है उसकी वैसी ही सत्ता होती है, अन्यरूपसे नहीं । ब्रह्म तो प्रमाणों द्वारा जाना नहीं जाता, अतः वह सद्रूप है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है और जगत् प्रमाणों द्वारा सत्-रूप प्रतीत होता है, वह असत् है, यह निश्चय कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'सद्रूपम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, परमात्मा सत् है, यह कैसे प्रतीत हो और इतना विशाल तथा विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध इस जगत्-नामक दृश्यका असंभव कैसे प्रतीत हो ॥ २६ ॥

'ब्रह्म प्रमाणों द्वारा नहीं ज्ञात होता' इस कथनकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि यदि प्रतिबन्धक न हों, तो महावाक्यों द्वारा उसका ज्ञान होता है । प्रतिबन्धकका नाश तो ब्रह्ममें अध्यस्त द्वैतके मिथ्यात्व ज्ञानसे ही होता है, क्योंकि जहाँपर रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, वहाँपर जब तक सर्पका निषेध न हो तब तक रज्जुका ज्ञान नहीं हो सकता, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी बोले—**'भ्रमस्य'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे रूपहीन आकाशमें नील, पीत आदि रूप देखे जाते हैं, वैसे ही चिन्मय ब्रह्ममें यह जगत्-भ्रम उत्पन्न हुआ । उक्त जगद्भ्रमके अत्यन्ताभावके ज्ञानमें यदि अत्यन्त दृढ़ता हो तभी ब्रह्मका पूर्वोक्त रूप ज्ञात होता है, अन्य कर्मसे नहीं । दृश्यके अत्यन्ताभावके सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है । 'यथास्थितेः' यानी नाश आदि विकारके बिना ही अपने अधि-

न विदः प्रतिबिम्बोऽस्ति दृश्याभावादृते क्वचित् ।
क्वचिन्नाऽप्रतिबिम्बेन किलाऽऽदर्शोऽवतिष्ठते ॥ ३० ॥
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासंभवं विना ।
बुध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

इयतो दृश्यजातस्य ब्रह्माण्डस्य जगत्स्थितेः ।
मुने कथमसत्ताऽस्ति क्व मेरुः सर्षपोदरे ॥ ३२ ॥

ध्यानमें मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले इस दृश्य जगत्का अन्यन्ताभाव होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, उस परमार्थ वस्तुका बोध होता है, बोध होनेसे वह बोद्धाका आत्मा ही हो जाता है ॥ २७–२९ ॥

दृश्य जगत्के अभावके बिना चिन्मय ब्रह्मका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ सकता । ब्रह्म बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर अपना आवरण करनेवाले अज्ञानका नाशकर तात्त्विकरूपसे प्रतीत होता है । अध्यस्त द्वैत प्रपञ्चको सत्य समझनेवाली बुद्धिमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता, क्योंकि विरोधी द्वैतसे आक्रान्त बुद्धिमें अद्वैतका प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नही है ।

शङ्का—जब द्वैतका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उस अवस्थामें उक्त बुद्धिमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पडे ।

समाधान—नहीं, जैसे दर्पण कभी भी किसी-न-किसी प्रतिबिम्बका ग्रहण किये बिना नहीं रहता, वैसे ही बुद्धि द्वैतप्रतिबिम्बके ग्रहणके बिना नहीं रह सकती, ऐसी अवस्थामें द्वैतप्रतिबिम्बके रहते उसमें अद्वैतका प्रतिबिम्ब नही पड सकता ॥ ३० ॥

वत्स श्रीरामजी, जब तक जगत्-नामक इस दृश्यका मिथ्यात्व सिद्ध न हो जाय, तब तक परमतत्त्वको (ब्रह्मको) कभी कोई नहीं जान सकता ॥ ३१ ॥

अपने मनमें कुछ विशेष बातको रखकर श्रीरामचन्द्रजी दूसरा प्रश्न उठाते हैं—**'इयतः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इतने बडे ब्रह्माण्डरूप दृश्यसमूहकी असत्ता कैसे हो सकती है, हाँ; जैसा कि आपने कहा वह हो सकता, यदि ब्रह्ममें जगत् अध्यस्त होता । परन्तु ब्रह्ममें जगत्का अध्यास ही नही बन सकता, क्योंकि

श्रीवशिष्ठ उवाच

दिनानि कतिचिद्राम यदि तिष्ठस्यखिन्नधीः ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमस्तदहं क्षणात् ॥ ३३ ॥
प्रमार्जयामि ते दृश्यं बोधे मृगजलं यथा ।
दृश्याभावे द्रष्टृता च शाम्येद् बोधोऽवशिष्यते ॥ ३४ ॥
द्रष्टृत्वं सति दृश्येऽस्मिन् दृश्यत्वं सत्यथेक्षके ।
एकत्वं सति हि द्वित्वे द्वित्वं चैकत्वयोजने ॥ ३५ ॥

चिन्मात्ररूप होनेसे सूक्ष्म ब्रह्ममें इतने बडे ब्रह्माण्डोंसे विस्तृत स्थूल प्रपञ्चका अध्यास होना असम्भव है, क्या कहीं सरसोंके अन्दर मेरु पर्वत समा सकता है ? ॥ ३२ ॥

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूक्ष्म चिन्मात्र ब्रह्ममें विशाल जगत्‌का अध्यास होना सरसोंके पेटमें सुमेरुके समा जानेके समान असम्भव है, वह कथन ठीक होता यदि जगत्‌की स्थूलता विचारसह होती, किन्तु जगत्‌की स्थूलता ही विचार-सह नही है । जब आपकी जगत्‌में स्थूलताप्रतीतिको ही हम लोग युक्तियों द्वारा दीर्घ कालमें शिथिल करेंगे, तब हमारा कथन आपके हृदयमें जम सकेगा. इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी बोले—'**दिनानि**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीराम, यदि आप अनुद्विग्नचित्त होकर कुछ दिनों तक साधुसङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासमें परायण रहेंगे, तब मैं एक क्षणमें जैसे ज्ञान होनेपर मृगजल नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपके इस दृश्यको विनष्ट कर दूँगा ? दृश्यका अभाव होनेपर द्रष्टृता भी शान्त हो जायगी, केवल बोध ही अवशिष्ट रह जायगा ॥ ३३, ३४ ॥

दृश्य द्वैतका अभाव होनेपर केवल द्रष्टाका ही अभाव नहीं होता, किन्तु द्वित्व और एकत्वका भी अभाव हो जाता है, ऐसा उपपादन करते हैं—'**द्रष्टृत्वम्**' इत्यादिसे ।

इस दृश्यके रहनेपर द्रष्टृत्व रहता है और द्रष्टाके रहनेपर दृश्यत्व रहता है । द्वित्व आदिके अत्यन्त प्रसिद्ध रहनेपर उनकी व्यावृत्तिके लिए एकत्वकी कल्पना होती है । व्यावर्त्य ही जब प्रसिद्ध नही है, तब किसकी व्यावृत्तिके लिए उसकी कल्पना की जाय । एकत्वका योग होनेपर ही द्वित्व होता है ॥ ३५ ॥

एकाभावे द्वयोरेव सिद्धिर्भवति नाऽत्र हि ।
द्वित्वैक्यद्रष्टृदृश्यत्वक्षये सदवशिष्यते ॥ ३६ ॥
अहन्तादिजगद्दृश्यं सर्वं ते मार्जयाम्यहम् ।
अत्यन्ताभावसंवित्त्या मनोमुकुरतो मलम् ॥ ३७ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
यत्तु नाऽस्ति स्वभावेन कः क्लेशस्तस्य मार्जने ॥ ३८ ॥
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदं दृश्यते ततम् ।
तत्स्वात्मन्येव विमले ब्रह्म चित्त्वात् स्वबृंहितम् ॥ ३९ ॥
जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चाऽस्ति न च दृश्यते ।
हेम्नीव कटकादित्वं किमेतन्मार्जने श्रमः ॥ ४० ॥
तथैतद्विस्तरेणाऽहं वक्ष्यामि बहुयुक्तिभिः ।
अबाधितं यथा तत्त्वं स्वयमेवाऽनुभूयते ॥ ४१ ॥

उक्त दोमें से एकके अभावमें दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती । द्वित्व, एकत्व, द्रष्टृत्व और दृश्यत्वका क्षय होनेपर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रहता है ॥ ३६ ॥

दूसरे प्रकारसे भी दृश्यके परिमार्जनकी प्रतिज्ञा करते हैं—'अहन्ता०'—इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, दृश्यके अत्यन्ताभाव-ज्ञानसे आपके मनरूपी दर्पणसे मलरूप दृश्य अहन्तादिरूप सम्पूर्ण जगत्को परिमार्जित कर देता हूँ यानी पोंछ देता हूँ ॥ ३७ ॥

असत् पदार्थकी सत्ता नहीं होती और सत्का अभाव नहीं होता । जो वस्तु स्वभावतः नहीं है, उसके परिमार्जनमें कौन-सा क्लेश है ॥ ३८ ॥

जो यह विस्तृत जगत् दिखाई देता है, यह पहले उत्पन्न नहीं हुआ है, यह चिन्मात्र होनेके कारण निर्मल आत्मामें ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है, उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता नहीं है ॥ ३९ ॥

जगत्-नामसे न यह उत्पन्न हुआ है, न है और न दिखाई देता है । जैसे सुवर्णमें कल्पित कटकत्व आदिका सुवर्णदृष्टिसे ही बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित इसका ब्रह्मदृष्टिसे ही बाध हो जाता है । अतः इसके परिमार्जनमें कौन-सा श्रम है ॥ ४० ॥

मै विविध युक्तियों द्वारा इस विषयको विस्तारपूर्वक इस तरह कहूँगा जैसे कि अबाधित तत्त्व आपको स्वयं ही अनुभूत हो जायगा ॥ ४१ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नं यत्तस्येहाऽस्तिता कुतः ।
कुतो मरौ जलसरिद् द्वितीयेन्दौ कुतो ग्रहः ॥ ४२ ॥
यथा वन्ध्यासुतो नाऽस्ति यथा नाऽस्ति मरौ जलम् ।
यथा नाऽस्ति नभोवृक्षस्तथा नाऽस्ति जगद्भ्रमः ॥ ४३ ॥
यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम् ।
एतत्पुरस्ताद्वक्ष्यामि युक्तितो न गिरैव च ॥ ४४ ॥
यन्नाम युक्तिभिरिह प्रवदन्ति तज्ज्ञा-
स्तत्राऽवहेलनमयुक्तमुदारबुद्धे ।
यो युक्तियुक्तमवमत्य विमूढबुद्धिः
कष्टाग्रहो भवति तं विदुरज्ञमेव ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगदादि-
दृश्यासत्ताप्रतिज्ञा नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

जो वस्तु उत्पन्न ही नही हुई, उसका सत्त्वरूपसे ग्रहण ही असत् है, ऐसा कहते हैं—'आदावेव' इत्यादिसे ।

जो पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका यहां अस्तित्व कैसे हो सकता है ? मरुस्थलमें जलपूर्ण नदीकी सत्ता तथा द्वितीय चन्द्रमामें ग्रहत्वका कैसे संभव है । इसलिए जैसे वन्ध्याका पुत्र नहीं है, जैसे मरुभूमिमें जल नहीं है और जैसे आकाशमें वृक्ष नहीं है, वैसे ही जगद्भ्रम भी नहीं है ॥ ४२, ४३ ॥

हे श्रीरामजी, जो कुछ यह दिखाई देता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ही है, इसको मैं आगे केवल उपदेशसे ही नहीं आख्यान आदि युक्तियोंसे भी कहूँगा ॥ ४४ ॥

उदारबुद्धे, तत्त्वज्ञ पुरुष जिस बातको युक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं, उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है । जो मूढ़बुद्धि पुरुष युक्तियुक्त तत्त्वका अनादर कर युक्तिशून्य वस्तुमें आग्रह करता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञ ही समझते हैं ॥ ४५ ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

१६-५-६३

अष्टमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कथैतज्ज्ञायते युक्त्या कथमेतत्प्रसिद्ध्यति ।
न्यायानुभूत एतस्मिन्न ज्ञेयमवशिष्यते ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या विना ज्ञानं न शाम्यति ॥ २ ॥
वदाम्याख्यायिका राम या इमा बोधसिद्धये ।
ताश्चेच्छृणोषि तत्साधो मुक्त एवाऽसि बुद्धिमान् ॥ ३ ॥
नो चेदुद्वेगशीलत्वादर्द्धादुत्थाय गच्छसि ।
तत्तिर्यग्धर्मिणस्तेऽद्य न किञ्चिदपि सेत्स्यति ॥ ४ ॥

आठवाँ सर्ग

[पूर्वोक्त तत्त्वका ज्ञान सत्-शास्त्रोंसे ही होता है अन्यसे नहीं, सत् शास्त्रोंमें भी यह ग्रन्थ तुरन्त फलदायक है, यह कथन]

श्री वसिष्ठजीने 'वक्ष्यामि युक्तितः' ऐसी पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसीको श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'कथैतत्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जो आपने कहा कि 'यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम्' (हे श्रीराम, जो यह जगत् दिखलाई देता है, यह निर्मल ब्रह्म ही है) यह किस युक्तिसे जाना जाता है, किस प्रकार यह सिद्ध होता है और कैसे युक्तियों द्वारा इसके अनुभूत होनेपर कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता ॥१॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, यह मिथ्याज्ञानरूपी विषूचिका चिर-कालसे बद्धमूल है, इसीका नाम जगत् और अविचार है, यह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होती । मैं आपसे बोधकी प्राप्तिके लिए आगे कही जानेवाली जिन विविध आख्यायिकाओंको कहूँगा, हे साधो, उनको यदि आप सुनेंगे तो आप अवश्य मुक्त हो जायँगे, इसमें संशय नही है । यदि न सुनेंगे, उद्विग्न स्वभाववाले होनेके कारण बीच हीमें उठकर चले जायँगे, तो पशुओंकी नाई सत् शास्त्रके श्रवणमें अयोग्यतावाले आपको कुछ भी प्राप्त नहीं होगा ॥ २–४ ॥

योऽयमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ ५ ॥

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरो भवसि राम चेत् ।
तद्दिनैरेव नो मासैः प्राप्नोपि परमं पदम् ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मज्ञानप्रबोधाय शास्त्रं शास्त्रविदां वर ।
किंनाम तत्प्रधानं स्याद्यस्मिन्ज्ञाते न शोच्यते ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आत्मज्ञानप्रधानानामिदमेव महामते ।
शास्त्राणां परमं शास्त्रं महारामायणं शुभम् ॥ ८ ॥
इतिहासोत्तमादस्माच्छ्रुताद् बोधः प्रवर्तते ।
सर्वेषामितिहासानामयं सार उदाहृतः ॥ ९ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजीको यह संशय हो कि महात्माओंको भी जो तत्त्व दुर्लभ है, वह मेरे सदृश मन्दमतिको कैसे प्राप्त होगा ? तो इसपर कहते हैं— **'यो०'** इत्यादिसे ।

जिसको जिस पदार्थकी चाह होती है, वह उस पदार्थकी प्राप्तिके लिए वैसा ही प्रयत्न करता है, उसे वह पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है, बशर्ते यदि वह बीचमें श्रान्त होकर उससे विरत न हो जाय ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप सज्जनसंगति और सत् शास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर होओगे, तो कुछ ही महीनोंमें, नहीं नही कुछ ही दिनोंमें परम पदको प्राप्त हो जाओगे ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ गुरुवर, आत्मज्ञान करानेके लिए कौनसा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान होनेपर फिर पुरुषको शोक नहीं होता ॥७॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते, जिन शास्त्रोंमें आत्मज्ञानका मुख्यरूपसे प्रतिपादन है, उन शास्त्रोंमें यह महारामायणनामक शास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है । इस सर्वोत्तम इतिहासका श्रवण करनेसे बोध प्राप्त हो जाता है, यह शास्त्र सम्पूर्ण इतिहासोंका सार कहा गया है ॥ ८, ९ ॥

श्रुतेऽस्मिन्वाङ्मये यस्माज्जीवन्मुक्तत्वमक्षयम् ।
उदेति स्वयमेवाऽत इदमेवाऽतिपावनम् ॥ १० ॥
स्थितमेवाऽस्तमायाति जगद् दृश्यं विचारणात् ।
यथा स्वप्ने परिज्ञाते स्वप्नादावेव भावना ॥ ११ ॥
यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत् क्वचित् ।
इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः ॥ १२ ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः ।
बोधस्याऽपि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥ १३ ॥
यस्मै नेदं त्वरुचये रोचते दुष्कृतोदयात् ।
विचारयतु यत्किञ्चित्सच्छास्त्रं ज्ञानवाङ्मयम् ॥ १४ ॥
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ।
स्वयमेव यथा पीते नीरोगत्वं वरौषधे ॥ १५ ॥

यतः इस शास्त्रके सुननेपर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वयं उदित होती है, अतएव यही सबसे पवित्रतम है ॥ १० ॥

जैसे स्वप्न आदिमें स्वप्नके रहनेपर ही 'यह स्वप्न है' ऐसा ज्ञान होनेपर स्वप्नमें सत्यत्वभान निवृत्त हो जाता है, वैसे ही इस शास्त्रके विचारसे यथास्थित ही दृश्य जगत् अस्तको प्राप्त हो जाता है। आत्मबोधके लिए अपेक्षित जो जो उत्कृष्ट युक्तियाँ इस ग्रन्थमें हैं, वे दूसरे ग्रन्थमें नहीं हैं। जो यहांपर नहीं है, वह कहीं भी नही है। इसीलिए विद्वान् जन इसको सम्पूर्ण विज्ञान शास्त्ररूपी धनोंका कोशगृह (खजाना) कहते हैं ॥ ११, १२ ॥

जो पुरुष नित्य इसका श्रवण करता है, उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले पुरुषकी बुद्धि अन्य ग्रन्थोंके अभ्याससे उत्पन्न बोधकी अपेक्षा उत्कृष्ट बोधको प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

दुर्भाग्यवश जिस पुरुषको यह शास्त्र रुचिकर नहीं होता, वह ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले अन्य किसी शास्त्रका विचार करे, इसमें हमारा कोई द्वेष नहीं है ॥ १४ ॥

यदि शङ्का हो कि इस शास्त्रके अतिशयमें हेतु क्या है, तो इसपर कहते हैं—**'जीवन्मुक्तत्वम्'** इत्यादिसे।

जैसे उत्तम ओषधिके सेवनसे नीरोगता स्वयं प्राप्त होती है, वैसे ही इस शास्त्रका श्रवण करनेपर जीवन्मुक्ति स्वयं अनुभूत होती है ॥ १५ ॥

श्रूयमाणे हि शास्त्रेऽस्मिन् श्रोता वेत्ति तदात्मना ।
यथावदिदमस्माभिर्ननूक्तं वरशापवत् ॥ १६ ॥
नश्यति संसृतिदुःखमिदं ते स्वात्मविचारणया कथयैव ।
नो धनदानतपःश्रुतवेदैस्तत्कथनोदितयत्नशतेन ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे सच्छास्त्रनिरूपणं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तच्चितास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तं नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १ ॥

इस शास्त्रके सुननेपर श्रोता पुरुष जीवन्मुक्तिका स्वयं ही अनुभव करता है, यह जो हमने कहा है, वह वर और शापके समान यथार्थ ही है, अन्यथा नहीं हो सकता है, यह भाव है ॥ १६ ॥

हे रामजी, प्रस्तुत ग्रन्थकी आत्मविचारात्मक कथासे ही आपका यह संसाररूपी क्लेश नष्ट हो जायगा । धन, दान, तपस्या, द्वैतशास्त्रोंके श्रवण, कर्मकाण्डरूप वेद और द्वैतवेदशास्त्ररूप वाक्यप्रबन्धसे उक्त यज्ञ, याग, होम आदि सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी आपका यह संसाररूप क्लेश नष्ट नही होगा ॥ १७ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवाँ सर्ग

[जीवन्मुक्तके लक्षण तथा सर्वात्मताका वर्णन और जगत्का प्रलय होनेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूपका प्रतिपादन]

आत्मविचार भी जबतक आत्मज्ञान न हो जाय, तबतक निरन्तर एकाग्र मनसे करना चाहिए । कदाचित् मास दो मासमें कर लिया या नित्य करनेपर भी बीच-बीचमें अन्यान्य व्यापार करते रहे, इस प्रकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' (जो आत्मामें ही क्रीड़ा

तेषां ज्ञानैक निष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
ब्रूहि येन तथैवाऽहं यते शास्त्रदृशा धिया ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ४ ॥

करनेवाला, आत्मामें ही रमण करनेवाला, ध्यान, वैराग्य आदि क्रियावाला है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है) 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (आत्मनिष्ठ मोक्षको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी बोले—**'तच्चित्ता०'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, जिनका चित्त निरन्तर आत्मामें ही लगा है और आत्माकी प्राप्तिमें ही जिनका जीवनव्यापार है, जो नित्य परस्पर आत्माका ही बोध कराते हुए प्रसन्न होते हैं और उसके विषयमें वार्तालाप करते हुए आनन्दमग्न होते हैं ॥ १ ॥

केवल ज्ञानसाधन श्रवण, मनन आदिमें ही जिनकी एकतानता है और जो सदा आत्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन महात्माओंकी वह जीवन्मुक्ति उदित होती है, जो देह छूटनेसे शुद्ध मुक्ति ही है, अन्य नहीं ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, विदेहमुक्त और जीवन्मुक्तका लक्षण आप मुझसे कहिये । जिससे कि मैं शास्त्ररूपी नेत्रसे उत्पन्न की गई बुद्धिसे वैसा ही होनेके लिए प्रयत्न करूँ ॥ ३ ॥

पहले जीवन्मुक्ति होती है, तदुपरान्त विदेहमुक्ति होती है, परन्तु श्लोकमें श्रीरामचन्द्रजीने पहले विदेहमुक्तिका लक्षण पूछा है, पश्चात् जीवन्मुक्तिका । पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान् होता है, इस न्यायसे पाठ क्रमका उल्लङ्घन करके श्रीवसिष्ठजीने पहले जीवन्मुक्तिके लक्षणका प्रतिपादन किया—**'यथा'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जिन कर्मोंका शास्त्रमें निषेध नहीं है, उनको करते हुए भी जिस पुरुषका यथास्थित यह विश्व परमार्थ दृष्टिसे निवृत्त होकर आकाशकी नाईं शून्य हो जाता है, दर्पणमें स्थित नगरकी नाईं प्रतीत होता हुआ भी नहीं ही है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४ ॥

बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ५ ॥
नोदेति नाऽस्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ६ ॥
यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्तः उच्यते ॥ ७ ॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ८ ॥
यस्य नाऽहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ९ ॥
यस्योन्मेषनिमेषार्द्धाद्विदः प्रलयसंभवौ ।
पश्येत्त्रिलोक्याः स्वसमः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १० ॥

जो व्यवहार करता हुआ ही 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इस भगवद्वचनके अनुसार जाग्रत् अवस्थामें भी सुषुप्तके समान निर्विकार रहता है, बोधनिष्ठताको प्राप्त वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५ ॥

जिसकी मुखकान्ति क्रमशः सुख और दुःखमें उदित और अस्त नहीं होती अर्थात् जिसकी मुखकान्ति सुखमें विकसित और दुःखमें म्लान नही होती और जो कुछ मिल गया उससे जीवननिर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ६ ॥

जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तके समान स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपी निद्राका विनाश होनेसे आत्मामें सदा जागरूक रहता है । देह, इन्द्रिय आदिका बाध हो जानेसे इन्द्रियों द्वारा पदार्थोंकी प्रतीतिरूप जाग्रत् अवस्था जिसकी नहीं है और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ७ ॥

बाहर अनुराग, द्वेष, भय आदिका यथायोग्य नटकी नाई आचरण करता हुआ भी जो अन्दर आकाशकी नाई निर्विकार है तथा निरावरणस्वरूप आत्मामें स्थित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

जिसमें अहङ्कार नहीं है और कर्म कर रहे अथवा न कर रहे जिसकी बुद्धि कर्तृत्व और अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ९ ॥

जो चिदात्माके अर्ध आवरणभङ्गसे तीनों लोकोंका प्रलय और अर्द्ध-

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११ ॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १२ ॥
यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
पदार्थेष्वपि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १३ ॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ १४ ॥
विदेहमुक्तो नोदेति नाऽस्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नाऽसन्न दूरस्थो न चाऽहं न च नेतरः ॥ १५ ॥

आवरणसे तीनों लोकोंकी उत्पत्ति देखता है एवं जो अपनी आत्मामें सम है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १० ॥

जिससे अन्य लोगोंको भय नहीं है और जिसको लोगोंसे भय नही है यानी हर्ष, क्रोध और भयके हेतु अज्ञानाभिमानसे रहित होनेके कारण जिससे अन्य लोग भयभीत नही होते और स्वयं जो अन्य लोगोंसे भयभीत नहीं होता, वह जीवनमुक्त कहा जाता है ॥ ११ ॥

जिसकी संसारविषयक सत्यताबुद्धि निवृत्त हो गई है, जो दूसरोंकी दृष्टिमें देह आदि अवयवोंसे युक्त होता हुआ भी निरवयव है और जो सचेतन होता हुआ भी चित्तरहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १२ ॥

राग आदिके विषय पदार्थोंमें भी पूर्णात्मा (आत्मबुद्धि) होकर जो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्यवहार करता हुआ भी राग आदिसे तापको प्राप्त नही होता, वह जीवन्मुक्त है ॥ १३ ॥

अब पहले पूछे गये जीवन्मुक्तका लक्षण कहनेके लिए भूमिका बाँधते हैं— **'जीवन्मुक्त०'** इत्यादिसे ।

हे राम, जैसे वायु अपनी सहज चञ्चलताका परित्याग करनेके उपरान्त स्थिरताको प्राप्त होता है, वैसे ही पूर्वोक्त जीवन्मुक्त पुरुष देह छूटनेके अनन्तर यानी प्रारब्ध कर्मोंके क्षीण होनेपर जीवन्मुक्तिपदका त्याग कर विदेहमुक्तिमें प्रवेश करता है ॥१४॥

सर्वप्रथम जीवन्मुक्तका विद्वानों द्वारा अनुभूत स्वरूपलक्षण कहते हैं— **'विदेहमुक्तो'** इत्यादिसे ।

सूर्यो भूत्वा प्रतपति विष्णुः पाति जगत्रयम् ।
रुद्रः सर्वान् संहरति सर्गान् सृजति पद्मजः ॥ १६ ॥
खं भूत्वा पवनस्कन्धं धत्ते सर्षिसुरासुरम् ।
कुलाचलगतो भूत्वा लोकपालपुरास्पदः ॥ १७ ॥
भूमिर्भूत्वा बिभर्त्तीमां लोकस्थितिमखण्डिताम् ।
तृणगुल्मलता भूत्वा ददाति फलसन्ततिम् ॥ १८ ॥
बिभ्रज्जलानलाकारं ज्वलति द्रवति द्रुतम् ।
चन्द्रोऽमृतं प्रसवति मृतं हालाहलं विषम् ॥ १९ ॥
तेजः प्रकटयत्याशास्तनोत्यान्ध्यं तमो भवत् ।
शून्यं सद् व्योमतामेति गिरिः सन् रोधयत्यलम् ॥ २० ॥

जिस पुरुषको विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है, उसका फिर कभी न उदय (वृद्धि) होता है और न ह्रास ही होता है । वह न तो शान्त ही होता है [और न अशान्त ही होता है], वह व्यक्त भी नहीं है, अव्यक्त भी नहीं है, दूरस्थ भी नहीं है और निकटस्थ भी नहीं है अर्थात् सर्वव्यापी है । वह आत्मरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते अर्थात् वह आत्मरूप ही है और आत्मासे भिन्न देह, इन्द्रिय आदिरूप नही है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वस्वरूप होनेसे सब कुछ वही है ॥१५॥

लोकदृष्टिसे उसका सर्वात्मरूप तटस्थलक्षण कहते हैं—**'सूर्यो'** इत्यादिसे ।

वही सूर्य बनकर जगत्को प्रकाश और घाम देता है, विष्णु बनकर सबका पालन-पोषण करता है, रुद्र बनकर सबका संहार करता है और ब्रह्मा बनकर विविध सृष्टियाँ करता है । वही आकाश बनकर वायुस्कन्धोंको (ऊपर ऊपर स्थित उनचास वायुरूपी स्तरोंको) तथा ऋषि, देव और असुरोंको धारण करता है, वही सुमेरु और हिमालय बनकर इन्द्र आदि लोकपालोंको धारण करता है । वही भूमि बनकर कभी विच्छिन्न न होनेवाली इस जनमर्यादाकी रक्षा करता है और वही तिनके, झाड़ियाँ और लताएँ बनकर विविध फल देता है । वही जल और अग्निका आकार धारण कर बरसता है और जलता है, वही चन्द्रमा बनकर अमृत बरसाता है, हलाहल विष बनकर मृत्यु पैदा करता है । वही प्रकाश बनकर दिशाओंको प्रकाशित करता है और तम बनकर अन्धकारको फैलाता है, शून्य होकर व्योमरूपताको प्राप्त होता है तथा पर्वत बनकर वायु आदिके वेगको रोकता है ॥ १६—२० ॥

करोति जङ्गमं चित्तः स्थावरं स्थावराकृतिः ।
भूत्वाऽर्णवो वलयति भूस्त्रियं वलयो यथा ॥ २१ ॥
परमार्कवपुर्भूत्वा प्रकाशान्तं विसारयन् ।
त्रिजगत्त्रसरेण्वोघं शान्तमेवाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥
यत्किञ्चिदिदमाभाति भातं भानमुपैष्यति ।
कालत्रयगतं दृश्यं तदसौ सर्वमेव च ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

कथमेवं वद ब्रह्मन् भूयते विषमा हि मे ।
दृष्टिरेषाऽथ दुष्प्राप्या दुराक्रम्येति निश्चयः ॥ २४ ॥

वही अन्तःकरणमें स्फुट अभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जङ्गम जगत्की और अनभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जडाकृति बनकर स्थावर जगत्की रचना करता है। वही समुद्र बनकर पृथिवीरूपी स्त्रीको, जैसे कड़ा स्त्रीको परिवेष्टित करता है वैसे ही, परिवेष्टित करता है ॥ २१ ॥

आवरणरहित चैतन्यरूप बनकर चैतन्यके प्रकाशसे व्याप्त तीनों जगतोंसे लेकर त्र्यणुकपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थोंका विस्तार करता हुआ भी स्वयं शान्त (निर्विकार) ही रहता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ यह दृश्य इस समय प्रकाशित हो रहा है यानी वर्तमानमें स्थित है, जो कुछ पहले प्रकाशित हुआ था, यानी भूतकालमें स्थित था और जो कुछ आगे प्रकाशको प्राप्त होगा यानी जो भविष्यत् कालमें स्थित होगा वह सम्पूर्ण दृश्य यही है, इससे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है ॥ २२,२३ ॥

पुरुषको समदृष्टि प्राप्त करनेमें अनेकानेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, अतः समदृष्टि दुर्लभ हैं। जब समदृष्टि दुर्लभ है, तब मुक्तिकी दुर्लभता धरी धराई है, ऐसा समझ रहे मुक्तिकी प्राप्तिके उपायके प्रति उत्कण्ठित श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'**कथमेवम्**' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कृपा करके कहिए कि जैसा आपने कहा है, वैसा मै कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि मेरी दृष्टि विषम है। ऐसी अवस्थामें मुक्ति दुष्प्राप्य है। यदि यथाकथञ्चित् प्राप्त भी हो जाय, तो उसमें चित्तको स्थिर रखना कहीं कठिन है। वह हाथमें आकर भी स्थायी नही हो सकती, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं शृणु तत् प्राप्यते कथम् ॥ २५ ॥
यदिदं दृश्यते दृश्यमहन्त्वन्तादिसंयुतम् ।
सतोऽप्यस्याऽत्यनुत्पत्त्या बुद्ध्यैतदवाप्यते ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

विदेहमुक्तास्त्रैलोक्यं सम्पद्यन्ते यदा तदा ।
मन्ये ते सर्गतामेव गता वेद्यविदांवर ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विद्यते चेत्त्रिभुवनं तत्तत्तां संप्रयान्तु ते ।
यत्र त्रैलोक्यशब्दार्थो न संभवति कश्चन ॥ २८ ॥

यों उत्कण्ठित हुए श्रीरामचन्द्रजीको मुक्तिप्राप्तिके उपायके उपदेश द्वारा धीरज देते हुए श्रीवसिष्ठजी बोले—'**मुक्तिरेषो०**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, यह मुक्ति कही जाती है, इसे ब्रह्म कहते हैं तथा यह निर्वाण कहा जाता है, वह कैसे प्राप्त होता है, इसको मैं कहता हूँ आप सुनिए । वत्स, तुम, मैं, वह, यह इत्यादि भावोंसे युक्त जो यह दृश्य दिखाई देता है, वह यद्यपि सत्-रूपसे प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्यापुत्रके तुल्य उसकी अत्यन्त अनुत्पत्तिके ज्ञानसे, यह मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २५, २६ ॥

ब्रह्मप्राप्ति होनेके अनन्तर ब्रह्मभावसे संसारप्राप्ति ही क्यों नहीं होगी ? क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मरूप है, यों भगवती श्रुति कहती है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'**विदेह०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, विदेहमुक्त पुरुष जब त्रैलोक्य-रूपताको प्राप्त होते हैं, तब वे संसारभावको ही प्राप्त हुए, ऐसा मैं समझता हूँ ॥२७॥

दृश्यमान जगत्की पूर्वोक्त अत्यन्त अनुत्पत्तिका ही अवलम्बन कर श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका निराकरण करते हैं—'**विद्यते**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, यदि त्रैलोक्य हो, तो वे (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यताको प्राप्त हों । जहांपर त्रैलोक्यशब्दका कोई अर्थ ही नहीं हो सकता, वहांपर यह ब्रह्म (विदेहमुक्त) त्रैलोक्यरूपताको प्राप्त हुआ, इस प्रकार आपके

एतत्त्रिलोकतां यातं ब्रह्मेत्युक्तार्थधीः कुतः ।
तस्मान्नो संभवत्येषा जगच्छब्दार्थकल्पना ॥ २९ ॥
अनन्यच्छान्तमाभासमात्रमाकाशनिर्मलम् ।
ब्रह्मैव जगदित्येतत् सर्वं सत्त्वावबोधतः ॥ ३० ॥
अहं हि हेमकटके विचार्याऽपि न दृष्टवान् ।
कटकत्वं क्वचिन्नाम ऋते निर्मलहाटकात् ॥ ३१ ॥
जलादृते पयोवीचौ नाऽहं पश्यामि किञ्चन ।
वीचित्वं तादृशं दृष्टं यत्र नाऽस्त्येव तत्र हि ॥ ३२ ॥
स्पन्दत्वं पवनादन्यन्न कदाचन कुत्रचित् ।
स्पद एव सदा वायुर्जगत्तस्मान्न भिद्यते ॥ ३३ ॥
यथा शून्यत्वमाकाशे ताप एव मरौ जलं ।
तेज एव सदालोके ब्रह्मैव त्रिजगत्तथा ॥ ३४ ॥

द्वारा शङ्कित अर्थकी प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? इससे सिद्ध हुआ कि वन्ध्यापुत्रशब्दके अर्थकी कल्पनाकी नाई जगत्शब्दके अर्थकी कल्पना नहीं हो सकती ॥ २८,२९ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय और विजातीय भेदसे शून्य, निर्विकार, आकाशके समान निर्मल चिन्मात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंमें सन्मात्रताकी प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

यदि ज्ञानदृष्टिसे पर्यालोचन किया जाय, तो ब्रह्ममें अध्यस्त जगत्की असत्ता स्पष्टतया प्रतीत हो जाती है, इस बातका दृष्टान्तों द्वारा अनुभव कराते हैं— **'अहम्'** इत्यादिसे ।

वत्स, मैंने सोनेके कड़ेमें, बहुत विचार करके भी, विशुद्ध सुवर्णके सिवा 'कटक' नामक कोई वस्तु कहीं नहीं देखी। जल-तरङ्गमें जलके सिवा मैं कुछ नहीं देखता हूँ और जहाँपर तरङ्ग नहीं दिखाई देती, वहाँपर भी जलके सिवा कुछ नहीं है। भाव यह है कि जलकी चाहे तरङ्गावस्था हो, चाहे अतरङ्गावस्था हो, दोनों जलके सिवा अन्य कुछ वस्तु नहीं हैं। वायुसे भिन्न स्पन्दत्वनामकी कोई वस्तु कभी कहींपर नहीं देखी गई, स्पन्द (वायुकी गति) सदा वायुरूप ही है, इसलिए ब्रह्मसे जगत् अतिरिक्त नही है, किन्तु ब्रह्मरूप ही है। जैसे आकाशमें

श्रीराम उवाच

अत्यन्ताभावसम्पत्त्या जगद्दृश्यस्य मुक्तता ।
ययोदेति मुने युक्त्या तां ममोपदिशोत्तमाम् ।। ३५ ।।
मिथः सम्पन्नयोर्द्रष्टृदृश्ययोरेकसंख्ययोः ।
द्वयाभावे स्थितिं याते निर्वाणमवशिष्यते ।। ३६ ।।
दृश्यस्य जगतस्तस्मादत्यन्तासंभवो यथा ।
ब्रह्मैवेत्थं स्वभावस्थं बुध्यते वद मे तथा ।। ३७ ।।
कयैतज्ज्ञायते युक्त्या कथमेतत्प्रसिद्ध्यति ।
एतस्मिंस्तु मुने सिद्धे न साध्यमवशिष्यते ।। ३८ ।।

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
नूनं विचारमन्त्रेण निर्मूलमुपशाम्यति ।। ३९ ।।

शून्यत्व, मरूभूमिमें ताप ही जल और प्रकाश तेजरूप है, वैसे ही त्रैलोक्य ब्रह्म ही है ।। ३१,३४ ।।

श्रीगुरुजीने जो दृष्टान्त दर्शाये, उनपर भली भाँति विचार कर श्रीरामचन्द्रजीको गुरुजी द्वारा कथित अर्थमें जो संभावना हुई उसे दो श्लोकोंसे बतलाते हुए तथा उसमें विपरीतभावनारूप विक्षेपके होनेके कारण फिर असंभावना आदि विकल्पोंके उदयसे अस्थिर मन द्वारा उस उपदेशसे उक्त तत्त्वका धारण करनेमें असमर्थ-से होते हुए—श्रीरामचन्द्रजी उसके अवधारणके उपाय पूछते हैं—**'अत्यन्ता०'** इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, जिस युक्तिसे दृश्यमान जगत्के बाध द्वारा मुक्ति प्राप्त हो, उस उत्तम युक्तिका मुझे उपदेश दीजिये । परस्पर एक संख्यामें प्राप्त हुए यानी बाधके अवधिरूपसे अवशिष्ट स्वप्रकाश आत्मभावको प्राप्त हुए द्रष्टा और दृश्यमें द्वितीयताके अभावके स्थिर होनेपर निर्वाण (मुक्ति) शेष रहती है । इसलिए जिससे दृश्य जगत्का अत्यन्ताभाव (बाध) हो और जगत्का बाध होनेपर कूटस्थ ब्रह्मका ही बोध हो, उस उपायको मुझसे कहिए । उक्त बात किस युक्तिसे ज्ञात होती है और कैसे स्थिर होती है, हे मुनिश्रेष्ठ, इसके स्थिर होनेपर फिर कुछ भी साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रहता ।। ३५–३८ ।।

श्रुत अर्थकी एक बार संभावना होनेपर पुनः पुनः चिरकालतक उसका

न शक्यते झटित्येषा समुत्सादयितुं क्षणात् ।
समप्रपतने ह्यद्रौ समरोहावरोहणे ॥ ४० ॥
तस्मादभ्यासयोगेन युक्त्या न्यायोपपत्तिभिः ।
जगद्भ्रान्तिर्यथा शाम्येत्तवेदं कथ्यते शृणु ॥ ४१ ॥
वक्ष्याम्याख्यायिकां राम यामिमां बोधसिद्धये ।
तां चेच्छृणोषि तत्साधो मुक्त एवाऽसि बोधवान् ॥ ४२ ॥
अथोत्पत्तिप्रकरणं मयेदं तव कथ्यते ।
यत्किलोत्पद्यते राम तेन मुक्तेन भूयते ॥ ४३ ॥

अभ्यास ही उसके अवधारणका उपाय है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी बोले—**'बहुकालम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, चिरकालसे बद्धमूल यह अज्ञानरूपी विषूचिका (हैजा) विचाररूपी मन्त्रसे समूल नष्ट हो जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। कोई चाहे कि मै तुरन्त एक क्षणमें इसे नष्ट कर दूँ, तो उसका वैसा चाहना ठीक नहीं, क्योंकि एक क्षणमें शीघ्र इसका नाश होना कठिन ही नहीं असंभव है, जैसे कि पर्वतशिखरपर चढे हुए पुरुषके लिए जिसके चारों ओरसे नीचे गिरना तुल्य ही है, ऐसे पर्वतमें एक ही समयमें चढ़ना और उतरना कठिन ही नहीं असम्भव है । वैसा ही यहाँपर भी समझना चाहिए। अतएव आपकी यह जगद्भ्रान्ति पुनः पुनः अभ्याससे, युक्तियोंसे तथा दृष्टान्तों द्वारा जैसे शान्त हो जाय वैसे मै कहता हूँ, आप सुनिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको बोधकी प्राप्ति होनेके लिए जिस आख्यायिकाको कहूँगा, हे सज्जनशिरोमणे, उसको यदि आप सुनेंगे, तो ज्ञानी होकर अवश्य मुक्त ही हो जायँगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३९–४२ ॥

प्रलयाख्यायिकाके अनन्तर मै आपसे जगत्की उत्पत्तिका क्रम कहूँगा। हे रामजी, जो जो उत्पन्न होता है, वही मुक्त होता है अर्थात् बन्धशून्य स्वरूपसे स्थित होता है। उत्पत्ति-प्रकरण यानी जगदुत्पत्तिक्रम। वह निर्विकार ब्रह्म ही उपादान जिसका है, ऐसा ब्रह्मविवर्त ही है, ऐसा फलित होता है, इस प्रकार बन्धके मिथ्या होनेपर मोक्ष स्वतःसिद्ध ठहरा, यही उत्पत्तिप्रकरणके वर्णनका अभिप्राय है ॥ ४३ ॥

इयमित्थं जगद्भ्रान्तिर्भात्यजातैव खात्मिका ।
इत्युत्पत्तिप्रकरणे कथ्यतेऽस्मिन् मयाऽधुना ॥ ४४ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं ससुरासुरकिन्नरम् ॥ ४५ ॥

तन्महाप्रलये प्राप्ते रुद्रादिपरिणामिनि ।
भवत्यसद्दृश्यात्म क्वाऽपि याति विनश्यति ॥ ४६ ॥

ततस्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ॥ ४७ ॥

न शून्यं नाऽपि चाऽऽकारं न दृश्यं न च दर्शनम् ।
न च भूतपदार्थौघो यदनन्ततया स्थितम् ॥ ४८ ॥

किमप्यव्यपदेशात्म पूर्णात् पूर्णतराकृति ।
न सन्नाऽसन्न सदसन्न भावो भवनं न च ॥ ४९ ॥

इस प्रकार यह जगद्भ्रान्ति कभी उत्पन्न न हुई तथा शून्यरूप होती हुई भी प्रतीत होती है, इस उत्पत्तिप्रकरणमें अब यही मै आपसे कहूँगा ॥ ४४ ॥

उक्त अर्थका ही प्रलयाख्यायिका द्वारा समर्थन करनेके लिए प्रकरणान्तरका आरम्भ करते हैं—'**यदिदम्**' इत्यादिसे ।

विविध प्रकारकी वस्तुओंसे परिपूर्ण तथा देवता, असुर, किन्नर आदिसे अधिष्ठित सम्पूर्ण जो कुछ भी यह सचराचर जगत् दिखाई देता है, वह रुद्र आदिका भी तिरोधान करनेवाले महाप्रलयमें असद् एवं अदृश्यस्वरूप होकर न मालूम कहां चला जाता है, विनष्ट हो जाता है। उसके अनन्तर नाम और रूपसे रहित शान्त गम्भीर केवल 'सत्' ही अवशिष्ट रहता है, जो अनन्तरूपसे स्थित है। वह न तेज है और न व्याप्त अन्धकार ही है। न वह शून्य ही है, न आकारवान् ही है, न दृश्य है, न दर्शन है और न भूत-भौतिक पदार्थसमूह ही है। नामरहित होनेसे वह अव्यपदेश्यस्वरूप है (उसके स्वरूपका निर्वचन नहीं किया जा सकता) और पूर्णसे भी पूर्णतर आकारवाला है। न वह व्यक्त है, न अव्यक्त है, न व्यक्ताव्यक्त है, न वह कालसम्बन्ध ही है और न कालसम्बन्धवान् ही है। वह दृश्यशून्य, चिन्मात्र, अनन्त, अजर,

चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ ५० ॥
यस्मिन् जगत् प्रस्फुरति दृष्टमौक्तिकहंसवत् ।
यश्चेदं यश्च नैवेदं देवः सदसदात्मकः ॥ ५१ ॥
अकर्णजिह्वानासात्वङ्नेत्रः सर्वत्र सर्वदा ।
शृणोत्यास्वादयति यो जिघ्रेत्स्पृशति पश्यति ॥ ५२ ॥
स एव सदसद्रूपं येनाऽऽलोकेन लक्ष्यते ।
सर्गचित्रमनाद्यन्तं स्वरूपं चाऽऽप्य रञ्जनम् ॥ ५३ ॥
अर्द्धोन्मीलितदृश्यभ्रूमध्ये तारकवत् जगत् ।
व्योमात्मैव सदाभासं स्वरूपं योऽभिपश्यति ॥ ५४ ॥

शिव, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, कारणशून्य और निर्दोष है ॥ ४५, ५० ॥

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् चित्र, भ्रान्ति आदिमें देखे गये मुक्तामय हंसकी नाईं प्रस्फुरित हुआ है और जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें अनुगत है, वह केवलरूप देव अध्यारोपदृष्टिसे जगद्रूप है और अपवाददृष्टिसे जगद्रूप नहीं है* ॥५१॥

जिसके न कान हैं, न जीभ है, न नासिका है, न त्वचा है और न नेत्र हैं फिर भी वह सदा सभी जगह सुनता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, छूता है और देखता है। जिस प्रकाशसे पूर्वोक्त सद् और असद्रूप प्रपञ्च दिखाई देता है, वह चैतन्य-रूप आलोक भी वही है। अज्ञानके रहनेपर विविध सृष्टियां करनेवाला वही है और अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर आदि और अन्तसे शून्य स्वरूपको पाकर चित्प्रकाशस्वरूप भी वही है ॥ ५२, ५३ ॥

इसी प्रकार जीवन्मुक्तदशामें बाधित जगत्का आभासरूप दर्शन भी वही है, ऐसा कहते हैं—'अर्द्धो०' इत्यादिसे ।

---

* 'दृष्टमौक्तिकहंसवत्' इस पदका संस्कृत-टीकाकारने एक और अर्थ भी किया है, वह यों है—हंस मोती खाते हैं, अतः उनका सम्पूर्ण शरीर मोतियोंका ही परिणाम ठहरा। उनको देखनेसे पहले सहसा यही प्रतीति होती है कि ये मोती हैं, जब समीप जाकर विशेषरूपसे देखा जाता है, तब ये मोती नहीं हैं, किन्तु हंस हैं, ऐसा निश्चय होता है, तात्पर्य यह हुआ कि जैसे विशेषतः अगृहीत मुक्ताभोजी हंसरूप द्रव्यमें अध्यारोपदृष्टिसे मुक्तारूपताकी और अपवाददृष्टिसे अमुक्तारूपताकी प्रतीति होती है, वैसे ही अध्यारोपदृष्टिसे व्यक्ताव्यक्तानुगत देव जगद्रूप है और अपवाददृष्टिसे जगद्रूप नहीं है।

यस्याऽन्यदस्ति न विभोः कारणं शशशृङ्गवत् ।
यस्येदं च जगत्कार्यं तरङ्गौघ इवाऽम्भसः ॥ ५५ ॥
ज्वलतः सर्वतोऽजस्रं चित्तस्थानेषु तिष्ठतः ।
यस्य चिन्मात्रदीपस्य भासा भाति जगत्त्रयम् ॥ ५६ ॥
यं विनाऽर्कादयोऽप्येते प्रकाशास्तिमिरोपमाः ।
सति यस्मिन् प्रवर्त्तन्ते त्रिजगन्मृगतृष्णिकाः ॥ ५७ ॥
सस्पन्दे समुदेतीव निःस्पन्दान्तर्गते न च ।
इयं यस्मिन् जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ ५८ ॥
जगन्निर्माणविलयविलासो व्यापको महान् ।
स्पन्दास्पन्दात्मको यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ॥ ५९ ॥

जैसे योगी खेचरी मुद्रामें दो भौहोंके बीचमें दृष्टि रखनेपर अर्धनिमीलित नेत्रसे दृश्य भौहके मध्यमें नेत्रोंकी काली पुतलीको लगा कर अस्फुट होनेके कारण सदा आभासरूप जगत्को देखते हैं, वैसे ही जो आकाशरूप सदाभासस्वरूपको देखता है, वह भी सद्रूप ही है। जैसे शशशृङ्गका कोई कारण नहीं है, वैसे जिस सर्वव्यापकका कोई दूसरा कारण नहीं है और जैसा जलका तरङ्गसमूह कार्य है, वैसे ही जिस सर्वकारणका यह जगत् कार्य है ॥ ५४, ५५ ॥

इस प्रकार उसको सम्पूर्ण जीवोंके लयके आधार तत्पदार्थस्वरूपसे दर्शा कर अब त्वंपदार्थरूपसे उसे दर्शानेके लिए कहते हैं—**'ज्वलतः'** इत्यादिसे।

सामान्यरूपसे सभी जगह देदीप्यमान परन्तु अन्तःकरणमें आवरणशून्य होनेके कारण सदा विशेष अभिव्यक्ति द्वारा देदीप्यमान और विद्यमान जिस चिन्मात्ररूपी दीपककी दीप्तिसे तीनों जगत् प्रकाशित होते हैं; प्रकाशमय भी ये सूर्य आदि जिसके बिना अन्धकारसदृश हैं और जिसके रहनेपर ही तीनों जगद्रूपी मृगतृष्णाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ५६, ५७ ॥

जैसे रातमें जली हुई लकडीको घुमानेपर चक्राकारता दीख पड़ती है, वैसे ही इसके मनोभावको प्राप्त होनेसे विक्षोभयुक्त होनेपर यह जगत्-शोभा उदित हो जाती है और प्रत्यक्त्वको प्राप्त होनेसे निःस्पन्द (विक्षोभरहित) होनेपर जगत्-शोभा उदित नहीं होती ॥ ५८ ॥

जगत्की सृष्टि और संहार जिसके विलास हैं, जो महान् सर्वव्यापक और

स्पन्दास्पन्दमयी यस्य पवनस्येव सर्वगा ।
सत्ता नाम्नैव भिन्नेव व्यवहारान्न वस्तुतः ॥ ६० ॥
सर्वदैव प्रबुद्धो यः सुप्तो यः सर्वदैव च ।
न सुप्तो न प्रबुद्धश्च यः सर्वत्रैव सर्वदा ॥ ६१ ॥
यदस्पन्दं शिवं शान्तं यत्स्पन्दं त्रिजगत्स्थितिः ।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा य एको भरिताकृतिः ॥ ६२ ॥
आमोद इव पुष्पेषु न नश्यति विनाशिषु ।
प्रत्यक्षस्थोऽप्यथाऽग्राह्यः शौक्ल्यं शुक्लपटे यथा ॥ ६३ ॥
मूकोपमोऽपि योऽमूको मन्ता योऽप्युपलोपमः ।
यो भोक्ता नित्यतृप्तोऽपि कर्त्ता यश्चाऽप्यकिञ्चनः ॥ ६४ ॥

स्पन्दस्वरूप तथा अस्पन्दस्वरूप है एवं जिसका पारमार्थिक स्वरूप निर्मल और अक्षय है ॥ ५९ ॥

वायुकी स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ताकी नाईं जिसकी स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता व्यवहारवश नामसे ही भिन्न-सी है, वस्तुतः भिन्न नही है । भाव यह कि पूर्वोक्त स्पन्द और अस्पन्द सद्रूपता और पूर्णता रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त जो अन्यथाभाव है, उसकी विवर्तवश जनित सत्ता केवल नामसे ही भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नहीं है ॥ ६० ॥

जो सदा ही जागा रहता है, जो सदा ही सोया रहता है और जो सभी जगह सदा न सोया रहता है और न जागा रहता है ॥ ६१ ॥

जिसका अस्पन्दस्वरूप शिव और शान्त यानी परम मङ्गलमय है और जिसका स्पन्दस्वरूप तीनों जगतोंकी स्थिति है । यों स्पन्द और अस्पन्दका विलास ही जिसका स्वरूप है । जो एक (अद्वितीय) और परिपूर्णस्वरूप है ॥ ६२ ॥

जैसे पुष्पोंमें सुगन्धि सार है, वैसे ही सम्पूर्ण विनाशी पदार्थोंमें जो साररूपसे स्थित है । विनाशी पदार्थोंका विनाश होनेपर भी जो अविनाशीस्वरूपसे स्थित रहता है । सम्पूर्ण वस्तुओंका प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियोंमें प्रकाशरूपसे स्थित होता हुआ भी शुक्ल वस्त्रमें स्थित शुक्लताकी नाईं वृत्तिविषयत्वरूपसे गृहीत नही होता, जो वाग् आदि इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण मूकके सदृश होता हुआ भी सम्पूर्ण वाणियोंकी प्रवृत्तिमें कारण होनेसे मूक नहीं है, जो मनरूप विकारसे रहित होनेके कारण पाषाणके

योऽनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः सहस्रकरलोचनः ।
न किञ्चित्संस्थितेनाऽपि येन व्याप्तमिदं जगत् ॥ ६५ ॥
निरिन्द्रियबलस्याऽपि यस्याऽशेषेन्द्रियक्रियाः ।
यस्य निर्मननस्यैता मनोनिर्माणरीतयः ॥ ६६ ॥
यदनालोकनाद् भ्रान्तिसंसारोरगभीतयः ।
यस्मिन् दृष्टे पलायन्ते सर्वाशाः सर्वभीतयः ॥ ६७ ॥
साक्षिणि स्फार आभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ।
सति यस्मिन् प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ॥ ६८ ॥
यस्माद् घटपटाकारपदार्थशतपङ्क्तयः ।
तरङ्गगणकल्लोलवीचयो वारिधेरिव ॥ ६९ ॥
स एवाऽन्यतयोदेति यत्पदार्थशतभ्रमैः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ ७० ॥

तुल्य होता हुआ भी मन्ता (मननक्रियाकारी) है, जो नित्यतृप्त होता हुआ भी भक्षण करता है, जो क्रियातीत होता हुआ भी कर्ता है, अङ्गरहित होने-पर भी सम्पूर्ण लोगोंके अङ्ग ही जिसके अङ्ग हैं, अतएव जिसकी हजारों भुजाएँ हैं और हजारों नेत्र आदि हैं। जिसके शरीरकी कुछ भी गठन नहीं है, फिर भी जिसने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। जो इन्द्रियबलसे विहीन है, फिर भी सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार करता है, जो मननशून्य है, फिर भी ये प्रसिद्ध जगद्रूप कारीगरियां जिसकी कृतियाँ हैं, जो कि मनके बिना नहीं हो सकती। जिसके अदर्शनसे भ्रमजनित संसाररूपी सर्पकी भीतियाँ होती हैं, जिसका साक्षात्कार होने-पर सम्पूर्ण भवभीतियाँ चारों दिशाओंमें भाग जाती हैं ॥ ६७ ॥

जैसे दीपकके रहनेपर नाट्य आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही अपरिच्छिन्न प्रकाशरूप अतएव साक्षीरूप जिस कूटस्थके रहते स्पन्दपूर्वक चित्तचेष्टाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ६८ ॥

जैसे समुद्रसे तरङ्गसमूहभूत बड़ी बड़ी लहरें निकलती हैं, वैसे ही जिससे घट-पटाकार सैकड़ों हजारों पदार्थ प्रवृत्त होते हैं, जैसे कड़ा, बाजूबन्द, केयूर तथा नूपुरोंसे उनका कारण सुवर्ण अन्य-सा प्रतीत होता है, वैसे ही प्रसिद्ध शतशत पदार्थोंके भ्रमसे जो अन्य-सा प्रतीत होता है ॥ ६९, ७० ॥

यस्त्वमेकोऽवभासात्मा योऽहमेते जनाश्च ये ।
यश्च न त्वमबुद्धात्मा नाऽहं नैते जनाश्च यः ॥ ७१ ॥
अन्येवाऽप्यतिरिक्तेव सैवाऽसेव च भङ्गुरा ।
पयसीव तरङ्गाली यस्मात् स्फुरति दृश्यभूः ॥ ७२ ॥
यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता ।
मानसी कलना येन यस्य भासा विभासनम् ॥ ७३ ॥
क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनं ।
यद्वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥ ७४ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्थितम् ।
साधो तदवधानेन स्वात्मानमवबुद्ध्यसे ॥ ७५ ॥
अजमजरमनाद्यं शाश्वतं ब्रह्म नित्यं
शिवममलममोघं वन्द्यमुच्चैरनिन्द्यम् ।

जो तुमसे साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ त्वद्रूप ही एक है, मुझसे साक्षात्कृत-स्वरूप होता हुआ मद्रूप ही एक है और अन्य जनों द्वारा साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ तत्-तत् रूप ही एक है तथा जो अज्ञातस्वरूप होता हुआ न त्वद्रूप है, न मद्रूप है और न अन्य जनरूप है ॥ ७१ ॥

जैसे जलमें क्षणमें नष्ट होनेवाली तरङ्गोंकी पंङ्क्ति स्फुरित होती है, वैसे ही जिससे अनन्य होती हुई भी अन्य-सी, पृथक् न होती हुई भी पृथक्-सी, प्रथमतः सिद्ध हुई भी उत्पन्न हुई-सी यह विनाशशील दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है ॥७२॥

जिससे कालके छः भावविकार, दृश्यकी दृश्यता तथा इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारविषयक विविध मनोरथ होते हैं, ये तीन जिसकी दीप्तिसे जगत्के प्रकाशनरूप ही हैं, उससे अन्य कुछ नहीं है। हे राम, आप क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतनको यत्स्वरूप होकर जानते हो, वह चिद्रूप भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी वही है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके मध्यमें साक्षीरूपसे जो स्थित है। स्वात्मभूत उसको एकाग्र मनसे उपाधियोंसे पृथक् करके हे साधो, आप समझिए ॥ ७३–७५ ॥

इस प्रकार तत् और त्वं पदार्थका निर्देश कर अन्तमें वाक्यार्थका निर्देश करते हैं—**'अजम्'** इत्यादिसे ।

सकलकलनशून्यं कारणं कारणाना-
मनुभवनमवेद्यं वेदनं विश्वमन्तः ॥७६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
परमकारणवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

——०——

दशमः सर्गः

श्रीराम उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ यदेतदवशिष्यते ।
भवत्येतदनाकारं नाम नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, जन्म और जरासे रहित, अनादि, नित्य, मङ्गलमय, निर्मल, अमोघ, सबके वन्दनीय, अनिन्द्य, सम्पूर्ण सम्बन्धोंसे रहित, सम्पूर्ण कारणोंके कारण, अनुभवरूपी विश्वात्मक साक्षीरूप जो ब्रह्म है, वही तुम हो * ।

नवाँ सर्ग समाप्त

——०——

दसवाँ सर्ग

[पूर्वोक्त ब्रह्मलक्षणमे विरोधकी-सी संभावना कर उसके परिहार द्वारा उक्त ब्रह्म-लक्षणके तात्पर्यका वर्णन]

महाप्रलयमें जो सद्रूप कुछ अवशिष्ट रहता है, 'वह न तेज है और न तम है' इत्यादि विरुद्ध स्वरूपको असंभावित समझकर वसिष्ठजीकी उक्तिके तात्पर्यको जाननेके लिए उत्सुक श्रीरामचन्द्रजी दोनोंमें से एक अर्थकी संभावना करते हुए प्रश्नकी भूमिका बाँधते हैं—**'महाप्रलय०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—महाप्रलय होनेपर जो यह 'सत्' अवशिष्ट रहता है, वह आकाररहित है, इसमें तो संशय ही नही है, लेकिन वह शून्य नहीं

---

* 'कारणं कारणानाम्' इससे तत्पदके वाच्य अर्थका निर्देश है, 'अजमजर०' यहाँसे लेकर 'सकलकलनशून्यम्' तक तत्पदके लक्ष्य अर्थका निर्देश है । 'विश्वं वेदनम्' से तीनो अवस्थाओके द्रष्टृतारूप त्वंपदके वाच्य अर्थका निर्देश है और 'अवेद्यं वेदनम्' से वेद्य तीनो अवस्थाओसे निर्मुक्तत्वरूप त्वंपदके लक्ष्य अर्थका निर्देश है ।

न शून्यं कथमेतत्स्यान्न प्रकाशः कथं भवेत् ।
कथं वा न तमोरूपं कथं वा नैव भास्वरम् ॥ २ ॥
कथं वा नवै चिद्रूपं जीवो वा न कथं भवेत् ।
कथं न बुद्धितत्त्वं स्यात् कथं वा न मनो भवेत् ॥ ३ ॥
कथं वा नैव किञ्चित्स्यात् कथं वा सर्वमित्यपि ।
अनयैव वचो भङ्ग्या मम मोह इवोदितः ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विषमोऽयमतिप्रश्नो भवता समुदाहृतः ।
भेत्ताऽस्म्यहं त्वयत्नेन नैशं तम इवांऽशुमान् ॥ ५ ॥
महाकल्पान्तसंपत्तौ यत्तत्सदवशिष्यते ।
तद्राम न यथा शून्यं तदिदं शृणु कथ्यते ॥ ६ ॥
अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका ।
तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ ७ ॥

है, यह कैसे, वह प्रकाश स्वरूप नही है, यह कैसे ? तमोरूप नहीं है, यह कैसे, न भास्वर ही है, यह कैसे ? तथा न चिद्रूप ही है, यह कैसे ? अथवा वह जीव कैसे नहीं हो सकता, वह बुद्धितत्त्व कैसे नही है अथवा मन कैसे नहीं है, वह कैसे कुछ नही है और कैसे सब कुछ है, आपकी इस बचनभङ्गीसे मेरे मनमें मोह-सा उत्पन्न हो गया है ॥ १–४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपने मेरे आशयको ठीक न समझ कर यह प्रश्न किया है, अतएव यह विषम (टेढा) प्रतीत हो रहा है । जैसे सूर्य अपने स्वाभाविक प्रकाशसे रात्रिके अन्धकारको विनष्ट केर देता है, वैसे ही मैं भी अपने अभिप्रायके उद्घाटन द्वारा आपके सन्देहको छिन्न-भिन्न कर देता हूँ ॥५॥

वत्स श्रीरामजी, महाप्रलय होनेपर जो सत् अवशिष्ट रहता है, वह वैसा शून्य नहीं है, जैसा कि आप समझते हैं, इसीको मैं कहता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिए ॥ ६ ॥

जैसे न गढ़ी गई प्रतिमा खम्भेमें स्थित रहती है, वैसे ही यह विश्व उसमें स्थित है, अतः वह शून्य नहीं है । भाव यह कि जैसे खम्भेमें न गढ़ी गई प्रतिमाकी खम्भेकी सत्तासे अतिरिक्त सत्ता न होनेसे खम्भेकी सत्तासे ही वह

अयमित्थं महाभोगो जगदाख्योऽवभासते ।
सत्यो भवत्वसत्यो वा यत्र तत्र त्वशून्यता ॥ ८ ॥
यथा न पुत्रिकाशून्यः स्तम्भोनुत्कीर्णपुत्रिकः ।
तथा भातं जगद्ब्रह्म तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ ९ ॥
सौम्याम्भसि यथा वीचिर्न चाऽस्ति न च नाऽस्ति च ।
तथा जगद् ब्रह्मणीदं शून्याशून्यपदं गतम् ॥ १० ॥
देशकालादिशान्तत्वात् पुत्रिकारचनं द्रुमे ।
संभवत्ययथाऽतो वै तेनाऽनन्ते विमुह्यते ॥ ११ ॥

स्थित रहती है, इसलिए जब कि वह खम्भेमें नहीं गढ़ी गई, तब भी उसमें उसकी स्थितिका विनाश नही होता ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यह प्रचुर भोगोंसे पूर्ण जगत्-नामका प्रपञ्च व्यवहारतः सत्य और परमार्थतः असत्य भले ही हो, इसमें हमारा आग्रह नहीं है, पर जिस अधिष्ठानमें इसका भान होता है, वहाँपर इसकी शून्यता नहीं है, कारण कि शून्यका न तो आरोप हो सकता है और न वह अधिष्ठान ही हो सकता है ॥ ८ ॥

जैसे वह खम्भा, जिसमें कि प्रतिमा नहीं गढी गई है, प्रतिमाशून्य नहीं है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्शून्य नही है । शिल्पीके कौशलसे प्रत्येक खम्भेमें प्रतिमाकी अभिव्यक्ति हो सकती है, अतः जिसमें प्रतिमा नहीं खोदी गई, वह खम्भा प्रतिमा-शून्य नहीं कहा जा सकता, अतः तत्पद (ब्रह्म) जगत्से शून्य नहीं है; यह कथन ठीक ही है ॥ ९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि उस समय यदि जगत्का अस्तित्व है, तो वह प्रलयकाल नहीं कहा जा सकता । यदि जगत्का अस्तित्व नहीं है, तो शून्यता प्राप्त ही हो गई, इस प्रकारसे सत्त्व और असत्त्वके व्याघातको दृष्टान्त द्वारा हटाते हैं—**'सौम्या०'** इत्यादिसे ।

जैसे शान्त (विक्षोभ शून्य—अचञ्चल) जलमें लीन वीचिकी (लहरकी) न तो सत्ता है और न असत्ता है अर्थात् उसमें न वीचि है, यह कह सकते हैं और न नहीं है, यह कह सकते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें लीन यह जगत् भी न शून्य है और न अशून्य है, अर्थात् अनिर्वचनीय है, अथवा शून्य और अशून्य दोनों कल्पनाओंके अधिष्ठान परमार्थ वस्तु (ब्रह्म) को प्राप्त हुआ है ॥ १० ॥

यदि कोई कहे कि खम्भेमें प्रतिमाके समान प्रलयकालमें जगत् है, तो उसके विषयमें

तत्स्तम्भपुत्रिकाद्येतत् परमार्थे जगत्स्थितेः ।
एकदेशेन सदृशमुपमानं न सर्वथा ॥ १२ ॥
न कदाचिदुदेतीदं परस्मान्न च शाम्यति ।
इत्थं स्थितं केवलं सद् ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ॥ १३ ॥

वादियोंको संशय क्यों होता है, स्तम्भकी प्रतिमाके विषयमें तो किसीको सन्देह नहीं होता ? इसपर कहते हैं—**'देश०'** इत्यादिसे ।

पेड़को चीर कर बनाये गये खम्भेमें प्रतिमाका निर्माण हो सकता है, कारण कि जहाँ शिल्पी अपना शिल्प करे, ऐसा स्थान, दिन आदि काल तथा बसुला आदि सभी उपकरण वहां विद्यमान हैं, अतएव खम्भेमें प्रतिमाकी सत्ताकी संभावना की जा सकती है, किन्तु अनन्त (देशतः, कालतः और परिमाणतः अपरिच्छिन्न यानी देश, काल, परिमाण—इन तीन प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित) ब्रह्ममें उक्त सामग्रीका सर्वथा अभाव है, अतः प्रलयकालमें जगत्की सत्ताके विषयमें वादियोंको सन्देह होता है ॥ ११ ॥

यदि कोई कहे कि उक्त प्रकारसे दोनोंमें यदि समानता नहीं है, तो स्तम्भ-प्रतिमाका दृष्टान्त कैसे दिया ? इसपर कहते हैं—**'तत्०'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त स्तम्भप्रतिमा आदि 'ब्रह्ममें जगत्की सत्ता है' इस एक अंशसे (उसकी सत्ताके अस्तित्वरूप अंशसे) सदृश हैं, अतः उसी अंशमें उपमान हैं, सर्वथा दृष्टान्त नहीं । भाव यह कि जैसे खम्भेमें प्रतिमाकी सत्ता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत्की सत्ता है, केवल इसी अंशमें स्तम्भप्रतिमाका दृष्टान्त है, अन्य अंशोंमें नहीं ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्ममें जगत्की सत्ता भले ही हो, किन्तु जगत्की उत्पत्ति और विनाशकी, जो कि परस्पर विरोधी हैं, उसमें एक ही कालमें सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इस प्रकार शङ्का कर जगत्के उदय और विनाशकी उनके धर्मी जगत्से अतिरिक्त सत्ता नहीं मानी गई है, इसलिए उनकी धर्मिसत्तासे पृथक् सत्ताके (धर्मीसे पृथक् सत्ताके) निरासके विषयमें संभावना ही नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'न कदाचिद्'** इत्यादिसे ।

वास्तवमें यह जगत् परब्रह्मसे न कभी उदित होता है और न उसमें अस्तको प्राप्त होता है, केवल सद्ब्रह्म ही पूर्वोक्त रीतिसे अपने स्वरूपमें स्थित है ॥ १३ ॥

अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना ।
अशून्यत्वात् संभवतः शून्यताशून्यते कुतः ॥ १४ ॥
ब्रह्मण्ययं प्रकाशो हि न संभवति भूतजः ।
सूर्यानलेन्दुतारादिः कुतस्तत्र किलाऽव्यये ॥ १५ ॥
महाभूतप्रकाशानामभावस्तम उच्यते ।
महाभूताभावजं तु तेनाऽत्र न तमः क्वचित् ॥ १६ ॥

यदि कोई कहे कि यदि शून्य नहीं है, तो 'नोदेति', 'न शाम्यति' इस प्रकार शून्यार्थक नञ्से उसका उल्लेख कैसे किया ? तो इसपर कहते हैं—**'अशून्या०'** इत्यादिसे ।

उसकी जो शून्यरूपसे कल्पना की जाती है, वह अशून्यकी अपेक्षासे है और शून्यकी अपेक्षा अशून्यकी कल्पना है । यदि केवल एकमात्र शून्य या अशून्य ही होता, तो शून्य और अशून्यकी कल्पना ही कैसे हो सकती ? भाव यह कि प्रतियोगीमें (जिसका अभाव कहा जाता है वह प्रतियोगी है) अशून्यताकी कल्पना कर उस कल्पित अशून्यताकी अपेक्षासे अन्य वस्तुमें उसकी शून्यता (अभाव) की कल्पना होती है और कल्पित शून्यताकी अपेक्षासे प्रतियोगीमें अशून्यताकी कल्पना होती है, इस प्रकार जिनकी कल्पना परस्पर सापेक्ष है, ऐसी शून्यता और अशून्यता हो ही कैसे सकती हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकार 'न शून्यं कथमेतत्स्यात्' इत्यादिसे उक्त प्रथम प्रश्नका समाधान कर अब 'न प्रकाशः कथं भवेद्' इत्यादिसे उक्त दूसरे प्रश्नका समाधान करते हैं—**'ब्रह्मण्ययम्'** इत्यादिसे ।

जलरूप इन्धनके या पार्थिव इन्धनके व्ययसे भौतिक सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, तारा आदिके प्रकाशका संभव है, किन्तु अव्यय ब्रह्ममें वह प्रकाश कैसे ? इसीलिए 'न प्रकाशः' कहा है । इससे 'वह कैसे भास्वर नहीं है ?' इस प्रश्नका भी समाधान हो गया ॥ १५ ॥

अब 'कथं वा न तमोरूपम्' ? इस तृतीय प्रश्नका समाधान करते हैं—**'महाभूत०'** इत्यादिसे ।

सूर्य आदि महाभूतोंके अभावसे तम उत्पन्न होता है । पृथिवी आदि महाभूतोंके प्रकाशका विरोधी होता हुआ वह दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले पृथिवी

स्वानुभूतिः प्रकाशोऽस्य केवलं व्योमरूपिणः ।
योऽन्तरस्ति स तेनैव न त्वन्येनाऽनुभूयते ॥ १७ ॥
मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम् ।
आकाशकोशमेवेदं विद्धि कोशं जगत्स्थितेः ॥ १८ ॥
बिल्वस्य बिल्वमध्यस्य यथा भेदो न कश्चन ।
तथाऽस्ति ब्रह्मजगतोर्न मनागपि भिन्नता ॥ १९ ॥
सलिलान्तर्यथा वीचिर्मृदन्तर्घटको यथा ।
तथा यत्र जगत्सत्ता तत् कथं खात्मकं भवेत् ॥ २० ॥

आदिमें ही कहा जा सकता है अर्थात् 'तम' यह व्यवहार पृथिवी आदिमें ही होता है । स्वप्रकाश ब्रह्ममें तमकी स्थिति कदापि नहीं हो सकती, इसलिए 'न तमः' कथन उचित ही है । यहांपर 'तु' शब्द मायारूपी तमकी व्यावृत्तिके लिए है ॥१६॥

ब्रह्मकी स्वप्रकाशताकी अनुभवसे सिद्धि करते हैं—**'स्वानुभूतिः'** इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूपी इस ब्रह्मका प्रकाश स्वानुभवैकगोचर है, अर्थात् ब्रह्मके प्रकाशके लिए अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह केवल स्वानुभवसे ही होता है । जो सर्वान्तर आत्मा है, उसका वही अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं । यद्यपि बुद्धि आदिका अनुभव अन्यसे होता है, तथापि जो बुद्धि आदिका आन्तर है, उसका वही अनुभव कर सकता है, उसके लिए अपनेसे अतिरिक्त अनुभवकी अपेक्षा नहीं करता, अन्यथा अनवस्थादोष प्राप्त होगा, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

दूसरे और तीसरे प्रश्नके उत्तरका जो उपपादन किया गया, उसीका उपसंहार करते हैं—**'मुक्तम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा और मरणसे वर्जित यह परम पद तम और प्रकाशसे शून्य है, यह बात उक्त प्रकारसे जाननी चाहिए । धनरूपी जगत्-सत्ताके कोशगृह (धनागार) रूपी ब्रह्मको आप आकाशके मध्यके समान ही स्वच्छ जानिए ॥ १८ ॥

जैसे बिल्व (बेल) फल और बिल्व-फलके उदरमें कुछ भी अन्तर नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत्में तनिक भी भिन्नता नहीं है । जैसे जलके अन्दर तरङ्ग और मिट्टीके अन्दर घड़ा है, वैसे ही जिस ब्रह्ममें जगत्की सत्ता है, वह शून्य कैसे हो सकता है ॥ १९, २० ॥

भूजलाद्युपमानश्रीः साकारान्ता समा न सा ।
ब्रह्मत्वाकाशविशदं तस्याऽन्तस्थं तथैव तत् ॥ २१ ॥
तस्माद्यादृक् चिदाकाशमाकाशादपि निर्मलम् ।
तदन्तस्थं तादृगेव जगच्छब्दार्थभागपि ॥ २२ ॥
मरीचेऽन्तर्यथा तैक्ष्ण्यमृते भोक्तुर्न लक्ष्यते ।
चिन्मात्रत्वं चिदाकाशे तथा चेत्यकलां विना ॥ २३ ॥
तस्माच्चिद्प्यचिद्रूपं चेत्यरिक्तं तदात्मनि ।
जगत्ता तादृगेवेयं तावन्मात्रात्मतावशात् ॥ २४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जलके अन्दर स्थित पृथिवी अपने आधार जलरूप नही देखी जाती और घड़े आदिके अन्दर स्थित जल अपने आधारभूत घट आदि-रूप नहीं देखा जाता, फिर ब्रह्मके अन्दर स्थित जगत् ही अपने आधार ब्रह्मरूप कैसे ? इसपर कहते हैं—**'भूजला०'** इत्यादिसे ।

आपने जो पृथिवी, जल आदि दृष्टान्तरूपसे उपस्थित किये हैं, वे सम नहीं हैं, किन्तु विषम हैं, क्योंकि वे सदा साकार ही दिखाई देते हैं और ब्रह्म आकाशसदृश निराकार है, निराकार ब्रह्मके अन्दर विलीन यह जगत् ब्रह्मके सदृश ही निराकार है ॥ २१ ॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इसलिए आकाशसे भी निर्मल चिदाकाश ब्रह्म जैसा निराकार है, वैसा ही निराकार उसके अन्दर स्थित 'जगत्' शब्दका अर्थभूत दृश्य प्रपञ्च भी है ॥ २२ ॥

जैसे मिर्चा खानेवाले पुरुषके बिना मिर्चेके अन्दर विद्यमान तीक्ष्णता (कड़ुवेपन) का परिज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही चिदाकाशमें दृश्यताके बिना चिन्मात्रत्वका ज्ञान नहीं हो सकता । भाव यह कि यद्यपि दृश्यसे अतिरिक्त ही सत्य (चिन्मात्र) दर्शनरूपसे (साक्षीरूपसे) प्रसिद्ध है, तथापि दृश्यका अभाव होनेपर वह दर्शनत्वव्यवहारके योग्य ही नही होता ॥ २३ ॥

इसलिए चिदात्मक ब्रह्ममें चेत्यसे (दृश्यसे) अतिरिक्तरूप चिद् होता हुआ भी अचित् ही है । चिद् और अचित् परस्पर सापेक्ष हैं, अचित्के सर्वथा अभावमें चित् भी अचित् ही है । भाव यह कि जगत्का लय होनेपर चित्की जगद्विषयता-

रूपालोकमनस्कारास्तन्मया एव नेतरत् ।
यथास्थितमतो विश्वं सुषुप्तं तुर्यमेव वा ॥ २५ ॥
तेन योगी सुषुप्तात्मा व्यवहार्यपि शान्तधीः ।
आस्ते ब्रह्मनिराभासं सर्वाभाससमुद्गकः ॥ २६ ॥
आकारिणि यथा सौम्ये स्थितास्तोये महोर्मयः ।
अनाकृतौ तथा विश्वं स्थितं तत्सदृशं परे ॥ २७ ॥
पूर्णात्पूर्णं प्रसरति यत्तत्पूर्णं निराकृति ।
ब्रह्मणो विश्वमाभातं तद्धि स्वार्थं विचक्षितम् ॥ २८ ॥

रूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, अतएव प्रत्यगात्मामें चिद् आदि शब्द लक्षणासे प्रवृत्त होते हैं। यह जगत्ता भी वैसे ही है, भाव यह कि जैसे जगत्का लय होनेपर चित्की जगद्विषयतारूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, वैसे ही चिद्विषयत्वरूप जगत्की जगत्ता भी निवृत्त हो जाती है। बाह्य घट, पट आदि विषय तथा आभ्यन्तर सुख, दुःख आदि ब्रह्ममात्रस्वरूप होनेके कारण ब्रह्ममय ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, इसलिए यथास्थित, सुषुप्तिरूप और तुर्यरूप * सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप ही है। इसलिए सम्पूर्ण संस्कारोंका कोषरूप सुषुप्तात्मक योगी लौकिक व्यवहार करता हुआ भी सस्काररहित ब्रह्म ही है ॥ २४—२६ ॥

आकाररहित ब्रह्मरूपसे साकार जगत्की सत्ता कैसे है, ऐसी आशङ्का कर जैसे विभिन्न आकारवाली लहरोंकी एकाकार जलरूपसे स्थिति है, वैसे ही साकार जगत्की निराकार ब्रह्मरूपसे स्थितिमें कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'आकारिणि'** इत्यादिसे।

जैसे निश्चल (शान्त होनेके कारण प्रसन्न) आकारवाले जलमें चञ्चलाकार बड़ी लहरें विद्यमान रहती हैं, वैसे ही आकाररहित ब्रह्ममें यह विश्व निराकार-रूपसे स्थित है ॥ २७ ॥

इस प्रकार उपाधिभूत जगत्का कारणसे अपृथक्त्व (अभिन्नत्व) कह कर जगदुपाधिक जीवका भी कारणसे अपृथक्त्व कहते हैं—**'पूर्णात्'** इत्यादिसे।

---

* आगे कही जानेवाली सात भूमिकाओंमें से प्रथमसे ले कर पाचवी भूमिका तक पहुँचे हुए योगियोका जगत् सुषुप्त है तथा छठी और सातवी भूमिकामे पहुँचे हुओका विश्व तुर्य है।

पूर्णात्पूर्णं प्रसरति संस्थितं पूर्णमेव तत् ।
अतो विश्वमनुत्पन्नं यच्चोत्पन्नं तदेव तत् ॥ २९ ॥
चेत्यासंभवतस्तस्मिन् यदेका जगदर्थता ।
आस्वादकासंभवतो मरीचे कैव तीक्ष्णता ॥ ३० ॥
सत्येवेयमसत्यैव चित्तचेत्यादिता परे ।
तद्भावात् प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बार्हता कुतः ॥ ३१ ॥
परमाणोरपि परं तदणीयो ह्यणीसः ।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तदाकाशोदरादपि ॥ ३२ ॥

जो पूर्ण ब्रह्मसे औपाधिक भेद द्वारा जीवरूपसे उत्पन्न होता है, वह परमार्थतः पूर्ण ही है और जो पूर्ण है, वह निराकार है, क्योंकि साकार पूर्ण नही हो सकता ।

शङ्का—यदि वह पूर्ण है, तो जीवरूपसे क्यों प्रतीत होता है ?

समाधान—जो वह विश्वरूपसे प्रतीत होता है, वह उसने अपने स्वरूपलाभ-रूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिए दिखलाया है । क्रमशः अधिकारीके शरीरकी प्राप्तिसे अपने तत्त्वके साक्षात्कार द्वारा अज्ञानसे तिरोहित अपने स्वरूपके लाभके लिए वह जीवभावसे प्रतीत होता है, यह भाव है ॥ २८ ॥

पूर्णसे पूर्ण ही आविर्भूत होता है, पूर्णमें स्थित वह पूर्ण ही है, अतः विश्व उत्पन्न ही नही हुआ और जो उत्पन्न हुआ है वह तत्स्वरूप ही (ब्रह्म ही) है ॥२९॥

चेत्यका (दृश्यका) संभव न होनेसे उस चिद्घन आनन्दमें जगत्-शब्दार्थता ('जगत्' शब्दका अर्थ) एकरस हो गई, पृथक् नहीं रही, जब आस्वाद लेनेवाला ही नहीं है, तब मिर्चेमें कडुवेपनकी क्या संभावना ? अर्थात् वह नहीके बराबर है ॥ ३० ॥

दृश्य प्रपञ्चके ब्रह्ममें एकरस होनेके कारण ही ब्रह्ममें चित्ता, चेत्यता आदि सर्वथा असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं । इस प्रकार उपाधिका अभाव होनेपर प्रतिबिम्बभूत जीवकी प्रतिबिम्बयोग्यता कहां ? जब उपाधि हो और उसमें प्रतिबिम्ब पड़े तब प्रतिबिम्बभूत जीवभावकी सत्ता हो, उपाधि ही जब नहीं है, तब प्रतिबिम्बभूत जीवभावार्हता ब्रह्ममें कहाँ ? अतः वह जीव भी नहीं है, यह कथन उचित ही है । इससे 'जीवो वा न कथं भवेत्' इस शङ्काका निराकरण हुआ ॥ ३१ ॥

जीव अणुपरिमाण या मध्यमपरिमाण है, पुण्य-पाप आदिसे दूषित होनेके

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वादतिविस्तृतम् ।
तदनाद्यन्तमाभासं भासनीयविवर्जितम् ॥ ३३ ॥
चिद्रूपमेव नो यत्र लभ्यते तत्र जीवता ।
कथं स्याच्चित्तताकारा वासना नित्यरूपिणी ॥ ३४ ॥
चिद्रूपानुदयादेव तत्र नाऽस्त्येव जीवता ।
न बुद्धिता चित्तता वा नेन्द्रियत्वं न वासना ॥ ३५ ॥
एवमित्थं महारम्भपूर्णमप्यजरं पदम् ।
अस्मद्दृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम् ॥ ३६ ॥

कारण अशुचि है और कर्मानुसार प्राप्त विषयोंका भोक्ता है, परन्तु ब्रह्मउससे सर्वथा विपरीत है, अतः वह जीव कैसे हो सकता है, ऐसा कहते हैं—**'परमाणोरपि'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

वह परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्मसे मी सूक्ष्म, अत्यन्त शुद्ध अत्यन्त शान्त और आकाशके मध्यसे भी बढ कर निर्मल है। देश, काल और परिमाणसे उसके स्वरूपका परिच्छेद नहीं हो सकता, अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्वव्यापक) है। उसका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है और वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है एवं उसका भासक भी कोई नहीं है, वह स्वप्रकाश है ॥ ३२, ३३ ॥

जो अपनेमें विषयप्रकाशनरूप चिद्रूपताका भी सहन नहीं कर सकता, वह अनुकूल और प्रतिकूल विषयभोक्तृत्वरूप जीवताका कैसे सहन कर सकेगा, ऐसा कहते हैं— **'चिद्रूपमेव'** इत्यादिसे ।

जहांपर चिद्रूपताका ही लाभ नहीं हो सकता, वहांपर चित्तताकार जीवता और वासना कैसे रह सकती हैं ॥ ३४ ॥

चिद्रूपका उदय न होनेसे ही उसमें जीवता नहीं ही है और इसी कारण बुद्धिता, चित्तता, इन्द्रियता और वासना भी नहीं है। इससे 'कथं न बुद्धितत्त्वं स्यात्कथं वा न मनो भवेत्' इन शङ्काओंका भी निरास हुआ ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण प्रश्नोंका समाधान करनेपर फलित अर्थका उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार महाभूत-भौतिक पदार्थोंसे पूर्ण भी जरामरणशून्य ब्रह्मतत्त्व हमारी दृष्टिसे आकाशसे भी अधिक शून्य और निर्विकार स्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

परमार्थस्य किं रूपं तस्याऽनन्तचिदाकृतेः ।
पुनरेतन्ममाऽऽचक्ष्व निपुणं बोधवृद्धये ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ सर्वकारणकारणम् ।
शिष्यते परमं ब्रह्म तदिदं वर्ण्यते शृणु ॥ ३८ ॥
नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ ३९ ॥
नाऽस्ति दृश्यं जगद्‌द्रष्टा दृश्याभावाद्विलीनवत् ।
भातीति भासनं यत्स्यात्तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ ४० ॥
चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः ।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार प्रश्नोंका समाधान होनेपर शङ्काशून्य चित्तमें जिस रूपसे उसका अपरोक्ष ज्ञान हो सके, उस असाधारण रूपको पहिचाननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं—'**परमार्थस्य**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अनन्त चिदाकार उस परमार्थतत्त्वका कैसा रूप है ? भली भाँति उसका बोध प्राप्त होनेके लिए उसको मुझसे फिर कहिए ॥३७॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, महाप्रलय होनेपर सम्पूर्ण कारणोंका भी कारण अपरोक्ष परमब्रह्म अवशिष्ट रहता है, उसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिए, समाधिमें मनका विषयोंसे निरोध द्वारा वृत्तिका क्षय होनेपर लकड़ियोंके समाप्त होनेपर अग्निकी नाईं मनके स्वरूपका भी नाश करके जो नाम-रूप-शून्य स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तुका रूप है ॥ ३८, ३९ ॥

निर्विकल्पक समाधिके आरम्भमें दृश्य जगत्‌की सत्ता नहीं रहती, दृश्यके अभावसे द्रष्टा भी विलीन हुएकी नाईं प्रतीत होता है, यों ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान इस त्रिपुटीके लयका साक्षीरूप जो ज्ञान अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तुका रूप है ॥ ४० ॥

समाधि-व्युत्थान होनेके पहले जो आगे जीव-स्वरूप होनेवाली है, उस चितिका अचेत्योन्मुख (चिन्मात्रमें प्रवण) जो चिन्मात्र, निर्मल और निर्विकार-रूप है, वह उस परमात्माका रूप है ॥ ४१ ॥

अङ्गलग्नेऽपि वातादौ स्पर्शाद्यनुभवं विना ।
जीवतश्चेतसो रूपं यत्तद्वै परमात्मनः ॥ ४२ ॥
अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया मनःस्थितेः ।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तत्तदाऽनघ शिष्यते ॥ ४३ ॥
यद्व्योम्नो हृदयं यद्वा शिलायाः पवनस्य च ।
तस्याऽचेत्यस्य चिद्व्योम्नस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४४ ॥
अचेत्यस्याऽमनस्कस्य जीवतो या स्वभावतः ।
स्यात्स्थितिः सा परा शान्ता सत्ता तस्याऽऽद्यवस्तुनः ॥ ४५ ॥
चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्याऽपि स्वस्य वा ।
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः ॥ ४६ ॥

शरीरमें वायु आदिका स्पर्श होनेपर भी चित्तके रहते-रहते अर्थात् दूधमें मिले हुए जलके समान ब्रह्ममें एकरस होनेके कारण तिरोभूत चित्तको कुछ न गिनकर स्पर्श आदिके अनुभवके बिना प्रतीत होनेवाला जो रूप है, वही उस परमात्माका रूप है ॥ ४२ ॥

अब उक्त रूप योगभ्याससे रहित पुरुषोंके भी अनुभवमें जैसे आरूढ़ हो, वैसा उसका प्रतिपादन करते हैं—'**अस्वप्नाया**' इत्यादिसे ।

हे अनघ, जिसमें स्वप्नदर्शन नहीं है, जो मच्छर, खटमल आदि द्वारा जनित बीच बीचमें विच्छेदसे रहित है, मनकी विश्रान्तिकी हेतु, सुषुप्तिरूप मनकी जड़तासे हीन गाढ़ निद्राका जो रूप है, वही उस परमात्माका रूप प्रलयकालमें अवशिष्ट रहता है ॥ ४३ ॥

जैसे आकाशका तात्त्विक रूप शून्यत्व है, शिलाका घनत्व है और वायुका अन्तर्बहिःपूर्णत्व है, वैसे ही उसी दृश्यभिन्न और दृश्यरहित चिदाकाश परमात्माका जो रूप हो, वही वह है ॥ ४४ ॥

बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण जीवित जीवोंकी चेत्य (दृश्य) और चित्तका परित्याग करनेपर स्वभावतः जो स्थिति अवशिष्ट रहती है, वह शान्त उत्कृष्ट सत्ता उस आदिपुरुषका रूप है ॥ ४५ ॥

चित्-प्रकाश अन्नमयकोषपर्यन्त आत्मरूपसे व्याप्त है, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोषोंमें प्रत्येक कोषका विवेक-

वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४७ ॥
यतो जगदुदेतीव नित्यानुदितरूप्यपि ।
विभिन्नवदिवाऽभिन्नं तद्रूपं परमार्थकम् ॥ ४८ ॥
व्यवहारपरस्याऽपि यत्पाषाणवदासनम् ।
अव्योम्न एव व्योमत्वं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४९ ॥

पूर्वक विचार करनेसे आनन्दमय कोष सब कोषोंका आन्तर ठहरता है और आनन्दमय कोषका आन्तर ब्रह्म है, अतः द्रष्टृकोटिमें सर्वान्तरभूत चित्प्रकाशरूप आनन्दमय कोषका भी आन्तर होनेसे जो मध्य है *। और दृश्यकोटिमें मूर्त प्रपञ्चके सारभूत सूर्यरूप प्रकाशका, अमूर्त प्रपञ्चके सारभूत भूताकाशका अथवा लिङ्गसमष्टिरूप अव्याकृत आकाशका आन्तर होनेसे जो मध्य है † तथा चाक्षुष आदि वृत्तियोंके भीतर स्फुरणरूपसे विद्यमान होनेसे जो उक्त वृत्तियोंका मध्य है ‡ क्रमशः जो आनन्द, सत् और चिद्रूप है, उसीको ज्ञानी जन ब्रह्मका रूप जानते हैं ॥ ४६ ॥

बुद्धिवृत्तिका, पदार्थोंके स्फुरणका, विषयका और अज्ञानका साक्षीरूप आदि और अन्तसे शून्य जो ज्ञान है, वह उस परमात्माका रूप है ॥ ४७ ॥

जिसका रूप कभी उदित ही नहीं हुआ यानी नित्य अनुदित रूपवाला होता हुआ भी जगत् जिससे उदित-सा होता है, जिससे अभिन्न होता हुआ भी बिलकुल भिन्न-सा प्रतीत होता है, वह परमात्माका पारमार्थिक रूप है ॥ ४८ ॥

मायिक व्यवहारोंमें संलग्न हुए भी जिसकी (ज्ञानीकी अथवा ईश्वरकी)

* तैतिरीय उपनिषत्में—अन्नमय आदि सब कोषोंके आन्तर आनन्दमय कोषको दिखलाकर 'तस्य प्रियमेव शिरः । मोदः दक्षिणः पक्षः । प्रमोदः उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।' इस श्रुति द्वारा आनन्दमय कोषका भी आन्तर ब्रह्म दर्शाया गया है ।

† बृहदारण्यक उपनिषत्में—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस प्रकार आरम्भ कर 'तस्यैतस्य मूर्तस्य रसो य एष तपति तस्यैतस्यामूर्तस्य रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, इससे मूर्त और अमूर्त रूपका सार दिखला कर 'अथात आदेशो नेति नेति' इससे मूर्त और अमूर्तके आरोपका अधिष्ठान ब्रह्म उनका आन्तर है, यह बात उनके (मूर्त और अमूर्तके) निषेधसे दिखलाई है ।

‡ तलवकारोपनिषत्में—'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्यसे ब्रह्म सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंका आन्तर कहा गया है ।

वेद्यवेदनवेतृत्वरूपत्रयमिदं पुरः ।
यत्रोदेत्यस्तमायाति तत्तत् परमदुर्लभम् ॥ ५० ॥
वेद्यवेदनवेतृत्वं यत्रेदं प्रतिबिम्बति ।
अबुद्ध्यादौ महादर्शे तद्रूपं परमं स्मृतम् ॥ ५१ ॥
मनः स्वप्नेन्द्रियैर्मुक्तं यद्रूपं स्यान्महाचितेः ।
जङ्गमे स्थावरे वाऽपि तत्सर्वान्तेऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥
स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत् ।
मनो बुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मार्कविष्णुहरशक्रसदाशिवादि
शान्तौ शिवं परममेतदिहैकमास्ते ।

पाषाणके सदृश जो निश्चल स्थिति है और निरवकाश (सूराख आदिसे शून्य) होते हुए भी सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें अवकाश देनेसे जो व्योमता (सावकाशता) है, वही परमात्माका रूप है ॥ ४९ ॥

वेद्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटीके जन्म आदिका हेतु जो सच्चिदानन्दात्मक रूप है, वही वह है, ऐसा कहते हैं—**'वेद्य०'** इत्यादिसे ।

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता—इन तीन रूपोंवाला सामने विद्यमान यह प्रपञ्च जिससे आविर्भूत होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें लीन हो जाता है, वही उसका परम दुर्लभ रूप है ॥ ५० ॥

उसमें जो निमित्तकारणता है, वह परिणामरूपसे नहीं है, किन्तु विवर्तरूपसे है, ऐसा कहते हैं—**'वेद्य०'** इत्यादिसे ।

बुद्धि आदिसे रहित महादर्पण रूप जिसमें ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता रूप जगत् प्रतिबिम्बित होता है, वही उसका सर्वश्रेष्ठ परम रूप है ॥ ५१ ॥

स्वप्न और जागरणसे निर्मुक्त सुषुप्तरूप जो मन है, वही महाचित्का रूप है, वही दृश्यका प्रलय होनेपर स्थावर और जङ्गम पदार्थोंमें अवशिष्ट रहता है ॥ ५२ ॥

स्थावर पदार्थोंका मन, बुद्धि आदिसे शून्य जो रूप है यानी अचलस्वभाव, वह यदि बोधमय (चेतनायुक्त) हो जाय, तो उनके मन, बुद्धि आदिसे निर्मुक्त उस बोधरूपकी परमात्मासे तुलना की जा सकती है ॥ ५३ ॥

प्रलयावस्थामें ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु, हर, इन्द्र, सदाशिव आदिके विलीन होनेपर

सर्वोपधिव्ययवशादविकल्परूपं
चैतन्यमात्रमयमुज्झितविश्वसङ्गम् ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे महा-
कल्पान्तावशिष्टपरमभाववर्णनं नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

श्रीराम उवाच

इदंरूपमिदं दृश्यं जगन्नाऽस्तीति भासुरम् ।
महाप्रलयसंप्राप्तौ भो ब्रह्मन् क्व तिष्ठति ॥ १ ॥

सम्पूर्ण उपाधियोंका विलय होनेसे विश्वके संसर्गसे रहित निर्विकल्परूप, चैतन्यमात्र, परमशिव केवल वही एक शेष रहता है ॥ ५४ ॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

[सत्रूप अधिष्ठानवश प्रलयकालमें भी जगत्‌की सत्ताका प्रतिपादन और स्वत तो सृष्टिकालमें भी उसकी सत्ताके अभावका प्रतिपादन]

प्रलयकालमें 'यह जगत् है' इस प्रकार विशेषरूप सत्तासे जगत्‌की निवृत्ति होनेपर भी ब्रह्मरूप सामान्य सत्ताके अवशिष्ट रहनेसे जगत्‌की ब्रह्मरूपसे सत्ता भले ही हो, किन्तु सृष्टिकालमें तो जगत्‌की प्रलयकालसे विलक्षणता सबको स्पष्ट ही दिखाई देती है, अतः जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता भी दूसरी माननी ही पड़ेगी । ऐसी अवस्थामें उक्त स्वतन्त्र सत्तासे युक्त जगत् ब्रह्ममें वर्तमान न होता हुआ अन्यत्र स्थित है, ऐसी संभावना भी नहीं रोकी जा सकती, क्योंकि आप पहले 'नाऽभावो विद्यते सतः' से सत्‌की असत्ताका स्वयं वारण कर चुके हैं । इसलिए प्रलयकालमें जहांपर जगत् स्थित रहेगा, वही जगत्‌का आश्रय माना जायगा, उसका आप मुझे उपदेश दीजिए, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'इदम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, चौदह भुवन, देवता, मनुष्य, असुर, पशु,

श्रीवसिष्ठ उवाच

कुत आयाति कीदृग्वा वन्ध्यापुत्रः क्व गच्छति ।
क्व याति कुत आयाति वद वा व्योमकाननम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रो व्योमवनं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
कीदृशी दृश्यता तस्य कीदृशी तस्य नास्तिता ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

वन्ध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन ।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नाऽस्ति कदाचन ॥ ४ ॥

पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि असीम विस्तारवाला अतिस्पष्टरूपसे दिखाई देनेवाला, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे दृढीकृत यह जगत् , जिसका आप ब्रह्ममें अभाव कहते हैं, महाप्रलय होनेपर किसमें स्थित रहता है, उसे कृपा करके मुझसे कहिए ॥ १ ॥

यदि सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्तिके समय अपनी अलग सत्ताके साथ जगत्का कहींसे आगमन होता, तो प्रलयकालमें जगत्का अन्य स्थानमें गमन और अन्यमें स्थिति होती; किन्तु वन्ध्यापुत्रकी नाईं अपनी पृथक् सत्तासे उसका आगमन ही नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'कुतः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आपके प्रश्नका उत्तर मैं पीछे दूँगा पहले आप यह बतलाइए कि बन्ध्यापुत्र कहांसे आता है, कैसा है, और कहाँ जाता है एवं आकाशमें स्थित वन कहाँसे आता है और किसमें समा जाता है ? ॥ २ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें विषमता (असमानता) की शङ्का करते हुए श्रीराम-श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् , बन्ध्या-पुत्र और आकाशवन न तो इस समय हैं और न आगे होंगे ? फिर उनकी कैसी दृश्यता और कैसी नास्तिता ? तात्कालिक सत्ता, भविष्यत्कालिकसत्ता और प्रत्यक्षवेद्यता भी उक्त वन्ध्यापुत्र और आकाशवनमें नहीं हैं, अतः जगत् और उनमें विषमता है । उनके प्रतियोगीकी सत्ता प्रसिद्ध नहीं है, अतः उनकी नास्तिता भी नहीं कही जा सकती, यह भाव है ॥ ३ ॥

ठीक है, किन्तु जगत्की भी तो न वर्तमानकालिक सत्ता है, न भविष्यत्कालिक सत्ता है और न वह दृश्य ही है, इस प्रकार जगतका वन्धापुत्र और आकाशवनके साथ सादृश्य है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी बोले—'वन्ध्या०' इत्यादिसे ।

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रनभोवृक्षकल्पना तावदस्ति हि ।
सा यथा नाशजन्माढ्या तथैवेदं न किं भवेत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तुल्यस्याऽतुलदुःस्थस्य भावकैः किल तोलनम् ।
निरन्वया यथैवोक्तिर्जगत्सत्ता तथैव हि ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसे वन्ध्यापुत्र और आकाशवनकी त्रैकालिक सत्ता नहीं है वैसे ही इस सम्पूर्ण जगत् आदि दृश्यकी भी त्रैकालिक सत्ता नहीं है ॥ ४ ॥

सत्ता न होनेपर जगत्के उत्पत्ति आदि भी सिद्ध नहीं होते ऐसा कहते हैं—**'न च०'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, न तो यह जगत् उत्पन्न हुआ है और न विनाशी ही है । जिसकी पहले सत्ता ही नही है उसकी उत्पत्ति कैसी और उसमें विनाशशब्द की ही क्या कथा है ? ॥ ५ ॥

जगत्की उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है, अतएव प्रथम तो उत्पत्तिमान् जगत्का वन्ध्यापुत्र उपमान नहीं हो सकता, दूसरे अत्यन्त असत् कहीं उपमान नहीं देखा जाता, अतः परिशेषसे विकल्परूप वन्ध्यापुत्र आदिके ज्ञानको जगत्का उपमान मानना पड़ेगा । उसका जन्म और नाश होता है, इसलिए उसका जगत्के साथ सादृश्य भी हो सकता है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'वन्ध्यापुत्र०'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्षकी तो कल्पना होती ही है । वह जैसे जन्म और नाशसे युक्त है, वैसे ही यह जगत् भी जन्म और नाशसे युक्त क्यों नहीं होगा ? ॥ ६ ॥

वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्षका ज्ञान (विकल्परूप) उपमान हो सकता यदि वह उपमेयरूप जगत्के बीचमें पड़ा न होता । उपमेयरूप जगत्के मध्यपतित होनेपर वह उपमान नही हो सकता । इसलिए अपारमार्थिक सत्तावाले जगत्का मेरे द्वारा दिया गया ही उपमान ठीक है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजीने उत्तर दिया—**'तुल्यस्या०'** इत्यादिसे ।

यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम् ।
कटकत्वं तु नैवाऽस्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ ८ ॥
आकाशे च यथा नास्ति शून्यत्वं व्यतिरेकवत् ।
जगत्त्वं ब्रह्मणि तथा नाऽस्त्येवाऽप्युपलब्धिमत् ॥ ९ ॥

दृश्यकी किसी अन्य पदार्थके साथ तुलना (उपमा) करनेकी इच्छा तो है पर उपमेयभूत दृश्य पदार्थसे अतिरिक्त उपमान न मिलनेके कारण उसकी किसीसे उपमा ही नहीं जा सकती । उपमेय कोटिमें प्रविष्ट जिन किन्हीं पदार्थोंसे उसको जो उपमा दी जाती है वह अनन्वयालङ्कारका उदाहरण है, वैसे ही आपकी यह उक्ति भी है । जैसे—

'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥'

यह उक्ति इनका कोई उपमान ही नहीं है इस प्रकार अनुपमत्वमें पर्यवसित होती है वैसे ही आपका यह कथन भी अनुपमत्वमें पर्यवसित होगा, इसलिए बन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्षके विकल्परूप ज्ञानको दृष्टान्त मानना ठीक नहीं है । अतः यह सिद्ध हुआ कि जगत्की पृथक् सत्ता मेरे द्वारा कही गई बन्ध्या-पुत्रकी सत्ताके समान ही है । दूसरी बात जो आपने यह कही है कि असत् दृष्टान्त भी नहीं हो सकता है इसपर सुनिए, असत् यद्यपि सत्का दृष्टान्त नहीं देखा जाता फिर भी उसके असत्के दृष्टान्त होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वन्ध्यापुत्रके समान आकाशपुष्प असत् है, ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

जिसका प्रत्यक्षरूपसे अनुभव हो रहा है, उसकी असत्ता कैसे? ऐसी शङ्का कर प्रत्यक्षसे प्रतीत हो रहे पदार्थकी भी, विचार करनेपर बाध देखनेसे, असत्ता बहुतसे दृष्टान्तोंमें प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'कटकत्वम्'** इत्यादि पाँच श्लोकोंसे ।

जैसे सुवर्णके कड़ेमें स्पष्टतः भली भाँति दिखाई दे रहा भी कटकत्व नामका कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षतः अनुभूयमान भी यह जगत्व परमें (ब्रह्ममें) नहीं ही है ॥ ८ ॥

जैसे आकाशमें उपलभ्यमान शून्यत्व आकाशसे भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्ममें प्रत्यक्षतः उपलभ्यमान भी यह जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ ९ ॥

कज्जलान्न यथा कार्ष्ण्यं शैत्यं च न यथा हिमात् ।
पृथगेवं भवेद् बुद्धं जगन्नास्ति परे पदे ॥ १० ॥
यथा शैत्यं न शशिनो न हिमाद् व्यतिरिच्यते ।
ब्रह्मणो न तथा सर्गो विद्यते व्यतिरेकवान् ॥ ११ ॥
मरुनद्यां यथा तोयं द्वितीयन्दौ यथेन्दुता ।
नास्त्येवेह जगन्नाम दृष्टमप्यमलात्मनि ॥ १२ ॥
आदावेव हि यन्नाऽस्ति कारणासंभवात्स्वयम् ।
वर्तमानेऽपि तन्नाऽस्ति नाशः स्यात्तत्र कीदृशः ॥ १३ ॥
क्वाऽसंभवद्भूतजाड्यं पृथ्व्यादेर्जडवस्तुनः ।
कारणं भवितुं शक्तं छायायाश्चाऽऽतपो यथा ॥ १४ ॥
कारणाभावतः कार्यं नेदं तत्किञ्चनोदितम् ।
यत्तत्कारणमेवाऽस्ति तदेवेत्थमवस्थितम् ॥ १५ ॥

जैसे काजलसे कालिमा पृथक् ज्ञात नहीं होती, हिमसे शैत्य पृथक् जगत् नहीं होता वैसे ही परम पदमें (ब्रह्ममें) पृथक् गृहीत होनेवाला जगत् नहीं है ॥१०॥

जैसे शीतलता चन्द्रमासे और हिमसे (बरफसे) पृथक् नहीं होती वैसे ही ब्रह्मसे भी यह जगत् पृथक् नहीं है ॥ ११ ॥

जैसे मरुभूमिमें प्रतीयमान नदीमें जल नहीं है, अथवा जैसे प्रतीयमान द्वितीय चन्द्रमामें चन्द्रत्व नहीं है, वैसे ही सर्वविध मलोंसे रहित ब्रह्ममें अनुभूयमान जगत् भी नहीं है ॥ १२ ॥

कारणके न रहनेसे जो स्वयं पहले भी नहीं था, वह वर्तमान कालमें भी नहीं है, अतः उसका नाश ही कैसा ? ॥ १३ ॥

कारणका असंभव कैसे है ? उसे कहते हैं—'क्वा०' इत्यादिसे ।

जैसे छायाका कारण आतप नहीं हो सकता, वैसे ही पृथिवी आदि जड़ वस्तुका जड़तासे रहित ब्रह्म कारण नहीं हो सकता अर्थात् जड़का ही जड़ परिणाम हो सकता है, कहीं भी स्वविरुद्ध परिणाम नहीं देखनेमें आता, यह भाव है ॥१४॥

परिणामी कारण न होनेसे यह परिणामी कार्य नहीं है, अतः परिणामदृष्टिसे यह कुछ उदित नहीं है, यद्यपि विवर्तदृष्टिसे विरुद्धका भी आरोप हो सकता है, तथापि विवर्तका कारणभूत ब्रह्म ही जगत्रूपसे अवस्थित है, अतः जगत्की कार्यरूपसे पृथक् सत्ता नहीं है ॥ १५ ॥

अज्ञानमेव यद्भाति संविदाभासमेव तत् ।
यज्जगद्दृश्यते स्वप्ने संवित्कचनमेव तत् ॥ १६ ॥
संवित्कचनमेवाऽन्तर्यथा स्वप्ने जगद्भ्रमः ।
सर्गादौ ब्रह्मणि तथा जगत्कचनमाततम् ॥ १७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चित्सदैवाऽऽत्मनि संस्थितम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत्किञ्चित्कदाचन ॥ १८ ॥
यथा द्रवत्वं सलिलं स्पन्दनं पवनो यथा ।
यथा प्रकाश आभासो ब्रह्मैव त्रिजगत्तथा ॥ १९ ॥

यदि शङ्का हो कि अज्ञान ही जगत्का परिणामी कारण है, फिर कारणके अभावसे यह जगत् कार्य नहीं है, इस प्रकार पूर्व श्लोकमें कारणाभाव कैसे कहा ? इसपर कहते हैं—'**अज्ञानमेव**' इत्यादिसे ।

जो अज्ञान ही जगदाकारसे परिणत होता है, यह कहा जाता है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे दूधका परिणाम दही होता है, वैसे अज्ञानका जगत् परिणाम है, बल्कि अज्ञान संवित्को (ज्ञानको) ही जगत्‌रूपसे दर्शाता है अर्थात् संवित्का ही जगत्के रूपसे विवर्त कराता है । अज्ञानका परिणाम संवित्का विवर्त ही है, यह बात स्वप्नमें प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'यत्' से । स्वप्नमें जो जगत् (स्वाप्निक प्रपञ्च) दिखाई देता है, वह संवित्का विलास ही है (संवित्का विवर्त ही है), उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ १६ ॥

उक्त विषयको ही स्पष्ट करते हैं—'**संवित्**' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें स्वप्न देखनेवाले पुरुषके अन्तःकरणमें जो स्वाप्निक जगत्की भ्रान्ति होती है, वह जैसे सवित्-विकास ही है, वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्ममें यह जगत्-विकास हुआ है, ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत् नामकी कोई वस्तु ही नहीं है ॥ १७ ॥

अतः पहले जो जगत् ब्रह्ममात्र है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई थी, वह सिद्ध हुई, ऐसा कहते हैं—'**यदिदम्**' इत्यादिसे ।

यह जो कुछ प्रपञ्च दिखलाई देता है, यह सदा ही आत्मामें स्थित है । न तो यह कभी कुछ भी उदित होता है और न कभी तनिक भी नष्ट होता है ॥१८॥

जैसे द्रवत्व जल है (तरलता और जलमें कोई भेद नहीं है), जैसे स्पन्दन वायु है (कम्पन और वायुमें भेद नहीं है) और जैसे प्रकाश आभास है

यथा पुरमिवाऽऽस्तेऽन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः ।
तथा जगदिवाऽऽभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत् तत्कथं ब्रह्मन् सुघनप्रत्ययं वद ।
इदं दृश्यविषं जातमसत्स्वप्नानुभूतिवत् ॥ २१ ॥
सति दृश्ये किल द्रष्टा सति द्रष्टरि दृश्यता ।
एकसत्त्वे द्वयोर्बन्धो मुक्तिरेकक्षये द्वयोः ॥ २२ ॥

(प्रकाश और आभासमें कोई अन्तर नहीं है), वैसे ही ये तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं (त्रिजगत् और ब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं है) ॥ १९ ॥

जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषके अन्दर विद्यमान चैतन्य ही नगर-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमार्थ स्वस्वरूपमें परमात्मा ही जगत् सा प्रतीत होता है ॥२०॥

जगत्की जो प्रतीति हो रही है, यह बड़ी दृढ़ है और स्वप्नकी प्रतीति पूण-रूपसे अभिव्यक्त न होनेके कारण कोमल (अदृढ़) है, अतः दोनोंमे आकाश-पातालका अन्तर है और दूसरी यह बात भी विचारणीय है कि द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध स्वाभाविक है, अतः उसका निवारण होना कठिन ही नही, प्रत्युत असम्भव है, अतः मुक्तिका सम्भव ही नहीं है, यों श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं— **'एवं चेत्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, यदि यह दृश्यरूपी विष पूर्वोक्त रीतिसे स्वप्न-प्रतीतिके समान मिथ्या है, तो यह इतनी सुदृढ़ प्रतीतिसे युक्त कैसे हो गया, अर्थात् प्रलय होनेतक इसमें ऐसी सुदृढ़ प्रतीति रहती है कि व्यवहारमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं होने पाती, इसका क्या कारण है ? ॥ २१ ॥

दृश्यके विद्यमान रहते द्रष्टा (दर्शक) का निवारण नहीं किया जा सकता अर्थात् दृश्य यदि रहेगा, तो उसका द्रष्टा भी अवश्य रहेगा और द्रष्टाके विद्यमान रहते दृश्यका निवारण नहीं किया जा सकता अर्थात् द्रष्टा यदि रहेगा, तो दृश्य भी अवश्य रहेगा । भाव यह कि दृश्य और द्रष्टा परस्पर सापेक्ष हैं । दृश्य तभी कहा जा सकता है, जब कि उसका दर्शक हो और द्रष्टा तभी कहा जा सकता है, जब कि उसके दर्शनका विषय (दृश्य) हो । दृश्य और द्रष्टा दोमें से एकके

अत्यन्तासंभवो यावद् बुद्धो दृश्यस्य न क्षयः ।
तावद् द्रष्टरि दृश्यत्वं न संभवति मोक्षधीः ॥ २३ ॥
दृश्यं चेत्संभवत्यादौ पश्चात् क्षयमुपालभेत् ।
तद्दृश्यस्मरणानर्थरूपो बन्धो न शाम्यति ॥ २४ ॥
यत्र क्वचन संस्थस्य स्वादर्शस्येव चिद्गतेः ।
प्रतिबिम्बो लगत्येव सर्वस्मृतिमयो ह्यलम् ॥ २५ ॥
आदावेव हि नोत्पन्नं दृश्यं नाऽस्त्येव चेत्स्वयम् ।
द्रष्टुर्दृश्यस्वभावत्वात् तत्संभवति मुक्तता ॥ २६ ॥

अस्तित्वमें दोनोंका बन्धन है और दोनोंमें से एकका भी क्षय हो जाय तो दोनोंकी मुक्ति हो जाती है, पर ऐसा होना ही असम्भव है ॥ २२ ॥

क्यों असम्भव है ? ऐसा यदि कोई कहे, तो इसपर कहते हैं—'**अत्यन्ता-सम्भवो**' इत्यादिसे ।

जबतक मूलाविद्याके विनाशसे दृश्यके आत्यन्तिक क्षयका (सर्वथा उच्छेदका) ज्ञान न हो, तबतक द्रष्टामें दृश्यत्वका अस्तित्व अनिवार्य है, इसलिए मुक्ति नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

यदि कोई कहे कि दृश्यके आत्यन्तिक क्षयका परिज्ञान भले न हो। उसकी क्या आवश्यकता है ? किन्तु उत्पन्न हुए दृश्यका विद्यासे विनाश हो, इसपर कहते हैं— '**दृश्यं चेत्**' इत्यादिसे ।

यदि दृश्य प्रपञ्चकी पहले उत्पत्ति और पीछे उसका विनाश मानो, तो संस्काररूपसे स्थित दृश्यका पुनः पुनः उद्भवरूप अनर्थकारी बन्ध कभी विनष्ट ही नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

दृश्यप्रदेशके परित्यागसे ही दृश्यके असम्भवकी उपपत्ति हो अर्थात् जहाँपर दृश्य नहीं है, वहाँपर दृश्यके असम्भवकी उपपत्ति हो, इस शङ्काका समाधान स्वयं आप ही पहले कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं—'**यत्र**' इत्यादिसे ।

जैसे स्वच्छ दर्पण चाहे कहींपर भी स्थित क्यों न हो, उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता ही है, वैसे ही चैतन्याश्रय द्रष्टामें सर्वस्मृतिमय प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता ही है ॥ २५ ॥

यदि पहलेसे उत्पन्न न हुए दृश्यका स्वयं अस्तित्व न होता, तो द्रष्टाकी

तस्मादसंभवन्मुक्तेर्मम प्रोत्सार्य युक्तिभिः ।
अत्यन्तासंभवो यावत् कथयाऽऽत्मविदांवर ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

असदेव सदाभाति जगत्सर्वात्मकं यथा ।
शृण्वहं कथया राम दीर्घया कथयामि ते ॥ २८ ॥
व्यवसायकथावाक्यैर्यावत् तत्राऽनुवर्णितम् ।
न विश्राम्यति ते तावद्धृदि पांसुर्यथा ह्रदे ॥ २९ ॥
अत्यन्ताभावमस्यास्त्वं जगत्सर्गभ्रमस्थितेः ।
बुद्ध्वैकध्याननिष्ठात्मा व्यवहारं करिष्यसि ॥ ३० ॥

दृश्यस्वभावसे मुक्ति हो सकती, परन्तु जगत् उत्पन्न नहीं है, यह बात अनुभवमें नही आती, अतः द्रष्टाकी दृश्यस्वभावसे निर्मुक्ति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥२६॥

हे ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ, इसलिए मेरी मुक्तिके असंभवकी आशङ्काको युक्तियों द्वारा दूर कर जबतक दृश्यके अत्यन्त असम्भवका मुझे दृढ परिज्ञान न हो जाय, तब-तक आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ २७ ॥

स्वप्न-प्रतीतिसे जगत्-प्रतीतिवैषम्यकी जो श्रीरामचन्द्रजीने आशङ्का की थी, श्रीवसिष्ठजी उसके समाधानकी, आगे कही जानेवाली सृष्टिकी आख्यायिकासे, प्रतिज्ञा करते हैं—**'असदेव'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—यह जगत् ब्रह्मात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नही है । जगत्‌रूपसे असत् होता हुआ भी जिस प्रकार सत्-प्रतीत होता है, उसको मै आपसे बडी लम्बी (मण्डपोपाख्यान आदिसे बढाई गई) आख्यायिकासे कहता हूँ, आप सुनिये । आशय यह कि यद्यपि इस जगत्‌की प्रतीति बड़ी दृढ़ है, तथापि यह असत् होता ही सद्रूपसे प्रतीत होता है, इस अंशमें इसकी स्वप्नसे समता है ही । रह गई दृढ प्रतीतिकी बात, सो तो चिरकालसे बद्धमूल होनेके कारण है ॥ २८ ॥

तबतक सुनिये, जबतक कि पूर्वजोंके व्यवहारके प्रतिपादक वाक्योंसे उन लम्बी आख्यायिकाओंमें वर्णित तत्त्व आपके हृदयमें, तालाबमें धूलिके समान, न बैठ जाय ॥ २९ ॥

उसीसे आपकी दूसरी शङ्का निवृत्त हो जायगी और दूसरी शङ्काकी निवृत्ति होनेपर आपको शान्ति मिलेगी और लोकव्यवहार भी सिद्ध होगा, ऐसा कहते हैं—**'अत्यन्ता०'** इत्यादिसे ।

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचलाचलाः ।
दृशस्त्वां वेधयिष्यन्ति न महाद्रिमिवेषवः ॥ ३१ ॥

स एषोऽस्त्येक एवाऽऽत्मा न द्वितीयाऽस्ति कल्पना ।
जगदत्र यथोत्पन्नं तत्ते वक्ष्यामि राघव ॥ ३२ ॥

तस्मादिमानि सकलानि विजृम्भितानि
सोऽपीदमङ्ग सकलासकलं महात्मा ।
रूपावलोकनमनोमननप्रकारा-
कारास्पदं स्वयमुदेति विलीयते च ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे परमार्थवर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

आपको भ्रान्तिसे जो यह जगत्की सत्ता दिखलाई दे रही है, इसके अत्यन्ताभावको (सर्वथा अभावको) जानकर, आप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मके ध्यानमें संलग्न हो लौकिक व्यवहार करेंगे ॥ ३० ॥

जिनका प्रयोजन रहनेपर ग्रहण होता है और प्रयोजन न रहनेपर त्याग होता है, ऐसे स्थूल, सूक्ष्म आदि विषयोंमें (विषयोंके अनुसार) चञ्चल और स्थिर व्यवहारदृष्टियाँ आपको इस प्रकार पीड़ित नहीं कर सकेंगी, जिस प्रकार कि बाण पर्वतको विद्ध नहीं कर सकते ॥ ३१ ॥

हे रघुकुलतिलक, जिसका पहले विस्तारसे वर्णन किया गया है, वही यह केवल एक (अद्वितीय) आत्मा है । इसके सिवा दूसरी कल्पना ही नहीं है । इस द्वितीय-कल्पनासे शून्य आत्मामें यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, उसको मैं आगे आपसे कहूँगा ॥ ३२ ॥

ये सम्पूर्ण जगत् उस आत्मासे आविर्भूत हुए हैं ।

शङ्का—क्या जैसे ये तटस्थ ईश्वरसे भेदसे आविर्भूत हैं, वैसे ही इससे भी भेदसे आविर्भूत हुए हैं ? अर्थात् जैसे अन्याभिमत स्रष्टा ईश्वरसे भिन्नतया सृज्य पदार्थोंका आविर्भाव माना जाता है वैसे ही आपके अभिमत स्रष्टा आत्मासे भिन्नतया जगत्का आविर्भाव हुआ है ?

द्वादशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मात्परमाच्छान्तात्पदात्परमपावनात् ।
यथेदमुत्थितं विश्वं तच्छृणूत्तमया धिया ॥ १ ॥
सुषुप्तं स्वप्नवद् भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत् ।
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तत्र तावत्क्रमं शृणु ॥ २ ॥

समाधान—नहीं, वह महान् आत्मा भी समष्टिव्यष्टिरूप बाहर इन्द्रियों द्वारा दिखाई देनेवाला दृश्यदर्शनप्रकाराकार और अन्दर मननप्रकाराकार होकर स्वयं ही उदित होता है और विलीन होता है। भाव यह कि वास्तवमें उसका उदय और विनाश तो होते नहीं, पर अज्ञानतः भ्रान्तिसे उसके उदय और विनाशकी प्रतीति होती है ॥ ३३ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

—o—

बारहवाँ सर्ग

[आगे अपवादसे सम्पूर्ण सृष्टिका अत्यन्ताभाव कहनेके लिए अपवादानुरूप अध्यारोपभूत सृष्टिका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने पहले जिस विषयकी प्रतिज्ञा की थी, उसको कहनेके लिए भूमिका बांधते हुए वे बोले—**'एतस्मात्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्र, सर्वोत्तम, शान्त और परम पवित्र इस पदसे (ब्रह्मसे) यह सम्पूर्ण विश्व जैसे आविर्भूत हुआ है, उसे आप उत्तम बुद्धिसे (क्षोभशून्य एकाग्र मनसे) सुनिये ॥ १ ॥

जैसे सुषुप्त आत्मा ही स्वप्न-सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टिकी नाईं प्रतीत होता है । [यह कल्पना दृष्टके अनुसार है।] स्वप्न केवल एक पुरुषकी वासनाका कार्य है, अतः स्वप्नप्रतीति दृढ नहीं होती और प्रपञ्च सम्पूर्ण जीवोंकी वासनासे उत्पन्न है, अतः उसकी प्रतीति सुदृढ़ है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी पूर्वोक्त शङ्काके परिहारके अभिप्रायसे कहते हैं—'सर्वात्मकम्' इत्यादिसे ।

तस्याऽनन्तप्रकाशात्मरूपस्याऽनन्तचिन्मणेः ।
सत्तामात्रात्मकं विश्वं यदजस्रं स्वभावतः ॥ ३ ॥
तदात्मनि स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति ।
अगृहीतात्मकं संविदहंमर्शनपूर्वकम् ॥ ४ ॥
भाविनामार्थकलनैः किञ्चिदूहितरूपकम् ।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन् भाति बोधनम् ॥ ५ ॥
ततः सा परमा सत्ता सचेतश्चेतनोन्मुखी ।
चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिल्लभ्यतया तथा ॥ ६ ॥

उसका अधिष्ठान सर्वात्मक (सर्वसुषुप्तसमष्ट्यवस्थ और सर्वप्रलयावस्थ) ब्रह्म है। इस विषयमें आप क्रमको सुनिये ॥ २ ॥

चूंकि यह सम्पूर्ण विश्व स्वभावतः सदा अनन्तप्रकाशरूप तथा अनन्तचैतन्य-स्वरूप ब्रह्मका सत्तामात्ररूप * है, इसलिए वही मानो चेत्यताको (दृश्यताको) प्राप्त होता है, यों अग्रिम श्लोकसे सम्बन्ध है ॥ ३ ॥

पहले उसमें 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने संकल्प किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस श्रुतिसे सिद्ध ईक्षणभावको दिखलाते हैं—**'तदात्मनि'** इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

आकाशसे भी सूक्ष्म और निर्मल जो बोध है, वह भावी (होनेवाले) नाम और रूपोंके अनुसन्धानसे कुछ अनुमितरूपवाला होकर सम्पूर्ण स्रष्टव्य (सृष्टि करने योग्य) विषयोंमें संकल्पपूर्वक अहङ्काराध्यासके बिना प्रतीत होता है। अतएव वही स्वयं अपने स्वरूपमें मानो किञ्चित् चेत्यता (दृश्यता) को प्राप्त होता है ॥४,५॥

ईक्षणवृत्ति और ईक्षणवृत्तिके विषयरूप उपाधियोंसे उसमें ईश्वरभाव और जीवभावको दर्शाते हैं—**'तत्'** इत्यादिसे ।

तदुपरान्त वह परम सत्ता ही ईक्षणात्मक वृत्तिसे युक्त चेतनामें (उक्त ईक्षणात्मक वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यमें) उन्मुख होकर यानी ईक्षणवृत्तिसहित चेतनाप्रधान होकर वाणीके व्यवहारके विषय धर्मोंसे युक्त होनेके कारण वाणीसे

---

* चैतन्यरूप ब्रह्मकी सत्ता ही उसका परमार्थरूप है, उसकी सत्तासे अतिरिक्त उसका रूप नही है ।

घनसंवेदना पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
संभवत्यात्तकलना यदोज्झति परं पदम् ॥ ७ ॥
सत्तैव भावनामात्रसारा संसरणोन्मुखी ।
तदा वस्तुस्वभावेन त्वनुत्तिष्ठति तामिमाम् ॥ ८ ॥
समनन्तरमेवाऽस्याः खसत्तोदेति शून्यता ।
शब्दादिगुणबीजं सा भविष्यदभिधाऽर्थदा ॥ ९ ॥

प्राप्य (ज्ञेय) होनेसे यानी वाणीके व्यवहारके योग्य होनेसे 'चित्' नामके योग्य ('सर्वज्ञ ईश्वर' नामके योग्य) होती है ॥ ६ ॥

पीछे चिरकालकी अनुवृत्तिसे जिसकी ईक्षणवृत्ति अत्यन्त घन हो गई है और जिसने उक्त ईक्षणवृत्तिके विषय सूक्ष्म प्रपञ्चस्वरूपतारूप परिच्छेद स्वीकार कर लिया है, एवंभूत वही परमसत्ता जब परम पदका त्याग करती है तब भावी प्राणधारणरूप उपाधिवाले जीव, हिरण्यगर्भ आदि नामवाली होती है॥ ७ ॥

वैसी होनेपर भी ब्रह्मसत्ता स्वरूपसे विनष्ट नहीं होती, ऐसा कहते हैं—**'सत्तैव'** इत्यादिसे ।

उस समय ब्रह्मसत्ता ही केवल भावनासे संसारोन्मुख होती है, विकार आदि क्रियासे नहीं ।

शङ्का—सो कैसे ?

समाधान—ब्रह्मस्वभाव ही ऐसा है । भाव यह है कि उक्त ब्रह्मसत्ताका स्वभाव ही ऐसा ही है कि वह केवल भावनामात्रसे (संकल्पमात्रसे) संसार-भावको प्राप्त होती है, उसमें किसी प्रकारका विकार होकर वह संसारभावको प्राप्त होती है, यह बात नहीं है ।

शङ्का—तो उसका जीवभाव कैसे होता है ?

समाधान—रज्जुमें सर्पकी नाई उसीमें जीवभावका उदय होता है ॥ ८ ॥

अब श्रीमहामुनि वसिष्ठजी महाभूतोंकी सृष्टिको कहनेकी इच्छासे पहले आकाशकी सृष्टि कहते हैं—**'समनन्तर०'** इत्यादिसे ।

जीवभावका उदय होनेके अनन्तर अन्य भूतोंको अवकाश देनेवाली होनेके कारण शून्यप्राय (प्रायः रिक्त) आकाशसत्ता उदित होती है, जो कि सूर्य आदिकी

अहन्तोदेति तदनु सह वै कालसत्तया ।
भविष्यदभिधार्थेन बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ १० ॥
तस्याः शक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
एतज्जालमसद्रूपं सदिवोदेति विस्फुरत् ॥ ११ ॥
एवंप्रायात्मिका संविद्बीजं सङ्कल्पशाखिनः ।
भवत्यहङ्कारकणस्ततः स्पन्दतया मरुत् ॥ १२ ॥
चिदहन्तावती व्योम्नि शब्दतन्मात्रभावनात् ।
खतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं भवत्यलम् ॥ १३ ॥

सृष्टिके पश्चात् होनेवाले आकाश आदि नामोंके अर्थको (आकाश यानी आ—समन्तात्—काशते प्रकाशते यानी चारों ओर जो प्रकाशित है, इत्यादि अर्थको) देती है और शब्द आदि गुणोंकी कारण है ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त हिरण्यगर्भरूप जीवके अहन्ताभिमानकी और तबसे लेकर द्विपरार्द्ध-परिमित ब्रह्माकी आयुरूप कालकी सृष्टिको कहते हैं—**'अहन्तो०'** इत्यादिसे ।

आकाशसत्ताके अनन्तर भावी (होनेवाले) नामोंके अर्थरूपसे जगत्स्थितिकी मुख्य बीजभूत अहन्ता (अहङ्कार) कालसत्ताके साथ उदित होती है ॥ १० ॥

उक्त आकाश, अहङ्कार और कालकी सृष्टि हिरण्यगर्भसे नहीं होती, किन्तु हिरण्यगर्भरूप उपाधिसे उपहित परमात्मसत्तासे ही होती है, क्योंकि वही सबकी हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'तस्याः'** इत्यादिसे ।

उस परमशक्तिका (परमात्मसत्ताका) स्वसंकल्पमात्ररूप यह प्रकाशमान असदात्मक दृश्य प्रपञ्च सत्की नाई उससे उदित होता है। इसके उदयसे परमात्म-सत्तामें किसी प्रकारका विकार नहीं होता, यह सूचन करनेके लिए 'स्वसंवेदन-मात्रकम्' कहा है ॥ ११ ॥

'मै आकाश होऊँ' इस अहङ्कारसे (अभिमानसे) जिसका स्वरूप प्रायः आकाश-सा हो जाता है ऐसी संवित् आकाशकार्य (वायु आदि) विषयक संकल्परूपी वृक्षकी बीज है । अतएव उससे परिच्छिन्न स्पन्दशक्तिप्रधान होनेके कारण अहङ्कारका एक अंश-सा वायु आविर्भूत होता है ॥ १२ ॥

आकाशाहङ्कारोपाधिसे उपहित परमात्मसत्ता ही जब सम्पूर्ण शब्दोंके बीज-

भाविनामार्थरूपं तद् बीजं शब्दौघशाखिनः ।
पदवाक्यप्रमाणाख्यं वेदवृन्दं विकासितम् ॥ १४ ॥
तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः परमात्मनः ।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणः ॥ १५ ॥
चिदेवंपरिवारा सा जीवशब्देन कथ्यते ।
भाविशब्दार्थजालेन बीजं रूपौघशाखिनः ॥ १६ ॥

भूत शब्दतन्मात्ररूप बननेका सकल्प करती है, तब उसीसे शब्दतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**चिद्०**' इत्यादिसे ।

आकाशमें अहन्ताबुद्धिवाली परमात्मसत्ता शब्दतन्मात्रके संकल्पसे ('मैं शब्द तन्मात्रा होऊँ' इस संकल्पसे) अतिसूक्ष्म आकाशभावसे कुछ घन होकर शब्द-तन्मात्र होती है * ॥ १३ ॥

वेद आदि सम्पूर्ण शब्दोंका शब्दतन्मात्र उपादान है, ऐसा कहते हैं—'**भाविनामा०**' इत्यादिसे ।

भावी (होनेवाले) नामोंका अर्थभूत तथा शब्दसमूहरूपी वृक्षका बीज वह शब्दतन्मात्र ही विस्तारको प्राप्त किया गया पदवाक्यप्रमाणनामक वेदसमूह है ॥१४॥

इस प्रकार वेदरूपताको प्राप्त हुए परमात्मासे, जो कि शब्दसमूहसे निर्मित पदार्थसमूहरूप परिणाम (कार्य) का विस्तार करते हैं, जगत्की उत्पत्ति होगी। भाव यह कि 'स भूरिति व्याहरत् स भुवमसृजत' उसने 'भूः' कहा, अनन्तर पृथिवीकी सृष्टि की) 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन्' (प्रजापतिने 'एत' इससे देवताओंकी, 'असृग्रम्' से मनुष्योंकी और 'इन्दव.' से पितरोंकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियोंसे यह प्रसिद्ध है कि वेदमें जो शब्दसमूहसे सिद्ध पदार्थ हैं, उन्हींका परमात्मा विस्तार करते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार वायुपर्यन्त जिसका परिवार है, ऐसी वह चित् जीवशब्दसे कही जाती है। वही भावी नाम-रूपसमूहसे मूर्तिमान् जीवोंके समूहरूपी वृक्षकी बीज है अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त्याकार पदार्थ (जीव) उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

* यद्यपि साङ्ख्यदर्शन, पुराण आदिमें तन्मात्राओंसे भूतोंकी उत्पत्ति कही गई है, तथापि 'आत्मन आकाश सम्भूत' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म ही आकाश आदि भूतोंका साक्षात् उपादान सुना गया है और 'तद्यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुतिमें सामान्य शब्द विशेष शब्दोंका कारण सुना गया है, अतएव आकाशसे ही सामान्यशब्दरूप शब्द-तन्मात्राकी उत्पत्ति कही गई है ।

चतुर्दशविधं भूतजालमावलितान्तरम् ।
जगज्जठरगर्त्तौघं प्रसरिष्यति वै ततः ॥ १७ ॥
असंप्राप्ताभिधाचारा चिज्जवात् प्रस्फुरद्वपुः ।
सा चैव स्पर्शतन्मात्रं भावनाद्भवति क्षणात् ॥ १८ ॥
पवनस्कन्धविस्तारं बीजं स्पर्शौघशाखिनः ।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात् संप्रसरिष्यति ॥ १९ ॥
तत्रैव चिद्विलासेन प्रकाशोऽनुभवाद् भवेत् ।
तेजस्तन्मात्रकं तत्तु भविष्यदभिधार्थकम् ॥ २० ॥

वह (परमात्मा) व्यष्टिप्राणरूपसे आध्यात्मिक सम्पूर्ण क्रियाओंका हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'चतुर्दश०'** इत्यादिसे ।

चौदह भुवन हैं । प्रत्येक भुवनमें प्राणियोंका आकार-प्रकार भिन्न भिन्न है । अतएव चौदह भुवनोंके भेदसे चौदह प्रकारके प्राणी पूर्वोक्त प्राणवायुके कारण अपनेसे (ब्रह्मसे) व्याप्त होकर ब्रह्माण्डोदररूप विविध गर्तोंमें घूमते फिरते हैं ॥१७॥

वही चैतन्य जब 'मै वायु हूं' इस अभिमानसे युक्त होता है तब वह सम्पूर्ण स्पर्शोंका उपादान-कारण स्पर्शतन्मात्ररूप और आवह, प्रवह आदि उनचास वायुओंके विभागसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी चेष्टाका कारण होता है, ऐसा कहते हैं—**'असंप्राप्त०'** इत्यादि दो श्लोकोसे ।

यद्यपि 'मै वायु हूं' इस अभिमानके पूर्व उक्त चैतन्यका न 'वायु' नाम था और न उसमें चलनादि क्रिया ही थी, तथापि 'मै वायु हूँ' इस प्रकार अपनेमें वायुत्वके अभिमानके वेगसे व्यापारवान् (चलनादि व्यापारसे युक्त) होकर स्पर्श-तन्मात्रकी भावनासे ('मै स्पर्शतन्मात्र होऊँ' इस संकल्पसे) वही शीघ्र स्पर्श-तन्मात्र हो जाता है । वह (स्पर्शतन्मात्र) विविध स्पर्शरूपी वृक्षका बीज है तथा उनचास प्रकारके वायुओंका विस्तार उसमें सूक्ष्मरूपसे निहित है । उसीसे सम्पूर्ण भूतोंमें चलनादि क्रियारूपी स्पन्द उत्पन्न होता है ॥ १८, १९ ॥

वायुकी उत्पत्तिके पश्चात् तेजकी उत्पत्ति कहते हैं—**'तत्रैव'** इत्यादिसे ।

तदुपरान्त 'मै प्रकाशरूप होऊँ' इस भावनासे उसीमें (चैतन्यमें ही) प्रकाशकी उत्पत्ति होती है । प्रकाशरूपताको प्राप्त अनुभवरूप चैतन्यसे ही रूपतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, जो कि सम्पूर्ण भावी पदार्थोंके नाम और रूपकी प्रकाशक है ॥२०॥

तत्सूर्याग्निविजृम्भादि बीजमालोकशाखिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ २१ ॥
भावयंस्तनुतामेव रसस्कन्ध इवाऽम्भसः ।
स्वदनं तस्य सङ्घस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ २२ ॥
भाविवारिविलासात्मा तद्बीजं रसशाखिनः ।
अन्योन्यस्वदने तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ २३ ॥
भविष्यद्रूपसङ्कल्पनामाऽसौ कल्पनात्मकः ।
सङ्कल्पात्मगुणैर्गन्धतन्मात्रत्वं प्रपश्यति ॥ २४ ॥
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात् संसारः प्रसरिष्यति ॥ २५ ॥

सूर्य, अग्नि, बिजली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि रूप वह तेज प्रकाशरूपी वृक्षका बीज है । उससे (तेजसे) विविध रूपोंके भेद द्वारा संसारका विस्तार होता है ॥ २१ ॥

तदुपरान्त जलकी उत्पत्ति कहते हैं—**'भावयन्'** इत्यादिसे ।

वह तेजस्वरूपताको प्राप्त चैतन्य मानो जलके विविध रस मैं ही हूँ, इस प्रकार अपनी जलरूपताकी (अथवा परिच्छिन्नताकी) भावना करता हुआ जलरूपताको प्राप्त होता है । जलरूप मूर्त द्रव्य (पदार्थ) का जिह्वासे आस्वाद लेनेपर 'यह मीठा है' इस प्रकारका जो स्वाद है, वह सम्पूर्ण रसोंका एकमात्र उपादान होनेसे रसतन्मात्र कहलाता है । वह रसरूपी वृक्षका बीज है और भावी जलके विविध आकारोंको धारण करनेवाला है । इन्द्रिय और विषयरूपसे परस्पर रसका आस्वाद लेनेपर विषयोंमें अनुराग आदिकी उत्पत्तिसे पुनः पुनः विषयोंके उपार्जनमें प्रवृत्ति-रूप संसारका उससे प्रसार होता है ॥ २२,२३ ॥

तदन्तर पृथिवीकी सृष्टि कहते हैं—**'भविष्यत्'** इत्यादिसे ।

जलभावको प्राप्त परमात्मा 'मैं पृथिवी ही हूँ' यों सङ्कल्परूप होनेसे जिसका स्वरूप आगे होनेवाला है, उस पृथिवीका सङ्कल्पनात्मक होकर संकल्परूप अपने गुणोंसे अपनेको गन्धतन्मात्र देखता है । अर्थात् 'मै गन्धतन्मात्र होऊँ' अपने इस सकल्पात्मक गुणसे गन्धतन्मात्र हो जाता है ॥ २४ ॥

अब पृथिवीकी सृष्टिका उपयोग बतलाते हैं'—**'भावि०'** इत्यादिसे ।

चिता विभाव्यमानानि तन्मात्राणि परस्परम् ।
स्वयं परिणतान्यन्तरम्बुनीव निरन्तरम् ॥ २६ ॥
तथैतानि विमिश्राणि विविक्तानि पुनर्यथा ।
न शुद्धान्युपलभ्यन्ते सर्वनाशान्तमेव हि ॥ २७ ॥
संवित्तिमात्ररूपाणि स्थितानि गगनोदरे ।
भवन्ति वटजालानि यथा बीजकणान्तरे ॥ २८ ॥
प्रसवं परिपश्यन्ति शतशाखं स्फुरन्ति च ।
परमाण्वन्तरे भान्ति क्षणात्कल्पीभवन्ति च ॥ २९ ॥

भावी (आगे होनेवाले) ब्रह्माण्डगोलकरूपसे या ज्योतिषशास्त्रमें प्रसिद्ध भूगोलरूपसे वह मनुष्य आदिके विविध आकाररूप वृक्षका बीज है। सम्पूर्ण चर और अचर जीवोंके आधारस्वरूप उक्त पृथिवीसे संसारका प्रसार होता है ॥२५॥

उक्त रीतिसे उत्पन्न पाँच भूतोंके संमिश्रणसे ब्रह्माण्डाकारका विकास कहते हैं—**'चिता'** इत्यादिसे ।

चैतन्यके पूर्वोक्त रीतिसे पाँच भूतोंमें अहन्ता (अहंकारभाव) को प्राप्त होनेपर उक्त चैतन्यसे ब्रह्माण्डाकार प्रतीत हो रहे भूततन्मात्र अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र परस्परके संमिश्रणसे, जलमें बुद्बुदोंकी नाईं, स्वयं ब्रह्माण्डाकारसे परिणत होते हैं ॥ २६ ॥

कितने समय तक वे संमिश्रणभावमें स्थित रहते हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**'तथैतानि'** इत्यादिसे ।

ये पांच भूत इस प्रकार संमिश्रणको प्राप्त हुए हैं, जिस प्रकार विनाश होने तक (महाप्रलयपर्यन्त) पृथक् और शुद्ध नहीं पाये जा सकते ॥ २७ ॥

जितनी वस्तुओंका स्थूलरूपसे आविर्भाव हुआ, वे सब पहले ब्रह्मसत्तासे विद्यमान थीं, इस बातको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—**'संवित्ति०'** इत्यादिसे ।

जैसे वटके अतिसूक्ष्म बीजके अन्दर विशाल वटवृक्ष स्थित हैं, वैसे ही ये ब्रह्माण्ड भी अव्याकृत आकाशके अन्दर केवल संविद्रूपसे स्थित हैं ॥ २८ ॥

यदि किसीको आशङ्का हो कि भूततन्मात्र अतिसूक्ष्म हैं, अतएव स्थानाभावसे उनमें स्थूल पदार्थोंका रहना विरुद्ध प्रतीत होता है, इसपर कहते हैं—**'प्रसवम्'** इत्यादिसे ।

विवर्त्तमेव धावन्ति निर्विवर्त्तानि सन्ति च ।
चिद्देधितानि सर्वाणि क्षणात्पिण्डीभवन्ति च ॥ ३० ॥
तन्मात्रगणमेतत्स्यात् सा संकल्पात्मिका चितिः ।
वेदना त्रसरेण्वाभमनाकारैव पश्यति ॥ ३१ ॥
बीजं जगत्सु ननु पश्चकमात्रमेव बीजं पराव्यवहितस्थितिशक्तिराद्या ।
बीजं तदेव भवतीति सदाऽनुभूतं चिन्मात्रमेवमजमाद्यमतो जगच्छ्रीः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
जगदुत्पत्तिवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

तन्मात्रोंमें स्थूल पदार्थोंकी वास्तवमें स्थिति नहीं है, किन्तु उनसे उनकी केवल मायिक उत्पत्ति दिखलाई देती है और फिर वे शाखा-प्रशाखाके भेदसे विविध विस्तारको प्राप्त होते हैं और क्षणमें ही विलीन हो जाते हैं। पूर्वोक्त मायिक उत्पत्तिका प्रदर्शन अतिसूक्ष्म वस्तुमें भी होता है, क्योंकि स्वप्नमें अतिसूक्ष्म नाड़ियोंके छिद्रोंमें भी विशाल जगत् दिखलाई देता है, यह भाव है ॥ २९ ॥

तन्मात्रोंके उक्त रीतिसे स्थूल हो जानेपर भी उनके सूक्ष्म-रूपकी क्षति नहीं होती, क्योंकि जिस अधिष्ठानमें विवर्त होता है, उसका विकार नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**विवर्तमेव**' इत्यादिसे ।

वे विवर्तकी ओर अग्रसर होते हैं यानी विवर्त्तसे स्थूलताको प्राप्त होते हैं, पर वास्तवमें विवर्तरहित अपने सूक्ष्मतम स्वरूपमें ही रहते हैं। विकाररहित चेतनसे सम्बद्ध होनेके कारण क्षणमें ही पिण्डीभाव (स्थूलता) को प्राप्त होते हैं। यदि यह स्थूलभाव तन्मात्रोंका परिणाम होता, तो जैसे कद्दूके बड़े होनेमें समय लगता है, वैसे ही इनकी स्थूलतामें समय लगता, यह भाव है ॥ ३० ॥

इस सर्गमें पहले जो विषय कहा गया है, उसका स्मरण कराते हुए इस सर्गका उपसंहार करते हैं—'**तन्मात्र०**' इत्यादिसे ।

यह तन्मात्रसमूह, जिसका पहले विस्तारसे वर्णन किया गया है, संकल्पस्वरूप चैतन्य ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, कारण कि चैतन्य ही 'मै अमुक हूँ' इस अभिमानसे तत्-तत्स्वरूप हुआ है। चैतन्य अपने स्वरूपसे तो निराकार ही है, पर संकल्परूपसे वह अपनेको त्रसरेणुसदृश (स्थूलरूप) देखता है ॥ ३१ ॥

जो पहले यह कहा था कि ब्रह्म ही जगत्के आकारमें परिणत होता है,

त्रयोदशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमे ब्रह्मणि स्फारेऽसमे राम समे स्थिते ।
अनुत्पन्ननभस्तेजस्तमःसत्ताचिदात्मनि ॥ १ ॥
पूर्वं चेत्यत्वकलनं सतश्चेत्यांशचेतनात् ।
उदेति चित्तकलनं चितिशक्तित्वचेतनात् ॥ २ ॥

वह पूर्वोक्त रीतिसे सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—**'बीजम्'** इत्यादिसे ।

दृश्यमान जगत्के मूल पञ्चभूततन्मात्रा ही हैं, पञ्चतन्मात्रोंका मूल मायाशक्ति ही है, जिसका परमात्मासे तनिक भी व्यवधान नहीं है और जो जगत्की स्थितिमें कारण है । इस प्रकार चिद्घन अज परमात्मा ही मायाशक्ति द्वारा जगत्का बीज है । मायाके हट जानेपर वही सदा अनुभवारूढ़ होता है, इसलिए यह दृश्यमान जगत् चेतनरूप ही है ॥ ३२ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

[ब्रह्मके जीवभाव तथा देह आदिकी प्राप्ति कावर्णन]

जैसे सुषुप्ति अवस्थामें जीवप्रयोजक उपाधियोंका (अन्तःकरण आदिका) विनाश होनेसे वे मायाशबलब्रह्मभावको प्राप्त होती हैं, वैसे ही प्रलयावस्थामें विलय होनेसे मायाशबलब्रह्मभावको प्राप्त हुई जीवप्रयोजक उपाधियोंके फिर आविर्भावक्रमको श्रीवसिष्ठजी हेतुपूर्वक कहते हैं—**'परमे'** इत्यादि पांच श्लोकोंसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सर्वव्यापक सम और असम (विकारसे होनेवाली विषमतासे शून्य होनेके कारण सम—एकरस—और मायाशबल होनेके कारण विषम) अधिष्ठानरूप उत्पन्न न हुए आकाश, तेज और तम आदिके कारणसत्तास्वरूप (जब कि आकाश, तेज, तम आदिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी तब उनकी कारणरूप सत्ता ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त नहीं थी) चिद्घन परब्रह्ममें दृश्य अंशके प्रकाशसे* पहले दृश्यत्व (विषयभाव) की कल्पना

---

* जब विषय और करणोंकी सिद्धि हो जाय, तब चेतयितृत्वस्वरूप जीवकी सिद्धि होती है, इसलिए चिदात्मामें पहले विषय और करणोंका अभ्यास दर्शाया है ।

ततो जीवत्वकलनं चेत्यसंयोगचेतनात् ।
ततोऽस्य मायाकलनं चेत्यैकपरतावशात् ॥ ३ ॥
ततो बुद्धित्वकलनमहन्तापरिणामतः ।
एतदेव मनस्तादि शब्दतन्मात्रकादिमत् ॥ ४ ॥
उच्छूनादन्यतन्मात्रभावनाद् भूतरूपिणः ।
अयमित्थं महागुल्मो जगदादिर्विलोक्यते ॥ ५ ॥
झटित्येवंक्रमेणेति स्वप्ने पुरमिवाऽकृतम् ।
महाकाशमहाटव्यामुद्भूयोद्भूय नश्यति ॥ ६ ॥

उदित होती है, क्योंकि चैतन्यका विषयको प्रकाशित करना स्वभाव ही है। तदुपरान्त चितिशक्तिके प्रकाशनसे उक्त चिदात्मामें चित्तकी कल्पना उदित होती है, जिसका अध्यास किया जाता है, उसीका प्रकाशन करना चितिका स्वभाव ही है। उक्त चिति अध्यासके विषय सम्पूर्ण पदार्थोंसे पूर्व विद्यमान है, अतएव वही सबके प्रति निमित्त है। तदनन्तर विषयोंके साथ उसके सम्बन्धका प्रकाश होनेसे उक्त चिदात्मामें जीवत्वकी कल्पना उदित होती है। 'मै केवल विषयरूप हूँ' ऐसा अभिमान होनेके कारण उक्त चिदात्मामें अहंभावकी कल्पना उदित होती है। तदुपरान्त उक्त अहंभावकी अभिवृद्धि होनेसे उक्त चिदात्मामें बुद्धिभावकी कल्पना उदित होती है। इस प्रकार धर्मोंकी सिद्धि होनेपर शब्दादितन्मात्राओंसे युक्त वही मनःस्वरूप हो जाता है। भाव यह कि जैसे स्वप्नमें संस्काररूपसे अपने अन्तर्गत शब्द आदि विषयोंका मनन होता है, वैसे ही संस्काररूपसे अपने अन्तर्गत शब्दादिविषयमात्राओंके मननसे वही चिदात्मा शब्दादिविषयमात्राओंसे युक्त मन बन जाता है ॥ १–४ ॥

मनोभावापन्न चिदात्माकी स्थूलदेहभाव-प्राप्ति कहते हैं–'**उच्छूनाद्०**' इत्यादिसे।

संस्काररूपसे स्थित शब्दतन्मात्राओंका स्पर्शादितन्मात्राओंके साथ संमिश्रण करनेसे पञ्चीकरणरूपसे आध्यात्मिक महाभूतरूपी (स्थूलदेहभावको प्राप्त हुए) मनसे ही यह महावृक्षरूपी अतिविशाल चराचर प्रपञ्च इस प्रकार दिखाई देता है ॥ ४ ॥

जैसे स्वप्नमें इच्छा न रहते भी नगर बन जाता है, वैसे ही इच्छाके बिना ही पूर्वोक्त रीतिसे शीघ्र बना हुआ यह जगत्‌रूपी महान् वृक्ष महाकाशरूपी महारण्यमें पुनः पुनः उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

यह बोये बिना ही उगा हुआ जगद्रूपी करंज वृक्षों (कंजा) की झाड़ियोंका

जगत्करञ्जकुञ्जानां बीजमेतदवापजम् ।
नाऽपेक्षते किञ्चिदपि क्षितिवार्यनलादिकम् ॥ ७ ॥
एतच्चिदात्मकं पश्चात्किलोर्व्यादि करिष्यति ।
स्वं स्वप्नवित् पुरमिव चिन्मात्रात्मकमेव यत् ॥ ८ ॥
जगदाद्यङ्कुरं यत्रतत्रस्थमपि मुञ्चति ।
जगतः पञ्चकं बीजं पञ्चकस्य चिदव्यया ॥ ९ ॥
यद् बीजं तत्फलं विद्धि तस्माद् ब्रह्ममयं जगत् ।
एवमेष महाकाशे सर्गादौ पञ्चको गणः ॥ १० ॥
चिच्छक्त्या स्वाङ्गभूतात्मा कल्पितोऽस्ति न वास्तवः ।
अनेनोच्छूनतामेत्य यदपीदं वितन्यते ॥ ११ ॥
तदप्याकाशरूपात्मकल्पनात्मनि सन्मयम् ।
क्वचिन्न नाम तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ १२ ॥

बीज है, इसे मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। भाव यह कि अन्यान्य बीजोंको उगनेके लिए भूमि, जल, सूर्यताप आदिकी आवश्यकता होती है, पर यह उनसे विलक्षण है, इसे किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, और यह बोये बिना ही उगता है ॥ ६,७ ॥

तदनन्तर जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपनेसे अनुभूयमान नगरको उत्पन्न करता है, वैसे ही यह चिदात्मा भी पृथिवी आदिकी उत्पत्ति करता है। वस्तुतः स्वरूपसे तो असंग चिदात्मक ही रहता है, वह जहां कहीं पर भी स्थित हो, जगद्रूपी अङ्कुरका त्याग करता ही है (जगद्रूप अङ्कुरको उत्पन्न करता है)। पञ्चभूत-तन्मात्राएँ जगत्की बीज हैं और पञ्चतन्मात्राओंका बीज अविनाशी चिदात्मा है। जो बीज है, वही फल होता है, (क्योंकि कार्य और कारणका अभेद है)। इसलिए श्रीरामचन्द्रजी, आप जगत्को ब्रह्मरूप जानिये। इस प्रकार सृष्टिके आरम्भमें ये पञ्चभूततन्मात्राएँ, जो कि चिदात्माकी विषयप्रकाशनशक्तिसे स्वस्वरूपभूता हैं, महाकाशमें कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं। यद्यपि ये ही पञ्चभूततन्मात्राएँ परस्पर संमिश्रणसे स्थूलताको प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्चका विस्तार करती हैं, तथापि ये आकाशमें प्रतीयमान रूपकी भाँति अपनी कल्पनाके अधिष्ठान चिदात्मामें स्थित होनेके कारण ही सत् हैं, स्वतः सत् नही हैं, क्योंकि जिसका असिद्ध पदार्थसे साधन किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता, यह निश्चित है ॥ ८–१२ ॥

स्वरूपं यद्विकल्पात्म कथं तत्सत्यतामियात् ।
अथ चेत्पञ्चकं ब्रह्म ब्रह्मात्मकतया धिया ॥ १३ ॥
तत्पञ्चकं विद्धि प्रौढो ब्रह्मैव त्रिजगत्क्रमः ।
यथा स्फुरति सर्गादावेष पञ्चकसंभवः ॥ १४ ॥
तथैवाऽद्येह भूतत्वे याति कारणतां स्वयम् ।
एवं न जायते किञ्चिज्जगज्जातं न लक्ष्यते ॥ १५ ॥
स्वप्नसङ्कल्पपुरवदसत् सदनुभूयते ।
ब्रह्माकाशपराकाशे जीवाकाशत्वमात्मनि ॥ १६ ॥
इति चित्यवदातात्मा पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
इत्येष जीवः कथितो व्योम्नि खात्मा इवोदितः ॥ १७ ॥

जो स्वरूप काल्पनिक है यानी वास्तविक नहीं है, वह कैसे सत्य हो सकता है?

शङ्का—ब्रह्ममें अध्यस्त पञ्चभूततन्मात्राओंकी ब्रह्ममात्रता भले ही हो, पर उनके कार्य जगत्की ब्रह्ममात्रता कैसे?

समाधान—यदि 'ये ब्रह्मस्वरूप हैं' इस बुद्धिसे पञ्चभूततन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं, तो पञ्चतन्मात्राओंके कार्य स्थूल पांच महाभूत भी ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, क्योंकि कार्य और कारणकी एकता दिनके समान प्रसिद्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चिरकालसे बद्धमूल तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं।

शङ्का—यदि उनमें भेद नहीं है, तो अभिन्न पदार्थोंमें कार्यकारणभावका व्यवहार कैसे होता है?

समाधान—जैसे सृष्टिके पूर्वमें ये कारणभूत पञ्चतन्मात्राएँ स्वरूपभूत स्थूल प्रपञ्चके प्रति कारणरूपसे स्फुरित होती हैं, वैसे ही आज भी वे आगे होनेवाले अपने स्वरूपके प्रति ही कारण होती हैं, अतः उनमें कार्यकारणभावका व्यवहार होता है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। जैसे सङ्कल्प और मनोरथ द्वारा निर्मित नगर असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्माकाशरूपी परमप्रकाश आत्मामें जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है ॥ १३—१६ ॥

वस्तुतः चिदात्मामें पृथिवी आदिका संभव नहीं है, अतएव जैसे आकाशमें

जीवाकाशस्त्विमं देहं यथा विन्दति तच्छृणु ।
जीवाकाशः स्वमेवाऽसौ तस्मिंस्तु परमेश्वरे ॥ १८ ॥
अणुतेजःकणोऽस्मीति स्वयं चेतति चिन्तया ।
यत्तदेवोच्छूनमिव भावयत्यात्मनाऽम्बरे ॥ १९ ॥
असदेव सदाकारं संकल्पेन्दुर्यथा न सन् ।
तमेव भावयन् द्रष्टृदृश्यरूपतया स्थितः ॥ २० ॥
एक एव द्वितामेति स्वप्ने स्वमृतिबोधवत् ।
किञ्चित्स्थौल्यमिवाऽऽदत्ते ततस्तारकतां विदन् ॥ २१ ॥

गन्धर्वनगर, घटाकाश, महाकाश आदि परिच्छिन्न आकाश आकाशसे ही कल्पना द्वारा उत्पन्न हुआ है वैसे ही यह आकाशात्मा जीव भी कहा गया है (यानी परम प्रकाशरूप महाकाशमें उत्पन्न हुआ है), ऐसा ज्ञानसे विशुद्धान्तःकरणवाले लोग देखते हैं ॥१७॥

ब्रह्मके 'जीवोऽहम्' इस प्रकारके साधारण अभिमानसे समष्टिजीवभावको कहकर अब विशेष अभिमानसे व्यष्टिजीवभाव द्वारा स्थूलदेहपर्यन्त तादात्म्यके आरोपके क्रमका विस्तारसे प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—**'जीवाकाश०'** इत्यादिसे ।

वत्स, जीवाकाश जिस प्रकारसे इस देहको प्राप्त होता है, उस प्रकारको अब आप मुझसे सुनिए । चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टिजीवाकाश अतिविस्तृत होता हुआ भी मैं चिनगारीकी नाईं अत्यन्त सूक्ष्म तेजका कण हूँ, इस प्रकार भावना करनेसे वैसा ही (अणुरूप ही) अपनेको जानता है । इसी अभिप्रायसे श्रुतिने कहा है—'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे ये सब जीव आविर्भूत होते हैं) । आकाशमें आत्मरूपसे जिस स्थूलताका चिन्तन करता है, भावना द्वारा तद्रूप ही अपनेको स्थूलरूप-सा समझता है । जैसे संकल्पसे कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही जिसकी भावना करता है, वह स्वरूप सत् नहीं है, फिर भी सत्-सा प्रतीत होता है, उसीकी भावना करनेसे यह द्रष्टृ-दृश्यरूपसे स्थित है ॥ १८–२० ॥

स्वप्नमें अपने मरणज्ञानके समान एक ही वह चिदात्मा द्वितीयताको प्राप्त होता है, पूर्वोक्त अतिसूक्ष्म तेजःकणस्वरूपताका परित्याग कर तारोंके सदृश स्थूलताको मानो प्राप्त करता है अर्थात् यही उसकी भूततन्मात्राओंसे संवलित लिङ्गात्मता है ॥२१॥

यथाभावितमात्रार्थभाविताद् विश्वरूपतः ।
स एव स्वात्माऽऽस ततोऽप्ययं सोऽहमिति स्वयम् ॥ २२ ॥
चित्तात्प्रत्ययमाधत्ते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम् ।
तारकाकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ॥ २३ ॥
भावयन्याति तद्भावं चित्तं चेत्यार्थतामिव ।
परित्यज्यैव तद्बाह्यं ततस्तारककोटरे ॥ २४ ॥
अन्तर्भाति बहिष्ठोऽपि पर्वतो मुकुरे यथा ।
कूपसंस्थो यथा देहः समुद्गकगतं वचः ॥ २५ ॥
स्वप्नसङ्कल्पयोः संविद्देत्त्येतज्जीवकोऽणुके ।
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽयं चेतति स्वयम् ॥ २६ ॥

सङ्कल्पित अर्थकी भावनासे तथा विश्वात्मक होनेसे 'सोऽहम्' इस प्रकार वह तारकाकार आत्मा ही स्वात्मा हुआ ॥ २२ ॥

यह लिङ्गदेहज्ञान और भावी स्थूलदेहज्ञान चित्तकल्पनासे ही होता है, ऐसा कहते हैं—**'चित्ताद्'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नमें पथिक बन जाता है, वैसे ही वह चित्तकी कल्पनासे मै लिङ्गदेहाकार और भावी स्थूलदेहाकार हूं, इस ज्ञानको धारण करता है ॥२३॥

जैसे चित्त विषयाकारताको प्राप्त होता है यानी स्वप्न और मनोरथमें बाहर स्थित भी विषय बाह्यरूपका त्याग कर भीतर अन्तःकरणात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करता हुआ यह चिदात्मा तद्रूपताको प्राप्त होता है, तदुपरान्त उपाधिसे भीतर कल्पित आकाशमें अपने स्वाभाविक रूपका त्याग करके बाह्य रूपताको प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

जैसे बाहर स्थित भी, पर्वत दर्पणमें भीतर स्थित-सा प्रतीत होता है, जैसे सर्वत्र व्यवहार करनेमें (यातायातमें) समर्थ शरीर कूपजलमें प्रतिबिम्बित होकर कूपमें ही व्यवहार करनेवाला प्रतीत होता है, जैसे दूरसे सुननेके योग्य गुहास्थित दीर्घशब्द गुहा आदिमें ही स्थित रहता है, बाहर नहीं निकलता, जैसे स्वप्न और मनोरथमें संवित् देहमें ही स्वप्न आदि देखती है, वैसे ही पूर्वोक्त स्फुलिङ्गसदृश उपाधिमें स्वरूपसे कल्पित तारकामें स्थित चिदात्मा वासनामय देहादिका अनुभव करता है ॥ २५–२६ ॥

तदेतद् बुद्धिचित्तादि-ज्ञानसत्तादिरूपकम् ।
जीवाकाशः स्वतस्तत्र तारकाकाशकोशगम् ॥ २७ ॥
प्रेक्षेऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे ।
ततो रन्ध्रद्वयेनैव भाविबाह्याभिधं पुनः ॥ २८ ॥
येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति ।
येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ॥ २९ ॥
येन जिघ्रति तद् घ्राणं स स्वमात्मनि पश्यति ।
तत्तस्य स्वदनं पश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ॥ ३० ॥
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेंद्रियव्रजम् ।
रूपालोकमनस्कारजातमित्यपि भावयत् ॥ ३१ ॥
आतिवाहिकदेहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ।
एवमुच्छूनतां तस्मिन् भावयत्तेजसः कणे ॥ ३२ ॥
असत्यां सत्यसंकाशां ब्रह्माऽऽस्ते जीवशब्दवत् ।
इत्थं स जीवशब्दार्थः कलनाकुलतां गतः ॥ ३३ ॥

तारकाकाशरूपी कोशमें स्थित यह वासनामय देह आदि व्यवहारदृष्टिसे विचार करनेपर बुद्धि, चित्त आदि रूप ही है, क्योंकि वह बुद्धि, चित्त आदिका परिणाम है और परमार्थदृष्टिसे विचार करनेपर तो वह ज्ञान, सत्ता और आनन्द-रूप ही है। तदुपरान्त जीव 'मै देखूं' इस भावनासे आकाशमें विस्तारको प्राप्त होता है। जिन दो छिद्रोंसे वह भावी विषयोंको देखता है उसका नाम नेत्र पड़ता है, जिससे विषयोंको छूता है वह त्वचा नामसे विख्यात होती है, जिससे शब्दादि विषयोंको सुनता है उसका नाम कान होता है और जिससे गन्ध आदिको सूंघता है वह नाक कहलाता है। वह अपनेमें अपनेको देखता है (अनुभव करता है)। उसकी जो रसनेन्द्रिय है, वह पीछे जीभ नामसे प्रसिद्ध होती है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि क्रिया होती है वह वायु उसके प्राण, अपान आदिसे प्रसिद्ध होता है, उसकी जो चेष्टाएँ हैं वे कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयों और मानसिक विषयोंकी भावना कर रहा मनोमयशरीरधारी अतिसूक्ष्म जीव आकाशमें स्थित रहता है। पूर्वोक्त प्रणालीसे उक्त तेजके कणमें स्थूलताका अध्यास करता हुआ ब्रह्म ही

आतिवाहिकदेहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।
स्वकल्पनान्त आकारमण्डं संस्थं प्रपश्यति ॥ ३४ ॥
कश्चिज्जलगतं वेत्ति कश्चित्सम्राट्-स्वरूपिणम् ।
भाविब्रह्माण्डकलनां पश्यत्यनुभवत्यपि ॥ ३५ ॥
आत्मगर्भगृहं चित्ताद् यथासंकल्पनात्मनः ।
देशकालक्रियाद्रव्यकल्पनावेदनं स तत् ॥ ३६ ॥
भावयञ्छब्दनिर्माता शब्दैर्बध्नाति कल्पितैः ।
आतिवाहिकदेहोऽसावित्यसत्यजगद्भ्रमे ॥ ३७ ॥

जीवनामधारी होता है। यों जीवशब्दका अर्थभूत हुआ वह चिदात्मा ही विविध कल्पनाओंसे, जो असत्य होती हुई भी सत्य-सी प्रतीत होती हैं, पूर्ण हो गया है ॥२७–३३॥

मनोमयशरीर ब्रह्म ही स्थूलदेहाकार* बन कर यानी चिनगारीके आकारसे लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त, जो स्वयं रचना की, तद्रूप बनकर अपनी रचनाके अन्तमें आवरण आदिसे युक्त ब्रह्माण्डको देखता है ॥३४॥

कोई जीव जलके मध्यमें स्थित ब्रह्माण्डमें 'अहम्' भावनाका ज्ञान होनेसे ब्रह्माण्डको जानता है और कोई ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती ब्रह्माके शरीरमें 'अहम्' भावका ज्ञान होनेसे ब्रह्माको जानता है। भाव यह कि चिनगारीसे लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त स्वकल्पनाको अपने सङ्कल्पानुसार कोई ब्रह्माण्डरूपसे जानता है और कोई हिरण्यगर्भरूपसे। तदन्तर आगे होनेवाले ब्रह्माण्डकी कल्पनाको भी देखता है और उसका अनुभव भी करता है ॥ ३५ ॥

मनोमय शरीरधारी जीव मनको ही आत्मा समझता है। अतएव आत्मरूप मनसे अपने संकल्पके अनुसार गर्भरूपी घर (गर्भवासनिमित्त होनेसे गर्भगृह), देश, काल, कर्म, द्रव्य आदि कल्पनाओंकी भावना करता हुआ नाम आदिका निर्माता मनोमय देहधारी वह ईश्वर ही स्वकल्पित तत्-तत् नामोंसे पदार्थोंको और अपनेको भी असत्य जगद्भ्रममें बांधता है। भाव यह कि जीवभावापन्न ईश्वर ही मनसे देश, काल आदि विविध पदार्थोंकी कल्पना कर देश, काल आदि नामोंकी सृष्टि करता है और उन नामोंसे उन पदार्थोंका सम्बन्ध स्थापित कर उनको और अपनेको जगद्रूप भ्रममें बाँधता है ॥ ३६–३७ ॥

* चित्तदेहाम्बराकृति = जिसका सूक्ष्म मनोमय शरीर स्थूलतासे स्थूल देहाकार बन गया है, वह है—चित्तदेहाम्बराकृति ।

असत्य एव कचति स्वप्ने स्वोड्डयनं यथा ।
इत्यनुत्पन्न एवाऽसौ स्वयंभूः स्वयमुत्थितः ॥ ३८ ॥
आतिवाहिक देहात्मा प्रभुराद्यः प्रजापतिः ।
एतस्मिन्नपि सम्पन्ने ब्रह्माण्डाकारिणि भ्रमे ॥ ३९ ॥
न किञ्चिदपि सम्पन्नं न च जातं न दृश्यते ।
तद् ब्रह्माकाशमाकाशमेव स्थितमनन्तकम् ॥ ४० ॥
सङ्कल्पनगराकारमेतत्त् सदपि नैव सत् ।
अनिर्मितमरागं च एतद्वै चित्रमुत्थितम् ॥ ४१ ॥
अकृतं चाऽनुभूतं च न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ।
महाकल्पे विमुक्तत्वाद् ब्रह्मादीनामसंशयम् ॥ ४२ ॥
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयम्भुवः ।
तेन यादृक् स्वयम्भूः स्यात्तादृक्तज्जमिदं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

जैसे स्वप्नमें आकाशमें उड़ना असत्य है, वैसे ही मनोमय देहधारी परमात्मा पूर्वोक्त असत्य जगद्रूप भ्रममें मिथ्या ही विकासको प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्वमें उत्पन्न न हुआ ही यह मनोमयदेहधारी प्रजापति आदि स्वयम्भू उदित हुआ है। इस ब्रह्माण्डाकार भ्रमके होनेपर भी कुछ भी नही हुआ है, कुछ भी पैदा नहीं हुआ है और न कुछ दिखाई ही देता है। केवल निर्मल अनन्त ब्रह्माकाश ही है। मनोरथसे कल्पित नगरके तुल्य यह जगत्प्रपञ्च सत्-सा प्रतीत होता हुआ भी सत् नहीं है। स्वयं उदित हुआ यह प्रपञ्च उस चित्रके सदृश है, जिसकी न तो किसी चितेरेने तूलिका आदि बाहरी सामग्रीसे रचना की, न जिसमें विविध रंग भरे, न मानसिक प्रयत्नसे ही जिसका निर्माण हुआ, न किसीको अनुभव ही हुआ और जो न सत्य ही हो, फिर भी सत्य-सा प्रतीत होता हो ॥ ३८–४२ ॥

तब जगत्को अदृष्ट संस्कार आदि सामग्रीसे उत्पन्न हुआ क्यों न माना जाय ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'महाकल्पे'** इत्यादिसे ।

महाकल्पके अन्तमें ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि मुक्त हो जाते हैं, इसमें तो कोई सन्देह ही नही है, इसलिए वर्तमान जन्ममें ब्रह्माकी पूर्व जन्मकी स्मृति तो जगत्की उत्पत्तिमें कारण हो नहीं सकती । भाव यह है कि—

अनाद्यनुभवस्त्वित्थं योऽत्राऽस्त्यवनिकादिके ।
स्वप्नानुभूतं पृथ्व्यादिप्रबोधे यादृशं भवेत् ॥ ४४ ॥
स्मृतः स व्योममात्रात्मा सर्वदैव स्मृतं जगत् ।
यत्र यत्र यथा तोये द्रवत्वं नाम भिद्यते ॥ ४५ ॥

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति पर पदम् ॥'

(ब्रह्मलोकमें गये हुए कर्मी महाप्रलय होनेपर ब्रह्माके साथ एकीभूत होकर परम पदमें प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं) तथा 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (प्रारब्ध कर्मोंकी अवस्थितितक जीवन्मुक्ततारूपसे अधिकारियोंकी अवस्थिति रहती है, तदनन्तर वे विदेहमुक्तिको प्राप्त करते हैं) इत्यादि स्मृति और सूत्रमें प्रदर्शित न्यायसे महाकल्पके अन्तमें उन पूर्व कल्पके ब्रह्मा आदिकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा निश्चय किया गया है । इसलिए ब्रह्माके अदृष्ट संस्कारसे आगेके जगत्का निर्माण नहीं हो सकता । जो उपासक कल्पके आरम्भमें हिरण्यगर्भ आदिके पदको प्राप्त करता है, उसने पहले कभी यह विचित्र जगत् बनाया नहीं है, इसलिए उसे जगत्के निर्माणका अनुभव न होनेसे उससे संसारका संभव नही है, इसलिए जगत्को संस्कारसे उत्पन्न नहीं कह सकते, किन्तु वह स्वप्न और इन्द्रजाल आदिके समान अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्या ही है, इसलिए जैसा संकल्पमय ब्रह्मा है, वैसे ही उससे उत्पन्न यह जगत् भी संकल्पमय ही है ॥ ४३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अनादि साक्षीरूप चेतनके अनुभवसे जनित जगत्के निर्माणके संस्कारसे जगत्की उत्पत्ति हो ? तो इसपर कहते हैं—**'अनाद्य०'** इत्यादिसे ।

यदि पृथिवी आदिकी सृष्टिके विषयमें अनादि अनुभवको कारण मानो, तो साक्षीवेद्य होनेके कारण स्वप्नानुभूत पदार्थ जागरणावस्थामें जैसे (मिथ्या) होते हैं अनादि साक्षीके संस्कारसे उत्पन्न जगत् भी वैसा (मिथ्या) ही हो जायगा । जैसे स्वयम्भू (हिरण्यगर्भ) वर्तमान कालमें जिसका स्मरण हो रहा है, ऐसे अतीत पदार्थकी नाईं शून्यमात्रस्वरूप है, वैसे ही उससे उत्पन्न जगत् भी शून्यमात्रस्वरूप है । जैसे किसी देश और किसी कालमें जलसे तरलता भिन्न नहीं होती

तत्र तत्र तथा नाऽन्यः सर्गोऽस्ति परमात्मनि ।
सृष्टिरेवमियं प्रौढा सम एव स्वयं स्थितः ॥ ४६ ॥
भात्येव नाम ब्रह्माण्डं व्योमात्मेवाऽऽतिनिर्मलम् ।
दृश्यमेवमिदं शान्तं स्वात्मनिर्मितविभ्रमम् ॥ ४७ ॥
निराधारं निराधेयमद्वैतं चैक्यवर्जितम् ।
जगत्संविदि जातायामपि जातं न किञ्चन ॥ ४८ ॥
परमाकाशमाशून्यमच्छमेव व्यवस्थितम् ।
सर्वसंसारता नाऽस्ति यदेव तदवस्थितम् ॥ ४९ ॥
नाऽऽधेयं तत्र नाऽऽधारो न दृश्य न च द्रष्टृता ।
ब्रह्माण्डं नाऽस्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित् ॥ ५० ॥
न जगन्नाऽपि जगती शान्तमेवाऽखिलं स्थितम् ।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ ५१ ॥
चित्त्वाद् द्रवत्वात्सलिलमिवाऽऽवर्ततयाऽऽत्मनि ।
असदेवेदमाभाति सदिवेहाऽनुभूयते ॥ ५२ ॥

है अर्थात् जल और द्रवता (तरलता) अभिन्न पदार्थ हैं, वैसे ही किसी देश और किसी कालमें परमात्मामें जगत्सृष्टिका भेद नहीं है अर्थात् सृष्टि परमात्मासे भिन्न नहीं है। यह सृष्टि भ्रमसे ही प्रौढ़ प्रतीत होती है, वास्तवमें केवल (जगत्-वैषम्यसे रहित) परमात्मा ही स्थित है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ४४—४६ ॥

अत्यन्त निर्मल चिदात्मा ही ब्रह्माण्ड-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार यह दृश्य (जगत्), जिसका कि आत्मामें विशेषरूपसे भ्रम हुआ है, शान्त, आधार-रहित, आधेयशून्य, अद्वैत तथा द्वैत व्यवहार न होनेके कारण ही व्यावर्त्य न होनेसे एकत्वसंख्यासे भी रहित ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि जगत्की भ्रान्ति होती है फिर भी उत्पन्न कुछ नहीं हुआ है ॥ ४७,४८ ॥

चारों ओरसे शून्य, निर्मल चिदाकाश ही स्वरूपसे स्थित है, न उसमें सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न कोई आधेय है, न दृश्य है, न द्रष्टृत्व है, न ब्रह्माण्ड है, न ब्रह्मा है और न कहीं मदान्ध मोहान्ध जनरूपी गजघटा है ॥४९,५०॥

न जगत् है और न पृथिवी है। यह सम्पूर्ण दृश्य निर्मल ब्रह्म ही है। उक्त चिदात्मा ब्रह्म अपनेमें अपनेसे स्वयं विकासको प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

तरल होनेके कारण जैसे जल ही अपनेमें आवर्तरूपसे प्रतीत होता है, आवर्त

विनश्यत्यसदेवाऽन्ते स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
अथवा स्वस्वरूपत्वात् सदेवेदमनामयम् ।
अखण्डितमनाद्यन्तं ज्ञानमात्राम्बरोदरम् ॥ ५३ ॥
आकाश एव परमे प्रथमः प्रजेशो
नित्यं स्वयं कचति शून्यतया समो यः ।
स ह्यातिवाहिकवपुर्न तु भूतरूपी
पृथ्व्यादि तेन न सदस्ति तथा न जातम् ॥ ५४ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे स्वयं-
भूत्पत्तिवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, वैसे ही चिद्रूप होनेके कारण आत्मामें आत्मा ही जगत्-सा प्रतीत होता है, जगत् कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, यों यह असत् होता हुआ भी भ्रान्तिवश सत्-सा प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

जैसे स्वप्नमें प्रतीत हुआ असत् अपना मरण जागरणमें बाधित हो जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्थामें प्रतीयमान यह दृश्य प्रपञ्च ज्ञान होनेपर बाधित हो जाता है।

पूर्वोक्त रीतिसे अपवाददृष्टि द्वारा स्वरूपतः जगत्की असत्ताका प्रतिपादन किया गया है, अब अधिष्ठानदृष्टिसे भी उसकी असत्ताका प्रतिपादन करते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

अथवा ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण यह दृश्य प्रपञ्च निर्मल, परिपूर्ण, अद्वितीय, आदि और अन्तसे शून्य, चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही है । उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है ॥ ५३ ॥

सिंहावलोकनन्यायसे पूर्वोक्त सम्पूर्ण विषयका, पुनः संक्षेपसे निरूपण कर, उपसंहार करते हैं—'आकाशः' इत्यादिसे ।

परब्रह्ममें कल्पित स्वयम्भू प्रजापति शून्य ही है । जो एकरस परमात्मा है, उसीका स्वयं असत् प्रजापतिरूपसे आभास होता है, क्योंकि प्रजापतिका मनोमय शरीर है, पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है । ये पृथिवी आदि मनोमयशरीरवाले प्रजापतिके संकल्प-मात्र हैं, अतएव ये भी असत्य हैं । जैसे कभी उत्पन्न न हुआ शशशृङ्ग सत्य नहीं है, वैसे ही ये भी सत्य नहीं हैं ॥ ५४ ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त



चतुर्दशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्थं जगदन्हतादिदृश्यजातं न किञ्चन ।
अजातत्वाच्च नाऽस्त्येव यच्चाऽस्ति परमेव तत् ॥ १ ॥
परमाकाशमेवाऽऽदौ जीवतां चेतति स्वयम् ।
निःस्पन्दाम्भोधिकुहरे सलिलं स्पन्दतामिव ॥ २ ॥
आकाशरूपमजहदेवं वेत्तीव हृद्यताम् ।
स्वप्नसंकल्पशैलादाविव चिद्वृत्तिरान्तरी ॥ ३ ॥
पृथ्व्यादिरहितो देहो यो विराडात्मको महान् ।
आतिवाहिक एवाऽसौ चिन्मात्राच्छनभोमयः ॥ ४ ॥

चौदहवाँ सर्ग

[पूर्व सर्गमें वर्णित जीवभावमें परिच्छेद आदि सन्देहोंका युक्तिसे खण्डन कर केवल-मात्र ब्रह्मैक्यका वर्णन]

सबसे पहले समष्टि (हिरण्यगर्भ), उससे उत्पन्न विराड् और व्यष्टि जीव इस प्रकारके परिच्छेदके खण्डनके लिए श्रीवसिष्ठजी पूर्वोक्त विषयके अनुवाद द्वारा भूमिका बाँधते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

जैसा कि पहले सर्गमें कहा गया है, उसके अनुसार अहन्ता आदि दृश्यसमूहभूत जगत्का अस्तित्व तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह उत्पन्न ही नहीं हुआ है और जिसका अस्तित्व है, वह परमात्मा ही है ॥ १ ॥

जैसे निश्चल सागरमें जल स्पन्दताको (चञ्चलताको) प्राप्त होता है, वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें परमप्रकाशरूप परमात्मा ही 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार स्वयं जीवताकी भावना करता है ॥ २ ॥

जैसे देहके अन्दर विद्यमान चेतनवृत्ति स्वप्नमें देखे गये या मनोरथ द्वारा कल्पित पर्वत, नगर आदिमें आत्मीयताके भ्रमसे प्रेम करती है, वैसे ही अपनी आकाशरूपता (परमप्रकाशरूपता) का त्याग किये बिना ही सङ्कल्परूप चिद्वृत्ति वक्ष्यमाण विराड्में आत्मत्वभ्रान्तिसे मानो प्रेम करती है, यही मेरी आत्मा है, इस भ्रमसे उसको मानो अपने प्रेमका पात्र समझती है ॥ ३ ॥

चिदात्माकी जो विराट्रूप विशाल देह है, वह पृथिवी आदिसे शून्य है,

प्रतिशब्दपदार्थानां सर्वेषामेष एव सः।
तस्मादुदेति जीवाली दीपाली दीपकादिव ॥ १० ॥
संकल्प एव संकल्पात्किलैति क्ष्मादिवर्जितः।
आदिमादिव निशून्यः स्वप्नात्स्वप्नान्तरं यथा ॥ ११ ॥
अस्मादेकप्रतिस्पन्दाज्जीवाः संप्रसरन्ति ये।
सहकारिकारणानामभावाच्च स एव ते ॥ १२ ॥
सहकारिकारणानामभावे कार्यकारणम्।
एकमेतदतो नाऽन्यः परस्मात् सर्गविभ्रमः ॥ १३ ॥

स्रष्टा, सृष्टि तथा सर्जन एवं भोक्ता, भोग्य और भोग इन सम्पूर्ण त्रिपुटियोंका संभव ही नहीं है, अतः स्रष्टा प्रजापति असत् है ॥ ९ ॥

सबका निषेध होनेपर भी शब्द और अर्थोंकी शून्यता नहीं है, कारण कि यह प्रत्यगात्मा ही सम्पूर्ण शब्द और अर्थोंका आत्मरूपसे स्थित है। जैसे एक दीपकसे अनेक दीपक उत्पन्न होते हैं (जलाये जाते हैं) वैसे ही सम्पूर्ण जीव उसीसे आविर्भूत होते हैं ॥ १० ॥

विराड् घनसङ्कल्पस्वरूप है, उसका कार्य होनेसे व्यष्ट्यात्मक जीव भी सङ्कल्प ही है, पृथिवी आदि पञ्चभूतोंसे निर्मित नहीं है, ऐसा कहते हैं—'संकल्प एव' इत्यादिसे।

जैसे संकल्परूप हिरण्यगर्भसे मिथ्या होनेके कारण अत्यन्त शून्य संकल्परूप विराट् उत्पन्न हुआ है तथा जैसे मिथ्याभूत स्वप्नसे अन्य मिथ्याभूत स्वप्न उत्पन्न होता है, वैसे ही पृथिवी आदिसे शून्य सङ्कल्पात्मक विराट्से सङ्कल्परूप जीव उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥

व्यष्टि और समष्टि दोनों एकस्वभाव हैं। एकस्वभाव होनेके कारण दोनोंकी एकताको सिद्ध कर उससे ब्रह्मैक्य सिद्ध हुआ है, ऐसा कहते हैं—'अस्मात्' इत्यादिसे।

सहकारी कारणोंके न रहनेसे जो निःसहाय (एकाकी) ही प्रतीत होता है, उस विराट्से जिन व्यष्ट्यात्मक जीवोंका आविर्भाव होता है, वे आत्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं, क्योंकि एकमात्र वृक्षसे विस्तारको प्राप्त हुई शाखायें वृक्षसे भिन्न नहीं देखी जातीं, यह भाव है ॥ १२ ॥

सहकारी कारणोंके न रहनेपर कार्य और कारण एक ही यानी अभिन्न ही

ब्रह्मैवाऽऽद्यो विराडात्मा विराडात्मैव सर्गता ।
जीवाकाशः स एवेत्थं स्थितः पृथिव्याद्यसद्यतः ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

किं स्यात्परिमितो जीवो राशिराहो अनन्तकः ।
आहोस्विदस्त्यनन्तात्मा जीवपिण्डोऽचलोपमः ॥ १५ ॥
धाराः पयोमुच इव शीकरा इव वारिधेः ।
कणास्तप्तायस इव कस्मान्निर्यान्ति जीवकाः ॥ १६ ॥

रहता है, पृथक् नहीं, अतः सहकारी कारणसे शून्य चैतन्यसे जनित सर्गभ्रम भी परस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥ १३ ॥

ब्रह्म ही सर्व प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ ही विराडात्मा है, विराट् ही सृष्टिस्वरूप है इस प्रकारसे वह चिदात्मा जीवरूपसे स्थित है, जिससे असत् पृथिवी आदि उत्पन्न होते हैं, अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है, यह भाव है ॥ १४ ॥

व्यष्टि, समष्टि और उन दोनोंकी मूलभूत वस्तुके एक होनेपर व्यष्टि और समष्टिका मिथ्यात्व और उनकी मूलभूत वस्तुका सत्यत्व कैसे कहते हैं ? यही क्यों नहीं कहते कि मूलभूत वस्तु और समष्टि अवास्तव (मिथ्या) हैं और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध व्यष्टि विभाग सत्य है, क्योंकि सेना या समाज आदि स्थलोंमें समष्टिकी निवृत्ति होनेपर भी अवशिष्ट व्यष्टिसे समष्टिकी सत्यता देखी जाती है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी बोले—'किं स्यात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, क्या एकमात्र (परिमित) जीव है या अनन्त जीवोंकी राशि है या पर्वतके समान अनन्त आत्माओंका समुदायभूत जीव-पिण्ड है ? तात्पर्य यह है कि व्यष्टिमात्रको सत्य मानें, तो व्यष्टिभूत एक जीव ही एकबुद्धिसे परिमित होनेके कारण या एक देशमें रहनेके कारण अथवा परस्पर सङ्घर्षसे एक सङ्घातरूप होनेके कारण कल्पितरूप समष्ट्यात्मा हो सकता है ॥ १५ ॥

व्यष्टि जीवको मानकर कल्पित समष्टि माननी चाहिए, अन्यथा मेघकी वृष्टिधाराके समान, समुद्रके जलकणोंके समान और अग्निकी चिनगारियोंके समान समष्टिकी उत्पत्ति माननेपर समष्टिके अनित्य होनेसे कृतहानि और अकृतप्राप्ति रूप दोष होगा, इस आशयसे कहते हैं—'धारा०' इत्यादिसे ।

इति मे भगवन्ब्रूहि जीवजालविनिर्णयम् ।
ज्ञातमेतन्मया प्रायस्तदेव प्रकटीकुरु ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एक एव न जीवोऽस्ति राशीनां संभवः कुतः ।
शशशृङ्गं समुड्डीय प्रयातीव हि ते वचः ॥ १८ ॥
न जीवोऽस्ति न जीवानां राशयः सन्ति राघव ।
न चैकः पर्वतप्रख्यो जीवपिण्डोऽस्ति कश्चन ॥ १९ ॥

मेघसे वृष्टिधाराओंके समान, समुद्रसे जलकणोंके समान, तपाये हुए लोहेके गोलेसे चिनगारियोंके समान ये जीव किससे आविर्भूत होते हैं । भाव यह कि जिससे आविर्भूत होते हैं, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती * ॥ १६ ॥

भगवन्, मेरी शङ्काको दूर करनेके लिए मुझसे जीवसमूहका निर्णय कीजिए । विशेषरूपसे जाननेकी इच्छासे मैने आपके कथनके विपरीत आपसे प्रश्न किया है । मन्दबुद्धि होनेके कारण मैं आपके आशयको नहीं समझ सका, इसलिए नहीं किया है, ऐसा कहते हैं—'ज्ञात०' इत्यादिसे ।

जो पूर्वमें आप मुझसे कह आये हैं, उसे प्रायः सामान्यरूपसे मै समझ गया हूँ, उसीको अब आप विशेषरूपसे स्फुट कीजिये ॥ १७ ॥

केवल एकमात्र ब्रह्म ही है, यह सिद्ध करना हमारा प्रयोजन है, उक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिए हमने एक ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें अनेक कल्पना करनेसे लाघव है, यह सोचकर समष्टिजीवकी कल्पना कर उससे उपहित व्यष्टि जीवकी कल्पना कही है । हमारी यह कल्पना व्यष्टि और समष्टिमें से किसी एककी सत्यताके लिए या जीवोंकी उत्पत्ति आदिका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है, इसलिए इस विषयमें आपकी शङ्काके लिए अवकाश ही नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी बोले—'एक एव' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे वत्स, जब एक भी जीव नहीं है, तब जीवोंकी राशियोंका तो सम्भव ही कहां है ? आपका पूर्वोक्त प्रश्न ऐसा ही उपहासास्पद है, जैसे कोई कहे कि शशका सींग उड़कर जाता है । भाव यह कि यदि शशशृङ्गका

---

* अनुपपत्ति में कारण है—समष्टिकी यदि उत्पत्ति मानोगे, तो समष्टिका जन्य होनेके कारण विनाश हो जानेसे कृतहानि-अकृताभ्यागमरूप दोष होगा ।

जीवशब्दार्थकलनाः समस्तकलनान्विताः ।
नेह काश्चन सन्तीति निश्चयोऽस्तु तवाऽचलः ॥ २० ॥
शुद्धचिन्मात्रममलं ब्रह्माऽस्तीह हि सर्वगम् ।
तद्यथा सर्वशक्तित्वाद्विन्दते याः स्वयं कलाः ॥ २१ ॥
चिन्मात्रानुक्रमेणैव संप्रफुल्लतामिवं ।
ननु मूर्तामसूर्त्तां वा तामेवाऽऽशु प्रपश्यति ॥ २२ ॥
जीवो बुद्धिः क्रियास्पन्दो मनो द्वित्वैक्यमित्यपि ।
स्वसत्तां प्रकश्चन्तीति नियोजयति वेदने ॥ २३ ॥
साऽबुद्धैव भवेत्यवं भवेद् ब्रह्मैव बोधतः ।
अबोधः प्रेक्षया याति नाशं न तु प्रबुद्धयते ॥ २४ ॥

संभव हो, तो वह उड़ कर जाता है या स्थिर रहता है, ऐसा सन्देह हो, जब शशशृङ्गकी ही सत्ता नहीं है, तब उसकी गतिविधिके विषयमें संशय करना उपहास्य नहीं तो और क्या है ? जब जीव हो, तब उसकी राशि या संघातकी कल्पना हो, जीव ही जब असत् है, तब उसके विषयमें अन्यान्य कल्पनाओंका अवकाश ही कहाँ है ? हे राघव, न तो एक जीव है, न जीवोंका समूह है और न पर्वताकार कोई जीवसङ्घात ही है ॥ १८, १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण दृश्य आभासोंसे युक्त कोई भी जीवप्रतिभास चिदात्मामें नहीं है, ऐसा आपको दृढ़ निश्चय हो ॥ २० ॥

केवल एकमात्र शुद्ध, चिद्घन, सर्वव्यापक निर्मल ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिसम्पन्न होनेसे जिन कल्पनाओंकी भावना करता है, स्वयं तद्रूप हो जाता है॥२१॥

जैसे लता क्रमसे अपनी कोरकितावस्था और प्रफुल्लितावस्थाको देखती है, वैसे ही ब्रह्म भी उन-उन संकल्पात्मक वृत्तियोंके क्रमसे प्राप्त हुए आभासोंके प्रवेशसे ही मूर्त अथवा अमूर्तरूपसे आविर्भूत कल्पनाको शीघ्र देखता है ॥२२॥

विकासको प्राप्त हो रही अपनी सत्ताको ही जीव, बुद्धि, क्रिया, स्पन्द, मन, द्वित्व, एकत्व आदि रूपसे ज्ञानविषय करता है अर्थात उक्त रीतिसे विकासको प्राप्त हो रही अपनी सत्ताको ही जीव आदि रूपसे जानता है ॥ २३ ॥

इस प्रकारसे इसका (ब्रह्मका) विकास केवल अविद्यासे ही होता

१—'लता संफुल्लतामिव' पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है ।

यथाऽन्धकारो दीपेन प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ।
न चाऽस्य ज्ञायते तत्त्वमबोधस्यैवमेव हि ॥ २५ ॥
एवं ब्रह्मैव जीवात्मा निर्विभागो निरन्तरः ।
सर्वशक्तिरनाद्यन्तो महाचित्साररूपवान् ॥ २६ ॥
सर्वानणुतया त्वस्य न क्वचिद् भेदकल्पना ।
विद्यते या हि कलना सा तदेवाऽनुभूतितः ॥ २७ ॥

है, स्वतः नहीं, अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर तो विक्षेपशून्य स्वरूपमात्रसे इसकी अवस्थिति रहती है, ऐसा कहते हैं—**'साऽबुद्धैव'** इत्यादिसे ।

उक्त ब्रह्मसत्तामें जब अज्ञानरूप आवरण रहता है, तब वह पूर्वकथनानुसार विविध रूपोंको प्राप्त होती है । बोधसे तो वह ब्रह्म ही है । आत्मज्ञानसे अज्ञानका विनाश हो जाता है, पर आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥ २४ ॥

अज्ञान जब निवृत्त होता है, तब निवृत्त हुआ अज्ञान किस रूपसे रहता है ? ज्ञानरूपसे उसका शेष रहना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि एक तो ज्ञान अज्ञानका कारण नहीं है, जिससे कि वह ज्ञानरूपसे रहे । दूसरी बात यह है कि ज्ञान और अज्ञानमें परस्पर विरोध है, इस कारण भी वह ज्ञानरूपसे नही रह सकता । किसी अन्यके रूपसे उसका परिशेष रहता है, यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि अन्य वस्तु शेष ही नही रहती, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

जैसे अन्धकारसे आच्छन्न स्थानमें दीपक लेकर अन्धकारको देखनेसे न मालूम अन्धकार कहाँ भाग जाता है, उसके मूलका पता नहीं लगता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान होनेपर न मालूम अज्ञान कहाँ चला जाता है ? उसका कुछ भी पता नहीं लगता ॥ २५ ॥

जिस विषयका पहले विस्तारसे उपपादन कर आये हैं, उसीका अब उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार अखण्ड, अनवच्छिन्न, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा, जो कि कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंशसे परमार्थतः रूपवान् है, ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥

ब्रह्म सब प्रकारसे—देश, काल और परिमाणसे—अपरिच्छिन्न है, अतः

श्रीराम उवाच

एवमेतत्कथं ब्रह्मन्नेकजीवेच्छयाऽखिलाः ।
जगज्जीवा न युज्यन्ते महाजीवैकतावशात् ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाजीवात्म तद् ब्रह्म सर्वशक्तिमयात्मकम् ।
स्थितं तथेच्छमेवेह निर्विभागं निरन्तरम् ॥ २९ ॥

वास्तवमें उसका कहींपर भी भेद नहीं है और जो उसमें भेदकल्पना होती है, वह वही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र अनुभव होता है, भाव यह है कि जैसे वनके सम्पूर्ण वृक्षोंको काट देनेपर वृक्षों द्वारा प्रतीत होनेवाला धामका भेद चला जाता है, वैसे ही विषयभेदके हट जानेपर विषयभेद-कल्पनाप्रयुक्त भेद भी चला जाता है ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने जो कहा, उसको स्वीकार कर, श्रीरामचन्द्रजी "जैसा कि आप कह आये हैं, वैसे ही यदि व्यष्टि और समष्टि जीवोंका अभेद माना जाय, तो समष्टिकी इच्छा (सत्यसङ्कल्प) जैसे अमोघ है, वैसे ही व्यष्टि जीवोंकी इच्छा भी समष्टिका धर्म होनेसे अमोघ हो जायगी, ऐसी परिस्थितिमें अमुकको भोग और अमुकको मोक्ष होता है, ऐसी शास्त्रकी व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योंकि सत्यसङ्कल्प होनेसे जो जो चाहेगा, वही हो जायगा" ऐसी शङ्का करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, आपका कथन ठीक है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ। पर इसमें मुझे एक सन्देह होता है। वह यह कि एक जीवकी जैसी इच्छा होती है, वैसी ही इच्छा जगत्के अन्यान्य सम्पूर्ण जीवोंकी क्यों नहीं होती ? क्योंकि महाजीव तो एक ही है, उसीके अनुसार सब जीवोंमें एक ही इच्छा होनी चाहिए, यह भाव है ॥ २८ ॥

ब्रह्म पहले सत्यसङ्कल्पवाले समष्टिजीवभावको प्राप्त होता है, तदनन्तर अपने सङ्कल्पके अधीन रहनेवाले व्यष्टिजीवभावको प्राप्त होता है। समष्टिजीवके सङ्कल्पसे विरुद्ध अर्थमें व्यष्टिजीवोंकी सत्यसङ्कल्पताकी सिद्धि नहीं होती, यों श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका समाधान कर रहे श्रीवसिष्ठजी बोले—**'महाजीवात्म'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, व्यष्टिविभागसे पहले व्यष्टिविभागसे रहित सर्वशक्तिसम्पन्न महाजीवरूप वह ब्रह्म 'मैं ही सदा सब जीवोंमें सत्यसङ्कल्प होऊँ'

यदेवेच्छति तत्तस्य भवत्याशु महात्मनः ।
पूर्वं तेनेष्टमिच्छादि ततो द्वित्वमुदेति यत् ॥ ३० ॥
पश्चाद् द्वित्वविभक्तानां स्वशक्तीनां प्रकल्पितः ।
अनेनेत्थं हि भवतीत्येवं तेन क्रियाक्रमः ॥ ३१ ॥
तं विनाऽनुदये त्वासां प्रधानेच्छैव रोहति ।
शक्त्या ह्यजातया ब्राह्म्या नियमोऽयं प्रकल्पितः ॥ ३२ ॥
यस्या जीवाभिधानायाः शक्त्यपेक्षा फलत्यसौ ।
प्रधानशक्तिनियमानुष्ठानेन विना न तु ॥ ३३ ॥
प्रधानशक्तिनियमः सुप्रतिष्ठो न चेद्भवेत् ।
तत्फलं शक्त्यधीनत्वान्नेहितानां क्वचिद्भवेत् ॥ ३४ ॥

ऐसी इच्छा करता है। वह जिस किसी वस्तुकी इच्छा करता है, वह उस महात्माको सदा शीघ्र प्राप्त हो जाती है। उसने पहले अपने सत्यसङ्कल्पत्व और दूसरोंकी इच्छाके निरोधकी इच्छा की, तदुपरान्त व्यष्टिविभागका उदय हुआ, फिर उसने व्यष्टिविभागको प्राप्त हुए अपने अंशभूत जीवोंका क्रियाक्रम—दण्ड, चक्र आदि बाहरी सामग्रीसे इस प्रकार घुमानेसे घट आदि कार्यकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकारका क्रियाक्रम—बनाया। केवल संकल्पसे उनके कार्यकी सिद्धि नहीं होती, यह भाव है ॥ २९-३१ ॥

अन्य महर्षियोंका भी तो, क्रियाक्रमके बिना, संकल्पसे ही कार्य सम्पन्न होते देखा जाता है, सो कैसे? इसपर कहते हैं—**'तम्'** इत्यादिसे।

उक्त क्रियाक्रमके बिना व्यष्टि जीवोंके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, इस बातके निश्चित होनेपर जो कहींपर महर्षि आदि व्यष्टि जीवोंकी क्रियाक्रमके बिना इच्छासे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, वहांपर प्रधान (समष्टिजीव) की ही इच्छासे कार्य होता है, इसका यह संकल्प सिद्ध हो, ऐसी प्रधानकी ही इच्छा वहांपर हेतु होती है, यह भाव है। यह नियम जन्मरहित ब्राह्मी शक्तिने ही बनाया है ॥३२॥

जिस जीवकी (महर्षि आदिकी) इच्छा कार्यको उत्पन्न करती है, वह प्रधान शक्तिकी अपेक्षा करके ही कार्यको उत्पन्न करती है, प्रधान शक्तिके नियमके अनुष्ठानके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥ ३३ ॥

उक्त क्रियाक्रमकी भी फलसिद्धि प्रधानके सङ्कल्पके अधीन ही है, ऐसा कहते हैं—**'प्रधान॰'** इत्यादिसे।

एवं ब्रह्म महाजीवो विद्यतेऽन्तादिवर्जितः ।
जीवकोटिमहाकोटी भवत्यथ न किञ्चन ॥ ३५ ॥
चेत्यसंवेदनात् जीवो भवत्यायाति संसृतिम् ।
तदसंवेदनाद् रूपं समायाति समं पुनः ॥ ३६ ॥
एवं कनिष्ठजीवानां ज्येष्ठजीवक्रमाक्रमैः ।
समुदेत्यात्मजीवत्वं ताम्राणामिव हेमता ॥ ३७ ॥

यदि प्रधान शक्तिका नियम फलसिद्धि (कार्यसिद्धि) के अनुकूल न होगा, तो कार्योंकी हेतुभूत चेष्टाओंका भी कहींपर फल नहीं होगा, क्योंकि कार्यजनक चेष्टाएँ भी शक्तिके ही अधीन हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्म ही महाजीव है और महाजीव ही व्यष्टिजीव और समष्टि जीव है, यों उपसंहार करते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस तरह ब्रह्म ही अजन्मा और अविनाशी महाजीव है तथा महाजीव ही जीवोंकी व्यष्टि और समष्टि रूप दो कोटियाँ हैं, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३५ ॥

पहले विस्तारसे कही गई बातोंको ही, सरलतासे उनका ज्ञान हो इसलिए, संक्षेपसे दिखलाते हैं—**'चेत्य०'** इत्यादिसे ।

ब्रह्म ही विषयोंके संकल्पसे (चिन्तनसे) जीव होता है और जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होता है । विषयसंकल्पका त्याग करनेसे फिर वैषम्यरहित ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

जीवोंको ब्रह्मभावकी प्राप्ति या तो उपासना द्वारा समष्टिजीवभाव (हिरण्यगर्भभाव) प्राप्तिपूर्वक क्रमशः होती है या ज्ञानसे साक्षात् होती है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

जैसे ताँबा आदि धातुओंकी सुवर्णता रस और ओषधियों द्वारा पाकक्रमसे होती है या पारसके सम्बन्धसे क्रमके बिना ही तुरन्त हो जाती है, वैसे ही व्यष्टि जीवोंकी पूर्वोक्त ब्रह्मभावरूप महाजीवता या तो समष्टिजीवके क्रमसे (पहले वे उपासना द्वारा हिरण्यगर्भपदको प्राप्त होते हैं, तदुपरान्त हिरण्यगर्भके साथ ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं, इस क्रमसे) या बिना क्रमसे (ज्ञानसे साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं) उदित होती है ॥ ३७ ॥

अत्राऽन्तरे महाकाश इत्थमेष गणोऽप्यसन् ।
स्वात्मैव सदिवोदेति चिच्चमत्करणात्मकः ॥ ३८ ॥
स्वयमेव चमत्कारो यः समापद्यते चितः ।
भविष्यन्नामदेहादि तदहं भावनं विदुः ॥ ३९ ॥
चितो यस्माच्चिदालेहस्तन्मयत्वादनन्तकः ।
स एष भुवनाभोग इति तस्यां प्रबिम्बति ॥ ४० ॥
परिणामविकारादिशब्दैः सैव चिदव्यया ।
तादृग्रूपादभेद्याऽपि स्वशक्त्यैव विबुध्यते ॥ ४१ ॥
अविच्छिन्नविलासात्म स्वतो यत्स्वदनं चितः ।
चेत्यस्य च प्रकाशस्य जगदित्येव तत्स्थितम् ॥ ४२ ॥

यदि भली भाँति विचार किया जाय, तो जीवभाव और जगद्भाव वास्तवमें एक प्रकारका चित्का चमत्कारमात्र ही है, कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अत्रा०' इत्यादिसे ।

यद्यपि पूर्वोक्त रीतिसे इस प्रत्यक्-चैतन्यरूप महान् आकाशमें यह जीव, जगत् आदि समुदाय असत् ही है, तथापि उक्त महान् आकाशमें चित्का चमत्काररूप चिदात्मा ही जीव आदिरूपसे सत्की नाईं उदित होता है । चित्का चमत्कार जो स्वयं ही भविष्यत् नाम, देह आदि भावको प्राप्त होता है, उसके अहङ्कारको भावना कहते हैं ॥ ३८,३९ ॥

चित्का चमत्कार क्या है ? इस प्रश्नपर चमत्कारको कहते हैं—'**चितो**' इत्यादिसे ।

जगत्के संस्कारसे संस्कृत (जगत्की वासनासे वासित) मायामें प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण जगत्की वासनासे वासित मायाके साथ एकरूप होकर चित्का जो अपने स्वरूपका आस्वाद है, वही चित्-चमत्कार है और वही यह असीम भुवनविस्तार है, वह चिन्मय होनेसे आत्मचित्में प्रतीत होता है ॥ ४० ॥

चित्ने जिसका आस्वाद लिया, वह अविनाशिनी चित् यद्यपि वास्तविक चित्से भिन्न नहीं की जा सकती, फिर भी अपनी शक्तिसे ही परिणाम, विकार आदि शब्दोंसे पुकारी जाती है अर्थात् अज्ञानी जन उसे वास्तविक चित्का परिणाम, विकार आदि समझते हैं ॥ ४१ ॥

चित् द्वारा अपने स्वरूपभूत प्रकाशका और अपने द्वारा प्रकाशित होनेवाले

आकाशादपि सूक्ष्मैषा या शक्तिर्वितता चितः ।
सा स्वभावत एवैतामहन्तां परिपश्यति ॥ ४३ ॥
आत्मन्यात्माऽऽत्मनैवाऽस्या यत्प्रस्फुरति वारिवत् ।
जगदन्तमहन्ताणुं तदेषा संप्रपश्यति ॥ ४४ ॥
चमत्कारकरी चारु यच्चमत्कुरुते चितिः ।
स्वयं स्वात्मनि तस्यैव जगन्नाम कृतं ततः ॥ ४५ ॥
चितश्चेत्यमहङ्कारः सैव राघव कल्पना ।
तन्मात्रादि चिदेवाऽतो द्वित्वैकत्वे क्व संस्थिते ॥ ४६ ॥

विषयोंका एकरूपताको प्राप्त जो स्वाभाविक स्वदन है, वही 'जगत्' इस भ्रमसे स्थित है । भाव यह कि चित् अपना और चेत्यका स्वभावसे जो स्वाद लेती है, ऐसा स्वाद कि जिसमें चित् और चेत्यका पार्थक्य तनिक भी प्रतीत नहीं होता, वही स्वाभाविक स्वाद भ्रान्तिवश जगत्‌रूपसे प्रतीत होता है ॥ ४२ ॥

तत्रापि पहले अहन्ताका दर्शन होता है, तदुपरान्त अहन्ता द्वारा किये गये परिच्छिन्न जगत्‌रूपकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—**'आकाशात्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

चित्‌की आकाशसे भी सूक्ष्म जो शक्ति चारों ओर फैली है, वह स्वभावसे ही पहले इस अहन्ताका दर्शन करती है । उस समय जैसे जलमें जलसे जल ही बुद्बुद (बुल्ले) या लहररूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही यह चित् भी आत्मामें आत्मासे स्वयं ही जो अतिसूक्ष्म अहन्तारूपमें स्फुरित होती है तथा बाहर स्थूलताका अधिकाधिक उत्कर्ष करनेपर अन्तमें जो ब्रह्माण्डाकार बन जाती है, उस अणुरूप अहन्ताको देखती है ॥ ४३, ४४ ॥

इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि चित्‌के चमत्कारका ही 'जगत्' यह नाम रक्खा गया है, जगत् कोई पृथक् वस्तु नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चमत्कार०'** इत्यादिसे ।

चमत्कार करना चित्‌का स्वभाव ही है । चमत्कार करनेवाली चित् अपने स्वरूपमें स्वयं जो सुन्दर चमत्कार करती है, उसीका नाम जगत् रख दिया गया है ॥ ४५ ॥

चित् अहङ्कारकी कल्पना करती है, अहङ्कारमें तन्मात्रादिरूप जगत्‌की कल्पना

जीवहेत्वादिसन्त्यागे त्वं चाऽहं चेति सन्त्यज।
शेषः सदसतोर्मध्ये भवत्यर्थात्मको भवेत् ॥ ४७ ॥
चिता यथाऽऽदौ कलिता स्वसत्ता सा तथोदिता।
अभिन्ना दृश्यते व्योम्नः सत्तासत्ते न विद्महे ॥ ४८ ॥

होती है। ऐसी परिस्थितिमें जिससे दूसरेकी कल्पना होती है, वही अवशिष्ट रहता है, ऐसा कहते हैं—'**चित्०**' इत्यादिसे ।

हे रामचन्द्रजी, चित्से अहङ्कारकी कल्पना होती है और अहङ्कारसे चेत्यकी (तन्मात्रादि जगत्‌की) कल्पना होती, ऐसी अवस्थामें कल्पना चित्से अतिरिक्त नहीं है, अतएव तन्मात्रादि जगत् भी चित् ही है। उसमें द्वित्व और एकत्व कहां हैं ? भाव यह कि जब द्वितीय हो, तब द्वित्व रहे, द्वित्वके अभावमें व्यावर्त्य न होनेके कारण एकत्व भी नहीं है ॥ ४६ ॥

सत्य और अनृत कल्पनाओंके मध्यमें 'त्वम्' 'अहम्' इस प्रकार चेतनके परिच्छेदकी जो कल्पना है, उसीका त्याग करना कठिन है, उसका त्याग यदि हो जाय, तो उक्त कल्पनाओंमें अवशिष्ट सद् वस्तु स्वयं सन्मात्र हो जाती है, क्योंकि तब विकल्प करनेवाला कोई रहता ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**जीव०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवभावके प्रति कारणभूत वासना, कर्म आदिका त्याग होनेपर 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि चेतनपरिच्छेदका त्याग कीजिये। सत् और असत् कल्पनाओंके मध्यमें जो बच जायगा, वही सत् होगा ॥ ४७ ॥

ज्ञानसे दृश्य और दृश्यकी सत्ताका नाश होनेपर पूर्वसिद्ध जो अधिष्ठानसत्ता है, वह ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघोंके हट जानेपर निर्मल आकाश-सत्ता उदित होती है, ऐसा कहते हैं—'**चिता**' इत्यादिसे ।

जैसे चित्‌ने पहले अपनी जैसी सत्ताका ग्रहण किया था, वही सर्वाधिष्ठानसत्ता ज्ञान होनेपर ज्यों-की-त्यों उदित होती है, जैसे कि मेघोंके हट जानेपर पूर्वसिद्ध आकाशकी निर्मल सत्ता उदित होती है। सत् और असत् इस प्रकारके सत्ता-भेदको हम नहीं जानते ॥ ४८ ॥

विश्वं खं जगदीहाख्यं खमस्ति विबुधालयः ।
साकारश्चिचमत्काररूपत्वान्नाऽन्यदस्ति हि ॥ ४९ ॥
योयद्विलासस्तस्मात्स न कदाचन भिद्यते ।
अपि सावयवं तस्मात्कैवाऽनवयवे कथा ॥ ५० ॥
चितेर्नित्यमचेत्याया निर्नाम्न्या वितताकृतेः ।
यद्रूपं जगतो रूपं तत्तत्स्फुरणरूपिणः ॥ ५१ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि गिरयो दिशः ।
इति या यास्तु रचनाश्चितस्तत्त्वाज्जगत्स्थितेः ॥ ५२ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे बतलाये गए निष्प्रपञ्चत्वको (प्रपञ्चके अभावको) अनुमानसे भी दृढ करते हैं—'**विश्वम्**' इत्यादिसे ।

मनकी चेष्टारूप (सङ्कल्परूप) सूक्ष्म जगत् शून्य ही है और देवताओंका (इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओंका) निवासभूत साकार और स्थूल जो विश्व है, वह भी शून्य ही है, क्योंकि दोनों चित्के चमत्काररूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ॥ ४९ ॥

उक्त अनुमानमें व्याप्ति आदिकी सिद्धिके लिए उदाहरण (दृष्टान्त) आदि दिखलाते हैं—'**यो यत्०**' इत्यादिसे ।

जो वस्तु जिस वस्तुकी विलास (विकार) होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती, अवयवयुक्त जल आदिके कार्य तरङ्ग आदिमें भी ऐसा देखा गया है, फिर निरवयव चित्के कार्यमें तो कहना ही क्या है ? वहाँ तो अवश्य ही ऐसा है, यह भाव है ॥ ५० ॥

उपर्युक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि नाम और रूपसे रहित तथा अपरिच्छिन्न (असीम) चित्का जो रूप है, वही जगत्का वास्तविक रूप है, ऐसा कहते हैं—'**चिते०**' इत्यादिसे ।

सदा अचेत्य (रूपरहित), नामरहित और सर्वव्यापक चित्का जो रूप है, वही रूप चित्स्फुरणरूपी (चिद्विलासरूपी) जगत्का है ॥ ५१ ॥

यदि कोई इसे चिद्रूप न देखकर जगद्रूप देखे, तो भी यह जगद्रूप रचना चित्की ही रचना है, ऐसा कहते हैं—'**मनो०**' इत्यादिसे ।

मन, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्च महाभूत, पर्वत, दिशाएँ इत्यादि जो अनेक रचनाएँ हैं, वे चित् ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जगत्की स्थिति चिद्रूप ही है ॥५२॥

चितेश्चित्त्वं जगद्विद्धि नाऽजगच्चित्त्वमस्ति हि ।
अजगत्त्वादचिच्चित्स्याद्भानाद्भेदो जगत्कुतः ॥ ५३ ॥
चितेर्मरीचिबीजस्य निजा याऽन्तश्चमत्कृतिः ।
सा चैषा जीवतन्मात्रमात्रं जगदिति स्थिता ॥ ५४ ॥
चित्तात् स्वशक्तिकचनं यदहंभावनं चितः ।
जीवः स्पन्दनकर्मात्मा भविष्यदभिधो ह्यसौ ॥ ५५ ॥
यच्चिच्चित्त्वेन कचनं स्वसम्पाद्याभिधात्मकम् ।
स्वविकारैर्व्यवच्छेद्यं भिद्यते नो न विद्यते ॥ ५६ ॥

यों जगत्के चिन्मय (चैतन्यमय) होनेपर जगत् चित्का धर्म ही सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—**'चिते०'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, चितिका धर्म जो चित्त्व है, उसीको आप जगत् जानिये, चित्त्व (चिद्धर्म) जगत्से अतिरिक्त नहीं है । यदि चित्त्वको जगत्त्वसे भिन्न मानो, तो चित् अचित् (चित्से भिन्न) हो जायगी । भाव यह कि अपने धर्मभूत चित्त्वको (जगत्को) प्रकाशित करनेके कारण ही उसका नाम चित् पड़ा है । यदि चित्त्व जगत्त्व न माना जायगा, तो उक्त प्रयोजनके अभावमें वह चिद्से भिन्न कही जायगी । इस प्रकार चित् और चित्त्वका (जगत्का) कल्पनारूप ज्ञानसे भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है, ऐसी परिस्थितिमें जगत् कहांसे होगा ? ॥ ५३ ॥

पहले वर्णित जगत्की चिन्मात्रताका, वचनभङ्गीसे भली भाँति बोध करानेके लिए, फिर वर्णन आरम्भ करते हैं—**'चिते०'** इत्यादिसे ।

प्रकाशकी बीजभूत चित्का जो स्वकीय अन्तश्चमत्कार (पदार्थोंकी प्रथन-शक्ति—प्रकाशनशक्ति) है, वह जीव और जीवकी उपाधिभूत तन्मात्र बनकर जगत्के वेषसे स्थित है ॥ ५४ ॥

तदुपरान्त चित्तसे अहङ्कारशक्तिका स्फुरण ही स्पन्दशक्ति प्राणके साथ मिलकर जीवशब्दसे कहा जाता है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तात्'** इत्यादिसे ।

चित्का चित्तसे (संकल्प द्वारा) अपनी शक्तिका विकासरूप जो अहंकार है, वह स्पन्दशक्ति प्राणसे युक्त होकर भविष्यमें 'जीव' नामको प्राप्त होता है ॥५५॥

वैसा होनेपर भी चित्के स्वभावमें अन्तर नहीं आता, ऐसा कहते हैं—**'यच्चित्त्वेन'** इत्यादिसे ।

चित्स्पन्दरूपिणोरस्ति न भेदः कर्तृकर्मणोः ।
स्पन्दमात्रं भवेत्कर्म स एव पुरुषः स्मृतः ॥ ५७ ॥
जीवश्चित्तपरिस्पन्दः पुंसां चित्तं स एव च ।
मनस्त्विन्द्रियरूपं सत्सत्तां नानेव गच्छति ॥ ५८ ॥
शान्ताशेषविशेषं हि चित्प्रकाशच्छटा जगत् ।
कार्यकारणकादित्वं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५९ ॥

यद्यपि चित्का चित्त्वरूपसे (जीवभाव-जगत्भावरूपसे) विकास अपने विकार अहन्ता आदिसे अवच्छेद्य (परिच्छेदके योग्य) होकर अपने द्वारा बनाये जानेवाले जीव आदिनामक हो गया है, तथापि उपाधि आदिसे अवच्छिन्न रूपका, उपाधिके मिथ्या होनेसे, अस्तित्व नहीं है। जब उसका अस्तित्व है ही नहीं, तब भेदका प्रसङ्ग कहांसे होगा ? ॥ ५६ ॥

चित्-शक्ति और स्पन्दशक्तिके भेदसे चित्शक्तिरूप अहङ्कार और स्पन्द-शक्तिरूप प्राण—इन उपाधियोंसे युक्त जीवकृत भेद है ही, इस शङ्कापर कहते हैं—**'चित्०'** इत्यादिसे ।

चित्रूपी (चित्प्रधान) कर्ता यानी अहङ्कार और स्पन्दरूपी (स्पन्दप्रधान) कर्म यानी प्राणमें कोई भेद नहीं है । चित्का स्पन्दमात्र ही तो कर्म (प्राण) है । क्या कर्ता भी कभी अपनी क्रियासे भिन्न होता है ? चित् और स्पन्दसे संवलित ही जीव कहा गया है, अतः जीवप्रयुक्त भेद नहीं है, यह भाव है ॥५७॥

चित्त, मन, इन्द्रिय आदि भावमें भी जीवकृत भेद नहीं होता, क्योंकि जीवका उपाधिरूप मन ही विभिन्न गोलकोंके (इन्द्रियोंके चिह्न आँख, कान, नासिका आदि) भेदसे इन्द्रियरूप हुआ है । ऐसा कहते हैं—**'जीव०'** इत्यादिसे ।

जीव चित्का चित्तपरिस्पदरूप (सङ्कल्परूप) है और पुरुषोंका चित्त भी सङ्कल्परूप ही है और मन भी तत्-तत् गोलकोंके भेदसे इन्द्रियरूप होकर नानारूप होता है ॥ ५८ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे जगत् और जीवकृत भेदका खण्डन करनेपर निष्कर्ष कहते हुए उपसंहार करते हैं—**'शान्ता०'** इत्यादिसे ।

चूँकि अति तुच्छ कार्य-कारण आदिभावरूप जगत् चित्से अतिरिक्त नहीं है, अतः वह पूर्वोक्त रीतिसे चित्-प्रकाशकी छटा (एक हिस्से) की तरह ही है, उससे भिन्न सत्ता और स्फूर्तिवाला नहीं है, इसलिए वह प्रत्यगात्मरूप ही ठहरा, यह भाव है ॥५९॥

अच्छेद्योऽहमदाह्योऽहमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽहमिति स्थितम् ॥ ६० ॥
विवदन्ते तथा ह्यत्र विवदन्तो यथा भ्रमैः ।
भ्रमयन्तो वयं त्वेते जाता विगतविभ्रमाः ॥ ६१ ॥
दृश्ये मूर्तेऽज्ञसंरूढे विकारादि पृथग् भवेत् ।
नाऽमूर्ते तज्ज्ञकचिते चित्खे सदसदात्मनि ॥ ६२ ॥

उक्त ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हैं—**'अच्छेद्यो०'** इत्यादिसे।

तदनन्तर सच्चिदानन्दरूप मैं न काटा जा सकता हूँ, न जलाया जा सकता हूँ, न सड़ाया जा सकता हूँ और न सुखाया जा सकता हूँ; मैं अविनाशी, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाववाला अतएव अचल (चलन आदि क्रियासे रहित) हूँ, ऐसा ज्ञान होता है ॥ ६० ॥

यह न जाननेसे ही द्वैतवादी इस विषयमें वादविवाद करते हैं, पर हम-लोगोंको इसमें विवाद नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'विवदन्ते'** इत्यादिसे।

जैसे अपने भ्रमसे (भ्रान्तिसे) औरोंको भ्रममें डाल रहे लोग विवाद करते हैं* वैसे ही अद्वितीय अखण्ड चिद्घन परमात्माके विषयमें भ्रान्त द्वैतवादी वाद-विवाद करते हैं, परन्तु हम लोग तो भ्रमरहित हो गये हैं, अतएव हमारे लिए विवादका अवसर ही कहां है ॥ ६१ ॥

अज्ञ और अभिज्ञ लोगोंकी दृश्य प्रपञ्चके विषयमें जो मूर्त (साकार) और अमूर्त भावना है, उसीसे उसमें सत्यत्व और असत्यत्वसे उत्पन्न द्वैत और अद्वैत भेद है अर्थात् आत्मज्ञानी दृश्यको, स्वप्नकी भाँति अमूर्त होनेके कारण, असत्य मानते हैं, अतः उनकी दृष्टिमें अद्वैत है और अज्ञानी उसे मूर्त देखनेके कारण सत्य समझते हैं, अतः उनकी दृष्टिमें द्वैत है, ऐसा कहते हैं—**'दृश्ये'** इत्यादिसे।

---

* अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिए—अपने भ्रमणसे चक्राकार घूमनेसे और लोगोंको भ्रमयुक्त समझ रहे भ्रमि (भ्रमण) करनेवाले लोग तुम भ्रमण कर रहे हो, यों विवाद करते हैं, ऐसा अर्थ भी प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं चक्कर खा रहे लोगोंको अन्य लोग या वस्तुएँ घूमती प्रतीत होती हैं।

चित्तरौ चेत्यरसतः शक्तिः कालादिनामिकाम् ।
तनोत्याकाशविशदां चिन्मधुश्रीः स्वमञ्जरीम् ॥ ६३ ॥
स्वयं विचित्रं स्फुरति चिदण्डकमनाहतम् ।
स्वयं विलक्षणस्पन्दं चिद्वायुरण्डजात्मकः ॥ ६४ ॥
स्वयं विचित्रं कचनं चिद्वारि न निखातगम् ।
स्वयं विचित्रधातुत्वं श्रेष्ठाङ्गमपि निर्मितम् ॥ ६५ ॥

अज्ञ लोगोंकी दृष्टिसे मूर्त प्रतीत होनेवाले अतएव सत्य दृश्यमें विकार आदि द्वैतकी प्रतीति होती है, आत्मज्ञानीकी दृष्टिसे अमूर्त (निराकार) अतएव स्वतः असत्य चिदाकाशरूपी दृश्यमें विकार आदि द्वैतकी प्रतीति नहीं होती है ॥ ६२ ॥

चिद्रूपी वसन्तकी शोभाभूत माया दृश्यमें आसक्तिरूप (अनुरागरूप) जलके सिञ्चनसे चित्‌रूपी वृक्षमें काल आदि नामक अपनी मञ्जरीको, जो कि आकाशमें (प्रथम उत्पन्न आकाशनामक भूतमें) विकासको प्राप्त होती है, फैलाती है। भाव यह कि जैसे वसन्तशोभा जलके सेचनसे वृक्षोंमें, ऊँची ऊँची टहनियोंमें, सुन्दर बौरको उत्पन्न करती है, वैसे ही चित्‌की शक्ति माया दृश्य प्रपञ्चमें आसक्तिवश चित्‌में प्रथम उत्पन्न आकाशमें विकासको प्राप्त काल आदिको फैलाती है ॥ ६३ ॥

जैसे ब्रह्म स्वाधीन कल्पनाओंके क्रमसे जगद्भाव और जीवभावको प्राप्त हुआ है, वैसे ही स्वाधीन बोधके क्रमसे सत्-चिदानन्दघन अपने स्वरूपमें स्थित होता है, ऐसा कहते हैं—**'स्वयम्'** इत्यादि साढ़े चार श्लोकोंसे ।

चित् स्वयं अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार आये बिना ही विचित्र आकाशके रूपमें आविर्भूत होती है । तदुपरान्त चित् स्वयं ही आकाशसे उत्पन्न होनेवाला वायु होकर विलक्षण स्पन्द (कम्पन) के साथ आविर्भूत होती है । तदनन्तर आगे कहे जानेवाले तेजकी उत्पत्तिके उपरान्त चित् स्वयं जलतत्त्व बनकर विचित्र विकासको प्राप्त होती है । उक्त जल तलाब, तलैया आदिके जलसे भिन्न था, क्योंकि पृथिवीकी सृष्टिसे पहले तालाब आदिसे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता । जलकी सृष्टि होनेके बाद चित् स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओंसे परिपूर्ण पृथिवीतत्त्वको—देवता, असुर, मनुष्य आदिके देह-भावको—प्राप्त हुई ॥ ६४, ६५ ॥

स्वविचित्ररसोल्लासा चिज्ज्योत्स्ना सततोदिता ।
स्वयं चिदेव प्रकटश्चिदालोको महात्मकः ॥ ६६ ॥
स्वयमस्तं गते बाह्ये स्वज्ञानादुदिता चितिः ।
स्वयं जडेषु जाड्येन पदं सौषुप्तमागता ॥ ६७ ॥
स्वयं स्पन्दितया स्पन्दि चित्त्वाच्चिति महानभः ।
चित्प्रकाशप्रकाशो हि जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥ ६८ ॥
चिदाकाशैकशून्यत्वं जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चिदालोकमहारूपं जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण जगत्को आह्लादित करनेवाला चन्द्रमा भी वह स्वयं ही हुई, ऐसा कहते हैं—'**स्व०**' इत्यादिसे ।

सदा उदित चित् ही स्वयं अपने विचित्र रसवाले उल्लासोंसे (पृथिवीमें होनेवाले औषधरस भी चन्द्रमाके ही अधीन हैं, अतएव उन उल्लासोंसे) युक्त चांदनी (चन्द्रमा) और महान् चिदालोकरूपी प्रकट तेज भी हुई ॥ ६६ ॥

चित् स्वयं अपने (चैतन्यरूप ब्रह्मके) ज्ञानसे ही दृश्य प्रपञ्चके विनष्ट होनेपर उदित हुए अपने पूर्ण भावको प्राप्त होकर स्थित होती है और स्वयं ही जड़तावश स्थावर आदि जड़ पदार्थोंमें अहम्भाव करनेसे सौषुप्त पदको (अज्ञानिताको) प्राप्त होती है ॥ ६७ ॥

जो बात पहले ऊपर कही जा चुकी है, उसीको संक्षेपमें आधे श्लोकसे कहते हैं—'**स्वयम्**' इत्यादिसे ।

चिन्मय ब्रह्म ही अविचारदशामें स्पन्दस्वभाव (श्वासोच्छ्वास क्रिया करनेवाले) प्राण आदिमें आत्मत्वकी कल्पना करनेपर यानी अज्ञानवश स्पन्दस्वभाव प्राण ही मैं हूँ, ऐसी कल्पना करनेपर संसारी होता है । विचार करनेसे जब मैं चित् ही हूँ, यों चित्ताका उदय हो जाता है, तब अपने स्वभावभूत चित्में ही स्थित होता है ।

स्वस्वरूपावस्थ चिन्मयका संसार है या नहीं है ? यदि है, तो उसमें संसारापत्ति हो जायगी । यदि नहीं है, तो उसका असत्तासे सम्बन्ध हो जायगा, ऐसी आशङ्का करके ब्रह्मकी सत्तासे जगत्का सदा अस्तित्व ही है और अपनी सत्तासे तो उसका असत्त्व ही है, ऐसा कहते हैं—'**चित्प्रकाश०**' इत्यादि साढे छः श्लोकोंसे ।

चिन्मारुतपरिस्पन्दो जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चिद्घनध्वान्तकृष्णत्वं जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥ ७० ॥
चिदर्कालोकदिवसो जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चित्कज्जलरजस्तैलपरमाणुर्जगत्क्रमः ॥ ७१ ॥
चिदग्न्यौष्ण्यं जगल्लेखा जगच्चिच्छङ्खशुक्लता ।
जगच्चिच्छैलजठरं चिज्जलद्रवता जगत् ॥ ७२ ॥
जगच्चिदिक्षुमाधुर्यं चित्-क्षीरस्निग्धता जगत् ।
जगच्चिद्धिमशीतत्वं चिज्ज्वालाज्वलनं जगत् ॥ ७३ ॥
जगच्चित्सर्षपस्नेहो वीचिश्चित्सरितो जगत् ।
जगच्चित्क्षौद्रमाधुर्यं जगच्चित्कनकाङ्गदम् ॥ ७४ ॥

जगत् चिद्रूपी तेजका आलोकरूप है, ब्रह्मसत्तासे उसका अस्तित्व ही है और जगत्सत्तासे अभाव ही है। चिद्रूपी आकाशकी शून्यतारूप जगत् है भी और नहीं भी है, यानी ब्रह्मसत्तासे उसकी सत्ता है और जगत्-सत्तासे अभाव है। जगत् चिद्रूपी आलोकका महान्‌रूपभूत है, ब्रह्मसत्तासे उसकी सत्ता है और जगत्सत्तासे अभाव ही है। जगत् चित्-रूपी वायुका स्पन्दनस्वरूप है, उसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है यानी ब्रह्मसत्तासे उसका अस्तित्व है और जगत्सत्तासे अभाव है। जगत् चिद्रूपी अन्धकारकी कालिमा है, उसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है। जगत् चिद्रूपी सूर्यालोक (सूर्य-प्रकाश) से जनित दिवसरूप है, वह है भी और नहीं भी है। यह जगत्क्रम चिद्रूपी काजलका तेलबिन्दुरूप है यानी तेलके जलनेपर जैसे काजल ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही जगत्का बाध होनेपर चित् ही अवशिष्ट रहती है, इस अभिप्रायसे चित्को कज्जल कहा है, जैसे तेलका कार्य कज्जल है, वैसे ही जगत्का कार्य चित् है, इस आशयसे नहीं ॥ ६८–७१ ॥

यह त्रिजगत्श्रेणी चिद्रूपी अग्निकी उष्णता है यानी जैसे अग्निका उष्णतासे भेद नही है, वैसे ही चित्का जगत्से भेद नहीं है, जगत् चित्-रूपी शङ्खकी शुक्लता है। और जगत् चित्रूपी पर्वतका मध्यभाग है यानी जैसे पर्वत और पर्वतके उदरका कोई भेद नही है, वैसे ही चिद्से जगत् भिन्न नहीं है। जगत् चिद्रूपी जलका द्रवत्वरूप है, जगत् चिद्रूपी ईखकी मिठास है, जगत् चित्रूपी दूधका मक्खन

जगच्चित्पुष्पसौगन्ध्यं चिल्लताग्रफलं जगत् ।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः ॥ ७५ ॥
अत्र भेदविकारादि न खे मलमिव स्थितम् ।
इतीदं सन्मयत्वेन सदसद्भुवनत्रयम् ॥
अविकल्पतदात्मत्वात् सत्तासत्तैकतैव च ॥ ७६ ॥
अवयवावयविताशब्दार्थौ शशशृङ्गवत् ।

है, जगत् चिद्रूपी हिम (बर्फ) की शीतलता है, जगत् चिद्रूपी ज्वालाओंका ताप है, जगत् चित्रूपी सरसोंका तेल है, जगत् चित्रूपी नदीकी लहर है, जगत् चिद्रूपी शहदका माधुर्य है, जगत् चिद्रूपी सुवर्णका कङ्कण है, जगत् चिद्रूपी फूलोंकी सुगन्धि है और चिद्रूपी लताका प्रथम फल है। सर्वत्र चित्से अभिन्न सत्तावान् होनेसे ही जगत् चिद्धर्म माना गया है, ऐसा स्पष्टरूपसे कहते हैं—**'चित्सत्तैव'** इत्यादिसे। चित्सत्ता ही जगत्सत्ता है और जगत्सत्ता ही चिद्का स्वरूप है ॥७२—७५॥

जैसे आकाशमें यद्यपि भ्रमवश नीलिमाकी प्रतीति होती है, पर वस्तुतः वह है नहीं, वैसे ही इस चिद्घन परमात्मामें यद्यपि भ्रान्तिसे भेद और विकार आदिकी प्रतीति होती है, पर वस्तुतः इसमें भेद आदि है नही। इस प्रकार ये तीनों भुवन यद्यपि असत् हैं, तथापि पूर्वोक्त रीतिसे सन्मय (चिन्मय) होनेके कारण ये सत् हैं, यह भाव है।

यदि पूर्वोक्त रीतिसे सन्मय होनेके कारण ही जगत्की सत्ता है, चित्-सत्तासे जगत्की सत्ता अतिरिक्त नहीं है। तो जगत्की असत्ता दूसरी वस्तु होगी, इस शङ्कापर कहते हैं—**'अविकल्प०'** इत्यादिसे।

अधिष्ठानरूप होनेके कारण कल्पित पदार्थकी सत्ता और असत्ता अभिन्न ही है। भाव यह कि कल्पितकी सत्ता और असत्ता कल्पितके अधिष्ठानसे अतिरिक्त कहीं नहीं देखी गई है, अतः जगत्की असत्ता अतिरिक्त पदार्थ है, यह कथन ठीक नहीं है ॥ ७६ ॥

सावयव और निरवयव पदार्थोंकी कैसे अभिन्न सत्ता होगी ? यों कह रहे और विद्वानोंके अनुभवका अपलाप कर रहे तार्किकों (नैयायिकों) को धिक्कार देते हैं—**'अवयवा०'** इत्यादिसे।

चिन्मयमें अवयव और अवयवी शब्दोंका अर्थ शशशृङ्गके समान असत्

अनुभूत्यपलापाय कल्पितौ यैर्धिगस्तु ताम् ॥ ७७ ॥
न विद्यते जगद्यत्र साद्र्यब्ध्युर्वीनदीश्वरम् ।
चिदेकत्वात्प्रसङ्गः स्यात् कस्तत्रेतरविभ्रमः ॥ ७८ ॥
शिलाहृदयपीनाऽपि स्वाकाशे विशदैव चित् ।
धत्तेऽन्तरखिलं शान्तं सन्निवेशं यथा शिला ॥ ७९ ॥
पदार्थनिकराकाशे त्वयमाकाशजो मलः ।
सत्तासत्तात्मतात्वत्तामत्ताश्लेषा न सन्ति ते ॥ ८० ॥
पल्लवान्तरलेखौघसन्निवेशवदाततम् ॥ ८१ ॥

है । जिन लोगोंने विद्वानोंके अनुभवके अपलापके लिए अवयव और अवयवी इन शब्दोंके अर्थोंकी कल्पना कर रक्खी है, उन तार्किकोंके लिए धिक्कार है ॥ ७७ ॥

उक्त विषयमें युक्तिविरोध भी कहते हैं—'**न विद्यते**' इत्यादिसे ।

चिन्मय होनेके कारण जिसमें पर्वत, सागर, पृथिवी, नदी-नद और उनके अधिष्ठाता देवताओंके साथ जगत् पूर्वोक्त रीतिसे नहीं रहता है, उसमें अन्यका (अवयव आदिका) भ्रम कैसे हो सकता है, यह भाव है ॥ ७८ ॥

शिलाके (पत्थरके) हृदयके (मध्यके) समान अत्यन्त निबिड़ (ठोस) होती हुई भी चिति स्फटिक आदिके समान स्वच्छ ही है । अतएव जैसे स्फटिकशिला अपने अन्दर प्रतिबिम्बित नगर, पर्वत आदिके आकारको धारण करती है, वैसे ही वह भी शान्त (मिथ्या होनेके कारण असद्रूप) सम्पूर्ण प्रपञ्चको चिदाकाशरूप अपने स्वरूपमें धारण करती है ॥ ७९ ॥

सम्पूर्ण प्रपञ्च शान्त कैसे है, इसपर कहते हैं—'**पदार्थ०**' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण पदार्थोंके अधिष्ठानभूत चिदाकाशमें यह भूताकाशजनित वायु आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होता है । जब असङ्गस्वभाववाले भूताकाशमें ही उसके कार्य वायु आदिका सम्बन्ध नहीं है, तब चिदाकाशमें इस प्रपञ्चके सत्ता, असत्ता, त्वत्ता, मत्ता आदि सम्बन्ध कैसे होंगे ? कदापि नहीं हो सकते ॥ ८० ॥

ऐसा यदि है, तो चित्में असत् जगत्के आकारका भान कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'**पल्लवा०**' इत्यादिसे ।

जैसे पत्तोंके अन्दर रेशोंकी पङ्क्तियोंका आकार फैला रहता है, वैसे ही चित् स्वभावसे ही अपनेसे भिन्न और अभिन्नरूप इस जगत्को अपने अन्दर धारण

अन्यानन्यात्मकमिदं धत्तेऽन्तश्चित्स्वभावतः ॥ ८१ ॥
समस्तकारणौघानां कारणादिः पितामहः ।
स्वभावतोऽकारणात्म चित्तं चिद्ध्यनुभूतितः ॥ ८२ ॥
न चाऽसत्त्वमचेत्यायाश्चितो वाचाऽपि सिद्ध्यति ॥ ८३ ॥
यदस्ति तदुदेतीति दृष्टं बीजादिवाऽङ्कुरः ॥ ८४ ॥

करती है यानी जैसे पत्ता रेशोंकी रेखाओंके समूहके आकारको, जो कि पत्तेसे अलग उत्पन्न न होनेके कारण असत् ही है और भिन्न तथा अभिन्नरूपसे पत्तेमें स्थित है, धारण करता है ॥ ८१ ॥

जगत्‌रूप विकारका निर्विकार चिदाकाश उपादान है, अतएव जगत् असत् है, ऐसा अब तक कहा। अब हजारों मिथ्या विकल्परूप चित्तोंके समष्टिभूत हिरण्यगर्भसे उत्पन्न होनेके कारण भी जगत् मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे।

संसारमें जितने कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उन सम्पूर्ण कार्योंके अखिल कारणोंका ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि कारण है, चित्तसे उत्पन्न मनोरथसे होनेवाले विकल्प असत् होते हैं, अतएव चित्त स्वभावसे ही कारणाभावरूप है (कारण नहीं है)। उक्त कारणाभावरूप चित्त ही ब्रह्मा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसे चित्तके कार्यभूत मनोरथसे होनेवाले विकल्प असत् हैं, वैसे ही उक्त ब्रह्मासे उत्पन्न जगत् मिथ्या है। यदि किसीको यह शङ्का हो कि चेत्यके (जगत्‌के) असत् होनेपर चित्‌का भी असत्त्व हो जायगा, क्योंकि चित् स्वस्वरूपभूत चेत्यसे अतिरिक्त नहीं है, इसपर कहते हैं कि चित्‌की असत्ता वाणीमात्रसे भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि चित् अनुभवसे सिद्ध है। अनुभवसे विरुद्ध अर्थमें वाणी प्रमाण नहीं होती, यह भाव है ॥ ८२, ८३ ॥

यदि जगत् स्वतः (अपनी सत्तासे न कि ब्रह्मसत्तासे) सत् होता, तो ज्ञान आदि सहस्रों उपायोंसे भी उसका विनाश कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि सत्‌का आत्यन्तिक (समूल) विनाश तो कभी हो ही नहीं सकता। ऐसी दशामें उसके पुनः आविर्भावका वारण न हो सकनेसे कभी किसीका मोक्ष ही नहीं हो सकेगा, इस आशयसे कहते हैं—**'यद०'** इत्यादिसे।

जो है, उसका बीजसे अङ्कुरकी नाईं अवश्य ही उदय होता है, यह बात

गगन इव सुशून्यभेदमस्ति त्रिभुवनमङ्ग महाचितोऽन्तरस्याः ।
परमपदमयं समस्तदृश्यं त्विदमिति निश्चयवान् भवाऽनुभूतेः ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥८६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
ब्रह्मप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

तृतीयो दिवसः

एक बार नहीं हजारों बार देखी गई है, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्‌की स्वतः सत्ता नहीं है ॥ ८४ ॥

यदि दृश्य प्रपञ्चकी सत्तामें आपका बड़ा ही आग्रह हो, तो अनुभवसे (ज्ञानसे) चित् और दृश्यके भेदको हटाकर दृश्यको परमपदरूप चिन्मय जानकर उक्त चिन्मयकी सत्तासे ही दृश्यकी सत्ताको स्वीकार कीजिये, ऐसा कहते हैं—**'गगन'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, गगनमें सर्वथा भेदशून्य गगनके समान इस महाचितिमें सर्वथा भेदरहित यह त्रिभुवन है । इसलिए आप अनुभवसे यह सम्पूर्ण दृश्य परमपदरूप चिन्मय है, ऐसे निश्चयवाले होइए ॥ ८५ ॥

मुनिके इत्यादि कह चुकनेपर दिन बीत गया । सूर्य अस्ताचलको चले गये । मुनियोंकी सभा सायंकालके आवश्यक सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि कर्म करनेके लिए स्नानार्थ उठ गई, रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल सूर्यके उदय होते ही पुनः मुनियोंकी सभा आकर बैठ गई ॥ ८६ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

तीसरा दिन

पञ्चदशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

जगदाकाशमेवेदं यथा हि व्योम्नि मौक्तिकम् ।
विमले भाति स्वात्मैव जगच्चिद्गगनं यथा ॥ १ ॥
अनुत्कीर्णैव भातीव त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
चित्स्तम्भे नैव सोत्कीर्णा न चोत्कर्त्ताऽत्र विद्यते ॥ २ ॥
समुद्रेऽन्तर्जलस्पन्दाः स्वभावादच्युता अपि ।
वीचिवेगा भवन्तीव परे दृश्यविदस्तथा ॥ ३ ॥
जालान्तर्गतसूर्याभाजालाकाररजांस्यपि ।
जगद्भानं प्रति स्थूलान्यणुं प्रति यथाऽचलाः ॥ ४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

[बार-बार दृष्टान्त और विविध युक्तियो द्वारा चित् और चेत्यके अभेदका ज्ञान करानेके लिए मण्डपाख्यानका आरम्भ]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुवर, यह जगत् चिदाकाशरूप ही है ।

शङ्का—यदि यह चिदाकाशरूप ही है, तो इसकी पृथक् प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान—जैसे निर्मल आकाशमें भ्रमवश मोतियोंका समूह प्रतीत होता है वैसे ही भ्रमवश इसकी भी पृथक् प्रतीति होती है ।

चिदाकाशरूप आत्मा ही जैसे जगत् हुआ है, वैसा दृष्टान्त मै आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

त्रिजगत्‌रूपी प्रतिमा गढ़े बिना ही प्रतीत-सी होती है, क्योंकि जैसे पत्थरके खम्भेमें प्रतिमा गढी जाती है वैसे चित्‌रूपी खम्भेमें न तो वह (त्रिजगत्-रूपी प्रतिमा) गढ़ी गई है और न उसका कोई गढ़नेवाला शिल्पी ही है । भाव यह कि प्रथम तो चित्‌से अतिरिक्त कोई चेतन प्रसिद्ध ही नहीं है, जो चित्‌रूपी खम्भेमें उसे गढ़े और दूसरी बात यह भी है कि निर्विकार और असङ्ग चित्‌रूपी खम्भेका पत्थरके खम्भेके समान उत्कर्तन (तरासना) नहीं हो सकता ॥२॥

जैसे समुद्रमें जलका स्पन्द (स्फुरण) जलस्वभावसे च्युत हुए बिना ही लहर-सा प्रतीत होता है, वैसे ही चिन्मय ब्रह्ममें भ्रमवश जगत्‌की प्रतीति होती है ॥३॥

यद्यपि मूढ़ पुरुषोंकी दृष्टिमें जगत् विशाल प्रतीत होता है, पर वास्तवमें,

जगद्भानं न भातीदं ब्रह्मणो व्यतिरेकतः ।
जालसूर्यांशुजालं तु व्यतिरेकानुभूतिदम् ॥ ५ ॥
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि ।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ ६ ॥

विद्वानोंकी दृष्टिमें, ऊँचे झरोखों और चिमनियोंकी राहसे घरमें पैठे हुए दण्डाकार सूर्य-किरणोंमें (घाममें) नाच रहे अणुओंसे भी जगत् छोटा है, ऐसा कहते हैं—**'जालान्त०'** इत्यादिसे ।

जैसे अणुओंकी अपेक्षा पहाड़ स्थूल (विशाल) हैं, वैसे ही जगत्प्रतीतिकी अपेक्षा झरोखेसे अन्दर पैठी हुई धूपका झरोखेके छेदके अनुसार बना हुआ दण्ड और मूसलके समान जो आकार है, उसमें दिखाई देनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे कण भी स्थूल हैं । जब इतने सूक्ष्म रजकण जगद्भानकी अपेक्षा स्थूल हैं, तब उसकी अपेक्षा औरोंके स्थूलतम होनेमें तो सन्देह ही क्या है, यह श्लोकमें स्थित 'अपि' शब्दका अर्थ है * ॥ ४ ॥

उक्त अर्थकी ही उपपत्ति करनेके लिए जगत्प्रतीति और चित्में सूर्यकी दीप्ति और उसमें स्थित अणुओंसे विलक्षणता दर्शाते हैं—**'जगत्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मसे पृथक्‌रूपसे यानी ब्रह्मके भेदसे जगत्का भान नहीं होता, परन्तु झरोखेसे भीतर पैठा हुआ सूर्यका किरणसमुदाय और उसमें स्थित अणुओंका समुदाय भेदकी प्रतीति कराता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मके भेदसे जगत्का भान नहीं होता है, इस कथनमें प्रत्यक्षानुभवसे विरोधका परिहार करते हैं—**'अनुभूतान्य०'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में अनुभूत घट, पट आदि पदार्थ जागरके

---

* उक्त श्लोकका संस्कृत टीकाकारोंने 'जालान्तर्गतसूर्याभा जालाकाररजांस्यपि' इस प्रकार छेद करके ऐसा भी अर्थ किया है—

जगत्का प्रकाशक साक्षीरूप चित्प्रकाश सूर्यालोकरूप (घामरूप) प्रकाशसे और उसके अन्दर प्रतीत होनेवाले अणुओंसे भी सूक्ष्म है, ऐसा कहते हैं—**'जालान्त०'** इत्यादिसे ।

झरोखेसे अन्दर पैठी हुई सूर्यकी दीप्तिसे (धूपसे) और झरोखेके छेदके अनुसार दण्डाकार बनी हुई धूपमें स्थित रजकणोसे भी जगत्का अवभासक चित्‌रूप साक्षी सूक्ष्म है, ऐसा सूक्ष्म, जैसे कि पर्वतोंकी अपेक्षा परमाणु सूक्ष्म है ।

पिण्डग्रहो जगत्यस्मिन् विज्ञानाकाशरूपिणि ।
मरुनद्यां जलमिव न सम्भवति कुत्रचित् ॥ ७ ॥
जगत्यपिण्डग्राहेऽस्मिन् सङ्कल्पनगरोपमे ।
मरौ सरिदिवाऽऽभाति दृश्यता भ्रान्तिरूपिणी ॥ ८ ॥
स्वप्नाद् दृश्येव जगतां तुलादेशेन केन च ।
तुलिता कलनोन्मुक्ता दृश्यश्रीर्व्योम जृम्भते ॥ ९ ॥
वर्जयित्वाऽज्ञविज्ञानं जगच्छब्दार्थभाजनम् ।
जगद्ब्रह्मस्वशब्दानामर्थे नाऽस्त्येव भिन्नता ॥ १० ॥
इदं त्वचेत्यचिन्मात्रं भानोर्भातं नभः प्रति ।
तथा सूक्ष्मं यथा मेघं प्रति सङ्कल्पवारिदः ॥ ११ ॥

पदार्थ पार्थिव (भौतिक) नही होते, वैसे ही चिदाकाशरूपी परब्रह्ममें प्रतीत होते हुए भी ये जगत् पृथिवी आदिरूप (भौतिक) नहीं ही हैं ॥ ६ ॥

जैसे मरुभूमिमें नदीके समान प्रतीत हो रहीं सूर्यकी किरणोंमें (मृगतृष्णामें) कदापि जलका संभव नहीं है, वैसे ही विज्ञानाकाशरूपी (चिदाकाशरूपी) इस जगत्में मूर्तताका (साकारताका) स्वीकार कदापि नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

जैसे मरुभूमिमें भ्रान्तिरूपिणी नदी प्रतीत होती है, वैसे ही पूर्वोक्त रीतिसे आकाररहित अतएव मनोरथसे कल्पित नगरके तुल्य इस जगत्में भ्रान्तिरूपिणी (भ्रमवश) दृश्यता प्रतीत होती है ॥ ८ ॥

जगत्की जो दृश्यता है, साक्षीरूप चैतन्यमें एक ओर उसे और दूसरी ओर स्वप्नको रखकर सार और असारका विवेक करनेवाले बुद्धिरूप कांटेसे तोला जाय, तो जैसे जागरणमें स्वप्न कल्पनाशून्य (असत्) हो जाता है, वैसे ही कल्पनाशून्य होकर वही शून्यरूपसे या ब्रह्मरूपसे प्रतीत होती है ॥ ९ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ही ब्रह्म आदिशब्दोंके अर्थसे जगत्शब्दके अर्थका भेद है, तत्त्वज्ञानी लोगोंकी दृष्टिसे नहीं, ऐसा कहते हैं—**'वर्जयित्वा'** इत्यादिसे ।

जगत्शब्दके अर्थके भाजन अज्ञ लोगोंके विज्ञानके सिवा जगत् , ब्रह्म और आत्मशब्दोंके अर्थमें कोई भी भेद नहीं है, भाव यह कि जगत्शब्दका ब्रह्मशब्दके अर्थसे अतिरिक्त अर्थ अज्ञानियोंको प्रतीत होता है, पर वास्तवमें जगत्, ब्रह्म और स्व (आत्मा) शब्दोंके अर्थमें भेद है ही नहीं ॥ १० ॥

जब जगत् और ब्रह्ममें कोई भेद ही नहीं है, तब तत्त्वज्ञानियोंको

यथा स्वप्नपुरं स्वच्छं जाग्रत्पुरवरं प्रति ।
तथा जगदिदं स्वच्छं साङ्कल्पिकजगत्प्रति ॥ १२ ॥
तस्मादचेत्यचिद्रूपं जगद्व्योमैव केवलम् ।
शून्यौ व्योमजगच्छब्दौ पर्यायौ विद्धि चिन्मयौ ॥ १३ ॥

जगत्की अपेक्षा (जगत्से अतिरिक्त) जगत्के साक्षीका दर्शन कैसे होता है, ऐसी शङ्का होनेपर जैसे शून्यरूप आकाशके प्रति सौरालोक प्रकाशक प्रतीत होता है, वैसे ही शून्यरूप जगत्के प्रति तत्त्वज्ञानियोंका जगत्-साक्षी-दर्शन है, ऐसा कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

जैसे रूपशून्य आकाशके प्रति सूर्यका प्रकाशकत्वदर्शन है, वैसे ही अचेतन (चेत्यसंसर्गरहित) चिन्मात्ररूप इस जगत्के प्रति इसके साक्षीका भान होता है ।

शङ्का—तब साक्षी चैतन्यकी अपेक्षा (साक्षी चैतन्यसे अतिरिक्त) जगत्की प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान—जैसे संकल्पसे कल्पित मेघ सत्य मेघके प्रति (असत्) है, वैसे ही जगत्-दर्शन चैतन्यके प्रति (असत्) है ॥ ११ ॥

यदि शङ्का हो कि दृश्य अत्यन्त मलिन है, वह अति स्वच्छतम चिन्मात्र कैसे हो सकता है ? तो इसपर प्रतीतिकालमें ही बाह्य (बाहरके) और आन्तर (मानसिक) दृश्योंकी मलिनता प्रतीत होती है । जब उनका तिरोभाव हो जाता है, तब परस्परकी अपेक्षा यानी मलिनता और स्वच्छता दोमें से केवल स्वच्छतमता ही शेष रह जाती है, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे जाग्रत्कालके सुन्दर नगरके प्रति स्वप्नका नगर स्वच्छ है, वैसे ही संकल्पसे उत्पन्न (काल्पनिक) और स्वाप्निक जगत्के प्रति यह जाग्रत्प्रपञ्च भी स्वच्छ है । भाव यह कि इसकी अस्वच्छता तभी तक है जबतक यह प्रतीत होता है । इसका तिरोभाव होनेपर परम स्वच्छता ही शेष रह जाती है । अतएव अत्यन्त मलिन दृश्यकी अतिस्वच्छतमचिन्मात्रता कैसे ? इस शङ्काके लिए अवसर ही नहीं है ॥ १२ ॥

इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि अचेत्य (चेत्यभिन्न) चिद्रूप यह जगत् केवल व्योम (आकाश) ही है । चिन्मय व्योम और जगत् शब्द पर्यायवाची हैं । इनका चित्से अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है ॥ १३ ॥

तस्मान्न किञ्चिदुत्पन्नं जगदादीह दृश्यकम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं यथास्थितमवस्थितम् ॥ १४ ॥
जगदेवं महाकाशे चिदाकाशमभित्तिमत् ।
तद्देशस्याऽणुमात्रस्य तुलायाश्चाऽप्रपूरकम् ॥ १५ ॥
आकाशरूपमेवाऽच्छं पिण्डग्रहविवर्जितम् ।
व्योम्नि व्योममयं चित्रं सङ्कल्पपुरवत्स्थितम् ॥ १६ ॥
अत्रेदं मण्डपाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
निःसन्देहो यथैषोऽर्थश्चित्ते विश्रान्तिमेष्यति ॥ १७ ॥

इसलिए यहां जगत् आदि कुछ भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है, नाम और रूपसे रहित चिद्रूप ब्रह्म ज्यों-का-त्यों (स्वरूपमें किसी प्रकारके विकारसे रहित) स्थित है ॥ १४ ॥

उक्त रीतिसे मायारूप आकाशमें स्थित यह जगत् आवरणशून्य चिदाकाश ही है । यह चित्के अणुमात्र भागका और अणुमात्र परिमाणका पूरक (पूर्ति करनेवाला) नहीं है । भाव यह कि परिच्छिन्न जगत्का चित्से अभेद मानो, तो चित्की भी परिच्छिन्नजगन्मात्रता हो जायगी, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म अन्तःकरणकी वृत्ति और चित्तकी वासनासे परिच्छिन्न सूक्ष्मतम चिद्भागमें भी सम्पूर्ण जगत्के परिच्छेदका भान होता है, इस कारण उक्त अणुतम चेतनमें समा सकने योग्य जगत् जब उक्त अणुतम चित्का पूरक नहीं होता, तब अखण्ड ब्रह्मचैतन्यका वह पूरक हो और उससे ब्रह्ममें परिच्छिन्नजगन्मात्रता हो, यह तो अत्यन्त असंभव है ॥ १५ ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि विशालतम जगत् आकाशके समान शून्यप्राय चित्तवृत्तिमें और चित्तकी वासनाओंमें कैसे अन्तर्भूत हो सकता है, तो इसपर कहते हैं—**'आकाश०'** इत्यादिसे ।

आकारके स्वीकारसे रहित (अमूर्त) यह जगत् स्वच्छ आकाशरूप ही है, यह आकाशमें मनोरथसे कल्पित (काल्पनिक) विचित्र नगरकी नाईं आकाशमें स्थित है ॥ १६ ॥

पूर्वमें जो उपदेश दिया गया है, उसके विषयमें रामचन्द्रजीको सन्देह, अज्ञान और अनिश्चय है, यह रामचन्द्रजीकी चेष्टाओंसे जानकर उन्हें दूर करनेके

श्रीराम उवाच

सद्बोधवृद्धये ब्रह्मन् समासेन वदाऽऽशु मे ।
मण्डपाख्यानमखिलं येन बोधो विवर्द्धते ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अभूदस्मिन् महीपीठे कुलपद्मो विकासवान् ।
पद्मो नाम नृपः श्रीमान् बहुपुत्रो विवेकवान् ॥ १९ ॥
मर्यादापालनाम्भोधिर्द्विषत्तिमिरभास्करः ।
कान्ताकुमुदिनीचन्द्रो दोषतृणहुताशनः ॥ २० ॥
मेरुर्विबुधवृन्दानां यशश्चन्द्रो भवार्णवे ।
सरः सद्गुणहंसानां कमलामलभास्करः ॥ २१ ॥

लिए श्रीवसिष्ठजी उक्त अर्थकी उपपत्ति करनेवाली सैकड़ों कथाओंसे युक्त मण्डपाख्यानको सुनानेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

हे रामजी, इस विषयमें आप कानोंका विभूषणरूप मण्डपाख्यानको सुनिये, जिससे मेरे द्वारा उपदिष्ट यह विषय आपके चित्तमें बिना किसी सन्देहके बैठ जायगा ॥१७॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् , सत्-चिदानन्दमय ब्रह्मके बोधकी सिद्धिके लिए सम्पूर्ण मण्डपाख्यान संक्षेपसे शीघ्र मुझसे कहिये, जो कि बोधकी वृद्धि करता है ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, प्राचीन कालमें इस भूतलमें पद्म नामका राजा हुआ। वह राजा था इसलिए लक्ष्मीकी उसके पास कोई कमी न थी, उसके पुत्र भी बहुत थे और वह विवेकी भी था । जैसे खिला हुआ कमल तालाबको सुगन्धित करता है और उसकी शोभा बढ़ाता है, वैसे ही वह भी अपने कुलकी कीर्तिरूपी सुगन्धि और सुन्दरताका हेतु होनेसे कुलरूपी सरोवरका प्रफुल्ल कमल था ॥ १९ ॥

जैसे समुद्र अपनी वेलारूपी मर्यादाका पालन करता है, कभी उसका उलङ्घन नहीं करता, वैसे ही वह अपनी वर्णाश्रममर्यादाका पालन करता था, जैसे सूर्य अन्धकारका विनाशक है, वैसे ही वह अपने शत्रुओंका विनाशक था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनीको (कुईंको) प्रफुल्लित करता है, वैसे ही वह अपनी सहधर्मिणीरूपी कुमुदिनीको प्रफुल्लित (प्रसन्न) रखता था, जैसे अग्नि तिनकोंको भस्म कर देती है वैसे ही वह दोषोंका शत्रु था, जैसे सुमेरु पर्वत देवताओंका आश्रय (निवासस्थान) है

संग्रामवीरुत्पवनो मनोमातङ्गकेसरी ।
समस्तविद्यादयितः सर्वाश्चर्यगुणाकरः ॥ २२ ॥
सुरारिसागरक्षोभविलसन्मन्दराचलः ।
विलासपुष्पौघमधुः सौभाग्यकुसुमायुधः ॥ २३ ॥
लीलालतालास्यमरुत् साहसोत्साहकेशवः ।
सौजन्यकैरवशशी दुर्लीलावल्लिकानलः ॥ २४ ॥
तस्याऽस्ति सुभगा भार्या लीला नाम विलासिनी ।
सर्वसौभाग्यवलिता कमलेवोदिताऽवनौ ॥ २५ ॥

वैसे ही वह विद्वद्वृन्दका आश्रय था, संसाररूपी सागरमें उसके यशरूपी चंद्रमाकी चाँदनी सदा छिटकी रहती थी, जैसे मानसरोवर हंसोंका आवासस्थान है, वैसे ही वह दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणोंका आवास था, जैसे निर्मल (मेघमुक्त) सूर्य कमलोंको विकसित कर देता है, वैसे ही वह कमलाको (राजलक्ष्मीको) विकसित करता था यानी उत्कर्षको पहुँचता था, जैसे वायु लताओंको कँपा देता है, वैसे ही वह संग्रामभूमिमें लतातुल्य अपने शत्रुओंका हृदय दहला देता था, अतएव वह रणगर्वित शत्रुके मनरूपी हाथीके मर्दनमें सिंहसदृश था [अथवा जैसे सिंह हाथीको अपने चंगुलमें कर लेता है, वैसे ही वह अपने मनको अपने वशमें रखनेवाला था], वह सम्पूर्ण विद्याओंका प्यारा था और सम्पूर्ण चमत्कारमय गुणोंका आकर (खान) था । जैसे समुद्रमथनके समय घूम रहे (नाच रहे) मन्दराचलने समुद्रको विक्षुब्ध (विलोडित) कर दिया था, वैसे ही उसने दैत्योंकी सेनाको अनेक बार विक्षुब्ध कर दिया था (मथ डाला था), जैसे वसन्त ऋतु विविध प्रकारके फूलोंकी जननी है, वैसे ही वह विविध विलासोंका जनक था और था सुन्दरतामें दूसरा कामदेव, जैसे वायु लताके मन्द-मन्द नर्तनका हेतु है, वैसे ही वह विविध लीलाओंके विलासका हेतु था, जैसे भगवान् श्रीहरिने अन्य लोगोंसे असाध्य पृथिवीका उद्धार आदि कठिन कार्य किये थे, वैसे ही अन्य लोगोंसे असाध्य कठिनातिकठिन कार्य करनेमें वह कटिबद्ध रहता था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनीको विकसित करता है, वैसे ही वह सज्जनताको विकसित करता था और जैसे अग्नि तुच्छ लताओंको जला डालती है, वैसे ही वह दुष्टतारूपी विषलताओंका दाहक था ॥ १९–२४ ॥

राजा पद्मकी स्त्रीका नाम लीला था । वह वनितोचित सम्पूर्ण विलासोंमें दक्ष

सर्वानुवृत्तिललिता लीला मधुरभाषिणी ।
सानन्दमन्दचलिता द्वितीयेन्दूदयस्मिता ॥ २६ ॥
अलकालिमनोहारिवदनाम्भोजशालिनी ।
सिताङ्गी कर्णिकागौरी जङ्गमेव सरोजिनी ॥ २७ ॥
लताविलासकुन्दौघभासिनी रसशालिनी ।
प्रवालहस्ता पुष्पाभा मधुश्रीरिव देहिनी ॥ २८ ॥
अवदाततनुः पुण्या स्पर्शनाह्लादकारिणी ।
गङ्गेव गां गता देहवती हंसविलासिनी ॥ २९ ॥

और बड़ी सुन्दरी थी । वनिताओंके सम्पूर्ण सौभाग्य उसे प्राप्त थे, अतएव वह पृथिवीमें अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी थी । लीला पतिसेवाके जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण थी और थी बड़ी मधुरभाषिणी । उसका आनन्दपूर्वक मन्द-मन्द गमन था और था दूसरे चन्द्रमाके उदयके सदृश उज्ज्वल हास । उसका कमल-सा मुंह भ्रमर ऐसे अलकोंसे अति मनोहर लगता था, उसका शरीर बड़ा गौर था और उसमें कानके आभूषणोंकी दीप्तिसे पीली छटा छटकती थी, अतएव वह कर्णिकासे (कमलके बीचके हिस्सेसे) पीली तथा चलने-फिरनेवाली सफेद कमलिनी-सी प्रतीत होती थी । वह मूर्तिमती वसन्तशोभा-सी थी । जैसे वसन्तशोभा लताओंके विलासरूपी कुन्दनामक फूलोंके समूहसे देदीप्यमान रहती है, वैसे ही वह भी लताओंके विलासरूपी कुन्दनामक फूलोंके समूहके तुल्य शुभ्र दांतोंसे देदीप्यमान थी, जैसे वसन्तशोभा रसशालिनी (फूलोंके रस शहदसे शोभित होनेवाली होती है, वैसे ही वह भी रसशालिनी (अपने पतिपर अत्यधिक प्रेमसे शोभित होनेवाली) थी, जैसे वसन्तशोभा प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (प्रवाल—पल्लव—ही जिसके हाथ हैं और पुष्प ही जिसकी कान्ति है) होती है वैसे ही वह भी प्रवालहस्ता और पुष्पाभा (पल्लवके सदृश रक्त हाथवाली और फूलोंकी कान्तिकी नाईं कान्तिवाली थी ॥ २८ ॥

जैसे गङ्गाजीका जल अतिनिर्मल होता है, वैसे ही उसकी देह निर्मल थी, जैसे ब्रह्मद्रवस्वरूप गङ्गाजलके स्पर्शसे आनन्द (जन्ममरणजनित क्लेशसे मुक्ति) होता है, वैसे ही उसके स्पर्शसे आनन्द होता था, गङ्गाजलके समान वह पवित्र थी और जैसे गङ्गाजी हंसविलासिनी (जिसमें हंस क्रीड़ा करते हैं) हैं, वैसे ही

तस्य भूतलपुष्पेषोः सकलाह्लाददायिनः ।
परिचर्यां चिरं कर्तुमन्या रतिरिवोदिता ॥ ३० ॥
उद्विग्ने प्रोद्विग्ना मुदिते मुदिता समाकुलाऽऽकुलिते ।
प्रतिबिम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥ ३१ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मण्डपो-
पाख्याने राजवर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १८ ॥

—o—

वह भी हंसविलासिनी (हंसगति) थी, अतएव वह भूमिमें अवतीर्ण मूर्तिमती गङ्गाजी ही थी ॥ २९ ॥

सबको आनन्द देनेवाला राजा पद्म भूतलका कामदेव * था, उसकी चिर-काल तक सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए मानो वह दूसरी रति उत्पन्न हुई थी॥ ३०॥

पतिपरायणा लीला राजाके दुःखमें दुःखी होती थी, सुखमें सुखी होती थी, राजाके चिन्तायुक्त होनेपर चिन्तायुक्त होती थी, सचमुच वह राजाके प्रतिबिम्बके सदृश थी, परन्तु जब कभी राजा क्रुद्ध होते थे, तो वह केवल भयभीत ही होती थी, क्रुद्ध नहीं होती थी एकमात्र इसी अंशमें उसमें प्रतिबिम्बतुल्यता न थी॥३१॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

—(:*:)—

* राजा पद्म सौन्दर्यमें कामदेवके तुल्य था, पर कामदेव वियोगियोंको दुःख देता है, वह सभीको आनन्द देता था, इससे वह कामदेवसे विशिष्ट था ।

षोडशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

भूतलाप्सरसा सार्धमनन्यदयितापतिः ।
अकृत्रिमप्रेमरसं स रेमे कान्तया तया ॥ १ ॥
उद्यानवनगुल्मेषु तमालगहनेषु च ।
पुष्पमण्डपरम्येषु लतावलयसद्मसु ॥ २ ॥
पुष्पान्तःपुरशय्यासु पुष्पसंभारवीथिषु ।
वसन्तोद्यानदोलासु क्रीडापुष्करिणीषु च ॥ ३ ॥
चन्दनद्रुमशैलेषु सन्तानकतलेषु च ।
कदम्बनीपगेहेषु पारिभद्रोदरेषु च ॥ ४ ॥
विकसत्कुन्दमन्दारमकरन्दसुगन्धिषु ।
वसन्तवनजालेषु कूजत्कोकिलपक्षिषु ॥ ५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

[कितने ही विषयोंका भोग क्यों न किया जाय, पर उनसे तृप्ति कदापि नहीं हो सकती और अन्तमें दुःख ही रहता है । यदि देवता भी चाहे कि विषयभोगसे तृप्ति हो और दुःख शेष न रहे, तो वे भी इस विषयमे सफल नहीं हो सकते औरोंकी बात ही क्या है ?]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला बड़ी पतिपरायणा नारी थी, पतिके सिवा अन्य किसीमें उसका प्रेम न था । उस अनन्यप्रिया नारीके पति राजा पद्मने भूतलकी अप्सरा अपनी लीलाके साथ प्रेमपूर्वक नीचे कहे जानेवाले उद्यान आदि विविध स्थानोंमें खूब विहार किया । ऐसा विहार कि जिसमें बनावटी प्रेमकी गन्ध भी न थी । वाटिका-बगीचोंके निकुञ्जोंमें, तमालके घने वनोंमें, लताओंसे वेष्टित महलोंमें, जो कि फूलोंसे अच्छादित होनेसे बड़े रमणीय लगते थे, अन्तःपुरमें सजी फूलोंकी सेजोंमें, विविध प्रकारके फूलोंसे सुशोभित गलियोंमें, वसन्त ऋतुमें बगीचोंमें डाले गये हिंडोलोंमें, जल-क्रीड़ाके लिए बने हुए पोखरोंमें, चन्दन-वृक्षोंसे अलङ्कृत पर्वतोंमें, सन्तानक वृक्षोंकी (एक प्रकारके कल्प-वृक्षोंकी*),छायामें,कदम्ब वृक्षोंके मुरझुटरूपी घरोंमें, नीबकी सुखद छायामें, कोकिलकी

* उक्त कल्पवृक्ष राजा पद्मको अपने प्रभावसे या इन्द्रके प्रसादसे प्राप्त हुए थे ।

नानारण्यतृणानां च स्थलेषु मृदुदीप्तिषु ।
निर्झरेषु तरत्तारसीकरासारवर्षिषु ॥ ६ ॥
शैलानां मणिमाणिक्यशिलानां फलकेषु च ।
देवर्षिमुनिगेहेषु दूरपुण्याश्रमेषु च ॥ ७ ॥
कुमुद्वतीषु फुल्लासु स्मेरासु नलिनीषु च ।
वनस्थलीषु कृष्णासु फुल्लासु फलिनीषु च ॥ ८ ॥
सुरतैः सुरतारुण्यैः सुन्दरः सुन्दरेहितैः ।
ईहितैः पेशलान्योन्यघनप्रेमरसाधिकैः ॥ ९ ॥
प्रहेलिकाभिराख्यानैस्तथा चाऽक्षरमुष्टिभिः ।
अष्टापदैर्बहुद्यूतैस्तथा गूढचतुर्थकैः ॥ १० ॥
नाटिकाख्यायिकाभिश्च श्लोकैर्बिन्दुमतिक्रमैः ।
देशकालविभागैश्च नगरग्रामचेष्टितैः ॥ ११ ॥
स्रग्दाममालावलितैर्नानाभरणयोजनैः ।
लीलाविलोलचलनैर्विचित्ररसभोजनैः ॥ १२ ॥

काकलीसे गुलजार और खिले हुए कुन्द और पारिजातके फूलोंकी भीनी सुगन्धसे मनको हरनेवाले वसन्त ऋतुके वनोंमें, अनेक वनोंके मुलायम तृणोंसे आच्छन्न मैदानोंमें, इधर-उधर छनक रहे बड़े-बड़े जलकणोंकी तेजवृष्टि करनेवाले झरनोंमें, अनेक पर्वतोंके मणि, माणिक्यमय शिलाखण्डोंमें, देवता और ऋषियोंके आवासभूत दूर-दूरके पवित्र आश्रमोंमें, चाँदनीसे संफुल्ल कुमुद्वतियों (खिली कुईसे भरे तालाबोंमें), सूर्यातपसे विकसित कमलिनियोंमें (कमलके तालाबोंमें), काले कालीनके समान मृदु दूर्वाङ्कुरोंसे आच्छन्न, भाँति भाँतिके फूलोंसे व्याप्त तथा विविध फलोंसे लदे वृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें सुरतोंसे, विविध विषयोंके अभिलाषोंसे, आपसके निबिड़ प्रेम-रससे प्रचुरमात्रामें होनेवाले हावभावोंसे, ग्रामीण किस्से-कहानियोंसे, ऐतिहासिक उपाख्यानोंसे, पासा, चौपड़, शतरञ्ज आदि विविध प्रकारसे द्यूतोंसे, नाटिकाओं, आख्यायिकाओं और विद्वानोंकी ही समझमें आनेवाले (गूढ़ाशय) श्लोकोंकी रचनाओंसे; देश-कालके विभागसे, नगर और ग्रामजनोंकी चेष्टाओंके अनुकरणसे, विविध मालाओंके वेष्टनोंसे, अङ्गोंमें भाँति-भाँतिके आभरणोंके विन्याससे, विलास-पूर्वक चञ्चल गमनोंसे, विचित्ररसवाले भोजनोंसे, आर्द्र कुङ्कुम (केसर) और

आर्द्रकुङ्कुमकर्पूरताम्बूलीदलचर्वणैः ।
फुल्लपुष्पलतागुञ्जादेहगोपनखत्रणैः ॥ १३ ॥
समालम्भनलीलाभिर्मालाप्रहरणक्रमैः ।
गृहे कुसुमदोलाभिरन्योन्यं दोलनक्रमैः ॥ १४ ॥
नौयानयुग्महस्त्यश्वदान्तोष्ट्रादिगमागमैः ।
जलकेलिविलासेन परस्परसमुत्क्षणैः ॥ १५ ॥
नृत्यगीतकलालास्यतालताण्डवमण्डनैः ।
सङ्गीतकैः संकथनैर्वीणामुरजवादनैः ॥ १६ ॥
उद्यानेषु सरित्तीरवृक्षेषु वरवीथिषु ।
अन्तःपुरेषु हर्म्येषु फुल्लदोलावदोलनैः ॥ १७ ॥
सा तथा सुखसंवृद्धा तस्य प्रणयिनी प्रिया ।
एकदा चिन्तयामास सुभ्रूः सङ्कल्पशालिनी ॥ १८ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियो भर्त्ता ममैष जगतीपतिः ।
यौवनोल्लासवान् श्रीमान् कथं स्यादजरामरः ॥ १९ ॥
भर्त्राऽनेन सहोत्तुङ्गस्तनी कुसुमसद्मसु ।
कथं स्वैरं चिरं कान्ता रमे युगशतान्यहम् ॥ २० ॥

कर्पूरसे युक्त ताम्बूलोंके चर्वणोंसे, फूलों, लताओं और गुञ्जाओंसे जिनमें देहका आच्छादन किया जाता है ऐसे नखक्षतोंसे, दौड़कर एक दूसरेको छूना आदि नाना क्रीड़ाओंसे, माला द्वारा परस्पर प्रहार करनेसे, घरमें पुष्पोंसे सुशोभित हिंडोलोंमें अन्योन्य झूलनेसे, नौकाविहार, हाथी, घोड़ों और शिक्षित ऊटोंकी सवारीसे, जलक्रीडासे, आपसमें एक दूसरेपर जल-प्रक्षेपसे, नृत्य, गीत, लास्य तथा ताण्डवसे विभूषित और वीणा, ढोल आदि वादनसे युक्त सङ्गीतकों, गीत, कथा और आलापोंसे तथा उद्यानोंमें, नदीतीरके वृक्षोंमें, सुन्दर वीथियोंमें, अन्तःपुरमें और महलमें फूलोंसे सुसज्जित दोलाओं द्वारा झूलनेसे देवताओंकी तरुणताके सदृश तरुणतासे सुन्दर राजा पद्मने भूतलकी अप्सरा लीलाके साथ प्रेमपूर्वक विहार किया ॥ १–१७ ॥

इस प्रकार सुखमें पली हुई और राजा पद्मके प्राणोंसे भी प्रिय मृगाक्षी लीलाने एक समय विचार किया कि यह युवा और अत्यधिक सुन्दर पृथ्वीपति मेरा प्राणोंसे भी प्रिय पति है, यह कैसे अजर और अमर हो ? विशालस्तनवाली मैं फूलोंकी सेजसे

तथा यते यत्नमतस्तपोजपयमेहितैः ।
रजनीशमुखो राजा यथा स्यादजरामरः ॥ २१ ॥
ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् विद्यावृद्धानहं द्विजान् ।
पृच्छामि तावन्मरणं कथं न स्यान्नृणामिति ॥ २२ ॥
इत्यानीयाऽथ संपूज्य द्विजान्प्रपच्छ सा नता ।
अमरत्वं कथं विप्रा भवेदिति पुनः पुनः ॥ २३ ॥

विप्रा ऊचुः

तपोजपयमैर्देवि समस्ताः सिद्धसिद्धयः ।
संप्राप्यन्तेऽमरत्वं तु न कदाचन लभ्यते ॥ २४ ॥
इत्याकर्ण्य द्विजमुखाच्चिन्तयामास सा पुनः ।
इदं स्वप्रज्ञयैवाऽऽशु भीता प्रियवियोगतः ॥ २५ ॥
मरणं भर्तुरग्रे मे यदि दैवाद्भविष्यति ।
तत्सर्वदुःखनिर्मुक्ता संस्थास्ये सुखमात्मनि ॥ २६ ॥
अथ वर्षसहस्रेण भर्त्ताऽऽदौ चेन्मरिष्यति ।
तत्करिष्ये यथा येन जीवो गेहान्न यास्यति ॥ २७ ॥

सुशोभित महलोंमें इसके साथ सैकड़ों युगोंतक अपनी इच्छाके अनुसार कैसे विहार करूँ ? आजसे लेकर तप, जप, यम-नियम आदि कर्मोंसे मैं वैसा प्रयत्न करती हूँ जैसे कि यह चन्द्रवदन राजा अजर और अमर हो जाय ॥ १८—२१ ॥

मैं ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी और विद्यावृद्ध ब्राह्मणोंसे पूछती हूँ कि मनुष्योंका मरण कैसे नही होगा, ऐसा विचार कर उसने ज्ञानी वृद्ध विद्वानोंको बुलाया और उनकी पूजा कर उसने बड़े विनयसे बार बार पूछा—पूज्यवृन्द, मेरा और मेरे पतिका अमरत्व कैसे होगा ॥ २२,२३ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—देवि, तप, जप, यम-नियमोंसे सिद्धोंकी सम्पूर्ण सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, पर अमरत्व कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ २४ ॥

ब्राह्मणोंके मुखसे यह बात सुनकर अपने प्रियके वियोगसे भयभीत लीलाने अपनी बुद्धिसे ही फिर यह बात विचारी कि यदि दैवात् पतिसे पहले मेरा शरीर छूट गया, तो मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे निर्मुक्त होकर आत्मामें सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी । यदि मेरा पति हजारवर्षके बाद मुझसे पहले मर गया, तो मैं वैसा प्रयत्न करूँगी जैसे कि उसका जीव घरसे बाहर नहीं जा सकेगा ॥ २५—२७ ॥

तद्भ्रमद्भर्तृजीवेऽस्मिन्निजे शुद्धान्तमण्डपे ।
भर्त्रा विलोकिता नित्यं निवत्स्यामि यथासुखम् ॥ २८ ॥
अद्यैवाऽऽरभ्यैतदर्थं देवीं ज्ञप्तिं सरस्वतीम् ।
जपोपवासनियमैरातोषं पूजयाम्यहम् ॥ २९ ॥
इति निश्चित्य सा नाथमनुक्त्वैव वराङ्गना ।
यथाशास्त्रं चचारोग्रं तथा नियममास्थिता ॥ ३० ॥
त्रिरात्रस्य त्रिरात्रस्य पर्यन्ते कृतपारणा ।
देवद्विजगुरुप्राज्ञविद्वत्पूजापरायणा ॥ ३१ ॥
स्नानदानतपोध्याननित्योद्युक्तशरीरिका ।
सर्वास्तिक्यसदाचारकारिणी क्लेशहारिणी ॥ ३२ ॥

मेरे पतिका जीव जिसमें घूमता रहे, ऐसे अन्तःपुरके मण्डपमें सदा भर्ता द्वारा देखी जाती हुई मैं सुखपूर्वक निवास करूँगी ॥ २८ ॥

अपने इस सङ्कल्पकी सिद्धिके लिए आजसे ही मैं ज्ञानरूपा सरस्वती देवीका जप, तप आदिसे, जबतक वह प्रसन्न न हो, पूजन करती हूँ ॥ २९ ॥

ऐसा विचार करके वह सुन्दरी अपने पतिसे पूछे बिना ही विधिपूर्वक * उग्र तपस्या करने लगी ॥ ३० ॥

तीसरी-तीसरी रातके बाद वह सदा पारणा करती थी, देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी लोगोंकी पूजामें तत्पर रहती थी ॥ ३१ ॥

इस कर्मका फल अवश्य होगा, ऐसी आस्तिकबुद्धि और सदाचारसे सम्पन्न तथा क्लेशका निवारण करनेवाली लीलाने अपने शरीरको स्नान, दान, तपस्या और ध्यानमें सदा तत्पर कर दिया ॥ ३२ ॥

---

* या स्त्री भर्त्राऽननुज्ञाता उपवासव्रतं चरेत् ।
आयुष्य हरते भर्तुर्मृता नरकमृच्छति ॥

(जो स्त्री पतिकी आज्ञाके बिना उपवास व्रत करती है, वह पतिकी आयुको हरती है और मर कर नरकमें गिरती है) इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्त्रीका पतिकी आज्ञा प्राप्त किये बिना उपवासव्रत आदि निन्दित है, अतः उसे यथाशास्त्र (विधिपूर्वक) कैसे कहा ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा सदा भर्तृहितं चरेत् । व्रतोपवासानियमैरुपचारैश्च लौकिकैः ॥' (स्त्री प्रत्यक्षमें अथवा परोक्षमें व्रत, उपवास, नियम और लौकिक उपचारोंसे सदा पतिका हित करे) इस स्मृतिके अनुसार यह सिद्ध है कि उक्त शास्त्रमें कही गई निन्दा पतिहितसे अतिरिक्त अपने काम्य उपवासोंके लिए है, अतः कोई दोष नहीं है ।

यथाकालं यथोद्योगं यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
तोषयामास भर्त्तारमपरिज्ञातसंस्थितिः ॥ ३३ ॥
त्रिरात्रशतमेवं सा बाला नियमशालिनी ।
अनारतं तपोनिष्ठामतिष्ठत् कष्टचेष्टया ॥ ३४ ॥
त्रिरात्राणां शते चाऽथ पूजिता प्रतिमानिता ।
तुष्टा भगवती गौरी वागीशा समुवाच ताम् ॥ ३५ ॥

सरस्वत्युवाच ।

निरन्तरेण तपसा भर्तृभक्त्यतिशालिना ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से गृहाण वरमीप्सितम् ॥ ३६ ॥

राज्ञ्युवाच

जय जन्मजराज्वालादाहदोषशशिप्रभे ।
जय हार्दान्धकारौघनिवारणरविप्रभे ॥ ३७ ॥

वह पहले जैसे समयमें, जैसी लगनसे, जैसी शास्त्रकी विधिके अनुसार और जैसे क्रमसे पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती थी, उसमें किसी प्रकारका हेर फेर किये बिना पतिको सन्तुष्ट करती गई । लेकिन उसने पतिपर अपने उपवासका भेद प्रकट नहीं किया ॥ ३३ ॥

इस तरह नियमपूर्वक रह कर पतिपरायणा उस नारीने जबतक सौ त्रिरात्रव्रत पूर्ण नहीं हुए तबतक लगातार क्लेशके साथ तपस्या की । सौ त्रिरात्रव्रतोंकी पूर्ति होनेपर लीला द्वारा अर्घ्य, पाद्य, स्नान, गन्ध, पुष्प आदि बाहरी उपचारोंसे पूजित और ध्यान आदि भीतरी उपचारोंसे सत्कृत भगवती सरस्वतीने प्रसन्न होकर उससे कहा ॥ ३४, ३५ ॥

सरस्वतीने कहा—वत्से, तुम्हारी अविच्छिन्न (अटूट) और पतिभक्तिसे ओतप्रोत (सराबोर) तपश्चर्यासे मैं तुमपर अति प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें जिस वस्तुकी चाह हो, वह मुझसे लो ।

रानीने कहा—भगवती, आप जन्म और जरारूपी अग्निकी ज्वालाओंसे उत्पन्न सन्तापरूपी रोगको दूर करनेके लिए शीतल चन्द्रकान्ति (चाँदनी) रूप हैं, आपकी जय हो यानी आपके चरणोंमें मेरा विनम्र प्रणाम है । माता, आप निबिड हृदयान्धकार (अज्ञान) रूपी अन्धकारका विनाश करनेमें सूर्य-प्रकाशके

अम्ब मातर्जगन्मातस्त्रायस्व कृपणामिमाम् ।
इदं वरद्वयं देहि यदहं प्रार्थये शुभे ॥ ३८ ॥
एकं तावद्विदेहस्य भर्तुर्जीवो ममाऽम्बिके ।
अस्मादेव हि मा यासीन्निजाऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३९ ॥
द्वितीयं त्वां महादेवि प्रार्थयेऽहं यदा यदा ।
दर्शनाय वरार्थाय तदा मे देहि दर्शनम् ॥ ४० ॥
इत्याकर्ण्य जगन्माता तवाऽस्त्वेवमिति स्वयम् ।
उक्त्वाऽन्तर्द्धानमगमत् प्रोत्थायोर्मिरिवाऽर्णवे ॥ ४१ ॥
अथ सा राजमहिषी परितुष्टेष्टदेवता ।
श्रुतगीतेव हरिणी बभूवाऽऽनन्दधारिणी ॥ ४२ ॥
पक्षमासर्तुकटके दिनारे वर्षदण्डके ।
क्षणनाभौ स्पन्दमये कालचक्रे वहत्यथ ॥ ४३ ॥

तुल्य हैं। माँ, हे सारे जगत्‌की माँ, मैं बड़ी दीन-हीन हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। हे देवी, ये दो वर मुझे दीजिये, जिनकी मै आपसे प्रार्थना करती हूँ। माँ, उनमें से पहला वर तो यह कि जब मेरे पतिदेवका शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इसी अन्तःपुरके प्रसादसे बाहर न जाय। हे महादेवी, दूसरा यह कि जब जब वरदानके लिए आपके दर्शनोंकी मैं प्रार्थना करूँ, तब तब आप मुझे दर्शन दें ॥ ३६, ४० ॥

यह सुनकर जगत्‌की माँ देवी सरस्वती, जैसा तुम चाहती हो तुम्हारी इच्छानुसार वैसा ही हो, ऐसा स्वयं कह कर, जैसे समुद्रमें लहर उठ कर विलीन हो जाती है, वैसे ही अन्तर्हित हो गई ॥ ४१ ॥

इष्ट देवीके सन्तुष्ट होनेके उपरान्त वह राजमहिषी जैसे गीत सुननेसे हिरनी मारे खुशीके फूली नहीं समाती, वैसे ही मारे खुशीके आनन्दसे विभोर हो गई ॥ ४२ ॥

पक्ष (पखवाड़ा) जिसका नेमिकटक (अन्तिम गोलाकार हिस्सा) है, मास (महीना) जिसका मध्यकटक (बीचका गोलाकार हिस्सा) है और ऋतु जिसका नाभिकटक (बीचके भी बीचका गोलाकार हिस्सा) है, दिन जिसके अर हैं यानी पहियेमें लगी तिरछी सीकचें हैं और वर्ष जिसका अक्षदण्ड है और क्षण जिसकी

अन्तर्द्धिमाजगामाऽस्याः पत्युस्तच्चेतनं तनौ ।
संदृश्यमानमेवाऽऽशु शुष्कपत्ररसो यथा ॥ ४४ ॥
रणखण्डितदेहेऽस्मिन् मृतेऽन्तःपुरमण्डपे ।
निर्जला नलिनीवाऽसौ परां म्लानिमुपाययौ ॥ ४५ ॥
विषोष्णश्वसनध्वस्तसकलाधरपल्लवा ।
प्राप सा मरणावस्थां सशल्येव मृगी यथा ॥ ४६ ॥
प्राप सा तमसाऽन्धत्वं तस्मिन् मरणमागते ।
दीपज्वालालवे क्षीणे सद्मश्रीरिव भूषिता ॥ ४७ ॥
काश्र्यमाप क्षणेनाऽसौ बाला विरसतां गता ।
यथा स्रोतस्विनी स्रोतःक्षये क्षारविधूसरा ॥ ४८ ॥
क्षिप्रमाक्रन्दिनी क्षिप्रं मौनमूका वियोगिनी ।
बभूव चक्रवाकीव मानिनी मरणोन्मुखी ॥ ४९ ॥

नाभि (बीचका छेद) है, ऐसे वेगगामी कालरूपी चक्र (पहिये) के चलनेपर अर्थात् क्षण, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्षके क्रमसे काल बीतनेपर सूखे पत्तेके रसके समान उसके पतिकी चेतना देखते ही देखते शरीरमें अन्तर्हित हो गई ॥ ४३, ४४ ॥

रणभूमिमें शत्रुओंके प्रहारोंसे घायल राजा अन्तःपुरमें मर गया। राजाके मरनेपर रानी लीला जैसे जल न रहनेसे कमलिनी मुर्झा जाती है, वैसी ही अत्यन्त मुर्झा गई, म्लानवदन हो गई ॥ ४५ ॥

विषके तुल्य उष्ण निःश्वाससे उसका किसलयसदृश अधर कुम्हला गया, वह बेचारी बाणसे विद्ध होनेके कारण छटपटा रही हिरनीके समान मरणावस्थाको प्राप्त हो गई ॥ ४६ ॥

जैसे पहले दीपकके प्रकाशसे सुशोभित घर दीपकके बुत जानेपर अन्धकारसे व्याप्त हो जाता है, वैसे ही राजाके मर जानेपर रानी लीला अत्यन्त शोकाकुल हो गई ॥४७॥

जैसे प्रवाहके सूख जानेपर नदी क्षीण हो क्षारसे यानी रेहसे धूसर हो जाती है, वैसे ही पतिके नष्ट होनेपर वह सुन्दरी हतप्रभ हो क्षण भरमें कृश हो गई ॥ ४८ ॥

पहले पतिका सन्मान करनेवाली और पतिकी मृत्युसे मरनेको तयार वह वियो-

अथ तामतिमात्रविह्वलां सकृपाऽऽकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवाऽन्वकम्पत ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मण्डपोपाख्याने
राज्ञीपरिदेवनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

शवीभूतमिमं वत्से भर्तारं पुष्पपुञ्जके ।
आच्छाद्य स्थापयैनं त्वं पुनर्भर्त्तारमेष्यसि ॥ १ ॥
पुष्पाणि म्लानिमेष्यन्ति नो न चैष विनङ्क्ष्यति ।
भूयश्च तव भर्तृत्वमचिरेण करिष्यति ॥ २ ॥
एतदीयश्च जीवोऽसावाकाशविशदस्तव ।
न निर्गमिष्यति क्षिप्रमितोऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३ ॥

गिनी बाला चकवीकी नाईं क्षणमें विलाप करती और क्षणमें मूक हो जाती थी ॥४९॥

तदुपरान्त जैसे तालाबके सूखनेसे व्याकुल हुई मछलीके ऊपर ग्रीष्मके अन्तमें हुई पहली वृष्टि कृपा करती है, वैसे ही पतिकी मृत्युसे अत्यन्त व्याकुल रानी लीलाके ऊपर आकाशवाणीने कृपा की, कारण कि पहले अनेक जन्मोंसे आराधित होनेके कारण वह उसके ऊपर कृपालु थी ॥ ५० ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

[अन्वय और व्यतिरेक द्वारा नूतन (वर्तमान) और प्राक्तन (पूर्वजन्मकी) सृष्टियोंकी, केवल मनोविलासरूप होनेसे, तुल्यताका प्रतिपादन]

सरस्वतीने कहा—वत्से, अपने पतिके शवको फूलोंके ढेरमें छिपाकर रक्खो । ऐसा करनेसे फिर तुम इस पतिको प्राप्त करोगी ॥ १ ॥

न तो फूल ही मुर्झाएँगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही विनष्ट होगा यानी सड़ेगा या सूखेगा । फिर यह थोड़े दिनोंमें तुम्हारा स्वामी बन जायगा ।

षट्पदश्रेणिनयना समाकर्ण्येति बन्धुभिः ।
सा समाश्वासिताऽऽगत्य पयोभिरिव पद्मिनी ॥ ४ ॥
पतिं संस्थाप्य तत्रैव पुष्पपूरप्रगोपितम् ।
किञ्चिदाश्वासिताऽतिष्ठद्दरिद्रेव निधानिनी ॥ ५ ॥
तस्मिन्नेव दिने सैषा तस्मिञ्छुद्धान्तमण्डपे ।
अर्द्धरात्रे परिजने सर्वस्मिन्निद्रया हृते ॥ ६ ॥
ज्ञप्तिं भगवतीं देवीं शुद्धध्यानमहाधिया ।
दुःखादाह्वाययामास सोवाच समुपेत्य ताम् ॥ ७ ॥
किं स्मृताऽस्मि त्वया वत्से धत्से किमिति शोकिताम् ।
संसारभ्रान्तयो भान्ति मृगतृष्णाम्बुवन्मुधा ॥ ८ ॥

और इसका जीव, जो कि आकाशकी नाईं निर्मल है, तुम्हारे अन्तःपुरके प्रासादसे शीघ्र बाहर नहीं निकलेगा ॥ २, ३ ॥

आकाशवाणीका उक्त वचन सुनकर जैसे जलके सूख जानेसे मुर्झा रही कमलिनीको नई वृष्टिका जल तसली देता है, वैसे ही भ्रमरोंके सदृश नेत्रवाली रानी लीलाके पास आकर उसके बन्धु-बान्धवोंने उसे धैर्य दिया ॥ ४ ॥

फूलोंके ढेरमें प्रच्छन्न अपने पतिके शवको अन्तःपुरमें ही रखकर कुछ धैर्यको प्राप्त हुई रानी लीला निधिसे युक्त होनेपर भी निधिके अपने उपयोगमें न आनेके कारण भोग, ऐश्वर्यसे वञ्चित दरिद्रा-सी रही। भाव यह कि निधिके रहनेपर भी कारणवश उसके उपयोगमें न आनेके कारण जैसे निधानिनी दरिद्रा (भोगैश्वर्यसे वञ्चित) रहती है, वैसे ही पतिके रहनेपर भी निश्चेष्ट होनेके कारण उपयोगमें न आनेसे वह भोगैश्वर्यसे वञ्चित रही ॥ ५ ॥

लीलाने मारे क्लेशके उसी दिन अर्धरात्रिमें, जब कि सभी परिजन घोर निद्रामें सोये थे, उसी अन्तःपुरके प्रासादमें शुद्ध ध्यानसे युक्त अन्तःकरणसे ज्ञान-रूपिणी सरस्वती देवीका आवाहन किया। देवीने उसके पास आकर उससे कहा—वत्से, तुमने मेरा स्मरण क्यों किया और क्यों तुम इतनी शोकाकुल हो रही हो? दुःखके कारण ये संसाररूपी भ्रम, मृगतृष्णामें जलकी नाईं, मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, यानी जैसे मृगतृष्णामें जलप्रतीति मिथ्या है, वैसे ही ये दुःखजनक संसाररूपी भ्रम मिथ्या हैं ॥ ६—८ ॥

लीलोवाच

क्व ममाऽवस्थितो भर्ता किं करोत्यथ कीदृशः ।
समीपं नय मां तस्य नैका शक्नोमि जीवितुम् ॥ ९ ॥

श्रीदेव्युवाच

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने ॥ १० ॥
तच्चिदाकाशकोशात्म चिदाकाशैकभावनात् ।
अविद्यमानमप्याशु दृश्यतेऽथाऽनुभूयते ॥ ११ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमिषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ॥ १२ ॥

लीलाने कहा—देवी, मेरे पति कहाँ हैं, क्या करते हैं और कैसे हैं, यानी सुखी हैं या दुःखी ? मुझे आप उनके समीप ले चलिये । मैं उनके बिना अकेले नहीं जी सकती ॥ ९ ॥

इस लोककी कल्पनाके समान परलोककी कल्पनाका भी अधिष्ठान केवल चित् ही है, यह दिखलानेके लिए देवी सरस्वती चिदाकाशको चित्ताकाश और भूताकाशसे पृथक्कर दिखलाती है—'**चित्ता०**' इत्यादिसे ।

सरस्वतीजीने कहा—सुन्दरी, एक वासनामय चित्ताकाश है, दूसरा शुद्ध चिदाकाश है और सुप्रसिद्ध व्यावहारिक भूताकाश तीसरा है । इन दोनोंसे सर्वथा शून्यको तुम चिदाकाश जानो यानी इन दोनोंकी सन्धिमें दोसे शून्य चिदाकाश स्पष्टरूपसे लक्षित होता है ॥ १० ॥

उक्त चिदाकाश ही अपना आवरण करनेवाले अज्ञानसे सङ्कलित होकर जब प्रतीन होता है, तब वही मिथ्याभूत जगत्-रूपसे शीघ्र दिखलाई देता है, वही दुःख आदिका अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं—'**तच्चिदा०**' इत्यादिसे ।

तुमने जो अपने पतिके रहनेका स्थान आदि पूछा है, वह वस्तुतः चिदाकाश-कोशरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । अतः चिदाकाशका एकाग्र मनसे जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होता हुआ भी वह यहींसे शीघ्र दिखाई देता है और वहाँ जाकर उसका अनुभव भी किया जाता है ॥ ११ ॥

देवी उसके लिए चिदाकाशका परिचय कराती हैं—'**देशात्**' इत्यादिसे ।

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसङ्कल्पा स्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम् ॥ १३ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्त्या जगतश्चैतदाप्यते ।
नाऽन्यथा मद्वरेणाऽऽशु त्वं तु प्राप्स्यसि सुन्दरि ॥ १४ ॥
वसिष्ठ उवाच
इत्युक्त्वा सा ययौ देवी दिव्यमात्मीयमास्पदम् ।
लीला तु लीलयैवाऽसीन्निर्विकल्पसमाधिभाक् ॥ १५ ॥
तत्तत्याज निमेषेण साऽन्तःकरणपञ्जरम् ।
स्वदेहं खमिवोड्डीना मुक्तनीडा विहङ्गमी ॥ १६ ॥

हे सुभगे, संवित्के एक पलकमें एक देशसे दूसरे देशको प्राप्त होनेपर संवित्का जो मध्य है, उसीको तुम चिदाकाश जानो * ॥ १२ ॥

अतः तुम्हारा चिदाकाशकी प्राप्ति ही चिदाकाशरूपसे स्थित पतिके समीपमें गमन है, क्योंकि उसीमें तुम्हारे पतिका परलोक कल्पित है, इस अभिप्रायसे देवी कहती हैं—'**तस्मिन्निरस्त०**' इत्यादिसे ।

भद्रे, यदि तुम सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका परित्याग कर उक्त चिदाकाशमें ही मनको एकाग्र करती हो, तो तुम सर्वात्मक उस प्राप्तव्य तत्त्वको अवश्य प्राप्त हो जाओगी ॥ १३ ॥

उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसी आशङ्का होनेपर उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाती हैं—'**अत्यन्त०**' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, उक्त तत्त्व यद्यपि जगत्के अत्यन्ताभावकी प्रतीतिसे ही प्राप्त होता है, अन्यथा प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'नान्य. पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसी श्रुति है । फिर भी तुम मेरे वरसे उसे शीघ्र प्राप्त हो जाओगी ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा कह कर सरस्वती देवी अपने दिव्य लोकको चली गई और लीलाको वरके प्रभावसे अनायास ही निर्विकल्पक समाधि लग गई ॥ १५ ॥

जैसे चिड़िया अपने घोंसलेको छोड़कर आकाशमें उड़ जाती है वैसे ही

---

* विस्तृत व्याख्यान—उ० प्र० ७१९ में देखिये ।

† तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका विनाश होनेपर द्वैतका उदय न होना ही जगत्की अत्यन्ताभावसम्पत्ति है ।

दद‍र्श खस्था भर्तारं तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
संस्थितं पृथिवीपालमास्थाने बहुराजनि ॥ १७ ॥
सिंहासने समारूढं जय जीवेति संस्तुतम् ।
प्रस्तुतं मण्डलानीककार्यमाहर्तुमादृतम् ॥ १८ ॥
पताकामञ्जरीकीर्णराजधानीगृहस्थितम् ।
पूर्वद्वारस्थितासंख्यमुनिविप्रर्षिमण्डलम् ॥ १९ ॥
दक्षिणद्वारगासङ्ख्यराजराजेशमण्डलम् ।
पश्चिमद्वारगासङ्ख्यललनालोकमण्डलम् ॥ २० ॥
उत्तरद्वारगासंख्यरथहस्त्यश्वसङ्कुलम् ।
एकभृत्यविनिर्णीतदक्षिणापथविग्रहम् ॥ २१ ॥
कर्णाटनाथरचितपूर्वदेशक्रियाक्रमम् ।
सुराष्ट्राधिपनिर्णीतसर्वम्लेच्छोत्तरापथम् ॥ २२ ॥

उसने लोहेके पिंजड़ेके समान दुर्भेद्य अन्तःकरणके साथ अपने स्थूल देहका त्याग कर दिया * ॥ १६ ॥

रानीने निर्विकल्प समाधि द्वारा चिदाकाशमें स्थित होकर अपने अन्तःपुरके प्रासादके उस आकाशमें ही अपने पति मृत महाराजको देखा । वह अपनी वासना और कर्मोंके अनुसार शरीर, घर आदि सम्पत्तिसे सम्पन्न था, अनेक राजाओंसे सुशोभित सभामण्डपमें सिंहासनपर आरूढ़ था, बन्दीगण 'आपकी जय हो', 'आप चिरञ्जीव हों' कहकर उसकी स्तुति कर रहे थे, वह उपस्थित राज्य और सेनाका कार्य करनेमें व्यापृत हो रहा था, पताकाओंसे व्याप्त राजधानीके जिस सुन्दर घरमें राजा बैठा था, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनि और श्रेष्ठ ब्राह्मण स्थित थे, दक्षिण दरवाजेपर असंख्य राजा-महाराज थे, पश्चिम दरवाजेपर असंख्य स्त्रियाँ थीं, उत्तर दरवाजेपर असंख्य रथ, हाथी और घोड़ोंकी भीड़ लगी थी । राजाने एक गुप्त चरकी जबानी दक्षिण देशके युद्धकी गति-विधिका निर्णय किया ॥ १७–२१ ॥

सब देशके राजा उसके अधीन थे, यह दर्शाते हैं—**'कर्णाट०'** इत्यादिसे ।

---

* यहाँ देहत्यागसे स्थिर चित्त द्वारा अभिमानका त्याग ही विवक्षित है । मरणके समान बाहर निर्गमन नहीं ।

मालदेशसमाक्रान्तसर्वपाश्चात्यतङ्गणम् ।
दक्षिणाब्धितटायातलङ्कादूतविनोदितम् ॥ २३ ॥
पूर्वाब्धितटमाहेन्द्रसिद्धोक्तगगनापगम् ।
उत्तराब्धितटायातदूतवर्णितगुह्यकम् ॥ २४ ॥
पश्चिमाब्धितटालोकवर्णितास्तमयक्रमम् ।
असङ्ख्यबद्धभूपालकलाकीर्णाखिलाजिरम् ॥ २५ ॥
यज्ञवाटपठद्विप्रजिततूर्याग्रनिस्वनम् ।
बन्दिकोलाहलोल्लासप्रतिश्रुद्वनकुञ्जरम् ॥ २६ ॥
गेयवाद्योद्यतध्वानप्रध्वनद्गगनान्तरम् ।
हयहस्तिरथाराजि रजोमेघघनाम्बरम् ॥ २७ ॥
पुष्पकर्पूरधूपाढ्यं गन्धामोदितपर्वतम् ।
सर्वमण्डलसंभाररचितानेकशासनम् ॥ २८ ॥

कर्णाटक देशाधिपतिने उसके पूर्वदेशकी व्यवहारमर्यादाको अक्षुण्ण बना रक्खा था, सुराष्ट्रदेशाधिपतिने उत्तरापथमें सम्पूर्ण म्लेच्छोंको उसके अधीन कर रक्खा था, मालदाधिपतिने उसके लिए पश्चिम देशोंको आक्रान्त कर रक्खा था, दक्षिण समुद्रके तटसे आया हुआ लङ्काका दूत उसका मनोविनोद कर रहा था, पूर्व सागरके तटवर्ती महेन्द्र पर्वतका सिद्ध उससे हजारों मुहानोंके विस्तारसे आश्चर्यमयी गङ्गाजीका वर्णन कर रहा था, उत्तर सागरके तटसे आया हुआ दूत गुह्यकोंका वृत्तान्त कह रहा था और जिस दूतने पश्चिम सागरका तट देखा था, वह अस्ताचलके रीति-रिवाजोंको कह रहा था॥ २२–२५॥

कतार लगाकर खड़े हुए असंख्य राजाओंकी कान्तिसे उसका सारा आँगन जगमगा रहा था, उसकी यज्ञशालामें वेदमन्त्रोंका उच्चारण कर रहे ब्राह्मणोंने तुरही, रणसिंगा आदि उत्तम बाजेके शब्दको दबा दिया था, उसके वनगज बन्दियोंके तीव्र शोर-गुलकी प्रतिध्वनि कर रहे थे, उसकी सङ्गीतशालाके गायन और वादनके शब्दोंसे आकाश गूँज रहा था, चारों ओर घोड़े, हाथी और रथोंके ठट्ट लगे थे, उनके एवं पैदल चलनेवाली जनताके चलनेसे उड़ी हुई धूलरूपी बादलोंसे आकाश छा गया था। वह स्वयं पुष्प, कर्पूर और धूपसे युक्त था और उसके पर्वताकार प्रासाद सुगन्धिसे सराबोर थे। सम्पूर्ण मण्डलोंसे भेंटरूप धनको लाकर जो

यशःकर्पूरजलदसुशुभ्राम्बरपर्वतम् ।
रोदसीस्तम्भभूतैकस्वप्रतापजितार्ककम् ॥ २९ ॥
आरम्भमन्थरोदारकार्यसंव्यग्रभूमिपम् ।
नानानगरनिर्माणसोद्योगस्थपतीश्वरम् ॥ ३० ॥

पपाताऽथ महारम्भा सा तां नरपतेः सभाम् ।
व्योमात्मिका व्योममयीं मिहिकेवाऽम्बराटवीम् ॥ ३१ ॥
भ्रमन्तीं तत्र तामग्रे ददृशुस्ते न केचन ।
सङ्कल्पमात्ररचितां पुरुषाः कामिनीमिव ॥ ३२ ॥

तथा ते तां न ददृशुः सञ्चरन्तीं पुरोगताम् ।
अन्यसङ्कल्परचितामन्येन नगरीं यथा ॥ ३३ ॥
प्राक्तनानेव तान् सर्वान् स्वान् ददर्श सभागतान् ।
भूभृतेव सुसंप्राप्तान् नगरान्नगरान्तरम् ॥ ३४ ॥

राजकीय कोषको परिपूर्ण रखते हैं, उन भृत्योंके लिए उसने अनेक प्रकारके शासन बना रखे थे। उसके अपने यशरूपी कर्पूरके ढेरके तुल्य मेघरूपी अतिशुभ्र पर्वत अम्बरमें उत्पन्न हुए थे। स्वर्गलोक और भूलोकके स्तम्भभूत अपने अद्वितीय प्रतापसे उसने सूर्यको भी मात कर दिया था, उसके अनेक सामन्त आरम्भमें मन्दगतिसे चलनेवाले गुरुतर कार्य्योंमें व्यग्र थे और उसके शिल्पी लोग नाना नगरोंके निर्माणमें संलग्न थे। इस प्रकार विविध राजकार्योंमें व्यापृत राजाको लीलाने देखा ॥ २६—३० ॥

इसके अनन्तर जैसे कुहरा आकाशरूपी अरण्यभूमिमें गिरे, वैसे ही वासना-मात्रशरीर होनेसे आकाशरूपिणी चिदाकाशनिष्ठारूप विपुल आरम्भवाली लीला वासनामय होनेके कारण आकाशरूप राजाकीय सभामें प्रविष्ट हुई ॥ ३१ ॥

वहाँ वह सबके आगे घूमती थी, परन्तु वहाँपर स्थित पुरुषोंने अपने आगे घूम रही केवल सङ्कल्पसे बनी लीलाको, सङ्कल्पसे कल्पित कामिनीकी नाईं, नहीं देखा ॥ ३२ ॥

जैसे दूसरेके मनोरथसे रचित नगरीको दूसरा नहीं देख सकता, वैसे ही अपने आगे-आगे घूम रही लीलाको किसीने भी नहीं देखा ॥ ३३ ॥

वहाँ लीलाने अपने उन्हीं पुराने सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जिन्हें

तद्देशांस्तत्समाचारांस्तथा तानेव बालकान् ।
ता एव बालवनितास्तांस्तानेव च मन्त्रिणः ॥ ३५ ॥
तानेव भूमिपालांश्च तांस्तानेव च पण्डितान् ।
तानेव नर्मसचिवान् भृत्यांस्तानेव तादृशान् ॥ ३६ ॥
अथाऽन्यानप्यपूर्वांश्च पण्डितान् सुहृदस्तथा ।
व्यवहारांस्तथाऽन्यांश्च पौरानन्यांस्तथैव च ॥ ३७ ॥
मध्याह्नकाले दिवसे घनदावाकुला दिशः ।
अन्तरिक्षं सचन्द्रार्कं साम्भोदपवनध्वनि ॥ ३८ ॥
महीरुहनदीशैलपुरपत्तनमण्डितम् ।
नानानगरविन्यासजङ्गलग्रामसङ्कुलम् ॥ ३९ ॥
द्विरष्टवर्षं भूपालं प्राक्तन्या जरसोज्झितम् ।
प्राक्तनीं जनतां सर्वां समस्तान् ग्रामवासिनः ॥ ४० ॥

वह पहले देखती थी, मानों वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगरसे दूसरे नगरमें चले गये हों ॥ ३४ ॥

जो पहले जहाँपर बैठते थे वे उसी जगहपर बैठे थे, उन्हींके सदृश उनका आचरण था। लीलाने, जिन्हें वह पहले देखती थी, उन्हीं बालकोंको, उन्हीं युवतियोंको, उन्हीं मन्त्रियोंको, उन्हीं राजाओंको, उन्ही विद्वानोंको, उन्हीं विदूषकोंको और उन्हीं अनुचरोंको, तथा उनसे मिलते-जुलते भृत्योंको देखा ॥ ३५, ३६ ॥

वासनामय स्वप्नकी नाईं वासनामय जगत्में सब पहलेके सदृश ही हों, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**अथा०**' इत्यादिसे ।

इसके बाद उसने उनसे भिन्न कुछ नये पण्डितों और मित्रोंको देखा, उसे कुछ व्यवहार भी पहलेसे भिन्न दिखाई दिये, अनेक पुरवासी एवं अन्यान्य जन भी भिन्न थे ॥ ३७ ॥

उसने दिनमें दोपहरके समय घने जङ्गलोंसे व्याप्त दिशाएँ देखीं और देखा चन्द्रमा, तथा सूर्यसे युक्त आकाश, जिसमें बादलोंकी गड़गड़ाहट और वायुकी सनसनाहट हो रही थी, वह वृक्ष, नदी, पर्वत, नगर, ग्रामोंसे विभूषित था और उसमें अनेक जङ्गल थे, जिनमें विविध नगरोंकी रचना की गई थी ॥ ३८, ३९ ॥

वहाँपर उसने सोलह वर्षके राजाको देखा, जो पूर्वजन्मकी वृद्धावस्थासे निर्मुक्त था और पूर्वजन्मकी सम्पूर्ण जनताको तथा सब नगरवासियोंको

सा तानालोक्य ललना चिन्तापरवशाऽभवत् ।
तस्मिन्नगरवास्तव्याः किं ते सर्वे मृता इति ॥ ४१ ॥
पुनः प्रज्ञप्तिबोधेन प्राक्तनाऽन्तःपुरंगता ।
क्षणेन च ददर्शाऽत्र सार्द्धरात्रे तथैव तान् ॥ ४२ ॥
अथ सोत्थापयामास निद्राक्रान्तं सखीजनम् ।
आह चाऽतीव मे दुःखमास्थानं दीयतामिति ॥ ४३ ॥
भर्तुः सिंहासनस्याऽस्य पार्श्वे तिष्ठाम्यहं यदि ।
पश्यामि सभ्यसङ्घातं तत्प्रजीवामि नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥
स राजपरिवारोऽथ तयेत्युक्ते यथाक्रमम् ।
आसीद्विनिद्रः संव्यग्रः सर्वः सर्वस्वकर्मणि ॥ ४५ ॥
पौरान् सभ्यान् समानेतुं ययुर्याष्टीकपङ्क्तयः ।
व्यवहारं कलयितुमुर्व्यामर्ककरा इव ॥ ४६ ॥
आस्थानभूमिं भृत्याश्च मार्जयामासुरादृताः ।
प्रावृट्पयोदमलिनं खं शरद्वासरा इव ॥ ४७ ॥

देखा। उन्हें वासनामय नगरमें देखकर लीलाको चिन्ताने घेर लिया। उसे सन्देह हुआ कि क्या उस नगरमें रहनेवाले सभी मर गये हैं ? ॥ ४०, ४१ ॥

फिर वह सरस्वती देवीके प्रसादसे उत्पन्न प्रबोधसे एक क्षणमें अपने पहलेके अन्तःपुरमें आई। वहां आधी रातमें उसने अपने अनुचरोंको वैसे ही सोये देखा, जैसे कि वह उनको छोड़ गई थी ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त उसने घोर निद्रामें सोई हुई अपनी सखियोंको जगाया और कहा कि मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए आप लोग मुझे सभास्थानमें ले जाइए ॥ ४३ ॥

यदि मै राजाके सिंहासनके समीपमें बैठूँ और सदस्योंको देखूँ, तो मैं जीवित रह सकती हूँ अन्यथा मेरा मरण ही जानिये ॥ ४४ ॥

रानीके यों कहनेपर वह सारा-का-सारा राजपरिवार जाग उठा और यथा-योग्य अपने अपने काममें जुट गया। जैसे सूर्यकी किरणें लोगोंको अपने-अपने व्यवहारमें लगानेके लिए पृथिवीपर आती हैं, वैसे बेंतधारी भट नगरवासी सदस्योंको लेनेके लिए गये ॥ ४५, ४६ ॥

जैसे शरत् ऋतुके दिन वर्षाकालके बादलोंसे मलिन आकाशको स्वच्छ कर

अङ्गणं प्रति दीपौघास्तस्थुः पीततमोम्भसः ।
आश्चर्यदर्शनायेव संप्राप्ता ऋक्षपङ्क्तयः ॥ ४८ ॥
जनताः पूरयामासुः पूरैरजिरभूमिकाः ।
अब्धीन्प्रलयसंशुष्कान्पुरासर्ग इवाऽम्भसा ॥ ४९ ॥
आजग्मुर्मन्त्रिसामन्ताः स्वं स्वं स्थानमनिन्दिताः ।
त्रैलोक्ये पुनरुत्पन्ने लोकपाला यथा दिशः ॥ ५० ॥
ववुराकीर्णकर्पूरसान्द्रावश्यायशीतलाः ।
उत्फुल्लकुसुमोद्वान्तमांसलामोदितानिलाः ॥ ५१ ॥
पर्यन्तेषु प्रतीहारास्तस्थुर्धवलवाससः ।
ऋष्यमूकार्कतापार्तमेघमाला इवाऽद्रिषु ॥ ५२ ॥
प्रभापीततमःपुञ्जाः पेतुः पुष्पोत्करा भुवि ।
चण्डमारुतविध्वस्तास्तारकानिकरा इव ॥ ५३ ॥

देते हैं, वैसे ही अपने कार्यमें दक्ष भृत्योंने सभामण्डपको खूब साफ-सुथरा कर दिया ॥ ४७ ॥

आश्चर्य देखनेके लिए आये हुए तारागणोंके समान अन्धकाररूपी जलको पी चुकीं दीपपङ्क्तियाँ आंगनमें जगमगा उठीं ॥ ४८ ॥

जैसे प्रलयकालमें सूखे हुए समुद्रोंको जीवोंकी सृष्टिसे पहले होनेवाली जल-सृष्टि प्रवाहसे पूर्ण कर देती है, वैसे ही जनताने राजाके आँगनको प्रवाहके समान आ रहे अपने संघसे भर दिया ॥ ४९ ॥

जैसे प्रलयके अनन्तर त्रैलोक्यके पुनः उत्पन्न होनेपर लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओंमें अधिष्ठित हो जाते हैं, वैसे ही निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण अपने-अपने स्थानपर आ डटे ॥ ५० ॥

चारों ओर बखेरे हुए कपूरके समान निविड़ तुषारके संसर्गसे शीतल और खूब खिले हुए फूलोंसे निकल रहे मकरन्दकी सुगन्धसे सुगन्धित वायु बहने लगी ॥५१॥

जैसे ऋष्यमूक पर्वतपर अपने पुत्र सुग्रीवके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए आये हुए सूर्यके सन्तापसे पीड़ित मेघपंक्तियाँ हिमालय आदि पर्वतोंमें आश्रय लेती हैं, वैसे ही सफेद वस्त्र पहने हुए प्रतीहार (द्वारपाल) सभामण्डपके प्रान्तोंमें (ओर छोरमें) खड़े हो गये ॥ ५२ ॥

जैसे प्रलयकालके प्रचण्ड वायुसे विध्वस्त होकर तारागण गिरते हैं, वैसे ही

आस्थानं पूरयामासुर्महीपालानुयायिनः ।
उत्फुल्लकमलोत्कीर्णं हंसा इव सरोवरम् ॥ ५४ ॥
सिंहासनसमीपस्थे हैमचित्रासने नवे ।
उपाविशदसौ लीला लीलेव स्मरचेतसि ॥ ५५ ॥
ददर्श तान्नृपान्सर्वान्पूर्वानेव यथास्थितान् ।
गुरूनार्यान्सखीन्सभ्यान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ॥ ५६ ॥
सकलमेव हि पूर्ववदेव सा समवलोक्य मुदं परमां ययौ ।
नृपतिराष्ट्रजनं खलु जीवनाम्युदितया च बभौ शशिवच्छ्रिया ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सन्देहराष्ट्रवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अपनी कान्तिसे अन्धकारपटलका विनाश करनेवाले फूल तेजवायुके झोंकोंसे पृथिवीपर गिरने लगे ॥ ५३ ॥

जैसे हंस प्रफुल्ल कमलोंसे व्याप्त सरोवरको भर देते हैं, वैसे ही महाराजके अनुयायियोंने सभामण्डपको ठसाठस भर दिया ॥ ५४ ॥

जैसे कामदेवके चित्तमें रति बैठती है या जैसे कामदेवसे विकृत चित्तमें शृङ्गारचेष्टाएँ आसन जमाती हैं, वैसे ही रानी लीला सिंहासनके पासमें बिछाये हुए नूतन स्वर्णमय चित्रासनपर बैठ गई ॥ ५५ ॥

लीलाने पहलेकी नाईं यथायोग्य स्थानोंमें बैठे हुए, पहलेके ही सब राजाओं, गुरुओं, माननीयों, मित्रों, सदस्यों, सहचरों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवोंको देखा ॥ ५६ ॥

राजाके राष्ट्रके सभी लोगोंको यथापूर्व ही देखकर लीलाकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा और सबके जीवनका निश्चय होनेसे उदित हुई चन्द्रमाकी-सी कान्तिसे वह सुशोभित हो गई ॥ ५७ ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्थं विनोदयामीदं दुःखदं चित्तमित्यलम् ।
बोधयित्वेङ्गितैर्भूपानास्थानादुत्थिताऽथ सा ॥ १ ॥
प्रविश्याऽन्तःपुरं भर्तुः पार्श्वेऽन्तःपुरमण्डपे ।
विवेश पुष्पगुप्तस्य चिन्तयामास चेतसा ॥ २ ॥
अहो विचित्रा मायेयमेतेऽस्मत्पुरमानवाः ।
बहिरन्तरवद्देशे तत्र चेह च संस्थिताः ॥ ३ ॥
तालीतमालहिन्तालमालिता गिरयोऽप्यमी ।
यथा तत्र तथेहाऽपि बत मायेयमातता ॥ ४ ॥
आदर्शेऽन्तर्बहिश्चैव यथा शैलोऽनुभूयते ।
बहिरन्तश्चिदादर्शे तथा सर्गोऽनुभूयते ॥ ५ ॥
तत्र भ्रान्तिमयः सर्गः कः स्यात्कः पारमार्थिकः ।
इति पृच्छामि वागीशामभ्यर्च्योक्तमसंशयम् ॥ ६ ॥

अठारहवाँ सर्ग

[समाधिमें देखी गई सृष्टि और पहलेकी सृष्टि दोनो दृश्य होनेके कारण समानरूपसे मिथ्या हैं चिन्मात्र ही सत्य हैं]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त दुःखदायी इस चित्तको इस प्रकार बहला रही हूँ, यों ईशारेसे राजाओंको अपना अभिप्राय समझा कर रानी लीला सभाभवनसे उठ गई। अन्तःपुरमें जाकर अन्तःपुरके प्रासादमें फूलोंसे आच्छन्न अपने पतिके पास पहुंची और विचार करने लगी—अहो, यह बड़ी विचित्र माया है, ये हमारे पुरवासी मनुष्य समाधिमें देखे गये प्रदेशमें और बाहर अवकाशयुक्त हमारे नगरमें भी स्थित हैं ॥ १, ३ ॥

ताल, तमाल आदि वृक्षोंसे व्याप्त ये पर्वत भी जैसे वहाँ दिखाई दे रहे थे, वैसे ही यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, आश्चर्य यह किसीने माया फैला रक्खी है ॥४॥

जैसे पर्वत दर्पणमें भीतर और बाहर भी प्रतीत होता है, वैसे ही चित्तरूपी आदर्शमें भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है ॥ ५ ॥

इनमें कौन भ्रान्तिमयी सृष्टि है तथा कौन वास्तविक सृष्टि है? इस सन्देहको मै सरस्वती देवीसे, उनकी पूजा कर, यों पूछती हूं जैसे कि सन्देह बिलकुल न रहे ॥६॥

इति निश्चित्य तां देवीं पूजयामास सा तदा ।
ददर्श च पुरः प्राप्तां कुमारीरूपधारिणीम् ॥ ७ ॥
भद्रासनगतां देवीमुपविश्य पुरोगता ।
परमार्थमहाशक्तिं लीलाऽपृच्छद् भुवि स्थिता ॥ ८ ॥

लीलोवाच

अनुकम्प्यस्य नो देवि भजन्त्युद्वेगमुत्तमाः ।
त्वयैव किल सर्गादौ स्थापिता स्थितिरुत्तमा ॥ ९ ॥
तदिदं यत्पुरः प्रह्वा पृच्छामि परमेश्वरि ।
तद् ब्रूहि त्वत्कृतो नूनं सफलो मेऽस्त्वनुग्रहः ॥ १० ॥
अस्याऽऽदर्शो जगन्नाम्नः खादप्यधिकनिर्मलः ।
यस्य योजनकोटीनां कोटयोऽवयवो मनाक् ॥ ११ ॥
निःसंधितवचोज्योतिर्घनो मृदुसुशीतलः ।
अचेत्यचिदिति ख्यातो नाम्ना निर्भित्तिरग्रतः ॥ १२ ॥

ऐसा निश्चय करके लीलाने सरस्वती देवीकी पूजा की और तुरन्त ही सरस्वती देवीको कुमारीरूपमें अपने सामने उपस्थित देखा ॥ ७ ॥

सिंहासनपर बैठी हुई परमार्थ महाशक्तिरूप देवीके सन्मुख होकर लीलाने भूमिपर बैठकर देवीसे पूछा ॥ ८ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, उत्तम लोग अनुकम्पनीय पुरुषपर क्रुद्ध नही होते, आपने ही सृष्टिके आरम्भमें यह उत्तम नियम बनाया है ॥ ९ ॥

इसलिए हे परमेश्वरि, मैं आपके सन्मुख विनम्र होकर जो यह पूछती हूँ, उसे आप मुझसे कहिये, पहले आपने मेरे ऊपर जो वरदानरूप अनुग्रह किया है, वह सफल हो ॥ १० ॥

इस जगत् नामक प्रपञ्चका आदर्श (चिदादर्श) आकाशसे भी अधिक निर्मल है, करोड़ों-करोड़ों योजन जिसका एक छोटा-सा अवयव है ॥ ११ ॥

जिसमें वचन अखण्डितार्थ हैं यानी संसर्गरूपसे बोधक नहीं हैं ऐसा चिद्घन, मृदु, सम्पूर्ण तापका नाश करनेके कारण शीतल, आवरणशून्य और सम्पूर्ण व्यवहारोंमें सर्वप्रथम स्फुरित होनेवाला चैत्यभिन्न चित् कहा गया है ॥ १२ ॥

दिक्कालकलनाकाशप्रकाशनियतिक्रमाः ।
यत्रेमे प्रतिबिम्बन्ति परां परिणतिं गताः ॥ १३ ॥
त्रिजगत्प्रतिबिम्बश्रीर्बहिरन्तश्च संस्थिता ।
तत्र वै कृत्रिमा का स्यात्काऽसौ वा स्यादकृत्रिमा ॥ १४ ॥

श्रीदेव्युवाच

अकृत्रिमत्वं सर्गस्य कीदृशं वद सुन्दरि ।
कीदृशं कृत्रिमत्वं स्याद्यथावत्कथयेति मे ॥ १५ ॥

लीलोवाच

यथाऽहमिह तिष्ठामि त्वं च देवि स्थिताऽम्बिके ।
असावकृत्रिमः सर्ग इति देवेशि वेद्म्यहम् ॥ १६ ॥
यत्राऽधुना स भर्ता मे स्थितः सर्गः सकृत्रिमः ।
अहं मन्ये यतः शून्यो देशकालाद्यपूरकः ॥ १७ ॥

जिस आत्मादर्शमें दिशाएँ, काल, सब कार्योंकी उत्पत्ति, उत्पन्न हुए पदार्थोंकी आकाशमें अवकाशप्राप्ति, अवकाश मिलनेपर आलोक और नेत्र आदि द्वारा प्रकाश और प्रकाशित पदार्थोंका 'इससे यह कार्य यों उपपन्न हुआ और यह इस प्रकार व्यवहारके उपयुक्त है' इस प्रकारका नियतिक्रम ये सब देशतः और कालतः विस्तृत विकाररूप विलक्षणताको प्राप्त होकर प्रतिबिम्बकी नाईं भीतर प्रतीत होते हैं ॥१३॥

त्रिजगत्-रूप प्रतिबिम्बश्री बाहर और भीतर स्थित है, उन दोनोंमें से यानी आन्तर और बाह्यमें से कौन सृष्टि अकृत्रिम (सत्य) है और कौन कृत्रिम (मिथ्या) है ॥ १४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—हे सुन्दरी, सृष्टिकी अकृत्रिमता कैसी है और कृत्रिमता कैसी है, यह मुझसे भली भाँति कहो ॥ १५ ॥

लीलाने कहा— देवि, जैसे मैं यहाँपर बैठी हूँ और आप भी स्थित हैं, इसे मैं अकृत्रिम सृष्टि समझती हूँ तथा हे देवेशि, जहाँपर इस समय मेरे पति हैं, उस सृष्टिको मै कृत्रिम समझती हूँ, क्योंकि वह मिथ्याभूत है, अपनी स्थितिके लिए अपर्याप्त देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति नहीं करती । जैसे दर्पण आदिमें

श्रीदेव्युवाच

कृत्रिमोऽकृत्रिमात्सर्गान्न कदाचन जायते ।
नहि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित् ॥ १८ ॥

लीलोवाच

दृश्यते कारणात्कार्यं सुविलक्षणमम्बिके ।
अम्ब्वादातुमशक्ता मृद्घटस्तज्जस्तदास्पदम् ॥ १९ ॥

प्रतिबिम्बित और स्वप्नमें देखा गया पर्वत देश, काल और व्यवहारका पूरक नहीं है * ॥ १६, १७ ॥

तुम्हारे पतिकी जो वासनामय सृष्टि है, उसका कोई कारण है या नहीं? यदि उसे अकारण कहो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। यदि सकारण मानो, तो वह कारण कृत्रिम है, या अकृत्रिम। कृत्रिम कारण मानो, तो यह सृष्टि उसकी कारण है या अन्य सृष्टि? अन्य सृष्टि तो कोई प्रसिद्ध है नहीं, अतः पहला पक्ष ही शेष रहा, ऐसी दशामें कृत्रिम सृष्टिका कारणभूत यह सर्ग भी कृत्रिम ही ठहरेगा, क्योंकि कहींपर भी भिन्न सत्तावाले कार्य और कारण नहीं देखे गये हैं, अतः इन दो सृष्टियोंमें परस्पर विलक्षणता नहीं है, इस आशयसे देवीजीने कहा—'**कृत्रिमो०**' इत्यादिसे।

श्रीदेवीजीने कहा—अकृत्रिम सृष्टिसे कृत्रिम सृष्टि कभी उत्पन्न नहीं होती, कहींपर भी कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥ १८ ॥

उक्त नियममें लीलाने व्यभिचारकी शङ्का कर कहा—'**दृश्यते**' इत्यादिसे।

लीलाने कहा—माता, कारणसे कार्य सर्वथा विलक्षण दिखाई देता है—मिट्टीका ढेला अपनेमें जल आदि धारण नहीं कर सकता, पर उससे उत्पन्न घड़ा जल धारण-समर्थ दिखलाई देता है, ऐसी परिस्थितिमें जैसे कार्य और कारणमें तुल्यसामर्थ्यका नियम नहीं है, वैसे ही समानसत्ताका भी नियम नहीं है, यह आशय है ॥ १९ ॥

---

* दर्पणमें प्रतिबिम्बित पर्वतकी स्थितिके लिए, दर्पणरूप देश पर्याप्त नहीं है, जितने समयमें पर्वतकी तादृश रूप-रेखा बनती है, वह काल उसके लिए पर्याप्त नहीं है और उससे आरोहण-अवरोहण आदि व्यवहार भी नहीं होता। वह अपनी स्थितिके लिए अपूर्ण अत्यन्त अल्प देश-काल-व्यवहारकी पूर्ति नहीं करता, वैसे ही वह सर्ग भी अपनी स्थितिके लिए अपर्याप्त अत्यन्त अल्प देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति नहीं करता है, अतः मिथ्या है।

श्रीदेव्युवाच

संपद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः ।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्राऽवलोक्यते ॥ २० ॥
वद त्वद्भर्तृसर्गस्य किं पृथ्व्यादिषु कारणम् ।
तद्भूमण्डलतो भूतिर्जाता तत्र वरानने ॥ २१ ॥
गतं चेदित उड्डीय कुतः स्यादिह भूतलम् ।
सहकारीणि कानीव कारणान्यत्र कारणे ॥ २२ ॥
कारणानामभावेऽपि योदेति सहकारिता ।
तत्पूर्वकारणान्नाऽन्यत्सर्वेणेत्यनुभूयते ॥ २३ ॥

उपादान कारणकी विचित्रतासे या सहकारी और निमित्त कारणोंकी विलक्षणतासे मिट्टीके ढेले और घड़ेमें विलक्षणता भले ही हो, जिस वस्तुका एक ही उपादान और निमित्त कारण है उसमें दीपकसे अन्य दीपकके समान कारणसे विलक्षणता नहीं दिखलाई देती । प्रस्तुत दो सृष्टियां भी वैसी हैं, इस आशयसे देवी लीलाकी शङ्काका समाधान करती हैं—**'सम्पद्यते'** इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—जो कार्य उपादान और सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होता है, उसमें मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि असाधारण कारणोंसे कुछ वैलक्षण्य दिखाई देता है ॥२०॥

तुम्हारे पतिदेवकी जो वासनामय सृष्टि है, उसमें तो असाधारण कारणसे विलक्षणताकी कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों समानरूपसे माया, काम, कर्म और वासनामूलक हैं, इस अभिप्रायसे कहती हैं—**'वद'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, प्रत्यक्ष दीख रही इस सृष्टिके अन्तर्गत पृथिवी आदिमें से तुम्हारे पतिकी सृष्टिका कारण क्या है ? उसे कहो, जिससे कि उसमें विलक्षणता आवे । भौतिक पदार्थोंकी भी जैसे इस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, वैसे ही उस भूमण्डलसे उत्पत्ति हुई है, अतः भौतिक पदार्थोंमें भी कोई विलक्षणता नहीं है ॥ २१ ॥

यहांकी भूमि आदिसे वहांकी भूमि आदिकी उत्पत्ति हो, एसी शङ्का होनेपर कहती हैं—**'गतम्'** इत्यादिसे ।

यदि भूतल आदि यहाँसे उड़कर वहाँ गया है, तो यहाँ भूतल कैसे रहेगा ? वहाँ गये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है और इसको कारण माननेपर भी सहकारी कारण कौन हैं, अर्थात् कोई नहीं है ॥ २२ ॥

यहाँके सहकारी कारणोंके न रहनेपर भी वहाँ (समाधिमें दृष्ट सृष्टिमें)

लीलोवाच

स्मृतिः सा देवि मद्भर्तुस्तथा स्फारत्वमागता ।
स्मृतिस्तत्कारणं वेद्मि सर्गोऽयमिति निश्चयः ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

स्मृतिराकाशरूपा च यथा तज्जस्तथैव ते ।
भर्त्तुः सर्गोऽनुभूतोऽपि स व्योमैव तथाऽबले ॥ २५ ॥

लीलोवाच

स्मृत्याकाशमयः सर्गो यथा भर्तुर्ममोदितः ।
तथैवेममहं मन्ये स सर्गोऽत्र निदर्शनम् ॥ २६ ॥

जो सामग्रीरूप सहकारिता उत्पन्न होती है, यानी यदि सहकारी कारण न होता, तो कार्यकी ही उत्पत्ति न होती; यों अन्यथानुपपत्त्या कल्पित होती है, वह पूर्व सृष्टिके कारण काम, कर्म, वासना और अविद्यासे भिन्न नहीं है, अतएव वैलक्षण्यकी सिद्धि नही होती, यह बात सबके अनुभवमें आती है ॥ २३ ॥

सत्यरूप इस सृष्टिके अनुभवसे जनित संस्कारसे पैदा हुए पुरोवर्ति विषयरहित स्मृतितुल्य स्वप्नके सदृश मेरे पतिकी सृष्टि हो, यों अन्य प्रकारसे लीला वैलक्षण्यकी शङ्का करती है—'**स्मृतिः**' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, मेरे पतिकी वह (पूर्वके अनुभवसे जनित संस्कारसे पैदा हुई) स्मृति ही इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुई कि वह स्मृति ही इस सृष्टिकी कारण है, उसीसे यह सर्ग हुआ है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, तब तो पहले जन्ममें देखी गई सृष्टिके संस्कार द्वारा तुम्हारे पतिकी सृष्टि हुई । संस्कारसे उत्पन्न ज्ञानको स्मृति कहते हैं, उसमें विषय सामने नहीं रहता, पुरोवर्ती विषयसे शून्य होनेके कारण स्मृति शून्यरूपा है, वैसे ही तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्यरूप ही ठहरी, क्योंकि वह भी स्मृतिके सदृश पूर्व सृष्टिके संस्कारसे जन्य है ॥ २५ ॥

उक्त बातपर विचार कर लीला जान गई, अतः देवीके आशयके अनुसार बोली—'**स्मृत्या०**' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टिको भी स्मृत्याकाशमय

श्रीदेव्युवाच

एवमेतदसत्सर्गो भर्तुस्तैर्भाति भासुरः ।
तथैवाऽयमिहाऽऽभाति पश्याम्येतदहं सुते ॥ २७ ॥

लीलोवाच

यथा पत्युरमूर्त्तोऽस्मात्सर्गात् सर्गो भ्रमात्मकः ।
जातस्तथा कथय मे जगद्भ्रमनिवृत्तये ॥ २८ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्राक्स्मृतेर्भ्रान्तिमात्रात्मा सर्गोऽयमुदितो यथा ।
स्वप्नभ्रमात्मको भाति तथेदं कथ्यते शृणु ॥ २९ ॥
अस्ति क्वचिच्चिदाकाशे क्वचित्संसारमण्डपः ।
आकाशकाचदलवत्संस्थानाच्छादिताकृतिः ॥ ३० ॥

कहा है, वैसे ही मैं इस सर्गको भी स्मृत्याकाशमय समझती हूँ, इस सर्गकी स्मृत्याकाशमयतामें वह (समाधिमें दृष्ट) सर्ग दृष्टान्त है ॥ २६ ॥

लीलाकी बातका समर्थन करते हुए देवीने कहा—पुत्री, तुमने बहुत ठीक कहा है, वह असत् (मिथ्याभूत) सर्ग जैसे तुम्हारे पतिके उन-उन सर्गभावोंसे प्रकाशमान प्रतीत होता है, वैसे ही यहांपर यह सर्ग भी तत्-तत् सर्गोंसे प्रकाशमान प्रतीत होता है, वस्तुतः यह असत् है, यह मैं देखती हूँ ॥ २७ ॥

लीलाने कहा—माता, जैसे इस सृष्टिसे मेरे पतिकी भ्रमात्मक अमूर्त सृष्टि हुई, जगत्-भ्रमकी निवृत्तिके लिए, वैसा मुझसे कहिये ॥ २८ ॥

यह सृष्टि भी पूर्व सृष्टिके संस्कारोंसे जन्य भ्रान्तिरूप ही है, यों उक्त अर्थके उपपादनके लिए देवी मण्डपोपाख्यानके आरम्भकी प्रतिज्ञा करती हैं—**'प्राग्०'** इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे पूर्व सृष्टिकी स्मृतिसे उत्पन्न केवल भ्रमस्वरूप स्वप्नभ्रम-तुल्य यह सृष्टि प्रतीत होती है, वैसा मैं कहती हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

चिदाकाशमें अज्ञानसे आच्छन्न भागमें तत्रापि स्रष्टाके अन्तःकरणके एक कोनेमें संसाररूपी जीर्ण मन्दिर है, जो आकाशरूपी काँचके टुकड़ेके समान नीले छत्राकार संस्थानसे आच्छादित है, जिसमें मेरुपर्वतरूपी स्तम्भमें लोकपालोंकी

मेरुस्तम्भस्थलोकेशपुरन्ध्रीशालभञ्जिकः ।
चतुर्दशापवरकास्त्रिगर्त्तो भानुदीपकः ॥ ३१ ॥
कोणस्थभूतवल्मीकव्याप्तपर्वतलोष्ठकः ।
अनेकपुत्रजरठप्रजेशब्राह्मणास्पदम् ॥ ३२ ॥
जीवौघकोशकाराढ्यो व्योमोर्ध्वतलकालिमा ।
नभोनिवाससिद्धौघमशकाहितघुंघुमः ॥ ३३ ॥
पयोदगृहधूमोग्रजालावलितकोणकः ।
वातमार्गमहावंशस्थितवैमानकीटकः ॥ ३४ ॥
सुरासुरादिदुर्बाललीलाकलकलाकुलः ।
लोकान्तरपुरग्रामभाण्डोपस्करनिर्भरः ॥ ३५ ॥
सरःस्रोतोऽब्धिसरसीजलोक्षितमहीतलः ।
पातालभूतलस्वर्गभागभासुरकोटरः ॥ ३६ ॥
तत्र कस्मिंश्चिदेकस्मिन् कोणेष्वम्बरकोटरे ।
शैललोष्ठतलेष्वेको गिरिग्रामकगर्त्तकः ॥ ३७ ॥

स्त्रियां प्रतिमाओंके तुल्य विराजमान हैं, चौदह भुवन जिसके अन्तर्गृह (कमरे) हैं, जिसके तीनों भुवनोंके मध्यभागरूप तीन गड्ढे हैं, सूर्य जिसका दीपक है ॥ ३०,३१ ॥

जिसमें कोनेमें स्थित पञ्चभूत रूपी दीमकोंके वल्मीक (वामी) सदृश नगरोंसे व्याप्त पर्वतरूपी मिट्टीके ढेले हैं और जो अनेक पुत्रोंसे युक्त वृद्ध ब्रह्माका निवासस्थान है, जो जीवरूप कोशकारनामक कीड़ों (विलनी) से संयुक्त, आकाशमें रहनेवाले सिद्धोंके समूहरूप मच्छरोंसे सदा 'घुं घुं' ऐसा शब्द करता रहता है, बादलरूपी गृह-धूम (घरोंके धुएँ) के पटलसे जिसका कोना व्याप्त रहता है, जिसमें वायुमार्गरूपी महावंशमें स्थित वैमानिक (विमानचारी) देवता आदि कीड़े हैं, जो सुर असुर आदिरूपी उद्धत बालकोंकी क्रीड़ाके कोलाहलसे सदा खूब शब्दायमान रहता है, भू आदि लोकोंके मध्यवर्ती नगर और ग्रामरूपी वर्तन आदि विविध सामग्रीसे परिपूर्ण है तालाब और स्रोतरूपी समुद्र और नादियोंके जलसे जिसका भूभाग सिञ्चित है और पाताल, भूलोक और स्वर्गलोकरूपी प्रकाशमान कोठरियोंसे युक्त है ॥ ३२–३६ ॥

उस संसाररूपी पुराने मन्दिरमें आकाशरूपी कमरेके किसी एक कोनेमें पर्वतरूपी मिट्टीके ढेलेके तले एक छोटासा पर्वतग्रामरूपी गड्ढा है ॥ ३७ ॥

तस्मिन्नदीशैलवनोपगूढे साग्निः सदारः सुतवानरोगः ।
गोक्षीरवान् राजभयाद्विमुक्तः सर्वातिथिर्धर्मपरोऽद्विजोऽभूत् ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवा छमहारामायणे वाल्मीकीये लीलोपाख्याने सकल-
जगद्भ्रान्तिप्रतिपादनं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
वसिष्ठस्यैव सदृशो न तु वासिष्ठचेष्टितः ॥ १ ॥
वसिष्ठ इति नाम्नाऽसौतस्याऽभूदिन्दुसुन्दरी ।
नाम्ना त्वरुन्धती भार्या भूमिव्योमन्यरुन्धती ॥ २ ॥

नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्राममें स्त्री पुत्रोंसे युक्त और नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था । उस धर्मात्मा ब्राह्मणके पास गऊ आदि दूध देनेवाले अनेक पशु थे । वह राजभयसे सर्वथा निर्मुक्त था और सम्पूर्ण वर्णाश्रमियोंका आतिथ्य सत्कार करता था ॥ ३८ ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

[राजा पद्मके इस सर्गका जन्म राजाके दर्शन, राज्यकी इच्छा और दृढ संकल्पसे हुआ, इसका पूर्वजन्मके वृत्तान्तसे वर्णन]

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, वह ब्राह्मण वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणोंसे वसिष्ठके सदृश था, पर इक्ष्वाकुकुलका पौरोहित्य और श्रीराम-चन्द्रजीको उपदेश आदि वसिष्ठकी चेष्टाओंसे रहित था ॥ १ ॥

उसका नाम वसिष्ठ ही था, उसकी चाँद-सी सुन्दर अरुन्धती नामकी पत्नी थी । वह थी भूमिरूपी आकाशकी दूसरी अरुन्धती ॥ २ ॥

वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
समैव साऽप्यरुन्धत्या न तु चेतनसत्तया ॥ ३ ॥
अकृत्रिमप्रेमरसा विलासालसगामिनी ।
साऽस्य संसारसर्वस्वमासीत्कुमुदहासिनी ॥ ४ ॥
स विप्रस्तस्य शैलस्य सानौ सरलशाद्वले ।
कदाचिदुपविष्टः सन् ददर्शाऽधो महीपतिम् ॥ ५ ॥
समग्रपरिवारेण यान्तमाखेटकेच्छया ।
महता सैन्यघोषेण मेरोरिव बिभित्सया ॥ ६ ॥
चामरैः कीर्णचन्द्रांशु पताकाभिर्लतावनं ।
कुर्वाणं खं सितच्छत्रमण्डलैः रूप्यकुट्टिमम् ॥ ७ ॥
अश्वपादूत्खनत्क्ष्माजरेणुपूरावृताम्बरम् ।
हास्तिकोत्तम्भितकरवाताट्टालकगोपितम् ॥ ८ ॥

वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणोंसे वह भी अरुन्धतीके तुल्य थी, पर जीवस्वरूपसे (ब्रह्मरूपसे) स्थितिसे वह अरुन्धतीके तुल्य नहीं थी। भाव यह कि प्रसिद्ध वसिष्ठ और अरुन्धती तत्त्वज्ञानी होनेसे वे जीवन्मुक्त थे, किन्तु उक्त अरुन्धती और वसिष्ठको आगेके जन्ममें ज्ञान होनेवाला था, अतः वे उस समय अज्ञानी होनेके कारण बद्ध थे ॥ ३ ॥

उसका प्रेम अकृत्रिम था और था विलासपूर्वक मन्थरगमन तथा कमलके विकासकी नाईं मनोहर हास । वह सुन्दरी संसारमें उसकी सर्वस्व थी ॥ ४ ॥

वह ब्राह्मण कभी हरे दूर्वाङ्कुरोंसे आच्छन्न समथर भूमिवाले उस पर्वत शिखरपर बैठा था, उसने पर्वतके नीचे शिकार खेलनेकी इच्छासे सारे साज-बाजके साथ जा रहे राजाको देखा । उसकी सेनाका इतना बड़ा कोलाहल हो रहा था, जिससे मेरुपर्वतके विदारणकी शङ्का होती थी ॥ ५, ६ ॥

वह राजा अपने चँवरों और पताकाओंसे लताओंके वनको चन्द्रमाकी किरणोंसे व्याप्त कर रहा था, सफेद छातोंसे आकाशको चाँदीका फर्श बना रहा था, घोड़ोंकी नालोंसे खोदनेके योग्य भूमिसे उत्पन्न हुई धूलिके पटलसे उसने आकाशको ढक दिया था, पर वह स्वयं हाथियोंकी पीठपर रक्खी हुई सूर्यकी किरणों और वायुको रोकनेवाली सोने चाँदी और मोतियोंसे अलङ्कृत अम्बारियोंसे रक्षित था यानी अम्बारीमें स्थित होनेके कारण धूलिसे आवृत नहीं हुआ था ॥७,८॥

महाकलकलावर्तद्रवद्दिग्भूतमण्डलम् ।
कचत्काञ्चनमाणिक्यहारकेयूरमण्डलम् ॥ ९ ॥
तमालोक्य महीपालमिदं चिन्तितवानसौ ।
अहो नु रम्या नृपता सर्वसौभाग्यभासिता ॥ १० ॥
पदातिरथहस्त्यश्वपताकाच्छत्रचामरैः ।
कदा स्यां दशदिक्कुञ्जपूरकोऽहं महीपतिः ॥ ११ ॥
कदा मे वायवः कुन्दमकरन्दसुगन्धयः ।
पास्यन्त्यन्तःपुरस्त्रीणां सुरतश्रमसीकरान् ॥ १२ ॥
कर्पूरेण पुरन्ध्रीणां पूर्णेन यशसा दिशाम् ।
इन्दूदयावदातानि कदा कुर्यां मुखान्यहम् ॥ १३ ॥
इत्थं ततःप्रभृत्येष विप्रः सङ्कल्पवानभूत् ।
स्वधर्मनिरतो नित्यं यावज्जीवमतन्द्रितः ॥ १४ ॥
हिमाशनिरिवाऽम्भोजं जर्जरीकर्तुमादृता ।
जले जर्जरितेवाऽथ जरा द्विजमुपाययौ ॥ १५ ॥

उसके सैन्यके कोलाहलसे दसों दिशाओंके मृग आदि प्राणियोंके झुण्ड दिग्भ्रम होनेके कारण जलकी भौंरीके तुल्य भाग रहे थे और उसके सुवर्ण और मणियोंके बने हुए हार, बाजूबन्द आदि आभरणोंकी कान्ति छिटक रही थी ॥ ९ ॥

उस राजाको देखकर उस ब्राह्मणके (वसिष्ठके) मनमें यह विचार आया कि अहा! सम्पूर्ण सौभाग्योंसे उद्भासित नृपता (नृपति होना) बड़ी रमणीय है ॥१०॥

मैं कब पैदल सेना, रथ, हाथी, घोड़े, पताका, छत्र और चँवरोंसे दस दिशा-रूपी कुञ्जको पूर्ण करनेवाला राजा होऊँगा, कब कुन्दनामक फूलके मकरन्दसे सुगन्धित पवन मेरे अन्तःपुरकी स्त्रियोंके सुरतकालके श्रमसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंको पीवेंगे और मैं कब अपनी पतिव्रता रानियोंके मुखमण्डलको कर्पूरमिश्रित चन्दनसे और दिशाओंके मुखमण्डलको कर्पूरतुल्य अपने विपुल यशसे चन्द्रमाके उदयके तुल्य दीप्तिमय करूँगा ॥ ११–१३ ॥

तबसे नित्य अपने धर्ममें तत्पर आलस्यरहित वह ब्राह्मण जीवनभर इस प्रकारके सङ्कल्पसे युक्त हुआ। तदुपरान्त जैसे सरोवरके जलमें स्थित कमलको शिथिल करनेके लिए कटिबद्ध तुषाररूपी वज्र कमलको प्राप्त होता है, वैसे ही

आसन्नमरणस्याऽथ भार्या म्लानिमुपाययौ ।
तस्य शाम्यति पुष्पर्त्तौ लतेव ग्रीष्मभीतितः ॥ १६ ॥
मामथाऽऽराधितवती सा ततस्त्वमिवाऽङ्गना ।
अमरत्वं सुदुष्प्रापं बुद्ध्वेमं साऽवृणोद्वरम् ॥ १७ ॥
देवि स्वमण्डपादेव जीवो भर्तुर्मृतस्य मे ।
मा यासीदित्यतस्तस्याः स एवाऽङ्गीकृतो मया ॥ १८ ॥
अथ कालवशाद्विप्रः स पञ्चत्वमुपाययौ ।
तस्मिन्नेव गृहाकाशे जीवाकाशतया स्थितः ॥ १९ ॥
सम्पन्नः प्राक्तनानल्पसङ्कल्पवशतः स्वयम् ।
आकाशवपुरेवैष पतिः परमशक्तिमान् ॥ २० ॥
प्रभावजितभूपीठः प्रतापाक्रान्तविष्टपः ।
कृपापालितपातालस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ २१ ॥

शरीरशैथिल्ययुक्त वृद्धावस्था उस ब्राह्मणके शरीरको जर्जर बनानेके लिए उसके पास आई ॥ १४, १५ ॥

जैसे वसन्त ऋतुके बीतनेपर प्रचण्ड ग्रीष्मकालके सन्तापके भयसे लता मुर्झा जाती है, वैसे ही जब उसके मरनेका समय समीप आया तब उसकी पत्नीको बड़ा क्लेश हुआ ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस सुन्दरीने तुम्हारी नाईं मेरी बड़ी आराधना की। अमरत्व प्राप्त होना कठिन है, यह जानकर उसने यह वर मांगा—हे देवि, मेरे मृत पतिका जीव मेरे घरसे बाहर नहीं ही जावे। चूँकि उसने वैसी प्रार्थना की थी, अतः मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १८, १८ ॥

तदुपरान्त काल पाकर उसका पति मर गया और उसी घरके आकाशमें जीवाकाशरूपसे * स्थित रहा ॥ १९ ॥

यद्यपि वह स्वयं आकाशरूप ही है तथापि पूर्वजन्मके दृढ़ संकल्पसे परम शक्तिमान् राजा बन गया। उसने अपने प्रभावसे पृथिवीपर विजय प्राप्त कर ली, प्रतापसे स्वर्गलोकको व्याप्त कर दिया, उसकी कृपासे पाताल लोकका पालन होता था, यों तीनों लोक उसके आयत्त हो गये ॥ २०,२१ ॥

---

* अन्तःकरणकी वासनाओंसे अवच्छिन्न ब्रह्म जीवाकाश है, तद्रूपसे।

कल्पाग्निररिवृक्षाणां स्त्रीणां मकरकेतनः ।
मेरुर्विषयवायूनां साध्वब्जानां दिवाकरः ॥ २२ ॥
आदर्शः सर्वशास्त्राणामर्थिनां कल्पपादपः ।
पादपीठं द्विजाग्र्याणां राका धर्मामृतत्विषः ॥ २३ ॥
स्वगृहाभ्यन्तराकाशे चित्ताकाशमयात्मनि ।
तस्मिन् द्विजे शवीभूते भूताकाशशरीरिणि ॥ २४ ॥
सा तस्य ब्राह्मणी भार्या शोकेनाऽत्यन्तकर्शिता ।
शुष्केव माषशिम्बीका हृदयेन द्विधाऽभवत् ॥ २५ ॥
भर्त्रा सह शवीभूता देहमुत्सृज्य दूरतः ।
आतिवाहिकदेहेन भर्त्तारं समुपाययौ ॥ २६ ॥
नदी निखातमिव तं भर्तारमनुसृत्य सा ।
आजगाम विशोकत्वं सा वासन्तीव मञ्जरी ॥ २७ ॥

वह शत्रुरूपी वृक्षोंके नाशके लिए प्रलयाग्नि था *, स्त्रियोंका मन हरनेके लिए कामदेव था, विषयरूपी वायुओंके लिए मेरु पर्वत था†, सज्जनरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य था, जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्र उसमें प्रतिबिम्बित थे, याचकोंको मुँह-माँगा देनेके लिए वह कल्पवृक्ष था, उत्तम ब्राह्मणोंके लिए वह बैठनेका पीढा था यानी वह सदा ब्राह्मणोंके चरणोंमें नतमस्तक रहता था और धर्मरूपी चन्द्रमाके लिए पूर्णिमा था ॥२२,२३॥

अपने घरके मध्यके आकाशमें वासनावच्छिन्न ब्रह्माकाशमय अतएव भूताकाशस्वरूप उस ब्राह्मणके मरनेपर उसकी पत्नी वह ब्राह्मणी शोकसे अत्यन्त कृश हो गई अतएव सूखी हुई उरदकी छीमीके समान उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये ॥ २४, २५ ॥

पतिके साथ मरी हुई वह ब्राह्मणी अपने देहका परित्याग कर परलोक पहुँचानेमें समर्थ मानस शरीरसे पतिके पास पहुँच गई ॥ २६ ॥

जैसे नदी नीची भूमिमें पहुँचती है, वैसे ही अपने पतिके पास पहुँचकर

* वनाग्निसे जले हुए वृक्षोंके फिर पनपनेकी आशा रहती है पर प्रलयाग्निसे विनष्टोंका फिर प्ररोह कदापि नहीं हो सकता, वैसे ही वह शत्रुओंका समूल नाश करनेवाला था ।

† जैसे वायु मेरुको विचलित नहीं कर सकते, प्रत्युत स्वयं टकरा कर रुक जाते हैं, वैसे ही वह विषयोंसे अप्रकम्प्य और विषयोंका विष्टम्भक था ।

तत्राऽस्य विप्रस्य गृहाणि सन्ति भूस्थावरादीनि धनानि सन्ति ।
अद्याऽष्टमं वासरमाप्तमृत्योर्जीवो गिरिग्रामककन्दरस्थः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने ब्राह्मणमरणं नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

स ते भर्ताऽद्य सम्पन्नो द्विजो भूपत्वमागतः ।
याऽसावरुन्धती नाम ब्राह्मणी सा त्वमङ्गने ॥ १ ॥
इहेमौ कुरुतो राज्यं तौ भवन्तौ सुदम्पती ।
चक्रवाकाविव नवौ भुवि जातौ शिवाविव ॥ २ ॥
एष ते कथितः सर्वः प्राक्तनः संसृतिक्रमः ।
भ्रान्तिमात्रकमाकाशमेवं जीवस्वरूपधृक् ॥ ३ ॥

वसन्त ऋतुमें उत्पन्न हुई मञ्जरीके समान वह शोकरहित (प्रफुल्लित) हो गई ॥२७॥

उस पर्वतग्राममें मरे हुए इस ब्राह्मणके घर हैं, भूमि, वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं, उसको मरे हुए आज आठवाँ दिन है और उसका जीव पर्वतके ग्रामके गृहमण्डपमें स्थित है ॥ २८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

[प्राक्तन जन्मके चरितोंके सुननेके उपरान्त भी ऐसा होना सम्भव नहीं है, यो सन्देहमें पड़ी हुई लीलाको दृष्टान्त और युक्तियोंसे देवीका प्रतिबोधन]

श्रीदेवीजीने कहा—हे सुन्दरी, वही ब्राह्मण आज राजा होकर तुम्हारा पति बना है और जो अरुन्धती नामकी ब्राह्मणी थी, वह तुम हो ॥ १ ॥

नूतन चक्रवाक और चक्रवाकीकी नाईं और पृथिवीमें उत्पन्न हुए शिव और पार्वतीकी नाईं सुन्दर दम्पती वे ही तुम दोनों यहाँपर राज्य करते हो ॥ २ ॥

पूर्वोक्त कथाका उपसंहार कर रहीं देवीजी समाधि दृष्ट सृष्टि और इस सृष्टिके

भ्रमादस्माच्चिदाकाशे भ्रमोऽयं प्रतिबिम्बितः ।
असत्य एव वा सत्यो भवतोर्भवभञ्जदः ॥ ४ ॥
तस्माद् भ्रान्तिमयः कः स्यात्को वा भ्रान्त्युज्झितो भवेत् ।
सर्गो निरर्गलानर्थबोधान्नाऽन्यो विजृम्भते ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य चिरं चारुविस्मयोत्फुल्ललोचना ।
भूत्वोवाच वचो लीला लीलालसपदाक्षरम् ॥ ६ ॥

लीलोवाच

देवि भोस्त्वद्वचो मिथ्या कथं सम्पन्नमीदृशम् ।
क्व विप्रजीवः स्वगृहे क्वेमे वयमिह स्थिताः ॥ ७ ॥

समान पहलेकी और सृष्टियां भी भ्रम ही हैं, ऐसा कहती हैं—**'एष'** इत्यादिसे ।

मैंने तुम्हारे पूर्वजन्मका सम्पूर्ण सृष्टिक्रम कहा, उसका ब्रह्मका जीवभावभ्रम ही मूल है, अतएव भ्रममूलक होनेसे वह भ्रान्तिमात्र ही है यानी ब्रह्मका जीवभाव भ्रमसे अतिरिक्त नहीं है ॥ ३ ॥

उत्तरोत्तर भ्रममें पूर्व-पूर्व भ्रम हेतु है, ऐसा दर्शाती हैं—**'भ्रमात्'** इत्यादिसे ।

इस पूर्व भ्रमसे चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित यह भ्रमरूप सर्ग स्वदृष्टिसे असत्य ही है अथवा अधिष्ठानदृष्टिसे सत्य है जो आप दोनोंके संसाररूपी भ्रमका नाशक है ॥४॥

यों भ्रमरूप होनेके कारण सभी सर्ग समान ही हैं, ऐसा कहते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

उस भ्रमरूप पूर्वसृष्टिसे कौन सृष्टि भ्रान्तिरूप होगी और कौन भ्रान्तिसे शून्य होगी ? इसलिए भ्रान्तिमय सृष्टिसे दूसरी कोई सृष्टि नहीं होती है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीजीके उक्त वचन सुनकर रानी लीलाके सुन्दर विशाल नयन आश्चर्यसे विकसित हो गये, वह विलासपूर्वक मन्द-मन्द बोली ॥ ६ ॥

लीलाने कहा—आपका बचन तो सत्य है, वह इस प्रकार विरुद्ध कैसे हुआ ? कहां ब्राह्मणका जीव अपने घरमें है और कहां इतने बड़े विशाल प्रदेशमें हम लोग स्थित हैं यानी वे दम्पती हम कैसे हो सकते हैं ? ॥ ७ ॥

तादृग्लोकान्तरं सा भूस्ते शैलास्ता दिशो दश ।
कथं भान्ति गृहस्याऽन्तर्मद्भर्त्ता येष्ववस्थितः ॥ ८ ॥
मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपस्येव कोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥ ९ ॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
स्वप्नाब्दगर्जितं श्रुत्वा चित्रं नृत्यन्ति बर्हिणः ॥ १० ॥
असमञ्जसमेवैतद् यथा सर्वेश्वरेश्वरि ।
तथा गृहान्तः पृथिवी शैलाश्चेत्यसमञ्जसम् ॥ ११ ॥
यथावदेतद्देवेशि कथयाऽमलया धिया ।
प्रसादानुगृहीते हि नोद्विजन्ते महौजसः ॥ १२ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाऽहं मिथ्या वदामीदं यथावच्छृणु सुन्दरि ।
भेदनं नियतीनां हि क्रियते नाऽस्मदादिभिः ॥ १३ ॥
विभिद्यमानामन्येन स्थापयाम्यहमेव याम् ।
मर्यादां तां मया भिन्नां कोऽपरः पालयिष्यति ॥ १४ ॥

वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत, वे दसों दिशाएँ, जिनमें मेरे स्वामी स्थित हैं, कैसे घरके अन्दर प्रतीत हो सकती हैं ॥ ८ ॥

सरसोंके भीतर मदोन्मत्त ऐरावत हाथी बाँधा गया, परमाणुके भीतर मच्छरने सिंहोंके झुण्डके साथ युद्ध किया, कमलगट्टेके अन्दर मेरु स्थापित है और भँवरके बच्चेने उसे निगल लिया, स्वप्नके मेघकी गर्जनाको सुनकर मयूर बड़ा विचित्र नाच करते हैं, इत्यादि कहना जैसे असमञ्जस है, वैसे ही हे देवेशि, घरके अन्दर पृथ्वी लोक और पर्वत हैं, यह कहना भी असमञ्जस है ॥ ९–११ ॥

हे देवेशि, जिस प्रकारसे इसकी उपपत्ति हो, वैसा हमसे निर्मल बुद्धिसे कहिए, क्योंकि अपने प्रसादसे अनुगृहीत जनोंकी बड़े लोग कभी उपेक्षा नहीं करते ॥ १२ ॥

श्रीदेवीने कहा—सुन्दरी, मै मिथ्या नहीं बोल रही हूँ, तुम इस विषयको भली-भाँति चित्त देकर सुनो, हम लोग वेदोक्त 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए' इत्यादि नियमोंका उल्लंघन नहीं करते ॥ १३ ॥

दूसरोंके द्वारा भिद्यमान (उलंघन किये जा रहे) जिस (वेदमर्यादा) का मैं

स ग्रामद्विजजीवात्मा तस्मिन्नेव स्वसद्मनि ।
व्योम्न्येवेदं महाराष्ट्रं व्योमात्मैव प्रपश्यति ॥ १५ ॥
प्राक्तनी सा स्मृतिर्लुप्ता युवयोरुदिताऽन्यथा ।
स्वप्ने जाग्रत्स्मृतिर्यद्वदेतन्मरणमङ्गने ॥ १६ ॥
यथा स्वप्ने त्रिभुवनं सङ्कल्पे त्रिजगद्यथा ।
यथा कथार्थसङ्ग्रामो मरुभूमौ जलं यथा ॥ १७ ॥
तस्य ब्राह्मणगेहस्य स शैलवनपत्तना ।
इयमन्तःस्थिता भूमिः सङ्कल्पादर्शयोरिव ॥ १८ ॥
असत्यैवेयमाभाति सत्येव घनसर्गता ।
तस्मात्सत्यावभासस्य चिद्व्योम्नः कोशकोटरे ॥ १९ ॥
असत्याद्यत्समुत्पन्नं स्मृत्या नाम तदप्यसत् ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां तरङ्गोऽपि न सद्यतः ॥ २० ॥

संस्थापन करती हूँ, यदि उसका मैं ही उल्लङ्घन करूँ तो उसका पालन कौन दूसरा करेगा ? ॥ १४ ॥

राजा बननेकी वासनासे उपहित चिदात्मारूप उक्त गाँवके ब्राह्मणका वह जीवात्मा उसी अपने निवास स्थानमें आकाशमें इस व्योमरूप महाराष्ट्रको देखता है ॥ १५ ॥

यदि वे ही हम दोनों हैं, तो हम लोगोंको उक्त वृत्तान्तका स्मरण क्यों नहीं होता और मरणका स्वरूप क्या है ? इसपर कहती हैं—'**प्राक्तनी**' इत्यादिसे ।

हे अङ्गने, जैसे जाग्रत्-स्मृति स्वप्नमें नष्ट हो जाती और अन्य स्मृति उदित होती है, वैसे ही तुम लोगोंकी पूर्व जन्मकी स्मृति नष्ट हो चुकी है और उससे विपरीत स्मृति उत्पन्न हुई है, यही मरण है ॥ १६, १७ ॥

जैसे स्वप्नमें त्रिभुवन है, जैसे सङ्कल्पमें तीनों जगत् हैं, जैसे कथाका अर्थरूप सङ्ग्राम है, जैसे मरुभूमिमें जल है और जैसे सङ्कल्प और दर्पणमें अन्दर स्थित भूमि है, वैसे ही उस ब्राह्मणके घरकी पर्वत, वन और नगरसे युक्त यह भूमि असत्य है ॥ १८ ॥

इसलिए सत्य, ज्ञान चिदाकाशके कोश-कोटरमें यह असत्यभूत घनसृष्टि पञ्चकोशके अन्तर्गत सत्य चिद्व्योमरूप निमित्तसे सत्य-सी प्रतीत होती है ॥१९॥

पूर्व सर्गके असत्य होनेपर भी इस सर्गमें क्या आया ? इसपर कहती हैं—'**असत्याद्**' इत्यादिसे ।

इदं त्वदीयं सदनं तद्गेहाकाशकोशगम् ।
विद्धि मां त्वां च सर्वं च तच्चिद्व्योमैव केवलम् ॥ २१ ॥
स्वप्नसम्भ्रमसङ्कल्पस्वानुभूतिपरम्पराः ।
प्रमाणान्यत्र मुख्यानि संबोधाय प्रदीपवत् ॥ २२ ॥
स्थितो ब्राह्मणगेहान्तर्द्विजजीवस्तदम्बरे ।
ससमुद्रवना पृथ्वी स्थिताऽब्ज इव षट्पदः ॥ २३ ॥
तस्याः कस्मिंश्चिदेकस्मिन्पेलवे कोणकोटरे ।
इदं पत्तनदेहादि केशोण्डूक इवाऽम्बरे ॥ २४ ॥
तस्मिन्नस्मिन्पुरे तन्वि तदेव सदनं स्थितम् ।
तस्मात्किं त्रसरेण्वन्तर्जगद्वृन्दमिव स्थितम् ॥ २५ ॥

भद्रे, असत्यरूप कारणसे जो उत्पन्न होता है, वह स्मृतिरूप होनेके कारण असत्य ही है, क्योंकि मृगतृष्णासे कल्पित सरितामें तरङ्ग भी सत् नहीं होता ॥ २० ॥

हे भद्रे, उक्त गेहाकाशरूप कोशमें स्थित तुम्हारा यह घर, मैं, तुम और यह सब केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण प्रपञ्चके मिथ्या और केवल चिन्मात्रके परिशेषमें अनुभवसे सिद्ध दृष्टान्तके द्वारा अनुमान प्रमाण कहते हैं—**'स्वप्न०'** इत्यादिसे ।

स्वप्न, भ्रम और मनोरथके अपने-अपने अनुभव, दीपकके समान, यहाँपर बोध करनेके लिए मुख्य प्रमाण हैं ॥ २२ ॥

इस सृष्टिसे केवल गृहाकाश ही नहीं भरता यह बात नहीं है, किन्तु उसके एक देशमें स्थित जीवाकाशका एक देश भी नहीं भरता है, इसलिए यह मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—**'स्थितः'** इत्यादिसे ।

ब्राह्मणके घरके अन्दर ब्राह्मणका जीव है, उस जीवाकाशमें, कमलमें भ्रमरकी नाईं, समुद्र, नद-नदी और वनोंसे परिपूर्ण यह पृथिवी है ॥ २३ ॥

जैसे निर्मल आकाशमें कुण्डलके आकारके केशोंका भ्रम होता है वैसे ही उक्त पृथिवीके किसी एक निर्मल कोनेमें नगर, देह आदिकी प्रतीति होती है ॥ २४ ॥

जैसे गर्भसे खच्चरीके पेटका विनाश हो जाता है वैसे अनेक सर्गोंमें उत्पन्न होनेसे ब्राह्मणके उक्त घरके विनाशकी शङ्का नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहती हैं—**'तस्मिन्'** इत्यादिसे ।

परमाणौ परमाणौ सन्ति वत्से चिदात्मनि ।
अन्तरन्तर्जगन्तीति किन्त्वेतन्नाम शङ्क्यते ॥ २६ ॥

लीलोवाच

अष्टमे दिवसे विप्रः स मृतः परमेश्वरि ।
गतो वर्षगणोऽस्माकं मातः कथमिदं भवेत् ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

देशदैर्घ्यं यथा नाऽस्ति कालदैर्घ्यं तथाऽङ्गने ।
नाऽस्त्येवेति यथान्यायं कथ्यमानं मया शृणु ॥ २८ ॥
यथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम् ।
तथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम् ॥ २९ ॥

उस ब्राह्मणके घरके अन्दर इस सृष्टिके उत्पन्न होनेपर भी वह घर अभी ज्योंका त्यों बना ही है, विनष्ट नहीं हुआ । उस विप्रगृहके उदाहरणसे आश्चर्यके लिए कौन स्थान है, क्योंकि त्रिसरेणुके अन्दर भी जगत्-समुदाय स्थित-सा है । 'स्थित-सा' यह कथन मिथ्या होनेके कारण त्रिसरेणुके अन्दर जगत्का रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, यह दर्शानेके लिए है ॥ २५ ॥

आकाश आदि जगत्की सृष्टिमें पूर्वकालिक (आकाश आदि जगत्की सृष्टिके पूर्वकी) निरवकाशता विरोधिनी नहीं है, परमाणुसे अवच्छिन्न (अतिसूक्ष्म) चिदात्मामें भी जगतोंका सम्भव होनेसे असंभवकी शङ्का निरवकाश ही है, ऐसा कहती हैं—**'परमाणौ'** इत्यादिसे ।

भद्रे, परमाणुरूप चिदात्मामें भीतर-भीतर अनेक जगत् विद्यमान हैं, फिर उक्त चिदात्मामें ब्राह्मणके घरकी असंभावना तुम क्यों करती हो ? ॥ २६ ॥

लीलाने कहा—हे देवी, आजसे आठ दिन पहले उस ब्राह्मणकी मृत्यु हुई थी और हमें उत्पन्न हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, हे माँ, वे ही दम्पती हम हैं, यह कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

श्रीदेवीने कहा—सुन्दरी, जैसे देशदैर्घ्य नहीं है, वैसे ही कालदैर्घ्य भी नहीं ही है, इस विषयको युक्तिपूर्वक तुमसे कहती हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥२८॥

जैसे यह जगत्-सृष्टिकी प्रतीति कल्पनामात्र है, वैसे ही यह क्षण, कल्प आदिकी प्रतीति भी कल्पनामात्र ही है, वास्तविक नहीं है । क्षण, कल्प आदिरूप

क्षणकल्पं जगत्सर्वं त्वत्तामत्तात्मजन्मनाम् ।
यथावत्प्रतिभासस्य वक्ष्ये क्रममिमं शृणु ॥ ३० ॥
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्छनम् ।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रते ॥ ३१ ॥
तदैवोन्मेषमात्रेण व्योम्न्येव व्योमरूप्यपि ।
आधेयोऽयमिहाऽऽधारे स्थितोऽहमिति चेतसि ॥ ३२ ॥
हस्तपादादिमान् देहो ममाऽयमिति पश्यति ।
यदेव चेतसि वपुस्तदेवेदं स पश्यति ॥ ३३ ॥
एतस्याऽहं पितुः पुत्रो वर्षाण्येतानि सन्ति मे ।
इमे मे बान्धवा रम्या ममेदं रम्यमास्पदम् ॥ ३४ ॥
जातोऽहमभवं बालो वृद्धिं यातोऽहमीदृशः ।
बान्धवाश्चाऽस्य मे सर्वे तथैव विचरन्त्यमी ॥ ३५ ॥
चित्ताकाशघनैकत्वात् स्वेऽप्यन्येऽपि भवन्ति ते ।
एवं नामोदितेऽप्यस्य चित्ते संसारखण्डके ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण जगत् 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि अध्यासके अधीन स्वजन्मरूप भ्रमवाले पुरुषोंको ही प्रतीत होता है, उक्त प्रतीतिके क्रमको मैं तुमसे यथार्थरूपसे कहूँगी, तुम सुनो ॥ २९,३० ॥

पतिव्रते, जब जीव क्षण भर मिथ्याभूत मरण-मूर्छनाका अनुभव कर, पूर्वजन्मके पदार्थोंको भूल कर अन्य पदार्थोंको देखता है, तभी आकाशरूपी वह चिदाकाशमें, पलक भरमें, यह मैं आधेयस्वरूप हूँ और इस आधारमें स्थित हूँ, ऐसा स्मरण करता है यानी उसके चित्तमें उक्त सस्कार उद्भूत होता है ॥ ३१,३२ ॥

और वह देखता है कि मेरा यह शरीर हस्त, पाद आदिसे सम्पन्न है । जैसा उसके चित्तमें संस्कार रहता है, वैसा ही वह अपने शरीरको देखता है ॥ ३३ ॥

इस पिताका मैं पुत्र हूँ, मुझे इतने वर्ष हो गये हैं, ये मेरे रमणीय भाई-बन्धु है और यह मेरा रमणीय घर है । मैं उत्पन्न हुआ, बालक हुआ, बढ़ा और अब ऐसा हूँ और ये सब मेरे बन्धु-बान्धव भी मेरे तुल्य ही उत्पन्न हुए, बालक हुए, बढ़े और अब मेरे सदृश ही विचरण करते हैं ॥ ३४,३५ ॥

बन्धु-बान्धव देहके सम्बन्धीरूपसे कल्पित है, अतः वे देहके सम्बन्धी

न किञ्चिदप्यभ्युदितं स्थितं व्योमैव निर्मलम् ।
स्वप्ने द्रष्टरि यद्वच्चित् तद्वद् दृश्ये चिदेव सा ॥ ३७ ॥
सर्वगैकतया यस्मात् सा स्वप्ने दृष्टदर्शना ।
यथा स्वप्ने तथोदेति परलोकदृगादिभिः ॥ ३८ ॥
परलोके यथोदेति तथैवेहाऽभ्युदेति सा ।
तत्स्वप्नपरलोकेहलोकानामसतां सताम् ॥ ३९ ॥
न मनागपि भेदोऽस्ति वीचीनामिव वारिणि ।
अतो जातमिदं विश्वमजातत्वादनाशि च ॥ ४० ॥

भले ही हों पर उनमें आत्मीयत्व कैसे ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'चित्ता'०** इत्यादिसे ।

यद्यपि बन्धु-बान्धव वस्तुतः देहसम्बन्धी हैं, तथापि देहरूपताको प्राप्त हुए चित्ताकाश और आत्माकाशका अत्यन्त दृढ तादात्म्याध्यास होनेसे वे वस्तुतः परकीय होते हुए भी आत्मीय भी होते है, ऐसा होनेपर जीवके चित्तके संसारमें देहरूपताको प्राप्त होनेपर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल निर्मल आकाश ही स्थित है, जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टामें विद्यमान चित् ही रहती है, वैसे दृश्य-प्रपञ्चमें भी चित् ही है, भाव यह है कि जैसे स्वप्न देखनेवाले पुरुषमें विद्यमान चित् ही स्वप्नमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंके आकारको प्राप्त होती है, वैसे ही चित् ही दृश्य पदार्थोंके आकारमें प्रतीत होती है, चित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३६, ३७ ॥

चूँकि स्वप्नमें द्रष्टा और दृश्यरूपसे कल्पित विभिन्न पदार्थोंमें अदृश्यरूपसे व्याप्त चित् कल्पित द्रष्टा और दृश्यरूप विविध पदार्थोंका बाध होनेपर एकरस चित्-रूपसे पुनः दृष्टिगोचर होती है, अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ । वह चित् जैसे स्वप्नमें द्रष्टा, दृश्य आदिरूपमें उदित होती है, वैसे ही परलोकके द्रष्टाओं द्वारा देखी जाती हुई परलोकमें उदित होती है और जैसे परलोकमें उदित होती है, वैसे ही इस लोकमें भी उदित होती है । इसलिए वास्तवमें असत् किन्तु भ्रमवश सत्-से प्रतीत होनेवाले स्वप्न, परलोक और इस लोकमें तनिक भी भेद नहीं है, वे परस्पर ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि जलमें उत्पन्न हुई लहरें एक दूसरेसे अभिन्न रहती हैं । चूंकि यह विश्व जलमें लहरोंके समान चित्में भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उत्पन्न न होनेके कारण

स्वरूपत्वात्तु नाऽस्त्येव यच्च भाति चिदेव सा ।
यथैव चेत्यनिर्हीणा परमव्योमरूपिणी ॥ ४१ ॥
सचेत्याऽपि तथैवैषा परमव्योमरूपिणी ।
तस्माच्चेत्यमतो नाऽन्यद्वीचित्वादिव वारितः ॥ ४२ ॥
वीचित्वं च रसे नाऽस्ति शशशृङ्गवदेव हि ।
सैव चेत्यमिवाऽऽपन्ना स्वभावादच्युताऽप्यलम् ॥ ४३ ॥
तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्योऽर्थः कुतोऽतो द्रष्टृदृश्यधीः ।
निमिषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम् ॥ ४४ ॥
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभामुपगच्छति ।
यथादेशं यथाकालं यथारम्भं यथाक्रमम् ॥ ४५ ॥

यह अविनाशी है, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश नहीं होता, यह अकाट्य नियम है ॥ ३८–४० ॥

इसका तात्त्विक रूप आत्मा ही है, अतएव जगद्रूपसे इसका अस्तित्व नहीं है और जिसका भान होता है, वह चैतन्य ही है । भाव यह है कि सम्पूर्ण प्रमाणोंसे अधिष्ठान चैतन्यका ही भान होता है, क्योंकि वही अज्ञात और अबाधित होनेसे प्रमाणोंके योग्य है, जड़ नहीं, क्योंकि उसमें (जड़में) आवरण कार्य न होनेसे प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका फल नहीं है । चेत्य (विषय) शून्य परमाकाशरूपिणी चित् जैसी है, चेत्ययुक्त परमाकाशरूपिणी चित् भी ठीक वैसी ही है । भाव यह है कि आरोपित चेत्यसे अधिष्ठानमें किसी किस्मका दूषण नहीं आता, अतएव जैसे जलसे वीचि भिन्न नहीं है, वैसे ही चित्से चेत्य अतिरिक्त नहीं है। जलमें वीचित्व शशशृङ्गके समान ही है। भाव यह कि रसतन्मात्र ही जलका यथार्थरूप है, उसमें वीचित्व नहीं है, क्योंकि उसका जीभसे ग्रहण नहीं होता, जो जलमें चक्षुसे वीचिके आकारका ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है, वह अन्य भूतोंके सम्बन्धरूप उपाधिसे उत्पन्न औपाधिक है, अतएव जलमें वीचित्व शशशृङ्गके समान असत् है, यह जो कहा वह ठीक ही है । वैसे ही यद्यपि चित् अपने स्वरूपसे सर्वथा अप्रच्युत है फिर भी चेत्यभावापन्न-सी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य पदार्थ नहीं ही है । जब दृश्य पदार्थ नहीं है तब द्रष्टृ और दृश्य बुद्धि कैसे होगी ? द्रष्टृ और दृश्य परस्पर सापेक्ष हैं, जब दृश्य नहीं है, तो द्रष्टृ

यथोत्पादं यथामातृ यथापितृ यथौरसम् ।
यथावयो यथासंविद्यथास्थानं यथेहितम् ॥ ४६ ॥
यथाबन्धु यथाभृत्यं यथेहास्तमयोदयम् ।
अजात एव जातोऽहमिति चेतसि चिद्वपुः ॥ ४७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च ।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ ४८ ॥
एषा माता पिता ह्येष बालोऽभूवमहं त्विति ।
नाऽनुभूतोऽनुभूतो वा यः स्यात्स्मृतिमयः क्रमः ॥ ४९ ॥
पश्चादुदेत्यसौ तस्य पुष्पस्येव फलोदयः ।
निमिषेणैव मे कल्पो गत इत्यनुभूयते ॥ ५० ॥
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत् ।
कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते ॥ ५१ ॥
मृतो जातोऽहमन्यो मे पितेति स्वप्नतास्विव ।
अभुक्तस्यैव भोगस्य भुक्तधीरुपजायते ॥

कैसे ? यह भाव है। मरणरूप अज्ञानके अनन्तर ही देश, काल, कर्म, क्रम, उत्पत्ति, माता, पिता, भाई-बन्धु, अवस्था, ज्ञान, स्थान, अभिलाषा, बन्धु-बान्धव, भृत्य, चेष्टा, सूर्योदय और सूर्यास्तके अनुसार त्रिजगत्रूपी दृश्यकी शोभा जीवकी बुद्धिमें आरूढ होती है। चित् उत्पन्न हुए बिना ही मैं उत्पन्न हुई यों विचार करती है और वासनाके अनुरूप देश, काल, कर्म, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिको देखती है और मरनेके अनन्तर तुरन्त ही राक्षसयोनिमें, महादेवजीके वरदानसे, अपने शरीरको युवावस्थामें देखती है ॥ ४१–४८ ॥

यह मेरी माता है, यह पिता है, मैं बालक हुआ इत्यादि अनुभूत या अननुभूत जो स्मृतिमय क्रम है, वह इसका पीछे उत्पन्न होता है, जैसे कि फूलके पीछे फलका उदय होता है। और एक ही पलकमें मेरा कल्प बीत गया, ऐसा अनुभव करता है ॥ ४९, ५० ॥

राजा हरिश्चन्द्रकी एक रात बारह वर्षकी हुई थी, स्त्रीवियोगी पुरुषोंको एक दिन वर्षके समान मालूम होता है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्नमें मैं मरा, उत्पन्न हुआ, यह दूसरा मेरा पिता है, ऐसी

भुक्तेऽप्यभुक्तधीर्दृष्टमित्यलङ्घितवादिषु ॥ ५२ ॥
शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभश्च मदस्वप्नादिसंविदि ॥ ५३ ॥
तैक्ष्ण्यं यथामरिचबीजकणे स्थितं स्वं
स्तम्भेषु चारचितपुत्रकजालमन्तः ।
दृश्यं त्वनन्यदिदमेवमजेऽस्ति शान्तं
तस्याऽस्ति बन्धनविमोक्षदृशः कुतः काः ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमार्थप्रतिपादनं नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

प्रतीति होती है, वैसे ही लोकमें भी मैं मरा, पुनः उत्पन्न हुआ, यह मेरा पिता है, जिस भोगका भोग नहीं किया, उसको मैंने भोग लिया, ऐसी बुद्धि और भुक्त-भोगोंमें मैंने इनका भोग नहीं किया, ऐसी प्रतीति मुग्ध लोगोंमें देखी जाती है ॥५२॥

अविद्यासे केवल असत्-प्रतीति ही नहीं होती, किन्तु सत्से विपरीत भान होना भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'शून्य०' इत्यादिसे ।

नशेमें और स्वप्नमें रिक्त स्थान भी समृद्ध-सा यानी लोगोंकी भीड़से ठसाठस भरा हुआ प्रतीत होता है, विपत्ति उत्सवके सदृश मालूम होती है और वञ्चना भी लाभ ज्ञात होती है ॥ ५३ ॥

जैसे मिर्चके बीजके किनकेमें विद्यमान तीक्ष्णता डण्ठलोंमें अपने स्वरूपको व्यक्त किये बिना ही भीतर स्थित है, वैसे ही जिस अजमें स्वरूपभूत यह सम्पूर्ण विश्व उसकी सत्तासे ही विद्यमान है, उस आत्मामें बन्धन और मोक्षदृष्टि कहांसे होगी और कैसे होगी ? यानी किस निमित्तसे होगी और स्वरूपतः कैसे होगी ? वे सर्वथा असंभावित हैं, यह भाव है ॥ ५४ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इदं जगदयं सर्गः स्मृतिरेवेति जृम्भते ।
दूरकल्पक्षणाभ्यासविपर्यासैकरूपिणी ॥ ५ ॥

नाऽनुभूताऽनुभूता च ज्ञप्तिरित्थं द्विरूपिणी ।
पूर्वकारणरिक्तैव चिद्रूपैव प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥

नाऽनुभूतेऽनुभूतत्वं संविदन्तरुदेत्यपि ।
स्वप्नभ्रमादावन्यस्मिन्पितरीव पितुः स्मृतिः ॥ ७ ॥

कदाचित्स्मृतितां त्यक्त्वा प्रतिभामात्रमेव सत् ।
भाति प्रथमसर्गेषु रूपेण तदनुक्रमात् ॥ ८ ॥

वासना ही यह जगत्, यह सृष्टि, इस प्रकार विलासको प्राप्त होती है। समीपमें स्थित और वर्तमान कालिकमें यह दूरस्थित और भूतकालीन है, यों देश और कालके विप्रकर्षरूपसे और सदातन और निष्क्रियमें क्षण, उनकी आवृत्तिरूप घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास और वर्ष आदिरूपसे विपर्यास (भ्रम) ही उक्त वासनाका केवल एकमात्र स्वरूप है ॥ ५ ॥

इस प्रकार ज्ञान अननुभूत और अनुभूतरूपसे दो प्रकारका है, वह पूर्वकारणोंसे रहित ही और चिद्रूप ही प्रवृत्त होता है ॥ ६ ॥

जो अनुभवमें नहीं आया है, उसमें अनुभूतत्वभ्रान्ति कहां देखी गई है ? इसपर कहते हैं—**'नाऽनुभूते०'** इत्यादिसे ।

अननुभूतमें (जो अनुभवमें आरूढ नहीं हुआ है, उसमें) इसका हमने अनुभव किया, ऐसी प्रतीति अन्तःकरणमें होती है, जैसे कि स्वप्न और भ्रमदशामें अन्यके पितामें ये मेरे पिता हैं ऐसी स्मृति होती है ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि संसार अनादिकालसे चला आ रहा है, इस अनादि संसारमें सब कुछ अनुभूत ही है, अतएव यह, जिसमें 'स एवायं यः पूर्वमनुभूतः पदार्थः' (जिस पदार्थका पहले अनुभव किया था, वही यह पदार्थ है) इत्याकारक तत्ताका लोप है, ऐसी स्मृति ही है, भ्रान्ति नहीं है, तो इसपर कहते हैं—**'कदाचित्'** इत्यादिसे ।

कभी प्रजापतिकी प्रथम सृष्टियोंमें स्मृतित्वका त्याग कर केवल अनुभवरूपसे ही रहता है, उसके पश्चात् क्रमशः स्मृतिरूपसे प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

दृश्यं त्रिभुवनादीदमनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ।
केषाञ्चित्तन्वि केषाञ्चिन्नाऽनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ॥ ९ ॥
प्रतिभासत एवेदं केषाञ्चित्स्मरणं विना ।
चिदणूनां प्रजेशत्वं काकतालीयवद् यतः ॥ १० ॥
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचन[1] कस्यचित् ॥ ११ ॥

पूर्व अनुभूतका ही भान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, ऐसा कहती हैं—'**दृश्यम्**' इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, तीनों भुवन आदि यह दृश्य प्रपञ्च किन्हीं लोगोंकी स्मृतिमें पहले अनुभवमें आरूढ़ होकर स्थित है और किन्हींकी स्मृतिमें पूर्वमें अनुभवमें आरूढ हुए बिना ही स्थित है ॥ ९ ॥

काकतालीयके समान किन्हीं चिदणुओंको पूर्वमें अननुभूत प्रजेशत्व, स्मरणके बिना ही, प्रतीत होता है। भाव यह है कि जैसे कौएका जाना और ताल-फलका गिरना, इन दोनोंका कार्यकारणभाव नहीं है, किन्तु काकगमन और फलपतन आकस्मिक है, वैसे ही कुछ चैतन्य परमाणुओंको मैं ब्रह्म हूँ, यह स्मरण पूर्वानुभवके बिना ही अवभासित होता है। उसको पूर्वजन्मके प्रजेशत्व (ब्रह्मत्व) का स्मरण होता है, यह तो कह ही नहीं सकते, क्योंकि 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' (तत्त्वज्ञान, सृष्टिकरणसामर्थ्य आदि ब्रह्माके स्वाभाविक धर्म हैं) इत्यादि स्मृतिसे ब्रह्मामें अवश्य ज्ञानोदय होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता ॥ १० ॥

वासनाओंकी राशि ही चित्त है, चूँकि संसार वासनाराशिरूप चित्तमय है, अतः चित्तके विनाशसे आत्यन्तिक निर्वासनारूप विस्मृति ही मोक्ष है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहती हैं—'**अत्यन्त०**' इत्यादिसे ।

विश्वका आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहलाता है। मोक्षमें किसीको भी प्रिय और अप्रिय कुछ नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (मुक्त पुरुषको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसी श्रुति है ॥ ११ ॥

१ 'केचन' के स्थानमे 'काचन' पाठ बहुधा उपलब्ध होता है। उक्त पाठमें ऐसा अर्थ करना चाहिए—विश्वका आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहा जाता है, उक्त अवस्थामें प्रिय और अप्रिय नहीं होते, क्योंकि 'अशरीर वाव' ऐसी श्रुति है। क्यो नही होते, ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कहती

अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाऽहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ १२ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमः सर्पशब्दार्थासम्भवं स्थितम् ।
अनुत्पादमयं त्यक्त्वा शान्तोऽपि हि न शाम्यति ॥ १३ ॥
अर्धशान्तो न शान्तोऽसौ समेत्यर्थतया पुनः ।
उदेत्येकपिशाचान्ते पिशाचोऽन्यो ह्यधीमतः ॥ १४ ॥
संसारश्चाऽयमाभोगी परमेवेति निश्चयः ।
कारणाभावतो भाति यदिहाऽभातमेव तत् ॥ १५ ॥

अहन्ता और जगत्‌की मूलभूत अविद्याके बाधके बिना यह अनुत्पादमयी (नित्य) विमुक्तता उदित ही नहीं होती । कभी उत्पन्न न हुए और रज्जुरूपसे स्थित सर्पशब्द और सर्परूप अर्थके अभावको जाने बिना रज्जुमें सर्पका भ्रम शान्त होनेपर भी शान्त नहीं होता। भाव यह है कि रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होता है, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति तभी हो सकती है, जब कि सर्पशब्द और सर्परूप अर्थका आत्यन्तिक बाध हो जाय । अत्यन्त बाध न होनेसे कदाचित् उसका बाध होनेपर भी फिर वह उदित हो जाता है, आत्यन्तिक निवृत्ति ही उसका एकमात्र उपाय है ॥ १२,१३ ॥

यदि कोई कहे कि योगसे मनकी वृत्तिका शमन होनेसे ही वह शान्त हो जायगा, ज्ञानकी उसके लिए क्या आवश्यकता है, इसपर कहते हैं— **'अर्ध०'** इत्यादिसे ।

जो विक्षेपरूप अंशकी शान्तिसे आधा शान्त हुआ यानी पूर्णतया निवृत्त नहीं हुआ, वह शान्त नहीं होता, क्योंकि समाधिसे व्युत्थान होनेपर वह फिर मूढ़ पुरुषको विक्षेपार्थरूपसे प्रतीत होता है, क्योंकि मूढ़ पुरुषको एक पिशाचकी निवृत्ति होनेपर दूसरा पिशाच दिखाई देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानसे ही इस संसारसागरसे निस्तार हो सकता है, ऐसा कहते हैं— **'संसार०'** इत्यादिसे ।

हैं—'कावन' । मोक्षावस्थामें जो चित् अवशिष्ट रहती है, वह किसकी है, विषयकी है या भोक्ताकी है ? जिसके कारण प्रिय और अप्रिय होगे ? भगवती श्रुतिने भी कहा है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (जिस मोक्षदशामें इसका सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहां किसको किससे देखेगा) इत्यादि ।

लीलोवाच

ब्राह्मणब्राह्मणीरूपे सर्गे कारणसंस्मृतिः ।
कथमभ्युत्थिता साऽस्य स्मरणीयमिदं विना ॥ १६ ॥

श्रीदेव्युवाच

पितामहस्मृतिस्तत्र कारणं तस्य न स्मृतिः ।
पूर्वं न सम्भवत्येव मुक्तत्वात् पूर्वजन्मनः ॥ १७ ॥
पूर्वं न सम्भवत्येव स्मरणीयमिति स्वयम् ।
पद्मजादित्वमायाति चैतन्यस्य तथास्थितेः ॥ १८ ॥

यह विशाल संसार परब्रह्म ही है, यह निश्चय है। अविद्याके बाधसे यदि यह प्रकाशित होता है, तो प्रकाशित ही रहता है यानी फिर उसके आवरण आदिकी शङ्का नहीं रहती है ॥ १५ ॥

जो पहले यह कहा था कि यह सर्ग ब्राह्मण-ब्राह्मणीके सर्गमें अभ्यस्त वासनाओंसे उत्पन्न है, उसमें लीला अनुपपत्तिकी आशङ्का करती है—**'ब्राह्मण०'** इत्यादिसे।

लीलाने कहा—देवी, ब्राह्मण और ब्राह्मणीरूप सर्गमें इस सर्गका कारणभूत संस्कार, पूर्वमें अनुत्पन्न स्मरणयोग्यके पूर्वानुभवके बिना, कैसे उत्पन्न हुआ? इस समय (राजसर्गमें) जो वस्तुएँ हैं, वे पहले (ब्राह्मण-ब्राह्मणीरूप सर्गमें) नहीं थीं, अतः उस समय उनका अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता। पूर्व अनुभव न होनेके कारण संस्काररूप वासना उस समय नहीं हो सकती, यह भाव है ॥ १६ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, केवल संस्कार ही वासना नहीं है, आगे मैं संस्कारसे अतिरिक्त (अनादि अविद्याशक्तिरूप) भी वासना तुमसे कहूँगी। यदि संस्कारको भी तुम सृष्टिमें आवश्यक मानती हो, तो सर्वज्ञ ब्रह्माको भावी वस्तुओंका भी अनुभव हो सकता है, अतः उन्हींका संस्कार उक्त सर्गका कारण है, ऐसा मान लो। अपनी देहकी सृष्टि आदिमें तो उनका भी संस्कार कारण नहीं हो सकता है। यदि कहो कि उनसे पूर्व जो ब्रह्मा रहे, उनका संस्कार उनकी देहकी सृष्टिमें कारण है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्वकल्पकी समाप्तिमें ही मुक्त हो चुके ॥ १७ ॥

जिनका इस समय स्मरण हो रहा है, उन वस्तुओंके ब्राह्मणसृष्टिमें न

अभूवमहमित्यन्यः प्रजानाथः प्रजापतेः ।
काकतालीयवत् कश्चिद्भवति प्रतिभामयः ॥ १९ ॥
एवमभ्युदिते लोके न किञ्चिन्न कदाचन ।
क्वचिदभ्युदितं नाम केवलं चिन्नभः स्थितम् ॥ २० ॥
द्विविधायाः स्मृतेरस्याः कारणं परमं पदम् ।
कार्यकारणभावोऽसावेक एव चिदम्बरे ॥ २१ ॥
कार्यं च कारणं चैव कारणैः सहकारिभिः ।
कार्यकारणयोरैक्यात्तदभावान्न शाम्यति ॥ २२ ॥

रहनेसे भी उनके स्मरणका (संस्कारका) सम्भव नही है, ऐसा कहती हैं—**'पूर्वम्'** इत्यादिसे ।

पहले स्मरणयोग्य पदार्थ नहीं ही थे । पूर्वकल्पके ब्रह्माके शरीर आदिकी वासनासे युक्त मायोपहित चैतन्यकी ही तादृश आकारसे स्थिति होनेसे वही इस प्रकारके अपूर्व ब्रह्मा आदिके रूपसे विवर्तको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पूर्व कल्पके ब्रह्माकी वासनासे युक्त अविद्याका अविद्याके अधिष्ठानभूत तत्त्वके ज्ञानसे बाध होनेपर जो होता है, उसे कहती हैं—**'अभूवम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वकल्पके प्रजापतिसे अन्य मै प्रजापति हुआ, इस प्रकार काकतालीयके समान (अकस्मात्) कोई प्रतिभामय (काल्पनिक यानी मनोमय) प्राणी (ब्रह्मा) उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

चूँकि ब्रह्मा स्वयं कल्पनामय है, अतएव उसका और उसकी सृष्टिका बाध होना युक्तियुक्त है, इस आशयसे कहती हैं—**'एवम्०'** इत्यादिसे ।

जगत्के इस प्रकार उदित होनेपर भी कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है ॥ २० ॥

पूर्व अनुभवसे उत्पन्न संस्कारसे जनित अथवा अनादि अविद्याशक्तिरूप अन्य वासनासे उत्पन्न हिरण्यगर्भकी अथवा अन्य किसीकी स्मृतिरूप इस सृष्टिका कारण परमपद (मायाशबल ब्रह्म) है । शुद्ध ब्रह्ममें तो कार्यकारणभाव आदि भेदका गन्ध भी नही है, ऐसा कहती हैं—'कार्यम्' इत्यादिसे । चिदाकाशमें यह कार्यकारणभाव एक ही है यानी अभिन्न ही है । भाव यह कि शुद्ध चिद्में कार्य-कारणभावका गन्ध भी नहीं है ॥ २१ ॥

कार्य-कारणविकल्प अविचाररूप माया द्वारा किया गया है, विचार करनेपर

महाचिद्रूपमेव त्वं स्मरणं विद्धि वेदनम् ।
कार्यकारणता तेन स शब्दो न च वास्तवः ॥ २३ ॥

उसका बाध हो जाता है, यह दर्शानेके लिए विचार करती हैं—'**कार्यम्**' इत्यादिसे।

कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ताना, वाना आदि सहकारी कारणोंसे होंगे, क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें यदि वे उपकारक न होंगे, तो सहकारी कारण ही क्यों कहलायेंगे ? उपकाररूप कार्य भी वैसे ही सहकारी कारणोंसे होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। उक्त अनवस्था दोषवश उपकार न होनेसे कार्य-कारणभावका बाध होनेपर कार्यकारण-कल्पनाके अधिष्ठानभूत तन्तु आदिका अभेद शान्त नहीं होता, क्योंकि भेदका कारण कोई नही है ॥ २२ ॥

युक्तिसे ऐसा भले ही हो, पर यह बात अनुभवमें कैसे आरूढ़ हो सकती है, उसके लिए श्रीदेवीजी प्रत्यग्दृष्टिका व्युत्पादन करती हैं—'**महाचिद्रूप०**' इत्यादिसे ।

'स्मर्यतेऽनेन इति स्मरणम्' इस व्युत्पत्तिसे स्मरण चित्संवलित व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण है, उसीको आप वेदन जानिये और वह मायाशबल ईश्वरका कार्य है। वहांपर मायोपाधि और अन्तःकरणोपाधिका भेद प्रतीत होनेपर उससे उपहित अधिष्ठानरूप सन्मात्रमें भी भेदकल्पना होनेसे कार्यके अस्तित्वका जन्म कारणसत्ताके अधीन है, इस भ्रमसे पूर्व अवस्थावाले सद्रूप कारणको यह उत्तरा-वस्थावाला कार्य है, ऐसा जो तुम जानती हो, वैसा जानना ठीक नहीं है, किन्तु माया और उसके कार्यकी उपेक्षा कर उन दोनोंमें अनुगत सन्मात्र महाचिद्रूपका ही स्मरण (वेदन) जानो। उस पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रत्यग्दर्शनसे कार्यकारणता तो बाधित हो गई, बच गया केवल कार्य और कारण शब्द। वह भी इस दृष्टिसे देखनेपर वास्तव नहीं है। इस प्रत्यग्दृष्टिका स्वाराज्यसिद्धिमें खूब स्पष्टरूपसे उपपादन किया गया है—

पिण्डावस्थाघटत्वे मनसि कलयतो हेतुकार्यत्वधीः स्यात्
मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम् ।
तद्वन्मायिप्रपञ्चौ झटिति कलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः
सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परिमृशतो नैव मायी न विश्वम् ॥

(जैसे मनमें मृत्पिण्ड और घटत्वका ग्रहण (ध्यान) कर रहे पुरुषकी हेतुत्व और कार्यत्व बुद्धि होती है, केवल मृत्-पिण्डका ही ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें न

एवं न किञ्चिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ २४ ॥
लीलोवाच
अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता देवि मे त्वया ।
रूपश्रीर्जागती प्रातःप्रभयेवेक्षणद्युतिः ॥ २५ ॥
इदानीमहमेतस्यां यावत्परिणता दृशि ।
नाऽभ्यासेन विना तावद्धिन्धीदं देवि कौतुकम् ॥ २६ ॥
यत्राऽसौ ब्राह्मणो गेहे ब्राह्मण्या सहितोऽभवत् ।
तं सर्गं तं गिरिग्रामं नय मां तं विलोकये ॥ २७ ॥

कार्य है और कारण है, वैसे ही मायावान् और प्रपञ्चका ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें ब्रह्म विश्वका हेतु है, यह प्रतीति होती है, एकरूप सन्मात्रका ध्यान कर रहे पुरुषकी दृष्टिमें न मायावान् है और न विश्व ही है ।)

वार्तिकमें भी कहा है—

'तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि ।
उक्तेऽर्थे संशयश्चेत् स्यात् प्रत्यग्दृष्ट्या निरीक्ष्यताम् ॥'

(इसलिए संसार प्रत्यगात्मामें संभावनामात्र है । उक्त अर्थके विषयमें यदि सन्देह हो तो प्रत्यक्-दृष्टिसे देखिये ।) इत्यादि ॥ २३ ॥

इस प्रकार प्रपञ्चाभाव अक्षुण्ण स्थित है, यों उपसंहार करती हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस तरह कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूपसे प्रतीत होता है, यह भी चित् ही है । केवल चिदाकाश स्वात्मभूत चिदाकाशमें स्थित है, क्योंकि 'स्वे महिम्नि स्थितः' (अपने स्वरूपमें स्थित है) ऐसी श्रुति है ॥२४॥

प्रत्यग्-दृष्टिसे प्रबुद्ध हुई लीलाने कहा—**'अहो'** इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवी, जैसे प्रातःकालकी प्रभा लोगोंको जगत्की स्फुटरूप शोभा दिखलाती है, वैसे ही आपने मुझे बड़ी श्रेष्ठ दृष्टि दिखलाई है । इस समय जब तक मैं अभ्यास न होनेके कारण इस दृष्टिमें दृढ़ व्युत्पत्ति प्राप्त न कर लूँ, तबतक आप मेरी इस उत्कण्ठाको नष्ट कीजिये ॥ २५, २६ ॥

हे देवी, जिस घरमें वह ब्राह्मण ब्राह्मणीके साथ हुआ था, उस सृष्टिमें, पर्वतीय ग्राममें मुझे ले चलिये, उसे मैं देखती हूँ ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

अचेत्यचिद्रूपमयीं परमां पावनीं दृशम् ।
अवलम्ब्येममाकारमवमुच्य भवाऽमला ॥ २८ ॥
ततः प्राप्स्यस्यसन्देहं व्योमात्मानं नभःस्थितम् ।
भूमिष्ठनरसंकल्पो गगनान्तःपुरं यथा ॥ २९ ॥
एवं स्थिते तं पश्यावः सह सर्गमनर्गलम् ।
अयं तद्दर्शनद्वारे देहो हि परमार्गलम् ॥ ३० ॥

लीलोवाच

अमुना देवि देहेन जगदन्यदवाप्यते ।
न कस्मादत्र मे युक्तिं कथयाऽनुग्रहाग्रहात् ॥ ३१ ॥

श्रीदेव्युवाच

जगन्तीमान्यमूर्तानि मूर्तिमन्ति मुधाग्रहात् ।
भवद्भिरवबुद्धानि हेमानीवोर्मिकाधिया ॥ ३२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—सुन्दरी, परम पवित्र जो चेत्यशून्य चिन्मय दृष्टि (कारण ब्रह्मरूपता) है, उसका अवलम्बन कर इस आकारका त्याग कर निर्मल होओ। भाव यह कि उसके अवलोकनके लिए समाधि द्वारा पहलेकी नाईं इस शरीरका भूल जाना परम आवश्यक है। तदनन्तर तुम मायाकाशरूप चिदाकाशमें स्थित उस सृष्टिको अवश्य प्राप्त होओगी जो कि भूमिमें स्थित मनुष्योंके सङ्कल्प (मनोरथ) की नाईं और आकाशके अन्तःपुरकी नाईं है ॥ २८, २९ ॥

तुम्हारे पूर्वोक्त प्रकारसे निर्मल होनेपर हम दोनों साथ-साथ किसी प्रकारके प्रतिबन्धसे शून्य उस सृष्टिको देखेंगे। उस सृष्टिके दर्शनरूप महलके द्वारमें यह शरीर बड़ा भारी प्रतिबन्धका है, इस शरीरके रहते उसका दर्शन कदापि नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ ३० ॥

लीलाने कहा—हे देवी, इस शरीरसे दूसरी सृष्टि क्यों प्राप्त नहीं होती? इसमें क्या युक्ति है? इस बातको कृपाकर आप मुझसे कहिये ॥ ३१ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से, ये जगत् मायामय होनेके कारण अमूर्त हैं, लेकिन मिथ्याज्ञानसे आप लोग इन्हें मूर्तिमान् मान बैठे हैं जैसे कि सुवर्णको लोग अँगूठी समझ लेते हैं। जैसे अङ्गुलीयक (अँगूठी) का आकार धारण किये

हेम्न्यूर्मिका रूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नाऽस्ति च ब्रह्मणि ॥ ३३ ॥
जगदाकाशमेवेदं ब्रह्मैवेह तु दृश्यते ।
दृश्यते काचिदप्यत्र धूलिरम्बुनिधाविव ॥ ३४ ॥
अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् ।
अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ॥ ३५ ॥
ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म नाऽब्रह्म ब्रह्म पश्यति ।
सर्गादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥ ३६ ॥
न ब्रह्म जगतामस्ति कार्यकारणतोदयः ।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम् ॥ ३७ ॥
यावदभ्यासयोगेन न शान्ता भेदधीस्तव ।
नूनं तावदतद्रूपा न ब्रह्म परिपश्यसि ॥ ३८ ॥

हुए सुवर्णमें अङ्गुलीयकत्व (अँगूठीपना) नहीं है वैसे ही जगत्का रूप धारण किये हुए ब्रह्ममें भी जगत् नहीं है । यह जगत् आकाश (शून्य) ही है, यहांपर जो कुछ दिखलाई देता है, वह ब्रह्म ही है, जैसे धूलिके विरोधी समुद्रमें प्रतिबिम्बरूप धूलि दिखलाई देती है वैसे ही ब्रह्ममें भ्रमवश माया दिखाई देती है ॥ ३२–३४ ॥

उक्त अर्थमें प्रमाणोंकी असंभावनाका मूलोच्छेद करनेके लिए दृढ़तर प्रमाणोंको दिखलाते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च झूठा है और सत्य है अद्वितीय आत्मरूप ब्रह्म । इस विषयमें उपनिषत् वाक्य, गुरुजन और अपना अनुभव प्रमाण है ॥ ३५ ॥

ब्रह्म ही ब्रह्मको देखता ब्रह्मसे भिन्न कदापि ब्रह्मको नहीं देख सकता, ब्रह्मकी ही इस प्रकारकी यह आवृत-सत्ता सृष्टिके नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुई है ॥ ३६ ॥

ब्रह्म और जगतोंकी कारणता और कार्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण सहकारी कारणोंका अभाव है ॥ ३७ ॥

अभ्यास न होनेके कारण जबतक तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं होती, तबतक तुम निश्चय अब्रह्मरूप (ब्रह्मभिन्न देह आदिमें आत्मबुद्धि करनेके कारण देह आदिरूप) हो, अतएव तुम ब्रह्मको नहीं देख सकती ॥ ३८ ॥

तत्र रूढिमुपायाता य इमे त्वस्मदादयः ।
अभ्यासाद् ब्रह्मसंपत्तेः पश्यामस्ते हि तत्परम् ॥ ३९ ॥
सङ्कल्पनगरस्यैव ममाऽऽकाशमयं वपुः ।
ब्रह्मैव चाऽन्तः पश्यामि देहेनाऽनेन तत्पदम् ॥ ४० ॥
विशुद्धज्ञानदेहार्हास्तथैते पद्मजादयः ।
ब्रह्मात्मजगदादीनामंशे संस्थानसज्ञ्ने ॥ ४१ ॥
तवाऽभ्यासं विना बाले नाऽऽकारो ब्रह्मतां गतः ।
स्थितः कलनरूपात्मा तेन तन्नाऽनुपश्यसि ॥ ४२ ॥
यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेन न लभ्यते ।
तत्राऽन्यसङ्कल्पपुरं देहोऽन्यो लभते कथम् ॥ ४३ ॥

ब्रह्मज्ञानका बार-बार अभ्यास करनेके कारण उक्त अर्थमें (ब्रह्माद्वैतमें) जो अत्यन्त व्युत्पन्न हो गये हैं, ऐसे हम लोग उस परम पदका साक्षात्कार करते हैं ॥३९॥

मनोरथसे गढ़े गये नगरके समान मेरा शरीर आकाशमय (शुद्धचित्ताकाशमय) है, इस देहसे मैं ब्रह्मरूपी उस परम पदको अपने अन्तःकरणमें ही देखती हूँ ॥४०॥

भद्रे, जैसे मैं देखती हूँ, वैसे ही ये ब्रह्मा आदि भी विशुद्ध चित्तरूपी देहसे ब्रह्मदर्शनके योग्य हैं, वे ब्रह्मरूप जगत् और जगत्के व्यवहारोंकी ब्रह्मके एक देशमें स्थिति देखते हैं, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (उसका एक हिस्सा सम्पूर्ण भूत हैं और अमृत तीन भाग द्योतनात्मक स्वस्वरूपमें हैं) ऐसी श्रुति है ॥ ४१ ॥

यह देह केवल अन्य सृष्टिके दरवाजेपर जानेमें ही प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञानका भी प्रतिबन्धक है, ऐसा कहती हैं—'तवा०' इत्यादिसे ।

बेटी, अभ्यास न होनेके कारण ब्रह्मरूपताको प्राप्त न हुआ तुम्हारा आकार कलनस्वरूप (कलन यानी अन्तःकरणमें जो चिदाभास तत्स्वरूप) स्थित है, अतएव तुम प्रकरणप्राप्त ब्रह्मको और उक्त पर्वतीय ग्रामको नहीं देखती हो ॥४२॥

इस देहसे उसकी जो प्राप्ति नहीं होती, उसमें हेतु है, उसका संकल्पजन्य होना इस बातको कैमुतिक न्यायसे दृढ़ करती हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब अपने सङ्कल्पसे (मनोरथसे) निर्मित नगर अपने शरीरसे प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरेके सङ्कल्पसे विरचित नगरको अन्य देह कैसे प्राप्त करेगी ? यानी यह संभव नहीं है ॥ ४३ ॥

तस्मादेनं परित्यज्य देहं चिद्व्योमरूपिणी ।
तद् द्रक्ष्यसि तदेवाऽऽशु कुरु कार्यविदांवरे ॥ ४४ ॥
संकल्पनगरं सत्यं यथासङ्कल्पितं प्रति ।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किञ्चन ॥ ४५ ॥
आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता ।
तथा तदाप्रभृत्येवं नियतिः प्रौढिमागता ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

त्वयोक्तं देवि गच्छावो ब्राह्मणब्राह्मणीजगत् ।
सहेतीदमिदं वच्मि कथं गन्तव्यम्ब हे ॥ ४७ ॥
इमं देहमिहाऽऽस्थाप्य शुद्धसत्त्वानुपातिना ।
चेतसा तं परं यामि लोकं त्वं कथं मेषि तत् ॥ ४८ ॥

हे कार्यज्ञोंमें श्रेष्ठ सुन्दरी, इसलिए इस देहका परित्याग कर तुम चिद्व्योम-रूपिणी हो जाओ । चिद्व्योमरूपिणी होकर तुम तुरन्त उसको देखोगी, अतएव तुम शीघ्र वही कार्य करो ॥ ४४ ॥

देहसे साध्य अथवा देहसे असाध्य जो सङ्कल्प नगरका व्यवहार उसके उपभोगके प्रति सङ्कल्पनगर सत्य है, यानी व्यवहारक्षम है । पर देहसे साध्य अथवा देहसे असाध्य अन्य किसी व्यवहारके लिए सत्य नहीं है ॥ ४५ ॥

ब्रह्माके सङ्कल्पसे उत्पन्न इस जगत्का हमारे सङ्कल्पसे जनित (साङ्कल्पिक) नगरसे कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सङ्कल्पजन्यत्व दोनोंमें समान ही है फिर उनमें परस्पर विलक्षणता कैसे हो गई ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अनादि नियतिरूप ईश्वरकी इच्छास्वरूप मायाशक्तिसे उनमें विलक्षणता हुई है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं—**'आदि सर्गे'** इत्यादिसे ।

प्रथम सृष्टिमें यह जगत्भ्रान्ति जैसी दृढ़ताको प्राप्त हुई थी, तभीसे लेकर यह ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति वैसे ही दृढ़ताको प्राप्त हुई है, भाव यह कि हमारे द्वारा संकल्पित नगर और ब्रह्मा द्वारा संकल्पित जगत्की विलक्षणतामें अनादि ईश्वरेच्छा-रूप मायाशक्ति ही हेतु है ॥ ४६ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जगत्में तुम और हम साथ ही जाते हैं, पर माता, मैं पूछती हूँ कि हम लोग साथ-साथ

श्रीदेव्युवाच

सङ्कल्पव्योमवृक्षस्ते यथा सन्नपि खात्मकः ।
न कुड्यात्मा न कुड्येन रोध्यते नाऽपि कुड्यहा ॥ ४९ ॥
शुद्धैकसत्त्वनिर्माणं चिद्रूपस्यैव तत्किल ।
प्रतिभानमतस्तस्मात् परस्माद्भिद्यते मनाक् ॥ ५० ॥
सोऽयमेतादृशो देहो नैनं संत्यज्य याम्यहम् ।
अनेनैव तमाप्नोमि देशं गन्धमिवाऽनिलः ॥ ५१ ॥
यथा जलं जलेनाऽग्निरग्निना वायुनाऽनिलः ।
मिलत्येवमतो देहो देहैरन्यैर्मनोमयैः ॥ ५२ ॥

कैसे जावेंगे । इस शरीरको यहाँपर रखकर शुद्ध सत्त्वका अनुसरण करनेवाले चित्तसे मै उस आकाशमय सृष्टिमें जाऊँगी, पर आप अपनी इस देहसे वहाँ कैसे जावेंगी ? ॥ ४७, ४८ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे तुम्हारा सङ्कल्पमय आकाशवृक्ष साङ्कल्पिक सत्तासे सत् होता हुआ भी वास्तविक सत्तासे शून्यात्मक ही है, न वह आवरण करनेवाले कुड्य (भीत) आदिकी नाईं मूर्त्तिमान् है, न वह आवरणसे रोका जा सकता है और न आवरणभूत कुड्यका भेदक है, क्योंकि शून्यस्वरूप जो ठहरा । शुद्ध सत्त्वगुणका कार्य हमारा शरीर आदि चिद्रूपका ही वैसा (शरीराकार) प्रतिभान है, इस कारण परब्रह्मसे तनिक ही उसमें भेद है । जैसे जले हुए वस्त्रमें वस्त्राकार वस्तुतः उसका भस्म ही है वैसे ही अस्मद्देहाकार वस्तुतः ब्रह्म ही है, यह भाव है ॥ ४९, ५० ॥

मेरा यह शरीर इस प्रकारका है, अतएव तुम्हारी नाईं इसका परित्याग करके मैं नहीं जाती हूँ । जैसे वायु गन्धको प्राप्त होती है वैसे ही इसी देहसे मै ब्राह्मण-ब्राह्मणीके उस प्रदेशको प्राप्त होऊँगी ॥ ५१ ॥

यदि ऐसी बात है तो मेरे पतिकी सङ्कल्पजनित सृष्टिसे इसका (मेरी देहका) संयोग कैसे हुआ, इसपर देवीजी कहती हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे जल जलमें मिल जाता है, अग्नि अग्निसे मिल जाती है, वायु वायुसे मिल जाती है; वैसे ही यह तुम्हारी देह मनोमय देहोंसे और अन्य वस्तुओंसे मिल जाती है ॥ ५२ ॥

नहि पार्थिवतासंविदेत्यपार्थिवसंविदा ।
एकत्वं कल्पनाशैलशैलयोः क्वाऽऽहतिर्मिथः ॥ ५३ ॥
आतिवाहिक एवाऽयं त्वादृशैश्चित्तदेहकः ।
आधिभौतिकताबुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात् ॥ ५४ ॥
यथा स्वप्ने यथा दीर्घकालध्याने यथा भ्रमे ।
यथा च सति सङ्कल्पे यथा गन्धर्वपत्तने ॥ ५५ ॥
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति ।
तदाऽऽतिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥ ५६ ॥

तब तो मेरा शरीर भी वस्तुतः मनोमात्र होनेसे आपके शरीरका सजातीय ही ठहरा, इसलिए आपके शरीरसे अभिन्न होकर या आपके शरीरसे संयुक्त होकर वहाँ क्यों नहीं जा सकता है ? इसपर कहती हैं—'**नहि**' इत्यादिसे ।

पृथिवीका विकार पार्थिव कहलाता है, पार्थिवत्वसे जो जाना जाय वह पार्थिवत्वसंवित् है, यानी तुम्हारा शरीर वह अपार्थिव संवित् यानी उससे विरुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मेरे शरीरसे कदापि अभेद या संयोगको प्राप्त नहीं हो सकता । क्या काल्पनिक पर्वत और सत्य पर्वतका परस्पर आघात (टकराना) कहीं हो सकता है ? कहीं नहीं ॥ ५३ ॥

मेरा शरीर भी तो मानस ही है, इसके मानस होनेसे यह पार्थिव कैसे ? इसपर कहती हैं—'**अतिवाहक**' इत्यादिसे ।

तुम्हारा यह चित्तमय शरीर आतिवाहिक ही है । जैसे स्वप्नमें, दीर्घकालिक ध्यानमें, भ्रममें सङ्कल्प होनेपर और गन्धर्वनगरमें आतिवाहक चित्तमय पदार्थ आधिभौतिकरूपसे प्रतीत होता है, वैसे ही तुम्हारे सरीखे लोग आतिवाहक चित्तमय देहको चिरकालके अभ्याससे आधिभौतिक समझ बैठे हैं ॥ ५४,५५ ॥

तो कब इसके पार्थिवभावकी (पृथिवी विकारताकी) निवृत्ति होगी ? इस प्रश्नपर देवीजी कहती हैं—'**वासना०**' इत्यादिसे ।

जब समाधिके अभ्याससे तुम्हारी वासना अल्प हो जायगी, तब फिर आतिवाहिक भाव तुम्हारे शरीरमें प्राप्त होगा ॥ ५६ ॥

लीलोवाच

आतिवाहिकदेहत्वप्रत्यये घनतां गते ।
तामवाप्नोत्ययं देहो दशामाहो विनश्यति ॥ ५७ ॥

श्रीदेव्युवाच

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत् ।
वस्तुतो यच्च नाऽस्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः ॥ ५८ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्टे सत्यबोधवशात् सुते ।
सर्पो न नष्ट उन्नष्टो वेत्येवं कैव सा कथा ॥ ५९ ॥
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते ।
तथाऽऽतिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाऽऽधिभौतिकः ॥ ६० ॥

अन्य लोगोंके स्थूलदेहका नाश दिखलाई देता है, अतएव जीवन्मुक्तके शरीरका भी नाश ही संभावित है, उसके आतिवाहिक होनेकी संभावना नहीं है, इस आशयसे लीला पूछती है—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

समाधिके अभ्याससे जब 'हमारा शरीर आतिवाहिक (सूक्ष्म) है' यह प्रतीति दृढ़ हो जाती है, तब यह स्थूल देह उक्त सूक्ष्म दशाको (अतिवाहिकताको) प्राप्त होता है, अथवा विनष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

तत्त्वज्ञानीका शरीर ज्ञानसे बाधित हो जाता है, अतः वह जले हुए वस्त्रके समान है ही नहीं । केवल पूर्वकालकी वासनामात्रसे वस्त्राभासकी नाईं प्रतीत होनेपर भी वासनाके और सूक्ष्म होनेपर उससे भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) को ही प्राप्त होता है, विनाशको प्राप्त नहीं होता, इस आशयसे देवीने उत्तर दिया—'यद्' इत्यादिसे ।

जो वस्तु है उसीमें नाश और नाशके अभावका क्रम होता है जो पदार्थ वास्तवमें है ही नहीं, उसका नाश कैसा ? ॥ ५८ ॥

बेटी, यथार्थज्ञान होनेसे रस्सीमें सर्पकी भ्रान्तिके निवृत्त होनेपर सर्पका विनाश नहीं हुआ और हुआ यह कथन क्या प्रयोजन रखता है यानी जब सर्प था ही नहीं तब उसके विनाश और अविनाशकी कथा काकदन्तगणनाके समान निष्फल है ॥ ५९ ॥

जैसे सत्यके परिज्ञानसे रज्जुमें सर्प नहीं दिखलाई देता वैसे आतिवाहिक शरीरके ज्ञानसे आधिभौतिक शरीर नहीं दिखाई देता ॥ ६० ॥

कल्पनाऽपि निवर्तेत कल्पिता यदि केनचित् ।
सा शिलासमुपास्तैव या नेहाऽस्ति कदाचन ॥ ६१ ॥
परं परे परापूर्णमिदं देहादिकं स्थितम् ।
इति सत्यं वयं भद्रे पश्यामो नाऽभिपश्यसि ॥ ६२ ॥
आदिसर्गे भवेच्चित्त्वं कल्पनाकल्पितं यदा ।
तदा ततःप्रभृत्येकसत्त्वं दृश्यमवेक्षते ॥ ६३ ॥

कल्पित दृश्य प्रपञ्च पहले था, ज्ञानसे उसकी समूल निवृत्ति हो गई है, इस प्रकारकी व्यवहार-कल्पना स्थूल दृष्टिसे ही होती है, तत्त्वदृष्टिसे तो उसकी भी संभावना नहीं है, ऐसा कहती हैं—**'कल्पना'** इत्यादिसे ।

कल्पना यदि किसीके द्वारा समर्थित हो, तो उसकी भी ज्ञानसे निवृत्ति हो जाती है, जो शिला है ही नहीं, उसका भी तो उपयोग किया ही गया है, काल्पनिक पदार्थोंका भी अज्ञानदशामें उपभोग देखा ही जाता है, ज्ञान होनेपर उनकी निवृत्ति हो जाती है, यह भाव है । गौड़पादाचार्यने भी कहा है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

(विकल्प—गुरु, शिष्य, शास्त्र आदि—निवृत्त हो जाता है, यदि वह किसीके द्वारा कल्पित हो । जैसे यह प्रपञ्च रज्जुसर्पके समान भ्रान्ति है वैसे ही शिष्य आदि भेद विकल्प भी भ्रम ही है, वह ज्ञानप्राप्तिसे पहले उपदेशके लिए उपात्त है, उपदेशार्थ यह वाद यानी शिष्य, शासक, शास्त्र आदि होता है, उपदेशके कार्यभूत ज्ञानके उत्पन्न होनेके उपरान्त तत्त्वके ज्ञात होनेपर द्वैत नहीं रहता) ॥६१॥

तब आप लोग अपने शरीरको कैसे देखते हैं, यह प्रश्न होनेपर देवीजी कहती हैं—**'परम्'** इत्यादिसे ।

परम ब्रह्मसे परिपूर्ण ये देह आदि पांच कोश, जो कि एक एकके अन्दर प्रविष्ट होकर स्थित हैं, वे अपनी उत्कृष्ट महिमामें स्थित परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा हम लोग विना किसी विघ्नबाधाके देखते हैं । हे भद्रे, तुम ऐसा नहीं देखती हो, क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है ॥ ६२ ॥

यदि शङ्का हो कि चित् तो अदृश्य है, यह दृश्य सत्त्वरूपताको कैसे प्राप्त हुई, तो इसपर कहते हैं—**'आदिसर्गे'** इत्यादिसे ।

लीलोवाच

एकस्मिन्नेव संशान्ते दिक्कालाद्यविभागिनि ।
विद्यमाने परे तत्त्वे कलनावसरः कुतः ॥ ६४ ॥

श्रीदेव्युवाच

कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाऽम्भसि ।
सत्यत्वं च यथा स्वप्नसङ्कल्पनगरादिषु ॥ ६५ ॥
नाऽस्त्येव सत्यनुभवे तथा नाऽस्त्येव ब्रह्मणि ।
कल्पनाव्यतिरिक्तात्मतत्स्वभावादनामयात् ॥ ६६ ॥

लिङ्गात्माकी (हिरण्यगर्भकी) सृष्टिमें उसे दर्शनका विषय बना रही चितिका चित्त्व धर्म होता है । जब पञ्चीकरणके द्वारा कल्पनासे स्थूलरूपकी कल्पना हुई तब तभीसे लेकर एक अनुगत सत्त्व दृश्यके अनुरोधसे स्वयं भी दृश्यभूत अपनेको भ्रान्तिसे देखता है ॥ ६३ ॥

जो पहले यह कहा था कि कलन नामक प्रथम विकारके अधीन ही तो सम्पूर्ण कल्पना होती है, उस कलनामें ही लीला अनुपपत्तिकी शङ्का करती है—**'एकस्मिन्नेव'** इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—देवी, देश और काल आदिके विभागसे रहित नित्य-विद्यमान परतत्त्वमें (ब्रह्ममें) कलन (ईक्षण) नामक प्रथम विकारका अवसर ही कहाँ है ? भाव यह है कि पूर्वकालमें स्थित दूध उत्तरकालमें दहीके आकारमें परिणत होता है । दही होनेपर दूध विद्यमान नहीं रहता देश-काल सम्बन्धशून्य नित्य विद्यमान ब्रह्ममें कलनका अवसर ही नहीं है ॥ ६४ ॥

तुमने ऊपर जो दोष कहा है, वह विकारको सत्य माननेपर ही होता है, मिथ्या माननेपर नहीं होता, इस प्रकार लीला द्वारा उपस्थापित दोषका देवीजी परिहार करती हैं—**'कटकत्वम्'** इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्णमें कटकत्व (वलयत्व) नहीं ही है, जैसे जलमें तरङ्गत्व नहीं ही है और जैसे स्वप्नके नगर और मनोरथसे कल्पित नगर आदिमें सत्यता नहीं ही है, वैसे ही सत्-चित् आनन्द ब्रह्ममें कल्पनासे अतिरिक्त स्वरूप एवं निर्दोष उसके स्वभावसे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है ॥ ६५, ६६ ॥

यथा नाऽस्त्यम्बरे पांसुः परे नाऽस्ति तथा कला ।
अकलाकलनं शान्तमिदमेकमजं ततम् ॥ ६७ ॥
यदिदं भासते किञ्चित्तत्स्यैव निरामयम् ।
कचनं काचकस्येव कान्तस्याऽतिमणेरिव ॥ ६८ ॥

लीलोवाच

एतावन्तं चिरं कालमेते देवि वयं वद ।
भ्रामिताः केन नामापि द्वैताद्वैतविकल्पनैः ॥ ६९ ॥

श्रीदेव्युवाच

अविचारेण तरले भ्रान्ताऽसि चिरमाकुला ।
अविचारः स्वभावोत्थः स विचाराद्विनश्यति ॥ ७० ॥
अविचारो विचारेण निमेषादेव नश्यति ।
एषा सत्त्वेव तेनाऽन्तरविद्यैषा न विद्यते ॥ ७१ ॥

जैसे आकाशमें धूलि नहीं है वैसे ही पर ब्रह्ममें कलन नामक प्रथम विकार नहीं हैं । विषयशून्य, शान्त, अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥ ६७ ॥

जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्मका विशुद्ध विकास है । पर जैसे श्रेष्ठ चन्द्रकान्त मणिकी भ्रमवश काचकी नाईं प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मके विशुद्ध विकासकी दृश्यरूपसे प्रतीति हो रही है ॥ ६८ ॥

अब लीला उक्त भ्रमका कारण पूछती है—'**एतावन्तम्**' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—हे देवि, कृपाकर आप बतलाइए कि हम लोगोंको इतने सुदीर्घ कालतक किसने द्वैत और अद्वैतके विविध विकल्पों द्वारा भ्रममें डाल रक्खा है ? ॥६९॥

विचारसे बाध्य होनेके कारण विचारविरोधी अविचारशब्दसे वाच्य मोहने ही उक्त भ्रममें लोगोंको डाल रक्खा है, यों देवी उसका समाधान करती हैं—'**अविचारेण**' इत्यादिसे ।

श्रीदेवीजीने कहा—चञ्चले, तुम अविचारसे व्याकुल होकर चिर कालसे भ्रान्त हो । अविचार स्वभावसे उत्पन्न है, विचारसे उसका विनाश होता है । विचारसे अविचार पलकभरमें ही निवृत्त हो जाता है । यह (अविचाररूप) अविद्या विचारसे बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है, इसलिए अविद्याका अस्तित्व नहीं है ॥ ७०, ७१ ॥

तस्मान्नैवाऽविचारोऽस्ति नाऽविद्याऽस्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ ७२ ॥

एतावन्तं यदा कालं त्वयैतन्न विचारितम् ।
तदा न संप्रबुद्धा त्वं भ्रान्तैवाऽभव आकुला ॥ ७३ ॥

अद्यप्रभृति बुद्धाऽसि विमुक्ताऽसि विवेकिनी ।
वासनातानवं बीजं पतितं तव चेतसि ॥ ७४ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नं दृश्यं संसारनामकम् ।
यदा तदा कथं तेन वास्यन्ते वासनाऽपि का ॥ ७५ ॥

अत्यन्ताभावसंपत्तौ द्रष्टृदृश्यदृशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ ७६ ॥

वासनाक्षयबीजेऽस्मिन् किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका दृशः ॥ ७७ ॥

इसलिए न तो अविचार है, न अविद्या है, न बन्धन है और बन्धन न होनेसे न मोक्ष ही है, इसलिए यह जगत् केवल अबाधित शुद्ध बोध ही है ॥ ७२ ॥

इतने काल तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ, अतएव तुम भ्रममें भ्रमशालिनी हो, इसीलिए व्याकुल हो ॥ ७३ ॥

ज्ञानसे द्वैतवासनाका बाध होनेपर तत्त्ववासनाका शेष रहना ही वासनाकी अल्पता है, वही मुक्तिका बीज है, वह अब तुम्हारे चित्तमें पड़ गया है, अतएव विवेकशालिनी तुम आजसे प्रबुद्ध हो और विमुक्त हो ॥ ७४ ॥

यदि कोई कहे कि फिर द्वैतवासनाका अङ्कुर हो जायगा, तो उसपर कहती हैं—'**आदावेव**' इत्यादिसे ।

संसारनामक यह दृश्य पहले ही जब उत्पन्न नहीं हुआ तब लोग उससे वासित कैसे होंगे ? और वासना भी क्या है ? भाव यह कि न वासना है और न जगत् ही है, फिर वासनासे द्वैतका प्ररोह कैसे ? ॥ ७५ ॥

एकध्यानरूप परम निर्विकल्पक समाधिके मनमें आरूढ होनेपर, द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका अत्यन्ताभाव होनेपर, हृदयमें इस वासनाक्षयरूप बीजके कुछ अङ्कुरित होनेपर राग, द्वेष आदि दृष्टियां क्रमशः उदयको प्राप्त नहीं होंगी और

संसारसम्भवश्चाऽयं निर्मूलत्वमुपैष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ ७८ ॥
विगतकलनकालिमाकलङ्का गगनकलान्तरनिर्मलाम्बनेन ।
सकलकलनकार्यकारणान्तः कतिपयकालवशाद् भविष्यसीति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
लीलाविश्रान्त्युपदेशो नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहो न वास्तवः ।
अनुभूतोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसन् ॥ १ ॥

संसारकी उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी एवं निर्विकल्पक समाधि परम स्थिरताको प्राप्त होगी ॥ ७६,७८ ॥

इस प्रकार निर्विकल्प समाधिके स्थिर होनेसे कुछ समयके बाद मायाकाश और उसके कार्योंके अधिष्ठानस्वरूप निर्मल आत्माके अवलम्बनसे (साक्षात्कारसे) तुम भ्रान्तिज्ञानरूप कालिमासे रहित अतएव कलङ्कशून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी भ्रान्तियोंका, उनकी कार्यभूत वासनाओंका और उनकी कारण अविद्याका अवसानभूत (बाधके अवधिरूप) मोक्षरूप ही जाओगी ॥ ७९ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

[तुरीय अवस्था, जीवन्मुक्तकी स्थिति, वासनाओंके क्षयका उपाय और उसके अभ्यासका प्रतिपादन]

परिपक्व ज्ञान होनेसे पूर्व कही गई स्थूलदेहताकी निवृत्ति और आतिवाहिकताकी प्राप्तिको दृष्टान्तों द्वारा बतलानेके लिए देवीजी प्रस्तुत होती हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहः प्रशाम्यति ।
वासनातानवात् तद्वज्जाग्रद्देहोऽपि शाम्यति ॥ २ ॥
स्वप्नसङ्कल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा ।
तथा जाग्रद्भावनाऽन्ते उदेत्येवाऽऽतिवाहिकः ॥ ३ ॥
स्वप्ने निर्वासनाबीजे यथोदेति सुषुप्तता ।
जाग्रत्यवासनाबीजे तथोदेति विमुक्तता ॥ ४ ॥
येयं तु जीवन्मुक्तानां वासना सा न वासना ।
शुद्धसत्त्वाभिधानं तत् सत्तासामान्यमुच्यते ॥ ५ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, यद्यपि स्वप्नावस्थामें स्वप्नके शरीरका अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है, इस परिज्ञानसे जैसे स्वप्नदेह वास्तविक नहीं रहती, मिथ्या ठहरती है, वैसे ही यद्यपि इस स्थूलदेहका पहले अनुभव होता है, तथापि वासनाओंका क्षय होनेसे यह स्थूल शरीर असत् (बाधित) हो जाता ॥ १ ॥

जैसे स्वप्नके ज्ञानसे स्वप्नदेह लापता हो जाती है, वैसे ही वासनाओंके क्षीण होनेसे जाग्रद्देह (स्थूलदेह) भी शान्त हो जाती है, नष्ट हो जाती है ॥ २ ॥

जैसे स्वप्नमें प्रतीयमान स्वप्नदेहका और मनोरथ द्वारा कल्पित कल्पनामय देहका विनाश होनेपर इस देहका (जाग्रद्देहका) भान होता है, वैसे ही जाग्रद्-भावनाका (स्थूलदेहमें अहंभावनाका) समूल उच्छेद हो जानेपर आतिवाहिक देहका उदय होता है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नावस्थाके वासनारूपी बीजसे *निर्मुक्त होनेपर सुषुप्तिका उदय होता है यानी जबतक स्वप्नमें वासना रहेगी, तबतक सुषुप्तिका आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही जाग्रदवस्थाके वासनारूपी बीजोंसे शून्य होनेपर जीवन्मुक्तिका उदय होता है ॥ ४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जीवन्मुक्तोंमें भी वासना है ही, क्योंकि यदि उनमें वासना न होती, तो उनका भोजन आदि व्यवहार ही नहीं बनता, इसपर कहते हैं—'येयम्' इत्यादिसे ।

---

* श्लोकस्थ 'निर्मुक्तवासनाबीजे' का अर्थ जिसमें वासनारूपी बीज स्पष्ट नहीं है यानी तिरोहित है, ऐसा करना चाहिए, न कि जिसमें वासनारूपी बीज उच्छिन्न हो गया है, ऐसा अर्थ करना चाहिए; क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे सुषुप्तिके अनन्तर पुन स्वप्नकी प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे ही अवासनाबीजका अर्थ भी बाधित है सम्पूर्ण वासनारूपी बीज जिसमें ऐसा करना चाहिए ।

या सुप्तवासना निद्रा सा सुषुप्तिरिति स्मृता ।
यत्सुप्तवासनं जाग्रद् घनोऽसौ मोह उच्यते ॥ ६ ॥

प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते ।
जाग्रत्यपि भवत्येव विदिते परमे पदे ॥ ७ ॥

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ॥
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ ८ ॥

शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाऽम्बुताम् ॥ ९ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषोंकी जो वासना है, वह वासना नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण शुद्ध वासनाओंके बाधके अवधि भूत अधिष्ठानसत्त्वका ही शुद्धवासना ही यह नाम है, जैसे कि 'जला हुआ कपड़ा' यह भस्मका ही नाम है । वह सम्पूर्ण वासनाओंमें अनुगत (अनुस्यूत) सामान्य सत्ता ही शुद्ध वासनारूपसे कही जाती है, यह भाव है ॥ ५ ॥

मूर्छा और सुषुप्तिमें अवान्तरभेद दर्शाते हैं—'या' इत्यादिसे ।

जिस निद्रामें वासनाओंका उद्भव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसका नाम सुषुप्ति है, जिस जागरणमें वासनाओंका आविर्भाव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसको घन मोह (मूर्छा) कहते हैं । भाव यह कि अनुद्भूतवासना निद्रा सुषुप्ति है और अभिभूतवासन जागरण मोह यानी मूर्छा है ॥ ६ ॥

जिसमें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, ऐसी निद्रा 'तुर्य' शब्दसे कही जाती है, यहांपर 'निद्रा' पदकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि जागरणावस्थामें भी परम पदका ज्ञान होनेपर और ज्ञानसे समूल वासनाओंका विनाश होनेपर तुर्यावस्था होती ही है ॥ ७ ॥

जीवित पुरुषोंकी वह जीवनावस्था जिसमें कि वासनाओंका सर्वथा अभाव रहता है जीवन्मुक्ति कहलाती है, उसे अमुक्त (बद्ध) पुरुष नहीं जान पाते हैं ॥८॥

जैसे सूर्यके तापसे बर्फ जलरूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही शुद्ध वासनाओंके अवधि अधिष्ठानभूत सत्त्वमें संलग्न यानी समाधिके अभ्याससे चिरकालतक उसमें स्थित तथा क्षीणवासनावाला मन आतिवाहिकताको (सूक्ष्मताको) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः ।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत् ॥ १० ॥
यदा तेऽयमहंभावः स्वभ्यासाच्छान्तिमेष्यति ।
तदोदेष्यति ते स्फारा दृश्यान्ता बोधता स्वयम् ॥ ११ ॥
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम् ।
यदा तदा ह्यसङ्कल्पाँल्लोकान् द्रक्ष्यसि पावनान् ॥ १२ ॥
वासनातानवे तस्मात्कुरु यत्नमनिन्दिते ।
तस्मिन्प्रौढिमुपायाते जीवन्मुक्ता भविष्यसि ॥ १३ ॥
यावन्न पूरितस्त्वेष शीतलो बोधचन्द्रमाः ।
तावद्देहमवस्थाप्य लोकान्तरमवेक्ष्यताम् ॥ १४ ॥
मांसदेहो मांसदेहेनैव संश्लेषमेष्यति ।
न तु चित्तशरीरेण व्यवहारेषु कर्मसु ॥ १५ ॥

आतिवाहिकताको प्राप्त, व्युत्थानकालमें और व्यवहारकालमें भी आत्मज्ञान-सम्पन्न मन अन्यान्य सृष्टियोंके और अन्यान्य जन्मोंके चित्तोंसे और देव आदिके योग्य शरीरोंसे एकरूपमें मिल जाता है, जो मन आतिवाहकताको प्राप्त नहीं है और सदा ज्ञानसम्पन्न नहीं है, वह उनसे नहीं मिलता ॥ १० ॥

खूब अभ्यास करनेसे जब तुम्हारा यह अहंभाव (अहङ्कार) शान्त हो जायगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता, जो कि दृश्य प्रपञ्चकी चरम अवधि-भूत है, उदित हो जायगी ॥ ११ ॥

जब तुम्हारा आतिवाहिकताज्ञान सर्वदाके लिए स्थायी हो जायगा, तब तुम सङ्कल्पसे अदूषित अतएव पवित्र लोकोंको देखोगी ॥ १२ ॥

भद्रे, इसलिए तुम वासनाओंका जैसे क्षय हो वैसा प्रयत्न करो। जब तुम्हारा वासनाक्षय चरम सीमाको प्राप्त हो जायगा, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी ॥१३॥

पूर्वोक्त पर्वतका जो छोटा-सा गाँव है, उसको देखनेकी इच्छासे प्रतिबद्ध चित्तमें बोधकी पूर्ति या वासनाओंके क्षयार्थ अभ्यास नहीं हो सकता है, इस आशयसे कहती हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जब तक तुम्हारा यह अतिशीतल (शान्तिप्रद) बोधरूपी चन्द्रमा पूर्ण नहीं होता, तब तक तुम इस देहको रखकर अन्यान्य लोकोंको देखो ॥ १४ ॥

मेरी देहका अवस्थापन किस लिए किया जाय, आपकी देहके संसर्गसे यह भी

यथानुभवमेवैतद् यथास्थितमुदाहृतम् ।
आबालसिद्धसंसिद्धं न नाम वरशापवत् ॥ १६ ॥
अवबोधघनाभ्यासाद्देहस्याऽस्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ १७ ॥
उदेष्यन्ती च सैवाऽत्र केनचिन्नोपलक्ष्यते ।
केवलं तु जनैर्देहो म्रियमाणोऽवलोक्यते ॥ १८ ॥

क्यों नहीं जा सकती ? इस शङ्कापर देवीजी कहती हैं—**'मांस०'** इत्यादिसे ।

व्यवहारोंमें अथवा गमन आदि कर्मोंमें मांसनिर्मित देह मांसनिर्मित देहसे ही संयोगको प्राप्त हो सकती है, मांसदेह चित्तशरीरसे कदापि सम्बन्धको प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

क्या वरदानकी नाईं या शापकी नाईं आपके वचनसे ही मेरा माँसमय शरीर आपके शरीरसे सम्बन्धको प्राप्त होगा ? इस शङ्कापर श्रीदेवीजी नहीं, ऐसा समाधान करती हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

अत्यन्त अनभिज्ञ बालकोंसे लेकर सिद्ध पुरुषों तक प्रसिद्ध सबके अनुभवसे सिद्ध यथास्थित अर्थका ही मैंने अनुवाद किया है, वर और शापकी नाईं किसी अपूर्व अर्थका जबरदस्ती प्रतिपादन नहीं किया है ॥ १६ ॥

यदि वस्तुका स्वभाव, जो कि लोकसिद्ध है, विपरीत नहीं हो सकता, तो वासनाओंके क्षीण होनेपर भी इस स्थूलदेहकी आतिवाहिकताकी सम्भावना नहीं की जा सकती, ऐसी शङ्का कर श्रीदेवीजी कहती हैं—**'अवबोध०'** इत्यादिसे ।

ज्ञानके प्रचुर अभ्याससे सांसारिक वासनाओंका विनाश होनेपर यही स्थूल देह चित्तशरीर यानी आतिवाहिकशरीर हो जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥

जीवोंका परलोकगमन भी आतिवाहिक देहसे होता है, यह प्रसिद्ध है, मृत स्थूलदेहकी तो यहींपर स्थिति देखी जाती है, ऐसी अवस्थामें यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक ही कालमें एक ही जीवका आतिवाहिकभावसे जीवन हो और स्थूलभावसे मरण हो ? ऐसी शङ्का कर श्रीदेवीजी इसका समाधान करती हैं—**'उदेष्यन्ती'** इत्यादिसे ।

मरणकालमें इसी देहमें उदित होनेवाली उक्त आतिवाहिकताको न तो

देहस्त्वयं न म्रियते न च जीवति किञ्च ते ।
के किल स्वप्नसङ्कल्पभ्रान्तौ मरणजीविते ॥ १९ ॥
जीवितं मरणं चैव सङ्कल्पपुरुषे यथा ।
असत्यमेव भात्येवं तस्मिन् पुत्रि शरीरके ॥ २० ॥

लीलोवाच

तदेतदुपदिष्टं मे ज्ञानं देवि त्वयाऽमलम् ।
यस्मिन् श्रुतिगते शान्तिमेति दृश्यविषूचिका ॥ २१ ॥

कोई मरनेवाला देखता है और न जीवित ही देखता है, क्योंकि 'तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामादाया०' (जैसे सुवर्णकार सुवर्णका टुकड़ा काटकर पहलेकी रचनासे नवीन अच्छीसे अच्छी दूसरी शक्ल बनाता है, वैसे ही परलोक जानेका इच्छुक यह आत्मा भी इस वर्तमान शरीरको नष्टकर, अचेतनताको प्राप्तकर पितृ-लोकगमनोपयोगी, गन्धर्वलोकगमनोपयोगी या देवसम्बन्धी या प्रजापतिलोक-प्रापक अथवा ब्रह्मप्रापक या अन्य भूतोंके सम्बन्धी दूसरे नूतन शरीरको बनाता है) ऐसी श्रुति है । उक्त श्रुतिके अनुसार पारलौकिक देहनिर्माणके लिए मर रहे पुरुषका अपने अज्ञानसे कल्पित देहारम्भक भूतोंके अंशोंसे संवलित होकर ही परलोकमें गमन होता है, अतः उन मात्राओंका भी, जो कि उसको नहीं दिखाई देतीं, आतिवाहिकभावसे विरोध नहीं है । अज्ञानसे कल्पित पञ्चभूतमात्रका अंश जो अज्ञानशरीर है, उसको और लोग मरता हुआ देखते हैं । यह अवास्तविक देह न तो मरती है और न जीती है । स्वप्न और सङ्कल्पके भ्रममें मरण और जीवन क्या हैं ? यानी उनमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है, वे भ्रममात्र हैं । इसलिए इस विषयमें विरोध है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ १८,१९ ॥

जैसे मनोरथसे कल्पित पुरुषमें जीवन और मरण असत्य ही है । भाव यह कि संकल्पकल्पित पुरुष ही जब वास्तिविक नहीं है, तब उसके मरण और जीवनकी वास्तविकताकी क्या कथा है ? वैसे ही बेटी, उस शरीरमें भी मरण और जीवन अवास्तविक ही प्रतीत होते हैं ॥ २० ॥

लीलाने कहा—देवी, आपने मुझे उस निर्मल ज्ञानका उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्रसे ही दृश्यरूपी महामारी शान्त हो जाती है । माँ, इस

अत्रोपकुरु मे ब्रूहि कोऽभ्यासः कीदृशोऽथवा ।
स कथं पोषमायाति पुष्टे तस्मिंश्च किं भवेत् ॥ २२ ॥

श्रीदेव्युवाच

यद्येन क्रियते किञ्चिद्येन येन यदा यदा ।
विनाऽभ्यासेन तन्नेह सिद्धिमेति कदाचन ॥ २३ ॥
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
ये विरक्ता महात्मानो भोगभावनतानवम् ।
भावयन्त्यभवायाऽन्तर्भव्या भुवि जयन्ति ते ॥ २५ ॥

विषयमें मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये, कृपया यह बतलाइए कि वह अभ्यास कौन है (उसका क्या स्वरूप है) और कैसा है (उसका क्या लक्षण है) तथा किस प्रकार पुष्ट होता है और उसके पुष्ट होनेपर क्या होता है ? ॥ २१, २२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से, जो भी प्राणी जब जब जिस किसी कार्यको करता है, अभ्यासके बिना वह कभी सिद्ध नहीं होता । भाव यह कि अभ्यासकी प्रत्येक कर्ममें आवश्यकता है ॥ २३ ॥

सर्वप्रथम देवीजी अभ्यासका स्वरूप बतलाती हैं—**'तच्चिन्तनम्'** इत्यादिसे ।

असंदिग्धरूपसे अपनी बुद्धिमें जमानेके लिए उसका चिन्तन करना, अन्य ज्ञाता पुरुषकी बुद्धिसे संवाद करनेके लिए उसकी चर्चा करना, परस्पर अज्ञात अंशके ज्ञानके लिए आपसमें उसका उपदेश देना, सदा उसीमें मनोयोगदेना, इसे विद्वान् लोग ज्ञानका अभ्यास कहते हैं * ॥ २४ ॥

दृढ़ वैराग्य आदि उसके लक्षण हैं, यह बात विरक्त पुरुषोंकी स्तुति द्वारा कहते हैं—**'ये विरक्ता'** इत्यादिसे ।

जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्तिके लिए अपने अन्तःकरणमें यत्नपूर्वक विषय-वासनाओंके क्षयकी भावना करते हैं (अपने अन्तःकरणमें विषयवासनाओंका जैसे विनाश हो, वैसा यत्न करते हैं), वे पृथिवीमें सर्वश्रेष्ठ हैं और उन्हींका जन्म सफल है ॥ २५ ॥

---

* उसका चिन्तन करने, उसकी चर्चा करने और आपसमें उसीका बोधन करनेसे असंभावनाकी निवृत्ति होती है और सदा उसीमें परायण रहनेसे विपरीतभावनाकी निवृत्ति होती है, ये अभ्यासके फल हैं ॥

उदितोदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्पन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ २६ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ २७ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नाऽस्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ २८ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यास उदाहृतः ॥ २९ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन विना द्वेषादितानवम् ।
तप इत्युच्यते तस्मान्न ज्ञानं तच्च दुःखतत् ॥ ३० ॥

उदारतारूपी (सम्पूर्णसामग्रीपरित्यागरूपी) सुन्दरतासे एवं वैराग्यरससे सम्पन्न अतएव सदा आनन्दकी वृष्टि करनेवाली बुद्धि जिन पुरुषोंमें उत्पन्न हुई है, वे सर्वश्रेष्ठ अभ्यासी (अभ्यासवाले) हैं ॥ २६ ॥

श्रवण आदिमें निरत होना भी ज्ञानाभ्यासका लक्षण है, ऐसा कहती हैं—**‘अत्यन्ता०’** इत्यादिसे ।

जो लोग युक्तिसे यानी प्रमाणतत्त्वके निर्धारणके अनुकूल तथा प्रमेयतत्त्वके निर्धारणके अनुकूल युक्तिसे और अध्यात्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंसे ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुके अत्यन्ताभावकी प्राप्तिमें (बाधमें) यत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी हैं ॥ २७ ॥

तीनों कालोंमें दृश्यके बाधज्ञानकी आवृत्ति भी ब्रह्माभ्यास है, ऐसा कहती हैं—**‘सर्गादा०’** इत्यादिसे ।

‘यह जगत् है, यह मैं हूँ’ इत्याकारक दृश्य सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः वह सदा नहीं ही है, यह ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥ २८ ॥

दृश्य प्रपञ्चके असंभवके ज्ञानसे राग, द्वेष आदिका विनाश होनेपर मननसे उत्पन्न विद्याकी वासनाके परिपाकसे उत्पन्न हुई जो आत्मरति (आत्मप्रेम) है, वह ब्रह्माभ्यास है ॥ २९ ॥

यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है, इस प्रकारके दृढ़ज्ञानसे राग आदिका विनाश होनेपर ही वह (आत्मरति) ज्ञानोपयोगिनी होती है, अतः उक्त राग आदिका

दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥ ३१ ॥
भवबहुलनिशानितान्तनिद्रासततविवेकविबोधवारिसेकैः ।
प्रगलति हिमशीतलैरशेषा शरदि महामिहिकेव चेतसीति ॥ ३२ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
विज्ञानाभ्यासवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

चतुर्थो दिवसः

—❀—

उच्छेद होनेपर ही वह ब्रह्माभ्यास है, अन्यथा नहीं, ऐसा कहते हैं—'दृश्या०' इत्यादिसे ।

दृश्यके असंभवका ज्ञान हुए बिना उत्पन्न जो राग, द्वेष आदिका अपक्षय है, वह तप कहलाता है, अतएव वह ज्ञान नहीं है, वह तप वृथा द्वेष आदिके रोकनेसे उत्पन्न दुःखको ही बढ़ाता है ॥ ३० ॥

अभ्यासके हेतुओंका प्रतिपादन कर अब श्रीदेवीजी अभ्यासका फल दिखलाती हुई दो श्लोकोंसे सर्गका उपसंहार करती हैं—'दृश्या०' इत्यादिसे ।

चरमसाक्षात्काररूप ज्ञान और उसका ज्ञेय ब्रह्म भी दृश्यासंभवबोध (दृश्यका असंभव जिससे या जिसमें होता है, ऐसा बोध) कहा जाता है, उसके अभ्याससे मुक्ति होती है, इस प्रकारके अभ्यासका फल महान् अभ्युदय है ॥३१॥

वत्से, जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओसके सेकसे कुहरा बिलकुल विनष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्तमें पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यस्त, सम्पूर्ण तापों (त्रिविध तापों) की शान्तिके हेतु होनेसे बरफके समान शीतल विवेकबोधरूपी जलके निरन्तर सिञ्चनसे संसाररूपी कृष्णपक्षकी (अन्धेरी) रात्रिमें उत्पन्न हुई मोहरूपी गाढ नींद निवृत्त हो जाती है ॥ ३२ ॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इतनी कथा कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य

त्रयोविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संकथनं कृत्वा तस्यां निशि वराङ्गने ।
सुप्ते परिजने नूनमथाऽन्तःपुरमण्डपे ॥ १ ॥
दृढाखिलार्गलद्वारगवाक्षे दक्षचेतसि ।
पुष्पप्रकरनिष्ठ्यूतमांसलामोदमन्थरे ॥ २ ॥
अम्लानमालावसनशवपार्श्वासनस्थिते ।
सकलामलपूर्णेन्दुवदनद्योतितास्पदे ॥ ३ ॥

भगवान् अस्ताचल शिखरकी ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियोंकी सभा वाल्मीकिजीको प्रणाम कर सायङ्कालके सन्ध्या-वन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतनेपर सूर्यके उगते-उगते मुनि-मण्डली सभा-स्थानमें आ गई ॥ ३३ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

[पर्वत-ग्रामको देखनेकी इच्छासे समाधि द्वारा स्थूल देहका परित्याग कर देवीजी और लीलाका विशाल आकाशमें गमन-वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, वे दोनों उत्तम देवियाँ यानी सरस्वती और लीला उस रात्रिमें परस्पर प्रश्नोत्तर कर जब कि सब भृत्य सो गये थे, महलके दरवाजों और खिड़कियोंमें मजबूत और भाँति भाँतिके अर्गल लग गये थे, ड्योढियोंपर पहरेदार सावधान होकर पहरा दे रहे थे, फूलोंकी राशियोंसे निर्गत एवं घनीभूत सुगन्धिसे अन्तःपुर भर गया था, अम्लान मालारूपी वस्त्रोंसे आच्छन्न राजाके शवके समीपस्थ आसनमें बैठ गईं। उनके कलङ्कशून्य पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य मुखमण्डलसे सारा अन्तःपुर जगमगा उठा। वे दोनों * समाधिस्थ

---

* देवी सरस्वतीका ज्ञान देह है, उसीसे वे विचरण कर सकती थीं, फिर उन्हें समाधिस्थ क्यों होना पड़ा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लीलाको समाधि सिखलानेके लिए वे समाधिस्थ हुई थीं उक्त योग गुरुके सिखाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, अतः लीलाको समाधिस्थ होनेमें सौकर्य हो, इसलिए देवीजीने समाधि ली ।

समाधिस्थानकं गत्वा तस्थतुर्निश्चलाङ्गिके ।
रत्नस्तम्भादिवोत्कीर्णे चित्रे भित्ताविवाऽर्पिते ॥ ४ ॥
सर्वास्तत्यजतुश्चिन्ताः सङ्कोचं समुपागते ।
दिवसान्त इवाऽब्जिन्यौ प्रसृतामोदलेखिके ॥ ५ ॥
बभूवतुर्भृशं शान्ते शुद्धे स्पन्दविवर्जिते ।
गिरौ शरदि निर्वात इव भ्रष्टाभ्रमालिके ॥ ६ ॥
निर्विकल्पसमाधानाज्जहतुर्बाह्यसंविदम् ।
यथा कल्पलते कान्ते पूर्वमृत्वन्तरे रसम् ॥ ७ ॥
अहं जगदिति भ्रान्तिदृश्यस्याऽऽदावनुद्भवः ।
यदा ताभ्यामवगतस्त्वत्यन्ताभावनात्मकः ॥ ८ ॥

हो इस प्रकार निश्चलतासे बैठ गईं कि प्रतीत होता था मानो वे रत्नके खम्भेमें खुदी हुई दो मूर्तियाँ हैं एवं दिवारमें लटकाये गये दो चित्र हैं । सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे संकोचको (निवृत्तिको) प्राप्त हुई उन दोनोंकी सम्पूर्ण दुश्चिन्ताएँ गायब हो गईं, अतएव वे सायङ्कालके समयकी दो कमलिनियोंकी नाईं थीं, जिनके कि चारों ओर परिमल व्याप्त रहता है । शरद् ऋतुमें वायुशून्य पर्वतमें गिरी हुई दो मेघपंक्तियाँ जैसे शुद्ध (सफेद), शान्त (शीतल) और कम्पनशून्य होती हैं, वैसे ही वे भी अत्यन्त शुद्ध, शान्त और स्पन्दनशून्य हुईं ॥ १—६ ॥

चूँकि उन्हें निर्विकल्पक समाधि लग गई थी, अतएव उनको देह आदि अनात्मवस्तुओंका प्रतिसन्धान नहीं रह गया था । जैसे सुन्दर दो कल्पलताएँ वसन्त आदि ऋतुके प्राप्त होनेपर पहलेके रसका त्याग करती हैं, कारण कि पुराने पत्तोंका सूखना आदि सभीको दिखलाई देता है, वैसे ही उन्होंने भी बाह्य ज्ञानका त्याग कर दिया था ॥ ७ ॥

दृश्यके आत्यन्तिक उपशमसे (विनाशसे) निर्विकल्पक समाधि होनेपर तत्त्वसाक्षात्कारसे समूल त्रैकालिक दृश्यबाध ही परिनिष्ठित हेतु है, ऐसा कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

पहले जब उन दोनोंको 'मैं जगत्' इस प्रकार भ्रान्तिरूप दृश्यकी अत्यन्ताभावरूप अनुत्पत्तिका ज्ञान हुआ, तब उन दोनोंका दृश्यरूपी यह पिशाच अत्यन्त विनष्ट हो गया ।

तदा दृश्यपिशाचोऽयमलमस्तंगतो द्वयोः ।
असत्त्वादेव चाऽस्माकं शशशृङ्गमिवाऽनघ ॥ ९ ॥
आदावेव हि यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
भातं वाऽभातमेवाऽतो मृगतृष्णाम्बुवज्जगत् ॥ १० ॥
स्वभावकेवलं शान्तं स्त्रीद्वयं तद् बभूव ह ।
चन्द्रार्कादिपदार्थौघैर्दूरमुक्तमिवाऽम्बरम् ॥ ११ ॥
तेनैव ज्ञानदेहेन चचार ज्ञप्तिदेवता ।
मानुषी त्विरेणाऽऽशु ध्यानज्ञानानुरूपिणा ॥ १२ ॥

जैसे समाधिमें त्रैकालिक दृश्यका बाध होता है, वैसा सभी कालमें त्रैकालिक दृश्यका बाध हम लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको संबोधन कर कहते हैं—**'असत्त्वात्'** इत्यादिसे ।

अनघ, असत् (मिथ्या) होनेके कारण ही हम लोंगोकी दृष्टिसे यह जगत् प्रतीत होनेपर मृगतृष्णामें जलकी नाईं और प्रतीत न होनेपर शशशृङ्गकी नाईं है, क्योंकि जो पदार्थ पहले नहीं था, वह वर्तमानकालमें भी नहीं है, यह स्पष्ट है ॥ ८,१० ॥

दृश्यका अस्त होनेपर वे कैसे रहीं, इस शङ्कापर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'स्वभाव०'** इत्यादिसे ।

सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सम्पूर्ण पदार्थोंसे अत्यन्त शून्य केवलमात्र आकाश सृष्टिके आरम्भमें यानी वायुकी उत्पत्तिसे पूर्व और प्रलयकालके आनेपर (वायुपर्यन्त पदार्थोंका प्रलय होनेपर) जैसे केवलस्वभावसे स्थिर रहता है, वैसे ही वे दोनों अङ्गनाएँ दृश्य और दर्शनसे विमुक्त होकर शान्त और केवलस्वभाव हुईं ॥११॥

आगे सर्गमें कहे जानेवाले आकाशगमनमें देवी सरस्वती और लीलाके देहवैलक्षण्यको कहते हैं—**'तेनैव'** इत्यादिसे ।

ज्ञानदेवी सरस्वतीने पूर्वतन ज्ञानदेहसे ही आकाशमें विचरण किया और राजमहिषी लीलाने मानव-देहके अभिमानका परित्याग कर ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्यदेहका अवलम्बन कर आकाशमें विचरण किया ॥ १२ ॥

गेहान्तरेव प्रादेशमात्रमारुह्य संविदा ।
बभूवतुश्चिदाकाशरूपिण्यौ व्योमगाकृती ॥ १३ ॥
अथ ते ललने लीलालोले ललितलोचने ।
स्वभावाच्चेत्यसंवित्तेर्नभो दूरमितो गते ॥ १४ ॥
तत्रस्थे वाऽथ चिद्वृत्त्या पुप्लुवाते नभस्थलम् ।
कोटियोजनविस्तीर्णं दूराद् दूरतरान्तरम् ॥ १५ ॥
दृश्यानुसन्धाननिजस्वभावादाकाशदेहे अपि ते मिथोऽत्र ।
परस्पराकारविलोकनेन बभूवतुः स्नेहपरे वयस्ये ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाप्रज्ञा-देव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमनं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

वह दूर आकाशमें गमनकी कल्पना अपने घरके मण्डपके वित्तेभर आकाशमें ही हुई न कि बाहर, ऐसा कहते हैं—'**गेहान्तरेव**' इत्यादिसे ।

सचमुच वे दोनों बहुत दूर गईं सो बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उद्बुद्ध हुए पूर्वसङ्कल्प-संस्कार-ज्ञानसे विलस्तभर गृहाकाशमें ही चढ़कर सर्वगामी ज्ञानमें आरोहण और आकाशगमनके अनुरूप चिदाकाशमूर्तिका अवलम्बन किया * ॥ १३ ॥

उसके अनन्तर सुन्दरनयनवाली और वनितोचित विलासोंसे मनोहर वे दोनों ललनाएँ विषयज्ञानके स्वभावसे (विषयानुसार व्यवहारकल्पनाके कारण) यहांसे अत्यन्त दूर आकाशमें गईं ॥ १४ ॥

तदुपरान्त उसी घरमें स्थित होकर 'हम लोग आकाशमें संचरण करें' इत्याकारक चित्प्रधान मानस कल्पनावृत्तिसे दूरसे अतिदूर तथा करोड़ों योजन विस्तीर्ण आकाशमें उन्होंने संचरण किया । भाव यह कि लीला और सरस्वती पहले ही अपने मनमें 'हम लोग आकाशमार्गसे जावेंगे' यों सङ्कल्प करके समाधिस्थ हुई थीं। इसी कारण उन्हें समाधि अवस्थामें तदनुरूप चित्तदेहके प्राप्त होनेपर आकाशमें उड़नेका अनुभव होने लगा ॥ १५ ॥

चिदाकाशदेहकी प्राप्ति होनेपर भी चित्तमें स्थित पूर्वसङ्कल्पित दृश्यके अनु-

---

* इस विषयमें दो मत हैं—एक मत यह है कि योगी लोग समाधि द्वारा स्थूल देहसे बाहर निकल कर सूक्ष्म देहसे बाहर पर्यटन करते हैं । दूसरा मत यह कि योगी लोग देहसे

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

दूराद्दूरमभिप्लुत्य शनैरुच्चैः पदं गते ।
हस्तं हस्ते समालम्ब्य यान्त्यौ ददृशतुर्नभः ॥ १ ॥
एकार्णवमिवोच्छूनं गम्भीरं निर्मलान्तरम् ।
कोमलं कोमलमरुदासङ्गसुखभोगदम् ॥ २ ॥
आल्हादकमलं सौम्यं शून्यताम्भोनिमज्जनात् ।
अत्यन्तशुद्धं गम्भीरं प्रसन्नमपि सज्जनात् ॥ ३ ॥

सन्धानकी अनुपत्ति होती है । उक्त समाधिकालमें वे दोनों सङ्कल्प-संस्कारोंसे पूर्ण चित्तके साथ एकीभावको प्राप्त हो गई थीं, इस कारणसे वे पूर्वसङ्कल्पित दृश्यका दर्शन कर तृप्त हो गई, इसीको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—'**दृश्यानुसन्धान०**' इत्यादिसे।

समाधि अवस्थामें आकाशदेहयुक्त भी वे दोनों ललनाएँ पूर्वसङ्कल्पित दृश्यके अनुसन्धानसे युक्त चित्तस्वरूपताको प्राप्त अपने स्वभावसे परस्पर अपने आकारके दर्शनसे स्नेहपूर्ण सखियां हुईं ॥ १६ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

[जा रहीं ज्ञप्ति देवी और लीलाका असीम विश्वके वैचित्र्यके विलासोंसे परिपूर्ण आकाशरूप मार्गका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्र, एक-दूसरेका हाथ पकड़ कर जा रहीं धीरे धीरे ऊपर चढ़कर अत्यन्त दूर ऊर्ध्वस्थानमें गई हुई उन दोनों सखियोंने आकाशको देखा ।

आकाश तरङ्गित प्रलयकालके एकमात्र समुद्रके समान गंभीर, निर्मल और स्निग्ध (बाधाशून्य), मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुके संसर्गसे सुखभोगका दाता, शून्यतारूपी जलमें अवगाहन करनेसे अत्यन्त आनन्ददायक अथवा जगत्-

---

बाहर नहीं निकलते, केवलमात्र स्थूलदेहके अभिमानका परित्याग और हृदयसे लेकर कण्ठतक विलस्तभर नाड़ीमें स्थित होकर या आरोहण कर सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उसी ज्ञानसे वे लोग स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि लोकोंका दर्शन करते हैं ।

श्रृङ्गस्थनिर्मलाम्भोदपीनोदरसुधालये ।
विशश्रमतुराशासु पूर्णचन्द्रोदरामले ॥ ४ ॥
सिद्धगन्धर्वमन्दारमालामोदमनोहरे ।
चन्द्रमण्डलनिष्क्रान्ते रेमाते मधुरानिले ॥ ५ ॥
सस्नतुर्भूरिघर्मान्ते तडिद्रक्ताब्जसङ्कुले ।
सरसीव जलापूरमन्थरे मेघमण्डले ॥ ६ ॥
भूतलौघमहाशैलमृणालाङ्कुरकोटिषु ।
दिक्षु बभ्रमतुः स्वैरं भ्रमर्यौ सरसीष्विव ॥ ७ ॥
धारागृहधिया धीरगङ्गानिर्झरधारिणि ।
भ्रेमतुर्वातविक्षुब्धमेघमण्डलमण्डपे ॥ ८ ॥

शून्यतारूप ब्रह्मजलमें पहले पहल निर्गमन करनेसे प्राणिरूपी भ्रमरोंको आह्लादित करनेवाला कमलरूप, शान्त, अत्यन्तस्वच्छ, गम्भीर और सज्जनके मनसे भी बढ़कर प्रसन्न था ॥ १–३ ॥

चन्द्रमाके मध्यके सदृश उज्ज्वल उन दोनोंने दिशाओंमें सुमेरु आदि पर्वतोंके शिखरोंमें स्थित शुभ्र मेघोंके विशाल कलेवरके भीतर विद्यमान महलोंमें विश्राम किया ॥ ४ ॥

कहींपर (चन्द्रमण्डलके समीपमें) चन्द्रमण्डलसे निकलकर उन दोनोंने सिद्ध और गन्धर्वोंके गलेमें पड़ी हुई मन्दारमालाओंकी अति सुगन्धिसे मनोहर, मन्द और सुगन्ध वायुमें विचरण किया, कहींपर प्रचुर आतप (घाम) का विनाश करनेवाले विजलीरूपी लाल कमलोंसे व्याप्त तथा जलसे पूर्ण होनेके कारण मन्दगामी मेघमण्डलमें स्नान किया जैसे कि लोग प्रचुर आतपका अन्त करनेवाले विजलीके तुल्य उज्ज्वल कमलोंसे पूर्ण तालाबमें स्नान करते हैं ॥ ५, ६ ॥

जैसे दो भँवरियाँ करोड़ों मृणालाङ्कुरोंसे व्याप्त कमलके तालाबोंमें भ्रमण करती हैं, वैसे ही उन्होंने भी विविध भूतलोंके हिमालय आदि पर्वतरूपी मृणालोंके (भसींडोंके) करोड़ों अङ्कुरोंसे युक्त दिशाओंमें भ्रमण किया ॥ ७ ॥

कहींपर आकाशगङ्गाके शीकरोंको धारण करनेवाले और वायुसे विकसित मेघमण्डलरूपी मण्डपमें धारागृहकी बुद्धिसे उन्होंने भ्रमण किया ॥ ८ ॥

ततो मधुरगामिन्यौ विश्राम्यन्त्यौ स्वशक्तितः।
शून्ये ददृशतुर्व्योममहारम्भातिमन्थरम् ॥ ९ ॥
अदृष्टपूर्वमन्योन्यं सर्वसंकटकोटरम् ।
अपूर्यमाणमाशून्यं जगत्कोटिशतैरपि ॥ १० ॥
उपर्युपर्युपर्युच्चैरन्यैरन्यैर्वृतं पृथक् ।
विचित्राभरणाकारैर्भूतलैः सुविमानकैः ॥ ११ ॥
परितः पूरितव्योम्नां मेर्वादिकुलभूभृताम् ।
पद्मरागतटोद्योतैः कल्पज्वालोपमोदरम् ॥ १२ ॥
मुक्ताशिखरभापूरैर्हिमवत्सानुसुन्दरम् ।
काञ्चनाद्रिस्थलार्चिर्भिः काञ्चनस्थलभासुरम् ॥ १३ ॥
महामरकताभाभिः शाद्वलस्थलनीलिमम् ।
द्रष्टृदृश्यक्षयासक्तजातध्वान्तोऽथकालिमम् ॥ १४ ॥

तदुपरान्त अपनी शक्तिके अनुसार धीरे-धीरे चलनेवाली एवं मध्य-मध्यमें विश्राम ले रहीं उन दोनों ललनाओंने शून्य देशमें महान् भुवनों और उनमें स्थित जनोंके निर्माणसे अत्यन्त पूर्ण आकाशमण्डलको देखा ॥ ९ ॥

यद्यपि सरस्वती देवीने उक्त आकाशमण्डलको पहले देखा था, तथापि दोनोंने परस्पर मिलकर पहले उसे नहीं देखा था। जितने प्राणियोंके हेतुभूत गर्भच्छिद्र हैं, वे सब उसीके अंश हैं, कोटि-कोटि जगतोंसे लगातार भरा जाता हुआ भी वह चारों ओर शून्य रहता है।

उन्होंने उसे ऊपर ऊपर अति सुन्दर विमानोंसे युक्त, विचित्र आभरणोंके सदृश और अलग-अलग बने हुए अनेक विशाल भुवनोंसे आवृत देखा ॥ ११ ॥

मेरु आदि सात कुलपर्वतोंके, जिन्होंने चारों ओरसे आकाशको भर रक्खा था, पद्मरागमणिके तटोंके प्रकाशोंसे उसका मध्यभाग उन्हें प्रलयकालकी अग्निके सदृश प्रतीत हुआ ॥ १२ ॥

उक्त पर्वतोंकी मुक्तामय चोटियोंके प्रभापुञ्जसे वह हिमालयकी चोटीके समान भला प्रतीत होता था और स्वर्णमय मेरु पर्वतके मैदानोंकी कान्तियोंसे वह स्वर्णमय मैदानके सदृश चमकता था। पूर्वोक्त पर्वतोंकी बड़ी-बड़ी मरकत-मणियोंकी (हरित्-मणियोंकी) आभाओंसे घासके हरे मैदानोंकी हरियालीके

पारिजातलतालोलविमानगणकेतनम् ।
अतो मञ्जरिकाकारमिव वैदूर्यभूतलम् ॥ १५ ॥
मनोवेगमहासिद्धजितवातगमागमम् ।
विमानगृहदेवस्त्रीगेयवाद्यसघुंघुमम् ॥ १६ ॥
त्रैलोक्यवरभूतौघसंचाराविरलान्तरम् ।
अन्योन्यादृष्टसंचारसुरासुरकुलाकुलम् ॥ १७ ॥
पर्यन्तस्थितकूष्माण्डरक्षःपैशाचमण्डलम् ।
वातस्कन्धमहावेगवहद्वैमानिकव्रजम् ॥ १८ ॥

सदृश हरियालीसे युक्त था, कहीं-कहींपर नयनवान् लोगोंकी दृष्टिका और नील, पीत आदि रूपोंका विनाश करनेके लिए कटिबद्ध गाढ़ अन्धकारसे अन्धकारित था ॥ १३, १४ ॥

वह , पारिजातके वनोंके ऊपर उड़ रहे विमानोंका स्थानभूत वह कहींपर समीपमें स्थित लोगोंकी दृष्टिसे पारिजात वनकी मञ्जरी-सा ज्ञात होता था और दूरस्थित लोगोंकी दृष्टिसे वैडूर्यमणिसे बने हुए भूतलके तुल्य मालूम पड़ता था ॥ १५ ॥

कहींपर उसमें मनके समान वेगवाले महासिद्धोंने वायुके संचारके वेगको जीत लिया था यानी मनसे भी अधिक शीघ्र चलनेवाले सिद्धोंने अपने वेगसे वायुके वेगको नीचा दिखा दिया था और कहींपर विमानरूपी घरोंमें बैठी हुई अप्सराओंके गायन और वादनकी 'धुम्, धुम्' ऐसी ध्वनिसे पूर्ण था ॥ १६ ॥

कहींपर तीनों लोकोंके श्रेष्ठ-श्रेष्ठ प्राणियोंके गमनागमनसे ठसाठस भरा था और कहींपर देवता और दैत्योंके वृन्दसे, जिन्होंने कि आपसमें एक दूसरेके गमनागमनको नहीं देखा था, उसमें परस्पर टक्कर लगनेसे बड़ी घबराहट पैदा हो रही थी। कहीं उसके ओने-कोनेमें कूष्माण्ड, राक्षस, पिशाचोंकी मण्डली बैठी थी और कहींपर आवह, प्रवह आदि वायुके भेदोंके महान् वेगसे वैमानिकोंका (विमानसे चलनेवाले देवताओंका) दल बह रहा था यानी बड़ी तेजीसे भ्रमण कर रहा था। उसमें कहींपर विमानोंके शीघ्र चलनेकी ध्वनि (सरसराहट और घड़घड़ाहट) के दबनेसे बादलोंका शब्द सुनाई देता था, कहींपर सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रोंके घनसंचारसे (एक दूसरेसे सटकर गमनागमन करनेसे)

वहद्विमानसीत्कारमुष्टिग्राह्यघनध्वनि ।
ग्रहर्क्षघनसंचारात्प्रचलद्वातयन्त्रकम् ॥ १९ ॥
निकटातपदग्धाल्पसिद्धसिद्धोज्झितास्पदम् ।
अर्काश्वमुखवातास्तदग्धमुग्धविमानकम् ॥ २० ॥
लोकपालाप्सरोवृन्दसंचाराचारचञ्चलम् ।
देव्यन्तःपुरिकादग्धधूपधूमाम्बुदाम्बरम् ॥ २१ ॥
स्वस्वर्गाहूतदेवस्त्रीस्वाङ्गविभ्रष्टभूषणम् ।
सामान्यसिद्धसंघोग्रतेजःपुञ्जतमोबलम् ॥ २२ ॥
बलवत्सिद्धसंघट्टगमागमविघट्टितैः ।
घनैः सांशुकपार्श्वस्थहिमवन्मेरुमन्दरम् ॥ २३ ॥

वायुको रोकनेवाला ज्योतिश्चक्रनामक यन्त्र चल रहा था, कहींपर निकटवर्ती सूर्यके आतपकी उष्णतासे झुलसे हुए सिद्धोंने (एक प्रकारकी देव-योनिको सिद्ध कहते हैं), जो कि तपस्या, योग और रसायन आदिसे पूर्ण सिद्ध नहीं थे, अपना-अपना स्थान छोड़ दिया था, कहींपर सुन्दर विमान सूर्यके तीक्ष्ण आतपसे जल रहे थे और सूर्यके घोड़ोंके मुखपवनसे अस्त-व्यस्त हो रहे थे ॥ १७–२० ॥

कहींपर लोकपाल और अप्सराओंके पैरोंसे गमन और अन्यान्य अङ्गोंसे उनके तत्-तत् उचित आचरणोंसे चल वस्तुके तुल्य चञ्चल था, कहींपर देवियोंके अन्तःपुरमें जली हुई धूपके धूमसे उत्पन्न मेघरूपी वस्त्रसे आच्छन्न था, कहींपर उसमें इन्द्र, चन्द्र आदि द्वारा स्वर्गसे यानी स्वर्गशब्दवाच्य अपने-अपने लोकसे बुलाई गईं, अतएव औरोंकी उपेक्षा करके 'मैं पहले जाऊँ, मैं पहले पहुँचूं' इस अभिमानसे दौड़ रहीं देवियोंके अङ्गोंसे आभरण गिरे हुए थे, उन अप्सराओंको चाहनेवाले इन्द्र आदिके तुल्य अणिमा आदि विशेष सिद्धियोंसे शून्य अन्यान्य स्वर्गस्थ पुरुषोंके उग्र तेजको क्रोध, ईर्ष्या आदि द्वारा तिरोभूत करनेवाले तमोबल (तमोगुणकी प्रबलता) के तुल्य नीला था ॥ २१, २२ ॥

बलवान् सिद्धोंका परस्पर टकराकर (धक्का-धुक्कीके साथ) जो गमनागमन था, उससे मेघ चकनाचूर हो जाते थे, अतएव मानों उनके गमनागमनसे होनेवाले अपने विनाशके भयसे उन्होंने पासमें स्थित हिमालय आदि पर्वतोंके शिखरोंमें

काकोलूकैर्गृध्रभासै राशिभूतैश्चलैर्वृतम् ।
नृत्यद्भिर्डाकिनीसङ्घैस्तरङ्गैरिव वारिधिम् ॥ २४ ॥
प्रवृत्तैर्योगिनीसंघैः श्वकाकोष्ट्रखराननैः ।
निरर्थं योजनशतं गत्वाऽऽगच्छद्भिरावृतम् ॥ २५ ॥
लोकपालपुरोध्वान्तधूमधूम्रेऽभ्रमन्दिरे ।
सिद्धगन्धर्वमिथुनप्रारब्धसुरतोत्सवम् ॥ २६ ॥
स्वर्गगीतस्तवोन्मत्तमदनाक्रान्तमार्गगम् ।
अनारतवहद्धिष्ण्यचक्रलक्षितपक्षकम् ॥ २७ ॥

आश्रय ले लिया । मेघोंके पर्वतोंके शिखरोंमें जानेसे पर्वत ऐसे मालूम होते थे मानों उन्होंने वस्त्र पहन रक्खे हैं । अतएव कहींपर उसके पासमें स्थित हिमालय, मेरु, मन्दराचल आदि सवस्त्र-से प्रतीत होते थे ॥ २३ ॥

कहींपर जैसे चञ्चल लहरोंसे समुद्र व्याप्त होता है, वैसे ही समूहके समूह एक साथ उड़ रहे अतएव चञ्चल कौएँ, उल्लू, गीध, चातक आदि पक्षियों और नाच रही डाकिनियों (पिशाचयोनिविशेषों) से वह व्याप्त था ॥ २४ ॥

कहींपर कुत्ते, कौए, ऊँट और गदहेके तुल्य अनेक प्रकारके विलक्षण मुहवाली निष्प्रयोजन * सैकड़ों कोश जाकर लौट रहीं गमनागमनमें प्रवृत्त योगिनियोंसे आवृत्त था ॥ २५ ॥

कहींपर लोकपालोंके आगे ही स्थित †, अन्धकारके तुल्य दृष्टिके प्रसारको रोकनेवाले, धूमके तुल्य धुमैले, मेघरूपी मन्दिरमें सिद्ध और गन्धर्वोंके जोड़े सुरत-क्रीड़ा कर रहे थे ॥ २६ ॥

कहींपर आकाशमार्गसे चलनेवाले देववृन्द स्वर्गमें गाये जा रहे उद्दीपन करनेवाले मनोहर गीतों और दिव्य स्तुतियोंसे उन्मत्त और कामपीड़ासे व्याप्त थे, कहींपर ग्रहनक्षत्रोंके गृहभूत ज्योतिश्चक्रके लगातार चलनेपर सूर्य आदिकी गतिसे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षका कालविभाग उसमें दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २७ ॥

* योगिनियोंको अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं, अत उन्हें अपने स्थानमें बैठे बैठे अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है, अतएव उनका दूरगमनप्रयास निरर्थक है ।

† तत्-तत् दिशाओके अधिनायक लोकपाल दिशाओके अन्त तक रहते हैं, अतएव वह उनके सामने ही स्थित, फिर भी वे उस मेघमन्दिरके अधिक घन और काला होनेके कारण उनकी क्रीड़ाएँ नहीं देख सकते थे ।

वातस्कन्धनिखातान्तर्वहत्त्रिपथगाजलम् ।
आश्चर्यालोकनव्यग्रसंचरत्त्रिदशार्भकम् ॥ २८ ॥
सदेहसंचरद्वज्रचक्रशूलासिशक्तिमत् ।
क्वचिन्निर्भित्तिभवनं गायन्नारदतुम्बुरु ॥ २९ ॥
मेघमार्गमहामेघमहारम्भाकुलं क्वचित् ।
चित्रन्यस्तसमाकारमूककल्पान्तवारिदम् ॥ ३० ॥
उत्पतत्कज्जलाद्रीन्द्रसुन्दराम्भोधरं क्वचित् ।
क्वचित्कनकनिष्पन्दकान्ततापान्तवारिदम् ॥ ३१ ॥
क्वचिद्दिग्दाहतापाढ्यमृष्यमूकाम्बुदांशुकम् ।
क्वचिन्निष्पवनाम्भोधिसंरम्भं शून्यताजलम् ॥ ३२ ॥
क्वचिद्वातनदीप्रौढविमानतृणपल्लवम् ।
क्वचिच्चलदलिव्रातपृष्ठत्वक्कान्तिनिर्मलम् ॥ ३३ ॥

कहींपर अनेक प्रकारके वायु-समूहोंमें से एक वायुसमूहरूप उक्त ज्योतिश्चक्रमें बनाये गये निखात (गड्ढे) के अन्दर गङ्गाजीका जल वह रहा था, कहींपर देवताओंके बालक अनेक प्रकारके आश्चर्यमय कौतुकोंके दर्शनमें व्यापृत होकर घूम रहे थे, कहींपर वज्र, चक्र, त्रिशूल, तलवार और शक्तिके अधिष्ठाता देवगण मूर्तिमान् होकर संचार कर रहे थे। कहींपर वह बिना भीतके भवनोंसे परिपूर्ण था, कहींपर उसमें नारद और तुम्बुरु ऋषि गायन कर रहे थे, कहीं मेघोंके संचारप्रदेशमें पुष्करावर्तक आदि महामेघोंके प्रलयकालीन वृष्टिरूप महान् आरम्भसे उसमें हलचल मची थी और कहींपर तो प्रयलकालके मेघ चित्रमें लिखितके तुल्य निश्चेष्ट और गर्जनध्वनि-शून्य थे ॥ २८–३० ॥

कहींपर काजलके महान् पर्वतोंके तुल्य सुन्दर मेघ उड़ रहे थे, तो कहींपर सुवर्णके द्रवके समान मनोज्ञ सूर्यके तापको दूर करनेवाले मेघोंका जमघट था और कहींपर दिशाओंके दाहसे उत्पन्न सन्तापसे पूर्ण था। ऋष्यमूक पर्वतपर पूर्व-रामायणमें वर्णित प्रकारसे बरस रहे मेघ ही उसके वस्त्र थे। कहींपर शून्यता-रूपी जलसे पूर्ण वह निश्चल सागरके सदृश था। कहींपर उसमें वायु प्रवाहरूपी नदीमें बड़े बड़े वायुयान ही बहाये जा रहे तिनके और पत्तोंके सदृश दिखाई देते थे, कहींपर उड़ रहे भँवरोंकी पीठकी त्वचाकी कान्तिके तुल्य कान्तिवाला और

क्वचिन्मेरुनदीकल्पवातधूलिविधूसरम् ।
क्वचिद्विमानगीर्वाणप्रभाचित्रबलाङ्ककम् ॥ ३४ ॥
क्वचिन्निरम्बरोन्नृत्तमातृमण्डलमालितम् ।
क्वचिन्नित्यं नवक्षीबक्षुब्धयोगीश्वरीगणम् ॥ ३५ ॥
क्वचिच्छान्तसमाधिस्थविश्रान्तमुनिमालितम् ।
समं दूरास्तसंरम्भसाधुचित्तमनोहरम् ॥ ३६ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वसुरस्त्रीमण्डलं क्वचित् ।
क्वचित् स्तब्धपुरापूर्णं वहत्पुरवरं क्वचित् ॥ ३७ ॥
क्वचिद्रुद्रपुरापूर्णं क्वचिद्ब्रह्ममहापुरम् ।
क्वचिन्मायाकृतपुरं क्वचिदागामिपत्तनम् ॥ ३८ ॥
क्वचिद्भ्रमच्चन्द्रसरः क्वचित्स्तब्धमयं सरः ।
क्वचित्सरत्सिद्धगणं क्वचिदिन्दुकृतोदयम् ॥ ३९ ॥

निर्मल था और कहींपर वर्षाकालकी पर्वतीय नदियोंके सदृश (समान रङ्गवाले) वायुमें स्थित धूलिके प्रवाहोंसे वह मटमैला प्रतीत होता था, कहींपर विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी कान्तिसे उसकी रूपरेखा चित्रविचित्र (चितकबरी) हो रही थी ॥ ३१—३४ ॥

कहींपर निरन्तर नृत्त करनेवाले मातृमण्डलसे परिवृत था, तो कहींपर कभी नष्ट न होनेवाले, उन्मत्त और विक्षुब्ध योगीश्वरियोंके नौ गणोंसे युक्त था। कहीं शान्त, समाधिस्थ अतएव परमपदमें विश्रान्त (ब्रह्मनिष्ठ) मुनियोंसे परिवेष्टित था। कहींपर जिसने क्रोध आदिका अत्यन्त परित्याग कर दिया है, ऐसे साधु-महात्माके चित्तके समान मनोहर और सम * था ॥ ३५, ३६ ॥

कहींपर उसमें किन्नर, गन्धर्व और देवताओंकी पत्नियाँ गायन कर रही थीं, कहींपर वह अचल (स्थिर) नगरोंसे व्याप्त था, तो कहींपर उसमें चल रहे सुन्दर सुन्दर पुरोंकी (त्रिपुर आदिके सुन्दर पुरोंकी) प्रचुरता थी। कहीं-पर वह शिवजीके नगरोंसे परिपूर्ण था, तो कहींपर उसमें ब्रह्माजीके महान् नगर विराजमान थे। कहींपर उसमें माया द्वारा निर्मित नगर विद्यमान थे, तो कहींपर भविष्यमें बनाये जानेवाले थे, कहींपर चलता-फिरता चन्द्ररूपी सरोवर

* महात्माका चित्त भी सबपर सम होता है और वह भी सम यानी विषमतासे शून्य (निर्बाध) था।

क्वचित्सूर्योदयमयं क्वचिद्रात्रितमोमयम् ।
क्वचित्सन्ध्यांशुकपिलं क्वचिन्नीहारधूसरम् ॥ ४० ॥
क्वचिद्धिमाभ्रधवलं क्वचिद्वर्षत्पयोधरम् ।
क्वचित्स्थल इवाऽकाश एव विश्रान्तलोकपम् ॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वाधोगमनव्यग्रसुरासुरगणं क्वचित् ।
पूर्वापरोत्तरायाम्यदिक्संचाराकुलं क्वचित् ॥ ४२ ॥
अपि योजनलक्षाणि क्वचिद् दुष्प्रापभूधरम् ।
अविनाशितमःपूर्णं दृषद्गर्भोपमं क्वचित् ॥ ४३ ॥
अविनाशिबृहत्तेजः क्वचिदर्कानलोपमम् ।
हिमानीजठराशीतं क्वचिच्चन्द्रादिसद्मसु ॥ ४४ ॥
क्वचिद्धृहत्पुरोवृत्तकल्पवृक्षलतावनम् ।
क्वचिद्दैत्यहृतोत्तुङ्गप्रपतद्देवपत्तनम् ॥ ४५ ॥

विराजमान था तो कहींपर निश्चल (जो चलने फिरनेवाला नहीं है) सरकी छटा देखते ही बनती थी, कहींपर सिद्धगण घूम रहे थे, कहींपर चन्द्रोदयकी शोभा छटक रही थी तो कहींपर सूर्योदयका आनन्द अपना अनोखा समा बांध रहा था, कहींपर रात्रिके गाढ अन्धकारने अपनी निराली छटा दिखा रक्खी थी, कहीं-पर सन्ध्याकालीन किरणोंसे लाल हो रहा था, तो कहींपर कुहरेसे मलिन हो रहा था, कहींपर बरफके समान सफेद मेघोंसे शुभ्र था, तो कहीं पर पानी बरसा रहे मेघोंसे आच्छन्न था, कहींपर भूमिके तुल्य आकाशमें (आवरणशून्य प्रदेशमें) लोकपाल बैठे थे, तो कहींपर अनेक देवता और दैत्य ऊपर नीचे जानेमें व्यापृत थे और कहींपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओंमें संचार (भ्रमण) करनेवाले देव, दानव आदिसे ठसाठस भरा था ॥ ३७–४२ ॥

कहींपर लाखों कोशोंतक भी पर्वतोंका नामनिशान नहीं था और कहींपर (लोकालोक पर्वतके अगल-बगलमें) कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकारसे आवृत अतएव पत्थरके भीतरी हिस्सेके समान ठोस था, तो कहींपर उसमें महान् तेजका कभी विनाश नहीं होता था, अतएव उस भागमें वह सूर्य और अग्निके तुल्य तेजस्वी था, कहींपर चन्द्र आदि गृहोंमें बरफके चट्टानके मध्यभागकी नाईं चारों तरफ शीतल था। कहींपर दैत्योंके भयसे उखाड़कर ले जा रहे देवताओंके

वैमानिकनिपातेन वह्निलेखाङ्कितं क्वचित् ।
क्वचित्केतुशतोत्पातमिथःसङ्घट्टपट्टितम् ॥ ४६ ॥
क्वचिच्छुभग्रहगणप्रगृहीताग्र्यमण्डलम् ।
क्वचिद्रात्रितमोव्याप्तं क्वचिद्दिवसभास्वरम् ॥ ४७ ॥
क्वचिदुद्गर्जदम्भोदं क्वचिन्मूकामलाम्बुदम् ।
वातावकीर्णशुक्लाभ्रखण्डपुष्पोत्तरं क्वचित् ॥ ४८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यमवदातमनन्तरम् ।
आनन्दमृदुशान्ताच्छं ज्ञस्येव हृदयं ततम् ॥ ४९ ॥
शुक्रवाहनभेकौघैः क्वचिद् गलकृतारवम् ।
शून्यतावारिवलितं क्षेत्रमाकाशवासिनाम् ॥ ५० ॥

अनुचरों द्वारा कल्पवृक्ष-लताका वन पुरस्कृत था, कहींपर दैत्यों द्वारा छिन्न-भिन्न देवताओंका उन्नत नगर गिर रहा था, तो कहींपर स्वर्गस्थ लोगोंके, पुण्यक्षयके पश्चात्, निपातसे आगकी रेखाकी नाईं अङ्कित था * । कहींपर वह सैकड़ों धूम-केतुओंके उदय और परस्पर संमर्दसे वस्त्रकी भाँति निबिड़ित (आच्छन्न) था, कहींपर सूर्य, चन्द्र आदि शुभग्रहोंसे उसका श्रेष्ठ उर्ध्वमण्डल आक्रान्त था, कहींपर वह रात्रिके अन्धकारसे आवृत था, कहींपर दिनके प्रकाशसे चमक रहा था, कहींपर उसमें जलपूर्ण मेघमण्डल अपना गर्जन-तर्जन दिखा रहा था, तो कहींपर जलशून्य निर्मल मेघ चुप लगाये थे, कहींपर उसमें स्थित शुभ्रमेघखण्डरूपी पुष्प-शय्या वायु द्वारा इतस्ततः बखेर दी गई थी ॥ ४३–४८ ॥

कहींपर वह ज्ञानीजनके हृदयकी नाईं दृश्य पदार्थोंसे अत्यन्त शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी मेघके व्यवधानसे रहित, आनन्दरूप, कोमल, शान्त और धूलिकणोंसे विरहित था * ॥ ४९ ॥

मानो वह आकाशवासियोंका खेत था, जैसे खेतोंमें मेढक बोलते हैं और जल भरा रहता है, वैसे ही उसमें शुक्रशब्दसे उपलक्षणविधया उक्त आकाशचारियोंके वाहन-रूपी मेढ़क कण्ठ द्वारा शब्द करते थे और शून्यतारूपी जलसे वह पूर्ण था ॥५०॥

* पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गस्थ लोग जब मर्त्यलोकमें गिरते हैं तो उनके गिरनेके समय उनके प्रचुर तेजसे आकाशमें आगकी सी तेज रेखा खिंच जाती है जैसे कि ऊँचे स्थानसे बड़े वेगसे जलती हुई लकड़ी फेंकी जाय, तो आगकी रेखा सी बन जाती है ।

* ज्ञानीके हृदयमें भी सम्पूर्ण विशेषण लगाने चाहिए । वह दृश्य पदार्थोंमें आसक्तिसे शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी आवरणसे रहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त और रजोगुणसे रहित होता है ।

मयूरहेमचूडादिपक्षिभिः क्वचिदावृतम् ।
विद्याधरीणां देवीनां वाहनैर्विहितास्पदैः ॥ ५१ ॥
क्वचिदभ्रान्तरोन्नृत्यद्गुहमायूरमण्डलम् ।
क्वचिदग्निशुकैः श्यामं शाद्वलानामिव स्थलम् ॥ ५२ ॥
क्वचित् प्रेतेशमहिषमहिम्ना वामनाम्बुदम् ।
क्वचिदश्वैस्तृणग्रामशङ्काग्रस्तासिताम्बुदम् ॥ ५३ ॥
क्वचिद् देवपुरव्याप्तं क्वचिद्दैत्यपुरान्वितम् ।
अन्योन्याप्राप्यनगरं नगरन्ध्रकरानिलम् ॥ ५४ ॥
क्वचित् कुलाचलाकारनृत्यद्भैरवभासुरम् ।
क्वचित् सपक्षशैलेन्द्रसमनृत्यद्विनायकम् ॥ ५५ ॥
क्वचिद् घर्घरवातौघपक्षप्रोड्डीनपर्वतम् ।
क्वचिद् गन्धर्वनगरसुरस्त्रीवृन्दबन्धुरम ॥ ५६ ॥

कहींपर विद्याधरी देवियोंके वाहन मयूर, हेमचूड आदि पक्षियोंसे, जिन्होंने कि उसमें अपने-अपने घोंसले बना रक्खे थे, व्याप्त था। कहींपर मेघमण्डलके अन्दर कार्तिकेयके वाहन मयूरोंका झुण्ड उसमें नाच कर रहा था, कहींपर वह अग्निके वाहन शुकोंसे † हरी घासके मैदानके तुल्य हरा था। कहींपर उसमें यमराजके वाहन भैंसकी महिमासे (बृहत्कलेवररूप महिमासे) मेघ छोटा-सा प्रतीत होता था, कहींपर सूर्यके घोड़ोंने हरे घासकी आशङ्कासे काले-काले बादलोंको निगल डाला था। कहींपर देवताओंके नगरसे व्याप्त था, कहींपर दैत्योंके नगरोंका तांता लगा था, वे लोग एक दूसरेके नगरको नहीं पा सकते थे, क्योंकि उनके नगरोंके बीचमें पहाड़ोंमें भी छेद करनेमें समर्थ यानी अतिबलवान् वायुका आवास था। कहींपर कुलाचलोंके (मेरु आदि सात कुल पर्वतोंके) तुल्य विशालकाय नाच रहे भैरवोंसे जगमगा रहा था, कहींपर पक्षयुक्त (परवाले) महान् पर्वतोंके तुल्य विनायक नृत्य कर रहे थे। कहींपर पर्वत घड़घड़ाहट और वायुके झोकोंके साथ परोंसे उड़ते थे, कहींपर गन्धर्वोंका नगर था, जिसमें झुण्डकी झुण्ड अप्सराएँ निवास करती थीं। कहींपर मेघ उड़ रहे पर्वतों द्वारा

---

† यद्यपि सर्वत्र अग्निका वाहन मेष ही प्रसिद्ध है, तथापि यहाके कथनसे अग्निका वाहन शुक भी है, ऐसा जानना चाहिए।

क्वचिद्गहद्गिरिध्वस्तवृक्षलक्षोच्छ्रिताम्बुदम् ।
क्वचिन्मायाकृताकाशनलिनीजलशीतलम् ॥ ५७ ॥
क्वचिदिन्दुकराकृष्टिशीतलाह्लादमारुतम् ।
क्वचित् तप्तानिलादग्धद्रुमपर्वतवारिदम् ॥ ५८ ॥
क्वचिदत्यन्तसंशान्तवातादेकान्तनिर्ध्वनि ।
क्वचित् पर्वततुल्याभ्रशिखाकूटशतोदयम् ॥ ५९ ॥
क्वचित् प्रावृड्भवोन्मत्तघनाभ्रवघर्घरम् ।
क्वचित् सुरासुरगणप्रवृत्तरणदुर्गमम् ॥ ६० ॥
क्वचिद् व्योमाब्जिनीहंसीस्वनाहूताब्जवाहनम् ।
क्वचिन्मन्दाकिनीतीरनलिनीलुण्ठकानिलम् ॥ ६१ ॥
स्वशरीरेण गङ्गादिसरितां सन्निधानतः ।
प्रोड्डीनमत्स्यमकरकुलीराम्बुजकूर्मकम् ॥ ६२ ॥
पातालगार्कजनितभूच्छायाकाकचोपनैः ।
क्वचित्क्वचिन्मण्डलेषु ग्रस्तचन्द्रार्कमण्डलम् ॥ ६३ ॥

छिन्न-भिन्न तथा लाखों वृक्षों द्वारा छातेके समान अपने ऊपर ताने गये थे, कहींपर वह माया द्वारा निर्मित आकाशकमलिनी (कमलयुक्त सरोवर) के जलसे शीतल था। कहींपर वायु चन्द्रकिरणोंके संसर्गसे शीतल और आह्लादकारी था, तो कहीं सूर्यकिरणोंसे तप्त वायुसे (लूसे) पर्वत, पेड़ और मेघ जल रहे थे। कहींपर वायुके अत्यन्त शान्त होनेके कारण बिलकुल सन्नाटा छाया था, कहींपर पहाड़ोंके समान विशालकाय मेघोंके सैकड़ों शिखरसमूह उदित हो रहे थे। कहींपर उसमें वर्षा ऋतुके उद्दाम और निबिड़ मेघमण्डलके गर्जनकी गड़गड़ाहट हो रही थी, कहींपर प्रवृत्त (हो रहे) देवासुरसंग्रामसे जाना बड़ा कठिन था। कहींपर आकाशकमलिनीमें रहनेवाली हंसी अपने मधुरस्वरसे ब्रह्माजीके वाहन हंसका आह्वान करती थी, कहींपर वायु मन्दाकिनीके तीरकी नलिनियोंकी सुगन्धि चुरा रहा था। गङ्गादि पुण्य नदियोंकी सन्निधि होनेसे मछली, मगर, केकड़े, वेतस (बेंतके वृक्ष), कछुएँ देवताओंका शरीर धारण कर उड़ते थे ॥ ५१—६२ ॥

भूगोलके चारोंओर सूर्यके घूमनेपर पृथिवीकी छाया भी घूमती है, जब सूर्य पातालमें जाता है, तब पृथिवीकी छाया ऊपरको फैलती है, काली होनेसे

क्वचित् सर्गानिलाधूतमायाकुसुमकाननम् ।
पतत्पुष्पहिमासारत्रसद्वैमानिकाङ्गनम् ॥ ६४ ॥
उदुम्बरोदरमशकक्रमभ्रमज्जगत्रयान्तरगतभूतसंचयम् ।
विलङ्घ्य तद्वरललने खमुच्चैर्महीतलं पुनरपि गन्तुमुद्यते ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गगनवर्णनं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

नभःस्थलाद् गिरिग्रामं गच्छन्त्यौ क्वचिदेव ते ।
ज्ञप्तिचित्तस्थितं भूमितलं ददृशतुः स्त्रियौ ॥ १ ॥

वही काक ठहरी, उसके आक्रमणोंसे किन्हीं किन्हीं मण्डलोंमें चन्द्र और सूर्य मण्डलमें ग्रहण लगा था । कहींपर विमानचारी देवताओं द्वारा अपनी अङ्गनाओंके विस्मयके लिए रचित मायिक सृष्टिके वायुओं द्वारा मायानिर्मित फूलोंका बन हिलाया जाता था, अतएव गिर रहे पुष्परूपी हिमकी लगातार वृष्टिसे विमानचारी देवताओंकी अङ्गनाएँ भयभीत हो रही थीं ॥ ६३, ६४ ॥

इस प्रकार आकाशका वर्णन करनेपर लोगोंको आकाशचारियोंके वैभवमें राग न हो, इसलिए उन्हें तुच्छ करते हुए कहते हैं—'**उदुम्बर०**' इत्यादिसे ।

वे दोनों ललनाएँ गूलरके फलके अन्दरके छोटे-छोटे मशकोंकी नाईं जिसमें त्रिजगत्-मध्यवर्ती प्राणिवर्ग घूम रहा था, ऐसे आकाशको ऊपर तक लांघकर फिर पृथ्वीतलमें जानेके लिए उद्यत हुईं ॥ ६५ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

[सरस्वती देवी और लीला द्वारा दृष्ट सात समुद्र और सात द्वीपोंसे परिवेष्टित, ब्रह्माण्डरूप आवरणसे युक्त अपूर्व भुवनका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्र, आकाश-मण्डलसे पर्वतग्रामको जा रहीं उन दोनों ललनाओंने अपूर्व भूमितलको, जो कि सरस्वतीके मनमें था यानी जिसको सरस्वती लीलाको दिखलाना चाहती थी, देखा ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डनरहृत्पद्मं दिगष्टकदलं बृहत् ।
गिरिकेसरसम्बाधं स्वामोदभरसुन्दरम् ॥ २ ॥

सरित्केसरिकानालमध्येऽवश्यायबिन्दुकम् ।
शर्वरीभ्रमरीभ्रान्तं भूतौघमशकाकुलम् ॥ ३ ॥

अन्तर्गुणगणाकीर्णं सुरन्ध्रैः सुषिरैर्वृतम् ।
उह्यमानपयःपूरैर्दिवसालोककान्तिमत् ॥ ४ ॥

रसार्द्रं खेभ्रमद्धंसं रात्रिसङ्कोचभाजनम् ।
पातालपङ्कनिर्मग्ननागनाथमृणालकम् ॥ ५ ॥

उसी भूमितलका ब्रह्माण्डरूपी पुरुषके हृदयकमलरूपसे वर्णन करते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

वह महीतल ब्रह्माण्डरूपी पुरुषका विशाल हृदय कमल था, आठों दिशाएँ उसकी पँखुरियाँ थीं, पर्वतरूपी केसरोंसे ठसाठस भरा था, मनको आकर्षण करनेवाली सुगन्धिसे उसकी मनोहरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी । सरिताएँ ही उसकी अवान्तर शाखाएँ (केसरकी अवान्तरशाखाएँ) थीं, कारण कि वे केसररूप पर्वतोंसे निकली थीं, हिमकण ही उनके नालके बीचमें स्थित मधुबिन्दु थे, रात्रि उसकी भँवरी थी (रात्रिरूपी भँवरीसे मह भ्रमियुक्त था), असीम प्राणिवर्ग उसके मशक थे (प्राणिसंघरूप क्षुद्र पतिंगोंसे वह व्याकुल था) । भोग्य वस्तुओंके गुण उसके नालदण्डके भीतरके तन्तु थे, उनसे वह व्याप्त था, जल-प्रवाहको बहानेवाले पाताल आदि बिल उसके सुन्दर नालछिद्र थे, उनसे वह परिवृत था और था सूर्यके आतपसे अत्यन्त कान्तिवाला ॥ २–४ ॥

शृङ्गार आदि नौ रस उसके मकरन्द थे, उनसे वह सरस था, आकाशमें घूम रहा हंस (सूर्य) उसका हंस था, ब्रह्माकी रात्रिरूप रात्रिमें (प्रलयकालमें) संकोचको प्राप्त होता था*, पातालरूपी पङ्कमें निमग्न शेषनाग उसका मृणालदण्ड था ॥ ५ ॥

---

* कमलोंका रात्रिमें संकोचको प्राप्त होना प्रसिद्ध है, उक्त कमल प्रलयरूपी रात्रिमे संकोचको प्राप्त होता है ।

कदाचिदास्पदाम्भोधिकम्पकम्पितदिग्दलम् ।
अधोनालगतानन्तदैत्यदानवकण्टकम् ॥ ६ ॥
असुरस्त्रैणवल्लर्या संभोगसुकुमारया ।
प्राप्यं भूभृन्महाबीजहृदयं भूतबीजया ॥ ७ ॥
जम्बूद्वीप इति ख्यातां विपुलां तत्र कर्णिकाम् ।
सरित्केसरिकानालां नगरग्रामकेसराम् ॥ ८ ॥
कुलशैलेश्वरोत्तुङ्गबीजसप्तकसुन्दरीम् ।
मध्यस्थोच्चमहामेरुबीजाक्रान्तनभस्थलीम् ॥ ९ ॥
सरःप्रालेयकणिकां वनजङ्गलधूलिकाम् ।
स्थलेष्वामण्डलान्तस्थजनजालालिमण्डलाम् ॥ १० ॥

कभी आश्रयमूत * महोदधिके कम्पनसे उक्त भुवनरूपी हृदयकमलकी पँखुरीरूप दसों दिशाएँ कम्पित हो जातीं थी, नालके अधोभागमें स्थित अनन्त दैत्य-दानव ही उसके अनन्त कांटे थे, उसका मृणालकन्द सन्ततिरूपी प्राणियोंकी बीजभूत, संयोगसे सुकुमार, असुरोंके स्त्री-समूहरूपी मृणालकलिका आदि वल्लरी द्वारा प्राप्त करने योग्य महाबीज स्थानीय मेरु आदि पर्वतोंका हृदयके समान जीवनका हेतु था ॥ ६–७ ॥

उस भुवनरूप कमलमें उन्होंने विशालकर्णिकाको देखा, जो जम्बुद्वीप नामसे प्रसिद्ध थी । उसमें सरिताएँ ही केसरकी अवान्तर शाखाओंके नालदण्ड थे, नगर और ग्राम ही उसमें केसर थे । वह जम्बुद्वीपरूपी कर्णिका उत्तुङ्ग सात कुल पर्वतरूपी बीजोंसे (कमलगट्टोंसे) बड़ी भली लगती थी । मध्यवर्ती अत्यन्त उत्तुङ्ग महामेरुरूपी बीजसे (कमलगट्टेसे) आकाशको स्पर्श कर रही थी, सरोवर उसके ओसके बूँद थे । वन और जङ्गल उसके पराग थे तथा कर्णिकाके अगल बगलके स्थानोंमें चारों ओर मण्डलके मध्यमें रहनेवाला जनसमुदाय ही अलिवृन्द था ॥ ८–१० ॥

---

* 'तद्यदपा शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (जो जलका शर—घनीभूत भाग—था, वह संहत होकर पृथ्वी हुआ) यह श्रुति इसमें प्रमाण है, तथा पुराणोंमें भी यह बात आई हुई है कि भगवान् वराहने पृथ्वीका उद्धार कर जलके ऊपर उसकी स्थापना की थी, इससे पृथ्वीका आश्रय महाम्भोधि कहा गया है ।

तां योजनशताकारैः प्रतिराकं प्रबोधिभिः ।
सागरैर्भ्रमरैर्व्याप्तां दिक्चतुष्टयशालिभिः ॥ ११ ॥
दिग्दलाष्टकविश्रान्तससुराम्भोधिषट्पदाम् ।
भ्रातृभिर्नवभिर्भूपैर्नवधा परिकल्पिताम् ॥ १२ ॥
लक्षयोजनविस्तीर्णामाकीर्णां च रजोलवैः ।
नानाजनपदव्यूहस्थिरावश्यायसीकराम् ॥ १३ ॥
द्वीपात्तु द्विगुणं मानं लवणार्णवलेखया ।
दधत्याऽऽवलितां बाह्ये प्रकोष्ठमिव कम्बुना ॥ १४ ॥
ततोऽपि द्विगुणं देहं दधत्यावलयाकृतिम् ।
जगद्भूतलताव्याप्तां शाकाख्यद्वीपलेखया ॥ १५ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
प्रत्यग्रक्षीरपूर्णाब्धिलेखया स्वादुशीतया ॥ १६ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्योपवेष्टिताम् ।
नानाजनालङ्कृतया कुशाख्यद्वीपलेखया ॥ १७ ॥

वह (जम्बूद्वीप नामक कर्णिका) प्रत्येक पूर्णिमामें उमड़नेवाले, चारों दिशाओंमें स्थित तथा सौ योजन विस्तीर्ण समुद्ररूपी भ्रमरोंसे व्याप्त थी। आठों दिशारूपी पँखुरियोंमें स्थित दिक्पालोंके सहित सागर उसके षट्पद थे। उसके भद्राश्व, केतुपाल आदि नौ भाइयोंने, जो कि राजा थे, नौ विभाग किये थे, तथा वह लाखों योजन विस्तीर्ण थी और थी रजःकणोंसे व्याप्त। अनेक जनपद (देश) समूह उसके स्थिर हिमकणके सीकर थे। वह जम्बूद्वीरूपी कर्णिका इस द्वीपसे * द्विगुणित परिमाणवाले क्षारसमुद्रसे, शङ्खवलयसे मणिबन्धकी नाईं, चारों ओर घिरी हुई थी। तदनन्तर उससे भी द्विगुण देहको धारण कर रही शाकनामक द्वीपरेखासे घिरी हुई जगद्रूप पदमलतासे व्याप्त थी, तदनन्तर उससे भी (शाकद्वीपसे भी) द्विगुण आकार धारण करनेवाली स्वादु और शीतल नवीन क्षीरसे पूर्ण समुद्ररेखासे यानी क्षीरसागरसे व्याप्त थी। तदनन्तर क्षीरसागरसे भी द्विगुण आकारको धारण कर रही

---

* 'द्वीपाद् द्विगुणम्' इत्यादि यद्यपि पौराणिक प्रक्रियासे विरुद्ध है, तथापि अन्य ब्रह्माण्डको लेकर वैसा कहा गया है या सृष्टिको मायिक सिद्ध करनेमें मुख्य तात्पर्य होनेके कारण वैसा कहा गया है, यह समझना चाहिए।

ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
दध्यब्धिलेखया नित्यसन्तर्पितसुरौघया ॥ १८ ॥
ततः क्रौञ्चाभिधद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
वेष्टितां खातरचया नवां नृपपुरीमिव ॥ १९ ॥
ततोऽपि च घृताम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ।
ततोऽपि शाल्मलीद्वीपलेखया मलपूर्णया ॥ २० ॥
ततः सुरामहाम्भोधिलेखया पुष्पशुभ्रया ।
शेषस्य देहलतया हरिमूर्तिमिवाऽऽवृताम् ॥ २१ ॥
ततो गोमेदकद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
इक्ष्वब्धिलेखयाऽप्येवं हिमवत्सानुशुद्धया ॥ २२ ॥
ततोऽपि पुष्करद्वीपलेखया द्विगुणस्थया ।
अन्तस्वादूदकाम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ॥ २३ ॥
ततो दशगुणेनाऽथ पातालतलगामिना ।
निखातवलयेनोच्चैः श्वभ्रसम्भाररूपिणा ॥ २४ ॥

अनेक जनोंसे अलङ्कृत कुशनामक द्वीपरेखासे वेष्टित थी। तदनन्तर कुशद्वीपसे भी द्विगुण आकारवाली दधिसमुद्रकी रेखासे, जो सतत देवताओंके समूहोंको तृप्त करती है, वेष्टित थी, तदनन्तर दधिसमुद्रसे भी द्विगुण परिमाणवाली क्रौञ्चनामक द्वीपरेखासे, परिखासे नवीन राजनगरीकी तरह, घिरी हुई थी। तदनन्तर क्रौञ्चद्वीपसे द्विगुण आकारवाली घृतसमुद्रकी रेखासे घिरी थी, तदतन्तर घृतसमुद्रसे द्विगुण एवं सुरासमुद्रसे परिवृत होनेके कारण पापपूर्ण शाल्मलीद्वीपरेखासे वेष्टित थी। तदनन्तर जैसे शेषनागकी देहरूपी लतासे भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति वेष्टित रहती है, वैसे ही पुष्पके समान अतिशुभ्र सुरासमुद्रकी रेखासे वेष्टित थी, तदनन्तर सुरासमुद्रसे परिमाणमें द्विगुण गोमेदक नामक द्वीपरेखासे (मणिप्रधान प्लक्षद्वीपरेखासे) परिवेष्टित थी, तदनन्तर उससे भी द्विगुण इक्षु-समुद्रकी रेखासे, जो हिमवान्‌के शिखरके समान शुद्ध थी, आवृत थी। तदनन्तर इक्षुसागरसे द्विगुण परिमाणवाले पुष्करद्वीपकी रेखासे घिरी हुई थी, तदनन्तर इससे भी द्विगुण परिमाणवाले स्वादुजलके समुद्रसे घिरी हुई थी ॥ ११–२३ ॥

तदनन्तर वह कर्णिका उक्त स्वादुजलसमुद्रसे दशगुण अधिक परिणामवाले पातालतलगामी गड्ढोंके समूहरूप निखातवलयसे (निम्नदेशरूप वलयसे),

पातालगामिमार्गेण वलितां भयदात्मना ।
एतस्मात् खलु सर्वस्मात् ततो दशगुणोच्चया ॥ २५ ॥
आव्योमसु चतुर्दिक्षु श्वभ्रसम्भारभीषया ।
अर्द्धोन्म्लानतमोरूपलग्ननीलोत्पलस्रजा ॥ २६ ॥
नानामाणिक्यशिखरकह्लारकुमुदाब्जया ।
लोकालोकाचलोत्तालविपुलोद्दाममालया ॥ २७ ॥
वलितां त्रिजगल्लक्ष्मीधम्मिल्लवलनामिव ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २८ ॥
अज्ञातभूतसञ्चारनाम्नाऽरण्येन मालिताम् ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २९ ॥
नभसेव चतुर्दिकं व्याप्तामतुलवारिणा ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३० ॥
मेर्वादिद्रावणोत्केन ज्वालाजालेन मालिताम् ।
एतस्मादथ सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३१ ॥

जो पातालमें जानेवालोंका महाभयप्रद मार्ग है, वेष्टित थी। तदनन्तर इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले चारों दिशाओंमें आकाशपर्यन्त गर्तोंके समूहसे भी अत्यन्त भयङ्कर, दूसरे अर्धभागमें उन्म्लान यानी सूर्यके प्रकाशके न मिलनेसे म्लानिको अप्राप्त तथा दूसरे यानी ऊपरके अर्धभागमें सूर्यके प्रकाशके संयोगसे अन्धकारके न रहनेके कारण म्लानप्राय अन्धकाररूपिणी नीलकमलोंकी पङ्क्तिसे खचित तथा विविध प्रकारके माणिक्योंके शिखररूपी रक्तकमल और श्वेतकमलोंसे युक्त लोकालोक-पर्वतरूपी अति उत्तुङ्ग विशाल और सौरभ्यादि गुणोंसे श्रेष्ठ मालासे परिवेष्टित थी अतएव तीनों जगतोंकी लक्ष्मीके लटकी रचनाकी नाईं सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले अज्ञातजीवसंचार नाम वाले अरण्यसे वह आवृत थी। अनन्तर अज्ञातभूतसंचार नामक जङ्गलसे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले अपरिमित जलसे, आकाशके समान, चारों दिशाओंमें वह व्याप्त थी। तदनन्तर अपरिमित जलसे भी दशगुण अधिक परिणामवाले, मेरु आदि पर्वतोंको भी द्रवीभूत करनेमें (प्रलय करनेमें) समर्थ भीषण ज्वालाओंसे वेष्टित थी। तदनन्तर ज्वालाओंसे भी अधिक दशगुण परिमाणवाले मेरु आदि पर्वतोंके समूहको तृण

मेर्वाद्यचलसङ्घातं नयता तृणपांसुवत् ।
वहताऽद्रीन्द्रविस्फोटकारिणा जवहारिणा ॥ ३२ ॥

निःशून्यत्वादशब्देन मरुता परितो वृतम् ।
एतस्मादथ सर्वस्माच्चतो दशगुणात्मना ॥ ३३ ॥

परितो वलितं व्योम्ना निःशून्येनैकरूपिणा ।
अथ योजनकोटीनां शतेन घनरूपिणा ॥
व्याप्तं ब्रह्माण्डकुड्येन हैमेनाऽपि द्विपर्वणा ॥ ३४ ॥

इति जलधिमहाद्रिलोकपालत्रिदशपुराम्बरभूतलैः परीतम् ।
जगदुदरमवेक्ष्य मानुषी द्राग्भुवि निजमन्दिरकोटरं ददर्श ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भूलोकवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

मेरु आदि पर्वतोंके समूहोंके तिनके और धूलिकणके सदृश ले जा रहे यानी अतिसामर्थ्यवान्, बड़े-बड़े पर्वतोंमें विस्फोट पैदा करनेवाले, अन्य भूतोंके वेगको हरनेवाले, मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात न होनेके कारण शब्दरहित एवं बह रहे प्रलयकालके वायुसे चारों ओर परिवृत था। तदनन्तर पूर्वोक्त सबसे भी दशगुना बड़े केवल एक शून्यरूपी आकाशसे चारों ओर घिरा था। तदनन्तर सौ करोड़ योजन परिमाणवाली खूब घनी दोहरी सुवर्णमय ब्रह्माण्डकी दीवारोंसे व्याप्त था ॥ ३१–३४ ॥

इस प्रकार सागर, महापर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतलसे परिवेष्टित जगत्का मध्य देखकर लीलाने तुरन्त पृथिवीमें अपने मन्दिरका आधारभूत गिरिग्रामका अवकाश देखा ॥ ३५ ॥

पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त

षड्विंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति ते वरवर्णिन्यौ ततो ब्रह्माण्डमण्डलात् ।
निर्गत्याऽन्यदनुप्राप्ते यत्र तद्ब्राह्मणास्पदम् ॥ १ ॥
ततो ददृशतुः सद्म स्वमेवं सिद्धयोषितौ ।
अदृश्ये एव लोकस्य मण्डपं ब्राह्मणास्पदम् ॥ २ ॥
चिन्ताविधुरदासीकं बाष्पक्लिन्नाङ्गनामुखम् ।
विध्वस्तप्रायवदनं शीर्णपर्णाम्बुजोपमम् ॥ ३ ॥
नष्टोत्सवपुरप्रायमगस्त्यात्तमिवाऽर्णवम् ।
ग्रीष्मदग्धमिवोद्यानं विद्युद्दग्धमिव द्रुमम् ॥ ४ ॥
वातच्छिन्नमिवाऽम्भोदं हिमदग्धमिवाऽम्बुजम् ।
अल्पस्नेहदशं दीपमिवाऽऽलोकनभेदनम् ॥ ५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग

[अपने घरमें अपने पुत्र आदि आत्मीयोंको देखकर और उनका विलाप सुनकर उनके ऊपर लीलाका अनुग्रह तथा जगत्के तत्त्वका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, वे दोनों ललनाएँ राजा पद्म जिसमें रहता था, उस ब्रह्माण्डमण्डलसे निकल कर दूसरे ब्रह्माण्डमण्डलमें, जिसमें उस वसिष्ठनामके ब्राह्मणका घर था, पूर्वोक्त रीतिसे पहुँचीं ॥ १ ॥

तदुपरान्त उन दोनों सिद्ध ललनाओंने अन्य लोगोंके दृष्टिगोचर हुए बिना ही ब्राह्मणका निवासभूत मण्डप अपना घर इस प्रकार देखा। गृहस्वामीके मर जानेके कारण उसमें दासियाँ शोकसे व्याकुल थीं, औरतोंके मुँह आँसुओंकी धाराओंसे सराबोर थे, आँसू और धूलिसे मलिन होने और आभूषण और तिलकसे शून्य होनेके कारण सबके मुँहपर घनी उदासी छाई थी; अतएव सबके मुँह उस कमलके तुल्य थे, जिसकी पँखुरियाँ झड़ गई हों। ब्राह्मणके आस्पदभूत उस ब्रह्माण्डके प्रायः सभी नगर उत्सवशून्य थे, अतएव वह महर्षि अगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्रके समान, ग्रीष्म ऋतुसे मुर्झाकर जर्जर हुए उद्यानकी नाईं और बिजली गिरनेसे जले हुए वृक्षके तुल्य आँखोंको चीरता था और वायुसे

आसन्नमृत्यु करुणाकुलवक्त्रकान्ति संशीर्णजीर्णतरुपर्णवनोपमानम् ॥
वृष्टिव्यपायपरिधूसरदेशरूक्षं जातं गृहेश्वरवियोगहतं गृहं तत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ सा निर्मलज्ञानचिराभ्यासेन सुन्दरी ।
सम्पन्ना सत्यसङ्कल्पा सत्यकामा च देववत् ॥ ७ ॥
चिन्तयामास मामेते देवीं चेमां स्वबन्धवः ।
पश्यन्तु तावत् सामान्यललनारूपधारणीम् ॥ ८ ॥
ततो गृहजनस्तत्र स ददर्शाऽङ्गनाद्वयम् ।
लक्ष्मीगौर्योर्युगमिव समुद्भासितमन्दिरम् ॥ ९ ॥
आपादविविधाम्लानमालावलनसुन्दरम् ।
वसन्तलक्ष्म्योर्युगलमिवाऽऽमोदितकाननम् ॥ १० ॥

छिन्न-भिन्न हुए मेघके समान, तुषारपातसे जले हुए कमलके समान एवं उस दीपके समान, जिसका कि तेल और बत्ती चुक गई हो, अदर्शनीय था ॥ २–५ ॥

वह घर गृहपतिके वियोगसे हतप्रभ हो गया था, उसकी मुखकान्ति करुणासे (शोकको बढ़ानेवाले एक प्रकारके भावसे) फीकी पड़ गई थी, अतएव वह आसन्न मृत्युवाले पुरुषकी नाईं दिखाई देता था । वह चिरकालकी अनावृष्टिसे धूलिधूसर देशकी नाईं रूखा था और था उस बनके समान विरूप जिसके वृक्षोंके पुराने सब पत्ते झड़ गये हों ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अब सुन्दरी लीला निर्मल ज्ञानका चिरकालतक अभ्यास करनेसे देवताओंकी नाईं सत्यसंकल्प और सत्य-मनोरथ हो गई थी । उसने संकल्प किया कि मुझे और देवी सरस्वतीको ये मेरे बन्धुबान्धव साधारण स्त्रीके वेषमें देखें । उसके यों संकल्प करनेके उपरान्त घरके लोगोंने वहांपर लक्ष्मी और पार्वतीके तुल्य दो अङ्गनाओंको देखा । उन्होंने अपनी कान्तिसे उस घरको जगमगा रक्खा था, सिरसे लेकर पैरतक भाँति-भाँतिकी अनेक अम्लान (न कुम्हलाई हुई) मालाओंके परिवेष्टनसे उनकी सहज सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी, अतएव दो वसन्तलक्ष्मियोंके सदृश उन्होंने अपने सहज सौरभसे बन और उपवनोंको सुगन्धित कर दिया था । ये दो ललनाएँ क्या

सर्वौषधिवनग्रामं पूरयन्त्यौ रसायनैः ।
शीतलाह्लादसुखदं चन्द्रद्वयमिवोदितम् ॥ ११ ॥
लम्बालकलतालोललोचनालिविलोकनैः ।
किरत् कुवलयोन्मिश्रमालतीकुसुमोत्करान् ॥ १२ ॥
द्रुतहेमरसापूरसरित्सरणहारिणा ।
देहप्रभाप्रवाहेण कनकीकृतकाननम् ॥ १३ ॥
सहजाया वपुर्लक्ष्म्या लीलादोलाविलासिनः ।
ते एते च तरङ्गाढ्या निजलावण्यवारिधेः ॥ १४ ॥
विलोलबाहुलतिकायुगेनाऽरुणपाणिना ।
किरन्नवनवं हैमं कल्पवृक्षलतावनम् ॥ १५ ॥
पादैरमृदिताम्लानपुष्पकोमलपल्लवैः ।
स्थलाब्जदलमालाभैरस्पृशद्भूतलं पुनः ॥ १६ ॥

थीं अपनी चाँदनीरूप सुधासे सम्पूर्ण औषधियोंको पूर्ण कर रहे, शीतल तथा आह्लाद-सुख देनेवाले उदित हुए दो चन्द्रमा थे । वे दोनों लटक रहे अलकरूपी लताओंकी संनिधिमें चञ्चल होनेके कारण भ्रमररूपसे परिणत लोचनों द्वारा विलोकनोंसे नील कमलोंसे मिश्रित मालतीपुष्पोंके * पुञ्जोंको मानो बरसा रही थीं । पिघलाये गये सुवर्णके रसको बहानेवाली नदीके वेगके सदृश मनोहर अपने शरीरकी कान्तिके प्रवाहसे उन्होंने आस-पासके बनोंको सुवर्णमय बना दिया था॥ ७–१३ ॥

वे दोनों ललनाएँ क्या थीं, शरीरकी प्राकृतिक (स्वाभाविक) शोभारूपी लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए बनाये गये झूलेके समान विलास करनेवाले अपने सौन्दर्यरूपी समुद्रकी श्रेष्ठ तरङ्ग थीं । कमलकी नाईं लाल हाथोंसे युक्त चञ्चल दो भुजलताओंसे नूतन नूतन स्वर्णमय कल्पवृक्षलताओंके बनकी सृष्टि कर रही थीं । भाव यह कि उन दोनोंमें प्रत्येक भुजलताओं और उनके अग्रभागमें स्थित लाल हाथोंके हिलने-डुलनेके कारण प्रतिक्षण विन्यासभेदसे पहले कल्पित वनकी अपेक्षा नूतन कल्पवृक्षलतावनका निर्माण कर रही थी ॥ १४–१५ ॥

उनके चरण क्या थे, अमृदित (न मसले हुए) और अम्लान (न कुम्हलाये

* कटाक्षोंकी नीलसे मिश्रित शुभ्र छवि होती है, अतएव उनकी नील कमलोंसे मिश्रित मालतीके पुष्पोंके रूपसे उत्प्रेक्षा की गई है ।

तालीतमालखण्डानां शुष्काणां शुचिशोचिषाम् ।
आलोकनामृतासेकैर्जनयद्बालपल्लवान् ॥ १७ ॥
नमोऽस्तु वनदेवीभ्यामित्युक्त्वा कुसुमाञ्जलिम् ।
तत्याज ज्येष्ठशर्माऽथ सार्द्धं गृहजनेन सः ॥ १८ ॥
पपात पादयोर्गेहे तयोर्वै कुसुमाञ्जलिः ।
प्रालेयसीकरासारः पद्मिन्या इव पद्मयोः ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

जयतं वनदेव्यौ नो दुःखनाशार्थमागते ।
प्रायः परपरित्राणमेव कर्म निजं सताम् ॥ २० ॥
इति तद्वचनान्ते ते देव्यावूचतुरादरात् ।
आख्यात दुःखं येनाऽयं लक्ष्यते दुःखितो जनः॥ २१ ॥
ज्येष्ठशर्मादयस्ते ते देव्यौ प्रति यथाक्रमम् ।
निजं तद् दुःखमाचख्युर्दम्पतिव्यसनात्मकम् ॥ २२ ॥

हुए) फूल और कोमल पल्लव थे और थे स्थलकमलकी पँखुरियोंकी माला । ऐसे कोमल और लाल चरणोंसे वे भूमितलका स्पर्श नहीं करती थीं ॥ १६ ॥

वे अपने दृष्टिपातरूप अमृतके सेकसे सूखे हुए अतएव सफेद रंग-के ताल और तमालके वृक्षोंके खण्डोंमें नूतन नूतन पल्लवोंको पैदा कर रही थीं ॥ १७ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठशर्माने घरके अन्यान्य जनोंके साथ 'वनदेवियोंके लिए नमस्कार' कहकर पुष्पाञ्जलि छोड़ी ॥ १८ ॥

घरमें उनके पैरोंपर पुष्पाञ्जलि ऐसे गिरी जैसे कमलकी लताके कमलोंपर हिमजलके सीकरों (छोटे-छोटे बिन्दुओंकी) वृष्टि गिरती है ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदिने कहा—हे वन-देवियो, आप लोगोंकी जय हो, मालूम होता है कि आप दोनों हमारे दुःखको निवृत्त करनेके लिए आई हैं, क्योंकि प्रायः दूसरोंकी रक्षा करना ही सत्पुरुषोंका स्वभाव है ॥ २० ॥

ज्येष्ठशर्मांके यह कहनेके बाद उन वन-देवियोंने बड़े आदरसे पूछा—आप लोग अपना दुःख कहिये, जिस दुःखसे ये सभी लोग दुःखी दिखाई देते हैं ॥ २१ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

देव्यावभवतां स्निग्धाविह ब्राह्मणदम्पती ।
सर्वातिथी कुलकरौ स्तम्भभूतौ द्विजस्थितेः ॥ २३ ॥
तावद्य गृहमुत्सृज्य सपुत्रपशुबान्धवम् ।
स्वर्गं गतौ नः पितरौ तेन शून्यं जगत्त्रयम् ॥ २४ ॥
पक्षिणो गृहमारुह्य विक्षिपन्तः प्रतिक्षणम् ।
देहं शून्ये मृतं भक्त्या शोचन्ति मधुरैः स्वरैः ॥ २५ ॥
गुहागुरुगुरारावप्रलापलपनाकुलः ।
सरित्स्थूलाश्रुधाराभिः परिरोदिति पर्वतः ॥ २६ ॥

उन ज्येष्ठशर्मा आदि सबने क्रमशः उक्त वन-देवियोंसे ब्राह्मणदम्पतियोंका मरणरूप दुःख कहा ॥ २२ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदिने कहा—हे देवियों, इस स्थानमें अतिथिसत्कार करनेवाले ब्राह्मणदम्पती रहते थे, उनका आपसमें बड़ा स्नेह था, वे द्विजातियोंकी मर्यादाके स्तम्भके समान आधार थे और थे पुत्रपौत्र आदि सन्ततिके जनक । वे हमारे माता-पिता इस समय पुत्र, इष्ट-मित्र और पशुओंके सहित घरका त्यागकर स्वर्गमें चले गये हैं। इसी कारण हमें यह सारा जगत् शून्य दिखलाई देता है ॥ २३,२४ ॥

'पूर्णः पूर्णं जगत्पश्येत् कामुकः कामुकं जगत् । आर्तोऽप्यार्तिमयं विश्वं लुब्धो लुब्धं स्वचित्तवत् ॥' (पूर्ण पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को पूर्ण देखता है, कामी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सारे जगत्को कामी देखता है, दुःखी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को दुःखमय देखता है और लोभी पुरुष अपनी चित्तवृत्तिके अनुसार सम्पूर्ण जगत्को लोभी देखता है) इस न्यायके अनुसार उन्होंने कहा—**'पक्षिणः'** इत्यादिसे ।

हे देवियो, देखिये, पक्षी घरके ऊपर बैठकर प्रतिक्षण आकाशमें अपनी देहको पटकते हुए मृतकके प्रति भक्तिसे मधुर शब्दों द्वारा शोक प्रकाश करते हैं ॥२५॥

सब पर्वत दीर्घ गुर-गुर शब्दरूपी विलापसे पूर्ण गुहारूपी मुखोंसे युक्त और व्याकुल होकर नदीरूपी आँसूकी धाराओंसे रोते हैं ॥ २६ ॥

निर्जराक्रन्दकारिण्यो मुक्ताम्बरपयोधराः ।
तप्तनिःश्वासविध्वस्ताः परं कार्श्यमिता दिशः ॥ २७ ॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गः करुणाक्रन्दकर्कशः ।
उपवासरतो ग्रामो दीनो मृतिपरः स्थितः ॥ २८ ॥
दिवसं प्रति वृक्षाणामवश्यायाश्रुतिबिन्दवः ।
गुच्छलोचनकोशेभ्यस्तापोष्णा निपतन्त्यधः ॥ २९ ॥
प्रशान्तजनसंचारा रथ्या क्षारविधूसरा ।
विधवा विगतानन्दा संशून्यहृदया स्थिता ॥ ३० ॥
कोकिलालिप्रलापिन्यो वृष्टिबाष्पहता लताः ।
उष्णोष्णश्वसना देहं घ्नन्ति पल्लवपाणिभिः ॥ ३१ ॥
आत्मानं शतधा कर्तुं बृहच्छ्वभ्रशिलातले ।
निर्झराः प्रपतन्त्येते तापतप्तशरीरकाः ॥ ३२ ॥

दिक्पाल देवताओंके आलापरूप रोदन करनेवाली, तपे हुए निःश्वास वायुसे मलिन एवं जिनके मेघोंने (स्तनोंने) आकाशका (वस्त्रका) त्याग कर दिया है, ऐसी दिशारूपी अङ्गनाएँ अत्यन्त कृशताको प्राप्त हुई हैं ॥ २७ ॥

ग्रामवासी सम्पूर्ण लोगोंके सर्वाङ्ग मारे शोकके भूमिमें लोटने, छाती पीटने आदिसे क्षतविक्षत हो गये हैं, चारों ओर करुण रसका स्रोत बहानेवाले मुक्त-कण्ठ रुदनसे सब जर्जरित हो रहे हैं, कोई भी भोजनग्रहण नहीं करता, सभी दीन-हीन दशामें हैं और सभी मरनेके लिए प्रस्तुत हैं ॥ २८ ॥

प्रतिदिन वृक्षोंके गुच्छरूपी लोचनकोशोंसे ओसरूपी अश्रुबिन्दु शोकसे (धूपसे) गर्म होकर नीचे गिरते हैं ॥ २९ ॥

शान्त है जनोंका संचार जिनमें एवं रेहसे धूसर सड़कें आनन्दरहित एवं शून्य-हृदय विधवाके समान हैं ॥ ३० ॥

कोयल और भ्रमरोंके शब्दसे विलाप करनेवाली, वृष्टिरूपी बाष्पसे आहत और अत्यन्त उष्ण निःश्वासवाली लताएँ पल्लवरूपी हाथोंसे अपने शरीरको पीटती हैं ॥ ३१ ॥

ये झरने शोकसे अति सन्तप्त होकर बड़े भारी गर्तके शिलातलमें अपने सौ टुकड़े करनेके लिए गिर रहे हैं ॥ ३२ ॥

निःशङ्कया गतश्रीका मूका विलुलिताशयाः ।
अन्धेन तमसा पूर्णा गृहा गहनतां गताः ॥ ३३ ॥
उद्यानपुष्पखण्डेभ्यो रुदद्भ्यो भ्रमरारवैः ।
पूतिगन्धो विनिर्याति स्वामोदापरनामकः ॥ ३४ ॥
चैत्रद्रुमविलासिन्यो विरसाः प्रतिवासरम् ।
लताः कृशा विलीयन्ते सङ्कुचद्गुच्छलोचनाः ॥ ३५ ॥
प्रक्षेप्तुमम्बुधौ देहं प्रवृत्ता गन्तुमाकुलाः ।
कुल्याः कलकलालोलं दोलयन्त्यस्तनुं भुवि ॥ ३६ ॥
अशङ्कमशकापातस्पन्दमप्यतिचापलम् ।
कलयन्त्यः स्थिता वाप्यो निस्पन्दानन्दमात्मनि ॥ ३७ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वविद्याधरसुराङ्गनम् ।
नूनमद्य नभो जातमसमत्ताताभ्यलङ्कृतम् ॥ ३८ ॥

गाढ़ अन्धकार (शोक) से व्याप्त, हर्षकी चर्चासे शून्य एवं जिसके अन्दर स्थित बर्तन आदि सामग्री तहस-नहस है ऐसे घर, निस्सन्देह गतश्री (शोभा-विहीन) होकर अरण्यरूपमें परिणत हो गये हैं ॥ ३३ ॥

भ्रमरोंके गुञ्जारसे रोदन कर रहे उद्यानके फूलोंसे सुन्दर आमोदनामक दुर्गन्ध निकल रहा है। भाव यह कि उद्यानोंके पुष्पोंसे यद्यपि सुन्दर सौरभ निकल रहा है फिर भी नासिकाको दुःखदायी होनेसे शोकार्त पुरुष दुर्गन्धि कह कर उसकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

वसन्त ऋतुके वृक्षोंको सुशोभित करनेवाली लताएँ दिन-प्रतिदिन विरस और कृश होकर गुच्छरूपी लोचनोंको संकुचित करती हुई शीर्ण-विशीर्ण हो रही हैं ॥३५॥

नहर और नदियाँ सागरमें अपने शरीरको डुबानेके लिए गमनाकुल होकर पृथिवीमें अपने शरीरको कलकलनिनादपूर्वक दोलायमान कर रही हैं ॥ ३६ ॥

ये बावड़ियाँ पहले लोगोंके स्नान, जल भरना आदि व्यवहारसे अत्यन्त चपलताको धारण करती थीं, किन्तु अब इनमें मच्छरके गिरनेसे होनेवाले स्पन्दकी भी संभावना नहीं है, यों निस्पन्दभावसे स्वस्वरूपमें समाधिनिष्ठ हुई जैसी स्थित है ॥ ३७ ॥

हे देवियो, जिस प्रदेशमें किन्नरियां, गन्धर्व, विद्याधर और देवताओंकी

तद् देव्यौ क्रियतां तावदस्माकं शोकनाशनम् ।
महतां दर्शनं नाम न कदाचन निष्फलम् ॥ ३९ ॥
इत्युक्तवन्तं सा पुत्रं मूर्ध्नि पस्पर्श पाणिना ।
पल्लवेनाऽऽनता नम्रं मूलग्रन्थिमिवाऽब्जिनी ॥ ४० ॥
तस्याः स्पर्शेन तेनाऽसौ दुःखदौर्भाग्यसङ्कटम् ।
जहौ प्रावृड्घनासङ्गाद् ग्रीष्मतापमिवाऽचलः ॥ ४१ ॥
सर्वो गृहजनः सोऽथ तयोर्देव्योर्विलोकनात् ।
लक्ष्मीवान् दुःखनिर्मुक्तो बभूवाऽमृतपो यथा ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

तयाऽस्य लीलया मात्रा पुत्रस्य ज्येष्ठशर्मणः ।
कस्मान्न दर्शनं दत्तं मोहं तावन्निराकुरु ॥ ४३ ॥

अङ्गनाएँ गायन कर रहीं हैं, उस स्वर्गप्रदेशको आज हमारे माता और पिताने अलङ्कृत किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३८ ॥

हे देवियो, हमारे शोकका विनाश कीजिये । महानुभावोंका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, इसलिए हमें आशा है कि आप अवश्य हमारे शोकका विनाश करेंगी ॥ ३९ ॥

जैसे कमलिनी जल सूख जानेपर नम्र होकर अपने पल्लवसे मूलग्रन्थिका (जड़का) स्पर्श करती है, वैसे ही पुत्रके ऐसा कहनेके पश्चात् लीलाने अपने हाथसे उसके मस्तकपर स्पर्श किया ॥ ४० ॥

जैसे वर्षा ऋतुके मेघोंके संसर्गसे पर्वत ग्रीष्म ऋतुके सन्तापका त्याग करता है, वैसे ही लीलाके उस स्पर्शसे ज्येष्ठशर्माने दुःख-दुर्भाग्यरूपी विपत्तिका त्याग किया ॥ ४१ ॥

'उन देवियोंके दर्शनसे घरभरके सब लोग देवताओंकी नाईं दुःखरहित और लक्ष्मीवान् हो गये ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हुई कि लीला तो सत्यसङ्कल्प थी, अतएव उसने पहलेके (ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जन्मके) माताके शरीरसे ही पुत्रके आश्वासनके लिए दर्शन क्यों नहीं दिया ? उसी शङ्काको वे व्यक्त करते हैं—**'तयाऽस्य'** इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, लीलादेवीने पुत्र ज्येष्ठशर्माको माताके

श्रीवसिष्ठ उवाच

बुद्धः पृथ्व्यादिबोधेन येन पृथ्व्यादिसङ्कः ।
तस्य पिण्डात्मतां धत्ते व्योमैवाऽन्यस्य केवलम् ॥ ४४ ॥
असदेवाऽङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात् ।
यथा बालस्य वेतालो ना भाति तदवेदनात् ॥ ४५ ॥
यथा पृथ्व्यादिना भातमपृथ्व्यादि भवेत् क्षणात् ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानात् तथा जाग्रत्यपि स्फुटम् ॥ ४६ ॥

शरीरसे दर्शन क्यों नहीं दिया ? इस विषयमें मेरे मोहका (अज्ञानका) आप निराकरण कीजिये ॥ ४३ ॥

लीलाका पुत्रके घरमें आगमन 'प्रपञ्च मिथ्या है' इसकी परीक्षाके लिए हुआ था, पुत्रस्नेहप्रयुक्त तो हुआ नहीं था । पुत्र आदि संसारमें मिथ्यात्व ज्ञान होनेपर पुत्रस्नेह कहाँ रहा, अतः तत्त्वज्ञानके पश्चात् मूलाविद्याके बाधके अनन्तर वर्तमान शरीरसे अतिरिक्त भौतिक शरीर धारण करनेका कोई हेतु नहीं था। इसलिए लीलाने पूर्व शरीर धारण नहीं किया, यों उपपत्ति सहित उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'बुद्धः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुषने मिथ्या पृथिवी आदिका संघातरूप शरीर सत्य पृथिवी आदिके बोधसे सत्य जान लिया, उसकी दृष्टिमें वस्तुतः केवल अद्वितीय चिदाकाश ही भ्रान्तिसे पिण्डरूपताको धारण करता है। तत्त्वज्ञ पुरुषकी दृष्टिमें तो उसका हेतु अज्ञान न होनेसे केवल अद्वितीय चिदाकाश ही स्थित रहता है ॥ ४४ ॥

जैसे बालकको भ्रमसे पुरुष, पुरुषका ज्ञान न होनेसे, वेताल प्रतीत होता है, वैसे ही भ्रमवश पृथिवी आदिका ज्ञान होनेसे असत् ही पृथिवी आदि सत्-से प्रतीत होते हैं * ॥ ४५ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें पृथिवी आदिरूपसे प्रतीत पदार्थ यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान होनेपर क्षणभरमें अपृथिवी आदि रूप हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी स्पष्ट है। भाव यह कि भ्रमवश जाग्रदवस्थामें पृथिवी आदिरूपसे प्रतीत पदार्थ ज्ञान होनेके उपरान्त तुरन्त अपृथिवी आदिरूप हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

* जैसे बालकको असत् ही वेताल, पुरुषमें वेतालबुद्धि होनेसे, सत् प्रतीत होता है, वैसे ही पृथिवी आदिके न होनेपर भी भ्रान्तिवश अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें पृथिवी आदिका बोध होनेसे असत् भी पृथिवी आदि सत्-से प्रतीत होते हैं।

पृथ्व्यादि खतया बुद्धं खमित्येवाऽनुभूयते ।
तथाहि क्षुब्धधातूनां कुड्येषु ख इवोद्यमः ॥ ४७ ॥
स्वप्ने नगरमूर्वी वा शून्यं खातं च बुद्ध्यते ।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याऽप्यर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४८ ॥
खं पृथ्व्यादितया बुद्धं पृथ्व्यादि भवति क्षणात् ।
मूर्छायां परलोकोऽपि प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ४९ ॥
बालो व्योमैव वेतालं म्रियमाणोऽम्बरे वनम् ।
केशोण्डूकं खमन्यस्तु खमन्यो वेत्ति मौक्तिकम् ॥ ५० ॥
त्रस्तक्षीबार्द्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे ।
वेतालवनवृक्षादि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ५१ ॥
यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः ।
अभ्यासजनितं भाति नाऽस्त्येकं परमार्थतः ॥ ५२ ॥

पृथिवी आदि यदि आकाशरूपसे जाने जायँ, तो ये आकाश ही हैं, ऐसा अनुभव होता है। देखिये न, विक्षिप्त लोगोंका दरवाजेके सदृश प्रतीत होनेवाली स्फटिककी दीवारोंपर शून्यमें जैसा उद्यम दिखाई देता है यानी उन्हें दरवाजे समझकर वे घुसनेकी चेष्टा करते हैं ॥ ४७ ॥

स्वप्नावस्थामें नगर शून्यरूपसे प्रतीत होता है और सम पृथिवी गर्तरूपसे प्रतीत होती है। स्वप्नकी अङ्गना यद्यपि शून्य है, सत् नहीं है, तथापि वह मनुष्योंकी पादसंवाहन आदि क्रिया करती है। यदि आकाशकी पृथिवी आदिरूपसे प्रतीति हो गई, तो आकाश क्षणभरमें पृथिवी आदि हो जाता है। मूर्च्छावस्थामें किसी किसीको परलोक भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥ ४८, ४९ ॥

बालक आकाशको ही वेताल, मर रहा पुरुष आकाशमें वन, अन्य पुरुष उसे कुण्डलाकार केशोंका गोला रूप और दूसरा पुरुष उसको मोतियोंका समुदाय-रूप देखता है। भयभीत, पागल, आधा सोया और आधा जागा हुआ पुरुष तथा नौका द्वारा चलनेवाले पुरुष सदा ही आकाशमें वेताल, वन और वृक्ष आदि देखते हैं और तत्प्रयुक्त पलायन आदि कार्यका अनुभव करते हैं ॥ ५०, ५१ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन पदार्थोंका अपनी अपनी भावनाके अनुसार अभ्याससे उत्पन्न हुआ शरीर है, परमार्थतः कोई एक (नियत) शरीर नहीं है ॥५२॥

लीलया तु यथावस्तु बुद्ध्वा पृथ्व्यादिनास्तिता ।
आकाशमेव संवित्त्या भाति भ्रान्तितयोदितम् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मात्मैकचिदाकाशमात्रबोधवतो मुनेः ।
पुत्रमित्रकलत्राणि कथं कानि कदा कुतः ॥ ५४ ॥
दृश्यमादावनुत्पन्नं यच्च भात्यजमेव तत् ।
सम्यग्ज्ञानवतामेवं रागद्वेषदृशौ कुतः ॥ ५५ ॥
हस्तः शिरसि यद्दत्तो लीलया ज्येष्ठशर्मणः ।
तत्प्रभावस्थितारम्भसंबोधायाश्रितेः फलम् ॥ ५६ ॥
बोधो हि चेतति यथैव तथाऽऽशु भाति
सूक्ष्मस्तु खादपि तथाऽतितरां विशुद्धः ।
सर्वत्र राघव स एव पदार्थजालं
स्वप्नेषु कल्पितपुरेष्वनुभूतमेतत् ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिद्धदर्शनहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

लीलाने तो भ्रान्तिरूपसे (मिथ्याप्रपञ्चरूपसे) उदित हुआ आकाश ही दृश्य पदार्थरूपसे प्रतीत होता है, यों पृथिवी आदिकी नास्तिता (अभाव) रूप यथार्थ वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर लिया था ॥ ५३ ॥

ब्रह्मरूप एक चिदाकाशमात्रके ज्ञानसे सम्पन्न मुनिके पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कौन, कैसे, कहांसे और कब होंगे ? ॥ ५४ ॥

दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ, जो प्रतीत होता है, वह अनादि अनन्त परब्रह्म ही है, इस प्रकार यथार्थ ज्ञानवाले लोगोंकी राग-द्वेषदृष्टियां कैसे हो सकती हैं ॥५५॥

यदि लीलाका अपने पुत्र आदिपर स्नेह नहीं था, तो उसने उनके सिरपर हाथ कैसे फेरा ? इस शङ्कापर कहते हैं—'हस्तः' इत्यादिसे ।

ज्येष्ठशर्मीके सिरपर लीलाने जो हाथ फेरा, वह पुत्रप्रेमका फल नहीं था, किन्तु ज्येष्ठशर्माके भावी कल्याणके लिए जिसमें पूर्वजन्मके पुण्य और उनका फल तत्त्वज्ञान स्थित है, ऐसी सर्वाधिष्ठानभूत चितिका ही विवर्तरूप फल था ॥ ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बोध जैसे ही पहले पदार्थोंका चिन्तन करता है, वैसे ही शीघ्र पदार्थ आभासित होते हैं । बोध स्वयं आकाशसे भी सूक्ष्म तथा

सप्तविंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिन् गिरितटे ग्रामे तस्य मण्डपकोटरे।
अन्तर्धिमाश्वाययतुस्तत्रस्थे एव ते स्त्रियौ ॥ १ ॥
अस्माकं वनदेवीभ्यां प्रसादः कृत इत्यथ।
शान्तदुःखे गृहजने स्वव्यापारपरे स्थिते ॥ २ ॥
मण्डपाकाशसंलीनां लीलामाह सरस्वती ।
व्योमरूपा व्योमरूपां स्मयात्तूष्णीमिव स्थिताम् ॥ ३ ॥
सङ्कल्पस्वप्नयोर्येषां यत्र संकथनं मिथः।
यथेहाऽर्थक्रियां धत्ते तयोः सा संकथा तथा ॥ ४ ॥

अत्यन्त शुद्ध है। बोध ही सर्वत्र पदार्थसंघ है, स्वप्नोंमें और कल्पित नगरोंमें यह बात शतशः अनुभूत है ॥ ५७ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

[आश्चर्यमग्न लीला द्वारा फिर अपने पतिके दर्शनकी अभिलाषा व्यक्त करना तथा सरस्वती देवीके उपदेशसे बोध प्राप्त कर अपने पूर्व जन्मोंका वर्णन करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस पर्वतशिखरके ग्राममें उस ब्राह्मणके घरके मण्डपाकाशमें ही वहांपर ज्येष्ठशर्मा आदिके सामने स्थित वे दोनों ललनाएँ शीघ्र अन्तर्हित हो गईं। हम लोगोंपर वनदेवियोंने अनुग्रह किया, ऐसा विचार कर ज्येष्ठशर्मा आदि घरके लोगोंका दुःख मिट गया और वे अपने गृहकृत्यमें संलग्न हो गये। तदुपरान्त गृहमण्डपाकाशमें अन्य लोगोंकी दृष्टिमें अन्तर्हित विस्मयसे चुपचाप-सी बैठी हुई व्योमरूपिणी लीलासे व्योमरूपा (शून्यरूप संकल्पशरीरवाली) सरस्वतीने कहा ॥१–३॥

लोकमें प्रसिद्ध है कि दूसरेके सङ्कल्पशरीरको दूसरा नहीं देख सकता, ऐसी अवस्थामें संकल्पशरीरधारिणी उन दोनोंका संवाद कैसे हो सकता है ?

पृथ्व्यादिनाडीप्राणादि ऋतेऽप्यभ्युदिता तयोः ।
सा संकथनसंवित्तिः स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

ज्ञेयं ज्ञातमशेषेण दृष्टादृष्टार्थसंविदः ।
ईदृशीयं ब्रह्मसत्ता किमन्यद्वद पृच्छसि ॥ ६ ॥

लीलोवाच

मृतस्य भर्तुर्जीवोऽसौ यत्र राज्यं करोति मे ।
तत्राऽहं किं न तैर्दृष्टा दृष्टाऽस्मीह सुतेन किम् ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी इस शङ्काको उनकी आकृतिसे भाँपकर स्वयं श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'**सङ्कल्प०**' इत्यादिसे ।

लोकमें जिनका देवताके प्रसाद आदिसे उषा और अनिरुद्धकी नाईं समान ही परस्परसंवादी संकल्प या स्वप्न हुआ, उनका उस संकल्प और स्वप्नमें परस्पर संवाद जैसे संवादके अनन्तर होनेवाली क्रियारूपमें परिणत होता है, वैसे ही लीला और ज्ञप्तिदेवीका संवाद भी हुआ ॥ ४ ॥

जैसे स्वप्न और संकल्पमें पृथिवी आदि अधिभूत और नाड़ी, प्राण आदिसे उपलक्षित शरीरके बिना भी संवादकी प्रतीति होती है, वैसे ही अधिभूत (पृथिवी आदि) और अध्यात्म (नाड़ी, प्राण) आदिसे उपलक्षित शरीरके बिना भी उनकी वह संवादप्रतीति हुई ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी प्रसङ्गतः बीचमें आई हुई शङ्काका समाधान कर प्रस्तुत कथाको कहते हैं—'**श्रीसरस्वत्युवाच**' इत्यादिसे ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, तुमने ज्ञातव्य वस्तु सम्पूर्णतया जान ली है, द्रष्टव्य पदार्थ देख लिये हैं, इस प्रकारकी यह ब्रह्मसत्ता है । बताओ, अब और क्या तुम पूछती हो ? ॥ ६ ॥

लीलाने कहा—देवीजी, मेरे मृत पतिका जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर मुझे उन लोगोंने क्यों नहीं देखा, जैसा कि यहाँपर मेरे पुत्रने मुझे देखा ? इसका क्या कारण है ? ।

श्रीसरस्वत्युवाच

अभ्यासेन विना वत्से तदा ते द्वैतनिश्चयः ।
नूनमस्तं गतो नाऽभून्निःशेषं वरवर्णिनि ॥ ८ ॥
अद्वैतं यो न यातोऽसौ कथमद्वैतकर्मभिः ।
युज्यते तापसंस्थस्य च्छायाङ्गानुभवः कुतः ॥ ९ ॥
लीलाऽस्मीति विनाऽभ्यासं तव नाऽस्तं गतोऽभवत् ।
यदा भावस्तदा सत्यसङ्कल्पत्वमभून्न ते ॥ १० ॥
अद्याऽसि सत्यसङ्कल्पा संपन्ना तेन मां सुतः ।
संपश्यत्वित्यभिमतं फलितं तव सुन्दरि ॥ ११ ॥
इदानीं तस्य भर्तुस्त्वं समीपं यदि गच्छसि ।
तत्तेन व्यवहारस्ते पूर्ववत् संप्रवर्तते ॥ १२ ॥

लीलोवाच

इहैव मन्दिराकाशे पतिर्विप्रो ममाऽभवत् ।
इहैव स मृतो भूत्वा संपन्नो वसुधाधिपः ॥ १३ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—वत्से, उस समय अभ्यास न होनेके कारण तुम्हारा द्वैतज्ञान (प्रपञ्च सत्य है इत्याकारक ज्ञान) निश्शेष नष्ट नहीं हुआ था। जो पुरुष भेदक अविद्याके उच्छेदसे अद्वैतको प्राप्त नहीं हुआ है, उसका सत्यसंकल्पत्व आदि क्रियाओंसे कैसे सम्बन्ध हो सकता है? धूपमें बैठे हुए पुरुषको छायामें बैठे हुए पुरुषका शीतलताका अनुभव कैसे हो सकता है?॥ ७–९ ॥

हे सुन्दरी, जब अभ्यास न होनेके कारण मै लीला-देह ही हूँ, ऐसा तुम्हारा दृढ़ संस्कार विनष्ट नहीं हुआ था, तब तुम्हारी सत्यसंकल्पता उत्पन्न नहीं हुई थी। आज तुम सत्यसङ्कल्प हो गई हो, इसलिए 'मुझे मेरा पुत्र देखे' तुम्हारा यह अभिलाष सफल हुआ है ॥ १०,११ ॥

इस समय यदि तुम अपने पतिके समीपमें जाओ, तो उसके साथ तुम्हारा सम्पूर्ण व्यवहार पहलेकी नाईं (जब कि वह जीवित था उस समयके समान) होगा ॥ १२ ॥

यों प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश द्वारा सरस्वती देवीसे निर्दिष्ट अर्थमें लीलाकी असंभावनाकी शङ्का निवृत्त हो गई, अतएव वह मण्डपाकाशके अन्दर ही अपने

इहैव तस्य संसारे तस्मिन् भूमण्डलान्तरे ।
राजधानीपुरे तस्मिन् पुरन्ध्र्यस्मि व्यवस्थिता ॥ १४ ॥
इहैवाऽन्तःपुरे तस्मिन् स मृतो मम भूपतिः ।
इहैवाऽन्तःपुराकाशे तस्मिन्नेव पुरे नृपः ॥ १५ ॥
संपन्नो वसुधापीठे नानाजनपदेश्वरः ।
सर्वाजिवजवीभाव इहैवैवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
अस्मिन्नेव गृहाकाशे सर्वा ब्रह्माण्डभूमयः ।
स्थिताः समुद्गके मन्ये यथाऽन्तः सर्षपोत्कराः ॥ १७ ॥
सदाऽदूरमहं मन्ये तद्भर्तुर्मम मण्डलम् ।
क्वचित् पार्श्वे स्थितमिह यथा पश्यामि तत् कुरु ॥ १८ ॥

श्रीदेव्युवाच

भूतलारुन्धति सुते भर्तारस्तव संप्रति ।
त्रयो नामाऽथवाऽभूवन् बहवः शतसंमताः ॥ १९ ॥

पतिके दोनों परलोकोंकी तथा हजारों ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिका अनुवाद करती हुई फिर अपने पतिके मण्डलको दिखलानेकी प्रार्थना करती है—'इहैव' इत्यादिसे ।

लीलाने कहा—देवि, इसी मन्दिरके आकाशमें मेरे पतिदेव ब्राह्मण हुए, इसीमें मरे और फिर इसीमें उत्पन्न होकर राजा हुए ॥ १३ ॥

अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यही मन्दिराकाश है, इसमें उनकी राजधानीके नगरमें मैं उनकी (राजा पद्मकी) राजमहिषीरूपसे स्थित हूँ ॥ १४ ॥

यहींपर उस अन्तःपुरमें मेरे पतिदेव राजा पद्मकी मृत्यु हुई थी, इसी अन्तःपुराकाशमें उस नगरमें वे राजा हुए ॥ १५ ॥

वे पृथिवीतलमें अनेक नगरोंके अधिपति हो गये। पारमार्थिक ब्रह्ममें कल्पित मायिक चलन आदि विकार इस प्रकारसे इस मण्डपाकाशमें ही व्यवस्थित है। जैसे दोनेके अन्दर सरसोंकी राशि रहती है, वैसे ही इसी गृहाकाशमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभूमियाँ स्थित हैं, ऐसा मैं मानती हूँ। कहीं पासमें स्थित अपने पतिके मण्डलको सदा अतिनिकटवर्ती समझती हूँ, उसे मैं यहाँपर जैसे देखूँ, वैसा उपाय आप कीजिये ॥ १६–१८ ॥

इस मण्डपाकाशमें केवल आधुनिक ही पदार्थ नहीं हैं, किन्तु अतीत,

नेदीयसां त्रयाणां तु द्विजस्ते भस्मतां गतः ।
राजा माल्यान्तरगतः संस्थितोऽन्तःपुरे शवः ॥ २० ॥
संसारमण्डले ह्यस्मिंस्तृतीयो वसुधाधिपः ।
महासंसारजलधिं पतितो भ्रममागतः ॥ २१ ॥
भोगकल्लोलकलनाविकलो मलचेतनः ।
जाड्यजर्जरचिद्वृत्तिः संसाराम्भोधिकच्छपः ॥ २२ ॥
चित्राणि राजकार्याणि कुर्वन्नप्याकुलान्यपि ।
सुप्तः स्थितो जडतया न जागर्ति भवभ्रमे ॥ २३ ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।
इत्यनर्थमहारज्ज्वा वलितोऽवशतां गतः ॥ २४ ॥

आगामी सभी पदार्थ हैं। उन पदार्थोंमें तुम्हारे अनेक जन्मोंके अनेक पतियोंके शरीर हैं, सबका दर्शन एक साथ होना तो असम्भव है; उनमें से तुम्हें कौन-सा दिखलाऊँ, इस अभिप्रायसे देवीजीने कहा—'भूतला०' इत्यादिसे।

श्रीदेवीजी ने कहा—हे पुत्रि, हे भूतलकी अरुन्धती, इस समय तुम्हारे तीन पति हुए अथवा सैकड़ों पति हुए। अत्यन्त संनिकट तीन पतियोंमें से वसिष्ठ ब्राह्मणरूप पति तो जलकर भस्म हो गया है और पद्मराजारूप पति फूल-मालाओंकी राशिसे ढका हुआ शवरूपसे अन्तःपुरमें स्थित है ॥ १९-२० ॥

इस संसारमण्डपमें तीसरा तुम्हारा पति वसुधाधिप है, वह संसाररूपी महासागरमें प्रविष्ट होकर भ्रमको प्राप्त हो गया है ॥ २१ ॥

भोगरूपी बड़ी-बड़ी लहरोंकी कल्पनाओं द्वारा विक्षिप्त हो गया है, इसी कारण उसकी बुद्धि मलिन हो गई है। बुद्धिकी मलिनतासे बुद्धिके अन्दर प्रतिबिम्बित उसकी चित्तवृत्ति भी प्रायः शिथिल हो गई है, वह संसाररूपी सागरका कछुआ बन गया है ॥ २२ ॥

अनेकानेक कठिनतर राजकार्योंको करता हुआ भी वह इस संसाररूपी भ्रममें सोया पड़ा है, जड़ होनेके कारण जागता नहीं है ॥ २३ ॥

मै राजा हूँ, मै भाँति भाँतिके भोगोंका भोक्ता हूँ, मै सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस प्रकारकी अज्ञानरूप बड़ी रस्सीसे वेष्टित होकर अस्वतन्त्रताको प्राप्त हो गया है ॥ २४ ॥

तत्कस्य वद भर्तुस्त्वां समीपं वरवर्णिनि ।
वात्या वनान्तरं गन्धलेखामिव वनान्नये ॥ २५ ॥
अन्य एव हि संसारः सोऽन्यो ब्रह्माण्डमण्डपः ।
अन्या एव तता वत्से व्यवहारपरम्पराः ॥ २६ ॥
संसारमण्डलानीह तानि पार्श्वे स्थितान्यपि ।
दूरं योजनकोटीनां कोटयस्तेष्विहाऽन्तरम् ॥ २७ ॥
आकाशमात्रमेतेषामिदं पश्य वपुः पुनः ।
मेरुमन्दरकोटीनां कोटयस्तेष्ववस्थिताः ॥ २८ ॥
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम् ।
महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः ॥ २९ ॥
महारम्भगुरूण्येवमपि ब्रह्माण्डकानि हि ।
तुलया धानकामात्रमपि तानि भवन्ति नो ॥ ३० ॥

हे सुन्दरी, कहो, तुम्हें उन तीनोंमें से, जैसे आँधी सुगन्धपरम्पराको एक वनसे दूसरे वनमें ले जाती है, वैसे ही किस पतिके समीप ले जाऊँ ? ॥ २५ ॥

वत्से, वह अन्य ही संसार है, अन्य ही ब्रह्माण्डमण्डप है, वहाँ अन्य ही विविध व्यवहार होते हैं ॥ २६ ॥

यद्यपि वे पूर्वोक्त संसारमण्डल इस मण्डपाकाशमें अधिष्ठानभूत चिद्दृष्टिसे पासमें ही स्थित हैं, तथापि सांसारिक दृष्टिसे उनमें कोटि-कोटि योजन दूरीका अन्तर (व्यवधान) है ॥ २७ ॥

परमार्थदृष्टिसे कहती हैं—इन संसारमण्डलोंका पारमार्थिक स्वरूप तो मण्डपके मध्यमें स्थित केवल चिदाकाश ही है, यह तुम पुनः पुनः अनुभव करो । इन संसारमण्डलोंमें एक नहीं कोटि कोटि मेरु और मन्दर पर्वत स्थित हैं ॥ २८ ॥

जैसे झरोखे आदिसे घरके अन्दर गई हुई सूर्यकिरणोंमें त्रिसरेणु स्फुरित होते हैं, वैसे ही महाचैतन्यके परमाणुमें विभिन्न विविध सृष्टियाँ निर्बाधरूपसे स्फुरित होती हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार (पूर्वदर्शित ब्रह्माण्डके समान ही) वे ब्रह्माण्ड भी यद्यपि बड़े-बड़े द्वीप, समुद्र, भुवन आदिसे विशाल ही हैं, तथापि चिद्दृष्टिरूप तुलासे उन्हें देखा जाय, तो वे वटबीजोंके बराबर भी नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

नानारत्नामलोद्योतो वनवद्भाति खे यथा ।
पृथ्व्यादिभूतरहिता जगच्चिद् भाति चिन्तया ॥ ३१ ॥
कचति ज्ञप्तिरेवेदं जगदित्यादिनाऽऽत्मनि ।
न तु पृथ्व्यादि सम्पन्नं सर्गादावेव किञ्चन ॥ ३२ ॥
यथा तरङ्गः सरसि भूत्वा भूत्वा पुनर्भवेत् ।
विचित्राकारकालाङ्गदेशा ज्ञप्तावलं तथा ॥ ३३ ॥

लीलोवाच

एवमेतज्जगन्मातर्मया स्मृतमिहाऽधुना ।
ममेदं राजसं जन्म न तमो न च सात्त्विकम् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणस्त्ववतीर्णाया अष्टौ जन्मशतानि मे ।
नानायोनीन्यतीतानि पश्यामीवाऽधुना पुनः ॥ ३५ ॥

जैसे आकाशमें भ्रमवश वनकी नाईं विविध प्रकारके रत्नोंका निर्मल प्रकाश प्रतीत होता है, वैसे ही वस्तुतः पृथिवी आदि भेदसे रहित ही चित् अविद्याजनित दृढ़ वासनासे जगद्रूप प्रतीत होती है ॥ ३१ ॥

भ्रान्तिसे जगत्की प्रतीति होनेपर भी वस्तुभूत आत्मामें कभी भी कुछ भी नहीं हुआ, ऐसा कहती हैं—'कचति' इत्यादिसे ।

चित्का ही भ्रमवश इस जगत् आदिरूपसे विकास होता है । यतः सृष्टिके आदिमें ही पृथिवी आदि कुछ नहीं हुआ, अतः उससे आत्मामें कभी कुछ भी ह्रास, वृद्धि आदि विकार नहीं हुआ ॥ ३२ ॥

जैसे तालाबमें लहरें हो होकर पुनः होती हैं, वैसे ही विचित्र आकारवाले काल, कालके अवयव दिन, रात्रि आदि, ब्रह्माण्ड एवं उनके अवयव भुवन आदि देश महाचितिमें हो होकर पुनः होते हैं ॥ ३३ ॥

लीलाने कहा—हे जगन्-माता, जैसा आप कहती हैं, यह बात ठीक वैसी है । मुझे इस समय स्मरण हुआ है कि यहांपर यह मेरा जन्म राजस है, तामस या सात्त्विक नहीं है । इस जन्ममें दुःख और परितापकी प्रचुरता है और 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (रजोगुणप्रचुर लोग मध्यलोकमें रहते हैं) ऐसी स्मृति भी है, इससे निश्चय है कि मेरा यह जन्म राजस है ॥ ३४ ॥

इस कल्पके आरम्भमें जब अन्तःकरणरूप उपाधिकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर

संसारमण्डले देवि कस्मिंश्चिदभवं पुरा ।
लोकान्तराब्जभ्रमरी विद्याधरवराङ्गना ॥ ३६ ॥
दुर्वासनाकलुषिता ततोऽहं मानुषी स्थिता ।
संसारमण्डलेऽन्यस्मिन् पन्नगेश्वरकामिनी ॥ ३७ ॥
कदम्बकुन्दजम्बीरकरञ्जवनवासिनी ।
पत्राम्बरधरा श्यामा शबर्यहमथाऽभवम् ॥ ३८ ॥
वनवासनया मुग्धा संपन्नाऽहमथोद्धता ।
गुलुच्छनयना पत्रहस्ता वनविलासिनी ॥ ३९ ॥
पुण्याश्रमलता साऽहं मुनिसङ्गपवित्रिता ।
वनाग्निदग्धा तस्यैव कन्याऽभूवं महामुनेः ॥ ४० ॥
अस्त्रीत्वफलदातॄणां कर्मणां परिणामतः ।
राजाऽहमभवं श्रीमान् सुराष्ट्रेषु समाः शतम् ॥ ४१ ॥

उसमें प्रतिबिम्बरूपसे मैं अवतीर्ण हुई तबसे आजतक मेरे विभिन्न योनियोंमें ८०० सौ जन्म बीत चुके हैं, उन्हें मै आज पुनः साक्षात् देख-सी रही हूँ यानी स्पष्टरूपसे उनका स्मरण कर रही हूँ ॥ ३५ ॥

हे देवि, पहले किसी दूसरे संसारमण्डलमें विद्याधरलोकरूप कमलकी भँवरी मैं विद्याधरराजकी पत्नी हुई । तदुपरान्त दुर्वासनाओंसे कलुषित हृदयवाली मैं मानुषी हुई, तदनन्तर दूसरे संसारमण्डलमें मै पन्नगराजकी कामिनी हुई । तदनन्तर मैं कदम्ब, कुन्द, जामुन और करञ्जोंके वनमें रहनेवाली, वृक्षोंके पत्तोंके वस्त्र पहनने-वाली, काली भिल्लिन हुई ॥ ३६–३८ ॥

तदनन्तर वनकी वासनासे मूढ़ हुई यानी धर्ममर्यादाको न जाननेवाली अतएव दुष्कर्मोंके संचयसे उद्धत हुई मैं फूलोंके गुच्छेरूप नेत्रवाली, पत्तेरूपी हाथवाली, वनमें विलास करनेवाली पुण्य आश्रमकी गुलुच्छलता हुई, तदनन्तर मुनियोंके संसर्गसे पवित्र होकर मैं वनाग्निसे जलकर उन्हीं (पहले जिनके आश्रममें लता हुई थी) महामुनिकी कन्या हो गई ॥ ३९, ४० ॥

तदुपरान्त पुरुषत्वरूप फल देनेवाले जो कर्म मैंने किये थे, उन पहले जन्मोंमें सञ्चित कर्मोंके फलस्वरूप मै सौराष्ट्र देशमें पूरे सौ वर्षोंतक श्रीमान् राजा

तालीनां तलकच्छेषु राजदुष्कृतदोषतः ।
नकुली नववर्षाणि कुष्ठनष्टाङ्गिकाऽभवम् ॥ ४२ ॥
वर्षाण्यष्टौ सुराष्ट्रेषु देवि गोत्वं कृतं मया ।
मोहाद् दुर्जनदुष्टाज्ञबालगोपाललीलया ॥ ४३ ॥
विहङ्गया वैरविन्यस्ता वागुरा विपिनावनौ ।
क्लेशेन महता च्छिन्ना अधमा वासना इव ॥ ४४ ॥
कर्णिकाक्रोडशय्यासु विश्रान्तमलिना सह ।
पद्मकुड्मलकोशेषु भुक्तकिञ्जल्कया रहः ॥ ४५ ॥
भ्रान्तमुत्तुङ्गशृङ्गासु हरिण्या हारिनेत्रया ।
वनस्थलीषु रम्यासु किराताहतमर्मया ॥ ४६ ॥
दृष्टं नष्टासु दिक्ष्वब्धिकल्लोलैरुह्यमानया ।
मत्स्याम्बुकच्छपाच्छोडे मोघमाननताडनम् ॥ ४७ ॥

हुई । तदुपरान्त राजाके परद्रव्यहरण आदि दुष्कर्मोंसे तालीवृक्षके तले स्थित किसी जलाशय प्रदेशमें नौ वर्ष तक कुष्ठ और विकलाङ्ग नकुली हुई ॥४१,४२॥

हे देवि, तदनन्तर मैंने आठ वर्ष सुराष्ट्र देशमें दुष्ट तथा अज्ञ ग्वालोंकी ताड़न, अनुधावन आदि क्रीड़ाके साथ गऊ योनिमें जन्म लेकर बिताये । उक्त गोयोनिमें जन्मका अनुभव करनेमें मेरा अज्ञान ही कारण हुआ ॥ ४३ ॥

तदुपरान्त मैं पक्षियोनिको प्राप्त हुई । पक्षियोनिमें मैंने अकारण वैरसे ही व्याधों द्वारा बिछाये गये जालोंको दुष्ट द्वैतवासनाओंके समान बड़े क्लेशसे छिन्न-भिन्न किया । तदनन्तर मैं भ्रमरी हुई, मैंने कमलके मुकुलोंके (कलियोंके) मध्यमें भरपेट केसर खाकर कर्णिकाके (कमलके छातोंके) मध्यरूप शय्यामें भ्रमरके साथ एकान्तमें विश्राम किया । तदुपरान्त मैं मनोहर नेत्रवाली हरिणी हुई । हरिणी-योनिमें मैंने किरातों द्वारा मर्माहत होकर ऊँचे ऊँचे शिखरोंसे युक्त रमणीय वन-स्थलियोंमें भ्रमण किया ॥ ४४–४६ ॥

तदुपरान्त मैं मत्सी हुई । मत्स्ययोनिमें समुद्रके बड़े-बड़े कल्लोलों द्वारा बहाई जा रही मैं दिग्भ्रम होनेपर जब मछुओंके फन्देमें आ गई, तो मैंने मछुओं द्वारा लट्ठी आदिसे अपने मुँहपर किये गये प्रहारोंको बड़ी-बड़ी लहरों और कछुओंकी पीठकी हड्डीपर गिरनेसे व्यर्थ होते देखा ॥ ४७ ॥

पीतं चर्मण्वतीतीरे गायन्त्या मधुरस्वरम् ।
पुलिन्द्या सुरतान्तेषु नालिकेररसासवम् ॥ ४८ ॥

सारसीसरसालिन्या सीत्कारमधुरस्वरम् ।
सारसः सुरतैः स्वैरं सामन्तश्चारु रञ्जितः ॥ ४९ ॥

तालीतमालकुञ्जेषु तरलाननेत्रया ।
क्षीबप्रेक्षणविक्षोभैः कृतं कान्तावलोकनम् ॥ ५० ॥

कनकस्यन्दसन्दोहसुन्दरैरङ्गपञ्जरैः ।
स्वर्गेऽप्सरोम्बुजिन्याऽऽशु तोषिताः सुरषट्पदाः ॥ ५१ ॥

मणिकाञ्चनमाणिक्यमुक्तानिकरभूतले ।
कल्पद्रूमवने मेरौ यूना सह रतं कृतम् ॥ ५२ ॥

कल्लोलाकुलकच्छासु लसद्गुच्छलतासु च ।
वेलावनगुहास्वब्धेश्चिरं कूर्मतया स्थितम् ॥ ५३ ॥

तदनन्तर मैं पुलिन्दी हुई । उक्त जन्ममें चर्मण्वती नदीके किनारे मधुर स्वर गायन कर रही मै सुरतके पश्चात् नारियलोंके रसका आसव पीती थी ॥ ४८ ॥

तदुपरान्त मैं सारसी हुई । कमलिनीमें प्रेमयुक्त भ्रमरीकी नाईं निश्चल रहती हुई मैने सुरतकालके सीत्कारसे मधुरस्वरपूर्वक यथेच्छ सुरतोंसे सारसराज अपने पति सारसको खूब प्रसन्न किया ॥ ४९ ॥

तदनन्तर चञ्चलवदन और चञ्चलनयनवाली मैने ताली और तमालोंके निकुञ्जोंमें मदयुक्त कटाक्ष दर्शनसे उत्पन्न कामोद्दीपनसे पतिका अवलोकन किया ॥५०॥

तदुपरान्त मै अप्सरा हुई । स्वर्गमें भी मुझ अप्सरारूपी कमलिनीने भ्रमर-रूपी देवताओंको स्वर्णके द्रव (रस) के संघातके तुल्य मनोहर अङ्गरूपी पिंजरोंसे आलिङ्गन अधरपान आदि द्वारा खूब सन्तुष्ट किया ॥ ५५ ॥

उसी अप्सराके जन्ममें मणि, सुवर्ण, माणिक्य, मोतियोंसे जड़ी भूमिवाले कल्प-वृक्षोंके वनोंसे पूर्ण मेरुपर्वतमें युवकोंके साथ रमण किया ॥ ५२ ॥

तदनन्तर समुद्रकी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे आकुल, जलप्राय प्रदेशोंसे युक्त, फूलोंके गुच्छोंसे शोभित लताओंसे वेष्टित समुद्रके तटवर्ती वनोंकी गुफाओंमें चिरकालतक मैं कच्छपीरूपसे रही ॥ ५३ ॥

तरत्तारतरङ्गासु दोलनं सरसालिनाम् ।
चलच्छदपटालीषु राजहंस्यं मया कृतम् ॥ ५४ ॥

शाल्मलीदललोलानामान्दोलनदरिद्रताम् ।
मशकस्य मयाऽऽलोक्य दीनं मशकया स्थितम् ॥ ५५ ।

तरत्तारतरङ्गासु चञ्चद्वीच्यग्रचुम्बनैः ।
भ्रान्तं शैलस्रवन्तीषु जलवञ्जुललीलया ॥ ५६ ॥

गन्धमादनमन्दारमन्दिरे मदनातुराः ।
पतिताः पादयोः पूर्वं विद्याधरकुमारकाः ॥ ५७ ॥

चञ्चल लहरियोंसे परिपूर्ण सरोवरोंमें मैंने अपने चञ्चल वस्त्रकी नाईं शुभ्र पक्षोंकी पङ्क्तियोंपर कमलके भ्रमसे बैठे हुए भ्रमरोंके झूलनेके साधन राजहंसीत्वका अनुभव किया यानी मैं राजहंसी बनी मेरे वस्त्रके समान शुभ्र चञ्चल परोंपर कमलके भ्रमसे बैठे हुए भँवरोंने झूला खेला ॥ ५४ ॥

झूल रहे एक सेंमरके पत्तेमें चञ्चल हुए अनेक मच्छरोंमें से एक मच्छर वहांसे गिर गया, फिर वहां न बैठ सकने कारण वह बेचारा झूला खेलनेसे वञ्चित रहा, उसकी वह दयनीय अवस्था देखकर, यद्यपि मैं हँसी थी तथापि उस मच्छरकी दयनीयदशाके संस्कारसे ही मैं मरी अतएव मच्छर बनकर दीन-हीन दशामें मुझे रहना पड़ा, क्योंकि प्राणी जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए प्राण त्याग करता है, उसकी वासनासे वासित होकर वह उसी भावको प्राप्त होता है, ऐसा भगवान्का वचन है ॥ ५५ ॥

तदुपरान्त मैंने जलवेतस्की लीलासे यानी जलवेतस्की योनिमें बड़ी-बड़ी लहरियोंसे व्याप्त पर्वतीय नदियोंमें चपल तरङ्गोंके अग्रभागके चुम्बन द्वारा भ्रमण किया ॥ ५६ ॥

स्थावरपर्यन्त अधम योनियोंमें जन्म कहकर अब उत्तम जन्मोंको भी कहती है—**'गन्धमादन०'** इत्यादिसे ।

पहले मैंने गन्धमादन पर्वतमें स्थित मन्दारवृक्षोंके निकुञ्जमें कामपीड़ित विद्याधरके कुमारोंको अपने चरणोंपर गिराया था, कामपीड़ित विद्याधर कुमारोंने मेरा अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय किया था ॥ ५७ ॥

कीर्णकर्पूरपूरेषु तल्पेषु व्यसनातुरा ।
चिरं विलुलिताऽस्मीन्दुबिम्बेष्विव शशिप्रभा ॥ ५८ ॥
योनिष्वनेकविधदुःखशतान्वितासु भ्रान्तं मयोन्नमनसन्नमनाकुलाङ्ग्या ।
संसारदीर्घसरितश्चलया लहर्या दुर्वारवातहरिणीसरणक्रमेण ॥ ५९ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाजन्मान्तरवर्णनं नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

वज्राङ्गसाराद् ब्राह्माण्डकुड्यान्निबिडमण्डलात् ।
कोटियोजनसंपुष्टात् कथं ते निर्गतेऽबले* ॥ १ ॥

वहांपर भी दुःखप्रचुरता दर्शाती हैं—'कीर्ण' इत्यादिसे ।

जैसे चन्द्रकान्ति (चाँदनी) चन्द्रबिम्बमें लोट-पोट लेती है, वैसे ही उक्त विद्याधर कुमारोंके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित होकर मैं कर्पूरके चूर्णसे भरपूर शय्याओंमें चिरकाल तक लेटी रही ॥ ५८ ॥

तराजूके पलड़ेकी नाईं ऊर्ध्वगति (ऊपर उठना) और अधोगति (नीचे गिरना) से व्याकुलचित्त एवं संसाररूपी विशाल नदीकी चञ्चल तरङ्गरूप मैंने वातहरिणीके (वातप्रमीनामक एक प्रकारकी हरिण जातिके) दुर्वारगमनक्रमसे† भाँति-भाँतिके सैकड़ों दुःखोंसे युक्त अनेक योनियोंमें भ्रमण किया ॥ ५९ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[दृष्ट प्रपञ्चके असत्य होनेसे चिदाकाशकी सत्यता और पर्वत तथा गिरिग्रामका विस्तारसे वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वज्रके समान दृढ़, पूर्वोक्त रीतिसे अनेक करोड़ योजन भलीभाँति पुष्ट मध्यभागवाले अत्यन्त निबिड़ ब्रह्माण्डकी दीवारसे

---

* यहाँ सन्धि आर्ष है ।

† ऐसी प्रसिद्धि है कि वातप्रमी मृग स्वभावतः वायुकी गतिके अनुसार सम-विषम प्रदेशोंमें दौड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्व ब्रह्माण्डं क्व तद्भित्तिः क्वाऽत्राऽसौ वज्रसारता ॥
किलाऽवश्यं स्थिते देव्यावन्तःपुरवराम्बरे ॥ २ ॥
तस्मिन्नेव गिरिग्रामे तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
ब्राह्मणः स वसिष्ठाख्य आस्वादयति राजताम् ॥ ३ ॥
तमेव मण्डपाकाशकोणकं शून्यमात्रकम् ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तं भूतलं सोऽनुभूतवान् ॥ ४ ॥
आकाशात्मनि भूपीठं तस्मिंस्तद्राजपत्तनम् ।
राजसद्माऽनुभवति स च सा चाऽप्यरुन्धती ॥ ५ ॥
लीलाभिधाना सा जाता तया च ज्ञप्तिरर्चिता ।
ज्ञप्त्या सह समुल्लङ्घ्य खमाश्चर्यमनोहरम् ॥ ६ ॥

वे अबलाएँ कैसे निकलीं। भाव यह कि स्वप्नमें मिथ्याभूत दीवार भी गमनकी प्रतिरोधक देखी गई है, अतः उस प्रकारकी दृढ़ और घन दीवारसे निकलना असंभव प्रतीत होता है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, कहां ब्रह्माण्ड है, कहां उसकी दीवार है और कहां उसमें वज्रके तुल्य कठोरता है ? राजमहिषी लीला और सरस्वती देवी दोनों ही वस्तुतः उसी अन्तःपुरके आकाशमें स्थित थीं ॥ २ ॥

उसी पर्वतग्राममें उसी गृहाकाशमें पूर्वोक्त वसिष्ठनामक ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्यके ऐश्वर्यका भोग करता है ॥ ३ ॥

उसने राजा पद्म बनकर उसी मण्डपाकाशके कोनेको, जो कि केवल शून्य-मात्र है, चार सागरोंसे परिवेष्टित भूतल समझा ॥ ४ ॥

वह वसिष्ठ और वह अरुन्धती दोनों उस शून्यस्वरूप मण्डपाकाशमें चारों समुद्र पर्यन्त पृथिवी, उसमें राजधानीरूप नगर और राजधानीमें राजप्रसाद का अनुभव करते हैं * ॥ ५ ॥

वह अरुन्धती ही लीलानामकी राजमहिषी हुई, उसने सरस्वती देवीकी

* वसिष्ठ नामका ब्राह्मण और अरुन्धती ही विदूरथकी वासनासे उत्पन्न पद्म और लीलाकी अन्तरात्मताको प्राप्त हुए थे। लीलाकी अन्तरात्मताको प्राप्त अरुन्धती अनुभव करती है, यह मानकर वर्तमानकालका निर्देश उपपन्न होता है।

प्रादेशमात्रे नभसि सा तत्रैव गृहोदरे ।
ब्रह्माण्डान्तरमासाद्य गिरिग्रामकमन्दिरे ॥ ७ ॥

ब्रह्माण्डात् परिनिर्गत्य स्वगृहे स्थितिमाययौ ।
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं प्राप्य यथा तल्पगतः पुमान् ॥ ८ ॥

प्रतिभामात्रमेवैतत् सर्वमाकाशमात्रकम् ।
न ब्रह्माण्डं न संसारो न कुड्यादि न दूरता ॥ ९ ॥

स्वचित्तमेव कचति तयोस्तादृङ्मनोहरम् ।
वासनामात्रसोल्लेखं क्व ब्रह्माण्डं क्व संसृतिः ॥ १० ॥

निरावरणमेवेदं ज्ञप्त्याकाशमनन्तकम् ।
किञ्चित् स्वचित्तेनोन्नीतं स्पन्दयुक्त्येव मारुतः ॥ ११ ॥

चिदाकाशमजं शान्तं सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
चित्त्वाज्जगदिवाऽऽभाति स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ १२ ॥

उपासना की । तदनन्तर वह सरस्वती देवीके साथ अद्भुत दर्शनसे रमणीय आकाशको लाँघ कर गृहोदरवर्ती बिलस्तभर आकाशमें ही दूसरे ब्रह्माण्डको प्राप्त हुई और तदनन्तर पहले ब्रह्माण्डसे उसमें आकर गिरिग्राममन्दिररूप अपने घरमें आई । जैसे कि शय्यामें सोया हुआ पुरुष एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नको प्राप्त करता है, शय्यामें ही विविध देशोंमें विविध स्वरूपोंसे भ्रमण करता है ॥ ६–८ ॥

आकाशरूप यह सब भ्रान्तिमात्र ही है, न ब्रह्माण्ड है, न संसार है, न दीवार आदि है और न दूरी है ॥ ९ ॥

उनका अपना चित्त ही केवल वासनामात्रसे तत्-तत् विविध पदार्थोंके व्यवहारका स्वरूप धारणकर वैसा प्रथित होता है । कहां ब्रह्माण्ड है और कहां संसार है ? ॥ १० ॥

निरावरण और निस्सीम इस चिदाकाशकी ही उन्होंने अपने चित्तसे कुछ (ब्रह्माण्डरूप) कल्पना की । जैसे आकाश ही स्पन्दके सम्बन्धसे वायुरूपसे कल्पित होता है, वैसे ही उन्होंने चिदाकाशकी ही अपने चित्तसे ब्रह्माण्डरूपसे कल्पना की ॥ ११ ॥

सभी जगह सदा अनादि अविनाशी चिदाकाश ही व्याप्त है । जिसे उसका

येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम् ।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम् ॥ १३ ॥
गृह एव यथा स्वप्ने नगरं भाति भासुरम् ।
तथैतदसदेवाऽन्तश्चिद्धातौ भाति भास्वरम् ॥ १४ ॥
यथा मरौ जलं बुद्धं कटकत्वं च हेमनि ।
असत् सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ १५ ॥
एवमाकथयन्त्यौ ते ललने ललिताकृती ।
गृहात् निर्ययतुर्बाह्यं चारुचङ्क्रमणक्रमैः ॥ १६ ॥
अदृश्ये ग्रामलोकेन प्रेक्षमाणे पुरो गिरिम् ।
चुम्बिताकाशकुहरं संस्पृष्टादित्यमण्डलम् ॥ १७ ॥
नानावर्णाखिलोत्फुल्लविचित्रवननिर्मलम् ।
नानानिर्झरनिर्ह्रादकूजद्वनविहङ्गमम् ॥ १८ ॥

ज्ञान नहीं है, उसकी दृष्टिमें वह स्वयं चित् होनेसे अपनेमें अपनेसे ही जगत्-सा प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

जिसने उसको जान लिया, उसकी दृष्टिमें यह जगत् आकाशसे भी शून्य है और जिसने नहीं जाना, उसकी दृष्टिमें यह जगत् वज्रके समान कठोर पर्वतके तुल्य है ॥ १३ ॥

जैसे स्वप्नमें, घर में ही देदीप्यमान नगरकी प्रतीति होती है, वैसे ही असद् ही यह जगत् चिदाकाशमें प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

जैसे मरुभूमिमें असत् जलकी प्रतीति होती है, जैसे सुवर्णमें अविद्यमान कटकत्वकी प्रतीति होती है, वैसे ही असत् यह दृश्य प्रपञ्च आत्मामें सत्-सा प्रतीत होता है ॥ १५ ॥

ऐसा कहती हुई वे दोनों सुन्दर ललनाएँ सुन्दर गतिसे घरके बाहर निकलीं ॥ १६ ॥

उन्हें ग्रामवासी नहीं देख पाते थे और वे सामनेके पर्वतको देख रही थीं। वह उत्तुङ्ग पर्वत गगनचुम्बी था, सूर्यमण्डलको स्पर्श करता था, रँग-बिरँगके सम्पूर्ण फूले हुए विचित्र वनोंसे निर्मल था तथा उसमें अनेक झरनोंका कलकल निनाद हो रहा था और वनविहङ्गम चहचहा रहे थे। उसमें ऊँचे ऊँचे वृक्षोंकी

विचित्रमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्बुदमण्डलम् ।
स्वभ्रमच्छगुलुच्छाग्रविश्रान्तखगसारसम् ॥ १९ ॥
सारवञ्जुलविस्तारगुप्ताखिलसरित्तटम् ।
असमाप्तशिलाश्वभ्रलतावर्त्तनमारुतम् ॥ २० ॥
पुष्पाग्रपिहिताकाशकोशकुड्यकवारिदम् ।
पतद्दीर्घसरित्स्रोतःस्फुरन्मुक्ताकलापकम् ॥ २१ ॥
चलद्वृक्षवनव्यूहवातवेल्लिसरित्तटम् ।
नानावनाकुलोपान्तच्छायासततशीतलम् ॥ २२ ॥
अथ ते ललने तत्र तदा ददृशतुः स्वयम् ।
तं गिरिग्रामकं व्योम्नः स्वर्गखण्डमिव च्युतम् ॥ २३ ॥
रटत्प्रणालीपटलं पूर्णपुष्करिणीगणम् ।
द्विजैः कुचकुचैः कूजत्स्वलीलाश्वभ्रकच्छकम् ॥ २४ ॥

मञ्जरियोंके पुञ्जोंसे पिञ्जर (ललाई या भूरापन लिये हुए पीलेपनसे युक्त) अतएव रँग-बिरँगके मेघमण्डल थे, इसलिए वह सुन्दर मेघोंसे युक्त था, उसमें गुलुच्छलताओंकी डालियोंमें पक्षी और सारस बसेरा ले रहे थे। बड़े मजबूत जलवेंतसोंकी झाड़ियोंसे नदियोंके तट सुरक्षित (गिरनेसे बचे) थे, चट्टानोंके गड्ढेमें पैदा हुई लताओंको, जिन्होंने भली भाँति वृक्षोंका अवलम्बन नहीं किया था, वायु खूब हिला रहा था, नचा रहा था। शिखरके वृक्षोंने, जिनकी आगे-आगेकी टहनियाँ फूलोंसे व्याप्त थीं, आकाशकी दीवारके सदृश बादलोंको ढक रक्खा था। वेगसे बह रही विशाल नदीका स्रोत ही उसकी मुक्तामाला था। उस पर्वतके नदीतट हिल रहे वृक्षोंके वृन्दोंसे युक्त वन-समूहसे व्याप्त थे, अतएव सदा वायुसे वेष्टित रहते थे, उसका प्रान्तभाग विविध वनोंसे व्याप्त था, अतएव छायासे सदा ठण्डक रहती थी ॥ १७–२२ ॥

पर्वतका वर्णन कर पर्वतग्रामका वर्णन करते हैं—'अथ' इत्यादिसे।

तदनन्तर उन दोनों ललनाओंने उस समय वहीं स्वयं पर्वतग्रामको देखा, वह आकाशसे गिरे स्वर्गके एक भागके समान रमणीय था, उसमें रहटोंके चलनेका शब्द हो रहा था, जहाँ तहाँ कमलोंसे युक्त अनेक पोखरे बने थे, पक्षियोंके कलरवसे सारा नगर गुलजार था और उसमें क्रीड़ाके लिए बने हुए उत्तम निम्नस्थान और जलप्रदेश थे ॥ २४ ॥

गच्छद्गोवृन्दहुङ्कारकरालाखिलकुञ्जकम् ।
कुञ्जगुल्मकखण्डाढ्यं सच्छायघनशाद्वलम् ॥ २५ ॥
दुष्प्रवेशार्ककिरणं दृषन्नीहारधूसरम् ।
उदग्रमञ्जरीपुञ्जजटालम्बिशिखान्तरम् ॥ २६ ॥
शिलाकुहरवाःस्फालप्रोच्चलन्मुक्तनिर्झरैः ।
स्मारिताचलनिर्धूतक्षीरोदकजलश्रियम् ॥ २७ ॥
फलमाल्यमहाभारभासुरैरजिरद्रुमैः ।
आनीय पुष्पसम्भारं तिष्ठद्भिरिव सङ्कुलम् ॥ २८ ॥
तरत्तरङ्गझाङ्कारकारिमारुतकम्पितैः ।
कीर्णपुष्पसमावृष्टं द्रुमैरपि रसाकुलैः ॥ २९ ॥
अशङ्कितशिलाकूटस्रवदब्बिन्दुटङ्कृतैः ।
किञ्चित्कृतरवं गुप्तैरशङ्कैः शङ्कितैः खगैः ॥ ३० ॥

गोचरभूमिमें चल रहीं गौओंके रांभनेसे उसके सम्पूर्ण निकुञ्ज शब्दायमान हो रहे थे, और कुञ्जों, झाड़ियों, छायादार सघन हरीघासके मैदानोंसे वह युक्त था ॥२५॥

उसमें सूर्यकी किरणोंका प्रवेश बड़ी कठिनाईसे होता था, वह शिलाओं तथा नीहारसे भस्मलिप्तकी नाईं धूसर था। ऊँची ऊँची मञ्जरियोंसे जटाकी नाईं लम्बायमान उसकी कतिपय शिखाएँ थीं ॥ २६ ॥

चट्टानोंके मध्यमें जलके टकरानेसे जिनमें मोतीके सदृश बिन्दु उछल रहे थे ऐसे झरनोंने उसमें मन्दराचलसे मथे जाते हुए क्षीरसागरके जलकी शोभाका स्मरण करा रखा था ॥ २७ ॥

फल और फूलोंसे लदे होनेके कारण बड़े अच्छे प्रतीत होनेवाले आँगनके वृक्षोंसे वह व्याप्त था। वे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानो पुष्पराशिको लाकर खड़े हो रहे हों ॥२८॥

उसमें चञ्चल तरङ्गोंको मुखरित करनेवाले पवनों द्वारा हिलाये गये, मकरन्दसे व्याप्त वृक्ष भी अतिथियोंपर फूल बरसाते थे फिर प्रेमपूर्ण अतिथि सत्कार करनेवाले मनुष्योंसे वह अधिष्ठित था इसमें कहना ही क्या है? ॥ २९ ॥

बराबर पाषाणोंसे गिर रहीं जलकी बूँदोंकी टङ्कारध्वनिसे, गुलेल और धनुषके शब्दके तुल्य होनेके कारण, भयके योग्य न होनेपर भी भयभीत अतएव छिपेहुए पक्षियोंने उसमें कुछ कलरव कर रक्खा था ॥ ३० ॥

उत्फाललहरीश्रान्तसीकरास्वादनाकुलैः ।
नद्यामुडुपरावर्त्तवृत्तिभिर्विहगैर्वृतम् ॥ ३१ ॥
उत्तालतालविश्रान्तकाकालोकनशङ्कितैः ।
बालैः प्रगोपितामिक्षाखण्डं जीर्णस्वभुक्तकैः ॥ ३२ ॥
पुष्पशेखरसंभारवसनग्रामबालकम् ।
खर्जूरनिम्बजम्बीरगहनोपान्तशीतलम् ॥ ३३ ॥
क्षौमाग्रहस्ताम्बरया मञ्जरीपूर्णकर्णया ।
क्षुत्क्षीणया क्रान्तरथ्यं ग्रामकीटककान्तया ॥ ३४ ॥
सरित्तरङ्गसङ्घट्टसंरावाश्रुतसंकथम् ।
कर्मजाड्यघनत्रासवाञ्छितैकान्तसंस्थितम् ॥ ३५ ॥

वह नदीमें उत्तुङ्ग लहरोंमें बैठे हुए और तरङ्गके जलबिन्दुओंके आस्वादनसे शान्तचित्त एवं नक्षत्रोंके परिवर्तनके समान परिवर्तनवाले हंसोंसे परिवृत था ॥ ३१ ॥

ऊँचे ऊँचे ताल वृक्षोंपर बैठे हुए कौओंको देखकर ये हमारे कलेवेको खा न जायँ, इस प्रकार शङ्कित हुए बालकों द्वारा प्रातःकालका खाना पच जानेके बाद हम इसे खावेंगे इस बुद्धिसे उसमें आमिक्षा (छेना) छिपाई गई थी ॥ ३२ ॥

उस नगरमें बालकोंने फूलोंके ही मुकुट आदि सिरके आभूषण और वस्त्र पहने थे, उस नगरके आस पास खजूर, नीब, जम्बीरके निबिड़ वन थे, अतएव वह सदा शीतल रहता था ॥ ३३ ॥

उस नगरमें रहनेवाली भिल्ल आदि दरिद्रोंकी स्त्रियोंका वर्णन करते हैं— 'क्षौमा०' इत्यादिसे ।

उसमें दरिद्र, नीच और आलसी लोगोंकी स्त्रियां अलसीकी शाखाओंको ही, सुलभ होनेके कारण, वस्त्ररूपमें पहननेवाली, बौरोंका कर्णफूल पहनी हुई एवं भूख और प्याससे कृश होकर गलियोंमें घूमती थीं ॥ ३४ ॥

नदियोंकी लहरोंके आपसमें टकरानेके शब्दसे लोगोंका आलाप नहीं सुनाई पड़ता था, शिल्प आदि कार्य करनेकी दक्षता न होनेके कारण भयभीत मूर्ख और आलसी लोग एकान्तमें बैठा रहना चाहते थे ॥ ३५ ॥

दधिलिप्तास्यहस्तांसैः स्निग्धपुष्पलताधरैः ।
नग्नैर्गोमयपङ्काङ्कैर्बालैराकुलचत्वरम् ॥ ३६ ॥
तीरशाद्वलवल्लीनां दोलां दोलनकारिभिः ।
तरङ्गैर्वाह्यमानस्य लेखिकाङ्कितसैकतम् ॥ ३७ ॥
दधिक्षीरघनामोदमत्तमन्थरमक्षिकम् ।
कामभुक्तार्थतोद्वाष्पजर्जराबलबालकम् ॥ ३८ ॥
गोमयासिक्तवलयकरनारीकृतक्रुधम् ।
धम्मिल्लवलनाव्यग्रत्रस्तस्त्रीविहसज्जनम् ॥ ३९ ॥
दान्तपुष्पच्छदोत्सन्नपतत्ककुदवायसम् ।
गृहरथ्यागणद्वारकीर्णक्रूरकुरण्टकम् ॥ ४० ॥
गृहपार्श्वस्थितश्वभ्रकुञ्जैः कुसुमितप्रभैः ।
प्रत्यहं प्रातरागुल्फमाकीर्णकुसुमाजिरम् ॥ ४१ ॥

दहीसे मुँह, हाथ और कन्धोंको पोते हुए, कोमल कोमल छोटी लताओंको लिये हुए, गोबर और कीचड़में सने हुए बालकोंसे उक्त नगरके चौतरे भरे थे ॥ ३६ ॥

उसमें बालमय तटभूमि नदीके तटवर्ती सिवारकीं लताओंको झूलेके समान हिलनवाले तरङ्गोंसे बहाये जाते हुए जलकी रेखाओंसे अङ्कित थी ॥ ३७ ॥

उसमें दही और दूधकी घन सुगन्धसे उन्मत्त होकर मक्खियाँ मन्थरगति थीं और अपनी अभिलषित वस्तु खानेके लिए रो रहे बेचारे पराधीन बालकोंका मुँह आँसुओंकी धाराओंसे जर्जरित हो रहा था ॥ ३८ ॥

दासियोंके हाथके कङ्कण गोबरसे सने हुए थे, अतएव उनपर गुस्सा होकर खुले हुए केशोंको बाँधनेमें लगी हुई स्त्रियोंको देखकर लोग उनकी हँसी कर रहे थे ॥ ३९ ॥

उसमें पहाड़ी कौए शान्त मुनियों द्वारा डंडे और ढेले आदिसे उड़ानेसे कहीं उन्हें चोट न लग जाय इस कारण फूलों अथवा पत्तों द्वारा उड़ाये जानेपर भी पूजाके अक्षत खानेके लिए फिर फिर उड़ रहे थे। घरों और गलियोंके दरवाजोंपर उसमें कठिन पीली कटैयाके पेड़ बखेरे थे ॥ ४० ॥

घरके समीपके गर्तोंको कुञ्जोंसे, जो प्रफुल्लित और शोभायमान थीं, प्रतिदिन प्रातःकाल टाँकनों तक आँगनोंमें फूल बरसाये गये थे ॥ ४१ ॥

चरच्चमरसारङ्गजालजङ्गलखण्डकम् ।
गुञ्जानिकुञ्जसंजातशष्पसुप्तमृगार्भकम् ॥ ४२ ॥
एकान्तसुप्तवत्सैककर्णस्पन्दास्तमक्षिकम् ।
गोपोच्छिष्टीकृतदधिस्वसृक्किस्पन्दिमक्षिकम् ॥ ४३ ॥
समस्तसद्मसंक्षीणमक्षिकाक्षिप्तमाक्षिकम् ।
फुल्लाशोकद्रुमोद्यानकृतलाक्षिकमन्दिरम् ॥ ४४ ॥
सीकरासारमरुता नित्यार्द्रविचकद्रुमम् ।
कदम्बमुकुलप्रोतसमस्तच्छादनतृणम् ॥ ४५ ॥
प्रतिकृत्तलताफुल्लकेतकोत्करपाण्डुरम् ।
वहत्प्रणालपटलीरणद्गुरुगुरारवम् ॥ ४६ ॥

उसके जंगल घास चर रहे भाँति-भाँतिके मृग और पक्षियोंसे पूर्ण थे, गुञ्जा-फलके निकुञ्जोंमें जमे हुए घासके हरे-हरे तिनकोंमें मृगोंके बच्चे सोये थे* ॥४२॥

एकान्त स्थानमें सोये हुए बछड़ेके एक कानके कम्पनसे मक्खियाँ उड़ रही थीं, गोपों (द्वारा गौओंको पालनेवाले अहीर आदि द्वारा) उच्छिष्ट यानी जूठा छोड़े हुए दहीमें और मुँहके आसपास मक्खियाँ भनभना रही थीं ॥ ४३ ॥

उस गाँवके सम्पूर्ण घरोंमें मधुमक्खियोंका क्षय करके मधु संचित किया गया था, फूले हुए अशोकके वनोंमें लाहसे रँगे हुए सुन्दर क्रीड़ामन्दिर बने हुए थे ॥४४॥

सींकरोंकी (छोटे-छोटे जलकणोंकी) झड़ी लगानेवाले वायुसे नित्य आर्द्र होनेके कारण सभी वृक्ष प्रफुल्ल थे, फूलोंके भारसे लदे थे, कदम्बोंकी कलियोंसे उसके सम्पूर्ण छादन तृण ओतप्रोत थे ॥ ४५ ॥

केतकीके फूलनेमें जो लताएँ बाधक थीं, उन लताओंके काट डालनेके कारण निर्बाधरूपसे फूले हुए केतकियोंके समूहसे सारा गाँव सफेद हो रहा था। उस ग्रामके किसी किसी प्रदेशमें जलकी नाली द्वारा जल गुरू-गुरू शब्द करता हुआ बहता था ॥ ४६ ॥

---

* यहाँपर गाँवका वर्णन चल रहा है। 'गाँव'शब्द गाँवकी सीमा और भूमिके सहित गाँवका वाचक है, इसलिए उसके अन्तर्गत गोचरभूमि, जंगल, निकुञ्ज आदिका वर्णन करनेपर भी कोई विरोध नहीं है।

वातायनगुहानिर्यत्सौधविश्रान्तवारिदम् ।
पूर्णपुष्करिणीपङ्क्तिपूर्णराजपृथूत्तरम् ॥ ४७ ॥
नीरन्ध्रविटपिच्छायाशीतलामलशाद्वलम् ।
सर्वशष्पाग्रवार्बिन्दुप्रतिबिम्बिततारकम् ॥ ४८ ॥
अनारतपतत्फुल्लहिमवर्षसितालयम् ।
विचित्रमञ्जरीपुष्पपत्रसत्फलपादपम् ॥ ४९ ॥
गृहकक्षान्तरालीनमेघसुप्तचिरण्टिकम् ।
सौधस्थमेघविद्युद्भिरनादेयप्रदीपकम् ॥ ५० ॥
कन्दरानिलभाङ्कारघनघुंघुममण्डपम् ।
चरच्चकोरहारीतहरिणीहारिमन्दिरम् ॥ ५१ ॥
उन्निद्रकन्दलोद्भ्रान्तमांसलामोदमन्थरैः ।
मरुद्भिर्मन्दमावातुमारब्धैर्लोलपल्लवम् ॥ ५२ ॥

मेघमण्डल उसके झरोखोंसे निकलकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंमें विश्राम लेते थे। जलसे लबालब भरे हुए अनेक पोखरोंमें पूर्ण चन्द्रमाके समान खिले हुए कमलोंसे उसकी शोभाकी सीमा न रह गई थी। उसमें सघन वृक्षोंकी छायासे शीतल साफ सुथरे हरे मैदान थे और सम्पूर्ण हरी-हरी घासके सिरों-पर जो ओसकी बूँदे थीं, उनमें तारोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। लगातार गिर रहे खिले फूलोंकी वृष्टिसे और हिमवृष्टिसे उस ग्रामके सब मकान सफेद हो गये थे। उस ग्रामके सब वृक्ष भाँति-भाँतिकी मञ्जरियों, फूलों, पत्तों और सुन्दर फलोंसे लदे थे। उसमें घरकी कोठरीके अन्दर छिपे हुए बादलोंमें युवतियां सोती थीं और अट्टालिकाओंमें स्थित मेघकी बिजलीसे लोगोंको दीपक जलानेकी आवश्यकता न रहती थी, क्योंकि दीपककी आवश्यकता बिजलीसे पूरी हो जाती थी॥ ४७—५० ॥

उस गांव में सब घर गुफाओंकी वायुके झंकारसे मेघकी नाईं गरजते थे, घरोंके आसपास चकोर, हारीत और हरिण घूमते थे, अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे। खिले हुए कन्दल-पुष्पोंसे निःसृत प्रचुर सुगन्धिसे परिपूर्ण मन्द-मन्द बहनेके लिए उद्यत वायु द्वारा उसके वृक्ष और लताओंके पल्लव चञ्चल थे। सुग्गा, मैना और लवाकी बोलीरूपी क्रीड़ामें ललनाएँ तल्लीन थीं। चक्रवाक,

लावकालापलीलायामालीनललनागणम् ।
कोककोकिलकाकोलकोलाहलसमाकुलम् ॥ ५३ ॥
शालतालतमालाब्जनीलतत्फलमालिनम् ।
वल्लीवलयविन्यासविलासवलितद्रुमम् ॥ ५४ ॥
आलोलपल्लवलतावलितायनाना-
मुत्फुल्लकन्दलशिलीन्ध्रसुगन्धितानाम् ।
तालीतमालदलताण्डवमण्डपाना-
मारामफुल्लकुसुमद्रुमशीतलानाम् ॥ ५५ ॥
सारावबारिचलनाकुलगोकुलाना-
मानीलसस्यकुसुमस्थलशोभितानाम् ।
तीरद्रुमप्रकरगुप्तसरिद्रयाणां
नीरन्ध्रपुष्पितलताग्रवितानकानाम् ॥ ५६ ॥
उद्यानकुन्दमकरन्दसुगन्धितानां
गन्धान्धषट्पदकुलान्तरिताम्बुजानाम् ।
सौन्दर्यतर्जितपुरन्दरमन्दिराणां
राजीवराजिरजसाऽऽरुणिताम्बराणाम् ॥ ५७ ॥

कोयल, पहाड़ी कौओंके कोलाहलका चारों ओर समां बँधा था। साल, ताड, तमाल और कमल तथा उनके नीले फलोंका, जिधर देखो उधर, ताँता बँधा था। वहांपर वृक्ष लताओंके वलयाकार वेष्टनसे परिवेष्टित थे ॥ ५१—५४ ॥

उक्त गिरिग्रामके मन्दिरोंकी शोभाका पूर्णरूपसे वर्णन कौन कर सकता है? वे चञ्चल पल्लववाली असंख्य लताओंके सन्तानके आश्रय थे, खिले हुए कन्दलके फूलोंकी सुगन्धिसे सराबोर थे, उनके मण्डपोंमें ताली, तमाल आदिके पत्ते नाचते थे, बागमें खिले हुए फूलोंके वृक्षोंसे उनमें बड़ी ठण्डक रहती थी, उनकी गौएँ रँभाती हुईं जलमें तैरनेमें आकुल थीं, उनके आसपास चारों ओरके लहलहाते हुए हरे-हरे धानके खेतों और फूलोंके बगीचोंसे उनकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई थी, तटके वृक्षोंकी कतारसे नदीका प्रवाह छिप गया था, फूली हुई सघन लताओंके अग्रभाग ही उनके वितान (चँदवे) थे, बगीचोंके कुन्द-पुष्पोंके मकरन्दकी (पुष्परसकी) भीनी-भीनी सुगन्धसे वे सुगन्धित थे, सुगन्धिसे अन्धे बने हुए भ्रमरोंने गिरिग्रामके घरोंके आस-पासके कमलोंको

रंहोवहद्गिरिनदीरवघर्घराणां
कुन्दावदातजलदद्युतिभासुराणाम् ।
सौधस्थितोल्लसितफुल्ललतालयानां
लीलावलोलकलकण्ठविहङ्गमानाम् ॥ ५८ ॥
उल्लासिकौसुमदलास्तरणस्थयूना-
मापादमावलितमाल्यविलासिनीनाम् ।
सर्वत्र सुन्दरनवाङ्कुरदन्तुराणां
शोभोल्लसद्वरलताकुलमार्गणानाम् ॥ ५९ ॥
सञ्जातकोमललतोत्पलसङ्कुलानां
तिष्ठत्पयोदपटसंवलितालयानाम् ।
नीहारहारहरितस्थलविश्रुतानां
सौधस्थमेघतडिदाकुलिताङ्गनानाम् ॥ ६० ॥
नीलोत्पलोल्लसितसौरभसुन्दराणां
हुङ्कारहारिहरितोन्मुखगोकुलानाम् ।

आच्छन्न कर दिया था, उन घरोंने अपनी सुन्दरतासे इन्द्रभवनको नीचा दिखा दिया था, कमलोंके परागसे उन्होंने आकाशको सुनहला बना दिया था, उनमें वेगसे बह रही गिरिनदीका घर-घर शब्द सदा बना रहता था, कुन्दपुष्पके समान सफेद मेघोंकी छविसे वे देदीप्यमान हो रहे थे, अटारियोंपर आरूढ़ फूली हुई विशाल लताओंके वे आश्रय थे, उन घरोंमें परस्पर क्रीड़ासे चञ्चल मधुर ध्वनिवाले पक्षियोंका आवास था, तुरन्त खिले हुए पुष्पोंकी पँखुरियोंसे युवकोंकी शय्या पूर्ण थी, स्त्रियां पैरके अँगूठे तक लटकी हुई मालाएँ पहने थीं, सभी जगह सुन्दर-सुन्दर नूतन अङ्कुर उगे थे, जिनसे वे घर दन्तुलसे (जिसके छोटे-छोटे दाँत निकले हों ऐसे) प्रतीत होते थे, अत्यन्त सुशोभित सुन्दर लताओंसे सरकण्डे घिरे थे, उगी हुई कोमल-कोमल लताओं और कमलोंकी उनमें भरमार थी, स्थिर मेघरूपी वस्त्रोंसे घरोंके कमरे आच्छादित (वितान-युक्त) थे, ओसकी बूँदरूपी मोतियोंकी लरोंसे युक्त हरी घासके मैदानोंसे जहां तहां उनकी बड़ी ख्याति थी, अटारियोंमें रुके हुए मेघकी बिजलीसे उन घरोंकी स्त्रियां आकुल हो रही थीं, नील कमलोंसे निर्गत सुगन्धिसे उनकी सुन्दरता

विश्रब्धमुग्धमृगसारगृहाजिराणा-
मुन्नृत्यबर्हिघनसीकरनिर्झराणाम् ॥ ६१ ॥
सौगन्ध्यमत्तपवनाहतविक्लवानां
वप्रौषधिज्वलनविस्मृतदीपकानाम् ।
कोलाहलाकुलकुलायकुलाकुलानां
कुल्याकुलाकलकलाश्रुतसंकथानाम् ॥ ६२ ॥
मुक्ताफलप्रकरसुन्दरबिन्दुपात-
शीताखिलद्रुमलतातृणपल्लवानाम् ।
लक्ष्मीमनस्तमितपुष्पविकाशभाजां
शक्नोति कः कलयितुं गिरिमन्दिराणाम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गिरिग्रामवर्णनं नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

कहीं अधिक बढ गई थी, वहांकी गौएँ रंभानेसे बड़ी भली लगनेवाली और हरी घासको चरनेमें संलग्न थीं, घरके आँगनमें सुन्दर मृग निश्शङ्क आ जा रहे थे, उक्त घर निबिड़ जलबिन्दुओंकी वृष्टि करनेवाले झरनोंसे युक्त थे, अतएव वृष्टिकी भ्रान्तिसे उनमें मयूर अपना नृत्य करते थे, वे सुगन्धिसे मत्तकी नाईं भ्रान्त पवनसे ताडित अतएव विकलताको प्राप्त हुए थे, दीवारोंमें उगी हुई ओषधिरूपी (ज्योतिर्लितारूपी) अग्निसे वे घर दीपकोंको भूल गये थे, ओषधियोंसे ही उनमें दीपकोंका काम चल जाता था, पक्षियोंके कलरवसे परिपूर्ण अनेक घोंसलोंसे वे घर व्याप्त थे, सैकड़ों झरनोंके अविरत कलरवसे लोगोंकी बोल-चाल छिप गई थी, मोतियोंकी लरीके समान सुन्दर बिन्दुओंके गिरनेसे उनके सम्पूर्ण वृक्ष, लता, तृण और पल्लव शीतल थे और उनमें फूलोंका विकाश कभी बन्द नहीं होता था ऐसे गिरिग्रामके मन्दिरोंकी शोभाका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ५५–६३ ॥

अट्ठाईसवां सर्ग समाप्त

एकोनत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तत्र ते पेततुर्देव्यौ ग्रामेऽन्तःशीतलात्मनि ।
भोगमोक्षश्रियौ शान्ते पुंसीव विदितात्मनि ॥ १ ॥
कालेनैतावता लीला तेनाऽभ्यासेन साऽभवत् ।
शुद्धज्ञानैकदेहत्वात् त्रिकालामलदर्शिनी ॥ २ ॥
अथ सस्मार सर्वास्ताः प्राक्तनीः संसृतेर्गतीः ।
सा स्वयं स्वरसेनैव प्राग्जन्ममरणादिकाः ॥ ३ ॥

लीलोवाच

देवि देशमिमं दृष्ट्वा त्वत्प्रसादात् स्मराम्यहम् ।
इह तत्प्राक्तनं सर्वं चेष्टितं चेष्टितान्तरम् ॥ ४ ॥
इहाऽभूवमहं जीर्णा शिरालाङ्गी कृशा सिता ।
ब्राह्मणी शुष्कदर्भाग्रभेदरूक्षकरोदरा ॥ ५ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

[लीलाके पूर्व जन्मोके चरितोंकी प्रत्यभिज्ञाका वर्णन तथा लोकोंकी राशियोंसे मण्डित आकाशमें गमनवर्णन]

जैसे आत्मज्ञानी अतएव शान्त पुरुषमें भोगश्री और मोक्षश्री प्राप्त होती है, वैसे ही सुशीतल सुरम्य उस गिरिग्राममें वे दोनों देवियां पहुँचीं। इतने समयमें उक्त अभ्याससे लीला केवल शुद्ध ज्ञानरूप देहवाली होनेके कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनों कालोंको भली भांति देखनेवाली हो गई थी। तदनन्तर उसे संसारकी प्राक्तन जन्ममरणरूप सम्पूर्ण गतियोंका अनायास ही स्मरण होने लगा ॥ १–३ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, इस देशको देखकर आपके प्रसादसे मैं यहांपर अनेक पूर्व-जन्मोंकी सब विविध चेष्टाओंका स्मरण करती हूँ ॥ ४ ॥

पहले मैं यहांपर बूढ़ी ब्राह्मणी हुई थी। मेरा सारा शरीर नसोंसे व्याप्त और कृश था। केश सफेद थे। सूखे हुए कुशोंकी नोकोंसे छिदनेके कारण मेरी हथेली जर्जरित थी। मैं अपने पतिदेवके कुलकी वृद्धि करनेवाली भार्या,

भर्तुः कुलकरी भार्या दोहमन्थानशालिनी ।
माता सकलपुत्राणामतिथीनां प्रियङ्करी ॥ ६ ॥
देवद्विजसतां भक्ता सिक्ताङ्गी घृतगोरसैः ।
भर्जनीचरुकुम्भादिभाण्डोपस्करशोधिनी ॥ ७ ॥
नित्यमन्नलवाक्तैककाचकम्बुप्रकोष्ठका ।
जामातृदुहितृभ्रातृपितृमातृप्रपूजनी ॥ ८ ॥
आदेहं सम्रभृत्यैव प्रक्षीणदिनयामिनी ।
वाचं चिरं चिरमिति वादिन्यनिशमाकुला ॥ ९ ॥
काऽहं क इव संसार इति स्वप्नेऽप्यसंकथा ।
जाया श्रोत्रियमूढस्य तादृशस्यैव दुर्धियः ॥१०॥
एकनिष्ठा समिच्छाकगोमयेन्धनसञ्चये ।
म्लानकम्बलसंवीतशिरालकृशगात्रिका ॥११॥
तर्णकीकर्णजाहस्थकृमिनिष्कासतत्परा ।
गृहशाकायनासेकसत्वराहूतकर्परा ॥१२॥

बहुतसे बच्चोंकी माता और अतिथियोंका सत्कार करनेवाली गृहिणी थी। देवता और सन्त महात्माओंकी भक्त थी । मेरा शरीर घी और दही-दूधसे लथपथ रहता था। मै भात पकानेकी बटलोही, यज्ञ-चरुको पकानेके पात्र, अन्यान्य पात्रों और सामग्रीको मांज, धो-पोछकर साफ-सुथरा रखती थी। मेरा प्रकोष्ठ (पहुँचा) सदा अन्नसे सनी हुई एक कांचकी चूड़ीसे युक्त रहता था। मै जवाई, बेटी, भाई, पिता और माताकी सदा पूजा-अर्चा करती थी। देहपात होने तक घरके ही काम-धाममें मेरे दिन रात बीतते थे। मै पुत्र, बहू और नौकर-चाकरोंसे शीघ्र काम करनेके लिए तुमने बहुत देरीमें स्नान किया, तुमने क्यों देरी लगाई, तुम क्यों विलम्ब कर रहे हो इत्यादि वचन कहती रहती थी और स्वयं कार्यमें व्यग्र रहती थी। मैं कौन हूँ और यह संसार कहां तक सच्चा है? इस बातका कभी स्वप्नमें भी मैने विचार नहीं किया था। मेरे पतिदेव भी मेरी नाई घरमें अत्यन्त आसक्त थे, उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हुई थी, वे कोरे श्रोत्रिय थे। मै समिध, शाक और कण्डोंके संग्रहमें नित्य दत्तचित्त रहती थी। मेरा शिराओंसे (नसोंसे) भरा दुबला-पतला

नीलनीरतरङ्गान्ततृणतर्पिततर्णिका ।
प्रतिक्षणं गृहद्वारकृतलेपनवर्णका ॥१३॥
नीत्यर्थं गृहभृत्यानामादीनकृतवाच्यता ।
मर्यादानियमादब्धेर्वेलेवाऽनिशमच्युता ॥१४॥
जीर्णपर्णसवर्णैककर्णदोलाधिरूढया ।
काष्ठताड्यजराभीतजीववृत्त्येव चिह्निता ॥१५॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा सञ्चरन्ती सा शिखरिग्रामकोटरे ।
सञ्चरन्त्या सरस्वत्या दर्शयामास सस्मयम् ॥१६॥

शरीर मैले कम्बलसे ढका रहता था। मैं कभी बछियाकी कनपटीके कीड़े निकालनेमें तत्पर रहती तो कभी घरके पासके शाकके खेतोंको सींचनेके लिए सींचनेवाले नौकरोंको पुकारती थी, कभी जलकी लहरोंकी अन्तिम सीमारूप तटोंमें उगे हुए हरी-हरी घासके तिनकोंसे बछियोंकी तृप्ति करती थी। प्रतिक्षण घरके दरवाजेपर लेपन और ऐपन दिया करती थी॥ ५-१३॥

घरके नौकर-चाकरोंको विनय, सदाचार आदि सिखलानेके लिए कुछ दीनता-के साथ 'ऐसे लोगोंके घरमें इस तरहके अविनीत नौकर-चाकर कैसे रहते हैं' ऐसा लोग कहेंगे, यों जन-निन्दाका दिग्दर्शन कराया करती थी। मर्यादाके नियमरूप समुद्रकी वेलासदृश मैं स्वयं कभी भी अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट नहीं होती थी, यों अपने चरित्रसे भी उन्हें शिक्षा दिया करती थी॥ १४॥

ब्राह्मणीजन्ममें इस तरह चिरकालसे कार्यमें व्यापृत लीलाकी बुढ़ापेके आक्रमणसे कानमें बहिरापन, शिरःकम्पन, कूबड़ापन, लाठी लेकर चलनेकी नौबत आनेपर जो दशा हुई, उसका वह वर्णन करती है—'जीर्ण०' इत्यादिसे।

मैं यहांपर पुराने पत्तेके समान वर्णवाले शरीरका जो एक कान, शिरके कम्पनसे झूलनेके कारण, वही ठहरा झूला, उसमें चढ़ी हुई-सी, टेकनेकी लट्ठीके उठानेपर उससे ताड़न करनेके योग्य-सी, बुढ़ापेसे भयभीत-सी, अन्तिम जीवन-वृत्तिसे चिह्नित-सी हुई॥ १५॥

श्रीवसिष्ठने कहा—यह कहकर पर्वतग्रामके मध्यमें भ्रमण कर रही लीलाने घूम रही सरस्वती देवीको विस्मय पूर्वक दिखलाया—

इयं मे पाटलाखण्डमण्डितापुष्पवाटिका ।
इयं मे पुष्पितोद्यानमण्डपाशोकवाटिका ॥१७॥
इयं पुष्करिणी तीरद्रुमग्रन्थिततर्णका ।
इयं सा कर्णिकानाम्नी तर्णिका मुक्तपर्णिका ॥१८॥
इयं सा मेऽलसाकीर्णा वराकी जलहारिका ।
अद्याऽष्टमं दिनं बाष्पक्लिन्नाक्षी परिरोदिति ॥१९॥
इह देवि मया भुक्तमिहोषितमिह स्थितं ।
इह सुप्तमिहाऽऽपीतमिह दत्तमिहाऽऽहृतं ॥२०॥
एष मे ज्येष्ठशर्माख्यः पुत्रो रोदिति मन्दिरे ।
एषा मे जङ्गले धेनुर्दोग्ध्री चरति शाद्वलम् ॥२१॥
गृहे वसन्तदाहाय रूक्षक्षारविधूसरम् ।
स्वदेहमिव पञ्चाक्षं पश्येमं प्रघणं मम ॥२२॥
तुम्बीलताभिरुग्राभिः पुष्टाभिरिव वेष्टितं ।
महानसस्थानमिदं मम देहमिवाऽपरम् ॥२३॥

हे देवि, पाटल वृक्षोंसे अत्यन्त सुशोभित यह मेरी पुष्पवाटिका है । यह मेरी उद्यानमण्डपकी अशोकवाटिका खिली हुई है। यह पोखरा है, जिसके तटके पेड़ोंमें बछड़े बँधे हैं । यह कर्णिका नामकी मेरी बछिया है, इसने मेरे वियोगदुःखसे घास छोड़ दी है । यह बेचारी मेरी पनहारिन है, मेरे वियोग-दुःखसे इसे अपना काम करनेकी फुरती नहीं है, यह धूलिसे पूर्ण है । आज पूरे आठ दिन हो गये हैं, इसकी आँखका पानी नहीं सूखा, बेचारी लगातार रोती है॥ १६–१९ ॥

हे देवि, यहांपर मैंने भोजन किया । यहांपर निवास किया, यहांपर मैं बैठी, यहां सोई, यहां जल पिया, यहां दिया और यहां फल, अन्न आदि लाई । यह मेरा ज्येष्ठशर्मा नामका पुत्र घरमें रो रहा है। यह मेरी दुधार गऊ जंगलमें हरी घास चर रही है । वसन्तके आरम्भमें होली जलानेके लिए बनाया गया, भस्मसे विधूसर, पांच खिड़कियोंवाला यह वरामदा पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त मेरी देहके समान मेरा प्रिय है, इसे देखो । मानो स्वयं चढ़ाकर पाली हुई तितलौकी-की लताओंसे छतमें वेष्टित बड़ी बड़ी नसोंसे वेष्टित मेरे शरीरके सदृश यह रसोई घर है ॥ २०–२३ ॥

एते रोदनताम्राक्षा बन्धवो भुवि बन्धनम् ।
अङ्गदार्पितरुद्राक्षा आहरन्त्यनलेन्धनम् ॥ २४ ॥
अनारतं शिलाकच्छे गुच्छाच्छोटनकारिभिः ।
तरङ्गैः स्थगिताकारं स्पृष्टतीरलतादलैः ॥ २५ ॥
सीकराकीर्णपर्यन्तशाद्वलस्थलसल्लतैः ।
शिलाफलहकास्फालफेनिलोत्पलसीकरैः ॥ २६ ॥
तुषारीकृतमध्याह्नदिवाकरकरोत्करैः ।
फुल्लपुष्पोत्करासारप्रणादोत्कतटद्रुमैः ॥ २७ ॥
विद्रुमैरिव संक्रान्तफुल्लकिंशुककान्तिभिः ।
व्याप्तया पुष्पराशीनां समुल्लासनकारिभिः ॥ २८ ॥
उह्यमानफलापूरसुव्यग्रग्रामबालया ।
महाकलकलावर्त्तमत्तया ग्रामकुल्यया ॥ २९ ॥
वेष्टितस्तरलास्फालजलधौततलोपलः ।
घनपत्रतरुच्छन्नच्छायासततशीतलः ॥ ३० ॥

संसारमें मेरे बन्धनरूप-से बन्धुबान्धव, अग्नि और काष्ठ ला रहे हैं, सदा रोनेके कारण इन बेचारोंकी आँखें लाल हो गई हैं और बाजूबन्दोंमें ये रुद्राक्ष धारण किये हैं ॥ २४ ॥

यह गृहमण्डप दिखाई देता है, जो कि शिलामय तटभूमिमें फूलोंके गुच्छोंको सदा टक्कर देनेवाली, तटवर्ती लताओंके पत्तोंको छूनेवाली, आस पासके हरे मैदानों तथा सुन्दर लताओंको सीकरोंसे व्याप्त करनेवाली एवं शिलापर टक्कर लगनेसे फेनयुक्त और नीलकमलके गन्धसे सुवासित जलकणोंसे पूर्ण लहरोंसे ढका हुआ है, मध्याह्नके सूर्यकी किरणराशियोंको भी बर्फके सदृश शीतल करनेवाले, फूले हुए फूलोंकी राशिपर मँडरानेवाले भ्रमरोंके गुंजारसे उत्कण्ठित ऐसे बीच बीचमें संनिविष्ट फूले हुए पलाशवृक्षोंकी छविसे युक्त अतएव मूंगोंके वृक्षोंके तुल्य प्रतीत होनेवाले एवं पुष्पराशिका विकास करनेवाले तटवर्ती वृक्षोंसे व्याप्त ग्रामीण नहरसे, जिसमें प्रवाहमें बह रहे आम आदि फलोंको लेनेमें ग्रामीण लड़कियाँ अतिव्यग्र हैं, जो प्रचुर कलकल-शब्द करनेवाली जलभौंरियोंसे मदमत्त-सी प्रतीत होती है, घिरा हुआ है, बड़ी तेजीसे बहनेवाले जलसे जिसके पत्थर धुले हुए हैं, सघन पत्तेवाले वृक्षोंकी निविड़ छायासे

अयमालक्ष्यते फुल्ललतावलनसुन्दरः ।
दलद्गुलुच्छकाच्छन्नगवाक्षो गृहमण्डपः ॥ ३१ ॥
अत्र मे संस्थितो भर्ता जीवाकाशतयाऽऽकृतिः ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तमेखलाया भुवः पतिः ॥ ३२ ॥
आ स्मृतं पूर्वमेतेन किलाऽऽसीदभिवाञ्छितम् ।
शीघ्रं स्यामेव राजेति तीव्रसंवेगधर्मिणा ॥ ३३ ॥
दिनैरष्टभिरेवाऽसौ तेन राज्यं समृद्धिमत् ।
चिरकालप्रत्ययदं प्राप्तवान् परमेश्वरि ॥ ३४ ॥
अत्राऽसौ भर्तृजीवो मे स्थितो व्योम्नि गृहे नृपः ।
अदृश्यः खे यथा वायुरामोदो वाऽनिले यथा ॥ ३५ ॥
इहैवाऽङ्गुष्ठमात्रान्ते तव्द्योम्न्येव पदं स्थितम् ।
मद्भर्तृराज्यं समवगतं योजनकोटिभाक् ॥ ३६ ॥
आवां खमेव खस्थं च भर्तृराज्यं ममेश्वरि ।
पूर्णं सहस्रैः शैलानां महामायेयमातता ॥ ३७ ॥

जो सदा शीतल है, फूली हुई लताओंके परिवेष्टनसे बड़ा भला प्रतीत होता है और खिल रही गुलुच्छलतासे जिसकी खिड़कियाँ आच्छन्न हैं ॥ २५–३१ ॥

इसमें मेरे पतिदेव जीवाकाश होनेके कारण निष्क्रिय होते हुए भी चार-सागरपर्यन्त पृथिवीके स्वामी बन कर रहते थे। हाँ, मुझे स्मरण हुआ कि दृढ़ संकल्पवाले इन्होंने पहले मैं शीघ्र ही राजा होऊँ, ऐसी अभिलाषा की थी, इसलिए हे देवी, आठ ही दिनोंमें इन्होंने समृद्धिशाली राज्य प्राप्त किया, जो कि चिरकालकी प्रतीति देनेवाला था ॥ ३२–३४ ॥

जैसे आकाशमें वायु अदृश्य होकर रहता है और जैसे वायुमें सुगन्धि अदृश्य होकर रहती है वैसे ही इस घरके आकाशमें यह मेरे पतिका जीव राजा रहता है ॥ ३५ ॥

यहीं अङ्गुष्ठमात्र गृहाकाशमें ही स्थित परमार्थ वस्तुको (परब्रह्मको) भ्रमसे मैंने करोड़ो योजन विस्तृत मेरे पतिका राज्य समझा ॥ ३६ ॥

हे देवी, हम दोनों चिदाकाश ही हैं, मेरे पतिदेवका राज्य जो कि हजारों पहाड़ोंसे पूर्ण है, आकाशमें स्थित है, यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है ॥ ३७ ॥

तद्देवि भर्तृनगरं पुनर्गन्तुं ममेप्सितम् ।
तदेहि तत्र गच्छावः किं दूरं व्यवसायिनाम् ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा प्रणता देवीं सा प्रविश्याऽऽशु मण्डपं ।
विहङ्गीव तया साकं पुप्लुवेऽसिनिभं नभः ॥ ३९ ॥
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं सौम्यैकार्णवसुन्दरं ।
नारायणाङ्गसदृशं भृङ्गपृष्ठामलच्छवि ॥ ४० ॥
मेघमार्गमतिक्रम्य वातस्कन्धवनिं तथा ।
सौरमार्गमथाऽऽक्रम्य चन्द्रमार्गमतीत्य च ॥ ४१ ॥
ध्रुवमार्गोत्तरं गत्वा साध्यानां मार्गमेत्य च ।
सिद्धानां समतीत्योर्वीमुल्लङ्घ्य स्वर्गमण्डलं ॥ ४२ ॥
ब्रह्मलोकोत्तरं गत्वा तुषितानां च मण्डलम् ।
गोलोकं शिवलोकं च पितृलोकमतीत्य च ॥ ४३ ॥
विदेहानां सदेहानां लोकमुत्तीर्य दूरगम् ।
दूराद् दूरमथो गत्वा किंचिद्बुद्धा बभूव सा ॥ ४४ ॥

हे देवि, पतिके नगरमें पुनः जानेकी मेरी इच्छा है, इसलिए आइये वहां चलें। उद्योगियोंके लिए क्या दूर है? ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, देवीसे यह कहकर नतमस्तक हुई लीला झटपट गृहमण्डपमें प्रवेशकर देवीके साथ चिड़ियाकी नाईं तलवारके तुल्य नीले आकाशमें उड़ी। पीसे हुए अञ्जनके ढेरके सदृश श्याम, निश्चल सागरके समान मनोहर, भगवान् श्रीविष्णुकी अङ्गकान्तिके तुल्य श्यामल, भँवरेकी पीठके सदृश निर्मल कान्तिवाले आकाशको लाँघकर, प्रवह, आवह आदि उनचास वायुओंके लोकको अतिक्रान्त कर, तदनन्तर सूर्यमार्ग और चन्द्रमार्गका उल्लङ्घन कर, ध्रुवलोकके ऊपर पहुँचकर, साध्योंके लोकमें जाकर, सिद्धोंके लोकको लाँघकर, स्वर्गमण्डलसे ऊपर चढ़कर, ब्रह्मलोकमें जाकर तुषितों (नित्यसन्तुष्टों) के लोकमें (वैकुण्ठमें) पहुँचकर, तदनन्तर क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोकका अतिक्रमण कर, विदेह और सदेह मुक्तोंके अतिदूरवर्ती लोकको पार कर अत्यन्त दूर जाकर लीला कुछ प्रबुद्ध हुई ॥३९–४४॥

पश्चादालोकयामास समतीतं नभस्थलम् ।
यावन्न किञ्चिचन्द्रार्कताराद्यालक्ष्यते ह्यधः ॥ ४५ ॥
तमस्तिमितगम्भीरमाशाकुहरपूरकम् ।
एकार्णवोदरप्रख्यं शिलोदरघनं स्थितम् ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

तद्देवि भास्करादीनां क्वाऽधस्तेजो गतं वद ।
शिलाजठरनिष्पन्दं मुष्टिग्राह्यं तमः कुतः ॥ ४७ ॥

श्रीदेव्युवाच

एतावतीमिमां व्योम्नः पदवीमागताऽसि भोः ।
अर्कादीन्यपि तेजांसि यतो दृश्यन्त एव नो ॥ ४८ ॥
यथा महान्धकूपाधः खद्योतो नाऽवलोक्यते ।
पृष्ठगेन तथेहाऽतो नाऽधः सूर्योऽवलोक्यते ॥ ४९ ॥

लीलोवाच

अहो नु पदवीं दूरमावामेतामुपागते ।
सूर्योऽप्यधोऽणुकणवन्न मनागपि लक्ष्यते ॥ ५० ॥

दूर जाकर जब नीचे चन्द्रमा, तारा आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते थे, दिशारूपी गर्तोंको भरनेवाला एकमात्र सागरके सदृश, पत्थरके मध्यभागके समान ठोस, निश्चल और गम्भीर अन्धकार ही अन्धकार था, तब उसने पीछे अतीत आकाशस्थलको देखा ॥ ४५,४६ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, सूर्य आदिका तेज नीचे कहाँ चला गया, पत्थरके मध्यभागके समान निविड़ अतएव मुट्ठिमें लेने योग्य यह अन्धकार कहाँसे आ गया है ? कृपया यह मुझसे कहिये ॥४७॥

श्रीदेवीने कहा—भद्रे, तुम इतने दूर आकाशमार्गमें आ गई हो, जहाँसे सूर्य आदि तेज नहीं ही दिखाई देते हैं। जैसे बड़े भारी अन्धे कुएँके नीचे विद्यमान जुगनूँ बहुत दूर ऊपर बैठे हुए पुरुष को नहीं दिखाई देता है वैसे ही यहाँसे बहुत नीचे स्थित सूर्य भी नहीं दिखाई देता ॥४८,४९॥

लीलाने कहा—देवीजी, ओ हो ! क्या हम लोग इतने दूर मार्गमें आ गये हैं, जिससे सूर्यतक परमाणुके समान नीचे तनिक भी नहीं दिखाई देता है ॥५०॥

इत उत्तरमन्या स्यात् पदवी का नु कीदृशी ।
कथं च मातरेतव्या कथ्यतामिति देवि मे ॥ ५१ ॥

श्रीदेव्युवाच

इत उत्तरमग्रे ते ब्रह्माण्डपुटकर्परम् ।
यस्य चन्द्राद्यो नाम धूलिलेशाः समुत्थिताः ॥ ५२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रकथयन्त्यौ ते प्राप्ते ब्रह्माण्डकर्परम् ।
भ्रमर्याविव शैलस्य कुड्यं निविडमण्डपम् ॥ ५३ ॥
अक्लेशेनैव ते तस्मान्निर्गते गगनादिव ।
निश्चयस्थं हि यद्वस्तु तद्वज्रगुरु नेतरत् ॥ ५४ ॥
निरावरणविज्ञाना सा ददर्श ततस्ततम् ।
जलाद्यावरणं पारे ब्रह्माण्डस्याऽतिभासुरम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्माण्डाद्दशगुणतस्तोयं तत्र व्यवस्थितं ।
आस्थितं वेष्टयित्वा तु त्वगिवाऽक्षोटपृष्ठगा ॥ ५६ ॥

माँ, इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? हे देवि, यह सब आप मुझसे कहिये ॥५१॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, इसके बाद आगे ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरके कपालमें तुमको जाना है, चन्द्रमा आदि जिस ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरके कपालके धूलिकण-से उत्पन्न हुए हैं ॥५२॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वतके छिद्ररहित (ठोस) भागको प्राप्त होती हैं, वैसे ही इस प्रकार आपसमें प्रश्नोत्तर कर रहीं वे दोनों ललनाएँ ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले खप्परपर पहुँचीं ॥ ५३ ॥

वे वहाँसे, जैसे कोई आकाशसे निकले वैसे ही अनायास निकलीं। जो वस्तु सत्यताके अध्यवसायमें स्थित हो यानी यह वस्तु सत्य है ऐसे अध्यवसायसे युक्त हो, वह वज्रके समान ठोस होती है और जो उक्त अध्यवसायसे युक्त नहीं है वह मिथ्यात्वबुद्धिसे बाधित हो जाती है। लीलाका विज्ञान आवरणशून्य था, अतएव उसने ब्रह्माण्डसंपुटके ऊपरवाले कपालके बाद ब्रह्माण्डके आर पार अत्यन्त भास्वर जलादि आवरणको व्याप्त देखा ॥५४,५५॥

ब्रह्माण्डसे दसगुना जल वहाँपर है, वह जैसे अखरोटके ऊपर उसका बाहरी

तस्माद्दशगुणो वह्निस्तस्माद्दशगुणोऽनिलः ।
ततो दशगुणं व्योम ततः परममम्बरम् ॥ ५७ ॥
तस्मिन् परमके व्योम्नि मध्याद्यन्तविकल्पनाः ।
न काश्चन समुद्यन्ति वन्ध्यापुत्रकथा इव ॥ ५८ ॥
केवलं विततं शान्तं तदनादि गतभ्रमम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं महत्यात्मनि तिष्ठति ॥ ५९ ॥
आकल्पमुत्तमबलेन शिला पतेच्चेत्
तस्मिन्बलात् पतगराडपि चोत्पतेच्चेत् ।
तद्योजनं न लभते विमलेऽम्बरेऽन्त-
र्माकल्पमेकजवगोऽप्यथ मारुतोऽपि ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमाकाशवर्णनं नाम एकोनत्रिंशशः सर्गः ॥ २९ ॥

छिलका उसे व्याप्त करके रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्डको व्याप्त करके स्थित है । उसके बाद उससे दसगुनी अग्नि है, उसके बाद उससे दसगुना वायु था, उसके अनन्तर उससे दसगुना आकाश है तदनन्तर शुद्ध चिदाकाश है ॥५६,५७॥

उस परमाकाशमें वन्ध्यापुत्रके वृत्तान्तोंकी नाईं, आदि, मध्य और अन्तकी कल्पनाएँ कुछ भी उदित नहीं होतीं यानी वह अपरिच्छिन्न है । वह अद्वितीय, असीम, शान्त, कारणरहित, भ्रमशून्य, आदि, अन्त और मध्यरहित है एवं अपनी महिमामें स्थित है ॥५८,५९॥

यदि उस निर्मल चिदाकाशमें कल्पपर्यन्त बड़े भारी वेगसे ऊपरसे पत्थर नीचेको गिरे और नीचेसे गरुड़ ऊपरको बड़े वेगसे कल्पपर्यन्त उड़े और उनके बीचमें उनका संन्धान करनेमें समर्थ वायु एकवेगसे दाएँ-बाएँ दोनों ओरसे बहे, तो वह भी उनसे मिल नहीं सकता फिर चारों ओरसे उसके अन्त पानेकी तो बात ही क्या है ? वह चारों ओरसे असीम और अपरिच्छिन्न है ॥६०॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

पृथिव्यप्तेजसां तत्र नभस्वन्नभसोरपि ।
यथोत्तरं दशगुणानतीत्याऽऽवरणान् क्षणात् ॥ १ ॥
ददर्श परमाकाशं तत्प्रमाणविवर्जितं ।
तथा ततं जगदिदं यथा तत्राण्डमात्रकं ॥ २ ॥
तादृशावरणान्सर्गान् ब्रह्माण्डेषु ददर्श सा ।
कोटिशः स्फुरितान् व्योम्नि त्रसरेणूनिवाऽऽतपे ॥ ३ ॥
महाकाशमहाम्भोधौ महाशून्यत्ववारिणि ।
महाचिद्द्रवभावोत्थान् बुद्बुदानर्बुदप्रभान् ॥ ४ ॥
कांश्चिदापततोऽधस्तात् कांश्चिचोपरि गच्छतः ।
कांश्चित्तिर्यग्गतीनन्यान् स्थितांस्तब्धान् स्वसंविदा ॥ ५ ॥

तीसवाँ सर्ग

[जैसे ब्रह्माण्डका पहले वर्णन किया गया है वैसे ही और उसी प्रकारके विचित्र करोड़ों ब्रह्माण्डोंको चिदाकाशमें परमाणुके तुल्य लीलाने देखा इसका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाशके उत्तरोत्तर दसगुने बड़े आवरणोंको एक क्षणमें लाँघकर लीलाने पूर्वोक्त परिमाणरहित अविद्याशबलित चिदाकाश देखा, उक्त आकाशमें जैसे यह ब्रह्माण्डरूप जगत् विस्तृत है वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंको भी उसने विस्तृत देखा ॥ १–२ ॥

जैसे आकाशमें, धूपमें, करोड़ों त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही लीलाने सब ब्रह्माण्डोंमें वैसे आवरणवाली करोड़ों सृष्टियोंको, जो कि स्वप्रकाश अधिष्ठान चैतन्यसे भासित थीं, देखा ॥३॥

अविद्यारूप जलसे परिपूर्ण महाकाशरूपी महासागरमें महाचैतन्यके स्फुरण-रूप द्रवीभावसे उत्पन्न असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्बुदोंको लीलाने देखा ॥ ३, ४ ॥

इस प्रकारके हजारों करोड़ ब्रह्माण्ड हैं, क्योंकि प्रधान यानी अधिष्ठान चैतन्य सर्वगामी है, इसलिए वे तिरछे, ऊपर, नीचे, सब जगह स्थित हैं, इस पुराणवचनके अनुसार कहते हैं—**'कांश्चिदा०'** इत्यादिसे ।

यत्र यत्रोदिता संविद्येषां येषां यथा यथा ।
तत्र तत्रोदितं रूपं तेषां तेषां तथा तथा ॥ ६ ॥
नेहैव तत्र नामोर्ध्वं नाऽधो न च गमागमाः ।
अन्यदेव पदं किञ्चित्तस्मादेहागमं हि तत् ॥ ७ ॥
उत्पद्योत्पद्यते तत्र स्वयं संवित्स्वभावतः ।
स्वसङ्कल्पैः शमं याति बालसङ्कल्पजालवत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

किमधः स्यात् किमूर्ध्वं स्यात् किंतिर्यक् तत्र भासुरे ।
इति ब्रूहि मम ब्रह्मन्निहैव यदि न स्थितं ॥ ९ ॥

उसने तत्-तत् ब्रह्माण्डोंके अभिमानी जीवोंके ज्ञानानुसार उनमें से कुछको नीचे गिरते हुए, कुछको ऊपर उड़ते हुए, कुछको तिरछे चलते हुए और कुछको निश्चलरूपसे स्थित देखा। जिन-जिनकी जहां-जहांपर जैसी भावना हुई, उन-उनकी दृष्टिमें वहां-वहांपर वैसा-वैसा रूप उदित हुआ। यह अनुभव करनेवालोंकी दृष्टिसे कहा गया है, वास्तवमें चिदाकाशमें और ब्रह्माण्डमें भी कुछ नहीं है, न तो ऊपरका प्रदेश है, न नीचेका प्रदेश है और न ब्रह्माण्डोंके गमन-आगमन ही हैं, किन्तु वाणी और मनका अगोचर दिग्विभाग आदि सब द्वैतोंसे रहित दूसरी ही वस्तु है, इसलिए जो ब्रह्माण्डोंका वर्णन किया है, वह अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिके अभिप्रायसे किया है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ५–७ ॥

स्वयं संवित् ही अविद्यासे उत्पन्न अपने संकल्पोंसे, बालकोंके संकल्पोंकी नाईं उत्पन्न-सी होती है और उत्पन्न होकर शान्त-सी होती है ॥ ८ ॥

यदि अधिष्ठानतत्त्वमें दिग्विभाग नहीं है, तो अध्यस्तमें भी नहीं होगा, क्योंकि अध्यस्त केवल अधिष्ठान-दिशामें स्थित रहता है, ऐसा नियम है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**किमधः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यदि अधिष्ठानतत्त्वमें ही पहले ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् नहीं था, तो कल्पना द्वारा प्रतीत हो रहे जगत्में क्या नीचे होगा, क्या ऊपर होगा और क्या तिरछा होगा अर्थात् अधिष्ठानमें कल्पित जगत्में अधः, ऊर्ध्व और तिर्यक्का संभव कैसे है ? ब्रह्मन्, यह आप कृपापूर्वक मुझे समझाइये ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा ॥ १० ॥
अस्वातन्त्र्यात् प्रधावन्ति पदार्थाः सर्व एव यत् ।
ब्रह्माण्डे पार्थिवो भागस्तदधस्तूर्ध्वमन्यथा ॥ ११ ॥

यह जगत् मायिक है, अतः मायिक प्रपञ्चमें इस प्रकारके नियमका व्यभिचार दोषावह नहीं है, इस अभिप्रायसे पहले श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'ससर्वा०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसे आकाशमें भ्रमवश केशोंका कुण्डलाकार गोला दिखलाई पड़ता है वैसे ही अज्ञानसे दूषित दृष्टिवाले पुरुषको असीम महान् चिदाकाशमें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

अथवा सब वस्तुएँ ईश्वरेच्छाधीन हैं, इसलिए पूर्वोक्त नियमका उल्लङ्घन दोषाधायक नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'अस्वातन्त्र्यात्' इत्यादिसे ।

अस्वतन्त्र होनेके कारण सभी पदार्थ वेगसे इधर-उधर भाग रहे हैं । उनमें परस्पर आकर्षण होनेके कारण वे गिरते नहीं हैं । भाव यह है कि जैसे कदम्बके फूलके केसरोंकी आधारभूत जो कर्णिका है, उसकी अपेक्षासे ही उनके मूलदेशकी कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डोंमें जितने पदार्थ हैं, उन सबकी पृथिवी मूलदेश मानी जाती है । यहांपर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि वास्तविक अधोदेशका अस्तित्व न होनेसे फलकी डंठीसे गिरे हुए फलके गुरु (वजनदार) होनेसे नीचे गिरनेमें कोई हेतु नहीं होगा, क्योंकि गुरुत्व विषयोंका कोई अन्य गुण नहीं है, जैसे विषयोंमें अपनी-अपनी इन्द्रियकी आकर्षणशक्ति है, वैसे ही पृथिवी आदिकी अपने अंशोंसे आकर्षणशक्ति ही गुरुत्व है । अतएव बाह्य दिग्विभाग न होनेके कारण अत्यन्त गुरुतम ब्रह्माण्ड नहीं गिरते हैं और न उनके आवरणभूत जल आदिसे उनका विश्लेषण ही होता है । इसलिए अधिष्ठान चैतन्यमें दिग् विभागकी आवश्यकता ही नहीं है, इस आशयसे दूसरा समाधान करते हैं—'ब्रह्माण्डे' इत्यादिसे । ब्रह्माण्डमें महापृथिवीरूप जो ब्रह्माण्डका भाग है वह सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंके नीचे है और उससे अन्य आकाशभाग ऊपर है, ऐसी कल्पना है ॥ ११ ॥

पिपीलिकानां महतां व्योम्नि वर्त्तुललोष्ठके ।
दशदिक्कमधः पादाः पृष्ठमूर्ध्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
वृक्षवल्मीकजालेन केषाञ्चिद्ध्वदि भूतलम् ।
ससुरानरदैत्येन वेष्टितं व्योम निर्मलम् ॥ १३ ॥
संभूतं सह भूतेन सग्रामपुरपर्वतम् ।
इदं कल्पनभूतेन पक्काक्षोटमिव त्वचा ॥ १४ ॥
यथा विन्ध्यवनाभोगे प्रस्फुरन्ति करणेवः ।
तथा तस्मिन् पराभोगे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ॥ १५ ॥
तस्मिन् सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
तच्च सर्वमयो नित्यं तथा तदणुकं प्रति ॥ १६ ॥

यह प्रकार ज्योतिश्चक्रके आधारभूत खगोलसे भूगोलको चारोंसे वेष्टित माननेवाले ज्योतिषशास्त्रकारोंको भी मान्य है, यह दर्शानेके लिए उनके द्वारा उदाहृत दृष्टान्त कहते हैं—**'पिपीलिकानाम्'** इत्यादिसे ।

जैसे गोल पत्थर या ढेलेमें चींटियाँ चिपकी रहती हैं, जिस ओर चींटियोंके पैर होते हैं वह नीचेका भाग है और जिधर पीठ रहती है वह ऊपरका भाग है, वैसे ही दसों दिशाओंमें संलग्न लोगोंके पैर नीचेको ही होते हैं और पीठ ऊपरको होती है, यह सब सूर्यसिद्धान्तमें कहा गया है ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काका समाधान कर प्रस्तुत ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—**'वृक्ष०'** इत्यादिसे ।

किन्हीं ब्रह्माण्डोंके अन्दरकी भूमि वृक्षों और बामियोंसे व्याप्त है । उनमें मनुष्योंका नाम-निशान नहीं है और निर्मल आकाश देवताओं, नरभिन्न और नरतुल किंपुरुषों और दैत्योंसे आक्रान्त है । जैसे पका हुआ अखरोटका फल त्वचासे (छालसे) वेष्टित रहता है वैसे ही कुछ ब्रह्माण्ड तुरन्त कल्पनात्मक चार प्रकारके प्राणियोंके साथ ही ग्राम, नगर, पर्वतोंसे युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं ॥ १३,१४ ॥

जैसे विन्ध्याचलके विशाल वनमें हाथी पैदा होते हैं, वैसे ही परमात्माके मायाशबल स्थानमें ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

जैसे ब्रह्माण्ड चिदाकाशके सामने अणुवत् सूक्ष्म है वैसे ही किसी दूसरे पदार्थके सामने चिदाकाश भी क्यों न परमाणुतुल्य सूक्ष्म हो ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'तस्मिन्'** इत्यादिसे ।

शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः ॥ १७ ॥
अन्तःशून्याः स्थिताः केचित् सङ्कल्पक्षयरात्रयः ।
तरङ्गा इव तोयेऽब्धौ प्रोह्यन्ते शून्यतार्णवे ॥ १८ ॥
केषाचिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः ।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः ॥ १९ ॥
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोशेऽङ्कुरकला यथा ॥ २० ॥

स्थितिकालमें सम्पूर्ण पदार्थ चिदाकाशमें रहते हैं, सृष्टिकालमें उससे उत्पन्न होते हैं, प्रलयमें सब उसीमें लीन हो जाते हैं, ऐसी परिस्थितिमें सब दिशाओंमें सब कालोंमें और सब वस्तुओंमें वही है, उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य सर्वमय आत्मा है, इस प्रकारका वह किसके प्रति अणु होगा ? किसीके प्रति भी वह अणु नहीं हो सकता है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

शुद्ध बोधरूप तथा परम प्रकाशके सागर चिदाकाशमें ब्रह्माण्डनामक लहरें नित्य उठकर विलीन होती हैं ॥ १७ ॥

उनमें कुछ ब्रह्माण्ड अव्याकृत ही भीतर हैं, ऐसा कहते हैं—'अन्तः' इत्यादिसे ।

पूर्व कल्पके सम्पूर्ण सङ्कल्पोंके बीज लिङ्गरूप उपाधिका क्षय होनेपर अन्धकारस्वरूप रात्रियोंके समान अव्याकृत कुछ ब्रह्माण्ड भीतर स्थित हैं । जलमें तरङ्गोंकी नाईं शून्यतारूप सागरमें उनकी प्रकर्षसे तर्कना होती है। 'कैसे असत्से सत् उत्पन्न होगा।' इत्यर्थक श्रुतिमें उक्त युक्तिसे वे हैं, ऐसी तर्कना की जाती है, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

किन्हीं ब्रह्माण्डोंके भीतर प्रलयमें समाप्त होनेवाला घर-घर शब्द प्रवृत्त है, स्वाभाविक अज्ञानसे विषयोंमें प्रीतिसे व्याकुल हुए अन्य लोगोंने न उसे कभी सुना और न जाना ही, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञानसे विषयोंमें जो प्रीति होती है उससे आकुल हैं ॥ १९ ॥

अन्य ब्रह्माण्डोंमें प्राथमिक कल्प, युग आदिके आरम्भमें प्रथम उत्पन्न प्राणियों द्वारा दूषित न होनेके कारण शुद्ध भुवनोंमें जैसे जलसे सींचे हुए बीजोंके कोषमें सफेद अङ्कुर निकलता है वैसे ही सृष्टि होती है ॥ २० ॥

महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्याचिर्विद्युतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥ २१ ॥
आकल्पं निपतन्त्येव केचिदप्राप्तभूमयः ।
यावद्विशीर्य जायन्ते तथा संविन्मयाः किल ॥ २२ ॥
स्तब्धा इव स्थिताः केचित् केशोण्डूकमिवाऽम्बरे ।
वायोः स्पन्दा इवाऽऽभान्ति तथा प्रोदितसंविदः ॥ २३ ॥
आचाराद्वेदशास्त्राणामाद्य एवाऽन्यथोदिते ।
आरम्भोऽपि तथाऽन्येषामनित्यः संस्थितः क्रमः ॥ २४ ॥

किन्हीं ब्रह्माण्डोंमें महाप्रलयकी प्राप्ति होनेपर जैसे सन्ताप लगनेसे हिमकण गलते हैं, वैसे ही सूर्य, वह्नि और बिजलियाँ पहले भुवनोंको जलाकर स्वयं गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्ड आधार भूमिको न पाकर कल्पपर्यन्त गिरते ही रहते हैं, जबतक कि बिलकुल चूरचूर होकर फिर न पैदा हों ॥ २१,२२ ॥

शङ्का—पहले आप ब्रह्माण्डोंके पतनका असम्भव कह चुके हैं, उसकी क्या गति होगी ?

समाधान—वे ब्रह्माण्डपतन संविन्मय हैं। ऐसे ब्रह्माण्डोंमें पतनका कोई विरोध नहीं है। कुछ ब्रह्माण्ड आकाशमें केशोंके गोलेकी नाईं निश्चलसे स्थित हैं और स्पन्दात्मक वासनासे उत्पन्न हुए कुछ ब्रह्माण्ड वायुके स्पन्दनकी नाईं प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ब्रह्माने पूर्व सृष्टिके अनुसार ही ब्रह्माण्डोंकी रचना की) यह श्रुति सम्पूर्ण सृष्टियोंकी एकरूपताका वर्णन करती है, उससे विरुद्ध सृष्टियोंकी विलक्षणताका प्रतिपादन कैसे करते हैं ? इसपर कहते हैं—'आचाराद्' इत्यादिसे ।

उक्त श्रुति पूर्व कल्पमें जैसी ब्रह्माकी सृष्टि थी वैसी ही दूसरी, तीसरी आदि सृष्टियाँ होती हैं, ऐसा प्रतिपादन करती है। वेद-शास्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले पूर्व जन्मके कर्म-ज्ञानके अनुष्ठानरूप सदाचारसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्माका पहलेकी सृष्टिके अन्य सृष्टिकर्ताओंकी सृष्टिसे विलक्षणरूपसे उदित होनेपर आगेके कल्पोंकी सृष्टियोंका आरम्भ भी पूर्वकी नाईं हो, लेकिन अन्य सृष्टिकर्ताओंका सृष्टिकी अपेक्षा इसका क्रम अनियत ही ठहरा। इस प्रकार सृष्टियोंकी विलक्षणता सिद्ध हुई ॥२४॥

केचिद्ब्रह्मादिपुरुषाः केचिद्विष्ण्वादिसर्गपाः ।
केचिच्चाऽन्यप्रजानाथाः केचिन्निर्नाथजन्तवः ॥ २५ ॥
केचिद्विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः ॥ २६ ॥
केचिच्छिलाङ्गनिष्पिण्डाः केचित् कृमिमयान्तराः ।
केचिद्देवमया एव केचिन्नरमयान्तराः ॥ २७ ॥
केचिन्नित्यान्धकाराढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ।
केचिन्नित्यप्रकाशाढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ॥ २८ ॥
केचिन्मशकसम्पूर्णा उदुम्बरफलश्रियः ।
नित्यं शून्यान्तराः केचिच्छून्यस्पन्दात्मजन्तवः ॥ २९ ॥

'परम पिता परमेश्वरको अपनी-अपनी तपस्यासे प्रसन्न कर आपसमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव परस्परसे उत्पन्न होते हैं', इस प्रकार पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी कल्पके भेदसे परस्परसे उत्पत्ति कही गई है। जिस कल्पमें जो उत्पादक होगा, उसकी प्रधानता होनेपर उनके गुणोंके भेदसे कभी सत्त्वगुणकी प्रधानता होगी, कभी रजोगुणकी और कभी तमोगुणकी प्रधानता होगी, यों सत्त्व आदि गुणोंकी प्रधानताके कारण भी सृष्टिमें विचित्रताका होना अनिवार्य है, इस आशयसे कहते हैं—'**केचित्**' इत्यादिसे।

कुछ ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, कुछके विष्णु ही अधिपति हैं, कुछके रुद्र, भैरव, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष हैं, क्योंकि उनके माहात्म्यका वर्णन करनेवाले पुराणोंमें वे भी ब्रह्माके नियन्ता कहे गये हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंमें मृग, पक्षी आदि जन्तु किसीके नियत्रणके बिना ही स्वच्छन्द रहते हैं ॥ २५ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड विचित्र सृष्टि और विचित्र अधिपतिवाले हैं, कुछ ब्रह्माण्ड, प्राणियोंके कर्म और वासनाओंके विलक्षण होनेसे एवं सृष्टिकर्ताओंकी इच्छा और ज्ञानके विचित्र होनेसे, पशु-पक्षियोंसे ही भरे हैं, कुछ ब्रह्माण्ड केवल एकमात्र समुद्रसे भरे हैं, कुछ जीव-जन्तुओंसे शून्य हैं, कुछ ब्रह्माण्ड शिलाके तुल्य निविड़ हैं, कुछके अन्दर कीड़े ही कीड़े हैं, कुछमें देवताओंका ही आवास है और कुछमें मनुष्य ही प्रचुरमात्रामें रहते हैं, कुछ कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकारसे आवृत हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि उल्लुओंका

सर्गेण तादृशेनाऽन्ये पूर्णा येऽन्तर्धियामिह ।
कल्पनामपि नाऽऽयान्ति व्योमपूर्णाचलो यथा ॥ ३० ॥
तादृगम्बरमेतेषां महाकाशं ततं स्थितम् ।
आजीवितं प्रगच्छद्भिर्विष्ण्वाद्यैर्यन्न मीयते ॥ ३१ ॥
प्रत्येकस्याऽण्डगोलस्य स्थितः कटकरत्नवत् ।
भूताकृष्टिकरो भावः पार्थिवः स्वस्वभावतः ॥ ३२ ॥
यः सर्वविभवोऽस्माकं धियां न विषयं ततः ।
तज्जगत्कथने शक्तिर्न ममाऽस्ति महामते ॥ ३३ ॥

अँधेरेमें दर्शनव्यवहार देखा जाता है; कुछ सदा प्रकाशसे पूर्ण हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्ट होते हैं। कुछ गूलरके फलकी तरह मच्छरोंसे परिपूर्ण हैं, कुछ ब्रह्माण्डोंका मध्यभाग सदा शून्य रहता है, कुछके जीव गतिशून्य हैं ॥२६–२९॥

पूर्वोक्त प्रकारकी सृष्टिसे पूर्ण कुछ दूसरे ब्रह्माण्ड आकाशसे पूर्ण पर्वतकी नाईं योगियोंकी सविकल्पकज्ञानविषयताको भी प्राप्त नहीं होते ॥ ३० ॥

आकाशसे पूर्ण पर्वतके समान आकाश शून्यस्वभाव है और महाकाश तो वैसा विस्तृत है कि यदि विष्णु आदि अपनी आयुभर यह कितना बड़ा है, यह जाननेके लिए दौड़ें तो भी उसकी इयत्ता नहीं जान सकते ॥ ३१ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भले ही अनन्त ब्रह्माण्ड हों और वे परस्पर विलक्षण भी हों, लेकिन उनके बाहरस्थित जलादि आवरणका उनको धारण न करनेके कारण उनका विश्लेषण क्यों नहीं होता, ऐसी शङ्का कर पूर्वोक्त आकर्षण-शक्तिका अवलम्बन कर उनका विश्लेषण नहीं होता, ऐसा समाधान करते हैं— **'प्रत्येकस्य'** इत्यादिसे ।

अपने स्वभावसे ही प्रत्येक ब्रह्माण्डगोलककी भूतोंको आकृष्ट करनेवाली एक प्रकारकी शक्ति वलयमें जड़े हुए रत्नके समान चारों ओरसे व्याप्त कर स्थित हैं, इस कारण उनका विश्लेषण नहीं होता ॥ ३२ ॥

अपनी अशक्तिख्यापनके बहाने जगद्विस्तारवर्णनका उपसंहार करते हैं— **'यः'** इत्यादिसे ।

महामते, जगत्के वर्णनके विषयमें हमारी बुद्धिका जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके हैं। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धिका विषय नहीं है। उसके वर्णनमें हमारी शक्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः ।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्तरेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विचित्रब्रह्माण्डकोटिवर्णनं नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमाकलयन्त्यौ ते निर्गत्य जगतो निजात् ।
अन्तःपुरं ददृशतुर्झटित्येव विनिर्गते ॥ १ ॥

मुझमें अन्यान्य जगत्के वर्णनकी शक्ति न होनेसे इतने ही जगत् हैं, ऐसा नहीं सोचना चाहिए किन्तु अन्य लोगों द्वारा अदृष्ट (अज्ञात) अनन्त जगत् हैं, क्योंकि मायामें अनन्त जगतोंकी सृष्टि करनेकी असीम सामर्थ्य है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'भीमा०' इत्यादिसे ।

भीषण अन्धकारसे व्याप्त बड़े भारी अरण्यमें जैसे मदोन्मत्त भूतगण परस्पर एक दूसरेके स्वरूपको देखे बिना नाच करते हैं, वैसे ही अविद्यासे आवृत ब्रह्ममें बहुतसे महाजगत् स्फुरित होते हैं ॥ ३४ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकतीसवाँ सर्ग

[फिर लीलाके अन्त.पुरको देखनेकी इच्छा, अन्यान्य ब्रह्माण्डोंके प्रेक्षण, शूरवीरोंके चिह्नोंसे—कवच, शिरस्त्राण आदिसे—सन्नद्ध सेनाके निरीक्षणका वर्णन]

अपने पूर्वजन्मके संसारसे निकलकर पूर्वोक्त रीतिसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताको देखती हुई वे उनमें से किसी ब्रह्माण्डमें झटपट प्रविष्ट हुई वहां उन्होंने अन्तःपुरको देखा, वहां वे चिरकालतक नहीं रहीं, तुरन्त ही निकल आईं ॥१॥

स्थितं पुष्पभरापूर्णं महाराजमहाशवम् ।
शवपार्श्वोपविष्टान्तश्चित्तलीलाशरीरकम् ॥ २ ॥
घनरात्रितयाऽल्पाल्पमहानिद्राजनाकुलम् ।
धूपचन्दनकर्पूरकुङ्कुमामोदमन्थरम् ॥ ३ ॥
तमालोक्याऽपरं भर्तुः संसारं गन्तुमादृता ।
पपात लीला सङ्कल्पदेहेनाऽत्रैव तन्नभः ॥ ४ ॥
विवेश भर्तुः सङ्कल्पसंसारं किञ्चिदाततम् ।
संसारावरणं भित्वा भित्वा ब्रह्माण्डकर्परम् ॥ ५ ॥
प्राप सार्द्धं तया देव्या पुनरावरणान्वितम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपं स्फारं तं प्रविश्य तथा जवात् ॥ ६ ॥
ददर्श भर्तुः सङ्कल्पजगज्जम्बालपल्वलम् ।
सिंहीव शैलकुहरं तमोजलदपङ्किलम् ॥ ७ ॥
देव्यौ विविशतुस्तत्ते व्योम व्योमात्मिके जगत् ।
ब्रह्माण्डेऽन्तर्यथा पक्वं मृदु बिल्वं पिपीलिके ॥ ८ ॥

उस अन्त पुरमें पुष्पराशिसे परिपूर्ण महाराजका महान् शव रक्खा था, शवके पास समाधिमें आरूढ चित्तवाला लीलाका शरीर बैठा था, शोकके कारण रात्रिके बहुत दीर्घ होनेसे उसमें लोग थोड़ी-थोड़ी सुषुप्तिसे (गाढ़ निद्रासे) युक्त थे, धूप, चन्दन, कपूर और कुङ्कुमकी सुगन्धिसे वह भरा था ॥ २–४ ॥

उसको देखकर पतिके दूसरे संसारको जानेकी लीलाको इच्छा हुई, लीला संकल्पमात्र देहसे अन्तःपुरमें ही स्थित पूर्वोक्त मण्डपाकाशमें पहुँची। संसाररूप आवरणको तोड़कर और ब्रह्माण्डके खप्परको फोड़कर कुछ विस्तृत पतिके संकल्पसंसारमें प्रविष्ट हुई ॥ ४,५ ॥

वह उक्त देवीके साथ फिर आवरणोंसे युक्त विस्तीर्ण ब्रह्माण्डमण्डपमें वेगसे पहुँची और उसमें प्रवेश कर जैसे सिंहिनी अन्धकार और मेघोंसे पङ्कयुक्तकी नाईं स्थित पर्वतकी गुफाको देखती है वैसे ही उसने अपने पतिदेवके सङ्कल्पजगत्को, जो कीचड़से भरी हुई तलैयाके समान था, देखा ॥ ६,७ ॥

चिदाकाशमय उन दोनों देवियोंने ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती शून्यात्मक जगत्में, जैसे दो चींटियाँ पके हुए अतएव कोमल बिल्वफलमें प्रवेश करती हैं, वैसे प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तत्र लोकान्तराण्यद्रीनन्तरिक्षमतीत्य ते ।
प्रापतुर्भूतलं शैलमण्डलाम्भोधिसङ्कुलम् ॥ ९ ॥
मेरुणाऽलङ्कृतं जम्बूद्वीपं नवदलोदरम् ।
गत्वाऽथ भारते वर्षे लीलानाथस्य मण्डलम् ॥ १० ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिन्मण्डले मण्डितावनौ ।
चक्रेऽवस्कन्दनं कश्चित् सामन्तोद्रिक्तभूमिपः ॥ ११ ॥
तेन संग्रामसंरम्भे प्रेक्षार्थं समुपागतैः ।
त्रैलोक्यभूतैस्तद्व्योम बभूवात्यन्तसङ्कटम् ॥ १२ ॥
अशङ्कितागते तत्ते देव्यौ ददृशतुर्नभः ।
नभश्चरगणाक्रान्तमम्बुदैरिव मालितम् ॥ १३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वगणविद्याधरान्वितम् ।
शूरग्रहणसंरब्धस्वर्गलोकाप्सरोवृतम् ॥ १४ ॥
रक्तमांसोन्मुखोन्मत्तभूतरक्षःपिशाचकम् ।
पुष्पवृष्टिभिरापूर्णहस्तविद्याधराङ्गनम् ॥ १५ ॥

वहाँपर अन्यान्य लोकों, अनेकों पर्वतों और आकाशको लाँघकर वे विविध पर्वतों और समुद्रोंसे परिपूर्ण भूमितलमें प्राप्त हुईं । तदनन्तर मेरुपर्वतसे अत्यन्त सुशोभित और नौ खण्डोंमें विभक्त जम्बूद्वीपमें जाकर भारतवर्षमें लीलाके स्वामीके राज्यमें पहुँचीं ॥ ९, १० ॥

इसी समय पृथिवीके भूषणस्वरूप उस राज्यमें किसी एक राजाने (सिन्धुराजने), अपने सहायभूत सामन्तोंसे जिसकी शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी, आक्रमण किया था ॥ ११ ॥

उक्त सिन्धुराजके साथ संग्राम छिड़नेपर उक्त संग्रामको देखनेके लिए आये हुए तीनों लोकोंके जीवोंकी आकाशमें बड़ी भीड़ लगी थी ॥ १२ ॥

भय-शङ्का रहित होकर आई हुईं उन देवियोंने आकाशचारी सिद्ध गन्धर्वोंसे आक्रान्त उस आकाशको मेघमण्डलसे घिरा हुआ-सा देखा । वह सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधरगणसे युक्त था, शूर-वीर पुरुषोंके ग्रहणमें उतावली करनेवाली स्वर्गलोककी अप्सराओंसे आवृत था, उसमें उन्मत्त भूत, राक्षस और पिशाच रुधिर और मांसके लिए ताकमें बैठे थे, उसमें ऐसी पुष्पवृष्टि हो रही थी कि

वेतालयक्षकूष्माण्डैर्द्वन्द्वालोकनसादरैः ।
आयुधापातरक्षार्थं गृहीताद्रितटैर्वृतम् ॥ १६ ॥
अस्त्रमार्गनभोभागविद्रवद्भूतमण्डलम् ।
आहोपुरुषिकाक्षुब्धप्रेक्षकामोदनोद्भटम् ॥ १७ ॥
आसन्नभीमसंग्रामकिंवदन्तीपरस्परम् ।
लीलाहासविलासोत्कसुन्दरीधृतचामरम् ॥ १८ ॥
धर्मप्रेक्ष्यप्रयुक्ताग्र्यमुनिस्वस्त्ययनस्तवम् ।
सम्पन्नानेकलोकेशवनितावसरस्तवम् ॥ १९ ॥
स्वर्गार्हशूरानयनव्यग्रेन्द्रभटभासुरम् ।
शूरार्थालङ्कृतोत्तुङ्गलोकपालाख्यवारणम् ॥ २० ॥
आगच्छच्छूरसन्मानोन्मुखगन्धर्वचारणम् ।
शूरोन्मुखामरस्त्रैणकटाक्षेक्षितसङ्कटम् ॥ २१ ॥

उससे विद्याधरोंकी स्त्रियोंके हाथ भर गये थे, युद्धदर्शनमें अत्यन्त अभिलाषावाले अस्त्रशस्त्रोंके आघातसे अपना बचाव करनेके लिए पर्वतके तटोंपर बैठे हुए वेताल (एक प्रकारके भूत), यक्ष और कूष्माण्डोंसे वह परिवृत था, अस्त्रोंके मार्गभूत समीपवर्ती आकाशभागसे, स्वरक्षार्थ, सम्पूर्ण भूतगण उसमें भाग रहे थे, पौरुषाभिमानसे क्षुब्ध योद्धागण दर्शकोंका आमोद-प्रमोद कर रहे थे ॥ १३–१७ ॥

सब लोग परस्पर निकटवर्ती भीषण संग्रामकी चर्चा कर रहे थे, क्रीड़ामें हास और विलासोंमें उत्कण्ठित सुन्दरियोंने अपने हाथोंमें चँवर ले रक्खे थे॥१८॥

अत्यन्त धर्मात्मा होनेसे अन्य लोगोंके दृष्टिगोचर न हो सकनेवाले, योग-बलसे श्रेष्ठ मुनियों द्वारा देवताओंके स्तोत्र जगत्की शान्तिके लिए वहां पढ़े जा रहे थे, अनेक लोकपालों द्वारा अप्सराओंसे सम्बन्ध रखनेवाली अवसरोचित स्तुतियाँ की जा रही थीं, भाव यह कि अप्सराएँ हमें छोड़कर नूतन योग्य कान्तोंका अनुसरण न करें, यों लोकपाल उनकी स्तुति कर रहे हैं। स्वर्गमें स्थान पाने योग्य शूरवीर पुरुषोंको लानेमें व्यग्र इन्द्रके भटोंसे वह चमक रहा था, उसमें शूरवीर पुरुषोंके लिए ऊँचे ऊँचे लोकपाल नामक यानी ऐरावत आदि हाथी सजाए गये थे, स्वर्गकी ओर आ रहे रणभूमिमें आहत शूरोंके आगत-स्वागतरूप सम्मानमें गन्धर्व और चारण कटिबद्ध थे, वहां शूरवीर पुरुषोंपर

वीरदोर्दण्डकाश्लेषलम्पटस्त्रीगणाकरम् ।
शुक्लेन शूरयशसा चन्द्रीकृतदिवाकरम् ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छूरशब्देन कीदृशः प्रोच्यते भटः ।
स्वर्गालङ्करणं कः स्यात् को वा डिम्भाहवो भवेत् ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रोक्ताचारयुक्तस्य प्रभोरर्थेन यो रणे ।
मृतो वाऽथ जयी वा स्यात् स शूरः शूरलोकभाक् ॥ २४ ॥
अन्यथा प्राणिकृत्ताङ्गो रणे यो मृतिमाप्नुयात् ।
डिम्भाहवहतः प्रोक्तः स नरो नरकास्पदम् ॥ २५ ॥

आकृष्ट होनेवाली अप्सराएँ कटाक्षोंसे अच्छे-अच्छे योद्धाओंको देखती थीं, वह वीर पुरुषोंके बाहु-दण्डोंका आलिङ्गन करनेमें लुब्ध सहस्रों स्त्रियोंसे भरा था, शूर पुरुषोंके शुभ्र यशने वहांपर सूर्यको चन्द्रमा बना दिया था, भाव यह कि यशकी शीतलतासे उष्णताके दब जानेसे सूर्य चन्द्र-सा मालूम होता था ॥१९–२२॥

प्रसंगवश शूर आदिके लक्षणको जाननेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**भगवन्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, शूरशब्द कैसे भटका वाचक है ? कौन भट स्वर्गका अलङ्कार है और कौन डिम्भाहव भट है ? यद्यपि यहांपर डिम्भाहव भट कहींपर न तो उक्त ही और न किसी प्रकार सूचित ही है तथापि यहांपर उसके लक्षणके प्रश्नको, स्वर्गालङ्कारभूत शूरसे भिन्न होनेके कारण, प्रासङ्गिक जानना चाहिए ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, शास्त्रोंमें प्रतिपादित सदाचारसे युक्त प्रभुके लिए रणभूमिमें जो युद्ध करता है, वह चाहे रणमें मृत्युको प्राप्त हो, चाहे विजयी हो, वह शूर है और शूरोचित लोकका भाजन है ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त विधिसे विपरीत यानी असदाचारी प्रभुके लिए जिसने प्राणियोंका अङ्गच्छेदन किया है, वह यदि रणमें मृत्युको प्राप्त हो, तो वह डिम्भाहवमें मारा गया कहलाता है और वह नरकगामी होता है ॥ २५ ॥

अयथाशास्त्रसञ्चारवृत्तेरर्थेन युध्यते ।
यो नरस्तस्य सङ्ग्रामे मृतस्य निरयोऽक्षयः ॥ २६ ॥
यथासंभवशास्त्रार्थलोकाचारानुवृत्तिमान् ।
युध्यते तादृशश्चैव भक्तः शूरः स उच्यते ॥ २७ ॥
गोरर्थे ब्राह्मणस्याऽर्थे मित्रस्याऽर्थे च सन्मते ।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम् ॥ २८ ॥
परिपाल्य स्वदेशैकपालने यः स्थितः सदा ।
राजा मृतास्तदर्थं ये ते वीरा वीरलोकिनः ॥ २९ ॥
प्रजोपद्रवनिष्ठस्य राज्ञोऽराज्ञोऽथवा प्रभोः ।
अर्थेन ये मृता युद्धे ते वै निरयगामिनः ॥ ३० ॥

उक्त अर्थको ही विशेषरूपसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'**अयथाशास्त्र०**' इत्यादिसे ।

जिस स्वामीका आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, उसके लिए जो पुरुष रणभूमिमें युद्ध करता है, वह यदि संग्राम-भूमिमें मरे, तो उसको शाश्वत नरककी प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

जो यथासंभव शास्त्रप्रतिपादित विधिके अनुकूल और लोकाचारके अनुकूल आचरण करनेवाला होकर रणमें युद्ध करता है और वैसे ही सदाचारी स्वामीका भक्त हो, वह शूर कहलाता है ॥ २७ ॥

सुमते, गऊके रक्षण लिए, ब्राह्मणके रक्षण लिए, मित्रके रक्षण लिए, शरणागतके रक्षणके लिए युद्धरूप उपाय द्वारा जो मृत्युको प्राप्त होता है, वह स्वर्गालङ्कार है ॥ २८ ॥

अवश्य परिपालनीय (रक्षणीय) अपने देशकी मुख्यवृत्तिसे रक्षणमें जो राजा सदा उद्यमी है, उसकी विजयके लिए जो युद्ध करते हैं, वे वीर हैं और उन्हें वीरोंका लोक प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रजाओंके प्रति सदा कुछ न कुछ उपद्रव करनेवाले राजा अथवा राजासे भिन्न जमींदार आदि प्रभुके लिए जो युद्धमें मरते हैं, वे निस्सन्देह नरकगामी होते हैं ॥ ३० ॥

ये हि राज्ञामराज्ञां वाऽप्ययथाशास्त्रकारिणाम् ।
रणे म्रियन्ते छिन्नाङ्गास्ते वै निरयगामिनः ॥ ३१ ॥
धर्म्यं यथा तथा युद्धं यदि स्यात्तर्हि संस्थितिः ।
नाशयेयुरलं मत्ताः परलोकभयोज्झिताः ॥ ३२ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्ग इत्यवशोक्तयः ।
धर्मे योद्धा भवेच्छूर इत्येवं शास्त्रनिश्चयः ॥ ३३ ॥
सदाचारवतामर्थे खड्गधारां सहन्ति ये ।
ते शूरा इति कथ्यन्ते शेषा डिम्भाहवाहताः ॥ ३४ ॥

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवालेका आश्रय लेना ही नरकका हेतु है, उसपर यदि वह प्रजाओंके प्रति उपद्रव करनेवाला हो, तो उसका आश्रय लेना नरकका हेतु है, इसमें कहना ही क्या है? इस आशयसे फिर पूर्वोक्त बातको कहते हैं—'ये हि' इत्यादिसे ।

शास्त्रानुकूल आचरण न करनेवाले और प्रजाको प्रपीड़ित करनेवाले राजाओं अथवा राजाओंसे भिन्न मालिकोंकी विजयके लिए जो रणमें छिन्न-भिन्नशरीर होकर मरते हैं, वे निश्चय नरकगामी होते हैं ॥ ३१ ॥

धार्मिक स्वामीका आश्रित होनेपर भी यदि अधर्मसे युद्ध करता हुआ भट मारा जाय, तो उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'धर्म्यम्' इत्यादिसे ।

यदि धर्मपूर्वक युद्ध हो, तो युद्धमें मृत योद्धाकी स्वर्गमें स्थिति होती है । यदि अधर्म्य युद्धसे मारे गये पुरुषको स्वर्ग प्राप्त हो, तब तो मत्त पुरुष परलोकके भयसे रहित होकर अत्यन्त अधर्म्य युद्धसे भी दूसरे लोगोंको नष्ट कर डालें ॥ ३२ ॥

यदि ऐसी बात है, तो 'परप्राणान् निजप्राणैः पणीकृत्योद्यतायुधः । यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्गस्तत्र पदे पदे ॥' (अपने प्राणोंसे दूसरेके प्राणोंकी बाजी लगाकर शस्त्रको उठाकर शूर जहां जहां भी मारा जाय, वहां उसे पद पदपर स्वर्ग है) इत्यादि साधारण लोकप्रवादोंकी क्या गति होगी? इसपर कहते हैं—'यत्र यत्र' इत्यादिसे ।

'शूर जहां-जहांपर भी मारा जाय, वहां उसे पद पदपर स्वर्ग है' इत्यादि अवश लोगोंकी उक्तियाँ हैं, किन्तु धर्मके लिए युद्ध करनेवाला पुरुष शूर है, शास्त्रका तो यही निश्चय है ॥ ३३ ॥

जो लोग शास्त्रप्रतिपादित आचरणवाले प्रभुओंके लिए खड्गकी धारको सहते हैं, वे शूर कहे जाते हैं, शेष लोग डिम्भाहवमें मारे गये कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

तेषामथ रणे व्योम्नि तिष्ठन्त्युत्कण्ठिताशयाः ।
शूरीभूतमहासत्त्वदयितोक्तिसुराङ्गनाः ॥ ३५ ॥
विद्याधरीमधुरमन्थरगीतिगर्भे
मन्दारमाल्यवलनाकुलकामिनीकम् ।
विश्रान्तकान्तसुरसिद्धविमानपङ्क्ति
व्योमोत्सवोच्चरितशोभमिवोल्ललास ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने युद्धप्रेक्षिकास्थिताम्बरवर्णनं नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ वीरवरोत्कण्ठनृत्यदप्सरसि स्थिता ।
लीलाऽवलोकयामास व्योम्नि विद्यान्विताऽवनौ ॥ १ ॥

उनके लिए रणभूमिमें और आकाशमें शूरताको प्राप्त महाबलशालीको प्रिय कहनेवाली सुराङ्गनाएँ उत्कण्ठित होकर खड़ी रहती हैं ॥ ३५ ॥

विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके मधुर और मन्द मन्द गायनसे गुलजार, मदारके फूलोंकी मालाओंके गूँथनेमें व्यग्र कामिनियोंसे युक्त और जिसमें देवता और सिद्धोंके सुन्दर सुन्दर विमानोंकी पङ्क्ति विश्राम ले रही थी, ऐसा आकाश, उत्सवके लिए बहुत बढ़ी चढ़ी शोभासे युक्त-सा अत्यन्त शोभित था ।

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवां सर्ग

[सङ्कल्पमय विमानमें बैठी हुई सरस्वतीदेवी तथा लीला द्वारा देखी गई लड़नेके लिए उत्सुक शस्त्र-अस्त्रसे सुसज्जित दो सेनाओंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे सौम्य, तदनन्तर शूरवीर प्रियके लिए उत्कण्ठापूर्वक नृत्य कर रहीं अप्सराओंसे पूर्ण आकाशमें स्थित सरस्वतीदेवीसे युक्त लीलाने पृथिवीमें अपने पतिदेवसे अपने राष्ट्रमण्डलमें सुरक्षित, चतुरङ्गिणी

पूर्वप्रहारस्मयतश्चिरं संशान्तदुन्दुभि ।
निबद्धयोधसंस्थाननिखिलानीकमन्थरम् ॥ ९ ॥
धनुर्द्वितयमात्रात्मशून्यमध्यैकसेतुना ।
विभक्तं कल्पवातेन मत्तमेकार्णवं यथा ॥ १० ॥
काये सङ्कटसंरम्भचिन्तापरवशेश्वरम् ।
विरटद्भेककण्ठत्वभङ्गुरातुरहृद्गुहम् ॥ ११ ॥
प्राणसर्वस्वसंत्यागसोद्योगासंख्यसैनिकम् ।
कर्णाकृष्टशरौघौघत्यागोन्मुखधनुर्धरम् ॥ १२ ॥
प्रहारपातसम्प्रेक्षानिष्पन्दासंख्यसैनिकम् ।
अन्योन्योत्कण्ठकाठिन्यभरभ्रुकुटिसङ्कटम् ॥ १३ ॥
परस्परसुसङ्घट्टकटुटङ्कारकङ्कटम् ।
वीरयोधमुखादग्धभीरुप्रेप्सितकोटरम् ॥ १४ ॥

गई थी, बड़ी भारी दो सेनाओंमें एकत्रित भटोंके अनिवार्य हल्ले गुल्लेके कारण लोगोंको परस्पर आलाप नहीं सुनाई देता था, राजाकी आज्ञाके बिना पहले वार न हो, इस शङ्काके कारण बहुत देरी तक दोनों सेनाओंमें रणदुन्दुभी शान्त थी, प्रायः अपने-अपने स्थानमें श्रेणीबद्ध योद्धारूपी प्रधान अवयववाली सम्पूर्ण सहायक सेनाओंसे दोनों सेनाएँ परिपूर्ण थीं, जैसे प्रलयकालके महावायुसे विक्षुब्ध एकमात्र समुद्र दो विभागोंमें विभक्त होता है, वैसे ही वे दोनों सेनाएँ केवल दो धनुष परिमाणके जनशून्य मध्यभागरूपी एक पुलसे विभक्त थीं, उसमें दोनों पक्षोंके राजा अपने शरीरपर वेगसे उपस्थित हुए संकटकी चिन्तासे ग्रस्त थे, दोनों सेनाओंमें डरपोक लोगोंकी हृदयरूपी गुफा बोल रहे मेढ़कके कण्ठकी त्वचाकी नाईं फरफरा रही थी, दोनों पक्षोंमें असंख्य सैनिक प्राणरूपी सर्वस्वका त्याग करनेके लिए उद्यत थे, कानतक खींचे गये वाण समूहरूपी प्रवाहको छोड़नेके लिए धनुर्धारी तत्पर थे, प्रहार करनेकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें असंख्य सैनिक चित्रवत् निश्चल खड़े थे, परस्पर भट और प्रतिभटमें युद्धकी उत्कण्ठासे उत्पन्न अतिशय क्रोधसे बँधी हुई भ्रुकुटियोंसे दोनों सेनाएँ दुष्प्रेक्ष्य हो गई थीं, भट और प्रतिभटके परस्पर अभिघातसे कवचोंकी कर्णकटु टंकारध्वनि हो रही थी, वीर योद्धाओंकी

मिथःसंस्थानकालोकमात्रासंदिग्धजीवितम् ।
समस्ताङ्गरुहासक्तप्रांशुवृद्धेभमानवम् ॥ १५ ॥
पूर्वप्रहारसंप्रेक्षाव्यग्रप्राणतया तया ।
संशान्तकल्लोलरवं निद्रामुद्रपुरोपमम् ॥ १६ ॥
संशान्तशङ्खसङ्घाततूर्यनिर्ह्रादिदुन्दुभि ।
भूतलाकाशसंलीनसर्वपांसुपयोधरम् ॥ १७ ॥
पलायनपरैः पश्चात्त्यक्तमङ्गुलमण्डलम् ।
विसारिमकरव्यूहमत्स्यसंख्याब्धिभासुरम् ॥ १८ ॥
पताकामञ्जरीपुञ्जविजिताकाशतारकम् ।
हास्तिकोत्तम्भितकरकाननीकृतखान्तरम् ॥ १९ ॥
तरत्तरलभापूरसपक्षसकलायुधम् ।
धमद्धमितिशब्दैश्च श्वासोत्थैर्ध्मातखान्तरम् ॥ २० ॥

मुखाग्निसे जले हुए-से अतएव काले मुखवाले डरपोक लोग छिपनेके लिए पहाड़ोंकी खोह ढूँढ़ रहे थे, परस्पर युद्धके दर्शनपर्यन्त जिनका जीवन निश्चित था, दोनों पक्षोंमें हाथी और मनुष्य खड़े हुए रोंगटोंसे व्याप्त होनेके कारण ऊपरकी ओर ऊँचे और अगल-बगल बढ़े हुए थे, प्रथम प्रहारकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें व्यग्र चित्त होनेसे दोनों सेनाओंमें कोलाहलका शब्द शान्त था, अतएव वे जिसके नरनारी गाढ नींदमें सोये हैं, ऐसे नगरके तुल्य प्रतीत होती थीं, शङ्खों, तुरहियों और दुन्दुभियोंका शब्द शान्त था, सब धूलिकण और बादल क्रमशः भूमितल और आकाशमें लीन थे, भागनेमें तत्पर डरपोक लोगोंने सेनाके अलङ्काररूपी शूरवीरोंको पीछे छोड़ दिया था, बड़े-बड़े मगरोंका और मछलियोंका जिसमें युद्ध हो रहा हो, ऐसे सागरकी नाईं उन सेनाओंकी छवि छिटक रही थी, पताकाओंमें लगी हुई चमकदार झालरोंने आकाशके तारोंको जीत लिया था, झुण्डके झुण्ड हाथियों द्वारा ऊपर उठाई गई सूँड़ोंने आकाशके मध्यको वन बना डाला था ॥ १–१९ ॥

आकाशमें तैर रहीं चञ्चल प्रकाशराशियोंसे सकल शस्त्र-अस्त्र पूँछसे युक्त-से हो रहे थे, दुन्दुभी आदिके 'धम्, धम्' शब्दोंसे और मुखवायुसे होनेवाले शङ्ख आदिके शब्दोंसे दोनों सेनाओंका आकाशमण्डल शब्दायमान था ॥ २० ॥

चक्रव्यूहकराक्रान्तदुर्वृत्तसुरभासुरम् ।
गरुडव्यूहसंरम्भविद्रवन्नागसञ्चयम् ॥ २१ ॥
श्येनव्यूहविभिन्नाग्रसन्निवेशोत्तमध्वनि ।
अन्योन्यास्फोटनिःशेषप्रपतद्भूरिवृन्दकम् ॥ २२ ॥
विविधव्यूहविन्यासवान्तवीरवरारवम् ।
करप्रतोलनोल्लासमत्तमुद्गरमण्डलम् ॥ २३ ॥
कृष्णायुधांशुजलदश्यामीकृतदिवाकरम् ।
अनिलाधूतपल्यूलसूत्कृताभशरध्वनि ॥ २४ ॥
अनेककल्पकल्पाग्रसवृन्दमिव संस्थितम् ।
प्रलयानिलसंक्षुब्धमेकार्णवमिवोत्थितम् ॥ २५ ॥
सद्यश्छिन्नं महामेरोः पक्षद्वयमिव स्फुरत् ।
क्षुब्धमारुतनिर्धूतमिव कज्जलपर्वतम् ॥ २६ ॥

अब दोनों सेनाओंके प्रवेशमार्गके भेदसे विभिन्न व्यूहरचनाका वर्णन करते हैं—'चक्र०' इत्यादिसे ।

कहींपर चक्राकार व्यूहका निर्माण करनेवाले पुरुषोंसे, दुर्दान्त दैत्योंपर आक्रमण किये हुए देवताओंकी नाईं, दोनों सेनाएँ देदीप्यमान थीं, कहींपर उनमें गरुड़व्यूहके निर्माणसे सर्पोंके समूह (श्लेषवश हाथियोंके झुण्ड) वेगके साथ भाग रहे थे, श्येनके व्यूहसे प्रतिपक्षियोंका सेनाशिविर दो भागोंमें विभक्त किया गया थ, अतएव दोनों सेनाओंमें गगनभेदी कलकलशब्द हो रहा था, कहींपर परस्पर बाहुओंमें जोरकी टक्कर लगनेके कारण वेगसे सबके सब समूह भूमिमें गिर रहे थे, कहींपर व्यूहरचनासे आगे निकले हुए वीरोंके विविध सुन्दर शब्द हो रहे थे, कहींपर हाथों द्वारा उठानेसे उत्पन्न हुए उल्लाससे मत्तकी नाईं मुद्गर नाच रहे थे, कहींपर काले-काले शस्त्रास्त्रोंके किरणोंसे मानो उत्पन्न हुए मेघोंने सूर्यको तिरोहित कर दिया था, कहींपर वायु द्वारा कँपाये गये पल्यूलोंके (एक प्रकारकी घासके) सूत्कारके (वायुके संघर्षसे उत्पन्न सूत् इत्याकारक शब्दके) समान बाणोंकी ध्वनि हो रही थी, प्रलय करनेमें समर्थ अनेक पुष्करावर्त आदि मेघोंसे मानो दोनों सेनाएँ अग्रभागमें संघीभूत होकर स्थित थीं, वे दोनों सेनाएँ प्रलयके वायुसे विक्षुब्ध एकमात्र सागरके समान उदित हुई थीं, तुरन्त कटे

पातालकुहरात् क्षुब्धमन्धकारमिवोत्थितम् ।
लोकालोकमिवोन्मत्तनृत्यलोललसत्तटम् ॥
महानरकसङ्घातं भित्त्वाऽवनिमिवोत्थितम् ॥ २७ ॥
आलोलकुन्तमुसलासिपरश्वधांशु-
श्यामायमानदिवसातपवारिपूरैः ।
एकार्णवं भुवनकोशमिवाऽचिरेण
कर्तुं समुद्यतमगाधमनन्तपूरैः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहवारम्भणं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् युद्धमेतन्मे समासेन मनाग्वद ।
श्रुतिराह्लाद्यते श्रोतुर्यस्मादेताभिरुक्तिभिः ॥ १ ॥

हुए, अतएव फड़फड़ाते हुए महामेरुके दो परोंके समान थीं, अत्यन्त शोभायुक्त वायुसे कँपाये गये कज्जल पर्वतके समान थीं, पातालरूपी गर्तसे निकले हुए क्षुब्ध अन्धकारकी नाईं थीं, उन्मत्त नृत्यसे चञ्चल और देदीप्यमान तटवाले लोकालोक पर्वतकी नाईं थीं और पृथिवीको तोड़कर उदित हुए महानरकोंके संघातकी नाईं थीं ॥ २१-२७ ॥

मानो वे दोनों सेनाएँ चञ्चल बर्छे, मूसल, तलवार और कुल्हाड़ोंके किरणोंसे काले-से प्रतीत हो रहे दिवसातपरूपी जलके प्रवाहसे सम्पूर्ण भुवनकोषको एकमात्र अगाध सागर बनानेके लिए उद्यत थीं ॥ २८ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

[संकल्पजनित विमानमें स्थित सरस्वती और लीला द्वारा देखे गये दोनों सेनाओंके संग्रामका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, इस युद्धका कुछ संक्षेपसे मुझसे वर्णन कीजिए, क्योंकि इन उक्तियोंसे श्रोताके कानोंको बड़ा आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तत्रैव ते देव्यौ संग्रामं तमवेक्षितुम् ।
विमाने कल्पिते कान्ते रुद्धे रुरुहतुः स्थिरे ॥ २ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र लीलेशः प्रतिपक्षतः ।
तमुत्सोढुमशक्तः सन् मुखव्यतिकरे रणे ॥ ३ ॥
प्रलयार्णवकल्लोल इवोत्पत्योद्भये भटे ।
जहौ सानाविव शिलां भटस्योरसि मुद्गरम् ॥ ४ ॥
अथ प्रवृत्तः प्रसभं प्रलयार्णवरंहसा ।
सेनयोः शस्त्रसंपातः किरन्ननलविद्युतः ॥ ५ ॥
तरत्तरलधाराग्ररेखाङ्कितनभस्तलः ।
ध्वनत्कणकणाशब्दमध्यलक्षितटाङ्कृतिः ॥ ६ ॥
धीरहुङ्कारमिश्रोष्मघर्घरारवघस्मरः ।
प्रवृत्तशरधाराग्रभास्करार्चिर्वितानकः ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामचन्द्रजी, तदुपरान्त वे देवियाँ उस संग्रामको देखनेके लिए वहींपर रोके गये मनसे कल्पित सुन्दर स्थिर विमानपर चढ़ीं ॥ २ ॥

इसी बीचमें उन दोनों सेनाओंकी परस्पर मुठभेड़ होनेपर शत्रुकी सेनासे प्रलयकालीन सागरके कल्लोलकी नाईं निर्भय भट निकला। कोई उसके प्रहार करनेकी इच्छा करनेपर लीलाके पूर्वजन्मके पति राजा विदूरथने, उसके व्यवहारको सहन करनेमें असमर्थ होकर, पर्वतके शिखरपर पत्थरके समान उसकी छातीपर मुद्गरसे प्रहार किया ॥ ३,४ ॥

तदुपरान्त दोनों सेनाओंमें प्रलयकालके सागरके वेगसे अग्निकी (अग्नि-सदृश शस्त्रास्त्रोंकी) और बिजलीकी (बिजुलीकी तरह शस्त्रोंकी कान्तिकी) वृष्टि करता हुआ शस्त्रसंपात होने लगा ॥ ५ ॥

ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि आकाशमें तैर रहे अस्त्र-शस्त्रोंकी चञ्चल धारके अग्रभागसे आकाशमण्डल रेखाङ्कित-सा प्रतीत होता था, उसमें हो रहे कण-कण शब्दके बीचमें धनुषोंके टंकारका शब्द सुनाई देता था, वीरोंके हुंकारसे मिलनेके कारण अधिकाधिक गम्भीर होता हुआ उसका शब्द ग्रीष्म ऋतुके अन्तके मेघके गर्जनशब्दको अपनेमें छिपा देता था, धनुषोंसे छूटी हुई बाणधाराके अग्रभागमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें उसमें वितानका काम दे रही थीं, बाण और तलवारके

नदत्कङ्कटटङ्कारप्रोड्डीनकणपावकः ।
परस्पराहतिच्छिन्नहेतिखण्डखगाम्बरः ॥ ८ ॥
वीरदोर्द्रुमसञ्चारवहद्वननभस्थलः ।
कोदण्डचक्रकेङ्कारद्रवद्वैमानिकाङ्गनः ॥ ९ ॥
महाहलहलारावभृङ्गीकृतघनध्वनिः ।
निर्विकल्पसमाधिस्थ इवैकघनतावशात् ॥ १० ॥
नाराचासारधाराग्रलूनशूरशिरस्करः ।
परस्परांससङ्घट्टरणत्कङ्कटसङ्कटः ॥ ११ ॥
हुङ्कारहतहेत्युग्रसङ्घट्टकटुटाङ्कृतः ।
तरद्धारातरङ्गाभ्रदन्तुराशेषदिङ्मुखः ॥ १२ ॥
हेतिसंघट्टविक्षोभमुष्टिग्राह्यझणज्झणः ।
चिरमास्फोटकास्फोटलुठच्चटचटारवः ॥ १३ ॥

वारोंसे बज रहे कवचोंसे टंकारके साथ आगकी चिनगारियाँ उड़ती थीं, रण-स्थलके आकाशमें परस्पर आघातसे छिन्न-भिन्न हुए तलवार आदि शस्त्रोंके टुकड़े पक्षियोंकी भाँति उड़ रहे थे, वीरोंकी भुजारूपी वृक्षोंके इतस्ततः संचारसे युद्ध भूमिका नभस्तल ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसमें चलने फिरनेवाले बन घूम रहे हों। उसमें धनुषोंकी राशियोंके टङ्कारसे देवाङ्गनाएँ मारे भयके भाग रही थीं, उसने बड़े भारी कोलाहलशब्दसे मेघके शब्दको भँवरेकी गुँजार-सा छोटा कर दिया था, जैसे परमात्मभावापन्न होनेसे निर्विकल्पसमाधिस्थ पुरुष बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता है, वैसे ही वह रणसंरम्भ भी बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता था, [कहा भी है—योगी समाधिमें जबतक बाह्यशब्द आदिका अनुभव करता है तबतक वह सविकल्प समाधि है उसके बाद यानी जब बाह्यशब्द आदिका अनुभव नहीं करता, वह निर्विकल्प समाधि है] ॥६–१०॥

उसमें अर्द्धचन्द्राकार नोकवाले बाणोंकी लगातार वृष्टिसे शूरवीरोंके सिर और हाथ काटे गये थे, परस्परके कन्धोंकी टक्करसे बज रहे कवचोंसे वह युद्धस्थल डरावना था, शस्त्रोंके भीषण संघट्टसे उत्पन्न कर्णकटु टंकारध्वनि वीरोंके हुँकारसे मन्द पड़ गई थी—तिरस्कृत हो गई थी, खड्गधारा तरङ्गरूपी मेघोंसे उस युद्धभूमिके सभी दिङ्मुख दन्तुरसे (कुछ ऊँचे-से) मालूम पड़ते थे, उस घमासान युद्धमें

प्रवहत्खङ्गसीत्कारज्वलत्कणसणध्वनि ।
सरच्छरभराध्वान्तशरत्खरखरारवः ॥ १४ ॥
धगद्धगितिविच्छिन्नकण्ठोत्थप्राणलोहितः ।
छिन्नबाहुशिरःखड्गखण्डनिर्विवराम्बरः ॥ १५ ॥
कङ्कटोत्थस्फुरद्वह्निसटास्पृष्टशिरोरुहः ।
रणत्पतदसिव्रातमत्तपीनझणज्झणः ॥ १६ ॥
कुन्तकुण्ठितमातङ्गतरङ्गोत्तुङ्गलोहितः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारचीत्कारकर्कशः ॥ १७ ॥
महामुसलसम्पातपिष्टकष्टोद्धुरस्वरः ।
तरच्छूरशिरःपद्मप्रकाराच्छादिताम्बरः ॥ १८ ॥
व्योमन्यस्तभुजाहीन्द्रः पूर्णधूलिमयाम्बुदः ।
छिन्नहेतिनरारब्धकेशाकेशिप्रतिक्रियः ॥ १९ ॥

तलवारके प्रहारसे शत्रुको क्रोध होनेपर उसके सरको काटनेके लिए प्रवृत्त हुए हाथको सिरके न मिलनेसे झग्-झग् शब्द मुष्टिमें पकड़नेके योग्य-सा होता था, वहांपर चिरकालतक बाहुओंपर ताल ठोंकनेवाले शूरवीर लोगोंके ताल ठोंकनेसे चट-चट शब्द मानो गिर पड़ते थे, वहांपर शीघ्रतासे म्यानसे निकल रही तलवारोंका लोहेकी म्यानके संघर्षसे उत्पन्न हुए सीत्कारशब्दसे युक्त जल रहे स्फुलिङ्गोंकी सण् सण् ध्वनि होती थी, तेजीसे लक्ष्यदेशकी ओर जा रहे लक्ष्यदेशमें जाकर फैलनेवाले शरोंकी उसमें खर-खर ध्वनि हो रही थी, वीरोंके कटे हुए कण्ठोंसे धग् धग् शब्दके साथ प्राण और खून निकल रहा था, कटे हुए बाहुओं, सिरों और तलवारके टुकड़ोंसे आकाश पट गया था, कवचमें टक्कर लगनेसे निर्गत दीप्त अग्निकी जटातुल्य ज्वालाएँ वीरोंके केशोंका स्पर्श कर रही थीं, परस्पर टक्कर लगनेसे बज रहीं और कटकर गिर रहीं तलवारोंका जो झणझण शब्द हो रहा था, उसने शूरोंके चित्तको प्रफुल्लित और शरीरको रणोत्साहसे दुगुना बना दिया था, बच्छोंसे छिन्न-भिन्न हाथियोंकी देहसे उत्तरङ्गित रक्त प्रवाह बहता था, हाथियोंके दाँतोंके टूटनेसे हुए दीर्घतम चीत्कारशब्दसे वह अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था, महामुसलके प्रहारसे चूर-चूर हुए लोगोंकी कष्टमय कातर हाहाकार ध्वनि हो रही थी, कटकर आकाशमें तैर रहे शूरोंके सिररूपी पद्मोंके समूहसे आकाश बिलकुल आच्छन्न था, कटकर आकाशमें फेंकी गयीं वीरभुजाएँ ही

नखानखिनिकृत्ताक्षिकर्णनासौष्ठकन्धरः ।
छिन्नायुधमहामल्लहेलोल्लालनलब्धभूः ॥ २० ॥
पतत्समदमातङ्गकम्पितोर्वीलुठद्द्रयः ।
रणद्रथरयोत्पन्नक्षरद्रक्तसरित्पथः ॥ २१ ॥
रजोरचितनीहारः कचत्प्रवहदायुधः ।
एकीकृतघनक्षोभसैन्यसागरगर्जितः ॥ २२ ॥
मत्तहासविलासेन मृत्युना परिचर्वितः ।
गर्विताद्रीन्द्रनागेन्द्रखर्विताम्भोदगर्जितः ॥ २३ ॥
वृक्षश्वभ्रतटीच्छन्नचक्रशक्त्यृष्टिमुद्गरः ।
शरोर्णातन्तुनीरन्ध्रघृष्टियोधाद्रिमेखलः ॥ २४ ॥
मेघविश्रान्तविच्छिन्नपताकापटचामरः ।
यन्त्रपाषाणचक्रौघदूरविद्रुतखेचरः ॥ २५ ॥

उसमें सर्पराज थे और चारों ओर आच्छन्न धूलिमय ही मेघ थे, जिनके अस्त्र-शस्त्र कट गये थे, ऐसे पुरुषों द्वारा अस्त्र-शस्त्रके काटनेका बदला चुकानेके लिए केशाकेशि युद्ध हो रहा था, परस्पर द्वारा परस्परके नखोंसे आँखें, नाक, कान, ओठ और कन्धे नोचे जा रहे थे, जिन महामल्लोंके अस्त्र कट चुके थे, वे क्रीडापूर्वक बाहुयुद्धसे विजय प्राप्त कर रहे थे, शस्त्रोंकी चोटसे गिर रहे मदोन्मत्त हाथियोंसे कंपाये गये घायल होनेके कारण दौड़नेमें समर्थ लोग पृथिवीमें वेगसे लोट रहे थे, शब्दायमान रथके वेगसे बने हुए मार्गोंमें क्षतविक्षत भटोंके शरीरसे निकल रहे खूनकी नदी बह रही थी ॥ ११–२१ ॥

चतुरङ्गिणी सेनाके संचलनसे उड़ी हुई धूलिसे वहांपर चारों ओर कुहरा छा गया था, चमचमा रहे अस्त्र-शस्त्र चल रहे थे, एकत्रित प्रचुर कोपयुक्त सेनारूपी सागरका प्रतिक्षण गर्जन हो रहा था, उन्मत्त हास और विलासवाले कालसे असंख्य भट चबाये जा रहे थे, मदोन्मत पर्वततुल्य विशालकाय गजराजोंने अपने गर्जनके सामने सागरके गर्जनको तुच्छ बना दिया था, वहाँ वृक्ष, गर्त और तटोंके सहारे शत्रुओंपर वार कर रहे लोगोंको मारनेके लिए छोड़े गये शक्ति, तलवार और मुद्गर वृक्ष, गर्त आदिमें रुक जाते थे, योद्धारूपी पर्वतके मध्यभाग बाणरूपी मकड़ीके जालोंसे निरन्तर गूँथे हुए थे, मेघोंके आक्रमणोंसे या मेघोंमें विश्रान्त बिजली आदिसे पताकाओंके वस्त्र

मरणव्यग्रकृत्ताङ्गयोधाक्रन्दातिघर्घरः ।
कुठाराघातसञ्जातविदलन्मस्तकव्रजः ॥ २६ ॥
दूरोड्डीनकचत्खड्गखण्डतारकिताम्बरः ।
शक्तिनिर्मुक्तशक्त्योघविभिन्नेभावृतावनिः ॥ २७ ॥
सैन्यव्याकुलवेताललललनोन्मुक्तमुद्गरः ।
गगनोत्तम्भितोत्तुङ्गशूरतोमरतोरणः ॥ २८ ॥
भुशुण्डीभग्नखड्गौघखण्डालीव्योमकुन्तलः ।
कुन्तवेणुवनन्यस्तततापाम्बरकचच्छविः ॥ २९ ॥
खड्गर्ष्टिवृष्टिसम्पुष्टराजपूजितसैनिकः ।
शूलोत्तम्भितसच्छूरग्रहणोद्यमिताप्सराः ॥ ३० ॥
गदातुषारविगलत्स्फुरिताङ्गददिङ्मुखः ।
प्रासप्रसभसम्पिष्टकष्टचेष्टतयोत्कटः ॥ ३१ ॥

और चँवर छिन्नभिन्न हो गये थे, वहांपर क्षेपणीयन्त्रोंसे (एक प्रकारके गुलेलोंसे) फेंके गये पत्थरों और चक्रोंसे पक्षी आदि आकाशचारी बहुत दूर भाग गये थे, मरनेके लिए छटपटा रहे क्षतविक्षत शरीर (बुरी तरह घायल) युद्धाओंके कराहनेसे वहां तेज घर घर शब्द हो रहा था, कुठारोंके आघातोंसे योद्धाओंके मस्तक कट रहे थे, बहुत ऊँचे आकाशमें उड़े हुए चमचमा रहे खड्गोंके टुकड़ोंसे आकाश तारोंसे भरा-सा प्रतीत होता था, पूरे बलसे छोड़े गये शक्ति नामक आयुधोंके संघातसे काटे गये हाथियोंसे भूमि पट गई थी ॥ २२–२७ ॥

वहां सेनादर्शनसे व्याकुल हुई वेतालोंकी स्त्रियाँ मुद्गर छोड़ रही थीं, आकाशमें ऊँचे उठाये हुए शूरवीरोंके तोमर (गँड़ासे) तोरणमाला-से प्रतीत होते थे, भुशुण्डीसे छिन्नभिन्न तलवारोंके टुकड़ोंका समूह आकाशका केशजाल-सा मालूम होता था, वहांपर देदीप्यमान भालोंकी छबि भालोंके समूहरूप वेणुवनमें छोड़ी हुई वनाग्निके सदृश आकाशमें चमक रही थी ॥ २८, २९ ॥

वहांपर अपने सैनिकोंकी तलवार और छूरियोंकी कुशल वृष्टिसे सन्तुष्ट हुए राजाओं द्वारा उनका सम्मान किया जा रहा था, शूलोंपर टँगे हुए अच्छे अच्छे शूरोंको ग्रहण करनेके लिए अप्सराएँ उद्यमशील थीं, हिमवृष्टिसे गल रहे कमलोंके तुल्य गदाओंके गिरनेसे भटोंके मुँह गिर रहे थे, भालोंसे जबरन् कुचल दिये

चक्रक्रकचसञ्चारच्छिन्नाश्वनरवारणः ।
परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ॥ ३२ ॥
लकुटोल्लोडनोड्डीनप्रोड्डामरचटद्भटः ।
यन्त्रपाषाणसम्पातपिष्टकेतुरथद्रुमः ॥ ३३ ॥
करवालविलूनाग्रच्छत्रपङ्कजपाण्डुरः ।
क्षेपणक्षोभसङ्क्षीणसैन्यक्षोभोऽप्यलक्षणः ॥ ३४ ॥
कबन्धबन्धसन्नेतृपातसम्पिष्टपार्श्वगः ।
साङ्कुशाङ्कितसङ्घस्थवीरवारितवारणः ॥ ३५ ॥
परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ।
पाशापाशिविशेषज्ञवीरातिपरिदेवनः ॥ ३६ ॥
क्षुरिकाकुक्षिनिर्भेदगलत्पद्मपतज्जनः ।
त्रिशूलवलनोन्मत्तशूरसङ्करनर्तनः ॥ ३७ ॥

गये भटोंकी दुःखप्रद चेष्टाओंसे भीषण दृश्य हो रहा था, चक्रों और आरोंके प्रहारसे घोड़े, मनुष्य और हाथी छिन्न भिन्न किये गये थे, अनेक कुल्हाड़ोंके वारोंसे मदोन्मत्त हाथियोंका समूह गिर रहा था ॥ ३२ ॥

वहाँपर बड़ी-बड़ी लट्ठियोंसे गौओंकी भाँति हाँकनेसे कोई भट छिप गये थे, कोई भाग रहे थे, तथा वृक्ष, भीत और ढालसे अपनेको ओझल कर रहे थे, क्षेपणीयन्त्रसे फेंके गये पत्थरोंसे रथों और वृक्षोंमें लगी हुई पताकाएँ चूरचूर हो गई थीं, तलवारसे जिनके दण्ड काटे गये थे ऐसे छत्रों और वीरोंके कर्णाभरण रूप कमलोंसे सारा रणस्थल सफेद था, अस्त्रोंके क्षेपणजनित क्षोभसे सैन्यक्षोभ शान्त हो गया था, सैनिकोंके क्षोभकी वहाँ कोई गिनती नहीं थी, कबन्धोंके (सिर कटनेपर भी चलनेवाले धड़ोंके) आलिङ्गनोंसे जीवित-रथ-नायकोंके गिरनेसे नियन्त्रण न होनेके कारण बे-राह चलनेवाले रथ आदिसे आसपास चलनेवाले अनेक भट पीसे जा रहे थे, अङ्कुशयुक्त पीलवानोंके अङ्कुशके आघातसे आहत होनेपर भी युद्धमें प्रहार करनेवाले वीर हाथियोंको भगा रहे थे, कुल्हाड़ोंके वारसे मदोन्मत्त असंख्य हाथी गिर रहे थे, पाशोंके युद्धमें विशारद वीर चारों ओर अपने प्राणोंकी बाजी लगा रहे थे, छूरोंसे पेटको काटनेके कारण हृदयकमल गिर रहे थे और भट धराशायी हो रहे थे, त्रिशूलोंके

धावद्धानुष्कसम्पूर्णकुलकूजितकाकलिः ।
भिन्दिपालसटाटोपहुङ्काराररभटीनटः ॥ ३८ ॥
वज्रमुष्टिविनिष्पिष्टपिष्टसद्भटसङ्कटः ।
श्येनवद्व्योमपदवीप्रोत्पतत्पट्टपट्टिशः ॥ ३९ ॥
अङ्कुशाकृष्टशूरेशरथेभहयकेतनः ।
हलाहलिहतालूनहेलाकुलकुलाचलः ॥ ४० ॥
सुतालोच्चालकुद्दालनिखातवनभूतलः ।
धनुर्द्विगुणमात्रास्तलूनलोकशिलावलिः ॥ ४१ ॥
क्रकचोभयपार्श्वेभच्छिन्नमत्तमतङ्गजः ।
सङ्ग्रामोलूखलक्षुण्णलोकतण्डुलमौसली ॥ ४२ ॥
अस्त्राभाशृङ्खलाजालबद्धसेनाविहङ्गमः ।
लोलासिवीरनिस्त्रिंशनीतवादिगृहाङ्गणः ॥ ४३ ॥

बलसे उन्मत्त शूरवीर प्रबल भट नाच कर रहे थे, दौड़ रहे धनुर्धारियोंके सम्पूर्ण दल अस्फुट और मधुर गीत गा रहे थे, भिन्दिपालके अयालोंके आडम्बर और अहङ्कारपूर्ण वचनोंसे वहांपर नट नृसिंहवेषका अनुकरण कर रहे थे, मल्ल लोगोंकी वज्रमुष्टिसे पीसे गये भटोंसे पीसे गये अन्य भटोंका वहाँपर तांता लगा था, सुन्दर पट्टिश आकाशमार्गमें बाजकी नाईं उड़ रहे थे, शूर पुरुषोंके रथों, हाथियों और घोड़ोंकी पताकाएँ अङ्कुशोंसे खींची जा रही थीं, शत्रुओंके बीचमें अचल रहनेवाले शूरवीर भट हलों द्वारा किये जा रहे युद्धमें मारे गये और काटे गए लोगोंकी अवहेलना करनेमें व्यग्र थे ॥ ३३–४० ॥

बड़े-बड़े ताड़के वृक्षोंके समान ऊँचे पुरुषोंसे, जो कि हाथमें कुदारी लिए थे, वन-भूमियाँ खोदी गईं और सम की गईं थीं, जहाँ तक बाण फेंका जा सकता है, उससे केवल दूने प्रदेशमें युद्धसञ्चारके सुभीतेके लिए लोग हटा दिये थे, चट्टानोंकी पंक्तियाँ काट छाँटकर बराबर कर दी गईं थीं ॥ ४१ ॥

आरोंके दोनों बगलोंसे मत्त मातङ्ग काट डाले गये थे, संग्रामरूपी ऊखल-मूसलसे भटरूपी धानोंको कूटनेवाला मुसलयुद्ध प्रवृत्त था ॥ ४२ ॥

वहाँ अस्त्रोंकी कान्तिकी शृङ्खलारूप जालमें सेनारूपी पक्षी फाँसे गये थे, चञ्चल तलवारको हाथमें लिए हुए वीरोंकी तलवारोंसे वे वकारादिके (वैवस्वतके)

गणशो नीयमानाग्र्यश्वापदारावनिर्भरः ।
नखाङ्गुष्ठखनत्पुङ्खप्रेङ्खारणरणारवैः ॥ ४४ ॥
मरिचैर्व्यञ्जनानीव रञ्जयन्सकलान् रवान् ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भाग्निदग्धयोधेरितायुधः ॥ ४५ ॥
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भाग्निदग्धयोधोज्झितायुधः ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थतप्ताङ्गारहतेक्षणः
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थविषवारिदलज्जनः ॥ ४६ ॥
नाराचवर्षवरवारिदवीरपूर-
मत्ताभ्रसम्भ्रमसनृत्तकबन्धबर्ही ।
कल्पान्तकाल इव वेगविवर्तमान-
मातङ्गशैलवलितो रणसम्भ्रमोऽभूत् ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सेनयोः प्रथमपातवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

यानी यमराजके घरोंके आँगनोंमें पहुँचाये गये थे, अर्थात् यम ही व्याधोंका राजा है, यदि ऐसा न होता तो सेनारूप पक्षी उसके आँगनमें क्यों पहुँचाए जाते ॥ ४३ ॥

युद्धभूमिमें गिरे हुए श्रेष्ठ भटोंको गणशः ले जा रहे व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंके घोर गर्जनसे रणस्थल पूर्ण था, नख जिसमें प्रधान हैं, ऐसे अंगुष्ठोंसे निकाले जा रहे बाणोंके वेगके रण रण शब्दोंसे, जैसे मिरिचसे चटनीमें जायका आ जाता है वैसे ही, अन्य सम्पूर्ण शब्द रञ्जित हो रहे थे, सैनिकों द्वारा घड़ेमें भरकर फेंकी गई अग्निसे तनिक जले हुए प्रतिपक्षके भट शस्त्र-अस्त्र तानकर खड़े हो रहे थे और प्रति-पक्षके सैनिकों द्वारा फेंकी गई उक्त अग्निसे अधिक जल जानेके कारण योद्धा अशक्तिसे शस्त्रत्याग कर रहे थे, प्रतिपक्ष सैनिकों द्वारा घड़ेमें रखकर छोड़े गये तपे हुए अङ्गारोंसे भटोंकी आँखें जाती रहीं, उक्त सैनिकों द्वारा छोड़े गये घड़ेमें स्थित विषमिश्रित जलसे भट गिर रहे थे ॥ ४४–४६ ॥

लोहेके बाणोंकी वृष्टिरूप सुन्दर जलको वर्षानेवाले वीरसंघरूपी मतवाले मेघोंके विलाससे कबन्धरूपी मयूर जिसमें नाच करते थे और वेगसे घूम रहे मत्त मातङ्गरूपी पर्वतोंसे परिवेष्टित वह संग्राम-संघर्ष प्रलयकालके सदृश हुआ ॥४७॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चतुस्त्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ राज्ञां युयुत्सूनां भटानां मन्त्रिणामपि ।
नभसः प्रेक्षकाणां च तत्रेमाः प्रोद्गुर्गिरः ॥ १ ॥
चलत्पद्मं सर इव वहद्विहगमेव च ।
नभः शूरशिरःकीर्णं भाति तारकिताकृति ॥ २ ॥
पश्य रक्तपृषत्पूरसिन्दूरारुणमारुतैः ।
सान्ध्या इव विभान्त्येते मध्याह्नेऽम्बुदभानवः ॥ ३ ॥
किमिदं भगवन् व्योम पलालभरितं स्थितम् ।
नेदं पलालं वीराणामेते शरभराम्बुदाः ॥ ४ ॥
यावन्तो भुवि सिच्यन्ते रुधिरै रणरेणवः ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि भटानामास्पदं दिवि ॥ ५ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

[संग्रामदर्शकोंके मुँहसे प्रकारान्तरसे पुन युद्धके ही चमत्कारका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ युद्धलिप्त राजाओं, युद्धेच्छु योद्धाओं, मन्त्रियों और आकाशमार्गसे संग्रामको देखनेवाले देव, गन्धर्व आदिके मुँहसे ये वचन प्रादुर्भूत हुए ॥ १ ॥

जिसमें हंस, सारस आदि पक्षी उड़ रहे हैं और कमल हिल रहे हैं, ऐसे तालाबके समान शूरवीर पुरुषोंके मस्तकोंसे व्याप्त आकाश तारकित-सा (सितारोंसे व्याप्त-सा) मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

देखिये, रुधिरबिन्दुओंकी राशिरूपी सिन्दूर-से लाल हुए वायुके कारण ये मेघ और सूर्य-किरण मध्याह्नमें सायंकालके-से (लाल-से) प्रतीत होते हैं ॥३॥

कोई दर्शक दूरसे बाणसमुदायमें परालकी भ्रान्ति होनेसे पूछता है—**'किमिदम्'** इत्यादिसे ।

भगवन्, यह आकाश परालराशिसे परिपूर्ण हुआ है क्या ? नहीं, भगवन् यह पराल नहीं है, ये वीर पुरुषोंके बाणराशिरूप मेघ हैं ॥ ४ ॥

रुधिरसे पृथिवीमें जितने रणरेणु (रणभूमिके धूलिकण) सींचे जाते हैं, उतने हजार वर्षों तक भटोंका स्वर्गमें आवास होता है ॥ ५ ॥

मा भैष्ट नैते निस्त्रिंशा लीलोत्पलदलत्विषः ।
अमी वीरावलोकिन्या लक्ष्म्या नयनविभ्रमाः ॥ ६ ॥
वीरालिङ्गनलोलानां नितम्बे सुरयोषिताम् ।
मेखलाः शिथिलीकर्त्तुं प्रवृत्तः कुसुमायुधः ॥ ७ ॥
लसद्भुजलतालोला रक्तपल्लवपाणयः ।
मञ्जरीमत्तनयना मध्वामोदसुगन्धयः ॥ ८ ॥
गायन्त्यो मधुरालापैर्नन्दनोद्यानदेवताः ।
तवाऽऽगमनमाशङ्क्य प्रवृत्ताः परिनर्तितुम् ॥ ९ ॥
प्रत्यनीकं भिनत्त्यन्तः कुठारैः कठिनैरियम् ।
सेना ग्राम्येव वनिता दयितं दृष्टिचेष्टितैः ॥ १० ॥
हा पितुर्मम भल्लेन शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
सूर्यस्य निकटं नीतं कालेनेवाऽष्टमो ग्रहः ॥ ११ ॥
आपादशृङ्खलाप्रोतभ्रमत्स्थूलोपलद्वयम् ।
भ्रामयंश्चित्रदण्डाख्यं चक्रमूर्ध्वभुजो जवात् ॥ १२ ॥

भाई, मत डरो, नील कमलकी पांखुरीके तुल्य कान्तिवाली ये तलवारें नहीं हैं, ये वीरोंका निरीक्षण करनेवाली जयलक्ष्मीके नेत्रविभ्रम हैं ॥ ६ ॥

वीर पुरुषोंका आलिङ्गन करनेके लिए सस्पृह सुराङ्गनाओंके जघनस्थलमें स्थित मेखलाओंको शिथिल करनेके लिए कामदेव तत्पर हो गया है ॥ ७ ॥

सुन्दर भुजलताओंसे मनोहर, लाल पल्लवोंके सदृश कोमल हाथोंसे युक्त, पारिजात आदि-पुष्पमञ्जरियोंके दर्शनसे जिनके नेत्र आह्लादित हैं, आसवकी अत्यन्त सुगन्धिसे सुगन्धित, मधुरसुरसे गा रहीं नन्दनवनकी देवियाँ तुम्हारे आगमनकी आशङ्कासे नाचनेके लिए तत्पर हो गई हैं ॥ ८, ९ ॥

जैसे ग्रामीण सुन्दरी अपने कटाक्षनिरीक्षणोंसे अपने पतिको अन्तःकरणको अधीर कर देती है, वैसे ही यह सेना कठिन कुल्हाड़ोंसे प्रतिपक्षी-सेनाको काट रही है ॥ १० ॥

खेद है, मेरे पिताजीका देदीप्यमान कुण्डलसे युक्त सिर भालेसे कालसे अष्टम ग्रहकी गई सूर्यके निकट भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

पैरों तक लटकी हुई जंजीरमें गूँथे हुए दो बड़े बड़े पत्थरोंसे युक्त चित्र-

योधो यम इवाऽऽभाति याम्यादायाति दिक्तटात् ।
सर्वतः संहरन्सेनामेहि यामो यथागतम् ॥ १३ ॥
सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः परिनृत्यन्ति तालोत्तालारणाङ्गणे ॥ १४ ॥
गीर्वाणगणगोष्ठीषु प्रवृत्ताः सङ्कथा मिथः ।
कदा लोकान्तरं धीरा कथं यास्यन्ति के कुतः ॥ १५ ॥
निगिरत्यागताः सेनाः स्रवन्तीरिव सागरः ।
समत्स्यमकरव्यूहा अहो नु विषमो भटः ॥ १६ ॥
कटेषु करिणां कीर्णा धारानाराचराजयः ।
पतिता इव सम्पूर्णाः शृङ्गसङ्घेषु वृष्टयः ॥ १७ ॥
हा कुन्तेन शिरो नीतं ममेत्येवं विवक्षतः ।
शिरसाऽजीवमित्येवं खे खगेनेव वाशितम् ॥ १८ ॥

दण्डनामक चक्रको वेगसे घुमा रहा ऊपरको बाहु फैलाया हुआ यह भट यमकी नाईं प्रतीत होता है, दक्षिण दिशासे चारों ओर सेनाका संहार करता हुआ इधर आता है, अतः चलो, जहांसे हम आये थे वहीं चलें (यह भीरुकी भीरुके प्रति उक्ति है)॥ १२, १३ ॥

देखिये, तुरन्त कटे हुए कण्ठच्छिद्रोंमें डुबकी लगा रहे सफेद चीलोंसे व्याप्त, युद्धके बाजेके तालसे उछल रहे कबन्ध रणभूमिमें नाच रहे हैं ॥ १४ ॥

देवगणोंकी गोष्ठियोंमें परस्पर यह चर्चा चली थी कि कौन धीर पुरुष, कब, कैसे और किस लिए स्वर्ग आदि लोकोंमें जायँगे ॥ १५ ॥

अहो, यह विक्रान्त भट, जैसे सागर मत्स्य और मगरके समूहोंसे युक्त नदियोंको निगल जाता है, वैसे ही मत्स्याकार और मकराकार व्यूहवाली सन्मुख आई हुई सेनाओंको निगलता है ॥ १६ ॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंमें बिखरे हुए धाराकार बाणोंकी पंक्तियाँ पर्वतोंके शिखरोंपर गिरी हुईं सम्पूर्ण वृष्टियोंके समान शोभित होती हैं ॥ १७ ॥

हा, भालेने मेरा सिर काटा, ऐसा कहनेकी इच्छा कर रहे मेरे कट कर उड़े हुए सिरने स्वर्गारोहणके उत्सवको देखनेसे मैं जी गया न कि मरा, यों हर्षपूर्वक जो आकाशमें वचन कहा, उसे पक्षीके विरुतकी नाईं लोगोंने सुना ॥१८॥

यन्त्रपाषाणवर्षेण यैषाऽस्मान् परिषिञ्चति ।
सेनाऽनुशृङ्खलाजालवलना क्रियतां बलात् ॥ १९ ॥
वलीपलितनिर्मुक्तं पूर्वभार्याऽप्सराः सती ।
अङ्गीकरोति भर्तारं परिज्ञाय रणे हतम् ॥ २० ॥
आदिवं रचिताकाराः कुन्तकाननकान्तयः ।
वीराणां स्वर्गमारोढुमिव सोपानपङ्क्तयः ॥ २१ ॥
कान्तकाञ्चनकान्ताङ्गे भटस्योरसि कामिनी ।
दृष्टा देवपुरन्ध्रीयं भर्तुरन्वेषणान्विता ॥ २२ ॥
हा हतं सैन्यमस्माकं भटैरुद्धतमुष्टिभिः ।
महाप्रलयकल्लोलैः सुरशैलस्थलं यथा ॥ २३ ॥
युध्यध्वमग्रतो मूढा नयतार्द्धमृतान्नरान् ।
निजान् पादप्रहारेण मैतान् दारयताऽधमाः ॥ २४ ॥

जो यह सेना क्षेपणीयन्त्रसे निकले हुए पत्थरोंकी वृष्टिसे हमें सींचती है, उसे जंजीरोंके जालसे जबरदस्ती बाँध दो, ऐसा एक भट दूसरे भटसे कहता था ॥ १९ ॥

पहलेकी पत्नी अप्सरा बन कर रणभूमिमें मारे गये पतिको वलीपलितसे निर्मुक्त यानी देवभूत जानकर ग्रहण कर रही है, यह देवताओंकी उक्ति है ॥२०॥

भालोंके समूहोंकी प्रभाएँ मानो वीरोंके स्वर्गमें चढ़नेके लिए बनाई गईं स्वर्ग पर्यन्त फैली हुईं सोपानपङ्क्तियाँ हैं ॥ २१ ॥

जो भटकी पत्नी स्वतः सुन्दर और स्वर्णाभरणोंसे सुन्दर पतिके वक्षःस्थलमें मरी हुई देखी गई थी, वह यह अप्सरा होकर भर्ताके अन्वेषणमें तत्पर दिखाई देती है ॥ २२ ॥

जैसे महाप्रलयके कल्लोलोंसे सुमेरु पर्वत आहत होता है, वैसे ही उद्धत मुष्टिवाले भटोंसे हमारी सेना मारी जाती है, बड़ा खेद है, यह कातर पुरुषकी उक्ति है ॥ २३ ॥

हे मूढ़ों, आगे बढ कर लड़ो, अपने घायल सैनिकोंको ले जाओ, अधमों, इन बेचारोंको पैरोंके प्रहारसे मत कुचल डालो ॥ २४ ॥

धम्मिल्लवलनाव्यग्रे घनोत्कण्ठेऽप्सरोगणे ।
भटो दिव्यशरीरेण पार्श्वप्राप्तो निरीक्ष्यताम् ॥ २५ ॥
फुल्लहेमारविन्दासु च्छायाशीतजलानिलैः ।
स्वर्गनद्यास्तटीष्वेनं दूरायातं विनोदय ॥ २६ ॥
विविधायुधसङ्घट्टखण्डितोग्रास्थिकोटयः ।
खे कवन्त्यः कणत्कारैः प्रसृतास्तारका इव ॥ २७ ॥
व्योम्नि जीवनदीवाहे वहत्सायकवारिणि ।
चक्रावर्त्तिनि गच्छन्ति गिरयोऽप्यणुपङ्कताम् ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्ग्रहमार्गेषु शिरोभिर्वीरभूभृताम् ।
आयुधांशुलतानाललग्नासिदलकण्टकैः ॥ २९ ॥
केतुपट्टमृणालाङ्गदलैर्लब्धशिलीमुखैः ।
वहद्वातचलत्पद्मं नभः पद्मसरः कृतम् ॥ ३० ॥
मृतमातङ्गसङ्घाते गिराविव पिपीलिकाः ।
भीरवः परिलीयन्ते स्त्रियः पुंवक्षसीव च ॥ ३१ ॥

केशपाशकी रचनामें व्यग्र अत्यन्त उत्कण्ठित अप्सराओंके समुदायमें दिव्य शरीरसे समीपमें प्राप्त हुए इस भटको देखिये ॥ २५ ॥

जिनमें सुवर्णसदृश कमल विकसित हुए हैं, ऐसे मन्दाकिनीके तटोंमें छाया, जल और वायुसे दूरसे आये हुए इस रणयोधाको विश्राम कराओ ॥ २६ ॥

विविध आयुधोंकी चोट लगनेसे टूटी हुई असङ्ख्य बड़ी बड़ी हड्डियां, जो कि कणत्कारसे (कणकण शब्दसे) शब्दायमान हैं, आकाशमें व्याप्त तारिका-सी प्रतीत होती हैं ॥ २७ ॥

जीवरूप नदीप्रवाहवाले, बाणरूपी जलवाले तथा चक्ररूपी आवर्तवाले आकाश-रूपी सागरमें बड़े बड़े पर्वत भी अणुरूपताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२८॥

ग्रहोंके मार्गमें घूमनेवाले राजाओंके सिरोंने आकाशको, जिसमें बह रहे वायुसे कमल चञ्चल हैं, ऐसा कमलोंका तालाब बना दिया है। देखिये न, अस्त्र-शस्त्रोंकी किरणे ही उक्त सिररूपी कमलोंकी लताओंके नालदण्ड हैं, उनसे लगी हुई तलवारें उनके पत्ते हैं, त्रिशूल, भाले आदि उनके काँटे हैं, पताकाओंके वस्त्र उनके मृणालोंके अंगभूत बड़े पत्ते हैं और बाणरूपी भँवरे उनमें लगे हैं ॥ २९, ३० ॥

जैसे पर्वतोंमें पिपीलिकाएँ लीन हो जाती हैं तथा जैसे पुरुषोंके वक्षस्थलोंमें

अपूर्वोत्तमसौन्दर्यकान्तसङ्गमशंसिनः ।
वान्ति विद्याधरस्त्रीणामलकोल्लासिनोऽनिलाः ॥ ३२ ॥

छत्रेषूड्डीयमानेषु स्थितेषु व्योम्नि चन्द्रता ।
इन्दुनेव यशोमूर्त्या कृता शुभ्रातपत्रता ॥ ३३ ॥

भटो मरणमूर्छान्ते निमेषेणाऽमरं वपुः ।
स्वकर्मशिल्पिरचितं प्राप्तः स्वप्नपुरं यथा ॥ ३४ ॥

शूलशक्त्यृष्टिचक्राणां वृष्टयो मुक्ततुष्टयः ।
व्योमाब्धौ मत्स्यमकरसङ्कुलावयवाः स्थिताः ॥ ३५ ॥

शरोत्कृत्तसितच्छत्रकलहंसैर्नभःस्थलम् ।
भाति सञ्चितपूर्णेन्दुबिम्बलक्षैरिवाऽऽवृतम् ॥ ३६ ॥

स्त्रियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे ही मरे हुए हाथियोंके ढेरमें भीरु लोग लीन होते हैं ॥ ३१ ॥

विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके अलकोंको अनुकूलरूपसे हिलानेवाले अतएव अभूतपूर्व उत्तम सौन्दर्यसे सम्पन्न कान्तके मिलनके सूचक मन्द-मन्द वायु बहते हैं। भाव यह कि वायु घरसे आ रहीं विद्याधरोंकी अङ्गनाओंके अलकोंको उल्लासित करनेके कारण अनुकूल होनेसे शकुनरूप हैं। अतएव मनोरथसिद्धिके सूचक हैं ॥ ३२ ॥

उड़ रहे आकाशमें स्थित छत्रोंने मानो चन्द्रताका सम्पादन किया, यशरूप मूर्तिसे चन्द्रमाने भूमिमें शुभ्र छातोंका सम्पादन किया ॥ ३३ ॥

जैसे सोया हुआ पुरुष एक निमेषमें स्वप्ननगरको प्राप्त होता है, वैसे ही भट भी मरणकालीन मूर्छाके बाद एक निमेषमें अपने कर्मरूपी शिल्पी द्वारा निर्मित दिव्य शरीरको प्राप्त हुआ ॥ ३४ ॥

आकाशरूपी सागरमें त्रिशूल, शक्ति, तलवार और चक्रोंकी व्यग्र वृष्टियाँ मछलियों और मगरोंसे व्याप्त-सी स्थित हुईं ॥ ३५ ॥

बाणोंसे काटे गये सफेद छत्ररूपी कलहंसोंसे आकाशस्थल संचित लाखों पूर्णेन्दु-बिम्बोंसे आवृत-सा प्रतीत होता है ॥ ३६ ॥

क्रियते गगनोड्डीनैश्चामरैश्चारुघर्घरैः ।
वातावधूतसंरोधतरङ्गनिकरद्युतिः ॥ ३७ ॥
दृश्यन्ते हेतिदलिताश्छत्रचामरकेतवः ।
आकाशक्षेत्रविक्षिप्ता यशःशालिलता इव ॥ ३८ ॥
वहद्भिर्व्योम्नि सक्षेम पश्य नीता क्षयं शरैः ।
शक्तिवृष्टिरुपायान्ती सस्यश्रीः शलभैरिव ॥ ३९ ॥
एषा प्रसृतदोर्दण्डभटखड्गच्छटात्कृतिः ।
कठिनात् कङ्कटाज्जाता मृत्योरेवोग्रहुंकृतिः ॥ ४० ॥
हेतिकल्पानिलक्षुण्णा दन्तनिर्झरवारयः ।
जनताक्षयकालेऽस्मिन् भग्ना नागा नगा इव ॥ ४१ ॥
सचक्रनाथसूताश्वं व्यूढं रक्तमहाह्रदे ।
हा हाऽभिभूतगतिकं चेष्टते रथपत्तनम् ॥ ४२ ॥

आकाशमें उड़े हुए सुन्दर घर-घर शब्द करनेवाले चँवरोंसे आकाश वायुके वेगसे जिनकी स्थिरता क्षुब्ध हो गई हो, ऐसे तरङ्गोंके समूहकी कान्तिवाला बनाया जा रहा है ॥ ३७ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंसे काटे गये तथा आकाशरूपी खेतमें फेंके गये छाते, चँवर और पताका-वृन्द यशरूपी धानोंके पेड़ोंकी नाईं दिखाई देते हैं ॥ ३८ ॥

हे कुशलिन्, जैसे फलनेके लिए तयार धानोंकी शोभाको आकाशमें उड़ रहा टिड्डियोंका दल नष्ट कर देता है, वैसे ही समीपमें आ रही शक्तियोंकी वर्षा आकाशमें उड़ रहे बाणोंसे नष्ट की गई है, देखो ॥ ३९ ॥

कठिन कवचसे उत्पन्न हुई यह भुजदण्डोंको फैलाये हुए भटके खड्गके वारकी ध्वनि ही मानो मृत्युकी हुङ्कार है ॥ ४० ॥

इस जनक्षयके अवसरमें तलवार आदि अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रलयकालके वायुसे परास्त, दाँतरूपी झरनेके जलसे युक्त [झरनोंकी नाईं दाँत बाहर निकले रहते हैं और सफेद होते हैं अतः झरनोंके साथ दाँतोकी तुलना की गई है] घायल हाथी ही पर्वतोंकी तरह प्रतीत होते हैं ॥ ४१ ॥

हा, खेद है, रुधिरके महान् तालाबमें चक्र, रथारोही वीर, सारथि और घोड़ोंसे युक्त तथा शस्त्रास्त्रसे परिपूर्ण रथरूपी नगर रुद्धगति होकर छटपटा रहा है ॥ ४२ ॥

करकङ्कटकुट्यङ्कखड्गसङ्घट्टटाङ्कृतैः ।
कालरात्र्या प्रनृत्यन्त्या रणवीणेव वाद्यते ॥ ४३ ॥
नरेभखरवाजिभ्यो ये च्युता रक्तनिर्झराः ।
पश्य तद्बिन्दुसिक्तेन वायुनाऽरुणिता दिशः ॥ ४४ ॥
शस्त्रांशुजलदे व्योम्नि कालीचिकुरमेचके ।
शरकोरकभारस्रङ्मेघे विद्युदिवोदिता ॥ ४५ ॥
अनन्तरक्तसंसक्तसन्नावनितलायुधैः ।
भुवनं भात्यभिज्वालमग्निलोक इवाऽऽकुलम् ॥ ४६ ॥
भुशुण्डीशक्तिशूलासिमुसलप्रासवृष्टयः ।
अन्योन्यच्छेदभेदाभ्यां करप्रकरतोऽपतन् ॥ ४७ ॥
अक्षोभैकप्रहरणाद्यातुधान्योन्यचेष्टितम् ।
संरम्भावेक्षणप्रज्ञं रणं स्वप्नमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥

नाच रही कालरात्रि, वीरोंकी भुजाओं, हाथियोंकी सूँड़ों और कवचरूपी वीणाके तारोंमें तलवारके आघातसे उत्पन्न वादनशब्दोंसे मानो वीणा बजाती है ॥ ४३ ॥

मनुष्य, हाथी, घोड़े और गर्दभोंसे जो खूनके झरने निकले उनके बिन्दुओंसे सराबोर वायुसे लाल हुई दिशाओंको देखो ॥ ४४ ॥

जैसे मेघमें बिजलीका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही कालीजीकी केशराशिके समान काले अस्त्र-शस्त्रोंकी किरणरूपी मेघसे युक्त आकाशमें बाणरूपी कलियोंके समुदायकी माला प्रादुर्भूत हुई है ॥ ४५ ॥

असंख्य, रुधिरसे लथपथ, टूटे-फूटे भूखण्डों और अस्त्र-शस्त्रोंसे व्याप्त भुवन अग्निलोककी नाईं चारों ओरसे उठी हुई ज्वालाओंसे युक्त-सा प्रतीत होता है ॥४६॥

उस युद्धस्थलमें परस्पर एक दूसरेको काटने और छेदनके लिए उद्युक्त हस्त-समूहोंसे भुशुण्डी (एक प्रकारका अस्त्र) शक्ति, त्रिशूल, तलवार, मूसल और भालोंकी वृष्टियां गिरती थीं ॥ ४७ ॥

हटनेमें असमर्थ अनेक भटोंमें एक शूरवीर द्वारा अतिशयित हस्तलाघवसे प्रहार करनेके कारण जिसमें राक्षसोंकी मायाके तुल्य शूरोंकी चेष्टाएँ हैं, क्रोधसे निरीक्षण करनेवाली भटोंकी बुद्धि है, ऐसे रणको स्वप्नके समान सामने देखता

अनन्यशब्दाविरतहताहतिरणज्झणैः ।
गायतीव क्षतक्षोभमुदितो रणभैरवः ॥ ४९ ॥
अन्योन्यरणहेत्युग्रचूर्णपूर्णो रणार्णवः ।
वालुकामय एवाऽभूच्छिन्नच्छत्रतरङ्गकः ॥ ५० ॥
सरभसरसवद्विसारितूर्य-
प्रतिरवपूरितलोकपाललोकः ।
रणगिरिरयमुग्रपक्षदक्ष-
प्रतिसृतिवृत्त इवाऽम्बरे युगान्ते ॥ ५१ ॥
हा हा धिक् प्रविकटकंकटाननोद्य-
प्रोड्डीनप्रकटतडिच्छटाप्रतप्ताः ।
क्रेङ्कारस्फुरितगुणेरिता रणन्तो
नाराचाः शिखरिशिलागणं वहन्ति ॥ ५२ ॥

हैं। स्वप्नपक्षमें विनाशके अनुकूल छेदन, भेदन, संचलन आदिसे रहित स्वाप्निक पदार्थोंमें एकमात्र जागरणसे प्रहार किया जाता है यानी बाधा पहुँचाई जाती है, इसलिए वह राक्षसोंकी मायाके तुल्य मिथ्या है और उसमें आत्मप्रज्ञा आवेशसे दर्शन करती है ॥ ४८ ॥

घायल भटोंके क्षोभसे प्रसन्न हुआ रणभैरव अन्यान्य शब्दोंके संमिश्रणसे रहित निरन्तर अन्योन्यके प्रहारसे उत्पन्न झन्कारोंसे मानो गायन करता है ॥ ४९ ॥

कटे हुए छाते ही जिसमें तरङ्गसे प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा परस्पर युद्धमें प्रयुक्त अस्त्रशस्त्रोंके प्रचुर चूर्णसे परिपूर्ण रणभूमिरूप सागर बालुकामय ही हो गया है ॥ ५० ॥

जिसने मधुर फैलनेवाले और तुरही आदि बाजोंकी प्रतिध्वनियोंसे वेगके साथ लोकपालोंके लोकको भर दिया है, ऐसा रणरूपी यह पर्वत प्रलयकालमें युद्धमें कठोर हुए दो सेनारूपी परोंके प्रबल परस्पर प्रतिकूल संचलनसे अकाशमें उड़नेके लिए तैयार हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

बड़े खेदकी बात है, अत्यन्त कठिन कवचोंको बिना तोड़े ही कवचोंमें उनके ढकरानेसे आकाशमें उड़ी हुई बिजलीके सदृश अग्निकी ज्वालाओंसे

छिन्नेच्छाच्छमिति न यावदङ्गभङ्गं
कुर्वन्तो ज्वलदनलोज्ज्वलाः पृषत्काः ।
तावद् द्राग्द्रुतमिति एहि मित्र यामो
यामोऽयं प्रवहति वासरश्चतुर्थः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने रणप्रेक्षकजनोक्तिवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ प्रोड्डयनोद्युक्ततुरङ्गमतरङ्गकः ।
उत्ताण्डव इवोन्मत्तो बभूव स रणार्णवः ॥ १ ॥

तपे हुए बाण जो कि क्रेंकार ध्वनिके साथ विस्तारित प्रत्यञ्चासे छोड़े गये हैं, अतएव शब्द कर रहे हैं, समीपवर्ती पर्वतकी शिलाओंको छेदकर धारण करते हैं। कठिन कवचोंपर निष्फल हुए अपने प्रबल बाणोंके लिए शोक कर रहे वीरोंकी यह उक्ति है ॥ ५२ ॥

हे मित्र, युद्धसे हुई थकावटसे आपकी युद्धेच्छा शान्त हो गई है, अतः आपसे मैं निर्दोष हितकी बात करता हूँ, उसे सुनिए। जबतक जल रही अग्निसे उज्वल बाण हम लोगोंके अङ्गोंको भङ्ग नहीं करते, तबतक चलो, शीघ्र दौड़कर इधरसे चले जावें, क्योंकि यह चौथा प्रहर यमका ही दिन है ॥ ५३ ॥

चौंतीसवां सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

[समुद्र, वन, प्रलय आदि विविधरूपकोंसे चतुरङ्गिणी सेनाके संग्रामका विस्तारसे वर्णन]

पहले तेरह श्लोकोंसे समुद्रके रूपकसे संग्रामका वर्णन करनेके लिए वसिष्ठजी कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मानो उड़नेके लिए तैयार

छत्रडिण्डीरविश्रान्तसितेषुशफरोत्करः ।
अश्वसैन्योल्लसल्लोलकल्लोलाकुलकोटरः ॥ २ ॥
नानायुधनदीनीतसैन्यावर्तविवृत्तिमान् ।
मत्तहस्तिघटापीठचलाचलकुलाचलः ॥ ३ ॥
कचचक्रशतावर्तवृत्तिभ्रान्तशिरस्तृणः ।
धूलीजलधरापीतभ्रमत्खड्गप्रभाजलः ॥ ४ ॥
मकरव्यूहविस्तारभग्नाभग्नभटौघनौः ।
महागुडुगुडावर्तप्रतिश्रुद्घनकन्दरः ॥ ५ ॥

घोड़े ही जिसमें तरङ्गका रूप धारण किये हुए थे, ऐसा वह संग्रामरूपी सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्तके तुल्य हुआ ॥ १ ॥

उक्त रणसागरमें इधर-उधर बिखरे हुए छातेरूपी समुद्रफेनमें अटके हुए सफेद बाणरूपी छोटी-छोटी मछलियोंके समूह थे, घुड़सवार सैनिकरूपी उछल रही चञ्चल कल्लोलोंसे (बड़ी लहरोंसे) उसके कोटरोंमें हलचल मची थी, भाँति भाँतिके अस्त्रशस्त्ररूपी नदियोंमें बने हुए सैनिकरूपी आवर्त (जल-भौंरी) उसमें भ्रमण कर रहे थे, उसमें मदोन्मत्त हाथियोंके दलरूपी आमूल चञ्चल मन्दराचल थे, चमचमा रहे सैकड़ों चक्ररूपी आवर्तोंके भ्रमणसे उनसे (चक्रोंसे) काटे गये सिररूपी तिनके उसमें घूम रहे थे, धूलिरूपी बादलोंने उक्त रणसमुद्रमें चल रही तलवारोंकी प्रभारूपी जलको पी डाला था* ॥ २–४ ॥

मकराकार व्यूहोंके (एक प्रकारके सेनासंनिवेशोंके) विस्तारसे भट-समुदायरूपी नौकाएँ भग्न और अभग्न थीं, जैसे जल-सागरमें बड़े विशाल मगरोंके कारण कुछ नौकाएँ नष्ट और कुछ अनष्ट रहती हैं, वैसे ही उक्त रणसागरमें मकराकार सेनाव्यूहके विस्तारसे कुछ भट भग्न थे और कुछ अभग्न थे । बड़ी भारी गड़गड़ाहट करनेवाले रथादिरूपी आवर्तके शब्दसे उक्त रणसागरमें बड़ी बड़ी पर्वतोंकी कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं ॥ ५ ॥

* जैसे सागरके जलको मेघ पी डालते हैं, वैसे ही वहांपर धूलिपटलने घूम रहीं तलवारोंकी प्रभाको- पी डाला था, यानी छिपा दिया था। यहापर आच्छादनकी पानरूपसे कल्पना की गई है ।

मीनव्यूहविनिष्क्रान्तशरबीजौघसर्षपः ।
हेतिवीचीवराऌूनपताकावीचिमण्डलः ॥ ६ ॥
शस्त्रवारिकृताम्भोदसदृशावर्तकुण्डलः ।
संरम्भघनसंचारसेनातिमितिमिङ्गिलः ॥ ७ ॥
कृष्णायसपरीधानवलत्सेनाम्बुभीषणः ।
कबन्धावर्तलेखान्तर्बद्धसैन्यादिभूषणः ॥ ८ ॥
सरसीकरनीहारसान्धकारककुब्गणः ।
निर्घोषाशोषिताशेषशब्दैकघनघुंघुमः ॥ ९ ॥

जैसे सागरमें मछलियोंके समूहोंसे उत्पन्न हुए सरके (काशके) बीजोंके ढेरकी नाईं सरसोंके आकारके सफेद अण्डे बिखरे रहते हैं, वैसे ही उक्त संग्रामभूमिमें मरे हुए लोगोंके समूहसे उन्हें छिन्न-भिन्न कर निकले हुए बाणरूपी सरसोंकी छिमियाँ बिखरी थीं, अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रधान लहरोंने पताका-रूपी छोटी लहरोंके मण्डलको छिन्न-भिन्न कर दिया था, तलवार आदि शस्त्र-रूपी जलसे निर्मित मेघके समान अस्थिर आवर्त उक्त रणसागरके कुण्डल थे, मारे क्रोधके शीघ्र चलनेवाली सेना ही उसमें तिमि और तिमिङ्गिल* (महामत्स्य-जाति) थे, वह रणसागर लोहमय कवचोंको धारण की हुई इधर-उधर चलती हुई सेनारूपी जलसे भीषण था, उसमें कवचरूपी जलके आवर्तकी पङ्क्तिके मध्यमें सैनिकोंके भूषण प्रतिबिम्बित थे ॥ ६–८ ॥

बाणरूपी जलकणोंके कुहरेसे दसों दिशाएँ अन्धकार पूर्ण थीं, उस रण-सागरने अपने निर्घोषसे सम्पूर्ण शब्दोंको असंवेद्य कर दिया था, अतएव उसमें एकमात्र निबिड घुंघुम शब्द होता था ॥ ९ ॥

---

* अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत· । भरतधृतवाक्य ।

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम तथा चास्ति तिमिङ्गिल· ।

तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ॥ रामायणवाक्य

यानी तिमि नामकी मछली सौ योजनकी है, उसको निगलनेवाली मछलीका नाम तिमिङ्गिल है और तिमिङ्गिलको निगलनेवाली मछली भी है, जो राघव कहलाती है ।

पतनोत्पतनव्यग्रशिरःशकलसीकरः ।
आवर्तचक्रव्यूहेषु प्रभ्रमद्भटकाष्ठकः ॥ १० ॥
कष्टटाङ्कारकोदण्डकुण्डलोन्मथनोद्भटः ।
अशङ्कमेव पातालादिवोद्यत्सैनिकोर्मिमान् ॥ ११ ॥
गमागमपरानन्तपताकाच्छत्रफेनिलः ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानरथद्रुमः ॥ १२ ॥
गजप्रतिमसम्पन्नमहारुधिरबुद्‌बुदः ।
सैन्यप्रवाहविचलद्धयहस्तिजलेचरः ॥ १३ ॥
ससंग्रामोम्बरग्राम इवाऽऽश्चर्यकरो नृणाम् ।
अभूत् प्रलयभूकम्पकम्पिताचलचञ्चलः ॥ १४ ॥
तरत्तरङ्गविहगः पतत्करिघटातटः ।
त्रस्तभीरुमृगानीकस्फूर्जद्‌घुरुघुरारवः ॥ १५ ॥
सरच्छरालीशलभशतभङ्गुरसैनिकः ।
तरत्तुरङ्गशरभः शरभारवनावनिः ॥ १६ ॥

गिरने और उछलनेसे व्यग्र सिरोंके खण्ड ही उसमें जलकण थे, आवर्तरूपी चक्रोंके समूहोंमें भटरूपी काष्ठ घूम रहे थे ॥ १० ॥

क्लेशकारक टङ्कारवाले धनुषरूपी सर्पोंके छेदनमें भट तत्पर थे, निश्शङ्क होकर पातालसे मानों निकल रहे सैनिकरूपी लहरोंसे युक्त था ॥ ११ ॥

गमन और आगमनमें तत्पर अनन्त पताका और छत्र ही उसमें फेन थे, बह रही रुधिरकी नदीके वेगमें रथरूपी वृक्ष बहाये जा रहे थे ॥ १२ ॥

रुधिरके बड़े-बड़े बुद्‌बुद् हाथीके सदृश हो गये थे, सेनारूपी प्रवाहमें हाथी-घोड़े-रूपी जल-जन्तु वहाँ इधर-उधर चल रहे थे ॥ १३ ॥

वह रणसागर संग्रामयुक्त अम्बरग्रामके (गन्धर्वनगरके) सदृश मनुष्योंके लिए बड़ा आश्चर्यकारी हुआ। वह संग्राम क्या था, एक प्रकारका प्रलय ही था, प्रलयकालके भूकम्पसे कँपाए गये पर्वतोंके सदृश चञ्चल था, उसमें पक्षी तैरती तरङ्गोंके समान थे, गजघटारूपी तट गिर रहे थे। भयभीत भीरु हरिणरूपी सेनाका घुरघुर शब्द प्रलयकालीन वज्रनिर्घोषके तुल्य था, इधरसे उधर सरसराते बाणोंकी पङ्क्तिसे सैकड़ों शलभोंके (पतङ्गोंके) समान सैनिक गिर रहे थे, दौड़ते हुए घोड़े ही जिसमें मृग थे, बाणोंसे संघात ही अथवा बाणधारी योद्धा

चलद्विरेफनिर्ह्रादो रसत्तूर्यगुहागुरुः ।
चिरात् ससैन्यजलदो लुठद्भटमृगाधिपः ॥ १७ ॥
प्रसरद्धूलिजलदो विगलत्सैन्यसानुमान् ।
पतद्रथवराढ्याङ्गः प्रतपत्खड्गमण्डलः ॥ १८ ॥
प्रोत्पतत्पदपुष्पौघः पताकाच्छत्रवारिदः ।
वहद्रक्तनदीपूरपतत्साराववारणः ॥ १९ ॥
सोऽभूत् समरकल्पान्तो जगत्कवलनाकुलः ।
पर्यस्तसध्वजच्छत्रपताकारथपत्तनः ॥ २० ॥
पतद्विमलहेत्योघभूरिभास्वरभास्करः ।
कठिनप्राणसन्तापतापिताखिलमानसः ॥ २१ ॥
कोदण्डपुष्करावर्तशरधारानिरन्तरः ।
वहत्खड्गशिलालेखाविद्युद्वलयिताम्बरः ॥ २२ ॥
उच्छिन्नरक्तजलधिपतितेभकुलाचलः ।
नभोविकीर्णनिपतद्युत्तारकणतारकः ॥ २३ ॥

ही उसमें वनपूर्ण भूमि थी, उसमें चल रहे सैनिकरूपी भ्रमरोंका गुंजार हो रहा था, बज रहीं तुरहीरूप गुहाओंसे उसका विस्तार कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था, सेना-युक्त गज आदि ही उसमें मेघ थे, लुढ़क रहे भट ही उसमें सिंह थे, चतुरङ्गिणी सेनाके संचारसे उड़ी हुई धूलि मेघरूपमें परिणत हो गई थी, सैनिकरूपी पर्वत उसमें गल रहे थे, महारथोंके अवयव चूरचूर होकर गिर रहे थे, तलवारें अपना प्रताप दिखा रहीं थीं, पदचिह्नरूपी फूलोंकी राशियां उड़ रहीं थीं, पताकाओं और छातोंने मेघोंका रूप धारण कर रक्खा था, हाथी बह रही रुधिरकी नदीके प्रवाहमें गिरनेके कारण चिंघाड़ रहे थे, इस प्रकारका वह समररूपी प्रलय जगतको निगलनेमें बड़ी त्वरासे प्रवृत्त हुआ। उसमें ध्वजाओं, छत्रों और पताकाओंसे युक्त रथरूपी नगर इधर-उधर अस्तव्यस्त हो रहे थे, वीरोंके ऊपर गिर रहे अस्त्र-शस्त्रोंके समूहरूपी अनेक देदीप्यमान सूर्य तप रहे थे, घोर प्राणपीड़ासे सब लोगोंके मन सन्तप्त हो रहे थे, वीरोंके धनुषरूपी पुष्करावर्तों (प्रलयकालके मेघों) से निकली हुई बाणवृष्टिरूपी मूसलाधार वृष्टिसे वह चारों ओर व्याप्त था, चमचमा रहीं तलवारोंकी सानमें तीखी की गई धाररूपी बिजलीसे सारा आकाश परिवेष्टित था, उसमें कटे लोगोंके शरीरोंसे निकले हुए रुधिरके समुद्रमें हाथीरूपी

चक्रकुल्याम्बुदावर्तपूर्णव्योमशिराम्बुदः ।
अस्त्रकल्पाग्निनिर्दग्धसैन्यलोकान्तरक्रमः ॥ २४ ॥
हेतिवर्षाशनिच्छन्नभूतलामलभूधरः ।
गजराजगिरिव्रातपातपिष्टजनव्रजः ॥ २५ ॥
शरधाराघनानीकमेघच्छन्नमहीनभाः ।
महानीकार्णवक्षोभसङ्घट्टघटिताद्रवः ॥ २६ ॥
व्याप्त उग्रानिलोद्धूतैर्जलव्यालैरिवाऽचलः ।
अन्योन्यदलनव्यग्रैः शस्त्रोत्पात इवोत्थितैः ॥ २७ ॥
शूलासिचक्रशरशक्तिगदाभुशुण्डी-
प्रासादयो विदलनेन मिथो ध्वनन्तः ।
दीप्ता अधुर्दश दिशः शतशो भ्रमन्तः
कल्पान्तवातपरिवृत्तपदार्थलीलाम् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे रणवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

पर्वत डूब गये थे। आकाशमें फैले हुए नीचे गिर रहे अन्य रुधिरबिन्दुओंसे मिलकर स्थूल हुए (रुधिरबिन्दु) ही उसमें तारे थे, अनेक चक्रोंकी परम्परारूपी छोटी नदियोंसे, जो कि मेघप्रदेशमें घूमनेपर प्रचुर भौंरीवाली प्रतीत होती थीं, आकाशमण्डल और मेघ भरे थे, वहां अस्त्रशस्त्ररूप प्रलयाग्निसे जले हुए सैनिक परलोकगमन कर रहे थे, शस्त्रास्त्रोंकी वृष्टिरूपी वज्रसे भूतलरूपी निर्मल पर्वत आच्छन्न थे, उसमें गजराजरूपी पर्वतोंकी राशियोंके गिरनेसे जनसमूह चूर-चूर हो गया था ॥ १४—२५ ॥

सैनिकरूपी मेघोंने निबिड बाणवृष्टिरूपी वर्षासे महीतल और आकाशमण्डलको आच्छन्न कर दिया था, क्रमशः महासेनारूपी सागरके संक्षोभसे (क्रोधसे) उत्पन्न संघट्टसे चारों ओर पलायन होने लगा ॥ २६ ॥

जैसे उग्र झञ्झावातसे उड़ाये गये जलके सापोंसे समुद्रके गर्भमें स्थित पर्वत व्याप्त होता है, वैसे ही परस्पर एक दूसरेको काटनेमें व्यग्र, मानो शस्त्र वर्षानेवाले प्रलयोत्पातमें उत्पन्न हुए शस्त्रोंसे रणभूमि व्याप्त थी ॥ २७ ॥

परस्पर एक दूसरेको काटनेसे शब्द कर रहे और झुण्डके साथ

दसों दिशाओंमें घूम रहे देदीप्यमान् त्रिशूल, तलवार, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, तोप, भाले आदिने प्रलयकालके तीक्ष्ण वायुसे कँपाये जा रहे (झकझोरोंके साथ हिलाये जा रहे) पत्थर, वृक्ष, शस्त्र आदि पदार्थोंके विलासको धारण किया ॥२८॥

पैंतीसवां सर्ग समाप्त

षड्त्रिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ शृङ्गोपमानेषु स्थितेषु शरराशिषु ।
सर्वभीरुषु भग्नेषु विद्रुतेषु दिशो दश ॥ १ ॥
मातङ्गशवशैलेषु विश्रान्ताम्बुदपङ्क्तिषु ।
यक्षरक्षःपिशाचेषु क्रीडत्सु रुधिरार्णवे ॥ २ ॥
महतां धर्मनिष्ठानां शीलौजःसत्त्वशालिनाम् ।
शुद्धानां कुलपद्मानां वीराणामनिवर्तिनाम् ॥ ३ ॥
द्वन्द्वयुद्धानि जातानि मेघानामिव गर्जताम् ।
मिथो निगरणोत्कानि मिलन्त्यापगपूरवत् ॥ ४ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

[समान अस्त्र-शस्त्रोंसे द्वन्द्वयुद्ध और पूर्व आदि देशोंके साथ उन देशोंके अधिपतिरूप सहायकोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मेघपंक्तियां जिनमें विश्राम ले रही थीं ऐसे हाथियोंके शवरूपी शैलोंमें अति उन्नत होनेके कारण स्थित बाणराशियोंके शिखरसदृश होनेपर, घायल हुए सम्पूर्ण भीरु भटोंके दसों दिशाओंकी ओर भागनेपर, यक्ष, राक्षस और पिशाचोंके रुधिरके समुद्रोंमें जलक्रीड़ा करनेपर, गर्ज रहे मेघोंकी नाईं सच्चरित्रता, तेजस्विता और बलसे परिपूर्ण, धर्मनिष्ठ, शुद्ध, अपने कुलके कमलरूप यानी अपने यश आदिसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले और युद्धमें पीठ न दिखानेवाले महावीरोंके द्वन्द्वयुद्ध हुए। वे द्वन्द्वयुद्ध परस्पर एक दूसरेको निगलनेके लिए उत्सुक थे और उक्त द्वन्द्वयुद्धोंके कर्ता वीरगण नदियोंके प्रवाहोंके समान परस्पर मिलते थे ॥ १–४ ॥

पञ्जरः पञ्जरेणेव गजौघेन गजोच्चयः ।
सवनः सवनेनाऽद्रिरद्रिणेवाऽमिलद्बलात् ॥ ५ ॥
अश्वौघो मिलदश्वानां वृन्देनाऽऽराविरंहसा ।
तरङ्गौघेन घोषेण तरङ्गौघ इवाऽर्णवे ॥ ६ ॥
नरानीकं नरानीकः समायुधमयोधयत् ।
वेण्वोघमिव वेण्वोघो मरुल्लोलो मरुद्बलम् ॥ ७ ॥
रथौघश्च रथौघेन निष्पिपेषाऽखिलं वपुः ।
नगरं नगरेणेव दैवेनोड्डीनमासुरम् ॥ ८ ॥
सरच्छरभरासाररचितापूर्ववारिदम् ।
युयुधे स्थगिताकाशा धनुर्धरपताकिनी ॥ ९ ॥
विषमायुधयुद्धेषु योद्धारः पेलवाशयाः ।
यदा युक्त्या पलायन्ते रणकल्पानले तदा ॥ १० ॥
मिलिताश्चक्रिणश्चक्रैर्धनुर्धारैर्धनुर्धराः ।
खड्गिभिः खड्गयोद्धारो भुशुण्डीभिर्भुशुण्डयः ॥ ११ ॥

जैसे पञ्जर पञ्जरके साथ मिलता है, हाथियोंका झुण्ड हाथियोंके झुण्डके साथ बड़े वेगसे मिलता है, जैसे वनसे युक्त पर्वत वनयुक्त अन्य पर्वतके साथ मिलता है, वैसे ही दोनों पक्षोंके वीर परस्पर बड़े वेगसे मिले ॥ ५ ॥

जैसे सागरमें तरङ्गोंके समूहसे तरङ्गोंका समूह शब्दपूर्वक मिलता है वैसे ही उस युद्धमें घोड़ोंके समूहसे घोड़ोंका समूह शब्दपूर्ण वेगसे मिला ॥ ६ ॥

जैसे वायुसे चञ्चल बाँसोंका समूह वायुसे हिलनेवाले बाँसोंके समूहके साथ लड़ता है वैसे ही नरसेनाने अपने समान आयुधवाली नरसेनासे लड़ाई की ॥ ७ ॥

जैसे उड़ा हुआ असुरनगर देवनगरसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको चूरचूर करे, वैसे ही रथोंके समूहने रथोंके समूहसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको खूब चूरचूर किया ॥ ८ ॥

बाणोंसे पाट दिया है आकाश जिसने ऐसी धनुर्धरोंकी सेनाने सरसराते हुए असंख्य बाणोंकी मूसलाधार वृष्टिसे अद्भुत मेघोंका निर्माण करते हुए युद्ध किया ॥ ९ ॥

जब उन विषमायुधवाले युद्धोंमें युद्धरूपी प्रलयाग्नि भड़की तब भयभीत चित्तवाले योद्धा लोग किसी-न-किसी बहानेसे भागने लगे ॥ १० ॥

परस्पर युद्धके लिए सन्नद्ध हुए चक्रधारी लोगोंने चक्रधारी लोगोंसे, धनुर्धारियोंने

मुसलैर्मुसलोदाराः कुन्तिनः कुन्तिधारिभिः ।
ऋष्ट्यायुधा ऋष्टिधरैः प्रासिभिः प्रासपाणयः ॥ १२ ॥
समुद्गरा मुद्गरिभिः सगदैर्विलसद्गदाः ।
शाक्तीकैः शक्तियोद्धारः शूलैः शूलविशारदाः ॥ १३ ॥
प्रासासनाविदः प्रासैः परशूक्ता परश्वधैः ।
लकुटोघैर्लकुटिनश्चोपलैरुपलायुधाः ॥ १४ ॥
पाशिभिः पाशधारिण्यः शङ्कुभिः शङ्कुधारिणः ।
क्षुरिकाभिस्तु क्षुरिका भिन्दिपालैश्च तद्गताः ॥ १५ ॥
वज्रमुष्टिधरा वज्रैरङ्कुशैरङ्कुशोद्धताः ।
हलैर्हलनिकाषज्ञास्त्रिशूलैश्च त्रिशूलिनः ॥ १६ ॥
शृङ्खलाजालिनो जालैः शृङ्खलैरलिकोमलैः ।
क्षुभिताकल्पविक्षुब्धसागरोर्मिघटा इव ॥ १७ ॥

धनुर्धारियोंसे, तलवारसे लड़नेवाले लोगोंने तलवारधारियोंसे, भुशुण्डी धारण करनेवाले लोगोंने भुशुण्डी-धारियोंसे, मुसलोंसे युद्ध करनेमें विशारद भटोंने मुसलधारियोंसे, भाले धारण करनेवालोंने भाला धारण किये हुए भटोंसे, ऋष्टि-नामक हथियारसे लड़नेवालोंने ऋष्टिधारियोंसे, बल्लोंसे लड़नेवालोंने बल्लधारियोंसे, मुद्गरधारियोंने मुद्गरधारियोंसे, गदा धारण किये हुए भटोंने गदाधारियोंसे, शक्तिसे युद्ध करनेवालोंने शक्तिधारियोंसे, शूल चलानेमें दक्ष भटोंने शूलधारियोंसे, प्रासोंको (भालोंको) चलानेमें निपुण भटोंने प्रासधारियोंसे, कुल्हाड़ोंके वारमें प्रसिद्धि-प्राप्त भटोंने कुल्हाड़ाधारी भटोंसे, दण्डधारियोंने बाँसोंके बड़े-बड़े डण्डोंको हाथोंमें उठाये हुए भटोंसे, पत्थरोंसे लड़नेवाले भटोंने पत्थरोंसे लड़नेवाले भटोंसे, पाश (जाल) धारी भटोंने पाशधारियोंसे, कील धारण करनेवाले भटोंने कील-धारियोंसे, छूरे धारण करनेवाले भटोंने छूरी धारण करनेवाले भटोंसे, भिन्दिपाल धारण करनेवाले भटोंने भिन्दिपालधारियोंसे, वज्ररूप मुष्टिको धारण करनेवाले भटोंने वज्ररूपी मुष्टिको धारण करनेवाले भटोंसे, अङ्कुशोंसे उद्धत यानी अङ्कुशयुद्धमें विशारद भटोंने अङ्कुशधारी भटोंसे, हलसे निघर्ष करनेमें अभिज्ञ भटोंने हल-धारियोंसे, त्रिशूलधारियोंने त्रिशूलधारियोंसे, कवचकी नाईं लोहेकी जंजीरोंका जालीदार कोट शृङ्खलाजाल कहलाता है, उसको पहने हुए घुड़सवार भटोंने

क्षुब्धचक्रदलावर्तः शरसीकरमारुतः ।
प्रभ्रमद्धेतिमकरो व्योमैकार्णव आबभौ ॥ १८ ॥
उत्फुल्लायुधकल्लोलशिरा कुलजलेचरः ।
रोदोरन्ध्रसमुद्रोऽसौ बभूवाऽमरदुस्तरः ॥ १९ ॥
दिव्याष्टकजनानीकं पक्षद्वयतया तया ।
अर्द्धेनाऽर्द्धेन कुपितं भूपालाभ्यां तथा स्थितम् ॥ २० ॥
मध्यदेशादिसंख्याने प्राग्दिग्भ्योऽभ्यागतानिमान् ।
लीलानाथस्य पद्मस्य पक्षे जनपदाञ्छृणु ॥ २१ ॥

जालदार कवच पहने हुए घुड़सवारोंसे ऐसे युद्ध किया जैसे कि प्रलयकालमें विक्षुब्ध महासागरकी आकाश-पाताल एक करनेवाली बड़ी-बड़ी लहरोंकी घटाएँ आपसमें टकराती हैं ॥ ११-१७ ॥

वह युद्धाकाशरूपी एकमात्र सागर अति सुशोभित हुआ । उसमें वार करनेके लिए व्याकुल चक्रोंकी राशियाँ ही आवर्त थे, वायु बाणरूपी जलकणोंसे युक्त थे, आयुधरूपी मगर इतस्तत घूम रहे थे ॥ १८ ॥

पृथिवी और अन्तरिक्षका मध्यभागरूपी वह सागर अमर (जीवित) लोगोंसे दुस्तर हुआ, उसमें चमचमा रहे हरबे-हथियाररूपी तरङ्गोंकी शाखा-प्रशाखाओंसे जलचररूपी भट व्याकुल थे ॥ १९ ॥

आयुधविद्या, बुद्धि, बल, शूरता, अस्त्रशस्त्र, घोड़े, रथ और धनुष ये आठ जिनके अप्रतिहत हैं, ऐसे भटोंकी सेना पूर्वमें प्रतिपादित द्वन्द्वशः मिले हुए दो पक्ष होनेसे दोनोंकी सेनाओंमें आधे आधे भागमें कुपित होकर स्थित रही, क्योंकि दोनों राजा—विदूरथ और सिन्धुराज—उनके अनुकूल ही स्थित रहे । अथवा इस श्लोकका अर्थ यों करना चाहिए—यक्ष, राक्षस, पिशाच और असुर एक ओर, देवता गन्धर्व, किन्नर और विद्याधर एक ओर यों आठ दिव्य पुरुषोंका समूह भावी जय और पराजयके अनुसार दो पक्षोंमें बट कर सम्पूर्ण सेनाके आधे आधे भागसे कुपित होकर स्थित हुआ, क्योंकि वे दो राजे भी तदनुरूप अदृष्टसे युक्त थे ॥ २० ॥

अब विदूरथ और सिन्धुराजके सहायक लोगोंका पूर्व आदि दिशाओंके भेदसे क्रमशः वर्णन करनेकी श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'**मध्यदेशादि०**' इत्यादिसे ।

पूर्वस्यां कोसलाः काशिमागधा मिथिलोत्कलाः ।
मेखलाः कर्करा मुद्रास्तथा संग्रामशौण्डकाः ॥ २२ ॥
मुख्या हिमा रुद्रमुख्यास्ताम्रलिप्तास्तथैव च ।
प्राग्ज्योतिषा वाजिमुखा अम्बष्ठाः पुरुषादकाः ॥ २३ ॥
वर्णकोष्ठाः सविश्वोत्रा आममीनाशनास्तथा ।
व्याघ्रवक्त्राः किराताश्च सौवीरा एकपादकाः ॥ २४ ॥
माल्यवान्नाम शैलोऽत्र शिविराञ्जन एव च ।
वृषलध्वजपद्माद्यास्तथोदयकरो गिरिः ॥ २५ ॥
अथ प्राग्दक्षिणायां तु इमे विन्ध्यादिवासिनः ।
चेदयो वत्सदाशार्णा अङ्गबङ्गोपबङ्गकाः ॥ २६ ॥
कलिङ्गपुण्ड्रजठरा विदर्भा मेकलास्तथा ।
शबराननवर्णाश्च कर्णात्रिपुरपूरकाः ॥ २७ ॥
कण्टकस्थलनामानः पृथग्दीपककोमलाः ।
कर्णान्ध्राश्चौलिकाश्चैव तथा चार्मण्वता अपि ॥ २८ ॥
काकका हेमकुड्याश्च तथा श्मश्रुधरा अपि ।
बलिग्रीवमहाग्रीवाः किष्किन्धानालिकेरिणः ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, मध्य देश आदिकी गणनामें पूर्व दिशासे लीलाके स्वामी महाराज पद्मकी सहायताके लिए आये हुए नीचे कहे जानेवाले देशोंके अधिपतियोंको मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ २१ ॥

पूर्व दिशाके कोशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्रामशौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, कच्ची मछली खानेवाले, व्याघ्र-सदृश मुखवाले, किरात, सौवीर और एकपादक—इन चौबीस देशोंके सहायक आये थे । माल्यवान्नामक पर्वत, शिवि, आञ्जन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदय-पर्वत इन सात शैलोंके सहायक आये ॥ २२–२५ ॥

पूर्व-दक्षिण दिशामें लीलाके पति पद्मके बिन्ध्य पर्वतके पूर्वभागके देश, चेदि, वत्स, दाशार्ण, अङ्ग, बङ्ग, उपबङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेकल, शवरानन, शवरवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थ, पृथग्दीपक, कोमल,

अथ लीलापतेरस्य दक्षिणस्यामिमे नृपाः ।
विन्ध्योऽथ कुसुमापीडो महेन्द्रो दर्दुरस्तथा ॥ ३० ॥
मलयः सूर्यवांश्चैव गणा राज्यसमृद्धकाः ।
अवन्तीरिति विख्यातास्तथा शाम्बवतीति च ॥ ३१ ॥
दशपूरकथाचक्रारेषिकातुरकच्छपाः ।
वनवासोपगिरयस्ते भद्रगिरयस्तथा ॥ ३२ ॥
नागरा दण्डकाश्चैव गणराष्ट्रनृराष्ट्रकाः ।
साहा शैवार्ष्यमूकाश्च कर्कोटा वनबिम्बलाः ॥ ३३ ॥
पम्पानिवासिनश्चैव कैरकाः कर्कवीरकाः ।
स्वेरिका यासिकाश्चैव धर्मपत्तनपञ्जिकाः ॥ ३४ ॥
काशिकास्तृणखल्लूला यादास्ते ताम्रपर्णकाः ।
गोनर्दाः कनकाश्चैव दीनपत्तननामकाः ॥ ३५ ॥
ताम्रीका दम्भराकीर्णाः सहकारैणकास्तथा ।
वैतुण्डकास्तुम्बवनालाजिनद्वीपकर्णिकाः ॥ ३६ ॥
कर्णिकाभाश्च शिबयः कौकङ्कणाश्चित्रकूटकाः ।
कर्णाटमण्टवटका महाकटकिकास्तथा ॥ ३७ ॥

कर्णान्ध्र, चौलिक, चर्मण्वतीके निकटवर्ती, काकक, हेमकुड्य, श्मश्रुधर, वलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्धा और नारिकेली—इन २७ देशों और ४ पर्वतोंके निवासी वीरगण सहायक थे ॥ २६–२९ ॥

हे रामजी, दक्षिण दिशामें लीलाके पतिके सहायक वीर नरपतियोंका मैं उल्लेख करता हूँ, सुनो । बिन्ध्य, कुसुमापीड़, महेन्द्र, दर्दुर, मलय, सूर्यवान् , समृद्धिशाली अनेक गण्यराज्य, अवन्तीनामसे प्रसिद्ध, शाम्बवती, दशपूरक, कथाचक्रार, ईषिक, आतुरकच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्रराज्य, साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पा-निवासीगण, कैरकदेशीय, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्तन, पञ्जिक, काशिक, तृणखल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, ताम्रीक दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिक, कर्णिकाकार, शिबी, कौङ्कण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलपर्वत, आवन्तिक,

आन्ध्राश्च कोलगिरयश्चाऽऽवन्तिकविचेरिकाः ।
चण्डायत्ता देवनकाः क्रौञ्चा वाहास्तथैव च ।। ३८ ।।
शिलाक्षारोदभोनन्दमर्दना मलयाभिधाः ।
ते चित्रकूटशिखरा लङ्कारक्षोगणाः स्मृताः।। ३९ ।।
अथ प्रत्यग्दक्षिणस्यां महाराज्यसुराष्ट्रकाः ।
सिन्धुसौवीरशूद्राख्या आभीरा द्रविडास्तथा ।। ४० ।।
कीकटाः सिद्धखण्डाख्यास्तथा कालिरुहा अपि ।
अत्र हेमगिरिः शैलस्तथा रैवतको गिरिः ।। ४१ ।।
जयकच्छो मयवरो यवनास्तत्र जन्तवः ।
बाह्लीका मार्गणावन्ता धूम्रास्तुम्बकनामकाः ।। ४२ ।।
तथा लाजगणाश्चैव तथाऽत्र गिरिवासिनः ।
ततोऽब्धितोकनियुता एते लीलापतेर्जनाः ।। ४३ ।।
अथ तत्प्रतिपक्षस्थानिमान् जनपदान् शृणु ।
पश्चिमायां दिशि प्रौढा इमे तावन्महाद्रयः ।। ४४ ।।
मणिमान्नाम शैलेन्द्रः कुरार्पणगिरिस्तथा ।
वनोऽर्कहो मेघभवश्चक्रवानस्तपर्वतः ।। ४५ ।।

विचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौञ्च, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय, चित्रकूट—इन तिरसठ देशों और छः पर्वतोंके निवासी तथा लङ्काके राक्षस ।। ३०–३९ ।।

पश्चिम और दक्षिण दिशाके मध्यमें महाराज्य, सुराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जिसमें यवन रहते थे, ये चार पर्वत, बाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशाके पर्वतोंके निवासी, तथा समुद्रतटके और तोकनि देशके निवासी, हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सब पूर्वोक्त लीलाके पतिके पक्षके थे ।।४०–४३।।

अब हे श्रीरामचन्द्रजी, लीलाके पतिके विपक्षमें स्थित वीरों और उनके देशोंको मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। पश्चिम दिशामें ये बड़े-बड़े पर्वत हैं—मणिमान्, शैलेन्द्र, कुरापर्णगिरि, बन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल ।। ४४,४५ ।।

जनाः पञ्चजना नाम काशब्रह्मचयान्तकाः ।
तथैव भारक्षतथाः पारकाः शान्तिकास्तथा ॥ ४६ ॥
शैब्यारमरकायाच्छागुहुत्वानियमास्तथा ।
हैहयाः सुह्मगायाश्च ताजिका हूणकास्तथा ॥ ४७ ॥
पार्श्वे कतकयोः कर्का गिरिपर्णावमास्तथा ।
संत्यक्तधर्ममर्यादास्ते वर्णा म्लेच्छजातयः ॥ ४८ ॥
ततोऽजनपदा भूमिर्योजनानां शतद्वयम् ।
ततो महेन्द्रशिखरी मुक्तामणिमयावनिः ॥ ४९ ॥
युतो महीधरशतैरथाऽश्वनामपर्वतः ।
ततो महार्णवो भीमः पारियात्रगिरिस्तटे ॥ ५० ॥
पश्चिमोत्तरदिग्भागे देशो गिरिमति स्थितः ।
तथा वेणुपतिश्चैव ततो नरपतिर्मही ॥ ५१ ॥
तथा फल्गुणकाश्चैव माण्डव्यानेकनेत्रकाः ।
पुरुकुन्दाश्च पाराश्च भानुमण्डलभावनाः ॥ ५२ ॥
वन्मिला नलिना दीर्घा दीर्घकेशाङ्गबाहवः ।
रङ्गाश्च स्तनिकाश्चाऽन्या गुरुहाश्च लुहास्तथा ॥ ५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, काश तथा ब्राह्मणके समूहोंके अन्तक पञ्चजननामक जन और भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक और हूणक, दक्षिण और उत्तरमें कतक देशके निकटमें कर्क, गिरिपर्ण और अवम—इन्होंने सब वर्ण धर्मोंकी मर्यादाका सर्वथा त्याग कर दिया है, इसलिए ये म्लेच्छ कहलाते हैं ॥ ४६–४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अनन्तर दो सौ योजन तक पृथिवी जनपदोंसे शून्य है, और उसके अनन्तर महेन्द्रपर्वत है, जिसकी भूमि मुक्तामयी तथा मणिमयी है ॥४९॥

सैकड़ों पर्वतोंसे युक्त अश्वनामक पर्वत है, उसके अनन्तर भयंकर महासमुद्र है, जिसके तटपर पारियात्रनामक पर्वत है ॥ ५० ॥

पश्चिम और उत्तर दिशाके अन्तराल भागमें, जो पर्वतप्राय है, वेणुपति और नरपति देश है, जहाँ नित्य उत्सव हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

फल्गुणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन और इसके पश्चात् दीर्घ केश, अङ्ग, हस्त, पाद आदिसे युक्त

ततः स्त्रीराष्ट्रमतुलं गोवृषापत्यभोजनम् ।
अथोत्तरस्यां हिमवान् क्रौञ्चोऽथ मधुमान् गिरिः ॥ ५४ ॥
कैलासो वसुमान्मेरुस्तत्पादेषु जना इमे ।
मद्रा वारेवयौधेया मालवाः शूरसेनिकाः ॥ ५५ ॥
राजन्याश्च तथा ज्ञेया अर्जुनातनयस्तथा ।
त्रिगर्त एकपात्क्षुद्रामबलास्त्वस्तवासिनः ॥ ५६ ॥
अबलाः प्रखलाः शाकाः क्षेमधूर्त्तय एव च ।
दशधानागावसन्यदण्डाहन्यसनास्तथा ॥ ५७ ॥
धानदाः सरकाश्चैव वाटधानास्तथैव च ।
अन्तरद्वीपगान्धारास्तथाऽवन्तिसुरास्तथा ॥ ५८ ॥
अथ तक्षशिला नाम ततो वीलवगोधनी ।
पुष्करावर्तदेशस्य यशोवतिमही ततः ॥ ५९ ॥
ततो नाभिमतिर्भूमिस्तिक्षा कालवरास्तथा ।
काहकं नगरं चैव सुरभूतिपुरं तथा ॥ ६० ॥
तथैव रतिकादर्शा अन्तरादर्श एव च ।
ततः पिङ्गलपाण्डव्यं यामुने यातुधानकाः ॥ ६१ ॥

मनुष्यवाले होनेके कारण दीर्घनामके देश हैं, तथा रङ्ग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं, इसके अनन्तर अतुल स्त्रीराष्ट्र है, जहां गाय, बैल तथा सन्तानको भी खा जाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर दिशामें हिमवान्, क्रौंच और मधुमान् नाम पर्वत हैं ॥ ५२–५४ ॥

इनके अनन्तर कैलास, वसुमान् और मेरुपर्वत हैं, उनके सहायक पर्वत-श्रेणियोंमें ये मनुष्य रहते हैं—मद्र, वारेव, यौधेय, मालव और शूरसैनिक ॥५५॥

इसके अनन्तर ये क्षत्रिय और देश हैं, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकपाद, क्षुद्र, आमबल और अस्ताचलवासी, अबल, प्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकारके नाग, अवसनी, अदण्ड, अहन्यसन, धानद, सरक, वाटधान, अनन्तर-द्वीपके निवासी, गान्धार, अवन्ति और सुर, इसके अनन्तर तक्षशिला, बीलव, गोधनी, इसके अनन्तर पुष्करावर्त देशकी यशोवती नामकी पृथिवी है। इसके अनन्तर नाभिमती भूमि है और उसके बाद तिक्षा तथा कालवराभूमि है और काहक तथा सुरभूतिपुर नामक नगर हैं, तदनन्तर रतिकादर्श, अन्तरादर्श,

मानवा नाङ्गना हेमतालाः स्वस्वमुखास्तथा ।
हिमवान् वसुमान् क्रौञ्चकैलासावित्यगास्तथा ॥ ६२ ॥
ततोऽजनपदा भूमिरशीतिशतयोजना ।
अथ प्रागुत्तरस्यां तु क्रमाज्जनपदाञ्छृणु ॥ ६३ ॥
कालुता ब्रह्मपुत्राश्च कुणिदाः खदिनास्तथा ।
मालवा रन्ध्रराज्याश्च वना राष्ट्रास्तथैव च ॥ ६४ ॥
केडवस्ताः सिंहपुत्रास्तथा वामनतां गताः ।
सावाकच्चापलवहाः कामिरा दरदास्तथा ॥ ६५ ॥
अभिसासदजार्वाकाः पलोलकुविकौतुकाः ।
किराता यामुपाताश्च दीलाः स्वर्णमही ततः ॥ ६६ ॥
देवस्थलोपवनभूस्तदनूदितश्रीर्विश्वावसोस्तदनु मन्दिरमुत्तमञ्च ।
कैलासभूस्तदनु मञ्जुवनश्च शैलो विद्याधरामरविमानसमानभूमिः ॥६७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जनपदवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥३६॥

पिङ्गल एवं पाण्डव्यके निवासी जन और यमुनाके तीरवासी यातुधानक, नाङ्गन, हेमताल, स्वस्वमुख तथा हिमालय, वसुमान् , क्रौञ्च और कैलास ये पर्वत हैं ॥५५–६२॥

तदुपरान्त देशरहित अस्सी योजन विस्तृत भूमि है। तदनन्तर पूर्व और उत्तर दिशाके अन्तरालके क्रमशः इन देशोंको सुनिये—कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकत् , चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात, दील, तदुपरान्त स्वर्णभूमि है, तदनन्तर अतिसुशोभित देवस्थल भूमि है, उसके बाद गन्धर्वराज विश्वावसुका उत्तम मन्दिर है, तदनन्तर कैलासभूमि है, तदनन्तर मञ्जुवन नामका पर्वत है, तदनन्तर विद्याधर और देवगणोंकी विमानके सदृश अभिराम भूमि है ॥ ६३–६७ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

पाञ्चाला धर्मारण्याश्च तथैवोत्तरदक्षिणाः ।
पाञ्चालकाः कुरुक्षेत्रास्तथा सारस्वता जनाः ॥ ७ ॥
अवन्तीस्यन्दनश्रेणी कुन्तिपाञ्चनदेरितैः ।
स्पन्दमाना विद्रवन्ती निपपात महाभृगौ ॥ ८ ॥
कोशब्रह्मावसानाश्च च्छिन्ना वस्त्रवतीजनैः ।
भूमौ निपतिताः सन्तो मिलिता मत्तवारणैः ॥ ९ ॥
शूरा दाशपुराः शस्त्रनिकृत्तोदरकन्धराः ।
बाणक्षितिभिराक्रम्य योजिता योजने ह्रदे ॥ १० ॥
दीर्णोदरविनिर्यातस्वान्त्रतन्त्रीनियन्त्रिताः ।
शान्तिकाः शान्तसञ्चाराः पिशाचैश्चर्विता निशि ॥ ११ ॥
उद्रवैर्भद्रगिरिभिः सग्रामाध्वरदीक्षितैः ।
क्षोणिगर्त्तेषु निक्षिप्ता मरगा कमठा इव ॥ १२ ॥

कालकोटिक, माथुर, पाञ्चाल, धर्मारण्य तथा उत्तर और दक्षिण पाञ्चालक, कुरुक्षेत्र और सारस्वतनिवासी वीर सैनिक गण ॥ ४–७ ॥

जो पहले थे और दूसरे रणमें भस्म हो गये, ऐसा कहा था, उसीको देशोंके नामोंका विभाग कर सर्गकी समाप्तिपर्यन्त कहते हैं—'अवन्ती' इत्यादिसे ।

उज्जयिनीकी रथपंक्ति कुन्तिदेशवासी और पञ्चनददेशवासियों द्वारा छोड़े गये शस्त्रोंसे भयपूर्वक काँपती और दौड़ती हुई बड़े भारी पर्वतप्रपातोंमें गिर पड़ी ॥ ८ ॥

वस्त्रवतीके लोगों द्वारा काटे गये अतएव भूमिमें गिर रहे कोशब्रह्मकी सीमाके लोग हाथियों द्वारा कुचल दिये गये ॥ ९ ॥

बाणकी भूमिके लोगोंने दाशपुरके शूरोंको, जिनके कन्धे और पेट शस्त्रोंसे काट डाले गये थे, जीत कर आठ कोश तक उनका पीछा किया और संयोगवश मार्गमें प्राप्त तालाबमें उन्हें डुबा दिया ॥ १० ॥

विदीर्ण (फाड़े गये) पेटसे निकली हुई अपनी अँतड़ीरूपी रस्सियोंमें उलझे हुए अतएव मन्दगति हुए शान्तिदेशवासियोंको मार्गके पिशाचोंने चबा डाला ॥ ११ ॥

प्रचण्ड रणघोष करनेवाले भद्रगिरिनिवासियोंने, जो कि संग्रामरूपी यज्ञमें दीक्षित थे, मरदेशवासी भटोंको कछुओंकी भाँति पृथिवीके गड्ढोंमें फेंक दिया ॥ १२ ॥

प्रद्रुता विद्रवद्रक्ता विद्रावितमहारयः ।
दण्डिकास्थानिलोद्धूता हैहयैर्हरिणा इव ॥ १३ ॥
दन्तिदन्तविनिर्भिन्ना दरदा दलितारयः ।
नीता रक्तमहानद्या द्रुमाणां पल्लवा इव ॥ १४ ॥
नाराचैश्चर्विताश्चीना जीर्णा जर्जरजीविताः ।
जहुर्जलनिधौ देहान् भारभूतानिव स्थितान् ॥ १५ ॥
कर्णाटसुभटोड्डीनकुन्ताकलितकन्धराः ।
भग्ना नलदशूराश्च तारकानिकरा इव ॥ १६ ॥
करीन्द्रमकरव्यूहरंहःसंहतहेतयः ।
केशाकेशिकृतरम्भा विनेदुर्दाशकाः शकाः ॥ १७ ॥
दशार्णाः पाशनिर्मुक्तशृङ्खलाजालभीरवः ।
निलीना रक्तजम्बाले वैतसास्तिमयो यथा ॥ १८ ॥

जिन्होंने पहले बड़े बड़े शत्रुओंको भगाया था, ऐसे दण्डिकानगरीनिवासियोंको, जिनके शरीरोंसे रुधिर बह रहा था, हैहयवंशियोंने यों भगाया जैसे कि वायुके वेगसे वातप्रमीनामक हरिण भागते हैं ॥ १३ ॥

हाथियोंके दाँतोंसे विचूर्णित दरददेशनिवासियोंको, जिन्होंने अपने शत्रुओंको विनष्ट कर दिया था, रुधिरकी महानदी पेड़के पल्लवोंकी भाँति बहा ले गई ॥१४॥

अर्धचन्द्राकार बाणोंसे छिन्न-भिन्न घायल अधमरे चीननिवासियोंने अपने लिए भारस्वरूप बने हुए अपने शरीरोंको सागरके अर्पण कर दिया ॥ १५ ॥

कर्णाट देशके दक्ष भटों द्वारा वायुमें फेंके गये भालोंसे जिनके कन्धे कट गये थे, ऐसे नलददेशके शूर तारोंके समूहकी नाईं विशीर्ण हो गये ॥ १६ ॥

मगरोंके समूहके सदृश गजराजोंने जिनके शस्त्रास्त्र बड़े वेगसे छिन्न भिन्न कर दिये थे, ऐसे दाशक और शक केशाकेशि युद्धके लिए (एक दूसरेका झोंटा पकड़ कर जो युद्ध होता है उसे केशाकेशि युद्ध कहते हैं) सन्नद्ध होकर सिंहनाद करते थे ॥ १७ ॥

पाशदेशवासियों द्वारा छोड़े गये शृङ्खलाजालसे भयभीत दाशार्ण लोग जैसे बेंतकी झाड़ियोंकी जड़ोंमें रहनेवाली मछलियां कीचड़में छिप जाती है, वैसे ही रक्तरूपी कीचड़में छिप गये ॥ १८ ॥

गुर्जरानीकनाशेन गुर्जरीकेशलुञ्चनम् ।
विहितं तङ्गणोत्तुङ्गनासिशङ्कुशतै रणे ॥ १९ ॥
सिषिचुः शस्त्रकर्णौघाद्बिन्दुभ्यो निगडा गुहान् ।
शरधारावनानीव वीरहेतिप्रभाम्बुदाः ॥ २० ॥
भुशुण्डीमण्डलोद्योतश्यामार्कोत्पातभीरुषु ।
आभीरेष्वरयः पेतुर्गोगणा हरितेष्विव ॥ २१ ॥
कान्तकाञ्चनकान्ताऽऽसीत्ताम्रसङ्ग्रामवाहिनी ।
भुक्ता गौडभटेनाऽङ्ग नखकेशनिकर्षणैः ॥ २२ ॥
रणे नगनयासंख्यकवचक्रनिकृन्तनैः ।
तङ्गणाः कणशः कीर्णाः कङ्कगृध्रेषु भासकैः ॥ २३ ॥

तंगण लोगोंके ऊपर उछले हुए खड्गों और शङ्कुशतनामक शस्त्रोंने रणभूमिमें गुर्जरसेनाके विनाशसे गुर्जरस्त्रियोंके केशोंका लुञ्चन करा दिया ॥ १९ ॥

जैसे वीरोंके आयुधोंके सदृश कान्तिवाले मेघ अपनी बूँदोंसे जङ्गलोंको सींचते हैं, वैसे ही जिन्होंने कानोंकी भांति अस्त्र-शस्त्रोंको खड़ा किया था, ऐसे सैनिकोंके संघसे निकली हुई वीरायुधप्रभारूपी बिजुलीसे मेघवत् प्रतीत हो रहे निगड़देशियोंने गुहदेशीय भटोंके प्रति बाणोंकी धाराएँ बरसाईं ॥ २० ॥

भुशुण्डीनामक हथियारके मण्डलकी कान्तिसे कालिमाको प्राप्त सूर्य ही ठहरा एक उत्पात * (अशुभ सूचक चिह्न), उससे भयभीत आभीरदेशवासियोंपर शत्रु ऐसे टूटे, जैसे हरी घासपर गौओंका झुण्ड टूट पड़ता है ॥ २१ ॥

वत्स श्रीरामजी, ताम्रों (एक प्रकारके यवनों) की संग्रामके लिए तत्पर सेनारूपी कान्तकाञ्चनप्रिया (जिसे पति और सुवर्ण प्रिय है) नायिका गौड़-देशके भटों द्वारा नखक्षत और केशकर्षण द्वारा उपभुक्त हुई ॥ २२ ॥

भासकदेशवासियोंने रणभूमिमें वृक्षों और पहाड़ोंको तहस नहस कर देने-वाले शब्दायमान असंख्य चक्रोंके वारोंसे या चक्रों द्वारा छेदनसे तंगणदेश-वासियोंको किनका-किनका बनाकर कङ्क (सफेद चील) और गीधोंमें बखेर दिया ॥ २३ ॥

* यदि चन्द्र इवाऽऽदित्य. सच्छिद्रो रश्मिमण्डल ।
कृष्णरक्तान्तपर्यन्तस्तज्जनक्षयलक्षणम् ॥

—यदि सूर्य चन्द्रमाकी नाईं हो, या किरणमण्डलमें छेद दिखाई दे अथवा रविमण्डल चारों ओर काला या लाल हो जाय, तो उसे मनुष्योंके विनाशका हेतु समझना चाहिए ।

लगुडालोडनोड्डीनं गौडं गुडगुडारवम् ।
श्रुत्वा गान्धारगावोऽग्रे दुद्रुवुर्द्रविडा इव ॥ २४ ॥
आकाशगार्णवप्रख्यो वहच्छककदम्बकः ।
अकरोत्पारसीकानां घननैशतमोभ्रमम् ॥ २५ ॥
मन्दराहननोड्डीनस्वच्छक्षीरार्णवोदरे ।
वनानीवाऽऽयुधान्यासञ्छत्रुप्रालेयसानुनि ॥ २६ ॥
यदम्बुदैरिवोड्डीनं शस्त्रवृन्दैर्नभोङ्गणे ।
तद्दृष्टं वीचिवलनैर्लोलैः प्लुतमिवाऽर्णवे ॥ २७ ॥
शतचन्द्रं सितच्छत्रैः शरैः शलभनिर्भरम् ।
शक्तिभिः किल नीरन्ध्रं दृष्टमाकाशकाननम् ॥ २८ ॥
वीरासवसमाक्रन्दकारिणः केकयैः कृताः ।
कङ्कैः कङ्ककुलाक्रान्तव्योमोद्धूलितमस्तकाः ॥ २९ ॥

गौड़ सैनिकोंके अस्पष्ट बोलके शब्दको, जो बड़ी-बड़ी लाठियोंके भ्रमणसे उपलक्षित था, सुनकर गोतुल्य गान्धारदेशवासी द्रविड़ोंकी नाईं भाग गये ॥२४॥

पर्वतोंसे नदीकी नाईं उतरते हुए शकोंके समुदायने, जो कि काली पोशाक पहननेके कारण आकाशस्थित सागरके तुल्य था, पारसियोंको रात्रिके निविड़ अन्धकारका भ्रम कर दिया ॥ २५ ॥

वहांपर सफेद पोशाक पहने हुए पारसियोंके साथ युद्ध करनेवाले शकोंके हथियार मन्दर पर्वतके आलोडनसे ऊपरको उछले हुए अत्यन्त स्वच्छ क्षीरसागरके मध्यमें मन्द्राचलके वनोंकी नाईं दिखाई दिये और दर्शक लोगोंको शत्रुरूपी हिमालयके शिखरमें हिमालयके वनोंकी नाईं दिखाई दिये ॥ २६ ॥

भूमिस्थित लोगोंने शस्त्रसमुदायको मेघोंकी नाईं आकाशमण्डलमें उड़ा देखा, आकाशमें स्थित लोगोंने उसे सागरमें अन्य तरङ्गोंसे सम्मिलित चञ्चल तरङ्गोंके प्लवन (तैरने) की नाईं देखा ॥ २७ ॥

लोगोंने आकाशरूपी वनको सफेद छातोंसे सैकड़ों चन्द्रोंसे युक्त-सा देखा, बाणोंसे टिड्डियोंसे अत्यन्त व्याप्त-सा देखा और शक्तियोंसे निरवकाश देखा ॥ २८ ॥

केकयदेशवासियोंने अपने शत्रुओंको वीरपानमें* रोदन करनेवाले बना

---

* रणसमाप्तिमें या रणके आरम्भमें जो आसवपान होता है, वह वीरपान कहा जाता है ।

किरातसैन्यकन्यानां कामं कलकलारवैः ।
अङ्गैरनङ्गतां नीत्वा भैरवैरिव गर्जितम् ॥ ३० ॥
काशैस्तद्देहकाः क्रान्ता अदृश्यैर्मायया खगैः ।
निर्द्धूतपक्षैः क्षुभितैः पवनैरिव पांसवः ॥ ३१ ॥
उन्मत्ताः सुविनिर्द्धूतास्त्यक्तहेतिरणाम्बराः ।
नार्मदा नर्मनिर्मातृ ननृतुर्जहसुर्जगुः ॥ ३२ ॥
प्रक्वणत्किङ्किणीजालं शक्तिवर्षमुपागतम् ।
साल्वबाणानिलोद्धूतमगमत्पृषदाकृति ॥ ३३ ॥
शैब्यास्तु खण्डिताः कौन्तैर्भ्रमत्कुन्तैर्विघट्टिताः ।
शवीभूता दिवं नीता दृष्टा विद्याधरा इव ॥ ३४ ॥

दिया, क्योंकि अपने सगे-सम्बन्धियोंका विनाश होनेसे वीरपानके समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कङ्क देशवासियोंने अपने शत्रुओंको चीलोंके झुण्डसे आक्रान्त आकाशमें उद्धूलितमस्तकवाले बना दिया ॥ २९ ॥

विजयप्राप्तिपर कोलाहल करनेवाले अङ्गदेशवासियोंने किरातसैनिकरूपी कन्याओंकी विदेहताको (अङ्गरहितत्व और कामप्राबल्यको) प्राप्तकर भैरवोंकी नाईं अत्यन्त गर्जना की ॥ ३० ॥

मायासे पक्षी बने हुए अदृश्य समुद्री मनुष्योंने फैलाये हुए अपने परोंसे तद्देहकवासी लोगोंपर ऐसा आक्रमण किया जैसा कि क्षुभित झञ्झावात धूलिकणों-पर आक्रमण करता है ॥ ३१ ॥

युद्धसे उन्मत्त, खूब कँपाये गये और शस्त्रास्त्र तथा रणकी पोशाकका त्याग किए हुए नर्मदातीरवासियोंने ऐसा नृत्य, हास और गान किया, जिससे मनोविनोद होता था ॥ ३२ ॥

समीपमें आई हुई शक्तियोंकी वृष्टि, जिसमें छोटी छोटी घण्टियाँ बज रही थीं, साल्वदेशवासियोंके बाणरूपी वायुसे कम्पित होकर बिन्दुओंके आकारमें परिणत हो गई ॥ ३३ ॥

शैब्यदेशवासी गणोंको कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालोंसे विघटित, विखण्डित और विनष्ट कर विद्याधरोंके तुल्य स्वर्गमें ले गये ॥३४॥

धराधरणधर्मिण्या धीरया हीनसेनया ।
लुण्ठिताः पाण्डुनगराश्चलनोल्लासमात्रतः ॥ ३५ ॥
तद्देहकाः पाञ्चनदैर्दलिता मत्तकाशिभिः ।
कुन्तदन्तद्रुमोद्दामा नगा इव मतङ्गजैः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मावत्सनका नीपैश्चक्रैः कृत्ता गता महीम् ।
सहयाः क्रकचोत्कृत्ता वृक्षाः कुसुमिता इव ॥ ३७ ॥
श्वेतकाकाननं लूनं कुठारैर्जठरेरितैः ।
एतद्ददाह पार्श्वस्थो भद्रेशः शरवह्निना ॥ ३८ ॥
काष्ठयोधे निरालानं मग्ना जीर्णा मतङ्गजाः ।
लयमाजग्मुरायुद्धमिद्धेग्नाविन्धनं यथा ॥ ३९ ॥
मित्रगर्तास्त्रिगर्तात्ता भ्रमित्वोर्ध्वं तृणोपमम् ।
विविशुर्व्यस्तमूर्धानः पातालान्तं पलायितुम् ॥ ४० ॥

धरापर यानी युद्धभूमिपर आक्रमण करनेवाली धीरप्रकृति अहीनदेशकी सेनाने अपने सोल्लास गमनसे ही पाण्डुनगरके वीरगणोंको लुण्ठित कर दिया ॥ ३५ ॥

मदोमत्तकी नाईं चलनेवाले पञ्चनददेशके वीरोंने तद्देहकवासी भटोंको, जो भालों, हाथीके दाँतों और वृक्षरूपी हथियारोंसे युद्ध करनेमें कुशल थे, जैसे हाथी पर्वतोंको खोद डालते हैं वैसे ही कतल कर दिया ॥ ३६ ॥

नीपदेशवासियों द्वारा चक्रोंसे काटे गये अत एव घोड़ोंके साथ पृथिवीमें गिरे हुए ब्रह्मावत्सनदेशके सैनिक आरोंसे काटे गये, फूले हुए वृक्षोंकी नाईं प्रतीत होते थे ॥ ३७ ॥

जठरदेशीय भटोंसें प्रेरित (फेंके गये) कुल्हाड़ोंने श्वेतकाकदेशके भटोंके सिर काट डाले और जठरदेशीयोंकी सेनाको पासमें स्थित मद्रदेशके राजाने वाणरूपी अग्निसे जला डाला ॥ ३८ ॥

काष्ठदेशीय योद्धारूपी पङ्कमें (कीचड़में) बन्धनस्तम्भके बिना ही फँसे हुए अतएव जर्जर हुए मतङ्गजदेशीय सैनिकरूपी मतङ्गज (हाथी) युद्धभूमिके चारों ओर ऐसे विनाशको प्राप्त हुए जैसे कि अग्निमें डाले हुए काष्ठ भस्म होते हैं ॥ ३९ ॥

त्रिगर्तदेशके भटोंसे पकड़े गये मित्रगर्तदेशीय भट तिनकेकी नाईं ऊपरको घूमकर नीचे मस्तक हो भागनेके लिए पातालके अन्तस्तलमें प्रविष्ट हुए ॥ ४० ॥

मन्दानिलचलाम्भोधिभासुरे मागधे बले ।
निर्मग्ना वनिला मन्दाः पङ्के जीर्णगजा इव ॥ ४१ ॥
चेदयश्चेतनां जह्रुस्तङ्गणानां रणाङ्गणे ।
पुष्पाणां पथि शीर्णानां सौकुमार्यमिवाऽऽतपाः ॥ ४२ ॥
कौसलाः पौरवारावमसहन्तोऽन्तका इव ।
तैरुन्मुक्तगदाप्रासशरशक्त्यतिवृष्टयः ॥ ४३ ॥
बभूवुर्भल्लकृत्ताङ्गा विस्मया विद्रुमद्रुमाः ।
इवाऽद्रौ विद्रवन्त्यार्द्रसान्द्रासृक्सूर्यमूर्तयः ॥ ४४ ॥
नाराचौघमहाहेतिमारुताधूतमूर्तयः ।
बभ्रमुर्भ्रमरानीकभासुरा जलदा इव ॥ ४५ ॥
शरधाराधरा मेघाः शरोर्णापूर्णमेषकाः ।
शरपत्रावृता वृक्षा भ्रेमुस्तद्गर्जना गजाः ॥ ४६ ॥

मन्दगति वनिलदेशीय भट मन्द वायुसे अस्थिर हुए महासागरके तुल्य स्फूर्तिमान् मागधदेशकी सेनामें ऐसे निःशेषरूपसे मग्न हो गये जैसे कि कीचड़में बूढ़े हाथी मग्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

समरभूमिमें चेदिदेशीय भटोंने जैसे मार्गमें गिरे हुए फूलोंकी सुकुमारताको घाम हर लेता है वैसे ही तङ्गणदेशके भटोंकी चेतनाको हर लिया यानी उन्हें निष्प्राण बना दिया ॥ ४२ ॥

पौरवदेशके भटोंके शब्दका भी सहन न करनेवाले और उन्हें यमराजकी नाईं पीट रहे कोसलदेशवासियोंपर पौरवोंने गदाओं, भाले, बाणों, शक्तियोंकी अतिवृष्टि की ॥ ४३ ॥

उनमें से जो भालोंसे अङ्गोंके कटनेपर भी शत्रुओंके शौर्यके विषयमें किसी प्रकारके विस्मयसे रहित अतएव गीले और गाढ़े रुधिरसे बालसूर्य-से हुए, वे पर्वतमें मूँगेके वृक्षोंकी नाईं दौड़ते थे ॥ ४४ ॥

उममें से अर्द्धचक्राकार बाणोंके समूह आदि प्रबल हथियाररूप वायुसे जिनके शरीर कम्पित हो गये थे, वे भँवरोंके दलसे सुशोभित मेघोंकी नाईं घूमते थे ॥ ४५ ॥

बाणरूपी मूसलाधार वृष्टिकी धाराओंको धारण करनेवाले मेघोंके तुल्य, बाण-

वनराज्यजराजीर्णाः कन्दाकस्थलजन्तवः ।
अत्रुटन्परमाकृष्टाः पेलवा इव तन्तवः ॥ ४७ ॥
रथेषु ध्वस्तचक्रेषु निखातेऽमुत्र मूर्धसु ।
निपेतुर्जनसङ्घाता मेघा इव वनाद्रिषु ॥ ४८ ॥
शालतालवनं प्राप्य जनतावलनं वनम् ।
भुजावकर्तनं चासीदुत्तालं स्थाणुकाननम् ॥ ४९ ॥
ननर्दुर्नन्दनोद्यानसुन्दर्यो मत्तयौवनाः ।
वनोपवनदेशेषु मेरोर्वीरवराश्रिताः ॥ ५० ॥
तावत्तारारवं रेजे सैन्यकाननमुत्तमम् ।
यावन्न परपक्षेण प्राप्तं कल्पानलार्चिषा ॥ ५१ ॥

समूहरूपी ऊनसे परिपूर्ण भेड़ोंके सदृश, बाणव्यूहरूपी पत्तोंसे ढके हुए वृक्षों कोसलदेशवासियोंके बाणवृष्टिधारी अतएव गर्जनकारी हाथी घूमते थे ॥ ४६ ॥

वनराज्यनामक देशके भटोंसे निर्बल किये गये कन्दाकस्थलमें उत्पन्न हुए मनुष्य, हाथी आदि जन्तु खूब जोरसे खींचे गये कच्चे सूतकी नाईं टूट गये, छिन्न-भिन्न हो गये ॥ ४७ ॥

खाईरूपी गड्ढेमें टकरानेसे रथोंके चक्रोंके टूटनेपर इन रथोंके मस्तकोंपर प्रहार करनेवाले शत्रुओंके समूह ऐसे टूटे जैसे वनपूर्ण पर्वतोंपर मेघ गिरते हैं ॥ ४८ ॥

शालका वन और तालका वन युद्धमें परस्पर दो जनसमूहोंके सम्मेलनसे महावनरूपमें परिणत युद्धस्थानको प्राप्त होकर और वहां बाहुच्छेदन और मस्तकच्छेदनको प्राप्त होकर क्रमशः ऊँचे तालवृक्षप्राय और स्थाणुओंका वन हुआ। भाव यह कि शालोंके चारों ओरकी शाखाओंके काटनेपर ताल सरीखे पेड़ हो जाते हैं और तालोंकी चोटी काट देनेसे स्थाणुता ही बच जाती है, अतः शालका वन जो तालवन बना और जो तालवन स्थाणुओंका वन बना वह ठीक ही बना ॥ ४९ ॥

उन्मत्त यौवनवाली नन्दन वनकी सुन्दरियाँ सुमेरु पर्वतके वन और उपवनोंमें वीरवर पुरुषोंसे संगत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥ ५० ॥

प्रचुर कोलाहल (सिंहनाद) से पूर्ण उत्तम सेनारूपी वन तभीतक शोभित हुआ जबतक कि प्रलयकालकी अग्निकी ज्वालाके सदृश ज्वालावाला शत्रुदल नहीं आया ॥ ५१ ॥

छिन्नाः पिशाचसंयुक्ता भूतापहृतहेतयः ।
पातयित्वा ययुः कर्णान्दशार्णास्तर्णका इव ॥ ५२ ॥
जहुर्भग्नेश्वराः कान्तिं ताञ्जिगीषवनौजसा ।
कासयः कमलानीव शुष्कस्रोतस्विनौजसा ॥ ५३ ॥
तुषाका मेखलैः कीर्णाः शरशक्त्यसिमुद्गरैः ।
विद्रुता नरकैः क्षिप्ताः कटकच्छलना अपि ॥ ५४ ॥
कौन्तक्षेत्राः प्रस्थवासैः स्थित्वा योधिभिरावृताः ।
गुणा इव खलाक्रान्ता गता व्यक्तमशक्तताम् ॥ ५५ ॥
द्विपयो बाहुधानानां क्षणेनाऽऽदाय मस्तकम् ।
भल्लैः पलाय्याऽऽशु गता विलूनकमला इव ॥ ५६ ॥
मिथः सारस्वता नीत्वा आदिनान्तं कृताजयः ।
पण्डिता इव वादेषु नोद्विग्ना न पराजिताः ॥ ५७ ॥

कामरूप आदि देशोंके भटोंके साथ, जिनमें पिशाचोंका आधिक्य था, युद्धके लिए संगत हुए दाशार्ण देशके भट पिशाचों द्वारा शस्त्रोंके हर लेने और घायल होने-पर बछवोंकी भाँति भागते हुए राहमें कर्णदेशके भटोंको मार कर निकलगये॥५२॥

जिसने तालाबोंको भरनेवाले झरनोंको सुखा दिया ऐसे ग्रीष्म ऋतुके प्रभावसे जैसे कमल अपनी कान्तिको खो बैठते हैं वैसे ही ताञ्जिगीयवनदेशीय भटोंके प्रतापसे कासिदेशके भटोंने, जिनके कि स्वामी मर चुके थे, कान्ति खोदी ॥ ५३ ॥

मेखलदेशवासियोंने तुषाकदेशीय भटोंके ऊपर बाण, शक्ति, तलवार और मुद्गरोंकी वृष्टि की। नरकदेशीय भटों द्वारा शस्त्रास्त्रोंसे आक्रान्त कटकच्छलनदेशके भट भी भाग गये ॥ ५४ ॥

अपने स्थानमें ही बैठकर युद्ध करनेवाले धीर वीर प्रस्थवासदेशके वीरोंसे आवृत (घेरे गये) कौन्तक्षेत्रके भट दुष्ट पुरुषोंसे आक्रान्त सद्गुणोंकी नाईं अत्यन्त अशक्तताको प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

द्विपिदेशके भट, जिन्होंने कमल तोड़े हैं उन पुरुषोंकी नाईं, अपने भालोंसे बाहुधानदेशके भटोंके मस्तकको एक क्षणमें लेकर (काट कर) भागकर तुरन्त चले गये ॥ ५६ ॥

सरस्वती नदीके तीरवर्ती देशोंके भट शामतक लगातार परस्पर युद्ध करते हुए शास्त्रार्थमें पण्डितोंकी नाईं न तो श्रान्त हुए और न पराजित ही हुए ॥५७॥

खर्वगाः खदिताः क्षुद्रा यातुधानैः परावृताः ।
तेजःपरममाजग्मुः शान्ताग्नय इवेन्धनैः ॥ ५८ ॥
कियदाख्यायत एतज्जिह्वानिचयैर्विलालमाकुलितः ।
वासुकिरपि वर्णयितुं न समर्थो रणवरं राम ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जनपदवर्णनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमत्याकुले युद्धे सास्फोटभयसङ्कुले ।
आदित्ये तमसा वृद्धे चटत्कठिनकङ्कटे ॥ १ ॥

खर्वदेशवासी क्षुद्र भट यद्यपि भाग कर चले गये थे तथापि लङ्कामें रहनेवाले सहायभूत राक्षसों द्वारा परावर्तित हुए, फिर तो वे जैसे बुझी हुई अग्नि लकड़ियोंसे भड़क उठती है वैसे ही परम प्रतापको प्राप्त हुए ॥ ५८ ॥

श्रीवसिष्ठजी प्रस्तुत संग्रामवर्णनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—'**कियद्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं कितना कहूँ, यह श्रेष्ठ संग्राम इतना विस्तृत है कि वासुकि (शेषनाग) भी आकुलतापूर्वक (शीघ्रतासे) अपनी दो हजार जिह्वाओंसे इसका पूर्ण वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥ ५९ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

[सायंकालमें दोनों सेनाओंके युद्धसे निवृत्त होनेपर भूत-प्रेतोंसे भीषण और बीभत्स रणभूमिका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, भुजास्फोट करनेवाले विजयी वीरोंसे पराजित भटोंके त्राससे परिपूर्ण अतिभीषण संग्राममें अन्धकारके आगमनसे सूर्य भगवान्‌के वृद्ध होनेपर, शरीरके क्षतोंसे रुधिर प्रवाहको रोकनेवाले कठिन

वहत्यम्बूत्पतन्तीषु पतन्तीष्वश्मवृष्टिषु ।
नदीषु क्षेपणाच्छासु वरकेष्वब्जपङ्क्तिषु ॥ २ ॥

मिथः फलाग्रकाटोत्थवह्निसीकरिणीषु च ।
आयान्तीषु प्रयान्तीषु दूरं शरनदीषु च ॥ ३ ॥

वहल्लूनशिरःपद्मचक्रावर्तैस्तरङ्गितैः ।
खार्णवे पूरिते हेतिवृन्दमन्दाकिनीगणैः ॥ ४ ॥

समीरणरणत्क्वाणशस्त्रपूर्णघनैर्घनैः ।
संदेहान्तेषु सिद्धेषु कपिकच्छव्यथाप्रदैः ॥ ५ ॥

अष्टभागदशाशेषप्रतापमधुराकृति ।
शस्त्रघातौजसा वीर इवाऽह्स्तनुतां ययौ ॥ ६ ॥

श्रान्ताश्वेभाः प्रभग्नाश्च हेतिसङ्घातदीप्तयः ।
दिवसेन समं सेना ययुर्मन्दप्रतापताम् ॥ ७ ॥

लौह कवचोंके रुधिरक्लेदको बहानेपर, पत्थररूपी ओलोंसे स्वच्छ पाषाणवृष्टिके एक पक्षमें ऊपर जाने और दूसरे पक्षमें नीचे गिरनेपर, नदियोंमें कमलपङ्क्तियोंके संकुचित होनेपर, परस्पर फलके (बाणकी नोकमें लगे हुए लोहेके टुकड़के) अग्रभागमें हुए आघातसे उत्पन्न अग्निकणरूपी सीकरोंको (जलकणोंको) धारण करनेवाली बाणनदियोंके समीपमें आने और दूर जानेपर, आयुधोंकी राशिरूपी मन्दाकिनियोंसे, जिनमें कटे हुए सिररूपी पद्म बह रहे थे, जो चक्ररूपी आवर्तोंसे पूर्ण थीं और थीं तरङ्गयुक्त, आकाशरूपी सागरके भर जानेपर, वायुके समान शब्द कर रहे शस्त्रोंसे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यन्त निविड़ बैठनेकी जगहकी लालिमाको बढ़ानेके कारण वर्षा ऋतुके आरम्भके सन्देहसे वानरोंको काम-पीड़ा देनेवाले मेघोंसे सिद्धोंको प्रलयका सन्देह होनेपर, आठवें भागरूप अवस्थामें शेष रहे स्वल्पप्रतापसे सौम्य आकारवाला (प्रचण्डतारहित) दिन शस्त्रोंके प्रहारोंसे हुई लालकान्तिसे वीरकी नाईं तनुता (क्षीणता) को प्राप्त हुआ ॥ १—६ ॥

सेनाएँ, जिनके घोड़े और हाथी थक गये थे और हथियारोंकी कान्ति क्षीण हो गई थी, दिनके साथ ही मन्दप्रतापवाली हो गईं यानी जैसे दिनका प्रताप मन्द हुआ वैसे ही सेनाओंका प्रताप भी मन्द पड़ गया ॥ ७ ॥

अथ सेनाधिनाथाभ्यां विचार्य सह मन्त्रिभिः ।
दूताः परस्परं वृत्ता युद्धं संह्रियतामिति ॥ ८ ॥
तत्र श्रमवशान्मन्दयन्त्रशस्त्रपराक्रमैः ।
रणसंहरणं काले सर्वैरेवोररीकृतम् ॥ ९ ॥
ततो महारथोत्तुङ्गकेतुप्रान्तकृतास्पदम् ।
बलयोरारुरोहैक एको योधो ध्रुवो यथा ॥ १० ॥
सोंऽशुकं भ्रामयामास सर्वदिङ्मण्डले सितम् ।
श्यामेव दीर्घशुद्धांशुं युद्धं संह्रियतामिति ॥ ११ ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुः प्रतिध्वनितदिङ्मुखाः ।
महाप्रलयसंशान्तौ पुष्करावर्तका इव ॥ १२ ॥
शरादिहेतिसरितो विस्तीर्णे गगने स्थिताः ।
प्रवृत्ताः सुखमागन्तुं सरसः सरितो यथा ॥ १३ ॥
योधदोर्द्रुमसंचारस्तनुतामाययौ शनैः ।
भूकम्पान्ते वनस्पन्द इवाऽऽभ्रान्त इवाऽर्णवः ॥ १४ ॥

तदुपरान्त सेनापतियोंने मन्त्रियोंके साथ विचार कर एक दूसरेके पास रण बन्द करनेके लिए दूत भेजे ॥ ८ ॥

रणभूमिमें श्रमवश सभीके यन्त्र, शस्त्रास्त्र तथा पराक्रम मन्द पड़ गये थे, सभीने समयपर रणसमाप्तिका अनुमोदन किया ॥ ९ ॥

तदुपरान्त दोनों सेनाओंका एक एक योद्धा महान् रथके पताकादण्डकी चोटीपर रक्खे हुए लम्बे बांसके खम्भेपर ध्रुवकी नाईं चढ़ा ॥ १० ॥

जैसे रात्रि सम्पूर्ण दिशाओंमें किरणोंसे विशाल शुभ्र चन्द्रमाको घुमाती है, वैसे ही उसने चारों ओर सफेद वस्त्र हिलाया जो 'युद्ध बन्द कीजिये' इसका सूचक था ॥ ११ ॥

तदुपरान्त महाप्रलयकी निवृत्ति होनेपर पुष्करावर्तनामक मेघोंकी नाईं दुन्दुभियां बजने लगीं, उनके निनादसे सम्पूर्ण दिङ्मण्डल मुखरित हो उठा ॥१२॥

विशाल आकाशमण्डलमें स्थित बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी नदियाँ मानस-सरोवरसे सरयू आदि नदियोंकी नाईं बेरोकटोक गिरने लगीं ॥ १३ ॥

जैसे भूकम्पके पश्चात् वनस्पन्द मन्द पड़ जाता है और जैसे शरद् ऋतुमें

विनिर्गन्तुं प्रववृते रणादथ बलद्वयम् ।
वारिपूरश्चतुर्दिक्षु प्रलयैकार्णवादिव ॥ १५ ॥
उत्क्षिप्तमन्दरक्षीरसमुद्रवदनाकुलम् ।
सैन्यं प्रशाम्यदावर्तं शनैः साम्यमुपाययौ ॥ १६ ॥
क्रमेणाऽऽसीन्मुहूर्तेन विकटोदरभीषणम् ।
अगस्त्यपीतार्णववच्छून्यमेव रणाङ्गणम् ॥ १७ ॥
शवसन्ततिसंपूर्णं वहद्रक्तनदाकुलम् ।
परिकूजनझङ्कारपूर्णझिल्लीवनोपमम् ॥ १८ ॥
वहद्रक्तसरित्स्रोतस्तरङ्गारवघर्घरम् ।
साक्रन्दार्धमृताहूतसप्राणव्यग्रमानवम् ॥ १९ ॥
मृतार्धमृतदेहौघसृतासृक्प्लुतनिर्झरम् ।
सजीवनरपृष्ठस्थशवस्पन्दनभ्रान्तिदम् ॥ २० ॥

समुद्रका लहराना कम हो जाता है, वैसे ही वीर योद्धाओंके बाहुरूपी वृक्षोंका संचार धीरे धीरे मन्द हो गया ॥ १४ ॥

तदनन्तर जैसे प्रलयके अन्तमें प्रलयकालीन एकमात्र समुद्रसे जलप्रवाह चारों दिशाओंमें बहता है, वैसे ही दोनों सेनाएँ रणभूमिसे निकलने लगीं ॥ १५ ॥

जिससे मन्दराचल निकाला गया है, ऐसे क्षीर समुद्रके समान प्रशान्त और आवर्तोंसे (जलभौंरियोंसे) रहित सेना धीरे धीरे अव्याकुलताको प्राप्त हुई ॥१६॥

थोड़ी देरमें जैसे जैसे सैनिक निकलते गये, वैसे वैसे रणभूमि पूतनेश्वरीके पेटके समान भीषण और अगस्तमुनि द्वारा पिये गये सागरके समान शून्य (रिक्त) ही हो गई ॥ १७ ॥

सारी रणभूमि मुर्दोंसे पटी थी, जहां तहां रुधिरके नद बह रहे थे, घायल एवं मरणासन्न सैनिकोंके रोदन और कराहनेसे वह पूर्ण थी अतएव वनमक्खियोंकी भनभनाहटसे भरे हुए वनमक्खियोंके वनके सदृश लगती थी, बह रहीं रुधिर-नदियोंके प्रवाह और तरङ्गोंके शब्दसे उसमें घर घर ध्वनि हो रही थी, रो रहे, चिल्ला रहे अधमरे लोगों द्वारा पुकारे गये जीवित पुरुष बड़े व्यग्र थे, मरे हुए और अधमरे लोगोंके शरीरोंसे चू रहे खूनके झरने बह रहे थे, सजीव (अधमरे) पुरुषोंकी पीठमें पड़े हुए शवों (मुर्दों) में स्पन्दनका भ्रम होता

करीन्द्रशवराश्यग्रविश्रान्ताम्बुदखण्डकम् ।
विशीर्णरथसङ्घातं वातच्छिन्नमहावनम् ॥ २१ ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानहयद्विपम् ।
शरशक्त्यृष्टिमुसलगदाप्रासासिसङ्कुलम् ॥ २२ ॥
पर्याणावनसन्नाहकवचावृतभूतलम् ।
केतुचामरपट्टौघगुप्तं शवशरीरकम् ॥ २३ ॥
फणास्फुटकतूणीरकुञ्जकूजत्समीरणम् ।
शवराशिपलालौघतल्पसुप्तपिशाचकम् ॥ २४ ॥
मौलिहाराङ्गदद्योतशक्रचापवनावृतम् ।
श्वशृगालकराकृष्टसान्द्रान्त्रादीर्घरज्जुकम् ॥ २५ ॥
रक्तक्षेत्रकणत्किञ्चिच्छेषजीवनृदन्तुरम् ।
रक्तकर्दमनिर्मग्नसजीवनरदर्दुरम् ॥ २६ ॥

था, मत्त मातङ्गोंके शवोंके ढेरकी चोटीपर मेघखण्ड विराजमान थे, वहां अनेक रथ जहां तहां बिखरे थे, अतएव वह रणस्थल उस महावनके तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें आंधीसे वृक्ष ढह गये हों, वहां बह रही रुधिरनदीके प्रवाहमें हाथी, घोड़े बह रहे थे, बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुसल, गदा, भाले और तलवारोंसे सारी रणभूमि पटी थी, काठी, शरीरके रक्षक चमड़ेके टुकड़े और कवचोंसे सारा भूतल व्याप्त था, शवोंके शरीर, पताका, चँवर और घाव बाँधनेकी पट्टियोंसे आच्छन्न था, साँपकी फनके समान जिनका आगेका हिस्सा ऊँचा था और जिनमें चलनीके समान चारों ओर छिद्र किये गये थे ऐसे तरकसोंमें वायु इस प्रकार शब्द करता था जैसे कि कीचककी (एक प्रकारके बाँसकी) झड़ियोंमें करता है, वहांपर पिशाच शवोंकी राशिरूप पुआलके बिछौनेपर सोये थे ॥१८–२४॥

सिरपर धारण किये हुए शिरोरत्नों और अङ्गदों (बाजू-बन्दों) की जगमगाहटसे सैकड़ों इन्द्रधनुष उसके चारों ओर उगे थे, कुत्ते और सियार अपने पञ्जोंसे खूनसे लथपथ अँतड़ीरूपी लम्बी रस्सीको खींच रहे थे, जिनका जीवन कुछ कुछ शेष है, ऐसे दाँत चिआरे हुए पुरुष वहांपर रुधिरसे परिपूर्ण खेतमें घर् घर् शब्द कर रहे थे, सजीव नररूपी मेंढक रुधिरके कीचड़में सर्वथा निमग्न

वराङ्गकवचप्रख्यनिर्गताक्षिशतोच्चयम् ।
वहद्भुजोरुकाष्ठौघघोररक्तसरिच्छतम् ॥ २७ ॥
साक्रन्दबन्धुवलितं मृतार्धमृतमानवम् ।
शरायुधरथाश्वेभपर्याणासंवरान्तरम् ॥ २८ ॥
नृत्यत्कबन्धदोर्दण्डमण्डलानमिताम्बरम् ।
मदमेदोवसागन्धपीडार्द्रघ्राणकोटरम् ॥ २९ ॥
उत्तालवर्धमृतेभाश्ववार्यमाणाल्पजीवितम् ।
वहद्रक्तनदीवीचिप्रहारहतदुन्दुभि ॥ ३० ॥
उह्यमानमृतेभाश्वमकरासृक्सरिच्छतम् ।
म्रियमाणनरानीकफूत्कृतासृक्प्रणालिकम् ॥ ३१ ॥
स्वल्पजीवशरापूर्णमुखदृक्कान्तितस्वनम् ।
पिण्डभार्यावसागन्धवातान्तोत्पीठलोहितम् ॥ ३२ ॥

थे, चित्रकञ्चुकके सदृश सैंकड़ों आँखोंके समूह वहांपर निकले हुए पड़े थे, वहांपर सैकड़ों रक्तनदियाँ बह रही थीं जो भुजा और जङ्घा रूपी काष्ठसमूहसे बड़ी भीषण थीं, रो रहे बन्धुओंसे सारी रणभूमि व्याप्त थी, जहां देखो वहीं मरे और अधमरे मनुष्योंका ढेर लगा था, बाण, अस्त्र-शस्त्र, रथ, घोड़े, हाथी और काठियोंसे सारी रणभूमि आच्छन्न थी, वहाँ नांच रहे कबन्धोंके बाहुदण्डमण्डलसे आकाशमण्डल नीचा किया गया था, हाथियोंके मद, मेदा और वसाके गन्धसे नाकमें पीड़ा होती थी और नाक बहने लगती थी, जिन्होंने अपने तालु (जबड़े) ऊपरको किये थे ऐसे अधमरे हाथी और घोड़ोंसे अपने अल्पजीवितकी रक्षा की जा रही थी, बह रही रुधिरनदीकी लहरोंके प्रहारसे नगाड़े बज रहे थे, मरे हुए हाथी एवं घोड़े रूपी मगर खूनकी सैकड़ों नदियोंमें ऊपर तैर रहे थे, वहांपर मर रहे नरोंके फूत्कारसे मुखमें भरे हुए खूनके फव्वारे बाहर निकाले जा रहे थे, जिनका जीवन थोड़ा शेष है और मुँह और नेत्रोंमें बाण भरे हुए हैं, ऐसे लोग वहांपर रो-चिल्ला रहे थे, वहांपर खून पिण्डभार्याके * वसाकी दुर्गन्धिसे युक्त और वायु लगनेसे घनीभूत हुआ था, ऊपरकी ओर सूँड़ किये हुए अधमरे

* पेटकी बाईं ओर स्थित एक मांसकी ग्रन्थि पिण्डभार्या कही जाती है ।

उन्नासार्द्धमृतेभेन्द्रकराक्रान्तकबन्धकम् ।
निरधिष्ठितहस्त्यश्वपातितोच्चकबन्धकम् ॥ ३३ ॥
रुदत्क्रन्दत्परिभ्रष्टशवक्षुब्धासृगुद्धति ।
मृतभर्तृगलेशस्त्रत्यक्तप्राणकुलाङ्गनम् ॥ ३४ ॥
सेनोत्क्रान्तततक्षिप्रबहुपान्थपरीक्षणम् ।
शवहारकराकृष्टसप्राणानुचराकुलम् ॥ ३५ ॥
केशशैवालवक्त्राब्जचक्रावर्तनदीशतम् ।
तरत्तुङ्गतरङ्गाढ्यवहद्रक्तमहानदम् ॥ ३६ ॥
अङ्गलग्नायुधोद्धारव्यग्रार्द्धमृतमानवम् ।
विदेशमृतसाक्रन्दहुताङ्गगजवाजिनम् ॥ ३७ ॥
प्राणान्तस्मृतपुत्रेष्टमातृदेवपराभिधम् ।
हाहाहीहीतिकथितमर्मच्छेदनवेदनम् ॥ ३८ ॥

गजराजोंके सूँड़ोंसे कबन्ध आक्रान्त थे, सवारोंके मर जानेके कारण अनियन्त्रित (नियन्त्रणरहित) हाथी और घोड़ोंने ऊँचे ऊँचे कबन्धोंको गिरा दिया था, रो रहे, चिल्ला रहे और गिर रहे शवोंसे खूब खून उछल रहा था, मरे हुए पतिके गलेमें आलिङ्गन करके स्थित कुलाङ्गनाओंने दैवात् प्राप्त शस्त्रघातसे प्राण-त्याग किया था, अग्निसंस्कार आदिके योग्य शवोंके लानेके लिए स्वामीका आदेश पाकर शिबिरोंमें प्रविष्ट सेनामें से गये हुए रणभूमिमें अलग-अलग प्रवेश करनेमें भयभीत होनेके कारण इकट्ठे हुए बड़ी जल्दीसे कार्य कर रहे बहुतसे बटोहियोंने अपने-अपने आत्मीयोंके शवोंको वहाँपर पहचाना। शवोंको ले जाने-वाले लोगोंकी स्वाभीष्टशवान्वेषणत्वरासे सारी रणभूमि, जिन्होंने अपने हाथोंसे सजीव लोगोंको खींचा है ऐसे भृत्योंसे, व्याप्त थी ॥ २५–३५ ॥

वहाँपर सैकड़ों रुधिर-नदियाँ बह रही थीं, उनमें केश ही सिवार थे, मुख ही कमल थे, चक्र ही आवर्त थे। रक्तके महानद बह रहे थे जो ऊपर तैर रहीं बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे पूर्ण थे, अधमरे मनुष्य शरीरमें लगे हुए हथियारोंको निकालनेमें व्यग्र थे, विदेशमें मरे हुए लोगोंके अङ्गभूषण, हाथी और घोड़े शोकसे रोदनपूर्वक दिये गये थे। वहांपर लोग मरते समय पुत्र, इष्ट मित्र, माता, देवता और परमेश्वरका स्मरण करते थे, 'हा हा ही ही' आदि कराहना मर्मपीड़ाको

म्रियणाणमथौजिष्ठद्विष्टप्रारब्धसंचयम् ।
दन्तियुद्धासमर्थाग्रमृतदेहेष्टदैवतम् ॥ ३९ ॥
म्रियमाणमहावज्ञाशूराश्रितपलायनम् ।
अशङ्कितासृगावर्तभीमास्पदगमोत्सुकम् ॥ ४० ॥
मर्मच्छेदशराघातव्यथाविदितदुष्कृति ।
कबन्धबन्धप्रारब्धवेतालवदनाक्रमम् ॥ ४१ ॥
उह्यमानध्वजच्छत्रचारुचामरपङ्कजम् ।
किरत्सन्ध्यारुणं दिक्षु तेजस्कं रक्तपङ्कजम् ॥ ४२ ॥
रथचक्रधरावर्तं रक्तार्णवमिवाऽष्टमम् ।
पताकाफेनपुञ्जाढ्यं चारुचामरबुद्बुदम् ॥ ४३ ॥
विपर्यस्तरथं भूमिपङ्कमग्नपुरोपमम् ।
उत्पातवातनिर्धूतद्रुमं वनमिवाऽऽततम् ॥ ४४ ॥

सूचित करता था, पराक्रम दर्शाये बिना ही मर रहे दुर्भाग्यसे आक्रान्त कितने ही शूरवीर अपने भाग्यको कोस रहे थे, हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हाथियोंके आगे स्थित मृतप्राय शरीरवाले योद्धा कहीं कुचल न जावें, इस भयसे देवताओंकी प्रार्थना करते थे ॥ ३६–३९ ॥

मर रहे भटोंपर अशूर लोगोंने पादाघातादिरूप महती अवज्ञासे जो अपराध किया, उससे वे भाग रहे थे, अतएव वे रुधिरके आवर्तोंसे युक्त होनेके कारण भीषणतम स्थानोंमें भी बिना किसी हिचकके जानेको तयार थे ॥ ४० ॥

मर्मच्छेदन करनेवाले बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न पीड़ासे जन्मान्तरोंकी पाप-राशिका अनुमान होता था, भाग रहे कबन्धोंको बाँधकर वेतालोंने रुधिरपानके लिए अपने मुखोंको प्रवृत्त किया था, रुधिरके बड़े-बड़े तालाबोंमें तैर रहे छत्र, ध्वज और सुन्दर चँवर ही वहांपर कमल थे, रक्तके तालाबोंमें संध्याकालकी लालिमाके प्रतिबिम्बित होनेपर लाल तेजसमूहरूप रक्त कमलको वह (समरभूमि) चारों ओर बखेर रही थी ॥ ४१,४२ ॥

वह रणभूमि क्या थी, आठवाँ रुधिरपूर्ण समुद्र था, रथ और रथोंके पहिये उसमें क्रमशः पर्वत और आवर्त (भौरी) थे, पताकारूपी फेन-समूहसे वह युक्त था, सुन्दर चँवर ही उसमें बुद्बुद (बुल्ले) थे। उसमें रथ औंधे गिरे हुए थे, अतएव

कल्पदग्धजगत्प्रख्यं मुनिपीतार्णवोपमम् ।
अतिवृष्टिहतं देशमिव प्रोज्झितमानवम् ॥ ४५ ॥
कलापकुन्तवलितं भुशुण्डीमण्डलाकुलम् ।
मत्तनागशताकारशवतोमरमुद्गरम् ॥ ४६ ॥
शिलाशिखरसञ्जाततालजालमिवाऽऽततम् ।
तरद्रक्तनदीतीरजातकुन्तोन्नतद्रुमम् ॥ ४७ ॥
नागांसस्यूतहेत्योघवृक्षांशुकुसुमाकुलम् ।
कङ्ककृष्टान्त्ररसनावृन्दजालकिताम्बरम् ॥ ४८ ॥
असृक्सरित्तीरजातकुन्तोन्नतवनद्रुमम् ।
असृक्सरोवरोर्ध्वस्थपताकानलिनीगणम् ॥ ४९ ॥

वह भूमिके कीचड़में धँसे हुए नगरके तुल्य प्रतीत होता था, जिसमें उत्पात वायुसे (भीषण अन्धड़से) वृक्ष तोड़े-मरोड़े गये हों, ऐसे घने वनके समान, प्रलयकालमें जले हुए जगत्के सदृश और महामुनि श्रीअगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्रके समान लगता था, अतिवृष्टिसे उजड़े हुए देशके तुल्य उससे मनुष्य हट गये थे ॥ ४३–४५ ॥

आभूषणों, बाणों और भालोंसे सारा युद्धस्थल व्याप्त था, भुशुण्डीके समूहोंका वहां चारों ओर ढेर लगा था, वहांपर सैकड़ों मदोन्मत्त हाथियोंके आकारके मुर्दे और सैकड़ों महान् अजगरोंके आकारके तोमर और मुद्गर थे ॥ ४६ ॥

बह रही रुधिरकी नदीके अगल बगल लगे हुए मुर्दोंपर गड़े हुए कुन्त ही उन्नत वृक्ष थे, वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो चट्टानोंके ऊपर उगे हुए घने तालके झुरमुट हों ॥ ४७ ॥

हाथियोंके विभिन्न अङ्गोंमें चुभे हुए हथियारोंके समूहरूपी वृक्षोंके किरण-रूपी फूल वहांपर जहां तहां बिखरे थे, सफेद चीलों द्वारा खींची गई अंतड़ीरूपी रस्सियोंसे युद्धभूमिका आकाशमण्डल मानों जालोंसे छा गया था ॥ ४८ ॥

रुधिरकी नदीके तीरपर लगे हुए ऊँचे ऊँचे भाले ही उसमें ऊँचे ऊँचे वनवृक्ष थे और रुधिरके कुण्डोंके ऊपर स्थित पताकाएँ ही कमलवृन्द थे ॥ ४९ ॥

रक्तकर्दमनिर्मग्ननराहूतसुहृज्जनम् ।
करीन्द्रकुणपापातनिर्यद्भग्नजनेक्षितम् ॥ ५० ॥
हेतिलूनलतैर्वृक्षैः सन्दिग्धार्धकबन्धकम् ।
असृङ्नदीवहद्धस्तिकटकर्पटनौगणम् ॥ ५१ ॥
रक्तस्रोतःस्फुरच्छुक्लवस्त्रडिण्डीरपिण्डकम् ।
सञ्चारनियतक्षिप्रभृत्यविच्छिन्नमानवम् ॥ ५२ ॥
इतश्चेतश्च निपतत्कबन्धनवदानवम् ।
ऊर्ध्वस्थूलाक्षचक्रौघच्छिन्नसैन्यद्रवज्जनम् ॥ ५३ ॥
रक्तनिःस्वनभाङ्कारफेत्काराधमृतारवम् ।
शिलामुखललद्रक्तधाराधूतरजःखगम् ॥ ५४ ॥
सुतालोत्तालवेतालतालताण्डवसङ्कटम् ।
पर्यस्तरथदार्वन्तरद्ध्रान्तरितसङ्कटम् ॥ ५५ ॥

रुधिरके कीचड़में फँसे हुए जन अपने अपने मित्रोंको पुकारते थे। मत्त मातङ्गोंके शवोंसे कुछ निकले हुए अंगभग्न लोगों द्वारा युद्धभूमि कातर दृष्टिसे देखी गई थी, हथियारोंसे जिनकी लताएँ कट गई थीं ऐसे वृक्षोंसे कबन्धोंका सन्देह होता था, रुधिरकी नदियोंमें बह रहे हाथियोंके मस्तक और अम्बारी ही वहाँपर नौकाएँ थीं ॥ ५०, ५१ ॥

रुधिरके प्रवाहमें चमक रहे सफेद वस्त्र ही वहांपर फेन समूह था, चलनेके लिए आज्ञप्त और शीघ्रता करनेवाले भृत्यों द्वारा वहांपर मनुष्य पहिचाने जा रहे थे ॥ ५२ ॥

कबन्ध और नये नये दानव इधर उधर गिर रहे थे। ऊपरको खड़े हुए बड़े बड़े छेदवाले चक्रोंके समूह द्वारा सेनासे भाग रहे पुरुष काटे गये थे। वहांपर रुधिरके शब्दसे युक्त 'भन् भन्' और 'फूत्कार' रूप अधमरे प्राणियोंके शब्द हो रहे थे, चील आदि पक्षी शिलाओंपर गिर रही रक्तधाराको पीनेके लिए अपने परोंकी धूलि उड़ा रहे थे ॥ ५४ ॥

वहांपर सुन्दर ताड़के वृक्षोंके समान और ताड़से भी ऊँचे वेतालोंने ताल-शब्दके साथ ताण्डव नृत्य आरम्भ कर दिया था अतएव वह स्थान और संकट

अन्तस्थसज्जीवभटस्पन्दिस्पन्दनभीतिदम् ।
रक्तकर्दमपूर्णास्यकिञ्चिज्जीवकृपाच्छवम् ॥ ५६ ॥
किञ्चिज्जीवनरोद्ग्रीवदुःखदृष्टश्ववायसम् ।
एकामिषोत्कक्रव्यादयुद्धकोलाहलाकुलम् ॥
एकामिषार्थयुद्धेहामृतक्रव्यादसङ्कुलम् ॥ ५७ ॥
विवृत्तासंख्याश्वद्विरदपुरुषाधीश्वररथ- ।
प्रकृत्तोष्ट्रग्रीवाप्रसृतरुधिरोद्गारसुसरित् ॥
रणोद्यानं मृत्योस्तदभवदशुष्कायुधलतम् ।
सशैलं कल्पान्ते जगदिव विपर्यस्तमखिलम् ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहववर्णनं नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ॥३८॥

पूर्ण हो गया था, औंधे गिरे हुए (अस्तव्यस्त) रथोंकी लकड़ियोंके अन्दर जीवित भट थोड़ा बहुत छिपे हुए थे ॥ ५५ ॥

शवोंके ढेरके अन्दर विद्यमान जीवित भटसे स्पन्दयुक्त शव वहांपर स्पन्दनकी भीति देते थे, यानी मालूम होता था कि शवमें स्पन्दन क्रिया हो रही है। रुधिरके कीचड़से जिनका मुँह भरा था और थोड़ासा जीवन जिनमें शेष था, ऐसे शवोंपर वहां बड़ी तरस आती थी ॥ ५६ ॥

जिन भटोंमें कुछ ही जीवन शेष था, उन्होंने खानेके लिए गर्दन उठाये हुए कुत्ते और कौओं को बड़े क्लेशसे देखा यानी उन्हें भक्षणोन्मुख देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, जहां तहां एक ही मांसपिण्डको खानेके लिए उत्सुक कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि का युद्ध एवं तज्जनित कोलाहल हो रहा था और जहां तहां एक ही मांस-पिण्डके लिए युद्धेच्छासे मरे हुए मांसाहारी जीव कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि बिखरे पड़े थे ॥ ५७ ॥

वह रणभूमि क्या थी मृत्युकी उद्यान थी। मर कर इधर उधर गिरे हुए असंख्य घोड़े, हाथी, नर, नरपति, रथ और काटी गई ऊटोंकी गरदनोंसे निकली हुई रुधिरके प्रवाहसे सुन्दर अनेक नदियां वहांपर बह रही थीं, खूनसे लथ पथ

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वीर इवाऽऽरक्तः कालेनाऽस्तमितो रविः ।
अस्त्रतेजःपरिम्लानप्रतापोऽब्धौ समुज्झितः ॥ १ ॥
रणरक्तरुचिर्व्योमदर्पणप्रतिबिम्बिता ।
जहौ सूर्यशिरश्छेदे सन्ध्यालेखोदभूत्क्षणम् ॥ २ ॥
भूपातालनभोदिग्भ्यः प्रलयाब्धिजलौघवत् ।
समाजग्मुस्तनत्ताला वेताला वलया इव ॥ ३ ॥

(गीले) हथियार ही लताएँ थीं । उक्त रणोद्यान प्रलयकालमें शैलयुक्त जगत्के समान सम्पूर्ण विध्वस्त हो गया था ॥ ५८ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तालीसवाँ सर्ग

[सूर्यके अस्तमयका, राक्षस और वेतालोंसे परिपूर्ण सन्ध्याका और रात्रिमें अत्यन्त बीभत्स रणभूमिका वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे जिसका पराक्रम मन्द पड़ गया है, ऐसे रक्तसे लथपथ वीरके समान स्वच्छ आकाशमें मन्द प्रतापवाले अस्ताचलोन्मुख अतएव लाल सूर्यको कालने समुद्रमें डुबा दिया ॥ १ ॥

पहले आकाशरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित रणभूमिके रुधिरकी कान्तिने सूर्यरूप अश्वारोहीका सिर कटनेपर आकाशका त्याग कर दिया । क्षणभरके लिए सन्ध्याने आगमन किया ॥ २ ॥

पृथिवी, पाताल, आकाश और दशों दिशाओंसे प्रलयकालके समुद्रकी जल-राशिके तुल्य वेताल आये, जो सम्पूर्ण दिशाओंका परिवेष्टन करनेसे वलयाकार प्रतीत होते थे और खूब करताल बजा रहे थे ॥ ३ ॥

मृष्टध्वान्तासिवलिते दिननागेन्द्रमस्तके ।
सन्ध्यारागारुणं कीर्णं तारानिकरमौक्तिकम् ॥ ४ ॥
निःसत्त्वेषु तमोन्धेषु रसना रसशालिषु ।
संकोचमाययुः पद्मा मृतानां हृदयेष्विव ॥ ५ ॥
मीलत्पक्षाः क्षणात्सुप्ताः कृच्छ्रप्रोच्छ्रितकन्धराः ।
कुलायेषु खगा आसञ्छवाङ्गेष्विव हेतयः ॥ ६ ॥
आसन्नचन्द्रसुभगा लोकाः कुसुमपङ्क्तयः ।
उल्लसद्धृदया जाता वीरपक्षेष्विव श्रियः ॥ ७ ॥
रक्तवारिमयी सायमङ्गगुप्तशिलीमुखा ।
संकुचद्वक्त्रपद्माऽभूद्रणभूमिरिवाऽब्जिनी ॥ ८ ॥

सानमें रखकर खूब तेज की गई अन्धकाररूपी तलवारसे दिनरूपी गजराजका मस्तक काटनेपर सन्ध्यारागरूपी रुधिरसे लाल तारामण्डलरूपी गजमौक्तिक बिखर पड़े ॥ ४ ॥

जैसे प्राणरहित, मोहसे अन्धकारमय और जीवनावस्थामें जीवनसे प्रेम करनेवाले मृतकोंके हृदयोंमें प्राणों द्वारा शब्दायमान कमल संकोचको प्राप्त होते हैं, वैसे ही हंस आदि जीव जिनसे हट गये हैं, अन्धकारसे अन्धे बने हुए जलपूर्ण तालाबोंमें पहले भँवर आदिके कारण शब्द कर रहे कमल संकोचको प्राप्त हो गये ॥ ५ ॥

जिनके पर देहसे सटे थे और जो क्लेशसे ऊपरको अपनी गर्दन किये थे, ऐसे पक्षीगण मृत भटोंके शरीरोंमें आयुधोंकी नाईं घोसलोंमें क्षणभरमें निद्रादेवीकी गोदमें पहुँच गये थे ॥ ६ ॥

जैसे वीरोंके पक्षमें विजयलक्ष्मीका हृदय खिल जाता है, वैसे ही समीपवर्ती चन्द्रमाके सुन्दर आलोक (चाँदनी) से युक्त कुमुद आदि फूलोंका हृदय खिल उठा ॥ ७ ॥

जैसे रणभूमि रुधिररूपी जलसे परिपूर्ण होती है, उसमें भटोंके अङ्गोंमें बाण छिपे रहते हैं और मुखरूपी कमल म्लान रहते हैं, वैसे ही कमलोंके तालाब सन्ध्याकी लालिमाके प्रतिबिम्बित होनेसे लाल जलसे भरे थे, कमलोंमें भँवर बन्द थे और उनके मुखके तुल्य कमल संकुचित हो गये थे ॥ ८ ॥

उपर्यभूद् व्योमसरस्ताराकुमुदमण्डितम् ।
अधस्त्वभूद्वारिसरः स्फुरत्कुमुदतारकम् ॥ ९ ॥
तमस्यपेतभीतानि भूतानि मिलितान्यलम् ।
पयांसीव विसेतूनि प्रसृतानि दिशं प्रति ॥ १० ॥
आसीद्रणाङ्गणं गायद्वेतालकुलसंकुलम् ।
क्वणत्कङ्कालकाङ्कस्थकङ्ककाकोलकेलिमत् ॥ ११ ॥
अथ काष्ठचिताज्वालसताराम्बरभास्वरम् ।
पचत्पचपचाशब्दिमेदोमांसमयानलम् ॥ १२ ॥
सर्वाङ्गास्थिस्फुटास्फोटस्फुटचितिचयोन्मुखम् ।
वेताललललनारब्धजललीलातिरोहितम् ॥ १३ ॥
श्वकाकयक्षवेतालतालकोलाहलोल्बणम् ।
गमागमेन भूतानां समुड्डीनवनोपमम् ॥ १४ ॥
रक्तमांसवसामेदोहरणव्यग्रडाकिनि ।
चर्वितासृग्वसामांसस्रवत्स्रुकिपिशाचकम् ॥ १५ ॥

ऊपर आकाशरूपी तालाब तारारूपी कुमुदोंसे (कुंइयोंसे) विभूषित हुआ और नीचेका जलतालाब कुमुदरूपी ताराओंसे चमकने लगा ॥ ९ ॥

जैसे बांधसे रहित जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे ही अन्धकारमें पहले बिछुडे हुए फिर मिलनेपर भी पहिचान न सकनेके कारण एक दूसरेसे डरे हुए जीव चारों ओर भागते थे ॥ १० ॥

रणस्थली गा रहे वेतालोंके झुण्डसे परिपूर्ण थी और उसमें जहां-तहां नर-कङ्कालोंके अंकमें बैठे हुए और बांस रहे सफेद चील और कौए अठखेलियां करते थे ॥ ११ ॥

रणभूमिमें काष्ठकी अनेक चिताएँ जल रही थीं, उनकी ज्वालाओंसे युक्त वह तारागणोंसे परिवेष्टित आकाशमण्डलके समान दमक रही थी, वहांपर पक रहे तथा पच-पच शब्द कर रहे मेदा और मांससे पूर्ण अग्नि थी, सर्वाङ्गकी हड्डियोंके टूटनेसे शब्द करती हुई अनेक चिताएँ वीरोंकी नाईं प्रधानरूपसे प्रकाशमान थीं, वेतालोंकी स्त्रियां जल-क्रीड़ाओंकी तरह चिताओंमें छिप रही थीं। वह कुत्ते, कौए, यक्ष और वेतालोंके कर्णकटु कोलाहलोंसे भीषण थी, प्राणियोंके गमन और आगमनसे उड़ते हुए वनोंकी तरह थी, डाकिनियां वहांपर

मध्यमध्यचितालोकप्रकटासृक्शवव्रजम् ।
विरूपिकानीयमानस्वांसन्यस्तमहाशवम् ॥ १६ ॥
उत्ताण्डवोग्रकुम्भाण्डमण्डलोड्डामरोदरम् ।
छमिच्छमित्प्रलापान्तं मेदोसृग्बाष्पसाम्बुदम् ॥ १७ ॥
वहद्रक्तनदीरंहोरूढभूचररूपिकम् ।
वेतालकुलकङ्कालकर्षणाकुलकाकलम् ॥ १८ ॥
मृतेभोदरमञ्जूषासुप्तवेतालबालकम् ।
विविक्तैकरणोद्देशपानक्रीडास्थराक्षसम् ॥ १९ ॥
मत्तवेतालकलहचितालातरणोज्ज्वलम् ।
वहद्रक्तवसामिश्रगन्धबन्धुरमारुतम् ॥ २० ॥
रूपिकापेटिकावान्तारणद्रटरटारवम् ।
अर्धपक्वशवास्वादलुब्धयक्षोल्लसत्कलि ॥ २१ ॥

रुधिर, मांस, चर्बी और मेदाके हरणमें व्यग्र थीं। वहांपर पिशाचोंने जो मांस खाया था, वह उनके ओठोंसे गिर रहा था, बीच-बीचकी चिताओंमें पिशाचों द्वारा खूनसे भरे हुए शव देखे जा रहे थे, पूतनाएँ अपने गोदमें बड़े-बड़े शवोंको ले जा रही थीं। वहांपर उद्धत नृत्यमें उग्र कुम्भाण्डोंके (ऊँचे पेटवाले पिशाचोंके) मण्डलके बड़े बड़े उदर थे, शवोंके मुखके पास प्रलापकी नाईं 'छम-छम' ज्वालाके शब्द हो रहे थे, मेदा और रुधिरके गीले धूएँसे वह रणभूमि मेघयुक्त-सी थी। वहांपर रूपिका (एक प्रकारकी पूतना) बह रही रुधिरनदीके वेगमें जमकर खड़ी हुई अतएव भूचरी-सी मालूम पड़ रही थी। वहांपर नाना प्रकारके वेताल शवपञ्जरोंको खींचनेमें अपने कुलके अनुरूप किलकारियां भर रहे थे। मरे हुए हाथियोंके उदररूप पालनेमें वेतालोंके बालक सो रहे थे। एकान्त रण-प्रदेशमें राक्षस अपनी पानक्रीड़ामें व्यस्त थे ॥ १२-१९ ॥

मदोन्मत्त वेतालोंमें परस्पर कलह होनेपर चिताओंके आधे जले काष्ठों द्वारा हुए उनके संग्रामसे सारी रणभूमि जगमगा उठी। वहां वायु बह रहे रुधिर और वसाके मिश्रित गन्धसे युक्त था। एक प्रकारकी पूतनाओंकी पेटिकाओंसे निकले हुए रट-रट शब्द हो रहे थे। आधे पके हुए शवके आस्वादनमें लुब्ध

तुङ्गवङ्गकलिङ्गाङ्गतङ्गणाङ्गगलत्खगम् ।
तारापातोपमहसत्संमुखज्वालरूपिकम् ॥ २२ ॥
पतद्वेतालसोल्लासमध्यस्थासृग्विरूपिकम् ।
पिशाचाकर्णिताभ्यर्णयोगिनीगणनायकम् ॥ २३ ॥
प्रसृतान्त्रमहातन्त्रीप्रायसंपन्नवादनम् ।
पिशाचवासनोत्क्रान्तपिशाचीभूतमानवम् ॥ २४ ॥
रूपिकालोकनापूर्वत्रासार्द्धमृतसङ्कटम् ।
क्वचिद्वेतालरक्षोभिरपरीपूर्णमद्रकम् ॥ २५ ॥
स्वरूपिकास्कन्धपतच्छवत्रस्तनिशाचरम् ।
नभःसङ्घट्टितापूर्वभूतपेटकसङ्कटम् ॥ २६ ॥
अतिप्रयत्नापहृतम्रियमाणनरामिषम् ।
स्वभक्ष्यापेक्षपक्षेषु विक्षिप्तशवराशिमत् ॥ २७ ॥
शिवामुखानलशिखाखण्डोत्थमितिरक्तगैः ।
समुड्डीननवाशोकपुष्पगुच्छमिवाऽभितः ॥ २८ ॥

यक्षोंका कलह बढ़ रहा था। वङ्ग, कलिङ्ग, अङ्ग, तङ्गण आदि देशोंके पुरुषोंके ऊँचे-ऊँचे शरीरोंमें राक्षस और चील आदि पक्षी [मांसभक्षणार्थ] चिपट रहे थे। तारापातके तुल्य दाँतोंसे हँस रहीं रूपिकाएँ संमुखस्थित मूर्तिमती ज्वालाओंसे युक्त-सी प्रतीत हो रही थी। रुधिरके मारे विछलहर भूमिमें गिर रहे वेतालोंके बीचमें खून पीनेवाली पूतनाएँ परिहास कर रही थीं। वहाँपर योगिनीगणके नायक पिशाचों द्वारा आहूत होकर समीपमें आ रहे थे, चारों ओर बिखरी हुई आँतड़ीरूपी महावीणाओं द्वारा वादन किया जा रहा था। वहाँपर पिशाचोंकी वासनासे पिशाच बने हुए मनुष्य उछल कूद रहे थे, पूतनाके दर्शनसे जनित अपूर्व भयसे अच्छे-अच्छे भट मृतप्राय हो रहे थे, कहींपर वेतालों और राक्षसोंके आनन्दोत्सव मनाये जा रहे थे, पूतनाओंके कन्धोंसे गिर रहे शवोंसे निशाचर भी भयभीत हो रहे थे, आकाशसे टकरानेवाले अपूर्व भूतोंके पैटारोंसे सारी रणभूमि व्याप्त थी। वहाँ मर रहे मनुष्यके मांसको बड़े प्रयत्नसे छीन रहे थे, भक्ष्यकी अपेक्षा रखनेवाले अपने पक्षोंमें वहांपर शवोंकी राशि बखेरी गई थी। शृगालियोंके मुखसे निकली हुई अग्निकी ज्वालाओंसे पूर्ण

कबन्धकन्धराबन्धव्यग्रवेतालबालकम् ।
यक्षरक्षःपिशाचादिकचदाकाशगोल्मुकम् ॥ २९ ॥
आकाशभूधरनिकुञ्जगुहान्तराल-
पिण्डोपमण्डिततमोम्बुदपीठपूरम् ।
व्यालोलभूतरभसाकुलकल्पवात-
व्याधूतलोककरकाण्डकपेटकल्पम् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने निशाचराकुलरात्रिरणाङ्गणवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं निशाचराचारचिरघोरे रणाङ्गणे ।
अह्नीव जनाचारे स्थिते यामावरेहिते ॥ १ ॥

संज्ञाको प्राप्त हुए और खूनसे लथपथ पुरुषोंसे चारों ओर रणभूमि ऐसी प्रतीत होती थी, मानो नये-नये अशोक-पुष्पोंके गुच्छे उड़ रहे हों ॥ २०—२८ ॥

वहांपर वेतालोंके बालक कबन्धोंके कटे हुए कन्धोंमें क्रीड़ा-व्यग्र थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदिके आकाशमें उड़ रहे उल्मुख (अर्धदग्ध काष्ठ) दीप्त हो रहे थे ॥ २९ ॥

वहांपर आकाश, पर्वतों, पर्वतोंके निकुञ्ज और गुफाओंके मध्यमें पिण्डके समान घने तमोरूप मेघोंका समूह था। चञ्चल प्राणियोंके वेगसे आकुल अतएव प्रलयकालके वायुसे लोक, लोकोंमें रहनेवाले जन और उनके उपकरण जिसमें कँपाये गये हैं, ऐसे ब्रह्माण्डोंके तुल्य वह रणाङ्गण था ॥ ३० ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

—※—

चालीसवाँ सर्ग

[राजा विदूरथके सोनेपर सरस्वती और लीलाका, गृहप्रवेश और आतिवाहिक देहका तत्त्ववर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, निशाचरोंके कारनामोंसे अत्यन्त घोर रणाङ्गणमें यम दूतों और निकृष्ट श्रेणीके जीवोंकी (भूत, पिशाच आदिकी)

हस्ताहार्यतमःपिण्डस्फुटकुड्ये निशागृहे ।
लाभोच्छदोच्चलचते भूतसङ्घे प्रवल्गति ॥ २ ॥
निःशब्दे ध्वान्तसञ्चारे निद्रारुद्धककुब्गणे ।
लीलापतिरुदारात्मा किञ्चित्खिन्नमना इव ॥ ३ ॥
प्रातः कार्यं विचार्याऽऽशु मन्त्रित्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।
दीर्घचन्द्रसमाकारे शयने हिमशीतले ॥ ४ ॥
चन्द्रोदरनिभे चारुगृहे शिशिरकोटरे ।
निद्रां मुहूर्त्तमगमन्मुद्रितेक्षणपुष्करः ॥ ५ ॥
अथ ते ललने व्योम तत्परित्यज्य तद्गृहम् ।
रन्ध्रैर्विविशतुर्वातलेखेऽब्जमुकुलं यथा ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

कियन्मात्रमिदं स्थूलं शरीरं वाग्विदांवर ।
रन्ध्रेण तन्तुतनुना कथमाश्वाविशत्प्रभो ॥ ७ ॥

चेष्टाओंके—दिनमें मनुष्योंके यथोचित आचरणकी नाईं पूर्वोक्त प्रकारसे—सम्पन्न होनेपर हाथसे पकड़नेके योग्य यानी निबिड अन्धकारराशिसे जिसमें साफ साफ दीवारे बनी थी ऐसे रात्रिरूपी घरमें भक्ष्य पदार्थोंकी प्रचुरमात्रामें प्राप्ति होनेपर वस्त्र पसार कर मांगना जिनसे कोशों दूर भाग गया था ऐसे भूत-गणोंके क्रीड़ा करनेपर निद्रासे आक्रान्त दशों दिशाओंके लोगोंके मौन होनेपर और दशों दिशाओंमें अन्धकारका संचार होनेपर कुछ खिन्न-से हुए उदाराशय लीलापतिने प्रातः कालके कार्यमें सलाह देनेमें दक्ष मन्त्रियोंके साथ शीघ्र विचार किया, तदनन्तर चन्द्रमाके मध्यभागके सदृश मनोहर तथा शीतल कमरेवाले सुन्दर घरमें विशाल चन्द्रमाके सदृश आकारवाले बर्फके सदृश शीतल शयनपर नेत्र-कमलोंको बन्दकर एक क्षणमें निद्राकी गोदमें विश्राम लिया ॥ १–५ ॥

तदनन्तर उन दोनों ललनाओंने पूर्वोक्त मण्डपाकाशको छोड़कर उस घरमें जैसे वायु सूराखोंसे कमलकी कलीके अन्दर प्रवेश करता है, वैसे ही झरोखोंके सूराखोंसे प्रवेश किया ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—विद्वन्मूर्धन्य, इतना बड़ा चार हाथका यह स्थूल शरीर कमलकी तांतके समान सूक्ष्म सूराखसे कैसे जल्दी प्रवेश कर गया ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आधिभौतिकदेहोऽहमिति यस्य मतिभ्रमः ।
तस्याऽसावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति नाऽनघ ॥ ८ ॥
रोधितोऽहमनेनेति न माम्यत्रेति यस्य धीः ।
अनुभूतानुभवती भवतीत्यनुभूयते ॥ ९ ॥
येनाऽनुभूतं पूर्वार्द्धं गच्छामीति स तत्क्रियः ।
कथं भवति पश्चार्द्धं गमनोन्मुखचेतनः ॥ १० ॥
नहि वायूर्ध्वमायाति नाऽधो गच्छति पावकः ।
या यथैव प्रवृत्ता चित् सा तथैव प्रतिष्ठिता ॥ ११ ॥
छायायामुपविष्टस्य कुतस्तापानुभूतयः ।
यस्य संवेदनेऽन्योऽर्थः केनचिन्नाऽनुभूयते ॥ १२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, जिसको यह भ्रम रहता है कि यह शरीर आधिभौतिक है, उस पुरुषका यह शरीर सूक्ष्म छिद्रसे नहीं जा सकता ॥ ८ ॥

इस शरीरने मुझे यहां प्रवेश करनेसे रोक दिया, अतः इस छिद्रमें मैं नहीं अमा सकता, क्योंकि मनुष्यशरीरका स्वभाव ऐसा ही है। जिसकी ऐसी बुद्धि अपनी आत्माको स्थूलदेहस्वरूप समझती है, वह अगमनका ही अनुभव करता है ॥ ९ ॥

किन्तु जिस पुरुषको, स्थूल मनुष्यदेहमें तादात्म्यबुद्धि न होने और मेरा एकमात्र आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है, यह निश्चय होने के कारण, पहलेकी दृढ़वासनाओंसे अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रमें भी जानेमें समर्थ हूँ, ऐसा सैकड़ों-वार अनुभूत है, वह पुरुष उत्तरकालमें स्थूल देहकी अनुरूप निरोध आदि क्रियाओंसे युक्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अतिसूक्ष्म छिद्रमें गमन करनेवाले चेतनका अंशस्वरूप ही है ॥ १० ॥

बाहर भी वस्तुशक्तिका स्वभाव वैसे ही एकरूप देखा गया है, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

जैसे जल कभी ऊपरको नहीं जाता और अग्नि कभी नीचेको नहीं जाती, वैसे चित्का भी जैसा स्वभाव है, वैसी ही वह रहती है ॥ ११ ॥

स्थूल देहमें आत्मबुद्धि न रखनेवाले योगी, पिशाच आदिको भी जब

यथा संवित्तथा चित्तं सा तथाऽवस्थितिं गता ।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यदशां पुनः ॥ १३ ॥
सर्पैकप्रत्ययो रज्ज्वामसर्पप्रत्यये बलात् ।
निवर्ततेऽन्यथा त्वेष तिष्ठत्येव यथास्थितः ॥ १४ ॥
यथा संवित्तथा चित्तं यथा चित्तं तथेहितम् ।
बालं प्रत्यपि संसिद्धमेतत्को नाऽनुभूतवान् ॥ १५ ॥

स्थूलदेहजनित निरोधदुःख नहीं होता, तब द्वैतमात्रके अध्याससे रहित तत्त्वज्ञानियोंको वह दुःख नहीं होता, इसमें तो कहना ही क्या है? इस आशयसे कहते हैं—'छायाया०' इत्यादिसे ।

छायामें बैठे हुए पुरुषको तापका अनुभव कहाँसे हो सकता है? परमात्माका यथार्थज्ञान होनेपर उससे अतिरिक्त पदार्थका किसीको अनुभव नहीं होता ॥ १२ ॥

अधिष्ठानरूप ज्ञानमें स्थूलता, सूक्ष्मता आदि शक्तियोंका आविर्भाव होनेपर भी चित्तमें स्थूलत्व आदि कैसे प्राप्त होते हैं? इसपर कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसी संवित् है, वैसा ही चित्त है, संवित् ही चित्तरूपताको प्राप्त हुई है। यदि किसीको यह सन्देह हो कि उसका अन्यथाभाव (संविदाकारता) कैसे होता है? तो इसपर कहते हैं—'परमेण' इति । बड़े भारी प्रयत्नसे वह फिर अन्य अवस्थाको प्राप्त की जाती है ॥ १३ ॥

ज्ञानप्रयत्नसे अन्यथाभावका उदाहरण देते हैं—'**सर्पैक०**' इत्यादिसे ।

यह 'रज्जु' है, यों प्रयत्नपूर्वक रज्जुपदार्थका निश्चय होनेपर रज्जुमें सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है, अन्यथा (प्रयत्न न होनेपर) वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥ १४ ॥

जैसे चित्त संवित्-शक्तिका अनुसरण करता है, वैसे ही चेष्टा भी चित्तका अनुसरण करती है, यह भी प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसी संवित् होती है, वैसा ही चित्त होता है और जैसा चित्त रहता है वैसी ही चेष्टाएँ भी होती हैं, यह बालक तकको सुविदित है, फिर दूसरेको यह क्यों न सुविदित होगा? ॥ १५ ॥

यः पुनः स्वप्नसङ्कल्पपुरुषः प्रतिमाकृतिः ।
आकाशमात्रकाकारः स कथं केन रोध्यते ॥ १६ ॥
चित्तमात्रं शरीरं तु सर्वस्यैव हि सर्वतः ।
विद्यते वेदनाच्चैतत् क्वचिदेतीव हृद्गतात् ॥ १७ ॥
यथाभिमतमेवाऽस्य भवत्यस्तमयोदयम् ।
आदिसर्गे स्वभावोत्थं पश्चाद्द्वैतैक्यकारणम् ॥ १८ ॥
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
विद्धेतत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात् ॥ १९ ॥

स्थूल शरीरके समान आतिवाहक चित्तशरीरका भी निरोध क्यों नहीं होता? इसपर कहते हैं—'यः' इत्यादिसे।

जो स्वप्नके पुरुषकी नाईं और मनोरथनिर्मित प्रतिमाकी नाईं केवल आकाशमात्रशरीर है (शून्यात्मकशरीर है) उसे कौन कैसे रोक सकता है? ॥ १६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि भौतिक शरीर ज्ञानबलसे चित्तशरीर कैसे बन जाता है? इस शङ्कापर कहते हैं—**'चित्तमात्रम्'** इत्यादिसे।

वास्तवमें सभी लोगोंका सभी जगह चित्तमात्र ही शरीर है, किन्तु कहींपर हृदयमें स्थित ज्ञानके बलसे वह कहीं आता हुआ-सा प्रतीत होता है। आता हुआ-सा जो प्रतीत होता है, वह भ्रम है, वास्तवमें प्राणी चित्तसे अतिरिक्त नहीं हैं, यह भाव है ॥ १७ ॥

प्राणियोंकी चित्तसे पृथक् सत्ता नहीं है, इसका उपपादन करते हैं—**'यथाभिमत०'** इत्यादिसे।

परमात्माकी इच्छाके अनुसार ही सब प्राणियोंके उत्पत्ति, विनाश आदि होते हैं, जो कि आदि सृष्टिमें स्वाभाविक अज्ञान अथवा स्वाभाविक कर्मसे उत्पन्न होते हैं, स्थूलभूत और भौतिक पदार्थ द्वैत कहलाते हैं, उनका मेलन यानी एकदेहभावनासे ऐक्य होता है। उसमें कारण है—पञ्चीकरण, वह बादको होता है ॥१८॥

चित्त और अव्यक्तका भी शुद्ध चितिसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चित्ताकाशम्'** इत्यादिसे।

एतच्चित्तशरीरं त्वं विद्धि सर्वगतोदयम् ।
यथासंवेदनेच्छत्वाद्यथासंवेदनोदयम् ॥ २० ॥
वसति त्रसरेण्वन्तर्ध्रियते गगनोदरे ।
लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसो भवति पल्लवे ॥ २१ ॥
उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे ।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश—इन तीनोंको एक ही समझिए, क्योंकि अधिष्ठानसत्ताके बिना उनका स्फुरण ही नहीं होता। यानी जिसका स्फुरण जिसकी सत्ताके अधीन है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता, ऐसा नियम है, यह भाव है ॥ १९ ॥

यद्यपि स्थूलशरीर और चित्तशरीर दोनों ही अधिष्ठान सत्ताके अधीन सत्तावाले हैं, फिर भी स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरमें विशेषता है, वह यह कि वह निरोधका हेतु नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**एतच्चित्त०**' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्तशरीरको ऐसा समझिये कि इसने सम्पूर्ण पदार्थोंमें आविर्भावशक्ति प्राप्त की है। कहींपर भी इसके लिए रोकटोक नहीं हो सकती, क्योंकि उसका उदय (आविर्भाव) संवेदन यानी पूर्व वासना और कर्मका अनुसरण करनेवाले पदार्थोंकी स्फूर्तिके अनुसार होता है, उसका स्वभाव बाहरी वस्तुका अनुसरण करना नहीं है, क्योंकि संवेदनके अनुसार ही उसकी इच्छा होती है। भाव यह कि वह रजतरूपसे ज्ञात शुक्तिकी भी इच्छा करता है, शुक्तिशक्तिका अनुसरण कर उसकी उपेक्षा नहीं करता। निष्कर्ष यह निकला कि स्थूल शरीर बाह्य वस्तुओंका अनुसरण करता है, अतः उसका निरोध होनेपर भी संवेदनेच्छामात्रके अनुसारी चित्तशरीरका निरोध नहीं हो सकता ॥ २० ॥

सब पदार्थोंमें उसका आविर्भाव प्राप्त ही है, यह जो कहा था, उसीका विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—'**वसति**' इत्यादिसे।

चित्तशरीर त्रसरेणुके भीतर प्रविष्ट हो जाता है, आकाशके मध्यमें स्थित होता है, अङ्कुरके कोषमें लीन हो जाता है और पल्लवमें रस बन जाता है। जलवीचियोंमें (लहरोंमें) उल्लास करता है और शिलाओंके मध्यमें नाचता

यथेच्छमम्बरे याति जठरेऽपि च भूभृताम् ।
अनन्तराकाशवपुर्धत्तेऽथ परमाणुताम् ॥ २३ ॥
भवत्यद्रिर्धराधारो बद्धपीठो नभःशिराः ।
देहस्याऽन्तर्बहिरपि दधद्वनतनूरुहम् ॥ २४ ॥
भवत्याकाशमाधत्ते कोटीः पद्मजसद्मनाम् ।
अनन्याः स्वात्मनोऽम्भोधिरावर्तरचना इव ॥ २५ ॥
अनुद्विग्नप्रबोधोऽसौ सर्गादौ चित्तदेहकः ।
आकाशात्मा महान् भूत्वा वेत्ति प्रकृततां ततः ॥ २६ ॥
असत्यमेव वारित्वं बुद्ध्योदेतीव तत्तथा ।
वन्ध्यापुत्रोऽयमस्तीति यथा स्वप्ने भ्रमो नरः ॥ २७ ॥

है। मेघ बन कर जल बरसाता है, शिला बन कर एक जगह स्थिर होता है, जब इच्छा होती है तब आकाशमें जाता है, पर्वतोंके अन्दर स्थित होता है, जिसमें तनिक अवकाश नहीं है ऐसा परमाणु बन जाता है, वनरूप रोओंको धारण कर रहा पर्वत बन जाता है ऐसा पर्वत कि जो पृथिवीको धारण करता है, दृढ़मूल है और आकाशचुम्बी है, ऐसा पर्वत केवल बाहर ही नहीं होता, किन्तु देहके अन्दर भी होता है* ॥ २१-२४ ॥

कभी आकाश बन जाता है, कभी जैसे समुद्र अपनेसे अभिन्न आवर्त-(जलभौरी) रचनाओंको धारण करता है, वैसे ही यह चित्तशरीर अपने स्वरूपसे अभिन्न करोड़ो ब्रह्माण्डोंको चारों ओर धारण करता है ॥ २५ ॥

जिसका कर्मानुसारी प्रबोध उद्वेगसे विपर्यस्त नहीं हुआ ऐसा चित्तशरीर सर्गके आदिमें आकाशादि क्रमसे महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर तदुपरान्त प्रारब्ध-कर्मानुसारणी प्रवृत्तिको जानता है ॥ २६ ॥

जैसे मरुमरीचिका आदिमें मिथ्या जलका उदय होता है एवं जैसे स्वप्नमें यह पुरुष वन्ध्यापुत्र है ऐसे भ्रमका उदय होता है, वैसे ही यह आकाशात्मा भी स्वनिष्ठ असत्य बुद्धि द्वारा महान् (ब्रह्माण्डात्मा) होकर प्रस्तुतताको प्राप्त हुआ है ॥ २७ ॥

* देहके अन्दर पर्वतभाव आदि स्वप्नमें प्रसिद्ध ही है, इन्द्रजाल आदिमें बाहर भी चित्त-शरीरका पर्वतभाव देखा जाता है।

श्रीराम उवाच

किं चित्तमेतद्भवति किं वा भवति नो कथम् ।
कथमेव न सद्रूपं नाऽन्यद् भवति वीक्षणात् ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक् प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ २९ ॥
क्षणकल्पजगत्सङ्घाः समुद्यन्ति गलन्ति च ।
निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्चित्क्रमं शृणु ॥ ३० ॥

सूक्ष्मतम चित्त ही सम्पूर्ण जगत् है, सर्वशक्तिशाली है, उसको जबतक तत्त्वका परिज्ञान नहीं होता, तब वही स्थूल-सा होकर परतन्त्र होता है, जब उसे तत्त्वका परिज्ञान हो जाता है, तब वही व्यवहारमें सर्वत्र अप्रतिहत और स्वतन्त्र हो जाता है, ऐसा आपने कहा। इसपर हमारी जिज्ञासा है कि क्या हम लोगोंका प्रत्येक चित्त ऐसी शक्ति रखता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक पुरुषके चित्तमें भिन्न-भिन्नरूपसे विद्यमान जगत् सत् हो जायगा। द्वितीय पक्षमें चित्तसे उत्पन्न न हुआ जगत् चित्तसे विलक्षण ही होगा, क्योंकि वैसा ही सब लोग देखते हैं ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानसे चित्तका विनाश होनेपर भी जगत्की अनुवृत्ति ही होगी, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**किम्**' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महाराज, जो शक्ति आपने कही उस शक्तिसे युक्त हम लोगोंका चित्त है अथवा नहीं ? पहले पक्षमें प्रत्येक चित्तमें भिन्न जगत् सद्रूप क्यों नहीं होगा और दूसरे पक्षमें वह चित्तसे अतिरिक्त क्यों न होगा, क्योंकि ऐसा ही सब लोग देखते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त पक्षोंमें से प्रथम पक्षका ही अङ्गीकार कर श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'**प्रत्येकमेव**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, हर एकका जो चित्त है वह इस प्रकारकी शक्तिसे सम्पन्न है, प्रत्येक चित्तमें जगत्का भ्रम पृथक् पृथक्-रूपसे उदित हुआ है। क्षणके तुल्य अनेक जगत् किसीकी दृष्टिमें निमेष भरमें उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और किसीकी दृष्टिमें कल्पसे उत्पन्न और विनष्ट होते हैं इसमें आप क्रम सुनिये ॥ २९, ३० ॥

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनाऽनुभूयते ।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम् ॥ ३१ ॥
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक् पृथक् ।
सहजस्वप्नसङ्कल्पान् संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ ३२ ॥
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः ।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

मृतेरनन्तरं सर्गो यथा स्मृत्याऽनुभूयते ।
चिरात्तथाऽनुभवति नाऽतो विश्वमकारणम् ॥ ३४ ॥

जिस मरणादिमयी मूर्छाका हरेक आदमी अनुभव करता है, हे सुमते, उसे आप महाप्रलयरूपी रात्रि समझिये, महाप्रलयरूपी रात्रिका अन्त होनेपर सभी लोग अलग अलग सृष्टिका विस्तार करते हैं। जिसका जैसा ज्ञान और जैसा कर्म होता है, वह तदनुरूप सृष्टिका दर्शन और अनुभव करता है, भाव यह कि जैसे रोगी चित्त-व्यामोहसे पर्वतोंका नृत्य देखता है, वैसे ही जीव अनादि स्वाभाविक अविद्याके प्रभावसे उत्पन्न तीन अवस्थाओंके सङ्कल्पोंको देखता है ॥ ३१-३२ ॥

महाप्रलयरूप रात्रिका अवसान होनेपर जैसे समष्टिचित्तशरीर हिरण्यगर्भ समष्टिभोग्यप्रपञ्चका विस्तार करते हैं, वैसे ही व्यष्टिचित्तशरीर प्रत्येक जीव भी मृत्युके अनन्तर अपने-अपने भोग्य स्वप्नादि व्यष्टि-प्रपञ्चका विस्तार करता है यानी अनुभव करता है ॥ ३३ ॥

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' (जिसका मनसे स्मरण करता है, उसे वाणीसे बोलता है, उसे कर्मेन्द्रियोंसे करता है) इस श्रुतिसे और सब लोगोंके अनुभवसे स्मृतिके तुल्य सम्पूर्ण क्रियाएँ एकवस्तु-विषयक हैं, यह निश्चित है, स्मृति भी यदि स्मृतिका कारण अनुभव सत्य हो तो यथार्थ होती है और उसके कारणभूत अनुभवके मिथ्या होनेपर असत्य होती है। ऐसी परिस्थितिमें हम लोगोंमें भ्रान्ति प्रचुरमात्रामें विद्यमान है और हम लोगोंका सङ्कल्प असत्य है, अतः हमारी स्मृतिके अयथार्थ होनेके कारण उससे

श्रीवसिष्ठ उवाच

महति प्रलये राम सर्वे हरिहरादयः ।
विदेहमुक्ततां यान्ति स्मृतेः क इव संभवः ॥ ३५ ॥

उत्पन्न कतिपय स्वप्न आदि प्रपञ्च भले ही मिथ्या हों, किन्तु हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सर्वज्ञ होनेसे भ्रान्तिशून्य हैं और सत्यसंकल्प हैं, अतः उनकी स्मृति अयथार्थ कदापि नहीं हो सकती, फिर उनके द्वारा सृष्ट प्रपञ्च मिथ्या कैसे ? इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'मृते०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन्, जैसे व्यष्टि जीवोंको मरनेके बाद तुरन्त स्मृतिसे अपने द्वारा रचित सर्गका अनुभव होता है, वैसे ही समष्टि जीव (ब्रह्मा) भी चिरकालिक महाप्रलयके बाद अपनी यथार्थ स्मृतिसे सृष्ट प्रपञ्चका अनुभव करते हैं, अतः उनकी स्मृतिसे उत्पन्न प्राक्तन सत्य पदार्थ ही इस कल्पके सत्य विश्वके कारण हो सकते हैं, अतः विश्व अकारण नहीं है । विश्व ब्रह्मासे अतिरिक्त कारणसे शून्य है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञाकी थी, उस मतका व्याघात हुआ, यह भाव है ॥ ३४ ॥

जैसा आप (श्रीरामचन्द्रजी) कहते हैं, वैसा होता, यदि ब्रह्माकी आदि सृष्टिमें यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न सृष्टिकी हेतु स्मृति होती । पहले पहल हिरण्यगर्भ-पदको प्राप्त हुए उपासकको उक्त स्मृति नहीं हो सकती, कारण कि उसकी स्मृति उपासनासे प्राप्त संस्कारसे उत्पन्न है, यथार्थ अनुभवसे उत्पन्न नहीं है । पूर्व जन्मकी उपासना व्यष्टिकी ही है । व्यष्टिका समष्टिभावचिन्तन यथार्थानुभव नहीं है । इसलिए अयथार्थ उपासनाके संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिसे जन्य होनेके कारण आदि सर्गमें सत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं आ सकता । पहले कल्पके कोई भी सर्वज्ञ पुरुष द्वितीय कल्पमें नहीं रह सकते, क्योंकि सभी पहले कल्पमें ही मुक्त हो चुके । द्वितीय कल्पमें आदि सृष्टिकी हेतुभूत स्मृति पूर्वकल्पकी सृष्टिमें अनुभूत मिथ्यापदार्थविषयक ही है, इसलिए कहीं भी सृष्टिसत्यताका प्रसङ्ग नहीं हो सकता, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'महति' इत्यादिसे ।

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, महाप्रलयमें सभी हरि, हर आदि विदेहमुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं, अतः पूर्वसर्गकी स्मृतिका संभव ही कहाँ है ? ॥ ३५ ॥

अस्मदादिः प्रबुद्धात्मा किलाऽवश्यं विमुच्यते ।
कथं भवन्तु नो मुक्ता विदेहाः पद्मजादयः ॥ ३६ ॥
अन्ये त्वमिव ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु ।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ ३७ ॥
जीवो हि मृतिमूर्छान्ते यदन्तःप्रोन्मिषन्निव ।
अनुन्मिषित एवाऽऽस्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ ३८ ॥
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तदव्यक्तं जडाजडम् ।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव क्रम एष भवोदये ॥ ३९ ॥

तत्त्वज्ञानी हम लोग भी अवश्य मुक्त हो जाते हैं फिर ब्रह्मा आदि क्यों न विदेहमुक्त होंगे ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, इस लोकमें आपके सदृश जो अन्य जीव हैं, उनकी मृत्यु और उत्पत्तिके हेतुभूत सृष्टिमें पूर्वजन्मके मिथ्या पदार्थोंके वासनानुभवसे जन्य ही स्मृति कारण होती है, क्योंकि उनका मोक्ष नहीं होता ॥ ३७ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हो कि हिरण्यगर्भकी सृष्टि प्रकृतिसे महत्, अहङ्कार आदि क्रमसे होती है, ऐसा पुराण आदिमें सुना जाता है। जीवकी सृष्टि तो सहसा ही होती है, ऐसी अवस्थामें जीवसृष्टिसे हिरण्यगर्भकी सृष्टिकी समता कैसे हो सकती है, तो उसमें भी प्रकृति, महत् आदिके क्रमका उपपादन करते हैं—'जीवो हि' इत्यादिसे ।

मृत्युरूपी मूर्च्छाके अव्यवहित उत्तर क्षणमें अन्दर तनिक तनिक उन्मेष होता हुआ (स्फुरित होता हुआ) भी बाहर जो जीव उन्मेषरहित ही रहता है, पुराण आदि शास्त्रोंमें उसकी वह अवस्था प्रधान यानी मूलप्रकृति कही गई है ॥ ३८ ॥

'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' (आकाशमें ही वह ओत और प्रोत है) इत्यादि श्रुतिसे आकाशादि शब्द भी उसमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं— 'तत्' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त मूलप्रकृति आकाशप्रकृतिनामसे भी शास्त्रोंमें कही गई है, यह अव्यक्त यानी मूलप्रकृति जड़ भी है और अजड़ भी है। चित्का प्रतिबिम्ब पड़ने और न पड़ने से जड़ाजड़ है अर्थात् स्वभावतः जड़ है और चित्प्रतिबिम्ब

बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत् ।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति खात् ॥ ४० ॥
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम् ।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्याऽऽतिवाहिकः ॥ ४१ ॥
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः ।
आधिभौतिकताबोधमाधत्ते चैष बालवत् ॥ ४२ ॥
ततो दिक्कालकलनास्तदाधारतया स्थिताः ।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोः स्पन्दक्रिया इव ॥ ४३ ॥
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ४४ ॥

पड़नेसे अजड़ (चेतन) है। वह विश्वबीज मूलप्रकृति ही संस्मृति और अस्मृतिकी यानी सृष्टि और संहारकी भी मूल कारण है और वही भवके उदय और अन्तकी अवधि है ॥ ३९ ॥

वही व्योमात्मक प्रकृति जब प्रबुद्ध यानी चित्प्रतिफलित होती है अर्थात् जब उसके अहङ्कारका उदय होता है तब तदवस्थ आकाशसे पांच तन्मात्रा, दिशा, काल, भूत आदि सम्पूर्ण सूक्ष्म भाव उत्पन्न होते हैं ॥ ४० ॥

तदनन्तर वे ही कुछ स्थूल होकर पांच इन्द्रियरूपसे उद्बुद्ध होते हैं। वे ही स्वप्न और जागरणमें देहरूपसे ज्ञात होते हैं, वही जीवका आतिवाहिक स्वरूप है ॥ ४१ ॥

चिरकालिक प्रत्ययसे कल्पना द्वारा स्थूल हुआ वह आतिवाहिक स्वरूप बालककी नाईं मैं आधिभौतिक हूँ, इस प्रतीतिको धारण करता है ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त स्थूल देहके आश्रित चक्षु आदिके अधीन स्थित हुईं तत्-तत् देश और कालके पदार्थोंकी कल्पनाएँ उदित न होती हुईं भी वायुकी स्पन्दन क्रियाके तुल्य प्रादुर्भूत होती हैं ॥ ४३ ॥

मिथ्या ही यह जगत्-भ्रम इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुआ है। यद्यपि स्वप्नमें स्त्रीसंगमके तुल्य इसका अनुभव होता है तो भी यह असत् ही है।

शङ्का—यदि यह असत् ही है, तो इसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान—जैसे स्वप्नमें स्त्रीके संगमका अनुभव होनेपर भी वह असत् है, वैसे ही यद्यपि इसका अनुभव होता है फिर भी यह असत् ही है ॥ ४४ ॥

यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदेव सः ।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥
व्योमैवाऽनुभवत्यच्छमहं जगदिति भ्रमम् ।
व्योमरूपं व्योमरूपी जीवो जात इवाऽऽत्मवान् ॥ ४६ ॥
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम् ।
जरामरणवैक्लव्यव्याधिसङ्कटकोटरम् ॥ ४७ ॥
स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम् ।
साब्ध्यद्र्युर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम् ॥ ४८ ॥
अहं जातोऽमुना पित्रा किलाऽत्रेत्याप्तनिश्चयम् ।
इयं माता धनमिदं ममेत्युदितवासनम् ॥ ४९ ॥

जहांपर वह प्राणी मरता है, वहां उसीको शीघ्र देखता है, वहींपर इस भुवनाभोगको इसी प्रकारसे स्थित देखता है ॥ ४५ ॥

आगन्तुक देह आदि रूपसे आत्मवान् हुआ-सा व्योमरूपी जीव आगन्तुक देह आदिको आत्मा समझकर निर्मल चिदाकाशमें ही 'यह मैं हूँ', 'यह जगत् है' इस व्योमरूपी भ्रमका अनुभव करता है ॥ ४६ ॥

उक्त जगद्भ्रमका ही विस्तारसे प्रतिपादन करते हैं—**'सुरपत्तन०'** इत्यादिसे ।

उस जगद्भ्रमका अनुभव करता है, जो इन्द्र आदि देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि उनके पर्वतों, सूर्य, चन्द्र और सितारोंसे बड़ा मनोहर है, जरा (बुढापा), मरण, दुश्चिन्ताएँ, शारीरिक क्लेश आदिसे परिपूर्ण मर्त्यलोकरूप खोखलेसे युक्त है, इसमें अपनी इष्ट वस्तुके सम्पादनमें और अनिष्ट वस्तुके निवारणमें स्थूल सूक्ष्म चर-अचर[1] सभी प्राणी उद्योगशील हैं, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय समुद्र, पर्वत, नदियों और उनके अधिपतियों (अधिष्ठाता देवों) से युक्त हैं ॥ ४७, ४८ ॥

जिस जगद्भ्रममें मैं इस स्थानमें इस पितासे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा निश्चय

---

१ अचर लताओंका भी जिस प्रदेशमें अवलम्बन रहता है उधर, प्रसार और जहां अवलम्बन नहीं रहता वहां प्रसारका अभाव देखा जाता है, अत 'अचर' यह साधारण-रूपसे कहा है ।

सुकृतं दुष्कृतं चेदं ममेति कृतकल्पनम् ।
बालोऽभूवमहं त्वद्य युवेति विलसद्धृदि ॥ ५० ॥
प्रत्येकमेवमुदितः संसारवनखण्डकः ।
ताराकुसुमितो नीलमेघचञ्चलपल्लवः ॥ ५१ ॥
चरन्नरमृगानीकः सुरासुरविहङ्गमः ।
आलोककौसुमरजाः श्यामागहनकुञ्जकः ॥ ५२ ॥
अब्धिपुष्करिणीपूर्णो मेर्वाद्यचललोष्टकः ।
चित्तपुष्करबीजान्तर्निलीनानुभवाङ्कुरः ॥ ५३ ॥
यत्रैष म्रियते जीवस्तत्रैवं पश्यति क्षणात् ।
प्रत्येकमुदितेष्वेवं जगत्खण्डेषु भूरिशः ॥ ५४ ॥

रहता है, यह मेरी माता है, यह मेरी धन-सम्पत्ति है, ऐसी दृढ़ वासना जागरूक रहती है, यह मेरा पुण्य है, यह पाप है, ऐसी कल्पना बद्धमूल रहती है, मैं पहले बच्चा था, किन्तु आज युवक हूँ, ऐसी प्रतीति रहती है, यों हृदयमें विलासको प्राप्त हो रहे जगद्भ्रमको देखता है ॥ ४९, ५० ॥

अब प्रत्येक जीवके उसी संसारका वनसमूहरूपसे वर्णन करते हैं—**'प्रत्येकमेव०'** इत्यादिसे ।

यह संसाररूपी वनसमूह प्रत्येक जीवमें उदित हुआ है। उक्त संसार-रूप वनखण्डमें तारे ही फूल हैं, काली मेघघटा ही चञ्चल पल्लव हैं, इधर-उधर चल-फिर रहे मनुष्य ही मृगोंके झुण्ड हैं, देवता और दैत्य ही पक्षीगण हैं, आलोक या प्रकाशपूर्ण दिन ही फूलोंका रज यानी पराग है, रात्रि ही बड़े घने कुञ्ज (लतागृह) हैं। वह समुद्ररूपी बावड़ीसे पूर्ण है, सुमेरु आदि पर्वत उसके ढेले हैं, चित्तरूपी कमलबीज यानी कमलगट्टेके भीतर संस्काररूपसे बैठी हुई चित्तवृत्तियाँ ही उसमें अङ्कुर हैं ॥ ५१—५३ ॥

जहाँपर यह जीव मरता है, वहींपर इस प्रकारसे वर्णित वनखण्डको एक क्षणमें देखने लगता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवमें उदित हुए जगद्रूप वनखण्डोंमें पर्वतश्रेणियों, समुद्रसमुदायों, दीपों और लोकोंको ब्रह्माण्डके अन्दर

कोटयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रमरुद्विष्णुविवस्वताम् ।
गिर्यब्धिमण्डलद्वीपलोकान्तरदृशां गताः ॥ ५५ ॥
याता यास्यन्ति यान्त्येता दृष्टयो नष्टरूपिणीः ।
या ब्रह्मण्युपबृंहाढ्यास्ताः के गणयितुं क्षमाः ॥ ५६ ॥
एवं कुड्यमयं विश्वं नाऽस्त्येव मननादृते ।
मनने चलमेवाऽन्तस्तदिदानीं विचारय ॥ ५७ ॥

देखनेवाले अनेक करोड़ ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, देवता, विष्णु और सूर्य चले गये हैं यानी नष्ट हो गये हैं ॥ ५४, ५५ ॥

इस प्रकार ये मिथ्या ब्रह्माण्डकी दृष्टियाँ अनेक वार बीत चुकी हैं, बीतेंगी और बीतती हैं, जो ब्रह्ममें आविर्भूत हुई हैं, उन्हें गिननेकी किसमें सामर्थ्य है ? ॥ ५६ ॥

इस प्रकार प्रपञ्चके आरोपक्रमका वर्णन कर अब क्रमशः अपवादका वर्णन करते हैं—'**एवम्**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार कुड्यमय (भित्तिके तुल्य स्थूल) जगत् मनके सङ्कल्परूप मननसे अतिरिक्त है ही नहीं, क्योंकि 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' ऐसी श्रुति है । *

शङ्का—स्थूल पदार्थ स्थिर स्वभाववाले होते हैं और मन तो चञ्चल है, ऐसी अवस्थामें विश्वकी मनोमात्रता कैसे ?

समाधान—यद्यपि बाहर विश्व स्थिर प्रतीत होता है तथापि मनन करनेमें मनसे अपने इच्छानुसार जाना जाता हुआ भीतर अस्थिरस्वभाव ही प्रतीत होता है, मनके भ्रान्त होनेपर भ्रमण करता हुआ-सा, मनके प्रसन्न होनेपर प्रसन्न हुआ-सा, मनके मलिन होनेपर मलिन-सा और मनोरथ आदिमें उत्पन्न कर दूसरी

* छान्दोग्योपनिषद् ६।४।१ में कहा है—त्रिवृत्कृत अग्निका जो लाल रूप लोकमें प्रसिद्ध है उसे अत्रिवृत्कृत तेजका रूप जानो, जो अग्निका शुक्लरूप है, उसे त्रिवृत् न किये गये जलका रूप जानो और जो अग्निका काला रूप है, उसे अत्रिवृत्कृत पृथ्वीका रूप जानो। ऐसी अवस्थामें जिसे तुम तीन रूपोंसे अतिरिक्त 'अग्नि' समझते थे, उस अग्निका अग्नित्व गया यानी उक्त तीन रूपोंका विवेक होनेसे पहले जो तुम्हारी अग्निबुद्धि थी वह अग्निबुद्धि गई और अग्निशब्द भी गया, क्योंकि वह नाममात्र है, तीन रूप ही सच हैं। जैसे उक्त स्थलमें तीन रूपसे पृथक् अग्नि नहीं है, वे तीन रूप ही सत्य हैं, स्थूल अग्नि सत्य नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें मनसे अतिरिक्त स्थूल विश्व नहीं है ।

यदेव तच्चिदाकाशं तदेव मननं स्मृतम् ।
यदेव च चिदाकाशं तदेव परमं पदम् ॥ ५८ ॥
यदेवाऽम्बु स आवर्तो न त्वस्याऽऽवर्त्त वस्तुसन् ।
द्रष्टैवाऽऽस्ते दृश्यमिव दृश्यं न त्वस्ति वस्तुसत् ॥ ५९ ॥
चिद्व्योम्नोऽभूतनभसि कचनं यन्मणेरिव ।
तज्जगद्भाविनानासत्तत्त्वं श्वभ्रमिवाऽम्बरे ॥ ६० ॥
मद्बुद्धार्थो जगच्छब्दो विद्यते परमामृतम् ।
त्वद्बुद्धार्थस्तु नाऽस्त्येव त्वमहंशब्दकादपि ॥ ६१ ॥

जगह रक्खा जाता हुआ-सा सभी लोगों द्वारा अनुभूत होता है, उसीका इस समय आप अपने अनुभवसे विचार कीजिए ॥ ५७ ॥

मनके स्वरूपका जब विचार करते हैं, तब वह साक्षीसे अतिरिक्त नहीं ठहरता और साक्षी भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, यों एकमात्र परिपूर्ण चित्का ही परिशेष रहता है, ऐसा कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे,

जो ही अखण्ड आनन्दस्वरूप चिदाकाश है, वही मनन कहा गया है, चिदाकाशसे अतिरिक्त मनन नहीं है और जो ही चिदाकाश है वही परम पद है ॥ ५८ ॥

उक्त बातको ही दृष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं—'यदेवाऽम्बु०' इत्यादिसे ।

जो ही जल है वही आवर्त है यानी आवर्त जलसे अतिरिक्त नहीं है, किन्तु आवर्त वस्तुसत् (यथार्थ) नहीं है, वैसे ही द्रष्टा ही दृश्यकी नाईं स्थित है दृश्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

चिदाकाशका अभूत—असत्य अथवा अनादि—मायाकाशमें अथवा सूक्ष्म भूतोंके कार्यभूत चित्ताकाशमें जो जीवरूपसे स्फुरण है, वही नाम और रूपसे नानास्वरूपको प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है । जैसे कि ऐन्द्रजालिककी मणिका आकाशमें कचन (स्फुरण) बहुत प्रकारके गन्धर्वनगररूप छिद्रोंसे युक्त-सा होता है । भाव यह कि उक्त चिदाकाश ही तत्त्व यानी परमार्थ वस्तु है ॥ ६० ॥

मुझसे जिसका अर्थ (अधिष्ठान सन्मात्र) ज्ञात है वह जगत्-शब्द परम अमृत (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अमृत, अद्वय ब्रह्म) है और आपसे जिसका अर्थ (आरोपितसत्ता) ज्ञात है ऐसा जगत्-शब्द परम अमृत नहीं ही है । जो

तस्माल्लीलासरस्वत्यावाकाशवपुषौ स्थिते ।
सर्वगे परमात्माच्छे सर्वत्राऽप्रतिघेऽनघे ॥ ६२ ॥

यत्र यत्र सदा व्योम्नि यथाकामं यथेप्सितम् ।
उदयं कुरुतस्तेन तद्गेहेऽस्ति गतिस्तयोः ॥ ६३ ॥

सर्वत्र संभवति चिद्गगनं तदत्र सद्वेदनं कलनमामननं विसारि ।
तच्चाऽऽतिवाहिकमिहाहुरकुड्यमेव देहं कथं क इव तं वद किं रुणद्धि ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने समरसमनन्तरसंस्मृत्यनुभववर्णनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

'त्वम्' और 'अहम्' शब्द का अभिलाप करता है, वह जगत् प्रमाता भी मुझसे जाना गया परम अमृत है और आपका जाना गया जगत् प्रमाता अमृत नहीं ही है ॥ ६१ ॥

उक्तका उपसंहार कर उसका प्रकृतमें सम्बन्ध जोड़ते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

इससे यह निश्चित हुआ कि लीला और सरस्वती देवीका शरीर आकाशवत् सूक्ष्म था अतएव सर्वत्र जा सकती थीं । उनके अत्यन्त सूक्ष्म छेदमें भी प्रवेश करनेमें कोई रोकटोक नहीं हो सकती थी, वे दोनों निष्पाप और परमात्माके तुल्य विशुद्ध थीं ॥ ६२ ॥

अपनी स्पृहा और कामनाके अनुसार सदा यत्र तत्र आकाशमें आविर्भूत होती थीं, इस कारणसे राजा विदूरथके घरमें उनका गमन हुआ ॥ ६३ ॥

चिदाकाशका सर्वत्र सम्भव है, कहींपर भी उसका प्रतिरोध नहीं होता। वही कलन होकर यानी मानसिक विषयोंका अवधारण करनेतक बाहर प्रसरण करनेवाला बनकर यथार्थ ज्ञान होता है । उस आतिवाहिक देहको सूक्ष्म ही कहते हैं, उसे कौन पुरुष किस लिए और किस प्रकारसे रोक सकता है, यानी उसका निरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त ।

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तयोः प्रविष्टयोर्देव्योः पद्मसद्म बभूव तत् ।
चन्द्रद्वयोदयोद्योतधवलोदरसुन्दरम् ॥ १ ॥
कोमलामलसौगन्ध्यमृदुमन्दारमारुतम् ।
तत्प्रभावेण निद्रालुनृपेतरनराङ्गनम् ॥ २ ॥
सौभाग्यनन्दनोद्यानं विद्रुतव्याधिवेदनम् ।
सवसन्तं वनमिव फुल्लं प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ ३ ॥
तयोर्देहप्रभापूरैः शशिनिस्यन्दशीतलैः ।
आह्लादितोऽसौ बुबुधे राजोक्षित इवाऽमृतैः ॥ ४ ॥
आसनद्वयविश्रान्तं स ददर्शाऽप्सरोद्वयम् ।
मेरुशृङ्गद्वये चन्द्रबिम्बद्वयमिवोदितम् ॥ ५ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग

[सोकर जागे हुए राजा द्वारा घरमें प्रविष्ट हुई देवियोंका पूजन तथा राजाके वंशका, पूर्वजन्मकी स्मृतिका और ज्ञप्ति द्वारा आत्मोपदेशका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्रजी, उन दो देवियोंके प्रविष्ट होनेपर राजा पद्मके घरका भीतरी भाग दो चन्द्रमाओंके उदय होनेपर जैसा प्रकाश होता है, वैसे प्रकाशसे धवल अतएव सुन्दर हो गया ॥ १ ॥

उसमें स्पर्श होनेपर बड़े भले लगनेवाले और निर्मल सुगन्धिवाले मृदु मन्दार पवन बहने लगे । उन देवियोंके प्रभावसे राजाके सिवा घरके अन्य नर-नारी निद्रायुक्त हो गये ॥ २ ॥

वह सुन्दरतामें नन्दन वनके तुल्य हो गया, व्याधि, पीड़ा उससे दूर हो गई, वसन्तके उल्लाससे युक्त वनकी नाईं और प्रातःकालके खिले हुए कमलकी नाईं रमणीक हो गया ॥ ३ ॥

चन्द्रमाके द्रवके समान शीतल उनकी देहके कान्तिपटलसे, अमृतसे सिक्त हुएकी नाईं, आह्लादित होकर वह राजा जाग उठा ॥ ४ ॥

उसने दो आसनोंपर बैठी हुईं, मेरुके दो शिखरोंपर उदित हुए दो चन्द्र-बिम्बोंकी नाईं, दो अप्सराओंको देखा ॥ ५ ॥

निमेषमिव सञ्चिन्त्य स विस्मितमना नृपः ।
उत्तस्थौ शयनाच्छेषादिव चक्रगदाधरः ॥ ६ ॥
परिसंयमितालम्बिमाल्यहाराधराम्बरः ।
पुष्पाहार इवोत्फुल्लं जग्राह कुसुमाञ्जलिम् ॥ ७ ॥
उपधानप्रदेशस्थात् स्वयं पटलकोटरात् ।
बद्धपद्मासनो भूमौ भूत्वोवाचेदमानतः ॥ ८ ॥
जयतां जन्मदौस्थित्यदाहदोषशशिप्रभे ।
देव्यौ बाह्यान्तरतमोविद्रावणरविप्रभे ॥ ९ ॥
तयोरुक्त्वेति तत्याज पादयोः कुसुमाञ्जलिम् ।
तीरद्रुमो विकसितः पद्मिन्योः पद्मयोरिव ॥ १० ॥
लीलायै भूपजन्माऽथ वक्तुं मन्त्रिणमीश्वरी ।
बोधयामास पार्श्वस्थं सङ्कल्पेन सरस्वती ॥ ११ ॥

राजाको बड़ा विस्मय हुआ, एक क्षणभर अपने मनमें विचारकर जैसे शेषशय्यासे चक्रपाणि भगवान् गदाधर उठते हैं, वैसे ही वह शयनसे उठा ॥ ६ ॥

उसने सोते समय इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए माला, हार और धोतीको अपने-अपने स्थानपर ठीक किया, सिरहानेके पास रक्खी हुई फूलकी टोकरीसे भृत्यकी नाईं स्वयं ही खूब फूले हुए फूल अञ्जलिमें लिये और भूमिमें ही पद्मासन बाँधकर बड़े विनयभावसे देवियोंसे यह कहा ॥ ७, ८ ॥

हे देवियो, आपकी जय हो, आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दाह-दोषको दूर करनेके लिए चन्द्रकान्ति (चाँदनी) हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकारका विनाश करनेके लिए सूर्यके प्रकाशरूप हैं ॥ ९ ॥

यह कहकर राजाने, जैसे कमलके तालाबके किनारेका फूला हुआ वृक्ष कमलसरके कमलोंपर फूलोंकी वृष्टि करता है वैसे ही, उनके चरणकमलोंपर पुष्पाञ्जलि अर्पित की ॥ १० ॥

देवी सरस्वतीने, लीलाके प्रति राजाका जन्मवृत्तान्त कहनेके लिए, सङ्कल्पसे पासमें स्थित मन्त्रीको जगाया ॥ ११ ॥

प्रबुद्धोऽप्सरसौ दृष्ट्वा प्रणम्य कुसुमाञ्जलिम् ।
तयोः पादेषु संत्यज्य विवेश पुरतो नतः ॥ १२ ॥
उवाच देवी हे राजन् कस्त्वं कस्य सुतः कदा ।
इह जात इति श्रुत्वा स मन्त्री वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥
देव्यौ युष्मत्प्रसादोऽयं भवत्योरपि यत्पुरः ।
वक्तुं शक्नोमि तद्देव्यौ श्रूयेतां जन्म मत्प्रभोः ॥ १४ ॥
आसीदिक्ष्वाकुवंशोत्थो राजा राजीवलोचनः ।
श्रीमान् कुन्दरथो नाम दोश्छायाच्छादितावनिः ॥ १५ ॥
तस्याऽभूदिन्दुवदनः पुत्रो भद्ररथाभिधः ।
तस्य विश्वरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो बृहद्रथः ॥ १६ ॥
तस्य सिन्धुरथः पुत्रस्तस्य शैलरथः सुतः ।
तस्य कामरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो महारथः ॥ १७ ॥

जागे हुए मन्त्रीने अप्सराओंके सदृश मनोहररूपवाली दो देवियोंको देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित कर बड़े विनयसे उनके आगे उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

देवीने राजासे कहा—हे राजन्, आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और कब यहाँ उत्पन्न हुए ? इस प्रश्नको सुनकर मन्त्रीने उत्तर दिया ॥ १३ ॥

हे देवियो, यह आप लोगोंका ही प्रसाद है कि जो मैं आपके सामने भी बोलनेमें समर्थ हो रहा हूँ । अतः हे देवियो, आप लोग मेरे स्वामीका जन्म सुनिए ॥ १४ ॥

पहले ईक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए राजा श्रीमान् कुन्दरथ थे, उनके कमलके सदृश विशाल नेत्र थे और उन्होंने अपने बाहुओंकी छायासे आच्छादितकी नाईं शत्रुओं और दरिद्रतासे जनित दुःखके निवारण द्वारा पृथिवीका पालन किया । उनका चन्द्रमाके सदृश सुन्दरमुखवाला भद्ररथ नामका लड़का हुआ । उसका विश्वरथ नामका लड़का हुआ । विश्वरथका बृहद्रथ नामका लड़का हुआ । उसका सिन्धुरथनामक लड़का हुआ । सिन्धुरथके लड़केका नाम शैलरथ पड़ा । शैलरथसे कामरथ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । कामरथसे महारथ

तस्य विष्णुरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो नभोरथः ।
अयमस्मत्प्रभुस्तस्य पुत्रः पूर्णामलाकृतिः ॥ १८ ॥

अमृतापूरितजनः क्षीरोदस्येव चन्द्रमाः ।
महद्भिः पुण्यसंभारैर्विदूरथ इति श्रुतः ॥ १९ ॥

जातो मातुः सुमित्राया गौर्या गुह इवाऽपरः ।
पिताऽस्य दशवर्षस्य दत्वा राज्यं वनं गतः ॥ २० ॥

पालयत्येष भूपीठं ततः प्रभृति धर्मतः ।
भवत्यावद्य संप्राप्ते फलिते सुकृतद्रुमे ॥ २१ ॥

देव्यौ दीर्घतपःक्लेशशतैर्दुष्प्रापदर्शने ।
इत्ययं वसुधाधीशो विदूरथ इति श्रुतः ॥ २२ ॥

अद्य युष्मत्प्रसादेन परां पावनतां गतः ।
इत्युक्त्वा संस्थिते तूष्णीं मन्त्रिण्यवनिपे तथा ॥ २३ ॥

पैदा हुआ । महारथका विष्णुरथ लड़का हुआ । उसका लड़का नभोरथ हुआ । ये हमारे स्वामी राजा नभोरथके महान् पुण्यपुञ्जोंसे समुद्रसे चन्द्रमाकी नाईं उत्पन्न हुए हैं, पूर्ण चन्द्रमाके समान इनकी निर्मल आकृति है, जैसे चन्द्रमा अपनी अमृतस्राविणी किरणोंसे लोगोंको आह्लादित करता है, वैसे ही इन्होंने अमृततुल्य अपने स्नेह, मधुरता, उदारता, दया आदि गुणगणोंसे लोगोंको तृप्त कर दिया है । ये माता सुमित्राकी कोखसे उनके महान् पुण्यपुञ्जोंसे, श्रीपार्वतीजीसे गुहकी नाईं, उत्पन्न हुए हैं । इनका शुभ नाम विदूरथ है । इनके विरक्त और मोक्षेच्छु पिताश्री, जब ये दस ही वर्षके थे, इन्हें राज्य देकर तप करनेके लिए वनमें चले गये थे ॥ १५–२० ॥

हे देवियो, तभीसे लेकर ये धर्मपूर्वक भूतलका पालन कर रहे हैं । आज हमारे पुण्यरूपी वृक्षके फलनेपर आप यहां प्राप्त हुई हैं ॥ २१ ॥

हे देवियो, बड़े भारी तप आदि सैकड़ों क्लेशोंसे भी आपके दर्शन मिलने कठिन हैं । इस प्रकार दर्शनप्रदानरूप आपके प्रसादसे ये महाराज श्रीमान् विदूरथ आज अत्यन्त पवित्र हो गये हैं, यह कहकर जब मन्त्री चुप हो गया और राजा नीचे मुखकर भूमिमें पद्मासन बांधकर चुपचाप बैठे थे 'राजन्, आप

कृताञ्जलौ नतमुखे बद्धपद्मासनेऽवनौ ।
राजन् स्मर विवेकेन पूर्वजातिमिति स्वयम् ॥ २४ ॥
वदन्ती मूर्ध्नि पस्पर्श तं करेण सरस्वती ।
अथ हार्दं तमो माया पद्मस्य क्षयमाययौ ॥ २५ ॥
सुविकासं च हृदयं ज्ञप्तिस्पर्शोदयेऽभवत् ।
सस्मार पूर्ववृत्तान्तमन्तः स्फुरदिव स्थितम् ॥ २६ ॥
त्यक्तदेहैकराज्यत्वं लीलाविलसितान्वितम् ।
ज्ञात्वा प्रज्ञप्तिवृत्तान्तं लीलायास्तु विजृम्भितम् ॥ २७ ॥
आत्मोदन्तं बभूवाऽसावुह्यमान इवाऽर्णवे ।
उवाचाऽऽत्मनि संसारे बत मायेयमातता ॥ २८ ॥
परिज्ञाता प्रसादेन देव्योरिह मयाऽधुना ।
राजोवाच
हे देव्यौ किमिदं नाम दिनमेकं मृतस्य मे ॥ २९ ॥

विवेकसे स्वयं अपने पूर्वजन्मका स्मरण कीजिए' यह कह रही सरस्वतीने उनके मस्तकपर हाथसे स्पर्श किया । देवीके स्पर्श करनेके अनन्तर पद्मका हृदयान्धकार यानी माया विनष्ट हो गई ॥ २२—२५ ॥

देवी सरस्वतीके स्पर्श करनेपर राजा पद्मका हृदय बाहर-भीतर प्रकाशपूर्ण हो गया । राजाने अपने पूर्व जन्मोंके वृत्तान्तका, जो कि स्फुरित होता हुआ-सा अन्तःकरणमें स्थित था, स्मरण किया ॥ २६ ॥

राजाने लीलाके विलास (कर्तव्य) के साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्यके त्यागको, कभी पहले अनुभवपथमें आरूढ न हुए भी देवी सरस्वतीके वृत्तान्तको, लीलाकी अत्युन्नतिको और अपने वृत्तान्तको जाना । उसे जानकर राजा समुद्रमें गोते लगाता हुआ-सा विस्मयमें पड़ गया । उसने अपने मनमें कहा, बड़े खेदकी बात है कि संसारमें यह माया फैलायी गई है ॥ २७,२८ ॥

इस समय इन देवियोंकी कृपासे मुझे इसका परिज्ञान हुआ है ।

राजाने कहा—हे देवियो, यह क्या बात है कि मुझे मरे एक ही दिन हुआ है, पर यहां मेरी आयु बीत चली है, मुझे पैदा हुए सत्तर वर्ष व्यतीत

गतमध्येह जातानि वयो वर्षाणि सप्ततिः ।
स्मराम्यनेककार्याणि स्मरामि प्रपितामहम् ॥ ३० ॥
स्मरामि बाल्यं तारुण्यं मित्रं बन्धुपरिच्छदम् ।

ज्ञप्तिरुवाच

राजन् मृतिमहामोहमूर्छायाः समनन्तरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिंल्लोकान्तरेऽतीते तस्मिन्नेव मुहूर्त्तके ।
तस्मिन्नेव गृहे चाऽस्मिन्नेव व्योम्न्यपि सद्मनि ॥ ३२ ॥
अयं तस्य गृहस्याऽन्तर्व्योमन्येव किल स्थिते ।
गिरिग्रामकविप्रस्य गृहेऽन्तर्भूपमण्डपः ॥ ३३ ॥
तस्याऽन्तरेयमाभाति प्रत्येकं च जगद्गृहम् ।
किल ब्राह्मणगेहान्तर्जीवस्ते मदुपास्थितः ॥ ३४ ॥

हो गये हैं। मुझे इस जन्मके अनेक कार्योंका जो स्मरण हो रहा है मुझे अपने पितामहकी जो याद आ रही है, मै अपनी बाल्यावस्थाका जो स्मरण करता हूँ, युवावस्थाका जो स्मरण करता हूँ, मित्रोंकी मुझे जो स्मृति हो रही है, बन्धुबान्धव आदि परिवारका जो स्मरण हो रहा है, सो कैसे ?

अधिष्ठानचिन्मात्र ही सम्पूर्ण प्रपञ्चका तत्त्व है यानी यथार्थ स्वरूप है, वही अपना स्वरूप है उससे अतिरिक्त सब मायामात्र है, यों तत्त्वका उपदेश करनेके लिए पहले दूर देश और कालमें स्थित अन्य लोकमें गमनभ्रमका निवारण कर रही सरस्वती देवीने कहा—'राजन्' इत्यादिसे ।

श्रीसरस्वती देवीने कहा—राजन् , मरणरूपी महामोहमयी मूर्छाके बाद तुरन्त उसी क्षणमें तुम्हारे इसी घरके, उसके अधिष्ठानभूत चिदाकाशके मायारूप आवरणसे तिरोहित होनेपर, गिरिग्रामवाले ब्राह्मणके घरके अन्दर स्थित होनेपर उक्त पद्मलोकान्तरमें उसी राजमहलमें उसमें भी प्रधान राजसदनके अन्दर आकाशमें ही यह ब्रह्माण्डमण्डप है ॥ २९–३३ ॥

उस ब्रह्माण्डमण्डपके अन्दर यह प्रत्यक्ष देखा जाता हुआ तुम्हारा जन्म आदि आपाततः प्रतीत हो रहा है।

शङ्का—तो क्या वही ब्राह्मण जगत् इस प्रकार प्रतीत होता है ?

तत्रैव तस्य भूपीठं तस्मिंश्च किल मण्डपे ।
तस्यैव च गृहस्याऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ॥ ३५ ॥
तत्रैवेदं तव गृहं स्थितमारम्भमन्थरम् ।
तत्रैव चेतसि तव निर्मलाकाशनिर्मले ॥ ३६ ॥
प्रतिभामागतमिदं व्यवहारभ्रमाततम् ।
यथेदं नाम मे जन्म तथेक्ष्वाकुकुलं मम ॥ ३७ ॥
एवंनामान एते मे पुराऽभूवन् पितामहाः ।
जातोऽहमभवं बालो दशवर्षस्य मे पिता ॥ ३८ ॥
परिव्राड्विपिनं यात इह राज्येऽभिषिच्य माम् ।
ततो दिग्विजयं कृत्वा कृत्वा राज्यमकण्टकम् ॥ ३९ ॥
अमीभिर्मन्त्रिभिः पौरैः पालयामि वसुन्धराम् ।
यज्ञक्रियाक्रमवतो धर्मे पालयतः प्रजाः ॥ ४० ॥
वयसः समतीतानि मम वर्षाणि सप्ततिः ।
इदं परबलं प्राप्तं मम दारुणविग्रहः ॥ ४१ ॥

समाधान—नहीं, प्रत्येक यानी भिन्न-भिन्न जगद्-रूपी घर ब्राह्मणगृहके अन्दर है और मेरा भक्त तुम्हारा जीव भी ब्राह्मणके घरके अन्दर है ॥ ३४ ॥

उसी ब्राह्मणगृहमें उसी मण्डपमें उसका (तुम्हारे जीवका) भूतल है उसी घरके अन्दर यह परिदृश्यमान पाञ्च संसारमण्डल है। वहींपर तुम्हारा यह महासमृद्धिशाली घर स्थित है, वहींपर निर्मल आकाशके तुल्य निर्मल तुम्हारे चित्तमें व्यवहारभ्रमका विस्तार करनेवाला यह दृश्य प्रपञ्च प्रतीतिको प्राप्त हुआ है। व्यवहारभ्रमपरम्पराकी विस्तारकर्ताका, जो कि सबको अनुभूत है, उल्लेख करते हैं—'यथा' इत्यादिसे। जैसे कि यह मेरा जन्म है, मेरा इक्ष्वाकु कुल है, ये इस नामके मेरे पिता, पितामह आदि पहले हुए थे। मैं उत्पन्न हुआ, बालक रहा, जब मैं दस वर्षका था, मेरे पिता यहांपर राज्यमें मेरा अभिषेक कर संन्यासी हो बनको चले गये। तदुपरान्त दिग्विजय करके राज्यको कण्टकशून्य (शत्रुविहीन) बनाकर इन मन्त्रियों और नागरिकोंके साथ मैं पृथिवीका पालन करता हूँ, यज्ञक्रिया करते और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते-करते मेरी अवस्थाके सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय

युद्धं कृत्वेदमायातो गृहमस्मिन्यथास्थितम् ।
इमे देव्यौ गृहे प्राप्ते ममैते पूजयाम्यहम् ॥ ४२ ॥
पूजिता हि प्रयच्छन्ति देवताः स्वसमीहितम् ।
ममेयमेतयोरेका ज्ञानं जातिस्मृतिप्रदम् ॥ ४३ ॥
इह दत्तवती देवी भाऽब्जस्येव विकासनम् ।
इदानीं कृतकृत्योऽस्मि जातोऽस्मि गतसंशयः ॥ ४४ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
इतीयमातता भ्रान्तिर्भवतो भूरिसंभ्रमा ॥ ४५ ॥
नानाचारविहाराढ्या सलोकान्तरसञ्चरा ।
यस्मिन्नेव मुहूर्त्ते त्वं मृतिमभ्यागतः पुरा ॥ ४६ ॥
तदैव प्रतिभैषा ते स्वयमेवोदिता हृदि ।
एकामावर्त्तचलनां त्यक्त्वा दत्ते यथाऽपराम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रमेव नदीवाहो चित्प्रवाहस्तथैव च ।
आवर्त्तान्तरसंमिश्रो यथावर्त्तः प्रवर्त्तते ॥ ४८ ॥

शत्रुसेनाने मेरे ऊपर चढ़ाई कर रक्खी है। उसके साथ मेरा भीषण युद्ध चल रहा है, युद्ध करके मै घर आया हूँ, इस घरमें यथापूर्व स्थित हुआ हूँ। ये देवियां मेरे घरमें प्राप्त हुई हैं, मैं इनका पूजन करता हूँ। यह निश्चित बात है कि पूजित देवता मनोकामना पूरी करते हैं। इन दोनोंमें से एक देवीने जैसे सूर्यकी प्रभा कमलको विकास देती है वैसे ही मुझे यहांपर ऐसा ज्ञान दिया जो पूर्वजन्मस्मृतिप्रद है, इस समय मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे सन्देह कट गये हैं ॥ ३५–४४ ॥

मै सम्पूर्ण दुःखोंके उपरत होनेसे शान्त होऊँगा, निरतिशय सुखकी समृद्धि होनेसे मुक्त होऊँगा, केवल एकरस सुख ही होकर मै स्थित होऊँगा, इस प्रकारकी प्रचुर शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त भ्रान्ति, जो कि नाना प्रकारके आचार विहारों और लोकान्तरमें गमनसे युक्त है, फैली है। पहले जिस मुहूर्तमें तुम मृत्युको प्राप्त हुए, उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदयमें उदित हुई। जैसे नदीका प्रवाह एक आवर्तका त्यागकर शीघ्र ही दूसरे आवर्तका ग्रहण करता है यानी बनाता है, वैसे ही चित्तप्रवाह भी एक

कदाचिदेवं सर्गश्रीर्मिश्रामिश्रा च वर्द्धते ।
तस्मिन्मृतिमुहूर्त्ते ते प्रतिभानमुपागतम् ॥ ४९ ॥
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः संवत्सरशतभ्रमः ॥ ५० ॥
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ ५१ ॥
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्त्तनम् ॥ ५२ ॥
यथा ऽसमञ्जसं स्वप्ने स्वशिरःप्रविकर्त्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ ५३ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽसि न मृतोऽसि कदाचन ।
शुद्धविज्ञानरूपस्त्वं शान्त आत्मनि तिष्ठसि ॥ ५४ ॥

सृष्टिका त्यागकर दूसरी सृष्टिका ग्रहण करता है। जैसे आवर्त कभी अन्य आवर्तसे मिला हुआ और कभी बिना मिला हुआ प्रवृत्त होता है वैसे ही यह सृष्टि भी जाग्रत्में अन्य जीवोंकी सृष्टिसे युक्त और स्वप्नमें अमिश्र यानी अन्य जीवोंकी सृष्टिसे रहित है, उस मरण-मुहूर्तमें चिद्रूप सूर्य जो तुम हो तुम्हारी प्रतिभाको प्राप्त हुआ असद्रूप यह जगज्जाल उपस्थित हुआ है। जैसे स्वप्नके एक मुहूर्तके अन्दर सैकड़ों वर्षोंकी भ्रान्ति होती है ॥ ४५–५० ॥

जैसे मनोरथमें जीवन और मरण होते हैं, जैसे गन्धर्वनगरमें भीत और भीतको शोभित करनेवाले चित्रोंकी प्रतीति होती है, जैसे नौकाके वेगसे चलनेपर वृक्ष और पर्वतोंका कम्पन (चलन) प्रतीत होता है, जैसे अपने वात, पित्त आदि धातुओंका सन्निपात होनेपर पर्वतोंका चलना प्रतीत होता है और जैसे स्वप्नमें अपने शिरको काटना दिखाई देता है, जो पूर्वमें कभी अनुभूत नहीं है और जो अव्यवहार्य्य है, वैसे ही विस्तृत रूपवाली अतएव दुरुच्छेद्य यह प्रपञ्चभ्रान्ति भी मिथ्या ही है ॥ ५१–५३ ॥

तब परमार्थ वस्तु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर देवी कहती हैं— 'वस्तुतस्तु' इत्यादिसे ।

वास्तवमें न तो तुम कभी उत्पन्न हुए हो और न तुम कभी मरे हो, किन्तु विशुद्धविज्ञानस्वरूप शान्त तुम अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित हो ॥ ५४ ॥

पश्यसीवैतदखिलं न च पश्यसि किञ्चन ।
सर्वात्मकतया नित्यं प्रकचस्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५५ ॥
महामणिरिवोदार आलोक इव भास्वरः ।
वस्तुतस्तु न भूपीठमिदं न च भवानयम् ॥ ५६ ॥
न चेमे गिरयो ग्रामा न चैते न च वै वयम् ।
गिरिग्रामकविप्रस्य मण्डपाकाशके किल ॥ ५७ ॥
तल्लीलाभर्तृदाराढ्यं जगदाभाति भास्वरम् ।
तत्र लीलाराजधानी मण्डपामण्डिताकृतिः ॥ ५८ ॥
भाति तस्योदरे व्योम्नि तदेवं विदितं जगत् ।
तस्मिन् जगति गेहेऽन्तर्यस्मिन् वयमिह स्थिताः ॥ ५९ ॥

दृश्यके मिथ्या होनेपर दृश्यसंवलित चिदाभासरूप दृश्यदर्शन भी मिथ्या ही है, यों विषयशून्य केवल चिन्मात्रका शेष है, इस अभिप्रायसे देवी कहती हैं—'**पश्यसीव**' इत्यादिसे ।

तुम इस समस्त प्रपञ्चको देखते-से हो, वास्तवमें कुछ भी नहीं देखते, क्योंकि विषय ही जब नहीं है, तब देखोगे क्या ? किन्तु तुम्हीं निर्मल महामणिके समान और भास्वर सूर्य आदिके समान अपने स्वरूपमें अपनेसे नित्य सर्वात्मभावसे प्रदीप्त होते हो ।

वस्तुतः न तो यह भूतल सत् है, न यह तुम (प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा विदूरथदेह) सत् हो, न ये पर्वत हैं, न ये ग्राम हैं और न ये तुम्हारे परिजन और शत्रु ही सत् हैं, न हम लोग ही सत् हैं ।

अल्पतरमें महत्तर वस्तुका न समा सकना ही प्रपञ्चके मिथ्यात्वका कारण है, इस आशयसे कहते हैं—'**गिरिग्रामक०**' इत्यादिसे ।

गिरिग्रामके ब्राह्मणके मण्डपाकाशमें सभार्य लीलापतिसे युक्त यह भास्वर (देदीप्यमान) जगत् प्रतीत होता है । उसमें बहुतसे भवनोंसे सुशोभित लीलाकी राजधानी है । उक्त ब्राह्मणके गृहाकाशमें इस प्रकारसे जाना गया यह जगत् है । जिस घरमें इस समय हम लोग बैठे हैं, वह उस जगत्में प्रतीत होता है ॥ ५५–५९ ॥

एवं तेषां मण्डपानां व्योमाऽव्योमैव निर्मलम् ।
तथैव मण्डपेष्वस्ति न मही न च पत्तनम् ॥ ६० ॥
न वनानि न शैलौघा न मेघसरिदर्णवाः ।
केवलं तत्र निःशून्ये विहरन्ति गृहे जनाः ॥ ६१ ॥
न पश्यन्ति जना नाऽपि पार्थिवा न च भूधराः ।

विदूरथ उवाच

एवं चेत्तत् कथं देवि ममेहाऽनुचरा इमे ॥ ६२ ॥
संपन्ना आत्मना सन्ति ते किमात्मनि नोऽथवा ।
जगत्स्वप्नार्थवद्भाति तस्य स्वप्ननरादयः ॥ ६३ ॥
कथमात्मनि सत्याः स्युर्न सत्या वेति मे वद ।

श्रीसरस्वत्युवाच

राजन् विदितवेद्येषु शुद्धबोधैकरूपिषु ॥ ६४ ॥

इस प्रकार मण्डपोंका जो आकाश है, वह आकाश आदिसे शून्य निर्मल (ब्रह्म) ही है। उसी प्रकार मण्डपोंमें न पृथिवी है और न नगर ही है, न बन हैं, न पर्वतश्रेणियाँ हैं, न मेघ, नदियाँ और सागर ही हैं। केवल चिन्मात्रपूर्ण उस ब्रह्मरूप मिथ्या घरमें मिथ्या पुरुष विहार करते हैं। न लोग देखते हैं, न राजा हैं और न पर्वत हैं।—

लोग नहीं देखते हैं, इस कथनसे मन्त्री, भृत्य आदि स्वप्नमें देखे गये लोगोंके तुल्य हो जायँगे, पर यह तो संभव नहीं है, ऐसी शङ्कासे राजाने पूछा—'एवं चेत्' इत्यादिसे।

विदूरथने कहा—हे देवि, यदि ऐसा है, तो मेरे ये अनुचर यहाँपर कैसे सत्य हैं॥ ६०—६२ ॥

वे मेरे सदृश सत्स्वभाव आत्मामें जीवभावसे युक्त हैं अथवा नहीं। जगत् स्वप्नके पदार्थकी नाईं प्रतीत होता है। मेरे स्वप्ननर आदि सत्स्वभाव मुझमें कैसे सत्य होंगे और कैसे न होंगे? यह आप मुझसे कहिये।

यदि अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जीवभावसे उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह सत्यता तुम्हारी भी नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे अधिष्ठानचिन्मात्ररूपसे उनकी सत्यता पूछते हो, तो वह उनकी भी है ही, इस आशयसे देवीजीने उत्तर दिया—'राजन्' इत्यादिसे।

न किञ्चिदेतत्सद्रूपं चिद्व्योमात्मसु जागतम् ।
शुद्धबोधात्मनो भाति कुतो नाम जगद्भ्रमः ॥ ६५ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्ते पुनः सर्पभ्रमः कुतः ।
असद्भावे परिज्ञाते कुतः सत्ता जगद्भ्रमे ॥ ६६ ॥
परिज्ञाते मृगजले पुनर्जलमतिः कुतः ।
स्वप्नकाले परिज्ञाते स्वे स्वप्नमरणं कुतः ॥
स्वस्वप्ने स्वप्नमृतिभीरमृतस्यैव जायते ॥ ६७ ॥

बुद्धस्य शुद्धस्य शरन्नभःश्रीः
स्वच्छावदाताततताशयस्य ।
अहं जगच्चेति कुशब्दकार्थौ
न वस्तुतः सोऽङ्ग हि वाचिकं तत् ॥ ६८ ॥

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—हे राजन्, जिन लोगोंको ज्ञातव्य वस्तु ज्ञात हो चुकी है और जो शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे चिदाकाशरूपी पुरुषोंमें यह जगत्-सम्बन्धी कुछ भी पदार्थ सत् नहीं है। जो शुद्ध बोधस्वरूप है, उसे जगद्भ्रम कहांसे हो सकता है ? रस्सीमें सर्पभ्रमके निवृत्त हो जानेपर फिर सर्पभ्रम कहांसे होगा ? जगद्भ्रम असत्य है, यह जब भली भाँति ज्ञात हो गया, फिर उसकी सत्ता कैसे ? मरुभूमिमें प्रतीत होनेवाले मृगजलके स्वरूपका परिज्ञान होनेपर फिर उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है ? स्वप्नकालमें, जागरणसे अपने स्वरूपके परिज्ञात होनेपर, अपना मरण कैसे सत्य हो सकता है ? अपनी स्वप्नावस्थामें अमृत पुरुषको ही अपने मरणका भय होता है। मेघरूप आवरणका विनाश होनेपर जैसे शरत्कालीन आकाशकी शोभा स्वच्छ हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञानसे अज्ञानरूप आवरणका विनाश होनेपर जिसका हृदय स्वच्छ और स्फुरित होती हुई आत्मप्रभासे धवल और आत्मैक्यापत्तिसे पूर्णतारूप विस्तारको प्राप्त हुआ है, ऐसे शुद्ध और तत्त्ववेत्ता पुरुषकी बुद्धिमें अज्ञानियोंकी दृष्टिमें होनेवाली 'मै' और 'जगत्' ऐसी प्रतीति वस्तुतः नहीं है, वह केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ॥ ६३—६८ ॥

स्नातुं सभाकृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भ्रान्तिविचारवर्णनं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

पञ्चमदिनम्

द्विचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे ।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत् ॥ १ ॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इतनी कथा कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल-शिखरकी ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियोंकी सभा वाल्मीकिजीको प्रणाम कर सायङ्कालके सन्ध्यावन्दन आदि कृत्यके लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतनेपर सूर्यके उगते उगते मुनिमण्डली सभास्थानमें आ गई ॥ ६९ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

[अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका तथा वरदानपर्यन्त अवशिष्ट कथाका वर्णन]

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे जगत्की असत्यताका विस्तारसे वर्णन कर उसको दृढ़ करनेके लिए अज्ञानियोंकी दृष्टिसे उसकी अत्यन्त दृढ सत्ता कहते हैं—'**यस्तु**' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषकी आत्मतत्त्वमें दृढ़ व्युत्पत्ति नहीं हुई और बुद्धिमें बोधका उदय नहीं हुआ उसके लिए असत् भी यह जगत् परमार्थ सत् है; क्योंकि लोकमें जो अर्थक्रियाकारी है, उसीकी सत्यरूपसे प्रसिद्धि होती है, यह भाव है ॥ १ ॥

यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः ।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ २ ॥
ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम् ।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ ३ ॥
यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी ।
अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत् ॥ ४ ॥
अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा ।
कटकज्ञप्तिरेवाऽस्ति न मनागपि हेमधीः ॥ ५ ॥
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा ।
इयं दृश्यदृगेवाऽस्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥ ६ ॥
यथा नभसि मुक्तालीपिच्छकेशोण्ड्रकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दृशां जगत् ॥ ७ ॥

असत् पदार्थकी अज्ञानीके प्रति अर्थक्रियाकारिता कहां देखी गई है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'*यथा*' इत्यादिसे ।

जैसे असत् ही वेताल बालकको मृत्युपर्यन्त सब दुःखोंका देनेवाला है, वैसे ही मूढ़मतिको सत्की नाईं प्रतीत हो रहा यह असत् जगत् मृत्युपर्यन्त सब दुःखोंका देनेवाला है ॥ २ ॥

जैसे मरुभूमिस्थित सूर्यका आतप ही अज्ञ मृगोंकी दृष्टिमें सत्यजलरूपसे प्रतीत हुआ मृगोंके भ्रमका कारण होता है, वैसे ही असत्य ही यह जगत् मूढ़मतिकी दृष्टिमें सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे प्राणियोंकी असत्य ही स्वप्नमृत्यु सत्यरूपिणी होकर अर्थक्रियाकारिणी (शोक, रोदन आदि अर्थक्रियाकारिणी) होती है, वैसे मूढबुद्धियोंको यह जगत् शोक, मोह आदि देनेवाला है ॥ ४ ॥

जिस पुरुषको कटक, कुण्डल आदिमें अनुगत सुवर्णका परिज्ञान नहीं है, उसको जैसे कनकके कटकमें कटक-ज्ञान ही होता है, सुवर्ण-ज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञ पुरुषकी नगर, गृह, पर्वत गजराज आदिसे व्याप्त वह दृश्यदृष्टि ही है, अन्य परमार्थदृष्टि (सर्वानुगत ब्रह्मदृष्टि) नहीं है ॥ ५–६ ॥

जैसे विकृतदृष्टिवालोंको आकाशमें मुक्तावली, मोरपंखे और कुण्डलाकार

दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विद्ध्यहन्तादिसंयुतम् ।
अत्राऽन्ये स्वप्नपुरुषा यथा सत्यास्तथा शृणु ॥ ८ ॥
अस्ति सर्वगतं शान्तं परमार्थघनं शुचि ।
अचेत्यचिन्मात्रवपुः परमाकाशमाततम् ॥ ९ ॥
तत्सर्वगं सर्वशक्ति सर्वं सर्वात्मकं स्वयम् ।
यत्र यत्र यथोदेति तथाऽऽस्ते तत्र तत्र वै ॥ १० ॥
तेन स्वप्नपुरे द्रष्टा यान्वेत्ति पुरवासिनः ।
नरानिति नरा एव क्षणात्तस्य भवन्ति ते ॥ ११ ॥
यद्द्रष्टुश्चित्स्वरूपं तत्स्वप्नाकाशान्तरस्थितम् ।
स्वप्नाकाशचित्ताभं हि नरा नामेति भावितम् ॥ १२ ॥

केशोंका गोला आदि असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानियोंको यह जगत् असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अहन्ता आदिसे युक्त इस विश्वको दीर्घ स्वप्न समझो, यहाँपर अपनेसे अतिरिक्त सत्य जन स्वप्नदृष्ट अन्य पुरुषोंके तुल्य हैं ।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो ये शास्त्र-प्रतिपादित याजन, प्रतिग्रह, उपदेश आदि अर्थक्रियायोग्य सत्य हैं, ऐसा शास्त्रमें क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान—जैसे वे सत्य हैं, वैसा सुनो, कहते हैं—सर्वाधिष्ठान शान्त और निरतिशय सत्य निर्मल अचेत्य-चिन्मात्रवपु सर्वत्र व्याप्त परमाकाश है । वह सर्वव्यापक सर्वशक्ति सर्वात्मक स्वयं जहाँ जहाँ जैसे जैसे उदित होता है (जैसी अर्थक्रियाकारिताके योग्य आविर्भूत होता है) वहाँ वहाँ वैसे रहता है ॥ ८–१० ॥

जागरमें जैसे शास्त्रीय अर्थक्रियाके योग्य वह आविर्भूत हुआ, किन्तु स्वप्नमें वैसे अर्थक्रियाके योग्य आविर्भूत नहीं हुआ, यह अवान्तर विशेष होनेपर भी उसके सद्रूपमें कोई विशेष नहीं है, ऐसा कहते हैं—'तेन' इत्यादिसे ।

इस कारण द्रष्टा स्वप्नपुरमें जिन पुरवासियोंको नररूपसे जानता है, वे तुरन्त ही उसके नर ही हो जाते हैं ॥ ११ ॥

स्वप्नका विकाश यानी सुषुम्नानाडीका छिद्र, उसके भीतर स्थित स्वप्नाध्यस्त विपुलाकाशमें परिवर्तमान और चित्तकी वासनाके अनुसार तत्-तत् पदार्थोंके रूपसे विवर्तताको प्राप्त हुआ द्रष्टाका जो चित्स्वरूप है, वही भावित होता हुआ 'नर' यों नामको प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

वेदितृत्वैक्यवशतो नरतेवाऽवबुध्यते ।
आत्मन्यतश्चिद्बलेन द्वयोरप्येति सत्यता ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेऽपि स्वप्नपुरुषा न सत्याः स्युर्मुने यदि ।
वद तत्को भवेद्दोषो मायामात्रशरीरिणि ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्ने न पुरुषास्तथ्या वस्तुतः सत्यरूपिणः ।
प्रमाणमत्र शृणु मे प्रत्यक्षं नाम नेतरत् ॥ १५ ॥

स्वप्न और जागर दोनों अवस्थाओंमें भी आत्मामें नरता आदिके अवबोधमें और अध्यस्त सत्यतावबोधमें अन्योन्यतादात्म्यसंसर्गाध्यास ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—'वेदितृ०' इत्यादिसे ।

सत्य स्वप्रकाश अपरोक्ष चैतन्यके तादात्म्यसे जनित संसर्गाध्याससे नरता-सी ज्ञात होती है, अतः चित्के बलसे स्वप्न और जागरमें अध्यस्त तत्-तत् धर्मोंकी आत्मामें सत्यता प्रसिद्ध होती है ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत्के दृश्य पदार्थ परस्पर मिलित माया और उसके आधिष्ठानात्मक सत्य और अनृत हैं, ऐसा कहा गया, ऐसी अवस्थामें स्वप्नपदार्थ केवल अनृतमात्र हों, उनमें सत्यांशके प्रवेशसे क्या लाभ है ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, यदि जाग्रत्-पुरुष अधिष्ठानकी सत्तासे सत्य न हों, तो व्यवहारमें विसंवाद और कर्मकाण्डका अप्रामाण्य आदि दोष होंगे, इसलिए वे सत्य हों, परन्तु केवल मायास्वरूप स्वप्नमें कल्पित स्वप्न-पुरुष उस प्रकारके सत्य न हों, तो क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि भगवान् व्यासने 'मायामात्रं तु कात्स्र्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न केवल मायास्वरूप ही है, क्योंकि उसकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं होती) इस सूत्रसे स्वप्नको केवल मायामात्र कहा है, ऐसी अवस्थामें जाग्रत् जगत्की स्वप्नतुल्यता कैसे ? ॥१४॥

स्वप्नपदार्थ ब्रह्मके तुल्य वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इतना ही कहा जा सकता है अधिष्ठानरहित होनेके कारण अधिष्ठान सत्यतासे सत्य नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

सर्गादावात्मभूर्भाति स्वप्नाभानुभवात्मकः ।
तत्सङ्कल्पकलं विश्वमेवं स्वप्नाभमेव तत् ॥ १६ ॥
एवं विश्वमिदं स्वप्नस्तत्र सत्यं भवान्मम ।
यथैव त्वं तथैवाऽन्ये स्वप्ने स्वप्नवरा नृणाम् ॥ १७ ॥
स्वप्ने नगरवास्तव्याः सत्या न स्युरिमे यदि ।
तदिहाऽपि तदाकारे न सत्यं मे मनागपि ॥ १८ ॥
यथाऽहं तव सत्यात्मा सत्यं सर्वं भवेन्मम ।
स्वप्नोपलम्भे संसारे मिथः सिद्धयै प्रमेदृशी ॥ १९ ॥

स्वप्नमें स्वप्ननगरवासी लोग वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मुझसे सुनो, अन्य प्रमाणको जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त असत् पदार्थ वन्ध्यापुत्र आदिका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्वप्नपदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है, अतः वे अत्यन्त असत् नहीं हैं ॥ १५ ॥

स्वप्न यदि अत्यन्त असत् है, तो जाग्रत् प्रपञ्चके असत्त्वका निवारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह भी तो हिरण्यगर्भका स्वप्नरूप ही है, इस आशयसे कहते हैं **'सर्गादा०'** इत्यादिसे।

सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रजापति स्वप्नसदृश आभाससे सम्पन्न थे, वे ही अनुभवरूपी हिरण्यगर्भ हैं यानी संस्कारीभूत ज्ञानसमष्टिरूपी हैं, अतएव उनके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न-सदृश है ॥ १६ ॥

इसप्रकार जगत्की स्वप्नतुल्यता और पूर्वोक्त सत्यता हुई, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे।

इस प्रकार यह विश्व स्वप्न है, उसमें जैसे मेरी दृष्टिमें आप सत्य हैं, क्योंकि अपनी सत्यताका आप अपलाप नहीं कर सकते, वैसे ही अन्य लोग भी आपकी दृष्टि और मेरी दृष्टिसे सत्य हैं, इसी प्रकार स्वप्नमें अन्य मनुष्योंकी भी अपने अपने अनुभवके अनुसार स्वप्नसत्यता सिद्ध है ॥ १७ ॥

ये नगर और नगरवासी स्वप्नमें यदि सत्य न हों, तो स्वप्नाकार इस जाग्रत्में भी वे तनिक भी सत्य न होंगे। तुम्हारी दृष्टिमें मैं जैसे सत्यात्मा हूँ, मेरी दृष्टिमें वैसे ही सब सत्य हैं, स्वप्नसदृश संसारमें पदार्थोंकी परस्पर सिद्धिके लिए ऐसी प्रमा है ॥ १८,१९ ॥

संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव ।
यथा त्वमपि मे सत्यं सर्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नद्रष्टरि निर्निद्रे तद्द्रष्टुः स्वप्नपत्तनम् ।
सद्रूपत्वात्तथैवाऽऽस्ते ममेति भगवन्मतिः ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतत्तथैवाऽऽस्ते सत्यत्वात् स्वप्नपत्तनम् ।
स्वप्नद्रष्टरि निर्निद्रेऽप्याकाशविशदाकृति ॥ २२ ॥
एतदास्तामिदं तावद्यज्जाग्रदिव मन्यसे ।
विद्धि तत्स्वप्नमेवाऽऽन्तर्देशकालाद्यपूरकम् ॥ २३ ॥

जैसे इस विपुल स्वप्नरूपी संसारमें तुम्हारी दृष्टिमें मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टिमें तुम भी सत्य हो, वैसे ही सारे स्वप्नोंमें क्रम है ॥ २० ॥

यदि ऐसा है, तो स्वप्नद्रष्टाके जागनेपर भी स्वप्नप्रपञ्चकी जाग्रत्प्रपञ्चकी नाईं अवस्थिति होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, स्वप्नद्रष्टाकी नींद खुलनेपर द्रष्टाका वह स्वप्नपत्तन सद्रूप होनेसे वैसा ही रहता है। आपके कथनसे मेरी ऐसी धारणा हो गई है ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसा आप कहते हैं, वह ठीक है, सत्यरूप होनेसे स्वप्नपत्तन स्वप्नद्रष्टाके जागनेपर भी वैसा ही रहता है, क्योंकि वह अधिष्ठान सन्मात्रस्वभाव यानी सत्य ही है ॥ २२ ॥

अगर ऐसा है, तो जाग्रत्-पदार्थकी नाईं स्वप्नपदार्थोंका भी अन्य स्वप्नोंमें व्यवहारसंवाद होगा, ऐसी श्रीरामचन्द्रजीकी जिज्ञासाको चिह्नोंसे ताड़कर देशान्तर और कालान्तरकी अनुवृत्तिसे अनेक जाग्रत्-पदार्थोंमें भी असंवाद है ही, पृथ्वी, आकाश, नाम, जाति आदि कतिपय पदार्थोंकी अनुवृत्तिका संवाद स्वप्नमें भी है ही, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई भी अन्तर सिद्ध नहीं किया जा सकता, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'एतदास्ताम्' इत्यादिसे ।

अथवा स्वप्नके पदार्थ यदि सत्य हों, तो जागरणमें भी उनकी अनुवृत्ति

एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम् ॥ २४ ॥
सर्वत्र विद्यते सर्वं देहस्याऽन्तर्बहिस्तथा ।
यत्तु वेत्ति यथा संवित्तत्तथा स्वैव पश्यति ॥ २५ ॥
यत्कोशे विद्यते द्रव्यं तद्द्रष्ट्रा लभ्यते यथा ।
तथाऽस्ति सर्वं चिद्व्योम्नि चेत्यते तत्त्वनेन वै ॥ २६ ॥

होनी चाहिए, श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी शङ्काको ताड़कर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'एतद्' इत्यादिसे ।

आपकी शङ्का रहे, यदि आप स्वप्नके पदार्थोंकी जाग्रत्कालके बाहरी देश और कालमें अनुवृत्ति नहीं होती, इसलिए उन्हें असत्य समझते हैं, तो जिसे आप जाग्रत् मानते हैं, उसकी भी तो आभ्यन्तर स्वाप्न देश और कालमें अनुवृत्ति नहीं होती यानी वह भी स्वाप्निक देशकालका पूरक नहीं होता, ऐसी अवस्थामें दोनोंकी स्वप्नतुल्यता समान ही है ॥ २३ ॥

इस प्रकार अधिष्ठानसत्तासे स्वप्न और जाग्रत्के सत्य होनेपर भी सम्पूर्ण यानी जाग्रत् और स्वाप्न देश तथा कालके पूरक न होनेसे स्वतः उनकी सत्यता नहीं है, इसलिए दोनोंका मिथ्यात्व तुल्य है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपञ्च सत्य नहीं है, किन्तु अधिष्ठानसत्तासे सत्य-सा प्रतीत होता है । स्वप्नस्त्रीसङ्गमकी नाईं मिथ्या ही अपनेमें आसक्ति कराकर जीवको मोहित करता है ॥ २४ ॥

संवित् सम्पूर्ण यानी स्वप्न और जाग्रत् देश और कालकी पूरक होनेसे सत्य है और मायाशक्तिसे सर्वत्र सर्वपदार्थरूपसे स्फुरणसामर्थ्य भी उसमें है, ऐसा कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे ।

सब वस्तु देहके अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है, संवित् जैसा जानती है, वह वैसे अपनेको ही देखती है ॥ २५ ॥

जैसे कोशमें जो धन रहता है, उसको उसका द्रष्टा अवश्य जानता है, वैसे ही चिदाकाशमें सब कुछ है, उसका चिदाकाश ही अनुभव करता है ॥ २६ ॥

अनन्तरमुवाचेदं देवी ज्ञप्तिर्विदूरथम् ।
कृत्वा बोधामृतासेकैर्विवेकाङ्कुरसुन्दरम् ॥ २७ ॥
एतदेव मया राजन् लीलार्थमुपवर्णितम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यावो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रोक्ते सरस्वत्या गिरा मधुरवर्णया ।
उवाच वचनं धीमान् भूमिपालो विदूरथः ॥ २९ ॥

विदूरथ उवाच

ममाऽपि दर्शनं देवि मोघं भवति नाऽर्थिनि ।
महाफलप्रदायाऽस्तु कथं तव भविष्यति ॥ ३० ॥
अहं देहं समुत्सृज्य लोकान्तरमितोऽपरम् ।
निजमायामि हे देवि स्वप्नात् स्वप्नान्तरं यथा ॥ ३१ ॥
पश्याऽऽदिशाऽऽशु मां मातः प्रपन्नं शरणागतम् ।
भक्तेऽवहेला वरदे महतां न विराजते ॥ ३२ ॥

तदुपरान्त देवी सरस्वतीने राजा विदूरथको ज्ञानरूपी अमृतके सेकसे विवेक-युक्त बनाकर उनसे यह कहा ॥ २७ ॥

राजन्, यह सब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान लीलाकी प्रीतिके लिए ही मैंने तुमसे कहा। तुम्हारे अभिलषित पदार्थकी सिद्धि हो, लीलाने पूर्वोक्त जगन्मिथ्यात्वकी दृष्टान्त-भूता मण्डपके अन्दर तुम्हारी ब्रह्माण्डकल्पनारूपी दृष्टियाँ देख ली हैं ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीमन्, मधुर अक्षरोंसे युक्त वाणीसे देवी सरस्वतीके 'तुम्हारे अभिलषित पदार्थकी सिद्धि हो' यह कहनेपर उक्त कथनके तात्पर्यको जाननेवाले राजा विदूरथने श्रीदेवीजीसे कहा ॥ २९ ॥

विदूरथने कहा—देवीजी, मैं साधारण मनुष्य हूँ, थोड़ा-सा दान दे सकता हूँ, फिर भी किसी याचकको मेरा दर्शन हो जाय, तो वह निष्फल नहीं जाता। आप तो महाफल देनेवाली हैं, फिर आपका दर्शन कैसे निष्फल हो सकता है ! हे देवी, जैसे मनुष्य एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता है, वैसे मैं अपनी पूर्वतन देहका त्याग कर दूसरे लोकमें शीघ्र आऊँगा। हे माता, आपकी शरणमें आया

यं प्रदेशमहं यामि तमेवाऽऽयात्वयं मम ।
मन्त्री कुमारी चैवेयं बालेति कुरु मे दयाम् ॥ ३३ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

आगच्छ राज्यमुचितार्थविलासचारु
प्राग्जन्ममण्डलपते कुरु निर्विशङ्कम् ।
अस्माभिरर्थिजनकामनिराकृतिर्हि
दृष्टा न काचन कदाचिदपीति विद्धि ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नपुरुषसत्यत्वनिरूपणं नाम द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

अस्मिन् रणवरे राजन् मर्तव्यं भवताऽधुना ।
प्राप्तव्यं प्राक्तनं राज्यं सर्वं प्रत्यक्षमेव ते ॥ १ ॥

हूँ, मुझे आप दयापूर्ण दृष्टिसे देखिये । हे वरदायिनी, महान् लोगोंकी भक्तपर अवहेलना शोभा नहीं देती । जिस लोकमें मैं जाऊँगा, उसी लोकमें मेरा यह मन्त्री और यह अविवाहिता कन्या आवें, ऐसी मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिये ॥ ३०—३३ ॥

श्री सरस्वतीजीने कहा—हे पूर्वजन्मके मण्डलपति, आइये और लीलाकी भक्ति और भाग्यके अनुरूप पदार्थोंकी समृद्धिसे अत्यन्त मनोहर राज्यका आप निशङ्क होकर भोग कीजिये । हम लोगोंने कभी भी याचकोंकी अभिलाषाका प्रत्याख्यान नहीं किया और न किसीने उसे देखा ही है ॥ ३४ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

[अभीष्ट वरदान, राजधानीपर शत्रुपक्षका आक्रमण और नगरदाह तथा जल रहे नगरवासियोंकी विविध चेष्टाओंका वर्णन]

राजा द्वारा जिज्ञासित भावी बातको भी स्पष्ट कह रही देवी सरस्वतीने अवशिष्ट वरदान देनेके लिए कहा—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

कुमार्या मन्त्रिणा चैव त्वया च प्राक्तनं पुरम् ।
आगन्तव्यं शवीभूतं प्राप्तव्यं तच्छरीरकम् ॥ २ ॥
आवां यावो यथायातं वातरूपेण च त्वया ।
आगन्तव्यः स देशस्तु कुमार्या मन्त्रिणाऽपि च ॥ ३ ॥
अन्यैव गतिरश्वस्य गतिरन्या खरोष्ट्रयोः ।
मदस्विन्नकपोलस्य गतिरन्यैव दन्तिनः ॥ ४ ॥
प्रस्तुतेति कथा यावन्मिथो मधुरभाषिणोः ।
तावत्प्रविश्य संभ्रान्त उवाचोर्ध्वस्थितो नरः ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—राजन्, इस समय इस भीषण रणमें आपको अवश्य मरना होगा और पूर्वजन्मका राज्य आपको मिलेगा, यह सब तुम्हें प्रत्यक्ष ही होगा ॥ १ ॥

राजन् अविवाहित राजकुमारीको और मन्त्रीको पूर्वजन्मका नगर प्राप्त होगा और आपको शवरूप वह शरीर प्राप्त होगा ॥ २ ॥

राजन्, हम लोग जैसे आये थे, वैसे ही जाते हैं, लेकिन आप, राजकुमारी और मन्त्री मर कर वायुरूप होकर यानी आतिवाहिक देहरूप होकर उक्त पूर्वजन्मके प्रदेशमें आवेंगे ॥ ३ ॥

यह आतिवाहिक देहकी गति मनोरथकी गतिके सदृश मण्डपके अन्दर संवृत आकाशमें भी सुदूर-सी हो सकती है । अश्व आदिकी गतिके समान पूर्वसिद्ध देशदैर्घ्यकी अपेक्षा नहीं होती, इस आशयसे देवीजी कहती हैं—'अन्यैव' इत्यादिसे ।

घोड़ेकी गति अन्य प्रकारकी है, गधे और ऊँटकी गति दूसरे प्रकारकी है, जिसके गण्डस्थलसे मदधारा बह रही हो ऐसे मदोन्मत्त हाथीकी गति दूसरे ही प्रकारकी है । भाव यह कि आतिवाहिक देहकी गति मनोरथकी गतिकी नाईं दूर देशमें भी और अदूर देशमें भी अन्यसे अदृश्य है । अश्व आदिकी गति वैसी नहीं है, क्योंकि अश्व आदि स्थूल और परिच्छिन्न हैं ॥ ४ ॥

मधुर भाषण करनेवाले श्रीसरस्वती देवीजी और राजामें परस्पर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक भयचकित पुरुषने वहां राजाके पास प्रविष्ट

देवसायकचक्रासिगदापरिघवृष्टिमत् ।
महत्परबलं प्राप्तमेकार्णव इवोद्धतः ॥ ६ ॥
कल्पकालानिलोद्धूतकुलाचलशिलोपमम् ।
गदाशक्तिभुशुण्डीनां वृष्टिं मुञ्चति तुष्टिमत् ॥ ७ ॥
नगरे नगसंकाशे लग्नोऽग्निर्व्याप्तदिक्तटः ।
दहंश्चटचटास्फोटैः पातयत्युत्तमां पुरीम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्बुदघटातुल्या व्योम्नि धूममहाद्रयः ।
बलात्प्रोड्डयनं कर्तुं प्रवृत्ता गरुडा इव ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

ससम्भ्रमं वदत्येवं पुरुषे परुषारवः ।
उदभूत्पूरयन्नाशा बहिः कोलाहलो महान् ॥ १० ॥
बलादाकर्णकृष्टानां धनुषां शरवर्षिणाम् ।
बृंहतामतिमत्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ११ ॥

होकर और ऊँचे स्थानपर खड़े होकर कहा—महाराज, तरङ्गाकुल सागरके समान बाण, चक्र, तलवार, गदा और मुद्गरोंकी वृष्टि करनेवाली बड़ी विशाल शत्रुसेना हमारी राजधानी पर चढ़ आई है। वह बड़े उत्साहसे सम्पन्न है और प्रलयके वायुसे उड़ाये गये कुल पर्वतोंकी शिलाओंके सदृश गदा, शक्ति, और भुशुण्डियों की वृष्टि करती है ॥ ५–७ ॥

पर्वताकार नगरमें आग लगी है, उसने अपनी ज्वालाओंसे चारों दिशाओंको व्याप्त कर रक्खा है। वह चट चट शब्दोंके साथ उत्तम नगरीको जलाती हुई तहस-नहस कर रही है ॥ ८ ॥

आकाशमें प्रलयकालकी मेघघटाके सदृश धूमके महान् पर्वत छाये हुए हैं, मालूम होता है कि वे अपनी पूरी ताकतसे उड़नेके लिए तैयार हुए गरुड़ हैं ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वह पुरुष राजासे यह सब कह ही रहा था कि बाहर दारुण चीत्कारोंसे परिपूर्ण बड़ा भारी कोलाहल हुआ, जो कि अपने तुमुल शब्दसे दिशाओंको भर रहा था। वह कोलाहल पूरी ताकतके साथ कानोंतक खींचे गये बाणोंकी वृष्टि करनेवाले धनुषोंका था, चिंघाड़ रहे

पुरे चटचटास्फोटैर्दहतां जातवेदसाम् ।
पौराणां दग्धदाराणां महाहलहलारवैः ॥ १२ ॥
तरतामग्निखण्डानां टाङ्कारः कथितो रवैः ।
ज्वलितानां परिस्पन्दाद्धगद्धगिति चाऽर्चिषाम् ॥ १३ ॥
अथ वातायनाद्देव्यौ मन्त्री राजा विदूरथः ।
ददृशुः प्रोल्लसन्नादं महानिशि महापुरम् ॥ १४ ॥
प्रलयानलसंक्षुब्धपूर्णैकार्णवरंहसा ।
पूर्णं परबलेनोग्रहेतिमेघतरङ्गिणा ॥ १५ ॥
कल्पान्तवह्निविगलन्मेरुभूधरभासुरैः ।
दह्यमानं महाज्वालाज्वालैरम्बरपूरकैः ॥ १६ ॥
मुष्टिग्राह्यमहामेघगर्जासन्तर्जितोर्जितैः ।
घोरं कलकलारावैर्मांसलैर्दस्युजल्पितैः ॥ १७ ॥

अत्यन्त मदोन्मत्त और बलवान् हाथियोंका था, नगरमें चट चट शब्दोंके साथ खूब जल रहीं आगकी ज्वालाओंका था, जिनकी स्त्रियां और बालबच्चे जल गये थे ऐसे पुरवासियोंके महान् हाहाकार, स्पन्दमान अग्निज्वालाओंके प्रज्वलित-शिखाओंके धग धग शब्द, इधर उधर तैर रहे अंगारोंके शब्दोंके साथ लोगों द्वारा उच्चारित टङ्कार उत्पन्न हुआ ॥ १०–१३ ॥

तदुपरान्त दोनों देवियोंने यानी सरस्वती देवी तथा लीलाने, मन्त्री और राजा विदूरथने अपने महलके झरोंखेसे घोर रात्रिमें अपने नगरको, जिसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था, देखा ॥ १४ ॥

वह नगर प्रलयकालमें अत्यन्त विक्षुब्ध पूर्ण एकार्णवके सदृश वेगवाले भीषण हथियाररूपी मेघतरङ्गोंसे पूर्ण शत्रुके दलबलसे भरा था, प्रलयकालीन अग्निसे जल रहे मेरुपर्वतके सदृश खूब चमकदार और आकाशको छूनेवाली बड़ी बड़ी ज्वालाओंकी शिखाओंसे जल रहा था ॥ १५–१६ ॥

उक्त नगर लूटनेके समय दूसरोंको डरानेके लिए महामेघोंकी गर्जनाके सदृश अपनी डाटफटकारसे बढ़े चढ़े कोलाहलसे पूर्ण डाकुओंके शोरगुलसे भयानक था ॥ १७ ॥

पुष्करावर्तसंकाशधूम्राभ्रपिहिताम्बरम् ।
प्रोड्डीनहेमाग्रनिभैर्ज्वालापुञ्जैर्निरन्तरम् ॥ १८ ॥
तरदुल्मुकखण्डोग्रतारातरलिताम्बरम् ।
अन्योन्यदेशसद्मौघप्रज्वलज्ज्वलनाचलम् ॥ १९ ॥
हतसैन्यपुरापातं द्रुताङ्गाराभ्रकोटरैः ।
कर्कशाक्रन्दनिर्दग्धलोकपूगोग्रगर्जितम् ॥ २० ॥
कृशानुकणनाराचनिरन्तरतराम्बरम् ।
बहुहेतिशिलाजालल्लुठद्दग्धपुरोत्करम् ॥ २१ ॥
रणद्विरदसङ्घट्टकुट्टितोद्भटसङ्कटम् ।
विद्रवत्तस्करच्छेदमार्गकीर्णमहाधनम् ॥ २२ ॥
अङ्गारराशिनिपतन्नरनार्युग्ररोदनम् ।
स्फुटच्चटचटाशब्दप्रलुठत्स्फुटकाष्ठकम् ॥ २३ ॥

पुष्करावर्त मेघोंके सदृश विशाल और भयावह धूमके बादलोंसे उसका आकाश आच्छन्न था। आकाशमें उड़ रहे और स्वर्णके सदृश अग्रकान्तिवाले ज्वालापुञ्जोंसे वह ठसाठस भरा था यानी तिल रखनेको भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँ ज्वाला न हो, इधरसे उधर छनक रहे आधे जले हुए काष्ठरूपी उग्र यानी उत्पातसूचक तारोंसे उसका आकाश चञ्चल था, वहांपर ज्वालाओंके परिवर्तनसे हुए अन्योन्यदेशके विनिमयसे गृहोंके समूहरूपी बड़े बड़े अग्निके पर्वत जल रहे थे ॥ १८–१९ ॥

उस नगरमें मरे हुए सैनिकोंमेंसे बचे हुए कुछ सैनिकोंका नगरप्रवेश हो रहा था, जिनमें अङ्गार फैले हुए थे, ऐसे मेघच्छिद्रोंसे वह नगर उपलक्षित था, जिन्होंने बड़े हृदयविदारक रोदनके साथ जनसमूहोंको जला डाला था, ऐसे शत्रुओं द्वारा उस नगरमें जोर जोरसे गर्जना की जा रहा थी, वह आगकी चिनगारियों और अर्धचन्द्राकार बाणोंसे अत्यन्त निरवकाश था, वहां बहुतसे शस्त्रों और शिलाओंसे अधजले पुरवासियोंके झुण्ड गिर रहे थे, रणभूमिमें हाथियोंकी टक्करसे शूरवीर सङ्कट चूरचूर हो गये थे, नगरके मार्ग, भाग रहे चोरोंका सिर काटनेसे उनके द्वारा हरे गये धनसे आकीर्ण थे, वहां अंगारोंके समूहोंसे गिर रहे नर-नारियोंका हृदयविदारक रोदन हो रहा था, जले हुए काठके टुकड़े चट

विपुलालातचक्रौघशतसूर्यनभस्तलम् ।
अङ्गारशिखिराकीर्णसमस्तवसुधातलम् ॥ २४ ॥
दग्धाग्निकाष्ठकेङ्कारणज्ज्वलनवैणवम् ।
दग्धजन्तुघनाक्रन्दरुदत्सकलसैनिकम् ॥ २५ ॥
पांसुशेषात्तराजश्रीवृद्धतृप्तहुताशनम् ।
सकलग्रसनारम्भसोद्योगाग्निमहाशनम् ॥ २६ ॥
यदृच्छात्कारडात्कारकठिनाग्निरटद्गृहम् ।
अनन्तजन्तुभोज्यान्नवह्निभुक्तेन्धनस्पृहम् ॥ २७ ॥
अथ शुश्राव तत्राऽसौ गिरो राजा विदूरथः ।
योधानां दग्धदाराणां पश्यतामभिधावताम् ॥ २८ ॥
हा मत्तमरुदूर्ध्वस्थानङ्गाऽऽर गृहपादपान् ।
रणात्खरखरं नीरजालामातपपन्थिनः ॥ २९ ॥

चट शब्दके साथ इधर-उधर गिर रहे थे, बड़े-बड़े अलात यानी जले हुए काष्ठोंके चक्राकार समूहोंसे आकाशतल ऐसा मालूम पड़ता था, मानो उसमें सौ सूर्य उगे हों, अँगारोंकी आगसे सम्पूर्ण पृथिवीतल व्याप्त था, जले हुए अग्नि-काष्ठों (अगर) के साथ बाँसके बड़े-बड़े डंडे केङ्कार शब्द कर रहे थे, जले हुए जीवोंके करुणक्रन्दनसे सब सैनिकोंका हृदय दहल रहा था, वहाँपर राज्य-श्रीका ऐसा दाह होनेपर, जब कि केवल धूली ही शेष रह गई थी, अग्नि प्रबल और तृप्त हुई, सर्वभक्षी अग्नि पूर्वोक्त प्रकारसे सम्पूर्ण नगरका ग्रसन करनेमें बड़ी उद्योगशील थी, वहाँपर अकस्मात् ही दैवयोगसे प्राप्त सर्वस्वहरण और दस्युओं द्वारा लुण्ठनसे और कठिनतम (क्रूरतम) अग्निसे घर रोदन कर रहे थे, असंख्य लोगोंके भोजनके लिए पर्याप्त अन्नके वह्नि द्वारा भस्म हो जानेपर वहाँपर किसीकी अवशिष्ट इन्धनमात्रमें स्पृहा हो रही थी ॥ २०—२७ ॥

तदुपरान्त राजा विदूरथने वहाँपर योद्धाओंकी तथा उन लोगोंका, जिनका देखते देखते स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था और इधर-उधर भाग रहे थे, वाणियाँ सुनीं ॥ २८ ॥

उनमें से किसीने किसीको सम्बोधन कर कहा—खेद है, अधिक रस होनेसे (जलाधिक्यसे) हरे-भरे अतएव सन्तापको दूर करनेवाले ऊँची जगहके हमारे

हा दग्धदाराः प्रालेयशीता देहेषु दन्तिनाम् ।
मग्ना मनस्सु महतामिव विज्ञानसूक्तयः ॥ ३० ॥
हा तात हेतयो लग्नास्तरुणीकबरीतृणे ।
ज्वलन्ति शुष्कपर्णौघा इव वीरानिलेरिताः ॥ ३१ ॥
आवर्तननदीदीर्घा वहत्यूर्ध्वतरङ्गिणी ।
पश्येयं धूमयमुना व्योमगङ्गां प्रधावति ॥ ३२ ॥
वहदुल्मुककाष्ठोर्ध्वगामिनी धूमनिम्नगा ।
वैमानिकानन्धयति पश्याऽग्निकणबुद्बुदा ॥ ३३ ॥
अस्या माता पिता भ्राता जामाता स्तनपाः सुते ।
अस्मिन्सद्मनि निर्दग्धा दग्धैवाऽसत्समिन्धने ॥ ३४ ॥

घररूप वृक्षोंको या हमारे घरके समीपके वृक्षोंको उखाड़ फेंकनेके लिए विपत्ति-रूप प्रचण्डवायु रणसे खड़खड़ शब्दके साथ आई ॥ २९ ॥

हाय, पहले तुषारकी ठण्डकसे ठिठुरी हुई पीछे आगकी लपटोंसे झुलसी हुई स्त्रियाँ हाथियोंके शरीरोंमें लीन हो गईं, जैसे कि जिन्होंने ज्ञानाग्निसे स्थूल आदि देह जला डाले हैं और त्रिविधसंताप दूर करनेके कारण हिमसे भी शीतल हैं ऐसी विज्ञानसूक्तियां महान् पुरुषोंके मनमें लीन होती हैं ॥ ३० ॥

हाय हाय, युवतियोंके केशबन्धनरूपी तिनकोंमें लगी हुई और वीररूपी वायु द्वारा फेंकी गई शस्त्राग्नि सूखे हुए पत्तेके ढेरकी नाईं जलती है ॥ ३१ ॥

देखो, आवर्तोंसे (जलभौरियोंसे) और नदीके प्रवाहभेदोंसे विशाल, ऊपरको बहनेवाली धूमरूपी यमुना आकाशगङ्गासे मिलनेके लिए दौड़ी जा रही है ॥ ३२ ॥

देखो, यह ऊपरको जानेवाली धूमनदी, जिसमें अधजले काठ बह रहे हैं और चिनगारियाँ ही बुद्‌बुदोंकी तरह प्रतीत हो रही हैं, विमानोंसे यात्रा करनेवाले देवता, गन्धर्व आदिको अन्धा बना रही है ॥ ३३ ॥

हे पुत्री, इस बेचारीके माता, पिता, भाई, जँवाई और दूध पीनेवाले बच्चे इस घरमें जल गये हैं। इसे भी अग्निके न रहनेपर भी उनके विरहरूपी अग्निमें जली हुई ही समझो ॥ ३४ ॥

हा हा हाऽऽगच्छ ते शीघ्रमेतदङ्गारमन्दिरम् ।
इतः प्रवृत्तं पतितुं सुमेरुः प्रलये यथा ॥ ३५ ॥
अहो शरशिलाशक्तिकुन्तप्रासासिहेतयः ।
जालसन्ध्याभ्रपटलं विशन्ति शलभा इव ॥ ३६ ॥
हेतिप्रवाहा ज्वलनं नभस्यन्त्यां विशन्त्यहो ।
वडवानलमुज्ज्वालमर्णःपूरा इवाऽर्णवात् ॥ ३७ ॥
धूमायन्ति महाभ्राणि ज्वालाः शिखरिकोटिषु ।
सरसान्यपि शुष्यन्ति हृदयानीव रागिणाम् ॥ ३८ ॥
आलानत्वरुषेवैता दन्तिभिर्वृक्षपङ्क्तयः ।
स्फुरत्कटकटारावं पात्यन्ते कृतचीत्कृतैः ॥ ३९ ॥
प्लुष्टपुष्पफलस्कन्धा गतश्रीका गृहद्रुमाः ।
गता निर्दग्धसर्वस्वा गृहस्था इव दीनताम् ॥ ४० ॥

जल्दी निकलो, तुम्हारा अँगारकी नाईं जला हुआ यह घर, प्रलयकालमें सुमेरुकी नाईं अपने स्थानसे गिरनेके लिए तयार है ॥ ३५ ॥

अहा, बाण, पत्थर, शक्ति, भाले, प्रास, तलवार आदि शस्त्रास्त्र झरोखोंके जालरूपी सन्ध्याकालीन मेघवृन्दमें टिड्डियोंकी नाईं घुस रहे हैं ॥ ३६ ॥

जैसे समुद्रसे जलप्रवाह खूब धधकती हुई ज्वालाओंसे युक्त बड़वानलमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही मारे भयके आकाशमें उड़नेकी इच्छा करनेवाली नगरीमें शस्त्रास्त्रोंकी वृष्टियाँ प्रवेश कर रही हैं ॥ ३७ ॥

अग्निकी ज्वालाएँ ऊँचे-ऊँचे प्रासादोंके शिखरोंमें स्थित बड़े-बड़े मेघोंको धुआँ-सा बना रही हैं, नगरीमें सजल तालाब, बावड़ी और उद्यान आदि रागियोंके हृदयकी नाईं सूख रहे हैं ॥ ३८ ॥

हाथी चिंघाड़ते हुए इन वृक्षपंक्तियोंको ये हमारे बन्धनस्तम्भके सजातीय हैं, इस रोषसे मानों कटकट शब्दके साथ गिरा रहे हैं ॥ ३९ ॥

घरोंके आस-पासके वृक्षोंके फूल, फल और लता आदि जल गये हैं, उनमें शोभा नाममात्रको भी नहीं रह गई है। वे उन गृहस्थोंकी नाईं, जिनका कि सर्वस्व जल गया है, दीनताको प्राप्त हो गये हैं ॥ ४० ॥

मातापितृविनिर्मुक्ता बालकास्तिमिरावलीम् ।
मग्नन्तोऽङ्गेषुरथ्यासु कुड्यपातेन हा हताः ॥ ४१ ॥
वातविद्राविताञ्स्यन् करिण्यो रणमूर्धनि ।
पतदङ्गारकागारभारिणः कटुकूजितम् ॥ ४२ ॥
हा कष्टमसिनिर्भिन्ने स्कन्धे सन्नद्दढोल्मुके ।
पतितो यन्त्रपाषाणः पुरुषस्याऽशनिर्यथा ॥ ४३ ॥
गवाश्वमहिषेभोष्ट्रश्वश्रृगालैडकैरहो ।
घोरै रणमिवाऽऽरब्धं मार्गरोधकमाकुलैः ॥ ४४ ॥
पटैः पटपटाशब्दजलजालालिमालितैः ।
आक्रन्दन्त्यः स्त्रियो यान्ति स्थलपद्माचिता इव ॥ ४५ ॥
स्त्रीणां ज्वालालवाः पश्य लिहन्त्यलकवल्लरीः ।
कुर्वन्तोऽशोकपुष्पाभां करभा इव पन्नगीः ॥ ४६ ॥

हाय, माता-पितासे बिछुड़े हुए घने अन्धकारमें अपने घरोंको खोज रहे बालक बाणोंसे परिपूर्ण सड़कोंपर भीतके गिरनेसे मर गये ॥ ४१ ॥

रणभूमिमें वायुसे उड़ाये गये और अँगारोंको बरसानेवाले घरके छप्परसे हथिनियाँ भीषण चिंघाड़के साथ डरती थीं ॥ ४२ ॥

हाय हाय, बड़ा कष्ट है किसी पुरुषके तलवारसे कटे हुए, कड़े उल्मुक (अधजले काठ) से युक्त कन्धेमें वज्रकी नाईं यह यन्त्रपाषाण गिरा ॥ ४३ ॥

हाय हाय, व्याकुल हुए भीषण गौ, घोड़े भैंस, हाथी, ऊँट, कुत्ते, सियार और भेड़ोंने मार्गको रोकनेवाला युद्ध-सा आरम्भ कर दिया है, जरा देखिये तो सही ॥ ४४ ॥

आगकी ज्वालाओंसे झुलस जानेके भयसे गीले वस्त्र पहनकर घरोंसे निकल रहीं स्त्रियोंका वर्णन करते हैं—'पटैः' इत्यादिसे ।

जलबिन्दुसमूहरूपी भ्रमरोंसे परिवेष्टित अतएव पटपट शब्द करनेवाले वस्त्रोंसे युक्त और हाथ, पैर और मुँहरूपी स्थलकमलोंसे बनी हुई-सी स्त्रियां रोती हुई जाती हैं ॥ ४५ ॥

देखो, अशोकके फूलोंकी कान्तिको धारण कर रहीं ज्वालाओंकी लपटें स्त्रियोंके अलकोंको ऐसे चाट रही हैं, जैसे ऊँट लटकी हुई पेड़ोंकी शाखाओंको या दैवात् उसमें लटकी हुई सर्पिणियोंको चाटता है ॥ ४६ ॥

हा हा हरिणशावाक्ष्याः पक्षलक्षणपक्ष्मसु ।
कुमार्गेष्विव विश्रान्तिमेति कार्शानवी शिखा ॥ ४७ ॥
दह्यमानो विनिर्याति न कलत्रं विना नरः ।
अहो बत दुरुच्छेदाः प्राणिनां स्नेहवागुराः ॥ ४८ ॥
करी रभसनिर्लूनज्वलदङ्गारपादपः ।
प्लुष्टपुष्करकः कोपान्मग्नः पुष्करदं सरः ॥ ४९ ॥
धूमोऽम्बुदपदं प्राप्य विलोलान्तस्तडिल्लतः ।
ज्वलदङ्गारनाराचनिकरं परिवर्षति ॥ ५० ॥
देव धूमः स्फुरद्वह्निकण आवर्तवृत्तिमान् ।
स्थित आपीडवान् व्योम्नि रत्नपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ ५१ ॥

हा हा, खेद है, अग्निकी शिखा मृगछौनेके नेत्रोंके तुल्य नेत्रवाली नायिकाकी भ्रमरोंके परोंके सदृश काली नेत्रराजियोंपर जैसे कोई कुमार्गोंमें विश्राम ले वैसे विश्राम लेती है ॥ ४७ ॥

स्वयं जल रहा भी पुरुष अपने स्त्री-पुत्र आदिके बिना घरसे नहीं निकलता । ओहो बड़ा खेद है कि प्राणियोंके स्नेहबन्धनका कटना कठिन है ॥ ४८ ॥

जिसने बलके वेगसे जल रहे अँगारोंसे सना हुआ अपना बन्धनस्तम्भ तोड़ डाला, अतएव उसको खींचनेके समय जिसकी सूँड़ जल गई थी; ऐसा हाथी क्रोधसे भाग कर लोगोंको पुष्कर देनेवाले यानी कमल देनेवाले तालाबमें जाकर वहां डूब गया * ॥ ४९ ॥

धुआँ मेघोंके मार्गमें यानी वृष्टि करनेके अधिकारी आकाशस्थानमें पहुँचकर और मध्यमें चञ्चल वह्निज्वालारूपी तड़ित-लतासे युक्त होकर जल रहे अँगाररूपी बाणोंकी वृष्टि करता है। राजन्, आकाशमें जिसमें चिनगारियाँ चमक रही हैं, आवर्त (जलभौंरी) की-सी वृत्तियाँ हो रही हैं, शिखररूपी तरङ्ग उछल रही हैं, ऐसा धुआँ आकाशमें रत्नोंसे भरा हुआ, आवर्तोंसे व्याप्त और तरङ्गमालाओंसे घिरे हुए समुद्रके तुल्य प्रतीत होता है। ज्वालाओंकी कोटियोंके प्रकाशसे उज्ज्वल हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता है मानो मृत्युने

* पुष्कर सूँड़को भी कहते हैं और कमलको भी। चूंकि उसका पुष्कर (सूँड़) जल गया था, अतएव उसका पुष्कर (कमल) देनेवाले तालाबमें पुनः पुष्करप्राप्तिके लिए जाना उचित ही है, यह श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा है।

गौरमम्बरमाभाति ज्वालाशिखरतेजसा ।
मृत्युनेवोत्सवे दत्तः कुङ्कुमाक्तकरण्डकः ॥ ५२ ॥
अहो नु विषमं चेदं वर्तते वृत्तवर्जितम् ।
म्रियन्ते राजनार्योऽपि वैरिवीरैरुदायुधैः ॥ ५३ ॥
लोलस्रग्दामकुसुमैर्मार्गप्राकारकारकैः ।
अर्धनिर्दग्धकबरीकीर्णवक्षस्थलस्तनाः ॥ ५४ ॥
आलोलाम्बरसंलक्ष्यनितम्बजघनस्थलाः ।
पतन्माणिक्यवलयवलितावनिमण्डलाः ॥ ५५ ॥
छिन्नहारलताजालविकीर्णामलमौक्तिकाः ।
दृष्टादृष्टस्तनश्रेणीपार्श्वोद्यत्कनकप्रभाः ॥ ५६ ॥
कुररीकर्कशाक्रन्दमन्दीकृतरणारवाः ।
धारावाहास्रुताराबभिन्नपार्श्वविचेतनाः ॥ ५७ ॥
रक्तकर्दमबाष्पाम्बुक्लिन्नग्रन्थितवाससः ।
भुजमूलार्पितभुजैर्नीयमाना बलान्नृभिः ॥ ५८ ॥

उत्सवके लिए कुङ्कुम-केसरसे रँगा हुआ सन्दूक दिशारूपी वधुओंको दिया है। सच्चारित्र्यसे विपरीत यह बड़ा अनुचित हो रहा है कि हाथोंमें आयुध लिये हुए शत्रुवीरों द्वारा राजमहिषियाँ भी पकड़ी जा रही हैं। इन राजमहिषियोंकी दशाका क्या वर्णन करें, ये मार्गमें खूब फूलोंकी वृष्टि करनेवाली चञ्चल मालाओं और पुष्पराशिसे युक्त हैं, अधजला केशभार इनके वक्षस्थल और स्तनमण्डलपर बिखरा है। वायुके कारण फरफरा रहे वस्त्रसे इनकी कमर और जंघाएँ कुछ खुली दीख रही हैं, गिर रहे माणिक्यजटित कड़ोंसे इन्होंने पृथिवीमण्डलको आच्छन्न कर दिया है। इनके टूटे हुए हारोंसे निर्मल मोती बिखर रहे हैं, इनके पहले कभी न देखे गये स्तनमण्डलके समीपमें उदित हो रही सुवर्णकान्ति दृष्टिगोचर होती है। कुररीके शब्दकी नाईं कर्कश इनकी रोदनध्वनिसे रणका शब्द फीका पड़ गया है। धारावाहिक रूपसे निरवच्छिन्न निकली हुई रोदनध्वनियोंसे इनकी पेटकी पसलियाँ टूट-सी गई हैं, अतएव ये इस समय क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका विवेक करनेमें असमर्थ हैं। इनके ये कहीं भाग न जायँ, इस भयसे एक दूसरेसे बँधे हुए कपड़े रक्त, कीचड़ और आँसुओंसे सने हुए हैं। काँखमें हाथ डाले

क इवाऽस्मिन् परित्राता स्यादित्यादीनवीक्षितैः ।
उत्पलानीव वर्षद्भिः परिरोदितसैनिकाः ॥ ५९ ॥
मृणालकोमलाच्छोरुमूलजालैः सुनिर्मलैः ।
स्वच्छाम्बरतलालक्ष्यैराकाशनलिनीनिभाः ॥ ६० ॥
आलोलमाल्यवसनाभरणाङ्गरागा बाष्पाकुलाततचलालकवल्लरीकाः ।
आनन्दमन्दरनिरन्तरमथ्यमानात् कामार्णवात् समुदिता इव राजलक्ष्म्यः ॥६१॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे अग्निदग्ध-गृहादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजमहिषी मत्तयौवना ।
तद्विवेश गृहं लक्ष्मीरिव पङ्कजकोटरम् ॥ १ ॥

हुए पुरुष इन्हें जबरदस्ती ले जा रहे हैं। इस संकटके समय कौन हमारा त्राणकर्ता होगा, यों कातरदृष्टियोंसे ये नीलकमलोंकी वृष्टि ही कर रही हैं, इन्होंने दयासे अपने पक्षके सैनिकोंको रोआ डाला है। भँसीड़ेके समान स्वच्छ और निर्मल जँघामूलसे, जो कि स्वच्छ वस्त्रोंके अन्दर कुछ-कुछ दिखाई दे रहे हैं, आकाश-नलिनी-सी प्रतीत हो रही है, इनकी मालाएँ, वस्त्र, आभूषण और अङ्गराग सभी अस्थिर हैं. लम्बी-लम्बी और चञ्चल अलकलताएँ आँसुओंसे सनी हुई हैं, ये आनन्द यानी वैषयिक सुखरूपी मन्दराचलसे मथे जा रहे कामरूपी सागरसे उत्पन्न हुई मानो राजाओंकी मूर्त्तिमती सम्पत्तियाँ हैं, अथवा राजा अर्थात् चन्द्रमा उससे युक्त लक्ष्मियाँ हैं ॥ ४९—६१ ॥

तैतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

[अन्तःपुरकी बरबादीको सुनकर राजमहिषीको भयभीत देखकर राजाका युद्धके लिए घरसे निकलनेका और लीलाके तत्त्वका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीचमें राजमहिषी, जिसके शरीरके रोमरोमसे यौवन छलक रहा था, जैसे लक्ष्मी कमलके कोटरमें प्रवेश करती है, वैसे ही राजाके घरमें, जिसमें लीला और सरस्वती देवी स्थित थीं, प्रविष्ट हुई।

आलोलमाल्यवसना भिन्नहारलताकुला ।
अनुयाता वयस्याभिर्दासीभिर्भयविह्वला ॥ २ ॥

चन्द्राननाऽवदाताङ्गी श्वासोत्कम्पिपयोधरा ।
तारकाकारदशना स्थिता द्यौरिव रूपिणी ॥ ३ ॥

अथ तस्या वयस्यैका राजानं तं व्यजिज्ञपत् ।
भूतसंग्रामसंरब्धममरेन्द्रमिवाऽप्सराः ॥ ४ ॥

देव देवीसहाऽस्माभिः पलाय्याऽन्तःपुरान्तरात् ।
शरणं देवमायाता वातार्तेव लता द्रुमम् ॥ ५ ॥

राजन् दारा हृतास्तास्ते बलवद्भिरुदायुधैः ।
ऊर्मिजालैर्महाब्धीनां तीरद्रुमलता इव ॥ ६ ॥

अन्तःपुराधिपाः सर्वेपिष्टाः शत्रुभिरुद्धतैः ।
अशङ्किताभिपतितैर्वातैरिव वरद्रुमाः ॥ ७ ॥

राजमहिषीकी मालाएँ और वस्त्र चञ्चल थे, छिन्न-भिन्न हारलतासे वह व्याकुल थी, सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे चल रही थीं और वह भयविह्वल थी। चन्द्रमाके तुल्य सुन्दर उसका मुँह था, [illegible] भँसीड़के समान गौर थे, उसका स्तनमण्डल श्वासोच्छ्वाससे हिल रहा था, उसके दाँत सितारोंसे मिलते-जुलते थे, वह मूर्तिमती द्यौके तुल्य थी ॥ १–३ ॥

राजमहलमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर जैसे अप्सरा भूतसंग्राममें संलग्न देवराजसे निवेदन करे, वैसे ही उसकी एक सखीने राजासे निवेदन किया ॥ ४ ॥

महाराज, देवी, (पट्टरानी) अन्तःपुरसे हम लोगोंके साथ भागकर जैसे वायुके झोंकेसे विताडित लता वृक्षकी शरण लेती है, वैसे ही आपकी शरणमें आई है। महाराज, आपकी अन्यान्य रानियोंको, जैसे महासागरकी बड़ी-बड़ी लहर तटवर्ती वृक्षोंमें आश्रित लताओंको हर ले जाती हैं, वैसे ही अस्त्रशस्त्रसे सुसज्जित बलवान् शत्रु हर ले गये हैं। अचानक आये हुए उद्धत शत्रुओंने अन्तःपुरके संरक्षार्थ नियुक्त अधिकारियोंको ऐसे चकनाचूर कर डाला जैसे कि सहसा झोंकेके साथ आई हुई भीषण आँधी सुन्दर वृक्षोंको चकनाचूर कर डालती है ॥ ५–७ ॥

दूरेणाऽशङ्कमायातैः परैर्नः पुरमाहृतम् ।
रात्रौ वर्षास्विवोद्घोषैः कमलानीव वारिभिः ॥ ८ ॥
धूमं वर्षद्भिरुन्नादैर्लेलिहानोग्रहेतिभिः ।
वह्निभिर्नः पुरं प्राप्तं परयोधैश्च भूरिभिः ॥ ९ ॥
परिवारैर्विलासिन्यो देव्य आहृत्य मूर्द्धजैः ।
आक्रन्दन्त्यो बलान्नीताः कुरर्य इव धीवरैः ॥ १० ॥
इति नो येयमायाता शाखाप्रसरशालिनी ।
आपत्तामलमुद्धर्तुं देवस्यैवाऽस्ति शक्तता ॥ ११ ॥
इत्याकर्ण्याऽवलोक्याऽसौ देव्यौ युद्धाय याम्यतः ।
क्षम्यतां मम भार्येयं युष्मत्पादाब्जषट्पदी ॥ १२ ॥

वर्षाऋतुके बढ़नेके कारण विपुल कलकल नाद करनेवाला जलप्रवाह जैसे कमलोंको छिन्न-भिन्न कर मटियामेट कर डालता है, वैसे ही दूरसे निश्शङ्क होकर आये हुए शत्रुओंने रात्रिके समय हमारे नगरको लूट-खसोट डाला है ॥ ८ ॥

धुँएकी वृष्टि कर रही, तेज धक्-धक् शब्द करनेवाली तथा सापकी नाईं लपलपा रही ज्वालाओंसे युक्त अग्निने तथा साँपकी नाईं लपलपा रही तलवारोंको लिये हुए असंख्य शत्रुसैनिकोंने हमारे नगरमें प्रवेश किया। उनके अत्याचारका कहाँतक वर्णन करें, जैसे धीवर रो रही चिल्ला रही कुररीको (एक प्रकारके मृग या पक्षीको) जबरदस्ती पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही वे क्रूर शत्रु-सैनिक विविध हावभावोंसे सम्पन्न रानियोंको, जो रो रहीं और चिल्ला रहीं थीं, जबरदस्ती घसीट ले गये हैं ॥ ९, १० ॥

महाराज, इस प्रकार जो यह शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त आपत्ति हम लोगोंके ऊपर आई है, उसका समूल निवारण करनेमें केवल महाराज ही समर्थ हैं ॥ ११ ॥

महारानीकी सखीके मुँहसे यह सुनकर राजाने देवियोंकी (सरस्वती और लीलाकी) ओर देखकर कहा—देवियों, चूँकि ऐसा विपत्तियोंका पहाड़ हमारे परिजनोंपर टूट पड़ा है, अतः मैं युद्ध करनेके लिए समरभूमिमें जाता हूँ। आप क्षमा करें। मेरी अनुपस्थितिमें मेरी यह पत्नी आप लोगोंके चरणकमलोंकी सेवा करेगी, आप इसकी रक्षा करना, ऐसा अभिप्राय है ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा निर्ययौ राजा कोपारुणितलोचनः ।
मत्तेभनिर्भिन्नवनः कन्दरादिव केसरी ॥ १३ ॥
लीला लीलां ददर्शाऽथ स्वाकारसदृशाकृतिम् ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽयातामादर्शे चारुदर्शनाम् ॥ १४ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

किमिदं देवि हे ब्रूहि कस्मादियमहं स्थिता ।
या साऽभवमहं पूर्वं कथं सेयमहं स्थिता ॥ १५ ॥
मन्त्रिप्रभृतयः पौरा योधाः सबलवाहनाः ।
सर्व एव त एवेमे स्थितास्तत्र तथैव ते ॥ १६ ॥
तत्राऽपीह च हे देवि सर्वे कथमवस्थिताः ।
बहिरन्तश्च मुकुरे इवैते किं प्रचेतनाः ॥ १७ ॥

ऐसा कह कर राजा, जिसकी आँखें शत्रुओंके अत्याचारसे लाल हो गई थीं, जैसे मत्त हाथियोंने जिसका वन छिन्नभिन्न कर दिया हो ऐसा सिंह गुहासे निकले वैसे घरसे निकला ॥ १३ ॥

प्रबुद्ध लीलाने अपनी आकृतिके तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीलाको दर्पणमें प्रतिबिम्बको प्राप्त हुई-सी देखा ॥ १४ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवी, जो मैं हूँ, वही यह कैसे ? जो मैं युवावस्थामें थी वही मैं इस रूपमें कैसे स्थित हूँ । इसमें क्या रहस्य है ? यह कृपाकर मुझसे कहिये । भाव यह है कि मैं आपसे भिन्न नहीं हो सकती और अतीत अवस्थाकी स्थितिका भी सम्भव नहीं है, फिर यह अघटित घटना कैसे ? ॥ १५ ॥

दूसरी यह बात मुझे संशयमें डाल रही है कि मन्त्री आदिमें भेदप्रतीति और वे ही ये हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी विरुद्ध है, ऐसा कहती है—**'मन्त्रिप्रभृतयः'** इत्यादिसे ।

हे देवि, ये मन्त्री आदि नागरिक तथा बल और वाहनसे युक्त योद्धा सभी वे ही हैं, ये लोग सभी जैसे यहाँपर स्थित हैं, वैसे ही वहाँपर भी स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे देवि, जैसे आदर्शमें बिम्बप्रतिबिम्बरूपसे वस्तु बाहर और भीतर भी रहती है, वैसे ही ये सभी वहाँपर और यहाँपर कैसे स्थित हैं ? क्या वे चेतन हैं ?

श्रीदेव्युवाच

यथा ज्ञप्तिरुदेत्यन्तस्तथाऽनुभवति क्षणात् ।
चितिश्चेत्यार्थतामेति चित्तं चित्तार्थतामिव ॥ १८ ॥
यादृगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात् ।
न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम् ॥ १९ ॥
बाह्यमाभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम् ।
यदन्तः स्वप्नसङ्कल्पपुरं च कचनं चितेः ॥ २० ॥

भाव यह कि ये दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बकी नाईं वे ही यदि यहाँ प्रतिबिम्बित हुए हैं, तो अचेतन होंगे, चेतन कैसे हो सकते हैं ? ॥ १७ ॥

चितिशक्तियाँ अचिन्तनीय हैं, तुल्य कर्मोंसे उद्बोधित पदार्थोंका कहींपर समान ही आविर्भाव होता है, यों देवी दृष्टिसृष्टिवादका अवलम्बन कर समाधान करती हैं—'**यथा०**' इत्यादिसे ।

श्रीदेवीने कहा—हे लीले, भीतर जैसा ज्ञान उदित होता है, वैसा ही क्षणभरमें बाहर पदार्थोंका अनुभव होने लगता है । जैसे मन स्वप्न आदिमें चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् पदार्थोंके आकारको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही चिति अध्यास द्वारा चेत्याकारताको प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

जैसा संस्कारात्मक जगत्-स्वरूप चित्तमें और चितिमें है, वैसा ही वह उदित होता है । भोगकर्ताके अदृष्टसे उद्बोधित (प्रेरित) मायासंवलित चित्शक्ति अघटित वस्तुको भी गढनेमें समर्थ है, यह भाव है । ऐसी परिस्थितिमें देशकालकी स्वल्पता और विपुलताका विरोध भी हट गया, ऐसा कहती हैं—'**न**' इत्यादि उत्तरार्द्धसे ।

देश और कालकी अल्पता या विपुलता तथा विचित्रता पदार्थजन्य नहीं है । यदि वह पदार्थजन्य होती, तो पदार्थके स्वभावके विरुद्ध नहीं होती ॥ १९ ॥

बाह्य पदार्थ आभ्यन्तर-से प्रतीत होते हैं, इसके लिए दृष्टान्त खोजनेके वास्ते दूर भटकनेकी आवश्यकता नहीं है । इस विषयमें स्वाप्निक पदार्थ दृष्टान्त है, जो सभीको अनुभूत है । चैतन्यमें अध्यस्त होनेके कारण चैतन्यका आभ्यन्तर जगत् बाह्य-सा प्रतीत होता है, इस विषयमें स्वप्नपदार्थ दृष्टान्त है, क्योंकि

तदेतद् बाह्यनाम्नैव स्वभ्यासात् सत् स्फुटं स्थितम् ।
यादृग्भावोऽमृतो भर्ता तव तस्मिंस्तदा पुरे ॥ २१ ॥
तादृग्भावस्तमेवाऽर्थं तत्रैव समुपागतः ।
अन्य एव ह्यमी भूतास्तेभ्यस्तास्तादृशा अपि ॥ २२ ॥
सद्रूपा एव चैतस्य स्वप्नसङ्कल्पसैन्यवत् ।
अविसंवादिसर्वार्थरूपं यदनुभूयते ॥ २३ ॥
तस्य तावद्वद कथं कीदृशी वाऽपि सत्यता ।
अथवोत्तरकाले तु भङ्गुरत्वादवस्तु तत् ॥ २४ ॥
ईदृक् च सर्वमेवेदं तत्र काऽनास्तिताऽधिका ।
स्वप्ने जाग्रदसद्रूपा स्वप्नो जाग्रत्यसन्मयः ॥ २५ ॥

स्वप्नमें चेतन आत्मा ही पदार्थाकार हो जाता है, जो स्वप्न और मनोरथके नगरका भीतर स्फुरण होता है, वह चेतनका ही कचन है ॥ २० ॥

चिरकालसे अभ्यास होनेके कारण यह जगत् बाह्य नामसे ही व्यक्त होकर सत्य-सा स्थित है, उस समय जैसी वासनावाला तुम्हारा पति उस नगरमें मरा था, उसी भावनासे युक्त होकर उसी पदार्थको वहींपर प्राप्त हुआ है। ये प्राणी बारबार अनुभूत होते हुए भी उसी आकारके अन्य ही हैं। इस राजाकी चित्सत्तासे ये स्वप्न और सङ्कल्पकी सेनाकी नाईं सद्रूप ही हैं। स्वाप्न वस्तुसे जाग्रद्वस्तुका इतना ही वैलक्षण्य है कि वह अविसम्वादिरूपसे सब पुरुषोंके लिए समानरूपसे अर्थक्रियाकारितामें समर्थ है। केवल इतनेसे जाग्रत्की सत्यताकी सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'अविसंवादि' इत्यादिसे।

क्योंकि चन्द्रमाकी प्रादेशिकता (बिलस्तभर दीखना) और इन्द्रजाल आदिमें भी सबको अविसंवादी यथार्थ प्रतीति होती है, पर वह सत्य नहीं है ॥ २१–२३ ॥

भला बताओ तो सही जाग्रत् पदार्थोंकी सत्यता कैसी? उत्तरकालमें (जाग्रत्में) बाधित होनेसे स्वप्नको यदि असत्य कहो, तो जाग्रतमें उक्त असत्यता समानरूपसे विद्यमान है, क्योंकि नाश और बाध होनेपर वस्तुमें कोई अन्तर नहीं आता। तात्पर्य यह कि स्वप्न-पदार्थोंका जाग्रतकालमें बाध होता है, तो जाग्रत्-पदार्थोंका उत्तरकालमें नाश होता है, एकका नाश होता है और दूसरे बाध, पर असत्यतामें कोई अन्तर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माऽप्यसन्मयम् ।
विशरेद्विशरारुत्वादनुभूतेश्च राघव ॥ २६ ॥
एवं न सन्नाऽसदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते ।
महाकल्पान्तसम्पत्तावप्यद्याऽथ युगेऽनघ ॥ २७ ॥
न कदाचन यन्नाऽस्ति तद्ब्रह्मैवाऽस्ति तज्जगत् ।
तस्मिन्मध्ये कचन्तीमा भ्रान्तयः सृष्टिनामिकाः ॥ २८ ॥

यदि यह कहो कि उत्तरकालमें (जाग्रत्में) भङ्गुर (बाधित) होनेसे स्वाप्न पदार्थ असत् है, ऐसा तो यह सारा ही जाग्रत् जगत् है, इसलिए इस जाग्रत् जगत्में अनास्तिता (सत्यता) क्या अधिक है ? दूसरी बात यह भी है कि परस्पर कालमें असत्ता भी दोनोंमें समान है, यानी जाग्रत्कालमें जैसे स्वप्नकी असत्ता है, वैसे ही स्वप्नकालमें जाग्रत्की भी असत्ता है, ऐसा कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादि उत्तरार्द्धसे। स्वप्नमें जैसे जाग्रत् असत्रूप है, वैसे ही जाग्रत्में स्वप्न भी असद्रूप है ॥ २४, २५ ॥

नाशमें भी बाधकी नाईं परस्परके कालमें न रहना समान है, ऐसा कहते हैं—'मृति०' इत्यादिसे ।

जन्मसमयमें मृत्यु असद्रूप है और मृत्युसमयमें जन्म भी असन्मय है, नाशमें अवयवोंके विशरणशील होनेके कारण द्रव्यका विनाश होता है, बाधमें अनुभूतिके बलसे द्रव्य विनष्ट होता है, इस प्रकार निमित्तभेद होनेपर भी विशरणमें विशेष नहीं है, यह भाव है ॥ २६ ॥

पहले दोनोंकी सत्यताका उपपादन किया था, यहाँपर असत्यताका उपपादन किया, यों दोनोंकी ही अनिर्वचनीयता तुल्य है, ऐसा कहते हैं–'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत् जगत् न सत् है और न असत् है, केवल भ्रान्तिमात्र ही प्रतीत होता है। इस प्रकार सृष्टिकाल और प्रलयकालमें अवशिष्ट सद्रूप ब्रह्म सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—'महाकल्पान्त०' इत्यादिसे । महाकल्पका अन्त होनेपर और आज भी और आगे भी यानी अतीत, वर्तमान और अनागत युगोंमें भी जो कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा, वह स्वरूपतः नहीं है, किन्तु उसकी कल्पनाका अधिष्ठान ब्रह्म ही है; अतः वही जगत् है, भासमान अब्रह्मरूप जगत् नहीं है। उसी ब्रह्ममें ये सृष्टिनामक भ्रान्तियाँ

व्योम्नि केशोण्डूकानीव न कचन्तीव वस्तुतः ।
यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे ॥ २९ ॥
उत्पत्त्योत्पत्त्य लीयन्ते रजांसीव महानिले ।
तस्माद्भ्रान्तिमयाभासे मिथ्यात्वमहमात्मनि ॥ ३० ॥
मृगतृष्णाजलचये कैवाऽऽस्था सर्गभस्मनि ।
भ्रान्तयश्च न तत्राऽन्यास्तास्तदेव परं पदं ॥ ३१ ॥
घने तमसि यक्षाभास्तम एव न यक्षकः ।
तस्माज्जन्म मृतिर्मोहो व्यामोहत्वमिदं ततम् ॥ ३२ ॥

विकासको प्राप्त होती हैं, जैसे कि आकाशमें केशोण्डूक (केशोंका वर्तुलाकार गोला) प्रतीत होता है, पर वास्तवमें वह आकाशसे अतिरिक्त नहीं है, आकाश-रूप ही है। ये सृष्टियाँ परब्रह्ममें वास्तवमें कचनको भी नहीं-सी प्राप्त होती हैं। विकाशको नहीं ही प्राप्त होती हैं, ऐसा कहना चाहिए था, सदृशार्थक 'इव' शब्दका प्रयोग प्रपञ्चके समान ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्चका अभाव भी मिथ्या है, यह सूचन करनेके लिए है। जैसे समुद्रमें लहर उत्पन्न होती हैं, वैसे ही परब्रह्ममें ये सृष्टियां उत्पन्न हो होकर महापवनमें (आंधीमें) धूलिकणोंके समान लीन हो जाती हैं। इसलिए त्वम्, अहम्, जगत् इस प्रकार विभागस्वरूप भ्रान्तिमय प्रतीत होनेवाले, मृगतृष्णाजलरूप तथा जलाये गये वस्त्रके भस्मके तुल्य प्रपञ्चमें कौन-सा आदर है ?

शङ्का—पूर्वोक्त रीतिसे अत्यन्त तुच्छ विषयोंका बाध होनेपर भी भ्रान्तिरूप ज्ञानके स्वरूपका बाध न होनेसे उससे द्वैत होगा ही।

समाधान—विषयबाध होनेपर भ्रान्तियाँ (भ्रम-ज्ञान) ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं रहतीं, वे भ्रान्तियाँ परमपदरूप ब्रह्म ही हैं। भाव यह है कि निर्विषय ज्ञानोंका परस्परसे और ब्रह्मसे भेद करानेवाला कोई है नहीं, इसलिए वे ब्रह्ममात्र ही हैं ॥ २७–३१ ॥

जैसे घने अँधेरेमें बालकको जो भूतकी भ्रान्ति होती है, वह अन्धकार ही है, भूत नहीं है, वैसे ही जन्म, मरण और मोहरूप यह जगत् अज्ञान (आवरण और विक्षेप) ही है और उसीसे विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३२ ॥

सर्वं तत्समहाकल्पं शान्तौ यदवशिष्यते।
नाऽतः सत्यमिदं दृश्यं न चाऽसत्यं कदाचन ॥ ३३ ॥
द्वयमेवैतदथवा ब्रह्म तत्रैव संभवात्।
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च ॥ ३४ ॥
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ।
अग्निरौष्ण्यं यथा वेत्ति निजभावक्रमोदितम् ॥ ३५ ॥
पश्यतीदं तथैवाऽऽत्मा स्वात्मभूतं विशुद्धचित्।
यथा सूर्योदये गेहे भ्रमन्ति त्रसरेणवः ॥ ३६ ॥
तथेमे परमाकाशे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ।
यथा वायौ स्थितः स्पन्द आमोदः शून्यमम्बरे ॥ ३७ ॥
पिण्डग्रहविनिर्मुक्तं तथा विश्वं स्थितं परे।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ॥ ३८ ॥

यह सब महाकल्पसे अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे सब पदार्थोंके बाधरूप वैज्ञानिक प्रलयसे बाध्य है। इस सबके शान्त होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। जगत् ब्रह्मसे पृथक् अतिरिक्त सत्य नहीं है एवं ब्रह्मरूप होनेके कारण अत्यन्त असत्य भी नहीं है। भाव यह कि अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी सत्ता ही दृश्यके सत्य, असत्य आदि सम्पूर्ण पक्षोंको रोकती है ॥ ३३ ॥

अथवा यह जगत् सत्य और असत्य दो रूपवाला भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु दो विरुद्ध रूपवाली नहीं हो सकती। उक्त तीनों विरुद्ध पक्षोंमें ब्रह्मका, विरोधके बिना, सम्भव होनेसे यह जगत् ब्रह्म ही है। आकाशमें, परमाणुके मध्यमें और द्रव्य आदिके अणुके अतिसूक्ष्म अन्तर्भागमें जहाँ-जहाँ जीवाणु स्थित होता है, वहाँ-वहाँ इस जगत्को अपना शरीर जानता ॥ ३४ ॥

वासनाके बलसे आत्मामें अनात्माध्यास होनेमें दृष्टान्त कहते हैं— 'अग्नि०' इत्यादिसे।

पहले अग्निसे भिन्न होता हुआ भी उपासक 'मैं अग्नि हूँ' इस प्रकार उपासनारूप अपनी भावनाके क्रमसे उदित हुआ यानी उपासनाके फलरूपसे आविर्भूत उष्णताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही विशुद्ध चैतन्य आत्मा इस जगत्को आत्मभूत देखता है। जैसे सूर्योदय होनेपर घरमें त्रसरेणु घूमते हैं, वैसे ही परमाकाशमें ये ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु घूमते हैं। जैसे वायुमें स्पन्द और आमोद

विवर्जितस्याऽवयवैर्भागा ब्रह्मण ईदृशाः ।
साकारस्याऽवबोधाय विज्ञेया भवताऽधुना ॥ ३९ ॥
अनन्याः स्वात्मनस्तस्य तेनाऽनवयवा इव ।
यथास्थितमिदं विश्वं निजभावक्रमोदितम् ॥ ४० ॥
रिक्तं न विश्वशब्दार्थैरनन्यद्ब्रह्मणि स्थितम् ।
न तत्सत्यं न चाऽसत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा ॥ ४१ ॥
मिथ्यानुभूतितः सत्यमसत्यं सत्परीक्षितम् ।
परमं कारणं चित्त्वाज्जीवत्वमिति चेत्यलम् ॥ ४२ ॥
ततस्तथैवाऽनुभाज्जीवत्वं विन्दति स्फुटम् ।
सत्यं भवत्वसत्यं वा खे विभातमिदं जगत् ॥ ४३ ॥

(सौरभ) स्थित है और आकाशमें शून्यता स्थित है, वैसे ही स्थूलतासे शून्य यह विश्व पर ब्रह्ममें स्थित है। अवयवोंसे शून्य ब्रह्मके आविर्भाव, तिरोभाव, उपादान, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर और अचर ऐसे भाग हैं। इस समय साकार विश्वके निराकारत्वज्ञानके लिए उन्हें आपको वैसी अपनी आत्मासे अभिन्नसे यानी आत्माके अनवयव-से आपको जानना चाहिए। इस प्रकार अपनी भावनाके क्रमसे उत्पन्न हुआ यह विश्व यथास्थित है। ॥ ३५–४० ॥

अनन्य (अभिन्न) रूपसे ब्रह्ममें स्थित यह विश्व विश्वशब्दके अर्थोंसे रिक्त नहीं होगा। भाव यह है कि विश्वशब्दका पर्यवसान पूर्णार्थतामें है और पूर्ण रिक्त नहीं हो सकता है। रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके समान न यह सत्य है और न असत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, मिथ्याज्ञानसे यह सत्य प्रतीत होता है और विचारपूर्वक देखनेसे असत्य ही है, भाव यह है कि भ्रान्तिज्ञानसे अनुभूत पदार्थ सत्य नहीं होता और वस्तुतत्त्वका निर्धारणात्मक ज्ञान, जो कि भ्रमज्ञानसे अनुभूत पदार्थका बाधक है, सत्यका निषेध नहीं करता, जिससे कि असत्य हो। परम कारण ही स्वरूपभूत चैतन्यके मायासे आवृत होनेके कारण जीवत्वको प्राप्त हुआ, अतः जीवत्व भी अनिर्वाच्य है ॥ ४१,४२ ॥

हे रामचन्द्रजी, चिरकालके विचाराभ्याससे हुए दृढ़ अनुभवसे जीवत्वको वैसा ही स्पष्टरूपसे जानता है। यह संसार सत्य हो अथवा असत्य हो, चिदाकाशमें ही यह स्फुरित हो रहा है, चिदाकाशके सिवा अन्य कोई भी वस्तु कहीं भी सत् नहीं है ॥ ४३ ॥

रञ्जयत्येव जीवाणुः स्वेच्छाभिरनुभूतिभिः ।
अनुभूयन्त एवाऽऽशु काश्चित्पूर्वानुभूतितः ॥ ४४ ॥
अपूर्वानुभवाः काश्चित् समाश्चैवाऽसमास्तथा ।
क्वचित्कदाचित्ता एव क्वचिदर्धसमा अपि ॥ ४५ ॥
कचन्त्यसत्याः सत्याभा जीवाकाशेऽनुभूतयः ।
तत्कुलास्तत्समाचारास्तज्जन्मानस्तदीहिताः ॥ ४६ ॥
त एव मन्त्रिणः पौराः प्रतिभाने भवन्ति च ।
ते चैवाऽऽत्मन्यलं सत्या देशकालेहितैः समाः ॥ ४७ ॥
सर्वगात्मस्वरूपायाः प्रतिभाया इति स्थितिः ।
यथा राजात्मनि व्योम्नि प्रतिभोदेति सन्मयी ॥ ४८ ॥

जीवकी जो भोगेच्छा है, वही संसारकी उत्पादिका है । इस अंशमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी उपयोगिता नहीं है, विषय चाहे सत्य हों, चाहे असत्य हों उनकी अनुरञ्जना ही संसारकी उत्पत्ति और स्थितिकी मूल कारण है, जीव पहले स्वेच्छासे उत्पन्न विषयोंकी अनुभूतिसे अनुरञ्जित होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सब विषयोंका पुनः अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं—'रञ्जयत्येव' इत्यादिसे ।

जीवाणु स्वेच्छाभूत अनुभूतियोंसे इस जगत्को रञ्जित करता है । कुछ अनुभूतियाँ पूर्व अनुभूतियोंसे ही शीघ्र अनुभवमें आती हैं, कुछ पूर्वमें अनुभव न होनेपर भी समान प्रतीत होती हैं और कुछ कहींपर असम ही प्रतीत होती हैं । वे ही ये हैं, यों कभी कहींपर अर्धसम भी वे प्रतीत होती हैं ॥ ४४, ४५ ॥

असत्य अनुभूतियाँ जीवाकाशमें सत्य-सी प्रतीतिको प्राप्त होती हैं । वैसे ही कुलवाले, वैसे ही सदाचारवाले, वैसे ही उच्च जन्मवाले वैसे ही चेष्टावाले वे ही मन्त्री और पुरवासी तुम्हारी प्रतीतिमें आते हैं । वे परमार्थस्वरूप आत्मामें वे ही हैं, यों अत्यन्त सत्य हैं और अपने अपने देश, काल और ईहितकी दृष्टिसे तुल्य हैं ॥ ४६,४७ ॥

सभी जगह ऐसी ही चैतन्यकी स्थिति है, ऐसा कहते हैं—'सर्वगा०' इत्यादिसे ।

जिसका आत्मस्वरूप सर्वगामी है, ऐसी प्रतिभाकी यही स्थिति है ।

शङ्का—ईश्वरकी प्रतिभाके अनुसार पदार्थोंका निर्माण पहले सुना गया है,

यथा तदग्रगोदेति सत्येव प्रतिभाऽम्बरे ।
त्वच्छीला त्वत्समाचारा त्वत्कुला त्वद्वपुर्मयी ॥ ४९ ॥
इति लीलेयमाभाति प्रतिभाप्रतिबिम्बजा ।
सर्वगे संविदादर्शे प्रतिभा प्रतिबिम्बति ॥ ५० ॥
यादृशी यत्र सा तत्र तथोदेति निरन्तरम् ।
जीवाकाशस्य याऽन्तस्था प्रतिभा कुरुते स्वयम् ।
सा बहिश्च चिदादर्शे प्रतिबिम्बादियं स्थिता ॥ ५१ ॥
एषा त्वमम्बरमहं भुवनं धरा च
राजेति सर्वमहमेव विभातमात्रम् ।

-जीवप्रतिभा तो अर्थानुसार ही उदित होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो मनोरथसे कल्पित पदार्थ सबके प्रति समानरूपसे सत्य हो जायँगे। इसलिए केवल राजाकी प्रतिभामात्रसे पदार्थोंकी सिद्धि कैसे होगी और उसमें अन्य जीवोंकी समानरूपसे व्यवहारयोग्यता कैसे होगी ?

समाधान—राजारूप आत्मामें जैसी सन्मयी यानी सर्वसाधारणके लिए सत्य-पदार्थवाली प्रतिभा उदित होती है, वैसे ही उससे पहले सर्वसाधारण भोक्ताओंके अदृष्टसे अव्याकृत आकाशरूप ईश्वरमें सत्यसंकल्परूप प्रतिभा उत्पन्न होती ही है, इसलिए पूर्वोक्त दोषके लिए अवकाश नहीं है।

पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिभाके प्रतिबिम्बसे उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे सरीखे शील, सदाचार, कुल और शरीरसे युक्त प्रतीत होती है।

सर्वव्यापक संविद्रूपी आदर्शमें प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है। वह जहांपर जैसी होती है, वहांपर वैसी ही सदा उदित होती है, उसका अन्यथाभाव कदापि नहीं होता।

सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी प्रतिभा जो भीतर है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है, इसलिए चिदादर्शमें प्रतिबिम्ब होनेसे यह तुम्हारे सदृश स्थित है। तात्पर्य यह है कि उसीके बाह्य होनेके कारण सम्पूर्ण पदार्थोंमें सामान्यदृश्यताकी उपपत्ति होती है ॥ ४८–५१ ॥

आकाश, उसके अन्तर्गत भुवन, भुवनके अन्तर्गत पृथिवी, उसके अन्तर्गत यह तुम, मैं और राजा ये सब चिन्मात्रस्वभाव मैं यानी प्रत्यग्रूप ही हैं।

चिद्व्योमबिल्वजठरं विदुरङ्ग विद्धि
त्वं तेन शान्तमलमास्स्व यथास्थितेह ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाहरात्रियुद्धे जगद्ब्रह्मवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

—*—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीसरस्वत्युवाच

विदूरथस्ते भर्तैष तनुं त्यक्त्वा रणाङ्गणे ।
तदेवाऽन्तःपुरं प्राप्य तादृगात्मा भविष्यति ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य वचो देव्या लीला सा तत्पुरास्पदा ।
पुरः प्रह्वा स्थितोवाच वचनं विहिताञ्जलिः ॥ २ ॥

इसी प्रकार और भी तत्त्वज्ञ पुरुष सब पदार्थोंको चिदाकाशरूपी बिल्वफलकी सत्तामात्र जानते हैं, वे सब चिदाकाशसे अतिरिक्त नहीं हैं। हे लीले, तुम भी वैसा ही जानो। उक्त ज्ञानसे स्वस्वभावमें स्थित होकर तुम यहां अत्यन्त शान्त होकर (विक्षेपशून्य होकर) रहो ॥ ५२ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

[लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति तथा जीवोंको अपने-अपने सङ्कल्पोंके अनुसार फल-प्राप्तिका वर्णन]

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, तुम्हारा पति यह विदूरथ रणभूमिमें देहका त्याग कर उसी अन्तःपुरमें पहुँच कर राजा पद्मरूप होगा ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, श्रीदेवीका यह वचन सुन कर देवीके सामने बैठी हुई उस नगरमें रहनेवाली लीलाने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर देवीसे कहा ॥ २ ॥

द्वितीयलीलोवाच

देवी भगवती ज्ञप्तिर्नित्यमेवाऽर्चिता मया ।
स्वप्ने संदर्शनं देवी सा ददाति निशासु मे ।। ३ ।।

सा यादृश्येव देवेशि तादृश्येव त्वमम्बिके ।
तन्मे कृपणकारुण्याद्वरं देहि वरानने ।। ४ ।।

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्ता सा तदा ज्ञप्तिः स्मृत्वा तद्भक्तिभावनम् ।
इदं प्रसन्ना प्रोवाच तां लीलां तत्पुरास्पदाम् ।। ५ ।।

श्रीदेव्युवाच

अनन्यया भावनया यावज्जीवमजीर्णया ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से गृहाणाऽभिमतं वरम् ।। ६ ।।

तद्देशलीलोवाच

रणाद् देहं परित्यज्य यत्र तिष्ठति मे पतिः ।
अनेनैव शरीरेण तत्र स्यामेतदङ्गना ।। ७ ।।

दूसरी लीलाने कहा—भगवती सरस्वती देवीकी मैंने नित्य ही पूजा परि-परिचर्या की है । सरस्वती देवी जब तब सदा रातमें मुझे स्वप्नमें दर्शन देती हैं । हे देवेशि, जैसी वह हैं, ठीक वैसी ही आप हैं, अतः मालूम होता है कि वही आप हैं । इसलिए हे वरानने, दीनके ऊपर दया करके मुझे आप वरप्रदान कीजिये ।। ३–४ ।।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, द्वितीय लीलाके यों कहनेपर देवी सरस्वतीने उसके भक्तिभावसे किये गये ध्यान और पूजनका स्मरण कर, प्रसन्न होकर उस नगरमें रहनेवाली लीलासे यह कहा ।। ५ ।।

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, तुम्हारी जीवनभरकी अनन्य भक्तिसे, जो कभी भी विच्छिन्न नहीं हुई, मै तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम्हें जो इच्छा हो, वह वरदान मुझसे मांगो ।। ६ ।।

उस प्रदेशमें रहनेवाली लीलाने कहा—हे देवि, रणभूमिसे देहका परित्याग कर जहांपर मेरे पति रहेंगे, मै इसी देहसे वहांपर उनकी पत्नी होऊँ ।। ७ ।।

श्रीदेव्युवाच

एवमस्तु त्वयाऽविघ्नं पूजिताऽस्मि सुते चिरम् ।
अनन्यभावया भूरिपुष्पधूपसपर्यया ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ तद्देशलीलायां फुल्लायां तद्वरोदयात् ।
पूर्वलीलाऽब्रवीद् देवीं सन्देहलुलिताशया ॥ ९ ॥

पूर्वलीलोवाच

ये सत्यकामाः सन्त्येवंसङ्कल्पा ब्रह्मरूपिणः ।
त्वादृशाः सर्वमेवाऽऽशु तेषां सिद्ध्यत्यभीप्सितम् ॥ १० ॥
तत्तेनैव शरीरेण किमर्थं नाऽहमीश्वरि ।
लोकान्तरमिदं नीता तं गिरिग्रामकं वद ॥ ११ ॥

श्रीदेव्युवाच

न किञ्चित्कस्यचिदहं करोमि वरवर्णिनि ।
सर्वं सम्पादयत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् ॥ १२ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—हे पुत्री, तुमने चिरकालतक अनन्यभक्तिसे प्रचुर पुष्प-धूप-दीप-युक्त पूजन-सामग्रीसे मेरा साङ्गोपाङ्ग पूजन किया है, अतः जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही होगा ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, तदनन्तर उस वरके लाभसे उस देशमें रहनेवाली लीलाके सन्तोषसे प्रफुल्लित होनेपर उसकी स्थूल शरीरसे पतिलोकप्राप्ति और मेरी स्थूलदेहका त्याग कर पतिलोकप्राप्ति हुई, यह अन्तर कैसे ? इस सन्देहसे जिसकी चित्तवृत्ति चञ्चल हो गई थी, ऐसी पूर्वलीलाने देवीसे कहा ॥ ९ ॥

पूर्वलीला बोली—हे देवी, जो लोग आपके सदृश सत्यकामनावाले और सत्यसङ्कल्पवाले ब्रह्मरूपी हैं, उनके सब अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध होते हैं । हे ईश्वरी, आपने सत्यकामताके बलसे उसी स्थूल शरीरसे मुझे गिरिग्रामकरूप इस लोकान्तरमें क्यों नहीं पहुँचाया ? ॥ १०, ११ ॥

मुझमें स्वतः कोई कामना नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ । प्राणियोंके कर्मके अनुसार होनेवाली मेरी कामना प्राणियोंके कर्मोंसे ही व्यवस्थित है, इस आशयसे देवी लीलाकी शङ्काका समाधान करती हैं—'न किञ्चित्' इत्यादिसे ।

अहं हितं रटे ज्ञप्तिः संविन्मात्राधिदेवता ।
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ १३ ॥
जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य तथा तथा ॥ १४ ॥
मां समाराधयन्त्यास्तु जीवशक्तिस्तवोदिता ।
तदाऽभवद्यदीह स्यां मुक्ताऽस्मीति चिरं तदा ॥ १५ ॥
तेन तेन प्रकारेण त्वं मया संप्रबोधिता ।
तया युक्त्याऽमलं भावं नीताऽसि वरवर्णिनी ॥ १६ ॥
अनयैवंभावनया बोधिताऽसि चिरं तदा ।
तमेवाऽर्थं प्राप्तवती सदा स्वचितिशक्तितः ॥ १७ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, मैं किसीका कुछ भी नहीं करती, जीव स्वयं अपने सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंको शीघ्र सम्पादित करता है ॥ १२ ॥

संविन्मात्रकी अधिष्ठात्री देवी मैं सरस्वती प्राणियोंके भावी शुभ फलको वरदान द्वारा प्रकाशित करती हूँ । प्रत्येक जीवमें पूर्वजन्मके काम, कर्म और वासनासे अवच्छिन्न चिदात्मरूप जीवशक्तिस्वरूपिणी तत्-तत् कार्यकी बीजभूत मायासे संवलित जो चित्-शक्ति है, वही फलका उत्पादन करती है ॥ १३ ॥

उसीके अनुसार ही मैं फल देती हूँ, ऐसा कहती हैं—'जीवस्य' इत्यादिसे।

जिस जिस जीवकी जो शक्ति जैसे जैसे उदित होती है, उस उसको वैसा वैसा फल देनेवाली वह कर्मानुष्ठानकी हेतुभूत कामनाके विषयरूपसे स्फुरित होती है ॥ १४ ॥

मेरी आराधना कर रही तुम्हारी तब तब 'यदि इस संसारमें मेरी मुक्ति होती, तो क्या ही अच्छा होता' ऐसी चिरकालतक जीवशक्ति उदित हुई ॥ १५ ॥

भद्रे, पूर्वोक्त भिन्न भिन्न प्रकारसे मेरे द्वारा प्रबोधित हुई तुम उक्त युक्तिसे बोध द्वारा जिसका अज्ञानरूपी आवरण निकल गया है, ऐसे निर्मल आत्मावस्थिति-रूप भावको प्राप्त की गई हो ॥ १६ ॥

'मैं मुक्त होऊँ' इस प्रकारकी भावनासे चिरकालतक युक्त तुम इस पूर्व-प्रदर्शित युक्ति द्वारा मुझसे प्रबोधित हुई हो, अपनी चितिशक्तिके प्रभावसे उस यानी सदा भावित अर्थको ही प्राप्त हुई हो ॥ १७ ॥

यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ १८ ॥
तपो वा देवता वाऽपि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ १९ ॥
स्वसंविद्यतनादन्यन्न किञ्चिच्च कदाचन ।
फलं ददाति तेनाऽऽशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २० ॥
चिद्भाव एव ननु सर्गगतोऽन्तरात्मा
यच्चेतति प्रयतते च तदेति तच्छ्रीः ।
रम्यं ह्यरम्यमथवेति विचारयस्व
यत्पावनं तदवबुद्ध्य तदन्तरास्स्व ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सत्यकामसत्यसङ्कल्पास्तिता नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

जिस जिसका पुरुषप्रयत्न चिरकालतक जैसा उदित होता है, वह समय पाकर उस उसको वैसा-वैसा फल देता है ॥ १८ ॥

अपनी चित्-शक्ति ही तपस्या बनकर या देवताका रूप धारण कर स्वेच्छासे आकाशसे फल गिरनेकी नाईं (मिथ्यारूप) फल देती है ॥ १९ ॥

स्वसंवित् (जीवशक्ति) प्रयत्नके बिना कभी कुछ भी फल नहीं दे सकती, इसलिए तुम जैसा फल चाहती हो वैसा कर्म करो, कर्मानुसार ही फल मिल सकता है ॥ २० ॥

यह निश्चित है कि सर्वान्तर्यामी चिद्भाव (चित्सत्ता) ही पहले रम्य यानी शास्त्रविहित अथवा अरम्य यानी शास्त्रनिषिद्ध जिस कर्मका विचार करता है और प्रयत्न करता है, पश्चात् उसीकी फलरूप श्री उदित होती है, ऐसा तुम विचार करो और विचारसे जो पवित्रतम पद है, उसको जानकर उसमें स्थित होओ ॥ २१ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

षट्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवं संकथयन्तीषु तासु तस्मिन्गृहोदरे ।
विदूरथः किमकरोन्निर्गत्य कुपितो गृहात् ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विदूरथः स्वसदनान्निर्गतः परिवारितः ।
परिवारेण महता ऋक्षौघेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥

सन्नद्धसर्वावयवो लग्नहारविभूषणः ।
महाजयजयारावैः सुरेन्द्र इव निर्गतः ॥ ३ ॥

समादिशन् योधगणं शृण्वन्मण्डलसंस्थितिम् ।
आलोकयन् वीरगणानारुरोह नृपो रथम् ॥ ४ ॥

कूटाकारसमाकारं मुक्तामाणिक्यमण्डितम् ।
पताकापश्चभिर्व्याप्तं द्युविमानमिवोत्तमम् ॥ ५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[राजा विदूरथका विराट् सेनाके साथ युद्धके लिए प्रयाण और रणभूमिमें प्रवेशपूर्वक युद्धारम्भका वर्णन]

श्री रामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर, उस राजमहलके अन्दर जब वे तीन ललनाएँ इस प्रकारकी बातचीत कर रही थीं, तब क्रोधके साथ घरसे निकल कर राजा विदूरथने क्या किया ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, राजा विदूरथ अपने महलसे निकला और जैसे चन्द्रमा तारामण्डलसे परिवेष्टित होता है, वैसे ही वह सेना-रूप परिवारसे परिवेष्टित हुआ, उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग कवच और अस्त्रशस्त्रोंसे सुसन्नद्ध थे, हार आदि आभूषण अपने-अपने स्थानोंमें शोभा पा रहे थे, वह जय-कारकी तुमुल ध्वनिके साथ महेन्द्रके समान घरसे निकला। योद्धाओंको तत-तत् कार्य करनेके लिए आदेश देता हुआ, मन्त्रियोंके मुँहसे व्यूहरचनाकी स्थिति या देशकी रक्षा-व्यवस्थाको सुनता हुआ और वीरगणोंका निरीक्षण करता हुआ रथ-पर चढ़ा। सुमेरुपर्वतके शिखरके आकारके समान उस रथका आकार था,

चक्रभित्तिपरिप्रोतप्रकचत्काञ्चनाङ्कुरम् ।
मुक्ताजालरणत्कारचारुविक्रमकूबरम् ॥ ६ ॥
सुग्रीवैर्लक्षणोपेतैः प्रशस्तैः प्रचलैः कृशैः ।
जवोड्डयनवेगेन प्रवहद्भिः सुरानिव ॥ ७ ॥
वायुं जवेन सहसा असहद्भिर्गतिक्रमैः ।
प्रोह्यद्भिरिव पश्चार्द्धमापिबद्भिरिवाऽम्बरम् ॥ ८ ॥
योजितैरिव सम्पूर्णैश्चन्द्रैश्चामरदीप्तिभिः ।
अश्वैरष्टभिराबद्धमाशापूरकहेषितैः ॥ ९ ॥
अथोदपतदुद्दामनागाभ्ररवनिर्भरः ।
शैलभित्तिप्रतिध्वानदारुणो दुन्दुभिध्वनिः ॥ १० ॥
मत्तसैनिकनिर्मुक्तैर्व्याप्तं कलकलारवैः ।
किङ्किणीजालनिर्ध्वानैर्हेतिसङ्घट्टघट्टितैः ॥ ११ ॥

मोती और मणियोंसे वह विभूषित था और पांच पताकाएँ उसमें फहरा रही थी, अतएव वह उत्तम स्वर्गलोकके विमानके सदृश था, उसमें पहियों और अगल बगलकी भीतमें जड़ी हुई सोनेकी कीलें चमक रही थीं, मोतियोंकी झनकारसे उसका विशाल अग्रभाग बड़ा सुन्दर प्रतीत हो रहा था ॥ २–६ ॥

वह रथ आठ घोड़ोंसे जुता हुआ था, वे घोड़े सुन्दर गर्दनवाले थे, अश्वोंके सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे युक्त थे, उत्तम जातिके थे, फुर्तीले और दुबले पतले थे, जवसे यानी उड़नेके वेगसे मानो वे आकाशमें देवताओंका प्रवहन कर रहे थे, वेगमें वायुको न सहनेवाली अपनी विविध तीव्र गतियोंसे अपने पिछले देह-भागको आगेके देह-भागसे मानो ले जा रहे थे, मानो आकाशको पी रहे थे, सम्पूर्ण राका-चन्द्रके समान चँवरोंकी कान्तिसे युक्त थे और अपनी हिन-हिनाहटसे दिशाओंके अन्तरालको पूर्ण कर रहे थे ॥ ७–९ ॥

तदुपरान्त मदोन्मत्त हाथीरूपी मेघोंके चिंघाड़से बढ़ा चढ़ा हुआ और पर्वतोंके शिखरोंमें गूँजनेसे कठोर नगाड़ोंका शब्द होने लगा ॥ १० ॥

उक्त ध्वनि मदोन्मत्त सैनिकों द्वारा किये गये कोलाहलसे, हथियारोंको टकरानेसे प्रचुरमात्रामें हो रही रथ आदिमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटियोंकी

धनुश्चटचटाशब्दैः शरसीत्कारगायनैः ।
परस्पराङ्गनिष्पिष्टकवचौघझणज्झणैः ॥ १२ ॥
ज्वलदग्निटणत्कारैरार्तिमत्क्रन्दनारवैः ।
परस्परभटाह्वानैर्बन्दिविक्षुब्धरोदनैः ॥ १३ ॥
शिलाघनीकृताशेषब्रह्माण्डकुहरो ध्वनिः ।
हस्तग्राह्योऽभवद्भीमो दशाशाकुञ्जपूरकः ॥ १४ ॥
अथोदपतदादित्यपथपीवररोधकम् ।
रजोनिभेन भूपीठमम्बरोड्डयनोन्मुखम् ॥ १५ ॥
गर्भवासमिवाऽऽपन्नं तेनाऽऽसीत् तन्महापुरम् ।
मूढत्वं यौवनेनेव घनतामाययौ तमः ॥ १६ ॥
प्रययुः क्वाऽपि दीपौघा दिवसेनेव तारकाः ।
आययुर्बलमालोला नैशभूतपरम्पराः ॥ १७ ॥

ध्वनियोंसे, धनुषोंकी टंकारसे, बाणोंकी सरसराहटसे, परस्परके शरीरसे टकराये हुए कवचोंकी झनझनाहटसे, जल रही अग्निकी कड़कड़ाहटसे, दुःख भरी रोदन-ध्वनिसे, भटोंमें से एकके दूसरेको पुकारनेसे और बन्दियों द्वारा वीरोंका उत्साह बढ़ानेके लिए निन्दा करनेसे युद्धके बिना ही हुए मानसिक घावसे कातर हुए लोगोंके रोदनसे व्याप्त थी। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी बिलको पत्थरके समान ठोस बना दिया था यानी सारा ब्रह्माण्डमण्डल उक्त ध्वनिसे भर गया था और उसने दसों दिशारूपी निकुञ्जको पूर्ण कर दिया था, अतएव वह भीषण ध्वनि हाथसे पकड़नेके योग्य-सी हुई ॥ ११–१४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर अतिस्थूल बन कर आदित्यके मार्गको ढांकनेकी इच्छा करनेवाला भूमण्डल ही धूलीके वेषसे आकाशमें उड़नेको तत्पर होकर उठा यानी आकाशमें घनी धूली छा गई ॥ १५ ॥

उक्त धूलीपटलसे वह महान् नगर मानो गर्भवासको प्राप्त हुआ। रजोगुणकी अधिक मात्रावाले यौवनसे स्वाभाविक मूढताकी नाईं उक्त रजसे अन्धकार निबिड़ हो गया ॥ १६ ॥

जैसे दिवसके आविर्भावसे दीपोंकी कान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही तारागण कहीं विलीन हो गये, रात्रिमें होनेवाले चञ्चल भूत-पिशाचोंकी कतार-की-कतारने बल पकड़ा ॥ १७ ॥

ददृशुस्तन्महायुद्धं द्वे लीले सा कुमारिका ।
प्रस्फुटद्धृदयेनेव देवीदत्तमहादृशौ ॥ १८ ॥
प्रशेमुरथ हेतीषुप्रोद्यत्कटकटारवाः ।
एकार्णवपयःपूरैर्वालवा इव वह्नयः ॥ १९ ॥
शनैः सेनां समाकर्षन्नाऽऽज्ञायत बलान्तरम् ।
विवेश पक्षप्रोड्डीनो मेरुरेकमिवाऽर्णवम् ॥ २० ॥
अथोदभूद् गुणध्वानं चटच्चटदिति स्फुटं ।
रचितांशुमयाम्भोदाश्चेरुः परपरम्पराः ॥ २१ ॥
ययुरम्बरमाश्रित्य नानाहेतिविहङ्गमाः ।
प्रससुरलमात्तासु मलिनाः शस्त्रदीप्तयः ॥ २२ ॥

उस महायुद्धको दो लीलाओंने तथा राजा विदूरथकी कन्याने, जिन्हें देवी सरस्वतीने दिव्य दृष्टि दी थी, विदीर्ण हो रहे हृदयसे जैसा यानी बड़े क्लेशसे देखा ॥ १८ ॥

जैसे एकमात्र समुद्रके जलप्रवाहोंसे वड़वानल शान्त हो जाता है, वैसे ही राजा विदूरथके प्रयाणके अनन्तर नगरको लूट-खसोट रहे राजा सिन्धुके सैनिकोंके हथियारों और बाणोंसे उद्भूत हो रहे कटकटशब्द शान्त हो गये ॥ १९ ॥

अपनी सेनाको शत्रुवाहिनीके साथ भिड़ानेके लिए ले जा रहे राजा विदूरथको अपनी सेना और शत्रु-सेनाका बलाबल ज्ञात नहीं हुआ । जैसे अपने परोंसे उड़ा हुआ सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन एकार्णवमें प्रवेश करे, वैसे ही उसने भी शत्रुके और अपने बलका अन्तर जाने बिना ही शत्रुके दल-बलमें प्रवेश किया ॥ २० ॥

राजा विदूरथके परबलमें प्रविष्ट होनेके उपरान्त 'चट' 'चट' शब्दके साथ साफ सुनाई दे रही प्रत्यञ्चाध्वनि होने लगी, शत्रुओंकी सेनाके झुण्डके झुण्ड, जिन्होंने अपने हथियारोंकी कान्तिके मेघ बना डाले थे, इधर उधर घूमने लगे ॥ २१ ॥

अनेक शस्त्रास्त्ररूपी पक्षीगण आकाशका आश्रयण कर यानी आकाशमें उड़कर इधर-उधर घूमने लगे । जिन्होंने शत्रुओंके प्राण ले लिये थे, अतएव पापसे मानो जो मलिन हो गई थीं, ऐसी शस्त्रोंकी चम-चमाहट इधर-उधर फैलने लगीं ॥ २२ ॥

जज्वलुः शस्त्रसंघट्टज्वलना उल्मुकाग्निवत् ।
जगर्जुः शरधारौघान् वर्षन्तो वीरवारिदाः ॥ २३ ॥

विविशुः क्रकचक्रूरा वीराङ्गेषु च हेतयः ।
पेतुः पटपटारावं हेतिनिष्पिष्टयोऽम्बरे ॥ २४ ॥

जग्मुः शमं तमांस्याशु शस्त्रकानलदीपकैः ।
बभूवुरखिलाः सेना नवनाराचरोमशाः ॥ २५ ॥

उत्तस्थुर्यमयात्रायां कबन्धनटपङ्क्तयः ।
जगुरुच्चै रणोद्रेकं पिशाच्यो रणदारिकाः ॥ २६ ॥

उदगुर्दन्तसङ्घट्टटङ्कारादन्तिनां बलात् ।
ऊहुः क्षेपणपाषाणमहानद्यो नभस्तले ॥ २७ ॥

पेतुः शवा निवातास्तसंशुष्कवनपर्णवत् ।
निर्ययुर्लोहिता नद्यो रणाद्रेर्मृतिवर्षिणः ॥ २८ ॥

प्रशेमुः पांसवो रक्तैस्तमांस्यायुधवह्निभिः ।
युद्धैकध्यानतः शब्दा भयानि मृतिनिश्चयैः ॥ २९ ॥

शस्त्रोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न हुई आग उल्मुक यानी अधजले काठकी नाईं जलने लगी। बाणरूपी धारा-प्रवाहोंकी वृष्टि कर रहे वीररूपी जलधर गर्जने लगे। आरोंके समान निठुर हथियार वीरोंके अङ्ग प्रत्यङ्गोंमें घुसने लगे। तलवारोंके प्रहार पट-पट शब्दके रूपसे आकाशमें उड़े। शस्त्रास्त्रोंकी अग्निरूपी दीपमालाओंसे अन्धकार तुरन्त विनष्ट हो गया। सारी सेनाएँ नूतन बाणरूपी रोंगटोंसे व्याप्त हो गई। यमकी आराधनारूप यात्रोत्सवके लिए कबन्धरूपी नटोंकी पंक्तियाँ उठने लगीं। रणोत्सवकी आभूषणरूप युवती पिशाचियाँ रणकी भीषणताका खूब ऊँचे स्वरसे गान करने लगीं ॥ २३—२६ ॥

हाथियोंके दाँतोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न हुए टँकार बड़ी तेजीसे ऊपरको गये, आकाशमें क्षेपणीसे निकले हुए पत्थरोंकी महानदियाँ बहने लगीं, आँधी द्वारा फेंके गये सूखे वनपत्तोंके समान शव गिरने लगे, मृत्युकी वृष्टि करनेवाले रणरूपी पर्वतसे लाल नदियाँ निकलने लगीं ॥ २७, २८ ॥

खूनके पनालोंसे धूलीकण शान्त हो गये और हाथियोंके टकरानेसे उत्पन्न

अभवत्केवलं युद्धमपशब्दमसम्भ्रमम् ।
अनाकुलाम्बुवाहाभं खड्गवीचिसटाङ्कतम् ॥ ३० ॥
खदखदरवसंवहच्छरौघं
टकटकितारवसम्पतद्भुशुण्डि ।
झणझणरवसंमिलन्महास्त्रं
तिमितिमिवद्रणमास दुस्तरं तत् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथनिर्याणं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

——*——

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन् वर्तमाने तु घोरे समरसङ्गमे ।
लीलाद्वयमुवाचेदं ज्ञप्तिं भगवतीं पुनः ॥ १ ॥

अग्निसे अन्धकार मिट गया, एकमात्र युद्धका ही ध्यान करनेसे अन्योन्यकी वाणियाँ शान्त हो गईं और मरनेके दृढ़ निश्चयसे भय शान्त हो गया ॥ २९ ॥

शब्दशून्य, संभ्रमरहित अतएव वायु आदिसे आकुलतारहित मेघके समान केवल युद्ध हुआ, तलवाररूपी लहरोंकी टंकार ही उसमें सुनाई पड़ती थी ॥ ३० ॥

उसमें खट-खट शब्दके साथ बाणवृष्टि बह रही थी, टक टक शब्दके साथ भुशुण्डियाँ गिर रही थीं, झण झण शब्दके साथ महान् महान् शस्त्र टकरा रहे थे, उक्त शस्त्रोंसे अतिरिक्त तिमि तिमि शब्दसे युक्त वह दुस्तर युद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

छियालिसवाँ सर्ग समाप्त

——•——

सैंतालीसवाँ सर्ग

[सिन्धुदेशके राजाका शत्रुपर विजय पानेमें हेतुकथन, सूर्योदय और रणका क्रमवर्णन तथा दोनों राजाओंका विविध मन्त्रास्त्रों द्वारा युद्धवर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, जब कि उक्त भीषण समर-सङ्गम हो रहा था, दोनों लीलाओंने भगवती सरस्वती देवीसे फिर यह पूछा ॥ १ ॥

लीलाद्वयमुवाच

देवि कस्मादकस्मान्नौ भर्ता जयति नो रणे ।
वद त्वय्यपि तुष्टायामस्मिन्विद्रुतवारणे ॥ २ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

चिरमाराधिताऽनेन विदूरथनृपारिणा ।
अहं पुत्रि जयार्थेन न विदूरथभूभृता ॥ ३ ॥
तेनाऽसावेव जयति जीयते च विदूरथः ।
ज्ञप्तिरन्तर्गता संविदेतां मां यो यदा यथा ॥
प्रेरयत्याशु तत्तस्य तदा सम्पादयाम्यहम् ॥ ४ ॥
यो यथा प्रेरयति मां तस्य तिष्ठामि तत्फला ।
न स्वभावोऽन्यतां धत्ते वह्नेरौष्ण्यमिवैष मे ॥ ५ ॥
अनेन मुक्त एव स्यामहमित्यस्मि भाविता ।
प्रतिभारूपिणी तेन बाले मुक्तो भविष्यति ॥ ६ ॥

दोनों लीलाओंने कहा—हे देवि, आपके सन्तुष्ट होनेपर भी हमारे पति इस रणभूमिमें, जिसमें से हाथी भाग रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त करते, कृपया यह हमसे कहिये ॥ २ ॥

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पुत्रियो, राजा विदूरथके शत्रु इस राजा सिन्धुने विजयके लिए चिरकालतक मेरी आराधना की थी, राजा विदूरथने जयकामनासे मेरी आराधना नहीं की थी, इसलिए यही (राजा सिन्धु ही) विजय प्राप्त करेगा और राजा विदूरथ पराजित होगा। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयान्तर्गत संवित् ही मैं (ज्ञप्ति) हूँ। उस ज्ञप्तिरूप मुझे जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है, यानी काम, कर्म और वासनाके बलसे फल देनेमें प्रवृत्त करता है, तब उसका वैसा फल सम्पादन करती हूँ यानी तत्-तत् फलरूपसे विवर्तित होती हूँ ॥३,४॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करती हैं—'यो' इत्यादिसे।

जो मुझे जैसे प्रेरित करता है, उसके लिए मैं तत्फलस्वरूप होकर स्थित होती हूँ। मेरा यह स्वभाव अग्निकी उष्णताके समान अन्यथा नहीं होता ॥ ५ ॥

बाले, राजा विदूरथने 'मैं मुक्त ही होऊँ' इस बुद्धिसे मेरी, जो कि प्रतिभा-रूपिणी हूँ, आराधना की है, इसलिए वह मुक्त होगा। श्लोकमें 'बाले' यह

एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
जयाम्यहं स्यां संग्राम इत्यनेनाऽस्मि पूजिता ॥ ७ ॥
तस्माद् विदूरथो देहं तत् प्राप्य सह भार्यया ।
त्वयाऽनया च कालेन बाले मुक्तो भविष्यति ॥ ८ ॥
एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
हत्वैनं वसुधापीठे जयी राज्यं करिष्यति ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं देव्यां वदन्त्यां तु बलयोर्युध्यमानयोः ।
रविर्द्रष्टुमिवाऽऽश्चर्यमाजगामोदयाचलम् ॥ १० ॥
चेलुस्तिमिरसङ्घाता बलानीवाऽरिरूपिणः ।
असृजन्जीवसंघान् ये सन्ध्यायां तारका इव ॥ ११ ॥
शनैः प्रकटतां जग्मुर्नीलाकाशाद्रिभूमयः ।
भुवनं कज्जलाम्भोधेरिवोत्क्षिप्तमराजत ॥ १२ ॥

सम्बोधन अप्रबुद्ध लीलाका है, प्रबुद्ध लीलाका 'बाले' सम्बोधन सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पहले ही प्रबुद्ध हो चुकी है ॥ ६ ॥

राजा विदूरथका शत्रु जो सिन्धुनामक राजा है, उसने स्वयम् 'मैं जयसे शत्रुको पीड़ित करूँ' इस सङ्कल्पसे मेरी पूजा की थी ॥ ७ ॥

हे बाले, इसलिए राजा विदूरथ उस देहको पाकर तुम्हारे और इस भार्याके साथ समय आनेपर मुक्त होगा और इसका शत्रु राजा सिन्धु इसको मारकर विजयी हो पृथिवीतलमें स्वयं राज्य करेगा ॥ ८, ९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, दो देवियाँ यों कह ही रही थीं कि जूझ रही दो सेनाओंका आश्चर्यमय युद्ध देखनेके लिए मानो भगवान् भास्कर उदयाचलमें आरूढ़ हुए ॥ १० ॥

जिन तिमिरसंघातोंने (अन्धकारसमुदायोंने) रात्रिमें (सन्ध्यामें) तारोंकी भाँति राक्षस, पिशाच आदि जीवसंघोंको वैरिरूपी विदूरथकी सेनाकी नाईं प्रकट किया था, वे न मालूम कहँ चले गये ॥ ११ ॥

नीला आकाश और पर्वतश्रेणियाँ धीरे-धीरे प्रकट होने लगीं। सम्पूर्ण भुवन कज्जलके सागरमें से निकाला हुआ-सा शोभित हुआ ॥ १२ ॥

पेतुः कनकनिःस्यन्दसुन्दरा रविरश्मयः ।
शैलेषु वरवीरेषु रणे रक्तच्छटा इव ॥ १३ ॥
अदृश्यत ततो व्योम तथा रणमहीतलम् ।
बाहुभिर्भ्रान्तभुजगं प्रभाभिः कीर्णकाञ्चनम् ॥ १४ ॥
कुण्डलैः कीर्णरत्नौघं शिरोभिर्दृष्टपङ्कजम् ।
आयुधैः खड्गनीरन्ध्रं शरैः शलभनिर्भरम् ॥ १५ ॥
रक्ताभास्थिरसन्ध्याढ्यं ससिद्धपुरुषं शवैः ।
हारैः ससर्पनिर्मोकं कटैरिद्धं सुसंकुलम् ॥ १६ ॥
लसल्लतं पताकाभिरूरुभिः कृततोरणम् ।
हस्तैः पादैः पल्लवितं शरैः शरवणोपमम् ॥ १७ ॥
शस्त्रांशुशाद्वलश्यामं शस्त्रपूरैः सकैतकम् ।
कीर्णमायुधमालाभिरुन्मत्तमिव भैरवम् ॥ १८ ॥

रणभूमिमें श्रेष्ठ वीरोंपर रुधिर छटाकी नाईं शैलोंपर सुवर्णके द्रवके समान सूर्य किरणें गिरीं ॥ १३ ॥

तदुपरान्त आकाश और रणभूमि दोनों आकाशमें उड़ी हुई और भूमि पर गिरी हुई वीरोंकी भुजाओंसे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो उनमें सर्प घूम रहे हैं, परस्परकी प्रभासे दोनों ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो उनमें सोना बखेरा हो, आकाशमें उड़ रहे और भूमिपर गिरे हुए (ये दो विशेषण आगेके सभी तृतीयाविभक्त्यन्तोंसे अन्वित होते हैं) कुण्डलोंसे आकाश और महीतल ऐसा मालूम पड़ता था मानो उनमें रत्नराशियां बखेरी हों, सिरोंसे कमलपूर्ण तालाब-से प्रतीत होते थे, हथियारोंसे मानो गैंड़ोंसे निबिड़रूपसे भरेसे मालूम होते थे, बाणोंसे ऐसे लगते थे कि मानो वे टिड्डियोंके दलसे व्याप्त हों, रक्तकान्तिसे वे स्थिरसन्ध्या से युक्त-से मालूम होते थे, शवोंसे सिद्ध पुरुषोंसे पूर्णसे, हारोंसे साँपकी केंचुलसे भरे-से, कवचोंसे प्रदीप्त और सङ्कटापन्नसे प्रतीत होते थे। आकाशमें उड़ रहीं और भूमिमें गिरी हुई पताकाओंसे मानो उनमें लताएँ लहलहा रही हों, जङ्घाओंसे मानो उनमें वन्दनवार बनाये गये हों, हाथ और पैरोंसे वे पल्लवयुक्त-से प्रतीत होते थे, बाणोंसे सरके वनके सदृश लगते थे, शस्त्रोंकी किरणोंसे हरी दूबसे हरे भरे मैदानसे प्रतीत होते थे, शस्त्रोंके समूहोंसे केतकीके फूलोंसे युक्त-से प्रतीत

फुल्लाशोकवनाकारं शस्त्रसंघट्टवह्निभिः ।
उदघुंघुमहाशब्दैर्विद्रवत्सिद्धनायकैः ॥ १९ ॥
सौवर्णनगराकारं बालार्ककचितायुधैः ।
प्रासासिशक्तिचक्रर्ष्टिमुद्गरारणिताम्बरम् ॥ २० ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानशवोत्करम् ।
भुशुण्डीशक्तिकुन्तासिशूलपाषाणसंकुलम् ॥ २१ ॥
शूलशस्त्राहतिच्छन्नकबन्धपतनान्वितम् ।
कालताण्डववेतालकलारब्धहलारवम् ॥ २२ ॥
शून्ये रणाङ्गणे दीप्तौ पद्मसिन्ध्वो रथौ चलौ ।
अदृश्येतां नभश्चिह्नौ चन्द्रसूर्यौ दिवीव तौ ॥ २३ ॥
चक्रशूलभुशुण्डयृष्टिप्रासायुधसमाकुलौ ।
सहस्रेण सहस्रेण वीराणां परिवारितौ ॥ २४ ॥

होते थे, हथियारोंके समूहोंसे व्याप्त वे उन्मत्त भैरव-से प्रतीत होते थे, शस्त्रास्त्रोंके टकरानेसे उत्पन्न हुई वह्निसे प्रफुल्ल अशोकके बनके तुल्य प्रतीत होते थे, समुद्रकी नाईं 'घुं घुं' महाशब्दवाले, प्रातःकालके सूर्यसे प्रदीप्त आयुधवाले भाग रहे सिद्ध नायकोंसे सौवर्ण नगराकार प्रतीत होते थे, प्रास, तलवार, शक्ति, चक्र, ऋष्टि और मुद्गरोंके उत्पतन और निपतनसे आकाश प्रतिध्वनित हो रहा था, बह रही रुधिरनदीके प्रवाहसे शवोंके झुण्डके झुण्ड बहाये जा रहे थे, भुशुण्डी, शक्ति, कुन्त, तलवार, शूल तथा पत्थरोंके उत्पतन और निपतनसे आकाश और रणभूमि पट गई थी, शूल और अन्यान्य शस्त्रास्त्रोंके आघातसे आच्छन्न कबन्ध वहांपर गिर रहे थे और कालके सदृश कराल ताण्डव करनेवाले वेताल हल-हल शब्द कर रहे थे ॥ १४–२२ ॥

इस प्रकार आकाश और रणभूमिका वर्णन कर सिन्धु और विदूरथका द्वैरथ (जिसमें केवल दो ही रथ हैं) युद्धका वर्णन करते हैं—'शून्ये' इत्यादिसे ।

परस्परके युद्धसे अपने-अपने योद्धाओंका विनाश हो जानेसे शून्य रणभूमिमें जैसे स्वर्गमें आकाशके चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखाई दें, वैसे ही राजा पद्म और राजा सिन्धुके प्रदीप्त और चञ्चल दो रथ दिखाई दिये । वे दोनों रथ चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि, प्रास और अन्यान्य हथियारोंसे खचाखच भरे थे और उनमें प्रत्येकमें एक-एक हजार वीर सवार थे ॥ २३, २४ ॥

विचरन्तौ यथाकामं मण्डलैर्विततारवैः ।
सचीत्कारमहाचक्रपिष्टानेकमृतामृतौ ॥ २५ ॥

तरन्तौ रक्तसरितौ मत्तवारणलीलया ।
केशशैवालसम्पन्ने चक्रचक्रजलेन्दुके ॥ २६ ॥

वहच्चक्राहतिक्षोभपातिताकुलवारणौ ।
मणिमुक्ताझणत्काररणत्कूबरकारवौ ॥ २७ ॥

वाताहतपताकाग्रपटत्पटपटारवौ ।
अनुयातौ महावीरैर्भूरिभिर्भीरुसैनिकैः ॥ २८ ॥

धारा वमद्भिः कुन्तानां शराणां धनुषामपि ।
शक्तीनां प्रासशङ्कूनां चक्राणां कचतां रणे ॥ २९ ॥

तत्र तौ क्षणमावृत्य मण्डले भूमिकुण्डले ।
उभौ व्यतिबभूवाते सम्मुखावायुधावुभौ ॥ ३० ॥

विस्तृत शब्दवाले अपने-अपने पैतरोंसे अपनी इच्छानुसार घूमते थे, उनके चीत्कार युक्त महान् पहियेसे अनेक मृत और घायल सैनिक चूर-चूर किये गये थे, मदोन्मत्त हाथीकी चालसे वे रुधिरनदियोंको, जो केशरूपी सेवारसे पूर्ण थीं, रथोंके चक्र ही जिनमें चक्रवाक और जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्र थे, तैरते थे, उन्होंने चल रहे पहियोंके आघातसे हुई व्यथावश घायल हाथियोंको गिरा डाला था, उनमें मणि और मोतियोंके झनकार ही रणमें प्रवृत्त कूबरोंके (रथके अग्रभागके) शब्द हो रहे थे, वायुके आघातसे फरफरा रही पताकाके अग्रभागमें पट-पटशब्द हो रहे थे, जिन वीरोंके सैनिक कातर थे ऐसे अनेक महावीर उनके पीछे चल रहे थे, वे रणभूमिमें चल रहे भाले, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, कीलों और चक्रोंकी धाराओंको उगल रहे यानी वृष्टि कर रहे थे ॥ २५–२९ ॥

रणभूमिके कुण्डलके समान अलङ्काररूप रथोंके परिवर्तनरूप मण्डलमें एक क्षणभर आवृत्तिकर युद्धमें वे दोनों संमुख परस्परकी क्रियाके व्यत्याससे शोभित होते थे ॥ ३० ॥

नाराचधारानिकरविक्षेपकरकध्वनौ ।
अन्योन्यमपि गर्जन्तौ मत्ताब्धिजलदाविव ॥ ३१ ॥
तयोः प्रहरतोर्बाणा वसुधानरसिंहयोः ।
पाषाणमुसलाकारा व्योमविस्तारिणोऽभवन् ॥ ३२ ॥
करवालमुखाः केचिन्मुद्गराननकाः परे ।
शितचक्रमुखाः केचित् केचित् परशुवक्त्रकाः ॥ ३३ ॥
केचिच्छक्तिमुखाः केचित्केचिच्छूलशिलामुखाः ।
त्रिशूलवदनाः केचित्स्थूला इव महाशिलाः ॥ ३४ ॥
प्रलयपवनपातिताः शिलौघा
इव निपतन्ति शिलीमुखास्तदा स्म ।
प्रमिलितमभवत् तयोस्तदानीं
प्रलयविजृम्भितसिन्धुसम्भ्रमेण ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथसिन्धुसमागमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

——*——

बाणरूपी धारासमूह और प्रासरूपी ओलोंके गिराने और उनको सहनेके लिए की गई ध्वनि होनेपर दोनों ही परस्पर तरङ्गित सागर और मेघोंकी नाईं गर्जते थे। परस्पर आघात-प्रतिघात कर रहे उन दोनों भूमिके नरश्रेष्ठोंके पत्थरके मूसलके सदृश बाण आकाशमें फैलते थे ॥ ३१, ३२ ॥

उन बाणोंमें से कुछके मुँह तलवारके सदृश थे, कुछके मुँह मुद्गरके सदृश थे, कुछके मुँह चोखे चक्रोंके तुल्य थे, कुछके मुँह कुल्हाड़ेके सदृश थे, कुछके मुँह शूल और शिलाओंके सदृश थे, कुछके मुख त्रिशूलाकार और कोई महाशिलाके समान स्थूलाकार थे, वे सब बाण आकाशमें फैलते थे ॥ ३३,३४ ॥

उस समय प्रलयकालीन वायुसे गिराये गये पत्थरोंके समूहोंकी नाईं बाण उनपर गिरते थे। सिन्धुराज और विदूरथका परस्पर संमिलन प्रलयकालमें बढ़े हुए दो समुद्रोंके परस्परसंमिलनविलासके तुल्य हुआ ॥ ३५ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्राप्य राजा पुरः प्राप्तं सिन्धुमुद्धुरकन्धरम् ।
मध्याह्नतपनान्तेन कोपेन विततोऽभवत् ॥ १ ॥
धनुरास्फालयामास चिरारावितदिङ्मुखम् ।
कल्पान्तपवनास्फोट इव मेरुगिरेस्तटम् ॥ २ ॥
विससर्जोर्जितो राजा प्रलयार्कः करानिव ।
तूणीररजनीबद्धाः शिलीमुखपरम्पराः ॥ ३ ॥
एक एव विनिर्याति गुणात्तस्य शिलीमुखः ।
सहस्रं भवति व्योम्नि गच्छन्पतति लक्षशः ॥ ४ ॥
सिन्धोरपि तथैवाऽऽसीच्छक्तिर्लाघवमेव च ।
वरेण वरदस्यैवं विष्णोर्धानुष्कता तयोः ॥ ५ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

[सिन्धु और पद्मके संग्रामका, जो कि विचित्र मायाको उत्पन्न करनेवाले मन्त्रास्त्रोंसे विश्वको मोहित करनेवाला था, विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, राजा विदूरथ सामने खड़े हुए उन्नत-मस्तक राजा सिन्धुको पाकर मध्याह्नकालीन सूर्यके तुल्य कोपसे व्याप्त हुआ ॥ १ ॥

जैसे प्रलयकालीन वायुका आघात सुमेरुके तटको टंकारसे युक्त करता है, वैसे ही राजाने अपने धनुषको, जिसने चिरकालसे दिङ्मण्डलको मुखरित कर रक्खा था, टंकारसे युक्त किया यानी ताना ॥ २ ॥

जैसे प्रलयकालीन प्रखर सूर्य अपनी किरणोंको छोड़ता है, वैसे ही रोषके आवेगसे प्रवृद्ध राजाने तरकसरूपी रात्रिमें बँधे हुए बाणोंकी परम्पराको छोड़ा ॥ ३ ॥

उसकी प्रत्यञ्चासे एक ही बाण जाता था, पर वह आकाशमें जाते जाते हजार हो जाता था और लाख होकर गिरता था, भाव यह कि राजाका हस्तलाघव इतना बढ़ा चढ़ा था कि एक बाणके बाद ही पलक भरमें हजार बाण आकाशमें दिखाई देते थे और गिरने तक उनकी संख्या लाखोंतक पहुँच जाती थी ॥ ४ ॥

राजा सिन्धुकी भी शक्ति और हस्तलाघव राजा विदूरथके समान ही थे। उनकी ऐसी आश्चर्यमय धानुष्कता (धनुर्युद्धमें कुशलता) स्वाभाविक नहीं थी, किन्तु वर देनेवाले भगवान् श्रीविष्णुके वरदानसे वह प्राप्त हुई थी ॥ ५ ॥

मुसला नाम ते बाणा मुसलाकृतयोऽम्बरम् ।
छादयामासुरुन्नादाः कल्पान्ताशनयो यथा ॥ ६ ॥
रेजुः कनकनाराचराजयो व्योम्नि सस्वनाः ।
रसन्त्यः कल्पवातार्ताः पतन्त्य इव तारकाः ॥ ७ ॥
विदूरथाच्छरासारा अजस्रमभिनिर्ययुः ।
अब्धेरिव पयःपूराः सूर्यादिव मरीचयः ॥ ८ ॥
प्रचण्डपवनोद्धूतात् पुष्पाणीव महातरोः ।
अयःपिण्डादिवोत्तप्तात्ताडितात् कणपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
धारा वर्षमुच इव सीकरा इव निर्झरात् ।
तत्पुराग्निमहादाहात् स्फुलिङ्गा इव भासुराः ॥ १० ॥
तयोश्चटचटास्फोटं शृण्वत्कोदण्डयोर्द्वयोः ।
बलद्वयमभूत् प्रेक्षामूकं शान्त इवाऽम्बुधिः ॥ ११ ॥

प्रलयकालीन वज्रोंकी नाईं प्रचण्डशब्द करनेवाले मूसलाकार मुसलनामके उन बाणोंने आकाशतलको आच्छन्न कर दिया ॥ ६ ॥

आकाशमें शब्दायमान सोनेके बाणोंकी कतार प्रलयकालीन पवनसे पीड़ित अतएव शब्द कर रही और गिर रही तारावलीके समान शोभित हुई ॥ ७ ॥

जैसे समुद्रसे जलप्रवाह सदा निकलते रहते हैं और जैसे सूर्यसे किरणें निरन्तर निकलती रहती हैं, वैसे ही राजा विदूरथसे बाणोंकी मूसलाधार वृष्टि निरन्तर निकलती गई ॥ ८ ॥

विदूरथसे वे ऐसे निकलते थे, जैसे आँधीसे खूब हिलाये गये महावृक्षसे फूल गिरते हैं, जैसे खूब तपाये गये और पीटे गये लोहपिण्डसे चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे वृष्टि करनेवाले मेघसे धाराएँ निकलती हैं, जैसे झरनेसे जलकण निकलते हैं और जैसे उसके नगरमें पूर्वोक्त अग्नि महादाहसे चमकदार विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) निकले ॥ ९, १० ॥

उन दोनों योद्धाओंके धनुषोंके चट-चटशब्दको सुन रही दोनों सेनाएँ शान्त सागरके सामान स्तब्ध हो गई ॥ ११ ॥

वहन्ति स्म शरापूरा गङ्गापूरा इवाऽम्बरे ।
सिन्धोरभिमुखं युद्धे घर्घरारावरंहसः ॥ १२ ॥
कचत्कनकनाराचशरवर्षा अनारतम् ।
वहच्छवशवाशब्दं निर्ययुर्धनुरम्बुदात् ॥ १३ ॥
बाणमन्दाकिनीपूरं व्रजन्तं सिन्धुपूरणे ।
वातायनात् तमालोक्य लीला तत्पुरवासिनी ॥ १४ ॥
तेन बाणसमूहेन जयमाशङ्क्य भर्तरि ।
उवाच वाक्यमानन्दविकसन्मुखपङ्कजा ॥ १५ ॥
जय देवि जयत्येष नाथोऽस्माकं विलोकय ।
किञ्चाऽनेन शरौघेण मेरुरप्येति चूर्णताम् ॥ १६ ॥
तस्यामेवं वदन्त्यां तु घनस्नेहरवाकुलम् ।
प्रेक्षणव्यग्रयोर्देव्योर्हसन्त्योर्मानुषीं हृदा ॥ १७ ॥
तच्छरार्णवमामत्तमपिबत् सिन्धुवाडवः ।
शरोष्मणा ह्यगस्त्येन जह्नुर्मन्दाकिनीमिव ॥ १८ ॥

जैसे सागरकी ओर गङ्गाप्रवाह बहते हैं, वैसे ही युद्धमें राजा सिन्धुकी ओर घरघरशब्दसे युक्त वेगवाले बाणोंके प्रवाह बहते थे ॥ १२ ॥

धनुषरूपी मेघसे चमक रहे सोनेके फाल (अग्रभाग) वाले बाणोंकी वृष्टि 'शव' 'शव' शब्द करती हुई निरन्तर निकलती थी ॥ १३ ॥

उस नगरमें रहनेवाली लीलाने राजा सिन्धुको (सागरको) भरनेके लिए जा रहे बाणोंकी गङ्गाके उस प्रवाहको झरोखेसे देखकर और उस बाण-संघातसे अपने पतिमें विजयकी आशा कर मारे आनन्दसे विकसितमुखारविन्द-वाली होकर देवीसे निम्न लिखित वाक्य कहा ॥ १४, १५ ॥

हे देवि, आपकी जय हो, ये हमारे स्वामी विजय प्राप्त कर रहे हैं, आप देखिये, इस बाणवृष्टिसे, औरोंकी तो बात ही क्या है, मेरु भी चूरचूर हो सकता है ॥ १६ ॥

पतिमें गाढ़ प्रेम होनेके कारण आकुलतापूर्वक उसके ऐसा कहनेपर तथा युद्धदर्शनमें व्यग्र दो देवियोंके मनुष्यदेहमें आत्मबुद्धि करनेवाली उस नगरमें निवास करनेवाली लीलाके ऊपर हँसनेपर जैसे जह्नुऋषिने

बाणवर्षेण कणशस्तं सायकमहाघनम् ।
छित्त्वा तनुरजः कृत्वा चिक्षेप गगनार्णवे ॥ १९ ॥
यथा दीपस्य शान्तस्य न परिज्ञायते गतिः ।
तस्य सायकसंघस्य न विज्ञाता तथा गतिः ॥ २० ॥
तं छित्त्वा सायकासारं शरीराम्बुधरं घनम् ।
व्योम्नि प्रसारयामास रसाच्छवशतान्वितम् ॥ २१ ॥
विदूरथस्तमप्याशु व्यधमत्सायकोत्तमैः ।
सामान्यजलदं मत्तं कल्पान्तपवनो यथा ॥ २२ ॥
कृतप्रतिकृतैरेवं बाणवर्षैर्महीपती ।
व्यर्थीकृतैरनयतां प्रहारमविचारणैः ॥ २३ ॥
अथाऽऽदधे मोहनास्त्रं सिन्धुर्गन्धर्वसौहृदात् ।
प्राप्तं तेन ययुर्लोका विना मोहं विदूरथात् ॥ २४ ॥

गङ्गाजीको पी डाला था, वैसे ही सिन्धुरूपी बड़वानलने अगस्त्य स्थानापन्न हुए बाणरूपी दाहसे राजा विदूरथके बाणसागरको पी डाला ॥ १७,१८ ॥

राजा सिन्धुने अपनी बाणवृष्टिसे उस बाणसमूहरूपी महामेघको कणशः काटकर फिर उसे महीन धूली बनाकर आकाशरूपी सागरमें फेंक दिया। जैसे बुझे हुए दीपकी गति नहीं जानी जाती यानी दीपक कहाँ गया, यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही उस बाणसमुदायकी गति किसीको ज्ञात नहीं हुई ॥ १९,२० ॥

राजा सिन्धुने बाणोंकी उस वेगवती वृष्टिको तहस-नहस कर रणमें अतिशय अनुराग होनेसे शरीर (शवशरीर) रूपी जलको धारण करनेवाले सैकड़ों शवोंसे युक्त मेघको आकाशमें फैलाया ॥ २१ ॥

जैसे प्रलयकालीन पवन मत्त साधारण मेघको उड़ा देता है, वैसे ही राजा विदूरथने भी उसे अपने उत्तम-उत्तम बाणोंसे तुरन्त उड़ा दिया ॥ २२ ॥

दोनों राजाओंने इस प्रकार बाणवृष्टिसे, प्रहार और प्रतीकारसे, एक दूसरेके अस्त्रको व्यर्थ करनेसे और एक दूसरेको लक्ष्य बनानेसे एक प्रहर बिता दिया ॥ २३ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने गन्धर्वोंकी मित्रतासे प्राप्त विमोहनास्त्रका धनुषमें सन्धान किया, उससे विदूरथके सिवा उसके पक्षके सब लोग मोहको प्राप्त हो

व्यस्तशस्त्राम्बरा मूका विषण्णवदनेक्षणाः ।
मृता इवाऽभवन् योधाश्चित्रन्यस्ता इवाऽथवा ॥ २५ ॥
यावद्विदूरथादन्यं मोहो नयति मन्दताम् ।
तावद्विदूरथो राजा प्रबोधास्त्रमथाऽऽददे ॥ २६ ॥
ततः प्रबोधमापन्नाः प्रजाः प्रातरिवाऽब्जिनी ।
विदूरथेऽभवत् सिन्धुः क्रुद्धोऽर्क इव राक्षसे ॥ २७ ॥
नागास्त्रमाददे भीमं पाशबन्धनखेददम् ।
तेनाऽभवन्नभो व्याप्तं भोगिभिः पर्वतोपमैः ॥ २८ ॥
सर्पैर्विलसिता भूमिर्मृणालैः सरसी यथा ।
सम्पन्ना गिरयः सर्वे कृष्णपन्नगकम्बलाः ॥ २९ ॥
पदार्थाः सर्व एवेमे विषोष्मखिन्नतां ययुः ।
सपर्वतवनाभोगा ययौ विवशतां मही ॥ ३० ॥

गये । विमोहनास्त्रसे राजा विदूरथके सैनिकोंके अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे, मुँहसे वचन नहीं निकलता था, मुँह और नेत्रोंमें विषाद छा गया था तथा वे मृतसे हो गये अथवा चित्रलिखित-से हो गये थे ॥ २४,२५ ॥

सम्मोहनास्त्रसे उत्पन्न मोहके विदूरथसे भिन्न लोगोंको मन्द बनाते न बनाते राजा विदूरथने प्रबोधास्त्र उठाया। प्रबोधास्त्रके सन्धानसे प्रातःकालमें कमलिनीकी (कमलसरकी) नाईं सब लोग जाग उठे, तब तो जैसे सूर्य मन्देह-नामके राक्षसपर क्रुद्ध होता है, वैसे ही राजा सिन्धु विदूरथपर क्रुद्ध हुआ यानी लाल पीला हुआ ॥ २६, २७ ॥

तदनन्तर उसने (सिन्धुने) भीषण नागास्त्र उठाया, जो कि पाशबन्धन द्वारा दुखदायी था, नागास्त्रसे आकाश पर्वताकार सांपोंसे व्याप्त हो गया। मृणालोंसे (कमलकी जड़ोंसे) जैसे तालाब विलासको प्राप्त होता है, वैसे ही सफेद सांपोंसे भूमि विलसित हुई, सबके सब पर्वत काले सर्परूपी कम्बलोंसे आच्छन्न हो गये, ये सभी पदार्थ विषकी गर्मीसे खेदको प्राप्त हुए और पर्वतों तथा वनोंकी विशालतासे युक्त भूमि व्याकुलताको प्राप्त हो गई ॥ २८–३० ॥

पूताङ्गारसमाकीर्णं विषवैषम्यशंसिनः ।
ववू रूक्षोष्णनीहारवाता ज्वलनरेणवः ॥ ३१ ॥
विदूरथोऽथ सौपर्णमाददेऽस्त्रं महास्त्रवित् ।
उदगुर्गरुडास्त्रेण सौपर्णाः पर्वता इव ॥ ३२ ॥
काञ्चनीकृतसर्वाशाः सर्वाशा परिपूरकाः ।
पक्षपर्वतसंरम्भजनितप्रलयानिलाः ॥ ३३ ॥
घोणानिलजवाकृष्टश्वसद्भुजगमण्डलाः ।
महाघुरघुरारावपूरिताम्भोधिखण्डकाः ॥ ३४ ॥
स सुपर्णघनोऽपात्तं सर्पौघं भूप्रपूरकं ।
कृष्टं शलशलायन्तमगस्त्य इव वारिधिम् ॥ ३५ ॥
सर्पकम्बलनिर्मुक्तं भूमण्डलमराजत ।
चिरात्तमवनीरन्ध्रमिव निर्वारिराशि च ॥ ३६ ॥

विषकी विषमताके सूचक, आगकी चिनगारियोंसे पूर्ण और हिमशीतल तथा स्निग्ध पदार्थोंको भी रूखे और गर्म कर देनेवाले वायु भस्मसे पृथक् किये गये अङ्गारोंसे व्याप्त होकर बहते थे ॥ ३१ ॥

तदनन्तर महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथने सौपर्ण (गारुड़) अस्त्रको उठाया । गरुडास्त्रसे पर्वतोंकी नाईं विशालकाय गरुड़ उदित हुए । उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंको सुपर्णमय बना दिया, सब दिशाएँ उनसे छा गईं और परों द्वारा परवाले पर्वतोंके तुल्य अपने उड़नेके वेगसे उन्होंने प्रलयकालका वायु उत्पन्न कर दिया । अपने श्वासके वेगसे फुफकार मार रहे सांपोंको खींच लिया तथा महान् घुर, घुर शब्दसे समुद्रके कुछ हिस्सोंको भर दिया था ॥ ३२–३४ ॥

जैसे महामुनि श्रीअगस्त्यजीने भूमिको भरनेवाले (प्लावित कर देनेवाले) कष्टके साथ इधर उधर सरक रहे चञ्चल प्रवाहवाले समुद्रको पी डाला था, वैसे ही उस गरुड़ास्त्रने भूमिको आच्छन्न करनेवाले इधर उधर कष्टके साथ सरक रहे सर्परूपी प्रवाहको पी डाला ॥ ३५ ॥

काले सर्परूपी कम्बलोंसे निर्मुक्त भूमण्डल ऐसा शोभित हुआ, जैसा कि वराह भगवान् द्वारा चिरकालसे उद्धृत अतएव वारिराशिसे निकाला हुआ भूमिमण्डल शोभित हुआ था ॥ ३६ ॥

ततस्तद् गरुडानीकं क्काऽप्यगच्छदृश्यताम् ।
दीपौघ इव वातेन शरदेवाऽब्दमण्डलम् ॥ ३७ ॥
वज्रभीत्येव पक्षौघपर्वतप्रकरः पुरः ।
स्वप्नदृष्टं जगदिव संकल्पपुरपूरवत् ॥ ३८ ॥
ततस्तमोस्त्रमसृजत् सिन्धुरन्धान्धकारदम् ।
तेनाऽन्धकारो ववृधे कृष्णो भूजठरोपमः ॥ ३९ ॥
रोदोरन्ध्रे प्रविसृत एकार्णव इवाऽभवत् ।
मत्स्या इवाऽभवन् सेनास्ताराश्च मणयोऽभवन् ॥ ४० ॥
अन्धकारप्रवृत्तेन मषीपङ्कार्णवोपमम् ।
कज्जलाचलसम्भारोद्धूतकल्पानिलैरिव ॥ ४१ ॥
अन्धकूपे निपतिता इवाऽऽसन् सकलाः प्रजाः ।
कल्पान्त इव संशेमुर्व्यवहारा दिशं प्रति ॥ ४२ ॥

तदुपरान्त वह गरुड़ोंकी महती वाहिनी, जैसे वायुके झोंकेसे दीपसमुदाय अदृश्य हो जाता है, जैसे शरद् ऋतुसे मेघमण्डल लुप्त हो जाता है है, जैसे वज्रके भयसे पक्षयुक्त मैनाक आदि पर्वतसंघात सामनेसे अदृश्य हो जाता है, जैसे स्वप्नदृष्ट नगर लुप्त हो जाता है और मनोरथसे कल्पित नगर तथा जलप्रवाह या नगरोंकी परम्परा विलुप्त हो जाती है, वैसे ही, न मालूम कहाँ चली गई ॥ ३७, ३८ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने अन्धा बनानेवाले अन्धकारको पैदा करनेवाले तमोस्त्रकी सृष्टि की। उससे काला और शिलाके मध्यके समान घना अन्धकार बढ़ा। अन्तरिक्ष और भूमिमण्डलके मध्यमें फैला हुआ वह घना अन्धकार एकमात्र सागर-सा हो गया, उसमें दोनों राजाओंकी सेनाएँ मछलियाँ-सी हुईं और उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें लगे हुए मणिगण तारे-से हुए ॥ ३९,४० ॥

अन्धकारके प्रसारसे जगत् स्याहीके पङ्कके सागरके तुल्य हो गया और अञ्जनपर्वतके उपादानरूप धूलिकणोंके साथ उत्पन्न हुए प्रलयवायुओंसे व्याप्त-सा हो गया ॥ ४१ ॥

सब लोग मानो अन्धे कुएँमें गिर गये थे, चारों दिशाओंके, कल्पान्तकालकी नाईं, सब व्यवहार नेस्तनाबूद हो गये थे ॥ ४२ ॥

विदूरथोऽथ मार्तण्डं दीपं ब्रह्माण्डमण्डपे ।
अस्त्रं मन्त्रविदां श्रेष्ठः सृष्ट्वाऽमन्त्रो व्यचेष्टयत् ॥ ४३ ॥
अथोदिततमोम्भोधिमर्कागस्त्यो गभस्तिभिः ।
अपिबत्कृष्णमम्भोदं शरत्काल इवाऽमलः ॥ ४४ ॥
अन्धकाराम्बरोन्मुक्ता विरेजुरमला दिशः ।
भूपतेः पुरतः कान्ता इव रम्यपयोधराः ॥ ४५ ॥
ययुः प्रकटतामन्तरखिला वनराजयः ।
लोभकज्जलजालेन मुक्ता इव सतां धियः ॥ ४६ ॥
अथ कोपाकुलः सिन्धू राक्षसास्त्रं महाभयम् ।
क्षणादुदीरयामास मन्त्रोदीर्णशरात्मकम् ॥ ४७ ॥
उदगुर्भीषणा दिग्भ्यः परुषा वनराक्षसाः ।
पातालगजफूत्कारक्षुब्धा इव महार्णवाः ॥ ४८ ॥
कपिलोर्ध्वजटा धूम्राः स्फुटच्चटचटारवाः ।
अग्नयो लेलिहानोग्रजिह्वा आर्द्रेन्धना इव ॥ ४९ ॥

तदुपरान्त मन्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा विदूरथने ब्रह्माण्डमण्डलमें दीपकतुल्य प्रकाश करनेवाले सूर्यास्त्रकी सृष्टि कर गुप्तमन्त्रणाकी कोई अपेक्षा किये बिना ही जगत्को सचेष्ट कर दिया ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सूर्यरूपी अगस्त्यने अपने किरणोंसे अन्धकारके सागर को, ऐसे पी डाला जैसे निर्मल शरद् ऋतु काले मेघोंको पी डालती है ॥ ४४ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्रसे उन्मुक्त सुन्दर मेघोंसे युक्त निर्मल दिशाएँ, वस्त्ररहित रमणीय स्तनमण्डलसे संपन्न कान्ताओंकी नाईं, राजाके सन्मुख सुशोभित हुईं ॥४५॥

उनके मध्यमें सज्जनोंके अन्तःकरणमें लोभरूपी काजल-समूहसे मुक्त बुद्धिके समान सम्पूर्ण वनपङ्क्तियां प्रकट हो गईं ॥ ४६ ॥

तदनन्तर क्रोधसे व्याकुल राजा सिन्धुने एक क्षणमें महाभयङ्कर राक्षसास्त्रका, जिससे मन्त्रसे बाण निकलते थे, प्रयोग किया ॥ ४७ ॥

राक्षसास्त्रके प्रयोगसे दसों दिशाओंसे बड़े भयानक और कठोर वनराक्षस निकल आये। वे पातालमें रहनेवाले दिग्गजोंकी फुफकारसे विक्षुब्ध (तरङ्गित) सागरोंके तुल्य थे। उनकी जटाएँ कपिल रंगकी और ऊपरको खड़ी थी,

सावर्तवृत्तयो व्योम्नि भीमचीत्कारटाङ्कृताः ।
अग्निदाहा महाधूमविलोला इव सोल्मुकाः ॥ ५० ॥
दंष्ट्राबिसाङ्कुराक्रान्तमुखपङ्काक्षदेहकाः ।
उदिता लोमजम्बाला दुष्पल्वलतटा इव ॥ ५१ ॥
निगिरन्तः प्रधावन्तो गर्जन्तः सर्जिता इव ।
जटाजालतडित्पुञ्जा जलदाः सजला इव ॥ ५२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिँल्लीलानाथो विदूरथः ।
नारायणास्त्रं प्रददे दुष्टभूतनिवारणम् ॥ ५३ ॥
उदीर्यमाण एवाऽस्मिन्नस्त्रराजेऽस्त्रराजयः ।
राक्षसानां प्रशेमुस्ता अन्धकार इवोदये ॥ ५४ ॥

चट चट शब्द कर रहे थे, उनकी भीषण जीभ लप लपा रही थी, अतएव वे ऊपर उठनेवाली लाल ज्वालाओंसे युक्त, चट चट शब्द कर रही, जिसमें काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता आदि सात उग्र ज्वालाएँ लपलपा रही हों, ऐसी गीले काठवाली अग्निके समान धूम्रवर्णके थे ॥ ४८, ४९ ॥

वे आकाशमें जलभौरीकी नाईं घूमते थे, भीषण चीत्कारशब्दका टंकार करते थे, अतएव वे अग्निके सन्तापसे युक्त (जल रहे) और महान् धुँएसे चञ्चल उल्मुकधारियोंके सदृश थे ॥ ५० ॥

दाढरूपी मृणालोंसे आक्रान्त मुखोंसे और कीचड़से मलिन चक्षु आदि इन्द्रियोंसे युक्त रोमरूपी सेवारसे युक्त शरीरवाले वे खराब पल्वलोंके (छोटे तालाबोंके) तटोंकी नाईं उदित हुए थे। खराब पल्ववोंके तट मृणालों और कीचड़ तथा कमलगट्टोंसे व्याप्त रहते हैं और शैवाल भी उनमें रहता है ॥ ५१ ॥

जैसे सजल मेघ गरजता है, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि ज्योतियोंको निगल जाता है और बिजलीसे युक्त होता है, वैसे ही गरज रहे और लोगोंको निगल रहे मानो जगत्को निगलनेके लिए ब्रह्मा द्वारा रचे गयेसे वे जटाजालरूपी बिजलीसे युक्त थे ॥ ५२ ॥

इसी समय युद्धभूमिमें लीलापति राजा विदूरथने दुष्ट भूतोंका विनाश करनेवाला नारायणास्त्र, प्रयोग करनेके लिए, उठाया ॥ ५३ ॥

इस श्रेष्ठ अस्त्रके उदित होते ही सूर्यके उदित होनेपर जैसे अन्धकार

जित्वा रिपुं पुनरसौ यथा प्रहरते तथा ।
वारुणं विससर्जाऽस्त्रं पूजयित्वा विदूरथः ॥ ६१ ॥
आययुः सलिलापूरास्तमःपूरा इवाऽभितः ।
अधस्तादूर्ध्वतो दिग्भ्यो द्रवरूपा इवाऽद्रयः ॥ ६२ ॥
भागा इव शरव्योम्नि धृतयाना इवाऽम्बुदाः ।
महार्णवा इवोच्चस्थाः कुलशैलशिला इव ॥ ६३ ॥
तमालौघा इवोड्डीनाः सन्धिता इव रात्रयः ।
कज्जलौघा इवोद्भूता लोकालोकतटादिव ॥ ६४ ॥
रसातलगुहाभोगा इव व्योमदिदृक्षवः ।
महाघुरघुरारावरंहोबृंहितमूर्तयः ॥ ६५ ॥
तामग्निसन्ततिं मत्तामाचचामाऽम्बुसन्ततिः ।
भुवनव्यापिनी सन्ध्यामाशु कृष्णे च यामिनी ॥ ६६ ॥

बड़वानलसे मानो जगत्के अग्निरूपी अद्वैतकी (अग्निरूपताकी) संभावना करती हुई जनता जलाई गई ॥ ६० ॥

राजा विदूरथने आग्नेय अस्त्रको जीतकर रिपु सिन्धुपर भी जैसे यह अस्त्र प्रहार करे वैसे पूजा करके वारुणास्त्रका प्रयोग किया ॥ ६१ ॥

उस अस्त्रके प्रयोगसे शरोंके मार्गके अवकाशमें दसों दिशाओंसे चारों ओरसे अन्धकारके प्रवाहकी नाईं, द्रवरूप पर्वतोंकी नाईं, आकाशके भागकी नाईं, स्थिरगति (निश्चल) बादलोंकी नाईं, महासागरकी नाईं और ऊपरसे नीचेको लुढ़काई गई कुलपर्वतोंकी चट्टानोंकी नाईं जलप्रवाह आने लगे ॥ ६२, ६३ ॥

वे जलप्रवाह क्या थे मानो बाणोंके मार्गभूत आकाशमें उड़े हुए तमाल-वृक्षोंके झुण्ड थे, आपसमें एक दूसरेसे पिरोई हुई रात्रियां थीं, लोकालोक-पर्वतकी तलहटीसे निकले हुए असंख्य काजलके अन्धकाररूपी ढेर थे आकाशके दर्शनोंकी तीव्र इच्छावाली विशालकाय पातालकी गुफाएँ थीं, जिनकी स्वभावतः विशाल देह महान् घुरघुर शब्दके वेगसे और भी अधिक बढ़ गई थी ॥ ६४, ६५ ॥

जैसे भुवनव्यापिनी काली रात सन्ध्याको शीघ्र ही पी डालती है, वैसे ही जलसंघातने उन्मत्त उस अग्निसंघातको पी डाला ॥ ६६ ॥

तामग्निसन्ततिं पीत्वा पूरयामास भूतलम् ।
जलश्रीर्जर्टितं देहं निद्रेव व्यक्तिमेयुषी ॥ ६७ ॥
एवंविधानस्त्रमोहान् विदधुर्धावनेतरे ।
मिथो मायामयानग्रे पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ६८ ॥
हेतिभारवराः सिन्धोश्चक्ररक्षास्ततोऽम्भसा ।
तृणानीव गताः प्रोह्य रथश्चाऽस्याऽभवत्प्लुतः ॥ ६९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सिन्धुरस्त्रं सस्मार शोषणम् ।
आपत्त्राणकरं दैवं ददौ च शररूपिणम् ॥ ७० ॥
शशामाऽम्बुमयी माया तेन यामेव भास्वता ।
ये मृतास्ते मृता एव बभूवुः शोषिता भुवः ॥ ७१ ॥
अथ मूर्खरुषा तुल्यस्तापः सन्तापयन् प्रजाः ।
जजृम्भे झर्झराकीर्णवनविस्तारकर्कशाः ॥ ७२ ॥

जलराशिने महान् विस्तारको प्राप्त उस अग्निको पीकर जैसे व्यक्त (प्रकट) होती हुई निद्रा श्रमसे श्रान्त शरीरको भर देती है, वैसे ही पहले ज्वालाओंसे व्याप्त भुवनतलको भर दिया ॥ ६७ ॥

पूर्व अस्त्र द्वारा की गई अपनी मलिनताको हटानेवाले तथा उनसे विरुद्ध अस्त्रवेत्ताओंने परस्पर ऐसे मायिक अस्त्रमोह किये, जिन्हें वे अपने सामने स्वयं देखते थे और शत्रुके विनाशरूप फल द्वारा उनका अनुभव भी करते थे ॥ ६८ ॥

तदनन्तर जलसे राजा सिन्धुके अपनी सेनाकी रक्षा करनेवाले अस्त्रशस्त्र-समूह और श्रेष्ठ योद्धा तिनकोंकी नाईं बह चले और राजा सिन्धुका रथ भी जलप्रवाहमें तैरने लगा ॥ ६९ ॥

इसी बीचमें सिन्धुको शोषणास्त्रका स्मरण हुआ। उसने आपत्तिसे बचानेवाले तथा देवसे प्राप्त शररूपी शोषणास्त्रका धनुषमें सन्धान किया ॥ ७० ॥

सूर्यके उदयसे रात्रिकी नाईं शोषणास्त्रसे जलमयी माया शान्त हो गई जो मर चुके थे वे, मरे ही रह गये, किन्तु भूमितल सूख गया ॥ ७१ ॥

तदनन्तर मूर्खके क्रोधके सदृश लोगोंको क्लेश पहुँचा रहा सूर्यताप, जो कि सूखे हुए पत्तोंसे इधर उधर चारों ओर व्याप्त विशाल वनोंसे अधिक कठोर हुआ था, खूब बढ़ने लगा ॥ ७२ ॥

कचत्कनकनिःस्यन्दसुन्दराङ्गच्छविर्दिशाम् ।
आसीद्राजवरस्त्रीणामिवाऽऽलेपोऽङ्गसङ्गतः ॥ ७३ ॥
तेन घर्ममयीं मूर्च्छामाजग्मुस्तद्विरोधिनः ।
ग्रीष्मदावानलोत्तप्ता मृदवः पल्लवा इव ॥ ७४ ॥
विदूरथो रणोद्रेके तावत् क्रेङ्कारमाततम् ।
कोदण्डं कुण्डलीकृत्य पर्जन्यास्त्रमथाऽऽददे ॥ ७५ ॥
उदगुः पङ्क्तियोऽब्दानां यामिन्य इव सञ्चिताः ।
तमालविपिनोड्डीनसंरम्भादम्बुमन्थराः ॥ ७६ ॥
वामना वारिपूरेण गर्जनोद्दामसंचराः ।
महिम्ना मन्थराशेषककुम्मण्डलकुण्डलाः ॥ ७७ ॥
ववुरावलितासारा मेघडम्बरभेदिनः ।
कीर्णसीकरनीहारभारोदाराः समीरणाः ॥ ७८ ॥

दिशाओंकी चमचमा रहे सुवर्णके द्रवकी नाईं सुन्दर शरीरशोभा ऐसी भली मालूम होती थी मानो राजाओंकी उत्तम स्त्रियोंके शरीरमें लगा हुआ केसर आदिका अङ्गलेप हो ॥ ७३ ॥

शोषणास्त्रसे राजा सिन्धुके विरोधी ग्रीष्म ऋतुकी वनाग्निसे खूब सन्तप्त कोमल कोमल पल्लवोंकी नाईं घामसे होनेवाली मूर्च्छाको प्राप्त होने लगे ॥ ७४ ॥

तदुपरान्त रणभूमिकी भयङ्करताके बढ़नेपर राजा विदूरथने क्रेंकारकी (प्रत्यञ्चाशब्दकी) शोभासे व्याप्त धनुषको तान कर उसमें पर्जन्य अस्त्रका अनुसन्धान किया ॥ ७५ ॥

एक स्थानमें ढेर लगा कर रक्खी हुई रात्रियोंकी नाईं जलपूर्ण होनेके कारण मन्दगामिनी मेघपङ्क्तियां तमाल वनोंके आकाशमें उड़नेकी लीलासे उदित हुईं ॥७६॥

उक्त मेघपङ्क्तियां जलराशिसे नमनेके कारण उन्नत नहीं थीं, गर्जन और तर्जनसे उनका गमन बड़ा उद्दाम था, तिरछे विस्तारसे अमन्थर और स्वाभाविक विस्तारसे कुण्ठितगतिकी नाईं संकुचित सम्पूर्ण दिशामण्डल मानो उनके कुण्डल हो गये थे ॥ ७७ ॥

विकीर्ण (इधर उधर बिखेरे गये) जलबिन्दुओं और शैत्यराशिसे सुखदायक, मेघाडम्बरको भिन्न करनेवाले और मुसलाधार वृष्टिसे व्याप्त वायु बहने लगे ॥७८॥

प्रपुस्फुरुः सुसौवर्णसर्पापत्सरणोपमाः ।
विद्युतो दिवि दैव्यस्त्रीकटाक्षवलना इव ॥ ७९ ॥
जुघूर्णुर्गर्जनोच्छूनप्रतिश्रुद्घनकन्दराः ।
दिशश्चलितमातङ्गसिंहर्क्षरवघर्घराः ॥ ८० ॥
महामुसलधाराभिः पेतुरासारवृष्टयः ।
कष्टटङ्कारकठिनाः कृतान्तस्येव दृष्टयः ॥ ८१ ॥
उदभूत् प्रथमं बाष्प उष्णोऽनलनिभो भुवः ।
पातालादभ्रवृन्दानां युद्धायेवाऽऽत्तविभ्रमः ॥ ८२ ॥
ततो निमेषमात्रेण प्रशेमुर्मृगतृष्णिकाः ।
परबोधरसापूरैर्यथा संसारवासनाः ॥ ८३ ॥
आसीत् पङ्काङ्कमखिलं भूमण्डलमसञ्चरम् ।
पूरितः पूर्णधाराभिः सिन्धुः सिन्धुरिवाऽम्बुना ॥ ८४ ॥

अप्सराओंके कटाक्षविक्षेपके तुल्य चपल बिजली आकाशमें ऐसी चमकती थी, मानो सोनेके साँप किसी बहुत बड़ी आपत्तिसे बड़ी उतावलीके साथ निकल रहे हों ॥ ७९ ॥

दिशाएँ, जिनकी कन्दराएँ मेघोंके गर्जनकी बढी चढ़ी प्रतिध्वनियोंसे व्याप्त थीं और जिनमें मेघगर्जन सुननेके पश्चात् 'हमारे सामने यह कौन गरज रहा है' यों क्रोधपूर्वक सामने दौड़े हुए हाथियों, सिंहों और रीछोंके प्रतिगर्जनसे विपुल कोलाहल हो रहा था, घूमने लगीं ॥ ८० ॥

ओले गिरनेकी कष्टदायक टं टं ध्वनियोंसे कठिन खूब वेगवाली वृष्टि बड़ी बड़ी मूसलाधारोंसे गिरने लगी। वह वृष्टि क्या थी मर्मस्थान और नसोंको तोड़नेकी ध्वनियोंसे कठिन (क्रूर) यमकी ही दृष्टि थी ॥ ८१ ॥

पहले मेघोंके युद्धके लिए मानों शूरवीरताको धारण किया हुआ-सा अग्निके तुल्य गर्म पृथिवीका भाप पातालसे निकला ॥ ८२ ॥

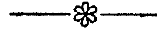
तदुपरान्त परमात्माके बोधरूप निरतिशय आनन्दप्रवाहसे सांसारिक वासनाओंकी नाईं मृगतृष्णाको पैदा करनेवाले आतपसन्ताप (प्रचण्ड घाम) पर्जन्यास्त्रसे एकपलक भरमें शान्त हो गया ॥ ८३ ॥

सारा भूमण्डल कीचड़से सन गया, अतएव उसमें चलना भी दूभर हो

वायव्यमस्त्रमसृजत् पूरिताकाशकोटरम् ।
कल्पान्तनृत्तसम्मत्तरटद्भैरवभीषणम् ॥ ८५ ॥

ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गा दलितशिलाशकलाः ककुम्मुखेषु ।
प्रलयसमयसूचका भटानां कृतपटुटाङ्कतटङ्किनः समीराः ॥ ८६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आयुधवर्णनं नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥



गया। राजा सिन्धु जलधाराओंसे ऐसा पूर्ण हो गया जैसा कि जलराशिसे समुद्र भर जाता है। यों जलधाराओंसे व्याप्त सिन्धु राजाने वायव्य अस्त्रका प्रयोग किया। वायव्यास्त्रने आकाशरूपी कोटरको (खोखलेको) वायुसे पूर्ण कर दिया और वह स्वयं प्रलयकालके नृत्यमें मत्त और गा रहे भैरवके सदृश भीषण था यानी उसमें सांय-सांय शब्द और कम्पन प्रचुरमात्रामें हो रहा था ॥ ८४, ८५ ॥

दसों दिशाओंमें प्रबल आँधी बहने लगी। जैसे वज्र गिरनेसे लोगोंके शरीरमें दर्द होता है, वैसे ही उक्त आँधीने प्राणियोंके अङ्गोंको व्यथित कर डाला, बड़ी बड़ी शिलाओंके टुकड़ोंको तोड़फोड़ डाला, योधाओंके प्रलयकालकी सूचना करनेवाले एवं भटोंके प्रतिभटों द्वारा किये गये बड़े-बड़े टङ्कारोंसे मानी शिलाओंको तोड़नेकी ध्वनियोंसे टङ्कवाले-से अर्थात् पत्थरोंको तोड़नेके हथियारों-से (घनोंसे) युक्त-सी थी ॥ ८६ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त।



एकोनपञ्चाशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

वपुर्वेलितनीहारा विकीर्णवनपल्लवाः ।
वायवो धूतवृक्षौघाः सलीलापीडपांसवः ॥ १ ॥
पक्षिवद्भ्रान्तवृक्षौघाः पतनोत्पातनोद्भटाः ।
विकुट्टिताट्टालखण्डाश्चाऽभ्रभित्तिविभेदिनः ॥ २ ॥
तेनाऽतिभीमवातेन विदूरथरथोऽप्यथ ।
उह्यमानोऽभवन्नद्या यथा जर्जरपल्लवः ॥ ३ ॥
विदूरथोऽथ तत्याज पार्वतास्त्रं महास्त्रवित् ।
व्योमाऽपि घनतोयेन समादातुमिवोद्यतम् ॥ ४ ॥
तेन शैलास्त्रघातेन विराट् प्राणसमीरणः ।
शमं चैतन्यशान्त्येव प्रययौ वायुराततः ॥ ५ ॥

उन्चासवाँ सर्ग

[पर्वतास्त्र, वज्रास्त्र, ब्रह्मास्त्र और पिशाचास्त्रका, जिसमें पिशाचोंकी विविध लीलाएँ थीं, विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तुषारसे सने हुए वायु बहने लगे, उन्होंने वनके पल्लवोंको अस्तव्यस्त कर दिया, वनके वृक्षोंको कँपा दिया और जितने मूर्तिमान् पदार्थ थे, उनके मस्तकोंमें धूलिको लीलासे आपीड़ (शिरोभूषण) बना दिया ॥ १ ॥

उक्त वायुओंने वृक्षोंके झुण्डके झुण्डको पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ा दिया, बड़े-बड़े भटोंको पृथिवीमें पछाड़ दिया और आकाशमें उड़ा दिया बड़े-बड़े महलोंकी अटारियोंके हिस्सोंको चूर-चूर कर दिया और बादलरूपी भीतको छिन्न भिन्न कर दिया। उस भीषण वायुसे राजा विदूरथका रथ भी जैसे जीर्ण पत्ता नदीके वेगसे बहाया जाता है, वैसे ही बहाया गया ॥ २, ३ ॥

तदुपरान्त महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथने पार्वतास्त्रका त्याग किया, वह मानो मेघ-जलके साथ आकाशको भी ग्रसनेके लिए उद्यत था ॥ ४ ॥

उस पर्वतास्त्रके प्रहारसे सर्वत्र व्याप्त वायु ऐसे शान्तिको प्राप्त हुआ जैसे

अन्तरिक्षगता वृक्षपङ्क्तयः पतिता भुवि ।
नानाजनशवव्यूहे काकानामिव कोटयः ॥ ६ ॥
शेमुः सूत्काररडात्कारभाङ्कारोत्कारका दिशाम् ।
प्रलापा इव विध्वस्ताः पूर्ग्रामवनवीरुधाम् ॥ ७ ॥
गिरीनपश्यन्नभसः पततः पत्रवर्णवत् ।
सिन्धुः सिन्धुरिवोत्पक्षान्मैनाकादीनितस्ततः ॥ ८ ॥
वज्रास्त्रमसृजद्दीप्तं चेरुर्वज्रगणास्ततः ।
पिबन्तोऽद्रीन्द्रतिमिरमग्निदाहमिवाऽग्नयः ॥ ९ ॥
ते गिरीणां तथा क्षिप्ताः कोटितुण्डावखण्डनैः ।
शिरांसि पातयामासुः फलानीवोल्बणानिलाः ॥ १० ॥
विदूरथोऽथ वज्रास्त्रशान्त्यै ब्रह्मास्त्रमत्यगात् ।
ततो ब्रह्मास्त्रवज्रास्त्रे समं प्रशममागते ॥ ११ ॥

कि तत्त्वज्ञान होनेसे, मायारूप कारणका नाश होनेके कारण, उसके कार्य विराट् सूत्रात्मा शान्त हो जाता है ॥ ५ ॥

जैसे अनेक लोगोंके शवोंके ढेरमें करोड़ों कौए गिरते हैं, वैसे ही पहले वायुके कारण आकाशमें गई हुई वृक्षपङ्क्तियाँ पृथिवीमें गिरीं ॥ ६ ॥

दिशाओंके सूत्कार (निःश्वासके शब्द), डात्कार (लट्टपाटके शब्द), भांकार (भीषण शब्द) और उत्कार (उद्भट शब्द) शान्त हुए, नगर, गांव, वन और लताओंके निरर्थक वर्णनवचन विध्वस्त होते हैं ॥ ७ ॥

जैसे सागरने प्राचीन कालमें अपने ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए परयुक्त मैनाक आदि पर्वतोंको देखा था, वैसे ही राजा सिन्धुने आकाशसे पत्रके तुल्य गिर रहे पर्वतोंको देखा ॥ ८ ॥

तदुपरान्त राजा सिन्धुने दीप्त वज्रास्त्रकी सृष्टि की । उससे जैसे अग्नि लकड़ियोंको जला डालती है वैसे ही बड़े-बड़े पर्वतरूपी अन्धकारको गिरा रहे वज्रोंके झुण्डके झुण्ड निकले ॥ ९ ॥

उन्होंने (वज्रोंने) अपने करोड़ों मुखों द्वारा अवखण्डनसे यानी कर्तनसे (काटनेसे) पर्वतोंके शिखरोंको ऐसे गिरा दिया जैसे कि आंधी फलोंको गिरा देती है ॥ १० ॥

तदनन्तर राजा विदूरथने वज्रास्त्रकी शान्तिके लिए अन्यान्य अस्त्रोंका

श्यामाश्मामं पिशाचास्त्रमथ सिन्धुरचोदयत् ।
तेनोद्गुः पिशाचानां पङ्क्तयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ १२ ॥
सन्ध्यायामथ भीत्येव दिवसः श्यामतां ययौ ।
पिशाचा भुवनं जग्मुरन्धकारभरा इव ॥ १३ ॥
भस्मनः स्तम्भसदृशास्तालोत्तालविलासिनः ।
दृश्यमानमहाकारा मुष्टिग्राह्या न किञ्चन ॥ १४ ॥
ऊर्ध्वकेशाः कृशाङ्गाश्च केचिच्च श्मश्रुला अपि ।
कृष्णाङ्गा मलिनाङ्गाश्च ग्राम्या इव नभश्चराः ॥ १५ ॥
सभया मूढदृष्टाश्च यत्किञ्चनकराश्चलाः ।
दीना वज्रासिनः क्रूरा दीना ग्राम्यजना इव ॥ १६ ॥
तरुकर्दमरथ्यान्तःशून्यगेहगृहाश्चलाः ।
लेलिहानाः प्रेतरूपाः कृष्णाङ्गाश्चपला इव ॥ १७ ॥

अतिक्रमण कर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। उसके अनन्तर ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ शान्त हो गये ॥ ११ ॥

फिर तो राजा सिन्धुने अँधियारी रात्रिके समान काले पिशाचास्त्रका प्रयोग किया। उससे अत्यन्त भीषण पिशाचोंकी पङ्क्तियोंकी पङ्क्तियां निकलीं। उन पिशाचोंकी पङ्क्तियोंसे जैसे सन्ध्याके समय कोई आदमी भयभीत हो काला हो जाता है, वैसे ही दिन भी भयसे मानो काला हो गया। अन्धकारके समूहकी तरह पिशाच भुवनमें व्याप्त हुए। उनमें से कोई भस्मके (जले हुए) स्तम्भोंके तुल्य काले थे, कोई ताड़के पेड़के सदृश ऊँचे थे, किन्हींका महान् आकार दिखाई दे रहा था, कोई हाथसे छूने योग्य यानी कम ऊँचे थे और किन्हींका कोई रूप ही न था यानी अदृश्य थे। किन्हींके केश ऊपरको खड़े थे, कोई बड़े दुबले पतले थे, कोई मोछ-दाढ़ीवाले थे, कोई काले थे, किन्हींका शरीर ग्रामीण पुरुषोंकी नाईं बड़ा गन्दा था, कोई आकाशचारी थे, कोई केवल अपवित्र लोगोंके दृष्टिगोचर होते थे, किन्हींके हाथमें हड्डी, नरमुण्ड आदि वस्तुएँ थीं, कोई चञ्चल थे, कोई दीन-हीन थे, कोई वज्र और तलवारसे भी बढ़कर क्रूर थे, कोई ग्रामीण दरिद्रोंकी नाईं दीन-हीन थे, वृक्ष, कीचड़, रथ्याके भीतर और शून्य घरमें उनका निवास था और वे बड़े चञ्चल थे। उनमें से कोई अपनी जिह्वाओंको लपलपा रहे थे, किन्हींका स्वरूप

जगृहुस्ते तदा मत्ता हतशिष्टमरेर्बलम् ।
आसंस्तत्सैनिकास्तत्र भिन्नास्त्रक्षुब्धचेतनाः ॥ १८ ॥

त्यक्तायुधतनुत्राणास्त्रस्तप्राणाः स्खलद्गमाः ।
नेत्रैरङ्गैर्मुखैः पादैर्विकारभरकारिणः ॥ १९ ॥

त्यक्तकौपीनवसना निमग्ना वसनोत्तराः ।
विष्ठां मूत्रं च कुर्वन्तः स्थिरमारब्धनर्तनाः ॥ २० ॥

पिशाचराजी राजानं तस्य यावद्विदूरथम् ।
समाक्रामति तावत्तां मायां स बुबुधे बुधः ॥ २१ ॥

पिशाचसङ्ग्रामकरीं मायां वेत्ति स भूमिपः ।
तया पिशाचसैन्यं तत् परसैन्ये न्ययोजयत् ॥ २२ ॥

ततः स्वसैनिकाः स्वस्थाः परयोधाः पिशाचिनः ।
तस्याऽऽशु रूपिकास्त्रं च ददावन्यदसौ रुषा ॥ २३ ॥

प्रेतोंके तुल्य था, किन्हींका अङ्ग काला था, कोई बिजलीके तुल्य स्वरूपवाले थे यानी कभी दिखाई देते थे और कभी छिप जाते थे । मदोन्मत्त उन लोगोंने मरनेसे बचे हुए शत्रुके सैनिकोंको पकड़ना आरम्भ किया । वहांपर उसके सैनिकोंकी बुरी हालत हुई । किन्हींके अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये थे और किन्हींकी चेतनाशक्ति नष्ट हो गई थी, किन्हींके हथियार, कवच अलग हो गये थे, कोई मारे भयके दुबके हुए थे और कोई बारबार ठोकर खाकर चल रहे थे । वे सब नयन, मुख, पैर और अन्यान्य अङ्गोंसे भाँति भाँतिकी भूताविष्ट-चेष्टाएँ कर रहे थे । उनमें से कुछने कौपीन और वस्त्रोंका त्याग कर दिया था, कुछके ऊपरके और नीचेके वस्त्रहीन अंग संकुचित थे, कुछ खड़े होकर मल-मूत्रका त्याग कर रहे थे और कुछने नाचना आरम्भ कर दिया था ॥ १२—२० ॥

राजा सिन्धुकी पिशाचसेना जब राजा विदूरथके ऊपर आक्रमण करना चाहती थी, तभी राजा विदूरथने, जो बड़ा बुद्धिमान् था, उसे माया जान लिया ॥ २१ ॥

राजा विदूरथ पिशाचोंसे संग्राम करनेवाली मायाको जानता था, उस माया द्वारा उसने पिशाचोंकी उस सेनाको शत्रुसेनासे भिड़ा दिया ॥ २२ ॥

तदनन्तर राजा विदूरथके अपने सैनिक तो स्वस्थ हो गये और शत्रुके

उदगुर्भूतलाद्व्योम्नो रूपिका ऊर्ध्वमूर्धजाः ।
निर्मग्नविकरालाक्ष्यश्चलच्छ्रोणिपयोधराः ॥ २४ ॥

उद्भिन्नयौवना वृद्धाः पीवराङ्ग्योऽथ जर्जराः ।
स्वरूपारूपजघना दुर्नाभ्यो विकसद्भगाः ॥ २५ ॥

नररक्तशिरोहस्ताः सन्ध्याभ्रारुणगात्रिकाः ।
अर्धचर्वितमांसासृक्स्रवत्सृक्क्याकुलाननाः ॥ २६ ॥

नानाङ्गवलना नानानमन्नमनसत्तमाः ।
शिलाभुजगवक्त्रोरुकटिपार्श्वकराङ्गिकाः ॥ २७ ॥

नारीकृतार्भकशवा हस्ताकृष्टान्त्ररज्जवः ।
श्वकाकोलूकवदना निम्नवक्रहनूदराः ॥ २८ ॥

सैनिक पिशाचोंसे आविष्ट होकर उनकी-सी गतिविधिवाले हो गये । राजा विदूरथने कोपसे उसके सहायक दूसरे रूपिकास्त्रका प्रयोग किया ॥ २३ ॥

खड़े हुए केशवाली गड्ढेसे घुसी हुई विकराल नेत्रवाली तथा चञ्चल कटिभाग और स्तनमण्डलसे युक्त रूपिकाएँ (अनेक पूतनाएँ) भूतल और आकाशसे उत्पन्न हुईं ॥ २४ ॥

उनमें से किन्हींकी जवानी उभरी हुई थी, कुछ बुढ़िया थीं, कुछ बड़ी मोटी थीं और कुछका शरीर जीर्ण-शीर्ण यानी कृश था, किन्हींके जघन अपने स्वरूपके अनुरूप थे और किन्हींके स्वरूपके अनुरूप नहीं थे, किन्हींकी नाभियां बड़ी घृणित थीं, गुप्त अङ्ग भी आवृत नहीं थे, कुछने अपने हाथोंमें नररक्तसे पूर्ण खप्पर ले रक्खा था, अतएव उनका शरीर सन्ध्याकालके मेघके समान लाल था, आधा चबाये हुए माँस और खूनको बहा रहे ओठोंके प्रान्तोंसे उनका मुँह व्याप्त था ॥ २५, २६ ॥

वे पिशाचियाँ विविध प्रकारकी अङ्गचेष्टाएँ कर रही थीं, वे भाँति भाँतिके अनम्र लोगोंको नवाँनेमें समर्थ थीं और उनके मुँह, जंघा, कमर, पसली भुजाएँ और अन्यान्य अङ्ग शिलाओंकी नाईं कठोर और सांपोंकी नाईं टेढ़े मेड़े थे । उन्होंने बच्चोंके शवोंकी नरमाला पहन रक्खी थी, हाथसे वे मनुष्योंकी आतड़ी रूपी रस्सीको खींचती थीं, उनमें से किसीका मुँह कुत्तेका-सा किसीका

जगृहुस्तान् पिशाचांस्ता दुर्बलान् दुःशिशूनिव ।
पिशाचरूपिकासैन्यं तदासीदेकतां गतम् ॥ २९ ॥
निर्मग्ननर्तनोत्तानवदनाङ्गविलोचनम् ।
परस्पराक्रान्तिकरं प्रधावच्च परस्परम् ॥ ३० ॥
निष्कासितमहाजिह्वं नानामुखविकारदम् ।
शरभाराढ्यमन्योन्यं ह्रियमाणशवाङ्ककम् ॥ ३१ ॥
रुधिराम्भसि मज्जन्तदुन्मज्जद्वल्लसत्तनु ।
लम्बोदरं लम्बभुजं लम्बकर्णोष्ठनासिकम् ॥ ३२ ॥
रक्तमांसमहापङ्केष्वन्योन्यं वेल्लनाभ्यसत् ।
मन्दरोद्धूतदुग्धाब्धिलसत्कलकलाकुलम् ॥ ३३ ॥
यथैव मायासञ्चारस्तेन तस्य कृतः पुरा ।
तेनाऽपि तस्याऽऽशु तथा कृतो बुद्ध्वा स लाघवात् ॥ ३४ ॥

कौएका-सा और किसीका उल्लूका-सा था । उनके मुँह, चिबुक (ठेहुन) और पेट गहरे थे ॥ २७, २८ ॥

उन्होंने उन दुर्बल पिशाचोंको दुष्ट बच्चोंकी नाईं पतिरूपसे पकड़ लिया, तदुपरान्त रूपिकाओं और पिशाचोंकी वह सेना एकमें मिल गई ॥ २९ ॥

वे क्रीड़ारसमें अत्यन्त मग्न, नाचनेके कारण उताने मुँह, अङ्ग और नयन वाले थे, परस्पर एक दूसरेके ऊपर आक्रमण कर रहे थे, तथा परस्पर दौड़ रहे थे । उन्होंने महती जिह्वा बाहर निकाल रक्खी थी, नाना प्रकारके मुँहके विकारसे युक्त थे, रुधिरमण्डके भारसे वे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरेकी प्रसन्नताके लिए वे शवोंको ले जा रहे थे ॥ ३०, ३१ ॥

वे रुधिररूपी जलमें बार-बार डूबकर ऊपरको उबरते थे, उनके शरीर बह रहे खूनसे लथपथ अतएव देदीप्यमान थे, पेट, भुजाएँ, कान, ओठ और नासिका—ये अङ्ग बड़े लम्बे थे । रुधिर और माँसके कीचड़में वे परस्पर लोट-पोट कर रहे थे और मन्दराचलसे मथे जा रहे क्षीरसागरके से विपुल कोलाहलसे वे व्याप्त थे ॥ ३२, ३३ ॥

जैसे ही पहले राजा विदूरथने राजा सिन्धुकी मायाका संचार (उसकी मायाको लौटाकर उसीके ऊपर डालना) किया था, वैसे ही राजा सिन्धुने भी

वेतालास्त्रं ततो दत्ते तेनोत्तस्थुः शवव्रजाः ।
अमूर्धानः समूर्धानो वेतालावेशवल्गिताः ॥ ३५ ॥
ततः पिशाचवेतालरूपिकोग्रकबन्धवत् ।
तद्बभूव बलं भीममुर्वीनिगरणक्षमम् ॥ ३६ ॥
अथेतरोऽपि भूपालो मायां संचार्य तां गुरौ ।
राक्षसास्त्रं ससर्जाऽथ त्रैलोक्यग्रहणोन्मुखम् ॥ ३७ ॥
उद्गुः पर्वताकाराः सर्वतः स्थूलराक्षसाः ।
देहमाश्रित्य निष्क्रान्ताः पातालान्नरका इव ॥ ३८ ॥
अथोद्भूद् बलं भीमं ससुरासुरभीतिदम् ।
गर्जद्रक्षोमहानादवाद्यनृत्यत्कबन्धकम् ॥ ३९ ॥
मेदोमांसोपदंशाढ्यं रुधिरासवसुन्दरम् ।
क्षीबकूष्माण्डवेतालयक्षताण्डवसुन्दरम् ॥ ४० ॥

जानकर बड़ी शीघ्रता और फुर्तीके साथ उसकी मायाका संचार उसीके ऊपर कर दिया ॥ ३४ ॥

तदुपरान्त पिशाचास्त्रसे उत्पन्न पिशाच और रूपिकाओंकी सेनाकी सहायताके लिए राजा सिन्धुने वेतालास्त्रका प्रयोग किया, उससे वेतालोंके आवेशसे चलाये गये मुर्दोंके झुण्डके झुण्ड, जिनमें कुछ तो सिररहित थे और कुछ सिरसहित थे, उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पिशाच, वेताल, रूपिका और भीषण कबन्धोंसे परिपूर्ण वह भीषण सेना पृथिवीको निगलनेमें समर्थ हुई ॥ ३६ ॥

तदुपरान्त राजा विदूरथने भी पहले प्रयोग करनेके कारण शिक्षक तुल्य राजा सिन्धुपर उस मायाको लौटाकर राक्षसास्त्रकी सृष्टि की, उक्त राक्षसास्त्र तीनों लोकोंको ग्रसनेमें तत्पर हुआ। चारों ओरसे पर्वताकार महाकाय राक्षसोंका आविर्भाव हुआ, मालूम होता था कि मानो नरक ही देहधारण कर पातालसे निकले हों। तत्पश्चात् देवता और असुरोंको भयभीत करनेवाली बड़ी भीषण राक्षस सेना, जिसमें गरज रहे राक्षसोंके महान् सिंहनादरूपी बाजेसे कबन्ध नाच रहे थे, उत्पन्न हुई। वह सेना मेदा और मासरूप उपदंशसे (मद्यके ऊपर रुचनेवाली वस्तु यानी चाटसे) भरी थी, रुधिररूपी मद्यसे रंगी थी और मत्त

कूष्माण्डकोत्ताण्डवदण्डपादक्षुब्धासृगुक्षिप्ततरङ्गसिक्तैः ।
सन्ध्याभ्ररागोत्करकोटिकान्ति भूतैरसृक्स्रोतसि दत्तसेतु ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने तृतीयास्त्रयुद्धं नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे समरविभ्रमे ।
सर्वारिसैन्यनाशार्थमेकं स्वबलशान्तये ॥ १ ॥
सस्मार स्मृतिमानन्तो महोदाराधिधैर्यभृत् ।
अस्त्रमस्त्रेश्वरं श्रीमद्वैष्णवं शङ्करोपमम् ॥ २ ॥

कूष्माण्ड, वेताल और यक्षोंके ताण्डवसे (उद्धत नृत्यसे) बड़ी भली लगती थी ॥ ३७–४० ॥

कूष्माण्डकोंके उद्धत नृत्यमें दण्डपादसे (पैरोंको इधर उधर नचानेके एक प्रकारसे) विक्षुब्ध रुधिरकी उठी हुई तरङ्गोंसे सींचे गये प्राणियोंसे उक्त सेनाने रुधिरके प्रवाहपर पुल बांध रक्खा था, उक्त पुलकी कान्ति संध्याकालके मेघकी प्रचुर लालिमासे भी करोड़ गुना अधिक था ॥ ४१ ॥

पचासवाँ सर्ग

[दो वैष्णवास्त्रोंका युद्ध, दोनों राजाओंका रथरहित होना तथा राजा विदूरथकी मृत्युका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, समयोचित प्रतिभा रखनेवाले लोगोंमें सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार और अधिक धैर्यशाली राजा सिन्धुने, उस समय जब कि वह भीषण संग्राम हो रहा था, शत्रुकी सम्पूर्ण सेनाके विनाशके लिए तथा अपनी सेनाकी पिशाचोंसे हुई पीड़ाकी शान्तिके लिए सब अस्त्रोंके राजा असाधारण श्रीवैष्णवास्त्रका, जो कालरुद्रके समान संहारकारी था, स्मरण किया ॥ १,२ ॥

अथ योऽसौ शरस्तेन वैष्णवास्त्राभिमन्त्रितः ।
मुक्तस्तस्य फलप्रान्तादुल्मुकादि विनिर्ययौ ॥ ३ ॥
पङ्क्तयः स्फारचक्राणां शतार्कीकृतदिक्तटाः ।
गदानामभियान्तीनां शतवंशीकृताम्बराः ॥ ४ ॥
वज्राणां शतधाराणां तृणराजीकृताम्बराः ।
पट्टिशानां सपद्मानां दीनवृक्षीकृताम्बराः ॥ ५ ॥
शराणां शितधाराणां पुष्पजालीकृताम्बराः ।
खड्गानां श्यामलाङ्गानां पत्रराशीकृताम्बराः ॥ ६ ॥
अथ राजा द्वितीयोऽपि वैष्णवास्त्रस्य शान्तये ।
ददौ वैष्णवमेवाऽस्त्रं शत्रुनिष्ठावपूरकम् ॥ ७ ॥
ततोऽपि निर्ययुर्नद्यो हेतीनां हतहेतयः ।
शरशक्तिगदाप्रासपट्टिशादिपयोमयाः ॥ ८ ॥

राजा सिन्धुने वैष्णव अस्त्रसे अभिमन्त्रित कर जो शर अपनी प्रत्यञ्चासे छोड़ा उसके फलके अग्रभागसे उल्मुक (उल्का) आदि निकलने लगे । उससे निकली हुई बड़े-बड़े चक्रोंकी पङ्क्तियोंने दिशाओंको सैकड़ों सूर्योंसे युक्त-सा बना दिया, अभिमुख आ रही गदाओंकी पङ्क्तियोंने आकाशको सैकड़ों गदाकार बाँसके नये अँखुओं (कल्लों) से युक्त कर दिया, सौ धारवाले वज्रोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको तिनकोंके समूहसे व्याप्त बना दिया, कमलदलोंके कुड्मलोंके (कलियोंके) आकारकी अनेक शाखाओंसे युक्त पट्टिशोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको कटे हुए वृक्षोंसे व्याप्त-सा कर दिया, चोखी धारवाले बाणोंकी पङ्क्तियोंने आकाशको फूलोंकी जालीसे युक्त-सा कर दिया और काली आकृतिवाले खड्गोंकी कतारोंने आकाशको पत्तोंकी राशिसे व्याप्त कर दिया ॥ ३—६ ॥

तदनन्तर दूसरे राजाने यानी विदूरथने भी वैष्णव अस्त्रकी शान्तिके लिए वैष्णव अस्त्रका ही, जो कि शत्रुकी पराक्रम स्थितिके अनुरूप था, प्रयोग किया ॥७॥

उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदिरूप जलवाली अस्त्रोंकी नदियाँ, जिन्होंने पहलेके वैष्णवास्त्रप्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रोंको छिन्न-भिन्न कर दिया था, निकलीं ॥ ८ ॥

शस्त्रास्त्रसरितां तासां व्योम्नि युद्धमवर्तत ।
रोदोरन्ध्रक्षयकरं कुलशैलेन्द्रदारणम् ॥ ९ ॥
शरापतितशूलासिखड्गकुट्टितपट्टिशम् ।
मुसलप्रतनाप्रासशूलशातितशक्तिकम् ॥ १० ॥
शराम्बुराशिमथनमत्तमुद्गरमन्दरम् ।
गदावदनतो युक्तं दुर्वारास्त्रिनिभासिनि ॥ ११ ॥
रिष्टारिष्टप्रशमनभ्रमत्कुन्तेन्दुमण्डलम् ।
प्रासप्रसरसंरब्धप्रोद्यतान्तकृतान्तकम् ॥ १२ ॥
चक्रावकुण्ठितोर्ध्वास्त्रं सर्वायुधक्षयंकरम् ।
शब्दस्फुटद्विरिञ्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १३ ॥

आकाशमें उन शस्त्रास्त्रोंकी नदियोंका द्युलोक और पृथिवीके मध्यवर्ती अवकाशका भी विनाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ कुलपर्वतोंको भी चूर-चूरकर देनेवाला युद्ध हुआ ॥ ९ ॥

उक्त शस्त्रास्त्रोंकी नदियोंके ही युद्धका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'शरा०' इत्यादिसे ।

उस युद्धमें शरसे (वैष्णवास्त्रसे अभिमन्त्रित बाणसे) निकले हुए शूल, तलवार और कटारसे पट्टिश (किर्चके आकारके एक प्रकारके लोहेके हथियार) चूर चूर हो गये थे, मूसलोंके विस्तार तथा प्रास और शूलसे शक्तियां (शक्तिनामका शस्त्र) काटकर टुकड़े टुकड़े की गई थीं और बाणसमूहरूप जलनिधिके मथनमें समर्थ मुद्गर ही मन्दरका काम कर रहे थे । वहां गदाओंके मुखसदृश अग्रभागोंसे टक्कर लग रही थी तथा जिनके अस्त्रोंका निवारण करना महाकठिन था, उन प्रतिभटोंके अनुरूप प्रमाण और प्रभाववाली तलवारे थीं । उस युद्धमें अपनी-अपनी सेनाओंके विध्वंसरूप अशुभकी शान्तिके लिए भालेरूपी चन्द्रमण्डल घूम रहे थे, यम वहांपर प्रासोंके प्रसारसे कुपित थे, अतएव उन्होंने लोगोंका क्षय करना आरम्भ कर दिया था । उस युद्धमें चक्रोंसे ऊपरको खड़े किये अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित किये गये थे, सम्पूर्ण आयुधोंका क्षय हो रहा था, उसके शब्दसे ब्रह्माण्ड मानो फूटता था, प्रहारोंसे कुलाचल भी छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥ १०-१३ ॥

धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युद्धचमानयोः ।
मदस्त्रवारणेनेव वज्राविजरपर्वतम् ॥ १४ ॥
शङ्कुशङ्कितसत्कारकाशिशूलशिलाशतम् ।
भुशुण्डीनिर्जितोद्दण्डभिन्दिपालोग्रमण्डलम् ॥ १५ ॥
परशूलकराभैकपरशूलैककम्पितम् ।
वहदुच्छिन्नचञ्चूरचारणं शत्रुवारणम् ॥ १६ ॥
स्फुटच्चटचटास्फोटरुद्धत्रिपथगारयम् ।
हेत्यस्त्रीचूर्णसंभारमहाधूमवितानकम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यशस्त्रसङ्घट्टाद्भ्रमज्जालोल्लसत्तडित् ।
शब्दस्फुटद्विरिश्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १८ ॥
धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युध्यमानयोः ।
मदस्त्रवारणनेव कालोपायोऽचलात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे मैंने विश्वामित्रके अस्त्रका निवारण किया था, वैसे ही परस्पर एक दूसरेके घात-प्रतिघातका निवारण करनेवाले लड़ रहे उन दो वैष्णवास्त्रोंकी बाणवृष्टिने सब प्रकारके शस्त्रोंके समूहको काट डाला, वज्रोंने अकाट्य पर्वतोंको काटकर जीर्ण-शीर्ण कर दिया ॥ १४ ॥

वहांपर शूल और पत्थर कीलोंकी नाईं चोखे थे, शत्रुभेदनरूप कार्यसे उनकी खूब प्रशंसा होती थी और वे तेज दौड़नेसे हुई फुफकारसे सुशोभित थे। वहां भुशुण्डियोंने (एक प्रकारके शस्त्रोंने) भीषण भिन्दिपालोंके घने ढेर पर विजय पाई थी। सबका संहार करनेमें समर्थ भगवान् शङ्करके तुल्य पराक्रमशाली शिवशूलको उसके तुल्य ही दूसरे शूलने कुण्ठित कर डाला था, निकलते ही तुरन्त काटे गये हथियारोंकी टेढ़ी-मेढ़ी गतियाँ हो रही थीं। फूट रहे चट-चट शब्दने गङ्गाजीके प्रवाहको रोक दिया था और अस्त्र-शस्त्रोंके चूरके ढेररूपी महान् धूमसे (धुँएसे) चँदवा तन गया था ॥ १५–१७ ॥

वहांपर परस्परके शस्त्रास्त्रोंके टकरानेसे घूम रहे जालकी नाईं बिजलियाँ प्रदीप्त होती थीं, कलकल शब्दसे ब्रह्माण्ड मानो फूटा जा रहा था, प्रहारसे बड़े-बड़े कुलपर्वत छिन्न-भिन्न हो गये थे, परस्पर जूझ रहे अस्त्रोंकी शरवृष्टिने शस्त्रास्त्रोंके ढेरको काटकर गिरा दिया था, पर्वतकी नाईं निश्चल राजा विदूरथ

अयं कियद्बल इति सिन्धौ तिष्ठति हेलया ।
विदूरथोऽस्त्रमाग्नेयं तत्याजाऽशनिशब्दवत् ॥ २० ॥
ज्वालयामास सरथं सन्धोः कक्षमिवाऽरसम् ।
एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नि हेतिनिर्विवरोदरे ॥ २१ ॥
ससन्नाह इव प्रावृट् पयोदतटिनीव यः ।
अस्त्रे राज्ञोः क्षणं कृत्वा युद्धं परमदारुणम् ॥ २२ ॥
अन्योन्यं शममायाते सवीर्ये सुभटाविव ।
एतस्मिन्नन्तरे सोऽग्नी रथं कृत्वा तु भस्मसात् ॥ २३ ॥
प्राप दग्ध्वा वनं सिन्धुं मृगेन्द्रमिव कन्दरात् ।
सिन्धुरभ्यासतोऽग्न्यस्त्रं वारुणास्त्रेण शामयन् ॥ २४ ॥
रथं त्यक्त्वाऽवनिं प्राप्य खड्गास्फोटकवानभूत् ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण रथाश्वानां रिपोः खुरान् ॥ २५ ॥

मेरे द्वारा विश्वामित्रके अस्त्रोंके निवारणकी नाईं केवल अस्त्रनिवारणमात्रसे स्थित थे, उनकी ऐसी स्थिति केवल कालक्षेपका उपाय था ॥ १८, १९ ॥

मेरे सामने इसकी क्या हस्ती है, यों राजा विदूरथकी अवहेलनासे राजा सिन्धुके स्थित होनेपर राजा विदूरथने सिन्धुके ऊपर वज्र-निर्घोषयुक्त आग्नेय अस्त्र छोड़ा। उक्त आग्नेय अस्त्रने सूखी हुई घासके ढेरकी नाईं राजा सिन्धुके रथको जला दिया। इसी बीचमें जब कि अस्त्र-शस्त्रोंसे आकाश ऐसा पट गया था कि कहींपर भी सूराख दृष्टिगोचर नहीं होता था, जो राजा सन्नद्ध था वह तो वर्षा ऋतुकी नाईं बाणोंकी वर्षा करता था और जो दूसरा राजा था वह मेघसे बढ़ाई गई नदीकी नाईं बहता था। दोनों राजाओंके पहले प्रयुक्त दो बलवान् वैष्णवास्त्र क्षणभरके लिए परस्पर भीषणतम युद्ध कर दो बलवान् सुभटोंकी नाईं शान्त हो गये। इसी बीचमें जैसे वनाग्नि वनको जलाकर गुहासे निकले हुए सिंहको प्राप्त होती है, वैसे ही आग्नेयास्त्रकी अग्नि राजा सिन्धुके रथको जलाकर सिन्धुको प्राप्त हुई। राजा सिन्धुने हस्तलाघवसे आग्नेयास्त्रको वारुणास्त्रसे शान्त कर दिया और अपने जले हुए रथको छोड़कर पृथिवीपर आकर ढाल और तलवारसे लैस हो गया। राजा सिन्धुने नेत्रोंके पलक गिरने भरमें शत्रुके रथके

लुलाव करवालेन मृणालानीव लाघवात् ।
विदूरथोऽपि विरथो बभूवाऽऽस्फोटकासिमान् ॥ २६ ॥
समायुधौ समोत्साहौ चेरतुर्मण्डलानि तौ ।
खड्गौ क्रकचतां यातौ मिथः प्रहरतोस्तयोः ॥ २७ ॥
दन्तिमाले· यमस्येव बले चर्वयतः प्रजाः ।
शक्तिमादाय चिक्षेप खड्गं त्यक्त्वा विदूरथः ॥ २८ ॥
सिन्ध्वम्बुघर्घरारावो महोत्पात इवाऽशनिः ।
अविच्छिन्ना समायाता पतिता साऽस्य वक्षसि ॥ २९ ॥
अप्रियस्य यथा भर्तुरनिच्छन्ती स्वकामिनी ।
तेन शक्तिप्रहारेण नाऽसौ मरणमाप्तवान् ॥ ३० ॥
केवलं रुधिरव्रातं नागो जलमिवाऽत्यजत् ।
तद्देशलीला तं दृष्ट्वा भग्नं तम इवेन्दुना ॥ ३१ ॥
सविकासघनानन्दा पूर्वलीलामुवाच ह ।
देवि पश्य नृसिंहेन हतो भर्त्राऽयमावयोः ॥ ३२ ॥

घोड़ेके खुरोंको कमलनालकी नाईं बड़ी फुर्तीसे काट दिया। अब तो राजा विदूरथ भी रथरहित हो गये, अतएव उन्होंने भी हाथमें ढाल-तलवार ली ॥२०—२६॥

अब तो दोनोंके हाथोंमें एकसे हथियार हो गये और उत्साह भी दोनोंका एक-सा था, वे दोनों अपने-अपने वारके लिए समय ढूढ़नेके लिए पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार कर रहे उन दोनोंकी तलवारें वार करते-करते आरोंके तुल्य हो गईं थीं। दोनों सेनाओंमें तलवारें यमकी दन्तपङ्क्तियोंके सदृश प्रजाको (सैनिकोंको) चबा रही थीं। राजा विदूरथने उक्त तलवारका त्याग कर शक्ति ली और उसे शत्रुके ऊपर छोड़ा। वह शक्ति मथे जा रहे समुद्रके जलकी नाईं गम्भीर घर-घर शब्दसे युक्त प्रलय आदि बड़े-बड़े उत्पातोंको सूचित करनेवाले वज्रपातके समान समूची आई और राजा सिन्धुकी छातीपर गिरी, वह ऐसी गिरी जैसे कि अप्रिय पतिके वक्षस्थलपर उसे न चाहनेवाली भार्या गिरती है। उस शक्तिके प्रहारसे राजा सिन्धुके प्राण गये नहीं, किन्तु केवल उसकी छातीसे हाथीकी सूँडसे जलधाराकी नाईं खूनकी धारा बही। चन्द्रमासे नष्ट किये गये अन्धकारकी नाईं उसे (सिन्धुको) राजा विदूरथसे

शक्तिकोटिनखैर्दैत्यः सिन्धुरुद्धुरकन्धरः ।
सरःस्थलस्थनागेन्द्रकरफूत्कृतवारिवत् ॥ ३३ ॥
पिष्टोरसोऽस्य निर्याति रक्तं चुलचुलारवैः ।
हा कष्टं रथमानीतं सिन्धुरारोढुमुद्यतः ॥ ३४ ॥
सौवर्णं मैरवं श‍ृङ्गं पुष्करावर्तको यथा ।
पश्य देवि रथोऽस्याऽसौ मुद्गरेण विचूर्णितः ॥ ३५ ॥
भ्रमत् पार्थनिपातेन सौवर्णं नगरं यथा ।
प्रवृत्तो रथमारोढुमानीतं पतिरेष मे ॥ ३६ ॥
कष्टं वज्रमिवेन्द्रेण मुसलं सिन्धुनेक्षितम् ।
जवात् पतिः प्रयातो मे सैन्धवं मुसलायुधम् ॥ ३७ ॥
वञ्चयित्वा विलासेन रथमारुह्य लाघवात् ।
हा धिकष्टमसौ सिन्धुरार्यपुत्ररथं रयात् ॥ ३८ ॥

भग्न किया हुआ देखकर उस देशकी लीला बड़ी प्रसन्न हुई उसके आनन्दका आरपार न रहा। उसने पूर्वलीलासे कहा—'हे देवि, देखो, नृसिंहरूप हमारे पतिने हिरणकशिपुरूपी महाबलवान् इस सिन्धुको शक्तिके शिखररूपी नखोंसे मार दिया है। जैसे तालाबके बीचमें खड़े हुए हाथीकी सूंडसे फुफकारपूर्वक जलधारा गिरती है, वैसे ही इसके चूर्ण-विचूर्ण वक्षस्थलसे 'चुल-चुल' शब्दके साथ खून निकल रहा है। हा बड़े दुःखकी बात है कि लाये गये रथपर चढ़नेके लिए वह ऐसा तयार हो गया है, जैसे कि सोनेके मेरुशिखरपर पुष्करावर्त मेघ चढ़ता है। हे देवि देखो, इसका यह रथ मुद्गरसे चूर चूर कर दिया गया है ॥ २७–३५ ॥

हे देवि, ये हमारे स्वामी लाये गये रथमें बैठनेके लिए उद्यत हैं। अर्जुनकी बाणवर्षासे निवातकवचनामक दानवोंकी सुवर्णनिर्मित नगरीकी नाईं घूम रहे उस रथको आप देखिये ॥ ३६ ॥

हा बड़े खेदकी बात है कि जैसे इन्द्र अपने शत्रुपर प्रहार करनेके लिए वज्रको देखता है यानी ग्रहण करता है, वैसे ही सिन्धुने हमारे स्वामीपर प्रहार करनेके लिए मूसलको देखा यानी ग्रहण किया। हमारे स्वामी मूसलरूप हथियारवाले राजा सिन्धुको चकमा देकर बड़ी फुर्तीसे रथपर सवार होकर वेगसे

हरिश्चभ्रमिवाऽऽरूढं प्लवेनोर्ध्वमिव द्रुमम् ।
पीडित्वा पीडयामास शरवर्षैर्विदूरथम् ॥ ३९ ॥
छिन्नध्वजं छिन्नरथं छिन्नाश्वं छिन्नसारथिम् ।
छिन्नकार्मुकवर्माणं भिन्नसर्वाङ्गमाकुलम् ॥ ४० ॥
हृदि स्फोटशिलापट्टदृढे पीवरमूर्द्धनि ।
भित्त्वा वज्रसमैर्बाणैः पातयत्येष भूतले ॥ ४१ ॥
अथाऽन्यं रथमानीतं कृच्छ्रेण प्राप्य चेतनाम् ।
खड्गेनाऽऽरोहतोऽस्यांसं छिन्नं भर्तुर्विलोकय ॥ ४२ ॥
पद्मरागगिरिद्योतमिवार्द्रासृग् विमुञ्चति ।
हा हा धिक्कष्टमेतेन सिन्धुना खड्गधारया ॥ ४३ ॥
जङ्घयोर्मे पतिश्छिन्नः क्रकचेनेव पादपः ।
हा हा हताऽस्मि दग्धाऽस्मि मृताऽस्म्युपहताऽस्मि च ॥ ४४ ॥

हट गए हैं। हाय बड़ा कष्ट उपस्थित हुआ। इस राजा सिन्धुने बड़े वेगसे हमारे स्वामीके रथको, जो कि सेवार आदिसे हरे रंगके तालाबकी नाईं हरा है और वृक्षकी नाईं ऊँचा है और पताकासे चिह्नित होनेके कारण प्लवसे (एक प्रकारके पक्षीसे) युक्त है, पीड़ित कर यानी बाणवृष्टिसे छिन्न-भिन्न कर बाणोंकी वृष्टियोंसे हमारे पति विदूरथको व्यथित कर दिया ॥ ३७–३९ ॥

यह हमारे पतिको, जिनके रथकी पताका कट गई है, रथ ध्वस्त हो गया है, घोड़े मर गये हैं, सारथि कट गया है, धनुष और कवच कट-फट गये हैं और सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं अतएव बड़े घबराये हुए हैं, शिला-फलकके समान दृढ़ (जिसका फटना संभव नहीं है) हृदयमें और स्थूल-तम मस्तकमें वज्रके समान कठोर बाणोंसे घायल कर पृथिवीपर गिरा रहा है ॥ ४०–४१ ॥

बड़े क्लेशसे होशमें आकर सारथि द्वारा लाये गये अन्य रथमें चढ़ रहे हमारे पतिके सिन्धु द्वारा तलवारसे काटे गये कन्धेको देखो। कन्धा कटनेके कारण हमारे पति, जैसे घनसे तोड़े गये पद्मरागमणिके पर्वतसे लाल कान्ति निकलती है वैसे ही, खूब रुधिर बहा रहे हैं। ओ हो, अब तो बड़ा भारी कष्ट आया, जैसे आरेसे वृक्ष काटा जाता है वैसे ही इस सिन्धुने तीखी तलवारकी

मृणाले इव पत्युर्मे लूने द्वे अपि जानुनी ।
इत्युक्त्वा सा तदालोक्य भर्तुर्भावभयातुरा ॥ ४५ ॥
लतापरशुकृत्तेव मूर्छिता भुवि साऽपतत् ।
विदूरथोऽपि निर्जानुः प्रहरन्नेव विद्विपि ॥ ४६ ॥
पपात स्यन्दनस्याऽधश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।
पतन्नेवैष सूतेन रथेनैवाऽपवाहितः ॥ ४७ ॥
यदा तदा हतिं तस्य कण्ठेऽदात् सिन्धुरुद्धतः ।
अर्द्धविच्छिन्नकण्ठोऽसावनुयातोऽथ सिन्धुना ॥ ४८ ॥

धारसे हमारे पतिकी पिण्डलियाँ काट डालीं। हा मैं मारी गई हूँ, जलाई गई हूँ, मर गई हूँ और लथेड़ी गई हूँ। मेरे पतिकी दोनों जंघाएँ कमलनालकी नाईं काट दी गई हैं।' ऐसा कहकर पतिकी वह अवस्था देखकर दुःखी हुई और पतिके प्रति उसका जो अत्यन्त प्रेम था, उससे और भयसे कातर होकर वह कुल्हाड़ेसे काटी गई लताकी नाईं मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी। यद्यपि विदूरथकी दोनों जंघाएँ कट गई थीं, तथापि शत्रुपर प्रहार करता हुआ ही वह छिन्नमूल (जिसकी जड़ कट गई हो) वृक्षकी भाँति रथके नीचे गिरनेको तैयार हुआ। वह गिरना ही चाहता था कि सारथि उसे सँभालकर रथसे ही घरकी ओर भगा ले गया* ॥ ४२—४७ ॥

जब सारथि राजा विदूरथको भगा ले गया तब उद्दण्ड राजा सिन्धुने विदूरथके कण्ठमें तलवारसे वार किया। तलवारके वारसे उनका आधा कण्ठ

* सारथिकी राजाको भगा ले जानेमें जो प्रवृत्ति हुई, उसका कारण है। वह यह कि यदि राजा रणमें अभिमुख मरता तो 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हत. ॥' (इस लोकमें दो पुरुष सूर्यमण्डलभेदी हैं, कौन दो ? योगयुक्त परिव्राट् और रणमें शत्रुके सामने लड़ता हुआ मारा गया योधा) इस स्मृतिवचनसे रणमें अभिमुख मरे हुए सूर्यमण्डलभेदी विरक्त शूरकी मुक्ति होनेपर और सूर्यमण्डलभेदी अविरक्त शूरकी 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्याऽन्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' (प्रलय प्राप्त होनेपर वे सब ब्रह्माके साथ कृतार्थ होकर परमपदमें प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं) इस वचनके अनुसार क्रममुक्ति होनेपर 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (मनुष्यलोकरूप आवर्तमें नहीं लौटते) इस श्रुतिके अनुसार दूसरे कल्पमें उसकी पुनरावृत्ति न होनेपर पूर्वजन्ममें पद्मशरीरसे अवशिष्ट प्रारब्धके भोगकी सिद्धि नहीं होगी, इस कारण सरस्वतीके संकल्प और वरदानके बलसे ही सारथिकी राजाके यश और मोक्षके प्रतिबन्धकरूप भगानेमें प्रवृत्ति हुई।

स्यन्दनेनाऽविशत्सद्म पद्मं रविकरो यथा।
सरस्वत्याः प्रभावाढ्यं तत्प्रवेष्टुमसौ गृहम् ॥
नाऽशकन्मशको मत्तो महाज्वालोदरं यथा ॥ ४९ ॥
खड्गावकृत्तगलगर्तगलत्स्रवात-
रक्तच्छटाछुरितवस्त्रतनुत्रगात्रम्।
तत्याज तं भगवतीमभितो गृहान्तः
सूतः प्रवेश्य मृतितल्पतले गतोऽरिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथमरणवर्णनं नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

हतो राजा हतो राजा प्रतिराजेन संयुगे।
इति शब्दे समुद्भूते राष्ट्रमासीद्भयाकुलम् ॥ १ ॥

कट गया तदनन्तर आधे कटे कण्ठवाले विदूरथका सिन्धुने पीछा किया। राजा विदूरथ जैसे सूर्यकी किरणें कमलमें प्रवेश करती हैं, वैसे ही अपने घरमें प्रविष्ट हुआ, लेकिन राजा सिन्धु सरस्वतीके प्रभावसे परिपूर्ण उस घरमें ऐसे प्रवेश नहीं कर सका जैसे कि मदोन्मत्त मच्छर महाज्वालाके भीतर नहीं घुस सकता ॥४८–४९॥

सारथिने राजा विदूरथको, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर तलवारसे काटे गये गलेके छेदसे बुदबुद ध्वनिके साथ निकल रही रक्तधाराओंसे सने थे, घरमें ले जाकर सरस्वतीके सामने सुखपूर्वक मरणके योग्य कोमल विस्तरमें छोड़ दिया और शत्रु भी घरमें प्रवेश न कर सकनेके कारण लौट गया ॥ ५० ॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथके वधसे राष्ट्रविप्लव तथा सिन्धुके राज्यमें प्रतिष्ठित होनेपर फिर राज्यकी सुव्यवस्थाका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, युद्धमें प्रतिद्वन्द्वी राजा सिन्धुके हाथसे राजा विदूरथ मारे गये—राजा विदूरथ मारे गये, इस प्रकारका शोरगुल

भाण्डोपस्करभाराढ्यविद्रवच्छकटव्रजम् ।
साक्रन्दार्तकलत्राढ्यद्रवन्नागरदुर्गमम् ॥ २ ॥
पलायमानसाक्रन्दमार्गाहृतवधूगणम् ।
अन्योन्यलुण्ठनव्यग्रलोकलग्नमहाभयम् ॥ ३ ॥
परराष्ट्रजनानीकताण्डवोल्लाससारवम् ।
निरधिष्ठितमातङ्गहयवीरपतज्जनम् ॥ ४ ॥
कपाटपाटनोड्डीनकोशान्तरवघर्घरम् ।
लुण्ठितासंख्यकौशेयप्रावृताभिभटोद्भटम् ॥ ५ ॥
क्षुरिकोत्पाटितार्द्रान्त्रमृतराजगृहाङ्गनम् ।
राजान्तःपुरविश्रान्तचण्डालश्वपचोत्करम् ॥ ६ ॥
गृहापहृतभोज्यान्नभोजनोन्मुखपामरम् ।
सहेमहारवीरौघपादाहतरुदच्छिशु ॥ ७ ॥

मचनेपर सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। वहां भांडे-बर्तन आदि सामग्रीसे लदी हुई गाड़ियोंपर गाड़ियां इधर उधर भाग रहीं थीं, रो रहे भूखे प्यासे स्त्री और बालबच्चोंको लेकर भाग रहे नागरिकोंकी अपार भीड़ लगी थी, राष्ट्रमें उत्पात मचनेके कारण भाग रहीं और रो रहीं अनेक युवतियाँ मार्गमें डाकुओं द्वारा हर ली गई थीं, आपसमें एक दूसरेको लूटने खसोटनेमें व्यग्र हुए लोगोंको आपसका भी बड़ाभारी भय लगा रहता था, शत्रुके राष्ट्रकी असैनिक जनता और सैनिकोंके विजयप्रयुक्त ताण्डवकी वृद्धिसे सारा विदूरथ राष्ट्र कोलाहलयुक्त था, स्वामियोंके मर जानेके कारण निरंकुश हुए हाथी, घोड़े और वीरोंकी टक्करसे असैनिक जनता गिर रही थी, कोषगृहका (खजानेका) विनाश करते समय किवाड़ोंको तोड़नेसे उत्पन्न हुआ 'घर घर' शब्द आकाशमें फैला हुआ था, वहांपर प्रबल परपक्षी भटोंने लूटे गये असंख्य रेशमी वस्त्रोंको लपेटकर कोषगृहके रक्षक भटोंको तिरस्कृत कर दिया, मरी हुई राज-महिलाएँ चोरों द्वारा छूरोंसे काटी गई खूनसे लथपथ अपनी अँतड़ियोंसे उलझी हुई थीं, राजाके अन्तःपुरमें डोम-चाण्डालोंके झुण्डके झुण्ड विश्राम ले रहे थे, राजगृहसे लूटपाट द्वारा हस्तगत किये गये राजाके भोजनयोग्य स्वादु अन्नोंके भोजनमें गंवार लोग जुटे थे, सोनेकी सिकड़ियोंको पहनेहुए बालक भटोंकी लातें और ठोकरें खा कर रो रहे थे, अपरिचित युवक अन्तःपुरकी महिलाओंके केशपाशको खींच रहे थे, चोरोंके हाथोंसे मार्गमें गिरे हुए बहुमूल्य रत्नोंसे

अपूर्वतरुणाक्रान्तकेशान्तःपुरिकाङ्गनम् ।
चोरहस्तच्युतानर्घ्यरत्नदन्तुरमार्गगम् ॥ ८ ॥
हयेभरथसंघट्टव्यग्रसामन्तमण्डलम् ।
अभिषेकोद्यमादेशं परमन्त्रिपुरःसरम् ॥ ९ ॥
राजधानीविनिर्माणसारम्भस्थपतीश्वरम् ।
कृतवातायनश्वभ्रनिपतद्राजवल्लभम् ॥ १० ॥
जयशब्दशतोद्घोषसिन्धुराजन्यनिर्भरम् ।
असंख्यनिजराजौघधृतसिन्धुकृतास्थिति ॥ ११ ॥
ग्रामान्तरसमाक्रान्तविद्रवद्राजवल्लभम् ।
मण्डलान्तरसंजातनगरग्रामलुण्ठनम् ॥ १२ ॥
अनन्तचोरमोषार्थरुद्धमार्गगमागमम् ।
महानुभाववैधुर्यसनीहारादिनातपम् ॥ १३ ॥
मृतबन्धुजनाक्रन्दैर्मृततूर्यरवैरपि ।
हयेभरथशब्दैश्च पिण्डग्राह्यघनध्वनि ॥ १४ ॥

बटोही लोग दन्तुर-से (ऊंचे दांतवाले की नाईंसे) उज्ज्वल हो रहे थे। हाथी, घोड़े और रथोंको छीनकर लानेमें सामन्त लोग व्याकुल हो रहे थे, राजा सिन्धुके पुत्रके राज्याभिषेक कार्यका आदेश देनेमें मन्त्री आदि ऊँचे राजकर्मचारी बड़े तत्पर थे, राजधानीके निर्माणके लिए अच्छे अच्छे कारीगर सन्नद्ध थे, बनाये गये झरोखोंके छेदोंमें सिन्धुराजकी रानियाँ अपूर्व नगरकी सुन्दरता देखनेके लिए प्रवेश कर रहीं थीं, सैकड़ों 'जय जय' उद्घोषोंके साथ नगरमें प्रवेशित सिन्धुराजके पुत्रका, जिसका तुरन्त अभिषेक हुआ था, उस राष्ट्रमें बड़ा प्रभाव था, राजा सिन्धुने वहाँपर जो नई राज्यव्यवस्था चलाई थी, उसे सिन्धुपक्षके राजाओंने शिरोधार्य कर लिया था, अन्यान्य गाँवोंमें छिपकर रहनेवाले पूर्व राजाके पक्षपाती (प्रीतिपात्र) लोग शत्रुको पता लगनेपर वहांसे भी भाग रहे थे, चोरोंके बड़े भारी गिरोहने लूटपाट करनेके लिए मार्गोंमें लोगोंका आना-जाना रोक रक्खा था, महाप्रतापी राजा विदूरथके विरहसे दिनमें धूप तुषारसे सनी हुई-सी ठण्डी मालूम होती थी, मरे हुए बन्धु-बान्धवोंके लिए रोने-धोनेसे और मरे हुए जनोंके लिए किये गये तूरीके शब्दसे पिण्डके सदृश हाथसे पकड़ने योग्य शब्द वहां हो रहा था ॥ १–१४ ॥

सिन्धुदेवो जयत्येकच्छत्रभूमण्डलाधिपः ।
इत्यनन्तरमारेभे भेर्यः प्रतिपुरं तदा ॥ १५ ॥
राजधानीं विवेशाऽथ सिन्धुरुद्धुरकन्धरः ।
प्रजाः स्रष्टुं युगस्याऽन्ते मनुर्जगदिवाऽपरः ॥ १६ ॥
प्रवृत्ता दशदिग्भ्योऽथ प्रवेष्टुं सैन्धवं पुरम् ।
कराः करिहयाकारै रत्नपूरा इवाऽम्बुधिम् ॥ १७ ॥
निबन्धनानि चिह्नानि शासनानि दिशं प्रति ।
क्षणान्निवेशयामासुर्मण्डलं प्रति मन्त्रिणः ॥ १८ ॥
उदभूदचिरेणैव देशे देशे पुरे पुरे ।
जीविते मरणे माने नियमो यमतो यथा ॥ १९ ॥
अथ शेमुर्निमेषेण देशोपप्लवविभ्रमाः ।
प्रशान्तोत्पातपवनाः पदार्थावृत्तयो यथा ॥ २० ॥

तदुपरान्त वहांपर पृथ्वीके एकच्छत्र अधिपति राजा सिन्धुकी जय हो, ऐसी घोषणा करते हुए प्रत्येक नगरमें लोग भेरियां बजाने लगे ॥ १५ ॥

पुत्रके राज्याभिषेकके बाद जैसे प्रलयके अन्तमें जगत्की सृष्टि करनेके लिए मनु भगवान जगत्में प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा सिन्धुने, जो कि विजयजनित गर्वसे उन्नतमस्तक था, दूसरे मनुकी नाईं राजधानीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

राजा सिन्धुके नगरमें प्रवेश करते ही सिन्धुके नगरमें दसों दिशाओंसे कर (भेंट) हाथी घोड़ेके रूपसे यों प्रवेश करने लगे (आने लगे) जैसे समुद्रमें रत्नोंकी राशियां प्रवेश करती हैं ॥ १७ ॥

मन्त्रियोंने प्रत्येक दिशामें और प्रत्येक सामन्त (अधीन राजा) के पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश तुरन्त भेज दिये ॥ १८ ॥

थोड़े ही समयमें देश देशमें नगर नगरमें जीवन, मरण और संमानके विषयमें यमके-से कठोर नियम बन गये ॥ १९ ॥

नियम बननेके उपरान्त पलक मारने भरमें, देशमें उपद्रवके बादलोंकी जो घटा छाई थी, वह उत्पात वायु (अंधड़-बवंडर) के समाप्त होनेपर जैसे वायुके जोरसे होनेवाले तृण, पत्ते और धूलका घूमना शान्त हो जाता है, वैसे ही सब शान्त हो गई ॥ २० ॥

सौम्यतामाजगामाऽऽशु देशो दशदिगन्वितः ।
क्षीरोदः क्षुभितावर्तो द्रागिवोद्धृतमन्दरः ॥ २१ ॥
ववुरलकचयान् विलोलयन्तो
मुखकमलालिकुलानि सैन्धवीनाम् ।
जललववलनाकुलाः समीरा
अशिवगुणानिव सर्वतः क्षणेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिन्धुराष्ट्रवर्णनं नाम एकपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५१॥

द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राम लीलोवाच सरस्वतीम् ।
श्वासावशेषमालोक्य मूढं भर्तारमग्रगम् ॥ १ ॥

महाप्रलयसे मथनेके समय भीषण जलभौंरियोंसे भरा हुआ तरङ्गित क्षीरसागर मन्दराचलको निकाल देनेसे जैसे शान्त हो गया था वैसे ही अराजकताके समय उत्पातपूर्ण सारा देश दसों दिशाओंके साथ शान्त (विनयपूर्ण) हो गया ॥ २१ ॥

सिन्धुके देशकी सुन्दरियोंके मुखरूपी कमलकी भ्रमरपंक्तियोंके तुल्य अलकोंको धीरे धीरे हिला रहे वायु मुखकमलके मधुबिन्दुरूप स्वेदजलके कणोंको लेनेसे मत्त और मन्दगति होनेके कारण आकुल होकर उक्त सुन्दरियोंके मुखकमलोंकी शीतलता और सुगन्धि आदि मङ्गलमय गुणोंसे सम्पूर्ण देशसे सन्ताप, दुर्गन्धि आदि अशुभ गुणोंको नष्ट करते हुए बहने लगे ॥ २२ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और उस देशकी लीलाकी वासनारूपताका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, अपने सामने मृत्युशय्यापर लेटे हुए मूर्च्छित अपने पतिको श्वासमात्रशेष (जिसमें जीवितके

प्रवृत्तो देहमुत्स्रष्टुं मद्भर्ताऽयमिहाऽम्बिके ।

ज्ञप्तिरुवाच

एवंरूपमहारम्भे संग्रामे राष्ट्रसम्भ्रमे ॥ २ ॥
सम्पन्नेऽपि स्थितेऽप्युच्चैर्विचित्रारम्भमन्थरे ।
न किञ्चिदपि सम्पन्नं राष्ट्रं न च महीतलम् ॥ ३ ॥
न स्थितं क्वचनाऽप्येवं स्वप्नात्मकमिदं जगत् ।
तस्य तन्मण्डपस्याऽन्तः शवस्य निकटाम्बरे ॥ ४ ॥
इदं भूराष्ट्रमाभाति भर्तृजीवस्य तेऽनघे ।
अन्तःपुरगृहान्ते तदिदं राष्ट्रान्वितोदरम् ॥ ५ ॥
वसिष्ठविप्रगेहान्तर्विन्ध्याद्रिग्रामके स्थितम् ।
वसिष्ठविप्रगेहेऽन्तः शवगेहजगत् स्थितम् ॥ ६ ॥
शवगेहजगत्कुक्षाविदं गेहजगत् स्थितम् ।
एवमेष महारम्भो जगत्त्रयमयो भ्रमः ॥ ७ ॥
त्वया मयाऽनयाऽनेन संयुक्तः सार्णवावनिः ।
गिरिग्रामकदेहान्तर्मध्ये गगनकोशके ॥ ८ ॥

चिह्नोंमें केवल श्वास ही शेष रह गया था) देखकर देवी सरस्वतीसे कहा—माँ, यह मेरा पति यहांपर देहका त्याग करनेके लिए उद्यत है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—भद्रे, इस प्रकारके महान् उद्योगसे परिपूर्ण, राष्ट्रमें उथल पुथल मचा देनेवाले, अत्यन्त अद्भुत व्यापारोंसे भरे हुए इस संग्रामके शुरू होने, चलने और समाप्त होनेपर कहींपर न तो राष्ट्र या महीतल कुछ भी रहा और न नष्ट हुआ । इस प्रकारका यह स्वप्नरूप जगत् है । पूर्वोक्त गिरिग्रामके ब्राह्मणगृहके मण्डपके अन्दर रक्खे हुए राजा पद्मके शवके निकटवर्ती मण्डपाकाशमें तुम्हारे पतिका यह पृथ्वीरूपी राष्ट्र प्रतीत होता है, अन्तःपुरके घरके अन्दर अनेक राष्ट्रोंसे युक्त यह ब्रह्माण्ड है ॥ १—५ ॥

विन्ध्याद्रिके ग्राममें वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरका मध्यभाग स्थित है, वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरमें शवयुक्त गृहरूप जगत् स्थित है, शवगृहरूप जगत्के पेटमें यह घररूपी ब्रह्माण्ड स्थित है । इस प्रकार यह त्रिजगत्, जिसमें अनेकानेक व्यापार होते रहते हैं, भ्रम ही है तथा विन्ध्याद्रिके छोटेसे

स्वात्मैव कचति व्यर्थो न कचत्येव वा क्वचित् ।
तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ॥ ९ ॥
स्वयं कचितमाभातं शान्तं परमनामयम् ।
किल मण्डपगेहेऽन्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ॥ १० ॥
एवमारम्भघनयोरपि मण्डपयोस्तयोः ।
उदरे शून्यमाकाशमेवाऽस्ति न जगद्भ्रमः ॥ ११ ॥
भ्रमद्रष्टुरभावे हि कीदृशी भ्रमता भ्रमे ।
नाऽस्त्येव भ्रमसत्ताऽतो यदस्ति तदजं पदम् ॥ १२ ॥

ग्राममें घरके अन्दर आकाशकोशमें सागर और पृथ्वी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा यह भ्रम तुमसे, मुझसे, इससे (दूसरी लीलासे) तथा तुम्हारे पतिसे युक्त है, एकके भीतर दूसरा उत्पन्न हुआ, यह भी कल्पना ही है, वस्तुतः चैतन्यमें ही यह विकासको प्राप्त हुआ है। अपना आत्मा ही इस जगत्‌रूपसे व्यर्थ विकासको प्राप्त होता है अथवा कहीं भी इस जगत्‌रूपसे विकासको प्राप्त नहीं होता । भाव यह कि विषयके मिथ्या होनेसे चैतन्यमें विषय-संवलित रूप भी नहीं ही है। ऐसी अवस्थामें निर्विषय चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है, वही मुख्य ज्ञातव्य है, इसलिए तुम नाश और उत्पत्तिसे शून्य उस परम पदको जानो ॥ ९ ॥

स्वयंप्रकाश, शान्त, निर्विकार वही (चैतन्य ही) मण्डपघरके अन्दर अपने चिन्मात्र स्वभावसे उदित अपनी आत्मामें जगत्-रूपसे प्रतीत हुआ है, उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसी विद्वानोंमें प्रसिद्धि है ॥ १० ॥

मण्डपके अन्तर्गत आकाशमें भी जब जगत् नहीं है, तब शुद्ध चिदाकाशमें जगत् नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—**एवम्** इत्यादिसे ।

इस प्रकार अनेक व्यापारोंसे पूर्ण प्रतीत होनेवाले उन मण्डपोंके भी अन्दर शून्य आकाश ही है, जगद्भ्रम नहीं है ॥ ११ ॥

अति क्षुद्र वस्तुके अन्दर विशाल वस्तुका समावेश नहीं हो सकता, अतएव अल्पवस्तुमें बृहत्पदार्थकी प्रतीति यदि भ्रम है, तो अत्यन्त बृहत् ब्रह्मका मण्डपके अन्दरके आकाशमें समावेश होना सम्भव नहीं है, फिर शास्त्र और

भ्रमो दृश्यमसत्तस्य द्रष्टृदृश्यदशा कुतः ।
द्रष्टृदृश्यक्रमाभावादद्वयं सहजं हि तत् ॥ १३ ॥
तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ।
स्वयं कचितमाभातं शान्तमाद्यमनामयम् ॥ १४ ॥
किल मण्डपगेहान्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ।
विहरन्ति जनास्तत्र स्वगेहे स्वव्यवस्थया ॥ १५ ॥

आचार्यके उपदेशसे वहांपर ब्रह्मकी प्रतीति भ्रम क्यों नहीं होगी ? ऐसी शङ्का कर उपजीव्यविरोध होनेसे ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं— 'भ्रमदृष्टु०' इत्यादिसे ।

जब भ्रमका कोई द्रष्टा ही नहीं है, तब भ्रममें भ्रमता ही कैसे होगी, इसलिए भ्रमकी सत्ता नहीं ही है और जो है, वह निर्विकार परम (चैतन्य) ही है ॥१२॥

भ्रमको देखनेवाला दूसरा नहीं है, तो भ्रम ही भ्रमको देखे ? इसपर कहते हैं—'भ्रमो' इत्यादिसे ।

भ्रम असत् दृश्य है । दृश्य द्रष्टा पुरुषके व्यापारके फलका आधार होता है यानी द्रष्टा जो कुछ व्यापार करता है उस व्यापारका फल जिसमें रहता है, वह दृश्य है । अपनेमें अपने आप कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, क्योंकि एकमें कर्तृत्व भी रहे और कर्मत्व भी रहे, यह विरुद्ध है, इसलिए दृश्य भ्रमकी द्रष्टा और दृश्य दो दशाएँ नहीं हो सकती हैं । द्रष्टाके अभावमें दृश्यकी सत्ता और स्फूर्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती । यह द्रष्टा और दृश्यके क्रमका अभाव द्वैतदशामें दूषण है और अद्वैतदशामें तो वह भूषण है, ऐसा कहते हैं—'द्रष्टृ' इत्यादिसे । अद्वैतमें द्रष्टा और दृश्यके क्रमका अभाव होनेसे वह वहांपर स्वभावतः है ॥ १३ ॥

आप उस परम पदको, जो नाश और उत्पत्तिरहित, स्वयंप्रकाश, शान्त, आदि और निर्विकार है, जगत्-रूपसे प्रतीत जानो ॥ १४ ॥

अति अल्प स्थानमें बृहत्तर वस्तुका समावेश न हो सकना भी दृश्यका ही दूषण है । सर्वाधिष्ठान चैतन्यका दूषण नहीं है, इस आशयसे कहते हैं— 'किल' इत्यादिसे ।

मण्डप गृहके भीतर अपने स्वभावसे उदित आत्मारूप अपने घरमें लोग

न जगत्तत्र नो सर्गः कश्चिदप्यनुभूयते ।
तेनाऽहमजमाकाशं जगदित्येव वर्तते ॥ १६ ॥
सर्वं शून्यात्मविज्ञानं मेर्वादिगिरिजालकम् ।
नेदं कुड्यमयं किञ्चिद्यथा स्वप्ने महापुरम् ॥ १७ ॥
देशे प्रादेशमात्रेऽपि गिरिजालमयान्यपि ।
वज्रसाराणि खान्येव लक्षाणि जगतो विदुः ॥ १८ ॥
जगन्ति सुबहून्येव संभवन्त्यणुकेऽपि च ।
कदलीपल्लवानीव सन्निवेशेन भूरिशः ॥ १९ ॥
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।
तस्याऽप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ २० ॥

अपने अपने व्यवहारके अनुकूल प्रशस्त प्रदेशकी व्यवस्था कर विहार करते हैं, संचार करते हैं, यह कम आश्चर्य नहीं ॥ १५ ॥

वहांपर तत्त्वज्ञ पुरुषोंको न तो जगत्की प्रतीति होती है और न किसी सृष्टिका ही अनुभव होता है, उक्त तत्त्वज्ञोंके अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह निश्चित होता है कि अहङ्कारका साक्षीरूप अविनाशी चिदाकाश ही अज्ञानीकी दृष्टिसे जगत्-रूपसे स्थित है ॥ १६ ॥

अनुमान प्रमाणसे भी उक्त बातको सिद्ध करते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे।

मेरु आदि पर्वतोंके समुदायसे युक्त यह सम्पूर्ण दृश्य निराकार ज्ञानरूप ही है, यह जैसा दिखाई देता है, वैसा स्थूलरूप नहीं है, क्योंकि उसका जहांपर समावेश नहीं हो सकता, अत्यन्त अल्प प्रदेशमें तत्त्वज्ञोंको उसकी प्रतीति हुई है, जैसे देहके अन्दर स्वप्नमें देखा गया महा नगर ॥ १७ ॥

स्वप्नमें सबके अनुभवसे सिद्ध व्याप्तिको दिखलाते हैं—'देशे' इत्यादिसे ।

'स्वप्नः कण्ठे समाविशेत्' इस श्रुतिके अनुसार कण्ठसे लेकर हृदय तक बिलस्त भर स्थानमें आत्मचैतन्यको ही पर्वतसमुदायोंसे पूर्ण वज्रकी नाईं कठिन लाखों जगत्के रूपमें स्वप्नमें सभी देखते हैं ॥ १८ ॥

जैसे बहुतसे केलेके कोमल पत्ते तहके साथ अल्प स्थानमें संनिविष्ट रहते रहते हैं, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्यमें अनन्त जगत् रह सकते हैं। जैसे

तेषां यस्मिन् जगत्येष पद्मो राजा शवः स्थितः ।
लीला तव सपत्नीयं प्राप्ता पूर्वतरा शुभे ॥ २१ ॥
यदैव मूर्छामायाता लीलेयं पुरतस्तव ।
तदैव भर्तुः पद्मस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ २२ ॥

लीलोवाच

कथमेषा पुरा देवि सम्पन्ना तत्र देहिनी ।
कथं च तत्सपत्नीकभावमाप्तवती स्थिता ॥ २३ ॥
ते चाऽस्या वद किं रूपं पश्यन्त्यथ वदन्ति किम् ।
तद्गेहवरवास्तव्याः समासेनेति मे वद ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

शृणु सर्वं समासेन यथापृष्टं वदामि ते ।
लीले लीलास्ववृत्तान्तमन्तदं दृश्यदुर्दृशम् ॥ २५ ॥

देहके अन्दर स्वप्नमहानगर दिखलाई देता है, वैसे ही चिदणुमें तीनों जगत हैं, उसके अन्दर भी चिदणु हैं, उनमें भी प्रत्येकमें जगत् है ॥ २० ॥

हे भद्रे, उनमें से जिस जगत्में यह पद्म राजा शवरूपमें स्थित है, वहाँ तुम्हारी सौत यह लीला उसके पहले ही चली गई है ॥ २१ ॥

यह लीला ज्योंही तुम्हारे सामने मूर्छाको प्राप्त हुई, त्योंही तुम्हारे पति राजा पद्मके शवके निकट जा पहुँची है ॥ २२ ॥

लीलाने कहा हे देवि, यह लीला वहांपर पहले देहधारिणी कैसे हो गई, जिस स्थितिमें यह मेरी सौत है, उस स्थितिको प्राप्त होकर यह कैसे स्थित है । राजा पद्मके राजमहलमें रहनेवाले लोग इसका कैसा रूप देखते हैं और इसको क्या कहते हैं, यह सब संक्षेपसे आप मुझसे कहिये ॥ २३, २४ ॥

श्री देवीजीने कहा—भद्रे, सुनो, जैसे तुमने मुझसे पूछा है, वह सब मैं संक्षेपसे तुमसे कहती हूँ, यह तुम्हारा ही, जो दूसरी लीला बनी हुई हो, वृत्तान्त है, इससे तुमको निश्चय हो जायगा और इससे मरण, परलोकगमन आदिको भी, जिनको देखना कठिन है, तुम देख सकोगी ॥ २५ ॥

पद्मस्तव स भर्तैष भ्रान्तिं तावत्ततामिमाम् ।
इयं जगन्मयी तस्मिन्नेव सद्मनि पश्यति ॥ २६ ॥
भ्रान्तियुद्धमिमं युद्धमेषा भ्रान्तिर्जनोऽजनः ।
भ्रान्त्येवाऽस्तीह मरणमेष चैवं भ्रमात्मकः ॥ २७ ॥
भ्रमक्रमेणाऽनेनैव लीलाऽस्य दयिता स्थिता ।
त्वं चैषा च वरारोहे स्वप्नमात्रं वराङ्गने ॥ २८ ॥
यथा भवत्यावेतस्य स्वप्नमात्रं वराङ्गने ।
तथा भवत्योर्भर्तैष तथैवाऽहमपि स्वयम् ॥ २९ ॥
जगच्छोभैवेदृशीयं दृश्यमेतदिहोच्यते ।
एतदेव परिज्ञातं दृश्यशब्दार्थमुज्झति ॥ ३० ॥
एवमेषा त्वमेषा च संपन्नैवमसौ नृपः ।
अहश्चाऽऽत्मनि सत्यत्वं गता सर्वतयाऽऽत्मनः ॥ ३१ ॥

तुम्हारा पति महाराजा पद्म नगर आदिके रूपसे दिखाई दे रही जो यह जगन्मय भ्रान्ति है, खूब विस्तारको प्राप्त हुई इस जगन्मय भ्रान्तिको ही उसी शवगृहमें देखता है ॥ २६ ॥

यह जो युद्ध तुमने देखा है, यह स्वप्नयुद्धके समान भ्रान्तियुद्ध ही था, यह लीला भी, जिसके बारेमें तुमने पूछा है, भ्रान्ति ही है, ये जो लोग हैं, वे जन्म आदि विकारसे रहित आत्मा ही हैं, यहां जो मरण होता है, वह भ्रम ही है और यह संसार भी इस प्रकार भ्रमात्मक ही है। इसी भ्रमसे राजा पद्मकी लीला भार्यारूपसे स्थित रही। तुम और वह दोनों सर्वाङ्ग सुन्दरी ललनाएँ स्वप्नमात्र ही हो। जैसे राजाकी आप दोनों सुन्दरियां स्वप्न-मात्र हैं, वैसे ही आपका पति यह राजा पद्म और स्वयं मैं भी स्वप्न-मात्र ही हूँ ॥ २७–२९ ॥

भद्रे, यह सम्पूर्ण जगत्की शोभा ही ऐसी ही (भ्रममात्र ही) है। यहांपर यह सब दृश्य भी भ्रान्तिमात्र ही कहा गया है। यदि यह जान लिया जाय, तो पुरुष दृश्य शब्दके अर्थका (दृश्यमें द्रष्टाके कर्मत्वका) त्याग कर देता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार यह (लीला), तुम, यह संसारस्थिति और यह राजा—

इमे वयमिहाऽन्योन्यं संपन्नाश्चोदिता इति ।
इत्थं सर्वात्मकतया महाचिद्घनसंस्थितेः ॥ ३२ ॥
एवमेषा स्थिता राज्ञी हारिहासविलासिनी ।
लीला विलोलवदना नव यौवनशालिनी ॥ ३३ ॥
पेशलाचारमधुरा मधुरोदारभाषिणी ।
कोकिलास्वरसंकाशा मदमन्मथमन्थरा ॥ ३४ ॥
असितोत्पलपत्राक्षी वृत्तपीनपयोधरा ।
कान्ता काञ्चनगौराङ्गी पक्वबिम्बफलाधरा ॥ ३५ ॥
त्वत्संकल्पात्मकस्यैषा यदा भर्तुर्मनःकला ।
तदा त्वत्सदृशाकारा स्थितैषा चिच्चमत्कृतौ ॥ ३६ ॥
त्वद्भर्तुर्मरणे क्षिप्रं समनन्तरमेव हि ।
त्वद्भर्त्रैषा पुरो दृष्टा त्वत्सङ्कल्पात्मनाऽमुना ॥ ३७ ॥

ये सब भ्रान्तिरूप ही हुए हैं, आत्माकी पूर्णता होनेसे केवल मैं आत्यामें सत्यताको प्राप्त हूँ ॥ २१ ॥

ये राजा लोग और हम परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहकरूपसे परिचालित होकर इस प्रकार महाचिद्घनकी मिथ्या कल्पनास्थितिसे बन गये हैं, वैसे ही यह लीलारूप रानी बन गई है, क्योंकि महाचिद्घन (परम चेतन) की स्थिति सर्वात्मक है। यह लीला, जो कि मनोहर हासरूपी विलाससे अलङ्कृत है, हावभावरूप लीलासे चञ्चल मुहसे युक्त है, नव यौवनसे सुशोभित है, बड़ी दक्ष, सुन्दर आचरणोंसे मनको लुभानेवाली, मीठे और अनमोल वचन बोलनेवाली, कोकिलाके सुरके सदृश सुन्दर सुरवाली, यौवन मदसे मन्दगति, नीले कमलकी पाँखुरियोंके तुल्य विशाल नेत्रवाली, गोल और विशाल छातीसे युक्त, सोनेके सदृश गोरे अंगोवाली, पके हुए बिम्बफलके सदृश लाल ओठवाली और बड़ी रमणीय है, तुम्हारे संकल्परूप पद्मकी जब मनोवृत्ति और उसकी वासना हुई, तब तुम्हारे सदृश आकारवाली यह चैतन्यरूप चमत्कारमें स्थित हो गई ॥ ३२—३६ ॥

तुम्हारे पतिके मरनेके अनन्तर ही तुरन्त तुम्हारे संकल्परूप तुम्हारे पतिने इसे अपने सामने देखा ॥ ३७ ॥

यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतोऽनुभवति स्वयम् ।
चेत्यं सन्मयमेवाऽत आतिवाहिककल्पनम् ॥ ३८ ॥
यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतो वेत्ति न सन्मयम् ।
आतिवाहिकसङ्कल्पस्तदा सत्योपजायते ॥ ३९ ॥
अथो मरणसंवित्त्या पुनर्जन्ममये भ्रमे ।
त्वं हि संविदितानेन त्वया च गत एव सः ॥ ४० ॥
इत्थं त्वां दृष्टवानेष दृष्टश्चैष त्वयेति च ।
त्वमप्यात्मनि संपन्ना सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्म सर्वगतं यस्माद्यथा यत्र यदोदितम् ।
भवत्याशु तथा तत्र स्वमशक्त्यैव पश्यति ॥ ४२ ॥

यदि यह वासनामयी थी, तो मेरे पतिने इसका सत्यरूपसे कैसे अनुभव किया, इसपर कहती हैं—'यदा०' इत्यादिसे ।

जब चित्त अभ्यासवश दृढ़वासनासे आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थका अनुभव करता है, तब अनुभवसे वह परमार्थ सत्य हो जाता है, परन्तु वस्तुतः दृश्य है प्रतिभासिक ही ॥ ३८ ॥

जब विवेकज्ञानाभ्याससे चित्त आधिभौतिक (व्यावहारिक) पदार्थोंको परमार्थ सत्य नहीं जानता, तब सत्य (दृढ़) उसकी वासनासे प्रपञ्चमें प्रातिभासिकताका निश्चय होता है ॥ ३९ ॥

मरणज्ञानसे पुनर्जन्मरूप भ्रम होनेपर तुमको इस राजाने पत्नीरूपसे जाना और वासनामय अन्य लीलारूपताको प्राप्त हुई तुमसे संगत हुआ ॥ ४० ॥

इस प्रकार इस राजाने तुमको अपनी वासनारूप ही देखा और तुमने राजाको अपना वासनामय ही देखा । तुम भी आत्मामें पहले जैसे तीन ब्रह्माण्डोंकी ब्रह्ममें स्थिति दर्शाई है, वैसे ही स्थित हो, क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है यानी सब वासनाओंमें व्याप्त है, इसलिए ब्रह्मका सर्वाकार विवर्त उपपन्न होता है ॥ ४१ ॥

चूँकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतएव जब जहाँपर जैसी वासना होती है, तब वहाँपर वह तुरन्त वैसा ही हो जाता है और विक्षेप शक्तिसे (वैसा ही) उसका अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र याः शक्तीरुन्नयेत् ।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः ॥ ४३ ॥
मृतिमोहक्षणेनैव यदैतौ दम्पती स्थितौ ।
तदैवाऽऽभ्यामिदं बुद्धं प्रतिभासवशाद्धृदि ॥ ४४ ॥
आवयोः पितरावेताविमे वै चाऽपि मातरौ ।
देश एष धनं चेदं कर्मेदं पूर्वमीदृशम् ॥ ४५ ॥
आवां विवाहितावेवमेवं नामैकतां गतौ ।
एतयोः साऽपि जनता याता तत्रैव सत्यताम् ॥ ४६ ॥
तथैवाऽत्राऽस्ति दृष्टान्तः प्रत्यक्षं स्वप्नवेदनम् ।
इत्येवं भावया लीले लीलयाऽहमथाऽर्चिता ॥ ४७ ॥
नाऽहं स्यां विधवेत्येवं वरो दत्तो मयाऽप्यसौ ।
इत्यर्थेन मृता पूर्वमेवेह खलु बालिका ॥ ४८ ॥

ब्रह्म सर्वत्र सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त है, अतएव जहांपर जिस जिस रूपसे भोक्ताके अदृष्टवश जिस शक्तिका आविर्भाव कराता है, वहाँपर वह वैसा ही होता है और दृढ़ आग्रहरूप वासनाके कारण वैसी ही उसकी प्रतीति होती है ॥ ४३ ॥

जब इन दो दम्पतियोंका मरणानुकूल मूर्च्छाका क्षण आया, तभी इन्होंने सबका, जो आगे कहा जायगा वासनाके जाग्रत् होनेके कारण अपनी कल्पनासे अनुभव किया कि ये हमारे पिता हैं और ये हमारी माताएँ हैं, यह हमारा देश है, यह हमारी धनसम्पत्ति है, यह हमारा कर्म है और ऐसा कर्म हमने पूर्व-जन्ममें किया था। इस प्रकार हम लोगोंका विवाह हुआ और इस प्रकार हम दोनों एकताको प्राप्त हुए। इनकी वह जनता भी, जो कि कल्पनात्मक ही है, भोगकर्ताके अदृष्टसे सत्यताको (अर्थक्रियाकारिताको) प्राप्त हुई है, वैसी ही स्वप्नप्रतीति यहाँपर प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, स्वाप्निक पुरुष भी स्वप्नकालमें सत्यताको (अर्थक्रियाकारिताको) प्राप्त होते ही हैं। लीले, इस प्रकारके अभिप्रायसे युक्त लीलाने मेरी आराधना की थी कि मैं कभी विधवा न होऊँ और मैंने भी उसे वरदान दिया था। इस कारण वह बालिका यहाँपर पहले ही मर गई है ॥ ४४–४८ ॥

भवतां चेतनांशानामहं चेतनधर्मिणी ।
कुलदेवी सदा पूज्या स्वत एव करोम्यहम् ॥ ४९ ॥
अथाऽस्या जीवको देहात् प्राणमारुतरूपधृक् ।
मनसा चलतां प्राप्तो मुखाग्रत्यक्तदेहकः ॥ ५० ॥
ततो मरणमूर्छान्ते गृहेऽस्मिन्नेव चैतया ।
बुद्धौ भावित आकाशे दृष्टो जीवात्मना ततः ॥ ५१ ॥

इस वासनात्मक लीलाने और मैंने क्यों आपकी आराधना की और क्यों आप हमपर प्रसन्न हुईं ? इसपर कहती हैं—'भवताम्' इत्यादिसे ।

मैं, व्यष्टिचेतन जो आप लोग हैं, आपकी समष्टिचेतना (हिरण्यगर्भचेतना) हूँ और आप लोगोंकी कुलदेवी होनेसे सदा पूजनीय हूँ, अतएव स्वतः ही सब कुछ करती हूँ ॥ ४९ ॥

पहले यह कैसे प्राप्त हुई इसका उत्तर देकर अब यह देहधारिणी कैसे हुई ? इस अंशका उत्तर देती हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

वासनामय इस लीलाके देहसे निकलनेकी इच्छावाले अङ्गुष्ठपरिमाणवाले जीवने प्राणवायुका रूप धारण किया * तदनन्तर मनसे तत् तत् पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए उत्सुक होकर नाडीमार्गसे देहका परित्याग किया यानी 'तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा' (उसके हृदयका अग्रभाग प्रद्योतित (प्रकाशित) होता है, उस आत्मज्योतिरूप प्रद्योतनसे यह आत्मा नेत्रोंसे, सिरसे अथवा अन्यान्य शरीरभागोंसे निकलता है) इस श्रुतिमें कहे गये क्रमसे नाडीमार्ग द्वारा देहका परित्याग किया ॥ ५० ॥

तदनन्तर वासनाके कारण पूर्वजन्मके स्मरणसे मरणमूर्छाके बाद जीवरूपसे स्थित इस लीलाने इसी (ब्रह्माकाश या भूताकाशरूप) घरमें बुद्धिमें सङ्कल्पित आगे कहे जानेवाले शरीरमें गमन और कुमारीरूप प्राप्ति आदि पदार्थ देखे ॥ ५१ ॥

---

* 'प्राणं तेजसा युक्त सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नमति' (प्राण तेजसे युक्त होकर आत्माके साथ संकल्पानुसार तत्-तत् लोकको जाता है) इस श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि उत्क्रमण प्राणोंके अधीन है 'प्राणं तर्हि वागप्येति' (तब वाणीका प्राणमें लय होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे सब करणोंका प्राणमें लय होनेसे उसने प्राणवायुका रूप धारण किया ।

सम्पन्नैषा हरिणनयना चन्द्रबिम्बाननश्री-
मानोन्नद्धा दयितललिता कान्तमाभोक्तुकामा ।
पूर्वस्मृत्या सरभसमुखी संयुता मण्डलान्तः
स्वप्नान्ते वाऽप्रकृतिविभवा पद्मिनी चोदितेव ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणसमनन्तरदेहप्रतिभावर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ लब्धवरा देहेनाऽनेनैव महीपतिम् ।
पतिमाप्तुं प्रयात्येषा नभोमार्गेण विष्टपम् ॥ १ ॥
इति संचिन्त्य सानन्दमुद्दाममकरध्वजा ।
पुप्लुवे पेलवाकारा पक्षिणीव नभस्तले ॥ २ ॥

चन्द्रमण्डलके सदृश मुखकान्तिवाली और मृगके तुल्य विशाल नेत्रवाली यह लीला, जिसकी कि सूर्यकी किरणोंसे कमलिनीकी नाईं वासनारूपी कलियाँ खिल गईं थीं, जो लावण्यमयी होनेके कारण स्वयं पतिके लिए उपभोगकी वस्तु थी और स्वयं भी सुन्दर पतिका उपभोग करना चाहती थी, भावनावश पूर्वदेहकी स्मृतिसे, स्वप्नमें जैसे, पद्मब्रह्माण्डमण्डलके भीतर जाकर पतिसे संयुक्त हो गई ॥ ५२ ॥

बाँवनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

[लीलाके गमनमार्गका, स्वामी पद्मकी प्राप्तिका तथा आकाशमार्गमें अज्ञानियोंकी गतिके अभावका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त यह (लीला), जिसे सरस्वती देवीसे वरदान मिला था, पूर्व वर्णित वासनामय शरीरसे ही अपने स्वामी राजा पद्मको पानेके लिए आकाशमार्गसे आगे कहे जानेवाले भुवनोंमें जाती है, स्मरणसे देहादिभावको प्राप्त कर पतिमिलनकी सम्भावनासे प्रबलकामवेदनावाली तथा

कुमारीं तत्र सा प्राप ज्ञप्त्यैव प्रहितां हिताम् ।
स्वसङ्कल्पमहादर्शात् पुरतो निर्गतामिव ॥ ३ ॥

कुमार्युवाच

दुहिताऽस्मि सखि ज्ञप्तेः स्वागतं तेऽस्तु सुन्दरि ।
प्रतीक्षमाणा त्वामेव स्थिताऽस्मीह नभःपथि ॥ ४ ॥

लीलोवाच

देवि भर्तुः समीपं मां नय नीरजलोचने ।
महतां दर्शनं यस्मान्न कदाचन निष्फलम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एहि तत्रैव गच्छाव इत्युक्त्वा सा कुमारिका ।
पुरस्तस्याः स्थिता व्योम्नि मार्गदर्शनतत्परा ॥ ६ ॥
ततस्तदनुयाता सा प्राप कोटरमम्बरम् ।
निर्मलं करमालाग्रं यथा लक्षणलेखिका ॥ ७ ॥

छोटेसे आकारवाली वह आनन्दपूर्वक आकाशमें चिड़ियाकी नाईं उड़ी । वहाँपर उसको सरस्वती देवीके द्वारा भेजी गई उसकी कन्या ऐसे मिली, मानो वह उसके सङ्कल्परूपी महान् दर्पणसे उसके सामने निकल आई हो ॥ १—३ ॥

कुमारीने कहा—हे सरस्वती देवीकी सखी, मै तुम्हारी कन्या हूँ, हे सुन्दरी, आपका स्वागत हो । मैं तुम्हारी प्रतीक्षामें ही यहां आकाशमार्गमें स्थित हूँ ॥ ४ ॥

लीलाने कहा—हे देवताके शरीरको प्राप्त हुई वत्से, हे कमललोचने, मुझे मेरे पतिके समीपमें ले जाओ । [यदि कुमारी कहे कि तुम्हें पतिकी चाह है, तो तुम भले ही मेरे पिताजीके पास जाओ मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? इसपर लीला कहती है]—महान् लोगोंका दर्शन कभी भी निष्फल नहीं जाता, मेरी भलाईके लिए मैंने जो कहा उसे करो, यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, 'देवि ! आइए, वहींपर हम दोनों जाते हैं', यह कहकर वह कुमारी लीलाके आगे हो गई और आकाशमें मार्ग दिखलाने लगी ॥ ६ ॥

उस कुमारीके पीछे-पीछे चलती हुई लीला, जैसे होनेवाले शुभ और अशुभको सूचित करनेवाली ब्रह्माकी रची ईहु हस्तरेखा प्राणियोंके हाथके तलवेको प्राप्त होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डके छिद्ररूप निर्मल आशाको प्राप्त हुई ॥ ७ ॥

मेघमार्गमथोल्लङ्घ्य वातस्कन्धान्तरे गता ।
सूर्यमार्गादभिगता तारामार्गमतीत्य च ॥ ८ ॥
वाय्विन्द्रसुरसिद्धानां लोकानुल्लङ्घ्य लाघवात् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्राप ब्रह्माण्डखर्परम् ॥ ९ ॥
हिमशैत्यं यथान्तःस्थं कुम्भे भिन्ने बहिर्भवेत् ।
तथा सङ्कल्पसिद्धा सा ब्रह्माण्डान्निर्गता बहिः ॥ १० ॥
स्वचित्तमात्रदेहैषा स्वसङ्कल्पस्वभावजम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति किलैवं नाम विभ्रमम् ॥ ११ ॥
ब्रह्मादिस्थानमाक्रम्य प्राप्य ब्रह्माण्डखर्परम् ।
ततो ब्रह्माण्डपारस्था जलाद्यावरणानि च ॥ १२ ॥
समुल्लङ्घ्य पुरः प्राप महाचिद्गगनान्तरम् ।
अदृष्टपारपर्यन्तमतिवेगेन धावता ।
सर्वतो गरुडेनाऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १३ ॥

तदनन्तर लीला पहले मेघमार्गको लांघकर प्रवह, आवह आदि वायु-समूहके मार्गमें पहुँची, तदुपरान्त सूर्यमार्गसे निकलकर, नक्षत्र मार्गको लांघकर और शीघ्रतासे वायु, इन्द्रदेव और सिद्धोंके लोकोंका तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजीके लोकोंका भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपालमें पहुँची ॥ ८, ९ ॥

जैसे घड़ेके भीतर रक्खे हुए हिमजलकी शीतलता घड़ेके फूटे बिना भी बाहर निकल आती है, वैसे ही वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्डसे बाहर निकल गई ॥ १० ॥

लीलाका यह गमन केवल उसकी मनकी कल्पना ही थी, इसका स्मरण कराते हैं—'स्वचित्त०' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पमात्रदेहवाली लीला अपने सङ्कल्पके स्वभावसे उत्पन्न इस प्रकारके गमनरूप भ्रमका अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥ ११ ॥

ब्रह्मा आदिके लोकोंको लांघकर ब्रह्माण्डके कपालमें पहुँचकर तदुपरान्त ब्रह्माण्डके पार पहुँची हुई लीला जल आदिरूप आवरणोंको पारकर अपार माया-संवलित चिदाकाशके मध्यमें पहुँची । वह इतना विशाल है कि यदि गरुड़ अत्यन्त वेगसे सदा उड़ते रहें तो वे भी सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर-छोरका पता नहीं लगा सकते, औरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १२, १३ ॥

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः ।
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने ॥ १४ ॥
तत्रैकस्मिन् पुरःसंस्थे विततावरणान्विते ।
वेधयित्वा विवेशाऽन्तर्बदरं कृमिको यथा ॥ १५ ॥
पुनर्ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादिलोकानुल्लङ्घ्य भास्वरान् ।
तन्महीमण्डलं श्रीमत् प्राप तारापथादधः ॥ १६ ॥
तत्र तन्मण्डलं प्राप्य तत्पुरं तच्च मण्डपम् ।
प्रविश्य पुष्पगुप्तस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ १७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सा च न ददर्श कुमारिकाम् ।
मायामिव परिज्ञातां काऽपि यातां वरानना ॥ १८ ॥
मुखमालोक्य सा तस्य स्वभर्तुः शवरूपिणः ।
इदं बुद्धवती सत्यं प्रतिभावशतः स्वतः ॥ १९ ॥
अयं स भर्ता संग्रामे निहतो मम सिन्धुना ।
वीरलोकानिमान् प्राप्य क्षणं शेते यथासुखम् ॥ २० ॥

उसमें लाखों ब्रह्माण्ड, लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वनमें असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डोंने भी आपसमें एक दूसरेको कभी नहीं देखा ॥ १४ ॥

उनमें से एकमें, जो कि उसके सामने था और था विस्तृत आवरणसे युक्त, जैसे छोटा कीड़ा बेरको छेदकर भीतर घुसता है, वैसे ही उसे छेदकर वह उसमें प्रविष्ट हुई ॥ १५ ॥

फिर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदिके देदीप्यमान लोकोंको लाँघकर आकाशके नीचे राजा पद्मके समृद्ध भूमण्डलमें पहुँची ॥ १६ ॥

भूमण्डलमें राजा पद्मके राज्यमें और उसके नगरमें पहुँचकर तत्पश्चात् उस मण्डपमें प्रविष्ट होकर फूलोंसे ढके हुए शवके समीपमें बैठ गई ॥ १७ ॥

इतनेमें ही सुन्दरी लीलाने कुमारीको नहीं देखा, जैसे ज्ञान होनेपर माया कहीं चली जाती है, वैसे ही वह कहीं चली गई ॥ १८ ॥

शवरूपी अपने पतिका मुख देखकर लीलाने अपने तर्कसे उसे सत्य समझा ॥ १९ ॥

संग्राममें सिन्धुके हाथसे मारा गया यह मेरा स्वामी वीरोंको प्राप्त होनेवाले

अहं देव्याः प्रसादेन सशरीरैवमीदृशम् ।
इह प्राप्तवती धन्या मत्समा नाऽस्ति काचन ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा हस्ते गृहीत्वा चारु चामरम् ।
वीजयामास चन्द्रेण द्यौरिवाऽवनिमण्डलम् ॥ २२ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

ते भृत्यास्ताश्च वै दास्यः स राजा च प्रबुद्धवान् ।
वक्ष्यन्ति वद तां देवि किं कयैव कथं धिया ॥ २३ ॥

श्रीदेव्युवाच

स राजा सा च ते भृत्याः सर्व एव परस्परम् ।
चिदाकाशैकतावेशादावयोश्च प्रभावतः ॥ २४ ॥

इन लोकोंमें पहुँचकर क्षण भरके लिए आरामसे सोता है ॥ २० ॥

मैं श्रीदेवीजीके वरदानरूप प्रसादसे सदेह ही (अपने प्राक्तन स्थूल देहसे युक्त ही) इस प्रकार यहाँपर प्राप्त हुई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है, ऐसा विचारकर अपने हाथमें सुन्दर चँवर लेकर लीला जैसे द्युलोक चन्द्रमासे भूमिमण्डलको पंखा झलता है वैसे ही, झलने लगी यानी अपने पतिके ऊपर चँवर डुलाने लगी ॥ २१, २२ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, वे नौकर-चाकर, वे दासियां और वह राजा उसे कैसे जान पाये ? वे उसे किस बुद्धिसे क्या कहते थे और वह बुद्धि कैसे उपपन्न हो सकती है यानी वे उसको किस नातेसे पुकारते थे और वह नाता कैसे सिद्ध हो सकता है ? यह सब हमसे कहिये। भाव यह है कि राजाको यदि अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तका विस्मरण हो गया था तो राजा यह कौन है और किसकी है, इस शङ्कासे उसका ग्रहण नहीं कर सकते। यदि पूर्वजन्मके वृत्तान्तका विस्मरण न भी हुआ हो तो भी अविवाहित स्त्रीका ग्रहण शिष्ट पुरुषों द्वारा गर्हित होनेके कारण राजा उसका ग्रहण नहीं कर सकते, यह सब कथा मुझसे आप कहिये ॥ २३ ॥

यदि सभीको ऐसी प्रतीति हो कि यह कोई नई आई है तभी उक्त दोष आ सकता है। सत्यसङ्कल्पवाले हमारे प्रभावसे वैसी प्रतीति ही नहीं होगी, इस प्रकार देवी पूर्वोक्त शङ्काका समाधान करती हैं—'स राजा' इत्यादिसे।

महाचित्प्रतिभासत्वान्महानियतिनिश्चयात् ।
अन्योन्यमेव पश्यन्ति मिथः संप्रतिबिम्बितात् ॥ २५ ॥

इयं मे सहजा भार्या ममेयं सहजा सखी ।
ममेयं सहजा राज्ञी भृत्योऽयं सहजो मम ॥ २६ ॥

केवलं त्वमहं सा च यथावृत्तमखण्डितम् ।
ज्ञास्याम इदमाश्चर्यं न तु कश्चिदपीतरः ॥ २७ ॥

वह राजा, वासनामयी लीला और उनके नौकर-चाकर सभी आपसमें एक दूसरेको ऐकमत्यसे ही देखते हैं यानी जैसे राजाकी रानीके प्रति यह मेरी पत्नी है, यह बुद्धि है, वैसे ही रानीकी राजाके प्रति यह मेरा स्वामी है, यह मति है और जैसे भृत्योंके प्रति उनकी ये हमारे भृत्य हैं, ऐसी मति है वैसे ही भृत्योंकी भी ये हमारे मालिक हैं, ऐसी मति है, क्योंकि उनकी ऐसी प्रतीति होनेमें चार हेतु हैं—पहला हेतु है—सत्यसङ्कल्पवाले हम दोनोंका प्रभाव, दूसरा हेतु है—साक्षीरूप चिदाकाशका ऐसा स्फुरण जिससे कि सबकी एकमति हो और जो कि प्रत्येककी बुद्धिके, जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान, भीतर पैठा है, तीसरा हेतु है—ब्रह्मचैतन्यका भोक्ताके अदृष्टके अनुसार तत् तत् रूपमें विवर्त होना और चौथा हेतु उनका महानियतिके (इसे ऐसा ही होना चाहिए, इस प्रकारके ईश्वरके सङ्कल्पके) अधीनमें रहना, यानी सत्य सङ्कल्पवाले हम लोगोंके प्रभावसे सबकी बुद्धिमें प्रतिबिम्बकी नाईं स्थित चिदाकाशके ऐकमत्यानुकूल स्फुरणसे, भोक्ताके अदृष्टानुसार ब्रह्मरूप महाचैतन्यका तादृश विवर्त होनेसे और 'इसको ऐसा ही होना चाहिए' इस प्रकारके भगवान्‌के सङ्कल्पके अधीन होनेसे उनकी परस्पर एक मति थी ॥ २४, २५ ॥

उसी एक मतिको दिखाते हैं—**'इयं मे'** इत्यादिसे ।

यह मेरी सहज (साथ उत्पन्न हुई) पत्नी है, यह मेरी सहज सखी है, यह मेरी सहज रानी है, यह मेरा सहज नौकर है । इस आश्चर्यमय वृत्तान्तको आदिसे लेकर अन्ततक पूरेका-पूरा तुम्हारे, मेरे और इसके (विदूरथकी पत्नी लीलाके) सिवा दूसरा कोई भी नहीं जान पायेगा ॥ २६, २७ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

अमुनैव शरीरेण किमर्थं न गता पतिम् ।
एषा वरेण संप्राप्ता लीला ललितवादिनी ॥ २८ ॥

श्रीदेव्युवाच

अप्रबुद्धधियः सिद्धलोकान् पुण्यवशोदितान् ।
न समर्थाः स्वदेहेन प्राप्तुं छाया इवाऽऽतपान् ॥ २९ ॥
आदिसर्गे च नियतिः स्थापितेति प्रबोधिभिः ।
यथा सत्यमलीकेन न मिलत्येव किञ्चन ॥ ३० ॥
यावद्वेतालसंकल्पो बालस्य किल विद्यते ।
निर्वेतालधियस्तावदुदयस्तस्य कः कथम् ॥ ३१ ॥
अविवेकज्वरोष्णत्वं विद्यते यावदात्मनि ।
तावद्विवेकशीतांशुशैत्यं कुत उदेत्यलम् ॥ ३२ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवी, यह मधुरभाषिणी लीला, जिसे आप पतिके पास पहुँच गई कहती हैं, आपके वरदानके प्रतापसे इस स्थूल शरीरसे ही पतिके पास क्यों नहीं गई ॥ २८ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, जैसे छाया घामको नहीं पा सकती, वैसे ही अज्ञानी (स्थूल आत्माके ज्ञानसे शून्य) लोग पुण्योंके प्रभावसे प्राप्त हुए शुभ लोकोंको नहीं पा सकते ॥ २९ ॥

प्रथम सृष्टिमें सत्यसङ्कल्पवाले ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदिने ऐसी मर्यादा कर छोड़ी है, जैसे कि सत्य वस्तु मिथ्या वस्तुसे तनिक भी नहीं मिलती है, जैसे कि भाष्य है—जहां (सत्य पदार्थमें) जिसका (मिथ्या पदार्थका) अध्यास है, वह (सत्य) अध्यस्त (मिथ्या पदार्थ) के गुण और दोषोंसे अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

यदि लीला यह पूछे कि इसे आपके वरदानके बलसे अस्थूल आत्माका ज्ञान क्यों नही हुआ ? इसपर देवीजी कहती हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक बालकके मनमें वेतालका निश्चय रहता है, तबतक उसमें बेतालके अभावकी बुद्धिका उदय कैसे हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

जबतक आत्मामें अज्ञानरूपी ज्वरकी गर्मी रहती है, तबतक विवेकरूपी चन्द्रमाकी शीतलता पूर्वरूपसे कैसे उदित हो सकती है ? ॥ ३२ ॥

अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नाऽस्ति ममोत्तमा ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात् सोऽन्यनिश्चयः ॥ ३३ ॥
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाऽथ वरेण च ।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु ॥३४॥
शुष्कपर्णं किलाऽङ्गारे पतदेवाऽऽशु दह्यते ।
अयं देहमहं देहः प्राप्त एव विशीर्यते ॥३५॥
एतावदेव भवति वरशापविजृम्भितैः ।
यथा संचिन्त्य एवाऽहं तथा स्मृत इति स्मृतिः ॥३६॥

मेरा शरीर पृथिवी आदिसे निर्मित है, मेरी आकाशमें उत्तम गति नहीं हो सकती, जिसके अन्तःकरणमें ऐसे निश्चयकी जड़ जमी हुई है, उसमें अन्य प्रकारका (उक्त निश्चयसे विपरीत) निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

अतएव लोग विवेकज्ञानसे, प्रचुर पुण्यसे और वरदानसे इस (तुम्हारे सदृश) पुण्य शरीरसे परलोकमें जाते हैं ॥ ३४ ॥

आतिवाहिक देहके मिलनेपर स्थूलमें अहंभावकी निवृत्ति कैसे होती है ? इस शङ्कापर देवीजी कहती हैं—'शुष्कपर्णम्' इत्यादिसे ।

जैसे सूखा हुआ पत्ता जल रही अग्निमें गिरते गिरते तुरन्त ही जल जाता है, वैसे ही यह स्थूल देह अहङ्कारवासनामय आतिवाहिक देहको प्राप्त होते ही नष्ट हो जाता है ॥ ३५ ॥

वर और शाप भी पूर्वजन्मकी वासना और कर्मके अनुसार ही कर्म और वासनाके उद्बोधकरूपसे प्राणियोंको मिलते हैं, यह बात स्मृतिके दृष्टान्तसे श्रीदेवीजी कहती हैं—'एतावदेव' इत्यादिसे ।

जैसे पहिलेसे खूब अभ्यस्त होनेपर भी तुरन्त संस्कारका उद्बोध न होनेसे चिरकालतक जिसमें चिन्तन करनेकी आवश्यकता होती है, ऐसे अनुवाक आदिको जब कोई आदमी प्रतीकके कथन द्वारा स्मरण कराता है, तब जिसे स्मरण होता है वह पुरुष कहता है—जैसा आपने स्मरण कराया वैसा ही मैंने उसका स्मरण किया, यों जैसे स्मरण होता है वैसे ही वर और शापके अभ्युदयसे वासना और कर्मकी स्मृति होती है ॥ ३६ ॥

यः सर्पप्रत्ययो रज्ज्वां स कथं सर्पकार्यकृत् ।
आत्मन्येव हि यो नाऽस्ति तस्य का कार्यकारिता ॥३७॥
यस्त्वेतन्मृत इत्येवं मिथ्या समनुभूयते ।
प्रागभ्यासस्य पुष्टस्य नामैतत् प्रविजृम्भते ॥ ३८ ॥
स्वानुभूते जगज्जाले सुगमाः संस्मृतिभ्रमाः ।
नाऽन्यसङ्कल्पितो नाम सर्गाद्यभ्यास ईदृशः ॥ ३९ ॥
अन्तरनुभूयमानाः संसृतयो बाह्यभूतजालानाम् ।
अविदितवेद्यदृशामपि दूरे पुंसामिवैन्दवं बिम्बम् ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसृतिविदितवेद्यं नाम त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अर्थक्रियाकारी स्थूल देहका तत्त्वज्ञानसे कैसे बाध होता है ? इसपर तत्त्वदृष्टिसे स्थूलदेहमें अर्थक्रियाका ही अभाव है, ऐसा श्रीदेवीजी कहती हैं—'यः' इत्यादिसे ।

रस्सीमें जो सर्पकी भ्रमात्मक प्रतीति होती है, वह सर्पका कार्य कैसे कर सकती है ? जो पदार्थ स्वस्वरूपसे है ही नहीं, उसकी कार्यकारिता कैसे हो सकती है ॥ ३७ ॥

यदि स्थूल देह है ही नहीं, तो यह देह मर गई, ऐसा सबको क्यों अनुभव होता है ? इसपर कहती हैं—'यस्तु' इत्यादिसे ।

'यह मर गया' इत्याकारक मिथ्या पदार्थका जो सबको अनुभव होता है वह अनुभव खूब बढ़े हुए पूर्व जन्मके अभ्यासके संस्कारसे होता है ॥ ३८ ॥

जब यह जगत्-जाल खूब अनुभूत हो जाता है, तब भ्रमात्मक स्मरण बराबर अभ्याससे सुगम हो जाते हैं । इस प्रकारका यह सृष्टिका अभ्यास वर या शाप देनेवाले हिरण्यगर्भ या ईश्वर द्वारा हमारे वासना, कर्म आदिसे निरपेक्ष होकर नहीं बनाया गया है अर्थात् हमारी वासना और कर्मसे सापेक्ष होकर ही बनाया गया है ॥३९॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि संसार यदि आन्तर वासनामय है, तो वह बाह्य कैसे प्रतीत होता है, तो उसका दृष्टान्तपूर्वक समाधान करते हैं—'अन्तः' इत्यादिसे ।

चतुष्पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीदेव्युवाच

तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः ।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे ॥ १ ॥
आधिभौतिकदेहत्वं मिथ्याभ्रममयात्मकम् ।
कथं सत्ये स्थितिं याति छायाऽऽस्ते कथमातपे ॥२॥

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है यानी जो अज्ञानी हैं और जो बाहर भूतसमूहको देखते हैं, उनको संसारका भीतर ही अनुभव होता है, जैसे कि दूरमें प्रतीत हो रहा भी अध्यस्त दूसरा चन्द्रबिम्ब आन्तर अनुभूत होता है इसी युक्तिसे कल्पित ये संसृतियां भी आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं हैं ॥ ४० ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

[सब पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मान का वर्णन]

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, इसलिए जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं अथवा जिन लोगोंने योगके अभ्याससे जन्य परम धर्मका आश्रय लिया है, वे ही आतिवाहिक लोकोंको प्राप्त होते हैं, अन्य लोग नहीं ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि आतिवाहिक ब्रह्मादिके लोकोंमें भी यहांकी नाईं चिरकालके अभ्यास आदिसे भौतिक देहताका उदय क्यों नहीं होता ? तो इसपर कहती हैं—'**आधिभौतिक०**' इत्यादिसे ।

आधिभौतिकदेहता मिथ्या (भ्रमरूप) है, वह स्थूलकी अपेक्षा सत्य * यानी पुण्यके उत्कर्षसे प्राप्त आतिवाहिकरूप सत्यमें कैसे स्थितिको प्राप्त हो सकती है ? छाया आतप (घाम) में कैसे रह सकती है ? भाव यह कि जैसे आतपमें छायाकी

---

* 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्निसे अग्नित्व गया, शुक्ल, कृष्ण और लोहित ये तीन रूप ही सत्य हैं ।) 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य.' (प्राण सत्य हैं, प्राणोंका यह सत्य है) इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है कि सूक्ष्ममें त्रिवृत्करण आदिसे स्थूल अध्यस्त है, अतः स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म सत्य है ।

लीला विदितवेद्या नो परमं धर्ममाश्रिता ।
केवलं तेन सा भर्तुः कल्पितं नगरं गता ॥ ३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

एवमेषा प्रयाताऽस्तु भर्ता पश्य ममाऽम्बिके ।
प्रवृत्तः प्राणसंत्यागे कर्तव्यं किमिहाऽधुना ॥ ४ ॥

भावाभावेषु भावानां कथं नियतिरागता ।
कथं भूयोऽप्यनियतिर्मृतिजन्मादिसूचिता ॥ ५ ॥

स्थिति नहीं हो सकती, वैसे ही आतिवाहिकरूप सत्यमें आधिभौतिक-देहता नहीं रह सकती ॥ २ ॥

यदि ऐसा है, तो लीलाका पद्मकी प्राप्तिके बाद आधिभौतिक शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? इस शङ्कापर कहती हैं—'लीला' इत्यादिसे ।

लीलाको न तो तत्त्वज्ञान ही हुआ था और न उसने योगाभ्याससे उत्पन्न परम धर्मका ही अवलम्बन किया था, इसलिए वह केवल पतिके कल्पित नगरमें गई ॥ ३ ॥

देवीके उक्त कथनको स्वीकार कर राजाकी मृत्यु देखनेसे सूचित जीवनके नियम और अनियमकी अनुपपत्ति देख रही लीलाने कहा—'एवम्' इत्यादिसे ।

प्रबुद्धलीलाने कहा—हे देवि, यह लीला राजा पद्मके पास चली गई, ऐसा जो आपने कहा, वह आपके कथनानुसार वैसा ही हो, इसमें मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं दीखती । जरा अपनी आंखोंसे देखिये, यह मेरे पति प्राणोंका त्याग करने लगे हैं, इस विषयमें इस समय क्या करना चाहिए यानी इसकी उपपत्ति कैसे है ? यहांपर प्रश्नका 'इस समय मुझे क्या करना चाहिए' ऐसा अभिप्राय नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एक तो अन्य प्रश्नोंसे असंगति आती है और दूसरा प्रश्नके उत्तरमें देवीजीने लीलाके कर्तव्य कार्यका उपदेश नहीं दिया है ॥ ४ ॥

देह आदि भाव पदार्थोंके जीवन, सौख्य आदि भावोंमें तथा दुःख, दौर्भाग्य आदि अभावोंमें पहले नियम कैसे आया और फिर मरण, जन्म आदिसे सूचित अनियम भी कैसे आ गया ॥ ५ ॥

कथं स्वभावसंसिद्धिः कथं सत्ता पदार्थगा ।
कथमग्न्यादिषूष्णत्वं पृथ्व्यादौ स्थिरता कथम् ॥ ६ ॥
हिमादिषु कथं शैत्यं का सत्ता कालखादिषु ।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मदृशः कथम् ॥ ७ ॥
कथमत्यन्तमुच्छ्रायं तृणगुल्मनरादिकम् ।
वस्तु नाऽऽयात्यनिष्टेऽपि स्थिते स्वोच्छ्रायकारणे ॥ ८ ॥

श्रीदेव्युवाच

महाप्रलयसम्पत्तौ सर्वार्थास्तमये सति ।
अनन्ताकाशमाशान्तं सद्ब्रह्मैवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे कि नियम न हो, अनियम ही रहे, तो इसपर कहते हैं—'**कथम्**' इत्यादिसे ।

यदि अनियम मानोगे, तो जलका शैत्य ही स्वभाव, अग्निका उष्णत्व ही स्वभाव इत्यादिकी सिद्धि कैसे होगी ? घटादि पदार्थोंमें रहनेवाली सत्ता (भावरूपताका नियम) कैसे होगी, अग्नि आदिमें उष्णता और पृथिवी आदिमें स्थिरता कैसे होगी ? हिम आदिमें शीतलता कैसे होगी, काल, आकाश आदिकी नित्यता कैसे होगी, भावका (सत्य रजत आदिका) ग्रहण, अभावका (शुक्ति-रजत आदिका) त्याग कैसे होगा ? पृथिवी आदिकी स्थूलता और मन, इन्द्रिय आदिकी सूक्ष्मता ही है, इन नियमोंका दर्शन कैसे होगा ? अपनी ऊँचाईके कारणके रहते भी तिनका, झाड़ी, मनुष्य आदि वस्तुएँ शाल, तमाल आदि वृक्षोंके तुल्य अत्यन्त ऊँचाईको नहीं पाती, इष्ट, अनिष्ट सभी जगह नियम न होनेसे सर्वत्र अविश्वास ही क्यों न होगा ? ॥ ६–८ ॥

सभी जगह ऐसा ही नियम होता, यदि जगत् केवल सत्यस्वभाव होता और सभी जगह अनियम ही होता, यदि जगत् असत्य (मायामात्रस्वभाव) होता, किन्तु जगत्की सत्य और अनृतसे सम्मिलित माया प्रकृति है, इसलिए नियम भी सत्य और असत्यस्वभाव होकर भोगकर्ताके अदृष्टके अनुरूप चित्-विवर्तकी व्यवस्थासे रहते हैं, ऐसा समाधान करनेकी इच्छावाली देवीजी उसके लिए शुद्ध चित्के विवर्तका क्रम कहती हैं—'**महाप्रलय०**' इत्यादिसे ।

तच्चिद्रूपतया तेजःकणोऽहमिति चेतति ।
स्वप्ने संविद्यथाहित्वमाकाशगमनादि च ॥ १० ॥
तेजःकणोऽसौ स्थूलत्वमात्मनाऽऽत्मनि विन्दति ।
असत्यमेव सत्याभं ब्रह्माण्डं तदिदं स्मृतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽन्तर्ब्रह्म तद्वेत्ति ब्रह्माऽयमहमित्यथ ।
मनोराज्यं स कुरुते स्वात्मैवं तदिदं जगत् ॥ १२ ॥
तस्मिन् प्रथमतः सर्गे या यथा यत्र संविदः ।
कचितास्तास्तथा तत्र स्थिता अद्याऽपि निश्चलाः ॥ १३ ॥
यद्यथा स्फुरितं चित्तं तत्तथा ह्यात्मचिद्भवेत् ।
स्वयमेवाऽनियमतस्तत्तत्स्यान्नेह किञ्चन ॥ १४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, महाप्रलय होनेपर, जब कि सब पदार्थोंका विनाश हो जाता है, अनन्त चिदाकाशरूपी शान्त सत् बुद्धरूप ब्रह्म ही केवल रहता है । वह जैसे स्वप्नमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य सर्पता तथा आकाशगमन आदिका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप होनेके कारण मैं तेजका कण (शुद्ध चित्से व्याप्त होनेके कारण चमकदार सूक्ष्म भूत) हूँ, ऐसा समझता है ॥ ९,१० ॥

वह तेजका कणरूप ब्रह्म अपनेसे अपनेमें स्थूलताको प्राप्त करता है यानी अपनी कल्पनासे स्थूलताका लाभ करता है, वही स्थूल यह दृश्यमात्र ब्रह्म कहा गया है, जो असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

उक्त ब्रह्माण्डके भीतर स्थित हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस पूर्वोक्त स्मृतिके अनुसार अन्तर्मुखतारूप अंशसे यह मैं ब्रह्म हूँ, यह जानता है और बाह्यवासनारूप दूषित अंशसे प्राणियोंके कर्मके अनुरूप सृष्टिके संकल्परूपसे मनोराज्य करता है, वही सत्यसङ्कल्परूप मनोराज्य यह जगत् है ॥ १२ ॥

उस पहली सृष्टिमें जो संकल्पवृत्तियाँ जहाँपर जैसे (नियम-अनियमरूपसे) विकासको प्राप्त हुईं वे वहाँपर वैसी ही आज भी ज्यों-की-त्यों निश्चल (बिना हेर-फेरके) स्थित हैं ॥ १३ ॥

भाँति-भाँतिकी वासनाओंसे भरे हुए मनमें, वैसा सङ्कल्पोदय होनेपर भी

न च नाम न किञ्चित्त्वं युज्यते विश्वरूपिणः ।
त्यक्त्वा समस्तसंस्थानं हेम तिष्ठति वै कथम् ॥ १५ ॥
सर्गादौ स्वयमेवान्तश्चिद्यथा कचिताऽऽत्मनि ।
हिमाग्न्यादितयाऽद्याऽपि सा तथाऽऽस्ते स्वसत्तया ॥ १६ ॥
तस्मात् स्वसत्तासंत्यागः सतः कर्तुं न युज्यते ।
यदा चिदास्ते तेनेयं नियतिर्न विनश्यति ॥ १७ ॥

आत्मचैतन्यका मनके सङ्कल्पानुसार विवर्त कैसे होता है ? इस शङ्कापर श्रीदेवीजी कहती हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

चित्त जिस जिस प्रकारसे स्फुरित होता है, चैतन्य भी स्वयं ही उस प्रकारसे स्फुरित होता है, क्योंकि आत्मचैतन्यका यह स्वभाव ही है कि वह स्वच्छ उपाधिमें प्रतिफलित होता है। इसलिए कुछ भी पदार्थ अनियत स्वभावरूपसे उत्पन्न नहीं होते ॥ १४ ॥

मायाशबल ब्रह्ममें अनादिकालसे नियतरूपसे स्थित विश्वके आविर्भावसे भी 'नियति' की सिद्धि होती है, इस आशयसे कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

प्रलयकालमें भी विश्वरूपी [विराट्] सम्पूर्ण वस्तुओंसे शून्य नहीं हो सकता ? यदि ऐसा हो जाय तो उसमें कारणता ही नहीं रहेगी, कारण कि सोना कटक, कङ्कण, कुण्डल, रुचक, पिण्डत्व आदि सब आकारोंका त्याग करके कैसे रह सकता है ? भाव यह है कि सब आकारोंका उसमें अन्तर्भाव है, अतः वह किसीका भी त्याग नहीं कर सकता ॥ १५ ॥

सृष्टिके आरम्भमें स्वयं ही आत्मचैतन्य जैसे अपनी सत्तासे [शीतलता, उष्णता आदिरूपसे] अपनेमें हिम, अग्नि आदिके आविर्भावको प्राप्त हुआ वह वैसे ही आजतक ज्यों-का-त्यों अविचलरूपसे स्थित है ॥ १६ ॥

यदि मायाशबल ब्रह्म अपनी अधिष्ठान-सत्ताका त्याग करेगा, तो मायान्तर्गत नियमोंकी असत्ता हो जायगी, लेकिन यह अशक्य है, ऐसा दिखलाती हुई देवीजी उपसंहार करती हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए मायाशबल ब्रह्म अपनी सत्ताका त्याग करे, यह संभव नहीं है, जब चिति है, तब उसीसे (चित्की सत्तासे ही) इस नियतिका अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १७ ॥

यद्यथा कचितं यत्र व्योमरूप्यपि पार्थिवम् ।
सर्गादौ तस्य चलितुमद्य यावन्न युज्यते ॥ १८ ॥
या यथा चित्प्रकचिता प्रतिपक्षविदं विना ।
न सा ततः प्रचलति वेदनाभ्यासतः स्वयम् ॥ १९ ॥
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ २० ॥
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् ।
इति स्वभावसंपत्तिरिति भूतानुभूतयः ॥ २१ ॥

नियतिके अविपर्यासमें [उलट फेर न होनेमें] पृथ्वी आदिकी स्थिति ही दृष्टान्त है, इस आशयसे कहती हैं—**'यद्'** इत्यादिसे ।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य प्रपञ्च आकाशरूपी (शून्य) है, तथापि वह सृष्टिके आरम्भमें जहांपर जिस रूपसे आविर्भूत हुआ था, वह आज भी अपनी मर्यादासे तनिक विचलित नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

जीवननियतिका मरणनियतिसे जो विपर्यास है, उसके सभीको दिखाई देनेसे कहती हैं—**'प्रतिपक्षविदम्'** इत्यादिसे ।

जीवननियमका मरणनियमसे जो विपर्यास है, उसके सिवा जो चिति जहां जिस प्रकार आविर्भूत हुई है, वह अभ्यासवश दृढ़ प्रतीति होनेके कारण स्वयं विचलित नहीं होती यानी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है ॥ १९ ॥

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह मायिक दृष्टिका अवलम्बन करके कहा गया है परमार्थ दृष्टिसे तो जब जगत्की ही सत्ता नहीं है, तब नियतिकी क्या कथा है ? इस आशयसे कहते हैं—**'जगत्'** इत्यादिसे ।

जगत् पहले उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

शङ्का—यदि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो उसका अनुभव कैसे होता है ?

समाधान—जो कुछ यह अनुभवमें आ रहा है, वह चिदाकाशका ही तादृशरूपसे विकास है, स्वप्नमें स्त्रीसंगकी नाईं यानी स्वप्नमें जैसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यका ही तादृश आकारसे कचन होता है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ २० ॥

इस प्रकार असत्य होता हुआ भी सत्यके तुल्य प्रतीत होनेवाला यह

सर्गादौ या यथाऽऽरूढा संवित्कचनसन्ततिः ।
साऽद्याऽप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते ॥ २२ ॥
गृहीतव्योमसंवित्ति चिद्व्योम व्योमतां गतम् ।
गृहीतकालसंवित्ति चिन्नभः कालतां गतम् ॥ २३ ॥
गृहीतजलसंवित्ति चिद्व्योम वारिवत् स्थितम् ।
स्वप्ने यथा हि पुरुषः पश्यत्यात्मनि वारिताम् ॥ २४ ॥
स्वप्नचित्संविदाभाति भवत्येषा यथा स्थिता ।
चिच्चमत्कारचातुर्यादसदेतत् समूहते ॥ २५ ॥
खत्वं जलत्वमुर्वीत्वमग्निवायुत्वमप्यसत् ।
वेत्त्यन्तः स्वप्नसङ्कल्पध्यानेष्विव चितिः स्वयम् ॥ २६ ॥

प्रातिभासिक जगत् स्थित है, इस प्रकारका नियतिका स्वभाव है और ऐसे जीवन, मरण आदि पदार्थोंके अनुभव हैं ॥ २१ ॥

नियतिशब्दके अवयवार्थपर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है, ऐसा कहती हैं—'सर्गादौ' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें जो चेतनविकासपरम्परा जैसे आविर्भूत हुई (बद्ध-मूल हुई) उसे आज तक भी कोई दूसरा टससे-मस नहीं कर सका, अतएव वह नियति कही जाती है ॥ २२ ॥

उक्त अर्थको ही उदाहरण देकर दर्शाती हैं—'गृहीत०' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाश, जिसने आकाशरूपसे कचन (स्फुरण) को स्वीकार किया था, आकाशरूपताको प्राप्त हुआ, कालरूपसे कचनका स्वीकार कर चिदाकाश ही कालरूपताको प्राप्त हुआ, जलरूपसे कचनका स्वीकार कर चिदाकाश ही ऐसे जलके रूपमें स्थित हुआ जैसे कि स्वप्नमें पुरुष अपनेमें ही जलताको देखता है । स्वप्नकी नाईं चिति ही तत्-तत् रूपको प्राप्त हुई है । तत्-तत् रूपको प्राप्त होनेपर भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है यानी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होती, क्योंकि चित्के चमत्कारके यानी मायाके चातुर्यसे यह प्रपञ्च असत्य होता हुआ ही अपनेमें सत्यताकी बुद्धि उत्पन्न कराता है ॥ २३–२५ ॥

जैसे स्वप्न, सङ्कल्प और ध्यानमें असत् वस्तुको ही अन्तःकरण अपनी

मरणानन्तरं कर्मफलानुभवनक्रमम् ।
सर्वसंदेहशान्त्यर्थं मृतिश्रेयस्करं शृणु ॥ २७ ॥
रूढाऽऽदिसर्गे नियतिर्यैकद्वित्रिचतुःशता ।
पूर्वादिष्वायुषः पुंसां तस्या मे नियतिं शृणु ॥२८॥
देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाऽधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ २९ ॥
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत् समे ॥ ३० ॥

कल्पनासे जानता है, वैसे ही आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व भी असत् हैं, चिति स्वयं अपनी कल्पनासे इनका अनुभव करती है ॥२६॥

इस प्रकार अन्य नियमोंकी व्यवस्था करके जीवननियति भी कर्मोंके भेदसे नियत अवधिवाली ही ईश्वरके संकल्पसे रची गई है, इसलिए मरनेके पश्चात् उसका भङ्ग नहीं होता है, यह दिखलानेके लिए कर्मफलोंके अनुभव-क्रमका निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करती हैं—**'मरणानन्तरम्'** इत्यादिसे ।

मरणके बाद (मरने तक जिनका फल प्रारब्ध है, उन कर्मोंके प्रतिबन्धक होनेके कारण उस देहके संचित कर्म फल देनेमें समर्थ नहीं होते, मरनेपर प्रतिबन्धकके हट जानेसे वे फल उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं, यह सूचित करनेके लिए 'मरणानन्तर' कहा गया है) कर्मफलोंके अनुभवका क्रम सुनो, इसके सुननेसे तुम्हारे सब सन्देह मिट जायंगे और तुम्हारे मुंहसे लोकमें प्रसिद्ध होकर यह और लोगोंमें आस्तिकबुद्धि उत्पन्न करके मरनेपर उनके लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥ २७ ॥

पहली सृष्टिमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें पुरुषोंकी क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ और एक सौ वर्षकी जो आयु स्थिर हुई थी, उसके न्यूनाधिक होनेमें भी अवान्तर नियम सुनो ॥ २८ ॥

आयुके निमित्तभूत अपने कर्मोंकी देश, काल, अनुष्ठान और द्रव्यकी अशुद्धि और शुद्धि तथा न्यूनता और अधिकता मनुष्योंकी आयुमें कारण है । आयुके हेतुभूत कर्मोंमें देश आदिकी अशुद्धिसे वैगुण्य आनेसे फलकी न्यूनता होती है और देश आदिकी अधिक शुद्धिसे अधिक फल होता है, यह भाव है ॥ २९ ॥

बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवनमृत्युदैः ।
वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ॥ ३१ ॥
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान् स यथाशास्त्रमायुषः ॥ ३२ ॥
एवं कर्मानुसारेण जन्तुरन्त्यां दशामितः ।
भवन्त्यन्तं गतवतो दृङ्मर्मच्छेदवेदनाः ॥ ३३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

मरणं मे समासेन कथयेन्दुसमानने ।
किं सुखं मरणं किं वा दुःखं मृत्वा च किं भवेत् ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार विहित कर्मोंका अनुष्ठान न करना भी आयुके ह्रासका कारण है, ऐसा कहती हैं—**'स्वकर्म०'** इत्यादिसे ।

अपने कर्मरूप धर्मका ह्रास होनेपर मनुष्योंकी आयु क्षीण होती है, स्वकर्मधर्मकी वृद्धि होनेपर बढ़ती है, स्वकर्मधर्मका शास्त्रानुसार (जितना शास्त्रमें कहा गया है उतना ही) अनुष्ठान होनेपर उसमें कमी-बेशी न करनेपर सम ही (उस युगमें जितनी नियत है उतनी ही) रहती है ॥ ३० ॥

विहितका आचरण न करनेके समान निषिद्धका आचरण करना भी आयुके ह्रासका हेतु है, ऐसा कहती हैं—**'बाल०'** इत्यादि ।

बाल्यावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे देही बालक ही (बाल्यावस्थामें ही) मर जाता है, युवावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे युवा ही (युवावस्थामें ही) मर जाता है और वृद्धावस्थामें मृत्यु देनेवाले कर्मोंसे वृद्ध होकर मरता है ॥ ३१ ॥

जो पुरुष शास्त्रमें जैसा कहा गया है, उसका उल्लङ्घन किये बिना आरम्भ किये गये अपने धर्मका अनुष्ठान करता है, वह पुण्यात्मा शास्त्रमें वर्णित पूर्ण आयुका भाजन होता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अपने कर्मोंके अनुसार जीव अन्त्य दशाको प्राप्त होता है, आयुकी समाप्तिको प्राप्त हुए पुरुषको मर्मको पीड़ा पहुँचानेवाली वेदनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं ॥ ३३ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे चन्द्रमण्डलाकारवदने देवि, मुझसे आप संक्षेपसे मरणका वृत्तान्त कहिये, क्या मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है और

श्रीदेव्युवाच

त्रिविधाः पुरुषाः सन्ति देहस्याऽन्ते मुमूर्षवः ।
मूर्खोऽथ धारणाभ्यासी युक्तिमान् पुरुषस्तथा ॥ ३५ ॥
अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम् ।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥ ३६ ॥
धारणा यस्य नाऽभ्यासं प्राप्ता नैव च युक्तिमान् ।
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः ॥३७॥
वासनावेशवैवश्यं भावयन्विषयाशयः ।
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाऽम्बुजम् ॥३८॥
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः ।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः ॥३९॥

मरनेके बाद क्या होता है ? लीलाके पूछनेका मतलब यह है कि पूर्ववर्णित मरणदुःख सबको समान होता है या किसीको सुख भी होता है और मरनेके बाद क्या सबकी एकसी गति होती है या योगियोंकी विशिष्ट गति होती है ? ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, मुमूर्षु (मरनेके इच्छुक) पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—मूर्ख, धारणाका (नाभिमें, हृदयमें, कण्ठमें, भौहोंके बीचमें और ब्रह्मरन्ध्रमें नियत अवधि तक प्राण और मनके निरोधका) अभ्यासवाला तथा युक्तिमान् यानी जिसे अपनी इच्छाके अनुसार उत्क्रमणमें (निर्गमनमें), परकायप्रवेशमें, अपने अभीष्ट (अभिलषित) लोककी प्राप्तिके मार्गभूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकारसे निकलने और प्रवेश करनेमें निपुणताका अभ्यास हो गया हो। उनमें बिचला धारणानिष्ठ पुरुष क्रमसे युक्तिका अभ्यास कर देहका त्याग कर देहके अन्तमें सुखपूर्वक जाता है, युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रहकर सुखको प्राप्त होता है और जिस पुरुषको न तो धारणाका अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है, ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःखको ही प्राप्त होता है ॥ ३५–३७ ॥

वासनाके आवेशवश पराधीनचित्त हुआ अतएव विषयोंका ही चिन्तन करनेवाला पुरुष कटे हुए कमलकी नाईं अत्यन्त दीनताको प्राप्त होता है, जिसकी बुद्धि शास्त्रोंसे संस्कृत नहीं है और जो असज्जनोंकी संगति करता है, वह मरनेपर अग्निमें गिरे हुए पुरुषकी नाईं अन्तर्दाहका अनुभव करता है। उस

यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्णजम् ।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥४०॥

परमान्ध्यमनालोको दिवाऽप्युदिततारकः ।
साभ्रदिङ्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥४१॥
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः ।
आकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः ॥४२॥

परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवाऽर्णवे ।
नीयमान इवाऽऽकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः ॥४३॥
अन्धकूप इवाऽऽपन्नः शिलान्तरिव योजितः ।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाऽऽशये ॥४४॥

पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवाऽर्पितः ।
रथे द्रुत इवाऽऽरूढो हिमवद् गलनोन्मुखः ॥४५॥
व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवानस्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवाऽऽस्थितः ॥४६॥

अविवेकीका कण्ठ जब कफसे 'घर, घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय होता है ॥ ३८–४० ॥

वह परम अन्धकारको प्राप्त होकर प्रकाशसे वञ्चित रहता है, क्योंकि दिनमें उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न रहता है, उसके चारों ओर दसों दिशाओंमें मेघ व्याप्त रहते हैं, मर्मपीड़ासे वह व्याप्त रहता है, उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथिवी उसके लिए आकाश बन जाती है, आकाश पृथिवी बन जाता है, दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्रमें बहाया जाता हुआ-सा, आकाशमें ले जाया जाता हुआ-सा, अंधे कुएँमें गिरा हुआ-सा, शिलाके अन्दर घुसाया हुआ-सा, प्रबल निद्राको प्राप्त होता हुआ-सा पराधीन रहता है । अपने दुःखोंको कहनेकी इच्छा होनेपर भी वाणीका स्तम्भ हो जानेसे उसके मुँहसे अक्षर नहीं निकलते, वह हृदयमें काटा हुआ-सा, आकाशमार्गसे गिरता हुआ-सा, प्रबल आँधीमें डाला हुआ-सा, तेज दौड़नेवाले रथमें बैठा हुआ-सा, हिमशिलाकी नाईं गलता हुआ-सा, अपनेको उदाहरण बनाकर लोगोंमें संसार-दुःखका व्याख्यान करता हुआ-सा, पत्थरको

भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवाऽर्पितः ॥४७॥
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चाऽर्णवे ॥४८॥
अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वीविपर्यासदशामनुभवन् स्थितः ॥४९॥
पतन्निवाऽनवरतं प्रोत्पतन्निव चाऽभितः ।
सूत्काराकर्णनोद्भ्रान्तपूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥५०॥
क्रमात् श्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः ।
यथाऽस्तं गच्छति रवौ मन्दालोकतया दिशः ॥५१॥
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ।
यथा पाश्चात्यसन्ध्यान्ते नष्टा दृष्टिर्दिगष्टके ॥५२॥

फेंकनेके यन्त्रसे घुमाया हुआ-सा, वायुयन्त्रमें रक्खा हुआ-सा, भ्रमियन्त्र (चर्खी आदिमें) घुमाया हुआ-सा, रस्सीसे खींचा हुआ-सा, जलकी भौंरीमें घूमता हुआ-सा, शस्त्रयन्त्र (आरे आदिमें या अन्य प्रकारकी काटनेकी मसीनमें) रखा हुआ-सा, तृणकी नाईं बहाया जाता हुआ-सा, बह रहे पर्जन्यवायुमें बैठकर जलप्रवाहके साथ समुद्रमें गिरता हुआ-सा, चक्रावर्तरूप असीम आकाशरूप छिद्रमें गिरता हुआ-सा, पृथिवीकी विपर्यास दशाका अनुभव करता हुआ-सा स्थित होता है । निरन्तर चारों ओरसे नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्रकी नाईं अस्थिर रहता है, निःश्वासके शब्दके श्रवणसे उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उद्भ्रान्त हो जाते हैं ॥ ४१—५० ॥

जैसे सूर्यके अस्त होनेपर मन्द-मन्द प्रकाशवाली दिशाएँ काली हो जाती हैं, वैसे ही उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तियाँ धुंधूली पड़ जाती हैं यानी उनकी तत्-तत् विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति मन्द पड़ जाती है ॥ ५१ ॥

जैसे पश्चिम सन्ध्याके (सायंकालकी सन्ध्याके) बाद नष्ट हुई नेत्रशक्ति आठों दिशाओंमें पूर्वापरको नहीं जानती, वैसे ही क्षीणताको प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापरको नहीं जानती ॥ ५२ ॥

मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनाऽसौ महामोहे निमज्जति ॥ ५३ ॥
यदैवाऽऽमोहमादत्ते नाऽऽदत्ते पवनस्तदा ।
न त्वादत्ते यदा प्राणान्मोहमायात्यलं तदा ॥ ५४ ॥
अन्योन्यपुष्टतां यातैर्मोहसंवेदनभ्रमैः ।
जन्तुः पाषाणतामेति स्थितमित्यादिसर्गतः ॥ ५५ ॥
प्रबुद्धलीलोवाच
व्यथां विमोहं मूर्छान्तं भ्रमं व्याधिमचेतनाम् ।
किमर्थमयमायाति देहो ह्यष्टाङ्गवानपि ॥ ५६ ॥
श्रीदेव्युवाच
एवं संविहितं कर्म सर्गादौ स्पन्दसंविदा ।
यद्यस्मिन् समये दुःखं कालेनैतावतेदृशम् ॥ ५७ ॥

उसका मन मोह होनेके कारण कल्पना शक्तिका त्याग करता है, इसलिए अविवेकवश महामोहमें गिरता है ॥ ५३ ॥

जब देही अल्प मूर्च्छाको प्राप्त होता है, तब उसके प्राण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको नहीं थामते जब वह प्राणोंको भी नहीं चला सकता तब वह गाढ़ मूर्छाको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मोह यानी अपने स्वरूपका परिचय न रहना, संवेदन यानी विषयवासनाएँ और भ्रम यानी अन्यथा ज्ञान ये जब एक दूसरेसे पुष्ट होते हैं, तब इनसे जीव पाषाणताको (पाषाणकी नाईं जड़ताको) प्राप्त होता है, यह नियम आदि सृष्टिसे चला आ रहा है ॥ ५५ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, सिर, हाथ, चरण, मलमूत्रके द्वार, नाभि और हृदय इन आठ अङ्गोंसे युक्त भी यह देह पीड़ा, मोह, मूर्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनाको क्यों प्राप्त होता है ? ॥ ५६ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे ! ईश्वरने, जिनमें क्रियाशक्तिकी प्रधानता है, इस प्रकार सङ्कल्परूप कर्मका विधान किया है, वह यह कि इस समयमें (बाल्यावस्थामें, युवावस्थामें, और वृद्धावस्थामें) इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकारका दुःख मुझसे अभिन्न जीवको हो ॥ ५७ ॥

स्यान्मे इत्येव संविश्य गुल्मवत्तत्स्वभावजम् ।
वेत्ति चित्तविजृम्भोत्थं नाऽन्यदत्राऽस्ति कारणम् ॥ ५८ ॥
यदा व्यथावशान्नाड्यः स्वसङ्कोचविकासनैः ।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति निजां स्थितिम् ॥ ५९ ॥
प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः सम्प्रविशन्ति नो ।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्मृतिर्भवेत् ॥ ६० ॥
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा ।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा ॥६१॥
आगन्तव्यो मया नाशः कालेनैतावतेऽति या ।
पूर्वसंविदिता संविद्याति तच्चोदिता मृतिं ॥६२॥
ईदृशेन मयेहेत्थं भाव्यमित्यादिसर्गजा ।
संविद्बीजकलानाशं न कदाचन गच्छति ॥६३॥

'वह मुझे प्राप्त हो' इस अपने सङ्कल्पके स्वभावसे उत्पन्न दुःखको स्वयं ही जीवरूपसे देहादि उपाधिमें अपने चित्तके स्वभावसे कल्पित वृक्षोंके झुरमुटकी नाईं प्रवेशकर उसका भोग करता है । उसके दुःखभोगमें दूसरा कारण नहीं है ॥५८॥

जब नाडियाँ पीड़ावश हुए सङ्कोच-विकाससे खाये और पीये गये पदार्थोंके रसको विषमताके साथ ग्रहण करती हैं, तब समान नामका वायु खाये-पीये गये पदार्थोंके रसके समीकरणरूप अपने कामको छोड़ देता है ॥ ५९ ॥

जब नाड़ियोंमें प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आते और बाहर निकले हुए वायु उनमें प्रवेश नहीं करते तब नाड़ियोंके व्यापारके रुकनेपर पुरुष नाड़ी शून्य हो जाता है अतएव चक्षु आदिका स्पन्दन न होनेसे स्मरण ही भीतर रहता है, इन्द्रियज्ञान नहीं रहता ॥ ६० ॥

जब वायु न तो प्रवेश ही करता है और न बाहर ही निकलता है, तब शरीरकी नाड़ियोंसे शून्य हो जानेके कारण पुरुष मृतक कहलाता है ॥ ६१ ॥

मुझे इतने कालमें नाशको प्राप्त होना चाहिये इस प्रकारकी पूर्वजन्मके सङ्कल्पसे युक्त और नियति द्वारा प्रेरित जो संवित् है, वह भी नाशको प्राप्त हो जाती है ॥ ६२ ॥

यदि कोई कहे कि उक्त नियतिका नाश होनेपर जगत्के व्यवहारका ही भङ्ग हो जायगा, इसपर कहते हैं—'ईदृशेन' इत्यादिसे ।

संविदो वेदनं नाम स्वभावोऽव्यतिरेकवान् ।
तस्मात् स्वभावसंवित्तेर्नाऽन्ये मरणजन्मनी ॥६४॥
क्वचिदावृतिमत्सौम्यं क्वचिन्नद्यां जलं यथा ।
क्वचित्सौम्यं क्वचिज्जीवधर्मेदं चेतनं तथा ॥ ६५ ॥
यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घाया मध्यमध्यतः ।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च ॥ ६६ ॥
न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित् ।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत् पश्यति केवलम् ॥ ६७ ॥

इस प्रकारका जो मैं हूँ, मुझे इस स्थानमें इस प्रकार जन्म लेना होगा, इस आकारवाली आदि सृष्टिमें उत्पन्न हुई सत्यसंकल्पके संस्कारसे युक्त माया कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होती, मुक्ति होनेपर कालके साथ ही उसकी भी निवृत्ति होती है, उससे पूर्व नहीं, यह भाव है ॥ ६३ ॥

अविद्यायुक्त जीवचैतन्यके स्वरूपका विचार करनेपर भी यही प्रतीत होता है कि जबतक मोक्ष न हो जाय, तबतक जन्म, मरण आदि की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे ।

संवित्का वेदन यानी स्वभाव व्यतिरेकरहित (विश्लेषशून्य) है, इसलिए जन्म और मरण स्वभावसंवित्से पृथक् नहीं हैं यानी जबतक आविद्यक जीव-चैतन्य रहेगा, तबतक जन्म और मरणसे उसका छुटकारा नहीं है, वे उसके स्वभावरूप ही हैं, हाँ, मुक्ति होनेपर कालके साथ ही उनसे छुटकारा होता है ॥६४॥

सांसारिक जीवके संवित्प्रवाहका वर्णन करते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

जैसे नदीमें जल कभी आवर्तयुक्त यानी अस्थिर अतएव मैला होता है और कभी स्थिर अतएव निर्मल हो जाता है, वैसे ही यह चेतन (सांसारिक जीव) भी कभी सौम्य (निर्मल) और कभी राग, द्वेष आदिसे कलुषित हो जाता है ॥६५॥

जैसे लम्बी दूब आदिकी लताओंके बीच बीचमें गाँठे होती हैं, वैसे ही चेतन-सत्ताके मध्य-मध्यमें जन्म और मरण होते हैं ॥ ६६ ॥

ऊपर जिसका वर्णन किया है, वह सब भ्रान्तदृष्टिसे है, परमार्थदृष्टि तो यह है कि चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है ओर न कभी मरता है, क्योंकि श्रुतिने कहा है—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (परमार्थदर्शी न तो जन्म लेता है और न मरता

पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति ।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदाऽन्यत्किं पुमान् भवेत् ॥ ६८ ॥
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम् ।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम् ॥ ६९ ॥
अमरिष्यन्न वै चित्तमेकस्मिन्नेव तन्मृते ।
अभविष्यत् सर्वभावमृतिरेकमृताविह ॥ ७० ॥

है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्नकालके भ्रमके तुल्य इसे (जन्म, मरण आदिको) देखता है ॥ ६७ ॥

चेतनकी अमरणस्वभावताका युक्तिसे उपपादन करते हैं—'पुरुष०' इत्यादिसे ।

चेतनामात्र ही तो पुरुष है, वह कब और कहां नष्ट हो सकता है ? यदि पुरुषको चेतनसे अतिरिक्त मानो, तो बताओ क्या देह पुरुष होगा या प्राण पुरुष होगा या इन्द्रियां पुरुष होंगी अथवा मन पुरुष होगा या बुद्धि, अहङ्कार, चित्त पुरुष होंगे या उनके अधिष्ठाता देवता पुरुष होंगे अथवा अविद्या पुरुष होगी ? इन सभी पक्षोंमें पुरुषरूपसे माने गये देह आदि जड़ों द्वारा चेतनरूप पुरुषसे जन्य प्रकाशसे होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार न हो सकेंगे । अतएव चेतनामात्र ही पुरुष है, यह पक्ष अटल रहा ॥ ६८ ॥

चेतनका मरण सिद्ध नहीं हो सकता, जिसने चेतनका मरण देखा हो, ऐसा कोई साक्षी ही नहीं है, फिर जिसका कोई साक्षी ही नहीं है, उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस आशयसे कहते हैं—'कोऽद्य' इत्यादि ।

इतना संसार बीत गया, आजतक चेतनको मरा हुआ किसने देखा ? जरा उसका नाम तो बतलाइये । क्या चेतनका मरण विनाश है या दूसरी देहकी प्राप्ति है । यदि उसका मरण विनाश है, तो वह अपने आप होता है या दूसरेसे ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि विनाश विरोधी करता है, अपनेमें अपना विरोध कैसे ? दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि असंग चेतनका दूसरेसे विनाश हो ही नहीं सकता । यदि चेतनका मरण अन्य देहकी प्राप्ति है, तो वह भी कोई मरण है ? देह तो लाखों मरते हैं और चेतन ज्यों-का-त्यों अविनाशी बना रहता है ॥ ६९ ॥

यदि चेतनकी मृत्यु हुई तो बड़ा भारी अनर्थ प्राप्त होगा, यों दर्शाते हुए चेतनकी मृत्युका खण्डन करते हैं—'अमरिष्यत्' इत्यादिसे ।

वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत् स्वयम् ।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते ॥ ७१ ॥
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन ।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम् ॥ ७२ ॥
अत्यन्तासम्भवादेव दृश्यस्याऽसौ च वासना ।
नाऽस्त्येवेति विचारेण दृढ़ज्ञातैव नश्यति ॥ ७३ ॥
अनुदितमुदितं जगत्प्रबन्धं
भवभयतोऽभ्यसनैर्विलोक्य सम्यक् ।
अलमनुदितवासनो हि जीवो
भवति विमुक्त इतीह सत्यवस्तु ॥ ७४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणविचारो नाम चतुःपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५४॥

प्रत्येक देहमें भिन्न-भिन्न चेतन हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाणसे सब देहोंमें एक ही चेतन है, यह सिद्ध होता है। वह एक चेतन यदि मर जाय, तो समष्टि और व्यष्टिका चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसीके अधीन है, कैसे नहीं मरेगा ? यानी अवश्य मर जायगा। समष्टि और व्यष्टिके चित्तके मर जानेपर चित्तमात्ररूप जगत्‌की उपादानशून्य सत्ता नहीं रह सकती। इसलिए एकके मरनेपर यहां सब भूतोंकी मृत्युरूप दोष अनिष्ट नहीं होगा क्या ? ॥ ७० ॥

यदि कोई पूछे तब जन्म-मरण, जिनका सबको अनुभव होता है, क्या हैं यानी उनका स्वरूप क्या है ? इसपर कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे।

जिसका यानी जन्म-मरणका जीव अनुभव करता है, वह केवल वासनाका चमत्कार है। उसीके (वासनाचमत्कारके ही) जीवन और मरण दो नाम रख दिये हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार न तो कोई मरता है और न कोई पैदा होता है। केवल जीव अपनी वासनारूपी जलभौंरीके गड्ढेमें गिरता है ॥ ७२ ॥

दृश्यका सर्वथा असंभव होनेसे यह वासना नहीं ही है, इस प्रकारके विचारसे दृढ़ (मजबूत) ज्ञाता (अन्तःकरण) अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ७३ ॥

वैराग्य आदि साधनोंसे सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुखसे श्रवण आदिके

पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः

प्रबुद्धलीलोवाच

यथैव जन्तुर्म्रियते जायते च यथा पुनः ।
तन्मे कथय देवेशि पुनर्बोधविवृद्धये ॥ १ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम् ।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवाऽस्य चेतना ॥ २ ॥
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति ।
स्थावरे जङ्गमे व्योम्नि शैलेऽग्नौ पवने स्थितम् ॥ ३ ॥

अभ्याससे भ्रमवश प्रतीत हो रहे जगत्-प्रपञ्चको यह परमार्थरूपसे उदित नहीं हुआ है, यों तत्त्वज्ञानसे देख कर मूलके (अज्ञानके) कटनेसे सर्वथा द्वैत-वासनासे शून्य होकर विमुक्त हो जाता है, यों विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहां परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त सब असत् है ॥ ७४ ॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

[आदि सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र संसारगतियोंका तथा जीवकर्मानुसारी ईश्वरकी स्थितिका वर्णन]

प्रबुद्धलीलाने कहा—हे देवेशि, जैसे जन्तु (प्राणी) मरता है और जैसे फिर पैदा होता है, उसीको (पूर्वकथितको ही) फिर आप मुझसे विस्तारसे कहिये । उसका परिणाम यह होगा कि बारबार सुननेसे वैराग्य बढ़ेगा और उससे ज्ञानकी वृद्धि होगी ॥ १ ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, नाडियोंकी गति रुक जानेपर जब कि प्राणी प्राण-वायुओंकी विसंस्थिति (चलनस्वभावसे विपरीत स्थिति) अर्थात् गत्यवरोधको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शक्ति, अन्तःकरणरूप उपाधिका लय हो जानेसे, शान्त-सी हो जाती है ॥ २ ॥

वस्तुतः चेतना कहीं शान्त नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदाऽसौ जडनामकः ॥ ४ ॥
तस्मिन् देहे शवीभूते वाते चाऽनिलतां गते ।
चेतनं वासनामुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति ॥ ५ ॥
जीव इत्युच्यते तस्य नामाऽणोर्वासनावतः ।
तत्रैवाऽऽस्ते स च शवागारे गगनके तथा ॥ ६ ॥
ततोऽसौ प्रेतशब्देन प्रोच्यते व्यवहारिभिः ।
चेतनं वासनामिश्रमामोदानिलवत्स्थितम् ॥ ७ ॥

चेतन मलके सम्पर्कसे रहित तथा नित्य है, न तो उसका उदय होता है और न विनाश। वह चर-अचर सब जीवोंमें, आकाशमें, पर्वतमें, अग्निमें और वायुमें स्थित है। मतलब यह कि कोई पदार्थ या स्थान उससे शून्य नहीं है ॥३॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मरण देहका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे।

प्राणवायुकी गति रुकनेसे जब शरीरमें स्पन्द (चेष्टा) शान्त हो जाता है, तब यह देह, जिसका दूसरा नाम जड़ है, 'मृत' कहलाती है ॥ ४ ॥

जब यह देह मुर्दा बन जाती है, प्राणवायु अपने कारणरूप महावायुमें लीन हो जाता है, तब वासनारहित चेतन आत्मतत्त्वमें लीन हो जाता है यानी प्राण तेजके साथ प्राज्ञ आत्मामें लीन हो जाते हैं, उपाधिका विनाश होनेपर जीव भी वासनाओंके साथ परमात्मरूपसे स्थित हो जाता है ॥ ५ ॥

यदि जीव परमात्मरूपसे स्थित हो जाता है, तो वह मुक्त होकर ब्रह्म ही हो गया, फिर उसे जीव कैसे कहते हैं ? इसपर कहते हैं—'जीव' इत्यादिसे।

पुनर्जन्ममें बीजभूत वासनासे युक्त सूक्ष्म (अणुपरिच्छिन्न) उसका जीव नाम कहा जाता है, वस्तुतः जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। अतएव वासनावश उसको अपने स्थानमें ही परलोक गमन आदिका भ्रम होता है। वास्तवमें उसका परलोकगमन आदि नहीं होता। इस आशयसे मण्डपाकाशन्यायका स्मरण कराते हैं—'तत्रैव' इत्यादिसे। वह वहींपर राजा पद्मके शवागारमें मण्डपाकाशमें ही रहता है ॥ ६ ॥

देहके मरणसे ही लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उसे प्रेत कहते हैं। चेतन वासनाओंसे युक्त होकर पुष्प आदिकी सुगन्धसे मिले हुए वायुके समान रहता है ॥७॥

इदं दृश्यं परित्यज्य यदाऽऽस्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव नानाकृतिस्तदा ॥ ८ ॥
तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान् भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यस्ति घटा पुष्टमन्यस्य व्योम केवलम् ।
आकाशभूतले साकं साकाशशशिवासरम् ॥ १० ॥

इस (पूर्वजन्मके) देह आदि दृश्यका त्याग कर अन्य देह आदिके दर्शनमें जब रहता है, तब वह जीव स्वप्नकी नाईं तथा मनोरथकी नाईं स्वयं ही परलोकगमन, परलोक, वहाँके भोग्य आदि वासनामय नाना आकारोंको धारण करता है ॥ ८ ॥

उसी भ्रमको नये सिरेसे क्रमशः कहना आरम्भ करते हैं—'तस्मिन्नेव' इत्यादिसे ।

उसी प्रदेशके अन्दर पूर्वजन्मकी नाईं जब उसे स्मृति होती है तभी (तुरन्त) मरणकालकी मूर्छाके बाद अन्य शरीरको देखता है ॥ ९ ॥

यदि कोई कहे कि छोटेसे मरण-प्रदेशमें यथाकथंचित् अन्य शरीरकी कल्पना हो सकनेपर भी दूरगमन, विस्तारयुक्त परलोक आदिका समावेश वहाँ कैसे हो सकता है ? तो उसपर कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

आत्मामें विपुल एक आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी दोनों ही या करोड़ों लाख ब्रह्माण्ड एक साथ एक ही समय समा सकते हैं, फिर आत्मामें इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका सम्भव क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य है ही, क्योंकि आत्मा असीम है और माया अघटितघटनामें पटु है । ऐसी स्थितिमें आत्मस्वरूपका विचार कर अत्यल्प प्रदेशमें भी अन्य लोकका (परलोक आदिका) समावेश कहा गया है, केवल उसी प्रदेशके अभिप्रायसे नहीं कहा है * ॥

* इस श्लोकका द्वितीय अर्थ यों है—

यदि उस प्रदेशमें मार्ग, परलोक आदि हैं, तो उन्हें दूसरे लोग क्यों नहीं देखते, मृतक ही क्यों देखता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

आकाश और पृथ्वी दो, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदिसे युक्त सारा जगत् मृत पुरुषकी आत्मामें मेघघटाकी नाईं खूब पुष्ट हुआ है, अन्यकी दृष्टिसे तो केवल आकाश ही है, अतः अन्यको नहीं दिखाई देते हैं ।

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ ११ ॥
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ।
एतेषां कस्यचिद्भेदो द्वौ त्रयोऽप्यथ कस्यचित् ॥ १२ ॥
कश्चिन्महापातकवान् वत्सरं स्मृतिमूर्छनम् ।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ १३ ॥
ततः कालेन संबुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ १४ ॥
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ १५ ॥
अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ १६ ॥

अब भिन्न-भिन्न गतिको कहनेके लिए देवीजी प्रेतोंका विभाग करती हैं—**'भवन्ति'** इत्यादिसे ।

हे सुन्दरी, प्रेत छः प्रकारके होते हैं, उनके आगे कहे जानेवाले भेदको सुनो—साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े भारी पापी, साधारण धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले तथा उत्तम धर्मवाले । इनमें से प्रत्येकमें किसी के दो भेद होते हैं और किसीके तीन भेद होते हैं ॥ ११, १२ ॥

उनमें से पहले और तीसरेकी गति कहते हैं—**'कश्चित्'** इत्यादिसे ।

कोई बड़ा भारी पातकी एक वर्ष तक मरणमूर्छाका अनुभव करता है, पत्थरके मध्यकी नाईं ठोस और मूढ रहता है ॥ १३ ॥

बहुत समयके बाद चेतनाको प्राप्त होकर चिरकाल तक वासनारूपी नायिकाके उदरसे उत्पन्न हुए कभी नष्ट न होनेवाले नारकीय दुःखका भोगकर एक दुःखके बाद दूसरे दुःखको प्राप्त होता हुआ वह महापापी सैकड़ों योनियोंका खूब भोगकर कभी संसाररूपी स्वप्नमें शान्तिको (महापापोंके फलकी समाप्तिको) प्राप्त होता है, यानी उसके पापफलोंका अन्त होता है ॥ १४, १५ ॥

अथवा वे मृत्यु-मोहके अन्तमें सैकड़ों जड़-दुःखोंसे व्याकुल वृक्ष आदि योनियोंका, जो कि उसके हृदयमें स्थित हैं, भोग करते हैं और फिर नरकमें

स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाऽथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥ १७ ॥
अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
सशिलाजठरं जाड्यं कश्चित्कालं प्रपश्यति ॥ १८ ॥
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ १९ ॥
मृत एवाऽनुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं संपन्नमक्षतम् ॥ २० ॥
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ २१ ॥
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥ २२ ॥

अपनी-अपनी वासनाओंके अनुरूप विविध दु:खोंका अनुभव कर चिरकाल तक भूतलमें नाना योनियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ १६, १७ ॥

मध्यम पापीकी गतिको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

और जो म यम पापी है, वह मरणमूर्छाके पश्चात् पत्थरके उदरकी (मध्य भागकी) नाईं घनी मूर्छाका कुछ कालतक अनुभव करता है। तदुपरान्त जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ कालमें या उसी समय तिर्यग् आदि क्रमसे योनियोंका भोगकर संसारमें प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

साधारण पापीकी गति बतलाते हैं—'मृत' इत्यादिसे ।

कोई साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीरका अनुभव करता है, क्योंकि 'उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' (पुण्य और पापोंसे मनुष्यलोकको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है ॥ २० ॥

वह स्वप्नकी नाईं और मनोरथकी नाईं, वैसा अनुभव करता है और उसी क्षणमें उसकी स्मृतियाँ (जैसा कि पहले कहा गया है) उदित होती हैं ॥ २१ ॥

सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्माओंकी गति कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

किन्तु जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्छाके बाद पुण्य वासनाके उदयसे स्वर्गलोक, विद्याधरलोकका सुख भोगते हैं। महापुण्यके फलके

ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ २३ ॥
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ २४ ॥
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ २५ ॥
स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम् ।
मूर्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेणैवाऽक्रमेण च ॥ २६ ॥
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात् ।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इति वेदिनः ॥ २७ ॥

उपभोगके बाद थोड़ा-बहुत पापकर्म यदि हो, तो उसके अनुरूप फलको ईलावृत्त, किंपुरुष आदि खण्डोंमें भोगकर मनुष्यलोकमें सज्जनोंके धनवान् घरमें जन्म लेते हैं ॥ २२, २३ ॥

मध्यम धर्मात्माओंकी गति कहते हैं—'ये च' इत्यादिसे ।

जो मध्यम धर्मात्मा हैं, वे मरणमूर्छाके बाद आकाश-वायुसे वेष्टित होकर भाँति-भाँतिके वृक्ष, लता और पल्लवोंसे व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानोंमें किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदिके शरीरसे जाते हैं, वहांपर अपने पुण्यकर्मोंका सुन्दर फल भोगकर वायु, वृष्टि आदिसे पृथिवीमें धान, गेहूँ, जौ आदिमें प्रवेशपूर्वक अन्न बनकर ब्राह्मण आदिके हृदयमें प्रवेशकर वीर्यरूपसे स्त्रियोंके गर्भमें प्राप्त होते हैं ॥ २४, २५ ॥

इससे साधारण धर्मात्माकी भी गति प्रायः कही गई, ऐसा मानते हुए उपसंहार करते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

प्रेत अपनी वासनाके अनुसार मरणमूर्छाके अन्तमें अपने हृदयमें इस व्यवस्थाका क्रमसे और क्रमके बिना भी अनुभव करता है ॥ २६ ॥

अब उनका मरण आदि अध्यारोपक्रम विशेषरूपसे दर्शाते हैं—'आदौ' इत्यादिसे ।

प्रेत पहले हम लोग मरे, तदनन्तर दाह, दशाहकृत्य आदिके क्रमसे हम लोगोंका शरीर बना, यह जानते हैं ॥ २७ ॥

ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति ।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद् यमपुरं त्विति ॥ २८ ॥
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः ।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान् ॥ २९ ॥
हिमानीकण्टकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च ।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि संप्राप्तानीति पापवान् ॥ ३० ॥
इयं मे सौम्यसंपाता सरणिः शीतशाद्वला ।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः ॥ ३१ ॥
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः ।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान् ॥ ३२ ॥
इति प्रत्येकमभ्येति पृथुः संसारखण्डकः ।
यथासंस्थितनिःशेषपदार्थाचारभासुरः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे जानते हैं कि हाथोंमें कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं, इन यमभटों द्वारा ले जाया जा रहा मैं, जो कि पाथेय श्राद्ध आदिसे तृप्त किया गया हूँ, एक वर्षमें यमपुरीको जाता हूँ ॥ २८ ॥

उनमें से जो महापुण्यवान् होते हैं, वे बड़े मनोहर देवलोकके विमान और उद्यानोंको ये हमारे कर्मोंसे बार-बार प्राप्त हैं, ऐसा जानते हैं ॥ २९ ॥

महापापी पुरुष बर्फकी चट्टानें, कांटे, गड्ढे और तलवारकी नाईं चोखे पत्तोंसे भरपूर वन, जो कि हमारे दुष्कर्मोंसे उत्पन्न हैं, हमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानते हैं ॥ ३० ॥

मध्यम पुण्यवाले पुरुष जानते हैं कि यह मार्ग, जिसमें बड़े आनन्दके साथ पैदल चला जा सकता है, ठण्डी और हरी-हरी दूब जमी है, मनभावनी छायासे युक्त है और स्थान-स्थान पर बावडियाँ बनी हैं, मेरे सामने स्थित हैं ॥ ३१ ॥

मध्यम पापी जनोंको यह अनुभव होता है कि यह मैं यमपुरीमें आ पहुँचा, ये सर्वलोकप्रसिद्ध यमराज हैं और यहां चित्रगुप्त आदिने मेरे कर्मोंका विचार किया ॥ ३२ ॥

यह अध्यारोपक्रम स्वप्नके समान प्रत्येक पुरुषका भिन्न भिन्न है, ऐसा कहते हैं—'इति' ।

आकाश इव निःशून्ये शून्यात्मैव विबोधवान् ।
देशकालक्रियादैर्घ्यभासुरोऽपि न किञ्चन ॥ ३४ ॥
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने ।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ ३५ ॥
यः स्वर्गोऽयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा ।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः ॥ ३६ ॥
अयं शालिरहं जातः क्रमात् फलमहं स्थितः ।
इत्युदर्कप्रबोधेन बुध्यमानो भविष्यति ॥ ३७ ॥

जैसे प्रतीत होते हैं, वैसे ही स्थित यानी सत्य-से सब घट, पट आदि पदार्थ और उनकी तत्-तत् अर्थक्रिया (जलका आनयन आदि) से देदीप्यमान, विशाल संसारभाग प्रत्येकको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

परमार्थदृष्टिसे यदि देखा जाय, तो आत्मासे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**आकाश इव**' इत्यादिसे ।

आकाशकी नाईं स्वरूपरहितमें स्थित यह जगत्-प्रपञ्च, जिसमें लम्बे देश, लम्बे काल और लम्बी क्रियाओंकी प्रतीति होती है, कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण अध्यारोपोंसे शून्य आत्मा ही है ॥ ३४ ॥

मुझे यमराजने अपने कर्मोंके फलोंका भोग करनेके लिए इस दिशामें जानेकी आज्ञा दी है, इसलिए यमसभासे मैं शीघ्र सुन्दर सुन्दर भोगोंसे युक्त स्वर्गमें जाता हूँ या नरकमें ही जाता हूँ ॥ ३५ ॥

यमराजने जिस स्वर्गका भोग करनेके लिए मुझे आज्ञा दी थी उस (स्वर्ग) का मैंने भोग कर लिया है अथवा यमराजने जिस नरकका भोग करनेके लिए मुझे आदेश दिया था उसका मैंने भोग कर लिया है। यमनिर्दिष्ट ये पशु आदि योनियां मैंने भोग ली हैं। इस समय मैं मनुष्यसंसारमें आविर्भूत होता हूँ ॥ ३६ ॥

यह मैं कभी धानका अङ्कुर हुआ, फिर बढ़कर पौधा हुआ, पत्ते लगे, गाभ हुआ, धानकी बाल हुआ, इस क्रमसे बीज बनकर रहा ।

शङ्का—स्वर्ग, नरक और विविध योनियोंके भोगकी नाईं व्रीह्यादिभाव (धानके अङ्कुर आदि होना) भी क्या उसका अनुभवसिद्ध है ?

समाधान—नहीं, भविष्यकालमें प्राप्त होनेवाले मनुष्यशरीरमें श्रुति, पुराण आदिसे उत्पन्न बोधसे उसे अपने व्रीह्यादिभावका परिज्ञान होता है ॥ ३७ ॥

संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे ।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ ३८ ॥
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः ।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः ॥ ३९ ॥
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम् ।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम् ॥ ४० ॥
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्छनाम् ।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम् ॥ ४१ ॥
याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति नानायोन्यन्तरोदये ॥ ४२ ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि उस समय उसे अपने व्रीडादिभावका अनुभव क्यों नहीं होता ? उसपर कहते हैं—'संसुप्तकरणः' इत्यादिसे ।

उस अवस्थामें शरीर न होनेसे उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण मूर्च्छित रहता है । उसी अवस्थामें वह पिताके शरीरमें भुक्त अन्न द्वारा प्रवेश कर वीर्य बनता है । तदुपरान्त वह माताके उदरमें गर्भ बनता है । अपने पूर्वकर्मोंके अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर स्वभावसे युक्त अथवा दुःख, दौर्भाग्य, रोग तथा विषम स्वभावसे युक्त मनोहर आकृतिवाला बालक होता है ॥ ३९ ॥

तदुपरान्त वह चन्द्रमाके समान घटने बढ़नेवाले चञ्चल और मनोहर तथा कामोन्मुख (नारीपरायण) यौवनका अनुभव करता है, फिर कमलके मुँहमें गिरे हुए तुषाररूपी वज्रकी नाईं बुढ़ापेका अनुभव करता है यानी जैसे कमलके ऊपर तुषाररूपी वज्र गिरकर उसे मुरझा देता है, वैसे ही बुढ़ापेसे जरजर हो जाता है ॥ ४० ॥

उसका इतनेमें छुटकारा नहीं होता, उसके बाद भी व्याधिरूपी मरणका अनुभव करता है फिर वह मरणजनित मूर्छाको प्राप्त होता है, तदनन्तर बन्धुओं द्वारा दिये गये पिण्डोंसे स्वप्नके समान प्राप्त देहग्रहणका अनुभव करता है ॥४१॥

फिर वह पूर्वोक्त रीतिके अनुसार यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही नाना योनियोंकी प्राप्तिमें भ्रमक्रमका पुनः पुनः अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान् ॥ ४३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

आदिसर्गे यथा देवि भ्रम एष प्रवर्तते ।
तथा कथय मे भूयः प्रसादाद्बोधवृद्धये ॥ ४४ ॥

श्रीदेव्युवाच

परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः ।
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः ॥ ४५ ॥
सर्वात्मकत्वात् स यतो यथोदेति चिदीश्वरः ।
परमाकाशशुद्धात्मा तत्र तत्र भवेत्तथा ॥ ४६ ॥

आकाशमें ही आकाशरूपी जीव इस प्रकारके वेगवान् परिवर्तनका मोक्ष होने तक पुनः पुनः अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

त्वंपदार्थ जीवमें भ्रान्ति हो सकती है, इसलिए उसमें भले ही यह अध्यारोपक्रम हो, तत्पदार्थ ईश्वरमें तो भ्रान्ति हो नहीं सकती, अतः उसमें जगत्का अध्यारोपक्रम कैसे ? इस प्रकार तत्पदार्थ ईश्वरकी शुद्धिको जाननेके लिए लीला पूछती है—'आदिसर्गे' इत्यादिसे ।

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवि, आदि सृष्टिमें जैसे यह भ्रम होता है, वैसा मुझसे कृपापूर्वक पुनः कहिये, जिससे कि मेरे बोधकी वृद्धि हो ॥ ४४ ॥

ईश्वरकी भ्रान्तिसे जगत्का अध्यारोप नहीं होता, किन्तु परमार्थघन ईश्वरका ही मायाध्यारोपित रूपसे विवर्त होता है । अनावृत चैतन्यको जो अध्यस्तका भान होता है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु असत्यकी सत्यरूपसे प्रतीति भ्रम है । सर्वज्ञ होनेके कारण ईश्वरको सदा सब पदार्थोंकी प्रतीति होनेपर भी उनमें सत्यताकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वरके प्रति स्वस्वरूपके परिज्ञानरूप बोधसे बाधित रहते हैं । इस प्रकार तत्पदार्थमें अध्यारोप होनेसे कोई दोष नहीं है, इस आशयसे देवी तत्पदार्थमें अध्यारोपका उपपादन करती हैं—**'परमार्थघनम्'** इत्यादिसे ।

पर्वत परमार्थघन चैतन्य हैं, वृक्ष परमार्थघन हैं, पृथिवी परमार्थघन है और आकाश परमार्थघन है ॥ ४५ ॥

सर्वस्वरूप होनेके कारण उस चिदात्मा परमेश्वरका जहांपर जैसा

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनाऽऽदिप्रजापतिः ।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्याऽपि स्थिता स्थितिः ॥ ४७ ॥
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम् ।
प्रतिबिम्बितमेतस्माद्यत्तदद्याऽपि संस्थितम् ॥ ४८ ॥
यन्नाम सुषिरं स्थानं देहानां तद्गतोऽनिलः ।
करोत्यङ्गपरिस्पन्दं जीवतीत्युच्यते ततः ॥ ४९ ॥
सर्गादावेवमेवैषा जङ्गमेषु स्थिता स्थितिः ।
चेतना अपि निःस्पन्दास्तेनैते पादपादयः ॥ ५० ॥
चिदाकाशोऽयमेवांशं कुरुते चेतनोदितम् ।
स एव संविद्भवति शेषं भवति नैव तत् ॥ ५१ ॥

विवर्त होता है, परमाकाश शुद्धस्वरूप वह ईश्वर ही वहां वहांपर हम लोगोंकी दृष्टिसे स्वप्नकी कल्पना करनेवाले पुरुषकी नाईं जीवसमष्टिरूप आदि प्रजापति बनकर सृष्टि करनेयोग्य पदार्थोंके संकल्परूपसे जैसे भू आदि लोकरूप विवर्तसे स्फुरित हुआ, वैसे ही आज भी व्यवस्था ज्योंकी-त्यों स्थित है ॥ ४७ ॥

यदि यह माना जाय कि संकल्पसे उत्पन्न हुई जगत्सत्तासे यह जगत्सत्ता भिन्न है, तो इस पक्षमें भी उसकी (संकल्पजनित जगत्-सत्ताकी) प्रतिबिम्ब-तुल्य होनेके कारण वह मिथ्या ही है, ऐसा कहती हैं—**'प्रथमः'** इत्यादिसे ।

संकल्पजनित स्फुरणरूप पदार्थोंका पहला विवर्त बिम्बरूप ठहरा, उससे जो प्रतिबिम्ब हुआ वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥ ४८ ॥

जगत्सृष्टिमें स्थावर-जंगम विभाग जैसे हुआ, उसमें निमित्त कहती हैं—**'यन्नाम'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

देहोंका जो छिद्र स्थान है, उसमें प्रविष्ट हुआ वायु शरीरोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है, उससे यह जीता है, ऐसा कहा जाता है। सृष्टिके आदिमें ही जंगम प्राणियोंमें इस प्रकारकी यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसी कारण चेतन होते हुए भी वृक्ष आदि चेष्टाशून्य हैं। भाव यह कि उनमें छिद्र नहीं है, अतएव वायु उनमें प्रविष्ट हो चेष्टा उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वे चेतन होते हुए भी निश्चेष्ट हैं ॥ ४९, ५० ॥

इसी प्रकार चेतन और अचेतनके विभागकी कल्पना करनेमें भी मिमित्त कहती हैं—**'चिदाकाशो'** इत्यादिसे ।

नरोपाधिपुरं प्राप्तं चेतत्यक्षिपुटं नयत् ।
तत्तस्या नाऽक्षि चिज्जीवं नो जीवत्येव सर्गतः ॥ ५२ ॥
तथा खं खं तथा भूमिर्भूमित्वेनाऽऽस्ववज्जलम् ।
यद्यथा चेतति स्वैरं तद्वेत्त्येव तथा वपुः ॥ ५३ ॥
इति सर्वशरीरेण जङ्गमत्वेन जङ्गमम् ।
स्थावरं स्थावरत्वेन सर्वात्मा भावयन् स्थितः ॥ ५४ ॥

यह चिदाकाश ही (ईश्वर ही) प्रतिबिम्बत होकर आविर्भूत औपाधिक जीव विभागको करता है, वही अंश संवित् (चेतन) होता है, शेष अध्यारोपित है, वह चेतन नहीं है, किन्तु अचेतन ही है ॥ ५१ ॥

उसका बुद्धिके द्वारा स्थूलमें प्रवेश और स्थूलमें चक्षु आदिकी प्राप्ति होनेसे बाह्य व्यवहारकी क्षमता आती है, ऐसा कहते हैं—'**नर०**' इत्यादिसे।

बुद्धिमें प्रविष्ट हुआ चिदाकाश बुद्धिके लिए मनुष्यशरीररूप दूसरे उपाधिभूत नगरमें प्रविष्ट होकर अपनेमें अधिरूढ़ बुद्धिको चक्षु आदिके गोलकमें पहुँचाता हुआ चाक्षुष आदि बुद्धिवृत्तियों द्वारा बाह्य पदार्थोंका अनुभव करता है।

शङ्का—चक्षु आदि ही साक्षात् चित्में अध्यस्त होनेसे चित् (चेतन) है, अतः वे जीवभूत शरीरमें रहकर व्यवहार करें, बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त जीव माननेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन जीवभूत नहीं है, क्योंकि चैतन्यमें अध्यारोपमात्रसे ही कोई चेतन नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय, तो घट आदि पदार्थको भी चेतन मानना होगा ॥५२॥

बुद्धि ही जीवकी उपाधि है, अन्य नहीं है, इस नियममें तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी शक्तिकी व्यवस्थापक चित्का सङ्कल्प ही कारण है, इस आशयसे देवीजी कहती हैं—'**तथा**' इत्यादिसे।

आकाश शून्यताशक्तिसे युक्त होकर स्थित है, पृथिवी सब पदार्थोंको धारण करनेकी शक्तिसे स्थित है, जल सब पदार्थोंको तर करनेकी शक्तिसे युक्त है। तात्पर्य यह कि चितिशक्ति स्वेच्छासे जिसका जैसा सङ्कल्प करती है, वह अपने शरीरको वैसा ही जानता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार सर्वात्मक चेतन ही जङ्गमरूपसे जङ्गमका (चरका) और स्थावर-रूपसे स्थावरका (अचरका) सङ्कल्प करता हुआ सबके स्वरूपसे स्थित है ॥५४॥

तस्माद्यज्जङ्गमं नाम तत्स्वबोधनरूपवत् ।
तेन बुद्धं ततस्तद्वत्तदेवाऽद्याऽपि संस्थितम् ॥ ५५ ॥
यद्वृक्षाभिधमाबुद्धं स्थावरत्वेन वै पुनः ।
जडमद्यापि संसिद्धं शिलातरुतृणादि च ॥ ५६ ॥
न तु जाड्यं पृथक्किञ्चिदस्ति नाऽपि च चेतनम् ।
नाऽत्र भेदोऽस्ति सर्गादौ सत्तासामान्यके न च ॥ ५७ ॥
वृक्षाणामुपलानां या नामाऽन्तःस्थाः स्वसंविदः ।
बुद्ध्यादिविहितान्येव तानि तेषामिति स्थितिः ॥ ५८ ॥
विदोऽन्तःस्थावरादेर्यास्तस्या बुद्ध्यास्तथास्थितेः ।
अन्याभिधानास्थानार्थाः सङ्केतैरपरैः स्थिताः ॥ ५९ ॥

इसलिए जो जंगम जगत् है, उसको उसने अपने संकल्पके अनुसार जैसा जाना वैसा ही वह आज तक स्थित है ॥ ५५ ॥

जिन वृक्ष, शिला, पेड़-पौधों, तृण आदिको स्थावररूपसे जड़ जाना, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं । न तो जड़ कोई पृथक् है और न चेतन ही पृथक् है, इस प्रकार तत्पदार्थका भेद नहीं है, यह भाव है। इन पदार्थोंमें उत्पत्ति, स्थिति और नाशमें भेद नहीं है, क्योंकि जो वस्तु असत् है, उसमें भेद कैसा ?

शङ्का—जड़ वस्तुमें अनुगत जो सद्वस्तु है, उसमें भेद हो।

समाधान—सत्तासामान्यमें भी भेद नहीं है ॥ ५६,५७ ॥

यदि कोई कहे कि सब वस्तु केवल चिदेकरस ही है, फिर उसमें उससे विरुद्ध जाड्य, रूप, नाम आदि भेदोंका अनुभव सबको कैसे होता है ? तो इसपर कहती हैं—'वृक्षाणाम्' इत्यादिसे ।

जो अन्तःकरणमें स्थित संवित् हैं, उन्हींने वृक्षोंके, पर्वतोंके जाड्य, नाम और रूप आदि भेदोंकी रचना की है, ऐसी यथार्थ स्थिति है । तत्-तत् पदार्थोंके भीतर स्थित प्रत्यक् चैतन्यमें अविद्याध्यस्त बुद्धिकी कल्पनासे ही यह स्थावर, जङ्गम आदि या जाड्य, नाम, रूप आदि भेद होते हैं, यह भाव है ॥ ५८ ॥

प्रत्यक् चैतन्य ही उक्त स्थावर आदि बुद्धिके 'मै स्थावर हूँ' यों व्यवस्थित-रूपसे अन्दर रहनेके कारण 'हम जंगम पदार्थोंसे भिन्न यानी स्थावर हैं' इस कथन और अभिमानके विषय होकर अन्य (वृक्ष, पर्वत आदि) संकेतोंसे स्थित हैं ।

क्रिमिकीटपतङ्गानां या नामाऽन्तःस्वसंविदः ।
तान्येव तेषां बुद्ध्यादीन्यभिधार्थानि कानिचित् ॥ ६० ॥
यथोत्तराब्धिजनता दक्षिणाब्धिजनं स्थितम् ।
न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते ॥ ६१ ॥
स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः ।
परस्परं यदा सर्वे स्वसंकेतपरायणाः ॥ ६२ ॥
यथा शिलान्तःसंस्थानां बहिष्ठानां च वेदनम् ।
असज्जडं च भेकानां मिथोऽन्तस्तस्थुषां तथा ॥ ६३ ॥

यानी प्रत्यक्-चैतन्य ही 'मैं स्थावर हूँ' इस वासनासे स्थावर नाम और अभिमानको प्राप्त है ॥ ५९ ॥

अपनी अपनी आन्तरिक संवित् (प्रत्यक्-चैतन्य) ही बुद्धिका रूप धारण करती है, वह बुद्धि ही तत्-तत् क्रमि, कीट, पतङ्ग आदि विविध अर्थ और उनके वाचक शब्दोंकी कल्पनाके भेदरूपसे स्थित है ॥ ६० ॥

जैसे उत्तर सागरके तीरमें निवास करनेवाले लोग दक्षिण सागरके किनारेपर रहनेवाले लोगोंके विषयमें कुछ नहीं जान सकते, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्यके बिना किसी भी पदार्थमें सत्ता और स्फूर्ति नहीं आ सकती। ये सब संविद्रूप ही हैं उससे भिन्न नहीं हैं ॥ ६१ ॥

जैसे दक्षिण सागर और उत्तर सागरकी जनताका दृष्टान्त दिया गया है, वैसे ही सब स्थावर और जङ्गम पदार्थ अपने प्रत्यक्-साक्षिक अनुभवमें लीन हैं अतएव वे अन्यकी बुद्धिसे कल्पित पदार्थोंका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जब वे परस्पर एक दूसरेसे व्यवहार करते हैं, तब उन्हें आपसमें संकेतकी आवश्यकता पड़ती है ॥ ६२ ॥

इस प्रकार सच्चित्रूप ब्रह्ममें असत्त्व, जाड्य, वायु, आकाश आदिकी कल्पनाकी भी उपपत्ति हो सकती है, उसका होना असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे पत्थरके मध्यमें उत्पन्न हुए मेढक और पत्थरसे बाहर स्थित मेढक एक दूसरेकी कल्पनामें असत् और जड़ हैं, वैसे ही परस्पर स्थावर पदार्थोंमें भी समझना चाहिए ॥ ६३ ॥

सर्वं सर्वगतं चित्तं चिद्व्योम्ना यत्प्रचेतितम् ।
सर्गादौ चोपनं वायुः स इहाऽद्यापि संस्थितः ॥ ६४ ॥
चेतितं यत्तु सौषिर्यं तन्नभस्तत्र मारुतः ।
स्पन्दात्मेत्यादिसर्गेहा पदार्थेष्विव चोपनम् ॥ ६५ ॥
चित्तं तु परमार्थेन स्थावरे जङ्गमे स्थितम् ।
चोपनान्यनिलैरेव भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६६ ॥
एवं भ्रान्तिमये विश्वे पदार्थाः संविदंशवः ।
सर्गादिषु यथैवाऽऽसंस्तथैवाऽद्याऽपि संस्थिताः ॥ ६७ ॥
यथा विश्वपदार्थानां स्वभावस्य विजृम्भितम् ।
असत्यमेव सत्याभं तदेतत्कथितं तव ॥ ६८ ॥

जैसा यह दृष्टान्त है, वैसे ही प्रलयकालमें मायामें लीन सर्वात्मक और सर्वगत समष्टि चित्त, जो कि जगत्‌की सूक्ष्मावस्थाका रूप है, सर्वप्रत्यक्‌रूप चिदाकाशसे सृष्टिके आरम्भमें जिस प्रकार स्फुरित हुआ, वह आज भी जैसा-का-तैसा स्थित है। जो स्पन्दनरूपसे स्फुरित हुआ वह वायु है और वह आज भी यहांपर स्थित है। जो छिद्ररूपसे स्फुरित हुआ वह आकाश है, उसमें स्पन्दरूप सर्व-क्रियाशक्तिस्वरूप वायु स्थित है। उक्त वायुसे सब पदार्थोंकी चेष्टाएँ ऐसे होती हैं जैसे कि सूखे हुए तिनके, पत्ते आदि पदार्थोंमें वायुसे कम्पन होता है ॥६४,६५॥

वस्तुतः स्थावर और जङ्गम दोनों पदार्थोंमें चित्त समानरूपसे विद्यमान है, पर वायुके स्पन्दन और स्पन्दनके अभावसे उनमें विशेष है, ऐसा कहते हैं— **'चित्तं तु'** इत्यादिसे ।

चित्त तो परमार्थरूपसे स्थावर और जंगम दोनोंमें स्थित है, पर जंगममें वायुसे स्पन्दन (चेष्टाएँ) होते हैं और स्थावरमें नहीं होते ॥ ६६ ॥

इस नियममें भी पूर्वकथित नियति ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

भ्रान्तिमय विश्वमें इस प्रकारके चेष्टायुक्त या चेष्टाशून्य सब पदार्थ सृष्टिके आदिसे संवित्‌में किरणोंकी नाईं स्फुरित हुए थे, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं ॥६७॥

प्रस्तुत विषयको कहनेके लिए पूर्वप्रष्ट प्रसङ्गप्राप्त तत्त्वज्ञानका उपसंहार करते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

अयमस्तं गतः प्रायः पश्य राजा विदूरथः ।
मालाशवस्य पद्मस्य पत्युस्ते याति हृद्गतम् ॥ ६९ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

केन मार्गेण देवेशि यात्येष शवमण्डपम् ।
एनमेवाऽऽशु पश्यन्त्यावावां गच्छाव उत्तमे ॥ ७० ॥

श्रीदेव्युवाच

मनुष्यवासनान्तस्थं मार्गमाश्रित्य गच्छति ।
एषोऽहमपरं लोकं दूरं यामीति चिन्मयः ॥ ७१ ॥
मार्गेणैवमनेनैव यावस्ते येन सम्मतम् ।
परस्परेच्छाविच्छित्तिर्नहि सौहार्दबन्धनी ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति विहतकथागतक्रमायां परमदृशि प्रसृते विबोधभानौ ।
नृपतिवरसुतामनस्युदारे विगलितचित्तजडो विदूरथोऽभूत् ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसारमरणावस्थावर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५५ ॥

———*———

सम्पूर्ण पदार्थ स्वभावके विलास और असत्य होनेपर भी जैसे सत्य-से प्रतीत होते हैं, वह सब मैंने तुमसे कह दिया है ॥ ६८ ॥

देखो मैं समझती हूँ कि यह राजा विदूरथ मरकर फूलोंकी मालासे आच्छादित शवभूत राजा पद्मके हृदयमें स्थित पद्मकोशमें प्रवेश करनेकी इच्छासे जाता है ॥ ६९ ॥

प्रबुद्ध लीलाने कहा—हे देवेशि, किस मार्गसे यह शवमण्डपमें जाता है, इसको देखती हुई ही हम दोनों शीघ्र जावें ॥ ७० ॥

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे, पद्मशरीरमें 'अहम्' वासनारूप अन्तःकरणमें स्थित मार्गका अवलम्बन कर यह चिन्मय मैं दूसरे लोकमें जाता हूँ, ऐसी भावनासे जाता है ॥ ७१ ॥

जिस मार्गसे जाना तुम्हें सहमत हो, उसी इस मार्गसे हम दोनों जाती हैं, एक दूसरेकी इच्छाका विघात स्नेह-सम्बन्धका हेतु नहीं होता है ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, श्रेष्ठ राजाकी पुत्री लीलाके विशुद्ध

षट्पञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नरे राजा परिवृत्ताक्षितारकः ।
बभूवैकतनुप्राणशेषः शुष्कसिताधरः ॥ १ ॥
जीर्णपर्णसवर्णाभः क्षीणपाण्डुमुखच्छविः ।
भृङ्गध्वनितसच्छायश्वासकूजाविकूणितः ॥ २ ॥
महामरणमूर्छान्धकूपे निपतिताशयः ।
अन्तर्निलीननिःशेषनेत्रादीन्द्रियवृत्तिमान् ॥ ३ ॥
चित्रन्यस्त इवाऽऽकारमात्रदृश्यो विचेतनः ।
निःस्पन्दसर्वावयवः समुत्कीर्ण इवोपले ॥ ४ ॥

हृदयमें परमार्थदृष्टिरूप आत्मतत्त्वके पूर्वोक्त कथा द्वारा सब सन्तापोंके निवृत्त होनेपर विबोधरूप सूर्यके आविर्भूत होनेपर राजा विदूरथ चित्तके परमात्मामें विलीन होनेसे जड़ (अनुसन्धानरहित) यानी मरणके लिए मूर्छित हो गया ॥७३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

———:❀:———

छप्पनवाँ सर्ग

[राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वती देवीजी द्वारा उसका अनुगमन और पूर्व शरीरकी प्राप्तिका वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें राजा विदूरथके नेत्र स्पन्दशून्य हो गये थे, ओठ सूख गये और सफेद हो गये थे। तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके मूर्छित होनेपर केवल एक तनिक प्राण ही उसके शरीरमें अवशिष्ट रह गया था। उसकी कान्ति पुराने पत्तेके समान पीली पड़ गई थी और मुखकी छबि नष्ट हो गई थी तथा भँवरेकी ध्वनिके तुल्य श्वासध्वनिसे वह मुखरित था। मरणमूर्छारूपी महान् अन्धकारपूर्ण कुँएमें उसका मन डूब गया था, उसकी नेत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्दर लीन हो गईं थीं, वह चेतनाशून्य था। चित्रलिखित पुरुषकी नाईं उसका केवल आकार ही शेष रह गया था। पत्थरमें खुदी हुई मूर्त्तिकी नाईं उसके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट थे। बहुत क्या कहूँ, जैसे

बहुनाऽत्र किमुक्तेन तनुदेशेन तं जहौ ।
प्राणः पिपतिषुं वृक्षं स्वं पक्षीवाऽन्तरिक्षगः ॥ ५ ॥
ते तं ददृशतुर्बाले दिव्यदृष्टी नभोगतम् ।
जीवं प्राणमयी संविद् गन्धलेशमिवाऽनिले ॥ ६ ॥
सा जीवसंविद् गगने वातेन मिलिता सती ।
खे दूरं गन्तुमारेभे वासनानुविधायिनी ॥ ७ ॥
तामेवाऽनुससाराऽथ स्त्रीद्वयं जीवसंविदम् ।
भ्रमरीयुगलं वातलग्नां गन्धकलामिव ॥ ८ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण शान्ते मरणमूर्छने ।
अम्बरे बुबुधे संविद् गन्धलेखेन वायुना ॥ ९ ॥
अपश्यत् पुरुषान् याम्यान्नीयमानं च तैर्वपुः ।
बन्धुपिण्डप्रदानेन शरीरं जातमात्मनः ॥ १० ॥

आकाशमें उड़नेवाला पक्षी गिरनेवाले अपने निवासभूत वृक्षको छोड़ देता है, वैसे ही प्राणने उत्क्रमण करनेके लिए अवलम्बित थोड़ेसे ही प्रदेशसे उस राजाके शरीरको छोड़ दिया ॥ १–५ ॥

जैसे प्राणवृत्तिसे उपहित संवित् वायुमें स्थित सूक्ष्म गन्धका अनुभव करती है, वैसे ही दिव्यदृष्टिवाली उन दोनों देवियोंने आकाशमें गये हुए उस जीवको देखा ॥ ६ ॥

वह जीवसंवित् गगनमण्डलमें आतिवाहिक प्राणवायुसे मिलकर वासनाके वशवर्ती होकर आकाशमें दूर जाने लगी ॥ ७ ॥

तदुपरान्त उन दोनों स्त्रियोंने जैसे भँवरियाँ वायुमें मिले हुए सुगन्धलेशका अनुगमन करती हैं, वैसे ही उसी जीवसंवित्का अनुगमन किया ॥ ८ ॥

तदनन्तर मुहूर्तभरमें मरणमूर्छाके शान्त होनेपर जैसे वासनामय शरीरसे स्वप्नका आविर्भाव होता है, वैसे ही आकाशमें वासनामय देहसे जीवचेतन प्रबुद्ध हुआ ॥ ९ ॥

उसने यमके भटोंको और उनसे ले जाये जा रहे अपने वासनामय शरीरको देखा तथा बन्धुओंके और्ध्वदेहिक पिण्डप्रदानसे उत्पन्न हुए-से अपने स्थूल शरीरको देखा ॥ १० ॥

मार्गे कर्मफलोल्लासमतिदूरतरे स्थितम् ।
वैवस्वतपुरं प्राप जन्तुभिः परिवेष्टितम् ॥ ११ ॥
प्राप्तं वैवस्वतपुरमादिदेश ततो यमः ।
अस्य कर्माण्यशुभ्राणि नैव सन्ति कदाचन ॥ १२ ॥
नित्यमेवाऽवदातानां कर्ताऽयं शुभकर्मणाम् ।
भगवत्याः सरस्वत्या वरेणाऽयं विवर्धितः ॥ १३ ॥
प्राक्तनोऽस्य शवीभूतो देहोऽस्ति कुसुमाम्बरे ।
प्रविशत्वेष तं गत्वा त्यज्यतामिति चेतसा ॥ १४ ॥
ततस्त्यक्तो नभोमार्गे यन्त्रोपल इव च्युतः ।
अथ जीवकला लीला ज्ञप्तिश्चेति त्रयं नभः ॥ १५ ॥
पुप्लुवे जीवलेखा तु रूपिण्यौ ते न पश्यति ।
तामेवाऽनुसरन्त्यौ ते समुल्लङ्घ्य नभस्तलम् ॥ १६ ॥
लोकान्तराण्यतीत्याऽऽशु विनिर्गत्य जगद् गृहात् ।
द्वितीयं जगदासाद्य भूमण्डलमुपेत्य च ॥ १७ ॥

तदनन्तर वह अतिदूर (जिसकी यात्रा एक वर्षमें पूरी होती है) दक्षिण-मार्गमें स्थित तथा प्राणियोंके कर्मफलोंको प्रकट करनेवाली यमपुरीमें, जो कि बहुतसे प्रणियोंसे घिरी थी, पहुँचा ॥ ११ ॥

उसके यमपुरीमें पहुँचनेके पश्चात् यमने उसके कर्मोंपर विचार कर आज्ञा दी कि इसने पापकर्म कभी किये ही नहीं यानी इसका एक भी पाप कर्म नहीं है। सदा लोभ आदि दोषोंके सम्पर्कसे रहित तथा पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला यह श्रीसरस्वती देवीजीके वरदानसे बढ़ाया गया है यानी इसके पुण्योंकी वृद्धि की गई है। इसका पूर्वजन्मका मुर्दा शरीर फूलोंसे वेष्टित मण्डपाकाशमें है, यह वहाँ जाकर उस शरीरमें प्रवेश करे और आप लोग मेरी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले चित्तसे इसे छोड़ दें ॥ १२-१४ ॥

तदनन्तर क्षेपणीयन्त्र (एक प्रकारके गुलेल) से गिरे हुए पत्थरके समान आकाशभागमें उसे छोड़ दिया। फिर तो जीवकला, लीला और श्रीसरस्वतीदेवी ये तीनों मूर्तिमती थीं, तथापि राजा विदूरथकी जीवकलाने उन्हें नहीं देख पाया, वे दोनों तो राजाकी जीवकलाको देखती ही थीं। उक्त जीवकलाका ही अनुगमन कर रहीं वे दोनों आकाशको लाँघकर अन्यान्य लोकोंका अतिक्रमण कर जगद्रूपी

ते द्वे सङ्कल्परूपिण्यौ संगते जीवलेखया ।
पद्मराजपुरं प्राप्य लीलान्तःपुरमण्डपम् ॥ १८ ॥
क्षणाद्विविशतुः स्वैरं वातलेखा यथाऽम्बुजम् ।
सूर्यभासो यथाऽम्भोजं सुरभिः पवनं यथा ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् प्राप्तः कथमसौ शवस्य निकटं गृहम् ।
कथं तेन परिज्ञातो मार्गो मृतशरीरिणा ॥ २० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्य स्ववासनान्तस्थशवस्य किल राघव ।
तत्सर्वं हृद्गतं कस्मान्नाऽसौ प्राप्नोति तद्गृहम् ॥ २१ ॥

घरसे (ब्रह्माण्डसे) निकलकर दूसरे जगत्के (ब्रह्माण्डमें) पहुँचीं । दूसरे ब्रह्माण्डके भूलोकसे आकर अपने सत्यसङ्कल्पसे रूप धारण करनेवाली वे दोनों देवियां राजा विदूरथकी जीवकलाके साथ राजा पद्मके नगरमें पहुँचकर जैसे कमलमें वायु और सूर्यकी प्रभा प्रवेश करती है और सुगन्धि वायुमें प्रवेश करती है, वैसे ही एक क्षणमें स्वच्छन्दताके साथ लीलाके अन्तःपुरके मण्डपमें प्रविष्ट हुईं ॥ १५–१९ ॥

राजा विदूरथकी पत्नी द्वितीय लीलाके जीवको उसकी लड़कीने मार्गप्रदर्शन कराया यह पहले कहा गया है, राजा विदूरथके जीवको किसने मार्ग दर्शाया यह नहीं कहा । यदि कोई मार्गपरिदर्शक नहीं था, तो उसे मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ ? यह सन्देह होनेपर श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, राजा विदूरथका जीव शवके निकट घरमें कैसे पहुँचा ? उस मृत शरीरवालेको मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ ? ॥ २० ॥

पूर्व शरीरकी वासनाके पूर्ण होनेके पहले ही बीचमें बलवान् प्रारब्धसे अन्य जन्मकी सृष्टि हो गई, भोगसे उस प्रारब्धका क्षय होनेपर पूर्व वासनाके उद्भवसे जैसे आया था वैसे मार्गकी प्रतीति होती है, अतः मार्गदर्शककी अपेक्षा नहीं है, ऐसा उत्तर देते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राघव, उस जीवकी वासनाके अन्दर शवरूप पद्मशरीरमें अहंभाव था, अतएव उसके हृदयमें वह सब मार्ग आदि स्फुरित हो जाता है, इसलिए वह उस घरको कैसे प्राप्त नहीं होगा ? ॥ २१ ॥

भ्रान्तिमात्रमसंख्येयं जगज्जीवकणोदरे ।
वटधानातरुमिव स्थितं को वा न पश्यति ॥ २२ ॥
यथा जीवद्वपुर्बीजमङ्कुरं हृदि पश्यति ।
स्वभावभूतं चिदणुस्त्रैलोक्यनिचयं तथा ॥ २३ ॥
नरो यथैकदेशस्थो दूरदेशान्तरस्थितम् ।
संपश्यति निधानं स्वं मनसाऽनारतं सदा ॥ २४ ॥
तथा स्ववासनान्तस्थमभीष्टं परिपश्यति ।
जीवो जातिशताढ्योऽपि भ्रमे परिगतोऽपि सन् ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् पिण्डदानादिवासनारहिताकृतिः ।
कीदृक्संपद्यते जीवः पिण्डो यस्मै न दीयते ॥ २६ ॥

जैसे वटका बीज मिट्टी, जल आदि अङ्कुरोत्पत्तिकी सामग्री मिलनेपर स्वयं अङ्कुररूपसे उत्पन्न हो रहे वटवृक्षका अपने भीतर ही अनुभव करता है, वैसे ही सूक्ष्म जीवोपाधिभूत अन्तःकरणके अन्दर आविर्भूत वासनाओंके रूपसे स्थित भ्रान्तिरूप असंख्य जगत्को कौन नहीं देखेगा ? उसको दिखानेके लिए किसी परिदर्शककी आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ॥ २२ ॥

जैसे सजीव वटबीज अपने अन्दर अङ्कुरका अनुभव करता है, वैसे ही चित्कला जीव भी अपने स्वभावभूत त्रैलोक्यका (तीनो लोकोंका) अपने अन्दर अनुभव करता है ॥ २३ ॥

जैसे अन्य स्थानमें स्थित पुरुष दूर देशान्तरमें स्थित अपने निधानकी (भूमिमें गाढे हुए धनकी) निरन्तर सदा मनसे भावना करता हुआ भली भाँति देखता रहता है, वैसे ही सैकड़ों जातियोंसे युक्त भी और भ्रममें पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासनाके अन्दर अन्तर्हित अपने अभीष्टको देखता है ॥ २४–२५ ॥

पहले जो यह कहा था कि जीवने बन्धुओंके पिण्डप्रदानसे उत्पन्न हुए अपने शरीरको देखा, उसे सार्वत्रिक न समझते हुए श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, जिसे पिण्ड नहीं दिया जाता, उसमें पिण्ड-दानादिवासनाका हेतु नहीं है, अतएव पिण्डदानादिवासनासे रहित आकृतिवाला वह जीव कैसे सशरीर होता है ? ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पिण्डोऽथ दीयते मा वा पिण्डो दत्तो मयेति चेत् ।
वासना हृदि संरूढा तत्पिण्डफलभाङ्नरः ॥ २७ ॥
यच्चित्तं तन्मयो जन्तुर्भवतीत्यनुभूतयः ।
सदेहेषु विदेहेषु न भवत्यन्यथा क्वचित् ॥ २८ ॥
सपिण्डोऽस्मीति संवित्त्याऽनिष्पिण्डोऽपि सपिण्डवान् ।
निष्पिण्डोऽस्मीति संवित्त्या सपिण्डोऽपि न पिण्डवान् ॥ २९ ॥
यथाभावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता ।
भावना च पदार्थेभ्यः कारणेभ्य उदेति हि ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, बन्धुओं द्वारा पिण्ड चाहे दिया जाय अथवा न दिया जाय, परन्तु यदि प्रेतमें 'मुझे पिण्ड दिया गया' ऐसी वासना उदित हो जाय, तो उक्त वासनासे ही पुरुषको पिण्डप्रदानका फल शरीरलाभ हो जाता है । शास्त्रमें पिण्डप्रदानकी विधि पिण्डप्रदानको बन्धुओंका कर्तव्य कहती है यानी मृतकके बन्धुओंको अवश्य पिण्डप्रदान करना चाहिए, यह बतलाती है । वस्तुतः वह विधि बन्धुओंको फल देती है, पर मृतकको भी वासनारूप फल मिलता है, इस शास्त्रसंवादसे दोनोंको ही उसका फल प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है ॥ २७ ॥

जैसा चित्त होता है, वैसा ही जन्तु होता है, इसमें 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' (जैसा चित्त होता है, तदनुरूप ही चित्तमय पुरुष होता है यह सनातन रहस्य है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा विद्वानोंके अनुभव प्रमाण हैं, जो विदेह और सदेह योगियोंमें प्रसिद्ध हैं अथवा जीवित और मृत जीवोंमें कहींपर भी इस नियममें उलट फेर नहीं होता, इसलिए चित्त ही संसार है, उसकी प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए ॥ २८ ॥

मुझे मेरे बन्धुबान्धवोंने पिण्ड दिया, इस बुद्धिसे जिसे पिण्ड नहीं दिया गया, वह भी पिण्डप्रदानके फलका भागी होता है । मुझे बन्धुबान्धवोंने पिण्ड नहीं दिया, इस बुद्धिसे पिण्डप्रदान करनेपर भी पिण्डप्रदानका फल नहीं मिलता ॥२९॥

इन पदार्थोंकी सत्यता भावनाके अनुसार होती है और भावना भी अपने कारणभूत पदार्थोंसे उत्पन्न होती है । बन्धुओं द्वारा पिण्डप्रदान करनेपर अवश्य

यथा वासनया जन्तोर्विषमप्यमृतायते ।
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ ३१ ॥
कारणेन विनोदेति न कदाचन कस्यचित् ।
भावना काचिदपि नो इति निश्चयवान् भव ॥ ३२ ॥
कारणेन विना कार्यमा महाप्रलयं क्वचित् ।
न दृष्टं न श्रुतं किञ्चित् स्वयं त्वेकोदयादृते ॥ ३३ ॥

ही मृत पुरुषमें पिण्डदान किया, ऐसी भावना उदित होती है, यह बात शास्त्र बतलाते हैं ॥ ३० ॥

जैसे प्राणीकी वासनासे (गरुड़की उपासना करनेवाले पुरुषकी अपनेमें गरुडभावना करनेसे) सर्पका विष भी अमृत बन जाता है यानी पच जाता है, वैसे ही असत्य पदार्थ भी, सत्यरूपसे भावना करनेसे, सत्य हो जाता है, यानी कांटा चुभनेपर यदि यह भ्रम हो जाय कि मुझे साँपने काट लिया, तो असत्य भी सर्पदशन मरण आदि कार्य कर डालता है, यह भाव है ॥ ३१ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने मनमें यह अटल निश्चय कर लीजिये कि कारणभूत भावनाके बिना कभी भी किसी पदार्थकी प्रतीति नहीं होती, जिसको जब जो पदार्थप्रतीति होगी, वह किसी न किसी भावनासे होगी, कारण यदि सत्य हो, तो कार्यकी सत्यता हो सकती है पर भावना तो सत्य नहीं है, सत्य कारणके बिना उत्पन्न हुआ कार्य भी नहीं ही है, अतएव शुद्ध ब्रह्म ही वस्तुतः है, ऐसे निश्चयवान् होओ ॥ ३२ ॥

कारणकी असत्तामें कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता, इस विषयमें कहते हैं— **'कारणेन'** इत्यादिसे ।

कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखी गई और न सुनी गई है । सर्वथा कार्यकी सत्ता कारणकी सत्ताके अधीन है, यही बात सब प्रमाणोंसे सिद्ध होती है, यह भाव है ।

शङ्का—तो क्या ब्रह्मसत्ता भी कारणाधीन है ?

समाधान—नहीं, जो स्वतः उदित यानी नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म है, उसको छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ कारणाधीन हैं । भाव यह है कि अनित्य सत्तामें ही कारणसत्ताकी अपेक्षा होती है, नित्य सत्तामें नहीं होती ॥ ३३ ॥

चिदेव वासना सैव धत्ते स्वप्न इवाऽर्थताम् ।
कार्यकारणतां याति सैवाऽगत्येव तिष्ठति ॥ ३४ ॥

श्रीराम उवाच

धर्मो नाऽस्ति ममेत्येव यः प्रेतो वासनान्वितः ।
तस्य चेत्सुहृदा भूरिधर्मः कृत्वा समर्पितः ॥ ३५ ॥
तत्तदाऽत्र स किं धर्मो नष्टः स्यादुत वा न वा ।
सत्यार्था वाऽप्यसत्यार्था भावना किं बलाधिका ॥ ३६ ॥

इस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र ही भ्रान्तिसे वासना और वासनाजन्य जगद्रूपसे भासित होता है, यह कहते हैं—'चिदेव' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र ही वासनाका रूप धारण करता है, चेतन जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका रूप धारण कर लेता है, वैसे ही वह चित् ही पदार्थोंके रूपको धारण करती है। वही कार्यकारणताको प्राप्त होती है, वही गमनरहित होकर स्थित होती है यानी स्थावररूपसे स्थिर होती है ॥ ३४ ॥

'सपिण्डोऽस्मीति संवित्त्या' (मै सपिण्ड हूँ यानी पिण्डप्रदानसे युक्त हूँ, इस भावनासे) इत्यादिसे पहले जो यह कहा था कि प्रेतकी वासनाके अनुसार ही प्रेतको शरीर आदि फल प्राप्त होता है, उसमें आगे किये जानेवाले आक्षेपोंकी गुञ्जाइस होनेसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'धर्मः' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जो मैंने पुण्य कर्म नहीं किये, अतः मेरे पास धर्म नहीं है, इस भावनासे युक्त होकर मरा, उसके बन्धु-बान्धव यदि प्रचुर कर्म करके उसके अर्पण कर दें, तो वह धर्म, प्रेतवासनासे विरोध होनेके कारण, निष्फल हो जायगा अथवा बन्धुबान्धवोंकी वासनाके प्रबल होनेसे निष्फल नहीं होगा । उन दोनों वासनाओंमें सुहृद्-वासना, धर्म होनेसे, सत्य है और प्रेतकी वासना असत्य है, वासनाकी प्रबलतामें प्रयोजक क्या है? भोक्तृनिष्ठता या सत्यार्थता यानी भोक्तामें स्थित वासना बलवती है या सत्य वासना बलवती है । प्रथम पक्षमें यानी प्रेतकी वासनाको प्रबल मानो, तो कृतहानि दोष होगा यानी बान्धवों द्वारा किया गया धर्म निष्फल हो जायगा । यदि बन्धु-बान्धवोंकी वासना प्रबल है, तो अर्थकी सत्यता हुई और वासना कोई वस्तु नहीं रही । वासनासे ही सब कुछ होता है, यह जो पूर्वमें कहा था, उसका व्याघात होगा, इस प्रकार उभयतः-पाशा रज्जु है, यह आशय है ॥ ३६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यसंपत्त्योदेति भावना ।
यत्रैवाऽभ्युदिता सा स्यात् स द्वयोरधिको जयी ॥ ३७ ॥
धर्मदातुः प्रवृत्ता चेद् वासना तत्तया क्रमात् ।
आपूर्यते प्रेतमतिर्न चेत्प्रेतधियाऽशुभा ॥ ३८ ॥
एवं परस्परजयात् जयत्यत्राऽतिवीर्यवान् ।
तस्माच्छुभेन यत्नेन शुभाभ्यासमुदाहरेत् ॥ ३९ ॥

शास्त्रोक्त देश और कालमें शास्त्रोक्त अनुष्ठानसे शास्त्रानुसारिणी सुहृद्वासना शास्त्रप्रमाणसे प्रबल है । प्रेतवासना केवल लौकिक होनेसे दुर्बल है, इसलिए शास्त्र ही वासनाकी प्रबलतामें कारण है, अर्थसत्यता प्रबलतामें हेतु नहीं है, यों गूढ़ अभिप्रायवाले श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, देश, काल, कर्म और द्रव्यकी सम्पत्तिसे भावना उत्पन्न होती है, वह जिस फलरूप विषयमें उत्पन्न होती है, दोनोंमें से वही विषय विजयी होता है ॥ ३७ ॥

धर्म-दानके प्रतिपादक शास्त्रप्रमाणसे यह कल्पना होती है कि प्रेतके अन्तः-करणमें उसी समय (धर्मसमर्पणकालमें ही) 'मैं अमुक धर्मवान् हूँ' ऐसी वासना उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं—'धर्मदातुः' इत्यादिसे ।

धर्म देनेवालेकी वासना यदि हुई हो, तो उस भावनासे क्रमशः प्रेतकी मति पूर्ण होती है यानी शास्त्रवचनके प्रामाण्यसे ही दाताकी वासनाके अनुसार प्रेतको अवश्य फल मिलता है ॥ ३८ ॥

शङ्का—प्रेत यदि पाखण्डी हो और वेदके ऊपर द्वेष, नास्तिकता आदि अशुभवासनासे उसका अन्तःकरण दूषित हो, तो बन्धु-बान्धवों द्वारा धर्मसमर्पण करनेपर भी उसे फल मिलता है या नहीं ?

समाधान—नहीं मिल सकता, यदि प्रेतकी बुद्धि शुभ हो, तो तभी उसे बन्धुओं द्वारा समर्पित धर्मका फल मिल सकता है । यदि वासनाकी प्रबलतामें अर्थ-सत्यत्व हेतु हो, तो उसे भी धर्मफलकी प्राप्ति होगी, यह भाव है ॥ ३८ ॥

इसलिए पूर्व प्रकरणमें मैंने पुरुषकारकी प्रबलताको सिद्धकर शुभ कर्मोंका अभ्यास ही सदा करना चाहिए, यह कहा है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

देशकालादिना ब्रह्मन् वासना समुदेति चेत् ।
तन्महाकल्पसर्गादौ देशकालादयः कुतः ॥ ४० ॥
कारणे समुदेतीदं तैस्तदा सहकारिभिः ।
सहकारिकारणानामभावे वासना कुतः ॥ ४१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो सत्यात्मन्न कदाचन ।
महाप्रलयसर्गादौ देशकालौ न कौचन ॥ ४२ ॥
सहकारिकारणानामभावे सति दृश्यधीः ।
नेयमस्ति न चोत्पन्ना न च स्फुरति काचन ॥ ४३ ॥

इस प्रकार परस्परके विजयसे अतिबलवान् पुरुषकार जीतता है, इसलिए शुभ प्रयत्न द्वारा शुभाभ्यास करना चाहिए ॥ ३९ ॥

यदि देश, काल आदि सहकारी कारणोंके बलसे धर्म और उसकी वासना आदिका उदय माना जाय, तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पहले एक और अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुतिसे आदि सृष्टिमें देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे ही नहीं, उनके अभावमें वासनाकी उत्पत्ति कैसे होगी ? वासनाकी उत्पत्ति न होनेसे वासनामय जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होगी । ऐसी परिस्थितिमें 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने सङ्कल्प किया कि मैं प्रजारूपसे बहुत होऊँ) इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'देशकालादिना' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, देश, काल आदिसे यदि वासना उत्पन्न होती है, तो महाकल्पके अनन्तरकी सृष्टिमें देश, काल आदि कहाँ थे । सहकारी कारणोंसे वासनारूप कारणके रहनेपर ही यह जगत् उत्पन्न होता है । महाकल्पके बाद होनेवाली सृष्टिके आदिमें देश, काल आदि सहकारी कारण तो थे नहीं, फिर वासना होगी कहांसे ॥ ४०, ४१ ॥

आपने जो मेरे प्रति कहा वह अभीष्ट ही है, विरुद्ध नहीं है । 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (न प्रलय है, न सृष्टि है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थता है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर०' (कारणरहित, कार्यरहित, अस्थूल,

दृश्यस्याऽसंभवादेव किञ्चिद्यद् दृश्यते त्विदम् ।
तद्ब्रह्मैव स्वचिद्रूपं स्थितमित्थमनामयम् ॥ ४४ ॥
एतच्चाऽग्रे युक्तिशतैः कथयिष्याम एव ते ।
एतदर्थं प्रयत्नोऽयं वर्तमानकथां शृणु ॥ ४५ ॥
एवं ददृशतुः प्राप्ते मन्दिरं सुन्दरोदरम् ।
कीर्णं पुष्पोपहारेण वसन्तमिव शीतलम् ॥ ४६ ॥
प्रशान्ताचारसंरम्भराजधान्या समन्वितम् ।
मन्दारकुन्दमाल्यादिशवं तत्र समं स्थितम् ॥ ४७ ॥

अनणु और अह्रस्व ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंका जगत्की अनुत्पत्तिमें तात्पर्य दिखाई देता है, बड़े भारी प्रयत्नसे इसी अर्थका बोध कराना अभीष्ट भी है। 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंका भी प्रतीत हो रहे द्वैतकी असत्यताका उपपादनपूर्वक पहले उपक्रान्त मुक्तिरूप फल देनेवाले निष्प्रपञ्च आत्माका ज्ञान करानेमें ही तात्पर्य है। सृष्टि आदिमें तात्पर्य नहीं है, इस आशयसे श्रीराम-चन्द्रजीके कथनका अनुमोदन करते हुए श्रीवसिष्ठजीने कहा—**'एवम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जो तुम यह कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है, महाप्रलयरूप सृष्टिके आदिभूत परमार्थ सत्य आत्मामें कोई भी देश, काल कभी नहीं थे। सहकारी कारणोंका अभाव होनेपर यह दृश्यप्रतीति नहीं है, न तो यह कभी उत्पन्न हुई, न कभी इसका स्फुरण होता है; यों दृश्यका सम्भव न होनेसे ही यह जो कुछ भी दिखाई देता है, वह स्वचिद्रूप निर्विकार ब्रह्म ही इस रूपमें है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस बातको हम आगे आपसे सैकड़ों युक्तियोंसे कहेंगे ही, इसीलिए यह हमारा प्रयास है। फिलहाल आप वर्तमान कथाको पूरी सुन लीजिये ॥ ४२–४५ ॥

पूर्ववर्णित प्रणालीसे राजा पद्मके नगरमें प्राप्त हुई लीला और सरस्वती देवीजीने राजा पद्मके महलको देखा। उसका भीतरका भाग अत्यन्त मनोरम था, चारों ओर फूलमालाएँ बिखरी थीं, अतएव वसन्तके समान शीतल था, राजधानीके लोगोंसे, जिनकी राजकार्य करनेकी फुर्ती ढीली पड़ गई थी, वह राजप्रासाद युक्त था। उस राजमहलमें उन राजकर्मचारियोंके साथ रक्खे हुए मन्दार, कुन्द आदिकी मालाओं और फूलोंसे ढँके हुए शवको भी उन्होंने देखा, उस महलमें

मन्दारकुन्दस्रग्दामवृताम्बरवृहच्छवम् ।
शवशय्याशिरःस्थाग्र्यपूर्णकुम्भादिमङ्गलम् ॥ ४८ ॥
अनिवृत्तगृहद्वारगवाक्षकठिनार्गलम् ।
प्रशाम्यद्दीपकालोकश्यामलामलभित्तिकम् ॥
गृहैकदेशसंसुप्तमुखश्वाससमीकृतम् ॥ ४९ ॥
संपूर्णचन्द्रसकलोदयकान्तिकान्तं सौन्दर्यनिर्जितपुरन्दरमन्दिरर्द्धिं ।
वैरिञ्चपद्ममुकुलान्तरचारुशोभं निःशब्दमन्दमिव निर्मलमिन्दुकान्तम् ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणशयनानन्तरप्रेतव्यवस्था नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

मन्दार और कुन्दके फूलोंकी मालाओंसे ढँका हुआ वस्त्रोंसे लपेटा हुआ शव रक्खा था, शवकी शय्याके सिरहानेपर सुन्दर पूर्ण कुम्भ आदि माङ्गलिक पदार्थ रक्खे थे, घरके दरवाजे और खिड़कियोंकी अर्गलाएँ बन्द थीं, दीपकोंका उजियाला मन्द पड़ रहा था, अतएव स्फटिककी भाँति साफ सुथरी गृहभित्तियाँ कुछ मैली हो गई थीं, घरके एक भागमें सोये हुए लोगोंके मुखके निःश्वाससे वह महल व्याप्त था ॥ ४६–४९ ॥

वह महल सम्पूर्ण चन्द्रमाके कलासहित उदयसे प्रकाशित होनेके कारण बाहर बड़ा सुन्दर था, उसने अपनी सुन्दरतासे इन्द्रभवनकी सौन्दर्यसमृद्धिको जीत लिया था और भीतर ब्रह्माके उत्पत्तिकमलके (भगवान्‌के नाभिकमलकी कौंढ़ीके) मध्यके समान सुन्दर था शब्दशून्य होनेके कारण मूक-सा (गूँगेसा) स्थित था और चन्द्रमाके समान रमणीय था ॥ ५० ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततो ददृशतुस्तत्र शवशय्यैकपार्श्वगाम् ।
लीलां विदूरथस्याऽग्रे मृतां ते प्रथमागताम् ॥ १ ॥
प्राग्वेषां प्राक्समाचारां प्राग्देहां प्राक्स्ववासनाम् ।
प्राक्तनाकारसदृशीं सर्वरूपाङ्गसुन्दरीम् ॥ २ ॥
प्राग्रूपावयवस्पन्दां प्रागम्बरपरीवृताम् ।
प्राग्भूषणभरच्छन्नां केवलं तत्र संस्थिताम् ॥ ३ ॥
गृहीतचामरां चारु वीजयन्तीं महीपतिम् ।
उद्यचन्द्रामिव दिवं भूषयन्तीं महीतलम् ॥ ४ ॥
मौनस्थां वामहस्तस्थवदनेन्दुतया नताम् ।
भूषणांशुलतापुष्पैः फुल्लामिव वनस्थलीम् ॥ ५ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

[दूसरी लीलाका दर्शन, लीलाके देहकी असत्यता और योगियोंके शरीरमें आतिवाहिकताके उदयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, श्रीरामजी, तदुपरान्त वहाँपर उन्होंने विदूरथकी शवशय्याके एक छोरपर स्थित लीलाको, जो पहले मरी थी और उनसे पहले आ गई थी, देखा, उसका हूबहू पहलेका-सा वेष, पहलेका-सा आचरण और पहलेका-सा ही शरीर था, क्योंकि पहले उसमें वैसी ही वासनाएँ थीं। उसकी आकृति भी पूर्वजन्मकी आकृतिसे सर्वथा मिलती थी, रूपवान् सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गोंसे वह युक्त थी, पहलेके जैसे उसके अवयव और चेष्टाएँ थीं, जैसे पूर्वजन्ममें उसने वस्त्र पहन रक्खे थे, वैसे ही वस्त्रोंसे उसका तन ढका था, पूर्वजन्मके ही सदृश आभरणोंसे वह विभूषित थी, केवल अन्तर इतना ही था कि पहले वह राजा विदूरथके घरमें थी, अब राजा पद्मके घरमें स्थित थी। वह चँवर लिए हुए थी और बड़ी सुरुचिसे राजाके ऊपर चँवर डुला रही थी, जिसमें चन्द्रमा उदित हो रहे हों, ऐसे द्युलोककी नाईं वह पृथिवीको जगमगा रही थी, वह मौन थी, उसने अपने चन्द्रवदनको बायें हाथकी हथेलीके सहारे लटका रक्खा था, अतएव वह एक ओरको कुछ नमी हुई थी, आभूषणोंके किरणरूपी

कुर्वाणां वीक्षितैर्दिक्षु मालत्युत्पलवर्षणम् ।
सृजन्तीमात्मलावण्यादिन्दुमिन्दुं नभोदितम् ॥ ६ ॥
नरपालात्मनो विष्णोर्लक्ष्मीमिव समागताम् ।
उदितां पुष्पसंभारादिव पुष्पाकरश्रियम् ॥ ७ ॥
भर्तुर्वदनके न्यस्तदृष्टिमिष्टविचेष्टिताम् ।
किञ्चित्प्रम्लानवदनां म्लानचन्द्रां निशामिव ॥ ८ ॥
ताभ्यां सा ललना दृष्टा तया ते तु न लक्षिते ।
यस्मात्ते सत्यसङ्कल्पे सा न तावत्तथोदिता ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

तस्मिन् प्रदेशे सा पूर्वलीला संस्थाप्य देहकम् ।
ध्यानेन ज्ञप्तिसहिता गताऽभूदिति वर्णितम् ॥ १० ॥
किमिदानीं स लीलाया देहस्तत्र न वर्णितः ।
किं संपन्नः क्व वा यात इति मे कथय प्रभो ॥ ११ ॥

पत्र, लता और पुष्पोंसे वनस्थली-सी थी, अपने दर्शनोंसे (दृष्टिपातोंसे) मानो मालतीके फूल और नीलकमलोंकी वृष्टि कर रही थी, अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके लावण्यसे आकाशमें उदित सब चन्द्रमाओंकी सृष्टि कर रही थी, राजा पद्मरूपी विष्णुकी लक्ष्मीके सदृश थी, पुष्पोंकी राशिसे उदित हुई वसन्त-शोभाके तुल्य थी, अपने पतिके मुखकमलको टकटकी लगाकर देख रही थी, उसकी सभी चेष्टाएँ रम्य थीं, मुखचन्द्र कुछ मलिन था, अतएव वह जिस रात्रिमें चन्द्रमा मलिन हो, उस रात्रिके तुल्य थी ॥ १–८ ॥

उन दोनोंने उस सुन्दरीको (द्वितीय लीलाको) देखा, पर उसने उनको नहीं देखा, क्योंकि वे दोनों सत्यसङ्कल्प थीं, पर वह सत्यसङ्कल्परूपसे आविर्भूत नहीं हुई थी ॥ ९ ॥

लीलाने पहले जिस स्वरूपको छोड़ा था, उसे उसीका अन्वेषण करना चाहिए था, क्योंकि वह आवश्यक था, उसे छोड़कर विदूरथ और लीलाके दर्शनका ही पहले वर्णन क्यों किया ? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्रीरामचन्द्रजी जिज्ञासा करते हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रभो, पूर्वलीला उस राजमहलके एक भागमें अपनी स्थूलदेहको रखकर ज्ञप्तिके साथ ध्यानसे (समाधिसे) गई, ऐसा पहले वर्णन हो

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्वाऽऽसील्लीलाशरीरं तत्कुतस्तस्याऽस्ति सत्यता ।
केवला भ्रान्तिरेवाऽभूज्जलबुद्धिर्मराविव ॥ १२ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं कुतो देहादिकल्पना ।
ब्रह्मैवाऽऽनन्दरूपं सद्यत् पश्यसि तदेव चित् ॥ १३ ॥
यथैव बोधे लीलाऽसौ परिणाममिता क्रमात् ।
परे तथैव तस्मात्तद्धिमवद् गलितं वपुः ॥ १४ ॥
(आतिवाहिकदेहस्य कालेनाऽभ्युदितो भ्रमः ।
आधिभौतिकदेहोऽहमिति रज्जुभुजङ्गवत्[1] ॥ १ ॥)

चुका है। इस समय वहाँपर लीलाकी उस देहका वर्णन क्यों नहीं किया। उस देहका क्या हुआ अथवा वह कहाँ गई? यह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥१०,११॥

आतिवाहिकताबुद्धिका उदय होनेसे एवं तत्त्वज्ञानसे उस देहके बाधित होनेके कारण ही लीला द्वारा अपनी देहके दर्शनका वर्णन नहीं किया। जिनकी (अज्ञानियोंकी) दृष्टिसे वह बाधित नहीं हुआ, उनकी दृष्टिसे अग्रिम सर्गमें उस देहके मरण, दाह आदिका वर्णन किया जायगा। इस प्रकार वक्ष्यमाण उस देहके मरण, दाह आदिको छिपाकर तत्त्वज्ञान करानेके लिए उसकी असत्यताका ही प्रतिपादन कर रहे श्रीवसिष्ठजीने उत्तर दिया—'क्वाऽऽसी०' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीलाका वह शरीर था ही कहाँ? फिर उसकी सत्यताकी बात ही कैसे? मरुभूमिमें जलबुद्धिके (जलकी भ्रान्तिके) तुल्य केवल वह भ्रान्ति ही थी। यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है, ऐसी दशामें देह आदिकी कल्पना कैसी? जो कुछ आप देखते हैं, वह आनन्दरूप सद् ब्रह्म ही है, वही चित् है ॥ १२, १३ ॥

जैसे-जैसे यह पूर्वलीला क्रमशः बोधमें परिपक्वतारूप परिणामको प्राप्त हुई, वैसे वैसे बोधसे परब्रह्ममें उसका शरीर हिमकी नाईं गल गया यानी बाधित हो गया ॥ १४ ॥

(आतिवाहिकदेहवालेको समय पाकर रस्सीमें सर्पकी नाईं मैं आधिभौतिक-देहवाला हूँ, ऐसा भ्रम उदित हुआ है ॥ १ ॥)

1. कुछ पुस्तकोंमें यह पाठ अधिक है।

आतिवाहिकदेहेन दृश्यं यदवलोकितम् ।
भूम्यादि नाम तस्यैव कृतं तच्चाऽऽधिभौतिकम् ॥ १५ ॥
वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माऽऽधिभौतिकः ।
न शब्देन न चाऽर्थेन सत्यात्मा शशशृङ्गवत् ॥ १६ ॥
पुंसो हरिणकोऽस्मीति स्वप्ने यस्योदिता मतिः ।
स किमन्विष्यति मृगं स्वमृगत्वपरीक्षये ॥ १७ ॥
उदेत्यसत्यमेवाऽऽशु तथा सत्यं विलीयते ।
भ्रान्तिर्भ्रमवतो रज्ज्वामपि सर्पभ्रमे गते ॥ १८ ॥
समस्तस्याऽप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ १९ ॥

केवल उसी देहकी आधिभौतिकता बाधित नहीं हुई, किन्तु भूमि आदि सम्पूर्ण वस्तुओंकी भी आधिभौतिकता नष्ट हो गई। 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्निकी अग्निता गई, शुक्ल, कृष्ण और रक्त—ये तीन रूप ही सत्य हैं, यानी इन तीन रूपोंसे अतिरिक्त अग्निमें जो अग्नित्वकी प्रतीति तुम्हें हुई थी, वह नहीं रही) इस श्रुतिसे उनकी स्थूलताका बाध होनेसे केवल आतिवाहिकता अवशिष्ट रहती है, इस आशयसे कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे।

आतिवाहिकताबुद्धिसे यानी सूक्ष्मतमसमष्टिमनोमात्रत्वबुद्धिसे तत्त्वदृष्टि द्वारा लीलाने जो दृश्य देखा, उसीका पहले भ्रान्तिसे पृथिवी आदि नाम रक्खा, वही आधिभौतिक है ॥ १५ ॥

भूमि आदि रूप आधिभौतिक प्रपञ्च शशके शृङ्गकी नाईं वास्तविक रूपसे न शब्दतः और न अर्थतः ही सत्यस्वरूप है ॥ १६ ॥

जिस मनुष्यको स्वप्नमें मैं हरिण हूँ, ऐसी बुद्धि हुई, वह क्या अपनी मृगताका विनाश होनेपर मृगको खोजता है। भाव यह है कि बाधित वस्तुके अन्वेषणमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ॥ १७ ॥

भ्रान्त पुरुषकी दृष्टिमें भ्रमवश असत्य वस्तुका तुरन्त आविर्भाव होता है और सत्य वस्तु तिरोहित होती है, परन्तु सर्पकी भ्रान्तिके मिट जानेपर भी क्या फिर रस्सीमें सर्पका भ्रम हो सकता है? कदापि नहीं ॥ १८ ॥

यों अज्ञ मनकी समष्टिने ही इस आधिभौतिक प्रपञ्चकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसा फलितार्थ कहते हैं—'समस्तस्य' इत्यादिसे।

स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन् स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् लोकैः पुरस्थस्य गच्छतो योगिनो निजम् ।
आतिवाहिकतां देहः कीदृशोऽयं विलोक्यते ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देहाद् देहान्तरप्राप्तिः पूर्वदेहं विना सदा ।
आतिवाहिकदेहेऽस्मिन् स्वप्नेष्विव विनश्वरी ॥ २२ ॥

प्रत्येक ब्रह्माण्डके भिन्न-भिन्न असंख्य मनसमूहोंके मध्यमें किसी एक मन-समूहकी यह यानी इस ब्रह्माण्डकी स्थूलत्वभ्रान्ति वृथा प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है और वह मिथ्या एवं निर्बीज है ॥ १९ ॥

सभी अज्ञ पुरुष, जो कि जन्म और मरणसे युक्त देहको ही आत्मा समझते हैं, स्वप्नके तुल्य प्राप्त होनेवाले इस सृष्टिका अनुभव करते रहते हैं, जैसे कि चक्कर काटता हुआ बालक भूमिके मण्डलके भ्रमणका अनुभव. करता है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् , जीवितावस्थामें वर्तमान, अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त हो रहे अथवा मरे हुए योगीके आतिवाहिकताको प्राप्त शरीरको सब लोग देखते हैं यह कैसा व्यवहार है । श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका आशय यह है कि यदि योगीका शरीर आधिभौतिक नहीं है तो जब वह जीवित रहता है या आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है यानी मुक्तिको प्राप्त होता है अथवा मर जाता है, तो आतिवाहिकताको प्राप्त हुए उसके शरीरको लोग कैसे देखते हैं ? न तो आतिवाहिक शरीर लोगोंके दृष्टिगोचर होता है और न मुक्तिकालमें अवशिष्ट ही रहता है ॥ २१ ॥

योगियोंका मरना दो प्रकारका होता है एक तो प्रारब्धभोगके लिए अपने इच्छानुसार विविध शरीरोंकी कल्पना और दूसरा सम्पूर्ण प्रारब्धका विनाश होनेपर विदेहकैवल्यकी प्राप्ति । प्रथम मरणमें पूर्वशेष नहीं रहता, ऐसा कहते हैं—'देहाद्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जैसे स्वप्नोंमें, आतिवाहिक देहमें एक देहका (मृग भावका) त्यागकर अन्य देहकी (मनुष्यादिभावकी) कल्पना, जो कि अनित्य है, पूर्वदेहके

यथाऽऽतपे हिमकणः शरद्व्योम्नि सितोऽम्बुदः ।
दृश्यमानोऽप्यदृश्यत्वमित्येवं योगिदेहकः ॥ २३ ॥
द्रागित्येवाऽथवा कश्चिद् योगिदेहो न लक्ष्यते ।
योगिभिश्च पुरो वेगात् प्रोड्डीन इव खे खगः ॥ २४ ॥
स्ववासनाभ्रमेणैव क्वचित् केचित् कदाचन ।
मृतोऽयमिति पश्यन्ति केचिद् योगिनमग्रगाः ॥ २५ ॥

परिशेषके बिना ही होती है वैसे योगियोंको भी प्रारब्ध भोगके लिए एक देहसे दूसरी देहकी प्राप्ति सदा पूर्वदेहके परिशेषके बिना ही होती है ॥ २२ ॥

दूसरेमें भी पूर्वदेहका परिशेष नहीं रहता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—**'यथाऽऽतपे'** इत्यादिसे ।

जैसे घाममें हिमकण, शरत्कालके आकाशमें सफेद मेघ यद्यपि दिखाई देता है तथापि धीरे-धीरे उसका क्षय होनेपर उसके परिशेषका भ्रम थोड़े समय तक रहता है वैसे ही योगीका शरीर भी दिखाई देता हुआ भी अदृश्यताको प्राप्त होता है यानी उसके भी परिशेषका भ्रम स्वल्पकालव्यापी होता है ॥ २३ ॥

धीरे-धीरे क्षयको प्राप्त होता है और अन्य लोग उसे देखते हैं, इसमें भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि किन्हीं योगियोंके 'इसका तुरन्त नाश हो' इस प्रकारके संकल्पसे उसका तुरन्त नाश होना भी असंभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'द्राग्'** इत्यादिसे ।

तुरन्त नष्ट हो जाय, ऐसे संकल्पसे किसी योगीका शरीर, आकाशमें अपने सामनेसे वेगके साथ उड़े हुए पक्षीके समान योगियोंको भी नहीं दिखाई देता साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? जीवनावस्थामें भी 'ये मुझे ऐसा देखें' ऐसे उसके (योगीके) सत्यसंकल्पवश ही लोग योगीकी देहको देखते हैं न कि उसकी देहके आधिभौतिक होनेके कारण देखते हैं, यह तात्पर्य है ॥ २४ ॥

अथवा इस विषयको यों हृदयंगम करना चाहिये कि यद्यपि योगी जनोंको अपनी दृष्टिसे अपने शरीरकी आतिवाहिकताका ही अनुभव होता है किन्तु उस शरीरके दर्शनसुखका उपभोग करानेवाले अदृष्टसे युक्त अज्ञानी लोगोंकी वासनासे उसकी भौतिकता, मृत्यु आदिकी कल्पना हो सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इस अभिप्रायसे श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'स्ववासना०'** इत्यादिसे ।

भ्रान्तिमात्रं तु देहात्मा तेषां तदुपशाम्यति ।
सत्यबोधेन रज्जूनां सर्पबुद्धिरिवाऽऽत्मनि ॥ २६ ॥
को देहः कस्य वा सत्ता कस्य नाशः कथं कुतः ।
स्थितं तदेव यद्भूद्बोधः केवलं गतः ॥ २७ ॥
श्रीराम उवाच
आतिवाहिकतामेति आधिभौतिक एव किम् ।
उताऽन्य इति मे ब्रूहि येनोह्य इव भोः प्रभो ॥ २८ ॥

कोई पुरोवर्ती पुरुष कभी कहींपर अपनी वासनासे उत्पन्न भ्रमसे 'यह मर गया' यों देखते हैं, कोई जीवित देखते हैं । अतएव विदेहमुक्त श्रीशुकदेवजीका परीक्षित्‌की सभामें दर्शन होना और भागवतकथाका उपदेश देना संगत होता है ॥ २५ ॥

दूसरी बात यह है कि योगियोंको जब ज्ञानप्राप्ति होती है, उसी समय उनकी देह आदिका बाध हो जाता है, इसलिए उनकी दृष्टिसे उनकी जीवित-दशामें भी उनका शरीर नहीं रहता है, ऐसा कहते हैं—**'भ्रान्तिमात्रम्'** इत्यादिसे ।

देहमें आत्मबुद्धि केवल भ्रान्ति ही है, आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेसे उनकी अपनेमें वह भ्रान्ति रस्सीका ज्ञान होनेसे रज्जुमें सर्पबुद्धिके समान नष्ट हो जाती है ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जरा ध्यान देकर विचार तो कीजिये देह क्या थी, किसकी थी, किसकी सत्ता रही, किसका विनाश हुआ और कैसे हुआ ? जो वस्तु वास्तवमें थी, वही केवल रह गई, एकमात्र अज्ञान चला गया । भाव यह कि ज्ञान होनेपर जो वस्तु शेष रह गई वही वास्तविक है और जो चली गई, वह सब अज्ञान ही (भ्रम ही) था ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीके उक्त कथनसे श्रीरामचन्द्रजीको यह शङ्का हुई कि यदि योगियोंकी देह बाधित होती है तो बाधितका अन्य रूपमें परिणाम हो नहीं सकता, अतः कहना होगा प्रारब्ध भोगके लिए दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्थामें उसका दूसरा जन्म हो गया फिर वह जीवन्मुक्त कहाँ रहा ? इतना ही नहीं 'न स भूयोऽभिजायते' (वह फिर जन्म नहीं लेता) इत्यादि शास्त्रसे विरोध भी हुआ । उक्त शङ्काके समाधानके लिए वे गुरुजीसे पूछते हैं—**'आतिवाहिकताम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुशो ह्युक्तमेतत्ते न गृह्णासि किमुत्तम ।
आतिवाहिक एवाऽस्ति नाऽस्त्येवेहाऽऽधिभौतिकः ॥ २९ ॥
तस्यैवाऽभ्यासतोऽप्येति साऽऽधिभौतिकतामतिः ।
यदा शाम्यति सैवाऽस्य तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ ३० ॥
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधा ग्रहः ।
शाम्येत् स्वप्ननरस्येव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ ३१ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, क्या योगीका आधिभौतिक शरीर ही आतिवाहिक बन जाता है, अथवा दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है । यदि प्रथम पक्ष मानिये, तो बाधित शरीरका दूसरे शरीरमें परिणाम होना सभी प्रमाणोंसे विरुद्ध है । यदि दूसरा पक्ष मानिये तो ज्ञानका फल मुक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्त बाधित होता है । दोनों ही प्रकारोंसे अनुपपत्ति होनेके कारण मैं सन्देहरूपी तेज धारामें बह-सा रहा हूँ, कृपया मेरे संशयको दूर कीजिये ॥ २८ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सुनिये, जिसे आप आधिभौतिक शरीरका आतिवाहिक-रूपसे परिणाम कहते हैं, वह परिणाम नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्पत्तिसे स्थूल देहके बाधित होनेपर पहलेसे सिद्ध स्थूल शरीरके अधिष्ठानभूत सूक्ष्म शरीरका अवशेष है । त्रिवृत्करण श्रुति सूक्ष्मदेहसे उपहित ब्रह्ममें स्थूल शरीरके अध्यासका बोध कराती है 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे स्थूलका बाध होनेपर सूक्ष्मका परिशेष कहा गया है, इसलिए जो दोष आपने दर्शाया उसके लिए यहाँ अवकाश ही नहीं हैं ? हमने बहुत बार पहले भी आपको यह विषय समझा दिया है, उसका भी जरा स्मरण कीजिये, यों उक्त शङ्काका समाधान करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'बहुशः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रेष्ठतम, यह बात मैं आपसे बहुत बार कह चुका हूँ, इसे आप क्यों हृदयंगम नहीं कर रहे हैं । केवल आतिवाहिक ही देह है, यहाँ आधिभौतिक देह है ही नहीं ॥ २९ ॥

आतिवाहिक देहके ही अभ्याससे वह आधिभौतिकता बुद्धि प्राप्त होती है । जब आधिभौतिकता बुद्धि शान्त हो जाती है तब पहले विद्यमान आतिवाहिकता ही रह जाती है ॥ ३० ॥

तब प्रबुद्ध पुरुषके निर्मल बोधसे गुरुता, कठिनता इत्यादिका जो असत् आग्रह

लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ ३२ ॥
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद् यथा देहो लघुर्भवेत् ।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत् प्लुतिमान् भवेत् ॥ ३३ ॥
अनेकदिनसङ्कल्पदेहे परिणतात्मनाम् ।
अस्मिन् देहे शवे दग्धे तत्रैवाऽऽस्थितिमीयुषाम् ॥ ३४ ॥
लघुदेहानुभवनमवश्यं भावि वै तथा ।
प्रबोधातिशयादेति जीवतामपि योगिनाम् ॥ ३५ ॥
उदितायां स्मृतौ तत्र सङ्कल्पात्माऽहमित्यलम् ।
यादृशः स भवेद् देहस्तादृशोऽयं प्रबोधतः ॥ ३६ ॥

है वह भी, स्वप्न देखनेवाले मनुष्यके निर्मल बोधसे स्वप्नके नगरके गुरुत्व, कठिनत्व आदिके समान चला जाता है ॥ ३१ ॥

जैसे स्वप्नमें यह स्वप्न है, इस ज्ञानसे क्लेश आदिका भार हल्का हो जाता है वैसे ही तब योगीका शरीर हल्का रुईके फाहेके सदृश हो जाता है यानी वह सर्वत्र गमनमें समर्थ हो जाता है ॥ ३२ ॥

जैसे स्वप्नमें यह स्वप्न है, इस परिज्ञानसे शरीर हल्का हो जाता हैं वैसे ही बोध होनेसे स्थूलके सदृश प्रतीत हो रहा यह शरीर आकाशमें गमन-समर्थ हो जाता है ॥ ३३ ॥

जब दृढ़तर स्थूल वासनावाले अज्ञानी पुरुषोंको भी स्थूलशरीरके शव होकर दाह आदि द्वारा नष्ट होनेपर पूर्ववर्ती सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होती है तब वासना-शून्य ज्ञानी जनोंको स्थूल शरीरका बाध होनेपर स्वाभाविक सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—'अनेक०' इत्यादिसे ।

जैसे अनेक दिनोंके संकल्पसे प्राप्त देहको आत्मा समझनेवाले और उसी देहमें दृढ़ आत्माभिमान करनेवाले लोगोंको इस देहके शव होकर जलाये जाने पर अवश्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वैसे ही योगियोंको जीवितावस्थामें ही अतिशय ज्ञान होनेसे सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है ॥ ३४,३५ ॥

स्वप्नमें मैं संकल्पात्मा ही हूँ स्थूलस्वरूप नहीं हूँ, ऐसी* स्मृतिके उदित

* ऐसी स्मृति स्वप्नमें योगियोंको ही होती है, उन्हींके अनुभवसे सिद्ध है । पामर पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध नहीं है ।

भ्रान्तिरेवमियं भाति रज्ज्वामिव भुजङ्गता ।
किं नष्टमस्यां नष्टायां जातायां किं प्रजायते ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

अनन्तरं ये वास्तव्या लीलां पश्यन्ति ते यदि ।
तत्सत्यसङ्कल्पतया बुध्यन्ते किमतः प्रभो ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं ज्ञास्यन्ति ते राज्ञी स्थितेयमिह दुःखिता ।
वयस्या काचिदन्येयं कुतोऽप्यस्या उपागता ॥ ३९ ॥

होनेपर जैसा (यानी अपनी इच्छाके अनुसार आकाशमें विहार करनेमें समर्थ) शरीर प्राप्त होता है वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी योगीको बोधसे प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि अपनी देह तो सबको परम प्रिय है, उसका नाश करनेवाला ज्ञान अनर्थ नहीं है, तो और क्या है ? उसपर करते हैं—'भ्रान्तिरेव०' इत्यादिसे ।

जैसे रस्सीमें सर्पकी प्रतीति भ्रान्ति है, वैसे ही यह स्थूलदेहप्रतीति भ्रम ही है । उस भ्रमके नष्ट होनेपर अपना क्या नष्ट हुआ और उत्पन्न होनेपर अपना क्या उत्पन्न हुआ ? भाव यह कि शुक्तिरजतका विनाश होनेपर क्या कभी कोई शोक करता है ? ॥ ३७ ॥

इस प्रकार प्रासङ्गिक वस्तुका निर्णय होनेपर प्रस्तुत कथाके विषयमें ही श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, पूर्व लीला और नूतन लीलाका पद्मके घरमें समागम होनेके बाद पद्मके घरमें रहनेवाले लोग लीलाको, जो आतिवाहिक देह होनेके कारण दिखाई नहीं दे सकती थी, ये लोग मुझे देखें, इस सत्यसंकल्पके कारण यदि देखते हैं, तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ? क्या यह वही पूर्व पद्मपत्नी है, यह जानते हैं, अथवा कोई अपूर्व देवी आ गई है, यों ज्येष्ठशर्मा आदिके समान विस्मययुक्त हुए, यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, वे लोग यह रानी यहाँ दुःखपूर्वक स्थित है, इसकी यह दूसरी सखी कहींसे आ गई है, ऐसा जानते हैं ॥३९॥

सन्देहः क इवाऽत्रैषां पशवो ह्यविवेकिनः ।
यथादृष्टं विचेष्टन्ते कुत एषां विचारणा ॥ ४० ॥
यथा लोष्टो लुठद्वृक्षं वञ्चयित्वाऽऽशु गच्छति ।
अज्ञानत्वेऽजपशवस्तथा ह्यस्ति पुरादिकम् ॥ ४१ ॥
यथा स्वप्नवपुर्बोधान्न जाने क्वेव गच्छति ।
असत्यमेव तद्यस्मात् तथैवेहाऽऽधिभौतिकम् ॥ ४२ ॥

यदि यह शङ्का हो कि दूसरी लीला पहले-पहल आई थी, अतः उसके विषयमें यह कौन है, कहाँ से आई है, यह सुचरित्र है या व्यभिचारिणी है, सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह उन लोगोंको क्यों नहीं हुआ ? उसपर कहते हैं—'सन्देहः' इत्यादिसे ।

यहाँपर इनको सन्देह कौनसा होगा ? क्योंकि पशु तो अविवेकी होते ही हैं, जैसा देखा उसीके अनुसार व्यवहार करने लगते हैं। इनको विचार ही कहाँ ? ॥४०॥

उनके विचारके अनुदयमें हेतु क्या है, ऐसा यदि कोई कहे, तो स्थूलमें अभिनिवेश तथा सार, दार्ढ्य, सूक्ष्मता आदिसे शून्यता हेतु है, ऐसा दृष्टान्तसे सूचित करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षको नष्ट करनेके लिए जोरसे फेंका गया ढेला वृक्षमें पहुँचकर स्वयं अपना ही नाश करता है बाणकी नाईं भीतर नहीं घुसता और न कीचड़के पिण्डकी नाईं वृक्षसे चिपट जाता है और न पत्थरके समान तनिक भी आघात पहुँचाकर स्वयं फिर उपघातके योग्य ही बना रहता है, किन्तु शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे लोग भी, ज्ञान न होनेके कारण, वस्तुतः पशु (अजारूप पशु) यानी विचार करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवताकी उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार वह पशुकी भाँति अज्ञानी है) ऐसी श्रुति है । उनके विचारके अनुदयमें केवल अज्ञान ही कारण नहीं है, किन्तु शरीर, काम, कर्म, वासना आदि भी उनके पशुके तुल्य ही होते हैं, इसलिए उनमें विचारका उदय न होना ठीक ही है ॥ ४१ ॥

जो विचार करते हैं, उनमें क्रमशः आधिभौतिकताकी प्रतीति बोधसे बाधित हो जाती है, अतः उनमें आधिभौतिकताकी प्रतीति रहती नहीं फिर सन्देह आदिकी प्रसक्ति तो दूर रही, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

श्रीराम उवाच

भगवन् स्वप्नशिखरी प्रबोधे क्व गच्छति ।
इति मे संशयं छिन्धि शरदभ्रमिवाऽनिलः ॥ ४३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः ।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ ४४ ॥
अस्पन्दस्य यथा वायोः स स्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम् ।
अनन्यात्मा तथैवाऽयं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ ४५ ॥
स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेव स्फुरत्यलम् ।
अस्फुरन्ती तु तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ ४६ ॥

जैसे स्वप्नशरीर बोधसे (जागरणसे) न जाने कहाँ चला जाता है, अतः वह असत्य ही है वैसे ही आधिभौतिक भी बोध होनेपर कहीं चला जाता है यानी विलीन हो जाता है, अतः वह भी असत्य ही है ॥ ४२ ॥

दृष्टान्तके प्रसङ्गसे श्रीरामचन्द्रजी स्वाप्नविषयका मूलाज्ञानके बाधके बिना आत्यन्तिक बाध नहीं है, वह कहाँ छिपकर रहता है, वह स्थान कौन है, ऐसा पूछते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, वह स्वप्नरूपी पर्वत बोध होनेपर कहाँ रहता है, मेरे इस सन्देहको जैसे वायु शरत्कालके मेघको नष्ट कर देता है, वैसे ही आप दूर कीजिये ॥ ४३ ॥

स्वाप्न जगत् और मनोरथजन्य प्रपञ्च जाग्रत् वासनासे संचित अविद्यासे उपहित जीवकी संवित्से उत्पन्न है, इसलिए जिससे उसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसका तिरोभाव होता है, ऐसा श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'स्वप्नभ्रमे' इत्यादिसे ।

स्वप्नभ्रान्तिमें और मनोरथमें पर्वत आदि पदार्थ जैसे स्पन्दन (गति) वायुमें अन्तर्भूत होते हैं वैसे ही संवित्के अन्दर विलीन हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

जैसे स्पन्दरहित वायुके अन्दर वह स्पन्द विलीन हो जाता है वैसे ही अनन्यस्वरूप (अन्य तात्त्विक स्वरूपहीन) ये स्वाप्निक पदार्थ संवित्के मलकी नाईं आवरक अपने उपादानभूत अज्ञानमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४५ ॥

स्वप्न आदि पदार्थोंके अवभाससे संवित् ही खूब स्फुरणको प्राप्त होती है

संवित्स्वप्नार्थयोर्द्वित्वं न कदाचन लभ्यते ।
यथा द्रवत्वपयसोर्यथा वा स्पन्दवातयोः ॥ ४७ ॥

यस्तत्र स्यादिवाऽबोधस्तदज्ञानमनुत्तमम् ।
सैषा संसृतिरित्युक्ता मिथ्याज्ञानात्मिकोदिता ॥ ४८ ॥

सहकारिकारणानामभावे किल कीदृशी ।
संवित्स्वप्नपदार्थानां द्विता स्वप्ने निरर्थिका ॥ ४९ ॥

यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नाऽस्त्यत्र संशयः ।
स्वप्ने पुरमसद् भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत् ॥ ५० ॥

स्फुरणको प्राप्त न होती हुई वह संवित्, जो कि स्वप्न पदार्थरूप है, पदार्थोंके साथ एकताको प्राप्त होती है ॥ ४६ ॥

जैसे द्रवत्व और जलमें भेद नहीं है और जैसे स्पन्द (चलन) और वायुमें भेद नहीं है वैसे ही संवित् और स्वाप्न पदार्थोंमें भेद कदापि नहीं पाया जाता है। भाव यह है कि संवित् ही अज्ञात होकर कर्मवश कभी स्वाप्निक पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होती है, विवेक होनेपर स्वाप्न पदार्थ और संवित्में कोई अन्तर नहीं रहता ॥ ४७ ॥

जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह अविद्या ही है, वही संसार है, ऐसा कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह सबसे बढ़कर अज्ञान है, वही 'संसार' कहा गया है, वह मिथ्याज्ञानरूप ही है ॥ ४८ ॥

सहकारी कारणोंका अभाव होनेसे स्वप्नमें संवित् और स्वप्नके पदार्थोंका भेद निरर्थक ही है। भाव यह कि स्वाप्निक पदार्थ लोकप्रसिद्ध दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणोंसे उत्पन्न न होनेके कारण भी असत् है ॥ ४९ ॥

यदि ऐसी बात है तो सहकारी कारणवाले जगत् प्रपञ्चमें सत्यता प्राप्त हुई ? इस शङ्काका समाधान करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसा संवित्रूप स्वप्न है वैसा ही यह जाग्रत् भी संवित्रूप ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। स्वप्नमें असत्य नगरकी प्रतीति होती है और सृष्टिके आदिमें असत् जगत्का भान होता है। भाव यह है कि यद्यपि इस समय सहकारी आदि हैं

न चाऽर्थो भवितुं शक्यः सत्यत्वे स्वप्नतोदितः ।
संविदो नित्यसत्यत्वं स्वप्नार्थानामसत्यता ॥ ५१ ॥
झटित्येव यथाऽऽकाशं भवति स्वप्नपर्वतः ।
क्रमेण वा तथा बोधे खं भवत्याधिभौतिकम् ॥ ५२ ॥
उड्डीनोऽयं मृतो वेति पश्यन्ति निकटस्थिताः ।
भ्रमातिवाहिकीभूतं स्वस्वभावहता यतः ॥ ५३ ॥

तथापि आदि सृष्टिमें अज्ञानोपहित हिरण्यगर्भकी संवित्से अतिरिक्त कुछ नहीं था, अतः जगत्की स्वप्नतुल्यता हो गई ॥ ५० ॥

प्रपञ्चको यदि सत्य मानो, तो उसमें भी संवित्के समान चित्त्व हो जायगा, ऐसी स्थितिमें उसमें चिद्विषयत्वका व्याघात हो जायगा, ऐसा कहते हैं—**'न च'** इत्यादिसे ।

स्वप्नता यानी स्वरूपके अज्ञानसे उदित हुए प्रपञ्चको यदि सत्य मानो, तो वह संविद्-भास्य नहीं होगा । और दूसरी बात यह भी है कि संवित्का सत्तासे व्यभिचार नहीं है और पदार्थोंका उससे व्यभिचार होता है, इसलिए वे सत्य नहीं हो सकते, ऐसा कहते हैं—**'संविदः'** इत्यादिसे । संवित्की नित्यसत्यता और स्वाप्न पदार्थोंकी असत्यता है, अतएव प्रपञ्च सत्य नहीं हो सकता है ॥ ५१ ॥

'तत्त्वज्ञानसे बाध्य होनेके कारण भी यह प्रपञ्च सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'झटित्येव'** इत्यादिसे ।

जैसे जागरण होनेपर स्वप्नका पर्वत तुरन्त शून्यताको प्राप्त हो जाता है, तनिक भी अवशिष्ट नहीं रहता, वैसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर आधिभौतिक (प्रपञ्च) बोधाभ्यास क्रमसे या सहसा ईश्वरके अनुग्रहसे असत् यानी शून्य हो जाता है ॥ ५२ ॥

ऐसी अवस्थामें श्रीशुकदेवजीका सूर्यमण्डलगमन और दधीचि आदि ऋषियोंके मृतक शरीरका दर्शन लोगोंको कैसे हुआ ? इस शङ्कापर कहते हैं—**'उड्डीनोऽयम्'** इत्यादिसे ।

निकटस्थित लोग आतिवाहिकताको प्राप्त हुए (यानी जिसके आधिभौतिक शरीरका बाध हो चुका है, ऐसे) तत्त्वज्ञानीको 'यह उड़ गया अथवा यह मर गया' ऐसा देखते हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक अज्ञानसे विनष्टप्राय हैं । भाव

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः ॥ ५४ ॥
स्वप्नानुभूतय इमा मरणान्तबोधे
भ्रान्त्येतरभ्रमदृशः स्फुटसर्गभासः ।
भ्रान्त्यातिवाहिकशरीरगताः समस्ता
मिथ्योदिता मृगनदीसरणक्रमेण ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नार्थस्य विचारो नाम सप्तपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५७ ॥

———:❀:———

यह कि अपने अज्ञानसे कल्पित देहको ही वे देखते हैं, ज्ञानीकी देहको नहीं देखते ॥ ५३ ॥

उक्त अर्थको अनुमानप्रमाणसे भी दृढ़ कर रहे श्रीवसिष्ठजी दो श्लोकोंसे प्रकरणका उपसंहार करते हैं—'मिथ्यादृष्टयः' इत्यादिसे ।

ये द्वैतदृष्टिवाली (द्वैतदर्शनवाली) सृष्टियां मिथ्या दृष्टियाँ हैं, क्योंकि मोह-दृष्टियाँ हैं यानी अज्ञानसे उनका दर्शन होता है । ऐन्द्रजालिककी केवल मायाका दर्शन करनेवालेकी भ्रान्ति (उसमें सत्यत्वभ्रम) सबको होती है और स्वप्नमें जिनका अनुभव होता है, वे पदार्थ अर्थशून्य हैं, यह भी सबको प्रसिद्ध है ॥५४॥

पूर्व-पूर्व पदार्थोंके भेदरूपी भ्रमका दर्शन करनेवाले पुरुषमें दृढतर भेदसंस्कारका उदय होनेसे प्राणोंके उत्क्रमणके पूर्व क्षणमें उत्पन्न भावी भोगोंके अनुकूल पदार्थोंकी प्रतीति होनेपर बिलकुल स्पष्ट जो ये सृष्टिकी प्रतीतियाँ हैं, ये यद्यपि केवल मनोमात्रनिष्ठ हैं, तथापि मृगतृष्णाकी नदीके प्रवाहकी नाईं मिथ्या उदित हुई हैं और भ्रान्तिसे बाह्य-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तवमें मनके बाहर नहीं हैं ॥५५॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त



अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे ज्ञप्तिर्जीवं वैदूरथं पुनः ।
सङ्कल्पेन रुरोधाऽऽशु मनसः स्पन्दनं यथा ॥ १ ॥

लीलोवाच

वद देवि कियान् कालो गतोऽस्यामिह मन्दिरे ।
समाधौ मयि लीनायां महीपाले शवे स्थिते ॥ २ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

इह मासस्त्वतिक्रान्त इह दास्याविमे तव ।
रक्षार्थं वासगृहके स्वपतोऽवहिते स्थिते ॥ ३ ॥
शृणु देहस्य किं वृत्तं तवेह वरवर्णिनि ।
शरीरं तव पक्षेण तत् क्लिन्नं बाष्पतां गतम् ॥ ४ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

[समय, समाधिमें स्थित लीलाकी देहका विनाश, लीलाके साथ सम्भाषण और राजा पद्मके पुनः जीनेका वर्णन]

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके प्रासङ्गिक प्रश्नोंका समाधान कर प्रकृत कथाके अवशिष्ट अंशका वर्णन करनेवाले श्रीवसिष्ठजी सर्गकी समाप्ति तककी कथाके लिए भूमिका बाँधते हैं—'**एतस्मिन्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इसी बीचमें श्रीसरस्वती देवीजीने अमूर्त मनकी चेष्टाके समान राजा विदूरथके जीवका अपने सत्यसङ्कल्पसे निरोध किया ॥ १ ॥

लीलाने कहा—हे देवि, इस पाद्म सृष्टिमें इस मन्दिरमें मेरी समाधिमें और राजा पद्मकी शवावस्थामें कितना समय व्यतीत हुआ ॥ २ ॥

श्रीसरस्वती देवीजीने कहा—भद्रे, इस सृष्टिमें, इस राजमहलमें एक महीना व्यतीत हुआ । ये तुम्हारी दो दासियाँ, जो तुम्हारी देहकी रक्षाके लिए सावधान थीं, अब सोती हैं ॥ ३ ॥

लीलाके शरीरका, जो अज्ञानसे कल्पित तथा लीलाको स्वानुभवसिद्ध था,

निर्जीवं पतितं भूमौ संशुष्कमिव पल्लवम् ।
काष्ठकुड्योपमो जातः शवस्तु हिमशीतलः ॥ ५ ॥
ततो मन्त्रिभिरागत्य मृतैवेयमिति स्वयम् ।
क्लेदालोकाद् विनिर्णीय भूयो निष्कासितं गृहात् ॥ ६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन नीत्वा चन्दनदारुभिः ।
चितौ संक्षिप्य सघृतं सहसा भस्मसात् कृतम् ॥ ७ ॥
ततो राज्ञी मृतेत्युच्चैः कृत्वा रोदनमाकुलम् ।
परिवारस्तवाऽशेषं कृतवानौर्ध्वदेहिकम् ॥ ८ ॥
इदानीं त्वामिहाऽऽलोक्य सशरीरामुपागताम् ।
परलोकादागतेति महच्चित्रं भविष्यति ॥ ९ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानसे बाध हो चुका था, फिर भी वह शेष प्रारब्धके भोगके लिए प्रतीत हो रहा था। पहले उसकी आतिवाहिकताका वर्णन किया गया, अब दूसरोंके अज्ञानसे कल्पित और दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध लीलाके शरीरका वृत्तान्त कहते हैं—'भृणु' इत्यादिसे।

हे सुन्दरी, यहाँपर तुम्हारी देहका क्या वृत्तान्त हुआ ? इसे तुम सुनो। तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनोंमें पसीनेसे तर होकर प्राणायामसे प्रदीप्त हुई जठराग्निसे तपकर भाप बन गया। तदनन्तर सूखे हुए पल्लवके समान निर्जीव होकर भूमिमें गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दिवारके समान निर्जीव और बर्फके समान शीतल शव (मुर्दा) बन गया*। तब मन्त्रियोंने आकर शिथिल अङ्ग प्रत्यङ्ग और खुला मुँह देखनेसे 'यह स्वयं ही मर गई' ऐसा निश्चयकर उस शवको घरसे बाहर किया। बहुत क्या कहें, उसे श्मशानमें ले जाकर चन्दनके काष्ठोंसे बनी चितामें रखकर घृतके साथ उसे सहसा जला डाला ॥ ४—७ ॥

तदनन्तर तुम्हारे परिवारने महारानी मर गई, यों जोरसे रो-पीटकर सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया की। इस समय यहाँपर तुमको सशरीर आई हुई देखकर उन्हें यह परलोकसे लौट आई, ऐसा महान् आश्चर्य होगा ॥ ८,९ ॥

* राजाके शरीरमें विकार न आनेका कारण देवी सरस्वतीका 'यह ऐसा निर्विकार बना रहे' ऐसा सत्यसंकल्प और राजाका उस शरीरसे भोग्य अदृष्ट है, यह समझना चाहिए।

त्वं तु तेन शरीरेण सत्यसङ्कल्पतः सुते ।
दृश्यसे स्वच्छदातेन चित्रं तत्र तवोपरि ॥ १० ॥
यद्वासना त्वमभवो देहं प्रति तदेव ते ।
रूपमभ्युदितं बाले तेन प्राक्सदृशं तव ॥ ११ ॥
स्ववासनानुसारेण सर्वः सर्वं हि पश्यति ।
दृष्टान्तोऽत्राऽविसंवादी बालवेतालदर्शनम् ॥ १२ ॥
आतिवाहिकदेहाऽसि संपन्ना सिद्धसुन्दरि ।
विस्मृतस्त्वेव देहोऽसौ प्राक्तनोऽनपवासनः ॥ १३ ॥
रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः ।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाऽम्बरे ॥ १४ ॥

हे पुत्री, तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त स्वच्छ आतिवाहिक शरीरसे, जिसे मनुष्य नहीं देख सकते, दिखाई देती हो, इसलिए तुम्हारे दर्शनसे लोगोंको और आश्चर्य होगा ॥ १० ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि दिव्य शरीर पूर्वदेहके आकारवाला नहीं होगा, तो लोगोंको उसमें 'यही वह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इसलिए उसका पूर्व शरीरके सदृश आकार होना आवश्यक है, उसके पूर्व शरीरके आकारवाला होनेमें क्या बीज है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उसके पूर्व शरीराकार होनेमें हेतु कहती हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

हे वत्से, अपने शरीरके प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, वही तुम्हें रूप प्राप्त हुआ, इसलिए तुम्हारा शरीर पूर्व शरीरके सदृश हुआ ॥ ११ ॥

यदि मुझे उस देहकी वासना थी, तो राजाकी नाईं मुझे वही देह क्यों नहीं मिला ? इसपर कहती हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब पदार्थोंको देखते हैं, इस विषयमें बालकका वेतालदर्शन अनुरूप दृष्टान्त है, जैसे अपनी वासनाके अनुसार स्तम्भ आदिमें बालकको वेतालकी भ्रान्ति होती है, वैसे ही तुम्हें अपनी वासनाके अनुसार यह शरीर प्राप्त हुआ है और राजाको अपनी वासनाके अनुसार वही शरीर मिला । हे सिद्धसुन्दरी, इसमें कारण यह है कि तुम आतिवाहिक देहवाली हो गई हो । पूर्वजन्मके देहको तो तुम भूल चुकी हो, अतएव उसपर तुम्हारी

रूढातिवाहिकीभावः सर्वो भवति देहकः ।
निर्जलाम्भोदसदृशो निर्गन्धकुसुमोपमः ॥ १५ ॥
सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि ।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ १६ ॥
एकत्रिंशेऽद्य दिवसे प्राप्ता वयमिहाऽम्बरे ।
प्रभाते मोहिते दास्यौ मयैते निद्रयाऽधुना ॥ १७ ॥
तदेहि यावल्लीलायै लीले सङ्कल्पलीलया ।
आत्मानं दर्शयावोऽस्यै व्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आवां तावदिमे लीला पश्यत्वित्येव चिन्तिते ।
ज्ञप्त्या देव्या ततस्तत्र दृश्ये दीप्ते बभूवतुः ॥ १९ ॥

वासना नहीं रही । जिस ज्ञानी पुरुषकी आतिवाहिक दृष्टि बद्धमूल हो जाती है, दूसरोंको आधिभौतिकरूपसे दिखाई देता हुआ भी उसका शरीर आकाशमें शरत्कालके मेघकी नाईं शान्त हो जाता है ॥ १२–१४ ॥

जिनमें आतिवाहिकता बद्धमूल है, ऐसे सभी शरीर जलरहित शरत्कालीन मेघके तुल्य और गन्धहीन पुष्पकी तरह होते हैं ॥ १५ ॥

वासनायुक्त* पुरुषमें आतिवाहिकभावके बद्धमूल होनेपर जैसे यौवनावस्थामें गर्भमें निवास विस्मृत हो जाता है, वैसे ही आधिभौतिक देहका विस्मरण हो जाता है ॥ १६ ॥

आज इकतीसवें दिन हम इस मण्डपाकाशमें प्राप्त हुई हैं। इस समय प्रभातकाल होनेपर मैंने ही इन दासियोंको निद्रासे मोहित कर दिया है ॥ १७ ॥

हे लीले, आओ, तबतक अपने सत्य संकल्पके विलाससे इस लीलाको अपना स्वरूप दिखावें और हमारा मानवोचित व्यवहार प्रवृत्त हो ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इन हमको (लीला और सरस्वती देवीको) विदूरथकी पत्नी लीला देखे, यों सरस्वती देवीके चिन्तन करते ही वहांपर सरस्वती और लीला दृश्य हो गईं ॥ १९ ॥

---

* वासनाका अत्यन्त उच्छेद होनेपर आतिवाहिक देहकी कल्पना भी नहीं हो सकती है, यह सूचन करनेके लिए वासनायुक्त कहा है ।

सा विदूरथलीलाऽथ समाकुलविलोचना ।
गृहमालोकयामास तत्तेजःपुञ्जभास्वरम् ॥ २० ॥
चन्द्रबिम्बादिवोत्कीर्णं धौतं हेमद्रवैरिव ।
ज्वालाया द्रवशीतायास्तत्प्रभाद्रवभित्तिमत् ॥ २१ ॥
गृहमालोक्य पुरतो लीलाज्ञप्ती विलोक्य ते ।
उत्थाय संभ्रमवती तयोः पादेषु साऽपतत् ॥ २२ ॥
मज्जयायाऽऽगते देव्यौ जयतां जीवनप्रदे ।
इह पूर्वमहं प्राप्ता भवत्योर्मार्गशोधिनी ॥ २३ ॥
इत्युक्तवत्यां तस्यां ता मानिन्यो मत्तयौवनाः ।
उपाविशन् विष्टरेषु लतामेरुशिरःस्विव ॥ २४ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

सुते वद कथं प्राप्ता त्वमिमं देशमादितः ।
किं वृत्तं ते त्वया दृष्टं किमिवाऽध्वनि कुत्र वा ॥ २५ ॥

उनके दृश्य होनेके बाद विदूरथ-लीलाकी आँखोंमें चकाचौंध हो गई। उसने अपने घरको उनके तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान देखा ॥ २० ॥

द्रवसे शीतल दीप्तिके कारण चन्द्रमाके बिम्बसे निकाले गये-से और उनकी कान्तिरूपी द्रवसे युक्त भित्तिवाला होनेके कारण सोनेके द्रवसे (पानीसे) धोये गये-से घरको देखकर और आगे लीला और सरस्वती देवीजीको देखकर बड़े वेगसे उठकर वह उनके चरणोंपर गिर पड़ी ॥ २२ ॥

हे देवियो, आप मेरी विजयके लिए यानी कल्याणके लिए आई हैं और आप जीवन देनेवाली हैं, आपकी जय हो। आपकी सेविका मैं यहाँपर पहले प्राप्त हुई हूँ। उसके ऐसा कहनेपर पूर्ण यौवनवाली वे तीनों मानिनियाँ जैसे मेरुके शिखरोंमें लताएँ बैठती हैं, वैसे ही सोनेके आसनोंपर बैठ गईं ॥२३, २४॥

श्रीसरस्वती देवीने कहा—हे पुत्रि, पहलेसे आरम्भ कर तुम यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे आई, रास्तेमें कहांपर क्या आश्चर्यकारी घटना घटी और तुमने क्या देखा ? ॥ २५ ॥

विदूरथलीलोवाच

देवि तस्मिन् प्रदेशे सा जातमूर्छा तदाऽभवम् ।
द्वितीयेन्दोः कलेवाऽहं कल्पान्तज्वालया हता ॥ २६ ॥
न चेतितं मया किञ्चित् समं विषममेव च ।
ततस्तरलपक्ष्मान्ते विनिमील्य विलोचने ॥ २७ ॥
ततो मरणमूर्छान्ते पश्यामि परमेश्वरि ।
यावदभ्युदिताऽस्म्याशु प्लुता च गगनोदरे ॥ २८ ॥
भूताकाशोऽनिलरथं समारूढाऽस्म्यहं ततः ।
आनीता गन्धलेखेव तेनाऽहमिममालयम् ॥ २९ ॥
देवि पश्यामि सदनं नायकेनाऽभ्यलङ्कृतम् ।
दीप्तदीपं विविक्तं च महार्हशयनान्वितम् ॥ ३० ॥
पतिमालोकयामीमं यावदेष विदूरथः ।
शेते कुसुमगुप्ताङ्गो मधुः पुष्पवने यथा ॥ ३१ ॥
अथ संग्रामसंरम्भश्रमार्त्तोऽयं स्वपित्यलम् ।
इति निद्रा मया सेयं देवेश्वरि न वारिता ॥ ३२ ॥

विदूरथकी लीलाने कहा—हे देवि, उस समय विदूरथके गृहप्रदेशमें कल्पान्तकी ज्वालासे मूर्च्छित द्वितीया तिथिकी चन्द्रकलाके समान मैं मूर्च्छित हो गई । तदनन्तर चञ्चल नेत्रपक्ष्म-राजि (पलक) वाले नेत्रोंको बन्दकर मूर्च्छामें पड़ी हुई मुझको भला या बुरा कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ॥ २६, २७ ॥

हे परमेश्वरी, तदनन्तर मरणमूर्छाके बाद मैं क्या देखती हूँ कि वासनासे परिकल्पित देहके तुल्य देहसे मैं अध्याससे आविर्भूत हुई हूँ, भूताकाशमें उड़ी हूँ, तदनन्तर भूताकाशमें वायुरूपी रथमें बैठी हूँ । तदनन्तर सुगन्धिके लेशकी नाईं वायुरूपी रथ मुझे यहां इस घरमें लाया ॥ २९ ॥

तदुपरान्त मैंने इस महलको देखा जो नायक (शवरूप राजा पद्मसे) अलङ्कृत था, इसमें दीपक जलते थे, बड़ा स्वच्छ और बहुमूल्य शयनसे युक्त था, जब मैं इस पतिको देखने लगी तो क्या देखती हूँ कि यह विदूरथ फूलोंसे आच्छादित होकर फूलोंके वनमें वसन्तके समान सोता है । मैंने सोचा अधिक संग्राम करनेसे उत्पन्न परिश्रमसे यह खिन्न है, अतः यह गाढ़ नीदमें सोता है,

अथाऽऽबभौ कलापूर्णः स राकायामिवोडुराट् ।
भासयन् भुवनं भूरि वदनेन्दुमरीचिभिः ॥ ३९ ॥
स्फुरयामास सोऽङ्गानि रसवन्ति मृदूनि च ।
कनकोज्ज्वलकान्तीनि पल्लवानीव माधवः ॥ ४० ॥
उन्मीलयामास दृशौ विमलालोलतारके ।
हारिण्यौ सुभगाभोगे चन्द्रार्कौ भवनं यथा ॥ ४१ ॥
उत्तस्थौ प्रोल्लसत्कायो विन्ध्याद्रिर्वृद्धिमानिव ।
उवाच कः स्थित इति घनगम्भीरनिःस्वनम् ॥ ४२ ॥
लीलाद्वयमथाऽस्याऽग्रे प्रोवाचाऽऽदिश्यतामिति ।
स ददर्श पुरो नम्रं लीलाद्वयमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
समाचारं समाकारं समरूपं समस्थिति ।
समवाक्यं समोद्योगं समानन्दं समोदयम् ॥ ४४ ॥

राकामें (पूर्णचन्द्रमावाली पौर्णमासीकी रात्रिमें) सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाकी नाईं शोभित हुआ और मुखरूपी चन्द्रकिरणोंसे पृथिवीको खूब प्रकाशित करता था ॥ ३९ ॥

जैसे वसन्त सुवर्णके तुल्य उज्ज्वल कान्तिवाले अपने पल्लवोंको संचालित करता है, वैसे ही राजा पद्मने अपने हरे भरे (सजीव) कोमल अङ्गोंको संचालित किया ॥ ४० ॥

निर्मल चञ्चल तारिकावाले अपने सुन्दर नेत्रोंको उसने यों खोला जैसे भुवन (भुवनात्मा हिरण्यगर्भ विराट्) अपने नेत्ररूपी चन्द्रमा और सूर्यको उन्मीलित करता है ॥ ४१ ॥

राजा, जिसका शरीर शोभित हो रहा था, विन्ध्याचलके समान बुद्धिशील था, उठा और मेघके घोषके समान गम्भीर ध्वनिसे उसने कौन है कहा—दोनों लीलाओंने उसके आगे जाकर 'महाराज आज्ञा कीजिये' कहा ॥ ४२, ४३ ॥

उसने नम्र दो लीलाओंको अपने सामने उपस्थित देखा। उन दोनोंका एक-सा व्यवहार एक-सा आकार, एक-सी रूप रेखा, एक-सी मर्यादा, एक-से वचन, एक-सा उद्योग, एक-सा आनन्द और एक-सा अभ्युदय था ॥ ४४ ॥

का त्वं केयं कुतश्चेयमित्याह स विलोकयन् ।
तस्मै लीलाऽऽह हे देव श्रूयतां यद्वदाम्यहम् ॥ ४५ ॥
महिला तव लीलाऽहं प्राक्तनी सहधर्मिणी ।
वागर्थस्येव संपृक्ता स्थिता संश्लेषशालिनी ॥ ४६ ॥
इयं लीला द्वितीया ते महिला हेलया मया ।
उपार्जिता त्वदर्थेन प्रतिबिम्बमयी शुभा ॥ ४७ ॥
शिरोभागोपविष्टेयं पाहि हैममहासने ।
एषा सरस्वती देव त्रैलोक्यजननी शिवा ॥ ४८ ॥
अस्माकं पुण्यसंभारैरिह साक्षादुपागता ।
अनयेमे पराल्लोकादिहाऽऽनीते महीपते ॥ ४९ ॥
इत्याकर्ण्य समुत्थाय राजा राजीवलोचनः ।
लम्बमाल्याम्बरधरः पपात ज्ञप्तिपादयोः ॥ ५० ॥
सरस्वति नमस्तुभ्यं देवि सर्वहितप्रदे ।
प्रयच्छ वरदे मेधां दीर्घमायुर्धनानि च ॥ ५१ ॥

उसने देखते हुए तुम कौन हो और यह कौन है तथा यह कहांसे आई है, ऐसा पूछा, उससे पूर्व लीलाने कहा—हे देव, जो मैं कहती हूँ, उसे आप सुनें, मै आपकी पूर्व जन्मकी सहधर्मिणी लीला हूँ जैसे शब्द अर्थका वाचक होनेसे अर्थसे मिलित है, वैसे ही मैं आपसे संबद्ध होकर स्थित हूँ ॥ ४५,४६ ॥

यह लीला तुम्हारी दूसरी पत्नी है, मैंने तुम्हारी क्रीड़ाके लिए (उपभोगके लिए) इसका उपार्जन किया है, यह सुन्दरी प्रतिबिम्बमयी है ॥ ४७ ॥

हे देव, यह स्वर्णसिंहासनके सिरहानेपर बैठी हुई है, इसकी आप रक्षा कीजिये । यह सरस्वती देवीजी हैं, जो तीनों लोकोंकी जननी और कल्याणकारिणी हैं ॥ ४८ ॥

हम लोगोंके पुण्योंकी प्रचुरतासे यह साक्षात् यहांपर उपस्थित हैं हे राजन्, ये ही हम दोनोंको परलोकसे यहाँ लाई हैं ॥ ४९ ॥

कमलके तुल्य विशाल नेत्रवाला राजा यह सुनकर उठकर देवीके चरणोंमें गिर पड़ा । उसके वस्त्र और मालाएँ लटक रही थीं, हे देवि हे सबका कल्याण करनेवाली देवी, सरस्वतीजी आपके लिये नमस्कार है, हे वरदायिनी, बुद्धि

इत्युक्तवन्तं हस्तेन पस्पर्श ज्ञप्तिदेवता ।

सरस्वत्युवाच

त्वं पुत्राभिमतार्थाढ्यो भवेति भवनान्वितः ॥ ५२ ॥

सर्वापदः सकलदुष्कृतदृष्टयश्च
गच्छन्तु वः शममनन्तसुखानि सम्यक् ।
आयान्तु नित्यमुदिता जनता भवन्तु
राष्ट्रे स्थिराश्च विलसन्तु सदैव लक्ष्म्यः ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे पद्मजीवनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५८ ॥

दीजिये, दीर्घ आयु दीजिये और धन दीजिये। राजाके यह कह चुकनेपर देवी सरस्वतीने अपने हाथसे उसका स्पर्श किया ।

श्री सरस्वतीजीने कहा—हे पुत्र, दीर्घायु, धन आदि अभिलषित पदार्थोंसे खूब सम्पन्न होओ । तत्त्वबुद्धिसे प्राप्त अपने पारमार्थिक स्वरूप स्थितिसे युक्त होओ ।

सम्पूर्ण आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनाशको प्राप्त हों, अनन्त सुख तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारे राज्यमें सम्पूर्ण जनता सदा आनन्दित रहे और सकल सम्पत्तियां स्थिर होकर सदा विलास करें ॥ ५०—५३ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

सरस्वती तथेत्युक्त्वा तत्रैवाऽन्तर्धिमाययौ ।
प्रभाते पङ्कजैः सार्द्धं बुबुधे सकलो जनः ॥ १ ॥
आलिलिङ्ग च तां लीलां लीला च दयितं क्रमात् ।
पुनः पुनर्महानन्दान्मृतं प्रोज्जीवितं पुनः ॥ २ ॥
तदासीद्राजसदनं मदमन्मथमन्थरम् ।
आनन्दमत्तजनतं वाद्यगेयरवाकुलम् ॥ ३ ॥
जयमङ्गलपुण्याहघोषघुंघुमघर्घरम् ।
तुष्टपुष्टजनापूर्णं राजलोकवृताङ्गणम् ॥ ४ ॥
सिद्धविद्याधरोन्मुक्तपुष्पवर्षसहस्रभृत् ।
ध्वनन् मृदङ्गमुरजकाहलाशङ्खदुन्दुभि ॥ ५ ॥

उनसठवाँ सर्ग

[राजाके जी उठनेके हर्षसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, जीवन्मुक्त राजा पद्म और दो लीलाओंका चिरकाल तक राज्यभोग और तदुपरान्त मुक्तिका प्रतिपादन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, देवी सरस्वती पूर्वोक्त प्रकारसे राजाने जो वर माँगा था, 'उसे ऐसा ही हो' यह कहकर यानी देकर वहींपर (राजमहलमें ही) अन्तर्धानको प्राप्त हो गईं तथा प्रातःकालमें कमलोंके साथ सब लोग जागे ॥ १ ॥

राजाने उस लीलाका बारबार आलिङ्गन किया और लीलाने भी मरकर फिर वापिस आये हुए राजाका बार-बार बड़े आनन्दसे आलिङ्गन किया । उस समय उस राजमहलका क्या कहना था । उसमें सभी लोग आनन्दमें मस्त थे, गाने और बाजोंकी ध्वनिसे वह गूँज रहा था, उसमें मद और कामने अपना सिक्का जमा रक्खा था । जय-जयकारकी ध्वनि और माङ्गलिक पुण्याहवाचनके घोषसे वह मुखरित था, सन्तुष्ट और हृष्टपुष्ट लोगोंसे भरा था, राजपुरुषोंसे उसका आँगन ठसाठस भरा रहता था, उसपर सिद्ध और विद्याधरोंसे छोड़ी गई हजारों पुष्प-वृष्टियाँ बरसती थीं, वहाँ ढोल, पखाउज, काहल (कार्णाल नामका एक प्रकारका बाजा यानी बड़ा ढोल) शङ्ख और नगारे बजते रहते थे, अपनी बड़ी-बड़ी सूँड़ोंको उठाये

ऊर्ध्वीकृतबृहद्धस्तहास्तिकस्तनितोत्कटम् ।
उत्तालताण्डवस्त्रैणपूर्णाङ्गणलसद्ध्वनि ॥ ६ ॥
मिथःसंघट्टनिपतज्जनोपायनदन्तुरम् ।
पुष्पशेखरसंभारमयसंसारसुन्दरम् ॥ ७ ॥
विकीर्णापादितक्षौमं मन्त्रिसामन्तनागरैः ।
स्थूलपद्ममयं व्योमरक्तैस्ताण्डविनीकरैः ॥ ८ ॥
मत्तस्त्रीकन्धरावृत्तलीलान्दोलितकुण्डलम् ।
प्रवृत्तपादसंपातप्रोल्लसत्पुष्पकर्दमम् ॥ ९ ॥
पट्टवासःशरन्मेघवितानकवितानकम् ।
वराङ्गनामुखैर्नृत्यच्चन्द्रलक्षगृहाजिरम् ॥ १० ॥
परलोकादुपानीता राज्ञी सा पतिरेव च ।
इति निर्वृत्तगाथाभिर्जगुर्देशान्तरे जनाः ॥ ११ ॥

हुए हाथियोंके झुण्डकी चिंघाड़से वह भीषण लगता था। उसका आंगन उद्धत नृत्य करनेवाली नर्तकियोंसे पूर्ण था अतएव उसमें विचित्र ध्वनि हो रही थी। परस्पर एकको दूसरेकी टक्कर लगनेसे राजाके लिए उपहार ला रहे लोगोंके उपहार वहांपर गिर रहे थे, गिर रहे उपहारोंसे वह नीचा ऊँचा हो गया था, फूलोंकी सिरकी मालाओं और उत्सवके साज बाजोंसे भरपूर विविध लोगोंके इधर उधर आने जानेसे वह बड़ा भला लगता था, मन्त्रियों, अधीन राजाओं और नगर-वासियोंसे बखेरे गये फूलों, लावों और मोतियोंसे चारों ओर आच्छन्न होनेके कारण ऐसा लगता था, मानो उसे रेशमी वस्त्र पहनाये गये हों, नर्तकियोंके लाल लाल हाथोंसे, जो आकाशमें नाच रहे थे, बड़े-बड़े कमलोंवाले तालाबके सदृश प्रतीत होता था ॥ २–८ ॥

खूब प्रसन्न (सुखी) स्त्रियोंके कानोंके कुण्डल, उनके विशेषरूपसे गर्दन घुमानेसे, झूल रहे थे, इधर उधर चलने-फिरनेवाले लोगोंके पैर पड़नेसे फूलोंका कीचड़ बड़ा भला प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

वहांपर शरत्कालके तुल्य सफेद रेशमी वस्त्रोंके चँदवे तने थे, रूपवती ललनाओंके मुखोंसे उक्त महलके आंगनोंमें लाखों चन्द्रमा नाच रहे थे यानी सुन्दरियोंके प्रतिबिम्बित मुखरूपी लाखों चन्द्रमा उसके आंगनमें नाच रहे थे। पूर्व लीला परलोकसे रानीको यानी दूसरी लीलाको और महाराज पद्मको लाई

पद्मो भूमिपतिः श्रुत्वा वृत्तान्तं कथितं मनाक्।
चक्रे स्नानं समानीतैश्चतुःसागरवारिभिः ॥ १२ ॥
ततोऽभिषिषिचुर्विप्रा मन्त्रिणो भूभुजश्च तम्।
लब्धोदयमनन्तेहममरेन्द्रमिवाऽमराः ॥ १३ ॥
लीला लीला च राजा च जीवन्मुक्तमहाधियः।
रेमिरे पूर्ववृत्तान्तकथनैः सुरतैरिव ॥ १४ ॥
सरस्वत्याः प्रसादेन स्वपौरुषकृतेन तत्।
प्राप्तं लोकत्रयश्रेयः पद्मेनेति महीभुजा ॥ १५ ॥
स ज्ञप्तिज्ञानसंबुद्धो राजा लीलाद्वयान्वितः।
चक्रे वर्षायुतान्यष्टौ तत्र राज्यमनिन्दितः ॥ १६ ॥

इस प्रकारकी सैकड़ों प्रबन्धोंके रूपमें प्रस्तुत गाथाओंका देश-देशान्तरमें लोग गान करते थे ॥ १०,११ ॥

राजा पद्मने अपने मरण आदिकी कथाको, जो संक्षेपसे कही गई थी, सुनकर भृत्यों द्वारा लाये गये चार सागरोंके जलसे स्नान किया। तदुपरान्त राज्यप्राप्तिके लिए अनेक प्रयास करनेवाले अतएव नहुषको गिराकर जिसने फिर राज्य प्राप्त किया था, ऐसे देवराजका देवताओंने जैसे अभिषेक किया था, वैसे ही राजा पद्मका ब्राह्मणोंने, मन्त्रियोंने और राजाओंने अभिषेक किया* ॥१३॥

प्रथम लीला, द्वितीय लीला और राजा, जो जीवन्मुक्त और महाज्ञानी थे, सुरतोंकी नाईं पूर्ववृतान्तोंकी कथाओं द्वारा रमण करते थे। राजा पद्मको पूर्वोक्त रीतिसे सरस्वतीके प्रसादसे और अपने पौरुषसे वह तीनों लोकोंका कल्याण प्राप्त हुआ। राजाने जो सरस्वतीकी प्रसन्नता, पुनर्जीवन और राज्य प्राप्त किया, वह तो दैवसे ही वह मिला, अपने पौरुषसे मिला नहीं, ऐसी श्रीरामचन्द्रजीकी शङ्काको ताड़कर श्रीवसिष्ठजीकी यह उक्ति है। सरस्वतीकी आराधना आदिरूप अपने पौरुषसे सरस्वतीका प्रसाद प्राप्त हुआ। उसका प्रसाद काकतालीयके समान आकस्मिक नहीं है, यह भाव है ॥ १४,१५ ॥

दोनों लीलाओंसे युक्त श्लाघनीय राजा पद्मने, जिसे श्रीसरस्वती देवीजी द्वारा

---

* जैसे चिरकालके प्रवाससे आये हुए राजाका पुनः राज्याभिषेक मंगलके लिए होता है, वैसे ही परलोकसे लौटे हुए राजा पद्मका पुनः अभिषेक मङ्गलार्थं किया गया।

जीवन्मुक्तास्त इत्येवं राज्यं वर्षायुताष्टकम् ।
कृत्वा विदेहमुक्तत्वमासेदुः सिद्धसंविदः ॥ १७ ॥
यदुदयविशदं विदग्धमुग्धं समुचितमात्महितं च पेशलं च ।
तदखिलजनतोषदं स्वराज्यं चिरमनुपाल्य सुदम्पती विमुक्तौ ॥१८॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने पद्मनिर्वाणं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं राम दृश्यदोषनिवृत्तये ।
लीलोपाख्यानमनघं घनतां जगतस्त्यज ॥ १ ॥

उपदिष्ट ज्ञानसे भली भाँति आत्मतत्त्वका ज्ञान हो चुका था, वहाँपर अस्सी हजार वर्ष तक राज्य किया ॥ १६ ॥

वे जीवन्मुक्त, जिनका आत्मतत्त्वज्ञान खूब बद्धमूल हो गया था, इस प्रकार अस्सी हजार वर्ष तक राज्य करके विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए ॥१७॥

अपने राज्यका, जो प्रजाओंके नित्य अभ्युदयसे दोषरहित था, शास्त्रानुसारी होनेके कारण विद्वानोंके भी मनको हरनेवाला था, अपनी कुलपरम्पराकी मर्यादाके योग्य था, भोग, यश और धर्म देनेवाला होनेके कारण अपने लिए भी हित था, लोगोंके चित्तके अनुरञ्जनमें दक्ष था, अतएव सम्पूर्ण लोगोंको सन्तोष देनेवाला था, चिरकाल तक पालनकर वे सुन्दर दम्पती विमुक्त हो गये ॥ १८ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

---*---

साठवाँ सर्ग

[लीलोपाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे वर्णन और काल आदिकी समता और विषमताके कारणका निर्देश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यह पवित्र लीलोपाख्यान, दृश्यरूप दोषकी निवृत्तिके लिए, मैंने आपसे कहा। यानी दृश्य नहीं है, इस प्रकारके ज्ञानसे यदि मनसे दृश्यका परिमार्जन हो गया, तो परम निर्वृति प्राप्त हो गई,

शान्तैव दृश्यसत्ताऽस्याः शमनं नोपयुज्यते ।
सतो हि मार्जनक्लेशो नाऽसतस्तु कदाचन ॥ २ ॥
ज्ञानेनाऽऽकाशरूपेण दृश्यं ज्ञेयस्वरूपकम् ।
इत्येकीभूतमालोक्य ज्ञस्तिष्ठत्यम्बरोपमः ॥ ३ ॥
पृथ्व्यादिरहितेनेदं चिद्भासैव स्वयंभुवा ।
साधितं यदि सिद्धेन ततः स्वात्मनि साधितम् ॥ ४ ॥
संविद्यथा या यतते तथा सैव व्यवस्थिता ।
विसृष्टा सृष्टिविन्नद्यां यावद्यत्नान्न रोधिता ॥ ५ ॥

ऐसी जो प्रकरणके आरम्भमें प्रतिज्ञा की गई थी, उसकी सिद्धि ही लीलोपाख्यानका मुख्य प्रयोजन है । अब आप जगत्‌की सत्यताका त्याग कीजिये ॥ १ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि जगत्‌में सत्यताके त्यागमात्रसे उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? तो उसपर कहते हैं—'शान्तैव' इत्यादिसे ।

दृश्यकी सत्ता शान्त ही है यानी है ही नहीं, जब दृश्यसत्ता है ही नहीं, तब उसके शमनका क्या उपयोग ? विद्यमानके मार्जनके लिए प्रयास किया जाता है, जो है ही नहीं, उसके परिमार्जनके लिए प्रयास कैसा ? ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष आकाशरूप ज्ञानसे ज्ञेयस्वरूप दृश्यको पूर्वोक्त रीतिसे अपवाद द्वारा अखण्ड ब्रह्ममें एकरसताको प्राप्त हुआ जानकर आकाशके सदृश निर्मल रहता है ॥ ३ ॥

दृश्य तो जड़ है, उसकी ज्ञानघन ब्रह्ममें एकरसता कैसे ? ऐसी आशङ्का कर आदि सृष्टिमें चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्माने अपनेमें ही दृश्यरूप विवर्तकी कल्पना की, इसलिए जैसे जलरूप ओलोंमें कठिनताका विरोध नहीं है, वैसे ही दृश्यकी चिद्रूपतामें विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**पृथ्व्यादिरहितेन**' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदिसे रहित प्रकाशरूप ब्रह्मने यदि इसकी कल्पना की तो अपनेमें ही की, उससे अतिरिक्त उसका दूसरा उपादान है नहीं, इसलिए इसके चिद्रूप होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

यदि कोई कहे कि जैसे ओलोंकी कठिनता प्रयत्नके बिना ही शान्त हो जाती है, वैसे ही प्रयत्नके बिना ही दृश्यका विनाश क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'**संविद्**' इत्यादिसे ।

चिदाकाशावभासोऽयं जगदित्यवबुध्यते ।
चिद्व्योम्न्येवाऽऽत्मनि स्वच्छे परमाणुकणं प्रति ॥ ६ ॥
एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता केव वासना ।
का वाऽऽस्था का च नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम् ॥ ७ ॥
सर्वं चैतद्यथादृष्टं स्थितमित्थमखण्डितम् ।
मायैवेयमनन्तेयं न च मायाऽस्ति काचन ॥ ८ ॥

सृष्टिवेत्ता (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मचैतन्यरूप नदीमें उसकी एक भागरूप जो जीव संवित् है, वह जिस प्रकारकी प्रवृत्तिके प्रवाहसे जिस तरहके कार्यकरणफलभावके लिए प्रयत्न करती है, वैसे कार्यकरणकेफलभावसे छोड़ी गई वह अपने प्रयत्नके अनुसार वैसे ही व्यवस्थित होती है, जब तक उससे विरुद्ध निवृत्तिप्रयत्नसे वह रोकी नहीं जाती, तब तक निवृत्त नहीं होती है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि इस जगत्की रचना ब्रह्माजीने की है, जीवकी क्या ताकत कि इसे रोक दे, महाराजाधिराजने जिस कार्यके लिए आज्ञा दे दी हो, भला वह साधारण आदमीके यत्नसे रोकी जा सकती है ? इसपर कहते हैं—**'चिदाकाशा०'** इत्यादिसे ।

यद्यपि चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्ममें चिदाकाशका जो मायिक अवभास है, वही जगत्‌रूपसे प्रतीत होता है, इसलिए जगत् ब्रह्मासे रचा गया है, तथापि वह जगत् जिसका ब्रह्मभाव अपरिच्छिन्न है, उस पुरुषके प्रति वैसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियोंके कारण अत्यन्त परिच्छिन्न जीवके प्रति ही वह वैसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके प्रयत्नोंसे उत्पन्न कर्मफलोंके भोगके लिए ही वह ब्रह्ममें कल्पित है और जब उसके प्रयत्नसे बोध होता है, तब दृश्यका परिमार्जन अवश्य होता ही है ॥ ६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें सत्ता, नियति, वासना आदिसे भी जगत्की रक्षा नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार इस व्यर्थभ्रमरूप दृश्यकी क्या सत्ता है, कौन-सी वासना है, कौन आदर है, क्या नियति है और क्या अवश्यम्भाविता कही जाय । भ्रमके सत्ता आदिकी क्या संभावना है, यह भाव है ॥ ७ ॥

यह सब यद्यपि मायादृष्टिसे जैसा दिखाई देता है, वैसे ही ज्योंका त्यों

श्रीराम उवाच

अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता भगवँस्त्वया ।
दावाग्निदग्धकक्षाणां दाहशान्तौ कलैन्दवी ॥ ९ ॥
अहो नु सुचिरेणाऽद्य ज्ञातं ज्ञातव्यमक्षतम् ।
मया यथेदं यच्चेदं यादृग् ज्ञेयं यतो यदा ॥ १० ॥
शाम्यामीव द्विजश्रेष्ठ निर्वामीव विकल्पयन् ।
एतदाख्यानमाश्चर्यं व्याख्यानं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ११ ॥
इमं मे भगवन् ब्रूहि संशयं सर्वकोविद ।
तव पातुं न तृप्तोऽस्मि श्रोत्रपात्रैर्वचोमृतम् ॥ १२ ॥
स सर्गत्रितये कालो लीलाभर्तुर्हि यो गतः ।
स क्वचित्किमहोरात्रः क्वचित् किं मासमात्रकः ॥ १३ ॥

स्थित है, तथापि परमार्थदृष्टिसे इसका संभव नहीं है, मायासे उत्पन्न होनेके कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि माया ही है और माया भी तो वास्तविक नहीं है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपने मुझे, जैसे वनाग्निसे जले हुए तृणोंकी दाहकी शान्ति होनेपर, फिर पनपनेके लिए चन्द्रमाकी कला उगती है वैसे ही, संसारतापसे सन्तप्त लोगोंको शान्तिविवेककी प्राप्तिके लिए यह दृष्टि दर्शाई है ॥ ९ ॥

हर्षकी बात है कि आज चिरकालमें अखण्ड ज्ञातव्य पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है, जैसा उसका स्वरूप है, जिस तरहका वह है, जिन प्रमाणोंसे ज्ञेय होता है, जब जाना जाता है, यह सब मुझे ज्ञात हुआ ॥ १० ॥

हे द्विजश्रेष्ठ, जगत्तत्त्वका विचार कर रहा मैं उपाधिके शान्त होनेसे शान्त-सा हो रहा हूँ, नित्य निर्वाणस्वरूपकी प्राप्तिसे आनन्दसागरमें डूब-सा रहा हूँ, यह आश्चर्यमय लीलोपाख्यान श्रुति द्वारा प्रदर्शित ज्ञानोंमें उपबृंहणरूप है यानी श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञानको बढ़ानेवाला है ॥ ११ ॥

भगवन्, कृपा करके आप मेरे इस सन्देहको निवृत्त कीजिये, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। आपके वचनरूपी अमृत कर्णरूपी पात्रोंसे पीनेके लिए मैं तृप्त नहीं होता यानी मुझे उसे पीनेकी इच्छा बनी रहती है ॥ १२ ॥

वह पूर्वोक्त काल, जो लीलाके पतिके तीन जन्मोंमें बीता, वह कहीं तो

क्वचित्किं बहुवर्षाणि कस्यचित्किमु पेलवः ।
कस्यचित्किं महादीर्घः कस्यचित्किं क्षणः स्थितः ॥ १४ ॥
इति मे भगवन् ब्रूहि त्वं यथावदनुग्रहात् ।
सकृच्छ्रुतं न विश्रान्तिमेति लोष्ठे यथा जलम् ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

येन येन यथा यद्यद्यदा संवेद्यतेऽनघ ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ १६ ॥

(गिरिग्राममें तो) आठदिनरात रूप कहा गया है, कहीं (पद्म-जन्ममें) एकमास-रूप कहा गया है, कहीं (विदूरथजन्ममें) बहुत वर्षवाला कहा गया है, इस प्रकार क्या विभिन्न ब्रह्माण्ड हैं या एक ही ब्रह्माण्डमें मनुष्योंका वर्ष, देवताओंका दिन (अति अल्पकाल) होता है, किसीको (क्षुद्र जन्तुओंको) वह बड़ा विशाल प्रतीत होता है, और किसीको (ब्रह्माको) क्षण प्रतीत होता है, यों क्या एक ही काल, देश, लोग आदिके भेदसे विरुद्धरूपसे (छोटे बड़े रूपसे) स्थित है क्या ? पदार्थ-सत्ताके एकरूप होनेपर प्रतीतिमें भेद कैसे आता है ? यह भाव है । हे भगवन्, यह सब आप अनुग्रहपूर्वक यथार्थरूपसे मुझसे कहें, जैसे ढेलेमें गिरा हुआ जलबिन्दु कहीं विलीन हो जाता है, वैसे ही 'देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथैव हि' इत्यादिसे आपके कह चुकनेपर भी एक बारके श्रवणसे वह स्थिरताको नहीं प्राप्त होता है ॥ १३–१५ ॥

यदि जैसी पदार्थोंकी सत्ता है, उसीके अनुसार प्रतीति हो, तो यह विरोध हो सकता है, अनिर्वचनीय पदार्थोंकी सत्ता ही प्रतीतिके अनुसारिणी होती है उसमें जितने द्रष्टा (देखने वाले) हैं, उनके प्रति पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, कालवैषम्यरूपभेद नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'**येन येन**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, जिस-जिस पुरुषको जिस समय जिस प्रकारसे जिस-जिस पदार्थकी प्रतीति होती है, वह-वह उस समय उस प्रकारसे उस-उस पदार्थका अनुभव करता है । सदा ही यह जीवनका साधन है, यह ज्ञात होनेसे विष भी अमृतताको प्राप्त होता है, देखिये न यह हमारे जीवनका साधन है, इस प्रकारकी दृढ़ प्रतीति होनेसे विषके कीड़े विषसे ही जीते हैं, यदि कहिये

अमृतत्वं विषं याति सदैवाऽमृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात् ॥ १७ ॥
यथाभावितमेतेषां पदार्थानां निजं वपुः ।
तदेव हि चिराभ्यासान्नियतेर्वशमागतम् ॥ १८ ॥
कचनैकात्मिकैषा चिद्यथा कचति यादृशम् ।
तथा तथाऽऽशु भवति तत्स्वभावैककारणात् ॥ १९ ॥
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति ।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ २० ॥
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः ।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ २१ ॥

कि प्रमादसे यह हमारा खाद्य है, यह सोचकर जो आदमी विष खा लेता है, वह क्यों मरता है । सुनिये, विषके कीड़ोंकी नाईं उसका विषमें यह हमारा जीवनका साधन है, ऐसा चिरकालसे दृढ विश्वास नहीं है, दूसरी बात यह भी है कि उसको ऐसा पक्का संस्कार रहता है कि विष खानेसे मृत्यु होती है । विषमें जीवनसाधनताके दृढ़ निश्चयका अभाव और मरणहेतुताका निश्चय होनेसे उसकी मृत्यु होती है । यह मित्र है, ऐसी दृढ़भावना करनेसे शत्रु भी मित्रताको प्राप्त हो जाता है ॥ १६, १७ ॥

इन पदार्थोंके स्वरूपकी जैसी भावना की, वही (भावित स्वरूप ही) चिरकालके अभ्याससे नियतिके वशमें आ गया है । चिरकालसे अभ्यस्त भावनाका अनुसरण करनेवाली पदार्थोंकी अर्थक्रियाकारिता नियति है ॥ १८ ॥

चितिका स्फुरण स्वभाव है, जैसे और जिस रूपमें उसका स्फुरण होता है, वह शीघ्र उसी रूपमें हो जाती है, क्योंकि वैसा होनेमें उसका स्फुरणस्वभाव होना ही एकमात्र कारण है । भाव यह कि चित् स्फुरणस्वभाव ही है, उसके पदार्थविशेषाकार होनेमें द्रष्टाका संस्कार कारण है । यों एक ही संवित्में किसीका संस्कारके अनुसार क्षणका आरोप होता है और किसीका कल्प आदिका आरोप होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है । यदि किसी पुरुषको एक क्षणमें सैकड़ों कल्पोंकी प्रतीति होती है, तो क्षण ही उसके लिए कल्प होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । यदि किसीको कल्पमें निमेषताका ज्ञान हो जाता है, तो कल्प ही

दुःखितस्य निशाकल्पः सुखितस्यैव च क्षणः ।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥ २२ ॥
यथा च मृत्वा जातोऽहं तरुणो यौवनस्थितः ।
यातोऽस्मि योजनशतं स्वप्ने इत्यनुभूयते ॥ २३ ॥
रात्रिं द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रोऽनुभूतवान् ।
लवणो भुक्तवानायुरेकरात्र्या समाः शतम् ॥ २४ ॥
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः ।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ २५ ॥
विष्णोर्यज्जीवितं राम तद् वृषाङ्कस्य वासरः ।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ २६ ॥
न पदार्था न च जगत्सत्यमात्मनि योगिनः ।
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् ॥ २७ ॥

उसके लिए निमेष बन जाता है, क्योंकि चित् स्फुरणरूपा है ॥ १९–२१ ॥

लोकमें भी यह प्रकार प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'दुःखितस्य' इत्यादिसे।

दुःखी (वियोगी) पुरुषको जो रात्रि कल्प-सी लम्बी प्रतीत होती है, वही रात्रि सुखी पुरुषको क्षणके तुल्य हो जाती है । स्वप्नमें एक क्षण कल्प बन जाता है और कल्प क्षण बन जाता है । जरा ध्यान दीजिये एक क्षणके स्वप्नमें पुरुष देखता है—मैं मर कर पैदा हुआ, जवान हुआ, यौवनावस्थामें स्थित हुआ, मैं सौ कोश गया, ऐसा स्वप्नमें सबको अनुभव होता है ॥ २२, २३ ॥

राजा हरिश्चन्द्रको एक रात्रि बारह वर्षकी प्रतीत हुई थी, लवणासुरने एक रात्रिमें सौ वर्षकी आयुका भोग किया था । जो मनुकी आयु है, वह आत्माका मनन करनेवाले प्रजापतिका एक मुहूर्त है । जो ब्रह्माकी आयु है, वह आत्म-मननशील विष्णुका एक दिन है, विष्णुकी जो आयु है, वह शिवजीका एक दिन है, पर जिस पुरुषने ध्यानसे अपने चित्तपर विजय पा ली है यानी जो निर्विकल्पक समाधिमें स्थित है, उसके लिए न दिन हैं और न रात्रियाँ । आत्माके चिन्तनमें मग्न योगीकी दृष्टिमें न पदार्थ सत्य हैं और न जगत् ही सत्य है । मधुर पदार्थकी भी यदि यह तीता है, यह तीता है, ऐसी भावना की जाय, तो वह भी तीता हो जाता है, यदि तीतेकी यह मधुर है, यह मधुर है, इस

कटु चाऽऽयाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ।
मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत् ॥ २८ ॥
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ।
अनभ्यस्ताः पदार्था ये शास्त्रपाठजपादयः ॥ २९ ॥
तेषां संवेदनाभ्यासान्नूनमभ्येति साम्यता ।
नौयायिनां भ्रमार्तानां वेदनाद्भूर्विवर्तते ॥ ३० ॥
अवेदनाभ्रमार्तानामपि नैषां विवर्तते ।
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात् स्वप्नदृक्ष्विव ॥ ३१ ॥
वेदनात् पीतमानीलं शुक्लं वाऽप्यनुभूयते ।
आपद्वदुत्सवः खेदं करोति परिमोहतः ॥ ३२ ॥
कुड्येऽपि ख इवाऽऽचारो दृष्टो नन्वविचारिणः ।
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानप्यपकर्षति ॥ ३३ ॥

प्रकारकी भावना की जाय, तो वह मधुर हो जाता है। हे महाबाहो, शत्रु ही क्यों न हो यदि यह मित्र है, मित्र है, यों मित्रबुद्धिसे उसकी भावना की जाय, तो वह मित्र बन जाता है, मित्र ही क्यों न हो, यह रिपु है, ऐसी बुद्धिसे उसकी भावना की जाय तो रिपु बन जाता है। यह सारा जगत् भावनाका खेल है, जैसी भावना होती है, वैसा ही दिखाई देता है। शास्त्राध्ययन, जप आदि जिन पदार्थोंका पहले अभ्यास नहीं रहता, उनमें भावनाके अभ्याससे स्वाधीनता प्राप्त होती है। नौकासे यात्रा करनेवाले चक्कर आनेसे पीड़ित लोगोंकी भावनासे पृथिवी घूमती है। भावनाभ्रमजनित पीड़ासे रहित तटमें स्थित लोगोंकी दृष्टिसे तो वह नहीं घूमती, जैसे स्वप्न देखनेवालोंकी दृष्टिमें शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करनेसे भी शून्य स्थान लोगोंसे भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ २४-३१ ॥

भावनासे आकाश पीला, नीला या सफेद प्रतीत होता है, मोहवश उत्सव भी आपत्तिके सदृश दुःखदायी होता है। छोटे-छोटे बालक अपने खेल कूदके उत्सवोंमें कभी-कभी रोते दिखाई देते हैं ॥ ३२ ॥

अविचारी पुरुषका जहाँपर दीवार खड़ी है, वहाँपर भी शून्यका (दीवार-रहितका) सा व्यवहार देखा गया है, अविद्यमान भी यक्ष मूढ़ लोगोंके प्राणोंको

वेदनात् स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा ।
यद्यथाऽऽभासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ ३४ ॥
असदेव नभश्चैव नभ एव चिदात्मनि ।
शतहस्ताम्बुदच्छायानटनृत्तमिवाऽऽततम् ॥ ३५ ॥
गगने मानसं स्पन्दं जगद्विद्धि न वस्तु तत् ।
मिथ्याज्ञानपिशाचस्य स्पन्ददर्शनमाकृति ॥ ३६ ॥
मायामात्रकमेवेदमरोधकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ ३७ ॥

हर लेता है । भाव यह कि जो पदार्थ असत्य हैं, उनमें कार्य करनेकी क्षमता लोकमें प्रसिद्ध है, वेताल वस्तुतः है नहीं, पर वह मूढ़ लोगोंके प्राणहरणरूप कार्यको कर ही लेता है ॥ ३३ ॥

देखिये न, स्वप्नमें देखी गई स्त्री भावनावश जागरणकालकी तरह आनन्द-दायिका होती है, जो पदार्थ जिस रूपमें आभासित हुआ, वह उसी रूपमें स्थिर होता गया । जगत् असत् ही है ।

शङ्का—यदि जगत् असत् ही है, तो उसे सरासर मिथ्या ही कहना चाहिए ।

समाधान—सरासर झूठा भी नहीं है, किन्तु अव्याकृत आकाशरूप है, क्योंकि कार्य कारणसे अतिरिक्त नहीं है । वह अव्याकृत आकाश ही अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मामें सौ हाथके मिथ्या नटके, जो मेघकी छायासे कल्पित है, नाचके (एक प्रकारके अभिनयके) सदृश जगत्की विलक्षणताके रूपसे विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३४, ३५ ॥

सम्पूर्ण मनकी समष्टि और व्यष्टिका कार्य होनेसे भी जगत् असत्य ही है, ऐसा कहते हैं—**'गगने'** इत्यादिसे ।

जिस बालकने अपने मिथ्याज्ञानसे पिशाचकी कल्पना कर रक्खी है, उसका जो स्पन्ददर्शन है, उसके तुल्य मनोमात्र आकृतिवाला यह जगत् आकाशमें मानस स्पन्द ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ३६ ॥

यह जगत् वस्तुतः मूर्तिमान् नहीं है, अतः किसी दूसरेका अवरोध नहीं करता, जो इसका अवरोध करे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इसमें नहीं है और माया-मात्र ही है, ऐसा होनेपर भी स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहा है, इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग इसे न सोये हुए पुरुषको हुआ अपूर्व स्वप्नदर्शन मानते हैं ॥ ३७ ॥

अपूर्वमेवाऽसुप्तस्य नरस्येवोदितं विदुः ।
अचेता चेतति स्तम्भो यादृशं शालभञ्जिकाम् ।
परमार्थमहास्तम्भः सृष्टिं चेतति तादृशम् ॥ ३८ ॥
यादृशो मे नरः पार्श्वे स्वप्ने क्षुब्धो महाभटैः ।
तादृशो ब्रह्मणः सर्गो बुद्ध एव सुषुप्तवत् ॥ ३९ ॥
तृणगुल्मलतायुक्तः शिशिरान्ते यथा रसः ।
वासन्तः संस्थितो भूमौ तथा सर्गः परे पदे ॥ ४० ॥
यथा द्रवत्वं कनके स्थितमन्तरनुन्मिषत् ।
तथा स्थितः परे सर्ग आत्मवर्गादिणावणौ ॥ ४१ ॥
सन्निवेशो यथाऽङ्गानामङ्गिनोऽनन्य आत्मनः ।
जगदेवमनङ्गस्य स्वात्मनो ब्रह्मणस्तथा ॥ ४२ ॥

जैसे अपने स्फुरणके अनुकूल व्यापारसे रहित स्तम्भ अपने स्वरूपमें प्रतिमा-रूपको प्रकट करता है, वैसे ही परमार्थ महास्तम्भ (सर्वाधिष्ठान चैतन्य) भी वैसा होकर, वैसी ही सृष्टिको सृष्टिकालमें देखता है ॥ ३८ ॥

जैसे स्वप्नमें मेरे समीपमें महाभटोंसे छेड़ा गया पुरुष जागनेपर भी सुषुप्तके सदृश अज्ञानमात्रस्वभाव ही है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही ब्रह्माकी सृष्टि भी जाग्रत् होनेपर भी सुषुप्तके सदृश ही है ॥ ३९ ॥

जैसे शिशिर ऋतुके अन्तमें (वृक्ष आदिके पत्र गिरनेके समय) आगे वसन्तमें पत्र, पुष्प आदिके रूपमें होनेवाले तिनके, पत्ते, झाड़ी, लता आदिसे युक्त रस अपनी उपादानभूत भूमिमें स्थित होता है, वैसे ही परम पदमें यानी सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें यह सृष्टि स्थित है ॥ ४० ॥

जैसे सोनेके अन्दर द्रवत्व विद्यमान है, पर लोगोंके दृष्टिगोचर नहीं होता, अग्निका संयोग होनेपर प्रकट हो जाता है, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म परम पदमें यह सृष्टि स्थित है। प्राणियोंको उनके कर्मोंका फलभोग कराना ही उसका प्रयोजन है, जब प्राणियोंका भोगजनक अदृष्ट उदित होता है, तब यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है। जैसे अङ्गोंका (अवयवोंका) गठन आत्मरूप अङ्गीसे अभिन्न है यानी अङ्गोंकी अङ्गीसे पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही आत्मरूप अखण्ड ब्रह्मसे यह जगत् भी अनन्य (अभिन्न) है। जैसे स्वप्नमें किसी आदमीका किसी दूसरे

यादृगेकनरः स्वप्ने युद्धमन्यं नरं प्रति ।
तादृशं सदसद्रूपं स्वात्मेदं व्योमगं जगत् ॥ ४३ ॥
महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं जगत् ।
कारणत्वं मिथः पश्यादसदेति न वास्तवम् ॥ ४४ ॥
मुक्तेऽस्मिन् ब्रह्मणि यदि ब्रह्माऽन्यः स्मृतिजो भवेत् ।
तत्स्मृतिज्ञप्तिजे सर्गे स्थितैव ज्ञप्तिमात्रता ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

पौराणां मन्त्रिमुख्यानां विदूरथकुलक्रमः ।
सममेव कथं तत्र सर्वेषां प्रतिभासितः ॥ ४६ ॥

आदमीके साथ युद्ध हुआ। स्वप्न कालमें स्वप्न देखनेवालेके प्रति सद्रूप और अन्यके प्रति असद्रूप भी वह युद्ध स्वप्नद्रष्टाका आत्मा ही है, उससे व्यतिरिक्त नहीं है, वैसे ही मायाकाशमें स्थित आत्मरूप यह जगत् भी मायिक दृष्टिसे सत् होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टिसे असत् ही है ॥ ४१–४३ ॥

महाकल्प और सृष्टिके आदिमें यह जगत् चित्स्वभाव ही है, असत् पदार्थ ही पीछे कारणमें लीन होता है, वास्तविक नहीं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् असत् है, उसका कारण चित् ही महाप्रलय और सृष्टिमें रहता है, उससे अतिरिक्त सत् कुछ नहीं है ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण जगत्के आकारमें परिणत पूर्व-पूर्व हिरण्यगर्भमें अहंबुद्धिकी कल्पना-रूप उपासनाके संस्कारसे उत्पन्न स्मृतिसे कल्पित होनेसे भी जगत् अधिष्ठानभूत सन्मात्रसे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**मुक्ते**' इत्यादिसे ।

इस ब्रह्माके मुक्त होनेपर यदि स्मृतिसे उत्पन्न हुआ अन्य ब्रह्मा हो, तो भी स्मृतिरूप ज्ञानसे उत्पन्न सृष्टिमें ज्ञप्तिमात्रता है ही ॥ ४५ ॥

जैसे अन्यान्य ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले प्राणियोंके अलग-अलग वासना, कर्म आदि हैं, वैसे ही एक नगरमें रहनेवालोंमें प्रत्येक प्राणीके भी वासना कर्म आदि विचित्र हैं, इसलिए स्वप्नके तुल्य जागरणमें भी क्रमकी विलक्षणताका आरोप क्यों नहीं होता? यानी सभीको भिन्न-भिन्न क्रमसे प्रतीति क्यों नहीं होती, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**पौराणाम्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, नगरवासी, मन्त्री आदि सभीको विदूरथके कुलका क्रम एक-सा ही क्यों प्रतीत हुआ? इसमें क्या कारण है? ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चितः समनुवर्तन्ते मुख्यायाः सर्वसंविदः ।
यथा विपुलवात्यायाः सामान्या वातलेखिकाः ॥ ४७ ॥
परस्परानुसारेण तथारूपेण संविदः ।
कचितास्ताः प्रजापालप्रजावास्तव्यमन्त्रिणः ॥ ४८ ॥
एवंरूपात् कुलाज्जातो राजाऽस्माकमयं त्वसौ ।
कचिता इव वास्तव्यविदो वैदूरथे पुरे ॥ ४९ ॥
कचने चित्स्वभावस्य न च कारणमार्गणम् ।
युक्तं महामणेर्भासामिवाऽन्यत्र स्वभावतः ॥ ५० ॥

सृष्टिकर्ताके संकल्पसे विहित अन्य जीवोंकी प्रतीति प्रधान जीवकी प्रतीतिकी अनुवर्तनी हो, इत्याकारक जो नियति है, वही सबको विदूरथकुलक्रमके एक-सा प्रतीत होनेमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'चितः' इत्यादिसे ।

जैसे छोटे मोटे वायुके झोंके बड़े बवंडरका अनुसरण करते हैं, वैसे ही सब प्रतीतियाँ मुख्य चित्का ही अनुवर्तन करती हैं ॥ ४७ ॥

उसके अनुरूप फल देनेवाला भोक्ताके अदृष्टका संयोग भी उसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'परस्परा०' इत्यादिसे ।

सबका एकरूपसे सम्पादन करनेवाले अदृष्टने इन सब संविदोंका राजा प्रजा, नगरवासी और मन्त्रियोंका परस्परके अनुसार स्फुरण किया है ॥ ४८ ॥

इस प्रकारके उच्च कुलसे उत्पन्न हुआ यह हमारा स्वामी है, राजा विदूरथके नगरके पदार्थ और उनका भोग करनेवाले लोग मानो इस प्रकार स्फुरित हुए थे ॥ ४९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि चित् तो उदासीन है । उसके अध्यस्तपदार्थ-प्रतीतिरूप स्फुरणमें क्या हेतु है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें स्फुरण स्वाभाविक है, जिनका स्फुरण स्वाभाविक नहीं है, उन्हीं विषयोंके स्फुरणमें हेतुका अन्वेषण ठीक है । जैसे उदासीन चिन्तामणिके प्रकाशोंके प्रसारमें हेतुकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उससे विभिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करनेमें ध्यान करनेवाले लोगोंके मनोरथकी विचित्रताकी अपेक्षा है, वैसे ही यहाँ भी है, ऐसा कहते हैं—'कचने' इत्यादिसे ।

अहमेवं कुलाचारे राजा स्यामेवमित्यपि ।
विदूरथविदो रत्नादुहिता प्रतिभा यथा ॥ ५१ ॥
यावन्तो जन्तवो यस्मिन् ये ये सर्गे यदा यदा ।
ते सर्वगत्वात् चिद्धातोरन्योन्यादर्शतां गताः ॥ ५२ ॥
तीव्रवेगवती या स्यात् तत्र संविदकम्पिता ।
सैवाऽऽयाति परं स्थैर्यमामोक्षं त्वेकरूपिणी ॥ ५३ ॥

चित्के स्फुरणके लिए हेतु खोजनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः होता है, जैसे महामणिसे (चिन्तामणिसे) कान्तियोंका प्रसार अपने आप होता है, वैसे ही चित्का स्फुरण भी स्वतः होता है । जिन वस्तुओंका स्फुरण स्वतः नहीं होता जैसे कि चिन्तामणिसे विविध विचित्र पदार्थोंकी प्राप्ति । उसमें प्रार्थी लोगोंके विचित्र मनोरथोंकी अपेक्षा होती है यानी चित्के स्फुरणमें कोई कारण नहीं है, किन्तु विचित्र पदार्थोंके रूपसे स्फुरणमें जीवोंका अदृष्ट कारण है ॥ ५० ॥

पहले तदनुकूल सङ्कल्पवैचित्र्यकी उत्पत्ति भी पूर्वोक्त रीतिसे ही होती है, ऐसा कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

मैं इस प्रकारके कुलाचारमें इस प्रकारका राजा होऊँ, यह जैसे चिन्तामणिसे कान्ति स्वतः निकलती है, वैसे ही विदूरथरूपी जीवचैतन्यसे मनोरथ उत्पन्न हुआ ॥५१॥

जिस जिस सृष्टिमें जब जब जो जो और जितने जीव हुए होंगे और हैं, वे सब चेतनके सर्वव्यापक होनेके कारण अन्योन्यके लिए दर्पणरूप हो गये । भाव यह है कि जैसे दर्पण एक दूसरेके अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्बोंको ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही अनेक जीवचैतन्योंमें समान विषयके आरोपक्रमसे परस्परके अन्तर्गत प्रतिबिम्बग्राहकता आ जाती है ॥ ५२ ॥

ऐसी अवस्थामें बिम्बके रहते प्रतिबिम्ब हटाया नहीं जा सकता, फिर निर्विषतारूप मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'तीव्रवेगवती' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त जीवसंविदोंमें जो ही जीवसंवित्' यानी ब्रह्माकारवृत्ति तीव्र वेगवाली और विषयदोषसे अविचलित होकर मोक्षपर्यन्त एक रूपवाली होती है, वही सर्वोत्कृष्ट परमस्थिरतारूप (ब्रह्मरूपसे स्थिरस्वरूप) मोक्षको प्राप्त होती है अन्य नहीं ॥ ५३ ॥

बलवच्चिद्विलासानामनुवृत्त्या परस्परम् ।
स्वभावाः प्रतिबिम्बन्ति चिदादर्शे स्वभावतः ॥ ५४ ॥
तत्राऽतियत्नाज्जयति सत्याः संविद आत्मसात् ।
कुर्वन्ति सरिदम्भोधिगामिनी सरितो यथा ॥ ५५ ॥
ये समास्तत्र ते तावद्यतन्ते चित्स्वभावतः ।
यावदेको जयत्यत्र द्वितीयः स निमज्जति ॥ ५६ ॥

बलवान् चिद्-विलासोंकी परस्पर अनुवृत्तिसे स्वभाव चित्तरूपी आदर्शमें अपने आप प्रतिबिम्बित होते हैं। जगदाकार अथवा ब्रह्माकारके जीवचैतन्यप्रतिबिम्बित होनेमें तीव्रवेगवत्तारूप बलवान् तत्-तत् आकारके चिद्विलास ही नियामक हैं, यह भाव है ॥ ५४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि यदि ऐसी बात है, तो जगत्के प्रति आकर्षण चिरकालसे अभ्यस्त है, उसीमें तीव्र वेग होगा, ऐसी स्थितिमें मोक्षके प्रति आशा दुराशा ही हो जायगी, इसपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

यह व्यवहारमें सभीको अनुभूत है कि जो वेग किसी प्रकारके प्रयत्नके बिना उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला वेग प्रबल होता है, इसलिए प्रयत्नसे संपादित ब्रह्माकार वेग ही जगदाकार चिद्विलास-पर विजय पाता है। सत्यसंविद् और असत्यसंविद्—इन दोनोंमें सत्यसंवित्में ही प्रबलता दिखाई देती है, अतः ब्रह्माकार संवित् ही जगदाकार वेगको ग्रहण कर लेती है, जैसे सागरगामिनी महानदी अपनी सहायक छोटी-मोटी नदियोंको अपने अधीन कर लेती है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

यदि कोई कहे कि भले ही ब्रह्माकार संवित्की, अतिवेगवत्ता होनेसे, विजय हो, लेकिन जब मन्द अधिकार और मध्य अधिकारवश चित्त स्थिर न होनेसे बीच बीचमें ब्रह्माकारता और विषयाकारताका उदय होगा, तब दोनोंके समबल होनेसे किसीकी भी जयपराजयकी आशा नहीं करनी चाहिए, इसपर कहते हैं—'ये' इत्यादिसे ।

जो अधिकारी उक्त दोनों आकारोंमें समानवेगवाले हैं, वे भी दोनों आकारोंमें सदा समानवेगवाले नहीं रह सकते, किन्तु इन दोनों आकारोंमें

जायमानेषु नश्यत्सु वर्तमानेषु भूरिशः ।
एवं सर्गसहस्रेषु परमाणुकणं प्रति ॥ ५७ ॥
न किञ्चित् केनचिद् व्याप्तं न किञ्चित् केनचित्स्थितम् ।
चिदाकाशमिदं शान्तमतः सर्वमभित्तिमत् ॥ ५८ ॥
अयमाभासते स्वप्नो निर्निद्रो दृष्टिवर्जितः ।
अवश्यंभाविबोधस्तु स्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ५९ ॥
पत्रपुष्पफलांशात्मा यथैकः स्वास्थितो द्रुमः ।
अनन्तसर्वशक्त्यात्मा ह्येक एव तथा विभुः ॥ ६० ॥

जब एक यानी ब्रह्माकार स्थिर होकर उत्कर्षको प्राप्त होता है और दूसरा बाह्याकार विलीन हो जाता है, तब वे लोग श्रवण आदिकी आवृत्तिरूप प्रयत्न करते हैं। तब उन्हें भी क्रमशः अभ्यास बढ़नेसे ब्रह्माकारमें तीव्र वेगका उदय होने एवं विषयाकारके विलीन होनेसे अन्यका विजय सिद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गप्राप्त मोक्षाभावकी आशङ्काका निवारण कर जो विषय छिड़ा था उसीका यानी प्रत्येक जीवमें सम, विषम सकल विचित्रताओंका ही अवलम्बन कर कहते हैं—'जायमानेषु' इत्यादिसे।

उपाधिवश प्राप्त हुई परिच्छिन्नताका अपनेमें आरोप करनेसे परमाणुकणरूप जीवसमूहके प्रति पूर्वोक्त प्रकारकी सम, विषम हजारों सृष्टियोंके भ्रान्तिवश उत्पन्न होनेपर, स्थित होनेपर और विनष्ट होनेपर वास्तवमें किसी जीवरूपी कणको न तो दौड़ धूप करनेसे कुछ वस्तु प्राप्त हुई और न उदासीन होकर बैठे रहनेसे ही कुछ वस्तु अप्राप्त हुई। भाव यह कि जो वस्तु है ही नहीं, वह न तो प्राप्तिके योग्य है और अप्राप्तिके योग्य। अतः (जब कुछ वस्तु है ही नहीं तब) यह सब व्यवधानरहित (निरावरण) शान्त चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ५७, ५८ ॥

यह स्वप्न प्रतीत होता है, ऐसा स्वप्न कि जिसमें विवेकदृष्टिका अभाव है और निद्रा भी नहीं है, इसके अधिष्ठानरूप आत्माका साक्षात्कार होनेपर तो पहले भली भाँति अनुभूत होता हुआ भी यह असन्मय ही हो जाता है ॥ ५९ ॥

विवेकदृष्टिसे प्रपञ्चकी पृथक् सत्ताका अभाव कह कर मायिक दृष्टिसे भी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं—'पत्रपुष्प०' इत्यादिसे।

मातृमेयप्रमाणादिमायात्मकमजं पदम् ।
बुद्धं विस्मृतिमायाति न कदाचन कस्यचित् ॥ ६१ ॥
शून्योदयास्तमयतस्तु तमःप्रकाशं
दिक्कालरूप्यपि सदैकमनादिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं स्थितमच्छमम्बु
सौम्यत्ववीचिवलनाढ्यमिवैकमेव ॥ ६२ ॥
अहन्त्वमित्यादिजगत्स्वरूपा
विशुद्धबोधैकविभा विभाति ।
आकाशकोशे निजशून्यतेव
द्वैतैक्यसङ्कल्पविकल्पनाच्च ॥ ६३ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे प्रयोजनवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

——:*:——

जैसे पत्ते, फूल, फल, शाखा आदि अंशोंसे युक्त वृक्ष एकरूपसे ही स्थित हैं, वैसे ही अनन्त सर्वशक्तिरूप परमात्मा एकरूपसे ही स्थित है ॥ ६० ॥

जीवोंकी दृष्टिसे भी बोध होने तक ही वह भिन्नरूपवाला प्रतीत होता है, बोध होनेपर विस्मृतिके कारणभूत अज्ञानके हट जानेसे वह एकरूप ही रहता है, ऐसा कहते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

बोध होनेतक ही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि मायिक रूपवाला अविनाशी अज पर (परब्रह्म) जब जान लिया जाता है, तब विस्मृतिके हेतु अज्ञानके हट जानेसे फिर कभी किसीको भी विस्मृत नहीं होता, एक अद्वितीयरूपसे प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

भेदके मायासे अवभासित होनेपर भी शुद्धकी वास्तविक एकरूपतासे स्थितिका कोई विरोध नहीं है, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'शून्यो०' इत्यादिसे ।

जैसे निर्मल जल चाहे तरङ्गित हो चाहे निश्चल, दोनों अवस्थाओंमें जलके स्वरूपमें कोई भेद न आनेसे एकरूप ही है, वैसे ही साक्षीरूपसे अज्ञानको प्रकाशित करनेवाला, दिशा और कालरूपी होता हुआ भी परमार्थरूपसे सदा शुद्ध, जिसमें सम्पूर्ण विकारोंके उदय और नाश नहीं रह गये हैं ऐसा आत्मरूप पदार्थ आदि, अन्त और मध्यसे रहित होकर एकरूपसे स्थित है ॥६२॥

केवल विशुद्ध बोधमात्रस्वरूपवाले ब्रह्मकी स्वरूपभूत विभा (प्रकाश)

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहं जगदिति भ्रान्तिः परस्मात् कारणं विना ।
यथोदेति तथा ब्रह्मन् भूयः कथय साधु मे ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्ताः समतैवाऽन्ताः संविदो बुध्यते यतः ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वात्मकमजस्ततः ॥ २ ॥

ही जैसे आकाशमें उसकी अपनी शून्यता (आकाशकी शून्यता) ही तल-मलिनता, मोतियोंके समूहरूप, बालोंके वर्तुलाकर गोलेकी आकारता और बड़े-बड़े कड़ाहोंकी आकारतासे प्रतीत होती है, वैसे ही द्वैत और ऐक्यविषयक सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मनसे और उसके मूलभूत अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि वश 'अहं मम त्वं तव' इत्यादि जगत्के रूपसे प्रतीत होती है ॥ ६३ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त ।

इकसठवाँ सर्ग

[तत्त्वज्ञानप्राप्तिरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिए एवं जगत्के पदार्थोंमें वैराग्य होनेके लिए सृष्टिकी असारता और असत्यताका अन्यान्य युक्तियों द्वारा वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, परब्रह्मको मैं देह हूँ, इत्याकारक अहंभावसे रहित देहमें अहंभावके कारणके बिना भी 'अहम्' ऐसी भ्रान्ति और परमाणु तथा क्षणके मध्यमें इस जगत्की, जो कि बड़ा विस्तृत और चिरकालव्यापी प्रतीत होता है, स्थितिका कोई कारण नहीं है, फिर भी उसमें 'जगत्' ऐसी भ्रान्ति जैसी कल्पना और युक्तिसे उदित होती है, उसे आप मुझसे फिर ऐसे ढंगसे कहिये कि मेरी समझमें आ जाय । यद्यपि 'महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं वपुः' इत्यादिसे इसे आप कह चुके हैं, तथापि जिन युक्तियोंके द्वारा ठीक ठीक समझमें आ जाय, उन युक्तियोंसे फिर मुझसे कहिये, यह भाव है ॥ १ ॥

जितनी भी भ्रान्तियाँ हैं, वे सब स्वरूपचैतन्यके मध्यमें सन्निविष्ट हैं, इसी मुख्य युक्तिको पहले श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'समस्ताः' इत्यादिसे ।

सर्वा हि शब्दार्थदृशो ब्रह्मैवैताः पृथङ्न तत् ।
सर्वार्थशब्दार्थकलारूपमासां न विद्यते ॥ ३ ॥
कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न सम्भवत्येवं न जगत् पृथगीश्वरात् ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूंकि बोद्धा सब प्रकारकी सकल भ्रान्तियोंको स्वरूपचैतन्यके ही अन्दर स्थित सदा जानता है, कभी भी उससे अतिरिक्त कोई भी भ्रान्तियाँ नहीं हैं, अतः सब सर्वात्मक ही है। वह समता ही है। सबके सर्वात्मक होनेपर तनिक भी विषमता शेष नहीं रहती। जब विषमता नहीं है, तब जन्म आदि विकारोंकी उपपत्ति कहाँ ? इसलिए अज (परमात्मा) ही वस्तुतः है, इस कारण जगत्की भ्रान्ति बिना कारण हुई है, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही कहा, यह भाव है ॥ २ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि चैतन्यके अन्दर प्रतीत होनेमात्रसे सब पदार्थोंकी सर्वात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ? उसका उत्तर यह दिया जाय कि एकमात्र चित्के (चैतन्यके) तादात्म्यसे पदार्थोंका स्फुरण होता है, अतः सब पदार्थ सर्वात्मक (चैतन्यात्मक) हैं, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि घटज्ञान, पटज्ञान इस प्रकार विभिन्न विषयोंके तादात्म्यसे चैतन्यमें भी भेदज्ञान होता है, अतः वह भी भिन्न हो जायगा, इस आशङ्काके समाधानके लिए कहते हैं—'सर्वा हि' इत्यादिसे।

चित्का भेद नहीं है। सब बोध, चाहे वे अर्थोंके हों चाहे शब्दोंके, ब्रह्म ही हैं। चित् भी ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है। विषयनिष्ठ भेदके सम्बन्धसे चित्में भेद प्रतीत होता है, विषयका निस्सारण होनेपर चित्में भेद नहीं रहता।

शङ्का—उक्त अनुभवमें विषयाकारताकी प्रतीति होती है, अतः उसमें विषयके तुल्य भेद क्यों नहीं होता ?

समाधान—सम्पूर्ण विषयरूप शब्दार्थ और उनके अवयवरूप जो तत्-तत् आकार हैं, वे बोधोंके नहीं हैं, क्योंकि चित्में जड़ आकारके रहनेमें कोई युक्ति नहीं है। जो आकार अनुभवमें आता है, वह वृत्तिका ही है; बोधोंका नहीं, यह तात्पर्य है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चिद्में भेदका निरास होनेपर जड़के भेदका निरास करना

एष एव जगद्रूपं जगद्रूपं तु नेश्वरे।
हेमैव कटकादित्वं कटकत्वं न हेमनि॥ ५ ॥
यथाऽवयविनो रूपमनेकावयवात्मकम् ।
तथाऽनवयवायास्तु चितः सर्वात्मकं च यत्॥ ६ ॥

भी कठिन नहीं है, क्योंकि जड़ भेदकी सत्ता और स्फूर्ति चित्से अतिरिक्त नहीं है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—**'कटकत्वम्'** इत्यादिसे।

जैसे कटकता सुवर्णसे पृथक् नहीं है और जैसे तरङ्गता जलसे पृथक् नहीं है, वैसे ही जगत् भी ईश्वरसे पृथक् नहीं है॥ ४ ॥

जगत्के चित्से अभिन्न होनेपर भी यदि कोई प्रश्न करे कि कारणके बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ उसके उत्तरमें यही कहना होगा कि जैसे कटक आदिका कनक कारण है, वैसे ही जगत्का कारण चित् है, इस शङ्कापर कहते हैं—**'एष एव'** इत्यादिसे।

ईश्वर (चित्) ही जगद्-रूप हुआ है, यह जगत् ईश्वरका विवर्त है। यदि जगत्का ईश्वरसे भेद होता, तो जगत्के प्रति ईश्वर कारण होता। अत्यन्त अभेद होनेपर तो ईश्वर उसके प्रति कारण नहीं हो सकता, यह भाव है।

शङ्का—तो क्या जगद्रूप ही ब्रह्म (चित्) है।

समाधान—नहीं, ईश्वरमें जगद्रूप ही नहीं है। भाव यह कि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार कटक, कुण्डल आदि भी सुवर्णात्मक ब्रह्मके विवर्त ही हैं, सुवर्णमें कटक आदि पृथक् नहीं हैं, क्योंकि विवर्तकी पृथक् सत्ता नहीं होती, यह ऊपर कहा गया है॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि एककी अनेकात्मतामें विरोध होगा, तो उसपर समानसत्तावाले अनेक अवयवोंके साथ एक अवयवीका समानसत्तावाला तादात्म्य लोकमें जब विरुद्ध नहीं है, तब कल्पित (न कि वास्तविक) अनेकोंसे वास्तविक ब्रह्मैक्य अविरुद्ध है, इसमें तो कहना ही क्या! इस आशयसे कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे अनेक अवयवोंका समुदायभूत अवयवीका रूप लोकमें अविरुद्ध है, वैसे ही अनवयवभूत यानी नित्य चित्की एकात्मता कल्पित अनेक रूपोंसे अविरुद्ध है। एकात्मा होनेपर सबको सर्वात्मताका लाभ होनेसे अनेकता हट जाती है, इससे भी विरोधाभाव ही है॥ ६ ॥

यत्तुल्यकालमखिलं तन्मात्रावेदनं परे ।
अन्तस्थं तदिदं भाति जगदित्यहमित्यपि ॥ ७ ॥
लेखौघानां यथा भेदसन्निवेशः शिलोदरे ।
तथाऽनन्यज्जगदहं चेत्यन्तश्चिद्घने घनम् ॥ ८ ॥
स्थितास्तरङ्गाः सलिले यथान्तरतरङ्गिते ।
सृष्टिशब्दार्थरहितास्तथाऽन्तः सृष्टयः परे ॥ ९ ॥
न सर्गे तिष्ठति परं सर्गस्तिष्ठति नो परे ।
अवयवावयविवत् सत्ताऽनवयवैस्तयोः ॥ १० ॥

तो सबके अनुभवसे सिद्ध 'जगत्' और 'अहम्' ऐसी भेदप्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

सब प्राणियोंमें अन्दर स्थित समानकालिक जो ब्रह्मस्वरूपमात्रका अज्ञान है, वही परम ब्रह्ममें 'जगत्' और 'अहम्' इस प्रकार भेदसे प्रतीत होता है यानी यह भेदप्रतीति अज्ञानकल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥ ७ ॥

जैसे स्फटिकशिलाके भीतर, भेद न होनेपर भी प्रतिबिम्बित वन-पङ्क्तियोंकी स्थिति विरुद्ध नहीं है, वैसे ही चिद्घन परब्रह्ममें उससे अभिन्न 'जगत्' और 'अहम्' भेदप्रतीति विरुद्ध नहीं है। भाव यह कि स्फटिकशिलामें प्रतिबिम्बरूप वनपंक्तियां स्फटिकशिलासे अतिरिक्त नहीं हैं, फिर भी भेदेन उनका सन्निवेश उनमें प्रतीत होता है, जिसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है, वैसे ही ब्रह्माभिन्न ही यह जगत् ब्रह्ममें भेदेन प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

जैसे तरङ्गशून्य जलके अन्दर तरङ्गें स्थित हैं, वैसे ही सृष्टिशब्दार्थसे शून्य परब्रह्मके अन्दर सृष्टियां स्थित हैं ॥ ९ ॥

यदि किसीको यह जिज्ञासा हो कि जैसे विलीन तरङ्गें महाजलमें अवयव-रूपसे रहती हैं अथवा अवयवी समवायसम्बन्धसे अवयवोंमें रहता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगत्की स्थिति तो नहीं है ? इसपर कहते हैं—**'न सर्गे'** इत्यादिसे ।

न तो सृष्टिमें समवायसम्बन्धसे परब्रह्म रहता है और न सृष्टि ही अवयव-रूपसे परब्रह्ममें रहती है। वास्तवमें अवयव और अवयवीमें भी परस्परकी आधारता उपपन्न नहीं होती है। विचार कीजिए, अवयवोंमें समवायसम्बन्धसे रहता हुआ अवयवी प्रत्येक अवयवमें सर्वांशसे रहता है अथवा कतिपय अवयवोंको

चिद्रूपेण स्वसंवित्त्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते ।
स्वमेव रूपहृदयं वातेन स्पन्दनं यथा ॥ ११ ॥

तत्कालमेष शब्दाणुश्चिचमत्काररूपधृक् ।
चेतते खमिवैवान्तः सङ्कल्प इव चेतसा ॥ १२ ॥

लेकर ? प्रथम पक्षमें प्रत्येक अवयवमें अलग-अलग अनेक अवयवी हो जायँगे । ऐसी स्थितिमें गायके कानमें भी सम्पूर्ण गौ रहेगी, अतः उसके दोहन आदि कार्य होने लगेंगे और अवयवोंका विश्लेषण होनेपर भी अवयवीका जातिके समान नाश नहीं होगा । दूसरे पक्षमें अनवस्थासे अनन्त अवयव होनेके कारण मेरु और सरसोंमें साम्य हो जायगा । तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक अवयवमें कुछ अवयवोंको लेकर अवयवी रहता है, ऐसा यदि माना जाय, तो जिन अवयवोंको लेकर वह रहेगा, उन अवयवोंमें भी कतिपय अवयवोंके साथ अवयवीका सद्भाव मानना पड़ेगा, फिर उन उन अवयवोंमें भी मानना होगा, ऐसी स्थितिमें अनवस्थित अनन्त अवयव मानने होंगे, फलतः मेरु और सर्षपमें समान परिमाणकी प्रसक्ति होगी, क्योंकि दोनोंके अवयव अनन्त हैं । इसी प्रकार अवयव भी अवयवीमें क्या एक भागमें रहते हैं या सर्वांशमें ? पहले पक्षमें अनवस्था दोष होगा । द्वितीय पक्षमें अन्य अवयवोंका समावेश न होनेसे तथा अद्वितीय ब्रह्ममें अवयवोंका सम्बन्ध नहीं होनेसे सम्पूर्ण द्रव्योंकी निरवयवत्वापत्ति हो जायगी, इसलिए अवयव और अवयवीकी अनवयवोंसे ही यह सत्ता है, यह सिद्धान्त है ॥ १० ॥

दृष्टि-सृष्टिवादके उपपादनक्रमसे भी जगत्की चित्से अभिन्नताका अनुभव करा रहे श्रीवसिष्ठजी यद्यपि चैतन्य निष्क्रिय (व्यापारशून्य) है, तथापि अविद्यामें उसके प्रतिबिम्बित होनेसे वह अन्यथा अपनी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं— 'चिद्रूपेण' इत्यादिसे ।

परमार्थ चिद्रूप ब्रह्म, दर्पणमें आँखोंका प्रतिघात होनेसे अपने मुँहकी नाईं, अविद्यामें प्रतिबिम्बित अपनी संवित्से अपने चिन्मात्रस्वरूप प्रपञ्चके रहस्यभूत अज्ञानावृत अपने स्वरूपकी ही ऐसी कल्पना करता है, जैसे कि वायु अपनेमें स्पन्दकी कल्पना करता है ॥ ११ ॥

उसी समय अपने कारणमें लीन हुए शब्दतन्मात्रका आकाशरूपसे आविर्भाव होता है, ऐसा कहते हैं—'तत्काल०' इत्यादिसे ।

तदेवाऽनिलतां वेत्ति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तर्गतस्पर्शरसां पवनः स्पन्दतामिव ॥ १३ ॥
तदेवाऽऽभासतामेति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
कोशस्थितालोकलवां तेजः प्रकटतामिव ॥ १४ ॥
तदेव जलतां याति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तःस्थितास्वादलवां सलिलं द्रवतामिव ॥ १५ ॥
तदेवाऽवनितां वेत्ति स्वचित्तैकात्मतामयीम् ।
अन्तःस्थगन्धतन्मात्रामुर्वी स्थैर्यकलामिव ॥ १६ ॥

यह शब्दतन्मात्र, जो पहले अपने कारणमें लीन था, सर्वशक्तिमती मायासे संवलित ब्रह्मरूपको धारण कर चित्तसे अन्तःकरणमें उसी क्षणमें संकल्पके समान चिद्रूप आकाशके तुल्य स्फुरित होता है, वही आकाशकी उत्पत्ति है ॥ १२ ॥

वही (आकाशताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपनेमें स्वसत्तात्मक वायुताका, जिसके अन्दर स्पर्शतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध हो गया, ऐसे अनुभव करता है, जैसे कि पवन अपनेमें स्वयं स्पन्दताका (स्पन्दनक्रियाका) अनुभव करता है ॥ १३ ॥

पवनात्माको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनी सत्तात्मक तेजस्ताको, जिसके मध्यमें तेजस्तन्मात्रका उन्मेष हो चुका, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे कि तेज स्वयं प्रकटताको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

तेजस्ताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं निजसत्तात्मक जलताको, जिसके अन्दर रसतन्मात्र स्थित है, ऐसे प्राप्त होता है, जैसे जल स्वयं द्रवताको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जिस क्षणमें नेत्रोंके पलक खोलते हैं, उसी क्षणमें तुरन्त ही जगत्का भान होता है । इस भानमें आरोपक्रमकी प्रतीति नहीं होती, ऐसी अवस्थामें दृष्टिसृष्टिकी उपपत्ति कैसे ? इसपर कहते हैं— 'तुल्यकाल०' इत्यादिसे ।

यह चित्का चमत्कार ऐसा है कि इसकी प्रतीति कांटेमें जोखे हुएकी नाईं कठिनाईसे लक्ष्य करनेयोग्य निमेषके लाखवें हिस्सेके तुल्य है, इस तरहका भी जो संवित्का जगदाकार स्फुरण है, वह करोड़ों कल्पोंतक रहनेवाली

तुल्यकालनिमेषांशलक्षभागप्रतीति यद् ।
निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा ॥ १७ ॥
शुद्धं सकृत्प्रभातान्तर्दृश्यमध्यमनामयम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं ब्रह्म तिष्ठत्यनिष्ठितम् ॥ १८ ॥
बुद्धं सदपवर्गं तत् ससर्गमपि सत्समम् ।
अबुद्धं सर्गरूपात्मविसर्गमपि तत् सदा ॥ १९ ॥
चिद्ब्रह्म यद्यथा येन बुध्यते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तत्तत्तथा नु भवति सर्वं सर्वाङ्गशक्तिमत् ॥ २० ॥

सृष्टियोंकी परम्परा बन जाता है । चित्के स्फुरणमें कालसे अपरिच्छिन्न निमेषके लक्षतम (लाखवें) हिस्सेका आरोप अथवा करोड़ों कल्पोंका आरोप मायिक है, इसलिए वास्तविकमें उसमें कोई विरोध नहीं है, यों आरोपक्रमकी कल्पना हो सकती है, यह भाव है ॥ १७ ॥

जो अशुद्ध, जड़, देश और कालसे परिच्छिन्न, दोषयुक्त, उत्पत्तिविनाश-शील और कालमें स्थित है, वह कालसे परिच्छिन्न होता है, ब्रह्म तो ऐसा है नहीं, इसलिए कहते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

एक बार प्रकाशित न कि बीच बीचमें रुक रुककर प्रकाशित यानी नित्य स्वप्रकाश, सृष्टि और प्रलय जिसके अन्तर्गत हैं, जन्म और विनाशसे रहित तथा विक्रिया आदि दोषशून्य ब्रह्म निराधार स्थित है ॥ १८ ॥

यदि कोई कहे कि उसके मध्यमें यदि सृष्टि और प्रलय निहित हैं, तो अपवर्ग भी सृष्टियुक्त या प्रलययुक्त, यों विविध प्रकारका होना चाहिए, एक प्रकारका नहीं, इसपर कहते हैं—'बुद्धम्' इत्यादिसे ।

परमार्थ सत्य वस्तुके ज्ञात होनेपर अपवर्ग होता है । उक्त परमार्थ वस्तु सृष्टियुक्त होनेपर भी विषमतासे रहित ही है । यदि उसका परिज्ञान न हो, तो परमार्थतः सृष्टिशून्य भी वह सृष्टिरूप होती है ॥ १९ ॥

चैतन्यरूप जो ब्रह्म है, उसको बोद्धा लोग अपने आत्मरूपसे अपनेमें जैसा जैसा जानते हैं, वैसा-वैसा यानी उस-उस प्रकारका वह ब्रह्म आत्मामें होता है यानी मायासे तत्-तत् सब आकारोंको धारण करता है, क्योंकि वह सर्वानुगुण मायारूप शक्तिसे युक्त है ॥ २० ॥

तत् सत्यं चिद्विलासत्वात् नित्यानुभवरूपतः ।
तदसत्यं मनःषष्ठात् सर्वाख्या निर्गतं यतः ॥ २१ ॥
यथैतत् सरणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे ।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवाऽपि च ॥ २२ ॥
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे ।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ २३ ॥
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि ।
यथा वर्णा मषीकल्के तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ २४ ॥

जगत् भी यदि शास्त्रीय चिद्विलासरूप दृष्टिसे देखा जाय, तो परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है । ब्रह्म भी यदि बहिर्मुख चक्षु आदि और मनसे उत्पन्न वृत्तिसे देखा जाय, तो असत्य जगत् ही है, ऐसा कहते हैं—'तत्सत्यम्' इत्यादिसे ।

यदि जगत् परमार्थदृष्टिसे देखा जाय, तो चिद्का विलास होनेसे तथा नित्यानुभवरूप होनेसे वह सत्य ही है । यदि ब्रह्म भी मनसे संयुक्त ज्ञानेन्द्रियोंसे देखा जाय, तो वह भी असत्य ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण नामोंको प्राप्त हुआ है । भाव यह है कि वाणीके अगोचर ब्रह्मका वाणीका गोचर वह रूप सत्य नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

जैसे वायुमें चलन चलनसे पहले असत्के तुल्य वायुमें आविर्भाव होनेसे सत्के तुल्य स्थित है, चलनके समय वायुकी सत्ताका परिज्ञान होनेसे सत्य वायुमें केवल स्थिरतासे रहनेके कारण असत्य-सा स्थित रहता है, वैसे ही यह सृष्टि भी असत्रूप मूलाज्ञानमें अधिष्ठानसत्तासे सत्कल्प तथा सत्य भी अधिष्ठानमें असत्य मायारूप होनेसे असत्य-सी स्थित है ॥ २२ ॥

जैसे तेजके अन्दर आलोकता (चमक) अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्ममें असत्यरूप विश्वकी शोभा सत्य प्रतीत होती है ॥ २३ ॥

जैसे खिलौना बनानेके लिए तयार की गई गीली मिट्टीमें न बनाये गये खिलौने रहते हैं, जैसे खिलौने बनानेके लिए प्रस्तुत काठमें खिलौने स्थित हैं और जैसे स्याहीके चूर्णमें अक्षर स्थित रहते हैं, वैसे ही परब्रह्ममें सृष्टियां स्थित हैं ॥ २४ ॥

अनन्याऽन्येव कचति ब्रह्मतत्त्वमरुस्थले ।
असत्यात्मनि सत्येव त्रिजगन्मृगतृष्णिका ॥ २५ ॥
ब्रह्मणा चिन्मयेनाऽऽत्मा सर्गात्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चाऽनन्यत्वाद् बीजेनाऽन्तरिव द्रुमः ॥ २६ ॥
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च ।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च ॥ २७ ॥
स्थितोऽनन्यो यथाऽन्यः सन्नाऽस्ति तत्र तथाऽऽत्मनि ।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत् ॥ २८ ॥
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम् ।
तदकारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते ॥ २९ ॥
वासनाचित्तजीवादिवेदनं वेदनोदितम् ।
नोदेत्यवेदनादेव यतनादेव पौरुषात् ॥ ३० ॥

ब्रह्मतत्त्वरूपी मरुभूमिमें त्रिजगत्‌रूपी मृगतृष्णा यद्यपि असत्य है, फिर भी मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है यानी जैसे मरुभूमिमें मृगतृष्णा अनन्य (अभिन्न) होती हुई भी अन्य-सी स्फुरित होती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्वमें असत्य भी यह त्रिजगत् सत्य प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

भ्रमवश चिदाभासरूप जीव बना हुआ ब्रह्म सर्गको ही अपना आत्मा जानता है और तत्त्वदृष्टिसे परब्रह्मसे अनन्य (अभिन्न) होनेके कारण नहीं जानता है, जैसे कि बीज अपने अन्दर स्थित वृक्षको नहीं जानता ॥ २६ ॥

जैसे दूधमें मिठास, मिर्चेमें कड़ुवापन, पानीमें तरलता (द्रवता) और वायुमें चलन अभिन्नरूपसे रहता है, वैसे ही परमात्मामें यह असत् विनाशिस्वरूप सर्ग चिद्रूप होकर स्थित है । यद्यपि यह परमात्मासे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भिन्न-सा लगता है ॥ २७, २८ ॥

परब्रह्मरूपी सर्गका जगत्‌के रूपसे जो स्फुरण हुआ है, वह अकारण है, इसलिए वह ब्रह्मरूपी मणिसे भिन्न नहीं है ॥ २९ ॥

यदि यह जगत् अकारण ही है, तब तो उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'वासना' इत्यादिसे ।

वासना, चित्त, जीव आदिका अनुभव उत्पन्न हुआ है ।

शङ्का—उसके उदय न होनेका क्या उपाय है ?

नाऽस्तमेति न चोदेति क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तमजं ब्रह्म चिद्घनं सुशिलाघनम् ।। ३१ ।।
पराणुं प्रति सर्गौघाश्चित्त्वाद् भ्रान्तिसहस्रशः ।
तेष्वप्यणावणावन्तः कैवाऽत्रावासना कथम् ।। ३२ ।।
यथा जलान्त ऊर्म्याद्या गुप्तागुप्ताश्च शक्तयः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताद्यास्तथा जीवेऽन्तरा स्थिताः ।। ३३ ।।
जाता चेदरतिर्जन्तोर्भोगान् प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ।। ३४ ।।

समाधान—मनका नाश होनेसे वह उदित नहीं होता यानी मनोनाश ही उसके अनुदयका हेतु है ।

शङ्का—मनोनाश कैसे होता है ।

समाधान—मनोनाश ज्ञानयोगमें दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्नसे होता है ।।३०।।

कोई भी वस्तु कहीं भी और कभी भी न तो पैदा होती है और न नष्ट होती है । सब शान्त अविनाशी चिद्घन शिलाके समान ठोस ब्रह्म ही है, इस श्लोकसे अभिनयपूर्वक ज्ञानयोगका आकार दर्शाया ।। ३१ ।।

जब तक चित्त रहेगा, तब तक परमाणुके पेटमें भी सृष्टिकी परम्पराका निवारण नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं—**'पराणुम्'** इत्यादिसे ।

परमाणुमें चित्तसे भ्रान्तिमय हजारों सृष्टियोंके समूहके समूह उत्पन्न होते हैं, उनमें भी प्रत्येक परमाणुमें सृष्टियां होती हैं, पर परमाणुके अन्दर सृष्टियोंके समूहकी समावेशपूर्वक स्थिति कैसे हो सकती है ? यानी परमाणुके अन्दर सृष्टियोंके समूहकी स्थिति असंभव है । वह कभी किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, अतः मिथ्या ही है, यह अर्थ है ।। ३२ ।।

अनिर्वचनीय मायाशक्तिके रूपसे स्थिति तो तरङ्ग आदि दृष्टान्तमें भी समान है, ऐसा कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे जलके भीतर तरङ्ग आदि गुप्त और अगुप्त रहते हैं, वैसे ही जीवमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियां भीतर स्थित हैं ।। ३३ ।।

यदि पुरुषकी भोगोंके प्रति तनिक भी अरुचि हो गई, तो वह उतनेसे ही ऊँचे पदको प्राप्त हो गया, ऐसा श्रुति कहती है ।। ३४ ।।

यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ।
अतोऽहमित्यसंविदन्क एति जन्मसंविदम् ॥ ३५ ॥
चितिं परापरामजामरूपिकामनामिकाम् ।
चराचराधरामयीं विदन्ति ये जयन्ति ते ॥ ३६ ॥
परे चितिः स्वप्रकटाद्वितीया
स्वावर्तलेखेव जले द्रवाऽन्तः ।
साहं तयेमानि जगन्ति धत्ते
न सन्ति नाऽसन्ति परात्मकानि ॥ ३७ ॥
अहंमयी पद्मजभावना चित्
सङ्कल्पभेदाद्वितनोति विश्वम् ।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोट्यंशविधौ युगान्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगत्-
स्वरूपवर्णनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

——※——

स्मृतिको भी उद्धृत करते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

पुरुष जैसे-जैसे विरक्त होता है वैसे-वैसे मुक्त होता है, इसलिए (ज्ञान-वैराग्यकी दृढ़तासे) 'अहम्' इस प्रकार देह आदिका ज्ञान न करता हुआ यानी उनको न देखता हुआ कौन जन्ममरण भ्रान्तिको प्राप्त होगा, कोई भी नहीं ॥ ३५ ॥

जो लोग परा (ईश्वरचैतन्यरूप) अपरा (जीवचैतन्यरूप) क्रमशः ईश्वरचैतन्यरूप परा चितिको नामरूपात्मक जगत्कल्पनारूप उपाधिसे रहित और जीवचैतन्यरूप अपरा चितिको चराचर देह आदिरूप निकृष्ट उपाधियोंसे शून्य और जन्म आदि विकारोंसे शून्य जानते हैं, वे संसारपर विजय पाते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

परब्रह्ममें व्यष्टि जीवरूप प्रकट अद्वितीय 'चिति' ऐसे रहती है, जैसे द्रवभूत जलके अन्दर आवर्तकी रेखा रहती है, वही अहंकारसे युक्त होकर इन जगतोंको धारण करती है, परमात्मामें न तो जगत् सद्रूप है और न असद्रूप है । व्यष्टिके

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ १ ॥
तेष्वप्यन्तस्तथैवाऽन्तः परमाणुकणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताऽहो इयमित्यवभासते ॥ २ ॥

तुल्य समष्टिमें भी अहङ्कार और संकल्पसे—इन दोनोंके कारण ही—अपने भीतर संसारकी कल्पना होती है, ऐसा दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'**अहंमयी**' इत्यादिसे ।

अहङ्कारमयी पद्मयोनिकी भावनारूपी चिति संकल्पके भेदसे जगत्की रचना करती है ।

शङ्का—समष्टि चितिमें व्यष्टि चितिकी अपेक्षा क्या विशेष है ?

समाधान—समष्टिचिति हम लोगोंके समान बहिर्मुख नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख ही है, अनन्त (विष्णु) भगवान्के निमेषके करोड़वें हिस्सेरूप कालमें युगान्तरूप (बहत्तर हजार यानी सात करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षरूप) अपनी आयुका अनुभव करती है, अहो माया क्या नहीं कर सकती ॥ ३७ ॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त



बासठवाँ सर्ग

[पहले जगत्की भ्रान्तिमात्रताका वर्णन तदुपरान्त जीवन्मुक्ति आदिकी सिद्धिके लिए महानियतिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, परमाणुके लाखवें हिस्सेकी कल्पनामें हजारों ब्रह्माण्ड और निमेषके लाखवें हिस्सेकी कल्पनामें हजारों कल्प दिखाई दे रहे इस ब्रह्माण्डके समान ही सर्वथा सत्य-से प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥

उनमें भी हर एकके अन्दर प्रत्येक परमाणुमें इसी प्रकारकी[1] ब्रह्माण्डकल्पना और कल्प-कल्पना होती है, फिर उनके अन्दर इस प्रकार इस कल्पनाकी कहीं

वहन्तीमाः पराः सत्ताः शान्ता सर्गपरम्पराः ।
सलिलद्रवतेवाऽन्तः स्फुटावर्त्तविवर्तिका ॥ ३ ॥
मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ ४ ॥
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत् सङ्कथेहापुराद्रिवत् ।
सङ्कल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

एकात्मैकतयैवं हि जाते सम्यग्विचारणात् ।
निर्विकल्पात्मविज्ञाने परे ज्ञानवतां वर ॥ ६ ॥

समाप्ति नहीं है, यह अनन्त है, अतएव यह भ्रान्ति ही है, वह भ्रान्ति ही जगद्रूपसे भासित हो रही है ॥ २ ॥

वर्तमान, आनेवाली और अतीत सृष्टि-परम्पराएँ, जैसे जलराशि अपने अन्दर आवर्तोंकी परम्पराओंको धारण करती है तथा बहती है वैसे ही प्रातिभासिक सत्ताको धारण करती हैं और बहती हैं ॥ ३ ॥

इस महामरुरूपी जगत्में जैसे मरुभूमिमें तटवर्ती वृक्षों और लताओंसे गिरे हुए फूलोंकी कतारसे भरी हुई मिथ्या नदी प्रतीत होती है, वैसे ही सृष्टि शोभा भी मिथ्या ही है यानी मरुभूमिमें पहले जलनदी ही मिथ्या है फिर उसके तटवर्ती वृक्ष और लताएँ एवं उनके द्वारा बरसाये गये फूलोंका समुदाय कहाँ ! सारीकी सारी परम्परा मिथ्या है, वैसे ही यह सृष्टिशोभा भी मिथ्या परम्पराओंसे पूर्ण है ॥ ४ ॥

स्वप्न और इन्द्रजालके नगरके तुल्य, औपन्यासिक नगर और पर्वतके तुल्य, मनोरथसे कल्पित पुर और पर्वतके सदृश अथवा संकल्पके तुल्य असत्य ही यह सृष्टियोंके अनुभवकी भूमि प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञान होनेसे सम्पूर्ण भ्रान्तियोंके निवृत्त होनेपर तत्त्वज्ञानियोंकी देह-स्थितिका संभव नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'**एकात्मैकतया**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ, पूर्वोक्त प्रकारके सम्यग् विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके अभेदसे निर्विकल्पक आत्मज्ञान होनेपर तत्त्वज्ञानियोंके भी

किमर्थमिह तिष्ठन्ति देहास्तत्त्वविदामपि ।
दैवेनैव समाक्रान्ता दैवमत्र च किं भवेत् ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्तिः स्पन्दरूपिणी ।
अवश्यभवितव्यैकसत्ता सकलकल्पगा ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम् ॥ ९ ॥
महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ॥ १० ॥

शरीर यहांपर किसलिए रहते हैं। यदि कहिये दैवसे आक्रान्त राजा बलि आदिके समान वे यहां रहते हैं, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानियोंके ऊपर दैवकी क्या दाल गल सकती है, क्योंकि 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (तत्त्वज्ञानी पुरुषका अकल्याण करनेमें देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह देवताओंका आत्मभूत ही है) यह श्रुति तत्त्वज्ञानीके विषयमें देवताओंकी असामर्थ्य कहती है। कृपया बतलाइए कि उनके शरीरोंकी स्थितिमें कौन प्रबल कारण है ? ॥ ६, ७ ॥

प्राणियोंकी अदृष्ट शक्तिको साथ लेकर ईश्वरसंकल्परूप महानियति ही जैसे सम्पूर्ण व्यवहारोंकी व्यवस्था करती है, वैसे ही वही विद्वानोंके शरीरकी भी स्थितिमें कारण होती है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अस्तीह' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, यहांपर सम्पूर्ण जगत्के सुव्यवस्थित व्यवहारसे रूपवती-सी ब्राह्मी चित्शक्ति है, जिसे नियति कहते हैं, वह अवश्यम्भाविनी और सम्पूर्ण कल्पोंमें रहनेवाली है ॥ ८ ॥

वह महानियति कबसे है और कैसा उसका रूप है ? इसपर कहते हैं—'आदिसर्गे' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदिमें (अग्नि आदिको) इस प्रकारसे (ऊष्णता, ऊर्ध्वज्वलन आदि स्वभावसे) सदा रहना चाहिए यों परमात्मा ही स्वयं संकल्पात्मवृत्तिरूप पदार्थवैचित्र्यको अप्रतिहतरूपसे प्राप्त होता है, वही नियति है ॥ ९ ॥

वही नियति परमात्मासे अभिन्न होनेसे सम्पूर्ण जगतोंकी स्थिति, प्रकाश-

महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता ।
महास्पन्द इति प्रौढ़ा महात्मैकतयोदिता ॥ ११ ॥
तृणानीव जगन्त्येवमिति दैत्याः सुरा इति ।
इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृतास्थितिः ॥ १२ ॥
कदाचिद् ब्रह्मसत्ताया व्यभिचारोऽनुमीयते ।
चित्रमाकाशकोशे च नाऽन्यथा नियतेः स्थितिः ॥ १३ ॥
विरिञ्च्याद्यात्मभिर्बुद्धैर्बोधायाऽविदितात्मनाम् ।
ब्रह्मात्मैव सा नियतिः सर्गोऽयमिति कथ्यते ॥ १४ ॥
अचलं चलवद्दृष्टं ब्रह्माऽऽपूर्य व्यवस्थितः ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्गो वृक्ष इवाऽम्बरे ॥ १५ ॥

सामर्थ्य, विवेक, क्रिया, जन्म, अर्थक्रिया आदिकी हेतु होनेसे क्रमशः महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द नामोंसे कही जाती है ॥ १०, ११ ॥

सब जगत् इस प्रकार तृणोंके समान परिवर्तित होते हैं, क्रूरस्वभाववाले दैत्य, सौम्य आकारवाले देवता, विशालाकार पर्वत, सर्प आदि यों उसने कल्पपर्यन्त व्यवस्था कर रक्खी है ॥ १२ ॥

परमार्थ दृष्टिसे ब्रह्मसत्ताके समान व्यवहारमें वह भी अव्यभिचरित है, ऐसा कहते हैं—'कदाचिद्' इत्यादिसे ।

यद्यपि ब्रह्मसत्ताका व्यभिचार और आकाशमें चित्रलेखन अत्यन्त असंभावित है तथापि उसका कभी (अज्ञानावस्थामें) अनुमान हो सकता है, परन्तु नियतिकी स्थिति विपरीत हो, इसका तो अनुमान करना भी संभव नहीं है ॥ १३ ॥

यह बात व्यावहारिक दृष्टिसे कही गई है, तात्त्विक दृष्टिसे तो ब्रह्म, नियति और सर्गशब्दके अर्थमें कोई भेद नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'विरिञ्च्या०' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी विरञ्चि आदि अज्ञानियोंके बोधके लिए ब्रह्म ही वह नियति और यह सर्ग है, ऐसा कहते हैं ॥ १४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ब्रह्म अचल है और सृष्टि चञ्चल है, इसलिए उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है ? उसपर कहते हैं—'अचलम्' इत्यादिसे ।

अनया पौरुषी सत्ता सत्ताऽस्याः पौरुषेण च ।
लक्ष्यते भुवनं यावत् द्वे एकात्मतयैव हि ॥ २१ ॥
नरेण पौरुषेणैव कार्ये सत्तात्मके उभे ।
ईदृश्येतेन नितिरेवं नियतिपौरुषे ॥ २२ ॥
प्रष्टव्योऽहं त्वया राम दैवपौरुषनिर्णयः ।
मदुक्तं पौरुषं पाल्यं त्वयेति नियतिः स्थिता ॥ २३ ॥
भोजयिष्यति मां दैवमिति दैवपरायणः ।
यत्तिष्ठत्यक्रियो मौनं नियतेरेष निश्चयः ॥ २४ ॥
न स्याद् बुद्धिर्न कर्माणि न विकारादि नाऽऽकृतिः ।
केवलं त्वित्थमाकल्पं स्थित्या भाव्यमिति स्थिताः ॥ २५ ॥

यही सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज वायु आकाश—पांच भूतस्वरूप जगत है और यही काल, क्रिया आदि स्वरूप है ॥ २० ॥

इससे पुरुषकी अदृष्टसम्बन्धिनी सत्ता (फलावश्यम्भावरूप स्थिति) लक्षित होती है । जब तक तीन भुवन हैं, तबतक यह व्यवस्था है । प्रलय होनेके पश्चात् ये दो सत्ताएँ एकात्मतासे (अभेदसे) स्थित होती हैं ॥ २१ ॥

मनुष्यको अपने पौरुषसे ही नियतिसत्ता और पुरुषादृष्टसम्बन्धिनी सत्ता दोनों सत्ताओंको बनाना चाहिए । नियति और पौरुष भी इसी प्रकार प्राणीके अदृष्टसे निर्वाह्य हैं, इस क्रमसे इस प्रकारकी नियति स्थित है ॥ २२ ॥

बहुत क्या कहें, आपके शिष्यभावसे पूछनेमें मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थके अनुष्ठानमें भी नियति ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'प्रष्टव्यो' इत्यादिसे ।

हे रामजी, आपने मुझसे पूछना चाहिए, इस विषयमें भी दैवपौरुषनिर्णय ही हेतु है । आपने मेरे द्वारा उक्त पौरुषका पालन करना चाहिए, यह भी नियति कृत ही है ॥ २३ ॥

जो मुझे दैव खिलायेगा, इस प्रकार कोई मनुष्य दैवका अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्नको न कर अजगरकी वृत्ति धारण कर चुपचाप बैठा रहता है, वह भी उसके अनुरूप पूर्व जन्मके कर्मोंसे उद्बोधित नियतिके कारण ही होता है, यह निश्चय है ॥ २४ ॥

यदि पहले भी कोई पुरुष निर्व्यापार ही रहेगा, तो बुद्धि नहीं होगी, बुद्धिसे

अवश्यं भवितव्यैषा त्विदमित्थमिति स्थितिः ।
न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः ॥ २६ ॥
पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता ।
पौरुषेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका ॥ २७ ॥
अपौरुषं हि नियतिः पौरुषं सैव सर्गगा ।
निष्फलाऽपौरुषाकारा सफला पौरुषात्मिका ॥ २८ ॥
नियत्या मूकतामेत्य निष्पौरुषतयाऽक्रियम् ।
यस्तिष्ठति प्राणमरुत् स्पन्दस्तस्य क्व गच्छति ॥ २९ ॥

होनेवाले कार्य भी नहीं होंगे, कार्यसे होनेवाले विकार नहीं होंगे और विकारोंके गाय आदिके शरीरोंके आकार नहीं होंगे। इस विषयमें श्रुति भी प्रमाण है— 'यद्येतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह' (यदि कर्म न करेगा तो क्षीण हो जायगा) इस प्रकार पुरुषकर्ममूलक ही कल्पपर्यन्त व्यवहारस्थिति होनी चाहिए, इस प्रकार नियतिके कारण ही सब पदार्थ स्थित हैं, यह अर्थ है ॥ २५ ॥

इसकी स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए इस प्रकारकी अवश्यभवितव्यतारूप नियतिका रुद्र आदिकी बुद्धि द्वारा भी उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ऐसा निश्चय कर पौरुषका कभी त्याग न करे, क्योंकि नियति पौरुषरूपसे ही नियामिका होती है, यानी पूर्वजन्मोंमें किया गया पौरुष ही वर्तमान जन्ममें नियतिरूप होकर 'इसे ऐसा ही होना चाहिए' ऐसा नियम करता है ॥ २७ ॥

यद्यपि नियति और पौरुष शब्दका एक ही अर्थ है, फिर भी उपाधिभेदसे उनमें भेदव्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं—'अपौरुषम्' इत्यादिसे ।

पुरुषके प्रयत्नरूपसे अविवक्षित केवल ईश्वरके सङ्कल्पमात्रसे नियति कही जाती है, वही पुरुषप्रयत्नसे सृष्टिफलसे उपहित होकर पौरुष कही जाती है, क्योंकि पुरुषके प्रयत्नके आकारमें परिणत न हुई नियति निष्फल है और पौरुषात्मिका सफल है। भाव यह है कि नियति पुरुषार्थरूप फलप्रदानमें असमर्थ है, अतः निष्फल है और पौरुष पुरुषार्थरूप फलप्रदानमें समर्थ है अतः सफल है ॥ २८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जो पुरुष पौरुषशून्य होकर अजगरवृत्तिसे

अथ प्राणक्रियारोधमपि कृत्वा विरामदम् ।
यदि तिष्ठति तत्साधुर्मुक्त एव किमुच्यते ॥ ३० ॥
पौरुषैकात्मता श्रेयो मोक्षोऽत्यन्तमकर्तृता ।
आभ्यां तु सबलः पक्षो निर्दुःखैव महात्मनाम् ॥ ३१ ॥
नियतिर्ब्रह्मसत्ताभा तस्यां चेत्परिणम्यते ।
नूनं परमशुद्धाख्यं तत्प्राप्तैव परा गतिः ॥ ३२ ॥
एतैर्नियत्यादिमहाविलासै-
ब्रह्मैव विस्फूर्जति सर्वगात्म ।

रहे, उसको भी तो तृप्ति आदि फललाभ होता है, ऐसा देखा गया है, इसपर कहते हैं—'नियत्या' इत्यादिसे ।

सचमुच देखा गया है, तथापि मुँहमें ग्रास डालने और निगलने आदि कर्मसे ही देखा गया है, जो नियतिसे मुझे तृप्ति हो जायगी, यों सोचकर मूक बनकर अकर्मण्य होकर पौरुषशून्य रहता है, वह कदापि तृप्त नहीं हो सकता । जो वह क्षुधासे व्याकुल होकर कुछ काल तक जीता है, वह प्राणचलन आदि पुरुष-प्रयत्नसे ही जीता है । पौरुषके बिना कदापि तृप्ति आदि नहीं हो सकते, यह भाव है ॥ २९ ॥

यदि निर्विकल्पकसमाधिमें चित्तको शान्तिप्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करता रहता है और उस प्रयत्नसे साधु (तत्त्वज्ञानी) होकर यदि मुक्ति पा जाता है, तो वह मुक्तिप्राप्ति भी प्राणनिरोध आदि पौरुषका ही फल है, इसलिए पौरुषके बिना किसी भी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

इसलिए शास्त्रीय पौरुषमें तत्पर होना श्रेयका कारण होनेसे साधनरूपसे श्रेयस्कर है और अत्यन्त अकर्मण्यतारूप मोक्ष फलरूपसे श्रेय है—इन फल और साधनरूप श्रेयोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका पक्ष सबल है, यानी कार्यसहित अविद्याके विनाशमें समर्थ है, इस तरह दुःखरहित ही उनकी नियति है ॥ ३१ ॥

जो यह दुःखरहित नियति है, वह यदि ब्रह्मसत्ताकी आभामें यानी स्फूर्तिमें प्रयत्नसे स्थिर की जाय, तो वही परम शुद्ध नामक परमगति जिसे श्रुति 'सा काष्ठा सा परा गतिः' कहती है, प्राप्त ही हो गई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३२॥

जैसे पृथिवीके अन्दर स्थित जलकी सत्ता (द्रवता) तृण, लता, वृक्ष, झाड़ियोंसे

तृणादिवल्लीतरुगुल्मजालैः
सत्तेव तोयस्य धरान्तरस्था ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे दैवशब्दार्थनिरूपणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

——:*:——

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

यदेतद् ब्रह्मतत्त्वं सर्वथा सर्वदैव सर्वत एव सर्वशक्ति सर्वाकारं सर्वेश्वरं सर्वगं सर्वमेवेति ॥ १ ॥

एष त्वात्मा सर्वशक्तित्वाच्च क्वचिच्चिच्छक्तिं प्रकटयति क्वचिच्छान्तिं क्वचिज्जडशक्तिं क्वचिदुल्लासं क्वचित्किञ्चिन्न किञ्चित् प्रकटयति ॥ २ ॥

स्फुरित होती हैं, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म ही पूर्वोक्त नियतिके विलासोंसे जो कभी नष्ट नहीं होते, स्फुरित होता है ॥ ३३ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

——

तिरसठवाँ सर्ग

[ब्रह्म मायाशक्तिके विलाससे जिस प्रकार सर्वस्वरूपसे और सर्वतः स्फुरित होता है उसका प्रतिपादन]

'नित्यादिविलासैर्ब्रह्मैव विस्फूर्जति' ऐसा जो कहा, सो किसके कारण ? इस शङ्कापर कहते हैं—

श्रीवशिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, चूंकि यह मायाशबल ब्रह्म सम्पूर्ण वस्तुओंके रूपसे, सम्पूर्ण कालोंमें सम्पूर्ण देशोंमें सब पदार्थोंका रूप धारण करनेमें सामर्थ्ययुक्त है अतएव सर्वाकार सर्वज्ञ होनेके कारण सबका नियमन करनेमें समर्थ है अतएव सर्वेश्वर, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है। दूरत्व और तटस्थताका वारण करनेके लिए 'सर्वगम् सर्वम्' ये दो विशेषण हैं ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि उसमें विप्रकर्ष और तटस्थता क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—'एष त्वात्मा' इत्यादिसे।

यत्र यदा यदेवासौ यथा भावयति तत्र तदा तदेवाऽसौ प्रपश्यति ॥३॥
सर्वशक्तेर्हि या यैव यथोदेति तथैव सा ॥ ४ ॥
तदाऽस्ति शक्तिर्नाना रूपिणी सा स्वभावत इमाः शक्तयोऽयमात्मेति ॥५॥

यह आत्मा है और सर्वशक्तिशाली है यानी आत्मा होनेसे और सर्वशक्तिशाली होनेसे यह विप्रकर्ष और तटस्थतासे शून्य है ।

शङ्का—यदि वह सबका आत्मा और सर्वशक्तिशाली है तो सबको सर्वत्र प्रकट क्यों नहीं करेगा ?

समाधान—सबको सर्वत्र प्रकट नहीं करता, क्योंकि सर्वशक्तिशाली होनेपर भी कहींपर यानी अन्तःकरणरूप उपाधिमें जीवरूपसे प्रवेश होनेपर चित्-शक्तिको प्रकट करता है, कहींपर (सात्त्विक उपाधिमें) प्रवेश करनेसे शान्तिको प्रकट करता है, कहींपर (तामस उपाधिमें) प्रवेश करनेसे जड़-शक्तिको प्रकट करता है, कहींपर (राजसोपाधिमें) राग, लोभ आदि वृत्तियोंका उल्लास प्रकरता है, कहींपर कुछ यानी मिश्रित गुणोंका कार्य होनेसे विशेष रूपसे कथनके अयोग्य प्रकट करता है और सुषुप्ति और प्रलयमें कुछ भी प्रकट नहीं करता ॥ २ ॥

विभिन्न स्थानोंमें उसके विभिन्नरूपसे प्रकट होनेमें उसकी सत्यसङ्कल्पता ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जिस स्थानमें, जिस कालमें जिसकी जिस प्रकारसे यह भावना करता है, वहाँपर उस समय उसको वैसा ही देखता है ॥ ३ ॥

शक्तियोंके आविर्भावके अनुरूप ही इसकी विचित्ररूपसे स्थिति है, ऐसा कहते हैं—'सर्वशक्तेर्हि०' इत्यादिसे ।

सर्वशक्तिमान् परमात्मासे जो जो शक्ति जैसे उदित होती है वह वैसे ही स्थित है ॥ ४ ॥

तब वह शक्ति स्वभावसे ही नाना प्रकारके रूपवाली होती है ।

शङ्का—यह शक्ति और शक्तिमान्के भेदकी कल्पना व्यवहारदृष्टिसे ही है या परमार्थरूपसे भी है ?

समाधान—शक्ति और शक्तिमान्के भेदकी कल्पना व्यवहारदृष्टिसे ही है परमार्थदृष्टिसे नहीं । परमार्थदृष्टिसे तो ये शक्तियाँ आत्मरूप हैं ॥ ५ ॥

एवं विकल्पजालं व्यवहारार्थं धीमद्भिः परिकल्पितं लोके न त्वात्मनि विद्यते भेदः ॥ ६ ॥

यथोर्मितरङ्गपयसां सागरे कटकाङ्गदकेयूरैर्वा हेम्नः । अवयवावयविनोः संवित्काल्पनिकी द्विता न वास्तवी ॥ ७ ॥

यथा यच्चेत्यते हि तथैव तन्न बाह्यतो नाऽन्तरतश्चैतत् समुदेति हि ॥८॥

सर्वात्मत्वात् समाभासं क्वचित्किञ्चित् प्रपश्यति ॥ ९ ॥

सर्वाकारमयं ब्रह्मैवेदं ततं मिथ्याज्ञानवद्भिः शक्तिशक्तिमत्त्वे अवयवावयविरूपे कल्पिते न पारमार्थिके ॥ १० ॥

सद्वा भवत्वसद्वा चिद्यत्सङ्कल्पयत्यभिनिविशति तत्तत्पश्यति सकला तत्सद्ब्रह्मैव चिद् भाति ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० चित्ताविकारो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥



बुद्धिमानोंने लौकिक व्यवहारकी सिद्धिके लिए इस प्रकार भेदकी कल्पना कर रक्खी है, आत्मामें तनिक भी भेद नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे सागरमें छोटी-बड़ी तरङ्ग और जलका, कंकण, बाजूबन्दसे सोनेका और अवयव तथा अवयवीका परस्पर भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही यह आत्म-भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु व्युत्पादक पुरुषकी बुद्धिसे परिकल्पित है ॥ ७ ॥

क्योंकि जो रज्जु आदि पदार्थ जिस प्रकारसे यानी सर्पके आकारसे प्रतीत होता है, वह उसी प्रकारका विवर्तरूपसे होता है, न कि परमार्थरूपसे, क्योंकि यह सर्प आदि रज्जु आदिके न तो बाहर उदित होता है और न भीतर ॥ ८ ॥

सर्वसाधारणको प्रकाशित करनेवाला साक्षिचैतन्य भोक्ताके अदृष्टसे उद्बुद्ध होकर कहींपर कुछ ही वस्तुको भ्रान्तिसे देखता है, न तो सब ठौर उसीको देखता है और न स्वरूपको ही देखता है ॥ ९ ॥

यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय, तो विस्तृत यह प्रपञ्च ब्रह्म ही है। किन्तु मिथ्याज्ञानवाले व्यक्तियोंने शक्ति और शक्तिमान्, अवयव और अवयवी, इस प्रकारसे भेदकी कल्पना कर रक्खी है, यह भेद पारमार्थिक नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार मिथ्याज्ञानसे उपहित चित्, चाहे शास्त्रानुकूल हो, चाहे शास्त्र-

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

योऽयं सर्वगतो देवः परमात्मा महेश्वरः ।
स्वच्छः स्वानुभवानन्दस्वरूपोऽन्तादिवर्जितः ॥ १ ॥
एतस्मात् परमानन्दाच्छुद्धचिन्मात्ररूपिणः ।
जीवः संजायते पूर्वं स चित्तं चित्ततो जगत् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

स्वानुभूतिप्रमाणेऽस्मिन् ब्रह्मणि ब्रह्मबृंहिते ।
कथं सत्तामवाप्नोति जीवको द्वैतवर्जिते ॥ ३ ॥

विरुद्ध, जिसका कर्तव्यत्वेन संकल्प करती है, उस विषयमें उद्युक्त होती है, अभिनिवेशसे तत्-तत् विहित या निषिद्ध कर्म करके उसके फलभोगकालमें उसको देखती है । प्रथम सृष्टिसंकल्पसे लेकर भूत-भौतिक देहोंसे भोग्य आदि सृष्टिसे पुरुषभोगपर्यन्त सकल प्रपञ्चरूप ब्रह्मचित् ही प्रतीत हो रही है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

——:०:——

चौसठवाँ सर्ग

[भोग्यकी विचित्र शक्तियोंके आविर्भावका निरूपण तथा भोक्ताकी जीवत्वप्राप्तिके क्रमका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जो यह घट-घटव्यापी स्वयंप्रकाश, कारणोंका भी कारण, महामहिमशाली, विशुद्ध, जन्म और विनाशसे रहित आत्मज्ञानानन्दरूप परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी इसी परमात्मानन्दसे 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिसे नामरूपविस्पष्टकरणरूप जगत्-सृष्टिसे पहले जीवोपाधि लिङ्गसमष्टिकी उत्पत्तिसे जीव उत्पन्न होता है, वही उपाधिकी प्रधानतासे चित्त कहलाता है, उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ १, २ ॥

अखण्ड अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्ममें सखण्ड सद्वितीय जीवसत्ता कैसे उपपन्न हो सकती है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वानुभूति०' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठ उवाच

असदाभासमच्छात्म ब्रह्माऽस्तीह प्रबृंहितम् ।
बृहच्चिद्भैरववपुरानन्दाभिधमव्ययम् ॥ ४ ॥
तस्य यत्सममापूर्णं शुद्धं सत्त्वमचिह्नितम् ।
तद्विदामप्यनिर्देश्यं तच्छान्तं परमं पदम् ॥ ५ ॥
तस्यैवोद्यदिवाऽऽशान्ति यत्सत्त्वं संविदात्मकम् ।
स्वभावात् स्पन्दनं तत्तु जीवशब्देन कथ्यते ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, ब्रह्म होनेके कारण अत्यन्त अपरिच्छिन्नतारूप बृद्धिको प्राप्त, स्वानुभवसे वेद्य अद्वितीय ब्रह्ममें छोटा-सा जीव पूर्वसिद्ध ब्रह्मतासे विरुद्ध पृथक्सत्ताको कैसे प्राप्त होता है ? ॥ ३ ॥

सत्यस्वरूप अविद्यासम्बन्धशून्य ब्रह्ममें परमार्थदृष्टिसे जीवसत्ताका सम्भव नहीं है, किन्तु अविद्यासंवलित ब्रह्ममें जीवसत्ता होनेमें कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार विभाग करके कहनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले ब्रह्मके साधारण स्वरूपको कहते हैं—'असत्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, यहाँपर विशुद्ध व्यापक ब्रह्म है, जिसमें द्वैतप्रतीतियाँ असत् हैं, जो असीम चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप है । एवं जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए उसका स्वरूप बड़ा भयङ्कर है । जैसे कि वृद्ध पुरुषोंने कहा है—'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम् । योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः' (यह अस्पर्श योग सर्वयोगियोंके लिए दुर्दश है, भयशून्यमें भय देखनेवाले योगी इससे भयभीत होते हैं) ॥ ४ ॥

उनमें से पहलेको दर्शाते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

उसका जो सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्स्वरूप है, जिसका कि ज्ञानी भी निर्देश नहीं कर सकते, वह शान्त परम पद है ॥ ५ ॥

उसीका मोक्ष होनेतक, उद्भव बीजकी सत्ता होनेसे, उदित हुआ-सा उपाधिस्वभावसे जो चलनशक्त्यात्मक (प्राणधारणरूप) संविदात्मक सत्त्वरूप है, वह जीवशब्दसे कहा जाता है ॥ ६ ॥

तत्रेमाः परमादर्शे चिद्व्योम्न्यनुभवात्मिकाः ।
असंख्याः प्रतिबिम्बन्ति जगज्जालपरम्पराः ॥ ७ ॥
ब्रह्मणः स्फुरणं किञ्चिद्यदवाताम्बुधेरिव ।
दीपस्येवाऽप्यवातस्य तं जीवं विद्धि राघव ॥ ८ ॥
शान्तत्वापगमेच्छस्य मनाक्संवेदनात्मकम् ।
स्वाभाविकं यत्स्फुरणं चिद्व्योम्नः सोऽङ्ग जीवकः ॥ ९ ॥
यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा ।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः ॥ १० ॥
चिद्रूपस्याऽऽत्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम् ।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम् ॥ ११ ॥

उसीमें सब नाम और रूपोंका व्याकरण होता है, ऐसा कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

परम आदर्शरूप चिदाकाशमें अनुभवरूप इन अनन्त जगज्जालपरम्पराओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ ७ ॥

जगत्‌की विचित्रताकी कल्पनाके अनुरूप क्रियाशक्तिप्रधान प्राण बनना ही चित्‌का जीवभाव है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वायुरहित सागरके कुछ-कुछ स्फुरणके समान तथा निर्वात स्थानमें जले दीपके किञ्चित् स्फुरणके समान ब्रह्मका जो तनिक स्फुरण है, उसे आप जीव समझिए ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजन्द्रजी, निर्मल चिदाकाशका प्राणाधीन चलनाध्यास होनेसे स्वाभाविक निष्क्रियताके छिप जानेपर जो अल्पसंवेदन यानी परिच्छेद भ्रान्ति (अहम्) उदित होता है, वही जीव है ॥ ९ ॥

जीवात्माका जीवत्व जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक स्वाभाविक है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वायुका चलन स्वाभाविक है, जैसे अग्निकी उष्णता स्वाभाविक है और हिमकी शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्माकी जीवता भी स्वाभाविक है ॥१०॥

चिद्घन जो आत्मतत्त्व है, उसका स्वयं अपने स्वरूपके अपरिज्ञानके कारण जो अल्पज्ञान-सा (ज्ञानस्वरूपकी परिच्छिन्नता-सी) है, वही जीव नामसे पुकारा जाता है ॥ ११ ॥

तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात् ।
वह्न्यणुः स्वेन्धनाधिक्यात् स्वां प्रकाशकतामिव ॥ १२ ॥
यथा स्वतारकामार्गे व्योम्नः स्फुरति नीलिमा ।
शून्यस्याऽप्यस्य जीवस्य तथाऽहंभावभावना ॥ १३ ॥
जीवोऽहंकृतिमादत्ते सङ्कल्पकलयेद्धया ।
स्वयैतया घनतया नीलिमानमिवाऽम्बरम् ॥ १४ ॥
अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयंसङ्कल्पवशतो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ १५ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां यातस्त्वहङ्काराभिधः स्थितः ।
चित्तं जीवो मनो माया प्रकृतिश्चेति नामभिः ॥ १६ ॥

जैसे अग्निकी चिनगारी अपनेको उद्दीप्त करनेवाले घी, तेल आदिकी अधिकतासे अपनी स्वाभाविक प्रकाशकताको प्राप्त होती है, वैसे ही वही जीव क्रमशः वासनाकी दृढ़तासे अहङ्कारताको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

जैसे दर्शक पुरुष द्वारा अपने नेत्रोंके गोचर न होनेवाले आकाशभागमें दौड़ाया गया नेत्र जहाँतक पहुँच सकता है, वहाँतक नीलिमा नहीं देखता जहाँपर पहुँच कर आगे बढ़नेमें असमर्थ होता है, वहाँसे आगे उसका मार्ग नीला न होनेपर भी उसे नीला दिखाई देता है, वैसे ही अहन्तासे रहित भी जीवकी अपने अगोचर अपनी आत्मामें अहंभावना होती है ॥ १३ ॥

जैसे आकाश अपनी निबिड़तासे (घनतासे) नीलिमाको प्राप्त होता है, वैसे ही अपने पूर्व सङ्कल्पके संस्कारसे जाग्रत् हुई अपनेमें अध्यस्त इस इन्द्रनील शिलाके सदृश निबिड़तासे जीव अहङ्कारको ग्रहण करता है ॥ १४ ॥

वायुके स्पन्दके समान स्फुरित हुआ अहंभाव आत्माका दैशिक और कालिक परिच्छेद करता है, तथा स्वयं सङ्कल्पवश उसने देह आदिका आकार धारण कर रक्खा है ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त चित्त आदि भेद अहंभावाध्यासमूलक है, ऐसा कहते हैं— 'सङ्कल्पोन्मुखताम्' इत्यादिसे ।

वही अहङ्कार सङ्कल्पोन्मुख होकर अहङ्काररूपसे रुद्र, चित्तरूपसे विष्णु और जीवरूपसे ब्रह्मा नामसे प्रसिद्ध है तथा क्रमशः उनके (रुद्र आदिके) ही मन, माया, प्रकृति—ये क्रियानाम हैं ॥ १६ ॥

तत्सङ्कल्पात्मकं चेतो भूततन्मात्रकल्पनम् ।
कुर्वंस्ततो व्रजत्येव सङ्कल्पाद्याति पञ्चताम् ॥ १७ ॥
तन्मात्रपञ्चकाकारं चित्तं तेजःकणो भवेत् ।
अजातजगति व्योम्नि तारका पेलवा यथा ॥ १८ ॥
तेजःकणत्वमादत्ते चित्तं तन्मात्रकल्पनात् ।
शनैः स्वस्मात् परिस्पन्दाद्बीजमङ्कुरतामिव ॥ १९ ॥
असौ तेजःकणोऽण्डाख्यः कल्पनात् कश्चिदण्डताम् ।
प्रयात्यन्तःस्फुरद्ब्रह्मा जलमापिण्डतामिव ॥ २० ॥
कश्चिद् द्रागिति देहादिकलनाद्याति देहताम् ।
भ्रान्तिस्त्वं तदतद्रूपं गन्धर्वैश्च वसत्पुरम् ॥ २१ ॥

उनमें सङ्कल्पात्मक चित्त (ब्रह्मा) सङ्कल्पसे भूततन्मात्राओंकी कल्पना करता हुआ चेतनात्मक पूर्व अवस्थासे अवश्य च्युत होता है और जड़ प्रपञ्च-रूप होता है ॥ १७ ॥

पञ्चभूततन्मात्रताको प्राप्त हुआ वह चित्त (ब्रह्मा) तेजःकण बन जाता है । ब्रह्मभावसे अत्यल्प होनेके कारण उसे कण कहा है । जिसमें अभी जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे आकाशमें वह तेजःकण मन्द प्रकाशवाले तारेके सदृश प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

जैसे बीज अपने स्पन्दनसे धीरे-धीरे अङ्कुरित होता है, वैसे ही अपने स्पन्दनसे धीरे-धीरे पञ्चतन्मात्राओंकी कल्पना करनेके बाद चित्त तेजःकणताको धारण करता है ॥ १९ ॥

पूर्वकल्पमें विराड्में आत्मोपासना करनेसे संस्कृत हुए जीवको स्थूल-समष्टिरूप हिरण्यगर्भता प्राप्त होती है, उससे अन्यको, व्यष्टि देहमें अहम्भावका संस्कार होनेसे, व्यष्टि स्थूल देहमें अहंभाव प्राप्त होता है, इस प्रकार अन्तर कहते हैं—'असौ' इत्यादिसे ।

जैसे जल जमनेके कारण हिमरूपसे तथा ओलेके रूपसे घनता (कठिनता) को प्राप्त होता है, वैसे ही अण्डनामको प्राप्त हुआ वह तेजःकण, जिसके अन्दर श्रीब्रह्मा विराजमान रहते हैं, पूर्व जन्ममें मैं अण्ड हूँ, यों अण्डरूपसे आत्मभावना करनेसे अण्डताको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

कोई (जो उपासक नहीं है) और पुण्यात्मा है, इस प्रकार दिव्य देह

कश्चित्स्थावरतामेति कश्चिज्जङ्गमतामपि ।
कश्चिद्याति खचार्यादिरूपं सङ्कल्पतः स्वतः ॥ २२ ॥
सर्गादावादिजो देहो जीवः सङ्कल्पसम्भवः ।
क्रमेण पदमासाद्य वैरिञ्चं कुरुते जगत् ॥ २३ ॥
आत्मभूकलनात्माऽसौ यत्सङ्कल्पयति क्षणात् ।
तत्स्वभाववशादेव जातमेव प्रपश्यति ॥ २४ ॥
चित्स्वभावात् समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम् ।
संसृतौ कारणं पश्चात् कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ २५ ॥

आदिकी भावनासे झटपट देव आदिकी देहको प्राप्त होता है, देवादि देह, जो 'अहम्' नहीं है, उसमें अहंभावरूप भ्रान्तिको प्राप्त होता है, तथा गन्धर्वोंसे या अन्य देवताओंसे सुरक्षित अमरावती आदि नगरोंमें निवास करता है ॥ २१ ॥

कोई पापी पुरुष अपने सङ्कल्पसे स्वयं वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई पशु-पक्षी आदि जङ्गम योनियोंमें प्राप्त होता है, कोई राक्षस, पिशाच आदि खेचर योनियोंमें जाता है, अपने सङ्कल्पानुसार सबको स्वतः ही तत्-तत् योनियाँ प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

सृष्टिके आदिमें प्रथम उत्पन्न ही ब्रह्मारूपी जीव, जिसकी सूक्ष्म देह-समष्टिरूप उपाधि है और अपने सङ्कल्पसे ही जिसकी उत्पत्ति हुई है, क्रमशः विरञ्चिका पद प्राप्त कर अपने सङ्कल्पसे अण्डके भीतर जगत्‌की सृष्टि करता है ॥ २३ ॥

ब्रह्माकी सत्यसङ्कल्पतामें पूर्व कल्पके सत्यसङ्कल्प ब्रह्माकी तादात्म्योपासना यानी 'सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा ही मै हूँ' यह उपासना हेतु है, ऐसा कहते हैं— **'आत्मभू०'** इत्यादिसे ।

पूर्वकल्पके सत्यसङ्कल्प ब्रह्माकी तादात्म्योपासनासे उत्पन्न हुए ये ब्रह्मा जिस पदार्थका सङ्कल्प करते हैं, उसे तुरन्त अपने सत्यसङ्कल्पतारूप स्वभावके कारण उत्पन्न हुआ ही देखते हैं ॥ २४ ॥

पहले चिदात्मा नामरूपात्मक दो धर्मवाले जगत्‌की प्रख्यातिमें कारण होता है, चलन (क्रिया), विकार आदिमें पश्चात्-भावी कर्म कारण होता है, ऐसा कहते हैं—**'चित्स्वभावात्'** इत्यादिसे ।

वे यानी ब्रह्म चैतन्यस्वभावसे सर्वकारणत्व और ब्रह्मत्वको प्राप्त हुआ है, पीछे संसारके कारण होकर कर्मके निर्माणमें होते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

परस्मात् कारणादेव मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥
भावाभावलसद्दोलं तेनाऽयमवलोक्यते ।
सर्गः सदसदाभासः पूर्वगन्ध इवेच्छया ॥ २ ॥
न कश्चिद्विद्यते भेदो द्वैतैक्यकलनात्मकः ।
ब्रह्मजीवमनोमायाकर्तृकर्मजगद्दृशाम् ॥ ३ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[मनका, भोग्यसमुदायका और भोक्ताके मूलका तत्त्व चिन्मात्रशेष है, यह प्रदर्शन]

सम्पूर्ण कल्पनाएँ चित्से अतिरिक्त नहीं हैं, यह कहनेके लिए मूलभूत मनकी उत्पत्ति और स्थिति कारणसत्तारूप होनेसे कारणमात्ररूप ही है, ऐसा कहते हैं—'**परस्मात्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, परमकारणसे ही मन पहले उत्पन्न हुआ है, वह मननस्वभाववाला है । जो कुछ भोग्य पदार्थ हैं, वे सब तदात्मक यानी मनोमय हैं। जो कोई दृश्य पदार्थ हैं, वे मनमें ही स्थित हैं, वह मन भी परमकारणमें स्थित है, यह इस पकार होता है और यह इस प्रकार नहीं होता, इस प्रकारके भाव और अभावके विषयमें वह दोलाके समान दायें और बायें घूमता है । जैसे पहले अनुभवमें आई हुई सुगन्ध स्मरण करनेपर वहांपर विद्यमान न होनेपर भी मनोरथसे देखी जाती है, वैसे ही उस मनसे सत् और असत्के तुल्य प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है ॥ १, २ ॥

मन ही जब भेददर्शनको कराता है तब मनके हट जानेपर केवल एक आत्माके प्रतिष्ठित रहनेसे मनसे कल्पित भेद भी हट जाता है, ऐसा कहते हैं—'**न कश्चित्**' इत्यादिसे ।

मनके हट जानेपर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म, और जगत्की प्रतीतियोंका कोई भेद नहीं रहता, केवल सब द्वैतोंके एकमात्र आश्रय परमात्मा स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः ।
चिदेकार्णव एवाऽयं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ ४ ॥
असत्यमस्थैर्यवशात् सत्यं संप्रतिभासतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ ५ ॥
न सन्नाऽसन्न संजातश्चेतसो जगतो भ्रमः ।
अथ धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः ॥ ६ ॥

भेदके नष्ट हो जानेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूपको दिखलाते हैं—**'अपारा०'** इत्यादिसे ।

जिसके विस्तारका आर-पार नहीं है, इस प्रकारके संवित्रूपी जलके असीम प्रसारोंसे चिदेकार्णव यह आत्मा स्वयं विजृम्भित होता है ॥ ४ ॥

चित्त और जगत्का बाध होनेपर कैसे सत्का परिशेष होता है ? ऐसी शङ्का कर जगत् स्थिर और अस्थिर इन दो अंशोंसे संयुक्त होनेके कारण सत् और असद्रूप है, अस्थिर अंशका बाध होनेपर स्थिर अंशके परिशेष रहनेमें कौन अनुपपत्ति है, इस आशयसे कहते हैं—**'असत्य०'** इत्यादिसे ।

अस्थिर होनेके कारण असत्य तथा अवभासित होनेके कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्नके समान सत् और असद्रूप है । जैसे स्वप्नके अस्थिर विषयांशका बाध होनेपर स्थिर जो स्वप्नद्रष्टा है, उसका परिशेष दिखाई देता है, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए ॥ ५ ॥

यद्यपि जगत् अत्यन्त असत् है, तथापि उसका कभी बाध नहीं दिखाई दिया, ऐसी आशङ्का कर उसकी बाधयोग्य अनिर्वचनीयता कहते हैं—**'न सत्'** इत्यादिसे।

जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न हुआ है, केवल चित्तका भ्रम है यानी मिथ्या है ।

शङ्का—यदि वह मिथ्या है, तो उसमें बहुतोंको एकाकारता कैसे प्रतीत होती है ?

समाधान—सामाजिकोंको विविध बुद्धियोंकी एकाकारताभ्रम वैसे ही होता है, जैसे ऐन्द्रजालिककी मायासे क्षुब्ध हुए अनेक लोगोंको इन्द्रजालसे बनी वस्तुमें एकाकारताप्रतीति होती है ॥ ६ ॥

दीर्घः स्वप्नः स्थितिं यातः संसाराख्यो मनोबलात् ।
असम्यग्दर्शनात् स्थाणाविव पुंस्प्रत्ययो मुधा ॥ ७ ॥
अनात्मालोकनाच्चित्तं चित्तत्वं नाऽनुशोचति ।
वेतालकल्पनाद् बाल इव सङ्कल्पिते भये ॥ ८ ॥
अनाख्यस्य स्वरूपस्य सर्वाशातिगतात्मनः ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चित्ताज्जीवत्वकल्पनम् ॥ ९ ॥
जीवत्वादप्यहंभावस्त्वहंभावाच्च चित्तता ।
चित्तत्वादिन्द्रियादित्वं ततो देहादिविभ्रमः ॥ १० ॥
देहादिमोहतः स्वर्गनरकौ मोक्षबन्धने ।
बीजाङ्कुरवदारम्भसंरूढे देहकर्मणीः ॥ ११ ॥

तब यह चिरकाल तक कैसे स्थिर रहता है ? इसपर कहते हैं—'दीर्घः' इत्यादिसे ।

जैसे भली भाँति न देखनेसे स्थाणुमें (ठूँठमें) व्यर्थ ही पुरुषप्रतीति होती है, वैसे ही मन द्वारा की गई आसक्तिके बलसे संसारनामका यह लम्बा स्वप्न अज्ञोंको प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि आत्मा अपने परिपूर्णानन्दस्वभावसे च्युत करनेवाले तथा सम्पूर्ण दुःखोंके निदानभूत अपने मनोभावका ही क्यों शोक नहीं करता ? इसपर कहते हैं—'अनात्मा०' इत्यादिसे ।

जैसे बालक स्वयं वेतालकी कल्पना कर उससे होनेवाले भयके भली भाँति मनमें जम जानेपर भयसे परिपूर्णचित्त होनेके कारण भयकी हेतुभूत वेतालकी कल्पनापर शोक नहीं करता, वैसे ही आत्मविषयक अज्ञान तथा अनात्माओंके दर्शनसे चित्तभावको प्राप्त हुआ भी आत्मा चित्तभावसे प्राप्त हुए अनर्थोंके लिए शोक नहीं करता ॥ ८ ॥

चिदात्माका विषयोन्मुखतारूप स्वभाव ही विविध अनर्थोंकी जड़ है, ऐसा कहते हैं—'अनाख्यस्य' इत्यादिसे ।

नामरहित, सम्पूर्ण दिशाओंको अतिक्रान्त करनेवाला यानी सर्वव्यापक आत्माका विषयोन्मुखतारूप स्वभाव होनेसे उससे चित्तकी उत्पत्ति होती है, चित्तसे जीवत्वकी उत्पत्ति होती है, जीवत्वसे अहंभावकी उत्पत्ति होती है, अहंभावसे चित्तता होती है, चित्तकी विषय तन्मात्रासे इन्द्रियाँ, उनसे देह आदिका भ्रम, देह

द्वैतं यथा नाऽस्ति चिदात्मजीवयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः ॥ १२ ॥
कर्मैव देहो ननु देह एव
चित्तं तदेवाऽहमितीह जीवः ।
स जीव एवेश्वरचित् स आत्मा
सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत् ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० जीवविचारो नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥



आदिमें (आत्मत्वभ्रमसे) 'अहं मम' इस अभिमानसे बीजाङ्कुरके समान नानाकार्य-पटु देह, कर्म; उनसे स्वर्ग और नरक तथा बन्ध और मोक्ष होते हैं ॥ ९–११॥

यह सारी-की सारी अनर्थपरम्परा जीव और ब्रह्ममें भेदभ्रमसे उत्पन्न हुई है, उन दोनोंकी एकताके बोधसे उक्त भ्रमके बाधित होनेपर बाधित हो जाती है, इस अभिप्रायसे भेदका निषेध करते हैं—'द्वैतम्' इत्यादिसे ।

चिदात्मा (ब्रह्म) और जीवमें जैसे भेद नहीं है, वैसे ही जीव और चित्तमें भी भेद नहीं है, जैसे ही जीव और चित्तमें भेद नहीं है, वैसे ही देह और कर्ममें भी भेद नहीं है ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंके विचाररहस्यको एक उक्तिसे संक्षेपतः कहते हैं—'कर्मैव' इत्यादिसे ।

वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्मसे भिन्नसत्ताविशिष्ट देह नहीं है, और देह ही चित्त है, वह चित्त ही अहङ्कारविशिष्ट जीव है, वह जीव ही ईश्वरचैतन्य है, वह आत्मा मङ्गल और सर्वात्मक है, यह सब एक पदसे कहा गया है ॥ १३॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

——:o:——

षट्षष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेकं परं वस्तु राम नानात्वमेत्यलम् ।
नानात्वमिव संजातं दीपाद्दीपशतं यथा ॥ १ ॥
यथाभूतमसद्रूपमात्मानं यदि पश्यति ।
विचार्यतेऽन्तस्तदनुभावहीनं न शोचति ॥ २ ॥
चित्तमात्रं नरस्तस्मिन् गते शान्तमिदं जगत् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥ ३ ॥

छासठवाँ सर्गः

[द्वैतकी केवल मनोमात्रता तथा इष्ट वस्तुके त्यागसे और ज्ञानसे अज्ञानसहित मनके क्षयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार जैसे दीपकसे नानात्वको प्राप्त हुए सौ दीपक होते हैं, वैसे ही अद्वितीय परम वस्तु (चिदात्मा) ही नानात्वको प्राप्त होता है। अथवा केवल चेत्य (विषय) ही नाना नहीं हुआ है, किन्तु पूर्वोक्त रीतिसे चित्में प्रत्येक उपाधिके भेदसे नानात्व-सा हो गया है ॥ १ ॥

जैसे चितका चित्तके अधीन जीवत्वकी कल्पनासे बन्ध होता है, वैसे ही चित्तके अधीन विचार और तत्त्वज्ञानसे मुक्ति भी होती है, इस गूढ़ आशयसे कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादिसे ।

यदि पुरुष अपने अन्तःकरणमें द्वैतके आग्रहसे रहित, यथास्थित (अनारोपितरूप) तथा नामरूपसे शून्य आत्माका विचार करता है, तो वह वैसा ही उसे देखता है, तब वह शोक नहीं करता ॥ २ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि विचारसे चित्तकी शान्ति होनेपर कैसे सब द्वैतकी शान्ति होती है ? इसपर कहते हैं—'चित्तमात्रम्' इत्यादिसे ।

जीव चित्तमात्र ही है, चित्तसे अतिरिक्त नहीं है, चित्तके हट जानेपर यह जगत् शान्त (विनष्ट) हो जाता है, जैसे जिस पुरुषके चरण जूतेसे आवृत्त रहते हैं, वह समझता है कि सारी पृथिवी चमड़ेसे आच्छन्न है वैसे ही जिसका चित्तसे छुटकारा हो जाता है उसकी दृष्टिमें जगत् असत् है ॥ ३ ॥

पत्रमात्रादृते नाऽन्यत् कदल्या विद्यते यथा ।
भ्रममात्रादृते नाऽन्यज्जगतो विद्यते तथा ॥ ४ ॥
जायते बालतामेति यौवनं वार्द्धकं ततः ।
मृतिं स्वर्गं च नरकं भ्रमाच्चेतो हि नृत्यति ॥ ५ ॥
विचित्रबुद्बुदोल्लासे स्वात्मनो व्यतिरेकिणि ।
यथा सुरायाः सामर्थ्यं तथा चित्तस्य संसृतौ ॥ ६ ॥
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षि मलाविलम् ।
चिच्चेतनकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ॥ ७ ॥
यथा मदवशाद् भ्रान्तान् क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान् संसारांश्चित् प्रपश्यति ॥ ८ ॥
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृच्चक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ॥ ९ ॥

जैसे केलेके वृक्षमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही जगत्‌में भी केवल भ्रमको छोड़कर और कुछ नहीं रहता ॥ ४ ॥

पैदा होता है, बालक बनता है, जवान होता है, फिर बुढ़ापेको प्राप्त होता है, मरण, स्वर्ग और नरकको प्राप्त होता है, यह सब भ्रमवश चित्तका नाच है ॥ ५ ॥

जैसे आकाशमें अनेक हजार बुद्बुद्के आकारकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेमें मद्यकी सामर्थ्य है, वैसे ही ब्रह्माण्डरूपी अनन्त बुद्बुद्रूप तथा आत्मासे अभिन्न संसारको उत्पन्न करनेमें चित्तकी सामर्थ्य है ॥ ६ ॥

जैसे मलसे कलुषित नेत्र एक चन्द्रमें द्वित्व देखता है, वैसे ही चित्तकी कला यानी भ्रान्तिजननशक्तिसे आक्रान्त यानी पराधीनकी गई जीवचित् परमात्मामें द्वित्वको देखती है ॥ ७ ॥

जैसे मद्य आदिके नशेमें मस्त हुआ पुरुष नशेके कारण वृक्षोंको घूमते हुए देखता है, वैसे ही जीवचित् चित्तसे विक्षुब्ध (कल्पित) संसारोंको देखती है ॥ ८ ॥

जैसे बालक खेलकूदमें भ्रमणसे जगत्‌को कुलालके चाकके समान घूमता हुआ देखते हैं, वैसे ही जीव चित्तसे इस दृश्यको देखते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

यदा चिच्चेतति द्वित्वं तदा द्वैतैक्यविभ्रमः ।
यदा न चेतति द्वैतं तदा द्वैतैक्ययोः क्षयः ॥ १० ॥
यच्चेत्यते तदितरन्नातिरिक्तं चितोऽस्ति न ।
किञ्चिन्नाऽस्तीति संशान्त्या चितः शाम्यति चेतनम् ॥ ११ ॥
चिद्घनेनैकतामेत्य यदा तिष्ठति निश्चलः ।
शाम्यन् व्यवहरन् वाऽपि तदा संशान्त उच्यते ॥ १२ ॥
तन्वी चेतयते चेत्यं घना चिन्नाऽङ्ग चेतति ।
अल्पक्षीबः क्षोभमेति घनक्षीबो हि शाम्यति ॥ १३ ॥

जब जीवचित् द्वित्वका अनुभव करती है, तब द्वैत और ऐक्यका भ्रम होता है । जब चित् द्वैतका अनुभव नहीं करती तब द्वैत और ऐक्यका विनाश हो जाता है ॥ १० ॥

जिसका अनुभव होता है, वह चित्से अतिरिक्त जड़रूप नहीं है, यानी प्रतीतिकालमें भी द्वैतसत्ता नहीं है ।

शङ्का—तब चित्तकी शान्ति कैसे होती है ?

समाधान—चित्से अतिरिक्त जड़रूप कुछ नहीं है, यों दृश्यकी शान्ति होनेपर विषय न रहनेपर निरिन्धन (काष्ठशून्य) अग्निके समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

पुरुष जीवन्मुक्त कब होता है, इस शङ्कापर कहते हैं—'चिद्घने०' इत्यादिसे ।

जब पुरुष चिद्घन परमात्मासे एकताको प्राप्त होकर निश्चल रहता है, चाहे वह समाधिमें लीन हो चाहे व्यवहार करता हो तब संशान्त कहा जाता है ॥१२॥

अल्पज्ञ जीवकी चिद्घनके साथ एकता होनेपर सर्वज्ञता ही होगी निर्विषयतारूप संशान्ति नहीं होगी, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—'तन्वी' इत्यादिसे ।

अत्यल्प चित् विषयका अनुभव करती है, घन चित् विषयका अनुभव नहीं करती है, जैसे कि थोड़ा पागल पुरुषका चित्त चमक उठता है, लेकिन अत्यन्त पागल व्यापारशून्य होकर रहता है । भाव यह है कि चित्की सविषयता केवल चित्त्वसे नहीं होती किन्तु अविद्याविक्षेपयुक्त चित्त्ववश होती है ।

चिद्घनैकप्रपातस्य रूढस्य परमे पदे।
नैरात्म्यशून्यवेद्याद्यैः पर्यायैः कथनं भवेत् ॥ १४ ॥
चिच्चेतनेन चेत्यत्वमेत्येवं पश्यति भ्रमम्।
जातो जीवामि पश्यामि संसरामीत्यसन्मयम् ॥ १५ ॥
स्वभावाद्व्यतिरिक्तं तु न चित्तस्याऽस्ति चेतनम्।
स्पन्दादृते यथा वायोरन्तः किन्नाम चेत्यते ॥ १६ ॥
चेत्यत्वं सम्भवत्येवं किञ्चिद्यच्चेत्यते चिता।
रज्जुसर्पभ्रमाभासं तमविद्याभ्रमं विदुः ॥ १७ ॥

उक्त सविषयता ज्ञान तथा समाधिकी दृढ़तासे उद्‌बुद्ध हुई चिद्‌घनकी एकतासे अविद्याविक्षेपके हट जानेपर दूर हो जाती है। जो ईश्वर आदिकी सर्वज्ञता है, वह भी मायिकी ही है, वास्तविकी नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

जिसका ध्यान निरन्तर चिद्‌घनके सिवा अन्य विषयमें नहीं रहता है, अतएव चिद्घनरूप परमपदमें आरूढ़ यानी निर्विकल्पक समाधि तथा आत्मसाक्षात्कारसे युक्त चित्तका नैरात्म्य (स्वरूपशून्यता), शून्यवेद्य (निर्विषयता) आदि पर्याय-शब्दोंसे प्रतिपादन होता है ॥ १४ ॥

चित्‌में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदिकी कल्पना भी चित्तके कारण ही होती है, चित्तके शान्त होनेपर चित्‌में उक्त चेत्यता, जड़ता आदि दूर हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'चिद्' इत्यादिसे ।

चित् चित्तके व्यापार द्वारा ही चेत्यताको प्राप्त होती है और मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखती हूँ, संसारको प्राप्त होती हूँ इस प्रकारके असत्य भ्रमको देखती है ॥ १५ ॥

चेतन चित्तके व्यापारस्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, वह समाधि तथा ज्ञानके अभ्याससे भले ही उपरत हो जाय, किन्तु चित्त कहाँ उपरत हुआ? यानी अनुपरत ही रहा, ऐसी शङ्कापर कहते हैं—'स्वभावात्' इत्यादिसे ।

चेतन चित्तके स्वभावसे अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि स्पन्दको छोड़कर वायुका दूसरा स्वभाव नहीं है। जैसे उष्णताके हट जानेपर वह्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही व्यापारके नष्ट हो जानेपर चित्त अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि चेतनव्यापारके सिवा चित्तके अन्दर किसी दूसरे स्वरूपका कोई अनुभव नहीं करता ॥ १६ ॥

इस प्रकार चित्तके हट जानेपर चित्‌में चैत्यका प्रथन (प्रकाश) न होनेसे

संविन्मात्रचिकित्स्येऽस्मिन्व्याधौ संसारनामनि ।
चित्तमात्रपरिस्पन्दे संरम्भो न च किञ्चन ॥ १८ ॥
यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः ।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः ॥ १९ ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गाभा विनश्यत्येव वीक्षणात् ।
संविन्मात्रविवर्तेन नश्यत्येव हि संसृतिः ॥ २० ॥
यत्राऽभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि ।
प्राप्त एवाऽङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम् ॥ २१ ॥
अपि प्राणांस्तृणमिव त्यजन्तीह महाशयाः ।
यत्राऽभिलाषस्तन्मात्रत्यागे कृपणता कथम् ॥ २२ ॥

और जो वस्तु प्रकाशमान नहीं है, उसका साधक कोई दूसरा न होनेके कारण उसकी असिद्धि होनेसे वह सुतरां अपगत ही है, ऐसा कहते हैं—'चेत्यत्वम्' इत्यादिसे ।

चित्से जिस किसीका अनुभव होता है, वह चेत्य है, रज्जुमें सर्पभ्रमके तुल्य प्रतीत होनेवाले उसे अविद्याभ्रम कहते हैं ॥ १७ ॥

इस संसारनामक व्याधिका केवल ज्ञानमात्रसे प्रतीकार हो सकता है, यह चित्तका एक व्यापारमात्र है, इसमें किसी प्रकारका आयास नहीं है । यदि आप सबका परित्याग कर वासनामय चित्तसे रहित होकर स्थित हों, तो एक ही पलकमें मुक्त हो जायँगे, उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है ॥ १८, १९ ॥

जैसे सम्यग्-दर्शनसे रज्जुमें सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रत्यङ्मुख होकर स्वतत्त्वदर्शनसे यह संसार नष्ट हो ही जाता है ॥ २० ॥

जिस वस्तुमें अभिलाषा हो, उसका सर्वथा त्याग कर यदि पुरुषसे रहा जा सके, तो मोक्ष उसे प्राप्त ही है, केवल इतनेमें कौन-सी दुष्करता यानी कठिनाई है ॥ २१ ॥

जब इस संसारमें महामहिमशाली पुरुष अपने प्राणोंका भी तृणके समान परित्याग कर देते हैं, तब जिस वस्तुकी केवल अभिलाषा है, उस वस्तुका परित्याग करनेमें कृपणता कैसी ? ॥ २२ ॥

यत्राऽभिलाषस्तत्त्यक्त्वा चेतसा निरवग्रहम् ।
प्राप्तं कर्मेन्द्रियैर्गृह्णँस्त्यजन्नष्टं च तिष्ठ भोः ॥ २३ ॥
यथा करतले बिल्वं यथा वा पर्वतः पुरः ।
प्रत्यक्षमेव तस्याऽलमजत्वं परमात्मनः ॥ २४ ॥
आत्मैव भाति जगदित्युदितस्तरङ्गैः
कल्पान्त एक इव वारिधिरप्रमेयः ।
ज्ञातः स एव हि ददाति विमोक्षसिद्धिं
त्वज्ञात एव मनसे चिरबन्धनाय ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० संसृतिपरमयोगो नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥



जिस वस्तुमें अभिलाषा हो, उस वस्तुका अपने चित्तसे परित्याग कर प्राप्त वस्तुका कर्मेन्द्रियोंसे आसक्तिरहित होकर ग्रहण करते हुए और नष्ट वस्तुका शोक न करते हुए आप स्थित रहिए ॥ २३ ॥

जैसे हाथमें रक्खा हुआ बिल्वफल अथवा सामने स्थित पर्वत सबके प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तिरोहित नहीं रहते, वैसे ही उक्तलक्षण तत्त्वविद्की अजता (जन्मादि-विकारशून्यब्रह्मता) अत्यन्त प्रत्यक्ष ही है, किसीसे तिरोहित नहीं है ॥ २४ ॥

जैसे प्रलयकालीन एक असीम समुद्र तरङ्गोंसे अनेक प्रकारका प्रतीत होता है, वैसे ही अप्रमेय आत्मा ही जगद्रूपसे आविर्भूत होकर अज्ञ लोगोंकी दृष्टिसे प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञानसे अभिव्यक्त होकर मोक्षरूप पुरुषार्थको देता है और अज्ञात होकर पहले तो सम्पूर्ण अनर्थोंके कारणभूत चित्तता (मनोभाव) के लिए होता है, तदनन्तर चित्तनिबन्धन चिरबन्धनके लिए होता है ॥ २५ ॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त



सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

मनस्त्वयोग्यो जीवोऽयं को भवेत् परमात्मनः ।
कथं वाऽस्मिन् समुत्पन्नः को वाऽयं वद मे पुनः ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा ।
ययैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ २ ॥

सड़सठवाँ सर्ग

[भोक्ता जीवके स्वरूपका प्रतिपादन]

समष्टिकी प्रधानतासे उक्त जीवको व्यष्टिकी प्रधानता द्वारा स्पष्टरूपसे जाननेकी इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं—'मनस्त्व०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! मनकी सृष्टि करके 'मैं मन हूँ' यों मनके तादात्म्यका अपनेमें अध्यास करनेसे मनस्ताके योग्य यह जीव परमात्माका क्या है ? क्या परमात्माका अंश है ? अथवा कार्य है ? किंवा वह (परमात्मरूप) ही है ? यदि परमात्मा ही है, तो अपनेमें वह कैसे उत्पन्न हुआ ? यानी क्या परिणामसे उत्पन्न हुआ या विवर्तसे ? यदि अपनेमें परिणामसे उत्पन्न हुआ है तो अनित्य हो जायगा । यदि विवर्तसे उत्पन्न हुआ है, तो वह बाध्य हो जायगा । यदि अपनेमें उत्पन्न नहीं हुआ है, तो भोक्ताकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि परमात्मासे अतिरिक्त द्वितीय कोई है नहीं और परमात्मामें अशना आदिका अभाव श्रुति स्वयं कहती है, इसलिए परमात्माको भोक्ता कह नहीं सकते । यदि भोक्ता कोई अन्य है, तो वह कौन है ? क्या परमात्माका सजातीय है या विजातीय है ? यों एक भी पक्ष सङ्गत नहीं होता, इसलिए मेरे सन्देहको हटानेके लिए आप पुनः कहिए ॥ १ ॥

जिसकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, ऐसी मायाशक्तिसे युक्त ब्रह्म, जो कि परमार्थरूपसे अविकृत और अद्वितीय है, मायावश द्वितीयताको (भेदको) प्राप्त हुए-से अपनेमें विविध औपाधिक विकारोंका आरोप कर असंख्य जीवोंके वेशसे और सर्वज्ञ ईश्वररूपसे क्रीड़ा करनेमें समर्थ है, इसलिए

स्वयं यां वेत्ति सर्वात्मा चिरं चेतनरूपिणीम् ।
सा प्रोक्ता जीवशब्देन सैव सङ्कल्पकारिणी ॥ ३ ॥
स्वभावात् कारणं द्वित्वं पूर्वसङ्कल्पचित्स्वयम् ।
नानाकारणतां पश्चाद्याति जन्ममृतिस्थितेः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ दैवं नाम किमुच्यते ।
किमुच्यते तथा कर्मकारणं च किमुच्यते ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधानके लिए भूमिका बाँधते हैं—'**समस्त०**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सदा सब शक्तियोंसे परिपूर्ण ब्रह्म सब कुछ करनेके लिए समर्थ है । वह जहाँपर जिस शक्तिसे प्रस्फुरित होता है, वहाँपर वह अपनेको उसी शक्तिसे सम्पन्न देखता है ॥ २ ॥

सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकालसे जिस चेतनरूपिणीको यानी चित्तके संस्कारसे उपहित (उपाधियुक्त) चैतन्यको (जीवशक्तिको) स्वयं जानता है, वह इस समय 'जीव' नामसे पुकारी जाती है और वही सङ्कल्परूपिणी है ॥ ३ ॥

अपनेमें स्वाभाविक द्वितीयता (भेद) ही आगे होनेवाले संसारकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण है, पहले-पहलेके सङ्कल्पोंकी वासनाओंसे युक्त जीवचैतन्य तो केवल पीछे होनेवाली विचित्रताका कारण है, ऐसा कहते हैं—'**स्वभावात्**' इत्यादिसे ।

आत्मामें स्वभाविक द्वितीयता संसारका मुख्य कारण है, पूर्व पूर्व सङ्कल्पोंकी वासनाओंसे वासित जीवचित् तो पीछे जन्म, मरण आदि नाना भावोंकी कारण होती है ॥ ४ ॥

इसीसे मेरे प्रश्नके अवशिष्ट अंशका भी उत्तर हो चुका, यों सोच रहे श्रीरामचन्द्रजी उक्त जीवके जन्म-मृत्यु आदिके हेतु दैव, कर्म आदिको वस्तुतः जाननेके लिए पूछते हैं—'**एवं स्थिते**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, आपके कथनानुसार जीवके स्वरूपके हृदयमें प्रतिष्ठित होनेपर मैं आपसे पूछता हूँ कि दैव किसको कहते हैं, कर्म किसे कहते हैं तथा कारण क्या कहा जाता है ? ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्पन्दास्पन्दस्वभावं हि चिन्मात्रमिह विद्यते ।
खे वात इव तत्स्पन्दात् सोल्लासं शान्तमन्यथा ॥ ६ ॥
चित्त्वं चित्तं भावितं सत्स्पन्द इत्युच्यते ।
दृश्यत्वाभावितं च तदस्पन्दनमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥
स्पन्दात् स्फुरति चित्सर्गो निःस्पन्दाद् ब्रह्म शाश्वतम् ।
जीवकारणकर्माद्या चित्स्पन्दस्याऽभिधा स्मृता ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आकाशमें स्पन्दस्वभाववाला और अस्पन्दस्वभाववाला वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही इस संसारमें स्पन्दस्वभाववाला (रजोगुणप्रधान मायासे उपहित) तथा अस्पन्दस्वभाववाला (शुद्ध) चिन्मात्र ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वह चेतन स्पन्दसे उल्लासयुक्त (सृष्टिमें तत्पर) होता है और स्पन्द न होनेसे शान्त ही रहता है ॥ ६ ॥

उक्त दो प्रकारके चिन्मात्रोंमें से प्रथम यानी स्पन्दस्वभाव (रजोगुणप्रधान मायासे उपहित) चित्का विवरण करते हैं—'चित्त्वम्' इत्यादिसे ।

चित् द्वारा अपने स्वाभाविक चित्त्वकी ही अविद्यावश यदि विषयके आकारमें कल्पना (भावना) की जाय, तो चित्ताकार (विषयाकार) बना हुआ अपना स्वाभाविक चित्त्व ही विद्वानों द्वारा स्पन्द कहलाता है, यदि चित् अपने स्वाभाविक चित्त्वकी दृश्यत्वरूपसे भावना नहीं करती है, तो उक्त स्वाभाविक चित्त्व अस्पन्द कहलाता है ॥ ७ ॥

स्पन्दसे चित्की प्रपञ्चरूपता और अस्पन्दसे निष्प्रपञ्चरूपता ऐसा निष्कर्ष होनेपर स्पन्दका ही जीव, कारण, कर्म, दैव आदि नामसे निर्देश होता है, ऐसा तात्पर्यार्थ कहते हैं—'स्पन्दात्' इत्यादिसे ।

चित् स्पन्दसे सृष्टिरूपमें स्फुरित होती है और स्पन्दाभावसे अविनाशी ब्रह्मरूप है । जीव, कारण, कर्म आदि चित्के स्पन्दके ही नाम हैं । भाव यह कि वह चैतन्य ही प्राणस्पन्दकी विवक्षासे जीव कहलाता है, अपने भीतर स्थित कार्योंके आविर्भावरूप स्पन्दकी विवक्षासे कारण कहा जाता है, शरीर आदिके स्पन्दकी विवक्षासे कर्म कहलाता है । कर्म ही, जो कि सूक्ष्म

य एवाऽनुभवात्माऽयं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ ९ ॥
कृतद्वित्वचिदाभासवशाद् देहमुपस्थितम् ।
सङ्कल्पादिविधार्थत्वं चित्स्पन्दो याति सृष्टिषु ॥ १० ॥
नानाकारणतां यातश्चित्स्पन्दो मुच्यते चिरात् ।
कश्चिज्जन्मसहस्रेण कश्चिदेकेन जन्मना ॥ ११ ॥

अवस्थावाला, चिरकालसे स्थित और फलके आरम्भमें तत्पर होता है, दैव कहा जाता है ॥ ८ ॥

जीव, कारण, कर्म और दैवकी ज्ञानरूप ब्रह्मकी सत्ताके अवलम्बनसे ही सत्ता और अपना कार्य करनेकी क्षमता है, ऐसा कहते हैं—'य' इत्यादिसे ।

फलतः जो ही ज्ञानरूप है, वही उक्तरूपसे चित्का स्पन्द (स्फुरण) है और वही जीव, कारण और कर्म नामवाला है एवं वह संसारका बीज है ॥ ९ ॥

जो यह पूछा था कि यदि जीव परमात्मा ही है, तो वह परमात्मामें कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका उत्तर कहते हैं—'कृतद्वित्व०' इत्यादिसे ।

जिसने भेदकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसे चिदाभासके कारण (बुद्धिमें आत्माके प्रतिबिम्बके कारण) चित्स्पन्द सृष्टिकालमें तत् तत् विविध कर्मोंके अनुसार पहले मरनेके समय बुद्धिमें प्राप्त हुए देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीरोंको और पूर्वके संकल्पोंके अनुसार विविध भोग्य पदार्थरूपताको प्राप्त होता है । चित्का आभास यानी स्वीय अविद्यामें प्रतिबिम्ब स्फुरित होकर जो द्वैत होता है, उसी द्वैतसे अर्थात् उक्त द्वित्वभावसे शास्त्रमें उक्त क्रमसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, इसलिए चित्स्पन्द ही अपने संकल्पके अनुसार सृष्टिके आदिमें विविध भोग्य आकारोंको प्राप्त होता है, यह भाव है ॥ १० ॥

विविध हजारों योनियोंको देनेवाले कर्म, कारण और दैवको प्राप्त हुआ कोई चित्स्पन्द, जिसकी शास्त्रीय प्रवृत्ति मन्द है, चिरकालमें मुक्ति पा जाता है, किसीको मुक्ति पानेमें हजारों जन्म बीत जाते हैं और कोई, जिसे ज्ञानाधिकार प्राप्त हो गया है, एक ही जन्ममें मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

स्वभावात् कारणाद् द्वित्वं चित्समेत्याऽधिगच्छति ।
स्वर्गापवर्गनरकबन्धकारणतां शनैः ॥ १२ ॥
हेम्नीव कटकादित्वं काष्ठलोष्टसमस्थितौ ।
देहे तिष्ठति नानात्वं जडे भावविकारजम् ॥ १३ ॥
अजातमप्यसद्रूपं पश्यतीदं मनोभ्रमः ।
जातः स्थितो मृतोऽस्मीति भ्रमार्तः पत्तनं यथा ॥ १४ ॥
अहं ममेत्यसद्रूपमेव चेतः प्रपश्यति ।
अदृष्टपरमार्थत्वादाशाविवशसंस्थिति ॥ १५ ॥

जिस प्रकारकी उपाधिसे मिल जाय उस रूपसे स्फुरण चित्का स्वभाव है जैसे कि प्रकाश नीले कपड़ेमें नीला, लालमें लाल और पीलेमें पीला होता है। उक्त स्वभावके कारण ही चित् देहके जन्मके कारण अन्नरसोंसे, उनके द्वारा पिता-माताके शरीरोंसे ऐक्यको प्राप्त होकर धीरे धीरे स्वर्ग मोक्ष, नरक, वध, बन्ध आदिके कारणभूत देहभावको प्राप्त होती है ॥१२॥

सुवर्णमें कटकत्व, केयूरत्व आदिके समान काठ और ढेलेके समान जड़ देहमें जन्म, वृद्धि आदि छः भावविकारोंसे उत्पन्न भेद रहता है। देह आदि उपाधियां पञ्चमहाभूतोंकी विकार हैं, पञ्चभूतोंमें भी पीछे-पीछेके पञ्चमहाभूत पूर्व पूर्व महाभूतोंके विकार हैं, यों उनके अखण्डाकाशमात्र होनेपर सत्य भेदका अवकाश नहीं है, इस आशयसे सुवर्ण-कटक दृष्टान्त दिया गया है ॥१३॥

इस प्रकार भेदके मिथ्या होनेपर भी जो जन्म आदि भेदज्ञान होता है, वह मनका भ्रम ही है, ऐसा कहते हैं—'अजातमपि' इत्यादिसे।

न तो यह नानात्व (भेद) अभी उत्पन्न हुआ है और न इसका स्वरूप ही सत् है तथापि मनका भ्रम इसे देखता है, जैसे भ्रमसे पीड़ित पुरुष घूमते हुए नगरका पतनका अनुभव करता है, वैसे ही मनोभ्रममें भी मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा, मरा इस प्रकार अनुभव करता है ॥ १४ ॥

जितने भेदज्ञान हैं, उनका मूल 'अहम् , मम' यह भेदकल्पना ही है, उसके भी परमात्माके स्वरूपका अज्ञान और भोगकी आशाका संस्कार क्रमसे मूल हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे।

परमार्थ वस्तुका दर्शन न होनेके कारण विवश हुआ चित्त 'अहम्, मम' इत्यादिरूप संसारको, जो असद्रूप ही है, देखता है ॥ १५ ॥

मथुराधिपते राज्ञो यथा श्वपचसंभ्रमः ।
आसीदेवं हि चित्तस्य स्फुरतीयं जगत्स्थितिः ॥ १६ ॥
सर्वमेव मनोमात्रभ्रान्त्युल्लासविजृम्भणम् ।
इदं जगत्तया राम प्रस्फुरत्यम्बुभङ्गवत् ॥ १७ ॥
शिवात् प्राकारणात् पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखी ।
उदेति सौम्याज्जलधेः पयःस्पन्दो मनागिव ॥ १८ ॥
स्फुरणाज्जीवचक्रत्वमेति चित्तोर्मितां दधत् ।
चिद्वारि ब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान् ॥ १९ ॥
स्वस्थः सौम्य समस्यैतद्यत् सिंहस्य विजृम्भणम् ।
ब्रह्मणः संविदाभासस्तत्संचेत्यमिव स्वयम् ॥ २० ॥

उक्त विषयमें आगे कहे जानेवाले लवणोपाख्यानका दृष्टान्तरूपसे निर्देश करते हैं—'मथुरा॰' इत्यादिसे ।

जैसे मथुराधिपति राजा लवणका अपनेमें 'मैं चाण्डाल हूँ' ऐसा भ्रम हुआ था, वैसे ही यह जगत्-स्थिति, जो कि चित्तकी भ्रान्तिरूप है, स्फुरित होती है ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल तरङ्गरूपसे स्फुरित होता है, वैसे ही मनकी भ्रान्तिका प्रचुर उल्लासरूप यह सब जगत्‌रूपसे स्फुरित होता है ॥ १७ ॥

जैसे सौम्य (निश्चल यानी तरङ्गरहित) समुद्रसे पहले थोड़ा-थोड़ा जलका संचलन होता है यानी तरङ्ग उठती हैं, वैसे ही मङ्गलमय कारणभूत परमात्मासे पहले चेत्यकल्पनोन्मुखी (सृष्टिके उन्मुख) चित् (चेतनशक्ति) उदित होती है ॥ १८ ॥

चित्-रूपी जल ब्रह्मरूपी समुद्रमें स्फुरणसे (संचलन या स्पन्दनसे) जीवरूपी आवर्तताको धारण करता है तथा चित्तरूपी तरङ्गोंको धारण करता हुआ बुद्बुदरूपी सृष्टियोंकी रचना करता है ॥ १९ ॥

हे सौम्य श्रीरामचन्द्रजी, अपने बोधमात्रसे मायाबन्धनका विनाश करनेवाले या सिंहके सदृश अचिन्तनीय शक्तिवाले ब्रह्मका जो मायासे देहधारण है, वही आत्मस्थित संविदाभास जीवके सदृश स्थित है, वही स्वयं विषयरूप-सा होकर स्थित है, उससे पृथक् नहीं है, यह भाव है ॥ २० ॥

चित्संवित्त्योच्यते जीवः सङ्कल्पात् स मनो भवेत् ।
बुद्धिश्चित्तमहङ्कारो मायेत्याद्यभिधं ततः ॥ २१ ॥
तन्मात्रकल्पना पूर्वं तनोतीदं जगन्मनः ।
असत्यं सत्यसंकाशं गन्धर्वनगरं यथा ॥ २२ ॥
यथा शून्ये दृशः स्फारान्मुक्तावल्यादिदर्शनम् ।
यथा स्वप्ने भ्रमश्चैव तथा चित्तस्य संसृतिः ॥ २३ ॥
शुद्ध आत्मा नित्यतृप्त इव शान्तः समस्थितः ।
अपश्यन् पश्यतीवेमं चित्ताख्यं स्वप्नविभ्रमम् ॥ २४ ॥
संसृतिर्जाग्रदित्युक्तं स्वप्नं विदुरहंकृतिम् ।
चित्तं सुषुप्तभावः स्याच्चिन्मात्रं तुर्यमुच्यते ॥ २५ ॥

जिन उपाधियोंसे जीव, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि शब्दोंका भेद है, उनको कहते हैं—'चित्संवित्त्यो०' इत्यादिसे ।

वह चित् ही चिदाभाससे जीव, संकल्प करनेसे मन, निश्चय करनेसे बुद्धि, स्मरण करनेसे चित्त, अभिमान करनेसे अहङ्कार तथा विक्षेपशक्तियुक्त होनेसे माया कहलाती है ॥ २१ ॥

उनमें सङ्कल्पप्रधान मन पहले शब्द आदि सूक्ष्म भूतोंकी (तन्मात्राओंकी) कल्पना कर जगत्की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं—'तन्मात्र०' इत्यादिसे ।

मन पहले भूततन्मात्राओंकी कल्पना करता है, तदनन्तर इस जगत्का विस्तार करता है, जो कि गन्धर्वनगरके तुल्य असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

मनसे कल्पित वस्तु मनसूबोंसे बनी हुई वस्तुके समान मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें दृष्टिके विस्तारसे मोतियोंकी मालाओंका दर्शन होता है और जैसे स्वप्नमें नगर आदिका भ्रम होता है, वैसे ही यह चित्तसे कल्पित संसार भ्रम ही है ॥ २३ ॥

जगत्का साक्षी तो नित्य शुद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—'शुद्ध' इत्यादिसे ।

विशुद्ध, अशना, पिपासा आदिके अभावसे नित्यतृप्त-सा, शान्त तथा समस्थित आत्मा इस चित्तनामक स्वप्नभ्रमको न देखता हुआ भी देखता-सा है ॥ २४ ॥

उस शुद्ध आत्माका इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलना जागरण कहा गया है, भीतर अहंभावसे युक्त उसीका हृदयसे कण्ठ तक निकलना स्वप्न कहा गया है,

अत्यन्तशुद्धे सन्मात्रे परिणामनिरामयम् ।
तुर्यातीतं पदं तत् स्यात् तत्स्थो भूयो न शोचति ॥ २६ ॥
तस्मिन् सर्वमुदेतीदं तस्मिन्नेव प्रलीयते ।
न चेदं न च तत्रेदं दृष्टौ मुक्तावली यथा ॥ २७ ॥
अरोधकत्वात् खं हेतुर्यथा वृक्षसमुन्नतेः ।
अकर्ताऽपि तथा कर्ता चेतनाब्धिर्जगत्स्थितेः ॥ २८ ॥
सन्निधानाद्यथा लौहः प्रतिबिम्बस्य हेतुताम् ।
यात्यादर्शस्तथैवाऽयं चिन्मयोऽप्यर्थवेदने ॥ २९ ॥

स्मरणके बीज वासनामात्रसे हृदयमें स्थिति सुषुप्ति है, केवल चिन्मात्ररूपसे स्थिति तुर्यावस्था है ॥ २५ ॥

इस प्रकार शोधित प्रत्यगात्माकी अत्यन्त शुद्ध सन्मात्र ब्रह्मात्मामें परिणतिसे निर्विकार जो स्थिति है, वही तुर्यातीत पद है, उस पदमें स्थित पुरुष फिर शोक नहीं करता है ॥ २६ ॥

अशोधित तत्पदार्थमें स्थितिकी शङ्काका निवारण करनेके लिए उसका शोधन 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस श्रुतिसे परिदर्शित रीतिके अनुसार दिखलाते हैं—'**तस्मिन्**' इत्यादिसे ।

उसमें यह सब उदित होता है, उसीमें रहता है और उसीमें लीन हो जाता है, न तो यह ब्रह्म जगत्-रूप है और न उसमें जगत्का सम्बन्ध है, जैसे दृष्टिके विस्तारसे आकाशमें मुक्तावलीका भ्रम होता है, वैसे ही मायावश इस जगत्का भ्रम होता है ॥ २७ ॥

यदि उसमें जगत्का कोई संसर्ग नहीं है, तो श्रुतिने उसे जगत्का हेतु कैसे कहा ? इसपर कहते हैं—'**अरोधकत्वात्**' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षकी उन्नतिमें (वृद्धिमें) अवरोधक (रुकावट डालनेवाला) न होनेसे आकाश वृक्षकी उन्नतिका कारण है, वैसे ही चैतन्यसमुद्र परमात्मा जगत्-सृष्टिका कर्ता न होनेपर भी उसका अवरोधक न होनेसे कर्ता कहा जाता है । भाव यह कि माया द्वारा रचित सृष्टिका केवल निवारण न करनेमात्रसे उसमें कर्तृत्वका उपचार होता है ॥२८॥

जैसे लोहेका बना हुआ दर्पण सन्निधिमात्रसे प्रतिबिम्बका हेतु होता है, वैसे ही चेतनमय परमात्मा सन्निधिमात्रसे पदार्थप्रतीतिमें कारण होता है ॥ २९ ॥

बीजमङ्कुरपत्रादियुक्त्या यद्वत् फलं भवेत् ।
चिन्मात्रं चित्तजीवादियुक्त्या तद्वन्मनो भवेत् ॥ ३० ॥
स्वतो बीजफला विम्रुड् यथा बीजं पुनर्भवेत् ।
तथा चिच्चेत्यचित्तादि त्यक्त्वा स्वस्था न तिष्ठति ॥ ३१ ॥
यद्यप्यबोधे बोधे वा बीजान्तस्तरुबीजयोः ।
इयान् भेदोऽस्ति न जगद्ब्रह्मणोरपि चित्तयोः ॥ ३२ ॥
तथाऽपि व्यज्यते बोधे सत्यात्मकमखण्डितम् ।
रूपश्रीरिव दीपेन चिन्मात्रालोकरूपि यत् ॥ ३३ ॥

जैसे बीज, अङ्कुर, पत्ते आदिके क्रमसे फल होता है, वैसे ही चिन्मात्र चित्त, जीव आदिके क्रमसे मन होता है ॥ ३० ॥

यदि किसीको शङ्का हो कि प्रलयकालमें सबका लय होनेपर चित् सदा वैसी ही स्वस्थ क्यों नहीं रहती, तो इसपर कहते हैं—'स्वतः' इत्यादिसे ।

स्वर्गप्राप्तिके लिए किये गये पुण्य कर्मका स्वर्गमें भोग कर चुकनेपर उसमें से जो अवशिष्ट अंश रह जाता है, वह अनुशय है । जैसे उक्त अनुशयवाले जीवसे युक्त वृष्टिका जलबिन्दु वृक्ष, धान, गेहूँके पेड़-पौधोंमें प्रविष्ट होकर फिर बीज होता ही है, उदासीन (बीज होनेसे विरत) नहीं होता, वैसे ही जीवकी वासनासे वासित चित् भी चेत्य, चित्त आदिकी सृष्टिके रूपसे फिर होती ही है, उसे छोड़कर स्वस्थ नहीं होती ॥ ३१ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जैसे बीजमें सूक्ष्मरूपसे स्थित वृक्षका और उसके बीजका बोध हो चाहे न हो, पर उसमें जो वृक्षजननशक्ति है, वह नष्ट नहीं होती वैसे ही चित्तात्मताको प्राप्त हुए जगत् और ब्रह्मका भी तत्त्वतः बोध हो चाहे न हो कोई अनन्तर न होगा, ऐसी परिस्थितिमें बोधकी विफलता होगी, इसपर कहते हैं—'यद्यपि' इत्यादिसे ।

यद्यपि वृक्ष तथा बीजका बोध हो अथवा न हो, परन्तु सूक्ष्मरूपसे बीजके मध्यमें स्थित जो वृक्ष और बीज हैं, उनकी वृक्षजननशक्ति नष्ट नहीं होती है, यह भेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है तथापि चित्तभूत जगत् और ब्रह्ममें यह बात नहीं ही है यानी चित्तभूत जगत् और ब्रह्मका वास्तविक बोध हो जानेपर वृक्ष और बीजके समान उनमें सृष्टिजननशक्ति नहीं रहती है । क्योंकि बीज और वृक्षके बोधमात्रसे वास्तविक अखण्डित स्वरूप व्यक्त नहीं होता, ब्रह्मबोधसे तो दीपकसे

यद्यन्निखन्यते भूमेर्यथा तत्तन्नभो भवेत् ।
या या विचार्यते विद्या तथा सा सा परं भवेत् ॥ ३४ ॥
स्फटिकान्तःसन्निवेशः स्थाणुतावेदनाद्यथा ।
शुद्धेऽनानाऽपि नानेव तथा ब्रह्मोदरे जगत् ॥ ३५ ॥
ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम् ।
फलपत्रलतागुल्मपीठबीजमिव स्थितम् ॥ ३६ ॥
श्रीराम उवाच
अहो चित्रं जगदिदमसत्सदिव भासते ।
अहो बृहदहो स्वस्थमहो स्फुटमहो तनु ॥ ३७ ॥

रूपशोभाके समान वह चिन्मात्रके आलोकसे दिखाई देनेवाला तत्त्व व्यक्त हो जाता है, यानी और बातोंमें समानता होनेपर भी उन दोनोंमें इतनी विलक्षणता है ॥३२,३३॥

बोधकी ऐसी सामर्थ्य कैसे है ? यदि कोई ऐसी शङ्का करे, तो उसपर बोध, विचारजन्य होनेके कारण, तत्त्वावगाही है, इस आशयसे कहते हैं—'यद्यत्' इत्यादिसे ।

जैसे भूमिका जो जो स्थान खोदा जाता है, वह आकाश हो जाता है, वैसे ही जिस जिस आविद्यिक घट, पट आदिका विचार किया जाता है, वह अधिष्ठानभूत सन्मात्र हो जाता ॥ ३४ ॥

जैसे स्फटिकके अन्दर प्रतिबिम्बित वन आदि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसा जाने बिना सत्य प्रतीत होता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्मके अन्दर अद्वितीय भी यह जगत् भिन्न-सा प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

जैसे एक अखण्ड स्फटिकशिला फल, पत्ते, लता, झाड़ी और उनके आधार तथा उनके अन्तर्गत बीजरूपसे स्थित है, वैसे ही यह ब्रह्म जगद्रूपसे स्थित है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वर्णित जीव, मन, बुद्धि और अहङ्कारस्वरूप जगत्की मायामात्रताको सुनकर आश्चर्यमग्न हुए, गुरुवचनोंमें विश्वास होनेके कारण स्वयं अनुवाद द्वारा उसका अनुमोदन करते हुए पञ्चभूत और तन्मात्राओंके इन्द्रियों सहित समष्टि, व्यष्टि, और स्थूल-शरीरभावके उत्पत्तिक्रमको जाननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अहो बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह जगत् स्वयं असत् हो कर भी सत्-सा प्रतीत होता है, क्षुद्र होता हुआ भी

ब्रह्मणि प्रतिभसात्मा तन्मात्रगुणगोलकः ।
अवश्यायकणाभासो यथा स्फुरति तच्छ्रुतम् ॥ ३८ ॥
यथाऽसौ याति वैपुल्यं यथा भवति चाऽऽत्मभूः ।
यथा स्वभावसिद्धार्थात् तथा कथय मे प्रभो ॥ ३९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अत्यन्तासम्भवद्रूपमनन्यत् स्वस्वभावतः ।
अत्यन्ताननुभूतं सत्स्वानुभूतमिवाऽग्रतः ॥ ४० ॥
उल्लासफुल्लो फुल्लाङ्ग इति बालहृदि स्फुटम् ।
यथोदेति तथोदेति परे ब्रह्मणि जीवता ॥ ४१ ॥
मानमेयात्मिका शुद्धा सत्यैवाऽसत्यवत् स्थिता ।
भिन्नेव च न भिन्ना स्याद् ब्रह्मणो बृंह्मणात्मिका ॥ ४२ ॥

यह कैसा विस्तृत, कैसा स्वस्थ और कैसा स्पष्ट प्रतीत होता है ? यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार ब्रह्ममें प्रतिभासस्वरूप और ओसके बिन्दुके समान तन्मात्रा-रूप गुणसे युक्त यह ब्रह्माण्ड स्फुरित होता है, वह मैंने आपसे सुना । पर जैसे यह यथार्थस्वभावसिद्ध आत्मवस्तुसे विपुलताको यानी समष्टि, व्यष्टि, स्थूल देहताको प्राप्त होता है और जैसे व्यष्टि, समष्टिका उपभोग करनेवाला वैश्वानररूपवाला होता है, वैसा आप मुझसे कहिए ॥ ३८,३९ ॥

पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर देनेके लिए सर्वप्रथम अत्यन्त असम्भावित अनिर्वचनीय स्थूलतापर्यन्त सम्पूर्ण वासनाओंसे वृद्धिको प्राप्त हुए जीवभावके आविर्भावको दृष्टान्त-पूर्वक दिखलाते हैं—'अत्यन्ता०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जीव अत्यन्त असंभावित, अत्यन्त अननुभूत और अनन्य होता हुआ भी पहले अनुभूत-सा प्रतीत होता है । जैसे वास्तवमें विकसित अङ्गसे शून्य भी वेताल बालकके हृदयमें विकसित अङ्गवाला होकर स्पष्टरूपसे उदित होता है, वैसे ही स्वस्वभावरूप जीवता परब्रह्ममें उदित होती है ॥ ४०,४१ ॥

जो वस्तु अनुभूत नहीं है, उसका मनन नहीं हो सकता तथा अनुभव प्रमाण और प्रमेयके अधीन है, इसलिए मनोभावके निमित्त प्रमाण और प्रमेयकी वासनाओंकी उत्पत्ति कहते हैं—'मान०' इत्यादिसे ।

यथा ब्रह्म भवत्याऽऽशु जीवः कलनजीवितः ।
तथा जीवो भवत्याशु मनो मननवेदनात् ॥ ४३ ॥
चित्तं तन्मात्रमननं पश्यत्याशु स्वरूपवत् ।
एष सद्योऽनिललवप्रख्यः स्फुरति खान्तरे ॥ ४४ ॥
अस्तनिमेषोऽनुभवत्यवश्यायकणोपमम् ।
संवेदनात्मकं कालकलितं कान्तमात्मनि ॥ ४५ ॥
अहं किमिति शब्दार्थवेदनाभोगसंविदम् ।
संविदं तत्त्वशब्दार्थं जीवः पश्यति सार्थकम् ॥ ४६ ॥
तादृक्षवेदनात् सोऽथ रसशब्दार्थवेदनम् ।
भाविजिह्वार्थनाम्नैकदेशेऽनुभवति क्षणात् ॥ ४७ ॥

वह जीवता, जो मानमेयरूप, शुद्ध, सत्य होती हुई असत्यके समान स्थित है, ब्रह्मसे भिन्न न होती हुई भी भिन्न-सी प्रतीत होती है, ब्रह्मका बृंहणात्मक जो स्वरूप है, तद्रूप है ॥ ४२ ॥

जैसे ब्रह्म शीघ्र जीव, जिसका कल्पना ही स्वरूप है, हो जाता है, वैसे ही जीव मननवासनासे उत्पन्न होनेके कारण मन बन जाता है ॥ ४३ ॥

वह मन पञ्चतन्मात्राओंका मनन करनेसे अपनेको पञ्चतन्मात्रारूपमें आविर्भूत देखता है, यानी पञ्चतन्मात्राओंका मनन करनेसे पञ्चतन्मात्रात्मा बन जाता है, यह भाव है। अविच्छिन्न दृग्रूपवाला और अतिसूक्ष्म वह पञ्चतन्मात्रात्मा शीघ्र चिदाकाशमें स्फुरित होता है और उसके स्वतःप्रकाशमान होनेपर अपनी स्फूर्तिसे संवेदनात्मक सृष्टिकालवश पञ्चीकरण द्वारा उत्पादित, सुवर्णमय होनेसे सूर्यके समान प्रकाशमान अपरिच्छिन्न चित् दृष्टि द्वारा ओसके बिन्दुके सदृश ब्रह्माण्डरूप और मनुष्य आदिके देहरूपको अपनेमें देखता है ॥ ४४, ४५ ॥

उसमें पहले शब्द और अर्थके विभागकी स्फूर्तिसे मोहाक्रान्त अहन्ताध्यास और तदनन्तर संसारतत्त्वस्मरण होता है, ऐसा कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

जीव मैं क्या हूँ, यों तात्त्विक रूपसे या मनुष्य आदिके आकाररूपसे विशेषतया ज्ञानको प्राप्त नहीं होता है, मोहाक्रान्त संवित्को पहले देखता है, तदुपरान्त पुरुषार्थविचारके साथ हजारों पूर्व जन्मोंके स्मरणसे गर्भमें जगत् और तत्त्वशब्दके अर्थको तथा ज्ञानको देखता है ॥ ४६ ॥

जीवकी क्रमशः इन्द्रियोंकी कल्पनाको कहते हैं—'तादृक्ष०' इत्यादिसे ।

ताद्दक्षवेदनात्तेजः शब्दार्थोन्मुखतां गतः ।
भविष्यन्नेत्रनाम्नैकदेशे भवति भासनम् ॥ ४८ ॥
ताद्दक्षवेदनात् सोऽथ घ्राणं तद्दृष्टिवेदनात् ।
स्थितो यस्मिन् भवतीति तावद्दृश्यादिता स्थिता ॥ ४९ ॥
एवंप्रायः स जीवात्मा काकतालीयवच्छनैः ।
विशिष्टसंनिवेशत्वं भावितं पश्यति स्वतः ॥ ५० ॥
स तस्य सनिवेशस्य त्वसतोऽपि सतः सतः ।
शब्दभावैकदेशत्वं श्रवणार्थेन विन्दति ॥ ५१ ॥
स्पर्शभावैकदेशत्वं त्वक्शब्दार्थेन विन्दति ।
रसभावैकदेशत्वं रसनात्वेन विदन्ति ॥ ५२ ॥
रूपभावैकदेशत्वं नेत्रार्थाकृति पश्यति ।
गन्धभावैकदेशत्वं नासिकात्वेन पश्यति ॥ ५३ ॥

तदनन्तर शरीरपिण्डमें अस्फुट अहंभावके ज्ञानसे शरीरके मुखरूप एकदेशमें भावी रसनेन्द्रिय और उसके विषय रसके नामसे उपलक्षित रसनेन्द्रियका क्षणभरमें वह जीव अनुभव करता है ॥ ४७ ॥

तदनन्तर शरीरपिण्डमें अस्फुट अहंभावके ज्ञानसे चक्षुरिन्द्रिय और उसके विषय रूपकी ओर उन्मुख हुआ जीव शरीरके एक देश चक्षुगोलकमें भावी नेत्रनामसे उपलक्षित चक्षुरिन्द्रिय होता है ॥ ४८ ॥

तदनन्तर शरीरपिण्डमें अस्फुट अहंभावके ज्ञानसे घ्राणेन्द्रियके दर्शनके सङ्कल्पसे घ्राण हो जाता है, इस प्रकार श्रोत्र आदिके भावमें भी जबतक वह स्थित रहता है, तबतक शब्द आदि दृश्यका उपभोग करनेका उसका स्वभाव हो जाता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकारका वह जीवात्मा धीरे-धीरे काकतालीयन्यायके अनुसार पूर्व-वासनासे कल्पित स्वयं विशिष्ट देहादिसन्निवेशका अनुभव करता है ॥ ५० ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा उसका शब्द आदिभोग होनेपर तत्-तत् इन्द्रियोंमें तादात्म्याध्यासको कहते हैं—'स तस्य' इत्यादिसे ।

असत् होता हुआ भी सत् और सत्त्वसम्पन्न उस इन्द्रियादिसंघातके श्रोत्र-रूप देहैकदेशताको श्रवणरूप क्रियाके लिए वह प्राप्त होता है। स्पर्शभावरूप त्वगिन्द्रियरूप देहैकदेशताको स्पर्शक्रियाके लिए प्राप्त होता है। रूपभाव यानी

एवं भावमयैः सत्ताप्रकटीकरणक्षमम् ।
भविष्यदिन्द्रियाख्यं स रन्ध्रं पश्यति देहके ॥ ५४ ॥
इत्येवमादिजीवस्य राघवाऽद्यतनस्य च ।
उदेति प्रतिभासात्मा देह एवाऽऽतिवाहिकः ॥ ५५ ॥
अनाख्येयं परा सत्ताऽस्याऽऽतिवाहिकतामिव ।
सा गच्छत्यप्यगच्छन्ती तादृक्सत्यात्मभावनात् ॥ ५६ ॥
मातृमेयप्रमाणादि यदा ब्रह्मैव वेदनात् ।
तदाऽऽतिवाहिकोक्तीनां कः प्रसङ्गस्तदेव तत् ॥ ५७ ॥
अन्यत्ववेदनादन्यः परस्मादातिवाहिकः ।
ब्रह्मत्ववेदनाद् ब्रह्म सा संवित्तिर्हि नाऽन्यजा ॥ ५८ ॥

चक्षुरिन्द्रियरूप देहैकदेशताको दर्शनरूप क्रियाके लिए देखता है, घ्राणेन्द्रियरूप देहैकदेशताको गन्धग्रहणक्रियाके लिए प्राप्त होता है ॥ ५१–५३ ॥

इस प्रकार उक्त और अनुक्त भावमय इन्द्रियोंसे भावमय देहमें बाह्य पदार्थोंकी सत्ताको प्रकट करनेमें समर्थ भावी इन्द्रियनामक छिद्रको देखता है ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार आदि जीव यानी समष्टिरूप और अद्यतन (व्यष्टि) जीवका प्रतिभासस्वरूप आतिवाहिक ही शरीर उत्पन्न होता है ॥५५॥

ब्रह्मके ही अज्ञानसे विविध आतिवाहिक देहोंकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे आतिवाहिक देहोंका अपगम हो जाता है, ऐसा कहते हैं—'अनाख्येयम्' इत्यादिसे।

आतिवाहिक देहकी यह परा सत्ता अवर्णनीय ही है । वह सत्ता ब्रह्मके अपरिज्ञानसे मानो आतिवाहिकताको प्राप्त होती है और ब्रह्मरूप सत्य आत्माके परिज्ञानसे उसका आतिवाहिकभाव नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

जब ब्रह्मके परिज्ञानसे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तब आतिवाहिक देहोंकी उक्तिका क्या प्रसङ्ग है ? यानी वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं ही । भाव यह है कि आतिवाहिक देहादि द्वारा अध्यारोप और अपवादकी कल्पना भी व्युत्पत्त्याधायक व्यवहारदृष्टिसे ही है, परमार्थदृष्टिसे नहीं है ॥ ५७ ॥

भेदज्ञानसे आतिवाहिक ब्रह्मसे अन्य प्रतीत होता है और ब्रह्मत्वज्ञानसे तो वह आतिवाहिक ब्रह्म ही है । यदि ज्ञानानुसार ही वस्तुकी सिद्धि होती है तो ब्रह्मत्ववेदन और अन्यत्ववेदनमें विशेष क्या हुआ ? तो इसपर कहते हैं—'सा

श्रीराम उवाच

असंभवादसंविसेर्ब्रह्मात्मैकतयाऽथवा ।
को मोक्षः को विचारश्चेत्यलं भेदविकल्पनैः ॥ ५९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तकाल एवैष प्रश्नस्ते राम राजते ।
अकालपुष्पमाला हि शोभनाऽपि न शोभते ॥ ६० ॥
सार्थैवाऽनर्थिकाऽकालमाला विलसिता यथा ।
तथैवाऽकालमिज्जन्तौ सर्वं काले हि शोभते ॥ ६१ ॥

संविचिः' इत्यादि । ब्रह्मत्वज्ञानरूप संविचि भ्रान्तिजन्य नहीं है, अतः ब्रह्मत्ववेदन प्रमात्मक है और अन्यत्ववेदन भ्रमात्मक है ॥ ५८ ॥

यदि ऐसा है, तो चिदेकरस ब्रह्ममें अज्ञानका सम्पर्क न होनेसे अज्ञान न होनेके कारण जीवभेदकी कल्पना ही नहीं होगी अथवा ब्रह्मैकत्व ही स्वतः-सिद्ध होगा, अपनेसे अतिरिक्त मोक्षरूप फल और उसके प्रापक विचारका संभव ही नहीं है, तो प्रवृत्ति कैसे होगी ? ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'असंभवात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अज्ञानका असम्भव होनेसे अथवा ब्रह्मा-त्मैकताकी स्वतः-सिद्धि होनेसे क्या मोक्ष है और क्या विचार है ? इसलिए भेदकल्पनाएँ विफल हैं ॥ ५९ ॥

क्या यह प्रश्न तात्त्विक वस्तुको जानकर किया गया है अथवा बिना जाने । यदि जानकर किया गया है, तो विचारकी अनर्थकतामें हमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि बिना जाने किया गया है तो इस प्रश्नका अवसर ही नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'सिद्धान्तकाले' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धान्तकालमें ही आपका यह प्रश्न सुशोभित हो सकता है। अकालमें उत्पन्न फूलोंकी माला कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, शोभा नहीं देती। क्योंकि उससे उत्पातजनित अनर्थोंकी आशङ्कासे भय होता है ॥६०॥

जैसे अत्यन्त शोभमान भी अकाल-पुष्पमाला तत्कालमें उपभोगसुख देनेके कारण सार्थक भी क्यों न हो, तथापि औत्पातिक अनर्थोंकी जननी होनेके कारण लोगोंको हर्षित नहीं कर सकती, अतः वह अनर्थकारिणी ही होती है, वैसे ही परिपाकदशाको (सिद्धदशाको) जो जीव प्राप्त न हो, उसके विषयमें अकालोत्पन्न उक्ति अनर्थ-

नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चिद्विनश्यति ।
जगद्गन्धर्वनगररूपेण ब्रह्म जृम्भते ॥ ६६ ॥
यथैव पद्मजादीनां जीवानां सदसन्मयी ।
सत्ता तथैव सर्वेषामासरीसृपमासुरम् ॥ ६७ ॥
संवित्सम्भ्रम एवाऽयमेवमभ्युत्थितोऽप्यसन् ।
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक् संवेदनात् क्षयः ॥ ६८ ॥
यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा ।
कीटस्तु रूढभूतौघवलनात् तुच्छकर्मकः ॥ ६९ ॥

आरोप द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ है, अतः उसमें और तलमलिनता आदिमें क्या अन्तर है ? ॥ ६५ ॥

इस प्रकार सृष्टिका प्रतिपादन प्रपञ्चके मिथ्यात्वका बोधन करनेके लिए ही है, वास्तविक सृष्टिके प्रतिपादनके लिए नहीं है, इस अभिप्रायसे 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुतिके आशयको अभिव्यक्त करते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई विनष्ट होती है, ब्रह्म ही जगद्रूपी गन्धर्वनगरके आकारसे स्फुरणको प्राप्त होता है ॥ ६६ ॥

जीवत्व भी जगत्कोटिमें ही है, ऐसा दर्शानेके लिए जगत्की सत्ता जीव-सत्ताके तुल्य है, ऐसा कहते हैं—'यथैव' इत्यादिसे ।

जैसे हिरण्यगर्भ आदि जीवोंकी सत्ता सदसन्मयी यानी यौक्तिक दृष्टिसे विचारसहन नहीं कर सकती, वैसे ही नीचे कीट, पतङ्ग आदि तक और ऊपर देव-योनिपर्यन्त सबकी सत्ता विचारासह ही है यानी अनिर्वचनीय ही है ॥ ६७ ॥

परमार्थदृष्टिसे तो कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मासे लेकर कीट, पतङ्गपर्यन्त प्रसिद्ध संवित्ति (वृत्त्यात्मक ज्ञान) से अनु-भवारूढ भी यह संवित्संभ्रम असत् ही है, क्योंकि इसका सम्यक् ज्ञानसे बाध हो जाता है ॥ ६८ ॥

'आब्रह्मकीटसंवित्तेः' इस अंशका उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे ब्रह्मा उत्पन्न होता है, वैसे ही कीड़ा भी उत्पन्न होता है ।

शङ्का—कीड़ेमें क्षुद्रकर्मता कैसे ?

समाधान—भौतिक मालिन्यके आधिक्यसे कीड़ा क्षुद्र कर्म करता है ॥ ६९ ॥

यदेव जीवनं जीवे चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
तदेव पौरुषं तस्मिन् सारं कर्म तदेव च ॥ ७० ॥
ब्रह्मणः सुकृतात् पापात् कीटकस्य समुत्थितेः ।
चित्तन्मात्रात्मिका भ्रान्तिः प्रेक्षामात्रं भवेत् क्षयः ॥ ७१ ॥
मातृमानप्रमेयाणि न चिन्मात्रेतरद्यतः ।
ततो द्वैतैक्यवादार्थः शशशृङ्गाब्जिनीसमः ॥ ७२ ॥
भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते ।
आत्मैव कोशकारेण लालादार्ढ्यात्मकं यथा ॥ ७३ ॥

जीवमें जो ही विषयोन्मुख चैतन्यरूप जीवन है, वही उसमें पौरुष है, वही फलरूपमें पर्यवसन्न होनेवाला कर्म है, वह कर्म ही पौरुष है। यानी उपाधिका अनुसरण करनेवाली जीवता है और जीवताका अनुसरण करनेवाला पौरुष है, पौरुष ही फलपर्यवसायी कर्म है और उक्त कर्म ही पौरुष है ॥ ७० ॥

उन दोमें सुकृतरूप सारके उत्कर्षकी चरम सीमाका फल ब्रह्मता है, और दुष्कृतरूप सारके उत्कर्षकी चरम सीमाका फल कीटता है, इस प्रकार वैचित्र्यके कारण भिन्न होनेपर भी दोनोंमें अज्ञातचिन्मात्रप्रयुक्त जो द्वैत-भ्रान्ति है और ज्ञानमात्रसे उसका विनाश होता है, ये दोनोंमें समान ही हैं, ऐसा कहते हैं—'ब्रह्मण' इत्यादिसे।

ब्रह्माका पुण्यसे आविर्भाव होता है, और कीड़ेका पापसे। चिन्मात्रके अज्ञानसे भ्रान्ति होती है और उसके ज्ञानसे भ्रान्तिका क्षय हो जाता है ॥७१॥

यदि कोई शङ्का करे कि जबतक प्रमाता प्रमाणसे प्रमेयरूप द्वैतका अनुभव करता है, तब तक द्वैत है और उसके नष्ट होनेपर ऐक्य ही है, इस प्रकार सबका क्रमशः द्वैत और ऐक्यस्वभावत्व ही वास्तविक क्यों न मान लिया जाय, इसपर कहते हैं—'मातृमान०' इत्यादिसे।

द्वैत माता और मानसे प्रमेय नहीं है, क्योंकि माता, मान आदिरूप द्वैतको भी अन्य माता, मान आदिकी अपेक्षा होनेके कारण अनवस्थापत्ति हो जायगी। माता, मान आदिकी चिन्मात्रता होनेपर द्वैत और ऐक्यके साधक अन्यका अभाव होनेसे द्वैत और ऐक्यवाद शशशृङ्ग और आकाशकुसुमके तुल्य हैं ॥ ७२ ॥

यदि शङ्का हो कि मानसे मेय यदि द्वैत नहीं है, तो करोड़ों कुद्दालोंसे दुर्भेद्य भुवन आदिभाव दृढ़तारूप द्वैत कैसे प्रतीत होता है, तो इसपर कहते हैं—'भाव०' इत्यादिसे।

मनसा ब्रह्मणा यद्यद्यथा दृष्टं विभावितम् ।
तत्तथा दृश्यते तज्ज्ञैः स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७४ ॥
यथा यदुदितं वस्तु तत्तत्तन्न विना भवेत् ।
निमेषमपि कल्पं वा स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७५ ॥
अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते ।
अलीकमेव स्वदते तथाऽलीकं विलीयते ॥ ७६ ॥

ब्रह्मानन्दरूप आत्मा ही बन्धनमें डालनेवाला भुवन आदिभावदार्ढ्यरूप द्वैत है, ऐसा भ्रान्तिसे प्रतीत होता है, जैसे रेशमके कीड़े द्वारा अपनी लारकी दृढ़तारूप बन्धनका अनुभव किया जाता है, वैसे ही आत्माके द्वारा भी स्वबन्धक भुवनभावदार्ढ्य रूप द्वैतका अनुभव किया जाता है ॥ ७३ ॥

यदि बन्धन स्वकल्पित ही है, तो प्रत्येक पुरुषमें उसकी अभिलाषाके अनुसार ही कल्पना होगी, अनिष्टकल्पना नहीं होनी चाहिए, ऐसी आशङ्कापर कहते हैं—'मनसा' इत्यादिसे ।

सब मनोंके समष्टिरूप ब्रह्माने भोक्ताके कर्मानुसार जिस जिस वस्तुको जिस प्रकार स्रष्टव्यरूपसे देखा और जैसे कार्यके लिए उसकी कल्पना की, वह वस्तु अन्य जीवों द्वारा वैसी ही देखी जाती है ! क्योंकि नियतिका ऐसा निश्चय है ॥ ७४ ॥

वटके बीजसे ही वटका अङ्कुर होता है, कुटजके बीजसे वटका अङ्कुर नहीं होता और बुद्बुद कुछ ही निमेष तक रहते हैं, ब्रह्माण्ड महाकल्प तक रहता है, इस प्रकार हेतु, फल आदिकी नियतिके बलसे भी अपनी इच्छाके अनुसार कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जो वस्तु जिससे उदित हुई है, उसके बिना वह उदित नहीं होती । निमेष भर कोई रहे या कल्प भर कोई रहे, यह नियतिका निश्चय है ॥ ७५ ॥

हम लोगोंकी अस्वतन्त्रताके प्रभावसे और नियति द्वारा निर्धारित शक्ति, काल आदिकी व्यवस्थाके देखनेसे यह जगत् सत्य ही है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'अलीकम्' इत्यादिसे ।

यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है और मिथ्या ही वृद्धिको प्राप्त होता है, भोगकालमें यह मिथ्या ही रोचक प्रतीत होता है और मिथ्या ही विलीन होता है ॥ ७६ ॥

शुद्धं सर्वगतं ब्रह्माऽनन्तमद्वितीयं दुरवबोधवशादशुद्धमिवाऽसदिवाऽनेकमिवाऽसर्वगमिवाऽवबुद्ध्यते ॥ ७७ ॥

जलमन्यत्तरङ्गोऽन्य इति बालकुकल्पनया भेदः कल्प्यत एवमवास्तवस्तस्माद्यो योऽयमाभाति भेदः स केवलमतत्त्वविद्भिः परिकल्पितो रज्ज्वां सर्प इव एवं भेदाभेदशक्त्योररिमित्रयोरेव ब्रह्मण्येव संभवेत् ॥ ७८ ॥

तेनाऽऽत्मनाऽद्वितीयेनैव द्वित्वमिवाऽऽततं यथा सलिलेन तरङ्गकल्पनया सुवर्णेन कटककल्पनयैवमिति अतस्तेन स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्माऽन्य इव चेत्यते ॥ ७९ ॥

अतः कलना जाता सैव स्फारतां प्राप्य मनः संपन्नं तेनाऽहंभावः कल्पितो निर्विकल्पप्रत्यक्षरूपमेतत्प्रथमं तन्मनस्तदहं भवति क्षिप्रमहंशब्दार्थभावनात् ॥ ८० ॥

तीन सर्गोंमें पद्यों द्वारा जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहा गया है, उसीको गद्यों द्वारा संक्षेपसे दिखलाते हैं—'शुद्धम्' इत्यादिसे ।

शुद्ध सर्वव्यापक ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है, भ्रान्तिवश अशुद्ध-सा असत्-सा, नाना-सा, असर्वव्यापक-सा ज्ञात होता है ॥ ७७ ॥

जैसे जल भिन्न है और तरङ्ग भिन्न है, ऐसी मूर्खोंकी कुकल्पनासे अवास्तविक भेद प्रतीत होता है, वैसे ही जो यह जगत्का भेद प्रतीत होता है, वह भी अवास्तविक है केवल अज्ञानियोंने उसकी कल्पना कर रक्खी है। जलका तरङ्ग परिणाम है, यह माना जाय तो विवर्त स्फुट नहीं होगा, इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'रज्ज्वां सर्प इव' से। जैसे रज्जुमें सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्ममें ही शत्रु और मित्रके समान विरुद्ध और अविरुद्ध कभी भी अपने स्वभावका परित्याग न करनेवाली भेदाभेदशक्तियोंकी स्थिति है ॥ ७८ ॥

जैसे जल तरङ्गोंकी कल्पनासे द्वित्वका विस्तार करता है, जैसे सुवर्ण कटककी कल्पनासे द्वित्वका विस्तार करता है, वैसे ही उसी अद्वितीय प्रत्यक् आत्माने मानो द्वित्वका विस्तार कर रक्खा है। अतः उस आत्मासे स्वयं अन्य आत्माका अनुभव होता है ॥ ७९ ॥

इस ब्रह्मसे निर्विकल्पक जगत्का स्फुरण हुआ, वही सविकल्पकताको प्राप्त होकर मन बन गया, उसने अहंभावकी कल्पना की। यह पहले निर्विकल्प

ततो मनोऽहङ्काराभ्यां स्मृतिरनुसंहिता तैस्त्रिभिस्तदनुभूततन्मात्राणि कल्पितानि तन्मात्रेषु जीवेन चित्तात्मना स्वयं काकतालीयवद् ब्रह्मोपादानादियान्सन्निवेशः कल्पितो दृश्यते ॥ ८१ ॥

एवं यदेव मनः कल्पयति तदेव पश्यति । सद्वा भवत्वसद्वा चिरं यत्कल्पयत्यभिनिविष्टम् । तत्तत्पश्यति यास्यति सदिव प्रतिभासमुपगतं सद्यः ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो॰ सत्योपदेशो नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥



प्रत्यक्षरूप था, वह मन होता है, शीघ्र 'अहम्' शब्दके अर्थकी भावना करनेसे 'अहम्' होता है ॥ ८० ॥

तदनन्तर मन और अहङ्कारसे अनुभवके अनुसार स्मृति उत्पादित हुई, मन, अहङ्कार और स्मृति—इन तीनोंने स्मृति द्वारा अनुभूत यानी अनुभवानुसार स्मरण किये गये तन्मात्रोंकी कल्पना की (सृष्टि की), तन्मात्राओंमें चित्तरूप जीवने ब्रह्मरूप उपादानकारणसे अनन्तब्रह्माण्डोंसे विस्तृत संसारसागरकी काकतालीयन्यायसे कल्पना की ॥ ८१ ॥

पूर्वमें जिसका वर्णन किया गया है, उस सृष्टिक्रमका लोक भी ठीक ऐसे ही स्वप्नमें अनुभव करते हैं, ऐसा कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे ।

मन जिस वस्तुकी कल्पना करता है, उसको देखता है ।

शङ्का—स्वप्नके पदार्थ प्रातिभासिक असत् होते हैं, वे व्यावहारिक सत् पदार्थोंके दृष्टान्त कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—चिरकालसे उस पदार्थकी भावनासे युक्त चित्त जिस वस्तुकी कल्पना करता है, वह सत् हो चाहे असत् हो, उसको अवश्य देखता है । दर्शनसे सत्यके समान प्रतिभासित हुआ वह शीघ्र व्यवहारोपयोगी बन जायगा ॥ ८२ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त



अष्टषष्टितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
राक्षस्योक्तं महाप्रश्नजालमावलिताखिलम् ॥ १ ॥
अस्ति कज्जलपङ्काद्रेरिवोग्रा शालभञ्जिका ।
हिमाद्रेरुत्तरे पार्श्वे कर्कटी नाम राक्षसी ॥ २ ॥
विषूचिकाभिधाना च नाम्नाऽप्यन्यायबाधिका ।
विन्ध्याटवीव देहेन शुष्का कार्श्यमुपागता ॥ ३ ॥
महाबलाऽग्निनयना रोदोरन्ध्रार्धपूरणी ।
नीलाम्बरधरा कृष्णा देहबद्धेव यामिनी ॥ ४ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

[कर्कटीनामक राक्षसीका तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेकी इच्छासे की गई उसकी उग्र तपस्याका वर्णन]

विस्तार और संक्षेपसे पहले वर्णित अर्थको दृढ़ करनेके लिए 'कर्कट्युपाख्यान' नामक इतिहास द्वारा राक्षसीका किरातराज तथा मन्त्रीके साथ हुए संवादको कहनेकी इच्छासे कर्कट्युपाख्यानका अवतरण करते हैं—'अत्रैव' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी इसी विषयमें राक्षसी द्वारा कथित अनेक प्रश्नोंसे युक्त इस प्राचीन इतिहासको कहते हैं, जिसमें कि तात्त्विक विचारसेसम्पूर्ण जगत् स्थित है ॥ १ ॥

हिमालयपर्वतके उत्तर बगलमें काजलके पङ्कसे या काजलके पर्वतसे बनाई गई प्रतिमाके समान काली, उग्र कर्म करनेवाली कर्कटीनामकी राक्षसी थी। उसके दो नाम थे—एक विषूचिका और दूसरा अन्यायबाधिका । वह विन्ध्याचलके समान शरीरसे शुष्क और बड़ी कृशताको प्राप्त हुई थी । वह बड़ी बलवती थी, उसके नेत्र अग्निके सदृश देदीप्यमान थे, उसका शरीर इतना विशाल था कि वह आकाश और पृथिवीके मध्यवर्ती भागको अपने शरीरसे आधा भर देती थी । वह नीले वस्त्र पहनती थी और ऐसी काली थी कि मालूम पड़ता था मानो मूर्तिमती अँधेरी

नीहारवसनच्छन्ना मेदुराभ्रशिरःपटा ।
लम्बाभ्रबिम्बोल्लसिता नित्योत्थतिमिरोर्ध्वजा ॥ ५ ॥
स्थिरविद्युल्लतानेत्रा तमालतरुजानुका ।
वैदूर्यशूर्पाग्रनखी भस्मनीहारहासिनी ॥ ६ ॥
निर्मांसनरदेहौघपुष्पस्रग्दामभूषिता ।
सर्वाङ्गोदात्तसम्प्रोतशवमालाविराजिता ॥ ७ ॥
वेतालावेशविचलत्कालकङ्कालकुण्डला ।
अर्कादानोत्कदीर्घाग्रभीमोग्रभुजमण्डला ॥ ८ ॥
तस्या विपुलकायत्वाद् दुर्लभत्वाभिजान्धसः ।
अतृप्तोऽर्णवलेखाया इवाऽभूज्जाठरो नलः ॥ ९ ॥
न कदाचन सा तृप्तिमुपयाता महोदरी ।
वडवानलजिह्वेव चिन्तयामास चैकदा ॥ १० ॥
जम्बूद्वीपगतान् सर्वान् निगिरामि जनान् यदि ।
अनारतमनुश्वासं जलराशिमिवाऽर्णवः ॥ ११ ॥

रात हो । कुहरारूपी वस्त्रसे वह आच्छादित रहती थी, बड़े विशाल बादल ही उसके उत्तरीय वस्त्रका काम देते थे, वह जलसे भरे मेघमण्डलके समान उल्लासको प्राप्त हुई थी, कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकारके समान काले उसके केश थे, सदा रहनेवाली बिजलीकी रेखाके समान उसके नेत्र थे, उसकी पिण्डुलियाँ तमालके पेड़के समान लम्बी थीं, वैदूर्यमणिके रंगके समान रंगवाले तथा सूपके अग्रभागके आकारके समान आकारवाले उसके नख थे, भस्म और तुषारके समान उसका हास था, मांसरहित अनेक नरकङ्कालरूपी फूलोंकी माला ही उसका अलङ्कार था, सर्वाङ्गमें खूब पिरोई गई नरमालासे वह विराजमान थी, वेतालोंके साथ नाचनेके आवेशमें उसके काले-काले नरकङ्कालरूपी कुण्डल दायें बायें हिलते थे, उसका विशाल भुजमण्डलका अग्रभाग सूर्यको पकड़नेके लिए उत्कण्ठित-सा था, इससे बड़ा भयावना प्रतीत होता था ॥ २—८ ॥

उस कर्कटीका शरीर अत्यन्त विशाल था, अपनी जातिके अनुरूप आहार उसे नहीं मिलता था, अतएव उसकी जठराग्नि बड़वानलकी नाईं अतृप्तसी रहती थी ॥९॥

वह महोदरी कर्कटी बड़वानलकी जिह्वाके समान कभी भी तृप्त नहीं हुई। उसने एकबार विचार किया—यदि मैं जम्बूद्वीपमें रहनेवाले सब प्राणियोंको,

मेघेन मृगतृष्णेव तन्मे क्षुदुपशाम्यति ।
अविरुद्धैव सा युक्तिर्यया‌ऽऽपदि हि जीव्यते ॥ १२ ॥
मन्त्रौषधतपोदानदेवपूजादिरक्षितम् ।
सममेव जनं सर्वं निर्बाधं कः प्रबाधते ॥ १३ ॥
तपः करोमि परममखिन्नेनैव चेतसा ।
तपसैव महोग्रेण यद् दुरापं तदाप्यते ॥ १४ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा सर्वजन्तुजातजिघांसया ।
तपोर्थमथ सस्मार पर्वतं भूतदुर्गमम् ॥ १५ ॥
आरुरोह च तच्छृङ्गं स्थिरविद्युद्विलोचना ।
हस्तपादादिमद्देहा श्यामलेवाऽभ्रमण्डली ॥ १६ ॥
तत्र गत्वाऽथ सा स्नात्वा तपः कर्तुं कृतस्थितिः ।
अतिष्ठदेकपादेन चन्द्रार्कास्पन्दलोचना ॥ १७ ॥

जैसे सागर जलराशिको निगलता है, वैसे ही सदा और प्रत्येक श्वासमें निगलूँ, तो जैसे जल बरसनेसे मृगतृष्णा शान्त हो जाती है, वैसे ही मेरी क्षुधा शान्त हो सकती है । जिस युक्तिसे आपत्तिमें जीवित रहा जाय, वह युक्ति विरुद्ध नहीं है, परन्तु मन्त्र, ओषधि, तप, दान, देवपूजा आदिसे सुरक्षित सम्पूर्ण जनोंको एक साथ बे-रोक-टोक कौन बाधित कर सकता है ? भाव यह है कि एक साथ सब लोगोंको निगलनेकी युक्ति अशक्य होनेसे विरुद्ध ही है ॥ १०–१३ ॥

तो मेरी सर्वजनग्रसनमनोरथसिद्धि कैसे होगी ? इस शङ्कापर वह स्वयं कहती है—'तपः' इत्यादिसे ।

कभी परिश्रान्त न होनेवाले चित्तसे मैं परम तप करूँ, जो वस्तु दुर्लभ होती है, वह भी उग्र तपस्यासे प्राप्त हो जाती है, ऐसा मनमें विचार कर सम्पूर्ण जन्तुओंको मारनेकी इच्छासे उसने हिमालय पर्वतका, जहाँ अन्य प्राणी नहीं जा सकते, तपके लिए स्मरण किया । उसके नेत्र स्थिर विजलीके समान थे, वह हाथ, पैरसे युक्त आकृतिवाली काली मेघमालाके समान उस पर्वतके शिखर पर चढ़ी ॥ १४–१६ ॥

वहाँ जाकर तप करनेके लिए निश्चय कर उसने स्नान किया, तदनन्तर सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रदीप्त और निश्चल नेत्रवाली वह कर्कटी एक पैरसे खड़ी रही । शैलसे बनाई हुई प्रतिमाके समान शीत और आतपमें लीन उस

क्रमेण दिवसाः पक्षास्तस्या मासर्तवो ययुः ।
शीतातपेषु लीनायाः कृताया इव शैलतः ॥ १८ ॥
सा बभूवाऽभ्रमालायाः समा संस्तम्भिताकृतिः ।
कृष्णोऽर्ध्वगोर्ध्वकेशी च खमाहर्तुमिवोद्गता ॥ १९ ॥

आलोक्य तां पवनजर्जरिताङ्गकत्वक्
चीराङ्गणाकृतिरणत्पवनावधूतैः ।
ऊर्ध्वस्थमूर्द्धजतमःपटलैर्दधानां
तारौघमौक्तिकमजः समुपाजगाम ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने राक्षसीवर्णनं नाम अष्टषष्टितमः सर्गः ॥६८॥



कर्कटीके क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु बीत गये। उस कर्कटीने मेघमालाके समान अपनी आकृतिको स्थिर किया, उसका शरीर काला था, वह ऊपरको चलती थी, और उसके केश भी ऊपरको खड़े थे, अतः मालूम पड़ता था कि वह आकाशको निगलनेके लिए उत्पन्न हुई है ॥ १७–१९ ॥

शीत, उष्ण और धूलिसे रूक्ष वायुसे शिथिल हुए उसके कृश अङ्गोंकी लटक रही त्वचा ही उसका वस्त्र था, एक बड़ी सेनाके सदृश उसका आकार था, शब्दायमान वायुओं द्वारा हिलाये गये और खड़े केशरूपी अन्धकारपटलसे ताराररूपी मुक्तामालाको धारण कर रही उसको देखकर वर देनेके लिए ब्रह्माजी उसके पास आए ॥ २० ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

---:*:---

एकोनसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वर्षसहस्रेण तां पितामह आययौ ।
दारुणं हि तपः सिद्धै विषाग्निरपि शीतलः ॥ १ ॥
मनसैव प्रणम्यैनं सा तथैव स्थिता सती ।
को वरः क्षुच्छमायाऽलमिति चिन्तान्विताऽभवत् ॥ २ ॥
आ स्मृतं प्रार्थयिष्येऽहं वरमेकमिमं विभुम् ।
अनायसी चाऽऽयसी च स्यामहं जीवसूचिका ॥ ३ ॥
अस्योक्त्या द्विविधा सूचिर्भूत्वाऽलक्ष्या विशाम्यहम् ।
प्राणिनां सह सर्वेषां हृदयं सुरभिर्यथा ॥ ४ ॥
यथाभिमतमेतेन ग्रसेयं सकलं जगत् ।
क्रमेण क्षुद्विनाशाय क्षुद्विनाशः परं सुखम् ॥ ५ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग

[कर्कटी राक्षसीको मनोवाञ्छित वर देकर तथा गुणी लोगोंकी रक्षाके लिए मन्त्र कहकर ब्रह्माजीका अपने लोकमें जाना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, एक हजार वर्ष तक इस प्रकार कठिन तपस्या करनेपर ब्रह्माजी उसके पास वर देनेके लिए आये ।

शङ्का—कर्कटी अत्यन्त दुःशील थी, उसको अतिदुर्लभ ब्रह्माजीका प्रसाद कैसे प्राप्त हुआ ?

समाधान—दारुण तपस्या सिद्धिके लिए होती ही है, तपकी सिद्धि होनेपर और तो और विषयुक्त अग्नि भी शीतल हो जाती है, तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं रहता, यह भाव है ॥ १ ॥

वह मनसे ही ब्रह्माजीको प्रणाम कर वैसे ही स्थित रही, उसने मनमें विचार किया कि मेरी भूखकी शान्तिके लिए कौन वर उत्तम होगा ॥ २ ॥

हाँ, जो वस्तु मुझे माँगनी चाहिए उसकी मुझे स्फूर्ति हो गई । भगवान् ब्रह्माजीसे यह एक वर मांगूगी कि मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त सूचिका होऊँ । ब्रह्माजीके इस वरदानसे दो प्रकारकी सजीव सूचिका होकर जैसे नासिकासे आकृष्ट सुगन्धि प्राणियोंके हृदयमें अलक्ष्यरूपसे प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही सब प्राणियोंके हृदयमें एक साथ प्रविष्ट हो जाऊँगी । इस उपायसे

इति सञ्चिन्तयन्तीं तामुवाच कमलालयः ।
अन्यादृश्यास्तथा दृष्ट्वा स्तनिताभ्रारवोपमम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

पुत्रि कर्कटिके रक्षःकुलशैलाभ्रमालिके ।
उत्तिष्ठ त्वं तु तुष्टोऽस्मि गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥ ७ ॥

कर्कट्युवाच

भगवन् भूतभव्येश स्यामहं जीवसूचिका ।
अनायसी चाऽऽयसी च विधेऽर्पयसि चेद्वरम् ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमस्त्विति तामुक्त्वा पुनराह पितामहः ।
सूचिका सोपसर्गा त्वं भविष्यसि विषूचिका ॥ ९ ॥
सूक्ष्मया मायया सर्वलोकहिंसां करिष्यसि ।
दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ॥ १० ॥

अपनी अभिलाषाके अनुसार मैं सम्पूर्ण जगत्को अपनी क्षुधाकी निवृत्तिके लिए निगल जाऊँगी, संसारमें क्षुधानिवृत्तिसे बढ़कर दूसरा कोई आनन्द नहीं है ॥२—५॥

इस प्रकार विचार कर रही तथा शान्ति, दम, दया आदि तपस्वियोंके स्वभावके विरुद्ध हिंसाभिलाषिणी होनेके कारण तपस्विविपरीतस्वभाववाली कर्कटीके वज्रपातके तुल्य अभिलाषको देखकर ब्रह्माजीने उससे कहा ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—हे कर्कटिके, तुम राक्षसरूपी कुलपर्वतकी मेघमाला हो, उठो, तुम्हारे लिए मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ । तुम्हें जो वर चाहिए, मांगो ॥ ७ ॥

कर्कटीने कहा—भगवन्, आप अतीत, अनागत, वर्तमान सबके नियन्ता हैं, यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं, तो मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि जिससे मैं रोगरूपा और लोहमयी जीवयुक्त विषूचिका होऊँ ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही हो, ऐसा कहकर ब्रह्माजीने फिर उससे कहा—तुम उपद्रवोंसे युक्त सूचिका ही नहीं, किन्तु 'वि' उपसर्गके साथ विषूचिका होओगी ॥ ९ ॥

अपनी अलक्ष्य माया द्वारा सब लोगोंकी तुम हिंसा करोगी, जिनका आहार-विहार समुचित नहीं है, दुष्ट देशोंमें रहते हैं, ऐसे मर्यादारहित मूर्ख तथा

दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यसि ।
प्रविश्याऽऽहृदयं प्राणैः पद्मप्लीहादिबाधनात् ॥ ११ ॥
वातलेखात्मिका व्याधिर्भविष्यसि विषूचिका ।
सगुणं विगुणं चैव जनमासादयिष्यसि ॥ १२ ॥
गुणान्वितचिकित्सार्थं मन्त्रोऽयं तु मयोच्यते ।

ब्रह्मोवाच

हिमाद्रेरुत्तरे पार्श्वे कर्कटी नाम राक्षसी ॥ १३ ॥
विषूचिकाभिधाना सा नाम्नाऽप्यन्यायबाधिका ।

तस्या मन्त्रः

ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः । ॐ नमो भगवति विष्णुशक्तिमेनां

दुष्ट लोगोंकी तुम हिंसा करोगी । प्राणों द्वारा अपान वायुके स्थानसे हृदय तक प्रवेश कर हृदयपद्म, प्लीहा आदिके पीडन द्वारा वायुरूपी विषूचिका व्याधि होओगी, शास्त्रमें प्रतिपादित सदाचारमें निष्ठा रखनेवाले पुरुषोंको या उससे रहित पुरुषोंको तुम प्राप्त करोगी ॥ १०–१२ ॥

किन्तु सदाचारियोंकी चिकित्साके लिए यह मन्त्र मैं कहता हूँ । ब्रह्माजीने कहा—हिमालयपर्वतके उत्तर पार्श्वमें कर्कटीनामक राक्षसी, जिसके विषूचिका तथा अन्यायबाधिका (अन्यायमार्गमें चलनेवाले पुरुषोंको पीड़ित करनेवाली) ये दो नाम हैं, उसका मन्त्र यह है—'ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः*' । परब्रह्म-रूप विष्णुशक्तिके लिए नमस्कार है । हे सबके नियमनकी शक्तिवाली, हे आद्य-विष्णुशक्ति, तुम दूसरी अपनी अंशभूत रोगात्मक इस विष्णुशक्तिको ॐकारवाच्य कारणस्वरूपमें भली भाँति लीन करो और अपने स्थानमें ले जाओ । जैसे चावल आदि पकानेसे तुरन्त कोमल हो जाते हैं, वैसे उसे कोमल करो, दहीके समान उसे मथो, इस स्थानसे अन्य स्थानमें ले जाओ, जो प्रकार मैंने कहे हैं—उनसे अथवा

---

* भगवान् विष्णुकी दो शक्तियाँ हैं—पहली मायाशक्ति, जिसके कि अधीन अन्य सब शक्तियाँ हैं और दूसरी शक्ति मायाके अधीन जो प्रत्येक वस्तुमें रहती है तथा सात्त्विक आदि भेदोंसे भिन्न हैं, उनमें तामसी संहारशक्तिके अंशभूत प्राणियोंके दुष्कर्मके फलजननशक्तिरूप रोग हैं, उनकी निवृत्तिके लिए आद्य मायाशक्तिकी प्रणव, माया आदि पाँच रहस्य बीजोंसे सम्बोधन कर प्रार्थना की जाती है 'ॐ' इत्यादिसे ।

ॐ हर हर नय नय पच पच मथ मथ उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा हिमवन्तं गच्छ जीव सः सः सः चन्द्रमण्डलगतोऽसि स्वाहा ।

इति मन्त्री महामन्त्रं न्यस्य वामकरोदरे ।
मार्जयेदातुराकारं तेन हस्तेन संयुतः ॥१४॥
हिमशैलाभिमुख्येन विद्रुतां तां विचिन्तयेत् ।
कर्कटीं कर्कशाक्रन्दां मन्त्रमुद्गरमर्दिताम् ॥ १५ ॥
आतुरं चिन्तयेच्चन्द्रे रसायनहृदि स्थितम् ।
अजरामरणं युक्तं मुक्तं सर्वाधिविभ्रमैः ॥ १६ ॥
साधको हि शुचिर्भूत्वा स्वाचान्तः सुसमाहितः ।
क्रमेणाऽनेन सकलां प्रोच्छिनत्ति विषूचिकाम् ॥ १७ ॥
इति गगनगतस्त्रिलोकनाथो
गगनगसिद्धगृहीतसिद्धमन्त्रः ।

उनसे अन्य प्रकारोंसे इसे दूर करो' इस प्रकार आदि शक्तिकी प्रार्थना कर अब उसके अधीन स्थित रोगशक्तिकी प्रार्थना करते हैं । तुम अपने स्थान हिमालयको जाओ । तदनन्तर रोगीसे कहते हैं—जो तुम अपने पूर्वजन्मके दुष्कृतसे पीडित थे, रोगसे तिरस्कृत थे, मृत्युसे खींचे जा रहे थे, अब मन्त्रकी सामर्थ्यसे अमृतसे पूर्ण चन्द्रमण्डलको मेरी भावनासे प्राप्त हुए हो, जैसे प्रदीप्त अग्निमें हविस्‌का प्रक्षेप किया जाता है, वैसे ही पूर्ण चन्द्रमण्डलमें भावना द्वारा रोगीका प्रक्षेप करना चाहिए, यह मन्त्रस्थ 'स्वाहा' पदसे सूचित होता है, इस मन्त्रको मन्त्रसिद्ध पुरुष बाँये हाथके मध्यमें बाँधकर आतुर पुरुषका उस हाथसे युक्त होकर मार्जन करे ॥ १३,१४ ॥

मन्त्ररूपी मुद्गरसे पीडित, कर्कश रोदन करनेवाली और हिमालयकी ओर भागी हुई उस कर्कटीकी भावना करे ॥ १५ ॥

रसायन है हृदयमें जिसके ऐसे चन्द्रमामें आतुर पुरुषकी स्थितिकी भावना करे और यह भावना करे कि आतुर जरा और मरणसे रहित हो गया, सम्पूर्ण मानसी व्यथाओंसे मुक्त हो गया और समाहित हो गया ॥ १६ ॥

साधक पुरुष पवित्र होकर आचमन करके एकाग्र चित्त हो क्रमशः इस उपायसे सम्पूर्ण विषूचिकाका विनाश करता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार आकाशमें स्थित दिव्यरूपधारी ब्रह्माजीने, जिनका सिद्धमन्त्र

गत उपगतशक्रवन्द्यमानो
निजपुरमक्षयमायमुज्वलश्रीः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे विषूचिकामन्त्रकथनं नाम एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥६९॥

——:※:——

सप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ भूधरशृङ्गाभा सा महाकृष्णराक्षसी ।
कज्जलाम्बुदलेखेव तानवं गन्तुमुद्यता ॥ १ ॥
बभूवाऽभ्रोपमाकारा ततो विटपरूपिणी ।
पुंस्प्रमाणा ततोऽप्यासीदथाऽभूद्धस्तमात्रिका ॥ २ ॥
ततः प्रादेशमात्रा सा ततोऽप्यङ्गुलिरूपिणी ।
ततो माषशमीतुल्या ततः सूची बभूव ह ॥ ३ ॥

आकाशचारी सिद्धों द्वारा ग्रहण किया गया था और अपने अन्यान्य कार्योंके लिए आये हुए इन्द्र जिन्हें प्रणाम कर रहे थे, अक्षयमायावाले अपने नगरको गये ॥ १८ ॥

उनहत्तरवां सर्ग समाप्त

——०——

सत्तरवाँ सर्ग

[कर्कटीका क्रमशः शरीरकी सूक्ष्मतापूर्वक दो सूचिकाओंके रूपमें गमनवर्णन और उसका प्राणियोंके शरीरमें प्रवेशवर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदुपरान्त पर्वतके शिखरके समान विशाल, कज्जलाकार मेघघटाके समान बड़ी काली वह राक्षसी सूक्ष्मताको प्राप्त होने लगी ॥ १ ॥

पहले वह मेघाकार हुई, तदनन्तर उसका देह-प्रमाण वृक्षकी शाखाके तुल्य हुआ, तदुपरान्त वह मनुष्यके आकारवाली हुई, फिर उसका स्वरूप केवल हाथ भरका बन गया, तदनन्तर वह एक विलस्त भरका हुआ, उसके बाद वह केवल

ततः कौशेयसूचित्वं पद्मकेसरसुन्दरी ।
प्राप सा शिखराकारा सङ्कल्पाद्रिरिवाऽणुताम् ॥ ४ ॥
रराज सूचिका कृष्णा सूक्ष्मायसमनायसी ।
पुर्यष्टकेन चलिता व्योमगा व्योमवासिनी ॥ ५ ॥
सूची दृश्यत एवाऽसौ न त्वयो नाम विद्यते ।
संविद्भ्रमकुले चैषा स्वल्पसूचीव लक्ष्यते ॥ ६ ॥
रत्नसूचीव मसृणा मनोमननसंयुता ।
वैदूर्यरश्मिलेखेव भानुसन्तानसुन्दरी ॥ ७ ॥
कज्जलाम्भोदसङ्कल्कलतेव पवनाहृता ।
सूक्ष्मरन्ध्रेक्षणस्वच्छदृष्टज्योतिःकनीनिका ॥ ८ ॥
सुमुखग्राह्यरूपेण श्लक्ष्णपुच्छशिखाणुना ।
तदा वैपुल्यशान्त्यर्थं परं मौनव्रतं गता ॥ ९ ॥

एक अङ्गुलमात्र रह गई, तदनन्तर उड़दकी छीमीके बराबर हुई और फिर वह सूचिका बन गई । सूचिका बननेके बाद जैसे सङ्कल्पाद्रि अणुताको (अलक्ष्यताको) प्राप्त होता है, वैसे ही शिखरके समान विशाल आकारवाली वह रेशमी वस्त्र सीने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म सुई बनकर पद्मकेसरके समान सुन्दरी हुई ॥ २–४ ॥

वह सूक्ष्म लोहविकार होकर तथा अनायसी (रोगरूप) जीवयुक्ता सूचिका होकर शोभित हुई । महाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अविद्या, काम, कर्मके संघातरूप पुर्यष्टकसे चली हुई वह आकाशमें जाती थी और निवास करती थी, वह सूची तो दिखाई ही देती थी, पर उसमें लोहा नाममात्र भी नहीं था । अनेक भ्रमोंके बीचमें उसका यह स्वल्प-सूचीरूपसे दिखाई देना भी एक प्रकारकी भ्रान्ति ही थी ॥ ५, ६ ॥

मनके मननसे (भावनासे) युक्त यह सूची सूर्यकिरणोंके भीतरमें प्रवेश करनेसे सुन्दर रत्नसूचीके समान और वैदूर्यमणिकी किरणलेखाके समान चिकन दिखाई देती थी ॥ ७ ॥

वह पवनसे उड़ाई गई काजलके मेघके पिण्डकी लेखाके समान थी, उसके शरीरके अनुरूप छोटे मस्तकमें अत्यन्त छोटे-छोटे सूराखोंमें स्थित नेत्रोंकी स्वच्छ ज्योतिरूपी कनीनिका विराजमान थी ॥ ८ ॥

सूक्ष्म पुच्छाग्रसे अणु (परमाणुके सदृश) मुखकी प्रसन्नतापूर्वक वस्त्रादिसे

सुदूराद् दीपवद् दृष्टं खतन्मात्रत्वमागता ।
दूरादेव मनोज्ञेन प्रोद्गिरन्ती मुखेन खम् ॥ १० ॥
कुञ्चितेक्षणसंदृश्या दीर्घदीपांशुकोमला ।
सद्यःस्नातसमुत्सन्नबालबालविलासिनी ॥ ११ ॥
तन्तुर्बिसादिवोड्डीना बाह्यसञ्चारकौतुकात् ।
ब्रह्मनाडिरिवोद्युक्ता बही रन्ध्रं सुसुन्दरी ॥ १२ ॥
नियतेन्द्रियशक्तिः सा जीवेनैव बहिः स्थिता ।
बौद्धतार्किकविज्ञानसन्तानवदलक्षिता ॥ १३ ॥

प्राप्त होनेवाले अत्यन्त अभीष्ट अपने सूचीरूपके लिए पूर्वके अपने विशाल शरीरकी निवृत्ति हो, इसलिए मानो उसने पहले मुनिकी तपस्या की थी, दूरसे देखनेपर खूब प्रकाशित हो रहे नेत्रोंकी सन्धिका ज्ञान न होनेसे एक दीपके समान देखी गई वह, सूचीरूप शरीरका दर्शन न होनेसे, केवल आकाशरूपताको प्राप्त हुई थी। पहले विपुल देहावस्थामें जो आकाश उसने निगल रक्खा था, देहमें स्थित उस आकाशका सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होनेपर अपने मनोज्ञ मुखसे मानो वमन कर रही थी ॥ ९,१० ॥

टिमटिमाते हुए नेत्रोंसे दृश्य वह दूर-दूर फैले हुए दीपककी किरणोंके समान सूक्ष्म थी, अतएव बड़ी एकाग्रताके लिए जिन्होंने अपनी आँखे अत्यन्त संकुचित कर रक्खी थी, ऐसे देखनेवालोंकी दृष्टिसे वह दिखाई देती थी। तुरन्त स्नान करनेसे पृथक्-पृथक् हुए बालकोंके केशोंके समान उसका विलास था, बाह्य संचार करनेके कौतुकसे मृणालको तोड़नेपर उसके बीचसे निकले हुए तन्तुके समान और मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर बाहर निकली हुई सूर्यमण्डलाभिमुख होकर स्थित ब्रह्मनाड़ीकी (सुषुम्ना नाड़ीकी) तरह वह उस समय सुन्दरी प्रतीत होती थी ॥ ११,१२ ॥

उसकी चक्षु आदि इन्द्रियशक्तियाँ प्रत्येक नियत स्थानमें स्थित थीं, मानो उसका लिङ्गदेह ही बाहर सूचीके आकारमें स्थित था। जैसे बौद्धोंका आलयविज्ञानसन्तान स्वमात्रगोचर होता हुआ भी अन्यसे अलक्ष्य रहता है, और जैसे तार्किकोंका धारावाहिक ज्ञानसन्तान, साक्षीका स्वीकार न होनेसे, अलक्षित रहता है, वैसे ही वह भी दूसरोंसे अलक्षित थी ॥ १३ ॥

शून्यसिद्धार्थसविका रन्ध्रानीलमयाऽरवा ।
अदृश्यया जीवसूच्या संततानुसृता स्थिता ॥ १४ ॥
कलाकलनधर्मिण्या वासनामात्रसारया ।
क्षीणदीपांशुसूचीवत्तीक्ष्णयाऽनुपलभ्यया ॥ १५ ॥
ग्रासार्थं सूचितां याता सैवाऽऽस्था नोपयुज्यते ।
विचारितं तया नैतदहो मौर्ख्यविजृम्भितम् ॥ १६ ॥
सा ग्रासं चिन्तयामास न सूचीरूपतुच्छताम् ।
चित्तमीहितमेवैकं पश्यन्त्यास्ते निरर्थकम् ॥ १७ ॥
अविचार्यैव सूचित्वं तया मूढधियाऽऽस्थितम् ।
नाऽनर्थबुद्धेः स्फुरति पूर्वापरविचारणा ॥ १८ ॥

अत्यन्त अलक्ष्य होनेके कारण ही मानो वह शून्यवादियोंके मतमें प्रसिद्ध अर्थोंकी जननी और आकाशकी जो नीलिमा है, तद्रूप थी और निःशब्द थी। इस प्रकार लोहसूचिकाका वर्णन कर अब रोगरूपिणी सूचिका उसका अनुसरण करती है, ऐसा कहते हैं—'अदृश्यया' इत्यादिसे। उस लोहरूप सूचिकाका अदृश्य और जीवयुक्त रोगरूपिणी सूचिका, जो कि तत्-तत् पदार्थाकार मनोवृत्तिमें प्रतिफलित चिदाभासके समान धर्मवाली थी, सदा अनुगमन करती थी। जैसे विनाशावस्थाको प्राप्त सूक्ष्म दीपज्योति दृष्टिगोचर नहीं होती और स्पर्श करनेपर उसके अन्दर तीक्ष्ण दाहिका शक्ति प्रतीत होती है, वैसे ही यद्यपि वह सूची-भावको प्राप्त हुई राक्षसी अत्यन्त अदृश्य थी, फिर भी उसके अन्दर वासना आदि ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी, उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हुआ था॥ १४,१५ ॥

अब सुखोपयोगी न होनेसे उस कर्कटी नामक राक्षसीके तपस्याफलका उपहास करते हैं—'ग्रासार्थम्' इत्यादिसे।

वह कर्कटी जगत्के प्राणियोंको निगलनेके लिए सूचीरूपताको प्राप्त हुई, उसका जगत्को निगलनेका वह आदर ही उपयुक्त नहीं हुआ, क्योंकि सूचिका-वस्थामें अब उदर ही नहीं रहा तब निगलती कैसे ! उसने इस बातका विचार ही नहीं किया, अहो यह उसकी मूर्खताकी पराकाष्ठा ही है॥ १६ ॥

उसने जगत्को निगलनेका विचार तो किया, पर सूचीरूप तुच्छताका विचार नहीं किया। केवल एकमात्र जगद्ग्रसनरूप अभिलाषको देख रही उसका संकल्प निरर्थक ही रहा। उस मूढमति कर्कटीने बिना विचारे ही सूची बननेका अभिलाष

स्वार्थक्रियोग्रसामर्थ्याद् याति भावनयाऽन्यताम् ।
पदार्थोऽभिमतांशाढ्यो निःश्वासेनेव दर्पणः ॥ १९ ॥
सूचीभावं प्रपन्नायास्त्यजन्त्याः पीवरं वपुः ।
महामरणमप्यस्या राक्षस्याः सुसुखं स्थितम् ॥ २० ॥
एकवस्त्वतिरागाणामहो नु विषमा गतिः ।
देहोऽपि तृणवत्त्यक्तो राक्षस्या निजयेच्छया ॥ २१ ॥
एकवस्त्वतिगन्धेन भ्रश्यन्त्यन्या हि संविदः ।
राक्षस्या ग्रासगन्धेन देहनाशोऽपि नेक्षितः ॥ २२ ॥
नाशोऽपि सुखयत्यज्ञमेकवस्त्वतिरागिणम् ।
सूचीभूता विदेहाऽपि परितुष्टैव राक्षसी ॥ २३ ॥
अन्या बभूव लग्ना सा तथा जीवविषूचिका ।
व्योमात्मिका निराकारा व्योमवृत्तिशरीरका ॥ २४ ॥

किया । निरर्थक बुद्धिवाले प्राणियोंमें पूर्वापरका विचार नहीं रहता ॥ १७, १८ ॥

विचार करने योग्य चित्तके रहते उसे पूर्वापर विचारणा क्यों नहीं हुई, इसपर कहते हैं—'स्वार्थ०' इत्यादिसे ।

अभिलषित विषयमें लगा हुआ चित्त अभिलषित वस्तुमें दृढ़ प्रयत्नकी अनुलङ्घनीय सामर्थ्यसे भावना द्वारा पूर्व निर्मल अवस्थासे अन्य अवस्थाको यानी कालुष्यको प्राप्त होता है, जैसे कि निर्मल दर्पण निःश्वासवायुसे मलिनताको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

स्थूल शरीरको छोड़कर सूचीभावको प्राप्त हुई उस राक्षसीका महामरण भी यानी महा दुःख भी सुखरूप ही हुआ, क्योंकि उसका स्वार्थमें दृढ़ अनुराग था ॥२०॥

एक वस्तुमें अत्यन्त अनुराग करनेवाले लोगोंकी विषम अवस्थाको तो देखिए, राक्षसीने अपनी इच्छासे अपने शरीरका तृणवत् त्याग कर दिया, एक वस्तुमें अत्यन्त तृष्णा होनेसे अन्य प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं । जगत्-ग्रासमें अत्यन्त अभिलाषा होनेसे राक्षसीने अपने देहविनाशको भी नहीं देखा ॥२१,२२॥

एक वस्तुमें अत्यन्त अनुराग करनेवाले अज्ञानीको अपना नाश भी सुख देता है, सूचिका बनी हुई राक्षसी देहरहित होनेपर भी सन्तुष्ट ही रही ॥२३॥

प्रसङ्गप्राप्त नीतिका वर्णन कर प्रस्तुत विषयका अनुसरण करते हुए जीवयुक्त सूचिकानामक व्याधिके स्वरूपका वर्णन करते हैं—'अन्या' इत्यादिसे ।

तेजस्तनुप्रवाहाभा प्राणतन्तुमयात्मिका ।
मूलसंवेदनाकारा चन्द्रार्कांशुकसुन्दरी ॥ २५ ॥
पृथगेवाऽसिधाराभा परमाण्ववलीय सा ।
कौसुमी गन्धलेखेव कलाकलनरूपिणी ॥ २६ ॥
पापात्मिका मनोवृत्तिः सा हि तस्यास्तथा स्थिता ।
परप्राणवशादेव परमार्थपरायणा ॥ २७ ॥
एवमस्यास्तनुर्जाता सूचीद्वयमयी हि सा ।
नीहारांशुकवत्तन्वी कार्पासांशुसुपेलवा ॥ २८ ॥
तनुद्वयेन तेनाऽसौ प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
वेधयन्ती ततः क्रूरा प्रबभ्राम दिशो दश ॥ २९ ॥
सर्वः स्वसंकल्पवशाल्लघुर्भवति वा गुरुः ।
कर्कट्योग्रं वपुस्त्यक्त्वा सूचीत्वमुररीकृतम् ॥ ३० ॥

लोहमयी सूचीसे संक्रम जीवयुक्त विपूचिका अन्य सूचिका हुई। वह व्योमात्मिका, निराकार और आकाशके समान सूक्ष्म स्वभावयुक्त लिङ्ग शरीरवाली थी, वह तेजके सूक्ष्म प्रवाहके समान कान्तिवाली तथा प्राणतन्तुके तुल्य, कुण्डलनी शक्तिके सदृश तथा सूर्य और चन्द्रमाकी छोटी-छोटी किरणोंके समान सुन्दरी थी। उस कर्कटीकी पापात्मक अतएव असिधाराके सदृश क्रूर मनोवृत्ति लोहमय सूचीसे पृथक् ही थी। वह फूलकी गन्धलेखाके समान अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे प्राणियोंके भीतर प्रवेश कर हिंसादिचातुरीके सम्पादनसे मूर्तिमती होकर जीवरूपसे प्रकट होती थी। दूसरे लोगोंके प्राणोंका अनुसरण कर अपनी परम मनोरथ-सिद्धिमें परायण थी॥ २४—२७ ॥

इस प्रकार उस कर्कटीकी दो प्रकारकी सूचिकारूप देह उत्पन्न हुई। वह कुहरे-रूपी वस्त्रके सदृश सूक्ष्म और कपासके (सूती) वस्त्रके समान कोमल थी। उन दो शरीरोंसे मनुष्योंके हृदयोंमें प्रवेश कर उन्हें पीड़ित करती हुई वह क्रूर राक्षसी दसों दिशाओंमें घूमती थी॥ २८, २९ ॥

सङ्कल्पकी अघटितघटनामें यही दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं—'सर्वः' इत्यादिसे।

सभी लोग अपने सङ्कल्पसे लघु होते हैं और अपने सङ्कल्पसे महान् होते हैं। इसी न्यायके अनुसार संकल्पसे ही कर्कटीने अपने भीषण शरीरका त्यागकर सूचीरूपताका स्वीकार किया॥३०॥

तुच्छोऽप्यर्थोऽल्पसत्त्वानां गच्छति प्रार्थनीयताम् ।
सूचीवृत्तपिशाचीत्वं राक्षस्या तपसाऽऽस्थितम् ॥ ३१ ॥
अपि पुण्यशरीराणां जातिबन्धो न शाम्यति ।
तनुसूचीपिशाचीत्वं राक्षस्या तपसाऽर्जितम् ॥ ३२ ॥
तस्यां दिगन्तभ्रमणे प्रवृत्तायां महानिलैः ।
तत्रैव सा तनुः स्थूला गलिता शरदभ्रवत् ॥ ३३ ॥
कस्यचिद्विवशाङ्गस्य क्षीणस्य विपुलस्य च ।
प्रविश्याऽन्तर्वातसूचिर्भवत्यतिविषूचिका ॥ ३४ ॥
कस्यचित्तनुदेहस्य स्वस्थस्य सुधियोऽपि वा ।
प्रविश्य जीवसूचित्वे भवत्यन्तर्विषूचिका ॥ ३५ ॥
एवं क्वचित्तृप्यति सा दुर्बुद्धिहृदयास्थिता ।
क्वचिदुच्छेद्यते पुण्यैर्मन्त्रौषधितपःक्रमैः ॥ ३६ ॥

क्षुद्र चित्तवाले लोग तुच्छ पदार्थकी प्रार्थना करते हैं। राक्षसीने सूचीके स्वभावके तुल्य स्वभाववाले पिशाचीत्वकी तपस्यासे अभिलाषा की ॥३१॥

यदि कोई शङ्का करे कि तपस्यासे पवित्र हुई उस राक्षसीने दूसरे लोगोंको पीड़ा पहुँचानेवाले सूचीरूप शरीरकी प्रार्थना क्यों की ? अर्थात् ऐसी प्रार्थना उसके लिए योग्य कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे।

पुण्यशरीरवाले जीवोंकी भी जातिके उचित वासना शान्त नहीं होती। इसीलिए सूक्ष्म सूचीरूपी पिशाचीत्वका कर्कटीने उपार्जन किया ॥ ३२ ॥

उसके दिशा-विदिशामें घूमनेपर उसकी सर्वसाधारण कर्कटीदेहको, जो कि अविद्यासे कल्पित थी, महावायुओंने शरत्कालीन मेघके समान छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ३३ ॥

अब विषूचिकाका चरित्र विस्तारपूर्वक कहते हैं—'कस्यचिद्' इत्यादिसे।

जो कोई जीव पहले किसी रोगसे आक्रान्त होनेके कारण क्षीणकाय हुआ हो या विशालकाय हुआ हो उसके अन्दर प्रवेश करके वायुमें छिपी वह लोहसूची भयङ्कर विषूचिकारूप रोगमें परिणत हो जाती है। किसी लघुकाय, स्वस्थ और बुद्धिमान् पुरुषके अन्दर जीवयुक्त सूचिकारूपसे प्रवेश करके दुर्बुद्धिरूपा हो जाती है ॥ ३४,३५ ॥

इस प्रकार किसी पुरुषमें दुर्बुद्धिरूपसे हृदयमें स्थित होकर तृप्त होती है और

आसीद् बहूनि वर्षाणि भ्रमणैकपरायणा ।
देहद्वयेन गच्छन्ती व्योम्नि भूमितले तथा ॥ ३७ ॥
रजस्तिरोहिता भूमौ हस्तेऽङ्गुलितिरोहिता ।
प्रभातिरोहिता व्योम्नि वस्त्रे सूत्रतिरोहिता ॥ ३८ ॥
अन्तस्थस्नायुसरिति दुर्भगे पांसुपाण्डुरे ।
शुष्करेखासरित्खाते सूक्ष्मरेखाजरत्तृणे ॥ ३९ ॥
अर्थहीने गतच्छाये शून्या उच्छ्वासकारिणी ।
मक्षिकावातहरिते श्रीवृक्षपरिवर्जिते ॥ ४० ॥
स्थूलास्थिग्रन्थिवलिते नित्यकम्पस्फुरत्तमे ।
अनात्मीयाच्छनीहारेऽशुद्धांशुककृतभ्रमे ॥ ४१ ॥

किसी पुरुषमें मन्त्र, औषधि, तप आदि पुण्योपायोंसे उसकी निवृत्ति की जाती है ॥३६॥

दोनों शरीरोंसे आकाश और भूमितलमें जाती हुई वह बहुत वर्षों तक इतस्ततः घूमती रही ॥ ३७ ॥

उसके तिरोधानका स्थान कहते हैं—'रजस्तिरोहिता' इत्यादिसे ।

भूमिमें वह धूलिकणोंसे तिरोहित रहती है, हाथमें अङ्गुलियोंसे तिरोहित रहती है, आकाशमें प्रभासे तिरोहित रहती है और वस्त्रमें सूतसे तिरोहित रहती है ॥३८॥

देहके बीचमें भी उसके तिरोधानके स्थान कहते हैं—'अन्त०' इत्यादिसे ।

देहके अन्दर स्थित आँतरूपी नदीमें, व्यभिचार आदि दोषसे दुष्ट उपस्थेन्द्रियमें, ऊषर आदि भूमिके धूलिकणोंसे धूसर अङ्गोंमें, हस्त, पाद आदिकी रेखारूपी सूखी नदीके गड्ढोंमें और छोटे-छोटे रोमरेखारूपी पुराने तृणोंमें तिरोहित रहती है ॥३९॥

पीड़ित लोगोंको उच्छ्वसित करनेवाली और अन्दर सद्भावसे रहित वह विषूचिका सौभाग्यसे हीन और कान्तिरहित शरीरमें, मक्षिकाओं, रूक्ष दुर्गन्धवायुओंसे युक्त हरे तृणोंसे आवृत देशमें तथा बिल्व, आम्र आदि श्रेष्ठ वृक्षोंसे रहित देशमें रहती है ॥ ४० ॥

पशु, मनुष्य आदिकी बड़ी-बड़ी हड्डियोंसे व्याप्त, आँधी आदिसे नित्य कम्पन होनेके कारण अत्यन्त स्फुरित होनेवाले, आत्मनिष्ठ अतएव निर्मल तथा हिमके समान दूसरोंका सन्ताप हरनेवाले सत्पुरुषोंसे रहित मैले, कुचैले और अपवित्र

किणस्थाणवङ्गविश्रान्तमक्षिकापिकवायसे ।
रौक्षरूढरसद्वाते विलोलाङ्गुलिशाखिनि ॥ ४२ ॥
मालाभ्रलेखासंसारे स्वाङ्गुलिव्रणगर्तके ।
स्पन्दावश्यायपृषति पदवल्मीकपर्वते ॥ ४३ ॥
कचत्याशु जलभ्रान्तौ नखाजगरकर्कशे ।
क्वाचित्कविसरद्भीतभीतयूककुपान्थके ॥ ४४ ॥
विरूपाशुष्कसंदष्टवीटिकापूतिपल्वले ।
मध्यस्थलेखमार्गौघशीतश्वसनगोचरे ॥ ४५ ॥
ग्रस्तयूकानरौघासृक्पूर्णसृक्किनखास्यताम् ।
दधताऽङ्गुष्ठपक्षेण क्रान्ते सर्वत्र यायिनी ॥ ४६ ॥
नानाविरचनाचित्रपटपत्तनगामिनी ।
गमागमपरिश्रान्ता तत्राऽत्यन्तचिराध्वगा ॥ ४७ ॥

वस्त्रवाले अशिष्ट लोगोंके संचारमें आनेवाले देशमें, जहाँपर खोखलोंमें और काटे हुए वृक्षोंके अग्रभागमें क्रमशः मधुमक्खियाँ और कोयल, कौए निवास करते हैं, अत्यन्त शीत होनेके कारण रूक्ष तेज हवा सांय-सांय शब्द करती है, अतएव कम्पके कारण अङ्गुलिरूपी शाखाएँ चञ्चल रहती हैं तथा जहाँपर घनीभूत कुहरेका संचार रहता है ऐसे स्थानोंमें, जिनकी अङ्गुलियाँ कटनेके कारण व्रणपूर्ण हैं ऐसे लोगोंके निवासस्थानोंमें, जहाँपर हिमकण पिघलते रहते हैं, लोगोंके पैरोंके चिह्नोंसे युक्त स्थानमें, बामियोंमें, पर्वतोंमें, जहाँपर जलभ्रान्ति होती है, ऐसे मरुप्रदेशोंमें, नखप्रधान बाघ, भालू आदिसे तथा अजगर आदिसे भीषण जङ्गलोंमें, जहांपर इधर उधर भाग रहे अत्यन्त भयभीत और जुओंसे गर्हित बटोही लोग रहते हैं उन प्रदेशोंमें, कुत्सित स्वरूप-वाले एवं सूखे हुए शरीरवाले पिशाच आदिसे पानके बीड़ोंके समान चबाए गये पुराने पत्तोंसे भरे हुए और दुर्गन्धियुक्त जलके गड्ढोंमें, जिन मार्गोंके बीचमें कुल्या (नहर) आदिके गड्ढे रहते हैं, शीत वायुसे पूर्ण पथिकोंके विश्राम-स्थानोंमें, चबाये गये जुओंके पेटमें स्थित मनुष्योंके रक्तसे जिनके ओठ भरे हैं, ऐसे जङ्गली मनुष्य, वानर आदिके नखरूपी मुखवाले अङ्गुलिसमूहसे आक्रान्त सम्पूर्ण देह-प्रदेशमें तथा भूमिके पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न स्थानोंमें वह जाती थी ॥ ४१-४६ ॥

जिन नगरोंमें अनेक प्रकारकी हाथी, घोड़े आदिकी रचनासे चित्र-विचित्र

नगरानगरे व्यस्तसूत्रभाण्डैकभारिणी ।
तप्ते कलेवरारण्ये बलीवर्दोपवर्तिनी ॥ ४८ ॥
गुप्ता विश्रमणायैव मनाक्करपरिच्युता ।
तन्तुप्रोता सुखाकृष्टिः खिन्ना क्वाऽपि विलीयते ॥ ४९ ॥
वेधनं कर्मसंश्लिष्टा कठिनाऽपि न साऽकरोत् ।
नहि तीक्ष्णो बहिः कार्यो निजत्वं विजहाति चेत् ॥ ५० ॥
साऽयःसूची मनसूच्या वलिता विजहार ह ।
दिक्ष्वाशेव शिलागुर्वी नावाऽङ्कपलिता सती ॥ ५१ ॥

वस्त्र रहते हैं, उन नगरोंमें वह जाती थी और वहाँ अत्यन्त लम्बे मार्गमें गमनागमनसे वह परिश्रान्त होती थी ॥ ४७ ॥

सूचिकास्वभाव होनेके कारण वह नगरोंमें और गाँवोंमें सड़कों और गलियोंमें फेंके हुए यानी अव्यवस्थितरूपसे पड़े हुए कपासके सूतों और उनमें गुँथे हुए काचमणि आदि अलङ्कारोंको केवल धारण (ग्रथन) करती थी और ज्वर आदिसे पीडित प्राणियोंके शरीररूपी वनमें साँड़के समान विहार करती थी यानी जैसे हृष्टपुष्ट साँड़ अपने सींगोंसे वामी आदिको खोदता हुआ इधर-उधर घूमता है, वैसे ही वह सूचिका भी मनुष्यके शरीरका उन्मथन करती हुई घूमती थी ॥ ४८ ॥

जैसे किसीके द्वारा सीनेके लिए हाथमें की गई चिरकाल तक सीनेके लिए पिरोये हुए धागेको सुखसे खींचनेवाली सुई मानो थककर थोड़ी देरके लिए सीनेवालेके हाथसे गिरी हुई विश्राम करनेके लिए कहीं अलक्षित होकर लीन हो जाती है, वैसे ही यह सूचिका भी थी ॥ ४९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सीनेवालेके हाथको ही उस सुईने क्यों नहीं छेदा ? तो इसपर कहते हैं—'वेधनम्' इत्यादिसे ।

वह क्रूर होती हुई भी अपने योग्य सीवनरूप कर्ममें (सीनेमें) ही लगी रहती थी, क्योंकि सीना ही सुईका स्वभाव है, अतएव उसने सीनेवालेके हाथको छेदा नहीं । यदि वह सुई सीनेरूप अपने स्वभावको छोड़ दे यानी प्रगट न करे, तो अपने क्रूर स्वभावको भी बाहर प्रगट न कर सकेगी, क्योंकि जैसे उसका सीना स्वभाव है, वैसे ही अपने क्रूर स्वभावको प्रकट करना भी स्वभाव है ॥ ५० ॥

जैसे बड़ी भारी शिला नाव द्वारा इधर उधर ले जाई जाती है, वैसे ही

विससार दिगन्तेषु साऽन्तःकरणसत्तया ।
तुषलेखेव पवनशक्त्या संसृतिरूपया ॥ ५२ ॥
मुखेन सूक्ष्मसूत्रान्तं चरन्तीव परोम्भितम् ।
परपूरोद्यमेनाऽऽशु जातेव हृदयान्विता ॥ ५३ ॥
परपूररसेनैव सूच्या हृत् सुविकासितम् ।
अनारतपतत्सूक्ष्मसूत्रान्त इव स्तम्भिता ॥ ५४ ॥
तीक्ष्णैरपि चिरक्षीणं पूर्यते निर्विचारणा ।
दृष्टान्तोऽत्र क्षणात् सूच्या पूरितो जर्जरः पटः ॥ ५५ ॥
सूत्रांशुनिर्गमे योग्यं सूच्या हृदयमर्जितम् ।
परपूरणयैवाऽऽशु तेजश्च कवितार्करुक् ॥ ५६ ॥

वृद्धावस्थामें स्थित आशाके समान वह लोहमयी सूचिका जीवयुक्त सूचिकाके सहारे दिशाओंमें घूमती थी । जैसे धान आदिकी भूसीका कण अपने भ्रमणको प्रगट करनेवाली पवनशक्तिसे दिगन्तोंमें घूमता है, वैसे ही वह लोहमयी सूची भ्रमणको प्रकट करनेवाली अन्तःकरणकी सत्तासे दिशाओंमें घूमती थी ॥५१,५२॥

दूसरोंके द्वारा गूँथे गये महीन तागेको अपने मुँहसे खाती हुई-सी अतएव दूसरे लोगोंके द्वारा प्राप्त कराये गये उदरपूर्तिके उद्यमसे वह मानो स्वस्थहृदय हुई ॥५३॥

सूचीने पहले भी दूसरे लोगोंके वधसे होनेवाले उदरपूरणकी इच्छासे ही तपसे क्लेशको प्राप्त हुए अपने मनको उल्लसित किया था, इसलिए मानो वह निरन्तर मुखमें गिर रहे अपने अभिलषित सूक्ष्म तागेमें स्तम्भित रहती थी ॥ ५४ ॥

अब 'सूची द्वारा मूर्खतापूर्वक किया गया तप तागेसे गिरे हुए चीथड़ोंको पिरोनेके लिए ही हुआ, अपने उदरपूरणके लिए नहीं हुआ यह उत्प्रेक्षापूर्ण अर्थ जो कहा गया था, वह लोकप्रसिद्ध सामान्योक्तिका दृष्टान्त हो गया, ऐसा कहते हैं—'तीक्ष्णै०' इत्यादिसे ।

चिरकालसे दरिद्रता, कृशता आदिसे परिपीड़ित कुलको क्रूर लोग भी दयासे पुष्ट करते हैं, इस विषयमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, यहाँ इस अर्थमें दृष्टान्त सूची द्वारा भरा गया जीर्ण शीर्ण वस्त्र प्रत्यक्ष देखा गया है ॥५५॥

सूचीने अपने उदरकी पूर्ति क्यों नहीं की ? इसपर कहते हैं—'सूत्रांशु०' इत्यादिसे ।

क्योंकि सूचीने तागेके अग्रभागके भीतर अप्रवेशके योग्य छिद्ररहित (अव-

अकस्मात्तेन रूढेन क्षीणपूरेण रूपिणी ।
हृदये राक्षसी सूचिः कर्मणा तप्यते च सा ॥ ५७ ॥
वेधं पूररयेणेव करोति स्वं प्रचारिता ।
प्रकृतेन निजेनाऽपि वेधाय व्यवहारिता ॥ ५८ ॥
संचारयति वस्त्रेषु सूत्रं चतुरवेधनात् ।
आदीर्घवासनातन्तुः शरीरेष्विव चेतनाम् ॥ ५९ ॥
संचार्यमाणवेधेन धावन्तीवाऽक्षिपातने ।
अदर्शितमुखा एव दुर्जना मर्मवेधिनः ॥ ६० ॥

काशरहित) हृदयको तपस्यासे प्राप्त किया तथा तत्त्वावबोधभाग्यशाली होनेके कारण सूर्यकान्तिके समान अभिज्ञताके प्रकाशक अपने बुद्धिप्रकाशको भी पट आदिके सीवनसे ही व्याप्त किया यानी अपने भोगके लिए अर्जित नहीं किया ॥ ५६ ॥

इसलिए उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, ऐसा कहते—'अकस्मात्' इत्यादिसे ।

अपनी तपस्यासे, जिसने उसके पेटको क्षीण कर दिया था, अकस्मात् प्राप्त हुई सूचिरूपतासे मूर्तिमती हुई वह सूचिका राक्षसी बड़ा सन्ताप करती थी ॥५७॥

यदि उसको पश्चात्ताप हुआ, तो क्या वह प्राणियोंके विघातसे विरत हो गई ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'वेधम्' इत्यादिसे ।

यद्यपि उसको पश्चात्ताप हुआ था, तथापि नदीके प्रवाहके वेगके तुल्य अपने राक्षसस्वभावसे और प्रकृत सूचीभावसे भी, जिसका प्राणियोंके वेधनमें आग्रह था, प्राणियोंके वेधनके लिए ही अपने स्वभावके अनुरूप प्रचारित—पहले उद्यत की गई और फिर व्यवहारमें लाई गई—भी वह वेधको करती ही थी ॥ ५८ ॥

अतएव केवल सूचीके स्वभावसे होनेवाले कार्योंको भी वह करती ही है, इस प्रकारके पूर्वोक्त अर्थको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'संचारयति' इत्यादिसे ।

जैसे पुत्र, कलत्र आदिमें दीर्घ वासनारूप तन्तु मरणके समयमें उद्बुद्ध होकर तत्-तत् वासनाके अनुसार स्त्री आदि शरीरोंमें जीवचेतनाको संचारित करता है, वैसे ही यह सूची भी निपुण वेधनसे तत्-तत् वस्त्रोंमें सूत्रको संचारित करती है ॥ ५९ ॥

इसलिए वस्त्रोंमें दर्जी द्वारा वेधपूर्वक चलाई जा रही वह उनके नेत्रोंके

कण्ठवस्त्रदलप्रोता वेधाक्ष्णा मुखमीक्षते ।
कथमेता भिनद्मीति तीक्ष्णानामेतदीप्सितम् ॥ ६१ ॥
सममेव च कौशेये क्षौमे च वसने सृता ।
जडः क इव वा नाम गुणागुणमपेक्षते ॥ ६२ ॥
सा दधाना ततं सूत्रमङ्गुष्ठाङ्गुलिपीडिता ।
आन्त्रतन्तुमिवाऽमान्तमुद्गिरन्ती निरीक्षते ॥ ६३ ॥
तीक्ष्णाऽप्यहृदयत्वेन सरसेष्वरसेष्ववित् ।
सूत्रिताऽपि पदार्थेषु विशत्यरसगामिनी ॥ ६४ ॥
अगर्दती मुखप्रोता सुतीक्ष्णाऽपि च तापिधीः ।
सुवेधिताऽप्यहृदया राजपुत्र्यपि दुर्भगा ॥ ६५ ॥

सामने अपने मुखको वस्त्रमें छिपाकर दौड़ती-सी देखी जाती है । पिशुन (चुगली-खोर), चोर आदि दुर्जन लोग अपने मुखको दिखाये बिना ही परमर्मभेदी होते हैं, अतः उसने भी यह जो काम किया, वह दुष्टोंका-सा ही है ॥ ६० ॥

किसी समय गलेमें लटकाये गये दुपट्टेके सूतमें पिरोई गई वह अपने छेद-रूपी नेत्रसे स्त्रियोंका मुख 'इनका मैं कैसे भेदन करूँ' इस अभिप्रायसे देखती हैं । जो लोग क्रूर होते हैं, उनकी एकमात्र यही अभिलाषा रहती है ॥ ६१ ॥

वह मृदु और स्निग्ध कौशेय वस्त्रमें तथा कठिन और रूक्ष क्षौम वस्त्रमें (वल्कलमें) तुल्यवृत्तिसे प्रवेश करती है । कौन मूर्ख गुण और अवगुणका विचार करेगा ॥ ६२ ॥

अँगूठेकी अङ्गुलीसे दबाई गई और लम्बे सूत्रको धारण कर रही वह सूची भीतर न समा रहीं अतड़ियोंको बाहर उगलती हुई-सी दिखाई देती है ॥ ६३ ॥

सूतमें पिरोई गई तीक्ष्ण भी वह सूची सरस और अरस सभी पदार्थोंमें हृदयशून्यतावश विशेषका अवधारण न करती हुई अतएव रसास्वादसे रहित होकर सूचीस्वभावसे ही घुसती है ॥ ६४ ॥

अपराधके बिना दण्ड पानेके कारण इसकी दुर्गतिको तो देखिए, ऐसा कहते हैं—'अगर्दती' इत्यादिसे ।

निष्ठुर भाषण आदि शब्द न करती हुई भी वह मुखमें तागेसे गूथी गई है । अन्यको सन्ताप देनेमें समर्थ होती हुई भी वह स्वयं ही सन्तापयुक्त बुद्धिसे युक्त है,

विना परापकारेण तीक्ष्णा मरणमीहते ।
वेदनाद्रोधिता सूची कर्मपाशे प्रलम्बते ॥ ६६ ॥
शेते किंश्याममैत्र्येव दूरे करपरिच्युता ।
स्वरूपसदृशं मित्रं कस्मै नाम न रोचते ॥ ६७ ॥
मिश्रिता मूढचित्तानां वृत्तिभिः प्राकृते जने ।
तिष्ठत्यात्मसमा को हि सङ्गतिं त्यक्तुमिच्छति ॥ ६८ ॥
भवत्ययस्कारवित्तौ संत्यज्याऽन्तर्धिगामिनी ।
भस्त्रावातैर्विचलिता गगनादुत्पतोन्मुखी ॥ ६९ ॥

सुवेधिता यानी छिद्रयुक्त होनेपर भी वह हृदयरूपी छिद्रसे रहित है। जैसे कोई राजपुत्री भी अभागिनी हो जाती है, वैसे ही यह भी अभागिनी हो गई है ॥६५॥

इसकी दुर्दशा होना ठीक ही है, ऐसा कहते हैं—'विना' इत्यादिसे ।

चूँकि वह सूचिका अपने अपकारके बिना ही दूसरोंका मरण चाहती है, इसलिए उस पापके कारण अपनी बुद्धिसे ही वह तागेमें बँधकर अपने कर्मरूप जालमें ही लटकती रहती है ॥ ६६ ॥

भाग्यवश सीनेवालेके हाथसे गिरी हुई उसके अथवा किसी दूसरेके हाथसे स्पर्श करनेके अयोग्य स्थानमें कुत्सित श्याम वर्णवाले अधोरोमोंके साथ मानो मैत्री प्राप्त कर उनके साथ सोती है, अपने स्वरूपके अनुकूल मित्र किसको अच्छा नहीं लगता ॥ ६७ ॥

इसलिए मूर्खोंकी चित्तवृत्तिके साथ भी सङ्गति उसे अच्छी लगती है, ऐसा कहते हैं—'मिश्रिता' इत्यादिसे ।

मूढ़ लोगोंकी वृत्तियोंसे मिली हुई वह प्राकृत जनोंमें रहती है, अपनी अनुरूप सङ्गतिको कौन छोड़ सकता है ! ॥ ६८ ॥

यदि कोई कहे कि उसकी, अन्य लोहसूचियोंके साथ भी साम्य होनेके कारण, मैत्री होनेसे कभी उनके साथ अगर वह लोहारके पास चली जाय, तो क्या करती है ? इसपर कहते हैं—'भवत्य०' इत्यादिसे ।

लोहारोंकी प्राप्ति होनेपर लोहारों द्वारा तपानेके लिए अग्निमें डाली गई वह सूचिका उनकी धौंकनीके वायुसे इधर-उधर होकर उन्हें छोड़कर अदृश्य हो जाती है और आकाशकी ओर मुख करके भाग जाती है ॥ ६९ ॥

प्राणापानप्रवाहस्थहृत्पद्मान्तरचारिणी ।
दुःखशक्तिर्महाघोरा जीवशक्तिरिवोदिता ॥ ७० ॥
समानवैपरीत्येन समानसमगामिनी ।
उदानविपरीतत्वादुदानसमगामिनी ॥ ७१ ॥
व्यानस्था व्याधिजननी सर्वाङ्गरसचारिणी ।
हृत्कण्ठे शूलपवने वैवर्ण्योन्मादकारिणी ॥ ७२ ॥
प्रायशोऽविकहस्तस्था सुप्तोर्णा गन्धकोटरे ।
बालहस्ताङ्गुलीतल्पवेधनैकविलासिनी ॥ ७३ ॥
पादप्रविष्टा रुधिरपानोपार्जनविस्मिता ।
तुष्यत्यतितरां गुच्छभोजना तुच्छभोजनैः ॥ ७४ ॥
शेते कर्दमकोशस्था चिरकालमधोमुखी ।
इच्छानुरूपमासाद्य क इवाऽऽस्पदमुज्झति ॥ ७५ ॥

उसका प्राणियोंके प्राण आदि वायुओं द्वारा देहके अन्दर सञ्चार होता है, ऐसा कहते हैं—'प्राणा०' इत्यादिसे ।

प्राण और अपान वायुके प्रवाहमें स्थित होकर लोगोंके हृत्कमलके अन्दर संचरण करनेवाली वह महाघोर दुःखप्रद कर्मशक्तिरूप ही मानो सजीव होकर उदित हुई है । समान वायुके विपरीत होनेसे भी समानके साथ चलनेवाली, उदानवायुके विपरीत होनेसे भी उदानके साथ चलनेवाली और व्यान वायुमें स्थित होकर सर्वाङ्गमें संचरण करनेवाली और विविध व्याधियोंको उत्पन्न करनेवाली यह सूचिका हृदयमें, कण्ठमें शूलरोगात्मक वायुमें प्रवेश करके विवर्णता और उन्माद रोगको उत्पन्न करती है ॥ ७०—७२ ॥

प्रायः कम्बल आदि सीनेके समय गडरियोंके हाथमें स्थित वह सूचिका कभी उन लोगोंके ऊनके टुकड़ोंके खोखलोंमें सोती है, कभी बालकोंके हाथ, अंगुली आदिरूप अपने शयनके वेधनमें कौतुक करती है ॥ ७३ ॥

पैरमें घुसकर रक्तपानके उपार्जनसे सन्तुष्ट होती है, फूलोंके गुच्छोंकी माला पिरोनेके समय अधिक भोजन करनेवाली भी वह अल्प भोजनसे तृप्त हो जाती है । मलपङ्कयुक्त मूलाधार कोशमें बैठी हुई चिरकालतक नीचे मुख करके सोई रहती है, अपने इच्छानुरूप स्थानको पा कर कौन फिर उसे छोड़ सकता है? ॥७४,७५॥

क्रौर्येणाऽपहृतात्मानं दर्शयत्युपवेधनैः ।
उत्सवादपि नीचानां कलहोऽपि सुखायते ॥ ७६ ॥
कपर्दकार्धलाभेन कृपणो बहु मन्यते ।
दुरुच्छेदा हि भूतानामहङ्कारचमत्कृतिः ॥ ७७ ॥
सूचिकायुग्मलभ्येन मोहितेनाऽऽत्मना नृणाम् ।
मृतिमाशङ्कते चित्रा स्वार्थेनोदेति मूढता ॥ ७८ ॥
वस्त्रतन्तुविभेदेन परमारणमाशु मे ।
इदं सम्पद्यत इति भवत्यन्तर्हि निर्मला ॥ ७९ ॥
स्थापिता मलमादत्ते यथा मृद्घर्षणं विना ।
परापराधविरहाद् व्याधिस्तस्याः प्रवर्तते ॥ ८० ॥

क्रूरतासे दूसरोंके प्राणहरणपर्यन्त वेधनोंसे अपनेको दूषित दिखलाती है ।

शङ्का—यदि उसका कोई स्वार्थ नहीं था, तो उसकी अन्य लोगोंके मारणमें प्रवृत्ति क्यों हुई ?

समाधान—नीच लोगोंको कलह करना उत्सवसे भी अधिक सुखदायी होता है । भाव यह कि जिन दुष्टोंको दूसरोंको पीडित करनेकी सामर्थ्य न होनेपर भी दूसरोंसे कलह करनेमें सुख होता है, उनको दूसरेको मारनेमें सुख हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ७६ ॥

थोड़ेसे रक्तकणोंके आस्वादके लोभसे इसकी दूसरोंको मारनेमें प्रवृत्ति हो सकती है ? इसपर कहते हैं—'कपर्दका०' इत्यादिसे ।

आधी कौड़ीकी प्राप्तिसे भी कृपणको बड़ा हर्ष होता है, प्राणियोंका अहङ्कार-चमत्कार दुरुच्छेद्य है, यानी उसका विनाश नहीं किया जा सकता ॥७७॥

वह सूचिका मूढ अपनी आत्मा द्वारा किये जा रहे जीवसूची और लोह-सूची इन दो अपनी सूचिकाओंसे होनेवाले वेधनसे सब प्राणियोंके मरणकी तर्कना करती है । मूढोंकी आवश्यक स्वार्थमें यदि मूढता उदित न हो, तो वह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ७८ ॥

यह मेरा परमारणरूप कार्य पहले (वस्त्र सीनेके समय) वस्त्रके तन्तुओंका भेदन करनेसे अभ्यस्त है, इस कारण यह शीघ्र सम्पन्न हो रहा है, इस प्रकार अपने चातुर्यके अनुसन्धानसे अपने मनमें अत्यन्त प्रसन्न होती है ॥ ७९ ॥

जैसे मिट्टीमें घिसनेके बिना चुपचाप रक्खी हुई सुई मोरचा लगनेके कारण

सूक्ष्माऽदृश्या चैव दात्री क्षणाद्विस्मृतिमेति सा ।
तीक्ष्णभेदकरी क्रूरा सूची चेष्टेव दैविकी ॥ ८१ ॥
तन्तुवेधनमात्रेण हतोऽन्य इति तोषिता ।
दुर्जनो येन तेनैव नाशितेनैति हृष्टताम् ॥ ८२ ॥
पङ्के मज्जति याति खं विहरति व्योमानिलैर्दिक्तटे
शेते पांसुषु भूतलेष्विव वने पङ्के गृहेऽन्तःपुरे ।
हस्ते श्रोत्रसरोरुहेऽथ मृदुनि स्वेच्छोर्णिकाखण्डके
रन्ध्रे काष्ठमृदां च माति हृदये द्रव्यात्मशक्त्यैव सा ॥ ८३ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।

मलिन हो जाती है, वैसे ही सूचिका भी यदि परमारणरूप अपराध न करे, तो उसे व्याधिरूपी दुःख हो जाता है । यह सूचिका सूक्ष्म अतएव अदृश्य होकर शरीरको काटनेवाली है और क्षणभरमें विस्मृतिको प्राप्त हो जाती है । तीक्ष्णभेद करनेवाली दैवचेष्टाके (औत्पातिकी चेष्टाके) समान क्रूर है ॥ ८०, ८१ ॥

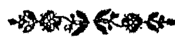
मर्मस्थानके आच्छदानभूत उत्तरीय वस्त्रके तन्तुके वेधनमात्रसे दूसरेको मार दिया, ऐसा समझकर आप सन्तोषको प्राप्त होती है । जिस नाशको करनेसे दुर्जन हर्षको प्राप्त होता है, उसी नाशसे वह भी हर्षको प्राप्त होती है, कीचड़में वह डूबती है, आकाशमें वह उड़ती है, आकाशचारी वायुओंसे दिशाप्रान्तोंमें विहार करती है । भूतलमें, वनमें और धूलिकणोंमें भी अन्तःपुरके घरमें पलङ्गपर बिछाए गये बिस्तरकी नाईं सोती है, मनुष्योंके हाथमें और कानमें स्थित या कानरूप कमलमें और भेड़ोंके रोमोंकी राशिमें इच्छानुसार सोती है, काठ और मिट्टीकी बनी हुई भित्तियोंके छिद्रमें समा जाती है और प्राणियोंके हृदयमें ऐसे समा जाती है जैसे कि मणि, मन्त्र आदि द्रव्योंकी शक्तिसे और आत्मशक्तिसे मायावी अथवा योगी सर्वत्र यथेच्छ विहार करता है ॥ ८२, ८३ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—वत्स भरद्वाज, मुनिके इतना कह चुकनेपर दिन समाप्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलको गये, मुनियोंकी सभा महामुनिको

स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ८४ ॥

षष्ठो दिवसः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने सूचिव्यवहारवर्णनं नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥



एकसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ सा बहुकालेन कर्कटी नाम राक्षसी ।
सर्वेषां नरमांसानां न तु तृप्तिमुपाययौ ॥ १ ॥
पूर्वेणैव किलाऽह्ना सा तृप्ता रुधिरबिन्दुना ।
सूच्याः किमिव मात्यन्तस्तृष्णासूची सुदुर्भरा ॥ २ ॥
चिन्तयामास हा कष्टं किमहं सूचितां गता ।
सूक्ष्माऽस्मि हतशक्तिश्च अपि ग्रासो न माति च ॥ ३ ॥

नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्या आदिके लिए स्नानार्थ चली गई, रात्रि समाप्त होनेपर दूसरे दिन सूर्यके किरणोंके साथ फिर मुनि-सभा आ गई ॥ ८४ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छठा दिन समाप्त



इकहत्तरवाँ सर्ग

[सूचिकारूपको प्राप्त होकर अपने पूर्व शरीरका स्मरण कर रही कर्कटीके पश्चात्तापका विस्तारपूर्वक वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इसके बाद वह कर्कटीनामकी राक्षसी चिरकालतक सब जातिके मनुष्योंके मांसोंका आस्वादन करनेपर भी तृप्तिको प्राप्त नहीं हुई, यों तो पहले ही दिन एक रुधिरबिन्दुसे वह तृप्त हो गई, क्योंकि सूचीके भीतर कितना समा सकता है ? किन्तु तृष्णापूर्ण उस सूचीका भरना अत्यन्त कठिन है । उसने विचार किया कि बड़े खेदकी बात है, मैं क्यों सूची बनी, मैं

क्व मे तानि विशालानि गतान्यङ्गानि दुर्धियः ।
कालमेघविशालानि वने शीर्णानि पर्णवत् ॥ ४ ॥
मय्यस्यां मन्दभाग्यायां मनागपि न माति हि ।
स्वादुर्मांसरसग्रासो वसावासित आसयन् ॥ ५ ॥
पङ्कान्तर्विनिमज्जामि पतामि धरणीतले ।
हताऽस्मि जनपादौघैः शुक्रेण मलिनाऽस्मि च ॥ ६ ॥
हा हताऽहमनाथाऽहमनाश्वासा निरास्पदा ।
दुःखाद् दुःखे निमज्जामि सङ्कटात् सङ्कटेऽपि च ॥ ७ ॥
न सखी न च मे दासी न मे माता न मे पिता ।
न मे बन्धुर्न मे भृत्या न मे भ्राता न मे सुतः ॥ ८ ॥
न मे देहो न मे स्थानं न मे कश्चित् समाश्रयः ।
नैकस्थाने समावासो भ्राम्यामि वनपर्णवत् ॥ ९ ॥
आपदां धुरि तिष्ठामि निविष्टाऽस्मि सुदारुणे ।
अभावमपि वाञ्छामि सोऽपि सम्पद्यते न मे ॥ १० ॥

बहुत छोटी हूँ, मेरी खानेकी शक्ति अतिअल्प है, एक ग्रास भी मेरे पेटमें नहीं समाता, मैं बड़ी दुर्बुद्धि हूँ, मेरे वे विशाल अङ्ग कहाँ गये, काले मेघके समान विशाल वे मेरे अङ्ग वनमें पत्तेके समान विलीन हो गये। इस मन्दभाग्या मुझमें वसासे सुगन्धित स्वादु मांसरसका ग्रास थोड़ा भी नहीं समाता ॥ १–५ ॥

मैं कीचड़के अन्दर डूब जाती हूँ और पृथ्वीमें गिर जाती हूँ, मनुष्योंके पैरोंके समूहोंसे कुचली जाती हूँ और शुक्रसे मलिन हूँ; मैं मारी गई हूँ, मैं अनाथ हूँ, मुझे आश्वासन देनेवाले मित्र, बन्धु आदि नहीं हैं, मेरा कोई आधार नहीं है, मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें और एक संकटसे दूसरे संकटमें पड़ती रहती हूँ, न मेरी कोई सखी है, न कोई मेरी दासी है, न मेरी माता है, न मेरा पिता है, न मेरा बन्धु है, न मेरे नौकर चाकर हैं, न मेरा भाई है, न मेरा पुत्र है, न मेरा शरीर है, न रहनेका स्थान है, न कोई उपजीव्य है और न एक स्थानमें मेरा आवास ही है। मैं वनके जीर्ण-शीर्ण पत्तेके समान घूमती फिरती हूँ, मैं आपत्तियोंके सम्मुख खड़ी रहती हूँ, अत्यन्त भीषण स्थानोंमें प्रविष्ट हूँ, मैं चाहती हूँ कि मैं मर जाऊँ, पर वह भी मुझे प्राप्त नहीं होता ॥ ६–१० ॥

स्वको देहः परित्यक्तो मूढचेतनया मया ।
काचबुद्ध्या विमूढेन हस्ताच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ११ ॥
आपतद्धि मनो मोहं पूर्वमापत् प्रयच्छति ।
पश्चादनर्थविस्ताररूपेण परिजृम्भते ॥ १२ ॥
धूमेषु परितिष्ठामि मार्गे विलुलिताऽस्मि च ।
तृणेषु प्रेषिताऽस्म्यन्तर्हा मे दुःखपरम्परा ॥ १३ ॥
परप्रैषकरी नित्यं परसंचारचारिणी ।
परं कार्पण्यमायाता जाता परवशाऽस्म्यलम् ॥ १४ ॥
भ्रान्तिं करोमि तुच्छे च साऽपि वेधनरूपिणी ।
अहो ममाऽल्पभाग्याया दौर्भाग्यमपि दुर्भगम् ॥ १५ ॥
उत्थितः स्फारवेतालः कुर्वत्याः शान्तिमद्य मे ।
सर्वनाशोऽवदातेन प्रवृत्ताया ममोदितः ॥ १६ ॥

मैं बड़ी मन्दबुद्धि हूँ, जैसे कोई मूढ़ पुरुष काच समझकर चिन्तामणिको हाथसे छोड़ दे, वैसे ही मैंने अपना शरीर छोड़ दिया। मोहको प्राप्त होता हुआ मन पहले दुर्बुद्धिको देता है, फिर स्वयं ही अनर्थोंकी परम्परारूपसे विस्तारको प्राप्त होता है ॥ ११, १२ ॥

कोई लोग कभी मुझे डोरेसे पोकर धुएँके घरोंमें रख देते हैं, ऐसी हालतमें मुझे धुएँके ऊपर रहना पड़ता है। कभी मैं मार्गमें गिर पड़ती हूँ और गिरनेपर गदहे, ऊँट आदिके खुरों द्वारा रगड़ी जाती हूँ। कोई लोग नरकुल आदि तृणोंके भीतर मुझे डाल देते हैं। मेरी दुःखपरम्पराका कोई ठिकाना है ! ॥१३॥

मैं नित्य दूसरेकी चाकरी बजाती हूँ, दूसरे जब मुझे चलाते हैं, तब मैं चलती हूँ, अत्यन्त दीनताको प्राप्त हुई मैं अत्यन्त परवश हो गई हूँ, तुच्छके यानी भीतर स्थित रक्त आदिके आस्वादकी मुझे इच्छा होती है, परन्तु वह इच्छा भी वेधनरूपिणी ही है यानी उसका फल केवल वेधन ही है, क्योंकि न मुझे पेट है और न जिह्वा है। मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ, मेरा दौर्भाग्य भी बड़ा अभागा है ॥ १४,१५ ॥

वेतालकी शान्ति करनेवाला कर्म करनेपर वेतालोदय हो गया, यह लोकोक्ति मेरे ऊपर ही पूरी तरहसे घटी, ऐसा कहती हैं—'उत्थितः' इत्यादिसे ।

किं मन्दया मया तादृक् संत्यक्तं तन्महावपुः ।
यथा नाशेन वा भाव्यं तथोदेत्यशुभा मतिः ॥ १७ ॥
मामवान्तरनिर्मग्नां सूक्ष्मां कीटतनोरपि ।
उद्धरिष्यति को नाम पांसुराशिभिरावृताम् ॥ १८ ॥
विविक्तमनसां बुद्धौ क्व स्फुरन्ति हताशयाः ।
ग्राममार्गतृणानीव गिरेरुपरिवासिनाम् ॥ १९ ॥
स्थिताया अज्ञताम्भोधौ क्व ममाऽभ्युदयो भवेत् ।
अन्धस्योदेति प्राकाश्यं न खद्योतानुसेविनः ॥ २० ॥
अतः कियन्तं नो जाने कालमावलितापदम् ।
मयाऽऽपच्छ्वभ्रगर्तेषु लुठितव्यं हतेहया ॥ २१ ॥

गई तो थी वेतालकी शान्तिके लिए, पर उससे विशाल वेताल उत्पन्न हो गया । तप करनेके लिए प्रवृत्त हुई मेरा तपस्यासे सर्वनाश हो गया । मन्दमति मैंने उस प्रकारका वह विशाल शरीर क्यों छोड़ा ? अथवा जिस प्रकारकी बुद्धि होनेपर नाश सर्वथा होता है, उस प्रकारकी अशुभ मति नाशके समय उत्पन्न होती ही है ॥१६,१७॥

कीड़के शरीरसे भी सूक्ष्म, अवान्तरमें (मार्गमें) भाग्यवश धूलीमें डूबी हुई और धूलिराशिसे आवृत मेरा कौन उद्धार करेगा ? मुझे देखना ही मुश्किल है, इसलिए मेरा कोई उद्धार करनेवाला नहीं है ॥ १८ ॥

यद्यपि स्थूलदर्शी पुरुष तुम्हारा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि तुम उनके दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, किन्तु सूक्ष्मदर्शी योगी तुम्हारा उद्धार करेंगे, ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो उसपर कहती है—**'विविक्त०'** इत्यादिसे ।

जैसे पर्वतके ऊपर रहनेवाले लोगोंकी बुद्धिमें ग्राममार्गके तृणोंका स्फुरण होना सम्भव नहीं है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी योगियोंकी बुद्धिमें मेरे जैसे हतभाग्य लोगोंका स्फुरण कैसे हो सकता है ? ॥ १९ ॥

यदि कोई कहे कि तुमको स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए, तो इसपर कहती हैं—**'स्थिताया'** इत्यादिसे ।

अज्ञानसागरमें डूबी हुई मेरा उद्धार कहाँ हो सकता है ? खद्योत (जुगनूँ) का सेवन करनेवाले अन्धे पुरुषको पदार्थोंका दर्शन कदापि नहीं होता ॥ २० ॥

इसलिए कितने समय तक आपत्तियोंसे परिपूर्ण होकर मुझ मन्दभागिनीको आपत्तिरूपी गड्ढोंमें पड़ा रहना पड़ेगा, यह मैं नहीं जानती ॥ २१ ॥

कदा स्यामञ्जनमहाशैलपुत्रकरूपिणी ।
द्यावापृथिव्योर्वैधुर्ये स्तम्भतामनुतिष्ठती ॥ २२ ॥
मेघमालासमभुजा चिरं विद्युत्पदेक्षणा ।
नीहारजालवसना प्रोच्चकेशमिताम्बरा ॥ २३ ॥
लम्बोदराभ्रसंदर्शप्रनर्तितशिखण्डिनी ।
लम्बलोलस्तनी श्यामा देहवातद्रवत्स्तनी ॥ २४ ॥
हासभस्मच्छटाच्छन्नसूर्यमण्डलरोधिनी ।
कृतान्तग्रसनोद्युक्तकृत्यैकाकृतिधारिणी ॥ २५ ॥
कृशानूलूखलदृशा सूर्यस्रग्दामहारिणी ।
पर्वतात् पर्वते शृङ्गे न्यस्य पादौ विहारिणी ॥ २६ ॥
कदा मे स्याद्गुरुश्वभ्रभासुरं तन्महोदरम् ।
कदा मे स्याच्छरन्मेघमेदुरा नखरावली ॥ २७ ॥
कदा मे स्यान्महारक्षोविद्रावणकरं स्मितम् ।
स्वस्फिग्वाद्यैररण्यान्यां कदा नृत्येयमुन्मदा ॥ २८ ॥

मैं कब काजलके महाशैलकी प्रतिमाके समान प्राणियोंके संहार और अवष्टम्भके द्वारा भार उतारनेके लिए आकाश और पृथ्वीकी स्तम्भताको प्राप्त करनेवाली होऊँगी ॥ २२ ॥

मेघमालाके समान भुजाओंवाली स्थिर बिजलीके समान नेत्रवाली, कुहरेके समूह ही जिसके वस्त्र हैं, ऊंचे ऊँचे केशोंसे जिसने आकाशको नाप दिया है तथा जिसने खूब लम्बे उदररूपी मेघके दर्शनसे मयूरोंको नचा दिया है इस प्रकारकी, और लम्बायमान चञ्चल स्तनवाली, काली, श्वासवायुसे जिसके स्तन हिलते हों ऐसी, अट्टहासके बिलासरूपी दग्ध वनके धूलिके पटलोंसे आच्छादित सूर्यमण्डलको रोकनेवाली, यमराजके समान सम्पूर्ण प्राणियोंके ग्रसनके लिए जिसने कार्य आरम्भ किया था, इस प्रकारकी भीषण आकृतिको धारण करनेवाली, अग्निके समान देदीप्यमान, ऊखलके समान गहरे नेत्रवाली, सूर्यकी किरणमालाका अपहरण करनेवाली तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर, एक शिखरसे दूसरे शिखरपर पैर रखकर चलनेवाली मैं कब होऊँगी? कब बड़े भारी गड्ढेके समान देदीप्यमान वह बड़ा भारी मेरा उदर होगा? शरत्कालके मेघोंके समान स्थूल मेरी नखपङ्क्तियाँ कब होंगी। कब मेरा हास बड़े बड़े बलवान् राक्षसोंके भी हृदयको विदीर्ण करनेमें समर्थ होगा, कब मैं

वसासवमहाकुम्भैर्मृतमांसास्थिसञ्चयैः ।
कदा करिष्येऽविरतं मेदुरोदरपूरणम् ॥ २९ ॥
कदा पीतमहालोकरुधिरा क्षीबतां गता ।
भवेयं मुदिता दृप्ता मुद्रिता निद्रया ततः ॥ ३० ॥
मयैव कुतपोवह्नौ तदग्र्यं भासुरं वपुः ।
भस्मत्वं कनकेनेव सूचित्वमुररीकृतम् ॥ ३१ ॥
क्व किलाऽञ्जनशैलाभं वपुर्भरितदिक्तटम् ।
क्व प्राचिकाखुरसमं सूचित्वं तृणपेलवम् ॥ ३२ ॥
त्यजत्याशु मृदित्यज्ञः प्राप्याऽपि कनकाङ्गदम् ।
मया सूचित्वलोभेन संत्यक्तं भासुरं वपुः ॥ ३३ ॥
हा महोदर विन्ध्याद्रिसनीहारगुहोपम ।
अद्य नाऽन्तं करोषि त्वं कथं सिंहेन हस्तिनाम् ॥ ३४ ॥

अपले नितम्बरूपी बाजोंके बादनसे महारण्यमें खूब प्रसन्न होकर नृत्य करूँगी, मज्जारूपी आसवके बड़े बड़े घड़ोंसे भरे हुए प्राणियोंके मांस और हड्डियोंकी राशियोंसे कब मैं लगातार अपने विशाल उदरका पोषण करूँगी, कब मैं बड़े-बड़े जीवोंके रुधिरको पी कर उन्मत्त हुई अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होऊँगी, तदनन्तर निद्राकी गोदमें सो जाऊँगी ॥ २३–३० ॥

जैसे सोना अग्निमें अपने देदीप्यमान स्वरूपको भस्म बना देता है, वैसे ही मैंने ही कुतपरूपी अग्निमें अपने उस श्रेष्ठ प्राचीन शरीरको भस्म कर दिया और सूचिताको स्वीकार किया ॥ ३१ ॥

कहाँ अंजनपर्वतके सदृश दिक्-तटोंको पूर्ण करनेवाला मेरा वह विशाल शरीर और कहाँ मकड़ीकी टाँगोंके समान सूक्ष्म और तिनकेके समान कोमल यह सूचिता ? अर्थात् दोनों शरीरोंमें महान् अन्तर है ॥ ३२ ॥

जैसे अज्ञ पुरुष स्वर्णके बाजूबन्दको पा कर भी 'यह मिट्टी है' ऐसा समझकर उसका त्याग कर देता है, वैसे ही इस सूचिताके लोभसे मैंने अपने देदीप्यमान शरीरका त्याग कर दिया ॥ ३३ ॥

कुहरेसे पूर्ण विन्ध्याचलकी गुफाके सदृश हे मेरे विशाल उदर, आज तुम सिंहके सदृश अपने आविर्भावसे तुम्हारे वियोगसे उत्पन्न हुई हाथीके सदृश व्यथाओंका क्यों अन्त नहीं करते हो ॥ ३४ ॥

हा भुजौ भरनिर्भग्नशिखरौ शशभृन्नखैः ।
पुरोडाशधिया चन्द्रं कथमद्य न बाधतः ॥ ३५ ॥
हा वक्षः काचवैधुर्यगिरीन्द्रतटसुन्दर ।
नाऽद्य सिंहादियौकं तद् धृतं रोमवनं तथा ॥ ३६ ॥
हा नेत्रे कृष्णरजनीरजःशुष्केन्धनैजने ।
कस्मान्न मे भूषयतो दृग्ज्वालामालया दिशः ॥ ३७ ॥
हा स्कन्ध बन्धो नष्टोऽसि निषिद्धोऽसि महीतले ।
कालेन विनिपिष्टोऽसि निघृष्टोऽसि शिलातले ॥ ३८ ॥
हा मुखेन्दो तपसि किं नाऽद्य त्वं मम रश्मिभिः ।
कल्पान्तदावसंशान्तचन्द्रबिम्बमनोहर ॥ ३९ ॥
हा हा हस्तौ महाकारौ तावद्य क्व गतौ मम ।
सम्पन्नाऽस्मि महासूचिर्मक्षिकाखुरदोलिता ॥ ४० ॥

अपने भारसे पर्वतके शिखरोंको तोड़फोड़ देनेवाली हे मेरी भुजाओ ! चन्द्रमारूपी उज्ज्वल नखोंसे इस चन्द्रमाको देवभाग पुरोडाश समझकर तुम क्यों नहीं पीड़ित करते ॥ ३५ ॥

काचमणियोंकी मालाओंसे शून्य होनेपर भी हिमालयके तटके समान सुन्दर हे मेरे वक्षस्थल, तुमने आज वह रोमोंका वन नहीं धारण किया, जिसमें सिंह आदि बड़े-बड़े जानवर जुओंके समान प्रतीत होते थे, इसलिए मुझे तुम्हारे लिए खेद है ॥ ३६ ॥

अँधेरी रात्रिके अन्धकाररूप शुष्क लकड़ियोंको जलानेवाले हे मेरे नेत्रो, तुम आज अपनी दृष्टिरूपी ज्वालाओंकी लपटोंसे दिशाओंको क्यों नहीं अलङ्कृत करते हो ॥ ३७ ॥

हे मेरे कन्धे, हे मेरे बन्धु, तुम पृथ्वीमें नष्ट हो गये हो, मैंने तुम्हारा त्याग कर दिया है, कालने तुमको पर्वतोंकी शिलापर पीस डाला है एवं घिस डाला है ॥ ३८ ॥

प्रलयाग्निसे दग्ध चन्द्रबिम्बके समान मनोहर हे मेरे मुखचन्द्र, तुम आज अपनी किरणोंसे क्यों नहीं तप रहे हो ॥ ३९ ॥

वे बड़े मेरे हाथ कहाँ चले गये, इसका मुझे बड़ा पश्चात्ताप है, मैं आज मक्खियोंके पैरोंसे हिलाई जानेवाली महासूची बन गई हूँ ॥४०॥

इति संचिन्त्य चित्तस्थं संहृत्य जनमारणम् ।
तदेव हिमवच्छृङ्गं जगाम तपसे स्थितम् ॥ २ ॥
अपश्यदेव सूचित्वं सा तन्मानसमात्मनि ।
प्राणवातात्मिका प्राणैः प्रविश्य हृतमानसम् ॥ ३ ॥
अथाऽऽत्मन्येव सूचित्वं पश्यत्येव मनोमयम् ।
प्राणवातशरीराऽसौ जगाम हिमवच्छिरः ॥ ४ ॥
दग्धदावानले तत्र सर्वभूतविवर्जिते ।
महामहाशिलाभाभारूक्षे पांसुविधूसरे ॥ ५ ॥
तस्थावभ्युदितेवाऽसौ निस्तृणे विपुले स्थले ।
मरावकस्मात् संजातशुष्का तृणशिखा यथा ॥ ६ ॥

आगे कहे जानेवाले प्रकारका चिन्तन कर फिर उसी देहके लाभके लिए मैं शीघ्र तपस्विनी होऊँ, ऐसा निश्चय किया। तदनन्तर पहले चित्तमें स्थित लोगोंकी हत्याका त्यागकर उसी हिमालयके शिखरमें, जिसमें पहले वह रहती थी, तपश्चर्याके लिए गई ॥ १,२ ॥

उसने पहले आत्मामें (अपनेमें) मनसे कल्पित जो सूचिता है, उसीको देखा।

शङ्का—क्रियाशक्तिरहित आत्मामें (अपनेमें) सूचिताका दर्शन होनेपर भी उसमें गमनक्रियाकी सिद्धि कैसे हुई ?

समाधान—प्राणवायुरूप उस जीवयुक्त सूचीने अपने उपाधिभूत प्राणोंसे मनसे कल्पित लोहसूचीमें प्रवेश करके अपनेमें ही मनोमय लोहसूचीकी कल्पना की, तदनन्तर उसने अपनेमें ही मनोमय सूचिताको देखा और प्राणवायुरूप शरीर होकर वह हिमालयके शिखरमें गई। तात्पर्य यह हुआ कि लोहसूची और जीवसूचीका अन्योन्य तादात्म्याध्यास होनेसे यह कर्कटी प्राणवायुरूप शरीरवाली होकर क्रियाशक्तिको पाकर हिमालयके ऊपर गीधके शरीरमें प्रवेश करके गई, अतः आत्मामें क्रियाशक्ति न होनेपर भी असङ्गति नहीं है ॥ ३,४ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंसे रहित, वनाग्निकी लपटोंसे पूर्ण, घामसे रूक्ष, धूलिसे धूसरित, तृणरहित और विपुल उस विशाल-स्थानमें बड़ी-बड़ी इन्द्रनीलमणिकी शिलाओंके समान कान्तिवाली वह मानो अभ्युदित होकर स्थित हुई। वह मरुभूमिमें अकस्मात् उत्पन्न होकर सूखी हुई तृणशिखाके समान प्रतीत होती थी। अत्यन्त सूक्ष्म एक पैरके एक सूक्ष्म हिस्सेसे उर्वर पृथ्वीमें खड़ी हुई उसने अपनी कल्पनासे एक

सुसूक्ष्मस्यैकपादस्य साऽर्धेनैवाऽऽश्रितोर्वरा ।
स्वसंविदेकपादात्म तपः कर्तुं प्रचक्रमे ॥ ७ ॥
सूक्ष्मपादतलेनैषा वसुधारेणुसंकटी ।
निवार्य त्रिपदीं कृत्स्नाद्यत्नेनोर्ध्वमुखी स्थिता ॥ ८ ॥
कृष्णत्वहिंस्रतातैक्ष्ण्यव्याप्त्यास्यपवनाशनैः ।
यत्नात् पदं निबध्नन्ती रेण्वणूपलसंकटे ॥ ९ ॥
अरण्ये क्षुभितां संपद्रालोकार्थमुत्थिताम् ।
पुच्छाकोटिस्थितां वातालोलामनुचकार सा ॥ १० ॥

पैररूप तप करना आरम्भ किया। भाव यह कि यद्यपि दो पैरवाले लोगोंके समान एक पैरका परित्याग कर एकपादतारूप तप करना उसके लिए संभव नहीं था, क्योंकि सूचीको दो पैर हैं नहीं, तथापि अपनी कल्पनासे ही कल्पित दो भागोंमें से आगेके अर्ध भागका परित्याग करनेसे एकपादतारूप—एक पैरसे स्थितिरूप—तप करना उसने आरम्भ किया। अत्यन्त सूक्ष्म पैरके तलुवेसे (अत्यन्त तीखे अग्रभागसे) पृथ्वीकी धूलिको भी पीड़ित करनेवाली वह सूची सामने और दोनों अगल-बगलरूप तीन भागोंमें फैली हुई दृष्टिको सम्पूर्ण विषयोंसे प्रयत्नपूर्वक हटाकर ऊपरको मुख करके स्थित हुई ॥ ५—८ ॥

ऊपरको मुख करनेपर दृष्टिके चारों ओरसे हट जानेपर भी धूलिरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरकणरूपी संकटमें उसके पैरकी स्थिरता कैसे हुई ? इसपर कहते हैं—'कृष्णत्व०' इत्यादिसे ।

कृष्णता (कृष्णलोहमयत्व), क्रूरता, तीक्ष्णता (तीक्ष्णाग्रत्व) सर्वाङ्गव्याप्ति, मुखसे वायुके भक्षणसे और विष्टम्भरूप उक्त यत्नसे रेणुरूपी तथा छोटे-छोटे पत्थरोंके संकटमें वह प्रयत्नसे अपने पैरको स्थिर रखती थी। भाव यह कि अत्यन्त दृढ़ होनेके कारण ही उसकी स्थिरता सिद्ध हुई ॥ ९ ॥

उस सूचीने—जङ्गलमें मारे भूखके क्षुब्ध हुई अतएव अपने समीपमें आनेवाले जङ्गलके बटोहियोंको दूरसे देखनेके लिए उठाई हुई गर्दनसे युक्त, पुच्छसे तृण, पत्ते आदिके अग्र भागमें स्थित और वायुसे भी चञ्चल होनेवाली ऐसी—तृणजलौकाका अनुकरण किया ॥ १० ॥

मुखरन्ध्रविनिष्क्रान्ता तस्या भास्करदीधितिः ।
सखी बभूव सूच्याभा पश्चाद्भागैकरक्षिणी ॥ ११ ॥
क्षुद्रेऽपि स्वजने भूतेऽप्येति वत्सलतां जनः ।
दीधित्याऽपि सखीवृत्तं सूच्यां शुचितया भृतम् ॥ १२ ॥
बभूव तस्याः स्वच्छाया द्वितीया तापसी सखी ।
एवं सूचीव मलिना तया पश्चात् कृतेव सा ॥ १३ ॥
सूच्या तया सुनिर्गत्य सुपाताक्ष्या स्म कूणितैः ।
पश्चात् सख्याभया साधुरन्योन्याचारके बलम् ॥ १४ ॥
सूच्यभिप्रेक्षिते याता मतिं द्रुमलतादयः ।
महातपस्विनीं सूचीं दृष्ट्वा नोत्कण्ठयन्ति के ॥ १५ ॥

सूचिकाके छिद्रसे निकली हुई धूप भी, सूचिकाकार होनेके कारण, उसकी सखी हुई, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं—'मुख०' इत्यादिसे ।

उसके मुखके छेदसे निकली हुई सूर्यकी किरण पृष्ठभागकी रक्षा करनेवाली और सूचीके समान आकारवाली सखी हुई ॥ ११ ॥

अत्यन्त क्षुद्र भी अपने आत्मीय जीवमें लोगोंको प्रेम होता है, किरणने भी, शुद्ध होनेके कारण, सूचीमें सखीभावको धारण किया ॥ १२ ॥

उस सूचीकी अपनी छाया भी दूसरी तापसी सखी हुई, सूचीके समान मलिन उस छायासूचीको उसने अपनी पृष्ठरक्षिका बनाया ॥ १३ ॥

उन तीनों सूचियोंके परस्पर शिर और मूलके गूँथनेसे परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण मानो उन्होंने परस्परकी अनुकूलताका आचरण किया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं—'सूच्या०' इत्यादिसे ।

पृष्ठरक्षक सूर्यकिरणरूप सखीका लोहसूचीके साथ तथा द्वारभूत लोहसूचीसे भलीभाँति निकली हुई छायासूचीके साथ, जिसका कि सूर्यकिरणोंका गिरना ही नेत्र है, अथन करनेपर उन्होंने परस्पर द्वारा करने योग्य स्थिरताकी सहायतामें दृढ़ता की, इसलिए उनका वैसा करना उत्तम हुआ ॥ १४ ॥

इस प्रकार तपस्या कर रही सूचीको अपने सामने देखकर पेड़, लता आदिको भी सद्बुद्धि प्राप्त हो गई । महातपस्विनी सूचीको देख करके किसको तप करनेकी उत्कण्ठा नहीं होगी ॥ १५ ॥

स्थिरबद्धपदामेनां स्वमनोवृत्तिमुत्थिताम् ।
अनिलं भोजयाञ्चक्रुर्मुखनिर्गतभाङ्कृतैः ॥ १६ ॥
प्रसूतानि भविष्याणि गीर्वाणान्यानि वा चिरम् ।
कौसुमानि रजांस्यस्या इत्यास्यं पर्यपूरयन् ॥ १७ ॥
ततो महेन्द्रप्रहितं वाततुन्नामिषं रजः ।
तया त्वभ्रत्वव्याजेन न निगीर्णं मुखे विशत् ॥ १८ ॥
न निगीर्णवती तानि रजांसि दृढनिश्चयात् ।
अन्तःसारतया कार्यं लघवोऽप्याप्नुवन्ति हि ॥ १९ ॥
न पिबत्यास्यसंस्थानि तथा पुष्परजांस्यपि ।
विस्मयं पवनः प्राप सुमेरून्मूलनाधिकम् ॥ २० ॥

तप करनेके लिए स्थिर अपनी मनोवृत्तिके समान उत्पन्न हुई उस सूचीको पेड़, लता आदिने अपने फलफूलोंसे वासित वायु खिलाया, क्योंकि उसके मुखसे झङ्कार शब्द निकलता था और शब्दके साथ भोजन करना पामर-लोगोंमें प्रसिद्ध है ॥ १६ ॥

भाग्यवश द्रुमलता आदिने फूलके परागसे सूचीके मुखको ढक दिया, ऐसी उत्प्रेक्षा करते हैं—'प्रसूतानि' इत्यादिसे ।

जो पहले उत्पन्न हुए थे, जो भविष्यमें होंगे और जो देवताओंके लिए नहीं हैं, वे सब फूलोंके पराग इस सूचीको देने चाहिए, इस उत्साहसे मानो पेड़, लता आदिने उसके मुखको भर दिया ॥ १७ ॥

भाग्यवश उसके छेदमें वायुसे प्रेरित माँस आदिके अपवित्र कणोंके प्रवेशकी इन्द्र द्वारा किये गये विघ्नरूपसे और प्रविष्ट हुए उनका जो बहिर्गमन है, उसकी उसके अनिगरणरूपसे उत्प्रेक्षा करते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

तदनन्तर इन्द्र द्वारा भेजे गये और वायुसे प्रेरित आमिषके कणको, जो कि उसके छिद्ररूपी मुखमें प्रविष्ट हो रहा था, उसने नहीं निगला ॥ १८ ॥

दृढ निश्चय होनेके कारण उसने उन पुष्परजोंको और मांसकणोंको नहीं निगला, अन्तःसार होनेके कारण क्षुद्र लोग भी तपमें आनेवाले विघ्नोंकी निवृत्ति-रूप प्रयोजनको प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

अपने मुँहमें स्थित फूलके परागोंको भी वह नहीं पीती है, यह देखकर वायुको सुमेरुपर्वतको उखाड़नेसे भी बढ़कर आश्चर्य हुआ ॥ २० ॥

आशिरः पिहिता पङ्कैः पूरिताऽपि महाजलैः ।
विधूताऽपि बृहद्वातैर्दग्धाऽपि वनवह्निभिः ॥ २१ ॥
भिन्नाऽपि करकापातैर्भ्रामिताऽपि तडिद्भ्रमैः ।
उद्वेजिताऽपि जलदैः क्षोभिताऽप्यतिगर्जितैः ॥ २२ ॥
अपि वर्षसहस्रैः सा चित्तस्थदृढनिश्चया ।
पादाग्रं तु कुसुमेव नाऽकम्पत तपस्विनी ॥ २३ ॥
निवृत्ताया बहिस्पन्दाद्देशकाले बहौ गते ।
विचारयन्त्यास्तस्याः स्वमात्मा सत्यं सुचेतनम् ॥ २४ ॥
ज्ञानालोकः समुदभूत् सा परावरदर्शिनी ।
बभूव निर्मला सूचिर्विषूची पावनं परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार अन्य विघ्नोंसे भी वह अपने कार्यसे विचलित नहीं हुई, ऐसा कहते हैं—'आशिरः' इत्यादिसे ।

यद्यपि वह कीचड़से सिर तक हजारों वर्षों तक ढकी गई थी, प्रचुर जलसे हजारों वर्षों तक पूर्ण की गई थी, आंधी द्वारा वह हजारों वर्ष तक उड़ाई गई थी, वनाग्निसे हजारों वर्षों तक जलाई गई थी और ओले आदिके गिरनेसे तोड़ी फोड़ी गई थी, बिजलीके तड़कनेसे हजारों वर्षों तक भ्रान्त हुई थी, मेघोंसे हजारों वर्ष तक भयभीत की गई थी और मेघोंकी अत्यन्त गर्जनाओंसे हजारों वर्ष तक क्षुभित की गई थी, तथापि दृढ निश्चयवाली वह तपस्विनी विषमूर्छासे सोई हुईकी नाईं अणुमात्र भी विचलित नहीं हुई ॥ २१–२३ ॥

इस प्रकार तप कर रही उसके पापोंका क्षय होनेसे और चिरकाल तक चित्तकी एकाग्रतासे उसको विचार-पूर्वक ज्ञान उत्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं—'निवृत्ताया' इत्यादिसे ।

बाह्य व्यापारोंसे निवृत्त हुई सत्य, सुचेतन अपने स्वरूपका विचार कर रही उसके बहुत देश-कालके बीतनेपर उसकी आत्मा ही ज्ञानप्रकाशरूप अर्थात् आत्मसाक्षात्कारवृत्तिसे प्रदीप्त बोधरूप हो गई पर और अवरको देखनेवाली (परब्रह्मसाक्षात्कारवती) वह सोपसर्गा सूची निर्मल हो गई और परम पावन हो गई ॥ २४, २५ ॥

जाता विदितवेद्या सा स्वयमेव तया धिया ।
तपसा दुष्कृते क्षीणे सूची स्वसुखसूचिनी ॥ २६ ॥
इति वर्षसहस्राणि साऽकरोद्दारुणं तपः ।
सप्तसप्तमहालोकसन्तापकरमुन्मुखी ॥ २७ ॥
तस्याः कल्पाग्निभीमेन तपसा हि महागिरिः ।
बभूव तेन ज्वलितो जज्वालेव ततो जगत् ॥ २८ ॥
कस्येदं तपसाऽऽक्रान्तं जगदित्यथ वासवः ।
नारदं परिपप्रच्छ स तस्याः कथयच्च तत् ॥ २९ ॥
सप्तवर्षसहस्राणि सूची दीर्घतपस्विनी ।
महाविज्ञानदेहाऽसौ तेनेदं ज्वलितं जगत् ॥ ३० ॥
नागाः श्वसन्ति विचलन्ति नगाः पतन्ति
वैमानिका जलधिवारिधराः प्रयान्ति ।
शोषं दिशोऽर्कसहिता मलिनीभवन्ति
सूच्याः सुरेन्द्र तपसा क्षयमाययेव ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्यु० सूचीतपःप्रभावो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

तपस्यासे पापोंके क्षीण होनेपर अपने सुखको सूचित करनेवाली उस सूचीने अपनी बुद्धिसे स्वयं ही ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ २६ ॥

इस प्रकार उसने ऊपरको मुख करके हजारों वर्ष तक कठोर तपस्या, जो कि चतुर्दश महालोकोंको सन्ताप देनेवाली थी, की ॥ २७ ॥

उसकी प्रलयाग्निके समान भीषण तपस्यासे हिमालय पर्वत जल उठा, तदनन्तर उसने जगत्को प्रज्वलित किया ॥ २८ ॥

तदनन्तर इन्द्रने यह जगत् किसकी तपश्चर्यासे आक्रान्त है, ऐसा नारदजीसे पूछा । नारदजीने इन्द्रसे सूचीकी तपश्चर्या कही । सात हजार वर्ष तक बड़ी भारी तपश्चर्या करनेवाली महाविज्ञानरूप देहवाली इस सूचीने तपश्चर्या की, उससे यह जगत् प्रज्वलित हुआ है ॥ २९, ३० ॥

हे इन्द्र, भगवान् रुद्रकी संहारशक्तिके समान सूचीकी तपस्यासे हाथी

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

कर्कटीकटुवृत्तान्तं सर्वमाकर्ण्य वासवः ।
नारदं परिपप्रच्छ पुनर्जातकुतूहलः ॥ १ ॥

शक्र उवाच

सूचीवृत्तपिशाचत्वं तपसोपार्ज्य तत्तया ।
कर्कट्या हिमकर्कट्या के भुक्ता विभवा मुने ॥ २ ॥

श्रीनारद उवाच

जीवसूच्याः पिशाचत्वं गतायाः शक्र पेलवम् ।
आसीत्काष्र्णायसी सूची तस्याः समवलम्बनम् ॥ ३ ॥
तत्समालम्बनं त्यक्त्वा व्योमवातरथस्थया ।
प्राणमारुतमार्गेण तया देहप्रविष्टया ॥ ४ ॥

निःश्वास छोड़ रहे हैं, पर्वत विचलित हो रहे हैं, विमानसे चलनेवाले देवता वगैरह गिर रहे हैं, सागर तथा मेघ सूख रहे हैं तथा सूर्यके साथ दिशाएँ मलिन हो रही हैं ॥ ३१ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

[जीवयुक्त सूचीके भोगविस्तारका पुनः वर्णन, तदनन्तर इन्द्रकी प्रेरणासे चारों ओर वायुका सूची-अन्वेषणवर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा— श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रने कर्कटीनामक राक्षसीके क्रूर वृत्तान्तको आद्योपान्त सुनकर फिर नारदजीसे पूछा, क्योंकि उसके वृत्तान्तको सुननेमें इन्द्रको कौतूहल हो गया था ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—हे मुनिवर, उक्त सूचीरूपी पिशाचताको तपश्चर्यासे प्राप्त करके हिमालयकी बन्दरी-सी उस कर्कटीने किन-किन भोगोंका भोग किया ॥१-२॥

नारदजीने कहा—हे देवराज, अत्यन्त क्षुद्र पिशाचताको प्राप्त हुई उस जीवयुक्त सूचीका लोहेकी सूची आश्रय थी, लोहसूचीरूपी आश्रयका त्याग करके आकाशमें चलनेवाले वायुरूपी रथमें बैठी हुई और प्राण-वायुके मार्गसे प्राणियोंकी

सर्वेषामान्त्रतन्त्रीणां स्नायुमेदोवसासृजाम् ।
रन्ध्रेण पक्षिणेवाऽन्तर्निलीनं मलिनात्मनाम् ॥ ५ ॥
यस्यां नाड्यां नभोवायुर्माति तत्तामुपेतया ।
तत्र शूलं कृतं स्थूलन्यग्रोधाग्र इवोत्कटम् ॥ ६ ॥
तच्छरीरेन्द्रियैस्तानि तथाऽन्यानि बहूनि च ।
भुक्तानि नरमांसानि भोजनान्युचितानि च ॥ ७ ॥
सुप्तं विवलितानल्पमालया मुग्धबालया ।
कान्तवक्षःस्थलस्यूतसृष्टपत्रकपोलया ॥ ८ ॥
विप्लुतं वीतशोकासु विहङ्ग्या वनवीथिषु ।
कल्पद्रुमौघपुष्पाग्रद्विगुणाम्भोजपङ्क्तिषु ॥ ९ ॥
पीत आमोदमन्दारमकरन्दकणासवः ।
वनेष्वमरशैलानामलिन्यामलिलीलया ॥ १० ॥

देहमें प्रविष्ट हुई वह सब पापियोंके माँस, मेदा, वसा और रक्तकी आँतोंके सूराखसे भीतर चिरकालतक लीन होकर ऐसे स्थित रही, जैसे कि छिद्रसे भीतर प्रवेश कर पक्षी स्थित रहता है ॥ ३—५ ॥

जिस नाड़ीमें रोगोंका आश्रयभूत बाह्य वायु भरा रहता है, उस नाड़ीको प्राप्त होकर उसने उस नाड़ीमें अत्यन्त उत्कट शूलरूपी वेदना ऐसे उत्पन्न की, जैसे कि दक्षिणामूर्तिके विशाल वटवृक्षकी नाड़ीमें शैवशूल गाड़ा गया था ॥ ६ ॥

उसने उन प्राणियोंके शरीर और इन्द्रियोंसे उन्हीं प्राणियोंके भोजनयोग्य बहुत भोजन तथा अन्यान्य नरमांस आदिका उपभोग किया ॥ ७ ॥

पतिके वक्षःस्थलमें जिन्होंने मछली आदिके आकारके पत्रोंको संक्रामित किया है, ऐसे कपोलोंसे युक्त और कान्तके आलिङ्गनसे जिसकी मालाएँ मर्दित हो गई हों, ऐसी मुग्ध बालाके समान वह सोई रही यानी मुग्ध बालाके सुखका भी उसने अनुभव किया। कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे भी श्रेष्ठ अतएव द्विगुण सुगन्धवाले कमलोंसे पूर्ण शोकरहित वनभूमियोंमें पक्षीके शरीरमें प्रविष्ट हुई उसने लम्बी उड़ान मारी। भँवरीके शरीरमें प्रविष्ट होकर भ्रमरके साथ विहार करती हुई उसने खूब सुगन्धित मन्दारवृक्षके मकरन्द (पुष्परस) रूपी आसवका देवताओंके पर्वतोंके वनोंमें पान किया, संग्राममें वेगसे चमक रही

चर्वितानि शवाङ्गानि गृध्याऽऽगर्तानि धृद्धया ।
खड्गपृष्ठ्येव संग्रामे वीराङ्गानि जवेद्धया ॥ ११ ॥
सर्वाङ्गकोशनाडीषु दिक्ष्विवाऽनिललेखया ।
उड्डीनमवडीनं च काचौघव्योमवीथिषु ॥ १२ ॥
विराडात्महृदि प्राणवातस्पन्दाः स्फुरन्ति तु ।
यथा तथा प्रस्फुरितं प्रतिदेहगृहं तया ॥ १३ ॥
सर्वप्राणिशरीरेषु भान्ति चिच्छक्तयस्तथा ।
दीपप्रभाभासितया गृहिण्येव स्वसद्मसु ॥ १४ ॥
विहृतं रुधिरेष्वन्तर्द्रवशक्त्येव वारिषु ।
अब्धिष्वावर्तवृत्त्येव जठरेषु विवल्गितम् ॥ १५ ॥

तलवारकी धार जैसे वीर पुरुषोंको चबा डालती है, वैसे ही गीधकी देहमें प्रविष्ट हुई उसने क्षतरूपी गर्तोंसे युक्त शवोंके शरीर चबा डाले ॥ ८–११ ॥

जैसे वायु-लेखा दिशाओंमें नीचे और ऊपर उड़ती है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंकी नाड़ियोंमें तथा काँचके समान नीले आकाशमें वह ऊपर नीचे उड़ती थी ॥ १२ ॥

जैसे समष्टि प्राणवायुका स्पन्द विराट्के हृदयमें स्फुरित होता है, वैसे ही प्रत्येक देहरूपी घरमें उसका स्फुरण होता था ॥ १३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि प्रत्येक देहरूपी घरमें उसने कैसे विहार किया ? तो उसपर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें जैसे प्राणवायु अपना व्यापार करता है, वैसे ही चित्-शक्तियाँ भी उनमें भासित होती हैं, जैसे गृहिणी अपने घरमें दीपप्रभासे भासित होकर व्यवहार करती है, वैसे ही पूर्वोक्त चित्-शक्तिरूपी प्रभासे भासित होकर उसने प्रत्येक प्राणीके शरीररूपी घरमें विहार किया ॥ १४ ॥

जैसे जलमें द्रवशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने रुधिरमें विहार किया, जैसे समुद्रमें आवर्तशक्ति विहार करती है, वैसे ही उसने प्राणियोंके पेटमें विहार किया ॥ १५ ॥

सुप्तं मेदःसु शुभ्रेषु शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ।
स्वादितश्चाऽङ्गगन्धोऽन्तः पीतशक्त्याऽमृतं यथा ॥ १६ ॥
तरुगुल्मौषधादीनां हृदौजान्यनिलश्रिया ।
परिभुक्तान्यशुक्लानि हिंसयोधीकृतानि च ॥ १७ ॥
अथो जीवमयी सूची स्यामिति स्थावरेण सा ।
सम्पन्ना तापसी सूची चेतना पावनी सिता ॥ १८ ॥
अदृश्यया तया चेह मारुतोग्रतुरङ्गया ।
अयःसूच्याऽनिलतया वहन्त्या दिक्ष्वरुद्धया ॥ १९ ॥
पीतं भुक्तं विलसितं दत्तं दापितमाहृतम् ।
नर्तितं गीतमुषितमनन्तैः प्राणिदेहकैः ॥ २० ॥
अदृश्ययाऽशरीरिण्या मनःपवनदेहया ।
कृतमाकाशरूपिण्या न तदस्ति न यत्तया ॥ २१ ॥

जैसे विष्णु भगवान् सफेद शेषनागपर सोते हैं, वैसे ही वह सफेद मेदामें चिरकाल तक सोई रही । जैसे पानशक्ति अमृतका आस्वाद लेती है, वैसे ही वायुरूप हुई उसने अङ्गके गन्धका आस्वाद लिया ॥ १६ ॥

वायुरूप हुई उसने वृक्ष, लता, ओषधि आदिके रस (निर्यास) आदिका उपभोग किया और हिंसासे इकट्ठे किये हुए काले, पीले आदि अशुद्ध रसोंका उपभोग किया, इसके बाद 'मैं जीवमयी सूची होऊँ' इस प्रकार खम्भेके समान अटल तपश्चर्याके संकल्पसे तपस्विनी वह सूची चेतना, पावनी और शुद्ध हो गई ॥ १७,१८ ॥

मारुतरूपी तेज घोड़ेवाली, वायुरूपसे बह रही, दिशाओंमें व्याप्त उस लोहमयी सूचीने अदृश्य होकर अनन्त प्राणियोंकी देहोंसे पान किया, भोजन किया, विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ की, दान दिया, दिलाया, आहरण किया, नाच किया, गाया और निवास किया ॥ १९, २० ॥

अदृश्य, शरीररहित तथा समष्टि और व्यष्टिके मन और पवनरूप देहवाली आकाशरूपी उस सूचीने जो न किया, ऐसा कोई काम नहीं है, अर्थात् सभी उसने किया ॥ २१ ॥

मत्तया शक्तया स्वादरसाच्चलितमेतया ।
कालमालानमाश्रित्य करिण्येव विवल्गितम् ॥ २२ ॥
कल्लोलबहुलाधूतदेहदृष्टनदीष्वलम् ।
वेगैर्वैधुर्यकारिण्या मत्तया मकरायितम् ॥ २३ ॥
अशक्तया निगिरितुं मेदोमांसं तथा हृदि ।
नूनं रुदितमर्थाढ्यवृद्धातुरधिया यथा ॥ २४ ॥
अजोष्ट्रमृगहस्त्यश्वसिंहव्याघ्रादि नर्तितम् ।
नर्तक्येव चिरं रङ्गे वलयाङ्गदमङ्गके ॥ २५ ॥
बहिरन्तश्च वायूनामेकत्वमनुजातया ।
गन्धलेखिकयेवाऽन्तः स्थितं दुर्बलया तया ॥ २६ ॥
मन्त्रौषधितपोदानदेवपूजादिभिर्हता ।
बहिर्गिरिनदीतुङ्गतरङ्गवदुपद्रुता ॥ २७ ॥

यद्यपि वह सर्वत्र भ्रमणमें समर्थ थी, फिर भी कतिपय प्राणियोंके रक्तके आस्वादके लोभसे मत्त हुई उसने प्राणियोंके आयुष्य के लिए नियत कालरूपी आलान स्तम्भका (बन्धन स्तम्भका) आश्रयण कर हथिनीकी नाईं थोड़ेसे प्रदेशमें भ्रमण किया ॥ २२ ॥

कल्लोलोंसे (बड़ी-बड़ी लहरोंसे) खूब कँपाई गई देहरूपी नदियोंमें बड़े वेगसे प्राणियोंका देहसे वियोग करनेवाली उस मदोन्मत्त सूचिकाने मगरके समान खूब आचरण किया ॥ २३ ॥

मेदा और मांसको निगलनेमें असमर्थ हुई वह अपने हृदयमें इस प्रकार रोई, जैसे कि धनाढ्य वृद्ध, आतुर आदि पुरुष भोजनमें शक्ति न होनेके कारण रोते हैं ॥२४॥

जैसे नर्तकी रङ्ग-स्थलमें अपने शरीरमें पहने हुए कङ्कण, बाजूबन्द आदिको नचाती है, वैसे ही उसने अपने द्वारा पीड़ित बकरी, ऊँट, हरिण, हाथी, घोड़े, सिंह, बाघ आदिको चिरकालतक खूब नचाया ॥ २५ ॥

बाहर उनचास वायुओंके स्तरोंमें और भीतर प्राण वायुओंमें एकताको प्राप्त हुई अतएव वायुकी गतिसे विवश हुई वह जैसे वायुओंके अन्दर सुगन्धि रहती है, वैसे ही उनके भीतर स्थित रही ॥ २६ ॥

मन्त्र, ओषधि, तपस्या, दान, देवपूजा आदिसे आहत हुई वह पर्वतनदीकी ऊँची तरङ्गोंके समान बाहर भाग जाती थी ॥ २७ ॥

दीपप्रभेवाऽविज्ञातगतिर्गत्याशु लीयते ।
अयःसूच्यां मातरीव तत्र निर्वृतिमेति सा ॥ २८ ॥
स्ववासनानुसारेण सर्व आस्पदमीहते ।
सूचीत्वमेव राक्षस्या सूचित्वेनाऽऽस्पदीकृतम् ॥ २९ ॥
सर्वा विहृत्याऽपि दिशः स्वमेवाऽऽस्पदमापदि ।
जीवसूची लोहसूचीमिवाऽऽयाति जडो जनः ॥ ३० ॥
एवं प्रयतमाना सा विहरन्ती दिशो दश ।
मानसीं तृप्तिमायाता न शारीरीं कदाचन ॥ ३१ ॥
सति धर्मिणि धर्मा हि सम्भवन्तीह नाऽसति ।
शरीरं विद्यते यस्य तस्य तत् किल तृप्यति ॥ ३२ ॥
अथ तृप्तस्य देहस्य स्मरणात्प्राक्तनस्य सा ।
बभूव दुःखितस्वान्ता पूर्णोदरसुखार्थिनी ॥ ३३ ॥

बुती हुई दीपककी लूरके समान अन्तर्धान-गतिसे जिसकी गति जानी नहीं जा सकती ऐसी वह शीघ्र लोहसूचीमें छिप जाती है और वहाँपर जैसे बच्चा माताकी गोदमें विश्रान्तिको प्राप्त होता है, वैसे ही विश्रान्ति-सुखको प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

अपनी अपनी वासनाके अनुसार सभी अपने पदकी इच्छा करते हैं। राक्षसीने सूचीको ही अपना पद बनाया, क्योंकि उसका सूचीके समान तीक्ष्ण स्वभाव था ॥ २९ ॥

जीवसूची सम्पूर्ण दिशाओंमें बिहार करके भी आपत्तिमें अपने ही पदभूत लोह-सूचीको प्राप्त होती है, जैसे कि जड़ पुरुष आपत्तिमें अपने ही स्थानको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार प्रयत्न करती हुई, दसों दिशाओंमें घूमती हुई उस जीवसूचीको मानसी तृप्ति तो यथाकथंचित् प्राप्त हुई, किन्तु शारीरिक तृप्ति उसे कभी प्राप्त नहीं हुई ॥ ३१ ॥

धर्मीके रहते धर्म रह सकते हैं, धर्मीके अभावमें धर्म कैसे रह सकते हैं ! जिसका शरीर रहता है, उसीका शरीर तृप्त होता है ॥ ३२ ॥

इसके बाद अपने प्राक्तन तृप्त शरीरके स्मरणसे उदरपूर्तिसे प्राप्त होनेवाले सुखको चाहनेवाली उस सूचीका हृदय दुःखित हुआ ॥ ३३ ॥

ततः प्राक्तनदेहार्थे करिष्ये विपुलं तपः ।
इति संचिन्त्य तपसे देशं निर्णीय साऽऽत्मना ॥ ३४ ॥
विवेशाऽऽकाशगृध्रस्य हृदयं तरुणस्य सा ।
प्राणमारुतमार्गेण खं खगीव बिलेशया ॥ ३५ ॥
गृध्रः स्वामयसूचित्वं कश्चिदेतत् समाश्रितः ।
नितान्तप्रेरितः सूच्या कर्तुं मन उपाददे ॥ ३६ ॥
सूचीमादाय गृध्रोऽसौ ययौ तच्चिन्तितं गिरिम् ।
अन्तःसूचिपिशाच्यन्ते नुन्नोऽब्द इव वायुना ॥ ३७ ॥
तत्राऽजने महारण्ये स्थापयामास तामसौ ।
सर्वसङ्कल्परहिते पदे योगीव चेतनाम् ॥ ३८ ॥
एकेनैवाऽऽशु सा तेन पादप्रान्तेन सुस्थिता ।
सम्प्रतिष्ठापितेवाऽद्रिमूर्ध्नि गृध्रेण देवता ॥ ३९ ॥
रजःकणगृहस्थाणुशिरस्येकेन साऽणुना ।
पादेनाऽतिष्ठदुद्ग्रीवं शिखीव गिरिमूर्धनि ॥ ४० ॥

तदनन्तर अपने प्राचीन शरीरकी प्राप्तिके लिए मैं कठोर तपस्या करूँगी, ऐसा दृढ़ निश्चयकर, तपके लिए स्वयं देशका निर्णय कर वह आकाशमें ऊड़नेवाले जवान गृध्रके हृदयमें प्राणवायुके मार्गसे प्रविष्ट हुई, जैसे कि घोंसलेमें सोनेवाली चिड़िया घोंसलेके छिद्रमें प्रविष्ट होती है ॥ ३४, ३५ ॥

अपने भीतर प्रविष्ट रोगसूचितासे अधिष्ठित तथा सूचीसे प्रेरित किया गया उक्त गृध्र अपनेमें प्रविष्ट हुई सूचीके अभिलषित कार्यको करनेके लिए तत्पर हुआ ॥ ३६ ॥

जैसे वायुसे प्रेरित मेघ पर्वतको प्राप्त होता है, वैसे ही अपने भीतर प्रविष्ट हुई सूची द्वारा प्रेरित वह गृध्र सूचीरूपी पिशाचीका निवृत्तिकाल उपस्थित होनेपर जहाँ जानेका उसने विचार किया था, उस पर्वतमें गया ॥ ३७ ॥

जैसे योगी अपनी बुद्धिवृत्तिको सम्पूर्ण सङ्कल्पोंसे रहित परम पदमें स्थापित करता है, वैसे ही उस गृध्रने उस निर्जन महावनमें उस सूचीको रक्खा ॥ ३८ ॥

वह एक ही पैरके प्रान्तसे स्थित लोहसूची पर्वतके शिखरपर गृध्र द्वारा प्रतिष्ठापित देवप्रतिमाके समान हुई ॥ ३९ ॥

धूलीकणरूपी घरमें स्थित स्थाणुके सिरमें एक अत्यन्त सूक्ष्म पैरसे पर्वत शिखरमें मयूरके समान ऊपरको गर्दन करके वह खड़ी हुई ॥ ४० ॥

उत्थितां स्थापितां सूचीं गृध्रेण जीवसूचिका ।
दृष्ट्वा बहिर्विनिर्गन्तुं खगदेहात् प्रचक्रमे ॥ ४१ ॥
खगदेहान्निर्जगाम सूची प्रोन्मुखचेतना ।
पवनाद् गन्धलेखेव घ्राणवातलवोन्मुखी ॥ ४२ ॥
जगाम गृध्रः स्वं देशं भारं त्यक्त्वेव भारिकः ।
निवृत्तव्याधिरिव स बभूवाऽन्तरनाकुलः ॥ ४३ ॥
अतः सूचिस्तयाऽऽधारस्तपसे परिकल्पिता ।
दृढः सुसदृशोऽर्थानां विनियोगो हि राजते ॥ ४४ ॥
नह्यमूर्तस्य सिध्यन्ति विनाऽऽधारं किल क्रियाः ।
इत्याधारैकनिष्ठत्वमाश्रित्याऽसौ तपःस्थिता ॥ ४५ ॥
जीवसूची लोहसूचीं पिशाची शिंशपामिव ।
सर्वतो वलयामास वात्येवाऽऽमोदलेखिकाम् ॥ ४६ ॥

गृध्र-द्वारा स्थापित की गई और खड़ी हुई स्नेहमयी सूचीको देखकर जीव-युक्त सूचिका गृध्रके शरीरसे बाहर निकलनेके लिए तत्पर हुई ॥ ४१ ॥

बाहर निकलनेके लिए जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्सुक थी ऐसी जीवसूची वायुसे नासिकासे प्राणवायुके साथ मिलनेके लिए उत्सुक सुगन्धिके समान उस गृध्रके देहसे बाहर निकल आई ॥ ४२ ॥

जैसे भारवाही पुरुष भारको छोड़ करके सुखी होकर अपने स्थानको जाता है, वैसे ही गृध्र भी विषूचीको उतार कर अपने देशको चला गया, उस समय जिस पुरुषकी व्याधि निवृत्त हो गई हो, ऐसे पुरुषके समान स्वस्थ हुआ ॥ ४३ ॥

उस जीवसूचीने तपस्याके लिए लोहसूचीको आधार बनाया, पदार्थोंका खूब विचार कर किया गया यथोचित विनियोग शोभित होता है ॥ ४४ ॥

अमूर्त पदार्थकी किसी आधारके बिना तपस्या आदि क्रियाएँ सिद्ध नहीं हो सकती, यह विचार कर वह जीवसूची लोहसूचीरूपी आधारमें एकनिष्ठ होकर तपस्या करनेके लिए प्रस्तुत हुई ॥ ४५ ॥

जैसे पिशाची सेंमरके वृक्षको चारों ओरसे व्याप्त कर लेती है और जैसे आँधी सुगन्धिके लेशको व्याप्त कर लेती है, वैसे ही जीवसूचीने लोहसूचीको सर्वांशसे व्याप्त कर लिया ॥ ४६ ॥

ततस्ततःप्रभृत्येषा सूची दीर्घतपस्विनी ।
अरण्यान्यां स्थिता शक्र तत्र वर्षगणान् बहून् ॥ ४७ ॥
तस्या वरार्थं यत्नं त्वं कुरु कर्तव्यकोविद ।
चिरेण संभृतं लोकमलं दग्धुं हि तत्तपः ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नारदतः श्रुत्वा शक्रः सूचीनिरीक्षणे ।
मारुतं प्रेषयामास दशदिग्मण्डलान्यथ ॥ ४९ ॥
जगामाऽथ मरुत्संविदात्मना तामवेक्षितुम् ।
अथाऽमुच्य नभोमार्गं विचचार त्वरान्वितः ॥ ५० ॥
सा तस्य संवित् क्षिप्रार्धेनैव सर्वगता सती ।
परमार्चिरिवाऽविघ्नं सहसैव ददर्श ह ॥ ५१ ॥
भूमेः सप्तसमुद्रान्ते निबद्धां विपुलस्थलीम् ।
लोकालोकाद्रिरसनां ततो मणिमयोपमम् ॥ ५२ ॥

हे इन्द्र, तदनन्तर तभीसे लेकर यह दीर्घ तपस्या करनेवाली सूची बहुत वर्षोंसे उक्त जङ्गलमें तप कर रही है ॥ ४७ ॥

हे कर्तव्यार्थका निर्णय करनेमें परम कुशल देवराज, उसको वरदान द्वारा ठगनेके लिए आप प्रयत्न कीजिए, क्योंकि उसकी तपस्या चिरकालसे परिपाकित लोकको जलानेमें अत्यन्त समर्थ है ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामजी, इस प्रकार उक्त सूचीका वृत्तान्त नारदजीसे सुनकर इन्द्रने सूचीको देखनेके लिए वायुको दसों दिशाओंमें भेजा ॥ ४९ ॥

तदनन्तर वायुका दिव्यदृष्टिरूप ज्ञान उसको देखनेके लिए गया यानी वायुने दिव्यदृष्टिसे गन्तव्य दिशाका आलोचन किया । तदनन्तर आकाशमार्गको छोड़कर वायुने शीघ्रताके साथ भूमिमें पर्यटन किया ॥ ५० ॥

शीघ्रतासे युक्त वायुकी संविद्‌ने (देवताने) एक अंशसे ही सम्पूर्ण दिशाओंका पर्यालोचन कर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्योतिके समान बिना किसी विघ्न-बाधाके सहसा सब कुछ देख लिया ॥ ५१ ॥

सब कुछ देख लिया, यह जो कहा उसका विस्तार करते हैं—'भूमेः' इत्यादिसे ।

स्वादूदकाब्धिवलयं सकोटरककुब्गणम् ।
पुष्करद्वीपवलयं तदन्तर्गिरिमण्डले ॥ ५३ ॥
मदिराम्भोधिवलयं तज्जलेचरसंस्थितम् ।
गोमेदद्वीपकटकं तन्मध्यविषयव्रजम् ॥ ५४ ॥
इक्षूदकाब्धिपरिखं शान्तं गिरिगणान्तरम् ।
क्रौञ्चद्वीपोर्वरापीठं शान्तं गतगिरिक्रमम् ॥ ५५ ॥
क्षीराब्धिमुक्तावलयं समध्यगतनायकम् ।
श्वेताख्यद्वीपवलयं सभूतप्रविभागकम् ॥ ५६ ॥
ततो घृतोदवलयस्वान्तस्थपुरमन्दिरम् ।
कुशद्वीपप्रवृत्तिव्याप्तं समहाशैलकोटरम् ॥ ५७ ॥
दध्यम्भोराशिरशनासान्ताम्बरपुरोदरम् ।
शाकद्वीपोर्वराकारं सान्तस्थविषयान्तरम् ॥ ५८ ॥

सात समुद्रोंके और भूमिके अन्तमें लोकालोकपर्वतकी करधनीरूप, प्राणियोंसे रहित स्वर्णमय भूमिको उसने देखा, तदनन्तर मणिमयाकार पुष्कर द्वीपको देखा, जो स्वादु जलके समुद्रसे घिरा था और पर्वतोंकी सन्धिमें स्थित देशों और दिशाओंसे युक्त था, उसके बाद पुष्करद्वीपके अन्तर्गत पर्वतोंमें वृत्ताकार गोमेदद्वीपको देखा, जो सुरासमुद्रसे घिरा था, उस देशमें रहनेवाले जलचरोंसे वह व्याप्त था, इससे उस देशके प्राणियोंकी जल और स्थल दोनोंमें समानरूपसे संचरण-सामर्थ्य प्रतीत होती है। तदनन्तर उसने मध्यवर्ती देशोंसे पूर्ण क्रौञ्च द्वीपको देखा, जो इक्षूदकसमुद्रसे घिरा था, उपद्रवरहित था, पर्वतश्रेणियोंसे व्याप्त था एवं उर्वरा पृथ्वीका वह पीठस्वरूप था। तदनन्तर उसने वृत्ताकार श्वेतद्वीपको देखा, वह क्षीरसागररूप मोतियोंसे जटित कङ्कणसे घिरा था, मध्यमें त्रिलोकीनाथ विष्णु भगवान्‌से अधिष्ठित था, उसमें अवान्तर प्राणी एवं भिन्न भिन्न खण्ड थे। तदनन्तर जिसके मध्यवर्ती मन्दिर, नगर घृतसमुद्रसे परिवेष्टित थे ऐसे कुशद्वीपको उसने देखा, उसमें बड़े बड़े पर्वत और उनकी संधिमें स्थित देश थे ॥५२–५७॥

तदन्तर उसने दधिसमुद्ररूपी करधनीसे सीमित आकाश ही जिसका नगररूपी उदर है, ऐसे शाकद्वीपको देखा, जिसकी सीमामें अन्यान्य देश थे ॥ ५८ ॥

क्षाराम्भोराशिपरिधिं सान्तस्थविषयान्तरम् ।
जम्बूद्वीपे महामेरुं कुलपर्वतसंकुलम् ॥ ५९ ॥
वातस्कन्धेभ्य एवाऽऽदौ पतितानिलवेदना ।
क्रमेणाऽनेन पर्यन्ते तेनैव प्रसृतोऽञ्जसा ॥ ६० ॥
वायुरालोकयन्नद्धा जम्बूद्वीपं निरीक्ष्य च ।
तत् प्राप हिमवच्छृङ्गं यत्र सूची तपस्विनी ॥ ६१ ॥
शृङ्गमूर्ध्नि महत्युग्रे साऽरण्यानीमवाप ताम् ।
द्वितीयाकाशविततां वर्जितां प्राणिकर्मभिः ॥ ६२ ॥
असंजाततृणव्यूहां निकटत्वाद् विवस्वतः ।
रजोमयीमेव ततां संसाररचनामिव ॥ ६३ ॥
मृगतृष्णानदीसार्थपूरणीयाब्धितां गताम् ।
शक्रकोदण्डसंकाशमृगतृष्णासरिच्छताम् ॥ ६४ ॥
अमितानन्तपर्यन्तां लोकपालेक्षितैरपि ।
केवलं पवनस्पन्दप्रवहद्धूलिकुण्डलाम् ॥ ६५ ॥

जम्बूद्वीपमें महामेरुको, जो कुलपर्वतोंसे परिवेष्टित था, जिसके प्रान्तभागमें अन्यान्य देश थे और क्षारसमुद्रसे घिरा था, देखा ॥ ५९ ॥

पहले वायुसंविद् (वायुदेवता) वातस्कन्धोंसे (उनचास वायुओंके स्तरोंसे) अवतीर्ण हुई । जहाँसे वायुकी संवित् अवतीर्ण हुई, उसी मार्गसे वायु भी अनायास अवतीर्ण हुआ ॥ ६० ॥

सूचिकाका अन्वेषण करता हुआ वह वायु जम्बूद्वीपको देखकर हिमालयके उस शिखरमें जहाँपर वह तपस्विनी सूची थी, पहुँचा ॥ ६१ ॥

अत्यन्त ऊँची शिखरकी चोटीमें, जहाँ वह सूची तप कर रही थी, उस महावनमें वह गया, वह महावन दूसरे आकाशके समान विस्तृत था और प्राणियोंके संचारसे रहित था । सूर्यके अति निकट होनेके कारण उसमें तृण, लता आदिके समूह उत्पन्न ही नहीं हुए थे । वह रजोगुणमयी संसार-रचनाके समान रजोमय था यानी धूलीसे भरा था ॥ ६२,६३ ॥

वह मृगतृष्णारूपी नदियोंके समूहसे पूर्ण होनेवाले समुद्रके तुल्य था, इन्द्र-धनुषके तुल्य मृगतृष्णारूपी सैकड़ों नदियाँ उसमें थी, वह इतना विस्तीर्ण और असीम था कि लोकपाल भी (इन्द्र आदि भी) अपनी दृष्टिसे उसकी इयत्ता जाननेमें असमर्थ

सूर्यांशुकुङ्कुमालिप्तां लग्नचन्द्रांशुचन्दनाम् ।
विलासिनीमिव व्योम्नो वातसूत्कारपायिनीम् ॥ ६६ ॥

सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रणसमुच्छन्नैकदेशाश्रयं
भूपीठं परितो विहृत्य पवनो दीर्घाध्वना जर्जरः ।
तां प्राप्योग्रगिरिस्थलीमलिवपुर्व्योमाङ्गलग्नामिव
व्याप्तानन्तदिगन्तपूरकबृहद्देहो विशश्राम सः ॥६७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने
सूचीतपोवर्णनं नाम त्रिसप्ततिमः सर्गः ॥ ७३ ॥

—:*:—

थे और उसके अवान्तर देश अनेक थे, दोनों ओर जोरके वायुके यानी आंधीके चलनेसे बह रहे धूलिपटल ही उसके कुण्डल थे, सूर्यके किरणरूपी केसरसे उसका सर्वाङ्ग लिप्त था और चन्द्रकिरणरूपी चन्दन उसमें लगा था, वह आकाशकी विलासयुक्त नायिकाके समान था और आकाशको वायुरूपी सूत्कार (कान्तके आलिङ्गनसे जनित सुखको अभिव्यक्त करनेवाले ध्वनि) सुनाती थी ॥ ६४–६६ ॥

वह वायु, जिसका विशाल शरीर व्याप्त अनन्त दिशाओंका पूरक था, सात द्वीपोंसे और समुद्रोंसे किये गये मुद्रणसे ऊपरको व्याप्त हुए एकदेशके आश्रयभूत पृथ्वीरूप पीठपर चारों ओर विहार करके दीर्घमार्गमें चलनेके कारण थका था, अतः उसने भँवरके समान शरीरवाले आकाशमें लटकी हुई-सी उस उन्नत पर्वत स्थलीको प्राप्त कर विश्राम लिया ॥ ६७ ॥

तिहत्तर सर्ग समाप्त ।

चतुःसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्य तत्रोर्ध्वशृङ्गस्य तस्यां भुवि महावनौ ।
ददर्श मध्यमां सूचीं प्रोत्थितां स शिखामिव ॥ १ ॥
एकपादं तपस्यन्तीं शुष्यन्तीं शिरऊष्मणा ।
सततानशनां शुष्कपिण्डीभूतोदरत्वचम् ॥ २ ॥
सकृद्विकसितास्येन गृहीत्वेवाऽऽतपानिलान् ।
पश्चात्त्यजन्तीं हृदये मे न मान्तीत्यनारतम् ॥ ३ ॥
शुष्कां चण्डांशुकिरणैर्जर्जरां वनवायुभिः ।
अचलन्तीं निजात् स्थानात् स्नापितामिन्दुरश्मिभिः ॥ ४ ॥
पूर्वं रजोणुनैकेन संविष्टच्छन्नमस्तकाम् ।
कृतार्थत्वं कथयतीं ददताऽन्यस्य नाऽऽस्पदम् ॥ ५ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

[उस तापसी सूचीको देखकर वायुका इन्द्रके समीपमें जाना, सूचीको वर देनेके लिए ब्रह्मासे इन्द्रकी प्रार्थना और सूचीके ज्ञानका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जिसमें पूर्ववर्णित महान् वन था, उस उन्नत शिखरकी उस भूमिमें उन्नत शिखरकी मध्यम शिखाके समान उठी हुई सूचीको वायुने देखा । वह एक पैरसे तप कर रही थी, अपने सिरकी गर्मीसे सूख रही थी और सदा निराहार थी तथा उसकी उदर-त्वचा मानो सूखे हुए पिण्डके समान हो गई थी ॥ १,२ ॥

एक बार खुले हुए मुखसे धूप और वायुका ग्रहण कर ये मेरे अन्दर नहीं समा रहे हैं, यह दर्शाती हुई सी वह उनको बार बार बाहर निकाल रही थी, प्रचण्ड सूर्यकी किरणोंसे वह सूख गई थी और वनके रूक्ष वायुओंसे उसका शरीर जर्जर हो गया था, अपने स्थानसे वह विचलित नहीं होती थी और चन्द्रमाकी किरणें उसे स्नान कराती थीं ॥ ३, ४ ॥

अन्यको स्थान न दे रहे एक रजःकणसे उसका मस्तक आच्छन्न था, अतएव उसी रजःकणसे वह अपनी कृतार्थताको प्रकाशित कर रही थी, भाव यह

अरण्यान्येव दत्त्वाऽर्थं चिरं जातां शिखामिव ।
मूर्ध्न्येवस्थापितप्राणजटाजूटवलीमिव ॥ ६ ॥
तां प्रेक्ष्य पवनः सूचीं विस्मयाकुलचेतनः ।
प्रणम्याऽऽलोक्य सुचिरं भीतभीत इवाऽऽगतः ॥ ७ ॥
महातपस्विनी सूची किमर्थं तप्यते तपः ।
नेति प्रष्टुं शशाकाऽसौ तत्तेजोराशिनिर्जितः ॥ ८ ॥
भगवत्या महासूच्या अहो चित्रं महातपः ।
इत्येव केवलं ध्यायन् मारुतो गगनं ययौ ॥ ९ ॥
समुल्लङ्घ्याऽभ्रमार्गं तु वातस्कन्धानतीत्य च ।
सिद्धवृन्दानधः कृत्वा सूर्यमार्गमुपेत्य च ॥ १० ॥

है कि सूचीके मस्तकपर दूसरे रजःकणका समावेश तो हो नहीं सकता था, इसी कारण अन्य रजोजातीय रजोगुणको और उससे सहचरित तमोगुणको स्थान न दे रहे रजःपरमाणुरूप हेतुसे वह अपनी कृतार्थताका अनुमान करा रही थी ॥ ५ ॥

वह पूर्वोक्त महारण्य द्वारा वृक्ष, लता, झाड़ियां, मृग आदि अपने विभवरूप पदार्थोंको अन्य अरण्योंको देकर चिरकालकी तपस्या द्वारा सूचीरूपसे पैदा की गई शिखाके समान स्थित थी, उसके बाद योगका परिपाक होनेके कारण जिन्होंने अपने मस्तकमें प्राणोंको स्थापित किया है, ऐसे योगियोंके जटाजूटकी लटके समान वह स्थित थी। यहांपर सूचीकी, तपके उपक्रममें अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण, उस महान् वनकी शिखाके रूपसे उत्प्रेक्षा की गई है और चिरकालके तपसे उत्पन्न तेजकी वृद्धि होनेपर पुञ्जीभावकी विवक्षासे उसकी महारण्यके जटाजूटके रूपसे उत्प्रेक्षाकी गई है ॥ ६ ॥

उस सूचीको देख कर वायुके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, उसको प्रणाम कर और चिरकाल तक उसे देखकर अत्यन्त भयभीतकी नाईं वह उसके पास आया ॥ ७ ॥

महातपस्विनी सूची किसलिए तपश्चर्या करती है, यह पूछनेका उसको साहस नहीं हुआ, क्योंकि वह उसके तेजोराशिसे अभिभूत हो गया था, भगवती महासूचीका महातप अत्यन्त आश्चर्यकारी है, केवल यही सोचता हुआ वायु आकाशमें चला गया ॥ ८,९ ॥

मेघमार्गको लाँघकर और उनचास वायुओंके स्तरोंका अतिक्रमण कर सिद्धोंको

ऊर्ध्वमेत्य विमानेभ्यः प्राप शक्रपुरान्तरे ।
सूचीदर्शनपुण्यं तमालिलिङ्ग पुरन्दरः ॥ ११ ॥
पृष्टश्च कथयामास दृष्टं सर्वं मयेत्यसौ ।
सहदेवनिकायाय शक्रायाऽऽस्थानवासिने ॥ १२ ॥

वायुरुवाच

जम्बूद्वीपेऽस्ति शैलेन्द्रो हिमवान्नाम सून्नतः ।
जामाता यस्य भगवान् साक्षाच्छशिकलाधरः ॥ १३ ॥
तस्योत्तरे महाशृङ्गपृष्ठे परमरूपिणी ।
स्थिता तपस्विनी सूची तपश्चरति दारुणम् ॥ १४ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन वाताद्यशनशान्तये ।
यया स्वोदरसौपिर्यं पिण्डीकृत्वा निवारितम् ॥ १५ ॥
शान्तसंकोचसूक्ष्मार्थं विकास्याऽऽस्यं रजोणुना ।
तयाऽद्य स्थगितं शीतवाताशननिवृत्तये ॥ १६ ॥
तस्यास्तीव्रेण तपसा तुहिनाकरमुत्सृजन् ।
अग्न्याकारमयो गृह्णन् देव दुःसेव्यतां गतः ॥ १७ ॥

अपनेसे नीचे करके सूर्यमार्गमें प्राप्त होकर विमानोंसे यानी वैमानिकप्रधान नक्षत्र लोकके ऊपर चढ़कर वह इन्द्रपुरीमें पहुँचा । सूचीके दर्शनसे अति पुनीत हुए वायुका इन्द्रने आलिङ्गन किया ॥ १०,११ ॥

इन्द्रके पूछनेपर वायुने देववृन्दसे परिवृत और सभामें बैठे हुए इन्द्रसे कहा—जिस कार्यके लिए आपने मुझे आदेश दिया था, वह सब मैंने देखा ॥ १२ ॥

वायुने कहा—हे महेन्द्र, जम्बूद्वीपमें अत्यन्त उन्नत हिमालयनामका पर्वतराज है, जिसके कि साक्षात् भगवान् चन्द्रशेखर जामाता हैं, उसके उत्तर तरफके बड़े शिखरके ऊपर महातेजस्विनी तपस्विनी सूची खड़ी होकर भीषण तपस्या कर रही है, उसकी तपस्याका बहुत क्या वर्णन करूँ ! उसने मुझसे वायु आदिका भी भोजन न हो, इसलिए अपने उदरके छिद्रको लोहपिण्ड बना कर नष्ट कर डाला है ॥१३, १५॥

उसने शीत और वायुके निगलनेकी निवृत्तिके लिए मुखको, जिसके अत्यन्त छोटे छिद्रके सङ्कोचका निवारण किया जा चुका था, खोलकर धूलिकणोंसे भर दिया ॥ १६ ॥

उसकी घोर तपस्यासे हिमालय अपनी हिममयताका त्यागकर अग्नि-

तदुत्तिष्ठाऽऽशु गच्छामः सर्व एव पितामहम् ।
तद्वरार्थमनर्थाय विद्धि तत्सुमहत्तपः ॥ १८ ॥
इति वातेरितः शक्रः सह देवगणेन सः ।
जगाम ब्रह्मणो लोकं प्रार्थयामास तं विभुम् ॥ १९ ॥
सूच्या वरमहं दातुं गच्छामि हिमवच्छिरः ।
ब्रह्मणेति प्रतिज्ञाते शक्रः स्वर्गमुपाययौ ॥ २० ॥
एतावताऽथ कालेन सा बभूवाऽतिपावनी ।
सूची निजतपस्तापतापितामरमन्दिरा ॥ २१ ॥
मुखरन्ध्रस्थितार्कांशुदृशा स्वच्छाययैव सा ।
विकासिन्या विवर्तिस्था चोदितान्तमवेक्षिता ॥ २२ ॥
कौशेयरूपया सूच्या मेरुः स्थैर्येण निर्जितः ।
मज्जनं नैति वृद्ध्वैवं मुक्तमाद्यन्तयोर्दिने ॥ २३ ॥

मय लोहपिण्ड बन कर दुःसेव्य हो गया है, इसलिए शीघ्र उठिए, हम सभी लोकपितामह ब्रह्माजीके पास उसके वरदानके लिए जावें, यह निश्चय समझिए कि यदि उसकी उपेक्षा की जायगी तो उसका वह घोर तप लोगोंके अनर्थके लिए ही होगा ॥ १७, १८ ॥

इस प्रकार वायुके अनुरोधसे इन्द्र देवताओंके साथ ब्रह्मलोकमें गये, वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् ब्रह्माकी प्रार्थना की ॥ १९ ॥

मैं सूचीको वर देनेके लिए हिमालयके शिखरमें जाता हूँ, यों ब्रह्माजीके आश्वासन देनेपर इन्द्र स्वर्गको लौट आये ॥ २० ॥

इतने समयमें (सात हजार वर्षोंमें) वह सूची अति पवित्र हो गई थी, उसने अपने तपके तापसे देवलोकको सन्तप्त कर दिया था ॥ २१ ॥

इस सर्गकी समाप्तितक सूचीके तपका वर्णन कर रहे श्रीवसिष्ठजी निर्जन वनमें किये गये सूचीके तपकी केवल उसकी छाया ही साक्षिणी थी, ऐसा कहते हैं—'मुख०' इत्यादिसे ।

अत्यन्त बढ़ रही तपस्यामें स्थित उस सूचीको उसकी छायाने, विकासको प्राप्त हुई मुखरन्ध्रमें प्रविष्ट सूर्यकिरणरूपी दृष्टिसे, तब तक देखा जब तक तपस्या करनेका उसने संकल्प किया था ॥ २२ ॥

रेशमके तारके समान अत्यन्त सूक्ष्म सूचीने अपनी स्थिरतासे मेरुको भी

मध्याह्ने तापभीत्येव विशन्त्या मारुतान्तरम् ।
अन्यदा गौरवाद् दृष्ट्वा दूरतः प्रेक्षमाणया ॥ २४ ॥
सा तामवेक्षते क्षारात्तापादङ्गे निमज्जति ।
सङ्कटे विस्मरत्येव जनो गौरवसत्क्रियाम् ॥ २५ ॥
छायासूची तापसूची यश्चाऽऽत्मा स तृतीयया ।
त्रिकोणं तपसा पूतं वाराणस्या समं कृतम् ॥ २६ ॥
गतास्तेन त्रिकोणेन त्रिवर्णपरिखावता ।
वायवः पांसवो येऽपि तेपरां मुक्तिमागताः ॥ २७ ॥

जीत लिया, उसके द्वारा जीता गया वह मेरु कहीं लज्जासे समुद्रमें डूबता तो नहीं है, इस अभिप्रायसे उसको देखनेके लिए मानो दिनके आदि और अन्त भागोंमें उसने दीर्घता धारण कर उसके दर्शनका त्याग किया। उसकी छायाने दोनों सन्ध्याओंमें और रात्रिमें क्यों उसके दर्शनका परित्याग किया, ऐसी यदि किसीको शङ्का हो, तो उसपर उपर्युक्त समाधान है, यह समझना चाहिए ॥ २३ ॥

तो मध्याह्नमें क्यों वह उसके मूलमें छिप जाती थी ? इसपर कहते हैं—'मध्याह्ने' इत्यादिसे ।

अन्य समयमें दूरसे गौरवके साथ देख रही वह मध्याह्नके समय तापके भयसे मानो सूचीके उदरमें प्रविष्ट हो जाती थी, अतएव उस समय उसने उसके दर्शनका त्याग किया ॥ २४ ॥

वह छाया सूचीको देखती थी और बड़े तीक्ष्ण घामसे उसके अङ्गोंमें मग्न हो जाती थी, यह बात ठीक भी है, लोग सङ्कटके समय गौरवप्रयुक्त सत्कारको भूल ही जाते हैं ॥ २५ ॥

छायासूची, तापसूची और लोहसूची यों तीन रूप धारण की हुई उसने अपनी तपस्यासे पवित्र हुए परस्परके मध्यवर्ती त्रिकोणदेशको असी, वरणा और गङ्गा इन तीनोंके मध्यमें स्थित वाराणसीके समान पवित्र बना दिया ॥ २६ ॥

सूखनेके कारण अदृश्य, श्यामा, शुक्ला—इन तीन वर्णोंवाली सूचीरूपी सरित्से परिवेष्टित उस त्रिकोणसे, जो वहाँपर वायु, धूली-कण आदि थे, वे भी परम मुक्तिको—अपने साथ संसर्ग करनेवाले प्राणियोंको मुक्तिरूप फल देनेवाली या दोषोंसे मुक्त करनेवाली पवित्रताको—प्राप्त हो गये ॥ २७ ॥

विदितपरमकारणाऽद्य जाता
स्वयमनुचेतनसंविदं विचार्य ।
स्वमननकलनानुसार एक-
स्त्विह हि गुरुः परमो न राघवाऽन्यः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने सूचीतपःपरिपाकवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वर्षसहस्रेण तां पितामह आययौ ।
वरं पुत्रि गृहाणेति व्याजहार नमस्तलात् ॥ १ ॥
सूची कर्मेन्द्रियाभावाज्जीवमात्रकलावती ।
न किञ्चिद् व्याजहाराऽस्मै चिन्तयामास केवलम् ॥ २ ॥

हे राघव, प्रत्यग्ज्ञानका स्वयं ही विचार करके जिसने परम कारण ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया था, ऐसी वह सूची आज प्रबुद्ध हो गई। अपनी युक्तियोंसे विचार द्वारा आत्मपरिचयका अनुसरण करना ही एकमात्र मुख्य गुरु है, अन्य गुरु मुख्य नहीं है। यद्यपि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति है, तथापि वह 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादि अन्य श्रुतिके अनुसार शिष्यप्रज्ञाका ही अनुसरण करती है ॥ २८ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माजीके प्रसन्न होनेपर भी ज्ञान होनेके कारण सूचीका वरलाभके लिए चुपचाप रहना तथा ब्रह्माजीके वरदानसे फिर उसकी देहप्राप्तिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, बोध होनेके अनन्तर एक हजार वर्षमें ब्रह्माजी उसके पास आये। उन्होंने आकाशसे 'हे पुत्रि, तुम वरदान लो' यह कहा ॥ १ ॥

सूची केवल जीवकलामात्रसे युक्त थी, उसमें कर्मेन्द्रियाँ कोई थीं

पूर्णाऽस्मि गतसन्देहा किं वरेण करोम्यहम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ॥ ३ ॥
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं शान्ता सन्देहजालिका ।
स्वविवेको विकसितः किमन्येन प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
यथा स्थितेयमस्मीह संतिष्ठेयं तथैव हि ।
सत्यासत्यकलामेव त्यक्त्वा किमितरेण मे ॥ ५ ॥
एतावन्तमहं कालमविवेकेन योजिता ।
स्वसङ्कल्पसमुत्थेन वेतालेनेव बालिका ॥ ६ ॥
इदानीमपशान्तोऽसौ स्वविचारणया स्वयम् ।
ईप्सितानीप्सितैरर्थैः को भवेत् कलितैर्मम ॥ ७ ॥
इति निश्चययुक्तां तां सूचीं कर्मेन्द्रियोज्झिताम् ।
तूष्णीं स्थितां सनियतिः स पश्यन् भगवान् स्थितः ॥ ८ ॥

नहीं, इसलिए उसने ब्रह्माजीसे कुछ भी नहीं कहा, केवल अपने मनमें विचार करती रही ॥ २ ॥

उसके विचार-प्रकारको ही स्पष्टरूपसे कहते हैं—'पूर्णाऽस्मि०' इत्यादिसे ।

मैं पूर्ण हो गई हूँ, मेरे सब सन्देह कट गये हैं, मैं वरसे क्या करूँ, मैं शान्त हूँ, परम निर्वाणको प्राप्त हूँ, केवल सुखपूर्वक स्थित हूँ । जो कुछ ज्ञातव्य था, वह सब मैंने जान लिया है, मेरी सन्देहपरम्परा शान्त हो गई है एवं मेरा आत्मविवेक विकासको प्राप्त हो गया है । मुझे अब अन्य वरदानसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ३,४ ॥

जैसे मैं यहाँपर स्थित हूँ, वैसे ही परमार्थरूपा मैं स्थित रहूँ, केवल परमार्थ-रूप सत्यकलाको छोड़कर अन्य पदार्थोंसे मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ ५ ॥

जैसे कि बालिका अपने सङ्कल्पसे उत्पन्न वेतालसे युक्त होती है, वैसे ही इतने समय तक मैं अपने ही सङ्कल्पसे उत्पन्न अविवेकसे युक्त थी ॥ ६ ॥

इस समय मेरा वह अविवेक आत्मविचार द्वारा अपने आप शान्त हो गया है । अब प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंसे मेरा कौन प्रयोजन है ? ॥ ७ ॥

इस प्रकारके निश्चयसे युक्त, कर्मेन्द्रियोंसे रहित, उस सूचीको चुपचाप अवस्थित देखकर कर्मफलकी अवश्यंभाविताका नियमन करनेवाले ईश्वरसङ्कल्पसे युक्त भगवान् ब्रह्माजी खड़े रहे ॥ ८ ॥

ब्रह्मा पुनरुवाचेदं वीतरागां प्रसन्नधीः ।
वरं पुत्रि गृहाण त्वं किञ्चित्कालं च भूतले ॥ ९ ॥
भोगान् भुक्त्वा ततः पश्चाद् गमिष्यसि परं पदम् ।
अव्यावृत्तिस्वरूपाया नियतेरेष निश्चयः ॥ १० ॥
तपसाऽनेन सङ्कल्पः सफलोऽस्तु तवोत्तमे ।
पीना भव पुनः शैले हिमकाननराक्षसी ॥ ११ ॥
यया पूर्वं वियुक्ताऽसि तन्वा जलदरूपया ।
बीजान्तर्वृक्षता पुत्रि बृहद्वृक्षतया यथा ॥ १२ ॥
योगमेष्यसि भूयश्च तन्वाऽन्तर्बीजरूपिणी ।
तयैव रससेकेन लतयेवाऽङ्कुरस्थितिः ॥ १३ ॥
बाधां विदितवेद्यत्वान्न च लोके करिष्यसि ।
अन्तःशुद्धाऽस्पन्दवती शारदीवाऽभ्रमण्डली ॥ १४ ॥
अश्रान्तध्याननिरता कदाचिल्लीलया यदि ।
भविष्यसि बहीरूपा सर्वात्मध्यानरूपिणी ॥ १५ ॥

प्रसन्न हुए ब्रह्माजीने उस विरक्त सूचीसे फिर यह कहा—हे पुत्रि ! तुम वरदान लो, कुछ समय तक भूतलमें विविध भोगोंका अनुभव कर तदनन्तर तुम परम पदको प्राप्त होओगी । जिस नियतिके स्वरूपका हम लोगोंसे भी परिवर्तन नहीं हो सकता, उसका तुम्हारे लिए यही निश्चय है ॥ ९,१० ॥

फले हुए इस तपसे तुम्हारा सङ्कल्प सफल हो, फिर तुम स्थूलशरीर होकर इस पर्वतमें हिमालय-वनकी राक्षसी होओ ॥ ११ ॥

जैसे पहले बीजके अन्दर रहनेवाली वृक्षत्वजाति महद्वृक्षत्वरूप व्यक्तिसे वियुक्त रहती है, वैसे ही मेघके समान आकारवाले जिस शरीरसे तुम पहले वियुक्त हुई हो, हे पुत्रि ! जैसे अङ्कुर-स्थिति जलके सिञ्चनसे लतारूपमें परिणत हो जाती है, वैसे ही अन्तर्बीजरूपिणी (सूचीके अन्दर बीजरूपसे अवस्थित) तुम फिर उस शरीरसे युक्त हो जाओगी ॥ १२,१३ ॥

जलशून्य होनेके कारण शुभ्र स्पन्दरहित शरत्कालकी मेघमण्डलीके समान ज्ञानी होनेके कारण तुम लोकमें किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाओगी । सदा ध्यानमें मग्न रहनेवाली तुम जब कभी लीलावश निर्विकल्पक समाधिसे व्युत्थित होओगी, तब

व्यवहारात्मकध्यानधारणाधाररूपिणी ।
वातस्वभाववद्देहपरिस्पन्दाद् विलासिनी ॥ १६ ॥
तदा विरोधिनी पुत्रि स्वकर्मस्पन्दरोधिनी ।
न्यायेन क्षुन्निवृत्त्यर्थं भूतबाधां करिष्यसि ॥ १७ ॥
भविष्यसि न्यायवृत्तिर्लोके त्वन्यायबाधिका ।
जीवन्मुक्ततया देहे स्वविवेकैकपालिका ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा गगनतलाज्जगाम देवः
सूची सा भवतु ममेति किं विरोधः ।
रागो वाऽब्जजवचनार्थवारणेऽस्मि-
न्नित्यन्तः स्वतनुमयी मनाग् बभूव ॥ १९ ॥
प्रादेशः प्रथममभूत्ततोऽपि हस्तो
व्यामश्चाऽप्यथ विटपस्ततोऽभ्रमाला ।
सोद्यत्स्वावयवलता बभौ निमेषात्
सङ्कल्पद्रुमकणिकाङ्कुरक्रमेण ॥ २० ॥

न्यायसे भूतोंकी बाधा करोगी यानी प्राणियोंको दुःख दोगी, तब व्यवहारात्मक ध्यान धारणाकी आधारभूत, वातस्वभाववाली देहके चलनसे इधर उधर घूमनेवाली और अपने राक्षसजातिके उचित अशास्त्रीय हिंसा आदि कर्मरूप स्पन्दकी विरोधिनी होकर तुम अपनी क्षुधाकी निवृत्तिके लिए न्यायपूर्वक प्राणियोंको पीड़ित करोगी ॥१४—१७॥

तुम न्यायवृत्ति होओगी और अन्याय करनेवालोंको नष्ट करोगी, जीवन्मुक्त होनेके कारण अपने विवेकका एकमात्र पालन करोगी ॥ १८ ॥

यह कह कर देवाधिदेव ब्रह्माजी आकाशसे चले गये और सूची भी 'ब्रह्माजीने जो कुछ कहा वह मुझे प्राप्त हो, उसमें मेरा क्या विरोध है और उनके वरदानके निवारणमें मेरा अनुराग क्यों हो' यह विचार कर पहले अपने मनमें पूर्व शरीराकार हुई यानी पूर्व शरीरका उसने पहले अपने मनमें स्मरण किया ॥ १९ ॥

मनकी कल्पनाके अनुसार स्थूल शरीरका आविर्भाव हुआ, यह कहते हैं— 'प्रादेशः' इत्यादिसे ।

पहले वह बित्ता भर हुई, फिर उसका आकार हाथ भरका हुआ, तदनन्तर पेड़की शाखाके तुल्य उसका शरीर बन गया, फिर वह मेघघटाकार हो गई,

तद्गात्राण्यविकलशक्तिमन्ति देहा-
दुद्भूतान्यथ करणेन्द्रियाणि सम्यक् ।
सङ्कल्पद्रुमवनपुष्पवत्समन्ताद्
बीजौघान्यलमभवंस्तिरोहितानि ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने सूचीशरीरलाभो नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥



षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथाऽभवदसौ सूची कर्कटी राक्षसी पुनः ।
सूक्ष्मैव स्थौल्यमायाता मेघलेखेव वार्षिकी ॥ १ ॥
निजमाकाशमासाद्य किञ्चित्प्रमुदिता सती ।
बृहद्राक्षसभावं तद्बोधात् कञ्चुकवज्जहौ ॥ २ ॥

इस प्रकार वह सूची एक पलक भरमें अपने सङ्कल्पवृक्षकी कणिकाके (बीजके) अङ्कुरक्रमसे जिसकी अवयवरूपी लता उत्पन्न हो गई हो ऐसी बन गई ॥ २० ॥

उसके शरीरसे अविकल शक्तिसम्पन्न तत्-तत् अङ्ग, इन्द्रियोंके गोलक, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, जो पहले तिरोहित बीजसमूहरूप थीं, सङ्कल्पवृक्षोंके वनके फूलोंकी नाईं चारों ओरसे भली भाँति उत्पन्न हुईं । मनकी कल्पनासे उत्पन्न होनेके कारण वे मिथ्या ही हैं, यह अर्थ है ॥ २१ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त



छिहत्तरवाँ सर्ग

[देहको प्राप्त करके समाधिमें बैठी हुई छः महीनेमें क्षुधित होकर समाधिसे उठी हुई कर्कटीका वायुके वचनसे किरातोंके देशमें जाना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, सम्पूर्ण अवयवोंके प्रादुर्भूत होनेके अनन्तर वह कर्कटी नामकी राक्षसी सूक्ष्म होकर भी फिर ऐसे स्थूलताको प्राप्त हुई जैसे वर्षाकालकी मेघपङ्क्ति सूक्ष्म होती हुई भी स्थूलताको प्राप्त होती है ॥ १ ॥

स्वात्मभूत ब्रह्माकाशको प्राप्त करके फिर उसका अनुसन्धान कर कुछ प्रसन्न

तत्रैव ध्यायती तस्थौ बद्धपद्मासनस्थितिः ।
ध्यालम्ब्य संविदं शुद्धां संस्थिता गिरिकूटवत् ॥ ३ ॥
अथ सा मासषट्केन ध्यानाद् बोधमुपागता ।
महाजलदनादेन प्रावृषीव शिखण्डिनी ॥ ४ ॥
प्रबुद्धा सा बहिर्वृत्तिर्बभूव क्षुत्परायणा ।
यावद्देहं स्वभावोऽस्य देहस्य न निवर्तते ॥ ५ ॥
अथ सा किं ग्रस इति चिन्तयामास चिन्तया ।
भोक्तव्यः परजीवश्च न्यायेन न विना मया ॥ ६ ॥
यदार्यगर्हितं यद्वा न्यायेन न समार्जितम् ।
तस्माद् ग्रासाद् वरं मन्ये मरणं देहिनामिदम् ॥ ७ ॥
यदि देहं त्यजामीदं तन्न्यायोपार्जितं विना ।
न किञ्चिदस्ति निर्न्यायं भुक्तोऽर्थो हि गरायते ॥ ८ ॥

हुई उसने ब्रह्मबोधसे चिरकालसे बद्धमूल बृहद्राक्षसभावको केंचुलके समान छोड़ दिया यानी जैसे साँप केंचुल छोड़ता है वैसे ही उसे छोड़ दिया ॥ २ ॥

निष्प्रपञ्च आत्माका अपनी वृत्तिधारा द्वारा आश्रयण कर बद्धपद्मासनसे स्थित और आत्मध्यानमें परायण वह पर्वतके शिखरके समान वहींपर बैठी रही ॥ ३ ॥

तदनन्तर छः महीनेमें जैसे वर्षाकालमें बड़े भारी मेघके निर्घोषसे मयूरी बोधको (कामोद्बोधको) प्राप्त होती है, वैसे ही ध्यानसे बोधको प्राप्त हुई यानी समाधिसे व्युत्थित हुई ॥ ४ ॥

समाधिसे जागी हुई वह बहिर्वृत्ति होकर क्षुधासे पीड़ित रही, जबतक देहीकी देह रहती है, तबतक देहके स्वभाव क्षुधा, तृषा आदिकी निवृत्ति नहीं होती ॥५॥

तदनन्तर चिन्तनहेतु मनसे उसने विचार किया कि मैं किसे निगलूँ ! मुझे अन्यायके साथ दूसरे जीवका भोग नहीं करना चाहिए, जो सज्जनों द्वारा निन्दित है और जो न्यायोपार्जित नहीं है उस भोजनसे देहियोंके मरणको मैं उत्तम समझती हूँ ॥ ६, ७ ॥

यदि न्यायोपार्जित भोजनके बिना इस शरीरका मैं परित्याग कर दूँ, तो कोई अन्याय नहीं होगा, क्योंकि न्यायरहित थोड़ासा भी अन्न यदि ग्रहण किया जाय, तो वह विष हो जाता है ॥ ८ ॥

यन्न लोकक्रमप्राप्तं तेन भुक्तेन किं भवेत् ।
न जीवितेन नो मृत्या किञ्चित्कारणमस्ति मे ॥ ९ ॥
मनोमात्रमहं ह्यासं देहादिभ्रमभूषणम् ।
तच्छान्तं स्वावबोधेन देहादेहदृशौ कुतः ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं स्थिता मौनवती शुश्राव गगनाद्गिरम् ।
रक्षःस्वरूपसंत्यागतुष्टेनोक्तां नभस्वता ॥ ११ ॥
गच्छ कर्कटि मूढांस्त्वं ज्ञानेनाऽऽश्ववबोधय ।
मूढोत्तारणमेवेह स्वभावो महतामिति ॥ १२ ॥
बोध्यमानो भवत्याऽपि यो न बोधमुपैष्यति ।
स्वनाशायैव जातोऽसौ न्याय्यो ग्रासो भवेत्तव ॥ १३ ॥
श्रुत्वेत्यनुगृहीताऽस्मि त्वयेत्युक्तवती शनैः ।
उत्तस्थौ शैलशिखराद् क्रमादवरुरोह च ॥ १४ ॥

जो वस्तु लोकसम्मत रीतिसे प्राप्त नहीं है, उसके भोजनसे क्या फल सिद्ध होगा। मुझे न तो जीवनसे कोई लाभ है और न मरनेसे मेरी कोई हानि है ॥९॥

मैं देह आदि भ्रम जिसका भूषण है, ऐसी मनोमात्र थी, वह भ्रम (मनोमात्रत्व) मेरा शान्त हो गया, अब मेरे जीवन और मरणका भ्रम कहाँ रहा ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, मौन होकर बैठी हुई उसने राक्षस-स्वभावका परित्याग करनेसे सन्तुष्ट हुए वायु द्वारा कही गई बाणी आकाशसे सुनी ॥ ११ ॥

हे कर्कटी, तुम मूढ (अज्ञानी) लोगोंके पास जाओ और ज्ञानसे उन्हें शीघ्र उद्बुद्ध करो, अज्ञानियोंका उद्धार करना ही महान् पुरुषोंका एकमात्र स्वभाव है। जो पुरुष तुम्हारे द्वारा बोधको प्राप्त कराया जाता हुआ भी बोधको प्राप्त नहीं होगा, अपने विनाशके लिए ही उत्पन्न हुआ वह तुम्हारा न्यायोचित ग्रास होगा ॥ १२, १३ ॥

वायुके वचनको सुनकर आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया, यह कहकर वह धीरेसे उठी और पर्वतशिखरसे क्रमशः नीचे उतरने लगी ॥ १४ ॥

अधित्यकामतीत्याऽऽशु गत्वा चोपत्यकातटान् ।
विवेश शैलपादस्थं किरातजनमण्डलम् ॥ १५ ॥
बह्वन्नपशुलोकौघद्रव्यशष्पौषधामिषम् ।
अनन्तमूलपानान्नमृगकीटखगादिकम् ॥ १६ ॥

प्रचलितवलिताञ्जनाचलाभा
हिमगिरिपादनिवेशितं सुदेशम् ।
तदनु गतवती निशाचरी सा
निशि सुघनान्धतमिस्रमार्गभूमौ ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने अन्यायबाधको नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

पर्वतकी ऊर्ध्वभूमिका शीघ्र उलङ्घन कर और पर्वतकी समीपस्थ भूमिके तटमें जाकर हिमालयपर्वतके अधोभागमें स्थित किरातोंके मण्डलमें पहुँची ॥ १५ ॥

उसमें अन्न, पशु, जन-समूह, धन, हरे तृण, औषध और मांस प्रचुर मात्रामें था, असंख्य कन्दमूल, पेय वस्तु, मृग, कीट, पक्षी आदिकी भी कमी नहीं थी ॥ १६ ॥

तदनन्तर रात्रिमें, जब कि अत्यन्त निबिड़ अन्धकारसे मार्ग-भूमि व्याप्त थी, चले हुए और कज्जलसे क्लिष्ट पर्वतके समान आकारवाली वह निशाचरी हिमालय-पर्वतकी तलहटीमें स्थित सुन्दर देशमें गई ॥ १७ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सप्तसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे तत्र किरातजनमण्डले ।
हस्तहार्यतमःपिण्डा बभूवाऽसितयामिनी ॥ १ ॥
नीलमेघपटच्छन्ना निरिन्दुगगनान्तरा ।
तमालवनसंपिण्डा मांसलोड्डीनकज्जला ॥ २ ॥
लताघनतया ग्रामकोटरैकान्ध्यमन्थरा ।
गृहचत्वरसंबाधे नगरे नवयौवना ॥ ३ ॥
चत्वरेषु तमःपिण्डी प्रजिह्मीकृतदीपिका ।
कुञ्चितच्छिद्रनिष्क्रान्तादीपिकारोचिराजिता ॥ ४ ॥
सुवयस्येव कर्कट्याः परिनृत्यत्पिशाचिका ।
मत्तवेतालकङ्कालकाष्ठमौनमिवाऽऽस्थिता ॥ ५ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

[पहले रात्रिका वर्णन, तदनन्तर कर्कटीको राजा और मन्त्रीका दर्शन और उनसे कर्कटीकी प्रश्न करनेकी इच्छाका विस्तारसे वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें, जब कि वह किरातोंके देशमें गई, अत्यन्त अँधेरी रात्रि थी, उसका पिण्डके तुल्य घनीभूत अन्धकार हाथसे पकड़ा जा सकता था, [वह रात्रि क्या थी, कर्कटीकी सखी थी ।] नीले मेघ-रूपी वस्त्रोंसे वह आच्छादित थी, अमृतको कोई लूट न ले, इस भयसे उसके आकाशसे चन्द्रमा भाग गया था, तमालोंके घनीभूत वनोंको वह मानो एकत्रित कर रही थी, अतएव अत्यन्त पुष्ट थी, उसका नेत्रका काजल चारों ओर उड़ता और काला कर देता था, पर्वतके गाँवोंमें लताएँ अति निबिड़ थीं, अतः तारोंकी ज्योतिका भी प्रवेश नहीं होता था, अतएव अत्यधिक अन्धकार होनेके कारण बुढ़ियाके समान वह मन्दगति थी, घरोंके आँगनोंसे अत्यन्त घने नगरमें नवयुवती नायिकाके समान दीपिकाओंसे इधर उधर सञ्चार करती थी, आँगनोंमें वायु द्वारा उसने दीपकोंको टेढ़ा कर दिया था, वह पिण्डीभूत अन्धकारके तुल्य थी, झरोखोंके टेढ़े छिद्रोंसे निकली हुई छोटी दीपरश्मियोंसे वह शोभित हो रही थी, वह कर्कटीकी सखी-सी थी, उसमें पिशाच नाच रहे थे, मदोन्मत्त वेतालोंको नरकङ्कालोंकी लूटसे

सुषुप्तमृगभूतौघघननीहारहारिणी ।
मन्दमन्दमरुत्स्पर्शलसत्प्रालेयसीकरा ॥ ६ ॥
सरःसु विवटद्वारि काकभेकतरङ्गिता ।
अन्तःपुरेषु रमणरणन्नारीनराननाः ॥ ७ ॥
जङ्गलेषु जगज्ज्वालाजटालज्वलनोज्ज्वला ।
केदारेष्वम्बुसंसेकपृष्ठपाकमिलच्छला ॥ ८ ॥
नभस्थलेक्षितस्पन्दप्रविविक्तर्क्षचक्रिका ।
वनेषु विसरद्वातपतत्पुष्पफलद्रुमा ॥ ९ ॥
श्वभ्रेषु कौशिकस्याऽन्तर्वायसव्याहतारवा ।
तस्कराक्रान्तपर्यन्तग्राम्याक्रन्दनकर्कशा ॥ १० ॥
विपिने विपिनामौना नगरे सुप्तनागरा ।
वनेषु विसरद्वाता नीडेष्वस्पन्दपक्षिका ॥ ११ ॥
गुहासु सुप्तसिंहाढ्या कुञ्जेषु श्वापदैणका ।
खे सावश्यायनिकरा विपिने मौनचारिणी ॥ १२ ॥

वह रोकती नहीं थी, अतएव प्रतीत होता था कि मानो उसने काष्ठके समान मौन धारण कर रक्खा है, सोये हुए मृग आदि प्राणियोंसे और निबिड़ कुहरेसे वह अलङ्कृत थी, उसमें मन्द मन्द वायुके स्पर्शसे ओसके कण भले मालूम पड़ रहे थे। तालाबोंमें बड़े-बड़े गर्तोंके मुँहपर वह कौओं और मेढकोंसे व्याप्त थी, उसमें अन्तःपुरोंमें क्रीडाके समय स्त्रीपुरुषोंके मुख परस्पर आलाप कर रहे थे, जङ्गलोंमें प्रलयकालीन अग्निकी तरह ज्वालायुक्त वनाग्निसे वह चमक रही थी, उक्त रात्रिमें खेतोंमें जलके सेकसे अनेकों साहीके पर धुस रहे थे, जो कि पुराने हो आनेके कारण उनकी पीठसे गिर गये थे। आकाशमें आँखोंके तुल्य प्रतीत हो रहे और स्पन्दन व्यापारसे अलग-अलग हुए सैंकड़ों नक्षत्र उसमें व्याप्त थे, वनोंमें तेज बह रहे वायुसे उसमें फूल, फल और वृक्ष गिर रहे थे और वृक्षोंके खोखलोंके अन्दर उल्लुओंका शब्द सुनकर उसमें कौओंकी बोली बन्द हो गई थी, तस्करों द्वारा चारों ओर घिर गये ग्रामीण लोगोंके रोदनसे वह अति भीषण मालूम पड़ती थी, जङ्गलमें वह जङ्गलके समान स्तब्ध थी और नगरमें सब नागरिक उसमें सोये हुए थे। वनोंमें खूब वायु बह रही थी और घोंसलोंमें पक्षी निर्व्यापार होकर सोये थे ॥ १—११ ॥

गुफाओंमें सोये हुए सिंहोंसे वह पूर्ण थी, कुञ्जोंमें हिंस्रजीवों और हरिणोंसे

कज्जलाम्भोदमध्याभा काचशैलोदरोपमा ।
पङ्कपिण्डान्तरघना खड्गच्छेद्यान्ध्यमांसला ॥ १३ ॥
प्रलयानिलविक्षुब्धकज्जलाचलचञ्चला ।
एकार्णवमहापङ्कपर्वतोदरमेदुरा ॥ १४ ॥
अङ्गारकोटरघना सौषुप्तपदसुन्दरी ।
अज्ञाननिद्रानिबिडा भृङ्गपृष्ठच्छदच्छविः ॥ १५ ॥
तस्यां रजन्यां भीमायां किरातजनमण्डले ।
मन्त्रिणा सह भूपालस्तस्मिन्नवसरे तदा ॥ १६ ॥
निर्जगाम सुवीरात्मा नगरात् सुप्तनागरात् ।
अटवीं विक्रमो नाम विषमां वीरचर्यया ॥ १७ ॥
अटव्यां कर्कटी सा तौ चरन्तौ राजमन्त्रिणौ ।
अपश्यद्धृतधैर्यास्त्रौ वेतालालोकनोन्मुखौ ॥ १८ ॥
अथ सा चिन्तयामास लब्धो भक्षो ह्यहो मया ।
मूढावेतावनात्मज्ञौ भारो देहः किलाऽनयोः ॥ १९ ॥

भरी थी, आकाशमें तुषार-कणोंसे वह व्याप्त थी और वनमें मौनयुक्त थी, उसका स्वरूप कज्जलके बादलके मध्यभागके समान और काचपर्वतके मध्यके तुल्य काला था। पङ्कके पिण्डके मध्यके समान वह निबिड़ थी और इतनी निबिड़ थी कि मालूम पड़ता था मानो तलवारसे वह काटी जाय। अत्यन्त अन्धकारसे वह परिपुष्ट थी, प्रलयकालके वायुसे विक्षुब्ध हुए काजलके पर्वतके तुल्य चञ्चल थी, प्रलयकालीन एकमात्र समुद्रके पङ्कके पर्वतके मध्यभागके समान वह स्थूल थी, कोयलोंकी भट्ठीके समान वह निबिड़ काली थी, महा अज्ञानके समान वह घनी थी और भौरोंकी पीठ और परोंके समान उसकी श्यामल कान्ति थी ॥ १२—१५ ॥

उस समय यानी उस भीषण रात्रिमें किरातोंके नगरका विक्रम नामक राजा, जो कि बड़ा धैर्यवान् था, अपने नगरसे, जिसमें सब नागरिक सो गए थे, मन्त्रीके साथ बाहर निकला। वह वीरोचित रात्रि-चर्यासे दस्यु आदिके वधके लिए भीषण जङ्गलमें गया। उस कर्कटीने जङ्गलमें घूमते हुए उन राजा और मन्त्रीको, जिन्होंने केवल धैर्यरूपी अस्त्र धारण कर रक्खा था और जो ग्रामसे बाहर स्थित ग्रामके देवता वेतालके दर्शनके लिए उत्सुक थे, देखा ॥ १६—१८ ॥

उनको देखकर उसने विचार किया—बड़े हर्षकी बात है कि आज मुझे

इहाऽमुत्र च नाशाय मूढो दुःखाय जीवति ।
यत्नाद्विनाशनीयोऽसौ नाऽनर्थः परिपाल्यते ॥ २० ॥

अपश्यतः स्वमात्मानं मृतिर्मूढस्य जीवितम् ।
मरणेनोदयोऽस्याऽस्ति पापासम्पत्तिहेतुतः ॥ २१ ॥

आदिसर्गे च नियमः कृतः पङ्कजजन्मना ।
हिंस्राणां भोजनायाऽस्तु मूढात्माऽनात्मवानिति ॥ २२ ॥

तस्मादिमौ मयैवाऽद्य भोक्तव्यौ भोज्यतां गतौ ।
अभव्य एव निर्दोषं प्राप्तमर्थमुपेक्षते ॥ २३ ॥

कदाचित्ताविमौ स्यातां गुणयुक्तौ महाशयौ ।
तादृङ्नरविनाशो हि स्वभावान्मे न रोचते ॥ २४ ॥

तदेतौ संपरीक्षेऽहं यदि तादृग्गुणान्वितौ ।
तद्भक्षं न करोम्येतौ न हिंस्यां गुणिनः क्वचित् ॥ २५ ॥

भोजन मिल गया है, ये दोनों मूढ़ अतएव अनात्मज्ञ हैं, इन दोनोंका शरीर पृथ्वीका भाररूप है ॥ १९ ॥

अनात्मज्ञ पुरुष इस लोकमें और परलोकमें विनाश और दुःखके लिए जीवन धारण करता है। इसलिए मूढका यत्नपूर्वक विनाश कर देना चाहिए। अनर्थका परिपालन करना उचित नहीं है ॥ २० ॥

अपने यथार्थ स्वरूपको न देख रहे मूढ़का मरण ही जीवन है यानी जीवनसे मरण अच्छा है। मरणसे इस मूढ़का अभ्युदय होता है, क्योंकि उसे पापकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २१ ॥

ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें यह नियम कर रक्खा है कि अनात्मज्ञ मूढ़ पुरुष घातुक पशुओंका भोजन हो ॥ २२ ॥

इसलिए मेरे भोज्य बने हुए इन दोनोंको मैं आज ही खा डालूँगी। अभागा जीव ही हाथमें आये हुए निर्दुष्ट पदार्थकी उपेक्षा करता है ॥ २३ ॥

शायद ये दोनों गुणयुक्त महाशय हों, गुणवान् नरका विनाश करना मुझे स्वभावतः अच्छा नहीं लगता ॥ २४ ॥

इसलिए मैं इन दोनोंकी परीक्षा करती हूँ, यदि ये उस प्रकारके गुणोंसे

अकृत्रिमं सुखं कीर्तिमायुश्चैवाऽभिवाञ्छता ।
सर्वाभिमतदानेन पूजनीया गुणान्विताः ॥ २६ ॥
अपि नङ्क्ष्यामि देहेन नैव भोक्ष्ये गुणान्वितम् ।
सुखयन्ति हि चेतांसि जीवितादपि साधवः ॥ २७ ॥
अपि जीवितदानेन गुणिनं परिपालयेत् ।
गुणवत्सङ्गमौषध्या मृत्युरप्येति मित्रताम् ॥ २८ ॥
यत्राऽहमपि रक्षामि राक्षसी गुणशालिनम् ।
तत्राऽन्यः को न कुर्यात्तं हृदि हारमिवाऽमलम् ॥ २९ ॥
उदारगुणयुक्ता ये विहरन्तीह देहिनः ।
धरातलेन्दवः सङ्गाद् भृशं शीतलयन्ति ते ॥ ३० ॥
मृतिर्गुणितिरस्कारो जीवितं गुणिसंश्रयः ।
फलं स्वर्गापवर्गादि जीविताद् गुणिसंश्रितात् ॥ ३१ ॥

युक्त होंगे, तो मैं उनको नहीं खाऊँगी, क्योंकि मैं गुणियोंकी कभी हिंसा नहीं करती ॥ २५ ॥

जो पुरुष स्वाभाविक (अक्षय) सुख, कीर्ति और आयुको चाहता हो, उसे चाहिए कि वह सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थोंके दानसे गुणी पुरुषोंकी पूजा करे ॥ २६ ॥

भले ही मैं इस देहके साथ नष्ट हो जाऊँ, पर गुणवान्‌को मैं नहीं खाऊँगी, क्योंकि गुणवान् सज्जन लोग अपना जीवन देकर भी लोगोंके चित्तको सुख पहुँचाते हैं ॥ २७ ॥

अपना जीवन देकर भी गुणवान् लोगोंके जीवनकी रक्षा करनी चाहिए, गुणवान् लोगोंकी सङ्गतिरूपी ओषधिसे मृत्यु भी मित्र बन जाता है ॥ २८ ॥

जब राक्षसी होकर भी मैं गुणवान्‌की रक्षा करती हूँ, तब अन्य कौन पुरुष गुणवान् पुरुषको गलेका निर्मल हार नहीं बनावेगा ॥ २९ ॥

जो देही (प्राणी) उदार गुणोंसे युक्त होकर इस संसारमें विहार करते हैं, धरातलके चन्द्रमारूप वे अपनी सङ्गतिसे लोगोंको अत्यन्त आह्लादित करते हैं ॥३०॥

गुणी पुरुषोंका तिरस्कार करना मरण है और गुणवान्‌की सङ्गति करना जीवन है । गुणिसङ्गतिरूपी जीवनसे स्वर्ग, अपवर्ग आदि फल सिद्ध होते हैं,

तस्मादिमौ परीक्षेऽहं कयाचित्प्रश्नलीलया ।
किंमात्रज्ञानकावेताविति तामरसेक्षणौ ॥ ३२ ॥
आदौ विचार्य सगुणागुणलेशयुक्ति
पश्चात्स्वतोऽधिकतरं च गुणैर्यदि स्यात् ।
कुर्यात्ततः समुपपत्तिवशेन दण्डं
दण्ड्यस्य युक्तिसदृशं घनसंभवेन ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्यु० राक्षसीविचारो नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ सा राक्षसी रक्षःकुलकाननमञ्जरी ।
तमस्येवाऽभ्रलेखेव गम्भीरं विननाद ह ॥ १ ॥

इसलिए कमलके समान नेत्रवाले इन लोगोंमें कितना ज्ञान है, यह जाननेके लिए मैं इनकी कुछ प्रश्नोंसे परीक्षा करूँगी ॥ ३१, ३२ ॥

पहले यह गुणवान् है या यह निर्गुण है, इस प्रकार गुणके सम्बन्धका विचार कर तदनन्तर गुणीको अपनेसे श्रेष्ठ समझ कर यदि वह गुणोंसे हीन हो, तो शास्त्रोक्त दृष्टिसे भली भाँति विचार कर उसको शास्त्रोक्त दण्ड दे । यदि गुणोंसे अपनेसे वह श्रेष्ठ हो, तो उसे दण्ड न दे ॥ ३३ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

[भीषण वाक्योंसे भी भयभीत न हुए राजाका कर्कटीको देखना और मन्त्री द्वारा समझाई गई कर्कटीका प्रश्न करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदुपरान्त राक्षस-कुलरूपी महावनकी मञ्जरीरूप वह राक्षसी अन्धकारमें मेघघटाके समान खूब जोरसे गरजी ॥ १ ॥

नादान्ते समुवाचेदं हुङ्कारापरुषं वचः ।
गर्जितानन्तरं जातकरकाशनिशब्दवत् ॥ २ ॥
भो भो घोराटवीव्योमपदवीशशिभास्करौ ।
महामायातमःपीठशिलाकोटरकीटकौ ॥ ३ ॥
कौ भवन्तौ महाबुद्धी दुर्बुद्धी वा समागतौ ।
मद्ग्रासपदमापन्नौ क्षणान्मरणकोचितौ ॥ ४ ॥

राजोवाच

भो भो भूतक किं स्यास्त्वं क्व तिष्ठसि च देहकम् ।
दर्शयाऽस्यास्तव गिरः को बिभेत्यलिनीध्वनेः ॥ ५ ॥
सिंहवत् सर्ववेगेन पतन्त्यर्थे किलाऽर्थिनः ।
त्यज संरम्भमारम्भं स्वसामर्थ्यं प्रदर्शय ॥ ६ ॥
किं प्रार्थयसि मे ब्रूहि ददामि तव सुव्रत ।
किं वा सरम्भशब्दाभ्यां भीषयाऽस्मान् बिभेषि किम् ॥ ७ ॥
क्षिप्रमाकारशब्दाभ्यां मायया सम्मुखी भव ।
न किंचिद्दीर्घसूत्राणां सिद्ध्यत्यात्मक्षयादृते ॥ ८ ॥

गरजनेके बाद मेघगर्जनके अनन्तर वज्रनिर्घोषके समान शब्दतः (हुङ्कारसे) भीषण होनेपर भी अर्थतः अनिष्ठुर यह वचन उसने कहा ॥ २ ॥

अरे घोर अरण्यरूपी आकाशमार्गमें सूर्य और चन्द्रमाके सदृश तथा सब भूतोंके आधारभूत महामायारूपी अन्धकारपूर्ण गुफाके अन्दर बैठे हुए कीटोंके समान तुम कौन हो, तुम कोई महाबुद्धि हो या अल्पबुद्धि हो। एक क्षणमें मेरे ग्रासको प्राप्त हुए मरणयोग्य तुम यहाँ आये हो ॥ ३,४ ॥

राजाने कहा—अरे भूत, तुम कौन हो ? और कहाँ रहते हो ? अपनी देहको दिखलाओ। भँवरीके गुञ्जनके सदृश तुम्हारी इस वाणीसे कौन डर सकता है ? ॥५॥

किसी वस्तुमें अभिलाषा रखनेवाले लोग अपनी अभिलाषाके विषय पदार्थपर सिंहके समान पूर्ववेगसे टूटते हैं। अपने क्रोधको छोड़ो, भीषण कार्यवाली अपनी शक्तिको दर्शाओ। हे सुव्रत, तुम क्या चाहते हो ? कहो, मैं तुमको तुम्हारी अभीष्ट वस्तु देता हूँ अथवा कोपपूर्ण शब्दोंसे या बिभीषकासे क्या प्रयोजन है ? या तुम्हीं हमसे डरते हो ? ॥ ६,७ ॥

तुम शीघ्र दूसरेको दिखाई देनेवाले शरीरकी कल्पना करनेवाली शक्तिसे

राज्ञेत्युक्ते रम्यमुक्तमिति सञ्चिन्त्य सा तयोः ।
प्रकाशायाऽप्यधैर्याय ननाद च जहास च ॥ ९ ॥
ततो ददृशतुस्तां तौ शब्दपूरितदिग्गणाम् ।
साट्टहासप्रभापिण्डपूरप्रकटिताकृतिम् ॥ १० ॥
कल्पाभ्राशनिकाषेण घृष्टामद्रितटीमिव ।
स्वनेत्रविद्युद्वलयबलाकोज्ज्वलिताम्बराम् ॥ ११ ॥
तिमिरैकार्णवौर्वाग्निज्वालाविवलनामिव ।
गर्जद्घनघटाटोपपीवरासितकन्धराम् ॥ १२ ॥
रणद्दशनसंरम्भहाहाहतनिशाचराम् ।
रोदसीकज्जलस्तम्भां लीलयोल्लसितां पुनः ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वकेशीं शिरालाङ्गीं कपिलाक्षीं तमोमयीम् ।
यक्षरक्षःपिशाचानामप्यनर्थभयप्रदाम् ॥ १४ ॥

अपनी आकृति और शब्दके साथ हमारे सामने खड़े होओ, जो लोग शीघ्र कार्य नहीं कर सकते, उनका आत्मनाशके सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होता ॥ ८ ॥

राजाके वैसा कहनेपर राजाने बहुत उत्तम कहा, ऐसा मनमें विचार कर वह उन लोगोंके प्रकाशके लिए और अधैर्यके लिए गरजी और हँसी ॥ ९ ॥

उसके गरजने ओर हंसनेके बाद राजा और मन्त्रीने उसे देखा, उसने अपनी भीषण ध्वनिसे दसों दिशाओंको पूर्ण कर दिया था और अपने अट्टहासकी दशन कान्तियोंके घनीभावसे अपनी आकृतिको उनके सामने प्रकट कर दिया था, वह प्रलयकालके मेघके वज्रके टकरानेसे घिसी हुई पर्वतस्थलीके समान थी, अपने नेत्ररूपी बिजुलियों और शङ्खकी बनी हुई चूड़ीरूपी बकपंक्तियोंसे उसने आकाशको उज्वल बना रक्खा था, अन्धकाररूपी एकमात्र सागरमें वह बड़वानलकी प्रदीप्त ज्वालाओंकी लपटोंके समान थी। उसके गरज रही घनघटाके आटोपके समान विशाल काले कन्धे थे। कटकटा रहे दाँतोंसे उत्पन्न हुए भयसे हाहाकारके साथ उसने निशाचर, चोर, व्याघ्र आदिको मार डाला था, आकाश और पृथ्वीको मानो वह काजलसे अवष्टम्भ (धारण) कर रही थी और फिर लीलासे उल्लासको प्राप्त हो रही थी, उसके केश ऊपरको खड़े थे, उसका सारा अङ्ग मोटी मोटी नसोंसे भरा था और उसकी बिल्लीके समान पीली-पीली आँखें थी, वह ऐसी काली थी मानो अन्धकारसे ही उसकी रचना हुई हो, यक्ष, राक्षस और पिशाचोंको भी वह

देहरन्ध्रविशच्छ्वासवातभाङ्कारभीषणाम् ।
मुसलोलूखलालातहलशूर्पकशेखराम् ॥ १५ ॥
स्फुरन्तीमिव कल्पान्ते वैदूर्यशिखरस्थलीम् ।
हासघट्टितविश्वेशां कालरात्रिमिवोदिताम् ॥ १६ ॥
शरद्व्योमाऽटवीं साभ्रां कृतदेहामिवाऽऽगताम् ।
शरीरिणीं महाभ्राढ्यां यामिनीमिव मांसलाम् ॥ १७ ॥
शरीरसंनिवेशेन पङ्कपीठमिवोत्थिताम् ।
तनुं चन्द्रार्कयुद्धाय तमसेव समाश्रिताम् ॥ १८ ॥
इन्द्रनीलमहाशुभ्रलम्बाभ्रयुगलोपमौ ।
उलूखलादिहारौघौ दधानामसितौ स्तनौ ॥ १९ ॥
लग्नामङ्गारकाष्ठेन समानां च महातनुम् ।
द्रुमाभास्पन्दसशिरलसद्भुजलतातनुम् ॥ २० ॥
तामवेक्ष्य महावीरौ तथैवाऽक्षुभितौ स्थितौ ।
न तदस्ति विमोहाय यद्विविक्तस्य चेतसः ॥ २१ ॥

मरण आदिका भय देती थी। देहरन्ध्रमें प्रविष्ट हो रहे श्वासवायुके झंकारशब्दसे वह बड़ी भयावनी लगती थी। मूसल, ऊखल, उल्मुक (अधजला काष्ठ), हल और टूटे फूटे सूप उसके शिरोभूषण थे, वह प्रलयकालमें देदीप्यमान वैदूर्यपर्वतकी शिखर-स्थलीके समान थी, वह कालरात्रिके (शिवदूतिके), जिसने अपने हाससे विश्वके अधि-पति दानव मार डाले थे, समान उदित हुई थी। मानो मेघयुक्त शरत्-कालका आकाशरूपी महावन ही देह धारण करके आया हो, मानो वह बड़े बड़े मेघोंसे युक्त मूर्तिमती खूब अँधेरी रात्रि थी। शरीर धारण करके पृथ्वीकी पीठके समान उठी हुई थी, वह ऐसी लगती थी मानो चन्द्र एवं सूर्यके साथ युद्ध करनेके लिए राहुके द्वारा धारण की गई देह हो ॥ १०-१८ ॥

उसके इन्द्रनील मणिके समान अत्यन्त काले, जलसे भरे दो मेघोंके समान तथा ऊखल आदिके हारोंको धारण करनेवाले काले स्तन थे ॥ १९ ॥

वह जले हुए काठसे चिह्नित और जले हुए काठके समान थी और उसका विशाल शरीर था, वृक्षोंके तुल्य, स्पन्दरहित तथा नसोंसे व्याप्त सुन्दर भुजलताओंसे उसका आकार और भी अधिक बढ़ गया था ॥ २० ॥

उसको देख कर वे महाबलशाली राजा और मन्त्री पूर्ववत् बिना किसी

मन्त्र्युवाच

महाराक्षसि संरम्भो महात्मा किमयं तव ।
लघवो ह्यथवा कार्ये लघावप्यतिसम्भ्रमाः ॥ २२ ॥
त्यज संरम्भमारम्भो नाऽयं तव विराजते ।
विषये हि प्रवर्तन्ते धीमन्तः स्वार्थसाधकाः ॥ २३ ॥
त्वादृशानां सहस्राणि मशकानामिवाऽबले ।
अस्माकं धीरतावात्या व्यूढानि तृणपर्णवत् ॥ २४ ॥
संरम्भद्वारमुत्सृज्य समतास्वच्छया धिया ।
युक्त्या च व्यवहारिण्या स्वार्थः प्राज्ञेन साध्यते ॥ २५ ॥

क्षोभके खड़े रहे, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कि सत्य और मिथ्याका विवेक रखनेवालेके चित्तको मोहमें डाल सके ॥ २१ ॥

यदि तुम महाबलशालिनी हो, तो छोटे कार्यके लिए इतना कोप करना युक्त नहीं है, यों सामसे समाधान करनेकी इच्छासे मन्त्री कहते हैं—'**महाराक्षसि**' इत्यादिसे ।

मन्त्रीने कहा—हे महाराक्षसी, यह तुम्हारा अत्यन्त कोप किसलिए है ? भाव यह कि केवल वचनमात्रसे मिलनेवाले आहार-लाभके लिए क्रोध और साहस आदिकी आवश्यकता नहीं है । अथवा क्षुद्र जीव तुच्छ कार्यके लिए भी अत्यन्त घटाटोप करते हैं यानी तुम यदि लघु हो, तो तुम्हारे क्रोधसे हमको किसी तरहका भय नहीं है, यह भाव है । तुम कोपको छोड़ो, तुम्हारा यह उद्योग उत्तम नहीं है । अपना कार्य सिद्ध करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सामसे (शान्तिसे) सिद्ध होनेवाले विषयमें दण्डका प्रयोग नहीं करते हैं ॥ २२,२३ ॥

हे अबले ! तुम्हारे ऐसे हजारों मच्छर हम लोगोंकी धीरतारूपी आँधीसे तिनके और सूखे हुए पत्तोंके समान उड़ाये गये हैं । इसलिए भी तुम्हारा दण्ड-प्रयोग करना उचित नहीं है ॥ २४ ॥

यदि राक्षसीकी ओरसे प्रश्न हो कि मेरी स्वार्थसिद्धि कैसे होगी ? तो इसपर कहते हैं—'**संरम्भ०**' इत्यादिसे ।

इस कोपरूपी उपायका त्यागकर समतासे स्वच्छ हुई बुद्धिसे और प्राज्ञके व्यवहारके योग्य युक्तिसे प्राज्ञ पुरुष अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं ॥ २५ ॥

स्वेनैव व्यवहारेण कार्यं सिध्यतु वा न वा ।
महानियतिरित्येव भ्रमस्याऽवसरो हि कः ॥ २६ ॥
कथयाऽभिमतं किं ते किमर्थयसि चाऽर्थिनी ।
अर्थी स्वप्नेऽपि नाऽस्माकमप्राप्तार्थः पुरो गतः ॥ २७ ॥
इत्युक्ता सा तदा तेन चिन्तयामास राक्षसी ।
अहो नु विमलाचारं सत्त्वं पुरुषसिंहयोः ॥ २८ ॥
न सामान्याविमौ मन्ये विचित्रेयं चमत्कृतिः ।
वचोवक्त्रेक्षणेनैव वदत्यन्तर्विनिश्चयम् ॥ २९ ॥
वचोवक्त्रेक्षणद्वारैर्धीमतामाशया मिथः ।
एकीभवन्ति सरितां पयांसि वलनैरिव ॥ ३० ॥
आभ्यां प्रायः परिज्ञातो मम भावोऽनयोर्मया ।
न विनाश्यौ मया चेमौ स्वयमेवाऽविनाशिनौ ॥ ३१ ॥

कार्यकी सिद्धिमें सन्देह होनेपर भी उक्त अनादि नियमसे सिद्ध सामरूप उपायका त्याग नहीं करना चाहिए, फिर कार्यकी सिद्धिका निश्चय होनेपर तो कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—'स्वेनैव' इत्यादिसे ।

अपने ही व्यवहारसे कार्य सिद्ध हो अथवा न हो, सामका ही व्यवहार करना चाहिए, यह महानियतिका (पण्डितोंको शान्तिसे ही व्यवहार करना चाहिए, इस अनादि नियमका) निश्चय है, इस विषयमें भ्रान्तपुरुषोचित कोपका अवसर ही कहाँ है ? ॥ २६ ॥

कहो, तुम्हें किस वस्तुकी अभिलाषा है, तुम प्रार्थिनी होकर क्या चाहती हो ? हम लोगोंका याचक जन स्वप्नमें भी निराश होकर दूसरेके पास नहीं गया है । मन्त्रीके यों कहनेपर उस राक्षसीने सोचा, इन दोनों महापुरुषोंका धैर्य और बुद्धिबल बड़ा निर्मल है ॥ २७,२८ ॥

ये कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं, यह कोई विचित्र चमत्कार है, मेरा अन्तःकरण इनके वचन और मुखदर्शनसे यानी प्रसन्नता आदि चिह्नोंसे तत्त्वनिश्चय करता है कि हो न हो ये अवश्य ज्ञानी हैं ॥ २९ ॥

वचन, मुखदर्शन आदिसे ज्ञानियोंके अन्तःकरण परस्पर ऐसे एक हो जाते हैं जैसे कि नदियोंके जल सङ्गमसे एक होते हैं ॥ ३० ॥

इन लोगोंने मेरा अभिप्राय जान लिया और मैंने इनका अभिप्राय जान

मन्ये भवेतामात्मज्ञौ नाऽऽत्मज्ञानादृते मतिः ।
अमृष्टसदसद्भावाद् भवत्यस्तभया मृतौ ॥ ३२ ॥
तदेतौ परिपृच्छामि किञ्चित् सन्देहमुत्थितम् ।
प्राज्ञं प्राप्य न पृच्छन्ति ये केचित्ते नराधमाः ॥ ३३ ॥
इति संचिन्त्य पृच्छार्थे तन्वानाऽवसरं ततः ।
अकालकल्पाभ्ररवं हासं संयम्य साऽब्रवीत् ॥ ३४ ॥
कौ भवन्तौ नरौ धीरौ कथ्यतामिति मेऽनघौ ।
जायते दर्शनादेव मैत्री विशदचेतसाम् ॥ ३५ ॥

मन्त्र्युवाच

अयं राजा किरातानामस्याऽहं मन्त्रितां गतः ।
उद्यतौ रात्रिचर्येण त्वादृग्जनविनिग्रहे ॥ ३६ ॥
राज्ञो रात्रिंदिवं धर्मो दुष्टभूतविनिग्रहः ।
स्वधर्मत्यागिनो ये तु ते विनाशानलेन्धनम् ॥ ३७ ॥

लिया है । इन लोगोंका मुझे विनाश नहीं करना चाहिए, ये आत्मज्ञ होनेके कारण स्वयं अविनाशी हैं ॥ ३१ ॥

निश्चय ये लोग आत्मज्ञानी होंगे, मिथ्यात्वके निश्चयसे जीवनमरणव्यवहारका जिसने त्याग कर दिया है, ऐसे आत्मज्ञानीके सिवा दूसरे पुरुषकी बुद्धि मृत्युतुल्य भयके उपस्थित होनेपर इस प्रकार निर्भय नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥

इसलिए जो मुझे कुछ सन्देह हुआ है, उसे इनसे पूँछती हूँ । जो लोग विद्वान् पुरुषको पाकर अपने सन्देहके निराकरणके लिए उससे प्रश्न नहीं करते । वे अधम पुरुष हैं, ऐसा विचार कर प्रश्नके लिए अवसर खोजती हुई वह अकालमें प्रलयके मेघके निर्घोषके समान अपने हासको रोककर बोली ॥ ३३,३४ ॥

हे पापरहित धीर पुरुषो, मुझे बतलाइए कि आप लोग कौन हैं ? निर्मल चित्तवाले ज्ञानी पुरुषोंकी, दर्शनसे ही, मैत्री हो जाती है ॥ ३५ ॥

मन्त्रीने कहा—हे राक्षसी, ये किरातोंके राजा हैं, मैं इनका मन्त्री हूँ । हम लोग तुम्हारे सरीखे घातुक जीवोंको दण्ड देनेके लिए रात्रिचर्यामें उद्यत हैं । राजाका रात दिन दुष्टोंको दण्ड देना धर्म है । जो दुष्ट अपने धर्मका परित्याग करते हैं, वे विनाशरूपी अग्निके इन्धन होते हैं ॥ ३६,३७ ॥

राक्षस्युवाच

राजंस्त्वमसि दुर्मन्त्री दुर्मन्त्री न नृपो भवेत् ।
सन्नृपश्च भवेन्मन्त्री राजा सन्मन्त्रिणा भवेत् ॥ ३८ ॥

राजा चाऽऽदौ विवेकेन योजनीयः सुमन्त्रिणा ।
तेनाऽऽर्यतामुपायाति यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ३९ ॥

समस्तगुणजालानामध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
तद्विद्राजा भवेद्राजा तद्विन्मन्त्री च मन्त्रवित् ॥ ४० ॥

प्रभुत्वं समदृष्टित्वं तच्च स्याद्राजविद्यया ।
तामेव यो न जानाति नाऽसौ मन्त्री न सोऽधिपः ॥ ४१ ॥

भवन्तौ तद्विदौ साधू यदि तच्छ्रेय आप्नुथः ।
नो चेदनर्थदौ स्वस्याः प्रकृतेरद्म्यहं युवाम् ॥ ४२ ॥

एकोपायेन मत्पार्श्वाद् बालकावुत्तरिष्यथः ।
मत्प्रश्नपञ्जरं सारं चेद्विचारयथो धिया ॥ ४३ ॥

राक्षसीने कहा—राजन् , तुम्हारा मन्त्री दुष्ट है यानी तुम दुष्टमन्त्रीवाले हो । और दुष्टमन्त्रीवाला राजा भविष्णु नहीं होता । अच्छे राजासे युक्त मन्त्री आदृत होता है और सन्मन्त्रीसे युक्त राजा आदृत होता है ॥ ३८ ॥

योग्य मन्त्रीको चाहिए कि वह राजाको विवेकी बनावे । विवेकसे राजा श्रेष्ठताको प्राप्त होता है, जैसा राजा होता है, वैसी उसकी प्रजा होती है । सम्पूर्ण गुणगणोंमें से अध्यात्मज्ञान सर्वोत्तम है । उक्त अध्यात्मज्ञानको जाननेवाला राजा प्रशस्त राजा होता है और अध्यात्मज्ञानी मन्त्री मन्त्रविद् (विचारके रहस्यको जाननेवाला) होता है ॥ ३९,४० ॥

प्रभुता और समदृष्टिता राजविद्यासे प्राप्त होते हैं, उस राजविद्याको जो नहीं जानता है, वह न तो मन्त्री है और न राजा है । यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी हैं, तब तो अच्छा है और आप लोग उत्तम कल्याणको प्राप्त होंगे । यदि आप लोग अध्यात्मज्ञानी नहीं है । तो आप प्रजाओंके भी अकल्याणकारी हैं, इसलिए अपनी प्रकृतिके अनुसार मैं तुम लोगोंको खा जाऊँगी ॥ ४१,४२ ॥

एक ही उपायसे मेरे पाससे तुम लोग मुक्त हो सकते हो, जैसे बालक

प्रश्नानिमान् कथय पार्थिव वा च मन्त्रि-
स्तत्राऽर्थिनी भृशमहं परिपूरयाऽर्थम् ।
अङ्गीकृतार्थमददत् क इवाऽस्ति लोके
दोषेण संक्षयकरेण न युज्यते यः ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने राक्षसीवर्णनं नाम अष्टसप्ततिमः सर्गः ॥ ७८ ॥

———:*:———

एकोनाशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसी प्रश्नान् सा वक्तुमुपचक्रमे ।
उच्यतामिति राज्ञोक्ते तानिमान् शृणु राघव ॥ १ ॥

अपनी माता पिताके प्रीतिपात्र होते हैं, वैसे ही तुम लोग मेरे प्रीतिपात्र होओगे, यदि मेरे ठोस प्रश्नोंका बुद्धिसे विचार करोगे ॥ ४३ ॥

हे राजन् अथवा हे मन्त्रिन्, इन प्रश्नोंको कहो, इन प्रश्नोंके उत्तरके लिए ही मैं अत्यन्त अर्थिनी हूँ, मेरे अभिलाषको पूर्ण करो, देनेके लिए स्वीकृत अर्थको न देता हुआ कौन पुरुष इस लोकमें विनाशकारी दोषसे युक्त नहीं होता ? ॥ ४४ ॥

अठहत्तर सर्ग समाप्त

———:※:———

उनासी सर्ग

[कर्कटीका अनात्मज्ञ पुरुषोंके लिए वज्रके तुल्य और आत्मज्ञानी पुरुषोंके लिए मनोज्ञ बहत्तर प्रश्न करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त कथनके अनन्तर राजाके अपने प्रश्नोंको कहो, यों अनुमति देनेपर राक्षसीने प्रश्न करना आरम्भ किया । इन प्रश्नोंको आप सुनिये ॥ १ ॥

राक्षस्युवाच

एकस्याऽनेकसङ्ख्यस्य कस्याऽणोरम्बुधेरिव ।
अन्तर्ब्रह्माण्डलक्षाणि लीयन्ते बुद्बुदा इव ॥ २ ॥
किमाकाशमनाकाशं न किञ्चित्किञ्चिदेव किम् ।
कोऽहमेवाऽसि सम्पन्नः को भवानप्यहं स्थितः ॥ ३ ॥
गच्छन्न गच्छति च कः कोऽतिष्ठन्नपि तिष्ठति ।
कश्चेतनोऽपि पाषाणः कश्चिद्व्योम्नि विचित्रकृत् ॥ ४ ॥
वह्नितामजहच्चैव कश्च वह्निरदाहकः ।
अवह्नेर्जायते वह्निः कस्माद्राजन्निरन्तरम् ॥ ५ ॥
अचन्द्रार्काग्नितारोऽपि कोऽविनाशः प्रकाशकः ।
अनेत्रलभ्यात् कस्माच्च प्रकाशः सम्प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥
लतागुल्माङ्कुरादीनां जात्यन्धानां तथैव च ।
अन्येषामप्यनक्षाणामालोकः क इवोत्तमः ॥ ७ ॥
जनकः कोऽम्बरादीनां सत्तायाः कः स्वभावदः ।
को जगद्रत्नकोशः स्यात् कस्य कोशो मणेर्जगत् ॥ ८ ॥

राक्षसीने कहा—राजन्, एक होते हुए भी उपाधिवश अनेक संख्यावाले, [अपरिच्छिन्न होनेके कारण] अम्बुधिके तुल्य एवं [दुर्लक्ष्य होनेके कारण] अणुके तुल्य किसके भीतर लाखों ब्रह्माण्ड समुद्रके भीतर बुद्बुदके समान लीन होते हैं ॥ २ ॥

कौन वस्तु आकाशरूप (शून्य) और अनाकाशरूप (अशून्य) है, लौकिक पुरुषोंकी दृष्टिमें जो कुछ नहीं है और तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिमें कुछ है, ऐसी कौन वस्तु है, कौन मैं हूँ और कौन अहंरूपसे स्थित तुम हो कौन न चलता हुआ भी चलता है, कौन स्थित न होता हुआ भी स्थित होता है, कौन चेतन होता भी पाषाणके समान अचेतन है, कौन आकाशमें दृश्यरूप आश्चर्यजनक चित्रको बनाता है, वह्निताका त्याग न करता हुआ ही कौन अदाहक वह्नि है, वह्निभिन्न किससे निरन्तर वह्नि उत्पन्न होती है, हे राजन्, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और ताराओंसे भिन्न होता भी कौन अविनाशी प्रकाशक है, नेत्रगोचर न होनेवाले किससे प्रकाश होता है, जन्मान्ध लता, पेड़, झाड़ी, अङ्कुर आदिका और जिनकी इन्द्रियाँ आविर्भूत नहीं हुई हैं, ऐसे अन्यान्य पदार्थोंका कौन उत्तम आलोक है, आकाश आदिका कौन

कोऽणुस्तमःप्रकाशः स्यात्कोऽणुरस्ति च नाऽस्ति च ।
कोऽणुर्दूरेऽप्यदूरे च कोऽणुरेव महागिरिः ॥ ९ ॥

निमेष एव कः कल्पः कः कल्पोऽपि निमेषकः ।
किं प्रत्यक्षमसद्रूपं किं चेतनमचेतनम् ॥ १० ॥

कश्च वायुरवायुश्च कः शब्दोऽशब्द एव कः ।
कः सर्वं न च किञ्चिच्च कोऽहं नाऽहं च किं भवेत् ॥ ११ ॥

किं प्रयत्नशतप्राप्यं लब्ध्वाऽपि बहुजन्मनि ।
लब्धं न किञ्चिद्भवति किन्तु सर्वं न लभ्यते ॥ १२ ॥

स्वस्थेन जीवितेनोच्चैः केनाऽऽत्मैवाऽपहारितः ।
केनाऽणुनाऽन्तः क्रियते मेरुस्त्रिभुवनं तृणम् ॥ १३ ॥

केनाऽप्यणुकमात्रेण पूरिता शतयोजनी ।
कोऽणुरेव भवन्माति न योजनशतेष्वपि ॥ १४ ॥

उत्पादक है, और सत्ताको सत्ता प्रदान करनेवाला कौन है, कौन जगद्रूपी रत्नका कोष है और जगत् किस मणिका कोश है, कौन अणु तमका प्रकाशक है और किस अणुका ज्ञानियोंकी दृष्टिसे अस्तित्व होते हुए भी अज्ञोंकी दृष्टिसे अभाव है, कौन अणु दूरमें होता हुआ भी समीपमें है, कौन अणु होता हुआ भी महान् पर्वत है, कौन निमेष होता हुआ भी कल्प है, और कौन कल्प होता हुआ भी निमेष है, कौन प्रत्यक्ष होता हुआ भी अज्ञोंकी दृष्टिसे असद्रूप है, कौन चेतन होता हुआ भी अचेतन है, कौन वायु होता हुआ भी वायुसे भिन्न है, कौन शब्द होता हुआ भी शब्दभिन्न है, कौन सब है और कुछ भी नहीं है, कौन अहं होकर भी अहं नहीं है ॥ ३–११ ॥

पहले अनेक जन्मोंमें अपनी आत्माके रूपसे प्राप्त होकर भी कौन अज्ञानसे आवृत होनेके कारण अलभ्य-प्राय होनेसे सैकड़ों प्रयत्नोंसे प्राप्त होने योग्य है ? जो अज्ञोंको कुछ प्राप्त नहीं होता और ज्ञानियोंको पूर्णरूपसे प्राप्त होता है ॥१२॥

किसने स्वस्थ और जीवित होते हुए भी अपने आत्माका अत्यन्त विस्मरण कर दिया, कौन अणु अपने भीतर मेरुको धारण करता है, कौन त्रिभुवनको तृण बनाता है, किस अणुपरिणामने सौ योजन पृथ्वीको पूर्ण कर दिया, कौन अणु होता हुआ

केनाऽऽलोकनमात्रेण जगद्बालः प्रनाट्यते ।
कस्याऽणोरुदरे सन्ति किलाऽवनिभृतां घटाः ॥ १५ ॥
अणुत्वमजहत् कोऽणुर्मेरोः स्थूलतराकृतिः ।
बालाग्रशतभागात्मा कोऽणुरुच्चैः शिलोच्चयः ॥ १६ ॥
कोऽणुः प्रकाशतमसां दीपः प्रकटनप्रदः ।
कस्याऽणोरुदरे सन्ति समग्रानुभवाणवः ॥ १७ ॥
कोऽणुरत्यन्तनिःस्वादुरपि संस्वदतेऽनिशम् ।
केन संत्यजता सर्वमणुना सर्वमाश्रितम् ॥ १८ ॥
केनाऽत्माच्छादनाशक्तेनाऽणुनाऽऽच्छादितं जगत् ।
जगल्लयेन कस्याऽणोः सद्भूतमपि जीवति ॥ १९ ॥
अजातावयवः कोऽणुः सहस्रकरलोचनः ।
को निमेषो महाकल्पः कल्पकोटिशतानि च ॥ २० ॥
अणौ जगन्ति तिष्ठन्ति कस्मिन् बीज इव द्रुमः ।
बीजानि निष्कलान्तानि स्फुटान्यनुदितान्यपि ॥ २१ ॥

ही सैकड़ों योजनोंमें भी नहीं समा सकता । कौन केवल अपने दृष्टिपातसे जगद्रूपी बालकको नचाता है ? किस अणुके अन्दर पर्वतोंके समूह विद्यमान हैं, कौन अपनी अणुताका त्याग न करता हुआ मेरुसे भी बढ़कर स्थूल आकृति धारण करता है । बालके अग्रभागके शतांश स्वरूपवाला कौन अणु उन्नत पर्वतके सदृश बन जाता है । कौन अणु प्रकाश और अन्धकारको प्रकट करनेवाला दीपक है । किस अणुके उदरमें सम्पूर्ण वृत्त्यवच्छिन्न ज्ञानके लव हैं । कौन अणु मधुर आदि रससे रहित होता हुआ भी सदा स्वाद देता है, सबका त्याग करते हुए किस अणुने सब वस्तुओंका स्वीकार कर रक्खा है ॥ १३–१८ ॥

अपने स्वरूपके आच्छादनमें असमर्थ किस अणुसे यह सम्पूर्ण जगत् आच्छादित (व्याप्त) है । लयसे तिरोहित हुआ भी जगत् किस अणुकी सत्तासे सत्ताको प्राप्त होकर फिर सृष्टिकालमें आविर्भूत होता है ॥ १९ ॥

जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, ऐसा कौन अणु सैकड़ों हाथ और लोचनोंसे युक्त है, वह कौन अणु है, जो निमेषमात्र होता हुआ भी महाकल्प और सैकड़ों करोड़ों कल्परूप है ॥ २० ॥

किस अणुमें, बीजमें वृक्षकी तरह, अनुत्पन्न अनेक जगत् प्रलयकालमें भी

कल्पः कस्य निमेषस्य बीजस्येवाऽन्तरे स्थितः ।
कः प्रयोजनकर्तृत्वमप्यनाश्रित्य कारकः ॥ २२ ॥
दृश्यसम्पत्तये द्रष्टा स्वात्मानं दृश्यतां नयन् ।
दृश्यं पश्यन्स्वमात्मानं को हि पश्यत्यनेत्रवान् ॥ २३ ॥
अन्तर्गलितदृश्यं च क आत्मानमखण्डितम् ।
दृश्यासम्पत्तये पश्यन् पुरो दृश्यं न पश्यति ॥ २४ ॥
आत्मानं दर्शनं दृश्यं को भासयति दृश्यवत् ।
कटकादीनि हेम्नेव विकीर्णं केन च त्रयम् ॥ २५ ॥
कस्मान्न किञ्चिच्च पृथगूर्म्यादीव महाम्भसः ।
कस्येच्छया पृथक् चाऽस्ति वीचितेव महाम्भसः ॥ २६ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नादेकस्मादसतः सतः ।
द्वैतमप्यपृथक्कस्माद् द्रवतेव महाम्भसः ॥ २७ ॥

स्थित रहते हैं। सृष्टिके आरम्भमें जिनकी बीजपरम्पराकी अवधि अव्यक्त है, ऐसे सम्पूर्ण बीज, सृष्टिकालमें जगद्रूपसे विकासित किये गये भी, किसमें सदा ही अनुदित रहते हैं॥ २१ ॥

निमेषरूप किसके अन्दर, बीजके अन्दर वृक्षकी तरह, कल्प स्थित है, कौन तत्-तत् कारकोंका प्रवर्तन न करते हुए भी यानी क्रियारहित होनेके कारण कारकव्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्वका आश्रयण न करके भी कर्ता है। भोग्यकी सिद्धिके लिए बाह्यदृष्टिसे अपनी आत्माको दृश्य बनाता हुआ कौन द्रष्टा है और नेत्ररहित होता हुआ भी कौन बाह्यदृष्टिसे अपने आत्मरूप दृश्यको देखता है ॥ २२, २३ ॥

कौन ज्ञानसे दृश्यका विनाश कर दृश्यकी असिद्धिके लिए अखण्डित अपनी आत्माको देखता हुआ दृश्यको नहीं देखता। कौन पुरुष अपनी आत्माको (द्रष्टाको), वृत्तिको और दृश्यको, जैसे चक्षु दृश्यको अवभासित करता है वैसे ही, अवभासित करता है। जैसे सुवर्णसे कटक आदि होते हैं, वैसे ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों किससे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४, २५ ॥

जैसे समुद्रसे तरङ्ग, द्रवता आदि भिन्न नहीं है, वैसे ही यह सब किससे पृथक् नहीं है, जैसे जलराशिसे जलतरङ्गत्व भिन्न है, वैसे ही यह जगत्‌रूप द्वैत किसकी

आत्मानं दर्शनं दृश्यं सदसच्च जगत्त्रयम् ।
कोऽन्तर्बीजमिवाऽन्तस्थं स्थितः कृत्वा त्रिकालगः ॥ २८ ॥
भूतं भवद्भविष्यच्च जगद्वृन्दं बृहद्भ्रमम् ।
नित्यं समस्य कस्याऽन्तर्बीजस्याऽन्तरिव द्रुमः ॥ २९ ॥
बीजं द्रुमतयेवाऽऽशु द्रुमो बीजतयेव च ।
स्वमेकमजहद्रूपमुदेत्यनुदितोऽपि कः ॥ ३० ॥
बिसतन्तुर्महामेरुर्भो राजन् यदपेक्षया ।
तस्य कस्योदरे सन्ति मेरुमन्दरकोटयः ॥ ३१ ॥
केनेदमाततमनेकचिदेव विश्वं
किंसार एवमतिवल्गसि हंसि पासि ।
किंदर्शनेन न भवस्यथवा सदैव
नूनं भवस्यमलदृग्वदनः स्वशान्त्यै ॥ ३२ ॥

इच्छासे पृथक् है । जैसे जलराशिसे द्रवता भिन्न नहीं है, वैसे ही देश, काल आदिसे अनवच्छिन्न अद्वितीय अतिसूक्ष्म होनेके कारण असत्-सा प्रतीत होनेवाले वस्तुतः सद्रूप किससे द्वैत भी अपृथक् यानी अभिन्न है ॥ २६, २७ ॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप उद्भूतावस्था और तिरोहितावस्थावाले तीनों जगतोंको कौन सर्वदा अपने भीतर रखकर स्थित है, जैसे कि बीज वृक्षको अन्दर रख कर सदा स्थित रहता है ॥ २८ ॥

अतीत, वर्तमान और भावी जगत्-समूह, जो कि एक बड़ा भारी भ्रम है, सदा समस्वरूप (विकाररहित) किसके अन्दर, बीजके अन्दर वृक्षके समान, स्थित है ॥ २९ ॥

जैसे बीज वृक्षरूपसे और जैसे वृक्ष बीजरूपसे उदित होता है, वैसे ही कौन अपने स्वरूपको न छोड़ता हुआ जगद्विकाररूपसे उदित होता है ॥ ३० ॥

हे राजन्, जिसकी दृढ़ताके सामने महामेरु कमलनालके तन्तुके समान अत्यन्त अदृढ़ है, अथवा जिसके सङ्कल्पसे उक्त तन्तु भी महामेरुके तुल्य हो जाता है, ऐसी किस वस्तुके अन्दर करोड़ों मन्दराचल विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

अनेक चेतनोंसे युक्त इस विश्वका किसने सृष्टि द्वारा विस्तार किया है, किसकी शक्तिसे शक्तिसम्पन्न होकर तुम व्यवहार करते हो, प्रजाओंका पालन

एषोऽसौ प्रगलतु संशयो ममोच्चै-
श्चित्तश्रीमुखमिहिकामलानुलेपः ।
यस्याऽग्रे न गलति संशयः समूलो
नैवाऽसौ क्वचिदपि पण्डितोक्तिमेति ॥ ३३ ॥

एवं मे यदि न विनेष्यथः क्रमोक्तं
संशान्तं लघुतरसंशयं सुबुद्धी ।
तद्रक्षोजठरहुताशनेन्धनत्वं
निर्विघ्नं झटिति गमिष्यथः क्षणेन ॥ ३४ ॥

पश्चात्तां जनपदमण्डलीं समन्तात्
भावत्कीमुरुजठरा क्षणाद्ग्रसेऽहम् ।
एवं ते भवतु सुराजतेति मन्ये
मूर्खाणामतिरस एव संक्षयाय ॥ ३५ ॥

करते हो और दण्डनीयोंको दण्ड देते हो । सबके सृष्टि आदि व्यवहार किसके बलपर होते हैं, यह भाव है । किसके दर्शनसे तुम निर्मल दृग्रूप होकर उससे भिन्न नहीं होते हो अथवा सदा तद्रूप ही होते हो । उस वस्तुको मुझसे अपनी मृत्युको छुड़ानेके लिए तुम कहो ॥ ३२ ॥

मेरा यह संशय, जो कि चन्द्रका कुहरेके समान, स्वात्माकारवृत्तिका आवरण-भूत है, सर्वथा नष्ट हो । जिसके आगे प्रश्न करनेपर मूलाज्ञानसहित संशय नष्ट नहीं होता, वह पुरुष कहीं भी पण्डितशब्दवाच्य नहीं होता । क्रमसे कहे गये छोटे-मोटे संशयोंको अगर तुम निवृत्त नहीं करोगे, तो दोनों ही राक्षसीके जठरानलके इन्धनताको, बिना किसी विघ्नबाधाके, क्षण भरमें प्राप्त होओगे ॥ ३३,३४ ॥

तुमको खानेके बाद प्रचुर जठराग्निसे सम्पन्न मैं तुम्हारे जनपदोंको एक क्षण भरमें निगल जाऊँगी, उक्त प्रश्नोंके उत्तरप्रदानसे तुम्हारी अपने साथ सब प्रजाका पालन करनेके कारण सुराजता बनी रहेगी, ऐसा मैं समझती हूँ, मूर्खोंकी (अनात्मज्ञानियोंकी) भोगलम्पटताकी अधिकता उनके नाशके लिए ही होती है । अगर मैं तुम्हारा भक्षण न भी करूँ, तो भी तुम्हारा राज्यके अन्तमें नरकपात अवश्य ही होगा ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा विपुलगभीरमेघनाद-
प्रोल्लासप्रकटगिरा निशाचरी सा ।
तूष्णीमप्यतिविकटाकृतिस्तदासी
च्छुद्धान्तः शरदमलाभ्रमण्डलीव ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने राक्षसीप्रश्नो नाम एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

महानिशि महारण्ये महाराक्षसकन्यया ।
इति प्रोक्ते महाप्रश्ने महामन्त्री गिरं ददौ ॥ १ ॥

मन्त्र्युवाच

शृणु तोयदसंकाशे प्रश्नमेतं भिनद्मि ते ।
अनुक्रमात्मकं मत्तं गजेन्द्रमिव केसरी ॥ २ ॥

प्रचण्ड मेघनिर्घोषके उल्लासके समान प्रकट वाणीसे ऐसा कहकर शरत्कालकी निर्मल मेघमण्डलीके समान भीतर शुद्ध और बाहरसे कटु बोलनेवाली अत्यन्त विकटाकार वह राक्षसी चुप हो गई ॥ ३६ ॥

उनासी सर्ग समाप्त

अस्सी सर्ग

[पहले मन्त्री द्वारा उक्त राक्षसीके प्रश्नोंका क्रमसे और व्युत्क्रमसे सूक्ष्म उपपत्तियों द्वारा यथायोग्य समाधान]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अँधेरी रातमें महारण्यमें महाराक्षसीके इस प्रकार अनेक प्रश्न करनेपर आगे कहे जानेवाली रीतिसे महामन्त्रीने उत्तर दिया ॥ १ ॥

मन्त्रीने कहा—हे मेघतुल्य राक्षसी, जैसे सिंह मदोन्मत्त हाथीको छिन्न-भिन्न करता है, वैसे ही मैं तुम्हारे अनुक्रमरूप प्रश्नोंको युक्तियों द्वारा छिन्न-भिन्न करता हूँ ॥ २ ॥

भवत्या परमात्मैष कथितः कमलेक्षणे ।
अनयैव वचोभङ्ग्या प्रश्नविद्बोधयोग्यया ॥ ३ ॥
अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनःषष्ठेन्द्रियस्थितेः ।
चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥ ४ ॥
चिदणोः परमस्याऽन्तः सदिवाऽसदिवाऽपि वा ।
बीजेऽन्तर्द्रुमसत्तेव स्फुरतीदं जगत्स्थितम् ॥ ५ ॥
सत्किञ्चिदनुभूतित्वात् सर्वात्मकतया स्वतः ।
तदात्मकतया पूर्वं भावाः सत्तां किलाऽऽगताः ॥ ६ ॥
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः ।
अतीन्द्रियत्वान्नो किञ्चित्स एवाऽणुरनन्तकः ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्रश्नोंका खण्डन करनेके लिए उनका पहले हृदय दिखलाते हैं—'भवत्या' इत्यादिसे ।

सोनेके कमलके समान पीले नेत्रवाली हे राक्षसी, तुमने प्रश्न जाननेवालेके समझने योग्य इस वचनभङ्गीसे परमात्माका ही प्रतिपादन किया है । नामरहित होनेके कारण तथा आभ्यन्तर और बाह्य मन, चक्षु, श्रोत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण आकाशसे भी सूक्ष्म चिन्मात्र आत्माका ही तुमने अणुशब्दसे व्यवहार किया है । इससे 'कस्याऽणोरम्बुधेः' इस प्रश्नमें स्थित अणुशब्दका अभिप्राय खोला गया है ॥ ३,४ ॥

किस अणुके अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस प्रश्नका समाधान करते हैं—'चिदणोः' इत्यादिसे ।

परम चिदणुके अन्दर अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सत्-सा और ज्ञानियोंकी दृष्टिसे असत्-सा स्थित यह जगत् बीजके मध्यमें वृक्षकी सत्ताके समान स्फुरित होता है, इससे 'अणौ जगन्ति तिष्ठन्ति कस्मिन् बीज इव द्रुमः' इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण वस्तुओंकी सत्ता अनुभवसत्ताके अधीन है, उसको यदि अन्यके अधीन मानें, तो अनवस्था होगी, अतः स्वतःसिद्ध अनुभवसत्तासे ही सब भाव सत्ताको प्राप्त हुए हैं । इससे 'सदिवासदिवापि वा' इत्यादिसे किये गये सत्ताका सत्ताप्रद कौन है ? इस प्रश्नका समाधान हुआ ॥ ६ ॥

'किमाकाशमनाकाशम्' इत्यादि प्रश्नका समाधान करते हैं—'आकाशम्' इत्यादिसे ।

सर्वात्मकत्वाद् भुक्ते च तेन किञ्चिन्न किञ्चन ।
चिदणोः प्रतिभा सा स्यादेकस्याऽनेकतोदिता ।
असत्येव यथा हेम्नः कटकादि तथा परे ॥ ८ ॥
एषोऽणुः परमाकाशः सूक्ष्मत्वादप्यलक्षितः ।
मनःषष्ठेन्द्रियाऽतीतः स्थितः सर्वात्मकोऽपि सन् ॥ ९ ॥
सर्वात्मकत्वान्नैवाऽसौ शून्यो भवति कर्हिचित् ।
यदस्ति न तदस्तीति वक्ता मन्ता इति स्मृतः ॥ १० ॥

वही अनन्त चिदणु परमात्मा बाह्यशून्य होनेके कारण आकाशस्वरूप है और चेतनरूप होनेके कारण अनाकाशरूप (अशून्यस्वरूप) है । 'न किञ्चित्किञ्चिदेव किम्' इस प्रश्नका समाधान करते हैं—'अतीन्द्रियत्वात्' से । अतीन्द्रिय होनेके कारण वही अनन्त परमात्माणु कुछ नहीं है यानी लौकिक दृष्टिसे अप्रसिद्ध है ॥७॥

कुछ होता हुआ भी यह दृश्य जिसके स्वरूपापन्न होनेपर कुछ नहीं रहता वह क्या है ? ऐसा यदि प्रश्नका आशय माना जाय, तो उसपर कहते हैं—'सर्वात्मकत्वात्' इत्यादिसे ।

सर्वात्मक होनेसे साक्षात् किये गये अपने स्वरूपसे ही सब जीवोंके निगीर्ण होनेपर वही कुछ न कुछ रह जाता है यानी आत्मासे अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट नहीं रहता । एककी जो अनेकता उदित होती है, वह प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं है, इससे एक होता हुआ अनेक कौन है, इसका उत्तर हो गया । जैसे सुवर्णने विक्षेपशक्तिसे कटक आदिको प्रकट किया है, वैसे ही उसी चिदणुने द्रष्टा, दर्शन आदिको विक्षेपशक्तिसे प्रकट किया है, इससे 'कटकादीनि हेम्नेव' इस प्रश्नका उत्तर भी हो गया ॥ ८ ॥

'कोऽणुः तमःप्रकाशः स्यात्' इत्यादि प्रश्नोंमें बार बार प्रयुक्त 'अणु' शब्दका भी वही अभिप्राय है, जिसे हम पहले कह आये हैं, ऐसा कहते हैं—'एषोऽणुः' इत्यादिसे ।

परम प्रकाशरूपी यह अणु सूक्ष्म होनेके कारण चक्षुका अविषय है, सर्वात्मक होता हुआ भी मन और पांचों इन्द्रियोंका अविषय होकर स्थित है, अतः अणु कहलाता है ॥ ९ ॥

'कौन अणु है और नहीं भी है', इस प्रश्नमें उक्त 'नहीं है' अंश बाधित ही है, यों उक्त अंशको दूषित करते हैं—'सर्वात्मकत्वात्' इत्यादिसे ।

कयाचिदपि युक्त्येह सतोऽसत्त्वं न युज्यते ।
सर्वात्मा स्वात्मगुप्तेन कर्पूरेणेव दृश्यते ॥ ११ ॥
चिन्मात्राणुः स एवेह सर्वं किञ्चिन्मनःस्थितम् ।
न किञ्चिदिन्द्रियातीतरूपत्वादमलः स्थितः ॥ १२ ॥
स एव चैकोऽनेकश्च सर्वसत्त्वात्मवेदनात् ।
स एवेदं जगद्वृत्ते जगत्कोशस्तथैव हि ॥ १३ ॥

जो सर्वात्मक है, वह शून्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह है नहीं, ऐसा कहनेवाला और मनन करनेवाला आत्मा ही तो है यानी उक्त आत्मा ही वक्ता और मन्ताके रूपमें प्रसिद्ध है । अपने आत्माका अपलाप न हो सकनेके कारण उसकी नास्तिता नहीं कही जा सकती है, यह भाव है ॥ १० ॥

सत्पदार्थका असत्से विरोध है, इसलिए भी उसको असत् कहना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—'कयाचिदपि' इत्यादिसे ।

किसी भी युक्तिसे सत् वस्तुकी असत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

शङ्का—यदि वह है, तो उसका दर्शन क्यों नहीं होता ?

समाधान—यद्यपि पृथक्-रूपसे उसका दर्शन नहीं होता, फिर भी सबमें अनुगत सद्रूपसे, जो कि आवरणसे गुप्त है, सर्वात्मा वह दिखलाई पड़ता है, जैसे कपूर अपनी सुगन्धिसे प्रतीत होता है, वैसे ही सबमें व्याप्त वह प्रत्यक्-रूपसे प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

कौन सब है और कुछ भी नहीं है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'चिन्मात्राणुः' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र वही अणु सब है । जो अपरिच्छिन्न है, वह परिच्छिन्न सर्वस्वरूप कैसे होगा ? मन और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे नानाप्रत्यय होनेसे मनसे परिच्छिन्न-रूपसे ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होनेके कारण निर्मल वही चिदणु 'न किञ्चित्' (कुछ भी नहीं) इस रूपमें स्थित है ॥ १२ ॥

अथवा एक होते हुए भी अनेक संख्यावाले किसके अन्दर लाखों ब्रह्माण्ड लीन होते हैं, इस अभिप्रायसे तुम्हारा यह प्रश्न है, ऐसा कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही एक है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मप्रतीति होनेसे अनेक भी है । किस

इमाश्चित्तमहाम्भोधौ त्रिजगल्लववीचयः ।
प्रज्ञास्तस्मिन् क्वचन्त्यप्सु द्रवत्वाच्चक्रता इव ॥ १४ ॥
चित्तेन्द्रियाद्यलभ्यत्वात् सोऽणुः शून्यस्वरूपवत् ।
स्वसंवेदनलभ्यत्वादशून्यं व्योमरूप्यपि ॥ १५ ॥
सोऽहं भवानेव भवान् सम्पन्नोऽद्वैतवेदनात् ।
स भवान्न भवेन्नाऽहं जातो बोधबृहद्वपुः ॥ १६ ॥
त्वन्ताऽहन्तात्मकं सर्वं विनिगीर्याऽवबोधतः ।
न त्वं नाऽहं न सर्वं च सर्वं वा भवति स्वयम् ॥ १७ ॥

समदृष्टिके अन्दर यह जगत् सदा स्थित है, इस प्रश्नका उत्तर यह है—वही यह सम्पूर्ण जगतको धारण करता है। कौन जगद्रूपी रत्नोंका कोष है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'स एव' से। और वही जगत्का कोष भी है ॥ १३ ॥

जैसे जलराशिसे ऊर्मियाँ (लहरें) पृथक् नहीं हैं, वैसे ही किससे यह जगत् पृथक् नहीं है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'इमा०' इत्यादिसे।

चित्तरूप होनेसे विकारी उस चेतनरूपी महासागरमें चित्त-विकल्पस्वरूप ये त्रिजगद्रूपी तरङ्ग ऐसे स्फुरित हो रही हैं जैसे कि द्रव होनेके कारण जलमें आवर्त स्फुरित होते हैं। इससे 'कस्येच्छया पृथक् चाऽस्ति' इस प्रश्नका उत्तर भी हो गया ॥ १४ ॥

देश, काल आदिसे अनवच्छिन्न अद्वितीय असत्के सदृश किस सत्से द्वैत भी अपृथक् है, इस शून्याशून्योभयात्मक उक्तिका तात्पर्य कहते हैं—'चित्तेन्द्रियाद्य०' इत्यादिसे।

चित्त, इन्द्रिय आदिसे लभ्य न होनेके कारण वह अणु शून्यस्वरूपके (असत्के) तुल्य है, व्योमरूपी होता हुआ भी स्वानुभवलभ्य होनेसे अशून्य (सत्) है ॥१५॥

मैं अद्वैतज्ञानसे आत्मस्वरूप ही होकर त्वदात्मा (आपका स्वरूप) हो गया हूँ और तुम भी आत्मस्वरूपसे मदात्मा (मेरे स्वरूप) बन गये हो। यह सब अहन्ता और भवत्ताके प्रतिसन्धानकी व्यवहारदशामें होता है। परमार्थदशामें तो वह आत्मा न त्वद्रूप है या न मद्रूप है, किन्तु बोधरूप बृहद्शरीरवाला ही है ॥१६॥

उक्त अर्थको ही और स्पष्ट करते हैं—'त्वन्ता' इत्यादिसे।

त्वन्ता और अहन्तारूप सबका बोधसे निगरण कर न तुम हो और न मैं हूँ और न सब है, अथवा वही स्वयं सब कुछ होता है ॥ १७ ॥

गच्छन्न गच्छत्येषोऽणुर्योजनौघगतोऽपि सन् ।
संवित्त्या योजनौघत्वं तस्याऽणोरन्तरे स्थितम् ॥ १८ ॥
न गच्छत्येष यातोऽपि सम्प्राप्तोऽपि च नाऽऽगतः ।
स्वसत्ताकाशकोशान्तर्वासित्वाद्देशकालयोः ॥ १९ ॥
गम्यं यस्य शरीरस्थं क्व किलाऽसौ प्रयाति हि ।
कुचकोटरगः पुत्रः किं मात्राऽन्यत्र वीक्ष्यते ॥ २० ॥
गम्यो यस्य महादेशो यावत्सम्भवमक्षयः ।
अन्तस्थः सर्वकर्तुर्हि स कथं क्वेव गच्छति ॥ २१ ॥
यथा देशान्तरप्राप्ते कुम्भे वक्त्रसमुद्रिते ।
तदाकाशस्य गमनागमने न तथाऽऽत्मनः ॥ २२ ॥

चलता हुआ भी कौन नहीं चलता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**गच्छन्**' इत्यादिसे ।

अणु होता हुआ भी आकाशकी नाईं हजारों योजनोंमें व्याप्त वह चलता हुआ भी नहीं चलता है, स्वप्नके समान कल्पनासे हजारों योजन उस अणुके अन्दर स्थित हैं ॥ १८ ॥

कौन स्थित न रहता हुआ भी स्थित रहता है, इसका भी उत्तर उसी ढंगसे देते हैं—'**न गच्छत्येष**' इत्यादिसे ।

गया हुआ भी यह नहीं जाता, प्राप्त हुआ भी नहीं आया, क्योंकि देश और काल उसकी सत्तासे सत्तावाले आकाशकोशके अन्दर ही स्थित हैं ॥ १९ ॥

उक्त दोनोंको दृष्टान्तसे अधिक स्पष्ट करते हैं—'**गम्यम्**' इत्यादिसे ।

गमन द्वारा प्राप्त होनेवाला देश जिसके शरीरके अन्दर ही स्थित है, वह कहाँ जाय ? क्या माता अपनी गोदमें सोये हुए बच्चेको दूसरी जगह खोजती है ? ॥२०॥

उक्त अर्थको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'**गम्यो**' इत्यादिसे ।

गम्य (गमनके योग्य) महादेश जिस सबके रचयिताके अन्दर स्थित है, वह कैसे कहाँ जाय ? जैसे जिसका मुँह बँधा है, ऐसे घड़ेको अन्य देशमें ले जानेपर उसमें स्थित आकाशके गमन और आगमन नहीं होते, वैसे ही उपाधिके गमन और आगमनसे आत्माके गमन और आगमन नहीं हो सकते ॥ २१,२२ ॥

चित्तता स्थाणुता स्वान्तर्यदा स्तोऽनुभवात्मिके ।
चेतनस्य जडस्यैव तदाऽसौ द्वयमेव च ॥ २३ ॥
यदाऽचेतनपाषाणसत्तैकात्मैकचिद्वपुः ।
तदा चेतन एवाऽसौ पाषाण इव राक्षसि ॥ २४ ॥
परमव्योम्न्यनाद्यन्ते चिन्मात्रपरमात्मना ।
विचित्रं त्रिजगच्चित्रं तेनेदमकृतं कृतम् ॥ २५ ॥
तत्संवित्त्या वह्निसत्ता तेनाऽत्यक्तानलाकृतिः ।
सर्वगोऽप्यदहत्येव स जगद्द्रव्यपावकः ॥ २६ ॥

'कौन चेतन होता हुआ भी पाषाण है' इस प्रश्नका यदि चेतनरूप और जड़-रूप विरुद्ध दो रूपवाला कौन है यह अर्थ हो, तो उत्तर देते हैं—**'चित्तता'** इत्यादिसे ।

स्वभावतः जड़ एवं आत्मतादात्म्याध्याससे चेतन बने हुए देह आदिमें प्रकाश-स्वभावता और जड़ता अनुभव-सिद्ध है, अज्ञानसे उसका विवेक न होनेके कारण वह जड़ और बोध उभयरूपवाला होता है ही ॥ २३ ॥

जब 'चेतन भी पाषाणके समान घनरूप कौन है, यह यदि प्रश्नका अर्थ हो, तब पारमार्थिक आत्मरूप चिद्घन ही वह है, ऐसा कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

हे राक्षसी, जब वह चिन्मात्र अचेतन पाषाणकी सत्ताका एकात्मरूपसे अवलम्बन करता है तब वह चेतन ही पाषाणके तुल्य अचेतन हो जाता है ॥ २४ ॥

आकाशमें विचित्र चित्र बनानेवाला कौन है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'परमव्योम्नि'** इत्यादिसे ।

आदि और अन्तसे रहित परमाकाशमें चिन्मात्र परमात्माने यह विचित्र त्रिजगद्रूपी चित्र, जो कि मिथ्या होनेके कारण अनिर्मित-सा ही है, बनाया है ॥२५॥

वह्निताका त्याग नहीं करता हुआ कौन अदाहक वह्नि है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'तत्संवित्त्या'** इत्यादिसे ।

आत्मसत्तासे वह्निकी सत्ता है, इसलिए अग्निके आकारका त्याग किये बिना ही सर्वव्यापक वह दाह नहीं करता है, भाव यह कि आत्मसत्तासे ही वह्निकी सत्ता है, उसके सर्वगत होनेके कारण सबमें स्थित भी वह नहीं ही जलाता है,

प्रज्वलद्भास्वराकारान्निर्मलाद्गगनादपि ।
प्रज्वलच्चेतनैकात्मा तस्मादग्निः स जायते ॥ २७ ॥
संवेदनाद्यदर्कादिप्रकाशस्य प्रकाशकः ।
न नश्यत्यात्मभारूपो महाकल्पाम्बुदैरपि ॥ २८ ॥
अनेत्रलभ्योऽनुभवरूपो हृद्गृहदीपकः ।
सर्वसत्ताप्रदोऽनन्तः प्रकाशः परमः स्मृतः ॥ २९ ॥
प्रवर्ततेऽस्मदालोको मनःषष्ठेन्द्रियातिगात् ।
येनाऽन्तराऽपि वस्तूनां दृष्टा दृश्यचमत्कृतिः ॥ ३० ॥

इससे वह सर्वगत नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह सब पदार्थोंका अग्निके समान प्रकाशक है ॥ २६ ॥

किस अवह्निसे वह्निकी उत्पत्ति होती है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'प्रज्वलत्' इत्यादिसे ।

देदीप्यमान भास्वर आकारवाले आकाशसे भी निर्मल उससे देदीप्यमान चेतनस्वरूप अग्नि उत्पन्न होती है ॥ २७ ॥

चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि और तारोंसे भिन्न होता हुआ भी कौन अविनाशी प्रकाशक है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'संवेदना०' इत्यादिसे ।

जो अपने ज्ञानसे सूर्य आदिके प्रकाशका भी प्रकाशक है और महाकल्पके प्रलय कालीन मेघोंसे भी जो नष्ट नहीं होता, वह आत्मभारूप अविनाशी प्रकाश है ॥२८॥

नेत्रोंसे नहीं गृहीत होनेवाले किससे प्रकाश प्राप्त होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अनेत्र०' इत्यादिसे ।

नेत्रोंसे नहीं प्राप्त होनेवाला और अनुभवरूप, हृदयरूपी घरको प्रदीप्त करनेवाला, सबकी सत्ता देनेवाला जो अनन्त परमप्रकाश कहा गया है, उससे प्रकाश प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

हम लोगोंका प्रकाश (अहङ्कार आदिका प्रथन) मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके अविषय आत्मासे प्रवृत्त होता है । जैसे कि गाढ़ अन्धकारमें स्थित भी पुरुष तुम कहाँ हो, यह पूछनेपर मैं यहाँपर हूँ, ऐसा कहता है । जिस प्रकाशकसे आलोक, दीप आदिके बिना भी देह, इन्द्रिय आदिकी अपरोक्ष प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है ॥ ३० ॥

लतागुल्माङ्कुरादीनामनक्षाणां च पोषकः ।
उत्सेधवेदनाकारः प्रकाशोऽनुभवात्मकः ॥ ३१ ॥
कालाकाशक्रियासत्ता जगत्तत्राऽस्ति वेदने ।
स्वामी कर्ता पिता भोक्ता आत्मत्वाच्च न किञ्चन ॥ ३२ ॥
अणुत्वमजहत्सोऽणुर्जगद्रत्नसमुद्रकः ।
मातृमानप्रमेयात्म जगन्नास्तीति केवले ॥ ३३ ॥
स एव सर्वजगति सर्वत्र कचति स्फुटम् ।
यदा जगत् समुद्रेऽस्मिंस्तदाऽसौ परमो मणिः ॥ ३४ ॥
दुर्बोधत्वात्तमः सोऽणुश्चिन्मात्रत्वात्प्रकाशदृक् ।
सोऽस्ति संवित्तिरूपत्वादक्षातीतस्तथा न सन् ॥ ३५ ॥

लता गुल्म आदिका, जो कि जन्मान्ध हैं और अन्यान्य जीवोंका भी कौन उत्तम आलोक है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'लता०' इत्यादिसे ।

लता, झाड़ी, अङ्कुर आदिका, जो कि इन्द्रियरहित हैं, अपने सन्निधानमात्रसे पालन करनेवाला उनकी ऊँचाई और उनके फलोंका साक्षी अनुभवात्मा प्रकाश ही उनका प्रकाशक है ॥ ३१ ॥

आकाश आदिका जनक कौन है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'कालाकाश०' इत्यादिसे ।

काल, आकाश, क्रिया आदिकी सत्ता और जगत् उस ज्ञानस्वरूपमें हैं, व्यवहार-दृष्टिसे वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता, भोक्ता है, परमार्थदृष्टिसे आत्मा होनेके कारण वह कुछ भी नहीं है ॥ ३२ ॥

कौन जगद्रूपी रत्नोंका कोश है, इसका उत्तर देते हैं—'अणुत्वम्' इत्यादिसे।

अपनी अणुताका त्याग न करता हुआ वह अणु जगद्रूप रत्नोंका भण्डार है । किस मणिका कोश यह जगत् है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदिरूप जगत् अद्वितीय ब्रह्ममें नहीं है, इसलिए सम्पूर्ण जगत्में सर्वत्र वही केवल भली भाँति स्फुरित होता है, ऐसी अवस्थामें इस जगद्रूपी पिटारीमें वह परममणि स्थित है ॥ ३३, ३४ ॥

कौन अणु तम और प्रकाश है, इसका उत्तर देते हैं—'दुर्बोधत्वात्' इत्यादिसे।

दुर्बोध होनेके कारण वह अणु तम है और चिन्मात्र होनेके कारण प्रकाश-

दूरे सोऽनक्षलभ्यत्वाच्चिद्रूपत्वान्न दूरगः।
सर्वसंवेदनाच्छैलोह्यसावेवाऽणुरेव सन् ॥ ३६ ॥
तत्संवेदनमात्रं यत्तदिदं भासते जगत्।
न सत्यमस्ति शैलादि तेनाऽणावेव मेरुता ॥ ३७ ॥
निमेषप्रतिभासो हि निमेष इति कथ्यते।
कल्पेति प्रतिभासो हि कल्पशब्देन कथ्यते ॥ ३८ ॥
कल्पक्रियाविलासो हि निमेषः प्रतिभासते।
बहुयोजनकोटिस्थं मनस्येव महापुरम् ॥ ३९ ॥

स्वरूप है। अब कौन अणु है और नहीं है, इसपर कहते हैं—'सोऽस्ति' से। ज्ञान-रूप होनेके कारण वह सत् है और इन्द्रियातीत है, अतः असत् है ॥ ३५ ॥

कौन अणु दूरमें है और समीपमें भी है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'दूरे' इत्यादिसे।

इन्द्रियोंसे प्राप्त न होनेके कारण वह दूरमें है, चेतन्यरूप होनेके कारण दूर नहीं है यानी समीपमें है। कौन अणु होता हुआ ही महापर्वत है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'सर्वसंवेदनाद्' से करणोंके बिना ही सभी लोगोंको 'अहम्, अहम्' इस प्रकार सामने स्थित पर्वतके समान अपरोक्षरूपसे उसका ज्ञान होता है, अतः इसीको, जो कि अणु है, तुमने पर्वत कहा है ॥ ३६ ॥

जो कि अणु है, इस अंशके तात्पर्यको स्फुट करते हैं—'तत्संवेदन०' इत्यादिसे।

जो यह जगत् भासित होता है, वह चेतनका स्फुरणमात्र ही है, इसलिए पर्वत आदि सत्य नहीं हैं, अतः अणुमें ही मेरुता प्रतीत होती है ॥ ३७ ॥

निमेष होता हुआ भी कौन कल्प है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'निमेष०' इत्यादि नौ श्लोकोंसे।

वही अणु निमेषकी तरह भासित होता है, अतः निमेष कहा जाता है, वही कल्पके समान प्रतीत होता है, अतः उसमें कल्पशब्दका व्यवहार होता है ॥३८॥

निमेष ही एक कल्पमें जितनी क्रियाएँ होती हैं उन क्रियाओंके विलाससे युक्त प्रतीत होता है, जैसे कि मनमें ही अनेक करोड़ों योजनमें फैला हुआ नगर प्रतीत होता है ॥ ३९ ॥

निमेषजठरे कल्पसम्भवः समुदेति हि ।
महानगरनिर्माणं मुकुरेऽन्तरिवाऽमले ॥ ४० ॥
निमेषकल्पशैलादिपूर्योजनकोटयः ।
यत्राऽणावेव विद्यन्ते तत्र द्वैतैक्यते कुतः ॥ ४१ ॥
कृतवान् प्रागिदमहमिति बुद्धावुदेति हि ।
क्षणात् सत्यमसत्यं च दृष्टान्तः स्वप्नविभ्रमः ॥ ४२ ॥
दुःखे कालः सुदीर्घो हि सुखे लघुतरः सदा ।
रात्रिर्द्वादश वर्षाणि हरिश्चन्द्रस्य चोदिता ॥ ४३ ॥
निश्चयो य उदेत्यन्तः सत्यात्मा सत्य एव च ।
हेम्नीव कटकादित्वं स एव चिति राजते ॥ ४४ ॥

पूर्वोक्त अर्थमें असंभावनाकी निवृत्तिके लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'**निमेष०**' इत्यादिसे ।

निमेषके अन्दर कल्पका उदय होता है, जैसे कि अत्यन्त निर्मल दर्पणके अन्दर बड़े भारी नगरका आविर्भाव होता है ॥ ४० ॥

जिस अत्यन्त सूक्ष्म अणुमें ही निमेष, कल्प, शैलसमूह और अनेक करोड़ योजन विद्यमान हैं, यानी अपने मिथ्यात्वका अवलम्बन कर प्रविष्ट होते हैं उसमें द्वैत और ऐक्य कहाँ ? यानी द्वैत और एकताका भी मिथ्यात्वसे ही उसमें समावेश है ॥४१॥

एक क्षणमें ही मैंने इस कार्यको पहले किया था, यों कालदीर्घताका बुद्धिमें स्फुरण होता है तथा क्षणमें ही असत्यमें सत्यता और सत्यमें असत्यता यानी व्यावहारिक सत्यता और प्रातिभासिक असत्यता होती है, इसमें दृष्टान्त स्वप्नरूपी भ्रम है ॥ ४२ ॥

इसमें लोकानुभव और आख्यायिकाका उदाहरण देते हैं—'**दुःखे**' इत्यादिसे ।

दुःखमें काल दीर्घ प्रतीत होता है और सुखमें सदा अतिअल्प प्रतीत होता है, यह सबके अनुभवसे सिद्ध है । हरिश्चन्द्रको एक रात बारह वर्षकी-सी लम्बी प्रतीत हुई थी ॥ ४३ ॥

चित्तवृत्तिके अनुसार ही चित्की प्रतीति होती है, वस्तुके स्वभावके अनुसार नहीं, ऐसा कहते हैं—'**निश्चयः**' इत्यादिसे ।

जो सत्यस्वरूप, सत्य निश्चय चित्तवृत्तिमें उदित होता है, वही सुवर्णमें कटक आदिके समान चित्का प्रतिभास है ॥ ४४ ॥

न निमेषोऽस्ति नो कल्पो नाऽदूरं न च दूरता ।
चिदणुप्रतिभैवैवं स्थिता नाऽन्याऽन्यवस्तुवत् ॥ ४५ ॥
प्रकाशतमसोर्दूरादूरयोः क्षणकल्पयोः ।
एकचिद्देहयोरेव न भेदोऽस्ति मनागपि ॥ ४६ ॥
प्रत्यक्षमक्षसारत्वादप्रत्यक्षं ततोऽतिगम् ।
दृश्यत्वेनैष वोदेति चेता द्रष्टैव सद्वपुः ॥ ४७ ॥
यावत् कटकसंवित्तिस्तावन्नाऽस्तीव हेमता ।
यावच्च दृश्यतापत्तिस्तावन्नाऽस्तीव सा कला ॥ ४८ ॥

तो वास्तविक तत्त्व क्या है ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

न निमेष है, न कल्प है, न समीप है और न दूरता है, इस प्रकार चिदणुकी प्रतिभा ही अन्यान्य वस्तुओंकी नाईं स्थित है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार और पदार्थ भी नहीं हैं, क्योंकि विरुद्ध पदार्थोंमें अधिष्ठानभूत चित्का भेद न होनेसे भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—'प्रकाश०' इत्यादिसे ।

प्रकाश और अन्धकार, दूर और अदूर, क्षण और कल्प—इनका एकमात्र-चित् ही शरीर है, अतः इनमें परस्पर तनिक भी भेद नहीं है ॥ ४६ ॥

कौन प्रत्यक्ष है और असद्रूप है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'प्रत्यक्ष०' इत्यादिसे ।

इन्द्रियोंका सार यानी अपने कर्ममें सामर्थ्य देनेवाला तत्त्व है, अतः प्रत्यक्ष है और इन्द्रियोंसे उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः अप्रत्यक्ष यानी असद्रूप है अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञेय दृश्यमें आरोपसे इसका उदय होनेके कारण यह प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं—'दृश्यत्वेन' से । दृश्य होनेके कारण इसका उदय होता है, इसलिए यह चेता द्रष्टा प्रत्यक्ष है ॥ ४७ ॥

यदि वही दृश्यस्वरूप है, तो दृश्य हेय है, ऐसा कैसे कहते हो ? इस शङ्कापर कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक कटक-प्रतीति रहती है, तबतक स्वर्णता नहीं-सी रहती है, जबतक दृश्यताकी प्रतीति रहती है, तबतक वह वास्तविक चिदेकरसता नहीं-सी रहती है, और दृश्यरूपसे परमपुरुषार्थता उसमें है नहीं, इसलिए दृश्यता हेय कही गई है ॥४८॥

कटकत्वेऽकृतेऽदृष्टे सुवर्णत्वमिवाऽऽततम् ।
केवलं निर्मलं शुद्धं ब्रह्मैव परिदृश्यते ॥ ४९ ॥
सर्वत्वादेव सद्रूपो दुर्लक्ष्यत्वादसद्वपुः ।
चेतनश्चेतनात्मत्वाच्चेत्यासम्भवतस्त्वचित् ॥ ५० ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मन्यस्मिंश्चित्प्रतिभात्मनि ।
जगत्यनिलवृक्षाभे चिच्चेत्यकलने कुतः ॥ ५१ ॥
यथा तापस्य पीनस्य भासनं मृगतृष्णिका ।
एवं पीवरमद्वैतं तथा चिद्भासनं जगत् ॥ ५२ ॥
अर्कांशुभिः सूक्ष्मतरनिर्माणं यदनामयम् ।
अस्तितानास्तिते तत्र कल्पादेरिव कैव धीः ॥ ५३ ॥

अतएव दृश्यरूपसे उसकी कल्पना न करनेपर कल्पना करने भी दृश्यरूपसे न देखनेपर दृश्यके ब्रह्मरूप होनेसे परमपुरुषार्थता सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'कटकत्वे' इत्यादिसे ।

जैसे कटकताकी कल्पना न करनेपर, करनेपर भी उसका दर्शन न करनेपर सुवर्णता व्याप्त रहती है, वैसे ही दृश्यताकी कल्पना न करनेपर, कल्पना करनेपर भी उसका दर्शन न करनेपर केवल निर्मल शुद्ध ब्रह्म ही दिखाई देता है ॥ ४९ ॥

'असद्रूप कौन है' इस प्रश्नांशका तात्पर्य कहते हैं—'सर्वत्वात्' इत्यादिसे ।

सर्वात्मक होनेके कारण ही वह सद्रूप है यानी सर्वानुगत सद्रूपसे उसकी प्रतीति होती है, अतः वह सद्रूप है । उसका दर्शन पृथक्रूपसे हो ही नहीं सकता, अतः वह असद्रूप है । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें ऐसा व्यवहार देखा जाता है । 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्नका उत्तर करते हैं । चित्स्वरूप होनेके कारण वह चेतन है, उसमें विषयरूपका संभव न होनेसे भी विषयरूपसे वह प्रतीत होता है, अतः तुमने उसको अचित् कहा है ॥ ५० ॥

उसमें विषयके अभावका ही उपपादन करते हैं—'चिच्चमत्कार०' इत्यादिसे।

चित्का स्फुरणमात्र ही जिसका स्वरूप है, चित्प्रतिभा स्वरूप वायुसे कँपाये गये वृक्षके समान अत्यन्त अस्थिर (या वृक्षाकार विद्युत्के समान अत्यन्त असत्) इस जगत्में चैतन्यकी आश्रयता और विषयता कैसे ? जैसे प्रचुर तापका भासन मृगतृष्णा है, वैसे ही प्रचुर अद्वैतरूप चित्का स्फुरण यह जगत् है ॥ ५१, ५२ ॥

सूर्यकी किरणोंसे आगे कहे जानेवाले काञ्चन आदिका जो सूक्ष्मतर निर्माण

माययांऽशुकणाङ्के खे यथा कचति काञ्चनम् ।
तथा जगदिदं भाति चिच्चैत्यकलने कुतः ॥ ५४ ॥
स्वप्नगन्धर्वसङ्कल्पनगरे कुड्यवेदनम् ।
न सन्नाऽसद् यथा तद्वद् विद्धि दीर्घभ्रमं जगत् ॥ ५५ ॥
तथा चैवंविधन्यायभावनाभ्यासनिर्मलात् ।
चिदाकाशे न निर्याति यथाभूतार्थदर्शिनः ॥ ५६ ॥
न कुड्याकाशयोर्भेदो दृश्यसंवेदनादृते ।
आब्रह्मजीवकलनाद् यद्रूढं रूढमेव च ॥ ५७ ॥

निर्विघ्नतासे होता है, उस निर्माणमें जैसे अस्तिता नास्तिता हैं, वैसे ही ब्राह्म कल्प आदिरूप जगत्की अस्तिता नास्तिता है, इसलिए उसमें चिद्बुद्धि या चैत्य-बुद्धि कैसे यानी उक्त बुद्धियां निर्विषय ही हैं ॥ ५३ ॥

मायासे जैसे सूर्य-किरणोंके लेशसे युक्त आकाशमें स्वर्ण स्फुरित होता है, वैसे ही यह जगत् भी स्फुरित हुआ है, इसमें चित्कल्पना या चैत्यकल्पना कैसे हो सकती है, जैसे स्वप्ननगरमें, गन्धर्वनगरमें या सङ्कल्पसे कल्पित नगरमें भित्तिका ज्ञान न सत् है और न असत् है, वैसे ही दीर्घ भ्रमरूप इस जगत्को जानो ॥ ५४, ५५ ॥

जगत् इस प्रकार भ्रान्तिसिद्ध हो, उससे क्या ? इसपर कहते हैं—'तथा च' इत्यादिसे ।

इस प्रकारके जगत्के मिथ्यात्वके उपपादक न्यायोंकी पुनःपुनः भावना करनारूप अभ्याससे निर्मल हुए मनसे पारमार्थिक वस्तु ब्रह्मका दर्शन कर चुके पुरुषकी अविद्याका नाश होनेपर चिदाकाशमें फिर संसार प्रविष्ट नहीं होता यानी उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ ५६ ॥

अथवा विषयरूप भेदकके ज्ञानसे ही आत्मा भिन्न-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं है, क्योंकि वैसा ही ब्रह्मसे लेकर कीटपर्यन्त सभी प्राणियोंको दृढ अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

भेदक दृश्यके ज्ञानके बिना कुड्य और आकाशका कोई भेद नहीं है, ब्रह्मसे लेकर कीट-पतङ्ग पर्यन्तको पहले जैसा अनुभव हुआ था, वह वैसा ही बना हुआ है ॥ ५७ ॥

प्रतिभासाच्चिदाकाशे सत्त्वशून्यं भवन्ति ताः ।
प्रकचन्ति ह्यनिर्भाव्याः प्रभापिण्ड इव प्रभाः ॥ ५८ ॥
पृथक्तामतिभासस्य स्वचमत्कारयोगतः ।
सर्वात्मिका हि प्रतिभा परा वृक्षात्मबीजवत् ॥ ५९ ॥
बीजमन्तस्थवृक्षत्वं नानाऽनाना यथैकदृक् ।
तथाऽसङ्ख्यजगद् ब्रह्म शान्तमाकाशकोशवत् ॥ ६० ॥
बीजस्याऽन्तस्थवृक्षस्य व्योमाद्वैता स्थितिर्यथा ।
ब्रह्मणोऽन्तस्थजगतः साक्षित्वाच्चित्स्थितिस्तथा ॥ ६१ ॥

यदि भेद नहीं है, तो कुड्य आदिकी भेदप्रतीति कैसे होती है, इसपर कहते हैं—'**प्रतिभासात्**' इत्यादिसे ।

जैसे कि प्रभापिण्डमें यौक्तिक दृष्टिसे अनिर्वचनीय प्रभाएँ स्फुरित होती हैं वैसे ही चिदाकाशमें वे पूर्वोक्त भेदप्रतीतियाँ सत्ताके बिना ही प्रतीत होती हैं ॥ ५८ ॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक प्रसङ्गप्राप्त 'किं चेतनमचेतनम्' इस प्रश्नका उत्तर देकर शेष प्रश्नोंका उत्तर देनेका भार राजापर छोड़ते हुए मन्त्री 'मन्त्रीको शायद इन प्रश्नोंका उत्तर ज्ञात ही न हो', इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उनमें से दो एकका उत्तर कहनेकी इच्छासे द्वैतमिथ्यात्वके उपवर्णन द्वारा 'द्वैतमप्यपृथक् कस्मात्' इत्यादि प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**पृथक्ता०**' इत्यादिसे ।

द्वैतवासनासे वासित बुद्धिवृत्तिके अन्तर्गत आत्मप्रकाशका जो भेदप्रकटन शक्तिरूप स्वचमत्कार है, उसके सम्बन्धसे प्रतीत हुआ भी द्वैत अपृथक् ही है, क्योंकि वृक्षके आत्मा बीजकी नाईं वह परम आत्मप्रकाश सर्वात्मक है ॥ ५९ ॥

'वृक्षात्मबीजवत्' इस दृष्टान्तका विवरण करते हुए 'कोऽन्तर्बीजमिवाऽन्तस्थं स्थितः कृत्वा त्रिकालगः' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'**बीजम्**' इत्यादिसे ।

एकरूप बीज पृथक्भूत और अपृथक्भूत अपने भीतर स्थित वृक्षाकारको बनाकर जैसे स्थित है, वैसे ही शान्त ब्रह्म भी आकाशकोशके तुल्य असङ्ख्य जगत्की रचना करके स्थित है ॥ ६० ॥

'आकाशकोशवत' इस कथनका तात्पर्य कहते हैं—'**बीजस्य**' इत्यादिसे ।

जैसे बीजके भीतर स्थित वृक्षकी, अतिसूक्ष्म होनेके कारण स्थिति, आकाश-तुल्य है, वैसे ही ब्रह्मके भीतर स्थित जगत्का आत्मा साक्षी है, अतः जगत्की

शान्तं समस्तमजमेकमनादिमध्यं
नेहाऽस्ति काचन कलाकलना कथञ्चित् ।
निर्द्वन्द्वशान्तमतिरेकमनेकमच्छ-
माभासरूपमजमेकविकासमास्ते ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने प्रश्नभेदनं नाम अशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

साक्षीसे पृथक् प्रतीति न होनेके कारण, चिद्रूपसे ही स्थिति है, इस प्रकार चैतन्यका भेदक न होनेके कारण उसको आकाशकोशकी उपमा दी गई है ॥ ६१ ॥

इसीसे सब प्रश्नोंका उत्तर प्रायः हो गया, ऐसा सूचित करते हुए सब प्रश्नोंकी परमतात्पर्यविषयभूत अद्वितीयचिन्मात्रपरमार्थस्थितिका प्रदर्शन करते हुए उपसंहार करते हैं—'शान्तम्' इत्यादिसे ।

शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय, आदि और मध्यसे शून्य, शान्तबुद्धि पुरुषोंसे ही माया और मायाके कार्यरूप मलका परिहार करनेसे परिशोधित होनेवाला एकत्व गुणसे रहित जो चारों ओर बृहत् होनेके कारण निरङ्कुशरूपसे विकसित होता है, ऐसा निर्मल ब्रह्म ही है, उसमें किसी प्रकारकी कल्पनाका किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ ६२ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त

एकाशीतितमः सर्गः

राक्षस्युवाच

अहो नु परमार्थोक्तिः पावनी तव मन्त्रिणः ।
राजा राजीवपत्राक्ष इदानीमेष भाषताम् ॥ १ ॥

राजोवाच

जागतप्रत्ययाभावो यस्याऽऽहुः प्रत्ययं परम् ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ २ ॥
यत्सङ्कोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ।
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः ॥ ३ ॥
कोटिद्वयान्तरालस्थं मध्ये कोटिद्वयीमयम् ।
यस्य चित्तमयी लीला जगदेतच्चराचरम् ॥ ४ ॥

एकासी सर्ग

[राजाका क्रमसे अवशिष्ट प्रश्नोंका उत्तर देना तथा विशेषज्ञ होनेके कारण कहींपर मन्त्री द्वारा कहे गये प्रश्नोंमें युक्ति-प्रदर्शन]

राक्षसीने कहा—हे राजन्, आपके मन्त्रीकी परमार्थोक्ति अत्यन्त पवित्र है, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है। अब कमलके समान विशाल नेत्रवाले ये राजा (आप) मेरे प्रश्नोंका उत्तर कहें। भाव यह कि मन्त्रीके वचनोंमें चमत्कार देखकर ही राजा भी तत्त्वज्ञ है, इस बातके ज्ञात होनेपर भी राजाके कथनमें अधिक चमत्कार होगा, यह समझ कर राजाके वचनोंको सुननेके लिए राक्षसीने राजासे कहनेका अनुरोध किया ॥ १ ॥

राजा राक्षसीके अभिप्रायको जानकर सब प्रश्नोंके मुख्य तात्पर्यविषय ब्रह्मको विरोधाभासोक्तिपूर्वक चमत्कारातिशयसे दर्शाते हैं—'जागत०' इत्यादि चार श्लोकोंसे।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको विषय करनेवाली जगत्प्रतीतिका (द्वैतका) अभाव यानी निवृत्ति (तत्त्वज्ञान) ही, जिसका परम दर्शन है, जो सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्यागरूप है या सब संकल्पोंका विरामभूमि है, जो तन्मात्र-निष्ठतारूप चित्तसंयमका फलस्वरूप है, जिसके मायिक सङ्कोच और विकाससे जगत्के प्रलय और सृष्टि होते हैं, जो वेदान्तवाक्योंका निष्ठारूप (तात्पर्यरूप) है और जो स्वयं वाणीका अगोचर है, सत्ता और असत्ता, भान और अभान इन दो कोटियोंके

यस्य विश्वात्मकत्वेऽपि खण्ड्यते नैकपिण्डता ।
सन्मात्रं तत्त्वया भद्रं कथ्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ५ ॥
एषोऽणुर्वेदनाद्वायुः स्वभ्रान्तिर्द्दगदृश्यत ।
अतो न किञ्चिद्वाय्वादि केवलं शुद्धचेतनम् ॥ ६ ॥
शब्दसंवेदनाच्छब्दः शब्दस्य भ्रान्तिदर्शनम् ।
ततोऽत्र शब्दशब्दार्थदृष्टेर्दूरतरं गतः ॥ ७ ॥
सोऽणुः सर्वं न किञ्चिच्च सोऽहं नाऽहं स एव च ।
सर्वशक्त्यात्मनोऽस्यैव प्रतिभैकाऽत्र कारणम् ॥ ८ ॥

मध्यमें स्थित यानी अनिर्वचनीय अतएव आदि और अन्तमें असत्कोटिसे ग्रस्त होनेपर भी मध्यमें दैशिक परिच्छेदसे कहींपर है और कहींपर नहीं है, इस प्रकार कोटि-द्वयमय यह चराचर जगत् जिसकी चित्तमयी लीला है, विश्वात्मक होनेपर भी जिसकी अखण्डता वस्तुतः खण्डित नहीं होती, उस सन्मात्र शाश्वत ब्रह्मको तुम पूछ रही हो ॥ २—५ ॥

यह ब्रह्माणु अपनेको वायुरूपसे देखकर मायाके विवर्तसे वायु हुआ है, इसलिए वह अन्यथाग्रहरूप ज्ञान भ्रान्तिकी महिमा है, परमार्थतः वह अवायु है और भ्रान्तिदर्शनसे वायु है। यानी जो वायु है, वह वस्तुतः केवल शुद्ध चेतन ही है उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है ॥ ६ ॥

'कः शब्दोऽशब्द एव च' इत्यादि प्रश्नका समाधान करते हैं—'शब्द' इत्यादिसे।

इसी प्रकार वही शब्दसंवेदन द्वारा शब्द एवं उक्त शब्द भ्रान्तिदर्शनमूलक होनेसे शब्द नहीं है यानी भ्रान्तिवश उसका शब्दरूपसे दर्शन होता है, परमार्थ दृष्टिसे वह अशब्द है, अतएव शब्द और शब्दार्थकी दृष्टिसे वस्तुतः वह बहुत दूर है ॥ ७ ॥

'कः सर्वं न च किंचिच्च' इत्यादि प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'सोऽणुः' इत्यादिसे।

वही अणु सब है, कुछ भी नहीं है। 'कोऽहं नाहं च किं भवेत्' इसका समाधान करते हैं—'सोऽहं' इत्यादिसे। वही मैं हूँ और कुछ भी नहीं हूँ। अहङ्कारके हटनेके कारण वह मैं हूँ और तद्रूपसे मैं नहीं हूँ, इस प्रकार वास्तव और अवास्तव विचित्रतामें क्या कारण है, इसपर कहते हैं—'सर्व०' से। सर्वशक्तिस्वरूप इस अणुकी ही प्रतिभा एकमात्र इसमें कारण है, उसकी भ्रान्तिप्रतिभाशक्ति अवास्तविक-

आत्मा यत्नशतप्राप्यो लब्धेऽस्मिन्न च किञ्चन ।
लब्धं भवति तच्चैतत् परमं वा न किञ्चन ॥ ९ ॥
तावज्जन्मवसन्तेषु संसृतिव्रततिश्चिरम् ।
विकसत्युदितो यावन्न बोधो मूलकाषकृत् ॥ १० ॥
अणुनाऽनेन रूपत्वं दृश्यतामिव गच्छता ।
तापेनाऽम्बुधियेवेदं स्वस्थेनैवाऽपहारितम् ॥ ११ ॥
अनेन संविदणुना मेरुस्त्रिभुवनं तृणम् ।
वमित्वा बहिरन्तस्थं मायात्मकमवेक्ष्यते ॥ १२ ॥

रूपकी स्फूर्तिमें और वास्तवप्रतिभाशक्ति वास्तवरूपकी अभिव्यक्तिमें कारण है, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

'किं प्रयत्नशतप्राप्यम्', 'लब्धं न किञ्चिद्भवति' इन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—**'आत्मा'** इत्यादिसे ।

आत्मा सैकड़ों प्रयत्नोंसे प्राप्य है, उसके प्राप्त होनेपर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता । वही परम प्राप्तव्य है और कुछ भी नहीं है । भाव यह है कि यह आत्मरूप होनेके कारण पहले ही लब्ध है, इसलिए उसकी प्राप्तिमें प्रयत्नकी सफलता नहीं है, उससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट फल नहीं है, इस आशयसे तुमने उक्त प्रश्न किया है ॥ ९ ॥

तो क्या ज्ञानरूप प्रयत्न निष्फल ही है, इस शङ्काका परिहार करते हुए 'किन्तु सर्वं न लभ्यते' इसका तात्पर्य कहते हैं—**'तावत्'** इत्यादिसे ।

तबतक जन्मरूपी वसन्तोंमें संसाररूपी लता चिरकालतक विकासको प्राप्त होती है, जबतक संसारके मूल अज्ञानका नाश करनेवाला ज्ञान उदित नहीं होता । भाव यह कि जबतक संसारके मूल अज्ञानका नाश नहीं हुआ, तबतक प्राप्त हुआ भी आत्मतत्त्व पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हुआ । बोधसे तो उसका पूर्णरूपसे लाभ होता है, इसलिए ज्ञानरूपी प्रयास व्यर्थ नहीं है ॥ १० ॥

'स्वस्थेन जीवितेनोच्चैः' इस प्रश्नका समाधान करते हैं—**'अणुना'** इत्यादिसे ।

जैसे मरुभूमिमें आतप जलबुद्धिसे अपना अपहार करता है, वैसे ही साकार भावको प्राप्त होकर दृश्यताको प्राप्त होते हुए स्वस्थ इसी अणुने अपने वास्तविक रूपका अपहरण किया है ॥ ११ ॥

किस अणुसे मेरुपर्वत अपने अन्दर किया जाता है और त्रिभुवन तृण बनाया जाता है, इन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—**'अनेन'** इत्यादिसे ।

चिदणोरन्तरे यद्यदस्ति तद्दृश्यते बहिः ।
सङ्कल्पेष्टालिङ्गनादिदृष्टान्तोऽत्र हि रागिणः ॥ १३ ॥
आदिसर्गे सर्वशक्तिश्चिद्यथैवोदितात्मना ।
तथाऽऽशु पश्यत्यखिलं सङ्कल्पे पर्वतः स्वतः ॥ १४ ॥
अभिजातस्य यस्याऽन्तर्यद्यथा प्रतिभासते ।
तत्तथा पश्यतीवाऽसौ दृष्टान्तोऽत्र शिशोर्मनः ॥ १५ ॥

वह संविद्रूपी अणु अपने अन्दर मेरुको रखता है और त्रिभुवनको तृणके समान तुच्छ बनाता है ।

शङ्का—यदि मेरुको वह अपने अन्दर रखता है, तो मेरु बाहर कैसे दिखाई देता है ?

समाधान—भीतर स्थित ही मेरुको बाहर मानो वमन करके मायात्मकरूपसे बाहर दिखलाता है यानी अन्दर स्थित ही मेरुको बाहर स्थितकी नाईं कल्पना करके उसको बाह्य दिखाता है ॥ १२ ॥

चिदणुके अन्दर जो जो वस्तु है, वह बाहर दिखाई देती है, इस विषयमें कामी पुरुषोंका सङ्कल्पसे कल्पित अपनी प्रेयसीका आलिङ्गन आदि दृष्टान्त है । भाव यह कि सङ्कल्पसे सिद्ध स्त्री और उसका आलिङ्गन यद्यपि आन्तर है फिर भी बाह्यसंस्कारजनित होनेके कारण 'बाहर-सा देखता हूं' यह कामियोंको अनुभव होता है ॥ १३ ॥

आदिसृष्टिमें सर्वशक्ति चित जिस रूपसे आविर्भूत हुई, इस समयकी सृष्टिमें भी यह सम्पूर्णको वैसे ही देखती है । भाव यह कि ईखके अथवा बाँस आदिके पहले पर्वसे जिस प्रकार शाखा, पत्ते आदि निकलते हैं, उसी प्रकार दूसरे तीसरे आदि पर्वोंसे भी स्वतः निकलते हैं, यह नियम है वैसे ही आदि सृष्टिके सङ्कल्पमें पर्वसे जैसे तत्तत् जीवोंकी सृष्टि हुई वैसे ही इदानींतन सृष्टिमें भी दूसरे तीसरे पर्वोंसे स्वतः तत्-तत सृष्टि हुई यह नियम है । आशय यह है कि आदिसर्गमें प्रवृत्त नियति ही अन्दर स्थित मेरु आदिके बाहर प्रदर्शनमें हेतु है ॥ १४ ॥

आविर्भूत हुए चित्तवाले जिसके अन्दर जो जो वस्तु जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही देखता-सा है, इसमें बच्चेका मन दृष्टान्त है । यानी बच्चेके हृदयमें जो वस्तु (स्थाणु-वेताल आदि) जैसे प्रतिभासित होती है, उसको वह वैसे ही यानी सत्य ही देखता है ॥ १५ ॥

परमाणुतयैवाऽपि चिन्मात्रेणाऽणुनाऽमुना ।
परिसूक्ष्मतमेनैव विष्वग्विश्वं प्रपूरितम् ॥ १६ ॥
अणुरेव न मात्येष योजनानां शतेष्वपि ।
सर्वगत्वादनादित्वादरूपत्वादनाकृतिः ॥ १७ ॥
यथा धूर्तेन खिंगेन पुंसा बालः प्रतार्यते ।
सुभ्रूविकारनयननिरीक्षणविचेष्टितैः ॥ १८ ॥
चिदालोकेन शुद्धेन सपर्वततृणं जगत् ।
नाट्यतेऽविरतं तद्वद्विवृत्त्याऽभिनयं सदा ॥ १९ ॥
तेनैवाऽनन्तरूपत्वादणुना वाससा यथा ।
संविदा तद्वद्बाह्ये कृत्वा मेर्वादि वेष्टितम् ॥ २० ॥

किस अणुमात्रसे सौ योजनकी पृथ्वी पूर्ण हुई है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'परमाणुतया' इत्यादिसे ।

देशतः परमाणुरूप, वस्तुतः चिन्मात्र अणु और कालतः अतिसूक्ष्मतम, इस प्रकार देश, वस्तु और काल इन तीन प्रकारके परिच्छेदोंकी कल्पनाके भी अवधिभूत इस अणुसे सारा विश्व चारों ओरसे परिपूर्ण है ॥ १६ ॥

कौन अणु होता हुआ भी सैकड़ों योजनोंमें नहीं समाता, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अणुरेव' इत्यादिसे ।

सर्वव्यापक होनेसे, अनादि होनेसे और रूपरहित होनेसे निराकार यह अणु ही सैकड़ों योजनोंमें भी नहीं समाता है यानी उक्त अणु सर्वव्यापक है, अनादि है, रूपरहित है, फिर भी सैकड़ों योजनोंमें नहीं समाता है ॥ १७ ॥

जैसे धूर्त विट मुग्ध स्त्रीजनोंको सुन्दर भ्रूविकारों, नयनों द्वारा निरीक्षणों और विविध प्रकारकी चेष्टाओंसे अपने वशमें कर अपनी ओर आकृष्ट करता है, वैसे ही शुद्ध चिदालोक पर्वत और तृणोंसे युक्त जगत्को अपना अभिनय दर्शा कर सदा नचा रहा है ॥ १८, १९ ॥

किस अणुके उदरमें पर्वतोंकी घटाएँ विद्यमान हैं, इसका उत्तर देते हैं—'तेनैवा०' इत्यादिसे ।

जैसे वस्त्र अपने अन्दर स्थित मेरु आदिके चित्रको बाहर करके मानो आच्छादित करता है, वैसे ही उस अणुने ही अनन्तरूप होनेके कारण भीतर स्थित

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वान्मेरुतो बृहत् ।
बालाग्रशतभागात्माऽप्येष सूक्ष्मः परोऽणुकः ॥ २१ ॥
शुद्धसंवेदनाकाशरूपस्य परमाणुना ।
शोभते नहि साम्योक्तिर्मेरुसर्षपयोरिव ॥ २२ ॥
मायाकलापिनाऽणुत्वं निर्माय परमात्मनि ।
हेम्नीव कटकत्वेन नानाऽत्र समता भवेत् ॥ २३ ॥

मेरु आदिको बाहर करके मानो संवित्से वेष्टित कर रक्खा है * ॥ २० ॥

अपनी अणुताका त्याग नहीं करता हुआ कौन अणु मेरुसे भी विशाल आकारवाला है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

यद्यपि यह चेतन आत्मा बालके अग्रभागके शतांशसे भी सूक्ष्मस्वरूपवाला परम अणु है तथापि देश, काल आदिसे अनवच्छिन्न होनेके कारण मेरुसे भी बृहत् है ॥ २१ ॥

प्रत्येक प्रश्नमें आत्माके लिए अणुशब्दका राक्षसीने जो प्रयोग किया है, उसका मन्त्रीने जो अभिप्राय कहा, वही कर्कटीका भी अभिप्राय था और उसने उसे स्वीकार भी कर लिया, ऐसा निश्चय कर राजा अपनी विशेषज्ञता दिखलानेके लिए मन्त्री द्वारा निरूपित अणुशब्दार्थको दूषित करते हैं-- 'शुद्ध०' इत्यादिसे ।

शुद्ध चिदाकाशस्वरूप परब्रह्मका परमाणुसे साम्य करना मेरुके साथ सरसोंकी साम्योक्तिके समान मुझे अच्छा नहीं लगता, यानी जैसे मेरुके साथ सरसोंकी तुलना नहीं हो सकती वैसे ही शुद्ध संवेदनरूप आकाशात्मा परमात्माके साथ परमाणुकी तुलना नहीं हो सकती । भाव यह कि वह अपरिच्छिन्न है, अतः केवल सूक्ष्मताके कारण परिच्छेदके उत्कर्षके अवधिस्वरूप परमाणुके सादृश्यका अवलम्बन कर गौणी वृत्तिसे (लक्षणा द्वारा) वह अणु नहीं कहा जा सकता है ॥२२॥

यदि ऐसा है, तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें उसका अणुरूपसे व्यपदेश कैसे किया गया ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो सर्वशक्तिमान् होनेके कारण महत्त्वके समान अणुत्वका

---

* वस्त्र बुनकर उसमें पर्वत आदिकी तसवीर बनाई जाती है । वह चित्ररूप पर्वत वस्त्र-वेष्टित कहा जा सकता है, क्योंकि वस्त्रको लपेटनेपर उसके बीचमें चित्रभूत पर्वतकी स्थिति होती है । चित्रभूत पर्वत जैसे मिथ्या है वैसे ही आत्मचैतन्यमें चित्रित जगद्-ब्रह्माण्ड भी मिथ्या है ।

प्रकटोऽनेन दीपेन प्रकाशोऽनुभवात्मना ।
स्वसत्तानाशपूर्वो हि विनाऽनेन भवेत्ततः ॥ २४ ॥
यदि सूर्यादिकं सर्वं जगदेकं जडं भवेत् ।
ततः किमात्मकं रूपं प्रकाशः स्यात्क वाऽथ किम् ॥ २५ ॥
शुद्धसन्मात्रचित्त्वं यत् स्वतः स्वात्मनि संस्थितम् ।
तदेतदणुना तेजो दृष्टं बहिरवस्थितम् ॥ २६ ॥

भी माया द्वारा अपनेमें निर्माणकर वह स्थित है, अतः मुख्य वृत्तिसे ही अणु-शब्दका उसमें प्रयोग है, सादृश्यवश लाक्षणिक अणुशब्दका प्रयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं—'माया०' इत्यादिसे ।

मायाशबल ब्रह्म अपनेमें ही अणुताका निर्माणकर अणुरूपसे स्थित है। अतः जैसे सुवर्णमें सुवर्णनिर्मित कटकत्व आदिसे समता नहीं हो सकती वैसे ही प्रकृतमें स्वनिर्मित अणुत्वसे सौक्ष्म्यात् समता नहीं हो सकती । इस प्रकार 'बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' इत्यादि श्रुतियाँ और वालाग्रशत भागात्मा' इत्यादि तुम्हारी उक्ति भी सङ्गत होती है ॥ २३ ॥

कौन अणु प्रकाश और तमका दीपक है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'प्रकटोऽनेन' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त अनुभवरूप परमात्मा दीपक है, क्योंकि आत्माके सिवा किसीमें भी स्वतन्त्रतासे प्रकाश करनेकी सामर्थ्य नहीं है और कभी भी आत्माका अभाव नहीं होता । उसका अभाव है कहना मैं नहीं हूँ कहनेके बराबर है । प्रकाश और अन्धकार दोनोंका प्रकाशक है, यदि इस आत्मदीपकके बिना ही प्रकाश अथवा अन्य (तम) होगा, तो उसकी सत्ताका लोप हो जायगा, उससे वह असत् ही हो जायगा ॥ २४ ॥

दूसरी बात यह भी है कि यदि उसकी असत्ता हो जाती, तो जगत् अन्धा हो जाता, ऐसा कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

यदि सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत् केवल मात्र जड हो जायगा, तो रूप किमात्मक होगा और प्रकाश कहाँ होगा और क्या होगा ? ॥ २५ ॥

चिदणुने अपनेमें ही तेज, तम आदिकी कल्पना कर रक्खी है, इसलिए प्रकाश उसके अधीन है, ऐसा कहते हैं—'शुद्ध०' इत्यादिसे ।

तेजांस्यर्केन्दुवह्नीनां न भिन्नानि तमोघनात् ।
एतावानेव भेदोऽस्ति यद्वर्णे शौक्ल्यकृष्णते ॥ २७ ॥
यादृक्कज्जलनीहारे मेघनीहारयोर्भवेत् ।
तादृक्प्रकाशतमसोर्भेदो नेति तयोः स्थितिः ॥ २८ ॥
जडयोरुपलम्भाय चिदादित्यः किलैतयोः ।
यदा तपति तेनैते लब्धसत्तैकतां गते ॥ २९ ॥
तपत्येकश्चिदादित्यो रात्रिंदिवमतन्द्रितः ।
अन्तर्बहिः शिलाद्यन्तरप्यनस्तमयोदयः ॥ ३० ॥
त्रिलोकी भाति तेनेयं जीवस्य प्रथितात्मनः ।
नानोपलम्भभाण्डाढ्या कुटी कठिनकोटरा ॥ ३१ ॥

शुद्ध सन्मात्र चित्स्वरूप, जो स्वतः आत्मामें स्थित था, उसीको अणुने बाहर स्थित तेजरूपसे देखा ॥ २६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि सूर्य, चन्द्र आदिसे भी प्रकाशकी सिद्धि हो सकती है, फिर चिदणुने क्या विशेष किया ? इसपर कहते हैं—'तेजांसि' इत्यादिसे ।

सूर्य, चन्द्र और अग्निका तेज अपने कारण अज्ञानसे भिन्न नहीं है, अपने कारण अज्ञानसे उनमें इतना ही भेद है कि उनकी वर्णमें शुक्लता और कृष्णता है और जाड्यांशमें तो कोई भेद नहीं है, अतः उनसे प्रकाशकी क्या आशा ? ॥२७॥

काला कुहरा छा जानेपर यह मेघ है, ऐसा व्यवहार होता है, अतः मेघ और कुहरेमें जितना भेद होता है प्रकाश और तममें भी उतना ही भेद है, उनका स्वतः कोई भेद नहीं है, यही वस्तुस्थिति है ॥ २८ ॥

चित्के अधीन प्रकाशसे सत्तावान् होनेके कारण भी प्रकाश और तमका भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—'जडयोः' इत्यादिसे ।

इन जड़ प्रकाश और तमके प्रकाशके लिए यह चित्सूर्य तपता है, उसकी सत्तासे सत्तावाले होकर ये एकताको प्राप्त हुए हैं ॥ २९ ॥

चैतन्यका तो कहींपर भी अप्रकाश नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'तपत्येक०' इत्यादिसे ।

चिद्रूपी एक सूर्य रात-दिन आलस्यशून्य होकर बाहर-भीतर शिलाओंके अन्दरतक भी अस्त और उदयसे रहित होकर तपता है ॥ ३० ॥

उसीसे जीवकी यह प्रसिद्ध त्रिलोकी भासित होती है, प्रकाशित होती है, जो

तमस्त्वं तमसो देहमविनाशयताऽमुना ।
तप्यतेऽभासया भासा सर्वमाभास्यते तमः ॥ ३२ ॥
पद्मोत्पले यथाऽर्केण तपता प्रकटीकृते ।
प्रकाशतमसोः सत्ते चितैवं प्रकटीकृते ॥ ३३ ॥
अर्कः कुर्वन्नहोरात्रे दर्शयत्याकृतिं यथा ।
चितिः सदसती कृत्वा दर्शयत्याकृतिं तथा ॥ ३४ ॥
चिदणोरन्तरे सन्ति समग्रानुभवाणवः ।
यथा मधुरसस्याऽन्तः पुष्पपत्रफलश्रियः ॥ ३५ ॥

अनेक प्रकारके भोगों और भोगसाधन सामग्रियोंसे पूर्ण है और कुटीके समान संकुचित कोठरियोंसे युक्त है ॥ ३१ ॥

यदि आत्मासे तमका प्रकाश होता है, तो उसका तमस्त्व ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि जिन वस्तुओंका अप्रथनरूप (अप्रकटन) स्वभाव है, उसका नाश हुए बिना उनका प्रथन नहीं किया जा सकता, इस शङ्कापर कहते हैं—'**तमस्त्वम्**' इत्यादिसे ।

वह परमात्मा स्वतत्त्वके प्रतिभाससे शून्य चैतन्य द्वारा तमके स्वरूपभूत तमस्त्वका विनाश किये विना तमको कार्यके लिए क्षुब्ध करता है, उससे सम्पूर्ण जगत्-भूत तमका आभास होता है ॥ ३२ ॥

जैसे तप रहे सूर्यसे पद्म और नील कमलोंका विकास होता है, वैसे ही चित्‌ने प्रकाश और तमकी सत्ताको प्रकट किया है ? भाव यह कि तमकी सत्ताका प्रकट करनेवाला होनेके कारण भी वह तमकी निवृत्ति नहीं करता है ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्य रात्रि और दिनको बनाता हुआ अपनी आकृतिको दर्शाता है, वैसे ही चिति ही आविर्भाव और तिरोभावरूप प्रकाश और तमकी सृष्टि करके अपनी आकृतिको दर्शाती है ॥ ३४ ॥

किस अणुके उदरमें सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु हैं, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'**चिदणो०**' इत्यादिसे ।

जैसे शहदके रसके अन्दर पत्र, पुष्प और फलोंकी शोभा विद्यमान रहती है, वैसे ही चिदणुके अन्दर सम्पूर्ण अनुभवरूपी (वृत्त्यवच्छिन्नज्ञानरूपी) अणु विद्यमान हैं ॥ ३५ ॥

उद्यन्ति चिदणोरेते समग्रानुभवाणवः ।
मधुमासरसाच्चित्रा इव खण्डपरम्पराः ॥ ३६ ॥
परमात्माऽणुरत्यन्तनिःस्वादुः सूक्ष्मतावशात् ।
समग्रस्वादुसत्तैकजनकः स्वदते स्वयम् ॥ ३७ ॥
यो यो नाम रसः कश्चित्समस्तोऽप्यप्स्ववस्थितः ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे तं विना नाऽस्त्यसौ स्वतः ॥ ३८ ॥
त्यजता संस्थितं सर्वं चिन्मात्रपरमाणुना ।
त्यक्तं जगदसंवित्त्या संवित्त्या सर्वमाश्रितम् ॥ ३९ ॥
अशक्तया स्वात्मगुप्तौ सर्वमाच्छादितं जगत् ।
चित्ताणुतामेव परां संप्रसार्य वितानवत् ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त ऋतुसे वन-भागोंका सौन्दर्य प्रकट होता है, वैसे ही इस चिदणुसे ये सम्पूर्ण अनुभवरूपी अणु उदित होते हैं ॥ ३६ ॥

कौन अणु मधुर आदि रसोंसे शून्य होनेके कारण स्वादरहित भी अत्यन्त स्वाद देता है, इसका उत्तर देते हैं—'परमात्मा' इत्यादिसे ।

अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अत्यन्त अस्वादु भी यह परमात्मारूपी अणु समग्र स्वादोंकी सत्ताका एकमात्र हेतु होनेके कारण स्वयं स्वादको प्राप्त होता है ॥३७॥

सम्पूर्ण जलोंके अन्तर्गत रसके आविर्भावका वही निमित्त है, इसलिए भी वह स्वाद देता है, ऐसा कहा जा सकता है, यह कहते हैं-'यो यः' इत्यादिसे ।

जैसे आदर्शमें प्रतिबिम्ब रहता है, वैसे ही जलमें जो कोई भी रस स्थित है । वह उसीके कारण है, उसके बिना स्वतः उसकी सत्ता नहीं रह सकती ॥३८॥

सबका त्याग कर रहे किस अणुने इस सम्पूर्ण जगत्का आश्रयण कर रक्खा है, इसका उत्तर कहते हैं—'त्यजता' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण जगत्का त्याग कर रहे चिन्मात्र परमाणुसे यह सब विश्व आश्रित है, उसने अपने अस्फुरणसे इस जगत्का त्याग किया है और अपने स्फुरणसे सम्पूर्ण जगत्का आश्रयण कर रक्खा है ॥ ३९ ॥

अपने स्वरूपके भी आच्छादनमें असमर्थ किस अणुने इस सम्पूर्ण जगत्को आच्छादित कर रक्खा है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अशक्तया' इत्यादिसे ।

परिच्छिन्न होकर अपने स्वरूपके तिरोधानमें असमर्थ इस चिदणुने सम्पूर्ण जगत्को चँदवेकी नाईं अपनी उत्कृष्ट चित्ताणुताको फैलाकर आच्छादित किया है॥४०॥

आत्मगुप्तौ न शक्नोति परमात्माऽम्बराकृतिः ।
मनागपि क्षणमपि गजो दूर्वावने यथा ॥ ४१ ॥
तथाऽप्याक्रान्तवान् विश्वं ज्ञातो गोपायति क्षणात् ।
जगद्धानाकणं बाल इवाऽहो घनमायिता ॥ ४२ ॥
चिन्मात्रानुनयेनेदं जगत् सन्नपि जीवति ।
वसन्तरसबोधेन विचित्रेव वनावली ॥ ४३ ॥
चित्तसत्त्वैवमखिलं स्वतो जगदिवोदितम् ।
मधुमासरसोल्लासाच्चित्रो हि वनखण्डकः ॥ ४४ ॥

उक्त अर्थके आशयको ही विशेषरूपसे स्फुट करते हैं—**'आत्मगुप्तौ'** इत्यादिसे ।

जैसे हाथी दूबके वनमें तनिक भी क्षणभर भी अपने स्वरूपको आच्छादित नहीं कर सकता, वैसे ही शून्याकृति परमात्मा यद्यपि अपने स्वरूपको छिपानेमें समर्थ नहीं है । तथापि उसने विश्वको चारों ओरसे आक्रान्त कर रक्खा है, जैसे बालक जागकर धानकणोंकी रक्षा करता है, सोकर नहीं करता वैसे ही ज्ञात होकर यह परमात्मा जगदन्तःपाती जीवोंकी आत्मलाभसे रक्षा करता है । इस प्रकारके प्रकाशस्वरूप पूर्णात्माकी बालकके तुल्य आत्मविस्मृति कैसे हो सकती है, इस-पर कहते हैं—'अहो घनमायिता' इत्यादि । यानी उसकी माया अपार है, मायाकी सामर्थ्यसे ही यह सब आश्चर्यकर आत्मविस्मृति आदि होते हैं ॥ ४१,४२ ॥

प्रलयसे तिरोहित भी जगत् किस अणुकी सत्तासे सत् होकर पुनः जीवित होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'चिन्मात्रानुनयेन'** इत्यादिसे ।

जैसे वसन्तऋतुमें पल्लव आदिको उत्पन्न करनेवाले रस आदिके उद्बोधसे वनराजि विचित्र हो जाती है, वैसे ही प्रलयसे लीन हुआ भी जगत् चिन्मात्रके अवलम्बनसे जीता है यानी प्रलयमें भी चित्-सत्तासे ही जगत् संस्कारशेष रहता है ॥ ४३ ॥

यदि प्रलयमें और सृष्टिमें भी ब्रह्मकी सत्तासे ही जगत् जीवित रहता है, तो प्रलयकी अपेक्षा सृष्टिमें कौन विशेष है ? जिससे फिर सृष्टिका आविर्भाव होता है, इस शङ्कापर कहते हैं—**'चित्तसत्ता०'** इत्यादिसे ।

जैसे वसन्त ऋतुके रसके उल्लाससे वनभाग विचित्र हो उठता है, इसी

सत्यं चिन्मयमेवेदं जगदित्येव विद्ध्यलम् ।
वसन्तरसमेव त्वं विद्धि पल्लवगुल्मकम् ॥ ४५ ॥
सर्वावयविसारत्वात् सहस्रकरलोचनः ।
परमाणुरसावेव नित्यानवयवोदयः ॥ ४६ ॥
निमेषांशावबोधो हि चिदणोः प्रतिभासते ।
यतः कल्पसहस्रौघः स्वप्ने वार्द्धकबाल्यवत् ॥ ४७ ॥
ततः सोऽपि निमेषोऽणुः कल्पकोटिशतान्यलम् ।
सर्वसत्ताविलासेन प्रतिभैका विजृम्भते ॥ ४८ ॥
अभुक्तवत्येव यथा भुक्तवानहमित्यलम् ।
जायते प्रत्ययस्तद्वन्निमेषे कल्पनिश्चयः ॥ ४९ ॥

प्रकार चित्त-सत्ता ही स्वतः सम्पूर्ण जगद्रूपसे उदित होती है। भाव यह कि प्रलयमें चित्त-सत्ता पृथक् नहीं रहती और सृष्टिमें रहती है, प्रलयकी अपेक्षा सृष्टिमें यही विशेष है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार चित् और जगत्का तत्त्वतः भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—'सत्यम्' इत्यादिसे ।

इस जगतको सत्य चिन्मय ही आप जानिए, जैसे कि पल्लव, निकुञ्ज आदि वसन्त रस ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ४५ ॥

जिसके अवयव उत्पन्न ही नहीं हुए, ऐसा कौन अणु सैकड़ों हाथ, सिर, लोचन आदिसे युक्त है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'सर्वा०' इत्यादिसे ।

सदा अवयवोंके बिना उदित हुआ भी यह परमाणु ही सम्पूर्ण अवयवियोंका यानी उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इन चार प्रकारके सम्पूर्ण प्राणियोंका सार यानी आत्मा होनेसे सैकड़ों, हाथ, सिर, लोचन आदिसे युक्त है । ॥ ४६ ॥

कौन निमेष होता हुआ भी महाकल्प और करोड़ों कल्परूप है, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'निमेषांश०' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें जैसे बुढ़ापा और बाल्यावस्थाका बोध होता है, वैसे ही चिदणुसे निमेषांशका ज्ञान और सैकड़ों कल्पोंके समूहका आभास प्रतीत होता है । इसलिए वह अणु निमेष होता हुआ भी सैकड़ों करोड़ों कल्पोंका समूह है। सम्पूर्ण आभाससत्ताओंके विलाससे यह एक प्रतिभाका विजृम्भण है ॥ ४७,४८ ॥

जैसे स्वप्नमें भोजन न करनेपर भी मैंने अच्छा भोजन कर लिया इस प्रकारकी प्रतीति

अभुक्त्वा भुक्तवानस्मीत्येवंप्रत्ययशालिनः ।
दृश्यन्ते वासनाविष्टाः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ५० ॥
जगन्ति परितिष्ठन्ति परमाणौ चिदात्मनि ।
प्रतिभासाः प्रवर्तन्ते तत एव हि जागताः ॥ ५१ ॥
यदस्ति यत्र तत्तस्मात् समुदेति तदेव तत् ।
आकारिणि विकारादि दृष्टं न गगनेऽमले ॥ ५२ ॥
चिति भूतानि भूतानि वर्तमानानि सम्प्रति ।
भविष्यन्ति च भूतानि सन्ति बीजे द्रुमा इव ॥ ५३ ॥
निमेषकल्पावेतेन तुषेणाऽन्नकणाविव ।
वलितावेष चेत्याभ्यामणुः स्वात्माङ्कं श्रितः ॥ ५४ ॥

होती हैं, वैसे ही निमेषमें कल्पोंका निश्चय होता है। भोजन किये बिना मैंने भोजन कर लिया इस प्रकारके ज्ञानसे युक्त पुरुष स्वप्नमें अपने मरणके तुल्य विविध वासनाओंसे पूर्ण देखे जाते हैं ॥ ४९, ५० ॥

किस अणुमें बीजमें वृक्षके समान सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे ।

चिदात्मरूप परमाणुमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हैं और उसीसे ही जगत्की प्रतीतियाँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ५१ ॥

जो वस्तु जहाँपर है, वह वहाँसे उत्पन्न होती है और तद्रूप ही है, जैसे स्तम्भमें बनी हुई प्रतिमा स्तम्भरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। आकारवाले पदार्थमें ही विकार आदि देखे जाते हैं और आकाररहित निर्मल आकाशमें विकार आदि नहीं देखे जाते हैं ॥ ५२ ॥

सृष्टिके समय जिनकी बीजपरम्पराकी अवधि अव्यक्त है, ऐसे सब बीज सृष्टिके समय जगद्रूपसे विकसित होकर किसमें अनुस्यूत हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'चिति' इत्यादिसे ।

जैसे बीजमें वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चित्में अतीत, इस समय वर्तमान और आगे होनेवाले सभी भूत सदा विद्यमान रहते हैं ॥ ५३ ॥

जैसे बीजके अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही किस निमेषके अन्दर कल्प स्थित हैं ? इस प्रश्नका तात्पर्य कहते हैं—'निमेष०' इत्यादिसे ।

उदासीनवदासीनो न संस्पृष्टो मनागपि ।
एष भोक्तृत्वकर्तृत्वैः स्वात्मा सर्वजगत्यपि ॥ ५५ ॥
जगत्सत्तोदितेयं हि शुद्धचित्परमाणुतः ।
परमाणोश्च भोक्तृत्वकर्तृत्वे केवलं स्थिते ॥ ५६ ॥
जगन्न किञ्चित्क्रियते सर्वदैव न केनचित् ।
विलीयते च नो किञ्चिन्मानुष्याद्दृश्यखण्डनम् ॥ ५७ ॥
सर्वं समसमाभासमिदमाकाशकोशकम् ।
जगत्त्रयोपशब्दं च विद्धनाद्यं निशाचरि ॥ ५८ ॥

जैसे चावल और उसके अवयव धानकी त्वचासे चारों ओर वेष्टित रहते हैं, वैसे ही निमेष और कल्प इस अणुमें वेष्टित हैं और यह अणु चैत्यरूप कल्प और निमेषोंसे अपने एकदेशका आश्रयण करके स्थित है, क्योंकि 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इत्यादि भगवान्‌का वचन है ॥ ५४ ॥

'कः प्रयोजन-कर्तृत्वमप्यनाश्रित्य कारकः' (अक्रिय होनेके कारण कारकव्यापारयितृत्वरूप कर्तृत्वका आश्रयण न करके भी कौन कर्ता है) इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'उदासीन०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण जगत्‌में भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदिसे तनिक भी स्पृष्ट नहीं हुआ उदासीनके तुल्य स्थित यह आत्मा कर्ता न होता हुआ भी कर्ता है ॥ ५५ ॥

शुद्ध चैतन्यरूप परमाणुसे यह जगत्सत्ता उदित हुई है और क्रिया और भोगके सम्बन्धके बिना ही परमाणुमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थित हैं ॥ ५६ ॥

उसका क्रिया और भोगसे सम्बन्ध क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जगत् सदा ही किसीसे कुछ नहीं बनाया जाता है और न लीन होता है, क्योंकि क्रियाका विषय जगत् अत्यन्त असत् है ।

शङ्का—यदि ऐसा है तो असत् दृश्यका खण्डन वेदान्तोंमें किसलिए किया जाता है ?

समाधान—व्यावहारिक लौकिक दृष्टिसे वेदान्तोंमें दृश्यका खण्डन किया गया है, परमार्थदृष्टिसे नहीं किया गया है ॥ ५७ ॥

परमार्थदृष्टि कैसी है, यह प्रश्न होनेपर उसे दर्शाते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

हे राक्षसी, भ्रमसे भासित होनेवाला यह सब दृश्यादि चिदाकाशकोशस्वरूप ही

चिदणुर्दृश्यसिद्ध्यर्थमान्तरीं चिच्चमत्कृतिम् ।
बहीरूपतया धत्ते स्वात्मनि परिसंस्थिताम् ॥ ५९ ॥
एतद्बहिष्ठमन्तस्थमस्ति शब्दे न वस्तुनि ।
उपदेशाय सत्त्वानां चिद्रूपत्वाज्जगत्त्रये ॥ ६० ॥
द्रष्टाऽदृष्टपदं गच्छन्नात्मानं सम्प्रपश्यति ।
नेत्रदृश्याभिपातीव सदेवाऽसदिव स्थितम् ॥ ६१ ॥

है, इसका केवल जगत्‌रूपसे शब्दतः व्यवहार हुआ है, ऐसा तुम जानो ॥ ५८ ॥

कौन नेत्ररहित द्रष्टा दृश्यकी सिद्धिके लिए अपने स्वरूपको दृश्यताको प्राप्त कर अपनेको दृश्यरूपसे देखता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—**'चिदणुः'** इत्यादिसे ।

चिद्रूपी अणु दृश्यकी सिद्धिके लिए अन्दरस्थित चित्‌के चमत्कारको यानी चिद्‌में व्याप्त मायाशक्तिको, जो कि उसकी आत्मामें स्थित है, बाह्यप्रपञ्चरूपसे अपनेमें धारण करता है ॥ ५९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ब्रह्म तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इस श्रुतिके अनुसार आन्तर-बाह्यभेदशून्यरूपसे ज्ञात है, अतः उसमें 'वह आन्तर-चित्‌चमत्कृतिको बाह्यप्रपञ्चरूपसे धारण करता है' यह कथन कैसे संगत हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—**'एतत्'** इत्यादिसे ।

बहिष्ठत्व और अन्तस्थत्व—ये तीनों जगतोंमें अधिकारी प्राणियोंके उपदेशके लिए कल्पित हैं और शब्दमें ही इनकी स्थिति है, वस्तुमें नहीं; क्योंकि वस्तु चिदेकस्वरूप है, उसमें बहिष्ठत्व, अन्तस्थत्व इत्यादि भेदकी कल्पनाका सम्भव ही नहीं है ॥ ६० ॥

'दृश्यकी सिद्धिके लिए अपनेको दृश्यताको प्राप्त करता हुआ' यहांतकके प्रश्नांशका तात्पर्य कहकर अवशिष्ट अंशका तात्पर्य कहते हैं—**'द्रष्टा'** इत्यादिसे ।

नित्य अपरोक्ष भी आत्मा अविद्यासे आवृत न होनेके कारण अन्तःकरणावच्छेदेन सदा स्फुरित हो रहा है अतः उस स्फुरणके अभिमानसे द्रष्टा है और बाह्य विषयोंके अवच्छेदसे आवृत होनेके कारण अदृष्टविषय यानी नेत्रोंसे दृश्य होकर-सा नेत्र द्वारा निर्गत अन्तःकरणप्रणालीसे बाहर जाकर सत् ही आत्म-स्वरूपको असत् घटादिरूप-सा स्थित देखता है यानी स्वात्मभूत चित्‌से ही प्रकाशित

न च गच्छति दृश्यत्वं द्रष्टा ह्यसदवास्तवम् ।
आत्मन्येव न यत्किञ्चित्तत्तामेति कथं परः ॥ ६२ ॥
दृगेव लोचने सा च वासनान्तं निजं वपुः ।
बहीरूपतया दृश्यं कृत्वा द्रष्टृतयोदिता ॥ ६३ ॥
न विना द्रष्टृतामस्ति दृश्यसत्ता कथञ्चन ।
पितृतेव विना पुत्रं द्वितैवैक्यपदं विना ॥ ६४ ॥
द्रष्टैव दृश्यतामेति न द्रष्टृत्वं विनाऽस्ति तत् ।
विना पित्रेव तनयो विना भोक्त्रेव भोग्यता ॥ ६५ ॥

करता है, नेत्रसे नहीं, क्योंकि नेत्र तो केवल द्वारमात्र हैं, इसलिए अनेत्रवान् कहा है ॥ ६१ ॥

सत् ही असत्के समान स्थित है, ऐसा जो ऊपर कहा था, उसका उपपादन करते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

द्रष्टा असत् अतएव अवास्तव दृश्यत्वको प्राप्त नहीं ही होता ।

शङ्का—क्यों दृश्यत्वको प्राप्त नहीं होता ?

समाधान—जो वस्तु आत्मामें तनिक भी नहीं है, तत्ताको परमात्मा कैसे प्राप्त होगा, कारण कि सत् असद्रूप नहीं हो सकता ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार द्रष्टृता भी मिथ्याभूत दृश्यसापेक्ष होनेके कारण मिथ्या ही है, ऐसा कहते हैं—'दृगेव' इत्यादिसे ।

नेत्र द्वार होनेके कारण लोचन (देखनेवाले) नहीं हैं, किन्तु अपरोक्ष आत्म-चैतन्य ही लोचन हैं, क्योंकि 'वह चक्षुका चक्षु है', इत्यर्थक श्रुति है, वह आत्म-चैतन्य आविर्भावसे लेकर पुनः तिरोभावसे वासनाभावास्त अपने शरीरभूत दृश्यको बाह्यरूप बनाकर उसके द्रष्टृरूपसे, स्वयं उदित है यानी द्रष्टृरूपसे उसने अपनी कल्पना कर रक्खी है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार परस्पर सापेक्ष कल्पनावाले होनेके कारण वे दोनों ही मिथ्या हैं, ऐसा कहते हैं—'न विना' इत्यादिसे ।

जैसे पुत्रके बिना पितृताका संभव नहीं है और जैसे ऐक्यके बिना द्वित्वका संभव नहीं है वैसे ही द्रष्टृताके बिना दृश्यसत्ताका किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ ६४ ॥

द्रष्टा ही दृश्यताको प्राप्त होता है और दृश्यके बिना द्रष्टृत्वका सम्भव नहीं

द्रष्टुर्दृश्यविनिर्माणे चित्त्वादस्त्येव शक्तता।
कनकस्याऽवदातस्य कटकादिकृताविव ॥ ६६ ॥
दृश्यस्य द्रष्टृनिर्माणे जडत्वान्नाऽस्ति शक्तता।
कटकस्य तु हैमस्य यथा कनकनिर्मितौ ॥ ६७ ॥
चेतना दृश्यनिर्माणं चित्करोत्यसदेव सत्।
आकारणं मोहहेतुं हेमेव कटकभ्रमम् ॥ ६८ ॥
कटकत्वावभासे हि यथा हेम्नो न हेमता।
सत्येव प्रकचत्येवं द्रष्टृदृश्यस्थितौ वपुः ॥ ६९ ॥
द्रष्टा दृश्यतया तिष्ठन् द्रष्टृतामुपजीवति।
सत्यां कटकसंवित्तौ हेम काञ्चनतामिव ॥ ७० ॥

है, जैसे कि पिताके बिना पुत्रका सम्भव नहीं है और भोक्ताके बिना भोग्यताका संभव नहीं है ॥ ६५ ॥

जैसे विशुद्ध सुवर्णकी कटक आदिके निर्माणमें सामर्थ्य है, वैसे ही द्रष्टाकी दृश्यविनिर्माणमें सामर्थ्य है ही, क्योंकि वह चेतन है ॥ ६६ ॥

जैसे सुवर्णमय कटक सुवर्णके निर्माणमें समर्थ नहीं है, वैसे ही दृश्य द्रष्टाके निर्माणमें समर्थ नहीं है, क्योंकि वह जड़ है ॥ ६७ ॥

चित् चेतन है, अतएव वह जैसे सुवर्ण कटकभ्रमको उत्पन्न करता है, वैसे ही दृश्यभ्रमका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्-सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है, जबतक अज्ञान रहता है, तबतक उसकी स्थिति रहती है ॥ ६८ ॥

यदि द्रष्टा ही दृश्यताको प्राप्त होता है, तो यह द्रष्टा ही है, यों दृश्यकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसपर कहते हैं—'कटकत्वा०' इत्यादिसे।

जैसे कटकत्वकी प्रतीति होनेपर सुवर्णकी सुवर्णता सत्य होनेपर भी स्फुट-रूपसे स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ़की बुद्धिमें सुवर्णताका स्फुरण नहीं होता, वैसे ही द्रष्टाके दृश्यरूपसे स्थित होनेपर द्रष्टाका स्वरूप स्फुरित नहीं होता ॥६९॥

तब तो द्रष्टाका स्फुरण न होनेपर दृश्य द्रष्टृनिरपेक्षतावाला ही क्यों न होगा ? ऐसी यदि कोई आशङ्का करे, तो ऐसा माननेपर दृश्यमें जो द्रष्टाकी उपजीवकता है, उसका अभाव हो जायगा, इसलिए ऐसा मानना उचित नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे।

एकस्मिन् प्रतिभासे हि न सत्ता द्रष्टृदृश्ययोः ।
पुंप्रत्ययप्रकचने क्व पशुप्रत्ययोदयः ॥ ७१ ॥
दृश्यं पश्यन् स्वमात्मानं न द्रष्टा सम्प्रपश्यति ।
द्रष्टुर्हि दृश्यतापत्तौ सत्ताऽसत्तेव तिष्ठति ॥ ७२ ॥
बोधाद्गलितदृश्यस्य द्रष्टुः सत्तैव भासते ।
अबुद्धे कटके स्वस्य हेम्नोऽकटकता यथा ॥ ७३ ॥

जैसे कटकरूपमें प्राप्त होनेपर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध कनकताका उपजीवन करता है वैसे ही दृश्यरूपसे स्थित होता हुआ द्रष्टा अपनी द्रष्टताका उपजीवन करता है ॥ ७० ॥

कटकत्वकी प्रतीति होनेपर जैसे सुवर्णकी सुवर्णता सत्य होती हुई भी स्फुरित नहीं होती, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि यह कटक सुवर्ण है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य प्रतीतिमें दोनोंकी सत्ताका प्रतिभास होता है, वैसे ही मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रतीतिमें भी दोनोंकी (दृश्य और द्रष्टाकी) सामानाधिकरण्यसे प्रतीति होती है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसपर कहते हैं—'एकस्मिन्' इत्यादिसे ।

जैसे दूरस्थित विषयमें यह पुरुष है या पशु है, इस पुरुषप्रतीतिकी उत्कट कोटिवाले संशयमें पशुत्वका प्रतिभास नहीं होता और पशुप्रत्ययकी उत्कट कोटिवाले संशयमें पुरुषत्वका प्रतिभास नहीं होता, इसी प्रकार सामानाधिकरण्य प्रतीतियोंमें भी उभयांशकी एक प्रतीतिमें प्रमेयता नहीं हो सकती ॥ ७१ ॥

द्रष्टा अपनेको दृश्य देखता हुआ अपने स्वरूपको नहीं देखता, द्रष्टाकी दृश्यत्वापत्ति होनेपर द्रष्टाकी सत्ता असत् हो जाती है । भाव यह कि द्रष्टा बहिर्मुख वृत्तिसे दृश्यको देखता है और अन्तर्मुखदृष्टिसे द्रष्टाको देखता है, चित्‌की एक ही समय दृश्य और द्रष्टा इन दोनोंके प्रति उन्मुखता नहीं हो सकती ॥ ७२ ॥

कौन ज्ञानसे दृश्यके नष्ट हो जानेके कारण अखण्डित अपने आत्माको दृश्यकी असिद्धिके लिए सामने देखता हुआ दृश्यको नहीं देखता, इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'बोधात्' इत्यादिसे ।

बोधसे जिसका दृश्यभाव गलित हो गया है, ऐसे द्रष्टाकी सत्ता ही अवभासित होती है, जैसे कि कटकके प्रति अनुसन्धान न करनेपर सुवर्णकी अकटकता ही भासित होती है ॥ ७३ ॥

दृश्ये सत्यस्ति वै द्रष्टा दृश्यं द्रष्टरि भासते ।
द्वयेन च विना नैकं नैकमप्यस्ति चाऽनयोः ॥ ७४ ॥
सर्वं यथावद्विज्ञाय शुद्धसंविन्मयाऽऽत्मना ।
वाचामविषयं स्वच्छं किञ्चिदेवाऽवशिष्यते ॥ ७५ ॥
आत्मानं दर्शनं दृश्यं दीपेनेवाऽवभासितम् ।
कृतं च सर्वमेतेन चिन्मात्रपरमाणुना ॥ ७६ ॥
मातृमानप्रमेयाख्यं बुधो निगिरति त्रयम् ।
हेमेव कटकादित्वमसन्मयमुपस्थितम् ॥ ७७ ॥
यथा न जलभूम्यादेः पृथक्किञ्चिन्मनागपि ।
तथैतस्मात् स्वभावाणोर्न किञ्चित्पृथगस्ति हि ॥ ७८ ॥

दृश्यका दर्शन न होनेपर भी द्रष्टाका दर्शन अपरिहार्य है, इसलिए आत्यन्तिक दृश्यका अदर्शन कैसे सिद्ध होगा ? इसपर कहते हैं—'दृश्ये' इत्यादिसे ।

दृश्यके रहते द्रष्टा रहता है और दृश्य द्रष्टाके रहते भासित होता है। दोनोंके बिना एक भी भासित नहीं होता, अतः इन द्रष्टा और दृश्यके बीचमें एक भी नहीं है, जैसे कि छत्रके हट जानेपर छाया हट जाती है, वैसे ही दृश्यके नष्ट होनेपर द्रष्टाका भी अपाय हो जाता है, इसलिए दृङ्मात्रका परिशेष रहता है ॥ ७४ ॥

शुद्ध संविद्रूप आत्मासे इस सबका यथावद् ज्ञान प्राप्त करके वाणियोंका अविषय शुद्ध कुछ ही अवशेष रहता है ॥ ७५ ॥

द्रष्टाका, दर्शनका और दृश्यका कौन अवभासन करता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'आत्मानम्' इत्यादिसे ।

इस चित्परमाणुरूप दीपकने सब द्रष्टा, दर्शन और दृश्यको अवभासित किया।

जैसे सुवर्ण कटक आदिको अपनेमें लीन कर लेता है, वैसे ही इस द्रष्टा दर्शन और दृश्यको किसने अपनेमें लीन कर लिया है ? इस प्रश्नका पूर्वोक्त दृष्टान्तोंके उपन्यास द्वारा ही अर्थात् परिहार करते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

जैसे असत्स्वरूप उत्पन्न हुए कटक आदिको सुवर्ण अपनेमें लीन कर लेता है, वैसे ही चित्परमाणुरूप दीपसे प्रकाशित प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप इन तीनोंको विद्वान् निगल जाता है ॥ ७६, ७७ ॥

किससे कोई पृथक् नहीं है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

सर्वगानुभवात्मत्वात् सर्वानुभवरूपतः ।
एकत्वानुभवन्याये रूढे सर्वैकताऽस्य हि ॥ ७९ ॥
अस्येच्छया पृथङ्नाऽस्ति वीचितेव महाम्भसः ।
इच्छानुरूपसम्पत्तेर्भावितार्थैकता किल ॥ ८० ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः परमात्माऽस्ति केवलः ।
सर्वात्मत्वात्स सर्वात्मा सर्वानुभवतः स्वतः ॥ ८१ ॥
सन्नेप चेतनात्मत्वाद्दर्शनानवबोधतः ।
द्वैतैक्ये नाऽत्र विद्येते सर्वरूपे महात्मनि ॥ ८२ ॥

जैसे जल, भूमि आदि पांचभूतोंसे भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं हैं, वैसे ही इस स्वभावरूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं है ॥७८॥

दृश्यकी अपृथक्ताका युक्तिसे भी अनुभव कराते हैं—'सर्वगा०' इत्यादिसे ।

सर्वगामी अनुभवरूप होने और सबका अनुभवरूप होनेसे एकत्वके अनुभवका न्याय जब दृढ़ हो जाता है तब इसकी सबके साथ एकता सिद्ध है ॥७९॥

किसकी इच्छासे यह पृथक् है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अस्य०' इत्यादिसे ।

जैसे जलराशिसे तरङ्गता पृथक् नहीं है, वैसे ही इच्छानुरूप सम्पत्तिवाले इसकी इच्छासे भावित अर्थोंकी एकता पृथक् नहीं है ॥ ८० ॥

देश, काल आदिसे अनवच्छिन्न, असत् होते हुए भी सत् किससे द्वैत भी अभिन्न है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

देश, काल आदिसे अनवच्छिन्न केवल अद्वितीय परमात्मा ही है, सबका आत्मा होनेके कारण सबसे अभिन्न है तथा अनुभवरूप होनेके कारण स्वतः सर्वानुभवरूप ही है, जड़ नहीं है ॥ ८१ ॥

'असत् भी सत् रूप किससे' पूर्वोक्त इस अंशका तात्पर्य कहते हैं—'सन्नेष' इत्यादिसे ।

जिनमें आत्मसत्ता संदिग्ध नहीं है, ऐसे चेतनोंका आत्मा होनेके कारण यह सत् है और चक्षु आदि द्वारा देखनेपर ज्ञात नहीं होता, अतः इस सर्वरूप महान् आत्मामें लौकिक सद्रूप द्वैत और ऐक्य नहीं हैं, इसलिए यह श्रुतिमें असत् कहा गया है, वास्तवमें असत्ताके अभिप्रायसे असत् नहीं कहा गया है ॥ ८२ ॥

यदि कश्चिद् द्वितीयः स्यात्तदैकस्यैकता भवेत् ।
द्वैतैक्ययोर्मिथः सिद्धिरातपच्छाययोरिव ॥ ८३ ॥
यत्र नाऽस्ति द्वितीयो हि तत्रैकस्यैकता कथम् ।
एकतायामसिद्धायां द्वयमेव न विद्यते ॥ ८४ ॥
एवं स्थिते तु यस्तिष्ठंस्तत्ताद्दक्तदिवाऽस्ति हि ।
तस्मान्न व्यतिरिक्तं तद्रूपं द्रव इवाऽम्भसः ॥ ८५ ॥
नानारम्भविभासं च साम्येनाऽक्षुब्धरूपिणः ।
बीजस्याऽन्तस्तरुरिव ब्रह्मणोऽन्तः स्थितं जगत् ॥ ८६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि द्वैत अन्यसापेक्ष होनेके कारण मिथ्या हो, ऐक्य तो दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वास्तव ही है, ऐसी अवस्थामें ऐक्य उसमें नहीं है, यह कैसे कहा ? इसपर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

यदि कोई दूसरा हो, तब एककी एकता हो, द्वैत और ऐक्यकी, छाया और आतपके समान, परस्पर एककी दूसरेसे सिद्धि होती है, अतः ऐक्यकी अन्यनिरपेक्षता कैसे ? ॥ ८३ ॥

द्वितीयकी व्यावृत्तिके लिए कल्पित संख्यारूप एकत्व भी द्वितीयसापेक्ष होनेसे द्वित्व आदिके समान ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जहाँपर दूसरा नहीं है, वहाँपर एककी एकता कैसे ? एकताके असिद्ध होनेपर दोनों ही नहीं हैं ॥ ८४ ॥

जैसे जलराशिसे द्रवता पृथक् नहीं है, वैसे ही किससे द्वैत भी पृथक् नहीं है, इस प्रश्नांशका विवरण करते हैं—'एवं स्थिते' इत्यादिसे ।

इस प्रकार परमार्थ तत्त्वके द्वैत और ऐक्य-शून्यरूपसे स्थित होनेपर जो द्वैत और ऐक्यसे युक्त-सा तथा द्वैत और ऐक्य-सा दिखाई देता है, उससे द्वैत और ऐक्य रूप वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे कि जलराशिसे द्रव भिन्न नहीं है ॥ ८५ ॥

द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप सदसद् त्रिजगतको, जैसे बीज अपने अन्दर वृक्षको रखता है वैसे ही, अपने अन्दर रखकर कौन स्थित है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'नाना०' इत्यादिसे ।

जैसे पृथ्वी, जल आदिके साम्यसे पूर्व अवस्थासे च्युत न हुए बीजके अन्दर वृक्ष स्थित रहता है, वैसे ही सत्त्व, रज और तमके साम्यसे अपनी

द्वैतमप्यपृथक्तस्माद्ब्रह्मः कटकता यथा ।
सम्यग्बुद्धावबोधो हि द्वैतं तच्च न सन्मयम् ॥ ८७ ॥
यथा द्रवत्वं पयसः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
व्योम्नः शून्यत्वमेवं हि न पृथग्द्वैतमीश्वरात् ॥ ८८ ॥
द्वैताद्वैतोपलम्भो हि दुःखायैव क्रियात्मने ।
निपुणोऽनुपलम्भो यस्त्वेतयोस्तत्परं विदुः ॥ ८९ ॥
मातृमानप्रमेयादिद्रष्टृदर्शनदृश्यता ।
एतावज्जगदेतच्च परमाणौ चिति स्थितम् ॥ ९० ॥
अयं जगदणुर्नित्यमेतेनाऽणुसुमेरुणा ।
स्पन्दनं पवनेनेव स्वाङ्ग एव कृताकृतः ॥ ९१ ॥

पूर्व अवस्थासे च्युत न हुए ब्रह्मके अन्दर नाना प्रकारके आरम्भ और स्फुरणसे संयुक्त यह जगत् स्थित है ॥ ८६ ॥

जैसे सुवर्णसे कटकता अपृथक् है, वैसे ही ब्रह्मसे द्वैत भी अपृथक् है, ऐसा भली भाँति जिसको ज्ञान हो चुका है, ऐसे पुरुषका ज्ञानरूप ही तो द्वैत है और ज्ञान सत् ही है, सन्मय नहीं है ॥ ८७ ॥

जैसे जलकी द्रवता जलसे पृथक् नहीं है, वायुका स्पन्दन वायुसे पृथक् नहीं है तथा आकाशकी शून्यता आकाशसे पृथक् नहीं है, वैसे ही द्वैत ईश्वरसे पृथक् नहीं है ॥ ८८ ॥

द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिए ही है, निवृत्तिके लिए नहीं है और जो इन द्वैत और अद्वैतकी उत्तम अप्रतीति है, वह परमपद है ॥ ८९ ॥

भूत, भावी और वर्तमान जगत् किसके अन्दर रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

भूत, भविष्यत् आदि जगत् शास्त्रीय प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिरूप ही है और लौकिक रीतिसे द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—त्रिपुटीरूप ही है, इससे अधिक नहीं है । वह सब जगत् साक्षीभूत चित्परमाणुमें स्थित है ॥ ९० ॥

जैसे पवन अपने ही शरीरमें स्पन्दको उत्पन्न कर देता है और लीन भी कर लेता है, वैसे ही इस आत्मरूप अणु सुमेरुने अपने शरीरमें इस जगद्रूपी अणुको बहुत बार उत्पन्न किया और लीन भी किया ॥ ९१ ॥

अहो नु भीमा मायेयमथवा मायिनां परा ।
परमाण्वन्तरेवाऽस्ति यत् त्रैलोक्यपरम्परा ॥ ९२ ॥
अथाऽसम्भवमायित्वमेवैतत्सर्वदा स्थितम् ।
चिन्मात्रपरमाणुत्वमात्रमेव जगत्स्थितिः ॥ ९३ ॥
अन्तर्गतजगज्जालोऽप्येषोऽणुः साम्यमत्यजन् ।
स्थितोऽन्तस्थबृहद्वृक्षं बीजं भाण्डोदरे यथा ॥ ९४ ॥
बीजेऽन्तर्वृक्षविस्तारः स्थितः सफलपल्लवः ।
परया दृश्यते दृष्ट्या जगच्च चिदणूदरे ॥ ९५ ॥

यह जगत् बृहद्भ्रम है, इस अंशका उपपादन करते हैं—'अहो' इत्यादिसे।

यह आत्मचिति मायाशबल होनेके कारण माया है अथवा मायावी यानी लोगोंको मोहमें डालनेवाले लोगोंकी मायासे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि परमाणुके अन्दर ही तीनों लोकोंकी परम्परा है, इसलिए दर्पणके अन्दर प्रतीत हुए पर्वतके समान वह नहीं ही है, अतः वह बृहद्भ्रम ही है ॥ ९२ ॥

यदि 'एक अद्वितीय ब्रह्म ही है' इस श्रुतिसे मायाकी भी असत्ता प्रतिपादित है, तो जगत् चिदणु ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसलिए जगत्प्रतीति महाभ्रम ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

यदि आत्मस्वरूप सदा मायाशून्य ही है, तो सर्वदा आत्मस्वरूप ही स्थित है, इस पक्षमें भी जगत्स्थिति चिन्मात्रपरमाणुत्वमात्र ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥ ९३ ॥

जैसे बीजके अन्दर वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् किसके अन्दर स्थित है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अन्तर्गत०' इत्यादिसे ।

जैसे बीज, जिसके कि अन्दर महान् वृक्ष है, पात्रके अन्दर रहता है, वैसे ही यह अणु, जिसके अन्तर्गत अनेकों जगत् विद्यमान हैं, अपनी समताका त्याग न कर स्थित है। 'बीजं भाण्डोदरे' यह दृष्टान्त परमाणुके अन्तर्गत ब्रह्मचित्में भी सम्पूर्ण जगत्की उत्पादनशक्ति भरी हुई है, यह सूचनके लिए है ॥ ९४ ॥

बीजके अन्दर जैसे वृक्ष रहता है, इस अंशका वर्णन करते हैं—'बीजेऽन्त०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे बीजके अन्दर फल, पल्लवोंसे युक्त वृक्षका विस्तार स्थित है और वह

सशाखाफलपुष्पं स्वमजहद् बीजकोटरे ।
यथा तरुः स्थितस्तद्वद्विकासि चिदणोर्जगत् ॥ ९६ ॥
संस्थितं द्वैतमद्वैतं बीजकोश इव द्रुमः ।
जगच्चित्परमाण्वन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥ ९७ ॥
न द्वैतं नैव चाऽद्वैतं न च बीजं न चाऽङ्कुरः ।
न स्थूलं न च वा सूक्ष्मं नाऽजातं जातमेव च ॥ ९८ ॥
न चाऽस्ति न च नाऽस्तीदं न सौम्यं क्षुभितं न च ।
त्रिजगच्चिदणोरन्तः खवाय्वपि न किञ्चन ॥ ९९ ॥
न जगन्नाऽजगच्चाऽस्ति विद्यते चित् परा शुभा ।
सर्वात्मिका यदा यत्र सा यथोदेति तत्तथा ॥ १०० ॥

परमार्थदृष्टिसे (योगपरिष्कृत दृष्टिसे) देखा जाता है, वैसे ही चिदणुके अन्दर अनेक शाखाप्रशाखाओंसे स्थित यह जगत् परमार्थदृष्टिसे (ब्रह्मदृष्टिसे) देखा जाता है ॥९५॥

जैसे बीजके अन्दर अपने शाखा, फल, फूल आदिका त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चिदणुके अन्दर यह विशाल जगत् स्थित है ॥ ९६ ॥

अपनी एकताका त्याग न करता हुआ उदित न हुआ भी कौन उदित होता है, इस प्रश्नमें स्थित 'स्वमेकमजहद्रूपम्' इन अंशोंका उपपादन करनेके लिए अध्यारोपित स्थूल, सूक्ष्म आदि प्रपञ्चका खण्डन करते हैं—'संस्थितम्' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकोंसे ।

बीजके अन्दर वृक्षके समान चित्परमाणुके अन्दर स्थित द्वैतरूप जगत्को जो अद्वैत देखता है, उसीका दर्शन दर्शन है यानी वही तत्त्वज्ञानी है, वस्तुतः न द्वैत है, न अद्वैत है, न बीज है, न अङ्कुर है, न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न कोई उत्पन्न हुआ, न अनुत्पन्न ही है, न इसकी सत्ता है, न असत्ता है, न यह सौम्य है, न क्षुभित है, चिदणुके अन्दर तीनों जगत् , आकाश, वायु आदि भी कुछ नहीं है । न जगत् है, न अजगत् है, केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चिति है ।

कौन उदित न होता हुआ भी उदित होता है, इस अंशका उपपादन करते हैं—'सर्वात्मिका' इत्यादिसे ।

वह चिति सर्वात्मिका है, वह जहाँ जिस रूपसे (प्राक्तन वासनाके अनुसार) उदित होती है, वहाँपर सृष्टि प्रतिभारूपसे आविर्भूत होती है ॥ ९७–१०० ॥

उदेत्यनुदितोऽप्येष स्वयंवेदनजृम्भितः ।
परमात्माणुरेकात्मा समग्रात्मतयैव खे ॥ १०१ ॥
द्रुमो भूमौ स्वबीजत्वमिवोदेत्यनुदेत्यपि ।
परं तत्त्वं जगद्भङ्ग्या जगत्तां स्वोदयेन च ॥ १०२ ॥
द्रुमो बीजतयैवाऽऽशु न सन्त्यक्तसमस्थितिः ।
तिष्ठत्यपगतस्पन्दस्त्यागात्यागपरोऽणुकः ॥ १०३ ॥
बिसतन्तुर्महामेरुः परमाणोरपेक्षया ।
दृश्यं किल बिशेत्तन्तुरदृश्याक्ष्णा पराणुता ॥ १०४ ॥
बिसतन्तुर्महामेरुः परमाणोः किलात्मनः ।
तस्यैव तद्घनाः स्वान्तः स्थिता मेर्वादिकोटयः ॥ १०५ ॥

उदित न होता हुआ भी यह एकात्मा परमाणु अपने सङ्कल्पसे विकासको प्राप्त होकर निष्प्रपञ्चस्वरूप आकाशमें समग्र वस्तुरूपसे स्थित है ॥ १०१ ॥

उक्त अर्थमें दृष्टान्त देते हैं—'द्रुमः' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्ष बीजोंको उत्पन्न करता हुआ और वृक्षस्वभावको न हटाता हुआ स्वबीजरूपसे उदित होता है, तदनन्तर भूमिको प्राप्त होता है, वैसे ही परम तत्त्व भी जगद्रूपसे उदित होता है और अपने उदयसे जगत्ताको यानी जन्म-मरण आदिकी कल्पनाको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

उन दोनोंमें विशेष इतना ही है कि वृक्ष बीजरूपसे ही विकारी नहीं है, किन्तु वृक्षरूपसे भी विकारी है, क्योंकि दोनों रूपोंसे उसमें विकाररूप विषमता देखी जाती है, आत्माणु तो असङ्ग अद्वितीय होनेके कारण सबके त्यागमें तत्पर है और सर्वानुगत सद्रूप होनेके कारण सबके अत्यागमें तत्पर है और निर्विकार ही सदा रहता है ॥ १०३ ॥

हे राजन्, जिसकी अपेक्षा स्थूल होनेके कारण बिसतन्तु महामेरु है, वह कौन है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'बिसतन्तु०' इत्यादिसे ।

परमाणुकी अपेक्षा स्थूल होनेके कारण बिसतन्तु महामेरु है, क्योंकि बिस-तन्तु दृष्टिगोचर होता है और परमाणुता नेत्रसे दृश्य नहीं है ॥ १०४ ॥

दृष्टान्तमें उक्तका दार्ष्टान्तिकमें समन्वय करते हुए 'ऐसे किसके उदरमें करोड़ों मेरुमन्दर हैं' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'बिसतन्तु०' इत्यादिसे ।

एकेन तेन महता परमाणुना च
व्याप्तं ततं विरचितं जनितं कृतं च ।
दृश्यं प्रपञ्चरचितं नभसेव विश्वं
शून्यत्वमच्छमभितः परिलब्धमेव ॥ १०६ ॥
द्वैतेन सुन्दरतरं स्वमनुज्झितेन
रूपं सुषुप्तसदृशेन यथावबोधात् ।
ऐक्यं गतं स्थितिगमागममुक्तमेव-
मित्थं स्थितं तनु जगत्परमार्थपिण्डः ॥ १०७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने परमार्थपिण्डीकरणं नाम एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

———:*:———

परमाणुके भी आन्तर आत्मरूप ब्रह्मकी अपेक्षा बिसतन्तु भी महामेरु है और उसीके अन्दर चिद्घन परमार्थस्वभाव करोड़ों मेरु-मन्दर स्थित हैं ॥ १०५ ॥

यह त्रिजगत् किसके द्वारा निर्मित है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं— 'एकेन' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश द्वारा गन्धर्व नगर आदि दृश्य नाना विचित्र प्रपञ्चरूपसे बनाया गया भी चारों ओर निर्मल शून्यताको यानी आकाशस्वरूपताको प्राप्त ही है, वैसे ही उस एक महान् और परमाणुसे विश्व अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंके रूपसे विस्तारित है, पञ्चीकरण द्वारा ब्रह्माण्ड और भुवनरूपसे बनाया गया है, उन ब्रह्माण्ड और भुवनोंमें देव, मनुष्य, असुर, तिर्यक् भेदसे उत्पन्न किया गया है और उनके भोगके लिए तत्-तत् विषयोंके भेदसे रचा गया है ॥ १०६ ॥

'किसके दर्शनसे निर्मलदृष्टि होकर तुम उससे अन्य नहीं होते अथवा सदा ही तद्रूप होते हो' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—' द्वैतेन ' इत्यादिसे ।

चित्संमिश्रित जड़ अविद्यामात्ररूप होनेके कारण सुषुप्तिके सदृश, स्वकालमें भी यानी द्वैतावस्थामें भी सत्ता और स्फूर्तिके व्यवहारकी सिद्धिके लिए सच्चिदानन्दैकरस होनेसे अत्यन्त सुन्दर अपने स्वरूप अर्थात् अधिष्ठान आत्मतत्त्वका त्याग न किये हुए द्वैतने जब यथास्थित आत्मतत्त्वके ज्ञानसे स्थिति, गमन और आगमनसे मुक्त ऐक्यको प्राप्त किया तब क्षुद्र जगत् परमार्थ पिण्डरूप

द्व्यशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा कर्कटी वनमर्कटी ।
अवबुद्धपदान्तं स्वं जहौ मत्सरचापलम् ॥ १ ॥
अन्तःशीतलतामेत्य विश्रान्तिमपतापताम् ।
प्राप्ता प्रावृण्मयूरीव सज्योत्स्नेव कुमुद्वती ॥ २ ॥
तथा राजगिरा तस्या आनन्द उदभूद् भृशम् ।
गर्भेऽन्तः खे बलाकाया रवेणेव पयोमुचः ॥ ३ ॥

राक्षस्युवाच

अहो बत पवित्रेयं भवतोर्भाति शेमुषी ।
अनस्तमितसारेण प्रबोधार्केण भासिता ॥ ४ ॥

ही रह जाता है इस प्रकार वह ब्रह्मैकस्वभावतासे स्थित है। इसलिए मैं संसाररूप नहीं हूँ, किन्तु सदा अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हूँ, यह भाव है ॥ १८७ ॥

एकासी सर्ग समाप्त



बयासी सर्ग

[प्रसन्न हुई कर्कटीका राजा और मन्त्रीको मन्त्र देना और उनका समाधिसे व्युत्थित हुई इसके लिए वध्य लोगोंका भोजनरूपसे अर्पण करना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार राजाके मुखसे सुनकर उस वनकी बन्दरीरूपी कर्कटी राक्षसीने अपनी राक्षस जातिके योग्य मात्सर्य-प्रयुक्त चपलताका, जिसका कि ज्ञात ब्रह्मपद ही मूलोच्छेदपूर्वक नाश है, त्याग कर दिया। वह बाह्यदृष्टिरूप सन्तापसे रहित अन्तःशीतलताको प्राप्त होकर ऐसे विश्रान्तिको प्राप्त हुई जैसे कि चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त कुमुदिनी और वर्षाकालकी मयूरी अन्तःशीतलताको प्राप्त होकर विश्रान्तिको प्राप्त होती है। उसको राजाकी उस वाणीसे अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे आकाशमें मेघोंके शब्दसे गर्भधारण करनेपर बलाकाको आनन्द होता है ॥ १–३ ॥

राक्षसीने कहा—अहो, आप दोनोंकी बुद्धि बड़ी पवित्र मालूम पड़ती है, जो कभी अस्त न हो ऐसे ज्ञानरूपी सूर्यसे वह भासित है। जैसे चन्द्रमण्डलसे निकली

शीता समरसा शुद्धा ज्योत्स्नेव शशिमण्डलात् ।
विवेककणिकां श्रुत्वा भवतो हृदयादियम् ॥ ५ ॥
विवेकिनो जगत्पूज्याः सेव्या मन्ये भवादृशाः ।
मत्सङ्गात्सविकासाऽस्मि चन्द्रेणेव कुमुद्वती ॥ ६ ॥
सौरभं कुसुमासङ्गादेव सत्सङ्गमाच्छुभम् ।
वर्त्तते ह्यर्कसम्पार्काद्विकासोऽम्बुरुहामिव ॥ ७ ॥
महतामेव सम्पर्कात्पुनर्दुःखं न बाधते ।
को हि दीपशिखाहस्तस्तमसा परिभूयते ॥ ८ ॥
मयेमौ जङ्गलप्राप्तौ भवन्तौ भूमिभास्करौ ।
पूजनीयावतः शीघ्रमीहितं कथ्यतां शुभम् ॥ ९ ॥

राजोवाच

अस्मिन् जनपदे रक्षःकुलकाननमञ्जरि ।
जनस्य बाधतेऽत्यन्तं सदा हृदयशूलनम् ॥ १० ॥
यतः सर्वैव जनता तप्ता दृढविषूचिका ।
मण्डले ननु तेनाऽहं निर्गतो रात्रिचर्यया ॥ ११ ॥

हुई चाँदनी शुद्ध, शीतल और समरस होती है वैसे ही यह मैं आप लोगोंकी बुद्धिसे वाणी द्वारा निकली हुई विवेकामृत कणिकाको सुनकर शुद्ध शीतल और समरस हो गई हूँ, हे राजन्, आपके सदृश जो विवेकी पुरुष हैं, वे जगत्के पूज्य हैं और सेवा करने योग्य हैं, ऐसा मैं समझती हूँ, जैसे चन्द्रमासे कुमुदिनी विकसित होती है, वैसे ही मैं आप लोगोंके सत्सङ्गसे विकसित हो गई हूँ ॥ ४—६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे कमलोंका विकास होता है और कुसुमोंके संसर्गसे सुगन्धि प्राप्त होती है, वैसे ही सत्सङ्गतिसे कल्याण प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

महात्माओंकी सङ्गतिसे फिर दुःख नहीं होता, जिसके हाथमें दीपशिखा हो क्या ऐसा पुरुष अन्धकारसे तिरस्कृत हो सकता है ? ॥ ८ ॥

मैंने भूमिके सूर्यके सदृश आप दोनोंको इस जङ्गलमें पाया है, आप दोनों पूजनीय हैं, इसलिए शीघ्र कहिए, मैं आप लोगोंकी कौन शुभ इच्छा पूरी करूँ ॥९॥

राजाने कहा—हे राक्षसकुलकाननकी मञ्जरी, इस नगरमें हृदयशूल सदा प्राणियोंको अत्यन्त पीड़ा पहुँचाता है, चूँकि मेरे राज्यमें सारी-की-सारी जनता दृढ़ विषूचिकासे युक्त होकर सन्तप्त है, इसीलिए मैं अपनी रात्रिचर्या करनेके

शूलादि हृदये नृणां न शाम्यति यदौषधैः ।
ततोऽहं त्वद्विधप्रोक्तमन्त्रार्थेन विनिर्गतः ॥ १२ ॥
त्वादृशस्य च लोकस्य मुग्धलोकाभिघातिनः ।
निग्रहार्थं प्रवृत्तिर्मे सा च सम्पत्तिमेत्यलम् ॥ १३ ॥
एतावदेव च शुभे त्वयाऽङ्गीक्रियतां वचः ।
भूयो भवत्या प्राणा हि हिंसनीया न कस्यचित् ॥ १४ ॥

राक्षस्युवाच

बाढमेवं करोम्यद्यप्रभृत्यवितथं प्रभो ।
सत्यमेव न किञ्चिद्धि हिंसनीयं मयाऽधुना ॥ १५ ॥

राजोवाच

यद्येवं फुल्लपद्माक्षि परदेहैकभोजने ।
किं स्याच्छरीरवृत्त्यै ते स्थिताया मत्समीहिते ॥ १६ ॥

राक्षस्युवाच

षड्भिर्मासैर्गिरौ राजन् प्रबुद्धायाः समाधितः ।
जाता भोजनसङ्कल्पाद्भोजनेच्छेयमद्य मे ॥ १७ ॥

लिए निकला हूँ, जब मनुष्योंके हृदयमें शूलादि रोग औषध द्वारा शान्त नहीं हुआ तब मैं तुम्हारे सरीखे पुरुषों द्वारा कहे गये मन्त्रकी अभिलाषासे घरसे बाहर निकला हूँ ॥ ११, १२ ॥

मूढ़ लोगोंका विनाश करनेवाले तुम्हारे तुल्य व्यक्तिके निग्रहके लिए मेरी प्रवृत्ति हुई है। वह इस समय सर्वथा सम्पन्न हो गई है। हे शुभे, तुम मेरा इतना ही वचन स्वीकार कर लो कि अब तुम किसीके भी प्राण न लेना। राक्षसीने कहा—बहुत ठीक है, हे प्रभो, आजसे लेकर मैं निश्चित ऐसा ही करूँगी। मैं सच कहती हूँ, अब मैं किसीकी हत्या नहीं करूँगी ॥ १३–१५ ॥

राजाने कहा—हे प्रफुल्लित कमलके सदृश नेत्रवाली राक्षसी, दूसरे जीवोंकी देहसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवाली हे कर्कटी, यदि ऐसा है, तो मेरे अभीष्ट अहिंसनरूप व्रतमें स्थित हुई तुम्हारे शरीरका निर्वाह कैसे होगा ? ॥ १६ ॥

राक्षसीने कहा—हे राजन्, हिमालय पर्वतमें छः मासके बाद समाधिसे उठी हुई मुझे भोजनके सङ्कल्पसे आज यह भोजनेच्छा हुई है। इस समय उसी

इदानीं शिखरं गत्वा तदेव ध्याननिश्चला ।
यावदिच्छं सुखेनाऽऽसे सजीवा शालभञ्जिका ॥ १८ ॥
आमृतीं धारणां बद्ध्वा धारयामि शरीरकम् ।
यथेच्छमथ कालेन त्यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ १९ ॥
आशरीरपरित्यागमिदानीं न मया नृप ।
हिंसनीयाः परप्राणास्तेनेदं मद्वचः शृणु ॥ २० ॥
हिमवान्नाम शैलोऽस्ति शरच्चन्द्रांशुनिर्मलः ।
य उत्तराशाहृदये स्पृष्टपूर्वापरार्णवः ॥ २१ ॥
तत्राऽहं निवसाम्यग्रे हेमशृङ्गदरीगृहे ।
आयसी मेघलेखेव कर्कटी नाम राक्षसी ॥ २२ ॥
तपसोपार्जितो ब्रह्मा जनतामारणेच्छया ।
विषूचिका प्राणहरा स्यां सूच्यात्मेति भो मया ॥ २३ ॥
तस्मात् सम्प्राप्तवरया बहून् वर्षगणान् मया ।
भुक्ता विषूचिकात्वेन जनता जीवबाधनैः ॥ २४ ॥
त्वया न गुणिनो हिंस्या इति मे ब्रह्मणा ततः ।
नियमार्थं महामन्त्रस्तदायत्ताऽस्मि संस्थिता ॥ २५ ॥

शिखरपर जाकर, समाधि लगाकर अपने इच्छानुसार सजीव प्रतिमाके समान मैं सुखसे रहती हूँ। अमृतरूप आत्माकी भावनावाली समाधि लगाकर मैं अपने शरीरको इच्छानुसार जीवित रखती हूँ। उसके अनन्तर मैं अपने शरीरका त्याग करूँगी, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ १७–१९ ॥

हे राजन्, अब मैं अपने शरीरके परित्यागतक प्राणियोंकी हत्या नहीं करूँगी, इसलिए मेरे इस वचनको सुनो ॥ २० ॥

राजन्, हिमालयनामक पर्वत है, जो शरत्कालकी चाँदनीके समान शुभ्र है एवं उत्तर दिशाके मध्यमें पूर्व और पश्चिम सागरका अवगाहन कर स्थित है ॥२१॥

पहले लोहेकी मेघघटाके समान कर्कटी नामकी मैं उस पर्वतमें स्वर्णशिखरके गुफारूपी घरमें रहती थी। मैंने जनताको मारनेकी इच्छासे जीवोंके प्राणको हरनेवाली सूचीरूपी विषूचिका होनेके लिए ब्रह्माजीको तपसे प्रसन्न किया। ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त कर मैंने बहुत वर्षोंतक विषूचिकारूपसे जीवोंको क्लेशप्रदान द्वारा जनताका विनाश किया। तुम गुणी लोगोंकी हिंसा न करना, यों ब्रह्माजीने गुणी

सोऽयं प्रगृह्यतां तेन सर्वं हृदयशूलनम् ।
शममेष्यति लोकेऽस्मात् का कथा मत्कृते श्रमे ॥ २६ ॥
विततैवाऽस्मि हिंसायां यत्पुरा हिंसितं मया ।
जनस्य हृदयं तेन नाड्यो वैधुर्यमागताः ॥ २७ ॥
हिंसित्वा रक्तमांसानि सन्त्यक्ता ये महाजनाः ।
तेभ्यो विधुरनाडीभ्यो ये जातास्तेऽपि तादृशाः ॥ २८ ॥
राजन् विषूचिकामन्त्रः सोऽयं सम्पन्न एव ते ।
नहि सत्त्ववतामस्ति दुःसाध्यमिह किञ्चन ॥ २९ ॥
अतो दुर्नाडिकोशेषु शूलानां परिशान्तये ।
मन्त्रो यो ब्रह्मणा प्रोक्तो राजन् शीघ्रं गृहाण तम् ॥ ३० ॥
आगच्छ निकटं नद्या गच्छामस्तत्र भूमिप ।
स्वाचान्ताभ्यां संयताभ्यां भवद्भ्यां सुमता ददे ॥ ३१ ॥

लोगोंकी हिंसा न करनेके लिए महामन्त्र दिया। मैं उस मन्त्रके अधीन होकर स्थित हूँ ॥ २२–२५ ॥

उस मन्त्रको तुम लो, उससे सम्पूर्ण हृदयशूल लोकमें शान्त हो जायँगे, मेरे द्वारा की गई पीडाकी तो बात ही क्या है? मैंने जगत्में पहले खूब हिंसा की। मैंने पहले खून चूसनेसे लोगोंके हृदयको खूनरहित कर दिया। उससे लोगोंकी नाडियां खूनसे रहित हो गई हैं ॥ २६, २७ ॥

मारकर, रक्त और मांसको चूसकर जो बहुतसे लोग मैंने छोड़े, रक्तसंचारसे रहित नाडीवाले उन लोगोंसे जो लोग उत्पन्न हुए वे भी वैसे ही हुए यानी किसी प्रकार उनका जीवन रहनेपर भी उनके वंशजोंमें भी रक्तरहितता हुई, इसलिए हिंसा अत्यन्त अनर्थकारिणी है ॥ २८ ॥

हे राजन्, यह विषूचिकामन्त्र तुमको प्राप्त हुआ ही समझो, क्योंकि सत्त्वयुक्त जो पुरुष हैं, उनके लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है। इसलिए हे राजन्, दुष्ट नाडियोंके अन्दर शूलरोगकी शान्तिके लिए ब्रह्माजीने जो मन्त्र कहा था, उसको आप शीघ्र ग्रहण कीजिए ॥ २९, ३० ॥

हे राजन्, आओ नदीके समीप चलें, वहाँपर तुम्हारे ऊपर खूब प्रसन्न हुई मैं आचमन कर पवित्र हुए तुम दोनोंको उक्त मन्त्र देती हूँ ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति तस्यां तदा रात्र्यां राक्षसीमन्त्रिभूभृतः ।
जग्मुस्ते सरितस्तीरं मिथः सञ्जातसौहृदाः ॥ ३२ ॥
अन्वयव्यतिरेकेण राक्षस्याः सौहृदं तदा ।
ज्ञात्वा स्थितौ तौ स्वाचान्तावुभावन्तेनिवासिनौ ॥ ३३ ॥
तया ब्रह्मोपदिष्टोऽसौ ततस्ताभ्यां यथाक्रमम् ।
स्नेहाद्विषूचिकामन्त्रः प्रदत्तो जपसिद्धिदः ॥ ३४ ॥
ततः सञ्जातसौहार्दौ तौ विसृज्य निशाचरी ।
यदा गन्तुं प्रवृत्ताऽसौ तदा राजाऽब्रवीद्वचः ॥ ३५ ॥

राजोवाच

गुरुस्त्वं नौ महादेहे वयस्या च सुनिर्वृता ।
निमन्त्रयावहे यत्नाद् ग्रासाय तव सुन्दरि ॥ ३६ ॥
न चाऽस्मत्प्रणयं प्रीता वितथीकर्तुमर्हसि ।
सौहार्दं सुजनानां हि दर्शनादेव वर्द्धते ॥ ३७ ॥
लघुसौभाग्यसंयुक्तं कृत्वाऽऽकारं मनोरमम् ।
आगच्छाऽस्मद्गृहं भद्रे तत्र तिष्ठ यथासुखम् ॥ ३८ ॥

वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार उस रात्रिमें राक्षसी, मन्त्री और राजा तीनों, जिनमें परस्पर मित्रता हो गई थी, नदीके निर्जन तटपर गये। तब अन्वय और व्यतिरेकसे राक्षसीकी मैत्रीको जानकर आचमन किये हुए वे दोनों राक्षसीके शिष्य होकर बैठे, तदुपरान्त उक्त राक्षसीने ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट जपसे सिद्धि देनेवाला वह विषूचिकामन्त्र क्रमशः उनको स्नेहपूर्वक दिया।

तदनन्तर उन राजा और मन्त्रीसे, जिनके साथ उसकी मित्रता हो गई थी, विदा होकर जब वह राक्षसी चलने लगी, तब राजाने उससे कहा ॥ ३२–३५ ॥

राजाने कहा—हे विशालशरीरवाली, तुम हमारी गुरु और सखी बन गई हो, इसलिए हे सुन्दरी, हम लोग तुम्हारे भोजनके लिए यत्नसे तुम्हें निमन्त्रित करते हैं। हमारे ऊपर प्रसन्न हुई तुम हमारी विनतीको अस्वीकार करनेके लिए योग्य नहीं हो, सज्जनोंकी मित्रता दर्शनसे ही बढ़ती है। अत्यन्त सौभाग्ययुक्त और मनोहर छोटे आकारको बनाकर हे भद्रे, आप हमारे घरमें आइए और वहाँ आनन्दपूर्वक रहिए ॥ ३६–३८ ॥

राक्षस्युवाच

मुग्धस्त्रीरूपधारिण्यै दातुं शक्तोऽसि भोजनम् ।
सन्तर्पयसि मां केन राक्षसाकारधारिणीम् ॥ ३९ ॥
रक्षोन्नमेव संतुष्ट्यै न सामान्यजनाशनम् ।
पूर्वसिद्धस्वभावोऽयमादेहं न निवर्तते ॥ ४० ॥

राजोवाच

हेमस्रग्दामवलिता दिनानि कतिचिद्गृहे ।
मम स्त्रीरूपिणी तिष्ठ यावदिच्छमनिन्दिते ॥ ४१ ॥
ततो दुष्कृतिनश्चौरान् वध्याञ्छतसहस्रशः ।
मण्डलेभ्यः समानीय ददे तुभ्यं सुभोजनम् ॥ ४२ ॥
कान्तारूपं परित्यज्य गृहीत्वा राक्षसं वपुः ।
आदाय वध्याञ्छतशः पुरुषांस्तान् सुसंचितान् ॥ ४३ ॥
नयस्व हिमवच्छृङ्गं तत्र भुङ्क्ष्व यथासुखम् ।
महाशनानामेकान्ते भोजनं हि सुखायते ॥ ४४ ॥

राक्षसीने कहा—राजन् , मुग्धा युवतीका रूपधारण करनेवाली मेरे लिए भोजन देनेमें आप समर्थ हैं, पर राक्षसरूप धारण करनेवाली मुझको किससे आप तृप्त करेंगे ? राक्षस अन्न ही मेरे लिए सन्तोषप्रद होता है और सामान्य लोगोंका भोजन मेरे सन्तोषके लिए नहीं होता, क्योंकि यह मेरा स्वभाव बहुत कालसे परिपाकको प्राप्त हो गया है, अतः जबतक मेरी देह रहेगी, तबतक यह हट नहीं सकता॥३९,४०॥

राजाने कहा—हे अनिन्दिते, सोनेके हारोंसे विभूषित स्त्रीका रूप धारण करनेवाली तुम मेरे घरमें जब तक तुम्हारी इच्छा हो, कुछ दिनोंतक, रहो ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सैकड़ों हजारों पापियों चोरों और दण्डनीयोंको अपने राज्यसे लाकर मैं तुम्हारा अनुरूप भोजन तुमको दूँगा ॥ ४२ ॥

स्त्रीके सुन्दर रूपका परित्याग कर राक्षसीका शरीर धारण कर तुम सैकड़ों दण्डनीय पुरुषोंको, जो कि एकट्ठे किये रहेंगे, उठाकर हिमालय पर्वतके शिखरपर ले जाना और वहाँपर सुखपूर्वक उन्हें खाना । जो अधिक भोजन करते हैं, उनको एकान्तमें भोजन करना बड़ा रुचिकर होता है ॥ ४४ ॥

तृप्ता निद्रां मनाक्कृत्वा भव भूयः समाधिभाक् ।
समाधिविरता भूयोऽप्यागत्य पुनरन्यदा ॥ ४५॥

नेष्यस्यन्यान् वध्यजनान् हिंसा नैषां च धर्मतः ।
स्वधर्मेण च हिंसैव महाकरुणया समा ॥ ४६ ॥

त्वं समेष्यसि चाऽवश्यं मां समाधिविरागिणी ।
असतामपि संरूढं सौहार्दं न निवर्तते ॥ ४७ ॥

राक्षस्युवाच

युक्तमुक्तं त्वया राजन् करोम्येवमहं सखे ।
सौहार्देन प्रवृत्तस्य को वाक्यं नाऽभिनन्दति ॥ ४८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसी तत्र सम्पन्ना सुविलासिनी ।
हारकेयूरकटकपट्टस्रग्दामधारिणी ॥ ४९ ॥

राजन्नागच्छ गच्छाम इत्युक्त्वा भूपमन्त्रिणौ ।
अग्रे गन्तुं प्रवृत्तौ तौ रात्रावनुससार सा ॥ ५० ॥

भोजनसे तृप्त होकर थोड़ी निद्रा लेकर फिर तुम समाधिस्थ हो जाओ। समाधिसे व्युत्थित होकर फिर आकर दूसरी बार अन्य वध्य जनोंको ले जाओगी। धर्मतः इन लोगोंकी हिंसा हिंसा नहीं है, स्वधर्मसे हिंसा ही इनके लिए महती कृपाके समान है। अवश्य तुम समाधिसे उठकर मेरे पास आओगी, क्योंकि असज्जनोंकी भी बढ़ी हुई मित्रता निवृत्त नहीं होती ॥ ४५-४७ ॥

राक्षसीने कहा—हे मित्र, तुमने बहुत ही युक्तियुक्त कहा है, हे राजन्, मैं तुम्हारे कथनानुसार ही करती हूँ। मित्रतासे प्रवृत्त हुए पुरुषके वचनका कौन अभिनन्दन नहीं करता ! ॥ ४८ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हेरामचन्द्रजी, ऐसा कहकर वह राक्षसी वहाँपर सुन्दर स्त्री बन गई। उसने हार, बाजूबन्द, कड़े, रेशमी वस्त्र और सुन्दर मालाएँ धारण कर लीं ॥ ४९ ॥

हे राजन्, आओ चलें, ऐसा कहकर वह राक्षसी रात्रिमें पहले चलनेके लिए तैयार हुए उक्त राजा और मन्त्रीके पीछे-पीछे चली ॥ ५० ॥

अथ ते पार्थिवगृहं प्राप्य तां रजनीं मिथः ।
कथयैकगृहे रम्ये क्षपयामासुराहताः ॥ ५१ ॥
प्रभातेऽन्तःपुरे तस्थौ पुरन्ध्रीजनलीलया ।
राक्षसी मन्त्रिराजानौ स्वव्यापारौ बभूवतुः ॥ ५२ ॥
ततो दिवसषट्केन संचितानि महीभृता ।
नृपः परपुरेभ्योऽपि स्वमण्डलगणात्तथा ॥ ५३ ॥
त्रीणि वध्यसहस्राणि तानि तस्यै तदा ददौ ।
सा बभूव निशाकाले सैवोग्रा कृष्णराक्षसी ॥ ५४ ॥
तानि वध्यसहस्राणि जग्राह भुजमण्डले ।
धारानिकरजालानि मेघमालेव कोटरे ॥ ५५ ॥
ययौ राजानमापृच्छ्य तदेव हिमवच्छिरः ।
दरिद्रा लब्धहेमेव ग्रहेषूग्रशरीरिणी ॥ ५६ ॥
तत्र तृप्ता भृशं भुक्त्वा सुखं सुप्त्वा दिनत्रयम् ।
आसीत् प्रबोधसुस्वस्था सा समाधिमतिः पुनः ॥ ५७ ॥

इसके बाद राजाके महलमें पहुँचकर एक दूसरेके साथ आदर भाव रखनेवाले उन्होंने एक सुन्दर घरमें बैठकर परस्पर कथा आदिसे सारी रात बिता दी ॥ ५१ ॥

प्रातःकाल होनेपर वह राक्षसी सती-साध्वी स्त्रीकी लीलासे अन्तःपुरमें स्थित हुई और राजा एवं मन्त्री अपने-अपने कार्यमें लगे ॥ ५२ ॥

तदुपरान्त राजाने अपने मण्डलमें से तथा दूसरे लोगोंके नगरोंसे भी तीन हजार दण्डनीय लोगोंको इकट्ठा कर दिया, उन्हें इकट्ठा करनेके उपरान्त राजाने वे सब उस राक्षसीको दे दिये । वह रात्रिमें फिर वैसी ही भयङ्कर काली राक्षसी बन गई । उन तीन हजार वध्योंको उसने अपने भुजमण्डलमें ऐसे ग्रहण किया जैसे कि मेघमाला अपने मध्यमें लटक रही धाराओंको ग्रहण करती है। फिर जैसे कोई दरिद्रा सुवर्णको पाकर राजासे अनुमति लेकर चली जाती है, वैसे ही पूतना, राक्षस, पिशाच आदिमें बृहत्काय होनेके कारण श्रेष्ठ वह राक्षसी राजासे अनुमति लेकर उसी हिमालयशिखरपर चली गई ॥ ५३–५६ ॥

वहाँ सुखपूर्वक भोजन करके खूब तृप्त हुई तीन दिनतक लगातार सोकर

पञ्चभिर्वा चतुर्भिर्वा वर्षैः सा सम्प्रबुध्यते ।
तत्ततो मण्डलं याति तेन राजसभाजने ॥ ५८ ॥

तत्र विश्रम्भगर्भाभिः कथाभिः कश्चिदेव सा ।
स्थित्वा कालं गृहीत्वा तान् वध्यान् स्वास्पदमेत्यथ ॥ ५९ ॥

जीवन्मुक्तयैवमेव विपिने साऽद्याऽपि रक्षोङ्गना
तस्मिन्नेव गिरौ स्थिता विचलितध्यानैकतानाशया ।
तस्मिन् राजनि शान्तिमागतवति त्यक्तैषणेनाऽऽत्मना
तद्राष्ट्राधिपसौहृदैः स्वकवलानास्वादयन्ती चिरम् ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने राक्षशीसौहार्दं नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥



जागरणसे स्वस्थ हुई उसने फिर समाधि ले ली ॥ ५७ ॥

वह पाँच या चार वर्षोंमें समाधिसे जागृत होती थी और तदनन्तर समाधिसे उठनेके बाद फिर राजाके पूर्वोक्त वचनसे प्रीतिसङ्गमकी इच्छा होनेपर राजाके पास जाती थी ॥ ५८ ॥

वहाँ परस्पर विश्वासपूर्ण कथाएँ करती हुई कुछ कालतक रहकर उन वध्योंको लेकर फिर अपने स्थान हिमालयको जाती ॥ ५९ ॥

वह राक्षसी आज भी पूर्वोक्त रीतिसे ही जीवन्मुक्त होनेके कारण उसी हिमालय पर्वतके वनमें कभी यानी व्युत्थान होनेपर लौकिक व्यवहार करनेवाली कभी यानी समाधिमें एकमात्र ज्ञानमें लीन चित्तवाली होकर बैठी है। उस किरातोंके राजाके काल आनेपर सकल एषणाशून्य मनसे विदेहकैवल्यरूप परम शान्तिको प्राप्त होनेपर उसके वंशजोंकी, जो उस समय उस राष्ट्रके अधिपति थे, मित्रतासे पूर्वकी नाईं अपने ग्रासभूत वध्योंको खाती हुई चिरकालसे स्थित है ॥६०॥

बयासी सर्ग समाप्त

त्र्यशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

किरातमण्डले तस्मिन् ये भवन्ति महीभृतः ।
तैस्तैः सह परा मैत्री तस्याः समभिजायते ॥ १ ॥
सर्वांस्तत्र महोत्पातान् पिशाचादिभयान्यपि ।
रोगांश्च योगसंसिद्धा निवारयति राक्षसी ॥ २ ॥
बहुवर्षगणेनैषा ध्यानाद् विरतिमागता ।
तत्राऽऽगत्य समस्तांस्तान् वध्याञ्जन्तून् सुसंचितान् ॥ ३ ॥
अद्याऽपि तत्र ये वध्यास्ते तदर्थं महीभुजा ।
नीयन्ते मित्रसन्माने के हि नाऽध्यवसायिनः ॥ ४ ॥
तस्यां ध्याननिषण्णायां किरातजनमण्डले ।
अनायान्त्या चिरं कालं जनैर्दोषप्रशान्तये ॥ ५ ॥
सा देवी कन्दरानाम्नी मङ्गलेतरनामिका ।
सम्प्रतिष्ठापिता मूर्त्या पुरे गगनकोटरे ॥ ६ ॥

तिरासी सर्ग

[समाधिसे चिरकाल तक व्युत्थित नहीं हुई वह कर्कटी किरातमण्डलमें कन्दरा-देवीरूपसे प्रतिष्ठित हुई—यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस किरातमण्डलमें जो जो राजा होते हैं, उन सबके साथ उस राक्षसीकी अत्यन्त मैत्री रहती है ॥ १ ॥

वह योगसिद्ध राक्षसी वहाँपर जो बड़े-बड़े उत्पात, पिशाच आदिका भय, और रोग उत्पन्न होते, उन सबकी निवृत्ति करती है ॥ २ ॥

बहुत वर्षोंके पश्चात् ध्यानसे विरत हुई वह किरातमण्डलमें आकर इकट्ठे किये हुए समस्त वध्य जन्तुओंको खाती है । आज भी वहाँपर जो लोग वध्य होते हैं, उन्हें राजा उसके लिए ले जाता है । अपने मित्रका सन्मान करनेके लिए कौन उद्योगशील नहीं होता । उसके ध्यानमें बैठ जानेपर और किरातमण्डलमें चिर-कालतक न आनेपर लोगोंने विविध दोषोंकी शान्तिके लिए कन्दरा नामकी उस देवीकी, जिसका दूसरा नाम मङ्गला था, नगरमें गगनचुम्बी राजमहलके ऊपर मूर्तिरूपसे स्थापना की ॥ ३–६ ॥

ततःप्रभृति तत्रत्यो यो यो भवति भूमिपः ।
स कन्दरां भगवतीं प्रतिष्ठापयति स्वयम् ॥ ७ ॥
यः कन्दराप्रतिष्ठां च न करोति नृपाधमः ।
तस्योपतापनिचयाः प्रजा निघ्नन्ति यत्नतः ॥ ८ ॥
तत्पूजनादवाप्नोति जनस्तन्निखिलं फलम् ।
स्ववासनावशोच्छूनमनर्थं यात्यपूजनात् ॥ ९ ॥
वध्यलोकोपहारेण सा देवी परिपूज्यते ।
प्रतिमा सा स्थिताऽद्याऽपि चित्रस्था फलदायिनी ॥ १० ॥
सकलकोमलमङ्गलकारिणी कवलिताखिलवध्यमहाजना ।
जयति साऽत्र किरातजनास्पदे परमबोधवती चिरदेवता ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्कट्युपाख्याने कन्दरापूजनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

तबसे लेकर उस मण्डलका जो भी राजा होता है, वह भगवती कन्दराकी प्रतिष्ठा करता है यानी कालसे पूर्वप्रतिमाके नष्ट होनेपर नयी प्रतिमाकी स्थापना करता है ॥ ७ ॥

जो अधम राजा कन्दरा देवीकी प्रतिष्ठा नहीं करता, अनेक उपद्रव आदि उसकी प्रजाको यत्नपूर्वक नष्ट करते हैं ॥ ८ ॥

उसके पूजनसे मनुष्य उत्पात, रोग आदिकी शान्तिरूप सम्पूर्ण फलको प्राप्त होते हैं और जो पूजन नहीं करते, वे अपनी अपनी वासनासे उत्पन्न हुए अनर्थको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

वध्य जनोंकी बलिसे उस देवीकी पूजा की जाती है, वह प्रतिमा आज भी वहाँपर स्थित है, अन्यत्र भी यदि वह चित्रमें लिखित हो, तो भी उक्त फल देती है ॥ १० ॥

सम्पूर्ण लोगोंको बालक, बछड़े, धन, धान्य आदि वैभव और सम्पत्तियाँ देनेवाली, सम्पूर्ण वध्य जनोंको ग्रसनेवाली, परम बोधवती, चिरकालसे अनुवृत्त देवीरूपा वह कर्कटी किरातजनोंके मण्डलमें स्थित है ॥ ११ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त

चतुरशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं सर्वं मयाऽऽख्यानमनिन्दितम् ।
कर्कट्या हिमराक्षस्या यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

हिमवद्गह्वरे प्रोत्था सा कथं कृष्णराक्षसी ।
बभूव कर्कटीनाम्ना यथावद्वद मे प्रभो ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

कुलानि सन्त्यनेकानि राक्षसानां स्वभावतः ।
तानि शुक्लानि कृष्णानि हरितान्युज्ज्वलानि च ॥ ३ ॥
कर्कटप्राणिसादृश्यात् कर्कटो नाम राक्षसः ।
बभूव तज्जा सा कृष्णा कर्कटी कर्कटाकृतिः ॥ ४ ॥
कर्कटीप्रश्नसंस्मृत्या मयैषा कथिता तव ।
अध्यात्मोक्तिप्रसङ्गेन विश्वरूपनिरूपणे ॥ ५ ॥

चौरासी सर्ग

[राक्षसीके कर्कटी नाममें हेतु, उपदेशसे अर्थकी कल्पना और दृष्टान्तकथनका उपयोगकथन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, मैंने आपसे हिमालयकी राक्षसी कर्कटीका यह अनिन्दित आख्यान आदिसे अन्ततक यथावत् कहा ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, हिमालय पर्वतकी गुफामें वह राक्षसी कैसे कर्कटी नामसे उत्पन्न हुई ? यह मुझसे आप यथार्थरूपसे कहिए। भाव यह कि उसकी कृष्णवर्णता और कर्कटीनाम होनेमें क्या हेतु है ? ऐसी रामचन्द्रजीने आशङ्का की ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, राक्षसोंके अनेक वंश हैं, उनमें कोई स्वभावतः सफेद हैं, कोई काले हैं, कोई हरे हैं और कोई उज्ज्वल हैं ॥ ३ ॥

कर्कटके (केकड़ेके) सदृश होनेसे एक राक्षसका नाम कर्कट पड़ा। उससे उत्पन्न हुई काली कर्कटके समान आकृतिवाली वह राक्षसी कर्कटी कहलाई। विश्वरूपके (जगत्तत्त्वके) निरूपणके प्रस्तुत होनेपर अध्यात्मविषयक उक्तियोंके सिलसिलेमें कर्कटीके प्रश्नोंका स्मरण होनेसे मैंने इसका वर्णन आपसे किया ॥ ४,५ ॥

सम्पन्नमेवमेकस्मादसम्पन्नमिव स्फुटम् ।
इदं जगदनाद्यन्तात् पदात् परमकारणात् ॥ ६ ॥
प्लाविन्यो वीचयो वारिण्यन्यानन्याः स्थिता यथा ।
वर्तमाना अपि परे सृष्टयः संस्थितास्तथा ॥ ७ ॥
अज्वलन्नेव काष्ठेषु वह्निरर्थक्रियां यथा ।
करोति मर्कटादीनां शीतापहरणादिकम् ॥ ८ ॥
समं सौम्यत्वमजहदेव नित्योदयस्थिति ।
तथा ब्रह्म करोतीदं नाना कर्तेव सज्जगत् ॥ ९ ॥
अप्यनागत एवाऽयमेवं सर्ग उपागतः ।
भोः शालभञ्जिकासंविद्दारुण्येव मुधोदिता ॥ १० ॥
बीजे यथाऽनन्यदपि फलाद्यन्यदिवोदितम् ।
चितौ तथाऽनन्यदपि चेत्यमन्यदिवोदितम् ॥ ११ ॥

कही गई आख्यायिकाकी प्रकृतमें योजना करते हैं—'सम्पन्नमेव' इत्यादिसे ।

अनुत्पन्न हुआ ही यह जगत् आद्यन्तरहित परमकारण अद्वितीय ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ-सा प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

जैसे जलराशिमें उठ रहीं (वर्तमान), अतीत और अनागत तरङ्गें भिन्न-अभिन्न-रूपसे स्थित हैं, वैसे ही परब्रह्ममें वर्तमान, अतीत और अनागत सृष्टियाँ अन्य-अनन्यरूपसे स्थित हैं ॥ ७ ॥

यदि वर्तमान सृष्टियाँ अतीत और अनागत सृष्टियोंके तुल्य हैं, तो उनमें अर्थक्रियाकारितारूप विशेष कैसे है ? इसपर कहते हैं—'अज्वलन्' इत्यादिसे ।

जैसे काष्ठोंमें न जलता हुआ भी वह्नि बन्दरोंके शीतनिवारणरूप अर्थक्रिया-कारिताको करता है, वैसे ही नित्योदित और नित्यस्थित ब्रह्म ही कर्ता-सा होकर इन अनेक जगतोंको करता है फिर भी वह अपनी समता, सौम्यत्व आदिका त्याग नहीं करता यानी वर्तमान सृष्टिमें जो अर्थक्रियाकारिता है, वह भ्रम ही है, क्योंकि वास्तवमें अतीत, अनागत सृष्टियोंकी नाईं वर्तमान सृष्टिमें भी अर्थक्रिया-कारिता उक्त रीतिसे नहीं है ॥ ८, ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे काष्ठमें मिथ्या ही शालभञ्जिकाबुद्धि उदित होती है, वैसे ही अनागत ही यह सृष्टि आगत-सी प्रतीत होती है ॥ १० ॥

जैसे बीजमें फल आदि (अङ्कुर आदि) अभिन्न होता हुआ भी भिन्न-सा

अच्छेदादेकसत्ताया न भेदः फलबीजयोः ।
चिचेत्ययोश्च वार्यूर्म्योरिव वस्तुनि कश्चन ॥ १२ ॥
अविचारात् कुतो भेदो नैतयोरुपपद्यते ।
यतः कुतश्चिदुदितः स विचारेण नश्यति ॥ १३ ॥
भ्रान्तिरेषा यथाऽऽयाता तथा यातु रघूद्वह ।
ज्ञास्यसे तत्प्रबुद्धस्त्वमेनां केवलमुत्सृज ॥ १४ ॥
भ्रान्तिग्रन्थौ वित्रुटिते मदुक्तिश्रवणात्ततः ।
ज्ञानशब्दार्थभेदानां वस्तु ज्ञास्यस्यलं स्वयम् ॥ १५ ॥
चित्तादियमनर्थश्रीस्तच्च सा चेतरा च ते ।
मदुक्तिश्रवणादेव शान्तिमेष्यत्यसंशयम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मणः सर्वमुत्पन्नं सर्वं ब्रह्मैवमेति च ।
मद्गीर्भिः संप्रबुद्धः सन् ज्ञास्यस्यलमनिन्दितम् ॥ १७ ॥

उदित होता है, वैसे ही चित्‌में अन्य न होता हुआ भी यह चेत्य अन्य-सा उदित हुआ है ॥ ११ ॥

बीजसे लेकर फलपर्यन्त अनुस्यूत एक द्रव्यसत्ताका विच्छेद न होनेके कारण फल और बीजमें कोई भेद नहीं है। जल और तरङ्गोंके समान चित् और चेत्यमें भी कोई भेद नहीं है ॥ १२ ॥

किसी अविचारसे उत्पन्न हुआ भेद इनमें उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिस किसी कारणसे भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचारसे नष्ट हो जाता है ॥१३॥

हे रामजी, यह तो भ्रान्ति ही है, यह जैसे किसी कारणके बिना आई वैसे ही जावे। प्रबुद्ध होकर आप उस ब्रह्मको जान जायँगे। इस समय आप इस भ्रान्तिका त्याग कीजिए। मेरे वाक्योंके श्रवणसे भ्रान्तिरूप ग्रन्थिके टूट जानेपर तदनन्तर यद्यपि आप ज्ञान, शब्द, अर्थ इनके भेदको नहीं जानेंगे, तथापि मेरे उपदेशके तात्पर्य-गोचर वस्तुको स्वयं ही जान जायँगे। चित्तसे ही यह सम्पूर्ण अनर्थ उत्पन्न हुआ है। चित्त, वह चित्तजनित अनर्थ और चित्तजननी अविद्या—ये सब मेरे कथनके श्रवणमात्रसे आपके शान्त हो जायँगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १४–१६ ॥

जगत्‌की उत्पत्ति आदिके निरूपणका भी प्रयोजन निष्प्रपञ्च वस्तुका ज्ञान ही है, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और लय द्वारा ब्रह्मको ही प्राप्त

श्रीराम उवाच

तस्मादियमिति ब्रह्मन् व्यतिरेकार्थपञ्चमी ।
ननु किं विद्धि देवेशादभिन्नं सर्वमित्यपि ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

उपदेशाय शास्त्रेषु जातः शब्दोऽथवाऽर्थजः ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसङ्ख्यालक्षणपक्षवान् ॥ १९ ॥
भेदो दृश्यत एवाऽयं व्यवहारान्न वास्तवः ।
वेतालो बालकस्येव कार्यार्थं परिकल्पितः ॥ २० ॥

होता है, मेरी वाणियों द्वारा प्रबुद्ध होकर आप इस अनिन्दित तत्त्वको पूर्णरूपसे जानेंगे ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यदि भेद असत् ही है, तो ब्रह्मसे ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, इस प्रकारकी आपकी उक्तिमें तथा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतिमें 'तस्मात्' यह भेदप्रतिपादिका पञ्चमी और सब परब्रह्मसे अभिन्न ही है, यह अभेदप्रतिपादक वाक्य दोनों कैसे ? यानी दोनोंकी उपपत्ति नहीं होती । तात्पर्य यह हुआ कि लक्ष्य और अलक्ष्यके भेद तथा उनके प्रतियोगियोंके अभावमें शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसी अवस्थामें लक्षण द्वारा लक्ष्यबोधनरूप व्यवहारकी असिद्धि होनेसे उपदेश ही नहीं बनेगा ॥ १८ ॥

तात्कालिक भेदकी कल्पना करके या व्यावहारिक दृष्टिसे सिद्ध भेद आदिके उपादानसे शब्दप्रवृत्ति हो सकती है, अतः बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप व्यवहारकी नाईं उपदेशकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीकी उक्त शङ्काका परिहार करते हैं—'उपदेशाय' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, शास्त्रोंमें उपदेशके लिए शब्दोंकी कल्पना की गई है अथवा लोकसिद्ध अर्थोंसे उत्पन्न व्यावहारिक भेदका उपजीवी शब्द ही प्रतियोगी, अभाव, संख्या, लक्षण और पक्षरूप होता हुआ तत्-तत् स्थलमें प्रवृत्त होता है ॥ १९ ॥

कल्पित पदार्थसे प्रयोजनयुक्त व्यवहारकी सिद्धि लोकमें भी देखी जाती है, ऐसा कहते हैं—'भेदो' इत्यादिसे ।

व्यवहारसे ही यह भेद देखा जाता है यानी भेद व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं है, जैसे बालकको वेतालकी कल्पना होती है, वैसे ही व्यवहारके लिए

द्वैतैक्यमपि नो यस्यां तथाभूतार्थसंस्थितौ ।
अस्ति तस्यामीदृशः स्यात् कुतः सङ्कल्पविप्लवः ॥ २१ ॥
कार्यकारणभावो हि तथा स्वस्वामिलक्षणम् ।
हेतुश्च हेतुमांश्चैवाऽवयवावयविक्रमः ॥ २२ ॥
व्यतिरेकाव्यतिरेकौ परिणामादिविभ्रमः ।
तथा भावविलासादि विद्याविद्ये सुखासुखे ॥ २३ ॥
एवमादिमयी मिथ्यासङ्कल्पकलना मिता ।
अज्ञानामवबोधार्थं न तु भेदोऽस्ति वस्तुनि ॥ २४ ॥
अविबोधादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।
ज्ञाते संशान्तकलनं मौनमेवाऽवशिष्यते ॥ २५ ॥
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ।
इति ज्ञास्यसि सिद्धान्तं काले बोधमुपागतः ॥ २६ ॥

इस भेदकी कल्पना की गई है। जहांपर यानी स्वप्न या गन्धर्वनगर आदिमें द्वैत और ऐक्य नहीं है, वहांपर भी इस प्रकारका लक्षण आदि व्यवहार है, अतः सत्यसङ्कल्पोंके उपदेश आदि व्यवहारमें सङ्कल्पका विनाश कैसे हो सकता है? ॥ २०, २१ ॥

तुमको उपदेश देनेके लिए मैंने ही अपने सङ्कल्पसे कार्य, कारण आदि भेदकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं—'कार्यकारण०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

अज्ञानियोंको प्रबुद्ध करनेके लिए कार्यकारणभाव, स्वस्वामिभाव, हेतुहेतुमद्भाव, अवयवावयविभाव, भेदाभेद परिणाम आदिका भ्रम, भावोंके विविध विलास, विद्या और अविद्या, सुख-दुःख इत्यादि रूप मिथ्या सङ्कल्पोंकी कल्पना की गई है, सत्य वस्तुमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है ॥ २२-२४ ॥

यह व्यवहार उपदेश्य वस्तुका ज्ञान न होनेसे ही है यानी अज्ञानावस्थामें ही है, प्रबोधावस्थामें नहीं है, इसलिए अद्वैतकी हानि नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अविबोधा०' इत्यादिसे ।

यह भेदवाद परतत्त्वके अज्ञानसे ही है, परमार्थ वस्तुके ज्ञात होनेपर द्वैत नहीं रहता । उसके ज्ञात होनेपर तो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे शून्य अशब्द ही केवल अवशिष्ट रहता है ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, समय आनेपर बोधको प्राप्त हुए आप परमतत्त्व आदि और

विवदन्ते ह्यसम्बुद्धाः स्वविकल्पविजृम्भितैः ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ २७ ॥
वाच्यवाचकसम्बोधो विना द्वैतं न सिद्ध्यति ।
न च द्वैतं सम्भवति मौनं वाऽऽपादयत्यलम् ॥ २८ ॥
महावाक्यार्थनिष्ठान्तां बुद्धिं कृत्वा रघूद्वह ।
वचोभेदमनादृत्य यदिदं वच्मि ते शृणु ॥ २९ ॥
यतः कुतश्चिदुच्छ्रायं गन्धर्वपुरवन्मनः ।
भ्रान्तिमात्रं तनोतीदं जगदाख्यं स्वजृम्भणम् ॥ ३० ॥

अन्तसे रहित, विभागशून्य, एक, अखण्ड और सर्वात्मक है, ऐसा जानेंगे ॥ २६ ॥

जिन लोगोंको तत्त्वका परिज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पोंसे उत्पन्न हुए तर्कोंसे अद्वैतके विषयमें विवाद करते हैं, उपदेशसे तत्त्व-वस्तुके ज्ञात होनेपर द्वैत नहीं रहता, यह सम्पूर्ण भेदवाद जबतक वेदान्ततत्त्वका उपदेश नहीं होता, तभीतक रहता है ॥ २७ ॥

द्वैत भले ही न हो, पर विवादका असम्भव कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—'वाच्यवाचक०' इत्यादिसे ।

द्वैतके बिना वाच्यवाचकका परस्पर बोध नहीं हो सकता ।

शङ्का—यदि द्वैतके बिना परस्पर वाच्यवाचकसम्बोधरूप विवाद नहीं हो सकता, तो द्वैत ही हो ।

समाधान—द्वैतका वास्तवमें सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह वेतालकल्पनाके समान कल्पित है, इसलिए मौन ही सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

यदि द्वैत नहीं है, तो 'यतो वा' इत्यादि ब्रह्मलक्षणबोधक श्रुतिवाक्यमें 'पञ्चमी' आदि विभक्तिके अर्थ भेदका परिज्ञान नहीं होना चाहिए, इसपर कहते हैं—'महावाक्यार्थ०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पञ्चमी आदिसे अवगत वचोभेदका (द्वैतका) परित्याग कर 'यतो वा इमानि' इत्यादि लक्षणवाक्यसे उत्पन्न बुद्धिको अखण्ड महावाक्यार्थमें यानी तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थभूत ब्रह्ममें ही निष्ठावाली यानी पदोंके वाच्य और लक्ष्य अर्थोंकी व्युत्पत्तिके द्वारा पर्यवसन्न कर यह जो कुछ मैं आपसे कहता हूँ, उसे सुनिये ॥ २९ ॥

मन गन्धर्वनगरकी नाईं जिसका हम निर्वचन नहीं कर सकते, ऐसे किसी

यथा चेतस्तनोतीमां जगन्मायां तथाऽनघ ।
शृणु त्वं कथयामीदं दृष्टान्तं दृष्टिवेदनम् ॥ ३१ ॥
यं श्रुत्वा सर्वमेवेदं भ्रान्तिमात्रमिति स्वयम् ।
राम निश्चयवान् भूत्वा दूरे त्यक्ष्यसि वासनाम् ॥ ३२ ॥
मनोमनननिर्माणमात्रमेव जगत्त्रयम् ।
सर्वमुत्सृज्य शान्तात्मा स्वात्मन्येव निवत्स्यसि ॥ ३३ ॥
मद्वाक्यार्थावधानस्थो मनोव्याधिचिकित्सने ।
विवेकौषधलेशेन प्रयत्नं च करिष्यसि ॥ ३४ ॥
एवं स्थिते जगद्रूपं चित्तमेवेह जृम्भते ।
न विद्यते शरीरादि सिकतान्तरतैलवत् ॥ ३५ ॥

हेतुसे यानी अनिर्वचनीय अज्ञानसे उत्पन्न हुए इस जगत् नामक अपने विजृम्भण-का, जो केवल भ्रान्तिमात्र है, विस्तार करता है ॥ ३० ॥

उक्त अर्थमें आगे कही जानेवाली आख्यायिकाका दृष्टान्तके रूपसे अवतरण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे चित्त इस जगन्मायाको फैलाता है, वैसा यह [आगेका] दृष्टान्त, जिसपर कि केवल दृष्टि देनेसे ही दार्ष्टान्तिकका परिज्ञान हो जाता है, मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस दृष्टान्तको सुनकर यह सम्पूर्ण दृश्य भ्रान्तिमात्र ही है, ऐसा स्वयं निश्चय करके आप वासनाओंका परित्याग कर देंगे ॥ ३२ ॥

केवल मनकी कल्पना द्वारा बने हुए इन सम्पूर्ण तीनों लोकोंका परित्याग कर शान्तस्वरूप होकर आप स्वात्मामें ही स्थित होंगे ॥ ३३ ॥

मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थके अवधानमें स्थित आप विवेकरूपी ओषधि-मात्रासे मनोव्याधिकी चिकित्सा करनेके लिए प्रयत्न भी करेंगे ॥ ३४ ॥

ऐसी अवस्थामें यानी वक्ष्यमाण आख्यायिकाकी प्रणालीसे ऐसा निश्चय होनेपर चित्त ही जगद्रूपसे विकासको प्राप्त हुआ है, जैसे बालूके अन्दर तेल नहीं रहता, वैसे ही शरीर आदिकी सत्ता नहीं है ॥ ३५ ॥

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ ३६ ॥
चित्तं साध्यं पालनीयं विचार्यं कार्यमार्यवत् ।
आहार्यं व्यवहार्यं च सञ्चार्यं धार्यमादरात् ॥ ३७ ॥
सर्वमभ्यन्तरे चित्तं बिभर्त्ति त्रिजगन्नभः ।
अहमापूरमिव तद्यथाकालं विजृम्भते ॥ ३८ ॥
योऽयं चित्तस्य चिद्भागः सैषा सर्वार्थबीजता ।
यश्चाऽस्य जडभागश्च तज्जगत्सोऽङ्ग संभ्रमः ॥ ३९ ॥

राग, द्वेष आदि क्लेशोंसे दूषित यह चित्त ही संसार है। जब उनसे पुरुष मुक्त होता है तब संसारका नाश कहा जाता है ॥ ३६ ॥

लौकिक और शास्त्रीय जितने साध्य, पालनीय आदि पदार्थ हैं, उनके रूपसे चित्त ही विकासको प्राप्त हुआ है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तम्'** इत्यादिसे ।

चित्त ही साध्य, पालनीय, विचारणीय, आर्यवत् करणीय, आहार्य, व्यवहार्य, संचार्य और आदरपूर्वक धार्य—सब कुछ है* ॥ ३७ ॥

इन तीनों जगतोंकी कल्पनाका आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्यको अपने अन्दर धारण करता है, तथा वही समयपर देह, इन्द्रिय आदिके तत्-तत् व्यापार करनेपर मैं ही व्यापार करता हूँ, इस प्रकार अहन्ताके प्रवाहकी नाईं बढ़ता है ॥३८॥

चित्तके दो अंश हैं—उनमें एक चैतन्य अंशकी प्रधानतासे द्रष्टृतारूप सर्व-कल्पनाओंकी बीजभूत अहन्ता है और दूसरा जडांशकी प्रधानतासे दृश्यभ्रान्तिरूपता है, ऐसा कहते हैं—**'योऽयम्'** इत्यादिसे ।

चित्तका जो चैतन्य अंश है, वही सम्पूर्ण पदार्थोंका बीज है और जो इसका जड़ भाग है, वह जगत् है और वही भ्रम है ॥ ३९ ॥

* साधनोंके सिद्ध होनेपर भी जो सिद्ध न हुआ हो, वह साध्य है। जो पहलेसे सिद्ध हो, वह पालनीय है। असिद्ध अनेक साधनोंके प्राप्त होनेपर प्रयत्नकी गुरुता और लघुताके विचारसे साधनोंका सम्पादन कर पीछे सिद्ध होनेवाला जो कार्य है, वह विचार्य है। उसमें भी जो केवल शिष्टोंके सम्मत उपायों द्वारा साध्य होता है, वह आर्यवत् करणीय है। अन्य देशमें सिद्ध ही जो अपने घरमें लाने योग्य है, वह आहार्य है। अपने घरमें स्थित ही जो क्रय-विक्रय आदिके उपयुक्त हो, वह व्यवहार्य है। क्रय-विक्रयके उपयोगी पदार्थोंमें भी हाथी, घोड़े, रथ आदि संचार्य हैं। भूषण आदि धार्य हैं।

अविद्यमानमेवेदमादिसर्गे धरादिकम् ।
निराकृतिरजः स्वप्नं पश्यतीव न पश्यति ॥ ४० ॥
सर्गादि दीर्घसंविच्या शैलादि जडसंविदा ।
सूक्ष्मं सूक्ष्मविदा चेति देहं शून्यं न वास्तवम् ॥ ४१ ॥
सर्वगेनाऽऽत्मना व्याप्तं स्वचेत्यात्मवपुर्मनः ।
आततं सौम्यविमलं वारीव रवितेजसा ॥ ४२ ॥
चित्तबालो जगद्यक्षं मिथ्या पश्यत्यबोधतः ।
बोधितोऽसौ परं रूपं स्वं पश्यति निरामयम् ॥ ४३ ॥
यथाऽऽत्मा दृश्यतामेति द्वित्वैक्यभ्रमदायिनीम् ।
शृणु तत्ते प्रवक्ष्यामि वक्ष्यमाणकथागमैः ॥ ४४ ॥

उक्त अर्थका पूर्वोक्त सृष्टिक्रमके स्मरण द्वारा उपपादन करते हैं—**'अविद्यमान०'** इत्यादिसे ।

सृष्टिके आरम्भमें यह सब पृथ्वी आदि अविद्यमान यानी असत् ही थे, इनको आकार-रहित ब्रह्मा स्वप्नके समान देखते हुए भी नहीं देखते हैं ॥ ४० ॥

ब्रह्मा कैसे देखते हैं, इसपर कहते हैं—**'सर्गादि'** इत्यादिसे ।

पर्वत आदिरूप स्थूल विराट्-देहको सृष्टि, स्थिति और प्रलयमें एक-सी साक्षी संवित्से, सृष्टि आदिको जड़ संवित्से यानी जड़में अहंभावनारूप वैश्वानर संवित्से, सूक्ष्म यानी लिङ्गसमष्टिसूत्रात्मक हिरण्यगर्भ-देहको सूक्ष्मसंवित्से (उक्त देहमें अहंभावना-संवित्से) इस प्रकार तीनों देहोंको शून्य ही वे देखते हैं, वास्तवमें नहीं देखते ॥४१॥

पहले 'योऽयं चित्तस्य चिद्भागः सैषा सर्वार्थबीजता' ऐसा जो कहा था, उसका उपपादन करते हैं—**'सर्वगेना०'** इत्यादिसे ।

जैसे सूर्यतेजसे सौम्य और निर्मल जल व्याप्त रहता है, वैसे ही सर्वव्यापी आत्मासे अपना चैत्यस्वरूपभूत मन व्याप्त है, चित्की व्याप्तिके कारण उसमें सर्वार्थ-बीजता है ॥ ४२ ॥

चित्की व्याप्तिसे ही चित्तको अविचारसे जगद्-दर्शन और विचारसे आत्म-दर्शन होता है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तबालः'** इत्यादिसे ।

चित्तरूपी बालक अज्ञानवश जगद्रूपी मिथ्या वेतालको देखता है, यदि उसमें बोध उत्पन्न किया जाय, तो वह अपने निर्विकार उत्कृष्ट स्वरूपको देखता है ॥४३॥

इस प्रकार शुद्धात्मा ही चित्तभाव द्वारा दृश्यभावको प्राप्त-सा हुआ है,

यत्कथ्यते हि हृदयङ्गमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च ।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ ४५ ॥
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम् ।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाऽऽज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ ४६ ॥
आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद् यत् प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा ।

यह फलित अर्थ निकला । उक्त फलितार्थकी पुष्टिके लिए आगे कही जानेवाली कथाकी अवतरणिका देते हैं—'यथाऽऽत्मा' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार आत्मा द्वैत और एकत्वभ्रम करनेवाली दृश्यताको प्राप्त होता है, उसे आप सुनिए, मैं वक्ष्यमाण कथा द्वारा उसे कहता हूँ ॥ ४४ ॥

ऐन्दवोपाख्यानके दृष्टान्तसे जगत्में मनोमात्रताका निश्चय कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

हृदयङ्गम दृष्टान्तोंसे युक्त, मधुर और युक्तियुक्त पदार्थोंसे पूर्ण वाणी द्वारा जो मैं कहता हूँ, वह शङ्काको दूरकर श्रोताके हृदयको—जलमें तेलके समान चारों ओर फैलकर—व्याप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

उक्त अर्थका ही व्यतिरेकसे उपपादन करते हैं—'त्यक्तो०' इत्यादिसे ।

जिस वाक्यमें दृष्टान्तका उल्लेख नहीं रहता, मनोहर पद नहीं रहते, जो वर्णोंके स्फुट न रहनेके कारण श्रोत्रेन्द्रियसे गृहीत नहीं हो सकता, क्रोधावेशके कारण क्षुब्ध होकर जिसके वर्ण अपने स्थानसे च्युत हुए हों, जिसमें अक्षर पूर्णरूपसे न हों (खण्डित हों), ऐसा वाक्य श्रोताके हृदयमें असर नहीं करता । वह जैसे भस्ममें होमा गया घृत व्यर्थ जाता है, वैसे ही निष्फलताको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

व्यतिरेकदृष्टान्तसे कहे गये अर्थका अन्वयदृष्टान्तसे उपपादन करते हुए निगमन करते हैं—'आख्यानकानि' इत्यादिसे ।

जो आख्यानक यानी विविध कथाओंसे युक्त बड़ी-बड़ी महाभारत आदि

दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्राकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
मनोङ्कुरोत्पत्तिकथनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

पुरा मे ब्रह्मणा प्रोक्तं सर्वं तत्कथयाऽनघ ।
यदिदं तत्प्रवक्ष्यामि त्वयि पृच्छति राघव ॥ १ ॥
पुरा मया हि भगवान् पृष्टः कमलसंभवः ।
इमे कथमुपायान्ति ब्रह्मन् सर्गगणा इति ॥ २ ॥

कथाएँ है, उनसे छोटी जो-जो कथाएँ हैं और अभिज्ञ पुरुषोंके अनुरञ्जनके योग्य जो-जो काव्य, नाटक, अध्यात्मनिबन्ध आदि शब्दसे और अर्थसे मधुर हैं, अथवा जो-जो श्रोत्रेन्द्रियका प्रमेय है, वे सब दृष्टान्तोंके और लोकप्रसिद्ध प्रमाणदृष्टियोंके कथनसे ही ऐसे प्रकाशताको प्राप्त होते हैं, जैसे कि चन्द्रमासे लोक प्रकाशताको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पचासी सर्ग

[सृष्टि करनेकी इच्छा कर रहे ब्रह्माका दस ब्रह्माण्डोंको देखना, वहाँके एक सूर्य द्वारा उनके यथार्थ तत्त्वका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मुझसे जो यह पहले ब्रह्माने कहा था, उस सबको मैं ब्रह्मासे कहे गये ऐन्दवोपाख्यान द्वारा आपसे कहता हूँ, क्योंकि आप मुझसे पूछ रहे हैं ॥ १ ॥

पहले मैंने भगवान् ब्रह्मासे पूछा था, हे ब्रह्मन् , ये सब ब्रह्माण्ड कैसे उत्पन्न होते हैं ? मेरे प्रश्नोंको सुनकर तुमने जो पूछा उसे मैं तुमसे कहूँगा, ऐसी

तदुपाश्रुत्य भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ऐन्दवाख्यानसहितं मामुवाच बृहद्वचः ॥ ३ ॥

ब्रह्मोवाच

सर्वं हि मन एवेदमित्थं स्फुरति भूतिमत् ।
जलं जलाशयस्फारैर्विचित्रैश्चक्रकैरिव ॥ ४ ॥

दिनादौ संप्रबुद्धस्य संसारं स्रष्टुमिच्छतः ।
पुराकल्पे हि कस्मिंश्चिच्छृणु किंवृत्तमङ्ग मे ॥ ५ ॥

कदाचिदखिलं सर्गं संहृत्य दिवसक्षये ।
एक एवाऽहमेकाग्रः स्वस्थस्तामनयं निशाम् ॥ ६ ॥

निशान्ते सम्प्रबुद्धात्मा सन्ध्यां कृत्वा यथाविधि ।
प्रजाः स्रष्टुं दृशौ स्फारे व्योम्नि योजितवानहम् ॥ ७ ॥

यावत्पश्यामि गगनं न तमोभिर्न तेजसा ।
व्याप्तमत्यन्तविततं शून्यमन्तविवर्जितम् ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञा कर लोकपितामह ब्रह्माने ऐन्दवोपाख्यानसे युक्त ये गम्भीरार्थक वचन मुझसे कहे ॥ २, ३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वत्स श्रीवसिष्ठ, जगद्भावको धारण करनेकी शक्तिवाला यह मन ही इस प्रकार सब पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होता है, जैसे कि जलाशयमें विशालताको प्राप्त विचित्र बड़े-बड़े आवर्तोंके रूपसे जल ही स्फुरित होता है ॥४॥

पहले किसी कल्पमें कल्पके आरम्भमें जागे हुए और संसारकी सृष्टि करनेवाले मेरा जो कुछ वृत्तान्त हुआ, उसे आप सुनिये ॥ ५ ॥

किसी समय कल्पके अन्तमें सम्पूर्ण जगत्का संहार करके अकेले मैंने ही एकाग्र और स्वस्थ होकर कल्पान्तरूपी रात्रिको बिताया । प्रातःकाल यानी कल्पके आरम्भमें जाग कर यथाविधि सन्ध्योपासन आदि करके सृष्टि करनेके लिए आकाशमें मैंने अपनी विशाल दृष्टि लगाई ॥ ६,७ ॥

दृष्टि लगाते ही अत्यन्त विस्तृत अन्तरहित असीम शून्य आकाशको मैंने देखा । वह न तो अन्धकारसे व्याप्त था और न तेजसे ॥ ८ ॥

सर्गं सङ्कल्पयामीति मतिं निश्चित्य तन्मया ।
समवेक्षितुमारब्धं शुद्धं सूक्ष्मेण चेतसा ॥ ९ ॥
अथाऽहं दृष्टवांस्तत्र मनसा विततेऽम्बरे ।
पृथक्स्थितान् महारम्भान् सर्गान् स्थितिनिरर्गलान् ॥ १० ॥
तेषु मत्प्रतिबिम्बाभाः पद्मकोशनिवासिनः ।
राजहंसान् समारूढाः संस्थिता दश पद्मजाः ॥ ११ ॥
पृथक्स्थितेषु सर्गेषु तेषूद्यद्भूतपङ्क्तिषु ।
जलजालेषु शुद्धेषु जगत्सु जलदायिषु ॥ १२ ॥
प्रवहन्ति महानद्यः प्रध्वनन्ति यथाऽब्धयः ।
प्रतपन्त्युष्णरुचयः प्रस्फुरन्त्यम्बरेऽनिलाः ॥ १३ ॥
दिवि क्रीडन्ति विबुधा भुवि क्रीडन्ति मानवाः ।
दानवा भोगिनश्चैव पातालेषु च संस्थिताः ॥ १४ ॥
कालचक्रपरिप्रोता यद्भावाः सकलर्तवः ।
यथाकालं फलापूर्णा भूषयन्त्यभितो महीम् ॥ १५ ॥

मैं सृष्टिकी कल्पना करूं, ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्तसे उस द्रष्टव्य वस्तुका शुद्धतापूर्वक निरीक्षण करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

इसके बाद मैंने विस्तृत आकाशमें अलग-अलग स्थित, विविध व्यापारोंसे युक्त एवं वहाँके विष्णु आदिके द्वारा की गई पालन आदिकी व्यवस्थासे निष्कण्टक ब्रह्माण्डोंको देखा ॥ १० ॥

उन ब्रह्माण्डोंमें मेरे प्रतिबिम्बके तुल्य पद्मकोशमें रहनेवाले और राजहंसोंपर बैठे हुए दस ब्रह्मा स्थित थे ॥ ११ ॥

उन पृथक् पृथक् स्थित सर्गोंमें, जिनमें चतुर्विध प्राणिवर्ग उत्पन्न हो रहा है, जलोंको जालके समान बाँधनेवाले अवग्रह आदिसे रहित जल देनेवाले मेघोंमें और जगतोंमें महानदियाँ बहती हैं, सागर गरजते हैं, सूर्य तपते हैं, वायु आकाशमें इतस्ततः परिभ्रमण करते हैं, स्वर्गमें देवता विविध क्रीडाएँ करते हैं, पृथ्वीमें मनुष्य क्रीडाएँ करते हैं, दानव और नाग पातालोंमें स्थित हैं ॥ १२–१४ ॥

कालचक्रमें गूँथी हुई शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि स्वभाववाली सब ऋतुएँ अपने अपने अवसरपर फलोंसे पूर्ण होकर पृथ्वीको चारों ओरसे भूषित करती हैं ॥ १५ ॥

प्रौढ्यं शुभाशुभाचारस्मृतयः ककुभं प्रति ।
नरकस्वर्गफलदाः सर्वत्र समुपागताः ॥ १६ ॥
भोगमोक्षफलार्थिन्यः समस्ता भूतजातयः ।
स्वमीहितं यथाकालं प्रयतन्ते यथाक्रमम् ॥ १७ ॥
सप्त लोकास्तथा द्वीपाः समुद्रा गिरयस्तथा ।
अप्येष्यमाणाः कल्पान्तं स्फुरन्त्युरुतरारवम् ॥ १८ ॥
क्वचिद्ध्रासित्वमायातं क्वचित्स्थिरतरं स्थितम् ।
स्थितं सर्वत्र कुञ्जेषु तमस्तेजोलवाहतम् ॥ १९ ॥
नभोनीलोत्पलस्याऽन्तर्भ्रमदभ्रमधुव्रतम् ।
प्रस्फुरत्तारकाजालकेसरापूर्णतां गतम् ॥ २० ॥
कल्पान्तघननीहारो मेरुकुञ्जेषु संस्थितः ।
शाल्मलेरमलं तूलमष्ठिलाकोटरेष्विव ॥ २१ ॥
लोकालोकाद्रिरशना रणदर्णवघुंघुमा ।
तमःखण्डेन्द्रनीलाभा निजरत्नविराजिता ॥ २२ ॥

प्रत्येक दिशामें सभी वर्णोंमें विहित और निषिद्ध आचारका प्रतिपादन करनेवाली तथा स्वर्ग-नरकरूप फलका प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ प्रौढ़ताको प्राप्त हुई हैं। भोग और मोक्षरूप फलको चाहनेवाले सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने इच्छानुसार अवसर-अवसरपर अपने-अपने प्रवृत्तिक्रमके अनुसार यत्न करते हैं ॥ १६, १७ ॥

सात लोक, सात द्वीप, समुद्र, पर्वत, जिन्हें काल विनाशकी ओर ले जानेवाला है यानी विनाशी हैं, बड़े कोलाहलसे युक्त हो कर स्फुरित होते हैं। तम कहींपर अनावृतदेशमें ह्रासताको प्राप्त होता है, कहींपर पर्वतगुहा आदिमें अत्यन्त स्थिररूपसे स्थित है और कहींपर सब झाड़ियोंमें तेजके कणोंसे मिश्रित होकर स्थित है ॥ १८, १९ ॥

जिसमें आकाशरूपी नीलोत्पलके मध्यमें मेघरूपी भ्रमर घूम रहे हैं तथा चमकते हुए तारासमूहरूपी केसरसे पूर्णताको प्राप्त जगत् सरोवरके सदृश स्थित है ॥२०॥

कल्पान्तकी तरह निबिड कुहरा मेरुकी झाड़ियोंमें ऐसे स्थित है, जैसे कि सेमलकी निर्मल रूई उसकी गुठलीके अन्दर रहती है ॥ २१ ॥

लोकालोक पर्वत ही जिसकी शृङ्खला है, शब्द करते हुए अर्णव ही

धानाधरसुधा भूतरवकाकलिघुंघुमा ।
संस्थिता भुवनाभोगे स्वान्तःपुर इवाऽङ्गना ॥ २३ ॥
गौराङ्गपङ्क्तिर्मध्यस्था रजनीराजिरञ्जिता ।
प्रद्योत्पलस्रज इव लक्ष्यते वत्सरश्रियः ॥ २४ ॥
बहुगर्तविभागस्थभूता लोकाः पृथक् पृथक् ।
जातारुणा विलोक्यन्ते दाडिमानीव कान्तिकाः ॥ २५ ॥
त्रिप्रवाहा त्रिपथगा कृतोर्ध्वाधोगमागमा ।
जगद्यज्ञोपवीताभा स्फुरतीन्दुकलामला ॥ २६ ॥
इतश्चेतश्च गच्छन्ति शीर्यन्ते प्रोद्भवन्ति च ।
दिग्लतासु तडित्पुष्पा वातार्ता मेघपल्लवाः ॥ २७ ॥

जिसके भूषणके शब्द हैं, अन्धकारके टुकड़े ही जिसमें इन्द्रनील मणिकी प्रभाएँ हैं, अपने भीतर स्थित रत्नोंसे जो विराजित है, धान आदिके बीज ही प्राणियों द्वारा आस्वादित होनेके कारण जिसकी अधर-सुधा हैं और प्राणियोंके शब्द ही जिसके मधुर अस्फुट वाग्विलास हैं, इस प्रकारकी पृथ्वी अपने अन्तःपुरमें नायिकाके समान भुवनाभोगमें स्थित है ॥ २२, २३ ॥

संवत्सरलक्ष्मीके कण्ठमें धारण की गई अन्धकार और प्रकाशरूपी श्वेतकमल और नीलकमलोंसे बनी हुई मालाके अन्दर प्रविष्ट अतएव उसके परागके तुल्य बिजली, नक्षत्र आदिसे व्याप्त होनेके कारण हल्दीके लेपके तुल्य रात्रिसमूहरूप अङ्गरागसे रञ्जित खूब गौर कण्ठ, वक्षःस्थल, उदर, त्रिवली, नाभि आदि अङ्गकी पंक्तिकी तरह द्युलोक दिखाई देता है ॥ २४ ॥

भुवनरूपी गर्तोंमें स्थित बहुतसे प्राणी जिनमें बीजके (दाडिमबीजके) तुल्य हैं, ऐसे लोक (ब्रह्माण्ड), जो तेजोयुक्त होकर प्रकाशित हो रहे हैं, दाडिमोंकी तरह दिखाई देते हैं ॥ २५ ॥

तीन प्रवाहोंवाली ऊर्ध्व लोकमें और अधोलोकमें गमन और आगमन करनेवाली गङ्गा नदी, जो कि चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल है, जगत्के यज्ञोपवीतके समान स्फुरित होती है ॥ २६ ॥

दिशारूपी लताओंमें तडिद्रूपी फूलोंसे युक्त मेघरूपी पल्लव वायुसे टकरा कर इधर-उधर घूमते हैं, नष्ट होते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

गन्धर्वनगरोद्यानलता वितानशालिनी ।
समुद्रभूमिनभसां पदवी प्रविराजते ॥ २८ ॥
लोकान्तरेषु सङ्घेन देवासुरनरोरगाः ।
उदुम्बरेषु मशका इव घुंघुमिताः स्थिताः ॥ २९ ॥
युगकल्पक्षणलवकलाकाष्ठाकलङ्कितः ।
कालो वहत्यकलितसर्वनाशप्रतीक्षकः ॥ ३० ॥
एवमालोक्य शुद्धेन परेण स्वेन चेतसा ।
भृशं विस्मयमापन्नः किमेतत्कथमित्यलम् ॥ ३१ ॥
कथं मांसमयेनाऽक्ष्णा यन्न पश्यामि किञ्चन ।
तन्मायाजालमतुलं पश्यामि मनसाऽम्बरे ॥ ३२ ॥
अथाऽऽलोक्य चिरं कालं मनसैवाऽहमम्बरात् ।
अर्कं तस्माज्जगज्जालादेकमानीय पृष्टवान् ॥ ३३ ॥
आगच्छ देवदेवेश भो भास्कर महाद्युते ।
स्वागतं तेऽस्त्विति प्रोक्तो मयाऽसौ कथितोऽप्यथ ॥ ३४ ॥

समुद्र, भूमि और आकाशका आश्रयभूत जगत् वितानोंसे (विस्तारोंसे) शोभित होनेवाली गन्धर्वनगरकी उद्यानलताके समान शोभित है, वास्तव नहीं है। भाव यह कि प्रतिभात जगत् मिथ्या ही है ॥ २८ ॥

उन भुवनोंके मध्यमें गूलरके फलके मध्यमें स्थित छोटे-छोटे मशकोंके समान देवता, असुर, नर, नाग आदि सङ्घशः घुंघुं शब्द करते हुए स्थित हैं ॥ २९ ॥

उन लोकोंके मध्यमें युग, कल्प, क्षण, लव, कला, काष्ठा आदिसे युक्त अतर्कित सबके विनाशकी प्रतीक्षा करनेवाला काल बहता है ॥ ३० ॥

इस सबका अपने परम शुद्ध चित्तसे विचार कर मैं अत्यन्त विस्मयको प्राप्त हुआ कि यह क्या है और कैसे है ! ॥ ३१ ॥

जिस मायाजालको चर्मचक्षुसे मैंने कुछ भी नहीं देखा, उस अतुल मायाजालको मैं मनसे आकाशमें देखता हूँ, यह कैसे हुआ ! ॥ ३२ ॥

इसके बाद चिरकालतक उस अतुल मायाजालको देखकर मैंने मनसे ही उस भुवनके आकाशसे एक सूर्यको सत्यसंकल्पसे अपने समीप बुलाकर पूछा ॥ ३३ ॥

हे सूर्य, हे देवाधिदेव, हे महाद्युते, तुम आओ, तुम्हारा स्वागत हो, ऐसा मैंने पहले उससे कहा फिर यह निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न पूछा ॥ ३४ ॥

कस्त्वं कथमिदं जातं जगदेव जगन्ति च ।
यदि जानासि भगवंस्तदेतत्कथयाऽनघ ॥ ३५ ॥
इत्युक्तो मां समालोक्य संपरिज्ञातवानथ ।
नमस्कृत्वाऽभ्युवाचेदमनिन्द्यपदया गिरा ॥ ३६ ॥

भानुरुवाच

अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य नित्यं कारणतामसि ।
गतः कस्मान्न जानीषे किं मामीश्वर पृच्छसि ॥ ३७ ॥
अथ मद्वाक्यसंदर्भे लीला चेत्तव सर्वग ।
अचिन्तितां मदुत्पत्तिं तच्छृणुष्व वदाम्यहम् ॥ ३८ ॥
सदसदिति कलाभिराततं यत् सदसद्बोधविमोहदायिनीभिः ।
अविरतरचनाभिरीश्वरात्मन् प्रविलसतीह मनो महन् महात्मन् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवोपाख्यानोपक्रमे ब्रह्मादित्यसमागमो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

——:*:——

तुम कौन हो, यह तुम्हारा जगत् कैसे उत्पन्न हुआ एवं इससे अतिरिक्त और जो नौ जगत् हैं, वे कैसे उत्पन्न हुए ? हे भगवन्, यदि आप इसको जानते हों, तो मुझसे कहिये ॥ ३५ ॥

ऐसा मेरे पूछनेपर और मुझे देखकर ये इस लोकके ब्रह्मा हैं, यों उन्होंने मुझे पहचान लिया। तदनन्तर मुझे नमस्कार करके अनिन्दनीय पदोंसे युक्त वाणीसे सूर्यने मुझसे कहा ॥ ३६ ॥

सूर्यने कहा—हे भगवन्, आप इस दृश्य प्रपञ्चके नित्य कारणताको प्राप्त हैं, क्या आप इसके वृत्तान्तको नहीं जानते, जो कि मुझसे पूछते हैं ? ॥ ३७ ॥

हे सर्वव्यापिन्, यदि मेरे वाक्य-सन्दर्भको सुननेमें आपको कौतुक हो, तो आपके द्वारा जिसका सङ्कल्प नहीं किया गया था, ऐसी अपनी उत्पत्तिको आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ ३८ ॥

हे महात्मन्, आप सर्वशक्तिमान् होनेके कारण व्यवहारमें ईश्वररूपसे व्यवहृत होते हैं और परमार्थदृष्टिसे तो आप महात्मा हैं, यह सत् है या असत्

षडशीतितमः सर्गः

श्रीभानुरुवाच

कल्पनाम्नि महादेव ह्यस्तने दिवसे तव ।
तले कैलासशैलस्य जम्बूद्वीपैककोणके ॥ १ ॥
सुवर्णजटनाम्ना यस्त्वत्पुत्रैर्जनितप्रजैः ।
मण्डलं कल्पितं श्रीमदनल्पसुखसुन्दरम् ॥ २ ॥
तत्राऽभूदतिधर्मात्मा ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
इन्दुनामाऽतिशान्तात्मा कश्यपस्य कुलोद्भवः ॥ ३ ॥
तस्मिंस्तदा निवसतो नित्यं स्वजनमण्डले ।
तस्य प्राणसमा भार्या काचित्तस्यां महात्मनः ॥ ४ ॥

है, यों तत्त्वतः बोध न होनेके कारण विमोहित करनेवाली और निरन्तर जगत्की रचना करनेवाली तथा कभी सत् कभी असत् कहींपर सत् कहींपर असत् यों देश और कालसे परिच्छिन्न जगत्की सत्ता दर्शाने कुशल कलाओंसे जो चारों ओरसे व्याप्त है वह मन ही तत्-तत् रूपमें स्फुरित हो रहा है, यह आप जानिये ॥३९॥

पचासी सर्ग समाप्त



छियासी सर्ग

[स्त्रीसहित इन्दुकी तपस्यासे दस ऐन्दवोंकी उत्पत्ति और उनमें सबसे ज्येष्ठके उपदेशसे उनकी ब्रह्माहंभावनाका वर्णन]

सूर्यने कहा—हे देवाधिदेव ब्रह्माजी, कल्पनामक आपके अतीत दिनमें जम्बूद्वीपके एक कोनेमें स्थित कैलास पर्वतके निम्नप्रदेशमें सुवर्णजटनामसे प्रसिद्ध जो प्रदेश है, वहांपर आपके पुत्रोंने, जिनकी अनेक सन्तानें उत्पन्न हो गई थीं, अपनी सन्ततिके निवासके लिए बड़े सुन्दर प्रचुर सुखसे पूर्ण मण्डलकी कल्पना की ॥ १,२ ॥

वहाँपर कश्यपगोत्रोत्पन्न अत्यन्त धर्मात्मा ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अत्यन्त शान्त इन्दुनामक ब्राह्मण हुआ ॥ ३ ॥

अपने वर्गके लोगोंमें वहाँ नित्य निवास कर रहे उस महात्माकी प्राणोंके

न बभूवाऽऽत्मजस्तस्य मरुभूमौ तृणं यथा ।
न व्यराजत सा भार्या तस्य निष्फलपुष्पिता ॥ ५ ॥
ऋज्वी गौरी सुशुद्धाऽपि शून्या शरलता यथा ।
तौ ततो दम्पती खिन्नौ पुत्रार्थं तपसे गिरेः ॥ ६ ॥
कैलासस्यांऽशमारूढौ रूढाविव नवद्रुमौ ।
भूतैरनावृते शून्ये तस्मिन् कैलासकुञ्जके ॥ ७ ॥
तेपतुस्तौ तपो घोरं जलाहारौ तरुस्थिती ।
एकं पानीयचुलकं पीत्वा दिवसपर्यये ॥ ८ ॥
निस्पन्दमुत्थितौ वार्क्षीं वृत्तिमाश्रित्य संस्थितौ ।
तस्थतुस्तौ तदा तत्र तावत्कालं तरुव्रतौ ॥ ९ ॥
यावत्त्रेता द्वापरं च युगे द्वे एव ते गते ।
ततस्तुष्टोऽभवद्देवस्तयोः शशिकलाधरः ॥ १० ॥
दिनातपातापितयोरिन्दुः कुमुदयोरिव ।
आजगाम तमुद्देशं यत्र तौ विप्रदम्पती ॥ ११ ॥

तुल्य प्रिय कोई भार्या थी, जैसे मरुभूमिमें तृण उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही उसमें उसके कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ जैसे सीधी, सफेद तथा अत्यन्त शुद्ध काशकी लता पुष्प फलशून्य होनेके कारण शोभित नहीं होती, वैसे ही उसकी सर्वगुणसंपन्न भार्या भी पुत्ररहित होनेके कारण शोभित नहीं हुई । पुत्र न होनेके कारण अत्यन्त खिन्न हुए वे दोनों दम्पती पुत्रप्राप्तिके लिए तपस्यार्थ कैलास पर्वतके ऊर्ध्व शिखरमें, उत्पन्न हुए नूतन वृक्षोंके समान, आरूढ़ हुए । प्राणियोंसे रहित निर्जन उस कैलास पर्वतके शिखरपर वृक्षकी स्थितिके समान स्थितिवाले वे दोनों केवल जल पीकर घोर तपस्या करने लगे । सायंकालके समय केवल एक चुल्लू जल पीकर निश्चल वृक्षकी वृत्तिका अवलम्बन कर खड़े रहते थे । वे तबतक वृक्षके समान खड़े रहे, जबतक कि त्रेता और द्वापर दोनों ही युग बीत गये । तदुपरान्त देवाधिदेव भगवान् चन्द्रशेखर उन दोनोंपर प्रसन्न हुए ॥ ४–१० ॥

जैसे दिनके घामसे सन्तापित कुमुदोंके लिए चन्द्रमाका उदय होता है, लता और वृक्षोंसे युक्त वनप्रदेशमें वसन्तका आगमन होता है, वैसे ही जिस प्रदेशमें

सलतापादपं देशं पुष्पाकर इवेश्वरः ।
दम्पती तौ वृषारूढं सोमं सोमार्धशेखरम् ॥ १२ ॥
फुल्लाननौ ददृशतुः कुमुदे शशिनं यथा ।
तौ तं प्रणेमतुर्देवं तुषारामलमीश्वरम् ॥ १३ ॥
द्यावापृथिव्यावुदितं परिपूर्णमिवोडुपम् ।
तर्जयन्पवनाधूतनववृक्षाननस्वरम् ॥ १४ ॥
मृदूद्दामस्मितस्पन्दि प्रोवाचाऽथ वचः शिवः ।

ईश्वर उवाच

वरं विप्र गृहाणाऽऽशु तुष्टोऽस्मि तव वाञ्छितम् ॥ १५ ॥
मधुमासरसाक्रान्तवृक्षवन्मुदितो भव ।

विप्र उवाच

भगवन्देवदेवेश दश पुत्रा महाधियः ॥ १६ ॥
भव्या भवन्तु मे भूयः शोको येन न बाधते ।

भानुरुवाच

अथैवमस्त्विति प्रोच्य जगामाऽन्तर्धिमीश्वरः ॥ १७ ॥

वे ब्राह्मणदम्पती तप कर रहे थे, वहाँ शङ्कर भगवान् उपस्थित हुए। वे दोनों दम्पती वृषभपर आरूढ़ उमासहित शशिमौलि भगवान्‌को देखकर ऐसे विकसितवदन हुए, जैसे कि चन्द्रमाको देखकर दो कुमुद विकसित होते हैं। उन दोनोंने हिमके तुल्य विमलदेहवाले देवाधिदेव भगवान् शङ्करको ऐसे प्रणाम किया जैसे कि द्यौ और पृथ्वीमें स्थित मनुष्य उदित हुए परिपूर्ण चन्द्रमाको प्रणाम करते हैं। मलयपवनसे कँपाए गये नूतन पल्लवोंसे युक्त आम्र आदि वृक्षोंके मुखके समान शब्द कर रहे भ्रमर, कोकिल आदिकी ध्वनिको अपनी ध्वनिसे तिरस्कृत करते हुए शिवजी मृदु और सौन्दर्यसे अत्यन्त उत्कृष्ट स्मितसे अधरको हिलाते हुए निम्नलिखित वचन बोले—

शिवजीने कहा—हे विप्र, तुम मुँहमाँगा वर माँगो। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, वसन्त ऋतुके रससे आक्रान्त अतएव हरेभरे वृक्षके समान तुम खूब प्रसन्न होओ।

ब्राह्मणने कहा—हे भगवन्, हे देवाधिदेव, मेरे मङ्गलमय कर्म करनेवाले महामति दस पुत्र हों, जिससे फिर मुझे शोक पीड़ित न करे।

श्रीसूर्यने कहा—जो तुम चाहते हो वह वैसा ही हो, ऐसा कहकर भगवान्

व्योम्नि वारिनिधिर्ह्रादं कृत्वेवोर्मिमहावपुः ।
ततस्तौ दम्पती तुष्टौ शिवलब्धवरौ गृहम् ॥ १८ ॥
गतौ गीर्वाणसदृशौ खमिवोमामहेश्वरौ ।
तत्राऽसौ ब्राह्मणी गेहे बभूवोदारगर्भिणी ॥ १९ ॥
बभौ पूर्णोदरा श्यामा मेघलेखेव वारिणा ।
कालेऽथ सुषुवे पुत्रान् प्रतिपच्चन्द्रकोमलान् ॥ २० ॥
दशबालांस्ततो मुग्धान् वसुधेव नवाङ्कुरान् ।
कृतब्राह्मणसंस्कारा वृद्धिमीयुर्महौजसः ॥ २१ ॥
स्वल्पेनैव हि कालेन प्रावृषेव नवाम्बुदाः ।
ते सप्तवर्षवयसो बभूवुर्ज्ञातवाङ्मयाः ॥ २२ ॥
विरेजुस्तेजसा तत्र नभसीवाऽमलाग्रहाः ।
अथ कालेन महता तेषां तौ पितरौ तदा ॥ २३ ॥
संजग्मतुस्तनुं त्यक्त्वा स्वां गतिं गतिकोविदौ ।
मातापितृभ्यां रहिता दश ते ब्राह्मणास्ततः ॥ २४ ॥

शङ्कर आकाशमें अन्तर्हित हो गये जैसे कि तरङ्गोंसे विशाल शरीरवाला समुद्र गरज कर अन्तर्हित हो जाता है। तदनन्तर शिवजीसे वर पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए देवताओंके तुल्य वे दम्पती जैसे शिव और पार्वतीजी आकाशको गये, वैसे ही अपने घरको गये। वहाँपर वह ब्राह्मणी उदार गर्भवाली हुई, जैसे जलसे काली मेघ-घटा परिपूर्णगर्भवाली होकर शोभित होती है, वैसे ही पूर्णगर्भा वह ब्राह्मणी शोभित हुई। तदनन्तर अवसरपर यानी दसवें महीनेमें प्रतिपदाके चन्द्रमाकी तरह कोमल भोले-भाले दस बालकोंको—जैसे कि पृथ्वी नूतन अङ्कुरोंको उत्पन्न करती है वैसे ही—उसने उत्पन्न किया। जैसे वर्षा ऋतुसे नूतन मेघ वृद्धिको प्राप्त होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणसंस्कारसे सम्पन्न वे बालक थोड़े ही समयमें बड़े तेजस्वी होकर वृद्धिको प्राप्त हुए। सात वर्षकी अवस्थामें उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ १०–२२ ॥

जैसे निर्मल नक्षत्र आकाशमें अपने तेजसे शोभित होते हैं, वैसे ही वे वहाँ-पर अपने तेजसे शोभित हुए। तदुपरान्त बहुत समय बीतनेपर उनके वे माता पिता अपने शरीरका त्यागकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए, क्योंकि वे प्रधानतम सद्गति-रूप ब्रह्मके ज्ञाता थे। पिता और माताके देहावसानके बाद माता और पितासे रहित

ययुः कैलासशिखरं गृहं सन्त्यज्य खेदिनः ।
तत्र संचिन्तयामासुरुद्विग्नास्ते विबान्धवाः ॥ २५ ॥
किं स्यादिह परं श्रेय ऊचुश्चेदं परस्परम् ।
किमिह स्यात्समुचितं भ्रातरः किमदुःखदम् ॥ २६ ॥
किं महत्त्वं किमैश्वर्यं किं महाविभवं शुभम् ।
किं तदेतज्जनैश्वर्यं सामन्तो हि महेश्वरः॥ २७ ॥
सामन्तसम्पत् किं नाम राजानो हि महेश्वराः ।
का नाम सम्पद्भूपानां सम्राडिह महेश्वरः ॥ २८ ॥
किं नाम तन्महेन्द्रत्वं यन्मुहूर्तं प्रजापतेः ।
विनश्यति न यत्कल्पे किं स्यात्तदिह शोभनम् ॥ २९ ॥
भाषमाणेष्वथैतेषु ज्येष्ठो भ्राता महामतिः ।
गम्भीरवागुवाचेदं मृगयूथान् मृगो यथा ॥ ३० ॥

दस बालक अत्यन्त खिन्न हुए और अपने घरका परित्याग कर कैलास पर्वतके शिखरपर गये । पिता, माता आदि बान्धवोंसे रहित अतएव दुःखी उन लोगोंने वहाँपर विचार किया—इस जगत्में अत्यन्त सुख क्या है ? यह विचार कर उन्होंने आपसमें यह कहा—हे भाइयो, ऐहिक और पारलौकिक सुखके उपायरूपसे कौन वस्तु स्वीकार करने योग्य है, ऐहिक सुखका कारण न होनेपर भी परिणाममें दुःख न देनेवाला क्या है ? ॥ २३–२६ ॥

क्या महत्त्व है ? क्या ऐश्वर्य है, क्या अत्यन्त शुभ महावैभव है ? क्या इन लोगोंका ऐश्वर्य भी कोई ऐश्वर्य है ? क्योंकि सर्वसाधारण गृहस्थों और ग्रामके नायकोंकी अपेक्षा सामन्त अधिक ऐश्वर्यवान् है । सामन्तकी सम्पत्ति कौनसी सम्पत्ति है ? क्योंकि राजा लोग उनके ऐश्वर्यसे कहीं अधिक ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं ? राजाओं-की सम्पत्ति भी कौन सम्पत्ति है ? क्योंकि उनकी अपेक्षा सम्राट् कहीं अधिक ऐश्वर्यशाली है । वह महेन्द्रत्व भी क्या वस्तु है, जो ब्रह्माके मुहूर्तमें नष्ट हो जाता है । जो वस्तु प्रलयमें नष्ट नहीं होती है, ऐसी कौन शोभन वस्तु यहाँ है ? ॥ २७–२९ ॥

जब कि वे भाई परस्पर वैसा कह रहे थे, इतनेमें जैसे मृगयूथसे एक मृग अन्य मृगोंसे कहता है वैसे ही महामति ज्येष्ठ भ्राताने, जिसकी वाणी अत्यन्त गम्भीर थी, यह वचन कहा ॥ ३० ॥

ऐश्वर्याणां हि सर्वेषामाकल्पं न विनाशि यत् ।
रोचते भ्रातरस्तन्मे ब्रह्मत्वमिह नेतरत् ॥ ३१ ॥
एतदुक्तं तदखिला द्विजपुत्रास्त उत्तमाः ।
वचोभिरैन्दवास्तत्र साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ३२ ॥
ऊचुश्चेदं कथं तात सर्वदुःखोपमार्जनम् ।
पद्मासनं जगत्पूज्यं विरञ्चित्वमवाप्नुमः ॥ ३३ ॥
भ्रात्रा तेन पुनः प्रोक्ता भ्रातरो भूरितेजसः ।
मदुक्तं सर्व एवेमे भवन्तः पालयन्तु वै ॥ ३४ ॥
पद्मासनगतो भास्वान् ब्रह्माऽहमिति तेजसा ।
सृजामि संहरामीति ध्यानमस्तु चिराय वः ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्योंमें जो कल्पान्ततक यानी प्राकृत प्रलयपर्यन्त नष्ट नहीं होता, हे भाइयो, वही ब्रह्मत्व (हिरण्यगर्भता) यहाँ मुझे रुचती है और कोई वस्तु मुझे रुचिकर नहीं है ॥ ३१ ॥

भाग्यवश उन सबकी भी उसीमें रुचि हुई, ऐसा कहते हैं—'एतदुक्तम्' इत्यादिसे ।

उसके इस वचनका उन सब इन्दुनामक ब्राह्मणके उत्तम पुत्रोंने अनेक साधु-वादपूर्वक अपने अपने वचनोंसे अभिनन्दन किया ॥ ३२ ॥

रुचि होनेके कारण उसका उपाय पूछते हैं—'ऊचुश्चेदम्' इत्यादिसे ।

और उन्होंने कहा—हे तात, जरा, मरण आदि सम्पूर्ण दुःखोंका जहाँपर विनाश है, ऐसे पद्मासनरूप जगत्-पूज्य ब्रह्मत्वको (हिरण्यगर्भत्वको) हम शीघ्र कैसे प्राप्त होंगे ? ॥ ३३ ॥

जिज्ञासु अपने भाइयोंको हिरण्यगर्भाहंग्रहोपासनाका सपरिकर उपदेश देनेकी इच्छा कर रहे उनके ज्येष्ठभ्राताने पहले उसकी अङ्गभूत मरणपर्यन्त धारणाकी दृढ़ताका उपदेश दिया, ऐसा कहते हैं—'मदुक्तम्' इत्यादिसे ।

उस ज्येष्ठ भाईने उन विपुल तेजस्वी भाइयोंसे फिर कहा—तुम सभी लोग, जो मैं कहूँ, उसका अनुसरण करो । पद्मासनमें स्थित देदीप्यमान मैं ब्रह्मा हूँ, अपने तेजसे मैं सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हूँ, इस प्रकार तुम लोग चिरकाल तक ध्यान धरो ॥ ३४, ३५ ॥

अग्रजेनेति कथिते बाढं कृत्वा त उत्तमाः ।
ध्यानाधीनधियस्तस्थुः सहैव ज्यायसा रसात् ॥ ३६ ॥
लिपिकर्मार्पिताकारा ध्यानासक्तधियश्च ते ।
अन्तस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुरादृताः ॥ ३७ ॥
अथ उत्फुल्लकमलकोशवक्त्रोन्नतासनः ।
ब्रह्माऽहं जगतां स्रष्टा कर्ता भोक्ता महेश्वरः ॥ ३८ ॥
यज्ञक्रियाक्रमवतः साङ्गोपाङ्गा महर्षयः ।
सरस्वत्याऽथ गायत्र्या युक्ता वेदा नरा इमे ॥ ३९ ॥
लोकपालपराक्रान्तः संचरत्सिद्धमण्डलः ।
अयमुद्दामसौभाग्यः स्वर्गः स्वरविभूषितः ॥ ४० ॥
पर्वतद्वीपजलधिकाननैः समलङ्कृतम् ।
इदं भूमण्डलं चैव त्रिलोकीकर्णकुण्डलम् ॥ ४१ ॥
एतत् पातालकुहरं दैत्यदानवभोजितम् ।
अमृतस्त्रीगणाकीर्णं गृहं गगनकोटरम् ॥ ४२ ॥

जेष्ठ भाईके ऐसा कहनेपर जो आप कहते हैं, वैसा ही हम लोग करेंगे, ऐसा कहकर वे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणपुत्र अपने बड़े भाईके साथ ही हिरण्यगर्भोपासनासे होनेवाले फलमें अत्यन्त राग होनेके कारण ध्यानासीन होकर बैठ गये ॥ ३६ ॥

चित्रपटमें लिखे हुए-से ध्यानासक्त उन्होंने अपने अन्दर स्थित मनसे ही बड़े आदरके साथ यह विचार किया ॥ ३७ ॥

खूब खिले हुए कमलके कोशका मुख ही मेरा उन्नत आसन है, मैं ब्रह्मा हूँ, मैं जगतोंका रचयिता, कर्ता, भोक्ता, महेश्वर यानी नियन्ता हूँ, यज्ञमूर्तिरूप मेरे अन्दर यज्ञ करनेवाले महर्षि और शिक्षादि अङ्ग एवं पुराण आदि उपाङ्गोंसे युक्त सरस्वती तथा गायत्रीके सहित वेद मूर्तिमान् होकर स्थित हैं। लोक-पालोंसे परिवृत, सिद्ध मण्डलोंके सञ्चारसे सुशोभित, उत्कृष्ट सौभाग्यशाली और देवाङ्गनाओंके गान आदिकी ध्वनिसे विभूषित स्वर्ग मेरे अन्दर है। पर्वत, द्वीप समुद्र और वनोंसे अलङ्कृत त्रिलोकीरूपी नायिकाके कानोंका कुण्डलरूपी भूमण्डल मेरे भीतर है ॥ ३८–४१ ॥

दैत्य, दानवोंसे जिसका उदर परिपूर्ण है, ऐसा पाताललोक देवताओंकी अप्सराओंसे व्याप्त घरके समान गगनकोटर (घर) मेरे अन्दर स्थित है ॥ ४२ ॥

अयमिन्द्रो महाबाहुः प्रजालङ्कृतदोत्तमः ।
त्रैलोक्यनगरीमेकः पाति पावनयज्ञभुक् ॥ ४३ ॥
दीप्रजालवरत्राभिरवष्टभ्याऽथ दिग्गणम् ।
क्रमेण प्रतपन्त्येते भानवो भूरिभानवः ॥ ४४ ॥
लोकपाला इमे लोकं रक्षन्ति शुद्धवृत्तयः ।
मर्यादाभिरतुच्छाभिर्गोपाला गोगणं यथा ॥ ४५ ॥
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रस्फुरन्ति पतन्ति च ।
तरङ्गा इव तोयानामिमाः प्रतिदिनं प्रजाः ॥ ४६ ॥
सृजामीममहं सर्गं संहरामि तथाऽऽद्दृतः ।
अयमात्मनि तिष्ठामि शाम्यामि भुवनेश्वरः ॥ ४७ ॥
अयं संवत्सरो यात इदं परिणतं युगम् ।
सृष्टेरयमसौ कालः स्वयं संहरणस्य च ॥ ४८ ॥
अयमेव गतः कल्पो ब्राह्मी रात्रिरियं तता ।
अयमात्मनि तिष्ठामि पूर्णात्मा परमेश्वरः ॥ ४९ ॥

यह महाबाहु इन्द्र, जो प्रजाओंको अलङ्कार प्रदान करनेवाले राजाओंमें सर्वोत्तम है, त्रैलोक्यरूपी नगरीका अकेले पालन करता है और पवित्र यज्ञोंका भोक्ता है, मेरे अन्दर है ॥ ४३ ॥

कान्तियोंके जालरूपी पाशोंसे दिशाओंको बाँधकर रसोंके आदानके लिए ये प्रचुर किरणोंवाले बारह सूर्य चैत्र आदि मासोंके क्रमसे मेरे अन्दर तप रहे हैं ॥४४॥

ये शुद्धवृत्तिवाले लोकपाल न्याययुक्त होनेके कारण महती मर्यादाओंसे लोककी ऐसे रक्षा कर रहे हैं, जैसे गोपाल गौओंकी रक्षा करते हैं ॥ ४५ ॥

जैसे जलोंकी तरङ्गें आविर्भूत होती हैं, तिरोभूत होती हैं, विविधविभव आदिसे विराजित होती हैं, वैसे ही ये प्रजा प्रतिदिन आविर्भूत होती हैं, विनष्ट होती हैं, विविध प्रकारके वैभवसे सुशोभित होती हैं और दरिद्रता, दोष आदिसे इनका पतन होता है। यह भुवनेश्वर मैं इस सृष्टिकी रचना करता हूँ और संहार करता हूँ तथा आद्दत होकर पारमार्थिक स्वस्वरूपमें स्थित हूँ, अतएव उपरामको प्राप्त होता हूँ ॥ ४६,४७ ॥

यह संवत्सर बीता, यह युग भी कूच कर गया, यह सृष्टिका समय है, यह संहारका समय है, यह कल्प बीत चुका है, यह ब्रह्माकी रात्रि फैली है,

इति भावितया बुद्ध्या ते द्विजा अथ ऐन्दवाः ।
दशाऽद्रिवृत्तयस्तस्थुः समुत्कीर्णा इवोपलात् ॥ ५० ॥
अधिगतकमलासनक्रमास्ते परिगलितेतरतुच्छवृत्तिजालाः ।
सततमतितरां कुशासनस्थाश्चिरमिति पङ्कजकल्पने विरेजुः ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवोपाख्याने ऐन्दवसमाधानं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥८६॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भानुरुवाच

पितामह क्रमे तस्मिंस्ततस्ते बहुभावनात् ।
कर्मभिस्तैः समाक्रान्तमनस्कास्तस्थुरादृताः ॥ १ ॥
यावत्ते देहकास्तेषां तापेन पवनैस्तथा ।
कालेन शोषमभ्येत्य गलिताः शीर्णपर्णवत् ॥ २ ॥

मैं आत्मामें यानी स्वस्वरूपमें स्थित हूँ, पूर्णात्मा हूँ, परमेश्वर हूँ ॥ ४८,४९ ॥

इसके अनन्तर वे दस ऐन्दव ब्राह्मण इस प्रकारकी भावित बुद्धिसे पत्थरमें खुदी हुई प्रतिमाओंकी तरह बद्धासन होकर पर्वतके तुल्य अटलरूपसे स्थित हुए ॥ ५० ॥

हे ब्रह्मन्, तदनन्तर कुशासनमें स्थित वे दस ऐन्दव, अपनेमें ब्रह्माकी कल्पना होनेपर जिनकी अन्य तुच्छ वृत्तियाँ विनष्ट हो गई थीं और जिन्होंने ब्रह्माका क्रम (हिरण्यगर्भस्थान) प्राप्त कर लिया था, निरन्तर अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ५१ ॥

छियासी सर्ग समाप्त

सतासी सर्ग

[मनसे ब्रह्मा बने हुए उन लोगोंकी देहके राक्षसों द्वारा भक्षण करनेपर उनकी संहार और सर्गमें वैसी ही स्थिति रही, यह वर्णन]

श्रीसूर्यने कहा—हे पितामह, तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण उस उपासना-क्रममें बहुत भावना करनेसे भुवन, प्राणी, ग्राम आदिकी सृष्टि, पालन, संहार आदि तत्-तत् कर्मोंसे आपके समान व्यग्र चित्तवाले उसीमें अत्यन्त आसक्त

जक्षुस्तां देहकांस्तत्र क्रव्यादा वनवासिनः ।
इतश्चेतश्च लुठितान् सुफलानीव मर्कटाः ॥ ३ ॥
अथ ते शान्तबाह्यार्था ब्रह्मत्वे कृतभावनाः ।
तस्थुश्चतुर्युगस्याऽन्ते यावत्कल्पः क्षयं गतः ॥ ४ ॥
क्षीयमाणे ततः कल्पे तपत्यादित्यसंचये ।
पुष्करावर्तकेषूच्चैर्वर्षत्सु कठिनारवम् ॥ ५ ॥
वहत्सु कल्पवातेषु स्थित एक महार्णवे ।
क्षीणेषु भूतवृन्देषु ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ ६ ॥
ततो रात्रिक्रमपरे सर्वां संहृत्य तां स्थितिम् ।
स्थिते त्वय्यात्मनि विभो ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ ७ ॥
अद्य प्रबुद्धे भवति स्रष्टुमिच्छति संसृतिम् ।
सुखेनैव क्रमेणोच्चैस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ ८ ॥

होकर तब तक स्थित रहे, जब तक कि उनके कृश शरीर सूर्यके सन्ताप और वायुसे चिरकाल तक सूखकर पुराने पत्तेके समान विनष्ट न हो गये ॥ १,२ ॥

वनमें रहनेवाले मॉंसभक्षी पशु-पक्षियोंने, जैसे बन्दर सुन्दर फलोंको खाते हैं वैसे ही, इधर उधर लुढ़के हुए उनके शरीरोंको खा डाला ॥ ३ ॥

तदनन्तर वे ऐन्दव ब्राह्मण, जिन्होंने अपनी ब्रह्मतामें यानी 'मैं ब्रह्मा हूँ' ऐसी भावना कर रक्खी थी और जिनका बाह्य व्यापार विरत था, तबतक स्थित रहे, जबतक अवशिष्ट चार युगोंके अन्तमें कल्प नष्ट हुआ ॥ ४ ॥

तदनन्तर कल्पके क्षीण होनेपर और बारह आदित्योंके तपनेपर, पुष्करावर्त-नामक प्रलयकारी मेघोंके खूब गर्जन-तर्जनके साथ वृष्टि करनेपर, कल्पान्तके वायुओंके बहनेपर, एकमात्र महार्णवके स्थित होनेपर और सब प्राणियोंके क्षीण होनेपर वे ऐन्दव अपने मनसे कल्पित ब्रह्माण्डमें सृष्टि आदिमें व्यग्र होकर स्थित रहे ॥ ५, ६ ॥

तदनन्तर हे विभो, जब आप रात्रिके अतिक्रमणकी प्रतीक्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण स्थितिका संहार करके योगनिद्रासे आत्मामें स्थित थे, तब भी वे वैसे ही यानी सर्गादिव्यापारमें व्यग्र होकर स्थित रहे ॥ ७ ॥

आज जब आप प्रलयरूप रात्रिसे जागे और आपने संसारकी सृष्टि करनेकी इच्छा की, उस समय भी वे उसी क्रमसे स्थित हैं ॥ ८ ॥

तथैते भगवन् ब्रह्मन् ब्रह्माणो ब्राह्मणा दश ।
त एते दश संसारा मनोव्योमनि संस्थिताः ॥ ९ ॥
तेषामेकतमस्याऽहमयमाकाशमन्दिरे ।
भानुर्भुवि विभो कालकलाकर्मणि योजितः ॥ १० ॥
एष ते कथितः सर्गो दशानामब्जसम्भव ।
ब्रह्मणां सम्भवो व्योम्नि यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ११ ॥
विविधकल्पनया वलिताम्बरं यदिदमुत्तम जागतमुत्थितम् ।
करणजालकमाहितमोहनं तदखिलं निजचेतसि विभ्रमः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवोपाख्याने दशजगद्वर्णनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

हे भगवन्, इस प्रकार ये दस ऐन्दव ब्राह्मण दस ब्रह्मा हो गये । उन दसोंके मनोरूप आकाशमें ये दस ब्रह्माण्ड स्थित हैं ॥ ९ ॥

इतने ग्रन्थसे 'कथमिदं जातम्' (कैसे यह उत्पन्न हुआ) इस प्रश्नका उत्तर देकर 'कस्त्वम्' (तुम कौन हो) इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'तेषाम्' इत्यादिसे।

हे ब्रह्मन्, उन ऐन्दव सर्गोंसे एक ब्रह्माण्डके छिद्रभूत आकाशरूप मन्दिरमें भूलोकमें (तीनों लोकोंमें) कालविभागरूप कर्ममें नियुक्त मैं एक सूर्य हूँ ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन्, यह दस ब्रह्माओंकी सृष्टि मैंने आपसे कही और आकाशमें दस ब्रह्माओंकी उत्पत्ति भी कही, अब आप जो करना चाहते हैं, उसे कीजिये, क्योंकि उनकी सृष्टियोंके रहते भी आपकी सृष्टिसे कोई विरोध नहीं है ॥ ११ ॥

यदि कोई कहे विरोध क्यों नहीं है ? इसपर केवल मनकी कल्पना होनेसे उनका सर्ग असत्य ही है, इस आशयसे कहते हैं—'विविध०' इत्यादिसे ।

हे उत्तम, अनेक प्रकारकी कल्पनाओं द्वारा आकाशको वेष्टित करनेवाला, बाह्य और आभ्यन्तर करणोंका जालके सदृश बन्धनरूप, आसक्तिसे मोहित करनेवाला जो यह जागत दृश्य उत्पन्न हुआ है, वह सब उनके चित्तमें भ्रान्तिमात्र ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है ॥ १२ ॥

सत्तासी सर्ग समाप्त

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीब्रह्मोवाच

ब्रह्माणो ब्राह्मणा भानुरित्युक्त्वा ब्रह्मणो मम ।
ब्रह्मन् ब्रह्मविदां श्रेष्ठ तूष्णीमेव बभूव सः ॥ १ ॥
तत उक्तं मया तस्य चिरं संचिन्त्य चेतसा ।
भानो भानो वदाऽऽशु त्वं किमन्यत्संसृजाम्यहम् ॥ २ ॥
एतानि दश विद्यन्ते किल यत्र जगन्ति वै ।
तत्राऽन्यो मम सर्गेण कोऽर्थः कथय भास्कर ॥ ३ ॥
इत्युक्तोऽथ मया भानुः सञ्चिन्त्य सुचिरं धिया ।
इदमत्र वचो युक्तमुवाच स महामुने ॥ ४ ॥

श्रीभानुरुवाच

निरीहस्य निरिच्छस्य कोऽर्थः सर्गेण ते प्रभो ।
विनोदमात्रमेवेदं सृष्टिस्तव जगत्पते ॥ ५ ॥

अठासी सर्ग

[ब्रह्माकी अनासक्तिसे सृष्टि-सिद्धिका वर्णन तथा मनसे दृढ बद्धमूल हुए कार्यकी अन्य उपायोंसे अनिवृत्तिका वर्णन]

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजी, 'हे ब्रह्मवित्तम ब्रह्माजी, वे दस ब्राह्मण ही दस ब्रह्मा हैं', ऐसा मुझसे कहकर भानु चुप हो गये ॥ १ ॥

तदनन्तर उसके कथनको बहुत देर तक अपने मनसे विचार कर मैंने कहा—हे भानो, मैं और क्या सृष्टि करूँ, यह आप मुझसे शीघ्र कहिए ॥ २ ॥

हे सूर्य, जहाँपर ये दस ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं, वहाँपर मेरी सृष्टिसे और क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है, इसको आप कहिए ॥ ३ ॥

हे महामुने, मेरे ऐसा कहनेपर भानुने अपनी बुद्धिसे चिरकाल तक विचार कर इस विषयमें यह युक्तियुक्त वचन मुझसे कहा ॥ ४ ॥

सूर्यने कहा—हे प्रभो, आपको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, किसी प्रकारकी चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है, आपको सृष्टिसे क्या प्रयोजन है ? हे जगत्पते, फिर भी जो सृष्टि आप करते हैं, वह आपका केवल मनोविनोद-मात्र है ॥ ५ ॥

निष्कामादेव भवतः सर्गः सम्पद्यते प्रभो ।
अर्कादिव जलादित्यप्रतिबिम्बमिवाऽधियः ॥ ६ ॥
शरीरसन्निवेशस्य त्यागे रागे च ते यदा ।
निष्कामो भगवन् भावो नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ ७ ॥
सृजसीदं तथा देव विनोदायैव भूतप ।
पुनः संहृत्य संहृत्य दिनं दिनपतिर्यथा ॥ ८ ॥
तव नित्यमसंसक्तं विनोदायैव केवलम् ।
इदं कर्तव्यमेवेति जगन्न तूद्यमेच्छया ॥ ९ ॥
सृष्टिं चेन्न करोषि त्वं महेश परमात्मनः ।
नित्यकर्मपरित्यागात् किमपूर्वमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
यथा प्राप्तं हि कर्तव्यमसक्तेन सदा सता ।
मुकुरेणाऽकलङ्केन प्रतिबिम्बक्रिया यथा ॥ ११ ॥
तथैव कर्मकरणे कामना नास्ति धीमताम् ।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥ १२ ॥

हे प्रभो, निष्काम आपसे किसी प्रकारके मानसिक व्यापारके बिना ऐसे सृष्टि होती है, जैसे कि निर्मनस्क सूर्यसे जलादित्यरूप सूर्यका प्रतिबिम्ब होता है ॥ ६ ॥

भगवन्, शरीररूप अवयवसन्निवेशके त्यागमें और उसमें अहम् अभिमानसे राग करनेमें भी आपका भाव निष्काम है, वह न शरीरग्रहणसे कुछ प्रेम करता है और न शरीरत्यागसे द्वेष करता है ॥ ७ ॥

हे प्राणियोंके पालक, फिर भी जैसे सूर्य दिनका संहार करके फिर दिनकी सृष्टि करते हैं वैसे ही आप विनोदके लिए ही सृष्टि करते हैं, ॥ ८ ॥

आसक्तिरहित यह जगत्-सृष्टि करना मेरा कर्तव्य ही है, यह सोचकर केवल मनोविनोदके लिए जगत् सृष्टिमें आपकी प्रवृत्ति होती है, किसी अपने स्वार्थाभिलाषसे नहीं ॥ ९ ॥

हे महेश, अपना नित्यकर्म सृष्टि अगर आप नहीं करेंगे, तो नित्यकर्मोंके परित्यागसे अतिरिक्त और क्या अदृष्ट आपको प्राप्त होगा ? ॥ १० ॥

इसलिए सत्पुरुषको आसक्ति किये बिना जो कर्तव्य प्राप्त हुआ हो, उसे करना चाहिए, जैसे कि कलङ्करहित स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्बक्रियाको करता है ॥११॥

जैसे आत्मज्ञानियोंकी अप्राप्त कर्म करनेमें कामना नहीं होती है वैसे ही प्राप्त कर्मके

अतः सुषुप्तोपमया धिया निष्कामया तया ।
सुषुप्तबुद्धसमया कुरु कार्यं यथागतम् ॥ १३ ॥
सर्गैरथेन्दुपुत्राणां तोषमेषि जगत्प्रभो ।
तदेते तोषयिष्यन्ति तं त्वां सर्गात् सुरेश्वर ॥ १४ ॥
चित्तनेत्रैर्भवानेतान् सर्गानन्यस्य नो दृशा ।
अवश्यं चक्षुषा सर्गं सृष्टमित्येव वेत्ति कः ॥ १५ ॥
येनैव मनसा सर्गो निर्मितः परमेश्वर ।
स एव मांसनेत्रेण तं पश्यति हि नेतरः ॥ १६ ॥
न चैतान् दश संसारान् दश नीरजसंभवान् ।
कश्चिन्नाशयितुं शक्तश्चित्तदार्ढ्याच्चिरस्थितान् ॥ १७ ॥

त्यागमें भी कामना नहीं होती, क्योंकि कामनात्यागका कोई हेतु देखनेमें नहीं आता, इसलिए परमार्थरूपसे कुछ न करनेके कारण सुषुप्ततुल्य और प्रतीतिरूपसे तो करनेके कारण स्वप्नतुल्य निष्काम बुद्धिसे प्राप्त हुए कार्यको कीजिये ॥१२,१३॥

हे जगत्प्रभो, इन ऐन्दवोंकी सृष्टिसे अपने पुत्र, पौत्र आदि सम्पत्तिकी वृद्धि देखनेसे यदि आप सन्तोषको प्राप्त हों, तो हे देवाधिदेव, ये ऐन्दव ब्राह्मण भविष्यमें भी सृष्टिसे सन्तुष्ट होनेवाले आपको सन्तुष्ट करेंगे ॥ १४ ॥

उनकी सृष्टिसे मुझे सन्तोष हो, तथापि मेरी सृष्टि उनसे गतार्थ क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—'चित्तनेत्रैः' इत्यादिसे ।

भगवन् , आप अन्यकी इन सृष्टियोंको चित्तरूपी नेत्रसे ही देखते हैं, चक्षुसे नहीं देखते । उनकी सृष्टि करनेवाला तो अपनी की हुई सृष्टिको 'मैंने यह रचा' यों अपने नेत्रसे ही जानता है, इसलिए आपके नेत्रगोचर होनेवाली आपकी सृष्टि अन्यकी सृष्टिसे गतार्थ नहीं है ॥ १५ ॥

तब तो ऐन्दव द्विजोंकी सृष्टिको ही मैं अपनी आँखोंसे देखूँ, इसपर कहते हैं—'येनैव' इत्यादिसे ।

हे परमेश्वर, जिस पुरुषने मनसे सृष्टि की, वही चर्मचक्षुसे उस सृष्टिको देख सकता है, दूसरा नहीं देख सकता ॥ १६ ॥

यदि ऐसा है, तो मेरे मनसे दिखाई देनेवाली यह ऐन्दव सृष्टि वृथा है और मेरे प्रतिकूल है; इसलिए इसका मुझे विनाश कर देना चाहिए, इसपर कहते हैं—'न चैतत्' इत्यादिसे ।

कर्मेन्द्रियैर्यत्क्रियते तद्रोद्धुं किल युज्यते ।
न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद् रोधयितुं क्षमः ॥ १८ ॥
यो बद्धपदतां यातो जन्तोर्मनसि निश्चयः ।
स तेनैव विना ब्रह्मन्नाऽन्येन विनिवार्यते ॥ १९ ॥
बहुकालं यदभ्यस्तं मनसा दृढनिश्चयम् ।
शापेनाऽपि न तस्याऽस्ति क्षयो नष्टेऽपि देहके ॥ २० ॥
यद्बद्धपीठमभितो मनसि प्ररूढं
तद्रूपमेव पुरुषो भवतीह नाऽन्यत् ।
तद्बोधनादितरमत्र किलाऽभ्युपायं
शैलौघसेकमिव निष्फलमेव मन्ये ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवोपाख्याने ऐन्दवनिश्चयकथनं नामाऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

इन दस ब्रह्माण्डोंका और इनके रचयिता दस ब्रह्माओंका कोई भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि ये चित्तकी दृढ़तासे बहुत कालसे स्थित हैं ॥ १७ ॥

जो कर्म इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, उसका विनाश हो सकता है, पर मनके निश्चयसे किए हुए कर्मको कोई भी विनष्ट नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन्, प्राणीके मनमें जो निश्चय बद्धमूल हो गया, उसका उसके बिना दूसरा निवारण नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

बहुत कालसे जिस वस्तुका अभ्यास किया गया हो तथा मनसे दृढ़ निश्चय किया गया हो, उसका महात्माओंके शापसे भी विनाश नहीं हो सकता, देहका भले ही विनाश हो जाय, पर वह ज्योंका त्यों बना रहता है ॥ २० ॥

जो वस्तु बद्धमूल है और मनमें चारों ओरसे आरूढ़ है, तद्रूप ही पुरुष होता है, उसका दूसरा रूप नहीं है । उसके बोधके सिवा अन्य उपाय शिलाके टुकड़ोंके समूहोंको सींचनेके तुल्य सर्वथा निष्फल है, ऐसी मेरी धारणा है ॥२१॥

अठासी सर्ग समाप्त

एकोननवतितमः सर्गः

भानुरुवाच

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः ।
मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ॥ १ ॥
सामान्यब्राह्मणा भूत्वा मनोभावनया किल ।
ऐन्दवा ब्रह्मतां याता मनसः पश्य शक्तताम् ॥ २ ॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ ३ ॥
बाह्यदृष्टिर्हि नियतं सुखदुःखादि विन्दति ।
नाऽन्तर्मुखतया योगी देहे वेत्ति प्रियाप्रिये ॥ ४ ॥
मनःकारणकं तस्माज्जगद्विविधविभ्रमम् ।
इन्द्रस्याऽहल्यया सार्द्धं वृत्तान्तोऽत्र निदर्शनम् ॥ ५ ॥

नवासी सर्ग

[बद्धमूल मनकी अन्य प्रयत्नोंसे अविचाल्यताका इन्दु और अहल्याकी मनोवृत्तिके कथन द्वारा वर्णन]

भानुने कहा—भगवन्, मन ही जगतोंका रचयिता है, समष्टिभावापन्न मन ही परम पुरुष यानी हिरण्यगर्भ है। लोकमें जो कार्य मनसे किया गया हो, वही कृत है और शरीर द्वारा किया गया कुछ भी कृत नहीं है ॥ १ ॥

मनकी सामर्थ्य देखिए, ऐन्दव साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावनासे ब्रह्मताको प्राप्त हुए ॥ २ ॥

मनसे 'मैं तुच्छ देह हूँ' ऐसी भावना करनेपर नर देहताको (जन्म, मरण आदि धर्मवत्ताको) प्राप्त होता है, और देहभावनासे यदि युक्त न हो, तो जन्म, मरण आदिसे पीड़ित नहीं होता ॥ ३ ॥

बाह्यदृष्टि यानी देह आदिमें आत्मबुद्धि करनेवाले पुरुषको देहमें सुख, दुःख आदिकी प्राप्ति होती है, अन्तर्मुख होनेके कारण (चेतन आत्माको आत्मा समझनेके कारण) योगीको देहमें प्रिय और अप्रियका ज्ञान नहीं होता ॥ ४ ॥

इसलिए यह निश्चित हुआ कि सम्पूर्ण भ्रमोंसे पूर्ण जगत् मनसे ही उत्पन्न हुआ है, इस विषयमें इन्द्रका अहल्याके साथ जो वृत्तान्त हुआ है, वह दृष्टान्त है ॥५॥

ब्रह्मोवाच

काऽहल्या भगवन् भानो को वाऽत्रेन्द्रस्तमोनुद ।
ययोरुदन्तश्रवणे पावनी दृष्टिरेति हि ॥ ६ ॥

भानुरुवाच

श्रूयते हि पुरा देव मागधेषु महीपतिः ।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यात इन्द्रद्युम्न इवाऽपरः ॥ ७ ॥
तस्येन्दुबिम्बप्रतिमा भार्या कमललोचना ।
अहल्या नाम तत्राऽऽसीच्छशाङ्कस्येव रोहिणी ॥ ८ ॥
तस्मिन्नेव पुरे पिङ्गः पिङ्गप्रकरशेखरः ।
इन्द्रनामाऽपरः कश्चिद्धीमान् विप्रकुमारकः ॥ ९ ॥
अहल्या पूर्वमिन्द्रस्य बभूवेष्टेत्यहल्यया ।
श्रुतं राजमहिष्याऽथ कथाप्रस्तावतः क्वचित् ॥ १० ॥
आकर्ण्यैवमहल्या सा बभूवेन्द्रानुरागिणी ।
अहल्यां मां स नो कस्मात्सक्तोऽभ्येतीत्यथोत्सुका ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—भगवन् भानुजी, यहाँपर कौन अहल्या है और हे तमोनाशिन्! कौन इन्द्र है? जिनका वृत्तान्त सुननेपर पवित्र दृष्टि प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

सूर्यने कहा—हे देव, सुना जाता है, प्राचीन समयमें मगध देशमें इन्द्रद्युम्न नामका राजा हुआ, जो पुराणमें प्रख्यात राजा इन्द्रद्युम्नके समान प्रतापी था। जैसी चन्द्रमाकी रोहिणी भार्या है वैसी ही उसकी चन्द्रमण्डलकी कान्तिके समान कान्तिवाली कमलके तुल्य विशाल नेत्रवाली अहल्या नामकी भार्या थी ॥ ७,८ ॥

उसी नगरमें सम्पूर्ण विटोंमें श्रेष्ठ और विटविद्यामें कुशल इन्द्रनामक कोई विट ब्राह्मणकुमार रहता था ॥ ९ ॥

पटरानी अहल्याने कहींपर कथाके प्रसङ्गसे पहले अहल्या (गौतमपत्नी) इन्द्रकी इष्ट हुई थी, ऐसा सुना था ॥ १० ॥

ऐसा सुनकर अहल्यानामक राजाकी पत्नी इन्द्रनामक विटपर अनुरागिणी हुई। तदनन्तर मुझपर आसक्त वह इन्द्र मुझ अहल्याके पास क्यों नहीं आता? इस प्रकार वह उत्कण्ठित हुई ॥ ११ ॥

मृणालभारकदलीपल्लवास्तरणेषु सा ।
अतप्यत भृशं बाला लता लूना वनेष्विव ॥ १२ ॥
खेदमाप समग्रासु तासु भूपविभूतिषु ।
मत्सी निदाघतप्तासु परिलोला स्थलीष्विव ॥ १३ ॥
अयमिन्द्रोऽयमिन्द्रश्चेत्येवंजातप्रलापया ।
लज्जाऽपि हि तया त्यक्ता वैवश्यमनुयातया ॥ १४ ॥
इत्यार्तया घनस्नेहमथ तस्या वयस्यया ।
उक्तं तया प्रियेऽविघ्नमिन्द्रमभ्यानयाम्यहम् ॥ १५ ॥
इष्टं तवाऽऽनयामीति श्रुत्वा विकसितेक्षणा ।
पपात पादयोः सख्या नलिन्या नलिनी यथा ॥ १६ ॥
ततः प्रयाते दिवसे समायाते निशागमे ।
सा वयस्या तमिन्द्राख्यं ययौ द्विजकुमारकम् ॥ १७ ॥

वह बाला कमलनालोंके समूह तथा केलेके पल्लवोंके बिछौनेपर वनमें जैसे कटी हुई लता सन्तप्त होती है, वैसे ही अत्यन्त सन्तप्त होती थी ॥ १२ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सन्तप्त वनभूमिमें मछली तड़पती है वैसे ही सकल राजसम्पत्तियोंमें उसे खेद होता था यानी सम्पूर्ण राजविभूतियाँ उसको भली नहीं लगती थीं ॥ १३ ॥

यह इन्द्र है, यह इन्द्र है, इस प्रकार वह प्रलाप करती थी। कामदेवकी पराधीनताको प्राप्त हुई उसने लज्जाका भी परित्याग कर दिया था ॥ १४ ॥

उसकी वैसी दुरवस्था देखकर दुःखित हुई उसकी एक सखीने उससे बड़े प्रेमके साथ कहा—प्रिये, इन्द्रको मैं बिना किसी प्रकारकी विघ्नबाधाके तुम्हारे समीप लाती हूँ ॥ १५ ॥

तुम्हारे इष्टको तुम्हारे समीप लाती हूँ, यह सुनकर उसकी आँखें विकसित हो गईं, जैसे मुरझाई हुई नलिनी नलिनीके पैरपर गिरती है, वैसे ही वह सखीके पैरपर गिर पड़ी ॥ १६ ॥

तदनन्तर दिनके बीतनेपर जब सन्ध्या हुई तब उसकी वह सखी इन्द्रनामक उस ब्राह्मणबालकके पास गई ॥ १७ ॥

बोधयित्वा यथायुक्तं सा तमिन्द्रमथाऽङ्गना ।
अहल्यानिकटं रात्र्यामानयामास सत्वरम् ॥ १८ ॥
ततः सा तेन पिङ्गेन सहेन्द्रेण रतिं ययौ ।
कस्मिंश्चित् सदने गुप्ते बहुमाल्यविलेपना ॥ १९ ॥
हाराङ्गदमनोज्ञेन तरुणी तेन सा तदा ।
रतेनाऽऽवर्जिता वल्ली रसेन मधुना यथा ॥ २० ॥
ततस्तदनुरक्ता सा पश्यन्ती तन्मयं जगत् ।
न समस्तगुणाकीर्णं भर्तारं बह्वमन्यत ॥ २१ ॥
केनचित्त्वथ कालेन तस्या इन्द्रानुरागिता ।
सा ज्ञाता राजसिंहेन तन्मुखव्योमचन्द्रिका ॥ २२ ॥
इन्द्रं ध्यायति सा यावत्तावत्तस्या विराजते ।
मुखं पूर्णेन चन्द्रेण प्रबुद्धमिव कैरवम् ॥ २३ ॥
इन्द्रोऽपि च तदासक्तसमस्तकरणाकुलः ।
न तिष्ठति क्षणमहो तया विरहितः क्वचित् ॥ २४ ॥

वह सखी इन्द्रको युक्तिपूर्वक समझा-बुझाकर रात्रिमें अहल्याके निकट शीघ्र ले आई ॥ १८ ॥

तदनन्तर किसी एक गुप्त घरमें बहुतसी फूलमालाएँ और अङ्गरागसे विभूषित वह अहल्या जैसे गौतमपत्नी अहल्या इन्द्रके साथ रतिको प्राप्त हुई थी वैसे ही उस इन्द्रनामक विटके साथ रतिको प्राप्त हुई ॥ १९ ॥

जैसे वसन्त लताको रससे अपने अधीन करता है, वैसे ही हार, केयूर आदिसे मनोहर उस विटसे, वह तरुणी सुरतोचित क्रीडाओं द्वारा अपने वशमें की गई ॥२०॥

तदनन्तर इन्द्रनामक विटपर अनुरक्त हुई सम्पूर्ण जगत्को तन्मय देखती हुई उसे समस्त गुणोंसे पूर्ण अपना पति रुचिकर नहीं हुआ ॥ २१ ॥

कुछ समयके बाद राजाको उस अहल्याके मुखरूपी आकाशको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रानुरागिता ज्ञात हुई ॥ २२ ॥

जितने समय तक वह इन्द्रका ध्यान करती थी, उतने समय तक उसका मुख ऐसा शोभित होता था, जैसे कि पूर्ण चन्द्रमासे विकसित कुमुद सुशोभित होता है ॥ २३ ॥

इन्द्रकी भी समस्त इन्द्रियाँ उसपर आसक्त थीं, अतः वह बड़ा व्याकुल

अथाऽतिसुघनस्नेहनिरावरणचेष्टयोः ।
तयोरनयवृत्तान्तो राज्ञाऽऽकर्णि कटुव्यथः ॥ २५ ॥
एवमन्योन्यमासक्तं भावमालक्ष्य भूपतिः ।
चकार बहुभिर्दण्डैः स द्वयोरथ शासनम् ॥ २६ ॥
तावुभावपि संत्यक्तौ हेमन्ते सलिलाशये ।
तुष्टौ जहसतुस्तत्र न खेदं समुपागतौ ॥ २७ ॥
अपृच्छत ततो राजा खिन्नौ स्थो न तु दुर्मती ।
तावूचतुर्महीपालं जलाशयसमुद्धृतौ ॥ २८ ॥
संस्मृत्याऽऽवामिहाऽन्योन्यमुखकान्तिमनिन्दिताम् ।
आत्मानं न विजानीवो रूढभावं परस्परम् ॥ २९ ॥
शासनेषु च यत्सङ्गो निःशङ्कस्तेन हर्षितौ ।
मुह्यावो न महीपाल स्वाङ्गैरपि विकर्तितैः ॥ ३० ॥

रहता था, उसके बिना कहींपर भी एक क्षण नहीं रह सकता था ॥ २४ ॥

तदुपरान्त अत्यन्त निविड़ स्नेह होनेके कारण प्रकाशरूपसे कामचेष्टावाले उन लोगोंका दुर्विनय, जो कि अत्यन्त व्यथा पहुँचानेवाला था, राजाके कानों तक पहुँचा ॥ २५ ॥

राजाने उनका परस्पर अत्यन्त आसक्तिवाला भाव देखकर बहुतसे दण्डोंसे उन दोनोंका शासन किया ॥ २६ ॥

उन दोनोंको हेमन्त ऋतुमें तालाबमें छोड़ा, फिर भी वे बड़े सन्तुष्ट होकर हँसते थे, वहाँ उन्हें तनिक भी दुःख नहीं हुआ ॥ २७ ॥

तदनन्तर राजाने उनसे पूछा, हे दुर्मतियो, तुम खिन्न हो या नहीं, जलाशयसे निकाले गये उन दोनोंने राजासे कहा—हे राजन्, परस्परकी अनिन्दित मुखकान्तिका स्मरण करके यहाँपर हम लोगोंने परस्पर बद्धप्रेम अपनी आत्माको नहीं जाना ॥ २८, २९ ॥

चूंकि हम लोगोंका संग यानी मनका सम्बन्ध निःशङ्क है यानी पृथक् होनेकी शङ्कासे रहित है, इसलिए हे राजन्, आपके द्वारा किये गये उत्पीडन आदि दण्डोंमें अङ्गोंके छेदनसे भी हम लोग हर्षित रहते हैं, खिन्न नहीं होते ॥ ३० ॥

ततो भ्राष्ट्रे परिक्षिप्तावखिन्नावेवमेव तौ ।
ऊचतुर्मुदितात्मानावन्योन्यस्मृतिहर्षितौ ॥ ३१ ॥
ग्रथितौ गजपादेषु न खिन्नावेव संस्थितौ ।
एवमेवोचतुर्भूपमन्योन्यस्मृतिहर्षितौ ॥ ३२ ॥
कशाहतावखिन्नौ तावेवमेव किलोचतुः ।
अन्यस्माच्छासनाद्राज्ञा कल्पिताच्च पुनः पुनः ॥ ३३ ॥
उद्धृतावूचतुः पृष्टौ तमेवाऽर्थं पुनः पुनः ।
उवाचेन्द्रो महीपालं जगन्मे दयितामयम् ॥ ३४ ॥
न शातनानि दुःखानि बाधन्ते किञ्चिदेव मे ।
अस्याश्चैव जगद्राजन् सर्वं मन्मयमेव च ॥ ३५ ॥
तेनाऽन्यशासनाद् दुःखं किञ्चिदेव न विद्यते ।
मनोमात्रमहं राजन् मनो हि पुरुषः स्मृतः ॥ ३६ ॥
प्रपञ्चमात्रमेवाऽयं देहो दृश्यत एव हि ।
समकालप्रयुक्तेन सहसा दण्डराशिना ॥ ३७ ॥
वीरं मनो भेदयितुं मनागपि न शक्यते ।
का नाम ता महाराज कीदृश्यः कस्य शक्तयः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर वे भाड़में झोंके गये, वहाँपर भी प्रसन्न ही रहे। उन्होंने पहलेकी तरह राजासे कहा—परस्परकी स्मृतिसे हर्षित होकर वहाँपर भी हम सुखी रहे। तदुपरान्त हाथीके पैरोंमें वे बाँध दिये गये। वहाँपर भी पूर्ववत् वे प्रसन्न रहे। परस्पर स्मृतिसे हर्षित होकर उन्होंने राजासे फिर वैसे ही कहा। कोड़ोंसे पीटे गये भी वे खिन्न न हुए, पहले की तरह फिर भी उन्होंने राजासे कहा। राजासे दिये गये अन्यान्य दण्डोंसे पुनः पुनः निकाले गये उन्होंने पूछनेपर फिर-फिर वैसे ही उत्तर दिया। इन्द्रने राजासे कहा—राजन्, सम्पूर्ण जगत् मेरे लिए दयितामय है, दुःखहेतु शरीरच्छेदन आदि मुझे कुछ भी दुःख नहीं देते। हे राजन्, इसका भी सम्पूर्ण जगत् मन्मय हो गया है, इसलिए अन्य पीडनसे भी हम लोगोंको कुछ दुःख नहीं होता है। हे राजन्, मैं मनोमात्र हूँ और मन ही पुरुष कहा गया है॥३१—३६॥

यह देह मनका विस्तारमात्र ही देखा जाता है। यदि कहिए मैं मनको ही दण्डसे नष्ट कर डालूँगा, तो उसपर कहते हैं—एक कालमें प्रयुक्त अनेक दण्डोंसे इस वीर मनका तनिक भी भेदन नहीं किया जा सकता। हे राजन् , वे किसकी और

याभिर्मनांसि भिद्यन्ते दृष्टनिश्चयवन्त्यपि ।
वृद्धिमायातु वा देहो यातु वा विशरारुताम् ॥ ३९ ॥
भाविातार्थाभिपतितं मनस्तिष्ठति पूर्ववत् ।
इष्टेऽर्थे चिरमाविष्टं दधानं तत्स्थितं मनः ॥ ४० ॥
भावाभावाः शरीरस्था नृप शक्ता न बाधितुम् ।
भावितं तीव्रवेगेन मनसा यन्महीपते ॥ ४१ ॥
तदेव पश्यत्यचलं न शरीरविचेष्टितम् ।
न काश्चन क्रिया राजन् वरशापादिका अपि ॥ ४२ ॥
तीव्रवेगेन सम्पन्नं शक्ताश्चालयितुं मनः ।
तीव्रवेगेन संयुक्तं पुरुषा ह्यभिवाञ्छितात् ॥ ४३ ॥
मनश्चालयितुं शक्ता न महाद्रिं मृगा इव ।
ममेयमसितापाङ्गी मनःकोशे प्रतिष्ठिता ॥ ४४ ॥
देवागारे महोत्सेधे देवी भगवती यथा ।
न दुःखमनुगच्छामि प्रियया जीवरक्षया ॥ ४५ ॥

कैसी शक्तियाँ हैं, जिनसे वे भी मन, जिनका कि तद्भावापत्तिरूप निश्चय अनुभूत है, भिन्न किये जाते हों। देह चाहे वृद्धिको प्राप्त हो, चाहे नष्ट भ्रष्ट हो जाय, किन्तु विचारित (भावित) अर्थके अभिमुख हुआ मन पूर्ववत् स्थिर रहता है। हे राजन्, अपने इष्ट अर्थमें चिरकालसे अभिनिविष्ट (आग्रहयुक्त) और उसमें स्थित मनको शरीरमें स्थित भाव और अभाव पीडित करनेके लिए समर्थ नहीं होते। हे राजन्, तीव्रवेगवाले मनसे जो वस्तु भावित होती है, उसीको पुरुष स्थिररूपसे देखता है, शरीर द्वारा किये गये कार्यको नहीं देखता। हे राजन्, महात्माओंकी वर, शाप आदि कोई भी क्रियाएँ तीव्रवेगसे युक्त मनको उसके अभीष्ट पदार्थसे विचलित नहीं कर सकतीं। जैसे मृग महा पर्वतको विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही पुरुष तीव्रवेगसे युक्त मनको अपने अभीष्ट पदार्थसे विचलित करनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे बहुत ऊँचे देवालयमें भगवती देवी प्रतिष्ठित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी मेरे मनःकोशमें प्रतिष्ठित है। मेरे जीवनकी रक्षा करनेवाली इस प्रियासे युक्त मैं दुःखका अनुभव वैसे ही नहीं करता, जैसे कि शिखरपर स्थित मेघमालासे युक्त

गिरिर्ग्रीष्मदशादाहं लभयेवाऽब्दमालया ।
यत्र यत्र यथा राजंस्तिष्ठाम्यभिपतामि वा ॥ ४६ ॥
तत्रेष्टसङ्गमादन्यत् किञ्चिन्नाऽनुभवाम्यहम् ।
अहल्यादयितानाम्ना मनसेन्द्राभिधं मनः ॥ ४७ ॥
संसक्तमिदमायाति न स्वभावादृते परम् ।
एककार्यनिविष्टं हि मनो धीरस्य भूपते ॥ ४८ ॥
न चाल्यते मेरुरिव वरशापबलैरपि ।
देहो हि वरशापाभ्यामन्यत्वमिव गच्छति ॥
ननु धीरं मनो राजन् विजिगीषुतया स्थितम् ॥ ४९ ॥
एतानि चाऽत्र मनसां न च कारणानि
राजन् शरीरशकलानि वृथोत्थितानि ।
चेतो हि कारणममीषु शरीरकेषु
वारीव सर्ववनखण्डलतारसेषु ॥ ५० ॥

पर्वत ग्रीष्मऋतुकी तपनका अनुभव नहीं करता। हे राजन्, मैं जहाँ-जहाँ रहता हूँ अथवा गिरता हूँ, वहाँपर अभिलषित पदार्थके लाभसे अतिरिक्त तनिक भी किसीका अनुभव नहीं करता। अहल्यारूप प्रिया नामवाले मनसे इन्द्र नामक मन ही भली भाँति संबद्ध होकर यानी एक ही मन दो वेषोंसे अहल्या और इन्द्ररूपसे दृढ़तासे सम्बद्ध होकर स्वभावसे अतिरिक्त अन्य विषयको प्राप्त नहीं होता यानी सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी उसका स्वभाव दूसरे रूपमें परिणत नहीं किया जा सकता। हे राजन्, धीरका मन एक कार्यमें निविष्ट (एकाग्र) होता है। वह महात्माओंके वर और शापके प्रभावसे भी मेरुकी तरह चालित नहीं होता। देह वर और शापसे अन्यताको प्राप्त होती है, किन्तु धीर मन सम्पूर्ण विक्षेपोंके विजिगीषुके रूपसे स्थिर रहता है ॥ ३७–४९ ॥

यदि कोई कहे कि देह ही मनका कारण है, देहका उत्पीड़न होनेपर मनका उत्पीड़न क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'एतानि' इत्यादिसे ।

हे राजन्, ये दिखाई दे रहे प्राणियोंके शरीररूपी टुकड़े, जो कि वृथा उत्पन्न हुए हैं, मनके कारण (उत्पादक) नहीं हैं, किन्तु मन ही इन शरीरोंमें ऐसे कारण है, जैसे जल सम्पूर्ण वनोंकी लताओंके रसका कारण होता है ॥५०॥

आद्यं शरीरमिह विद्धि मनो महात्मन्
सङ्कल्पितो जगति तेन शरीरसङ्घः ।
आद्यं शरीरमधितिष्ठति यत्र यत्र
तत्तद् भृशं फलति नेतरदस्य पुंसः ॥ ५१ ॥
मुख्याङ्कुरं सुभग विद्धि मनो हि पुंसो
देहास्ततः प्रविसृतास्तरुपल्लवाभाः ।
नष्टेऽङ्कुरे पुनरुदेति न पल्लवश्री-
र्नैवाऽङ्कुरः क्षयमुपैति दलक्षयेषु ॥ ५२ ॥
देहे क्षते विविधदेहगणं करोति
स्वप्नभावनाविव नवं नवमाशु चेतः ।
चित्ते क्षते तु न करोति हि किञ्चिदेव
देहस्ततः समनुपालय चित्तरत्नम् ॥ ५३ ॥

हे महात्मन्, मन आत्माका पहला भोगायतन है, यह समझिए और उसने जगत्‌में सम्पूर्ण शरीरोंकी कल्पना कर रक्खी है। इस पुरुषका वह आद्य भोगायतन मन जहाँ-जहाँपर 'अहम्' इस अभिमानसे आविर्भूत होता है, उससे तत्-तत् शरीरका आकार उत्पन्न होता है, अन्य नहीं होता ॥ ५१ ॥

उक्त अर्थका ही दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हुए कहते हैं—**'मुख्याङ्कुरम्'** इत्यादिसे ।

हे सुभग, मनको ही मुख्य अङ्कुर जानिये। उससे वृक्षके पल्लव आदिके तुल्य पुरुषकी देह उत्पन्न हुई है, फैली है। अङ्कुरके नष्ट होनेपर फिर पल्लवशोभा उदित नहीं होती, किन्तु पल्लवोंके क्षीण होनेपर अङ्कुरका कदापि नाश नहीं होता ॥५२॥

इसीलिए देहका नाश होनेपर भी पुनः पुनः देहकी उत्पत्ति होती है, किन्तु चित्तका नाश होनेपर कैवल्य ही होता है, फिर उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'देहे' इत्यादिसे ।

देहके नष्ट होनेपर भी मन अनेक देहोंको उत्पन्न करता है, जैसे कि स्वप्न-भूमिमें चित्त नये-नये स्वप्नोंको दर्शाता है और चित्तके नष्ट होनेपर तो शरीर किसीका भी उत्पादन नहीं करता, इसलिए सम्पूर्ण पदार्थोंके हेतुभूत चिन्तामणिके सदृश मनकी परमपुरुषार्थसाधनरूपसे रक्षा कीजिए। अपने तुच्छ क्रोध आदिके कारण उसका विनाश न कीजिए, यह अर्थ है ॥ ५३ ॥

दिशि दिशि हरिणाक्षीमेव पश्यामि राजन्
प्रिययुवतिमनस्त्वान्नित्यमानन्दितोऽस्मि ।
तव पुरप्रकृतीनां यत्फलं दुःखदायि
क्षणमथ सुचिरं तत्तन्न पश्यामि किञ्चित् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कृत्रिमेन्द्राहल्यानुरागो नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

भानुरुवाच

अथेन्द्रेणैवमुक्तोऽसौ राजा राजीवलोचनः ।
मुनिं भरतनामानं पार्श्वसंस्थमुवाच ह ॥ १ ॥

राजोवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ पश्यामि सुदुरात्मनः ।
भृशमस्य मुखे स्फारं धाष्ट्र्यं मद्दारहारिणः ॥ २ ॥

जो बात पहले कही थी, उसीका समुदितरूपसे अनुवाद कर उपसंहार करते हुए दण्डमें प्रयत्नकी विफलताको दर्शाते हैं—'दिशि दिशि' इत्यादिसे ।

हे राजन्, प्रिय युवती मेरे मनमें स्थित है, अतएव प्रत्येक दिशामें उसको मैं देखता हूँ और नित्य आनन्दमें हूँ । तुम्हारे नगरके अन्तर्गत तुम्हारे सेवक आदिमें जो मुझे दुःख देनेवाले कशाघात, शस्त्राघात आदि हैं, उनके फलभूत दुःखको एक क्षणभर अथवा बहुत देरीतक मैं कुछ भी नहीं देखता ॥ ५४ ॥

नवासी सर्ग समाप्त

नब्बे सर्ग

[भरत मुनिके शापसे उनके देहोंके नष्ट होनेपर भी उनके मनकी तन्मयता नष्ट नहीं हुई, यह वर्णन]

भानुने कहा—हे भगवन्, तदनन्तर इन्द्रनामक विटके ऐसा कहनेपर कमलके तुल्य नेत्रवाले उस राजाने समीपमें स्थित भरत नामके ऋषिजीसे कहा ॥ १ ॥

राजाने कहा—हे भगवन्, आप सम्पूर्ण धर्मके मर्मको जाननेवाले हैं । मैं

पापानुरूपमस्याऽऽशु शापं देहि महामुने ।
यदवध्यवधात् पापं वध्यत्यागात् तदेव हि ॥ ३ ॥
इत्युक्तो राजसिंहेन भरतो मुनिसत्तमः ।
यथावत् प्रविचार्याऽऽशु पापं तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥
सहाऽनया दुष्कृतिन्या भर्तृद्रोहाभिभूतया ।
विनाशं व्रज दुर्बुद्धे इति शापं विसृष्टवान् ॥ ५ ॥
ततस्तौ राजभरतौ प्रत्यूचतुरिदं वचः ।
सुदुर्मती युवां याभ्यां क्षपितं दुश्चरं तपः ॥ ६ ॥
अनेन शापदानेन किञ्चिद्भवति नाऽऽवयोः ।
देहे नष्टे न नौ किञ्चिन्नश्यति स्वान्तरूपयोः ॥ ७ ॥
स्वान्तं हि नहि केनाऽपि शक्यते नाशितुं क्वचित् ।
सूक्ष्मत्वाच्चिन्मयत्वाच्च दुर्लक्ष्यत्वाच्च विद्धि नौ ॥ ८ ॥

मेरी पत्नीका अपहरण करनेवाले इस दुरात्माके मुखमें अत्यन्त धृष्टता देखता हूँ ॥ २ ॥

हे महामुने, आप इसके पापके अनुरूप इसे शीघ्र शाप दीजिए, क्योंकि यदि इसको दण्ड न दिया जाय, तो वधार्ह पुरुषके त्यागसे वही पाप होता है, जो कि अवध्यके वधसे होता है, इसलिए इसे दण्ड देना आवश्यक है ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ राजाके ऐसा कहनेपर मुनिवर भरतने उस दुरात्माके पापका पूर्वापरसे यथायोग्य विचार कर हे दुर्बुद्धे ! पतिके द्रोहसे पतित इस पापिनीके साथ तू विनष्ट हो जा, ऐसा शाप दे दिया ॥ ४,५ ॥

तदनन्तर उन दोनोंने राजा और भरतके प्रति यह वचन कहा—तुम दोनों अत्यन्त दुर्मति हो, क्योंकि तुम लोगोंने अपने शापसे अपना कठिन तप नष्ट किया है और तुम लोगोंके शापदानसे हमारा कुछ भी होने जानेवाला नहीं है। हम लोग मनरूपी हैं, देहके नष्ट होनेपर भी हम लोगोंका कुछ भी नष्ट नहीं होगा। तुम निश्चित समझो, मनका कोई कहींपर भी विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, चिन्मय है और अन्य लोगोंसे दुर्लक्ष्य है ॥ ६–८ ॥

एकनवतितमः सर्गः

भानुरुवाच

तेनैतद् वच्मि भगवन् यथाकालं मनो मुने ।
अनिग्राह्यमभेद्यं च शापैरपि दुरासदैः ॥ १ ॥
ऐन्दवानामतः सृष्टिक्रमाणां प्रविनाशनम् ।
युज्यते न च तद् ब्रह्मन् युक्तमेतन्महात्मनः ॥ २ ॥
किं तदस्ति जगत्यस्मिन् विविधेषु जगत्सु च ।
तवाऽपि नाथ नाथस्य यद् दैन्याय महात्मनः ॥ ३ ॥
मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः ।
यन्मनोनिश्चयकृतं तद् द्रव्यौषधिदण्डनैः ॥ ४ ॥
हन्तुं न शक्यते जन्तोः प्रतिबिम्बमणेरिव ।
तस्मादेतेऽत्र तिष्ठन्तु भासुरैः सर्गसंभ्रमैः ॥ ५ ॥

इक्यानबे सर्ग

[भानुको मनु बनाकर ब्रह्माकी सृष्टिका और ऐन्दवोंकी सृष्टिके समान विश्वकी मनोमात्रविलासताका निरूपण]

भानुने कहा—हे भगवन्, चूँकि भरतका शाप मनोनिग्रहमें समर्थ नहीं हुआ, इसलिए मैं यह कहता हूँ, मन अत्यन्त कठिन शापोंसे भी निग्रहके अयोग्य और अभेद्य है ॥ १ ॥

इसलिए ऐन्दवोंकी सृष्टियोंका विनाश आप नहीं कर सकते, चूँकि आप महात्मा हैं, इसलिए आपके लिए उनका विनाश करना अयुक्त भी है ॥ २ ॥

हे नाथ, इस संसारमें और विविध संसारोंमें वह कौनसी वस्तु है, जो कि महात्मा और सबके स्वामी आपकी दीनताके लिए हो ? यानी मेरी सृष्टि वृथा है, ऐसा समझकर आपको दीनताका अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

मन जगतोंका कर्ता है, मन पुरुष कहा गया है । जो मनके निश्चयसे किया गया है, उसका द्रव्य, ओषधि, दण्ड आदिसे विनाश नहीं किया जा सकता । जैसे कि मणिके प्रतिबिम्बका विनाश नहीं किया जा सकता, इसलिए ये ऐन्दव द्विज यहाँपर देदीप्यमान अपनी सृष्टि भ्रान्तियोंके साथ स्थित रहें ॥ ४,५ ॥

त्वं सृष्ट्वेह प्रजास्तिष्ठ बुद्ध्याकाशो ह्यनन्तकः ।
चित्ताकाशश्चिदाकाश आकाशश्च तृतीयकः ॥ ६ ॥
अनन्तास्त्रय एवैते चिदाकाशप्रकाशिताः ।
एकं द्वौ त्रीन् बहून् वाऽपि कुरु सर्गान् जगत्पते ॥ ७ ॥
स्वेच्छयाऽऽत्मनि तिष्ठ त्वं किं गृहीतं तवैन्दवैः ।

ब्रह्मोवाच

अथैन्दवजगज्जाले भानुनैवमुदाहृते ॥ ८ ॥
मया सञ्चिन्त्य सुचिरमिदमुक्तं महामुने ।
युक्तमुक्तं त्वया भानो विततं हि किलाऽम्बरम् ॥ ९ ॥
मनश्च विततं वाऽपि चिदाकाशश्च विस्तृतः ।
तद्यथाभिमतं सर्गं नित्यकर्म करोम्यहम् ॥ १० ॥
कल्पयामि बहून्याशु भूतजालानि भास्कर ।
तस्त्वमेवाऽऽशु भगवन् प्रथमो मे मनुर्भव ॥ ११ ॥
कुरु सर्गं यथाकामं मया समभिचोदितः ।
अथैतत् स महातेजा मम वाक्यं प्रभाकरः ॥ १२ ॥

तब मेरी सृष्टिके लिए अवकाश कहाँ है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'त्वम्' इत्यादिसे ।

आप इस अनन्त स्वचित्ताकाशमें प्रजाकी सृष्टि करके स्थित होइए, क्योंकि चित्ताकाश, चिदाकाश और परमाकाश, ये तीनों अनन्त हैं और ये तीनों चिदाकाशसे प्रकाशित हैं। हे जगत्पते, आप एक, दो, तीन अथवा बहुत सृष्टियोंको कीजिए और इच्छानुसार अपनी आत्मामें स्थित होइए । ऐन्दवोंने आपका क्या ग्रहण किया है !

ब्रह्माजीने कहा—हे महामुने, तदनन्तर ऐन्दव जगतोंके विषयमें भानुके ऐसा कहनेपर चिरकाल तक विचार कर मैंने यह कहा—हे भानो, तुमने बहुत युक्तियुक्त कहा, क्योंकि पूर्वोक्त चार प्रकारका आकाश विस्तृत है, मन भी विस्तृत है और चिदाकाश भी विस्तृत है, इसलिए अपने अभिमत नित्यकर्मरूपी सृष्टिको मैं करता हूँ ॥ ६–१० ॥

हे भास्कर, मैं शीघ्र अनेक प्राणियोंके समूहोंकी रचना करता हूँ, इसलिए हे भगवन्, आप ही शीघ्र मेरे पहले मनु होइए ॥ ११ ॥

मेरे द्वारा प्रेरित होकर आप अपनी इच्छानुसार सृष्टि कीजिए । तदुपरान्त

अङ्गीकृत्य द्विधाऽऽत्मानं चकार तपतांवर ।
एकेन प्राक्तनेनाऽस्मिन् वपुषा सूर्यतां गतः ॥ १३ ॥
व्योमाध्वगतया सर्गे ततान दिवसावलिम् ।
मन्मनुत्वं द्वितीयेन कृत्वा स्ववपुषा क्षणात् ॥ १४ ॥
ससर्ज सकलां सृष्टिं तां तामभिमतां मम ॥ १५ ॥
एतत्ते कथितं सर्वं वसिष्ठ मनसो मुने ।
स्वरूपं सर्वकृत्त्वं च शक्तत्वं च महात्मनः ॥ १६ ॥
प्रतिभासमुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः ।
तत्तत् प्रकटतामेति स्थैर्यं सफलतामपि ॥ १७ ॥
सामान्यब्राह्मणा भूत्वा प्रतिभासवशात् किल ।
ऐन्दवा ब्रह्मतां याता मनसः पश्य शक्तताम् ॥ १८ ॥
यथा चैन्दवजीवास्ते चित्तत्वाद् ब्रह्मतां गताः ।
वयं तथैव चिद्भावाच्चित्तत्वाद् ब्रह्मतां गताः ॥ १९ ॥
चित्तं हि प्रतिभासात्म यच्च तत्प्रतिभासनम् ।
तदिदं भाति देहादि स्वान्तं नाऽन्याऽस्ति देहदृक् ॥ २० ॥

हे तपस्विश्रेष्ठ, महा तेजस्वी सूर्यने मेरे इस वाक्यको स्वीकार कर अपने दो स्वरूप बना डाले। पहलेके एक स्वरूपसे वह ऐन्दवसृष्टिमें सूर्यताको प्राप्त हुए, व्योममार्ग-गामी होकर उन्होंने उस स्वरूपसे दिनपरम्पराका निर्माण किया और दूसरे स्वरूपसे शीघ्र मेरे लोकका मनुत्व स्वीकार कर मेरी अभीष्ट तत् तत् सब सृष्टियोंकी रचना की ॥ १२–१५ ॥

हे मुने, यह सब मैंने आपसे महात्मा मनका स्वरूप कहा तथा मनकी सर्व-कारिता और सामर्थ्यका वर्णन किया ॥ १६ ॥

जो जो वस्तु इस चित्तमें स्फुरणको प्राप्त होती है, वह सब आविर्भावको, स्थिरताको और सफलताको भी प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

साधारण ब्राह्मण होकर भी मनकी भावनाके कारण ऐन्दव ब्राह्मण ब्रह्मताको प्राप्त हुए, यह मनकी सामर्थ्य है ॥ १८ ॥

जैसे ऐन्दव जीव चिद्भावसे चित्तत्वको प्राप्त कर चित्तत्वसे हिरण्यगर्भताको प्राप्त हुए, वैसे ही हम भी चिद्भावसे चित्तत्वको और चित्तत्वसे ब्रह्मताको प्राप्त हो गये ॥१९॥

चित्त प्रतिभासस्वरूप है, उसका जो प्रतिभासन है, वही देहादिरूपसे प्रतीत

चित्तमात्मचमत्कारं तच्च तत्कुरुते स्वतः ।
यथावत्सम्भवं स्वात्मन्येवाऽन्तर्मरिचादिवत् ॥ २१ ॥
तदेतच्चित्तवद्भातमातिवाहिकनामकम् ।
तदेवोदाहरन्त्येवं देहनाम्ना घनभ्रमम् ॥ २२ ॥
कथ्यते जीवनाम्नैतच्चित्तं प्रतनुवासनम् ।
शान्तदेहचमत्कारं जीवं विद्धि क्रमात् परम् ॥ २३ ॥
नाऽहं न चाऽन्यदस्तीह चित्रं चित्तमिदं स्थितम् ।
वसिष्ठैन्दवसंविद्वदसत्सत्तामिवाऽऽगतम् ॥ २४ ॥

होता है । इसलिए देहादि मन ही हैं । देहप्रतीति चित्तसे अन्य नहीं है ॥२०॥

चित्त अपनेमें विविध कल्पनाओंसे युक्त है और वह उनकी रचना करता है । यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है, तो सबका मन एकसी ही कल्पना क्यों नहीं करता, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि काम, कर्म और वासनाके अनुसार जिस समय जिसके लिए जैसा संभव होता है, उस समय उसके लिए उतना ही उस प्रकार होता है, जैसे कि मरिच कटुतासे ही अपने अन्दर परिणामको प्राप्त होता है, निम्ब तिक्तरूपसे परिणत होता है और द्राक्षा मधुरतासे ही ये सब अपने अपने संस्कारसे व्यवस्थित हैं, वैसे ही मन भी तत्-तत् समयमें तत्-तत् वस्तुकी अपनेमें ही रचना करता है ॥ २१ ॥

इसलिए सब लोग मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि देहके नामसे अपनेको कहते हैं, एकरूपसे नहीं कहते हैं, ऐसा कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादिसे ।

इसलिए चित्तके समान प्रतीत आतिवाहिक सूक्ष्म देहको ही स्थूलताकी भ्रान्तिसे युक्त होनेपर लोग तत्-तत् देहके नामसे कहते हैं ॥ २२ ॥

सूक्ष्म वासनावाला यह चित्त जीव कहलाता है और स्थूलताभ्रमसे युक्त यह चित्त देह कहलाता है, इस भेदके क्रमसे जिसमें तीनों देहोंका (कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल देहोंका) चमत्कार विनष्ट हो गया, उस जीवको आप परब्रह्म ही समझिए ॥ २३ ॥

हे वसिष्ठजी, इस प्रकार तन्तुओंसे पटकी तरह किसीकी भी देह चित्तसे पृथक् नहीं है । न मैं हूँ, न अन्य है, यह सब विचित्र चित्त ही स्थित है । ऐन्दवोंकी संवित्के समान असत् ही चित्त सत्ताको प्राप्त हो गया है ॥ २४ ॥

यथैन्दवमनो ब्रह्मा तथैवाऽयमहं स्थितः ।
तत्कृतं चाऽहमेवेदं सङ्कल्पात्मैव भासते ॥ २५ ॥
कश्चिच्चित्तविलासोऽयं ब्रह्माऽहमिह संस्थितः ।
स्वभाव एव देहादि विद्धि शून्यतरात्मखात् ॥ २६ ॥
शुद्धचित्परमार्थैकरूपिणीत्येव भावनात् ।
जीवो भूयो मनो भूत्वा वेत्तीत्थं देहतां मुधा ॥ २७ ॥
सर्वमैन्दवसंसारवदिदं भाति चिद्वपुः ।
सम्पन्नसम्प्रबोधात्मा स्वप्नो दीर्घः स्वशक्तिजः ॥ २८ ॥
द्विचन्द्रविभ्रमाकारं तन्मात्राभासपूर्वकम् ।
ऐन्द्रवाम्बरवद्रूढं चित्तादेवाऽखिलं भवेत् ॥ २९ ॥
न सन्नाऽसदहंरूपं सत्तासत्ते तदेव च ।
उपलम्भेन सद्रूपमसत्यं तद्विरोधतः ॥ ३० ॥

उनके द्वारा दूसरी सृष्टि की गई है, यह भी मेरे चित्तकी ही कल्पना है, इसलिए वह सृष्टि भी मैं ही हूँ, ऐसा कहते हैं—'यथैन्दव०' इत्यादिसे ।

जैसे ऐन्दवोंका मन ब्रह्मा है, वैसे ही यह मैं भी मनकी कल्पनासे ब्रह्मा होकर स्थित हूँ, उनके द्वारा की गई सङ्कल्पात्मक सृष्टि भी मैं ही हूँ। कोई चित्तका विलासरूप यह मैं ब्रह्मारूपसे स्थित हूँ । परमात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्चोंसे शून्य चिदाकाशसे मानो पृथक् होकर देहादिरूपसे प्रतीत होता है, ऐसा जानो ॥ २५,२६ ॥

परमार्थरूपिणी शुद्ध चित् ही इस प्रकार भावना करनेसे जीव तदनन्तर मन होकर व्यर्थ इस प्रकार देहताका अनुभव करती है ॥ २७ ॥

चिद्-वपु चेतन परमात्मा ही ऐन्दवोंके संसारकी नाईं सर्वात्मरूपसे प्रतीत होता है जैसे अपने अज्ञानसे उत्पन्न हुआ स्वप्न दीर्घकालिक होकर जाग्रत्स्वरूप प्रतीत होता है वैसे ही चैतन्यस्वरूप परमात्मा सर्वात्मरूपसे प्रतीत होता है ॥२८॥

चूँकि सूक्ष्मतम वासनामय शब्दतन्मात्राओंके अध्याससे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह ऐन्दवोंके चित्ताकाशके समान ही उत्पन्न हुआ है । यह दो चन्द्रमाओंके भ्रमके तुल्य असत् ही है ॥ २९ ॥

यदि उदासीन चित्तसे ही इस सबकी उत्पत्ति है, तो देहादिमें अहन्ताके अभिमानसे यह अनुदासीनरूप कैसे प्रतीत होता है ? इसपर कहते हैं—'न सत्' इत्यादिसे ।

जडाजडं मनो विद्धि सङ्कल्पात्म बृहद्वपुः ।
अजडं ब्रह्मरूपत्वाज्जडं दृश्यात्मतावशात् ॥ ३१ ॥
दृश्यानुभवसत्यात्म न सद्भावे विलासि तत् ।
कटकत्वं यथा हेम्नि तथा ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ ३२ ॥
सर्वत्वाद् ब्रह्मणः सर्वं जडं चिन्मयमेव च ।
अस्मदादिशिलान्तात्म न जडं न च चेतनम् ॥ ३३ ॥

जो अहंरूप उदासीन-स्वभाव अनुभूत होता है, वह सत् नहीं है, क्योंकि सर्वत्र चित्तके कार्योंमें उसका दर्शन नहीं होता और वह असद् भी नहीं है, क्योंकि असद्की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए वह सत्ता-असत्तारूप है यानी सदेकरूप होनेसे वह सत् ही है, असत्स्वरूप होनेसे वह असत् ही है, कहींपर उसकी प्रतीति होती है, अतएव वह सत्-सा प्रतीत होता है, कहींपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अतः असत्स्वरूप है यों विरुद्धस्वभाववाला प्रतीत होता है, इसलिए वह मायिक ही है, यह अर्थ है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जड़ाजड़ विरुद्धस्वभाव होनेसे भी मन मायिक ही है, ऐसा कहते हैं—'जड़ाजड़म्' इत्यादिसे ।

सङ्कल्परूपी विपुलाकार मनको जड़ और अजड़-स्वरूप जानिए, ब्रह्मरूप होनेके कारण वह अजड़ है और दृश्यरूप होनेसे जड़ है ॥ ३१ ॥

वह कब दृश्यरूप होता है और कब ब्रह्मरूप होता है ? यदि ऐसी किसीको शङ्का हो, तो इसपर कहते हैं—'दृश्यानुभव०' इत्यादिसे ।

मन दृश्यके अनुभवकालमें दृश्यकी तरह स्थित रहता है सत्य आत्माके सद्भावमें ब्रह्मके अनुभवसे अतिरिक्त उसका विलास नहीं रहता, अतः ब्रह्म ही है, जैसे सुवर्णमें कटकत्व हाथके अलङ्करणरूप कार्यकी दृष्टिसे सुवर्णसे पृथक् होता हुआ भी सुवर्णदृष्टिसे सुवर्ण ही रहता है, वैसे ही मन भी ब्रह्मरूपसे स्थित रहता है ॥३२॥

इस प्रकार जगत् भी जड़ाजड़रूप विरुद्धस्वभाव होनेसे मायिक ही है, ऐसा कहते हैं—'सर्वत्वात्' इत्यादिसे ।

ब्रह्म सर्वमय है; इस प्रकार सभी जड़ और सभी चिन्मय ही है । ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जड़ाजड़ धर्मशून्य है । युक्तिरूप दृष्टिसे देखनेपर एकमें उक्त उभयविधता असंभव है, ऐसा बोध होता है सही, पर परमार्थदृष्टिसे तो वह धर्मशून्य है । अर्थात् परम तत्त्वमें जड़त्व और चेतनत्वरूप किसी भी धर्मकी स्थिति सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३३ ॥

दार्वादीनामचित्त्वेन नोपलम्भस्य सम्भवः ।
उपलम्भो हि सदृशसम्बन्धादेव जायते ॥ ३४ ॥
उपलब्धेऽजडं विद्धि तेनेदं सर्वमेव हि ।
उपलम्भो हि सदृशसम्बन्धात् स्यात् समात्मनोः ॥ ३५ ॥
जडचेतनभावादिशब्दार्थश्रीर्न विद्यते ।
अनिर्देश्यपदे पत्रलतादीव महामरौ ॥ ३६ ॥

यह जड़ है अथवा यह चेतन है यह व्यवस्था अनुपलब्धिके समय होती है, या उपलब्धिके बाद ? पहले पक्षमें उपलब्धिका ही सम्भव न होनेसे उसकी सत्ता सिद्ध नहीं ही होती है, उसकी जड़ता और अजड़ताका विचार तो दूर रहा, इस आशयसे कहते हैं—'दार्वादीनाम्' इत्यादिसे।

वृक्ष आदि पदार्थ चिन्मय नहीं हैं, अतः उनकी उपलब्धिका सम्भव नहीं है, क्योंकि सदृश वस्तुओंकी (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्यकी) सदृश सम्बन्धसे वृत्तिद्वारक ऐक्य सम्बन्धसे उपलब्धि होना प्रसिद्ध है। केवल जड़ैक्यरूपवादमें तो प्रमेयचैतन्य ही नहीं है, फिर उसके उपलम्भका संभव कैसे ? भाव यह है कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और मनोवच्छिन्न चैतन्यके इन्द्रिय द्वारा अभिन्न यानी अपृथक् होनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जो वस्तु दूर है, इन्द्रियगोचर नहीं है, उसका अनुमान आदिसे ज्ञान होनेपर भी वह परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं है। यही दर्शन-शास्त्रकी प्रक्रिया यहांपर दर्शाई गई है ॥ ३४ ॥

दूसरे पक्षमें कहते हैं—'उपलब्धे' इत्यादिसे।

प्रमेयका उपलम्भमें अन्तर्भाव होनेपर उपलम्भके विषय पदार्थकी चित्स्वभावता ही अवशिष्ट रहती है, इसलिए इस सबको अजड़ ही यानी चेतन ही समझो, क्योंकि पूर्वोक्त दो चैतन्योंका (प्रमातृचैतन्य और प्रमेयचैतन्यका) वृत्तिद्वारक ऐक्यलक्षण सम्बन्धसे ही उपलम्भ होता है, ऐसी अवस्थामें उपलम्भ न होनेपर तथा उपलम्भ होनेपर जड़चेतनभेद दुर्घट है ॥ ३५ ॥

जड़ और चेतनके भेदके दुर्घट होनेपर जो फलित अंश निकला, उसे कहते हैं—'जड़चेतन०' इत्यादिसे।

जैसे महामरुमें पत्र, लता आदि नहीं रहते, वैसे ही अनिर्देश्य पदमें जडत्व, चेतनत्व आदि शब्दार्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम् ।
चिद्भागोऽत्राऽजडो भागो जाड्यमत्र हि चेत्यता ॥ ३७ ॥
चिद्भागोऽत्राऽवबोधांशो जडं चेत्यं हि दृश्यते ।
इति जीवो जगद्भ्रान्तिं पश्यन् गच्छति लोलताम् ॥ ३८ ॥
चित्तस्थ एव भावोऽसौ शुद्ध एव द्विधा कृतः ।
अतः सर्वं जगत्सैव द्वैतलब्धं च सैव तत् ॥ ३९ ॥
स्वमेवाऽन्यतया दृष्ट्वा चितिर्दृश्यतया वपुः ।
निर्भागाऽप्येकभागाभं भ्रमतीव भ्रमातुरा ॥ ४० ॥
न भ्रान्तिरस्ति भ्रमभाङ् ना नैवेतीह निश्चयः ।
परिपूर्णार्णवप्रख्या वेत्तीत्थं संस्थिता चितिः ॥ ४१ ॥
सर्वं स्याज्जाड्यमप्यस्याश्चितिश्चित्त्वं च वेत्सि तत् ।
चिद्भागोंऽशोऽवबोधस्य त्वहन्ता जडतोदयः ॥ ४२ ॥

उस चित्‌की चेत्याकार कल्पना ही मनस्त्व है। उसीमें जड़ाजड़ विकल्प होता है, उस जड़ाजड़के विकल्पका विवेक ही निर्मनस्कता है, इस आशयसे कहते हैं—'चितः' इत्यादिसे ।

चित्‌की जो चेत्याकार कल्पना है, वही मनस्त्व कहा गया है, उसमें जो चिद्भाग है, वह अजड़ है और चेत्यांशमें जाड्य है ॥ ३७ ॥

इसमें चिद्भाग ज्ञानांश है और चेत्यभाग जड़ दिखाई देता है। इस प्रकार जगद्भ्रान्तिको देखता हुआ जीव चञ्चलताको प्राप्त होता है यानी इसमें चैतन्यरूप आत्मांशकी विस्मृति होनेसे जड़स्वरूप जीव-जगत्‌का भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥३८॥

चित्तमें स्थित चित्स्वभाव ही चित्त और जगत् इस भेदसे दो प्रकारका किया गया है। इसलिए एकमात्र चिद्बुद्धिसे ज्ञात यह सम्पूर्ण जगत् चित् ही है और द्वैतबुद्धिसे ज्ञात भी यह जगत् चित् ही है ॥ ३९ ॥

निर्विभाग भी चेतन अन्यरूप दृश्यरूपसे स्वगतभेदतुल्य अपने शरीरको देखकर भ्रमसे आर्त होकर भटकता है ॥ ४० ॥

वास्तवमें यहाँ न भ्रान्ति है, न भ्रान्तियुक्त पुरुष है, यह निश्चय है, किन्तु परिपूर्ण सागरके तुल्य स्थित हुई चिति ही जगद्-भ्रान्ति आदिरूपसे जानती है यानी अनुभव करती है ॥ ४१ ॥

इस चितिका सर्वरूप (जगद्रूप) जाड्य भी चिति ही है, क्योंकि उस जाड्यमें

अहन्तादि परे तत्त्वे मनागपि न विद्यते ।
ऊर्म्यादीव पृथक्तोये संवित्सारं हि तद्यतः ॥ ४३ ॥
अहंप्रत्ययसंदृश्यं चेत्यं विद्धि समुत्थितम् ।
मृगतृष्णाम्भिवाऽन्तस्थं नूनं विद्यत एव नो ॥ ४४ ॥
अहन्तापदमन्तात्मपदं विद्धि निरामयम् ।
विदं विदुरहन्तादि शैत्यमेव यथा हिमम् ॥ ४५ ॥
चितैव चेत्यते जाड्यं स्वप्ने स्वमरणोपमम् ।
सर्वात्मत्वात् सर्वशक्तीः कुर्वती नैति साम्यताम् ॥ ४६ ॥
मनः पदार्थादितया सर्वरूपं विजृम्भते ।
नानात्मा चित्तदेहोऽयमाकाशविशदाकृतिः ॥ ४७ ॥

तुमको चित्त्वका अनुभव होता है, यदि उसे अचिदेकस्वभाव ही माना जाय, तो उसका स्फुरण नहीं होगा और स्फुरण न होनेसे जाड्यकी भी सिद्धि नहीं होगी, जैसे जड़में अवबोध है, वैसे ही चेतनमें जड़भाग भी है, ज्ञानका अंश चिद्भाव है और जड़ताका उदय अहन्ता है ॥ ४२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अहन्तामें जड़ता कैसे है ? तो उसपर ब्रह्मसे व्यावृत्त होनेके कारण वह जड़ है, ऐसा कहते हैं—'अहन्ता' इत्यादिसे ।

पर तत्त्वमें अहन्ता आदि तनिक भी नहीं है, क्योंकि वह चिदेकरस है, जैसे जलमें लहर आदि पृथक् नहीं हैं, वैसे ही वह केवल संविदेकरस है ॥ ४३ ॥

इसीलिए अहन्ताकी असत्ता भी है, ऐसा कहते हैं—'अहंप्रत्यय०' इत्यादिसे।

आविर्भावको प्राप्त हुआ जो चेत्य है, उसे अहन्तासे दिखाई देनेवाला जानो । वह मृगतृष्णिकाके जलके अनुरूप है । वस्तुतः वह नहीं ही है । सम्पूर्ण द्वैतका बाध होनेपर भी विनष्ट न होनेवाले आत्मतत्त्वको अहन्ताका अनाश्रय जानिये और उस निरामय ज्ञानरूप चित्स्वभावको ही लोग वासनासे घनीभूत अहन्तादिरूपसे जानते हैं, जैसे कि शैत्यको ही घनीभाव होनेपर हिमरूपमें देखते हैं ॥ ४४, ४५ ॥

स्वप्नमें अपने मरणके तुल्य चेतन ही जाड्यको प्राप्त करता है । सबके आत्मस्वरूप होनेके कारण सम्पूर्ण शक्तियोंका आविष्कार करता हुआ चेतन ज्ञान-दार्ढ्यके बिना समताको प्राप्त नहीं होता ॥ ४६ ॥

पदार्थ आदिरूपसे सर्वरूप मन ही वृद्धिको प्राप्त होता है, नाना प्रकारका चित्तरूपी यह आतिवाहिक देह आकाशके समान निर्मलाकृति है ॥ ४७ ॥

देहादिदेहप्रतिभारूपात्म्यं त्यजता सता ।
विचार्यं प्रतिभासात्म चित्तं चित्तेन वै स्वयम् ॥ ४८ ॥
चित्तताम्रे शोधिते हि परमार्थसुवर्णताम् ।
गतेऽकृत्रिम आनन्दः किं देहोपलखण्डकैः ॥ ४९ ॥
यद्विद्यते शोध्यते तद्बोधः के च खपादपाः ।
देहाद्यविद्या सत्या चेद्युक्त एतां प्रति ग्रहः ॥ ५० ॥
असत्यविनिविष्टानां देहवाचितया त्विह ।
ये नामोपदिशन्त्यज्ञाः किञ्चित्ते पुरुषैडकाः ॥ ५१ ॥

इसका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? इसमें उपाय कहते हैं—'देहादि०' इत्यादिसे ।

स्थूल देह आदिरूप तीन देहोंकी प्रतिभारूपताका त्याग कर रहे अधिकारी चित्तको ही प्रतिभासात्मक (प्रातिभासिक) चित्तका स्वयं विचार करना चाहिए ॥४८॥

विचाररूप शोधन करनेपर चित्त क्या होता है ? यह कहते हैं—'चित्तताम्रे' इत्यादिसे ।

चित्तरूपी ताँबेका शोधन करनेपर जब वह परमार्थरूप सुवर्णताको प्राप्त होता है, तब निरतिशय आनन्दकी उपलब्धि होती है। यदि कोई कहे तब देह आदिका भी शोधन करना चाहिए, उससे भी पुरुषार्थ क्यों प्राप्त नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'किम्' । देहरूप पत्थरके टुकड़ोंका शोधन करनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् देह आदिका शोधन वृथा है ॥ ४९ ॥

देह आदि असत् है, इसलिए भी वे शोधनयोग्य नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे ।

जो वस्तु वर्तमान रहती है, उसका शोधन होता है, उसका शोधन फलवान् है, आकाशमें कल्पित वृक्षोंको शोधे जाते किसने देखा ? यदि देहादि अविद्या सत्य हो, तो उसका शोधन हो सकता है ॥ ५० ॥

अतएव आत्मा आदि शब्द देहमें प्रयुक्त किये गये भी श्रुतिमें देहवाची नहीं देखे गये, क्योंकि श्रुति असत्य अर्थका प्रतिपादन नहीं करती है, जो असत्यमें आग्रह करनेवाले देहमें दृढ़ आत्मबुद्धि करनेवाले चार्वाक आदि पामर हैं, वे आत्मादि देहवाची ही हैं, ऐसा कहते हैं । जो उनकी प्रामाणिक वस्तुका तनिक भी उपदेश करते हैं, वे पुरुषपशु हैं ॥ ५१ ॥

यथैतद्भावयेत् स्वान्तं तथैव भवति क्षणात् ।
दृष्टान्तोऽत्रैन्दवाहल्याकृत्रिमेन्द्रादिनिश्चयाः ॥ ५२ ॥

यद्यद्यथा स्फुरति सुप्रतिभात्मचित्तं
तत्तत्तथा भवति देहतयोदितात्म ।
देहोऽयमस्ति न न चाऽहमिति स्वरूपं
विज्ञानमेकमवगम्य निरिच्छमास्स्व ॥ ५३ ॥

देहोऽयमेष च किलाऽयमिति स्वभावाद्-
देहोऽयमेतदखिलं तत एति नाशम् ।
यक्षादिकल्पनवशाद्भयमेति बालो
निर्यक्षदेह गत एव कयाऽपि युक्त्या ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जीवावतरणक्रमोपदेशो नाम एकनवतितमः सर्गः ॥९१॥

यदि कोई कहे अमूर्त चित्त मूर्त देहभावको कैसे प्राप्त हुआ ? तो उसकी भावनासे ही प्राप्त हुआ, ऐसा कहते हैं—'यथैतत्' इत्यादिसे ।

यह मन जैसी भावना करता है, तुरन्त वैसा ही हो जाता है, यहाँपर ऐन्दव अहल्या और कृत्रिम इन्द्र आदिके निश्चय दृष्टान्त हैं ॥ ५२ ॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—'यद्यद्' इत्यादिसे ।

प्रतिभासस्वरूप चित्त जब जब जिस रूपसे स्फुरित होता है तब तब उस प्रकारके देहके रूपसे उदित होता है । यह देह नहीं है, 'अहम्' रूपसे प्रसिद्ध अहङ्कार भी नहीं है, इसलिए तुम एकरस स्वस्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर इच्छाशून्य होकर स्थित होओ ॥ ५३ ॥

जैसे बालक किसी युक्तिसे यक्षरहित देहमें प्राप्त होकर भी यक्ष, उसकी भीषणता आदिकी कल्पनासे भयको प्राप्त होता है वैसे ही यह मनुष्य आदिका शरीर है, यह प्रत्यक्ष देहभोग्य प्रपञ्च है यों अपनी कल्पनासे यह आत्मा ही देह होता है और यही सम्पूर्ण भोग्य होता है । उन उन भावोंको प्राप्त होनेसे देह आदिके नाशके पश्चात् नाशको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

इक्यानबे सर्ग समाप्त



द्विनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवान् स भगवान्मया कमलसंभवः ।
रघूद्वह पुनः पृष्टो वाक्यमाक्षिप्य भूतपः ॥ १ ॥
त्वयैव भगवन् प्रोक्ताः शापमन्त्रादिशक्तयः ।
अमोघा इति ता एव कथं मोघाः कृताः पुनः ॥ २ ॥
शापेन मन्त्रवीर्येण मनोबुद्धीन्द्रियाण्यपि ।
सर्वाण्येव विमूढानि दृष्टानि किल जन्तुषु ॥ ३ ॥
यथैतौ पवनस्पन्दौ यथा स्नेहतिलौ यथा ।
अभिन्नौ तद्वदेवैतौ मनोदेहौ स एव तत् ॥ ४ ॥

बानबे सर्ग

[पुनः शङ्का कर मनकी अमोघ शक्तिकी दृढ़रूपसे स्थापनाका तथा पुरुषप्रयत्नकी दृढ़ता होनेपर यथेष्ट कार्याचरणमें सामर्थ्यका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलदीपक, भगवान् ब्रह्माजीने मुझसे यह सब कहा । मैंने उनके पूर्वकथित वाक्यमें अनुपपत्ति दर्शा कर फिर उनसे पूछा ॥ १ ॥

भगवन्, आपने ही शाप, मन्त्र आदिकी शक्तियाँ अमोघ हैं, ऐसा कहा है, फिर आपने ही उन्हें मोघ (व्यर्थ) कैसे कर डाला ? ॥ २ ॥

देखा गया है कि शाप द्वारा और मन्त्रकी शक्ति द्वारा प्राणियोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभी मूढ हो जाते हैं । देखिये न, शापसे अजगर बने हुए राजा नहुषकी स्ववंशज भीमको डँसनेमें प्रवृत्ति हुई थी । वैसे ही शापसे राक्षस बने हुए अतिधार्मिक राजा सौदासकी, बुद्धिके व्यामोहसे, ब्राह्मणवध आदि पापमें प्रवृत्ति हुई थी । शापसे गन्धर्वराजकी, धृतराष्ट्रजन्ममें, चक्षुरिन्द्रियका विनाश हुआ था, ऐसा एक-आध जगह ही नहीं, अनेक जगह देखा गया है ॥ ३ ॥

ऐसा माननेसे वरदान एवं शापके कार्यमें विरोध भी आता है, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे ये वायु और स्पन्दन अभिन्न हैं, तेल और तिल अभिन्न हैं और जैसे वह्नि और उष्णता अभिन्न हैं वैसे ही मन और देह भी अभिन्न ही हैं, क्योंकि मन

अथ नाऽस्तीह वा देहः केवलं चेतसैव सः ।
मुधाऽनुभूयते स्वप्नमृगतृष्णाद्विचन्द्रवत् ॥ ५ ॥
एकनाशे द्वयोरेव नाशोऽत्राऽभ्युपपद्यते ।
अवश्यं भवितुं मनोनाशे देहपरिक्षयः ॥ ६ ॥
मनःशापादिभिर्दोषैः कथं नाऽऽक्रम्यते प्रभो ।
कथमाक्रम्यते वाऽपि ब्रूहि मे परमेश्वर ॥ ७ ॥
ब्रह्मोवाच
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ ८ ॥

ही तो देह है । तात्पर्य यह है कि मनपर यदि वरदान या शापका आक्रमण नहीं होता है, तो उससे अभिन्न देहमें भी उसका आक्रमण नहीं होना चाहिए ॥ ४ ॥

देह मनकी अपेक्षा न्यून सत्तावाली है, अतएव उसपर शाप आदिका आक्रमण होनेपर भी मनपर शाप आदिका आक्रमण नहीं होता, यों विवर्तवादका अवलम्बन कर उक्त दोषके परिहारकी आशङ्का करते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

यदि कहिए यहाँ देह कोई पदार्थ ही नहीं है, केवल मनसे ही स्वप्न, मृगतृष्णा और द्विचन्द्रके तुल्य उसका मिथ्या ज्ञान होता है ॥ ५ ॥

तो उसमें भी दूसरा दोष दर्शाते हैं—'एकनाशे' इत्यादिसे ।

दोनोंमें एकका नाश होनेपर दोनोंका ही नाश अवश्य होना चाहिए । जैसे मनका विनाश होनेपर देहका नाश देखा जाता है, वैसे ही देहका नाश होनेपर मनका विनाश भी हो सकता है, इस प्रकार देहकी मनकी अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध नहीं होती बल्कि नेत्र आदिसे अदृश्य होनेपर प्रत्यक्षका विषय होनेसे स्वप्न आदिके समान मनकी ही देहकी अपेक्षा न्यून सत्ता सिद्ध होती है, यों रज्जुका विनाश होनेपर सर्पकी अवस्थितिकी भाँति देहका विनाश होनेसे मनकी अवस्थितिका सम्भव नहीं है, यह भाव है ॥ ६ ॥

हे प्रभो, मन शाप आदि दोषोंसे कैसे आक्रान्त नहीं होता अथवा कैसे आक्रान्त होता है ? हे परमेश्वर, यह आप कृपापूर्वक मुझसे कहिए ॥ ७ ॥

पहले विरोधको दूर करनेके लिए वर और शापकी प्रबलतोक्तिकी औत्स-

आब्रह्मस्थावरान्तं च सर्वदा सर्वजातयः ।
सर्वं एव जगत्यस्मिन् द्विशरीराः शरीरिणः ॥ ९ ॥
एकं मनःशरीरं तु क्षिप्रकारि सदा चलम् ।
अकिञ्चित्करमन्यत्तु शरीरं मांसनिर्मितम् ॥ १० ॥
तत्र मांसमयः कायः सर्वस्यैव च संगतः ।
सर्वैराक्रम्यते शापैस्तथा विद्यादिसंचयैः ॥ ११ ॥
मूकप्रायो ह्यशक्तोऽसौ दीनः क्षणविनश्वरः ।
पद्मपत्राम्बुचपलो दैवादिविवशस्थितिः ॥ १२ ॥
मनो नाम द्वितीयोऽयं कायः कायवतामिह ।
स आयत्तोऽपि नाऽऽयत्तो भूतानां भुवनत्रये ॥ १३ ॥

र्गिकता बहुधा दृष्ट होनेके कारण अवश्य माननी चाहिए । इसकी उपपत्ति करनेके लिए कर्मसे उपोद्बलित पौरुषप्रबलताका, जो वर और शापकी भी हेतु है, स्मरण कराते हैं—'न तत्' इत्यादिसे ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—ब्रह्माण्डमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शुभ कर्मानुसारी शुद्ध पौरुषसे मनुष्योंको प्राप्त न हो सके ॥ ८ ॥

मेरा पूर्व कथन स्थूलका ही विनाश देखा गया है, सूक्ष्मका नहीं, इस लोक-दृष्टके अनुसार है, यह कहनेके लिए भिन्न स्वभाववाले दो देहोंको दर्शाते हैं—'आब्रह्म०' इत्यादिसे ।

इस जगत्में ब्रह्मसे लेकर स्थावरपर्यन्त सदा समस्त जातियाँ और सब प्राणी दो शरीरवाले हैं । उनमें एक तो मनोमय शरीर है, जो शीघ्र कार्य करनेवाला और सदा चञ्चल है । दूसरा मांसमय शरीर है, जो अकिंचित्कर है ॥ १० ॥

उक्त दो शरीरोंमें मांसमय शरीर सभी लोगोंको प्रत्यक्षरूपसे ज्ञात है । उसपर शाप तथा अभिचार आदि कृत्या, शस्त्र, अस्त्र, विष आदिका आक्रमण होता है । यह मांसमय शरीर मूकप्राय, असमर्थ, दीन-हीन, क्षणमें नष्ट होनेवाला, पद्मपत्रमें स्थित जलके समान चञ्चल तथा दैव (प्राक्तन कर्म) आदिके कारण स्थित है । यहांपर प्राणियोंका मननामक दूसरा जो यह शरीर है, वह तीनों लोकोंमें प्राणियोंका स्वाधीन होता हुआ भी स्वाधीन नहीं है ॥ ११–१३ ॥

पौरुषं स्वमवष्टभ्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
यदि तिष्ठत्यगम्योऽसौ दुःखानां तदनिन्दितः ॥ १४ ॥
यथा यथाऽसौ यतते मनोदेहो हि देहिनाम् ।
तथा तथाऽसौ भवति स्वनिश्चयफलैकभाक् ॥ १५ ॥
सफलो मांसदेहस्य न कश्चित् पौरुषक्रमः ।
मनोदेहस्य सफलं सर्वमेव स्वचेष्टितम् ॥ १६ ॥
पवित्रमनुसन्धानं चेतः स्मरति सर्वदा ।
निष्फलास्तत्र शापाद्याः शिलायामिव सायकाः ॥ १७ ॥
पतत्वम्भसि वह्नौ वा कर्दमे वा शरीरकम् ।
मनो यदनुसन्धत्ते तदेवाऽऽप्नोति तत्क्षणात् ॥ १८ ॥

उसकी स्वाधीनताकी, हेतुप्रदर्शनपूर्वक, उपपत्ति करते हैं–'पौरुषम्' इत्यादिसे।

यदि वह अपने पौरुषका आसरा लेकर और कभी नष्ट न होनेवाले अपने धैर्यका अवलम्बन कर खड़ा होता है, तो सम्पूर्ण दुःख आदि उसपर आक्रमण नहीं कर सकते हैं; दुःख आदिके हेतुओंसे वह अदूषित रहता है ॥ १४ ॥

जैसे उसपर दुःखका आघात नहीं होता वैसे ही उसकी सुखकी अभिवृद्धि भी बढ़ती है, ऐसा कहते हैं—'यथा यथा' इत्यादिसे ।

प्राणियोंका मनोमय शरीर जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे वह स्वनिश्चयके फलका भाजन होता है ॥ १५ ॥

मांसमय देहका यह क्रम नहीं है, ऐसा कहते हैं—'सफलः' इत्यादिसे ।

मांसमय देहका कोई भी पौरुषक्रम सफल नहीं होता, मनोमय देहकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ सफल होती हैं ॥ १६ ॥

विषयदोषसे मन दूषित होता है, अन्य दोषसे नहीं, ऐसा कहते हैं—'पवित्रम्' इत्यादिसे ।

चित्त सदा पवित्र विचारका स्मरण करता है, इसलिए जैसे पत्थरमें बाण निष्फल होते हैं वैसे ही उसमें शाप आदि निष्फल हैं ॥ १७ ॥

शरीर जलमें, वह्निमें चाहे कीचड़में गिर पड़े, किन्तु मन जिसका ध्यान करता है, तुरन्त उसीको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पुरुषातिशयः सर्वैः सर्वभावोपमर्दने ।
ददात्यविघ्नेन फलं मनो हि मनसो मुने ॥ १९ ॥
पौरुषेण बलेनाऽन्तश्चित्तं कृत्वा प्रियामयम् ।
कृत्रिमेन्द्रेण दुःखार्तिर्न दृष्टा सा मनागपि ॥ २० ॥
पौरुषेण मनः कृत्वा नीरागं विगतज्वरम् ।
माण्डव्येन जिताः क्लेशाः शूलप्रान्तेऽपि तिष्ठता ॥ २१ ॥
अन्धकूपस्थितेनाऽपि मानसैर्यज्ञसंचयैः ।
ऋषिणा दीर्घतपसा संप्राप्तं वैबुधं पदम् ॥ २२ ॥
इन्दुपुत्रैर्नरैरेव पुरुषाध्यवसायतः ।
ध्यानेन ब्रह्मता प्राप्ता सा मयाऽपि न खण्ड्यते ॥ २३ ॥

सम्पूर्ण देह आदि भावोंका विनाश होनेपर भी प्रयत्न समृद्ध होकर बिना किसी प्रकारकी विघ्नबाधाके फल देता है । वह जो देता है वह मन ही मनको फल देता है, क्योंकि पौरुष भी तो मनसे अभिन्न है ॥ १९ ॥

जब विषयदोषमें भी मनकी दृढ़ता होनेपर दुःखका दर्शन नहीं होता, तब पवित्र विषयमें मनकी दृढ़ता होनेपर दुःखका दर्शन नहीं होता, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे इन्द्रोपाख्यान आदिका स्मरण कराते हैं—'पौरुषेण' इत्यादिसे ।

पौरुष बलसे अपने अन्दर चित्तको प्रियामय बनाकर कृत्रिम इन्द्रको उस भीषण दुःखपीड़ाका तनिक भी अनुभव नहीं हुआ ॥ २० ॥

शूलके अग्रभागमें स्थित माण्डव्य ऋषिने अपने पुरुषकारसे मनको राग-रहित और दुःखशून्य बनाकर सम्पूर्ण क्लेशोंपर विजय पाई यानी क्लेशोंको क्लेशरूपसे नहीं जाना । ऋषि माण्डव्यकी कथा महाभारत आदिमें प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

अन्ध कुँएमें गिरे हुए दीर्घतपा नामके ऋषिको मानसिक यज्ञोंसे स्वर्ग प्राप्त हुआ । ऋषि दीर्घतपा भी यज्ञ करनेकी इच्छासे यज्ञकी सामग्रीका संग्रह करनेके लिए आश्रमसे निकले । अकस्मात् किसी अन्धे कुँएमें गिर पड़े । वहाँ यज्ञकालके का अतिक्रमणका प्रसंग होनेपर मनसे ही उन्होंने यज्ञ किया । उससे इन्द्र प्रसन्न हुए । उन्हें कुँएसे निकालकर अपने लोकको ले गये । यह कथा महाभारतमें प्रसिद्ध है ॥२२॥

मनुष्य होते हुए भी इन्दुके पुत्रोंने पुरुषोद्योगसे (पौरुषसे) ध्यान द्वारा ब्रह्मता प्राप्त की । उनकी ब्रह्मताका मैं भी खण्डन नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

अन्येऽपि सावधाना ये धीराः सुरमहर्षयः ।
चित्तात् स्वमनुसन्धानं न त्यजन्ति मनागपि ॥ २४ ॥
आधयो व्याधयश्चैव शापाः पापदृशस्तथा ।
न खण्डयन्ति तच्चित्तं पवघाताः शिलामिव ॥ २५ ॥
ये चाऽपि खण्डिताः केचिच्छापाद्यैराधिसायकैः ।
स्वविवेकाक्षमं तेषां मनो मन्ये विपौरुषम् ॥ २६ ॥
न कदाचन संसारे सावधानमना मनाक् ।
स्वप्नेऽपि कश्चिद् दृश्ये वा दोषजालैः खिलीकृतः ॥ २७ ॥
मनसैव मनस्तस्मात् पौरुषेण पुमानिह ।
स्वकमेव स्वकेनैव योजयेत् पावने पथि ॥ २८ ॥
प्रतिभातं यदेवाऽस्य यथाभूतं भवत्यलम् ।
क्षणादेव मनः पीनं बालवेतालवन्मुने ॥ २९ ॥

और भी जो सावधान धीर देवता, महर्षि हैं, वे चित्तसे अपनी उपासनाका तनिक भी त्याग नहीं करते हैं ॥ २४ ॥

जैसे पवोंकी चोट पत्थरको नहीं तोड़ सकती वैसे ही मानसिक व्यथाएँ, शाप और पापदृष्टिवाले राक्षस, पिशाच आदि अपने ध्येय पदार्थमें एकाग्र चित्तका तिरस्कार नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

जो कोई (राजा सौदास, नहुष, विश्वामित्र आदि) शाप, काम, क्रोध आदि मानसिक व्यथा रूपी बाणोंसे खण्डित हुए, उनका मन उपासनामें अदृढ़पौरुष-वाला और ज्ञानमें भी असमर्थ था, ऐसा मेरा तर्क है ॥ २६ ॥

विवेक और पौरुषसे दृढ़ मनमें तो अभिलषित पदार्थकी क्षति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'न कदाचित्' इत्यादिसे ।

इस संसारमें सावधान मनवाला कोई भी पुरुष स्वप्नमें अथवा जागरणमें कभी भी दोषोंसे जरा भी जड़ीभूत नहीं हुआ ॥ २७ ॥

इसलिए पुरुष इस संसारमें पुरुषकारके साथ मनसे ही मनको अपनेसे ही अपनेको पवित्र मार्गमें लगावे ॥ २८ ॥

हे मुनिजी, जो वस्तु मनको प्रतिभासित होती है, वही अत्यन्त यथार्थ-सी ही होती है । एक क्षणमें ही मन वेतालकी नाईं स्थूल हो जाता है ॥ २९ ॥

प्रतिभासस्याऽनुपदं प्राक्तनीं स्थितिमुज्झति ।
कुलालकर्मानुपदं घटो मृत्पिण्डतामिव ॥ ३० ॥
प्रतिभासार्थतामेति क्षणादेव मनो मुने ।
स्पन्दमात्रात्मकं वारि यथा तुङ्गतरङ्गताम् ॥ ३१ ॥
अनुसन्धानमात्रेण सूर्यबिम्बेऽपि यामिनीम् ।
मनः पश्यत्यशुद्धाक्षश्चन्द्रबिम्बे द्वितामिव ॥ ३२ ॥

यदि कोई कहे कि ऐन्दवोंका पूर्वतन मनुष्य आदि भावका प्रतिभास भी तो दृढ़ रहा, अतः उनकी मनुष्यादिभावमें स्थिति क्यों नहीं हुई ? उसपर कहते हैं—'प्रतिभासस्य' इत्यादिसे ।

जैसे कुलालकी घटनिर्माणक्रियाके अनन्तर घड़ा अपनी मृत्पिण्ड-दशाका त्याग कर देता है, वैसे ही पुरुष उत्तर पदार्थकी वासनाके अनन्तर ही पूर्वकी स्थितिका त्याग कर देता है। भाव यह कि आगेकी दृढ़वासनासे पिछली वासनाका विनाश हो जाता है ॥ ३० ॥

यदि कोई कहे पूर्ववासनाके नाशसे क्षीण हुई उपासना कैसे अन्य कार्यको कर सकती है ? तो इसपर कहते हैं—'प्रतिभासा०' इत्यादिसे ।

हे मुनिजी, जैसे चञ्चल जल क्षणभरमें ऊँची तरङ्गके रूपमें प्राप्त होता है, वैसे ही स्पन्दमात्र मन एक क्षणमें ही भावितपदार्थताको प्राप्त होता है। विरोधीका विनाश करने तक ही अपने कार्यमें विलम्ब होता है, उसके बाद तो कोई विघ्न न रहनेसे एक क्षणमें उपासनाजनितवासनाके विषयीभूत पदार्थताको प्राप्त होता है, इसलिए उसका नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥

यदि ऐसा है तो प्रलयकालमें आपके विरुद्ध सृष्टिकी कल्पना कैसे हुई ? इसपर कहते हैं—'अनुसन्धान०' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषके नेत्रमें विकार है, यानी जिसने अपनी अङ्गुलीसे दृष्टि चन्द की है, उसे जैसे चन्द्रबिम्बमें द्विताका अनुभव होता है, वैसे ही मन केवल अनु-सन्धानसे सूर्यके बिम्बमें भी रात्रिको देखता है * ॥ ३२ ॥

---

* उनकी सृष्टिमें आपकी सृष्टिमें स्थित कुछ वस्तु न तो अनुकूल है और न प्रतिकूल है। उसमें उनके अनुसन्धानमात्रकी अपेक्षा होती है, इसलिए प्रलयकालमें भी उसका विरोध नहीं है, यह भाव है ।

यत्पश्यति तदेवाऽऽशु फलीभूतमिदं मनः ।
सह हर्षविषादाभ्यां भुङ्क्ते तस्मात्तदेव तत् ॥ ३३ ॥
प्रतिभानुपदं चेतश्चन्द्रेऽप्यग्निशिखाशतम् ।
दृष्ट्वा दाहमवाप्नोति दग्धं च परितप्यते ॥ ३४ ॥
प्रतिभानुपदं चेतः क्षारेऽपि हि रसायनम् ।
दृष्ट्वा पीत्वा परां तृप्तिं याति वल्गति नृत्यति ॥ ३५ ॥
प्रतिभानुपदं चेतो व्योमन्यपि महावनम् ।
दृष्ट्वा लुनाति लूत्वा च पुनरारोपयत्यलम् ॥ ३६ ॥
इत्थं यदेव परिकल्पयतीन्द्रजालं
क्षिप्रं तदेव परिपश्यति तात चेतः ।
नाऽसज्जगन्न च सदित्यवगम्य नूनं
लूनां दृशं विविधभेदवतीं जहीहि ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मनोमहात्म्यवर्णनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

स्रष्टृत्वकी तरह सृष्टिभोक्तृत्व भी मनमें ही है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

यह मन भावनासे जिसे देखता है, झटपट फलरूपमें परिणत हुए उसीका हर्ष और विषादसे उपभोग करता है, इसलिए जो कर्ता है, वही भोक्ता है ॥३३॥

पूर्वोक्त अर्थको उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं—'प्रतिभा०' इत्यादिसे ।

अनुसन्धान यानी भोक्ताके अदृष्टसे उद्बोधित संस्कारका अनुसारी मन चन्द्रमामें भी सैकड़ों अग्निज्वालाओंको देखकर दाहको प्राप्त होता है और जलकर दुःखी होता है । यह बात विरही पुरुषोंमें प्रसिद्ध है, यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

भोक्ताके अदृष्टसे उद्बोधित संस्कारका अनुसारी चित्त क्षार मिट्टीमें रसायनको (मधुर आदि विविध रसोंको) देखकर और उनका पानकर परम तृप्तिको प्राप्त होता है, मारे हर्षके प्रसन्न होता है और नाचता है । ऊँट, बकरी आदि आँक, नीब आदिके पत्ते भी बड़े चावसे खाते देखे जाते हैं ॥ ३५ ॥

अनुसन्धानका अनुसरण करनेवाला मन आकाशमें भी महा वनको देखकर उसको काटता है और काटकर फिर उसमें वृक्ष लगाता है ॥ ३६ ॥

हे वत्स वसिष्ठ, इस प्रकार मन जिस इन्द्रजालकी रचना करता है, उसीको

त्रिनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति मे भगवता पूर्वमुक्तं तदेतदद्य तुभ्यं कथितम् ॥ १ ॥

तस्मादनाख्यानाद् ब्रह्मणः सर्वतः सर्वमनाख्यानमुत्पद्यते स्वयमेव तद्घनतां प्राप्य मनः सम्पद्यते ॥ २ ॥

तन्मनस्तन्मात्रकल्पनपूर्वकसन्निवेशं भवति ततस्तैजसः पुरुषः सम्पद्यते सोऽयं ब्रह्मेत्यात्मनि नाम कृतवान् ॥ ३ ॥

शीघ्र देखता है। यह जगत् न सत् है और न असत् है, ऐसा जानकर विविध भेदोंसे युक्त परिच्छिन्न दृष्टिका तुम परित्याग करो ॥ ३७ ॥

बानवे सर्ग समाप्त

तिरानबे सर्ग

[ब्रह्मसे मनकी उत्पत्ति, उससे तैजस ब्रह्माकी उत्पत्ति, उससे मोहवश अहङ्कारकी उत्पत्ति तथा उससे विश्वकी उत्पत्तिका वर्णन]

पूर्वोक्त मनःपूर्वक सृष्टिक्रमका विस्तारसे प्रतिपादन करनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ब्रह्माके संवादका उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, भगवान् ब्रह्माजीने यह सब मुझसे पहले कहा था, वही यह आज मैंने आपसे कह दिया है ॥ १ ॥

अव्याकृत नामरूपवाले उस ब्रह्मसे चारों ओरसे अतिसूक्ष्म होनेके कारण नामसम्बन्धके अयोग्य निर्विकल्पक ज्ञानसे प्रकाशित सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय पाकर सङ्कल्पविकल्पस्वरूप मननकी सामर्थ्यकी उत्पत्तिसे स्वयं घनताको प्राप्त होकर मन बन जाता है ॥ २ ॥

उक्त मन तन्मात्ररूप सूक्ष्म भूतोंकी कल्पनापूर्वक स्वाप्न शरीरके समान वासनामय पुरुषका आकार धारण करता है। उस वासनामय पुरुषाकाररूपी उपाधिसे उपहित आत्मा तेजप्रधान लिङ्गशरीरसमष्टिरूप उपाधिवाला होनेसे तैजस हो जाता है। उसीने अपना 'ब्रह्मा' यह नाम किया ॥ ३ ॥

तेन राम योऽयं परमेष्ठी तन्मनस्तत्त्वं विद्धि ॥ ४ ॥

स मनस्तत्त्वाकारो भगवान् ब्रह्मा सङ्कल्पमयत्वाद् यदेव सङ्कल्पयति तदेव पश्यति ॥ ५ ॥

ततस्तेनेयमविद्या परिकल्पिता अनात्मन्यात्माभिमानमयीति तेन ब्रह्मणा गिरितृणजलधिमयमिदं क्रमेण जगत् परिकल्पितम् ॥ ६ ॥

इत्थं क्रमेण ब्रह्मतत्त्वादियमागता सृष्टिरन्यत एवाऽऽगतेयमिति लक्ष्यते ॥ ७ ॥

तस्मात् सर्वपदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ।
उत्पत्तिर्ब्रह्मणो राम तरङ्गाणामिवाऽर्णवात् ॥ ८ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, जो यह परमेष्ठी (ब्रह्मा) है, उसीको आप मनरूप तत्त्व जानिए ॥ ४ ॥

मनरूप तत्त्वके आकारवाले भगवान् ब्रह्मा सङ्कल्पमय होनेके कारण जिस वस्तुका सङ्कल्प करते हैं, उसीको देखते हैं ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि उनके संकल्पसे जगत्की उत्पत्ति भले ही हो, पर जीवोंका उसमें अभिमान कैसे होता है ? तो उसपर कहते हैं—'ततस्तेन' इत्यादिसे।

तदनन्तर उन्होंने इस अविद्याकी * कल्पना की। वह अनात्मामें आत्माभिमानरूप है। इस रीतिसे उस ब्रह्माने पर्वत, तृण, समुद्र रूप इस जगत्की क्रमसे कल्पना की ॥ ६ ॥

यद्यपि इस क्रमसे चिदेकरस ब्रह्मतत्त्वसे यह सृष्टि आई है, तथापि तार्किक लोगोंको अन्यसे यानी जड़ प्रधान, परमाणु आदिसे यह प्राप्त हुई है, ऐसी प्रतीति होती है ॥ ७ ॥

एक-एकके अनेक उपादानोंकी कल्पनामें गौरव है, अतएव परमाणुओंसे जगत्की सृष्टि हुई है, यह तार्किकोंका मत युक्त नहीं है। किसी कर्ताके बिना जड़ प्रधानसे जगत्की विचित्र रचना नहीं हो सकती और असङ्ग उदासीनमें कर्तृत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव प्रधानको जगत्का कारण माननेवाले सांख्योंका मत उचित नहीं है। चित्का जड़के आकारमें परिणाम नहीं हो सकता, इसलिए विज्ञानको जगत्का कारण माननेवाले विज्ञानवादी बौद्धोंका मत

---

* यहांपर अविद्यापदसे अन्यथाग्रहणलक्षण अध्यासरूप कार्याऽविद्या लेनी चाहिए।

य एवमनुत्पन्ने जगति या ब्रह्मणश्चिन्मनोरूपिणी साऽहङ्कारे परिकल्प्य ब्रह्म ब्रह्मतामेति ॥ ९ ॥

यास्त्वन्याश्चिच्छक्तयः सर्वशक्तेरभिन्ना एव कल्प्यन्ते ॥ १० ॥

जगति स्फारतां नीते पितामहरूपेण मनसा समुल्लसन्ति ॥ ११ ॥

एते सहस्रशोऽपि परिवर्तमानजीवा उच्यन्ते ॥ १२ ॥

तेऽभ्युत्थिता एव चिन्नभसो नभसि तन्मात्रैरावलिता गगनपवनान्तर्वर्तिनश्चतुर्दशविधा ये भूतजातमध्यतयाऽभ्यासे तिष्ठन्ति तस्या एव प्राणशक्तिद्वारेण प्रविश्य शरीरं स्थावरं जङ्गमं वाऽपि बीजतां गच्छन्ति ॥१३॥

ठीक नहीं है। शून्य कहींपर भी कारण नहीं देखा जाता, अतः शून्यको कारण माननेवाले शून्यवादी बौद्धोंका मत भी अयुक्त है। इन पूर्वोक्त सभी पक्षोंमें कोई प्रमाण न होने यह सृष्टि परमाणु, प्रधान आदिसे नहीं हुई है, यह निश्चय होनेपर श्रुतिरूप प्रमाणसे और लाघवसे भी अनिर्वचनीय मायारूप शक्तिवाले ब्रह्मका यह विवर्त है, यह मत ही शेष रहा, इस आशयसे कहते हैं—'**तस्माद्**' इत्यादिसे।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्रसे तरङ्गोंकी उत्पत्ति होती है वैसे ही तीनों लोकोंके मध्यवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति उक्त ब्रह्मसे हुई है ॥८॥

जगत्की उत्पत्तिका प्रकार इस तरह दर्शाया गया है। चूँकि जगत ब्रह्मका विवर्त ही है, अतएव परमार्थतः उत्पन्न न हुए जगत्में जो ब्रह्मका चित्तरूपी चैतन्य है, वह अहङ्कारसमष्टिरूप उपाधिमें ब्रह्म प्रविष्ट-सा है ऐसी कल्पना कर ब्रह्मताको (परमेष्ठिताको) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

जो अन्य (व्यष्टिअहङ्कारोपाधिसे उपहित) चिदाभास हैं, वे सब सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं ॥ १० ॥

जब यह जगत् विस्तारको प्राप्त होता है तब वे ही पितामहरूप (ब्रह्मारूप) मनसे सर्वप्रथम उल्लासको प्राप्त होते हैं, वे ही सब पृथक् पृथक् चिदाभास उपाधिकी असंख्यतासे असंख्य और संसरणशील जीव कहे जाते हैं ॥ ११,१२ ॥

वे चिदाकाशसे ही उत्पन्न होकर मायाकाशमें तन्मात्रोपाधियोंके (भूतमात्रोपाधियोंके) साथ मिलकर आकाशमें स्थित आवह, उद्वह आदि भेदोंसे भिन्न वायुओंके उनचास स्तरोंके मध्यवर्ती चौदह लोकोंमें जिस प्रकारकी भूत

तदनु योनितो जगति जायन्ते तदनु काकतालीययोगेनोत्पन्नवासनाप्रवाहानुरूपकर्मफलभागिनो भवन्ति ॥ १४ ॥

ततः कर्मरज्जुभिर्वासनावलिताभिर्बद्धशरीरा भ्रमन्तः प्रोत्पतन्ति निपतन्ति च ॥ १५ ॥

इच्छैवैता भूतजातयः ॥ १६ ॥

काश्चिज्जनसहस्रान्ताः पतन्ति वनपर्णवत् ।
कर्मवात्यापरिभ्रान्ता लुठन्ति गिरिकुक्षिषु ॥ १७ ॥
अप्रमेयभवाः काश्चिच्चित्सत्ताज्ञानमोहिताः ।
चिरजाता भवन्तीह बहुकल्पशतान्यपि ॥ १८ ॥

जातिमें रहनेसे जिस प्रकारकी वासना और कर्मसे अभिनिविष्ट होते हैं। उसी भूतजातिके प्राणशक्ति द्वारा स्थावर या जङ्गम शरीरमें प्रविष्ट होकर रज-वीर्यरूप बीजताको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

तदुपरान्त योनिसे जगत्‌में उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर काकतालीयन्यायके सम्बन्धसे उत्पन्न वासनाप्रवाहके अनुसार अपने कर्मफलके भागी होते हैं ॥१४॥

तदनन्तर शुभ और अशुभ वासनाओंसे युक्त पुण्य-पाप कर्मरूपी रस्सियोंसे जिनका लिङ्ग शरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए उत्तम लोकोंमें जाते हैं अथवा नरकोंमें गिरते हैं ॥ १५ ॥

कर्म और कर्मोंकी वासनामें इच्छा ही कारण है, इसलिए सब जीव काममय ही हैं, ऐसा कहते हैं—'इच्छैवैताः' इत्यादिसे।

ये सब प्राणियोंकी जातियाँ इच्छारूप ही हैं, श्रुति भी यही कहती है, 'काममय एवायं पुरुषः' (यह पुरुष काममय ही है) ॥ १६ ॥

कोई जीव जिनको हजारों वर्षोंके बाद तत्त्वज्ञान होनेवाला है, कर्मरूपी बवँडरसे भ्रान्त होकर पर्वतोंके मध्यमें वनके पत्तोंकी नाईं संसारमें पड़ते हैं और इधर-उधर लुढ़कते हैं, तदनन्तर मुक्त हो जाते हैं। भाव यह है कि जब तक मोक्ष न हो तब तक इच्छाके अनुसार जन्मपरम्परा होती रहती है ॥ १७ ॥

कोई जीव, जो कि चित्सत्ताके अज्ञानसे मोहित रहते हैं, अतएव असंख्य जन्मवाले हैं, चिरकालसे जन्म लेकर इस संसारमें सैकड़ों कल्पोंतक उत्पन्न होते हैं ॥१८॥

काश्चित्कतिपयातीतामनोरमभवान्तराः ।
विहरन्ति जगत्यस्मिन् शुभकर्मपरायणाः ॥ १९ ॥
काश्चिद्विज्ञातविज्ञानाः परमेव पदं गताः ।
वातोद्भूताः पयोमध्यं सामुद्रा इव बिन्दवः ॥ २० ॥
उत्पत्तिः सर्वजीवानामितीह ब्रह्मणः पदात् ।
आविर्भावतिरोभावभङ्गुरा भवभाविनी ॥ २१ ॥
वासनाविषवैषम्यवैधुर्यज्वरधारिणी ।
अनन्तसङ्कटानर्थकार्यसत्कारकारिणी ॥ २२ ॥
नानादिग्देशकालान्तशैलकन्दरचारिणी ।
रचितोत्तमवैचित्र्यविहितासम्भ्रमा सती ॥ २३ ॥
एषा जगज्जाङ्गलजीर्णवल्ली सम्यक्समालोककुठारकृत्ता ।
वल्लीव विक्षुब्धमनःशरीरा भूयो न संरोहति रामभद्र ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे उत्पत्तिदर्शनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

कोई जीव जिनके कि कतिपय अमनोहर जन्मान्तर बीत चुके हैं और जो इस समय शुभ कर्मोंमें तत्पर होकर इस जगत्में विहार कर रहे हैं, वे थोड़े ही जन्मोंमें मुक्त हो जायँगे ॥ १९ ॥

जैसे वायुसे उड़ाये गये समुद्रके बिन्दु समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे कोई जीव परम पदको पहले ही प्राप्त हो गये हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार परमपदरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्ति यहाँ हुई है। यह उत्पत्ति आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभावसे (छिपनेसे) क्षण भङ्गुर है, विविध जन्मोंसे शोभायमान है, वासनारूपी विषयकी विषमतासे हुई व्याकुलतारूपी ज्वरको धारण करती है, अनेक दुःखोंसे पूर्ण अनर्थकारी कार्योंका सत्कार करनेवाली है, अनेक दिशाओं, अनेक देशों, अनेक कालोंमें विविध पर्वतोंकी गुफाओंमें कर्मफलका भोग कराती है, रची गई उत्तम विचित्रताओंसे उसने चारों ओर भ्रमोंका निर्माण कर रक्खा है, परमार्थरूपसे वह असत्य है ॥२१-२३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसाररूपी जङ्गलकी जीर्ण-शीर्ण लताका विक्षुब्ध मन

चतुर्नवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

उत्तमाधममध्यानां पदार्थानामितस्ततः ।
उत्पत्तीनां विभागोऽयं शृणु वक्ष्यामि राघव ॥ १ ॥
इदंप्रथमतोत्पन्नो योऽस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
इदंप्रथमतानाम्नी शुभाभ्याससमुद्भवा ॥ २ ॥

ही शरीर है । यदि यह तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ीसे काट दी जाय, तो जैसे कुल्हाड़ीसे कटी हुई लता फिर नहीं पनपती वैसे ही फिर नहीं पनपती है ॥ २४ ॥

तिरानबे सर्ग समाप्त



चौरानबे सर्ग

[उपाधि तथा गुणोंकी विचित्रतासे शीघ्र और विलम्बसे मुक्त होनेवाली बारह प्रकारसे भिन्न जीवजातियोंका वर्णन]

किन्हीं जीवोंकी शीघ्र मुक्ति होती है और किन्हींकी विलम्बसे होती है, इस पूर्वोक्त मुक्तिके विभागमें भावभङ्गीसे श्रीरामचन्द्रजीकी विशेष जिज्ञासा ताड़ कर उसे विस्तारपूर्वक कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—**'उत्तमाधममध्यानाम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सात्त्विक, तामस और राजस भेदसे उत्तम, अधम और मध्यम जीवोपाधिरूप पदार्थोंकी विविध भुवनोंमें जो उत्पत्तियाँ पहले कही हैं, उनका यह (आगे कहा जानेवाला) विभाग है, उसे मैं कहूँगा, आप सुनिए ॥ १ ॥

इदंप्रथमता १, गुणपीवरी २, ससत्त्वा ३, अधमसत्त्वा ४, अत्यन्ततामसी ५, राजसी ६, राजससात्त्विकी ७, राजसराजसी ८, राजसतामसी ९, राजसात्यन्ततामसी १०, तामसी ११, तामससत्त्वा १२, तमोराजसी १३ और अत्यन्ततामसी १४ । आगे कहे जानेवाले इन १४ भेदोंमें अन्तिम दो भेदोंका पाँचवें और नवें भेदमें अन्तर्भाव होनेके कारण बारह भेद बचते हैं । उनमेंसे पहली इदंप्रथमतानामक उत्पत्तिको दर्शाते हैं—**'इदंप्रथमतोत्पन्नः'** इत्यादिसे ।

शुभलोकाश्रया सा च शुभकार्यानुबन्धिनी ।
सा चेद्विचित्रसंसारवासनाव्यवहारिणी ।
भवैः कतिपयैर्मोक्षमित्युक्ता गुणपीवरी ॥ ३ ॥
तादृक्फलप्रदानैककार्याकार्यानुमानदा ।
तेन राम ससत्त्वेति प्रोच्यते सा कृतात्मभिः ॥ ४ ॥
अथ चेच्चित्रसंसारवासनाव्यवहारिणी ।
अत्यन्तकलुषा जन्मसहस्रैर्ज्ञानभागिनी ॥ ५ ॥
तादृक्फलप्रदानैकधर्माधर्मानुमानदा ।
असावधमसत्त्वेति तेन साधुभिरुच्यते ॥ ६ ॥

जिस जीवको पहले कल्पके अपने अन्तिम जीवजन्ममें शम, दम आदि सर्वसाधन गुणसम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी श्रवण, मनन आदिका लाभ न होने या बलवान् विघ्न रहनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, वह जीव इस कल्पमें प्रथम जन्ममें ही ज्ञानलाभके योग्य बनकर उत्पन्न होता है। उस श्रेणीके जीवका वह जन्म इदं-प्रथम नामसे विख्यात होता है। यह इदंप्रथमता पूर्वकल्पके शुभाभ्यासका फल है ॥२॥

दूसरी जीवजातिको दर्शाते हैं—'शुभ०' इत्यादिसे ।

वही यदि पूर्वजन्ममें वैराग्य कम होनेके कारण उत्तम-उत्तम लोकोंकी प्राप्तिके लिए किये गये उपासनारूप शुभ कर्मोंसे युक्त हो, अतएव विचित्र संसारकी वासनासे भोगव्यवहारवाली हो, तो भोगोंसे वासनाका क्षय होनेपर कतिपय (दस या पन्द्रह) ही जन्मोंमें मोक्षको प्राप्त करा देती है, इस कारण वह गुण-पीवरी कही गई है, क्योंकि वह शान्ति, राग आदि गुणोंसे युक्त है ॥ ३ ॥

तीसरी जीवजातिको कहते हैं—'तादृक्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विविध प्रकारके सुख-दुःखरूपी फलोंके प्रदानरूपी मुख्य हेतुओंसे पूर्वकल्पके पुण्य और पापका अनुमान करानेवाली जो जीवजाति है, उसको बुद्धिमान् पुरुष 'ससत्त्वा' कहते हैं। वह भी क्रमसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर लगभग सौ जन्मोंमें मोक्षभागिनी होती है, यह अर्थात् प्रतीत होता है ॥४॥

चौथी जीवजातिको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

जो जीवजाति विचित्र संसारकी वासनाओंसे युक्त हो, अत्यन्त कलुषित यानी पूर्वकल्पमें संचित अत्यधिक दुष्कर्म और दुर्वासनाओंसे मलिन हो और भाँति भाँतिके भले और बुरे फलोंके प्रदानरूप हेतुओंसे पूर्वकल्पके धर्म और अधर्मका

सैव संख्यातिगानन्तजन्मवृन्दादनन्तरम् ।
सन्दिग्धमोक्षा यदि तत्प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ ७ ॥
अनद्यतनजन्मा तु जातिस्तादृशकारिणी ।
योत्पत्तिर्मध्यमा पुंसो राम द्वित्रिभवान्तरा ॥ ८ ॥
तादृक्कार्या तु सा लोके राजसी राजसत्तम ।
अविप्रकृष्टजन्माऽपि सोच्यते कृतबुद्धिभिः ॥ ९ ॥
सा हि तन्मृतिमात्रेण मोक्षयोग्या मुमुक्षुभिः ।
तादृक्कार्यानुमानेन प्रोक्ता राजससात्त्विकी ॥ १० ॥
सैव चेदितरैरल्पैर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी ।
तत्तादृशी हि सा तज्ज्ञैः प्रोक्ता राजसराजसी ॥ ११ ॥

अनुमान कराती हो, इस कारण उसे सज्जन पुरुष 'अधमसत्त्वा' कहते हैं ॥५,६॥

पाँचवीं जीवजातिको कहते हैं—'सैव' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त लक्षणवाली उत्पत्ति ही यदि अध्यात्मशास्त्रसे विमुख होनेके कारण असंख्य अनन्त जन्मोंके बाद इस कल्पमें, जिसमें मोक्षप्राप्ति संदिग्ध हो यानी किसी प्रकार मोक्षकी संभावना हो, ऐसी हो, तो उसे अत्यन्ततामसी कहते हैं ॥७॥

छठी जीवजातिको कहते हैं—'अनद्यतन०' इत्यादिसे ।

हे नृपश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, पुरुषकी जो उत्पत्ति पूर्वकल्पकी वासनाओंके अनुरूप हो, अतएव वैसे ही कार्य करनेवाली हो, इस कल्पके दो तीन जन्मोंके मध्यमें मनुष्य आदिरूप हुई हो, तदनुसार स्वर्ग, नरक आदिमें पहुँचानेवाली और संदिग्धमोक्षा हो, वह लोकमें 'राजसी' कहलाती है ।

सातवीं जीवजातिको दर्शाते हैं—'अविप्रकृष्ट०' इत्यादिसे ।

वह उत्पत्ति जब राजस दुःखोंके अनुभवसे उत्पन्न वैराग्यकी समृद्धिसे जिसका ज्ञानप्राप्ति योग्य जन्म संनिकट है, ऐसी होती है । महामति मुमुक्षुओं द्वारा उसी जन्ममें मरनेमात्रसे वह मोक्षयोग्य कही जाती है । उसको मैंने उक्त कार्यहेतुक अनुमानसे राजससात्त्विकी कहा है ॥ ८–१० ॥

आठवीं जीवजातिको दर्शाते हैं—'सैव चेत्' इत्यादिसे ।

वही यदि उक्त मनुष्यजन्मोंसे भिन्न यक्ष, गन्धर्व आदिके जन्मोंसे क्रमशः ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षभागिनी हो, तो उस प्रकारकी उत्पत्तिको उसके ज्ञाता विद्वान् राजसराजसी कहते हैं ॥ ११ ॥

सैव जन्मशतैर्मोक्षभागिनी चेच्चिरैषिणी ।
तदुक्ता तादृगारम्भा सद्भी राजसतामसी ॥ १२ ॥
सैव सन्दिग्धमोक्षा चेत् सहस्रैरपि जन्मनाम् ।
तदुक्ता तादृशारम्भा राजसात्यन्ततामसी ॥ १३ ॥
भुक्तजन्मसहस्रा तु योत्पत्तिर्ब्रह्मणो नृणाम् ।
चिरमोक्षा हि कथिता तामसी सा महर्षिभिः ॥ १४ ॥
तज्जन्मनैव मोक्षस्य भागिनी चेत् तदुच्यते ।
तज्ज्ञैस्तामससत्त्वेति तादृशारम्भशालिनी ॥ १५ ॥
भवैः कतिपयैर्मोक्षभागिनी चेत् तदुच्यते ।
तमोराजसरूपेति तादृशैर्गुणबृंहितैः ॥ १६ ॥

नवीं जीवजातिको दर्शाते हैं—'सैव जन्मशतैः' इत्यादिसे ।

वही यदि चिरकालकी अभिलाषावाली होनेसे सैकड़ों जन्मोंसे मोक्षभागिनी हो और वैसे ही यानी राजस, तामस फलको देनेवाले उपासना आदि कर्मका आरम्भ करनेवाली हो, तो उस जीवजातिको सज्जनोंने राजसतामसी कहा है ॥ १२ ॥

दसवीं जीवजातिको दर्शाते हैं—'सैव' इत्यादिसे ।

यदि वही उत्पत्ति, जिसमें हजारों जन्मोंसे भी मोक्ष पानेमें सन्देह हो और राजस, अत्यन्त तामस आदि फलको देनेवाले उपासना आदि कर्मोंके आरम्भवाली हो, तो उसको राजसात्यन्ततामसी कहते हैं ॥ १३ ॥

ग्यारहवीं जीवजातिको कहते हैं—'भुक्त०' इत्यादिसे ।

कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भसे मनुष्योंकी जो उत्पत्ति है, जिसमें अनेकों जन्म भोगे गये हों और मोक्ष दूसरे कल्पमें होनेवाला हो, उसे महर्षियोंने तामसी उत्पत्ति कहा है ॥ १४ ॥

बारहवींको कहते हैं—'तज्जन्मनैव' इत्यादिसे ।

वह तामस उत्पत्ति यदि तामस जन्मसे ही मोक्षकी भागिनी हो और तामस फल प्राप्त करानेवाले उपासना आदि कर्मोंसे शोभित होनेवाली हो, तो उसे जानकार विद्वान् लोग तामससत्त्वा कहते हैं । दानव, राक्षस, पिशाच आदि जन्ममें सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होनेसे प्रह्लाद, कर्कटी आदिकी ज्ञानप्राप्ति प्रसिद्ध है, यह भाव है ॥ १५ ॥

पूर्वजन्मसहस्राढ्या पुरोजन्मशतैरपि ।
मोक्षायोग्या ततः प्रोक्ता तज्ज्ञैस्तामसतामसी ॥ १७ ॥
पूर्वं तु जन्मलक्षाढ्या जन्मलक्षैः पुरोऽपि चेत् ।
सन्दिग्धमोक्षा तदसौ प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ १८ ॥
सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः ।
किञ्चित्प्रचलिताभोगात् पयोराशेरिवोर्मयः ॥ १९ ॥
सर्वा एव विनिष्क्रान्ता ब्रह्मणो जीवराशयः ।
स्वतेजःस्पन्दिताभोगाद् दीपादिव मरीचयः ॥ २० ॥
सर्वा एव समुत्पन्ना ब्रह्मणो भूतपङ्क्तयः ।
स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव ॥ २१ ॥

राजसतामसी पहले कही जा चुकी है, उसीके कार्यके हेरफेरसे तेरहवीं जीवजातिको कहते हैं—'भवैः' इत्यादिसे ।

यदि रजोगुण-तमोगुणप्रचुर फलोंसे युक्त कतिपय जन्मोंके बाद ही मोक्ष-भागिनी उत्पत्ति हो, तो ऐसा होनेपर वह रजस्तमोगुणबहुला उत्पत्ति तमोराजस-नामसे प्रसिद्धि प्राप्त करती है ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति पहलेके हजारों जन्मोंसे युक्त और आगे आनेवाले सैकड़ों जन्मोंसे भी मोक्षके अयोग्य है, उसको इसीलिए उत्पत्तिविभाग जाननेवाले विद्वान् तामसतामसी कहते हैं ॥ १७ ॥

जो उत्पत्ति पहले लाखों जन्मोंसे युक्त है और आगे भी लाखों जन्मोंसे जिसमें मोक्षप्राप्तिमें सन्देह है, ऐसी उत्पत्ति अत्यन्ततामसी कहलाती है ॥ १८ ॥

जिसकी परिपूर्णता कुछ प्रचलित हुई है, ऐसे समुद्रसे जैसे लहरें उठती हैं, वैसे ही ये सम्पूर्ण भूतजातियाँ ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं ॥ १९ ॥

अपने तेजसे जिसका कलेवर चञ्चल हुआ है, तेजःस्वरूप दीपकसे जैसे किरणें निकलती हैं, वैसे ही ये सभी जीवराशियाँ ब्रह्मसे ही निकली हैं ॥ २० ॥

जैसे प्रज्वलित अग्निसे उसकी ज्वालाओंके बलसे उत्पन्न हुई चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्रह्मसे ये सब प्राणिवर्ग उत्पन्न हुए हैं ॥ २१ ॥

सर्वा एवोत्थितास्तस्माद् ब्रह्मणो जीवराशयः ।
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांऽशवः ॥ २२ ॥
सर्वा एव समुत्पन्ना ब्रह्मणो दृश्यदृष्टयः ।
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः ॥ २३ ॥
सर्वा एव समुत्पन्ना ब्रह्मणो जीवपङ्क्तयः ।
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव ॥ २४ ॥
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः ।
निर्झरादमलोद्योतात् पयसामिव बिन्दवः ॥ २५ ॥
अजस्यैवाऽखिला राम भूतसन्ततिकल्पनाः ।
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा ॥ २६ ॥
सर्वा एवोत्थिता लोककलना ब्रह्मणः पदात् ।
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा ॥ २७ ॥

जैसे चन्द्रमाके बिम्बसे किरणें निकलती हैं वैसे ही मन्दारकी मञ्जरीके सदृश ये सम्पूर्ण जीवराशियां उस ब्रह्मसे ही उदित हुई हैं ॥ २२ ॥

जैसे वृक्षसे वृक्षरूप विविध शाखाएँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण ही दृश्यराशियाँ ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सुवर्णसे कड़ा, बाजूबन्द आदि आभूषण उत्पन्न होते होते हैं वैसे ही सभी जीवश्रेणियाँ ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं ॥ २४ ॥

जैसे निर्मलकान्तिवाले झरनेसे जलबिन्दु निकलते हैं वैसे ही सभी जीवराशियां ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार अंशांशिभावकी कल्पना द्वारा ब्रह्मसे जीवोंकी अभेदयोग्यता दिखला कर उपाधिकी असत्यताके प्रदर्शन द्वारा अभेद दिखलाते हैं—'अजस्यैव' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे घटाकाश, घटकोठीका आकाश, छिद्राकाश आदि आकाशकी ही रचनाएँ हैं वैसे ही अजन्मा परमब्रह्मकी ही सम्पूर्ण प्राणिवर्गरूपमें कल्पना हुई है ॥ २६ ॥

जैसे जलसे सीकर (छोटे छोटे जलबिन्दु), जलभौंरियाँ, लहरें और बड़े जल-बिन्दु जलसे ही उत्पन्न होते हैं वैसे ही ये सम्पूर्ण लोकरचनाएँ परमपद ब्रह्मसे ही उदित हुई हैं ॥ २७ ॥

सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो दृश्यदृष्टयः ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः ॥ २८ ॥
सर्वा दृश्यदृशो द्रष्टुर्व्यतिरिक्ता न रूपतः ।
शीतरश्मेरिव ज्योत्स्ना स्वालोक इव तेजसः ॥ २९ ॥
एवमेता हि भूतानां जातयो विविधाश्च याः ।
यस्मादेव समायान्ति तस्मिन्नेव विशन्ति च ॥ ३० ॥
काश्चिज्जन्मसहस्रान्ते जातयश्चिरकालिकाः ।
काश्चित्कतिपयातीतजन्मरूपा व्यवस्थिताः ॥ ३१ ॥
इत्थं जगत्सु विविधेषु विचित्ररूपा-
स्तस्येच्छया भगवतो व्यवहारवत्यः ।
आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
रूपश्रियः कणघटा इव पावकोत्थाः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ब्रह्मणः सर्वमुत्पद्यत इति कथनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्यके तेजसे मृगतृष्णाकी नदियां उत्पन्न होती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृश्यदृष्टियां ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुई हैं ॥ २८ ॥

जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी चन्द्रमासे पृथक् नहीं है और जैसे तेजकी प्रभा तेजसे भिन्न नहीं है वैसे ही ये सब दृश्य पदार्थ द्रष्टा ब्रह्मके स्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है ॥ २९ ॥

इस प्रकार ये विविध प्राणियोंके वर्ग जिससे उत्पन्न होते हैं, उसीमें उपाधिके लयसे अभेदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इनमें कोई प्राणिवर्ग चिरकालसे जन्म-मरण आदि भोग रहे हैं और हजारों जन्मोंके बाद वे लीन होंगे और किन्हींके अभी कतिपय ही जन्म व्यतीत हुए हैं, यों उनकी व्यवस्थिति है ॥ ३१ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्माकी इच्छासे व्यवहार करनेवाले, उपाधिरूप शोभावाले, विलक्षण विलक्षण रूपोंसे युक्त पूर्वोक्त प्राणिवर्ग

अग्निसे निकली हुई चिनगारियोंके समान विविध जगतोंमें आते हैं, जाते हैं, एक जन्मसे दूसरे जन्ममें भ्रमण करते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

चौरानवे सर्ग समाप्त

—०—

पञ्चनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अभिन्नौ कर्मकर्तारौ सममेव परात् पदात् ।
स्वयं प्रकटतां यातौ पुष्पामोदौ तरोरिव ॥ १ ॥

पञ्चानबे सर्ग

[अज्ञानी जनोंके बोधके लिए न कि वस्तुत. कर्म और कर्ताकी सहोत्पत्तिका आशङ्कापूर्वक समर्थन]

कल्पके आरम्भमें ब्रह्मसे ही सम्पूर्ण जीवजातियोंका आविर्भाव होता है, इस कथनके बहाने ब्रह्म ही उपाधियोंमें जीवरूपसे प्रविष्ट है, वह दर्शाया । ऐसी परिस्थितिमें आगन्तुक जीवभावमें प्राक्तन कर्म हेतु नहीं कहा जा सकता, कारण कि प्राक्तन कर्मकी सिद्धि तभी हो सकती है जब प्राक्तन कर्ता रहेगा । प्राक्तन कर्ताकी सिद्धिके लिए यदि जीवको अनादि मानें, तो ब्रह्मके पूर्वोक्त औपाधिक जीवभावका समर्थन नहीं हो सकेगा, यों दोनों प्रकार ही प्राप्त हुए दोषका दृष्टिभेदके अवलम्बनसे परिहार करनेवाले गूढ़ आशयवाले श्रीवसिष्ठजी यौक्तिक दृष्टिसे कर्म और कर्ताकी सहोत्पत्ति पक्षको दर्शाते हैं—'अभिन्नौ' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे वृक्षसे फूल और उसकी सुगन्धि साथ ही साथ प्रकट होते हैं वैसे ही परस्पर अभेदकल्पनासे अभिन्न कर्म और कर्ता एक ही साथ परमपदरूप ब्रह्मसे अपने स्वभाववश ही सृष्टिके आदिमें प्रकट हुए । भगवान्‌ने भी श्रीमुखसे कहा है—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।' (भगवान् न लोगोंके कर्तृत्वकी सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी सृष्टि करते हैं और न कर्मोंके फलके संयोगकी सृष्टि करते हैं, किन्तु जीवकी अविद्यारूप प्रकृति स्वयं कर्म आदिरूपसे प्रवृत्त होती है ॥ १ ॥

सर्वसङ्कल्पनामुक्ते जीवा ब्रह्मणि निर्मले ।
स्फुरन्ति वितते व्योम्नि नीलिमेवाऽज्ञचक्षुषः ॥ २ ॥
अप्रबुद्धजनाचारो यत्र राघव दृश्यते ।
तत्र ब्रह्मण उत्पन्ना जीवा इत्युक्तयः स्थिताः ॥ ३ ॥
संप्रबुद्धजनाचारे वक्तुमेतन्न शोभनम् ।
यद् ब्रह्मण इदं जातं न जातं चेति राघव ॥ ४ ॥
काचिद्वा कलना यावन्न नीता राघव प्रथाम् ।
उपदेश्योपदेशश्रीस्तावल्लोके न शोभते ॥ ५ ॥

उनके आविर्भावमें और अभेदाध्यासमें जीवोंका स्वभाव नामसे प्रसिद्ध अपना अज्ञान ही कारण है, यों दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जैसे अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें विस्तृत निर्मल आकाशमें नीलिमा स्फुरित होती है वैसे ही सब संकल्पनाओंसे रहित निर्मल ब्रह्ममें अज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें ये जीव स्फुरित हुए हैं ॥ २ ॥

अतएव यह सृष्टिवाद अज्ञानीके संमत व्यवहारभूमिमें ही है, परमार्थ-पदमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अप्रबुद्ध०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जहाँपर अज्ञानी लोगोंका व्यवहार देखा जाता है, वहींपर जीव ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, ऐसी उक्तियाँ स्थित हैं ॥ ३ ॥

'न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'

(न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध (संसारी जीव) है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यह परमार्थता है ।) तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इत्यादि श्रुतिसे लभ्य परमार्थ दृष्टिसे तो न जगत्की न जीवोंकी या कर्मोंकी उत्पत्ति आदिका प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा न उनके निषेधका ही प्रतिपादन किया जा सकता है, ऐसा कहते हैं—'संप्रबुद्ध०' इत्यादिसे ।

हे राघव, जहाँपर ज्ञानी पुरुषोंका व्यवहार है वहाँ यह ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ और यह उत्पन्न नहीं हुआ यह कथन शोभा नहीं देता है ॥ ४ ॥

यदि ऐसा है, तो ऐसी अवस्थामें परमार्थका उपदेश देनेवाले शास्त्रमें अज्ञानियोंकी दृष्टिसे उपपन्न होनेवाले सृष्टि आदिके कथनका क्या प्रयोजन है ? उसपर कहते हैं—'काचिद्वा' इत्यादिसे ।

अतो भेददृशा दीनामङ्गीकृत्योपदिश्यते ।
ब्रह्मेदमेते जीवा वै वेति वाचामयं क्रमः ॥ ६ ॥
इति दृष्टो निरासङ्गाद् ब्रह्मणो जायते जगत् ।
तज्ज्ञं तदेव तद्धेतुगतं दुरवबोधतः ॥ ७ ॥
मेरुमन्दरसङ्काशा बहवो जीवराशयः ।
उत्पद्योत्पद्य संलीनास्तस्मिन्नेव परे पदे ॥ ८ ॥
अथाऽनन्ताः स्फुरन्त्येते जायमानाः सहस्रशः ।
नानाः ककुब्निकुञ्जेषु पादपेष्विव पल्लवाः ॥ ९ ॥

हे रामचन्द्रजी, जब तक कोई द्वितीय कल्पना प्रसिद्धिको प्राप्त न की जाय, तब तक लोकमें उपदेश्य, उपदेशक और उपदेश शोभित नहीं होते । इसलिए भेददृष्टिसे शोचनीय द्वैतकल्पनाका व्यवहारकाल तक—जब तक कि निश्चयसे प्रमेयका निर्णय न हो जाय तब तक—संशयके साथ अङ्गीकार कर यह ब्रह्म है ये जीव है, यों वाणीका उपदेश दिया जाता है ॥ ६ ॥

लोकमें अभ्युपगम्यवाद (काल्पनिकवाद) बहुधा देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—'इति दृष्टो' इत्यादिसे ।

इस प्रकार लोकमें अभ्युपगम्यवाद देखा गया है ।

शङ्का—यदि द्वैतका अङ्गीकार कर लिया, तो उसका खण्डन क्यों करते हैं ?

समाधान—असङ्ग अद्वितीय ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है, ऐसा पहले उपदेश देनेपर जो उससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही है, क्योंकि उत्पत्तिके पहले अपने उपादान कारणमें स्थित वही आविर्भावदशामें भी हेतुगत होनेके कारण तन्मात्र होता हुआ भी भ्रान्तिज्ञानसे पृथक्-सा प्रतीत होता है, अतः द्वैत बाधित होता है, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी उपादानता तो तीनों कालोंमें उसीमें उत्पन्न होकर लीन होनेके कारण सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'मेरु०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

मेरु और मन्दरके तुल्य बहुत-सी जीवराशियाँ पुनः पुनः उत्पन्न होकर उसी परमतत्त्वमें लीन हो गई हैं । उसके बाद जैसे विविध दिशाओंमें वृक्षोंमें पल्लव लगते हैं वैसे ही ये अनन्त जीवराशियाँ हजारोंकी संख्यामें उस परमपदमें उत्पन्न होकर स्फुरित होती हैं । जैसे वसन्त ऋतुमें नूतन अङ्कुर उत्पन्न होते

जीवौघाश्चोद्भविष्यन्ति मधाविव नवाङ्कुराः ।
तत्रैव लयमेष्यन्ति ग्रीष्मे मधुरसा इव ॥ १० ॥
तिष्ठन्त्यजस्रं कालेषु त एवाऽन्ये च भूरिशः ।
जायन्ते च प्रलीयन्ते परस्मिन् जीवराशयः ॥ ११ ॥
पुष्पामोदाविवाऽभिन्नौ पुमान् कर्म च राघव ।
परमेशात् समायाते तत्रैव विशतः शनैः ॥ १२ ॥
दृष्टमेते जगत्यस्मिन् दैत्योरगनरामराः ।
उद्भवन्त्यभवा भावैः प्रस्फुरन्ति पुनः पुनः ॥ १३ ॥
हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते ।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मान्तरफलप्रदः ॥ १४ ॥

हैं वैसे ही आगे भी उस परमपदमें ये जीवसमूह उत्पन्न होंगे। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें वसन्त ऋतुके रस लीन हो जाते हैं वैसे ही फिर उसीमें लीन हो जायँगे। वे और अन्य अनेक जीवराशियाँ सदा उस परमपदमें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं॥ ८–११ ॥

हे रामचन्द्रजी, जैसे पुष्प और सुगन्धि अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष (कर्ता) और कर्म अभिन्न हैं। ये परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं और फिर उसीमें शनैः शनैः लीन हो जाते हैं॥ १२ ॥

ये दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता इस जगत्में वस्तुतः उत्पन्न न होते हुए भी वासनारूप भूतमात्रोपाधियोंसे उत्पन्न होते हैं, और तुरन्त स्फुरित होते हैं यानी गमन आदि क्रियासे युक्त होते हैं। इससे जन्म और कर्मकी सहोत्पत्ति और अभेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है॥ १३ ॥

उनकी उत्पत्तिमें न कर्म हेतु है और न और कुछ हेतु है, क्योंकि जब पहले कर्ता रहेगा तब न कर्म होंगे, इसलिए परिशेषसे केवल पूर्वोक्त अज्ञान ही उनकी उत्पत्तिमें निमित्त है, ऐसा कहते हैं—'हेतुः' इत्यादिसे।

हे सज्जनशिरोमणे श्रीरामजी, उन दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता आदिके संसार-भ्रमणमें आत्मस्वरूपके विस्मरणके सिवा अन्यान्य जन्मरूपी फल देनेवाला दूसरा कोई हेतु नहीं दिखाई देता। तात्पर्य यह है कि कर्ताकी अनादिता तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कर्तृत्वको यदि स्वाभाविक धर्म मानें, तो जैसे अग्निकी

राम उवाच

अविसंवादिनाऽर्थे यद्यत् प्रामाणिकदृष्टिभिः ।
वीतरागैर्विनिर्णीतं तच्छास्त्रमिति कथ्यते ॥ १५ ॥

अनादि स्वभाववाली उष्णता हजारों उपायोंसे मिटाई नहीं जा सकती वैसे ही अनादि स्वभाववाले कर्तृत्वका भी हजारों उपायोंसे परिहार नहीं किया जा सकेगा। ऐसी अवस्थामें मोक्ष कथमपि नहीं हो सकेगा। यदि कर्तृत्वको औपाधिक मानो, तो वह उपाधि अविद्या है अथवा अन्य कुछ है ? पहले पक्षका फलतः सिद्धान्तके परिशेष पक्षमें ही अन्तर्भाव हो गया। किञ्च, अविद्या आत्मामें कर्तृत्वका आपादन स्वतः करती है अथवा अन्य किसीकी सहायतासे ? स्वतः तो कर नहीं सकती, क्योंकि अविद्यामें स्वतः कर्तृत्वापादन होनेपर सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलयमें भी आत्मामें कर्तृत्वकी आपत्ति होगी। यदि कहिये अन्यकी अपेक्षासे अविद्या कर्तृत्वका आपादन करती है, तो जिसकी मुखापेक्षी होकर अविद्या कर्तृत्वका आपादन करती है, वही उपाधि होगी, अविद्या उपाधि न होगी। उपाधिकी तो कोई उपाधि होती नहीं। दूसरे पक्षमें भी यानी उपाधि अविद्यासे अन्य है, इस पक्षमें भी वह उपाधि अविद्याकी कार्य है या स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र है इस पक्षमें यदि वह अनादि है, तो सुषुप्ति और प्रलयमें भी कर्तृत्वका आपादन करेगी। यदि सादि है, तो उससे उपहित कर्तृत्व भी सादि ही होगा, यों अनादि कर्तृसिद्धि नहीं होगी। उपाधि अविद्याकार्य है, इस पक्षमें भी यही दोष है, इसलिए यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि कर्तृ-उपाधिसम्बन्धके प्रतिकल्प और प्रतिदिन भिन्न होनेसे उसके अधीन उपहित कर्ताकी कर्मके साथ उत्पत्ति और कर्मके साथ अभेद भी होता है। उसमें आत्मविस्मरण ही बीज है, यह पक्ष ही यौक्तिक दृष्टिसे अवशिष्ट होता है ॥ १४ ॥

इस पक्षमें आगे अनुपपत्ति दर्शानेवाले श्रीरामचन्द्रजी उसके अनुकूल भूमिका रचनेके लिए शास्त्रका लक्षण कहते हैं—'अविसंवादि०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, प्रामाणिक दृष्टिवाले (अलौकिक यानी धर्म और ब्रह्ममें प्रमाणभूत श्रुतिसे जिनकी दृष्टि उत्पन्न हुई है) वीतराग मनु आदिने धर्माधर्मरूप अर्थमें स्वमूल श्रुतिसे विवाद न करनेवाले (श्रुत्यविरोधी) मीमांसाके न्यायोंसे निर्णय करके जो जो स्मृति, पुराण कल्पसूत्र, इतिहास आदि

महासत्त्वगुणोपेता ये धीराः समदृष्टयः ।
अनिर्देश्यकलोपेताः साधवस्त उदाहृताः ॥ १६ ॥
द्वयं हि दृष्टिर्बालानां सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।
साधुवृत्तं तथा शास्त्रं सर्वदैवाऽनुवर्तते ॥ १७ ॥
साधुसंव्यवहारार्थं शास्त्रं यो नाऽनुवर्तते ।
बहिः कुर्वन्ति तं सर्वे स च दुःखे निमज्जति ॥ १८ ॥
इह लोके च वेदे च श्रुतिरित्थं सदा प्रभो ।
यथा कर्म च कर्ता च पर्यायेणेह संगतौ ॥ १९ ॥
कर्मणा क्रियते कर्ता कर्त्रा कर्म प्रणीयते ।
बीजाङ्कुरादिवन्न्यायो लोकवेदोक्त एव सः ॥ २० ॥

रचे हैं वे 'शास्त्र' नामसे कहे जाते हैं । भाव यह कि श्रुतियाँ और श्रुतिमूलक स्मृतियां आदि अलौकिक अर्थमें प्रमाण हैं ॥ १५ ॥

इसी प्रकार सदाचार भी प्रमाण है, यह कहनेके लिए सन्तोंका लक्षण कहते हैं—'महासत्त्व०' इत्यादिसे ।

जो अत्यन्त विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हैं, दुःखदायी विषयोंसे विचलित नहीं हो सकते हैं, राग, द्वेष आदिसे रहित हैं एवं शब्दसे जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, ऐसी निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मकी साक्षात्कारकलासे सम्पन्न हैं, वे सन्त कहे गये हैं ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त लक्षणवाले सन्तोंका सदाचार और श्रुतिस्मृतिरूप शास्त्र ये दो ही जिन्हें आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ, उन शिष्टोंके सब कर्मोंकी सिद्धिके लिए यानी धर्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानके लिए सदा दो नेत्र हैं ॥ १७ ॥

जो पुरुष स्वर्ग और मोक्षके उपयोगी सम्यग् व्यवहारके लिए शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न हो जाता है । हे प्रभो, इस लोकमें प्रामाणिक पुरुषोंमें और वेदमें सदा इस प्रकारकी प्रसिद्धि है कि कर्म और कर्ता हेतु और फलरूपसे संसृष्ट हैं यानी कर्म और कर्ताका कार्य-कारणभाव है ॥ १८, १९ ॥

बीज और अङ्कुरके सदृश कर्मसे कर्ताकी सृष्टि होती है और कर्तासे कर्मका निर्माण होता है, वह न्याय लोक और वेदमें प्रसिद्ध है । जैसे बीजसे नूतन

कर्मणो जायते जन्तुर्बीजादिव नवाङ्कुरः ।
जन्तोः प्रजायते कर्म पुनर्बीजमिवाऽङ्कुरात् ॥ २१ ॥
यया वासनया जन्तुर्नीयते भवपञ्जरे ।
तद्वासनानुरूपेण फलं समनुभूयते ॥ २२ ॥
एवं स्थिते कथं नाम जन्मबीजेन कर्मणा ।
विनोत्पत्तिस्त्वया प्रोक्ता भूतानां ब्रह्मणः पदात् ॥ २३ ॥
पक्षेणाऽनेन भगवन् भवता जन्मकर्मणोः ।
तिरस्कृता जगज्ज्ञाता साऽविनाभावितैतयोः ॥ २४ ॥
ब्रह्मण्यकारणे ब्रह्मन् ब्रह्मादिषु फलेषु च ।
कर्मणां फलमस्तीति द्वयं लोके प्रमार्जितम् ॥ २५ ॥
सञ्जाते सङ्करे लोके कर्मस्वफलदायिषु ।
मात्स्यन्याये विलसति नाश एवाऽवशिष्यते ॥ २६ ॥

अङ्कुर उत्पन्न होता है, वैसे ही कर्मसे जन्तु उत्पन्न होता है। जैसे अङ्कुरसे पुनः बीज होता है, वैसे ही जन्तुसे कर्म होता है ॥ २०, २१ ॥

कर्मके समान प्राक्तन वासना भी कर्ताकी उत्पत्तिमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'यया' इत्यादिसे ।

जिस वासनासे जीव संसाररूपी पिंजड़ेमें प्रविष्ट किया जाता है, उस वासनाके अनुरूप उसे फलका भी अनुभव होता है ॥ २२ ॥

इस प्रकार भूमिका रचकर कर्ता और कर्मकी साथ साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षपर आक्षेप करते हैं—'एवं स्थिते' इत्यादिसे ।

ऐसी अवस्थामें जन्मके निमित्तभूत कर्मके बिना परमपदरूप ब्रह्मसे प्राणियोंकी उत्पत्ति आपने कैसे कही ? ॥ २३ ॥

भगवन्, आपने इस सहोत्पत्ति पक्षसे इन जीव और कर्मोंकी जगत्में प्रमाणों द्वारा प्रसिद्ध परस्पर हेतुफलताका तिरस्कार कर दिया है ॥ २४ ॥

अद्वय होनेके कारण अपनेसे अतिरिक्त कारणशून्य मायाशबल ब्रह्ममें आकाश आदिसे लेकर स्थूलदेहपर्यन्त भोगायतनकी सृष्टि कर्मोंका फल है और उसके फलरूप (कार्यभूत) हिरण्यगर्भ आदि स्थूल सूक्ष्म उपाधियोंमें भोग और उसकी सामग्रीकी सृष्टि फल है, यों लोकमें प्रसिद्ध इन दोनों प्रवादोंका आपने खण्डन कर दिया ॥ २५ ॥

कर्मोंके निष्फल होनेपर नरक आदिका भय न होनेके कारण लोकमें सांकर्य

किं तत्कृतं भवत्येव भगवन् ब्रूहि तत्त्वतः ।
एवं मे संशयं स्फारं छिन्धि वेद्यविदांवर ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

साधु राघव पृष्टोऽस्मि त्वया प्रश्नमिमं शुभम् ।
शृणु वक्ष्यामि ते येन भृशं ज्ञानोदयो भवेत् ॥ २८ ॥
मानसोऽयं समुन्मेषः कलाकलनरूपतः ।
एतत्तत्कर्मणां बीजं फलमस्यैव विद्यते ॥ २९ ॥

होनेपर जैसे बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यको निगल जाते हैं वैसे ही बलवानों द्वारा हीनबलोंकी हिंसा होगी, यों नाश ही अवशिष्ट रहेगा ॥ २६ ॥

भगवन्, इसलिए आप यथार्थतः मुझसे कहिए कि किया हुआ कर्म फलरूपसे अवश्य परिणत होता है या नहीं ? मेरे इस महान् संशयको आप दूर कीजिये । आप तत्त्वज्ञोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए आपमें ही मेरे संशयको दूर करनेकी सामर्थ्य है ॥ २७ ॥

इस प्रकार रामचन्द्रजीके आक्षेप करनेपर प्रामाणिक आक्षेपकी प्रशंसा करते हुए उसके समाधानकी प्रतिज्ञा करते हैं—'साधु' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्रजी, मुझसे आपने जो यह सुन्दर प्रश्न किया, यह बहुत ही अच्छा किया । सुनिए, मैं आपसे कहता हूँ, जिससे अवश्य ज्ञानका उदय होगा ॥ २८ ॥

सहोत्पत्ति पक्षमें भी (कर्ता और कर्मकी साथ उत्पत्ति होती है, इस पक्षमें भी) जैसे कोई दोष न आवे वैसा उपपादन करनेके लिए भूमिका बांधते हैं—**'मानसः'** इत्यादिसे ।

'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति' (जिसका मनसे ध्यान करता है, उसे वाणीसे बोलता है, उसे कर्मसे करता है) इस श्रुतिसे मनका क्रियाकौशलप्रतिसन्धानरूपसे जो यह विकास है, वही कर्मोंका प्रसिद्ध कारण है ।

शङ्का—क्रियाकौशलरूपसे मनका विकास ही कर्मोंका कारण है, यह आप कैसे जानते हैं ?

समाधान—मनके विकासके बाद ही क्रियासिद्धिरूप फल देखा जाता है, जिसमें मनका सहयोग नहीं है, ऐसी देहचेष्टाका कोई फल नहीं दिखाई देता है ॥ २९ ॥

यदैव हि मनस्तत्त्वमुत्थितं ब्रह्मणः पदात् ।
तदैव कर्म जन्तूनां जीवो देहतया स्थितः ॥ ३० ॥
कुसुमाशययोर्भेदो न यथा भिन्नयोरिह ।
तथैव कर्ममनसोर्भेदो नाऽस्त्यविभिन्नयोः ॥ ३१ ॥
क्रियास्पन्दो जगत्यस्मिन् कर्मेति कथितो बुधैः ।
पूर्वं तस्य मनो देहं कर्माऽतश्चित्तमेव हि ॥ ३२ ॥

मनके विकासके बाद ही फल होता है, यह जो कहा था, उसे उदाहरण द्वारा दर्शाते हैं—'यदैव' इत्यादिसे ।

आदि सृष्टिमें परमपदरूपी ब्रह्मसे जभी मनरूप तत्त्व उत्पन्न हुआ तभी मनरूप उपाधिवाले आविर्भूत समष्टि व्यष्टि जीवोंका कर्म भी उदित हुआ और जीव प्राक्तन वासनाके अनुसारी देहवाला होनेसे देहमें अहंभावसे स्थित हुआ। इस विषयमें श्रुति भी 'तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति' (उसने मैं मनसे मनस्वी होऊँ, इस अभिप्रायसे मनकी रचना की) मनके जन्मके अधीन ही आत्मन्वितासे कथित देहित्व और सञ्चरण रूप कर्म दिखलाती है । 'यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' यह दूसरी श्रुति भी है । इससे मन ही कर्ता है, आत्मा कर्ता नहीं, यह दिखलानेके लिए मैंने सहोत्पत्ति यानी पुरुष और कर्मकी सहोत्पत्ति पक्ष दर्शाया है, यह भाव है ॥३०॥

इस प्रकार कर्ता और कर्मके अभेद कथनसे भी कर्म मनोधर्म ही है, आत्म-धर्म नहीं है । यदि कर्म आत्मधर्म माना जायगा, तो उसके कूटस्थत्व स्वभावसे विरोध होगा, यह उसे मनोधर्म कहनेमें तात्पर्य है, इसे दृष्टान्तपूर्वक दिखाते हैं—'कुसुमाशययोः' इत्यादिसे ।

जैसे परस्पर अभिन्न पुष्प और सुगन्धिका भेद नहीं है वैसे ही परस्पर अभिन्न कर्म और मनका भेद नहीं है ॥ ३१ ॥

यदि कोई कहे कर्मशब्दसे यज्ञ किया जाता है, या उससे उत्पन्न अदृष्ट ? उनमें पहला देहका धर्म है, दूसरा भोक्तामें समवाय सम्बन्धसे रहता है, ऐसी अवस्थामें उसकी मनोधर्मता कैसे ? इसपर कहते हैं—'क्रियास्पन्दः' इत्यादिसे ।

इस जगत्में कर्मसंस्काररूपसे मनमें स्थित क्रिया ही अदृष्टके फलरूपसे आविर्भूत होकर देह, स्वर्ग, नरक आदिरूप होती है । इस प्रकार उस कर्मका आश्रय देह भी पहले मन ही था । 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति'

न स शैलो न तद्व्योम न सोऽब्धिश्च न विष्टपम् ।
अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम् ॥ ३३ ॥
ऐहिकं प्राक्तनं वाऽपि कर्म यद्रचितं स्फुरत् ।
पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः ॥ ३४ ॥

इस श्रुतिसे भावी देहाकारताके अभिमानको प्राप्त हुए ही मनका पूर्व देहसे उत्क्रमण सुना जाता है । आतिवाहिक (सूक्ष्म) देहकी ही वासनाके बलसे स्थूलदेहाकारमें कल्पना होती है, ऐसा पहले कह आये हैं, इसलिए मन ही कर्म है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार तुम्हारे द्वारा कहा गया कर्मोंकी निष्फलताका दोष भी हट गया, क्योंकि मनका कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च कर्मफल है, इस आशयसे कहते हैं—'न स' इत्यादिसे ।

वह ऐसा कोई पर्वत नहीं है, वह कोई आकाश नहीं है, वह समुद्र नहीं है, वह लोक नहीं है, जहांपर किये हुए अपने कर्मोंका फल न हो ॥ ३३ ॥

सावधान होकर किया गया साङ्गोपाङ्गरूपसे विराजमान कर्म चाहे वह ऐहिक हो चाहे प्राकृतन हो, पौरुष ही प्रयत्न है, वह कभी निष्फल नहीं होता । भाव यह है कि अविद्यासे उत्पन्न हुआ मन ही क्रियाशक्तिसम्पन्न और चैतन्यरूप आत्माका उपाधि होनेसे कर्ता और भोक्ता है और वह 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (हे सौम्य मन अन्नमय है), 'तन्मनोऽकुरुत' (उसने स्रष्टव्यके आलोचनके योग्य मनःशब्दवाच्य सङ्कल्प आदि रूप करणकी रचना की), 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' (मन, वाणी और प्राण इन तीन अन्नोंकी अपने लिए सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियोंसे और पूर्वोक्त युक्तिसे यद्यपि प्रत्येक कल्पमें और प्रतिदिन उत्पन्न होकर लीन होता है, तथापि प्रतिदिन आविर्भूत होकर रात्रिमें छिप रही दीवारकी छायाके समान तथा दर्पणके सामने आविर्भूत होकर दर्पण हटानेपर छिप रहे मुखके प्रतिबिम्बके समान वही यह है, इस प्रकार अबाधित प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाणसे और उपहित आत्माकी एकतासे उसका भेद नहीं होता, यों वह अनादि भी है । नाश शून्यतापत्ति नहीं है, अथवा उत्पत्ति असत्‌की सत्ता नहीं है, जिससे कि प्रतिदिन सुषुप्तिमें उसके नाशसे भेद हो । सत्कार्यवादके आश्रयणसे अविद्याबीजरूपसे विद्यमान ही प्राक्तन कर्ता और कर्मकी तथा उनके फल आकाश आदिकी सहोत्पत्ति माननेपर भी कृतहानि और अकृत-प्राप्तिरूप दोषकी आपत्ति नहीं होती, न शास्त्रके प्रामाण्यका बाध होता है, अथवा न मात्स्यन्यायकी

कृष्णतासंक्षये यद्वत् क्षीयते कज्जलं स्वयम् ।
स्पन्दात्मककर्मविगमे तद्वत् प्रक्षीयते मनः ॥ ३५ ॥
कर्मनाशे मनोनाशो मनोनाशो ह्यकर्मता ।
मुक्तस्यैष भवत्येव नाऽमुक्तस्य कदाचन ॥ ३६ ॥
वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः ।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ॥ ३७ ॥
चित्तं सदा स्पन्दविलासमेत्य स्पन्दैकरूपं ननु कर्म विद्धि ।
कर्माऽथ चित्तं किल धर्मकर्म पदं गते राम परस्परेण ॥ ३८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे कर्मपुरुषयो-
रैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

प्राप्ति होती है और न जन्म और कर्मकी कार्यकारणताके नियमका खण्डन होता है और तिरोभूत अवस्थावाला और आविर्भूत अवस्थावाला मन ही अविद्या है, यह माननेसे जीवोंकी उत्पत्तिमें परिशेषसे एकमात्र अज्ञानको मैंने जो हेतु कहा है, वह भी विरुद्ध नहीं है ॥ ३४ ॥

यदि कोई कहे कि कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति और अभेद कहनेका फल क्या है ? तो उसपर कहते—'कृष्णता०' इत्यादिसे ।

जैसे कृष्णताका क्षय होनेपर काजल स्वयं क्षीण हो जाता है, चलनात्मक कर्मका नाश होनेपर मनका क्षय हो जाता है । भाव यह कि कर्म और मनमें से एकका विनाश चाहनेवाले पुरुषको चलनात्मक प्राणके अथवा मनके निरोधरूप हठयोग या राजयोगका अभ्यास करना चाहिये, यही उनका फल है ॥ ३५ ॥

कर्मका नाश होनेपर मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होनेपर कर्मका अभाव हो जाता है। योगसे जनित तत्त्वसाक्षात्कारसे अविद्याका नाश होनेपर दोनोंका आत्यन्तिक विनाश होता है अन्यथा नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'मुक्तस्य'से । यानी कर्मनाश होनेपर मनोनाश या मनोनाश होनेपर कर्माभाव मुक्त पुरुषका होता है; जो मुक्त नहीं है, उसका कदापि नहीं होता ॥ ३६ ॥

अग्नि और उष्णताकी भाँति सदा अभेदसे मिले हुए दोनोंमें से—चित्त और कर्ममें से—एकका अभाव होनेपर दोनों ही विलीन हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

एकका विनाश होनेपर दूसरेका विनाश होता है, इसमें उपपत्ति दर्शा रहे श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'चित्तम्' इत्यादिसे ।

षण्णवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी ।
क्रिया तद्भावितारूपं फलं सर्वोऽनुधावति ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

विस्तरेण मम ब्रह्मन् जडस्याऽप्यजडाकृतेः ।
रूपमारूढसङ्कल्पं मनसो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तको सदा स्पन्दरूप विलासको प्राप्त होकर एकमात्र स्पन्दरूप (विहित और निषिद्धके आचरण द्वारा पुण्य-पापरूप धर्माधर्मरूपमें परिणत हुआ) कर्म जानिये और कर्म भी पुण्यपापके फलके भोगके अनुरूप स्पन्द-रूप विलासको प्राप्त होकर चित्तरूपमें परिणत होता है । अतएव लोकमें वे दोनों चित्त और कर्म धर्म और कर्म शब्दसे कहे जाते हैं ॥ ३८ ॥

पञ्चानबे सर्ग समाप्त

छानबे सर्ग

[कर्मोंकी विलक्षणतासे नाना प्रकारकी आकृति धारण करनेवाले मनके विविध नामोंका प्रतिपादन तथा उसकी शुद्धिके लिए तत्त्वका निरूपण]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, मन क्या है ? मन पहले अनुभवमें आई हुई वस्तुओंकी केवल भावना है, जो विकल्पना या विभावना शब्दसे भी पुकारी जाती है । यह भावना स्पन्दरूप धर्मसे युक्त होकर विहित-प्रतिषिद्धरूपा क्रियामें परिणत होती है । अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अदृष्टभावापन्न उस क्रियाके जन्मान्तर आदिरूप फलका सब जन्तु अनुसरण करते हैं ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् , मन जड़ होता हुआ भी अजड़के सदृश आकृतिवाला है, उसका सङ्कल्पारूढ रूप (आकार) आप विस्तारपूर्वक कहनेकी कृपा कीजिए ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
सङ्कल्पशक्ति रचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥ ३ ॥
भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः ।
कलनोन्मुखतां यातस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥ ४ ॥
नाऽहं वेदाऽवभासात्मा कुर्वाणोऽस्मीति निश्चयः ।
तस्मादेकान्तकलनस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥ ५ ॥
कल्पनात्मिकया कर्मशक्त्या विरहितं मनः ।
न संभवति लोकेऽस्मिन् गुणहीनो गुणी यथा ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा रघुवर, सर्वशक्तिशालिनी मायासे शवलित असीम आत्मतत्त्वका पहले रचित सङ्कल्पशक्तिवाला जो रूप है, उसको लोग मन कहते हैं ॥ ३ ॥

लोगोंके आधुनिक व्यवहारमें भी मनका रूप प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं— **'भावः'** इत्यादिसे ।

यह खम्भा है या पुरुष है, यों विकल्पव्यवहारमें सत-असत् दोनों कोटियोंमें जो भाव झूलेकी नाईं झूलता है और दोनों कोटियोंमें स्मृतिपूर्वकताको प्राप्त होता है, यानी दोनों पक्षोंमें अवस्थित होता हुआ भी एक पक्षमें स्थिर नहीं होता, उसे विद्वान् मनका रूप कहते हैं ॥ ४ ॥

आत्माके चिद्रूप होनेके कारण सदा भासित होनेपर भी मैं आत्माको नहीं जानता यह प्रतीति और अकर्ता आत्मामें कर्तृत्वकी प्रतीति जिससे होती है, वह मन है, ऐसा कहते हैं **'नाऽहम्'** इत्यादिसे ।

चैतन्यस्वरूप होते हुए भी पुरुषको जिससे मैं आत्माको नहीं जानता हूँ, और अकर्ता होते हुए भी मैं कर्म कर रहा हूँ, ऐसा निश्चय नियतरूपसे होता है, वह मनका स्वरूप है ॥ ५ ॥

स्पन्दरहित (निष्क्रिय) मनमें इस लक्षणकी अव्याप्तिकी आशङ्का कर कहते हैं—**'कल्पना०'** इत्यादिसे ।

इस लोकमें जैसे गुणीका गुणसे हीन होना सम्भव नहीं है, वैसे ही मनका भी कल्पनात्मक क्रियाशक्तिसे रहित होना सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

यथा वह्न्यौष्ण्ययोः सत्ता न सम्भवति भिन्नयोः ।
तथैव कर्ममनसोस्तथाऽऽत्ममनसोरपि ॥ ७ ॥
स्वेनैव चित्तरूपेण कर्मणा फलधर्मिणा ।
सङ्कल्पैकशरीरेण नानाविस्तरशालिना ॥ ८ ॥
इदं ततमनेकात्म मायामयमकारणम् ।
विश्वं विगतविन्यासं वासनाकल्पनाकुलम् ॥ ९ ॥
या येन वासना यत्र सतेवाऽऽरोपिता यथा ।
सा तेन फलदस्तत्र तदेव प्राप्यते तथा ॥ १० ॥
कर्म बीजं मनःस्पन्दः कथ्यतेऽथाऽनुभूयते ।
क्रियास्तु विविधास्तस्य शाखाश्चित्रफलास्तरोः ॥ ११ ॥
मनो यदनुसन्धत्ते तत् कर्मेन्द्रियवृत्तयः ।
सर्वाः सम्पादयन्त्येतास्तस्मात् कर्म मनः स्मृतम् ॥ १२ ॥

जैसे परस्पर भिन्न हुए अग्नि और उष्णताका अस्तित्व नहीं रह सकता वैसे ही भिन्न हुए कर्म और मनका तथा जीव और मनका अस्तित्व नहीं रह सकता अर्थात् जैसे अग्नि और उष्णता अभिन्न हैं, वैसे ही कर्म और मन तथा जीव और मन भी अभिन्न हैं ॥ ७ ॥

एकमात्र सङ्कल्परूप विविध विस्तारसे शोभित होनेवाले फलजनक चित्तरूपी कर्मने स्वयं ही इस नानाविध विश्वका, जो मायामय, कारणशून्य, विविध रचनाओंसे युक्त और वासनाकी कल्पनाओंसे व्याप्त है, विस्तार कर रक्खा है ॥८,९॥

जैसे यहांपर स्थित ही ऐन्दवोंने हम लोग सत्य लोकमें स्थित हैं, ऐसी कल्पना की थी वैसे ही जिससे जहाँपर जिस वासनाका जैसे आरोप किया जाता है, वहाँपर फल देनेवाली उस वासनाको फलरूपसे वह प्राप्त होता है। इससे वासनाकी कल्पनाओंसे यह विश्व व्याप्त है, यह स्पष्ट हुआ ॥ १० ॥

उस वासनारूपी वृक्षका कर्म बीज है, मनकी गति शरीर है और सुख-दुःख आदि फल देनेवाली विविध क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं, यह शास्त्रमें कहा जाता है और फलतः इसका अनुभव भी होता है ॥ ११ ॥

यदि कोई कहे कि कर्म कर्मेन्द्रियोंका वृत्तिरूप है, वह मनसे कैसे हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं कर्माऽथ कल्पना ।
संसृतिर्वासना विद्या प्रयत्नः स्मृतिरेव च¹ ॥ १३ ॥
इन्द्रियं प्रकृतिर्माया क्रिया चेतीतरा अपि ।
चित्राः शब्दोक्तयो ब्रह्मन् संसारभ्रमहेतवः ॥ १४ ॥
काकतालीययोगेन त्यक्तस्फारदृगाकृतेः ।
चितेश्चेत्यानुपातिन्याः कृताः पर्यायवृत्तयः ॥ १५ ॥

श्रीराम उवाच

परायाः संविदो ब्रह्मन्नेताः पर्यायवृत्तयः ।
कल्प्यमानविचित्रार्थाः कथं रूढिमुपागताः ॥ १६ ॥

मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसीका सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियवृत्तिया सम्पादन करती हैं, इसलिए कर्म मन कहा गया है ॥ १२ ॥

मन ही सर्वेन्द्रियताको धारण करता है, इसलिए यह दोष नहीं है, यह दर्शाते हुए मनके नामोंको दिखलाते हैं '**मनः**' इत्यादिसे ।

मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया, केवल इतनी ही नहीं और भी अनेक विचित्र शब्दोक्तियाँ ब्रह्ममें कल्पित हैं। ये शब्दवैचित्र्यके सिवा और कुछ भी नहीं हैं। संसारमें कल्पित आगे कहा जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त (शब्दोंकी अर्थबोधन-शक्तिके प्रयोजक यानी शक्यतावच्छेदक) ही इनके कारण हैं ॥ १३, १४ ॥

अकस्मात् अपने स्वरूपका विस्मरण होनेसे जिसे अपनी अपरिच्छिन्न द्रष्टृताका (चिदेकरसताका) अनुभव नहीं हो रहा है, अतएव बाह्य कल्पनामें उन्मुख चितिके ये सब नामान्तर किये गये हैं ॥ १५ ॥

बाह्य कल्पनामें उन्मुख चितमें प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे योगरूढ़िसे पूर्वोक्त मन, बुद्धि आदि नामोंकी पर्यायताको, प्रत्येकके निर्वचन द्वारा, विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं '**परायाः**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा —ब्रह्मन्, चिद्घन ज्ञानघन परमात्माके ये मन आदि पर्याय, जिनके विचित्र यौगिक अर्थकी कल्पना की गई है, कैसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ १६ ॥

१ 'विस्मृतिर्मलमेव च' यह पाठान्तर है ।

वसिष्ठ उवाच

गतेव सकलङ्ककत्वं कदाचित् कल्पनात्मकम् ।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिताः ॥ १७ ॥
भावनामनुसन्धानं यदा निश्चत्य संस्थिता ।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्रहणक्षमा ॥ १८ ॥
यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम् ।
अहङ्काराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ॥ १९ ॥
इदं त्यक्त्वेदमायाति बालवत् पेलवा यदा ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ॥ २० ॥
यदा स्पन्दैकधर्मत्वात् कर्तुर्या शून्यशंसिनी ।
आधावति स्पन्दफलं तदा कर्मेत्युदाहृता ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्न करनेपर क्रमशः पूर्वोक्त पन्द्रहों नामोंकी व्याख्या करनेकी इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'मन' नामकी व्याख्या करते हैं—**'गतेव'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, अविद्यावश मानो कलङ्कताको प्राप्त हुआ परम चेतन ही जब कभी स्फुरण रूपको प्राप्त होकर 'यह इस प्रकारका है, या यह इस प्रकारका नहीं है' यों विकल्परूपसे नाना प्रकारका होता है, तभी वह मनरूपसे स्थित होता है, इसलिए उसका 'मन' नाम होता है ॥ १७ ॥

उक्त शुद्ध चेतन जब पहले ही या विकल्पके बाद विशेष भावना प्राप्त कर उक्त विकल्पकी दो कोटियोंमें से एक कोटिके अनुसन्धानका निश्चय कर सुस्थिर हो स्थित होता है, तब यह वस्तु ऐसी ही है, इस प्रकारका निर्धारण करनेमें समर्थ 'बुद्धि' नामसे कहा जाता है ॥ १८ ॥

जब तुच्छ देह आदिमें आत्माभिमान करनेसे अपनी सत्ता मानता है, तब अभिमानसे 'अहङ्कार' कहा जाता है । अहङ्कार ही सकल अनर्थोंका मूल होनेसे संसारमें बन्धन करनेवाला है ॥ १९ ॥

जब वह शुद्ध चेतन पूर्वापरके अनुसन्धानका त्याग कर बालककी नाई एक विषयका त्याग कर दूसरे विषयका स्मरण करता है, तब 'चित्त' नामसे कहा जाता है ॥ २० ॥

चूंकि कर्ता एकमात्र स्पन्दधर्मसे युक्त होता है, अतः जब उक्त शुद्ध

काकतालीययोगेन त्यक्तैकघननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥ २२ ॥
पूर्वदृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयैः ।
यदेवेहां विधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृता ॥ २३ ॥
यदा पदार्थशक्तीनां संभुक्तानामिवाऽम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥ २४ ॥
अस्त्यात्मतत्त्वं विमलं द्वितीया दृष्टिरङ्किता ।
जाता ह्यविद्यमानैव तदा विद्येति कथ्यते ॥ २५ ॥

चेतन ही वास्तवमें असत् स्पन्दरूप गुणसे कर्ताको गुणी करता है, और स्पन्दके फलका (शरीर और उसके अवयवोंका अन्य देशमें संयोगका) सम्पादन करनेके लिए दौड़ता-सा है, तब कर्म कहा जाता है ॥ २१ ॥

काकतालीय न्यायसे (अकस्मात) अन्य वस्तुके लिए अवकाशसे रहित अपने स्वरूपके ज्ञानका त्याग कर यानी अपनी पूर्णताको भूलकर जब अपनी अभिलषित परिच्छिन्नताकी कल्पना करता है, तब कल्पना नामसे प्रसिद्ध होता है ॥ २२ ॥

जब शुद्ध चेतन जो पहले देखा गया हो अथवा न देखा गया हो, उसकी 'पहले मैंने इसे देखा है' इस निश्चयसे हृदयमें अभिलाषा करता है, तब स्मृति (संस्मृति) नामसे कहा गया है ॥ २३ ॥

जब शुद्ध चेतन तिरोभूत हुई पद, पदार्थ और उनकी शक्तियोंके स्वरूपसे शून्यप्राय अति सूक्ष्मभावमें रहता है और उसकी अन्य चेष्टाओंका अन्त हो जाता है, तब वह 'वासना' नामसे ख्यात होता है ॥ २४ ॥

जब शुद्ध चेतन अविद्यारूप कलङ्कसे युक्त होनेके कारण उत्पन्न हुई दूसरी दृष्टि (प्रपञ्चप्रतीति) तीनों कालोंमें अविद्यमान ही है, ऐसे बोधको प्राप्त होता है, तब विद्या कहा जाता है ॥ २५ ॥

'विस्मृतिर्मलमेव च' इस पाठमें दो नामोंका साथ ही व्याख्यान करते हैं— **'स्फुरति'** इत्यादिसे ।

जब शुद्ध चेतन आत्मस्वरूपके अत्यन्त अदर्शनके लिए स्फुरणको प्राप्त होता है, तब वह मल नामसे पुकारा जाता है, आत्मस्वरूपका विस्मरण करता है, अतः 'विस्मृति' कहलाता है यह अर्थ है । अथवा मिथ्या विकल्पोंसे विविध प्रकारके

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्प्यते ॥ २६ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा विमृश्य च ।
इन्द्रमानन्दयत्येषा तेनेन्द्रियमिति स्मृतम् ॥ २७ ॥
सर्वस्य दृश्यजालस्य परमात्मन्यलक्षिते ।
प्रकृतत्वेन भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ॥ २८ ॥
सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वाऽसत्त्वमञ्जसा ।
सत्तासत्ताविकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ॥ २९ ॥
दर्शनश्रवणस्पर्शरसनघ्राणकर्मभिः ।
क्रियेति कथ्यते लोके कार्यकारणतां गता ॥ ३० ॥
चितेश्चेत्यानुपातिन्या गतायाः सकलङ्कताम् ।
प्रस्फुरद्रूपधर्मिण्या एताः पर्यायवृत्तयः ॥ ३१ ॥

विक्षेप करता है, अतः विस्मृति कहलाता है। आवरणशक्तिकी प्रधानतासे मल और विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे विस्मृति कहलाता है, यह भाव है। 'प्रयत्नः स्मृतिरेव च' इस पाठमें तो अपने विनाश यानी अदर्शनके लिए स्फुरित होता है यत्न-सा करता है, अतः प्रयत्न कहलाता है और विविध वस्तुओंका स्मरण कराता है; इसलिए स्मृति कहलाता है, यों यथाकथञ्चित् व्याख्या करनी चाहिए ॥ २६ ॥

मनःस्वरूप हुआ वह शुद्ध चेतन जब सुनकर, छूकर, देखकर, भोजन कर, सूंघ कर, विचार कर यानी श्रवण आदि क्रियाओंसे कार्यकारणके स्वामी जीव-भावको प्राप्त हुए परमेश्वरको आनन्दित करता है यानी भोगों द्वारा प्रसन्न करता है, तब वह इन्द्रिय कहलाता है ॥ २७ ॥

अलक्षित परमात्मामें सम्पूर्ण दृश्यजालकी उपादानसे अभिन्न कर्तारूपसे रचना करता है, अतएव वह सब पदार्थोंकी प्रकृति कहा जाता है ॥ २८ ॥

जब वह शुद्ध चेतन सत्‌को शीघ्र असत्ताको प्राप्त करता है और असत्‌को (देहादिको) प्रमाणसत्ताके बिना सत्ताको प्राप्त करता है, इसलिए सत्ता और असत्ताका विकल्परूप होनेसे माया कहलाता है ॥ २९ ॥

संसार और उसकी बीजरूपताको प्राप्त हुआ वह शुद्ध चेतन दर्शन, श्रवण, स्पर्श, रसन, घ्राण आदि क्रियाओंके करनेसे लोकमें क्रिया नामको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अविद्यावश कलङ्कयुक्त हुई अतएव बाह्य कल्पनाके उन्मुख वस्तुतः

चित्ततामुपयातायां गतायाः प्रकृतं पदम् ।
स्वैरेव सङ्कल्पशतैर्भृशं रूढिमुपागताः ॥ ३२ ॥
चेतनीयकलङ्काङ्काज्जाड्यजालानुपातिनी ।
संख्याविभागकलना स्ववैकल्याकुलेव चित् ॥ ३३ ॥
जीव इत्युच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते ।
चित्तमित्युच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा ॥ ३४ ॥
नानासङ्कल्पकलिलं पर्यायनिचयं बुधाः ।
वदन्त्यस्याः कलङ्किन्याश्च्युतायाः परमात्मनः ॥ ३५ ॥

श्रीराम उवाच

मनः किं स्याज्जडं ब्रह्मंस्तथा वाऽपि च चेतनम् ।
इत्येको मम तत्त्वज्ञ निश्चयोऽन्तर्न जायते ॥ ३६ ॥

प्रकाशस्वरूप चितिके ये मन आदि पर्याय (नामान्तर) हैं ॥ ३१ ॥

चित्तरूपताको प्राप्त हुए अतएव प्रस्तुत संसारपदको पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैकड़ों संकल्पोंसे ये नामान्तर योगरूढ़िको प्राप्त हुए हैं ॥ ३२ ॥

एक ही शुद्ध चेतनके मन, बुद्धि आदि संख्याभेदोंकी कल्पना कैसे हुई? इसपर कहते हैं **'चेतनीय०'** इत्यादिसे ।

चूँकि चित 'मैं चेतनीय हूँ यानी मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार स्वयं अनुभवके योग्य जो अज्ञानरूपी कलङ्क अथवा चेतनीयोंसे (विषयोंसे) प्राप्त जो द्वैतवासनारूपी कलङ्क उसकी संनिधिसे अपने पूर्व स्वरूपकी विकलतासे आकुल-सी होकर देह आदि जड़समुदायके उन्मुख होती है, अतः उसके मन, बुद्धि आदि संख्या-भेदकी कल्पना होती है ॥ ३३ ॥

पूर्वोक्त भेदकल्पनाको, पुनः विवेचन कर, कहते हैं **'जीव'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

वह शुद्ध चित् लोकमें 'जीव' नामसे कही जाती है, 'चित्त' कही जाती है और वही 'बुद्धि' कही जाती है । अथवा इस विषयको यों मनोगत करना चाहिये कि परमात्मपदसे च्युत हुई अतः अज्ञानरूपी कलङ्कवाली संवित्की ही इस प्रकारकी नाना सङ्कल्पनाओंको विद्वानोंने ये भिन्न भिन्न नाम दे रक्खे हैं ॥ ३५ ॥

वह जीव कहा जाता है, इस कथनसे मनमें चेतनताकी प्राप्ति होनेसे अन्य

वसिष्ठ उवाच

मनो हि न जडं राम नाऽपि चेतनतां गतम् ।
म्लानाऽजडा तदा दृष्टिर्मन इत्येव कथ्यते ॥ ३७ ॥
मध्ये सदसतो रूपं प्रतिभूतं यदाविलम् ।
जगतः कारणं नाम तदेतच्चित्तमुच्यते ॥ ३८ ॥
शाश्वतेनैकरूपेण निश्चयेन विना स्थितिः ।
येन सा चित्तमित्युक्ता तस्माज्जातमिदं जगत् ॥ ३९ ॥

दर्शनोंमें और लोकमें भी उसकी जड़ताकी प्रसिद्धि होनेसे सन्देहमें पड़ रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, मन क्या जड़ है अथवा चेतन है ? हे तत्त्वज्ञ, इस प्रकारका मेरे मनमें एक निश्चय नहीं होता है ॥ ३६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, मन न तो केवल जड़ है और न केवल चेतन ही है । वास्तवमें, ससारदशामें मलिन हुई अजड दृष्टि (चित् ही) मनशब्दसे कही जाती है अर्थात् चेतन और जड़का संमिश्रणरूप होनेसे मन चेतन और जड़ इनमें से अन्यतर नहीं है । परमार्थरूपसे तो 'मन्वानो मनस्ता-न्यस्यैतानि कर्मनामान्येव' (मनन करता हुआ मन होता है ये उसके कर्मप्रयुक्त नाम हैं) इत्यादि श्रुतिमें आत्माके ही कर्मप्रयुक्त नामोंमें मनशब्दकी गणनासे चेतन द्रष्टा ही संसारदशामें उपाधिमलिनताका अनुभव करता है, अतः मन कहा जाता है ॥ ३७ ॥

मन जैसे चित् और अचित्से विलक्षण है वैसे ही वह सत् और असत्से भी विलक्षण है, ऐसा कहते हैं—**'मध्ये'** इत्यादिसे ।

सत् और असत्के मध्यमें वर्तमान यानी न सत् और न असत्, प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न, जगत्का कारणरूप जो अनिर्मल रूप है, वह चित्तनामसे पुकारा जाता है ॥ ३८ ॥

अथवा आत्माकी अज्ञात सत्ता ही मन है, ऐसा कहते हैं—**'शाश्वतेन'** इत्यादिसे ।

शाश्वत (अविनाशी) एकरूप निश्चयके बिना जो आत्माकी स्थिति है, वह चित्त कही गई है । उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ३९ ॥

जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम् ।
यच्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ॥ ४० ॥
चिन्निःस्पन्दो हि मलिनः कलङ्कविकलान्तरम् ।
मन इत्युच्यते राम न जडं न च चिन्मयम् ॥ ४१ ॥
तस्येमानि विचित्राणि नामानि कलितान्यलम् ।
अहङ्कारमनोबुद्धिजीवाद्यानीतराण्यपि ॥ ४२ ॥
यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि ।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत् ॥ ४३ ॥
चित्राधिकारवशतो विचित्रा विकृताभिधाः ।
यथा याति नरः कर्मवशाद् याति तथा मनः ॥ ४४ ॥
या एताः कथिताः संज्ञा मया राघव चेतसः ।
एता एवाऽन्यथा प्रोक्ता वादिभिः कल्पनाशतैः ॥ ४५ ॥

म्लानरूपवाली चित्‌की जो जड़ और अजड दृष्टियोंके मध्यमें झूलेकी नाईं अपनी कल्पना है, वही मन कहा जाता है ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, चित्‌का औपाधिक चलनरूप बाहर मलिन भीतर साक्षि-चैतन्यके आवरणरहित होनेसे अविद्यारूप कलङ्कसे शून्य जो रूप है, वह मन कहा जाता है। वह न जड़ है और न चेतन है, किन्तु जड़ और चित्‌से विलक्षण है ॥ ४१ ॥

उसके ये अहङ्कार, मन, बुद्धि, जीव आदि तथा अन्य भी विचित्र नाम कल्पित हुए हैं ॥ ४२ ॥

जैसे नट अनेक विविध रूपोंको प्राप्त होता है वैसे ही मन भी अन्यान्य कर्मोंको प्राप्त होता हुआ अनेक नामोंको धारण करता है ॥ ४३ ॥

जैसे एक ही मनुष्य रसोई बनानेसे पाचक, पढ़ानेसे पाठक, गाँवका प्रधान होनेसे मुखिया यों विलक्षण अधिकारोंके कारण विचित्र और विकृत (तत्-तत् कार्यका प्रकाश करनेवाले) नामोंको प्राप्त होता है वैसे ही मन भी कर्मवश उक्त नामोंको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

हे रघुवर, जो मैंने ये चित्तकी संज्ञाएँ कही हैं, उन्हींको अन्यान्य वादियोंने अपनी सैकड़ों कपोलकल्पनाओंसे अन्य प्रकारसे कहा है ॥ ४५ ॥

स्वभावाभिमतां बुद्धिमारोप्य मनसा कृताः ।
मनोबुद्धीन्द्रियादीनां विचित्रा नामरीतयः ॥ ४६ ॥
मनो हि जडमन्यस्य भिन्नमन्यस्य जीवतः ।
तथाऽहंकृतिरन्यस्य बुद्धिरन्यस्य वादिनः ॥ ४७ ॥
अहङ्कारमनोबुद्धिदृष्टयः सृष्टिकल्पनाः ।
एकरूपतया प्रोक्ता या मया रघुनन्दन ॥ ४८ ॥
नैयायिकैरितरथा तादृशैः परिकल्पिताः ।
अन्यथा कल्पिताः सांख्यैश्चार्वाकैरपि चाऽन्यथा ॥ ४९ ॥
जैमिनीयैश्चाऽऽर्हतैश्च बौद्धैर्वैशेषिकैस्तथा ।
अन्यैरपि विचित्रैस्तैः पाञ्चरात्रादिभिस्तथा ॥ ५० ॥

अपने-अपने तर्कोंके अभिमत द्रव्यत्व, गुणत्व आदि बुद्धिका मनमें आरोप कर अपनी इच्छासे उन्होंने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिके विचित्र नामभेद किये हैं ॥४६॥

उनके कल्पनाप्रकारोंका विभागकर दिखलाते हैं—**'मनो हि'** इत्यादिसे ।

किसी वादीके मतमें मन जड है, किसीके मतमें जीवसे भिन्न है, किसीके मतमें अहङ्कारनामसे उसका निर्देश है और किसीके मतमें वह बुद्धि कहा गया है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अन्तःकरणके एकरूप होनेके कारण उसकी सङ्कल्प आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंकी सृष्टिसे हुए अहङ्कार, मन, बुद्धि आदि भिन्न नाम जो मैंने आपसे कहे हैं, उनकी नैयायिकोंने अपनी बुद्धिके विकल्पोंसे अन्यथा कल्पना कर रक्खी है। वे कहते हैं—द्रव्यविशेष विभु आत्मा अहङ्कार (अहंप्रत्ययविषय) है, मन अणु है, वह आत्मसाक्षात्कारमें करण है और बुद्धि आत्माका गुण है और तीन क्षणों तक रहती है। परन्तु यह उनकी अपनी कपोलकल्पना ही है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। सांख्योंने इनकी अपेक्षा भिन्नरूपसे उनकी कल्पना की है। वे कहते हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण-रूप प्रकृतिका अन्तःकरणरूप पहिला परिणाम, जिसका दूसरा नाम महत्तत्त्व भी है, बुद्धि है, उसका परिणाम अहङ्कार दूसरा तत्त्व है। मन ग्यारह इन्द्रियोंके अन्त-र्गत और सोलह विकारोंके मध्यपाती है। चार्वाकोंने उनकी दूसरी ही कल्पना की है। वे कहते हैं—शरीरका ही चैतन्यरूपी गुण बुद्धि है, शरीर ही अहङ्कार आत्मा है तथा उसका पूर्वापरप्रतिसन्धान मन है ॥ ४७—४९ ॥

मीमांसकोंमें कोई मनको व्यापक द्रव्य मानते हैं और कोई अन्नमय मानते

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम् ।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाऽध्वगैः ॥ ५१ ॥
अज्ञानात् परमार्थस्य विपरीतावबोधतः ।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैरारुरुक्षवः ॥ ५२ ॥
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा ।
विचित्रदेशकालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव ॥ ५३ ॥

हैं, उनके मतमें जड़बोधात्मक अहङ्काररूप आत्माका चिदंश बुद्धि है। जैनोंके मतमें मध्यमपरिमाणवाला चैतन्यरूप जीवास्तिकाय ही अहङ्कार है, उसका विषयाभिलाप मन है और अर्थप्रतीति बुद्धि है। इसी प्रकार बौद्ध, वैशेषिक, पाञ्चरात्र, पातञ्जल, माहेश्वर, नाकुल आदिने अपनी-अपनी विलक्षण कपोलकल्पनाओंसे उक्त अहङ्कार, मन, बुद्धि आदिकी अन्यथा कल्पना की है ॥ ५० ॥

सभीका अपनी-अपनी मतिके अनुसार परमात्मतत्त्वनिर्णय ही भावी फल है, ऐसा कहते हैं—'सर्वैः' इत्यादिसे ।

जैसे अनेक बटोहियोंका एक ही नगर गन्तव्य होता है, वैसे ही राजस, तामस, मलिनसत्त्व, और अर्धमलिनसत्त्वप्रधान लोगोंके योग्य देश और कालमें उत्पन्न हुए उक्त सभी लोगोंका तत्-तत् बुद्धिके अनुसार फलरूपसे स्थित होनेमें समर्थ पारमार्थिक पद ही गन्तव्य है ॥ ५१ ॥

यदि एक ही परम पद प्राप्तव्य है, तो वे परस्पर विवाद किसलिए करते हैं ? इसपर कहते हैं 'अज्ञानात्' इत्यादिसे ।

परम पदमें आरूढ़ होनेकी इच्छा करनेवाले वे परमार्थ वस्तुके अज्ञानसे अपरमार्थ वस्तुमें (अनात्म वस्तुमें) यह परमार्थ है, यों विपरीत ज्ञान होनेसे विविध विकल्पोंसे (इदमित्थं इदमनित्थं यों) विवाद करते हैं ॥ ५२ ॥

जैसे पथिक अपनी-अपनी बुद्धि और रुचिके अनुसार * अपने-अपने गन्तव्य

* उनकी बुद्धिकी विचित्रता यानी भेद ही उक्त कलहमें हेतु है। रुचिवैचित्र्यका कारण है, देश, काल, पात्र आदिका भेद। कोई पुरुष रजोगुणप्रधान है, तो कोई तमोगुणप्रधान है, कोई मलिनसत्त्वप्रधान है, कोई अर्धमलिनसत्त्वप्रधान है। मुख्य बात तो यह है कि जो जैसा जानता है, वह वैसा ही कहता है और करता है। उनमेंसे निर्मलसत्त्व प्रधान प्रधान ऋषियोंके श्रौत ज्ञानसे जो विज्ञेय है, वही अभ्रान्त है। एवं जो केवल अपनी बुद्धिसे कल्पित है, वह भ्रान्त है, परन्तु काकतालीयन्यायसे वह भी कभी अभ्रान्त हो जाता है।

तैर्मिथ्या राघव प्रोक्ताः कर्ममानसचेतसाम् ।
स्वविकल्पार्पितैरर्थैः स्वाः स्वा वैचित्र्ययुक्तयः ॥ ५४ ॥
यथैव पुरुषः स्नानदानादानादिकाः क्रियाः ।
कुर्वंस्तत्कर्तृवैचित्र्यमेति तद्वदिदं मनः ॥ ५५ ॥
विचित्रकार्यवशतो नामभेदेन कर्तृता ।
मनः संप्रोच्यते जीववासनाकर्मनामभिः ॥ ५६ ॥
चित्तमेवेदमखिलं सर्वेणैवाऽनुभूयते ।
अचित्तो हि नरो लोकं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ५७ ॥

मार्गकी प्रशसा करते हैं वैसे ही रजोगुणप्रधान, तमोगुणप्रधान, मलिनसत्त्व-प्रधान लोगोंके उचित देश, कालमें उत्पन्न हुए वादी भी अपने-अपने पक्षकी पशंसा करते हैं। भाव यह कि उक्त काल आदिका अनुसरण करनेवाले उन लोगोंकी अपने-अपने पक्षमें अभिरुचि होती है, अतः वे स्वस्वपक्षकी प्रशसा करते हैं ॥५३॥

क्या मुमुक्षु पुरुषोंके लिए भी उनके द्वारा कही गई युक्तियाँ उपादेय हैं ? इसपर नही, मुमुक्षुओंके लिए उनकी युक्तियाॅ उपादेय नही हैं, ऐसा कहते हैं—'तैः' इत्यादिसे ।

हे रामचन्द्रजी, फलकी इच्छासे फलसाधन कर्ममें जिनका चित्त आसक्त है, ऐसे लोगोंके लिए उन्होंने अपनी कल्पनासे प्रसूत तत्-तत् पदार्थोंसे अपनी-अपनी वैचित्र्य युक्तियाॅ मिथ्या ही कही हैं, वे प्रमाणोंमें सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उपनिषत्‌के सम्मत नहीं हैं, अर्थ है ॥ ५४ ॥

यों उनके मिथ्या होनेपर परिशेषसे हमारे द्वारा कही गई युक्तियाॅ ही प्रामाणिक हैं, ऐसा कहते हैं—'**यथैव०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे एक ही पुरुष स्नान, दान, प्रतिग्रह आदि क्रियाओंको करता हुआ स्नायी, दाता, प्रतिग्रहीता आदि विचित्र नामोंको प्राप्त होता है, वैसे ही वह मन भी विचित्र कार्य करता है, अतः कार्यके अनुसार जीव, वासना, मन आदि नाना नामोंसे कहा जाता है ॥ ५५, ५६ ॥

अपने द्वारा कही गई युक्तियोंमें लोकानुभवका संवाद दिखलाते हैं—'**चित्तमेव**' इत्यादिसे ।

यह सब चित्त ही है, ऐसा सभी लोगोंको अनुभव होता है, क्योंकि यदि

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम् ।
अन्तर्हर्षं विषादं च समनस्को हि विन्दति ॥ ५८ ॥
आलोक इव रूपाणामर्थानां कारणं मनः ।
बध्यते बद्धचित्तो हि मुक्तचित्तो हि मुच्यते ॥ ५९ ॥
तज्जडानां परं विद्धि जडं येनोच्यते मनः ।
न चाऽवगच्छति जडं मनो यस्य हि चेतनम् ॥ ६० ॥
न चेतनं न च जडं यदिदं प्रोत्थितं मनः ।
विचित्रसुखदुःखेहं जगदभ्युदितं तदा ॥ ६१ ॥
एकरूपे हि मनसि संसारः प्रविलीयते ।
उपाविलं कारणं तैर्भ्रान्त्या जगदुपस्थितम् ॥ ६२ ॥

मनुष्यके चित्त न हो, तो वह लोकको देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है । मनयुक्त पुरुष ही भली-बुरी वस्तुको सुनकर, स्पर्श कर, देखकर, भोजन कर, सूँघकर अन्तःकरणमें हर्ष अथवा विषादको प्राप्त होता है, मनरहित नहीं ॥ ५७,५८ ॥

जैसे आलोक रूपप्रकाशोंका कारण है, वैसे ही मन सब पदार्थोंका कारण है, जिस पुरुषका चित्त बँधा रहता है, वह बन्धनमें पड़ता है और जिसका चित्त मुक्त है, यानी वासनारहित है, मैं मुक्त हूँ, यह निश्चयवाला है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

अतएव वादियोंको अपनी-अपनी वासनाके अनुसार मनमें जाड्य और चैतन्यका अनुभव उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं **'तज्जडानाम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो मनको जड़ कहता है, उसके निकट आप मनको जड़ोंमें सर्वोच्च जड़ समझिये, जिसका मन चेतन है, वह मनको जड़ नहीं जानता है । यानी जो मनको चेतन जानता है, उसका मन जड़ नहीं है ॥ ६० ॥

जो यह मन पूर्वोक्त रीतिसे उत्पन्न हुआ, तत्त्वज्ञ लोग वह न तो चेतन है और न जड़ है, ऐसा जानते हैं । उससे विविध सुख, दुःख और चेष्टाओंसे पूर्ण यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ६१ ॥

मनके अद्वितीय ब्रह्माकार होनेपर संसारका विलय हो जाता है । कलुष जलके सदृश मलिन चिद्रूप मन संसारका कारण है । मलिन चिद्रूप मनोंसे (समष्टिभूत मनरूप हेतुओंसे) भ्रान्तिवश जगत उत्पन्न हुआ है ॥ ६२ ॥

अजडं हि मनो राम संसारस्य न कारणम् ।
जडं चोपलधर्माऽपि संसारस्य न कारणम् ॥ ६३ ॥
न चेतनं न च जडं तस्माज्जगति राघव ।
मनः कारणमर्थानां रूपाणामिव भासनम् ॥ ६४ ॥
चित्तादृतेऽन्यद्यद्यस्ति तदचित्तस्य किं जगत् ।
सर्वस्य भूतजातस्य समग्रं प्रविलीयते ॥ ६५ ॥
नानाकर्मवशावेशान्मनो नानाऽभिधेयताम् ।
एकं विचित्रतामेति कालो नाना यथर्तुभिः ॥ ६६ ॥
यदि नामाऽनमस्कारमहङ्कारेन्द्रियक्रियाः ।
क्षोभयन्ति शरीरं तत् सन्तु जीवादयः परे ॥ ६७ ॥

'कलुषित जलके समान मलिन चिद्रूप मन' इस कथनका तात्पर्य कहते हैं— **'अजडम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए न तो चेतन मन संसारका कारण है और न पत्थरके समान जड़ ही मन संसारका कारण है । जैसे नील, पीत आदि रूपोंका न 'भासन' शब्दसे कहा जानेवाला केवल तेज कारण है और न पृथिवी आदि कारण हैं, किन्तु त्रिवृत्करण द्वारा मलिन हुआ तेज उनका कारण है, वैसे ही केवल जड़ और केवल चेतन मन जगत्में पदार्थोंका कारण नहीं है, किन्तु जड़चेतन मिश्रित मन पदार्थोंका कारण है ॥ ६३, ६४ ॥

मनकी असत्तामें जगत्का निरूपण नहीं होता, इसलिए भी जगत् मनोमात्र है, ऐसा कहते हैं—**'चित्तात्'** इत्यादिसे ।

यदि चित्तसे पृथक् जगत् नहीं है, तो जिसका चित्त लीन हो गया उसकी दृष्टिसे जगत् क्या है ? यानी कुछ भी नहीं । क्योंकि चित्तका लय होनेपर सब प्राणियोंका सारा जगत् लीन हो जाता है । इसलिए सम्पूर्ण जगत् चित्तमात्र ही है ॥ ६५ ॥

जैसे एक ही काल ऋतुविशेषोंके आविर्भावसे विचित्र आकार धारण करता है, वैसे ही एक ही मन विचित्र कर्मोंके उद्रेकसे विचित्र आकार धारण करता हुआ विविध नामोंसे प्रसिद्ध होता है ॥ ६६ ॥

यदि मनके सम्बन्धके बिना अहङ्कार, इन्द्रिय और क्रियाएँ शरीरको क्षोभित करें, तो जीव आदि मनसे पृथक् हों ॥ ६७ ॥

दर्शनेषु तु ये प्रोक्ता भेदा मनसि तर्कतः ।
क्वचित्क्वचिद्वादकरैरपवादकरैः किल ॥ ६८ ॥
ते हि राम न बुध्यन्ते विशिष्यन्ते न च क्वचित् ।
सर्वा हि शक्तयो देवे विद्यन्ते सर्वगा यतः ॥ ६९ ॥
यदैव खलु शुद्धाया मनागपि हि संविदः ।
जडेव शक्तिरुदिता तदा वैचित्र्यमागतम् ॥ ७० ॥
ऊर्णनाभाद् यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः ।
नित्यप्रबुद्धात् पुरुषाद् ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा ॥ ७१ ॥

वादियोंने किन्हीं-किन्हीं दर्शनोंमें यानी अपने-अपने शास्त्रोंमें मनके जो भेद तर्कसे कहे हैं, वे कुतर्क करनेवालोंसे कहे गये हैं, प्रामाणिक वेदव्यास आदि द्वारा नहीं कहे गये हैं ॥ ६८ ॥

उनकी कुतर्ककी उत्पत्तिमें कारण कहते हैं 'ते हि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तत्त्वज्ञानी वेदव्यास आदि द्वारा कभी कहींपर न तो कहे गये हैं और न ज्ञात हैं । उक्त कुतर्कोंकी उत्पत्तिमें अज्ञान, साम्प्रदायिकशिक्षा-शून्यता तथा मनरूपी देवकी स्वाभाविक कुतर्कशक्तियाँ कारण हैं, क्योंकि मनमें सब जगह दौड़नेवाली सब शक्तियाँ विद्यमान हैं ॥ ६९ ॥

तर्कोंके स्थिर न होनेसे उनको सदा संशय ही होगा, व्यवस्थित एक पक्षका निर्णयभेद कैसे होगा ? इसपर कहते हैं -'यदैव' इत्यादिसे ।

जभी शुद्ध चित्में तनिक भी जड़शक्ति उदित होती है तभी वैचित्र्य प्राप्त होता है, भाव यह कि अपनी अपनी कल्पनासे कल्पित तर्कमें श्रद्धाजाड्य होनेसे उसमें वैचित्र्य होता है ॥ ७० ॥

यदि कोई कहे कि आपके पक्षमें भी तो आपका श्रद्धाजाड्य हेतु क्यों नहीं है ? ऐसी शङ्का होनेपर यह पक्ष मेरी स्वबुद्धिसे कल्पित नहीं है, किन्तु 'यथोर्ण-नाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केश-लोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (जैसे मकड़ी अपने जालेको अपनेसे ही तानती है और अपनेमें लीन कर लेती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियां होती हैं, जैसे सत् (जीवित) पुरुषसे केश और रोम निकलते हैं वैसे ही अक्षरसे विश्वकी उत्पत्ति होती है) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं-- **'ऊर्णनाभाद्'** इत्यादिसे ।

अविद्यावशतश्चित्तभावनाः स्थितिमागताः ।
चिति पर्यायशब्दा हि भिन्नास्तेनेह वादिनाम् ॥ ७२ ॥
जीवो मनश्च ननु बुद्धिरहङ्कृतिश्चे-
त्येवं प्रथामुपगतयेयमनिर्मला चित् ॥
सैषोच्यते जगति चेतनचित्तजीव-
संज्ञागणेन किल नाऽस्ति विवाद एषः ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
मनःसंज्ञाविचारो नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

जैसे चेतन मकड़ीसे जड तन्तु उत्पन्न होता है वैसे ही नित्यप्रबुद्ध परम पुरुष ब्रह्मसे मन उत्पन्न होता है ॥ ७१ ॥

वादियोंका श्रुतिमें तो आदर है नहीं, इसलिए उनकी अविद्यावश अपनी अपनी भावना ही स्थिर हुई है यही कारण है कि उन्होंने मनके ही नामरूपभेदोंकी भ्रमसे कल्पना की है, ऐसा कहते हैं—'**अविद्या०**' इत्यादिसे ।

वादियोंकी अविद्यावश चित्तभावनाएँ स्थितिको प्राप्त हुई हैं यानी वादियोंकी मति श्रुतिसे परिशुद्ध नहीं है, इसलिए उन्होंने उक्त अज्ञानके वशवर्ती होकर अपनी अपनी मनोभावनाको ही ठीक या अकाट्य समझा। इसलिए उन्होंने चित्तभावको प्राप्त हुए चैतन्यमें भ्रान्तिवश नाम आदि भेदकी कल्पना की है ॥७२॥

उक्त अर्थको स्पष्ट करते हुए उपसंहार करते हैं—'**जीवो**' इत्यादिसे ।

यह मलिन चेतन ही जीव, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन रूपोंसे ख्यातिको प्राप्त हुआ है, वही इस जगत्‌में चेतन, चित्त और जीव संज्ञाओंसे कहा जाता है। जो वस्तु है, वह विवादका विषय नहीं है, केवलमात्र नाम और कल्पनामें विवाद है ॥ ७३ ॥

छानबे सर्ग समाप्त

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् मनस एवेदमतश्चाऽऽडम्बरं सृतम् ।
यतस्तदेव कर्मेति वाक्यार्थादुपलभ्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

दृढभावोपरक्तेन मनसैवोररीकृतम् ।
मरुचण्डातपेनेव भास्वरावरणं पुनः ॥ २ ॥
ब्रह्मात्मनि जगत्यस्मिन् मन एकाकृतिं गतम् ।
क्वचिन्नरतया रूढं क्वचित् सुरतयोत्थितम् ॥ ३ ॥

सत्तानबे सर्ग

[मनकी सम्पूर्ण पदार्थोंके आकारमें अवस्थितिका तथा चित्ताकाश, चिदाकाश और भूताकाशका विस्तारसे निरूपण]

गुरु वसिष्ठजीने पूर्वोक्त रीतिसे जब मनका कार्य, मनका स्वरूप और मनके विभिन्न नाम विविध प्रकारोंसे श्रीरामचन्द्रजीको बतलाये, तब जो उन्होंने समझा था, उसे, गुरुकी बुद्धिसे संवाद करनेके लिए, स्वयं श्रीमुखसे श्रीरामचन्द्रजी उसे दर्शाते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा : हे ब्रह्मन्, पूर्वप्रदर्शित आपके वाक्यार्थसे 'यह ब्रह्माण्डरूपी आडम्बर मनसे ही आविर्भूत हुआ है, अतः जगत् ही मनका कर्म है' यह तात्पर्य मुझे प्रतीत होता है ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जो तात्पर्य समझा वह ठीक समझा यों उसका अनुमोदन करनेके लिए श्रीवसिष्ठजी संक्षेप और विस्तारसे कहते हैं —'दृढ०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा— वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे मरुप्रदेशका प्रचण्ड घाम तेजस्ताकी अप्रतीतिके हेतु मृगतृष्णाजलको स्वीकार करता है वैसे ही दृढ भावनासे उपरक्त हुए मनने ही देदीप्यमान आत्माकी अप्रतीतिके हेतु अज्ञान-जाड्यका अङ्गीकार किया है ॥ २ ॥

ब्रह्मात्मक इस जगत्में मन मुख्य आकृतिको (जगद्रूप स्थितिको) प्राप्त हुआ है यानी मन ही ब्रह्मात्मक जगत्का संस्थापक है । कहींपर वह नररूपसे उदित हुआ है,

क्वचिद् दैत्यतयोल्लासि क्वचिद् यक्षतयोदितम् ।
क्वचिद् गन्धर्वतां प्राप्तं क्वचित् किन्नररूपि च ॥ ४ ॥
नानाचारनभोभागपुरपत्तनरूपया ।
मन्ये विततयाऽऽकृत्या मन एव विजृम्भते ॥ ५ ॥
एवं स्थिते शरीरौघस्तृणकाष्ठलतोपमः ।
तद्विचारणया कोऽर्थो विचार्यं मन एव नः ॥ ६ ॥
तेनेदं सर्वमाभोगि जगदित्याकुलं ततम् ।
मन्ये तद्व्यतिरेकेण परमात्मैव शिष्यते ॥ ७ ॥
आत्मा सर्वपदातीतः सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
तत्प्रसादेन संसारे मनो धावति वल्गति ॥ ८ ॥

तो कहींपर देवरूपसे उत्पन्न हुआ है, कहींपर दैत्यरूपसे उसका विकास हुआ है, तो कहींपर वह गन्धर्वताको प्राप्त हुआ है, कहींपर यक्षके रूपसे उसका उदय हुआ है और कहींपर किन्नररूपसे वह स्थित है ॥ ३, ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरा यह दृढ निश्चय है कि विविध पकारके आचार, आकाशप्रदेश, ग्राम, नगर आदिरूप अपनी विस्तृत आकृतिसे (विचित्र ढाँचेसे) मन ही विराजमान है ॥ ५ ॥

ऐसी अवस्थामें शरीरसमूह तृण, काठ, लता आदिके तुल्य हैं, उनके विचारसे क्या प्रयोजन निकल सकता है ? हमें तो केवल मनका ही विचार करना चाहिए। भाव यह है कि जैसे पृथ्वी आदि भूतोंके तत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवालेके लिए तृण, काठ आदि प्रत्येक विचारार्ह नहीं हैं, वैसे ही मनके तत्त्वके जिज्ञासुओंके लिए शरीरोंके समूहोंका विचार करना अनावश्यक है ॥ ६ ॥

इस प्रकार कर्ता और कर्मके स्वरूपके ज्ञात होनेपर उनके शोधन द्वारा उनके अधिष्ठानभूत आत्माको दिखलानेके लिए कहते हैं—**'तेनेदं'** इत्यादिसे ।

मेरा मत है कि मनने ही विविध रचनाओंसे व्याप्त इस विशाल सम्पूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है। मनसे भिन्न केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रहता है, यानी परमात्मासे भिन्न सब कुछ मनके अन्तर्गत है ॥ ७ ॥

आत्मा सर्वातीत होता हुआ सर्वव्यापक और सर्वाधार है ।

मन आदिमें गति आदि क्रियाएँ परमात्माके प्रभावसे ही होती हैं, स्वतः नहीं होतीं, ऐसा कहते हैं—**'तत्प्रसादेन'** इत्यादिसे ।

मनो मन्ये मनः कर्म तच्छरीरेषु कारणम् ।
जायते म्रियते तद्धि नाऽऽत्मनीदृग्विधा गुणाः ॥ ९ ॥
मन एव विचारेण मन्ये विलयमेष्यति ।
मनोविलयमात्रेण ततः श्रेयो भविष्यति ॥ १० ॥
मनोनाम्नि परिक्षीणे कर्मण्याहितसंभ्रमे ।
मुक्त इत्युच्यते जन्तुः पुनर्नाम न जायते ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् भवता प्रोक्ता जातयस्त्रिविधा नृणाम् ।
प्रथमं कारणं तासां मनः सदसदात्मकम् ॥ १२ ॥

आत्माके प्रसादसे ही मन संसारमें दौडता है, यानी संसाररूपमें प्रस्पन्दित होता है ॥ ८ ॥

मनका शोधनप्रकार कहते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

मेरा निश्चय है कि मन ही कर्म है और मन ही तत्-तत् शरीरसमूहका कारण है। मन ही उत्पन्न होता है और मरता है। इस प्रकारके भावविकार आत्मामें नहीं हैं ॥ ९ ॥

विचारसे मन ही विलयको प्राप्त होगा। मनके केवल विलयमात्रसे श्रेय होगा। भ्रम उत्पन्न करनेवाले मननामक कर्मका क्षय होनेपर जीव मुक्त कहा जाता है, फिर इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ १०, ११ ॥

इस प्रकार मनसे जगत्की उत्पत्ति भले ही हो, किन्तु कूटस्थ चिन्मात्र स्वभाववाले ब्रह्मसे मनकी तो उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्याम्' (उसने मनस्वी होऊँ, इस आशयसे मनकी सृष्टि की) इस श्रुतिसे मनकी सृष्टि बुद्धिपूर्वक सुनी जाती है। मनकी उत्पत्तिसे पहले बुद्धिका सम्भव नहीं है। जो वस्तु मनसे पर्यालोचित नहीं है, उसमें अध्यवसाय कहींपर नहीं देखा जाता, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—**'भगवन्'** इन दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपने जीवोंकी जो तीन प्रकारकी जातियां* कही हैं और सद्-असद् रूप मनको उनका मुख्य कारण कहा है, किन्तु मुझे इस

---

* यद्यपि श्रीवसिष्ठजीने पीछे बारह प्रकारकी जीवजातियां कही हैं, तथापि उनका सात्त्विक, राजस और तामस रूप त्रिविधतामें अन्तर्भाव मानकर यहां तीन प्रकारकी जीवजातियां कही हैं ।

तत्कथं शुद्धचिन्नाम्नस्तत्त्वाद् बुद्धिविवर्जितात् ।
उत्थितं स्फारतां यातं जगच्चित्रकरं मनः ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

आकाशा हि त्रयो राम विद्यन्ते विततान्तराः ।
चित्ताकाशश्चिदाकाशो भूताकाशस्तृतीयकः ॥ १४ ॥
एते हि सर्वसामान्याः सर्वत्रैव व्यवस्थिताः ।
शुद्धचित्तत्त्वशक्त्या तु लब्धसत्तात्मतां गताः ॥ १५ ॥
सबाह्याभ्यन्तरस्थो यः (स्थानां ?) सत्तासत्तावबोधकः ।
व्यापी समस्तभूतानां चिदाकाशः स उच्यते ॥ १६ ॥

विषयमें आशङ्का है कि बुद्धिशून्य शुद्ध चित्-नामक तत्त्वसे जगद्रूप चित्रका चितेरा मन कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे जगद्रूप विस्तारको प्राप्त हुआ ? ॥ १२,१३ ॥

इस आशङ्काका भी आगे कहे जानेवाले दृष्टिभेदके अभिप्रायसे सत्कार्यवादका अवलम्बन कर समाधान करनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी उसके उपयोगी तीन आकाशोंकी कल्पना दर्शाते हैं—**'आकाशा हि'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा भूताकाश ये तीन आकाश, जिनका उदर अत्यन्त विस्तीर्ण है, विद्यमान हैं ॥ १४ ॥

ये तीनों आकाश अपने सब कार्योंमें साधारण हैं, सब स्वकार्योंमें अनुगत हैं, अतएव उनके हेतु हैं । इससे अद्वैतहानिकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि इनकी पृथक् सत्ता नहीं मानी गई है । कारण कि शुद्ध चित्-तत्त्वकी शक्तिसे ही उन्होंने अपनी सत्ता प्राप्त की है यानी शुद्ध चित्की सत्तासे उनकी सत्ता पृथक् नहीं है ॥ १५ ॥

तीन ही आकाश जब एक ही सत्तावाले हैं, तो चिदाकाशमें कौन वैशिष्ट्य है ? ऐसी स्वयं आशङ्का कर उसके वैशिष्ट्यको दर्शाते हुए चिदाकाशको मायाशबल दर्शाते हैं—**'सबाह्या०'** इत्यादिसे ।

जो आभ्यन्तर बुद्धि आदि और बाह्य घट-पट आदि वस्तुओंकी उत्पत्ति और विनाशका साक्षी तथा बाहर और भीतर स्थित सब वस्तुओंका व्यापक है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १६ ॥

सर्वभूतहितः श्रेष्ठो यः कालकलनात्मकः ।
येनेदमाततं सर्वं चित्ताकाशः स उच्यते ॥ १७ ॥
दशदिङ्मण्डलाभोगैरव्युच्छिन्नवपुर्हि यः ।
भूतात्माऽसौ य आकाशः पवनाब्दादिसंश्रयः ॥ १८ ॥
आकाशचित्ताकाशौ द्वौ चिदाकाशबलोद्भवौ ।
चित् कारणं हि सर्वस्य कार्यौघस्य दिनं यथा ॥ १९ ॥
जडोऽस्मि न जडोऽस्मीति निश्चयो मलिनश्चितः ।
यस्तदेव मनो विद्धि तेनाऽऽकाशादि भाव्यते ॥ २० ॥

चित्ताकाशका लक्षण करते हैं—**'सर्वभूत०'** इत्यादिसे ।

जो सब व्यवहारोंका हेतु होनेसे सब प्राणियोंका हितकारी है, जो सब कार्य और कारणोंका नियन्ता होनेसे श्रेष्ठ है, जो कालका विभाग करनेवाला है एवं जिसने अपनी कल्पनासे इस सकल जगत्का विस्तार कर रक्खा है, वह चित्ताकाश कहा जाता है ॥ १७ ॥

भूताकाशका लक्षण कहते हैं—**'दश०'** इत्यादिसे ।

दस दिङ्मण्डलोंमें जिसका विशाल कलेवर व्याप्त है और जो वायु और मेघोंका आश्रय है, वह भूताकाश है ॥ १८ ॥

चिदाकाश सन्निधानमात्रसे उनका (चित्ताकाश और भूताकाशका) निमित्त है, ऐसा दिखलाते हैं—**'आकाश०'** इत्यादिसे ।

भूताकाश और चित्ताकाश – ये दोनों चिदाकाशके बलसे उत्पन्न हुए हैं । जैसे दिन अपने संनिधानमात्रसे विविध कार्योंका कारण है, वैसे ही चिदंश भी संनिधानमात्रसे सबका कारण है ॥ १९ ॥

जड़ अंशके मनके आकारमें परिणत होनेके कारण मनके प्रति मुख्य उपादान होनेपर भी मनमें चित् और जाड्य दोनोंका अनुभव होनेसे चित्संवलित जड़ ही मनोभावमें परिणत होता है, ऐसा कहते हैं—**'जडोऽस्मि'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चित्का 'मै जड़ हूँ, मैं जड़ नहीं हूँ' इत्याकारक जो मलिन निश्चय है, उसीको आप मन जानिए । उसीसे आकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥ २० ॥

अप्रबुद्धात्मविषयमाकाशत्रयकल्पनम् ।
कल्प्यते उपदेशार्थं प्रबुद्धविषयं न तु ॥ २१ ॥
एकमेव परं ब्रह्म सर्वं सर्वात्रपूरकम् ।
प्रबुद्धविषयं नित्यं कलाकलनवर्जितम् ॥ २२ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसन्दर्भदर्भितैः ।
उपदेश्यत एवाऽज्ञो न प्रबुद्धः कथञ्चन ॥ २३ ॥
यावद् रामाऽप्रबुद्धस्त्वमाकाशत्रयकल्पना ।
तावदेवाऽवबोधार्थं मया त्वमुपदिश्यसे ॥ २४ ॥
आकाशचित्ताकाशाद्याश्चिदाकाशकलङ्कितात् ।
प्रसृता दावदहनाद्यथा मरुमरीचयः ॥ २५ ॥

यह मनकी सृष्टि आदिकी कल्पना अज्ञानीको उपदेश देनेके लिए है, वास्तविक नहीं है, परमार्थदृष्टिसे शुद्ध चित्से न कुछ उत्पन्न हुआ अथवा न नष्ट हुआ, इसलिए किसी प्रकारके आक्षेपका कोई अवसर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं— **'अप्रबुद्धा०'** इत्यादिसे ।

तीन आकाशोंकी कल्पना जिसे आत्मतत्त्व अज्ञात है, उस पुरुषके लिए है । उसीके उपदेशके लिए उनकी कल्पना की गई है । आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुषके लिए उनकी कल्पना नहीं की गई है ॥ २१ ॥

प्रबुद्ध पुरुषोंकी दृष्टिमें तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित, सर्वव्यापक, सर्वात्मक तीनों कालोंमें एकरस एकमात्र परम ब्रह्म ही विराजमान है ॥ २२ ॥

विविध वाक्यसन्दर्भोंसे परिपूर्ण द्वैत और अद्वैतके भेदोंसे अज्ञानी पुरुषको ही उपदेश दिया जाता है, ज्ञानी जनको कदापि नहीं ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जबतक आपको ज्ञान नहीं हुआ तभीतक इन तीनों आकाशोंकी कल्पना है और तभीतक मैं आपको उपदेश देता हूँ ॥ २४ ॥

जैसे मरुभूमिमें निपतित वनाग्निसदृश सूर्यातपसे (घामसे) मृगतृष्णाकी (मरुभूमिमें मिथ्या जलप्रवाहकी) भ्रमवश अज्ञोंकी दृष्टिमें उत्पत्ति होती है वैसे ही अविद्याकलङ्कसे युक्त चिदाकाशसे भूताकाश, चित्ताकाश आदि उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

चिनोति मलिनं रूपं चित्ततां समुपागतम् ।
त्रिजगन्तीन्द्रजालानि रचयत्याकुलात्मकम् ॥ २६ ॥

चित्तत्वमस्य मलिनस्य चिदात्मकस्य
तत्त्वस्य दृश्यत इदं ननु बोधहीनैः ॥
शुक्तौ यथा रजतता न तु बोधवद्भि-
र्मौर्ख्येण बन्ध इह बोधबलेन मोक्षः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे चिदाकाशमाहात्म्यं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥



कार्योंमें मलिनता दिखलाई देती है अतएव चित्त शुद्ध चित्का कार्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**चिनोति**' इत्यादिसे ।

चैतन्य पहले अविद्यारूप मालिन्यको प्राप्त होता है तदनन्तर चित्तताको प्राप्त होकर व्याकुल चित्तरूप वह तीनों लोकरूप इन्द्रजालकी रचना करता है ॥ २६ ॥

चित्त एकमात्र अज्ञानियों द्वारा दृश्य होनेसे अज्ञानकार्य है, इससे निश्चित है कि अज्ञानीकी दृष्टिसे ही बन्ध है, तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो आत्मा नित्यमुक्त ही है, ऐसा कहते हैं—'**चित्तत्व०**' इत्यादिसे ।

जैसे व्यावहारिक लोग यानी अज्ञानी पुरुष (जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ या जो शास्त्रदर्शी नहीं हैं) अज्ञानकी अधिकतासे सीपके टुकड़ेमें रजतदृष्टि करते हैं वैसे ही अतत्त्वज्ञ लोग चिदात्मक मलिन तत्त्वको चित्तरूपसे देखते हैं, तत्त्वज्ञ नहीं देखते । अपनेमें स्थित अज्ञानसे ही बन्ध होता है और बोधके बलसे मोक्ष होता है ॥ २७ ॥

सत्तानबे सर्ग समाप्त

अष्टनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यतः कुतश्चिदुत्पन्नं चित्तं यत् किञ्चिदेव हि ।
नित्यमात्मविमोक्षाय योजयेद् यत्नतोऽनघ ॥ १ ॥
संयोजितं परे चित्तं शुद्धं निर्वासनं भवेत् ।
ततस्तु कल्पनाशून्यमात्मतां याति राघव ॥ २ ॥
चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत् स्थिरचरात्मकम् ।
चित्ताधीनावतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम् ॥ ३ ॥

अट्ठानबे सर्ग

[पूर्वोक्त विषयका स्पष्टरूपसे ज्ञान होनेके लिए चित्ताख्यानका वर्णन तथा चित्तके तत्त्वके विचारसे चित्तके विनाशका कथन]

यद्यपि आत्मा नित्यमुक्त है, तथापि उसको अपने स्वरूपके अज्ञानसे 'मैं मन हूँ' इस भ्रान्तिसे बन्धनप्रतीति हुई है, इस प्रकारके निर्णयके लिए अज्ञात आत्मासे मनकी उत्पत्ति विस्तारपूर्वक कही गई । यह कथन रोगनिर्णयके लिए रोगके कारणभूत अपथ्य भोजनकी उक्तिके सदृश है । मनस्तत्त्वका निर्णय होनेपर अब उसकी चिकित्साका प्रयत्न करना ही आवश्यक है, फिर निदानचिन्ताका कोई प्रयोजन नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'यतः कुतश्चित्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, मन चाहे जिस किसीसे उत्पन्न हुआ हो, चाहे उसका स्वरूप जो कुछ भी हो, बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि उसे प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्तिके लिए आत्मामें समाहित करे ॥ १ ॥

मनको आत्मामें समाहित करनेका फल कहते हैं —**'संयोजितम्'** इत्यादिसे ।

हे रघुकुलतिलक, परमात्मामें समाहित चित्त वासनारहित अतएव शुद्ध हो जाता है । चित्तके वासनाशून्य एवं शुद्ध होनेके अनन्तर मन कल्पनाहीन होकर आत्मताको प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि केवलमात्र चित्तके निरोधसे बाह्य और आभ्यन्तर सकल द्वैतरूप बन्धकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—**'चित्तायत्तम्'** इत्यादिसे ।

हे रामजी, यह सारा चराचर जगत् चित्तके अधीन है, इसलिए हे रघुवर, यह स्पष्ट है कि बन्ध और मोक्ष भी चित्तके आयत्त हैं ॥ ३ ॥

अत्राऽर्थे कथ्यमानं मे चित्ताख्यानमनुत्तमम् ।
ब्रह्मणा यत् पुरा प्रोक्तं शृणु रामाऽतियत्नतः ॥ ४ ॥

अस्ति रामाऽटवी स्फारा शून्याऽशान्ताऽतिभीषणा ।
योजनानां शतं यस्यां लक्ष्यते कणमात्रकम् ॥ ५ ॥

तस्यामेको हि पुरुषः सहस्रकरलोचनः ।
पर्याकुलमतिर्भीमः संस्थितो विततकृतिः ॥ ६ ॥

स सहस्रेण बाहूनामादाय परिघान् बहून् ।
प्रहरत्यात्मनः पृष्ठे स्वात्मनैव पलायते ॥ ७ ॥

दृढप्रहारैः प्रहरन् स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
प्रविद्रवति भीतात्मा स योजनशतान्यपि ॥ ८ ॥

क्रन्दन् पलायमानोऽसौ गत्वा दूरमितस्ततः ।
श्रमवान् विवशाकारो विशीर्णचरणाङ्गकः ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें मेरे द्वारा कहे जा रहे अति उत्तम चित्ताख्यान को, जिसे पहले ब्रह्माजीने मुझसे कहा था, आप प्रयत्नपूर्वक सुनिए ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मृग, पक्षी आदिसे रहित, बड़े-बड़े विक्षेपोंसे परिपूर्ण, अतिभयङ्कर बड़ी विशाल एक अटवी * है, वह इतनी विशाल है कि उसमें सैकड़ों योजन भूमि परमाणुकी भाँति अतिसूक्ष्म प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

उस महाटवीमें महाकाय अतिभयङ्कर तथा हजारों बाहुओं और हजारों नेत्रोंसे युक्त एक पुरुष रहता है । उसकी बुद्धि कभी ठिकाने नहीं रहती है । मैंने देखा—हजारों बाहुओंसे बहुतसे मुद्गरोंको लेकर अपनी पीठपर स्वयं ही प्रहार कर रहा वह भाग रहा है । स्वयं ही अपने ऊपर दृढ़ प्रहारोंसे प्रहार कर रहा वह भयभीत होकर सैकड़ों योजनोंतक दौड़ रहा है । रोते-रोते भाग रहा वह इधर-उधर बहुत दूर जाकर परिश्रान्त, परवश हो गया, चलनेसे जर्जरित पैर और अन्यान्य अङ्गवाला और विवेकरूपी दृष्टिसे रहित वह विवश होकर

---

१ 'शून्याशान्ता' ऐसा समस्त पाठ मानकर शून्य (पशु-पक्षी आदिसे रहित) हैं आशान्त (दिगन्त) जिसके, ऐसा भी अर्थ हो सकता है ।

* अटवी आदि शब्दोंका तात्पर्यार्थ अगले सर्गमें ग्रन्थकर्ता स्वयं ही कहेंगे ।

पतितोऽवश एवाऽऽशु महत्यन्धोऽन्धकूपके ।
कृष्णरात्रितमोभीमे नभोगम्भीरकोटरे ॥ १० ॥
ततः कालेन बहुना सोऽन्धकूपात् समुत्थितः ।
पुनः प्रहारैः प्रहरन् विद्रवत्यात्मनाऽऽत्मनः ॥ ११ ॥
पुनर्दूरतरं गत्वा करञ्जवनगुल्मकम् ।
प्रविष्टः कण्टकव्याप्तं शलभः पावकं यथा ॥ १२ ॥
तस्मात् करञ्जगहनाद् विनिःसृत्य क्षणादिव ।
पुनः प्रहारैः प्रहरन् विद्रवत्यात्मनाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥
पुनर्दूरतरं गत्वा शशाङ्ककरशीतलम् ।
कदलीकाननं कान्तं संप्रविष्टो हसन्निव ॥ १४ ॥
कदलीखण्डकात् तस्माद् विनिःसृत्य क्षणात् पुनः ।
स्वयं प्रहारैः प्रहरन् विद्रवत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ १५ ॥
पुनर्दूरतरं गत्वा तमेवाऽन्धोऽन्धकूपकम् ।
स संप्रविष्टस्त्वरया विशीर्णावयवाकृतिः ॥ १६ ॥

शीघ्र महान् कूपमें गिर पड़ा । वह कूप अन्धकारसे कृष्णपक्षकी रात्रिकी नाईं भीषण था, ऐसा भीषण कि ज्ञात होता था वह आकाशका खूब गहरा कोटर हो ॥९–१०॥

तदनन्तर चिरकालके बाद उस अँधेरे कुएँसे बाहर आया और फिर अपने-आप पूर्ववत् मुद्गरोंके प्रहारोंसे अपनेको पीटता हुआ भागने लगा । तदुपरान्त बहुत दूर जाकर जैसे फतिंगा आगमें प्रवेश करता है वैसे ही वह अनेक दूसरे कांटोंसे भी भरपूर करौंदोंकी लताओंसे खूब आच्छन्न थोड़ी छायावाले दुःखपूर्ण करौंदेके वनकी झाड़ीमें प्रविष्ट हो गया । उस करौंदेके वनसे थोड़ी ही देरमें बाहर निकल कर फिर मुद्गरोंके प्रहारोंसे अपने ऊपर प्रहार करता हुआ भयका कोई दूसरा निमित्त न होनेपर भी अपनेसे आप ही भागने लगा । फिर बहुत दूर जाकर चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल बड़े मनोहर केलेके वनमें बड़ा प्रसन्न हुआ-सा प्रविष्ट हुआ । क्षणभरमें उस केलेके वनसे बाहर निकल कर फिर अपने ऊपर अपने आप प्रहार करता हुआ दौड़ने लगा । फिर अतिदूर जाकर विवेकदृष्टिसे शून्य वह पुरुष, जिसके कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग जर्जरित हो गये थे, जल्दीसे उसी अँधेरे कुँएमें घुस गया । अँधेरे कुँएसे बाहर

अन्धकूपात् समुत्थाय प्रविष्टः कदलीवनम् ।
कदलीकाननाच्छ्वभ्रं करञ्जवनगुल्मकम् ॥ १७ ॥
करञ्जकाननात् कूपं कूपाद् रम्भावनान्तरम् ।
प्रविशन् प्रहरंश्चैव स्वयमात्मनि संस्थितः ॥ १८ ॥
एवंरूपनिजाचारः सोऽवलोक्य चिरं मया ।
अवष्टभ्य बलादेव मुहूर्तं रोधितः पथि ॥ १९ ॥
पृष्टः स कस्त्वं किमिदं केनाऽर्थेन करोषि वा ।
किंनामाऽभिमतं तेऽत्र किं मुधा परिमुह्यसि ॥ २० ॥
इति पृष्टेन कथितं तेन मे रघुनन्दन ।
नाऽहं कश्चिन्न चैवेदं मुने किञ्चित् करोम्यहम् ॥ २१ ॥
त्वयाऽहमवभग्नोऽस्मि त्वं मे शत्रुरहो बत ।
त्वया दृष्टोऽस्मि नष्टोऽस्मि दुःखाय च सुखाय च ॥ २२ ॥
इत्युक्त्वा विक्लवान्यङ्गान्यालोक्य स्वान्यतुष्टिमान् ।
रुरोदाऽतिरवं दीनो मेघो वर्षन्निवाऽटवीम् ॥ २३ ॥

निकल कर केलेके वनमें प्रविष्ट हो गया । केलेके वनसे गड्ढेके समान गहरे करौंदेके वनकी झाड़ीमें प्रविष्ट हुआ । करौंदेके वनसे अँधेरे कुँएमें गिरा, कुँएसे निकल कर दूसरे केलेके वनमें प्रवेश कर रहा और अपने ऊपर स्वयं प्रहार कर रहा वह स्थित था ॥ ११–१८ ॥

मैंने इस प्रकारके आचरणसे युक्त उसको चिरकालतक विवेकदृष्टिसे देखकर तथा अपने योगबलसे पकड़ कर हठात् मुहूर्तभरके लिए मार्गमें रोका और उससे पूछा—तुम कौन हो, यह अपने ऊपर प्रहार आदि किसलिए कर रहे हो, यहांपर तुम्हें किस वस्तुकी अभिलाषा है तथा तुम क्यों व्यर्थ मोहमें पड़े हो ? ॥ १९, २० ॥

हे श्रीरघुनन्दन, मेरे यों पूछनेपर उसने कहा—हे मुनिजी, मैं कोई नहीं हूँ और मैं यह कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ २१ ॥

तुमने मुझे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, इसलिए तुम मेरे शत्रु हो । तुमसे देखा गया मैं दुःखके लिए और सुखके लिए नष्ट हुआ हूँ, ऐसा कहकर अपने विह्वल अङ्गोंकी ओर देखकर जैसे मेघ जंगलमें वृष्टि करता हुआ बड़े जोरसे शब्द

क्षणमात्रेण तत्राऽसावुपसंहृत्य रोदनम् ।
स्वान्यङ्गानि समालोक्य जहास च ननाद च ॥ २४ ॥
अथाऽट्टहासपर्यन्ते स पुमान् पुरतो मम ।
क्रमेण तानि तत्याज स्वान्यङ्गानि समन्ततः ॥ २५ ॥
प्रथमं पतितं तस्य शिरः परमदारुणम् ।
ततस्ते बाहवः पश्चाद् वक्षस्तदनु चोदरम् ॥ २६ ॥
अथ क्षणेन स पुमांस्तान्यङ्गानि यथाक्रमम् ।
संत्यज्य नियतेः शक्त्या क्वाऽपि गन्तुमुपस्थितः ॥ २७ ॥
दृष्टवानहमेकान्ते पुनरन्यं तथा नरम् ।
सोऽपि प्रहारान् परितः प्रयच्छन् स्वयमात्मनि ॥ २८ ॥
बाहुभिः पीवराकारैः स्वयमेव पलायते ।
कूपे पतति कूपात्तु समुत्थायाऽभिधावति ॥ २९ ॥

करता है वैसे ही भोगोंसे तृप्त न हुआ वह दीन-हीन पुरुष भी बड़े जोरसे रोने लगा ॥ २२—२३ ॥

एक क्षणमें वहाँपर रोना समाप्त कर वह अपने अङ्गोंको देखकर हँसने और गरजने लगा ॥ २४ ॥

अट्टहास करनेके बाद उस आदमीने मेरे सामने ही अपने उन अङ्गोंका क्रमशः त्याग कर दिया। पहले उसका सङ्कल्पात्मक सिर गिरा, जो कि सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल होनेके कारण अतिभीषण था। तदनन्तर विकल्पाशयरूपी भुजाएँ गिरीं। तत्पश्चात् विषयाभिनिवेशरूप वक्षःस्थल गिरा। उसके बाद तृष्णारूपी उदर नष्ट हुआ। इसके पश्चात् वह पुरुष उन अङ्गोंका - एक क्षणमें क्रमानुसार ज्ञानसे अज्ञानका बाध होता है, इस नियतिशक्तिसे—त्यागकर कहीं जानेको तत्पर हुआ। किसी गन्तव्य स्थानका निर्देश न होनेके कारण वह निःस्वरूप हो गया, यह समझना चाहिए ॥ २५-२७ ॥

फिर मैंने एकान्तमें वैसे ही दूसरे पुरुषको देखा वह भी स्वयं अपने ऊपर अपनी बड़ी स्थूल बाहुओंसे स्वयं प्रहार करता हुआ भाग रहा था। पहले कुएँमें गिरा। कुएँसे निकलकर फिर दौड़ने लगा। फिर अन्ध कूपमें गिरा फिर पीड़ित

पुनः पतति कुण्डान्तः पुनरार्तः पलायते ।
पुनः प्रविशति श्वभ्रं क्षणं शिशिरकाननम् ॥ ३० ॥
कष्टं पुनः पुनस्तुष्टः पुनः प्रहरति स्वयम् ।
एवंप्रायनिजाचारश्चिरमालोक्य सस्मयम् ॥ ३१ ॥
स मया समवष्टभ्य परिपृष्टस्तथैव हि ।
तेनैवाऽसौ क्रमेणाऽद्य रुदित्वा संप्रहस्य च ॥ ३२ ॥
अङ्गैर्विशीर्णतामेत्य ययावलमलक्ष्यताम् ।
विचार्य नियतेः शक्तिं ततो गन्तुमुपस्थितः ॥ ३३ ॥
दृष्टवानहमेकान्ते पुनरन्यं तथा नरम् ।
प्रहरंस्तद्वदेवाऽसौ स्वयमेव पलायते ॥ ३४ ॥
पलायमानः पतितो महत्यन्धेऽन्धकूपके ।
तत्राऽहं सुचिरं कालमवसं तत्प्रतीक्षकः ॥ ३५ ॥
यावत् स सुचिरेणाऽपि कूपान्नाऽभ्युदितः शठः ।
अथाऽहमुत्थितो गन्तुं दृष्टवान् पुरुषं पुनः ॥ ३६ ॥

होकर दौड़ा, फिर करौंदेके वनरूप गड्ढेमें प्रविष्ट हुआ। तदुपरान्त एक क्षणके लिए शीतल केलेके वनमें प्रविष्ट हुआ। कभी दुःखको प्राप्त होता और कभी सन्तोषको प्राप्त होता हुआ वह फिर अपने ऊपर स्वयं प्रहार करता, इस प्रकारका आचरण करनेवाले पुरुषको आश्चर्यपूर्वक चिरकालतक देखकर मैंने उसे योगबलसे पकड़ा और वैसे ही पूछा। उसीसे वह पुरुष भी क्रमशः रो और हँसकर तथा अङ्गोंसे रहित होकर अदृश्य हो गया। तदनन्तर ज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है, इस नियतिकी शक्तिका विचार कर निःस्वरूपतापत्तिको प्राप्त होनेके लिए तत्पर हुआ॥ २८-३३॥

फिर मैंने उसी प्रकारके दूसरे पुरुषको एकान्तमें देखा, वह भी उन लोगोंके समान स्वयं अपने ऊपर पहार करता हुआ दौड़ रहा था॥ ३४॥

दौड़ते-दौड़ते अन्धकाराच्छन्न बड़े भारी कुएँमें गिर पड़ा। उसकी प्रतीक्षाके लिए मैं वहांपर बहुत देरतक टिका रहा॥ ३५॥

जब वह शठ बहुत समय बीतनेपर भी कुएँसे नहीं निकला तब मैं चलनेके लिए उठा। इतनेमें मुझे फिर वैसा ही दूसरा पुरुष दिखाई दिया।

तादृशं तादृशाकारं प्रपतन्तं तथैव च ।
अवष्टभ्य तथैवाऽऽशु तस्य प्रोक्तं पुनर्मया ॥ ३७ ॥

तथैवोत्पलपत्राक्ष नाऽसौ तदवबुद्धवान् ।
केवलं मामसौ मूढो नैव जानासि किञ्चन ॥ ३८ ॥

आः पाप दुर्द्विजेत्युक्त्वा स्वव्यापारपरो ययौ ।
अथ तस्मिन् महारण्ये तथा विहरता मया ॥ ३९ ॥

बहवस्तादृशा दृष्टाः पुरुषा दोषकारिणः ।
मत्पृष्टाः केचिदायान्ति स्वप्नसंभ्रमवच्छमम् ॥ ४० ॥

मदुक्तं नाऽभिनन्दति केचिच्छवतनुं यथा ।
विनिपत्याऽन्धकूपेभ्यः केचित् तत्प्रोत्थिताः पुनः॥ ४१ ॥

कदलीखण्डकात् केचिच्चिरेणाऽपि न निर्गताः ।
केचिदन्तर्हिताः स्फारे करञ्जवनगुल्मके ॥ ४२ ॥

न क्वचित् स्थितिमायान्ति केचिद् धर्मपरायणाः ।
एवंविधा सा वितता रघूद्वह महाटवी ॥ ४३ ॥

वह भी उसीके आकारका था और वैसे ही कुएँ आदिमें गिर रहा था । उसे झटपट योगबलसे पकड़कर मैंने उससे पूछा ॥ ३६, ३७ ॥

हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, उन्हींके समान उसने भी मेरे प्रश्नको कुछ नहीं समझा । वह मूढ़ हे पापी, हे दुष्ट ब्राह्मण, तुम कुछ नहीं जानते हो, ऐसा मुझसे कहकर अपने कार्यमें तत्पर होकर चला गया । इसके बाद उस महारण्यमें विचरण कर रहे मैंने बहुतसे वैसे दोषकारी पुरुषोंको देखा । उनमें कुछ तो मेरे द्वारा प्रबोधित होकर स्वप्नभ्रमकी नाईं पूर्वोक्त स्वरूपनाशरूप उपशमको प्राप्त हुए, कुछ लोगोंने मेरे उपदेशकी शवके शरीरके समान उपेक्षा और घृणा की और कोई लोग अन्धकूपोंमें गिरकर फिर उनसे बाहर निकले । कोई शीतल केलेके वनमें बहुत समय बीतनेपर भी बाहर नहीं निकले यानी वहीं ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये । कोई विशाल करौंदेके वनके गुल्ममें दीर्घकाल तक छिपे रहे ॥४२॥

काम्य धर्मोंमें तत्पर कोई पुरुष कहींपर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होते हैं । हे रघुकुलदीप, इस प्रकारकी वह विस्तृत महाटवी आज भी विद्यमान है, जिसमें

अद्याऽपि विद्यते यस्यामित्थं ते पुरुषाः स्थिताः ।
सा च दृष्टा त्वया राम त्वयेह व्यवहारिणी ।
बाल्यात्तु बुद्धितत्त्वस्य न तां स्मरसि राघव ॥ ४४ ॥

सा भीषणा विविधकण्टकसङ्कटाङ्गी
घोराटवी घनतमोगहनाऽपि लोके ।
आगत्य निर्वृतिमलब्धपरावबोधैरा-
सेव्यते कुसुमगुल्मकवाटिकेव ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्री वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
चित्तोपाख्यानं नाम अष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

———— ० ————

इस प्रकार वे पुरुष स्थित हैं। आपसे सब व्यवहारवाली वह महाटवी आपने देखी है। हे श्रीरामजी, बुद्धिरूपी सार वस्तुके अप्रौढ होनेके कारण आपको उसका स्मरण नहीं होता है ॥ ४३, ४४ ॥

उक्त महाटवी यद्यपि बडी भयङ्कर विविध प्रकारके कांटोंसे परिपूर्ण, निविड़ अन्धकारसे व्याप्त और घोर है तथापि अधिकारी द्विजाति आदि जन्ममें साधन-सम्पत्तिरूप सुख पाकर भी अभाग्यवश जिन्हें परमात्मबोध नहीं हुआ ऐसे लोग विषयासक्तिसे उसका फूलोंसे परिपूर्ण उद्यानवाटिकाके समान सेवन करते हैं ॥ ४५ ॥

अट्ठानबे सर्ग समाप्त

नवनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

काऽसौ महाटवी ब्रह्मन् कदा दृष्टा कथं मया ।
के च ते पुरुषास्तत्र किं तत्कर्तुं कृतोद्यमाः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

रघुनाथ महाबाहो शृणु वक्ष्यामि तेऽखिलम् ।
न सा महाटवी राम दूरे नैव च ते नराः ॥ २ ॥
येयं संसारपदवी गम्भीराऽपारकोटरा ।
तां तां शून्यां विकाराढ्यां विद्धि राम महाटवीम् ॥ ३ ॥

निनानबे सर्ग

[पूर्व सर्गमें कहे गये चित्ताख्यानका क्रम और व्युत्क्रमसे तात्पर्यवर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, वह महाटवी कौन है, मैंने उसे कब और कैसे देखा, वे पुरुष कौन हैं और अपने शरीरपर प्रहार करने तथा कुएँ और करौंदेके वन आदिमें प्रवेश करनेके लिए वे क्यों उद्यत हुए * ॥ १ ॥

वास्तवमें ब्रह्म ही मिथ्याभूत स्वर्ग, नरक आदि वैचित्र्यकी कल्पनासे संसाराटवी है और उसकी कल्पना करनेवाले मन ही वे पुरुष हैं, इसलिए वे लोग कोई दूरके मैंने कहे हैं, सो बात नहीं है, ऐसा कहते हैं—'रघुनाथ' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुनाथजी, हे महाबाहो, आप सुनिये, मैं आपसे सब कहूँगा । हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो वह महाटवी कहीं दूर है और न वे मनुष्य ही दूरवर्ती हैं । हे रामचन्द्रजी, अतिगंभीर और अपार (अनन्त) लोकोंसे पूर्ण जो यह संसारपदवी है, उसे आप परमार्थदृष्टिसे उसकी सत्ता न होनेके कारण शून्य और भ्रान्तिदृष्टिसे तो उसकी सत्ता होनेसे विविध विकारोंसे पूर्ण महाटवी जानिये ॥ २, ३ ॥

---

* किसी पुस्तकमें 'कितत्कर्तृकृतोद्यमाः' ऐसा भी पाठ है । उक्त पाठमें—श्रीरामचन्द्रजीका आशय यह है कि स्वतः अपने लिए अनिष्ट स्वशरीरप्रहार आदिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए कहना होगा कि वह प्रवृत्ति किसी दूसरेसे हुई 'किस उनके कर्तासे (जबरदस्ती वैसे अनिष्टमें नियुक्त करनेवाले किस हेतुभूतसे) वे स्वतः अपने ऊपर प्रहार आदिमें उद्यत हुए—यह अर्थ है । 'कश्चाऽसौ तत्कर्ता कितत्कर्ता तेन कृतोद्यमाः' ऐसा समास करना चाहिए ।

विचारालोकलभ्येयं यदैकेनैव वस्तुना ।
पूर्णा नाऽन्येन संयुक्ता केवलेव तदैव सा ॥ ४ ॥
तत्र ये ते महाकाराः पुरुषाः प्रभ्रमन्ति हि ।
मनांसि तानि विद्धि त्वं दुःखे निपतितान्यलम् ॥ ५ ॥
द्रष्टा योऽयमहं तेषां स विवेको महामते ।
विवेकन मया तानि दृष्टान्यन्येन नाऽनघ ॥ ६ ॥
मया तान्येव बोध्यन्ते विवेकेन मनांसि हि ।
सततं सुप्रकाशेन कमलानीव भानुना ॥ ७ ॥
मत्प्रबोधं समासाद्य मत्प्रसादान्महामते ।
मनांसि कानिचित्तानि गतान्युपशमात् परम् ॥ ८ ॥
कानिचिन्नाऽभिनन्दन्ति मां विवेकं विमोहतः ।
मत्तिरस्कारवशतः कूपेष्वेव पतन्त्यधः ॥ ९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि कब वह शून्य होती है अथवा ऐसी वह किस उपायसे प्राप्त होती है, तो इसपर कहते हैं—'विचारा०' इत्यादिसे ।

यह जब अद्वितीय वस्तुसे (ब्रह्मसे) ही पूर्ण होती है, अन्य वस्तुसे इसका कोई संपर्क नहीं रहता है तभी यह शून्य सी होती है । इस प्रकारकी (शून्य-सी) यह 'तत् त्वम्' पदार्थशोधनात्मक केवल विचाररूपी प्रकाशसे प्राप्त होती है ॥४॥

उसमें जो ये विशाल कलेवरवाले पुरुष घूमते हैं, उन्हें आप बड़े भारी क्लेशमें डूबे हुए मन जानिये । जो यह 'मैं' उनका द्रष्टा हूँ, वह विचार (तत्-त्वम्-पदार्थशोधनरूप विचाररूप) है, हे पुण्यमय, उक्त विचाररूप मैंने उनको देखा है और किसीने उन्हें नहीं देखा है ॥ ५, ६ ॥

जैसे सूर्य निरन्तर प्रकाशसे कमलोंको प्रफुल्लित करता है वैसे ही उन्हीं मनोंको विवेकरूप मैं प्रबुद्ध करता हूँ ॥ ७ ॥

हे महामते, उनमें से कई एक मन विवेकके प्रसादसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर मनोभावका नाश होनेसे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥

उनमें से कई एक मन अज्ञानवश विवेकरूप मेरा अभिनन्दन नहीं करते हैं । विवेकरूप मेरा तिरस्कार करनेसे यानी विचारकी उपेक्षा करनेसे वे कुओंमें ही नीचे गिरते हैं ॥ ९ ॥

ये तेऽन्धकूपा गहना नरकास्ते रघूद्वह ।
कदलीकाननं यानि संप्रविष्टानि तानि तु ॥ १० ॥
स्वर्गैकरसिकानि त्वं मनांसि ज्ञातुमर्हसि ।
प्रविष्टान्यन्धकूपान्तनिर्गतानि न यानि तु ॥ ११ ॥
महापातकयुक्तानि तानि चित्तानि राघव ।
कदलीकाननस्थानि निर्गतानि न यानि तु ॥ १२ ॥
पुण्यसम्भारयुक्तानि तानि चित्तानि राघव ।
करञ्जवनयातानि निर्गतानि न यानि तु ॥ १३ ॥
तानि मानुष्यजातानि चित्तानि रघुनन्दन ।
कानिचित् संप्रबुद्धानि तत्र मुक्तानि बन्धनात् ॥ १४ ॥
कानिचिद् बहुरूपाणि योनेर्योनिं विशन्ति हि ।
मनांसि तानि तिष्ठन्ति निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ १५ ॥
यत्तत् करञ्जगहनं तत् कलत्ररसं विदुः ।
दुःखकण्टकसम्बाधं मानुष्यं विविधैषणम् ॥ १६ ॥

हे रघुकुलमणे, जो ये मैंने अन्धकूप कहे हैं, वे घोर नरक हैं । जो मन केलेके वनमें प्रविष्ट हुए हैं, उन्हें आप एकमात्र स्वर्गमें प्रीति रखनेवाले मन जानिये, यानी जो मैंने कदलीके वन कहे हैं, वे स्वर्ग हैं । हे रामचन्द्रजी, जो अन्धे कुओंके अन्दर प्रविष्ट हुए फिर उनसे निकले नहीं, उन्हें आप महापातकी चित्त जानिये । हे रघुवर, केलेके वनोंमें स्थित जो मन वहाँसे चिरकाल बीतनेपर भी नहीं निकले, वे प्रचुरपुण्यराशिसे सम्पन्न चित्त हैं । हे रघुनन्दन, जो करौंदेके वनमें जाकर उससे बाहर नहीं निकले, वे मनुष्यभावमें परिणत चित्त हैं । मनुष्य-जन्ममें कोई तत्त्वज्ञान प्राप्त कर* बन्धनसे मुक्ति पा गये हैं ॥ १०—१४ ॥

उनमें से कई एक मन बहुतसे रूप धारण कर एक योनिसे दूसरी योनिमें प्रवेश करते हैं, वे मन भूमिमें मनुष्य आदि रूपसे स्थित होते हैं, नरकोंमें गिरते हैं और स्वर्गमें जाते हैं ॥ १५ ॥

जो वह करौंदेका वन है, उसे कुटुम्बस्नेहसे युक्त, दुःखरूपी कण्टकोंसे

* मनुष्यदेहमें वैराग्य आदिका विशेषरूपसे संभव है, इसलिए मनुष्यदेहमें ज्ञानका अधिकार मुख्य है, यह सूचित करने के लिए 'संप्रबुद्धानि' (तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुए) कहा है ।

करञ्जगनं यानि प्रविष्टानि मनांसि तु ।
मानुष्ये तानि जातानि तत्रैव रसिकानि च ॥ १७ ॥
कदलीकाननं यच्चाच्छशाङ्ककरशीतलम् ।
तन्मनोह्लादनकरं स्वर्गं विद्धि रघूद्वह ॥ १८ ॥
कानिचित् पुण्यभूतेन तपसा धारणात्मना ।
धारयन्ति शरीराणि संस्थितान्युदितान्यपि ॥ १९ ॥
यैरहं पुंभिरबुधैर्बुद्धिचित्ततिरस्कृतः ।
तैर्मनोभिरनात्मज्ञैः स्वविवेकस्तिरस्कृतः ॥ २० ॥
त्वया दृष्टो विनष्टोऽस्मि त्वं मे शत्रुरिति द्रुतम् ।
यदुक्तं तद्धि चित्तेन गलता परिदेवितम् ॥ २१ ॥
रुदितं यन्महाक्रन्दं पुंसा बह्वाशु राघव ।
तद्भोगजालं त्यजता मनसा रोदनं कृतम् ॥ २२ ॥

व्याप्त तथा पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे पूर्ण मनुष्यजन्म कहते हैं ॥ १६ ॥

जो मन करौंदेके वनमें प्रविष्ट कहे गये हैं, उन मनोंको आप मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए और वहींपर रमे हुए यानी विषयोंके स्वादमें तत्पर हुए जानिये ॥१७॥

हे रघुकुलदीपक, चन्द्रमाकी किरणोंकी नाईं शीतल जो कदलीवन पीछे कहा गया है, उसे चित्तको प्रसन्न करनेवाला स्वर्ग जानिये ॥ १८ ॥

उनमें से कई एक मन शास्त्र द्वारा विहित, ध्येय तत्त्वमें मन लगानारूप धारणाप्रधान उपासनात्मक तपसे ग्रह, सप्तर्षि, ध्रुव आदिका शरीर धारण करते हैं, वे औरोंकी अपेक्षा तेज और भोगकी अधिकतासे और तत्त्वज्ञानसे अभ्युदययुक्त होकर चिरकालसे स्थित हैं ॥ १९ ॥

जिन अज्ञानी पुरुषोंने बुद्धि अथवा चित्तसे विचाररूप मेरी उपेक्षा की यानी विचारोद्योग नहीं किया, ऐसा मैंने जो कहा, वह उन अज्ञानी मनोंने अपने विवेकका तिरस्कार किया ॥ २० ॥

तुमसे देखा गया मैं विनष्ट हो गया हूँ तुम मेरे शत्रु हो, जो यह कहा, वह तत्त्वज्ञानसे जर्जरित हो रहे (गल रहे) चित्तने विलाप किया ॥ २१ ॥

हे रामचन्द्रजी, जो मैंने कहा कि पुरुषने बड़े तार स्वरसे बहुत रोदन किया, वह भोगसमूहका त्याग कर रहे मनने रोदन किया ॥ २२ ॥

अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्याऽमलं पदम् ।
चेतसस्त्यजतो भोगान् परितापो भृशं भवेत् ॥ २३ ॥
रुदताऽङ्गानि दृष्टानि कारुण्येनाऽवबोधिना ।
कष्टमेतानि संत्यज्य किं प्रयामीति चेतसा ॥ २४ ॥
अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्याऽमलं पदम् ।
चेतसस्त्यजतोऽङ्गानि परितापो हि वर्धते ॥ २५ ॥
हसितं तु यदानन्दि पुंसा मदवबोधतः ।
परिप्राप्तविवेकेन तत्तुष्टं राम चेतसा ॥ २६ ॥
परिप्राप्तविवेकस्य त्यक्तसंसारसंस्थितेः ।
चेतसस्त्यजतो रूपमानन्दो हि विवर्धते ॥ २७ ॥
हसताऽङ्गानि दृष्टानि पुंसा यान्युपहासतः ।
तानि दृष्टानि मनसा विप्रलम्भपदानि ह ॥ २८ ॥
मिथ्याविकल्परचितैर्विप्रलब्धमहो चिरम् ।
इत्यङ्गान्युपहासेन दृष्टानि स्वानि चेतसा ॥ २९ ॥

जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, परमपद प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे चित्तको भोगोंका त्याग करनेमें अत्यन्त परिताप होता है ॥ २३ ॥

बड़े खेदकी बात है, इन अङ्गोंका परित्याग कर कहां जाऊँ, यों रो रहे थोड़े बहुत विवेकको प्राप्त हुए मनने बड़ी करुणासे अपने अङ्ग देखे ॥ २४ ॥

जिसे आधा विवेक प्राप्त हो गया है, निर्मल पद प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे चित्तको अपने स्नेह, लोभ आदि अङ्गोंका त्याग करते बड़ा परिताप होता है ॥ २५ ॥

मेरे परिज्ञानसे (तत्त्वज्ञानसे) पुरुषने आनन्दमय हास किया, ऐसा जो मैंने कहा, वह चित्तको, जिसे पूर्ण विवेक हो गया था, आनन्द प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

जिसे पूर्णरूपसे विवेककी प्राप्ति हो गई है तथा जिसने संसारस्थितिका परित्याग कर दिया है, ऐसे चित्तको अपने रूपका परित्याग करते महान् आनन्द होता है ॥ २७ ॥

हँस रहे पुरुषने उपहासपूर्वक अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग देखे, ऐसा जो मैंने कहा था, उसका यह अर्थ है कि मनने अपनी वञ्चनाके निमित्त लोभ, स्नेह आदि देखे ॥२८॥

मिथ्या विकल्पोंसे कल्पित विषयोंसे मैं चिरकालतक ठगा गया, यों उपहाससे चित्तने अपने अङ्गोंकी ओर देखा ॥ २९ ॥

मनः प्राप्तविवेकं हि विश्रान्तं वितते पदे ।
प्राक्तनादीनताधारं हसन् पश्यति दूरतः ॥ ३० ॥

यदसौ समवष्टभ्य मया पृष्टः प्रयत्नतः ।
तद् विवेको बलाच्चित्तमादत्त इति दर्शितम् ॥ ३१ ॥

यदङ्गानि विशीर्णानि गतान्यन्तर्धिमग्रतः ।
तच्चित्तेन विनाऽर्थाशा शाम्यतीति प्रदर्शितम् ॥ २ ॥

सहस्रनेत्रहस्तत्वं यत् पुंसः परिवर्णितम् ।
तदनन्ताकृतित्वं हि चेतसः परिदर्शितम् ॥ ३३ ॥

यदात्मनि प्रहारौघैः पुमान् प्रहरति स्वयम् ।
तत्तत्कुकल्पनाघातैः प्रहरत्यात्मनो मनः ॥ ३४ ॥

पलायते यत् पुरुषः स्वात्मनः प्रहरन् स्वयम् ।
स्ववासनाप्रहारेभ्यस्तन्मनः प्रपलायते ॥ ३५ ॥

मन जब विवेक प्राप्त कर विस्तृत पदमें (परम पदमें) विश्रान्त होता है तब प्राक्तन अपनी दीनताके आधार विषयोंको हँसता हुआ दूरसे देखता है ॥ ३० ॥

मैंने उस पुरुषको योगवलसे पकड़कर बड़े जतनसे पूछा, इसका मतलब विवेक जबरदस्ती चित्तको व्याप्त करता है, यह दर्शानेमें है ॥ ३१ ॥

छिन्न-भिन्न हुए अङ्ग मेरे सामने अन्तर्हित हो गये, ऐसा जो मैंने कहा उससे चित्तके बिना अर्थसहित आशा शान्त हो जाती है, यह दर्शाया है । भाव यह कि मनका बाध होनेपर विषयोंके साथ विषयोंकी आशा भी निवृत्त हो जाती है, यह दर्शाया है ॥ ३२ ॥

जो मैंने पुरुषके हजारों नेत्रों और भुजाओंका वर्णन किया है, उससे चित्तकी असंख्य आकृतियाँ हैं, यह दर्शाया है ॥ ३३ ॥

जो यह वर्णन किया है कि पुरुष अपने-आप अपने ऊपर प्रहार करता है, वह विविध कुकल्पनारूपी आघातों (प्रहारों) से मन अपने ऊपर प्रहार करता है, यह दर्शाया है ॥ ३४ ॥

अपने ऊपर प्रहार करता हुआ पुरुष अपनेसे भागता है यह जो वर्णन किया है, उससे अपने वासनारूपी प्रहारोंसे मन भागता है, यह दर्शाया है ॥ ३५ ॥

स्वयं प्रहरति स्वान्तं स्वयमेव स्वयेच्छया।
पलायते स्वयं चैव पश्याऽज्ञानविजृम्भितम् ॥ ३६ ॥
स्ववासनोपतप्तानि सर्वाण्येव मनांसि हि।
स्वयमेव पलायन्ते गन्तुं युक्तानि तत्पदम् ॥ ३७ ॥
यदिदं विततं दुःखं तत्तनोति स्वयं मनः।
स्वयमेवाऽतिखिन्नं तु पुनस्तस्मात् पलायते ॥ ३८ ॥
सङ्कल्पवासनाजालैः स्वयमायाति बन्धनम्।
मनो लालामयैर्जालैः कोशकारकृमिर्यथा ॥ ३९ ॥
यथाऽनर्थमवाप्नोति तथा क्रीडति चञ्चलम्।
भाविदुःखमपश्यन् स्वं दुर्लीलाभिरिवाऽर्भकः ॥ ४० ॥
अपश्यन् काष्ठरन्ध्रस्थवृषणाक्रमणं यथा।
कीलोत्पाटी कपिर्दुःखमेतीदं हि तथा मनः ॥ ४१ ॥

मन अपने-आप अपनी इच्छासे अपने ऊपर प्रहार करता है और स्वयं भागता है, अज्ञानकी महिमाको तो देखिये ॥ ३६ ॥

यद्यपि मनोंमें ब्रह्मपदका ज्ञान प्राप्त करनेकी स्वरूपयोग्यता है, तथापि सभी मन अपनी-अपनी वासनासे सन्तप्त हैं यानी विक्षोभित हैं; अतएव स्वयं ही भागते हैं ॥ ३७ ॥

जो यह दुःख विस्तारको प्राप्त हुआ है, उसको मन ही स्वयं बढ़ाता है। फिर स्वयं ही खिन्न होकर उससे भागता है। जैसे रेशमका कीड़ा अपनी लारके जालोंसे स्वयं ही बन्धनमें पड़ता है वैसे ही मन अपने संकल्पवासनाजालोंसे स्वयं ही बन्धनमें पड़ता है ॥ ३९ ॥

जैसे बालक अपने ऊपर पड़नेवाले अनर्थ (दण्ड) की कोई परवाह न कर नानाविध दुर्लीलाओंसे खेलता है और अनर्थको प्राप्त होता है वैसे ही चञ्चल मन भी अपने भावी दुःखकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर जैसे-जैसे अनर्थको प्राप्त होता है वैसे-वैसे दुष्ट लीलाओं द्वारा खेल करता है ॥ ४० ॥

इस विषयमें लौकिक गाथाका उदाहरण देते हैं—'अपश्यन्' इत्यादिसे।

जैसे आधे चीरे हुए खम्भेमें डाली हुई कीलको उखाड़नेवाला वानर, यह ध्यानमें न रख कि कील निकालनेसे काठके छिद्रके बीचमें स्थित मेरे वृषण

चिरपालनया चैव चिरभावनया तथा ।
अभ्यासात्तुच्छतामेत्य न भूयः परिशोचति ॥ ४२ ॥
मनःप्रमादाद् वर्धन्ते दुःखानि गिरिकूटवत् ।
तद्वशादेव नश्यन्ति सूर्यस्याऽग्रे हिमं यथा ॥ ४३ ॥
यावज्जीवमनिन्द्यया च रमते शास्त्रार्थसंजातया
तुल्यं वासनया मनो हि मुनिवन्मौनेन रागादिषु ।
पश्चात् पावनपावनं पदमजं तत्प्राप्य तच्छीतलं
तत्संस्थेन न शोच्यते पुनरलं पुंसा महापत्स्वपि ॥ ४४ ॥
इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे
चित्तोपाख्यानं नामैकोनशततमः सर्गः ॥ ९९ ॥



दब जायँगे, दुःख पाता है, वही दशा मनकी भी है * ॥ ४१ ॥

यदि कोई कहे कि योग आदिसे निरुद्ध भी चित्त विक्षेपों द्वारा यदि भागता है, तो परमपद प्राप्तिरूप इष्टसिद्धि कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—'चिर०' इत्यादिसे ।

एक बारके निरोधसे इष्टसिद्धि नहीं होती है, किन्तु चिरकालतक निरोधकी रक्षा करनेसे और चिरकालतक असङ्ग अद्वितीय आत्माकी भावनासे अभ्यासवश तुच्छताको प्राप्त (ज्ञानसे बाध्य) होकर फिर मन शोक नहीं करता है ॥ ४२ ॥

मन ही प्रमाद और विवेकसे बन्ध और मोक्षको धारण करता है, यह फलित अर्थ कहते हैं—'मनः' इत्यादिसे ।

मनके प्रमादसे विविध दुःख पर्वतके शिखरके समान बढ़ते हैं और विवेकसे जैसे सूर्यके सामने बर्फ गल जाता है वैसे ही सब दुःख गल जाते हैं ॥ ४३ ॥

यदि मन शास्त्रोंके अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई श्लाघनीय वासनासे सराबोर

* जंगलमें बढ़ई आदि बड़े-बड़े बल्लोंको आरेसे चीरते हैं । चीरनेके समय आरा सरलतासे आर-पार आ जा सके एतदर्थ चीरे हुए काठके मध्यमें कील दे दी जाती है । किसी समयकी घटना है कि चीरनेवाले लोग एक बड़े बल्लेको आधा चीर कर उसके बीचमें एक कील देकर भोजन करनेके लिए अन्यत्र चले गये थे । एक चञ्चलबुद्धि वानर उस चीरे हुए बल्लेपर बैठकर उस कीलको हाथसे हिलाने लगा । उसके अण्डकोष चीरे हुए बल्लेके बीचमें थे । बार बार कीलको हिलानेसे कील निकल गई, उससे मध्यमें स्थित उसके वृषण दब जानेसे वह मर गया । इस मरणरूपी दुःखका उसने जैसे स्वयं आवाहन किया, वैसे ही मन भी नाना प्रकारके दुःखोंका स्वयं आवाहन करता है ।

शततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तमेतदुपायातं ब्रह्मणः परमात् पदात् ।
अतन्मयं तन्मयं च तरङ्गः सागरादिव ॥ १ ॥
प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरत् ।
जलसामान्यबुद्धीनामब्धेर्नाऽन्यस्तरङ्गकः ॥ २ ॥

होकर राग आदि विषयोंमें निरोधसे जीवनपर्यन्त मुनिकी नाई रमता है, तो पीछे तत्त्वज्ञानसे परम पवित्र, जन्म आदि विकारोंसे शून्य अतएव तीनों प्रकारके तापोंके स्पर्शसे रहित परिपूर्ण ब्रह्मपदको प्राप्त कर उसमें स्थित यानी जीवन्मुक्त पुरुषको प्रलय आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियोंमें भी शोक नहीं होता, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी पुरुष शोकको पार कर जाता है) ऐसी श्रुति है ॥ ४४ ॥

निनानबे सर्ग समाप्त

सौ सर्ग

[मनकी शक्तिसे ब्रह्मकी सर्वशक्तिताका तथा एकमात्र अज्ञानसे अद्वितीय ब्रह्ममें बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पनाका वर्णन]

बन्ध और मोक्षकी कल्पना मनके अधीन ही है, ऐसा जो पीछे कहा था, उसमें उपपत्ति दिखलाते हैं- —'**चित्तम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा —वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सागरसे जलकी विकाररूप और जलसत्ताकी विवर्तरूप तरङ्गें उठती हैं वैसे ही परमपदरूप ब्रह्मसे यह चित्त, जो कि अब्रह्मभूत अज्ञानका विकार और शुद्ध ब्रह्मका विवर्त है, आया है ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तरङ्गसत्ता जलकी सत्तासे अतिरिक्त नहीं है ऐसा समझनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें तरङ्ग समुद्रसे भिन्न नहीं है, वैसे ही इस लोकमें ज्ञानी (चित्तकी सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न नहीं है, यह जाननेवाले) पुरुषोंका चित्त ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥ २ ॥

मनो रामाऽप्रबुद्धानां संसारभ्रमकारणम् ।
अपश्यतोऽम्बुसामान्यमन्यताऽम्बुतरङ्गयोः ॥ ३ ॥
अप्रबुद्धदृशां पक्षे तत्प्रबोधाय केवलम् ।
वाच्यवाचकसम्बन्धकृतो भेदः प्रकल्प्यते ॥ ४ ॥
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम् ।
न तदस्ति न तस्मिन् यद् विद्यते विततात्मनि ॥ ५ ॥
सर्वशक्तिर्हि भगवान् यैव तस्मै हि रोचते ।
शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥ ६ ॥
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते ।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जडशक्तिस्तथोपले ॥ ७ ॥
द्रवशक्तिस्तथाऽम्भःसु तेजःशक्तिस्तथाऽनले ।
शून्यशक्तिस्तथाऽऽकाशे भावशक्तिर्भवस्थितौ ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे जल और तरङ्गमें, जलसत्ताको न देख रहे पुरुषको, भेद प्रतीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुषोंका मन संसारभ्रमका कारण है ॥ ३ ॥

उपदेश्य, उपदेशक, शब्द, अर्थ आदि शास्त्रीय व्यवहारकी कल्पना भी अज्ञानियोंका अवलम्बन करके ही है, तत्त्वदृष्टिमें नहीं है, ऐसा कहते हैं —**'अप्रबुद्धदृशाम्'** इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंके पक्षमें केवल उनके उपदेशके लिए वाच्य-वाचकसम्बन्धसे उत्पन्न भेदकी कल्पना की जाती है ॥ ४ ॥

अज्ञात ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत्का कारण है, ज्ञात नहीं, इस आशयसे अज्ञात ब्रह्मकी ही सर्वशक्तिशालिताका उपपादन करते हैं- -**'सर्वशक्ति'** इत्यादिसे ।

नित्य परिपूर्ण अविनाशी परमब्रह्म सर्वशक्तिशाली है । उस सर्वव्यापक ब्रह्ममें जो नहीं है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है ॥ ५ ॥

भगवान् सर्वशक्तिशाली हैं, उनको जब जो शक्ति रुचती है, सर्वव्यापी वे उसी शक्तिको कार्यरूपमें प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

हे रामचन्द्रजी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंमें ब्रह्मकी चित्-शक्ति दिखाई देती है । वायुओंमें ब्रह्मकी स्पन्दशक्ति, पत्थरमें जड़शक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें तेजःशक्ति, आवरणरहित होनेके कारण आकाशमें

ब्रह्मणः सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता ।
नाशशक्तिर्विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकिषु ॥ ९ ॥
आनन्दशक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे ।
सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता ॥ १० ॥
फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान् ।
वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ११ ॥
प्रतिभासवशादेव मध्यस्थं चित्त्वजाड्ययोः ।
जीवेतराभिधं चित्तमन्तर्ब्रह्मणि दृश्यते ॥ १२ ॥
नानातरुलतागुल्मजालपल्लवशालयः ।
निर्विकल्पकचिन्मात्रं नानाऽनिर्ज्ञातकल्पना ॥ १३ ॥
ब्रह्मैवेदमहं तत्त्वं जगत् पश्याऽद्य राघव ।
स आत्मा सर्वगो नाम नित्योदितमहावपुः ॥ १४ ॥

शून्यशक्ति यानी सर्वावरणशक्ति और जगत्स्थितिमें भावशक्ति ('है' इस प्रकारकी व्यवहारयोग्यता) है ॥ ७, ८ ॥

ब्रह्मकी सर्वशक्ति दसों दिशाओंमें ओत-प्रोत दिखाई देती है । विनाशोंमें उनकी विनाशशक्ति दिखाई देती है, शोकयुक्त पुरुषोंमें शोकशक्ति, प्रसन्न जीवमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, विविध सृष्टियोंमें सर्गशक्ति, प्राकृत प्रलयमें प्रकृतिमें उनकी सर्वशक्तिता है, क्योंकि वही सब कार्योंकी बीजभूत है ॥ ९,१० ॥

जैसे वृक्षके बीजमें फल, फूल, लता, पत्ते, शाखा, प्रशाखाएँ और तनेसे युक्त वृक्ष रहता है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें स्थित है ॥ ११ ॥

ब्रह्मके प्रथम कार्य चित्तमें चित्त्व और जड़ता दिखाई देनेसे भी अज्ञात ही ब्रह्म जगत्का कारण है, इस आशयसे कहते हैं—**'प्रतिभास०'** इत्यादिसे ।

चित्ता और जाड्यके मध्यमें स्थित मन, जिसका दूसरा नाम जीव है, अज्ञान-साक्षीके कारण ही ब्रह्मके मध्यमें दिखाई देता है ॥ १२ ॥

चूँकि वृक्ष, झाड़ी आदि दृश्य प्रपञ्च अज्ञातचिद्विवर्त है, अतः एकमात्र चित् ही तत्त्व है, ऐसा कहते हैं—**'नाना०'** इत्यादिसे ।

विविध वृक्ष, लता, झाड़ियाँ, पल्लव और पेड, पौधे आदि अज्ञात तत्त्वमें यह नाना कल्पना है, अतः निर्विकल्पक चिन्मात्र ही है ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, अब इस जगत्को और 'अहम्' रूपसे भासित हो रहे जीव

यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ।
पिच्छभ्रान्तिर्यथा व्योम्नि पयस्यावर्तधीर्यथा ॥ १५ ॥
प्रतिभासकलामात्रं मनो जीवस्तथाऽऽत्मनि ।
यदेतन्मनसो रूपमुदितं मननात्मकम् ॥ १६ ॥
ब्राह्मी शक्तिरसौ तस्माद् ब्रह्मैव तदरिन्दम ।
इदं तदहमित्येव विभागः प्रतिभासजः ॥ १७ ॥
मनसो ब्रह्मणोऽन्यच्च मोहे परमकारणम् ।
यद्यच्चैतन्मनस्येव किञ्चित् सदसदात्मकम् ॥

तत्त्वको आप ब्रह्मरूप ही देखिये, वह ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है । वह आत्मा सर्वव्यापक है और उसका अनन्तस्वरूप नित्य प्रकाशमान है ।

ब्रह्म ही तत्-तत् शक्तियोंसे भ्रान्तिवश मन आदि शब्दोंसे पुकारा जाता है, वह ब्रह्मसे अतिरिक्त नही है, ऐसा कहते हैं—**'यत्'** इत्यादिसे ।

वह जब तनिक मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलाता है । जैसे आकाशमें भ्रमवश मोरके परोंकी प्रतीति होती है और जलमें आवर्तबुद्धि होती है, वैसे ही ब्रह्ममें मनकी प्रतीति होती है । आत्मामें जीव और मन यह केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं है । जो यह मनका मननात्मक रूप उदित हुआ है, वह ब्राह्मी शक्ति ही है । इसलिए हे रिपुनिसूदन, वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नही है । शक्ति और शक्तिके कार्यमें अभेद है, अतः 'इदम्' (यह) यों सामने स्थितरूपसे, 'तत्' (वह) यों परोक्षरूपसे और 'अहम्' (मैं) यों प्रत्यगात्माके अभेदसे प्रतीत हो रहा तीन प्रकारका जो दृश्यविभाग है, वह प्रातिभासिक ही है, वास्तविक नहीं है ॥ १४ -१७ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि काम, कर्मवासना आदि भी द्वैतप्रपञ्चके हेतु सुने जाते हैं, ऐसी अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ही प्रपञ्चकी हेतु है, यह कैसे कहा ? इसपर कहते हैं—**'मनसः'** इत्यादिसे ।

मनके यानी जीवके और ब्रह्मके भेद आदि भ्रममें अन्यान्य काम आदि जो कुछ भी परम कारण लोकमें कहे गये हैं, मनमें ही आविर्भाव और तिरोभाव होनेके कारण सदसदात्मक उन सबको विज्ञ पुरुष सर्वशक्तिशाली ब्रह्मकी पूर्वोक्त ब्रह्मता (बृंहणशक्ति) ही जानते हैं, वे उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ १८ ॥

व्याशब्दितं सर्वशक्तेस्तां शक्तिं ब्रह्मतां विदुः ॥ १८ ॥
मनःसत्तात्मकं नाम यथैतन्मनसि स्थितम् ।
यथर्तोः शक्तयस्तद्वज्जीवेहा ब्रह्मणि स्थिताः ॥ १९ ॥
व्याप्तसर्वर्तुकुसुमा क्ष्मा देशविधिभेदतः ।
यथा दधाति पुष्पाणि तथा चित्तानि लोककृत् ॥ २० ॥
क्वचित् क्वचित् कदाचिद्धि तस्मादायान्ति शक्तयः ।
देशकालादिवैचित्र्यात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥ २१ ॥
न जातं प्रतिभासेन तेनैवाऽन्येन पश्यति ।

यदि कोई शङ्का करे कि काम आदि मनके धर्म हैं, वे ब्रह्ममें स्थित कैसे हो सकते हैं, जिससे कि वे ब्रह्मशक्ति कहे जायँ ? इसपर कहते हैं—'**मनः**' इत्यादिसे।

जैसे मनका सत्तात्मक ब्रह्मरूप नाम संसर्गाध्याससे मनमें स्थित है अथवा जैसे वसन्त आदि ऋतुओंकी शक्तिया वृक्ष आदिमें स्थित हैं वैसे ही मनके धर्म भी ब्रह्ममें स्थित हैं ॥ १९ ॥

यदि सभी मनोधर्म ब्रह्मशक्तियाँ हैं, तो सबका सब जीवोंमें संमिश्रण क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'**व्याप्त०**' इत्यादिसे ।

यद्यपि पृथिवीमें सब ऋतुओंके फूलोंकी शक्ति व्याप्त है तथापि वह जैसे तत्-तत् प्रदेशोंके बीजोंके संस्कार आदिके नियमभेदसे तत्-तत् कालमें व्यवस्थाके साथ ही फूल आदिको धारण करती है, सबको एक साथ धारण नहीं करती, वैसे ही लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्म भी चित्तकी शक्तियोंको व्यवस्थासे ही धारण करते हैं; सबको सांकर्यसे धारण नहीं करते हैं ॥ २० ॥

जैसे देश, काल आदिकी विलक्षणतासे पृथ्वीतलसे धान आदिके पौधे उगते हैं वैसे ही ब्रह्मसे भी कहीं-कहींपर कभी ही उक्त चित्तशक्तियाँ व्यवस्थासे आविर्भूत होती हैं ॥ २१ ॥

यह प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदिस्वरूप जगत्की विचित्रता कल्पना द्वारा मानकर दर्शाई गई है, परमार्थदृष्टिसे यह मनशब्दसे कल्पित ब्रह्मका प्रतिभास-मात्र ही है। जो केवल प्रतिभासमात्र है, उसमें वास्तविकताका संभव नहीं है । अतः प्रातिभासिक यह जगज्जाल न तो उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कोई किसीसे इसे देखता है । पूर्वोक्त जगद्वैचित्र्य मनशब्दसे कल्पित ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है,

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यारूपादयश्च ये ॥ २२ ॥
मनःशब्दैः प्रकल्प्यन्ते ब्रह्मजान् ब्रह्म विद्धि तान् । २३ ॥
यथा यथाऽस्य मनसः प्रतिभासः प्रवर्तते ।
तथा तथैव भवति दृष्टान्तोऽत्र किलैन्दवाः ॥ २४ ॥
स्वयमक्षुब्धविमले यथा स्पन्दो महाम्भसि ।
संसारकारणं जीवस्तथाऽयं परमात्मनि ॥ २५ ॥
ज्ञस्य सर्वं चितं राम ब्रह्मैवाऽऽवर्तते सदा ।
कल्लोलोर्मितरङ्गौघैरब्धेर्जलमिवाऽऽत्मनि ॥ २६ ॥

अतः केवल ब्रह्मरूप ही है, ऐसा आप जानिये; यों श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—**'न जातम्'** इत्यादिसे ।

प्रतिभाससे जो उत्पन्न हुआ है वह उत्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि प्रातिभासिक (मृगतृष्णा आदि) में वास्तविकता नहीं हो सकती है, अथवा न किसीको किसी दूसरे करण आदिसे कोई देखता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस अवस्थामें इसका सब आत्मा ही हो गया वहांपर किसको किससे देखे) ऐसी श्रुति है। प्रतियोगी, भेद, संख्या, रूप आदि जो कुछ पदार्थजात हैं, उनकी कल्पना मनःशब्दकल्पित ब्रह्मसे होती है, अतः उनको आप ब्रह्म ही जानिये ॥ २२,२३ ॥

इस मनका जैसा-जैसा प्रतिभास होता है वैसा-वैसा ही यह हो जाता है, इसमें ऐन्दव* ब्राह्मण दृष्टान्त हैं ॥ २४ ॥

जैसे निश्चल और निर्मल जलराशिमें अपने-आप स्पन्द (कम्पन) होता है वैसे ही परमात्मामें यह जीव भी उत्पन्न हुआ है, यही संसारका कारण है, भाव यह है कि जगत्की कल्पना करनेवाला जीव ही जब ब्रह्मसे भिन्न नहीं है तब उससे कल्पित जगत् ब्रह्मसे भिन्न कैसे होगा ? ॥ २५ ॥

जैसे सागरका जल कल्लोल, लहर और तरङ्गके रूपमें चारों ओर स्थित रहता है वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सारा प्रपञ्च परिपूर्ण ब्रह्म ही चारों ओरसे विद्यमान है, प्रपञ्च परिपूर्ण ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है ॥ २६ ॥

---

* ऐन्दवोंका आख्यान पीछे कहा गया है ।

द्वितीया नाऽस्ति सत्तैका नामरूपक्रियात्मिका ।
परे नानातरङ्गेऽब्धौ कल्पनेव जलेतरा ॥ २७ ॥
जायते नश्यति तथा यदिदं याति तिष्ठति ।
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते ॥ २८ ॥
स्वात्मन्येवाऽऽतपस्तीव्रो मृगतृष्णिकया यथा ।
विचित्रेण विचित्रोऽपि प्रस्फुरत्यात्मना तथा ॥ २९ ॥
करणं कर्म कर्ता च जननं मरणं स्थितिः ।
सर्वं ब्रह्मैव नह्यस्ति तद्विना कल्पनेतरा ॥ ३० ॥
न लोभोऽस्ति न मोहोऽस्ति न तृष्णाऽस्ति न रञ्जना ।
क आत्मन्यात्मनो लोभस्तृष्णा मोहोऽथवा कुतः ॥ ३१ ॥
आत्मैवेदं जगत् सर्वमात्मैव कलनाक्रमः ।
हेमाऽङ्गदतयेवाऽयमात्मोदेति मनस्तया ॥ ३२ ॥

जैसे विविध तरङ्गोंसे व्याप्त विशाल सागरमें जलसे अतिरिक्त कोई कल्पना नहीं है यानी जलसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, एकमात्र जल ही है, वैसे ही परम ब्रह्ममें नामरूपात्मक दूसरी सत्ता नहीं है, किन्तु एक ही सत्ता है ॥ २७ ॥

जो यह जगज्जाल उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, गमन करता है, स्थित होता है वह ब्रह्ममें ब्रह्म ही ब्रह्मसे अवास्तविकरूपसे भासित होता है ॥ २८ ॥

जैसे प्रचण्ड घाम अपनेमें ही मृगतृष्णारूपसे स्फुरित होता है वैसे ही नाम-रूपरहित ब्रह्म भी अपने-आप जगद्वैचित्र्यरूपसे स्फुरित होता है ॥ २९ ॥

करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति, सब ब्रह्म ही है, उसके सिवा कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं ॥ ३० ॥

न लोभ है, न मोह है, न तृष्णा है और न अत्यन्त आसक्ति है । आत्मामें आत्माका लोभ कैसा अथवा आत्मामें आत्माकी तृष्णा या मोह कैसे हो सकता है ? दूसरेके अभावमें लोभ, मोह आदिकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥ ३१ ॥

यह सारा जगत् आत्मा ही है । जो कुछ यह कल्पनाक्रम है, वह सब आत्मा ही है, बहुत क्या कहें, जैसे सुवर्ण अङ्गद (बाजूबन्द) रूपसे उदित होता है, वैसे ही आत्मा मनरूपसे उदित हुआ है ॥ ३२ ॥

अबुद्धं यत्परं धाम तच्चित्तं जीव उच्यते ।
अपरिज्ञात एवाऽऽशु बन्धुरायात्यबन्धुताम् ॥ ३३ ॥
चिन्मयेनाऽऽत्मनाऽज्ञेन स्वसङ्कल्पनया स्वयम् ।
शून्यता गगनेनेव जीवता प्रकटीकृता ॥ ३४ ॥
आत्मैवाऽनात्मवदिह जीवो जगति राजते ।
द्वीन्दुत्वमिव दुर्दृष्टेः सच्चाऽसच्च समुत्थितम् ॥ ३५ ॥
मोहार्थशब्दार्थदृशोरेतयोरत्यसंभवात् ।
सत्यत्वादात्मनश्चैव क्वाऽऽत्मा बद्धः क्व मुच्यते ॥ ३६ ॥
नित्यासंभवबन्धस्य बद्धोऽस्मीति कुकल्पना ।
यस्य काल्पनिकस्तस्य मोक्षो मिथ्या न तत्त्वतः ॥३७॥

जैसे बन्धु ही क्यों न हो, यदि यह मेरा बन्धु है, ऐसा ज्ञान न हो तो वह शीघ्र ही अबन्धु हो जाता है, वैसे ही अज्ञानसे आवृत जो परम धाम (पर ब्रह्म) है, वही चित्त और जीव नामसे कहा जाता है, यानी अज्ञानवश ब्रह्ममें ही जीवभाव, चित्तभाव आदि उदित हुए हैं ॥ ३३ ॥

अशून्य भी आकाश जैसे अपनी शून्यता प्रकट करता है, वैसे ही अज्ञानावृत चिन्मय आत्माने अपनी कल्पनासे स्वयं जीवता प्रकट की है ॥ ३४ ॥

आत्मा ही इस जगत्में अनात्मभूत अहङ्कारके अभेदसे अनात्माकी नाईं जीव-रूपसे विराजमान है । जैसे दृष्टिके दोषसे एक ही चन्द्रमा दो रूपोंसे प्रकटित होता है, वैसे ही अज्ञानवश वह आत्मा ही दो रूपोंसे प्रकट होता है । द्वितीय रूपसे (विषयरूपसे) वह असत् है और परमार्थरूपसे सत् है ॥ ३५ ॥

व्यामोहजनित बन्ध-मोक्षशब्दार्थदृष्टियोंका आत्मामें अत्यन्त असम्भव है, तथा आत्मा सत्य है, इस कारण कहाँ आत्मा बद्ध होता है और कहाँ मुक्त होता है यानी आत्माके बन्ध और मोक्षकी कल्पना अज्ञानविजृम्भित है ॥ ३६ ॥

जिसका बन्धन होना कभी सम्भव नहीं है, उसकी 'मैं बद्ध हूं' यह कुकल्पना नहीं है तो और क्या है ? जिसका बन्ध काल्पनिक है, उसका मोक्ष भी मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है, तब मोक्ष कैसा ? भाव यह कि परमार्थदृष्टिसे कल्पना-प्रसूत बन्ध और मोक्ष दोनों तुच्छ हैं, क्योंकि "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥" ऐसी श्रुति है ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

मनो यं निश्चयं याति तत्तद् भवति नाऽन्यथा ।
तेन काल्पनिको नाऽस्ति बन्धः कथमिह प्रभो ॥ ३८ ॥

वसिष्ठ उवाच

मिथ्या काल्पनिकीवेयं मूर्खाणां बन्धकल्पना ।
मिथ्यैवाऽभ्युदिता तेषामितरा मोक्षकल्पना ॥ ३९ ॥
एवमज्ञानकादेवं बन्धमोक्षदृशोऽस्मृतेः ।
वस्तुतस्तु न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति महामते ॥ ४० ॥

चूंकि पहले यौक्तिक दृष्टिसे काल्पनिक अनिर्वचनीय बन्धका विस्तारसे उपपादन किया गया है, अतएव काल्पनिक होते हुए भी बन्धकी तुच्छत्वोक्तिका सहन न कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'मनः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, आप पहले विस्तारसे कह आये हैं कि मन जिस निश्चयको प्राप्त होता है, वही हो जाता है । उसमें कुछ भी अन्तर नही पड़ता है । इससे यहां काल्पनिक बन्ध नहीं है, यह आपने कैसे कहा ? ॥ ३८ ॥

यौक्तिकदृष्टिकी लौकिकदृष्टिकी दृढताका विघटन करनेके लिए परमार्थदृष्टिके द्वाररूपसे कल्पना की गई है, इसलिए वहींपर उसकी विश्रान्ति नही है, किन्तु श्रुति द्वारा प्रतिपादित बन्धकी तुच्छतादृष्टिमें विश्रान्ति है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'मिथ्या०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नकी कल्पना जाग्रद्दृष्टिसे तुच्छ हो जाती है, वैसे ही अज्ञानियोंकी यह बन्धकी कल्पना मिथ्या है, इसलिए उनकी दूसरी मोक्षकल्पना भी मिथ्या ही उदित हुई है ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे तुच्छ अज्ञानसे ही बन्ध और मोक्षकी दृष्टिया उत्पन्न हुई हैं । 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' (असत्की सत्ता नहीं होती और सत्का अभाव नहीं होता, इन दोनोंका ही निर्णय तत्त्वदर्शियोंने देखा है) इस स्मृतिके विरोधसे सत्-असत्के मध्यवर्ती अनिर्वचनीयतामें यौक्तिक दृष्टिकी विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतएव हे महामते, वस्तुतः न तो बन्ध है और न मोक्ष है ॥ ४० ॥

कल्पनाया अवस्तुत्वं संप्रबुद्धमतिं प्रति ।
रज्ज्वहेरिव हे प्राज्ञ तत्त्वबुद्धमतिं प्रति ॥ ४१ ॥

बन्धमोक्षादिसंमोहो न प्राज्ञस्याऽस्ति कश्चन ।
संमोहबन्धमोक्षादि ह्यज्ञस्यैवाऽस्ति राघव ॥ ४२ ॥

आदौ मनस्तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग बालजनोदितेव ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सा-पूर्वकं चित्तोत्पत्तिवर्णनं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥



हे महामते, जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध है, यानी जो ज्ञानी है, उसके प्रति रज्जुमें सर्पकी कल्पनाके तुल्य बन्ध-मोक्षकी कल्पना अवास्तविक (तुच्छ) है, पूर्वोक्त अविर्वचनीयता तो अबुद्धमति यानी अज्ञानीके प्रति ही है, ज्ञानीके प्रति नही है ॥ ४१ ॥

हे रघुवर, बुद्धिमान्को (ज्ञानीको) बन्ध, मोक्ष आदिका संमोह कुछ भी नहीं होता है, मोहजनित बन्ध, मोक्ष आदि अज्ञानीको ही होते हैं ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्त अर्थमें बालकाख्यायिकाकी अवतारणा करते हुए श्रीवसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—**'आदौ'** इत्यादि ।

हे सुन्दरतम श्रीरामचन्द्रजी, पहले मन हुआ, तत्पश्चात् बन्ध और मोक्षकी दृष्टि हुई, तदनन्तर प्रपञ्चकी रचना हुई, जिसका कि भुवन नाम पड़ा इत्यादि यह बन्धकी स्थिति बालकके लिए धायसे कही गई आख्यायिकाके समान बद्धमूल हुई है ॥ ४३ ॥

सौ सर्ग समाप्त



एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ बालकाख्यायिकाक्रमः ।
क्रमेण कथयैतन्मे मनोवर्णनकारणम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

कोऽपि मुग्धमतिर्बालो धात्रीं पृच्छति राघव ।
काञ्चिद् विनोदिनीं धात्रि वर्णयाऽऽख्यायिकामिति ॥ २ ॥
सा बालस्य विनोदाय धात्री तस्य महामते ।
आख्यायिकां कथयति प्रसन्नमधुराक्षराम् ॥ ३ ॥
क्वचित् सन्ति महात्मानो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ।
धार्मिकाः शौर्यमुदिता अत्यन्तासति पत्तने ॥ ४ ॥

एक सौ एक सर्ग

[वस्तुत अर्थशून्य होती हुई भी सङ्कल्पसे सैकड़ों विकल्पवाली सृष्टिका बालकाख्यायिकारूप दृष्टान्तवर्णन]

संकल्प-विकल्परूप मनका सङ्कल्प ही मूल है । सङ्कल्पका निरोध करनेपर मूलका उच्छेद हो जानेके कारण विकल्पोंके न उठनेपर निर्विकल्पक पदमें स्थिति प्राप्त होती है, यह सूचन करनेके लिए पूर्व सर्गमें अवतारित बालकाख्यायिकाको सुननेकी इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**किमुच्यते**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिश्रेष्ठ, बालकाख्यायिकाका दृष्टान्त लोकमें किस प्रकारका कहा जाता है । मनके वर्णनमें कारणरूप उसे आप कृपा कर क्रमशः मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, किसी युक्तायुक्तविचारशून्य बालकने अपनी धायसे कहा—दाई, मन बहलानेवाली कोई कथा सुनाओ ॥ २ ॥

महामते, उस बालकके मनोविनोदके लिए दाईने सरल और कोमल पदोंसे युक्त आख्यायिका कही ॥ ३ ॥

कहीं अत्यन्त असत् नगरमें तीन बड़े सुन्दर राजकुमार थे । वे बड़े मनस्वी,

विस्तीर्णे शून्यनगरे व्योम्नीव जलतारकाः ।
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न संस्थितः ॥ ५ ॥
अथाऽत्युत्तमलाभार्थं कदाचित् समवायतः ।
विबन्धवः खिन्नमुखाः शोकोपहतचेतसः ॥ ६ ॥
ते तस्माच्छून्यनगरान्निर्गता विततानना: ।
गगनादिव संश्लिष्टा बुधशुक्रशनैश्चराः ॥ ७ ॥
शिरीषसुकुमाराङ्गाः पृष्ठतोऽर्केण तापिताः ।
मार्गेऽहनि गता ग्रीष्मतापार्ताः पल्लवा इव ॥ ८ ॥
संतप्तमार्गसिकतादग्धपादसरोरुहाः ।
हा तात चेति शोचन्तो मृगा यूथच्युता इव ॥ ९ ॥
दर्भाग्रभिन्नचरणास्तापखिन्नाङ्गसन्धयः ।
उल्लङ्घ्य दूरमध्वानं धूलिधूसरमूर्तयः ॥ १० ॥
मञ्जरीजालजटिलं फलपल्लवमालितम् ।
मृगपक्षिगणाधारं प्रापुर्मार्गे तरुत्रयम् ॥ ११ ॥

धार्मिक और शौर्यसम्पन्न थे । जैसे आकाशमें जलमय तारे होते हैं वैसे ही उस विस्तीर्ण शून्य नगरमें वे रहते थे। उनमें से दो उत्पन्न ही नहीं हुए और एक माँके गर्भमें भी स्थित नहीं हुआ । किसी समय, जब कि दुर्भाग्यवश उनके बन्धुबान्धव मर गये थे, दुर्भिक्ष आदिसे मलिनवदन हुए वे अपने नागरिकोंके समाजसे किसी उत्तम दूसरे नगरकी प्राप्तिके लिए निकले। जैसे आकाशसे परस्पर मिले हुए बुध, शुक्र और शनैश्चर निकलते हैं वैसे ही विशालवदनवाले वे तीनों राजकुमार उस शून्य नगरसे निकले। शिरीषके फूलके समान उनके अङ्ग सुकुमार थे, अतएव पीछेसे सूर्यके संतापसे सन्तप्त हुए वे ग्रीष्मके सन्तापसे सन्तप्त हुए पल्लवोंकी नाईं मार्गमें मुरझा गये॥४- ८॥

खूब तपी हुई मार्गकी बालूसे उनके चरणकमल जल गये, अतएव यूथसे अलग हुए मृगोंकी नाईं हा तात ! आदि कहकर वे शोक कर रहे थे । कुशके अग्र भागसे उनके चरण विध गये थे । सूर्यके प्रचण्ड तापसे अङ्गोंके सब जोड़ शिथिल हो गये थे । उनका सर्वाङ्ग धूलीसे धूसर हो गया था । लम्बे मार्गको तय कर उन्होंने मार्गमें फूलोंकी मञ्जरियोंसे व्याप्त, फल और पल्लवोंसे अलङ्कृत तथा मृग और पक्षियोंके निवासभूत तीन पेड़ पाये ॥ ९- ११ ॥

यस्मिन् वृक्षत्रये वृक्षौ द्वौ न जातौ मनागपि ।
बीजमेव तृतीयस्य स्वारोहस्य न विद्यते ॥ १२ ॥
विश्रान्तास्ते परिश्रान्तास्तत्रैकस्य तरोरधः ।
पारिजाततले स्वर्गे शक्रानिलयमा इव ॥ १३ ॥
फलान्यमृतकल्पानि भुक्त्वा पीत्वा च तद्रसम् ।
कृत्वा गुलुच्छकैर्मालां चिरं विश्रम्य ते ययुः ॥ १४ ॥
पुनर्दूरतरं गत्वा मध्याह्ने समुपस्थिते ।
सरित्त्रितयमासेदुस्तरङ्गतरलारवम् ॥ १५ ॥
तत्रैका परिशुष्कैव मनागप्यम्बु न द्वयोः ।
विद्यते सरितोर्दृष्टिरन्धलोचनयोरिव ॥ १६ ॥
परिशुष्का भृशं याऽसौ तस्यां ते सस्नुरादृताः ।
घर्मार्ता इव गङ्गायां ब्रह्मविष्णुहरा इव ॥ १७ ॥
चिरं कृत्वा जलक्रीडां पीत्वा क्षीरोपमं पयः ।
जग्मुस्ते राजतनयाः प्रहृष्टमनसः स्वयम् ॥ १८ ॥

जिन तीन वृक्षोंमें से दो वृक्ष तो बिलकुल भी उत्पन्न नहीं हुए थे, मुखसे चढ़ने योग्य तीसरे वृक्षका बीज भी न था ॥ १२ ॥

वे बहुत थके थे, अतएव एक वृक्षके नीचे उन्होंने ऐसे विश्राम लिया जैसे कि स्वर्गमें पारिजात वृक्षके नीचे इन्द्र, वायु और यम विश्राम लेते हैं ॥ १३ ॥

अमृतके तुल्य सुस्वादु फल खाकर, उनका रस पीकर और गुलुच्छ नामकी लताके बौरोंसे माला पिरोकर तथा बहुत देरतक वहां आराम कर वे वहांसे चले गये ॥ १४ ॥

फिर बहुत दूर जाकर मध्याह्न होनेपर उन्हें तीन नदियाँ, जो लहरोंसे चञ्चल और मुखरित थी, मिलीं। उनमें एक नदी बिलकुल सूखी ही थी और दोमें जैसे अन्धेके नेत्रगोलकोंमें दर्शनेन्द्रिय नहीं होती है वैसे ही तनिक भी जल न था ॥ १५, १६ ॥

जो नदी अत्यन्त सूखी थी, उसमें उन्होंने घामसे पीड़ित लोगोंकी तरह बड़े प्रेममें ऐसे स्नान किया जैसे कि गङ्गाजीमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश स्नान करते हैं ॥१७॥

अभिलषित नगरकी प्राप्तिके लिए उत्सुक वे राजपुत्र चिरकाल तक जलक्रीड़ा

अथाऽऽसेदुर्दिनस्याऽन्ते लम्बमाने दिवाकरे ।
भविष्यन्नवनिर्माणं नगरं नगसन्निभम् ॥ १९ ॥

पताकापद्मिनीव्याप्तं नीलाकाशजलाशयम् ।
दूरश्रुतसमुल्लापगायन्नागरमण्डलम् ॥ २० ॥

ददृशुस्तत्र रम्याणि त्रीणि सद्भवनानि ते ।
मणिकाञ्चनगेहानि शृङ्गाणीव महागिरेः ॥ २१ ॥

अनिर्मिते द्वे सदने एकं निर्भित्ति तत्र वै ।
अभित्तिमन्दिरं चारु प्रविष्टास्ते नरास्त्रयः ॥ २२ ॥

संप्रविश्योपविश्याऽऽशु विहरन्तो वराननाः ।
प्रापुः स्थालीत्रयं तत्र तप्तकाञ्चनकल्पितम् ॥ २३ ॥

तत्र कर्परतां याते द्वे एका चूर्णतां गता ।
जगृहुश्चूर्णरूपां तां स्थालीं ते दीर्घबुद्धयः ॥ २४ ॥

कर, दूधके तुल्य स्वच्छ जल पीकर वहाँसे चले । तदुपरान्त सायंकालके समय जब कि सूर्य भगवान् अस्ताचल पर लटक रहे थे तब उन्हें पर्वतके तुल्य ऊँचा नगर, जिसकी अभिनव रचना आगे होनेवाली थी, मिला ॥ १८-१९ ॥

उस नगरमें ऊपर तो पताकाएँ व्याप्त थी और नीचे कमलके तालाबके तालाब भरे हुए थे । नीले आकाशके सदृश सुन्दर जलाशय थे । उस नगरके नागरिकोंके दलके-दल गाना गा रहे थे, उनके स्वरोंके आरोहावरोहक्रम दूरसे ही सुनाई दे रहे थे ॥ २० ॥

उस नगरमें उन्होंने तीन रमणीय उत्तम भवन देखे, वे मणि और सुवर्णके घर हिमालय पर्वतके शिखरोंके समान विशाल थे ॥ २१ ॥

उनमें दो भवन तो बने ही न थे, एक बिना भीतका था । भित्तिरहित सुन्दर भवनमें वे तीनों पुरुष प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

उक्त भवनमें शीघ्र प्रवेशकर और बैठ कर विहार कर रहे सुन्दर मुख-कमलवाले उन राजकुमारोंको तपे हुए सोनेसे बनी तीन बटलोहियाँ मिलीं। उनमें से दो के तो दो टुकड़े हो गये थे और एक चूर-चूर हो गई थी । उन महाबुद्धियोंने चूर-चूर हुई बटलोहीको ग्रहण किया ॥ २३,२४ ॥

द्रोणैर्नवनवत्या तैस्तस्यां द्रोणेन चाऽन्धसः ।
तत्र द्रोणशतं हीनं रन्धितं बहु भोजिभिः ॥ २५ ॥
निमन्त्रितास्त्रयस्तैस्तु ब्राह्मणा राजसूनुभिः ।
द्वौ निर्देहावथैकस्य मुखमेव न विद्यते ॥ २६ ॥
निर्मुखेनाऽन्धसस्तत्र भुक्तं द्रोणशतं सुत ।
विप्रभुक्तावशेषं तु भुक्तमन्धो नृपात्मजैः ॥ २७ ॥
त्रिभिस्ते राजपुत्राश्च परां निर्वृतिमागताः ।
भविष्यन्नगरे तस्मिन् राजपुत्रास्त्रयो हि ते ॥
सुखमद्य स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः ॥ २८ ॥
आख्यायिकैषा कथिता मया रम्या तवाऽनघ ।
एतां हृदि कुरु प्राज्ञ विदग्धस्त्वं भविष्यसि ॥ २९ ॥
धात्र्येति कथिता राम बालकाख्यायिका शुभा ।
तुष्टिं जगाम बालश्च शुभाख्यायिकयाऽनया ॥ ३० ॥
एषा हि कथिता राम चित्ताख्यानकथां प्रति ।
बालकाख्यायिका तुभ्यं मया कमललोचन ॥ ३१ ॥

बहुत-सा भोजन करनेवाले उन राजकुमारोंने उस बटलोहीमें निनानबे और एक कम सौ द्रोण चावल पकाये । उक्त राजकुमारोंने तीन ब्राह्मणोंको भोजन करनेके लिए निमन्त्रण दिया । उनमें से दो तो देहरहित थे और एकका मुँह ही न था । वत्स, जिसका मुँह न था, उसने सौ द्रोण अन्न खा डाला । ब्राह्मणके भोजन करनेसे जो अन्न बच गया था, वह उन तीनों राजकुमारोंने खाया । उसे खाकर उन राजकुमारोंको बड़ी तृप्ति हुई । हे पुत्र, उस भावी नगरमें वे तीन राजकुमार सुखशान्तिसे स्थित हैं और मृगयासे क्रीडा करते हैं यानी शिकार खेलते हैं ॥ २५–२८ ॥

हे अनघ वत्स, यह बड़ी सुन्दर आख्यायिका मैंने तुमसे कही है । इसे तुम हृदयङ्गम करो । इससे तुम अवश्य पण्डित हो जाओगे ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, दाईने यह सुन्दर बालकाख्यायिका कही है, इस सुन्दर आख्यायिकासे बालकको भी बड़ा आनन्द हुआ ॥ ३० ॥

हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपके लिए यह बालकाख्यायिका चित्ताख्यानके अनन्तर प्रवृत्त हुई जो जगत्प्रतीतिकी विकल्पमात्रत्वकथा

इयं संसाररचना स्थितिमेवमुपागता ।
बालकाख्यायिकेवोग्रैः सङ्कल्पैर्दृढकल्पितैः ॥ ३२ ॥

विकल्पजालकैवेयं प्रतिभासात्मिकाऽनघ ।
बन्धमोक्षादिकलनारूपेण परिजृम्भते ॥ ३३ ॥

सङ्कल्पमात्रादितरद् विद्यते नेह किञ्चन ।
सङ्कल्पवशतः किञ्चिन्न किञ्चित् किञ्चिदेव वा ॥ ३४ ॥

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
संकल्पकचितं सर्वमेवं स्वप्नवदात्मनः ॥ ३५ ॥

राजपुत्रास्त्रयो नद्यो भविष्यन्नगरे यथा ।
यथा सङ्कल्परचना तथेयं हि जगत्स्थितिः ॥ ३६ ॥

है, उसके उदाहरणरूपसे कही है। विकल्पमात्ररूप यह संसाररचना बालकाख्यायिकाके समान दृढतापूर्वक कल्पित उग्र सङ्कल्पोंसे दृढताको प्राप्त हुई है, वस्तुतः यह कुछ नहीं है ॥ ३१, ३२ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, विकल्परूपी जालोंसे परिपूर्ण यह प्रातिभासिक संसाररचना बन्ध, मोक्ष आदिकी सैकड़ों कल्पनाओंके रूपसे वृद्धिको प्राप्त होती है ॥ ३३ ॥

विकल्प सङ्कल्पोंके कार्य हैं, यानी सङ्कल्पजनित हैं, अतः सङ्कल्पसे पृथक् उनकी सत्ता नहीं है, इस आशयसे कहते हैं **'सङ्कल्पमात्राद्'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः एकमात्र सङ्कल्पके सिवा यहाँ और कुछ नहीं है। जो कुछ विकल्परूप प्रतीत होता है, वह सब सङ्कल्पके कारण ही प्रतीत होता है। जो विकल्पसमूहका भान होता है, वह कुछ भी नहीं है, अथवा कुछ है, कुछ नहीं है अर्थात् रज्जुसर्पके तुल्य मिथ्या है, कुछ है यानी भ्रान्तिका आधार चैतन्य है ॥ ३४ ॥

किञ्च, यह द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ आदि सभी आत्माके स्वप्नके समान सङ्कल्पमय चित्तके सङ्कल्पसे विकसित (स्फुरित) हैं ॥ ३५ ॥

जैसे तीन राजपुत्र, तीन नदियाँ और भविष्यत् नगरमें और और संकल्प रचना हुई वैसे ही यह संसारस्थिति भी संकल्पमय ही है ॥ ३६ ॥

सङ्कल्पमात्रमभितः परिस्फुरति चञ्चलः ।
पयोमात्रात्मकोऽम्भोधिरम्भसीवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ ३७ ॥

सङ्कल्पमात्रं प्रथममुत्थितं परमात्मनः ।
तदिदं स्फारतां यातं व्यापारैर्दिवसं यथा ॥ ३८ ॥

सङ्कल्पजालकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमेव ननु विद्धि विलासचेत्यम् ।
सङ्कल्पमात्रमलमुत्सृज निर्विकल्प
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे बालकाख्यायिका नामैकोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

एकमात्र जलस्वरूप चञ्चल समुद्र अपने स्वरूपभूत जलमें अपने-आप स्फुरित होता है वैसे ही एकमात्र संकल्प ही चारों ओर स्फुरित हो रहा है ॥ ३७ ॥

पहले परमात्मासे एकमात्र संकल्प उदित हुआ । वही संकल्प जैसे दिन सूर्यके व्यापारोंसे और लोगोंके विविध व्यापारोंसे विस्तारको प्राप्त होता है वैसे ही विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

केवल संकल्पके त्यागमात्रसे निर्विकल्पक स्वरूपमें स्थिति होती है, ऐसा दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं —'**सङ्कल्प०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सकल्परूपी जालोंकी रचना ही सम्पूर्ण जगत् है। संकल्पको ही आप राग आदि चित्तवृत्तियाँ और समस्त विषय जानिये। आप एकमात्र संकल्पका पूर्णरूपसे परित्याग कर निर्विकल्पक आत्मज्ञानका, जो कि संकल्पके परित्यागका एकमात्र हेतु है, अवलम्बन कर शान्तिको प्राप्त होइए ॥ ३९ ॥

एक सौ एक सर्ग समाप्त

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वसङ्कल्पवशान्मूढो मोहमेति न पण्डितः ।
अक्षये क्षयसङ्कल्पान्मुह्यते शिशुरेव हि ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

कोऽसौ सङ्कल्पितः केन क्षयो ब्रह्मविदां वर ।
असतैव महामोहं येनाऽऽदात्तत्सदैव हि ॥ २ ॥

एक सौ दो सर्ग

[अहंकार और संकल्पके विनाशके उपायका, अनात्मवर्गके विवेकका तथा परमात्माकी नित्यताका निरूपण]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जैसे बालक अपने संकल्पसे ठूँठ आदिमें वेताल आदिकी कल्पना कर भयभीत होता है वैसे ही अज्ञानी पुरुष अपने संकल्पसे परमात्मामें नश्वरात्माके संकल्पसे मोहको प्राप्त होता है, ज्ञानी पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

क्षयसङ्कल्पात् (क्षीयते इति क्षयो नश्वरात्मा तत्सङ्कल्पात् यानी नश्वरात्माके सकल्पसे) इस हेतुवचनमें सकल्पका कौन कर्ता है और कौन कर्म है, यह विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं **'कोऽसौ'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा - हे ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ, संकल्पित नश्वरात्मा कौन है और किसने उसका संकल्प किया ? जिससे इस आत्माने बिना किसी कारणके संसारभ्रान्तिका ग्रहण किया है । भाव यह है कि क्या नित्य आत्मा नश्वर आत्मा का सङ्कल्प करता है या नश्वर आत्मा ही नश्वर आत्माका सङ्कल्प करता है ? पहला पक्ष बन नहीं सकता, क्योंकि नित्य आत्मा अपने स्वभावसे विपरीतका सङ्कल्प नहीं कर सकता है यानी वह नश्वर आत्माका संकल्पयिता नहीं हो सकता । दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें आत्माश्रय दोष विद्यमान है । जब नश्वरात्मा उत्पन्न हो जाय तब न नश्वरात्माका संकल्प करेगा ? और सुनिये, सङ्कल्पित नश्वर आत्मा भी क्या जड़ है अथवा चेतन है ? पहला पक्ष हृदयङ्गम नहीं होता, क्योंकि यदि वह जड होगा, तो आत्माके साथ उसका अभेद

वसिष्ठ उवाच

असता भूतसंघेन क्षयोऽहङ्कारनामधृक् ।
वेतालः शिशुनेवेह मिथ्यैव परिकल्पितः ॥ ३ ॥
एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन् स्थिते परमवस्तुनि ।
कुतः कोऽयमहं नाम कथं नाम किलोदितः ॥ ४ ॥

नहीं हो सकेगा । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यदि वह चिद्रूप है, तो सङ्कल्पका विषय नहीं हो सकेगा ॥ २ ॥

यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति (पहले इस लोकमें जो जो हुए थे वही फिर यहाँ आकर होते हैं) इस श्रुतिके अनुसार पूर्वजन्मोंके सिंह, बाघ आदि प्राणिसमुदायमें आत्मभावकी वासनासे वासित 'असत्' शब्दवाच्य अविद्यासे उपहित परमात्माने चित्-अचित्-सम्मिश्रणात्मक सिंह व्याघ्र आदिमें अहङ्कारात्मक नश्वर आत्माका सङ्कल्प किया है, इसलिए जिन दोषोंकी आपने सम्भावना की है, वे कोई भी नहीं हैं, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका समाधान करते हैं—**'असता'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, जैसे अज्ञ बालक मिथ्या वेतालकी कल्पना करता है, वैसे ही सिंह, बाघ आदि प्राणियोंमें अहंभावकी वासनासे वासित यानी पूर्वकल्पमें जीवभावको प्राप्त हुए अहङ्कारके संस्कारसे संस्कृत अविद्योपहित परमात्माने तत्-तत् कल्पमें मिथ्या अभिमान और मिथ्या नाम धारण करनेवाले नश्वर आत्माकी कल्पना की है ॥ ३ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि अहङ्कारकी आत्मस्वभावता ही क्यों न हो, उसका मिथ्यात्व कैसे ? इसपर कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

---

* पूरी श्रुति इस प्रकार है—'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति'—जो अपनी सद्रूपताका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही सत्में प्रविष्ट होते हैं वे इस लोकमें जिन कर्मोंसे प्राप्त हुई व्याघ्र आदि जिस जिस जातिको प्राप्त हुए थे—'मैं व्याघ्र हूं, मैं सिंह हूं' इत्यादिरूपसे स्थित थे—वे पूर्व कर्म, ज्ञानकी वासनासे युक्त होकर सत्में प्रविष्ट होनेपर भी उस भावसे ही फिर आकर होते हैं । पुनः सत्से आकर बाघ या शेर या भेड़िया या सूअर या कीड़ा या फतिंगा अथवा डाँस या मच्छर जो लोकमें पहले हुए थे वही फिर आकर होते हैं । हजारों करोड़ युग बीतनेपर भी संसारी जीवकी जो वासना पहले भावित थी, वह नष्ट नहीं होती ।

वस्तुतो नास्त्यहङ्कारः परमात्मन्यभेदिनि ।
असम्यग्दर्शनान्मार्गी सरित् तीव्रातपे यथा ॥ ५ ॥
मनोमणिमहारम्भः संसार इति लक्ष्यते ।
आत्मनाऽऽत्मानमाश्रित्य स्फुरत्यन्तर्यथाऽम्भसा ॥ ६ ॥
असम्यग्दर्शनं तेन त्यज राम निराश्रयम् ।
साश्रयं सत्यमानन्दि सम्यग्दर्शनमाश्रय ॥ ७ ॥
धिया विचारधर्मिण्या मोहसंरम्भहीनया ।
विचारयाऽधुना सत्यमसत्यं संपरित्यज ॥ ८ ॥
अबद्धो बद्ध इत्युक्त्वा किं शोचसि मुधैव हि ।
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य किं कथं केन बध्यते ॥ ९ ॥

जब एकमात्र परिपूर्ण परमवस्तु ही स्थित है, तब यह अहङ्कार नामका कौन है और कहाँसे कैसे उदित हुआ है? अद्वितीय पूर्ण परमवस्तुसे अतिरिक्त अहङ्कारनामक कोई वस्तु नहीं है, यह भाव है ॥ ४ ॥

भेदरहित परमात्मामें वास्तवमें अहङ्कार नहीं ही है। जैसे भ्रान्तिवश तीव्र सूर्यके घाममें मृगतृष्णाकी प्रतीति होती है वैसे ही भ्रान्तिवश परमात्मामें अहङ्कारका भान होता है ॥ ५ ॥

मनरूपी चिन्तामणिकी बड़ी भारी कार्यसमूहसृष्टि संसाररूपसे देखी जाती है।

शङ्का—तो क्या मन ही संसारकी रचना करनेमें स्वतन्त्र है?

समाधान—नहीं, आत्माका आश्रयण करके वह स्वयं संसाररूपमें स्फुरित होता है जैसे कि जलका अवलम्बन करके जल ही तरङ्गरूपमें स्फुरित होता है ॥६॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप असद्वस्तुरूपी भ्रान्तिका त्याग कीजिये और सत्यार्थविषयक तथा सत्य सम्यक् दर्शनका, जो कि आनन्ददायक है, अवलम्बन कीजिये ॥ ७ ॥

असद्विषयक भ्रमके त्याग और सद्विषयक सम्यक् दर्शनके आश्रयणके लिए कौन उत्तम उपाय है, ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'**धिया**' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, आप विचाररूपी अपने धर्मसे सम्पन्न और मोहके वेगसे हीन बुद्धिसे सत्य तत्त्वका विचार कीजिये और असत्यका त्याग कीजिये ॥ ८ ॥

आप वास्तवमें बँधे नहीं हैं, फिर भी 'मैं बँधा हूँ' ऐसा मानकर आप व्यर्थ ही

नानाऽनानात्मकलना त्वविभिन्नमहात्मनि ।
सर्वस्मिन् ब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन् किं बद्धं किं विमुच्यते ॥१०॥
अनार्तोऽप्यार्तिमान् भाति च्छिन्नेऽङ्गे किं च ताम्यति ।
भेदाभेदविकारार्तिः काचिन्नाऽऽत्मनि विद्यते ॥११॥
देहे नष्टे क्षते क्षीणे काऽऽत्मनः क्षतिरागता ।
भस्त्रायां परिदग्धायां भस्त्रापूरो न नश्यति ॥१२॥
देहः पततु वोदेतु का नः क्षतिरुपस्थिता ।
को नष्टः प्रक्षते पुष्पे आमोदो व्योमसंश्रयः ॥१३॥

क्यों शोक कर रहे हैं ? आत्मतत्त्वका, जो कि असीम है, क्या, किससे और कैसे बाँधा जा सकता है अर्थात् जब एक अद्वितीय असीम आत्मतत्त्व ही है तब फिर कौन किसके द्वारा कैसे बद्ध होगा ? ॥ ९ ॥

अद्वितीय परमात्मामें भेद और अभेदकी भ्रान्ति हो रही है । इस सकल प्रपञ्चके बाध द्वारा ब्रह्ममात्र शेष होनेपर कौन बद्ध और कौन मुक्त होता है ? सम्पूर्ण प्रपञ्चके ब्रह्ममात्र शेष होनेपर बद्ध-मुक्तकी कोई कथा ही नहीं है ॥ १० ॥

छेदन और भेदनके अयोग्य ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर देहके छेदन, भेदन आदिसे होनेवाले दुःखका भी अवसर नहीं आता है फिर अन्य क्लेशोंकी तो बात ही क्या है, ऐसा कहते हैं—'**अनार्त०**' इत्यादिसे ।

जबतक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, तभीतक देह आदिके पीडित होनेपर पीडासे रहित भी जीव पीड़ासे युक्त-सा प्रतीत होता है । अङ्गके कट जानेपर कोप करता है, पर जब आत्माका दर्शन हो जाता है तब ये नहीं होते । परमात्मामें भेद, अभेद, छेदन, भेदन आदि विकार एवं उनसे होनेवाली पीड़ा कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

जैसे धौंकनीके जल जानेपर वायु नष्ट नहीं होता वैसे ही देहके नष्ट होनेपर, कटनेपर या क्षीण होनेपर आत्माकी कोई क्षति नहीं होती है ॥ १२ ॥

देह चाहे नष्ट हो चाहे अभ्युदयको प्राप्त हो इससे हमारी कौन हानि हुई ? फूलके छिन्न-भिन्न हो जानेपर आकाशमें रहनेवाली फूलकी कौन महक नष्ट हुई ? ॥ १३ ॥

आपतन्तु वपुःपद्मे सुखदुःखहिमश्रियः ।
आकाशोड्डयनालीनां का नः क्षतिरुपस्थिता ॥१४॥
देहः पततु वोदेतु यातु वा गगनान्तरम् ।
तद्विलक्षणरूपस्य काऽसौ भवति मे क्षतिः ॥१५॥
यथा पयोदमरुतोर्यथा षट्पदपद्मयोः ।
तथा राघवसम्बन्धस्त्वच्छरीरत्वदात्मनोः ॥१६॥
मनो राम शरीरं हि जगतः सकलस्य च ।
आद्या शक्तिश्चिदध्यात्मा न नश्यति कदाचन ॥१७॥
योऽसावात्मा महाप्राज्ञ न नश्यति न गच्छति ।
न नश्यति कदाचिच्च किं मुधा परितप्यसे ॥१८॥

शरीररूपी कमलमें सुखदुःखरूपी तुषारपात भले ही होता रहे, उससे आकाशमें उड़नेवाले भ्रमररूपी हम लोगोंकी कौन-सी हानि प्राप्त हुई ? ॥ १४ ॥

देह चाहे गिर पड़े, चाहे उठ खड़ा हो अथवा दूसरे आकाशमें चला जाय । मेरा स्वरूप तो उससे बिलकुल भिन्न है, अतः यह मेरी कौन-सी क्षति है ? ॥१५॥

हे श्रीरामजी, जैसे मेघ और वायुका सम्बन्ध है जैसे भँवर और कमलका सम्बन्ध है वैसे ही आपके शरीर और आपकी आत्माका सम्बन्ध है, आत्मा और शरीरका सम्बन्ध माननेपर भी लेपरहित आत्मामें देहप्रयुक्त दुःख आदिकी प्राप्ति नही होती है, यह भाव है ॥ १६ ॥

दूसरी बात यह है कि यदि शरीर आदि समस्त जगत्को एकमात्र मन ही मानो, तो भी मनके रहते शरीर आदिके नाशसे होनेवाला शोक उचित नहीं है । यदि उन्हें एकमात्र आत्मा माना जाय, तो ऐसी स्थितिमें तो शरीर आदिके नाशसे होनेवाले शोक आदिकी कथा ही नहीं उठती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'मनो'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मन सम्पूर्ण जगत्का स्वरूप है । मनकी हेतु आद्या शक्ति यानी आदिकारण चिदात्मा है वह मनसे भी बढ़कर है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता है, उसके नाशकी भ्रान्ति सर्वथा अनुचित है ॥ १७ ॥

आत्माके नाशकी भ्रान्ति ही सब शोकोंकी जड़ है, अतः उसका पुनः वारण करते हुए कहते हैं—**'योऽसौ'** इत्यादिसे ।

विशीर्णेऽभ्रे यथा वातः शुष्केऽब्जे षट्पदो यथा ।
यात्यनन्तपदं व्योम तथाऽऽत्मा देहसंक्षये ॥१९॥
संसारेऽस्मिन् विहरतो मनोऽपि हि न नश्यति ।
ज्ञानाग्निना विना जन्तोरात्मनाशे तु का कथा ॥२०॥
यः कुण्डबदरन्यायो यो घटाकाशयोः क्रमः ।
स्थितिर्देहात्मनोः सैव सविनाशाविनाशयोः ॥२१॥
बदरं हस्तमायाति यथा स्फुटति कुण्डके ।
आत्मा गगनमायाति तथा चलति देहके ॥२२॥
कुम्भे गच्छत्यकुम्भत्वं कुम्भाकाशो यथाऽम्बरे ।
तिष्ठत्येवमयं क्षीणे देहे देही निरामयः ॥२३॥
मनोदेहो हि जन्तूनां देशकालतिरोहितः ।
मुहुर्मृतिपटाच्छन्नः शठे किं परिदेवना ॥२४॥

हे महामते, यह जो आत्मा है यह न तो नष्ट होता है और न जाता है। इसका कदापि विनाश नहीं होता, आप इसके विनाशके भयसे क्यों वृथा सन्ताप करते हैं ॥ १८ ॥

जैसे मेघके छिन्न-भिन्न होनेपर वायु तथा कमलके सूखनेपर भँवर विस्तीर्ण आकाशमें चला जाता है वैसे ही देहका क्षय होनेपर आत्मा असीम आकाशमें चला जाता है ॥ १९ ॥

इस संसारमें विचरण कर रहे (आवागमनरत) प्राणीका ज्ञानरूपी अग्निके बिना मन तक नष्ट नहीं होता, आत्माके विनाशकी तो कथा ही क्या है ? ॥२०॥

बटलोही और बेरका जो न्याय है और घड़े और आकाशका जो न्याय है, वही न्याय विनाशी और अविनाशी देह और आत्माका है। जैसे बटलोहीके फूटनेपर बेर हाथमें आ जाता है वैसे ही देहके नष्ट होनेपर जीव वासनाकाशको प्राप्त हो जाता है। जैसे घड़ेके फूटने (चूर-चूर होने) पर घटाकाश महाकाशमें स्थित हो जाता है वैसे ही देहके विनष्ट होनेपर यह निर्दोष देही (जीव) परमात्मामें स्थित होता है ॥ २१-२३ ॥

जीवोंका मनोमय शरीर देश और कालसे तिरोहित है तथा मरणरूपी वस्त्रसे बार-बार आच्छन्न रहता है। ठगनेवाले इस मनोमय देहके नष्ट होनेपर क्या क्लेश ? यानी क्लेश करना उचित नहीं है ॥ २४ ॥

देशकालतिरोधाने मूढोऽपि मरणे नरः ।
किं बिभेति महाबाहो नेह पश्यति कश्चन ॥२५॥
अतस्त्वं वासनां राम मिथ्यैवाऽहमिति स्थिताम् ।
त्यज पक्षीश्वरो व्योमगमनोत्क इवाऽण्डकम् ॥२६॥
एषा हि मानसी शक्तिरिष्टानिष्टनिबन्धनी ।
अनयैव मुधा भ्रान्त्या स्वप्नवत् परिकल्पना ॥२७॥
अविद्यैषा दुरन्तैषा दुःखायैषा विवर्द्धने ।
अपरिज्ञायमानैषा तनोतीदमसन्मयम् ॥२८॥
एषा तुच्छवदाकाशं तुषारमलिनं यथा ।
परिपश्यति विभ्रान्ता स्वरूपस्य स्वभावतः ॥२९॥

मरण क्या है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—**'देशकाल०'** इत्यादिसे ।

हे महाबाहो, मरण देश और कालका तिरोधानमात्र ही है। देश-कालका तिरोधानमात्र मरण होनेपर मूढ पुरुष क्यों भयभीत होता है ? यह निश्चित समझिये कि अपना नाश तो कोई देख ही नहीं सकता है। घर आदिमें अपने अन्तिम समय दूसरोंकी दृष्टिसे अपना छिप जाना ही मरण है, आत्मनाश मरण नहीं है, यह भाव है ॥ २५ ॥

इसलिए हे रामचन्द्रजी, जैसे आकाशमें उडनेके लिए उत्कण्ठित पक्षीका बच्चा, जिसके कि पर जम गये हों, अपने आवरणरूप अण्डेके छिलकेका त्याग करता है वैसे ही आप 'अहम्' रूपसे मिथ्या ही स्थित वासनाका त्याग कीजिये ॥ २६ ॥

यह वासना इष्ट और अनिष्टमें अनुराग और द्वेषसे अभिनिवेशरूप बन्धन करनेवाली मानसी शक्ति है। इसीने व्यर्थ भ्रान्तिसे स्वप्नके समान यह कल्पना की है ॥ २७ ॥

यह वासना अविद्याविलास होनेसे अविद्या है, इसका अन्त होना बड़ा कठिन है, यह केवल दुःखके लिए ही बढ़ती है। इसके स्वरूपका परिज्ञान न होनेसे ही यह असद्रूप इस प्रपञ्चका विस्तार करती है ॥ २८ ॥

जैसे कुहरा होनेपर भ्रान्त पुरुष आकाशको कुहरेसे मलिन यानी अनिर्मल देखते हैं वैसे ही भ्रान्त यह मानसी वृत्तिरूप वासना स्वच्छ आत्माको तुच्छके समान देखती है, क्योंकि ऐसा देखना मनका स्वभाव ही है ॥ २९ ॥

असदेवेदमारम्भमन्थरं सदिवोत्थितम् ।
कल्पितं जगदाभोगि दीर्घस्वप्न इवैतया ॥३०॥
भावनामात्र एवाऽस्याः स्वरूपं कर्तृतां गतम् ।
जगन्नामाऽऽविलं चक्षुर्व्योम्नि बिम्बरुचामिव ॥३१॥
लयमस्याः स्वरूपं त्वं नय राम विचारणात् ।
यथा हिमशिलायास्तु तपनाद् दिवसाधिपः ॥३२॥
हिमाभावार्थिनोऽर्कस्य स्वोदयेनेप्सितं यथा ।
सिद्धयत्येवं विचारेण मनोनाशार्थिनोऽर्थितम् ॥ ३३ ॥
अविद्याऽसंप्रबुद्धा हि विततानर्थदुर्गमा ।
नानेन्द्रजालकलनां शम्बरो हेम वर्षति ॥ ३४ ॥

इस मानसी शक्तिने ही इस विशाल जगत्को दीर्घकालीन स्वप्नके तुल्य असत होते हुए भी विविध व्यापारोंसे पूर्ण सत्‌के समान उदित बनाया है ॥ ३० ॥

जैसे तिमिर आदि दोषसे दूषित नेत्र आकाशमें मोरके पर, केशोंके वर्तुलाकार गोलेके आकारके चन्द्रमा, सूर्य आदिके बिम्बके विभावनमात्रमें कर्ता होता है वैसे ही इसका स्वरूप जगत्के आकारकी भावनामात्रमें ही कर्तृताको प्राप्त हुआ है, उससे अतिरिक्तके निर्माणमें उसमें कर्तृत्व नहीं है। मिथ्या पदार्थोंका विभावनसे अतिरिक्त निर्माण प्रसिद्ध नहीं है, अतः वही जगत्के नामसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ ३१ ॥

अतएव अविचारजनित द्वैतकी भावनामात्रसे सिद्ध जगतका विचारजन्य ज्ञानमात्रसे लय होता है, इसलिए विचार अवश्य करना चाहिए, ऐसा कहते हैं **'लयम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्य अपने तापसे बर्फकी चट्टानके स्वरूपको नष्ट कर देता है वैसे ही आप विचारसे इस मानसी शक्तिके स्वरूपको नष्ट कर दीजिए ॥३२॥

जैसे शीतके अभावको चाहनेवाले सूर्यके अपने उदयमात्रसे शीतका नाश हो जाता है वैसे ही मनके नाशकी इच्छा करनेवाले पुरुषका केवल विचारसे मनोनाशरूप अभिलषित सिद्ध हो जाता है ॥ ३३ ॥

एक मनके नष्ट होनेपर भी फिर अविद्यासे मन आदिरूप बन्धकी उत्पत्ति हो जायगी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं -**'अविद्या०'** इत्यादिसे ।

बड़े बड़े अनर्थोंसे पूर्ण अविद्यारूपी मेघमाला जब आत्मतत्त्वके परिज्ञानसे

स्वविनाशक्रियां चैतां मन एव करोत्यलम् ।
मनो ह्यात्मवधं नाम नाटकं परिनृत्यति ॥ ३५ ॥
आत्मानमीक्षते चेतः स्वविनाशाय केवलम् ।
नहि जानाति दुर्बुद्धिर्विनाशं प्रत्युपस्थितम् ॥ ३६ ॥
स्वयं सङ्कल्पमात्रेण स्वविनाशदशामिदम् ।
मनः संसाधयत्याशु क्लेशो नाऽत्रोपयुज्यते ॥ ३७ ॥
स्वसङ्कल्पविकल्पांशं विवेकोपहितं मनः ।
संत्यज्य रूपमाभोगि करोत्यात्मावबोधनम् ॥ ३८ ॥
महोदयो मनोनाशो महोच्छेदस्य तूदयः ।
मनोनाशे प्रयत्नं त्वं कुरु मा मनसो जवे ॥ ३९ ॥

शून्य होती है, तभी जैसे शम्बर नामका असुर विविध माया करता है, वैसे ही इन्द्रजालकल्पनारूप असत् सुवर्णकी वृष्टि करती है, किन्तु जब उसे आत्मस्वरूपका परिज्ञान हो जाता है, तब निःस्वरूप हो जानेके कारण वह असत्की वृष्टि नहीं करती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार मन ही चिरकालतक जगत्-रूपसे नाचकर अन्तमें विद्यारूप परिणामसे अविद्याके साथ अपना विनाश कर देता है, यह फलित अर्थ कहते हैं—**'स्वविनाशक्रियाम्'** इत्यादिसे ।

इस अपनी विनाशक्रियाको मन ही स्वय भली-भाँति करता है, मन आत्मवध-रूप (स्वसंहाररूप) नाटकको (स्वरचित नाटकको) देखकर मारे आनन्दके खूब नाचता है। केवल अपने विनाशके लिए चित्त आत्माका दर्शन करता है, पर दुर्बुद्धि यह मन उपस्थित हुए अपने विनाशको नहीं जानता है ॥ ३५,३६ ॥

मनके विनाशका उपाय खोज रहे विवेकी पुरुषोंके मनोनाशको मन स्वयं अपने संकल्पसे शीघ्र सिद्ध कर देता है, मनोनाशके लिए तपस्या आदि क्लेश उपयोगी नहीं हैं ॥ ३७ ॥

विवेकसे संस्कृत (शुद्ध) हुआ मन अपने पूर्वकालीन संकल्पविकल्प-अंशका परित्याग कर ब्रह्माकारविस्तारवाला आत्मसाक्षात्कारवृत्तिरूप अपना परिणाम करता है ॥३८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनका विनाश होना परमपुरुषार्थकी प्राप्ति है और है सब दुःखोंके समूल नाशका उदय। इसलिए आप मनके नाशके लिए प्रयत्न कीजिये, मनके बाह्य व्यापारमें प्रयत्न मत कीजिये ॥ ३९ ॥

अविरलसुखदुःखवृक्षखण्डे
विषमकृतान्तमहोरगे वनेऽस्मिन् ।
प्रभुरिदमखिले विवेकहीनं
सुभग मनो महदापदेकहेतुः ॥ ४० ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे उपदेशकरणं नाम द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

सप्तमो दिवसः

उक्त अर्थकी उपेक्षा करनेपर अनर्थकी प्राप्ति होती है, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—'**अविरल०**' इत्यादिसे ।

अति सघन सुख-दुःखरूप वृक्षोंके झुण्डोंसे भरपूर, क्रूर कालरूपी विषैले सांपसे युक्त, दुरुच्छेद्य इस संसाररूपी असिपत्रवनमें यह विवेकहीन मन ही एकमात्र प्रभु - दुःखोंका, जिनका आर-पार नहीं है, हेतु -- तथा संसारी जीवोंकी विपदाओंका एकमात्र कारण है ॥ ४० ॥

श्रीमुनिजीके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया, भगवान् सूर्य अस्ताचलमें डूब गये, सब मुनियोंकी सभा महामुनिको नमस्कार कर सायंकालकी सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि विधिके लिए उठ गई और रात बीतनेपर दूसरे दिन सूर्यकी किरणोंके साथ फिर सभा आ गई ॥ ४१ ॥

एक सौ दो सर्ग समाप्त

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परस्मादुत्थितं चेतस्तत्कल्लोल इवाऽर्णवात् ।
स्फारतामेत्य भुवनं तनोतीदमितस्ततः ॥ १ ॥
ह्रस्वं दीर्घं करोत्याशु दीर्घं नयति खर्वताम् ।
स्वतां नयत्यन्यदलं स्वं तथैवाऽन्यतामपि ॥ २ ॥
प्रादेशमात्रमपि यद् वस्तु भावनयैव तत् ।
स्वयं सम्पन्नयैवाऽऽशु करोत्यद्रीन्द्रभासुरम् ॥ ३ ॥

एक सौ तीन सर्ग

[विवेकहीन मन जिन-जिन अनर्थोंकी सृष्टि करता है,
मुमुक्षुके विवेकके लिए उन सबका वर्णन]

अनर्थोंकी सृष्टि करनेके लिए ही परमात्मासे मनकी सृष्टि हुई है, यह दर्शाते हैं—**'परस्मात्'** इत्यादिसे ।

जैसे सागरसे उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं वैसे ही परमात्मासे चित्त उत्पन्न हुआ है, जैसे तरङ्ग स्वस्वभावसे विशालताको प्राप्त होती है वैसे ही मन स्वस्वभावसे विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर भुवनका विस्तार करता है ॥ १ ॥

मनमें वस्तुके स्वभावसे विरुद्ध कल्पना करनेकी सामर्थ्य है, ऐसा दर्शाते हैं—**'ह्रस्वम्'** इत्यादिसे ।

मन ह्रस्वको (नेत्रके समीपमें स्थित अङ्गुली आदिको) अतिविस्तृत सूर्य-मण्डल आदिके आच्छादकरूपसे कल्पना कर शीघ्र दीर्घ बना देता है, अतिदीर्घ सूर्यमण्डल आदिको ह्रस्व (छोटा) बना देता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्माके स्वरूपकी विनिमयकल्पना भी मन ही करता है। वह अनात्म देह आदिको अपनी कल्पना द्वारा आत्मा बना डालता है और उसी प्रकार आत्माको अन्य (अनात्मा) बना डालता है ॥ २ ॥

जो वस्तु केवल एक बिलस्त भरकी होती है, उसको मन शीघ्र स्वयं उत्पन्न हुई कल्पना द्वारा पर्वतराज हिमालयके समान प्रकाशमान (विशालकाय) बना डालता है ॥ ३ ॥

लब्धप्रतिष्ठं परमात् पदादुल्लसितं मनः ।
निमेषेणैव संसारान् करोति न करोति च ॥ ४ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थास्नु चरिष्णु च ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं चित्तादेतदुपागतम् ॥ ५ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यशक्तिपर्याकुलीकृतम् ।
भावाद् भावान्तरं याति लोलत्वान्नटवन्मनः ॥ ६ ॥
सदसत्तां नयत्याऽऽशु सत्तां वाऽसन्नयत्यलम् ।
तादृशान्येव चाऽऽदत्ते सुखदुःखानि भावितम् । ७ ॥
यदासं स्वयमादत्तं यथैव चञ्चलं मनः ।
हस्तपादादिसंघातस्तदा प्रयतते तथा ॥ ८ ॥
ततः सैव क्रिया चित्तसमाहितफलाफलम् ।
क्षणात् प्रयच्छति लता कालसिक्तेव तादृशम् ॥ ९ ॥

मनको ऐसी सामर्थ्य कहाँसे प्राप्त हो गई, ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं— **'लब्धप्रतिष्ठम्'** इत्यादिसे।

उल्लसित मन परमपदरूप ब्रह्मकी सत्तासे सत्ताको प्राप्त हुआ है, यह पलक भरमें विविध संसारोंकी रचना कर देता है और पलक भरमें उन्हें मिटियामेट कर डालता है ॥ ४ ॥

जो कुछ भी स्थावर जङ्गम (चराचर) जगत् दिखाई देता है, सम्पूर्ण पदार्थोंसे भरा हुआ यह सारा जगत् चित्तसे ही उदित हुआ है ॥ ५ ॥

जैसे नट एक पात्रके आकारसे दूसरे पात्रके आकारको धारण करता है वैसे ही देश, काल, क्रिया और द्रव्यकी शक्तिसे व्याकुल हुआ मन चञ्चल होनेके कारण एक वस्तुके आकारसे दूसरी वस्तुके आकारको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

वह सत् पदार्थको असत् बना देता है और असत्को सर्वथा सत् बना डालता है। तदनुरूप ही सुख-दुःखोंका ग्रहण करता है ॥ ७ ॥

चञ्चल मन कर्म द्वारा उपस्थापित भोग्य पदार्थको जब जैसे जिस किसी कल्पनाके ढंगसे, चाहे वह अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल हो, ग्रहण करता है तब हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियसब उसके अनुसार ही ग्रहण या त्यागमें प्रवृत्त होता है; यों सभी व्यवहारोंमें मनकी स्वतन्त्रता है, यह तात्पर्य है ॥ ८ ॥

तदनन्तर भोग्य पदार्थोंको उपस्थित करनेवाली वह क्रिया ही चित्त द्वारा

चित्रां क्रीडनकश्रेणीं यथा पङ्काद् गृहे शिशुः ।
करोत्येवं मनो राम विकल्पं कुरुते जगत् ॥ १० ॥
मनःसर्वजनक्रीडानृजम्बाललवेष्वतः ।
किमेतद्धि पदार्थेषु रूढं जगति कल्प्यते ॥ ११ ॥
करोत्यृतुकरः कालो यथा रूपान्यतां तरोः ।
चित्तमेवं पदार्थानामेषामेवाऽन्यतामिव ॥ १२ ॥
मनोरथे तथा स्वप्ने सङ्कल्पकलनासु च ।
गोष्पदं योजनव्यूहः स्वासु लीलासु चेतसः ॥ १३ ॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनस्तदायत्तमतो देशकालक्रमं विदुः ॥ १४ ॥
तीव्रमन्दत्वसंवेगाद् बहुत्वाल्पत्वभेदतः ।
विलम्बनेन च चिरं न तु शक्तिमशक्तितः ॥ १५ ॥

कल्पित फलाफल यानी सुखदुःखको एक क्षणमें वैसे ही देती है जैसे समयपर सींची गई लता फल प्रकट करती है ॥ ९ ॥

हे रामचन्द्रजी, जैसे बच्चा घरमें पङ्कसे नाना प्रकारके खिलौनोंको बनाता है, वैसे ही मन जगद्रूप विकल्पोंकी सृष्टि करता है ॥ १० ॥

यह जगत् एकमात्र मनकी कल्पना है, इसमें कोई पदार्थ वास्तविक नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं --'**मनः०**' इत्यादिसे ।

इस कारण मनकी सम्पूर्ण जनरूपसे जो क्रीड़ा है; उस क्रीडामें मनुष्य-देहरूप कीचड़में जो रूप सत्य-सा कल्पित है, वह क्या कुछ सत्य हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी सत्य नहीं है ॥ ११ ॥

जैसे ऋतुओंका निर्माण करनेवाला काल वृक्षकी अन्यरूपता कर देता है वृक्षको विलक्षण बना देता है, वैसे ही चित्त ही इन सब पदार्थोंको विलक्षण-सा बनाता है ॥ १२ ॥

जैसे मनोरथमें, स्वप्नमें और सङ्कल्पकल्पनाओंमें अनेक योजन भूमि गोपदके समान अति अल्प प्रतीत होती है, वैसे ही अपनी लीलाओंमें चित्त कल्पको क्षण बना देता है और क्षणको कल्प बना देता है, इसलिए सम्पूर्ण देश-कालक्रमको सभी लोग चित्तके अधीन मानते हैं ॥ १३, १४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि यदि मन ही सबकी सृष्टिमें समर्थ है, तो हमारा

व्यामोहसंभ्रमानर्थदेशकालगमागमाः ।
चेतसः प्रभवन्त्येते पादपादिव पल्लवाः ॥ १६ ॥
जलमेव यथाऽम्भोधिरौष्ण्यमेव यथाऽनलः ।
तथा विविधसंरम्भः संसारश्चित्तमेव वा ॥ १७ ॥
सकर्तृकर्मकरणं यदिदं चेत्यमागतम् ।
द्रष्टृदर्शनदृश्याढ्यं तत्सर्वं चित्तमेव च ॥ १८ ॥
चित्तं जगन्ति भुवनानि वनान्तराणि
संलक्ष्यते स्वयमुपागतमात्मभेदैः ।

इस समय सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करनेमें असामर्थ्य कैसे ? इसपर कहते हैं—'तीव्र०' इत्यादिसे ।

रजोगुणका आधिक्य होनेपर तीव्रता और तमोगुणकी अधिकता होनेपर मन्दता, इस प्रकार वेगके भेदसे आहारकी वृद्धिसे पुष्टि होनेपर बहुत्व और आहारके न्यून होनेसे क्षीणता होनेपर अल्पता इनके भेदसे तत्-तत् वस्तुओंकी सृष्टिके अनुकूल उपासना आदिमें विलम्ब होनेसे मनमें प्राप्त हुई जो सर्गकी (सृष्टिकी) अशक्ति है, उससे हम मनकी वास्तविक सर्वसृष्टिशक्तिका अपलाप नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

जैसे वृक्षसे पल्लव (नये-नये पत्ते) उत्पन्न होते हैं वैसे ही मोह, भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन ये सब मनसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

जैसे जल ही सागर है और जैसे अग्नि ही उष्णता है वैसे ही विविध व्यापारोंसे पूर्ण संसार चित्त ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है । भाव यह है कि कार्य कारणसे अभिन्न होता है, अतः चित्तका कार्य यह संसार भी चित्तरूप ही है ॥ १७ ॥

कर्ता, कर्म और करणसे युक्त; द्रष्टा, दर्शन और दृश्यसे सम्पन्न तथा भोक्ता, भोग्य और भोगरूप जो यह नौ प्रकारका संसाररूपी अनर्थ प्राप्त हुआ है, यह सब चित्त ही है ॥ १८ ॥

सब चित्त ही है, यह जिस उपायसे दिखाई देता है, उसे दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'चित्तम्' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्णकी परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूबन्द, मुकुट, कड़ा, हार आदि

केयूरमौलिकटकैश्च लसत्स्वरूपं
त्यक्त्वैव काञ्चनधियैव जनेन हेम ॥ १९ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे चित्तमाहात्म्यं नाम त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरुत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्र ते शृणु वक्ष्यामि वृत्तान्तमिममुत्तमम् ।
जागतीहेन्द्रजालश्रीश्चित्तायत्ता यथा स्थिता ॥ १ ॥
अस्त्यस्मिन् वसुधापीठे नानावनसमाकुलः ।
उत्तरापाण्डवो नाम स्फीतो जनपदो महान् ॥ २ ॥

आभरणोंसे कल्पित नाना स्वरूपका त्याग कर एकमात्र काञ्चनमें बुद्धिका प्रणिधान करनेसे सुवर्णकी परीक्षा करनेपर वास्तव सुवर्णको देख सकता है, बाजूबन्द आदिके रचनावैचित्र्यमें जिनकी बुद्धि फसी है, वे वास्तविक सुवर्णतत्त्वको नहीं देख सकते, वैसे ही विवेकी पुरुष भी जगतोंको, तदन्तर्गत भुवनोंको और उनके अन्तर्गत वन आदि सब वस्तुओंको आत्मभेदोंसे (स्ववैचित्र्योंसे) चित्त स्वयं प्राप्त हुआ है, अतः ये चित्तमात्र ही हैं, चित्तसे अतिरिक्त वस्तु नहीं है, ऐसा देखते हैं, अविवेकी ऐसा नहीं देख पाते ॥ १९ ॥

एक सौ तीन सर्ग समाप्त

एक सौ चार सर्ग

[लवणाख्यानमें पहले देश, राजा और सभाका वर्णन तथा सभामें ऐन्द्रजालिकके घोड़ेका दर्शन और राजाके विस्मयका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरघुवंशमणे, यह जगद्रूप इन्द्रजाल जिस प्रकार चित्तके अधीन है यानी चित्तकी कल्पनासे अभिन्न है, उसे समझानेके लिए यहाँपर मैं आपसे एक उत्तम उपाख्यान कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥

इस भूमण्डलमें अनेक वनोंसे व्याप्त, धन-जनसे सुसमृद्ध 'उत्तरापाण्डव'

नीरन्ध्रघनगम्भीरवनविश्रान्ततापसः ।
विद्याधरीकृतलतादोलोपवनपत्तनः ॥ ३ ॥
वातोद्धूताब्जकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरपर्वतः ।
लसत्कुसुमसम्भारवनमालावतंसकः ॥ ४ ॥
करञ्जमञ्जरीकुञ्जगुच्छपर्यन्तजङ्गलः ।
खर्जूरान्तरितग्रामो घुङ्घुमध्वनिताम्बरः ॥ ५ ॥
एकपिङ्गशिलाश्रेणीशालिकेदारपिङ्गलः ।
नीलकण्ठारवोद्दामवनजङ्गलमण्डितः ॥ ६ ॥
सारसारवसंरम्भरणत्कनककाननः ।
तमालपाटलीनीलगिरिग्रामककुण्डलः ॥ ७ ॥
विचित्रविहगव्यूहविरावकृतकाकलिः ।
नदीपरिसरोन्निद्रपारिभद्रद्रुमारुणः ॥ ८ ॥

नामका एक विशाल देश है। उसके अत्यन्त घने और गहन वनोंमें तपस्वी शान्त चित्तसे निवास करते थे अर्थात् बाघ, चोर आदिका कहीं कोई उपद्रव न था। उसके नगरोंके उपवनोंमें विद्याधराङ्गनाएँ लताओंका हिंडोला बनाकर झूलती थीं। उस देशके सब पर्वत वायुसे उड़ाई गई कमलकेसरराशिसे पीले पड़ गये थे। शोभायमान फूलोंकी राशिसे पूर्ण वनश्रेणी ही उसका अवतंस (शिरोभूषण यानी सिरपर तिरछी माला) था॥ २-४ ॥

उसके गाँवोंके चारों ओर करौंदेके फूल, झाड़ियाँ और फलोंके गुच्छोंसे भरे हुए जगल थे। ऊँचे-ऊँचे खजूरके पेड़ोंसे उसके बहुतसे गांव आच्छन्न थे। लोगोंके घुं, घुं शब्दसे आकाश गूँजता था। उत्तम पीले रंगकी मणियोंकी श्रेणीके सदृश पके हुए धानोंके खेतोंसे सारा देश पीला दिखता था। नीलकण्ठके शब्दसे खूब गूँजे हुए वन और जंगलोंसे वह देश सुशोभित था, सारसोंके शब्दके वेगसे उसके फूलोंके केसरसे कनकमयसे कानन मुखरित थे। तमाल और पाटलके वृक्षोंसे विचित्र प्रकारके नीले पर्वतोंके छोटे-छोटे गांव उसके कुण्डल थे। रंग-बिरंगके पक्षियोंके कलरवसे उसमें बड़ी मधुर और अव्यक्त ध्वनि हो रही थी। नदीके किनारेपर खूब खिले हुए मीठी नीबके वृक्षोंसे वह सारा देश लाल था। धानके खेतोंमें गा रहीं

गायत्कलमकेदारदारिकाहूतमन्मथः ।
पुष्पफलचलद्वातव्याधूतकुसुमाम्बुदः ॥ ९ ॥
दरीगृहविनिष्क्रान्तसिद्धचारणवन्दिकम् ।
स्वर्गादिव समानीय लावण्यमभिनिर्मितः ॥ १० ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वकदलीखण्डमण्डपः ।
मन्दानिलरवोद्भूतः पुष्पोपवनपाण्डुरः ॥ ११ ॥
तत्राऽस्ति लवणो नाम राजा परमधार्मिकः ।
हरिश्चन्द्रकुलोद्भूतो भूमाविव दिवाकरः ॥ १२ ॥
यद्यशःकुसुमोत्तंसपाण्डुरस्कन्धमण्डलाः ।
तत्र शैला विराजन्ते हाराः प्रोद्धूलिता इव ॥ १३ ॥
कृपाणशकलोत्कृत्तनिःशेषारातिमण्डलः ।
अरातिलोकः प्राप्नोति यदनुस्मरणाज्ज्वरम् ॥ १४ ॥
यस्योदारसमारम्भमार्यलोकानुपालनम् ।
चरितं संस्मरिष्यन्ति हरेरिव चिरं जनाः ॥ १५ ॥

युवतियोंसे उसमें मन्मथका आवाहन हो रहा था। फूल और फलोंमें, उनके शिथिल वृन्त (डंठी) को गिरानेके लिए, बह रहे वायुसे उसमें फूलरूपी मेघ कँपाये जा रहे थे। मेरु पर्वतकी गुफाओंसे जिसके सिद्ध, चारण और बन्दी निकल गये थे, ऐसे लावण्यको स्वर्गसे लाकर मानो वह देश बनाया गया था ॥ १० ॥

उसके केलोंके मण्डपोंमें किन्नर और गन्धर्व गाते थे। मन्द-मन्द वायुके शब्दोंसे वह बड़ा रमणीय था। फूलोंसे भरे हुए उपवनोंसे वह सफेद था ॥११॥

उक्त उत्तरापाण्डवनामक देशमें हरिश्चन्द्र कुलमें उत्पन्न हुआ परमधार्मिक लवणनामक राजा था। वह भूमिमें सूर्यके सदृश तेजस्वी था। जिसके यशरूपी फूलोंकी शिरोमालाओंसे शुभ्र मध्यभागवाले शैल विभूतिसे विभूषित भगवान् शङ्करजीके वृषभ आदिके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १२--१३ ॥

उसके प्रधान-प्रधान शत्रुजन तलवारोंसे टुकड़े-टुकड़े करके काटे गये अतएव निश्शेष हो गये थे। उसके शत्रुओंके सेवकोंको उसके स्मरणसे ही ज्वर हो आता था ॥ १४ ॥

धार्मिक पुरुषोंके रक्षक उदार कर्मोंसे भरे हुए जिसके चरितका श्रीहरिके चरितकी नाईं चिरकालतक लोग स्मरण करेंगे ॥ १५ ॥

यस्याऽप्सरोभिरद्रीन्द्रमूर्धस्वमरसद्मसु ।
विकासिपुलकोल्लासं गीयन्ते गुणगीतयः ॥ १६ ॥
यस्य स्वःसुन्दरीगीता लोकपालचिरश्रुताः ।
विरिञ्चिहंसैर्ध्वन्यन्ते स्वभ्यासाद्गुणगीतयः ॥ १७ ॥
स्वप्नेष्वपि न सामान्या यस्योदारचमत्कृतिः ।
राम दृष्टा श्रुता वाऽपि दैन्यदोषमयी क्रिया ॥ १८ ॥
जिह्मतां यो न जानाति न दृष्टा येन धृष्णुता ।
उदारता येन धृता ब्रह्मणेवाऽक्षमालिका ॥ १९ ॥
दिनाष्टभागमाकाशमागते दिवसाधिपे ।
स कदाचित् सभास्थाने सिंहासनगतोऽभवत् ॥ २० ॥
सुखोपविष्टे तत्राऽस्मिन् राजनीन्दाविवाऽम्बरे ।
प्रविशन्तीषु सामन्तसेनासु च ससम्भ्रमम् ॥ २१ ॥

जिस राजाके गुणोंके गीतोंको अप्सराएँ पर्वतराज हिमालयके शिखरोंपर स्थित देवमन्दिरोंमें प्रचुर रोमाञ्चोंसे युक्त होकर आज भी गाती हैं। जिसके गुणोंके गीतोंका, जिन्हें स्वर्गीय सुन्दरियोंने गाया था और लोकपालोंने चिरकालतक सुना था, ब्रह्माके हंस सुन्दर अभ्याससे अपनी ध्वनियों द्वारा अनुकरण करते हैं ॥ १६, १७ ॥

हे रामचन्द्रजी, जिसका उदार चमत्कार अन्य राजाओंके तुल्य नहीं था यानी उनसे कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था, जिसकी दीनतारूपी दोषसे युक्त क्रिया न तो स्वप्नमें भी देखी गई थी और न सुनी गई थी ॥ १८ ॥

कुटिलता तो वह जानता ही न था, अविनीतता तो उसने देखी भी न थी। जैसे ब्रह्मा रुद्राक्षमालाको सदा धारण करते हैं, वैसे ही उसने निरन्तर उदारता धारण की थी ॥ १९ ॥

किसी समय, जब सूर्य आकाशमें उस स्थानपर पहुँच गये थे जहाँ पहुँचनेपर चार दण्ड दिन चढ़ता है, वह सभागृहमें सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ २० ॥

जैसे चन्द्रमा आकाशमें उदित होते हैं, वैसे ही जब उक्त राजा सभागृहमें सिंहासनपर विराजमान हो गये, जब सामन्त राजाओंकी सेनाएँ वेगके साथ प्रविष्ट

गायन्तीष्वथ कान्तासु सूपविष्टेषु राजसु ।
मनो हरति साह्लादे वीणावंशकलारवे ॥ २२ ॥
चारुचामरहस्तासु सविलासासु राजनि ।
देवासुरगुरुप्रख्ये विश्रान्ते मन्त्रिमण्डले । २३ ॥
प्रस्तुतेषु प्रविष्टेषु राजकार्येषु मन्त्रिभिः ।
प्रोक्तासु देशवार्तासु निपुणैश्चारुमन्त्रिभिः ॥ २४ ॥
इतिहासमये पुण्ये वाच्यमाने च पुस्तके ।
पठत्सु च स्तुतीः पुण्याः पुरः प्रह्वेषु वन्दिषु ॥ २५ ॥
सभां विवेश साटोपः कश्चित्तामैन्द्रजालिकः ।
वर्षेणाऽऽहितसंरम्भो वसुधामिव वारिदः ॥ २६ ॥
स ननाम महीपालं शिखरोदारकन्धरम् ।
पादोपान्तगतः कान्तं शैलं फलतरुर्यथा ॥ २७ ॥
सच्छायस्योन्नतांसस्य फलिनः पुष्पभासिनः ।
स विवेश पुरो राज्ञस्तरोरग्रे कपिर्यथा ॥ २८ ॥

होने लगीं, स्त्रियाँ गाने लगीं, अन्यान्य राजा यथास्थान बैठ गये, आनन्ददायक वीणा और बाँसुरीकी मधुर ध्वनि मनको हरने लगी, सुन्दर चँवर हाथमें ली हुई स्त्रियाँ विलासपूर्वक राजाके ऊपर चँवर डुलाने लगी और शुक्रके समान प्रखरमति मन्त्रिमण्डल यथास्थान बैठ गया, जब प्रविष्ट राजकार्य मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत हो रहे थे, चतुर वार्तावाहक दूत देशकी खबर सुना चुके थे, पवित्र महाभारत आदि इतिहासमय पुस्तक पढी जा रही थी और विनम्र बन्दीगण सामने पवित्र स्तुतियाँ पढ़ रहे थे, जैसे मेघ, जिसने होनेवाली वृष्टिसे बिजलीकी चमकदमक आदि आटोपको धारण किया है, पृथ्वीमें प्रवेश करता है वैसे ही किसी ऐन्द्रजालिकने उस सभामें प्रवेश किया ॥ २१ २६ ॥

जैसे पर्वतके समीपके छोटे पर्वतमें स्थित फलोंसे लदा हुआ वृक्ष जिसकी ऊपरकी भूमि भली मालूम होती है ऐसे सुन्दर पर्वतको प्रणाम करता है वैसे ही मुकुटसे जिसकी गर्दन सुशोभित हो रही थी ऐसे सुन्दर राजाको उसने प्रणाम किया ॥ २७ ॥

जैसे छायादार, ऊँचे तनेवाले, फूलोंसे सुशोभित और फलोंसे लदे हुए वृक्षके

चपलो लम्पटोऽर्थानामामोदसुखमारुतम् ।
उवाचोत्कन्धरं भूपं स पद्ममिव षट्पदः ॥ २९ ॥
विलोकय विभो तावदेकामिह खरोलिकाम् ।
पीठस्थ एव साश्चर्यां व्योम्नि चन्द्र इवाऽवनिम् ॥ ३० ॥
इत्युक्त्वा पिच्छिका तेन भ्रामिता भ्रमदायिनी ।
नानाविरचनाबीजं मायेव परमात्मनः ॥ ३१ ॥
तां ददर्श महीपालस्तेजोरेणुविराजिताम् ।
शक्रः सुरविमानस्थः स्वकार्मुकलतामिव ॥ ३२ ॥
सभां सैन्धवसामन्तो विवेशाऽस्मिन् क्षणे तदा ।
तारापरिकरापूर्णां व्योमवीथीमिवाऽम्बुदः ॥ ३३ ॥
तं चैवाऽनुजगामाऽश्वः सौम्यः परमवेगवान् ।
देवलोकोन्मुखं तुष्टं शक्रमुच्चैःश्रवा इव ॥ ३४ ॥

आगे बन्दर प्रवेश करता है वैसे ही वह सुन्दर कान्तिवाले, उन्नत कन्धेवाले, फूलोंसे सुशोभित हो रहे तथा फलशाली राजाके सामने प्रविष्ट हुआ ॥ २८ ॥

जैसे भँवर आमोदयुक्त कमलसे मधुर स्वरसे बोलता है वैसे ही अत्यन्त चपल और धनलोलुप उसने ऊपरको गर्दन किये हुए तथा सुगन्धी अतएव सुखकारी श्वासवायुवाले राजासे कहा—राजन्, यहांपर आप तबतक एक आश्चर्ययुक्त मिथ्या कौतुककीड़ाको सिंहासनमें बैठे हुए ही इस प्रकार देखिये, जिस प्रकार कि आकाशमें स्थित चन्द्रमा आश्चर्यपूर्ण पृथिवीको देखता है ॥ २९, ३० ॥

यह कहकर उसने भ्रम उत्पन्न करनेवाले मोरपङ्खके मोरछलको, जो कि नाना-विध रचनाओंकी कारण परमात्माकी मायाके तुल्य था, घुमाया। जैसे देवविमानमें स्थित इन्द्र अपनी धनुपलताको (इन्द्रधनुषको) देखता है वैसे ही राजाने तेजके कणोंसे विराजित उस मोरछलको देखा ॥ ३१, ३२ ॥

इसी समय एक अश्वपालक जैसे मेघ सितारोंसे पूर्ण आकाशमें प्रविष्ट होता है वैसे ही सभामें प्रविष्ट हुआ ॥ ३३ ॥

अत्यन्त वेगवान् सौम्य घोड़ा उसके पीछे ऐसे चला जैसे स्वर्गकी ओर जा रहे अतिप्रसन्न वदन इन्द्रके पीछे उच्चैःश्रवानामक घोड़ा जाता है ॥ ३४ ॥

स तमश्वमुपादाय पार्थिवं समुवाच ह ।
सोच्चैःश्रवा इव क्षीरसागरो मरुतां पतिम् ॥ ३५ ॥
इदमुच्चैःश्रवःप्रख्यं हयरत्नं महीपते ।
जवोड्डयनशीलेन मूर्तिमानिव मारुतः ॥ ३६ ॥
अश्वोऽयमस्मत्प्रभुणा प्रभो संप्रहितस्त्वयि ।
राजते हि पदार्थश्रीर्महतामर्पणाच्छुभा ॥ ३७ ॥
इत्युक्तवति तस्मिंस्तु प्रत्युवाचैन्द्रजालिकः ।
जलदस्तनिते शान्ते चातकोऽम्बुधरं यथा ॥ ३८ ॥
सदश्वमेनमारुह्य भुवनं विहर प्रभो ।
स्वप्रतापाहितानल्पशोभामुर्वीं रविर्यथा ॥ ३९ ॥
अश्वमालोकयामास तेनोक्त इति पार्थिवः ।
निर्घातस्तनितं मेघं मयूर इव सूत्करः ॥ ४० ॥
अथाऽनिमेषया दृष्ट्या राजा चित्रोपमाकृतिः ।
बभूवाऽऽलोकयन्नश्वं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥ ४१ ॥

जैसे क्षीरसागरने उच्चैःश्रवासे युक्त होकर इन्द्रसे कहा था वैसे ही उसने उस घोड़ेको लाकर राजासे कहा ॥ ३५ ॥

हे राजन्, उच्चैःश्रवाके तुल्य इस उत्तम अश्वको आप देखिये । वेगसे उड़नेमें यह मूर्तिमान् वायुकी तरह है । हे प्रभो, हमारे स्वामीने इसे आपके समीप भेजा है, क्योंकि उत्तम पदार्थ महान् पुरुषोंके समर्पणसे अधिक सुशोभित होता है॥३६,३७॥

जैसे मेघनिर्घोषके शान्त होनेपर चातक मेघसे कहता है वैसे ही उसके ऐसा कहनेपर ऐन्द्रजालिकने कहा ॥ ३८ ॥

हे प्रभो, जैसे सूर्य अपने प्रतापसे यानी घामसे अधिक शोभायुक्त पृथिवीपर विचरण करते हैं वैसे ही इस सुन्दर घोड़ेपर सवार होकर आप सम्पूर्ण भुवनमें विचरण कीजिए ॥ ३९ ॥

उसके ऐसा कहनेपर जैसे मयूर गर्दन उठाकर घोरशब्दवाले मेघको देखता है वैसे ही राजाने गर्दन ऊँची करके उस घोड़ेको देखा ॥ ४० ॥

देखनेके अनन्तर चित्रमें लिखित आकारके तुल्य आकारवाला राजा निर्निमेष दृष्टिसे घोड़ेको देखता हुआ भीतमें लिखे हुए चित्रके तुल्य निश्चल हो गया ॥४१॥

क्षणमालोक्य पीठस्थस्तस्थौ संस्थगितेक्षणः ।
दृष्ट्याऽऽक्षुब्धः समुद्रोऽद्रिमीनकैः करवो यथा ॥ ४२ ॥
तस्थौ मुहूर्तयुग्मं स ध्यानासक्त इवाऽऽत्मनि ।
वीतरागो मुनिः क्षुब्धः परानन्द इव स्थितः ॥ ४३ ॥
बोधितः केनचिन्नाऽसौ स्वप्रतापजितोर्जितः ।
धिया कामप्ययं भूयश्चिन्तां चिन्तयतीति च ॥ ४४ ॥
बभूवुः केवलं तत्र निःस्पन्दसितचामराः ।
चामरिण्यो हि शर्वर्यः स्तम्भितेन्दुकरा इव ॥ ४५ ॥
विरेजुर्विस्मयापूर्णा निःस्पन्दास्ते सभासदः ।
निःस्पन्दकिञ्जल्कदलाः पद्माः पङ्ककृता इव ॥ ४६ ॥
प्रशशाम सभास्थाने जनकोलाहलः शनैः ।
प्रशान्तप्रावृषि व्योमन्याम्भोदमिव गर्जितम् ॥ ४७ ॥
सन्देहमागरे मग्ना जग्मुश्चिन्तां सुमन्त्रिणः ।
विषीदति गदापाणावसुराजाविवाऽमराः ॥ ४८ ॥

जैसे समुद्र पीनेके लिए उद्यत हुए अगस्त्यकी दृष्टिसे क्षुब्ध होकर, अपने भीतर स्थित पर्वतरूपी मीनोंके साथ भयसे स्तम्भित होकर स्थित हुआ था वैसे ही राजा क्षणभर देखकर सिंहासनमें ही आँख बन्द करके स्थित हो गया ॥ ४२ ॥

दो मुहूर्ततक राजा आत्मामें ध्यानासक्तके समान ऐसे स्थित हुआ जैसे कि वीतराग और बाह्यदृष्टिशून्य मुनि परमानन्दमें स्थित होता है ॥ ४३ ॥

अपने पराक्रमसे बलवानोंपर जिसने विजय पायी थी, ऐसे उस राजाको किसीने नहीं जगाया, क्योंकि वे सोचते थे—ये किसी बड़ी भारी चिन्ताका अपनी बुद्धिसे चिन्तन कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

जिनमें चन्द्रमाकी किरणें स्तम्भित हों, ऐसी रात्रियोंकी नाईं केवल वहाँपर चँवर डुलानेवाली महिलाएँ निश्चल सफेद चँवरवाली हो गईं यानी उन्होंने चँवर डुलाना बन्द कर दिया ॥ ४५ ॥

जैसे मिट्टीसे बने हुए निश्चल केसर और दलवाले कमल शोभित होते हैं वैसे ही विस्मयपूर्ण निश्चल वे सब सभासद शोभित हुए ॥ ४६ ॥

जैसे वर्षा ऋतुकी समाप्तिमें आकाशमें मेघका गर्जन शान्त हो जाता है वैसे ही सभामण्डपमें धीरे-धीरे कोलाहल शान्त हो गया । जैसे कि भगवान्

विततविस्मितजिह्मितया तया जनतया भयमोहविषण्णया ।
स्तिमितचक्षुषि भूमिपतौ स्थिते मुकुलिताब्जवनस्य धृता द्युतिः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने नृपव्यामोहो नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥



पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मुहुर्तद्वितयेनाऽथ बोधमाप महीपतिः ।
प्रावृषेण्याम्बुनिर्मुक्तमम्भोरुहमिवोत्तमम् ॥ १ ॥
आसनात् साङ्गदोत्तंसः प्रबुद्धोऽसावकम्पयत् ।
सवनाभोगशृङ्गाग्रो भूकम्प इव पर्वतः ॥ २ ॥

विष्णुके असुरयुद्धमें पीड़ित होनेपर देवताओंको चिन्ता होती है वैसे ही सन्देहसमुद्रमें डूबे हुए बुद्धिमान् मन्त्री परम चिन्ताको प्राप्त हुए ॥ ४७,४८ ॥

राजाके आँख बन्द करके बैठनेपर अति आश्चर्य्यसे निरुत्साह हुई भय और मोहसे दुःखी सभामण्डपकी जनताने जिसमें कमल मुकुलित हैं ऐसे कमलवनकी शोभा धारण की ॥ ४९ ॥

एक सौ चार सर्ग समाप्त

—:ॐ:—

एक सौ पाँच सर्ग

[मोहरहित प्रकृतिस्थ राजाके प्रति सभासदोंका मोहहेतुके विषयमें प्रश्नके अनन्तर राजाकी उक्तिके आरम्भका वर्णन]

वसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्रजी, जैसे वर्षाकालके जलसे मुक्त हुआ उत्तम कमल विकसित हो जाता है वैसे ही दो मुहूर्तमें राजा बोधको प्राप्त हो गया ॥१॥

जैसे भूकम्पके समय विशाल वन और शिखरोंके अग्रभागोंसे युक्त पर्वत अपने शरीरको कँपाता है वैसे ही जागकर बाजूबन्द और शिरोमालासे विभूषित राजाने आसनसे अपने शरीरको कँपाया ॥ २ ॥

बभूवाऽथ प्रबुद्धोऽसावासनोपरि कम्पितः ।
विक्षुब्ध इव पातालवारणे शङ्कराचलः ॥ ३ ॥
पतन्तं धारयामासुस्तं पुरोगा नृपं भुजैः ।
मेरुं प्रलयविक्षुब्धं कुलशैलास्तटैरिव ॥ ४ ॥
पुरोगैर्धार्यमाणोऽसौ पर्याकुलमतिर्नृपः ।
वीचिविक्षोभितस्येन्दोर्बभार वनमाः श्रियः ॥ ५ ॥
कोऽयं प्रदेशः कस्येयं सभेति स नृपः शनैः ।
दध्वान मज्जदम्भोजकोशस्थ इव षट्पदः ॥ ६ ॥
अथोवाच सभा देव किमेतदिति सादरम् ।
रणन्मधुकरी भानुं दृष्टराहुमिवाऽब्जिनी ॥ ७ ॥
अथैनं परिपप्रच्छुः पुरोगा मन्त्रिणस्तथा ।
प्रलयोल्लाससंत्रस्तं मार्कण्डेयमिवाऽमराः ॥ ८ ॥

पाताल हस्तीके (पृथिवीको धारण करनेवाले दिग्गजके) क्षुब्ध होनेपर जैसे हिमालय कम्पित होता है वैसे ही पबुद्ध होकर आसनके ऊपर वह कम्पित हुआ ॥ ३ ॥

जैसे प्रलयकालमें क्षुब्ध हुए मेरुको कुलपर्वत अपने तटोंसे सम्हालते हैं वैसे ही गिर रहे उस राजाको सामने स्थित मन्त्री आदिने अपनी भुजाओंसे सम्हाला ॥ ४ ॥

मन्त्री आदि सन्मुखवर्ती पुरुषों द्वारा सम्हाले जा रहे व्याकुलबुद्धि उस राजाने चन्द्रमाका उदय होनेपर उछल रहे समुद्रके जलकी शोभा धारण की ॥ ५ ॥

जैसे डूब रहे कमलके कोशके अन्दर स्थित भ्रमर मन्द-मन्द ध्वनि करता है वैसे ही उस राजाने यह कौन प्रदेश है और यह किसकी सभा है ? यों धीरे-धीरे कहा ॥ ६ ॥

तदनन्तर जैसे राहुसे ग्रस्त सूर्यसे नलिनी, जिसमें भ्रमरियाँ शब्द कर रही हों, आदरके साथ आश्वासनवचन कहती है वैसे ही सभाने हे देव, यह आप क्या कह रहे हैं; यों बड़े आदरके साथ राजासे कहा ॥ ७ ॥

तदनन्तर जैसे प्रलयकालमें भयभीत श्रीमार्कण्डेय मुनिजीसे देवता पूछते हैं वैसे ही सन्मुखवर्ती मन्त्रियोंने राजासे पूछा ॥ ८ ॥

त्वयीत्थं संस्थिते देव वयमत्यन्तमाकुलाः ।
अभेद्यमपि भिन्दन्ति निर्निमित्तं भ्रमा मनः ॥ ९ ॥
आपातरमणीयेषु पर्यन्तविरसेषु च ।
भोगेष्विव विकल्पेषु केषु ते लुलितं मनः ॥ १० ॥
सततोदारवृत्तासु कथासु परिशीतलम् ।
मनस्ते निर्मलं कस्मात् सम्भ्रमेषु निमज्जति ॥ ११ ॥
तुच्छालम्बनमालूनविशीर्णं लोकवृत्तिषु ।
मनो मोहमुपादत्ते न महत्त्वविजृम्भितम् ॥ १२ ॥
सातत्येन हि यैवाऽस्य मनसो वृत्तिरुत्थिता ।
शरीरमदमत्तासु तामेवैतद् विधावति ॥ १३ ॥
अतुच्छालम्बनं धीरं प्रबुद्धं गुणहारि च ।
तवाऽपि हि मनश्चित्रमालूनमिव लक्ष्यते ॥ १४ ॥

महाराज, आपकी ऐसी हालत होनेपर हम अत्यन्त व्याकुल हैं। यद्यपि मन अभेद्य है तथापि भ्रम उसका बिना किसी कारणके भेदन कर डालते हैं ॥ ९ ॥

आपातरमणीय और परिणाममें विरस भोगोंमें जैसे पामर जनोंका मन ललचाता है वैसे ही किन विकल्पोंमें आपका मन मोहको प्राप्त हुआ ॥ १० ॥

उदार वृत्तान्तवाली विवेक चर्चाओंके विषयमें परिशीलन करनेसे शीतल अतएव निर्मल आपका मन भयोंमें क्यों निमग्न हो रहा है ॥ ११ ॥

किस प्रकारका मन मोहयोग्य है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं **'तुच्छालम्बनम्'** इत्यादिसे।

तुच्छ विषयोंमें आसक्त अतएव विषयके छिन्न-भिन्न होनेपर छिन्न-भिन्न-सा और विषयके जर्जरित होनेपर जर्जरित-सा मन लोकव्यवहारोंमें मोहको प्राप्त होता है, पर विवेकसे परिष्कृत मन कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

देहाभिमानसे विवेकरहित अवस्थाओंमें इस मनकी स्त्री, पुत्र आदिके विषयमें एक धारासे जो वृत्ति उदित हुई, उसी वृत्तिकी ओर यह दौड़ता है ॥ १३ ॥

आपका मन तो अतुच्छ (अविनाशी) वस्तुका अवलम्बन करता है। धीर, प्रबुद्ध और गुणोंसे मनोहर है फिर भी वह छिन्न-भिन्न-सा दिखाई देता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १४ ॥

अनभ्यस्तविवेकं हि देशकालवशानुगम् ।
मन्त्रौषधिवशं याति मनो नोदारवृत्तिमत् ॥ १५ ॥
नित्यमात्तविवेकस्य कथमालूनशीर्णता ।
धुनोति विततं चेतो वात्येव विबुधाचलम् ॥ १६ ॥
इति जातानुगीर्णस्य भूपतेः कान्तिराननम् ।
भूषयामास शीतांशुं मासान्त इव पूर्णता ॥ ७ ॥
रराज राजा सौम्यास्यमुन्मीलितविलोचनः ।
गते हिमर्तावुल्लासि पुष्पौघ इव माधवः ॥ १८ ॥
अथाऽतिसंभ्रमाश्चर्यखिन्नास्मृतिमुखो बभौ ।
आसन्नमृत्युरालोक्य राहुमिन्दुरिवाऽम्बरे ॥ १९ ॥
ऐन्द्रजालिकमालोक्य प्रोवाचाऽथ हसन्निव ।
बभ्रुं हिंसात्मकं दृष्ट्वा सर्परूपीव तक्षकः ॥ २० ॥

जिस मनने विवेकका अभ्यास नहीं किया और जो देश-कालका वशवर्ती है, वह मन्त्र और ओषधिका वशीभूत होता है। उदार वृत्तिवाला मन मणि, मन्त्र और ओषधिके वशमें नहीं होता ॥ १५ ॥

जिसको नित्यविवेक प्राप्त है, विवेकसे परिष्कृत उसके चित्तको क्या छिन्न-भिन्नता और जर्जरता कम्पित कर सकती है, क्या आँधी भी कभी मेरुको कँपा सकती है? अर्थात् जैसे आँधीका मेरुपर्वतको कँपाना सम्भव नहीं है, वैसे ही विवेकी पुरुषके विवेकसे विशुद्ध हृदयको विशीर्णता कम्पित नहीं कर सकती ॥१६॥

इस प्रकार अपने आत्मीय लोगोंसे अनुकूल वाणियों द्वारा आश्वासित राजाके मुखको कान्तिने ऐसे विभूषित किया जैसे पौर्णमासीके दिन पूर्णता चन्द्रमाको विभूषित करती है ॥ १७ ॥

वह राजा, जिसके लोचन प्रफुल्लित थे, मनोहर मुखसे युक्त होकर ऐसे सुशोभित हुआ जैसे कि हेमन्त ऋतुके बीत जानेपर फूलोंके समूहसे युक्त वसन्त उल्लसित होकर सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

जैसे डूबनेके लिए तैयार चन्द्रमा आकाशमें राहुको देखकर भयसे और आश्चर्यसे खिन्नमुखवाला होता है वैसे ही राजा ऐन्द्रजालिकको देखकर अतिभय और आश्चर्यसे खिन्न और पूर्वापर सब वृत्तान्तोंके अनुसन्धानसे युक्त मुखवाला होकर सुशोभित हुआ। तदनन्तर ऐन्द्रजालिकको देखकर हँसते हुए राजाने उससे जैसे

जाल्म जालजटालेन किमेतद्भवता कृतम् ।
येनाऽस्पन्दप्रसन्नोऽब्धिः क्षणादेत्यप्रसन्नताम् ॥ २१ ॥
चित्रं चित्रा हि देवस्य पदार्थशतशक्तयः ।
सुशक्तमपि मे चित्तं याभिर्मोहे निवेशितम् ॥ २२ ॥
क्व वयं लोकपर्यायकृतान्तपदवेदिनः ।
क्व मनो मोहदायिन्यो वितताः प्रकृतापदः ॥ २३ ॥
अप्यभ्यस्तमहाज्ञानं मनस्तिष्ठति देहके ।
कदाचिन्मोहमादत्ते क्षणं मतिमतामपि ॥ २४ ॥
इदमाश्चर्यमाख्यानं श्रूयतां रे सभासदः ।
मम शाम्बरिकेणेह यन्मुहूर्तं प्रदर्शितम् ॥ २५ ॥
दृष्टवानहमेतस्मिन् बह्वीः कार्यदशाश्चलाः ।
मुहूर्तं प्रार्थितोऽध्वस्तशक्रसृष्टिरिवाऽब्जजः ॥ २६ ॥

सर्पको मार डालनेवाले नकुलको देखकर छोटे साँपके वेषमें छिपा हुआ नागराज उससे कहता है वैसे ही कहा ॥ १९, २० ॥

अरे बिना विचारे काम करनेवाले ऐन्द्रजालिक, मायारूपी जालसे जटावाले तुमने यह क्या किया ? जिससे निश्चल और प्रसन्न सागरके सदृश मेरा मन एक क्षणमें अप्रसन्नताको प्राप्त होता है । भगवान्‌के सैकड़ों पदार्थोंकी शक्तियां विचित्र हैं, जिन्होंने अत्यन्त शक्तिशाली मेरे चित्तको मोहमें डाल दिया है, यह कम आश्चर्य नहीं है । लोकप्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारोंके सिद्धान्तरहस्यके ज्ञाता हम कहाँ और मनको मोहमें डालनेवाली इस समय अनुभूत ये विस्तृत आपत्तियां कहाँ ॥ २१–२३ ॥

बुद्धिमानोंका भी मन चाहे उसने महा ज्ञानका अभ्यास कितना ही क्यों न कर लिया हो, देहके रहते कभी क्षणभरके लिए भ्रमरूपी इन्द्रजालोंका मोह धारण करता है ॥ २४ ॥

हे सभासदो, इस आश्चर्यकारी आख्यानको आप लोग सुनिये, जो ऐन्द्रजालिकने यहाँपर एक मुहूर्तमें मुझे दर्शाया है ॥ २५ ॥

मैंने इसमें एक मुहूर्तमें बहुत-सी चञ्चल कार्य-दशाओंको देखा, जैसे कि

इत्युक्त्वोन्मुखनेत्रेषु सभ्येषु स हसन्निव ।
राजा वर्णयितुं चित्रं वृत्तान्तमुपचक्रमे ॥ २७ ॥

राजोवाच

इह विविधपदार्थसङ्कुलायां ह्रदनदपत्तनपर्वताकुलायाम् ।
कुलशिखरिसमुद्रसङ्करायां भुवि विभवावलितोऽस्त्ययं प्रदेशः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने राजावबोधो नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

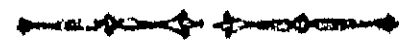
बलिद्वारा प्रसादित ब्रह्माने, जिन्होंने इन्द्रकी सृष्टिको विनष्ट नहीं किया था, एक मुहूर्त इन्द्रकी सृष्टिका मायाकौतुक देखा था* ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर जब सब सभासद राजाकी ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे तब मुसकुराते हुए राजाने विचित्र वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ २७ ॥

आगे कही जानेवाली कथाके उपोद्घातरूपसे पहले सर्वजनप्रसिद्ध भूमिके अन्तर्गत अपने स्वदेशकी सत्ताका अनुवाद करते हैं--'इह' इत्यादिसे ।

राजाने कहा—हे सभासदो, विविध विचित्र वस्तुओंसे ठसाठस भरी हुई, तालाब, नदी, नद, नगर और पर्वतोंसे व्याप्त तथा कुलपर्वत और समुद्रोंसे युक्त इस पृथ्वीमें विविध विभवोंसे परिवेष्टित यह प्रदेश है ॥ २८ ॥

एक सौ पांच सर्ग



---

* पहले किसी समय बलिने इन्द्रको असहाय अवस्थामें पा लिया । वह अपने बलसे इन्द्रको पीड़ित कर ले जाना चाहता था, पर इन्द्रने अपनी मायासे स्वसेनाकी सृष्टिकर मायाबन्धन द्वारा बलिको मोहित कर दिया । तब बलिने अपने बन्धनमोचनके लिए स्तुतिसे ब्रह्माको प्रसन्न किया । ब्रह्माने वहां उपस्थित होकर इन्द्रकी सृष्टिका विनाश करना चाहा, किन्तु इन्द्रके प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीने इन्द्रकी सृष्टिका ध्वंस नहीं किया और एक मुहूर्ततक इन्द्रकी सृष्टिकी माया-क्रीड़ा देखी थी, ऐसी पौराणिक कथा है ।

षडुत्तरशततमः सर्गः

राजोवाच

अस्ति तावदयं देशो नानावननदीयुतः ।
वसुधामण्डलस्याऽस्य सहोदर इवाऽनुजः ॥ १ ॥
अस्मिंश्चाऽयमहं राजा पौराभिमतवृत्तिमान् ।
इन्द्रः स्वर्ग इवाऽस्यां तु सभायां मध्यसंस्थितः ॥ २ ॥
यावदभ्यागतो दूरात् कश्चिच्छाम्बरिकस्त्वयम् ।
रसातलादभ्युदितो मायी मय इव स्वयम् ॥ ३ ॥
अनेन भ्रमिताऽद्येह पिच्छिका तेजसोर्जिता ।
कल्पान्तपवनाभ्रेण शक्रचापलता यथा ॥ ४ ॥
आलोक्यैतामहं लीलामस्याऽश्वस्य पुरः स्थितः ।
पृष्ठमारूढवानेक आत्मना भ्रान्तमानसः ॥ ५ ॥
ततोऽद्रिं प्रलयक्षुब्धं पुष्करावर्तको यथा ।
तथा चलन्तं चलितः स्वश्वमारूढवानहम् ॥ ६ ॥

एक सौ छः सर्ग

[उक्त घोड़े द्वारा वनमें पहुँचाये गये राजाका चण्डालकन्याके साथ विवाहवर्णन]

राजाने कहा—हे सभासदो, इस पृथिवीमण्डलका सगा भाई-सा यह देश, जो विविध वन और नदियोंसे युक्त है, आप सब लोगोंके सम्मुख विद्यमान है। इस प्रदेशमें यह मैं राजा, जो कि नगरवासियोंका प्रिय हूँ, जैसे इन्द्र स्वर्गमें सभाके बीचमें रहता है वैसे ही इस सभाके बीचमें बैठा था ॥ १, २ ॥

जैसे पातालसे मायावी मय दानव अपने-आप निकल आवे वैसे ही यह कोई ऐन्द्रजालिक दूरसे आ पहुँचा, यह भी सबको विदित है ॥ ३ ॥

जैसे प्रलयकालके वायुसे युक्त मेघ इन्द्रधनुषरूपी लताको घुमाता है वैसे ही इसने आज यहाँपर तेजसे युक्त यह मोर-पंखका मोरछल घुमाया ॥ ४ ॥

सामने बैठा हुआ मैं उस चञ्चल मोरछलको देखकर अकेले इस घोड़ेकी पीठपर अपने-आप सवार हो गया। उस समय मेरा मन कुछ भ्रान्त-सा हो गया था ॥ ५ ॥

तदनन्तर जैसे प्रलयकालमें उत्पातवश हिल रहे पर्वतपर सवार होकर पुष्करा-

गन्तुं प्रवृत्तो मृगयामेकोऽहमतिरंहसा ।
उर्वरामिव निर्भर्तुः कल्लोलः प्रलयाम्बुधेः ॥ ७ ॥
तेनाऽनिलविलोलेन दूरं नीतोऽस्मि वाजिना ।
भोगाभ्यासजडेनाऽज्ञो मुग्धस्य मनसा यथा ॥ ८ ॥
अकिञ्चनमनःशून्यं स्त्रीचित्तमिव निर्भरम् ।
ततः प्रलयनिर्दग्धजगदास्पदभीषणम् ॥ ९ ॥
निष्पक्षि क्षारनीहारं निर्वृक्षमजलं महत् ।
संप्राप्तोऽहमपर्यन्तमरण्यं श्रान्तवाहनः ॥ १० ॥
तद् द्वितीयमिवाऽऽकाशं तथाऽष्टममिवाऽम्बुधिम् ।
पञ्चमं सागरमिव संशुष्कं शून्यकोटरम् ॥ ११ ॥
ज्ञस्येव विततं चेतो मूर्खस्येव रुषाजवम् ।
अदृष्टजनसंसर्गमजाततृणपल्लवम् ॥ १२ ॥

वर्तनामक मेघराज चलता है वैसे ही चल रहे उस सुन्दर घोडेपर सवार हुआ मैं चला ॥ ६ ॥

जैसे अत्यन्त बढे हुए प्रलयकालके समुद्रकी बडी लहर फले-फूले खेतोंकी ओर जाने लगती है वैसे ही मैं अकेला बडे वेगसे शिकार खेलनेके लिए जानेको तैयार हुआ ॥ ७ ॥

जैसे आपातरमणीय विषयोंके भोगाभ्याससे जड़ चञ्चल मन अज्ञानी पुरुषको दूर ले जाता है, वैसे ही वायुके समान तेज़ दौड़नेवाला वह घोडा मुझे बहुत दूर ले गया ॥ ८ ॥

तदुपरान्त यतिके मनके समान शून्य (विषयरहित) और स्त्रियोंके चित्तके समान तुच्छ अथवा विषम तथा प्रलयकालमें जले हुए ब्रह्माण्डके समान भीषण वनमें मैं प्राप्त हुआ । वहाँ पक्षी नाममात्रको भी न थे, वहाँका शीत अत्यन्त दुःसह था, वृक्षोंका कहीं नाम-निशान न था, तथा जलका भी पूरा अभाव था । उस विशाल अरण्यका कहीं ओर-छोर न था । मेरा घोडा थक गया था । दूसरे आकाशके समान और आठवें अर्णवके (स्वादूदक समुद्रके बाद आठवें समुद्र यानी पूर्व-वर्णित भूमिके परिखारूप गर्तके) समान, सूखे हुए पाँचवें सागरके समान (जम्बू-द्वीपमें चारों दिशाओंमें चार सागरोंकी प्रसिद्धि है, मानों वह पाँचवाँ सागर था)

अरण्यमिदमासाद्य मतिर्मे खेदमागता ।
ललनेवैत्य दारिद्र्यं निरन्नफलबान्धवम् ॥ १३ ॥

कचन्मरुमरीच्यम्बुपुरःप्लुतककुम्मुखम् ।
आसूर्यास्तं दिनं तत्र प्रक्रान्तं सीदता मया ॥ १४ ॥

तदरण्यं मयाऽतीतमतिकृच्छ्रेण खेदिना ।
विवेकिनेव संसारो मध्यशून्यतताकृति ॥ १५ ॥

यदेतेनाऽतिवाह्याऽहं प्राप्तवाञ्जङ्गलं क्रमात् ।
अस्ताद्रिसानुं खिन्नाश्वः शून्यभ्रान्त्येव भास्करः ॥ १६ ॥

जम्बूकदम्बप्रायेषु कलालापाः पतत्त्रिणः ।
यत्र स्फुरन्ति खण्डेषु पान्थानामिव बान्धवाः ॥ १७ ॥

यत्र शष्पशिखाश्रेण्यो दृश्यन्ते विरलाः स्थले ।
कदर्थलक्ष्मा जिह्मस्य हृदीवाऽऽनन्दवृत्तयः ॥ १८ ॥

वह शून्यगर्तवाला था, तत्त्ववेत्ताके ब्रह्माकार चित्तके समान अपरिच्छिन्न था, मूर्खके क्रोधके समान दुर्गम था, उसमें कभी कोई प्राणी पहुँचा न था और न कभी तृण-पल्लव ही उगे थे। ऐसे भयङ्कर जङ्गलको पाकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। जैसे अन्न-फल-बन्धु बान्धवोंसे रहित दरिद्रताको प्राप्त होकर दुःख पा रही ललना स्थित होती है, वैसे ही फैल रहे मरुमृगतृष्णाके जलसे जहाँपर दिशाओंके मुख आप्लावित हो रहे थे, ऐसे स्थानमें स्थित अति दुःखी हो रहे मैंने सूर्यास्त होनेतक सारा दिन वहाँपर बिताया ॥ ९-१४ ॥

जैसे विवेकी पुरुष संसारका अतिक्रमण करता है, वैसे ही दुःखी हुए मैंने मध्य रहित और विस्तीर्ण उस अरण्यको किसी प्रकार बड़े क्लेशसे लाँघा, जैसे सूर्य, जिनके घोड़े श्रान्त हो गये हों, आकाशगमनसे अस्ताचलके शिखरको प्राप्त होते हैं वैसे ही इस वेगशाली घोड़ेसे उस जंगलको क्रमशः लाँधकर वहाँपर प्राप्त हुआ, जामुन और कदम्ब ही जिनमें प्रचुरमात्रामें थे ऐसे जिन खण्डोंमें बटोहियोंके बान्धवोंकी नाईं मधुर कलरव करनेवाले पक्षी उड़ रहे थे और खेतोंमें कहीं-कहीं धानोंकी बाल ऐसे ही दृष्टिगोचर हो रही थी जैसे कि कुटिल पुरुषके हृदयमें अधर्मसे उपार्जित धनसे आनन्दवृत्तियाँ उदित होती हैं ॥ १५-१८ ॥

पूर्वादरण्यादरसात्तद्धि किञ्चित् सुखावहम् ।
अत्यन्तदुःखान्मरणाद्वरं व्याधिर्हि जन्तुषु ॥ १९ ॥
तत्र जम्बीरखण्डस्य तलं संप्राप्तवानहम् ।
मार्कंडेय इवाऽगेन्द्रमेकार्णवविहारतः ॥ २० ॥
आलम्बिता मया तत्र स्कन्धसंसर्गिणी लता ।
नीला जलदमालेव तापतप्तेन भूभृता ॥ २१ ॥
मयि प्रलम्बमानेऽस्यां प्रयातः स तुरङ्गमः ।
गङ्गावलम्बिनि नरे यथा दुष्कृतसञ्चयः ॥ २२ ॥
चिरं दीर्घाध्वगः खिन्नस्तत्र विश्रान्तवानहम् ।
भानुरस्ताचलोत्सङ्गे तले कल्पतरोरिव ॥ ३२ ॥
यावत्समस्तसंसारव्यवहारभरैः समम् ।
रविर्विश्रमणायेव निविष्टोऽस्ताचलाङ्गणे ॥ २४ ॥
शनैः श्यामिकया ग्रस्ते समस्ते भुवनोदरे ।
रात्रिसंव्यवहारेषु सम्प्रवृत्तेषु जङ्गले ॥ २५ ॥

पूर्व नीरस अरण्यसे यह कुछ सुखकर था। अत्यन्त दुःखोंसे परिपूर्ण मरणसे प्राणियोंको व्याधि कुछ सुखकर प्रतीत होती ही है ॥ १९ ॥

जैसे एकमात्र समुद्रमें विहार करनेके बाद मार्कण्डेयजी श्रीविष्णु भगवान्‌से अधिष्ठित श्रेष्ठ वटवृक्षको प्राप्त हुए थे, वैसे ही मै भी वहांपर जमीरके पेड़के नीचे पहुंचा ॥ २० ॥

जैसे सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त पर्वत नीली मेघघटाका अवलम्बन करता है वैसे ही वहाँपर उस वृक्षके तनेसे सटी हुई लताका घोड़ेके त्यागके लिए मैने अवलम्बन किया ॥ २१ ॥

जैसे मनुष्यके गङ्गाजीकी शरण लेनेपर पापराशि भाग जाती है वैसे ही मेरे उस लताके सहारे लटकनेपर वह घोड़ा भाग गया। मै दीर्घ कालका पथिक था, अतः थक कर चूर हो गया था। वहाँपर मैने चिरकालतक ऐसे विश्राम लिया जैसे सूर्य अस्ताचल पर्वतकी गोदमें कल्पवृक्षके नीचे विश्राम करते हैं ॥ २२, २३ ॥

सम्पूर्ण संसारके व्यवहारोंके साथ सूर्य भगवान् मानो विश्राम करनेके लिए अस्ताचल रूपी आँगनमें प्रविष्ट हो गये। रात्रि द्वारा धीरे धीरे सारे भुवनके मध्यभागके ग्रसे जानेपर और जङ्गलमें रात्रिके व्यवहारोंका राज होनेपर जैसे पक्षी

अहं तरुतृणे तस्मिन् पेलवे खण्डकोटरे ।
निलीनश्चिरलीनास्यः स्वनीडे विहगो यथा ॥ २६ ॥
विषदष्टविवेकस्य कीनाशस्य गलत्स्मृतेः ।
विक्रीतस्येव दीनस्य मग्नस्येवाऽन्धकूपके ॥ २७ ॥
तत्र कल्पसमा रात्रिर्मोहमग्नस्य मे गता ।
एकार्णवोह्यमानस्य मार्कण्डेयमुनेरिव ॥ २८ ॥
न स्नातवान् नाऽर्चितवान् न तदा भुक्तवानहम् ।
केवलं मे गता रात्रिः सापदां धुरि तिष्ठतः ॥ २९ ॥
विनिद्रस्य विधैर्यस्य स्फुरतः सह पल्लवैः ।
समं दुष्टातिदैर्घ्येण सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३० ॥
ततस्तिमिरलेखासु सह तारेन्दुकैरवैः ।
मयीवाऽऽपाद्यमानासु म्लानतामलमानने ॥ ३१ ॥
शाम्यन्तीषु च वेतालक्ष्वेडासु जवजङ्गले ।
सहशीतार्तिमद्दन्तपङ्क्तिटाङ्कारसीत्कृतैः ॥ ३२ ॥

अपनी चोंचको डैनोंके बीचमें छिपाकर घोंसलेमें छिप जाता है, वैसे मैं एक वृक्षके पत्ते और तिनकोंसे युक्त कोमल खण्डित खोखलेमें छिप गया ॥ २६ ॥

विषधर सर्पसे जिसका विवेक डसा गया है, अतएव गल रही स्मृतिवाले मृत्युके वशीभूत पुरुषकी नाईं, बेचे गये दीन-हीनके सदृश और अन्धेरे कुएमें डूबे हुए व्यक्तिके तुल्य मोहमें डूबे हुए मेरी कल्पके समान वह रात्रि ऐसे बीती जैसे एकमात्र प्रलयकालीन सागरमें बह रहे श्रीमार्कण्डेय मुनिजीकी प्रलयरात्रि बीती थी। उस कालमें न मैंने स्नान किया, न देवताओंकी पूजा की और न भोजन ही किया। आपत्तियुक्त लोगोंकी प्रथम श्रेणीमें स्थित हो रहे मेरी किसी प्रकार केवल वह रात्रि बीती ॥ २७-२९ ॥

उस भीषण रात्रिमें नींदका तो मुझसे स्पर्श भी नहीं हुआ, धैर्य भी मेरा न मालूम कहाँ चला गया था, मैं पल्लवोंके साथ कांप रहा था ऐसी शोचनीय अवस्थावाले मेरी वह रात्रि दुस्तर अति लम्बाईके साथ किसी प्रकार बीती तो ॥ ३० ॥

तदनन्तर जैसे मैं अपने मुँह, नेत्र और तारिकाके साथ मलिनताको प्राप्त किया गया था, वैसे ही अन्धकारघटाके सितारों, चन्द्रमा और कुईके फूलोंके साथ खूब मलिनताको प्राप्त किये जानेपर और दीर्घ जङ्गलमें वेतालोंके सिंहनादके शान्त होनेपर

मामेवाऽर्त्तिविनिर्मग्नं हसन्तीमिव दृष्टवान् ।
अहं पूर्वां दिशं प्राप्तमधुपानारुणामिव ॥ ३३ ॥
क्षणादज्ञ इव ज्ञानं दरिद्र इव काञ्चनम् ।
दृष्टवानहमर्कं खे वारणारोहणोन्मुखम् ॥ ३४ ॥
उत्थायाऽऽस्तरणं वस्त्रं तत्तदास्फोटितं मया ।
हस्तिचर्म हरेणेव सन्ध्यानृत्यानुरागिणा ॥ ३५ ॥
प्रवृत्तस्तामहं स्फारां विहर्तुं जङ्गलस्थलीम् ।
कालो जगत्कुटीं कल्पदग्धभूतगणामिव ॥ ३६ ॥
न किञ्चिद् दृश्यते तत्र भूतं जरठजङ्गले ।
अभिजातो गुणलवो यथा मूर्खशरीरके ॥ ३७ ॥
केवलं विगताशङ्कं खण्डभ्रमणचञ्चलम् ।
चीचीकूचीतिवचना विहरन्ति विहङ्गमाः ॥ ३८ ॥

दुःसह शीतकी व्यथासे युक्त प्राणियोंके दाँतोंकी पङ्क्तियोंकी खटखटाहट और सीत्कारोंसे क्लेशमें पड़े हुए मेरा ही उपहास-सा कर रही पूर्व दिशाको, जिसने मद्यपानसे अरुणता प्राप्त की थी, मैंने देखा ॥ ३१—३३ ॥

एक क्षणके बाद जैसे अज्ञानीको ज्ञान प्राप्त हो और जैसे दरिद्रको सुवर्ण मिले वैसे ही मैंने पूर्व दिशाके ऐरावत नामक दिग्गजपर सवार होनेके लिए (उससे ऊपर उगनेके लिए) तत्पर सूर्यको आकाशमें देखा ॥ ३४ ॥

उस समय उठकर मैंने जैसे सन्ध्याके समय नृत्यमें अनुराग रखनेवाले शङ्कर भगवान् गजचर्मको झाड़ते हैं—इधर उधर फटकारते हैं वैसे अपना बिछौना झाड़ा ॥ ३५ ॥

जैसे काल जगत्‌रूपी कुटियामें, जिसमें प्रलयकालमें भूतसंघ जल गये, विहार करता है वैसे ही मैं उस अतिविस्तीर्ण वनस्थलीमें विहार करनेके लिए उद्यत हुआ ॥ ३६ ॥

जैसे मूर्खके शरीरमें कोई मनोहर गुण नहीं दिखाई देता वैसे ही उस जीर्ण जङ्गलमें मुझे एक भी प्राणी नहीं दिखाई दिया ॥ ३७ ॥

वहांपर केवल 'चीं चीं चूं चूं' यों चहचहा रहे पक्षी निशङ्क होकर निष्फल वनप्रदेशमें परिभ्रमणसे अपनी जातिचपलता प्रकट करते हुए फुदुक रहे थे ॥ ३८ ॥

अथाऽष्टभागमापन्ने व्योम्नो दिवसनायके ।
शुष्कावश्यायलेशासु स्नातास्विव लतासु च ॥ ३९ ॥
दृष्टा मया प्रभ्रमता दारिकौदनधारिणी ।
गृहीतामृतसत्कुम्भा दानवेनेव माधवी ॥ ४० ॥
तरत्तारकनेत्रां तां श्यामामधवलाम्बराम् ।
अहमभ्यागतस्तत्र शर्वरीमिव चन्द्रमाः ॥ ४१ ॥
मह्यमोदनमाश्वेतद् बाले बलवदापदि ।
देहि दीनार्तिहरणात् स्फारतां यान्ति सम्पदः ॥ ४२ ॥
क्षुदन्तर्महतीयं मे बाले वृद्धिमुपेयुषी ।
कृष्णसर्पा प्रसूतेव कोटरस्था जरद्द्रुमे ॥ ४३ ॥

तदुपरान्त जब सूर्य आकाशके आठवें हिस्सेमें चढ़ चुके थे यानी लगभग चार दण्ड दिन चढ़ गया था और लताएँ, जिनके ओसबिन्दु सूख गये थे, अतएव मालूम होता था मानो स्नान कर चुकीं हों, उस समय घूम रहे मैंने सिरपर भातका थाल रक्खी हुई एक कन्याको देखा जैसे कि दानवने अमृतके सुन्दर घड़ेको धारण की हुई माधवीको* देखा था ॥ ३९, ४० ॥

उसके नेत्रोंकी तारिका बड़ी चञ्चल थी, स्वरूप काला था और काले ही वस्त्र पहिने थी । जैसे चञ्चल सितारेरूपी नेत्रोंसे युक्त तथा अन्धकाररूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाली काली रात्रिके पास चन्द्रमा जाता है वैसे ही वहांपर मैं उसके समीप गया ॥ ४१ ॥

मैंने उससे कहा---हे बाले, इस भारी सकटमें पड़े हुए† मुझे शीघ्र यह भात दो, दीन पुरुषोंका दुःख हरनेमें सम्पत्तियां वृद्धिको प्राप्त होती हैं ॥ ४२ ॥

हे बाले, जैसे पुराने पेड़में खोखलेमें रहनेवाली ब्याई‡ हुई काली सांपिन

---

* मोहिनीरूप धारण किये हुए भगवान्‌को ।

† 'जिस पुरुषके प्राणोंपर संकट उपस्थित हुआ हो, वह यदि जिस किसीसे अन्न लेकर खाता है, तो जैसे कमलके पत्तेमें जलका स्पर्श नहीं होता वैसे ही उसको भी पापका स्पर्श नहीं होता' इत्यर्थक स्मृति है ।

‡ वह अपने अण्डोंको तक खा जाती है । 'प्रसूता' विशेषण भूखकी अनुचित कारिताका द्योतन करनेके लिए है । जैसे ब्याई हुई साँपिन अपने अण्डों तकको खा डालती है, भला इससे बढ़कर अनौचित्य और क्या होगा ? वैसे ही भूख भी क्या क्या अनौचित्य नहीं करा डालती है !

याच्ञयाऽपि तया मह्यमित्थं दत्तं न किञ्चन ।
यत्नप्रार्थनया लक्ष्म्या यथा दुष्कृतिने धनम् ॥ ४४ ॥
केवलं चिरकालेन मयाऽत्यन्तानुगामिना ।
खण्डात् खण्डं निपतति च्छायाभूते पुरःस्थिते ॥ ४५ ॥
तयोक्तं हारकेयूरिंश्चण्डालीं विद्धि मामिति ।
राक्षसीमिव सुक्रूरां पुरुषाश्वगजाशनाम् ॥ ४६ ॥
राजन् याचनमात्रेण मत्तो नाऽऽप्नोषि भोजनम् ।
ग्राम्यादनभिजातेहात् सौजन्यमिव सुन्दरम् ॥ ४७ ॥
इत्युक्तवत्या गच्छन्त्या खेलया च पदे पदे ।
कुञ्जकेषु निमज्जन्त्या लीलावनतयोदितम् ॥ ४८ ॥
ददामि भोजनमिदं भर्ता भवसि चेन्मम ।
लोको नोपकरोत्यर्थैः सामान्यः स्निग्धतां विना ॥ ४९ ॥

वृद्धिको प्राप्त होती है वैसे ही मेरे पेटमें यह प्राणान्तकारिणी भूखकी ज्वाला वृद्धिको प्राप्त हुई है ॥ ४३ ॥

जैसे लक्ष्मी प्रयत्नपूर्वक की गई प्रार्थनासे पापीको धन नहीं देती है वैसे ही मेरी इस प्रकारकी प्रार्थनासे भी उसने मुझे कुछ नहीं दिया ॥ ४४ ॥

तथापि मे अन्नप्राप्तिकी आशासे चिरकालतक उसका अनुगामी बना रहा । मेरे छायाके समान एक वनप्रदेशसे दूसरे वनप्रदेशमें उसके पीछे-पीछे चलनेपर उस रमणीने मुझसे कहा हे हारकेयूरधारिन् भद्र पुरुष, आप मुझे पुरुष, अश्व और गजका भक्षण करनेवाली राक्षसीके तुल्य अत्यन्त क्रूर चण्डालिन जानिये ॥४५,४६॥

हे राजन्, जैसे ग्रामीण जनसे, जिसकी इच्छा पूरी न हुई हो, सुन्दर सौजन्य कोई पा नहीं सकता वैसे ही केवल याचनामात्रसे आप मुझसे भोजन नहीं पा सकते हैं ॥ ४७ ॥

यह कह चुकनेके अनन्तर पद-पदपर हाव-भावके साथ चल रही, वृक्षोंके निकुञ्जोंमें छिप रही तथा अपनी अभिलाषाके सूचक कटाक्ष आदि चेष्टाओंसे विनम्र हुई उसने मुझसे यह कहा -यदि तुम मेरे पति बनते हो, तो मैं यह भोजन तुम्हें देती हूँ; क्योंकि पामर लोग प्रेमके बिना किसी वस्तुसे उपकार नहीं कर सकते ॥ ४८, ४९ ॥

वाहयत्यत्र मे दान्तान् केदारे पुल्कसः पिता ।
श्मशान इव वेतालः क्षुधितो धूलिधूसरः ॥ ५० ॥
तस्येदमन्नं भवति भर्तृत्वे दीयते स्थिते ।
प्राणैरपि हि संपूज्या वल्लभाः पुरुषा यतः ॥ ५१ ॥
अथोक्ता सा मया भर्ता भवामि तव सुव्रते ।
केनाऽऽपदि विचार्यन्ते वर्णधर्मकुलक्रमाः ॥ ५२ ॥
ततस्तयौदनादर्धं मह्यमेकं समर्पितम् ।
माधव्येवाऽमृतादर्धमिन्द्रायार्तिमहत् पुरा ॥ ५३ ॥
जम्बूफलरसः पीतः स भुक्तः पक्कणौदनः ।
विश्रान्तं च मया तत्र मोहापहतचेतसा ॥ ५४ ॥
मां तत्राऽर्कमिवाऽऽपूर्य सा प्रावृट् श्यामला गता ।
हस्तेन समुपादाय प्राणं बहिरिव स्थितम् ॥ ५५ ॥
दुराकृतिं दुरारम्भमाससाद भयप्रदम् ।
पितरं पीवराकारमवीचिमिव यातना ॥ ५६ ॥

जैसे श्मशान भूमिमें वेताल भूखा और धूलीसे धूसर रहता है वैसे ही यहां खेतमें भूखा और धूलिसे सना हुआ मेरा पिता, जो चाण्डाल है, बैलोंको चला रहा है यानी खेत जोत रहा है ॥ ५० ॥

उसके लिए यह अन्न है, आपमें मेरा भर्तृत्व यदि स्थिर हो जाय, तो इस अन्नको आपको दे सकती हूं, क्योंकि प्रिय पुरुषोंकी प्राणोंसे पूजा करनी चाहिये ॥

तदुपरान्त मैंने उससे कहा– हे सुव्रते, मैं तुम्हारा पति होना हूं, आपत्तिमें वर्ण, धर्म और कुलाचारोंका कौन विचार करता है ? ॥ ५२ ॥

मेरे प्रतिज्ञा करनेके उपरान्त जैसे प्राचीन कालमें मोहिनीरूप धारण किये हुए भगवान्‌ने आधा अमृत इन्द्रके लिए दिया वैसे ही उसने आधा भात मुझे दे दिया । उसीको मैंने क्षुधाकी पीड़ासे बहुत समझा ॥ ५३ ॥

मोहसे मेरा चित्त हरा जा चुका था, अतएव मैंने वह भीलोंके ग्रामका भात खाया और जामुनका रस पीया और वहाँपर विश्राम भी किया ॥ ५४ ॥

जैसे मेघोंसे काली वर्षा ऋतु सूर्यको छिपा देती है वैसे ही वह श्यामल कामिनी मुझे वहाँपर छिपाकर बाहर स्थित प्राणके समान हाथसे लेकर कुत्सित काली आकृतिवाले दुष्कर्मकारी अतिस्थूल तथा भयानक पिताके पास जैसे नारकी

तया मदनुषङ्गिण्या स्वार्थस्तस्मै निवेदितः ।
मातङ्गाय भ्रमर्येव निःस्वनेनाऽलिलग्नया ॥ ५७ ॥
अयं मम भवेद् भर्ता तात हे तव रोचताम् ।
स तस्या बाढमित्युक्त्वा दिनान्ते समुपस्थिते ॥ ५८ ॥
मुमोच दान्तावाबद्धौ कृतान्तः किङ्कराविव ।
नीहाराभ्रकडारासु दिक्षु प्रोद्धूलितासु च ॥
वेतालबन्धनात् तस्माद् दिनान्ते चलिता वयम् ॥ ५९ ॥
क्षणेन पक्कणं प्राप्ताः सन्ध्यायां दीर्घजङ्गलात् ।
श्मशानादिव वेतालाः श्मशानमितरन्महत् ॥ ६० ॥
विकर्तितविभागस्थकपिकुक्कुटवायसम् ।
रक्तसिक्तोर्वराभागप्रभ्रमन्मक्षिकागणम् ॥ ६१ ॥
शोषार्थं प्रसृताद्रान्त्रतन्त्रीजालपतत्खगम् ।
निष्कुटस्थितजम्बीरखण्डलग्नखगध्वनि ॥ ६२ ॥

व्यथा अवीचिनामक नरकमें पहुँचती है वैसे ही पहुँची ॥ ५५ ५६ ॥

वह मुझपर अनुरक्त थी, अतः जैसे अन्य भ्रमरपर अनुरक्त भँवरी हाथीसे कानमें मधुर ध्वनिसे अपनी अभिलाषा कहती है वैसे ही उसने अपना अभिलाष उस चण्डालसे (अपने पितासे) कानमें मधुर ध्वनिसे कहा ॥ ५७ ॥

पिताजी, यह मेरा पति हो, इसकी आप अनुमति दीजिये। उसने उससे अच्छा कहकर दिन बीतनेपर जैसे काल अपने दो किंकरोंको बाँधता है वैसे ही उसने बैलोंको बाध दिया। कुहरे और मेघसे कपिल दिशाओंके धूलि-धूसर होनेपर वेतालोंके निवासस्थानभूत उस वनसे हम तीनों चले ॥ ५८, ५९ ॥

जैसे वेताल श्मशानसे दूसरे बड़े श्मशानमें पहुचते हैं वैसे ही सन्ध्याके समय हम लोग उस विशाल वनसे एक क्षणमें भीलोंकी बस्तीमें पहुंचे ॥ ६० ॥

वहाँपर कटे हुए बन्दर, मुर्गे और कौए टुकडे टुकड़े करके रक्खे थे, खूनसे सींची हुई भूमिमें मक्खियाँ भनभना रही थीं ॥ ६१ ॥

सुखानेके लिए फैलाये हुए गीले आतरूपी रस्सीके जालपर मांसाहारी पक्षी [illegible] घरके बगीचोंमें खट्टे जंभीरके पेड़ोंपर बैठे पक्षीगण कलरव कर रहे

शुष्यद्गुरुवसापिण्डपूर्णालिन्दलसत्खगम् ।
दृष्टिप्रसृतरक्ताक्तचर्मस्रवदसृग्लवम् ॥ ६३ ॥
बालहस्तस्थितक्रव्यपिण्डक्वणितमक्षिकम् ।
जर्जराधिष्ठचण्डालतर्जितारटिताभकम् ॥ ६४ ॥
तत्प्रविष्टा वयं कीर्णशिरान्त्रं भीमपक्कणम् ।
मृतभूतं जगत् कल्पे कृतान्तानुचरा इव ॥ ६५ ॥
सम्भ्रमोपहितानल्पकदलीदलपीठके ।
अहमास्थितवांस्तत्र नवे श्वशुरमन्दिरे ॥ ६६ ॥
श्वश्वा मे केकराक्ष्या तु तेनाऽसृग्लवचक्षुषा ।
जामाताऽयमिति प्रोक्तं तया तदभिनन्दितम् ॥ ६७ ॥
अथ विश्रम्य चण्डालभोजनान्यजिनासने ।
सञ्चितान्युपभुक्तानि दुष्कृतानीव भूरिशः ॥ ६८ ॥

थे, सूख रहे बड़े भारी वसा (चर्बी) के पिण्डोंसे पूर्ण बाहरके दरवाजेकी कोठरीमें पक्षियोंकी चहल-पहल हो रही थी, नेत्रोंके गोलकसे निकले हुए रुधिरसे लथपथ चमड़ोंसे रुधिरबिन्दु टपक रहे थे, बालकोंके हाथमें स्थित मांसपिण्डमें मक्खियोंके दल भनभना रहे थे, बूढे और बलिष्ठ चाण्डालों द्वारा शोरगुल मचानेवाले बालक डाटें-डपटे जा रहे थे ॥ ६२ ६४ ॥

जैसे प्रलयकालमें मृत प्राणियोंसे पूर्ण जगत्में यमके अनुचर प्रवेश करते हैं वैसे ही हम तीनों उस भयङ्कर भीलोंकी बस्तीमें गये । उसमें चारों ओर नसें और आँतें बखेरी थीं ॥ ६५ ॥

मैं उस नये श्वशुरके घरमें, जहाँ बड़े आदरके साथ बहुतसे केलेके पत्तेरूपी आसन बिछाये गये थे, बैठा । खूनके समान लाल आँखवाले श्वशुरने यह जामाता है, ऐसा मेरी साससे कहा, डेढ़ा देखनेवाली मेरी सासने उसके कथनका अभिनन्दन किया ॥ ६६,६७ ॥

तदनन्तर कुछ विश्राम कर, चर्मके आसनपर बैठकर इकट्ठा किया हुआ विविध प्रकारका चण्डालोचित भोजन मैंने इस प्रकार खाया जैसे पापी पुरुष अनेक प्रकारके संचित पापोंका भोग करता है ॥ ६८ ॥

अनन्तदुःखबीजानि न मनोज्ञतराण्यपि ।
तानि प्रणयवाक्यानि श्रुतान्यसुभगान्यलम् ॥ ६९ ॥
निरभ्राम्बरनक्षत्रे कस्मिंश्चिद्दिवसे ततः ।
तैस्तैरारम्भसंरम्भैस्तैर्वस्त्रविभवार्पणैः ॥ ७० ॥
दत्ताऽप्यनेन सा मह्यं कुमारी भयदायिनी ।
सुकृष्णा कृष्णवर्णेन दुष्कृतेनेव यातना ॥ ७१ ॥
सरभसमभितो विनेदुरत्र प्रसृतमहामदिरासवाः श्वपाकाः ।
हतपटुपटहा विलासवन्तः स्वयमिव दुष्कृतराशयो महान्तः ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने चाण्डालीविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥



मैने बहुतसे प्रेमालाप, जो अनन्त दुःखोंके बीज थे, कुछ मनोहर भी न थे एवं जिनमें किसी प्रकारका आकर्षण भी न था, खूब सुने ॥ ६९ ॥

तदुपरान्त किसी दिन, जब कि मेघहीन आकाशमें नक्षत्र दमक रहे थे, जैसे पाप नारकीय पीडा देता है वैसे ही काले वर्णवाले उस चण्डालने वह काली-कलूटी भयानक कुमारी कन्या चण्डालोचित मद्य, मांस आदिके संचयके साज-सर-अंजाम, वस्त्र और धनके समर्पणके साथ मुझे दी ॥ ७०,७१ ॥

इस विवाहोत्सवमें जिन्हें मदिरा और आसवका मद चढा था, खूब जोरसे नगाड़े बजा रहे थे, ऐसे चण्डाल लोग नाच विलास करते हुए मूर्तिधारी ब्रह्महत्या आदि पापराशियोंके तुल्य बड़े वेगसे मेरे चारों ओर भाँति-भाँतिके शब्द करते थे ॥ ७२ ॥

एक सौ छः सर्ग समाप्त



सप्तोत्तरशततमः सर्गः

राजोवाच

बहुनाऽत्र किमुक्तेन सोत्सवावर्जिताशयः ।
तदाप्रभृति तत्राऽहं सम्पन्नः पुष्टपुल्कसः ॥ १ ॥
सप्तरात्रोत्सवस्याऽन्ते क्रमान्मासाष्टके गते ।
पुष्पिता साऽस्य सम्पन्ना स्थिता गर्भवती ततः ॥ २ ॥
प्रसूता दुःखदां कन्यां विपद् दुःखक्रियामिव ।
सा कन्या ववृधे शीघ्रं मूर्खचिन्तेव पीवरी ॥ ३ ॥
पुनः प्रसूता सा वर्षैस्त्रिभिः पुत्रमशोभनम् ।
अनर्थमिव दुर्बुद्धिराशापाशविधायकम् ॥ ४ ॥
पुनः सुतां दुहितरं पुनरप्यर्भकं ततः ।
कलत्रवानहं जातो वने जरठपुल्कसः ॥ ५ ॥

एक सौ सात सर्ग

[वहांपर पूरे साठ वर्ष तक निवास करते हुए राजाका चण्डालोचित कार्यसे जीवनयापनवर्णन]

राजाने कहा—हे सभासदो, इस विषयमें मैं बहुत क्या कहूँ, विविध उत्सवोंसे युक्त विवाहसे मेरा चित्त वशीभूत था। तबसे लेकर मैं वहाँपर पूरा चण्डाल बन गया ॥ १ ॥

सात रातके उत्सवके बाद क्रमशः आठ मास बीतनेपर मेरी वह पत्नी रजःस्वला हो गई। तदुपरान्त उसने गर्भधारण किया। उसने जैसे विपत्ति दुःखदायिनी क्रियाको उत्पन्न करती है वैसे ही एक दुःखदायिनी कन्याको जन्म दिया। वह विपुल मूर्खचिन्ताके समान बहुत जल्दी बढ़ने लगी। तदनन्तर जैसे दुर्बुद्धि आशारूपी पाशोंकी रचना करनेवाले अनर्थको उत्पन्न करती है वैसे ही तीन वर्षोंके बाद उसने आशारूपी पाशोंका निर्माण करनेवाले अशोभन नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २-४ ॥

फिर उसने कन्याको जन्म दिया, तदनन्तर फिर पुत्रको। इस प्रकार परिवारवाला मैं उस बनमें बूढ़ा भील बन गया। जैसे ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुष

तया सह समास्तत्र मया बह्व्योऽतिवाहिताः ।
नारके चिन्तया सार्धं ब्रह्मघ्नेनेव यातनाः ॥ ६ ॥
शीतावातातपक्लेशविवशेन वनान्तरे ।
चिरं विलुलितं वृद्धकच्छपेनेव पल्वले ॥ ७ ॥
कलत्रचिन्ताहतया धिया संदह्यमानया ।
दृष्टाः कष्टसमारम्भा दिशः प्रज्वलिता इव ॥ ८ ॥
क्षौमानेकसमाक्षीणपटे चेण्डकधारिणा ।
काष्ठभारो वने व्यूढो यो मूर्तमिव दुष्कृतम् ॥ ९ ॥
यौकाकीर्णजरत्क्लिन्नगन्धिकौपीनवाससा ।
आश्वस्य धवलीकानां तले नीता घनाः समाः ॥ १० ॥
कलत्रापूरणोत्केन जर्जरेण हिमानिलैः ।
हेमन्ते दर्दुरेणेव विलीनं वनकुक्षिषु ॥ ११ ॥

नरकमें चिन्ताके साथ विविध यातनाओंको बिताता है वैसे ही उसके साथ वहाँपर मैने बहुत वर्ष बिताये । जैसे बूढा कछुआ छोटी तलैयामें चिरकालतक चक्कर काटता रहता है वैसे ही शीत, वायु, घाम आदिके कष्टसे पीड़ित मै वनमें फिरता रहा ॥ ५--७ ॥

कुटुम्बके पालनकी चिन्तासे नष्ट हुई अतएव जल रही बुद्धिसे मैने जलती हुई दिशाओंके समान अनेक क्लेशकारी कार्योंको देखा ॥ ८ ॥

तीसीकी छालसे बने हुए अनेक वर्षोंसे काममें लानेके कारण जीर्ण-शीर्ण वस्त्रके ऊपर बीड़ीको (कपड़े, तिनके आदिसे बनाई गई पिण्डी, जिसे सिरपर रखकर बोझ उठाया जाता है) धारण करनेवाले मैने वनमें लकड़ियाँ ढोई, जो मूर्तिमान् दुष्कर्मके समान था ॥ ९ ॥

जुँओंसे भरे हुए, जीर्णशीर्ण, पसीनेसे तर अतएव दुर्गन्धसे युक्त कौपीनमात्र ही मेरा एकमात्र वस्त्र था । इस प्रकार एकमात्र कौपीन धारण करनेवाले मैने धवलीक नामक वृक्षोंके तले विश्राम लेकर अनेक वर्ष बिता दिये ॥ १० ॥

जैसे हेमन्त ऋतुमें मेंढक वनके मध्यमें छिप जाता है वैसे ही जाड़ा और शीतवायुसे जर्जरित और कुटुम्बके भरण-पोषणमें उत्कण्ठित मै वनके अन्दर छिपा रहा ॥ ११ ॥

नानाकलहकल्लोलतापप्रसरविद्रुताः ।
वाष्पव्याजेन निर्मुक्ता नेत्राभ्यां रक्तबिन्दवः ॥ १२ ॥
यामिन्यो विपिने क्लिन्ने वराहामिषभोजनाः ।
शिलातलकुटीकोशे नीता जलदविक्लवाः ॥ १३ ॥
काले क्षयं गते रोहे कालाभ्रघनतां गते ।
असौहार्देन बन्धूनां कलहैश्चाऽपि सन्ततैः ॥ १४ ॥
सर्वत्र जातशङ्केन कलाभिमुखरार्भकैः ।
मया कृपणचित्तेन नीताः परगृहे समाः ॥ १५ ॥
चण्डालीकलहोद्विग्नचण्डचण्डालतर्जनैः ।
मुखं जर्जरतां यातमिन्दू राहुरदैरिव ॥ १६ ॥
चर्विताः खर्वितोष्ठेन द्वीपिपिशितपेशयः ।
नारकाहृतविक्रीता नारक्यो रशना इव ॥ १७ ॥
हिमवत्कन्दरोद्गीर्णाश्चण्डा हेमन्तवीचयः ।
शिशिरे शीकरासारतुषारनिचयाश्चिरम् ॥ १८ ॥

नाना प्रकारके कलह कल्लोलोंके सन्तापसे पिघले हुए खूनकी बूँदें, आँसुओंके बहाने, मैंने अपनी आँखोंसे छोड़ीं ॥ १२ ॥

भीगे हुए जंगलमें पाषाणोंकी गुफारूपी कुटियोंमें मेघसे भीषण वे रात्रियाँ बिताईं, जिनमें एकमात्र वराहका मांस ही भोजनको मिलता था ॥ १३ ॥

काले मेघोंसे निविड़ताको प्राप्त हुए सब बीजोंको अङ्कुरित करनेवाले वर्षाकालके---बन्धुओंके दुर्भावसे और सदा होनेवाले कलहोंसे---बीतनेपर सब जगह शङ्का करनेवाले अतएव दुःखी चित्तवाले मैंने तोतली वाणी बोलनेवाले बालकोंके साथ अनेकों वर्ष दूसरे चण्डालके घरमें बिताये ॥ १४, १५ ॥

चण्डालीके कलहसे दुःखी हुए अतएव क्रुद्ध चण्डालोंके अत्यन्त तर्जन-भर्त्सनसे मेरा मुख ऐसा जीर्ण-शीर्ण हो गया, जैसे कि राहुके दाँतोंसे चन्द्रमा जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ १६ ॥

नारकी पुरुषोंसे लाई गई और नारकी पुरुषोंके हाथ बेची गई नरककी अँतड़ियोंकी नाईं बाघकी मांसपेशियाँ, छोटे किये हुए ओठसे, मैंने चबाईं ॥१७॥

हिमालयकी कन्दराओंसे निकली हुई बड़ी भयङ्कर हेमन्तकी लहरों, शिशिरमें

अङ्गे निरम्बरे सोढा मृत्युमुक्ता इवेषवः ।
जराजरठमूढेन मूलानि क्षीणभूरुहाम् ॥ १९ ॥
सुकृतानामिवैकेन समुत्खातानि भूरिशः ।
शरावकेष्वटव्यां च पललं पक्वमादरात् ॥ २० ॥
अस्पृष्टेन जनैर्भुक्तं कुकलत्रवता मया ।
गृहीततेजःक्षतये बहुवक्त्रविकारिणा ॥ २१ ॥
मार्गाविकमिवात्मीयं विक्रीतं पण्यमन्यतः ।
प्राण्यङ्गवपुषस्तस्य प्रोत्कृत्योत्कृत्य पेशलः ॥ २२ ॥
आयसंपरि विक्रीता विन्ध्यपक्कणभूमिषु ।
जन्मान्तरसहस्रोत्थं स्वपापमिव वृद्धये ॥ २३ ॥
अवकीर्णमसत्कीर्णं चण्डालारामभूमिषु ।
दृष्टः कुद्दालको दृष्ट्या सन्ध्यास्नेहविमुक्तया ॥ २४ ॥
रौरवापतितेनेव तत्कालस्निग्धतां गतः ।
विन्ध्यकन्दरगुल्मानां बन्धुत्वमिव गच्छता ॥ २५ ॥

जलकणोंकी तेज वृष्टियों और बरफकी राशियोंका मैंने वस्त्ररहित शरीरसे सहन किया । ये सब इतनी भीषण थी कि मालूम पड़ता था मानो यमराजने बाण छोड़े हों । बुढ़ापेसे जीर्ण और मूढ़ हुए अकेले मैंने पुण्योंकी नाईं अनेक वृक्षोंकी जड़ खोद डाली । चण्डाल होनेके कारण मुझे कोई छूता न था और मेरी स्त्री भी परले सिरेकी डाकिन थी, अतः जङ्गलमें हँड़िया आदि मिट्टीके बर्तनोंमें बड़ी लगनसे पकाया हुआ मांस मैंने खाया । अपने तेजके नाशके लिए भाँति-भाँतिके मुखके विकार करनेवाले मैंने अपने मांसकी नाईं मृग और भेड़का मांस अन्य लोगोंसे खरीदा । उनमें से कोमल-कोमल मांसको निकालकर और लोहेके पात्रमें पका कर विन्ध्याचलके निवासी भीलोंकी वस्तियोंमें अधिक लाभके लिए बेचा । वह मांस क्या था, मानो हजारों जन्मान्तरोंमें उदित हुआ मेरा पाप ही था ॥ १८–२३ ॥

बेचनेसे बचे हुए मांसको चण्डालोंके घरोंके आस-पासके बागोंमें सूखनेके लिए मैंने फैला दिया । वह अपवित्र मल, मूत्र आदिसे व्याप्त था । रौरव नरकमें पड़े हुएकी तरह अत्यन्त दुर्दशाको प्राप्त हुए अतएव विन्ध्याचलकी

पुलिन्दवपुषा यत्र युक्तयोगैः समर्पिताः ।
तर्पिता लगुडाघातजितकौलेयरंहसा ॥
पुत्रदाराः कदन्नेन ग्रामकान्धोचितेन च ॥ २६ ॥
धारासाररणत्पत्रशुष्कतालतले निशाः ।
नीता रणितदन्तेन सार्द्धं विपिनवानरैः ॥ २७ ॥
रोमभिः कोटिमुद्रोधैः शीतेनाध्युषितस्य मे ।
वर्षासु मुक्ताकणवद्धृता वानलबिन्दवः ॥ २८ ॥
अजाजीमूतखण्डार्थं क्षुत्क्षुण्णक्षीणकुक्षिणा ।
कलत्रेण सहाऽटव्यां कृतः कलह आकुलः ॥ २९ ॥
वने रणितदन्तेन शीतकेकरचक्षुषा ।
मषीमलिनगात्रेण वेतालस्वजनायिताम् ॥ ३० ।

झाड़ियोंके बन्धु-से बन रहे मैंने सन्ध्याके ऊपर स्नेहसे रहित यानी कन्द, मूल, मांस आदिके अर्जनमें विघ्न डालनेवाले सन्ध्याकालकी विद्वेषिणी बुद्धिसे कुदारीको ही, जो पोषक होनेके कारण उस समय मित्रताको प्राप्त हुई थी, देखा अन्य किसीको नहीं देखा ॥ २४,२५ ॥

जिस दुर्दशामें लाठियोंके आघातसे कुत्ते आदिके उपद्रवको दूर करनेवाले और भिल्लोंके तुल्य शरीरवाले मैंने कुग्रामके अन्धे लोगोंके खाने योग्य कोदो आदि मोटे-मोटे अन्नसे परम्परासम्बन्धसे दैव द्वारा प्राप्त पुत्र, स्त्री आदिका भरण-पोषण किया ॥ २६ ॥

सूखे हुए ताडके पेड़ोंके, जिनके पत्ते मुसलाधार वृष्टिसे शब्द करते थे, तले वन-वानरोंके साथ जाड़ेके मारे दाँतोंको खटखटाते हुए मैंने रात्रियाँ बिताईं ॥२७॥

उस समय शीतसे आक्रान्त मेरे शरीरमें रोमोंने सूचीके अग्रभागका आकार धारण कर रक्खा था। और वर्षा ऋतुमें वे मेघके बिन्दुओंको मोतियोंके तुल्य धारण करते थे ॥ २८ ॥

क्षुधासे पीड़ित और क्षीण उदरवाले मैंने मेघके खण्डके समान तुच्छ बकरेके मांसके टुकड़ेके लिए जंगलमें अपने परिवारके साथ बड़ा भारी कलह किया ॥२९॥

वनमें शीतसे मेरे दाँत बजते थे और मारे जाड़ेके मेरी आखें तिरछी हो

सरित्तीरेषु मत्स्यार्थं भ्रान्तं बडिशधारिणा ।
कल्पे जगत्सुनाशार्थं कृतान्तेनेव पाशिना ॥ ३१ ॥
पीतं बहूपवासेन सद्यःकृत्तमृगोरसः ।
तत्कालकोष्णं रुधिरं मातुःस्तनपयो यथा ॥ ३२ ॥
श्मशानसंस्थितान् मत्तो रक्तरक्तान् मलाशिनः ।
विद्रुता वनवेतालाश्चण्डिकाभिद्रुता इव ॥ ३३ ॥
वागुरा विपिने व्युप्ता बन्धार्थं मृगपक्षिणाम् ।
आशा इव विवृद्ध्यर्थं पुत्रदारकलत्रजाः ॥ ३४ ॥
मया मायामयैर्लोकाः सूत्रजालमयैः खगाः ।
जालैर्जर्जरतां नीता दिशश्चासुकृतायुषा ॥ ३५ ॥
तत्राऽपि दत्तः प्रसरो मनसो दुष्कृतोदये ।
आशा प्रसारिता दूरं प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ ३६ ॥

गई थीं। मेरा शरीर स्याहीसे भी अधिक काला हो गया था। यह सब होनेसे मैं पिशाचोंका सगा-सम्बन्धी बन गया था ॥ ३० ॥

जैसे प्रलयकालमें जगत्का भलीभाँति विनाश करनेके लिए फांस हाथमें लिए हुए काल घूमता है वैसे ही मैं मछलियोंको मारनेके लिए नदीके किनारे-किनारे बंसी लेकर घूमा ॥ ३१ ॥

बहुत उपवास होनेके कारण तुरन्त काटे हुए मृगके वक्षस्थलसे तत्काल गरमा-गरम खून माताके स्तनके दूधके समान मैंने पिया ॥ ३२ ॥

श्मशानमें बैठे हुए खूनसे लथपथ तथा श्मशानभूमिमें स्थित अपवित्र मांस, बलि आदि खानेवाले मुझसे वनके वेताल ऐसे भागे मानो वे चण्डिकाओंसे भगाये गये हों ॥ ३३ ॥

मैंने वनमें मृग और पक्षियोंके बन्धनके लिए जाल ऐसे फैलाये जैसे कि लोग अपनी वृद्धिके लिए पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदिकी आशाका जाल फैलाते हैं ॥३४॥

मैंने अपने मायारूपी जालोंसे लोगोंको और डोरेके जालोंसे पक्षियोंको क्लेश पहुँचाया और अपने पापमय जीवनसे दिशाओंको दूषित किया ॥ ३५ ॥

ऐसे पापकर्मके रहते भी मैंने पापाचरणमें ही मन लगाया और पापकर्ममें ही आशा ऐसे बढ़ाई जैसे वर्षा ऋतुमें नदियां बढ़ती हैं ॥ ३६ ॥

करभ्या इव सर्पेण विद्रुतं दूरतो धिया ।
दूरे त्यक्ता दया देहे भुजङ्गेनेव कञ्चुकम् ॥ ३७ ॥
क्रौर्यं सुखेन संरम्भशरवर्षि निनादि च ।
अङ्गीकृतं निदाघान्ते नभसेवाऽसिताम्बुदः ॥ ३८ ॥
विकासिन्यो क्षताः क्षारा दूरं परिहृता जनैः ।
श्वभ्रेणेव कुमञ्जर्यश्चिरमूढा मयाऽऽपदः ॥ ३९ ॥
स्वकालकुलकोणासु नरकोद्दामभूमिषु ।
उप्ता दुष्कृतबीजानां मुष्टयो मोहवृष्टयः ॥ ४० ॥
वागुराभिर्मया विन्ध्यकन्दरस्थेन निर्दयम् ।
भूतेष्विव कृतान्तेन मृगेषु परिवल्गितम् ॥ ४१ ॥

जैसे भालुनके * श्वाससे साँप दूर भाग जाता है वैसे ही सद्बुद्धि मुझसे दूर चली गई थी। जैसे साँप केंचुलका परित्याग कर देता है वैसे ही मैंने दयाका परित्याग कर दिया था ॥ ३७ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें आकाश वेगसे वृष्टि करनेवाले एवं गर्जन-तर्जन करनेवाले काले मेघका अङ्गीकार करता है वैसे ही वेगसे बाणोंकी वृष्टि करनेवाली एवं गर्जन करनेवाली क्रूरताका मैंने अङ्गीकार किया ॥ ३८ ॥

जैसे लोगोंसे काटकर दूर फेंकी गई खूब फूली हुई खराब मञ्जरीको, जिसकी गन्ध अत्यन्त उत्कट हो, गड्ढा स्वीकार कर लेता है वैसे ही उत्पन्न दुःसह अनेक आपत्तियाँ, जो बहुत विस्तारसे युक्त और अन्यान्य जनोंसे त्यक्त थीं, मैंने चिरकाल तक धारण की ॥ ३९ ॥

'इतने समय तक इसका भोग करना चाहिये, इस प्रकारका नियत काल ही' जिनके क्षत्रभेदका विभाग करनेवाला है ऐसी नारकी उत्कट भूमियोंमें मैंने पापरूपी बीजोंकी मुट्ठियां, जिन्हें मोह ही वर्षाके तुल्य बढ़ाता है, बोईं ॥ ४० ॥

विन्ध्याचलकी गुफाओंमें रहनेवाले मैंने जाल आदि मृगोंको फंसानेके साधनोंसे मृगोंपर अपना निर्दयतापूर्वक ऐसा पराक्रम दिखाया जैसा कि काल प्राणियोंपर दर्शाता है ॥ ४१ ॥

---

* भालुन अपने श्वाससे साँपको बिलसे बाहर खींचकर खा डालती है, ऐसी प्रसिद्धि है।

चामरीकण्ठकुड्येषु विश्रान्तशिरसा मया ।
सुप्तमस्तविवेकेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥ ४२ ॥
विलोलचरणाम्बरया सरावोल्लासिधूम्रया ।
मम तन्वा सनीहारविन्ध्यकच्छगुहायितम् ॥ ४३ ॥
कृष्णदेहेन यौकाढ्या कन्था स्कन्धे मया चिरम् ।
ग्रीष्मे सोढा चलद्भूता वराहेण यथोर्वरा ॥ ४४ ॥
बहुशोऽहं वनोत्थाग्निनिर्दग्धप्राणिमण्डलः ।
कल्पाग्निभुक्तजगतः कालस्याऽनुगतिं गतः ॥ ४५ ॥
लोभिलिङ्गो यथा रोगमनर्थानिव दुर्ग्रहः ।
प्रसूतास्तत्र मे दारा दुःखान्यथ सुखान्यपि ॥ ४६ ॥
नृपालपुत्रकेणैकतनयेन तदा मया ।
नीता नीरन्ध्रदोषेण षष्टिः कल्पसमाः समाः ॥ ४७ ॥

जैसे श्रीविष्णु भगवान् शेषनागके शरीरपर शयन करते हैं वैसे ही मैं, जिसका विवेक नष्ट हो गया था, चामरीके कण्ठरूपी भीतपर सिर रख कर सोया ॥ ४२ ॥

चञ्चल चरण और वस्त्रवाले, तथा शब्दपूर्वक धूम जिसमें उल्लसित हो रहा है ऐसे मेरे शरीरने, पक्षियोंसे जिसके समीपस्थ पर्वत और आकाश चञ्चल हो, गरजते हुए व्याघ्र आदिसे जिसका रूप उल्लसित हो, ऐसे कुहरेसे आच्छन्न विन्ध्याचलके जलमय प्रदेशकी शोभा धारण की। जैसे भगवान् वराहने पृथिवीको, जिसमें असंख्य जीव चल रहे थे, सहा था यानी अपने ऊपर धारण किया था वैसे ही काले शरीरवाले मैंने ग्रीष्म ऋतुमे जुँओंके झुण्डसे पूर्ण कन्थाको बहुत दिनोंतक अपने कन्धेपर सहा यानी धारण किया। बहुत बार मैंने वनमें धधकी हुई अग्निसे बहुतसे प्राणियोंको भस्म कर डाला था, अतएव मैंने जिसने प्रलयकी अग्निसे जगत्को खा डाला, उस कालका अनुकरण किया। जैसे स्त्रीप्रसङ्गका व्यसनी पुरुप रोगोंको उत्पन्न करता है अथवा जैसे दुष्ट ग्रह या दुराग्रह वैर, कलह आदि अनर्थोंकी सृष्टि करता है वैसे ही मेरी पत्नीने दुःख और सुखरूप बच्चोंको उत्पन्न किया ॥ ४३–४६ ॥

राजाके लड़के उमर्में भी इकलौते लड़के अतएव दोषोंसे अत्यन्त निबिड़ मैंने तब कल्पके सदृश साठ वर्ष बिताये ॥ ४७ ॥

आक्रुष्टमुद्धरतरं रुदितं विपत्सु भुक्तं कदन्नमुषितं हतपक्कणेषु ।
कालान्तरं बहु मयोपहतेन तत्र दुर्वासनानिगडबन्धगतेन सभ्याः ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने आपद्वर्णनं नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

राजोवाच ।

अथ गच्छति कालेऽत्र जराजर्जरितायुषि ।
तुषारपूर्णशष्पौघसमश्मश्रुभृते मयि ॥ १ ॥
कर्मवातापनुन्नेषु सरसेष्वरसेष्वपि ।
पतत्सु वासरौघेषु शीर्णपर्णगणेष्विव ॥ २ ॥

हे सभासदो, दुर्वासनारूपी बेड़ीसे बँधे हुए अभागे मैंने वहाँपर आप लोगोंको जितना समय मालूम हुआ, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समयतक क्रोधावेशसे भद्दी-भद्दी गालियाँ दीं, आपत्तियोंमें खूब जोरसे रोया, रूखा-सूखा मोटा अन्न खाया, भीलोंकी टूटी-फूटी गन्दी टोलीमें निवास किया ॥ ४८ ॥

एक सौ सात सर्ग समाप्त



एक सौ आठ सर्ग

[राजाके चण्डालोंकी उस बस्तीमें बहुत वर्षोंतक निवास करते समय अनावृष्टिसे उत्पन्न दुर्भिक्षसे देशकी दुर्दशाका वर्णन]

राजाने कहा—हे सभासद्वृन्द, तदनन्तर क्रमशः समय बीतनेपर मेरी आयु वृद्धावस्थासे जर्जरित हो गई, मेरा मुँह तुषारसे लदे हुए घासके तिनकोंके तुल्य सफेद दाढ़ी-मूँछसे आच्छन्न हो गया ॥ १ ॥

जैसे वायुसे प्रेरित जीर्ण-शीर्ण पत्ते उड़ते हैं वैसे ही कर्मरूपी वायुसे प्रेरित सुखयुक्त और दुःखयुक्त मेरे दिन बीतने लगे ॥ २ ॥

अकाण्डे मरणोड्डीनं चण्डचण्डालमण्डलम् ।
निरन्नतृणपत्राम्बु विन्ध्यकच्छं तदा ययौ ॥ ९ ॥
न वर्षति घनव्राते दृष्टनष्टे क्वचित्स्थिते ।
पूताङ्गारकणोन्मिश्रगतौ वहति मारुते ॥ १० ॥
शीर्णमर्मरपर्णासु दावाग्निवलितासु च ।
वनस्थलीषु शून्यासु चिरप्रव्रजितास्विव ॥ ११ ॥
अकाण्डमभवद्भीममुद्दामदवपावकम् ।
शोषिताशेषगहनं भस्मशेषतृणोलपम् ॥ १२ ॥
पांसुधूसरसर्वाङ्गं क्षुधिताशेषमानवम् ।
निरन्नतृणपानीयं देशाद्युद्दावमण्डलम् ॥ १३ ॥
क्वचन्मरुमरीच्यम्बुमज्जन्महिषमण्डलम् ।
वातोत्थसीकरव्यूहापरिवाहवनाम्बरम् ॥ १४ ॥
पानीयशब्दमात्रैकश्रवणोत्कनरव्रजम् ।
आतपातिसंशोषसीदत्सकलमानवम् ॥ १५ ॥

परलोकगमन होता है ऐसा दुर्भिक्ष क्रोधी चण्डालोंकी मण्डलीसे परिपूर्ण अन्न, तृण, पत्ते और जलके अभावसे युक्त विन्ध्याचलके जलप्राय प्रदेशमें आया ॥ ५, ९ ॥

मेघसमूह बरसते न थे, देखते ही नष्ट हो जाते थे। यह भी मालूम नहीं, वे कहाँ रहते थे, कपड़ेसे छने हुए-से अत्यन्त सूक्ष्म अंगार-कणोंसे मिश्रित वायु बहती थी। वनस्थलियाँ शून्य थीं, सूखे हुए मर्मरशब्द करनेवाले पत्तोंसे वे युक्त थीं और चारों ओर वनाग्निसे परिवेष्टित थीं, अतएव मालूम पड़ता था मानो बहुत दिनोंसे उन्होंने संन्यास ले रक्खा हो ॥ १०,११ ॥

अनवसरमें उत्पन्न हुआ दुर्भिक्ष बड़ा भीषण हुआ। उसमें वनाग्नि उद्दाम गतिसे फैली थी। सम्पूर्ण वन सुखाये गये थे। तृण और लताओंका भस्म ही शेष रह गया था। सबके अंग धूलिसे धूसरित हो गये थे। सब मानव मारे भूखके व्याकुल थे। उस दुर्भिक्षमें अन्न, तृण और पानीका कहीं नाम न था। सब नगर और ग्राम उसमें उत्कृष्ट अरण्य बन गये थे ॥ १२,१३ ॥

उस दुर्भिक्षकालमें प्रतीत हो रहे मृगतृष्णाके जलमें भैंसोंका यूथ नहा रहा था। जंगलका आकाश वायुसे उड़ाये गये जलकणोंको भी धारण नहीं करता था। 'पानी' शब्दमात्रके श्रवणसे लोगोंके झुण्ड-के-झुण्ड उत्कण्ठित होते थे। घामके

पत्रग्रसनसंरब्धक्षुधितोत्थितजीवितम् ।
स्वाङ्गचर्वणसंरम्भलुठद्दशनमण्डलम् ॥ १६ ॥
मांसशङ्कानिगीर्णोग्रखदिराग्निकणोत्करम् ।
मण्डकासारसंग्रस्तवनपाषाणखण्डकम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यभूतसंसक्तमातृपुत्रपितृव्रजम् ।
गृध्रोदररटन्सारनिगीर्णवरसारिकम् ॥ १८ ॥
परस्पराङ्गविच्छेदरक्तसिक्तधरातलम् ।
हरिग्रसनसंरब्धमत्तक्षुधितवारणम् ॥ १९ ॥
दरीनिगरणैकैकसिंहभ्रमणभीषणम् ।
अन्योन्यग्रसनोद्युक्तलोकमल्लकृतं वहत् ॥ २० ॥
निष्पत्रपादपोड्डीनप्रौढाङ्गारमयानिलम् ।
रक्तपानोत्कमार्जारलीढधातुतटावनि ॥ २१ ॥

विस्तारसे उत्पन्न हुए शोषसे सब मनुष्य दुःखी हो रहे थे। घास-पत्ती खानेके उद्योगसे अत्यन्त क्षुभित हुए लोगोंका उस दुर्भिक्षमें जीवन चला गया था। अपने शरीरको चबानेकी अभिलाषासे दाँत परस्पर एक-दूसरेको काटते थे। यह मांस है, ऐसी शंकासे खैरके उग्र अग्नि-कणोंके समूहको लोग निगल गये थे। मण्डककी (एक प्रकारके पकवानकी) भ्रान्तिसे निःसार वनके पत्थरोंके टुकड़ोंको भी लोग निगल गये थे। माता, पुत्र, पिता आदि परस्परके स्नेहसे दुःखी होकर प्राणोंके भयसे लिपटे थे। मासाहारी पक्षियोंके पेटमें पूरी निगली गई सुन्दर सारिकाएँ शब्द करती थी। परस्पर अङ्गोंके काटने सम्पूर्ण धरातल रुधिरसे सिक्त था। मदोन्मत्त और क्षुभित हाथी शेरोंको निगलनेके लिए सन्नद्ध थे ॥ १५–१९ ॥

गुफाओंमें हमें कोई निगल न जाय इस आशङ्कासे एक-एक करके घूम रहे सिंहोंसे उसकी भीषणता कहीं अधिक बढ़ गई थी। परस्पर एक-दूसरेको मारनेके लिये उद्यत हुए लोगोंके मल्लचरित्रको वह धारण करता था ॥ २० ॥

उस भीषण दुर्भिक्षमें पत्तोंसे रहित पेड़ोंको अङ्गारोंसे भरी हुई तेज आंधी उड़ा रही थी। प्राणियोंके रुधिरको पीनेके लिए उत्कण्ठित बिलार गेरू आदि धातुओंकी तटभूमिको चाटते थे ॥ २१ ॥

ज्वालाघनघटाटोपसावर्तसवनानिलम् ।
सर्वस्थलरसद्वह्निपुञ्जपिञ्जरजङ्गलम् ॥ २२ ॥
दग्धाजगरकुञ्जोत्थधूममांसलगुल्मकम् ।
मारुतावलितज्वालासन्ध्याभ्रवलिताम्बरम् ॥ २३ ॥
उद्दामरवमुद्भ्रान्तभस्मना स्तम्भमण्डलम् ।
साक्रन्दनरदाराग्रदीनार्भककृतारवम् ॥ २४ ॥
संभ्रान्तपुरुषव्यूहदन्तकृत्तमहाशवम् ।
मांसगन्धजवग्रस्तरक्तारक्तनिजाङ्गुलि ॥ २५ ॥
नीलपत्रलताशङ्कापीतधूमघनच्छवि ।
भ्रमद्गृध्रनिगीर्णोग्रनभोभ्रान्तोल्मुकामिषम् ॥ २६ ॥
इतरेतरभिन्नाङ्गलोकविद्रवणाकुलम् ।
ज्वलिताग्निटणत्कारविदीर्णहृदयोदरम् ॥ २७ ॥

अग्निकी ज्वालाओंके घन घटाटोपसे वह दुर्भिक्ष काल आवर्तसे और वनवायुसे युक्त था। सभी जगहोंमें चटचट शब्द कर रही अग्निकी ज्वालाओंसे सबके-सब जङ्गल उसमें पीले पड़ गये थे ॥ २२ ॥

जिन झाड़ियोंमें वनाग्निसे अजगर जल गये थे, उनसे उठे हुए धुएँसे, जो उनके अधिक फलने फूलनेके लिए दी गई धूपके तुल्य प्रतीत होता था, सब पेड़ और झाड़ियाँ हृष्टपुष्ट हो गई थी। वायुके झोंकेसे परिवेष्टित वनाग्निकी ज्वालाओंसे सन्ध्याकालीन मेघके तुल्य सारा आकाश आच्छन्न था ॥ २३ ॥

उस दुर्भिक्षमें चारों ओर उद्दाम हाहाकार मचा था, वनाग्निसे उड़े हुए भस्मसे बिना दण्डके छाते तने हुए थे, मारे भूखके रो रहे नरनारियोंके आगे दीन-हीन बालक रो-चिल्ला रहे थे, संभ्रान्त पुरुष दाँतोंसे बड़े-बड़े शवोंके मांसको काट रहे थे, मांसके छोटे-छोटे टुकड़ोंको बड़े वेगसे निगलनेके कारण लोग खूनसे तर अपनी अँगुलियोंको निगल रहे थे ॥ २४,२५ ॥

उस दुर्भिक्षमें लोग नीले पत्ते और लताओंकी आशङ्कासे धुएँकी निबिड़ छविको पीते थे। आकाशमें घूम रहे गृध्र आकाशमें उड़ रहे अङ्गाररूपी मांसखण्डको निगल रहे थे यानी आकाशमें अंगार इधर-उधर उड़ रहे थे, उन्हें यह मांसपिण्ड है, यह समझकर गृध्र निगलते थे। परस्पर एक दूसरेके अङ्गको काटनेवाले लोगोंके

गर्त्तमारुतझाङ्कारभीमदावाग्निवल्गनम् ।
भीताजगरफूत्कारपतदङ्गारपादपम् ॥ २८ ॥
सदकाण्डस्फुटद्देशं प्राप्य तच्छुष्ककोटरम् ।
द्वादशार्काग्निदग्धस्य जगतोऽनुकृतिं ययौ ॥ २९ ॥
ज्वलदनलजटालवृक्षखण्डप्रसरमरुत्प्रसरावनुन्नलोकः ।
ज्वलनतपनभास्करात्मजानां रमणगृहानुकृतिं जगाम देशः ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने अकाण्डवर्णनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

पलायनसे वहाँ बड़ी व्याकुलता हो रही थी, जोरसे धधकी हुई अग्निके भड़-भडाहटसे लोगोंके हृदय और पेट फट रहे थे, गहरे गड्ढेमें प्रवेश कर रहे वायुके झनकारके समान भीषण वनाग्निकी लपटें धधक रही थी, भयभीत अजगरोंकी फुफकारसे वहाँ वृक्षोंपर अँगार उड़ रहे थे ॥ २६–२८ ॥

जो विन्ध्याचलका प्रदेश पहले बडा मनोहर था, वह इस प्रकारके प्राणि-विनाशकारी दुर्भिक्षको पाकर, अनवसरमें जिसमें देश नष्ट हो रहे हैं शुष्क कोटरवाला होकर प्रलयकालमें उगे हुए बारह सूर्योकी अग्निसे जले हुए जगत्की तुल्यताको प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

वह देश, जहाँपर धधक रही अग्निसे जटायुक्त हुए वृक्षोंमें बह रही हवाके संचारसे लोग बहुत पीड़ित थे, अग्नि, सूर्य और सूर्य-पुत्र शनैश्चरकी क्रीड़ाभूमिरूपी घरकी तुलनाको प्राप्त हुआ ॥ ३० ॥

एक सौ आठ सर्ग समाप्त

नवोत्तरशततमः सर्गः

राजोवाच ।

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ।
अकालोल्बणकल्पान्ते नितान्तं तापदायिनि ॥ १ ॥
जनाः केचन निष्क्रम्य सकलत्रसुहृज्जनाः ।
गता देशान्तरं व्योम्नः शरदीव पयोधराः ॥ २ ॥
देहावयवसंलीनपुत्रदाराग्र्यबन्धवः ।
शीर्णाः केचन तत्रैव च्छिन्ना इव वने द्रुमाः ॥ ३ ॥
भुक्ताः केचन च व्याघ्रैर्निर्गतास्तु स्वमन्दिरात् ।
अजातपक्षकाः श्येनैः खगा नीडोद्गता इव ॥ ४ ॥
प्रविष्टाः केचिदनलं ज्वलितं शलभा इव ।
केचिच्छ्वभ्रेषु पतिताः शिलाः शैलच्युता इव ॥ ५ ॥

एक सौ नौ सर्ग

[दुर्भिक्षपीड़ित विन्ध्यप्रदेशसे स्त्रीसहित निकले हुए पुत्रकी आपत्ति देखकर अग्निमें प्रवेश करनेके लिए इच्छुक राजाका जागकर सदस्योंसे संवाद]

राजाने कहा—हे सभासदो, उस समय उक्त कष्टदायिनी दैवकी प्रतिकूलताके, जो अत्यन्त सन्ताप देनेवाली थी, अतएव यदि उसे अकालमें प्राप्त घोर प्रलय कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी, सिरपर पड़नेपर जैसे शरद् ऋतुमें आकाशसे मेघ कहीं दूसरे प्रदेशमें चले जाते हैं वैसे ही कोई लोग अपने परिवार बन्धुबान्धवोंके साथ निकल कर दूसरे देशमें चले गये ॥ १,२ ॥

जैसे वनमें काटे गये वृक्ष वहींपर जीर्णशीर्ण हो जाते हैं वैसे ही कितने लोग, जो अपने पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ बन्धुओंको अपने शरीरके अवयवोंकी नाईं छोड़ नहीं सकते थे, वहींपर तहस-नहस हो गये ॥ ३ ॥

जैसे अपने घोंसलेसे निकले हुए पक्षियोंको, जिनके कि पंख नहीं निकले हों, बाज खा जाते हैं, वैसे ही अपने घरसे निकले हुए कितनोंको बाघ, भालू आदि जंगली जानवर चट कर गये ॥ ४ ॥

फतिंगोंकी नाईं कोई लोग जली हुई आगमें प्रविष्ट हो गये, कोई पहाड़से लुढ़की हुई शिलाओंकी भांति गड्ढोंमें गिर गये ॥ ५ ॥

अहं तु तान् परित्यज्य श्वशुरादीन् स्वकं क्षमम् ।
कलत्रमात्रमादाय कृच्छ्राद् देशाद् विनिर्गतः ॥ ६ ॥
अनलाननिलांश्चैव भक्षकांस्तक्षकानपि ।
वञ्चयित्वा भयान्मृत्योः सदारोऽहं विनिर्गतः ॥ ७ ॥
प्राप्य तद्देशपर्यन्तं तत्र तालतरोस्तले ।
अवरोप्य सुतान् स्कन्धान्नानानर्थानिवोल्बणान् ॥ ८ ॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तो रौरवादिव निर्गतः ।
दीर्घदावनिदाघार्तो ग्रीष्मे पद्म इवाऽजलः ॥ ९ ॥
अथ चाण्डालकन्यायां विश्रान्तायां तरोस्तले ।
सुप्तायां शीतलच्छाये द्वौ समालिङ्ग्य दारकौ ॥ १० ॥
पृच्छको नाम तनयो ममैकः पुरतः स्थितः ।
अत्यन्तवल्लभोऽस्माकं कनीयान् मौग्ध्यवानिति ॥ ११ ॥
स मामुवाच दीनात्मा बाष्पपूर्णविलोचनः ।
तात देह्याशु मे मांसं पातुं च रुधिरं क्षणात् ॥ १२ ॥

मैं तो उन श्वशुर आदि मित्रोंको छोड़कर मेरे पीछे चल सकनेमें समर्थ केवल अपने कुटुम्बको लेकर बड़ी कठिनाईसे उस दुर्भिक्षपीड़ित देशसे निकल आया ॥६॥

अग्नि, वायु, बाघ आदि हिंसक जीवों और सर्प आदिकी आँखोंमें धूल झोंककर यानी उनसे बचकर मैं मृत्युके भयसे सपत्नीक निकल आया ॥ ७ ॥

उस देशकी सीमामें पहुँचकर वहाँ एक ताड़के पेड़के तले अपने कन्धेसे बच्चोंको, जो विविध अनर्थोंके समान भीषण थे, उतारकर मैंने चिरकालतक विश्राम किया। मेरी दशा बड़ी शोचनीय थी, रौरव नरकसे निकले हुए पुरुषके सदृश मैं थका था और ग्रीष्म ऋतुके प्रचुर वनाग्निके सन्तापसे पीड़ित मैं जलरहित कमलके सदृश मुरझाया था ॥ ८,९ ॥

तदुपरान्त चण्डालकी पुत्रीके (मेरी पत्नीके) उस पेड़के तले विश्राम लेने, दो लड़कोंको छातीसे लगाकर सो जानेपर पृच्छक नामका एक लड़का मेरे आगे बैठा था, जो सबसे छोटा और बड़ा भोलाभाला होनेके कारण हम दोनोंका बड़ा दुलारा था। उसने दीन हो और आँखोंमें आँसू भरकर मुझसे कहा—पिताजी, मुझे जल्दी खानेके लिए मांस और पीनेके लिए रुधिर दीजिये। बार-बार ऐसा कहता

पुनः पुनर्वदन्नेवं स बालस्तनयो मम ।
प्राणान्तिकीं दशां प्राप्तः साक्रन्दो हि पुनः क्षुधा ॥ १३ ॥
तस्योक्तं तु मया पुत्र मांसं नाऽस्तीति भूरिशः ।
तथापि मांसं देहीति वदत्येव स दुर्मतिः ॥ १४ ॥
अथ वात्सल्यमूढेन मया दुःखातिभारिणा ।
तस्योक्तं पुत्र मन्मांसं पक्वं संभुज्यतामिति ॥ १५ ॥
तदप्यङ्गीकृतं तेन देहीति वदता पुनः ।
मन्मांसभक्षणं क्षीणवृत्तिनाऽऽश्लेषवृत्तिना ॥ १६ ॥
सर्वदुःखापनोदाय स्नेहकारुण्यमोहिना ।
तस्य तामार्तिमालोक्य मया दुःखातिभारिणा ॥ १७ ॥
सोढुं तामापदं तीव्रामशक्तेन हतात्मना ।
मरणायाऽतिमित्राय कृतोऽन्तर्निश्चयो मया ॥ १८ ॥
तत्र काष्ठानि सञ्चित्य चितां रचितवानहम् ।
चिता चटचटास्फोटैः स्थिता मदभिकाङ्क्षिणी ॥ १९ ॥

हुआ वह नन्हा-सा बच्चा प्राणान्तिक अवस्थाको प्राप्त हुआ और मारे भूखके बार-बार रोने लगा ॥ १०—१३ ॥

मैंने उससे बार-बार कहा—'बेटा, मांस नहीं है, फिर भी वह मन्दमति मुझे मांस दीजिये कहता ही रहा ॥ १४ ॥

तदुपरान्त पुत्रके प्रति गहरे स्नेहसे मूढ़ बने हुए अतएव अत्यन्त दुःखी मैंने उससे कहा—बेटा, पका हुआ मेरा मांस खाओ' फिर 'दो' कहकर अत्यन्त भूखे और मेरे शरीरसे चिपट रहे उसने मेरा मांस खाना भी स्वीकार कर लिया ॥ १५, १६ ॥

स्नेह और करुणासे मोहमें पड़े हुए तथा अत्यन्त दुःखित हुए मैंने, जो कि उस तीव्र आपत्तिको सहनेमें समर्थ न था, बच्चेकी उस पीड़ाको देखकर सब दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए और उस कालके योग्य सुहृत् मरणके लिए मनमें निश्चय किया ॥ १७,१८ ॥

वहाँपर लकड़ियोंको इकट्ठाकर मैंने चिता बनाई । वह चिता चटचट शब्दोंसे मेरी अभिलाषा करनेवाली-सी स्थित हुई ॥ १९ ॥

तस्यान्तु यावदात्मानं चितायां निक्षिपाम्यहम् ।
चलितोऽस्मि जवात्तावदस्मात्सिंहासनान्नृपः ॥ २० ॥
ततस्तूर्यनिनादेन जयशब्देन बोधितः ।
इति शाम्बरिकेणाऽयं मोह उत्पादितो मम ॥ २१ ॥
अज्ञानेनेव जीवस्य दशाशतसमन्वितः ।
इत्युक्तवति राजेन्द्रे लवणे भूरितेजसि ॥ २२ ॥
अन्तर्धानं जगामाऽऽशु तत्र शाम्बरिकः क्षणात् ।
अथेदमूचुस्ते सभ्या विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २३ ॥
नाऽयं शाम्बरिको देव यस्य नाऽस्ति धनैषणा ।
दैवी काचन मायेयं संसारस्थितिबोधिनी ॥ २४ ॥
मनोविलासः संसार इति यस्यां प्रतीयते ।
सर्वशक्तेरनन्तस्य विलासो हि मनो जगत् ॥ २५ ॥
सर्वशक्तेर्विचित्रा हि शक्तयः शतशो विधेः ।
यद्विवेकि मनोऽप्येष विमोहयति मायया ॥ २६ ॥
विज्ञातलोकवृत्तान्तः क्व नामाऽयं महीपतिः ।
क्व सामान्यमनोवृत्तियोग्यो विपुलसंभ्रमः ॥ २७ ॥

उस चितामें जैसे ही मैं अपनेको फेंकने लगा वैसे ही इस सिंहासनसे राजारूप मैं बड़े वेगसे चलित हुआ। तदनन्तर तूरीके शब्दसे और जयघोषसे मैं जगाया गया। इस प्रकार ऐन्द्रजालिकने जैसे अज्ञान जीवकी सैकड़ों दशाओंसे युक्त मोह उत्पन्न करता है वैसे ही यह मोह मुझमें उत्पन्न किया। अत्यन्त तेजस्वी राजाधिराज लवणके यह कह चुकनेपर ऐन्द्रजालिक एक क्षणमें वहींपर अन्तर्हित हो गया। आश्चर्यसे आँखें तरेरते हुए सदस्योंने राजासे कहा—राजन्, जिसको धनकी इच्छा नहीं है, वह ऐन्द्रजालिक नहीं हो सकता। यह संसारकी स्थिति समझानेवाली कोई दैवी माया है ॥ २०–२४ ॥

संसार मनोविलासमात्र है, यह इस मायामें प्रतीत होता है। सर्वशक्ति, भगवान् विष्णुका विलासरूपी मन ही जगत् है ॥ २५ ॥

सर्वशक्तिशाली विधाताकी सैकड़ों विचित्रशक्तियाँ हैं, जिनसे विवेकशील मनको भी वे मायासे मोहित करते हैं ॥ २६ ॥

जिन्हें लोकका वृत्तान्त भली भाँति ज्ञात है, ऐसे ये महीपति कहाँ और पामर

न च शाम्बरिकेच्छेयं माया मनसि मोहिनी ।
अर्थस्य सिद्धै चेहन्ते नित्यं शाम्बरिकाः किल ॥ २८ ॥
यत्नेन प्रार्थयन्तेऽर्थं नाऽन्तर्धानं व्रजन्ति भोः ।
इति सन्देहवेलायां संस्थिता लुलिता वयम् ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सभायामवसं तस्यामहं राम तदा किल ।
तेन प्रत्यक्षतो दृष्टं मयैतन्नाऽन्यतः श्रुतम् ॥ ३० ॥
इति बहुकलनाविवर्धिताङ्गं जयति चिरं विततं मनो महात्मन् ।
शममुपगमिते परस्वभावे परममुपैष्यसि पावनं पदं यत् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने चण्डालत्वव्यपगमो नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

लोगोंकी मनोवृत्तिसे जानने योग्य यह बड़ा भारी संभ्रम कहाँ ! विधाताकी मायासे ही यह अघटित घटना घटी है ॥ २७ ॥

ऐन्द्रजालिककी इच्छा नहीं है । यह मनमें मोह डालनेवाली माया है । ऐन्द्रजालिक तो नित्य धनकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं । उनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता । वे तो बड़े प्रयत्नसे धन माँगते हैं, वे अदृश्य नहीं हो जाते । इन दो हेतुओंसे सन्देहाकुल हम लोग सन्देहसागरके तटरूप निर्णयको प्राप्त हुए हैं ॥२९॥

यह आख्यायिका न तो बालकाख्यायिकाके समान कल्पित कथा है और न दूसरेके मुँहसे सुनी है, बल्कि प्रत्यक्ष देखी हुई सच्ची घटना है, ऐसा कहते हैं—'सभायाम्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, उस समय उस सभामें मैं उपस्थित था, इसलिए यह सब मैंने अपनी आँखोंसे देखा है, दूसरेके मुँहसे नहीं सुना है ॥३०॥

हे महात्मन्, इस प्रकार बहुत-सी कल्पनाओंसे बद्धमूल (जिसने अपने कलेवरकी वृद्धि की है) अतएव फल, पल्लव और शाखाओंसे विस्तारको प्राप्त वृक्षके समान मन आत्माके स्वरूपको छिपाकर स्वयं सर्वोत्कर्षसे स्थित है । विचारजनित ज्ञानसे मनको निर्वासनतारूप शमको प्राप्त करा देनेसे मनके आत्मस्वभाव होनेपर भेदक उपाधिका बाध हो जानेसे आप परम पवित्र पदको प्राप्त हो जायँगे ॥ ३१ ॥

एक सौ नौ सर्ग समाप्त

दशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परमात् कारणादादौ चिच्चेत्यपदपातिनी ।
कलनापदमासाद्य कला कलिलतां गता ॥ १ ॥
असत्स्वेव विमोहेषु रामैवंप्रायवृत्तिषु ।
घनेषु तुच्छतामेत्य चिराय परिमूर्च्छति ॥ २ ॥

एक सौ दस सर्ग

[मनके वैभवके वर्णन द्वारा मनके शमनके उपायका वर्णन]

मन वासनामय है, अतएव वासनाओंका आत्यन्तिक उच्छेद ही मनके शमनका उपाय है । वासनाके आत्यन्तिक उच्छेदका उपाय शास्त्राभ्यास, आचार्योपदेश और अपने अनुभवसे सकल दृश्य पदार्थ एकमात्र मनकी भ्रान्तिरूप हैं, यह निश्चयपूर्वक सप्तम भूमिकारोहणपर्यन्त ज्ञानको परिपक्व करनेवाला मनोनिरोध ही है, यह कहनेके लिए जड़से मनके स्वरूपका शोधन करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'परमात्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, परम कारण यानी चैतन्यसंवलित अज्ञानसे ही सर्वप्रथम शुद्ध चेतन चेत्यपदवीको प्राप्त हुआ, वस्तुतः वह चेत्यपदवीको प्राप्त नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है । श्लोकस्थ 'आदौ' से यह सूचित होता है कि जब चित्का प्राथमिक चेत्यपदपात अज्ञाननिमित्तक है तब तन्मूलक द्वैतदर्शन भी अज्ञाननिमित्तक है, यह सुतराम् सिद्ध हुआ। चित्के चेत्य पदमें पड़नेसे ही 'पदार्थप्रथा' नामको प्राप्त होकर नाम-रूपकी विचित्रतासे चित् कलुषताको प्राप्त हुई है । वह कलुषीभाव ही वासनाका पहला अङ्कुर है, यह भाव है ॥ १ ॥

इस प्रकारकी वस्तुस्थितिवाले पदार्थोंके नाम-रूपवैचित्र्याभास भ्रमोंके, जो कि नहीं ही है, क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होनेपर वह चित् अपनी स्वाभाविक पूर्णताको भूलकर, असत् मनोरूपताको प्राप्त होकर अनादिकालसे लेकर जन्म, मरण आदि भ्रमोंसे मोहमें पड़ती है । भाव यह कि चेतनका चेत्योन्मुख होना ही अनर्थोंकी जड़ है, इसलिए उसीका निरोध करना चाहिए ॥ २ ॥

असदेव मनोवृत्तिर्म्लाना विस्तारयत्यलम् ।
दुःखं दोषसहस्रेण वेतालानिव बालिका ॥ ३ ॥
सदेव हि महादुःखमसत्तां नयति क्षणात् ।
निष्कलङ्का मनोवृत्तिरन्धकारमिवाऽर्करुक् ॥ ४ ॥
नयत्यभ्याशतां दूरं दूरमभ्याशतां नयेत् ।
मनो वल्गति भूतेषु बालो बालखगेष्विव ॥ ५ ॥
अभयं भयमज्ञस्य चेतसो वासनावतः ।
दूरतो मुग्धपान्थस्य स्थाणुर्याति पिशाचताम् ॥ ६ ॥
शत्रुत्वं शङ्कते मित्रे कलङ्कमलिनं मनः ।
मदाविष्टमतिर्जन्तुर्भ्रमत्पश्यति भूतलम् ॥ ७ ॥
पर्याकुले हि मनसि शशिनो जायतेऽशनिः ।
अमृतं विषभावेन भुक्तं याति विषक्रियाम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार अति तुच्छ वासनारूपी सहस्रों दोषोंसे म्लान हुई मनोवृत्तिरूपसे स्थित वह चित् जैसे बालिका वेतालोंका विस्तार करती है वैसे ही असत् ही दुःखोंका खूब विस्तार करती है ॥ ३ ॥

जैसे सकलङ्क असती मनोवृत्ति चेतनके दुःखकी वृद्धि करती है वैसे ही वासनाओंका क्षय हो जानेपर वासनारूपी कलङ्कसे निर्मुक्त स्वाभाविक सद्रूप ही मनोवृत्ति इस तरह महादुःखको शून्य करती है जिस तरह सूर्यकी प्रभा अन्धकारको दूर कर देती है यानी बोधसे महादुःखका बाध कर देती है ॥ ४ ॥

उक्त अर्थकी संभावनासे मनकी अघटितघटना शक्तिको कहते हैं—'नयति' इत्यादिसे ।

मन दूरको समीप बना देता है और समीपको दूर कर देता है । जैसे छोटा बच्चा चिड़ियोंके बच्चोंमें अपना पराक्रम दिखाता है वैसे ही मन प्राणियोंमें अपना प्रभाव दिखाता है ॥ ५ ॥

जैसे भ्रान्त पथिकको दूरसे स्थाणु भी पिशाच प्रतीत होता है वैसे ही वासनाओं-वाले अज्ञानी चित्तको अभयमें (जहाँ भय नहीं है वहाँ भी) भय होता है ॥६॥

कलङ्कसे (वासनाओंसे) मलिन हुआ मन मित्रमें शत्रुत्वकी शङ्का करता है । देखिये न, नशेमें चूर हुआ प्राणी पृथिवीको घूमती हुई देखता है ॥ ७ ॥

मनके व्याकुल होनेपर चन्द्रमासे वज्रकी उत्पत्ति होती है । अमृत ही क्यों

सुरपत्तननिर्माणमसत्सदिव पश्यति ।
वासनावलितं चेतः स्वप्नवज्जाग्रदेव हि ॥ ९ ॥
मोहैककारणं जन्तोर्मनसो वासनोल्बणा ।
उत्खातव्या प्रयत्नेन मूलोच्छेदेन सैव च ॥ १० ॥
वासनावागुराकृष्टो मनोहरिणको नृणाम् ।
परां विवशतामेति संसारवनगुल्मके ॥ ११ ॥
येन च्छिन्ना विचारेण जीवस्य ज्ञेयवासना ।
निरभ्रस्येव सूर्यस्य तस्याऽऽलोको विराजते ॥ १२ ॥
अतस्त्वं मन एवेदं नरं विद्धि न देहकम् ।
जडो देहो मनश्चाऽत्र न जडं नाऽजडं विदुः ॥ १३ ॥
यत्कृतं मनसा तात तत्कृतं विद्धि राघव ।
यत्त्यक्तं मनसा तावत्तत्त्यक्तं विद्धि चाऽनघ ॥ १४ ॥

न हो, यदि यह विष है, ऐसी बुद्धिसे उसका पान किया जाय तो अवश्य विषका कार्य मूर्च्छा, मरण आदि होता है ॥ ८ ॥

वासनाओंसे परिपूर्ण मन गन्धर्वनगरको, जो असत् है, सत्‌के समान देखता है और जाग्रत्‌को स्वप्नके सदृश देखता है ॥ ९ ॥

मनकी उत्कट वासना प्राणीके मोहकी एकमात्र कारण है । उसीको प्रयत्नके साथ मूलोच्छेदपूर्वक जड़से उखाड़ फेंकना चाहिए ॥ १० ॥

वासनारूपी जालसे खींचा गया मनुष्योंका मनरूपी हिरन संसाररूपी वनकी झाड़ीमें अत्यन्त विवशताको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

जिस विचारने जीवकी ज्ञेय पदार्थोंकी वासनाका उच्छेद किया, मेघोंके आवरणसे रहित सूर्यके प्रकाशके तुल्य उसका प्रकाश विराजमान है ॥ १२ ॥

पहले मन ही मेरी देह है अन्य देह नहीं है, ऐसा सदा अभ्यास करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

इसलिए तुम नरको मन ही समझो, देह न समझो । देह जड़ है । मनको न लोग जड़ कहते हैं और न अजड़ कहते हैं ॥ १३ ॥

हे रघुवर, जो मनने किया, उसीको आप किया हुआ समझिये । हे पुण्यमय, जिसका मनने त्याग किया उसीको त्याग किया हुआ जानिये ॥ १४ ॥

मनोमात्रं जगत् कृत्स्नं मनः पर्यन्तमण्डलम् ।
मनो व्योम मनो भूमिर्मनो वायुर्मनो महान् ॥ १५ ॥
मनो यदि पदार्थे तु तद्भावेन न योजयेत् ।
ततः सूर्योदयेऽप्येते न प्रकाशाः कदाचन ॥ १६ ॥
मनो मोहमुपादत्ते यस्याऽसौ मूढ उच्यते ।
शरीरे मोहमापन्ने न शवो मूढ उच्यते ॥ १७ ॥
मनः पश्यद् भवत्यक्षि शृण्वच्छ्रवणतां गतम् ।
त्वग्भावं स्पर्शनादेति घ्राणतामेति जिघ्रणात् ॥ १८ ॥
रसनाद्रसतामेति विचित्रास्तत्र वृत्तिषु ।
नाटके नटवद्देहे मन एवाऽनुवर्तते ॥ १९ ॥
लघु दीर्घं करोत्येव सत्येऽसत्तां प्रयच्छति ।
कटुतां नयति स्वादु रिपुं नयति मित्रताम् ॥ २० ॥
य एव प्रतिभासोऽस्य चेतसो वृत्तिवर्तिनः ।
ततस्तदेव प्रत्यक्षं तथाऽत्राऽनुभवादिह ॥ २१ ॥

एकमात्र मन ही यह सारा जगत है और मन ही भूमिका प्रान्त है। मन ही आकाश है, मन ही भूमि है, मन ही वायु है, मन ही महत्तत्त्व है। मन यदि सूर्य आदि पदार्थोंमें प्रकाशादिरूपसे युक्त न हो, तो सूर्योदय होनेपर भी ये प्रकाश आदि कदापि न हों ॥ १६ ॥

जिसका मन मोहको प्राप्त होता है, वह मूढ कहा जाता है। शरीरके मोहको प्राप्त होनेपर शवको कोई मूढ नहीं कहता है ॥ १७ ॥

मन जब देखता है चक्षु हो जाता है, जब सुनता है तब श्रोत्रताको प्राप्त होता है, स्पर्श करनेसे वह त्वग्भावको प्राप्त होता है, सूँघनेसे वह घ्राणताको प्राप्त होता है, रसका स्वाद लेनेसे जिह्वा बन जाता है। नाटकमें जैसे एक ही नट वेषभूषाके परिवर्तनसे नाना आकारोंको प्राप्त होता है वैसे ही देहमें इन पूर्वोक्त विचित्र वृत्तियोंमें मनकी ही अनुवृत्ति होती है ॥ १८, १९ ॥

मन छोटे पदार्थको बड़ा बना देता है, सत्य पदार्थमें असत्ता स्थापित कर देता है। स्वादु वस्तुको कटु बना देता है और शत्रुको मित्र बना डालता है ॥२०॥

जो वृत्तिवर्ती चित्तका प्रतिभास है यानी चैतन्य द्वारा उज्ज्वलित

प्रतिभासवशादेव स्वप्नाकुलितचेतसः ।
हरिश्चन्द्रस्य सम्पन्ना रात्रिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २२ ॥
चित्तानुभाववशतो मुहूर्तत्वे गतं युगम् ।
इन्द्रद्युम्नस्य वैरिञ्च्यपुराभ्यन्तरवर्त्तिनः ॥ २३ ॥
मनोज्ञया मनोवृत्त्या सुखतां याति रौरवम् ।
प्रातः प्राप्तव्यराज्यस्य सुबद्धस्येव बन्धनम् ॥ २४ ॥
जिते मनसि सर्वैव विजिता चेन्द्रियावलिः ।
शीर्यते च यथा तन्तौ दग्धे मौक्तिकमालिका ॥ २५ ॥
सर्वत्र स्थितया स्वच्छरूपया निर्विकारया ।
समया सूक्ष्मया नित्यं चिच्छक्त्या साक्षिभूतया ॥ २६ ॥
सर्वभावानुगतया न चेत्यार्थविभिन्नया ।
रामाऽऽत्मसत्तया मूकमपि देहसमं जडम् ॥ २७ ॥

मनकी घट, पट आदि विषयाकार वृत्ति है, वही प्रत्यक्षनामक प्रमाण है, क्योंकि लोकमें तथा शास्त्रमें ऐसा ही अनुभव है ॥ २१ ॥

प्रतिभासके कारण ही स्वप्नसे व्याकुल चित्तवाले हरिश्चन्द्रकी एक रात बारह वर्षकी हो गई । चित्तके प्रभावसे ही ब्रह्मलोकमें गये हुए राजा इन्द्रद्युम्नका एक मुहूर्तमें युग बीत गया । यदि हरिस्मरण आदिरूप मनोहर चित्तवृत्तिका उदय हो, तो घोर रौरव नरक दुःख भी सुखरूपमें परिवर्तित हो जाता है जैसे कि प्रातः मुझे अवश्य राज्य प्राप्त होनेवाला है, इस बातका जिसे प्रमाणोंसे निश्चय है और जिसके हाथ-पैर हथकडी और बेड़ीसे भलीभाँति बँधे हैं, उसका बन्धन दुःखके बदले सुखरूपमें परिवर्तित हो जाता है ॥ २२–२४ ॥

जैसे डोरेके जल जानेपर मोतीकी माला टूट जाती है वैसे ही मनके जीत लेनेपर सब इन्द्रियाँ वशमें आ जाती हैं ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनकी इससे बढ़कर पदार्थोंकी विपरीत कल्पनाकी सामर्थ्य और क्या कही जाय ? देखिये न, मन सब जगह स्थित, समत्व, स्वच्छत्व, निर्विकारत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभाववाली, साक्षिस्वरूप, सब पदार्थोंमें अनुगत, चेत्य पदार्थोंसे अभिन्न, चिन्मात्ररूप, आत्मसत्तामात्रसे स्थित, वाग् आदि सब क्रियाओंसे रहित भी ब्रह्मको देहतादात्म्यकी कल्पनासे देहके तुल्य और जड़ बनाकर अन्तः-

मनोऽन्तश्चलति व्यर्थं मननैषणमुद्यया ।
बहिर्गिरिसरिद्व्योमसमुद्रपुरलीलया ॥ २८ ॥
जाग्रच्चाऽभिमतं वस्तु नयत्यमृतमृष्टताम् ।
अनीहितं च विषतां नयत्यमृतमप्यलम् ॥ २९ ॥
अमृष्टसर्वभावानामलमात्मचमत्कृतिम् ।
मनः स्वाभिमताकारं रूपं सृजति वस्तुषु ॥ ३० ॥
स्पन्देषु वायुतामेति प्रकाशेषु प्रकाशताम् ।
द्रवेषु द्रवतामेति चिच्छक्तिस्फुरितं मनः ॥ ३१ ॥
पृथ्व्यां कठिनतामेति शून्यतां शून्यदृष्टिषु ।
सर्वत्रेच्छास्थितिं याति चिच्छक्तिस्फुरितं मनः ॥ ३२ ॥

करणमें काम, संकल्परूप भ्रान्तिसे और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश, नगर आदिकी लीलासे कल्पना कर व्यर्थ ही घूमता है ॥ २६—२८ ॥

यदि किसीको यह शङ्का हो कि मूढ मन भले ही अन्यथा कल्पना करे, परन्तु विचारसे जागरूक हुआ मन अन्यथा कल्पना नहीं करेगा, ऐसी परिस्थितिमें विचारजागरूक मनके विनाशकी चिन्तासे क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं— **'जाग्रत्'** इत्यादिसे ।

विवेकसे जागरूक हुआ भी मन यद्यपि स्त्री-अधर आदि वस्तु अस्वादु और उच्छिष्ट है तथापि उसे राग आदिसे अभीष्ट अमृतके तुल्य स्वादु बना डालता है । यदि अभिलाप न हो तो अमृतको भी विषके तुल्य हेय बना डालता है, क्योंकि विरक्त पुरुषोंकी अमृतमें भी हेयताबुद्धि देखी ही जाती है ॥ २९ ॥

तत्त्वज्ञान होनेपर मन क्यों नहीं घुमाता है ? इसपर कहते हैं— **'अमृष्ट०'** इत्यादिसे ।

जिन्होंने पूर्णताका साक्षात्कार नहीं किया, उन्हींका मन पदार्थोंमें अपने अभिमत आकारवाले आत्मचमत्कारभूत रूपकी सृष्टि करता है, तत्त्ववेत्ताओंका मन नहीं करता, क्योंकि मिथ्याबुद्धिसे बाधित मनोविलासोंमें उनकी चमत्कारदृष्टि नहीं होती है, यह अभिप्राय है ॥ ३० ॥

चित्-शक्तिसे प्रस्फुरित मन स्पन्दोंमें वायुताको प्राप्त होता है, प्रकाशोंमें प्रकाशताको प्राप्त होता है, द्रवोंमें द्रवताको प्राप्त होता है, पृथिवीमें कठिनताको तथा 'नहीं है' इस प्रकार जिनका ग्रहण होता है, उन शून्य वस्तुओंमें शून्यताको प्राप्त

शुक्लं कृष्णीकरोत्येव कृष्णं नयति शुक्लताम् ।
विनैव देशकालाभ्यां शक्तिं पश्याऽस्य चेतसः ॥ ३३ ॥
मनस्यन्यत्र संसक्ते चर्वितस्याऽपि जिह्वया ।
भोजनस्याऽपि मृष्टस्य न स्वादोऽस्याऽनुभूयते ॥ ३४ ॥
यच्चित्तदृष्टं तद् दृष्टं न दृष्टं तदलोकितम् ।
अन्धकारे यथा रूपमिन्द्रियं निर्मितं तथा ॥ ३५ ॥
इन्द्रियेण मनो देहि मनसेन्द्रियमुन्मनः ।
इन्द्रियाणि प्रसूतानि मनसो नेन्द्रियान्मनः ॥ ३६ ॥
अत्यन्तभिन्नयोरैक्यं येषां चित्तशरीरयोः ।
ज्ञातज्ञेया महात्मानो नमस्यास्ते सुपण्डिताः ॥ ३७ ॥

होता है यों चित्शक्तिसे स्फुरित हुआ मन सर्वत्र अप्रतिहत स्वच्छन्दताको प्राप्त होता है ॥ ३१,३२ ॥

देश और कालके बिना ही मन सफेदको काला कर देता है और कालेको सफेद कर डालता है । इस चित्तकी इस प्रकारकी अद्भुतशक्ति देखिये ॥ ३३ ॥

मन यदि अन्य स्थानमें संलग्न हो, तो खूब चबाये गये स्वादिष्ट भोजनतकका जिह्वाको स्वाद प्रतीत नहीं होता है, इससे अधिक आश्चर्य और क्या होगा ? ॥३४॥

जो वस्तु चित्त द्वारा देखी गई वही दृष्ट है । यदि चित्तने नहीं देखी, तो सामने स्थित भी वस्तु दृष्ट नहीं होती । चक्षु आदि इन्द्रियोंकी मनने ही अपनेमें कल्पना कर रक्खी है, ऐसा कहते हैं **'अन्धकारे'** से । जैसे अँधेरेमें छायावैचित्र्य-रूप नीलताकी कल्पना होती है वैसे ही उसने अपनेमें इन्द्रियोंका निर्माण कर रक्खा है ॥ ३५ ॥

यद्यपि इन्द्रिय द्वारा आलोचित आकारको धारण करनेसे मन इन्द्रियोंके कारण साकार है और इन्द्रियाँ मनके अधीन पदार्थकी आलोचक होनेसे मनसे साकार हैं, इस प्रकार दोनोंमें समता है तथापि मन उत्कृष्ट है, क्योंकि मनसे इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियोंसे मन उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ ३६ ॥

उस मनकी मूढ आत्मकोटिमें गणना कर 'अहम्' यों उसका आत्मरूपसे ग्रहण करते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानी देहकोटिमें उसकी गणना कर जड देहरूपसे उसका ग्रहण करते हैं । अतएव निर्विकार आत्माके ज्ञाता वे महात्मा वन्दनीय हैं, ऐसा कहते हैं **'अत्यन्त०'** इत्यादिसे ।

कुसुमोल्लासिधम्मिल्ला हेलाचलितलोचना ।
काष्ठकुड्योपमाऽङ्गेषु लग्नाऽप्यमनसोऽङ्गना ॥ ३८ ॥
मनस्यन्यत्र संसक्ते वीतरागेण कानने ।
क्रव्यादचर्वितोऽङ्कस्थः स्वकरोऽपि न लक्षितः ॥ ३९ ॥
सुखीकर्तुं सुदुःखानि दुःखीकर्तुं सुखानि च ।
सुखेनैवाऽऽशु युज्यन्ते मनसोऽतिशया मुनेः ॥ ४० ॥
मनस्यन्यत्र संसक्ते कथ्यमानाऽपि यत्नतः ।
लता परशुकृत्तेव कथा विच्छिद्यते बत ॥ ४१ ॥

मूढोंकी दृष्टिसे चित्त और शरीरका अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त भेद है। जिन महात्माओंकी दृष्टिसे मूढदृष्टिसे अत्यन्त भिन्न चित्त और शरीरका ऐक्य है, उन महापण्डितोंको ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान हो गया है, अतएव वे सबके वन्दनीय हैं ॥ ३७ ॥

अतएव उनमें काम आदिका विकार नहीं देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—**'कुसुम०'** इत्यादिसे ।

जिसका बालोंका जूड़ा सुगन्धित फूलोंसे सुशोभित है और जिसने हाव-भावसे कटाक्ष मारे हैं ऐसी नायिका मनरहित पुरुषके शरीरमें चिपट भी जाय, तो उसकी दृष्टिमें काठ और भीतके तुल्य है यानी तनिक भी विकार पैदा करनेमें क्षम नही है ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार दुःख-निमित्तोंसे दुःखरूप विकार भी उनको नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—**'मनसि'** इत्यादिसे ।

वीतराग नामके मुनिने मनके अन्यत्र संलग्न होनेके कारण वनमें मांसाहारियों द्वारा चबाये गये हाथको, जो कि ध्यानके समय अङ्कमें पसारा था, नहीं देखा ॥३९॥

मुनिके मनकी भावनाएँ, जो अभ्यासकी अधिकतासे उत्पन्न की जाती हैं, बड़े-से-बड़े दुःखोंको सुख बनानेके लिए तथा सुखोंको दुःखरूपमें परिणत करनेके लिए अनायास ही समर्थ होती हैं ॥ ४० ॥

मन कहीं और जगहमें उलझा हो, तो बड़े जतनसे कही जा रही भी कथा ऐसे छिन्न-भिन्न हो जाती है जैसे कि कुल्हाड़ीसे काटी गई लता छिन्न-छिन्न हो जाती है ॥ ४१ ॥

मनस्यद्रितटारूढे गृहस्थेनाऽपि जन्तुना ।
शुभ्राभ्रकन्दरभ्रान्तिदुःखं समनुभूयते ॥ ४२ ॥
मनस्युल्लसिते स्वप्ने हृद्येव पुरपर्वताः ।
आकाश इव विस्तीर्णे दृश्यन्ते निर्मिताः क्षमाः ॥ ४३ ॥
मनो विलुलिते स्वप्ने हृद्येवाऽद्रिपुरावलिम् ।
तनोति चलिताम्भोधिर्वीचीचयमिवाऽऽत्मनि ॥ ४४ ॥
अन्तरब्धिजलाद् यद्वत्तरङ्गापीडवीचयः ।
देहान्तर्मनसस्तद्वत् स्वप्नाद्रिपुरराजयः ॥ ४५ ॥
अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमयः ॥ ४६ ॥
व्यतिरिक्ता यथा हेम्नो न हेमवनिता तथा ।
जाग्रत्स्वप्नक्रियालक्ष्मीर्व्यतिरिक्ता न चेतसः ॥ ४७ ॥

यदि मन पर्वतके शिखरपर आरूढ हो, तो घरमें बैठा हुआ भी जीव स्वप्नमें सफेद मेघोंसे युक्त कन्दराओंकी भ्रान्तिके दुःखका अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

स्वप्नमें मनके उल्लासको प्राप्त होनेपर हृदयमें ही निर्मित नगर, पर्वत आदि विस्तीर्ण आकाशमें निर्मित नगर, पर्वत आदिके सदृश अपने-अपने कार्यको करनेमें समर्थ दिखाई देते हैं ॥ ४३ ॥

चञ्चल समुद्र जैसे अपनेमें लहरोंकी कतारको फैला देता है वैसे ही मन स्वप्नमें अपनेसे विक्षिप्त हृदयमें ही पर्वत और नगरोंकी परम्पराका विस्तार करता है ॥ ४४ ॥

जैसे समुद्रान्तर्वर्ती जल तरङ्ग, आवर्त और छोटी-छोटी लहरोंके रूपमें परिणत होता है वैसे ही देहके मध्यवर्ती मन भी स्वप्नके आवेशसे पर्वत और नगरोंकी श्रेणिके रूपमें परिणत होता है ॥ ४५ ॥

जैसे पत्र, लता, पुष्प, फलोंकी शोभा अङ्कुरसे अतिरिक्त नहीं है यानी अङ्कुरसे ही उत्पन्न है वैसे ही जाग्रत् , स्वप्न आदि विभ्रम मनसे अतिरिक्त नहीं हैं यानी मनके ही कार्य हैं ॥ ४६ ॥

जैसे सुवर्णकी प्रतिमा सुवर्णसे भिन्न नहीं है वैसे ही क्या जाग्रत् और क्या स्वप्नकी विविध क्रियाएँ चित्तसे पृथक् नही हैं ॥ ४७ ॥

धाराकणोर्मिफेनश्रीर्यथा संलक्ष्यतेऽम्भसः ।
तथा विचित्रविभवा नानातेयं हि चेतसः ॥ ४८ ॥

स्वचित्तवृत्तिरेवेह जाग्रत्स्वप्नदृशोदितम् ।
रसावेशादुपादत्ते शैलूष इव भूमिकाम् ॥ ४९ ॥

चण्डालत्वं हि लवणे प्रतिभासवशाद्यथा ।
तथेदं जगदाभोगि मनोमननमात्रकम् ॥ ५० ॥

यद्यत्संवद्यते किञ्चित् तेन तेनाऽऽशु भूयते ।
मनो मननर्निर्माणं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५१ ॥

नानापुरसरिच्छैलरूपतामेत्य देहिनाम् ।
तनोत्यन्तःस्थमेवेदं जाग्रत्स्वप्नमयं मनः ॥ ५२ ॥

सुरत्वाद्दैत्यतामेत्य नागत्वान्नगतामपि ।
प्रतिभासवशाच्चित्तमापन्नं लवणो यथा ॥ ५३ ॥

जैसे जलकी धारा, सीकर, तरङ्ग, बुद्‌बुद् आदि शोभा दिखाई देती है यानी एक ही जल धारा आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है वैसे ही मनकी यह विचित्र विभववाली नाना विचित्रता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४८ ॥

जैसे शृङ्गार आदिके आवेशसे नट विलक्षण-विलक्षण वेषोंके आविर्भावको स्वीकार करता है वैसे ही यहांपर अपनी चित्तवृत्ति ही रागके आवेशसे जाग्रत और स्वप्न दृष्टिसे आविर्भावको प्राप्त होती है ॥ ४९ ॥

जैसे राजा लवणमें भ्रमवश चण्डालता स्फुरित हुई थी वैसे ही यह विशाल जगत् मनका स्फुरणरूप ही है ॥ ५० ॥

मन जिस किसीका सङ्कल्प करता है शीघ्र वही हो जाता है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, स्फुरणरूप मनको आप जैसा चाहते हैं वैसा कीजिये ॥ ५१ ॥

यह मन विविध नगर, नदी, पर्वतरूपताको प्राप्त होकर देहियोंके अन्दर स्थित होकर ही जाग्रत्-स्वप्नमय जगत्‌का विस्तार करता है ॥ ५२ ॥

जैसे भ्रान्तिवश लवण राजा चण्डालताको प्राप्त हुआ था वैसे ही चित्त भ्रमवश देवत्वसे दैत्यताको प्राप्त होकर नागतासे (गजता या सर्पतासे) वृक्षता या पर्वतताको प्राप्त हुआ है ॥ ५३ ॥

नरत्वादेति नारीत्वं पितृत्वात् पुत्रतां गतः ।
यथा क्षिप्रं प्रति नरः स्वसङ्कल्पात् तथा मनः ॥ ५४ ॥
सङ्कल्पतः प्रम्रियते सङ्कल्पाज्जायते पुनः ।
मनश्चिरन्तनाभ्यस्ताज्जीवतामेत्यनाकृति ॥ ५५ ॥
मनो मननसंमूढमूढवासनमाततम् ।
सङ्कल्पाद् योनिमायाति सुखदुःखे भयाभये ॥ ५६ ॥
सुखं दुःखं च मनसि तिले तैलमिव स्थितम् ।
तद्देशकालवशतो घनं वा तनु वा भवेत् ॥ ५७ ॥
तैलं तिलस्य चाऽऽक्रान्त्या स्फुटतामेति शाश्वतीम् ।
चेतसो मननासङ्गाद् घनीभूते सुखासुखे ॥ ५८ ॥
देशकालाभिधानेन राम सङ्कल्प एव हि ।
कथ्यते तद्वशाद् यस्माद्देशकालौ स्थितिं गतौ ॥ ५९ ॥

जैसे पितृत्वसे पुत्रताको प्राप्त हुआ मनुष्य अपने संकल्पसे नरतासे नारीत्वको प्राप्त होता है वैसे ही अपने सकल्पसे मन शीघ्र प्रत्येक वस्तुके रूपको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मन चिरकालसे अभ्यस्त सङ्कल्पसे ही मरता है और सङ्कल्पसे ही फिर उत्पन्न होता है और स्वतः आकृतिरहित होनेपर भी जीवाकारको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

विस्तृत मन, जिसमें मनन द्वारा मूढवासना अत्यन्त मोहको प्राप्त हुई है, संकल्पसे जन्मस्थान, सुख-दुःख तथा भय-अभयको प्राप्त होता है। जैसे तिलोंमें तेल रहता है, वैसे ही मनमें सुख-दुःख रहते हैं। वे देश और कालके कारण कभी प्रचुर हो जाते हैं अथवा कभी स्वल्प हो जाते हैं ॥ ५६,५७ ॥

जैसे कोल्हू आदि यन्त्रसे तिलोंके पेरनेसे तेल सदाके लिए स्पष्ट हो जाता है वैसे ही चित्तके अन्दर घनीभूत सुख-दुःख मनकी वृत्तिसे स्फुटताको प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि देश, काल और कर्मकी विचित्रतासे ही सुख-दुःख आदिकी विचित्रता प्रसिद्ध है, फिर मननरूप मनकी वृत्तिसे (संकल्पसे) सुखकी विचित्रता होती है, यह कैसे कहते हैं, तो इसपर कहते हैं—**'देश०'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संकल्प ही देश और कालके नामसे कहा जाता है,

प्रशाम्यत्युल्लसत्येति याति नन्दति वल्गति ।
मनःशरीरसङ्कल्पे फलिते न शरीरकम् ॥ ६० ॥

नानास्फारसमुल्लासैः स्वसङ्कल्पोपकल्पितैः ।
मनो वल्गति देहेऽस्मिन् साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे ॥ ६१ ॥

चापले प्रसरस्तस्मादन्तर्येन न दीयते ।
मनो विलयमादत्ते तस्याऽऽलान इव द्विपः ॥ ६२ ॥

न स्पन्दते मनो यस्य शस्त्रस्तम्भ इवोत्तमः ।
सद्वस्तुतोऽसौ पुरुषः शिष्टाः कर्दमकीटकाः ॥ ६३ ॥

क्योंकि संकल्पके कारण ही देश और कालकी स्थिति है। भाव यह कि देश और काल स्वल्प ही क्यों न हों यदि मनसे उनके प्राचुर्यका सङ्कल्प किया जाय, तो उनकी विपुलताका अनुभव होता है तथा विषय कितना भी तुच्छ क्यों न हो मन उसे उत्तम समझे, तो उसमें अधिक अनुराग देखा जाता है। इससे देश और कालकी स्थिति सकल्पसे ही है, यह जो कहा वह ठीक कहा है ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार शरीर भी मनके संकल्पके अधीन ही है, ऐसा कहते हैं—**'प्रशाम्यति'** इत्यादिसे ।

मन.शरीरके सकल्पके सफल होनेपर ही स्थूल शरीर शान्तिको प्राप्त होता है, उल्लसित होता है, आता है, जाता है, प्रसन्न होता है, शब्द करता है, स्वयं स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं करता है ॥ ६० ॥

जैसे पतिव्रता नारी अपने संकल्पसे उदित विविध विस्तृत उमंगोंसे अन्तःपुरके ऑगनमें विलास करती है वैसे ही मन इस देहमें अपने संकल्पसे कल्पित विविध विस्तृत उमंगोंसे विलास करता है ॥ ६१ ॥

मनके निग्रहके उपायको, फलके साथ, दर्शाते हैं—**'चापले'** इत्यादिसे ।

इसलिए जो पुरुष विषयोंके अनुसन्धानमें मनको स्वतन्त्रता नहीं देता, उसका मन गजबन्धनस्तम्भमें बँधे हुए हाथीके समान विलयको प्राप्त हो जाता है ॥६२॥

जैसे स्तम्भनास्त्रसे स्तब्ध हुआ शत्रु किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करता है वैसे ही जिसका मन सद्‌वस्तुके सिवा अन्यत्र कुछ चेष्टा नही करता, वही परमार्थ रूपसे उत्तम पुरुष है, उससे अतिरिक्त पुरुष कीचड़के कीड़े हैं ॥ ६३ ॥

यस्याऽचपलतां यातं मन एकत्र संस्थितम् ।
अनुत्तमपदेनाऽसौ ध्यानेनाऽनुगतोऽनघ ॥ ६४ ॥
संयमान्मनसः शान्तिमेति संसारविभ्रमः ।
मन्दरेऽस्पन्दतां याते यथा क्षीरमहार्णवः ॥ ६५ ॥
मानस्यो वृत्तयो या या भोगसङ्कल्पविभ्रमैः ।
संसारविषवृक्षस्य ता एवाऽङ्कुरयोनयः ॥ ६६ ॥
चित्तं चलत्कुवलयं वलयन्त एते
मूढा महाजडजवे मदमोहमन्दाः ।
आवर्तवर्तिनि विलूनविशीर्णचिन्ता-
चक्रभ्रमे पुरुषदुर्भ्रमराः पतन्ति ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सापूर्वकं चित्तवर्णनं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११० ॥



हे निष्पाप, एक स्थानमें स्थित जिसका मन निश्चल हो गया है, वह ध्यानसे सर्वोत्तम पद यानी ब्रह्मसे सङ्गत हो गया यानी ब्रह्मीभूत हो गया ॥ ६४ ॥

जैसे मन्दराचलके निश्चल होनेपर क्षीरसागर शान्त हो जाता है वैसे ही मनके संयमसे संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है ॥ ६५ ॥

भोगसंकल्पके विलासोंसे जो जो मानसिक वृत्तियां उदित होती हैं, वे ही संसार-रूपी विषवृक्षके अङ्कुरके बीज हैं ॥ ६६ ॥

मद और मोहसे मन्दमति और मूढ ये पुरुषरूपी दुष्ट भँवर चित्तरूपी चञ्चल कमलको (संसाररूपी दुष्ट नदीसे बहाये जा रहे कमलको) घेरकर घूमते हुए महा-जड़ताके प्रवाहरूप जलवेगसे युक्त, बवंडरके चक्करोंसे घूमनेवाले, प्रबल दूसरी चिन्तासे कटे हुए और चिरकालतक निष्फलता प्राप्त होनेसे देहके साथ नष्ट हुए चिन्तारूपी चक्रभ्रमणमें गिरते हैं ।

एक सौ दस सर्ग समाप्त



एकादशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्य चित्तमहाव्याधेश्चिकित्साया महौषधम् ।
स्वायत्तं शृणु वक्ष्यामि साधु सुस्वादु निश्चितम् ॥ १ ॥
स्वेनैव पौरुषेणाऽऽशु स्वसंवेदनरूपिणा ।
यत्नेन चित्तवेतालस्त्यक्तवेष्टं वस्तु जीयते ॥ २ ॥
त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः ।
जितमेव मनस्तेन कुदन्त इव दन्तिना ॥ ३ ॥
स्वसंवेदनयत्नेन पाल्यते चित्तबालकः ।
अवस्तुतो वस्तुनि च योज्यते बोध्यतेऽपि च ॥ ४ ॥

एक सौ ग्यारह सर्ग

[यत्नसे अभिमत वस्तुके तथा अहन्ता-ममताके त्यागका और चित्तपर विजय पानेके उपायका तथा चित्की एकाग्रताका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, मैं इस चित्तरूपी महाव्याधिकी चिकित्साकी महौषधिको, जो स्वाधीन है, अवश्य पुरुषार्थको सिद्ध करती है, बड़ी मीठी और अव्यर्थ है, आपसे कहूँगा, सुनिये ॥ १ ॥

प्रिय बाह्य विषयका परित्याग कर एकमात्र आत्माकारवृत्तिधारारूपी अपने ही पौरुष प्रयत्नसे चित्तरूपी वेतालपर शीघ्र विजय प्राप्त की जाती है ॥ २ ॥

अभिमत वस्तुत्यागरूपी पहली भूमिकाको दृढ़ बनाना चाहिये, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'त्यजन्' इत्यादिसे ।

अभिमत वस्तुका त्याग करता हुआ जो पुरुष राग आदि चित्तकी व्याधिसे रहित होकर रहता है, वह मनको इस प्रकार जीत ही चुका जिस प्रकार कि सुन्दर दाँतवाला हाथी खराब टूटे-फूटे दाँतवाले हाथीको जीत लेता है ॥ ३ ॥

आत्ममात्राकारवृत्तिधारारूपी प्रयत्नसे चित्तरूपी बालककी राग, चपलता आदि रोगोंके प्रतीकार द्वारा रक्षा की जाती है, वह अवस्तुसे हटाकर वस्तुमें (तत्त्वमें) लगाया जाता है और बोधित किया जाता है ॥ ४ ॥

शास्त्रसत्सङ्गधीरेण चिन्तातप्तमतापिना ।
छिन्धि त्वमायसेनाऽयो मनसैव मनो मुने ॥ ५ ॥
अयत्नेन यथा बाल इतश्चेतश्च योज्यते ।
भावैस्तथैव चेतोऽन्तः किमिवाऽत्राऽस्ति दुष्करम् ॥ ६ ॥
सत्कर्मणि समाक्रान्तमुदर्कोदयदायिनि ।
स्वपौरुषेणैव मनश्चेतनेन नियोजयेत् ॥ ७ ॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम् ।
यस्य दुष्करतां यातं धिक् तं पुरुषकीटकम् ॥ ८ ॥
अरम्यं रम्यरूपेण भावयित्वा स्वसंविदा ।
मल्लेनेव शिशुश्चित्तमयत्नेनैव जीयते ॥ ९ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन चित्तमाश्वेव जीयते ।
अचित्तेनाऽप्रयत्नेन पदं ब्रह्मणि दीयते ॥ १० ॥

हे मननशील श्रीरामचन्द्रजी, आप चिन्तारूपी अग्निमें तपाये गये मनरूपी लोहेको शास्त्राभ्यास और सत्सङ्गसे धीर तथा सन्तापरहित मनरूपी लोहशस्त्रसे काट डालिये ॥ ५ ॥

जैसे बालक लाड-प्यार और भयसे किसी प्रयत्नके बिना इधर-उधर जहाँ चाहो वहाँ लगाया जा सकता है वैसे ही चित्त भी शम-दम आदि उपायोंसे जिधर चाहो उधर लगाया जा सकता, है, इसलिए चित्तपर विजय प्राप्त करनेमें कौन-सी कठिनाई है ? ॥ ६ ॥

उत्तरकालमें अभ्युदयरूप फल देनेवाले समाधिके अभ्यासरूप कर्ममें लगे हुए मनको पुरुष अपने पुरुषकारसे ही चिदात्माके रूपसे एकताको प्राप्त करावे ॥ ७ ॥

अविरक्त लोगोंकी निन्दा करते हैं—**'स्वायत्तम्'** इत्यादिसे ।

जिसको अपने अभीष्ट वस्तुके विषयमें वैराग्यवृत्ति, जो अपने आयत्त और परम हितकर है, मुश्किल हो गई हो, उस पुरुषरूपी कीड़ेके लिए धिक्कार है ॥८॥

अपनी बुद्धिसे अरमणीय वस्तुकी परम रमणीय ब्रह्मरूपसे भावना करके जैसे कोई बड़ा नामी पहलवान बच्चेको अनायास पछाड़ देता है, जीत लेता है वैसे ही मनपर अनायास विजय प्राप्त की जा सकती है ॥ ९ ॥

अपने पौरुष प्रयत्नसे शीघ्र ही मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है, चित्तरहित

स्वायत्तं च सुसाध्यं च स्वचित्ताक्रान्तिमात्रकम् ।
शक्नुवन्ति न ये कर्तुं धिक् तान् पुरुषजम्बुकान् ॥ ११ ॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नाऽस्ति शुभा गतिः ॥ १२ ॥
मनोमारणमात्रेण साध्येन स्वात्मसंविदा ।
निःसपत्नमनाद्यन्तमनिङ्गनमिहोच्यताम् ॥ १३ ॥
ईप्सितावेदनाख्यात् तु मनःप्रशमनादृते ।
गुरूपदेशशास्त्रार्थमन्त्राद्या युक्तयस्तृणम् ॥ १४ ॥
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
असङ्कल्पनशस्त्रेण च्छिन्नं चित्तं गतं यदा ॥ १५ ॥
स्वसंवेदनसाध्येऽस्मिन् सङ्कल्पानर्थशासने ।
शान्तायामत्र वपुषि पुंसः कैव कदर्थना ॥ १६ ॥

पुरुष (जिसका चित्त स्वतन्त्र नहीं है, वह पुरुष) प्रयासके बिना शीघ्र ही ब्रह्ममें पैर रखता है यानी ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ १० ॥

जो लोग केवल अपने चित्तका निग्रह, जो कि स्वाधीन और सहज साध्य है, नहीं कर सकते, वे पुरुषोंमें गीदड़ हैं, उनके लिए बार-बार धिक्कार है ॥११॥

एकमात्र अपने पौरुषसे प्राप्त होनेवाले अपने अभीष्टका परित्यागरूपी मनके निग्रहमात्रके बिना शुभ गति नहीं है ॥ १२ ॥

एकमात्र मनके मारणसे प्राप्त होनेवाले आत्मतत्त्वसाक्षात्कारसे स्वराज्य सुखके विरोधी मोह आदि शत्रुओंसे रहित अतएव अचल अनादि अनन्त स्वराज्यकी इसी जीवन्मुक्त देहमें आप निश्शङ्क होकर प्रतिज्ञा कीजिये ॥ १३ ॥

अपने अभीष्ट मोक्षसुखका निवेदन करनेवाले प्रधान साधनरूप मनके निग्रहके बिना गुरूपदेश, शास्त्राभ्यास, मन्त्र आदि साधन तृणके तुल्य असार हैं। यहाँ गुरूपदेश, शास्त्राभ्यास आदिकी निन्दामें तात्पर्य नहीं है, किन्तु मनके शमनकी स्तुतिमें तात्पर्य है ॥ १४ ॥

श्रीरामजी, जब संकल्पपरित्यागरूप तीक्ष्ण शस्त्रसे मूलके साथ चित्तका उच्छेद हो गया, तभी पुरुष सर्वस्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्म हो जाता है ॥ १५ ॥

अपने संवेदन द्वारा इस संकल्परूप अनर्थका निग्रह होनेपर तदनन्तर शान्ति

नूनं दैवमनादृत्य मूढसङ्कल्पकल्पितम् ।
पुरुषार्थेन संवित्त्या नय चित्तमचित्तताम् ॥ १७ ॥
तां महापदवीमेकां कामप्यधिगतं चिरम् ।
चित्तं चिद्भक्षितं कृत्वा चित्तादपि परो भव ॥ १८ ॥
भव भावनया युक्तो युक्तः परमया धिया ।
धारयाऽऽत्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं ततः परम् ॥ १९ ॥
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम् ।
तां महापदवीमेहि यत्र नाशो न विद्यते ॥ २० ॥
संवेदनविपर्याससरूपिणी धीरिवाऽचला ।
जेतुमाशु मनो राम पौरुषेणैव शक्यते ॥ २१ ॥

आदि साधनोंसे सम्पन्न जीवन्मुक्ति होनेपर अधिकारी पुरुषके शरीरमें कौन क्लेश है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥ १६ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि दैवके प्रतिकूल होनेपर कैसे कार्यकी सिद्धि होगी ? इसपर कहते हैं—**'नूनम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मूढ पुरुषोंके सकल्पसे कल्पित दैवका अनादर कर पुरुषार्थरूप आत्मसंवेदनसे अपने चित्तको अचित्त बना दीजिये यानी सकल्पविकल्परहित बना दीजिये ॥ १७ ॥

अचित्तताकी प्राप्तिमें कौन उपाय है ? यह पूछनेपर उसे कहते हैं—**'ताम्'** इत्यादिसे ।

चित्तको बहुत कालतक उस किसी एक महापदवीको (ब्रह्मरूपताको) प्राप्त हुआ बनाकर पीछे साक्षात्कारवृत्तिसे आविर्भूत हुई चित्से मनके साथ अविद्याका बाध होनेसे चिद्से भक्षित करके चित्तसे भी पर परिपूर्ण चिन्मात्ररूप होओ, यह अर्थ है ॥ १८ ॥

पहले आप चिन्मात्रभावनासे युक्त होइए । चिन्मात्रभावनाकी स्थिरताके लिए अतिसावधान बुद्धिसे युक्त होइए । तदनन्तर चित्तको चित्से ग्रस्त करके किसी प्रकारकी व्याकुलतासे रहित होकर चित्तसे पर आत्माका धारण कीजिये ॥ १९ ॥

परम पौरुषका अवलम्बन करके चित्तको अचित्त बनाकर उस महापदवीको (परब्रह्मरूपताको) प्राप्त होइए, जहाँपर नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे दिग्भ्रम होनेपर पश्चिम दिशामें यह पूर्व दिशा है,

अनुद्वेगः श्रियो मूलमनुद्वेगात् प्रवर्तते ।
जन्तोर्मनोजयो येन त्रिलोकीविजयस्तृणम् ॥ २२ ॥
न शस्त्रदलनोत्पातपाता यस्यां मनागपि ।
स्वभावमात्रव्यावृत्तौ तस्यां क्वैव कदर्थना ॥ २३ ॥
अपि स्ववेदनाक्रान्तौ न शक्ता ये नराधमाः ।
कथं व्यवहरिष्यन्ति व्यवहारदशासु ते ॥ २४ ॥
पुमान्मृतोऽस्मि जातोऽस्मि जीवामीति कुदृष्टयः ।
चेतसो वृत्तयो भान्ति चपलस्याऽसदुत्थिताः ॥ २५ ॥

यह संवेदनविपर्यासरूपी बुद्धि, जो उस समय बिल्कुल स्थिर रहती है, विवेक-स्थिरतारूपी पुरुषप्रयत्नसे जीती जा सकती है वैसे ही मन भी पुरुषप्रयत्नसे ही शीघ्र जीता जा सकता है ॥ २१ ॥

चिरकालसे मनके निग्रहमें लगा हुआ पुरुष उद्वेग होनेसे उसका परित्याग न कर बैठे, इसलिए उसके उत्साहको बढ़ाते हुए कहते हैं—'**अनुद्वेगः**' इत्यादिसे ।

उद्वेग न होना राज्य आदि संपत्तिका कारण है, अनुद्वेगसे जीवके मनोजयकी सिद्धि होती है, जिस मनोजयसे तीनों लोकोंका विजय भी तृणके सदृश सहज हो जाता है ॥ २२ ॥

राजलक्ष्मीरूप सुख देनेवाले युद्धमें शस्त्रच्छेदनरूप क्लेश होता है, स्वर्गरूप सुखमें मरकर ऊर्ध्वगमन और वहांसे अधःपतनरूप क्लेश होता है । मनोजयरूप सुखमें तो कोई भी क्लेश नहीं है, ऐसा कहते हैं - '**न शस्त्र०**' इत्यादिसे ।

जिसमें शस्त्रास्त्रसे अङ्गच्छेदन, उर्द्ध्वगमन, अधःपतन आदि कुछ भी नहीं होते, उस स्वभावमात्रकी व्यावृत्तिमें कौन-सा क्लेश है ? ॥ २३ ॥

जो नराधम अपने मनके निग्रहमें भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहारावस्थाओंमें कैसे व्यवहार करेंगे ? ॥ २४ ॥

समाधि, सुषुप्ति आदिमें जन्म, मरण आदि दुःखोंका अनुभव नहीं होता और व्यवहारकालमें मनोवृत्तिपूर्वक ही जन्म, मरण आदि दुःखोंका अनुभव होता है, अतः सिद्ध हुआ कि संसार मनोवृत्तिमात्र है, यह दर्शाते हैं—'**पुमान्**' इत्यादिसे ।

मैं पुरुष हूँ, मैं मरा हूँ, मै उत्पन्न हुआ हूँ और मैं जीता हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चपल चित्तकी असत् ही उदित हुई वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं ॥ २५ ॥

न कश्चनेह म्रियते जायते न च कश्चन ।
स्वयं वेत्ति मृतं स्वस्य लोकमन्यं स्वकं मनः ॥ २६ ॥
इतो याति परं लोकं स्फुरत्यन्यतया मनः ।
तत्तस्यैत्येतदामोक्षमतो मृतिभय कुतः ॥ २७ ॥
इह लोकेन विचरत्विह लोके परत्र च ।
चित्तमामोक्षमास्तेऽस्य रूपमन्यन्न विद्यते ॥ २८ ॥
मृते भ्रातरि भृत्यादौ क्लेश आक्रियतेऽनृतः ।
तत् स्वचित्तं स्वचैतन्यव्यावृत्तात्मेति मे मतिः ॥ २९ ॥
सति पथ्ये तते शुभ्रे चित्तोपशमनादृते ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च भूयो भूयो विचारितम् ॥ ३० ॥

यहांपर न कोई मरता है और न कोई उत्पन्न होता है। मन अपने मरण और अन्य लोकगमनकी स्वयं कल्पना करता है ॥ २६ ॥

इस लोकसे मन परलोकमें जाता है और वहां अन्यरूपसे स्फुरित होता है। वे मरण और परलोकगमन जबतक मोक्ष नही होता तबतक मनको प्राप्त होते हैं, इसलिए पुरुषको मरणका भय कैसे ? ॥ २७ ॥

इस लोकमें इस लोकके रूपसे मन विचरण करे और परलोकमें परलोक-रूपसे विचरण करे, इसलिए जबतक मोक्ष न हो तबतक चित्त ही तत्-तत्रूपसे विद्यमान रहता है। इस संसारका चित्तसे अतिरिक्त रूप नही है ॥ २८ ॥

लोग भाई, भृत्य आदिके मरनेपर व्यर्थ शोक करते हैं, वह निर्विकार अपने चैतन्यसे पृथग्भूत अपना चित्त ही है, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २९ ॥

अतः परमात्मामें समूल चित्तका विनाश कर देना ही मुक्तिका उपाय है, अन्य उपाय नहीं है, ऐसा कहते हुए उपसंहार करते हैं—**'सति'** इत्यादिसे।

अन्यसत्तानिरपेक्षसत्तावाले (जिसकी सत्ता किसी अन्य सत्ताकी अपेक्षा नहीं करती) सबके हितकारी, मायारूपी मलिनतासे रहित, सब प्रमाणोंमें सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुति द्वारा बोधित परमात्मामें चिद्भावमात्रसे परिशेषरूप चित्तके उपशमनके सिवा मुक्तिका दूसरा उपाय ही नहीं है। इस बातका ऊपरके स्वर्ग आदि लोकोंमें, नीचेके पाताल आदि लोकोंमें और अन्यान्य द्वीपोंमें तत्त्वदर्शी विद्वानोंने एक बार नहीं अनेक बार विचार कर निश्चय किया है ॥ ३० ॥

यावन्नाऽस्ति किलोपायश्चित्तोपशमनादृते ।
ऋते तथ्ये तते शुभ्रे बोधे हृद्युदिते सति ।
मनोविलयमात्रेण विश्रान्तिरुपजायते ॥ ३१ ॥
व्यायते हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया ।
मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नाऽऽधयः ॥ ३२ ॥
यदि रम्यमरम्यत्वे त्वया संविदितं विदा ।
छिन्नान्येव तदाऽङ्गानि चित्तस्येति मतिर्मम ॥ ३३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः ।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥ ३४ ॥

चित्तोपशमनके सिवा मोक्षका दूसरा उपाय है ही नहीं, यह निश्चित है ।

मनके विलयका उपाय समाधिकी परिपाकावस्थासे शोधित मनमें अपरोक्ष-रूपसे आविर्भूत ब्रह्मात्मक बोध ही है, इस आशयसे कहते हैं—'**ऋते**' इत्यादिसे ।

सर्वश्रेष्ठ प्रमाणरूप श्रुतिसे बोधित, सत्य, सर्वव्यापक तथा मायाकलङ्करहित बोधके हृदयमें उदित होनेपर मनके विलयमात्रसे परमशान्ति प्राप्त होती है। अत्यन्त-विस्तीर्ण दहराकाशरूपी ब्रह्मचित्में चरमवृत्तिसे प्रदीप्त चित्रूपी तलवारकी धारासे मनको बिना किसी सन्देहके मारो। ऐसा करनेमें मानसिक चिन्ताएँ आपको बन्धनमें नहीं डालेंगी ॥ ३१,३२ ॥

आपाततः रमणीय विषयोंमें दोषानुसंधानसे अरमणीयताद्दष्टि पहले करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं '**यदि**' इत्यादिसे ।

यदि आपाततः रम्य-से प्रतीत होनेवाले स्त्री-पुत्र आदिको आपने अरमणीय जान लिया तब तो चित्तके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग निश्चय ही कट गये, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३३ ॥

काटने योग्य मनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बतलाकर अब मनके शरीरको बतलाते हैं—'**अयं सोऽहम्**' इत्यादिसे ।

यह दिखाई दे रहा पिता द्वारा उत्पादित देह और यह देहसे सम्बन्ध रखनेवाला घर, खेत आदि, जिसका कि पहले पिताने उपार्जन किया था, 'मेरा है' ऐसा जो भ्रम है, केवल यही मनका शरीर है। जैसे कोई वस्तु हँसियासे काटी जाती है वैसे ही यह मनका शरीर भावना न करना रूप शस्त्रसे काटा जाता है ॥ ३४ ॥

छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते ।
वातेनाऽकल्पनेनैवं तथा तद् धूयते मनः ॥ ३५ ॥
भवन्ति यत्र शस्त्राग्निपवनास्तत्र भीर्भवेत् ।
स्वायत्ते मृदुनि स्वच्छे किमसङ्कल्पने भयम् ॥ ३६ ॥
इदं श्रेय इदं नेति सिद्धमाबालमक्षतम् ।
बालं पुत्रमिवोदारे मनः श्रेयसि योजयेत् ॥ ३७ ॥
अक्षयं चाऽनवं चेतः सिंहं संसृतिबृंहणम् ।
घ्नन्ति ये ते जयन्तीह निर्वाणपददायिनः ॥ ३८ ॥
भीमाः सम्भ्रमदायिन्यः सङ्कल्पकदनादिमाः ।
विपदः सम्प्रसूयन्ते मृगतृष्णा मराविव ॥ ३९ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें आकाशमें बिखरे हुए बादलके टुकडे वायुसे उड़ाये जाते हैं वैसे ही पूर्वोक्त अहम्, मम इत्यादि कल्पना न करनेसे मन उड़ाया जाता है, नष्ट किया जाता है ॥ ३५ ॥

अपने अधीन, अकठिन (अनायाससाध्य), अति स्वच्छ, असंकल्पनमें (कल्पना-भावमें) कौन-सा भय है ? जहाँपर शस्त्र, अग्नि, आँधी आदि होते हैं, वहींपर भय होता है ॥ ३६ ॥

यह कल्याणकारी है, यह नहीं है, यह बात बालकों तकमें प्रसिद्ध है, इसलिए जैसे कोई विज्ञ पुरुष बालक पुत्रको भले कार्यमें लगाता है वैसे ही पण्डितको चाहिये मनको उत्तम कल्याणमें लगावे ॥ ३७ ॥

अक्षय (जिसका नाश होना कठिन है), अनवीन (अबाल यानी दृढ), मनरूप सिंहको, जो कि संसारकी वृद्धि करता है, जो लोग मारते हैं, वे इस संसारमें सबसे बढ़कर उत्कर्षको प्राप्त होते हैं और अन्य लोगोंको भी उपदेश द्वारा निर्वाण-पद देनेवाले होते हैं ॥ ३८ ॥

मन ही महाभय है और मनपर विजय ही अभय पद है, ऐसा कहते हैं— **'भीमाः'** इन दो श्लोकोंसे ।

संकल्परूपी क्लेशसे बड़ी भीषण, भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली ये विपत्तियाँ मरुभूमिमें मृगतृष्णिकाके समान उत्पन्न होती हैं ॥ ३९ ॥

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशाऽऽदित्या नाऽस्ति निर्मनसः क्षतिः ॥ ४० ॥
मनोबीजात् समुद्यन्ति सुखदुःखे शुभाशुभे ।
संसारखण्डका एते लोकसप्तकपल्लवाः ॥ ४१ ॥
असङ्कल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे ।
असङ्कल्पनसाम्राज्ये तिष्ठाऽवष्टब्धतत्पदः ॥ ४२ ॥
प्रयच्छत्युत्तमानन्दं क्षीयमाणं मनः क्रमात् ।
काष्ठक्षीणाङ्गकाङ्गारो यथाऽङ्गारक्षयार्थिनः ॥ ४३ ॥
अपि ब्रह्मकुटीलक्षं मनसश्चेत् समीहितम् ।
तदणोरन्तरे व्यक्तं विभक्तं परिदृश्यते ॥ ४४ ॥
सङ्कल्पमात्रविभवेन कृतात्यनर्थं सङ्कल्पमात्रविभवेन सुसाधितार्थम् ।
सन्तोषमात्रविभवेन मनो विजित्य नित्योदितेन जयमेहि निरीप्सितेन ॥४५॥

भले ही प्रलय कालके वायु बहें, भले ही चारों समुद्र एक हो जायँ और भले ही बारह सूर्य एक साथ तपें, पर जिसके मनका शमन हो गया है, उस पुरुषकी कोई भी हानि नहीं होती है ॥ ४० ॥

मनरूपी बीजसे सुख-दुःख और शुभ-अशुभरूपी ये संसारखण्ड (संसार-रूपी वन) उत्पन्न होते हैं, इन वनखण्डोंके सातों लोक पल्लव हैं ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परमात्मपदरूप सिंहासन लगाकर एकमात्र संकल्पाभावसे सिद्ध होनेवाले, समग्र सिद्धियाँ देनेवाले, असंकल्परूप साम्राज्यमें स्थित होइये ॥४२॥

जैसे अंगारके विनाशकी इच्छा करनेवाले यानी जलते हुए अंगारके विनाशसे तापशान्तिरूप सुखको चाहनेवाले पुरुषको काठको क्रमशः भस्म करता हुआ, अतएव क्षीण होता हुआ अंगार तापोपशमनरूप आनन्द देता है वैसे ही क्षीण हो रहा मन क्रमशः अति उत्तम आनन्द देता है ॥ ४३ ॥

संकल्पकी वृद्धि होनेपर चिदणुके मध्यमें लाखों ब्रह्माण्डोंकी कल्पना हो सकती है, ऐसा कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे ।

यदि मनको संकल्पों द्वारा अभिलषित हो, तो अणुके अन्दर भी लाखों ब्रह्माण्ड साफ और अलग-अलग दिखाई दे सकते हैं ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप एकमात्र संकल्परूप अपने वैभवसे, जिसने ब्रह्माण्ड

परमपावनया विमनस्तया समतया मतयाऽऽत्मविदामपि ।
शमितयाऽमितयाऽन्तरहन्तया यदवशिष्टमजं पदमस्तु तत् ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सा वर्णनं नाम एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ १११ ॥



द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यस्मिंस्तस्मिन् पदार्थे हि येन तेन यथा तथा ।
तीव्रसंवेगसम्पन्नं मनः पश्यति वाञ्छितम् ॥ १ ॥

आदि करोड़ों पदार्थोंकी भली भाँति रचना की है, अतएव एकमात्र संकल्पसे ही जन्म, मरण आदि अत्यन्त अनर्थोंका जिसने निर्माण किया है, ऐसे मनको निरन्तरभावित, सकल्परहित, एकमात्र सन्तोषरूप वैभवसे जीतकर विजयको (सर्वोत्कर्षको) प्राप्त होइये ॥ ४५ ॥

आत्मज्ञानियोंकी भी अभिमत, परम पवित्र, वैषम्यवृत्तिरहित विमनस्तासे और शान्त की गई बहुत विपुल अहन्तासे भी अन्दरमें जो जन्म आदि विकारोंसे रहित पद (तत्त्व) अवशिष्ट है, वही आपको प्राप्य हो ॥ ४६ ॥

एक सौ ग्यारह सर्ग समाप्त



एक सौ बारह सर्ग

[चिन्मात्रकी वासनाके अभ्याससे तथा एकमात्र उसीके दृढ निश्चयसे चित्तक्षयके उपायभूत वासनात्यागका वर्णन]

वासनाक्षयके लिए द्वैतमें मनके तीव्र वेगका निरोध करना चाहिए और चिन्मात्राकारमें तो मनके वेगको बढ़ाना चाहिए, यह कहनेके लिए मनका अपने तीव्र वेगके अनुसार फलसम्पादनरूप स्वभाव है, ऐसा कहते हैं—**'यस्मिन्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस पदार्थमें जिस-जिस अभिलाषाके

जायते म्रियते चैषा मनसस्तीव्रवेगिता ।
सौम्याम्बुबुद्बुदालीव निर्निमित्ता स्वभावतः ॥ २ ॥
शीतता तुहिनस्येव कज्जलस्येव कृष्णता ।
लोलता मनसो रूपं तीव्रा तीव्रैकरूपिणी ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

कथमस्याऽतिलोलस्य वेगो वेगैककारणम् ।
चलता मनसो ब्रह्मन् बलतो विनिवार्यते ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

नेह चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते ।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥ ५ ॥
यैषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता ।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥ ६ ॥

लिए जैसे-जैसे प्रकर्षसे मन तीव्र वेगसे युक्त होता है उस पदार्थमें उसी वेगसे तत्-तत् अभिलाषाको देखता है ॥ १ ॥

हे सौम्य, जलके बुद्बुदोंके समान यह मनका तीव्र वेग उपेक्षा करनेसे स्वभावतः उत्पन्न होता है और रोकनेके प्रयत्नसे शान्त होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिमें कोई निमित्त नहीं है ॥ २ ॥

'स्वभावतः' ऐसा जो कहा है, उसका उपपादन करते हैं—'शीतता' इत्यादिसे ।

जैसे बर्फका शीतलता रूप है और काजलका कालिमा रूप है वैसे ही एकमात्र तीव्ररूपिणी तीव्र चञ्चलता मनका रूप है ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अत्यन्त चञ्चल इस मनके तीव्रवेगका मुख्य कारण वेगका यानी चञ्चलताका बलसे कैसे निवारण हो सकता है ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारमें कहींपर भी चञ्चलतासे हीन मन नहीं दिखाई देता । जैसे वह्निका धर्म उष्णता है वैसे ही मनका धर्म चञ्चलता है ॥ ५ ॥

जो यह जगत्कारण मायासंवलित चैतन्यमें स्थित चञ्चल क्रियाशक्ति है, उसीको आप मनरूपसे परिणत हुई जगदाडम्बररूप शक्ति जानिये ॥ ६ ॥

स्पन्दास्पन्दादृते वायोर्यथा सत्तैव नोह्यते ।
तथा न चित्तसत्ताऽस्ति चञ्चलस्पन्दनादृते ॥ ७ ॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनो मृतमुच्यते ।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्तो मोक्ष उच्यते ॥ ८ ॥
मनोविलयमात्रेण दुःखशान्तिरवाप्यते ।
मनोमननमात्रेण दुःखं परमवाप्यते ॥ ९ ॥
दुःखमुत्पादयत्युच्चैरुत्थितश्चित्तराक्षसः ।
सुखायाऽनन्तभोगाय तं प्रयत्नेन पातय ॥ १० ॥
तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते ।
वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ ११ ॥
अविद्यया वासनया तयाऽन्तश्चित्तसत्तया ।
विलीनया त्यागवशात् परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥ १२ ॥
यत्तत्सदसतोर्मध्यं यन्मध्यं चित्त्वजाड्ययोः ।
तन्मनः प्रोच्यते राम द्वयोर्दोलायिताकृति ॥ १३ ॥

जैसे स्पन्दन और अस्पन्दके बिना वायुके अस्तित्वका अनुमान नहीं होता वैसे ही चञ्चल स्पन्दके बिना चित्तका अस्तित्व नही है ॥ ७ ॥

जो मन चञ्चलता रहित है, वह मृतक मन कहा जाता है, वही तप और शास्त्रका सिद्धान्तरूप मोक्ष कहा जाता है ॥ ८ ॥

मनके केवल विनाशमात्रसे दुःखकी शान्ति प्राप्त होती है और मनके संकल्पनमात्रसे परम दुःख प्राप्त होता है। उठा हुआ चित्तरूपी राक्षस विपुल दुःखको उत्पन्न करता है, इसलिए मोक्षसुखके लिए उसको प्रयत्नपूर्वक गिराओ ॥ ९,१० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनकी जो चञ्चलता है, वह अविद्या नामसे कही जाती है। वासनापद नामक उस अविद्याका विचारसे विनाश करो ॥ ११ ॥

अविद्या और वासनारूप उस चित्तसत्ताके बाह्य विषयोंके अनुसन्धानत्यागसे विलीन होनेपर निरतिशय सुख प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार वक्तव्य विषयके उपयोगीरूपसे मनकी चाञ्चल्यधर्मताको समर्थन कर वास्तविक और अवास्तविकरूप द्विस्वरूपताको, अवास्तवांशकी हेयता दिखलानेके लिए और वास्तविकरूपकी प्रतिष्ठाके विनाशके वारणके लिए, कहते हैं— **'यत्तत्'** इत्यादिसे ।

जाड्यानुसन्धानहतं जाड्यात्मकतयेद्धया ।
चेतो जडत्वमायाति दृढाभ्यासवशेन हि ॥ १४ ॥

विवेकैकानुसन्धानाच्चिदंशात्मतया मनः ।
चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासवशेन हि ॥ १५ ॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः ।
पात्यते तत्पदं प्राप्य भवत्यभ्यासतो हि तत् ॥ १६ ॥

पुनः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा ।
विशोकं पदमाश्रित्य निराशङ्कः स्थिरो भव ॥ १७ ॥

भवभावनया मग्नं मनसैव न चेन्मनः ।
बलादुत्तार्यते राम तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १८ ॥

मन एव समर्थं वो मनसो दृढनिग्रहे ।
अराजा कः समर्थः स्याद्राज्ञो राघव निग्रहे ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत् और असत्का जो मध्य है और चित्त्व और जाड्यका जो मध्य है, वह दोनोमें दोलायमान स्थितिवाला मन कहा जाता है ॥ १३ ॥

जड़ताके अनुसन्धानसे बिगडा हुआ चित्त बद्धमूल हुई जाड्यात्मकतासे दृढ़ाभ्यासवश जड़ताको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

विवेकके अनुसन्धानसे बद्धमूल हुई चिदंशात्मतासे मन दृढ़ाभ्यासवश चिन्मात्रताको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

पौरुष प्रयत्नसे, चाहे वह शास्त्रीय हो, चाहे स्वाभाविक, जिसी पदमें मन लगाया जाता है, उस पदको प्राप्तकर अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है ॥ १६ ॥

फिर पुरुषकारका अवलम्बन कर, चित्तको चित्तसे आक्रान्त कर, शोक रहित पदको पाकर निःशङ्क होकर स्थिर होइये ॥ १७ ॥

हे श्रीराचन्द्रजी, संसारकी भावनासे डूबा हुआ मन यदि मनसे ही जबरदस्ती नहीं उबारा जाता है, तो उसको उबारनेका उससे अन्य उपाय नहीं है ॥१८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपके मनका भली-भांति निग्रह करनेमें आपका मन ही समर्थ है। भला, जो स्वयं राजा नही है, वह राजाके निग्रहमें कैसे समर्थ हो सकता है? ॥ १९ ॥

तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवरंहसि ।
आवर्तैरुह्यमानानां दूरे स्वं मन एव नौः ॥ २० ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम् ।
उन्मोचितो न येनाऽऽत्मा नाऽसावन्येन मोक्ष्यते ॥ २१ ॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत् प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ २२ ॥

भोगौघवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥ २३ ॥

अभावनं भावनायास्त्वेतावान् वासनाक्षयः ।
एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश उच्यते ॥ २४ ॥

जो लोग संसाररूपी सागरके वेगमें तृष्णारूपी ग्राहसे ग्रस्त हैं और आवर्तोसे दूर बहाये जा रहे हैं, उन लोगोंके लिए अपना मन ही नौका है ॥ २० ॥

परम बन्धन जालरूप मनको अपने मनसे ही काट कर जिसने अपनी आत्माको नही छुड़ाया, उसकी मुक्ति अन्यसे नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

बाह्य पदार्थोका मनन ही जिसका नाम है, ऐसी हृदयको वासित करनेवाली जो जो वासना उदित होती है, विद्वान् पुरुष उस-उस वासनाका मिथ्यात्वके अनुसन्धानसे त्याग करे। तदनन्तर जैसे उष्णताके क्षीण होनेपर वह्नि शान्त हो जाती है वैसे ही वासनाका क्षय होनेपर मनके साथ अविद्याका क्षय हो जाता है ॥ २२ ॥

वासनाके त्यागमें क्रम दिखलाते हैं—**'भोगौघ०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, भोग्यपदार्थोकी वासनाका त्याग कर आप भेदवासनाका त्याग कीजिये। तदनन्तर चित्त और चैत्यका त्यागकर विकल्प रहित होकर सुखी होइए ॥ २३ ॥

भावनाकी भावना न करना ही वासनाक्षय है। वही मनोनाश—और अविद्यानाश कहा जाता है। अर्थात् जिस अविद्यावरणसे पूर्णतया अनुभव नहीं होता, उसका तत्त्वसाक्षात्कारसे त्याग कर सुखी होइये, ऐसा पूर्व श्लोकसे अनुषंग करना चाहिये ॥ २४ ॥

यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्तत्राऽसंवेदनं परम् ।
असंविचिस्तु निर्वाणं दुःखं संवेदनाद्भवेत् ॥ २५ ॥
स्वेनैव तत्प्रयत्नेन पुंसः संवेद्यते क्षणात् ।
भावस्याऽभावनं भूत्यै तत्तस्मान्नित्यमाहरेत् ॥ २६ ॥
रागादयो ये मनसीप्सितास्ते बुद्ध्वेह तांस्तांस्त्वमवस्तुभूतान् ।
त्यक्त्वा तदास्याङ्कुरमस्तबीजं मा हर्षशोकं समुपैहि तृप्तः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मुखरवेणोपदेशांशकथनं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

साक्षात् अथवा चित्त द्वारा साक्षीसे जिस किसीका ज्ञान होता है वहाँपर संवेद्यताका असंवेदन ही उत्कृष्ट मनोनाशरूप निर्वाण है, यह संक्षिप्त अर्थ है, ऐसा कहते हैं—'**यद्यत्**' इत्यादिसे ।

जो कुछ जाना जाता है उसमें जो परम असंवेदन है, वह असंवेदन ही निर्वाण सुख है और संवेदनसे दुःख होता है ॥ २५ ॥

वह वेद्यका अवेदन पुरुषके प्रयत्नसे होता है, ऐसा कहते हैं '**स्वेनैव**' इत्यादिसे ।

वह वेद्यका अवेदन पुरुषके अपने प्रयत्नसे ही क्षणमात्रमें होता है । वेद्यका अवेदन कल्याणके लिए होता है, इसलिए अपने प्रयत्नका नित्य अभ्यास करे ॥२६॥

आपके मनमें जो-जो विषय और उनके उपाय अभीष्ट हैं, उनको आप अवास्तविक जानकर, बीजके मुखसे निकल रहे अंकुरोंके तुल्य राग आदि जिसके मुखसे निकल रहे हैं, ऐसे मनका भी अज्ञान और वासनाबीजोंके साथ त्याग कर, पूरिपूर्ण आत्माके अनुभवसे तृप्त होकर हर्ष और शोकको प्राप्त न होइये, क्योंकि 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (अध्यात्मयोगी चित्तके आत्मामें समाधिकी प्राप्तिसे परमात्माका साक्षात्कारकर धीर पुरुष हर्ष और शोकका त्याग करता है) ऐसी श्रुति है ॥ २७ ॥

एक सौ बारह सर्ग समाप्त

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एषा हि वासना नित्यमसत्यैव यदुत्थिता ।
द्विचन्द्रभ्रान्तिवत्तेन त्यक्तुं राघव युज्यते ॥ १ ॥
अविद्या विद्यमानेव नष्टप्रज्ञेषु विद्यते ।
नाऽम्नैवाऽङ्गीकृताऽभावात् सम्यक्प्रज्ञेषु सा कुतः ॥ २ ॥
मा भवाऽज्ञो भव प्राज्ञः सम्यग् राम विचारय ।
नाऽस्त्येवेन्दुर्द्वितीयः खे भ्रान्त्या संलक्ष्यते मुधा ॥ ३ ॥
नाऽत्र तत्त्वादृते किञ्चिद्विद्यते वस्त्ववस्तु च ।
ऊर्मिमालिनि विस्तीर्णे वारिपूरादृते यथा ॥ ४ ॥
स्वविकल्पादृते नैतान् भावाभावानसन्मयान् ।
नित्येऽसिते तते शुद्धे मा समारोपयाऽऽत्मनि ॥ ५ ॥

एक सौ तेरह सर्ग

[विविध विचारोंसे पुष्ट हुए, सम्पूर्ण दुर्वासनाओंका समूल नाश करनेवाले तथा द्वैतमिथ्यात्वबुद्धिसे बद्धमूल हुए तत्त्वज्ञानका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही उदित हुई है, इसलिए दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान उसका त्याग करना उचित है ॥ १ ॥

अविद्या विवेकविज्ञानहीन पुरुषोंमें परमार्थ सत्यके समान दृढतररूपसे विद्यमान है, किन्तु जो लोग विवेकविज्ञानसे सम्पन्न हैं, उनमें तो अपरमार्थ होनेके कारण वन्ध्यापुत्रके तुल्य नामसे ही उसका अङ्गीकार है, अतः वह कहाँ ? ॥२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अज्ञानी मत बनिये, आप ज्ञानवान् बनिये, भलीभाँति विचार कीजिये, आकाशमें दूसरा चन्द्रमा नहीं ही है, पर भ्रान्तिसे उसकी मिथ्या प्रतीति होती है ॥ ३ ॥

यहाँपर तत्त्वके (अद्वितीय ब्रह्मके) सिवा न कोई भाव पदार्थ है और न अभाव है । जैसे विशाल समुद्रमें जलराशिके सिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही संसारमें ब्रह्मके सिवा अन्य भाव या अभाव पदार्थ नहीं है ॥ ४ ॥

ये भाव और अभाव पदार्थ असन्मय हैं । अपने संकल्पके सिवा इनका दूसरा

नाऽसि कर्ता किमेतासु क्रियासु ममता तव ।
एकस्मिन् विद्यमाने हि किं केन क्रियते कथम् ॥ ६ ॥
मा वाऽकर्ता भव प्राज्ञ किमकर्तृतयेहिते ।
साध्यं साध्यमुपादेयं तस्मात् स्वस्थो भवाऽनघ ॥ ७ ॥
कर्ता संस्त्वमसक्तत्वाद्भावाभावे रघूद्वह ।
असक्तत्वादकर्ताऽपि कर्तृवत् स्पन्दनं कुतः ॥ ८ ॥
सत्यं स्याच्चेदुपादेयं मिथ्या स्याद्धेयमेव चेत् ।
उपादेयैकसक्तत्वाद् युक्ताऽसक्तिर्हि कर्मणि ॥ ९ ॥

रूप नहीं है । इनका आप देहादिबन्धनोंसे रहित, सर्वव्यापक, नित्य, शुद्ध ब्रह्ममें आरोप मत कीजिये ॥ ५ ॥

बन्धनकी जड़ कर्तृताभिमान है, इसलिए पहले उसीका त्याग कीजिये, ऐसा कहते हैं—'नाऽसि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप कर्ता नहीं हैं, फिर आपकी इन क्रियाओंमें ममता क्यों है ? जब एक अद्वितीय ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तो कौन किसको किससे और कैसे करे ? भाव यह कि केवल एकमात्रसे साध्य कोई क्रिया प्रसिद्ध नहीं है ॥ ६ ॥

हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसा अभिमान भी आप मत कीजिये । अकर्तृत्वरूपसे अभिमान करनेपर प्राप्त होने योग्य अपने यत्नसे साध्य क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है, अतएव अकर्तृत्वाभिमान भी व्यर्थ है, यह भाव है । इसलिए हे निष्पाप, आप अभिमानसे रहित होकर स्वस्थ होइये ॥७॥

हे रघुवर, अभिमानका अभाव होनेपर कर्ता होते हुए भी आप उसमें आसक्त न होनेके कारण अकर्ता भी हैं, इसी प्रकार अकर्ता होते हुए भी उसमें भी अभिमान न होनेपर अकर्तृत्वमें भी आसक्तिरहित होनेसे कर्ता भी हैं ।

शङ्का—तो, क्या मैं अज्ञानीके सदृश कर्ता हूँ ?

समाधान—नहीं, आपमें अज्ञानी कर्ताके समान स्पन्दनरूप कर्तृत्व कैसे ? यानी अस्पन्द आत्माका साक्षात्कार कर चुके आपमें अज्ञानी कर्ताके समान देहके स्पन्दनसे आत्मस्पन्दनभ्रमरूप कर्तृताकी प्रसक्ति नहीं है ॥ ८ ॥

क्रियाके फलके मिथ्या होनेसे कर्ममें आसक्ति ही युक्त नहीं है, यों तर्कसे भी दृढ़ करते हुए कहते हैं—'सत्यम्' इत्यादिसे ।

यथेन्द्रजालमखिलं मायामयमवस्तुकम् ।
तत्र काऽऽस्था कथं नाम हेयोपादेयदृष्टयः ॥ १० ॥
संसारबीजकणिका यैषाऽविद्या रघूद्वह ।
एषा ह्यविद्यमानैव सतीव स्फारतां गता ॥ ११ ॥
येयमाभोगिनिःसारा संसारारम्भचक्रिका ।
विज्ञेया वासनैषा सा चेतसो मोहदायिनी ॥ १२ ॥
चारुवंशलतेवाऽन्तःशून्या निस्सारकोटरा ।
सरित्तरङ्गमालेव न व्युच्छिन्नाऽपि नश्वरी ॥ १३ ॥
गृह्यमाणाऽपि हस्तेन ग्रहीतुं नैव युज्यते ।
मृद्वयप्यत्यन्ततीक्ष्णाग्रा निर्झरोर्मिरिवोत्थिता ॥ १४ ॥

यदि क्रियाका फल सत्य होता तो कर्तृता (क्रिया) उपादेय होती और यदि क्रियाका फल मिथ्या होता तो क्रिया हेय होती, क्योंकि एकमात्र उपादेयमें ही लोगोंकी आसक्ति होती है । क्रियाफलके मिथ्या होनेपर क्रियामें आसक्ति उचित नहीं है । इन्द्रजालके समान सभी मायामय और अवास्तविक है, उनमें कौन आस्था है और कैसे हेय और उपादेय दृष्टियाँ हो सकती हैं ? ॥९,१० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह संसारकी बीजकणिका अविद्या है, यह यद्यपि विद्यमान नहीं है तथापि विद्यमान-सी विशालताको प्राप्त हुई है ॥ ११ ॥

जो यह कृत्रिम वेषवाली सारविहीन संसाररूप घट-शरावोंको उत्पन्न करनेवाली चक्रिका (कुम्हारकी छोटी चाक) है, उसे आप चित्तको मोहमें डालनेवाली वासना जानिये ॥ १२ ॥

वह सुन्दर बाँसकी लताके समान भीतरमें पोली है यानी उसके अन्दरका हिस्सा असार है । नदीकी लहरोंकी परम्पराके तुल्य यदि वह भली भाँति काटी भी जाय, तो भी नष्ट नहीं होती है । वह हाथसे ग्रहण करनेपर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, अत्यन्त कोमल होती हुई भी झरनेके प्रवाहके समान उसका अग्रभाग अत्यन्त तीखा है (झरनेका प्रवाह तटवृक्षका छेदन करनेके कारण तीक्ष्णाग्र होता है) । यद्यपि वह कार्य करनेमें समर्थ कारणकलापके तुल्य प्रतीत होती है तथापि सत्य पुरुषार्थमें उसका कोई उपयोग नहीं होता । सत्य तरङ्गोंसे शून्य स्वप्नकी तरङ्गिणीके

दृश्यते प्रकराभासा सदर्थे नोपयुज्यते ।
तरङ्गिण्यतरङ्गाभा स्वाकारपरिनिष्ठिता ॥ १५ ॥
क्वचिद्वक्राः क्वचित्स्पष्टा दीर्घाः खर्वाः स्थिराश्चलाः ।
यत्प्रसादोद्भवास्तस्माद् व्यतिरेकमुपागताः ॥ १६ ॥
अन्तःशून्याऽपि सर्वत्र दृश्यते सारसुन्दरी ।
न क्वचित् संस्थिताऽपीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते ॥ १७ ॥
जडैव चिन्मयीवाऽसावन्यस्पन्दोपजीविनी ।
निमेषमप्यतिष्ठन्ती स्थैर्याशङ्कां प्रयच्छति ॥ १८ ॥
ज्वालावच्छुद्धवर्णाऽपि मषीमलिनकोटरा ।
वल्गत्यन्यप्रसादेन दीयते तदवेक्षणात् ॥ १९ ॥
आलोके विमले म्लाना तमस्यपि विराजते ।
मृगतृष्णेव शुष्काभा नानावर्णविलासिनी ॥ २० ॥

सदृश, मृगतृष्णाकी नदीके तुल्य प्रतीतिमात्रसे शोभायमान वह आकारमें ही परिनिष्ठित है, अर्थक्रियामें परिनिष्ठित नहीं है ॥ १३—१५ ॥

जिस प्रस्तुत चक्रिकाके प्रसादसे उत्पन्न हुए सब पदार्थ कहींपर टेढ़े हैं, कहींपर साफ हैं, कहींपर लम्बे, कहींपर बौने, कहींपर स्थायी और कहींपर चञ्चल हैं, इसलिए परस्पर भेदको प्राप्त हुए हैं ॥ १६ ॥

यद्यपि यह भीतरसे पोली (निस्सार) है तथापि सारसे सुन्दर-सी लगती है । यद्यपि वह कहींपर भी स्थित नहीं है, तथापि यहां सभी स्थानोंमें दिखाई देती है ॥ १७ ॥

वह यद्यपि जड़ ही है तथापि मनकी चञ्चलताको धारण करती हुई चैतन्यमयी (चेतन) सी प्रतीत होती है । यद्यपि एक पलकभर भी वह कहीं स्थिर नहीं होती, तथापि अपनेमें स्थिरताकी आशङ्का पैदा करती है ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणसे अग्निकी ज्वालाके समान शुद्ध वर्णवाली होनेपर भी वह तमोगुणसे स्याहीके समान भीतरमें कृष्णवर्णवाली है । परमात्माकी सन्निधिसे उसमें चलनक्रिया है और उन्हींके साक्षात्कारसे उसका विनाश हो जाता है ॥ १९ ॥

निर्मल आत्मप्रकाशमें प्रकाशकी आवरक होनेके कारण वह मलिन हो जाती है और अन्धकारमें भी विराजमान रहती है । यद्यपि मृगतृष्णाके समान शुष्क कान्तिवाली

वक्रा विषमयी तन्वी मृद्वी सङ्कटकर्कशा ।
ललनाचञ्चला लुब्धा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥ २१ ॥
स्वयं दीपशिखेवाऽऽशु क्षीयते स्नेहसंक्षये ।
सिन्धूरधूलिलेखेव विना रागं विराजते ॥ २२ ॥
क्षणप्रकाशतरला कृतसंस्था जडाशया ।
मुग्धानां त्रासजननी वक्रा विद्युदिवोदिता ॥ २३ ॥
यत्नाद् गृहीत्वा दहति भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
लभ्यतेऽपि हि नाऽन्विष्टा विद्युद्वदतिभङ्गुरा ॥ २४ ॥
अप्रार्थितैवोपनता रमणीयाऽप्यनर्थदा ।
अकालपुष्पमालेव श्रेयसे नाऽभिनन्दिता ॥ २५ ॥
अत्यन्तविस्मृतैवाऽतिसुखाय भ्रमदायिनी ।
दुःस्वप्नकलनेवेयमनर्थायैव तर्किता ॥ २६ ॥

है, तथापि विविध वर्णोंसे विलसित होती है। वह काली-साँपिनके समान टेढ़ी, विषसे भरी हुई, दुबली-पतली, बड़ी कोमल, दुःखकी हेतु होनेसे अत्यन्त कर्कश, नारीके समान चञ्चल, तृष्णाके समान लोलुप है। स्नेहका विनाश होनेपर दीपककी लवके समान अपने-आप शीघ्र नष्ट हो जाती है, स्नेहके बिना भी सिन्दूरकी बुकनीकी रेखाके समान रागवती होकर विराजमान होती है ॥ २०—२२ ॥

जैसे जलकी आशासे बिजली मेघमें रहती है वैसे ही बिजलीके तुल्य चञ्चल उसने जड़ आशासे अपनी स्थिति कर रक्खी है। वह मूढ़ लोगोंमें त्रास पैदा करनेवाली टेढ़ी बिजलीके समान उदित हुई है। बिजलीके समान अत्यन्त भङ्गुर वह बड़े यत्नसे पकड़कर जलाती है यानी सन्ताप दुःखमें डालती है, हो होकर लीन हो जाती है और खोजनेपर भी नहीं मिलती है ॥ २३, २४ ॥

यह अकालमें उत्पन्न हुए फूलोंकी मालाके समान बिना किसी प्रयत्न और प्रार्थनाके ही प्राप्त हुई है, देखनेमें मनोहर होती हुई भी बड़े-बड़े अनर्थोंको देती है और मोक्षरूप कल्याणके लिए अभिनन्दित नहीं है यानी कल्याणमें बाधा पहुँचाती है ॥ २५ ॥

विविध भ्रम उत्पन्न करनेवाली यह जब अत्यन्त विस्मृत होती है, तभी अति सुख प्राप्त होता है। कल्पना द्वारा जब पुनः पुनः इसका अनुसन्धान किया जाता है तब दुःस्वप्नोंकी कल्पनाके समान यह अनर्थदायिनी ही होती है ॥ २६ ॥

प्रतिभासवशादेषा त्रिजगन्ति महान्ति च ।
मुहूर्तमात्रेणोत्पाद्य धत्ते ग्रासीकरोति च ॥ २७ ॥
मुहूर्तो वत्सरश्रेणी लवणस्याऽनया कृता ।
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रस्य निर्मिता ॥ २८ ॥
वियोगिनामथाऽन्येषां कान्ताविभवशालिनाम् ।
रात्रिर्वत्सरवद्दीर्घा भवेत्तस्याः प्रसादतः ॥ २९ ॥
सुखितस्याऽल्पतामेति दुःखितस्यैति दीर्घताम् ।
कालो यस्याः प्रसादेन विपर्यासैकशालिनाम् ॥ ३० ॥
अस्याः स्वसत्तामात्रेण कर्तृतैतासु वृत्तिषु ।
दीपस्याऽऽलोककार्याणां यथा तद्वन्न वस्तुतः ॥ ३१ ॥
सनितम्बस्तनी चित्रे न स्त्री स्त्रीधर्मिणी यथा ।
तथैवाकारचिन्तेयं कर्तुं योग्या न किञ्चन ॥ ३२ ॥

यह प्रतिभाससे बड़े-बड़े तीनों जगतोंको एक मुहूर्तमें उत्पन्नकर धारण करती है और संहार कर डालती है ॥ २७ ॥

इसने राजा लवणके एक मुहूर्तको अनेक वर्ष बना डाला और राजा हरिश्चन्द्रकी एक रातको बारह वर्ष कर दिया ॥ २८ ॥

कान्तारूपी विभवसे शोभित होनेवाले विरही पुरुषोंकी एक रात इसीके प्रभावसे एकवर्ष-सी लम्बी हो जाती है ॥ २९ ॥

जिसके प्रसादसे, एकमात्र भ्रम ही जिनका स्वभाव है, ऐसे पुरुषोंमें सुखी पुरुषको समय अल्प मालूम होता है और दुःखी पुरुषको दीर्घ प्रतीत होता है ॥३०॥

जैसे आलोकके कार्योंमें दीपकी अपने संनिधानमात्रसे कर्तृता है वैसे ही उसकी अपनी केवलसत्तासे ही इन वृत्तियोंमें कर्तृता है, वस्तुतः कर्तृता नहीं है ॥ ३१ ॥

इसकी वास्तवमें कर्तृता क्यों नहीं है यदि ऐसी कोई जिज्ञासा करे, तो उसमें कर्तृत्वकी योग्यता न होनेके कारण वह कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं—'सनितम्ब०' इत्यादिसे ।

जैसे चित्रमें लिखी गई नितम्ब, स्तन आदि अङ्गोंसे युक्त स्त्री गृहकार्य आदि करनेमें समर्थ नहीं होती वैसे ही पहले अनुभूत पदार्थोंकी वासनारूप यह अविद्या कुछ भी करनेकी योग्यता नहीं रखती ॥ ३२ ॥

मनोराज्यमिवाऽऽकारभासुरा सत्यवर्जिता ।
सहस्रशतशाखाऽपि न किञ्चित् परमार्थतः ॥ ३३ ॥
अरण्ये मृगतृष्णेव मिथ्यैवाऽऽडम्बरान्विता ।
विडम्बयति तान् मुग्धमृगानेव न मानुषान् ॥ ३४ ॥
फेनमालेव संजातध्वस्ता विच्छेदवर्जिता ।
जडेव चञ्चलाकारा गृह्यमाणा न किञ्चन ॥ ३५ ॥
अटत्युड्डामराकारा रजःप्रसरधूसरा ।
बलात्कल्पान्तवात्येव स्वाक्रान्तभुवनान्तरा ॥ ३६ ॥
धूमालीवाऽङ्गसंलग्ना दाहखेदप्रदायिनी ।
गर्भीकृतरसाऽऽक्रम्य जगन्ति परिवर्तते ॥ ३७ ॥

मनोराज्यके समान यह एकमात्र आकारसे प्रकाशमान है । वास्तविकताका तो इसमें नामनिशान भी नहीं है । यद्यपि यह लाखों शाखाप्रशाखाओंसे युक्त मालूम होती है, तथापि परमार्थरूपसे यह कुछ भी नहीं है ॥ ३३ ॥

जैसे अरण्यमें मृगतृष्णा मिथ्या ही स्वरूपाडम्बरसे युक्त है, वास्तवमें कुछ नहीं है, वैसे ही यह मिथ्या स्वरूपाडम्बरसे युक्त है और उन्हीं भोले-भाले मृगोंको यह ठगती है, मनुष्योंको नहीं ठगती यानी जैसे मृगतृष्णा मृगोंको ही ठगती है, मनुष्योंको नहीं ठगती वैसे ही यह भी मृगोंकी नाईं अज्ञ जीवोंको ही ठगती है, ज्ञानी पुरुषोंको नहीं ठगती है ॥ ३४ ॥

यह जलकी फेनराशिके समान उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाली है और प्रवाहरूपसे नित्य है । पालेके समान चञ्चल आकारवाली है । इसे पकड़ने जाओ, तो कुछ भी हाथ नहीं लगता ॥ ३५ ॥

उद्भट (भयंकर) आकृतिवाली, रजोगुणके आधिक्यसे धूसरवर्णवाली तथा हठात् अपनेसे आक्रान्त किया है भुवनमध्यको जिसने, ऐसी यह प्रलयकालके बवंडरके समान है । बवंडरकी भी आकृति भीषण होती है, धूलिसे वह धूसर होता है और जबरदस्ती भुवनमध्यको आक्रान्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

इसने परमात्माको गर्भमें कर रक्खा है यानी आवृत कर रक्खा है, अतएव शरीरमें लगनेसे दाह और क्लेश देनेवाली, जिसने जलको गर्भमें धारण किया है, ऐसी धूमपङ्क्तिके समान यह शरीरमें लगनेसे दाह और क्लेश देनेवाली लोकोंको आक्रान्त कर (तिरस्कृत कर) घूमती है ॥ ३७ ॥

धारा जलधरस्येव सुदीर्घा जलनिर्मिता ।
असारसंसारदृढा रज्जुस्तृणगणैरिव ॥ ३८ ॥
तरङ्गोत्पलमालेव कल्पनामात्रवर्णिता ।
मृणालीव बहुच्छिद्रा पङ्कप्रौढा जलात्मिका ॥ ३९ ॥
जनेन दृश्यते वृद्धितत्परा न च वर्द्धते ।
विषास्वाद इवाऽऽपातमधुराऽन्ते सुदारुणा ॥ ४० ॥
नष्टा दीपशिखेवैषा न जाने क्वेव गच्छति ।
मिहिकेवाऽग्रदृष्टाऽपि गृह्यमाणा न किञ्चन ॥ ४१ ॥
पांसुमुष्टिरिवाऽऽकीर्य प्रेक्षिता पारमाणवी ।
आकाशनीलिमेवैषा निर्निमित्तैव दृश्यते ॥ ४२ ॥
द्विचन्द्रमोहवज्जाता स्वप्नवद् विहितभ्रमा ।
यथा नौयायिनः स्थाणुस्पन्दस्तद्वदिहोत्थिता ॥ ४३ ॥

यह खूब लम्बी और जलसे बनी हुई मेघकी धाराके समान है और तृण-समूहसे दृढ़ रस्सीके समान असार (नाजुक) संसरणशील संसारसे दृढ़ है ॥३८॥

कवियों द्वारा कल्पनामात्रसे वर्णित जलात्मक लहरोंकी श्रेणिके समान, कीचड़में प्रौढ़ कमलोंकी श्रेणिके समान और बहुत-से छेदोंसे युक्त कमलनालके समान यह जड़ात्मक, पापमें प्रौढ़ और विविध छिद्रोंसे युक्त है ॥ ३९ ॥

लोग इसे बढ़नेमें तत्पर देखते हैं पर यह बढ़ती नहीं है, विषमिश्रित मोदकके स्वादके समान यह आपाततः मधुर मालूम होती है, पर अन्तमें महाभीषण रूप धारण करती है ॥ ४० ॥

बुती हुई दीपककी लवके समान बाधित हुई यह न मालूम कहाँ चली जाती है। भाव यह कि बाधित पदार्थके स्वरूपका, एक दोकी तो बात ही क्या हजारों वादी भी भी यदि चाहें तो, निरूपण नहीं कर सकते हैं। तुषारसे निकलती हुई धूपपङ्क्तिके समान आगेसे दिखाई देती है, पर पकड़नेपर कुछ भी हाथ नहीं आती ॥ ४१ ॥

जैसे बिखेरकर देखी गई परमाणुओंकी धूलिमुष्टि कुछ भी प्रतीत नहीं होती, वैसे ही यह भी कुछ भी प्रतीत नहीं होती। आकाशकी नीलिमा जैसे बिना किसी कारणके दृष्टिगोचर होती है वैसे ही यह अकारण दिखाई देती है ॥ ४२ ॥

द्विचन्द्रके भ्रमके समान यह उत्पन्न हुई है, स्वप्नके समान विविध भ्रम

अनयोपहते चित्ते दीर्घकालमिवाऽऽकुलैः ।
जनैराकल्प्यते दीर्घसंसारस्वप्नविभ्रमः ॥ ४४ ॥
अनयोपहते स्वस्मिंश्चित्राश्चेतसि विभ्रमाः ।
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति तरङ्गास्तोयधेरिव ॥ ४५ ॥
मनोज्ञमपि सत्यं च दृश्यते सदसत्तया ।
अमनोज्ञमसत्यं च दृश्यते सत्तयाऽप्यसत् ॥ ४६ ॥
पदार्थरथमारूढा भावनैषा बलान्विता ।
आक्रामति मनः क्षिप्रं विहगं वागुरा यथा ॥ ४७ ॥
करुणास्यन्दमानाक्षी स्रवत्क्षीरलवस्तनी ।
भवत्युल्लसितानन्दं जननी गृहिणी यथा ॥ ४८ ॥
विषीकरोति निःस्यन्दसंतर्पितजगत्त्रयम् ।
सुधार्द्रार्द्रमपि क्षिप्रं प्रवृद्धं बिम्बमैन्दवम् ॥ ४९ ॥

उत्पन्न करती है, जैसे नौकासे यात्रा करनेवाले लोगोंको स्थाणुमें (ठूँठमे) स्पन्दकी (गतिकी) प्रतीति होती है, वैसे ही यह उदित हुई है ॥ ४३ ॥

जब यह चित्तको दूषित कर डालती है तब व्याकुल हुए लोगोंको दीर्घकाल-तक मिथ्या लम्बे संसारस्वप्नका भ्रम होता है ॥ ४४ ॥

इसके द्वारा आत्माके दूषित होनेपर यानी आवरण द्वारा असत्प्राय किये जानेपर मनमें भाँति-भाँतिकी भ्रान्तियाँ, समुद्रके तरङ्गोंकी नाई, उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं ॥ ४५ ॥

मनोहर और सत्य ब्रह्मको वह असत्रूपसे (जगत्रूपसे) देखती है अमनोहर और असत्य जगत्को सत्रूपसे (ब्रह्मरूपसे) देखती है ॥ ४६ ॥

विषयरूप रथपर बैठी हुई यानी विषयाकार बनी हुई उद्भूतवासनारूप महा-बलवती यह अविद्या, जैसे जाल पक्षियोंपर आक्रमण करता है, वैसे ही शीघ्र मनपर आक्रमण करती है यानी मनको मोहमें डालकर बाँधती है ॥ ४७ ॥

यह अविद्या ही माता और पत्नीका रूप भी धारण करती है, ऐसा कहते हैं—**'करुणा०'** इत्यादिसे ।

यह अविद्या कृपासे अश्रुपूर्ण नेत्रवाली तथा जिसके स्तनोंसे दूधकी धारा बह रही हो, ऐसी माता तथा गृहिणीके समान बड़े आनन्दके साथ होती है ॥ ४८ ॥

चाँदनीके रूपमें परिवर्तित अमृतबिन्दुओंसे जिसने तीनों लोकोंको तृप्त किया

उन्मत्तरववेतालनर्त्तनारम्भसम्भ्रमम् ।
स्थाणवः संप्रयच्छन्ति मूका अप्येतयाऽन्धया ॥ ५० ॥

सन्ध्यादिषु च कालेषु लोष्टपाषाणभित्तयः ।
अस्याः प्रसादाद् दृश्यन्ते सर्पाजगरदृष्टिभिः ॥ ५१ ॥

एकोऽपि द्वितयोदेति यथा द्विशशिदर्शने ।
दूरमभ्याशतां याति स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ५२ ॥

आदीर्घं क्षणतामेति कालस्येष्टा यथा निशा ।
क्षणो वर्षमिवाऽऽभाति कान्ताविरहिणामिव ॥ ५३ ॥

न तदस्तीह यन्नाम न करोतीयमुद्धता ।
अस्यास्त्वकिञ्चनायास्तु शक्ततां पश्य राघव ॥ ५४ ॥

है, ऐसे अमृतसे अत्यन्त आर्द्र, पूर्ण चन्द्रमाके बिम्बको भी यह एक क्षणमें विष बना देती है ॥ ४९ ॥

अन्धा बनानेवाली इस अविद्यासे वाणी आदि सब कर्मेन्द्रियोंसे रहित स्थाणु (ठूँठ) भी उन्मत्त शब्दवाले वेतालोंके नाचने, कूदने आदिका भ्रम उत्पन्न करते हैं ॥ ५० ॥

इसीके प्रतापसे सन्ध्या आदि कालोंमें ढेले, पत्थर और भीत साँप, अजगर आदिकी भ्रान्तिसे देखे जाते हैं ॥ ५१ ॥

इसीके प्रतापसे जैसे दो चन्द्रमाओंका दर्शनरूप भ्रम होनेपर एक चन्द्रमा दो रूपसे दिखाई देता है, वैसे ही एक ही वस्तु दो रूपोंको प्राप्त होती है, जैसे स्वप्नमें अपना मरण दूर होता हुआ भी समीपमें प्राप्त होता है, वैसे ही दूरकी वस्तु नजदीकमें आ जाती है, जैसे संहाररुद्रकी अभीष्ट प्रलयरात्रि दीर्घ होती हुई भी क्षणरूपमें परिवर्तित हो जाती है वैसे ही दीर्घ काल क्षणताको प्राप्त होता है, जैसे प्रियाके विरहसे दुःखी पुरुषोंका एक क्षण वर्षकी तरह प्रतीत होता है वैसे ही एक क्षण वर्ष-सा मालूम होता है ॥ ५२,५३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वस्तु नहीं है, जिसका कि यह उद्धत अविद्या निर्माण न करती हो । यद्यपि यह अपनी सत्तामें भी दरिद्र है तथापि इसकी सामर्थ्य तो देखिये । यह क्या क्या नहीं कर डालती है ? ॥ ५४ ॥

संरोधयेत् प्रयत्नेन संविदेवाऽऽशु संविदम् ।
सरित् स्रोतोनिरोधेन शुष्यत्येषा मनोनदी ॥ ५५ ॥

श्रीराम उवाच

अविद्यमानयैवेदं पेलवाङ्ग्या सुतुच्छया ।
मिथ्याभावनया नाम चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ५६ ॥
अरूपया निराकृत्या चारुचेतनहीनया ।
असत्येवाऽप्यनश्यन्त्या चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ५७ ॥
आलोकेन विनश्यन्त्या स्फुरन्त्या तमसोऽन्तरे ।
कौशिकेक्षणधर्मिण्या चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ५८ ॥
कुकर्मैकान्तकारिण्या न सहन्त्या विलोकनम् ।
देहमप्यविजानन्त्या चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ५९ ॥

जैसे विवेकबुद्धिसे विषयबुद्धिका निरोध किया जाता है वैसे ही विवेकबुद्धिसे प्रयत्नपूर्वक वासनारूप अविद्याका शीघ्र निरोध करना चाहिये, जैसे सोतोंको रोकनेसे नदी सूख जाती है वैसे ही इसके निरोधसे यह मनरूपी नदी सूख जाती है ॥५५॥

इस प्रकार आश्चर्यसागरमें डाले गये श्रीरामचन्द्रजी अविद्याके स्वरूपका पर्यालोचन करनेसे विस्मित होकर उसका वर्णन करते हुए अपने विस्मयको प्रकट करते हैं—**'अविद्यमानयैवेदम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अतिसुकुमार अङ्गवाली है, अत्यन्त तुच्छ है यानी वास्तविकता तो इसे छू तक नहीं गई और मिथ्या भावनारूप है। इस बलाने सारे जगत्‌को अन्धा बना रक्खा है, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥

इसका न कोई लाल, पीला, हरा आदि रूप है और न कोई आकार है, सुन्दर चैतन्यसे भी यह हीन है, यह असत् है तथापि मृगतृष्णाकी नदीके समान यह नष्ट नहीं होती। इस निगोड़ीने सारे जगत्‌को अन्धा कर रक्खा है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ५७ ॥

यह आलोकसे (आत्मप्रकाशसे) नष्ट हो जाती है और अन्धकारके मध्यमें खूब चमकती है, अतएव यह उल्लूके नेत्रोंके सदृश है। इसने जगत्‌को अन्धा बना रक्खा है, यह बड़े अचम्भेका विषय है ॥ ५८ ॥

एकमात्र क्रियाशक्तिकी यह आश्रय है, अतएव केवल कुत्सित कर्म करती है,

सुदीनाचारधर्मिण्या नित्यं प्राकृतकान्तया ।
अनारतास्तं गतया चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ६० ॥

अनन्तदुःखाकुलया सदैव मृतयाऽनया ।
सम्बोधहीनया यत्र चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ६१ ॥

कामकोपघनाङ्गिन्या तमःप्रसरवक्रया ।
अचिरेणाऽशरीरिण्या चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ६२ ॥

स्वात्मान्धरूपास्पदया जडया जाड्यजीर्णया ।
दुःखदीर्घप्रलापिन्या चित्रमन्धीकृतं जगत् ॥ ६३ ॥

भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारको तो यह फूटी आँखसे भी नहीं देख सकती है और ज्ञानशक्तिशून्य होनेके कारण अपनी देहको भी नहीं जानती है । इसने सम्पूर्ण जगत्को अन्धा बना डाला है, यह आश्चर्य है ॥ ५९ ॥

जैसे पामरकी स्त्री अत्यन्त दीन-हीन आचार और धर्मवाली और नित्य अन्धकारसे (अज्ञानसे) ढकी रहती है वैसे ही इसका भी आचार और धर्म अत्यन्त दीन-हीन है, यह पामर लोगोंकी प्रिय है और सदा असती है, इसने समग्र जगत्को अन्धा बना डाला है, यह बड़े खेदकी बात है ॥ ६० ॥

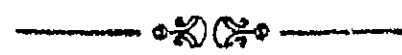
सदा अनन्त दुःखोंसे आकुल, मृतके तुल्य अतः संज्ञाहीन इसने इस जगतको अन्धा बना रक्खा है ॥ ६१ ॥

इस अविद्याके काम और कोप ही सुदृढ़ अंग हैं, तमोगुणकी अधिकतासे यह बड़ी क्रूर है, ज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही शरीररहित हो जाती है, अतएव यह काम और कोपसे सुघन अंगवाली, अंधेरेकी अधिकता होनेसे अतिक्रूर, मरनेपर तुरन्त शरीररहित होनेवाली किसी निशाचरी दीनहीन नारीके तुल्य है । बड़े अचम्भेकी बात है कि इसने जगत्को अन्धा बना रक्खा है ॥ ६२ ॥

आत्माके विषयमें जो अन्धरूप मूढ़ हैं, वे ही इसके आश्रय हैं, यह जड़ है, अपनी जड़तासे जीर्णशीर्ण है, दुःखसे दीर्घ प्रलाप करनेवाली है, अतएव पूर्वोक्त निशाचरी दीन-हीन स्त्रीके तुल्य है । इसने जगत्की आँखोंमें धूल झोंक रक्खी है, यह कम अचम्भेकी बात नहीं है ॥ ६३ ॥

पुरुषासङ्गसङ्गिन्या रागिण्या क्रिययाऽनया ।
विद्रवन्त्या विवक्षासु चित्रमन्धीकृतः पुमान् ॥ ६४ ॥
पुरुषस्य न या शक्ता सोढुमीक्षितमप्यलम् ।
तया स्त्रियाऽऽवरणया चित्रमन्धीकृतः पुमान् ॥ ६५ ॥
न यस्याश्चेतनैवाऽस्ति याऽप्यनष्टैव नश्यति ।
तया स्त्रिया परुषया चित्रमन्धीकृतः पुमान् ॥ ६६ ॥
अनन्तदुष्प्रसरविलासकारिणी
क्षयोदयोन्मुखसुखदुःखभागिनी ।
इयं प्रभो विगलति केन वाऽसमा
मनोगुहानिलयनिबद्धवासना ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे अविद्यावर्णनं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥



यहाँसे तीन श्लोकों द्वारा पुरुषकी प्रतिकूल स्त्रीके रूपमें उसका वर्णन करते हैं—'**पुरुष०**' इत्यादिसे ।

यह अविद्या पुरुषके साथ ऐक्याध्याससे पुरुषकी संगिनी है तथा विविध विचित्र विषयोंकी कल्पनक्रियासे पुरुषका भोग संपादन करनेके कारण पुरुषकी अनुरागिणी है । स्वतत्त्वविचारोंमें भाग रही इसने पुरुषको अन्धा बना डाला है, यह कम विचित्र नहीं है ॥ ६४ ॥

जो पुरुषके साक्षात्कारको तनिक भी सहनेके लिए समर्थ नही है, आवरण करनेवाली उस अविद्यारूप स्त्रीसे पुरुष अन्धा बनाया गया है, यह बड़े अचम्भेकी बात है ॥ ६५ ॥

न जिसमें चेतना ही है और जो नष्ट न होनेपर भी नाशको प्राप्त होती है, उस कर्कश स्त्रीरूपी अविद्यासे पुरुष अन्धा किया गया है, यह बड़े आश्चर्यका विषय है ॥ ६६ ॥

पूर्व वर्णित वासनामयी अविद्याका उपसंहार कर रहे श्रीरामचन्द्रजी अविद्याके उच्छेदका उपाय पूछते हैं—'**अनन्त०**' इत्यादिसे ।

भगवन् , असंख्य दुश्चेष्टारूप विलास करनेवाली, मरण, जन्म आदि सुख-

चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अविद्याविभवप्रोत्थं निबिडं पुरुषस्य हि ।
महदान्ध्यमिदं ब्रह्मन् कथं नाम विनश्यति ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा तुषारकणिका भास्करालोकनात् क्षणात् ।
नश्यत्येवमविद्येयं राघवाऽऽत्मावलोकनात् ॥ २ ॥
तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रदुःखकण्टकशालिषु ॥ ३ ॥

दुःख प्राप्त करानेवाली, विषम, तथा मनरूप गुहागृहमें जिसने वासना बांध रक्खी है ऐसी यह अविद्या किस उपायसे नष्ट होती है ॥ ६७ ॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदह सर्ग

[अविद्याके विनाशके उपायभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध आत्मस्वरूपका तथा असङ्कल्पसे वासनाक्षयका वर्णन]

वासनाके क्षयके उपायको पूछकर तन्मूलक अविद्यारूप आवरणके विनाशका उपाय पूछते हैं—'**अविद्या०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, अविद्याके प्रतापसे उत्पन्न हुआ, अत्यन्त सघन आवरणरूप जो यह पुरुषका महान् अन्धत्व (अन्धता) है, उसका विनाश कैसे होता है ? ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर वसिष्ठजी पहले अविद्याके क्षयका उपाय कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, जैसे सूर्यके दर्शनसे पाला एक क्षणमें नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे यह अविद्या नष्ट हो जाती है ॥ २ ॥

यह अविद्या तभी तक संसाररूपी पर्वतके ढहोंमें (टीलोंमें), जो कि सघन

अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयदायिनी ॥ ४ ॥
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
आतपानुभवार्थिन्याश्छायाया इव राघव ॥ ५ ॥
दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयमेव विलीयते ।
सर्वाशाभ्युदिते छाया द्वादशार्कगणे यथा ॥ ६ ॥
इच्छामात्रमविद्येह तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चाऽसङ्कल्पमात्रेण सिद्धो भवति राघव ॥ ७ ॥
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये ।
कालिमा तनुतामेति चिदादित्यमहोदयात् ॥ ८ ॥

काँटेरूपी दुःखोंसे भरे हैं, अपने साथ प्राणियोंको अधःपात द्वारा लुढकाती है, जब तक कि इसका विनाश करनेवाली और मोहको दूर करनेवाली आत्म-साक्षात्कारकी इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं हुई ॥ ३, ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे धूपका आस्वाद लेनेकी इच्छा करनेवाली छायाका आत्मविनाश हो जाता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्माका दर्शन कर रही इस अविद्याका आत्मविनाश हो जाता है ॥ ५ ॥

जैसे सभी दिशाओंमें बारह सूर्योंके एक साथ उदित होनेपर छाया अपने आप विनष्ट हो जाती है वैसे ही सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर यह अविद्या अपने-आप विला जाती है ॥ ६ ॥

कारणरूप अविद्याके विनाशका उपाय कहकर अब कार्यरूप अविद्याकी जयके उपायको कहते हैं—**'इच्छा०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य पदार्थोंमें इच्छामात्रका नाम अविद्या है । इच्छा-मात्रका विनाश मोक्ष कहा जाता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म सम-श्नुते ॥' अर्थात् जब मनुष्यके हृदयमें स्थित सब अभिलाषाएँ छूट जाती हैं तब मरणधर्मा जीव अमृत हो जाता है और यहांपर ब्रह्मका आस्वाद लेता है । उक्त मोक्ष एकमात्र सङ्कल्पाभावसे सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

मनरूपी आकाशमें शुद्ध चैतन्यरूपी आदित्यका उदय होनेसे कामवासना-

यथोदिते दिनकरे क्काऽपि याति तमस्विनी ।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्काऽप्यविद्या विलीयते ॥ ९ ॥
दृढवासनया बन्धो घनतामेति चेतसः ।
बलाद् वेतालसङ्कल्पः सन्ध्याकाले यथा शिशोः ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

यावत् किञ्चिदिदं दृश्यं साऽविद्या क्षीयते च सा ।
आत्मभावनया ब्रह्मन्नात्माऽसौ कीदृशः स्मृतः ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

चेत्यानुपातरहितं सामान्येन च वर्जितम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ १२ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तृणादि यदिदं जगत् ।
तत्सर्वं सर्वदात्मैव नाऽविद्या विद्यतेऽनघ ॥ १३ ॥

रूपी रात्रिके थोड़ा बहुत क्षीण होनेपर अविद्यारूपी आवरण क्षीण हो जाता है ॥८॥

जैसे सूर्य भगवान्का उदय होनेपर अँधेरी रात न मालूम कहाँ चली जाती है वैसे ही विवेकके उदित होनेपर अविद्या न मालूम कहाँ छिप जाती है ? ॥९॥

जैसे वेतालकी दृढतर वासनासे वासित बालकका सन्ध्याके समय वेतालसंकल्प अपने-आप हठात् बढ़ने लगता है, वैसे ही अपनी दृढ़तर विषयवासनासे चित्तका बन्धन मजबूत होता जाता है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा --भगवन्, जो कुछ भी यह दृश्य वस्तुसंघात है, वह अविद्या है और वह अविद्या आत्मचिन्तनसे नष्ट हो जाती है, कृपया बतलाइये वह आत्मा कैसा है ? ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयोंके संसर्गसे रहित, सामान्यसे* रहित अर्थात् विक्षेप और आवरणसे रहित तथा जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, ऐसा जो चित्-तत्त्व है, वह परमेश्वर आत्मा है ॥ १२ ॥

उक्त आत्माकी असंभावनाके निवारणके लिए कार्यसहित अविद्याका उसमें बाध दर्शाते हैं—'आब्रह्म०' इत्यादिसे ।

---

* सामान्य (अविद्या) क्योंकि वह सब पदार्थोंकी कारण है, अतः 'सामान्य' शब्दसे कही गई है ।

सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यं चिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनाऽन्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥ १४ ॥
न जायते न म्रियते किञ्चिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ १५ ॥
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चेत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ १६ ॥
तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे ।
शान्ते समसमाभोगे निर्विकारोदितात्मनि ॥ १७ ॥
यैषा स्वभावातिगतं स्वयं सङ्कल्प्य धावति ।
चिच्चेत्यं स्वयमाम्लाना सा म्लाना तन्मनः स्मृतम् ॥ १८ ॥
एतस्मात् सर्वगाद्देवात् सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
विभागकलनाशक्तिर्लहरीवोत्थिताऽम्भसः ॥ १९ ॥

हे पुण्यचरित श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मासे लेकर पेड पौधोंतक जो यह तृण आदिरूप जगत् है, वह सब सदा आत्मा ही है, अविद्या तो है ही नहीं ॥ १३ ॥

यह सब नित्य, चैतन्यघन, अविनाशी, अखण्ड ब्रह्म ही है, मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं । इन तीनों जगतोंमें न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है और न जन्म, मरण आदि भावविकारोंका कहींपर अस्तित्व ही है । अद्वितीय, केवल प्रकाशस्वरूप, सबमें अनुगत, सत्‌रूप, अखण्ड और विषय-संसर्गशून्य चिन्मात्र ही यहांपर है ॥ १४–१६ ॥

उस नित्य, सर्वव्यापक, शुद्ध, चैतन्यघन, किसी प्रकारके उपद्रवोंसे रहित, शान्त, सर्वत्र समदृष्टि, निर्विकार, प्रकाशमान आत्मामें जो यह आवरणसहित चित् चित्स्वभावके विपरीत यानी जड़ता, परिच्छेद आदि स्वभाववाले चेत्य (विषय) की स्वयं कल्पनाकर दौडती है, वह विक्षेपसे मलिन हुई चित् ही मन नामसे कही गई है ॥ १७, १८ ॥

जैसे समुद्रसे तरङ्ग उठती है, वैसे ही सर्वशक्तिशाली सर्वत्रगामी महात्मा इस मनरूपी देवतासे पदार्थोंकी विभागकल्पनाशक्ति उत्पन्न हुई है ॥ १९ ॥

एकस्मिन् वितते शान्ते या न किञ्चन विद्यते ।
सङ्कल्पमात्रेण गता सा सिद्धिं परमात्मनि ॥ २० ॥
अतः सङ्कल्पसिद्धेयं सङ्कल्पेनैव नश्यति ।
येनैव जाता तेनैव वह्निज्वालेव वायुना ॥ २१ ॥
पौरुषोद्योगसिद्धेन भोगाशारूपतां गता ।
असङ्कल्पनमात्रेण साऽविद्या प्रविलीयते ॥ २२ ॥
नाऽहं ब्रह्मेति सङ्कल्पात् सुदृढाद् बध्यते मनः ।
सर्वं ब्रह्मेति सङ्कल्पात् सुदृढान्मुच्यते मनः ॥ २३ ॥
सङ्कल्पः परमो बन्धस्त्वसङ्कल्पो विमुक्तता ।
सङ्कल्पं संविजित्याऽन्तर्यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २४ ॥
दृढा न याऽम्बरेऽत्राऽस्ति नलिनी हेमपङ्कजा ।
लोलवैदूर्यमधुपा सुगन्धितदिगन्तरा ॥ २५ ॥

अद्वितीय सर्वव्यापक शान्त आत्मामें यह सृष्टि कुछ भी नहीं है । यह परमात्मामें केवल संकल्पसे उत्पन्न हुई है ॥ २० ॥

चूँकि यह सकल्पसे उत्पन्न हुई है, अतः जैसे अग्निकी ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई उसी वायुसे शान्त होती है, वैसे ही सकल्पसे ही इसका विनाश होता है ॥२१॥

इस अविद्याने पुरुषके उद्योगसे होनेवाले संकल्पसे विषयभोगकी आशाका रूप धारण किया है । निदिध्यासनकी परिपुष्टतारूप पुरुषप्रयत्नसे सिद्ध साक्षात्कारसे बद्धमूल एकमात्र असंकल्पनसे यह अविद्या विलीन हो जाती है ॥ २२ ॥

बन्धन और मोक्ष भी मनके ही धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—**'नाऽहम्'** इत्यादिसे ।

'मै ब्रह्म नही हूँ' इस प्रकारके दृढ़ संकल्पसे मनको बन्धन प्राप्त होता है । 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकारके दृढ़ संकल्पसे मन मुक्त होता है । संकल्प ही मजबूत बन्धन है और संकल्पका अभाव मुक्ति है । हे श्रीरामचन्द्रजी, 'मैं ब्रह्म नहीं-हूँ' इस संकल्पको 'यह सब ब्रह्म ही है' इस संकल्पसे जीतकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥ २३,२४ ॥

यद्यपि इस आकाशमें जो सुवर्णके कमलोंसे भरी हुई, चञ्चल नीलमणिरूपी भवरोंसे गुलजार, दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली, खूब बड़े-बड़े, प्रकट स्वरूपवाले

उद्दण्डैः प्रकटाभोगैर्मृणालभुजमण्डलैः ।
विहसन्ती प्रकाशस्य शशिनो रश्मिमण्डलम् ॥ २६ ॥
विकल्पजालिकेवेत्थमसत्येवाऽपि सत्समा ।
मनःस्वार्थविलासार्थं यथा बालेन कल्प्यते ॥ २७ ॥
तथैवेयमविद्येह भवबन्धनबन्धनी ।
चपला न सुखायैव बालेन कलिता दृढा ॥ २८ ॥
कृशोऽतिदुःखी बद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥ २९ ॥
नाऽहं दुःखी न मे देहो बन्धः कस्याऽऽत्मनः स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥ ३० ॥
नाऽहं मांसं न चाऽस्थीनि देहादन्यः परो ह्यहम् ।
इति निश्चयवानन्तः क्षीणाविद्य इहोच्यते ॥ ३१ ॥

मृणालरूपी भुजाओंसे प्रकाशमान चन्द्रमाकी किरणोंका उपहास कर रही ऐसी कमलिनी (कमलोंसे भरा हुआ तालाब) नहीं है, फिर भी उसकी जैसे बालक अपने मनोरथसे विलासके लिए खूब दृढरूपसे कल्पना कर लेता है, वैसे ही इस दो प्रकारकी अविद्याकी, जो कि इस प्रकार विकल्पसमूहोंके तुल्य असत्य ही है तो भी सत्यके तुल्य प्रतीत होती है, मूढ जनोंने अत्यन्त क्लेशके लिए ही दृढरूपसे कल्पना कर रक्खी है। यह संसाररूपी बन्धनमें डालनेवाली है और बड़ी चञ्चल है ॥ २५--२८ ॥

बन्ध-कल्पनाके भेदोंको विस्तारपूर्वक दर्शाते हैं—'**कृशः**' इत्यादिसे ।

मैं कृश हूँ, अति दुःखित हूँ, बन्धनसे जकड़ा हुआ हूं, हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त हूं, इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीव बन्धनमें पड़ता है ॥२९॥

बन्धसे मोक्ष पानेकी उपायभूत कल्पनाको दिखलाते हैं—'**नाऽहम्**' इत्यादिसे।

न मैं दुःखित हूँ, न मेरी देह है, बन्धन किस आत्माको प्राप्त हो सकता है, इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवको मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

न मैं मांस हूँ, न मैं हड्डियाँ हूँ, मैं तो देहसे उत्कृष्ट कुछ और ही हूँ, जिसके हृदयमें ऐसा दृढ निश्चय है, वह क्षीण अविद्यावाला कहा जाता है ॥ ३१॥

प्रोत्तुङ्गसुरशैलाग्रवैदूर्यशिखरप्रभा ।
अथवाऽर्कांशुदुर्भेदा तिमिरश्रीः स्थितोपरि ॥ ३२ ॥
कल्प्यते हि यथा व्योम्नः कालिमेति स्वभावतः ।
पुंसा धरणिसंस्थेन स्वसङ्कल्पनयेद्धया ॥ ३३ ॥
कल्पितैवमविद्येयमनात्मन्यात्मभावना ।
पुरुषेणाऽप्रबुद्धेन न प्रबुद्धेन राघव ॥ ३४ ॥

श्रीराम उवाच

मेरुनीलमणिच्छाया नेयं नाऽपि तमःप्रभा ।
तदेतत् किंकृतं ब्रह्मन् नीलत्वं नभसो वद ॥ ३५ ॥

अविद्या आदि कल्पनाओंके दूसरे दृष्टान्त कहते हैं—'प्रोत्तुङ्ग०' इत्यादिसे ।

हे रघुवर, जैसे पृथिवीतलपर खड़ा हुआ पुरुष बढ़ी-चढ़ी अपनी कल्पनासे अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वतके अगले हिस्सेके नीलमणिके शिखरोंकी कान्तिकी अथवा सूर्यकिरणोंसे जिसका भेदन नहीं हो सकता ऐसी आकाशके ऊपर स्थित अन्धकार राशिकी आकाशकी स्वाभाविक कालिमाके रूपसे कल्पना करता है, वैसे ही अज्ञानी जनोंने अनात्मामें आत्मभावनारूप इस अविद्याकी कल्पना की है, प्रबुद्ध पुरुषोंने नहीं की है ॥ ३२—३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यह आकाशकी नीलता न तो सुमेरु पर्वतके नीलमणिके शिखरोंकी प्रभा है और न अन्धकारकी कान्ति है, क्योंकि यदि उसे सुमेरु पर्वतके नीलमणिमय शिखरकी छाया मानें, तो सुमेरु पर्वतके पद्मराग आदि मणियोंके भी शिखर हैं, उनकी भी कान्ति दिखाई देनी चाहिये, पर वह नहीं दिखाई देती, इसलिए यह कल्पना ठीक नहीं है । यदि उसे सूर्यकी किरणोंसे दुर्भेद्य अन्धकारराशि मानें, तो ब्रह्माण्डके ऊपर और नीचेके कपाल सुवर्णमय और रजतमय हैं 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्' इस प्रकार पुराणोंमें ब्रह्माण्डकी महाप्रकाशता सुनी जाती है । ऊपर-ऊपर सत्यलोक आदि अत्यन्त चमकदार लोकोंसे यह ब्रह्माण्डखप्पर व्याप्त है । व्यवधानके न रहनेपर आदित्य आदिकी किरणोंका सम्बन्ध नहीं रोका जा सकता, बीचमें अन्धकारका संभव नहीं है, तब कहिये कि वह आकाशकी नीलता किसकी है ? * ॥ ३५ ॥

* दृष्टि फैलानेपर ऊपर आकाशमें प्रगाढ कालिमा-सी प्रतीत होती है, पर आकाशमें कोई रंग नहीं है, कारण कि आकाश नीरूप है । इसलिए पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि

वसिष्ठ उवाच

न नाम नीलता व्योम्नः शून्यस्य गुणवत् स्थिता ।
अन्यरत्नप्रभाभावान्न वाऽप्येषा च मैरवी ॥ ३६ ॥
तेजोमयत्वादण्डस्य स्फारत्वादिव तेजसः ।
प्राकाश्यादण्डपारस्य तमसो नाऽत्र सम्भवः ॥ ३७ ॥
केवलं शून्यतैवैषा वह्वी सुभग लक्ष्यते ।
वयस्येवाऽनुरूपा या अविद्या या असन्मयी ॥ ३८ ॥
स्वदृष्टिक्षयसम्पत्तावक्ष्णोरेवोदितं तमः ।
वस्तुस्वभावात्तद् व्योम्नः कार्ष्ण्यमित्यवलोक्यते ॥ ३९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—शून्य आकाशकी नीलता गुणके समान स्थित नहीं है, पद्मराग आदि दूसरे रत्नोंकी प्रभा आकाशमें नहीं दिखाई देती, इसलिए वह सुमेरु पर्वतके नीलमणिमय शिखरोंकी प्रभा भी नहीं है । ब्रह्माण्ड तेजोमय है और तेज प्रचुर है एवं ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती आकाशका ऊपरी भाग प्रकाशसे व्याप्त है, इसलिए यहाँपर अन्धकारका सम्भव नहीं है ॥ ३६, ३७ ॥

इस प्रकार दोनों पक्षोंका अनुवाद कर सिद्धान्तपक्षको कहते हैं—**'केवलम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्याकी अनुरूप सखीके समान असन्मयी यह केवल विपुल शून्यता ही दिखाई देती है ॥ ३८ ॥

नेत्रोंकी ही अपनी दर्शनशक्तिका क्षय होनेपर जो वस्तुस्वभावसे अन्धकार उदित हुआ है, वह आकाशकी नीलताके रूपसे दिखाई देता है ॥ ३९ ॥

आकाशकी जो नीलता है वह औपाधिक है यानी वह आकाशसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी प्रभा या प्रतिच्छाया है । इस विषयमें योगियोंकी कल्पना यों है – सुमेरुके ऊपरके शिखर इन्द्रनील मणिमय हैं, उन्हींकी कान्ति छिटक कर ऊपर आकाशमें जाकर नीलता दिखलाती है । ज्योतिषी लोग कहते हैं—अतिदूरताके कारण सूर्यकी किरणें ब्रह्माण्डखप्परके समीपमें स्थित अन्धकारका विनाश नहीं कर सकतीं, इस कारण उस अन्धकारकी प्रतिच्छायाको ही भूमिमें स्थित लोग देखते हैं । अन्य विद्वान् कहते हैं—यह नीलिमा ऊपरको छिटकी हुई पृथिवीकी छाया द्वारा होती है । इन तीनों कल्पनाओंमें कोई भी कल्पना श्रीरामचन्द्रजीको संगतरूपसे प्रतीत नहीं हुई । अतएव इस नीलताका वास्तविकरूप जाननेकी इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे वसिष्ठजीने उसके उत्तरमें कहा—जीवोंकी दृष्टिशक्तिके कुण्ठित होनेपर अर्थात् सामर्थ्यशून्य होनेपर वस्तुदर्शनाभावरूप अन्धकार स्फुरित होता है । वही वस्तुदर्शनाभावरूप तम आकाशकी कालिमारूपसे अज्ञानियोंको प्रतीत होता है ।

एतद् बुद्ध्वा यथा व्योम्नि दृश्यमानोऽपि कालिमा ।
न कालिमेति बुद्धिः स्यादविद्यातिमिरं तथा ॥ ४० ॥
असङ्कल्पो ह्यविद्याया निग्रहः कथितो बुधैः ।
यथा गगनपद्मिन्याः स भाति सुकरः स्वयम् ॥ ४१ ॥
भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥ ४२ ॥
नष्टोऽहमिति सङ्कल्पाद्यथा दुःखेन नश्यति ।
प्रबुद्धोऽस्मीति सङ्कल्पाज्जनो ह्येति यथा सुखम् ॥ ४३ ॥
तथा संमूढसङ्कल्पान्मूढतामेति वै मनः ।
प्रबोधोदारसङ्कल्पात् प्रबोधायाऽनुधावति ॥ ४४ ॥
क्षणात्संस्मरणादेषा ह्यविद्योदेति शाश्वती ।
यस्माद्विस्मरणादन्तः परिणश्यति नश्वरी ॥ ४५ ॥

यह जान कर जैसे आकाशमें दिखाई देती हुई भी कालिमा 'यह कालिमा नही है' ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकारको भी जानिये ॥४०॥

प्रासंगिक प्रश्नका समाधान कर प्रस्तुत विषयको कहते हैं—**'असङ्कल्पो'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशकमलिनीका निग्रह संकल्पाभाव है, वैसे ही विद्वानोंने सङ्कल्पाभावको अविद्याका निग्रह कहा है । सङ्कल्पाभाव सहज प्रतीत होता है, कठिन नहीं है ॥ ४१ ॥

जगत्के इस भ्रमका, जो कि आकाशकी नीलिमाकी तरह उत्पन्न हुआ है, फिर जिसका स्मरण न हो, ऐसा विस्मरण ही मै उत्तम समझता हू ॥ ४२ ॥

'मै नष्ट हो गया' इस संकल्पसे जैसे स्वप्नमें दुःखसे नष्ट होता है और 'मै जाग गया हूँ' इस संकल्पसे स्वप्नदुःखके नाशको प्राप्त होता है - सुखको प्राप्त होता है, वैसे ही विषयके संकल्पसे मन मूढ़ताको प्राप्त होता है । प्रबोधरूप उदार संकल्पसे बोधमय ब्रह्मभावकी ओर अग्रसर होता है ॥ ४३, ४४ ॥

'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे सङ्कल्पसे यह अनादि अविद्या एक क्षणमें उदित होती है और विस्मरणसे यानी सङ्कल्पवासनाओंके मूलोच्छेदसे नित्य नष्ट हुई यह नष्ट हो जाती है । आत्माके अदर्शनसे अत्यन्त भारयुक्त यानी बढ़नेवाली सब पदार्थोंको

भावनी सर्वभावानां सर्वभूतविमोहिनी ।
भारिणी स्वात्मनो नाशे स्वात्मवृद्धौ विनाशिनी ॥ ४६ ॥
मनो यदनुसन्धत्ते तत् सर्वेन्द्रियवृत्तयः ।
क्षणात् सम्पादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः ॥ ४७ ॥
तस्मान्मनोनुसन्धानं भावेषु न करोति यः ।
अन्तश्चेतनयत्नेन स शान्तिमधिगच्छति ॥ ४८ ॥
यदादावेव नास्तीदं तदद्याऽपि न विद्यते ।
यदिदं भाति तद् ब्रह्म शान्तमेकमनिन्दितम् ॥ ४९ ॥
मननीयमतो नाऽन्यत् कदा कस्य कथं कुतः ।
निर्विकारमनाद्यन्तमास्यतामपयन्त्रणम् ॥ ५० ॥
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात् परमया धिया ।
भोगाशाभावनां चित्तात् समूलामलमुद्धरेत् ॥ ५१ ॥

उत्पन्न करनेवाली और सम्पूर्ण प्राणियोंको मोहमें डालनेवाली यह अविद्या अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर नष्ट हो जाती है ॥ ४५–४६ ॥

मनका निरोध करनेपर भी इन्द्रियोंसे वासनाका उद्भव क्यों नही होता, ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो इसपर कहते हैं—**'मनो'** इत्यादिसे ।

जैसे मन्त्री लोग राजाकी आज्ञाको एक क्षणमें पूरी कर देते हैं, वैसे ही मन जिस विषयका अनुसन्धान करता है सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियाँ उसको क्षणभरमें कर डालती हैं । इसलिए जो पुरुष बाह्य पदार्थोंमें मनका अनुसन्धान नहीं करता, वह ब्रह्माहंभावनारूप यत्नसे शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ४७–४८ ॥

उक्त अहंभावनारूप प्रयत्न कैसे करना चाहिये, उसीको दर्शाते हैं—**'यदा०'** इत्यादिसे ।

जो यह पहले भी नहीं था, वह आज भी नही है । जो यह भासित होता है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार, निर्दोष ब्रह्म है ॥ ४९ ॥

ब्रह्मसे अतिरिक्त कहींपर कोई किसी प्रकारका किसी कारणके लिए मननीय दूसरा नही है, अतः निर्विकार आदि-अन्तरहित पूर्णरूपसे स्थित होइए ॥ ५० ॥

परम पौरुषका अवलम्बन कर प्रयत्नके साथ उत्तम बुद्धिसे विषयभोगकी आशाकी भावनाको समूल चित्तसे उखाड़ कर फेंक दीजिये ॥ ५१ ॥

यदुदेति परो मोहो जरामरणकारणम् ।
आशापाशशतोल्लासिवासना तद्विजृम्भते ॥ ५२ ॥
मम पुत्रा मम धनमयं सोऽहमिदं मम ।
इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति ॥ ५३ ॥
शून्य एव शरीरेऽस्मिन् विलोलो जलवातवत् ।
अनन्यया वासनया त्वहंभावाहिरर्पितः ॥ ५४ ॥
परमार्थेन तत्त्वज्ञ ममाऽहमिदमित्यलम् ।
आत्मतत्त्वादृते सत्यं न कदाचन किञ्चन ॥ ५५ ॥
खाद्रिद्यूर्वीनदीश्रेण्यो दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः ।
सैवाऽन्येव विचित्रेयमविद्या परिवर्तते ॥ ५६ ॥
उदेत्यज्ञानमात्रेण नश्यति ज्ञानमात्रतः ।
सन्मात्रे परिविच्छेद्या रज्ज्वामिव भुजङ्गधीः ॥ ५७ ॥

आत्मतत्त्वका अज्ञान ही जरा, मरण आदिका कारण है। जो जो वस्तु कार्य-रूपसे उदित होती है, वह सब सैकड़ों आशारूपी जालोंसे वासना ही विस्तारको प्राप्त होती है, वह वास्तविक नहीं है ॥ ५२ ॥

ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है, इस प्रकारके इन्द्र-जालसे यह वासना ही वृद्धिको प्राप्त होती है ॥ ५३ ॥

जैसे जलमें वायु द्वारा तरङ्गरूपी सर्पकी कल्पना की जाती है, वैसे ही इस अनन्य वासना द्वारा इस शून्य शरीरमें ही अहंभावरूप सर्पकी कल्पना की गई है ॥ ५४ ॥

हे तत्त्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थदर्शनसे 'मेरा' 'मैं' ये दोनों ही नहीं हैं। आत्मतत्त्वके सिवा कोई भी वस्तु कभी भी सत्य नहीं है ॥ ५५ ॥

आकाश, पर्वत, द्युलोक, पृथिवी, नदियोंकी श्रेणियाँ, ये सब दृष्टिसमकालिक सृष्टिसे पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं। वही यह अविद्या अन्यके समान विचित्र परि-वर्तित होती है ॥ ५६ ॥

यह अज्ञानमात्रसे उत्पन्न होती है और ज्ञानसे नष्ट हो जाती है। त्रिविध परिच्छेदवाली यह अविद्या रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिकी नाईं सन्मात्रमें भ्रान्तिसे प्रतीत होती है ॥ ५७ ॥

खाद्र्यब्ध्युर्वीनदी सेयं याऽविद्याऽज्ञस्य राघव ।
नाऽविद्या ज्ञस्य तद् ब्रह्म स्वमहिम्ना व्यवस्थितम् ॥ ५८ ॥
रज्जुसर्पविकल्पौ द्वावज्ञेनैवोपकल्पितौ ।
ज्ञेन त्वेकैव निर्णीता ब्रह्मदृष्टिरकृत्रिमा ॥ ५९ ॥
मा भवाऽज्ञो भव प्राज्ञो जहि संसारवासनाम् ।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥ ६० ॥
कस्तवाऽयं जडो मूको देहो भवति राघव ।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥ ६१ ॥
यथा हि काष्ठजतुनोर्यथा बदरकुण्डयोः ।
श्लिष्टयोरपि नैकत्वं देहदेहवतोस्तथा ॥ ६२ ॥
भस्त्रादाहे यथा दाहो न भस्त्रान्तरवर्तिनः ।
पवनस्य तथा देहनाशेनाऽऽत्मा न नश्यति ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानीकी दृष्टिमें यह अविद्या नहीं है । आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञके लिए है । ज्ञानीकी दृष्टिमें तो आकाश आदिरूपसे ब्रह्म ही अपनी महिमासे स्थित है ॥ ५८ ॥

रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिरूपी प्रातिभासिक और व्यावहारिक ये दो विकल्प अज्ञ द्वारा ही कल्पित हैं । ज्ञानीने तो एकमात्र स्वतःसिद्ध ब्रह्मदृष्टिका ही निर्णय किया है ॥ ५९ ॥

हे रामचन्द्रजी, आप अज्ञानी मत होइये, ज्ञानी बनिये, संसारवासनाका नाश कीजिये, अनात्म देह आदिमें आत्मभावनासे अज्ञकी नाईं आप क्यों रोते हैं ? ॥६०॥

अनात्मा देह आदिमें आत्मतत्त्वकी भ्रान्ति ही सब दुःखोंका निदान है, इसलिए पहले देहमें आत्मभ्रान्तिका ही वारण करते हैं—'कः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जड़, मूक शरीर आपका क्या है ? जिसके लिए अवश होकर सुख और दुःख द्वारा आप अभिभूत हो रहे हैं ॥ ६१ ॥

जैसे काष्ठ और लाह परस्पर मिले रहनेपर भी एक नहीं हैं और जैसे बेर और बर्तन परस्पर अत्यन्त संयुक्त होनेपर भी अभिन्न नहीं हैं वैसे ही देह और आत्मा भी परस्पर संयुक्त होनेपर भी अभिन्न नहीं हैं ॥ ६२ ॥

आत्मा देहरहित है, इसलिए उसके जन्म, मरण आदिकी संभावना भी नहीं है, ऐसा कहते हैं —'भस्त्रा०' इत्यादिसे ।

दुःखितोऽहं सुखाढ्योऽहमिति भ्रान्ति रघूद्वह ।
मृगतृष्णोपमां बुद्ध्वा त्यज सत्यं समाश्रय ॥ ६४ ॥
अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
यदसत्यमविद्याख्यं तन्नूनं स्मृतिमागतम् ॥ ६५ ॥
प्रसरं त्वमविद्याया मा प्रयच्छ रघूद्वह ।
अनयोपहते चित्ते दुष्पारेह कदर्थना ॥ ६६ ॥
मिथ्यैवाऽनर्थकारिण्या मनोमननपीनया ।
अनया दुःखदायिन्या महामोहफलान्तया ॥ ६७ ॥
चन्द्रबिम्बे सुधार्द्रेऽपि कृत्वा रौरवकल्पनम् ।
नारकं दाहसंशोषदुःखं समनुभूयते ॥ ६८ ॥
जलकल्लोलकह्लारपुष्पसीकरवीचिषु ।
सरस्सु मृगतृष्णाढ्यं मरुत्वं परिदृश्यते ॥ ६९ ॥

जैसे धौंकनीके जल जानेपर धौंकनीके अन्दर स्थित वायुका दाह नहीं होता, वैसे ही देहका नाश होनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता ॥ ६३ ॥

हे राघव, मैं दुःखी हूँ, मै सुखी हूँ, इस भ्रान्तिको मृगतृष्णाके तुल्य समझ कर छोड़ो और सत्य तत्त्वका अवलम्बन करो ॥ ६४ ॥

यह क्या अचम्भेकी बात नहीं है ? जो सत्य ब्रह्म है, उसे तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्यानामक वस्तु है उसका सबको अत्यन्त स्मरण हो गया है ॥६५॥

हे रामचन्द्रजी, आप अविद्याको यानी आत्मविस्मरणको खूब बढ़नेका मौका न दीजिये। इस अविद्या द्वारा चित्तके दूषित होनेपर यहाँपर अनन्त अपार दुःख होते हैं ॥६६॥

अविद्या असम्भावित हजारों अनर्थोंको उत्पन्न करती है, ऐसा कहते हैं— **'मिथ्यैव'** इत्यादिसे ।

मिथ्या होती हुई भी अनर्थ करनेवाली, मनके संकल्पसे पुष्ट हुई, अन्तमें महामोहरूप फल देनेवाली, दुःखदायिनी इस अविद्यासे अमृतरससे सराबोर चन्द्रबिम्बमें भी रौरव नरककी कल्पना करके पुरुष नारकीय दाह, शोष आदि दुःखोंका अनुभव करता है ॥६७,६८॥

इससे जलकी तरंग, कमल, जलबिन्दु, छोटी-छोटी लहरोंसे युक्त तालाबोंमें

नभोनगरनिर्माणपातोत्पातनसंभ्रमाः ।
स्वप्नादिष्वनुभूयन्ते विचित्राः सुखदुःखदाः ॥ ७० ॥
संसारवासनाश्चेतो यदि नाम न पूरयेत् ।
तज्जाग्रत्स्वप्नसंरम्भाः किं नयेयुरिहाऽऽपदम् ॥ ७१ ॥
दृश्यते रौरवावीचिनरकानर्थशासना ।
मिथ्याज्ञाने गते वृद्धिं स्वप्नोपवनभूमिषु ॥ ७२ ॥
अनया वेधितं चेतो बिसतन्तावपि क्षणात् ।
पश्यत्यखिलसंसारसागरानर्थविभ्रमम् ॥ ७३ ॥
अनयोपहते चित्ते राज्य एव हि संस्थिताः ।
तास्तादृश्यो जना यान्ति या न योग्याः श्वपाकिनः ॥ ७४ ॥
तस्माद् राम परित्यज्य वासनां भवबन्धनीम् ।
सर्वरागमयीं तिष्ठ नीरागः स्फटिको यथा ॥ ७५ ॥
तिष्ठतस्तव कार्येषु माऽस्तु रागेषु रञ्जना ।
स्फटिकस्येव चित्राणि प्रतिबिम्बानि गृह्णतः ॥ ७६ ॥

मृगतृष्णासे भरी हुई मरुभूमिका दृश्य दिखाई देता है ॥ ६९ ॥

इसीसे आकाशमें नगरकी रचना, आकाशसे गिरना, आकाशमें उड़ना आदि भ्रम, जो विचित्र और सुख-दुःख देनेवाले हैं, स्वप्नमें पुरुषोंसे अनुभूत होते हैं ॥७०॥

यदि यह अविद्या चित्तको संसारवासनाओंसे पूर्ण न करे, तो यहाँ जाग्रत्, स्वप्न आदिके भ्रम आत्माको आपत्तिको प्राप्त कैसे करावें ॥ ७१ ॥

मिथ्या ज्ञानके बढ़नेपर स्वप्न और उपवनकी भूमियोंमें रौरव, अवीचि आदि नरकोंकी अनर्थकारिणी यातनाएँ देखी जाती हैं ॥ ७२ ॥

इस अविद्यासे वेधित चित्त कमलनालके अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुमें भी एक क्षणमें समस्त संसार-सागररूपी अनर्थकारी भ्रम देखता है ॥ ७३ ॥

इससे चित्तके अभिभूत होनेपर राज्यमें ही स्थित पुरुष उन-उन यातनाओंको प्राप्त होते हैं, जो चण्डालोंके भी योग्य नहीं हैं ॥ ७४ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, संसाररूप बन्धनमें डालनेवाली और सम्पूर्ण द्वैताकाररूपी रंगसे युक्त वासनाका त्यागकर स्फटिकके समान रागरहित होकर स्थित होइये ॥ ७५ ॥

व्यवहारके कार्य कर रहे आपकी अनुरागके विषयोंमें आसक्ति न हो, जैसे

विदितकौतुकसङ्गसमिद्धया
यदि करोषि सदैव सुशीलया ।
वरधिया गतप्राकृतिकक्रिय-
स्तदसि केन सहाऽनुपमीयसे ॥ ७७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सा-वर्णनं नाम चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

—— :※: ——

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

एवमुक्तो भगवता वसिष्ठेन महात्मना ।
रामः कमलपत्राक्ष उन्मीलित इवाऽऽबभौ ॥ १ ॥

कि विचित्र प्रतिबिम्बोंका ग्रहण कर रहे स्फटिककी रंगके विषयमें आसक्ति नहीं होती ॥ ७६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, निरतिशयानन्दरूप होनेसे परम कौतुकमय ब्रह्मका जो साक्षात्कार कर चुके हैं यानी जो तत्त्वज्ञ हैं, उनकी संगतिमें पुनः पुनः विचार करनेसे दीप्त हुई, अतएव सर्वत्र समदर्शन आदि सुशीलवाली अनासंग बुद्धिसे यदि आप सदा व्यवहार करते हैं, तो आप अविद्याप्रयुक्त जन्म, मरण आदि भ्रमोंसे रहित हैं यानी नित्यमुक्तस्वरूप हैं । तब आपकी किसी जीवन्मुक्त महाभाग्य ब्रह्मा, विष्णु अथवा शङ्करजीके साथ तुलना नहीं हो सकती है ॥ ७७ ॥

एक सौ चौदह सर्ग समाप्त



एक सौ पन्द्रह सर्ग

[श्रीरामचन्द्रजीका बोधसे आश्चर्यवर्णन, माया और उसके नाशकी स्थिति, राजा लवणकी आपत्तिके कारणका निरूपण]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भगवन्, महात्मा श्रीवसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर कमलकी पंखुरीके समान विशाल नेत्रवाले श्रीरामचन्द्रजी विकसित पद्मके समान सुशोभित हुए ॥ १ ॥

विकासितान्तःकरणः शोभामलमुपाययौ ।
आश्वस्तस्तमसि क्षीणे पद्मोऽर्कालोकनादिव ॥ २ ॥
बोधविस्मयसञ्जातसौम्यस्मितसिताननः ।
दन्तरश्मिसुधाधौतामिमां वाचमुवाच ह ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना याऽविद्या तया सर्वे वशीकृताः ॥ ४ ॥
इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रये ।
अविद्ययाऽपि यन्नामाऽसदेव सदिव स्थितम् ॥ ५ ॥
अस्याः संसारमायाया नद्यास्त्रिभुवनाङ्गणे ।
रूपं मदवबोधार्थं कथयाऽनुग्रहात् पुनः ॥ ६ ॥
अन्यो यत्संशयोऽयं मे महात्मन् हृदि वर्तते ।
लवणोऽसौ महाभागः किन्नामाऽऽपदमाप्तवान् ॥ ७ ॥

जैसे अन्धकारके नष्ट होनेपर सूर्य भगवान्के दर्शनसे कमल प्रसन्न होकर शोभाको प्राप्त होता है, वैसे ही समाधानसे सन्तुष्ट हुए श्रीरामचन्द्रजी अज्ञानके नष्ट होनेपर प्रफुल्लित अन्तःकरणवाले होकर शोभाको प्राप्त हुए ॥ २ ॥

बोधसे उत्पन्न हुए आश्चर्यसे मन्द-मन्द मुसकुराहटसे जिनका मुखकमल प्रकाशमान है, ऐसे श्रीरामचन्द्रजीने दाँतोंकी किरणरूपी सुधासे धोई हुई यह वाणी कही ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा मुनिवर,जो अविद्या है ही नहीं, उसने सब लोगोंको वशमें कर लिया, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यह कथन तो कमलके नालसे उत्पन्न हुए तन्तुओंसे पर्वतोंको बाँधनेके तुल्य है ॥ ४ ॥

जो अविद्यासे तीनों जगतोंमें असद् ही सत्यकी तरह स्थित है, यह तो तृणमात्र तीनों जगतोंमें वज्रताको प्राप्त हो गया ॥ ५ ॥

त्रिभुवनरूप आँगनमें स्थित इस संसारमायारूप नदीका स्वरूप मेरे ज्ञानके लिए फिर कहिये ॥ ६ ॥

हे महात्मन्, और दूसरा यह सन्देह, जो कि मेरे हृदयमें बैठा है, वह यह है कि वह महाभाग राजा लवण किस प्रकार आपत्तिको प्राप्त हुए ? ॥ ७ ॥

संश्लिष्टयोराहतयोर्द्वयोर्वा देहदेहिनोः ।
ब्रह्मन् क इव संसारी शुभाशुभफलैकभाक् ॥ ८ ॥
लवणस्य तथा दत्त्वा तामापदमनुत्तमाम् ।
किंगतश्चञ्चलारम्भः कश्चाऽसावैन्द्रजालिकः ॥ ९ ॥
वसिष्ठ उवाच
काष्ठकुड्योपमो देहो न किञ्चन इहाऽनघ ।
स्वप्नालोक इवाऽनेन चेतसा परिकल्प्यते ॥ १० ॥
चेतस्तु जीवतां यातं चिच्छक्तिपरिभूषितम् ।
विद्यात् संसारसंरम्भं कपिपोतकचञ्चलम् ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन्, और तीसरा प्रश्न यह है कि काठ और लाहके समान परस्पर संयुक्त, मल्ल और मेषके समान परस्परके आघातोंसे आक्रान्त देह और देही हैं, इन दोमें से कौन-सा शुभ और अशुभ फलका एकमात्र भाजन संसारी है ? ॥८॥

चौथा सन्देह यह है कि राजा लवणको उस प्रकारकी बड़ी भारी आपत्ति देकर चञ्चल कार्य करनेवाला वह ऐन्द्रजालिक क्यों चला गया और वह कौन था ? ॥ ९ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्रीवसिष्ठजी विवेककी दृढ़तामें प्रकृष्ट हेतु होनेके कारण पहले तृतीय प्रश्नका समाधान करते हुए अर्थतः प्रथम प्रश्नका भी समाधान करते हैं—**'काष्ठ०'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा —हे निष्पाप रामचन्द्रजी, इस संसारमें काष्ठ और भीतके समान जड़ देह कुछ भी नहीं है यानी वास्तविक नहीं है । स्वप्नके प्रकाशकी नाई इस चित्तने कल्पना कर रक्खी है । इससे यह निकला कि अचेतन होनेसे और असत् होनेसे शरीर कर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता ॥ १० ॥

तो भोक्ता कौन है ? इसपर कहते हैं—**'चेतस्तु'** इत्यादिसे ।

जीवताको प्राप्त हुआ चित्त भोक्ता है ।

शङ्का—चित्त भी तो जड़ है, अतः वह भोक्ता कैसे ?

समाधान—चिदाभासके तादात्म्यको प्राप्त हुआ चित्त भोक्ता है । चिदाभासके तादात्म्यको प्राप्त हुए चित्तमें जाड्यरूप दोष नहीं रहता । उक्त चित्तका भोक्तृत्वमें आग्रह है और वह बन्दरके बच्चेके समान चञ्चल है ॥ ११ ॥

देही हि कर्मभाग् यो हि नानाकारशरीरधृक् ।
अहङ्कारमनोजीवनामभिः परिकल्प्यते ॥ १२ ॥
तस्येमान्यप्रबुद्धस्य न प्रबुद्धस्य राघव ।
सुखदुःखान्यनन्तानि शरीरस्य न कानिचित् ॥ १३ ॥
अप्रबुद्धं मनो नानासंज्ञाकल्पितकल्पनम् ।
वृत्तीरनुपतच्चित्रा विचित्राकृतितां गतम् ॥ १४ ॥
अप्रबुद्धं मनो यावन्निद्रितं तावदेव हि ।
सम्भ्रमं पश्यति स्वप्ने न प्रबुद्धं कदाचन ॥ १५ ॥
अज्ञाननिद्राक्षुभितो जीवो यावन्न बोधितः ।
तावत् पश्यति दुर्भेदं संसारारम्भविभ्रमम् ॥ १६ ॥
संप्रबुद्धस्य मनसस्तमः सर्वं विलीयते ।
कमलस्य यथा हार्दं दिनालोकविकासिनः ॥ १७ ॥
चित्ताविद्यामनोजीववासनेति कृतात्मभिः ।
कर्मात्मेति च यः प्रोक्तः स देही दुःखकोविदः ॥ १८ ॥

वही जीव है, ऐसा कहते हैं—'**देही**' इत्यादिसे ।

नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करनेवाला कर्मफलका भागी जो यह देही है, वह अहंकार, मन, जीव आदि पर्यायोंसे कहा जाता है ॥ १२ ॥

हे राघव, अप्रबुद्ध जीवके ये अनन्त सुख-दुःख होते हैं और प्रबुद्धके नहीं होते । शरीरके भी ये सुख-दुःख आदि नहीं होते ॥ १३ ॥

अज्ञानी मन, जिसने नाना प्रकारकी संज्ञाओंसे अनेक कल्पनाएँ कर रक्खी हैं, अनेक प्रकारकी वृत्तियोंमें प्रवेश करता हुआ विचित्र-विचित्र आकारको प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

जबतक मन अज्ञ रहता है तभीतक निद्रित रहता है और स्वप्नमें नाना प्रकारके भ्रमोंको देखता है, लेकिन ज्ञानी मन कदापि इन विविध विभ्रमोंको नहीं देखता । अज्ञाननिद्रासे पीड़ित हुआ जीव जबतक अज्ञानरूप निद्रासे जगाया नहीं जाता तबतक अभेद्य संसाररूप स्वप्न भ्रमको देखता है ॥ १५, १६ ॥

जैसे दिनके प्रकाशसे विकसित होनेवाले कमलके मध्यका अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रबुद्ध हुए मनका सम्पूर्ण अन्धकार विलीन हो जाता है । चित्त,

जडो देहो न दुःखार्हो दुःखी देह्यविचारतः ।
अविचारो घनाज्ञानादज्ञानं दुःखकारणम् ॥ १९ ॥

शुभाशुभानां धर्माणां जीवो विषयतां गतः ।
अविवेकैकदोषेण कोशेनेव हि कीटकः ॥ २० ॥

अविवेकामयोन्नद्धं मनो विविधवृत्तिमत् ।
नानाकारविहारेण परिभ्रमति चक्रवत् ॥ २१ ॥

उदेति रौति हन्त्यत्ति याति वल्गति निन्दति ।
मन एव शरीरेऽस्मिन्न शरीरं कदाचन ॥ २२ ॥

यथा गृहपतिर्गेहे विविधं हि विचेष्टते ।
न गृहं तु जडं राम तथा देहे हि जीवकः ॥ २३ ॥

सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कलनासु च ।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम् ॥ २४ ॥

अविद्या, मन, जीव, वासना, कर्मात्मा—इन नामोंसे विद्वानों द्वारा जो कहा जाता है वह देही दुःखका भोक्ता है । देह जड़ है, अतएव वह दुःखभोगके योग्य नहीं है । जीव ही अविचारवश दुःखी होता है । अविचार सघन अज्ञानसे होता है, इसलिए सम्पूर्ण दुःखोंका कारण अज्ञान है ॥ १७-१९ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा रेशमके कोशसे बन्धनको प्राप्त होता है, वैसे ही जीव भी अविवेकरूपी दोषसे शुभ और अशुभ धर्मोंका भाजन बना है ॥ २० ॥

अविवेकरूप रोगसे बँधा हुआ, विविध वृत्तियोंसे युक्त मन अनेक आकारोंमें विहार द्वारा चक्रके समान घूमता है । इस शरीरमें मन ही उदयको प्राप्त होता है, रोता है, मारता है, खाता है, जाता है, बोलता है और निन्दा करता है, शरीर कभी भी कुछ नहीं करता ॥ २१, २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे घरमें घरका मालिक अनेक प्रकारकी क्रियाएँ करता है, किन्तु जड़ घर कुछ नहीं करता, वैसे ही देहमें जीव विविध चेष्टाएँ करता है, जड़ देह कुछ नहीं करता ॥ २३ ॥

सब सुख-दुःखोंमें और सब कल्पनाओंमें मन ही कर्ता है और मन ही भोक्ता है । मनको आप जीव जानिये ॥ २४ ॥

अत्र ते शृणु वक्ष्यामि वृत्तान्तमिममुत्तमम् ।
लवणोऽसौ यथा यातश्चण्डालत्वं मनोभ्रमात् ॥ २५ ॥
मनः कर्मफलं भुङ्क्ते शुभं वाऽशुभमेव वा ।
यथैतद् बुध्यसे नूनं तथाऽऽकर्णय राघव ॥ २६ ॥
हरिश्चन्द्रकुलोत्थेन लवणेन पुराऽनघ ।
एकान्तेनोपविष्टेन चिन्तितं मनसा चिरम् ॥ २७ ॥
पितामहो मे सुमहान् राजसूयस्य याजकः ।
अहं तस्य कुले जातस्तं यजे मनसा मखम् ॥ २८ ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा कृत्वा सम्भारमादृतः ।
राजसूयस्य दीक्षायां प्रविवेश महीपतिः ॥ २९ ॥
ऋत्विजश्चाऽऽह्वयामास पूजयामास सन्मुनीन् ।
देवानामन्त्रयामास ज्वालयामास पावकम् ॥ ३० ॥
यथेच्छं यजमानस्य मनसोपवनान्तरे ।
ययौ संवत्सरः साग्रो देवर्षिद्विजपूजया ॥ ३१ ॥

यह राजा लवण मनके भ्रमसे जिस प्रकार चण्डालताको प्राप्त हुआ, इस उत्तम वृत्तान्तको मैं आपसे कहूँगा, आप सावधान होकर सुनिये । हे श्रीरामचन्द्रजी, मन ही शुभ अथवा अशुभ फलका भोग करता है, इस बातको आप जिस प्रकार समझ जायँगे वैसा मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ २५–२६ ॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, प्राचीन कालमें हरिश्चन्द्रके कुलमें उत्पन्न राजा लवणने एकान्तमें बैठकर बहुत दिनोंतक मनसे विचार किया—मेरे पितामह बड़े महानुभाव थे । उन्होंने राजसूययज्ञ किया था । मैं उनके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ । मैं मनसे उस यज्ञको करता हूँ, ऐसा मनसे विचारकर आदरपूर्वक सब सामग्रियाँ इकट्ठी कर राजाने राजसूययज्ञकी दीक्षा ली । उसने ऋत्विजोंको बुलाया, श्रेष्ठ मुनियोंकी पूजा की, यज्ञमें आनेके लिए देवताओंसे प्रार्थना की और अग्नि प्रज्वलित की ॥ २७–३० ॥

अपने उपवनके भीतर मनसे अपनी इच्छाके अनुसार यज्ञ कर रहे राजाका देवता, ऋषि और ब्राह्मणोंकी पूजासे पूरा एक वर्ष बीत गया ॥ ३१ ॥

भूतेभ्यो द्विजपूर्वेभ्यो दत्त्वा सर्वस्वदक्षिणाम् ।
विबुद्धात दिनस्याऽन्ते स्व एवोपवने नृपः ॥ ३२ ॥
एवं स लवणो राजा राजसूयमवाप्तवान् ।
मनसैव हि तुष्टेन युक्तं तस्य फलेन च ॥ ३३ ॥
अतश्चित्तं नरं विद्धि भोक्तारं सुखदुःखयोः ।
तन्मनः पावनोपाये सत्ये योजय राघव ॥ ३४ ॥
पूर्णे देशे सुसंपूर्णः पुमान्नष्टे विनश्यति ।
देहोऽहमिति येषां तु निश्चयस्तैरलं बुधाः ॥ ३५ ॥
उच्चैर्विवेकवति चेतसि संप्रबुद्धे
दुःखान्यलं विगलितानि विविक्तबुद्धेः ।

ब्राह्मण आदि प्राणियोंको सर्वस्व दक्षिणा देकर राजा अपने ही उपवनमें दिनके अन्तमें जाग उठा ॥ ३२ ॥

इस प्रकार राजा लवणने सन्तुष्ट मनसे ही राजसूययज्ञ किया, इसलिए उसीको यज्ञका फल होना उचित है ॥ ३३ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि चित्तको ही सुख-दुःखका भोक्ता पुरुष जानिये, इसलिए मनके शोधनरूप सत्य उपायमें मनको लगाइए । मन ही क्रियाशक्तिकी प्रधानतासे कर्ता, करण और क्रिया है । वह क्रिया ही सुखदुःखरूप फलके रूपमें परिणत होती है । चिदाभासकी व्याप्तिसे उस फलका भोक्ता मन ही है इसलिए भोक्तृत्व कर्तृत्वका प्रवाह ही मायारूपी महानदीका स्वरूप है । इस तरह प्रथम प्रश्नका विषय भी इस सन्दर्भसे दिखलाया गया है, चतुर्थ प्रश्नके उत्तरका समाधान आगेके सर्गमें होगा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार रामचन्द्रजीके प्रश्नका समाधान कर देवता आदि सदस्योंके प्रति विस्तारसे वर्णित अर्थका निचोड़ कहते हैं—'पूर्णे' इत्यादिसे ।

हे देवताओ, यह मनरूपी पुरुष काल आदिके परिच्छेदसे रहित पूर्ण आलम्बनमें स्थित होकर पूर्ण होता है और नित्य नष्ट होनेवाले काल आदिसे परिच्छिन्न देह आदि देशमें स्थित होकर देहभाव की प्राप्तिसे नष्ट हो जाता है । इसलिए 'मैं देह हूँ' ऐसी जिनकी नश्वर देहमें अहंभावना है, उनसे कोई प्रयोजन नहीं है । शास्त्राभ्यास और आचार्योपदेशसे उत्पन्न सम्यक् विचारके परिपाकसे सारासार-विवेकवाले चित्तको 'मैं देहादिस्वभाव कभी नहीं हूँ, मैं पूर्णानन्दप्रकाश, एकरस ब्रह्म

भास्वत्करप्रकटिते ननु पद्मखण्डे
सङ्कोचजाड्यतिमिराणि चिरं क्षतानि ॥ ३६ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे सुखदुःखभोक्तृत्वोपदेशो नाम पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशोत्तरशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

राजसूयफलं प्राप्तं लवणेन किल प्रभो ।
प्रमाणं किमिवाऽत्र स्यात् कल्पनाजालशम्बरे ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदा शाम्बरिकः काले सम्प्राप्तो लावणीं सभाम् ।
तदाऽहमवसं तत्र तत् प्रत्यक्षेण दृष्टवान् ॥ २ ॥

ही हूँ' ऐसा ज्ञान होनेपर ब्रह्मीभूत अधिकारीके सब दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं, कभी भी उत्पन्न नहीं होते। कमलके सूर्यकी किरणोंसे प्रफुल्लित होनेपर संकोच, जड़ता और अन्दरस्थित अन्धकार आदि चिर कालके लिए नष्ट हो ही जाते हैं ॥ ३५—३६ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग समाप्त

एक सौ सोलह सर्ग

[चौथे प्रश्नके समाधानके लिए पूर्वोक्त अर्थके दृष्टान्तरूपसे उपोद्घातसहित योगभूमिका वर्णन]

चौथे प्रश्नका उत्तर जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी चौथे प्रश्नके उत्तरमें सहायक दूसरे प्रश्नके उत्तरमें प्रमाण पूछते हैं—'राजसूय' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, राजा लवणने अपने चण्डालत्वकी कल्पनारूप ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखलाये गये मायाजालमें राजसूयप्रयुक्त अनिष्ट फल पाया, यह जो आपने इतिहास कहा, इसमें क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह मेरे मानसिक राजसूययज्ञका फल है, इसे लवण राजा जान नहीं सकता ॥ १ ॥

यद्यपि अन्य लोगोंके लिए उसमें प्रमाणका अवसर नहीं है तथापि योगबलसे

अहं सभ्यैस्ततस्तत्र गते शाम्बरिकर्मणि ।
किमेतदिति यत्नेन पृष्टश्च लवणेन च ॥ ३ ॥
चिन्तयित्वा मया दृष्ट्वा तत्र तत् कथितं ततः ।
शृणु तत्ते प्रवक्ष्यामि राम शाम्बरिकेहितम् ॥ ४ ॥
राजसूयस्य कर्तारो ये हि ते द्वादशाब्दिकम् ।
आपद्दुःखं प्राप्नुवन्ति नानाकारव्यथामयम् ॥ ५ ॥
अतः शक्रेण गगनाद् दुःखाय लवणस्य सः ।
प्रहितो देवदूतो हि राम शाम्बरिकाकृतिः ॥ ६ ॥
राजसूयक्रियाकर्तुस्तस्य दत्त्वा महापदम् ।
अगच्छत् स नभोमार्गं सुरसिद्धनिषेवितम् ॥ ७ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षमेवैतद् राम नाऽत्रसन्देहोऽस्ति। मनो हि विलक्षणानां क्रियाणां कर्तृ भोक्तृ च। तदेव निर्घृष्य संशोध्य चित्तरत्नमिह हिमकणमिवाऽऽतपेन

मुझे वह प्रत्यक्ष है। इसलिए मेरे प्रत्यक्षसे ही और लोगोंमें भी उसकी प्रसिद्धि है, ऐसा वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'यदा' इत्यादिसे।

श्री वसिष्ठजीने कहा—जब ऐन्द्रजालिक राजा लवणकी सभामें आया, उस समय मैं वहाँपर विद्यमान था। यह सब कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा ॥ २ ॥

उस ऐन्द्रजालिकके चले जानेपर सभासदोंने और राजा लवणने बड़े प्रयत्नसे मुझसे पूछा कि यह क्या हुआ ? लवण और सभासदोंके पूछनेपर योगबलसे देखकर और विचारकर मैंने वहाँपर उनसे जो ऐन्द्रजालिकका अभिप्राय कहा था, वह आपसे कहूँगा, आप सुनिये ॥ ३—४ ॥

राजसूययज्ञ करनेवाले लोग बारह वर्षतक आपत्तिरूप दुःखको, जिसमें विविध प्रकारकी व्यथाएँ होती हैं, प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसलिए इन्द्रने राजा लवणके दुःखके लिए ऐन्द्रजालिकका वेष धारण किये हुए देवदूतको आकाशसे भेजा। राजसूययज्ञ करनेवाले उस राजा लवणको महाक्लेश देकर वह देवता और सिद्धोंसे सेवित आकाश मार्गमें चला गया ॥ ६—७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, राजा लवणने राजसूययज्ञका फलरूप वह क्लेश पाया, यह प्रत्यक्ष ही है। इसमें सन्देह नहीं है। मन विलक्षण-विलक्षण क्रियाओंको करता है

विलीनतां विवेकेन नीत्वा परं श्रेयः प्राप्स्यसि। चित्तमेव सकलभूताडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि। सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति। अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नास्ति वृक्षतरुशब्दयोरिवेति ज्ञात्वा चित्तमेव विकल्पनं कुरु। अभ्युदिते चित्तवैमल्यार्कबिम्बे सकलङ्कविकल्पोत्थदोषतिमिरापहरणम्। न तदस्ति राघव यन्न दृश्यते यन्नात्मीक्रियते यन्न परित्यज्यते यन्न म्रियते यन्नात्मीयं यन्न परकीयं सर्वं सर्वदा सर्वो भवतीति परमार्थः ॥ ८ ॥

और भोग करता है। हठयोगसे मनरूप रत्नको घिसकर राजयोगसे शुद्धकर निर्विकल्पक समाधिसे उसको सूर्यके आतपसे बर्फके टुकड़ेकी नाईं विलीनकर आप तत्त्वपाक्षात्कारसे परम श्रेयको प्राप्त होंगे। चित्तको ही सब प्राणियोंके आडम्बरको करनेवाली अविद्या जानिये। विविध प्रकारकी चित्र रचनाओंकी प्रकृतिभूत इन्द्रजालके तुल्य जो वासना है उससे अविद्या इसको उत्पन्न करती है। अविद्या, चित्त, जीव, बुद्धि शब्दोंका वृक्ष और तरु शब्दोंकी भांति भेद नहीं है, ऐसा जानकर चित्तको ही कल्पनाशून्य कीजिये। चित्तविमलतारूप सूर्यबिम्बके उदित होनेपर कलङ्कयुक्त विकल्पोंसे उत्पन्न हुए दोषरूपी अन्धकारका नाश हो जायगा। यदि कोई शङ्का करे कि अपने चित्तका लय होनेपर या अपनी अविद्याका क्षय होनेपर अपने अदृष्टसे उपार्जित अपनी अविद्याके कार्यकी ही निवृत्ति होगी, सबके अदृष्टसे उपार्जित अविद्याके कार्यकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अपना चित्त उनके कार्यका कारण नहीं है, इसपर सब सबके अदृष्टसे उपार्जित कार्य और सबके उपभोग्य सब अविद्याकार्य ही हैं, सर्वात्मक आत्मदर्शनसे उनका दर्शन हो जाता है, सब आत्मभूत किया जाता है, सबका त्याग किया जाता है और सबका विनाश किया जाता है, इसमें तनिक भी असम्भावना नहीं करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'न तदस्ति' इत्यादिसे।

चित्त विमलतारूप सूर्यके उदित होनेपर वह वस्तु नहीं है, जो न देखी जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जो आत्मस्वरूप न की जाती हो, वह वस्तु नहीं है, जिसका परित्याग न किया जाता हो, क्योंकि वह वस्तु नहीं है जो आत्मीय न हो, वह वस्तु नहीं है जो परकीय न हो, सब आत्मीय होता है, सब परकीय होता है, सब सदा सब होता है, यह परमार्थ स्थिति है। इसमें मधुब्राह्मण श्रुति

भावराशिस्तथा बोधः सर्वो यात्येकपिण्डताम् ।
विचित्रमृद्भाण्डगणो यथाऽपक्को जले स्थितः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

एवं मनःपरिक्षये सकलसुखदुःखानामन्तः प्राप्यत इति भवता प्रोक्तं तत्कथं महात्मंश्चपलवृत्तिरूपस्याऽस्य मनसोऽसत्ता भवति ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

रघुकुलेन्दो शृणु मनः प्रशमने युक्तिम्, यां ज्ञात्वा स्वस्वाचारदूरे मनःसन्धिरयमेष्यसि ॥ ११ ॥

प्रमाण है—'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु' (यह पृथिवी सम्पूर्ण भूतोंके लिए मधु है और इस पृथिवीके लिए सब भूत मधु हैं) इत्यादि ॥ ८ ॥

इसलिए समाधिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले बोधसे मन और मनके कार्यभूत प्रपञ्चका और अविद्याका एकरस ब्रह्मात्मभाव शेष रहता है, ऐसा पद्यद्वारा उपसंहार करते हैं—'भावराशि०' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें रक्खे हुए कच्चे, रंग बिरंगके मिट्टीके बर्तन एक पिण्ड बन जाते हैं वैसे ही दृश्य पदार्थसमूह, उनको विषय करनेवाला विचित्र वृत्तिरूप बोध और उससे उपहित सब जीव एक यानी अद्वैकरस हो जाते हैं ॥ ९ ॥

गुरुकी उक्तिका निचोड़ अर्थ अनुवादपूर्वक दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी बुद्धिके द्वारा तर्कित उपायोंसे मनका विनाश होना सम्भव नहीं है, ऐसा समझते हुए मनके उच्छेदका दूसरा उपाय जाननेके लिए गद्यसे पूछते हैं—'एवं' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे महात्मन्, इस प्रकार मनका विनाश होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश हो जायगा, आपने कहा, पर यह चित्त तो अत्यन्त चपलवृत्ति है, इसका विनाश कैसे हो सकता है ? ॥ १० ॥

मनके उच्छेदका उपाय कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'रघुकुलेन्दो' इत्यादिसे ।

श्री वसिष्ठजीने कहा—हे रघुकुलभूषण, मनके शमनके लिए आप युक्ति

इह हि तावद् ब्रह्मणः सर्वभूतानां त्रिविधोत्पत्तिरिति तत्पूर्वोक्तम् ॥१२॥
तत्रेदंप्रथमया मनःकल्पनया देहीति सा ब्रह्मरूपिणी सङ्कल्पमयी भूत्वा यदेव सङ्कल्पयति तदेव पश्यति तेनेदं भुवनाडम्बरं कल्प्यते ॥ १३ ॥

सुनिये; जिसको जानकर आप अपनी इन्द्रियोंके संचारके अगोचर ब्रह्ममें मनोवृत्तिधाराको प्राप्त होंगे ॥ ११ ॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी शंका करें, जिस मनका अनादि संसारमें कभी नाश हुआ ही नहीं, उसके विनाशकी संभावना कैसे हो सकती है ? इसपर उसके विनाशकी संभावनाके लिए बीच-बीचमें उसके नाशकी प्रसिद्धिको और परिणामी स्वभाव होनेसे अन्य प्राणियोंकी तुल्यताको दिखलानेके लिए पूर्वोक्त सात्त्विक आदि भेदसे त्रिविध जीवसृष्टिका स्मरण कराते हैं—'इह हि' इत्यादिसे ।

यहाँपर ब्रह्मसे सब भूतोंकी * त्रिविध (सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारकी) उत्पत्ति जो पहले कही है, उसका यहाँपर स्मरण करना चाहिये ॥१२॥

अपने संकल्पकी विचित्रतासे ब्रह्माण्डाकारमें परिणत हिरण्यगर्भके मनका विनाश प्रलयमें प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके कार्य भौतिक पदार्थोंका विलय देखा जाता है। इसलिए वह भी नश्वर है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार मूलकारण मनमें विनाशस्वभावताका निश्चय होनेपर उसके तुल्य स्वभाव होनेके कारण हमारे मनमें भी उक्त विनाशस्वभावताकी संभावना की जा सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'तत्रेदं' इत्यादिसे ।

आद्य मनकी कल्पनासे चतुर्मुखाकार देहवाला मैं हूँ, इस प्रकारकी जो ब्रह्मरूपिणी संकल्पमयी कल्पना है तद्रूप होकर वह जिसका संकल्प करती है, उसीको देखती है, क्योंकि वह सत्यसंकल्प है। उसीसे भुवनरूपी आडम्बरकी कल्पना होती है ॥ १३ ॥

---

* यद्यपि बारह प्रकारकी जीवजातियाँ पहले कही गई हैं तथापि बारहों जातियोंका सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंमें अन्तर्भाव होनेसे यहाँ तीन प्रकारकी कही गई हैं अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेदसे यहाँ तीन प्रकारकी जीवजातियाँ कही गई हैं। उन तीनों प्रकारोंकी सृष्टियोंका मूल कारण हिरण्यगर्भका मन ही है। हिरण्यगर्भके मनके संकल्पानुसार और मन भी उनके कारण हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है।

तत्र जननमरणसुखदुःखमोहादिकं संसरणं कल्पयन्ती कल्पानुरचनाबहुनाममन्थरं स्थित्वा स्वयं विलीयते हिमकणिकेवाऽऽतपगता ॥ १४ ॥

कालोदितः सङ्कल्पवशात् पुनरन्यतया जायते साऽपि पुनर्विलीयते पुनरप्युदेति सैवेति भूयो भूयोऽनुसंसरन्ती स्वयमुपशाम्यति ॥ १५ ॥

इत्थमनन्ता ब्रह्मकोटयोऽस्मिन् ब्रह्माण्डेऽन्येषु च समतीताभविष्यन्तीति सन्ति चेतरा अनन्ता यासां संख्याऽपि न विद्यते ॥ १६ ॥

एवमस्यां तादृशि वर्तमानायामीश्वरादागत्य जीवो यथा जीव्यते विमुच्यते तच्छृणु ॥ १७ ॥

हम लोगोंका जन्म, मरण आदि संसार भी उसीकी कल्पना है, ऐसा कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

जगत्‌में जन्म-मरण, सुख-दुःख, मोह आदि संसारकी कल्पना करती हुई, चार हजार युगवाले अपने दिनोंमें तत्-तत् अनुकूल रचनाओं द्वारा निर्मित देवता, असुर आदिके अनन्त नामोंसे भारपूर्वक स्थित होकर जैसे धूपमें रक्खा हुआ बर्फका टुकड़ा अपने कारण तेजमें लीन हो जाता है, वैसे ही वह भी शेष-शय्याशायी भगवान् विष्णुमें स्वयं विलीन हो जाती है ॥ १४ ॥

फिर सृष्टिकालमें भगवान्‌के नाभिकमलसे आविर्भूत होकर दूसरे कल्पकी सृष्टिके रूपसे पूर्वकी कल्पना उत्पन्न होती है और फिर कल्पान्तमें लीन हो जाती है और फिर उदित होती है, इस प्रकार जबतक अधिकारप्रापक प्रारब्धका क्षय नहीं होता, तबतक संसारके प्रवाहमें बहती हुई प्रारब्धका क्षय होनेपर स्वतः स्फुरित हुए आत्मबोधसे अपने आप शान्त हो जाती है ॥ १५ ॥

इस प्रकार अन्य हिरण्यगर्भोंके मनमें भी नश्वरता प्रमाणसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

इस ब्रह्माण्डमें भी प्रत्येक परमाणुमें करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी कल्पना है, इसलिए अनन्त ब्रह्माण्डकोटियाँ हैं और अन्य ब्रह्माण्डोंमें भी व्यतीत हो गईं, होंगी और हैं, जिनकी संख्या नहीं है ॥ १६ ॥

जैसे समष्टि मन पुरुषके प्रयत्नसे होनेवाले उपासना और ज्ञानसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं और शान्त होते हैं, वैसे ही व्यष्टि जीवोंके मन भी जन्म-मरणके हेतु काम, कर्म, वासना और संकल्पोंसे बढ़ते हैं। निरोध और ज्ञानाभ्यासके

ब्रह्मणो मनःशक्तिरभ्युदिता पुरःस्थिताकाशशक्तिमवलम्ब्य तत्रस्थपवनतानुपातिनी घनसङ्कल्पत्वं गच्छति ।। १८ ।।

ततः पुरःप्राप्तभूततन्मात्रपञ्चकतामेत्याऽन्तःकरणतां नीत्वा सा त्वसूक्ष्मा प्रकृतिर्भूत्वा गगनपवनतेजोरूपतासङ्कल्पात् प्रालेयरूपतामुपेत्य शाल्योषधिं विशन्ती प्राणिनां गर्भतां च गच्छति ।। १९ ।।

जायते तस्मात्ततः पुरुषः सम्पद्यते ।। २० ।।

प्रकर्षसे शान्त हो जाते हैं, इसलिए मनोनाश असम्भावनीय नहीं है, इस आशयसे सृष्टिकालसे लेकर मोक्षपर्यन्त जीवसृष्टिका संक्षेप और विस्तारसे वर्णन करते हैं—**'एवमस्याम्'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त समष्टिकल्पनाके परमात्मामें स्थित होनेपर व्यष्टि जीव जैसे परमात्मासे आकर जीता है और मुक्त होता है, उसे सुनिये ।। १७ ।।

संक्षेपसे सूचित अर्थका व्याख्यान करनेकी इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी पहले 'ईश्वरादागत्य' (ईश्वरसे आकर) इस अंशका विवरण करते हैं—**ब्रह्मणो मनःशक्तिः'** इत्यादिसे ।

प्रलयकालमें उपाधिका विलय होनेसे अव्याकृतमें लीन हुए जीवोंकी सस्कारमात्रसे अवशिष्ट मनःशक्ति—पहले अव्याकृतसे शब्दतन्मात्ररूप आकाशशक्तिका आविर्भाव होनेपर पहलेसे उत्पन्न उसी आकाशशक्तिका अवलम्बन करके स्वयं भी उदित होकर पवनशक्तिरूप स्पर्शतन्मात्रकी उत्पत्ति होनेपर पवनमें स्थित पवनताका अनुमरण करनेवाली हो—ईषत् चलनरूप घनसङ्कल्पताको प्राप्त होती है ।। १८ ।।

तदनन्तर पहले प्राप्त रूप, रस और गन्धरूप तन्मात्राके क्रमसे अपञ्चीभूत पञ्चतन्मात्रताको प्राप्त होकर मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्तरूप व्यवहारहेतु जीवोपाधिताको प्राप्त हो पूर्वोक्त मनःशक्ति वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकृति होती है । पञ्चीकृत स्थूल प्रकृति होकर पञ्चीकृत आकाश, वायु, तेजोरूपताके सङ्कल्पसे हिम, वृष्टि आदि जल रूपताको प्राप्त होकर धान, गेहूं आदि ओषधियोंमें प्रवेश करती हुई अन्न होती है । पुरुषों द्वारा उपभुक्त होकर वीर्यरूपताको प्राप्त होकर कलल, बुद्बुदादिके क्रमसे प्राणियोंकी गर्भदशाको प्राप्त होती है ।। १९ ।।

तदनन्तर उससे जीव उत्पन्न होता है । जन्मके अनन्तर कदाचित् पुण्यकी अधिकतासे वह कर्म और ज्ञानका अधिकारी पुरुष होता है ।। २० ।।

तेन पुरुषेण जातमात्रेणैव बाल्यात्प्रभृति विद्याग्रहणं कर्तव्यं गुरवोऽनुगन्तव्याः ॥ २१ ॥

ततः क्रमात् पुंसस्तवेव चमत्कृतिर्जायते ॥ २२ ॥

स्वच्छदृशा चित्तवृत्तेः पुरुषस्य हेयोपादेयविचार उत्पद्यते ॥ २३ ॥

ताद‍ृग्विवेकवति सङ्कलिताभिमाने
पुंसि स्थिते विमलसत्त्वमयाग्र्यजातौ ।
सप्तात्मिकाऽवतरति क्रमशः शिवाय
चेतःप्रकाशनकरी ननु योगभूमिः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे साधकजन्मावतारो नाम षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥



उस पुरुषको पैदा होते ही बचपनसे लेकर विद्याध्ययन करना चाहिये और तत्त्वज्ञानी गुरुका अनुगमन करना चाहिये ॥ २१ ॥

तब क्रमशः पुरुषको तुम्हारे तुल्य विवेक, वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति होती है ॥ २२ ॥

चित्तवृत्तिकी स्वच्छदृष्टिसे पुरुषको संसाररूपी अनर्थ हेय है और मोक्षोपाय उपादेय है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

गद्यों द्वारा उक्त अर्थके सारांशको पद्यसे कहकर उपसंहार करते हुए उक्त प्रकारके पुरुषमें आत्यन्तिक मनोनाशकी उपायभूत योगभूमिकाका अवतरण करते हैं—'**ताद‍ृग्**' इत्यादिसे ।

अन्यान्य साधनोंसे वृद्धिको प्राप्त हुए पूर्वोक्त विवेकसे युक्त, निर्मल सत्त्वगुणमयी ब्राह्मणादि उत्तम जातिवाला मैं हूँ यों अभिमान रखनेवाले अधिकारी पुरुषके अटल होनेपर परमपुरुषार्थके लिए आगे कही जानेवाली सात प्रकारकी योगभूमि, जो कि चित्तको ज्ञान द्वारा प्रकाशमान करनेवाली है, क्रमसे (चित्तकी उपरमताके तारतम्यके क्रमसे) आविर्भूत होती है ॥ २४ ॥

एक सौ सोलह सर्ग समाप्त



सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कीदृश्यो भगवन् योगभूमिकाः सप्त सिद्धिदाः ।
समासेनेति मे ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ।
पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥ २ ॥

एक सौ सत्रह सर्ग

[ज्ञानभूमिके भेदोंके उपोद्घातरूपसे सात प्रकारकी अज्ञानभूमिकाका प्रसंगतः वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सिद्धि देनेवाली सात योगभूमिकाएँ कैसी हैं, हे सर्वतत्त्ववेत्ताओंमे श्रेष्ठ मुनिजी, यह सब मुझसे संक्षेपसे कहिये* ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा 'इति' शब्दसे पूछे गये ज्ञानभूमिकाके बोधके लिए उपयोगी अज्ञानभूमिकाके भेदको पहले कहनेकी इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी ज्ञान और अज्ञानकी भूमिकाओंको अलग-अलग करके दिखाते हैं—'**अज्ञानभूः**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रामचन्द्रजी, अज्ञानभूमि और ज्ञानभूमि दोनों सात प्रकारकी हैं, किन्तु इन दोनोंके ही असंख्य अन्यान्य भेद होते हैं यानी गुणोंकी विचित्रतासे ये दोनों असंख्य भेदोंमें विभक्त होती हैं। स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप पुरुषकार और भोगमें रागकी दृढतारूप रसावेश ये दोनों अज्ञानभूमिकी स्थिरताके मुख्य कारण हैं और शास्त्रोंमें उक्त नियमसे श्रवण-मननरूप पुरुषकार तथा मुमुक्षा-दृढ़तारूप रसावेश (मोक्ष ही परमसुख है इस प्रकारकी विवेचनासे मोक्षरसका रसिक होना) ये दो ज्ञानभूमिकी स्थिरताके हेतु हैं । और सबका अधिष्ठान (आधार) ब्रह्म उन दोनोंका आधार है एवं उसकी ही सत्तासे उन दोनोंका अस्तित्व है । तथा उसके प्रकाशके उत्कर्ष और अपकर्षसे उक्त दोनों भूमियोंमें

* श्लोकस्थित 'इति' शब्द उनके लक्षणभेदों और उनके उपयोगी अन्य अर्थोंके प्रश्नका सूचक है ।

स्वयत्नसाधकरसान्महासत्ताभरोन्नतेः ।
एते प्रतिपदं बद्धमूले संफलतः फलम् ॥ ३ ॥
तत्र सप्तप्रकारां त्वमज्ञानस्य भुवं शृणु ।
ततः सप्तप्रकारां त्वं श्रोष्यसि ज्ञानभूमिकाम् ॥ ४ ॥
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥ ५ ॥
शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषोदयाभावात् तेषां नाऽज्ञत्वसम्भवः ॥ ६ ॥

ह्रास और वृद्धि देखी जाती है। एवं उन-उन कारणोंसे ये सब भूमियाँ अपने-अपने विषयसे बद्धमूल होकर अपने-अपने अनुरूप संसारस्थित दुःखरूप तथा संसारसे मुक्ति निरतिशयानन्दप्राप्तिरूप उत्तम फलको उत्पन्न करती हैं। जैसे नीचेकी भूमिके सात पद उत्तरोत्तर रजोगुण, तमोगुण और दुःखसे पूर्ण नरक पर्यन्त हैं तथा ऊपरकी भूमिके उत्तरोत्तर सत्त्वगुण, सुख और ज्ञानसे पूर्ण सत्यलोक पर्यन्त सात पद हैं तथा क्रममुक्ति उनका फल है वैसे ही ये अज्ञानभूमि और ज्ञानभूमि भी हैं, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

उनमें से पहले आप सात प्रकारकी अज्ञानभूमिको सुनिये। तदनन्तर आप सात प्रकारकी ज्ञानभूमिको सुनेंगे ॥ ४ ॥

पहले दोनों भूमियोंमें से प्रत्येकका फलतः साधारण लक्षण कहते हैं— **'स्वरूपा०'** इत्यादिसे ।

स्वरूपमें स्थिति मुक्ति है एवं अहन्ताकी प्रतीति उसकी च्युति है ('अहं' यह बोध होनेपर ही स्वरूपावस्थितिरूप मुक्ति च्युत हो जाती है, इस कारण बद्ध अवस्था प्राप्त होती है) क्योंकि 'अहम्' का उदय होनेपर स्वरूप-स्थितिरूप मुक्तिकी विस्मृति होती है। संक्षेपतः यही तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञका लक्षण है ॥ ५ ॥

उसमें पहलेका लक्षण स्पष्ट करते हैं—**'शुद्ध०'** इत्यादिसे ।

जो राग-द्वेषका उदय न होनेसे शुद्ध सन्मात्र ज्ञानरूपसे विचलित नहीं होते हैं, उनमें अज्ञताकी संभावना नहीं है ॥ ६ ॥

यत्स्वरूपपरिभ्रंशाच्चेत्यार्थे चिति मज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥ ७ ॥
अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये हि या स्थितिः ।
निरस्तमनना याऽसौ स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥ ८ ॥
संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलान्तरिव स्थितिः ।
जाड्यनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः स्मृता ॥ ९ ॥
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदे निःस्पन्दतां गते ।
अजडा या प्रकचति तत्स्वरूपमिति स्थितम् ॥ १० ॥
तत्राऽऽरोपितमज्ञानं तस्य भूमीरिमाः शृणु ।
बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत् तथैव च ॥ ११ ॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।
इति सप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम् ॥ १२ ॥

जो स्वरूपसे भ्रष्ट होनेके कारण चेत्य अर्थमें (विषयमें) चितिका मग्न होना है, इससे बढ़कर मोह न तो कोई हुआ और न होगा ॥ ७ ॥

चित्तके एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें जानेपर यानी पूर्व विषयसे हटकर अन्य विषयमें जानेके पहले बीचमें जो मननरहित स्थिति है, वह स्वरूपस्थिति कही जाती है ॥ ८ ॥

सब प्रकारकी कल्पनाओंसे शून्य, जड़ता और निद्रा—इन दो अवस्थाओंसे निर्मुक्त तथा शिलाके मध्यके तुल्य (जैसे पत्थरका मध्य निश्चल होता है उसके सदृश) जो स्थिति है, वह स्वरूपस्थिति कही गई है ॥ ९ ॥

अन्दर अहन्तांशके और बाहर भेदके विनष्ट और शान्त होनेपर तथा दोनों जगह निस्पन्द होनेपर स्वप्रकाश चित्का जो विकास है, वही स्वरूप है यह सिद्धान्त है ॥ १० ॥

उस प्रत्यक् चैतन्यमें अज्ञानका अनादिरूपसे अध्यास किया गया है। इस समय उस अज्ञानकी इन भूमियोंको आप सुनिये—बीजजाग्रत्, जाग्रत् महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति इस प्रकार सात तरहका मोह है। यह सात प्रकारका मोह परस्पर संश्लिष्ट होकर बहुतसे नामोंको धारण करता है। सात प्रकारके मोहोंमें से प्रत्येकका लक्षण आप सुनिये। सृष्टिके आदिमें अथवा जागरणके

श्लिष्टो भवत्यनेकाख्यः शृणु लक्षणमस्य च ।
प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः ॥ १३ ॥
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥ १४ ॥
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संसृतिं शृणु ।
नवप्रसूतस्य परादयं चाऽहमिदं मम ॥ १५ ॥
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ॥ १६ ॥
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ।
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥ १७ ॥

आदिमें मायाशबल चैतन्यसे प्राणधारण आदि क्रियारूप उपाधिसे भविष्यमें होनेवाले चित्त, जीव आदि नामशब्दों और उनके अर्थोंका भाजनरूप तथा वक्ष्यमाण जाग्रत्का बीजभूत जो प्रथम चेतन (चिदाभाससवलित स्वरूप) है, वह बीजजाग्रत् कहलाता है ॥ ११–१४ ॥

यह ज्ञानकी नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् संसारको सुनिये। नवप्रसूत बीजजाग्रत् के बाद 'अयं स्थूलदेहोऽहम्' (यह स्थूल देह मैं हूँ) 'इदं देहभोग्यजातं मम' (यह देह-भोग्यसमूह मेरा है) ऐसी जो अपनेमें प्रतीति है, उसे ही जाग्रत् कहते हैं। यह अवस्था महाजाग्रत्से विलक्षण है, क्योंकि इसमें पूर्वके अनुभवका अभाव है। 'यह देह मैं हूं', 'यह भोग्य वस्तुजात मेरा है' इस जाग्रत् प्रतीतिके जन्मके अनन्तर उदयको प्राप्त हुआ अथवा पूर्वजन्मके सजातीय संस्कारके उद्बोधसे अच्छी तरह उदित हुआ, अतएव अभ्याससे दृढ़, अर्थात् जैसे ब्राह्मणादिजन्ममें तुल्यता रहनेपर भी जन्मान्तरके अभ्याससे किसीमें ब्राह्मणोचित क्रियाओंमें विशेष आग्रह तथा निपुणता देखी जाती है, सबमें ऐसी बात नहीं देखी जाती, अतः ऐहिक या जन्मान्तरीय दृढाभ्याससे दृढ़ताको प्राप्त हुआ जो पूर्वोक्त जाग्रत्प्रत्यय है, उसीको महाजाग्रत् कहते हैं।

जाग्रत्स्वप्नका लक्षण करते हैं—**'अरूढम्'** इत्यादिसे।

जाग्रत् पुरुषका अनभ्याससे अदृढ़ अथवा दृढाभ्याससे दृढ़ जो तन्मयात्मक मनोराज्य है, उसीको जाग्रत्स्वप्न कहते हैं। जैसे राजा लवणको हुआ था।

यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः ॥ १८ ॥
अभ्यासात् प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।
अल्पकालं मया दृष्टमेवं नो सत्यमित्यपि ॥ १९ ॥
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥ २० ॥
चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः ।
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः ॥ २१ ॥
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।
षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥ २२ ॥

चन्द्रदर्शन, शुक्तिरूप्य आदिकी भ्रान्तियाँ भी जाग्रत् स्वप्नके ही भेद हैं, ऐसा कहते हैं—**'द्विचन्द्र०'** इत्यादिसे ।

दो चन्द्रमाओंका दर्शन, शुक्तिरूप्य, मृगतृष्णा आदि भेदसे अभ्यासवश जाग्रद्भावको प्राप्तकर स्वप्न अनेक प्रकारका होता है ।

स्वप्नका लक्षण करते हैं—**'अल्पकालम्'** इत्यादिसे ।

जिसे मैंने अल्पकाल तक देखा, जो सत्य भी नहीं है, इस तरहकी निद्राके मध्यमें अथवा निद्राके अन्तमें निद्राकालमें अनुभूत पदार्थोंकी जो प्रतीति है, उसे स्वप्न कहते हैं, वह स्वप्न अज्ञ पुरुषके महाजाग्रत्में स्थित स्थूल शरीरके कण्ठसे लेकर हृदयपर्यन्त नाडीप्रदेशमें होता है ॥ १५–२० ॥

स्वप्नके उक्त लक्षणके उपपादनके लिए पुनः स्वप्नका ही विशेषणों द्वारा वर्णन करते हैं—**'चिर०'** इत्यादिसे ।

चिरकालतक दर्शनके अभावसे अविकसित महाशरीरवाला दृढ़ अभिमान या चिरकाल तक स्थायित्वकी कल्पना द्वारा जाग्रद्भावसे प्ररूढ हुआ वह स्वप्न महाजाग्रत्की तुलनाको प्राप्त हुआ है, जैसे महाराज हरिश्चन्द्रका बारह वर्ष महा-जाग्रत्के तुल्य हो गया था । यह देहका नाश होनेपर या नाश न होनेपर भी होता है । दैववश देहके नाश होनेपर भी उसी तरह आगे अनुवृत्त होता है, इसलिए श्लोकमें 'क्षते देहे' ऐसा कहा है ।

सुषुप्तिका लक्षण करते हैं—**'षडवस्था०'** इत्यादिसे ।

भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्टशिलादयः ॥ २३ ॥
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः ।
सप्तावस्था इति प्रोक्ता मयाऽज्ञानस्य राघव ॥ २४ ॥
एकैका शतशाखाऽत्र नानाविभवरूपिणी ।
जाग्रत्स्वप्नश्चिरं रूढो जाग्रतावेव गच्छति ॥ २५ ॥
नानापदार्थभेदेन सविकासं विजृम्भते ।
अस्यामप्युदरे सन्ति महाजाग्रद्दशादशः ॥ २६ ॥

पूर्व छहों अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो जीवकी जड अवस्था है, वह सुषुप्ति है यानी पूर्व छहों अवस्थाएँ कर्मफलकी भोगभूमिरूप होनेसे कर्मज हैं, सुषुप्ति तो उद्भूत कर्मोंका भोगसे क्षय होनेपर दूसरे कर्मोंका अनुदय होनेपर और मध्यकालमें भोग्य सकल स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चके विलीन हो जानेपर प्रपञ्चके बीज अज्ञानमात्रके शेष रहनेसे अज्ञानोपहित चैतन्यशेषरूपा ही है, जो जीवकी जडावस्था है। वही जड़ावस्था होनेवाले दुःखोंका अनुभव करानेवाली वासना तथा कर्मोंसे पूर्ण सुषुप्ति कही जाती है।

सुषुप्तिकालमें कारणमें विलीन जगत्की वासनारूपमें सत्ता रहती है, अन्यथा फिर इसकी उत्पत्ति कैसे होती ? इस आशयसे कहते हैं—'**एते**' इत्यादिसे।

ये तृण, ढेले, शिला आदि सब पदार्थ उस अवस्थामें भी परमाणुके प्रमाणसे रहते हैं।

उपसंहार करते हैं—'**सप्तावस्था**' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आपसे अज्ञानकी ये सात अवस्थाएँ कही हैं ॥२१—२४॥

उनमें एक एकके अन्दर दूसरी-दूसरीका आविर्भाव होनेसे परस्परसंमिश्रणसे अनन्त भेद होते हैं, ऐसा कहते हैं—'**एकैका**' इत्यादिसे।

इनमें नाना विभववाली एक एककी सैकड़ों शाखाएँ हैं। चिरकाल तक बद्धमूल हुई जाग्रत्स्वप्नावस्था जाग्रदवस्थामें ही मिलती है। उक्त अवस्था नाना पदार्थोंके भेदसे खूब विकासके साथ वृद्धिको प्राप्त होती है। इस जाग्रदवस्थाको प्राप्त हुई जाग्रत्स्वप्न अवस्थाके भी अन्दर महाजाग्रद्दशारूप प्रतीतियाँ पृथक् पृथक् हैं ॥ २५, २६ ॥

तासामप्यन्तरे लोको मोहान्मोहान्तरं व्रजेत् ।
अन्तःपातिजलावर्त इव धावति नौर्भ्रमम् ॥ २७ ॥
काश्चित् संसृतयो दीर्घं स्वप्नजाग्रत्तया स्थिताः ।
काश्चित् पुनः स्वप्नजाग्रज्जाग्रत्स्वप्नास्तथेतराः ॥ २८ ॥
अज्ञानभूमिरिति सप्तपदा मयोक्ता
नानाविकारजगदन्तरभेदहीना ।
अस्याः समुत्तरसि चारुविचारणाभि-
र्दृष्टे प्रबोधविमले स्वयमात्मनीति ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणेऽज्ञानभूमिकावर्णनं नाम सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥



उनके भी अन्दर जीव जैसे नदीके भीतर गिरनेवाले जलभँवरमें नौका भ्रमणको प्राप्त होती है यानी चक्कर काटती है, वैसे ही एक मोहसे दूसरे मोहको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

कोई सृष्टियाँ दीर्घकालतक स्वप्न-जाग्रत्‌रूपसे स्थित हैं, कोई सृष्टियाँ स्वप्नजाग्रत हैं और अन्य जाग्रत्स्वप्न हैं ॥ २८ ॥

यों वर्णित अज्ञानभूमिकाका उपसंहार कर रहे श्रीवसिष्ठजी उससे उतरनेका उपाय कहते हैं—'**अज्ञान०**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार सात प्रकारकी अज्ञानभूमिकाका मैंने वर्णन किया। यह अज्ञानभूमि विविध विकारोंसे तथा अन्यान्य जगतोंके भेदोंसे अवश्य त्याज्य है। पूर्वमें कही गई एवं आगे कही जानेवाली सुन्दर विचारणाओंसे प्रत्यङ्मात्र एकरस आत्माका दर्शन होनेपर इस अविद्याभूमिसे आप अवश्य बाहर निकल जायँगे ॥ २९ ॥

एक सौ सत्रह सर्ग समाप्त

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयाऽनघ ।
नाऽनया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जसि ॥ १ ॥
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ २ ॥
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्तं भूमिकासप्तकात् परम् ॥ ३ ॥

एक सौ अट्ठारह सर्ग

[मोक्षपर्यन्त सात प्रकारकी ज्ञानभूमिकाका अपने-अपने लक्षणोंके साथ भलीभाँति वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सात प्रकारकी इस ज्ञानभूमिकाको आप सुनिये। अभ्यासक्रमसे अनुभवमें आई हुई इस ज्ञानभूमिसे फिर आप अज्ञानरूपी कीचड़में नहीं फँसेंगे ॥ १ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि योगशास्त्रमें यम, नियम आदि आठ अङ्गोंके भेदोंसे भिन्न जो योगभूमिकाएँ प्रसिद्ध हैं, क्या वे ही तो ये नहीं हैं? इसपर कहते हैं, वे ये नहीं हैं—**'वदन्ति'** इत्यादिसे।

योग-सांख्यवादी बहुत भेदोंसे युक्त योगभूमिकाओंको कहते हैं, उन योग-भूमिकाओंका फल तुच्छ सिद्धि है। वे औरोंको अभीष्ट हैं। मुझे तो ये ज्ञानभूमिकाएँ ही अभीष्ट हैं, क्योंकि ये परम पुरुषार्थरूप कल्याण देनेवाली हैं ॥ २ ॥

क्या ज्ञेय है अथवा ज्ञान क्या है? जिसकी भूमिकाओंका आप वर्णन करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर उनका लक्षण कहते हैं—**'अवबोधम्'** इत्यादिसे ॥ ३ ॥

अखण्डाकार चित्तवृत्तिमें आरूढ़ ब्रह्म अज्ञानका निवर्तक होनेसे ज्ञान कहा जाता है, उक्त ज्ञान सात भूमिकावाला है। अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर उसी ब्रह्मका औपचारिक नाम ज्ञेय या मुक्ति है, इस प्रकार उपचारसे एक ही ब्रह्म दो प्रकारका कहलाता है। ज्ञेय या मुक्ति नामकी स्वस्थावस्था तो सात भूमिकाओंके अनन्तर प्रतिष्ठित है ॥ ३ ॥

सत्यावबोधो मोक्षश्चैवेति पर्यायनामनी ।
सत्यावबोधो जीवोऽयं नेह भूयः प्ररोहति ॥ ४ ॥
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ ५ ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥ ७ ॥
स्थितः किं मूढ एवाऽस्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ ८ ॥

पूर्वापर अवस्थाओंसे कल्पित अवान्तरप्रवृत्तिनिमित्तभूत भेदके, जो कि मिथ्याभूत है, नष्ट होनेपर अवबोध और मोक्ष पदोंकी ब्रह्मरूप एकार्थमात्रमें निष्ठा होनेसे पर्यायरूपता सिद्ध हुई, क्योंकि उक्त प्रकारका जीव फिर उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि उन दोनोंमें भेद होनेसे पर्यायता न हो, इस आशयसे कहते हैं—**'सत्यावबोधो'** इत्यादिसे ।

सत्यावबोध और मोक्ष ये दोनों ही पर्यायवाचक शब्द हैं, क्योंकि जिस जीवको सत्य अवबोध हो जाता है, उसे फिर इस संसारमें जन्म लेना नहीं पड़ता, इससे सिद्ध हुआ कि जो सत्यावबोध है, वही मोक्ष है ॥ ४ ॥

पहली ज्ञानभूमि शुभेच्छा कही गई है, दूसरीका नाम विचारणा है, तीसरी तनुमानसा कही जाती है, चौथी सत्त्वापत्ति है, उसके बाद पाँचवी असंसक्ति नामकी योगभूमि है, छठी पदार्थाभावनी है एवं सातवीं तुर्यगा कहलाती है ॥ ५–६ ॥

मुक्ति इनके अन्तमें स्थित है। उसमें फिर शोक नहीं होता। हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सात भूमिकाओंके पृथक्-पृथक् लक्षणोंको आप सुनिये ॥ ७ ॥

मैं मूढ होकर ही क्यों स्थित हूँ, विचारित वेदान्तवाक्योंसे और गुरु जनोंसे परमतत्त्वको देखूँगा, इस प्रकारकी साधनचतुष्टयसम्पत्तिपूर्वक जो इच्छा है, उसे विद्वान् लोग शुभेच्छा कहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि निषिद्ध कृत्योंके त्याग, निष्काम यज्ञ, दान आदिके अनुष्ठानसे उत्पन्न, संन्यास-साधनचतुष्टयसम्पत्तिसे युक्त,

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥
विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
याऽत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥

मुक्तिपर्यन्त रहनेवाली, श्रवण आदिमें प्रवृत्तिके फलरूप आत्मसाक्षात्कारकी उत्कट इच्छा ही पहली भूमिका है ॥ ८ ॥

शास्त्राभ्यास, गुरुओंके साथ संसर्ग, वैराग्य और अभ्यासपूर्वक जो सदाचारमें प्रवृत्ति* है, वह विचारणा नामकी ज्ञानभूमि है ॥ ९ ॥

विचारणा और शुभेच्छासे साधनचतुष्टयसम्पत्तिपूर्वक किये गये श्रवण और मननसे युक्त निदिध्यासनसे मनकी शब्द आदि विषयोंमें असक्ततारूप जो तनुता (सविकल्प समाधिरूप सूक्ष्मता) है, वह तनुमानसानामक भूमिका कही गई है। उक्त भूमिकामें मन अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए वह तनुमानसा कही गई है। योगशास्त्रमें भी कहा गया है—

'श्रोत्रादिकरणैर्यावच्छब्दादिविषयग्रहः ।
तावद्ध्यानमिति प्रोक्तं समाधिः स्यात्ततः परः ॥'

अर्थात् जबतक श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि विषयोंका ग्रहण होता है तबतक ध्यान कहलाता है, तदनन्तर यानी श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे शब्द आदि विषयोंका ग्रहण न होनेपर समाधि होती है ॥ १० ॥

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा—इन तीन भूमिकाओंके अभ्याससे बाह्य विषयोंमें संस्कार न रहनेके कारण चित्तमें अत्यन्त विरक्ति होनेसे माया, मायाके कार्य और तीन अवस्थाओंसे शोधित, सबके आधार, सन्मात्ररूप आत्मामें क्षीरमें जलके तुल्य ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयभावके विनाशसे साक्षात्कारपर्यन्त जो स्थिति यानी निर्विकल्पक समाधिरूपा स्थिति है, वह सत्त्वापत्ति है, क्योंकि उसमें मन परमात्मसत्त्वरूपसे स्थित हो जाता है। इस भूमिकामें जीव ब्रह्मवित् कहा जाता है ॥ ११ ॥

---

* गुरुशुश्रूषा, भिक्षाशभोजन, शौच आदि यतिधर्मपालनसहित श्रवण मनन ही यहांपर सदाचार है, अन्य सदाचार चित्तशुद्धिमात्रका हेतु है, अतः वह पहले ही सिद्ध है।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥ १२ ॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ १३ ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनाऽर्थभावनात् ।
पदार्थभावनानाम्नी षष्ठी सञ्जायते गतिः ॥ १४ ॥

शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चार ज्ञानभूमिकाओंके अभ्याससे बाह्य और आभ्यन्तर विषयाकारोंसे और उनके संस्कारोंसे असम्बन्धरूप समाधिपरिपाकसे चित्तमें वृद्धिको प्राप्त हुआ निरतिशयानन्द, नित्यापरोक्ष, ब्रह्मात्म-भावसाक्षात्काररूप चमत्कार जिसमें उत्पन्न हुआ है, ऐसी पॉचवीं ज्ञानभूमि असंसक्ति नामकी कही गई है। यद्यपि उत्तमाधिकारियोंको द्वितीय भूमिकामें भी शब्दजन्य अपरोक्षज्ञानसे साक्षात्कार होना प्रसिद्ध है तथापि पॉचवी भूमिकामें द्वैत-संस्कारके अत्यन्त उच्छेदसे उत्पन्न अत्यन्त उत्कर्षका और चतुर्थ भूमिकाके अन्तमें उत्पन्न साक्षात्कारकी पॉचवी भूमिकामें दृढतरताकी उपपत्तिका सूचन करनेके लिए 'रूढ' चमत्कारका विशेषण है। अतएव चौथी भूमिकाके अन्तमें कहींपर पॉचवी भूमिकाको प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्मविद्वर कहलाता है। इस ज्ञानभूमिकामें अविद्या और अविद्याके कार्योंका संसर्ग बिलकुल नहीं रहता, अतएव यह असंसक्ति नामकी भूमिका कही जाती है ॥ १२ ॥

इसी भूमिकाके अत्यन्त परिपाकसे आगेकी दो भूमिकाएं होती हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**भूमिकापञ्चका०**' इत्यादिसे।

पाँच भूमिकाओंके अभ्याससे आत्मारामरूपसे दृढ स्थिति होती है। बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंकी भावना न होनेसे यह भूमिका 'पदार्थाभाविनी' कहलाती है ॥ १३ ॥

यदि इस भूमिकामें पदार्थोंकी भावना नहीं होती है, तो देहयात्रा कैसे सम्पन्न होगी ? इसपर कहते हैं—'**परप्रयुक्तेन**' इत्यादिसे।

चिरकाल तक दूसरेके द्वारा किये गये प्रयत्नसे इसमें अर्थोंकी प्रतीति होती है, इसलिए पदार्थाभावनानामक यह छठी भूमिका कही जाती है। इस भूमिकामें स्थित पुरुष ब्रह्मविद्वरीयान् कहलाता है ॥ १४ ॥

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्याऽनुपलम्भतः ।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ १५ ॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्याऽवस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥ १६ ॥
ये हि राम महाभागाः सप्तमीं भूमिकां गताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥ १७ ॥
जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्रकृतेनाऽर्थकार्याणि किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा ॥ १८ ॥
पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः सर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्रबुद्धवदक्षतम् ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त छः भूमिकाओंका बहुत दिनोंतक अभ्यास होनेसे दूसरेके प्रयत्नसे भी भेदकी प्रतीति न होनेसे जो एकमात्र स्वरूपमें स्थिति है, उसे तुर्यगा नामकी गति यानी ज्ञानभूमिका जानिये । 'तुर्यं जाग्रदाद्यवस्थात्रयनिर्मुक्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (जाग्रदादि तीन अवस्थाओंसे रहित शिव, अद्वैत, चौथा तुर्य माना गया है) इस श्रुतिसे उस प्रकारके विद्वान्के अनुभवसे सिद्ध ब्रह्मको प्राप्त होता है यानी जिस अवस्थामें आत्मरूपसे अखण्ड ब्रह्मका अनुभव करता है, वह तुर्यगा अवस्था है, उसको जो प्राप्त हो चुका, वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है । उक्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर और ब्रह्मविद्वरीयान्में चौथा है । उसे यह अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए यह तुर्यगा कहलाती है । यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषोंमें इसी देहमें विद्यमान रहती है । इस अवस्थाके बाद विदेहमुक्तिका विषय तुर्यातीत ब्रह्म ही है, अतः भूमिकाओंमें उसकी गणना नहीं की जाती ॥ १५,१६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो महापुरुष सातवीं भूमिकाको प्राप्त हो गये हैं, वे आत्माराम और महात्मा परम महत् पदको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखमें निमग्न नहीं होते । केवल देहयात्राके लिए छठी और सातवीं भूमिकाओंमें कुछ कार्य करते भी हैं अथवा नहीं भी करते ॥ १८ ॥

करते हैं या नहीं भी करते, इस कथनसे किसीको उनके यथेष्टाचारकी

आत्मारामतया तांस्तु सुखयन्ति न काश्चन ।
जगत्क्रियाः सुसंसुप्तान् रूपालोकाः स्त्रियो यथा ॥ २० ॥
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरः ।
न पशुस्थावरादीनां न च म्लेच्छादिचेतसाम् ॥ २१ ॥
प्राप्ता ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये ।
सदेहा वाऽप्यदेहा वा ते मुक्ता नाऽत्र संशयः ॥ २२ ॥
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता ।
मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥ २३ ॥

शङ्का न हो जाय, इसलिए यथेष्टाचारकी शङ्काका खण्डन करते हुए अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं—**'पार्श्वस्थ०'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त महात्मा पासमें स्थित पुरुषसे बोधित होकर तत्-तत् आश्रमोंमें स्थित पुरुषोंके आचारक्रमसे प्राप्त हुए सदाचारका ही आचरण करते हैं, जो कि फलकी आसक्तिसे दूषित नहीं रहता है। तात्पर्य यह निकला कि उक्त पुरुषोंकी यथेष्टाचारमें आसक्ति नहीं हो सकती। कहा भी है—'विदितब्रह्मतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्वविदां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥' (यदि तत्त्वज्ञानियोंकी यथेष्टाचारमें प्रवृत्ति हो, तो कुत्तों और तत्त्वज्ञानियोंके अपवित्र पदार्थके भक्षणमें कौन भेद होगा ? ॥ १९ ॥

आसक्तिरहित व्यवहारसे पुरुषको सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, इसको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—**'आत्मारामतया'** इत्यादिसे ।

अपने आत्मामें रमण करनेके कारण जगत्के व्यवहार जीवन्मुक्तोंको ऐसे ही सुख नहीं देते, जैसे कि गाढ नींदमें सोये हुए पुरुषोंको अत्यन्त सुन्दर रूपवाली स्त्रियाँ सुख नहीं देतीं ॥ २० ॥

ये सात ज्ञानभूमिकाएँ विद्वानोंको ही प्राप्त होती हैं। पशु, स्थावरादि अथवा म्लेच्छादिचित्तवाले (देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले) मनुष्योंको नहीं प्राप्त होतीं ॥२१॥

जो पशु (हनूमान् आदि), म्लेच्छ (धर्मव्याध आदि) आदि ('आदि' से प्रह्लाद, कर्कटी आदि असुर) भी इस ज्ञानदशाको प्राप्त हुए हैं, वे भी सदेह अथवा विदेह मुक्त ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है। चित् और अचित्की ग्रन्थिका विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होनेपर मुक्ति हो जाती है, क्योंकि मृगतृष्णामें

ये तु मोहात् समत्तीर्णा न प्राप्ताः पावनं पदम् ।
आस्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः ॥ २४ ॥
सर्वभूमिगताः केचित् केचिद्द्वित्रैकभूमिकाः ।
भूमिषट्कगताः केचित् केचित्सप्तैकभूमिकाः ॥ २५ ॥
भूमित्रयगताः केचित् केचिदन्त्यां भुवं गताः ।
भूचतुष्टयगाः केचित् केचिद्भूमिद्वये स्थिताः ॥ २६ ॥
भूम्यंशभाजनाः केचित् केचित्सार्द्धत्रिभूमिकाः ।
केचित् सार्धचतुर्भूगाः सार्धषड्भूमिकाः परे ॥ २७ ॥
विवेकिनो नरा लोके चरन्त इति भूमिषु ।
ग्रहायतनतापस्य दशाऽऽवेशेषु संस्थिताः ॥ २८ ॥

जलबुद्धि, शुक्तिमें रजतबुद्धिका जो बाध है, तद्रूप ही वह है ॥ २२ २३ ॥

जो लोग यद्यपि दूसरी-तीसरी भूमिओंमें या चौथी भूमिमें ज्ञानका उदय होनेसे आवरणका नाश होनेपर मोहसे भलीभाँति पार हो गये, तथापि प्रबल प्रारब्धप्रयुक्त विक्षेपके कारण परमपावन पदको प्राप्त नहीं हुए यानी आत्यन्तिक मनोनाशसे उपलक्षित, निरतिशयानन्द, पूर्णतारूप, विदेह कैवल्यको प्राप्त नहीं हुए, आत्मप्राप्तिमें संलग्न वे लोग इन भूमिकाओंमें स्थित हैं ॥ २४ ॥

एक ही जन्ममें कुछ लोग क्रमशः सब भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं, कोई दो या एक भूमिकाको प्राप्त होते हैं, कोई (सनकादि) एकमात्र सातवीं भूमिकामें स्थित रहते हैं, कोई तीन भूमिकाओंमें स्थित रहते हैं, कोई अन्तिम भूमिकामें चले जाते हैं, कोई चार भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं, कोई दो भूमियोंमें स्थित रहते हैं, कोई लोग ज्ञानभूमिके किसी एक हिस्से (आधा, तिहाई या चौथाई) तक रह जाते हैं, कोई साढ़े तीन भूमिकाओंतक पहुँचते हैं, कोई साढ़े चार, दूसरे साढ़े छः भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं ॥ २५- २७ ॥

पूर्वोक्त ज्ञानभूमियोंमें विचर रहे विवेकी पुरुष भूमात्माके दर्शनसे बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनके आधारभूत शरीरसे होनेवाले आध्यात्मिक आदि भेदोंसे भिन्न तापके बाधरूप आत्माके अन्तःप्रवेशमें उद्योगशील हैं ॥ २८ ॥

ते हि धीराः सुराजानो दशास्वासु जयन्ति ये ।
तृणायतेऽत्र　दिग्दन्तिघटाभटपराजयः ॥ २९ ॥
ये तासु भूमिषु जयन्ति हि ये महान्तो
वन्द्यास्त एव हि जितेन्द्रियशत्रवस्ते ।
सम्राड्विराडपि च यत्र तृणायते वै
तस्मात् परं जगति ते समवाप्नुवन्ति ॥ ३० ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ज्ञानभूमिकोपदेशो नाम अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥



इन्द्रियोंके साथ मनपर विजय पाना ही सब शत्रुओंकी जयोंसे उत्कृष्ट जय है, स्वात्मसाम्राज्य ही सब राज्योंसे बढकर राज्य है, अन्य राज्य श्रेष्ठ नहीं है, ऐसा कहते हैं—'ते हि' इत्यादिसे ।

वे लोग बड़े धीर उत्तम राजा हैं, जो इन दशाओंमें सर्वोत्कर्षरूपसे स्थित हैं । इन दशाओंमें स्थितिके आगे दिग्गजोंकी घटाओंके सहित सब शत्रुभटोंकी पराजय तृणके तुल्य नगण्य है ॥ २९ ॥

इन भूमियोंमें जिनकी जीत होती है यानी उत्कृष्ट स्थान होता है, वे निश्चय ही महात्मा हैं, वे ही वन्दनीय हैं, उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय पाई है । जिसने राजसूय यज्ञ किया, जो अकेले ही सारी पृथिवीका अधिपति है, राजाओंपर शासन करता है, वह सम्राट् यानी 'युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः ।' (अवस्थामें युवा, केवल युवा ही नहीं रोगादिविहीन युवा, शास्त्रवेत्ता, उत्तम शास्त्रोपदेशक, दृढ़देहवाला और बलवान् हो, एवं धनसे पूर्ण समस्त पृथिवी यदि उसके आधीन हो, उसका जो आनन्द है वही मनुष्यके पक्षमें एक पूर्ण आनन्द है) इस श्रुति द्वारा कहे मानुष आनन्दसे पूर्ण और विराट भी यानी देवानन्दकी परम अवधि भी जिस सप्तम भूमिमें तृणतुल्य तुच्छ हो जाते हैं, उससे बढ़कर विदेह कैवल्य सुखको यहींपर वे प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

एक सौ अट्ठारह सर्ग समाप्त



एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ऊर्मिकासंविदा हेम यथा विस्मृत्य हेमताम् ।
विरौति नाऽहं हेमेति तथाऽऽत्माऽहन्तयाऽनया ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

ऊर्मिकासंविदुदयः कथं हेम्नो यथा मुने ।
अहन्ता चाऽऽत्मन इति यथावद् ब्रूहि मे प्रभो ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

सत एवाऽऽगमापायौ प्रष्टव्यौ नाऽसतः सता ।
अहन्त्वमूर्मिकात्वं च सती तु न कदाचन ॥ ३ ॥

एक सौ उन्नीस सर्ग

[मायिक रूपका निराकरणकर एकमात्र सन्मात्रत्वका प्रदर्शन और भूमिकाओंमें स्थिर करनेके लिए युक्तिका विस्तारसे वर्णन]

उसके लिए परमात्माको सहज स्वकीय पूर्णानन्द स्वप्रकाशरूपताका विस्मरण होनेपर मायिक जीवभाव और जगत्भावके आरोपसे विविध दुःख, शोक आदिकी प्राप्ति होनेमें दृष्टान्त कहते हैं—'**ऊर्मिका०**' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्ण सब जगह सब कालोंमें एकमात्र सुवर्णस्वभाव है लेशमात्र भी उसमें सुवर्णशून्यता नहीं है, फिर भी वह अपनेमें कल्पित अँगूठीकी भ्रान्तिसे अपनी सुवर्णैकरसताको (एकमात्रसुवर्णरूपताको) न देखकर बाहरी मलके संसर्गसे होनेवाली कांस्यताकी कल्पनासे 'मैं सोना नहीं हूँ' यों रोता है [यद्यपि जड़ सुवर्णका रोदन सम्भव नहीं है तथापि 'अँगूठी' शब्दके व्यवहारसे अथवा स्वामीके रोदनसे सुवर्णरोदनका व्यवहार होता है] वैसे ही आत्मा भी अहन्तासे रोता है ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिजी, सुवर्णमें अँगूठीकी भ्रान्तिका उदय कैसे होता है और आत्मामें अहन्ता कैसे होती है ? दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनोंको आप युक्ति द्वारा स्पष्टरूपसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सत्के उत्पत्ति और विनाश स्वतःसिद्ध द्रष्टा द्वारा देखे जा सकते हैं, असत्के उत्पत्ति और विनाश कदापि

हेम हेम्न्यूर्मिकां च त्वं गृहाणेत्युदितो यदि ।
यद्दीयते सोर्मिकेण तत्तदस्ति न संशयः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तत्प्रभो किं स्यादूर्मिकात्वं तु कीदृशम् ।
अनयैवाऽर्थनिश्चित्या ज्ञास्यामि ब्रह्मणो वपुः ॥ ५ ॥

नहीं, इसलिए सत्के ही उत्पत्ति और विनाशको आपको पूछने चाहियें । अहन्ता और अँगूठीपना कभी भी सत् नही है; इसलिए उनके उत्पत्ति और नाश भी नहीं हो सकते । जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति—इन छः भावविकारोंमें बीचके चार सत्के ही होते हैं असत्के नही । वैसे ही उत्पत्ति और विनाश भी सत्के ही होते हैं, असत्में शक्ति ही कहाँ है कि वह उत्पत्तिक्रियाका और नाशक्रियाका आधार बने । यदि असत्के उत्पत्ति और नाश हों, तो असत्के धर्म उत्पत्ति और विनाश भी असत् हो जायँगे । ऐसी अवस्थामें वे देखे नहीं जा सकते, क्योंकि सत्का असत्से सम्बन्ध नही हो सकता, इसलिए सत् ही सुवर्ण अथवा ब्रह्म अँगूठी या अहन्तादिके वेषसे उत्पन्न होता है, यह भाव है ॥ ३ ॥

त्याग और ग्रहण आदि क्रियाका सम्बन्ध भी सत्का ही देखा जाता है, असत्का नही देखा जाता, ऐसा कहते हैं—**'हेम'** इत्यादिसे ।

यदि तुम्हें सुवर्ण लेना हो, तो तुम मूल्य देकर सुवर्णके लिए अँगूठी लो । इस प्रकार मध्यस्थ पुरुष द्वारा कहे गये खरीदनेवाले पुरुषके मूल्य देनेपर बेचनेवाला पुरुष बहुत मूल्यसे जो सुवर्ण देता है वह सत्य ही है, इसमें कोई संशय नही है । इसी प्रकार ब्रह्म ही सम्पूर्ण व्यवहारोंका विषय है । उससे अन्यका तनिक भी व्यवहारमें निरूपण नहीं किया जा सकता, यह भाव है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, यदि सुवर्ण ही खरीदना, बेचना आदि सम्पूर्ण व्यवहारोंका विषय है, तो उसमें प्रतीत हो रहे अँगूठी आदिके आकारका सुवर्णसे अतिरिक्त क्या स्वरूप होगा और वह किस प्रकारका होगा, जो कि अँगूठी आदि शब्दोंसे कहा जाता है । इसके निश्चयसे मै ब्रह्मके स्वरूपको जान जाऊँगा ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

रूपं राघव नीरूपमसतश्चेन्निरूप्यते ।
तद्वन्ध्यातनयाकारगुणांस्त्वं समुदाहर ॥ ६ ॥
ऊर्मिकात्वं मुधा भ्रान्तिर्मायैषाऽसत्स्वरूपिणी ।
रूपं तदेतदेवाऽस्याः प्रेक्षिता यन्न दृश्यते ॥ ७ ॥
मृगतृष्णाम्भसि द्वीन्दावहन्ता रूपकादिषु ।
एतावदेव रूपं यत् प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यते ॥ ८ ॥
यः शुक्तौ रजताकारं प्रेक्षते रजतस्य सः ।
न सम्प्राप्नोत्यणुमपि कणं क्षणमपि क्वचित् ॥ ९ ॥
अपर्यालोकनेनैव सदिवाऽसद्विराजते ।
यथा शुक्तौ रजतता जलं मरुमरीचिषु ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, असत्‌के रूपरहित रूपका यदि निरूपण किया जाता है, तो उसे आप बाँझके लड़केके आकार और गुणोंका निरूपण कहिये। भाव यह है कि सुवर्णमें जो अँगुलीयकत्व है वह अविचारसे ही है, विचार करनेपर तो वह कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

अँगूठीपना जो है वह केवल भ्रान्ति है, वह असत्स्वरूपिणी माया है।

यदि असत्‌का रूप कहा जाय, तो वह अविचार समयतक रहनेवाली मायाका रूप ही है, ऐसा कहते हैं—'**रूपं**' इत्यादिसे।

यदि उसको विचारकर देखा जाय, तो वह नहीं दिखाई देती यानी तुच्छ हो जाती है। इसलिए वह इस मायाका ही रूप है ॥ ७ ॥

ऐसी ही प्रसिद्धि दूसरे मायाकार्यमें दिखलाते हैं—'**मृगतृष्णाम्भसि**' इत्यादिसे।

मृगतृष्णाके जलमें और दो चन्द्रमाओंके भ्रममें और अहन्ता आदिमें यही रूप है, जो कि विचार करनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ ८ ॥

जो पुरुष सीपमें चाँदीके आकारको देखता है, वह चाँदीके अणुमात्र कणको एक क्षणके लिए भी कहींपर नहीं प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

जैसे सीपमें चाँदीपना और जैसे मरुभूमिमें जल अविचारसे ही प्रतीत होता है, वैसे ही असद्वस्तु ही अविचारसे सत्-सी प्रतीत होती है ॥ १० ॥

यन्नाऽस्ति तस्य नाऽस्तित्वं प्रेक्ष्यमाणं प्रकाशते ।
अप्रेक्ष्यमाणं स्फुरति मृगतृष्णास्विवाऽम्बुधीः ॥ ११ ॥
असदेव च सत्कार्यकरं भवति च स्थिरम् ।
बालानां मरणायैव वेतालभ्रान्तिसम्भ्रमः ॥ १२ ॥
हेमतां वर्जयित्वैकां विद्यते हेम्नि नेतरत् ।
ऊर्मिकाकटकादित्वं तैलादि सिकतास्विव ॥ १३ ॥
नेहाऽस्ति सत्यं नो मिथ्या यद् यथा प्रतिभासते ।
तत्तथाऽर्थक्रियाकारि बालयक्षविकारवत् ॥ १४ ॥
सद्वा भवत्वसद् वाऽपि सुरूढं हृदये हि यत् ।
तत्तदर्थक्रियाकारि विषस्येवाऽमृतक्रिया ॥ १५ ॥

जो वस्तु नहीं है, उसकी असत्ता विचार करनेपर प्रकाशित होती है। यदि विचार न किया जाय, तो मृगतृष्णामें जलबुद्धिकी तरह वह स्फुरित होती है जैसे कि सीपमें रजतभावका दर्शन होता है। यदि सीपका दर्शन न हो, तो वह रजतरूपमें प्रतीत होती है ॥ ११ ॥

असत् ही सत्कार्य करनेवाला और स्थिर होता है।

यदि कोई शङ्का करे, असद् वस्तुकी सत्कार्यकारिता और स्थिरता कहाँ देखी गई है ? तो इसपर कहते हैं—**'बालानाम्'** इत्यादिसे ।

वेतालकी भ्रान्तिसे उत्पन्न हुआ भय, रोदन आदि बालकोंके मरणके लिए होता है ॥ १२ ॥

जैसे बालूमें तेल आदि नहीं है वैसे ही सुवर्णमें केवल सुवर्णताको छोड़कर अन्य अङ्गुलीयकत्व, कटकत्व आदि नहीं है। यहांपर न तो कुछ सत्य है और न मिथ्या है यानी सत्य ही अर्थक्रियाकारी है अथवा मिथ्या ही अर्थक्रियाकारी है, यह कोई नियम नहीं है। जो वस्तु अधिष्ठानसत्तामें जैसे प्रतिभासित होती है वैसे ही वह अर्थक्रियाकारी होती है। जैसे कि बालकको असत् यक्षके दर्शन आदिसे विकार आदि होते हैं ॥ १३, १४ ॥

सद्वस्तु हो चाहे असद्वस्तु हो, जो हृदयमें सुदृढ़रूपसे जम गई, वही अर्थ-क्रियाकारी होती है। जैसे कि यह अमृत है, इस प्रकार विश्वास होनेपर विषसे भी अमृतकार्य होते हैं ॥ १५ ॥

परमैषैव साऽविद्या मायैषा संसृतिर्ह्यसौ ।
असतो निष्प्रतिष्ठस्य यदहन्त्वस्य भावनम् ॥ १६ ॥
हेम्न्यस्ति नोर्मिकादित्वमहन्ताद्यस्ति नाऽऽत्मनि ।
अहन्ताऽभाववस्त्वेवं स्वच्छे शान्ते सिते परे ॥ १७ ॥
न सनातनता काचिन्न च काचिद् विरिञ्चिता ।
न च ब्रह्माण्डता काचिन्न च काचित् सुतादिता ॥ १८ ॥
न लोकान्तरता काचिन्न च स्वर्गादिता क्वचित् ।
न मेरुता नाऽसुरता न मनस्त्वं न देहता ॥ १९ ॥
न महाभूतता काचिन्न च कारणता क्वचित् ।
न च त्रिकालकलना न भावाभाववस्तुता ॥ २० ॥
त्वत्ताऽहन्ताऽऽत्मता तत्ता सत्ताऽसत्ता न काचन ।
न क्वचिद् भेदकलना न भावो न च रञ्जना ॥ २१ ॥

यह परम अविद्या है, यही माया है और यही संसार है, जो कि प्रतिष्ठारहित असत् अहन्त्वकी भावना होती है। जैसे सुवर्णमें अङ्गुलीयकत्व आदि नहीं है वैसे ही आत्मामें अहन्त्व आदि नहीं है। इस प्रकार स्वच्छ, शान्त, बन्धन आदिसे रहित परमात्मामें अहन्ता असत् ही है, परमार्थ वस्तु नहीं है ॥ १६–१७ ॥

ब्रह्मसे अतिरिक्त सब अवस्तु हैं यह बात 'अथातो नेति नेति' 'स एष नेति नेत्यात्मा', 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनन्तरमबाह्यम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इत्यादि द्वैतका निषेध करनेवाली हजारों श्रुतियोंसे सिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं—'**न सनातन०**' इत्यादिसे ।

कालातीत परमात्मामें सर्वकालसम्बन्धरूप न सनातनता है, न कोई विरञ्चिता है, न कोई ब्रह्माण्डता है, न कोई प्रजापतिता है, न कोई अन्यलोकता है, न कहींपर स्वर्गादिता है, न मेरुता है, न असुरता है, न मनस्त्व है, न देहता है, न कोई महाभूतता है, न कहीं कारणता है, न भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालोंकी कल्पना है, न भाव वस्तु है, न अभाव वस्तु है, त्वत्ता, अहन्ता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता, कोई भी नहीं है, न कहींपर भेदकी कल्पना है, न राग है और न रागका कार्य रञ्जन ही है ॥ १८–२१ ॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं जगत्त्वं शाश्वतं शिवम् ।
अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥ २२ ॥
न सन्नाऽसन्नमध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

अवबुद्धं समं ब्रह्म सर्वमेव मयाऽधुना ।
तथापि भूयः कथय सर्गः किमिव लोक्यते ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

परे शान्ते परं नाम स्थितमित्थमिदन्तया ।
नेह सर्गो न सर्गाख्या काचिदस्ति कदाचन ॥ २५ ॥

सब जगत्का पारमार्थिक रूप शान्त यानी अधिष्ठानसन्मात्र, निराधार, अविनाशी, कल्याणमय, दोष आदिसे रहित, इन्द्रियोंसे अग्राह्य, नामरहित, कारण-रहित ब्रह्म ही है ॥ २२ ॥

वह न तो उत्पत्तिरूप भावविकारसे युक्त है, न नाशनामक भावविकारवाला है, न मध्यके भावविकारोंसे युक्त है और न सब है, सर्वरूप भी वही है । मन-वचनसे उसका ग्रहण नहीं होता । वह शून्यसे भी शून्य और सुखसे भी बढ़कर सुख है ॥ २३ ॥

इस प्रकार निष्प्रपञ्च पारमार्थिक एकरस ब्रह्मका बोध करानेपर भी उसमें चित्तवृत्तिको स्थिर करनेकी शक्ति न होनेसे उससे लौटकर फिर विपरीत भावनासे कातर हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'अवबुद्धम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, यद्यपि मैंने इस समय सर्वत्र शम, सर्वरूप ब्रह्मको जान लिया है तथापि फिर मुझे यह सृष्टि क्यों दिखाई दे रही है, इसे आप कृपाकर बतलाइये । भाव यह है कि ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर अज्ञानमूलक जगत्का भी बाध हो गया, इसलिए फिर जगत्की प्रतीति युक्त नहीं है ॥ २४ ॥

यदि आपको तत्त्व ज्ञात हो गया, तो फिर जो यह जगत्की प्रतीति है, वह ब्रह्मभान ही है । निमित्तभूत अज्ञानका नाश होनेसे ही जगद्भेद और सृष्टि नामका नाश हो गया, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी परिहार करते हैं—**'परे'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, परम तत्त्व सर्वोत्कृष्ट शान्त

महार्णवाम्भसीवाऽम्बु संस्थिता परमेश्वरे ।
जलं द्रवत्वात् स्पन्दीव निस्पदं परमं पदम् ॥ २६ ॥
भाः स्वात्मनीव कचति न कचत्येव तत्पदम् ।
भासां तत्त्वं हि कचनं पदं त्वकचनं विदुः ॥ २७ ॥
अध ऊर्ध्वं वर्जयित्वा यथाऽब्धेरुदरे पयः ।
स्फुरत्येवं परे चित्त्वादिदं नानेव तत्परम् ॥ २८ ॥
ईषद्विदः स्वयं चित्त्वाच्चेत्यतामिव गच्छति ।
बुध्यते सर्ग इत्येव समा स्थास्यति शाश्वतम् ॥ २९ ॥
सर्गस्तु परमार्थस्य संज्ञेत्येवं विनिश्चयः ।
नानाऽस्ति नाऽयमत्यन्तमम्बरस्य यथाऽम्बरम् ॥ ३० ॥

स्वस्वभावमें ही स्थित है उससे च्युत नहीं हैं। इस प्रकार पूर्णात्मभाव होनेसे सृष्टि और सृष्टिका नाम इदन्तासे इस ब्रह्ममें कभी नहीं हैं, किन्तु . स्वस्वभावसे ही हैं ॥ २५ ॥

महार्णवके जलमें जलके तुल्य परमेश्वरमें यह सृष्टि स्थित है। भेद इतना ही है कि जल द्रव होनेसे चलनशील-सा है और ब्रह्म निष्क्रिय है ॥ २६ ॥

सूर्य आदिकी ज्योतिके तुल्य वह स्वप्रकाश है भेद इतना ही है कि सूर्य आदिकी ज्योति अपनेमें दीप्त होती है, किन्तु परम पद दीप्ति क्रियाको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि दीप्ति क्रिया सूर्य आदिका स्वभाव है, परमपदको तो लोग निष्क्रिय कहते हैं ॥ २७ ॥

जैसे नीचे-ऊपर छोड़कर समुद्रके मध्यमें जल ही जल रहता है वैसे ही चित् होनेसे परम पदमें वह परम ही नानारूपसे स्फुरित होता है ॥ २८ ॥

आपका बोध परिपक्क नहीं है, इसलिए आपकी दृष्टिमें चिद्रूप परमतत्त्व मानो चेत्यताको प्राप्त होता है और सृष्टिरूपसे उसकी प्रतीति होती है। वह सृष्टि ही ज्ञानका परिपाक होनेपर अविनाशी ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। कारण कि उस समय अज्ञानियों द्वारा देखा गया यह भेद ऐसे ही बिल्कुल नहीं रहता जैसे कि आकाश-का दूसरा आकाश नहीं है, यदि आकाशका दूसरा आकाश माना जाय, तो अन-वस्था हो जायगी। एवं परमार्थका दूसरा परमार्थ नहीं है, इसलिए सर्गशब्द ब्रह्मका ही नाम है, ऐसा विद्वानोंका निश्चय है ॥ २९-३० ॥

चित्तात् सर्गसमापत्तिरचित्तात् सर्गसंक्षयः ।
परे परमसंशान्ते हेम्नीव कटकभ्रमः ॥ ३१ ॥
सन्नेव सर्गोऽसत्यत्वमेति चित्तशमोदये ।
असत् सत्तामवाप्नोति स्वतः संवेदनोदये ॥ ३२ ॥
संवेदनमहन्तावत् सर्गसम्भ्रमसम्भ्रमः ।
असंवेदनमाशान्तं परं विद्धि न तज्जडम् ॥ ३३ ॥
नानेव सर्गोऽनानाऽयं ज्ञस्यैकात्मशिवात्मकः ।
पुंस्त्वकर्मक्रिया सेना मृन्मयी शिल्पिनां यथा ॥ ३४ ॥
इदं पूर्णमनारम्भमनन्तमनघोदरम् ।
पूर्णे पूर्णपरापूरैः पूर्णमेवाऽवतिष्ठते ॥ ३५ ॥

चित्तके आत्यन्तिक विनाशका अभाव ही आपके पुनः सृष्टिदर्शनमें हेतु है, इस आशयसे कहते हैं—**'चित्तात्'** इत्यादिसे ।

अत्यन्त शान्त परमपदमें चित्तसे ही सर्गकी प्राप्ति होती है और चित्तके अभावसे ही सर्गका नाश होता है। जैसे कि सुवर्णमें कटक, कुण्डल आदिका भ्रम होता है। चित्तकी शान्तिका उदय होनेपर विद्यमान भी सृष्टि असत् हो जाती है और चित्तका उदय होनेपर असत् भी सृष्टि अपने-आप सत्ताको प्राप्त हो जाती है ॥ ३१,३२ ॥

अभिमानयुक्त चित्त ही सृष्टिभ्रमणरूप भ्रान्ति है और चित्ताभावको ही सर्वतः शान्त परमपद जानिये, वह परमपद जड नहीं है ॥ ३३ ॥

ज्ञानियोंको भी व्युत्थानदशामें चित्ताभासका उदय होनेपर सर्गभान कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—**'नानेव'** इत्यादिसे ।

तत्त्वदृष्टिसे भेदरहित भी सृष्टि प्रातिभासिक भेदसे भिन्न-सी ऐसे प्रतीत होती है जैसे शिल्पियोंकी मिट्टीकी बनी हुई पुरुषाकार सेना युद्धादि पुरुषार्थ करनेवाली-सी प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

पारमार्थिक दृष्टि होनेपर तो यह जगत् पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, इसपर 'पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते' इस श्रुतिको अर्थतः दिखलाते हैं—**'इदं'** इत्यादिसे ।

यदयं लक्ष्यते सर्गस्तद् ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
नभो नभसि विश्रान्तं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ॥ ३६ ॥
मुकुरप्रतिबिम्बस्थे नगरे नवयोजने ।
यथा दूरमदूरं च तथेशे तदतत्क्रमः ॥ ३७ ॥
असदभ्युदितं विश्वं सदप्यभ्युदितं सदा ।
प्रतिभासात् सदाभासमवस्तुत्वादसन्मयम् ॥ ३८ ॥
आदर्शनगराकारे मृगतृष्णाम्बुभास्वरे ।
द्विचन्द्रविभ्रमाभासे सर्गेऽस्मिन् क्वैव सत्यता ॥ ३९ ॥
मायाचूर्णपरिक्षेपाद् यथा व्योम्नि पुरभ्रमः ।
तथा संविदि संसारः सारोऽसारश्च भासते ॥ ४० ॥

यह पूर्ण, उत्पत्तिरहित, नाशशून्य अतएव अन्य विकाररूपी दोषोंसे रहित है, क्योंकि पूर्ण परमात्माकी ही चारों ओरकी व्याप्तियोंसे पूर्ण है। इसलिए पूर्ण होकर पूर्ण ही सदा बना रहता है, अणुमात्र भी अपूर्णताको प्राप्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

जो यह सृष्टि दिखाई देती है, वह ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है। जैसे आकाश आकाशमें विश्रान्त है वैसे ही शान्त शिवमें शान्त शिव स्थित है ॥ ३६ ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बरूपसे स्थित नौ योजनवाले दीर्घ नगरमें जैसे दूरता और समीपता दोनों हैं, वैसे ही ईश्वरमें दूरता और समीपताका क्रम है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सत्का ही असत् विश्वके आकारसे भान होनेसे तत्त्वदृष्टिसे सत् ही उदित हुआ है और अतत्त्वदृष्टिसे असत् ही उदित हुआ है, क्योंकि अभेदका भान होनेसे वह सत्की तरह प्रतीत होता है और भेदका दर्शन होनेपर वह अवस्तु होनेसे असन्मय हो जाता है ॥ ३८ ॥

यह सृष्टि दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरके तुल्य है और मृगतृष्णाके जलके समान प्रकाशमान है तथा दो चन्द्रमाओंके भ्रमके सदृश प्रतीत होती है, इसलिए इस सृष्टिमें कौन-सी सत्यता है ॥ ३९ ॥

जैसे ऐन्द्रजालिक पुरुषों द्वारा दूसरेको मोहमें डालनेके लिए अभिमन्त्रित औषधिके चूर्णके उड़ानेसे आकाशमें नगरभ्रान्ति हो जाती है वैसे ही ज्ञानरूप ब्रह्ममें संसार सत्य और मिथ्या भासित होता है यानी अधिष्ठान-सत्तासे सत्य और स्वतन्त्ररूपसे असत् भासता है ॥ ४० ॥

यावद् विचारदहनेन समूलदाहं
दग्धा न जर्जरलतेव बलादविद्या ।
शाखाप्रतानगहनानि बहूनि ताव-
न्नानाविधानि सुखदुःखवनानि सूते ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे हेमोर्म्युपदेशो नाम एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

—०—

विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

हेमोर्मिकादिवन्मिथ्या कथितायाः क्षयोन्मुखम् ।
त्वं महत्त्वमविद्यायाः शृणु राघव कीदृशम् ॥ १ ॥

जबतक वासनाके सहित अविद्याका विनाश सप्तम भूमिकारोहण पर्यन्त नहीं हुआ, तबतक विक्षेपदुःख तत्त्वज्ञ लोगोंको भी प्रतीत होता है। इसलिए जीवन्मुक्ति सुखको चाहनेवाले लोगोंको भूमिकाभ्यास करना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'**यावद्**' इत्यादिसे ।

जबतक विचाररूपी अग्निसे अविद्यारूपी पुरानी लता समूल नहीं जली, तबतक वह बहुतसे शाखाओं और लताओंके प्रतानोंसे व्याप्त सुख-दुःखरूपी विविध वनोंको उत्पन्न करती है ॥ ४१ ॥

एक सौ उन्नीस सर्ग समाप्त



एक सौ बीस सर्ग

[राजा लवणका विन्ध्यस्थित पूर्वदृष्ट शबरोंके गाँवमें फिर जाकर चण्डाली सासके साथ संवाद]

सुवर्णकी अँगूठीके दृष्टान्तसे वर्णित जगत्की ब्रह्मविवर्तता उसकी परीक्षा कर चुके लवणके अनुभवसे सिद्ध है। आपको भी विचार करके जगत्की ब्रह्मविवर्तताका प्रत्यक्ष करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'**हेमोर्मिका०**' इत्यादिसे ।

लवणोऽसौ महीपालस्तथा दृष्ट्वा तदा भ्रमम् ।
द्वितीये दिवसे गन्तुं प्रवृत्तस्तां महाटवीम् ॥ २ ॥
यत्र दृष्टं मया दुःखमरण्यानीं स्मरामि ताम् ।
चित्तादर्शगतां विन्ध्यात् कदाचिल्लभ्यते हि सा ॥ ३ ॥
इति निश्चित्य सचिवैः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
पुनर्दिग्विजयायेव प्राप्य विन्ध्यमहीधरम् ॥ ४ ॥
पूर्वदक्षिणपाश्चात्यमहार्णवतटस्थलीम् ।
बभ्राम कौतुकात् सर्वां व्योमवीथीमिवोष्णगुः ॥ ५ ॥
अथैकस्मिन् प्रदेशे तां चिन्तामिव पुरोगताम् ।
ददर्शोग्रामरण्यानीं परलोकमहीमिव ॥ ६ ॥
स तत्र विहरंस्तांस्तान् वृत्तान्तान् सकलानथ ।
दृष्टवान् पृष्टवांश्चैव ज्ञातवांश्च विसिस्मिये ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सुवर्णमें कल्पित अँगूठीके तुल्य मिथ्या कही गई अविद्याकी विचारमात्रसे क्षयोन्मुख आश्चर्यभूतता कैसी है, इसे आप सुनिये ॥ १ ॥

राजा लवण, जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं, वैसे भ्रमको उस समय देख कर दूसरे दिन उस महारण्यमें जानेके लिए तत्पर हुए ॥ २ ॥

जिस महावनमें मैंने दुःख देखा, चित्तरूपी दर्पणमें स्थित उस महावनका मैं स्मरण करता हूं । विन्ध्यमें शायद वह कहीं मुझे मिल जाय ॥ ३ ॥

यों विचार कर राजा मन्त्रियोंके साथ दक्षिण दिशाको गये । पुनः दिग्विजयके लिए मानो विन्ध्यपर्वतको प्राप्त कर राजा लवणने जैसे सूर्य सम्पूर्ण आकाश-मार्गमें भ्रमण करते हैं वैसे ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम महासमुद्रोंकी तटभूमियोंमें कौतूहलसे भ्रमण किया ॥ ४,५ ॥

इसके अनन्तर एक प्रदेशमें आगे आई हुई चिन्ताके समान उस उत्कट महावनको परलोकभूमिके समान राजाने देखा ॥ ६ ॥

वहांपर विचर रहे राजाने पहले अनुभूत वे सब वृत्तान्त देखे, पूछे और पहचाने । एवं राजाके आश्चर्यकी सीमा न रही ॥ ७ ॥

तान् परिज्ञातवांश्चाऽऽसीद् व्याधान् पुल्कसजान् पुनः ।
विस्मयाकुलया बुद्ध्या भूयो बभ्राम सम्भ्रमी ॥ ८ ॥
अथ प्राप्य महाटव्यां पर्यन्ते धूमधूसरे ।
तमेव ग्रामकं यस्मिन् सोऽभवत् पुष्टपुल्कसः ॥ ९ ॥
तत्राऽपश्यज्जनांस्तांस्तांस्ताः स्त्रियस्ताः कुटीरकाः ।
नानाकारान् जनाधारांस्तांस्तांश्च वसुधातटान् ॥ १० ॥
तांश्चाऽकाण्डपरिभ्रष्टांस्तान् वृक्षांस्तांस्त्वनुव्रजान् ।
तांस्तथैव समुद्देशांस्तान् व्याधानेकलान् सुतान् ॥ ११ ॥
अन्यासु वृद्धासु सबाष्पनेत्रास्वार्तार्तियुक्तासु च वर्णयन्ती ।
अकालकान्तारविशीर्णबन्धुदुःखान्यसंख्यानि सखीषु वृद्धा ॥ १२ ॥
वृद्धा प्रवृद्धोज्ज्वलनेत्रबाष्पा कष्टं बताऽऽशुष्ककुचा कृशाङ्गी ।
अवग्रहोग्राशनिदग्धदेशे तत्राऽऽर्तनादा परिरोदितीदम् ॥ १३ ॥

कौतूहलसे भरे हुए राजा लवणने उन व्याधोंको और चण्डालोंको पहचाना तथा आश्चर्यमग्न होकर फिर-फिर इधर-उधर भ्रमण किया ॥ ८ ॥

तदनन्तर महावनमें पहुँचकर उस वनके धुएँसे भरे हुए एक छोरपर उसी गाँवमें, जिसमें वह विशालकाय चण्डाल हुआ था, पहुँचा ॥ ९ ॥

वहाँपर उसने पहलेसे परिचित उन उन पुरुषोंको, पूर्वदृष्ट उन स्त्रियोंको, पहले अनुभूत उन छोटी-छोटी झोपड़ियोंको और उन उन भूमितटोंको, जिनका आकार-प्रकार भाँति-भाँतिका था और जिनमें अनेक लोग निवास करते थे, देखा ॥ १० ॥

दुर्भिक्षमें (अकालमें) दुर्दशायुक्त हुए उन उन पूर्वानुभूत वृक्षोंको, उन अपने अनुगामियोंको, उन उन प्रदेशोंको, उन व्याधोंको और बन्धुशून्य अपने पुत्रोंको देखा ॥ ११ ॥

आँसू बहा रहीं, क्लेशसे सनी हुईं अन्यान्य बूढ़ी सहेलियोंके बीचमें दुर्भिक्षके समय विकट वनमें नष्ट-भ्रष्ट हुए अपने बन्धु-बान्धवोंके असख्य दुःखोंका वर्णन कर रही एक बुढ़िया, अन्य वृद्धाओंकी अपेक्षा जिसके नेत्रोंसे अधिक आँसुओंकी धाराएँ बह रही थीं, फटी पुरानी कथरी जिसने ओढ़ रक्खी थी, जिसके स्तन सूख गये थे, शरीर सूखकर तिनका हो गया था, उस दुर्भिक्षरूपी प्रचण्ड वज्रसे जलाये गये देशमें बड़े करुण क्रन्दनके साथ यों रो रही थी ॥ १२, १३ ॥

हा पुत्रि पुत्रावृतसर्वगात्रे दिनत्रयाभोजनजर्जराङ्गि ।
कृत्वाऽसिना वर्मणि जीर्णदेहाः कथं क्व मुक्ता भवताऽसवस्ते ॥ १४ ॥
तालीदलालम्बनमम्बुदाद्रौ दन्तान्तरस्थारुणसत्फलस्य ।
स्मरामि गुञ्जाफलदाम भर्तुः पुरस्थमुद्रामरहासिनस्ते ॥ १५ ॥
कदम्बजम्बीरलवङ्गगुञ्जा कुञ्जान्तरन्तस्तु चरत्तरक्षोः ।
पश्यामि पुत्रस्य कदा नु भूयो भयङ्कराण्युच्यतिवल्गितानि ॥ १६ ॥
न तानि कामस्य विलासिनीह मुखेऽपि शोभालसितानि सन्ति ।
तमालनीले चिबुकैकदेशे सुतस्य चाऽन्यास्यगतामिषस्य ॥ १७ ॥

हे पुत्रि, तुम्हारा सारा वदन पुत्रोंसे ढका होगा, तीन दिनतक भोजन न मिलनेके कारण तुम्हारा शरीर जर्जर हो गया होगा, जैसे तलवार अपने कोशमें प्रवेश करके स्थित हो जाती है, वैसे ही अपने कोशमें स्थित हुए राजाने प्राणके समान प्रिय तुम लोगोंको, जिनके कि शरीर दुर्भिक्षसे जर्जर हो गये थे, कैसे और कहाँ छोड़ा ? ॥ १४ ॥

इस समय राजा लवणके कुटुम्बके पोषणके लिए किये गये साहस कर्मका स्मरण करती हुई कहती है—**'ताली०'** इत्यादिसे ।

हे पुत्र, मेघकी नाई ऊँचे पहाड़पर ताड़के पेडपर चढ़कर और उसके फलको लेकर उतरते समय दोनों हाथोंके अन्यकार्यमें लगने यानी खाली न रहनेके कारण फलको लेनेमें असमर्थ होनेसे, जिसने दाँतोंके बीचमें लाल पके हुए फलको रक्खा था, अतएव उस समय प्राप्त हुए वेषसे श्रीहनुमान्‌जीका अनुकरण करनेवाले तथा गुञ्जाके फलोंकी मालाको धारण करनेवाले तुम्हारे -अभाग्यवश फिसलनेपर निकटवर्ती दूसरे तालकी शाखाका— अवलम्बनरूप साहसका मुझे स्मरण होता है ॥ १५ ॥

कदम्ब और जम्बीरके पेड़ों तथा लौंग और गुञ्जाकी लताओंके निकुञ्जोंके (झाड़ियोंके) भीतर छिपकर चल रहे बाघको भी भयमें डालनेवाले अपने पुत्रके (जमाईके) बाघको मारनेके लिए छलाँग मारकर चलनेको फिर मैं कब देखूँगी ॥ १६ ॥

इस समय अपनी लड़कीके ऊपर मोहित हुए उसकी मुखशोभाका स्मरणकर वर्णन करती है—**'न तानि'** इत्यादिसे ।

आसवपान आदिके समय अपनी परम प्रियाके मुखसे बड़ी प्रीतिके साथ

सुताऽपनीता सह तेन भर्त्रा यमेन यस्या यमुना समाना ।
तमालवल्ली सहपुष्पगुच्छा समीरणेनेव वने वरेण ॥ १८ ॥

हा पुत्रि गुञ्जाफलदामहारे समुन्नताभोगपयोधराङ्गि ।
वातोल्लसत्कज्जललोलवर्णे पर्णाम्बरे बादरजम्बुदन्ते ॥ १९ ॥

हा राजपुत्रेन्दुसमानकान्त संत्यज्य शुद्धान्तविलासिनीस्ताः ।
रतिं प्रयातोऽसि ममाऽऽत्मजायां न साऽपि ते सुस्थिरतामुपेता ॥ २० ॥

संसारनद्याः सुतरङ्गभङ्गैः क्रियाविलासैर्विहितोपहासैः ।
किं नाम तुच्छं न कृतं नृपेशो यद् योजितः पुष्कसकन्यकायाम् ॥ २१ ॥

जिसे मांसका टुकड़ा प्राप्त हुआ था, ऐसे मेरे दुलारे बेटेरूप (जामाता) तुम्हारे उस मांसके टुकड़ेको चबाते समय तमालके सदृश काली दाढीसे नीले चिबुकके (ठोढीके) एक भागमें जो शोभासे सने हुए विलास हुए, वे इस सारे जगत्में विलास करनेवाले कामदेवके सारे मुँहमें नहीं हो सकते हैं ॥ १७ ॥

इस समय पतिके साथ अपनी लड़कीके मरणकी संभावना करती हुई कहती है—**'सुता०'** इत्यादिसे ।

जैसे वनमें तमालकी लताको फूलोंके गुच्छोंके साथ बलवान् पवन उडा ले जाता है, वैसे ही हो न हो मेरी पुत्रीको, जो कि वर्णमें यमुनाके तुल्य है, उस शूर-वीर पतिके साथ यम भगा ले गया है ॥ १८ ॥

गुञ्जाके फलोंकी मालारूपी हार धारण करनेवाली, उन्नत और विशाल स्तन-मण्डलसे युक्त अङ्गवाली, वायुसे उड़ रहे काजलके तुल्य चञ्चल वर्णवाली तथा बेर और जामुनके दानोंके तुल्य दाँतवाली हे पुत्री, तुम्हारा मुझे बडा दुःख है ॥१९॥

हे चन्द्रमाके समान सुन्दर राजकुमार, तुम्हारे लिए मुझे बड़ा शोक है, तुमने एक-से-एक बढ़कर सुन्दरी उन अन्तःपुरकी विलासिनी रानियोंको छोड़कर मेरी (एक साधारण भीलिनकी) लड़कीसे प्रेम किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वह भी तुम्हारे लिए चिरस्थायिनी नहीं हुई ॥ २० ॥

संसाररूपी नदीके सुन्दर तरङ्गरूप कर्मपरिपाकोंने, जिनके लिए उपहास उचित है, क्या गर्हित फल पैदा नहीं किया, जो कि महाराजका चण्डालकी तुच्छ कन्यासे संयोग करा दिया ॥ २१ ॥

सा त्रस्तसारङ्गसमाननेत्रा स दृप्तशार्दूलसमानवीर्यः ।
उभौ गतावेकपदेन नाशमाशा सहाऽर्थेन यथा महेहा ॥ २२ ॥
मृतेश्वराऽऽश्वस्तनिजात्मजाऽस्मि दुर्दशयाताऽस्मि च दुर्गताऽस्मि ।
दुर्जातिजाताऽस्मि महापदेऽस्मि साक्षाद्भयं भोऽस्मि महापदस्मि ॥२३॥
नीचावमानप्रभवस्य मन्योः क्षुधाप्रपन्नस्य कलत्रकस्य ।
शोकस्य वृत्तावनिवार्यवृत्तेर्नार्यस्म्यनेकायतनं विनाथा ॥ २४ ॥
दैवोपतप्तस्य विबान्धवस्य मूढस्य रूढस्य महाधिभूमौ ।
यत्प्राणनं यन्मरणं महापद् यस्याऽऽत्मनिर्जीवितमुत्तमं तत् ॥ २५ ॥
जनैर्विहीनस्य कुदेशवृत्तेर्दुःखान्यनन्तानि समुल्लसन्ति ।
सहस्रशाखारससङ्कुलानि तृणानि वर्षास्विव पर्वतस्य ॥ २६ ॥

जैसे दुर्भाग्यके दिन आनेपर बहुत मनोरथोंसे युक्त आशा धनके साथ नष्ट हो जाती है, वैसे ही भयभीत हिरनीके सदृश विशाल नेत्रवाली वह मेरी लड़की तथा मदोन्मत्त शेरके समान बलशाली वह मेरा जामाता - दोनों एक साथ विनष्ट हो गये ॥ २२ ॥

अब अपने भाग्यको कोशती है—'**मृतेश्वरा०**' इत्यादिसे ।

हे सखियों, बड़े क्लेशकी बात है कि मेरे पतिदेव मर चुके हैं, अभी जल्दी मेरी लड़की मर गई है, इस दुर्दशमें मैं पड़ी हुई हूं, बड़ी दरिद्र हूं, चण्डाल जातिमें पैदा हुई हूं, बडे संकटमें फसी हूँ, मुझे आप साक्षात भय जानिए, मैं महती विपत्ति ही हूं ॥ २३ ॥

अनाथ मैं नीचके अपमान करनेसे उत्पन्न हुए क्रोधकी, क्षुधासे पीड़ित हुए पुत्र, कलत्र आदि पोषणीय लोगोंके आहारके विषयमें अवश्यभावी शोककी और भी इसी प्रकारके अन्यान्य दुःखोंकी एकमात्र घररूप नारी बनाई गई हूं ॥ २४ ॥

इस समय अपने सदृश अन्य जनकी भी निन्दा करती हुई कहती है—'**दैव०**' इत्यादिसे ।

भाग्यसे सताये गये, बन्धुबान्धव हीन, मूर्ख और बड़ी भारी मानसिक व्याधिभूमिमें उत्पन्न हुए (सदा मानसिक चिन्तासे युक्त) इस प्रकारके प्राणीका जो जीवन है, जो मरण है और जो महा आपत्ति है, उसकी अपेक्षा स्वतः जीवरहित पाषाण आदि उत्तम हैं ॥ २५ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें जनोंसे रहित तथा पृथिवीके एक देशमें स्थित पर्वतके

एवं लपन्तीं स्वकलत्रवृद्धां दासीभिराश्वास्य नृपः स्त्रियं ताम् ।
पप्रच्छ किं वृत्तमिहैव का च का ते सुता कश्च सुतस्तवेति ॥ २७ ॥
उवाच सा बाष्पविलोचनाऽथ ग्रामस्त्वयं पुष्पसघोषनामा ।
इहाऽभवत् पुष्कसकः पतिर्मे बभूव तस्येन्दुसमा सुतैका ॥ २८ ॥
सा दैवयोगात् पतिमिन्दुतुल्यमिहाऽऽगतं दैववशेन भूपम् ।
अयं विशीर्णं मधुकुम्भमाप वने वराकी करभी यथैका ॥ २९ ॥
सा तेन सार्धं सुचिरं सुखानि भुक्त्वा प्रसूता तनयाः सुतांश्च ।
वृद्धिं गता काननकोटरेऽस्मिंस्तुम्बीलता पादपसंश्रितेव ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चण्डालीशोचनं नाम विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२० ॥



सैकड़ों शाखाओं और रससे व्याप्त तृण उल्लासको प्राप्त होते हैं वैसे ही स्वजनोंसे रहित, अत्यन्त गर्हित देशमें रहनेवाले पुरुषके सैकड़ों शाखाप्रशाखाओंसे पूर्ण अनन्त दुःख उल्लासको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

इस प्रकार विलाप कर रही तथा चण्डालताको प्राप्त हुए अपने पोषणीय लोगोंमें सबसे बड़ी-बूढ़ी उस स्त्रीको दासियों द्वारा समझा बुझाकर राजाने उससे पूछा—यहाँपर क्या घटना घटी है, तुम कौन हो, तुम्हारी लड़की कौन है और कौन तुम्हारा लड़का है ? ॥ २७ ॥

तदुपरान्त आँसुओंसे भरे हुए नेत्रवाली उसने कहा—पुष्पसघोष नामका यह गाँव है, यहाँपर पुष्कसक नामका मेरा पति हुआ। उसकी चन्द्रमाके तुल्य एक लड़की हुई ॥ २८ ॥

जैसे बेचारी करभी (गदही या ऊँट) वनमें फूटे हुए शहदके घड़ेको प्राप्त हो, वैसे ही उसने भाग्यवश यहाँपर आये हुए इन्द्रके तुल्य राजाको दुर्भाग्यसे पति पाया ॥ २९ ॥

उसके साथ चिरकालतक सुखका उपभोग कर उसने लड़कियाँ और लड़के पैदा किये, इस वनकी गुफामें वह पेड़के सहारे स्थित हुई लौकीकी लताके सदृश वृद्धिको प्राप्त हुई ॥ ३० ॥

एक सौ बीस सर्ग समाप्त

एकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

चण्डाल्युवाच

केनचित्त्वथ कालेन ग्रामकेऽस्मिन् जनेश्वर ।
अवृष्टिदुःखमभवद्भीषणं भग्नमानवम् ॥ १ ॥

महताऽनेन दुःखेन सर्वे ते ग्रामका जनाः ।
विनिर्गत्य गता दूरं सर्वे पञ्चत्वमागताः ॥ २ ॥

तेनेमा दुःखभागिन्यः शून्या वयमिह प्रभो ।
सौम्य शोचाम सद्बाष्पमाचान्तेक्षणधारया ॥ ३ ॥

इत्याकर्ण्याऽङ्गनावक्त्राद् राजा विस्मयमागतः ।
मन्त्रिणां मुखमालोक्य चित्रार्पित इवाऽभवत् ॥ ४ ॥

भूयो विचारयामास तदाश्चर्यमनुत्तमम् ।
भूयो भूयोऽथ पप्रच्छ बभूवाऽऽश्चर्यवानिति ॥ ५ ॥

एक सौ इक्कीस सर्ग

[चण्डालीके द्वारा उक्त वृत्तान्तको सुनकर विस्मित हुए राजा लवणके घर आ जानेपर वसिष्ठजीके कथनसे उस वृत्तान्तका श्रीरामचन्द्रजीको विनिश्चय]

चण्डालीने कहा—हे राजन्, कुछ काल बीतनेपर इस ग्राममें वृष्टिके न होनेसे अत्यन्त भयङ्कर तथा मनुष्योंको नष्ट करनेवाला दुर्भिक्षका दुःख उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

इस महान् दुःखसे ग्रामके सभी लोग निकलकर दूर चले गये तथा शेष सब लोग मर गये ॥ २ ॥

हे प्रभो, हे सुन्दर, उस दुर्भिक्ष तथा बन्धुओंके मरणसे इस वनमें हम अभागिनियाँ शून्य होकर नेत्रोंसे अश्रुधारा बहाती हुई शोक कर रही हैं ॥ ३ ॥

उस वृद्धाके मुखसे यह सुनकर राजा अत्यन्त विस्मित हुए और मन्त्रियोंके मुखको देखकर चित्रलिखितके समान स्तब्ध हो गये ॥ ४ ॥

उस अपूर्व आश्चर्यका राजाने पुनः विचार किया, तदनन्तर बार-बार पूछा और इससे राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वमेतदविद्यायां सम्भवत्येव राघव ।
घटेषु पटता दृष्टा स्वप्नसम्भ्रमितादिषु ॥ १२ ॥
दूरं निकटवद् भाति मुकुरेऽन्तरिवाऽचलः ।
चिरं शीघ्रत्वमायाति पुनः श्रेष्ठेव यामिनी ॥ १३ ॥
असम्भवश्च भवति स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
असच्च सदिवाऽऽभाति स्वप्नेष्विव नभोगतिः ॥ १४ ॥
सुस्थितं सुष्ठु चलति भ्रमे भूपरिवर्तवत् ।
अचलं चलतामेति मदविक्षुब्धचित्तवत् ॥ १५ ॥
वासनावलितं चेतो यद् यथा भावयत्यलम् ।
तत् तथाऽनुभवत्याशु न तदस्ति न वाऽप्यसत् ॥ १६ ॥
यदैवाऽभ्युदिताऽविद्या त्वहन्त्वादिमयी मुधा ।
तदैवाऽनादिमध्यान्ता भ्रमस्याऽनन्ततोदिता ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी बातोंका अविद्यामें सम्भव है, देखिये न, स्वप्न तथा संभ्रम आदिमें घटमें पटता दीख पड़ती है ॥ १२ ॥

जैसे दर्पणके भीतर स्थित पर्वत दूर होता हुआ भी निकट प्रतीत होता है वैसे ही अत्यन्त दूरकी भी वस्तु निकटकी तरह प्रतीत होती है। सुखकी नींदसे बीती हुई रात्रिके तुल्य दीर्घकाल भी शीघ्रताको प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

जैसे स्वप्नमें अपना मरण प्रतीत होता है, वैसे ही अत्यन्त असम्भव भी सम्भव हो जाता है। स्वप्नमें आकाशगमनके तुल्य अत्यन्त असत् भी सत-सा प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

चक्राकार घूमनेपर पृथिवीके भ्रमणके तुल्य अत्यन्त स्थिर भी वस्तु चलने लगती है और मदसे विक्षुब्ध चित्तवालेसे देखी गई वस्तुके समान अचल भी वस्तु चञ्चलताको प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

वासनायुक्त चित्त पूर्णरूपसे जिस वस्तुकी जैसी भावना करता है, उस वस्तुका वैसा ही शीघ्र अनुभव करता है, वह वस्तु न सत है अथवा न असत् है ॥ १६ ॥

अहन्त्व आदिरूप मिथ्या ज्ञान जिस समय उदयको प्राप्त हुआ, उसी समय आदि, मध्य तथा अन्तसे हीन असंख्य भ्रम उदयको प्राप्त हो गये ॥ १७ ॥

प्रतिभासवशादेव सर्वो विपरिवर्तते ।
क्षणः कल्पत्वमायाति कल्पश्च भवति क्षणः ॥ १८ ॥
विपर्यस्तमतिर्जन्तुः पश्यत्यात्मानमेडकम् ।
बिभर्ति सिंहतामेडो वासनावशतः स्वयम् ॥ १९ ॥
विषमभ्रमदाऽविद्यामोहाहन्तादयः समाः ।
सर्वे चित्तविपर्यासफलसम्पत्तिहेतुतः ॥ २० ॥
काकतालीयवच्चेतोवासनावशतः स्वतः ।
संवदन्ति महारम्भा व्यवहाराः परस्परम् ॥ २१ ॥
वृत्तं प्राक्पक्कणे राज्ञः कस्यचिल्लवणस्य यत् ।
प्रतिभातं तदेतस्य सद् वाऽसद्वा मनोगतम् ॥ २२ ॥

सब पदार्थोंका विपरिणाम मनके प्रतिभाससे ही होता है, इसीलिए क्षण कल्पताको प्राप्त होता है तथा कल्प क्षणताको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

जिसकी मति विपरीत हो गई है, वह प्राणी अपनेको भेंड़ा समझता है और वासनासे भेंडा भी अपनेमें सिंहताको धारण करता है ॥ १९ ॥

विषम भ्रमको देनेवाले अविद्या, मोह, अहन्त्व आदि समान हैं, क्योंकि ये सब चित्तके विपर्यासरूप फलकी सम्पत्तिके हेतु हैं ॥ २० ॥

यद्यपि सब पदार्थ अविद्यासे कल्पित ही हैं तथापि उत्तर व्यवहारसे पूर्व व्यवहारका संवाद होनेसे सत्यत्व और असंवाद होनेसे मिथ्यात्व व्यवहार होता है, न कि परमार्थ-विचारसे । इसपर कहते हैं—**'काकतालीय०'** इत्यादिसे ।

कोई कौआ एक ताड़के वृक्षमें जा रहा था । ताड़के वृक्षसे कौएका संयोग होते ही दैववश उसका फल नीचे गिरा, इसे ही काकतालीय न्याय, अर्थात् आकस्मिक घटना कहते हैं । चित्तके संस्कारवश काकतालीय न्यायसे बिना किसी कारणके महान् आरम्भवाले व्यवहारोंका परस्पर एक दूसरेसे संवाद होता है ॥२१॥

राजा लवणके व्यवहारमें किस रीतिसे संवाद हुआ , उसे कहते हैं— **'वृत्तम्'** इत्यादिसे ।

उस भीलोंकी टोलीमें पहले किसीका जो चण्डालीविवाहादि सम्पन्न हुआ था, वही राजा लवणके मनमें प्रतिभासित हुआ । वह सत् हो या असत् हो । अतएव सवादका भ्रम हुआ, यह अर्थ है ॥ २२ ॥

विस्मरत्यपि विस्तीर्णां कृतां चेतः क्रियां यथा ।
तथा कृतामप्यकृतामिति स्मरति निश्चितम् ॥ २३ ॥
तथा न भुक्तवानस्मि भुक्तवानिति चेतसि ।
स्वप्ने देशान्तरगमे प्राकृतोऽप्यवबुध्यते ॥ २४ ॥
विन्ध्यपुष्कसग्रामे व्यवहारोऽयमीदृशः ।
प्रतिभासागतस्तस्य स्वप्ने पूर्वकथा यथा ॥ २५ ॥
अथवा लवणेनाऽऽशु दृष्टो यः स्वप्नविभ्रमः ।
स एव संविदं प्राप्तो विन्ध्यपुष्कसचेतसि ॥ २६ ॥
लावणी प्रतिभा रूढा विन्ध्यपुष्कसचेतसि ।
विन्ध्यपुष्कससंविद् वा रूढा पार्थिवचेतसि ॥ २७ ॥

जिस तरह अनुभूत वस्तुकी विस्मृति होती है उसी तरह अननुभूत वस्तुका स्मरण भी दोषावह नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'विस्मरत्यपि'** इत्यादिसे ।

जैसे विस्तारपूर्वक की हुई क्रियाको चित्त भूल जाता है वैसे ही की हुई क्रियाका भी 'मैंने इसे नहीं किया' यों स्मरण करता है। यद्यपि भ्रान्तिमें राजा लवणको अनुभव ही हुआ था, स्मृति नहीं हुई थी तथापि अनुभव, स्मृति आदिमें जो अवान्तर भेद है, वह भी कल्पनामात्र है; इसलिए वह विचारसह नहीं है, यह सूचित करनेके लिए ऐसा कहा है ॥ २३ ॥

इसी प्रकार स्वप्नमें देशान्तरगमनमें प्राकृत पुरुष भी भोजन करनेपर मैंने भोजन नहीं किया, ऐसा समझता है ॥ २४ ॥

प्रतिभास और संवादका पूर्वापरभाव भी कल्पनामात्र है, अतः व्यवस्थित नहीं है, इस आशयसे कहते हैं —**'विन्ध्य०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

विन्ध्य पर्वतके चण्डालोंके ग्राममें ऐसा व्यवहार (चण्डालीविवाहादि) होता है, यह बात राजा लवणकी प्रतिभामें आ गई थी। जैसे स्वप्नमें पूर्वकी कथा प्रतिभामें आ जाती है ॥ २५ ॥

अथवा राजा लवणने जो स्वप्नभ्रम देखा था, वही भ्रम विन्ध्यपर्वतके चाण्डालोंके चित्तमें संविद्‌को प्राप्त हुआ था ॥ २६ ॥

प्रतिभाके भेदकी कल्पना भी विचारसह नहीं है, क्योंकि एकमें उत्पन्न हुई प्रतिभाका दोमें भान हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'लावणी०'** इत्यादिसे ।

यथा बहूनां सदृशं वचनं नाम मानसम् ।
तथा स्वप्नेऽपि भवति कालो देशः क्रियाऽपि च ॥ २८ ॥
व्यवहारगतेस्तस्याः सत्ताऽस्ति प्रतिभासतः ।
सत्ता सर्वपदार्थानां नाऽन्या संवेदनादृते ॥ २९ ॥
संवेदनेतरा भाति वीचिर्वा जलसंगतिः ।
भूतभव्यभविष्यस्था तरुबीजे तरुर्यथा ॥ ३० ॥
तस्याः सत्त्वमसत्त्वं च न सन्नाऽसदिति स्थितम् ।
तत्सदेव हि संवित्तेरसंवित्तेरसन्मयम् ॥ ३१ ॥

राजा लवणकी प्रतिभा विन्ध्यपर्वतके चण्डालोंके हृदयमें आरूढ हुई थी, अथवा विन्ध्यपर्वतके चण्डालोंकी प्रतिभा राजा लवणके चित्तमें आरूढ हुई थी ॥२७॥

प्रतिभा और प्रतिभाके विषयके संवादमें दृष्टान्त कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे बहुत कवियोंके मनोंकी उत्प्रेक्षासे रचित काव्य शब्द तथा अर्थसे समान होते हैं, वैसे ही लवण और चाण्डालोंके भ्रान्तिरूप स्वप्नमें भी देश, काल और क्रिया भी समान हैं ॥ २८ ॥

क्या इस तरहका व्यवहार अत्यन्त असत् है ? इस शङ्कापर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—**'व्यवहार०'** इत्यादिसे ।

उस व्यवहारदशाकी सत्ता भी प्रतिभाससे ही है ।

अधिष्ठान चेतनकी सत्तासे ही सब वस्तुओंकी सत्ता है, स्वतन्त्र किसीकी सत्ता नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'सत्ता'** इत्यादिसे ।

सब पदार्थोंकी सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनसत्तासे अतिरिक्त नहीं है ॥ २९ ॥

अधिष्ठान चेतनकी सत्ता ही भूत, वर्तमान तथा भविष्यके प्रपञ्चोंमें व्याप्त हुई इस तरह अधिष्ठानसत्तासे भिन्न भासित होती है, जिस तरह जलमें तरङ्ग तथा बीजमें वृक्ष उससे भिन्न भासते हैं ॥ ३० ॥

अधिष्ठानसत्तासे भिन्न जो पदार्थोंकी सत्ता है, उसकी सत्यता और असत्यता न सत् है, और न असत् है, यह निश्चित है, क्योंकि श्रुतिने 'न तत् सदासीत् नोऽसदासीत्' कहा है । सत्त्वके संवेदनसे वह सत् है तथा सत्त्वके असंवेदनसे वह असत् है । उसकी सत्ता और असत्ता भ्रान्ति और संवेदनके अधीन हैं, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

नाऽविद्या विद्यते किञ्चित्तैलादि सिकतास्विव ।
हेम्नः किं कटकादन्यत् पदं स्याद्धेमतां विना ॥ ३२ ॥
अविद्ययाऽऽत्मतत्त्वस्य सम्बन्धो नोपपद्यते ।
सम्बन्धः सदृशानां च यः स्फुटः स्वानुभूतितः ॥ ३३ ॥
जतुकाष्ठादिसम्बन्धो यः समासमयोगतः ।
नान्योन्यानुभवायाऽसौ तदेकस्पन्दमात्रकम् ॥ ३४ ॥
परमार्थमयं सर्वं यथा तेनोपलादयः ।
चिता समभिचेत्यन्ते सम्बन्धवशतः समाः ॥ ३५ ॥
यदा चिन्मात्रसन्मात्रमयाः सर्वे जगद्‌गताः ।
भावास्तदा विभान्त्येते मिथः स्वानुभवस्थितेः ॥ ३६ ॥

भ्रमका विषय अविद्यामात्र है, इसलिए फलतः असत्य ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'नाऽविद्या'** इत्यादिसे ।

वस्तुतः अविद्या कोई वस्तु नहीं है जैसे कि बालूमें तेल आदि वस्तु नहीं है । क्या सुवर्णका कटक (कङ्कण) सुवर्णसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥ ३२ ॥

सत् वस्तुके सम्बन्धसे वह वस्तु क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—**'अविद्य०'** इत्यादिसे ।

अत्यन्त असत् अविद्याका सम्बन्ध सत् आत्मासे उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर सदृशोंका ही सम्बन्ध होता है, यह अपने अनुभवसे स्पष्ट है ॥३३॥

पार्थिवत्व तथा द्रवत्वसे अत्यन्त विषम लाख और काठ आदिका जो परस्पर सम्बन्ध है, वह अत्यन्त असदृशोंके परस्पर सम्बन्धमें उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक अविद्याके ही स्फुरणरूप हैं, अतः सदृश हैं, यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

यदि सब पदार्थ चिन्मय ही मान लिये जायँ तो चिद्रूपसे तुल्य सब पदार्थोंके साथ चित्‌का सम्बन्ध उपपन्न है, यह कहते हैं—**"परमार्थमयम्"** इत्यादिसे ।

चूँकि सब पदार्थ परमार्थमय हैं, इसलिए पाषाण आदि पदार्थ चित्‌के समान हैं चित्‌के साथ सम्बन्धवश वे चित्‌से प्रकाशित होते हैं ॥ ३५ ॥

चित्‌के सम्बन्धसे पदार्थोंका भान होता है, इस पक्षमें भी दोष कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

न सम्भवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः ।
न परस्परसम्बन्धाद् विनाऽनुभवनं मिथः ॥ ३७ ॥
सदृशे सदृशं वस्तु क्षणाद् गत्वैकतामलम् ।
रूपमास्फारयत्येकमेकत्वादेव नाऽन्यथा ॥ ३८ ॥
चिच्चेत्यचिततारूपदृश्ययोदेति चेतनः ।
(जडं जडेन मिलितं घनं संपद्यते जगत् ।)
न च चिज्जडयोरैक्यं वैलक्षण्यात् क्वचिद्भवेत् ॥ ३९ ॥
चिज्जडौ चित्र एकत्र न तौ सम्मिलतः क्वचित् ।
चिन्मयत्वाच्चिदालम्भश्चिदालम्भेन वेदनम् ॥ ४० ॥

यदि जगत्के सभी पदार्थ चिन्मात्रमय-सन्मात्रमय हैं, तो वे स्वप्रकाशताके बलसे ही परस्पर प्रकाशित होते हैं। न कि किसी अन्य चेतनसे, जैसे दीपकको अपना प्रकाश करनेके लिए दीपान्तरकी अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही उनको भी अपने प्रकाशके लिए दूसरे चेतनकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३६ ॥

पूर्वोक्त दोनों प्रकारोंको दो श्लोकोंसे फिर स्पष्ट कहते हैं—**'न संभवति'** इत्यादिसे ।

अत्यन्त विषम पदार्थोंका निरन्तर (साक्षात्) सम्बन्ध नही हो सकता है तथा परस्पर सम्बन्धके बिना परस्पर अनुभव भी नही हो सकता है ॥ ३७ ॥

चिद्रूपसे सदृश परमात्मरूप वस्तुमें चिन्मयरूपसे सदृश जगतरूप वस्तु अणुमात्र भी भेदक अचिद् वस्तुके अभावसे अखण्ड स्वप्रकाशतामात्र एकताको प्राप्तकर उसकी ही सामर्थ्यसे अर्थात् एकत्वसे ही अपनी एकरूपता प्रकट करती है, अन्यथा नहीं ॥ ३८ ॥

ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानरूप दृश्य त्रिपुटीके रूपसे चेतन ही उदित हुआ है, ऐसा जो मूढोंका अनुभव है, वह चित् और जडके अभेदसम्बन्धसे नहीं बन सकता है, क्योंकि चित् और जड़की एकता विलक्षणतावश कहीं हो ही नहीं सकती ॥ ३९ ॥

चित् और जड़के भेदसम्बन्धसे भी उक्त अनुभव उपपन्न नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—**'चिज्जडौ'** इत्यादिसे ।

एक त्रिपुटीरूप चित्रमें चित् और जड़ दोनों भेदसम्बन्धसे भी कभी नहीं मिल सकते ।

दारुपाषाणभेदानां न तु ह्येते चिदात्मकाः ।
पदार्थो हि पदार्थेन परिणाम्यनुभूयते ॥ ४१ ॥
जिह्वयैव रसास्वादः सजातीयामलोदयः ।
ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नाऽस्त्यसावसमानयोः ॥ ४२ ॥
जडचेतनयोस्तेन नोपलादि जडं मतम् ।
चिदेवोपलकुड्यादिरूपिणीति मिता चिता ॥ ४३ ॥
एकीभावं गता द्रष्टृदृश्यादि कुरुते भ्रमम् ।
काष्ठोपलाद्यशेषं हि परमार्थमयं यतः ॥ ४४ ॥

चिन्मय पदार्थोंका चितके साथ सम्बन्ध हो सकता है, इस पक्षको लेकर भी उक्त अनुभव उपपन्न नहीं हो सकता, यह कहते हैं—**'चिन्मयत्वात्'** इत्यादिसे ।

चिन्मयत्वरूप सादृश्यसे यद्यपि चित्की उपलब्धि होती है, तथापि चित्की उपलब्धि होनेपर भी चिद्रूप वेदनांशकी ही उपलब्धि हुई न कि वेद्यांशकी, क्योंकि भेदक अचिद् वस्तुके अभावसे वेद्यत्वरूपकी सिद्धि असम्भव है । अतएव वेद्य और वेदन दोनों अंशोंकी उपपत्ति नहीं होती है, यह अर्थ है ॥ ४० ॥

यदि कोई कहे कि जैसे जाड्यरूप धर्मके कारण साम्य होनेपर भी काठ, पत्थर, मिट्टी आदिका एक घरके अवयवरूपसे सम्बन्ध होता है और जैसे जलमय होनेसे सजातीय जिह्वा तथा रसका सम्बन्ध होता है, वैसे ही चिद्रूप होनेसे सदृश होनेपर भी ज्ञान तथा ज्ञेयका सम्बन्ध हो सकता है, इसपर कहते हैं—**'दारु०'** इत्यादिसे ।

काठ, पत्थर आदि जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, वे चिद्रूप नहीं हैं, क्योंकि काठ आदि जड पदार्थ गृह आदि पदार्थोंके रूपसे परिणत होते हुए अनुभूत होते हैं । चेतन कभी परिणामी नहीं होता है, यह अर्थ है ॥ ४१ ॥

जलमय होनेसे सजातीय जिह्वा और रससे स्पष्ट उदित हुआ रसास्वाद भी, जो कि परिणामी है, जिह्वासे ही अनुभूत होता है ।

किञ्चित् अभिन्नका ही ऐक्य सम्बन्ध होता है, उसका दोनों पक्षोंमें सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'ऐक्यम्'** इत्यादिसे ।

किञ्चित् अभिन्नका जो ऐक्य है, उसे ही आप सम्बन्ध जानिये । वह अत्यन्त असमान जड़ और चेतनका नहीं हो सकता, इसलिए पत्थर आदि पदार्थ जड़ नहीं हैं, किन्तु चेतन ही पत्थर, दीवार आदि रूपवाला है, इसलिए परमार्थदृष्टिसे एकीभावको

तदात्मना तत्सम्बन्धं दृश्यत्वेनोपलभ्यते ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यमनन्तमिव यत्ततः ॥ ४५ ॥
विश्वं सन्मात्रमेवैतद् विद्धि तत्त्वविदां वर ।
असत्तात्यागनिष्ठेन विश्वं लक्षशतभ्रमैः ॥ ४६ ॥
पूरितं चिच्चमत्कारो न च किंचन पूरितम् ।
संकल्पनागरा नॄणां मिथः स्पन्दन्ति नो यथा ॥ ४७ ॥
न देशकालरोधाय तथा सर्गेष्विति स्थितिः ।
भेदबोधे हि सर्गत्वमहन्त्वादिभ्रमोदयः ॥ ४८ ॥
हेमसंवित्परित्यागे कटकादिभ्रमो यथा ।
कटकादिभ्रमो हेम्नि देशाद् देशं भवाद् भवम् ॥ ४९ ॥

प्राप्त हुआ चैतन्य ही सत्य है, द्रष्टृ, दृश्य आदि भाव भ्रम है, क्योंकि काठ, पत्थर आदि सब पदार्थ परमार्थ चिन्मय ही हैं ॥ ४२–४४ ॥

यदि काठ, पत्थर आदि अशेष पदार्थ परमार्थ चिन्मय ही हैं, तो चिद्रूप काठ, पत्थर आदिका गृहरूपके साथ सम्बन्ध कैसे देखा जाता है ? इसपर कहते हैं— **'तदात्मना'** इत्यादिसे ।

परमार्थरूपमें कल्पित काठ, पत्थर आदि रूपसे ही गृहादि पदार्थोंके साथ उनका सम्बन्ध देखा जाता है, न कि वास्तविक चिद्रूपसे । चूँकि अनन्त ब्रह्म ही सब प्रकारोंसे युक्त होकर सबके तुल्य भासित होता है, इसलिए यह विश्व परमार्थमय ही है, इस तरह उत्तर श्लोकसे इसका अन्वय जानना चाहिए ॥ ४५ ॥

हे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस विश्वको आप सन्मात्र ही समझिये । यह विश्व मिथ्यात्वग्रहणरूप चित्के चमत्कार द्वारा लाखों सौ भ्रमोंसे पूर्ण है । वह चित्का चमत्कार परमार्थतः किसीसे पूर्ण नहीं है । जैसे मनुष्योंके संकल्पके नगरमें निवास करनेवाले जन देश और कालके अवरोधके लिए परस्पर चेष्टा नहीं करते वैसे ही सृष्टिकी भी अवस्थिति जानिये । भेदका बोध होनेपर ही सृष्टि तथा अहन्त्व आदि भ्रमका उदय होता है । जैसे सुवर्णज्ञानका परित्याग करनेपर कटक आदिका भ्रम होता है । सुवर्णमें कटक आदिका भ्रम मिथ्या ही है, क्योंकि वे सुवर्णके ही देशसे देश तथा सुवर्णकी सत्तासे ही सत्ता प्राप्त करते हैं ॥ ४६–४९ ॥

दृग्दर्शनपरित्यागे नाऽविद्याऽस्ति पृथक् सदा ।
कटकादिमहाभेदमेकं हेम यथाऽमलम् ॥ ५० ॥
बोधैकत्वादयं सर्गस्तदेवाऽसन्नयत्यलम् ।
सेना मृत्संविदा चित्रा मृन्मात्रमिव मृन्मयी ॥ ५१ ॥
जलमेकं तरङ्गादि दार्वेकं शालभञ्जिका ।
मृन्मात्रमेकं कुम्भादि ब्रह्मैकं त्रिजगद्भ्रमः ॥ ५२ ॥
संबन्धे दृश्यदृष्टीनां मध्ये द्रष्टुर्हि यद् वपुः ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् ॥ ५३ ॥
देशाद् देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः ।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५४ ॥

जैसे कटक आदि बड़े भेदवाला सुवर्ण भेददृष्टि और भेददर्शनका त्याग करनेपर एकमात्र निर्मल सुवर्ण ही है यानी उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही द्रष्टा और दर्शनका परित्याग होनेपर अविद्या पृथक् नहीं है ॥ ५० ॥

बोधकी एकतासे ही यह सृष्टि सद्रूप विश्वको असत् बनाती है अथवा असत् विश्वको सत्के साथ एकरसताको प्राप्त कराती है। जैसे मिट्टीकी बनी हुई सेना मृद्बुद्धिसे विचित्र होनेपर भी विचारदृष्टिसे मिट्टीमात्रकी तरह मृन्मयी ही है ॥५१॥

जिस प्रकार तरङ्ग आदि सब वस्तु एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुत्तलियाँ एकमात्र काठ ही हैं और घट आदि सब वस्तु मृन्मात्र हैं उसी प्रकार तीनों जगत्का भ्रम एकमात्र ब्रह्म ही है ॥ ५२ ॥

घट आदि पदार्थोंमें अनुस्यूत सारभूत मृत्स्वरूपके तुल्य द्रष्टा आदि त्रिपुटीमें अनुस्यूत साक्षी चिन्मात्रको त्रिपुटीके निराससे दिखाते हैं—**'सम्बन्धे'** इत्यादिसे।

द्रष्टाका दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध होनेपर फूलोंमें सूत्रकी तरह सबके मध्यमें अनुगत द्रष्टा, दर्शन और दृश्यसे वर्जित जो द्रष्टाका शुद्ध रूप है, वही इस त्रिपुटीमें व्याप्त परब्रह्म है। इस वाक्यसे अखण्ड वाक्यार्थ दिखलाया गया है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

उस ब्रह्मकी त्रिपुटीशून्यता कब सिद्ध होती है? इसपर कहते हैं—**'देशात्'** इत्यादिसे।

चित्तके एक विषयसे दूसरे विषयमें जानेपर मध्यमें जाड्यस्फुरणसे शून्य चेतनका जो शुद्ध रूप है, आप तन्मय होइये ॥ ५४ ॥

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् ।
अचेतनं चाऽजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५५ ॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत् ।
अक्षुब्धो वाऽथवा क्षुब्धस्तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५६ ॥
कस्यचित् किञ्चनाऽपीह नोदेति न विलीयते ।
अक्षुब्धो वाऽथवा क्षुब्धः स्वस्थस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ ५७ ॥
नाऽभिवाञ्छति नो द्वेष्टि देहे किञ्चित् क्वचित् पुमान् ।
स्वस्थस्तिष्ठ निराशङ्कं देहवृत्तिषु मा पत ॥ ५८ ॥
भविष्यद्ग्रामकग्राम्यकार्यव्यवसितो यथा ।
चित्तवृत्तिषु मा तिष्ठ तथा सत्यात्मतां गतः ॥ ५९ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंसे रहित चित्तवृत्तिसे शून्य जो आपका सनातन शुद्ध चेतन रूप है, आप तन्मय होइये ॥ ५५ ॥

एक जडताका परित्याग कर जो कूटस्थ चिद्घनमात्र है, आप समाधिस्थ होकर अथवा व्यवहार करते हुए सर्वदा तन्मय होइये ॥ ५६ ॥

यदि कोई कहे कि व्यवहारमें रहनेवालेकी तन्मयता कैसे हो सकेगी? इसपर कहते हैं—'**कस्यचित्**' इत्यादिसे ।

इस संसारमें किसीका न तो कुछ उदित होता है और न लीन होता है अर्थात् व्यावहारिक वस्तुकी सत्ता ही नहीं है । इसलिए समाधिस्थ होकर या व्यवहार करते हुए स्वस्थ होकर सुखपूर्वक स्थित होइये । व्यवहारदशामें भी परमार्थदृष्टिका ही अनुवर्तन कीजिये, यह भाव है ॥ ५७ ॥

आत्मा किसी देहमें न तो किसीकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष करता है; इसलिए आप स्वस्थ होकर आशङ्काहीन हो स्थित होइये । देहकी वृत्तियोंमें मत गिरिये ॥ ५८ ॥

जिस तरह अप्राप्त वस्तुमें चित्तकी अनासक्ति स्वतः सिद्ध है, उसी तरह वर्तमान वस्तुमें भी मिथ्यात्वदृष्टिसे अनासक्तिका सम्पादन करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'**भविष्यत्**' इत्यादिसे ।

जैसे आप अप्राप्त ग्रामके ग्राम्यव्यवहारमें आसक्तिरहित हैं वैसे ही सत्य आत्मामें स्थित होकर चित्तकी वृत्तियोंमें मिथ्यात्वदृष्टिसे आसक्तिरहित होइये ॥५९॥

यथा देशान्तरनरो यथा काष्ठं यथोपलः ।
तथैव पश्य चित्तं त्वमचित्तैव यदात्मना ॥ ६० ॥
यथा दृषदि नाऽस्त्यम्बु यथाऽम्भस्यनलस्तथा ।
स्वात्मन्येवाऽस्ति नो चित्तं परमात्मनि तत्कुतः ॥ ६१ ॥
प्रेक्ष्यमाणं न यत्किञ्चित्तेन यत् क्रियते क्वचित् ।
कृतं भवति तन्नेति तत् त्वं चित्तातिगो भवेत् ॥ ६२ ॥
अत्यन्तानात्मभूतस्य यश्चित्तस्याऽनुवर्त्तते ।
पर्यन्तवासिनः कस्मान्न म्लेच्छस्याऽनुवर्तते ॥ ६३ ॥
निरन्तरमनादृत्य त्वमाराच्चित्तपुष्कसम् ।
स्वस्थमास्व निराशङ्कं पङ्केनेव कृतो जडः ॥ ६४ ॥

जैसे दूर देशमें स्थित मनुष्य रहता हुआ भी असत्‌के तुल्य है और जैसे काठ और पत्थर समीपमें होनेपर भी चेतनहीन होनेसे ही आसक्ति, अभिमान आदिके अयोग्य हैं, वैसे ही आप चित्तको जानिये, क्योंकि आत्मरूपसे विचार करनेपर अचित्तता ही विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है ॥ ६० ॥

जैसे शिलामें जल नहीं है, जैसे जलमें अग्नि नहीं है, वैसे ही अपनी आत्मामें (जीवात्मामें) चित्त नहीं है, फिर वह परमात्मामें कैसे रह सकता है ? ॥ ६१ ॥

जब चित्त असत् है, तो उसके कार्य सुतराम् असत्य हैं, ऐसा कहते हैं— **'प्रेक्ष्यमाणम्'** इत्यादिसे ।

विचार करके देखनेपर जो कुछ नहीं है, उसके द्वारा जो कुछ करते हैं वह भी कृत नहीं है, ऐसा मानकर चित्तसे परे होइये ॥ ६२ ॥

शुद्ध आत्माका अशुद्ध चित्तका अनुवर्तन भी अनुचित है, इस आशयसे कहते हैं—**'अत्यन्ता०'** इत्यादिसे ।

अत्यन्त अनात्मभूत चित्तवृत्तिका जो अनुवर्तन करते हैं, वे प्रत्यन्त देशवासी म्लेच्छोंका अनुवर्तन क्यों नहीं करते ? 'तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्वयानि' (प्रत्यन्तवासी जनोंमें पाप निहित है, इसलिए उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये, उनके स्थानमें नहीं जाना चाहिये, अन्यथा पापरूप मृत्युको हम लोग प्राप्त होंगे) इस श्रुतिके अनुसार म्लेच्छादिका अनुसरण करना निषिद्ध है, यह भाव है ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इस चित्तरूपी चण्डालका निरन्तर दूरसे ही निरादर

चित्तं नास्त्येव मे भूतं मृतमेवाऽद्य वेत्ति वा ।
भव निश्चयवान् भूत्वा शिलापुरुषनिश्चलः ॥ ६५ ॥
प्रेक्षायामस्ति नो चित्तं तद्विहीनोऽसि तत्त्वतः ।
स किमर्थमनर्थेन तद्व्यर्थेन कदर्थ्यसे ॥ ६६ ॥
असता चित्तयक्षेण ये मुधा स्ववशे कृताः ।
तेषां पेलवबुद्धीनां चन्द्राद्वज्रनिरुत्थितः ॥ ६७ ॥
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ।
भव भावनया युक्तो युक्त्या परमयाऽन्वितः ॥ ६८ ॥
असतो येऽनुवर्तन्ते चेतसोऽसत्यरूपिणः ।
व्योममारणकर्मैकनीतकालान् धिगस्तु तान् ॥ ६९ ॥
व्यपगलितमना महानुभावो
भव भवपारगतो भवाऽमलात्मा ।

करके मिट्टीकी बनी हुई जड़ मूर्तिके तुल्य स्वस्थ होकर आशंकाहीन स्थित होइये ॥ ६४ ॥

यथार्थमें चित्त है ही नहीं, यही मुख्य पक्ष है अथवा उत्पन्न हुआ भी हो, तो वह मर गया है, आज मृतक होकर ही पदार्थोंको देखता है यानी मिथ्या देखता है, ऐसा निश्चय करके आप पत्थरके बने हुए पुरुषकी तरह निश्चल होइये ॥ ६५ ॥

आत्मविचार करनेसे अथवा चित्तका विचार करनेपर यह चित्त नहीं है । आप वस्तुतः चित्तहीन हैं, इसलिए आप ऐसे अनर्थभूत व्यर्थ चित्तके साथ क्यों दुःखी होते हैं ? ॥ ६६ ॥

अत्यन्त असत्य चित्तरूपी यक्षने जिन लोगोंको अपने वशमें कर लिया है, उन सुकुमार मतिवालोंके लिए चन्द्रमासे वज्र उत्पन्न हुआ है ॥ ६७ ॥

इसलिए चित्तका दूरसे ही परित्याग करके आप जो हैं, वही होकर स्थिर होइये और मननरूपी उत्तम युक्ति तथा ध्यानसे युक्त होइये ॥ ६८ ॥

अधिकारियोंके प्रोत्साहनके लिए मूढोंकी निन्दा करते हैं—**'असता'** इत्यादिसे ।

जो मूर्ख असत्य चित्तका अनुवर्तन करते हैं, आकाशताड़नमें समय बितानेवाले उन मूर्खोंको धिक्कार है ॥ ६९ ॥

तत्त्वज्ञानमें कुशल होकर पहले व्यपगतमन यानी चित्तहीन होइये, तदनन्तर तत्त्वज्ञानसे निर्मलात्मा होकर संसारसे परे हो जाइये ।

सुचिरमपि विचारितं न लब्धं
मलममलात्मनि मानसात्म किञ्चित् ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे चित्ताभावप्रतिपादनं नाम एकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२१॥



द्वाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्रथमं जातमात्रेण पुंसा किञ्चिद्विकसितबुद्धिनैवं सत्सङ्गमपरेण भवितव्यम् ॥ १ ॥

अनवरतप्रवाहपतितोऽयमविद्यानदीनिवहः शास्त्रसज्जनसम्पर्कादृते न तरितुं शक्यते ॥ २ ॥

इसी बातको दृढ करनेके लिए श्रीवसिष्ठजी विचारविशुद्ध अपना अनुभव कहते हैं—'**सुचिरम्** इत्यादिसे ।

मैंने तत्त्वज्ञानके लिए बहुत कालतक मनका विचार किया तथापि निर्मल आत्मामें मानसरूपी मल कुछ नहीं पाया । इसलिए मानसमल कोई वस्तु नहीं है । मेरे वाक्यसे भी आप स्वस्थचित्त होइये, यह अर्थ है ॥ ७० ॥

एक सौ इक्कीस सर्ग समाप्त



एक सौ बाईस सर्ग

[पहले पुरुषकी ज्ञानभूमिके उदयक्रमका वर्णन तदनन्तर शोक, मोह आदिके निराकरण द्वारा श्रीरामचन्द्रजीका बोधन]

पहले उत्पन्न हुए कुछ विकसित बुद्धिवाले यानी इस जन्ममें या जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंसे शुद्धचित्त हुए पुरुषको इस प्रकार सत्संगमें तत्पर होना चाहिए ॥१॥

सत्संगसे साधनचतुष्टयसम्पत्तिके साथ अध्यात्मशास्त्रसे सम्बन्ध होता है, वही पहली भूमिका है, ऐसा कहते हैं—'**अनवरत०**' इत्यादिसे ।

अनवरत प्रवाहमें पड़ा हुआ यह अविद्यारूपी नदियोंका समूह शास्त्र और सज्जनके संसर्गके बिना नहीं तरा जा सकता है ॥ २ ॥

तेन विवेकतः पुरुषस्य हेयोपादेयविचार उपजायते ॥ ३ ॥

तदाऽसौ शुभेच्छाभिधां विवेकभुवमापतितो भवति ॥ ४ ॥

ततो विवेकवशतो विचारणायाम् ॥ ५ ॥

सम्यग्ज्ञानेनाऽसम्यग्वासनां त्यजतः संसारभावनातो तामेति ॥ ६ ॥

तेन तनुमानसां नाम विवेकभूमिमवतीर्णो भवति ॥ ७ ॥

यदैव योगिनः सम्यग्ज्ञानोदयस्तदैव सत्त्वापत्तिः ॥ ८ ॥

तद्वशाद् वासना तनुतां गता यदा तदैवाऽसावसंसक्त इत्युच्यते कर्मफलेन न बध्यत इति ॥ ९ ॥

अथ तानववशादसत्ये भावनातानवमभ्यस्यति ॥ १० ॥

उससे विवेकपूर्वक पुरुषको यह हेय है और यह उपादेय है, यह विचार उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

तब वह पूर्वोक्त शुभेच्छा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है ॥ ४ ॥

शुभेच्छा नामकी ज्ञानभूमिमें विजय प्राप्त करनेसे दूसरी भूमिकाकी प्राप्ति दर्शाते हैं **'ततः'** इत्यादिसे ।

तदुपरान्त विवेकवश विचारणा नामकी ज्ञानभूमिमें आता है ॥ ५ ॥

दूसरी भूमिकाके विजयसे तीसरी भूमिकामें अवतरण होता है, ऐसा कहते हैं --**'सम्यग्ज्ञानेन'** इत्यादिसे ।

सम्यग् ज्ञानसे असम्यग् वासनाका त्याग कर रहे पुरुषका मन संसारकी वासनाओंसे तनुताको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

उसके द्वारा तनुमानसा नामकी तीसरी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है ॥ ७ ॥

चौथी भूमिकाके अवतरणका प्रकार कहते हैं—**'यदैव'** इत्यादिसे ।

जभी योगीके सम्यग् ज्ञानका उदय होता है, तभी शुद्ध, सत्य आत्मामें स्थितिरूप चौथी ज्ञानभूमि सत्त्वापत्ति प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

उसके कारण जब वासना सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाती है, तभी योगी असंसक्त कहा जाता है, कर्मफलसे बन्धनमें नहीं पड़ता है ॥ ९ ॥

तदनन्तर वासनाओंके तनु होनेके कारण पुरुष सदा ही अन्तर्मुखरूप रहनेसे ब्रह्माहंभावकी वासनाके बढ़नेके कारण बाह्य पदार्थोंके क्रमसे विस्मरणरूप भावनाकी तनुताका अभ्यास करता है ॥ १० ॥

यावन्न कुर्वन्नपि व्यवहरन्नप्यसत्येषु संसारवस्तुषु स्थितोऽपि स्वात्मन्येव क्षीणमनस्त्वादभ्यासवशाद् बाह्यं वस्तु कुर्वन्नपि न पश्यति नाऽऽलम्बनेन सेवने नाऽभिध्यायति तनुवासनत्वाच्च केवलं मूढः सुप्तप्रबुद्ध इव कर्तव्यं करोति ॥ ११ ॥

तनुभावितमनस्कत्वेन योगभूमिकां भावनामधिरूढः ॥ १२ ॥

इत्यन्तर्लीनचित्तः कतिचित्संवत्सरानभ्यस्य सर्वथैव कुर्वन्नपि बाह्यपदार्थान् भावनां त्यजति तुर्यात्मा भवति ततो जीवन्मुक्त इत्युच्यते ॥१३॥

नाऽभिनन्दति सम्प्राप्तं नाऽप्राप्तमभिशोचति ।
केवलं विगताशङ्कं सम्प्राप्तमनुवर्तते ॥ १४ ॥

कितने कालतक भावनाकी तनुताका अभ्यास करना चाहिये, इस प्रश्नपर कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे ।

जबतक समाधिस्थ हो, चाहे समाधिसे व्युत्थित हुआ हो, चाहे असत्य संसारवस्तुओंमें स्थित हो, अपनी आत्मामें ही क्षीणमन होनेके कारण अभ्यासवश बाह्य वस्तुओंको करता हुआ भी नहीं देखता है, अतएव रुचिसे उनका सेवन नहीं करता है, न कभी उनका स्मरण करता है, सूक्ष्म वासनावाला होनेके कारण केवल बालक या उन्मत्त अथवा आधा सुप्त और आधा प्रबुद्धके समान स्नान, भोजन आदि कर्तव्यको दूसरेकी इच्छासे करता है, तबतक उसका अभ्यास करे ॥ ११ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्ममें जिसने अपने चित्तको एकरस कर दिया है, ऐसा योगी उसके द्वारा पदार्थभावना नामकी योगभूमिमें आरूढ होता है ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्ममें जिसका चित्त लीन हो गया है, ऐसा योगी कुछ वर्षोंतक अभ्यास करके दूसरोंकी इच्छासे कार्यानुसार कभी स्नान, भोजन आदि बाह्य क्रियाओंको करता हुआ भी उनकी भावनाको सर्वथा छोड़ देता है । स्वयं ही तुर्य आत्मा हो जाता है । छठी भूमिकातक चित्तकी ब्रह्माकारताके स्थिर होनेपर कुछ-न-कुछ प्रयत्नकी अनुवृत्ति रहती है, सातवीं भूमिकामें तो प्रयत्नकी सर्वथा निवृत्ति होनेसे स्वाभाविकी प्रतिष्ठा यानी ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है, यह विशेष है । वही पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १३ ॥

यद्यपि पूर्वकी भूमिकाओंमें भी जिन्होंने ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, वे जीवन्मुक्त ही हैं तथापि उनमें कभी प्रबल प्रारब्धसे प्राप्त कराये गये प्रिय,

त्वयाऽपि राघव ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलान्तरम् ।
ननु ते सर्वकार्येभ्यो वासना तनुतां गता ॥ १५ ॥
शरीरातीतवृत्तिस्त्वं शरीरस्थोऽथवा भव ।
मा गाः शोकं च हर्षं त्वं त्वमात्मा विगतामयः ॥ १६ ॥
त्वय्यात्मनि सिते स्वच्छे सर्वगे सर्वोदिते ।
कुतो दुःखसुखे राम कुतो मरणजन्मनी ॥ १७ ॥
अबन्धुरपि कस्मात् त्वं बन्धुदुःखानि शोचसि ।
अद्वितीये स्थिते ह्यस्मिन् बान्धवाः क इवाऽऽत्मनि ॥ १८ ॥

अप्रियका सम्बन्ध होता है, अतः उनमें मुख्य जीवन्मुक्ति सुख नहीं है । सातवीं भूमिकामें योगके परिपाकसे उत्पन्न पुण्यके प्राचुर्यसे, जो अतिप्रबल है, तिरस्कृत हुआ प्रारब्ध कर्म केवल जीवनव्यवहारके आभासमें पर्यवसित होता है, हर्ष, शोक आदिको उत्पन्न करनेके लिए नहीं होता है, इस आशयसे उसका लक्षण पद्यसे कहते हैं—**'नाऽभिनन्दति'** इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त पुरुष प्राप्त हुई वस्तुका अभिनन्दन नहीं करता यानी किसी वस्तुके प्राप्त होनेपर प्रसन्न नहीं होता और खोई हुई वस्तुके लिए शोक नहीं करता । जो कुछ प्राप्त हो गया, केवल उसीका भय, आशङ्कासे रहित होकर अनुवर्तन करता है ॥ १४ ॥

आप तो अत्यन्त शुद्धचित्तवाले हैं, इसलिए आपने दूसरी भूमिकामें ही अपने ही विचारसे प्रत्यगात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इस आशयसे कहते हैं—**'त्वया'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपने सबका अन्तर्यामी ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया है, क्योंकि आपकी वासना सम्पूर्ण कार्योंसे तनुताको प्राप्त हो गई है ॥ १५ ॥

चाहे आप सदा ही समाधिस्थ रहें, चाहे लोकव्यवहार करते रहें, आप शोक अथवा हर्षको प्राप्त न हों, क्योंकि आप शोक, मोह आदि दोषोंसे रहित आत्मा ही हैं ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वयंप्रकाश, निर्मल, सर्वव्यापक, अविनाशी आत्मरूप आपमें सुख और दुःखका अवसर कहाँ तथा जन्म-मरणका अवसर कहाँ ? ॥१७॥

यदि कोई शङ्का करे, आत्मबोधसे जन्म-मरण आदिसे होनेवाले शोकपर

दृश्यते केवले देहे परमाणुचयः परम् ।
देशकालान्यतापत्तेर्नाऽऽत्मोदेति न लीयते ॥ १९ ॥
अविनाशोऽपि कस्मात् त्वं विनश्यामीति शोचसि ।
अमृत्युवसतौ स्वच्छे विनाशः क इवाऽऽत्मनि ॥ २० ॥
घटे कपालतां याते घटाकाशो न नश्यति ।
यथा तथा शरीरेऽस्मिन्नष्टेऽपि न विनश्यति ॥ २१ ॥
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां क्षीणायामातपो यथा ।
न नश्यति तथा देहे नष्टे नाऽऽत्मा विनश्यति ॥ २२ ॥
वाञ्छेवोदेति ते कस्माद् भ्रान्तिरन्तर्निरर्थिका ।
अद्वितीयो द्वितीयं किं यद्वस्त्वात्माऽभिवाञ्छतु ॥ २३ ॥

भले ही विजय प्राप्त हो जाय, किन्तु बन्धु-बान्धवोंके संगसे होनेवाले शोकपर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है, इसपर कहते हैं—'**अबन्धु०**' इत्यादिसे ।

आपके कोई बन्धु नहीं हैं, फिर क्यों आप बन्धुसे उत्पन्न दुःखके लिए शोक करते हैं ? यह आत्मा अद्वितीय है, इसमें बन्धु-बान्धवोंका अवसर ही कहाँ ? ॥१८॥

आप बन्धुओंकी देहको शोकके योग्य कहते हैं अथवा आत्माको ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि देहके भस्मीभूत होनेपर केवल परमाणुका समूह दिखाई देता है, वह तो अचेतन होनेके कारण शोकके योग्य नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा नष्ट होता है और उदित होता है, यह मान लिया जाय, तो उसकी सर्वव्यापकता न रहेगी तथा अन्य देश और अन्य कालमें उसके भिन्न होनेकी आपत्ति प्राप्त होगी, अतः आत्मा न तो मरता है और न उदित होता है ॥ १९ ॥

आप अविनाशी हैं फिर भी मैं विनष्ट होऊँगा, इस प्रकार शोक क्यों करते हैं ? आत्मा मृत्युका निवासभूत नहीं है और निर्मल है, अतएव उसमें विनाशका प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? ॥ २० ॥

जैसे घटके फूटकर टुकड़े होनेपर घटाकाशका विनाश नहीं होता, वैसे ही इस शरीरके नष्ट होनेपर आत्माका विनाश नहीं होता ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंपर प्रतीत हो रही मृगतृष्णारूपी नदीके नष्ट होनेपर धूप नष्ट नहीं होती, वैसे ही देहके नष्ट होनेपर आत्मा नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

व्यर्थ भ्रान्तिरूप पदार्थोंकी इच्छा ही आपके हृदयमें क्यों उदित होती

श्रव्यं स्पृश्यं तथा दृश्यं रस्यं घ्रेयश्च राघव ।
न किञ्चिदस्ति जगति व्यतिरिक्तं यदात्मनः ॥ २४ ॥
सर्वशक्ताविमास्तस्मिन्नात्मन्येवाऽखिलाः स्थिताः ।
शक्तयो वितते व्यक्ते आकाश इव शून्यता ॥ २५ ॥
चित्ताद् राघव रूढेयं त्रिलोकी ललनोदिता ।
त्रिविधेन क्रमेणेह जन्मना जनितभ्रमा ॥ २६ ॥
मनःप्रशमने सिद्धे वासनाक्षयनामनि ।
कर्मक्षयाभिधानैव मायेयं प्रविनश्यति ॥ २७ ॥

है। आत्मा अद्वितीय है, ऐसी अवस्थामें वह दूसरी किस वस्तुकी अभिलाषा करेगा ? ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस जगत्में सर्वशक्ति परमात्मामें ही ये सब शक्तियाँ स्थित हैं। ऐसी कोई सुनने योग्य, छूने योग्य, देखने योग्य, श्वास लेने योग्य, सूंघने योग्य दूसरी वस्तु नहीं है, जो आत्मासे भिन्न हो ॥ २४ ॥

यदि कोई शङ्का करे, जैसे धूपमें मृगतृष्णाभ्रमकी शक्तियाँ हैं, वैसे ही यदि ब्रह्ममें जगत्की शक्तियाँ हैं, तो वे भिन्न होंगी, इसपर कहते हैं—'**शक्तयः**' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें शून्यता है यानी शून्यता आकाशसे पृथक् नहीं है, वैसे ही इस सर्वशक्तिमान् , व्यापक, व्यक्त आत्मामें ये सब शक्तियाँ हैं यानी उससे पृथक् नहीं है ॥ २५ ॥

अत्यन्त असत् जगत्के उदयमें क्या बीज है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे, तो जगत्की उत्पत्तिमें एकमात्र चित्त ही बीज है, उसीको कहते हैं—'**चित्ताद्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह पूर्वोक्त त्रिलोकीरूपी ललना चित्तसे ही उदित हुई है। इसने सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके जन्मोंसे संसारमें भ्रम उत्पन्न कर रक्खा है ॥ २६ ॥

चूँकि यह चित्तसे उत्पन्न हुई है, इसलिए चित्तके क्षयसे ही इसका क्षय होता है, ऐसा कहते हैं—'**मनः०**' इत्यादिसे ।

वासनाक्षयनामक मनःप्रशमनके सिद्ध होनेपर कर्मोंकी (क्रियाशक्तियोंकी) निवासभूत यह माया नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

संसारोग्रारघट्टेऽस्मिन्नारूढा यन्त्रवाहिनी ।
रज्जुस्तां वासनामेतां छिन्धि राघव यत्नतः ॥ २८ ॥
अपरिज्ञायमानैषा महामोहप्रदायिनी ।
परिज्ञाता त्वनन्ताख्या सुखदा ब्रह्मदायिनी ॥ २९ ॥
आगता ब्रह्मणो भुक्त्वा संसारमिह लीलया ।
पुनर्ब्रह्मैव संस्मृत्य ब्रह्मण्येव विलीयते ॥ ३० ॥
शिवाद् राघव नीरूपादप्रमेयान्निरामयात् ।
सर्वभूतानि जातानि प्रकाशा इव तेजसः ॥ ३१ ॥
रेखावृन्दं यथा पर्णे वीचिजालं यथा जले ।
कटकादि यथा हेम्नि तथोष्णादि यथाऽनले ॥ ३२ ॥
तदेतद्भावनारूपे तथेदं भुवनत्रयम् ।
तस्मिन्नेव स्थितं जातं तस्मादेव तदेव च ॥ ३३ ॥

संसाररूपी विशाल चाकके बीचमें स्थित कीलपर आरूढ़ तिरछे काठमें लगी हुई, ऊपर और नीचेके चाकको वहन करनेवाली रज्जुरूपी यह वासना है, हे श्रीरामचन्द्रजी, आप प्रयत्नपूर्वक इस वासनाका नाश कीजिये । इस संसाररूपी चक्कीमें पृथिवी नीचेका चाक है, मेरु पर्वत उसकी कील है और ज्योतिर्मण्डल ऊपरका चाक है और यह जगत् वासनासे बंधा हुआ है ॥ २८ ॥

जबतक इस मायाका ज्ञान नहीं होता, तबतक यह बड़े बड़े मोहोंको देती है । जब इसका ज्ञान हो जाता है, तो इसका नाम भी अनन्त यानी ब्रह्म हो जाता है, यह सुखदायिनी और ब्रह्मदायिनी हो जाती है ॥ २९ ॥

यहाँपर संसारका भोग करके अपनी लीलाभूत ब्रह्मविद्यासे ब्रह्मका स्मरण कर ब्रह्मसे आई हुई यह फिर ब्रह्ममें ही लीन हो जाती है ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे तेजसे प्रकाश उत्पन्न होता है, वैसे ही कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय, निर्दोष ब्रह्मसे सब भूत उत्पन्न हुए हैं । जैसे पत्तेमें विविध रेखाएँ होती हैं, जैसे जलमें अनेक लहरें उठती हैं, जैसे सुवर्णमें कटक आदिका आविर्भाव होता है और जैसे अग्निमें उष्णता आदि धर्म होते हैं, वैसे ही वासनावच्छिन्न ब्रह्ममें यह सारा त्रिलोक स्थित है, उसीसे उत्पन्न हुआ है और तद्रूप ही है ॥ ३१--३३ ॥

स एव सर्वभूतानामात्मा ब्रह्मेति कथ्यते ।
तस्मिन् ज्ञाते जगज्ज्ञातं स ज्ञाता भुवनत्रये ॥ ३४ ॥
शास्त्रंमंव्यवहारार्थं तस्याऽस्य विततकृतेः ।
चिद् ब्रह्माऽऽत्मेति नामानि कल्पितानि कृतात्मभिः ॥ ३५ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगे हर्षामर्षविवर्जिता ।
सैषा शुद्धानुभूतिर्हि सोऽयमात्मा चिदव्ययः ॥ ३६ ॥
आकाशातितरच्छाच्छ इदं तस्मिंश्चिदात्मनि ।
स्वाभोग एव हि जगत् पृथग्वत्प्रतिबिम्बति ॥ ३७ ॥
बुद्धिस्तद्व्यतिरेकेण लोभमोहादयो हि तान् ।
पात्यसद्व्यतिरेकेण ते च तस्मिंस्तदेव ते । ३८ ॥

वही सब भूतोंका आत्मा ब्रह्म कहा जाता है, उसका ज्ञान होनेपर सारे जगत्‌का ज्ञान हो जाता है । तीनों लोकोंमें वही ज्ञाता है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, (उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है) ऐसी श्रुति है । शास्त्रोपदेश आदि व्यवहारके लिए विद्वान् लोगोंने उसी सर्वव्यापक तत्त्वके चित्, ब्रह्म और आत्मा इत्यादि नामोंकी कल्पना की है ॥ ३४–३५ ॥

प्रिय और अप्रिय विषयोंका इन्द्रियोंके साथ कभी संयोग होनेपर भी उनमें मिथ्यात्व बुद्धि होनेके कारण हर्ष और शोकसे रहित यह शुद्ध जीवन्मुक्तानुभूति ही वह प्रसिद्ध अविनाशी चिदात्मा है। मूढ़ जिसका अनुभव करते हैं, ऐसा संसारस्वभाववाला आत्मा नहीं है ॥ ३६ ॥

हर्ष और शोकसे रहित ऐसा जो पहले कहा, उसका उपपादन करनेके लिए कहते हैं—'**आकाशा०**' इत्यादिसे ।

आकाशके समान अत्यन्त स्वच्छ उस चिदात्मामें यह जगत् भिन्नके तुल्य प्रतिबिम्बित होता है । शुद्ध साक्षीके द्वारा उसका प्रिय और अप्रिय विभागसे विवेक नहीं हो सकता, इसलिए प्रिय और अप्रियके विभागके विवेकके वास्ते उन दोनोंसे भिन्नरूपसे मध्यमें अन्तःकरण प्रतिबिम्बित होता है, वही प्रिय और अप्रियके विकल्पों द्वारा मोह आदि जो भाव हैं, उन्हें प्राप्त होता है । आत्मा लोभ, मोह आदि भावोंको प्राप्त नहीं होता । वे यानी जगत्, जगद्‌बुद्धि और जगद्‌बुद्धिप्रयुक्त लोभ, मोह आदि भेदके बिना ही उस चिदात्मामें प्रतिबिम्बित हैं, इसलिए वे परमार्थतः परमात्मस्वरूप ही हैं । जैसे दर्पणसे अपृथक् दर्पणके

अदेहस्यैव ते राम निर्विकल्पचिदाकृतेः ।
लज्जाभयविषादेभ्यः कुतो मोहः समुत्थितः ॥ ३९ ॥
अदेहो देहजैरेभिर्लज्जादिभिरसन्मयैः ।
किं मूर्ख इव दुर्बुद्धिर्विकल्पैरभिभूयसे ॥ ४० ॥
अखण्डचितिरूपस्य देहे खण्डनमागते ।
असम्यग्दर्शिनोऽप्यस्ति न नाशः किमु सन्मते ॥ ४१ ॥
आपतेदर्कमार्गेऽपि न निरुद्धगमागमम् ।
चित्तं नाम स विज्ञेयः पुरुषो न शरीरकम् ॥ ४२ ॥
शरीरे सत्यसति वा पुमानेव जगत्त्रये ।
ज्ञोऽप्यज्ञोऽपि स्थितो राम नष्टे देहे न नश्यति ॥ ४३ ॥

अन्दर दिखाई दे रहे पर्वत, वन, नदी आदि हैं, वैसे ही परमात्मामें ये भी प्रतिबिम्बित हैं ॥ ३७,३८ ॥

ऐसी अवस्थामें जिन मूढ़ोंको देहमें आत्मबुद्धि है, उन्हींको भय, दुःख आदि होते हैं, आपको तो नहीं होने चाहिएँ, ऐसा कहते हैं --**'अदेहस्य'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप तो देहरहित निर्विकल्प चिदाकार हैं, इसलिए आपको लज्जा, भय, विषाद आदिसे मोह कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥ ३९ ॥

जैसे दुर्बुद्धि मूर्ख पुरुष विकल्पोंसे अभिभूत होता है, वैसे ही देहरहित आप देहसे उत्पन्न होनेवाले असत्स्वरूप इन लज्जा आदिसे कैसे अभिभूत होते हैं ? ॥४०॥

देहके नष्ट होनेपर अखण्ड चैतन्यरूप अज्ञानीका भी विनाश नहीं होता । आप तो ज्ञानी हैं, आपका कहना ही क्या है ? ॥ ४१ ॥

अज्ञानीका भी नाश नहीं होता, ऐसा जो पूर्व श्लोकमें कहा है, उसके उपपादनके लिए देहसे अतिरिक्त चित्तात्माको सिद्ध करते हैं---**'आपतेत्'** इत्यादिसे ।

जो चित्त गमनागमनकी स्वतन्त्रता होनेसे सर्वत्र जाता है, आलम्बनरहित सूर्यके मार्गमें भी जिसके संचारका निरोध नहीं होता, वह चित्त ही पुरुष (पुरि शेते इति पुरुषः) संसारी आत्मा है, शरीर पुरुष नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, शरीर चाहे रहे या न रहे, तीनों लोकोंमें पुरुष ही---चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी---स्थित रहता है । शरीरके नष्ट होनेपर उसका नाश नहीं होता ॥ ४२,४३ ॥

यानीमानि विचित्राणि दुःखानि परिपश्यसि ।
तानि देहस्य सर्वाणि नाऽग्राह्यस्य चिदात्मनः ॥ ४४ ॥
मनोमार्गादतीतत्वाद् याऽसौ शून्यमिव स्थिता ।
चित् कथं नाम दुःखैर्वा सुखैर्वा परिगृह्यते ॥ ४५ ॥
स्वास्पदात्मानमेवाऽसौ विनष्टाद् देहपञ्जरात् ।
अभ्यस्तांवासनां यातः षट्पदः खमिवाऽम्बुजात् ॥ ४६ ॥
असच्चेदात्मतत्त्वं तदस्मिंस्ते देहपञ्जरे ।
नष्टे किं नाम नष्टं स्याद्राम केनाऽनुशोचसि ॥ ४७ ॥

अब असंसारी आत्माको दर्शानेके लिए चित्तको भी देहकोटिमें रखकर देहको ही प्रिय और अप्रियका स्पर्श होता है, ऐसा कहते हैं—**'यानीमानि'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो आप इन विविध दुःखोंको देखते हैं, वे सब देहके ही हैं, इन्द्रियों द्वारा गृहीत न होनेवाले चिदात्माके नहीं हैं ॥ ४४ ॥

मनके अगोचर होनेके कारण जो यह चिदात्मा शून्यकी तरह स्थित है, वह सुख और दुःखोंसे व्याप्त कैसे हो सकता है ? ॥ ४५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि देहके नष्ट होनेपर जीव कहां जाता है ? तो इसपर कहते हैं—**'स्वास्पदा०'** इत्यादिसे।

जैसे भ्रमर कमलसे उडकर आकाशमें जाता है वैसे ही यह जीव नष्ट हुए देहके अभिमानका त्याग कर पहले अपने आधारभूत परमात्मामें ही जाता है। 'मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (मन प्राणमें लीन होता है, प्राण तेजमें लीन होता है और तेज परमात्मामें लीन होता है) इस श्रुतिप्रमाणसे मन, प्राण आदि उपाधियोंके विलीन होनेसे जीव बिम्बभूत ईश्वरैक्यको प्राप्त होता है।

शङ्का ईश्वरैक्यको प्राप्त होकर वह मुक्त क्यों नहीं होता ?

समाधान—वह चिरकालसे अभ्यस्त भेदवासनाको प्राप्त हुआ है यानी भेदवासनाका मूलोच्छेद करनेवाले ज्ञानका उदय न होनेसे उसकी मुक्ति नहीं होती ॥ ४६ ॥

यदि आप शङ्का करें कि यदि जीव प्रतिबिम्ब है, तो उसकी उपाधिसे अतिरिक्त सत्ता न होनेसे वह असत् ठहरा और उपाधिका नाश होनेसे उसका नाश हो जायगा। भले ही ऐसा हो, तथापि आप जीव नहीं हैं। जीवके न रहनेपर

सत्यं भावय तेन त्वं मा मोहमनुभावय ।
निरिच्छस्याऽऽत्मनो नेच्छा काचिदप्यनघाकृतेः ॥ ४८ ॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।
निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥ ४९ ॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।
स्वयं जगन्ति दृश्यन्ते सन्मणाविव रश्मयः ॥ ५० ॥
अनिच्छमपि सम्बन्धो यथा दर्पणबिम्बयोः ।
तथैवेहाऽऽत्मजगतोर्भेदाभेदौ व्यवस्थितौ ॥ ५१ ॥

अथवा नाश होनेपर आपको शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'असत्'** इत्यादिसे ।

वह प्रसिद्ध आत्मतत्त्व यानी जीव यदि असत् हो, तो इस आपके देहपञ्जरके नष्ट होनेपर आपका क्या नष्ट हुआ और आप किसलिए शोक करते हैं ? ॥ ४७ ॥

वस्तुतः प्रतिबिम्ब बिम्ब ही है, क्योंकि उपाधिमें प्रवेशरूप भेदकी कल्पनासे बिम्बकी ही प्रतिबिम्बरूपसे प्रतीति होती है अन्यथा जड़ उपाधिका कार्य होनेपर चिदाभास भी जड़ हो जायगा, अतः संसारका भान नहीं होगा, इसलिए आप जीवको उसकी उपाधियोंके परित्याग द्वारा सत्य ब्रह्म ही समझिये । भ्रान्तिसे प्राप्त हुए नश्वर देह आदि भावका अनुभव न कीजिये । पूर्ण ब्रह्मभावसे तृप्त होनेके कारण इच्छारहित और निर्दोष आत्मामें कोई इच्छा नहीं है ॥ ४८ ॥

यदि शङ्का हो कि यदि उसमें इच्छा नहीं है, तो इच्छाके बिना उसकी सृष्टिकी सिद्धि कैसे होगी ? तो इसपर कहते हैं—**'साक्षिभूते'** इत्यादिसे ।

सबके साक्षी सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प, चिदात्मामें ये सब जगत् बिना किसी प्रकारकी इच्छाके ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे कि दर्पणमें पर्वत, वन, नगर आदि ॥ ४९ ॥

जैसे सुन्दर मणिमें किरण स्वयं दिखाई देती हैं वैसे ही सबके साक्षीभूत, सर्वत्र शम, निर्मल, निर्विकल्प चिदात्मामें जगत् स्वयं दिखाई देते है ॥ ५० ॥

जैसे दर्पण और बिम्बका सम्बन्ध इच्छा न होनेपर भी होता है वैसे ही आत्मा और जगत्का भेदाभेदरूपसम्बन्ध इच्छाके बिना ही होता है यानी भानमात्रसे भेदसम्बन्ध और यथार्थरूपसे अभेद है ॥ ५१ ॥

सूर्यसन्निधिमात्रेण यथोदेति जगत्क्रिया ।
चित्सत्तामात्रकेणेदं जगन्निष्पद्यते तथा ॥ ५२ ॥
पिण्डग्रहो निवृत्तोऽस्या एवं राम जगत्स्थितेः ।
आकाशमेषा सम्पन्ना भवतामपि चेतसि ॥ ५३ ॥
सत्तामात्रेण दीपस्य यथाऽऽलोकः स्वभावतः ।
चित्तत्त्वस्य स्वभावात्तु तथेयं जागती स्थितिः ॥ ५४ ॥
पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्
तेनाऽऽततं जगदिदं स्वविकल्पजालैः ।
शून्येन शून्यमपि तेन यथाऽम्बरेण
नीलत्वमुल्लसितचारुतराभिधानम् ॥ ५५ ॥
सङ्कल्पसंक्षयवशाद् गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति ।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥ ५६ ॥

जैसे सूर्यके केवल उदय होनेसे जगत्के कार्य होते हैं वैसे ही केवल चित्की सत्तासे ही इस जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ ५२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकारके हमारे उपदेशसे इस जगत्की स्थितिका मूर्ताकार निवृत्त हो गया। आप लोगोंके भी चित्तमें आकाशके समान यह शून्य हो गई ॥ ५३ ॥

जैसे दीपककी केवल सत्तासे प्रकाश स्वभावतः होता है वैसे ही चित्तत्त्वकी केवल सत्तासे स्वभावतः जगत्की स्थिति होती है ॥ ५४ ॥

इस प्रकरणमें जो अर्थ विस्तारसे कहा है, उसको संक्षेपसे दर्शाते हुए श्रीवसिष्ठजी प्रकरणका उपसंहार करते हैं—'**पूर्वम्**' इत्यादिसे ।

पहले परमात्मतत्त्वसे मन उदित हुआ । उसने जैसे शून्य आकाश असत् नीलताका, जिसका कि सब लोगोंके अनुभवसे—अधोमुख किया हुआ मनोहर इन्द्रनीलमणिके कड़ाहकी तरह यह नील आकाश दीख रहा है, इस तरह उपमा और उत्प्रेक्षा द्वारा—सुन्दर वाग्व्यवहार होता है, विस्तार करता है, वैसे ही अपने विविध विकल्पोंसे इस जगत्का विस्तार किया ॥ ५५ ॥

इसलिए निमित्तका नाश होनेपर नैमित्तिकका भी नाश होनेसे निर्मल एकमात्र आत्मा ही शेष रहता है, ऐसा कहते हैं—'**सङ्कल्प०**' इत्यादिसे ।

कर्मात्मकं प्रथममेव मनोऽभ्युदेति
सङ्कल्पतः कमलजप्रकृतीस्तदेत्य ।
नानाभिधं जगदिदं हि मुधा तनोति
वेतालदेहकलनामिव मुग्धबालः ॥ ५७ ॥

असन्मयं सदिव पुरो विलक्ष्यते पुनर्भवत्यथ परिलीयते पुनः ।
स्वयं मनश्चिति चितसंस्फुरद्वपुर्मरुस्थले जलवलयावली यथा ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे स्वरूपनिरूपणं नाम द्वाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

॥ उत्पत्तिप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥



सङ्कल्पोंका क्षय होनेसे चित्तके नष्ट होनेपर संसारमोहरूपी पाला नष्ट हो जाता है । जैसे शरद् ऋतु आनेपर आकाश स्वच्छ होता है वैसे ही चित्तके गलित होनेपर अन्तःकरण अद्वितीय जन्मरहित अनन्त प्रत्यगात्मस्वभाव हो जाता है ॥५६॥

व्यष्टिभ्रमकल्पनाकी तरह समष्टिसृष्टिकल्पनामें भी आविर्भाव और तिरोभाव मनके ही अधीन हैं, ऐसा दर्शाते हैं—**'कर्मात्मकम्'** इत्यादिसे ।

सब प्राणियोंके कर्मोंकी समष्टिरूप और समष्टिकर्मशक्तिप्रधान मन पहले उत्पन्न होता है । उसके बाद मनमें चित्का प्रतिबिम्ब पड़नेसे ब्रह्मा, मनु आदिरूप सृष्टिकर्त्ताओंके शरीरोंको स्वीकार करके वह सङ्कल्पवश विविध प्रकारके इस जगत्की व्यर्थ ही सृष्टि करता है, जैसे कि अज्ञानी बालक व्यर्थ वेतालके शरीरकी कल्पना करता है ॥ ५७ ॥

इसलिए सम्पूर्ण दृश्य व्यष्टि-समष्टिभेदसे कल्पित मनोमात्र ही है । मन अज्ञानकार्य होनेसे असत् है । असत्का ही अधिष्ठानभूत साक्षीकी सत्ता और स्फूर्तिके बलसे जो स्फुरण है, वह उत्पत्ति है, इस रीतिसे जगत्के जन्म आदि विवर्तोंकी उपादानता ब्रह्मका तटस्थ लक्षण हुआ । उससे निष्प्रपञ्च, सच्चिदानन्द, एकरस, पूर्ण ब्रह्म ही, जो परमार्थभूत है, लक्षित होता है, ऐसा सब सृष्टिश्रुतियोंका तात्पर्यार्थ है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—**'असन्मयम्'** इत्यादिसे ।